कल्याण
वर्ष १५
अङ्क २

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम। जय रघुनन्दन जय सियराम॥
रघुपति राघव राजा राम। पतितपावन सीताराम॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा। जय गणेश जय शुभ आगारा॥

[संस्करण [illegible]८००]

साधनांक खण्ड २

वार्षिक मूल्य
भारतमें ४=)
विदेशमें ६॥=)
(१० शिलिङ्ग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत् चित् आनँद भूमा जय जय॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन जय जय॥
जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥

साधारण प्रति
भारतमें ।)
विदेशमें ।≈)
(८ पेंस)

Edited by H. P. Poddar and C. L. Goswami, M. A., Shastri.
Printed and Published by Ghanshyamdas Jalan at the Gita Press, Gorakhpur (India).

श्रीहरिः

क्षमा-प्रार्थना

साधनाङ्क पृष्ठ १६में पूज्यपाद महात्मा स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराजका 'प्रार्थनाका प्रभाव' शीर्षक एक लेख छपा है। यह लेख श्रीस्वामीजी महाराजके मना करनेपर भी छप गया है, इसके लिये मैं उनसे हाथ जोड़कर क्षमा-प्रार्थना करता हूँ।

सम्पादक—**'कल्याण'**

कल्याण सितम्बर १९४० की

विषय-सूची

बछड़ोंमें वंशीधर

श्रीहरिः

कल्याण

[भक्ति, ज्ञान, वैराग्य और सदाचार-सम्बन्धी सचित्र मासिक पत्र]

वर्ष १५

सं० १९९७-९८ की

निबन्ध-सूची

कविता-सूची

तथा

चित्र-सूची

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार

प्रकाशक—घनश्यामदास जालान

कल्याण-कार्यालय

गीताप्रेस, गोरखपुर

वार्षिक मूल्य ४≈)
विदेशोंके लिये ६।।≈)

प्रति संख्या ।)

क—

कल्याणके आगामी विशेषाङ्क—श्रीमद्भागवताङ्क—में जानेवाले एक बहुरंगे चित्रका एकरंगा नमूना

द्वारपालोंके रोकनेपर सनकादि उन्हें शाप देते हैं।

श्रीभागवताङ्कसहित पूरे सालका वार्षिक मूल्य ५≡) है, केवल भागवताङ्कका मूल्य ४।।) है।
आप ग्राहक बनिये और मित्रोंको बनाइये।

श्रीहरिः

कल्याणके पंद्रहवें वर्षकी लेख-सूची

पद्य-सूची

क्रम-संख्या — लेखक — पृष्ठ-संख्या

संकलित

चित्र-सूची

इकरंगे

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥ (श्रीमद्भगवद्गीता १८ । ६५)

वर्ष १५ } गोरखपुर, सितम्बर १९४० सौर भाद्रपद १९९७ { संख्या २ / पूर्ण संख्या १७०

व्रज-रजकी चाह

हम न भई बृंदाबन रेनु ।
जिन चरनन डोलत नँदनंदन नित प्रति चारत धेनु ॥ १ ॥
हमतें धन्य परम ये द्रुम-बन बाल बच्छ अरु धेनु ।
सूर सकल खेलत हँसि बोलत ग्वालन सँग मथि पावत धेनु ॥ २ ॥

स्त्रियोंके अङ्ग, हाव-भाव, सौन्दर्य और चेष्टा आदिका, धनसे प्राप्त होनेवाले गौरव, भोग, आराम और विलासका और मान-सम्मानसे मिलनेवाले मिथ्या सुखोंका कभी स्मरण न करो। इनके सम्बन्धकी बात ही मत सुनो। इनके स्मरणसे मनमें काम-विकार होगा, भोगसुखकी इच्छा उत्पन्न होगी, ईर्ष्या-द्वेष और दु:खोंका उदय होगा। कामनाकी आग हृदयमें धधक उठेगी। भगवान्‌की ओरसे चित्त हट जायगा। असल बात यह है कि जिससे चित्तमें काम, क्रोध, लोभ आदि विकार उत्पन्न हों, ऐसी किसी भी वस्तुका देखना, सुनना, स्पर्श करना और स्मरण करना छोड़ दो।

शुभको देखो, शुभको सुनो, शुभका स्पर्श करो, शुभका स्मरण करो। शुभ वही है जो चित्तमें निर्मलता, प्रसाद, शान्ति, सद्भाव, विषय-वैराग्य और प्रभुभक्तिको उत्पन्न करके चित्तको प्रभुकी ओर लगा दे। इसके सिवा और जो कुछ है, सभी अशुभ है।

बुरी पुस्तकें मत पढ़ो, बुरे नाटक, सिनेमा मत देखो, बुरे स्थानमें मत रहो, बुरी बातें न सुनो, बुरी बात जबानसे न कहो, बुरा चिन्तन न करो, मतलब यह कि बुरेसे सदा सावधानीसे बचते रहो।

दुर्गुणों और दुष्कर्मोंके भयानक परिणामोंको सोचो। नाना प्रकारके शारीरिक रोग, मानसिक पीड़ा, स्मरण-शक्तिका विनाश, उत्साहभंग, विषाद, शोक, महान् निन्दा, सुख-सौन्दर्यका नाश, दण्ड, अकालमृत्यु, नरकोंकी प्राप्ति और पशु-पक्षी आदि योनियोंमें जन्म आदि सब दुर्गुण और दुष्कर्मोंके ही परिणाम हैं। तुम देखते हो—गरीब कमजोर बैलोंको कितना बोझ उठाना पड़ता है, भूख-प्यास सहते हुए डंडोंकी मार खानी पड़ती है—यह सब मनुष्य-जीवनके दुष्कर्मोंका—पापोंका ही परिणाम है। याद रक्खो—पाप करते समय जितना सुख माना जाता है, उससे बहुत ही अधिक अत्यन्त भयानक दु:ख उसके परिणाममें भोगना पड़ता है।

साथ ही सद्गुण और सत्-कर्मसे प्राप्त होनेवाले लाभोंपर विचार करो। सद्गुणी और सदाचारी पुण्यात्मा पुरुषोंकी जीवनियाँ पढ़ो। उनका जीवन कितना सुखमय होता है। और अन्तमें उन्हें किस प्रकारके परम सुखकी प्राप्ति होती है। याद करो—ध्रुव, प्रह्लाद, भीष्म आदिके पवित्र जीवनोंको।

यह सदा स्मरण रक्खो कि जो लोग दुर्गुणी और दुराचारी हैं वे नित्य दु:खके केन्द्रमें ही पड़े हैं। उनका जीवन निरन्तर एक दु:खसे दूसरे दु:खमें, एक भयसे दूसरे भयमें और एक मृत्युसे दूसरी मृत्युमें प्रवेश करता रहता है। सुख, शान्ति और अमरत्व कभी उन्हें प्राप्त होता ही नहीं।

सच्चे सुखी वही हैं—जो सद्गुणी और सदाचारी हैं। जिन्होंने काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर आदि शत्रुओंको जीत लिया है। ऐसे पुरुष सदा ही सुख, शान्तिमें निवास करते हुए अन्तमें अमरत्व और परमा शान्तिको प्राप्त होते हैं।

'शिव'
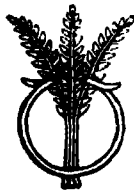
साधक और साधना

(लेखक—श्रीमदनमोहनजी विद्याधर)

साधक, साध्य, सिद्धि, साधना, सिद्ध तथा साधन—इन शब्दोंको प्रायः सभीने सुना होगा। एक व्यक्ति एक सरकारी दफ्तरमें काम करने लगता है। उसे वहाँकी परिभाषाएँ समझा दी जाती हैं। उसके कार्यके अनुसार उसका नाम रख दिया जाता है। यह परिपाटी ऐसी है कि जिसके बिना कार्य नहीं चलता।

यह संसार भी एक उत्तम कार्यालय है। 'प्रभु' इसके 'कार्याध्यक्ष' हैं। हमको इसमें कार्य करना है। इसमें कार्य करनेका नाम 'भक्तिमार्ग या साधनामार्ग' है। आइये, हम भी इस दफ्तरकी परिभाषाओंको समझ लें।

(१) साधक

राजा भर्तृहरि शानसे चले जा रहे थे। रातका समय था। मार्गमें एक 'पौण्ड' चमक रहा था। लालचने हाथसे कहा—भाई! उठा लो। हाथ आगे बढ़ा।······पर यह क्या? अरे यह तो किसीके पानकी पीक थी। मन क्षुब्ध हो गया। संसारसे चित्त हट गया और 'तत्त्व' रूप भगवान्की तरफ चला। इस प्रकारके व्यक्तिको 'साधक' नामसे पुकारा जाता है। जो व्यक्ति अपने 'आत्मा' का चिरसम्बन्ध 'परम आत्मा' से जोड़नेपर तुल जाते हैं और उसके लिये सर्वस्व त्याग करनेतकमें भी पीछे कदम नहीं हटाते, उन्हें 'सच्चे साधक' कहते हैं। जिनकी दृष्टि 'संसार' से ऊपर उठ जाती है, और किसी अन्य 'शक्ति' से मिलनेके लिये आतुर हो उठती है; वे साधक हैं। एक दूसरे साधक भी हैं; जो 'सदाचार' 'सत्य ज्ञान' की साधनामें रत हैं, जैसे बुद्ध भगवान्। वे किसी असीम शक्तिके विषयमें तो कुछ नहीं कहते, पर सदाचारपर सदा दृढ़ रहते हैं।

(२) साध्य

साधक जिस वस्तुकी प्राप्तिकी इच्छा करता है, वह उसका 'साध्य' है, जैसे मनुष्य परमेश्वरकी पूजा चाहता है, उससे अन्तर्मिलन चाहता है। मनुष्यके लिये यह परमेश्वर साध्य है। मनुष्य-जीवनका चरम लक्ष्य अन्तिम ध्येय या साध्य क्या है? एक भगवान्।

(३) सिद्धि

'साध्य' की प्राप्तिका नाम 'सिद्धि' है—'उद्देश्यपूर्ति'। परमेश्वर साध्य है। जब उसकी प्राप्ति हो जाती है तो मनुष्य समझता है कि 'सिद्धि' प्राप्त हो गयी।

(४) साधना

'साध्य' की सिद्धिके लिये जो चेष्टा या क्रिया की जाती है, वह साधना कहलाती है। सिद्धि अर्थात् फल-प्राप्तिके निमित्त जो काम किया जाता है, वह साधना है। साधक भक्तजन जो रात-दिन 'किसी' की उपासनामें रत रहते हैं, वह क्रियाविशेष 'साधना' कहलाती है।

(५) साधन

जिस उपायसे साधना की जाती है उसका नाम 'साधन' है। यम-नियमादि जो योगदर्शनमें प्रतिपादित हैं; वे सब 'साधन' हैं। षोडश संस्कार, पञ्चकर्मादि सब मनुष्यजीवनकी उन्नतिके 'साधन' भूत हैं।

(६) सिद्ध

जो साधक अपने 'साध्य' के साधनरूप उत्तम 'साधना' से अपनी 'सिद्धि' को प्राप्त कर लेता है उसे 'सिद्ध' कहते हैं। सरल भाषामें इसीको 'पहुँचा हुआ संत' कहते हैं। 'सिद्ध पुरुष' भी इसी भावका द्योतक है।

जब मनुष्य किसी कामको करना चाहे तो उसके लिये उसे पूरा तैयार होना चाहिये; उसका उद्देश्य भी अच्छा होना चाहिये; उसकी प्राप्तिके उपाय सुदृढ़ तथा सत्य होने चाहिये। ऐसा होनेपर ही उसे सफलताकी सम्भावना हो सकती है। एक मनुष्य एक दफ्तरमें नौकरी करने जाता है। पहली वस्तु उसके लिये जरूरी है कि उसमें उस कामको करनेकी योग्यता भी है या नहीं। फिर जिसके साथ या जिसके नीचे काम करना है, वह कैसा है, इसका भी उसे पता होना चाहिये। उसकी अध्यक्षतामें काम करके वह उन्नति कर सकता है या नहीं, इसे भी जानना चाहिये। दफ्तरमें आवश्यक सुविधाएँ हैं या नहीं, इसका भी पता लगा रखना चाहिये। जब उसको इनका भली प्रकार ज्ञान हो जाता है, उस समय वह आसानीसे अपना कार्य प्रारम्भ कर सकता है। उस समय उसे 'स्थायित्व' प्राप्त हो जाता है। वह निर्भय निश्चिन्त होकर रहता है।

साधकको चाहिये पहले वह भी 'अभ्यास' वैराग्यके

द्वारा अपने मनको 'शिवसंकल्प' वाला बना ले। 'यम-नियमादि' द्वारा अपने जीवनमें सदाचारका संग्रह कर ले। यदि उसने इतना कर लिया तो उसकी सफलता निश्चित है। यदि उसने इतनी 'पूँजी' बना ली तो वह अपने 'साधना' रूपी व्यापारमें आसानीसे चल सकता है। 'धर्म' पर चढ़कर शिवकी प्राप्तिमें क्या सन्देह ? धर्म या सदाचार ही तो जीवको 'शिव' बनाता है।

उत्तम साधनाके लिये कुछ बातें नियत हैं, जिनका ज्ञान भी नितान्त आवश्यक है। मैं एक-एक करके अति संक्षेपसे उनका दिग्दर्शन कराता हूँ।

१. मनुष्यका उद्देश्य 'सत्य ज्ञान' की प्राप्ति है। प्रभु सत्य ज्ञानमय है। इसलिये 'प्रभु-पदाभिलाषी' जन 'सत्य' की निरन्तर खोजमें लगे रहते हैं।

मनुष्य इस भवसागरमें फँसा है। वह कमजोर है, वह इसके पार जाना चाहता है। उसके लिये उसे किसी मल्लाहकी आवश्यकता है। यही 'मल्लाह' गुरु है। इसलिये सबसे पहले साधकको किसी 'सद्गुरु'की आवश्यकता है। किस सीमातक ? उसीतक जहाँतककी ज्ञान देनेका सम्बन्ध है, रास्ता दिखानेका भार है। परन्तु स्वयं यदि गुरु अपनेको 'प्रभु' या 'कृष्ण' कहने लगे तो यह सत्य न होकर धोखा हो जायगा। गुरुका कार्य है संसारी जीवोंको परमधामका मार्ग बतलाकर उसपर सदा सुखपूर्वक चलनेका उपाय सुझा देना और उसके मार्ग चलनेमें यथासाध्य सहायता करना। कहनेका अभिप्राय यह है कि 'गुरु' मार्गदर्शक है—प्रभु नहीं।

दफ्तरमें एक व्यक्ति कार्यालयाध्यक्षसे मिलने आया। वहाँका जानकार कर्मचारी उसको मार्ग बताने लगा। दो कदम चलकर वह कहने लगा—'मैं ही कार्यालयाध्यक्ष हूँ।' इसमें जितनी सचाई है, जितनी उचितता, उतनी ही सचाई या उचितता गुरुके प्रभु बननेमें है।

गुरुके लक्षण ये हैं—'जो स्वयं ज्ञानवान्, आचारवान्, स्वार्थशून्य, 'सत्य' की खोजमें निरन्तर सन्नद्ध, काम, क्रोध, लोभ, मोहादि चार शत्रुओंका दमन करनेवाला हो, वह गुरु है।' केवल अपने पैरोंका पानी प्रसादरूपसे देनेवाला, स्त्रियोंको गोपिकाएँ कह उनके साथ 'रासलीला' रचाकर 'सद्गृहस्त्रियाँ' बिगाड़नेवाला दुराचारी कदापि गुरु नहीं है। 'जनता' को ऐसोंसे विशेष सावधान रहना चाहिये।

२. 'यथार्थानुभवः प्रमा' सच्चा अनुभव ही ज्ञान है। इसके लिये जो वस्तु जैसी है, उसे वैसा देखना ही सच्चे ज्ञानका द्योतन है। इसके लिये 'बुद्धिपरिपाक' की आवश्यकता है। मनुष्य सद्गुरुद्वारा, सत्सङ्गद्वारा, स्वाध्यायद्वारा इस सत्य ज्ञानको प्राप्त कर सकता है। सत्य ज्ञानकी कसौटी यह नहीं है कि अमुक व्यक्तिने ऐसा कहा है। क्योंकि यदि एकने ऐसा कहा है तो दूसरेने उससे विपरीत भी कहा है। श्रीशङ्कराचार्य 'अद्वैत' पर सन्तुष्ट हैं; 'मध्व' को द्वैत पसंद है। इनमें कौन ठीक और कौन बेठीक—इसको मनुष्य स्वयं विचारे, विधिपूर्वक 'श्रवण-मनन-निदिध्यासन' करे और तब धर्माधर्मका निर्णय कर ले; यही सत्यज्ञानका एकमात्र उपाय है।

'स्वयं विचार' को कई लोग 'अहंकार' कहते हैं। 'मैं ही सत्य जानता हूँ' ऐसे 'अभिमानयुक्त' वाक्य बनानेवाले मनुष्य अवश्य अहंकारी हो सकते हैं। परन्तु सत्यज्ञानमें निरन्तर व्यस्त मनुष्य बिना स्वयं विचारे सत्यको जान ही कैसे सकता है ?

शास्त्रोंको पढ़ो, खूब पढ़ो, सोचो, उनकी सङ्गति लगाओ, फिर उनमेंसे जो उचित मार्ग दिखायी पड़ता हो, उसपर चलने लगो। इसमें शास्त्रोंका अपमान नहीं, शास्त्र-मर्यादाका पालन है। सब ग्रन्थोंको पढ़ो, सुनो, विचारो; फिर उत्तम मार्गका अवलम्बन करो। मनु महाराजने ठीक कहा है—

> श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
> एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्॥

वेदमें कहा है कि 'वेनस्तत् पश्यन्' ज्ञानी ही उसे जानते हैं। ज्ञानी उसे नहीं कहते जो वेदको घोटता है; जो वेदोंको पढ़कर समझता है उसे ज्ञानी कहते हैं। यहींतक नहीं, तदनुकूल आचरण भी आवश्यक है।

३. तीसरी आवश्यक वस्तु अभ्यास है। इसका अर्थ है—'किसी एक कार्यको करनेके लिये उसमें दृढ़तापूर्वक लग जाना, तथा उसके लिये दृढ़संकल्प रखना।' मनुष्यका मन चञ्चल है, इन्द्रियाँ इधर-उधर भागती हैं। उनको निरन्तर दबाना, काबू करना अभ्यास है। कई मनुष्य इतने अधिक चञ्चल प्रकृतिके होते हैं कि उनके लिये किसी एक काममें आध घण्टे बैठना भी कठिन है। परन्तु साधकोंको अभ्यासकी बड़ी भारी आवश्यकता है।

४. वैराग्य—रागका अर्थ है—संसारमें फँस जाना।

उससे हटाकर अपने मनको परमेश्वरमें लगाना, 'इस भावका नाम वैराग्य है' । वैराग्यका अर्थ संसारसे दुःखपूर्ण निराशाजनक उदासीनता नहीं; जैसी कि मृत्युके समय प्रायः मनुष्यके हृदयमें उठती है । वैराग्यका अर्थ है—अपने मनको संसारसे परे करके परमेश्वरपरक करना । इसमें सुख-सन्तोष-आशाके भावोंका विकास होता है । विषादसे 'सिरपर हाथ रखकर' या 'घुटनोंमें मस्तक डालकर' बैठनेवाले मनुष्य वैराग्यको नहीं समझते । प्रसन्नतापूर्वक समझते-बूझते जब मनुष्य संसारसे पराङ्मुख हो जाता है, उसकी इन्द्रियाँ बहिर्मुख यात्राको बंद करके अन्तर्मुख दौड़ने लगती हैं, जब उसका आत्मा बाह्य संसारसे निवृत्त हो प्रभुकी तरफ प्रवृत्त हो जाता है; बाहरके निरीक्षणके स्थानपर आत्मनिरीक्षणमें लग जाता है, उस स्थितिका नाम वैराग्य है । 'प्रभुकी ओर जाना और तद्विरोधीका सर्वथा परित्याग कर देना' यह वैराग्यके लिये आवश्यक है ।

५. सदाचारके दो अभिप्राय हैं । एक तो 'महाजनो येन गतः स पन्थाः' ऐसा समझना । मनुष्य-जीवनकी उन्नतिमें महापुरुषोंके 'सच्चरित्र' बड़े भारी सहायक हैं । लाखों उपदेशोंसे एक क्रियात्मक सदाचारमय जीवन करोड़ों दर्जे बेहतर है ।

दूसरा अर्थ है—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥

आदि दशरूपक धर्मका पालन । साधकके लिये 'सदाचारी' होना अत्यन्त आवश्यक है । इसके लिये ब्रह्मचर्य सबसे आवश्यक है । प्रबल 'कामभाव' का उपशमन हुए बिना 'साधना' हो नहीं सकती । 'सज्ज्ञान' अर्थात् जैसेको तैसा समझना । सद्व्यवहार अर्थात् जो जिस बर्तावके उपयुक्त हो, उससे वैसा व्यवहार करना इत्यादि बहुत-सी बातें सदाचारके घेरेमें आ जाती हैं ।

एक व्यक्ति अपने व्यवहारमें सच्चा है । सदा मीठा बोलता है । व्यभिचार नहीं करता । किसीको कष्ट नहीं देता । इस प्रकार निरन्तर २४ घण्टे 'सत्' के लिये क्रियात्मकरूपमें देता है । वह तिलक नहीं लगाता, बाहरी वेश नहीं बनाता । आदि-आदि जो 'धर्म' के बाह्य चिह्न हैं, उन्हें (मानने न माननेका प्रश्न नहीं) नहीं करता । (उनका विरोध या खण्डन भी नहीं करता) इसे भी मुक्ति मिलेगी क्योंकि इसका मन पवित्र है । 'आर्यवैदिकधर्म' में 'सदाचार' की प्रधानता है । उसमें 'न लिङ्गं धर्मकारणम्' ।

'ईशसाधना' में तत्पर साधकोंके लिये कुछ आवश्यक बातोंका यहाँ अति संक्षेपमें उल्लेख किया गया है । आशा है जो पाठक साधनाका प्रारम्भ कर रहे हैं, उन्हे कुछ लाभ होगा । जो 'अद्वैत' में प्रतिष्ठित हैं, उनके लिये साधना-असाधना क्या ? जो द्वैतमें भी प्रभु-आनन्द उठा चुके हैं, उनके लिये भी क्या ? 'राज्य' के अतिथिको 'भिखारी' का अन्न क्यों अच्छा लगे ? पहुँचे हुओंके लिये इस लेखमें कुछ भी नहीं है । प्रारम्भ करनेवालोंको शायद कुछ मिल सके । भिक्षुककी यही भेंट सही !

ईश्वरशरण

(पू० स्वामीजी श्रीभोलेबाबाजी)

स्वर्गादि अभ्युदयकी इच्छा करनेवाले सज्जन यज्ञ, तप, दान आदि सकाम कर्म करें, अथवा दहरादि वेदोक्त उपासनाएँ; अन्तःकरणकी शुद्धिके चाहनेवाले शिष्टजन निष्कामकर्म और निष्काम ही उपासनाएँ करें; भगवत्के साथ विहार करनेकी इच्छावाले श्रवण, कीर्तन आदि नवधा भक्ति करें; अणिमादि सिद्धियाँ चाहनेवाले अष्टाङ्ग योग करें; मोक्षाभिलाषी धीर जन सद्गुरुके समीप रहकर श्रवण, मनन, निदिध्यासन करें; किन्तु लेखकके लिये तो केवल एक ईश्वरशरण ही साधन है और वही साध्य है ।

कामके पत्र

(दुःखनाशके साधन)

प्रिय भाई,

प्रेमसहित राम राम, तुम्हारा पत्र मिले बहुत दिन हो गये। मैं समयपर उत्तर नहीं दे सका, इसका मुझे स्वयं बड़ा खेद है। तुम कभी यह न समझना कि तुम्हारी 'वर्तमान स्थिति' मुझसे कोई लापरवाही करवा रही है। प्रेमकी पवित्र भावनापर किसी बाह्य स्थितिका कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता। धन-सम्पत्ति, रूप-गुण, मान-प्रतिष्ठा आदिकी न्यूनाधिकताको लेकर जिस प्रेममें घटा-बढ़ी होती है, वह तो प्रेमका अति बाह्य विकृत रूप है। यथार्थमें वह प्रेम ही नहीं है। धन-मानके कारण जो प्रेम होता है, वह तो एक प्रकारका स्वार्थ-साधनमात्र है। अपने पास धन न रहे या अपना कहीं अत्यन्त अपमान हो जाय तो क्या कोई अपने प्रति प्रेम कम कर देता है? जहाँ आत्मभाव है वहीं वास्तविक प्रेम है, और उस प्रेममें किसी अवस्थाविशेषसे कोई रूपान्तर हो नहीं सकता। जो अपना है, वह तो अपना ही है, चाहे वह कितना ही दरिद्र और अपमानित क्यों न हो। सत्पुरुष तो यह कहते हैं कि विपत्तिकालमें सौगुने प्रेमका व्यवहार होना चाहिये—

'बिपतिकाल कर सतगुन नेहा।'

यह सत्य है कि प्रेमका स्वरूप जो कुछ मैंने लिखा है, यही यथार्थ नहीं है; प्रेम तो अनिर्वचनीय और अनुभवस्वरूप है। भगवान्की कृपासे ही उसकी प्राप्ति होती है। अपने मनमें प्रेमके जिस स्वरूपकी कल्पना होती है, वह भी कहने और लिखनेसे परेकी चीज है, और जो कुछ लिखा जाता है, उतना भी वस्तुतः पालन नहीं किया जाता। इसलिये यही कहना पड़ता है कि मैं प्रेमकी केवल बातें ही बनाता हूँ, हूँ उससे बहुत दूर। इतनेपर भी तुम्हारे प्रति मेरे मनमें जैसे कुछ भाव हैं, उनको देखते यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि तुम्हारी वर्तमान स्थितिने मुझको तुम्हारी ओर अधिक खींचा है, दूर नहीं किया। तथापि यह तो मेरी भूल ही है कि मैंने महीनोंतक तुम्हारे पत्रका उत्तर नहीं दिया। मेरी इस भूलके कारण तुम्हारे मनमें सन्देहकी छाया दीख पड़े तो कोई आश्चर्य नहीं। मेरा यह कसूर है और इसके लिये मैं कम पश्चात्ताप नहीं कर रहा हूँ।

सचमुच लौकिक दृष्टिसे तुम्हारी अवस्था बड़ी शोचनीय है। कुछ ही दिनों पहले जो सब ओरसे सम्मान और इज्जत पाता रहा हो, अभावका अनुभव होते ही अभावको मिटा देनेवाली वस्तुएँ सहज ही जिसके सामने आ जाती हों, तथा धन-मान और आराममें ही जिसकी जिन्दगी कटी हो,—कुछ ही दिनों बाद उसका अपमानित, अभावपीड़ित और समाजमें लाञ्छित होना उसे कैसी भयानक व्यथा देनेवाला होता है, इसे भुक्तभोगी ही जानता है। जिसकी ऐसी अवस्था कभी नहीं हुई वह तो इसका अनुमान ही नहीं कर सकता।

परन्तु भैया! यह सारी व्यथा है मोहजनित ही। तुम जो पहले थे, वही अब हो, और वही आगे भी रहोगे। मनुष्य मोहवश कुछ वस्तुओंमें और स्थितियोंमें ममत्व कर बैठता है, और ममत्वकी वे चीजें और स्थितियाँ जब दूर हट जाती हैं, तब वह दुखी होता है। संसारके इन अनित्य पदार्थोंमें यदि मनुष्य ममत्वका आरोप न करे तो इनके आने-जानेमें उसे हर्ष और शोकके विकारसे सहज ही छुटकारा मिल जाय।

कुछ ऐसी चीजें थीं, ऐसी अवस्थाएँ थीं—जिनको तुमने अपनी मान लिया था, आज वे तुम्हारे अधिकारमें नहीं हैं, इसीसे तुम अपनेको दुखी मान रहे हो।

दुखी उस समय भी थे, क्योंकि उस समय भी तुम्हें नित्य नये-नये अभावोंका अनुभव हुआ करता था, और तुम उन्हींकी पूर्तिमें सदा व्यस्त रहते थे। अवश्य ही उन अभावोंका स्वरूप आजके अभावों-जैसा न था—दूसरा था।

संसार तो दुःखालय है ही। इसमें एक आनन्द-स्वरूप भगवान्‌को छोड़कर और कहाँ सुख है ? धनी हो या गरीब, सम्मानित हो या अपमानित, जबतक उसके जीवनकी गति भगवान्‌की ओर नहीं होती, तबतक किसी भी अवस्थामें उसे सुख नहीं मिल सकता। वह जलता ही रहता है। दुःखकी यन्त्रणामयी ज्वालासे बचनेका एक ही उपाय है—'भगवान्‌की ओर जीवनको मोड़ देना।' मनुष्य इसे तो करता नहीं, और कर्मोंकी नयी-नयी गाँठें बाँधकर पुरानी गाँठोंको सुलझाना और खोलना चाहता है, फलतः और भी बँध जाता है।

रही धननाश और अपमानादिकी बात, सो ये तो हमारे ही पूर्वकृत कर्मोंके फल हैं, जो हमें कर्मबन्धनसे मुक्त करनेके लिये आते हैं। इस दृष्टिसे भी दुःख न मानकर सुख ही मानना चाहिये।

कर्मफलका समस्त विधान दयामय भगवान्‌के द्वारा होता है, उनका कोई भी विधान अमङ्गलकारी हो नहीं सकता, इस दृष्टिसे भी हमें धननाश और अपमानादिकी अवस्थामें दुखी न होकर सुखी होना चाहिये।

भगवान् हमारे परम सुहृद् हैं, परम प्रियतम हैं और हमारी सारी व्यवस्थाको जानकर हमारे मङ्गलके लिये ही उचित व्यवस्था करते हैं। इसीमें उन्हें आनन्द मिलता है। हमारा मङ्गल हो और उन्हें आनन्द मिले, इससे अधिक सुखकी बात क्या हो सकती है। इस दृष्टिसे भी हमें सुखी ही होना चाहिये।

जगत्‌के निमित्त और उपादान-कारण भगवान् ही हैं। यह सारा जगत् उन्हींमें और उन्हींसे स्थित, निर्मित और सञ्चालित है। प्रत्येक विधानमें आत्म-गोपन करके वस्तुतः वे विधाता ही प्रकट हैं। अतएव हमें प्रत्येक स्थितिमें उनके दर्शन पाकर, उनका स्पर्श पाकर, उनमें मिलकर सुखी होना चाहिये।

यह सब कुछ भगवान्‌की मङ्गलमयी लीला है, जो एक अखण्ड, सनातन, दिव्य भगवदीय नियमके अनुसार नित्य होती रहती है। यह अनादि है, अनन्त है और पहलेसे ही भलीभाँति रची हुई है। इसमें कोई बात अनहोनी नहीं, अनियमित नहीं और बेठीक नहीं। सब ठीक, सब नियमित, सब कल्याणमयी और सब अवश्यम्भावी है। होता वही है जो पहलेसे उनका रचा हुआ है—'होइहैं सोइ जो राम रचि राखा।' फिल्ममें सब कुछ पहलेसे ही अङ्कित है, बस, सामने आना है। जो सामने आवे, वही ठीक है। उसीमें भगवान्‌की मधुर लीलाके दर्शनकर सुखी होना चाहिये।

वेदान्तवाले तो जगत्‌को असत्—रज्जुसर्पवत्, आकाशकुसुमवत् और स्वप्नवत् मिथ्या ही मानते हैं। मिथ्यामें दुःख कैसा ? इस दृष्टिसे भी अज्ञानसे दीखनेवाले जगत्‌को वस्तुतः सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममय देखकर सुखी ही होना चाहिये।

यदि तुम भलीभाँति विचार करो, आजतकके इतिहासपर ध्यान दो, तथा साथ ही पारमार्थिक दृष्टिसे देखो तो तुम्हें पता लगेगा कि धन और मानादिमें वस्तुतः सुख-शान्ति और कल्याण है ही नहीं। यहाँ मैं पद्मपुराणसे प्रसिद्ध महर्षियोंके कुछ वचन उद्धृत कर रहा हूँ, इनसे तुम अच्छी तरह इस विषयको समझ सकोगे—

अकिञ्चनत्वं राज्यं च तुलया समतोलयत्।
अकिञ्चनत्वमधिकं राज्यादपि हितात्मनः॥

(वसिष्ठ)

'अकिञ्चनता और राज्य दोनों काँटेपर रखकर तौले गये थे (परमज्ञानी महर्षियोंने दोनोंके परिणामपर विचार करके निश्चय किया था) तो यही पता लगा था कि अपना हित चाहनेवाले मनुष्यके लिये राज्यकी अपेक्षा अकिञ्चनता (धनका सर्वथा अभाव) ही श्रेष्ठ है।'

अर्थसम्पद्विमोहाय विमोहो नरकाय च।
तस्मादर्थमनर्थाख्यं श्रेयोऽर्थी दूरतस्त्यजेत्॥
यस्य धर्मार्थमर्थेहा तस्यानीहा गरीयसी।
प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम्॥
(कश्यप)

'अर्थ-सम्पत्ति विशेषरूपसे मोहका कारण है और विमोहसे नरककी प्राप्ति होती है। इसलिये कल्याण चाहनेवाले मनुष्यको इस अनर्थरूप अर्थका दूरसे ही त्याग कर देना चाहिये। जो धर्मके लिये अर्थकी इच्छा करता है, उसके लिये भी अनिच्छा ही श्रेष्ठ है। कीचड़ लपेटकर उसे धोनेकी अपेक्षा दूर रहकर उसे न छूना ही अच्छा है।'

इहैवेदं वसु प्रीत्यै प्रेत्य वै कुण्ठितोदयम्।
तस्मान्न ग्राह्यमेवैतत्सुखमानन्त्यमिच्छता॥
(अत्रि)

'धन यहीं अच्छा लगता है, परलोकमें तो यह उन्नतिमें प्रतिबन्धक है, इसलिये अनन्त सुख चाहनेवाले पुरुषके लिये यह किसी प्रकार भी ग्रहण करनेयोग्य नहीं है।'

अनन्तपारा दुष्पूरा तृष्णा दुःखशतावहा।
अधर्मबहुला चैव तस्मात्तां परिवर्जयेत्॥
(भरद्वाज)

'(धन-मानकी) तृष्णाका पार नहीं है और उसका पूरा होना भी दुःसाध्य है। तृष्णामें सैकड़ों दुःख हैं और वह बहुतसे अधर्मोंसे युक्त है। इसलिये तृष्णाका त्याग ही करना चाहिये।'

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते॥
कामानभिलषन्मोहान्न नरः सुखमेधते।
श्येनालयतरुच्छायां व्रजन्निव कपिञ्जलः॥
चतुःसागरपर्यन्तां यो भुङ्क्ते पृथिवीमिमाम्।
तुल्याश्मकाञ्चनो यश्च स कृतार्थो न पार्थिवः॥
(विश्वामित्र)

'विषयोंके भोगसे कामनाकी शान्ति कदापि नहीं होती। आगमें घीकी आहुति देनेपर जैसे वह एक बार बुझती-सी दीखती है परन्तु तुरन्त ही बढ़ जाती है, इसी प्रकार विषय-भोगसे कामना बढ़ जाती है। मोहवश भोगोंकी कामना करनेवाला मनुष्य कभी सुख नहीं पा सकता, उसकी वैसी ही दशा होती है जैसी बाजके घोंसलेवाले पेड़की छायामें जानेवाले कपिञ्जल पक्षीकी होती है (इसलिये अनर्थमयी अर्थकी इच्छा न रखकर सन्तोष करना चाहिये) एक मनुष्य, जो चारों समुद्रोंतककी पृथ्वीके राज्यका उपभोग करता है तथा दूसरा जो सुवर्ण और पत्थरको समान दृष्टिसे देखता है—इन दोनोंमें दूसरा (सोने और पत्थरको समान समझनेवाला) ही कृतार्थ होता है; विशाल भूमण्डलका स्वामी राजा नहीं।'

सन्तोषामृततृप्तानां यत्सुखं शान्तचेतसाम्।
कुतस्तद्धनलुब्धानामितश्चेतश्च धावताम्॥
असन्तोषः परं दुःखं सन्तोषः परमं सुखम्।
सुखार्थी पुरुषस्तस्मात्सन्तुष्टः सततं भवेत्॥
(गौतम)

'सन्तोषरूपी अमृतके पानसे तृप्त शान्तचित्त पुरुषोंको जो सुख है, धनके लोभसे इधर-उधर दौड़नेवालोंके नसीबमें वह सुख कहाँ है? असन्तोष ही परम दुःख है और सन्तोष ही परम सुख है। इसलिये सुख चाहनेवाले पुरुषको (भगवान्‌की दी हुई प्रत्येक स्थितिमें) सदा सन्तुष्ट रहना चाहिये।'

अब रही अपमानकी बात, सो इसके सम्बन्धमें कहा है—

अपमानात्तपोवृद्धिः सम्मानाच्च तपःक्षयः।
अर्चितः पूजितो विप्रोऽदुग्धा गौरिव गच्छति॥
अमृतस्येव तृप्येत अपमानस्य योगवित्।
विषवच्च जुगुप्सेत सम्मानस्य सदा नरः॥

'अपमानसे तपकी वृद्धि और सम्मानसे तपका क्षय होता है। जिसका दूध निकाल लिया गया है, उस गायकी तरह वह अर्चा-पूजा करानेवाला (बहुत बड़े

मानको प्राप्त) विप्र भी निस्सार होकर ही चला जाता है। योगवित् पुरुषको अपमानसे अमृतपानकी तरह तृप्त होना चाहिये; और सम्मानको विषके समान हेय समझना चाहिये।'

धन और मानकी वृद्धिसे मनुष्यमें प्रायः असंयम, दर्प, अभिमान, क्रोध, लोभ, हिंसा, भोगपरायणता, कुसङ्गति, असूया और अविवेक आदि दोष बढ़ जाते हैं। धन और मानके अभावमें इन दोषोंका ह्रास होता है। सच्ची बात कड़वी तो लगती है, परन्तु प्रसङ्ग आ पड़नेपर कहे बिना काम नहीं चलता। बात यह है कि धन और मानके अभावमें ही जीवका कल्याण है, इनकी प्राप्ति और वृद्धिमें नहीं। बुरा न मानना भैया! मुझे तो सूर्यके प्रकाशकी-ज्यों यह स्पष्ट दीख पड़ता है कि श्रीभगवान्ने बड़ी कृपा करके तुमको यह स्थिति दान की है। निश्चय ही परिणाममें यह तुम्हारा कल्याण करनेवाली होगी। यदि तुम अभी इस बातका अनुभव कर सको तो तुम्हारे सब दुःख आज ही दूर हो सकते हैं।

'नहिं दरिद्र सम दुख जग माहीं', 'सबसे कठिन जाति अपमाना' आदि वाक्य परमार्थदृष्टिवाले पुरुषके लिये नहीं हैं। भगवान्के दिये हुए दारिद्र्य और अपमानको सिर चढ़ाकर अम्लान मनसे इन्हें स्वीकार करना चाहिये। यदि ये हमारे मोहको भंग कर दें और हमें भगवान्की ओर मोड़ दें तो इनसे अधिक हमारा हितकारी और कौन होगा? भैया! अपनी इस स्थितिमें श्रीभगवान्की कृपाका प्रत्यक्ष अनुभव करो। व्यर्थके आराम और भोगोंको भूल जाओ। धीर पुरुष तो अपने जीवनके उद्देश्यकी सिद्धिके लिये तपरूपमें विपत्तियोंको बुलाया करते हैं और सहर्ष उनका स्वागत और स्वीकार कर उन्हें चिपटाये रखते हैं। ध्रुवने भीषण तप किया था। पार्वतीने शिवकी प्राप्तिके लिये घोर तपस्या की थी। हजारों उदाहरण हैं। अभी हालमें महाराणा प्रताप राज्य-सुखको त्याग कर अपने व्रतपालनके लिये सुकुमार बाल-बच्चोंको साथ लिये, वन-वन भटके और पहाड़ोंकी गुफाओंमें रहे थे।

'लोग सम्मान करते थे, अब नहीं करते; धनसे अमुक-अमुक आराम थे, अब नहीं हैं; खाने-पीनेको बढ़िया पदार्थ और रहनेको सुन्दर स्थान मिलते थे, अब वैसे नहीं मिलते हैं; बहुत लोग मिलनेको आते थे, अब कोई बोलना भी नहीं चाहता; देखते ही सब मुँह मोड़ लेते हैं।' यही तो दुःखका रूप है। विचार करके देखो—इसमें कल्पनाके सिवा और कहाँ दुःख है? दुःखकी कल्पनाको दूर करके उसके स्थानमें भगवत्कृपाजनित कल्याणकी कल्पना करो। भगवान्ने ही तुमको यह त्यागपूर्ण अकिञ्चन स्थिति प्रदान की है। तुम सारे झंझटोंसे मुक्त हो गये! बड़ा बोझा उतर गया तुम्हारे सिरसे। चेष्टा करनेपर भी एकान्त मिलना मुश्किल था। अपने-आप ही सब प्रपञ्च मिट गये। अब बस, निष्कण्टक होकर भजन करो।

तुम्हारा प्रत्येक प्रयत्न जो असफल हो रहा है, इसमें भी भगवान्की कृपाका ही हाथ समझो। वे तुम्हें मोहमें डालनेवाली स्थितिसे निकालकर अपनी सेवामें रखना चाहते हैं, यह सब उसीका आयोजन है। ऐसा न होता तो पता नहीं, धन-मानका मद तुम्हें कहाँ—भगवान्से कितनी दूर—ले जाकर किस नरकमें पटकता। बड़े भाग्यवान् और भगवान्के कृपापात्र हो तुम—जो इस समय भगवान्की कृपादृष्टिके पात्र हो रहे हो और भगवान्ने तुम्हारे कल्याणका कार्य अपनी कृपाशक्तिके हाथोंमें सौंप दिया है। श्रीभगवान्ने स्वयं कहा है—

यस्याहमनुगृह्णामि हरिष्ये तद्धनं शनैः।
ततोऽधनं त्यजन्त्यस्य स्वजना दुःखदुःखितम्॥
स यदा वितथोद्योगो निर्विण्णः स्याद्धनेहया।
मत्परैः कृतमैत्रस्य करिष्ये मदनुग्रहम्॥

(श्रीमद्भा० १०। ८८। ८-९)

'(भोगोंमें रचा-पचा हुआ जो मनुष्य मेरा भजन नहीं कर पाता, चाहनेपर भी नहीं कर पाता। धन-मानरूपी विघ्न जिसे बार-बार मेरे कल्याणकारी मार्गसे हटाते और दुःखदायी भोगोंमें लगाते रहते हैं, उसे निर्विघ्न करके अपनी ओर खींचनेके लिये) जिसपर मैं अनुग्रह करता हूँ, उसके सारे धनको धीरे-धीरे हर लेता हूँ। तब उस निर्धन और अनेकों दुःखोंसे दुःखित मनुष्यको उसके स्वजन-बान्धवलोग छोड़ देते हैं। (कोई भी घरवाले, मित्र-बन्धु या सगे-सम्बन्धी उससे प्रेमका और सहानुभूतिका सम्बन्ध नहीं रखना चाहते) वह कहीं धनके लिये उद्योग भी करता है, तो मेरी कृपासे उसके सारे उद्योग निष्फल हो जाते हैं, फिर वह सब ओरसे निराश होकर मेरे परायण रहनेवाले भक्तोंके साथ मित्रता करता है (वे उसे प्रेमसे अपनाते हैं) तब मैं उसपर अनुग्रह करता हूँ (वह सब दुःखोंसे छूटकर मुझको पा जाता है)।

मूढ़ मन और साधना

(लेखक—श्रीअयोध्यासिंहजी उपाध्याय 'हरिऔध')

चौपदे

मोद पाता था प्रमादोंमें पड़े।
मन मनाये भी नहीं था मानता।
क्यों बसन बुनता न कुत्सित वृत्तिका ?
जब रहा ताना कुपथमें तानता ॥१॥

आत्मसुख कोई तजे तो क्यों तजे ?
सुन अनेक प्रवंचितोंकी जल्पना।
वह कभी कहता बहँक परलोककी—
कल्पना है वास्तवमें कल्पना ॥२॥

वह कभी यह सोचता संदिग्ध बन,
लोक ईश्वरको सका अवलोक कब।
आजतक भी वह तिमिर-आच्छन्न है।
पड़ सका परलोकपर आलोक कब ॥३॥

यह सुनाता वह कभी वे मूढ़ हैं,
पंथ जो आमोदका हैं रोकते।
लोचनोंको मूँदकर तमतोममें—
लोग कैसे ज्योति हैं अवलोकते ॥४॥

बोलकर बहु व्यंग बतलाता कभी—
यातनामय योगका व्यापार है।
है समाधि प्रसुप्त भावसहोदरा,
दृश्य उसका स्वप्नका संसार है ॥५॥

चुटकियाँ ले ले चहकता यों कभी,
बात सच्ची क्यों नहीं जाये कही ?
साँसतें हैं सब क्रियायें साँसकी,
नाकमें दम कर दिखाना है यही ॥६॥

मति कभी कुछ बोलती तो डाँटता,
और कह उठता बनो मत बावली।
नीरक्षीरविवेककी अधिकारिणी—
हंसमाला हो सकी, न बकावली ॥७॥

जब प्रमाद प्रपञ्च पेचोंमें पड़ा।
किस तरह करता सविधि आराधना।
क्यों भला तब लाभ करता सिद्धि वह।
मूढ़ मनसे हो सकी कब साधना ॥८॥

परलोक और पुनर्जन्म

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

परलोक और पुनर्जन्मका सिद्धान्त हिंदूधर्मकी खास सम्पत्ति है। जैन और बौद्धमत भी, जो एक प्रकारसे हिंदूधर्मकी ही शाखाएँ मानी जा सकती हैं और इस प्रकार हिंदूधर्मके अन्तर्गत ही हैं, इस सिद्धान्तको मानते हैं। मुसलमान और ईसाईमत इस सिद्धान्तको नहीं मानते; परन्तु थियॉसफी सम्प्रदायके उद्योगों तथा प्रेतविद्या (Spiritualism) के चमत्कारोंने (जिसका इधर कुछ वर्षोंमें पाश्चात्त्य जगत्‌में काफी प्रचार हुआ है) इस ओर लोगोंका काफी ध्यान आकृष्ट किया है और अब तो हजारों-लाखोंकी संख्यामें योरोप और अमेरिकाके लोग भी ईसाई होते हुए भी परलोकमें विश्वास करने लगे हैं। हमारे भारतवर्षका तो बच्चा-बच्चा इस सिद्धान्तको मानता और उसपर अमल करता है। यही नहीं, यह सिद्धान्त हमारे जीवनके प्रत्येक अङ्गके साथ सम्बद्ध हो गया है; हमारा कोई धार्मिक कृत्य ऐसा नहीं है, जिसका प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्षरूपसे परलोकसे सम्बन्ध न हो और हमारा कोई धार्मिक ग्रन्थ ऐसा नहीं है, जो प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्षरूपसे परलोक एवं पुनर्जन्मका समर्थन न करता हो। इधर तो कई स्थानोंमें ऐसी घटनाएँ भी प्रकाशमें आयी हैं जिनमें अबोध बालक-बालिकाओंने अपने पूर्वजन्मकी बातें कही हैं, जो जाँच-पड़ताल करनेपर सोलहो आने सच निकली हैं।

आत्माकी उन्नति तथा जगत्‌में धार्मिक भाव, सुख-शान्ति तथा प्रेमके विस्तारके लिये तथा पाप-तापसे बचनेके लिये परलोक एवं पुनर्जन्मको मानना आवश्यक भी है। आज संसारमें, विशेषकर पाश्चात्त्य देशोंमें आत्महत्याओंकी संख्या जो दिनोंदिन बढ़ रही है—आये दिन लोगोंके जीवनसे निराश होकर अथवा असफलतासे दुखी होकर, अपमान एवं अपकीर्तिसे बचनेके लिये अथवा इच्छाकी पूर्ति न होनेके दुःखसे डूबकर, फाँसी खाकर, जलकर, विषपान करके अथवा गोली खाकर प्राणत्याग करनेकी बातें पढ़ी-सुनी और देखी जाती हैं—उसका एकमात्र कारण आत्माकी अमरतामें तथा परलोकमें अविश्वास है। यदि हमें यह निश्चय हो जाय कि हमारा जीवन इस शरीरतक ही सीमित नहीं है, इसके पहले भी हम थे और इसके बाद भी हम रहेंगे, इस शरीरका अन्त कर देनेसे हमारे कष्टोंका अन्त नहीं हो जायगा, बल्कि इस शरीरके भोगोंको भोगे बिना ही प्राणत्याग कर देनेसे तथा आत्महत्यारूप नया घोर पाप करनेसे हमारा भविष्य जीवन और भी अधिक कष्टमय होगा, तो हम कभी आत्महत्या करनेका साहस न करें। अत्यन्त खेदका विषय है कि पाश्चात्त्य जडवादी सभ्यताके सम्पर्कमें आनेसे यह पाप हमारे आधुनिक शिक्षा-प्राप्त नवयुवकोंमें भी घर कर रहा है और आजकल ऐसी बातें हमारे देशमें भी देखी-सुनी जाने लगी हैं। हमारे शास्त्रोंने आत्महत्याको बहुत बड़ा पाप माना है और उसका फल सूकर, कूकर आदि अन्धकारमय योनियोंकी प्राप्ति बतलाया है। श्रुति कहती है—

> असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।
> तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥
> (ईशोपनिषद् ३)

अर्थात् वे असुर-सम्बन्धी लोक [अथवा आसुरी योनियाँ] आत्माके अदर्शनरूप अज्ञानसे आच्छादित हैं। जो कोई भी आत्माका हनन करनेवाले लोग हैं, वे मरनेके अनन्तर उन्हींमें जाते हैं।

संसारमें जो पापोंकी वृद्धि हो रही है—झूठ, कपट, चोरी, हिंसा, व्यभिचार एवं अनाचार बढ़ रहे हैं, व्यक्तियोंकी भाँति राष्ट्रोंमें भी परस्पर द्वेष और कलहकी वृद्धि हो रही है, बलवान् दुर्बलोंको सता रहे हैं, लोग नीति और धर्मके मार्गको छोड़कर अनीति और अधर्मके मार्गपर आरूढ़ हो रहे हैं, लौकिक उन्नति और भौतिक सुखको ही लोगोंने अपना ध्येय बना लिया है और उसीकी प्राप्तिके लिये सब लोग यत्नवान् हैं, विलासिता और इन्द्रियलोलुपता बढ़ती जा रही है, भक्ष्याभक्ष्यका विचार उठता जा रहा है, जीभके स्वाद और शरीरके आरामके लिये दूसरोंके कष्टकी तनिक भी परवा नहीं की जाती, मादक द्रव्योंका प्रचार बढ़ रहा है, बेईमानी और घूसखोरी उन्नतिपर है, एक दूसरेके प्रति लोगोंका विश्वास कम होता जा रहा है, मुकदमेबाजी बढ़ रही है, अपराधोंकी संख्या बढ़ती जा रही है, दम्भ और पाषण्डकी वृद्धि हो रही है—इन सबका कारण यही है कि लोगोंने वर्तमान जीवनको ही अपना जीवन मान रक्खा है; इसके आगे भी कोई जीवन है, इसमें उनका विश्वास नहीं है। इसीलिये वे वर्तमान जीवनको ही सुखी बनानेके प्रयत्नमें लगे हुए हैं। 'जबतक जियो, सुखसे जियो; कर्जा लेकर भी अच्छे-अच्छे पदार्थोंका उपभोग करो। मरनेके बाद क्या होगा, किसने देख रक्खा है।'* इसी सर्वनाश-

* यावज्जीवं सुखं जीवेदृणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः (चार्वाक)

कारी मान्यताकी ओर आज प्रायः सारा संसार जा रहा है। यही कारण है कि वह सुखके बदले अधिकाधिक दुःखमें ही फँसता जा रहा है। परलोक और पुनर्जन्मको न माननेका यह अवश्यम्भावी फल है। आज हम इसी परलोक और पुनर्जन्मके सिद्धान्तकी कुछ चर्चा करते हैं, और इस सिद्धान्तको माननेवालोंका क्या कर्तव्य है—इसपर भी विचार कर रहे हैं।

जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं, परलोक और पुनर्जन्मके सिद्धान्तका प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्षरूपसे हमारे सभी शास्त्रोंने समर्थन किया है। वेदोंसे लेकर आधुनिक दार्शनिक ग्रन्थोंतक सभीने एक स्वरसे इस सिद्धान्तकी पुष्टि की है। स्मृतियों, पुराणों तथा महाभारतादि इतिहास-ग्रन्थोंमें तो इस विषयके इतने प्रमाण भरे हैं कि उन सबको यदि सङ्गृहीत किया जाय तो एक बहुत बड़ी पुस्तक तैयार हो सकती है। इसके लिये न तो अवकाश है और न इसकी उतनी आवश्यकता ही प्रतीत होती है। प्रस्तुत निबन्धमें उपनिषद्, गीता, मनुस्मृति, योगसूत्र आदि कुछ थोड़े-से चुने हुए प्रामाणिक ग्रन्थोंमेंसे ही कुछ प्रमाण लेकर इस सिद्धान्तकी पुष्टि की जायगी और युक्तियोंके द्वारा भी इसे सिद्ध करनेकी चेष्टा की जायगी।

कठोपनिषद्का नाचिकेतोपाख्यान इस सिद्धान्तका जीता-जागता प्रमाण है। उपनिषद्का पहला श्लोक ही परलोकके अस्तित्वको सूचित करता है। नचिकेताने जब देखा कि उसके पिता वाजश्रवस ऋत्विजोंको बुड्ढी और निकम्मी गायें दानमें दे रहे हैं, तो उससे न रहा गया। वह सोचने लगा कि ऐसी गायें देनेवालेको तो आनन्दरहित लोकोंकी प्राप्ति होती है—

पीतोदका जग्धतृणा दुग्धदोहा निरिन्द्रियाः।
अनन्दा नाम ते लोकास्तान् स गच्छति ता ददत्॥*

(१।१।३)

अतएव उसने पिताको उस कामसे रोकनेका प्रयत्न किया पर इसमें वह सफल न हो सका। इसके बाद उसके पिताने कुपित होकर जब उसे मृत्युको सौंप देनेकी बात कही तो वह प्रसन्नतापूर्वक पिताकी आज्ञाको शिरोधार्य कर यमलोकमें चला गया। इसके बाद उसके और यमराजके बीचमें जो सम्वाद हुआ है, वह बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। यमराजने उसे तीन वर देनेको कहे। उनमेंसे तीसरा वर माँगता हुआ नचिकेता यमराजसे यह प्रश्न करता है—

येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके।
एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहं वराणामेष वरस्तृतीयः॥

(१।१।२०)

अर्थात् मरे हुए मनुष्यके विषयमें जो यह शङ्का है कि कोई तो कहते हैं मरनेके अनन्तर 'आत्मा रहता है' और कोई कहते हैं 'नहीं रहता'—इस सम्बन्धमें मैं आपसे उपदेश चाहता हूँ, जिससे मैं इस विषयका ज्ञान प्राप्त कर सकूँ। मेरे माँगे हुए वरोंमें यह तीसरा वर है।

यमराजने इस विषयको टालना चाहा और नचिकेतासे कहा कि तू कोई दूसरा वर माँग ले, क्योंकि यह विषय अत्यन्त गूढ़ है और देवताओंको भी इस विषयमें शङ्का हो जाया करती है। नचिकेता कोई सामान्य जिज्ञासु नहीं था। अतः विषयकी गूढ़ताको सुनकर उसका उत्साह कम नहीं हुआ, बल्कि उसकी जिज्ञासा और भी प्रबल हो उठी। वह बोला कि इसीलिये तो इस विषयको मैं आपसे जानना चाहता हूँ, क्योंकि इस विषयका उपदेश करनेवाला आपके समान और कौन मिलेगा। इसपर यमराजने पुत्र-पौत्र, हाथी-घोड़े, सुवर्ण, विशाल भूमण्डल, दीर्घजीवन, इच्छानुकूल भोग, अनुपम रूप-लावण्यवाली स्त्रियाँ तथा और भी बहुत से भोग जो मनुष्यलोकमें दुर्लभ है, उसे देने चाहे; परन्तु नचिकेता अपने निश्चयसे नहीं टला। वह बोला—

श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत्सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः।
अपि सर्वं जीवितमल्पमेव तवैव वाहास्तव नृत्यगीते॥

(१।१।२६)

'हे यमराज! ये भोग 'कल रहेंगे या नहीं'—इस प्रकारके सन्देहसे युक्त हैं अर्थात् अस्थिर हैं और सम्पूर्ण इन्द्रियोंके तेजको जीर्ण कर देते हैं। यह सारा जीवन भी स्वल्प ही है। अतः आपके वाहन (हाथी-घोड़े) और नाच-गान आपहीके पास रहें, मुझे उनकी आवश्यकता नहीं है।'

नचिकेताके इस आदर्श निष्कामभाव और दृढ़ निश्चयको देखकर यमराज बहुत ही प्रसन्न हुए और उसकी प्रशंसा करते हुए बोले—

'हे नचिकेता! तूने प्रिय अर्थात् पुत्र, धन आदि इष्ट पदार्थोंको और प्रियरूप—अप्सरा आदि लुभानेवाले भोगोंको असार समझकर त्याग दिया और जिसमें अधिकांश मनुष्य डूब (फँस) जाते हैं, उस धनियोंकी निन्दित गतिको तूने स्वीकार नहीं किया। धन्य है तेरी निष्ठा!'*

* जो जल पी चुकी हैं, जिनका घास खाना समाप्त हो चुका है, जिनका दूध भी दुह लिया गया है और जिनमें बछड़ा देनेकी शक्ति भी नहीं रह गयी है, उन गौओंका दान करनेसे वह दाता आनन्दशून्य लोकोंको जाता है।

* स त्वं प्रियान् प्रियरूपांश्च कामानभिध्यायन्नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः।
नैतां सृङ्कां वित्तमयीमवाप्तो यस्यां मज्जन्ति बहवो मनुष्याः॥

(१।२।३)

'जो मूर्ख धनके मोहसे अन्धे होकर प्रमादमें लगे रहते हैं, उन्हें परलोकका साधन नहीं सूझता । यही लोक है, परलोक नहीं है—ऐसा माननेवाला पुरुष बारम्बार मेरे चंगुलमें फँसता है (जन्मता और मरता है) ।'*

'हे प्रियतम ! सम्यक् ज्ञानके लिये कोरा तर्क करनेवालोंसे भिन्न किसी शास्त्रज्ञ आचार्यद्वारा कही हुई यह बुद्धि, जिसको तुमने पाया है, तर्कद्वारा प्राप्त नहीं होती । अहा ! तेरी धारणा बड़ी सच्ची है । हे नचिकेता ! हमें तेरे समान जिज्ञासु सदा प्राप्त हों ।' †

'हे नचिकेता ! तूने बुद्धिमान् होकर भोगोंकी परम अवधि, जगत्‌की प्रतिष्ठा, यज्ञका अनन्त फल, अभयकी पराकाष्ठा, स्तुत्य और महती गति तथा प्रतिष्ठाको देखकर भी उसे धैर्यपूर्वक त्याग दिया । शाबाश !'‡

उपर्युक्त वचनोंसे इस विषयकी महत्ता तथा उसे जाननेके लिये कितने ऊँचे अधिकारकी आवश्यकता है, यह बात द्योतित होती है ।

इस प्रकार नचिकेताकी कठिन परीक्षा लेकर और उसे उसमें उत्तीर्ण पाकर यमराज उसे आत्माके स्वरूपके सम्बन्धमें उपदेश देते हैं । वे कहते हैं—

'यह नित्य चिन्मय आत्मा न जन्मता है न मरता है; यह न तो किसी वस्तुसे उत्पन्न हुआ है और न स्वयं ही कुछ बना है (अर्थात् न तो यह किसीका कार्य है न कारण है, न विकार है न विकारी है) । यह अजन्मा, नित्य (सदासे वर्तमान, अनादि), शाश्वत (सदा रहनेवाला, अनन्त) और पुरातन है तथा शरीरके विनाश किये जानेपर भी नष्ट नहीं होता ।'§

उपर्युक्त वर्णनसे आत्माकी अमरता सिद्ध होती है । वे फिर कहते हैं—

'यदि मारनेवाला आत्माको मारनेका विचार करता है और मारा जानेवाला उसे मरा हुआ समझता है, तो वे दोनों ही उसे नहीं जानते; क्योंकि यह न तो मारता है और न मारा जाता है ।'*

आगे चलकर यमराज उन मनुष्योंकी गति बतलाते हैं, जो आत्माको विना जाने हुए ही मृत्युको प्राप्त हो जाते हैं । वे कहते हैं—

योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः ।
स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम् ॥
(२।२।७)

'अपने कर्म और ज्ञानके अनुसार कितने ही देहधारी तो शरीर धारण करनेके लिये किसी देव, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि योनिको प्राप्त होते हैं और कितने ही स्थावरभाव (वृक्षादि योनि) को प्राप्त होते हैं ।'

ऊपरके मन्त्रसे भी पुनर्जन्मकी सिद्धि होती है ।

गीतामें भी परलोक तथा पुनर्जन्मका प्रतिपादन करनेवाले अनेक वचन मिलते हैं । उनमेंसे कुछ यहाँ उद्धृत किये जाते हैं । गीताके दूसरे अध्यायमें भगवान् अर्जुनसे कहते हैं—

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः ।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥
(२।१२)

'न तो ऐसा ही है कि मैं किसी कालमें नहीं था या तू नहीं था अथवा ये राजालोग नहीं थे । और न ऐसा ही है कि इससे आगे हम सब नहीं रहेंगे ।'

देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥
(२।१३)

'जैसे जीवात्माकी इस देहमें बालकपन, जवानी और वृद्धावस्था होती हैं, वैसे ही अन्य शरीरकी प्राप्ति होती है; उस विषयमें धीर पुरुष मोहित नहीं होता ।'

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥
(२।२२)

* न साम्परायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम् ।
अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे ॥
(१।२।६)

† नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ ।
यां त्वमापः सत्यधृतिर्बतासि त्वादृङ्नो भूयान्नचिकेतः प्रष्टा ॥
(१।२।९)

‡ कामस्याप्तिं जगतः प्रतिष्ठां क्रतोरनन्त्यमभयस्य पारम् ।
स्तोममहदुरुगायं प्रतिष्ठां दृष्ट्वा धृत्या धीरो नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः ॥
(१।२।११)

§ न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित् ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥
(१।२।१८)

यही मन्त्र कुछ हेरफेरसे गीतामें भी आया है (देखिये २।२०)।

* हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं हतश्चेन्मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥
(१।२।१९)

यह मन्त्र भी कुछ शब्दोंके हेरफेरसे गीतामें पाया जाता है (देखिये २।१९)।

'जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रोंको त्यागकर दूसरे नये वस्त्रोंको ग्रहण करता है, वैसे ही जीवात्मा पुराने शरीरोंको त्यागकर दूसरे नये शरीरोंको प्राप्त होता है।'

चौथे अध्यायमें भगवान् अर्जुनसे कहते हैं—

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप॥५॥

'हे परंतप अर्जुन! मेरे और तेरे बहुत-से जन्म हो चुके हैं। उन सबको तू नहीं जानता, किन्तु मैं जानता हूँ।'

गीतामें स्वर्गादि लोकोंका भी कई जगह उल्लेख आता है; पुनर्जन्म, परलोक, आवृत्ति-अनावृत्ति, गतागत (गमनागमन) आदि शब्द भी कई जगह आये हैं। छठे अध्यायके ४१-४२वें श्लोकोंमें योगभ्रष्ट पुरुषके दीर्घकालतक स्वर्गादि लोकोंमें निवास कर शुद्ध आचरणवाले श्रीमान् पुरुषोंके घरमें अथवा ज्ञानवान् योगियोंके ही कुलमें जन्म लेनेकी बात आयी है, तथा ४५वें श्लोकमें अनेक जन्मोंकी बात भी आयी है। इसी प्रकार १३वें अध्यायके २१वें श्लोकमें पुरुषके सत्-असत् योनियोंमें जन्म लेनेकी बात कही गयी है, १४वें अध्यायके १४-१५ तथा १८वें श्लोकोंमें गुणोंके अनुसार मनुष्यके उच्च, मध्य तथा अधोगतिको प्राप्त होनेकी बात आयी है तथा १५वें अध्यायके श्लोक ७-८में एक शरीरको छोड़कर दूसरे शरीरमें जानेका स्पष्ट रूपमें उल्लेख हुआ है। १६वें अध्यायके श्लोक १६ १९ और २०में भगवान्‌ने आसुरी सम्पदावालोंको बारम्बार तिर्यक् योनियों और नरकमें गिरानेकी बात कही है। इन सब प्रसङ्गोंसे भी पुनर्जन्म तथा परलोककी पुष्टि होती है।

योगसूत्रके साधनपादमें भी पुनर्जन्मका विषय आया है। महर्षि पतञ्जलि कहते हैं—

क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः।

(साधन० १२)

अर्थात् 'क्लेश* जिनकी जड़ हैं, वे कर्माशय (कर्मोंकी वासनाएँ) वर्तमान अथवा आगेके जन्मोंमें भोगे जा सकते हैं।'

उन वासनाओंका फल किस रूपमें मिलता है, इसके विषयमें महर्षि पतञ्जलि कहते हैं—

सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः।

(साधन० १३)

अर्थात् 'क्लेशरूपी कारणके रहते हुए उन वासनाओंका फल जाति (योनि), आयु (जीवनकी अवधि) और भोग (सुख-दुःख) होते हैं।'

मनुस्मृतिमें भी पुनर्जन्मके प्रतिपादक अनेकों वचन मिलते हैं। उनमेंसे कुछ चुने हुए वचन नीचे उद्धृत किये जाते हैं। किन-किन कर्मोंसे जीव किन-किन योनियोंको प्राप्त होते हैं, इस विषयमें भगवान् मनु कहते हैं—

देवत्वं सात्त्विका यान्ति मनुष्यत्वं च राजसाः।
तिर्यक्त्वं तामसा नित्यमित्येषा त्रिविधा गतिः॥

(१२।४०)

अर्थात् 'सत्त्वगुणी लोग देवयोनिको, रजोगुणी मनुष्ययोनिको और तमोगुणी तिर्यक् योनिको प्राप्त होते हैं। जीवोंकी सदा यही तीन प्रकारकी गति होती है।'

'जो लोग इन्द्रियोंको तृप्त करनेमें ही लगे रहते हैं तथा धर्माचरणसे विमुख रहते हैं, उनके विषयमें भगवान् मनु कहते हैं कि वे मूर्ख और नीच मनुष्य मरनेपर निन्दित गतिको पाते हैं।'*

इसके आगे भगवान् मनु ब्रह्महत्या, सुरापान, गुरुपत्नीगमन आदि कुछ महापातकोंका उल्लेख करते हुए कहते हैं कि इन पापोंको करनेवाले अनेक वर्षतक नरक भोगकर फिर नीच योनियोंको प्राप्त होते हैं। उदाहरणतः ब्रह्महत्या करनेवाला कुत्ते, सूअर, गदहे, चाण्डाल आदि योनियोंको प्राप्त होता है; ब्राह्मण होकर मदिरा पान करनेवाला कृमि-कीट-पतङ्गादि तथा हिंसक योनियोंमें जन्म लेता है; गुरुपत्नीगामी तृण, गुल्म, लता आदि स्थावर योनियोंमें सैकड़ों बार जन्म ग्रहण करता है तथा अभक्ष्य भक्षण करनेवाला कृमि होता है।†

इस प्रकार परलोक एवं पुनर्जन्मके प्रतिपादक अनेकों प्रमाण शास्त्रोंमें भरे पड़े हैं। स्थानाभावके कारण उनका विस्तार नहीं किया जाता। अब हम युक्तियोंसे भी परलोक एवं पुनर्जन्मको सिद्ध करनेकी चेष्टा करते हैं—

(१) शरीरकी तरह आत्माका परिवर्तन नहीं होता। शरीरमें तो हम सभीके अवस्थानुसार परिवर्तन होता देखा जाता है। आज जो हमारा शरीर है कुछ वर्ष बाद वह बिल्कुल बदल जायगा, उसके स्थानमें दूसरा ही शरीर बन जायगा—जैसे नख और केश पहलेके कटते जाते हैं और नये आते रहते हैं। बाल्यावस्थामें हमारे सभी अङ्ग कोमल और छोटे होते हैं, कद छोटा होता है, स्वर मीठा होता है, वजन भी कम होता है तथा मुखपर रोएँ नहीं होते। जवान

* योगशास्त्रमें अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश (मृत्युभय)—इनको 'क्लेश' नामसे कहा गया है।

* इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन धर्मस्यासेवनेन च।
पापान् संयान्ति संसारानविद्वांसो नराधमाः॥
(१२।५२)

† देखिये मनुस्मृति १२। ५४–५६, ५८, ५९।

होनेपर हमारे अङ्ग पहलेसे कठोर और बड़े हो जाते हैं, आवाज भारी हो जाती है, कद लंबा हो जाता है, वजन बढ़ जाता है तथा दाढ़ी-मूँछ आ जाती है। इसी प्रकार बुढ़ापेमें हमारे अंग शिथिल हो जाते हैं, शरीरकी सुन्दरता नष्ट हो जाती है, चमड़ा ढीला पड़ जाता है, बाल पक जाते हैं, दाँत ढीले हो जाते हैं तथा गिर जाते हैं एवं शरीर तथा इन्द्रियोंकी शक्ति क्षीण हो जाती है। यही कारण है कि बालकपनमें देखे हुए किसी व्यक्तिको उसके युवा हो जानेपर हम सहसा नहीं पहचान पाते। परन्तु शरीर बदल जानेपर भी हमारा आत्मा नहीं बदलता। दस वर्ष पहले जो हमारा आत्मा था, वही आत्मा इस समय भी है। उसमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ। यदि होता तो आजसे दस वर्ष अथवा बीस वर्ष पहले हमारे जीवनमें घटी हुई घटनाका हमें स्मरण नहीं होता। दूसरेके द्वारा अनुभव किये हुए सुख-दुःखका जिस प्रकार हमें स्मरण नहीं होता, उसी प्रकार यदि हमारा आत्मा बदल गया होता तो हमें अपने जीवनकी बातोंका भी कालान्तरमें स्मरण नहीं रहता। परन्तु आजकी घटनाका हमें दस वर्ष बाद अथवा बीस वर्ष बाद भी स्मरण होता है, इससे मालूम होता है कि अनुभव करनेवाला और स्मरण करनेवाला दो व्यक्ति नहीं बल्कि एक ही व्यक्ति है। जिस प्रकार वर्तमान शरीरमें इतना परिवर्तन होनेपर भी आत्मा नहीं बदला, उसी प्रकार मरनेके बाद दूसरा शरीर मिलनेपर भी वह नहीं बदलनेका। इससे आत्माकी नित्यता सिद्ध होती है।

(२) मनुष्य अपना अभाव कभी नहीं देखता; वह यह कभी नहीं सोचता कि एक दिन मैं नहीं रहूँगा, अथवा मैं पहले नहीं था। अपने अभावके बारेमें आत्माकी ओरसे उसे कभी गवाही नहीं मिलती। वह यही सोचता है कि मैं सदासे हूँ और सदा रहूँगा। इससे भी आत्माकी नित्यता सिद्ध होती है।

(३) बालक जन्मते ही रोने लगता है और जन्मनेके बाद कभी हँसता है, कभी रोता है, कभी सोता है; जब माता उसके मुखमें स्तन देती है, तो वह उसमेंसे दूध खींचने लगता है और धमकाने आदिपर भयसे काँपता हुआ भी देखा जाता है। बालकके ये सब आचरण पूर्वजन्मका लक्ष्य कराते हैं। क्योंकि इस जन्ममें तो उसने ये सब बातें सीखीं नहीं। पूर्वजन्मके अभ्याससे ही ये सब बातें उसके अंदर स्वाभाविक ही होने लगती हैं। पूर्वजन्ममें अनुभव किये हुए सुख-दुःखका स्मरण करके ही वह हँसता और रोता है, पूर्वमें अनुभव किये हुए मृत्युभयके कारण ही वह काँपने लगता है। तथा पूर्वजन्ममें किये हुए स्तन-पानके अभ्याससे ही वह माताके स्तनका दूध खींचने लगता है।

(४) जीवोंमें जो सुख-दुःखका भेद, प्रकृति अर्थात् स्वभाव और गुण-कर्मका भेद—काम-क्रोध, राग-द्वेष आदिकी न्यूनाधिकता—तथा क्रियाका भेद एवं बुद्धिका भेद दृष्टिगोचर होता है, उससे भी पूर्वजन्मकी सिद्धि होती है। एक ही माता-पितासे उत्पन्न हुई सन्तान—यहाँतक कि एक ही साथ पैदा हुए बच्चे भी इन सब बातोंमें एक दूसरेसे विलक्षण पाये जाते हैं। पूर्वजन्मके संस्कारोंके अतिरिक्त इस विचित्रतामें कोई हेतु नहीं हो सकता। जिस प्रकार ग्रामोफोनकी चूड़ीपर उतरे हुए किसी गानेको सुनकर हम यह अनुमान करते हैं कि इसी प्रकार किसी मनुष्यने इस गानेको कहीं अन्यत्र गाया होगा, तभी उसकी प्रतिध्वनिको आज हम इस रूपमें सुन पाते हैं, उसी प्रकार आज हम किसीको सुखी अथवा दुःखी देखते हैं अथवा अच्छे-बुरे स्वभाव और बुद्धिवाला पाते हैं तो उससे यही अनुमान होता है कि उसने पूर्वजन्ममें वैसे ही कर्म किये होंगे, जिनके संस्कार उसके अन्तःकरणमें संगृहीत हैं जिन्हें वह अपने साथ लेता आया है। यदि किसीको वर्तमान जीवनमें हम सुखी पाते हैं, तो इसका मतलब यही है कि उसने पूर्वजन्ममें अच्छे कर्म किये होंगे और दुःखी पाते हैं तो इसका मतलब यह होता है कि उसने पूर्वजन्ममें अशुभ कर्म किये होंगे। यही बात स्वभाव, गुण और बुद्धि आदिके सम्बन्धमें समझनी चाहिये।

यदि कोई कहे कि संस्कारोंके भेदके लिये पूर्वजन्मको माननेकी क्या आवश्यकता है, ईश्वरकी इच्छाको ही इसमें हेतु क्यों न मान लिया जाय, तो इसका उत्तर यह है कि इस वैचित्र्यका कारण ईश्वरको माननेसे उनमें वैषम्य एवं नैर्घृण्य (निर्दयता) का दोष आवेगा। वैषम्यका दोष तो इस बातको लेकर आवेगा कि उन्होंने अपने मनसे किसीको सुखी और किसीको दुःखी बनाया। और निर्दयताका दोष इसलिये आवेगा कि उन्होंने कुछ जीवोंको बेमतलब ही दुःखी बना दिया। ईश्वरमें कोई दोष घट नहीं सकता, इसलिये पूर्वकृत कर्मोंको ही लोगोंके स्वभावके भेद तथा भोगके वैषम्यमें हेतु मानना पड़ेगा।

इन सब युक्तियोंसे यह सिद्ध होता है कि प्राणियोंका पुनर्जन्म होता है। अब जब यह सिद्ध हो गया कि पुनर्जन्म होता है, तब दूसरा प्रश्न यह होता है कि ऐसी स्थितिमें मनुष्यको क्या करना चाहिये। विचार करनेपर मालूम होता है कि शाश्वत एवं निरतिशय सुखकी प्राप्ति तथा दुःखोंसे

सदाके लिये छुटकारा पा जाना ही जीवमात्रका ध्येय है और उसीके लिये मनुष्यको यत्नवान् होना चाहिये। शास्त्रोंमें पुनर्जन्मको ही दुःखका घर बताया है। और परमात्माकी प्राप्ति ही इस दुःखसे छूटनेका एकमात्र उपाय है। भगवान् श्रीकृष्ण गीतामें कहते हैं—

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः॥
(८। १५)

'परम सिद्धिको प्राप्त महात्माजन मुझको प्राप्त होकर दुःखोंके घर एवं क्षणभङ्गुर पुनर्जन्मको नहीं प्राप्त होते।'

इससे यह सिद्ध हुआ कि परमात्माकी प्राप्ति ही दुःखोंसे सदाके लिये छूटनेका एकमात्र उपाय है और यह मनुष्य-जन्ममें ही सम्भव है। अतः जो इस जन्मको पाकर परमात्माको प्राप्त कर लेते हैं, वे ही संसारमें धन्य हैं और वे ही बुद्धिमान् एवं चतुर हैं। मनुष्य-जन्मको पाकर जो इसे विषय-भोगमें ही गँवा देते हैं, वे अत्यन्त जडमति हैं और शास्त्रोंने उनको कृतघ्न एवं आत्महत्यारा बताया है। श्रीमद्भागवतमें भगवान् उद्धवसे कहते हैं—

नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम्।
मयानुकूलेन नभस्वतेरितं पुमान् भवाब्धिं न तरेत् स आत्महा॥
(श्रीमद्भा० ११। २०। १७)

'यह मनुष्यशरीर समस्त शुभ फलोंकी प्राप्तिका आदि-कारण तथा अत्यन्त दुर्लभ होनेपर भी ईश्वरकी कृपासे हमारे लिये सुलभ हो गया है; वह इस संसाररूपी समुद्रसे पार होनेके लिये सुदृढ़ नौका है, जिसे गुरुरूप नाविक चलाता है और मैं (श्रीकृष्ण) वायुरूप होकर उसे आगे बढ़ानेमें सहायता देता हूँ। ऐसी सुन्दर नौकाको पाकर भी जो मनुष्य इस भवसागरको नहीं तरता, वह निश्चय ही आत्माका हनन करनेवाला अर्थात् पतन करनेवाला है।'

गोस्वामी तुलसीदासजी भी कहते हैं—

जो न तरै भव सागर नर समाज अस पाइ।
सो कृतनिंदक मंदमति आत्माहन गति जाइ॥
(रामचरित० उत्तर० ४४)

यहाँ यह प्रश्न होता है कि इसके लिये हमें क्या करना चाहिये। इसका उत्तर हमें स्वयं भगवान्के शब्दोंमें इस प्रकार मिलता है। वे कहते हैं—

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
(गीता ६। ५)

'मनुष्यको चाहिये कि वह अपनेद्वारा अपना संसार-समुद्रसे उद्धार करे और अपनेको अधोगतिमें न डाले।'

उद्धारका अर्थ है उत्तम गुणों एवं उत्तम भावोंका संग्रह एवं उत्तम आचरणोंका अनुष्ठान और पतनका अर्थ है दुर्गुण एवं दुराचारोंका ग्रहण। क्योंकि इन्हींसे क्रमशः मनुष्यकी उत्तम एवं अधम गति होती है। इन्हींको भगवान्ने क्रमशः दैवी सम्पत्ति एवं आसुरी सम्पत्तिके नामसे गीताके सोलहवें अध्यायमें वर्णन किया है और यह भी बतलाया है कि दैवी सम्पत्ति मोक्षकी ओर ले जानेवाली है—'दैवी सम्पद्विमोक्षाय' और आसुरी सम्पत्ति बाँधनेवाली अर्थात् बार-बार संसार-चक्रमें गिरानेवाली है—'निबन्धायासुरी मता।' यही नहीं, आसुरी सम्पदावालोंके आचरणोंका वर्णन करते हुए वे कहते हैं कि 'उन अशुभ आचरणवाले द्वेषी, क्रूर (निर्दय) एवं मनुष्योंमें अधम पुरुषोंको मैं संसारमें बार-बार पशु-पक्षी आदि तिर्यक् योनियोंमें गिराता हूँ और जन्म-जन्ममें उन योनियोंको प्राप्त हुए वे मूढ़ पुरुष मुझे न पाकर उससे भी अधम गति (घोर नरकों) को प्राप्त होते हैं।'* इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि उत्तम गुण, भाव और आचरण ही ग्रहण करनेयोग्य हैं और दुर्गुण, दुर्भाव तथा दुराचार त्यागनेयोग्य हैं। गीताके १३वें अध्यायके ७ से ११ श्लोकोंमें भगवान्ने इन्हींका ज्ञान और अज्ञानके नामसे वर्णन किया है। ज्ञानके नामसे वहाँ जिन गुणोंका वर्णन किया गया है, वे आत्माका उद्धार करनेवाले—ऊपर उठानेवाले हैं और इससे विपरीत जो अज्ञान है—'अज्ञानं यदतोऽन्यथा', वह गिरानेवाला—पतन करनेवाला है।

सद्गुण और सदाचार कौन हैं तथा दुर्गुण एवं दुराचार कौन-से हैं, ग्रहण करने योग्य आचरण कौन हैं तथा त्यागने योग्य कौन-से हैं—इसका निर्णय हम शास्त्रोंद्वारा ही कर सकते हैं। शास्त्र ही इस विषयमें प्रमाण हैं। भगवान्ने भी गीतामें कहा है—

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥
(१६। २४)

* तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु॥
आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥
(१६। १९-२०)

'इससे तेरे लिये इस कर्तव्य और अकर्तव्यकी व्यवस्थामें शास्त्र ही प्रमाण है। ऐसा जानकर तू शास्त्रविधिसे नियत कर्म ही करने योग्य है।'

यदि नाना प्रकारके शास्त्रोंको देखनेसे तथा उनमें कहीं-कहीं आये हुए परस्परविरोधी वाक्योंको पढ़नेसे बुद्धि भ्रमित हो जाय और शास्त्रके यथार्थ तात्पर्यका निर्णय न कर सकें तो पूर्वकालमें हमारी दृष्टिमें शास्त्रके मर्मको जाननेवाले जो भी महापुरुष हो गये हों, उनके बताये हुए मार्गका अनुसरण करना चाहिये। शास्त्रोंकी भी यही आज्ञा है। महाभारतकार कहते हैं—

तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्ना
नैको मुनिर्यस्य मतं न भिन्नम्।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां
महाजनो येन गतः स पन्थाः॥
(वन० ३१३। १७)

अर्थात् '*तर्क कहीं ठहरता नहीं, उससे किसी बातका निर्णय नहीं होता; वेद अलग-अलग बात कहते हैं; ऋषि एक भी ऐसा नहीं है जिसका मत दूसरेसे भिन्न न हो। सभी अपनी-अपनी बात कहते हैं; धर्मका रहस्य बुद्धिरूपी कन्दरामें छिपा हुआ है। इसलिये मार्ग वही है, जिसपर प्राचीन कालके श्रेष्ठ सदाचारी पुरुष चले हों।*' उन्हींके आचरणको अपना आदर्श बना लेना चाहिये और उसीके अनुसार चलनेकी चेष्टा करनी चाहिये।

यदि किसीको ऐसे महापुरुषोंके मार्गमें भी संशय हो तो फिर उसे यही उचित है कि वह वर्तमानकालके किसी जीवित सदाचारी महात्मा पुरुषको—जिसमें भी उसकी श्रद्धा हो और जिसे वह श्रेष्ठ महापुरुष समझता हो—अपना आदर्श बना ले और उनके बताये हुए मार्गको ग्रहण करे, उनके आदेशके अनुसार चले। और यदि किसीपर भी विश्वास न हो तो अपने अन्तरात्मा, अपनी बुद्धिको ही पथप्रदर्शक बना ले—एकान्तमें बैठकर विवेक-वैराग्ययुक्त बुद्धिसे शान्ति एवं धीरजके साथ स्वार्थत्यागपूर्वक निष्पक्षभावसे विचार करे कि मेरा ध्येय क्या है, मुझे क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये। इस प्रकार अपने हिताहितका विचार करके संसारमें कौन-सी वस्तु मेरे लिये ग्राह्य है और कौन-सी अग्राह्य है, इसका निर्णय कर ले और फिर दृढ़तापूर्वक उस निश्चयपर स्थित हो जाय। जो मार्ग उसे ठीक मालूम हो, उसपर दृढ़तापूर्वक आरूढ़ हो जाय और जो आचरण उसे निषिद्ध जँचें उन्हें छोड़नेकी प्राणपणसे चेष्टा करे, भूलकर भी उस ओर न जाय। इस प्रकार निष्पक्षभावसे विचार करनेपर, अन्तरात्मासे पूछनेपर भी उसे भीतरसे यही उत्तर मिलेगा कि अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य और परोपकार ही श्रेष्ठ हैं; हिंसा, असत्य, व्यभिचार और दूसरेका अनिष्ट करनेके लिये उसका अन्तरात्मा उसे कभी न कहेगा। नास्तिक-से-नास्तिकको भी भीतरसे यही आवाज सुनायी देगी। इस प्रकार अपना लक्ष्य स्थिर कर लेनेके बाद फिर कभी उसके विपरीत आचरण न करे। अच्छी प्रकार निर्द्धारित किये हुए अपने ध्येयके अनुसार चलना ही आत्माका उत्थान करना है और उस निश्चयके अनुसार न चलकर उसके विपरीत मार्गपर चलना ही उसका पतन है। जो आचरण अपनी दृष्टिमें तथा दूसरोंकी दृष्टिमें भी हेय है, उसे जान-बूझकर करना मानो अपने-आप ही फाँसी लगाकर मरना, अपने ही पैरोंपर कुल्हाड़ी मारना, अपने हाथों अपना अहित करना है। इसीलिये भगवान् कहते हैं—'नात्मानमवसादयेत्', जान-बूझकर अपने-आप अपना पतन न करे।

हमारे शास्त्रोंमें मन, वाणी और शरीरसे होनेवाले कुछ दोष गिनाये हैं और साथ ही मन, वाणी और शरीरके पाँच-पाँच तप भी बताये हैं। आत्माका उद्धार चाहनेवाले मनुष्यको चाहिये कि वह उपर्युक्त मन, वाणी और शरीरके दोषोंका त्याग करे और शारीरिक, वाचिक एवं मानसिक—तीनों प्रकारके तपका आचरण करे। शरीरसे होनेवाले दोष तीन हैं—विना दिया हुआ धन लेना, विधिरहित हिंसा और परस्त्रीगमन।* वाचिक पाप चार हैं—कठोर वचन कहना, झूठ बोलना, चुगली करना और बेसिर-पैरकी ऊलजलूल बातें करना।† मानसिक पाप तीन हैं—दूसरेका माल मारनेका दाँव सोचना, मनसे दूसरेका अनिष्टचिन्तन करना और मैं शरीर हूँ—इस प्रकारका झूठा अभिमान करना।‡

इन त्रिविध पापोंका नाश करनेके लिये भगवान् श्रीकृष्णने

* अदत्तानामुपादानं हिंसा चैवाविधानतः।
परदारोपसेवा च शारीरं त्रिविधं स्मृतम्॥
(मनु० १२। ७)

† पारुष्यमनृतं चैव पैशुन्यं चापि सर्वशः।
असम्बद्धप्रलापश्च वाङ्मयं स्याच्चतुर्विधम्॥
(मनु० १२। ६)

‡ परद्रव्येष्वभिध्यानं मनसानिष्टचिन्तनम्।
वितथाभिनिवेशश्च त्रिविधं कर्म मानसम्॥
(मनु० १२। ५)

गीतामें तीन प्रकारके तप बतलाये हैं—शारीरिक तप, वाचिक तप और मानस तप। उक्त तीन प्रकारके तपका स्वरूप भगवान्‌ने इस प्रकार बतलाया है—

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥
(१७।१४)

'देवता, ब्राह्मण, गुरु (माता-पिता एवं आचार्य आदि) और ज्ञानीजनोंका पूजन, पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा—यह शरीरसम्बन्धी तप कहा जाता है।'

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥
(१७।१५)

जो उद्वेगको न करनेवाला, प्रिय और हितकारक एवं यथार्थ भाषण है तथा जो वेद-शास्त्रोंके पठन एवं परमेश्वरके नाम-जपका अभ्यास है—वही वाणीसम्बन्धी तप कहा जाता है।'

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥
(१७।१६)

'मनकी प्रसन्नता, शान्तभाव, भगवच्चिन्तन करनेका स्वभाव, मनका निग्रह और अन्तःकरणकी पवित्रता—इस प्रकार यह मनसम्बन्धी तप कहा जाता है।'

प्रत्येक कल्याणकामी पुरुषको चाहिये कि वह उपर्युक्त तीनों प्रकारके तपका सात्त्विक* भावसे अभ्यास करे।

अन्तमें हम एक बात और कहकर इस लेखको समाप्त करते हैं। दुःखरूप संसारसे छूटनेका एक सर्वोत्तम उपाय है परमात्माकी शरण लेकर विवेक और वैराग्ययुक्त बुद्धिसे दुःख, शोक, भय और चिन्ताका त्याग। इसपर यदि कोई कहे कि दुःख-सुख तो प्रारब्धके अनुसार भोगने ही पड़ते हैं, तो इसका उत्तर यह है दुःख-सुखके निमित्तोंका प्राप्त होना और हट जाना ही प्रारब्धका फल है; उन निमित्तोंको लेकर हमें जो चिन्ता, शोक, भय एवं विषाद होता है वह हमारी मूर्खतासे होता है, अज्ञानसे होता है। उनके होनेमें प्रारब्ध हेतु नहीं है। पुत्रका वियोग हो जाना, धनका अपहरण हो जाना, व्यापारमें घाटा लग जाना, इज्जत-आबरूका चला जाना, बीमारी और अपकीर्तिका होना—ये सब घटनाएँ प्रारब्धके कारण होती हैं; परन्तु इनसे जो हमें विषाद होता है, उसमें हमारा अज्ञान हेतु है, प्रारब्ध नहीं। यदि हम स्वयं इन घटनाओंसे दुखी न हों, तो इन घटनाओंकी ताकत नहीं कि वे हमें दुखी कर सकें। यदि इन घटनाओंमें दुखी करनेकी शक्ति होती तो उनसे ज्ञानियोंको भी दुःख होता; परन्तु ज्ञानी जीवन्मुक्त महापुरुषोंके लिये शास्त्र डंकेकी चोट यह कहते हैं कि उन्हें अप्रिय-से-अप्रिय घटनाको लेकर भी दुःख नहीं होता, वे सुख-दुःखसे परे हो जाते हैं। उनकी दृष्टिमें प्रिय-अप्रिय कुछ रह ही नहीं जाता। उनके विषयमें श्रुति कहती है—'तरति शोकमात्मवित्।' आत्माको जान लेनेवाला शोकसे तर जाता है। 'हर्षशोकौ जहाति'—ज्ञानी पुरुष हर्ष और शोकका त्याग कर देता है, दोनों ही स्थितियोंको लाँघ जाता है। 'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः'—सर्वत्र एक परमात्माको ही देखनेवाले आत्मदर्शी पुरुषके लिये शोक और मोहका कोई कारण नहीं रह जाता। भगवान् भी गीतामें अर्जुनसे अपने उपदेशके प्रारम्भमें ही कहते हैं—

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥
(२।११)

'हे अर्जुन! तू न शोक करनेयोग्य मनुष्योंके लिये शोक करता है और पण्डितोंके-से वचनोंको कहता है; परन्तु जिनके प्राण चले गये हैं, उनके लिये और जिनके प्राण नहीं गये हैं, उनके लिये भी पण्डितजन शोक नहीं करते।'

इससे यह सिद्ध होता है कि शोक न करना हमारे हाथमें है। यदि ऐसी बात न होती और इसका सम्बन्ध प्रारब्धसे होता, तो ज्ञानोत्तर कालमें ज्ञानीको भी शोक होता और भगवान् भी शोक छोड़नेके लिये अर्जुनको कभी न कहते। शरीरोंका उत्पत्ति-विनाश और क्षय-वृद्धि तथा सांसारिक पदार्थोंका संयोग-वियोग ही प्रारब्धसे सम्बन्ध रखता है; उनके विषयमें जो चिन्ता, भय और शोक होता है वह अज्ञानके कारण ही होता है। सांसारिक विपत्तिके आनेपर भी जो शोक नहीं करते—रोते नहीं, उनकी उससे कोई हानि नहीं होती। अतः परमात्माकी शरण ग्रहण करके शोक-मोह, विषाद, चिन्ता एवं भयका त्याग कर हमें परमात्माके स्वरूपमें अचल भावसे स्थित हो जाना चाहिये।

---

* श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः ।
अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ॥
(१७।१७)

'फलको न चाहनेवाले योगी पुरुषोंद्वारा परम श्रद्धासे किये हुए उस पूर्वोक्त तीन प्रकारके तपको सात्त्विक कहते हैं।'

रागानुगा भक्तिका परिचय

(लेखक—श्रीनृसिंहवल्लभजी गोस्वामी)

कृष्णरूपं परित्यज्य कलौ गौरो बभूव यः ।
तं वन्दे परमानन्दं श्रीचैतन्यमहाप्रभुम् ॥

निखिलरसामृतमूर्ति अनन्त-लीला-रस-रसिक-चूडामणि करुणामय श्रीभगवान्‌की प्राप्तिके साधनोंमें भक्तिकी सर्वोत्कृष्टता स्वयं भगवान्‌ने अपने ही श्रीमुखसे निर्देश की है—

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।

अर्थात् हे पार्थ ! परम पुरुषकी (मेरी) प्राप्ति अनन्य-भक्तिसे होती है । यहाँ यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि इस अनन्य-भक्तिका स्वरूप क्या है ? श्रीधरस्वामिपादका कथन है कि—

'अनन्यया न विद्यतेऽन्यः शरणत्वेन यस्यास्तया एकान्त-भक्त्यैव लभ्यो नान्यथा'

अर्थात् अन्यशरणरहित जो एकान्त भक्ति है, श्रीपुरुषोत्तम उसीसे प्राप्त हो सकते हैं; और किसी उपायसे नहीं । एकान्तभक्तिसे सर्वोपाधिविनिर्मुक्त निर्मल एकमात्र भगवन्निष्ठ भक्तिका ही निर्देश है । परमपूज्य श्रीरूपगोस्वामिपादने उक्त भक्तिका लक्षण इस प्रकार किया है—

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम् ।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा ॥

अर्थात् श्रीकृष्णके निमित्त आनुकूल्यविशिष्ट अनुशीलन ही भक्ति है । यह भक्तिका स्वरूपलक्षण है ।

आनुकूल्यविशिष्ट अनुशीलनका अर्थ है श्रीकृष्णके रुचिकर कार्योंका अनुशीलन । जिस कार्यसे श्रीकृष्णको सुख मिले उसीका काय, मन, वाक्यसे अनुष्ठान । यद्यपि कंसादिमें भी श्रीकृष्णसम्बन्धी अनुशीलन विद्यमान है, तथापि आनुकूल्य-का अभाव रहनेके कारण वह भक्ति नहीं कहा जा सकता । भक्तिको विषयादि अनुशीलनसे व्यावृत्त करनेके लिये उक्त लक्षणमें 'कृष्ण' शब्दका प्रयोग किया गया है । यहाँ श्रीकृष्ण शब्द भगवत्स्वरूपमात्रका ग्राहक है । फिर भी स्वयं भगवान् श्रीकृष्णके निमित्त अनुशीलनरूप भक्ति ही मुख्य है । भक्तिमें दो उपाधियाँ हैं—(१) अन्याभिलाषिता, (२) ज्ञानकर्मादिमिश्रण । इन दोनों उपाधियोंमेंसे एकके रहनेपर भी शुद्धा भक्ति या एकान्तभक्तिका अनुष्ठान नहीं हो सकता । उत्तमा भक्तिका स्वभाव है कि उसमें अन्याभिलाष नहीं रह सकता । श्रीनागपत्नियोंने कहा है—

न नाकपृष्ठं न च सार्वभौमं
न पारमेष्ठ्यं न रसाधिपत्यम् ।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा
वाञ्छन्ति यत्पादरजःप्रपन्नाः ॥

अर्थात् जिनकी चरणरजकी शरणमें पड़े हुए एकान्त-भक्तगण स्वर्गीय सुख, भूमिका आधिपत्य, परमेष्ठीपदका सुख, रसातलका आधिपत्य, अष्टादश योगसिद्धि यहाँतक कि अपुनर्भव अर्थात् (मोक्षसुख) भी नहीं चाहते ।

'ज्ञानकर्माद्यनावृतम्' इस वाक्यके ज्ञान शब्दसे जीव-ब्रह्मका ऐक्यानुसन्धानात्मक ज्ञान ग्राह्य है न कि भजनानु-सन्धानात्मक ज्ञान; क्योंकि भजनीय श्रीकृष्णकी अनुशीलन-रूपा भक्तिका अनुसन्धानात्मक ज्ञान तो भक्तिके लिये अत्यन्त आवश्यकीय होनेके कारण उसीका एक मुख्य अङ्ग है । 'कर्म' शब्दसे स्मार्तकर्मोंका उल्लेख है, जिस कर्मका श्रीकृष्णके लिये अनुष्ठान किया जाता है, उसका नहीं; क्योंकि श्रीहरिके उद्देश्यसे जिस कर्मका अनुष्ठान होता है, उसको तो भक्ति ही कहा गया है । यथा—

देवर्षे विहिता शास्त्रे हरिमुद्दिश्य या क्रिया ।
सैव भक्तिरिति प्रोक्ता तया भक्तिः परा भवेत् ॥

(श्रीनारदपाञ्चरात्र)

अर्थात् हे देवर्षे ! शास्त्रमें श्रीहरिको उद्देश्य करके जिस क्रियाका विधान है, उसको भक्ति कहते हैं, क्योंकि उससे भक्ति 'परा' होती है । किन्तु यहाँ यह सन्देह हो सकता है कि एकान्तभक्तिमें स्मार्तकर्मोंका निषेध क्यों किया गया ? श्रीभगवान्‌का भी तो आदेश है कि—

श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे यस्ते उल्लङ्घ्य वर्तते ।
आज्ञाच्छेदी मम द्वेषी मद्भक्तोऽपि न वैष्णवः ॥

अर्थात् श्रुति-स्मृति मेरी ही आज्ञाएँ हैं; जो इन दोनोंमेंसे किसीका भी उल्लंघन करता है वह आज्ञाच्छेदी एवं मेरा द्वेषी है, अतः भक्त होनेपर भी वह वैष्णव नहीं है । श्रीभगवान्‌का ऐसा आदेश रहनेपर भी स्मार्तकर्मोंके निषेधसे भक्तिका उदय किस प्रकार हो सकता है ? इस आशङ्काका समाधान स्वयं श्रीभगवान्‌ने इस प्रकार किया है—

तावत्कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता।
मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते॥

(श्रीमद्भा० ११। २०। ९)

अर्थात् ज्ञानियोंको तो तबतक कर्म करना चाहिये जबतक ऐहिक एवं पारलौकिक सुख-भोगमें वैराग्य न हो एवं भक्तोंको तबतक करना चाहिये जबतक कि मेरे कथा-श्रवणादिमें दृढ़ विश्वासरूप श्रद्धाका उदय न हो। जिस प्रकार 'श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे'—श्रुति-स्मृति भगवान्‌की आज्ञाएँ हैं, उसी प्रकार 'तावत्कर्माणि कुर्वीत' 'तबतक कर्म करो' यह भी उन्हींका आदेश है। अतः जिनकी भगवत्-कथादिमें श्रद्धा उत्पन्न हुई है, उनके लिये कर्मानुष्ठान करना श्रीभगवान्‌की आज्ञा भङ्ग करना है। इसलिये श्रीकृष्णके परितोषको छोड़कर अन्य कर्मोंकी स्थिति एकान्तभक्तिमें अत्यन्त असम्भव है। 'ज्ञानकर्मादि'—यहाँ आदि शब्दसे आत्मा-नात्मविचाररूप सांख्य एवं पतञ्जलिके अष्टाङ्गयोगादि समझने चाहिये, क्योंकि भक्तिसे व्यक्त होनेवाला जड-चेतन-विवेक उसका विरोधी नहीं हो सकता। उक्त श्लोकके—

'अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।'

—ये अंश भक्तिके तटस्थ लक्षण हैं।

यह उत्तमा भक्ति दो प्रकारकी है—साधनरूपा एवं साध्यरूपा। इन्द्रियसमूहकी प्रेरणासे साधनीय श्रवण-कीर्तनादिको साधनभक्ति कहते हैं। यह साधनभक्ति भी दो प्रकारकी है—वैधी एवं रागानुगा। इनमें रुचिके विरुद्ध केवल शास्त्रके शासनसे नरकादिसे डरकर शास्त्रोक्त विधिके अनुसार जिसका अनुष्ठान किया जाता है, उसको वैधी भक्ति कहते हैं; जैसे कि श्रीमद्भागवतमें कहा है—

तस्माद्भारत सर्वात्मा भगवान् हरिरीश्वरः।
श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यश्चेच्छताभयम्॥

अर्थात् हे भारत! अभयेच्छु जनोंको उचित है कि वे सर्वात्मा भगवान् श्रीहरिका श्रवण, कीर्तन एवं स्मरण करें।

रागानुगा भक्तिके विवेकके लिये पहले रागात्मिका भक्तिके स्वरूप-विवेचनकी आवश्यकता है। विषयके संसर्गके लिये विषयीके स्वाभाविक इच्छामय प्रेमको ही 'राग' कहते हैं। जिस प्रकार चक्षु आदि इन्द्रियोंकी सौन्दर्यादि ग्रहण करनेमें स्वाभाविक उत्कण्ठा है, उसी प्रकार भक्तकी भगवान्‌में स्वाभाविक उत्कण्ठाको ही राग कहते हैं। 'श्रीभक्तिरसामृत-सिन्धु'में रागका लक्षण इस प्रकार है—

इष्टे स्वारसिकी रागः परमाविष्टता भवेत्।
तन्मयी या भवेद्भक्तिः सात्र रागात्मिकोच्यते॥

अर्थात् इष्टवस्तुके विषयमें स्वाभाविकी अत्यन्त आविष्टताको राग कहते हैं, उस रागसे प्रेरित होकर जो भक्ति की जाती है, उसीको रागात्मिका भक्ति कहते हैं। इष्टवस्तु श्रीभगवान्‌में ऐसी रागात्मिका भक्ति व्रजवासी जनोंमें ही पायी जाती है। गोपोंने स्पष्ट शब्दोंमें श्रीनन्दजीसे पूछा है—

दुस्त्यजश्चानुरागोऽस्मिन् सर्वेषां नो व्रजौकसाम्।
नन्द ते तनयेऽस्मासु तस्याप्यौत्पत्तिकः कथम्॥

अर्थात् हे नन्द! आपके पुत्रके प्रति हम सब व्रजवासियोंका दुस्त्यज अनुराग एवं उनका भी हम सबपर स्वाभाविक स्नेह क्यों है?

श्लोकका 'औत्पत्तिक' शब्द 'स्वाभाविक' अर्थका वाचक है, दुस्त्यज शब्द भी इसी अर्थका पोषक है। इससे यह स्पष्ट है कि श्रीकृष्णके साथ व्रजवासी जनोंका एवं व्रजवासियोंके साथ श्रीकृष्णका स्वाभाविक अनुराग है। तभी तो श्रीब्रह्माजीने कहा है—

अहो भाग्यमहो भाग्यं नन्दगोपव्रजौकसाम्।
यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम्॥

अर्थात् जिनके मित्र परमानन्दस्वरूप सनातन पूर्णब्रह्म हैं, ऐसे श्रीनन्द एवं व्रजवासी जनोंके भाग्यका क्या कहना है।

इससे भी व्रजवासियोंका श्रीकृष्णमें एवं श्रीकृष्णका व्रजवासियोंमें स्वाभाविक प्रेम स्पष्ट ध्वनित होता है। यह राग विशेषणभेदसे शान्त, दास्य, सख्य आदि अनेक प्रकारका है; जैसे किसीके श्रीकृष्ण प्रिय हैं, जिस प्रकार प्रेयसी गोपियोंके; किसीके आप सखा हैं, जैसे श्रीदामादिके और किसीके आप पुत्र हैं, जैसे श्रीनन्दादिके। इस प्रकार एक ही भगवान् विभिन्न सम्बन्धयुक्त प्रियजनोंके निकट उन-उन सम्बन्धोंके अनुकूल स्वरूपोंसे प्रकटित होते हैं। अतः रागका वैशिष्ट्य रहनेपर भी, अपने-अपने रागसे प्रेरित होकर उनके द्वारा होनेवाले श्रवणकीर्तनादिको ही रागात्मिका भक्ति कहते हैं। यह रागसाध्या भक्ति है। अतः यहाँपर यह सन्देह हो सकता है कि श्रवण-कीर्तन तो साधनभक्तिके अङ्ग हैं, साध्यभक्ति-रूप रागमें उनका सन्निवेश किस प्रकार हो सकता है? भक्तिशास्त्रमें इसका समाधान इस प्रकार किया गया है कि यह श्रवण-कीर्तनादि साध्यरूपा रागलक्षणा भक्ति गङ्गामें तरङ्गके सदृश प्रकाश्य पानेसे साध्य ही है। जिस प्रकार गङ्गाकी तरङ्ग गङ्गासे भिन्न नहीं होती, उसी प्रकार रागभक्ति

साध्यभक्ति होनेसे उसके अङ्गभूत श्रवणकीर्तनादि भी साधनभक्ति नहीं, किन्तु साध्यभक्ति ही हैं।

उपर्युक्त किसी रागविशेषमें रुचि उत्पन्न होनेपर उस रागका उदय होनेसे पहले उसी प्रकारके रागविशिष्ट किसी व्रजपरिकरकी अनुगतिमें अपने सब तरहके सुखको त्यागकर सब प्रकारकी वासनागन्धसे मुक्त होकर एकमात्र श्रीकृष्णके ही सुखसाधनमें तत्पर हो मन, वचन और शरीरसे श्रीकृष्णका ही भजन करना रागानुगा भक्ति है। इस भक्तिकी प्रवृत्ति रुचिमात्रसे होनेके कारण इसका कोई भी अंश विधिप्रेरित नहीं होता। शास्त्रोक्त विधिनिषेधके अनुरोधसे या पापजनित दुःखके भय अथवा पुण्यजनित सुखकी आशासे यह रुचि उत्पन्न नहीं होती है। श्रीकृष्णके प्रियजनोंकी भावपरिपाटी सुनकर यदि चित्तवृत्ति स्वभावसे ही उनके सजातीय भावको पानेके लिये उत्कण्ठित हो तभी रुचि या लोभकी उत्पत्ति हो सकती है। व्रजलीलाके परिकरोंमें विद्यमान शृङ्गारादि भावसमूहोंका माधुर्य कर्णगोचर होनेपर 'मुझमें भी इस प्रकारका भाव उत्पन्न हो' ऐसी इच्छा होनेके समय शास्त्र या युक्तिकी अपेक्षा नहीं होती, क्योंकि कोई भी शास्त्रदृष्टिसे लोभ नहीं करता, लोभ तो लोभनीय वस्तुको सुनते ही अथवा देखते ही स्वयं उत्पन्न होता है। पूज्यचरण श्रीरूपगोस्वामिपादका कथन है कि—'कृष्णतद्भक्तकारुण्यमात्रलोभैकहैतुका' अर्थात् यह लोभ एकमात्र श्रीकृष्ण एवं उनके भक्तोंकी कृपासे ही उत्पन्न होता है। अतः जो भक्ति उससे प्रेरित होकर की जाती है, उसीको रागानुगा भक्ति कहते हैं। यह लोभ भगवत्कृपा एवं अनुरागी भक्तजनोंकी कृपासे होनेके कारण दो प्रकारका है। इनमेंसे भी भगवद्भक्तकृपाजनित लोभ प्राक्तन एवं आधुनिक भेदसे दो प्रकारका है। जन्मान्तरमें भगवद्भक्तकी कृपासे उत्पन्न हुए लोभको 'प्राक्तन' कहते हैं, एवं वर्तमान जीवनमें वैसे भक्तकी कृपासे होनेवाले लोभको 'आधुनिक' कहा जाता है। लोभ उत्पन्न होनेपर जिस समय भक्त श्रीकृष्णके नित्यपरिकरका भाव पानेके लिये उत्सुक होता है उस समय शास्त्र एवं तदनुकूल युक्तिकी अपेक्षा होती है, क्योंकि उक्त प्रकारके लोभनीय भावकी प्राप्तिका उपाय शास्त्र और युक्तिद्वारा ही बतलाया गया है, अन्य किसी प्रकारसे नहीं। मान लीजिये किसीको दूध पीनेका लोभ है तो उसे दूध मिलनेका उपाय जाननेके लिये इस विषयके विशेषज्ञके उपदेशकी ही अपेक्षा होगी, ठीक वैसे ही भावलिप्सु जनोंको भावप्राप्तिके लिये शास्त्रोक्त उपदेशकी अपेक्षा होती है। जिस प्रकार दुग्धेच्छु जनोंको आप्तजनोंके उपदेशानुसार गौ लाकर उसे तृणादि देकर गोदोहनादि विविध विषयोंकी शिक्षा ग्रहण करनी पड़ती है। अभिज्ञ पुरुषोंके उपदेश विना स्वतः उसका ज्ञान नहीं होता, उसी प्रकार शास्त्रोपदेशके विना लोभनीय वस्तु पानेका उपाय स्वयं नहीं जाना जा सकता। श्रीमद्भागवतके अष्टम स्कन्धमें कहा है—

यथाग्निमेधस्यमृतं च गोषु
भुव्यन्नमम्बूद्यमने च वृत्तिम्।
योगैर्मनुष्या अधियन्ति हि त्वां
गुणेषु बुद्ध्या कवयो वदन्ति॥

अर्थात् जिस प्रकार मनुष्य उपायपरम्परासे काठमेंसे अग्नि, गौमेंसे दूध, पृथिवीसे अन्न एवं जल तथा वाणिज्यादिसे अपनी जीविका प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार बुद्धिसे सत्त्वादि गुणोंमें आपकी प्राप्ति होती है—ऐसा विशेषज्ञोंका कथन है। इसका तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार सांसारिक लोभनीय वस्तुकी प्राप्तिके उपाय शास्त्रोंमें बताये गये हैं, उसी प्रकार श्रीकृष्णसम्बन्धी तत्तत्प्रकारके भावोंकी प्राप्तिके उपाय भी शास्त्रोंमें ही वर्णित हैं। इस प्रकार यद्यपि लोभोत्पत्तिके प्रति शास्त्रादिकी अपेक्षा नहीं है, तथापि अपने अभीष्ट भावकी प्राप्तिके लिये तो शास्त्रोपदेशकी अपेक्षा है ही। किन्तु इससे यह नहीं कहा जा सकता कि जो शास्त्रविधिके अनुगत नहीं हैं, उनको भक्ति हो ही नहीं सकती, क्योंकि श्रीमद्भागवतके द्वितीय स्कन्धमें कहा है—

प्रायेण मुनयो राजन् निवृत्ता विधिसेधतः।
नैर्गुण्यस्था रमन्ते स्म गुणानुकथने हरेः॥

अर्थात् विधिनिषेधसे अतीत मुनिगण प्रायः निर्गुण स्वरूपमें अवस्थित हो श्रीहरिके गुणानुकथनमें रमण करते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि रागानुगा भक्ति अन्य किसीकी अपेक्षा न कर स्वतन्त्ररूपसे प्रवृत्त होती है। जो दूसरेकी अपेक्षा करता है उसे दुर्बल और जो अन्यकी अपेक्षा नहीं करता उसे सबल कहते हैं। वैधी भक्ति विधिकी अपेक्षा करनेके कारण दुर्बल है, किन्तु रागानुगा भक्ति स्वतन्त्रभावसे प्रवृत्त होनेके कारण सबल है—यह भी इससे ध्वनित है। रागानुगा भक्तिके सम्बन्धमें एक संशय उठ सकता है कि इस भक्तिमें रागी भक्तका अनुगत होकर उसकी भावपरिपाटीका अनुगमन क्यों किया जाता है? इसकी विशेष आलोचना न करके केवल श्रीनारायणव्यूहस्तवके निम्न श्लोकके विवेचनसे ही इसकी उपयोगिता एवं आवश्यकताका पता चल जाता है—

पतिपुत्रसुहृद्भ्रातृपितृवन्मित्रवद्धरिम् ।
ये ध्यायन्ति सदोद्युक्तास्तेभ्योऽपीह नमो नमः ॥

'जो पति, पुत्र, सुहृद्, भ्राता, पिता एवं मित्रकी तरह उत्कण्ठित चित्तसे श्रीहरिका ध्यान करते हैं उनको भी प्रणाम है।' यहाँ 'पितृवत्' एवं 'मित्रवत्' शब्दमें सादृश्यार्थमें 'वति' प्रत्यय होनेसे श्रीहरिके प्रसिद्ध मित्रादि जनोंके साथ अभेद भावना स्वीकार नहीं की गयी है, किन्तु उनके अनुगत भावको ही माना गया है। अर्थात् यहाँ ऐसी भावनाका निषेध है कि श्रीहरिके भ्राता, पिता, मित्रादि जो शास्त्रमें प्रसिद्ध हैं, अपने भावके अनुसार मैं उन्हींमेंसे अमुक हूँ, किन्तु मैं उनमेंसे अमुकका अनुगत हूँ, इस प्रकारकी भावनाका ही 'वति' प्रत्ययसे निर्देश किया गया है। साथ ही एक बात और भी है, जिस प्रकार 'मैं श्रीकृष्ण या श्रीराम हूँ' ऐसी भावना 'अहंग्रहउपासना' होनेके कारण दोषयुक्त है, उसी प्रकार श्रीभगवान्‌के नित्य-सिद्ध पार्षदोंके साथ अभेद-भावना भी दोषावह है। श्लोकके 'अपि' शब्दसे भी नित्य-सिद्ध भगवत्परिकरसे भक्तोंके भेदका ही निर्देश किया गया है। यहाँपर यह भी उल्लेखनीय है कि 'ध्यायन्ति' इस क्रिया-से रुचिप्रधान रागानुगा भक्तिमें 'मन' का प्राधान्य स्वीकार किया गया है। इसलिये उक्त भक्तिके अधिकारी जनोंके कर्तव्यके विषयमें यह कहा गया है—

कृष्णं स्मरन् जनं चास्य प्रेष्ठं निजसमीहितम् ।
तत्तत्कथारतश्चासौ कुर्याद्वासं व्रजे सदा ॥

अर्थात् अपने भावके अनुसार श्रीकृष्ण और उनके परिकरका तथा उस कृष्णपरिकरके प्रेम एवं सेवापरिपाटी आदि आचरणका चिन्तन करते हुए इस भक्तको उनके रूप-गुण लीला-चरित-कथा-कीर्तनादिमें सर्वदा निरत रहकर व्रजमें वास करना चाहिये। इसीका नाम रागानुगा भक्ति है। इसके सम्बन्धादि और अनेकों भेद हैं, किन्तु विस्तार-भयसे यहाँ उनका उल्लेख नहीं किया जाता।

एक साधककी चाह

हे भगवन्! तू मुझे सुखी मत रखना, क्योंकि सुख मनुष्यके विकासका शत्रु है। दुःख मनुष्यको उत्कर्षकी ओर ले जाता है और सुख पतनकी ओर। सुखमें मनुष्यकी प्रवृत्तियाँ बहिर्मुखी हो जाती हैं और दुःखमें अन्तर्मुखी। सुखमें मनुष्य अपनी सम्पत्तिपर गर्व करता है, दुःखमें अपनी सुकृतियोंपर। सुखमें हम दूसरोंके उत्कर्षसे ईर्ष्या करते हैं, दुःखमें श्रद्धा। सुखमें हमारे विचार ऐश्वर्यकी साधनाकी ओर रहते हैं, दुःखमें शीलकी ओर। सुखके दिन हमारी मस्तीके होते हैं और दुःखके प्रयत्नके। सुखमें हम केवल अपनी सुनते हैं और दुःखमें दूसरोंकी। सुख हमारी दृष्टिपर परदा डाल देता है, दुःख उसे और उज्ज्वल कर देता है। सुखमें हम भविष्यके स्वर्गकी कल्पना करते हैं, दुःखमें हम अपने पापोंका प्रायश्चित्त करते हैं। सुख हमारे वैभवके स्मारक हैं और दुःख हमारी दीनताके। सुख हमें अपने मोह-मन्त्रमें डाल देता है और दुःख हमें मुक्ति-मार्गकी ओर ले जाता है। सुखमें हमारी बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है, दुःखमें निर्मल। सुख हमें अपने बोझसे दबा देता है, दुःख हमें ऊपर उठनेके लिये हलका बना देता है। सुखसे हमारा हृदय कलुषित हो जाता है, दुःखसे उदार। सुखमें हमें अपने अधिकारोंका स्मरण होता है, दुःखमें अपनी आत्मशक्तिका। सुखमें हमारी इच्छाएँ बलवती हो उठती हैं, दुःखमें हमें वैराग्य होता है। सुख हमारे बन्धनका कारण है, दुःख मोक्षका। सुख हमारे जीवनस्रोतका अवरोधक है और दुःख सहायक।

संकटने ईसाको अमर बनाया, राम-कृष्ण तथा बुद्धको आदर्श बनाया एवं गाँधीको महात्मा बनाया। वैभवने दशाननको मदान्ध किया, कंसको अन्यायी बनाया तथा दुर्योधनको अनाचारी बनाया। —एक साधक

दो मन

(लेखक—श्रीयुत नारायणप्रसादजी)

(पृथ्वीके अधिपति राजाके और प्रवृत्तियोंसे मुक्त महात्माके मनकी बातचीत)

राजाके मनने महात्माके मनसे अभिमानभरे शब्दोंमें कहा—'तुम्हें सदा दुःखमें ही दिन बिताने पड़े, देखो, मैं कैसा सुखी हूँ ! राजाकी धन-दौलत, स्त्री-पुत्र, दास-दासियाँ सभी मेरे अधीन हैं। यहाँतक कि राजाका शरीर भी मेरे अधिकारमें है—जिसे जिस प्रकार चाहता हूँ, नचाता हूँ। तुम मेरी जातिके हो, इसलिये मैं तुम्हारा आवाहन करता हूँ कि तुम भी मेरे राज्यमें आकर वास करो और मेरे ही सदृश सुखी होओ।'

महात्माका मन—'मैं तुम्हारे देखनेमें दुःखी हूँ, पर मेरी दृष्टिमें तुम दुःखी हो।'

राजाके मनने व्यंगसे हँसते हुए कहा—'तुम अपने दुःखको छिपानेके लिये व्यर्थ क्यों चेष्टा करते हो ? राजाके महलोंमें रहनेवाला, सारे संसारके पार्थिव पदार्थोंको स्वतन्त्रतापूर्वक भोग करनेवाला मैं—दुःखी हूँ; और घोर जंगलमें टूटी-फूटी झोपड़ीमें दिन काटनेवाले; तुम—सुखी हो ?' यह सुनकर महात्माका मन जोरसे हँस पड़ा।

राजाके मनको साधुके मनका हँसना बहुत बुरा लगा और उसने उत्तेजित होते हुए कहा—

'क्या तुम्हें मेरी बातोंपर विश्वास नहीं होता ? तुम हँसे क्यों ?'

'तुम्हारी मूर्खतापर ! तुम्हारे अधिकारमें सारा बाह्य जगत् है और मेरे अधीन सारा अन्तर्जगत् है।'

'कहाँ ! मैं तो देख नहीं पाता।'

'तुम्हें वह दिखायी नहीं पड़ सकता ! वहाँके दरवाजे तुम्हारे लिये बन्द हैं।'

'समझ गया, वहाँ तुम्हें भी बन्द ही रहना पड़ता होगा, इसीलिये तुम्हें शायद बाहरी दुनियाके ऐश्वर्योंका अनुभव नहीं है। और जो पराधीन है, जिसपर दूसरेका कड़ा शासन है, उसे स्वतन्त्रताके सुखका अनुभव कहाँ ?'

'तुम जानते ही नहीं स्वतन्त्रता किसे कहते हैं ? वासना और अहंकारके जटिल बन्धनोंमें जकड़े हुए, निम्न प्रकृतिके प्रवाहमें असहायकी तरह बहते हुए—तुम, अपनेको स्वाधीन मानते हो ? सबसे बढ़कर आश्चर्य तो इस बातका है कि तुम परवश हो, पराधीन हो, पर तुम्हें अपनी इस हीन दशाका ही पता नहीं है ! जिस दयनीय अवस्थामें पड़े हो उसीमें अपनेको सुखी समझ रहे हो और इसीसे उससे निकलनेकी चेष्टातक नहीं करते। यदि मुझे देखकर तुम्हें तरस आता है तो तुम्हारी अवस्थाको देखकर मुझे सौ गुना तरस आना चाहिये।'

राजाके मनके अभिमानको कुछ ठेस सी लगी, कुछ देर चुप रहकर फिर वह बोला—

'संसारमें जितने प्रकारके पदार्थ हैं, उन सबका मैं भोक्ता हूँ—उनका उपभोग कर मैं सुखी होता हूँ। जिसे आँखें न हों, वही मुझे दुःखी कह सकता है।'

'तुम एक क्षणके लिये भी स्थिर नहीं रह सकते। जो अशान्त है उसे सुख कहाँ ? तुम एक क्षण इस चीजपर तो दूसरे क्षण दूसरी चीजपर सुखकी खोजमें दौड़ा करते हो, पर तुम्हें ऐसी कोई चीज प्राप्त ही नहीं होती, जो तुम्हारे सुखकी तृष्णाको सदाके लिये मिटा सके। जो स्वयं अपूर्ण है, उसके द्वारा पूर्णताकी प्राप्ति कैसे हो सकती है ? इसके सिवा, दुःख तो सदा छायाकी भाँति तुम्हारे पीछे लगा रहता है ! पर मैं इस महात्माके हृदयमें सब अभावोंसे शून्य होकर, सदा एकरस आनन्दमें निवास करता हूँ। संसारके सुख-दुःख, शोक-ताप, मान-अपमान, मुझे छू नहीं सकते। जबसे मैंने अध्यात्म-रसका आस्वादन किया है और मैं अपनेको स्वाधीन बना सका हूँ, तबसे मेरी प्रवृत्ति सदा आत्माके

अनुकूल रहती है और मैं अपने-आपमें मस्त रहता हूँ। आज मैं संसारमें निर्भय—निर्द्वन्द्व हूँ। मृत्यु भी मेरी निर्भयताको डिगा नहीं सकती।'

'मृत्यु! मृत्युसे भी नहीं डरते?' राजाके मनने आश्चर्यभरे शब्दोंमें कहा—

'हाँ-हाँ, मैं मृत्युसे नहीं डरता। मृत्यु मेरा स्पर्श नहीं कर सकती। मैं अमृतका पुत्र हूँ।'

'मेरा तो मृत्युके नामसे ही भयके मारे सारा शरीर काँप उठता है, मित्र! मैं तुम्हारी स्वजातिका हूँ, क्या मुझे भी बता सकते हो—मृत्युसे किस प्रकार त्राण पाया जा सकता है?'—नम्रतापूर्वक राजाके मनने कहा।

'मित्र! मैं भी तुम्हारी ही तरह सुखरहित संसारमें सुख-भोग खोजता फिरता था, पर जबसे इस महात्माने मुझे बच्चेकी भाँति शनैः-शनैः समझा-बुझाकर बाहरसे मुँह मोड़कर भीतरकी ओर घुसनेका चसका लगाया तबसे मुझे अपनी शक्तिका अनुभव होने लगा और आज मैं पहलेकी अपेक्षा अपनेको हजारों गुना अधिक शान्त, प्रसन्न और शक्तिशाली पा रहा हूँ।'

'तुम्हारी बातें मुझे असम्भव-सी जान पड़ती हैं। एक जगह रुकनेसे तो मेरा दम घुटने लगता है। फिर हृद्गुहामें पैठना किस तरह सम्भव है?'

'मित्र! मैं भी पहले तुम्हारी ही तरह निराश और बड़ा हठी था और महात्माके चेष्टा करनेपर भी अपनी पुरानी चाल छोड़ना नहीं चाहता था, पर जबसे मैंने अपने हृद्-रत्नाकरमें गोता लगाना सीखा है, मैं निहाल हो गया हूँ।'

राजाका मन सोचने लगा—'साधुका मन कैसे जीवन और उत्साहसे भरा है और मैं—'

'महात्माके मनने कहा—'क्यों? क्या सोच रहे हो?'

'तुम जो कुछ कह रहे हो, इसपर विश्वास नहीं होता।'

'देखो भाई! हममें प्रत्येकको भगवान्ने बड़ी अद्भुत शक्ति दी है, पर हम अपनी चञ्चलताके कारण अपनी शक्ति व्यर्थमें खो देते हैं। जिस प्रकार जलकी भाप खुली छोड़ देनेसे वह कोई कार्य नहीं कर सकती, उसी प्रकार चञ्चल मन कोई कार्य करनेमें समर्थ नहीं हो सकता, परन्तु जैसे वही भाप यदि किसी यन्त्रमें बन्द कर रख दी जाय तो अति आश्चर्यजनक कार्य कर दिखाती है। उसी प्रकार यदि हम एकाग्र होना सीख लें तो हमारी शक्तिको देखकर दूसरे चकित हो जायँगे।'

'तुम्हारी बातें सुननेमें बहुत अच्छी लगती हैं पर मुझसे यह सब नहीं हो सकेगा। मुझमें इतनी शक्ति नहीं है। अच्छा अब मैं जाता हूँ, मेरा दम घुट रहा है।'

'शक्ति नहीं है, ऐसा मत कहो; कहो, इच्छा नहीं है।'

'शक्तिशाली बननेकी इच्छा किसे नहीं होती, पर नित्य नवीन पुष्पोंका पराग छोड़कर संयमका सांकल पहनने जाय कौन?'

शिक्षा

मानहु प्यारे, मोर सिखावन।
बूँदै-बूँद तलाव भरत है, का भादों का सावन॥
तैसहि नाद-बिन्दुको धारण अन्तः-सुख सरसावन।
ध्वनि गूँजै जब युगलरन्ध्रसे परसै त्रिकुटी पावन॥
हियकी तीव्र भावना थिर करु पड़ै दूधमें जावन।
'केशी' सुरति न टूटन पावै दिव्य छटा दरसावन॥

—भगवती मञ्जुकेशी देवी

आत्म-सम्बोधन तथा अभ्यास और वैराग्य

(लेखक—पण्डितप्रवर श्रीकाशीनाथशर्मा द्विवेदी, सुधीसुधानिधि)

ऐ जीव ! तू मायासे विक्षिप्तचित्त होकर जिन आपात-रमणीय विषयभोगोंमें रम रहा है, उनकी क्या स्थिति है ? इसपर भी कभी विचार किया है ? अरे ! अत्यन्त सरस रसाल-फलके समान मधुर मानकर जिनपर तू लट्टू हो रहा है, वे विषय-समुदाय विकराल कालाग्निका एक अत्यन्त तुच्छ ग्रास हैं, क्षणभरमें ही मिट जानेवाले हैं। परमार्थ-दृष्टिसे इनका अस्तित्व ही नहीं है, ये सभी कल्पना-प्रसूत हैं—मनोराज्यकी विभूतियाँ हैं, विना हुए ही इनकी प्रतीति हो रही है।

और जरा अपनी ओर तो देख, तू अनन्त है, महान् है, नित्य स्थिर है। तुझमें राग-द्वेष कहाँ ? तू तो नित्य शुद्ध-बुद्ध सच्चिदानन्दघन अद्वितीय पूर्ण परब्रह्म है। परस्परविरुद्ध प्रतीत होनेवाले नाना धर्मोंका तू ही एकमात्र अद्भुत निकेतन है। तेरा स्वरूप—तेरी महिमा अनिर्वचनीय है !

फिर भी आज तू रागी बना हुआ है। अनित्य, अशुद्ध, अबुद्ध, आनन्दहीन और अपूर्णके समान तेरे सभी व्यवहार हो रहे हैं। तुझे इनके फलस्वरूप दुःख-सुखका सदा शिकार होना पड़ रहा है। यह आत्मविस्मृति ! यह प्रवञ्चना ! यह सत्यका अपलाप क्यों ? अरे ! इस व्यामोहकी नींदमें तू कबतक सोया पड़ा रहेगा ? उठ जाग, महात्माओंकी शरणमें जाकर औपनिषद ज्ञानके द्वारा इस जीवत्वाभिमानको त्याग दे और अपने सर्वात्मभावको पहचान। क्या तुझे भगवती श्रुतिकी यह टेर नहीं सुनायी देती ?—

'उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान् निबोधत।'

इस समय तू मायाके चंगुलमें फँसकर अपने स्वरूपसे भ्रष्ट हो चुका है, अपने राज्यसे दूर निकल आया है; अब उस खोये हुए स्वराज्यको—भूले हुए स्वधामको प्राप्त करनेके लिये तुझे बड़े कठिन मार्गसे गुजरना है, सत्यकी खोजके लिये दुर्गमपथपर पाँव बढ़ाना है, तलवारकी तीखी धारपर चलना है। श्रुति भी कहती है—

'क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति।'

किन्तु भयभीत होनेका कोई कारण नहीं, नासमझोंके ही लिये सारी कठिनाइयाँ हैं, समझदारोंके लिये सब कुछ सरल हो जाता है, सारा मुश्किल हल हो जाता है। पहले अपना साध्य और फिर उसका साधन समझ लेना आवश्यक है। हम सबका चरम लक्ष्य है परमानन्दमय आत्मतत्त्वका बोध, जो अपना सहज स्वरूप है। पर यह अनादि अविद्यासे आवृत है। आवश्यकता है, इस अविद्याको निवृत्त करनेकी। इसका सरल साधन है विवेक और तितिक्षा। इन्द्रिय और विषयोंके सम्बन्ध ही शीत-उष्ण (अनुकूल-प्रतिकूल) रूपसे प्रतीत होकर सुख-दुःखके कारण बनते हैं। मात्रास्पर्शोंके वेगको सहना होगा। अनुकूल विषयकी प्राप्ति होनेपर लोग आनन्दसे फूले नहीं समाते और प्रतिकूल विषयोंसे सम्पर्क होनेपर बड़ा उद्वेग होता है। ये दोनों ही अवस्थाएँ भयानक बन्धन हैं। इन्द्रियविषयसम्बन्धजन्य आनन्द और उद्वेग दोनों ही विकार हैं। दोनोंको ही समान भावसे देखना और सहना होगा। यह तितिक्षा हठसे नहीं, विवेकसे करनी होगी। ये मात्रास्पर्श (इन्द्रिय-विषय-सम्बन्ध) सदा रहनेवाले नहीं, उत्पत्ति-विनाशशाली हैं। जब ये स्वयं स्थिर नहीं, तो इनसे उत्पन्न सुख-दुःखमें स्थिरता कैसे होगी ? और अस्थिर सुखसे राग या अस्थिर दुःखसे द्वेष ही क्यों होगा ? अतः सुख-दुःखमें अनुकूल-प्रतिकूल भावनाका त्याग कर देना चाहिये। धीरे-धीरे ऐसा अभ्यास हो जानेपर दुःख-सुख नामकी कोई वस्तु नहीं रह जायगी। दोनोंकी प्राप्तिमें मनकी समान स्थिति होगी। जिसमें यह भाव, यह धीरता हो जाय वह पुरुष जीवन्मुक्ति—अमृतत्वका अधिकारी बन जाता है—

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥
यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥

यहाँ 'अनित्याः' पदका अर्थ योगसिद्धान्तके अनुसार परिणामादि दुःखोंको देनेवाला समझना चाहिये और वेदान्त-दर्शनके अनुसार 'अनित्याः' का अर्थ 'असन्तः' है। तात्पर्य यह कि इन्द्रिय, विषय एवं उनके सम्बन्धकी वास्तविक सत्ता ही नहीं है, ये न तो आदिमें थे और न अन्तमें रहेंगे, केवल बीचमें सत्की भाँति प्रतीत हो रहे हैं। यह प्रतीति स्वप्नोपलब्ध पदार्थोंकी भाँति सर्वथा मिथ्या है। जिस वस्तुका भूत और भविष्यमें अभाव देखा जाय उसका वर्तमानमें भी अभाव ही सिद्ध होता है—

आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा ।
वितथैः सदृशाः सन्तोऽवितथा इव लक्षिताः ॥

मिथ्यात्वका निश्चय हो जानेपर उसके सम्पर्कसे सुख-दुःख होनेकी सम्भावना ही नहीं रहती। मिथ्या वस्तुकी प्राप्तिके लिये कौन प्रयत्न करेगा? उसका तो त्याग ही श्रेयस्कर है।

आत्मा सत्य है, उसका बोध होनेपर ही बन्धन अथवा दुःखोंकी आत्यन्तिक निवृत्ति होती है। वेदान्त-दर्शनके अनुसार त्रिकालाबाधित परमार्थ सद्वस्तु आत्मस्वरूपमें सहज भावसे स्थित रहना ही मुक्ति है। यदि आत्माकी एकता-अनेकताके विरोधको हटा दें तो मुक्तिके विषयमें सांख्य और योगका भी यही सिद्धान्त है।

'कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तेः ।'

जगत्में प्रतीत होनेवाले सारे व्यवहार कल्पित और मिथ्या हैं। एकमात्र आत्मा ही परमार्थ सत्य है। उसके सिवा और कोई वस्तु ही नहीं, फिर किसका जन्म और किसका मरण? कौन बद्ध है और कौन साधक? तथा कौन मुक्त होना चाहता है और कौन मुक्त है? आत्मा नित्य मुक्त है, वह कभी बन्धनमें आता ही नहीं। अतः उत्पत्ति, निरोध, बन्धन, साधना, मुमुक्षा और मुक्ति—कुछ भी परमार्थ नहीं है—ऐसा बोध ही परमार्थ सत्य है—

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः ।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता ॥

जिस प्रकार रज्जुको साँप समझकर कोई मनुष्य उससे दूर भागने लगे, उसी प्रकार तू मायाकी आवरण-शक्तिसे आवृत होनेके कारण अपने स्वरूपको ही भूल गया है और उस मायाकी ही विक्षेप-शक्तिसे 'स्व' (आत्मा) को ही चित्त, इन्द्रिय और विषयादिके रूपमें ग्रहणकर भ्रान्त-सा भटकता और निरन्तर दुःखपर दुःख उठाता है। इस भूलको पहचानकर छोड़ दे, समत्वभाव धारण कर; इससे अन्तःकरणके राग-द्वेषादि मल धुल जायँगे, फिर विशुद्ध अन्तःकरणरूपी निरावृत आकाशमें बोधमय विवस्वान्का आलोक उद्भासित हो उठेगा। उस समय यह आत्मा स्वयं ही तेरा वरण करेगा, तेरी सारी अनात्मभावनाएँ इस आत्मतत्त्वमें लीन हो जायँगी। आत्माद्वारा वरणका यह सौभाग्य केवल बड़े-बड़े व्याख्यान देने, बुद्धिके करिश्मे दिखाने और अधिक शास्त्र सुन लेनेमात्रसे ही नहीं प्राप्त होता।

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन ।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूँ स्वाम् ॥

इस प्रकार आत्मलाभ होनेपर ही भौतिक जगत्के दुःखोंसे छुटकारा पाना सम्भव है। इन दुःखोंके साथ ही यहाँके सुखोंसे भी हाथ धोना पड़ेगा, पर उनके लिये चिन्तित होनेकी आवश्यकता नहीं है; क्योंकि वैषयिक सुखोंका परिणाम दुःख ही है, अतः वे भी दुःखरूप ही हैं। जिसे हम वैषयिक सुख मानते हैं, वह है विषयोंकी अनुकूलताका ज्ञान। परन्तु जो विषय इस समय अनुकूल प्रतीत होते हैं, वे ही कालान्तरमें प्रतिकूल जान पड़ते हैं और दुःखके कारण बनते हैं, अतः उनसे सुखकी आशा व्यर्थ है।

सुखानुभवकालमें सुखके प्रति राग अर्थात् सुखकी स्थिरताका स्वाभाविक सङ्कल्प धर्माधर्मरूपमें परिणत हो जन्म-मरणादि दुःखपरम्पराका कारण होता है। इसी प्रकार सुखनाश और सुखविरोधी दुःखके प्रति जो विद्वेष होता है, वह और उक्त राग-द्वेषका कारणभूत मोह भी सुखानुभव कालमें विद्यमान ही रहते हैं, जो स्वयं दुःखरूप होते हुए सङ्कल्पद्वारा धर्माधर्मरूपमें परिणत हो जन्मादि दुःखके कारण होते हैं। सुखकी प्राप्ति होनेपर तद्विषयिणी इच्छा बढ़ती ही जाती है और सुखके नष्ट हो जानेपर तथा नूतन सुख प्राप्त न होनेपर दुःखात्मिका तमोवृत्ति रहती ही है। सुख प्राप्त होनेपर भी उसके विनाशके भयसे उत्पन्न सन्ताप बना ही रहता है, जो दुःखका कारण या स्वयं दुःखरूप ही है। ये सुख-दुःखानुभव संस्कारका, और वे संस्कार पुनः सुख-दुःखका आरम्भ कराते हैं। इस अविच्छिन्न परम्पराके कारण कभी संसारका उच्छेद नहीं हो पाता। बुद्धि या चित्तत्त्व अपने उपादानकारण प्रकृतिकी ही भाँति त्रिगुणात्मक (सत्त्वरजस्तमोमय) ही है; अतः सुखानुभवकालमें सत्त्ववृत्तिकी तरह दुःखात्मिका रजोगुण एवं तमोगुणकी वृत्तियाँ अनिवार्यरूपसे रहती ही हैं। ऐसी दशामें इस प्राकृत जगत्के भीतर दुःखरहित सुखकी सम्भावना ही कहाँ है? सब कुछ दुःख ही तो है!

'परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः ।'

अतः इस अपूर्ण दुःखमय एवं मिथ्या सुखकी कामना-को त्याग दे और अपने स्वरूपभूत अखण्डैकरस ब्रह्मानन्दमें

निमग्न रह। तू अपनेको छोड़कर और कहाँ नित्य सुखकी खोज कर रहा है? सत्य, ज्ञान और आनन्द तो तेरा स्वरूप ही है—

'सत्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म ।'

इन तुच्छ क्षणिक विषयोंमें सुख कहाँ है? अल्पमें सुख नहीं होता, सुखकी उपलब्धि तो उस परम महान् अनन्त सद्वस्तुमें ही होती है—

'यो वै भूमा तत्सुखम्, नाल्पे सुखमस्ति ।'

निर्वातनिष्कम्प इव प्रदीपः—वायुशून्य स्थानमें अकम्पित दीपशिखाकी भाँति तू ब्रह्मानन्दमें अविचल भावसे स्थित रह। यह आनन्द आस्वादनका विषय नहीं है। समाधिके आरम्भकालमें जिस प्रकार सुखका अनुभव—रसका आस्वादन होता है, बोध होनेपर वैसा नहीं होता। यदि उस समय भी रसका अनुभव होता रहे तो अनुभवनीय विषय, अनुभवक्रिया और अनुभवकर्ताका भेद होनेसे आनन्दाद्वैत-स्थिति कहाँ रही? आत्मबोधमें तो आनन्द और अनानन्द—दोनों ही नहीं हैं। बोधकालमें समस्त भावों और अभावोंके एकमात्र अधिष्ठान अपने आत्माके सिवा दूसरी कोई सद्वस्तु रहती ही नहीं। अतः परमार्थबोधमें बोध या अनुभवकी वृत्ति नहीं रहती, ज्ञानी वास्तवमें बोधरूप ही होता है। इसलिये जो ऐसा मानते हैं कि मुझे ब्रह्मानन्दका ज्ञान या अनुभव हुआ या हो रहा है, वे वास्तवमें तत्त्वबोधसे दूर हैं—

नास्वादयेद्रसं तत्र निःसङ्गः प्रज्ञया भवेत् ।
यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः ।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम् ।

अहङ्कारसंवलित ज्ञान इन्द्रियजन्य होते हैं, नित्य-विज्ञानानन्दस्वरूप ब्रह्म इन्द्रियोंका—प्रत्यक्ष प्रमाणका विषय नहीं है—

'न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो न विद्मो न विजानीमः ।'

अनुमानादि अन्य प्रमाण भी प्रत्यक्षमूलक ही होते हैं, अतः अपौरुषेय शब्दप्रमाण (वेद) के अतिरिक्त अन्य किसी भी प्रमाणसे ब्रह्म संवेद्य नहीं है। वैदिक श्रुतियाँ भी जब 'सत्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इत्यादि प्रकारसे ब्रह्मका स्वरूप-निरूपण करते समय शब्दोंद्वारा सम्यग् वर्णन नहीं कर पातीं तो थककर निषेधात्मक वाक्योंसे अनात्मवस्तुओंका बाध कर तटस्थ लक्षणद्वारा ब्रह्मकी ओर संकेतमात्र करके रह जाती हैं। अतः सर्वविध प्रमाणोंसे अतीत स्वानुभवैकगम्य *सच्चिदानन्दघन ब्रह्म 'स्व' का स्वयं ही प्रमाण है।*

जिसके लिये ही सभी सांसारिक सामग्रियोंकी आवश्यकता होती है और जिसकी आवश्यकता किसी अन्यके लिये नहीं होती, उसे ही तो सुख कहते हैं। अपने ही लिये तो तुझे सांसारिक वस्तुओंकी आवश्यकता होती है, फिर सच्चिदानन्द-रूप तुझमें और सुखमें भेद ही क्या है?

'न वै सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति, आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति ।'

जगत्में जो अनन्त वस्तुएँ दीख पड़ती हैं, इन सबका संग्रह किसी एकके लिये असम्भव है, तत्तद्वस्तुरूपमे ये असंख्य हैं, मिथ्या हैं और अपनेसे पृथक् हैं; पर आत्मरूपसे सभी एक हैं, सत् हैं और अपना ही स्वरूप हैं, इसलिये तत्तद्वस्तु-रूपसे इन सबका त्याग कर आत्माभेदरूपसे अनन्त कोटि ब्रह्माण्डका भी संग्रह हो जाता है—यही है अद्वैतवेदान्तकी विशेष्यता।

भगवत्प्राप्ति या आत्मबोधके सभी तान्त्रिक-वैदिकादि साधनोंमें योग अनुस्यूत है। योगका वास्तविक अर्थ है, सम्मेलन (क्योंकि योग शब्द 'युजिर् योगे' धातुसे बना है)। योगियोंके मतसे पुरुषार्थरहित प्रकृतिके संयोगसे आत्माकी स्वरूपप्रतिष्ठा ही योग है। वेदान्त-सिद्धान्तानुसार मायासे आवृत होनेके कारण भेद-भावनासे युक्त जो जीवात्मा है, उसकी उस मिथ्या आवरणके नाशसे जो अद्वैतरूपसे स्थिति होती है, उसे योग कहते हैं। किन्तु यह योग साध्य है, साधन नहीं; इस कारण 'युज्यते अनेन' इस करण-व्युत्पत्तिके द्वारा स्वरूपप्रतिष्ठाके साधनभूत चित्तवृत्तियोंके निरोधको ही योग कहते हैं—'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'।

यह योग पूर्वोक्त योगका साधन होनेपर भी अन्य साधनोंद्वारा स्वयं भी साध्य है, इसका साधन अभ्यास और वैराग्यसे किया जाता है। जैसे नदीका प्रवाह कभी सागरकी ओर तो कभी विपरीत दिशामें भी प्रवाहित होता है, उसी भाँति चित्तकी वृत्तियाँ भी कभी विषया-भिमुख और कभी आत्माभिमुख प्रवाहित होती हैं। यह चित्तका स्वभाव है। जब विषयोंकी अनित्यता असारता आदिकी विवेचनासे मनमें वैराग्य उत्पन्न होता है और उससे विषयाभिमुख वृत्तियाँ क्रमशः क्षीण होकर

आत्मसाक्षात्कारके अभ्याससे आत्माभिमुख प्रवाहित होने लगती हैं, उस समय चित्तमें जो एकाग्रवृत्तिधारारूप स्थिति उत्पन्न होती है, उसे हम 'चित्तवृत्तिनिरोध' कहते हैं। इस प्रकार वैराग्य और अभ्यास—दोनोंके ही अनुशीलनसे 'चित्तवृत्तिनिरोध' रूप योगका साधन होता है—

'अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः।'

उपर्युक्त स्थितिको प्राप्त करनेके लिये ध्यान अथवा सबीज समाधिपर्यन्त श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि, प्रज्ञा एवं यम-नियमादि साधनोंका निरन्तर अनुष्ठान ही अभ्यास है। सबीज समाधिमें अन्ततः चित्तकी आत्माभिमुख वृत्तियाँ होती ही हैं। सबीज समाधिके असकृत् अनुष्ठानसे जब सभी आलम्बनों अथवा आधारोंका परित्याग कर देते हैं तब निरालम्बनीभूत वृत्तियाँ चित्तमें ही विलीन हो जाती हैं। उस समय चित्तका भी अभाव-सा ही हो जाता है। यही है वृत्तियोंका परिपूर्ण निरोध, जिसे 'असम्प्रज्ञात समाधि' कहते हैं तथा जो कैवल्यका सबसे अन्तरङ्ग साधन है।

'तदपि बहिरङ्गं निर्बीजस्य।'

सुदीर्घ कालतक निरन्तर तप, ब्रह्मचर्य, विद्या, श्रद्धा एवं सत्कारपूर्वक अनुशीलित होनेपर यह अभ्यास स्वरूप-स्थिति सम्पादन करनेमें समर्थ होता है, अन्यथा अनादि कालसे जो विषयाभिमुख वृत्ति-प्रवाहरूप व्युत्थानके जनक विरोधी संस्कार हैं, उनसे बाधित होनेके कारण असमर्थ ही रहता है।

इस अभ्यासका ही पूर्व अङ्ग है वैराग्य, जो पर-अपर भेदसे दो प्रकारका होता है। यहाँ वैराग्यका अर्थ रागाभावमात्र नहीं है, क्योंकि रोगादिके कारण अरुचि हो जानेसे जो भोजनमें रागका अभाव होता है, उससे चित्तवृत्तियोंका निरोध नहीं होता। केवल विषय-दोष-दर्शनसे उत्पन्न रागाभाव भी वैराग्य नहीं है; क्योंकि विषयोंके दोष देखनेके पश्चात् भी यदि विषयोंका सन्निधान प्राप्त होता है, तो उससे भी चित्तमें क्षोभ होता ही है। इसीसे लोग कहते हैं कि सौभरि आदिका योग भी अपरिपक्व ही था, पर यह धारणा मान्य नहीं है, जैसा कि इस लेखके उपसंहारमें स्पष्ट हो जायगा।

तो फिर वास्तविक वैराग्य क्या है? यह बताया जाता है। विषय दो प्रकारके हैं—दृष्ट और आनुश्रविक। स्त्री, पुत्र, धन-धान्य, ऐश्वर्य आदि इहलौकिक भोग दृष्ट विषय हैं। अनुश्रव कहते हैं वेदको, उसमें प्रतिपादित भोग आनुश्रविक हैं। इस व्युत्पत्तिके अनुसार स्वर्गीय भोग, वैदेह्य अर्थात् स्थूलशरीरसे रहित होनेपर भी लिङ्गशरीरमात्रसे सङ्कल्पोपनत विषयोंका उपभोग करनेवाला देवत्व आदि आनुश्रविक विषय हैं। इन सभी विषयोंके प्रति तृष्णारहित चित्तका वशीकार ही अपर वैराग्य है। इस अवस्थामें सभी विषयोंके प्रति अलंबुद्धि हो जाती है, अर्थात् उनकी तनिक भी चाह नहीं रहती। मन विषयोंकी हेयोपादेयतासे शून्य हो जाता है, उसमें राग-द्वेषका सर्वथा अभाव होता है। यद्यपि वैराग्यका अर्थ रागाभाव ही है, तथापि योग और वेदान्तके सिद्धान्तानुसार अभाव अपने अधिष्ठानके अवस्था-विशेषके अतिरिक्त पदार्थान्तर नहीं होता; अतः यहाँ भी यह रागाभाव चित्तकी अलंबुद्ध्यात्मक सत्त्वोद्रेकरूप अवस्था-विशेष ही है।

इस अपर वैराग्यकी चार भूमिकाएँ होती हैं—यतमान-संज्ञा, व्यतिरेकसंज्ञा, एकेन्द्रियसंज्ञा और वशीकारसंज्ञा। विषयोंके सन्निधानमें भी दोषोंका कोई आवरक न होनेसे प्रथम विषयगत दोषोंका ज्ञान होता है, तदनन्तर दूषित विषयोंके प्रति अलंबुद्धि होती है, जिससे हम विषयोंसे इन्द्रियोंकी विमुखताका प्रयत्न करते हैं, इसी प्रयत्नकी प्रयोजिका अलंबुद्धिको 'यतमानसंज्ञा' वैराग्य कहते हैं। जब कुछ इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त हो जाती है तब 'अमुक इन्द्रिय तो वशमें हो गयी, अब अमुकको वशमें करना चाहिये' इस प्रकार जिताजित इन्द्रियोंके पृथक्करणकी योग्यता उत्पन्न होती है, जिससे हम अजित इन्द्रियोंको जीतनेका प्रयास करते हैं। इस पृथक्करण (व्यतिरेक) की योग्यताके समकालिक अलंबुद्धिको 'व्यतिरेकसंज्ञा' वैराग्य कहते हैं। जब सम्पूर्ण इन्द्रियाँ अपने-अपने विषय रूपादिके प्रति रागादिशून्य हो जाती हैं और केवल मनोगत राग-द्वेषादि अवशिष्ट रहते हैं, तब मनमें छिपे हुए इन रागादिकोंका परिज्ञान करके इन्हें नष्ट करनेका प्रयत्न किया जाता है। इसी मनोगत रागादिज्ञानके समकालिक अलंबुद्धिको 'एकेन्द्रियसंज्ञा' वैराग्य कहते हैं। इसके बाद निरन्तर प्रयत्नसे जब मनोगत राग-द्वेषादि सर्वथा क्षीण हो जाते हैं, तब चित्त समस्त विषयोंके प्रति हेयोपादेय-भावनासे शून्य एवं विशुद्ध रूपसे अवस्थित होता है, इसी स्थितिका नाम है 'वशीकारसंज्ञा' वैराग्य। उपर्युक्त अभिप्रायका ही प्रतिपादन महर्षि पतञ्जलिके निम्नाङ्कित सूत्रसे हुआ है—

'दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्।'

अपर वैराग्य-कालमें अविद्याकी निवृत्ति नहीं हुई रहती है। अपर वैराग्यद्वारा धीरे-धीरे चित्त पूर्णतया शुद्ध होनेपर जब अविद्या भी निवृत्त हो जाती है और आत्मसाक्षात्कारसे नित्यतृप्तिका बोध होता है, उस समय स्वेतर समस्त प्रतीयमान पदार्थोंके प्रति सहज उपेक्षा हो जाती है। यह उपेक्षा ही परवैराग्य है। चित्तसत्त्व स्वतः विशुद्धज्ञानस्वभाव होकर भी रजोगुण-तमोगुणके सम्पर्कसे मलिनताका अनुभव करता है। पूर्वोक्त वैराग्यद्वारा तमोगुण और रजोगुणकी वृत्तियोंके क्षीण हो जानेपर वह निर्विषय एवं सुप्रसन्न ज्ञानरूपसे अवस्थित होता है। उस समय यह अनुभव होता है कि प्राप्तव्य कैवल्य प्राप्त हो गया; क्योंकि उसके प्रतिबन्धक अविद्यादि पाँच क्लेश निवृत्त हो चुके हैं। इस प्रकार आत्मा और प्रकृतिके भेद, मायाका मिथ्यात्व एवं आत्माकी अद्वितीयता आदि ज्ञानके प्रति भी अलंबुद्धि हो जाना ही परवैराग्यकी पूर्णता है। यह धर्ममेघसमाधिका ही एक भेद है और इसकी प्राप्तिसे जीवन्मुक्त-अवस्था प्राप्त होती है—

'जीवन्नेव विद्वान् मुक्तो भवति।'

वेदान्तके साधनचतुष्टयोंमें भी शम-दमादिमें योगके यम-नियमादिका, नित्यानित्य वस्तु-विवेकमें विवेकख्यातिका, इहामुत्रफलभोगविरागमें वैराग्यका और मुमुक्षुत्वमें श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि, प्रज्ञा, अभ्यास एवं चित्तवृत्तिनिरोधादिका अन्तर्भाव समझना चाहिये। अथवा वेदान्तके सभी साधनोंमें योगके सभी साधनोंका अन्तर्भाव है—इस विषयमें फिर कभी प्रकाश डाला जा सकता है।

इसलिये ऐ जीव! उपर्युक्त बातोंका विचार कर तू भी इन समस्त अनित्य भोगोंसे पूर्ण विरक्त हो जा। और—

'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।'

इस श्रुति-अनुशासनके अनुसार यह समझ कर कि ये श्रवण, मनन आदि हमारे अभीष्टके साधन हैं, शास्त्रों एवं गुरुजनोंके मुखसे मायाके मिथ्यात्व तथा एकमेवाद्वितीय आत्माकी सच्चिदानन्दरूपताका श्रवण कर; फिर सुने हुएका तर्कोंसे मनन और निदिध्यासनके द्वारा उसका पूर्ण निश्चय कर। इस अभ्याससे जब चित्तवृत्तियाँ आत्माकार हो जायँगी उस समय समस्त ज्ञान-अज्ञानके प्रति अलंबुद्धि उत्पन्न होगी; और उसी समय 'द्रष्टव्यः' इस शास्त्रविधिकी पूर्णता हो जायगी। फिर तो तू जीते-जी मृत्युके शासनसे बाहर—'जीवन्मुक्त' हो जायगा।

इस जगत्में जीवन्मुक्त महात्माओंके शरीरोंसे जो नाना प्रकारके व्यवहार होते दीखते हैं, अथवा जो उनकी विभिन्न प्रकारकी स्थितियाँ दीख पड़ती हैं, ये सब लोक-दृष्टिमें ही हैं, इनसे उस महान् आत्माका कोई भी सम्पर्क नहीं रहता। जीवन्मुक्त महात्माओंमेंसे कुछ शुकादिकी तरह सर्वसङ्ग-परित्यागी होते हैं। कुछ महात्मा—'लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्' का अनुशीलन करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण आदिकी भाँति लीलार्थ कर्म करते हैं। कुछ संत सौभरि मुनिकी भाँति भोगसे प्रारब्धको क्षीण करनेमें लगे होते हैं। कुछ लोग 'व्यवहारे भाट्टनयः' के अनुसार व्यवहारपरायण तथा कुछ महात्मा महर्षि वात्स्यायनके 'परस्परानुरोधेन त्रिवर्गं सेवेत' इस वचनके अनुसार त्रिवर्गसेवी देखे जाते हैं। तथा कुछ ऐसे भी हैं जो महाकवि कालिदासके 'असक्तः सुखमन्वभूत्' इस कथनानुसार अनासक्तभावसे सुखका अनुभव करते रहते हैं। ये सभी कर्म और अवस्थाएँ उन महापुरुषोंके परमार्थ-स्वरूपको छू भी नहीं सकतीं। कोई भी कामना और राग न होनेके कारण पापकर्मोंमें तो उनकी कभी प्रवृत्ति होती ही नहीं। यदि परप्रेरणासे विवश होकर उनके शरीरद्वारा कोई पापकर्म बन गया तो उनपर उसका कोई संस्कार नहीं पड़ता—

'तद्यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्ते एवमेवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यते।'

अन्ततः प्रारब्धभोगी शरीरका परित्याग करके वे परममुक्त हो—

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

—के अनुसार पूर्णतम स्थितिको प्राप्त करते हैं।

परब्रह्मको कौन प्राप्त होता है ?

परित्यजति यो दुःखं सुखं वाप्युभयं नरः। अभ्येति ब्रह्म सोऽत्यन्तं न तं शोचन्ति पण्डिताः॥

जो मनुष्य सुख और दुःख इन दोनोंको त्याग देता है, वह परब्रह्मको प्राप्त होता है और ज्ञानीपुरुष उसको शोचनीय नहीं मानते। (महा० शान्ति० ३२०। ७)

कृष्ण-कृष्णके उच्चारणसे कृष्णप्राप्ति

'कहीं इस तरह भी जप किया जाता है ? धीर-गम्भीर भावसे अर्थका अनुसन्धान करते हुए अन्तस्तलसे एक-एक अक्षरका उच्चारण करो। उसके साथ एक हो जाओ। क्या तुम बेगार भरनेके लिये संख्या पूरी करते हो ?' एक सुरसे वे इतना बोल गये और मेरा सिर पकड़कर हिला दिया। मैंने चौंककर देखा तो एक लंबे तगड़े गौर वर्णके तेजस्वी महात्मा मेरी आँखोंके सामने खड़े हैं। मैंने माला वहीं छोड़ दी, सिरसे उनके चरणोंका स्पर्श किया और जिस चौकीपर मैं बैठकर जप कर रहा था, उसपर उन्हें बैठा दिया, और मैं स्वयं उनके चरणोंके पास जमीनपर ही बैठ गया।

ये महात्मा मेरे अपरिचित नहीं थे। मैंने इन्हें तब देखा था, जब मेरी अवस्था आठ वर्षकी भी नहीं रही होगी। ये कभी-कभी मेरे बाबाके पास आया करते थे। इनके दिये हुए नारियलके प्रसाद मुझे भूले नहीं थे। उनके भरे हुए मुखमण्डलपर एक ऐसी आकर्षक ज्योति जगमगाती रहती थी, जिसे एक बार देख लेनेपर दिलमें गहरी छाप पड़ जाती थी। गठा हुआ नैपाली शरीर, लोगोंसे कम मिलना-जुलना और अपनी कुटीमें रहकर एकान्त साधन करना—यही उनके जीवनकी विशेषताएँ थीं। वे चौमासेमें प्रायः नैपाल चले जाते थे और बाकी महीनोंमें मेरे गाँवसे दो मीलकी दूरीपर एक विशाल वटवृक्षकी छायामें बनी हुई छोटी-सी कुटियामें रहते थे। मैं न जाने कितनी बार इनसे मिला था। परन्तु आजकी तरह नहीं। आज तो चार बजे रातको जब मैं अपनी जपसंख्या पूरी करनेके लिये जल्दी-जल्दी माला फेर रहा था, तब अचानक इनके दर्शन हुए और उपर्युक्त बात कहकर ये उस छोटी-सी चौकीपर बैठ गये। वे मौन थे, उनके चरणोंकी ओर देखता हुआ मैं भी मौन था। इस प्रकार पंद्रह-बीस मिनट तो बीत ही गये होंगे।

उन्होंने अपना मौन भङ्ग करते हुए कहा—'मुझे इस समय यहाँ देखकर आश्चर्यचकित होनेकी कोई बात नहीं। मैंने सुना कि अब तुम उपनिषदादि पढ़कर लौट आये हो और परमात्माकी ओर तुम्हारी कुछ प्रवृत्ति है, तो मनमें आया—चलें, जरा देख आवें क्या हाल-चाल है। इतना सबेरे आनेका कारण यह था कि मनुष्योंकी प्रवृत्ति जाननेके लिये यही समय उपयुक्त है। किसी मनुष्यकी आन्तरिक प्रवृत्ति जाननी हो तो यह देखना चाहिये कि वह क्या करता हुआ सोता है और क्या करता हुआ जागता है। ये दोनों ही अवस्थाएँ मनुष्यको उसकी रुचि और प्रवृत्तिके समीप रखती हैं। तुम्हें जप करते देखकर मुझे बड़ा सुख हुआ। तुम्हारी शुभेच्छा और तत्परता प्रशंसनीय हैं, परन्तु इसमें कुछ संशोधनकी आवश्यकता है।' मैंने जानना चाहा कि क्या-क्या संशोधन होने चाहिये, परन्तु उन्होंने उस समय मेरे प्रश्नको टालते हुए कहा—'चलो, अभी तो गङ्गाजी चलें। शुद्ध प्रभाती वायुके सेवनसे शरीरमें एक नवीन स्फूर्तिका प्रवाह होने लगता है, मन प्रसन्न हो जाता है और शारीरिक व्यायाम भी हो जाता है। इसलिये चलो गङ्गाजी; गङ्गास्नान तो होगा ही, प्रातःकालीन भ्रमण भी हो जायगा। वे आगे-आगे चले और मैंने उनका अनुसरण किया।

गङ्गाजीके प्रति मेरा सहज आकर्षण है। गङ्गाजीका पुलिन, उनके तटके वृक्ष, उनकी अठखेलियाँ करती हुई तरङ्गें, मेरे मनको बरबस हर लेती हैं। मेरे मनमें एक नहीं, अनेक बार ऐसी इच्छा होती है कि मैं गङ्गातटपर रहूँ, केवल गङ्गाजल पीऊँ और स्वर्ण-सी चमकती हुई नवनीत-सी कोमल बालुकाओंपर मनभर लोटूँ, लोटता ही रहूँ। जब मैं परमहंसजीके पीछे-पीछे चला तब मेरे मनमें केवल यही कल्पना थी कि आज परमहंसजीके साथ गङ्गाजीमें खूब स्नान करूँगा, उनसे जप और ध्यानकी विधि सीखूँगा। रास्तेमें न वे बोले न मैं। दोनों मौन रहे, परन्तु गङ्गाजीकी दूरी ही कितनी थी ! बस, एक मीलसे कुछ अधिक। बात-की-बातमें हम वहाँ पहुँच गये। शौच, स्नान, सन्ध्या, तर्पण आदि नित्यकृत्योंसे निवृत्त होकर वहीं मनोहर वटवृक्षके नीचे हमलोग बैठ गये। परमहंसजीका रुख देखकर मैंने उनसे पूछा—'भगवन्, जपमें यदि संख्यापूर्त्तिका ध्यान न रक्खें तो कैसे काम चले ? क्या जल्दी-से-जल्दी अधिक-से-अधिक नामजप कर लें, यह उत्तम नहीं है ?' उन्होंने कहा—'उत्तम क्यों नहीं है ? भगवान्‌का नाम चाहे जैसे लिया जाय, उत्तम ही है। परन्तु नाम-जपके साथ यदि भावका संयोग हो, प्राणोंका संयोग हो और रस लेते हुए नाम-जप किया जाय तो इसका फल पग-पग पर मिलता जाता है। एक-एक नामका उच्चारण अपरिमित आनन्दका दान करनेवाला होता है। केवल नामोच्चारण सफल तो होता है, परन्तु कुछ विलम्बसे।'

'देखो, तुम्हें मैं स्पष्ट बतलाता हूँ।' इस प्रकार परमहंसजी बोलने लगे—'साधारणतः नाम-जप वाक्-इन्द्रियका काम है। वाक्-इन्द्रिय एक कर्मेन्द्रिय है, इसका सञ्चालन प्राणशक्तिके द्वारा होता है। वाक्-इन्द्रियसे जप करनेका अर्थ है प्राणोंके साथ उसको एक कर देना। यदि जप स्वरसे होता है, जिह्वाकी एक नियमित गति रहती है, तो प्राणोंकी गति भी नियमित रूप धारण कर लेती है। बेसुरे ढंगसे एक साँसमें पाँच-सात बार राम-राम कह जानेकी अपेक्षा एक बार स्वरसे कहना उत्तम है। गम्भीरताके साथ 'रा······म, रा···म' इस प्रकार जप करनेमें प्राणायामकी अलग आवश्यकता नहीं होती। क्रियाशक्तिपर नियन्त्रण होनेके कारण आसन स्वयं सिद्ध हो जाता है। यहाँतक तो स्थूल क्रियाकी बात हुई। जप केवल कर्मेन्द्रियसे ही नहीं होता। और इन्द्रियोंकी अपेक्षा वाक्-इन्द्रियकी एक विशेषता है; वह यह है कि वाक्-इन्द्रियके साथ एक ज्ञान-इन्द्रिय, जिसको रसना कहते हैं, रहती है। अधिकांश तो वाक्-इन्द्रियसे ही जप करते हैं, उसमें रसनेन्द्रिय-का उपयोग नहीं करते। उपयोग करनेकी तो बात ही क्या, उसका स्वरूप ही नहीं जानते। रसनाका काम है रस लेना। वाक्-इन्द्रियसे नामका उच्चारण हो और रसना उसका रस ले, प्रत्येक नामकी मधुरताका आस्वादन करे–यह परिणाममें ही नहीं, वर्तमानमें भी सुखद है। इस प्रकार रसकी धारणा करनेसे प्रत्याहारकी अलग आवश्यकता नहीं होती, ज्ञानेन्द्रिय और मनका एकत्व हो जाता है। नियमित गतिसे वाक्-इन्द्रिय प्राणमें लय हो जाती है और रस लेनेसे ज्ञानेन्द्रिय मनमें लय हो जाती है। इस समय यदि मन्त्रार्थका चिन्तन रहा, तो यह कहनेकी आवश्यकता नहीं कि इस चिन्तनमें प्राण और मन दोनों एक हो जायँगे। प्राण और मनका एकत्व ही सुषुम्णाका सञ्चार है और यही पहले ध्यानकी एवं पीछे समाधिकी अवस्था है। कहनेका तात्पर्य यह है कि यदि जपमें तीन बातें रहें–मन्त्रका उच्चारण गम्भीरतापूर्वक नियमित गतिसे हो, मन्त्रकी मधुरताका आस्वादन हो और मन्त्रके अर्थका चिन्तन हो, तो किसी भी हठयोग या लययोगकी आवश्यकता नहीं है, केवल जपसे ही पूर्णता प्राप्त हो जाती है। एक बात और। मन्त्रार्थचिन्तनका यह तात्पर्य नहीं है कि उसके शब्दोंका अलग-अलग अर्थ जान लिया जाय। मन्त्रके एकमात्र अर्थ हैं अपने इष्टदेवता। उनका जो स्वरूप अपने चित्तमें हो, उसका चिन्तन ही मन्त्रार्थचिन्तन है।'

'यदि तुम इस बातको समझकर इसके अनुसार जप कर सकोगे तो तुम्हें अवश्य सफलता मिलेगी।' इतना कहकर उन्होंने अपने उपदेशका उपसंहार किया। मैं अभी कुछ और सुनना चाहता था। मुझे परमहंसजीके उपदेशानुसार जप करनेमें बड़ी कठिनाइयाँ मालूम होती थीं। परन्तु मैंने अब इस समय कुछ पूछना उचित न समझा, धूप हो रही थी, यह मालूम नहीं था कि ये अपनी कुटीपर जायँगे या मेरे घर। इसलिये मैं चुप हो रहा और मेरा भाव समझकर उन्होंने वहाँसे यात्रा कर दी, मैं भी उनके पीछे-पीछे चल पड़ा।

परमहंसजीकी कुटिया बड़े सुन्दर स्थानपर थी। जलका बड़ा भारी ताल, बड़े सुन्दर-सुन्दर घने वृक्ष देखने योग्य थे। परमहंसजी तो कभी-कभी उन वृक्षोंसे ही घंटों बात करते रह जाते थे। आस-पासके गाँवोंमें वे सिद्धके रूपमें प्रख्यात थे, इसलिये उनकी इच्छाके विपरीत वहाँ कोई नहीं आता था। जब हमलोग वहाँ पहुँचे तो सर्वथा एकान्त था। मुझे बाहर छोड़कर परमहंसजी अपनी एकान्त कुटियामें ध्यानस्थ हो गये और मैं बाहर बैठकर साधनकी कठिनाइयोंपर विचार करने लगा। मैं सोच रहा था—साधन तो सुगम-से-सुगम होना चाहिये। जन्म-जन्मसे कठिनाइयोंके चक्रमें पिसता हुआ जीव यदि भगवान्‌की ओर चलनेमें भी कठिनाइयोंके अंदर ही रहे तो फिर साधना और साधारण स्थितिमें अन्तर ही क्या रहा! अपनी असमर्थता, दुर्बलता और चञ्चलताको देखकर निराश हो गया। मैंने सच्चे हृदयसे प्रार्थना की—'हे प्रभो, मुझे मालूम नहीं कि तुम कैसे हो, कहाँ रहते हो और तुम्हारे पास पहुँचनेका क्या साधन है? मैं यह सब जान सकूँ, इसका भी मेरे पास कोई उपाय नहीं है। मुझ आश्रयहीनके तुम्हीं आश्रय हो। मुझ दीनके तुम्हीं दयालु हो, मुझ भिखारीके तुम्हीं दाता हो। मैं तुम्हारी शरणमें हूँ। मुझे तुम्हीं अपना मार्ग दिखाओ, अपना स्वरूप लखाओ और अपनी प्राप्तिका साधन बतलाओ।' मैं प्रार्थना करते-करते तन्मय हो गया, यह पता नहीं रहा कि कितना समय बीत गया।

दो बजे परमहंसजी कुटियासे बाहर आये। प्रसाद पानेके अनन्तर उन्होंने स्वयं कहा—'साधनामें कोई कठिनाई नहीं है; यह मार्ग तभीतक बीहड़ मालूम होता है, जबतक इसपर पैर नहीं रक्खा जाता। इसपर चल दो, फिर तो तुम्हारी सब कठिनाइयाँ अपने-आप हल हो जायँगी। संसारी पुरुष जिसे कठिनाई समझते हैं, वह तो साधकोंके लिये वरदान

है। कठिनाईमें ही उनकी आत्मशक्ति और आत्मविश्वासका विकास होता है। जिसने यह निश्चय कर लिया है कि मैं अपने साध्यको प्राप्त करके ही रहूँगा, भला, ऐसी कौन-सी कठिनाई है, जो उसे अपने मार्गसे विचलित कर सके? कठिनाई भी एक साधना है, जो साधकोंको नीचेसे ऊपरकी ओर ले जाती है। जिसके जीवनमें कठिनाई नहीं आयी, वह जीवनके मार्गमें कुछ आगे भी बढ़ा है, इसका क्या सबूत है?'

और भी बहुत-सी बातें हुईं, उनका मेरे चित्तपर बड़ा प्रभाव पड़ा। मैंने निश्चय किया कि अब चाहे कुछ भी हो जाय, कठिनाइयोंकी परवा किये विना मैं आजहीसे साधनामें लग जाऊँगा। मुझे ऐसा मालूम हुआ, मानो परमहंसजीके शरीरसे, उनके नेत्रोंसे एक दिव्य शक्ति निकलकर मेरे अंदर प्रवेश कर रही है और मुझमें एक अद्भुत उत्साहकी स्फूर्ति हो रही है। मैं उनके सामने बैठा-बैठा ही एकाग्र हो गया। मेरे चित्तमें स्थिरता और शान्तिका उदय हुआ। मैं जान सका कि अब मेरी साधनामें कोई विघ्न नहीं पड़ेगा।

घर लौटनेपर मैंने परमहंसजीके उपदेशानुसार जप करना प्रारम्भ किया। मैं स्थिर आसनसे बैठकर अपनी पूरी शक्ति लगाकर नामका उच्चारण करता, परन्तु ओठ मेरे हिलते न थे। मैं जप करता कृ······ष्ण! कृ······ष्ण! परन्तु यह क्रिया प्राणोंकी शक्तिसे ही सम्पन्न होती। पूरा मन जपमें ही लगा रहता। रसनेन्द्रिय स्वाद भी लेती। पहले कुछ दिनोंतक तो यदि कभी मन असावधान हो जाता, तो जप ऊपर-ही-ऊपर होने लगता। परन्तु कुछ ही क्षणोंमें यह मालूम हो जाता कि विना शक्ति लगाये जो जप हो रहा है, उसका मेरे शरीर और अन्तःकरणपर कोई दृश्य प्रभाव नहीं पड़ रहा है। मैं तुरंत सजग हो जाता और फिर बलपूर्वक नामका उच्चारण करने लगता। मुझे प्राणोंकी ओर ध्यान नहीं रखना पड़ता था, मैं तो केवल बलकी ओर ही ध्यान रखता था; परन्तु प्राणोंकी गति स्वयं ही नियमित और नामानुवर्तिनी हो जाती थी। नामके उच्चारणके समय 'कृ'का कम्पन कण्ठमें और 'ऋ, ष्, ण' का मूर्धामें होता था, इससे अपने-आप ही प्राणोंकी गति मूर्धाकी ओर हो गयी। अब तो जप करते समय मुझे इसका भी स्मरण नहीं रहता था कि प्राणवायु चल रहा है अथवा नहीं। मेरा मन सहज-रूपसे एकाग्र होने लगा।

जब मेरा मन एकाग्र हो जाता अर्थात् और किसी तरफ जाना छोड़कर जपमें ही पूरी तरहसे लग जाता, तब ऐसा मालूम होता कि मैं शरीर नहीं हूँ, शरीर-जितना बड़ा ही एक ज्योतिःपुञ्ज हूँ। केवल घन प्रकाश, जिसकी आकृति मेरे शरीर-जैसे ही थी, मेरे मनके सामने रहता था। यदि कभी उससे बाहर दृष्टि जाती तो यह प्रकाश-शरीर भी एक हल्के प्रकाशसे घिरा हुआ दीखता। तात्पर्य यह कि मेरा मन किसी पार्थिव अथवा जलीय पदार्थको देखता ही न था, केवल तेजका अनुभव करता था। इस तेजोमय शरीरके अंदर कृ···ष्ण! कृ···ष्ण! का उच्चारण होता रहता और ऐसा मालूम होता कि ज्योतिकी धारा ऊर्ध्वगामिनी हो रही है। यह मेरी भावना न थी, क्योंकि मैं इस प्रकारकी भावनाओंको भूलकर केवल जप करना चाहता था। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि यह मन्त्रवर्णोंके सङ्घर्षका ही फल था।

यह प्रकाशकी धारा ऊर्ध्वमुख प्रवाहित होकर मस्तकमें केन्द्रित होने लगी। अवश्य ही कई महीनोंके अभ्यासके बाद ऐसा मालूम होने लगा था। कभी-कभी तो ऐसा मालूम होता कि यदि सहस्र-सहस्र सूर्य इकट्ठे कर दिये जायँ, तो भी इस मस्तकस्थित प्रकाशकी तुलनामें नहीं आ सकते; परन्तु उस प्रकाशके केन्द्रमें भी कुछ क्रिया होती-सी दिखायी पड़ती और पूरी शक्तिसे कृष्ण-कृष्णका पूर्ववत् जप होता रहता। अब यह इच्छा नहीं होती थी कि जगत्के किसी आवश्यक कार्यके लिये भी मैं अपनी आँखें खोलूँ। परन्तु जब कभी मैं आँख खोलता था, तो बाहर भी मुझे प्रकाश-ही-प्रकाश दीखता था। कुछ क्षणोंके बाद बाहरकी विभिन्नताएँ दीख भी पड़ती थीं, तो रह-रहकर उनके अंदर प्रकाशकी एक रेखा चमक जाती थी। प्रायः उस समय भी विना किसी चेष्टाके मेरे अंदर जप होता रहता था और कभी-कभी तो बाहरकी वस्तुओंमें भी जप होता हुआ दीखता था, मानो पृथ्वीका एक-एक कण कृष्ण-कृष्ण कह रहा हो।

थोड़े ही दिनोंके अभ्याससे ऐसा मालूम होने लगा कि मस्तकमें दीख पड़नेवाला प्रकाश मानो चैतन्य हो गया है। सूर्यके समान उस प्रकाशमें, जो कि चन्द्रमासे भी शीतल था, एक नीलोज्ज्वल ज्योति आती और चमककर छिप जाती। कभी मुकुट दीख जाता, कभी पीताम्बर, कभी चरण-कमलोंकी नखज्योति इस प्रकार चमक जाती कि वह महान् प्रकाश भी निष्प्रभ हो जाता, मानो घने अन्धकारमें बिजली चमक गयी हो। अब मेरा ध्यान प्रकाशकी ओर नहीं जाता,

वह तो रूखा मालूम होता। मैं सम्पूर्ण अन्तःकरणसे केवल उस नीलोज्ज्वल प्रकाशकी ही बाट देखता रहता। मेरा सम्पूर्ण अन्तःकरण उसके दर्शनके लिये उत्सुक, व्याकुल और आतुर रहा करता था। एक क्षण भी युग-सा मालूम पड़ता। परन्तु जिस समय वेदना असह्य हो जाती, उस समय वह ज्योति अवश्य ही एक बार नाच जाती थी। इस अनुभूतिके समय भी कृष्ण-कृष्णकी धारा कभी बंद नहीं होती थी।

अब मेरे ध्यानका दूसरा ही रूप हो गया था। जब मैं एकाग्र हो जाता तो इस शरीरकी तो स्मृति नहीं रहती थी; परन्तु एक दूसरा शरीर, जिसकी आकृति इससे मिलती-जुलती थी परन्तु इन पाञ्चभौतिक तत्त्वोंसे जिसकी सङ्घटना नहीं हुई थी, जो ज्योतिर्मय और दिव्य था, प्रकट हो जाता। यह प्रकट हुआ है, यह स्मृति भी नहीं रहती; बल्कि मैं यही हूँ, ऐसा अनुभव होता। उस शरीरसे भी कृष्ण-कृष्णका जप होता रहता। मेरे उस हृदयमें भी श्रीकृष्णके लिये छटपटी थी। मेरी आँखें तरसती रहती थीं उन्हें देखनेके लिये। मेरी बाँहें फैली ही रहती थीं उनके आलिङ्गनके लिये। यदि मेरे रोम-रोमका कोई विश्लेषण कर पाता तो देखता कि वे श्रीकृष्णके संस्पर्शकी अभिलाषासे ही गठित हुए हैं। मेरे रग-रगमें एक ही बिजली दौड़ती रहती कि मैं श्रीकृष्णके चरण-कमलोंकी अमृतधारासे सराबोर हो जाऊँ।

यह बात नहीं कि उस समय मुझे श्रीकृष्णके दर्शन होते ही न हों, होते थे और बार-बार होते थे। कभी-कभी तो प्रत्येक क्षणके बाद होते थे, परन्तु मुझे उससे सन्तोष नहीं था। वह एक क्षणका विलम्ब मेरे लिये तो कल्पसे भी बड़ा था। वे आते, मैं उन्हें भर आँख देख भी नहीं पाता; वे चले जाते। मैं उनको पहनानेके लिये हाथोंमें माला लेकर खड़ा होता और वे लापता। परन्तु यह बात बहुत दिनोंतक न रही। वे आते हँसते हुए, बाँसुरी बजाते हुए, ठुमुक-ठुमुक कर चलते हुए। आकर कभी मेरे सिरपर हाथ रख देते और कभी प्रेमसे मुझे चपत लगा देते, मेरा रोम-रोम खिल उठता। आनन्दके आँसू मुझे तर कर देते। मैं उनके चरणोंका स्पर्श करता, उन्हें माला पहनाता, अपने हाथोंसे उन्हें सुन्दर-सुन्दर फल खिलाता, उनके काले-काले घुँघराले बालोंमें फूल गूँथ देता और हाथमें आरती लेकर उनके सामने नाचते-नाचते मस्त हो जाता, तन-बदनकी सुधि नहीं रहती। जब मैं गिर जाता तो अपनेको उनकी गोदमें पाता। वे मुझे जगाते, दुलारते, पुचकारते, प्रेमकी बातें करते और क्या नहीं करते! मैं उनका था, वे मेरे थे। परन्तु उस समय भी जब मेरी चेतना शरीरोन्मुख होती, तो मैं देखता कि मेरे रोम-रोममें कृष्ण-कृष्णकी ध्वनि गूँज रही है। सम्पूर्ण वायुमण्डल और आकाशका कोना-कोना उस पवित्र गुंजारसे प्रतिध्वनित हो रहा है। एक अनिर्वचनीय रस प्रत्येक वस्तुके अन्तरालसे अबाध गतिसे झर रहा है।

स्थूल दृष्टिसे यह सब मेरे ध्यानकी स्थिति थी। परन्तु उस समय मेरे लिये इसके अतिरिक्त दूसरी कोई स्थूलता रहती ही न थी। स्थूल था तो वही, सूक्ष्म था तो वही। कम-से-कम मेरे चित्तमें ऐसी ही बात थी। भगवान्का अमृतमय संस्पर्श प्राप्त होता रहे, तो स्थूल और सूक्ष्मका प्रश्न ही कहाँसे उठे? जो हृदयमें भगवान्के हृदयका रस नहीं प्राप्त कर सकते, वे ही प्रायः शरीरसे मिलनके लिये जबानी व्याकुलता प्रकट किया करते हैं। जो हृदयमें उस रसकी अनुभूतिसे निहाल होते रहते हैं वे उसको छोड़कर बाहर आवेंगे ही क्यों, जिससे कि उन्हें बाहरकी चिन्ता करनी पड़े। मैं उस समय अपनी उस स्थितिमें रसका अनुभव करता था, उसीमें रहना चाहता था। जिस स्थिति या जिस स्थूलशरीरमें आनेपर मैं उससे वञ्चित हो जाता, उसमें आनेकी मैं इच्छा ही क्यों करता? लोगोंकी प्रेरणासे यदि मैं स्थूल व्यवहारमें आता तो क्षण-क्षण अन्तर्जगत्का आकर्षण मुझे वहीं जानेके लिये खींचता रहता। बाहरका काम समाप्त होते ही मैं वहाँ पहुँच जाता।

एक दिन मैं गङ्गास्नान करके लौट रहा था, रास्तेमें पलाशके विशाल जंगलको देखकर इच्छा हुई कि यहीं बैठ जायँ। मैं एक छोटे-से वृक्षकी मनोहर छायामें बैठ गया। जाड़ेका दिन था। उतने सबेरे वहाँ कौन आता? एकान्त इतना था कि वायुमण्डलकी झन-झन आवाज़ आ रही थी। मैंने स्वस्तिकासनसे बैठकर हाथोंको गोदमें रक्खा और आँखें बंद करके कृष्ण-कृष्णकी ध्वनिपर तनिक ज़ोर लगाया। परन्तु यह क्या? पलकें बंद रहना नहीं चाहतीं। एक शक्तिमान् प्रकाश पलकोंकी दीवार लाँघकर आँखोंके तारोंमें घुसा जा रहा था और मैं बल लगानेपर भी आँखोंको बंद करनेमें असमर्थ था। आँखें खुलीं तो देखा न वहाँ जंगल है, न वह वृक्ष है, जिसके नीचे मैं बैठा था और जिसकी स्मृति अभी ताज़ी थी। चारों ओर एक घना प्रकाश फैला हुआ था और उसके बीचमें मैं ज्यों-का-त्यों स्वस्तिकासनसे बैठा

हुआ था। मैंने सोचा—शायद यह मेरे मनकी ही लीला हो; मैंने फिर आँखें बंद करनेका प्रयत्न किया, परन्तु मेरी पलकें टस-से-मस नहीं हुईं। विवश होकर मैंने सामने देखा—पृथ्वीसे करीब एक हाथ ऊपर एक त्रिभुवनसुन्दर बालक मुस्करा रहा है। शरीर गौरवर्ण था, फूलोंकी ही कछौटी थी, फूलोंका ही मुकुट, हाथों और चरणोंमें भी फूलोंका ही दिव्य आभूषण था, साथ ही मुकुटपर मयूरपिच्छ था और दोनों हाथोंमें बाँसुरी थी, जो अधरोंसे लगी हुई थी और जिसकी सुरीली आवाज़ मेरे प्राणोंमें प्रवेश कर रही थी। देखकर मैं चकित हो गया। बाँसुरी और मयूरपिच्छसे स्पष्ट हो रहा था कि ये श्रीकृष्ण हैं। मनने कहा—वे तो श्यामसुन्दर हैं, ये गौरसुन्दर कहाँसे ? मैंने उनके चरणोंमें साष्टाङ्ग लोट जाना चाहा, परन्तु मेरा शरीर जड हो गया था, वह हिलतक नहीं सका। मैंने बोलकर अपने मनका भाव उनपर प्रकट करना चाहा, परन्तु मुँह खुला ही नहीं। मैंने हाथ जोड़नेकी चेष्टा की; परन्तु हाथ अपने स्थानसे उठे नहीं। हृदय आनन्दित था, शरीर रोमाञ्चित था, आँखोंमें आँसू थे। मैं केवल देख रहा था उनको और वे मुस्कराते हुए, बाँसुरी बजाते हुए, ठुमुक-ठुमुक कर नाचते हुए, ऊपर-ही-ऊपर कभी दायें, कभी बायें और कभी सामने आकर ठिठक जाते थे। मैं केवल देख रहा था। इस प्रकार न जाने कितना समय बीत गया।

उन्होंने अपना मौन तोड़ा, मेरे कानोंमें मानो अमृतकी धारा प्रवाहित होने लगी। वे बोले—'मैं गौर भी हूँ, श्याम भी हूँ। मैं अपनी लाड़िलीका ध्यान करता रहता हूँ न ? तुम मुझे स्पर्श करना चाहते हो, मुझसे बोलना चाहते हो, केवल इस समय, केवल इस रूपके साथ। यह सम्पूर्ण जगत्, जिसमें तुम हो, जिसे तुम देखते हो, यह मेरी लीलाभूमि है। इसके एक-एक कणमें मेरी रासलीला हो रही है और यह सब मेरा और मेरी प्रियाका ही रूप है। तुम इन्हें स्थूल, सूक्ष्म अथवा कारणके रूपमें देखते हो, यह तुम्हारा दृष्टि-दोष है। तुम पूर्वको पश्चिम क्यों समझ रहे हो ? तुम मुझको जगत् क्यों समझ रहे हो ? यह सब मेरे युगलरूपकी क्रीड़ा है। जिसे जगत्के लोग उत्कृष्ट अथवा निकृष्टरूपमें देखते हैं, उसके भीतर, उसके गुह्यतम प्रदेशमें, जहाँ उनकी आँखें नहीं पहुँच पातीं, वहाँ मेरी अनादि और अनन्त रसमयी, मधुमयी, लास्यमयी, एकरस रासलीला हो रही है।' भगवान् चुप हो गये। मेरी आँखें जिधर जाती थीं, युगल सरकार और उनको घेरकर नाचती हुई सखियाँ ही दीखती थीं। अपना शरीर, जगत्, एक-एक सङ्कल्प और सम्पूर्ण वृत्तियाँ उसी लीलासे परिपूर्ण हो रही थीं। न जाने कितनी देरतक यही लीला देखता रहा। अन्तमें मैंने देखा युगल सरकार मेरे सामने खड़े हैं और सखियाँ उनकी सेवा कर रही हैं। जब मैं उनके चरणोंका स्पर्श करनेके लिये झुका तो स्पर्श करते-न-करते देखा कि वे वहाँ नहीं हैं और मैं उसी जंगलमें उसी वृक्षके नीचे बैठा हूँ और मेरे रोम-रोमसे कृष्ण-कृष्णकी गम्भीर ध्वनि निकल रही है। जब मेरी आँखोंने चकित होकर कुछ दूरतक देखा तो सामनेसे गेरुए वस्त्रसे अपना शरीर ढके हुए, हाथमें कमण्डलु लिये परमहंसजी आ रहे थे!

क्या लिख गया, कौन लिख गया—इसकी तलाश छोड़ दीजिये और आप भी पूरी शक्तिसे कृष्ण-कृष्णका उच्चारण कीजिये और तबतक करते ही रहिये, जबतक आपका अस्तित्व रहे।

चकोरकी अद्भुत साधना

अब न फिरौंगो बन भटकता तेरे काज,
लाज हू बिहाय जाय चाव सौं रहौंगो मैं।
हौंगो न अधीर भीरु त्यागौंगो सकल पीर,
जोगी न बनौंगो न बियोगी हू दिखौंगो मैं॥

हौं तो जो चकोर चित्त मेरे आज याही पन,
होत भोर सोर "प्रेम" नैकु न करौंगो मैं।
चाबौंगो अँगारे तन भसम करौंगो फिर,
चढ़ि ईस सीस जाय पिय सौं मिलौंगो मैं॥*

—प्रेमनारायणत्रिपाठी "प्रेम"

---

* अप्रकाशित "प्रेम-पद्यावली"से। —लेखक

पञ्चकोश-विवेचन

(लेखक—शास्त्राचार्य श्रीधर्मेन्द्रनाथजी शास्त्री, विद्यावाचस्पति, काव्यतीर्थ, साहित्यवेदान्तशास्त्री)

शास्त्रोंमें शरीर तीन प्रकारके माने गये हैं—कारण शरीर, सूक्ष्म शरीर और स्थूल शरीर। यह स्मरण रखना चाहिये कि जिस समय हमारा सम्बन्ध स्थूल शरीरसे होता है, उस समय सूक्ष्म और कारण शरीरसे सम्बन्ध-विच्छेद नहीं हो जाता। क्योंकि स्थूल शरीरके भीतर सूक्ष्म शरीर और सूक्ष्मके अंदर कारण शरीर विद्यमान रहता है।

इन्हीं शरीरोंका भिन्न प्रकारसे भी वर्णन किया गया है जिनको 'कोश' कहते हैं। कोश पाँच माने गये हैं। इन्हींमें कारण, सूक्ष्म एवं स्थूल शरीरोंको विभक्त किया गया है। इन पाँचों कोशोंका तैत्तिरीय उपनिषद्में नामक्रम एवं वर्णन निम्न प्रकारसे मिलता है:—

(१) अन्नमय कोश
(२) प्राणमय कोश
(३) मनोमय कोश
(४) विज्ञानमय कोश और
(५) आनन्दमय कोश

अन्नमय कोश

'स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः। तस्येदमेव शिरः। अयं दक्षिणः पक्षः। अयमुत्तरः पक्षः। अयमात्मा। इदं पुच्छं प्रतिष्ठा।' (तै० उ० २।१।१)

यह पुरुष अन्नरसमय है अर्थात् अन्न और रसका विकार है। पुरुषके आकारकी वासनासे युक्त तथा उसके सम्पूर्ण अङ्गोंसे उत्पन्न हुआ तेजोरूप शुक्र उसका बीज है। पुरुषके शुक्रसे जो उत्पन्न होता है वह भी उसके समान आकारवाला होता है। प्रायः सर्वत्र ही यह नियम देखा जाता है कि पुत्र पिताके समान आकारवाला ही होता है। इस अन्नमय पुरुषका यह प्रसिद्ध सिर *ही सिर है। पूर्वाभिमुख व्यक्तिका यह दक्षिण (दक्षिण दिशाकी ओरका) बाहु दक्षिणपक्ष है तथा यह वाम बाहु उत्तरपक्ष है और यह देहका मध्यभाग अङ्गोंका आत्मा है। नाभिसे नीचे अङ्ग प्रतिष्ठा है, क्योंकि इसीके द्वारा यह शरीर स्थित होता है।

यह अन्नमय कोश सभी कोशोंमें प्रधान है, इसीलिये सर्वप्रथम इसीका वर्णन किया गया है। इसके अस्तित्वपर ही अन्य चारों कोशोंका अस्तित्व बहुत कुछ अंशोंमें निर्भर करता है, अर्थात् अन्नमय आत्मा ही इतर कोशोंकी आधारभित्ति है।

प्राणमय कोश

'तस्माद्वा एतस्मादन्नरसमयादन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः। तेनैष पूर्णः। स वा एष पुरुषविध एव। तस्य पुरुषविधतामन्वयं पुरुषविधः। तस्य प्राण एव शिरः। व्यानो दक्षिणः पक्षः। अपान उत्तरः पक्षः। आकाश आत्मा। पृथिवी पुच्छं प्रतिष्ठा।'

(तै० उ० २।२।१)

उस पूर्वोक्त अन्नमय पिण्डसे पृथक् और उसके भीतर रहनेवाला आत्मा, जो अन्नमय पिण्डके समान मिथ्या ही आत्मारूपसे कल्पना किया हुआ प्राणमय कोश है। इसमें प्राण (वायु) की प्रधानता रहती है, इसीलिये यह प्राणमय कोश कहलाता है। जिस प्रकार वायुसे धौंकनी भरी रहती है, उसी प्रकार उस प्राणमयसे यह अन्नरसमय शरीर भरा हुआ है। यह प्राणमय आत्मा सिर और पक्षादिके कारण पुरुषाकार ही है। उस अन्नरसमयकी पुरुषाकारताके अनुसार साँचेमें ढली हुई प्रतिमाके समान यह प्राणमय कोश भी पुरुषाकार है। क्योंकि उस प्राणमयका प्राण ही सिर है। वायुके विकार रूप प्राणमय कोशका मुख और नासिकामें वर्तमान प्राण श्रुतिवचनके अनुसार सिररूपसे कल्पना किया जाता है। इसी प्रकार ज्ञान आदिकी कल्पना की गयी है। व्यान नामकी वृत्ति दक्षिणपक्ष है, अपान उत्तर पक्ष है, आकाश† आत्मा है। पृथिवी पुच्छ—प्रतिष्ठा है। यहाँपर (पृथिवी) शब्दसे पृथिवीकी अधिष्ठात्री देवी समझनी चाहिये, क्योंकि स्थितिकी

---

* प्राणमय आदि सिररहित कोशोंमें भी शिरस्त्व देखा जानेके कारण यहाँ भी वही बात न समझी जाय, अर्थात् इस अन्नमय कोशको भी वस्तुतः सिररहित न समझा जाय इसलिये 'यह प्रसिद्ध सिर ही उसका सिर है' ऐसा यहाँपर कहा गया है।

† यहाँपर इस प्रकरणमें प्राणवृत्तिका अधिकार होनेके कारण (आकाशशब्दसे) आकाशमें स्थित जो समानसंज्ञक प्राणवृत्ति है, वही आत्मा है। अपने आसपासकी अन्य स्ववृत्तियोंकी अपेक्षा मध्यवर्तिनी होनेके कारण वह आत्मा है।

हेतुभूत होनेसे वही आध्यात्मिक प्राणको भी धारण करनेवाली है। 'सैषा पुरुषस्यापानमवष्टभ्य' यह श्रुति भी इसी बातका अनुमोदन करती है। अन्यथा प्राणकी उदान वृत्तिसे या तो शरीर ऊपरको उड़ जाता या गुरुतावश गिर पड़ता। अतः पृथिवी देवता ही प्राणमय शरीरकी पुच्छ—प्रतिष्ठा है।

मनोमय कोश

'तस्माद्वा एतस्मात् प्राणमयादन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः। तेनैष पूर्णः। स वा एष पुरुषविध एव। तस्य पुरुषविधतामन्वयं पुरुषविधः। तस्य यजुरेव शिरः। ऋग्दक्षिणः पक्षः। सामोत्तरः पक्षः। आदेश आत्मा।'

(तै० उ० २।३।१)

इस प्राणमय कोशसे पृथक् मनोमय कोश है। प्राणमय कोश मनोमय कोशसे परिपूर्ण है। यह मनोमय कोश पुरुषके ही समान है और यह मनोमय पुरुष वैसा ही है जैसा कि प्राणमय पुरुष। उसका यजुः† ही सिर है। ऋग् दक्षिण पक्ष है और साम उत्तर पक्ष। आदेश आत्मा है।

संकल्प-विकल्पात्मक अन्तःकरणका नाम मन है, जो तद्रूप हो उसे मनोमय कहते हैं। जैसे पहले अन्नरूप होनेके कारण अन्नमय कहा गया है। वह इस प्राणमयका अन्तर्वर्ती आत्मा है। जिनमें अक्षरोंका कोई नियम नहीं है ऐसे पादोंमें समाप्त होनेवाले मन्त्रविशेषोंका नाम 'यजुः' है। उसे प्रधानताके कारण यहाँ शिर कहा गया है, क्योंकि यागादिमें यजुर्मन्त्रोंकी ही प्रधानता है। स्वाहा आदिके द्वारा यजुर्मन्त्रोंसे ही हवि दी जाती है। इसी प्रकार ऋक् और साम भी विशेष अर्थमें ही यहाँ प्रयुक्त हुए हैं।

विज्ञानमय कोश

'तस्माद्वा एतस्मान्मनोमयादन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयः। तेनैष पूर्णः। स वा एष पुरुषविध एव। तस्य पुरुषविधतामन्वयं पुरुषविधः। तस्य श्रद्धैव शिरः। ऋतं दक्षिणः पक्षः। सत्यमुत्तरः पक्षः। योग आत्मा। महः पुच्छं प्रतिष्ठा।'

(तै० उ० २।४।१)

इस मनोमयकोशसे पृथक् विज्ञानमय कोश है। मनोमय कोश विज्ञानमय कोशसे परिपूर्ण है। यह विज्ञानमय कोश पुरुषके ही समान है और यह विज्ञानमय पुरुष वैसा ही है जैसा कि मनोमय पुरुष। श्रद्धा ही इसका सिर है। ऋत दक्षिण पक्ष है और सत्य उत्तर पक्ष। योग आत्मा (मध्यभाग) है और महत्तत्त्व पुच्छ—प्रतिष्ठा है।

ऊपर मनोमय कोश वेदरूप बतलाया गया है। वेदोंके अर्थके विषयमें जो निश्चयात्मिका बुद्धि है उसीका नाम विज्ञान है और वह अन्तःकरणका अध्यवसायरूप धर्म है। तन्मय अर्थात् प्रमाणस्वरूप निश्चय विज्ञानसे (निश्चयात्मिका बुद्धिसे) निष्पन्न होनेवाला आत्मा विज्ञानमय है, क्योंकि प्रमाणके विज्ञानपूर्वक ही यज्ञादिका विस्तार किया जाता है। निश्चयात्मिका बुद्धिसम्पन्न पुरुषको सबसे प्रथम कर्तव्य-कर्ममें श्रद्धा ही उत्पन्न होती है। अतः सम्पूर्ण कर्मोंमें प्रथम होनेके कारण वह सिरके समान उस विज्ञानमयका सिर है। योग अर्थात् समाधान ही आत्माके समान उसका आत्मा है। साधनसम्पन्न युक्त आत्मवान् पुरुषको ही अङ्गादिके समान श्रद्धा आदि साधन यथार्थ ज्ञानकी प्राप्तिमें समर्थ होते हैं। अतः समाधान अथवा योगको ही विज्ञानमय कोशका आत्मा बतलाया गया है। 'महः' यह महत्तत्त्वका नाम है। वही विज्ञानमयका कारण होनेसे उसकी प्रतिष्ठा है, क्योंकि कारण ही कार्यवर्गकी प्रतिष्ठा (आश्रय) हुआ करता है, जैसे कि वृक्षादिकी प्रतिष्ठा पृथिवी है। वैसे ही महत्तत्त्व ही बुद्धिके सम्पूर्ण विज्ञानोंका कारण है, इसलिये वह विज्ञानमय आत्माकी प्रतिष्ठा है।

† 'यजुः' आदि शब्दोंसे यजुर्वेद आदि ही समझे जाते हैं, परन्तु यहाँ जो उन्हें मनोमय कोशके सिर आदि रूपसे बतलाया गया है उसमें स्वभावतः यह शङ्का हो जाती है कि उनका उससे ऐसा क्या सम्बन्ध है जो वे उसके अङ्गरूपसे बतलाये गये हैं? इस वचनकी व्याख्या करते हुए भगवान् शङ्कराचार्यने इसे स्पष्ट किया है। उसका तात्पर्य यही है कि यजुः, साम या ऋक् आदि मन्त्रोंके उच्चारणमें सर्वप्रथम अन्यान्य शब्दोंके उच्चारणके समान मनका ही व्यापार होता है। प्रथम कण्ठ अथवा तालु आदि स्थानोंसे जठराग्निद्वारा प्रेरित वायुका आघात होता है, उससे अस्फुट नादकी उत्पत्ति होती है, फिर क्रमशः स्वर और अकारादि वर्ण अभिव्यक्त होते हैं। वर्णोंके संयोगसे पद और पद-समूहसे वाक्यकी रचना होती है। इस प्रकार मानसिक संकल्प और भावसे ही यजुः आदि मन्त्र अभिव्यक्त होकर श्रोत्रेन्द्रियसे ग्रहण किये जाते हैं। अतः मनोवृत्तिसे उत्पन्न होनेके कारण ही यहाँ यजुर्विषयक मनोवृत्तिको 'यजुः', ऋग्विषयक मनोवृत्तिको 'ऋक्' और सामविषयक वृत्तिको 'साम' कहा गया है तथा इस प्रकारकी यजुर्वृत्ति ही मनोमय कोशका शीर्षस्थानीय है।

आनन्दमय कोश

'तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयादन्योऽन्तर आत्मानन्दमयः । तेनैष पूर्णः । स वा एष पुरुषविध एव । तस्य पुरुषविधतामन्वयं पुरुषविधः । तस्य प्रियमेव शिरः । मोदो दक्षिणः पक्षः । प्रमोद उत्तरः पक्षः । आनन्द आत्मा । ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा ।'

(तै० उ० २ । ५ । १)

इस विज्ञानमय कोशसे दूसरा इसका अन्तर्वर्ती कोश आनन्दमय है । विज्ञानमय कोश आनन्दमय कोशसे परिपूर्ण है । यह आनन्दमय कोश पुरुषके ही समान है । आनन्दमय पुरुष वैसा ही है जैसा कि विज्ञानमय पुरुष है । इसका प्रिय ही सिर है । मोद एवं प्रमोद दक्षिण तथा उत्तर पक्ष हैं । आनन्द आत्मा है और ब्रह्म आश्रय ।

तात्पर्य यह है कि 'आनन्द' उपासना और कर्मका फल है । उसका विकार ही आनन्दमय कहलाता है । वह श्रुतिद्वारा भी यज्ञादिके कारणभूत विज्ञानमयकी अपेक्षा भीतर कहा गया है । उपासना और कर्मका फल भोक्ताके ही लिये है, इसलिये सब कोशोंकी अपेक्षा आनन्दमय कोशको आन्तरतम बतलाया गया है; क्योंकि विद्या और कर्म भी प्रधानतया अभिवाञ्छित प्रियकी प्राप्तिके लिये ही होते हैं । उसकी प्राप्तिके उद्देश्यसे ही उपासना और यज्ञादि कर्मका अनुष्ठान किया जाता है । अतः उनके फलरूप प्रियादिकी आत्मासे समीपता होनेके कारण विज्ञानमय कोशकी अपेक्षा भी इस आनन्दमय कोशका आन्तरतम होना उचित ही है । प्रियादिकी वासनासे निष्पन्न हुआ आनन्दमय कोश स्वप्नावस्थामें विज्ञानमयके अधीन ही उपलब्ध होता है । उस आनन्दमय आत्माका पुत्र-पत्नी आदि इष्ट पदार्थोंके दर्शनसे जन्य प्रिय ही प्रधानताके कारण सिर कहा गया है । प्रिय पदार्थकी प्राप्तिसे जन्य हर्ष 'मोद' कहा जाता है और वही हर्ष प्रकृष्ट होनेपर 'प्रमोद' कहलाता है । 'आनन्द' सामान्यतः सुखका नाम है और वह सुखके अवयवभूत प्रियादिका आत्मा है । 'आनन्द' शब्द परब्रह्मका ही वाचक है । वही शुभ कर्मोंद्वारा अन्तःकरणसे तमोगुणके आवरणके कुछ हट जानेके कारण कभी-कभी अभिव्यक्त होता है । उसीको लोग विषय-सुख कहा करते हैं । परन्तु यह सुख क्षणिक होता है, क्योंकि इसका कारण कर्म स्वयं अस्थिर है । परन्तु जिस समय अन्तःकरण तमोगुणको नष्ट करनेवाले तप, उपासना, ब्रह्मचर्य एवं श्रद्धाके द्वारा जितना निर्मल होता जाता है उतने ही स्वच्छ और प्रसन्न अन्तःकरणमें विशेष आनन्दका उत्कर्ष होता है । यही बात—

'रसो वै सः ।' रसꣳ ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति । ......एष ह्येवानन्दयाति ।' (तै० उ० २ । ७ । १)

'एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति ।'

(बृहदारण्यक ४ । ३ । ३२)

इन श्रुतियोंसे सिद्ध होता है कि वह (ब्रह्म) रस है । इस रसको पाकर ही पुरुष आनन्दित होता है । यह रस ही सबको आनन्दित करता है । इस आनन्दके अंशमात्रके आश्रयसे ही सब प्राणी जीवित रहते हैं ।

इस प्रकार परमार्थ ब्रह्मके विज्ञानकी अपेक्षासे क्रमशः उत्कर्षको प्राप्त होनेवाले आनन्दमय आत्माकी अपेक्षा ब्रह्मपर ही है । जो ब्रह्म सत्य, ज्ञान और अनन्तरूप है । जिसकी प्राप्तिके लिये अन्नमय आदि पाँच कोशोंका उपन्यास किया गया है, जो उन सबकी अपेक्षा आभ्यन्तर है और जिसके द्वारा वे सब आत्मवान् हैं—वह ब्रह्म ही उस आनन्दमयकी पुच्छ—प्रतिष्ठा (आश्रय) है, क्योंकि आनन्दमयका पर्यवसान भी एक तत्त्वमें ही होता है । इसलिये अविद्यापरिकल्पित द्वैत भावका अवसानभूत उस एक और अद्वितीय ब्रह्मको ही उसकी प्रतिष्ठा अर्थात् आश्रय बताया गया है ।

ऊपर बतलाये हुए कोशोंके विषयमें यह बात विशेषरूपसे स्मरण रखने योग्य है कि कोई भी कोश किसी दूसरे कोशसे सर्वथा भिन्न नहीं है, अपितु एक कोश दूसरे कोशसे परिपूर्ण है अर्थात् अन्नमय कोशमें प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय एवं आनन्दमय कोश भी सम्मिलित हैं । इसी प्रकार प्राणमय कोशमें अन्य तीन मनोमय, विज्ञानमय तथा आनन्दमय कोश सम्मिलित हैं और मनोमय कोशमें अन्य दो विज्ञानमय और आनन्दमय कोश तथा विज्ञानमय कोशमें एक आनन्दमय कोश सम्मिलित है । ये पाँचों कोश एक दूसरेसे पृथक् होते हुए भी एक दूसरेके सदृश ही हैं तथा एक कोश दूसरे कोशका अनुसरण करता है ।

इन तीन प्रकारके शरीरों, जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति—इन तीन अवस्थाओं एवं पाँचों कोशोंका परस्पर सम्बन्ध निम्नाङ्कित तालिकासे इस प्रकार समझा जा सकता है:—

अवस्था	शरीर	कोश
१ जाग्रत्	१ स्थूलशरीर	१ अन्नमय कोश
२ स्वप्न	२ सूक्ष्मशरीर	२ प्राणमय कोश ३ मनोमय कोश ४ विज्ञानमय कोश
३ सुषुप्ति	३ कारणशरीर	५ आनन्दमय कोश

यहाँपर (द्वितीय) सूक्ष्मशरीरके तीन कोश बतलाये गये हैं, परन्तु ये अति सूक्ष्मशरीरके तीन भाग किस प्रकार हैं, यह निःसन्दिग्धरूपसे बतलाना अति कठिन है, क्योंकि इस प्रकारकी कोई प्रसङ्गोपयोगिनी उपमा स्थूल जगत्में नहीं मिलती, जिससे कि इन कोशोंका परस्पर सम्बन्ध सम्यक् प्रकारसे समझाया जा सके।

पञ्चदशीके तृतीय प्रकरणमें विद्यारण्यस्वामीने इन पाँचों कोशोंका इस प्रकार वर्णन किया है—

गुहाहितं ब्रह्म यत्तत्पञ्चकोशविवेकतः।
बोद्धुं शक्यं ततः कोशपञ्चकं प्रविविच्यते॥
(३ । १)

अर्थात् ब्रह्म गुहा*निहित है, किन्तु पाँचों कोशोंके विवेकसे वह जाना जा सकता है, अतः पाँचों कोशोंका विचार किया गया है।

देहादभ्यन्तरः प्राणः प्राणादभ्यन्तरं मनः।
ततः कर्ता ततो भोक्ता गुहा सेयं परम्परा॥
(३ । २)

देहके भीतर प्राण, प्राणके भीतर मन, मनके भीतर कर्ता और कर्ताके भीतर भोक्ता—यह परम्परा है, अर्थात् अन्नमय कोश (देह) से प्राणमय कोश, प्राणमय कोशसे मनोमय कोश, मनोमयसे (कर्ता) विज्ञानमय और विज्ञानमयसे भोक्ता आनन्दमय कोश भीतर है। अन्नमय कोशसे आनन्दमय कोशपर्यन्त यही परम्परा यहाँपर 'गुहा' शब्दसे बतलायी गयी है।

(१) पितृभुक्तान्नजाद्वीर्याज्जातोऽन्नेनैव वर्धते।
देहः सोऽन्नमयो नात्मा प्राक् चोर्ध्वं तदभावतः॥

(२) पूर्णो देहे बलं यच्छन्नक्षाणां यः प्रवर्तकः।
वायुः प्राणमयो नासावात्मा चैतन्यवर्जनात्॥

(३) अहन्तां ममतां देहे गेहादौ च करोति यः।
कामाद्यवस्थया भ्रान्तो नासावात्मा मनोमयः॥

(४) लीना सुप्तौ वपुर्बोधे व्याप्नुयादानखाग्रगा।
चिच्छायोपेतधीर्नात्मा विज्ञानमयशब्दभाक्॥

(५) काचिदन्तर्मुखी वृत्तिरानन्दप्रतिबिम्बभाक्।
पुण्यभोगे भोगशान्तौ निद्रारूपेण लीयते॥
(पञ्चदशी ३।३,५,६,७,९)

(१) अर्थात् पिताके खाये हुए अन्नसे उत्पन्न वीर्यसे बनी हुई और अन्नसे ही बढ़नेवाली देह अन्नमय कोश है। परन्तु यह देह जन्मसे प्रथम और मरणके अनन्तर न रहनेके कारण स्वयं आत्मा नहीं है। चेतन आत्मा देहसे भिन्न पदार्थ है। (२) देहमें पूर्ण, बल देनेवाला, इन्द्रियोंका प्रेरक वायु प्राणमय कोश है, किन्तु यह भी देहकी तरह ही स्वयं चेतन न होनेके कारण आत्मासे भिन्न है। (३) जो शरीरमें 'मैं हूँ' इत्यादिरूपसे अहन्ताका भाव रखता है और सांसारिक वस्तुओंमें ममता दिखलाता है एवं अनेक कामनाओंकी पूर्तिके लिये इधर-उधर भटकता है वह मनोमय कोश है। (४) जो सुषुप्तिमें विलीन हो जाय और जागनेपर नखोंके अग्रभागपर्यन्त समस्त शरीरमें व्यापक रहे इस प्रकारकी चिदाभासयुक्त बुद्धिको विज्ञानमय कोश कहते हैं। (५) पुण्यकर्मके फलानुभवकालमें कोई बुद्धिवृत्ति भीतरकी ओर मुख करके आत्मस्वरूप आनन्दके प्रतिबिम्बको प्राप्त करती है और वही वृत्ति पुण्यकर्म-फलभोगकी समाप्ति होनेपर निद्रारूपमें लय हो जाती है। इस वृत्तिको ही आनन्दमय कोश कहते हैं।

स्थूलशरीरको अन्नमय कोश कहा है और उसका जाग्रत्-अवस्थाके साथ सम्बन्ध बतलाया गया है, किन्तु स्थूलशरीरका जितना व्यापार है वह सूक्ष्मशरीरके बिना सम्पन्न नहीं हो सकता। जाग्रत्-अवस्थामें हम ज्ञान प्राप्त करते हैं और अनेक प्रकारके भावोंसे युक्त होते हुए सुख-दुःखका अनुभव करते हैं, परन्तु यह सब व्यापार केवल अन्नमय कोशका ही नहीं कहा जा सकता। अन्नमय कोशको धारण करनेके लिये जिन-जिन व्यापारोंकी आवश्यकता होती है वे भी सूक्ष्मशरीर-द्वारा ही होते हैं। इसी तरह स्वप्न अथवा सुषुप्ति-अवस्थामें अन्नमय कोशसे हमारा सम्बन्ध-विच्छेद नहीं हो जाता।

* 'यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्' यहाँपर ब्रह्मको गुहा-निहित ही बतलाया गया है।

रात्रिके भोजनके उपरान्त सुखमय नींदमें सो जानेके बाद प्रातःकाल उठनेपर यह अनुभव होता है कि भोजन पच गया। यदि उस समय स्थूलशरीरका व्यापार सर्वथा बंद हो जाता तो हमारा रात्रिभोजन कदापि न पच सकता। अतः कहना होगा कि दूसरे कोश भी तत्तदवस्थाओंमें कार्य करते रहते हैं; इसीलिये उपनिषद्में ऊपरके कोशोंको भीतरके कोशोंसे परिपूर्ण कहा है।

पहले कहा जा चुका है कि स्थूल देहका नाम ही अन्नमय कोश है। इसी प्रकार प्राणमय कोश प्रेरणात्मक या क्रियात्मक विभाग है। सम्पूर्ण क्रियाएँ इसी कोशसे आरम्भ होती हैं। इसको इच्छाशक्तिका केन्द्र कह सकते हैं। यहाँपर 'प्राण' शब्दका अर्थ श्वास-प्रश्वास या वायु नहीं है, किन्तु प्राण वह शक्ति-विशेष है जिसमें श्वास-प्रश्वास ही नहीं, अपितु निमेष-उन्मेष आदि शरीरकी अन्य समस्त क्रियाएँ होती हैं। इसीलिये प्राणमय कोशकी दुर्बलतासे शरीरमें सुस्ती आती है और प्रबलतामें उत्साह और एक विशेष प्रकारकी स्फूर्ति रहती है।

मनोमय कोशके द्वारा आत्माके अनेक भाव—शोक, भय, हर्ष, विषाद, प्रीति आदि उठा करते हैं। इन्हीं भावोंसे प्रेरणाएँ उत्पन्न होती हैं। बहुत-से ऐसे सूक्ष्म भाव हैं, जिनके लिये यह निर्णय करना अति कठिन है कि वे मनोमय कोशसे सम्बन्ध रखते हैं या प्राणमय कोशसे। तथापि क्रियाके सूक्ष्म-भेदसे इनका भेद भी किया जा सकता है; और इस दिशामें कुछ मनोविज्ञानशास्त्रियोंने सन्तोषजनक कार्य किया भी है। इस कार्यमें जर्मनीके प्रसिद्ध मनोविज्ञानशास्त्री डा० फ्रायडको विशेष सफलता मिली है।

विज्ञानमय कोशको विज्ञानसम्बन्धी क्रियाओंका विभाग मानना चाहिये। मस्तिष्क बाहरसे संस्कार ले जाता है, किन्तु इन संस्कारोंको ज्ञानरूपमें विज्ञानमय कोश परिवर्तित करता है। संस्कार स्थूलशरीरपर जब पड़ते हैं तो बाहर ही रह जाते हैं। विज्ञानमय कोश उन संस्कारोंसे ज्ञान ले लेता है और वह ज्ञान स्मृतिरूपमें बाह्य संस्कारोंके बिना भी रह सकता है। विज्ञानमय कोशके व्यापारोंको हम स्मृति तथा स्वप्नकी अवस्थामें स्पष्ट ही अनुभव कर सकते हैं। इसी प्रकार अन्य ज्ञानसम्बन्धी व्यापारोंमें इसका संकेत मिलता है।

आनन्दमय कोश सब कोशोंकी अपेक्षा भीतरी कोश है। इसको कारणशरीर ही कहना चाहिये और यह कोश सब जीवोंका समान है। जाग्रत् एवं स्वप्नावस्थामें प्राणियोंकी दशा भिन्न-भिन्न होते हुए भी सुषुप्ति-अवस्थामें कोई अन्तर नहीं होता। शरीर अथवा परिस्थितियाँ जो कि एक-दूसरे प्राणीके बीचमें भेद डालती हैं वे सब इस कालमें दूर रहती हैं। मनोमय कोशमें सुख-दुःख दोनों होते हैं परन्तु आनन्दमयमें न सुख होता है और न दुःख, किन्तु इन दोनोंसे भिन्न एक अनिर्वचनीय अवस्था होती है जिसको उपनिषदोंमें 'आनन्द' शब्दसे पुकारा गया है। इस अवस्थाका हम सबको प्रतिदिन सुषुप्तिमें अनुभव होता है, किन्तु जब हम सुषुप्ति-अवस्थासे जाग्रत्-अवस्थामें आ जाते हैं तो हमारे पास उसको पुनः वापिस बुलाने या उसकी व्याख्या करके बतलानेकी सामग्री विद्यमान नहीं होती।

साधना

(रचयिता—साण्डल भ्रातृगण)

अलिवृन्द छिपे मकरन्द के फूलन,
फूल छिपे कोमल कलिकान में।
विहगावलि ताल तमाल की डाल,
द्रुमादि छिपे बन बेल लतान में॥
व्रजधाम छिपा घनश्याम के लोचन,
श्याम छिपे व्रज की अँखियान में।
योग वियोग में गोपिन के छिपी,
'साधना' राधिका की मुस्कान में॥

भक्तिरसकी पाँच धाराएँ

(लेखक—पण्डित श्रीशान्तनुविहारीजी द्विवेदी)

भक्ति साधारणतः दो प्रकारकी मानी गयी है—एक साधन-भक्ति और दूसरी साध्य-भक्ति। पहलीका स्वरूप है भगवान्‌के भजनकी साधना, अर्थात् भजन होने लगे—इसके लिये प्रयत्न। दूसरीका स्वरूप है, भगवान्‌का साक्षात् भजन, सेवन, उनकी सन्निधि और उनसे एकत्व। पहलीको वैधी भक्ति कहते हैं और दूसरीको रागानुगा, प्रेमलक्षणा, अथवा परा भक्ति। भगवान् स्वयं रसस्वरूप हैं; इसलिये जब जीवका, अथवा जीवकी वृत्तियोंका भगवान्‌से संयोग होता है, तब एक अनिर्वचनीय रसकी अनुभूति होती है। यदि दूसरी शैलीसे कहें तो इस प्रकार कह सकते हैं कि जब चित्त द्रवित होकर भगवदाकार हो जाता है, तब वास्तविक रसकी निष्पत्ति होती है। चित्त तो विषयोंके लिये भी द्रवित होता है और उसके साथ तदाकार भी हो जाता है। परन्तु इस तदाकारतामें स्थायित्व नहीं होता। क्योंकि वे विषय ही अस्थायी हैं, जिनके आकारमें चित्त परिणत हुआ है। इसलिये चित्त वहाँ अभावका अनुभव करके फिर दूसरे विषयके लिये द्रवित होता है और फिर तीसरेके लिये। इसीका नाम संसार-चक्र है, जिसकी गति-परम्परा तबतक शान्त नहीं हो सकती जबतक चित्तको इनसे सर्वथा मुक्त न कर दिया जाय। परन्तु जब एक बार चित्त भगवदाकार हो जाता है, तब वहाँ किसी प्रकारके अभावका अनुभव न करनेके कारण पुनः किसी दूसरे आकारमें परिणत होनेकी आवश्यकता नहीं होती। चित्त सर्वदाके लिये उसी रसमें डूब जाता है, उसी रससे एक हो जाता है। इस रसकी उपलब्धिके लिये प्रयत्न साधन-भक्ति है और इस रसकी अनुभूति साध्य-भक्ति है।

वैसे तो भगवान्‌के साथ जिस सम्बन्धको लेकर चित्त द्रवित हो जाय—गङ्गाकी धारा जिस प्रकार अखण्ड रूपसे समुद्रमें गिरती रहती है, वैसे ही जब चित्त एकमात्र भगवान्‌की ओर ही प्रवाहित होने लगे, तब कोई भी भाव, कोई भी सम्बन्ध रस ही है; क्योंकि चित्तकी द्रवावस्था ही रस है। यदि वह संसारके लिये है तो विषयकी क्षणिकताके कारण 'रसाभास' है और यदि भगवान्‌के लिये है तो उनकी रसरूपताके कारण वह वास्तविक 'रस' है। इसीको रसिक भक्तोंके सम्प्रदायमें भक्ति-रस कहा गया है। इस भक्ति-रसके पाँच प्रकार अथवा पाँच अवान्तरभेद स्वीकार किये गये हैं। वे एक दृष्टिसे तो सब-के-सब परिपूर्ण ही हैं, परन्तु दूसरी दृष्टिसे एककी गाढ़ अवस्था दूसरेके रूपमें परिणत हो जाती है। शान्तका दास्यके रूपमें, दास्यका सख्यके रूपमें, सख्यका वात्सल्यके रूपमें, वात्सल्यका माधुर्य-रसके रूपमें परिणाम होता है। इस मतमें मधुर रस ही रसका चरम उत्कर्ष है। कोई-कोई सहृदय पुरुष शान्तमें सबका परिणाम मानते हैं और कोई-कोई दास्य-रसमें। ऐसे भी आचार्य हैं जो इनको भाव, आसक्ति अथवा स्थायी रति मानते हैं और इनके द्वारा एक महान् भक्ति-रसकी परिपुष्टि मानते हैं। दृष्टिभेदसे ये सभी मत सत्य हैं। सच्ची बात तो यह है कि जिस भावका भगवान्‌के साथ सम्बन्ध है उसका स्वरूप चाहे जो भी हो, वह पूर्ण रस है। यहाँ इन पाँचोंका संक्षिप्त विवरण दिया जाता है।

शान्त-रस

जैसा कि रसोंके प्रसङ्गमें वर्णन आता है, रसकी अनुभूतिकी एक प्रक्रिया है। आलम्बन और उद्दीपन विभाव, अनुभाव, सात्त्विकभाव, सञ्चारी एवं व्यभिचारी भावोंके द्वारा व्यक्त होनेवाला स्थायिभाव ही रस होता है। जिसको शान्त-रस कहा जाता है, उसके अनुभवकी भी यही प्रणाली है। इसका स्थायिभाव शान्ति-रति है। इस भावमें भगवान्‌के संयोग-सुखका आस्वादन होता है। यद्यपि परमात्माके निर्गुण स्वरूपमें स्थिति भी शान्त-रसका ही एक स्वरूप मानी जाती है, तथापि यहाँ भक्तिका प्रसङ्ग होनेके कारण सगुण भगवान्‌की अनुभूतिको ही शान्त-रसके रूपमें समझना चाहिये। निर्गुण स्थितिमें किसी प्रकारका आस्वादन न होनेके कारण और सगुण-भक्तिके आस्वादनात्मक होनेके कारण दोनोंकी विलक्षणता स्पष्ट है। इस शान्त भक्ति-रसके आलम्बन सगुण परमात्मा हैं। उनका स्वरूप ही—वह चाहे निराकार हो या साकार, चतुर्भुज हो या द्विभुज—इस रसका आलम्बन-विभाव है। इसमें दास्य आदि भावोंके समान लीलाकी विशेषता नहीं है। भगवान्‌का स्वरूप सच्चिदानन्दघन है, वे सर्वदा अपने आपमें ही स्थित रहते हैं। वे समस्त शक्तियोंके एकमात्र केन्द्र हैं, सब पवित्रताओंके एकमात्र उद्गम हैं, जगत्‌की निखिल वस्तुओंके एकमात्र नियामक हैं।

वे सबके कर्त्ता, भर्त्ता, संहर्त्ता हैं। सबके हृदयमें अन्तर्यामीरूपसे स्थित हैं। ये व्यापक प्रभु ही चाहे साकाररूपमें अथवा निराकाररूपमें, अपने इष्टदेवरूपसे हृदयमें स्फुरित हुआ करते हैं। निखिल जीव और जगद्रूपी तरङ्गोंके समुद्र ये भगवान् जिस जीवके भावनेत्रोंके सामने प्रकट हो जाते हैं, उसका मन सांसारिक विषयोंकी तो बात ही क्या, मोक्षसुखका भी परित्याग करके इनके चरणोंमें आ समाता है।

शान्तरसके उपासक प्रायः दो प्रकारके होते हैं। एक तो वे आत्माराम पुरुष जो भगवान् या उनके प्रिय भक्तोंकी करुणा-दृष्टिसे भगवान्की ओर आकर्षित हुए हैं। दूसरे वे साधक जिनका ऐसा विश्वास है कि भगवान्की भक्तिमें ही परम कल्याणकी प्राप्ति हो सकती है। आत्माराम भक्तोंमें सनक-सनन्दनादिका नाम सबसे पहले उल्लेखनीय है। ये पाँच वर्षकी अवस्थाके गौर वर्ण नग्न और प्रायः साथ ही रहनेवाले चारों अत्यन्त तेजस्वी हैं। श्रीमद्भागवतमें ऐसा वर्णन है कि जब ये वैकुण्ठधाममें गये तो भगवान्के चरण-कमलोंकी सुगन्धिसे इनका वह चित्त जो अक्षरब्रह्ममें स्थित था, खिंच आया। इनका चित्त द्रवित हो गया और शरीरमें सात्त्विक भावके चिह्न प्रकट हो गये। श्रीरूपगोस्वामीने इनके भावोंका इन्हींके शब्दोंमें वर्णन किया है—

समस्तगुणवर्जिते करणतः प्रतीचीनतां
गते किमपि वस्तुनि स्वयमदीपि तावद् सुखम्।
न यावदियमद्भुता नवतमालनीलद्युते-
र्मुकुन्द सुखचिद्घना तव बभूव साक्षात्कृतिः॥

'हे प्रभो! तुम्हारे निर्गुण और इन्द्रियोंके अगोचर स्वरूपमें तभीतक अनिर्वचनीय सुखका अनुभव होता था, जबतक तुम्हारी इस अद्भुत मूर्त्तिका जो नवीन तमालके समान नीलकान्तिवाली है,सच्चिदानन्दमय साक्षात्कार नहीं हुआ था।' तात्पर्य यह कि भगवान्की आनन्दघन रूपराशिपर मुग्ध होकर ये आत्मसुखका परित्याग करके भगवान्की रूप-माधुरीका पान कर रहे हैं। इसी प्रकार परम तत्त्वज्ञानी राजा जनक भगवान् रामके सौन्दर्यपर मुग्ध होकर उसीमें रम जाते हैं। गोस्वामी तुलसीदासजीके शब्दोंमें—

इन्हहि बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्मसुखहि मन त्यागा॥
सहज बिरागरूप मनु मोरा। थकित होत जिमि चंद चकोरा॥

जिन साधकोंका यह निश्चय है कि भगवान्की भक्तिसे ही मुक्ति मिलती है, जो विरक्त होकर प्राणपणसे साधनामें संलग्न हैं, जिनकी मुमुक्षा अभी शान्त नहीं हुई है, वे शान्त-रसके तपस्वी उपासक हैं। आत्माराम भक्तोंकी कृपा और प्रेरणासे ही इनके हृदयमें शान्तरसका अनुभव हुआ करता है। एक साधक कितनी सुन्दर अभिलाषा करता है—

कदा शैलद्रोण्यां पृथुलविटपिक्रोडवसति-
र्वसानः कौपीनं रचितफलकन्दाशनरुचिः।
हृदि ध्यायं ध्यायं मुहुरिह मुकुन्दाभिधमहं
चिदानन्दं ज्योतिः क्षणमिव विनेष्यामि रजनीः॥

'पर्वतकी कन्दरामें, अथवा विशाल वृक्षकी छायामें निवास करता हुआ मैं केवल कौपीन पहने हुए, फलमूलका भोजन करते हुए और हृदयमें बार-बार चिदानन्दमय श्यामज्योति भगवान् श्रीकृष्णका ध्यान करते हुए अपने जीवनकी बहुत-सी रात्रियोंको एक क्षणके समान कब व्यतीत कर दूँगा? मेरे जीवनमें ऐसा शुभ अवसर कब आवेगा!' ऐसे जीवनकी अभिलाषा ही इस प्रकारके जीवनकी जननी है, जिसमें शान्तरसकी भक्ति पूर्ण होती है।

शान्तरसके उद्दीपन विभाव जिनसे शान्तरसकी पुष्टि होती है, दो प्रकारके होते हैं—एक तो असाधारण और दूसरे साधारण। असाधारण विभाव निम्न लिखित हैं—

(१) उपनिषद्, दर्शन और पुराणोंका तथा उन ग्रन्थोंका श्रवण, कीर्तन, मनन, स्वाध्याय जिनमें भगवान्के तत्त्व, स्वरूप, गुण, रहस्य और महिमाका वर्णन है।

(२) उस पवित्र एकान्त स्थानका सेवन जिसमें चित्त एकाग्र होता है।

(३) शुद्ध सत्त्वमय चित्तमें निरन्तर भगवान्की स्फूर्ति।

(४) भगवान्, जीव और जगत्के स्वरूपोंका पृथक्-पृथक् विवेचन और उनके सम्बन्धोंका निर्णय।

(५) भगवान्में ज्ञान-शक्तिकी प्रधानताका अङ्गीकार और अपने जीवनकी प्रगति भी ज्ञानानुसारिणी।

(६) सम्पूर्ण विश्वको भगवान्का व्यक्तरूप समझना और व्यवहारमें उसके दर्शनकी चेष्टा करना।

(७) ज्ञानप्रधान भक्तोंका सत्सङ्ग करना और अपने ही समान रुचि रखनेवाले साधकोंके साथ भगवान् और उनकी भक्तिके सम्बन्धमें चर्चा करना।

इनके अतिरिक्त साधारण उद्दीपन भी बहुत-से होते हैं। यथा—

(१) भगवान्‌की पूजाके पुष्प, तुलसी, नैवेद्य आदि प्राप्त करके मुग्ध होना।

(२) भगवान्‌की पूजाके शङ्ख, घण्टा, आरती, स्तुति आदिके पाठकी ध्वनि सुनना।

(३) पवित्र पर्वत, सुन्दर जङ्गल, सिद्ध क्षेत्र और गङ्गा आदि नदियोंका सेवन।

(४) संसारके भोगोंकी क्षणभङ्गुरताका विचार।

(५) संसारकी समस्त वस्तुएँ, अपना जीवन भी—मृत्यु-ग्रस्त हैं यह विचार इत्यादि।

हृदयमें शान्तरसका उन्मेष होनेपर बहुत प्रकारके साधारण और असाधारण चिह्न उदय हो जाते हैं, उनको अनुभाव कहते हैं। यथा—

(१) आँखोंका बंद रहना, नासाग्रपर, भ्रूमध्यपर अथवा निरालम्ब ही स्थिर रहना।

(२) व्यवहारका विशेष ध्यान नहीं रहना।

(३) चलते समय बहुत इधर-उधर नहीं देखना, सामने चार हाथतक देखना।

(४) स्थिर, धीर, गम्भीर भावसे बैठे रहना, ज्ञानमुद्राका अवलम्बन।

(५) भगवान्‌के प्रति द्वेषभाव रखनेवालेसे भी द्वेष न करना तथा प्रेमभाव रखनेवालेसे भी अत्यन्त प्रेम न करना।

(६) सिद्ध-अवस्था अथवा जीवन्मुक्तिके प्रति आदर भाव।

(७) किसीकी अपेक्षा नहीं रखना, किसीसे ममता नहीं करना और कभी अहङ्कारका भाव नहीं आना।

(८) संसार और व्यवहारके सम्बन्धमें स्फुरणाका न होना और बहुत कम वार्तालाप करना। इत्यादि

इनके अतिरिक्त साधारण अनुभाव भी प्रकट होते हैं। यथा—

(१) बार-बार भगवान्‌को नमस्कार करते रहना।

(२) सत्सङ्गियोंको भगवद्भक्तिका उपदेश करना।

(३) भक्तोंके साथ भगवान्‌की स्तुति-प्रार्थना आदि करना।

(४) भावोदय होनेपर जमुहाई आना, शरीर तोड़ना आदि।

शान्तरसके उदय होनेपर सात्त्विक भावोंका भी प्रकाश होता है। परन्तु इस रसके उपासक प्रायः शरीरसे ऊपर उठे रहते हैं और बड़ी सावधानीके साथ शरीरभावसे अपनी रक्षा करते हैं। इसलिये इनके हृदयमें तो समस्त सात्त्विक भाव प्रकट होते हैं। परन्तु शरीरमें रोमाञ्च, स्वेद, कम्प आदि कुछ थोड़ेसे ही प्रकट होते हैं। प्रलय, उन्माद और मृत्यु आदि सात्त्विक भाव प्रायः इनके शरीरमें नहीं देखे जाते। संसारके प्रति निर्वेद (वैराग्य), विपत्ति आनेपर धैर्य, भगवद्भक्तके मिलनसे हर्ष, विस्मरणसे विषाद और भी बहुत से सञ्चारी भाव शान्तरसके पोषक हैं। शान्तरसका स्थायिभाव शान्तिरति है, यह बात पहले ही कही जा चुकी है। यह दो प्रकारकी होती है—एक समा और दूसरी सान्द्रा। जब मन वृत्तिशून्य होकर ब्रह्मरूपसे स्थित हो जाता है, असम्प्रज्ञात समाधि लग जाती है, तब कहीं यदि उस समाधिमें भगवान् प्रकट हो जायँ और उनको देखकर योगीका चित्त प्रेममुग्ध हो जाय, तो इसको शान्तरसकी समरति कहेंगे। समस्त अज्ञानके ध्वंस हो जानेपर निर्विकल्प समाधिमें जो एकरस निर्विशेष अनन्तके रूपमें अनुभव होता है, वही तो उस अनन्त आनन्दको भी अनन्तगुना बनाकर नन्दनन्दन श्यामसुन्दरके रूपमें प्रकट हुआ है। इस प्रकारकी अनुभूति सान्द्र शान्तिरतिके नामसे प्रसिद्ध है। भगवान्‌के साक्षात्कारके लिये उत्सुकता और साक्षात्कार दोनों स्थितियाँ इस रसके अन्तर्गत हैं।

शान्तरस साहित्यिकोंके मतमें भी सर्ववादिसम्मत रस है। नाट्यशास्त्रके आचार्योंने शान्तको इसलिये रस नहीं माना है कि शान्तिरति निर्विकार है। रंगमञ्चपर किसी भावभङ्गीके द्वारा उसका प्रदर्शन सम्भव नहीं है। परन्तु काव्य एवं भक्ति-साहित्यमें इसका साक्षात्कार होनेके कारण इसकी रसता निर्विवाद सिद्ध है। भगवान् श्रीकृष्णने श्रीमद्भागवतके ग्यारहवें स्कन्धमें शमकी व्याख्या करते हुए कहा है कि 'मुझमें परिनिष्ठित बुद्धिका नाम शम है।' यदि शान्तिको रतिके रूपमें स्वीकार नहीं किया जाय, तो इस निष्ठाकी उपपत्ति कैसे हो सकती है? श्रीविष्णुधर्मोत्तरपुराणमें शान्तरसका लक्षण इस प्रकार किया गया है—

नास्ति यत्र सुखं दुःखं न द्वेषो न च मत्सरः।
समः सर्वेषु भूतेषु स शान्तः प्रथितो रसः॥

'जिसमें न सुख है और न तो दुःख, न द्वेष है

और न तो मात्सर्य, जो समस्त प्राणियोंमें सम भाव है, वही शान्तरसके नामसे प्रसिद्ध है।' इस शान्तरसमें और सम्पूर्ण रसोंका अन्तर्भाव हो सकता है। वीर, करुण, शृङ्गार आदि रस परिणत होते हुए, जब अहङ्कारसे नितान्त रहित हो जाते हैं, तो शान्तरसमें उनका पर्यवसान हो जाता है। इस रसका स्थायिभाव शान्ति-रति है, इसमें पूर्वाचार्योंका मतभेद है। किसी-किसीके मतमें शान्तरसका स्थायिभाव धृति है। व्यवहारमें चाहे जैसी भी घटना घट जाय, किन्तु धृति अविचलित रहे, यही शान्तरसका पूर्वरूप स्थायिभाव है। कोई-कोई कहते हैं—शान्तरसका स्थायिभाव निर्वेद है। निर्वेद दो प्रकारका होता है। एक तो अभीष्ट वस्तुकी अप्राप्तिसे और अनिष्ट वस्तुके संयोगसे होता है। यह स्थायिभाव नहीं हो सकता, यह व्यभिचारी भाव है। परन्तु तत्त्वज्ञानके उदयमें जो जागतिक विषयोंके प्रति सहज निर्वेद है, वह शान्तरसका स्थायिभाव हो सकता है। शान्तरसका स्थायि-भाव चाहे शान्तिरति हो, धृति हो अथवा निर्वेद हो इनमेंसे किसीके द्वारा साधकके चित्तमें शान्तरसका उद्रेक होना चाहिये। शान्तरसका उन्मेष होनेपर भगवत्तत्त्वका अनुभव होने लगता है और इससे बढ़कर जीवके लिये सौभाग्यकी और कौन-सी बात हो सकती है! जहाँतक शान्तरसकी गति और स्थिति है, वहाँतक पहुँचनेपर ही जाना जा सकता है कि इसके बाद भी कोई स्थिति है या नहीं। इसलिये सम्पूर्ण शक्तिसे इस शान्तरसका ही अनुभव करना चाहिये।

दास्यरस

दास्यरसका स्थायिभाव प्रीति है। यही जब आलम्बन, उद्दीपन, विभाव, सात्त्विक भाव आदिसे सुपुष्ट और व्यक्त होता है, तब दास्यरसके नामसे कहा जाता है। कुछ लोग इसको प्रीतिभक्तिरस कहते हैं। कई आचार्योंने इसे शान्तरसके अन्तर्गत ही माना है। परन्तु उसकी अपेक्षा इसमें कुछ विशेषता अवश्य है। शान्तरसमें स्वरूप-चिन्तनकी प्रधानता है, दास्यरसमें ऐश्वर्यचिन्तनकी। दास्यरसके दो भेद माने गये हैं—एक तो सम्भ्रमजनित दास्य और दूसरा गौरवजनित दास्य। सम्भ्रमजनित दास्य वह है, जिसमें साधक भगवान्‌के अनन्त ऐश्वर्य, प्रभाव, महत्त्व, शक्ति, प्रतिष्ठा, गुणोंका आधिक्य और चरित्रकी अलौकिकता आदि देखकर, जानकर अपने सेव्यके रूपमें प्रभुका वरण कर लेता है और उनकी सेवाके रसमें ही अपनेको डुबा देता है। गौरव-प्रीतिरस वह है जिसमें भगवान्‌के साथ कोई गौरवका सम्बन्ध रहता है। जैसे भगवान्‌के पुत्र प्रद्युम्न, साम्ब आदि गुरुबुद्धिसे भगवान्‌की सेवा किया करते थे। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि दास्य-रसके आलम्बन भगवान् सगुण ही होते हैं। यद्यपि निराकार भगवान्‌के आज्ञापालनके रूपमें वेदोक्त सदाचारका अनुष्ठान और विश्व-सेवाकार्यके द्वारा भी दास्यरसका अनुभव किया जा सकता है। इस व्यक्त जगत्‌को भगवान्‌का रूप समझकर इसकी सेवा करना भी दास्यरसके अन्तर्गत हो सकता है, तथापि रसिक भक्तोंने सगुण साकार अनन्त ऐश्वर्योंके निधि द्विभुज, चतुर्भुज आदि आकार विशिष्ट भगवद्विग्रहको ही दास्यरसका आलम्बन स्वीकार किया है।

भगवान्‌का ऐश्वर्य अनन्त है। उनके एक-एक रोमकूपमें अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंका निवासस्थान है। इतने ऐश्वर्यवान् होनेपर भी वे करुणाके तो समुद्र ही हैं। उनकी शक्ति अचिन्त्य है। समस्त सिद्धियाँ उनकी सेवामें तत्पर रहती हैं। संसारमें जितने भी देवी देवता हैं, उन्हींके अंशविशेष हैं और जितने भी अवतार होते हैं, उनके वे ही बीजस्वरूप हैं। उनकी सर्वज्ञता, क्षमाशीलता, शरणागत-वत्सलता और अनुकूलता, सत्यता, सर्वप्राणिहितैषिता आदि सद्गुण आत्माराम पुरुषोंके चित्तको भी अपनी ओर आकर्षित कर लेते हैं। उनके प्रतापसे ही संसारकी गति नियमित है, उनकी धारणा-शक्तिसे ही धर्म सुरक्षित है। वे सब शास्त्रोंकी मर्यादाके स्थापक और पालक हैं। बड़े उदार हैं, महान् तेजस्वी हैं। एक बार भूलसे भी उनका कोई स्मरण करके भूल जाय, तब भी वे कभी नहीं भूलते। वे कृतज्ञताकी मूर्ति हैं, सबके अकारण हितू हैं। जो प्रेम करे उसीके वशमें हो जाते हैं। इस प्रकारके परम उदार, परम ऐश्वर्यशाली भगवान् ही दास्यरसके आलम्बन हैं।

भगवान्‌के दास उनके आश्रित होते हैं। भगवान्‌पर उनका अखण्ड विश्वास होता है, वे सर्वात्मना भगवान्‌की आज्ञाका पालन करते हैं और भगवान्‌के अप्रतिहत ऐश्वर्यके ज्ञानसे उनका अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग सम्पूर्ण जीवन भगवान्‌के चरणोंमें समर्पित एवं नमित रहता है। इनके चार प्रकार होते हैं—अधिकृत, आश्रित, पार्षद और अनुगामी। अधिकृत भक्तोंकी श्रेणीमें शिव, ब्रह्मा, इन्द्र, सूर्य आदि देवतागण हैं। ये भगवान्‌की किस प्रकारकी सेवा करते हैं? इसका एक उदाहरण देखिये—

का पर्यैत्यम्बिकेयं हरिमवकलयन् कम्पते कः शिवोऽसौ
तं कः स्तौत्येष धाता प्रणमति विलुठन् कः क्षितौ वासवोऽयम्।
कः स्तब्धो हस्यतेऽद्धा दनुजभिदनुजैः पूर्वजोऽयं ममेत्थं
कालिन्दी जाम्बवत्यां त्रिदशपरिचयं जालरन्ध्राद् व्यतानीत्॥

'कोठेपर खिड़कीके पास खड़ी होकर जाम्बवतीके पूछनेपर कालिन्दी देवताओंका परिचय करा रही हैं—यह प्रदक्षिणा कौन कर रही हैं? यह अम्बिका देवी हैं। भगवान्का दर्शन करके यह काँप कौन रहे हैं? ये शिव हैं। ये स्तुति कौन कर रहे हैं? ये ब्रह्मा हैं। ये जमीनमें लोटकर नमस्कार कौन कर रहे हैं? ये इन्द्र हैं। ये स्तब्ध कौन खड़े हैं, देवतालोग जिनकी हँसी उड़ा रहे हैं? ये मेरे बड़े भाई यमराज हैं।' इससे स्पष्ट होता है कि सभी देवता द्वारकामें आ-आकर भगवान्का दास्य करते हैं। यह कोई नयी बात नहीं है, व्रज और वैकुण्ठकी ऐसी बहुत-सी कथाएँ मिलती हैं। देवताओंके सहज वर्णनमें भी यह बात आती है कि वे सदा-सर्वदा भगवान्की दास्य-भक्तिमें ही तन्मय रहते हैं।

आश्रित भक्तोंकी तीन श्रेणियाँ हैं—शरणागत, ज्ञानी और सेवानिष्ठ। जरासन्धके द्वारा कैद किये हुए राजा लोग, भगवान्का अनुग्रहपात्र होनेपर कालियनाग—ये सब शरणागत-श्रेणीके आश्रित हैं। जिन्होंने मुमुक्षा और जिज्ञासाका भी परित्याग कर दिया है और मोक्ष एवं ज्ञानका परित्याग करके भगवान्का ही आश्रयण किया है, वे ज्ञानी आश्रित हैं। इस श्रेणीमें शौनक आदि ऋषिगण आते हैं। इस श्रेणीके एक भक्त कहते हैं—

ध्यानातीतं किमपि परमं ये तु जानन्ति तत्त्वं
तेषामास्तां हृदयकुहरे शुद्धचिन्मात्र आत्मा।
अस्माकं तु प्रकृतिमधुरः स्मेरवक्त्रारविन्दो
मेघश्यामः कनकपरिधिः पङ्कजाक्षोऽयमात्मा॥

'जो ध्यानातीत किसी एक परम तत्त्वको जानते हैं, उनके हृदयमें वह विशुद्ध ज्ञानस्वरूप आत्मा रहे, हमारे तो जो स्वभावसुन्दर, परम मधुर हैं जिनके मुख-कमलपर मन्द-मन्द मुस्कान है, वर्षाकालीन मेघके समान जिनकी कान्ति है, जो पीताम्बरधारी एवं कमलनयन हैं, वे श्रीकृष्ण ही आत्मा हैं।' वे ही प्राणप्रिय हैं, वे ही सेव्य हैं। हमें और किसी दूसरे आत्मासे और कोई काम नहीं।

जो सच्चे हृदयसे भगवान्के भजनमें ही आसक्त हैं, वे सेवानिष्ठ आश्रितोंकी श्रेणीमें हैं। इसमें चन्द्रध्वज, हर्यश्व, इक्ष्वाकु, श्रुतदेव आदिका नाम लिया जा सकता है। इस श्रेणीके भक्तका हृद्गत भाव इस प्रकार होता है—हे प्रभो! जो सर्वदा आत्मामें ही रमण करनेवाले हैं, वे तुम्हारे गुणोंका श्रवण करनेके लिये उस सभामें सम्मिलित होने लगते हैं, जिसमें तुम्हारे गुणोंका गायन होता है। जो एकान्त जंगलमें रहकर घोर तपस्यामें अपना जीवन व्यतीत करते हैं, वे तुम्हारे उदार चरित्र सुननेके लिये प्रेमी भक्तोंके सामने भिक्षुकके रूपमें उपस्थित होते हैं। इसलिये मैं न तो स्वरूप-स्थिति चाहता हूँ और न तो निर्विकल्प समाधि। मैं तुम्हारी सेवामें रहूँ, तुम्हारी आज्ञाका पालन करूँ, तुम्हारी सन्निधिमें रहकर निरन्तर तुम्हारी प्रसन्नता अनुभव किया करूँ—यही मेरे जीवनकी एकमात्र अभिलाषा है।

भगवान्की नित्य लीलामें और समय-समयपर प्रकट होनेवाली लीलामें भी उनके नित्य पार्षद रहते हैं। वैकुण्ठमें विष्वक्सेन आदि, द्वारकाकी लीलामें उद्धव, दारुक आदि और हस्तिनापुरकी लीलामें भीष्म, विदुर आदि भगवान्के पार्षद श्रेणीके भक्त हैं। यद्यपि ये विभिन्न कार्योंमें नियुक्त रहते हैं, कोई मन्त्रीका काम करता है तो कोई सारथीका, तथापि ये अवसर आनेपर भगवान्की शरीरतः सेवा करते हैं और उससे अपनेको कृतकृत्य मानते हैं। अनुगामी भक्त भगवान्की सेवामें सर्वदा संलग्न रहते हैं। भगवान्के चरणोंमें इनकी दृढ़ आसक्ति होती है। द्वारकामें सुचन्द्र, मण्डल आदि अनुग भक्त छत्र-चमर आदि धारण करते हैं और व्रजमें रक्तक, पत्रक आदि दासगण भगवान्के वस्त्र आदिके परिष्कार आदिकी सेवा करते हैं। जैसे द्वारकाके भक्तोंमें उद्धव श्रेष्ठ हैं, वैसे ही व्रजके भक्तोंमें रक्तक श्रेष्ठ है। इनके तीन भेद होते हैं यथा—धूर्य, धीर और वीर। धूर्य वे हैं जो महल और दरबार दोनोंमें एक-सी सेवा करते हैं। धीर श्रेणीके सेवक भगवान्के प्रेयसी-वर्गका आश्रय लेकर विशेष सेवा न करनेपर भी अपना मुख्य स्थान रखते हैं। वीर सेवक भगवान्के आश्रयसे निर्भीक रहता है और किसीकी अपेक्षा नहीं रखता। भगवान्के चरणोंमें इसका अतुलनीय प्रेम होता है। यह कभी-कभी अपनी प्रौढ़तावश कह बैठता है कि मुझे न बलरामसे काम है और न प्रद्युम्नसे कुछ लेना है। भगवान्की कृपासे मैं इस प्रकार बलवान् हो गया हूँ कि मैं सत्यभामाको भी कुछ नहीं गिनता। अबतक जितने प्रकारके दासोंकी गिनती की गयी है, वे सभी तीन श्रेणियोंमें बाँटे जा सकते हैं—एक तो नित्यसिद्ध, दूसरे साधनासिद्ध

और तीसरे जो अभी साधना कर रहे हैं। इन सभीके चित्तमें अनुदिन दास्य-रतिकी अभिवृद्धि हुआ करती है।

दास्यरसमें साधारण और असाधारण अनेकों प्रकारके उद्दीपन-विभाव होते हैं, यथा—

(१) पद-पदपर भगवान्की कृपाका अनुभव।

(२) उनके चरणोंकी धूलिकी प्राप्ति।

(३) भगवान्के प्रसादका सेवन।

(४) भगवान्के प्रेमी भक्तोंका सङ्ग।

(५) भगवान्की वंशी, शृङ्ग आदिकी ध्वनिका श्रवण।

(६) भगवान्की मन्द-मन्द मुस्कान और प्रेमभरी चितवन।

(७) भगवान्के गुण, प्रभाव, महत्त्व आदिका श्रवण।

(८) कमल, पदचिह्न, मेघ, अङ्गसौरभ आदि।

जिनके हृदयमें दास्यरसका उदय हो गया है, उनके जीवनमें बहुत-से अनुभाव प्रकट हो जाते हैं, यथा—

(१) भगवान् जिस कर्ममें नियुक्त कर दें, उसीको सर्वश्रेष्ठ समझकर स्वीकार करना।

(२) किसीके प्रति ईर्ष्याका लेश भी नहीं होना।

(३) जो अपनेसे अधिक सेवा करता है, उससे प्रसन्नता और भगवद्भक्तोंसे मित्रता।

(४) भगवान्की सेवामें ही रति, उसीमें प्रीति और उसीकी निष्ठा। दास्यके अवसरकी प्राप्तिसे और उनकी अप्राप्तिसे भी स्तम्भ आदि सात्त्विक भावोंका उद्रेक होता है। हर्ष, गर्व आदि भाव भी समय-समयपर स्फुरित हुआ करते हैं। भगवान्के ऐश्वर्य और सामर्थ्यके ज्ञान-से जो आदरपूर्वक सम्भ्रम होता है, उसके साथ मिलकर प्रीति ही सम्भ्रम प्रीतिका नाम धारण करती है। दास्य-रसमें यही स्थायिभाव है। यह सम्भ्रम प्रीति उत्तरोत्तर बढ़ती हुई प्रेम, स्नेह और रागका रूप धारण करती है। अकस्मात् भगवान्के मिलनसे जो आदरभावपूर्वक ससम्भ्रम प्रेम है, वह सम्भ्रम प्रीति है। यही भाव जब इतना दृढ़ हो जाता है कि ह्रासकी कोई आशङ्का नहीं रहती, तब इसे ही प्रेम कहते हैं। इस अवस्थामें प्रेम इतना स्वाभाविक हो जाता है कि भगवान् चाहे सौख्य-के महान् समुद्रमें डाल दें, अथवा घोर दुःखमय नरकमें, कहीं भी चित्तमें विकार नहीं होता। भगवान्के चरणोंका पूरा विश्वास बना रहता है। यही प्रेम जब और घना होकर चित्तको अत्यन्त द्रवित कर देता है, तब इसका नाम स्नेह होता है। इसमें एक क्षणका वियोग भी सहन नहीं होता। यदि कहीं एक क्षणके लिये कृत्रिम वियोग हो जाय तो भी प्राणान्तकी नौबत आ जाती है। यही स्नेह जब इतना गाढ़ हो जाता है कि दुःख भी सुख मालूम होने लगता है, तब उसका नाम राग होता है। इस अवस्थामें अपने प्राणोंका नाश करके भी भगवान्की सेवा करनेका प्रयत्न होता है। इस अवस्थामें थोड़ा-बहुत सख्यका भी उदय हो जाता है। यदि भगवान् इस श्रेणीके किसी सेवकको कभी अपने हृदयसे लगा लेते हैं, तो वह लग तो लेता है, किन्तु उसके चित्तमें कुछ सङ्कोच रहता है।

सेवककी दो अवस्थाएँ होती हैं—एक तो भगवान्के साथ योगकी और दूसरी अयोगकी। भगवान्के साथ न रहकर सेवासे वञ्चित रहना, यह अयोग-अवस्था है। इसमें मन भगवान्में ही रहता है, प्रायः भगवान्के गुणोंका अनुसन्धान और उनके मिलनके उपायका चिन्तन हुआ करता है। इसके दो भेद हैं—उत्कण्ठा और वियोग। भगवान्के जबतक एक बार भी दर्शन नहीं हुए रहते, परन्तु उनके दर्शनकी बड़ी इच्छा रहती है, तबतककी अवस्थाका नाम उत्कण्ठा है। इस अवस्थामें कृष्णसार मृगका नाम सुनकर कृष्णकी स्मृति हो आती है। श्याम मेघको देखकर घनश्याम-को पानेकी उत्कण्ठा तीव्र हो आती है। इस अवस्थामें विरहके सभी भावोंका उदय होता है। भगवान्के पानेकी उत्सुकता, अपनी दीनता, संसारसे निर्वेद, आशा-निराशा, जड़ता, उन्माद—सभी एक-एक करके आते रहते हैं। भगवान्-के दर्शन बिना एक-एक क्षण कल्पके समान मालूम होने लगता है। निरन्तर हृदयसे सच्ची प्रार्थनाकी धारा प्रवाहित होने लगती है। आगे चलकर तो ऐसी स्थिति हो जाती है कि व्यवहारका ध्यान नहीं रहता, आँखें निर्निमेष दर्शनकी प्रतीक्षा करने लगती हैं। भक्त प्रेमोन्मादमें मस्त होकर कभी रोता है, कभी चिल्लाता है, कभी निःसङ्कोच नाचने लगता है, कभी तन्मय होकर भगवान्की लीलाओंका ही अनुकरण करने लगता है, कभी मूर्च्छा हो जाती है तो कभी मृत्युकी-सी भी दशा हो जाती है। इसी अवस्था-में जाकर प्रेमपरवश भगवान्को दर्शन देनेके लिये बाध्य होना पड़ता है।

एक बार या अनेक बार भगवान्का दर्शन प्राप्त

होनेके पश्चात् जो भगवान्का विरह होता है, उसको वियोग-अवस्था कहते हैं। भगवान्के मिलनका सुख ही ऐसा है कि जिसे एक क्षणके लिये भी प्राप्त हो जाता है, वह उसके विरहमें बड़ी कठिनाईसे जीवन धारण करता है। परन्तु संसारकी अपेक्षा उसकी यह कठिनाई भी परम रसमय है। भगवान्के विरहमें हृदयमें इतना ताप होता है कि सम्पूर्ण अग्नि और सूर्य भी वैसी जलन नहीं पैदा कर सकते। शरीर दुर्बल हो जाता है, चेहरा पीला पड़ जाता है, नींद नहीं आती, उनके सिवा चित्त कहीं स्थिर नहीं होता, धैर्यका बाँध टूट जाता है, पीड़ासे शरीर जर्जर, शिथिल और अविचल हो जाता है, श्वासकी गति बढ़ जाती है, मानसिक व्याधि, उन्माद, मूर्च्छा और मृत्यु, पुनः जीवन और फिर वही अवस्थाएँ—उसकी ये ही अवस्थाएँ हुआ करती हैं। यह ध्यान रखना चाहिये कि भगवत्प्रेमीके शरीरमें जो व्याधि, उन्माद, मूर्च्छा आदि होते हैं, ये लौकिक नहीं, लोकोत्तर होते हैं। भगवान्के प्रेमराज्यमें मृत्युका तो प्रवेश ही नहीं है। वहाँ जो ये अवस्थाएँ आती हैं, सो सब संयोग-सुखकी अभिवृद्धिके लिये। इसलिये प्रेमीकी यह मृत्यु भी जीवनसे बढ़कर है; क्योंकि रसस्वरूप भगवान्की सन्निधिमें यह पहुँचा देती है। यह वियोग संयोगका पोषक होनेके कारण रसस्वरूप है।

योग-अवस्थाके तीन भेद हैं—सिद्धि, तुष्टि और स्थिति। उत्कण्ठित अवस्थामें भगवान्की जो प्राप्ति होती है, उसको सिद्धि कहते हैं। श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धमें अक्रूरकी उत्कण्ठा और उनकी भगवत्प्राप्तिका वर्णन है, यह सिद्धि-अवस्था है। भगवान्का वियोग होनेके पश्चात् जो मिलन होता है उसको तुष्टि कहते हैं। ऐसा वर्णन आता है कि द्वारकाके द्वारपर दारुकने जब भगवान्को देखा तब उसको इतना आनन्द हुआ कि अञ्जलि बाँधकर भगवान्को प्रणाम भी नहीं कर सका। उसकी दशा चित्र-लिखित-सी हो गयी। इसीका नाम तुष्टि है। स्थिति-अवस्था उसे कहते हैं—जिसमें भगवान्से कभी वियोग नहीं होता। इस स्थिति-अवस्थामें भक्त प्रत्येक क्षण बड़ी सावधानीसे भगवान्की सेवामें ही व्यतीत करता है। भगवान्के दास्य-रसके भक्तोंके लिये इससे बढ़कर वाञ्छनीय कोई अवस्था नहीं हो सकती। वे परमानन्दके महान् समुद्रमें स्थित रहकर भगवान्की अवसरोचित सेवा किया करते हैं। कहाँ बैठना, कहाँ खड़े रहना, कैसे बोलना, कैसी चेष्टा करना—सब उनके नियमित रहते हैं। सख्यमिश्रित दास्यमें कभी-कभी कुछ प्रगल्भता भी आ जाती है, परन्तु वह कभी-कभी ही होती है।

गौरवप्रीतिजनित दास्यमें पिता, बड़े भाई, गुरु आदि-के रूपमें भगवान्की सेवा की जाती है। सर्वश्रेष्ठ कीर्तिमान्, परम ज्ञानसम्पन्न, परम शक्तिमान् एकमात्र रक्षक, दुलार करनेवाले पिता आदिके रूपमें भगवान् श्रीकृष्ण आलम्बन हैं। उनके प्रेम या दुलारके पात्र सारण, गद, सुभद्र आदि छोटे भाई, प्रद्युम्न, साम्ब आदि पुत्र भी आलम्बन हैं। ये भगवान्से नीचे आसनपर बैठकर उनसे उपदेश ग्रहण करते हैं। साथ भोजन करते हैं। भगवान् इनका सिर सूँघते हुए आलिङ्गन करते हैं। ये उनका स्नेह देख मुग्ध होते रहते हैं। सम्भ्रमजनित दास्यमें भगवान्के ऐश्वर्यका ज्ञान प्रधान रहता है। परन्तु भगवान्के प्यारे इन सम्बन्धियोंमे तो सम्बन्धकी ही स्फूर्ति प्रधान रहती है। व्रजमें किसी प्रकारके ऐश्वर्यकी धारणा न होनेपर ही व्रजराजकुमार होनेके कारण कुछ-कुछ ऐश्वर्यका लेश भी रहता ही है। भगवान्के वात्सल्यका स्मरण उनकी प्रसन्नतासूचक मुस्कान और प्रेम-भरी चितवनका स्मरण आदि इस रसके उद्दीपन हैं। भगवान्के सामने नीचे आसनपर बैठना, उनकी आज्ञाका पालन, उनके कार्य-भारका ग्रहण, उच्छृङ्खलताका त्याग—ये सब अनुभाव इस रसमें प्रकट होते हैं। सात्त्विक और सञ्चारीभाव भी यथावसर प्रकट हुआ करते हैं।

गौरवप्रीति क्रमशः विकसित होकर प्रेम, स्नेह और राग-का रूप धारण कर लेती है। इनका वर्णन सम्भ्रमप्रीतिमें जैसा हुआ है, वैसा ही समझना चाहिये। योग और अयोग अवस्थाओंके भेद-विभेद भी उतने ही और वैसे ही हैं। गौरवप्रीति और सम्भ्रमप्रीति दोनों ही दास्यरसके स्थायि-भाव हैं। जिन्हें भगवान्के इस प्रेममयी, रसमयी अवस्थाका अनुभव नहीं है, वे इसे रस नहीं मानते। परन्तु श्रीमद्भागवत आदि ग्रन्थोंमें इस अवस्थाकी रसमयताका सुन्दर वर्णन हुआ है। जीवके लिये इससे बढ़कर और कौन-सी सरस और आनन्दमयी अवस्था होगी, जब वह अपने प्रियतम प्रभुकी सन्निधिमें रहकर उनके कृपा-प्रसादका अनुभव करता हुआ उन्हींकी सेवामें संलग्न रहे। 'भवन्ति तूष्णीं परमेत्य निर्वृताः' कहकर भागवतकारने इसके परमानन्दस्वरूपकी ओर निर्देश किया है।

सख्य-रस

इस रसमें सख्यरति ही स्थायी होकर रसका रूप ग्रहण करती है। कुमार, पौगण्ड और किशोर अवस्थाके श्रीकृष्ण एवं उनके सखा इसके आलम्बन हैं। व्रजमें मरकतमणिके समान श्यामसुन्दर शरीर, कुन्दके समान निर्मल हास्य, चमकता हुआ पीताम्बर, वनमाला, जादूभरी वंशी—ये सब-के-सब सख्य-रसकी धारा प्रवाहित करते रहते हैं। द्वारकामें और हस्तिनापुरमें भी श्रीकृष्णके समवयस्क अर्जुन आदि सखा हैं और वे सख्य-रसके अनुसार श्रीकृष्णसे व्यवहार करते हैं। सखाके रूपमें श्रीकृष्ण अपने सब सखाओंसे बलवान् हैं, सबसे अधिक भाषाके ज्ञाता, वक्ता और विद्वान्, प्रतिभा, दक्षता, करुणा, वीरता, विदग्धता, बुद्धिमत्ता, क्षमा और प्रसन्नतामें अतुलनीय। सखा भी रूप, वेष, गुण आदिमें उनके समान ही होते हैं। दासोंके समान नियन्त्रणमें नहीं रहते। अपने सखा श्रीकृष्णपर सम्पूर्ण रूपसे निर्भर रहते हैं। अर्जुन, भीमसेन, द्रौपदी, सुदामा—ये सब द्वारकाके सखा हैं। व्रजके सखा सर्वदा श्रीकृष्णके साथ क्रीड़ा किया करते हैं। उनके जीवन ही श्रीकृष्ण हैं। एक क्षण भी अपने सखा श्रीकृष्णका दर्शन न पाकर वे दीन हो जाते हैं। इनके प्रेम और सौभाग्यकी तुलनामें और किसीका भी नाम नहीं लिया जा सकता। बलराम, श्रीदामा, सुबल आदि यहाँके प्रसिद्ध सखा हैं। कितना प्रेम है—इनका श्रीकृष्णके प्रति, वर्णन नहीं किया जा सकता। श्रीकृष्ण अपने ऐश्वर्य-मय रूपसे, अपने बायें हाथकी कानी अँगुलीपर गोवर्द्धन पर्वत उठाये हुए हैं। परन्तु ग्वालबालोंके लिये तो वे अपने सखा ही हैं, उन्हें उनके ऐश्वर्यका ध्यान कहाँ? वे जाकर उनसे कहने लगे—

> उन्निद्रस्य ययुस्तवात्र विरतिं सप्त क्षपास्तिष्ठतो
> हन्त श्रान्त इवासि निक्षिप सखे श्रीदामपाणौ गिरिम्।
> आधिर्विध्यति नस्त्वमर्पय करे किंवा क्षणं दक्षिणे
> दोष्णस्ते करवाम काममधुना सव्यस्य संवाहनम्॥

'सखे! तुम नींद छोड़कर सात दिनसे खड़े हो, बड़े कष्टकी बात है। अब तुम बहुत थके-से जान पड़ते हो, अब परिश्रम करनेकी आवश्यकता नहीं। श्रीदामाके हाथपर पर्वत रख दो अथवा हमारे हाथमें ही दे दो। तुम्हें इस प्रकार देखकर हमारे हृदयमें बड़ा दुःख हो रहा है। यदि ऐसा करनेकी इच्छा नहीं हो, तो थोड़ी देरके लिये उसे दाहिने हाथमें ले लो, हम तुम्हारे बायें हाथका थोड़ा संवाहन तो कर लें। उसे हाथसे दबाकर उसकी पीड़ा तो कम कर दें।'

इनकी चार श्रेणियाँ होती हैं—सुहृद्, सखा, प्रियसखा और प्रियनर्मसखा। सुहृदोंकी अवस्था कुछ बड़ी होती है, उनमें वात्सल्यमिश्रित सख्य रहता है। वे अपने सखा श्रीकृष्णकी रक्षा करनेके लिये सर्वदा तैयार रहते हैं। इस श्रेणीमें सुभद्र, मण्डलीभद्र, बलभद्र आदि सखा हैं। ये भरसक श्रीकृष्णको अकेले नहीं छोड़ते। अपने बिना उनको अरक्षित समझते हैं। इनके चित्तमें अनिष्टकी आशङ्का बार-बार आया करती है और ये सर्वदा सजग रहते हैं। सखा-श्रेणीके ग्वाल-बाल अवस्थामें कुछ छोटे रहनेपर भी समान ही रहते हैं। इनमें दास्यमिश्रित सख्य होता है। विषाद, ओजस्वी, देवप्रस्थ आदि इस श्रेणीमें हैं। ये वनमें, गोष्ठमें और जलमें सर्वदा श्रीकृष्णकी सेवामें संलग्न रहते हैं। खेल-में इनका सख्य प्रकाशमें आ जाता है। प्रिय सखाओंकी श्रेणीमें श्रीदामा, सुदामा आदि हैं। इनकी अवस्था श्रीकृष्णके समान है और इनमें केवल विशुद्ध सख्य है। ये श्रीकृष्णके साथ कुश्ती लड़ते, लाठी चलाते, तरह-तरहके खेल खेलते हैं। कोई श्रीकृष्णसे विनोद करता है, कोई पुलकित शरीरसे उनका आलिङ्गन करता है। श्रीकृष्णका क्षणिक वियोग भी इनके लिये असह्य है। प्रियनर्मसखाओंकी श्रेणी प्रिय-सखाओंकी अपेक्षा और भी अन्तरङ्ग है। ये अत्यन्त रहस्यमें भी सम्मिलित रहते हैं और गोपियोंके सन्देश-पत्र आदि श्रीकृष्णके पास ले आते हैं और उनके पास पहुँचाते भी हैं। इस श्रेणीमें सुबल, उज्ज्वल आदि हैं। ये चारों श्रेणियाँ व्रजके सखाओंमें ही होती हैं। इनमेंसे कोई बड़े-बड़े विद्वान् भी हैं। कोई सरल हैं तो कोई चतुर, कोई चपल हैं तो कोई गम्भीर, कोई बहुत बोलनेवाले हैं तो कोई चुप रहनेवाले। इनकी सभी चेष्टाएँ श्रीकृष्णकी प्रसन्नताके लिये होती हैं। प्रकृति भिन्न-भिन्न होनेपर भी ये बड़े ही मधुर हैं। इनकी पवित्र मित्रता और विचित्रता श्रीकृष्णको भी मोहित कर लेती है।

सख्य-रसके उद्दीपनोंमें बहुत-सी वस्तुएँ हैं यथा—

(१) श्रीकृष्णकी कुमार, पौगण्ड और किशोर अवस्थाएँ।

(२) श्रीकृष्णकी मुनिजन-मनोमोहिनी लोकोत्तर सुन्दरता।

(३) श्रीकृष्णकी वंशीध्वनि, शृङ्गध्वनि आदि।

(४) श्रीकृष्णकी विनोदप्रियता, मधुर भाषण।

(५) श्रीकृष्णकी लीलाप्रियता, उछलना, कूदना, नाचना, गाना आदि।

(६) श्रीकृष्णके प्रियजनोंके आनन्द और सौभाग्यका स्मरण ।

(७) श्रीकृष्णके द्वारा राजा, देवता, अवतार, हंस आदिका अनुकरण ।

(८) श्रीकृष्णका अपने सखाओंके साथ अत्यन्त प्रेम-पूर्ण और समान व्यवहार ।

इन बातोंके श्रवण, कीर्तन, स्मरण, चिन्तनसे हृदयमें सख्य-रस प्रकट होता है । सख्य-रसके प्रकट होनेपर निम्न-लिखित अनुभाव स्वयं ही स्फुरित होने लगते हैं—

(१) श्रीकृष्णके साथ गेंद खेलना, कुश्ती लड़ना, एक-दूसरेपर सवारी गाँठना आदि ।

(२) आपसमें खेल-कूदकर श्रीकृष्ण जैसे प्रसन्न हों वैसी चेष्टा करना ।

(३) उनके साथ पलङ्गपर बैठना, झूलेपर झूलना, साथ सोना इत्यादि ।

(४) श्रीकृष्णके साथ सुन्दर-सुन्दर अद्भुत विनोद ।

(५) श्रीकृष्णके साथ जल-विहार ।

(६) श्रीकृष्णके साथ नाचना, गाना, बजाना ।

(७) उनके साथ गाय दुहना, चराना, कलेऊ करना, आँखमिचौनी आदि खेलना, दूर हो जानेपर आपसमें होड़ लगाकर उन्हें छूना इत्यादि ।

ये अनुभाव सख्य-रसका अनुभव करनेवालेके हृदय और परिपक्व होनेपर शरीरमें भी प्रकट हुआ करते हैं ।

श्रीकृष्णके प्रेममें पगे रहना, उनकी कोई अद्भुत लीला देखकर स्तम्भित हो जाना, शरीर पसीज जाना, रोमाञ्चित हो जाना, काँपना, विवर्ण हो जाना आदि सात्त्विकभाव स्पष्टरूपसे प्रकाशित हुआ करते हैं। आनन्दके आँसू, हर्षकी गाढ़ता आदि स्वाभाविक ही रहते हैं । सख्य-रतिमें ऐश्वर्यका भान नहीं रहता । इसमें अपने सखाके प्रेमपर पूरा विश्वास रहता है । सख्य-रसका यही स्थायिभाव है । यही परिपुष्ट होकर रसका रूप धारण करता है । यही सख्यरति क्रमशः विकसित होकर प्रणय, प्रेम, स्नेह और रागका रूप धारण करती है । सख्य-रतिमें मिलनकी इच्छा प्रबल रहती है । प्रणयमें ऐश्वर्यका प्रकाश होनेपर भी सखापर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता । एक ओर ब्रह्मा और शिव श्रीकृष्णकी स्तुति कर रहे हैं, तो दूसरी ओर एक सखा उनके बालोंपर पड़ी हुई धूल झाड़ रहा है । प्रेममें दुःख भी उसको बढ़ानेवाला ही होता है । स्नेहमें एक क्षणके लिये भी अपने सखाकी विस्मृति नहीं होती । हृदय सर्वदा स्नेहसे भरा रहता है । आँखोंमें आँसू और कण्ठ गद्गद, प्रियतमका गुणगान हुआ करता है । रागमें दुःखके निमित्त भी सुखके रूपमें अनुभव होते हैं । अश्वत्थामा श्रीकृष्णपर अत्यन्त तीखे बाण चलाता है, परन्तु अर्जुन उन्हें श्रीकृष्णको न लगने देकर अपने वक्षःस्थलपर ले लेते हैं । उन्हें मालूम होता है—मानो कोई पुष्पोंकी वर्षा कर रहा है । वे आनन्दमग्न हो रहे हैं ।

दास्यरसकी भाँति ही सख्यरसमें भी अयोगके दोनों भेद होते हैं—जबतक भगवान्‌की प्राप्ति नहीं होती, तबतक उत्कण्ठित-अवस्था और मिलनके पश्चात् जब विरह होता है, तब वियोग-अवस्था । श्रीकृष्णसे मिलन होनेसे पहले पाण्डवोंकी, विशेष करके अर्जुनकी, उत्कण्ठित-अवस्था प्रसिद्ध है । मिलनके पश्चात्‌का वियोग भी पाण्डवोंके जीवनमें बहुत ही सुस्पष्टरूपसे वर्णित हुआ है । भागवतके प्रथम स्कन्धमें अर्जुनने भगवान्‌का बिछोह होनेपर जो विलाप किया है, वह बड़ा ही हृदय-द्रावक एवं मर्मस्पर्शी है । भगवान्‌के मथुरा-गमनके पश्चात् व्रजके ग्वाल-बालोंको जो वियोग हुआ है, वह वाक्पथातीत है । उनके जीवनमें जितने भी दुःखके अवसर आये हैं—दावानलमें जलना, कालीदहका विषैला जल पीना और अघासुरके मुखमें जाना आदि, सबसे बड़ा दुःख श्रीकृष्णके विरहका ही हुआ है । उनके अन्तस्तलमें विरहकी ज्वाला इस प्रकार प्रज्वलित होती रहती है कि भाण्डीर वटकी शीतल छाया, यमुनाकी बरफके समान ठण्डी धारा भी उसे शान्त न करके और भी धधका देती है । शरीर दुर्बल हो जाते हैं, आँखोंमें आँसू भरे रहनेके कारण नींद नहीं आती, उनका चित्त आलम्बनशून्य होकर धैर्यहीन, विचारशून्य एवं जडप्राय हो जाता है । उनके शरीरकी एक-एक गाँठ टूटती रहती है । जगत्‌के व्यवहार भूलकर कहीं लोटते हैं, कहीं दौड़ते हैं, कहीं खिलखिलाकर हँसने लगते हैं । अपने-आप न जाने क्या-क्या बका करते हैं और कभी-कभी मूर्छित हो जाते हैं । श्रीकृष्णके विरहमें ग्वाल-बालोंकी दशा भी गोपियोंके समान ही हो जाती है । श्रीरूपगोस्वामीके शब्दोंमें—

कंसारे विरहज्वरोर्मिजनितज्वालावलीजर्जरा
गोपाः शैलतटे तथा शिथिलितश्वासाङ्कुराः शेरते ।
वारं वारमखर्वलोचनजलैराप्लाव्य ताञ्छ्रिलान्
शोचन्त्यत्र यथा चिरं परिचयस्निग्धाः कुरङ्गा अपि॥

'हे श्रीकृष्ण! तुम्हारे विरहकी तरङ्गोंसे उत्पन्न ज्वालाएँ ग्वाल-बालोंको जर्जरित बना रही हैं। उनके श्वासका अङ्कुर भी अब क्षीण हो चला है। वे पर्वतकी तराइयोंमें निश्चेष्ट पड़े हुए हैं। इतने निश्चल हो रहे हैं वे कि उनके चिर-परिचित स्नेही हरिन बार-बार अपने आँसुओंकी अजस्र धारासे भिगोकर भी जब उन्हें नहीं उठा पाते, तब बहुत देरतक उनके लिये शोक करते रहते हैं।' भगवान्‌के विरहकी ऐसी अवस्था जिनके जीवनमें प्रकट हुई है, उन भाग्यवान् ग्वाल-बालोंके सम्बन्धमें और क्या कहा जा सकता है?

ग्वाल-बालोंकी यह विरहावस्था व्यक्त लीलाके अनुसार है। इनके जीवनसे यह शिक्षा प्राप्त होती है कि सख्यरसके उपासकोंमें भगवान्‌के विरहकी कितनी ऊँची अवस्थाका प्रकाश होना चाहिये। अन्तर्लीलामें तो श्रीकृष्णके साथ इनका वियोग कभी होता ही नहीं। दास्यरसके समान ही इसमें भी संयोगकी सिद्धि, तुष्टि और स्थिति नामकी तीनों अवस्थाएँ होती हैं। पहले-पहल भगवान्‌का दर्शन जैसे पाण्डवोंको हुआ था, दुबारा-तिबारा दर्शन जैसे कुरुक्षेत्रमें सूर्यग्रहणके समय ग्वाल-बालोंको हुआ था और सर्वदा एक साथ रहना जैसा कि व्रजके ग्वाल-बालोंका अन्तर्लीलामें रहता है—ये सब सख्यरसकी ही उपर्युक्त अवस्थाएँ हैं। उनके सौभाग्यका भला कौन वर्णन कर सकता है, जो ज्ञानियोंके परमानन्दस्वरूप आत्मा, भक्तोंके परमाराध्यदेव भगवान् और प्रेमियोंके परम प्रियतम श्रीकृष्णके साथ—जिनके चरणोंकी धूलि बड़े-बड़े योगियोंको कोटि-कोटि कल्पकी तीव्र तपस्यासे भी दुर्लभ है—इस प्रकार खेलते हैं मानो कोई अपना ही समवयस्क, अपने ही-जैसा साधारण बालक हो। यही भगवान्‌के प्रति सख्यरतिका फल, सख्यरस है। शान्त और दास्यरसकी अपेक्षा इसका वैलक्षण्य बहुत ही सुस्पष्ट है और सहृदयोंके अनुभवगोचर इस रसकी रसरूपता भी निर्विवाद है। श्रीजीवगोस्वामीने दास्यरसको प्रीतिरसके नामसे और सख्यरसको प्रेयोरसके नामसे वर्णन किया है।

महाव्रत श्रीमन्थविद्या

(लेखक—श्रीदत्तचरण ज्योतिर्विद् पं० शिवलाल शास्त्री मेहता ज्योतिर्धुरीण, विद्यार्णव, राज्यशास्त्री)

श्रीमन्थविद्याका उल्लेख ब्राह्मणग्रन्थोंमें हुआ है। इसका वैदिक नाम श्रीमन्थाख्य कर्म भी है। यह कर्म गायत्रीमन्त्रका सिद्ध विधान है। इसका कौषीतकि ब्राह्मण अध्याय ३२, शाङ्खायन ब्राह्मण अध्याय ३१ और ऐतरेय आरण्यक अध्याय ९ में 'महाव्रत' नामसे तथा ऐतरेय ब्राह्मण पञ्चम पञ्चिका और बृहदारण्यकोपनिषद्‌में 'उपसद्व्रत' नामसे वर्णन किया गया है। इस प्रकार इस श्रीमन्थाख्य कर्मका कौषीतकि ब्राह्मण, ऐतरेय ब्राह्मण, ऐतरेय आरण्यक, शाङ्खायन-संहिता, शाकल्य-संहिता, शाङ्खायन ब्राह्मण, शाङ्खायन आरण्यक, बृहदारण्यक उपनिषद् और छान्दोग्य उपनिषद् आदि कई ग्रन्थोंमें बड़े विस्तारसे प्रतिपादन हुआ है। छान्दोग्य उपनिषद्, अध्याय ५, खण्ड ५ में इसका प्राणदर्शन या प्राणविद्या नामसे वर्णन किया गया है।

उक्त सब ग्रन्थोंमें बृहदारण्यक उपनिषद्‌के सिवा अन्य सब स्थानोंमें इसका एक समान विधान पाया जाता है, केवल बृहदारण्यकमें ही थोड़ा अन्तर है। वहाँ 'ॐ तत् सवितुर्वरेण्यम्' इस ब्रह्मगायत्रीसे यह कर्म करनेको कहा है, किन्तु अन्यत्र इसे 'ॐ तत्सवितुर्वृणीमहे' इत्यादि अनुष्टुप् गायत्रीसे करनेका विधान है। नीचे हम दोनों प्रकारके विधानोंका संक्षेपमें विवरण देते हैं—

बृहदारण्योक्त श्रीमन्थकर्म

बृहदारण्यकके छठे अध्यायके तृतीय ब्राह्मणमें इस विद्याका निरूपण किया गया है। वहाँ प्रथम मन्त्रसे ही यह बताया गया है कि जिसकी इच्छा महत्ता प्राप्त करनेकी हो, उसे यह कर्म करना चाहिये। किसी शुभ मासके शुक्ल पक्षमें पुंनक्षत्रवाले दिनसे आरम्भ करके बारह दिनतक इसका अनुष्ठान किया जाता है। सूर्यके उत्तरायण होनेपर अमावास्याको इसकी दीक्षा ग्रहण करनी चाहिये। इसे आरम्भ करनेपर पहले दिन एक गौके एक थनका, दूसरे दिन दो थनका, तीसरे दिन तीन थनका, चौथे दिन चार थनका और फिर पाँचवें दिन तीन, छठे दिन दो और सातवें दिन एक थनका—इस प्रकार बढ़ते-घटते क्रमसे दूध लेना चाहिये। बारहवें दिन पूर्णिमाकी रात्रिके समय सर्वौषधि अर्थात् व्रीहि, यव, तिल, माष, प्रियंगु, गोधूम एवं मसूर आदि धान्यौषधियोंका आटा पीसकर उसे काँसेके पात्रमें दही और मधुके साथ मथना चाहिये। इसमें

चमस-पात्र काँसे या उदुम्बर (गूलर) की लकड़ीका हो सकता है; किन्तु स्रुव, इध्म, समिध और मन्थन-दण्ड उदुम्बरके ही होने चाहिये। फिर अग्नि प्रज्वलित करके उसमें नीचे लिखे मन्त्रोंसे आहुति देनी चाहिये—

यावन्तो देवास्त्वयि जातवेदस्तिर्यञ्चो घ्नन्ति पुरुषस्य कामान्। तेभ्योऽहं भागधेयं जुहोमि ते मा तृप्ताः सर्वैः कामैस्तर्पयन्तु स्वाहा ॥* (६।३।१)

या तिरश्ची निपद्यतेऽहं विधरणी इति। तां त्वा घृतस्य धारया यजे सꣳ राधनीमहꣳ स्वाहा ॥† (६।३।१)

इस प्रकार कर्मकी निर्विघ्न समाप्तिके लिये पहली दो आहुतियाँ देकर फिर नीचे लिखे मन्त्रोंसे श्रीमन्थकर्म आरम्भ करना चाहिये। इसमें पहली छः आहुतियाँ दो-दो मन्त्रोंसे दी जाती हैं और फिर चौदह आहुतियाँ एक-एक मन्त्रकी हैं। प्रत्येक आहुतिके पश्चात् स्रुवमें लगे हुए अवशिष्ट घृतकी धारा मन्थपात्रमें डालते रहना चाहिये।

ज्येष्ठाय स्वाहा श्रेष्ठाय स्वाहा ॥ (६।३।२)
प्राणाय स्वाहा वसिष्ठायै स्वाहा ॥ ,,
वाचे स्वाहा प्रतिष्ठायै स्वाहा ॥ ,,
चक्षुषे स्वाहा सम्पदे स्वाहा ॥ ,,
श्रोत्राय स्वाहा आयतनाय स्वाहा ॥ ,,
मनसे स्वाहा प्रजात्यै स्वाहा ॥ ,,
रेतसे स्वाहा ॥ ,,
अग्नये स्वाहा ॥ (६।३।३)
सोमाय स्वाहा ॥ ,,
भूः स्वाहा ॥ ,,
भुवः स्वाहा ॥ ,,
स्वः स्वाहा ॥ ,,
भूर्भुवः स्वः स्वाहा ॥ ,,
ब्रह्मणे स्वाहा ॥ ,,
क्षत्राय स्वाहा ॥ (६।३।३)
भूताय स्वाहा ॥ ,,
भविष्यते स्वाहा ॥ ,,
विश्वाय स्वाहा ॥ ,,
सर्वाय स्वाहा ॥ ,,
प्रजापतये स्वाहा ॥ ,,

इसके पश्चात् नीचे लिखे मन्त्रसे मन्थपात्रको स्पर्श करना चाहिये—

भ्रमदसि ज्वलदसि पूर्णमसि प्रस्तब्धमस्येकसभमसि हिङ्कृतमसि हिङ्क्रियमाणमस्युद्गीथमसि उद्गीयमानमसि श्रावितमसि प्रत्याश्रावितमस्यार्द्रे सन्दीप्तमसि विभूरसि प्रभूरस्यन्नमसि ज्योतिरसि निधनमसि संवर्गोऽसीति ॥* (६।३।४)

फिर नीचे लिखे मन्त्रसे द्रव्यसहित यज्ञपात्रको उठावे—

आमꣳस्यामꣳ हि ते महि सहि राजेशानोऽधिपतिः स माꣳ राजेशानोऽधिपतिं करोत्विति ॥† (६।३।५)

इसके पश्चात् निम्नलिखित मन्त्रसे मन्थपात्रमेंसे एक ग्रास ग्रहण करे—

तत्सवितुर्वरेण्यम्। मधु वाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः। माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः। भूः स्वाहा ॥‡ (६।३।६)

इस प्रकार गायत्रीके प्रथम पादसे आरम्भकर प्रथम व्याहृति 'भूः' के उच्चारणपूर्वक पहला ग्रास भक्षण करना

* हे जातवेदस्! जो दुष्ट मनवाले देव तुम्हारी आज्ञामें रहकर पुरुषकी कामनाओंका नाश करते हैं, उन्हें यज्ञका भागरूप यह आहुति देता हूँ। इससे तृप्त होकर वे मेरी सम्पूर्ण कामनाओंको पूर्ण करें—स्वाहा।

† जो सबकी आश्रयभूता कुटिल स्वभाववाली देवी तुम्हें आश्रय करके स्थित है, उसीको स्वाहा अर्थात् यह हवि मैं अर्पण करता हूँ। सब प्रकारके साधनोंको पूरा करनेवाले देवका मैं घृतकी धारासे यजन करता हूँ।

* तू प्राणरूप होनेसे चलायमान है, अग्निरूप होनेसे प्रकाशमान है, ब्रह्मरूप होनेसे पूर्ण है और आकाशरूप होनेसे निष्क्रिय है। तू जगद्रूपसे व्यापक है, हिंकाररूप है, हिंक्रियमाण है, उद्गीथरूप है, उद्गीयमानरूप है, श्रावितरूप है, प्रत्याश्रावितरूप है, मेघके मध्यमें प्रकाशरूप है, विभु है, प्रभु है, अन्न है, ज्योति है, निधन (लयस्थान) है, तथा संवर्ग अर्थात् वागादिको नियममें रखनेवाला एकतारूप है।

† तुम सब वस्तुओंको जानते हो, हम तुम्हारी महत्ताका ध्यान करते हैं। तुम राजा, ईश और अधिपतिरूप हो। वह राजा और ईशरूप तुम मुझे अधिपति बनाओ।

‡ उत्पत्तिके हेतुभूत सविता देवताके उस वन्दनीय तेजका हम ध्यान करते हैं। सुखप्रद वायु चले, नदी या समुद्र रसमय (सुखप्रद) होकर बहें। ओषधियाँ हमारे लिये सुखमयी हों। पृथिवीलोकको स्वाहा।

चाहिये। इसके पश्चात् द्वितीय पादसे आरम्भकर द्वितीय व्याहृति 'भुवः' का उच्चारण करते हुए उसमेंसे दूसरा ग्रास ग्रहण करे—

भर्गो देवस्य धीमहि। मधु नक्तमुतोषसो मधुमत्पार्थिवꣳ रजः। मधु द्यौरस्तु नः पिता। भुवः स्वाहा ॥*

(६।३।६)

फिर गायत्रीके तृतीय पाद और तृतीय व्याहृति 'स्वः'के उच्चारणपूर्वक नीचे लिखे मन्त्रसे तीसरा ग्रास ग्रहण करे—

धियो यो नः प्रचोदयात्। मधुमान्नो वनस्पतिर्मधुमाꣳ३ अस्तु सूर्यः माध्वीर्गावो भवन्तु नः। स्वः स्वाहा ॥†

(६।३।६)

इसके पश्चात् मन्थपात्रको पोंछकर उसके अवशिष्ट द्रव्यको सम्पूर्ण गायत्री और 'भूर्भुवः स्वः' इन तीनों व्याहृतियोंको बोलकर भक्षण करना चाहिये तथा अन्तमें यह मन्त्र बोलना चाहिये—

सर्वाश्च मधुमतीरहमेवेदꣳ सर्वं भूयासं भूर्भुवः स्वः स्वाहा ॥‡ (६।३।६)

ऐसा कह आचमन कर हाथ-पैर धो अग्निके पश्चिम ओर पूर्व दिशामें सिर रखकर सो जाय। प्रातःकाल उठनेपर इस मन्त्रसे सूर्यभगवान्‌की प्रार्थना करे—

दिशामेकपुण्डरीकमस्यहं मनुष्याणामेकपुण्डरीकं भूयासम् ॥§ (६।३।६)

इसके पश्चात् सातवेंसे बारहवें मन्त्रतक इस विद्याकी वंशपरम्परा कही गयी है। उसका पाठ करना चाहिये। यह

बृहदारण्यकोक्त मन्थविद्याका वर्णन हुआ। अब आगे छान्दोग्य उपनिषद्‌के अनुसार इसका वर्णन किया जाता है।

छान्दोग्योक्त मन्थविद्या

बृहदारण्यक उपनिषद् शुक्लयजुर्वेदकी है और छान्दोग्य सामवेदकी। इन दोनों उपनिषदोंमें आयी हुई मन्थविद्याके आहुतिमन्त्र और आचमनमन्त्रोंमें कुछ अन्तर है। बृहदारण्यकमें गायत्रीमन्त्रसहित मधुसूक्तसे आचमन करनेकी विधि है और छान्दोग्यमें अनुष्टुप् सावित्रीमन्त्रसे इसका विधान किया गया है। यह विधान ऋग्वेदीय शाङ्खायन आरण्यकके समान है। छान्दोग्यमें मन्थविद्याको प्राणविद्या या प्राणदर्शन कहा है। यह प्राणविद्या सत्यकाम जाबालने वैयाघ्रपाद गोश्रुतिसे कही थी। इसका उपदेश करनेके पूर्व वे कहते हैं—

यद्यप्येतच्छुष्काय स्थाणवे ब्रूयाज्जायेरन्नेवास्मिञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति ॥* (५।२।३)

'यदि कोई प्राणवेत्ता इस विद्याका शुष्क स्थाणुको (रूखे ठूठको) उपदेश करे तो उसमें शाखाएँ उत्पन्न हो जायँगी और पत्ते निकल आवेंगे।' फिर यदि जीवित पुरुषसे यह विद्या कही जाय तो उसके विषयमें कहना ही क्या है। छान्दोग्यमें इस विद्याका विधान प्राणदर्शनके ज्ञाताके लिये है। इसका आरम्भ इस प्रकार होता है—

अथ यदि महज्जिगमिषेदमावास्यायां दीक्षित्वा पौर्णमास्याꣳ रात्रौ सर्वौषधस्य मन्थं दधिमधुनोरुपमथ्य ज्येष्ठाय श्रेष्ठाय स्वाहेत्यग्नावाज्यस्य हुत्वा मन्थे सम्पातमवनयेत्। (५।२।४)

तात्पर्य यह है कि इस कर्मका विधान महत्त्वप्राप्तिकी इच्छावालेके लिये है। महत्त्व प्राप्त होनेसे धनकी भी प्राप्ति होती है और धनसे कर्मानुष्ठान हो सकता है। कर्मनिष्ठको ही देवयान या पितृयान मार्गकी प्राप्ति होती है। यह कर्म विषयप्रवण पुरुषोंके लिये नहीं है, अपितु उन्हींके लिये है जो पारमार्थिक भावसे महत्त्वप्राप्तिके इच्छुक हैं।

यहाँ बताया गया है कि अमावास्याको इस कर्मकी दीक्षा लेनी चाहिये। बृहदारण्यकमें इस प्रसङ्गमें कहा है—'उपसद्व्रती भूत्वा' (६।३।१), उपसद्व्रती अर्थात् पयोव्रती होकर। अतः अमावास्यासे उपर्युक्त क्रमसे पयोव्रती

* [सविता देवताके उस वन्दनीय] तेजका हम ध्यान करते हैं। रात्रि और दिन हमारे लिये सुखकारी हों। [मातृभूता] पृथिवीकी रज हमें सुखकर हो। हमारा पितृस्थानीय द्युलोक हमे सुख प्रदान करे। अन्तरिक्षलोकको स्वाहा।

† [सविता देव] हमारी बुद्धियोंको शुभकी ओर प्रेरित करें। वनस्पतियाँ हमारे लिये रसमयी अर्थात् सुखकर हों। सूर्य हमारे लिये सुखप्रद हो। उसकी रश्मियाँ हमारे लिये सुखमयी हों। स्वर्गलोकको स्वाहा।

‡ हमारे लिये सुखप्रद हों। मैं ही यह सब हो जाऊँ। भूर्भुवः स्वः स्वाहा।

§ तुम जिस प्रकार दिशाओंके एक पुण्डरीक (कमल) हो, उसी प्रकार मैं मनुष्योंका एक पुण्डरीक हो जाऊँ।

* इसी आशयका शाङ्खायन आरण्यकमें यह मन्त्र है—

'शुष्कस्य स्थाणोः प्ररूयाज्जायेरन्नस्य शाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति वनस्पते शतवल्शो विरोहेति।' (९।७)

होकर पूर्णिमाकी रात्रिको सर्वौषधिका आटा पीसकर दही और मधुमें मिलाकर काँसे या उदुम्बरके पात्रमें मन्थन करे। फिर नीचे लिखे मन्त्रोंसे अग्निमें छः घृताहुति दे और आहुतिका अवशिष्ट घृत मन्थपात्रमें डाल दे।

ज्येष्ठाय श्रेष्ठाय स्वाहा। (५।२।४)
वसिष्ठाय स्वाहा। (५।२।५)
प्रतिष्ठायै स्वाहा। "
सम्पदे स्वाहा। "
आयतनाय स्वाहा। "

इसके पश्चात् अग्निसे थोड़ी दूर बैठकर निम्न मन्त्र बोलते हुए दोनों हाथोंसे मन्थपात्र उठावे—

अमो नामास्यमा हि ते सर्वमिदꣳ स हि ज्येष्ठः श्रेष्ठो राजाधिपतिः स मा ज्यैष्ठ्यꣳ श्रैष्ठ्यꣳ राज्यमाधिपत्यं गमयत्वहमेवेदꣳ सर्वमसानीति ॥ * (५।२।६)

इस प्रकार मन्थकी स्तुति कर फिर 'तत्सवितुर्वृणीमहे' इस मन्त्रसे उसमेंसे एक ग्रास आचमन (भक्षण) करे, 'वयं देवस्य भोजनम्' इस मन्त्रसे दूसरा ग्रास ग्रहण करे, 'श्रेष्ठं सर्वधातमम्' इस मन्त्रसे तीसरा ग्रास ग्रहण करे तथा 'तुरं भगस्य धीमहि' इस मन्त्रसे मन्थपात्रको धोकर शेष सारा पदार्थ पी जाय। इसके पश्चात् आचमन कर अग्निके पश्चिम ओर पूर्व दिशामें सिर रखकर मृगचर्मपर मौन होकर संयत चित्तसे सो जाय। इस अवस्थामें यदि उसे स्वप्नमें स्त्री दिखायी दे तो यह निश्चय करना चाहिये कि उसका कर्म सफल हुआ और उसे उसका अभीष्ट फल प्राप्त हो जायगा।

मन्थविद्याका रहस्य

इस विद्याका रहस्य इस प्रकार है—ब्रह्म-मधु स्थूल, सूक्ष्म और कारणरूपसे मूलाधारमें स्थित है। यह मधु भगवान् सवितामेंसे प्रसूत होनेवाला एक चैतन्य रस है। यह रस अग्नीषोमात्मक है। इसके स्वरूपका वर्णन श्रुतियोंने अनुष्टुप् सावित्रीमें किया है। यह मन्त्र मनन करने योग्य है—

तत्सवितुर्वृणीमहे वयं देवस्य भोजनम्।
श्रेष्ठꣳ सर्वधातमं तुरं भगस्य धीमहि ॥ *

इस मन्त्रका प्रत्येक शब्द गम्भीर मर्मसे भरा है। इसीसे मन्थन और सम्पात कर्म करनेकी विधि है। प्राणवेत्ता या प्राणोपासक इस कर्मको ही प्राणविद्या कहते हैं। 'आदित्यो ह वै प्राणः' (प्र० उ० १।५) इत्यादि श्रुतियोंमें प्राण और आदित्यको एक ही माना है। अतः 'तत्सवितुर्वृणीमहे वयं देवस्य भोजनम्' इस पादका अर्थ है—'सविता देवता या प्राणके उस भोजनकी हम प्रार्थना करते हैं।' किस भोजनकी ?—जिसका उपभोग करनेपर हम सवितृरूप हो जायँगे। वह सविताका भोजन कैसा है—'श्रेष्ठं सर्वधातमम्' श्रेष्ठ—सम्पूर्ण अन्नोंसे प्रशस्यतम और सर्वधातम—सबकी अपेक्षा धारण करनेवाला अर्थात् सम्पूर्ण जगत्का विधाता—उत्पत्तिकर्ता। 'अन्नाद् भवन्ति भूतानि' इस श्रुतिके अनुसार अन्न समस्त प्राणियोंका उत्पत्तिस्थान है ही। यह अन्न भगनामक सूर्यदेवके चतुर्थपादमें स्थित है, अतः 'तुरं भगस्य धीमहि'—हम शीघ्र ही सवितृदेवका ध्यान करते हैं। तात्पर्य यह है कि उस मन्थरूप विशिष्ट अन्नसे संस्कारयुक्त और शुद्धचित्त होकर हम उस सवितृदेवके स्वरूपका ध्यान करते हैं। अथवा यों कहो कि 'भग' अर्थात् श्रीके कारणभूत महत्त्वकी प्राप्तिके लिये मन्थकर्म करनेवाले हम उस देवका ध्यान—चिन्तन करते हैं।

तात्पर्य यह है कि परब्रह्म परमात्मा सूर्यमण्डलमें हिरण्यगर्भ—नारायणरूपसे स्थित है। उसका आनन्दमय और रसस्वरूप स्वभाव होनेसे शास्त्रोंमें उसे 'भगवान्' कहा है। वह सूर्यमण्डलस्थ भगवान् सत्, चित् और आनन्दस्वरूप है। सूर्यके किरणजालके द्वारा उसके सत्स्वभावका शक्ति और तेजरूपसे, चित्स्वभावका ज्ञान और बलरूपसे तथा आनन्दस्वभावका ऐश्वर्य और वीर्यरूपसे प्रसार हो रहा है। सूर्यमण्डलमें प्रकाशित उस षड्गुणसम्पन्न परब्रह्मका ही नारायणरूपसे स्तवन किया जाता है। भक्त उपासकगण सौषुम्ण रश्मियोंद्वारा श्रीनारायणके उस षड्गुणविशिष्ट ऐश्वर्यको प्राप्त करते हैं। यह ऐश्वर्यकी प्राप्ति उक्त गायत्रीमन्त्रसे सूचित होती है और इसके चतुर्थ पाद 'तुरं भगस्य धीमहि'

* हे मन्थ, तुम 'अम' नामवाले हो। यह सम्पूर्ण जगत् अपने अम अर्थात् प्राणभूत तुमसे युक्त है। वह तुम ज्येष्ठ और श्रेष्ठ हो तथा दीप्तिमान् और सबके अधिपति (पालनकर्ता) हो; ऐसे तुम मुझे ज्येष्ठ और श्रेष्ठ बनाओ तथा राज्य और आधिपत्यकी प्राप्ति कराओ। मैं ही प्राणके समान यह सर्व जगद्रूप हो जाऊँ।

* यह मन्त्र वेदोंमें कई जगह आया है; यथा—छा० ५।२।७; शाकल्य-सं० ४।४।२५; शाङ्खा० आ० ९।१, २।१९; आरण्योपनि० १।११।१; तैत्तिरीयारण्यक और ऋ० सं० ५।८२।१

के 'भग' शब्दसे इसका स्पष्ट आभास मिलता है। यह महत्त्वरूप कामनाकी प्राप्ति ही मन्थकर्मका फल है।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि महत्त्वप्राप्तिके लिये उपासनादि साधनोंका आश्रय क्यों लिया जाय, वह तो लौकिक साधनोंसे भी प्राप्त हो सकता है। इसका कारण यह समझना चाहिये कि मनुष्यकी महत्त्वाकाङ्क्षा ज्ञान और कर्मके फलस्वरूप मोक्ष और स्वर्गादि निरतिशय ऐश्वर्यकी प्राप्ति होनेपर ही पूर्ण होती है। इनमें ज्ञान तो स्वतन्त्र है, उसे किसी भी बाह्य साधनकी अपेक्षा नहीं है; किन्तु कर्म मानुषवित्तसाध्य है—उसके लिये द्रव्य और कर्मोपयोगी सामग्रीकी आवश्यकता होती है। वह मानुषवित्त लौकिक साधनोंसे भी प्राप्त हो सकता है, परन्तु उन साधनोंमें न्यूनाधिक परिणाममें दोषका संसर्ग भी रहता ही है। किन्तु मन्थकर्म सर्वथा निर्दोष है; अतः कल्याणकामीको अभ्युदयकी सिद्धिके लिये भी लौकिक साधनोंका आश्रय न लेकर ऐसे निर्दोष साधनका ही प्रयोग करना चाहिये।

बृहदारण्यकमें इस कर्मके पहले उपसद्व्रती होनेका विधान है। उपसद्व्रत ज्योतिष्टोम कर्मका ही एक अङ्ग है। सोमपानमें विशेषरूपसे आवश्यक मुख्य अग्निको 'उपसदग्नि' कहते हैं। उप—समीपमें, सद्—नष्ट करना—काटना। यह व्रत जीवको परमात्माके समीप ले जाकर उसकी अविद्याको नष्ट करता है, इसलिये इसे उपसद्व्रत कहते हैं।

इसके पश्चात् अग्निमें घृताहुति देकर जो मन्थका भक्षण किया जाता है, वह भी एक प्रकारसे कोष्ठस्थ अग्निमें हवन करना ही है। इनमेंसे पहली आहुति दक्षिणाग्निमें, दूसरी गार्हपत्याग्निमें और तीसरी आहवनीयाग्निमें दी जाती है। ये क्रमशः स्थूल, सूक्ष्म और कारणभूत अग्निके पीठ हैं। फिर अवशिष्ट अंशका आचमन कराते हैं। आहुतियाँ अग्निमें भस्म हो जाती हैं। अवशिष्ट दधि-मधुका आचमन अमृतरूपसे अग्नीषोमात्मक होम बनकर 'तुरं भगस्य'—भग देवताके चतुर्थ पीठमें गति करके साधकके शरीरमें स्थित होता है और उसे महत्त्वकी प्राप्ति कराता है।

छान्दोग्य और बृहदारण्यक दोनोंहीमें इस विद्याका ऐसा महत्त्व बताया है कि यदि इसका सूखे ठूँठको भी उपदेश किया जाय तो उसमें शाखा निकल आवेगी और पत्ते फूट आवेंगे। यह अर्थवाद गुणवाद नहीं बल्कि यथाभूतार्थवाद है। इससे निश्चय होता है कि मनुष्यको उपदेश करनेपर इससे उसकी अर्थसिद्धि होनेमें तो कोई सन्देह ही नहीं हो सकता।

विद्याकी परम्परा

बृहदारण्यकके मन्त्र ७ से १२तक इस विद्याकी सम्प्रदायपरम्पराका इस प्रकार वर्णन किया गया है। सबसे पहले अरुणके पुत्र उद्दालकने अपने शिष्य वाजसनेय याज्ञवल्क्यको इस विद्याका उपदेश किया था। उन्होंने पैङ्ग्य मधुकको, पैङ्ग्य मधुकने भागवित्ति चूलको, चूल भागवित्तिने जानकि आयस्थूणको, जानकि आयस्थूणने सत्यकाम जाबालको और सत्यकाम जाबालने अपने शिष्य वैयाघ्रपाद गोश्रुतिको इसका उपदेश किया तथा प्रत्येक आचार्यने अपने शिष्यको इसका वही महत्त्व बताया, जो उपर्युक्त अर्थवादमें कहा गया है। अन्तमें श्रुति कहती है कि जो पुत्र या शिष्य न हो, उसे इसका उपदेश नहीं करना चाहिये। इससे सिद्ध होता है कि यह विद्या बड़ी महत्त्वशील और गोपनीय है।

सर्व-सुलभ साधन

जनकसुताका नाम पाप-तमको दिनकर है।
भक्त-चित्त-पाथोजिनि हित सुखकर हिमकर है।
यह संभव है नहीं—वासनादिक नियरावें,
यह भी नहीं—कि आप स्वमनपर विजय न पावें;
यदि राम-नाम-रट लगी हो, यही वृत्ति हो ध्यानकी—
श्रीराम मध्य, दक्षिण लखन, वाम ओर श्रीजानकी॥

श्यामनारायण मिश्र 'श्याम'

स्वाध्याय-साधनकी महिमा

(लेखक—श्रीरामचन्द्रजी)

हमारे आर्ष तथा लौकिक ग्रन्थोंमें स्वाध्यायकी बड़ी महिमा लिखी मिलती है। इस महिमाको अनेक स्थानोंमें विभिन्न वचनोंद्वारा प्रकट किया गया है। विस्तार-भयसे यहाँ सब तो नहीं, किन्तु कतिपय प्रमाण पाठकोंके समाधानके लिये हम उद्धृत करते हैं। यहाँ हम केवल स्वाध्यायकी महिमा ही नहीं, बल्कि यह भी दिखलानेकी चेष्टा करेंगे कि शास्त्रोंमें स्वाध्यायपर इतना जोर क्यों दिया गया है। स्वाध्यायकी परिभाषा और उसकी विधिपर भी कुछ प्रकाश डाला जायगा।

स्वाध्यायकी महिमा

१–तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः।

(योग० २। १)

इस योगसूत्रमें स्वाध्यायको क्रियायोगका एक अङ्ग बतलाया गया है।

२–स्वाध्यायाद्योगमासीत योगात्स्वाध्यायमामनेत्।
स्वाध्याययोगसम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशते॥

(योग० १। २८—व्यासभाष्य)

'स्वाध्यायसे योगकी उपासना करे और योगसे स्वाध्यायका अभ्यास; योग और स्वाध्यायकी सम्पत्तिसे परमात्माका साक्षात्कार होता है।'

३–अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते॥

(गीता १७। १५)

यहाँ स्वाध्यायको वाङ्मय (वाक्-इन्द्रियसे सम्बन्ध रखनेवाला) तप कहा गया है।

४–ऋषियज्ञं देवयज्ञं भूतयज्ञं च सर्वदा।
नृयज्ञं पितृयज्ञं च यथाशक्ति न हापयेत्॥

(मनु० ४। २१)

यहाँ ऋषियज्ञके नामसे स्वाध्यायको पञ्चमहायज्ञोंमें प्रथम स्थान देकर इसे नित्य करनेका विधान किया गया है।

५–स्वाध्यायान्मा प्रमदः। (तैत्तिरीयोपनिषद्)

'स्वाध्यायसे कभी प्रमाद न करना।'

६–त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति।

(छान्दो० २। २३। १)

धर्मके तीन स्कन्ध हैं—यज्ञ, स्वाध्याय और दान।

परन्तु सबसे प्रबल प्रमाण शतपथब्राह्मणका है—

यान्ति वा आपः। एत्यादित्यः। एति चन्द्रमाः। यान्ति नक्षत्राणि। यथा ह वा एता देवता नेयुर्न कर्म कुर्युरेव ७ वा तदहरब्राह्मणो भवति यदहः स्वाध्यायं नाधीते। तस्मात् स्वाध्यायोऽध्येतव्यः। तस्मादप्यृचं वा यजुर्वा साम वा गाथां वा कुम्व्यां वाभिव्याहरेद् व्रतस्याव्यवच्छेदाय। ये ह वै के च श्रमा इमे द्यावापृथिवी अन्तरेण। स्वाध्यायो ह वै तेषां परमा काष्ठा।

यावन्तꣳह वा इमां पृथिवीं वित्तेन पूर्णां ददल्लोकं जयति त्रिस्तावन्तं जयति भूयाꣳसं वाक्षय्यं य एवं विद्वान् अहरहः स्वाध्यायमधीते। (शत० ११। ५। ७; १। २। ३)

'पानी चलता है अर्थात् उसका धर्म बहना है। सूर्य चलता है। चन्द्रमा चलता है। नक्षत्र चलते हैं, अर्थात् ये सब अपने-अपने स्वाभाविक कृत्योंको करते रहते हैं। यदि एक दिन भी कर्म न करें तो न चले। इसी प्रकार ब्राह्मण उसी दिन अब्राह्मण हो जाता है, जिस दिन वह स्वाध्याय नहीं करता। अतः प्रतिदिन स्वाध्याय करना चाहिये। इस लिये स्वाध्यायव्रतके पालनके लिये ऋक्, यजुः, साम अथवा गाथा आदिका नित्य पाठ करे।

'इस द्युलोक और पृथिवीके बीच जो कुछ भी श्रम है, स्वाध्याय उसकी परमा काष्ठा है। अर्थात् स्वाध्याय सब प्रकारके श्रमोंमें श्रेष्ठ है।

'जो इस सारी धन-धान्यसे पूर्ण पृथिवीको दान देकर पुण्य कमाता है, उससे तिगुना पुण्य, अथवा और भी अधिक अक्षय पुण्य उस पुरुषको मिलता है, जो प्रतिदिन स्वाध्याय करता है।'

अब यह विचार करना चाहिये कि हमारे पूर्वजोंने स्वाध्यायपर इतना जोर क्यों दिया है? मेरी बुद्धिमें तो यही आता है कि उनका यह कथन बिल्कुल ही सत्य और युक्तियुक्त है। क्योंकि मानव-जीवन उनके सामने निरुद्देश्य नहीं था। वे इसके लक्ष्य, उद्देश्यको समझते थे। उनकी दृष्टिमें मनुष्य-जीवनमें स्वाध्यायका वही स्थान था जो स्थान पतवार चलानेवालेका जहाजमें होता है, जो प्रतिक्षण यह देखता रहता

है कि जहाज अपने गन्तव्य स्थानकी रेखासे तनिक भी इधर-उधर न हो। क्योंकि वह जानता है कि गन्तव्य स्थानके रास्तेको छोड़कर जरा-सा भी इधर-उधर हो जायगा तो अपने गन्तव्य स्थानसे हजारों मील दूर चला जायगा और उसे चिरकालतक भटकना पड़ेगा। इसीलिये वह प्रतिक्षण ध्रुवदर्शक यन्त्रके द्वारा देखता रहता है कि जहाज ठीक लाइनपर चल रहा है या नहीं। यही काम स्वाध्यायका है। मनुष्य-जीवन और पशु-जीवन दोनों—जहाँतक आहार, निद्रा, भय और मैथुनका सम्बन्ध है वहाँतक—समान हैं; परन्तु मनुष्य-जीवनमें विशेषता यह है कि वह स्वभावतः अमरत्वको समझनेकी योग्यता रखता है और उसको प्राप्त करना चाहता है। अमरत्व ही मानव-जीवनका लक्ष्य है। क्योंकि यह देखनेमें आता है कि जिस वस्तुकी हमें इच्छा होती है, वह वस्तु कहीं-न-कहीं विद्यमान होती है। सैकड़ों वर्ष पूर्व मनुष्यमें पक्षियोंकी भाँति उड़नेकी इच्छा हुई। आज उन्हें हम पक्षियोंसे भी अधिक द्रुतगतिसे उड़ते देखते हैं। अतः निश्चय हुआ कि अमरत्वको प्राप्त करना मनुष्य-जीवनका उद्देश्य है। आप कह सकते हैं कि सहस्रों मनुष्य हैं, जिन्हें इस लक्ष्यका स्वप्नमें भी भान नहीं होता। वे जानते ही नहीं कि 'खाओ, पियो और मौज करो' के सिवा भी मनुष्यका कोई जीवन-लक्ष्य है। यह ठीक है; परन्तु वस्तुतः वे मनुष्य नहीं हैं, क्योंकि उनमें पाशविक भावकी प्रबलता है। यथार्थतः मनुष्य वही है, जिसके मनमें अमरत्व-प्राप्तिकी भावना जाग्रत् है। यह जागृति ही मनुष्यत्व है।

किसी कविने कहा है—

बस कि मुश्किल है हर कामका आसां होना।
आदमीको भी मयस्सर नहीं इन्सां होना॥

तथा—

अगर बरबाद पीर मनसे बाशी।
बगर दर आवे रवि माहिए बाशी।
दिलरा बदस्त आर ता कि कसे बाशी॥

'यदि तू बम-वर्षा करके प्राणियोंका खून बहाता है तो यह कोई बड़ा काम नहीं, क्योंकि एक बड़ा मच्छड़ भी इस कामको करता है। यदि तू पनडुब्बियोंमें बैठकर पानीके भीतर दौड़ लगाता है तो इसमें तेरी प्रशंसा नहीं, क्योंकि ऐसा तो मच्छ भी करते हैं। अरे, अपने दिलको काबूमें कर, जिससे तू मनुष्य बन सके।'

श्रीशङ्कराचार्यजीने कहा है—

दुर्लभं त्रयमेवैतद् देवानुग्रहहेतुकम्।
मनुष्यत्वं मुमुक्षुत्वं महापुरुषसंश्रयः॥

तीन वस्तुएँ बड़ी कठिनतासे प्राप्त होती हैं—मनुष्यत्व, मुमुक्षुत्व और महापुरुषोंका सङ्ग।

अतएव मनुष्य-जीवन निरुद्देश्य नहीं; इसका एक लक्ष्य है, जिसे प्राप्त करना ही मनुष्य-जीवनका फल है। परन्तु मनुष्य-जीवनरूपी जहाजको खेना आसान नहीं है, इसके मार्गमें पद-पदपर कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं। कभी हम शारीरिक रोगसे पीड़ित होते हैं तो कभी मानसिक चिन्तासे ग्रस्त। आज सरदी सताती है तो कल गरमी। कभी पुत्रजन्मोत्सवका आनन्द आता है तो कभी किसी प्रियजनकी मृत्युका दुःसह दुःख। आज व्यवसाय-वृद्धिकी खुशी है तो कल घाटेका ग़म। आज किसी पड़ोसीसे राग है तो कल उसीसे द्वेष। कभी बालबच्चोंसे मोह होता है तो कभी उन्हींसे घृणा। कभी गरीबीका दुःख है तो कभी अमीरीकी बदमस्ती। आज यौवनका हर्षजनक उल्लास है तो कल बुढ़ापेका भीषण त्रास। सारांश यह है कि जीवनमें पद-पदपर अड़चनें और कठिनाइयाँ हैं। काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहङ्कार, पुत्रैषणा, वित्तैषणा, लोकैषणा आदि अनेक मनोवृत्तियाँ जीवनके जहाजको निरन्तर डावाँडोल करती रहती हैं। और आजकलकी व्यवस्था तो और भी खराब हो गयी है। हमारा जीवन इतना विकृत हो गया है कि साधारण आवश्यकताओंको पूर्ण करना भी कठिन है। आजकल मनुष्यका जो आधा जीवन स्कूल और कालेजोंमें व्यतीत होता है, वह आवश्यकताओंको बढ़ानेमें लगता है; और बाकी आधा जो नौकरी, व्यवसाय आदिमें व्यय होता है वह उन आवश्यकताओंके पूर्ण करनेमें ही लग जाता है। जीवनका क्या लक्ष्य है, इसके विचारनेके लिये हमारी दिनचर्याके प्रोग्राममें कोई स्थान ही नहीं है। श्रीशङ्कराचार्यने सच ही कहा है—

बालस्तावत् क्रीडासक्तस्तरुणस्तावत् तरुणीरक्तः।
वृद्धस्तावच्चिन्तामग्नः परमे ब्रह्मणि कोऽपि न लग्नः॥

इस प्रकार जिनका जीवन अंधाधुंधमें बीत रहा है, उनको कभी-न-कभी पछताते हुए दुःखमें सिर धुन-धुनकर यह कहना पड़ेगा कि—

भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ता-
स्तपो न तप्तं वयमेव तप्ताः ।
कालो न यातो वयमेव याता-
स्तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः ॥

इसी कारण श्रुति चेतावनी देती है—

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति
न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः ।

इस मनुष्य-जीवनमें, जो चौरासी लाख योनियोंको भोगनेके बाद हमें प्राप्त हुआ है, यदि हम नहीं चेतते तो इससे बढ़कर हानि क्या हो सकती है ? अतएव स्वाध्याय ही हमें चेतावनी देनेवाला, हमारे जीवन-पथको दिखलानेवाला तथा हमें ठीक रास्तेपर चलानेवाला है ।

अब यह विचार करना है कि स्वाध्याय क्या वस्तु है । स्वाध्याय शब्दके दो अर्थ होते हैं । स्वयमध्ययनम्—किसी अन्यकी सहायताके विना स्वयं ही अध्ययन करना, या अध्ययन किये हुएका मनन और निदिध्यासन करना । दूसरा अर्थ है—*स्वस्यात्मनोऽध्ययनम्*, अपने आपका अध्ययन करना और यह देखभाल करते रहना कि अपना जीवन उन्नत हो रहा है या नहीं । जैसा कि कहा है—

प्रत्यहं प्रत्यवेक्षेत नरश्चरितमात्मनः ।
किन्नु मे पशुभिस्तुल्यं किन्नु सत्पुरुषैरिव ॥

प्रतिक्षण हमको यह देखते रहना चाहिये कि हमारा जीवन पशुओंके समान है या सत्पुरुषोंके समान । इस क्रिया-का नाम अन्तःप्रेक्षण (Introspection) है । इसीके अभ्याससे आत्मोन्नति करके बहुत-से पुरुष महात्मा—महा-पुरुष हो गये हैं । साधारणतः स्वाध्यायका अभिप्राय लोग यही समझते हैं कि किसी धर्मपुस्तकका नित्य कुछ पाठ कर लेना, और बस । परन्तु इतनेहीसे काम नहीं चल सकता । यद्यपि उच्चारणमात्रसे भी कुछ लाभ अवश्य होता है—क्योंकि शब्दोंके उच्चारणसे भी भावोंका स्पन्दन तरङ्गित होता है और उसका जीवनपर प्रभाव पड़ता है—परन्तु हम पूरा लाभ तभी उठा सकेंगे, जब पाठ करते समय इन चार *नियमोंका भी पालन करें*—

१. एकाग्रता—जब हम स्वाध्याय (पाठ) कर रहे हों तो हमारा ध्यान चारों ओरसे हटकर पुस्तकके शब्दों और अर्थोंकी ओर ही होना चाहिये । इसके लिये आवश्यक है कि जो कुछ मुँहसे हम पाठ करें, उसे अपने कानोंसे भी ध्यानपूर्वक सुनते जायँ । जिह्वा और श्रोत्र—दो इन्द्रियोंके एक साथ काम करनेसे मन अवश्य एकाग्र हो जाता है । अच्छा हो यदि पाठ करते समय प्रत्येक पंक्तिको ठहर-ठहरकर दो बार पढ़ा जाय ।

२. नैरन्तर्य—स्वाध्यायमें जहाँतक हो सके, अन्तर (नागा) नहीं होना चाहिये । थोड़ा-बहुत स्वाध्याय नित्य नियम-पूर्वक करना ही चाहिये ।

३. सांसारिक पदार्थों और इन्द्रियजन्य सुखोंसे उपरामता—हमें थियेटरके ऐक्टरकी तरह व्यवहार करते जाना चाहिये और साथ ही यह भी ध्यानमें रखना चाहिये कि हमारा उद्देश्य सांसारिक जीवनसे ऊपर उठना है ।

४. प्रकाश ग्रहण करनेकी उत्कण्ठा—स्वाध्याय (पाठ) करते समय मनमें यह दृढ़ विश्वास होना चाहिये कि पाठके द्वारा हमारी अन्तःस्थ आत्मा हमें प्रकाश प्रदान कर रही है । यदि हम इन चार नियमोंके साथ स्वाध्याय करते रहेंगे तो हमें अवश्य ही पूर्ण लाभ होगा ।

अब यह विचार करना है कि स्वाध्याय किस प्रकार, किस समय और कितना करना चाहिये । स्वाध्यायके लिये ठीक समय प्रातःकाल सन्ध्योपासनके उपरान्त होता है । परन्तु यदि किसीको यह समय उपयुक्त न हो तो जो भी समय उसे अनुकूल हो, उसीमें स्वाध्याय हो सकता है । परन्तु स्वाध्याय-का जो समय नियत किया जाय, उसे कुछ समयतक नियमित बनाना पड़ेगा । अन्यथा मनको टालमटोलका अवसर मिल जायगा और सायं-प्रातः, दोपहरपर टालनेसे स्वाध्यायमें अन्तर (नागा) पड़ जायगा । और यह अन्तर स्वाध्याय-साधनका प्रधान विघ्न है, तथा साधन-शक्तिके सञ्चयमें बाधक है । यह अनुभवसिद्ध बात है; अतः जो समय नियत किया जाय, उसे बदलनेका अवसर नहीं लाना चाहिये ।

कम-से-कम आधा घंटा स्वाध्यायमें अवश्य लगाना चाहिये । परन्तु नागा करनेकी अपेक्षा १५-२० मिनट भी इसके लिये लगाना ठीक होता है ।

स्वाध्यायका स्थान पवित्र, शुद्ध वायुयुक्त तथा शुद्ध वातावरणसे सम्पन्न, धूपादि सुगन्धित वस्तुओंसे रमणीक तथा महात्माओं और देवताओंके चित्रोंसे सुशोभित हो तो बहुत अच्छा होगा । क्योंकि इन वस्तुओंसे मनकी एकाग्रतामें सहायता मिलती है । इनसे हमारी आन्तर चितिशक्तिमें एक विशेष प्रकारकी स्फूर्ति या जागृति उत्पन्न होती है, जो स्वाध्यायसम्बन्धी विचारोंको झट ग्रहण कर लेती है । स्वाध्यायके द्वारा जो विचार मनमें उठें, उनको दिनमें

एक-दो बार चिन्तन करना चाहिये और यह भी विचारना चाहिये कि किन-किन विचारोंका प्राबल्य उस दिन जीवनमें रहा है—कहाँ-कहाँ सङ्कुचित वासनाओंने आक्रमण किया है और कहाँ-कहाँ प्रलोभनों, दुर्व्यसनों और दुःस्वभावोंका सामना करना पड़ा है। यदि सालभर निरन्तर यह अभ्यास किया जाय तो उसका परिपाक हो जायगा, और फिर कदाचित् इस साधनमें कष्टके स्थानमें आनन्दका अनुभव होने लगेगा। यह याद रखना चाहिये कि जीवन एक महासङ्ग्राम है—यह एक-दो दिनका काम नहीं। उम्रभर भी यदि कमर कसकर युद्ध करनेसे काम बन गया तो अपनेको धन्य समझना चाहिये। महात्मा कबीरदासजीने क्या ही अच्छा कहा है—

> साधक खेल अति बिकट बैंडा।
> मति सति और सूरकी चाल आगे॥
> सूर संग्राम पलक दो-चारका,
> सती संग्राम पल एक लागे॥
> साधक संग्राम है रैन-दिन जूझना,
> देह पर्यन्तका काम भाई॥
> कहैं कबीर टुक बाग ढीली पड़े,
> तुर्त मन गगन सों जिमीं भाई॥

स्वाध्यायके लिये कौन-सी पुस्तक उत्तम है, यह भी विचारणीय है। सभी धर्म-ग्रन्थ स्वाध्यायके लिये अच्छे हो सकते हैं; परन्तु यह साधकोंकी रुचि, उनकी योग्यता आदि-पर बहुत कुछ निर्भर करता है। परन्तु सामान्यतः जो पुस्तकें हमारे गृहस्थ-जीवनका सुधार तथा हमारी आत्मिक स्थिति-का उद्धार करनेवाली हैं—तथा जिनमें साधककी श्रद्धा हो, वे ही पुस्तकें स्वाध्यायके उपयुक्त होती हैं।

रामायण, महाभारत, भागवत, विष्णुपुराण, मनुस्मृति, गीता, दर्शन, उपनिषद्, वेद—इनमेंसे साधकको पूर्णतः समझमें आनेयोग्य कोई भी पुस्तक स्वाध्यायके लिये चुन लेनी चाहिये। यदि ये ग्रन्थ समझमें न आ सकें तो आधुनिक महात्माओंकी लिखी हुई पुस्तकोंका अध्ययन करना चाहिये। परन्तु साथ ही यह नियम रखना चाहिये कि जो पढ़ा जाय, उसको व्यवहारमें लाया जाय। व्यवहारमें लाये विना स्वाध्याय भारमात्र हो जाता है। यह हो सकता है कि निरन्तर सभी ग्रन्थोंका पाठ करता रहे और व्यवहारके लिये दो-एक बातों-को चुन ले। यदि आप गीताका पाठ करते हैं और उसकी सारी बातोंपर आरूढ़ नहीं हो सकते, तो इसका यह अर्थ नहीं है कि केवल उन्हीं बातोंका स्वाध्याय नित्य करते रहें जिनको व्यवहारमें लाना है; किन्तु ज्ञानके लिये सारी गीता-का पाठ करें, और अपनी स्थितिके अनुकूल आचरणमें लाने-के लिये दो-चार बातोंको छाँट लें।

हिंदू-जातिके अधःपतनका कारण बहुत-कुछ स्वाध्याय-शीलताका अभाव ही है। हमारी शिक्षाप्रणाली धर्मशून्य है, घरोंमें धर्मके भावोंका अभाव हो रहा है, धर्मविहीन जातिका अधःपतन होना निश्चित है। अतः यदि आपके मनमें जाति-के सुधारकी चाह हो, तो भी स्वाध्यायशीलता परम आवश्यक है। हम पाठकोंसे प्रार्थना करते हैं कि वे इस लेखको पढ़ने-के पश्चात् स्वाध्यायकी प्रतिज्ञा लें, इसे जीवनका व्रत बनायें। फिर तो जीवन स्वयं ही मधुर, रसमय, सुन्दर, सुखद और रमणीय हो जायगा। नहीं तो अन्तमें पछताना पड़ेगा कि—

> वाये नादानी कि वक्ते मर्ग यह साबित हुआ।
> ख्वाब था, जो कुछ कि देखा; जो सुना, अफसाना था॥

इस दुःखमयी अवस्थासे बचनेका उपाय है स्वाध्यायका अभ्यास। विना अभ्यासके कुछ हाथ न आयगा। उपनिषद् कहते हैं—

> *यथाग्निर्दारुमध्यस्थो नोत्तिष्ठेन्मन्थनं विना।*
> *विना चाभ्यासयोगेन ज्ञानदीपस्तथा न हि॥*

(योगशिखोपनिषद्)

जैसे लकड़ीमें स्थित अग्नि मन्थनके विना प्रकट नहीं होती उसी प्रकार ज्ञानदीपक, जो हमारे भीतर प्रज्वलित है, स्वाध्यायके अभ्यासके विना प्रकाशित नहीं हो सकता।

उद्बोधन !

> **जागहु, पंथी! भयउ बिहाना।**
> **सोवत बीती सारी रैनिया, अब उठि करहु पयाना।**
> **मेरुशृङ्गपर बैठि मुदित मन करिय रामको ध्याना॥**
> **चखनिझखनिको तिरबेनी महँ तारिय बोरिय प्राना।**
> **'केशी' रामनामकी धूनी सबहिं चेताय जगाना॥**

—भगवती मञ्जुकेशी देवी

मीराकी प्रेम-साधना

(रचयिता—पाण्डेय श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री 'राम')

(१)

मुक्ति लोटती है यहाँ भव्य भाव-बन्धनोंमें
कान्त-कामनामें मिला ब्रह्मानन्द घन है।
हारमें विजय हाहाकारमें मधुर मोद
गायन सुखद यहाँ करुण रुदन है॥
मीठी एक पीड़ा-सी छिपी है उर अन्तरमें
एक साधना है एक अमिट लगन है।
एक सपने पै अपनेको है मिटाया गया
पाकर छटाक भी लुटाया गया मन है॥

(२)

राह देखती हैं मूक आह भर आँखें सदा
अनिश बरसती करुण रस-धारा है।
प्राण चातकोंने है लगायी रट पीकी सदा
फीकी हुई जिन्दगी न दीखता सहारा है॥
पुलक-कदम्ब ये कदम्ब-से खिले हैं अंग
सुधिमयी पावसका प्रबल पसारा है।
गाढ़ प्रेम-बाढ़में निमग्न बहा जाता मन
हा हा कहाँ नाविक सुजान प्रानप्यारा है॥

(३)

पीती रसनासे रस नामका निरन्तर थी
अन्तर थी प्रीतिराशि अमित उपजती।
प्यारे नन्दनन्दनके सुखद सँयोग हेतु
भोग-राग त्याग उन्हें सानुराग भजती॥
प्रणय-कलिन्दजासे सींचे उर-वृन्दा-बीच
श्याम अभिराम सुषमा थी घनी सजती।
सोहन सरस मनमोहन स्वरोंमें जहाँ
मोहनकी मुरली मधुर रही बजती॥

(४)

बाधा सहके भी राधावरसे निभाती नेह
जाँची परखी थी प्रीति-रीति नहीं काँची थी।
भीति लोकलाज या समाजकी न राखी रंच
सन्त बीच बैठ दिव्य प्रेमकथा बाँची थी॥
रूठी दुनिया हो भले झूठी बतलाये उसे
दृष्टिमें गुबिन्दकी सदा ही वह साँची थी।
प्रीतम प्रवीन दीनबन्धुको रिझाने हेतु
मीरा मञ्जु घूँघुरू पगोंमें बाँध नाची थी॥

(५)

प्रेमयोगिनीको प्रेम-पथसे हटाने हेतु
रंच भी न रानाकी समर्थ हुई रिस भी।
हिय-अरविन्दमें विराजते गुविन्द रहे
विफल हुआ था जहाँ इन्द्रका कुलिश भी॥
लगन लगाये प्रानधनमें मगन रही
ध्यान भूलती थी नहीं एक हू निमिष भी।
प्रेमवश मीराके भुजङ्ग भगवान् हुआ
चारु चरणामृत समान हुआ विष भी॥

रससिद्धि

(लेखक—पं० श्रीनारायण दामोदर शास्त्री)

जो मनुष्य पूर्ण आरोग्ययुक्त, बलवान् तथा दीर्घायु होता है, वही दीर्घकालतक योगाभ्यास या उपासना करनेमें समर्थ होकर उसके द्वारा ईश्वरके सत्य स्वरूपका ज्ञान और उसकी प्राप्तिसे अखण्ड आनन्द तथा परम शान्तिका अनुभव प्राप्त कर सकता है—जिस आनन्दकी तुलनामें चक्रवर्ती सम्राट्के वैभवका सुख भी तुच्छ है। यही इस दुर्लभ एवं अमूल्य मनुष्यजीवनकी सच्ची सफलता है—इसी उद्देश्यसे पूर्वकालके साधक प्रथम गुरुकृपासे ऐसा एक रस सिद्धकर उसका सेवन करते थे, जिससे वे पूर्णतया व्याधिरहित, बलवान् तथा दीर्घायु होकर निर्विघ्नतासे उस आनन्दको प्राप्त करनेके साधनका अनुष्ठान करते थे।

इसलिये साधकको सबसे प्रथम गुरु तथा ईश्वरकी कृपासे 'रससिद्धि' का ज्ञान प्राप्त कर उस रसके सेवनसे अपने शरीरको पूर्ण स्वस्थ और बलवान् बनाकर दीर्घायुष्य सम्पादन करनेका प्रयत्न करना चाहिये। कारण, जो मनुष्य निर्बल, व्याधिग्रस्त तथा अल्पायु है, वह पारमार्थिक तो क्या, ऐहिक कार्यमें भी सफलता प्राप्त नहीं कर सकता।

इस रसविद्याके आद्यप्रवर्तक महेश्वर भगवान् हैं। श्रीमदाद्यशङ्कराचार्यके गुरु गोविन्दाचार्य रससिद्ध थे। उनका कथन था कि ब्रह्मप्राप्तिके लिये साधकको पहले हरगौरी-रसका सेवन कर अपने देहको सिद्ध कर लेना चाहिये।

वैसे ही प्राचीन कालमें माहेश्वरमतके अनुयायी अनेक रससिद्ध हो गये हैं—जैसे श्रीदत्तात्रेय, गोरक्षनाथ आदि नवनाथ, नागार्जुन, सिद्धनाथ, मन्थानभैरव, सिद्धबुद्ध, कंथडी, कोरंडक, सुरानन्द, सिद्धपाद, कणेरी, नित्यनाथ, निरञ्जन, कपाली, बिन्दुनाथ, काकचण्डीश्वर, गज, अलभ, प्रभुदेव, टिंटिनी, भालुकी, नागदेव, खंडी, कापालिक आदि।

वेद जैसे अनादि है, वैसे ही यह रसविद्या भी अनादि है। सृष्टिके आरम्भकालके वसिष्ठ, विश्वामित्र, गौतम, भरद्वाज आदि सप्तर्षि, मनु आदि प्रजापति, याज्ञवल्क्य आदि ब्रह्मविद्वर, अठारह पुराण तथा महाभारतके प्रणेता महर्षि व्यास आदि अनेक ऋषि, मुनि एवं योगीजन तथा राजर्षि इस विद्याको जाननेवाले थे। देवगुरु बृहस्पति तथा असुरगुरु शुक्राचार्य इस विद्यामें पारङ्गत थे। और इनसे अनेक देवों तथा असुरोंको इस दैवी विद्याकी दीक्षा प्राप्त हुई थी। प्राचीन कालमें भारतवर्षकी अनन्त लक्ष्मी, अनन्त ऐश्वर्य तथा सामर्थ्यका इस विद्याका ज्ञान ही मुख्य कारण था। लेकिन कालके प्रभावसे उस गुरुपरम्पराका तथा उसीके साथ इस विद्याका ज्ञान भी लुप्तप्राय हो गया है। इसी कारणसे आज इस विद्याके अधिकारी तथा सच्चे रहस्यको जाननेवाले क्वचित् ही देखनेमें आते हैं। और जो कोई हैं, वे एकान्तमें रहते हैं या लोकसमुदायमें अज्ञानी-जैसे होकर फिरते हैं। इसीसे इस विद्याका वर्णन आलङ्कारिक, अतिशयोक्तिपूर्ण तथा असम्भव कल्पनामात्र समझा जाने लगा है। इसलिये यहाँ इस विषयके प्राचीन इतिहासको सत्य माननेका आग्रह नहीं किया जाता। किन्तु पाठक यदि शुद्ध प्रयत्न तथा ईश्वरके अनुग्रहसे इस विद्याके रहस्यको जाननेके अधिकारी हुए तो इस विद्याकी सत्यता उन्हें स्वयं अनुभवसे ज्ञात हो जायगी। केवल वाद-विवाद या युक्ति और प्रमाणोंसे उसकी सत्यताके विषयमें विश्वास करा देना असम्भव है।

यद्यपि संस्कृत तथा अन्य भाषाओंमें 'रसविद्या' के अनेक ग्रन्थ हैं, तथापि उनकी साङ्केतिक परिभाषा, अलङ्कार तथा रूपकके गूढ़ रहस्यको समझकर इस विद्यासे लाभ उठाना बड़े-बड़े बुद्धिमान् एवं धुरन्धर विद्वानोंके लिये भी कठिन है। तथापि जो भाग्यवान् लोग शुद्धाचरणपूर्वक दृढ़ प्रयत्नसे ईश्वरके अनुग्रहपात्र होते हैं, उनको इस विद्याका रहस्य मालूम होना बहुत सरल है। जो लोग सांसारिक विषयोंके मोहजालमें फँसे हुए हैं, उन विषयासक्त, दुराचारी पामरजनोंको अनन्त जन्मोंमें भी इस विद्याके रहस्यका ज्ञान होना सम्भव नहीं है। हमारे हृदयमें अन्तरात्माके रूपसे रहनेवाले परमात्मा सर्वज्ञ हैं। इसलिये जो विषय हमारी समझमें न आवे, उसे जाननेके लिये अन्तरमें गहरे उतरकर तथा परमात्माके अभिमुख होकर उसकी अनन्यभावसे प्रार्थना करनेसे तथा हमारे सदाचार, शुद्ध निष्ठा, आग्रहयुक्त प्रयत्न तथा ईश्वरकी कृपासे हमारे हृदयमें इस विद्याका ज्ञान अवश्य प्रकाशित हो सकता है।

रस ईश्वरका स्वरूप है। प्रत्येक जड-चेतन पदार्थमें वह न्यूनाधिक प्रमाणमें है। किं बहुना, पदार्थोंका अस्तित्व इसी

रसपर निर्भर है। बाल्यावस्थामें मनुष्यके शरीरमें यह रस अधिक शुद्धरूपमें रहता है, इससे बालकोंके शरीर अधिक सुन्दर, तेजस्वी तथा कोमल रहते हैं। और उनके शरीरोंमें मलका पृथक्करण उत्तम प्रकारसे होता है, जिससे उनके रस, रक्त आदि धातुएँ अधिक शुद्ध होती हैं। लेकिन उम्र बढ़नेसे उनके शरीरोंमें रस न्यून होकर मल अधिक बढ़ जाता है और इससे मनुष्य उत्तरोत्तर वृद्ध होता जाकर अन्तमें मृत्युके वश होता है।

'रससिद्धि' की कलासे सिद्ध किया हुआ रस एक रत्तीमात्र भी जब मनुष्य ग्रहण करता है, तब तत्काल उसके शरीरमें उत्तम प्रकारका रूपान्तर होने लगता है। रससिद्धि-के एक प्राचीन ग्रन्थमें लिखा है कि यह सिद्ध किया हुआ रस शरीरके हड्डीतकके गहरे-से-गहरे भागमें बिना किसी प्रतिबन्धके प्रवेश करता है और शरीरके प्रत्येक सूक्ष्म भागमें जहाँ-जहाँ मल हो, वहाँ-वहाँसे उसको बाहर निकालता है। शरीरके एक अणुको भी वह शुद्ध किये बिना नहीं रहता। यह होते हुए भी वह शरीरमें किसी प्रकारका विकार न करके सब जगह शान्ति फैलाता है। सारांश, मलमात्रको शरीरमेंसे निकालकर वह शरीरको अत्यन्त शुद्ध, स्वच्छ और सुवर्णके समान कान्तिमान् बना देता है और असाध्य-से-असाध्य रोगोंको दूर कर देता है।

यह रस जैसे प्राणियोंके शरीरमें प्रवेशकर उसके मलको नाश करता है, वैसे ही हल्की धातुओंमें भी वह प्रवेशकर तथा उनके मलको दूरकर तत्काल उनका श्रेष्ठ रूपान्तर कर देता है। रससिद्धिशास्त्रमें कुशल पुरुष स्वानुभवसे कहते हैं कि प्रत्येक खनिज पदार्थको सुवर्णके रूपमें रूपान्तर करनेका प्रकृतिका स्वाभाविक धर्म है। लेकिन वैसा न होनेका कारण उन पदार्थोंमें रही हुई अशुद्धि या मल ही है। उनका मल दूर होते ही तत्काल उनका सुवर्ण-के रूपमें परिवर्तन हो जाता है। सारांश, पदार्थोंका उत्कृष्ट रूपान्तर या परिवर्तन करनेमें प्रकृतिको जो हजारों वर्ष लगते हैं, उसको यह रस क्षणमात्रमें सिद्ध कर देता है।

इस प्रकार यह रस धातुओंके मलको जब दूर कर देता है, तब वह स्पर्शमणिके नामसे जाना या पहचाना जाता है। शास्त्रोंमें जो स्पर्शमणिका वर्णन पाया जाता है, वह केवल कपोलकल्पित नहीं है। कोई उसे भले ही ऋषि-मुनियोंकी कल्पनाके हवाई किले कहें, लेकिन पूर्व-कालके ऋषि-मुनियोंने स्पर्शमणि निर्माण किया है। इससे वह केवल कल्पनामात्र नहीं है, हमारे नित्यके उपयोगमें आनेवाले पदार्थों-जैसा एक सत्य पदार्थ है। संसारभरके सब चमत्कारोंमें वह एक सर्वश्रेष्ठ चमत्कार है। किंबहुना वह ईश्वरका सगुण रूप है और मृत्युलोककी दिव्य अमृत-सञ्जीवनी वल्ली है। रससिद्धिका ज्ञान होनेपर हमें स्पष्ट मालूम होगा कि पाश्चात्य तत्त्वज्ञोंकी आविष्कार की हुई सब विद्याएँ और कलाएँ इसके आगे अत्यन्त तुच्छ हैं। और आजतक अस्तित्वमें आयी हुई सब कलाओंमें यह सर्वोपरि कला है।

मनुष्यका आत्मा ईश्वरका ही अंश होनेसे उसमें ईश्वर-के समान ही अपार सामर्थ्य है। लेकिन वह बीजरूपसे है। मनुष्य यदि पूर्ण स्वतन्त्र न हो तो उसके उस सामर्थ्यका पूर्णरूपसे विकास होने नहीं पाता, वह कुण्ठित हो जाता है। तात्पर्य, मनुष्यको अपनी उन्नतिके लिये अर्थात् अपनेमें बीजरूपसे रहनेवाले ईश्वरीय सामर्थ्यका विकास करनेके लिये पूर्ण स्वतन्त्रताकी आवश्यकता है। लेकिन उसके विकासके मार्गमें कोई प्रतिबन्ध आ जाय, तो उसको दूर करनेमें ही उसका सब बल नष्ट हो जाता है।

मनुष्यकी उन्नतिके मार्गमें व्याधि और निर्धनता— ये दो बड़े प्रतिबन्ध रहते हैं। इनको दूर करनेके उद्योगमें ही उसको अपने आयुष्यका अधिक समय व्यतीत करना पड़ता है। और उस उद्योगमें उसके बलका इतना क्षय हो जाता है कि अपनेमें रहनेवाले ईश्वरीय सामर्थ्यको विकसित करनेका उत्साह उसमें बिलकुल नहीं रहता। इसमे स्पष्ट सिद्ध होता है कि मनुष्यको अपनेमें रहनेवाली दैवी शक्तिका विकास करनेके लिये पूर्ण नीरोग होना चाहिये और द्रव्य-सम्पादन करनेकी चिन्तासे मुक्त होना चाहिये। रस-विद्याकी सिद्धि पूर्ण आरोग्य तथा यथेष्ट धनको देनेवाली है। इससे मनुष्यको अपनी दैवी शक्तियोंका विकास करनेमें पूर्ण अवकाश और स्वतन्त्रता मिलती है। इसलिये शरीर, मन और आत्माकी उन्नति चाहनेवाले विवेकी पुरुषोंके लिये रसविद्याका ज्ञान बहुत ही उपकारक है।

रसविद्याका फल संक्षेपमें नीचे लिखे अनुसार है। इस विद्यासे सिद्ध होनेवाला रस जिसको प्राप्त होता है, उसको इस जगत्‌में किसी भी व्यावहारिक सुखकी कमी नहीं रहती। सम्पूर्ण विश्वकी ऋद्धि-सिद्धि उसके पैरोंमें आकर लोटती हैं। महान् राज्य प्राप्त करने-जितना द्रव्य उत्पन्न करनेका सामर्थ्य उसमें होते हुए भी वह अपना जीवन बहुत सादगीसे व्यतीत

करता है । वह यदि संसारभरके प्राणियोंका निर्वाह करना चाहे तो भी उसको द्रव्यका अभाव नहीं रहता ।

दूसरे, उसको प्राप्त हुआ रस एक ऐसा दिव्य औषध है कि जिसके सेवनसे ऐसा एक भी असाध्य या कष्टसाध्य रोग नहीं है जो दूर न हो सके । यह रस एक दिन सेवन करनेसे एक महीनेका रोग, बारह दिन सेवन करनेसे एक सालके रोग और एक महीना सेवन करनेसे चाहे जितनी मुद्दतके पुराने रोग भी दूर हो जाते हैं ।

इस रसकी प्राप्तिसे विश्वकी जिस नियमसे रचना हुई है, उसका अनुभवसिद्ध ज्ञान होता है । और उस नियमके ज्ञानसे मनुष्य ईश्वररूप हो जाता है । ऐसे अद्भुत फलको देनेवाले इस रसका ज्ञान चाहे जिसको नहीं होता । किन्तु ईश्वर यह गुप्त ज्ञान अपने अनुग्रहपात्र सत्पुरुषोंको ही देते हैं ।

यह ज्ञान मनुष्यको दो प्रकारसे होता है । प्रथम तो साक्षात् ईश्वरसे उसका अन्तःकरणमें स्फुरण होता है; दूसरे, इस विद्याके अनुभवी किसी सद्गुरुद्वारा । शब्दोंसे वह कभी सीखनेमें नहीं आता । किन्तु जिसका चित्त अत्यन्त शुद्ध होता है, ऐसे योग्य अधिकारी शिष्यके हृदयमें सद्गुरु अपने विचारोंके आन्दोलनोंद्वारा उस ज्ञानको प्रकाशित करते हैं ।

इस विद्याकी शीघ्र सिद्धिके लिये सर्वव्यापक, अनन्त शक्तिमान् परम दयालु एक भगवान्‌की ही आराधना करनी चाहिये, सच्चे दिलसे और निष्काम शुद्ध प्रेमसे उसकी भक्ति करनी चाहिये और उसीके अनन्य शरण होना चाहिये ।

प्रयोगके विषयमें कुछ आवश्यक विवरण

यह रस जिस पदार्थसे सिद्ध होता है, उसे जान लेना ही कठिन है । पदार्थका ज्ञान होनेपर उसको सिद्ध करना बच्चेके खेलके समान बहुत सरल है । कुछ रससिद्धोंका कहना है कि यह रस एक पदार्थसे सिद्ध होता है, और कुछका कहना है कि दो या तीन पदार्थोंसे वह बनता है । इन दो पदार्थोंमेंसे एकको गन्धक और दूसरेको पारद कहते हैं । कोई गन्धकको पुरुष और पारेको स्त्री कहते हैं । कोई गन्धकको सिंह और पारदको कन्या कहते हैं । कोई पुरुषतत्त्वको रक्तमृत्तिका और स्त्रीतत्त्वको जल कहते हैं । कोई गन्धकको सुवर्ण, लाल मिट्टी, नंदी, सूर्य, अज, शङ्कर आदि कहते हैं । और पारेको चन्द्र, पार्वती आदि कहते हैं । यह गन्धक और पारा बाजारमें अत्तारोंके यहाँ मिलनेवाला पारा, गन्धक होगा—यह भूलसे भी नहीं समझना चाहिये । इन दो पदार्थोंसे रस कभी सिद्ध नहीं होता । जो लोग रस सिद्ध करनेमें इस गन्धक और पारेका उपयोग करते हैं, वे अपने द्रव्य और आयुष्यका व्यर्थ अपव्यय करते हैं ।

उपर्युक्त रक्तमृत्तिका जिस स्थितिमें मिलती है, वह मृतवत् होती है । और उसकी भगिनी जिसको रससिद्ध पारा कहते हैं, उसीसे उसमें जीवन उत्पन्न होता है । लाल मिट्टीकी अपेक्षा उसकी बहिन बिलकुल सामान्य वस्तु है, तो भी उसको जानने या प्राप्त करनेमें विशेष कठिनता मालूम होगी । ऐसा होते हुए भी ये पदार्थ बहुत मूल्यवान् होंगे या उनको प्राप्त करना बहुत कठिन होगा—यह समझकर निराश नहीं होना चाहिये । यथार्थमें रस जिस पदार्थका बनता है, वह एक ही और बहुत तुच्छ है । वह सब जगह मिल सकता है । रस सिद्ध करनेमें जिन तत्त्वोंकी आवश्यकता है, वे सब उसमें रहते हैं । उस पदार्थकी उत्पत्ति रेतीमें होती है । चन्द्रमेंसे झरते हुए जल और सूर्यके प्रकाशका संयोग होकर घनीभावको प्राप्त वह पदार्थ है । इस पदार्थका वर्णन करते हुए एक रससिद्धने कहा है कि हमारे पारेको सब मनुष्य नित्य देखते हैं, परन्तु कोई विरला ही उसको पहचानता है । उसका बाह्य स्वरूप मलिन है, यह देख उसे तुच्छ नहीं समझना चाहिये । उसका दर्शन विना अधिकारीके दूसरे किसी भी भाग्यशालीको नहीं होता । यदि उसका बाह्य मलिन स्वरूप हम बदल सकें तो वह बहुत ही तेजस्वी होगा । हमारा जल बहुत ही विशुद्ध कुमारिका है । यह पारा एक प्रकारका तीक्ष्ण जल है । सूर्य उसका पिता है । और चन्द्र उसकी माता है । यह पृथ्वीपर मैदानोंमें, समुद्रके किनारे, पर्वतोंपर—सब जगह मिलता है । यदि ईश्वरकृपासे किसीको इसका ज्ञान हो जाय तो भूलकर भी किसीके आगे प्रकट नहीं करना चाहिये; अन्यथा लाभके बदले महान् अनर्थ हो जायगा ।

जिसको पारद या जलका ज्ञान हो गया, मानो रससिद्धिके प्रयोगकी पूरी कुंजी उसके हाथमें आ गयी । यथार्थ पारदके ज्ञान विना दूसरा कितना भी ज्ञान इस विषयमें व्यर्थ है । यह पदार्थ जल-अग्निका सम्बन्ध होते ही सहजमें जल्दीसे उड़ जानेवाला है । पृथ्वीका जल करना और जलका पृथ्वी करना जिसको आ गया, मानो उसने रससिद्धिके मंदिरमें प्रवेश कर लिया ।

सब धातुएँ और खनिज पदार्थ पृथ्वी और जल या

पारा और गन्धकसे बनी हुई हैं। रस जिस एक पदार्थका बनता है, वह सब जगह होते हुए भी भगवान्‌के अनुग्रह विना किसीको मिलता नहीं। मैंने पारा, गन्धक आदि अनेक पदार्थोंपर प्रयोग करके देखा; लेकिन सच मानिये कि मेरे सब प्रयत्न और परिश्रम व्यर्थ गये। इन पदार्थोंसे रस सिद्ध नहीं होता, इसलिये सचेत रहना चाहिये। अस्तु,

रससिद्ध जिस पात्रमें रस तैयार करते हैं, वह काँचका गोल और लंबी नलीवाला होता है। वह इतना दृढ़ होना चाहिये कि चाहे जितनी बढ़ती हुई अग्निकी उष्णताको सहन कर सके। वैसे ही रससिद्धोंका अग्नि दो प्रकारका होता है—एक पदार्थके गर्भमें रहनेवाला और दूसरा बाह्य अग्नि; ऐसे दो प्रकारके अग्निसे रस परिपक्व और सिद्ध होता है।

प्रयोग

प्रमाणके विषयमें कोई रससिद्ध लाल मिट्टीके चार भाग और जलके नौ भाग या मिट्टीसे जल दोगुना लेनेको कहते हैं।

लाल सिंह और कन्याको पात्रमें यथाविधि रखनेके बाद उन दोनोंका तुमुल युद्ध शुरू होता है। कन्या सिंहका जबड़ा तोड़ डालती है और उसके शरीरमें बड़ी-बड़ी दरारें कर देती है। लेकिन अंतमें सिंह ही कन्यापर विजय पाता है। गन्धकपर पारेके जो प्रहार होते हैं, वे इन्द्रके वज्रके प्रहारसे भी अधिक तीव्र होते हैं।

एक रससिद्ध महापुरुष कहते हैं कि राजा जब जलाशयके समीप आता है, तब वह अपने सुवर्णमय वस्त्र निकाल डालता है। और उन्हें शनिको देकर बाद वह अकेला ही जलाशयमें प्रवेश करता है। जब वह बाहर निकलता है, तब शनि उसको काला रेशमी जामा देता है।

राजाको सुवर्णमय वस्त्र उतारकर काला रेशमी जामा धारण करते कितना समय लगता है, इसका उपर्युक्त महापुरुषने खुलासा नहीं किया है। लेकिन वह अल्प ही समय होगा, ऐसा अनुमान नहीं करना चाहिये। जल और पृथ्वीका युद्ध शान्त होनेपर दोनोंका समाधान होता है। इस युद्धके समयमें रसके पदार्थको कई पुरुषोंने 'द्वन्द्व' नाम दिया है। और वह यथार्थ भी है! कारण, प्रयोगकी प्रथम भूमिका पूर्ण होनेतक दोनोंका सच्चा संयोग नहीं होता। आरम्भमें तो वे दोनों एक दूसरेपर लेशमात्र भी असर नहीं करते। लेकिन समय जानेपर पृथ्वी जलका कितना ही भाग चूस लेती है। और ऐसा होनेपर परस्परमें—एकमें दूसरेके गुण-धर्म आते हैं। और जलका कुछ ही भाग शुद्ध होता है। बाकी मृत्तिकाके छिद्रोंमें धीरे-धीरे प्रवेश करता है। और उसको अधिकाधिक नरम करता है। इससे मृत्तिका या सुवर्णका आत्मा उससे धीरे-धीरे बाहर निकलता है। इस आत्माका और शुद्ध जलका संयोग होनेपर काला रंग दिखायी देता है। और यह परिणाम होनेमें चालीससे पचास दिनतक लगते हैं।

अग्निसे दोनों पदार्थोंमें क्रिया शुरू होनेपर जो काला रंग दिखायी न दे, तो प्रयोगमें कुछ भूल जरूर हुई है—ऐसा समझना चाहिये। इसलिये प्रयोग फिरसे आरम्भ करना आवश्यक है। क्योंकि यह भूल ऐसी है कि इसमें कभी सुधार नहीं हो सकता। कुछ लाल या नारंगी रङ्ग दिखायी दे तो प्रयोग करनेवालेको सचेत होना चाहिये। कारण आरम्भमें ही रससिद्धोंके पात्रमें पूर्वोक्त रंग दिखायी दे तो ऐसा समझना चाहिये कि प्रयोग करनेवालेने अग्निसे रसके तत्त्वको जला डाला है। कुछ आसमानी और कुछ पीला रंग यह दिखाते हैं कि मृत्तिकाका पचन और उसका रस अभी ठीक हुआ नहीं है। काला रंग ही मिट्टीके पूर्णरूपसे जल होनेका यथार्थ चिह्न है। काला रंग होनेसे मिट्टीका सूर्यकी किरणोंमें उड़ते हुए अणुओंसे भी अधिक सूक्ष्म चूर्ण होता है। और इस चूर्णका फिर जलमें रूपान्तर होता है।

पात्रमें डाले हुए पदार्थोंका यथार्थ संयोग होकर काला रंग होना—इसको रससिद्ध शनिका राज्य आरम्भ हुआ, ऐसा कहते हैं। जब सिंह मर जाता है, तब वहाँ कौएका जन्म होता है। पात्रमेंका पदार्थ अब काजलके माफिक एक सा काले रंगका हो जाता है। उसमें जीवनका कुछ भी चिह्न मालूम नहीं होता। सब मृत्युके समान शून्यरूप दिखायी देता है। ऐसा होते देखकर प्रयोगकर्ताका हृदय हर्षसे भर जाता है। कभी-कभी लेईके माफिक उसमें पतली-पतली पपड़ियाँ उठती हुई दिखायी दें तो उन्हें देखकर उसे प्रसन्न होना चाहिये। क्योंकि वह मृत पदार्थोंमें जीवनकी स्फूर्ति होनेका चिह्न है। इस समय अग्निको योग्य प्रमाणमें रखना बहुत ही आवश्यक है। यदि अग्नि आवश्यकतासे अधिक हो, तो सब प्रयोग धूलमें मिल जाता है। इसलिये चालीस दिनतक सन्तोषसे बैठे रहो और अग्नि मन्द रक्खो। जल्दी मत करो। अपने सुकोमल पदार्थको पात्रके तलेमें ही पड़ा रहने दो। भविष्यमें प्रकट होनेवाले यशस्वी शरीरका यह गर्भकाल है।

शनिके राज्यकी जब समाप्ति होती है, तब गुरुके राज्यका आरम्भ होता है। पात्रमें डाले हुए मिश्रणमें पचनक्रिया आरम्भ होनेपर उसके रंगमें परिवर्तन होने लगता है। और उसमेंसे भाफ ऊपर चढ़ने लगती है। गुरुका राज्य सिर्फ तीन हफ्तेतक रहता है। इस अवधिमें मिश्रणमें सब प्रकारके रंग दिखायी देते हैं। तथा आकाशमेंसे वृष्टि होती रहती है। गुरुके राज्यके आखिरी समयमें वृष्टिका वेग बढ़ता जाता है और पात्रकी बगलोंमें जब बर्फके समान श्वेत रेखाएँ जमी हुई दिखायी दें, तब प्रयोगकर्ता समझता है कि अब गुरुके राज्यका अमल पूरा हुआ है। जब यह चिह्न देखो, तब प्रसन्न होओ। क्योंकि गुरुका राज्य यशस्वी प्रकारसे पूर्ण होनेका यह लक्षण है। इस प्रयोगमें खास करके इस बातकी सावधानता रखनी चाहिये कि अपने खुदके घरमेंसे निकले हुए कौएके बच्चे पीछे घरमें घुस न जायँ। और रक्तमृत्तिका प्रमाणसे अधिक सूख न जाय, या जलसे अधिक तर न हो जाय—इसपर लक्ष्य रखना चाहिये। इसलिये गर्मी चाहिये उतनी ही देते रहो, अधिक नहीं।

चतुर्थ मासके अंतमें गुरुका राज्य समाप्त होता है और चन्द्रके राज्यका आरम्भ होता है। आरम्भमें पात्रकी बगलमें ही द्वितीयाके चन्द्रका उदय हुआ दीख पड़ता है। लेकिन ज्यों-ज्यों चन्द्रकी कला बढ़ती जायगी, त्यों-त्यों तुम्हें स्पष्ट मालूम होगा कि गुरुके राज्यका सब समय प्रकृतितत्त्वको शुद्ध करनेमें ही गया था। शुद्ध करनेवाला पुरुषतत्त्व अत्यन्त शुद्ध और प्रकाशित होता है। लेकिन जिस प्रकृतितत्त्वको शुद्ध करना होता है, वह बहुत काला रहता है। परन्तु वह तत्त्वका लेपन छोड़कर जब श्वेत होता जाता है, तब उसमें भिन्न-भिन्न प्रकारके अनेक रंग दिखायी देते हैं। लेकिन बादमें उसकी श्वेतता इतनी बढ़ जाती है कि आँखोंको चकाचौंध कर डालती है। और वह मिश्रण अत्यन्त तेजस्वी प्रवाही पारेके समान दिखने लगता है। यह चन्द्रका राज्य भी तीन हफ्तेतक ही रहता है। उस समय पात्रमेंका पदार्थ भिन्न-भिन्न प्रकारके अनेक रूप धारण करता है। वह क्षणमें प्रवाही हो जाता है और क्षणमें गाढ़ा होकर जम जाता है। इस प्रकार वह दिनमें सैकड़ों बार अपना रूप बदलता है। कभी-कभी उसका स्वरूप मच्छकी आँखें-जैसा मालूम देता है, और कभी पेड़की शाखाओं तथा पत्तोंके आकारका दिखायी देता है। जब-जब उसको देखा जायगा, तब-तब हमें आश्चर्य हुए विना नहीं रहेगा। लेकिन मुख्य करके जब उस मिश्रणके सूर्यकी किरणोंके समान अत्यन्त शोभावाले बहुत सूक्ष्म कण दीख पड़ते हैं, तब आनन्द और आश्चर्यका पार नहीं रहता। ये सूक्ष्म कण और कुछ नहीं हैं, किन्तु रससिद्ध जिसको श्वेत अमृत कहते हैं, वही हैं। उसका दर्शन दुर्लभ है। कोई भाग्यवान् ही उसको देख सकते हैं और उसके दर्शनसे अपूर्व आनन्दका अनुभव करते हैं। लेकिन वह 'श्वेत अमृत-रस' इसके बाद जिस उच्च दशाको प्राप्त होता है, उसकी तुलनामें वह कुछ गिनतीमें नहीं है।

रससिद्धोंका कहना है कि चन्द्रके राज्यके बाद शुक्रके राज्यका आरम्भ होता है। यदि श्वेत अमृतरसको उसी पात्रमें रहने दिया जाय, तो वह फिर हवामें उड़ जाता है। और उसके अपनी भूमिकामें पूर्ण होनेपर उसमें दूसरे प्रकारका उच्च अन्तर पड़ने लगता है। लेकिन यदि उसको पात्रमेंसे बाहर निकाल लिया जाय और ठंडा होनेपर फिरसे दूसरे पात्रमें डाला जाय तो उसमें किसी प्रकारका अन्तर नहीं होगा। वह जिस दशामें होता है, उसी दशामें रहता है। शुक्रके राज्यमें अग्निपर खास ध्यान रखना होता है। कारण, पूर्ण स्थितिको पहुँचता हुआ अमृतरस पिघल जाता है। इसलिये यदि उसको प्रमाणसे अधिक गर्मी दी जाय, तो वह काँचके समान हो जाता है। फिर उसमें किसी तरहका परिवर्तन किया नहीं जा सकता। चन्द्रके राज्यके मध्यकालसे लगाकर शुक्रके राज्यके सन्धिकालमें चाहे जिस समय ऐसा होना सम्भव रहता है। इसलिये प्रयोग-कर्त्ताको सावधान रहना चाहिये और मिश्रणका बहुत धीरे-धीरे पचन हो एवं ऊर्ध्वगामी जीवनतत्त्वका उसमें प्रवेश हो—ऐसी मध्यम प्रकारकी गर्मी देते रहना चाहिये। पात्रमें जीवनतत्त्व जब ऊपर चढ़ता है, तब रस भी उसके साथ ऊँचे चढ़ने लगता है। उस समय वह अनेक प्रकारके नये-नये रंग धारण करता है। उसमें कुछ लाली लिये हुए नील-वर्ण मुख्य होता है। यह रंग बीस दिनतक रहता है। बादमें वह नीले रंगका हो जाता है। उसके बाद उसका रंग सीसे-जैसा आसमानी और कुछ काला हो जाता है। और शुक्रके राज्यकी समाप्तिके समयमें वह फीका जामुनी रंग धारण करता है। जब उसका नीलवर्ण दिखायी दे, तब निश्चय जानना चाहिये कि अब मिश्रणमें सबसे श्रेष्ठ जीवनतत्त्वका बीज है। इसलिये प्रमाणसे अधिक गर्मी देकर नीले रंगका काला रंग नहीं कर डालना चाहिये। शुक्रके राज्यकी मर्यादा चालीस दिनकी होती है।

शुक्रके बाद मङ्गलका राज्य प्रारम्भ होता है। जब मिश्रणका रंग कुछ पीला या बादामी दीख पड़े, तब मङ्गलका राज्य चल रहा है—ऐसा समझना चाहिये। लेकिन यह रंग दीर्घकालतक नहीं रहता। अन्तमें मिश्रणमें इन्द्रधनुष या मयूरपिच्छके सभी क्षण-स्थायी रंग देखनेमें आते हैं। अब मिश्रण कुछ शुष्क होता हुआ मालूम देता है। और प्रायः उसपर सुनहरी झलक दीख पड़ती है।

रससिद्ध कहते हैं कि इस समय माता उसके बालकके उदरमें ढकी हुई रहती है। तब वह फूलती है और शुद्ध होती है। अब मिश्रण अधिक शुद्ध होनेसे उसमें किसी प्रकारका मल नहीं दिखायी देता। समयपर कोई पहचान न सके, ऐसे रंग उसपर तैरते हुए दीख पड़ते हैं। कितने ही मध्यस्थ रंग तो घड़ीभरमें दिखायी देते हैं और घड़ीभरमें अदृश्य हो जाते हैं। अपनी पृथ्वीमें अब आखिरी शुद्धीकरणकी क्रिया चालू होती है। और उस क्रियाद्वारा पृथ्वी सूर्यके फलको ग्रहण करने एवं उसको परिपक्क करने योग्य होती है। इसलिये इस समय अग्निका प्रमाण पहलेकी अपेक्षा कुछ अधिक, लेकिन मध्यम ही रखना चाहिये और ऐसा होनेपर मङ्गलके राज्यके लगभग तीसवें दिन मिश्रणमें नारंगी रंग दिखायी देता है और दो हफ्ते पूरे नहीं हो पाते कि पात्रमेंका सब मिश्रण पूरे नारंगी रंगका हो जाता है। मङ्गलका राज्य समाप्त होनेपर सूर्यका राज्य आरम्भ होता है और सूर्यका राज्य समाप्त होनेपर प्रयोगकी मर्यादा पूर्ण होती है। सूर्यका राज्य आरम्भ होनेपर मिश्रणका रंग सुनहरा होने लगता है और मिश्रणको पीनेके लिये जो कुमारिकाका दूध दिया जाता है, वह गहरे नारंगी रंगका हो जाता है। इस समय अधीरता या उतावलापन नहीं आवे, इसलिये ईश्वरकी प्रार्थना करनी चाहिये। आज सात महीने प्रयोगमें व्यतीत हो गये तो अब थोड़े समयके लिये जल्दी कर किनारेपर आयी हुई नावको डुबा देना और हाथोंमें आयी हुई चिन्तामणिको गँवा देना मूर्खता है। इसलिये जैसे-जैसे रस पूर्णकलाको प्राप्त होता जाय, वैसे-वैसे अधिक सावधान तथा धैर्यशील होते जाना चाहिये। थोड़ी देरके बाद प्रथम नारंगी रंगका जल मिश्रणके ऊपर फूट निकला हुआ दीख पड़ेगा। उसके बाद उसमेंसे नारंगी रंगकी भाप निकलती हुई दीखेगी। फिर अल्प समयमें मिश्रणके नीचेका भाग नील-लोहित रंगका होता हुआ मालूम देगा। पंद्रह दिनके बाद वह मिश्रण बहुत अंशमें गीला और भारी हुआ मालूम देगा। ऐसा होनेपर अभी वायु उसको अपने गर्भमें धारण किये हुए है, ऐसा समझना चाहिये। सूर्यका राज्य आरम्भ होनेसे छब्बीसवें दिन मिश्रण दिनभरमें सैकड़ों बार घड़ीभरमें प्रवाही और घड़ी-भरमें शुष्करूप धारण करता है। बाद वह दानेदार होता है और फिर वह एकत्र बँधकर प्रायः एक पक्षतक अनेक प्रकारके रूप धारण करता है। अन्तमें उसमेंसे एक दिव्य प्रभा अकस्मात् वेगसे निकल आती है और उसके बाद फिर प्रयोग पूर्ण होनेकी सिर्फ तीन दिनकी अवधि रह जाती है। इन तीन दिनोंमें सुवर्णके अत्यन्त तेजस्वी कणोंके समान उसके कण हो जाते हैं और उसका गहरा लाल रंग हो जाता है। यह रंग इतना गहरा होता है कि जमे हुए शुद्ध रक्तके समान उसका काला रंग दिखायी देता है। इस दशाको प्राप्त हुआ मिश्रण ही रससिद्धोंका 'रक्त अमृतरस' कहाता है। संसारभरके सब आश्चर्यकारक चमत्कारोंमें यह रस बड़े-से-बड़ा चमत्कार है। इसकी तुलना जगत्‌मेंका कोई भी चमत्कार नहीं कर सकता।

कितने ही रससिद्धोंका कहना है कि यह रस तीन मस्तकवाले नागसे रक्षित है। इस नागका एक सिर जलमेंसे, दूसरा पृथ्वीमेंसे और तीसरा हवामेंसे निकलता है। प्रयोग-कर्ताको इन तीन सिरोंको मिलाकर एक सिर करना चाहिये। ऐसा होनेपर दूसरे सब नागोंको भक्षण करनेमें वह समर्थ होगा।

सिद्धोंद्वारा कहे हुए इस रूपकका खुलासा मालूम होनेके लिये परमेश्वरकी सच्ची भक्तिपूर्वक प्रार्थना करनी चाहिये और वह दयामय प्रभु कृपाकर यह रस किसीको दे तो उसकी महिमाका जगत्‌में विस्तार करने और अपना तथा अपने मानव बन्धुओंका कल्याण करनेमें उसका सदुपयोग करना चाहिये।

पञ्चदशकलात्मक पञ्चदशतिथिरूपी नित्याओं तथा षोडशी अथवा अमृतकलाका विचार

(लेखक—पं० श्रीकृष्णजी काशीनाथ शास्त्री)

एक एव प्रकाशाख्यः परः कोऽपि महेश्वरः ।
तस्य शक्तिर्विमर्शाख्या सा नित्या गीयते बुधैः ॥

जैसे परशिव नित्य हैं, उसी प्रकार उनकी परशिवाभिन्ना शक्ति भी त्रिकालाबाधित है, नित्य है; वही कामेश्वराङ्क-निलया है । इस महानित्याके सब धर्म परशिवके धर्मोंके सदृश हैं । परशिव प्रकाशरूप हैं, महानित्या विमर्शरूप है ।

इस महानित्याके पञ्चदश किरण, पंद्रह नित्या शक्ति हैं । विमर्शाख्य महानित्या पृथ्वी, अप्, तेज, वायु और आकाश—इन पञ्च महाभूतरूपसे प्रकट हुई । आकाशका एक गुण—शब्द; वायुके दो गुण—शब्द और स्पर्श; तेजके तीन गुण—शब्द, स्पर्श और रूप; जलके चार गुण—शब्द, स्पर्श, रूप और रस; पृथ्वीके पाँच गुण—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, और गन्ध; इनकी संहति १५ हुई ।

विमर्शाख्या तु नित्या सा पाञ्चविध्यं समागता ।
आकाशानिलसप्तार्चिःसलिलावनिभेदतः ।
एकैकगुणवृद्ध्या तु तिथिसंख्यात्वमागता ॥

(नित्याषोडशिकार्णव)

इनके १५ अधिष्ठातृ-देवता हैं । ये ही १५ तिथिरूप चन्द्रकी १५ कलाएँ हैं, जो शुक्लप्रतिपदासे आरम्भ होकर पूर्णिमातक वृद्धिको प्राप्त होती हैं और जिनका कृष्णपक्षमें क्रमशः क्षय होता है । सोलहवीं कला परशिवाभिन्ना महानित्या सच्चिदानन्दरूपिणी है ।

दर्शाद्याः पूर्णिमान्ताश्च कलाः पञ्चदशैव तु ।
षोडशी तु कला ज्ञेया सच्चिदानन्दरूपिणी ॥

(सुभगोदय)

इस षोडशी महाकलाकी न वृद्धि होती है न क्षय होता है । यह अमृतकला है । इसको भगवान् महादेवने अपने मस्तकपर धारण किया है ।

महादेवोऽपि चन्द्रार्द्धं स्वरूपं परमात्मनः ।
जग्राह देवैर्विधिना शिरसा मुदितो भृशम् ॥

चन्द्रकी १५कलाओंकी वृद्धि और क्षय इसी अमृत-कलापर निर्भर हैं । चन्द्रमें ज्योत्स्ना, तेज और अमृत हैं । कृष्णपक्षमें अमावास्यातक चन्द्रकी कलाओंका क्षय होता है । तब उसका तेज सूर्यबिम्बमें जाता है, उसकी ज्योत्स्ना चन्द्रशेखरके मस्तकपर जो अक्षयकला है, उसमें जाती है और अमृत देवताओंको पीनेको मिलता है । शुक्लपक्षमें इसके विपरीत उतनी ही कलाका तेज चन्द्रको फिर प्राप्त होता है । कृष्णपक्षकी जिस तिथिको जो कला-भाग चन्द्रमेंसे चला जाता है, फिर उतनी ही कलाका तेज शुक्लपक्षमें उसको पुनः मिलता है । कृष्णपक्षभर चन्द्रकलाओंसे जो अमृत निकल कर जाता है, वह देवताओंको मिलता है ।

चन्द्रकी ज्योत्स्ना जिस तिथिको जितनी शङ्करके मस्तक-की अक्षयकलामें जाती है, शुक्लपक्षकी उसी तिथिको पुनः चन्द्रको मिल जाती है । अमावास्याके अपराह्ण-कालमें चन्द्रका अमृत भाग पितरोंको मिलता है, जिससे उनकी तृप्ति होती है ।

यथा दिने दिने भागाः क्षयं यान्ति तथा विधोः ।
वृद्धिं गच्छन्त्यनुदिनं शुक्लपक्षेऽन्वहं सुराः ॥
तेजोभागः सूर्यबिम्बात् पुनरेव समेष्यति ।
प्रयास्यति कृष्णपक्षे यथाभागक्रमं तथा ॥
ज्योत्स्ना हरशिरश्चन्द्रात् प्रत्यहं पुनरेष्यति ।
तेजोभागः सूर्यबिम्बादमृतं वर्षति स्वयम् ॥
एवं वृद्धिः शुक्लपक्षे सुधांशोः सम्भविष्यति ।
पक्षयोः शुक्लकृष्णत्वं चन्द्रवृद्धिक्षयाद् भवेत् ॥
अमावास्यां पराह्णे तु पितृभी रोहिणीगृहे ।
तस्यैवास्वादनात् कव्यं वृद्धिं यास्यति चान्वहम् ।
तेन कव्येन पितरस्तृप्तिं यास्यन्ति वै पराम् ॥

(कालिकापुराण, अध्याय २१)

चन्द्रकी कलाओंसे जो अमृतस्राव होता है, वह ओषधियोंको मिलता है । यही अमृत भोजनद्वारा हमारे शरीरमें प्रविष्ट होता है और हमको जीवन देता है । ओषधियोंसे यज्ञ होते हैं । यज्ञोंसे देवताओंको हविर्भाग मिलता है और पितरोंको कव्यभाग मिलता है ।

इसलिये अमृतका कारण, यज्ञोंका कारण और सम्पूर्ण जगत्‌को पोषण करनेका कारण चन्द्रमा है ।

हव्यं कव्यं च चन्द्रेण विना न सम्भविष्यति ।
तस्मात्तयोः प्रवृद्ध्यर्थं चन्द्रं रक्षन्तु देवताः ॥

चन्द्रकी पञ्चदशतिथिरूप १५ कलाएँ हैं, उनको पञ्चदश नित्या कहते हैं । उनके नाम इस प्रकार हैं—

तत्रादौ प्रथमा नित्या महात्रिपुरसुन्दरी ।
ततः कामेश्वरी नित्या नित्या च भगमालिनी ॥
नित्यक्लिन्नाभिधा नित्या भेरुण्डा वह्निवासिनी ।
महावज्रेश्वरी दूती त्वरिता कुलसुन्दरी ॥
नित्या नीलपताका च विजया सर्वमङ्गला ।
ज्वालामालिनिका चित्रेत्येवं नित्यास्तु षोडश ॥

नित्याओंके नाम—

(१) कामेश्वरी	(९) कुलसुन्दरी
(२) भगमालिनी	(१०) नित्या
(३) नित्यक्लिन्ना	(११) नीलपताका
(४) भेरुण्डा	(१२) विजया
(५) वह्निवासिनी	(१३) सर्वमङ्गला
(६) महावज्रेश्वरी	(१४) ज्वालामालिनी
(७) शिवदूती	(१५) चित्रा
(८) त्वरिता	(१६) महात्रिपुरसुन्दरी

इन पञ्चदश नित्याओंका पूजन त्रिकोणपर वामावर्तसे किया जाता है। महात्रिपुरसुन्दरी—षोडशी नित्याका पूजन त्रिकोणके अन्तर्गत मध्यबिन्दु-स्थानपर होता है।

विभाज्य च महाभ्यस्तं पूर्वदक्षोत्तरं क्रमात् ।
रेखासु विलिखेत् तत्र पञ्च पञ्च क्रमेण हि ॥
अकाराद्या उवर्णान्ता दक्षिणस्यां विचिन्तयेत् ।
ततश्च पूर्वरेखायां शक्त्यादीन् विलिखेत्ततः ॥
अनुस्वारान्तमन्त्रस्तु विसर्गे षोडशीं यजेत् ।
वामावर्तेन देवेशि नित्याः षोडश कीर्तिताः ॥
प्रतिपत्तिथिमारभ्य पौर्णमास्यान्तमद्रिजे ।
एकैकान् पूजयेन्नित्यान् महासौभाग्यमाप्नुयात् ॥
(ज्ञानार्णव, पटल १६)

पश्चिमके त्रिकोणाग्रसे आग्नेयतक अं, आं, इं, ईं, उं बीजसहित प्रथम पाँच नित्याओंका पूजन प्रथम रेखापर करे। दक्षिणसे ईशानतक द्वितीय रेखापर ऊं, ऋं, ॠं, लृं, ॡं बीजसहित द्वितीय नित्यापञ्चकका पूजन करे। ईशानसे पश्चिमतक त्रिकोणकी तृतीय रेखापर एं, ऐं, ओं, औं, अं बीजसहित नित्याके तृतीय पञ्चककी पूजा करे। मध्यबिन्दु-स्थानपर अः बीजसहित महात्रिपुरसुन्दरीका पूजन करे। कृष्ण-पक्षमें चित्रासे कामेश्वरीतक विलोम-क्रमसे पूजन करे।

स सौभाग्यं महादेवि प्राप्नोति गुरुशासनात् ।
इस प्रकार पूजन करनेवालेको सौभाग्य प्राप्त होता है।

गीतामें योग

(लेखक—श्रीयुत एस्० एन्० ताड़पत्रीकर, एम्० ए०)
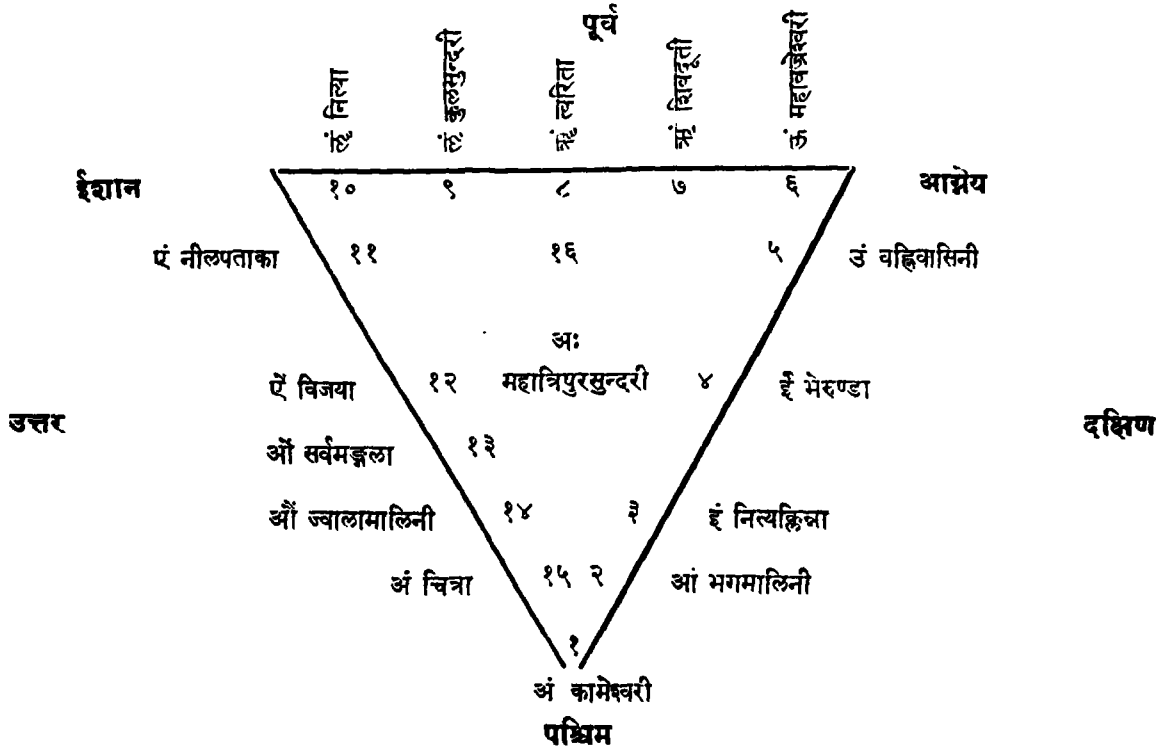
गीताको सामान्यतः लोग योगशास्त्रका ग्रन्थ मानते हैं, जो ब्रह्मविद्याका एक अङ्ग है। गीताके छपे हुए संस्करणोंमें अध्यायके अन्तमें 'इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे' इत्यादि शब्द मिलते हैं, जिनसे इस मतकी पुष्टि होती है। परन्तु गीताकी तथा महाभारतके भीष्मपर्वकी, जिसका गीता एक अङ्ग है, प्राचीन हस्तलिखित प्रतियोंके देखनेसे यह बात प्रमाणित नहीं होती। क्योंकि प्राचीन हस्तलिखित प्रतियाँ अबतक जितनी देखनेमें आयी हैं, प्रायः उन सबमें अध्यायकी समाप्तिमें 'इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु·····················अध्यायः'—केवल इतने ही शब्द मिलते हैं, 'ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे' ये शब्द नहीं मिलते—और न सांख्ययोग, विभूतियोग आदि अध्यायोंके नाम ही सब हस्तलिखित प्रतियोंमें एक-से मिलते हैं; परन्तु यह तो दूसरी बात है।

अवश्य ही इससे न तो गीताका योगशास्त्र होना ही सिद्ध होता है और न इसके विरुद्ध मतकी ही पुष्टि होती है। परन्तु अध्यायके अन्तमें जो शब्द मिलते हैं, उनके आधारपर अवश्य ही लोगोंने इस मतको सिद्ध करना चाहा है, इसलिये प्राचीन हस्तलिखित प्रतियोंमें पुष्पिकाका जो पाठ मिलता है, उससे कम-से-कम यह बात तो सिद्ध होती ही है कि यह सिद्धान्त प्राचीन नहीं है।

× × × ×

अब बाहरी परीक्षाको छोड़कर गीताके भीतर प्रवेश करनेसे मालूम होता है कि 'योग' शब्दका लक्षण गीतामें दो जगह कहा गया है—

'समत्वं योग उच्यते' (२ । ४८)

और–

'योगः कर्मसु कौशलम्' (२ । ५०)

आगे चलकर तीसरे अध्यायमें दो निष्ठाओंकी बात कही गयी है—

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥

(गीता ३ । ३)

यह द्विविध निष्ठा गीताका प्रधान प्रतिपाद्य मालूम होती है। गीताका ध्येय है इन दोनों निष्ठाओंका समन्वय करना, यह दिखलानेकी चेष्टा करना कि दोनों वास्तवमें भिन्न नहीं अपितु एक ही हैं और एक ही स्थानको ले जानेवाली होनेके कारण उनका पृथक्करण अथवा विभाजन उचित नहीं है। निम्नलिखित वाक्योंसे यह बात प्रमाणित होती है—

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्॥
यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति॥

(गीता ५ । ४-५)

यहाँ यह बात देखनी आवश्यक है कि उपर्युक्त श्लोक किस प्रसङ्गमें आये हैं। इससे कई बातें मालूम हो सकती हैं। तीसरे और चौथे अध्यायमें अर्जुनको क्रमशः ज्ञान (सांख्य अथवा संन्यास) तथा कर्म अथवा योगका महत्त्व पृथक्-पृथक् बतलाया गया है, जिससे शिष्यरूप अर्जुन चक्करमें पड़ जाते हैं और यह निर्णय नहीं कर पाते कि दोनोंमें श्रेष्ठ कौन है। अतः वे सीधे ही यह पूछ बैठते हैं—

यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम्॥

उत्तरमें भगवान् श्रीकृष्ण आरम्भमें यह कहते हैं कि संन्यासकी अपेक्षा कर्मयोग श्रेष्ठ है; किन्तु आगेके श्लोकोंमें यह बात स्पष्ट हो जाती है कि वे उक्त दोनों मार्गोंका समन्वय करनेकी चेष्टा करते हैं। यह कहकर कि ये दोनों मार्ग एक ही स्थानको पहुँचानेवाले होनेके कारण भिन्न नहीं अपितु एक ही हैं, वे पुनः दोनों मार्गोंको शामिल करनेकी आवश्यकता बतलाते हैं और इसके लिये यह युक्ति पेश करते हैं कि 'योगकी सहायताके विना संन्यासकी प्राप्ति कठिन है' ('संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।' ५ । ६) यहाँ यह बात जान लेनेकी है कि भगवान् शङ्कराचार्य अपने गीताभाष्यमें 'संन्यास' और 'ब्रह्म' शब्दोंके प्रचलित अर्थको नहीं स्वीकार करते और महानारायणोपनिषद्के एक वचनके आधारपर दोनोंका एक ही अर्थ करते हैं।

आगे चलकर छठे अध्यायमें संन्यास और योगको एक ही बतलाया गया है—'यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं विद्धि पाण्डव।' (६ । २) इससे भी हमारे सिद्धान्तकी पुष्टि होती है। अन्तिम (अठारहवें) अध्यायमें अर्जुनके प्रश्नके उत्तरमें काम्य (सकाम) कर्मोंके त्यागका नाम ही

संन्यास कहा गया है। अवश्य ही इसका उपर्युक्त प्रश्नसे कोई सम्बन्ध नहीं है।

योग और संन्यास अथवा प्रवृत्ति और निवृत्ति—अति प्राचीन कालसे यही दो मार्ग चले आये हैं, जिनको लेकर दार्शनिकोंमें बड़ा वाद-विवाद हुआ है; उन्होंने एक मार्गका समर्थन और प्रशंसा की है और दूसरेको निम्नकोटिका बतलाया है। और जो कोई चाहेगा, उसे हमारे प्राचीन दार्शनिक साहित्यमें दोनों ही पक्षके उदाहरण भी आसानीसे मिल सकेंगे। गीतामें उक्त दोनों मार्गोंको बराबरीका स्थान देकर तथा एकको दूसरेके समुचित अनुसरणके लिये अनिवार्य बतलाकर दोनोंके विरोधका परिहार करनेकी चेष्टा की गयी प्रतीत होती है। किन्तु प्रस्थानत्रयीके अन्तर्गत होनेके कारण गीतापर भिन्न-भिन्न दार्शनिक सम्प्रदायोंके आचार्योंने भाष्य लिखे; यही कारण है कि गीताके तात्पर्यको लेकर भी गीताका अनुशीलन करनेवालोंमें अनेक मतभेद हो गये।

पिछली शताब्दियोंमें ७०० श्लोकोंकी इस छोटी-सी पुस्तकपर विशाल साहित्यकी रचना हो गयी है और वर्तमान युगमें तो गीताका प्रचार संसारके कोने-कोनेमें हो गया है और उसकी लोकप्रियता सार्वभौम हो गयी है। किन्तु इतना समय बीत जानेपर भी तथा गीताका अधिकाधिक अनुशीलन होनेपर भी सच्चे-से-सच्चे जिज्ञासुओंमें भी उसके तात्पर्यके विषयमें मतभेद अब भी बना ही हुआ है।

इन पङ्क्तियोंका लेखक इस बातको अच्छी तरहसे जानता है कि ऊपर जो बात कही गयी है, वह गीताके विस्तृत क्षेत्रको देखते हुए समुद्रमें एक बूँदके समान है। परन्तु यदि इस विचारका गीताका अनुशीलन करनेवालोंमें और लोग भी समर्थन करेंगे तो यह विचार और भी स्पष्टरूपमें प्रकट किया जा सकता है और इससे हम आशा करते हैं कि इस महान् ग्रन्थका यथार्थ भाव समझनेके लिये जिज्ञासुओंको ठीक मार्ग प्राप्त करनेमें सहायता मिलेगी।

हरि-गुण

आओ, मिलकर हरि-गुण गायें :
मानव-जीवन सफल बनायें!
नन्द-यशोदा-अजिर-विहारी ,
श्रीमधुसूदन, श्रीबनवारी ,
गोपीवल्लभ, श्याम, मुरारी ,
भव-भय-हारी, जन-हित-कारी—
मदन-मनोहर श्याम रिझायें ;
आओ, मिलकर हरि-गुण गायें ॥ १ ॥

प्रेम-सुधा बरसानेवाला ,
परम पुनीत बनानेवाला ,
मल-मन-मुकुर नसानेवाला ,
प्रभु-प्रतिबिम्ब दिखानेवाला—
नाम-सुधा-रस जल बरसायें ;
आओ, मिलकर हरि-गुण गायें ॥ २ ॥

अमल विमल मुख निशिपति लाजै,
मधुर मुरलिका अधर विराजै ,
मोर-मुकुट कटि काछिनि छाजै ,
चरण-कमल मृदु नूपुर बाजै—
झनन-झनन झन-झन झनकायें ;
आओ, मिलकर हरि-गुण गायें ॥ ३ ॥

पूर्णकाम, सुखसदन, सनातन ,
जनके जीवन, धर्म, परमधन ,
एकमात्र अवलम्ब, प्रेमघन ,
चरण-कमलपर आत्म-समरपन—
अमृतमय सुख-दुख हो जायें :
आओ, मिलकर हरि-गुण गायें ॥ ४ ॥

प्रेम-नगरकी रीति निराली ,
सूखा पड़े, उगे हरियाली ,
बसता है घर होकर खाली ,
विरह-मिलनकी अद्भुत ताली—
नैन मूँद लो, पट खुल जायें ;
आओ, मिलकर हरि-गुण गायें ॥ ५ ॥

रोम-रोम राधाके मोहन ,
मोहनकी राधा जीवन-धन ,
बेकल राधा, बेकल मोहन ,
राधा-मोहन-रूप निरञ्जन—
युगल-छटापर बलि-बलि जायें ;
आओ, मिलकर हरि-गुण गायें ॥ ६ ॥

—श्रीकेदारनाथ 'बेकल'

सन्धिप्रकाश-साधन

(लेखक—ह० भ० प० श्रीप्र० सी० सुबन्ध)

जिस सुखके लिये मनुष्य सारा प्रयत्न कर रहा है वह सुख स्वयंसिद्ध है, उसे कहींसे लाना नहीं पड़ता; वह तो मनुष्यका अपना स्वरूप ही है। परन्तु मनके अधीन होनेके कारण मनुष्य अपने सुखस्वरूपसे च्युत हो गया है और उस सुखको ढूँढ़ रहा है उन बाह्य पदार्थोंमें जिनमें वह है नहीं। ऐसी अवस्थामें क्या करना चाहिये, जिससे हम अपने वास्तविक सुखस्वरूपको प्राप्त हों? करनेकी दो ही बातें हैं—(१) अध्यात्मविद्यासे यह जानना कि हम वास्तवमें कौन हैं और फिर (२) उसीका अभ्यास करना। अभ्यासकी कई प्रक्रियाएँ संतों और शास्त्रोंने बतायी हैं, जिनमेंसे एकाध प्रक्रियाकी कुछ खास बातें यहाँ दी जाती हैं।

चञ्चल मनको आत्मस्वरूपमें स्थिर करना, यही तो काम है। इसके लिये—

(१) मनको वहीं स्थिर करना चाहिये, जहाँसे वृत्तियाँ उठती हों।

नदीको यदि हम उसके उद्गमस्थानमें ही स्थिर कर दें तो वही छोटा-सा झरना उसी जगह क्या समुद्र नहीं बन जायगा? इसी प्रकार यदि हम वृत्तिको उसके उद्गमस्थानमें ही स्थिर कर दें, उसे विषयाकार या दृश्याकार न होने दें, द्रष्टारूपमें ही निरुद्ध कर दें तो उसी स्थानमें स्वानन्दसिन्धुकी अनुभूति कैसे न होगी?

(२) वृत्ति केवल एक आभास है, उसके यथार्थ स्वरूपको न जाननेसे हमने उसे सत्य मान लिया है।

संत कहते हैं कि 'मन' संज्ञा ही व्यर्थ है, कल्पनाने ही यह एक रूप खड़ा किया है और आत्मस्वरूप इसके सङ्गसे जीव बन बैठा है। मनके सङ्गसे हम जीव हुए और हमारे सङ्गसे हमारा सत्यत्व ग्रहण कर मनने अखिल विश्वका निर्माण कर डाला। मधुमक्खी जिस तरह फूलोंसे रस ले-लेकर अपना छत्ता तैयार करती है, उसी तरह मनरूप मधुमक्खीने हमारे आनन्दस्रोतके जलबिन्दु एकत्र कर विश्वरूप छत्ता निर्माण किया है। छत्ता तो केवल नाम है, यथार्थमें वह सब मधु-ही-मधु है। उसी प्रकार विश्व केवल नाम है, यथार्थमें है एक ही अखण्ड आनन्दसत्ता। 'स्फूर्ति जहाँसे स्फुरित होती है, वहाँ वह स्वयं अस्फूर्त ही है। उसे देखनेके साथ ही स्फूर्तिका लय हो जाता है।'

(३) वृत्तिके पीछे-पीछे न चलकर उसे द्रष्टारूपसे देखें, इससे दृश्याकार वृत्तिका लोप होता और द्रष्टा ही रह जाता है। सूर्यका उदय होते ही चन्द्रमासहित सब तारे लुप्त हो जाते हैं, उसी प्रकार द्रष्टाका प्रकाश पानेके साथ ही दृश्य जगत्का लोप होता और आत्मसूर्य ही रह जाता है। 'वृत्तिके पीछे-पीछे न चलकर साक्षीरूपसे उसे देखें तो इससे आत्मस्वरूप प्रकट होता है। इस प्रकार गुणसमुच्चयका द्रष्टा होनेमें ही सच्चा आनन्द है।······ इसीमें अपना साम्राज्य है।'

(४) साक्षित्वकी सिद्धिके लिये वृत्तियोंका सन्धिभाव जानना चाहिये। किन्हीं दो वृत्तियोंके बीचकी जो सन्धि है, उसीमें आत्मा स्थित है। रासलीलामें दो-दो गोपियोंके बीचमें जिस प्रकार श्रीकृष्ण प्रकट होते हैं अथवा मालाके दो मनियोंके बीच जिस प्रकार सूत्र देख पड़ता है, उसी प्रकार वृत्तियोंकी सन्धिमें आत्मदर्शन होता है। एक वृत्ति उठी और अभी दूसरी नहीं उठी है, इस बीचकी सन्धिमें आत्मदर्शनका अभ्यासी निश्चय ही मुक्त हो जाता है।

अनन्त विश्वविलासमें सूत्ररूपसे आत्मवस्तु ही बिलस रही है। द्वैतमें अद्वैत देखनेकी बुद्धि ही सद्बुद्धि और परमार्थकी अवधि है और अद्वैतमें द्वैत देखना ही असद्बुद्धि और अपरमार्थकी अवधि है। अद्वैत स्थितिकी सहज अवस्थाको प्राप्त होनेका मार्ग अध्यात्मविद्याको जानना और उसीका अभ्यास करना है। सन्धिप्रकाशका साधन इस अभ्यासकी सुलभ प्रक्रिया है। आत्मजिज्ञासुजन इसे करके देखें।
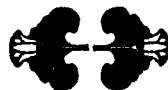
प्रकृति-पुरुष-योग

(कुण्डलिनी-उत्थापनद्वारा आत्मज्ञान-लाभ)

(लेखक—श्रीमद् गोपालचैतन्यदेवजी महाराज)

भवपाशविनाशाय ज्ञानदृष्टिविधायिने ।
नमः सद्गुरवे तुभ्यं भुक्तिमुक्तिप्रदायिने ॥

जिनकी अहैतुकी कृपासे भवपाशका विनाश होकर ज्ञानदृष्टि प्राप्त होती है और जो अपनी अहैतुकी अनुकम्पासे अनायास ही भुक्ति-मुक्ति प्रदान करते हैं, ऐसे सच्चिदानन्द-स्वरूप श्रीश्रीसद्गुरु महाराजके चरणोंमें बारंबार साष्टाङ्ग प्रणाम करता हुआ मैं कुछ लिखना चाहता हूँ ।

प्रकृति-पुरुष क्या हैं ?

मेरे हृदयेश्वर श्रीश्रीसद्गुरु महाराज प्रकृति-पुरुषके सम्बन्धमें कहते हैं*—

अनादि अनन्त अद्वितीय परमात्मा ही प्रकृति और पुरुषके भेदसे द्विधाभावापन्न हुए हैं । ब्रह्मने स्वप्रकाश होते हुए भी ब्रह्मानन्द-रसके उपभोगके लिये स्वयं ही एक एवं अद्वितीयसे बहु होनेकी इच्छा की ।

सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् ।
तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय ।

—छान्दोग्योपनिषद्

आरुणि कहते हैं कि 'हे श्वेतकेतो ! सृष्टिकी उत्पत्तिसे पूर्व केवल एक अद्वितीय सत् ही विद्यमान था, उस एक और अद्वितीय सत्ने इच्छा की कि मैं प्रजारूपमें बहुत हो जाऊँ ।' ब्रह्मने एकसे बहु होनेकी इच्छा की । वे बहु किस प्रकार होते हैं, इसके सम्बन्धमें निर्वाणतन्त्रमें कहा है—

'सत्यलोकमें आकाररहित महाज्योतिःस्वरूप परब्रह्म अपनी ज्योतिःस्वरूपिणी मायाके द्वारा छिलकेसे चनेकी तरह अपनेको ढककर विराजित हैं । उस मायारूप छिलके (आच्छादन) को भेदकर वे ही शिव-शक्तिके रूपमें सृष्टिमें प्रकट हुए हैं ।'

ब्रह्मकी यह इच्छा होनेपर कि मैं बहुत हो जाऊँ, वह प्रकट चैतन्य अर्थात् पुरुष-संज्ञाको प्राप्त हुआ और यह वासना मूलातीता मूल-प्रकृति हुई । ब्रह्मवैवर्तपुराण, प्रकृति-खण्डके प्रथमाध्यायमें आता है—

'परमात्मा भगवान्ने सृष्टिके लिये योगका अवलम्बन करके अपनेको दो भागोंमें विभक्त किया । उनका दक्षिण भाग पुरुष और वाम भाग प्रकृति हुआ । यह प्रकृति ब्रह्मस्वरूपा, मायामयी, नित्या और सनातनी है । अग्निमें दाहिका शक्तिकी भाँति जहाँ आत्मा (पुरुष) होता है, वहाँ प्रकृति भी अवश्य ही रहती है । श्वेताश्वतरोपनिषद्में कहा है—

'परमात्माकी मायाको ही प्रकृति कहते हैं और मायाके स्वामी महेश्वरको मायी । उसी मायाविशिष्ट परमेश्वरके अवयवरूप भूतसमूहसे यह सारा जगत् व्याप्त है ।'

प्रकृति और पुरुषरूप उभयात्मक ब्रह्म जगत्-रूपमें प्रकाशित है । इसीलिये शास्त्रोंने 'हरगौर्यात्मकं जगत्' कहा है । अतएव प्रकृति और पुरुषके योगसे विश्वकी सृष्टि होनेके कारण ही एकमात्र परमात्मामें ही यह द्वैतका आरोप है । वस्तुतः परमात्मासे भिन्न कुछ है ही नहीं । शक्ति और शक्तिमान् एक ही हैं, उनमें कभी कोई भेद नहीं है ।

शक्तिशक्तिमतोश्चापि न विभेदः कथञ्चन ।

वायुपुराणमें कहा है—

'जिस प्रकार चन्द्रमासे उसकी चाँदनी अलग नहीं हो सकती, उसी प्रकार शिवसे शक्तिकी पृथक् सत्ता नहीं है । इसीलिये जहाँ शिव है, वहाँ शक्ति है और जहाँ शक्ति है, वहाँ शिव है ।' योगिवर गोरखनाथजी गोरक्षसंहितामें कहते हैं—

'जिस प्रकार कटुता, शीतलता और मृदुता जलसे पृथक् नहीं हो सकती, उसी प्रकार आत्मा और प्रकृति मुझको अभिन्न दीखती हैं । जिस प्रकार जल और उसके गुण दोनों भिन्न होते हुए भी अभिन्न हैं, उसी प्रकार आत्मा और प्रकृति भी भिन्न होते हुए ही अभिन्न हैं ।'

---

* इस लेखमें अपने अनुभवकी बातें भी रहेंगी, तथापि श्रीश्रीमद्गुरुमहाराज परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रीमत्स्वामी निगमानन्द-सरस्वतीदेवरचित 'ज्ञानी गुरु' और 'योगी गुरु'—इन दो ग्रन्थोंसे ही विशेष सहायता ली जायगी । इन दोनों पुस्तकोंके अध्ययनसे साधकगण विशेष लाभ उठा सकते हैं ।

प्रकृति और पुरुषके बारेमें संक्षेपमें यहाँ जो कुछ कहा गया है, उसीसे सुधी साधक समझ गये होंगे कि पुरुष और प्रकृति सर्वथा अभिन्न होनेपर भी कार्य-कारणवश भिन्न प्रतीत होते हैं। जगत्की सृष्टिके पश्चात् मायाके संयोगसे जैसे ये दोनों जगत्में भिन्न प्रतीत होते हैं, वैसे ही जीव-देहमें भी दोनों भिन्न-भिन्न स्थानोंमें विराजमान रहकर भौतिक देहके सब कार्योंको सुसम्पन्न कर रहे हैं। सद्गुरुकी कृपासे शास्त्रोक्त कठिन साधनाओंके द्वारा दोनोंका संयोग करानेपर ही आत्म-ज्ञान, ब्रह्मज्ञान, परामुक्ति अथवा पराभक्तिका अधिकारी बना जा सकता है। सम्प्रदायभेदसे इसीके भिन्न-भिन्न नाम होते हैं। योगियोंके मतसे यह परमात्माके साथ आत्माका संयोग अथवा शिवके साथ शक्तिका मिलन है। और वैष्णव-मतानुसार यही श्रीकृष्ण-राधाका सम्मिलन है। इसी आत्म-ज्ञानलाभकी साधनाके बारेमें इस प्रबन्धमें संक्षेपसे कुछ आलोचना की जाती है।

इस लेखमें योग-साधनाके सर्वश्रेष्ठ विषय कुण्डलिनी-जागरणके द्वारा समाधिकी विधि लिखनेका विचार है। इसे 'प्रकृति-पुरुष-योग' या 'शिव-शक्ति-योग' भी कहा जा सकता है।

योगकी साधना करनी हो तो साधकको योगके आठों अङ्गोंको भलीभाँति जान लेना चाहिये। योगके आठ अङ्ग ये हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। जो लोग योग-साधनाके द्वारा पूर्ण मानवताको प्राप्त होकर स्वरूप-ज्ञान लाभ करना चाहते हों, उन्हें इस 'अष्टाङ्ग योग' की साधना अवश्य करनी पड़ेगी।

अष्टाङ्ग योगमें सर्वप्रथम हैं—'यम' और 'नियम'।

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः।

(पातञ्जल०, साधनपाद, ३०)

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—इन्हें 'यम' कहते हैं।

शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः।

(पातञ्जल०, साधनपाद, ३२)

शौच, सन्तोष, तपस्या, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान—इन्हें 'नियम' कहते हैं।

यम और नियमकी साधन-प्रणाली देखनेमें बहुत ही सरल मालूम होती है, परन्तु इसका अभ्यास अत्यन्त कठिन है। साधक दूसरी किसी भी साधनाको चाहे न कर सके, यदि यम-नियमकी साधना पूर्णरूपेण सध जायगी तो इसीके प्रतापसे उसे यमराजके अतिथि बननेका कष्ट नहीं उठाना पड़ेगा और वह सत्यस्वरूप सच्चिदानन्दको प्राप्त होकर सदाके लिये आवागमनसे मुक्त हो जायगा। यम-नियमके पूरे दसों साधनोंका तो कहना ही क्या है, यदि कोई इनमेंसे केवल एक 'सत्य' की ही साधना सदा-सर्वदा सर्वावस्थामें पूर्णरूपसे कर सके तो बारह वर्षके अंदर ही वह सत्यस्वरूप सच्चिदानन्द-का दर्शन करके स्वयं सत्यलोकका अधिकारी बन सकता है।

यम-नियमकी साधना किये बिना साधन-मार्गमें उन्नति करना और पराभक्ति या मुक्तिका अधिकारी बनना असम्भव-सा है। अतएव यम-नियमकी साधना सबको सबसे पहले शुरू कर देनी चाहिये। इसीके साथ-साथ योगमार्गमें आगे बढ़ने तथा शरीरको साधनके योग्य बनानेके लिये—

आसन

—का अभ्यास भी शुरू करना चाहिये। योगकी किसी भी प्रकारकी उच्च साधनामें आप क्यों न लगे हों, जबतक आसनद्वारा शरीरको साधनाके योग्य न बना लेंगे एवं जबतक आसनमें सिद्धि-लाभ नहीं होगा, तबतक आप वस्तुतः उच्च साधनाके अधिकारी ही नहीं हैं। क्योंकि जबतक साधक एक स्थिर आसनसे दीर्घ समयतक नहीं बैठ सकेगा, तबतक न तो उसका मन ही स्थिर होगा और न उससे साधना ही बनेगी। अतएव यम-नियमके साथ ही सर्वप्रथम आसनका अभ्यास भी परम आवश्यक है।

जितने प्रकारके जीव हैं, उतने ही प्रकारके आसन भी होते हैं। उनमेंसे योगशास्त्रमें ८४ प्रकारके आसनोंकी बात लिखी है। इन चौरासी आसनोंमें योगसाधनाके लिये—

सिद्धासन

—को ही सर्वश्रेष्ठ माना गया है। इसकी साधना भी दूसरे आसनोंकी अपेक्षा सरल तथा सहजसाध्य है। इसके सम्बन्धमें गोरक्षसंहितामें कहा गया है—

'बायें पैरके मूल देशसे योनिस्थानको दबाकर और एक पैरको जननेन्द्रियपर रखकर ठुड्डीको हृदयमें जमा ले, और देहको सीधा रखकर दोनों भौंहोंके बीचमें दृष्टि स्थापन करके यानी शिवनेत्र होकर निश्चल भावसे बैठे। इसे सिद्धासन कहते हैं।'

सद्गुरु महाराज अपने 'योगी गुरु' ग्रन्थमें सिद्धासनके बारेमें लिखते हैं—

'सिद्धि-लाभके लिये 'सिद्धासन' सहज और सरल आसन है। सिद्धासनका अभ्यास करनेसे बहुत शीघ्र योगकी सिद्धि होती है। इसका कारण यही है कि लिङ्गमूलमें जीव और कुण्डलिनी शक्ति विराजमान हैं। सिद्धासनके द्वारा वायुका पथ सरल और सहजगम्य हो जाता है। इससे स्नायुके विकास और समस्त शरीरकी बिजलीके लिये चलने-फिरनेका सुभीता हो जाता है। योगशास्त्रमें कहा है कि सिद्धासन मुक्तिद्वारके किवाड़ खोल देता है एवं सिद्धासनसे आनन्दकारी उन्मनी-दशा प्राप्त होती है।

आप कोई-सी भी साधना क्यों न करें, सिद्धासन सभी साधनाओंके लिये परम उपयोगी है। परन्तु जो सज्जन कठोर ब्रह्मचर्यकी रक्षामें असमर्थ हैं, उनके लिये सिद्धासन उतना ठीक नहीं है। क्योंकि कभी-कभी केवल सिद्धासनसे ही किसी-किसी साधककी कुण्डलिनी-शक्ति जग जाती है। उस समय मन, वचन, शरीरसे पूर्ण ब्रह्मचर्यकी रक्षा न करके जो पुरुष रतिक्रियामें लिप्त रहता है, उसे हानिके अतिरिक्त लाभकी सम्भावना बहुत कम रहती है। दूसरी ओर, ब्रह्मचर्यकी पूरी रक्षा करता हुआ यदि कोई रोग-शोक या अन्य किसी भी कारणसे पीड़ित व्यक्ति नित्य नियमित रूपसे सिर्फ सिद्धासनका अभ्यास करता है तो उसकी व्याधि दूर होकर वह स्वस्थ-शरीर हो जाता है एवं दिनोंदिन उसके शरीरका लावण्य बढ़कर वह परम ज्योतिमान् होता जाता है। सिद्धासन वस्तुतः संसारविमुख साधकोंके लिये सर्वश्रेष्ठ है। जिनमें सिद्धासन करनेकी शक्ति न हो या किसी अन्य कारणवश जिन्हें सिद्धासनकी इच्छा न हो वे—

पद्मासन

—का अभ्यास कर सकते हैं। पद्मासनसे भी स्थिति तो वही प्राप्त होती है, परन्तु कुछ देर हो जाती है। एक बात यह भी है कि पद्मासनका अभ्यास संसारविमुख साधक ही नहीं, सांसारिक सुख-शान्तिकी इच्छा रखनेवाले व्यक्ति भी कर सकते हैं। इससे किसी हानिकी सम्भावना नहीं है। पद्मासनके लिये गोरक्षसंहितामें कहा है—

'बायीं जाँघपर दाहिना पैर एवं दाहिनी जाँघपर बायाँ पैर रखकर दोनों हाथोंको पीठकी ओर घुमाकर बायें हाथसे बायें पैरका अँगूठा एवं दाहिने हाथसे दाहिने पैरका अँगूठा पकड़ लेना चाहिये और ठुड्डीको छातीमें टिकाकर दृष्टिको नाककी नोकपर जमा देना चाहिये। इसीका नाम पद्मासन है।'

पद्मासन लगानेसे निद्रा, आलस्य, जडता प्रभृति देहकी ग्लानियाँ दूर हो जाती हैं। पद्मासनके प्रभावसे कुण्डलिनी चैतन्य हो जाती है एवं दिव्य ज्ञानकी प्राप्ति होती है। पद्मासनसे बैठकर दाँतोंकी जड़में जीभकी नोकको जमा दिया जाय तो बहुत-सी बीमारियाँ छूट जाती हैं।

पद्मासन दो प्रकारका होता है—'मुक्त' और 'बद्ध'। उपर्युक्त नियमसे बैठनेको 'बद्ध पद्मासन' कहते हैं एवं हाथोंसे पैरोंके अँगूठोंको न पकड़कर दोनों हाथोंको दोनों जाँघोंपर चित रखकर बैठनेका नाम 'मुक्त पद्मासन' है।

जिनका शरीर साधनसम्पन्न न हो किन्तु जिन्हें साधना करनेकी इच्छा हो अथवा अत्याचार, अनाचार, व्यभिचार आदि किसी भी कारणसे जिनका शरीर रोगग्रस्त हो गया हो उनके लिये पहले 'बद्ध पद्मासन'का अभ्यास करना उत्तम है। बद्ध पद्मासन कुछ कठिन अवश्य है, परन्तु उससे शरीरकी सारी इन्द्रियाँ तथा समस्त नाड़ियाँ जडताको त्यागकर चेतन हो जाती हैं एवं नस-नसमें रक्तका प्रवाह जोरसे हो जानेके कारण शीघ्र ही शरीर रोगमुक्त होकर लावण्यमय हो जाता है। आयुर्वेदके अनुसार जिसे स्नायविक दौर्बल्य कहते हैं, वह रोग भी इस आसनके अभ्याससे जल्दी ही मिट जाता है। कोई भी पुरुष कुछ कष्ट उठाकर प्रतिदिन नियमितरूपसे सिर्फ आध-आध घंटे इसका अभ्यास दिनमें चार बार—कम-से-कम दो बार भी करे तो इस बातकी सत्यताका वह स्वयं ही अनुभव कर सकता है।

'बद्ध पद्मासन'के फलस्वरूप जठराग्निका संशोधन होकर पाचनशक्ति बढ़ जाती है एवं यकृत् या प्लीहा रोगसे पीड़ित व्यक्ति आसानीसे इन रोगोंसे छुटकारा पा जाता है।

बद्ध पद्मासनसे शरीर स्वस्थ होनेके बाद मुक्त पद्मासन या सिद्धासनका अभ्यास कर सकते हैं। बद्ध पद्मासनसे शङ्करोक्त 'नाड़ीशोधन' तथा प्राणायाम नहीं बन सकता; क्योंकि दोनों हाथोंसे दोनों पैरोंके अँगूठोंको पकड़ लेनेपर प्राणायामके लिये अँगुलियोंसे नथुनोंको दबानेकी सुविधा नहीं रहती। अतएव बद्ध पद्मासनमें बैठकर शरीरको स्वस्थ और ध्यानका अभ्यास किया जा सकता है, प्राणायाम और पूजन नहीं किया जा सकता।

युक्तप्रदेश आदि प्रान्तोंमें अनेकों सज्जन 'शीर्षासन'

किया करते हैं और उसकी विशेष प्रशंसा करते हैं। कसरतके लिये या शरीरकी स्वस्थताके लिये कोई सज्जन शीर्षासन करें तो कोई हर्ज नहीं है; किन्तु उच्चाङ्गकी कोई भी साधना इस आसनसे नहीं बन सकती। यहाँतक कि शीर्षासन करनेवाले अनेकों सज्जनोंने मुझसे कहा है कि उनका न तो ध्यान ही जमता है, और न मन ही स्थिर होता है। शीर्षासनसे रक्तका स्रोत मस्तिष्ककी ओर जोरसे प्रवाहित होने लगता है, इससे किसी-किसीके मस्तिष्ककी शक्ति अवश्य ही बढ़ सकती है। परन्तु आयुर्वेदकी दृष्टिसे अन्तमें उसके मस्तिष्कमें रोग उत्पन्न होनेकी सम्भावना है तथा High Blood-Pressure का शिकार बनना भी सम्भव है। अतः मेरी रायसे हर किसी सज्जनको शीर्षासन नहीं करना चाहिये। उसके बदले 'बद्ध पद्मासन' करके शीर्षासनका लाभ उठाना चाहिये। शीर्षासनसे बीमारी पैदा होनेकी जितनी सम्भावना रहती है, बद्ध पद्मासनसे वे बीमारियाँ तो होती ही नहीं, वरं दूसरी कोई बीमारी पहले रहती है तो वह भी मिट जाती है। अतः प्रत्येक सज्जनको चाहिये कि वे शीर्षासनकी ओरसे ध्यान हटाकर अपनी-अपनी सुविधाके अनुसार मुक्त पद्मासनका या सिद्धासनका अभ्यास करें।

आसन करते समय एक बातपर ध्यान रखनेकी विशेष आवश्यकता है। वह यह कि आसनसे बैठकर मेरुदण्ड (रीढ़की हड्डी) को ठीक सीधा रखकर बैठे। आसन किया, परन्तु मेरुदण्डको सीधा न रक्खा तो सारा परिश्रम मिट्टीमें मिल जायगा—कोई लाभ न होगा। वरं ऐसी हालतमें रोगोंके उत्पन्न होनेकी सम्भावना रहती है। अतएव मेरुदण्डको सीधा रखकर आसन लगाना चाहिये। मेरुदण्ड सीधा न रहा और कदाचित् किसी भी कारणसे किसीकी कुण्डलिनी-शक्ति चैतन्य हो गयी तो मेरुदण्डको भेदकर वह निकल जायगी, और उससे तुरंत ही शरीर छूट जायगा। अन्यथा कुब्जता आदि रोगोंकी भी सम्भावना रहती है। इसलिये मेरुदण्डको सीधा रखना आसनका सर्वप्रधान उद्देश्य है। फिर, जो सज्जन प्राणायामादि आभ्यन्तरिक क्रिया करते हैं, उन्हें तो मेरुदण्डको निश्चय ही सीधा रखना चाहिये, नहीं तो अवश्य ही हानि होगी।

इस बातको सदा स्मरण रखना चाहिये कि आसनके समय शरीर न हिले-डुले, न दुखे और न चित्तमें किसी प्रकारका उद्वेग ही हो। ऐसी अवस्थामें सुखसे बैठनेको आसन कहते हैं। ऐसे ही आसनके अभ्याससे सर्व प्रकारके द्वन्द्व छूट जाते हैं। अर्थात् सरदी-गरमी, भूख-प्यास, राग-द्वेष आदि किसी प्रकारके द्वन्द्व योग-साधनमें या दूसरी किसी भी प्रकारकी साधनामें बाधा नहीं डाल सकते।

आसनोंके बारेमें सिद्ध योगियोंका कथन है कि विभिन्न साधनाओंमें विभिन्न आसनोंसे शरीर और मनका विशेष सम्बन्ध है। फिर योग-साधन करते समय दीर्घकालतक एक ही ढंगसे बैठे रहना योग-साधनाका एक प्रधान अङ्ग है। योगाभ्यासके समय योगीके देहमें नयी-नयी क्रिया उत्पन्न होती है एवं स्नायु-प्रवाह भी नये मार्गमें चलता रहता है और यह सब कुछ मेरुदण्डके बीचमेंसे ही होता है; अतः मेरुदण्डको जिस ढंगसे एवं जिस अवस्थामें रखनेसे यह क्रिया उत्तम रूपसे सम्पन्न हो, वही सब बातें ठीक-ठीक आसनप्रणालीमें विद्यमान हैं। मेरुदण्ड, छाती, गला, मस्तक और पञ्जरास्थि—इन सबको जिस तरह रखनेसे साधना ठीक बन पड़ती है, वही आसनका प्रधान लक्ष्य है। अतएव आसनोंको भी किसी अनुभवी गुरुके पास सीखना चाहिये। नहीं तो यथार्थ लाभ नहीं होगा। आसन लगाकर बैठनेसे जब शरीरमें दर्द या किसी प्रकारके कष्टका अनुभव न होकर एक प्रकारके आनन्दका उदय हो, तभी समझना चाहिये कि आसनमें सिद्धि मिली है।

नित्य नियमितरूपसे चार बारमें प्रति बार कम-से-कम आधे घंटेतक आसनका अभ्यास करनेसे ६ महीनेमें आसन-सिद्धि हो सकती है। जो साधक एक आसनमें प्रति बार ३ घंटेतक स्थिर भावसे बैठ सकते हैं, उनके लिये योग साधना बहुत सहज है।

आसनमें सिद्धि प्राप्त करनेके बाद योगके चतुर्थ अङ्ग—

प्राणायाम

—का अभ्यास करना चाहिये। एककी साधनामें सिद्धि लाभ न हो तो दूसरी साधना बन नहीं सकती। परन्तु वर्तमान समयमें चञ्चलमति मनुष्य इस बातपर जरा भी ख्याल नहीं रखते।

तात्पर्य यह है कि बालकको पहली पुस्तक पढ़नेमें जैसे कई महीने निकल जाते हैं, वैसे ही साधकको यम-नियमके साथ ही दीर्घकालतक आसनका अभ्यास करना चाहिये। आसनके उत्तम रूपसे जम जानेपर अन्तमें जब आसन-सिद्धि प्राप्त होगी, तब एक प्रकारसे अनिर्वचनीय आनन्दसे

चित्त भर जायगा। चित्त-कमल प्रस्फुटित होकर न जाने कितनी तरहकी सुगन्धियोंसे मतवाला हो जायगा। तभी समझना चाहिये कि आसन-सिद्धि हुई है, एवं शरीर दूसरे प्रकारकी अगली साधनाके उपयुक्त बन गया है। तभी आगेकी साधना शुरू करनी चाहिये। आगेकी साधना प्राणायाम है; परन्तु प्राणायाम करनेसे पहले नाड़ियोंका तत्त्व जान लेना चाहिये, क्योंकि प्राणायामकी क्रिया नाड़ीके भीतरसे ही होती है। इसलिये यहाँ संक्षेपमें नाड़ियोंकी बात लिखी जाती है।

नाड़ियाँ

भौतिक देहको कार्यक्षम बनानेके लिये मूलाधारसे साढ़े तीन लाख नाड़ियाँ उत्पन्न होकर खड़े हुए पीपल या कमलके पत्तेपर जैसे नसें देख पड़ती हैं, वैसे ही ये नाड़ियाँ अस्थिमय शरीरके ऊपर ओतप्रोत रूपसे व्याप्त होकर अङ्ग-प्रत्यङ्गका सब काम सम्पन्न कर रही हैं। इन साढ़े तीन लाख नाड़ियोंमें चौदह नाड़ियाँ प्रधान हैं।

'इडा, पिङ्गला, सुषुम्णा, गान्धारी, हस्तिजिह्वा, कुहू, सरस्वती, पूषा, शङ्खिनी, पयस्विनी, वारुणी, अलम्बुषा, विश्वोदरी और यशस्विनी—इन चौदह नाड़ियोंमें भी इडा, पिङ्गला और सुषुम्णा ये तीन ही प्रधान हैं (शिवसंहिता)। यहाँपर सब नाड़ियोंकी बातें न लिखकर सिर्फ उपर्युक्त तीन नाड़ियोंके सम्बन्धमें ही आलोचना की जाती है, क्योंकि इन तीन नाड़ियोंके जान लेनेपर साधक साधनामें संलग्न हो सकता है।'

उपर्युक्त तीन नाड़ियोंमें 'सुषुम्णा' नाड़ी मूलाधारसे उत्पन्न होकर नाभि-मण्डलमें जो अण्डाकार नाड़ीचक्र (मणिपूर) है, उसके बीचमें होती हुई ब्रह्मरन्ध्रतक चली गयी है। सुषुम्णाकी बायीं ओरसे इडा एवं दाहिनी ओरसे पिङ्गला उत्थित होकर स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत और विशुद्ध चक्रोंको धनुषाकारसे घेरती हुई आज्ञाचक्रके ऊपर जाकर सुषुम्णामें मिल गयी है। इसी स्थानका नाम त्रिकूट या त्रिवेणी है। योगी अपने साधनबलसे इसी त्रिवेणीमें स्नान करके जन्म-जन्मार्जित पाप-पुण्यसे छुटकारा पाकर मुक्तिके अधिकारी बन जाते हैं। उपर्युक्त स्थानपर तीनों नाड़ियाँ मिलकर इडा बायें नथुनेतक, पिङ्गला दाहिने नथुनेतक, एवं सुषुम्णा ब्रह्मरन्ध्रतक चली गयी है।

मेरुदण्डके छेदके अंदरसे होकर सुषुम्णा, एवं मेरुदण्डके बाहरी ओरसे होकर इडा और पिङ्गला दोनों नाड़ियाँ चली गयी हैं। इडा चन्द्रस्वरूपा है, पिङ्गला सूर्यस्वरूपा है एवं सुषुम्णा चन्द्र, सूर्य और अग्निस्वरूपा है। तथा वह सत्त्व, रज और तम—तीनों गुणोंसे युक्त अति शुभ्र श्वेतवर्णा है।

इडा, पिङ्गला और सुषुम्णा—ये तीनों ही नाड़ियाँ प्रधान हैं। इनमें भी सुषुम्णा सर्वप्रधान है। प्राणायामकी सहायतासे इडा और पिङ्गला नाड़ीको संयुक्त करके सुषुम्णा नाड़ीके अंदर पहुँचाकर उस सुषुम्णा नाड़ीसे योगके उच्चाङ्गकी साधना करनी पड़ती है। परन्तु अकेली सुषुम्णासे साधनाका पूरा कार्य सम्पन्न नहीं होता। सुषुम्णाके भीतर—

वज्रिणी

—नामकी एक नाड़ी है। यह नाड़ी शिश्नदेशसे निकलकर शिरःस्थानतक छायी हुई है। इस वज्रिणी नाड़ीके बीचमेंसे आद्यान्त प्रणवयुक्ता अर्थात् चन्द्र, सूर्य और अग्निस्वरूपा, ब्रह्मा, विष्णु एवं शिवसे आदि एवं अन्तमें मिली हुई मकड़ीके जालेकी तरह बहुत पतली एक—

चित्रिणी

—नामकी नाड़ी और है। उस चित्रिणी नाड़ीमें सब पद्म या चक्र गुँथे हुए हैं। चित्रिणी नाड़ीके बीचमें दूसरी ओर एक विद्युत्-वर्णा, ज्योतिर्विशिष्टा नाड़ी है। उसे—

ब्रह्मनाड़ी

—कहते हैं। ब्रह्मनाड़ी मूलाधार पद्मस्थित महादेवके मुखसे उत्थित होकर शिरःस्थित सहस्रदलतक फैली हुई है।

योगियोंको ध्यान, धारणा, प्राणायाम तथा कुण्डलिनी-उत्थापन आदि क्रियाएँ इस ब्रह्मनाड़ीसे ही करनी पड़ती हैं। योग-साधनका चरम फल इस ब्रह्मनाड़ीसे सम्पन्न होता है। इस ब्रह्मनाड़ीके अंदरसे प्राण, अपान आदि दसों वायुओंको कुण्डलिनीके साथ प्रवेश कराके धीरे-धीरे चक्रोंका भेद करते हुए ब्रह्मरन्ध्रमें पहुँचनेसे आत्मसाक्षात्कार या ब्रह्मज्ञान प्राप्त होता है। तब योगके उद्देश्यकी सिद्धि होकर मुक्तिलाभ होता है। इसी साधनाकी कुछ प्रत्यक्ष क्रिया इस प्रबन्धमें संक्षेपमें लिखनेकी चेष्टा की जाती है।

उपर्युक्त विवेचनसे नाड़ीकी बातें कुछ समझमें आयी होंगी। प्राणायामके लिये जैसे नाड़ीकी बात जाननेकी आवश्यकता पड़ती है, वैसे ही वायुके सम्बन्धमें भी जानकारी प्राप्त कर लेना उचित है। वायु क्या है, वह कितने प्रकारका

है, एवं कहाँ किस वायुने विद्यमान रहकर शरीरको कार्यक्षम बना रक्खा है—जबतक यह मालूम नहीं होगा, तबतक प्राणायाममें सिद्धि मिलना भी असम्भव-सा है । अब संक्षेपमें वायुके सम्बन्धमें सुनिये—

वायुका ज्ञान

देहमें जितने प्रकारके शारीरिक कार्य होते हैं, सभी वायुकी सहायतासे होते रहते हैं । चैतन्यकी सहायतासे इस जड देहमें वायु ही जीवरूपमें सब दैहिक कार्योंको सम्पन्न कर रहा है । देह यन्त्रमात्र है, एवं वायु उसके चलानेका उपकरण है । इसलिये वायुको वश करके उसे स्वाधीनभावसे चलाना ही योग-साधनका प्रधान कार्य है । वायुके वश हो जानेपर मन स्वतः ही वशमें हो जाता है और मनके वशमें हो जानेपर इन्द्रिय-जय तो अनायास ही हो सकता है । एकादश इन्द्रियोंके जीत लेनेपर शरीरमें अनुपम शक्तिकी उत्पत्ति होकर शीघ्र ही सिद्धि मिल जाती है ।

मानव-देहके अंदर हृद्देशमें अनाहत नामक चक्रके बीचमें त्रिकोणपीठपर वायुबीज 'यं' विद्यमान है । वायुबीज या वायुयन्त्रको प्राण कहा जाता है । प्राणवायु ही शरीरके नाना स्थानोंमें स्थित रहकर दैहिक कार्योंके भेदसे दस नामोंसे पुकारा जाता है ।

प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनञ्जय—ये दस वायुओंके नाम हैं (गोरक्षसंहिता)। इन दसों वायुओंमें प्राणादि पञ्चवायु अन्तःस्थ एवं नागादि पञ्चवायु बहिःस्थ हैं । अन्तःस्थ पाँचों प्राणोंके पृथक्-पृथक् स्थान शरीरमें निर्दिष्ट हैं ।

'प्रधान पञ्चवायुओंमें प्राणवायु हृदयमें, अपान गुह्य-देशमें, समान नाभिमण्डलमें, उदान कण्ठमें और व्यान सारे शरीरमें व्याप्त होकर स्थित है ।' (गोरक्षसंहिता) यद्यपि ये अलग-अलग नामोंमें विभक्त हैं, तथापि इनमें मूल और प्रधान एक प्राणवायु ही है ।

प्राणस्य वृत्तिभेदेन नामानि विविधानि च ।
(शिवसंहिता)

'प्राणवायुके ही वृत्तिभेदसे विविध नाम हुए हैं ।'

अब इन दसों वायुओंके गुण जान लेना आवश्यक है । प्राणादि अन्तःस्थ पञ्चवायु और नागादि बहिःस्थ पञ्चवायु अपने-अपने स्थानमें रहकर शारीरिक समस्त कार्योंको सम्पन्न कर रहे हैं । योगियाज्ञवल्क्यमें कहा है—

'नाकसे श्वास-प्रश्वास लेना, पेटमें पहुँचे हुए अन्न-जलको पचाना और पृथक् करना तथा नाभिस्थलमें अन्नको विष्ठारूपमें, जलको स्वेद और मूत्ररूपमें एवं रसादिको वीर्यरूपमें परिवर्तित करना प्राणवायुका कार्य है । पेटमें अन्नादिके पचानेके लिये अग्निको प्रज्वलित करना, गुह्यमेंसे मल निकालना, उपस्थमेंसे मूत्र निकालना, अण्डकोषमें वीर्य डालना, एवं शिश्न, ऊरु, जानु, कमर और जङ्घाओंके कार्य सम्पन्न करना अपानवायुका काम है । पक्व रसादिको बहत्तर हजार नाड़ियोंमें पहुँचाना, देहको पुष्ट करना और स्वेद निकालना समानवायुका काम है । अङ्ग-प्रत्यङ्गके सन्धिस्थान एवं अन्नका उन्नयन करना उदानवायुका काम है । कान, नेत्र, ग्रीवा, गुल्फ, कण्ठदेश एवं कमरके नीचेके भागकी क्रियाओंको सम्पन्न करना व्यानवायुका काम है । उद्गारादि नागवायुका, संकोचनादि कूर्मवायुका, क्षुधा-तृषादि कृकलवायुका, निद्रा-तन्द्रादि देवदत्तवायुका और शोषणादि धनञ्जयवायुका कार्य है ।

वायुके इन सब गुणोंको जानकर वायुपर विजय प्राप्त करनेसे साधक अपने शरीरपर इच्छानुरूप आधिपत्य स्थापन कर सकता है एवं शरीरको स्वस्थ, नीरोग और पुष्टि-कान्ति-विशिष्ट बना सकता है ।

शरीरमें जबतक वायु विद्यमान है, तभीतक मनुष्य जीवित है । वायु देहसे निकलकर जब पुनः अंदर नहीं पहुँचता, तब मृत्यु हो जाती है । प्राणवायु नथुनेके छेदसे आकर्षित होकर नाभिग्रन्थितक और अपानवायु योनिस्थानसे नाभिस्थानतक नीचेके भागमें गमनागमन करता है । जिस समय नासारन्ध्रद्वारा प्राणवायु आकर्षित होकर नाभिमण्डलके ऊर्ध्वभागको विकसित करता रहता है, उसी समय अपानवायु योनिदेशसे आकर्षित होकर नाभिमण्डलके अधोभागको विकसित करता है । इसी प्रकार नासारन्ध्र और योनिस्थान—इन दोनों स्थानोंसे प्राण और अपान—ये दोनों वायु ही पूरक-कालमें नाभि-ग्रन्थिमें आकृष्ट होते हैं एवं रेचक-कालमें दोनों तरफ अपने-अपने स्थानोंमें चले जाते हैं ।

फिर जब ये दोनों वायु नाभि-ग्रन्थिको तोड़कर एक साथ मिलकर चलते हैं, तभी ये देहका त्याग करते हैं ।

पृथिवीकी भाषामें तभी जीवकी मृत्यु हो जाती है। मृत्यु-समयके ऐसे भावको 'नाभिका श्वास' कहते हैं।

प्राणायामके दो मुख्य विषयों (नाड़ी तथा वायु) पर संक्षेपमें आलोचना की गयी। अब तीसरा विषय है—

नाड़ी-शोधन

भौतिक देहमें रहनेवाली जो साढ़े तीन लाख नाड़ियाँ हैं, वे सभी नाना प्रकारके मलादिसे गंदी रहती हैं। उन सब नाड़ियोंको साफ न करनेसे वायुको रोका (कुम्भक) नहीं जा सकता, अतः प्राणायाम भी नहीं बन पड़ता। इसलिये प्राणायामका अभ्यास शुरू करनेके पहले नाड़ीका शोधन कर लेना अत्यन्त आवश्यक है। हठयोगी षट्कर्म-द्वारा नाड़ीका शोधन कर लेते हैं। उसकी प्रणाली भी शास्त्रमें विद्यमान है। गोरक्षसंहिताके अनुसार 'षट्कर्म' ये हैं—धौति, वस्ति, नेति, लौलिकी, त्राटक और कपालभाति। इन सब क्रियाओंसे नाड़ी-शोधन करनेकी शक्ति तथा समय वर्तमानकालके स्वल्पायु मानवके पास बहुत ही कम है। क्योंकि विधिवत् 'षट्कर्म' करनेके लिये लगातार कई वर्षोंतक अभ्यास करनेकी आवश्यकता है। फिर, उसमें यदि साधारण-सी भूल हो जाय तो जीवन बहुत खतरेकी हालतपर पहुँच सकता है। यह मेरी मनगढन्त बात नहीं है। हठयोग करनेवाले ऐसे अनेकों सज्जनोंसे मेरा परिचय है जो हठयोग-साधनामें भूलसे नाना प्रकारकी कठिन बीमारियोंके, विशेषकर दमाके शिकार हो रहे हैं।

अतः हठयोगकी इन छः क्रियाओंके अतिरिक्त कलियुगके स्वल्पायु मानवके लिये भगवान् शङ्कराचार्यदेवने नाड़ी-शोधनका एक बहुत ही सरल उपाय बतलाया है। मैं स्वयं इस सरल और सुलभ विधिसे क्रिया करके लाभ उठा चुका हूँ। हठयोगकी विधिसे नाड़ी-शोधन करनेमें जीवनका अधिकांश समय उन छः क्रियाओंमें ही बीत जाता है, और यदि साधक रोगग्रस्त नहीं भी होता तो ऐसा करते-करते उसका अन्तिम समय तो प्रायः समीप आ ही जाता है। ऐसी अवस्थामें अगली साधनाओंके लिये जीवनमें अवकाश ही नहीं रह जाता। दूसरी बात यह है कि हठयोगकी षट्क्रियाओंमें जैसे कठोर नियम-संयमकी आवश्यकता है, शङ्करोक्त नाड़ी-शोधनमें उतने नियम-संयमकी जरूरत नहीं है। एक खास बात और है कि हठयोगकी षट्क्रियासे नाड़ी-शोधन करनेमें जितना लंबा समय बीतनेके बाद कहीं सिद्धि मिलती है, शङ्करोक्त विधिसे नाड़ी-शोधनमें उसके शतांश समयमें ही उतनी सिद्धि मिल जाती है। अतः मेरी रायमें इतने खतरनाक रास्तेपर न चलकर भगवान् शङ्करकी बतलायी हुई विधिका अनुसरण करना ही उत्तम है। इस विधिसे केवल तीन ही महीनेके भीतर नाड़ी-शोधनमें सिद्धि मिल जाती है। वह विधि इस प्रकार है—

नाड़ी-शोधनकी सरल विधि

सिद्धासन या पद्मासनमें स्थिर भावसे बैठ जाय। और दाहिने हाथके अँगूठेसे दाहिने नथुनेको कुछ दबाकर बायें नथुनेसे जहाँतक हो सके, वायुको खूब धीरे-धीरे खींचे एवं जरा-सी देर भी न ठहरकर अनामिका और कनिष्ठिका अँगुलियोंसे बायें नथुनेको बंदकर दाहिने नथुनेसे वायुका रेचन कर दे यानी वायुको बाहर निकाल दे। फिर उसी तरह दाहिने नथुनेसे वायुको खूब धीरे-धीरे खींचकर यथाशक्ति पूर्वोक्त रीतिसे बायें नथुनेसे निकाल दे। परन्तु स्मरण रहे कि खींचनेका काम पूरा होते ही उसी वक्त वायुको निकाल देना चाहिये, जरा देर भी रोकना ठीक नहीं। पहले अभ्यास करते समय उपर्युक्त क्रिया तीन बार करनी चाहिये। तीन बार अच्छी तरहसे अभ्यास हो जानेपर फिर पाँच बार, फिर सात बार, इसी प्रकार क्रमशः बढ़ाना चाहिये।

दिन-रातके बीचमें इसी तरह एक बार ब्राह्ममुहूर्तमें, एक बार दोपहरके समय, एक बार सन्ध्याको और एक बार रात्रिके समय अभ्यास करना चाहिये। प्रतिदिन नियम-पूर्वक चार बार यत्नके साथ यह साधन करना उचित है। इस प्रकार अभ्यास करनेसे दो-तीन महीनेके अंदर ही सिद्धि मिलेगी। पूरक और रेचक जितना लंबा हो, उतना ही लाभदायक है।

नाड़ी-शोधनमें सिद्धि-लाभ हो जानेसे शरीर खूब हलका मालूम पड़ेगा। आलस्य, ढीलापन प्रभृति दोष सब दूर हो जायँगे। कभी आनन्दसे मन प्रफुल्लित हो उठेगा एवं समय-समयपर सुगन्धसे नाक भर जायगी।

ये सब लक्षण प्रकट होनेपर समझना चाहिये कि नाड़ी-शोधनमें सिद्धि मिल गयी है।

नाड़ी-शोधनके बाद योगका चतुर्थ अङ्ग प्राणायाम करनेका अधिकार प्राप्त होता है। जबतक नाड़ी-शोधन न हो जाय, तबतक किसीको भी प्राणायामका अभ्यास नहीं करना चाहिये। क्योंकि प्राणायामसे जैसे लाभ होता है, वैसे ही अनियमित होनेसे विशेष हानि भी सम्भव है। सिद्धियोगमें कहा गया है—

'प्राणायामकी साधनामें सिद्धिलाभ होनेसे समस्त व्याधियोंका नाश होता है; किन्तु अयुक्त अभ्याससे समस्त व्याधियोंकी उत्पत्ति हो जाती है। हिचकी, श्वास (दमा) खाँसी, सिरदर्द, नेत्रपीड़ा, कान-नाकके रोग प्रभृति नाना प्रकारकी व्याधियाँ उत्पन्न हो जाती हैं।' अतएव बड़ी धीरताके साथ विधिपूर्वक प्राणायामका अभ्यास करना चाहिये। अब प्राणायाम किसे कहते हैं, इसपर विचार कीजिये—

प्राणायाम

तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः।

(पातञ्जल० साधनपाद, ४९)

'श्वास-प्रश्वासकी स्वाभाविक गतिका विच्छेद करके उन्हें शास्त्रोक्त नियमसे चलानेका नाम प्राणायाम है।' इसके सिवा प्राण और अपान वायुके संयोगको भी प्राणायाम कहते हैं। (योगियाज्ञवल्क्य)

'प्राणायाम' शब्दसे हम साधारणतः रेचक, पूरक और कुम्भक—इन्हीं तीन प्रकारकी क्रियाओंको समझते हैं। बाहरकी वायुका आकर्षण करके भीतर भरनेको 'पूरक' तथा जलसे पूर्ण घड़ेकी तरह भीतर ही वायुके धारण करनेको 'कुम्भक' और उसी धृत वायुके बाहर निकालनेको रेचक कहते हैं।

गोरक्षसंहितामें आठ प्रकारके प्राणायाम बतलाये गये हैं—

'सहित, सूर्यभेदी, उज्जायी, शीतली, भस्त्रिका, भ्रामरी, मूर्च्छा और केवली—ये आठ प्रकारके कुम्भक होते हैं।' इनमेंसे—

शीतली प्राणायाम

—नित्य नियमित रूपसे प्रत्येक योगसाधकको करना चाहिये। इसकी साधनासे योगियोंका देह सर्वावस्थामें स्वस्थ, सबल और साधनसम्पन्न रहता है एवं किसी भी कारणवश रोग होनेकी सम्भावना नहीं रहती। इसके करनेसे अजीर्ण एवं कफ-पित्तादि रोगोंकी उत्पत्ति कभी नहीं होती (गोरक्षसंहिता)।

शीतली कुम्भककी साधनासे गुल्म, प्लीहा, ज्वर, शुक्रक्षय, क्षुधा, तृष्णा प्रभृति साधकके सर्वरोगोंका नाश होता है।' (घेरण्डसंहिता)

राजयक्ष्मा (क्षय–T.B.), दमा, शूल आदि अति कठिन रोग भी इस प्राणायामके अभ्याससे समूल नष्ट हो जाते हैं। यह बात मुझे भलीभाँति मालूम है। मैंने स्वयं भी कई कठिन रोगोंके चंगुलसे इस प्राणायामके द्वारा ही छुटकारा पाया है। शीतली प्राणायामकी विधि 'गोरक्षसंहिता'के अनुसार निम्न प्रकार है—

'जीभसे वायुका आकर्षण करना यानी दोनों होठोंको सिकोड़ (सूक्ष्म) कर बाहरकी वायुको धीरे-धीरे अंदर खींचना चाहिये। इस प्रकार अपनी शक्तिके अनुसार वायुको अंदर खींचकर मुँहको बंद रखना और घूँट लेकर वायुको पेटमें पहुँचाना चाहिये। पश्चात् यथाशक्ति पूरक वायुको कुम्भकके द्वारा धारण करके दोनों नथुनोंसे वायुको बाहर निकाल देना चाहिये।' इस नियमसे बार-बार वायुके खींचनेपर कुछ दिनों बाद रक्त साफ होकर शरीरस्थ रक्त-विकार नाश हो जायगा एवं शरीर कामदेव-जैसा चमकीला बनता जायगा। प्रतिदिन दिन-रातमें कम-से-कम ४-५ बार प्रति बार ५-७ मिनटतक यह क्रिया करनी चाहिये। पहले बतलाये हुए किसी भी आसनसे स्थिरभावसे बैठकर मनको स्थिर करके यह क्रिया करनी चाहिये। अवश्य ही जो जितनी ही अधिक यह क्रिया कर सकेंगे, वे उतना ही शीघ्र सुफल-लाभ कर सकेंगे।

मैले-कुचैले, गंदे और जहाँकी हवा बिगड़ी हुई है ऐसे स्थानमें, वृक्षके नीचे, अथवा किरासीन तेलकी बत्ती जल रही हो ऐसे घरमें, भोजनके बाद खायी हुई चीजोंके हज़म न होनेकी हालतमें यह क्रिया नहीं करनी चाहिये। वायु निकालनेके बाद हाँफना भी नहीं चाहिये। इस बातपर विशेष ख्याल रखना उचित है।

इस क्रियासे कठिन शूल एवं छाती, पेट आदिका कोई

भी भीतरी दर्द अवश्य ही मिट जायगा। (योगी गुरु, ४ अंश)

शरीरको स्वस्थ रखनेके लिये शीतली प्राणायाम उत्तम होनेपर भी, जो साधक उच्चाङ्गकी साधना करना चाहते हैं, उनके लिये सहित प्राणायाम करना विशेष आवश्यक है। क्योंकि कुण्डलिनीका उत्थापन आदि क्रियाएँ इस 'सहित प्राणायाम' की सहायतासे ही करनी पड़ती हैं। घेरण्डसंहितामें जिसे 'उड्डाख्य प्राणायाम' कहते हैं, वह यही 'सहित प्राणायाम' है। इसकी साधनविधि इस प्रकार है—

सहित प्राणायामकी विधि

पहले हाथके दाहिने अँगूठेसे दाहिने नथुनेको बंद करके वायुको रोककर प्रणव (ॐ) अथवा अपने इष्टमन्त्र-का सोलह बार जप करते हुए बायें नथुनेसे वायुको पूर्ण करके (पूरकके द्वारा वायुको भीतर खींचकर) कनिष्ठिका और अनामिका अँगुलियोंसे बायें नथुनेको बंद करके वायुको रोकते (कुम्भक करते) हुए 'ॐ' या मूलमन्त्रका चौंसठ बार जप करते-करते कुम्भक करे। इसके बाद दाहिने नथुने-से अँगूठेको उठाकर 'ॐ' या मूलमन्त्रका बत्तीस बार जप करते-करते दाहिने नथुनेसे वायुको बाहर निकाल दे। इसी प्रकार ठीक उलटे तौरपर अर्थात् श्वास छोड़नेके बाद उसी दाहिने नथुनेसे ही ॐ या मूलमन्त्रका जप करते हुए 'पूरक' एवं दोनों नथुनोंको बंद करके 'कुम्भक' करके फिर बायें नथुनेसे 'रेचक' करे। इसी प्रकार ठीक पहलेकी भाँति फिर नथुनोंको बंद करते और खोलते हुए उपर्युक्त रीतिके अनुसार पूरक, कुम्भक और रेचक करे, और बायें हाथकी अँगुलियोंके पोरोंसे उसकी संख्या गिनता रहे।

आरम्भमें ही पूर्वोक्त संख्यामें प्राणायाम करनेमें कष्ट प्रतीत हो तो ८। ३२। १६ या ४। १६। ८ बार जप करते हुए प्राणायाम करे। हिंदूधर्मके अतिरिक्त दूसरे धर्मवाले लोगोंको अथवा जिनको मन्त्र-जप करनेकी सुविधा नहीं है उनको एक, दो, तीन आदि संख्यासे ही प्राणायाम करना चाहिये, नहीं तो सफलता मिलनेकी सम्भावना नहीं रहेगी। क्योंकि ताल-तालपर श्वास-प्रश्वासकी क्रिया सम्पन्न करनी पड़ती है। परन्तु इस बातका सदा ध्यान रहे कि रेचक या पूरक—वायुका बाहर निकालना और अंदर भरना जोरसे न होने पावे। रेचकके समय विशेष सावधान रहना चाहिये। श्वासको इतना धीरे-धीरे बाहर निकालना चाहिये कि हथेली-पर रक्खा हुआ सत्तूका चूर्ण भी श्वासके वेगसे उड़ न सके। प्राणायामके समय पूर्वोक्त आसनसे बैठकर मेरुदण्ड, गर्दन और मस्तकको सीधा और दृष्टिको भौंहोंके बीचमें स्थिर रखना चाहिये।

'सहित प्राणायाम' या उड्डाख्य प्राणायाम दो प्रकारके होते हैं—(१) सगर्भ और (२) निर्गर्भ। जो प्राणायाम बीजमन्त्रके साथ किया जाता है, वह सगर्भ एवं जो बीजमन्त्रका परित्याग करके किया जाता है, वह निर्गर्भ है। इस 'सहित प्राणायाम'की साधनासे विविध रोगोंका नाश होता है—

'इस प्राणायामके सिद्ध होनेपर साधकके श्लेष्मजनित सर्व प्रकारके रोग—जलोदर एवं धातुगण्डादि रोग—विनष्ट हो जाते हैं, एवं उसकी जठराग्निकी दीप्ति होती है।' (घेरण्डसंहिता)

शिवसंहितामें प्राणायामसिद्धिके लक्षणोंका वर्णन इस प्रकार है—

योगीको अल्प निद्रा, अल्प मूत्र और अल्प पुरीष (मल) होता है। उसके शारीरिक तथा मानसिक कोई रोग नहीं रहता, कोई दीनता नहीं रहती, वह सदा सन्तुष्ट रहता है। उसके शरीरमें पसीना, कृमि, कफ, लार आदि पैदा नहीं होते। उसे अनाहार, अल्पाहार या बहुभोजनमें भी क्लेश नहीं होता। इस साधनासे साधकको भूचरी-सिद्धि प्राप्त होती है। यानी उसे गम्य-अगम्य सभी स्थानोंपर गमनागमन करनेकी शक्ति प्राप्त हो जाती है। और उसको वाक्सिद्धि प्राप्त हो जाती है, अर्थात् उसके मुँहसे जो कुछ निकलता है वही सत्य हो जाता है; वह स्वेच्छाविहार कर सकता है, दूरके शब्दोंको सुन सकता है, बहुत सूक्ष्म परमाणुओंको भी देख सकता है और दूसरेके शरीरमें प्रवेश कर सकता है। उसके विण्मूत्रके लेपनसे सोना अदृश्य हो जाता है, एवं उसे अन्तर्धान होनेकी भी शक्ति प्राप्त हो जाती है। योगके प्रभावसे ये सब शक्तियाँ मिल जाती हैं, एवं वह अविरोध शून्यमार्गमें गमनागमन कर सकता है।

परन्तु इतनी शक्ति साधकको तभी प्राप्त होती है जब कि वह एक कुम्भकमें साढ़े सात दण्ड या पूरे तीन घंटेतक वायुको धारण करनेकी शक्ति प्राप्त कर लेता है। शिवसंहितामें कहा है—

'जब अभ्यासके द्वारा पूरे एक प्रहरतक वायुको रोकनेकी शक्ति आ जायगी तब सिर्फ एक ही बारके कुम्भकसे काम चल जायगा। योगीके शरीरमें यदि एक प्रहरतक वायु निश्चल हो जाय तो वह अपनी सामर्थ्यसे पागलकी भाँति अँगूठेपर भार रखकर खड़ा रह सकता है।'

इतना अभ्यास हो जानेके बाद साधकको—

परिचयावस्था

प्राप्त होती है। जब इडा-पिङ्गलाको त्यागकर वायु निश्चल हो जाता है एवं प्राणवायु केवल सुषुम्णा नाड़ीके मध्यस्थित रन्ध्रसे ही सञ्चरित होता है, तभी उसे 'परिचयावस्था' कहते हैं।

'यह वायु क्रियाशक्ति (कुण्डलिनी) को ग्रहणकर सब चक्रोंका भेद करके जब अभ्यासयोगसे सुनिश्चित परिचयावस्थाको प्राप्त होता है, तब साधकको निश्चितकर्मका त्रिकूट दर्शन होता है (शिवसंहिता)'। अर्थात् उसे कर्मके लिये आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक—इन त्रिविध तापोंका अनुभव होता है एवं उनका स्वरूपदर्शन करनेपर उनकी प्रकृतिका ज्ञान होता है। उस समय 'प्राणायाम-परायण साधक अल्पकालमें ही ज्ञानी (आत्मतत्त्वज्ञ) हो सकता है। इसी कारण योगियों तथा मुनियोंको प्राणसंरोधका अभ्यास करना चाहिये।' (गोरक्षसंहिता)

साधकमें यदि तीन घंटेतक कुम्भक करनेकी शक्ति न उत्पन्न हो, तो भी उसे खेद नहीं मानना चाहिये। क्योंकि षोडश-प्राणायामसे भी साधकको विशेष लाभ होता है।

'षोडश-प्राणायामके द्वारा साधक पूर्व जन्मके और इस जन्मके जान और अनजानमें किये हुए विविध पाप-पुण्योंको नष्ट कर सकता है (शिवसंहिता)।' पुण्योंके नष्ट करनेका कारण यह है कि पुण्य भी वस्तुतः बन्धन ही करता है। बन्धनवाली जंजीर चाहे लोहेकी हो या सोनेकी, वह तो टूटनी ही चाहिये।

'प्राणायामके द्वारा साधकके पूर्वजन्मके तथा इस जन्मके सभी कर्मोंका नाश हो जाता है।' (शिवसंहिता)

'प्राणायाम सिद्ध होनेपर मोहावरणका क्षय होकर दिव्य ज्ञानका प्रकाश हो जाता है।' (पातञ्जल० साधन०)

प्राणायाम वृत्तिभेदसे तीन प्रकारका होता है—बाह्यवृत्ति, आभ्यन्तरवृत्ति तथा स्तम्भवृत्ति। रेचकका नाम है 'बाह्यवृत्ति' अर्थात् श्वासका त्याग करके उसे ग्रहण न करना; पूरकका नाम है 'आभ्यन्तरवृत्ति' अर्थात् श्वास ग्रहण करके फिर उसका त्याग न करना और कुम्भकका नाम है 'स्तम्भवृत्ति' यानी भरी हुई वायुको रोककर रखना। उक्त प्राणायाम फिर दीर्घ तथा सूक्ष्म भी होता है। दीर्घ और सूक्ष्मके पहचाननेके उपाय हैं—'स्थान', 'काल' और 'संख्या'। पूरक करते समय यदि देहके भीतर पैरसे लेकर सिरतक चिन-चिन करे तो समझना चाहिये कि प्राणायाम दीर्घ है, अन्यथा वह सूक्ष्म है। इस प्रकार जाननेका नाम 'स्थान' है। कितने समयतक कुम्भक किया गया है, इससे भी प्राणायामकी दीर्घ-सूक्ष्मता मालूम पड़ती है। यदि दीर्घ समयतक कुम्भक हो तो जानना कि वह दीर्घ है, नहीं तो सूक्ष्म है। ऐसा जाननेका नाम 'काल' है। संख्याद्वारा अर्थात् १६। ६४। ३२ आदि संख्याओंके मन्त्रजपद्वारा जाननेका नाम 'संख्या' है। संख्याकी वृद्धि कर सकनेसे 'दीर्घ' और संख्याका ह्रास होनेसे 'सूक्ष्म' है।

प्राणायाम उत्तम, मध्यम तथा अधम—तीन प्रकारका होता है।

'प्राणायामके समय शरीरसे पसीना निकलनेसे वह 'अधम', कम्प होनेसे 'मध्यम' और शून्यमें उत्थान होनेसे 'उत्तम' समझना चाहिये (योगियाज्ञवल्क्य)।' यदि प्राणायामके समय पसीना निकले तो नीचे लिखे अनुसार करना चाहिये। शिवसंहितामें कहा है—

'प्राणायामकी साधनामें पहले-पहल साधकके शरीरमें पसीना आता है। यदि पसीना हो तो उसको सारे शरीरपर मल लेना चाहिये। ऐसा न करनेसे सारे शरीरका धातु नष्ट हो सकता है।'

प्राणायामकी द्वितीयावस्थामें शरीरमें कम्प होता है। तृतीयावस्थामें मेढककी-सी गति होती है। बद्ध-पद्मासनमें स्थित

योगीको अवरुद्ध प्राणवायु प्लुत-गतिकी भाँति चलाता है। तदनन्तर अधिक कालतक वायुके रोक सकनेपर साधक भूमिका परित्याग कर शून्यमें स्थित रह सकता है।

अब विज्ञ साधकगण समझे होंगे कि सर्वसाधारणमें जो प्राणायाम प्रचलित है, उसमें तथा शास्त्रोक्त यौगिक प्राणायाम-में कितना अन्तर है। इन सब कठिन क्रियाओंको अत्यन्त धीर, स्थिर और अचञ्चल चित्तसे सुदीर्घ समयतक करना चाहिये। स्थिर विश्वास, अविचलित उद्यम, नियमित साधना तथा भोजनपर विशेष दृष्टि रखकर इस मार्गमें प्रवेश करना उचित है। 'श्रीश्रीसद्गुरु महाराजकी असीम कृपासे मैं अवश्य सिद्धिलाभ करूँगा' ऐसा दृढ़ विश्वास ही इस साधनाकी मूल भित्ति है।

जबतक प्राणायामका अभ्यास भलीभाँति नहीं हो जायगा, तबतक आगेकी साधना नहीं हो सकती। इसीलिये प्राणायाम-के सम्बन्धमें इतना अधिक लिखनेको विवश होना पड़ा है।

(अपूर्ण)

अनुरोध

हे नाथ भूल मत जाना। तुम एक बार आ जाना॥

(१)

उद्भ्रान्त पथिक सा व्याकुल,
मेरा मानस जब होवे।
हो कर विदग्ध तापों से,
सब सुध-बुध अपनी खोवे।
सन्मार्ग उसे दिखलाना,
बस एक बार आ जाना।

(२)

तेरे दर्शन की प्यासी,
आँखे अपलक पथ तकतीं।
चिर अटल कौमुदी विह्वल,
नैराश्य भाव हो भरती।
विधु-वदन उसे दिखलाना,
तुम एक बार आ जाना।

(३)

इस निर्जन पर्ण कुटी में,
सुनती तेरे पद चंचल।
यह आँखमिचौनी उससे,
अनुदिन जो बेसुध पद-तल।
निर्दयी! भूल मत जाना,
बस एक बार आ जाना।

(४)

दीनों की जर्जर कुटिया,
नैराश्य राज्य है अविचल।
वेदना सिसक पीड़ा-युत,
है अश्रु भरे दृग अंचल।
निज प्रण को भूल न जाना,
तुम एक बार आ जाना।

(५)

तुम स्नेह सलिल घन पूरित, कुछ कण ही बरसा देना।
प्रेमी के मृदु-भावों को, यों ही मत ठुकरा देना।
तुम स्नेह-सुधा बरसाना, बस एक बार आ जाना।

—गिरिजादेवी 'विदुषी'

श्रीहरिः

प्रकाशित हो गया ! तीसरा संस्करण प्रकाशित हो गया !!

गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीविरचित

श्रीरामचरितमानस (मूल-गुटका)

दूसरे संस्करणमें संक्षिप्त विषयसूची, पारायण-विधि तथा नवाह्न और मासपारायणके विश्रामस्थानोंकी तालिकाके पृष्ठ बढ़ाये गये थे, अबकी बार गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीकी संक्षिप्त जीवनीके ८ पृष्ठ और बढ़ाये गये हैं। पुस्तकका मूल्य वही ॥) है पर कागजोंके दाम इतने बढ़ जानेके कारण अबकी बार २२×२९=२८ पौंडके कागज़ न देकर २२×३०=२४ पौंडके लगाये गये हैं।

आकार २२×३० बत्तीसपेजी, पृष्ठ-संख्या ६८८, हाथके बुने कपड़ेकी सुन्दर जिल्द, श्रीरामदरबारका एक रंगीन और श्रीतुलसीदासजीका एक सादा चित्र, मूल्य ॥) मात्र।

प्रत्येक काण्डके आदिमें सुन्दर लाइन चित्र दिये गये हैं। जिनके नाम ये हैं—मायामुक्त नारदजी, राम-भरत-मिलन, सुतीक्ष्णजी रामके ध्यानमें, सीताकी खोज, शरणागत विभीषण, रामके लिये देव-रथ और प्रभुका ऐश्वर्य।

यह संस्करण 'मानसाङ्क'में आये हुए पाठके अनुरूप ही क्षेपकरहित और शुद्ध पाठसे युक्त है। पारायण करनेवालोंकी सुविधाके लिये नवाह्नपारायण और मासपारायणके विश्राम भी यथास्थान दे दिये गये हैं तथा पुस्तकके आदिमें पारायण-विधि, रामशलाकाप्रश्नावली, श्रीगोस्वामीजीकी जीवनी आदि और अन्तमें श्रीरामायणजीकी आरती दे दी गयी है, जिससे पुस्तक और भी उपादेय बन गयी है। लगभग पाँच महीनेमें ही इसकी ४९२५० प्रतियाँ छप चुकी हैं।

कमीशन रुपयेमें चार आना काटकर एक प्रतिके लिये रजिस्ट्री और डाकखर्चसहित ।॥) और दो प्रतिके लिये १।-) एवं तीन प्रतिके लिये १॥।-) दाम भेजना चाहिये। बिना रजिस्ट्री पैकेट खो जानेका भय है। १) से कमकी वी०पी० प्रायः नहीं भेजी जाती।

विशेष सूचना—मँगवानेमें पहले अपने बुकसेलरोंसे पूछिये। थोक मँगानेवाले बुकसेलर हमारी पुस्तकें प्रायः पुस्तकपर छपे हुए दामोंमें बेचा करते हैं। बुकसेलरोंसे लेनेमें आपको सुविधा रहेगी। भारी डाकखर्चकी बचत होगी, क्योंकि हमारी पुस्तकोंका प्रायः मूल्य कम और वजन अधिक होता है।

बुकसेलरोंको सूचना- कम-से-कम २५० प्रति एक साथ लेनेवालोंका नाम-पता जिल्दपर बिना किसी खर्चके छाप दिया जायगा। इससे उनको बेचनेमें मदद मिलेगी।

पता—गीताप्रेस, गोरखपुर।

सन्तोष

सन्तोष ही परम कल्याण है। सन्तोष ही परम सुख है। सन्तोषीको ही परम शान्ति प्राप्त होती है। सन्तोषके धनी कभी अशान्त नहीं होते, संसारका बड़े-से-बड़ा साम्राज्य-सुख भी उनके लिये एक तुच्छ तिनकेके समान है। विषम-से-विषम परिस्थितिमें भी सन्तोषी पुरुष क्षुब्ध नहीं होता। सांसारिक भोग-सामग्री उसे विषके समान जान पड़ती है। सन्तोषामृतकी मिठासके सामने स्वर्गीय अमृतका उमड़ता हुआ समुद्र भी फीका पड़ जाता है। जिसे अप्राप्तकी इच्छा नहीं है, जो कुछ प्राप्त है उसीमें जो समभावसे सन्तुष्ट है, जगत्के सुख-दुःख उसका स्पर्श नहीं कर सकते। जबतक अन्तःकरण सन्तोषकी सुधा-धारासे परिपूर्ण नहीं होता, तभीतक संसारकी सभी विपत्तियाँ हैं। सन्तोषी चित्त निरन्तर प्रफुल्ल रहता है, इसलिये उसीमें ज्ञानका उदय होता है। सन्तोषी पुरुषके मुखपर एक अलौकिक ज्योति जगमगाती रहती है, इससे उसको देखकर दुःखी पुरुषके मुखपर भी प्रसन्नता आ जाती है। सन्तोषी पुरुषकी सेवामें स्वर्गीय सम्पत्तियाँ, विभूतियाँ, देवता-पितर और ऋषि-मुनि अपनेको धन्य मानते हैं। भक्तिसे, ज्ञानसे, वैराग्यसे अथवा किसी भी प्रकारसे सन्तोषका सम्पादन अवश्य करना चाहिये।

(योगवासिष्ठ)

कल्याण
वर्ष १५
अङ्क ३

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम । जय रघुनन्दन जय सियराम ॥
रघुपति राघव राजा राम । पतितपावन सीताराम ॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा । जय गणेश जय शुभ आगारा ॥

[संस्करण ५५६००]

साधनांक खण्ड ३

वार्षिक मूल्य भारतमें ४≋) विदेशमें ६॥≈) (१० शिलिङ्ग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत् चित आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण प्रति भारतमें ।) विदेशमें ।≋) (८ पेंस)

Edited by H. P. Poddar and C. L. Goswami, M. A., Shastri.
Printed and Published by Ghanshyamdas Jalan at the Gita Press, Gorakhpur (India).

श्रीहरिः

मानसाङ्क प्रथम खण्ड

इस लोकप्रिय विशेषाङ्ककी चौथी बार ५००० प्रतियाँ छापी गयी थीं, जिनमेंसे अब केवल ३०० के लगभग शेष रह गयी हैं। इनके भी बहुत शीघ्र बिक जानेकी सम्भावना है।

ग्राहकोंकी अधिक माँग देखकर पाँचवें संस्करणका आयोजन किया गया है, परन्तु इतने बड़े अङ्कके तैयार होनेमें कुछ देर अवश्य लग सकती है। इस कारण जिन ग्राहकोंको अङ्क आनेमें विलम्ब हो वे कृपापूर्वक धैर्य रक्खें।

—व्यवस्थापक

कल्याण अक्टूबर १९४० की

विषय-सूची

भूल-सुधार

साधनांक पृष्ठ ६७९ में 'श्रीस्वामिनारायण-सम्प्रदायमें उपासना' शीर्षक लेख छपा है, उसमें लेखकका नाम छपनेमें कुछ भूल रह गयी है। उस नामको इस प्रकार पढ़ना चाहिये—पं० श्रीनारायण-चरणजी शास्त्री, तर्क-वेदान्त-मीमांसा-सांख्यतीर्थ।

—सम्पादक

चित्र-सूची

गीताप्रेस, गोरखपुरके सुन्दर, सस्ते, धार्मिक दर्शनीय चित्र

कागज-साइज १५×२० इञ्चके बड़े चित्र

सभी चित्र बढ़िया आर्ट पेपरपर सुन्दर छपे हुए हैं।

सुनहरी-नेट दाम प्रत्येकका -)॥

१ युगलछबि
२ राम-सभा
३ अवधकी गलियोंमें आनन्दकंद
४ आनन्दकंदका आँगनमें खेल
५ आनन्दकंद पालनेमें
६ कौसल्याका आनन्द
७ सखियोंमें श्याम
८ दशरथके भाग्य
९ भगवान् श्रीराम
१० राम-दरबारकी झाँकी

रंगीन-नेट दाम प्रत्येकका -)

११ श्रीराधेश्याम
१२ श्रीनन्दनन्दन
१३ गोपियोंकी योगधारणा
१४ श्याममयी संसार
१५ वृन्दावनविहारी श्रीकृष्ण
१६ विश्वविमोहन श्रीकृष्ण
१७ श्रीमदनमोहन
१८ भगवान् श्रीकृष्णरूपमें
१९ श्रीव्रजराज
२० श्रीकृष्णार्जुन
२१ चारों भैया
२२ भुवनमोहन राम
२३ राम-रावण-युद्ध
२४ रामदरबार
२५ श्रीरामचतुष्टय
२६ श्रीलक्ष्मीनारायण
२७ भगवान् विष्णु
२८ श्रीश्रीमहालक्ष्मीजी
२९ कमला
३० सावित्री-ब्रह्मा
३१ भगवान् विश्वनाथ
३२ श्रीशिवपरिवार
३३ शिवजीकी विचित्र बरात
३४ शिव-परिछन
३५ शिव-विवाह
३६ प्रदोषनृत्य
३७ श्रीजगज्जननी उमा
३८ श्रीध्रुव-नारायण
३९ श्रीमहावीरजी
४० श्रीचैतन्यका हरिनामसंकीर्तन
४१ महासंकीर्तन
४२ नवधा भक्ति
४३ जडयोग
४४ भगवान् शक्तिरूपमें
४५ कौसल्याकी गोदमें ब्रह्म
४६ सच्चिदानन्दके ज्योतिषी
४७ भगवान् नारायण
४८ ब्रह्माकृत भगवत्स्तुति
४९ मुरलीका असर
५० लक्ष्मी माता
५१ श्रीकृष्ण-यशोदा
५२ भगवान् शंकर
५३ बालरूप श्रीरामजी
५४ दूल्हा राम
५५ कालिय-उद्धार
५६ जटायुकी स्तुति
५७ पुष्पकविमानपर

कागज-साइज ७॥×१० इञ्च

सुनहरी चित्र, नेट दाम)।॰ प्रतिचित्र

२०१ श्रीरामपञ्चायतन
२०२ क्रीडाविपिनमें श्रीरामसीता
२०३ युगलछबि
२०४ कंसका कोप
२०५ बँधे नटवर
२०६ वेणुधर
२०७ बाबा भोलेनाथ
२०८ मातङ्गी
२०९ दुर्गा
२१० आनन्दकन्दका आँगनमें खेल
२११ भगवान् श्रीराम
२१२ जुगल सरकार
२१३ दशरथके भाग्य
२१४ शिशु-लीला—१
२१५ श्रीरामकी झाँकी
२१६ श्रीभरतजी
२१७ श्रीभगवान्

बहुरंगे चित्र, नेट दाम)। प्रतिचित्र

२५१ सदाप्रसन्न राम
२५२ कमललोचन राम
२५३ त्रिभुवनमोहन राम
२५४ भगवान् श्रीरामचन्द्र
२५५ श्रीरामावतार
२५६ कौसल्याकी गोदमें ब्रह्म
२५७ भगवान् श्रीरामकी बाललीला
२५८ भगवान् श्रीराम और काकभुशुण्डि
२५९ अहल्योद्धार
२६० गुरुसेवा
२६१ पुष्पवाटिकामें श्रीसीताराम
२६२ स्वयंवरमें लक्ष्मणका कोप

४१० समुद्र-मन्थन
४११ महासङ्कीर्तन
४१२ ध्यानयोगी ध्रुव
४१३ ध्रुव-नारद
४१४ ज्ञानयोगी राजा जनक
४१५ ज्ञानयोगी शुकदेव
४१६ भीष्मपितामह
४१७ अजामिल-उद्धार
४१८सुआपढ़ावतगणिकातारी
४१९ शङ्करके ध्येय बाल श्रीकृष्ण
४२० सङ्कीर्तनयोगी श्रीचैतन्यमहाप्रभु
४२१ निमाई-निताई
४२२ श्रीचैतन्यका हरिनामसंकीर्तन
४२३ प्रेमी भक्त सूरदास
४२४ गोस्वामी तुलसीदासजी
४२५ मीरा (कीर्तन)
४२६ मीराबाई (जहरकाप्याला)
४२८ मीरा (आजु मैं देख्यो गिरधारी)
४२९ प्रेमी भक्त रसखान
४३० गोलोकमें नरसी मेहता
४३१ परम वैराग्यवान् भक्त दम्पति राँका-बाँका
४३२ नवधा भक्ति
४३३ जडयोग
४३४ समशानभूमिका
४३५ मानसरोवर
४३६ सावन
४३७ समुद्रताड़न
४३८ ऋषि-आश्रम
४३९ महामन्त्र नं० १
४४० महामन्त्र नं० २
४४१ रघुपति राघव राजा राम पतितपावन सीताराम
४४२ जय हरि गोविन्द राधे गोविन्द
४४३ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय
४४४ कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्
४४५ हरहर महादेव
४४६ नमः शिवाय
४४७ लक्ष्मी माता
४४८ श्रीकृष्ण-यशोदा
४४९ शुद्धाद्वैतसम्प्रदायकेआदि प्रवर्तक भगवान् शंकर
४५० कालिय-उद्धार
४५१ यज्ञपत्नीको भगवत्प्राप्ति
४५२ श्रीकृष्ण अपने पिता-माता वसुदेव-देवकीकी हथकड़ी-बेड़ी काट रहे हैं
४५३ सुदामाका महल
४५४ श्रीकृष्ण उद्धवको सन्देश देकर व्रज भेज रहे हैं
४५५ नौकारोहण
४५६ मथुरा-गमन
४५७ भगवान् विष्णु
४५८ रामसभा
४५९ सूरके श्याम ब्रह्म
४६० भगवान् राम और सनकादि मुनि
४६१ जरासन्धसे युद्धभिक्षा
४६२ पर्वताकार हनुमान्
४६३ शिव-पार्वती
४६४ गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी महाराज
४६५ चित्रकूटमें
४६६ शिवजीकी बरात
४६७ हनुमान्‌जीकी प्रार्थना
४६८ ताड़का-उद्धार
४६९ मनु-शतरूपापर कृपा
४७० श्रीरामराज्याभिषेक
४७१ दशरथ-मरण
४७२ भरद्वाज-भरत
४७३ वनवासियोंका प्रेम
४७४ बालि-सुग्रीव-युद्ध
४७५ दूल्हा राम
४७६ रावण-मन्दोदरी
४७७ पुष्पकविमानपर
४७८ अग्निका चरुदान
४७९ लक्ष्मणको उपदेश
४८० पादुका-दान
४८१ जटायुकी स्तुति
४८२ दुराचारीसे भक्त
४८३ श्रीमधुसूदन सरस्वती-को परमतत्त्वके दर्शन
४८४ योगक्षेम-वहन
४८५ लोक-संग्रह
४८६ सूर्यको उपदेश
४८७ अवतार (दस)
४८८ समदर्शिता
४८९ सब कार्योंमें भगवद्-दृष्टि
४९० भगवान् सर्वमय
४९१ अनन्य-चिन्तनका फल
४९२ भजन करनेवाले भक्त
४९३ भगवत्पूजन
४९४ भजनकी महिमा
४९५—१. समाधि वैश्य २. सञ्जय ३. यज्ञपत्नी ४. गुह निषाद
४९६ सप्तर्षि
४९७ श्रीगङ्गाजी
४९८ सुखमय मार्ग
४९९ संसार-वृक्ष
५०० पूर्ण समर्पणके लिये आह्वान
५०१ योद्धावेशमें भगवान् श्रीकृष्ण
५०२ दैवी-सम्पत्ति (धर्मराज युधिष्ठिर)
५०३ जिज्ञासु भक्त उद्धव
५०४ अर्थार्थी भक्त ध्रुव

कागज-साइज ५×७॥ इञ्च

बहुरंगे चित्र, नेट दाम १) सैकड़ा

१००१ श्रीविष्णु
१००२ शेषशायी
१००३ सदाप्रसन्न राम
१००४ कमललोचन राम
१००५ त्रिभुवनमोहन राम
१००६ दूल्हा राम
१००७ श्रीसीताराम
१००८ श्रीराम-विभीषण-मिलन (भुज विशाल गहि)
१००९ श्रीरामचतुष्टय
१०१० विश्वविमोहन श्रीकृष्ण
१०११वृन्दावनबिहारीश्रीकृष्ण
१०१२ आनन्दकन्द श्रीकृष्ण
१०१३ गोपीकुमार
१०१४ श्रीबाँकेबिहारी
१०१५ व्रज-नव-युवराज
१०१६ रामदरबार
१०१७ देवसेनापति कुमार कार्तिकेय
१०१८ व्रजराज
१०१९ खेल-खिलाड़ी
१०२० ब्रह्माका मोह
१०२१ युगलछवि
१०२२ श्रीमदनमोहन
१०२३ श्रीराधेश्याम
१०२४ भगवान् और ह्लादिनी शक्ति राधाजी
१०२५ नन्दनन्दन
१०२६ सुदामा और श्रीकृष्णका प्रेममिलन

१०२७ अर्जुनको गीताका उपदेश
१०२८ अर्जुनको चतुर्भुजरूपका दर्शन
१०२९ भक्त अर्जुन और उनके सारथि कृष्ण
१०३० परीक्षितकी रक्षा
१०३१ सदाशिव
१०३२ शिवपरिवार
१०३३ चन्द्रशेखर
१०३४ कमला
१०३५ भुवनेश्वरी
१०३६ श्रीजगन्नाथजी
१०३७ यम-नचिकेता
१०३८ ध्यानयोगी ध्रुव
१०३९ ध्रुव-नारायण
१०४० पाठशालामें प्रह्लादका बालकोंको राम-राम जपनेका उपदेश
१०४१ समुद्रमें पत्थरोंसे दबे प्रह्लादका उद्धार
१०४२ भगवान् नृसिंहदेवकी गोदमें भक्त प्रह्लाद
१०४३ पवन-कुमार
१०४४ भगवान्की गोदमें भक्त चक्रिक भील
१०४५ शंकरके ध्येय बालकृष्ण
१०४६ भगवान् श्रीशंकराचार्य
१०४७ श्रीश्रीचैतन्य
१०४८ चैतन्यका अपूर्व त्याग
१०४९ भक्त धन्ना जाटकी रोटियाँ भगवान् ले रहे हैं
१०५० गोविन्दके साथ गोविन्दका खेल
१०५१ भक्त गोपाल चरवाहा
१०५२ मीराबाई (कीर्तन)
१०५३ भक्त जनाबाई और भगवान्
१०५४ भक्त जगन्नाथदास भागवतकार
१०५५ श्रीहरिभक्त हिम्मतदासजी
१०५६ भक्त बालीग्रामदास
१०५७ भक्त दक्षिणी तुलसीदासजी
१०५८ भक्त गोविन्ददास
१०५९ भक्त मोहन और गोपाल भाई
१०६० परमेष्ठी दर्जी
१०६१ भक्त जयदेवका गीत-गोविन्द-गान
१०६२ ऋषि-आश्रम
१०६३ श्रीविष्णु भगवान्
१०६४ कमलापतिस्वागत
१०६५ सूरका समर्पण
१०६६ माँका प्यार
१०६७ प्यारका बन्दी
१०६८ बाललीला
१०६९ नवधा भक्ति
१०७० ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म
१०७१ श्रीमनु-शतरूपा
१०७२ देवता, असुर और मनुष्योंको ब्रह्माजीका उपदेश

चित्रोंके साइज, रंग और दाम

१५×२०, सुनहरी	-)॥	७॥×१०, सुनहरी	)।$\frac{1}{2}$	५×७॥, रंगीन	१)सै०	×	×
१५×२०, रंगीन	-)	७॥×१०, रंगीन	)।				

एक ही चित्र २५० ढाई सौ या अधिक लेनेपर रेट इस प्रकार होगा—साइज १५×२० सुनहरी १००) प्रतिहजार, साइज १५×२० रंगीन ७०) प्रतिहजार, साइज ७॥×१० सुनहरी २५) प्रतिहजार, साइज ७॥×१० रंगीन १८) प्रतिहजार, साइज ५×७॥ १२) प्रतिहजार।

१५×२० साइजके सुनहरे १०, रंगीन ४७ चित्रोंके सेटकी नेट कीमत ३॥।=) पैकिङ्ग -) डाकखर्च १≡) कुल लागत ५=) लिये जायँगे।

७॥×१० साइजके सुनहरे १७, रंगीन २५२ और कुल २६९ चित्रोंके सेटकी नेट कीमत ४।-)।$\frac{1}{2}$ पैकिङ्ग -)॥$\frac{1}{2}$ डाकखर्च १≡) कुल ५॥=) लिये जायँगे।

५×७॥ साइजके रंगीन ७२ चित्रोंका नेट दाम ॥≡)॥ पैकिङ्ग -)। डाकखर्च ।=)। कुल १≡) लिये जायँगे।

१५×२०, ७॥×१०, ५×७॥ के तीनों सेटकी नेट कीमत ८॥।=)॥।$\frac{1}{2}$, पैकिङ्ग -)$\frac{1}{2}$ डाकखर्च २≡) कुल ११≡) लिये जायँगे।

रेलपार्सलसे मँगानेवाले सज्जनोंको ८॥।=)॥।$\frac{1}{2}$ चित्रका मूल्य, पैकिङ्ग ≡)$\frac{1}{2}$ रजिस्ट्री ।) कुल ९।=) भेजना चाहिये। साथमें पासके रेलवेस्टेशनका नाम लिखना जरूरी है।

नियम—(१) चित्रका नम्बर, नाम जिस साइजमें दिया हुआ है वह उसी साइजमें मिलेगा, आर्डर देते समय नम्बर भी देख लें। समझकर आर्डरमें नम्बर, नाम अवश्य लिख दें। (२) पुस्तकोंके साथ मालगाड़ीसे चित्र मँगानेपर कुल मालका चित्रोंकी क्लासका किराया देना पड़ता है, इसलिये जितना किराया अधिक लगेगा वह ग्राहकोंके जिम्मे होगा, आर्डर देते समय इस नियमको समझ लें। (३) ३०) के चित्र लेनेसे ग्राहकके रेलवेस्टेशनपर मालगाड़ीसे फ्री डिलीवरी दी जायगी। रजिस्ट्री वी० पी० खर्चा ग्राहकोंको देना होगा। (४) केवल २ या ४ चित्र पुस्तकोंके साथ या अकेले नहीं भेजे जाते, क्योंकि रास्तेमें टूट जाते हैं। (५) 'कल्याण' के साथ भी चित्र नहीं भेजे जाते।

नोट—सेट सजिल्द भी मिला करती है। जिल्दका दाम १५×२० का ॥।), ७॥×१० का ।ᳮ), ५×७॥ का ≶) अधिक लिया जाता है। सजिल्द सेटका डाकखर्च ज्यादा लगता है।

स्टाकमें चित्र समय-समयपर कम-अधिक होते रहते हैं, इसलिये सेटका आर्डर आनेपर जितने चित्र स्टाकमें उस समय तैयार रहेंगे उतने ही चित्र भेज दिये जायँगे।

'कल्याण'के ११ वें वर्षका विशेषांक

वेदान्ताङ्क

परिशिष्टाङ्कसहित

कल्याणके विशेषाङ्कोंमें 'वेदान्ताङ्क' अपना खास स्थान रखता है। इसमें दो खण्ड हैं। श्रावणमासके पहले खण्डके ६२८ पृष्ठोंमें वेदान्तके बहुत गूढ़ विषयोंका बड़ी सरलतासे वर्णन है और बड़े-बड़े महात्माओंने तथा विद्वानोंने वेदान्तके सारको समझाया है। भाद्रपदके दूसरे खण्डमें कुछ बहुत अच्छे लेखोंके अतिरिक्त वेदान्तको माननेवाले कई सम्प्रदायके आचार्योंका और उनके पीछेके विद्वानोंकी जीवनी और उनके सिद्धान्तोंका परिचय है। इसमें ऐसी सामग्री है जो बड़े-बड़े विद्वानोंसे लेकर कम पढ़े-लिखे लोगोंतकके समझमें आने और सबको लाभ पहुँचानेवाली है। इसमें वेदान्तके प्राचीन आचार्य बादरि, कार्ष्णाजिनि, आत्रेय, औडुलोमि, आश्मरथ्य, जैमिनि, काश्यप, वेदव्यास; शंकरसे पूर्वके आचार्य भर्तृहरि, उपवर्ष, बोधायन, टंक, ब्रह्मदत्त, भारुचि, सुन्दरपाण्ड्य; अद्वैतसम्प्रदायके आचार्य सर्वश्री गौडपादाचार्य, गोविन्दाचार्य, शंकराचार्य, पद्मपाद, सुरेश्वराचार्य, सर्वज्ञात्ममुनि, शंकरानन्द, विद्यारण्य, वाचस्पति मिश्र, श्रीहर्ष, अमलानन्द, श्रीचित्सुखाचार्य, आनन्दगिरि, भट्टोजिदीक्षित, सदाशिवेन्द्र, मधुसूदन सरस्वती आदि ४४ आचार्योंका; विशिष्टाद्वैतवादके सर्वश्री बोधायन, ब्रह्मनन्दी, द्रमिडाचार्य, यामुनाचार्य, रामानुजाचार्य, देवराजाचार्य, वेंकटनाथ आदि २३ आचार्योंका; शिवाद्वैतवादके श्रीश्रीकण्ठाचार्य आदिका; द्वैतवादके सर्वश्री मध्वाचार्य आदि आठ आचार्योंका; द्वैताद्वैत या भेदाभेदमतके सर्वश्री निम्बार्काचार्यादि आठ आचार्योंका; शुद्धाद्वैतवादके सर्वश्री विष्णुस्वामी, श्रीवल्लभाचार्य आदि आचार्योंका और अचिन्त्यभेदाभेदके श्रीचैतन्य महाप्रभु, श्रीरूप गोस्वामी आदि पाँच आचार्योंका—यों लगभग सौसे ऊपर बहुत बड़े-बड़े संतोंका वर्णन और सिद्धान्त आया है। इनमेंसे बहुतोंका वर्णन संत-अंकमें नहीं आया है। इसके सिवा बहुत उत्तम-उत्तम तिरंगे ५४, दोरंगा १ और इकरंगे १३६ चित्र हैं, जिनमें अनेकों संतोंके हैं। मूल्य ३) सजिल्द ३॥)।

११ वें वर्षकी पूरी फाइल (वेदान्ताङ्कसहित) अजिल्द ४≡) सजिल्द (दो जिल्दोंमें) ५≡)।

व्यवस्थापक—

कल्याण, गोरखपुर

श्रीकोमलकिशोर

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥ (श्रीमद्भगवद्गीता १८ । ६५)

वर्ष १५ } गोरखपुर, अक्टूबर १९४० सौर आश्विन १९९७ { संख्या ३ पूर्ण संख्या १७१

श्रीरघुनाथजीकी शोभा

सखि ! रघुनाथ रूप निहारु ।
सरद-बिधु रबि-सुवन मनसिज-मान-भंजनिहारु ॥ १ ॥
स्याम सुभग शरीर जनु मन-काम पूरनिहारु ।
चारु चंदन मनहुँ मरकत सिखर लसत निहारु ॥ २ ॥
रुचिर उर उपवीत राजत, पदिक गजमनिहारु ।
मनहुँ सुरधनु नखत गनबिच तिमिर-भंजनिहारु ॥ ३ ॥
बिमल पीत दुकूल दामिन-दुति-विनिंदनिहारु ।
बदन सुखमा-सदन सोभित मदन-मोहनिहारु ॥ ४ ॥
सकल अंग अनूप नहि कोउ सुकबि बरननिहारु ।
दास तुलसी निरखतहि सुख लहत निरखनिहारु ॥ ५ ॥

—गो० तुलसीदासजी

कल्याण

बुरे सङ्गसे सदा बचो। भागवतमें कहा है— बुरे सङ्गसे-सत्य, पवित्रता, दया, मौन, बुद्धि, श्री, लज्जा, यश, क्षमा, शम, दम और ऐश्वर्य आदि सब नष्ट हो जाते हैं। बुरे सङ्गसे मन विषयोंका ही निवास बन जाता है उसमें भगवच्चिन्तनके लिये गुंजाइश ही नहीं रह जाती।

बुरा सङ्ग मनुष्योंका, स्थानका, वातावरणका, पुस्तकोंका, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध–इन इन्द्रिय-विषयोंका और पुराने संस्कारोंका हो सकता है। इसलिये जहाँतक बने, अच्छे मनुष्योंका सङ्ग करो, अच्छे स्थानमें रहो, अच्छे वातावरणका सेवन करो, अच्छी पुस्तकें पढ़ो, इन्द्रियोंके द्वारा तमाम अच्छे विषयोंको ही ग्रहण करो, पुराने गन्दे संस्कारोंके उठते ही चित्तको दूसरे अच्छे विषयोंमें लगाकर उन्हें हटा दो।

बुराईको किसी प्रकार किसी अंशमें भी कहीं भी स्थान मत दो। कभी मनमें यह अभिमान मत करो कि मैं साधनामें बहुत आगे बढ़ा हूँ, जरा-सी बुराई मेरी क्या कर सकेगी। बुराई—पापपर कभी दया मत करो। अंकुर दीखते ही काट डालो—जड़से उखाड़ डालो।

बुराई आती है पहले बीजरूपमें, फिर बड़ा वृक्ष बनकर चारों ओर फैल जाती है, सब तरफ छा जाती है बेलकी तरह। बुराईपर कभी विश्वास न करो।

दूसरोंकी बुराइयाँ मत देखो। बुराइयाँ देखनेसे बुराई-का चिन्तन होता रहता है, और जैसा चिन्तन होता है, चित्त भी वैसा ही बनता चला जाता है। बुराइयोंका चिन्तन करते-करते यदि तुम्हारा चित्त बुराइयोंके साथ तदाकार हो गया तो फिर तुम्हें सब जगह बुराई ही दीख पड़ेगी। बुराईसे पिण्ड छूटना मुश्किल हो जायगा।

बुराई देखनी हो—अपनी देखो। निरन्तर आत्म-निरीक्षण करते रहो। पल-पलका हिसाब रक्खो–तन-मनसे कितनी और कैसी बुराइयाँ हुईं। फिर उनसे बचनेकी प्रतिज्ञा करो।

भगवान्से प्रार्थना करो—वे बुराईसे बचावें। मनमें निश्चय करो कि श्रीभगवान्के बलसे अब मेरे अंदर कोई बुराई नहीं पैदा हो सकेगी। मुझसे कोई बुराई नहीं हो सकेगी। भगवान्के कृपा-बलपर तुम्हारा पक्का विश्वास होगा और मनमें बुराइयोंसे बचनेसे दृढ़ निश्चय होगा तो अवश्य अवश्य तुम सब बुराइयोंसे मुक्त हो जाओगे। घबड़ाओ नहीं। बुराइयोंकी ताकत भगवान्की कृपाकी ताकतके सामने अत्यन्त ही तुच्छ है।

'शिव'

भक्तिका चीर

(रचयिता—कविभूषण श्रीजगदीशजी)

भक्तिका कपास 'जगदीश' बोया जाट धना,
दादू धुनियाने धुन साफ कर छोड़ा था।
कर्मा जाटिनीने किया कात-कात सूत त्यार,
कबीर-कुविन्द बुना चारु चीर चौड़ा था॥
नामदेव छीपाने बिछाय भाव-वेदीपर,
छाप-छाप, नाय-नाय रंगमें निचोड़ा था।
देय कर-तारी फिर 'तारो गिरिधारी' कहि,
सोई चीर मीरा मतवारी तूने ओढ़ा था॥

प्रेम-साधना

(लेखक—पू० श्रीभोलानाथजी महाराज)

(पृष्ठ ४४७ से आगे)

प्रेमाग्नि

अरबीमें एक मुहाविरा है—अल इश्कुन नारुन

यह प्रेम क्या है ? आग है ।

दृष्टान्तके रूपमें—दीपक आग है, प्रेम आग है, लेकिन पतंगा आग नहीं । इससे सिद्ध होता है कि एक विजातीय पदार्थको विजातीयसे प्रेम हो रहा है कि जो सिद्धान्तके बिल्कुल बरक्स (विरुद्ध) है इसलिये हमको कोशिश करके पतंगेमें भी आगको ढूँढ़ना चाहिये । देखिये, पतंगा दीपककी तरफ़ क्यों दौड़ता है तो कहना पड़ता है कि उसको दीपकसे प्रेम है । इससे स्पष्ट हो गया कि पतंगेके अंदर एक ऐसा पदार्थ है कि जिसका नाम प्रेम है और हम अभी मान चुके हैं कि प्रेम आग है । लेकिन फ़र्क यह है कि दीपकपर आगका प्रकाश है और वह ज़ाहिर है और पतंगेके दिलमें आग छुपी है । अब यह छुपी आग इस प्रकट आगकी तरफ़ चलती है लेकिन उसको मालूम होता है कि यह वियोग तबतक कभी दूर नहीं हो सकता कि जबतक पतंगेका शरीर बीचमें रुकावट बन रहा है, गोया यह एक पर्दा है । अब पतंगेके अंदर दीपककी तरफ़ चलनेवाला अंश तो आगका ही है लेकिन वह छुपा पड़ा है पतंगेके शरीररूपी पिंजड़ेमें । अब वह आग इस पिंजड़ेको जलाना और अपने सजातीय प्रियतमसे एक करना चाहती है तो सिद्धान्त यह हुआ कि प्रियतम खुद पतंगेमें बैठकर अपने आपसे प्रेम कर रहा है । लेकिन दीपक और पतंगेकी शक्ल मुख्तलिफ़ होनेसे प्रेमकी लीला क़ायम हो सकी है । अगर प्रेम बग़ैर इन उपाधियोंके होता तो अकेला होता, फिर प्रेम किससे करता, क्योंकि एकमें तो क्रिया नहीं रहती ।

लेकिन याद रहे कि मोह और प्रेममें भेद है । प्रेमकी संक्षिप्त परिभाषा यह है कि जो संसारसे हटाकर भगवान्की तरफ़ लगावे, और मोह वह है कि जो भगवान्को भुलाकर संसारमें लिप्त कर दे ।

असली बात यह है कि जब जलको जल दृष्टिसे देखा जाय तो वहाँ बुदबुदा, लहर और भँवर नहीं रहते और जब जलको नाम-रूपकी दृष्टिसे देखा जाय तो वहाँ बुलबुला, लहर, गिरदावकी उपाधियाँ आ जाती हैं जिससे विशेष और सामान्य रूप तैयार हो जाते हैं । प्रेम हर-एक हृदयमें छुपा है और छुपा इसलिये है कि हर-एकको उसके असली प्रियतमसे मिलनेकी राह बताये । प्रभुने जहाँ बीमारी रक्खी है वहाँ उसका इलाज भी रख दिया है । इसलिये हर-एकको सन्तुष्ट रहना चाहिये कि उसके प्रियतम और प्रियतमसे मिलनेकी इच्छा और प्रियतमसे मिलनेका रास्ता उसके औज़ार मौजूद हैं ।

प्रश्न—जब सबके अंदर प्रेम है तो उसका प्रकाश क्यों नहीं होता ?

उत्तर—सामान्यरूपसे मौजूद है इसलिये उसका पता नहीं चलता । जिस तरह दियासलाईमें अग्नि तो होती है लेकिन जबतक उसको काग़ज़पर न रगड़ा जाय तबतक उससे आग नहीं निकलती—

गर्चे दिलवर पास है बिन जुस्तजू मिलता नहीं ।
दूधसे माखन जो चाहो तो बिलाना चाहिये ॥

इस वक्त संसारमें कुल दुःखों और गड़बड़ोंका कारण इसी प्रेमका अभाव है । जीव-ईश्वरमें सम्बन्धका न रहना इसी प्रेमका अभाव है । क़ौमों, मुल्कों और देशोंकी लड़ाई-की वजह केवल प्रेमका अभाव है ।

दुःख क्या है ?—प्रेमका अभाव ।

बन्धन क्या है ?—प्रेमका अभाव !

लड़ाई क्या है ?—प्रेमका अभाव ।

अनेकता और विभिन्नता क्या है ?—प्रेमका अभाव ।

इसलिये मोक्ष और सर्वसुखोंका दूसरा नाम प्रेम है ।

इत्तहाद (unity) का मूल कारण प्रेम है ।

अब हमको यह देखना है कि प्रेमका महत्त्व क्या है और उसका प्रकाश किस तरह हो सकता है । मेरे खयालमें अगर संसारमें इस प्रेमका प्रकाश फिरसे हो जाय तो कोई झगड़ा ही कैसे रह सकता है ?

जिस तरह शरीरकी अनेकताको मनुष्य अनेकता नहीं समझता और एकता ही कहता है उसी तरह कुल संसारकी अनेकता भी उसी समय एक हो जाती है कि जब सबसे प्रेम

हो जाता है। और जब सबसे प्रेम ही हो गया तो अपने और बेगानेके झगड़े ही नाश हो गये! अब मैं संक्षिप्तरूपमें प्रेमके सम्बन्धमें और कुछ लिखता हूँ।

प्रेम ही जीवन है

प्रेमके बग़ैर मनुष्य मुर्दा है। जब मनुष्यमें प्रेमका अभाव होगा तो कोई आकर्षण भी किसी चीज़के लिये न होगा, और जब आकर्षण न होगा, तो क्रिया न होगी, और जब क्रिया न होगी तो जीवन जडके समान हो जायगा। इसलिये प्रेम ही जीवन है, लेकिन भेद इतना है कि आकर्षण तो है, क्रिया भी है, लेकिन उसका रुख (direction) ठीक नहीं। जब रोशनी काले शीशेसे निकलती है, उसकी किरणें काली हो जाती हैं और सफ़ेदसे सफ़ेद। इसी तरह जब वास्तविक प्रेमका प्रकाश सांसारिक इच्छाओंमें होता है तो वह प्रेम मोहकी शक्लमें बदल जाता है। उसमें प्रेम तो है लेकिन रुख (direction) बदल गया है।

Sin means misdirected energy.

पापका अर्थ है शक्तिका गुमराह कर दिया जाना।

लेकिन जब यह प्रेम ईश्वरीय इच्छाद्वारा प्रकट होता है तो उसका नाम प्रेम होता है। यही प्रेमका प्रकाश है कि जिसके लिये ऋषि, महात्मा और ज्ञानी तरसते हैं।

प्रेम वह है कि जिसकी ज़रूरत ज्ञानीको भी है बल्कि जो ज्ञानीके लिये भी स्वाभाविक है। यद्यपि ज्ञानीकी दृष्टिमें दूसरा रहता नहीं फिर वह प्रेम किससे करे, लेकिन वह एक तो होता है कि जो अनेक रूपमें प्रकट हो रहा है। इसलिये उस एकताको अनेकतामें देखना भी तो प्रेम ही है और अगर कुछ भी न हो तो ज्ञानीका अपने आपसे तो स्वाभाविक प्रेम है ही। अगर प्रेम न हो तो ज्ञानीको कभी अपनेसे सुख न मिले क्योंकि वह अपने लिये अपने आपको फ़ालतू चीज़ समझे।

प्रेम है—इसमें तो सन्देह हो ही नहीं सकता, क्योंकि सामने है और सबमें किसी-न-किसी रूपमें प्रकट हो रहा है लेकिन हमको अगर कुछ करना है तो उसका रूप बदलना है— संसार और उसकी इच्छाओंकी तरफ़से हटाकर उसको प्रभुमें जोड़ना है।

संसार प्रभुका खेल है

उसने एक तरफ़ सृष्टि अति सुन्दर बनायी और दूसरी तरफ़ आप बैठ गया। बीचमें दिलोंमें प्रेम रख दिया। अब वह देखता है कि कौन मेरी तरफ़ आता है? एक प्रेमीने आकर कहा—'प्रभो! मैं आपसे प्रेम करता हूँ।' प्रभु चौंक उठते हैं। चूँकि उनको अचम्भा यह हुआ कि संसारमें मुझसे भी कोई प्रेम करता है? क्योंकि जब वह देखते हैं कि संसार संसारकी तरफ़ ही चला जा रहा है और अगर कुछ भगवान्‌की तरफ़ आते भी हैं तो भी संसारको माँगनेके लिये ही। अक्सर तो प्रभुको यह खयाल हो जाता है कि 'कहीं संसार मुझसे सुन्दर तो नहीं कि जो सब उसकी तरफ़ ही दौड़े जाते हैं और मेरे पास कोई नहीं आता।' तो झट् इस सन्देहको दूर करनेके लिये किसी सच्चे प्रेमीके साफ़ आईनेमें झाँक लेते हैं और फिर देख लेते हैं कि 'नहीं, मेरा सौन्दर्य तो मौजूद ही है, केवल इन्होंने ही उसे नहीं देखा।'

जब कोई प्रेमी प्रभुसे कहता है कि मैं आपका प्रेमी हूँ तो प्रभुको ऐसा मालूम होता है कि मुझको कोई नयी चीज मिल गयी और वह उस प्रेमीको इस तरह देखते हैं कि जिस तरह विदेशमें किसीको कोई अपने जाननेवाला मिल जाय। लेकिन इसके साथ ही प्रभुको ध्यान आता है कि देख लें इसके प्रेमकी सचाई कहाँतक है तो झट् ही प्रभु उसके सामने संसारभरके बड़े-बड़े सुन्दर पदार्थोंको ला रखते हैं। कहीं इज़्ज़त, कहीं यश, कहीं धन, कहीं विद्या और कहीं चमत्कारकी शक्तियाँ आदि और कहीं स्वर्ग वग़ैरहका लालच। लेकिन जब देखते हैं कि वह इस तरह भी नहीं भूला तो उसके सामने भयंकर नक्शे—रुकावटें अपने मार्गमें पैदा कर देते हैं। बदनाम करते हैं, निर्धन करते हैं, इज़्ज़त छीन लेते हैं, प्रिय वस्तुओंको खोस लेते हैं, निकम्मा, आलसी, मूक बना देते हैं, संसारका दुतकारा हुआ बना देते हैं, स्वास्थ्य छीन लेते हैं, उसकी हर प्यारी वस्तुपर हाथ डालते हैं, यहाँतक कि उसके प्राणोंपर भी हाथ बढ़ाते हैं। लेकिन अगर कोई प्रेमी इस तरह देखकर लालच या भयमें आकर अपने प्रियतमको छोड़ दे तो प्रभु अफ़सोस करते हैं कि मुद्दतके बाद एक प्रेमी मिला था वह भी कसौटीपर परखनेमें झूठा निकला और चुपकेसे बैठ जाते हैं। लेकिन अगर प्रेमी इन हालतोंमें क़ायम रहता है और अपने प्रियतमके ध्यानमें मग्न हुआ आगे बढ़ता जाता है तो प्रभु उसको अपने हृदयसे लगा लेते हैं और कहते हैं कि 'देख, तू है मेरा सच्चा भक्त। अब आजसे मैं तेरा हूँ और संसार मेरा है इसलिये यह भी तेरा है।' लेकिन प्रेमी कहता है कि 'प्रभो! आपके मिलनेपर मुझे संसारकी आवश्यकता ही क्या

है ?' तो प्रभु कहते हैं कि 'नहीं ! जबतक यह लीलाका आभास बाकी है तुमको इस संसारमें खेलना ही है ।' बस, प्रेमी अपने प्रियतमको अपने मनमें रखता हुआ उसकी लीलामें भाग लेता है और उसीके लिये काम करता जाता है ।

प्रभु-प्राप्तिके साधन

संसारमें प्रभु-प्राप्तिके लिये बहुत-से साधन हैं जो जिसको सुगम मालूम होता है वह उसीपर चलता है या जो जिसकी प्रकृतिके अनुकूल होता है वह उसको ग्रहण कर लेता है । इसलिये वे सभी साधन कि जो प्रभुके समीप ले जाते हैं ठीक ही हैं । यह झगड़ा कि 'केवल मेरा मार्ग ही ठीक है' बाकी झूठ हैं' ठीक नहीं । बाग़में किस्म-किस्मके फूल बाग़की शोभा बढ़ाते हैं । जिसको जो साधन मंजूर हो उसपर चलता जाय । लेकिन मेरा काम तो इस समय सिवा प्रेमके और है क्या ? इसमें सन्देह नहीं कि खाँड़ और उसके खिलौनोंमें कोई भेद नहीं । सब खाँड़ ही तो हैं लेकिन फिर भी खिलौने सुन्दर ही मालूम होते हैं । अक्सर भक्त तो ऐसे हैं कि जो खाँड़ बनना नहीं चाहते, बल्कि उसके चखैया बनना चाहते हैं ।

सारांश

प्रेम हर एकके हृदयमें मौजूद है । जब इसका प्रवाह संसारके लिये चलता है तो यह मोहकी शक्ल अख्त्यार कर लेता है लेकिन जब यह भगवान्‌की तरफ़ चलता है कि जो प्रेमका भण्डार है तो यह प्रेम कहलाता है ।

(१) इस प्रेमका प्रकाश कब होता है—जब मनुष्य संसारमें पीड़ित हो जाता है और किसी भी पदार्थमें स्थायी सुखका अनुभव नहीं करता तो इसकी दृष्टि किसी ऐसे पदार्थकी ओर आकर्षित होती है कि जो पूर्ण, नित्य और सुखका भण्डार हो ।

(२) मनुष्यके हृदयमें जो प्रेम छुपा हुआ है वह भी बाहर निकलनेके लिये ज़ोर लगाता है ।

(३) जब ईश्वरकी कृपा होती है तो यह छुपा प्रेम प्रकट हो जाता है । लेकिन इस प्रेमके लिये एक शर्त है वह यह कि पहले सब प्यारी चीजोंको उसकी क़ीमतमें देना पड़ता है ।

कसे कि जानो जहाँ दाद इश्क ऊ बख़रीद ।
वकूफ़ याफ्त ज सूदो ज़ियाने मकतबे मा ॥

जिसने जान और जहान दोनों दिये, उसने उसके प्रेमको खरीद लिया और उसीने इस पाठशालाके नफ़ा-नुक़सानको समझा ।

प्रेम सुराही सो पियै जो सीस दच्छिना देत ।
लोभी न सीस दे सके नाम प्रेमका लेत ॥

प्रेमी—मुझे भगवान्‌को पाना है ।

'तो क्या तुम क़ीमत अदा करनेको तैयार हो ?'

प्रेमी—क्यों नहीं ?

'वहाँ पहुँचनेके कई दर्जे हैं । तुम किस दर्जेको चाहते हो ?'

प्रेमी—मुझको सबसे बड़ा रुतबा चाहिये । मैं भगवान्‌के मस्तकतक पहुँचूँगा ।

'लेकिन तुमको मालूम होना चाहिये कि वहाँ कंघी पहुँचती है इसलिये तुम जबतक आरेके नीचे कंघीकी तरह न तराशे जाओगे तुम वहाँतक नहीं पहुँच सकते ।'

प्रेमी—(घबराकर) क्या ? नहीं, मुझको तो आँखोंतक ही पहुँचा दीजिये । निचली मंज़िल है ।

'लेकिन तुमको मालूम होना चाहिये कि वहाँ सुरमा पहुँचता है इसलिये तुम जबतक सुरमेकी तरह पत्थरके तले न पिसोगे नेत्रोंतक पहुँचना मुश्किल है ।'

प्रेमी—(घबराकर) नहीं, मुझको तो कानोंतक ही पहुँचा दीजिये, कुछ तो सस्तापन रहेगा ।

'लेकिन क्या तुम नहीं जानते कि वहाँ मोती पहुँचता है कि जो पहले अपने आपको तारोंसे छिदवा लेता है ।'

प्रेमी—(हैरान होकर) यह क्या ? अच्छा भगवान्‌के मुँहतक ही पहुँचा दो ।

'लेकिन वहाँ भी प्याला बने बग़ैर कैसे पहुँच सकोगे ? पहले कुम्हार उसको गूँधता है, फिर उसको चाकपर चढ़ाकर उसको तराशता है, उसके बाद आगमें डाला जाता है फिर कहीं कूज़ा बनकर मुँहतक पहुँचता है ।'

प्रेमी—(मन-ही-मनमें) अरे, यहाँ भी वही मुश्किल सामने आती है । तो झट् छलाँग मारकर नीचे उतर आये और कहने लगे कि मुझको तो हाथोंतक ही पहुँचा दो ।

'लेकिन तुमको मालूम होना चाहिये कि हाथोंमें क़लम (लेखनी) पहुँचती है इसलिये जबतक चाकूसे काटे न जाओगे वहाँ भी कैसे पहुँच सकते हो ?'

प्रेमी—अजीब बात है । कहीं भी चैन नहीं । अच्छा तो भगवान्‌के चरणोंतक ही पहुँचा दो, यह तो सस्ती जगह है, कम क़ीमतसे या मुफ्त ही मिल सकेगी !

'लेकिन तुमको मालूम होना चाहिये कि चरणोंमें मेंहदी लगती है इसलिये जबतक उसकी तरह पत्थरके नीचे न पिसोगे वहाँ भी कैसे पहुँच सकते हो ?'

प्रेमी-(हैरान होकर) अरे, यहाँ तो सब जगह मरना ही पड़ता है। बाज़ आये हम ऐसे प्रेमसे! हम तो बग़ैर भगवान्‌के ही अच्छे हैं। (भाग जाता है)

सच्चे प्रेमी जो भगवान्‌के शुभाङ्गोंके शृंगार बने बैठे हैं ताली बजाकर कहते हैं कि—

प्रेम सुराही सो पिये जो सीस दच्छिना देत।
लोभी सीस न दे सके नाम प्रेमका लेत॥
बच्चोंका नहीं खेल यह मैदाने मोहब्बत।
आये जो यहाँ सरसे कफ़न बाँधके आए॥

प्रेमी सामने दौड़ता है। उधर संसार है जिसके चारों तरफ़ आग लगी नज़र आती है। यह घबराकर डरता है और फिर वापस आता है। इधर भी मौत उधर भी मौत! बेचारा बीचमें है करे तो क्या ? जाये तो कहाँ ?

उसको इस हालतमें देखकर एक महात्मा मिलते हैं और पूछते हैं 'यह भूलेकी शक्ल क्या बना रक्खी है? कभी इधर चलते हो और कभी उधर—चेहरा क्यों उड़ रहा है?' उसने जवाब दिया कि 'महाराज! करूँ तो क्या करूँ ? दोनों तरफ़ मौत-ही-मौत है। संसारमे भी मौत नज़र आती है और भगवान् भी इसी क़ीमतसे मिलते हैं।

महात्मा—'भाई! इतना सोच लो कि दोनोंमें अच्छी मौत कौन-सी है, जब तुमको मरना ही है, तो फिर प्रभुके लिये मर जाओ। याद रक्खो यह मौत मौत नहीं, ऐन ज़िन्दगी है। यह बनावटी भयंकर चेहरा है लेकिन इसके पर्देमें सिवा आनन्दके और कुछ है ही नहीं, डरो नहीं। तुम मरोगे नहीं, और अगर मरनेसे डरते हो तो भागकर भी कहाँ बच सकते हो ?'

प्रेमी इन शब्दोंसे होशियार हो जाता है और प्रभुसे प्रार्थना करता है कि वह उसको मंज़ूर करें।

लेकिन अगर इतना करनेपर भी किसीका भय दूर नहीं होता तो वह प्रेमको इस क़ीमतसे ले सकता है।

एक आदमीको ख़याल आया कि वह प्रेमको ख़रीदे और मालूम किया कि प्रेम कहाँसे मिलता है ? जवाब मिला ईश्वरसे। बस, यह कुछ मेहनत करके वहाँ पहुँचा।

भक्त—प्रभो! मैं आपके लिये कुछ तोहफ़ा लाया हूँ कि जो आपके पास नहीं।

देवता—(हैरान होकर) आखिर वह क्या चीज़ है कि जो भगवान्‌के पास नहीं!

भगवान्—तो लाइये।

भक्त—प्रभो, जल्दी नहीं दिखाऊँगा। आप भी किसको जल्दी अपना प्रेम और अपने दर्शन दे देते हैं ?

भगवान्—अच्छा, दिखाओ तो सही—देखें वह क्या चीज़ है कि जो हमारे पास नहीं।

भक्त—सिर्फ़ वही कि जो मेरे पास है।

भगवान्—अच्छा, तो वह है क्या ? दिखाते क्यों नहीं।

भक्त—लेकिन मैं उनके जवाबमें ज़रूर कुछ लेने आया हूँ।

भगवान्—वह क्या ?

भक्त—आपका प्रेम।

भगवान्—लेकिन पहले अपनी चीज़ें तो दिखाओ। हम भी देखें कि वह कौन-सा तोहफ़ा है कि जो हमारे खजानोंमें भी नहीं।

भक्त अपनी आजिज़ी—दीनताको पेश करता है और पूछता है कि प्रभो, क्या यह आपके दरबारमें है, क्या यह आपके पास है ? आप तो आजिज़ (दीन) नहीं, आपको किसका भय है जो आप आजिज़ हों और मैं संसारमें हर दुःखसे सताया हुआ हूँ। यह मेरी चीज़ है और यह है आजिज़ी और यह वह वस्तु है कि जो आपके पास नहीं। प्रभो! इसको बतौर तोहफ़ा भेंटके क़बूल कीजिये।

भक्त उसके बाद अपनी तुच्छताको दिखाता है यानी बेकसीको और पूछता है कि प्रभो! यह आपके खजानोंमें कहाँ है ? आप तो इतने बड़े हैं कि जिसकी हद कोई नहीं।

फिर भक्त अपने पापोंको सामने रखकर रोता है और कहता है कि यह वह चीज़ है कि जो कभी आपके पास हो ही नहीं सकती।

और अन्तमें अपने पश्चात्तापको पेश करके कहता है कि प्रभो! यह भी आपके लिये एक नयी चीज़ है, क्योंकि पश्चात्ताप उसको होता है कि जो गलती करता है और जो गलती नहीं करता उसको पश्चात्ताप कभी क्यों हो ? हे प्रभो! चीज़ें तो बहुत निकम्मी हैं लेकिन आपके पास तो नहीं हैं इसलिये इनको बतौर तोहफ़ाके मंज़ूर फ़रमाइये और दया कीजिये।

प्रभु प्रसन्न होकर भक्तको अपने हृदयसे लगाते हैं और

कहते हैं कि तूने जब अपनी आजिज़ी (दीनता) को मेरे सामने रख दिया तो तू आजिज़ (दीन) न रहा और जब तेरी तुच्छता मुझमें मिल गयी तो तू तुच्छ भी न रहा और जब तूने अपने पापोंको मेरे सामने रख दिया तो तू पापी भी न रहा और फिर पश्चात्ताप भी इसलिये न रहा कि तेरे पाप पहले ही खण्डित हो गये।

भगवान् उसके ऐसे भावको देखकर प्रसन्न हो गये और उसको अपना प्रेम दे दिया। सारांश यह कि जिस समय मनुष्यके हृदयमें अपनी दीनता, तुच्छता और पापोंका खयाल यथार्थ रूपमें आ जाता है और उसके साथ-साथ उसको सच्चा पश्चात्ताप भी होता है और वह प्रभुके पास सच्चे मनसे उनके प्रेमको माँगने जाता है तो ऐसी अवस्थामें प्रभुकी दया उस जीवकी तरफ दौड़ती है, उसको अपने प्रेममेंसे हिस्सा देती है। यह प्रेम किताबों, पुस्तकों Philosophy, Logic वगैरहसे नहीं मिल सकता। इसकी प्राप्ति केवल भगवान्‌की दयापर ही निर्भर है और उसकी दया शायद आजिज़ीसे मिलती है।

हर कुजा दर्द दवा आँ जा रवद।
हर कुजा पस्तीस्त आब आ जाँ रवद॥

यानी जहाँ दर्द है वहाँ दवाई पहुँच जाती है और जहाँ निचान होती है पानी वहाँ जा पहुँचता है। पहले जीवको ईश्वरके अस्तित्वका ज्ञान होता है जो कि कभी युक्तियोंसे कट जाता है और कभी मजबूत होता है। इसके पश्चात् जब जीव दीन होकर प्रभुसे उनका प्रेम माँगता है, प्रभु उसके हृदयमें अपना प्रेम डाल देते हैं। गोया पहले प्रभु-प्रेमके लिये प्रेम होना आवश्यक है।

सारांश यह निकला कि पहले प्रेमका प्रेम मिला, उस प्रेमने प्रभुके सामने आजिज़ होकर करजोर प्रार्थना करवायी, आजिज़ी और प्रार्थनासे प्रभु प्रसन्न हुए और उस प्रसन्नतासे प्रेम मिला। प्रेमकी अग्निने अहंकाररूपी बारूदमें आग लगा दी और उस आगमें उस समयतक उस बारूदद्वारा सुन्दर-सुन्दर प्रेमके चमत्कारोंकी फुलझड़ियाँ दिखाकर आखिर उस बारूदको शान्त कर दिया।

प्रेम मिलनेके पश्चात्

प्रेमीका मन केवल भगवान्‌में जुड़ जाता है। उसको सिवा अपने प्रियतमके न तो कुछ नज़र ही आता है और न कुछ अच्छा ही मालूम होता है। वह कभी अपने प्रियतमके प्रेममें हँसता, कभी रोता और कभी गाता और नाचता है, कभी उसके रोमाञ्च होते हैं और कभी कुछ और कभी कुछ। उस प्रेमीकी हालतको वही समझ सकता है कि जिसको प्रेम मिलता है। एक दरियाके किनारेपर बैठा हुआ मनुष्य उस आदमीकी हालतको क्या समझ सकता है कि जो दरियामें बहा जा रहा है। इस प्रेमका एक कण भी संसारके बन्धनोंसे मुक्त कर देता है बल्कि मोक्षकी इच्छाका बन्धन भी काट देता है, क्योंकि प्रेमीको सिवा अपने प्रियतम और उसकी इच्छाके कुछ नजर ही नहीं आता।

प्रेमी उसको कहते हैं जो सिवा प्रियतमके किसीकी तरफ़ न देखे और प्रियतम वह है कि जिस-सा दूसरा और कोई न हो।

प्रश्न—क्या प्रेमी निकम्मा हो जाता है?

उत्तर—क्या प्रेम करना खुद ही सबसे बड़ा काम नहीं? फिर आप उसको निकम्मा कैसे कह सकते हैं?

वह—नहीं, मेरा मतलब तो सिर्फ यह है कि क्या एक सांसारिक पुरुषको भी प्रेम मिल सकता है?

उत्तर—हाँ, क्यों नहीं? वह हर समय अपने प्रियतमके काम करके प्रसन्न होता है।

मीरा—

गिरधारीलाल चाकर राखो जी
स्याम म्हाने चाकर राखो जी

प्रेमी भयसे मुक्त हो जाता है

राणा रूठे अपणी नगरी राखे
मैं हरि रूठे कहाँ जाना
राणाजी भेज्या जहर पियाला, अमृतकर पी जाना
मेरे राणा जी मैं गोविन्दके गुण गाना॥

प्रेमीको किसी चीज़की इच्छा तो रहती ही नहीं; हाँ, अपने प्रियतमके काम करके वह खूब खुश होता है और फिर जो काम (duty) प्रभु उसे देते हैं वह उसको पूरा करके बहुत खुश होता है जब उससे पूछा जाता है कि तू क्या कर रहा है तो कहता है कि 'मैं भगवान्‌का काम कर रहा हूँ।'

'किसलिये?'

'भगवान्‌के लिये'

'कबतक इस कामको करोगे ?'

'जबतक मेरे अंदर कोई भी श्वास बाक़ी है।'

वह अपनी तमाम क्रियाओंको भगवान्‌के लिये करता है और उसको कोई फलेच्छा नहीं होती। उसके एक ज़र्रेका आनन्द संसारके कुल सुखोंसे बड़ा है।

संयोग और वियोग

पहले प्रेमी प्रियतमके वियोगका अनुभव करता है और उसका आनन्द बड़ा विचित्र होता है और यह वियोग उस ईश्वरीय कृपाके संयोगसे मिलता है। जब यह वियोगकी ज्वाला भड़कती है तो प्रेमीका हृदय अपने प्रियतमके लिये व्याकुल हो उठता है। इस तरह प्रेमी प्रियतमको अपने अंदर लाकर खुद निकलता जाता है और जब प्रियतम पूर्णरूपसे प्रेमीके अंदर आता है, प्रेमी ख़त्म हो जाता है और प्रियतम-ही-प्रियतम रह जाता है।

पतङ्गा पहले दीपकको देखता है, फिर उसमें गिरता है। लेकिन गिरते ही नहीं मरता, गिरकर मरता है क्योंकि गिरने और मरनेमे कुछ समय मौजूद है, कि जिसमें वह जीता रह-कर जलता है। इतने संयोगपर भी वियोग रह ही जाता है और आखिरकार जब खत्म होता है तो दीपकके प्रकाशको बढ़ाकर उस प्रकाशमें एक हो जाता है।

यह निहाल शोलए हुस्नका तेरा बढ़के सर बफ़लक हुआ।
मेरी काहे हस्तीने मुश्तइल हो उसे यह नश्वोनुमा दिया॥

तेरे सौन्दर्यके तेजका वृक्ष बढ़कर आकाशतक पहुँच गया, लेकिन उसको मेरे तृणवत् अस्तित्वने जलकर यह तरक्की दी, या इस तृणने उस तेजोमय वृक्षके साथ लगकर इतना ऊँचा रुतबा हासिल कर लिया !

इस प्रेमके फिर कई मार्ग हो जाते हैं। कोई किसी रूपसे आता है और कोई किसी रूपसे। धन्य है वह महान् पुरुष कि जिसको इस प्रेममेंसे कुछ हिस्सा मिल चुका है।

प्रभु-प्राप्तिका अति सरल मार्ग

प्रश्न—महाराज ! इसको पानेका और भी सरल मार्ग क्या है ?

उत्तर—सुनिये।

एक बालक गिर गया, उसने उठनेकी इच्छा की। जब न उठ सका तो पास कुरसी पड़ी थी उसको पकड़कर उसने उठना चाहा। जब वह भी सरक गयी तो मेज़की तरफ़ गिरे-गिरे हाथ बढ़ाया। जब वह भी लुढ़क गयी तो पास लटके हुए परदेको पकड़ा, लेकिन वह भी टूट गया ! अब बच्चा निराश हो गया और अपनी उस निराशा और बेबशीमें उसकी याद आयी कि जिसके साथ उसको सबसे अधिक प्रेम था। उसने ज़ोरसे माँ-माँ किया। माँ रसोईमें बैठी दूध उबाल रही थी। जब बच्चेके रोनेकी आवाज़ कानोंमें पहुँची तो झट भाग आयी। आकर देखती है कि बच्चा गिरा पड़ा है और उसके साथ और भी कई चीज़ें गिरी पड़ी हैं। माँने बच्चेको झट गोदमें ले लिया और बच्चा माँसे चिमटकर हिचकिचाता पूछता है 'माँ, तुमने इतनी देर क्यों लगायी ? तुमको मुझसे कोई प्रेम नहीं है ?' माँ बच्चेको थपकार कर 'हाँ' मुझको तुमसे कोई प्रेम नहीं ! सबूत चाहते हो ? अच्छा आओ।' बच्चेको उठाकर रसोई-घरमें ले आयी। उस वक्ततक सारा दूध उबल-कर आगमें गिरकर आगको बुझा चुका था। माँने दिखाया कि 'बेटा ! देखो यह क्या है !' उसने कहा 'माँ, यह तो वही दूध है जो कल नौकरने थोड़ा सा पी लिया था, तो तुम उससे बहुत नाराज़ हुई थी। यह तो तुम कल कह रही थी कि बड़ी कीमती और अच्छी चीज़ है, लेकिन आज यह क्या हुआ ? यह किस तरह आगमें गिर गया ?'

माँ—बेटा ! सुनो जब तुम्हारे रोनेकी आवाज़ मेरे कानोंमें आयी तो मैं इसको जल्दीमें छोड़ आयी और तुमको उठाने भाग गयी ! मुझसे इतना न हो सका कि मैं इसको उतारकर नीचे ही रख आती। अब तो मालूम हुआ कि मैं तुमसे कितना प्रेम करती हूँ ?

बच्चा माँसे लिपटकर फिर पूछता है कि 'मेरी अच्छी माँ, यह तो बता कि जब मैं गिरा था, तुम जल्दी क्यों न आयी ?'

माँ—बेटा, यह बताओ कि मुझको बुलानेसे पहले तुम क्या करते रहे ?

बच्चा—माँ, कभी मैं कुरसीका सहारा और कभी मेज़का और कभी परदेका सहारा लेता रहा और जब कुछ न चली तो रोकर तुमको पुकारा।

माँ—तो बेटा ! जबतक तुम अपना काम करते रहे मैं भी अपना काम करती रही ! लेकिन जिस वक्त तुम तमाम बातोंसे निराश हो गये और मुझको बुलाया, तो बेटा ! मैं फौरन चली आयी !

बच्चा समझ गया माँ मुझसे प्रेम करती है। दूसरे दिन माँको झुटलानेके लिये गिरे-विरे तो कुछ हैं नहीं, रोना शुरू कर दिया। माँ-माँ करने लगे, माँ चौकन्नी हुई लेकिन फिर न मालूम क्या सोचा और चुपकी-सी बैठी रही। जब बच्चेने

देखा कि बहुत देर हो गयी माँ तो आयी नहीं तो दीवारसे लगे-लगे रसोईतक पहुँचे और पूछा 'माँ क्या कर रही हो?' माँने कहा 'दाल बना रही हूँ।'

बच्चा–माँ, क्या दाल दूधसे क़ीमती होती है ?

माँ–नहीं, दाल तो वह चीज़ है कि जो कल मैंने नौकरोंको दे दी थी।

बच्चा–माँ, तो समझ गया। कल तो मुझसे इतना प्रेम कि दूधको फेंककर चली आयी और आज दालसे इतनी मोहब्बत कि मेरे रोने और गिरनेकी परवातक नहीं।

माँ–(मुस्कराकर) बेटा, तुम कल गिरे थे ?

'हाँ माँ, गिरा था।'

'और आज भी गिरे थे ?'

बच्चा–माँ ! हाँ गिरा तो था !

माँ–बेटा, लेकिन यह तो बताओ कि कल तुम गिरकर क्यों न आ सके और आज किस तरह आ गये ?

बच्चा दूसरी तरफ़ मुँह करके चुपका-सा हो गया। माँने कहा 'देखो बेटा, जब तुम गिरते हो और मुझको सच्चे दिलसे बुलाते हो तो मैं सब कुछ छोड़कर चली आती हूँ, लेकिन जब तुम मुझको झुटलानेके लिये आवाज़ें देते हो तो मैं भी तुमको झुटलाकर चुपकी-सी बैठी रहती हूँ। आखिर बच्चा, मैं तो तुम्हारी माँ हूँ, जानते हो बेटा !'

बच्चा माँसे लिपट जाता है।

ठीक इसी तरह जब मनुष्य संसारसे घबरा जाता है और उसके कुल सहारे टूट जाते हैं और अपने किसी भी बलसे भगवान्‌को मिल नहीं सकता और जब इस तरह प्रेमी सच्चे हृदयसे अपने भगवान्‌रूपी माँको पुकारता है तो वह झट दौड़ी चली आती है और आकर गोदमें उठा लेती है। किसीको ऋद्धि-सिद्धियोंका बल, किसीको संसारका और उसकी शक्तियोंका लेकिन प्रेमीको तो केवल अपने प्रियतम भगवान्‌का बल होता है और यह बल किस बलसे कम है जो इस बलके होते हुए किसी दूसरे बलकी इच्छा की जाय ?

इस वक्त तमाम दुःख और झगड़ोंका होना केवल इस प्रेमके अभावके कारण है इसलिये भगवान्‌से प्रार्थना है कि वह संसारमें प्रेमकी ऐसी वर्षा करें कि जिससे संसारमें सिवा प्रेमके और कुछ नज़र न आवे और सब एक दूसरेसे प्रेम करने लगें और फिर सब अकेले-अकेले या इकट्ठे होकर भगवान्‌के चरणोंमें चढ़ जावें !

चातककी प्रेम-साधना

जौं घन बरषै समय सिर जौं भरि जनम उदास।
तुलसी या चित चातकहि तऊ तिहारी आस॥

तुलसीदासजी कहते हैं कि हे रामरूपी मेघ ! चाहे तुम ठीक समयपर बरसो (कृपाकी वृष्टि करो), चाहे जन्मभर उदासीन रहो—कभी न बरसो; परन्तु इस चित्तरूपी चातकको तो तुम्हारी ही आशा है।

चातक तुलसी के मतें स्वातिहुँ पिऐ न पानि।
प्रेम तृषा बाढ़ति भली घटें घटैगी आनि॥

हे चातक ! तुलसीदासके मतसे तो तू स्वातिनक्षत्रमें बरसा हुआ जल भी न पीना; क्योंकि प्रेमकी प्यासका बढ़ते रहना ही अच्छा है, घटनेसे तो प्रेमकी प्रतिष्ठा ही घट जायगी।

रटत रटत रसना लटी तृषा सूखि गे अंग।
तुलसी चातक प्रेम को नित नूतन रुचि रंग॥

अपने प्यारे मेघका नाम रटते-रटते चातककी जीभ लट गयी और प्यासके मारे सब अंग सूख गये। तुलसीदासजी कहते हैं कि तो भी चातकके प्रेमका रंग तो नित्य नया और सुन्दर ही होता जाता है।

चढ़त न चातक चित कबहुँ प्रिय पयोद के दोष।
तुलसी प्रेम पयोधि की ताते नाप न जोख॥

चातकके चित्तमें अपने प्रियतम मेघके दोष कभी आते ही नहीं। तुलसीदासजी कहते हैं—इसीलिये प्रेमके अथाह समुद्रका कोई माप-तोल नहीं हो सकता (उसकी थाह नहीं लगायी जा सकती)।

बरषि परुष पाहन पयद पंख करौ टुक टूक।
तुलसी परी न चाहिए चतुर चातकहि चूक॥

तुलसीदासजी कहते हैं कि बादल कठोर ओले बरसाकर भले ही चातककी पाँखोंके टुकड़े-टुकड़े कर दे, पर प्रेमके प्रणमें चतुर चातकको अपने प्रेमका प्रण निबाहनेमें कभी भूल नहीं करनी चाहिये।

उपल बरषि गरजत तरजि डारत कुलिस कठोर।
चितव कि चातक मेघ तजि कबहुँ दूसरी ओर॥

मेघ कड़क-कड़ककर गरजता हुआ ओले बरसाता है और कठोर बिजली भी गिरा देता है; इतनेपर भी प्रेमी पपीहा मेघको छोड़कर क्या कभी दूसरी ओर ताकता है ?

पबि पाहन दामिनि गरज झरि झकोर खरि खीझि।
रोष न प्रीतम दोष लखि तुलसी रागहि रीझि॥

तुलसीदासजी कहते हैं कि मेघ बिजली गिराकर, ओले बरसाकर, बिजली चमकाकर, कड़क-कड़ककर, वर्षाकी झड़ी लगाकर और आँधीके झकोरे देकर अपना बड़ा भारी रोष प्रकट करता है; परन्तु चातकको अपने प्रियतमका दोष देखकर क्रोध नहीं होता (उसे दोष दीखता ही नहीं), बल्कि इसमें भी वह अपने प्रति मेघका अनुराग देखकर उसपर रीझ जाता है।

मान राखिबो मागिबो पिय सों नित नव नेहु।
तुलसी तीनिउ तब फबैं जौं चातक मत लेहु॥

तुलसीदासजी कहते हैं कि आत्मसम्मानकी रक्षा करना, माँगना और फिर भी प्रियतमसे प्रेमका नित्य नवीन होना (बढ़ना)—ये तीनों बातें तभी शोभा देती हैं, जब चातकके मतका अनुसरण किया जाय।

तुलसी चातक ही फबै मान राखिबो प्रेम।
बक्र बुंद लखि स्वातिहू निदरि निबाहत नेम॥

तुलसीदासजी कहते हैं कि प्रेमके मानकी रक्षा करना और प्रेमको भी निबाहना चातकको ही शोभा देता है। स्वाती-नक्षत्रमें भी यदि बूँद [मेघकी ओर निहारते हुए उसके मुखमें सीधी न पड़कर] टेढ़ी पड़ती है तो वह उसका निरादर करके प्रेमके नियमको निबाहता है। (चोंचको टेढ़ी करनेमें दूसरी ओर ताकना हो जायगा और इससे उसके प्रेममें व्यभिचार होगा, इसलिये वह प्यासा रह जाता है, परन्तु मुँह टेढ़ा नहीं करता। दूसरी बात यह है कि वह टेढ़ी चोंच करके पीता है तो उसका मान घटता है। वह मँगता नहीं है, प्रेमी है; देना हो तो सीधे दो, नहीं तो न सही)।

तुलसी चातक मागनो एक एक घन दानि।
देत जो भू भाजन भरत लेत जो घूँटक पानि॥

तुलसीदासजी कहते हैं कि चातक एक ही (अद्वितीय) माँगनेवाला है और बादल भी एक ही (अद्वितीय) दानी है। बादल इतना देता है कि पृथ्वीके सब बर्तन (झील, तालाब आदि) भर जाते हैं, परन्तु चातक केवल एक घूँट ही पानी लेता है।

तीनि लोक तिहुँ काल जस चातकही के माथ।
तुलसी जासु न दीनता सुनी दूसरें नाथ॥

तुलसीदासजी कहते हैं कि तीनों लोकोंमें और तीनों कालोंमें कीर्ति तो केवल अनन्यप्रेमी चातकके ही भाग्यमे है, जिसकी दीनता संसारमें किसी भी दूसरे स्वामीने नहीं सुन पायी।

प्रीति पपीहा पयद की प्रगट नई पहिचानि।
जाचक जगत कनाउड़ो कियो कनौड़ो दानि॥

पपीहा और मेघके प्रेमका परिचय प्रत्यक्ष ही नये ही ढंगका है; याचक (मँगता) तो संसारभरका ऋणी होता है, परन्तु इस प्रेमी पपीहेने दानी मेघको अपना ऋणी बना डाला।

नहिं जाचत नहिं संग्रही सीस नाइ नहिं लेइ।
ऐसे मानी मागनेहि को बारिद बिनु देइ॥

पपीहा न तो मुँहसे माँगता है न जलका संग्रह करता है, और न सिर झुकाकर लेता ही है (ऊँचा सिर किये ही 'पिउ' 'पिउ'की टेर लगाया करता है)। ऐसे मानी माँगनेवाले चातकको मेघके अतिरिक्त और कौन दे सकता है ?

को को न ज्यायो जगत में जीवन दायक दानि।
भयो कनौड़ो जाचकहि पयद प्रेम पहिचानि॥

जगत्‌में इस जीवनदाता दानी मेघने किस-किसको नहीं जिलाया ? परन्तु अपने प्रेमी याचक चातकके प्रेमको पहचानकर तो यह मेघ उल्टा स्वयं उसीका ऋणी हो गया।

साधन साँसति सब सहत सबहि सुखद फल लाहु।
तुलसी चातक जलद की रीझि बूझि बुध काहु॥

साधनमें सभी कष्ट सहते हैं और फलकी प्राप्ति सभीके लिये सुखदायिनी होती है; परन्तु तुलसीदासजी कहते हैं कि चातककी-सी रीझ (प्रेम) और मेघकी-सी बुद्धि किसी विरले ही बुद्धिमान्‌की होती है। (चातक मेघपर इतना रीझा रहता है कि कष्ट सहनेपर भी उससे प्रेम बढ़ाता ही है और मेघकी ऐसी बुद्धि—गुणज्ञता है कि वह दाता होकर भी ऋणी बन जाता है।)

चातक जीवन दायकहि जीवन समयँ सुरीति।
तुलसी अलख न लखि परै चातक प्रीति प्रतीति॥

चातकके जीवनदाता मेघके प्रेमकी सुन्दर रीति तो उसके जीवनकालमें ही देखनेमें आती है; परन्तु [अनन्य प्रेमी] चातकका प्रेम एवं विश्वास तो अलख (अज्ञेय) है।

तुलसीदासजी कहते हैं कि वह तो किसीके लखनेमें ही नहीं आता (अर्थात् उसका प्रेम तो मरते समय भी बना रहता है)।

जीव चराचर जहँ लगें है सबको हित मेह।
तुलसी चातक मन बस्यो घन सों सहज सनेह॥

संसारमें जितने चर-अचर जीव हैं, मेघ उन सभीका हितकारी है; परन्तु तुलसीदासजी कहते हैं कि उस मेघके प्रति स्वाभाविक स्नेह तो एक चातकके ही चित्तमें बसा हुआ है।

डोलत बिपुल बिहंग बन पिअत पोखरिन बारि।
सुजस धवल चातक नवल तु ही भुवन दस चारि॥

वनमें बहुत-से पक्षी डोलते हैं और वे पोखरियोंका जल पिया करते हैं; परन्तु हे नित्य नवीन प्रेमी चातक! चौदहों लोकोंको अपने निर्मल यशसे उज्ज्वल तो एक तू ही करता है।

मुख मीठे मानस मलिन कोकिल मोर चकोर।
सुजस धवल चातक नवल रह्यो भुवन भरि तोर॥

कोयल, मोर और चकोर मुँहके तो मीठे होते हैं, परन्तु मनके बड़े मैले होते हैं (बोली तो बड़ी मीठी बोलते हैं, पर कीट-मर्पादि जीवोंको खा जाते हैं)। परन्तु हे नवल चातक! विश्वभरमें उज्ज्वल यश तो तेरा ही छाया हुआ है।

बास बेष बोलनि चलनि मानस मंजु मराल।
तुलसी चातक प्रेम की कीरति बिसद बिसाल॥

तुलसीदासजी कहते हैं कि हंसका निवासस्थान (मानसरोवर), वेष (रंग-रूप), बोली, चाल और [नीर-क्षीरका विवेक रखनेवाला तथा मोती चुगनेकी टेकवाला] मन—सभी सुन्दर हैं; परन्तु प्रेमकी कीर्ति तो सबसे बढ़कर विस्तृत और निर्मल चातककी ही है।

प्रेम न परखिअ परुषपन पयद सिखावन एह।
जग कह चातक पातकी ऊसर बरसै मेह॥

संसारके लोग (विषयीजन) कहते हैं कि चातक पापी है, क्योंकि मेघ ऊसर तकमें बरसता है [परन्तु चातकके मुँहमें नहीं बरसता]; पर मेघ इससे यह शिक्षा देता है कि प्रेमकी परीक्षा कठोरतासे नहीं करनी चाहिये (अर्थात् कठोरतामें प्रेम नहीं है, ऐसा नहीं मानना चाहिये; कहीं-कहीं कठोरतामें भी प्रेमका प्रकाश होता है। चातक पापी नहीं है, महान् प्रेमी है; उसके प्रेमका यश मेघकी कठोरतासे बढ़ता है।)

होइ न चातक पातकी जीवन दानि न मूढ़।
तुलसी गति प्रहलाद की समुझि प्रेम पथ गूढ़॥

न तो चातक ही पापी है और न जीवनदाता मेघ ही मूर्ख है। तुलसीदासजी कहते हैं कि प्रह्लादकी दशापर विचार करके समझो कि प्रेमका मार्ग कितना गूढ़ (सूक्ष्म) है। (प्रह्लादको पद-पदपर कष्ट मिलता है और भगवान् उसके कष्टको जानते हुए भी बहुत विलम्बसे प्रकट होते हैं। यह उनकी प्रेमलीला ही है।)

गरज आपनी सबन को गरज करत उर आनि।
तुलसी चातक चतुर भो जाचक जानि सुदानि॥

तुलसीदासजी कहते हैं कि अपनी-अपनी गरज सभीको होती है और उसी गरजको (कामनाको) हृदयमें रखकर लोग जहाँ-तहाँ गरज करते (सबसे विनती करते) फिरते हैं। परन्तु चतुर (अनन्य प्रेमी) चातक तो एक मेघको ही सर्वोत्तम दानी समझकर केवल उसीका याचक बना।

चरग चंगु गत चातकहि नेम प्रेम की पीर।
तुलसी परबस हाड़ पर परिहैं पुहुमी नीर॥

तुलसीदासजी कहते हैं कि बाजके पंजेमें फँसनेपर चातकको अपने प्रेमके नियमकी पीड़ा (चिन्ता) होती है। [उसे यह चिन्ता नहीं होती कि मैं मर जाऊँगा, पर इस बातकी बड़ी पीड़ा होती है कि बाजके द्वारा मारे जानेपर] मेरी हड्डियाँ और पाँख [स्वाती-नक्षत्रके मेघजलमें न पड़कर] पृथ्वीके साधारण जलमें पड़ेंगे।

बध्यो बधिक परयो पुन्यजल उलटि उठाई चोंच।
तुलसी चातक प्रेम पट मरतहुँ लगी न खोंच॥

किसी बहेलियेने चातकको मार दिया, वह पुण्यसलिला गङ्गाजीमें गिर पड़ा; (परन्तु गिरते ही उस अनन्यप्रेमी) चातकने चोंचको उलटकर ऊपर उठा लिया। तुलसीदासजी कहते हैं कि चातक-प्रेमरूपी वस्त्रपर मरते दम तक कोई खोंच नहीं लगी (वह कहींसे फटा नहीं)।

अंड फोरि कियो चेटुवा तुष परयो नीर निहारि।
गहि चंगुल चातक चतुर डारयो बाहिर बारि॥

किसी चातकने अंडेको फोड़कर उसमेंसे बच्चा निकाला, परन्तु अंडेके छिलकेको पानीमें पड़ा हुआ देखकर उस [प्रेम-राज्यके] चतुर चातकने तुरंत उसे पंजेसे पकड़कर जलके बाहर फेंक दिया।

तुलसी चातक देत सिख सुतहि बारहीं बार।
तात न तर्पन कीजिए बिना बारिधर धार॥

तुलसीदासजी कहते हैं कि चातक अपने पुत्रको बारंवार

यही सीख देता है कि हे तात ! [मेरे मरनेपर] प्यारे मेघकी धाराको छोड़कर अन्य किसी जलसे मेरा तर्पण न करना।

जिअत न नाईं नारि चातक घन तजि दूसरहि ।
सुरसरिहू को बारि मरत न मागेउ अरघ जल ॥

जीते-जी तो चातकने [प्यारे] मेघको छोड़कर दूसरेके सामने गर्दन नहीं झुकायी (याचना नहीं की) और मरते समय भी गङ्गाजलमें अर्घजली तक न माँगी (मुक्तिका भी निरादर कर दिया) ।

सुनु रे तुलसीदास प्यास पपीहहि प्रेम की ।
परिहरि चारिउ मास जो अँचवै जल स्वाति को ॥

रे तुलसीदास ! सुन, पपीहेको तो केवल प्रेमकी ही प्यास है [जलकी नहीं]; इसीलिये वह बरसातके चारों महीनोंके जलको छोड़कर केवल स्वाती-नक्षत्रका ही जल पीता है ।

जाचै बारह मास पिऐ पपीहा स्वाति जल ।
जान्यो तुलसीदास जोगवत नेही मेह मन ॥

चातक बारहों महीने मेघसे (उसे देखते ही पिउ-पिउकी पुकार मचाकर) जल माँगा करता है, परन्तु पीता है केवल स्वाती-नक्षत्रका ही जल । तुलसीदासजी कहते हैं कि मैंने इससे यह समझा है कि चातक ऐसा करके अपने स्नेही मेघ-का मन रखता है । (जिससे मेघको यह कहनेका मौका न मिले कि तू तो स्वार्थी है; जब प्यास लगती है तभी मुझे पुकारता है, फिर सालभर मेरा नाम भी नहीं लेता ।)

तुलसी के मत चातकहि केवल प्रेम पिआस ।
पिअत स्वाति जल जान जग जाचत बारह मास ॥

तुलसीदासके मतसे तो चातकको केवल प्रेमकी ही प्यास है [जलकी नहीं]। क्योंकि सारा जगत् इस बातको जानता है कि चातक पीता तो है केवल स्वाती-नक्षत्रका जल, परन्तु याचक बना रहता है बारहों महीने ।

आलबाल मुकुताहलनि हिय सनेह तरु मूल ।
होइ हेतु चित चातकहि स्वाति सलिल अनुकूल ॥

चातकके हृदयरूपी मोतियोंकी (बहुमूल्य) क्यारीमें प्रेमरूपी वृक्षकी जड़ लगी है । ईश्वर करे स्वाती-नक्षत्रका जल चातकके चित्तमें रहनेवाले प्रेमके लिये अनुकूल हो जाय। (अर्थात् स्वाती-नक्षत्रके जलसे हृदयमें लगी हुई प्रेम-वृक्षकी जड़ भली भाँति सींची जाय, जिससे प्रेमवृक्ष फूल-फलकर लहलहा उठे !)

उष्न काल अरु देह खिन मग पंथी तन ऊख ।
चातक बतियाँ ना रुचीं अन जल सींचे रूख ॥

गर्मियोंके दिन थे; चातक शरीरसे खिन्न था (थका हुआ था), रास्ते चल रहा था; उसका शरीर बहुत गरम हो रहा था । [इतनेमें उसे कुछ पेड़ दीख पड़े, मनमें आया कि जरा विश्राम कर लूँ;] परन्तु अनन्य प्रेमी चातकको मन-की यह बात अच्छी नहीं लगी, क्योंकि वे वृक्ष [स्वाति-नक्षत्र के जलसे सिंचे हुए न होकर] दूसरे ही जलसे सींचे हुए थे ।

अन जल सींचे रूख की छाया तें बरु घाम ।
तुलसी चातक बहुत हैं यह प्रबीन को काम ॥

तुलसीदासजी कहते हैं कि यों तो चातक (चातकप्रेमका दम भरनेवाले) बहुत हैं, परन्तु 'स्वातीके जलके अतिरिक्त अन्य जलसे सींचे हुए वृक्षकी छायासे तो धूप ही अच्छी' ऐसा मानना तो किसी [प्रेम-प्रणको निबाहनेमें] चतुर चातक (सच्चे प्रेमी) का ही काम है ।

एक अंग जो सनेहता निसि दिन चातक नेह ।
तुलसी जासों हित लगै वहि अहार वहि देह ॥

चातकका जो रात-दिनका (नित्य चौबीसों घंटेका) प्रेम है, वही एकाङ्गी प्रेम है । तुलसीदासजी कहते हैं—ऐसा एकाङ्गी प्रेम जिसके साथ लग जाता है, वही उसका आहार है (वह खाना-पीना सब भूलकर उसीकी स्मृतिसे जीता रहता है) और वही उसका शरीर है (वह अपने शरीरकी सुधि भुलाकर उसीके शरीरमें तन्मय हुआ रहता है) ।

—'दोहावली'से
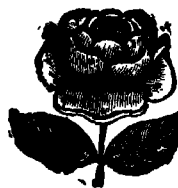
सन्ध्या-गायत्रीका महत्त्व

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

सन्ध्योपासन तथा गायत्री-जपका हमारे शास्त्रोंमें बहुत बड़ा महत्त्व कहा गया है। द्विजातिमात्रके लिये इन दोनों कर्मोंको अवश्य कर्तव्य बताया गया है। श्रुति भगवती कहती है—'अहरहः सन्ध्यामुपासीत', प्रतिदिन विना नागा सन्ध्योपासन अवश्य करना चाहिये। शास्त्रोंमें तीन प्रकारके कर्मोंका उल्लेख मिलता है—नित्य, नैमित्तिक एवं काम्य। नित्यकर्म उन्हें कहते हैं, जिसे नित्य नियमपूर्वक—विना नागा—कर्तव्य-बुद्धिसे एवं विना किसी फलेच्छाके करनेके लिये शास्त्रोंकी आज्ञा है। नैमित्तिक कर्म वे कहलाते हैं, जो किसी विशेष निमित्तको लेकर खास-खास अवसरोंपर आवश्यकरूपसे किये जाते हैं—जैसे पितृपक्ष (आश्विन कृष्णपक्ष) में पितरोंके लिये श्राद्ध किया जाता है। नैमित्तिक कर्मोंको भी शास्त्रोंमें अवश्यकर्तव्य बताया गया है और उन्हें भी कर्तव्यरूपसे विना किसी फलाभिसन्धिके करनेकी आज्ञा दी गयी है; परन्तु उन्हें नित्य करनेकी आज्ञा नहीं है। यही नित्य और नैमित्तिक कर्मोंमें भेद है। अवश्य ही नित्य एवं नैमित्तिक दोनों प्रकारके कर्मोंके न करनेमें दोष बताया गया है। तीसरे—काम्यकर्म वे हैं, जो किसी कामनासे—किसी फलाभिसन्धिसे किये जाते हैं और जिनके न करनेमें कोई दोष नहीं लगता। उनका करना, न करना सर्वथा कर्ताकी इच्छापर निर्भर है। जैसे पुत्रकी प्राप्तिके लिये शास्त्रोंमें पुत्रेष्टि-यज्ञका विधान पाया जाता है।

जिसे पुत्रकी कामना हो, वह चाहे तो पुत्रेष्टि-यज्ञ कर सकता है; किन्तु जिसे पुत्र प्राप्त है अथवा जिसे पुत्रकी इच्छा नहीं है या जिसने विवाह ही नहीं किया है अथवा विवाह करके गृहस्थाश्रमका त्याग कर दिया है, उसे पुत्रेष्टि-यज्ञ करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है और इस यज्ञके न करनेसे कोई दोष लगता हो, यह बात भी नहीं है, परन्तु नित्य कर्मोंको तो प्रतिदिन करनेकी आज्ञा है, उनमें एक दिनकी नागा भी क्षम्य नहीं है और प्रत्येक द्विजातिको जिसने शिखा-सूत्रका त्याग नहीं किया है, अर्थात् चतुर्थ आश्रम (संन्यास) को छोड़कर पहले तीनों आश्रमोंमें नित्य कर्मोंका अनुष्ठान करना ही चाहिये। नित्यकर्म ये हैं—सन्ध्या, तर्पण, बलिवैश्वदेव, स्वाध्याय, जप, होम आदि। इन सबमें सन्ध्या और गायत्री-जप मुख्य हैं; क्योंकि यह ईश्वरकी उपासना है और बाकी कर्म देवताओं, ऋषियों तथा पितरों आदिके उद्देश्यसे किये जाते हैं यद्यपि इन सबको भी परमेश्वरकी प्रीतिके लिये ही करना चाहिये। इसलिये सन्ध्याका इतना महत्त्व शास्त्रोंमें बतलाया गया है।

सन्ध्या न करनेवालोंको बड़ा दोषका भागी बताया गया है। देवीभागवतमें लिखा है—

सन्ध्या येन न विज्ञाता सन्ध्या येनानुपासिता।
जीवन्नेव भवेच्छूद्रो मृतः श्वा चाभिजायते॥

(११। १६। ६)

'जो द्विज सन्ध्या नहीं जानता और सन्ध्योपासन नहीं करता, वह जीता हुआ ही शूद्र हो जाता है और मरनेपर कुत्तेकी योनिको प्राप्त होता है।' दक्षस्मृतिका वचन है—

सन्ध्याहीनोऽशुचिर्नित्यमनर्हः सर्वकर्मसु।
यदन्यत् कुरुते कर्म न तस्य फलभाग्भवेत्॥

(२। २२)

'सन्ध्याहीन द्विज नित्य ही अपवित्र है और सम्पूर्ण धर्मकार्य करनेमें अयोग्य है। वह जो कुछ अन्य कर्म करता है उसका फल उसे नहीं मिलता।'

भगवान् मनु कहते हैं—

न तिष्ठति तु यः पूर्वां नोपास्ते यस्तु पश्चिमाम्।
स शूद्रवद्बहिष्कार्यः सर्वस्माद् द्विजकर्मणः॥

(मनु० २। १०३)

'जो द्विज प्रातःकाल और सायङ्कालकी सन्ध्या नहीं करता, उसे शूद्रकी भाँति द्विजातियोंके करने योग्य सभी कर्मोंसे अलग कर देना चाहिये।'

महर्षि याज्ञवल्क्य भी कहते हैं—

अनार्तश्चोत्सृजेद्यस्तु स विप्रः शूद्रसम्मितः।
प्रायश्चित्ती भवेच्चैव लोके भवति निन्दितः॥

'जो ब्राह्मण स्वस्थ होकर भी सन्ध्योपासनका त्याग कर देता है, वह शूद्रके समान है। वह प्रायश्चित्तका भागी होता है और लोकमें भी उसकी निन्दा होती है।'

अत्रिस्मृतिका वचन है—

यः सन्ध्यां कालतः प्राप्तामालस्यादतिवर्तते।
सूर्यहत्यामवाप्नोति उलूकत्वमियात्स च॥

'जो मनुष्य सन्ध्याका समय उपस्थित होनेपर भी आलस्यवश उसका लोप कर देता है, उसे सूर्यहत्याका पाप लगता है, जिसके फलस्वरूप उसे मरनेपर उल्लूकी योनि प्राप्त होती है।'

बात भी बिल्कुल ठीक है। यह मनुष्य-जन्म हमें ईश्वरोपासनाके लिये ही मिला है। संसारके भोग तो हम अन्य योनियोंमें भी भोग सकते हैं, परन्तु ईश्वरका ज्ञान प्राप्त करने तथा उनकी आराधना करनेका अधिकार तो हमें मनुष्ययोनिमें ही मिलता है। मनुष्योंमें भी जिनका द्विजाति-संस्कार हो चुका है अर्थात् जिन्हें वेदाध्ययन यानी ईश्वरीय ज्ञान प्राप्त करनेका अधिकार प्राप्त हो चुका है, वे लोग भी यदि नित्य नियमित रूपसे ईश्वरोपासना न करें, तो वे अपने अधिकारका दुरुपयोग करते हैं, उन्हें द्विजाति कहलानेका क्या अधिकार है? जो मनुष्य-जन्म पाकर भी भगवदुपासनासे विमुख रहते हैं, वे मरनेके बाद मनुष्य-योनिसे नीचे गिरा दिये जाते हैं और इस प्रकार भगवान्की दयासे जन्म-मरणके चक्करसे छूटनेका जो सुलभ साधन उन्हें प्राप्त हुआ था उसे अपनी मूर्खतासे खो बैठते हैं। मनुष्योंमें भी जिन्होंने म्लेच्छ, चाण्डाल, शूद्र आदि योनियोंसे ऊपर उठकर द्विज-शरीर प्राप्त किया है, वे भी यदि ईश्वरकी आराधना नहीं करते, वेदरूपी ईश्वरीय आज्ञाका उल्लङ्घन करते हैं, उन्हें यदि मरनेपर कुत्ते आदिकी योनि मिले तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? अतः प्रत्येक द्विज कहलानेवालेको चाहिये कि वह नित्य नियमपूर्वक दोनों समय (अर्थात् प्रातःकाल एवं सायङ्काल) वैदिक विधिसे अर्थात् वेदोक्त मन्त्रोंसे सन्ध्योपासन करे। यों तो शास्त्रोंमें सायं, प्रातः एवं मध्याह्नकालमें—तीनों समय ही सन्ध्या करनेका विधान है; परन्तु जिन लोगोंको मध्याह्नके समय जीविकोपार्जनके कार्यसे अवकाश न मिले अथवा जो और किसी अड़चनके कारण मध्याह्नकालकी सन्ध्याको बराबर न निभा सकें, उन्हें चाहिये कि वे दिनमें कम-से-कम दो बार अर्थात् प्रातःकाल और सायङ्काल तो नियमित रूपसे सन्ध्या अवश्य ही करें।

सन्ध्यामें क्रियाकी प्रधानता तो है ही; परन्तु जिस-जिस मन्त्रका जिस-जिस क्रियामें विनियोग है, उस-उस क्रियाको विधिपूर्वक करते हुए उस मन्त्रका शुद्ध उच्चारण भी करना चाहिये और साथ-साथ उस मन्त्रके अर्थकी ओर लक्ष्य रखते हुए उसी भावमें भावित होनेकी चेष्टा करनी चाहिये। उदाहरणतः 'सूर्यश्च मा०' इस मन्त्रका शुद्ध उच्चारण करके आचमन करना चाहिये और साथ ही इस मन्त्रके अर्थकी ओर लक्ष्य रखते हुए यह भावना करनी चाहिये कि जिस प्रकार यह अभिमन्त्रित जल मेरे मुँहमें जा रहा है उसी प्रकार मन, वचन, कर्मसे मैंने व्यतीत रात्रिमें जो-जो पाप किये हों वे सब रात्रिके अभिमानी देवताके द्वारा नष्ट किये जा रहे हैं और इस समय जो भी पाप मेरे अंदर हों वे सब भगवान् सूर्यकी ज्योतिमें विलीन हो रहे हैं, भस्म हो रहे हैं; भगवान्के तेजके सामने पापोंकी ताकत ही क्या है कि जो वे ठहर सकें।

आजकल कुछ लोग कहते हैं कि सन्ध्याका अर्थ है ईश्वरोपासना। ईश्वरकी दृष्टिमें सभी भाषाएँ समान है और सभी भाषाओंमें की हुई प्रार्थना एवं स्तुति उनके पास पहुँच सकती है; क्योंकि सभी भाषाएँ उन्हींकी रची हुई हैं और ऐसी कोई भाषा नहीं है, जिसे वे न समझते हों। फिर क्यों न हमलोग अपनी मातृभाषामें ही उनकी स्तुति एवं प्रार्थना करें? संस्कृत अथवा वैदिक भाषाकी अपेक्षा अपनी निजकी भाषामें हम अपने भावोंको अधिक स्पष्टरूपमें व्यक्त कर सकते हैं। जिस समय देशमें वैदिक अथवा संस्कृत भाषा बोली जाती रही हो, उस समय लोगोंका वैदिक मन्त्रोंके द्वारा सन्ध्या करना ठीक रहा; परन्तु वर्तमान युगमें जब कि संस्कृतके जाननेवाले लोग बहुत कम रह गये हैं—यहाँतक कि वैदिक मन्त्रोंके उच्चारणमें ही लोगोंको कठिनाईका अनुभव होता है, उनका अर्थ जानना और उनके भावमें भावित होना तो दूर रहा—इस लकीरको पीटनेसे क्या लाभ, बल्कि ईश्वर तो घट-घटमें व्यापक हैं, वे तो हमारे हृदयकी सूक्ष्मतम बातोंको भी जानते हैं। उनके लिये तो भाषाके आडम्बरकी आवश्यकता ही नहीं है। उनके सामने तो हृदयकी मूक प्रार्थना ही पर्याप्त है। बल्कि सच्ची प्रार्थना तो हृदयकी ही होती है। बिना हृदयके केवल तोतेकी भाँति रटे हुए कुछ शब्दोंके उच्चारणमात्रसे क्या होता है।

यह शङ्का सर्वथा निर्मूल नहीं है। ईश्वरकी दृष्टिमें अवश्य ही भाषाका कोई विशेष महत्त्व नहीं है। उनकी दृष्टिमें सभी भाषाएँ समान हैं और सभी भाषाओंमें की हुई प्रार्थनाको वे सुनते और उत्तर चाहनेपर उसी भाषामें वे उसका उत्तर भी देते हैं। यह भी ठीक है कि प्रार्थनामें भावकी प्रधानता है, उसका सम्बन्ध हृदयसे है और अपने भावोंको जितने स्पष्ट रूपमें हम अपनी मातृभाषामें रख

सकते हैं, उतना स्पष्ट हम और किसी भाषामें नहीं रख सकते। यह भी निर्विवाद है कि हृदयकी मूक प्रार्थना जितना काम कर सकती है, केवल कुछ चुने हुए शब्दोंके उच्चारणमात्रसे वह कार्य नहीं बन सकता। इन सब बातोंको स्वीकार करते हुए भी हम सन्ध्याको उसी रूपमें करनेके पक्षपाती हैं, जिस रूपमें उसके करनेका शास्त्रोंमें विधान है और जिस रूपमें लाखों-करोड़ों वर्षोंसे बल्कि अनादि कालसे हमारे पूर्वज उसे करते आये हैं।

सन्ध्यामें ईश्वरकी स्तुति, ध्यान और प्रार्थना तो है ही, और उसके उतने अंशकी पूर्ति अपनी मातृभाषामें, अपने ही शब्दोंमें की हुई प्रार्थनासे भी अथवा हृदयकी मूक प्रार्थनासे भी हो सकती है। जो लोग इस रूपमें प्रार्थना करना चाहते हैं अथवा करते हैं, वे अवश्य ऐसा करें। उनका हम विरोध नहीं करते, बल्कि हृदयसे समर्थन ही करते हैं, क्योंकि वैदिक मन्त्रोंके उच्चारणका सबको अधिकार नहीं है और न सबका उनमें विश्वास ही है। अन्यान्य मतों एवं मजहबोंकी भाँति सनातन वैदिक धर्मकी मान्यता यह नहीं है कि अन्य मतावलम्बियोंको ईश्वरकी प्राप्ति हो ही नहीं सकती, उनके लिये ईश्वरका द्वार बंद है। जो लोग वैदिक मन्त्रोंका उच्चारण नहीं कर सकते अथवा जिनका वैदिक धर्ममें विश्वास नहीं है, वे लोग अपने-अपने ढंगकी प्रार्थनाके द्वारा ईश्वरकी प्रसन्नता प्राप्त कर सकते हैं और जिन्हें वैदिक सन्ध्या करनेका अधिकार प्राप्त है, वे लोग भी इस रूपमें प्रार्थना कर सकते हैं। परन्तु उन्हें सन्ध्याका परित्याग नहीं करना चाहिये। सन्ध्याके साथ-साथ वे ईश्वरको रिझानेके लिये चाहे जितने और साधन भी कर सकते हैं। ये सभी साधन एक दूसरेके सहायक ही हैं, विरोधी नहीं। सबका अपना-अपना अलग महत्त्व है, कोई किसीसे छोटा अथवा बड़ा नहीं कहा जा सकता।

यह ठीक है कि ईश्वरकी दृष्टिमें भाषाका कोई विशेष महत्त्व नहीं है और वैदिक भाषा भी अन्य भाषाओंकी भाँति अपने हार्दिक अभिप्रायको व्यक्त करनेका एक साधनमात्र है। परन्तु वैदिक धर्मावलम्बियोंकी धारणा इस सम्बन्धमें कुछ दूसरी ही है। उनकी दृष्टिमें वेद अपौरुषेय हैं, वे किसी मनुष्यके बनाये हुए नहीं हैं। वे साक्षात् ईश्वरके निःश्वास हैं, ईश्वरकी वाणी हैं 'यस्य निःश्वसितं वेदाः।' ऋषिलोग उनके द्रष्टामात्र हैं—'ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः।' अनुभव करनेवाले हैं, रचयिता नहीं। सृष्टिके आदिमें भगवान् नारायण पहले-पहल ब्रह्माको उत्पन्न करते हैं और फिर उन्हें वेदोंका उपदेश देते हैं—

> **यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं**
> **यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै···**
> (श्रुति)

इसीलिये हम वैदिक धर्मावलम्बियोंके लिये वेद बड़े महत्त्वकी वस्तु हैं। वेद ही ईश्वरीय ज्ञानके अनादि स्रोत हैं। उन्हींसे सारा ज्ञान निकला है। धर्मका आधार भी वेद ही है। हमारे कर्तव्य-अकर्तव्यके निर्णायक वेद ही हैं। सारे शास्त्र वेदके ही आधारको लेकर चलते हैं। स्मृति-आगम-पुराणादि शास्त्रोंकी प्रमाणता वेदमूलक ही है। जहाँ श्रुति और स्मृतिका परस्पर विरोध दृष्टिगोचर हो, वहाँ श्रुतिको ही बलवान् माना जाता है। तात्पर्य यह है कि वेद हमारे सर्वस्व हैं, वेद हमारे प्राण हैं, वेदोंपर ही हमारा जीवन अवलम्बित है, वेद ही हमारे आधार-स्तम्भ हैं। वेदोंकी जितनी भी महिमा गायी जाय, थोड़ी है।

जिन वेदोंकी हमारे शास्त्रोंमें इतनी महिमा है, उन वेदोंके अङ्गभूत मन्त्रोंकी अन्य किसी भाषा अथवा अन्य किसी वाक्य-रचनाके साथ तुलना नहीं की जा सकती। भावोंको व्यक्त करनेके लिये भाषाकी सहायता आवश्यक होती ही है। भाषा और भावका परस्पर अविच्छेद्य सम्बन्ध है। हमारे शास्त्रोंने तो शब्दको भी अनादि, नित्य एवं ब्रह्मरूप ही माना है तथा वाच्य एवं वाचकका अभेद स्वीकार किया है। इसी प्रकार वैदिक मन्त्रोंका भी अपना एक विशेष महत्त्व है। उनमें एक विशेष शक्ति निहित है, जो उनके उच्चारणमात्रसे प्रकट हो जाती है, अर्थकी ओर लक्ष्य रखते हुए उच्चारण करनेपर तो वह और भी जल्दी आविर्भूत होती है। इसके अतिरिक्त अनादिकालसे इतने असंख्य लोगोंने उनकी आवृत्ति एवं अनुष्ठान करके उन्हें जगाया है कि उन सबकी शक्ति भी उनके अंदर संक्रान्त हो गयी है। ऐसी दशामें तोतेकी भाँति बिना समझे हुए भी उनका स्वरसहित शुद्ध उच्चारण करनेका कम महत्त्व नहीं है; फिर अर्थको समझते हुए उनके भावमें भावित होकर श्रद्धापूर्वक उनके उच्चारणका तो इतना अधिक महत्त्व है कि जिसका वर्णन नहीं हो सकता। वह तो सोनेमें सुगन्धका काम करता है। यही नहीं, वैदिक मन्त्रोंके उच्चारणका तो एक अलग शास्त्र ही है, उसकी तो एक-एक मात्रा और एक-एक स्वरका इतना महत्त्व है कि उसके उच्चारणमें जरा-सी भी त्रुटि हो जानेसे अभिप्रेत

अर्थसे विपरीत अर्थका बोध हो सकता है । कहा भी है—

एकः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा
मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह ।

यही कारण है कि लाखों-करोड़ों वर्षोंसे वैदिक लोग परम्परासे पद, क्रम, घन और जटासहित वैदिक मन्त्रोंको सस्वर कण्ठस्थ करते आये हैं और इस प्रकार उन्होंने वैदिक परम्परा और वैदिक साहित्यको जीवित रक्खा है । इसलिये वैदिक मन्त्रोंकी उपयोगिताके विषयमें शङ्का न करके द्विजातिमात्रको उपनयन संस्कारके बाद सन्ध्याको अर्थसहित सीख लेना चाहिये और फिर कम-से-कम सायङ्काल और प्रातःकाल दोनों सन्धियोंके समय श्रद्धा प्रेम और विधिपूर्वक अनुष्ठान करना चाहिये । ऐसा करनेसे उन्हें बहुत जल्दी लाभ प्रतीत होगा और फिर वे इसे कभी छोड़ना न चाहेंगे ।

इसके अतिरिक्त द्विजातिमात्रको नित्य नियमपूर्वक सन्ध्या करनेके लिये वेदोंकी स्पष्ट आज्ञा है, जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं । उस आज्ञाका पालन करनेके लिये भी हमें सन्ध्योपासन नित्य करना चाहिये । क्योंकि वेद ईश्वरकी वाणी होनेके कारण हमारे लिये परम मान्य हैं, और उनकी आज्ञाकी अवहेलना करना हमारे लिये अत्यन्त हानिकर है । इस दृष्टिसे भी सन्ध्योपासन करना परमावश्यक है । पुराने जमानेमें तो लोग पूरा वेद कम-से-कम अपनी शाखा पूरी कण्ठ किया करते थे और इसके लिये वेदोंकी स्पष्ट आज्ञा भी है—'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' वेदोंका अध्ययन अवश्य करना चाहिये । यदि हमलोग पूरा वेद अथवा पूरी शाखा कण्ठ नहीं कर सकते तो कम-से-कम सन्ध्यामात्र तो अवश्य कण्ठ कर लेनी चाहिये और उसका प्रतिदिन अनुष्ठान करना चाहिये, जिससे वैदिक संस्कृतिका लोप न हो और हमलोग अपने स्वरूप और धर्मकी रक्षा कर सकें । नियमपालन और सङ्गठनकी दृष्टिसे भी इसकी बड़ी आवश्यकता है । नहीं तो एक दिन हमलोग विजातीय संस्कारोंके प्रवाहमें बहकर अपना सब कुछ गँवा बैठेंगे और अन्य प्राचीन जातियोंकी भाँति हमारा भी नाममात्र शेष रह जायगा । वह दिन जल्दी न आवे, इसके लिये हमें सतर्क हो जाना चाहिये और यदि हम संसारमें जीवित रहना चाहते हैं तो हमें अपनी प्राचीन संस्कृतिकी रक्षाके लिये कटिबद्ध हो जाना चाहिये । भगवान् तो हमारे और हमारी संस्कृतिके सहायक हैं ही; अन्यथा इसपर ऐसे-ऐसे प्रबल आक्रमण हुए कि उनके आघातसे वह कभीकी नष्ट हो गयी होती ।

सन्ध्याकी हमारे शास्त्रोंने बड़ी महिमा गायी है । वेदोंमें कहा है—

'उद्यन्तमस्तं यन्तमादित्यमभिध्यायन् कुर्वन् ब्राह्मणो विद्वान् सकलं भद्रमश्नुते ।' (तै० आ० प्र० २ अ० २)

अर्थात् 'उदय और अस्त होते हुए सूर्यकी उपासना करनेवाला विद्वान् ब्राह्मण सब प्रकारके कल्याणको प्राप्त करता है ।'

महर्षि याज्ञवल्क्य कहते हैं—

दिवा वा यदि वा रात्रौ यदज्ञानकृतं भवेत् ।
त्रिकालसन्ध्याकरणात्तत्सर्वं च प्रणश्यति ॥

'दिनमें या रात्रिके समय अनजानमें जो पाप बन जाता है, वह सारा ही तीनों कालकी सन्ध्या करनेसे नष्ट हो जाता है ।'

यस्तु तां केवलां सन्ध्यामुपासीत स पुण्यभाक् ।
तां परित्यज्य कर्माणि कुर्वन् प्राप्नोति किल्बिषम् ॥

'जो अन्य किसी कर्मका अनुष्ठान न करके केवल सन्ध्योपासन कर लेता है, वह पुण्यका भागी होता है । परन्तु अन्य सत्कर्मोंका अनुष्ठान करता हुआ भी जो सन्ध्यावन्दन नहीं करता, वह पापका भागी होता है ।'

यमस्मृतिका वचन है—

सन्ध्यामुपासते ये तु नियतं संशितव्रताः ।
विधूतपापास्ते यान्ति ब्रह्मलोकमनामयम् ॥

'जो लोग दृढप्रतिज्ञ होकर प्रतिदिन नियमपूर्वक सन्ध्या करते हैं, वे पापरहित होकर अनामय ब्रह्मपदको प्राप्त होते हैं ।'

महर्षि कात्यायनका वचन है—

सन्ध्यालोपस्य चाकर्ता स्नानशीलश्च यः सदा ।
तं दोषा नोपसर्पन्ति गरुत्मन्तमिवोरगाः ॥

'जो प्रतिदिन स्नान करता है तथा कभी सन्ध्या-कर्मका लोप नहीं करता, दोष उसके पास भी नहीं फटकते—जैसे गरुड़जीके पास सर्प नहीं जाते ।'

समयकी गति सूर्यके द्वारा नियमित होती है । सूर्य-भगवान् जब उदय होते हैं, तब दिनका प्रारम्भ तथा रात्रिका शेष होता है; इसको प्रातःकाल भी कहते हैं । जब वे आकाशके शिखरपर आरूढ़ होते हैं, उस समयको दिनका मध्य अथवा मध्याह्न कहते हैं और जब वे अस्ताचलको जाते हैं, तब

दिनका शेष एवं रात्रिका प्रारम्भ होता है। इसे सायङ्काल भी कहते हैं। ये तीन काल उपासनाके मुख्य काल माने गये हैं। यों तो जीवनका प्रत्येक क्षण उपासनामय होना चाहिये, परन्तु इन तीन कालोंमें तो भगवान्‌की उपासना नितान्त आवश्यक बतायी गयी है। इन तीनों समयकी उपासनाका नाम ही क्रमशः प्रातःसन्ध्या, मध्याह्नसन्ध्या और सायंसन्ध्या है। प्रत्येक वस्तुकी तीन अवस्थाएँ होती हैं—उत्पत्ति, पूर्ण विकास और विनाश। जीवनकी भी तीन ही दशाएँ होती हैं- जन्म, पूर्ण युवावस्था और मृत्यु। हमें इन अवस्थाओंका स्मरण दिलानेके लिये तथा इस प्रकार हमारे अंदर संसारके प्रति वैराग्यकी भावना जाग्रत् करनेके लिये ही मानो सूर्य-भगवान् प्रतिदिन उदय होने, उन्नतिके शिखरपर आरूढ़ होने और फिर अस्त होनेकी लीला करते हैं। भगवान्‌की इस त्रिविध लीलाके साथ ही हमारे शास्त्रोंने तीन कालकी उपासना जोड़ दी है।

भगवान् सूर्य परमात्मा नारायणके साक्षात् प्रतीक हैं, इसीलिये वे सूर्यनारायण कहलाते हैं। यही नहीं, सर्गके आदिमें भगवान् नारायण ही सूर्यरूपमें प्रकट होते हैं; इसीलिये पञ्चदेवोंमें सूर्यकी भी गणना है। यों भी वे भगवान्‌की प्रत्यक्ष विभूतियोंमें सर्वश्रेष्ठ, हमारे इस ब्रह्माण्डके केन्द्र, स्थूल कालके नियामक, तेजके महान् आकर, विश्वके पोषक एवं प्राणदाता तथा समस्त चराचर प्राणियोंके आधार हैं। इसीलिये सन्ध्यामें सूर्यरूपसे ही भगवान्‌की उपासना की जाती है। उनकी उपासनासे हमारे तेज, बल, आयु एवं नेत्रोंकी ज्योतिकी वृद्धि होती है और मरनेके समय वे हमें अपने लोकमेंसे होकर भगवान्‌के परमधाममें ले जाते हैं। क्योंकि भगवान्‌के परमधामका रास्ता सूर्यलोकमेंसे होकर ही गया है। शास्त्रोंमें लिखा है कि योगी लोग तथा युद्धमें शत्रुके सम्मुख लड़ते हुए प्राण देनेवाले क्षत्रिय वीर सूर्यमण्डलको भेदकर भगवान्‌के धामको चले जाते हैं। हमारी आराधनासे प्रसन्न होकर भगवान् सूर्य यदि हमें भी उस लक्ष्यतक पहुँचा दें तो इसमें उनके लिये कौन बड़ी बात है। भगवान् अपने भक्तोंपर सदा ही अनुग्रह करते आये हैं। हम यदि जीवनभर नियम-पूर्वक श्रद्धा एवं भक्तिके साथ निष्कामभावसे उनकी आराधना करेंगे, तो क्या वे मरते समय हमारी इतनी भी मदद नहीं करेंगे ? अवश्य करेंगे। भक्तोंकी रक्षा करना तो भगवान्‌का विरद ही ठहरा। अतः जो लोग आदरपूर्वक तथा नियमसे विना नागा तीनों समय अथवा कम-से-कम दो समय (प्रातःकाल एवं सायङ्काल) ही भगवान् सूर्यकी आराधना करते हैं, उन्हें विश्वास करना चाहिये कि उनका कल्याण निश्चित है और वे मरते समय भगवान् सूर्यकी कृपासे अवश्य परम गतिको प्राप्त होंगे।

इस प्रकार युक्तिसे भी भगवान् सूर्यकी उपासना हमारे लिये अत्यन्त कल्याणकारक, थोड़े परिश्रमके बदलेमें महान् फल देनेवाली अतएव अवश्यकर्तव्य है। अतः द्विजातिमात्रको चाहिये कि वे लोग नियमपूर्वक त्रिकालसन्ध्याके रूपमें भगवान् सूर्यकी उपासना किया करें और इस प्रकार लौकिक एवं पारमार्थिक दोनों प्रकारके लाभ उठावें। आशा है, सभी लोग इस सस्ते सौदेको सहर्ष स्वीकार करेंगे; इसमें खर्च एक पैसेका भी नहीं है और समय भी बहुत कम लगता है, परन्तु इसका फल अत्यन्त महान् है। इसलिये सब लोगोंको श्रद्धा एवं लगनके साथ इस कर्मके अनुष्ठानमें लग जाना चाहिये। फिर सब प्रकारसे मङ्गल-ही मङ्गल है।

जब कोई हमारे पूज्य महापुरुष हमारे नगरमें आते हैं और उसकी सूचना हमें पहलेसे मिली हुई रहती है तो हम उनका स्वागत करनेके लिये अर्घ्य, चन्दन, फूल, माला आदि पूजाकी सामग्री लेकर पहलेसे ही स्टेशनपर पहुँच जाते हैं, उत्सुकतापूर्वक उनकी बाट जोहते हैं और आते ही उनका बड़ी आवभगत एवं प्रेमके साथ स्वागत करते हैं। हमारे इस व्यवहारसे उन आगन्तुक महापुरुषको बड़ी प्रसन्नता होती है और यदि हम निष्कामभावसे अपना कर्तव्य समझकर उनका स्वागत करते हैं तो वे हमारे इस प्रेमके आभारी बन जाते हैं और चाहते हैं कि किस प्रकार बदलेमें वे भी हमारी कोई सेवा करें। हम यह भी देखते हैं कि कुछ लोग अपने पूज्य पुरुषके आगमनकी सूचना होनेपर भी उनके स्वागतके लिये समयपर स्टेशन नहीं पहुँच पाते और जब वे गाड़ीसे उतरकर प्लेटफार्मपर पहुँच जाते हैं तब दौड़े हुए आते हैं और देरके लिये क्षमा-याचना करते हुए उनकी पूजा करते हैं। और कुछ इतने आलसी होते हैं कि जब हमारे पूज्य पुरुष अपने डेरेपर पहुँच जाते हैं और अपने कार्यमें लग जाते हैं, तब वे धीरे-धीरे फुरसतसे अपना और सब काम निपटाकर आते हैं और उन आगन्तुक महानुभावकी पूजा करते हैं। वे महानुभाव तो तीनों प्रकारके स्वागत करनेवालोंकी पूजासे प्रसन्न होते हैं और उनका उपकार मानते हैं, पूजा न करनेवालोंकी अपेक्षा देर-सबेर करनेवाले भी अच्छे हैं; किन्तु दर्जेका फरक तो रहता ही

है। जो जितनी तत्परता, लगन, प्रेम एवं आदरबुद्धिसे पूजा करते हैं उनकी पूजा उतनी ही महत्त्वकी और मूल्यवान् होती है और पूजा ग्रहण करनेवालेको उससे उतनी ही प्रसन्नता होती है।

ऊपर जो बात आगन्तुक महापुरुषकी पूजाके सम्बन्धमें कही गयी है, वही बात सन्ध्याके सम्बन्धमें भी समझनी चाहिये। भगवान् सूर्यनारायण प्रतिदिन सबेरे हमारे इस भूमण्डलपर आगन्तुककी भाँति पधारते हैं; उनसे बढ़कर हमारा पूजापात्र और कौन होगा। अतः हमें चाहिये कि हम ब्राह्ममुहूर्तमें उठकर शौच-स्नानादिसे निवृत्त होकर शुद्ध वस्त्र पहनकर उनका स्वागत करनेके लिये उनके आगमनसे पूर्व ही तैयार हो जायँ और आते ही बड़े प्रेमसे चन्दन, पुष्प आदिसे युक्त शुद्ध ताजे जलसे उन्हें अर्घ्य प्रदान करें, उनकी स्तुति करें, जप करें। भगवान् सूर्यको तीन बार गायत्रीमन्त्रका उच्चारण करते हुए अर्घ्य प्रदान करना, गायत्रीमन्त्रका (जिसमें उन्हींकी परमात्मभावसे स्तुति की गयी है और उनसे बुद्धिको परमात्ममुखी करनेके लिये प्रार्थना की गयी है) जप करना और खड़े होकर उनका उपस्थान करना, स्तुति करना—यही सन्ध्योपासनके मुख्य अङ्ग हैं; शेष कर्म इन्हीं तीनके अङ्गभूत एवं सहायक हैं। जो लोग सूर्योदयके समय सन्ध्या करने बैठते हैं, वे एक प्रकारसे अतिथिके स्टेशनपर पहुँच जाने और गाड़ीसे उतर जानेपर उनकी पूजा करने दौड़ते हैं और जो लोग सूर्योदय हो जानेके बाद फुरसतसे अन्य आवश्यक कार्योंसे निवृत्त होकर सन्ध्या करने बैठते हैं, वे मानो अतिथिके अपने डेरेपर पहुँच जानेपर धीरे-धीरे उनका स्वागत करने पहुँचते हैं।

जो लोग सन्ध्योपासन करते ही नहीं, उनकी अपेक्षा तो वे भी अच्छे हैं जो देर-सबेर, कुछ भी खानेके पूर्व सन्ध्या कर लेते हैं। उनके द्वारा कर्मका अनुष्ठान तो हो ही जाता है और इस प्रकार शास्त्रकी आज्ञाका निर्वाह हो जाता है। वे कर्मलोपके प्रायश्चित्तके भागी नहीं होते। उनकी अपेक्षा वे अच्छे हैं, जो प्रातःकालमें तारोंके लुप्त हो जानेपर सन्ध्या प्रारम्भ करते हैं। और उनसे भी श्रेष्ठ वे हैं, जो उषाकालमें ही तारे रहते सन्ध्या करने बैठ जाते हैं, सूर्योदय होनेतक खड़े होकर गायत्री-मन्त्रका जप करते हैं और इस प्रकार अपने पूज्य आगन्तुककी प्रतीक्षामें, उन्हींके चिन्तनमें उतना समय व्यतीत करते हैं* और उनका पदार्पण—उनका दर्शन होते ही जप बंदकर उनकी स्तुति—उनका उपस्थान करते हैं। इसी बातको लक्ष्यमें रखकर सन्ध्याके उत्तम, मध्यम और अधम—तीन भेद किये गये हैं। भगवान् मनुका वचन है—

उत्तमा तारकोपेता मध्यमा लुप्ततारका।
अधमा सूर्यसहिता प्रातःसन्ध्या त्रिधा स्मृता॥

प्रातःसन्ध्याके लिये जो बात कही गयी है, सायंसन्ध्याके लिये उससे विपरीत बात समझनी चाहिये। अर्थात् सायंसन्ध्या उत्तम वह कहलाती है, जो सूर्यके रहते की जाय; मध्यम वह है, जो सूर्यास्त होनेपर की जाय और अधम वह है जो तारोंके दिखायी देनेपर की जाय—

उत्तमा सूर्यसहिता मध्यमा लुप्तभास्करा।
अधमा तारकोपेता सायंसन्ध्या त्रिधा स्मृता॥

(मनुस्मृति)

कारण यह है कि अपने पूज्य पुरुषके विदा होते समय पहलेहीसे सब काम छोड़कर जो उनके साथ-साथ स्टेशन पहुँचता है, उन्हें आरामसे गाड़ीपर बिठानेकी व्यवस्था कर देता है और गाड़ीके छूटनेपर हाथ जोड़े हुए प्लेटफार्मपर खड़ा-खड़ा प्रेमसे उनकी ओर ताकता रहता है और गाड़ीके आँखोंसे ओझल हो जानेपर ही स्टेशनसे लौटता है, वही मनुष्य उनका सबसे अधिक सम्मान करता है और प्रेमपात्र बनता है। जो मनुष्य ठीक गाड़ीके छूटनेके समय हाँफता हुआ स्टेशनपर पहुँचता है और चलते-चलते दूरसे अतिथिके दर्शन कर पाता है वह निश्चय ही अतिथिकी दृष्टिमें उतना प्रेमी नहीं ठहरता, यद्यपि उसके प्रेमसे भी महानुभाव अतिथि प्रसन्न ही होते हैं और उसके ऊपर प्रेमभरी दृष्टि रखते हैं। उससे भी नीचे दर्जेका प्रेमी वह समझा जाता है, जो अतिथिके चले जानेपर पीछेसे स्टेशन पहुँचता है और फिर पत्रद्वारा अपने देरीसे पहुँचनेकी सूचना देता है और क्षमा-याचना करता है। महानुभाव अतिथि उसके भी आतिथ्यको मान लेते हैं और उसपर प्रसन्न ही होते हैं।

यहाँ यह नहीं मानना चाहिये कि भगवान् भी साधारण मनुष्योंकी भाँति राग-द्वेषसे युक्त हैं, वे पूजा करनेवालेपर प्रसन्न होते हैं और न करनेवालोंपर नाराज होते हैं

---

* पूर्वां सन्ध्यां सनक्षत्रामुपक्रम्य यथाविधि।
गायत्रीमभ्यसेत्तावद्यावदादित्यदर्शनम्॥

या उनका अहित करते हैं। भगवान्‌की सामान्य कृपा तो सबपर समानरूपसे रहती है। सूर्यनारायण अपनी उपासना न करनेवालोंको भी उतना ही ताप एवं प्रकाश देते हैं, जितना वे उपासना करनेवालोंको देते हैं। उसमें न्यूनाधिकता नहीं होती। हाँ, जो लोग उनसे विशेष लाभ उठाना चाहते हैं, जीवन-मरणके चक्रसे छूटना चाहते हैं, उनके लिये तो उनकी उपासनाकी आवश्यकता है ही और उसमें आदर और प्रेमकी दृष्टिसे तारतम्य भी होता ही है। भगवान्‌ने गीतामें भी कहा है—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥

(९।२९)

'मैं सब भूतोंमें समभावसे व्यापक हूँ, न कोई मेरा अप्रिय है न प्रिय है; परन्तु जो भक्त मुझको प्रेमसे भजते हैं, वे मुझमें हैं और मैं उनमें प्रत्यक्ष प्रकट हूँ।'

ऊपरके विवेचनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि सन्ध्याके सम्बन्धमें पहली बात तो यह है कि उसे नित्य नियमपूर्वक किया जाय, कालका लोप हो जाय तो कोई बात नहीं किन्तु कर्मका लोप न हो। इस प्रकार सन्ध्या करनेवाला भी न करनेवालेसे श्रेष्ठ है। दूसरी बात यह है कि जहाँतक सम्भव हो, तीनों कालकी सन्ध्या ठीक समयपर की जाय अर्थात् प्रातःसन्ध्या सूर्योदयसे पूर्व और सायंसन्ध्या सूर्यास्तसे पूर्व की जाय और मध्याह्नसन्ध्या ठीक दोपहरके समय की जाय। समयकी पाबंदी रखनेसे नियमकी पाबंदी तो अपने-आप हो जायगी। इसलिये इस प्रकार ठीक समयपर सन्ध्या करनेवाला पूर्वोक्तकी अपेक्षा श्रेष्ठ है। तीसरी बात यह है कि तीनों कालकी अथवा दो कालकी सन्ध्या नियमपूर्वक और समयसे तो हो ही, उसे प्रेमपूर्वक एवं आदरभावसे किया जाय तो और भी उत्तम है। किसी कार्यमें प्रेम और आदरबुद्धि होनेसे वह अपने-आप ठीक समयपर और नियमपूर्वक होने लगेगा। जो लोग इस प्रकार इन तीनों बातोंका ध्यान रखते हुए श्रद्धा-प्रेमपूर्वक भगवान् सूर्यनारायणकी जीवनभर उपासना करेंगे, उनकी मुक्ति निश्चित है।

महाभारतके आदिपर्वमें जरत्कारु ऋषिकी कथा आती है। वे बड़े भारी तपस्वी और मनस्वी थे। उन्होंने सर्पराज वासुकिकी बहिन अपने ही नामकी नागकन्यासे विवाह किया। विवाहके समय उन्होंने उस कन्यासे यह शर्त की थी कि यदि तुम मेरा कोई भी अप्रिय कार्य करोगी तो मैं उसी क्षण तुम्हारा परित्याग कर दूँगा। एक बारकी बात है, ऋषि अपनी धर्मपत्नीकी गोदमें सिर रक्खे हुए लेटे हुए थे कि उनकी आँख लग गयी। देखते-देखते सूर्यास्तका समय हो आया। किन्तु ऋषि जागे नहीं, वे निद्रामें थे। ऋषिपत्नीने सोचा कि ऋषिकी सायंसन्ध्याका समय हो गया; यदि इन्हें जगाती हूँ तो ये नाराज़ होकर मेरा परित्याग कर देंगे और यदि नहीं जगाती हूँ तो सन्ध्याकी वेला टल जाती है और ऋषिके धर्मका लोप होता है। धर्मप्राणा ऋषिपत्नीने अन्तमें यही निर्णय किया कि पतिदेव मेरा परित्याग चाहे भले ही कर दें, परन्तु उनके धर्मकी रक्षा मुझे अवश्य करनी चाहिये। यही सोचकर उसने पतिको जगा दिया। ऋषिने अपनी इच्छाके विरुद्ध जगाये जानेपर रोष प्रकट किया और अपनी पूर्व प्रतिज्ञाका स्मरण दिलाकर पत्नीको छोड़ देनेपर उतारू हो गये। जगानेका कारण बतानेपर ऋषिने कहा कि 'हे मुग्धे! तुमने इतने दिन मेरे साथ रहकर भी मेरे प्रभावको नहीं जाना। मैंने आजतक कभी सन्ध्याकी वेलाका अतिक्रमण नहीं किया। फिर क्या आज सूर्यभगवान् मेरा अर्घ्य लिये बिना ही अस्त हो सकते थे? कभी नहीं।

शक्तिरस्ति न वामोरु मयि सुप्ते विभावसोः।
अस्तं गन्तुं यथाकालमिति मे हृदि वर्तते॥*

(महा० आदि० ४७। २५। २६)

सच है, जिस भक्तकी उपासनामें इतनी दृढ़ निष्ठा होती है, सूर्यभगवान् उसकी इच्छाके विरुद्ध कोई कार्य कर नहीं सकते। हठीले भक्तोंके लिये भगवान्‌को अपने नियमोंको भी तोड़ना पड़ता है।

अन्तमें हम गायत्रीके सम्बन्धमें कुछ निवेदन कर अपने लेखको समाप्त करते हैं। सन्ध्याका प्रधान अङ्ग गायत्री-जप ही है। गायत्रीको हमारे शास्त्रोंमें वेदमाता कहा गया है। गायत्रीकी महिमा चारों ही वेद गाते हैं। जो फल चारों वेदोंके अध्ययनसे होता है, वह एकमात्र व्याहृतिपूर्वक गायत्री-मन्त्रके जपसे हो सकता है†। इसीलिये गायत्री-जपकी शास्त्रोंमें

* हे सुन्दरि! सूर्यमें इतनी शक्ति नहीं है कि मैं सोता रहूँ और वे नियत समयपर [मुझसे अर्घ्य लिये बिना ही] अस्त हो जायँ। मेरे हृदयमें ऐसा दृढ़ विश्वास है।

† एतदक्षरमेतां च जपन् व्याहृतिपूर्विकाम्।
सन्ध्ययोर्वेदविद्विप्रो वेदपुण्येन युज्यते॥

(मनुस्मृति २। ७८)

बड़ी महिमा गायी गयी है। योगी याज्ञवल्क्यजी कहते हैं—'प्रतिदिन सात बार जप करनेसे गायत्रीदेवी शरीरको पवित्र करती हैं, दस बारके जपसे स्वर्गलोककी प्राप्ति कराती हैं, बीस बार जप करनेसे शिवलोकमें पहुँचा देती हैं और एक सौ आठ बारके जपसे तो जन्म-मृत्युरूपी संसारसमुद्रसे तार देती हैं। गायत्री दस बारके जपसे वर्तमान जन्मका, सौ बारके जपसे पूर्वजन्मका तथा एक हजार जप करनेसे तीन जन्मोंका पाप नष्ट कर देती हैं। यदि अङ्गोंसहित चारों वेद और सभी शास्त्र पढ़ लिये गये, तो भी जो गायत्रीको तत्त्वतः नहीं जानता उसका सारा परिश्रम व्यर्थ है।'* बृहद्यमस्मृतिका वचन है कि 'द्विज केवल वेदोंके अध्ययनसे उस प्रकार अपने पापोंको दग्ध नहीं कर सकता, जिस प्रकार गायत्री-मन्त्रके जपसे वह सब पापोंसे मुक्त हो जाता है।' † भगवान् मनु कहते हैं कि 'जो पुरुष प्रतिदिन आलस्यका त्याग करके तीन वर्षतक गायत्रीका जप करता है, वह मृत्युके बाद वायुरूप होता है और उसके बाद आकाशकी तरह व्यापक होकर परब्रह्मको प्राप्त करता है।'‡

जप तीन प्रकारका कहा गया है—(१) वाचिक, (२) उपांशु एवं (३) मानसिक। एककी अपेक्षा दूसरेको उत्तरोत्तर अधिक लाभदायक माना गया है। अर्थात् वाचिककी अपेक्षा उपांशु और उपांशुकी अपेक्षा मानसिक जप अधिक लाभदायक है।§ वाचिक जप उसे कहते हैं, जो जिह्वाके द्वारा शब्दोंका स्पष्ट उच्चारण करते हुए किया जाय। उपांशु वह है, जो केवल होठ हिलाकर इतने धीमे स्वरसे किया जाय कि दूसरा पास बैठा हुआ भी उसे सुन न सके। और मानस जप वह कहलाता है जो केवल मनसे किया जाय, जिसमें वाणीका बिल्कुल उपयोग न हो। इन सबमें मानस जप श्रेष्ठ है। जप जितना अधिक हो, उतना ही विशेष लाभदायक होता है। ब्रह्मचारी और गृहस्थोंको प्रति समय कम-से-कम १०८ बार जप करना चाहिये तथा वानप्रस्थ एवं संन्यासियोंको दो हजारसे भी अधिक गायत्री-जप करना चाहिये।* जपके समय गायत्रीके आदि और अन्तमें भी प्रणव लगाना चाहिये। योगी याज्ञवल्क्यजी कहते हैं—

ओङ्कारं पूर्वमुच्चार्य भूर्भुवः स्वस्ततः परम्।
गायत्रीं प्रणवं चान्ते जप्यं ह्येवमुदाहृतम्॥

अर्थात् 'पहले ओङ्कारका उच्चारण करना चाहिये, फिर भूर्भुवः स्वः—इन तीन व्याहृतियोंका। तत्पश्चात् गायत्री-मन्त्रका उच्चारण करके अन्तमें भी प्रणव लगाना चाहिये। गायत्री-मन्त्रका जप ऐसा ही बताया गया है।'

महाभारत, शान्तिपर्व (मोक्षधर्मपर्व) के १९९वें तथा २००वें अध्यायोंमें गायत्रीकी महिमाका एक बड़ा सुन्दर उपाख्यान मिलता है। कौशिक गोत्रमें उत्पन्न हुआ पिप्पलादका पुत्र एक बड़ा तपस्वी धर्मनिष्ठ ब्राह्मण था। वह गायत्रीका जप किया करता था। लगातार एक हजार वर्षतक गायत्रीका जप कर चुकनेपर सावित्रीदेवीने उसको साक्षात् दर्शन देकर कहा कि मैं तुझपर प्रसन्न हूँ। परन्तु उस समय पिप्पलादका पुत्र जप कर रहा था। वह चुपचाप जप करनेमें लगा रहा और सावित्रीदेवीको कुछ भी उत्तर नहीं दिया। वेदमाता सावित्रीदेवी उसकी इस जपनिष्ठापर और भी अधिक प्रसन्न हुई और उसके जपकी प्रशंसा करती वहीं खड़ी रहीं। जिनकी साधनमें ऐसी दृढ़ निष्ठा होती है कि साध्य चाहे भले ही छूट जाय परन्तु साधन नहीं छूटना चाहिये, उनसे साधन तो छूटता ही नहीं, साध्य भी उनके पीछे-पीछे श्रद्धा और प्रेमके कारण उनके इशारेपर नाचता रहता है। साधननिष्ठाकी ऐसी महिमा है। जपकी संख्या पूरी होनेपर वह धर्मात्मा ब्राह्मण खड़ा हुआ और देवीके चरणोंमें गिरकर उनसे यह प्रार्थना करने लगा कि 'यदि

---

* सप्तभिः पावयेद्देहं दशभिः प्रापयेद्दिवम्।
विंशत्यावर्तिना देवी नयते चेश्वरालयम्॥
अष्टोत्तरशतं जप्ता तारयेज्जन्मसागरात्।
दशभिर्जन्मजनितं शतेन तु पुराकृतम्।
त्रिजन्मजं सहस्रेण गायत्री हन्ति किल्बिषम्॥
वेदाः साङ्गास्तु चत्वारोऽधीताः सर्वेऽथ वाङ्मयाः।
गायत्रीं यो न जानाति वृथा तस्य परिश्रमः॥
(योगियाज्ञवल्क्यस्मृति)

† न तथा वेदजपनः पापं निर्दहति द्विजः।
यथा सावित्रीजपनः सर्वपापैः प्रमुच्यते॥

‡ योऽधीतेऽहन्यहन्येतांस्त्रीणि वर्षाण्यतन्द्रितः।
स ब्रह्म परमभ्येति वायुभूतः खमूर्तिमान्॥
(२। ८२)

§ त्रिविधो जपयज्ञः स्यात्तस्य भेदं निबोधत।
वाचिकश्च उपांशुश्च मानसस्त्रिविधः स्मृतः॥
त्रयाणां जपयज्ञानां श्रेयान् स्यादुत्तरोत्तरः॥
(नृसिंहपुराण)

* ब्रह्मचारी गृहस्थश्च शतमष्टोत्तरं जपेत्।
वानप्रस्थश्च संन्यस्तो द्विसहस्राधिकं जपेत्॥
(मनुस्मृति)

आप मुझपर प्रसन्न हैं तो कृपा करके मुझे यह वरदान दीजिये कि मेरा मन निरन्तर जपमें लगा रहे और जप करनेकी मेरी इच्छा उत्तरोत्तर बढ़ती रहे।' भगवती उस ब्राह्मणके निष्कामभावको देखकर बड़ी प्रसन्न हुई और तथास्तु कहकर अन्तर्द्धान हो गयीं।

ब्राह्मणने फिर जप प्रारम्भ कर दिया। देवताओंके सौ वर्ष और बीत गये। पुरश्चरणके समाप्त हो जानेपर साक्षात् धर्मने प्रसन्न होकर उस ब्राह्मणको दर्शन दिये और स्वर्गादि लोकोंको माँगनेको कहा। परन्तु ब्राह्मणने धर्मको भी यही उत्तर दिया कि 'मुझे सनातन लोकोंसे क्या प्रयोजन है, मैं तो गायत्रीका जप करके आनन्द करूँगा।' इतनेमें ही काल (आयुका परिणाम करनेवाला देवता), मृत्यु (प्राणोंका वियोग करनेवाला देवता) और यम (पुण्य-पापका फल देनेवाला देवता) भी उसकी तपस्याके प्रभावसे वहाँ आ पहुँचे। यम और कालने भी उसकी तपस्याकी बड़ी प्रशंसा की। उसी समय तीर्थयात्राके निमित्त निकले हुए राजा इक्ष्वाकु भी वहाँ आ पहुँचे। राजाने उस तपस्वी ब्राह्मणको बहुत-सा धन देना चाहा; परन्तु ब्राह्मणने कहा कि 'मैंने तो प्रवृत्ति-धर्मका त्यागकर निवृत्ति-धर्म अङ्गीकार किया है, अतः मुझे धनकी कोई आवश्यकता नहीं है। तुम्हीं कुछ चाहो तो मुझसे माँग सकते हो। मैं अपनी तपस्याके द्वारा तुम्हारा कौन-सा कार्य सिद्ध करूँ?' राजाने उस तपस्वी मुनिसे उसके जपका फल माँग लिया। तपस्वी ब्राह्मण अपने जपका पूरा फल राजाको देनेके लिये तैयार हो गया, किन्तु राजा उसे स्वीकार करनेमें हिचकिचाने लगे। बड़ी देरतक दोनोंमें वाद-विवाद चलता रहा। ब्राह्मण सत्यकी दुहाई देकर राजाको माँगी हुई वस्तु स्वीकार करनेके लिये आग्रह करता था और राजा क्षत्रियत्वकी दुहाई देकर उसे लेनेमें धर्मकी हानि बतलाते थे। अन्तमें दोनोंमें यह समझौता हुआ कि ब्राह्मणके जपके फलको राजा ग्रहण कर लें और बदलेमें राजाके पुण्य-फलको ब्राह्मण स्वीकार कर ले। उनके इस निश्चयको जानकर विष्णु आदि देवता वहाँ उपस्थित हुए और दोनोके कार्यकी सराहना करने लगे, आकाशसे पुष्पोंकी वर्षा होने लगी। अन्तमें ब्राह्मण और राजा दोनों योगके द्वारा समाधिमें स्थित हो गये। उस समय ब्राह्मणके ब्रह्मरन्ध्रमेंसे एक बड़ा-सा तेजका पुञ्ज निकला और सबके देखते-देखते स्वर्गकी ओर चला गया और वहाँसे ब्रह्मलोकमें प्रवेश कर गया। ब्रह्माने उस तेजका स्वागत किया और कहा कि अहा! जो फल योगियोंको मिलता है, वही जप करनेवालोंको भी मिलता है। इसके बाद ब्रह्माने उस तेजको नित्य आत्मा और ब्रह्मकी एकताका उपदेश दिया, तब उस तेजने ब्रह्माके मुखमें प्रवेश किया। और राजाने भी ब्राह्मणकी भाँति ब्रह्माके शरीरमें प्रवेश किया। इस प्रकार शास्त्रोंमें गायत्री-जपका महान् फल बताया गया है। अतः कल्याणकामियोंको चाहिये कि वे सन्ध्या और गायत्रीरूपी इस स्वल्प आयाससे साध्य होनेवाले साधनके द्वारा शीघ्र-से-शीघ्र मुक्ति लाभ करें।

सच्ची साधना

निज सुमनोरथमें इन्द्रिय-तुरङ्गमोंको,

बाँधि प्रेम-बन्धनसे सावधान नाधना।

भावसे जगाके 'पति' अन्तरस्थ ईश्वरको,

उस पै बिठाना रोकि विषय-विबाधना।

बायें बुद्धि-बाग दायें हाथ दम-चाबुक लै,

ज्ञान-दृष्टि खोल किसी औरको न राधना।

पथ पै फिराना इस रथको अथक मान—

प्रभुके प्रसादकी है सच्ची यही साधना॥

—श्रीउमापति द्विवेदी 'कविपति'

प्रेममार्गद्वारा भगवत्साधना

(लेखक—प्रो० श्रीजगन्नाथप्रसादजी मिश्र एम्० ए०, बी० एल्०)

भगवत्-साधनाके तीन मार्ग—कर्म, दान एवं भक्ति बहुत प्राचीन कालसे हमारे देशमें प्रचलित हैं। इन तीन मार्गोंमें परस्पर विरोध नहीं है। साधककी जैसी प्रवृत्ति होती है, उसके अनुसार वह इन तीन मार्गोंमेंसे किसी भी मार्गका अवलम्बन करके अपने चरम लक्ष्यकी प्राप्ति कर सकता है। भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें इन तीन धाराओंका ही पुण्य-सङ्गम साधन करके त्रिवेणीकी रचना की है, जिसमें अवगाहन करके जीव ब्रह्म-सायुज्य लाभ कर सकता है।

जीव किस प्रकार ब्रह्म हो सकता है? साधनाद्वारा। और वह साधना क्या है? भगवान् सच्चिदानन्दस्वरूप हैं। उनमें सत्, चित् और आनन्दका जो भाव है वही भाव जीवमें भी है; क्योंकि भगवान्ने गीतामें कहा है—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।

किन्तु भगवान्में सत्, चित् और आनन्दके भाव जहाँ व्यक्त हैं वहाँ जीवमें अव्यक्त हैं; एकमें प्रकट हैं, दूसरेमें प्रच्छन्न हैं; एकमें विकसित अवस्थामें हैं, दूसरेमें बीजावस्थामें हैं। इसलिये इन तीनों भावोंको सुव्यक्त करनेपर ही जीव ब्रह्ममय हो सकता है। सत्, चित् और आनन्द-भावके एक साथ ही पूर्ण विकसित होनेपर जीव अपनेको 'चिदानन्द-रूपः शिवोऽहम् शिवोऽहम्' कह सकता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि ब्रह्म-सायुज्यलाभके लिये कर्म, ज्ञान एवं भक्ति—इन तीनोंमेंसे केवल एक कोई-सा मार्ग यथेष्ट नहीं है। भगवान् जिस प्रकार प्रतापघन एवं प्रज्ञाघन हैं, उसी प्रकार वे प्रेम-घन भी हैं। अर्थात् वे एक साथ ही Power, Wisdom. Bliss—प्रताप, प्रज्ञा एवं प्रेमके उच्छल प्रस्रवण हैं।

भगवान्को प्रेममय समझकर प्रेममार्गद्वारा उनकी साधना सभी देशोंके प्रेमिक भक्तों एवं साधकोंमें देखी जाती है। महात्मा ईसाके उपदेशोंका सार मर्म है—'God is Love.' अमेरिकाके ऋषि एमर्सनने लिखा है—'The essence of God is Love.' आजसे हजारों वर्ष पूर्व भारतवर्षके ऋषियोंके कण्ठसे यह वाणी उद्घोषित हुई थी—

रसो वै सः। रसꣳ ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति'''।'

'स एव रसानां रसतमः।'

अर्थात् भगवान् आनन्द एवं माधुर्यकी पराकाष्ठा हैं—Supremest Delight और Sweetest Love हैं। उपनिषद्में भगवान्को 'मधु ब्रह्म' कहा गया है।

'मधु क्षरति तद्ब्रह्म'

ऋग्वेदका 'मधु वाता ऋतायते, मधु क्षरन्ति सिन्धवः' —इत्यादि मन्त्र भी अखिल विश्वके मधुमय रूपकी ही घोषणा करता है। अपने इस मधुमय रूपमें भगवान् जीवके लिये सबसे बढ़कर प्रिय—पुत्र, धन, आत्मीय स्वजन सबसे बढ़कर प्रेय हैं—'प्रेयः अन्यस्मात् सर्वस्मात्'। भगवान् प्रियतम हैं—परम प्रेमास्पद हैं—

'अयमात्मा परमानन्दः परमप्रेमास्पदम् यतः।'
'सा कस्मै परमप्रेमरूपा'। (नारद०)

मुसलमान सूफी भक्तोंने भी भगवान्को इस प्रेममय रूपमें हृदयङ्गम किया है और उन्हें माशूक (Beloved) और जीवको आशिक (Lover) कहकर सम्बोधन किया है। प्रेमलीलामें भगवान् रमण और भक्त रमणी बन जाते हैं। भक्तोंकी दृष्टिमें भगवान् माधुर्यसघन प्रतीत होते हैं—'अधरं मधुरं वदनं मधुरं मधुराधिपतेरखिलं मधुरम्'। मौलाना जलालुद्दीन रूमी एक बड़े भारी सूफी भक्त हो गये हैं। उन्होंने कहा है—'When the love of God arises in thy heart, without doubt God also feels for thee.' अर्थात् भगवान्के लिये तुम्हारे हृदयमें जब प्रेमभाव उदित होगा, तो निःसन्देह भगवान्को भी तुम्हारे लिये चिन्ता होगी। मौलाना रूमीकी कुछ कविताओंका भावार्थ इस प्रकार है—

मधुरातिमधुर गीतोंमें रूमी यही गा रहा है कि समस्त प्रकृति भगवान्के दिव्य प्रेममें सराबोर है। यहाँतक कि ये प्यारी-प्यारी कोमल-कोमल लता-वल्लरियाँ भी उसी परम प्रियतमका प्रेमास्वादन करती हुई झूम रही हैं।

संसारके यावत् पदार्थोंमें भगवान्की शक्ति और कान्ति छलक रही है। जहाँ भी, जो कुछ भी सुन्दर एवं मधुर है, उसमें भगवान्का सौन्दर्य उमड़ रहा है।

इस प्रेम-मन्दिरमें जो प्रेम-पुजारी हैं वे प्रियतमकी रूप

शिखापर अपने प्राणोंको न्योछावर कर चुके हैं—ठीक जैसे दीपशिखापर शलभ।

सूफ़ी भगवान्‌का संगम नहीं, विरह चाहते हैं—'सङ्गमविरहविकल्पे वरमिह विरहः······।' उन्हें विरहकी अविराम गतिमें ही आनन्द मिलता है—

'May I seek and ever seek, but may I never find!'

'The Sufis do not desire to be united to the Beloved. Why? Because they believe such a consummation would rob them of the ecstasy of endeavour and of constant questing.'

अर्थात् सूफ़ी अपने प्रियतम भगवान्‌से मिलना नहीं चाहते। क्यों? इसलिये कि मिलनमें उन्हें वह आनन्द प्राप्त नहीं होगा जो आनन्द उन्हें मिलनके प्रयत्नमें और निरन्तर सन्धानमें प्राप्त होता है।

ईसाई संतोंने भी आनन्दमय, मधुमय एवं प्रेममय रूपमें भगवान्‌की भावना की है। ईसाई रहस्यवादियोंकी भाषामें भगवान् 'Dolee Amori or Sweetest Love' अर्थात् रसघन आनन्दरूप हैं। 'Where pleasure is, there is God'—Brow'ing.

ईसाई रहस्यवादियोंका कथन है—

'Love raises the spirit above reverence into one of laughter and dalliance. Lovers of God have a horror of solemnity. They are not afraid with any amazement—they are at home.'

भगवान्‌के जो प्रेमिक होते हैं, उनका भगवान्‌के प्रति विस्मययुक्त श्रद्धाका भाव नहीं बल्कि हास्य-कौतुक एवं लीलाविभ्रमका भाव होता है। सखाभावसे वे भगवान्‌की आराधना करते हैं—

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं
हे कृष्ण हे यादव हे सखेति।

'All mystical thinkers agree in declaring that there is a mutual attraction between the spark of the soul, the free divine germ in man and the fount from which it came forth. We long for the Absolute only in so far as in us the Absolute also longs.'

अर्थात् रहस्यवादियोंकी दृष्टिमें जीवात्मा एवं परमात्माके बीच निरन्तर आकर्षणका भाव बना रहता है। यह आकर्षण पारस्परिक होता है। हममें परमात्माका जो अंश है वह जिस सीमातक परमात्मासे मिलनेके लिये लालायित रहता है, उसी सीमातक हम भी परमात्मासे मिलनेके लिये लालायित रहते हैं।

'Surrender is its secret—a personal surrender, not only of finite to infinite but of bride to Bridegroom, heart to Heart.'

अर्थात् प्रेमिक एवं प्रेमिकाके बीच हृदय-हृदयका सम्पूर्ण मिलन—पूर्ण आत्मसमर्पण ही इसकी कुंजी है। रहस्यवादियोंकी भाषामें इसे ही कहते हैं परमात्माके साथ जीवात्माका रहस्यपूर्ण विवाह—'The mystic marriage of the soul with God.' दूसरे शब्दोंमें 'It is a passive and joyous yielding up of the virgin soul to its Bridegroom, a silent marriage vow.' 'Orisan brings together the two lovers—God and the Soul—into a joyful room where they speak much of love.'

इस प्रकार प्रेमिक भक्तकी आत्माका उत्थान आराधनासे आरम्भ होता है और उसका अन्त आध्यात्मिक विवाहसम्बन्धमें होता है। यूरोपमें सेंट टेरेसा नामकी एक प्रसिद्ध साधिका हो गयी हैं। उन्होंने अपनी आत्मविरह-अवस्थाका वर्णन इस प्रकार किया है—

The pain grows to such a degree of intensity that in spite of oneself one cries aloud. Moreover, the intense and painful concentration upon the Divine Absence, which takes place in this 'dark rapture' induces all the psycho-physical marks of ecstasy. Although this ecstasy lasts but a short time, the bones of the body seem to be disjointed by it. The pulse is as feeble as if one were at the point of death......She is no longer the

mistress of her reasons......She burns with a consuming thirst and cannot drink at the well which she desires.'

अर्थात् इस विरहावस्थामें विरहवेदनाकी तीव्र अनुभूति होने लगती है। रभस (ecstasy) के कुल लक्षण प्रकट होने लगते हैं। नाडीकी गति इतनी मन्द हो जाती है मानो मृत्यु सन्निकट हो···अब वह चेतनावस्थामें नहीं रह जाती। उसकी पिपासा तीव्र हो उठती है, किन्तु वह उस उत्समें अपनी पिपासा शान्त करनेमें असमर्थ होती है।

रहस्यवादियोंकी भाषामें इसे 'dark night of the soul' कहते हैं। 'In the dark night of the soul comes Krishna to Radha.'—Vaswani. विरहावस्थामें ही राधाके साथ कृष्णका चिरमिलन होता है। विरहावस्थामें कामज प्रेमका लवलेश भी नहीं रह जाता और भगवान्‌के प्रति विशुद्ध प्रेमकी स्थापना होती है।

'In the midst of a psychic storm (विरह) mercenary love is forever dis-established and the new state of pure love is abruptly established in its place. With mystics, the dark night is all directed towards the essential mystic act of utter self-surrender.'

'विरह-वेदनाकी तीव्र अनुभूतिकी दशामें स्वार्थजन्य प्रेमका सदाके लिये अन्त हो जाता है और उसके स्थानपर विशुद्ध प्रेमकी स्थापना होती है। रहस्यवादियोंके लिये यह विरहावस्था भगवान्‌के प्रति सम्पूर्ण आत्मसमर्पणकी अवस्था है।' भगवान् अपने भक्तोंको इस परीक्षाग्निमें तपा-तपाकर उनके प्रेमको विशुद्ध बना डालते हैं।

'In order to raise the soul from imperfection,' said the voice of God to St. Catherine, 'I withdraw myself from her sentiments—which I do in order to humiliate her, and to cause her to seek Me in truth.

इस प्रकार विरहकी आँचमें तपकर जब प्रेम सम्पूर्ण विशुद्ध बन जाता है, तब जीव और ब्रह्मका महामिलन होता है और भूमानन्दकी प्राप्ति होती है। उस समय 'The soul swims in the sea of joy'—जीवात्मा सच्चिदानन्दसिन्धुका बिन्दु बनकर उसमें विलीन हो जाता है। 'God and the soul are made one thing in the Unitive state.' 'He and I become one I'

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।

इस महामिलनके बाद फिर विरहकी अनुभूति नहीं होती। यह अच्छेद्य एवं अक्लेद्य होता है। भगवानका विरह भक्तोंके लिये इस प्रकार ही चमत्कारपूर्ण होता है!

प्रेमका साधन है अभिराम

प्रेमका साधन है अभिराम।

प्रेमहीसे शबरीके धाम
गये प्रमुदित सानुज श्रीराम,
किया स्वीकृत आतिथ्य-ललाम,
प्रेम लख दिया उसे निज धाम;
प्रेम का साधन है अभिराम।

प्रेमका लेकर व्रत निष्काम
पार्थके बने सारथी श्याम,
भक्तवत्सल प्रभु लीलाधाम
प्रेम-वश रहते आठो याम;
प्रेम का साधन है अभिराम।

प्रेममय होकर ले हरिनाम;
अजामिल, गनिका, गज अघ-धाम-
सभी ने पाई गति बिन दाम;
मिला पतितोंको शुभ विश्राम;
प्रेम का साधन है अभिराम।

—श्रीलक्ष्मीनारायण गुप्त 'कमलेश'

मातृकान्यासविवेक

(लेखक—पं० श्रीललिताप्रसादजी डबराल)

अखण्डमण्डलाकारं व्याप्तं येन चराचरम् ।
तत्पदं दर्शितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥

मातृकान्यास-पदमें मातृका और न्यास—दो शब्द हैं; इनमें मातृकापदसे स्थूलरूपमें अकारादि क्षकारान्त स्वर और व्यञ्जनरूपसे प्रचलित वर्णमालाका बोध होता है। इनका सूक्ष्म रूप आद्य विमर्श-शक्ति (स्फुरणामात्र परावाक्) है, जो इस पिण्डाण्ड (मनुष्यदेह) में मूलाधारस्थ कुण्डलिनी नामसे प्रसिद्ध है। शारदातन्त्रमें चैतन्यात्मक शब्दब्रह्मका उपक्रम करके कहा गया है कि वह चैतन्यात्मक शब्दब्रह्म प्राणियोंके मध्यमें कुण्डलिनीस्वरूपको प्राप्त कर गद्य-पद्य आदि भेदवाले अक्षरोंके रूपमें बाहर प्रकट होता है[1]।

इसका संक्षेपमें वर्णन आगे चलकर मातृकाओंके स्वरूप-परिचयके अवसरपर किया जायगा। स्वरूप-परिचयके साथ-साथ यह भी स्पष्ट होगा कि मातृका ही देवता तथा मन्त्रस्वरूप भी हैं। और दूसरे—न्यासपदका अर्थ है इन मातृका-मन्त्रोंका न्यास करना अर्थात् पिण्डाण्डमें या यन्त्रादि पीठमें पञ्चभूत—अङ्ग तथा देवताओंकी मन्त्रोंके द्वारा स्थापना करना[2]।

परमार्थमें न्यासका सूक्ष्म रूप तो साधकके लिये पूजा—'साधना' के अनुकूल देहकी कल्पना करना है[3]।

यद्यपि—

कदाचिल्लभ्यते जन्म मानुष्यं पुण्यसञ्चयात् ।

—के अनुसार ऐहिक या पारलौकिक कृत्योंके साधन-योग्य मनुष्यदेह साधकको प्राप्त ही है, इसकी मातृका (मन्त्रों) के द्वारा कल्पना करना निष्प्रयोजन-सा प्रतीत होता है, तथापि अपने उपास्यदेवकी साधना करनेमें अधिकारी बननेके लिये न्यासोंकी परम आवश्यकता है। इसका संक्षेपमें स्पष्ट तात्पर्य यह है कि दुर्लभ मनुष्यदेह पानेपर भी—

लोको मोहसुरां पीत्वा न वेत्ति हितमात्मनः ।

—मोहमयी मदिराके पानसे उन्मत्त होकर मनुष्य अपने हिताहितका परिज्ञान नहीं कर पाता, जिससे अपने वास्तविक स्वरूपपरिचयके विपरीत 'आये थे हरिभजनको ओटन लगे कपास' को चरितार्थ करता हुआ तेरी-मेरीके फेरमें पड़कर दुःखमय संसारसागरके—

जायन्ते च म्रियन्ते च संसारे दुःखसागरे ।

—जन्म-मरणमय भँवरोंमें घूमते रहना पड़ता है। इसलिये 'सतां सङ्गो हि भेषजम्' तथा—

भवार्णवतरिः शान्तो गुरुरेव परा गतिः ।

—इत्यादि आगमवचनोंके अनुसार परमकृपालु गुरु श्रद्धालु उपासकको साधनामार्गमें प्रवृत्त करता है—जिसमें न्यास, जप, पूजा, होम, तर्पण आदि विधि इतिकर्तव्यताके स्वरूप हैं। इनमें न्यासोंके पूर्वाङ्गभूत प्राणप्रतिष्ठा, भूतशुद्धि, प्राणायाम आदि करनेके अनन्तर न्यासोंके द्वारा अपने देहकी शुद्ध देवतास्वरूप भावना करनेसे* 'देवो भूत्वा देवं यजेत्'—दिव्य देहकी प्राप्ति आवश्यक है। आगमका वचन भी है कि

---

1. चैतन्यं सर्वभूतानां शब्दब्रह्मेति मे मतिः ।
तत्प्राप्य कुण्डलीरूपं प्राणिनां देहमध्यगम् ॥
वर्णात्मनाऽऽविर्भवति गद्यपद्यादिभेदतः ॥
2. 'पञ्चभूताङ्गदेवानां न्यसनान्न्यास उच्यते ।'
3. 'न्यासस्तु देवतात्मत्वात्स्वात्मनो देहकल्पना ।'

* तन्त्रोंमें कहा गया है कि न्यासोंके बिना जप अभीष्ट-प्रद न होकर आसुरी सम्पत्ति देता है। इसलिये न्यासोंके द्वारा देवमय होकर जप-ध्यान करना चाहिये।

'मन्त्राक्षराणि विन्यसेद् देवताभावसिद्धये ।'

तथा—

न्यासं विना जपं प्राहुरासुरं विफलं बुधाः ।
न्यासात्तदात्मको भूत्वा देवो भूत्वा तु तं यजेत् ॥

यहाँतक कहा गया है कि जो स्वयं शिवस्वरूप नहीं है, उसका शिवसे कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता।

नाशिवः शिवमभ्यस्येन्नाशिवः शिवमर्चयेत् ।
नाशिवस्तु शिवं ध्यायेन्नाशिवः शिवमाप्नुयात् ॥

इसी सिद्धान्तके पाश्चात्य विद्वानोंने भी सिद्धान्तरूपसे कहा है कि यदि तुम सचाई चाहते हो तो सच्चे बनो—If you want truth, be true—इत्यादि।

भूत[1]शुद्धि, प्राणा[2]याम तथा न्यासोंके किये विना उपासक पूजा (उपासना, जप) करनेका अधिकारी नहीं हो सकता[3]।

एवं अज्ञानवश प्राप्त अहङ्कार या ममत्वके कारण आवृत हुए वास्तविक निजस्वरूपका परिचय करना भी प्रयोजन है।

प्रदर्शित भूतशुद्धि-विज्ञानको प्रकृति[5] विज्ञान कहते हैं, जो

---

१. भूतशुद्धिका विस्तृत प्रकार देना विषयान्तर हो जाता है। संक्षेपमें इतना ही कहना है कि साधकके शरीराकारको प्राप्त हुए स्थूल-सूक्ष्म भूतोंके संहार, सृष्टि, स्थितिके द्वारा अनैश्वर्य-गुणमय पापका विनाश कर शुद्ध संविन्मय निष्पाप शरीरकी सृष्टि और स्थितिके द्वारा भूतोंकी शुद्धि करना अर्थात् अनात्मभूत भूतोंमें आत्माभिमानिता (अहङ्कार) का त्याग कर अपनेको ब्रह्म (देवता)-मय समझना भूतशुद्धि पदार्थ है।

शरीराकारभूतानां भूतानां यद्विशोधनम्।
अव्ययब्रह्मसम्पर्काद् भूतशुद्धिरियं मता॥

दूसरे वचन भी ऐसे ही मिलते हैं—पञ्चभूतोंका उपक्रम करके—

देहाभिमानिता चैव दोषाश्च समुदाहृताः।
तेषामात्मपरिज्ञानाद् विज्ञाय स्वस्य ब्रह्मताम्॥
अहङ्कारपरित्यागः शुद्धिरित्यवगम्यताम्॥

२. प्राणाः शरीरपवना आयामो दैर्घ्यमुच्यते।
प्राणायाम इति प्रोक्तो मुनिभिः पापनाशनः॥

अनामिका और कनिष्ठिकासे नासापुटको धारणकर शरीर-वायुका पूरक, कुम्भक, रेचकरीतिसे विस्तार करना प्राणायाम कहलाता है। यह शरीरके मलोंका नाशक है।

३. प्राणायाममकृत्वा तु भूतशुद्धिमथापि वा।
अकृत्वा विधिवन्न्यासान् नार्चायामधिकारवान्॥

४. जैसे छिटककर इधर-उधर चारों ओर फैलनेवाली चिनगारियाँ अग्निसे पृथक् दूसरी वस्तु नहीं हैं, या समुद्रकी तरङ्गें समुद्रसे भिन्न नहीं हैं, ऐसे ही परब्रह्म परमात्माके अंशभूत जीव भी निर्गुण सच्चिदानन्दकन्दसे अतिरिक्त नहीं हैं—

निर्गुणः सच्चिदानन्दस्तदंशा जीवसंज्ञकाः।
अनाद्यविद्योपहता यथाग्नौ विस्फुलिङ्गकाः॥

५. परब्रह्म परमात्माकी सिसृक्षाकालमें स्फुरणात्मक आदि विमर्श-शक्ति परम प्रकृति कही जाती है, और उसके परिणामस्वरूप महदादि भूपर्यन्त सूक्ष्म-स्थूल तत्त्व, ब्रह्मादिमूर्ति अथवा निवृत्त्यादि कला तथा ब्रह्मलोकादि चतुर्दश भुवनात्मक अर्थसृष्टि और वर्णपद तथा मन्त्रात्मक शब्दसृष्टि परापर प्रकृति कहलाती है। अर्थात्

कि तत्त्वसाक्षात्कारका परम साधन[6] है। इस रीतिसे साधकके दिव्य देहकी उत्पत्ति करना तथा तत्त्वका बोध करना मातृका-न्यासका प्रयोजन सिद्ध होता है। यह सब कुछ भौतिक मनुष्यदेहके द्वारा ही साध्य है, इसलिये मनुष्यदेहको मोक्षकी सीढ़ी माना गया है—

'सोपानभूतं मोक्षस्य मानुष्यं जन्म दुर्लभम्।'

मातृकाओंका निर्दिष्ट प्रयोजनसे सम्बन्ध जनानेके लिये संक्षेपमें उनके सूक्ष्मस्वरूपका दिग्दर्शन कराया जाता है।

मातृकापद मातृपदसे स्वार्थमें क प्रत्यय करनेसे बना है,

परब्रह्म परमात्मासे पृथग्भूत परिदृश्यमान समस्त वस्तुजातको प्रकृति कहा जा सकता है। शारदातन्त्रमें स्पष्ट ही कहा गया है—

'निर्गुणः प्रकृतेरन्यः सगुणः सकलः स्मृतः।'

ऐसा ही अन्यत्र भी कहा गया है—

तच्छक्तिभूतः सर्वेशो भिन्नो ब्रह्मादिमूर्तिभिः।
कर्ता भोक्ता च संहर्ता सकलः स जगन्मयः॥

६. निर्गुण निरञ्जन निर्विशेष परमात्मतत्त्वका साक्षात्कार करना, अप्रमेय या अविषय होना कथमपि सम्भव नहीं है। इसलिये उसकी अभिव्यक्ति प्रकृतिके ही द्वारा हो सकती है। जैसे स्वयंप्रकाश-स्वरूप सूर्यका आतप भी जडात्मक गृह-वृक्षादिके (आध्यासिक भी) संसर्गके विना प्रकाशविषय नहीं होता, वैसे ही स्वभावतः अविषय आत्मा भी प्रकृतिसंसर्गके विना विषय नहीं हो सकता। इसलिये आत्मतत्त्वविज्ञानके लिये प्रकृतिविज्ञान मुख्य साधन माना गया है। तन्त्रोंमें कहा गया है—

एकमेव परं ब्रह्म रसरूपी सनातनः।
प्रकृत्या क्रियते व्यक्तस्तथाऽव्यक्तस्तया पुनः।
तस्मात् प्रकृतियोगेन क्षिप्रं प्रत्यक्षमाप्नुयात्॥

अद्वैत-वेदान्तियोंका भी ऐसा ही सिद्धान्त है—

निर्विशेषं परं ब्रह्म साक्षात्कर्तुमनीश्वराः।
ये मन्दास्तेऽनुकम्प्यन्ते सविशेषनिरूपणैः॥
वशीकृते मनस्येषां सगुणब्रह्मशीलनात्।
तदेवाविर्भवेत्साक्षादपेतोपाधिकल्पनम्॥

यद्यपि प्रकृति नाना है, तथापि घटत्व-पटत्वादि विषयके नाना होनेपर भी विषयिज्ञान जैसे नाना नहीं होता, वैसे ही प्रकृतिके नानात्वसे ब्रह्ममें नानात्व नहीं आ सकता।

इतराद्भिद्यमानोऽपि न भेदमुपगच्छति।
पुरुषे नैव भेदोऽस्ति विना शक्तिं कथञ्चन॥

इसका पूर्णतया रहस्योद्घाटन तन्त्रोंमें दीक्षाप्रकरणमें किया गया है, यहाँपर विस्तार हो जानेके भयसे नहीं किया जाता।

जिसका माता अर्थ होता है। यह किसी एक व्यक्ति या समुदाय-विशेषकी माता नहीं, किन्तु विश्वमात्रकी जननी है। इसलिये इसको जगदम्बिका कहा जाता है। इसीलिये इसको विश्व-मयी भी कहा गया है—

सर्वरूपमयी देवी सर्वं देवीमयं जगत्।
अतोऽहं विश्वरूपां तां नमामि परमेश्वरीम्॥

कालवश अथवा उपभोगवश प्राणियोंके कर्म क्षीण होनेमे परब्रह्म परमात्मा इस विश्वजननी आदिशक्तिको अपनेमें लीन कर लेते हैं, तब यह शक्ति सब बाह्य प्रपञ्च-ज्ञानको अपनेमें लीनकर चिद्‌घन परमात्मामें एकरस होकर सोयी हुई-सी विश्राम करती है। इस दशाको प्रलय या सुषुप्ति कहते हैं। अनन्तर कालवश अथच सृज्यमान प्राणियोंके परिपाकोन्मुख कर्मोंके कारण परमात्मामें सिसृक्षाका उदय (परमात्मामें प्रलीन आदिशक्तिका बहिरुन्मुखीभाव) होता है। यहींसे सृष्टिका प्रारम्भ है। उस आदिशक्तिके विश्राम त्यागकर बाहर-सा आकर परमात्माके सम्मुख होनेमे परस्पर बिम्ब-प्रतिबिम्बभावात्मक शिव-शक्तिसम्पुटरूप 'अहम्' का प्रादुर्भाव होता है। इस दशातक पहुँचनेमें मध्यमें क्रमशः अनेक सूक्ष्मातिसूक्ष्म परिणाम हो जाते हैं, जिनका विवेचन अति गहन होनेसे गुरूपदेशद्वारा साधना-गम्य ही है; केवल साधारण शब्दोंमें इतना ही कहा जा सकता है कि जैसे समुचित कालमें बोया गया बीज कालशक्ति-से प्रेरित होकर सर्वप्रथम कुछ फूल जाता है, तदनन्तर जमीनके भीतर जड़ोंका प्रसार और बाहर अङ्कुरादिक्रमसे तना-शाखा-टहनियों और पत्तियोंका प्रसार करता है, उसी प्रकार परमात्मा भी सिसृक्षासे घनभावको प्राप्त होकर बाह्याभ्यन्तर शब्दार्थमयी ज्ञान-क्रियात्मक जड-चेतनात्मक सृष्टिका प्रसार उस महेच्छारूप आद्यस्फुरणात्मक शक्तिके द्वारा करता है। यह महेच्छाशक्ति सामरस्य पदके बीज-स्थानीय है। इसीलिये इसको विश्वजननी कहनेमें कोई बाधा नहीं। यही मातृकाओंका परमसूक्ष्म रूप है। यह मूल महाबिन्दु कहलाता है। इसमें शुद्ध चिद्रूप शिव और चिदचित्‌के सङ्घातरूप पुरुष एवं अचिद्रूप प्रकृति—तीनोंका क्रमशः बिन्दु, नाद और बीजरूपसे समावेश है। काल-शक्तिकी प्रेरणासे शिव-प्रकृतिके उन्मुख होते ही शब्द-अर्थ किसी भी प्रकारके भेद-व्यवहार तथा अभिलापसे शून्य केवल निरावृत चिन्मय परात्मक रवकी उत्पत्ति होती है; तदनन्तर इस पराशक्तिके द्वारा कालशक्तिकी प्रेरणासे पश्यन्ती आदि शब्दसृष्टि और महदादि[1] तत्त्वरूप अर्थसृष्टिका आविर्भाव हुआ। इस प्रकार वर्ण, पद, मन्त्र और कला-भुवन-तत्त्वरूप शब्दार्थमयी सकल सृष्टिकी जननी पराशक्ति ही मातृका है। स्वतन्त्रानन्दनाथ भी लिखते हैं—

१. महदादि भूपर्यन्त तत्त्वसृष्टिका भी तन्त्रोंमें प्रायः सांख्य-सम्मत ही क्रम माना गया है। चेतनवर्गमें ब्रह्मा, विष्णु, महेश परमात्माके अंशभूत हैं और महत्तत्त्व मूलप्रकृति परा-शक्तिका परिणाम है। उत्तरोत्तर परिणामसे अहमादि भूपर्यन्त तत्त्वों तथा चक्षुरादि दस इन्द्रियगण एवं भूतगणोंकी उत्पत्ति मानी गयी है। तन्त्रोंमें इस प्रकार कहा है—

सा तत्त्वसंज्ञा चिन्मात्रा ज्योतिषः सन्निधेस्तदा।
विचिकीर्षुर्घनीभूता क्वचिदभ्येति बिन्दुताम्॥
कालेन भिद्यमानस्तु स बिन्दुर्भवति त्रिधा।
स बिन्दुनादबीजत्वभेदेन च निगद्यते॥
बिन्दोस्तस्माद्भिद्यमानाद्रवोऽव्यक्तात्मकोऽभवत्।
स रवः श्रुतिसम्पन्नैः शब्दब्रह्मेति गीयते॥
अव्यक्तादत्ररुदितत्रिभेदगहनात्मकम्।
महन्नाम भवेत्तत्त्वं महतोऽहङ्कृतिस्तथा॥—इत्यादि

यह परानामक मूल-प्रकृतिरूप बिन्दु इच्छा-ज्ञान-क्रिया, सृष्टि-स्थिति-संहार, ब्रह्मा-विष्णु-महेश, आदि-मध्य-अवसान, जागर-स्वप्न-सुषुप्ति, पश्यन्ती-मध्यमा-वैखरी, ज्येष्ठा-वामा-रौद्री, चन्द्र-सूर्य-अग्नि आदि त्रिपुटीमय त्रिरेखात्मक त्रिकोणभावको प्राप्त होता है। उक्त शब्दतत्त्वकी पिण्डाण्डमें अभिव्यक्तिका प्रकार प्रसङ्गवश संक्षेपमे लिखते हैं। काल-कर्मवश जब शुक्रद्वारा पुरुष गर्भाशयमें प्रविष्ट होता है, तब वहीं उसके सब अङ्ग-प्रत्यङ्गोंकी रचना होती है; साथ ही उसके मूलाधारमें कुण्डलिनीरूपसे पराख्य शब्दतत्त्वका भी आधान हो जाता है। वह कुण्डलिनीरूप पराख्य अव्यक्त तत्त्व कालक्रमसे शक्ति, ध्वनि, नाद, निरोधिका, अर्द्धचन्द्र तथा बिन्दुरूप अवस्थामें परिणत होकर कुछ भेदोन्मुख होता हुआ भी शब्दार्थभेदशून्य केवल ज्ञान-दशामात्र नाभिप्रदेशमें आता हुआ पश्यन्ती नामको प्राप्त करता है, तदनन्तर ऊपर उठकर हृदयपर्यन्त आकर शब्दार्थभेदसे परिपूर्ण होकर मध्यमा और कण्ठदेशसे होकर मुखसे बाहर निकल-कर दूसरेके कानतक पहुँचनेयोग्य अवस्थाको प्राप्तकर वैखरी संज्ञाको पाता है। इस रीतिसे हृद्गत भावोंको प्रकट करनेके लिये कुण्डलिनीरूपमें विद्यमान सूक्ष्म चेतनात्मक शब्दब्रह्म पश्यन्ती आदि क्रमसे गद्य-पद्यात्मक वर्णरूपमें अभिव्यक्त होता है। जैसा कि प्रपञ्चसार तन्त्रमें कहा है—

मूलाधारात्प्रथममुदितो यस्तु भावः पराख्यः
पश्चात्पश्यन्त्यथ हृदयगो बुद्धियुङ् मध्यमाख्यः।

स्पर्शस्वरोल्लिखितजागरसुप्त्यवस्था-
मन्तःस्थसूचितसुषुप्त्युदितप्रबोधाम् ।
ऊष्मोक्तजागरदशोदितसुप्त्यवस्थां
मन्त्रोत्करस्य जननीं मनसा विशामः ॥

सम्पूर्ण मन्त्रोंकी जननी मातृका केवल पिण्डाण्डरूप जीव दशामात्र नहीं है, किन्तु विराट्रूप भी है । जैसा कि प्रपञ्चसार तन्त्रमें कहा गया है—

अ-क-च-ट-त-प-याद्यैः सप्तभिर्वर्णवर्गै-
र्विरचितमुखबाहापादमध्याख्यहृत्का ।
सकलजगदधीशा शाश्वता विश्वयोनि-
र्वितरतु परिशुद्धिं चेतसः शारदा नः ॥

अर्थात् शारदा (मातृका)-रूप परब्रह्म परमात्माका विराट् देह वर्णोंसे ही बना है । अवर्ग (सोलह स्वर) से मुख, कवर्गसे हाथ, चवर्गसे पैर, टवर्गसे मध्यभाग, तवर्गसे त्वक्, अस्थि, मांस, मज्जा आदि धातु, पवर्गसे हृदय अर्थात् ज्ञानक्रियात्मक प्राण अथ च प्राणोंकी मूलभूत मायाशक्ति और यवर्ग (य र ल व श ष स ह) से पुरुष आनन्दकन्द आत्मभूत परमात्मा बना है ।

विद्यामातृविवेचने पुरभिदः प्रज्ञापि संमुह्यति ।

—के अनुसार महाशक्तिस्वरूप मातृकाका पूर्ण विवेचन करना सर्वथा दुःसाध्य ही नहीं, असम्भव भी है । इस संक्षेप विवेचनसे ही विदित है कि मातृकाओंका निरुक्त स्वरूप मातृकान्यासके द्वारा कथित प्रयोजनकी सिद्धिके सर्वथा उपयुक्त है* ।

अब संक्षेपमें सर्वविध मातृकान्यासोपयोगी सामान्य विषय दर्शाते हैं । साधारणतया इनके तीन भेद माने गये हैं—सृष्टिन्यास, स्थितिन्यास और संहारन्यास । इनमें साधनाके अनुकूल शरीरकी उत्पत्तिके लिये प्रथम न्यास किया जाता है, दूसरा न्यास उत्पन्न शरीरमें देवताके तादात्म्यकी स्थितिके लिये और तीसरे प्रकारमें साधनाविरोधी मलावृत भौतिक शरीरके विलयनकी भावना की जाती है, अथवा अनैश्वर्य आदि

वक्त्रे वैखर्यथ रुदादिघोरस्य जन्तोः कुण्डल्या
बद्धस्तस्माद्भवति पवनप्रेरितो वर्णसङ्घः ॥

इस प्रकार परातत्त्व प्रथमोत्पन्न जन्तुके रोदनरूपमें आविर्भूत होता है । पुनः क्रमशः अ, क, च आदि वर्णाभिव्यक्ति-दशामें पहुँच जाता है ।

* संक्षेपमें प्रघट्टकका प्रकृतोपयोगी तात्पर्य यह है कि ज्ञानशक्ति ही हृदयगत अर्थके आकारको ही अपना आकार प्रकट करती हुई सद्योजात जन्तुके रोदनादि अव्यक्तरूपमें अथच क्रमशः विकसित होनेपर वर्ण-पदादिरूपमें वैखरी-विमर्शमें प्रसार करती है । 'अकारो वै सर्वा वाक्' इस श्रुतिके अनुसार अकार सर्वप्रथम है । तन्त्रोंका ही नहीं, व्यावहारिक सिद्धान्त भी यही है कि अद्वैत तो द्वैतके बिना भी सम्भव है, परन्तु द्वैत एकके बिना सम्भव नहीं । इसलिये ज्ञान-क्रिया, भेद-अभेद इत्यादि द्वैतका एक सामरस्य-पद अवश्य है, जिसमें दोनोंका समावेश हो । और जैसे बीजसे मूल और अङ्कुर दोनों शाखाएँ क्रमशः नीचे-ऊपरको आती हैं, ऐसे ही सामरस्यपदसे दोनों बिन्दु-विसर्गरूपी शाखाएँ निकलती हैं—इसलिये यह अकार बिन्दु, विसर्ग (शिव-शक्ति, भेद-अभेद) का सामरस्यपद है । प्रत्येककी व्याप्तिसे बिन्दु विसर्गरूपको प्राप्त करता है । इन दोनोंकी सर्वत्र व्याप्ति है, इसलिये वर्तमान प्रसिद्ध आनुपूर्वीमें *इनका सबसे अन्तमें पाठ है और व्यञ्जनोंका स्वरोंके* बिना उच्चारण नहीं हो सकता, इसलिये व्यञ्जनोंसे भी पूर्व स्वरोंका पाठ रक्खा है । पुनः विमर्शवश सामरस्यपदसे यथावसर बिन्दु या विसर्गकी व्याप्तिसे इच्छा (आदि)-ज्ञान (मध्य)-क्रिया (अवसान), प्रमेय-प्रमाण-प्रमातृ आदि अनेक त्रिपुटीमय कक्षाओंके ईक्षणादि न्यायसे प्रादुर्भावस्वरूप षोडश स्वरों तथा सम्पूर्ण मातृकाकी अभिव्यक्ति हुई एवं सम्पूर्ण मातृकामन्त्र सोम, सूर्य और अग्निरूप, प्रमेय-प्रमाण-प्रमातृ तथा स्वर्ग-भू-पाताल आदि अनेक त्रिपुटीमय हैं । अकारादि विसर्गान्त षोडश स्वर सौम्य और प्रमेय-कक्षाके हैं । कादि मान्त पचीस स्पर्श वर्ण सौर तथा प्रमाण-कक्षाके हैं एवं यादि क्षान्त आठ व्यापक वर्ण प्रमातृ-कक्षाके हैं । इसलिये मातृकाको 'त्रिधाम-जननी' कहा है । जैसे सामरस्यपद सर्वत्र व्याप्त है, वैसे ही प्रत्येक पदमें भी प्रत्येक पद यामल-सिद्धान्तसे नित्य अनुवर्तमान है । केवल बिन्दु या विसर्गकी व्याप्तिके प्राधान्याप्राधान्यसे भेद रहता है । इस सिद्धान्तसे मातृकामन्त्रका प्रत्येक खण्ड भी तीनों पदोंमें व्याप्त है । स्वर-खण्डको ही देखिये—ह्रस्व-दीर्घ अ से ऊ तक तो बिन्दु-विसर्ग दोनोंके प्रमेय हैं, ह्रस्व बिन्दुके और दीर्घ विसर्गके । ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, ए, ऐ, ओ, औ सन्ध्यक्षर प्रमातृ-प्रमेयके सम्मिश्रणात्मक भेदाभेदके प्रमाणपद हैं और बिन्दु-विसर्ग भेदाभेदके प्रमातृपद हैं । वर्तमान अनुलोम क्रम विसर्ग-व्याप्ति और इसका प्रतिलोम क्रम बिन्दु-व्याप्तिको सूचित करता है । ह्रस्व (बिन्दु) शिवस्वरूप होनेसे पुरुषसंज्ञक और दीर्घ (विसर्ग) शक्तिरूप होनेसे स्त्रीसंज्ञक हैं । बलप्रधान पुरुष दक्ष अङ्ग कहाता है, इसलिये ह्रस्वोंका न्यास दक्ष अङ्गोंमें होता है और दुर्बल वाम अङ्गोंमें स्त्रीसंज्ञक दीर्घोंका न्यास होता है । ऋ, ॠ, ऌ, ॡ—इन चारोंमें दोनोंका समप्रधान भाव होनेसे इनकी नपुंसक संज्ञा है ।

पशुगुणोंके विनाशार्थ संहारन्यास और ऐश्वर्य आदि शिवगुणोंकी उत्पत्तिके लिये सर्गन्यास है।

पुनः सुविधाकी परिस्थितिके अनुसार भी न्यासोंका विधान है। पूर्ण सावधान दशामें पूरे विधानके सहित स्वर या व्यञ्जन तथा लिपि-पारायणक्रमसे[1] न्यास करना सौस्थानिक न्यास कहाता है। कार्यान्तरमें व्यग्र रहने या उचित देश-कालकी परिस्थिति न रहनेसे औत्थानिक न्यास किये जाते हैं। इस क्रममें अ क च ट त प य—इन सात वर्गोंसे क्रमशः मुख, दो हाथ, दो पाँव, नाभि और हृदय—इन सात अङ्गोंमें व्यापक रीतिसे न्यास किया जाता है। स्नानकालमें अ, क, च आदि वर्गोंसे मुख—मध्यभाग और अधोभाग (पाद) में व्यापक रीतिसे न्यास करना होता है, और भोजनकालमें समस्त मातृकाके द्वारा सम्पूर्ण अङ्गों—मस्तकादि पादान्तमें व्यापक रीतिसे न्यास करना होता है। पुण्यस्थलकी प्राप्तिमें तो औत्थानिककी प्राप्तिमें भी सम्पूर्ण ही न्यास करना है।

पुनः अन्तर्मातृकान्यास और बहिर्मातृकान्यासके दो प्रकार होते हैं। इन न्यासोंके पूर्व पूर्वाङ्गभूत ऋष्यादिन्यास[2] करने होते हैं; ऋषि[3], छन्द[4],

---

१. मन्त्रपारायण स्वर-व्यञ्जन भेदसे दो प्रकारका है। स्वर-पारायण—अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ अं अः—इन सोलह स्वरोंके ब्रह्मादि षोडश देवता हैं; जिस देवताका जप-ध्यान-न्यास करना हो, उसका अक्षर प्रधान माना जायगा। जप-ध्यान या न्यासमें एक षोडशदल कमलकी कल्पना करनी होती है; उसके मध्यभाग कर्णिकामें, जैसे नीचे चित्रमें दिखाया गया है, प्रधान अक्षर प्रधान देवताका न्यासादि किया जाता है और सोलह दलोंमें अकारादि षोडश स्वरोंका, प्रधान देवता तथा अक्षरका आदिमें प्रणव लगाकर सम्पुटित करते हुए न्यासादि किया जाता है—जैसे अकारके षोडशदल कमलकी कर्णिकामें ॐ अं नमः। प्रधान अक्षरका न्यासादि कर दलोंमें पूर्वादि क्रमसे विधाभेदसे वामावर्त या दक्षिणावर्त, जैसा सम्प्रदाय हो, ॐ अं अं नमः प्रथम दलमें। ॐ अं आं नमः द्वितीय दलमें। ॐ अं इं नमः तृतीय दलमें। ॐ अं ईं नमः चतुर्थ दलमें। इत्यादि रीतिसे प्रधान मातृकाको प्रणव और एक-एक अकारादि स्वरसे सम्पुटित कर रखना जाय। इसी रीतिसे *आकारादि पंद्रह स्वरोंका आकारादि षोडशदल पद्मोंका पृथक्-पृथक्* कल्पना करके ॐ आं नमः, ॐ इं नमः, ॐ ईं नमः—इत्यादि रीतिसे कर्णिका-भागमें न्यासादि करके दलोंमें ॐ आं अं नमः। ॐ आं आं नमः। ॐ आं इं नमः। तथा ॐ इं अं नमः। ॐ इं आं नमः। ॐ इं इं नमः। एवं ॐ ईं अं नमः। ॐ ईं आं नमः। ॐ ईं इं नमः। ॐ ईं ईं नमः। इत्यादि रीतिसे प्रत्येक षोडशदल कमलके सोलहों दलोंमें न्यासादि करे।

व्यञ्जनपारायण-क्रममें भी 'विना स्वरैस्तु नान्येषां जायते व्योच्चारणा' -स्वरोंकी सहायताके विना व्यञ्जनका उच्चारण सम्भव नहीं। अतः स्वरोंको प्रधान तथा व्यञ्जनोंको स्वरोंका परिवार मानना होगा। इसलिये व्यञ्जनोंकी संख्याके अनुसार षोडशदल कमलोंकी भावना कर प्रत्येककी कर्णिकामें ब्रह्मादि षोडशमूर्तिके पारायण-क्रमसे' 'ॐ अं नमः' इत्यादि अकारादि वर्णोंका न्यासादि करके दलोंमें प्रत्येक व्यञ्जनके साथ स्वरमातृका जोड़कर 'ॐ अं कं नमः। ॐ अं कां नमः। ॐ अं किं नमः।' इत्यादि रीतिसे अकार-परिवारके रूपमें कादि क्षान्त वर्णोंका न्यासादि करना होगा। इसमें इतना ध्यान रखना होगा कि *व्यञ्जनपारायणमें अकार, एक विशेष प्रकारका द्वितीय* ळकार एवं क्षकार—ये तीन अक्षर अधिक जोड़कर पचीस कादि मान्त स्पर्श वर्ण, यादि वान्त चार अन्तःस्थ और चार शादि हान्त ऊष्म—सब मिलकर ३६ व्यञ्जन माने गये हैं। इसलिये व्यञ्जनपारायण षोडशविध होगा। एवं आकारपरिवारके रूपमें तथा इकारादिपरिवारके रूपमें भी कर्णिकास्थानमें आकारादिपरिवारी प्रधान वर्गके साथ व्यञ्जन माना गया अकार आयेगा। इन पारायणोंके ब्रह्म-ब्रह्मपारायण, ब्रह्म-विष्णुपारायण, ब्रह्म-रुद्रपारायण इत्यादि मन्त्र-देवतादि नाम होते हैं।

उक्त क्रम अक्षरोंसे बननेवाले मन्त्रपारायणका है। विद्या तथा मन्त्रभेदसे पारायणके भी अनन्त प्रकार होंगे।

२. ऋष्यादि-न्यासका करना तन्त्रोंमें आवश्यक कहा गया है—

ऋषिच्छन्दोदेवतानां विन्यासेन विना यदा।
जप्यते साधितोऽप्येष तस्य तुच्छं फलं भवेत्॥

३. ऋषि शब्द गत्यर्थक ऋ धातु तथा 'षिड् प्रापणे' से बना है। अर्थात् जो मन्त्रगतिसे परमात्माके स्वरूपको प्राप्त करता है, वह परमात्मा ही ऋषि है। यद्यपि साधारणतया ऐसी प्रसिद्धि है कि मन्त्रद्रष्टा ऋषि कहलाते हैं, शिष्य नहीं; और शिष्य मन्त्रगतिसे परमात्माके स्वरूपको प्राप्त कर सकता है ऐसी शङ्का हो सकती है; तथापि साधक मन्त्र पाकर परमात्मरूप हो—सिद्धावस्थापन्न हो गुरुभावको पा सकता है—इस रीतिकी भावनासे शिष्य, गुरु और देवताका अभेद उपपन्न हो जाता है। इस दशामें यद्यपि परमात्माका रूप सर्वाङ्गमें व्याप्त है, तथापि मन्त्र-ऋषिका न्यास सिरमें ही किया जाता है; कारण कि ऋषि गुरुरूप है। गुरु सर्वश्रेष्ठ होता है, इसलिये शरीरके सर्वोत्कृष्ट प्रधान अङ्ग- सिरमें ही ऋषिका न्यास करना चाहिये।

४. छन्दमें छ और द—दो शब्द हैं। इनमें छ इच्छापदका एकदेश, इच्छाका वाचक है और द दानार्थक दा धातुसे बना है।

देवता[1] आदिका जैसा भी उल्लेख विनियोगमें किया गया हो उसके अनुसार । न्यासोंके मन्त्र तथा देवता-भेदसे अनन्त भेद हैं । साधारणतया सर्वप्रसिद्ध अन्तर्मातृका तथा बहिर्मातृका-न्यासके प्रयोगका दिग्दर्शनमात्र कराया जा रहा है ।

ॐ अस्य श्रीमातृकामन्त्रस्य ब्रह्म ऋषिर्गायत्रीच्छन्दो मातृकासरस्वती देवता व्यञ्जनानि बीजानि स्वराः शक्तयः अव्यक्तं कीलकम् (लिपि) न्यासे विनियोगः[2] । ॐ ब्रह्मणे ऋषये नमः शिरसि । ॐ गायत्र्यै छन्दसे नमो मुखे । ॐ मातृकायै सरस्वतीदेवतायै नमो हृदि । ॐ हल्भ्यो बीजेभ्यो नमो गुह्ये । ॐ स्वरेभ्यः शक्तिभ्यो नमः पादयोः । ॐ अव्यक्ताय कीलकाय नमः सर्वाङ्गे । अनन्तर करन्यास करना होता है ।

ॐ अं कं खं गं घं ङं आं अङ्गुष्ठाभ्यां नमः । ॐ इं चं छं जं झं ञं ईं तर्जनीभ्यां स्वाहा । ॐ उं टं ठं डं ढं णं ऊं मध्यमाभ्यां वषट् । ॐ एं तं थं दं धं नं ऐं अनामिकाभ्यां हुम्[3] । ॐ ओं पं फं बं भं मं औं कनिष्ठिकाभ्यां वौषट् । ॐ अं यं रं लं वं शं षं सं हं ळं[4] क्षं करतलकरपृष्ठाभ्यां फट् ।

अनन्तर हृदयादि अङ्गन्यास किया जाता है । इस हृदयादि अङ्गन्यासमें मन्त्र पूर्ववत् करन्यासके ही रहते हैं । केवल अङ्गुष्ठाभ्यां नमः इत्यादिके परिवर्तनमें **हृदयाय नमः**… । **शिरसे स्वाहा**… । **शिखायै वषट्**…… । **कवचाय हुम्**… । **नेत्रत्रयाय वौषट्** । ……**अस्त्राय फट्** । इस प्रकार चतुर्थ्यन्त हृदयादि अङ्गोंका नाम निर्देश करके नमः[5] आदिका निर्देश किया जाता है ।

इच्छा अर्थात् अभीष्टको देनेवाला मन्त्र ही छन्द है; क्योंकि गुरु-मुखसे मन्त्र पानेपर ही शिष्यकी आत्मज्योति मूलाधारसे उठकर द्वादशार हृत्पुण्डरीकमें परमात्मस्वरूप गुरुको प्राप्त होती है । तदनन्तर तादृश चिदादित्यरूप गुरुके पाससे वह मन्त्रमय अमृतकी प्राप्ति करता है । मूलाधार या हृदयकमलमें बहनेवाली अमृतधारासे सम्पूर्ण शरीर आप्लावित हो जाता है और सब पापका विध्वंस होकर अभीष्टसिद्धि प्राप्त होती है । एतादृश मन्त्रमय छन्दका न्यास मुखमें होता है । अक्षरोंका स्थान मुख ही है ।

१. देवता शब्द देवनार्थक दिवु धातुसे बने हुए देव शब्द-से भावार्थक तल् प्रत्यय अथवा विस्तारार्थक तनु धातुसे बने त शब्द-से बना है—जिसका अर्थ साधकको, मानुष तथा आसुरादि इतर योनि-विलक्षण भाव अथवा सर्वात्मना देवभाव प्रदान करना होता है । कथित देवभावका अनुसन्धान बुद्धिके द्वारा ही हो सकता है । अतः मन्त्र-देवताका न्यास भी हृदयमें ही करना उचित है ।

२. 'विनियोगः समाख्यातो भुक्तिमुक्तिप्रसाधने ।'

३. ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, की नपुंसक संज्ञा है । इनका ग्रहण इसमें नहीं है । ज्ञानार्णवमें इसका प्रकार लिखा है—

अं-आं-मध्ये कवर्गं च इं-ईं-मध्ये चवर्गकम् ।
उं-ऊं-मध्ये टवर्गं च एं-ऐं-मध्ये तवर्गकम् ॥
ओं-औं-मध्ये पवर्गं च क्रमेण परमेश्वरि ।
अनुस्वारविसर्गान्ते यशवर्गौ सळक्षकौ ॥

इनमें सर्वत्र बिन्दुनिर्देश किया गया है और श्रीतत्त्वचिन्तामणि-तन्त्रमें भी कराङ्गन्यासका क्रम दिखाते हुए 'पञ्चवर्गं सबिन्दुकम्'—पाँचों वर्गोंको बिन्दुसहित रखनेका विधान है ।

४. ज्ञानार्णवमें 'यशवर्गौ सळक्षकौ' लिखा है । इसलिये न्यासविधानमें यवर्ग और शवर्गके ८ वर्णोंके अतिरिक्त इनमें एक विशेष प्रकारका ळ और क्ष दो वर्ण अधिक माने गये हैं । इस विशेष प्रकारके ळ और क्ष का मातृका-चक्र-विवेकमें इस प्रकार वर्णन मिलता है—

ज्ञानं द्वयाद्वयमयं लसकाररूपं
तादृक् च कर्म कषकारमयं विदुस्तत् ।
श्लिष्टं पुरः स्फुरितसद्वयकोटिलक्ष्य-
रूपं परस्परगतं च समं च कूटम् ॥

ल और स दोनोंमें भेदात्मक ल का प्राधान्यसे दोनोंका भेदेन अवस्थान रहता है, और जब अभेदात्मक स का प्राधान्य होता है, तो अभेदके एकरसस्वभाव होनेसे दोनोंका मिलकर एक विशिष्ट ळ का रूप हो जाता है । यही दशा क्षकारकी भी है ।

५. ज्ञानार्णवका वचन है—

हृदयं च शिरो देवि शिखां च कवचं ततः ।
नेत्रमस्त्रं न्यसेत् ङेऽन्तं नमः स्वाहा क्रमेण तु ॥
वषट् हुं वौषडन्तं च फडन्तं योजयेत्प्रिये ।
षडङ्गोऽयं मातृकायाः सर्वपापहरः स्मृतः ॥

यद्यपि इन वचनोंमें हृदयादि अङ्गन्यासोंमें ही नमः आदि पदोंका निर्देश करना पाया जाता है, तथापि श्रीतत्त्वचिन्तामणिमें 'पूर्ववद् विन्यसेन्मन्त्री मातृकायाः षडङ्गकम्'—करन्यास और हृदयादि न्यासादिके समान विधानका उल्लेख होनेसे करन्यासमें भी नमः आदि उल्लेख करना उचित है । हृदयादि अङ्गोंमें नमः आदिके उल्लेख, रहस्य, तात्पर्य प्रपञ्चसारमें दर्शाये हैं—हृदय-स्थित, बुद्धिके द्वारा भावनागम्य (भावनासे तादात्म्यापन्न) देवता (जो अहम्भावसे गृहीत होता है) के सम्मुख सर्वात्मना विनम्र होना (अर्थात् अनात्म पदार्थोंसे अपनेको विवेकद्वारा विविक्त समझ देवतास्वरूप होना समझ लेना) नमः पद देनेका तात्पर्य है । पूर्वोक्त हृदयमन्त्रसे विविक्त आत्माको उत्तुङ्गतम स्थानमें

अनन्तर निम्नलिखित ध्यान करना चाहिये—

शर (सार) त्पूर्णेन्दुशुभ्रां सकललिपिमयीं लोलरक्तत्रिनेत्रां
मुक्तालङ्कारभासां शशिमुकुटजटाभारहारप्रदीप्ताम् ।

आसीन समझ अपना सर्वस्व उसके समर्पण कर देना स्वाहा-पदार्थ है। इन दोनों नमः-स्वाहासे इदन्ताको सर्वात्मना त्यागकर अहन्तामात्रका अनुभावन करना अपवादन्यायसे कहा गया है। नेत्र-मन्त्रमें आत्मामें अनात्मभूत देहके अध्यारोपका प्रदर्शन है ।

शिखापदसे देवताके केश, किरीट आदि उपाङ्गोंका ग्रहण होता है, अथवा शिखा शरीरका तेजःस्वरूप मानी गयी है। उसको वषट् (अङ्ग) मानना वषट् पदार्थ है (अर्थात् अध्यारोपन्यायसे आत्माके तेजोमय शरीरका अनुभावन करना चाहिये)। यद्यपि समर्पणको वषट् कहते हैं, किन्तु (अपवाद करनेसे) देहके विना समर्पण नहीं बन सकता—इसलिये प्रकृतमें वषट्से अङ्गका ही अध्यारोप समझना उचित है। तात्पर्य यह है कि स्वरूपभूत दिव्यज्योतिमें भी शरीर-भावना करना भेद-प्रत्यय हो जाता है, इस रीतिसे शिखामन्त्रने आत्मामें अनात्माका आरोप किया। कवचाय हुम्—इस कवच-मन्त्रमे सर्वात्मना देहको आच्छादित कर देनेवालेको कवच कहते हैं। न्यासादिका विधान मुक्त तथा जीवन्मुक्तोंके लिये नहीं, बद्ध अथवा आधिकारिक ब्रह्मादिके लिये मुक्ति-साधन न्यासादिकी आवश्यकता है, जब कि नेत्र-मन्त्रद्वारा तेजोमयस्वरूपभूत आत्मामें देहका आरोप होता है तो उसी कारण उस देहमें अहंताका उदय हो जाता है अर्थात् अनात्मभूत अध्यारोपित जड देहमे भी आत्माका आरोप हो जाता हैं, जिस अहंभावके कारण देहद्वारा दूसरोंके ऊपर विजय प्राप्त करनेकी भावना आ जाती है। इस प्रकार दूसरोंको भी भयदायक और अपने अभीष्ट रक्षाकारक तेजकी भावना कवच-मन्त्रका अभिप्राय है। 'नेत्रत्रयाय वौषट्' इस नेत्र-मन्त्रका शब्दार्थ है कि दृष्टिमें साधक अपने देहको उपभोग्य तथा रक्ष्यरूपसे समर्पण करता है। तात्पर्य यह है कि ऐसी ज्ञानात्मदृष्टिकी भावना चाहिये, जिसमें सम्पूर्ण अध्यारोप (अध्यास) विलीन होकर आत्मतत्त्वके याथात्म्यज्ञानके उदयमे तादात्म्यका अनुभावन हो जाय। अपवादसे तो वस्तुस्थिति दर्शायी जाती है, परन्तु नेत्र-मन्त्रभावनाकी परिपुष्टिके लिये भावनात्म शब्दज्ञान कराया जाता है, जो वस्तुस्थितिके अधीन नहीं होता। (अस्त्राय फट्) अस्त्र मन्त्रसे ज्ञानीको संसारकी निवृत्ति दर्शायी गयी है। अस्त्रपद अस् और त्रस् धातुसे बना है, जिनका फेंकना और चलाना अर्थ है। इस उक्त मन्त्रका शब्दार्थ है—आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक—त्रिविध तापको दूर फेंक ज्ञानाग्निमें चालन करके भस्म कर देना।

विद्याक्षकूर्णकुम्भान् वरमपि दधतीं शुद्धपट्टाम्बराढ्यां
वाग्देवीं पद्मवक्त्रां कुचभरनमितां चिन्तयेत् साधकेन्द्रः ॥

ध्यान पढ़कर पुष्पाञ्जलि दान करके अन्तर्मातृकाका न्यास करे। इसका प्रयोगक्रम निम्नरीतिसे है—

ॐ अं आं इं ईं उं ऊं ऋं ॠं ऌं ॡं एं ऐं ओं औं अं अः नमः षोडशपत्रे विशुद्धे कण्ठे। ॐ कं खं गं घं ङं चं छं जं झं ञं टं ठं नमः इति द्वादशारे अनाहते हृदि। ॐ डं ढं णं तं थं दं धं नं पं फं नमः इति दशारे मणिपूरे नाभौ। ॐ बं भं मं यं रं लं नमः षडस्रे स्वाधिष्ठाने लिङ्गमध्ये। ॐ वं शं षं सं नमः चतुरस्रे स्वाधिष्ठाने (कुण्डलिन्यधिष्ठिते) गुदमध्ये। ॐ हं क्षं नमः द्विदले आज्ञाचक्रे भ्रूमध्ये।[1]

इस प्रकार अन्तर्मातृकान्यास करके बहिर्मातृकान्यास करना चाहिये। किसी-किसी प्रयोगमें इसमें भी ऋष्यादिन्याससे ध्यानान्त प्रयोग अन्तर्मातृकान्यासके तुल्य लिखा हुआ मिलता है, किसीमें नहीं। इसमें कोई विशेषता नहीं, सम्प्रदायके अनुसार मान लेना चाहिये। इसका निम्नरीतिसे प्रयोग है—

मातृका अक्षरके पूर्व ॐकार, मध्यमें मूलमातृका और अन्तमें नमः अथवा ॐकार लगाकर अङ्गमें टिप्पणी दिखाये गये अङ्गुलिके क्रमसे न्यास करना होता है। मातृकाको बिन्दुसहित रखना ही सम्प्रदाय है, यद्यपि विधानमें विकल्प भी मिलता है। तन्त्रोंमें कहा है—

ओमाद्यन्तो नमोऽन्तो वा सबिन्दुर्बिन्दुवर्जितः ।
तत्पश्चादक्षरन्यासः क्रमेणैव विधीयते ॥

ॐ अं नमः शिरसि[2]**। ॐ आं नमो ललाटे। ॐ इं नमो दक्षनेत्रे। ॐ ईं नमो वामनेत्रे। ॐ उं नमो दक्षकर्णे। ॐ ऊं नमो वामकर्णे। ॐ ऋं नमो दक्षनासापुटे। ॐ ॠं नमो वामनासापुटे।**

---

१. आधारे लिङ्गनाभौ हृदयसरसिजे तालुमूले ललाटे
द्वे पत्रे षोडशारे द्विदशदलयुते द्वादशार्द्धे चतुष्के।
वासान्ते बालमध्ये डफकठसहिते कण्ठदेशे स्वराणां
हं क्षं तत्त्वार्थयुक्तं सकलदलगतं वर्णरूपं नमामि ॥
इस प्रकार अन्तर्मातृकान्यासका स्वरूप तन्त्रोंमें दिखाया गया है।

२. श्रीप्रपञ्चसारमें न्यासके स्थान-अङ्गोंका इस प्रकार निर्देश है—
काऽऽननवृत्तद्वयक्षिश्रुतिनो गण्डौष्ठदन्तमूर्धास्ये ।
दोःपत्सन्ध्यग्रकेषु च पार्श्वद्वयपृष्ठनाभिजठरेषु ॥

ॐ लृं नमो दक्षगण्डे। ॐ लॄं नमो वामगण्डे। ॐ एं नमः ऊर्ध्वोष्ठे। ॐ ऐं नमः अधरोष्ठे। ॐ ओं नमः ऊर्ध्वदन्तपङ्क्तौ। ॐ औं नमः अधोदन्तपङ्क्तौ। ॐ अं नमो मूर्ध्नि। किसी प्रयोगमें 'ॐ अं नमो ललाटे' है और 'ॐ अः नमो मुखवृत्ते' है। उस प्रयोगमें 'ॐ अं नमः शिरसि', 'ॐ अः नमः जिह्वायाम्' (आस्ये)—यह साम्प्रदायिक क्रम भी है। ॐ कं नमः दक्षहस्तमूले। ॐ खं नमः दक्षकूर्परे। ॐ गं नमः दक्षमणिबन्धे। ॐ घं नमः दक्षहस्ताङ्गुलिमूले। ॐ ङं नमः दक्षहस्ताङ्गुल्यग्रे। ॐ चं नमः वामहस्तमूले। ॐ छं नमः वामहस्तकूर्परे। ॐ जं नमः वामहस्तमणिबन्धे। ॐ झं नमः वामहस्ताङ्गुलिमूले। ॐ ञं नमः वामहस्ताङ्गुल्यग्रे। ॐ टं नमः दक्षपादमूले। ॐ ठं नमः दक्षजानुनि। ॐ डं नमः दक्षगुल्फे। ॐ ढं नमः दक्षपादाङ्गुलिमूले। ॐ णं नमः दक्षपादाङ्गुल्यग्रे। ॐ तं नमः वामपादमूले। ॐ थं नमः वामजानुनि। ॐ दं नमः वामगुल्फे। ॐ धं नमः वामपादाङ्गुलिमूले। ॐ नं नमः वामपादाङ्गुल्यग्रे। ॐ पं नमः दक्षपार्श्वे। ॐ फं नमः वामपार्श्वे। ॐ बं नमः पृष्ठे। ॐ भं नमः नाभौ। ॐ मं नमः कुक्षौ (उदरे)। ॐ यं* त्वगात्मने नमः हृदये। ॐ रं असृगात्मने नमः दक्षस्कन्धे। ॐ लं मांसात्मने नमः ककुदि (गलपृष्ठभागे)। ॐ वं मेदआत्मने नमः वामस्कन्धे। ॐ शं अस्थ्यात्मने नमः हृदयादिदक्षहस्तान्ते। ॐ षं मज्जात्मने नमः हृदयादिवामहस्तान्ते। ॐ सं शुक्रात्मने नमः हृदयादिदक्षपादान्ते। ॐ हं प्राणात्मने नमः हृदयादिवामपादान्ते। ॐ ळं जीवात्मने नमः हृदयादिकुक्षौ। ॐ क्षं परमात्मने नमः हृदयादिमुखे।

यह लिपिन्यासका क्रम है—'पञ्चाशल्लिपिभिर्विभक्तमुखदोःपन्मध्यवक्षःस्थलाम्—' इत्यादि ध्यानोंमें पचास लिपिका क्रम ऐसा है—सोलह स्वर, पचीस कादि मान्त स्पर्श, आठ यादि हान्त व्यापक वर्ग और क्ष मिलकर पचास लिपि होती हैं, परन्तु तन्त्रोंमें अक्षरोंमें ल का भेद अधिक माना है, इसलिये पञ्चाशत्को एकपञ्चाशत्का उपलक्षण मानते हैं।

षोढान्यास, सृष्टिन्यास, स्थितिन्यास, संहारन्यास इत्यादि आवश्यक न्यासोंका भी संक्षेपमें भी विधान लिखनेसे लेखका अति विस्तार हो रहा है। इनकी क्रमबद्ध लेखमालासे ही कुछ प्रकाश हो सकता है। इनका अधिक विस्तार देखना हो तो शारदातन्त्र और विशेषतया श्रीतत्त्वचिन्तामणितन्त्रमें एवं ज्ञानार्णवमें देखना चाहिये।

हृद्दोर्मूलापरगलकक्षेषु हृदादिपाणिपादयुगे। जठरानलयोर्व्यापकसंज्ञान्यस्येदथो वर्णान् क्रमशः॥

पृथक्-पृथक् अंगोंमें न्यास करनेके लिये अङ्गुलिक्रम इस प्रकार लिखा है—सिरमें मध्यमासे, ललाटमें मध्यमा और अनामिका दोनोंसे। मुखवृत्तमें मध्यमा, अनामिका तथा तर्जनीसे। नेत्रोंमें अनामिका-अङ्गुष्ठसे। कानोंमें मध्यमासे। नाकमें कनिष्ठिका और अङ्गुष्ठसे। गण्डस्थलमें तर्जनी, अनामिका और मध्यमासे। दोनों ओठोंमें मध्यमासे। दन्तमें अनामिकासे। हस्त और पादमें मध्यकी अङ्गुलियोंसे। हस्त तथा पादकी सन्धि एवं अग्रभागमें कनिष्ठिका, अनामिका तथा मध्यमासे। दोनों पार्श्व, पृष्ठ तथा नाभिमें मध्यमा, अनामिका, कनिष्ठिका तथा अङ्गुष्ठसे। कुक्षिमें सम्पूर्ण अङ्गुलियोंसे। हृदयमें हस्ततलसे। दोनों स्कन्ध, ककुद् (गलपृष्ठभाग) में सम्पूर्ण अङ्गुलियोंसे तथा हृदयादि हस्तपर्यन्त, हृदादि पादपर्यन्त, हृदादि कुक्षिपर्यन्त तथा हृदादि मुखपर्यन्तमें हस्तके तलभागसे न्यास करना चाहिये। इस प्रकार अङ्गुलिक्रमके सम्भावना न होनेकी दशामें मनसे अथवा पुष्पद्वारा भी न्यासका विधान है।

* यकारादि आठ और ळ, क्ष—इन दस वर्णोंको तन्त्रोंमें त्वगादि धातुमय और प्राणजीवपरमात्मस्वरूप माना गया है—

....यादीन् सधातुकानपि।

त्वगसृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्राणि धातवः। प्राणात्मा चैव जीवात्मा परमात्मेति विन्यसेत्॥

भक्तिरसकी पाँच धाराएँ

(लेखक—पण्डित श्रीशान्तनुविहारीजी द्विवेदी)

[पूर्वप्रकाशितसे आगे]

वत्सलरस

भगवान्‌के प्रति वात्सल्यरति ही विभाव, अनुभाव आदिके द्वारा व्यक्त होकर वत्सलरसका रूप ग्रहण करती है। इसके आलम्बन हैं—बालक भगवान् और उनके गुरुजन। अयोध्यामें शिशुरूप भगवान् राम और व्रजमें शिशुरूप श्रीकृष्ण—ये दोनों ही वात्सल्य-भाजन हैं। सुकुमार शैशवसे लेकर कमनीय कैशोरतक वात्सल्यरतिकी अवस्था है। यौवनका प्रारम्भ होनेपर भी गुरुजनोंकी दृष्टिमें किशोर अवस्था ही रहती है। नवीन नील कमलके समान साँवला शरीर, शिरीष कुसुम-सा कोमल अङ्ग, मरकतमणिके समान सुचिक्कण कपोलोंपर घुँघराली अलकें, प्रभाव और ऐश्वर्यसे सर्वथा रहित नन्हे-से शिशुके रूपमें शैशवोचित चापल्य और व्याघ्रनख आदि भूषणोंसे विभूषित भगवान् अनुग्राहकके रूपमें नहीं, अनुग्रहपात्रके रूपमें इस वात्सल्यके लोकोत्तर आलम्बन हैं। तोतली बोली—मानो मूर्तिमान् मिठास, सरलताकी सीमा नहीं, गुरुजनोंके प्यारसे बार-बार उल्लसित एवं प्रफुल्लित होनेवाले, गुरुजनोंको बार-बार प्रणाम करनेवाले और बात-बातमें उनके सामने सकुचा जानेवाले, अपनी नन्ही-नन्ही हथेलियोंसे किसीको माखन और किसीको धन, रत्न लुटानेवाले बालरूप भगवान् गुरुजनोंके सम्पूर्ण स्नेहको अपनी ओर आकर्षित करते रहते हैं। वेद, उपनिषद्, दर्शन और भक्त जिनकी महिमा गाते-गाते अघाते नहीं, वे ही भगवान् वात्सल्यरतिके वश होकर ऊखलमें बाँधे जाते हैं, डाँट-फटकार सुनते और माँकी साँटीसे डरकर रोने लगते हैं। क्या अलौकिक माधुर्य है! अवश्य ही यह वात्सल्यरतिकी महिमा और श्रीकृष्णकी प्रेमपरवशता है।

श्रीकृष्णके गुरुजन—जैसे नन्द, यशोदा और वे गोपियाँ जिनके बच्चोंको ब्रह्माने चुरा लिया था—इस रसके आलम्बन विभाव हैं। वे अपनेको श्रीकृष्णसे अधिक माता-पिता आदिके रूपमें मानते हैं, वे उनको दुलारते हैं, पुचकारते हैं और अपराध करनेपर दण्ड भी देते हैं। देवकी, कुन्ती, सान्दीपनि मुनि—ये सब भी गुरुजनोंकी ही श्रेणीमें हैं। यशोदा अपने प्यारे शिशुको माखन खिलानेके लिये अपने हाथसे ही—बहुत-सी दासियोंके होनेपर भी—दही मथती हैं। वे श्रीकृष्णकी रक्षाके लिये गद्‌गद कण्ठ और अश्रुपूर्ण नयनोंसे श्रीकृष्णके शरीरमें मन्त्रों और देवताओंका न्यास करती हैं, उनके सिरपर रक्षातिलक करती हैं और भगवान्‌से, देवी-देवताओंसे प्रार्थना करती रहती हैं। अभी पूरा प्रातःकाल भी नहीं हुआ होता, श्रीकृष्ण सोकर उठे भी नहीं रहते, इनके स्तनोंसे दूधके रूपमें वात्सल्यरसकी धारा फूट पड़ती है। यदि कोई वात्सल्यरसका मूर्तिमान् दर्शन करना चाहता हो तो माँ यशोदाका दर्शन कर ले। ये वत्सलरसकी अभिव्यक्ति नहीं, उसकी जननी हैं। नन्दबाबाके सम्बन्धमें तो कहना ही क्या है। जब श्रीकृष्ण उनके हाथकी अँगुली पकड़कर लड़खड़ाते हुए आँगनमें चलते हैं, तब नन्दबाबाका स्नेह उमड़ पड़ता है, उनकी आँखोंसे आनन्दके आँसू झर-झर झरने लगते हैं, पुलकित शरीरसे श्रीकृष्णको उठाकर वे अपने हृदयसे लगा लेते हैं और सिर सूँघकर बार-बार चूमते हैं। उनके सुख-सौभाग्यकी कल्पना भी मनकी सीमासे परे है; उसका वर्णन तो किया ही कैसे जा सकता है।

वात्सल्यरसके उद्दीपन विभावोंकी संख्या अपरिमेय है। श्रीकृष्णकी कुमार आदि अवस्थाएँ, उन अवस्थाओंमें प्रस्फुटित सहज सौन्दर्य और उसके अनुकूल वेष-भूषा एवं चपलताएँ, बोलना, हँसना, खेलना, रोना, सोना, जगना, रूठना—यहाँतक कि बालोचित सभी क्रियाएँ उद्दीपन विभावके अन्तर्गत हैं। कुमार अवस्थाके तीन भाग होते हैं—आदि, मध्य और शेष। आदि अवस्थामें मध्यभाग और ऊरु कुछ स्थूल होते हैं। आँखके कोने श्वेत और बहुत थोड़ेसे दाँत। अङ्ग-अङ्गमें मृदुलताका साम्राज्य होता है। इस अवस्थामें बार-बार पैर उछालना, एक क्षणमें रोना तो दूसरे ही क्षणमें हँस देना, अपने पैरका अँगूठा चूसना और उत्तान पड़े रहना—यही चेष्टा होती है। गलेमें बघनहाँ, ललाटपर रक्षातिलक, आँखोंमें अञ्जन, कमरमें करधनी और हाथमें सूत—यही आभूषण होते हैं। नन्दरानी और नन्दबाबा इस शोभाको देख-देखकर कभी तृप्त नहीं होते, यही चाहते रहते हैं कि निर्निमेष नयनोंसे इन्हें निहारते रहें। मध्य अवस्थामें आँखोंके कोनोंमें कुछ केसरिया रंग आ जाता है। कभी कपड़ा पहनते हैं और कभी नग्न रहते हैं। कान छिदे हुए होते हैं। तोतली बोली

बोलते हैं। आँगनमें घुटनोंके बल चलते हैं। नाकमें मोती, हाथमें माखन, कमरमें घुघुरू—यही आभूषण होते हैं। इनकी मन्द-मन्द मुस्कान और बालोचित चेष्टाओंको देखकर गुरुजन आनन्दित होते रहते हैं। शेष अवस्थामें कमर कुछ पतली और वक्षःस्थल कुछ ऊँचा हो जाता है। मस्तकपर घुँघराले बाल लहराते रहते हैं। इस अवस्थामें कंधेपर पीताम्बरकी चादर, जङ्गली पुष्पोंके आभूषण और छोटा-सा बेंतका डंडा आदि धारण करते हैं। ग्वाल-बालोंके साथ खेलते हैं। गाँवके आस-पास उनके साथ बछड़ोंको चरा लाते हैं। छोटी-सी बाँसुरी और छोटी-सी सींग अपने पास रखते हैं और कभी-कभी पत्तोंके बाजे बनाकर बजाते हैं। जो इनकी लीलाओंको देख-देखकर मुग्ध होते रहते हैं, वे ही वास्तवमें बड़भागी हैं।

पौगण्ड अवस्थाका वर्णन सख्यरसके प्रसङ्गमें प्रायः आ ही गया है। आँखोंमें धवलिमा, सिरपर पगड़ी, वदनमें कञ्चुक, चरणोंमें मन्द-मन्द ध्वनि करनेवाले मनोहर नूपुर, पीताम्बर धारण किये हुए श्रीकृष्ण इस अवस्थामें गौओंको चराने लगते हैं। ग्वाल-बालोंके साथ यमुनातटपर भी जाते हैं। किशोर अवस्थामें दोनों आँखोंके कोनोंमें किञ्चित् लालिमा आ जाती है। वक्षःस्थल ऊँचा होता है, सुन्दर हार धारण करते हैं। इसी समय नवयौवनका उन्मेष होता है, परन्तु वात्सल्य प्रेमवालोंको ये शिशु ही मालूम पड़ते हैं। दास्यरसवालोंको ये पौगण्ड अवस्थामें भी किशोरके समान ही मालूम पड़ते हैं। बचपनमें ये कहीं दूधकी कमोरी फोड़ देते हैं, तो कहीं आँगनमें दही बिखेर देते हैं। कहीं मथानीका डंडा तोड़ देते हैं, तो कहीं माखन आगमें डाल देते हैं, वानरोंको खिला देते हैं या ग्वाल-बालोंको बाँट देते हैं। गोपियोंकी इच्छा पूर्ण करनेके लिये इसी समय माखनचोरी भी करते हैं। एक गोपी कह रही है 'बहिन, तनिक अनजानकी तरह चुप होकर यह दृश्य देख तो लो—लताओंकी आड़मेंसे धीरे-धीरे पैर रखता हुआ कन्हैया सशङ्कभावसे इधर-उधर देखता हुआ माखन-चोरी करनेके लिये कितनी चालाकी और मधुरताके साथ आ रहा है। ठहरो! तनिक मुझे देख लेने दो—भयभीत आँखें किस प्रकार इधर-उधर घूम रही हैं, ओठ सूखा जा रहा है। इस छलियाकी छलना भी कितनी मधुर है! तनिक देखो तो सही।

इस रसके अनुभाव भी औरोंकी अपेक्षा विलक्षण ही हैं, यथा—

(१) गोदमें लेकर या हृदयसे लगाते हुए सिर सूँघना।

(२) अपने हाथसे शरीरमें लगी हुई धूल झाड़ना, उबटन, तेल, फुलेल लगाना।

(३) देवताओंसे रक्षाकी प्रार्थना करना, कवच बाँधना, न्यास करना, आशीर्वाद देना।

(४) अमुक वस्तु ले आओ, अमुक वस्तु रख आओ—इत्यादि आज्ञा करना।

(५) दुलारना-पुचकारना।

(६) पशुओंसे, काँटेसे, नदीसे और भयके अन्य निमित्तोंसे रक्षा करना।

(७) तुम्हें इस प्रकार रहना चाहिये, ऐसे नहीं रहना चाहिये—इत्यादि उपदेश करना।

(८) चूमना, हृदयसे लगाना, नाम लेकर पुकारना, उलाहना देना, डाटना इत्यादि।

नन्दरानी यशोदाके स्तनोंसे स्नेहाधिक्यके कारण दूध तो प्रायः निकलता ही रहता है। कभी-कभी श्रीकृष्णके खेलोंको देखकर वे चकित रह जाती हैं। उस दिन जब उन्होंने अपने लाड़लेको गोवर्धन उठाये हुए देखा, तो इनका शरीर स्तम्भित हो गया। ये उनका आलिङ्गन भी नहीं कर सकीं। आँखोंमें इतने आँसू आ गये कि देख भी नहीं सकीं। और तो क्या—गला रुँध गया, ये उन्हें समझा भी न सकीं कि तुम ऐसा साहस क्यों कर रहे हो। अन्तमें इन्होंने यही निश्चय किया कि मैं प्रतिदिन भगवान्की आराधना करती हूँ, प्रतिदिन अपने पुत्रकी रक्षाके लिये उनसे प्रार्थना करती हूँ—उसीका यह फल है। नहीं तो मेरा कुसुम-सा सुकुमार लल्ला इतना बड़ा पहाड़ भला कैसे उठा सकता है। इन सात्त्विक भावोंके अतिरिक्त हर्ष-निर्वेदादि भी पूर्वोक्त रसोंके समान ही होते हैं।

यह पहले कहा जा चुका है कि वत्सलरसमें ऐश्वर्यका लेश भी—चाहे वह गौरवकी दृष्टिसे हो, या सम्भ्रमकी दृष्टिसे—बिल्कुल नहीं होता। अपने स्नेह-पात्रके प्रति स्नेह करनेवालेकी जो विशुद्ध रति है, उसीका नाम वात्सल्य भाव है; यही वत्सलरसका स्थायिभाव है। यशोदामें यह वात्सल्यरति स्वभावसे ही परिपूर्ण रहती है। औरोंमें यह कभी प्रेमके रूपमें, कभी स्नेहके रूपमें और कभी रागके रूपमें प्रकट होती है। श्रीकृष्णके दर्शनकी व्याकुलता, मुनिजनोंके द्वारा पूजित होते समय भी उन्हें गोदमें बैठा लेना,

हृदयका उनके स्नेहसे सर्वदा द्रवित रहना, उनके लिये, उनकी प्रसन्नताके लिये और उनकी सन्निधिके लिये, दुःखको भी सुखके रूपमें अनुभव करना—ये सब उसके लक्षण हैं।

इस रसमें भी पहले-पहल मिलनेके पूर्व उत्कण्ठा, एक बार मिलनेके पश्चात् विरह पूर्ववत् ही होते हैं। देवकी और कुन्तीकी उत्कण्ठा, श्रीकृष्णके मथुरा चले जानेपर यशोदाका विरह कौन नहीं जानता। यशोदाका ऐसा वर्णन आता है कि उन्हें अपने बालोंकी सुधि नहीं रहती, व्यथित होकर इस प्रकार जमीनमें लोटतीं कि चोट लगनेकी भी परवा नहीं रहती। 'हा पुत्र! हा पुत्र!' कहती हुई अपनी छाती पीटतीं। वत्सलरसमें वियोगकी इतनी अवस्थाएँ हो सकती हैं, होती हैं कि उनका वर्णन असम्भव है। विशेष करके चिन्ता, विषाद, निर्वेद, जडता, दीनता, चपलता, उन्माद और मोह—ये तो अत्यन्त अभिवृद्ध हो जाते हैं। थोड़े ही समयके लिये जब श्रीकृष्ण वनमें गौएँ चरानेके लिये जाते हैं, तो नन्दरानीकी चाल धीमी पड़ जाती है। मन कुछ स्तब्ध रहता है। आँखें कई बार स्थिर हो जाती हैं। श्वास गरम आने लगती है। अपने पुत्रकी अनिष्ट-शङ्कासे वे क्षुब्ध हो उठती हैं। श्रीकृष्णके मथुरा और वहाँसे द्वारका चले जानेपर तो उनके विषादकी सीमा न रही। वे कभी सोचती हैं कि हाय! मैं कितनी अभागिनी हूँ कि अपने पुत्रकी मनोहर जवानी नहीं देख सकी। उसके विवाहका सुख देखना मेरे भाग्यमें नहीं बदा था। मेरे जीवनको धिक्कार है, मैं उसे अब अपनी गोदमें नहीं बैठा पाती। इन गौओंसे अब मेरा कौन काम है, जिनका दही और माखन चुराकर लुटानेवाला ही दूर चला गया। कभी वे घरमें जाती हैं, श्रीकृष्णकी बाँसुरी अथवा छड़ीपर आँख चली जाती है, तो वे घंटोंतक छड़ीकी तरह ही खड़ी रह जाती हैं, शरीर हिलता-डोलतातक नहीं। जडता दूर होनेपर वे बड़ी दीनतासे प्रार्थना करने लगती हैं—हे प्रभो, एक क्षणके लिये मेरे कन्हैयाको मेरी आँखोंके सामने ला दो; मैं जन्म-जन्म तुम्हारी ऋणियाँ रहूँगी। वे कभी-कभी विरहकी ज्वालासे चञ्चल हो उठती हैं और नन्दबाबाको उलाहना देने लगती हैं कि 'तुमने मेरे हृदयको, जीवनसर्वस्वको, आँखोंके तारेको मथुरामें क्यों छोड़ दिया। मेरे बच्चेको माखन-मिश्री मिलती होगी कि नहीं, क्या पता। तुम यहाँ गोष्ठमें बैठकर आराम कर रहे हो।' वे कभी-कभी उन्मत्त होकर वृक्षोंसे, हरिनोंसे पूछने लगतीं कि क्या तुमने कहीं मेरे श्यामसुन्दरको देखा है। वे इतनी मोहित हो जाती हैं कि जब बहुत देरतक आँखें नहीं खुलतीं, तब नन्दबाबा अनेकों प्रकारके यत्न करके उन्हें जगानेकी चेष्टा करते हैं।

भगवान्‌का संयोग इस रसमें भी तीन प्रकारका ही माना गया है—सिद्धि, तुष्टि और स्थिति। जब श्रीकृष्ण पहले-पहल मथुरामें गये तो वहाँकी वे स्त्रियाँ, जिनका उनमें पुत्रभाव था, स्नेहकी रसधारासे आप्लावित हो गयीं। उनके स्तनोंसे दूधकी धारा प्रवाहित होकर उनके वस्त्रोंको भिगोने लगी। कुरुक्षेत्रमें जब यशोदा और श्रीकृष्णका मिलन हुआ, तो माँके हृदयमें कितनी तुष्टि और कितने रसका सञ्चार हुआ—वर्णन नहीं किया जा सकता। लोगोंने देखा—यशोदाके नयनों और स्तनोंसे रसकी निर्झरिणी प्रवाहित हो रही है और श्रीकृष्णका दिव्य अभिषेक सम्पन्न हो रहा है। श्रीकृष्णका नित्य संयोग जो कि अन्तर्लीलामें सर्वदा एकरस रहता है, उसकी रसरूपताका, उसके आनन्दका वर्णन करना ही उसे नीचे उतारना है। प्रेम अन्तर्जगत्‌की वस्तु है। उसका कुछ बाह्यरूप है तो केवल सेवा। दास्यकी सेवामें और वात्सल्यकी सेवामें बड़ा अन्तर है। यह तो सख्यसे भी विलक्षण है। जिसके शुद्ध और भगवत्कृपापात्र हृदयमें इस भावका उदय और परिपोष हुआ है, वे ही इसका अनुभव कर सकते हैं।

बहुत-से काव्य-रसिकों और नाट्याचार्योंने भी वात्सल्य-भावके रसत्वको स्वीकार किया है। इस रसकी चमत्कारकारिता निर्विवाद है। दास्यरसमें यदि भगवत्प्रेमका स्फुरण न होता रहे, तो ऐसा समझना चाहिये कि दास्यरस अभी परिपुष्ट नहीं हुआ है। प्रेमकी स्फूर्ति बिना सख्य-रसकी तो कोई स्थिति ही नहीं है। परन्तु यह वात्सल्यरस उनकी अपेक्षा यह महान् विलक्षणता रखता है कि प्रेमकी प्रतीति हो या न हो, यह ज्यों-का-त्यों अक्षुण्ण रहता है। जिस समय माता अपने शिशुकी ताड़ना करती है, उसकी चञ्चलताओंसे घबराकर उसे डाँटती है—यहाँतक कि बाँध देती है और पीटती भी है—इन अवस्थाओंमें भी वात्सल्यभाव ज्यों-का-त्यों एकरस बना रहता है। यही इसकी अनन्यसाधारण विशेषता है। कभी-कभी यह दास्य और वात्सल्यसे मिश्रित ही होता है। किसीका सख्यप्रधान वात्सल्य, किसीका दास्य-प्रधान वात्सल्य और किसीका उभयप्रधान वात्सल्य। वात्सल्य-प्रधान सख्य और दास्य भी होते हैं। ये सब भेद और इनके उदाहरण श्रीरूपगोस्वामीके ग्रन्थोंमें द्रष्टव्य हैं।

मधुररस

सत्पुरुषोंके हृदयमें भगवान्‌के प्रति जो मधुर रति होती है, वही विभाव, अनुभाव आदिके द्वारा परिपुष्ट होकर मधुर रसका रूप ग्रहण करती है। इस रसका इतना अधिक विस्तार है कि यदि इसकी अवस्थाओंके केवल नाम ही गिनाये जायँ, तो एक बड़ा-सा ग्रन्थ बन सकता है। इसलिये यहाँ संक्षेपसे उसकी कुछ थोड़ी-सी बातें ही लिखी जायँगी। इसके आलम्बन हैं भगवान् श्रीकृष्ण और उनकी वल्लभाएँ। भगवान् श्रीकृष्णके सौन्दर्यकी त्रिभुवनमें किसीसे समता भी नहीं की जा सकती, उससे परेकी तो बात ही क्या। उनकी लीलाका माधुर्य लोकोत्तर है। अत्यन्त रमणीय, अत्यन्त मधुर, समस्त शुभ लक्षणोंसे युक्त, अत्यन्त बलवान्, नित्य-नूतन, नवयुवा और प्रेम-परवश, मदनमोहन श्यामसुन्दर। लहराते हुए बाल और फहराता हुआ पीताम्बर। जिसकी आँखें एक बार क्षणभरके लिये उन्हें देख लें, वह सर्वदाके लिये उन्हींपर निछावर हो जाता है। प्रेम करनेवालोंके अनुकूल, कृतज्ञ और रहस्यको गुप्त रखनेवाले यह मूर्तिमान् शृङ्गार हैं अथवा प्रेम। अङ्ग-अङ्गसे उन्मादकारी रस, मधुमय आनन्द छलक रहा है। धीर, वीर और गम्भीर, ललित और उदात्तचरित्र। ये मोहन भला, किसका मन नहीं मोह लेते! व्रजदेवियाँ तो इनपर निछावर हैं।

श्रीकृष्णकी वल्लभाएँ—द्वारकाकी, वृन्दावनकी—अत्यन्त प्रेममय, सहृदय और श्रीकृष्णको ही अपना जीवन-सर्वस्व माननेवाली, नित्य नवकिशोरावस्था। प्रतिक्षण माधुरीकी धारा प्रवाहित होती रहती है। हृदय प्रेम और आह्लादकी तरङ्गोंसे उच्छ्वलित। इनमें व्रजकी गोपियाँ प्रधान हैं, गोपियोंमें राधा। राधाके सम्बन्धमें तो कहना ही क्या है। वे भगवान्‌की स्वरूपभूता आह्लादिनी शक्ति हैं। श्रीकृष्ण उनके अपने और वे श्रीकृष्णकी अपनी, श्रीकृष्ण राधा और राधा श्रीकृष्ण। भेद-भावकी माया छायामात्र भी नहीं। ऐसी स्थितिमें राधा-कृष्णके पारस्परिक भावको कहा जाय तो कैसे, सोचा जाय तो कैसे। एकहीके दो रूप, दोके अनेक रूप, यही लीलाका स्वरूप है। सभी गोपियाँ राधाकी ही अंश-विशेष, शक्तिविशेष हैं। उनमें स्वकीया और परकीयाका भेद लीलामात्र है, सो भी लीला-रसकी परिपुष्टिके लिये। एक गोपी कहती है कि नन्दरानी मुझसे बड़ा स्नेह करती हैं, सखियाँ मुझे प्राणोंसे भी प्रिय समझती हैं और वृन्दावन वैकुण्ठसे भी उत्तम है। परन्तु यदि कात्यायनीकी आराधनाके फलस्वरूप मयूरपिच्छधारी, गुञ्जाकी माला पहने हुए, मदनमोहन श्रीकृष्ण प्राणप्रियके रूपमें न मिलें तो इन सबसे मुझे क्या लाभ। गोपियोंकी महिमा अनन्तकोटि मुखसे भी नहीं कही जा सकती। उनके प्रेमका उल्लास आर्यमर्यादाकी सीमा पार कर गया है। फिर भी सतीशिरोमणि अरुन्धती आदि श्रद्धापूर्ण हृदयसे उनके चरित्र और सौभाग्यकी महिमा गाकर अपनेको कृतकृत्य समझती हैं। वे वनमें रहनेवाली गोपबालाएँ इतनी मधुर हैं, इतनी रसाप्लावित हैं कि लक्ष्मीका प्रेम-सौन्दर्य इनके सामने धूमिल पड़ जाता है। गोपियोंकी अपेक्षा भी श्रीकिशोरीजीकी विशेषता दिखलानेके लिये उज्ज्वलनीलमणिमें एक कथाका उल्लेख हुआ है—

रासके समय भगवान् गोपियोंके प्रेमकी और भी अभिवृद्धि करनेके लिये एक कुञ्जमें जाकर छिप गये। गोपियोंको उनके बिना चैन कैसे पड़ती। वे ढूँढ़ते-ढूँढ़ते उसी कुञ्जमें पहुँच गयीं, जिसमें श्रीकृष्ण छिपे हुए थे। अब पकड़े गये, तब पकड़े गये। नटवर श्रीकृष्णने वहीं एक लीला रच दी—द्विभुजसे चतुर्भुज हो गये। गोपियाँ देखकर सकुचा गयीं। उन्हें इस ऐश्वर्यमय चतुर्भुज रूपसे क्या काम। ये तो भक्तिनम्र हृदयसे दण्डवत् प्रणाम करने योग्य हैं! वे उनके चरणोंमें नमस्कार करके लौट गयीं। जब यह बात राधाके कानोंतक पहुँची, तब उन्होंने कहा—'चलो तनिक मैं भी तो देखूँ, यहाँ ईश्वर अथवा विष्णुका क्या काम। हो-न-हो हमारे नटवर श्यामसुन्दरकी ही कोई लीला होगी।' श्रीकिशोरीजीके वहाँ पहुँचते ही श्रीकृष्णको यह बात भूल गयी कि मैं चतुर्भुज रूप धारण किये हुए हूँ। अपनी प्राणप्रियाके दर्शनमात्रसे उनके कृत्रिम ऐश्वर्यका लोप एवं सहज माधुर्यका उदय हो गया। यहीं गोपियों और श्रीराधाका अन्तर परिस्फुट हो जाता है। गोपियाँ ऐश्वर्य सहन नहीं कर सकतीं, उन्हें केवल माधुर्य चाहिये और श्रीजीके सामने ऐश्वर्य ठहर नहीं सकता, मधुररूपमें रहनेके लिये ही श्रीकृष्ण विवश हैं। राधाका श्रीकृष्णके प्रति जितना अधिक प्रेम है, उससे भी अधिक श्रीकृष्णका राधाके प्रति है। यहाँ न्यूनाधिक्यका तो कोई प्रश्न ही नहीं है, दोनों प्रेम-स्वरूप हैं।

मधुररसके उद्दीपनोंकी संख्या इतनी अधिक है कि उनकी संख्या बतलाना भी कठिन है। यहाँ अत्यन्त संक्षेपमें बहुत थोड़े-से लिखे जाते हैं—

(१) थोड़ी सेवासे रीझना, असह्य अपराध हो जानेपर

भी मुस्करा देना, दूसरेके लवमात्र दुःखसे भी कातर हो जाना इत्यादि भगवान्‌के स्वभावसिद्ध गुण ।

(२) इतनी रसमयी, मधुमयी और अश्रुतपूर्व प्रेमपूर्ण वाणी जो प्राणोंमें और हृदयमें अमृतका सिञ्चन करती है ।

(३) भगवान्‌की किशोर, यौवन आदि अवस्थाएँ, उनका रूप-लावण्य,सौन्दर्य, अभिरूपता, माधुर्य और मृदुलता आदि शारीरिक विशेषताएँ ।

(४) वंशीवादन, नृत्य, सुन्दर खेल, गोदोहन, गोवर्द्धन-उद्धार, गवाह्वान और मत्तगतिसे गमन इत्यादि लीलाएँ ।

(५) वस्त्र, आभूषण, माला, अनुलेपन आदि शारीरिक अलङ्कार ।

(६) वंशी और शृङ्गीकी ध्वनि, मधुर गायन, शरीरकी दिव्य सुगन्ध, आभूषणोंकी झनकार, चरणचिह्न, उनका शिल्पकौशल आदि ।

(७) श्रीकृष्णका प्रसाद, मयूरपिच्छ, गुञ्जा, धातुएँ, सखाओंका दीख जाना, गोधूलि, गोवर्द्धन, यमुना, कदम्ब, रासस्थली, वृन्दावन, भौंरे, हरिन, कुञ्ज, लताएँ आदि ।

(८) मेघ, विद्युत्, वसन्त, चाँदनी, शीतल-मन्द-सुगन्ध वायु, सुन्दर-सुन्दर पक्षी आदि ।

अनुभाव तीन प्रकारके होते हैं—अलङ्कार, उद्भास्वर और वाचिक। भाव, हाव, हेला—ये तीन शारीरिक; शोभा, कान्ति, दीप्ति, माधुर्य, प्रगल्भता, औदार्य और धैर्य—ये सात बेप्रयास ही होनेवाले तथा लीला, विलास, विच्छित्ति, विभ्रम आदि दस स्वाभाविक—ये बीस अलङ्कार कहे जाते हैं । शरीरपरसे वस्त्रका गिर जाना, बाल खुल जाना, अङ्ग टूटना, लंबी साँस चलना—ये सब उद्भास्वर अनुभावके अन्तर्गत हैं । आलाप, विलाप, संलाप, प्रलाप आदि बारह प्रकारके वाचिक अनुभाव होते हैं । इनके अतिरिक्त मौग्ध्य और चकित नामके दो अनुभाव और भी होते हैं । अपने प्रियतमसे जानी हुई वस्तुको भी अज्ञानीके समान पूछना, यह मौग्ध्य है और भयका स्थान न होनेपर भी भयका बहाना करके प्रियतमके पास पहुँच जाना—जैसे भौंरेसे डरकर श्रीकृष्णसे लिपट जाना, यह चकित अनुभाव है । इस रसमें सभी प्रकारके सात्त्विक भाव उदय होते हैं—

(१) **स्तम्भ**—हर्षसे, भयसे, आश्चर्यसे अथवा अमर्षसे स्तम्भित हो जाना ।

(२) **स्वेद**—भगवान्‌के संस्पर्श, दर्शन आदिजनित आनन्दसे, भयसे अथवा क्रोधसे शरीरका पसीजने लगना ।

(३) **रोमाञ्च**—आश्चर्यसे, हर्षसे अथवा भयसे शरीरका रोमाञ्चित हो जाना ।

(४) **स्वरभङ्ग**—विषादसे, विस्मयसे, अमर्षसे, भयसे अथवा हर्षसे कण्ठका रुद्ध हो जाना, वाणीका स्वाभाविक ढंगसे नहीं निकलना ।

(५) **कम्प**—त्राससे, हर्षसे और अमर्षसे शरीरका काँपने लगना ।

(६) **विवर्णता**—विषादसे, रोषसे अथवा भयसे शरीरका विवर्ण हो जाना । (चेहरा फक हो जाना ।)

(७) **अश्रुपात**—हर्षसे, रोषसे, विषादसे आँसू गिरना ।

(८) **प्रलय**—सुखसे या दुःखसे शरीर और मनका अविचल हो जाना ।

ये अपनी अभिव्यक्तिके तारतम्यसे धूमायित, ज्वलित, दीप्त, उद्दीप्त और सूद्दीप्त भेदसे पाँच प्रकारके होते हैं । यों तो सभी रसोंमें इन सात्त्विक भावोंका उदय होता है, परन्तु उनकी पूर्णता मधुररसमें ही होती है । निर्वेद आदि तीसों भाव उग्रता और आलस्यको छोड़कर पूर्णरूपसे इस मधुररसमें ही अभिव्यक्त होते हैं । यदि विभाव, अनुभाव, सात्त्विक भाव—सबके लक्षण और उदाहरणकी चर्चा की जाय तो विशाल ग्रन्थ तैयार हो सकता है । एक-एकके अनेक-अनेक भेद होते हैं । जैसे निर्वेद ही अनेक कारणोंसे होता है । वियोगके कारण होनेवाले निर्वेदमें श्रीकिशोरीजी ललिता सखीसे कह रही हैं—

न क्षोदीयानपि सखि मम प्रेमगन्धो मुकुन्दे
क्रन्दन्तीं मां निजसुभगताख्यापनाय प्रतीहि ।
खेलद्वंशीवलयिनमनालोक्य तं वक्त्रबिम्बं
ध्वस्तालम्बा यदहमहह प्राणकीटं बिभर्मि ॥

'हे सखी ! मुझमें श्रीकृष्णके प्रति तनिक भी प्रेम नहीं है, तुम विश्वास करो; मेरा श्रीकृष्णमें बड़ा प्रेम था और मैं उनकी सर्वश्रेष्ठ प्रेमपात्र थी, अपने इस सौभाग्यकी ख्यातिके लिये ही मैं रो रही हूँ । सखि ! प्रेमकी यह कैसी विडम्बना है कि राग, स्वर, ताल और मूर्च्छनाके साथ बाँसुरीमें स्वर-लहरी भरते हुए श्यामसुन्दरके मुखचन्द्रको देखे विना ही, जीवनका सहारा टूट जानेपर भी मैं अपने प्राणरूपी कीड़ोंको, जो मुझे निरन्तर डस रहे हैं, धारण कर रही हूँ और इतना ही नहीं, उनका पालन कर रही हूँ ।' श्रीजीके इन वचनोंमें

कितना निर्वेद है, इसका अनुभव कोई सहृदय ही कर सकता है। इसी प्रकार सभी भाव श्रीजीके और गोपियोंके जीवनमें व्यक्त हुए हैं।

इस रसमें मधुर रति ही स्थायिभाव है। उसके आविर्भाव-के सात कारण बतलाये गये हैं। यथा—

(१) **अभियोग**—अपनी चेष्टाओंसे हृद्गत भावोंका प्रकाश, वह चाहे प्रियतमके सम्मुख ही हो अथवा दूसरा कोई जाकर उससे कहे।

(२) **विषय**—शब्द-स्पर्शादि पाँच विषयोंमेंसे किसी एकका या सबका आकर्षण—जैसे भगवान्‌की मधुर वाणी, वंशीध्वनि, अकस्मात् स्पर्श, सुन्दररूपका दीख जाना इत्यादि।

(३) **सम्बन्ध**—उनके कुल, रूप आदि सामग्रीके गौरवसे उनके साथ सम्बन्ध-स्थापन।

(४) **अभिमान**—संसारमें यदि बहुत-सी उत्तम और रमणीय वस्तुएँ हैं तो वे रहें, मुझे तो यही चाहिये—इस प्रकार-का दृढ़ निश्चय।

(५) **श्रीकृष्णकी विशेषताएँ**—श्रीकृष्णके पदचिह्न, गोष्ठ और प्रियजन जो उनसे प्रेम करते हैं, उनका दर्शन, मिलन, वार्तालाप।

(६) **उपमा**—उनके समान कोई-सी भी वस्तु देखकर उनकी स्मृतिमें तल्लीन हो जाना। जैसे बादल देखकर घनश्यामकी स्फूर्ति, कमल देखकर कमलके समान नयनोंकी स्फूर्ति—इत्यादि।

(७) **स्वभाव**—यह दो प्रकारका होता है, एक निसर्ग और दूसरा स्वरूप। दृढ़ अभ्यास करते-करते जो संस्कार बन गये हैं, गुण, रूप और नामके किञ्चित् श्रवणमात्रसे उनका उद्बोधन निसर्गके नामसे कहा जाता है—जैसे रुक्मिणीका। स्वरूप वह है जिसमें किसी निमित्तकी आवश्यकता नहीं होती, स्वतःसिद्ध प्रेमभाव होता है—जैसे व्रजदेवियोंका।

मधुर रति ही क्रमशः विकसित होकर प्रेम, स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग और भावके रूपमें परिणत होती है। उज्ज्वलनीलमणि ग्रन्थमें कहा गया है कि जैसे ईखका नन्हा-सा अङ्कुर क्रमशः ईख, रस, गुड़, खण्ड, चीनी, मिश्री और ओलेका रूप धारण करता है, वैसे ही यह रति भी भावके रूपमें परिणत होकर पूर्णताको प्राप्त होती है। रतिसे भावपर्यन्त सभी प्रेम शब्दके द्वारा कहे जाते हैं। प्रेमी और प्रियतमके उस भावसम्बन्धको, जो नाशका कारण उपस्थित होनेपर भी नष्ट नहीं होता, प्रेम कहते हैं। इसके प्रौढ़, मध्य और मन्द—तीन भेद होते हैं। वियोगकी असहिष्णुता, दुःखपूर्वक सहिष्णुता और यदा-कदा किञ्चित् विस्मृति—क्रमशः यही तीनोंके स्वरूप हैं। यही प्रेम जब और भी उद्दीप्त होकर हृदयको अतिशय द्रवित कर देता है, जिससे दर्शन-स्पर्शमें कभी भी तृप्ति नहीं होती, तब उसे स्नेह कहते हैं। इसके तीन भेद होते हैं—अङ्गसङ्गमें अतृप्ति, दर्शनमें अतृप्ति और नाम-गुणके श्रवण आदिमें अतृप्ति। ये क्रमशः उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं। स्नेह दो प्रकारका होता है—घृतस्नेह और मधुस्नेह। पहलेमें कुछ आदरभाव रहता है और दूसरेमें केवल अतिशय ममता। घृतस्नेहमें थोड़ा उन्माद और अपनापन भी रहता है। घृतस्नेहमें मैं उनका हूँ, यह भाव रहता है और मधुस्नेहमें वे मेरे हैं, यह भाव रहता है। स्नेह ही उत्कर्षको प्राप्त होकर नवीन माधुर्यके साथ मानके रूपमें प्रकट होता है। इसके दो भेद हैं—उदात्त और ललित। उदात्त मानमें घृतस्नेहकी विशेषता रहती है—अनुकूलता अधिक और प्रतिकूलता कम। ललित मानमें मधुस्नेहकी प्रधानता रहती है—प्रतिकूलता अधिक और अनुकूलता कम। यही मान जब सम्भ्रमरहित होकर अत्यन्त विश्वासके साथ परिपक्व अवस्थाको प्राप्त होता है, तब प्रणय नाम धारण करता है। प्रणय दो प्रकारका होता है— मैत्र और सख्य। विनययुक्त विश्वास मैत्र है और प्रियतमको अपने वशमें रखनेवाला उन्मुक्त विश्वास सख्य है। यह प्रणय ही आगे चलकर रागके रूपमें अनुभवका विषय होता है।

जिसमें अधिक-से-अधिक दुःख भी सुखके रूपमें ही अनुभव होने लगता है, प्रणयकी उस उत्कृष्ट अवस्थाको ही राग कहते हैं। यही गुप्त रहनेपर नीलीराग और प्रकट होनेपर श्यामारागके नामसे कहा जाता है। और भी इसके अनेकों भेद हैं। यह राग प्रतिक्षण वर्द्धमान और नवनवायमान होकर अनुरागके रूपमें प्रकट होता है। यह प्रतिक्षण अनुभूयमान प्रियसमागमको और प्रियतमको भी नित्य नूतन बनाता रहता है। इस अवस्थामें ऐसा मालूम होता है—अभी मिलन हुआ है, अभी मैंने पहले-पहल देखा है। इसमें प्रेमी और प्रियतम एक दूसरेके अधीन रहते हैं। प्रियतमके सम्मुख रहनेपर भी वियोगकी आशङ्कासे

मृत्युके समान दुःखका अनुभव होने लगता है और इस अवस्थाको देखकर स्वयं प्रियतम श्रीकृष्ण भी चकित—स्तम्भित रह जाते हैं । इसीका नाम प्रेमवैचित्त्य है। अनुरागकी इस स्थितिमें संयोग होनेपर भी अतृप्तिकी सीमा नहीं रहती । ऐसी लालसा होती है—यदि मैं बाँस बन जाती तो बाँसुरीके रूपमें नित्य-निरन्तर प्रियतमके अधरोंकी सुधा-मधुरिमाका आस्वादन करती रहती । यदि कहीं इस अवस्था-में प्रियतमका विछोह हुआ तो जहाँ दृष्टि जाती है, वहीं उनके दर्शन होते हैं । इसी अवस्थाके सम्बन्धमें कहा गया है कि संयोगसे वियोग ही उत्तम है; क्योंकि संयोगमें अपने प्राणनाथ अकेले रहते हैं और वियोगमें सारा संसार ही उनका रूप हो जाता है ।

यद्यपि प्रेमकी सभी अवस्थाएँ स्वसंवेद्य एवं अनिर्वचनीय हैं, तथापि अबतक जिनका वर्णन हुआ है, वे रसिकोंके द्वारा अनुमेय तथा ज्ञेय हैं । भगवान्‌की द्वारकास्थित नित्य सहचरियोंमें भी इनका प्रकाश होता है और व्रजदेवियों-में तो ये सहज स्वभावसिद्ध रूपसे ही रहती हैं । यह अनुराग ही जब परसंवेद्यतासे ऊपर उठकर स्वसंवेद्यरूपमें प्रतिष्ठित हो जाता है, जब प्रेमी अनुरागीके रूपमें न रहकर अनुरागस्वरूप हो जाता है, श्रीकृष्णकी अनुभूतिका सुख, प्रेमकी अनुभूतिका सुख और सुखकी ऐसी अनुभूति होती है जिसे अनुभूति कहना भी नहीं बनता, तब उस अनुरागकी ही भाव संज्ञा होती है । द्वारकाकी श्रीकृष्णपत्नियोंके लिये भी यह अत्यन्त दुर्लभ है । व्रजकी देवियोंमें इसीका नाम महाभाव है । दूसरे किसीको भी इसकी उपलब्धि नहीं होती । यह अमृतस्वरूप श्रेष्ठ रस है, इसे आनन्दकी सीमा कहते हैं । इसमें दिव्य प्रेमी दिव्यतास्वरूप ही होता है । इसके दो भेद हैं—रूढ महाभाव और अधिरूढ महाभाव । जिस महाभावमें सात्त्विक भाव उद्दीप्त रहते हैं, उसे रूढ महा-भाव कहते हैं । इसमें प्रियतमके दर्शनसुखमें बाधक होनेके कारण पलकोंका गिरना भी असह्य हो जाता है—'यत्प्रेक्षणे दृशिषु पक्ष्मकृतं शपन्ति ।' इस स्थितिके प्रेमीको—व्रजदेवियों-को—देखनेवाले प्रेमसमुद्रमें डूबने-उतराने लगते हैं । स्वयं लक्ष्मी भी चकित—स्तम्भित हो जाती हैं । इस परम रसमें कल्पान्त-पर्यन्त मग्न रहनेपर भी एक क्षण-जितना भी मालूम नहीं होता । प्रियतमको सुख मिलनेपर भी कहीं उन्हें कष्ट न पहुँच जाय, इस आशङ्कासे खेद होने लगता है । गोपियाँ अपने वक्षःस्थलपर श्रीकृष्णके चरणकमल रखते समय डरने लगती हैं कि कहीं इसकी कर्कशता उनके दुःखका कारण न हो जाय—'भीताः शनैः प्रिय दधीमहि कर्कशेषु ।' प्रेमकी इस सर्वोत्कृष्ट भूमिकामें, जहाँ मोह आदि प्राकृत भावोंका प्रवेश कदापि सम्भव नहीं है, अपनेको, पराये-को, सबको भूल जाना और श्रीकृष्णके विना एक क्षणका भी कल्पसे भी अधिक मालूम होना इस रूढ महाभावकी असाधारण विशेषता है—'त्रुटिर्युगायते त्वामपश्यताम् ।'

रूढ महाभावमें जो अनुभाव होते हैं, उनकी अपेक्षा और भी विशिष्ट—जिनका निर्वचन नहीं किया जा सकता—अधिरूढ महाभावमें प्रकट होते हैं । यदि समस्त मोक्षसुख अथवा ब्रह्मसुखको और त्रैकालिक संसारसुखको एक स्थानपर एकत्रित कर दिया जाय और संसारके समस्त त्रैकालिक दुःखोंको दूसरे स्थानपर एकत्रित कर दिया जाय तो ये दोनों ही इस अधिरूढ महाभावके सुख-दुःखरूपी महासागरकी एक बूँदके समान भी नहीं हो सकते । यह स्मरण रखना चाहिये कि यहाँका दुःख जागतिक दुःख-जैसी कोई वस्तु नहीं है । यह भी दिव्य रसका ही एक रूप है । इस दुःखके लेशमात्रकी समतामें संसारके समस्त सुख तुच्छ हैं । इसीसे यह दुःख भी परम पुरुषार्थ प्रेमका अत्यन्त उत्कृष्ट स्वरूप है । अधिरूढ महाभावके दो प्रकार हैं—मोदन और मादन । जिसमें सात्त्विक भाव प्रेमी और प्रियतम दोनोंमें ही सुद्दीप्तरूपसे प्रकट रहते हैं, दोनों ही स्तम्भित-कम्पित रहते हैं, उसको मोदन कहते हैं । दोनोंको इस अवस्थामें देखकर प्रेमी भी विक्षुब्ध हो जाते हैं । दोनोंके प्रेमकी सम्पत्ति समस्त चराचर-की प्रेमसम्पत्तिसे बढ़ जाती है । यह मोदन ही विरहकी अवस्थामें मोहन कहा जाता है । इसमें भी विरहकी विवशतासे प्रिया-प्रियतम दोनोंमें ही सात्त्विक भाव सुद्दीप्त रहते हैं । इसके अनुभाव भी औरोंकी अपेक्षा अत्यन्त विलक्षण हैं । इस मोहनदशामें द्वारकास्थित अन्य पत्नियोंके द्वारा आलिङ्गित होनेपर भी राधाका स्मरण करके श्रीकृष्ण मूर्च्छित हो जाते हैं और ऐसा अनुभव करते हैं कि मैं वृन्दावनमें यमुनातटवर्त्ती निकुञ्जमें श्रीजीके साथ रास-विलास कर रहा हूँ । असह्य दुःख स्वीकार करके भी जिस प्रकार अपने प्रियतम सुखी हों, वही चेष्टा इसमें की जाती है । इस सम्बन्धमें गोपियोंका कितना सुन्दर भाव है, यह उन्हींके शब्दोंमें सुनने योग्य है—

स्यान्नः सौख्यं यदपि बलवद्गोष्ठमाप्ते मुकुन्दे
यद्यल्पापि क्षतिरुदयते तस्य मागात्कदापि ।
अप्राप्तेऽस्मिन् यदपि नगरादार्तिरुग्रा भवेन्नः
सौख्यं तस्य स्फुरति हृदि चेत्तत्र वासं करोतु ॥

'यदि श्रीकृष्ण वृन्दावन आ जायँ तो हमें बड़ा सुख होगा, इसमें सन्देह नहीं। परन्तु यदि यहाँ आनेसे उनकी तनिक भी क्षति होती हो, तो वे यहाँ कभी न आवें। यद्यपि उनके यहाँ न आनेसे हमें महान् दुःख होगा, तथापि यदि उन्हें वहाँ रहनेमें ही सुख होता है तो वे सुखपूर्वक वहीं निवास करें।' कहना न होगा कि गोपियोंका यह भाव प्रेमकी अत्यन्त ऊँची स्थितिका उद्गार है। इस स्थितिके प्रेमीका जीवन, उसका श्वास-प्रश्वास निखिल ब्रह्माण्डमें प्रेमका सञ्चार कर देता है। इस अवस्थाका प्रेमी जब तारस्वरसे रुदन करने लगता है, तब पशु-पक्षी भी—यहाँतक कि लता-वृक्ष भी उसके साथ रोने लगते हैं। प्रेमी अपनी मृत्युकी आशङ्कासे इस जन्ममें प्रियतमका मिलना असम्भव देखकर यह अभिलाषा करने लगता है कि मेरे शरीरके पञ्चभूत मृत्युके पश्चात् भी प्रियतमकी सन्निधिमें रहकर उनकी सेवामें लगें—

पञ्चत्वं तनुरेतु भूतनिवहाः स्वांशे विशन्तु स्फुटं
धातारं प्रणिपत्य हन्त शिरसा तत्रापि याचे वरम्।
तद्वापीषु पयस्तदीयमुकुरे ज्योतिस्तदीयाङ्गन-
व्योम्नि व्योम तदीयवर्त्मनि धरा तत्तालवृन्तेऽनिलः॥

'शरीरकी मृत्यु हो जाय, पाँचों भूत अपने अपने मूल कारणमें विलीन हो जायँ—इसमें मुझे तनिक भी आपत्ति नहीं है। परन्तु उनके सम्बन्धमें परमात्माको प्रणाम करके मैं एक वरदानकी प्रार्थना करता हूँ। जिस बावलीका वे जल पीते हैं उसमें मेरे शरीरका जलांश, जिस दर्पणमें वे अपना मुख देखते हैं उसमें मेरे शरीरकी ज्योति, उनके आँगनके आकाशमें मेरे शरीरका आकाश, उनके मार्गमें मेरे शरीरकी मिट्टी और उनके पंखेमें मेरे शरीरकी हवा मिल जाय।' प्रेमकी कितनी सुन्दर अभिव्यक्ति है! यही मोहनदशा आगे चलकर दिव्योन्मादका रूप धारण करती है। इसमें प्रेमी प्रियतमके लिये उनके न होनेपर भी शय्या सज्जित करता है, अपना शृङ्गार करता है और विरहोद्भ्रान्त होकर नाना प्रकारकी चेष्टा करता है। प्रियतमके सुहृदोंको देखकर अनेकों प्रकारके प्रलाप करने लगता है। जल्प, प्रजल्प आदिके भेदसे वे दस प्रकारके होते हैं, जो श्रीमद्भागवतके दशमस्कन्धान्तर्गत भ्रमरगीतमें सुस्पष्टरूपसे प्रकट हुए हैं। प्रायः ये भाव श्रीराधामें ही पूर्णरूपसे प्रकाश पाते हैं।

रतिसे लेकर महाभावपर्यन्त जितने भी भाव हैं वे सब जब उल्लसित हो जाते हैं, तब संयोग अवस्थामें आह्लादिनीका सार एवं सर्वश्रेष्ठ मादन नामका परात्पर भाव उदय होता है। इसका उदय राधाके अतिरिक्त किसीमें नहीं होता। इसकी स्थिति विचित्र ही होती है। भगवान्का सर्वदा संयोग रहनेपर भी उनके वक्षःस्थलपर नित्य विराजमान वनमालाके साथ इस अवस्थामें ईर्ष्या होने लगती है और ऐसे भाव उठने लगते हैं कि 'री वनमाले! तू हमारा तिरस्कार करके नित्य-निरन्तर प्रियतमके वक्षःस्थलपर विहार करती रहती है। यह तो हमलोगोंके प्रति तुम्हारा विद्वेष है।' यहाँ यह नहीं भूलना चाहिये कि इस अवस्थाके ईर्ष्यादि भाव भी दिव्य ही होते हैं। इस मादनकी अनेकों दशाएँ हैं और अनिर्वचनीय गतियाँ हैं। संयोगलीलाके अधिकांश भेद इसीके अन्तर्गत हैं। लीलाभेदसे जो भावभेद होते हैं, उनकी कल्पना भी साधारण चित्तमें नहीं आ सकती। मधुररसमें यही सब लोकोत्तर चमत्कारी भाव, जो कि रसरूप हैं, विकास और पूर्णताको प्राप्त होते हैं। श्रीराधाजी महाभावस्वरूपिणी हैं। श्रीचैतन्यचरितामृतमें समस्त भावोंकी अपेक्षा इस महाभावकी उत्कृष्टताका वर्णन करके कहा गया है—

ह्लादिनीर सार अंश तार प्रेम नाम।
आनन्द चिन्मय रस प्रेमेर आख्यान॥
प्रेमेर परम सार महाभाव जानि।
सेइ महाभावरूपा राधा ठाकुरानि॥
प्रेमेर स्वरूप देह प्रेमे विभावित।
कृष्णेर प्रेयसी श्रेष्ठा जगते विदित॥
सेइ महाभाव हय चिन्तामणि-सार।
कृष्ण-वाञ्छा पूर्ण करे एइ कार्य यार॥
महाभाव-चिन्तामणि राधार स्वरूप।
ललितादि सखी यार कायव्यूहरूप॥

यह मधुर महाभावरूपा परिपुष्ट मधुर रति ही मधुररस, उज्ज्वलरस अथवा दिव्य शृङ्गार रसके नामसे कही जाती है। यद्यपि इस अवस्थामें प्रिया-प्रियतमका वियोग किसी भी प्रकारसे सम्भव नहीं है, तथापि संयोगकी परिपुष्टिके लिये वह भी होता है। इसलिये इस रसके दो भेद हो जाते हैं—एक तो संयोग और दूसरा वियोग। वियोगकी चार अवस्थाएँ होती हैं—पूर्वराग, मान, प्रेमवैचित्त्य और प्रवास। श्रीकृष्णके साक्षात् दर्शनसे, स्वप्न-दर्शनसे अथवा चित्र-दर्शनसे इसकी उत्पत्ति होती है। वन्दीजन, दूती, सखी और किसी गायकके मुखसे श्रीकृष्णके सद्गुण, सौन्दर्य आदिका श्रवण करनेसे भी पूर्वरागका सञ्चार होता है। मधुर रतिके

उदयके प्रसङ्गमें जो अभियोग आदि हेतु बतलाये गये हैं, वे सब इसमें भी कारण हैं। यह प्रौढ़, समञ्जस और साधारण भेदसे तीन प्रकारका होता है। इसमें व्याधि, शङ्का, असूया आदि सभी सञ्चारी भावोंका उदय होता है। प्रियतमकी प्राप्तिके लिये लालायित रहना, चित्तका उद्विग्न होना, नींद न आना, शरीरका दुबलापन, जड हो जाना, चित्तका व्यग्र होना, शारीरिक व्याधि, उन्माद, बेहोशी और मृत्युपर्यन्ततककी अवस्थाएँ पूर्वरागमें भी प्राप्त होती हैं। प्रियतमका स्मरण, उनकी प्राप्तिके उपायकी चिन्ता, उनके गुण, नाम, लीला आदिका कीर्त्तन, पत्र-प्रेषण, माल्यार्पण आदि इसके विशेष चिह्न हैं। मानका प्रसङ्ग बहुत ही प्रसिद्ध है और भावोंके प्रसङ्गमें प्रेमवैचित्त्यका उल्लेख किया जा चुका है। इसलिये उनका पिष्टपेषण उचित नहीं जान पड़ता।

मिलनके पश्चात् प्रिया-प्रियतमके समागममें जो व्यवधान होता है, उसे प्रवास कहते हैं। यह दो प्रकारका होता है—एक तो जान-बूझकर और दूसरा विवशतासे, अनजानमें। थोड़ी दूर और थोड़ी देरका प्रवास एवं बहुत दूर और बहुत दिनोंका प्रवास; इसी प्रकार भूत, भविष्य और वर्तमानका प्रवास; दैवी कारणोंसे अथवा लौकिक कारणोंसे प्रवास। इन सभी प्रवासोंमें श्रीकृष्णकी ही चिन्ता, जागते रहनेके कारण स्वप्न भी नहीं आना, हृदयमें आग जलती रहना, शरीरका सूख जाना, मैला-कुचैला रहना, प्रलाप करना और हृदयमें अत्यन्त सन्ताप रहना—यही सब दशाएँ होती हैं। श्रीराधा ललितासे अपनी व्याधिका वर्णन कर रही हैं—

> उत्तापी पुटपाकतोऽपि गरलग्रामादपि क्षोभणो
> दम्भोलेरपि दुःसहः कटुरलं हृन्मग्नशल्यादपि।
> तीव्रः प्रौढविषूचिकानिचयतोऽप्युच्चैर्ममायं बली
> मर्माण्यद्य भिनत्ति गोकुलपतेर्विश्लेषजन्मा ज्वरः॥

'जो स्वर्णके जलते हुए द्रवसे भी अधिक तापकारी है, कालकूट विषसे भी अधिक क्षुब्ध करनेवाला है, वज्रसे भी अधिक दुस्सह है, हृदयमें बिंधे हुए शल्यसे भी अधिक तीखा है और उग्र विषूचिकाओंके समूहसे भी अधिक तीव्र है, वही यह श्रीकृष्णके वियोगका तीव्र ज्वर मेरे मर्मस्थानोंको बेध रहा है।'

श्रीकृष्णके वियोगमें कभी हँसना, कभी रोना, निष्प्रयोजन भटकना, पशु-पक्षियों और लता-वृक्षोंसे भी प्रियतमका पता पूछना और जमीनमें लोटना आदि उन्मादके बहुत-से लक्षण प्रकट हो जाते हैं। दुःखकी अधिकतासे कर्त्तव्याकर्त्तव्य-ज्ञान-शून्य हो जाना, मूर्छित हो जाना, मर जाना और मरकर फिर जीना और फिर वही अवस्था। इस प्रकार एक क्षणके लिये भी विरहके पंजेसे छुटकारा नहीं मिलता। प्रेमकी सभी अवस्थाओंमें वियोगकी मर्मवेधिनी पीड़ा होती है और उनके अनुभाव भी प्रकट होते हैं। अधिरूढ महाभावमें मोहन दशाका वर्णन करते हुए जो कुछ कहा गया है, उसे यहाँ स्मरण कर लेना चाहिये और ऐसा समझना चाहिये कि वह तो बहुत कम है। विरहीकी वेदना कोई विरही ही जान सकता है, सो भी यदि उसी श्रेणीका हो। प्रकट लीलाके अनुसार विरहकी परिपूर्णता व्रजदेवियोंमें ही देखी जाती है। अन्तर्लीलामें तो उनका एकरस विहार सदा-सर्वदा चलता ही रहता है।

भगवान्‌का संयोग-सुख अवर्णनीय है। वास्तवमें मधुररसकी यही चरम परिणति है। प्रणय-परिणयकी यही मधुयामिनी है। रतिका नाम यहीं आकर सार्थक होता है। वैसे तो सभी रस हैं। परन्तु यह रसराजकी भी सरस अवस्था है। यह दिव्य उज्ज्वल शृङ्गार श्रीमद्भागवतके रास-प्रसङ्गमें जैसा अभिव्यक्त हुआ है, वैसा और कहीं नहीं। यह स्वप्न और जाग्रत्‌के भेदसे दो प्रकारका होता है। स्वप्नका संयोग अत्यन्त गौण है। फिर भी भगवान्‌के साथ मानस संयोग होनेके कारण उसकी रसरूपतामें कोई बाधा नहीं पड़ती। जागरणमें जितने प्रकारके संयोग और उसकी लीलाएँ हो सकती हैं, उनसे भी अधिक स्वप्नमें सम्भव हैं। प्रेमियोंका स्वप्न साधारण स्वप्न नहीं है। मूढ़ पुरुषोंके जागरण और योगियोंकी समाधिसे भी उसका ऊँचा स्थान है। प्रेमियोंका दिव्य मन समस्त प्रकृति और प्राकृत जगत्‌से ऊपर उठा हुआ, दिव्य होता है। अन्तःकरणके साधारण विकार स्वप्नका उस प्रेमराज्यमें प्रवेश नहीं है। इसलिये प्रेमियोंका भगवत्संयोगरूप दिव्य स्वप्न भी अलौकिक ही होता है।

जाग्रत् अवस्थामें चार प्रकारके संयोग होते हैं—संक्षिप्त, सङ्कीर्ण, सम्पन्न और समृद्धिमान्। व्रजदेवियोंके जीवनमें ये सभी अपने अवान्तर भेदोंसहित अनुभवके विषय होते हैं। उनका वर्णन लेखविस्तारभयसे नहीं किया जाता। संयोगकी लीलामें प्रियतमका दर्शन, उनके साथ वार्तालाप, उनका स्पर्श, उनके साथ वृन्दावनके निकुञ्जोंमें रहस्यक्रीडा, जल-विहार, रासलीला, नौकालीला, वेषपरिवर्त्तन, कपटशयन, वंशीचौर्य्य, मार्गरोधन आदि अनेकों लीलाएँ होती हैं—जिनका अनुभव कोई गोपीभावापन्न सरसहृदय प्रेमी ही कर

सकता है। भगवान्के लीलाप्रतिपादक ग्रन्थोंमें इन लीलाओंका अत्यन्त हृदयस्पर्शी भाषामें वर्णन हुआ है। मधुररसके रसिकोंको वहींसे उनका आस्वादन करना चाहिये।

यहाँतक हमने भक्तिरसकी जिन पाँच धाराओंमें अवगाहन किया है और जिनमें डूब-डूब कर सम्पूर्ण प्राणसे और उन्मुक्त हृदयसे रसास्वादन किया है, वे सब-के-सब स्वर्गीय सुधा और मोक्ष-सुखको भी तिरस्कृत करनेवाले परमामृतस्वरूप दिव्य रस हैं—इसमें सन्देह नहीं। इनमें उत्कृष्ट और निकृष्टका भेद करनेका हमें कोई अधिकार नहीं। जिस प्रेमीको जिस रसकी अनुभूति हुई है, उस रसके रूपमें उसे भगवान्की ही अनुभूति हुई है; क्योंकि भगवान् ही रसस्वरूप हैं। उनकी अनुभूति ही वास्तविक रसानुभूति है। इसलिये हम नम्र हृदयसे प्रेमपरिप्लुत होकर उनके प्रेमको ही युगल सरकारके उस लोकोत्तर महाभावस्वरूपको ही प्रणाम करें—

> आसृष्टेरक्षयिष्णुं हृदयविधुमणिद्रावणं वक्रिमाणं
> पूर्णत्वेऽप्युद्वहन्तं निजरुचिघटया साध्वसं ध्वंसयन्तम्।
> तन्वानं शं प्रदोषे धृतनवनवतासम्पदं मादनत्वा-
> दद्वैतं नौमि राधादनुजविजयिनोरद्भुतं भावचन्द्रम्॥*

मानव

(रचयिता—एम्० एम्० साण्डल, बी० ए० 'सोम')

रजकणोंके रूप मानव!
उसीमें उत्पत्ति और समाप्ति, जगके भूप मानव!

पञ्च तत्त्वोंसे बनी काया न कञ्चन-सी रहेगी,
सिद्ध होगा साम्यका कटु सत्य जीव अनूप मानव!
रजकणोंके रूप मानव! ॥ १ ॥

मोह, माया, लोभ, लिप्सामें गया जीवन न आता;
खोल अन्तर्चक्षु, मानव! बन न दादुर कूप, मानव!
रजकणोंके रूप मानव! ॥ २ ॥

क्या हुआ यदि भाग्य है विपरीत, किसका दोष? अपना।
छाँह शीतल कल द्रुमोंकी, आज मरुकी धूप, मानव!
रजकणोंके रूप मानव! ॥ ३ ॥

क्रोध, निद्रा, काम, चिन्तामें पुरुष! भूला डगर क्यों?
वासुदेवमयी धरा है, चर अचर तद्रूप, मानव!
रजकणोंके रूप मानव! ॥ ४ ॥

ढूँढ़ता तू चर्च, मस्जिद, मन्दिरोंमें मूर्ख! किसको?
मूक पशुओं, दीन दुखियोंमें 'प्रकाशस्वरूप' मानव!
रजकणोंके रूप मानव! ॥ ५ ॥

प्रार्थनाएँ हैं अनाथोंकी पुकारें श्रवणके हित,
झोंपड़े असहायके हैं वन्दनाके स्तूप मानव!
रजकणोंके रूप मानव! ॥ ६ ॥

---

* इस विषयमें जिनको विशेष जानना हो, वे श्रीरूपगोस्वामीरचित 'उज्ज्वलनीलमणि' तथा 'हरिभक्तिरसामृतसिन्धु' नामक संस्कृत ग्रन्थोंको पढ़ें। —सम्पादक

ज्ञान-साधना

(लेखक—पं० श्रीगोपालचन्द्रजी चक्रवर्ती वेदान्तशास्त्री)

निष्काम कर्मकी साधना, भक्तिकी साधना और योगकी साधनाकी तरह ज्ञानकी भी साधना है। साधनाका भावार्थ है तल्लीन हो जाना। ज्ञानकी साधनाका उपाय श्रुति बतलाती है—

आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः, श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यश्च। (बृहदारण्यक० ४।५।६)

आत्माका दर्शन करना चाहिये। दर्शन करनेका उपाय श्रुति ही बतलाती है कि पहले श्रवण करना चाहिये, उसके बाद मनन करना चाहिये, तदनन्तर निदिध्यासन करना चाहिये। शास्त्र और गुरुमुखसे श्रवण होता है, श्रुत विषयके मनमें बार बार चिन्तनको मनन कहते हैं और निदिध्यासनमें उस विषयमें तल्लीन हो जाना होता है। निदिध्यासनको ध्यान भी कहते हैं, एकाकारवृत्ति-प्रवाह भी इसीको कहते हैं। आत्माका प्रत्यक्ष अनुभव या ज्ञान ही आत्मदर्शन कहाता है।

जिस श्रवणसे मनन और निदिध्यासन अपने-आप हों, उसीको यथार्थमें श्रवण कहते हैं; क्योंकि श्रवणका फल ही मनन और निदिध्यासन है। लौकिक जगत्में भी जिस श्रवणका फल नहीं होता, उसे श्रवण नहीं कहते। जैसे किसीको एक गिलास जल लानेको कहा जाय और वह आदमी सुनकर भी जल न देकर दूसरे कामसे चला जाय, तो यही कहा जाता है कि 'उसने मेरी बात नहीं सुनी।' क्योंकि सुननेका फल 'जल देना' उससे नहीं हुआ। भोजनका फल है क्षुधाकी निवृत्ति। यदि कोई मनुष्य भोजन करनेके लिये बैठे और केवल थोड़ा-सा भात खाकर उठ जाय तो लोग कहेंगे कि उसने आज भोजन नहीं किया है। खानेकी वस्तु मुँहमें चबाकर पेटमें निगल जानेका नाम भोजन है। वह तो थोड़ा भात खानेसे भी हो गया। परन्तु उससे भोजनका फल क्षुधानिवृत्ति न होनेसे उसे भोजन नहीं कहा जाता। भोजन तभी सिद्ध होगा, जब उसका फल क्षुधाकी निवृत्ति होगी। लौकिक कार्यके विषयका श्रवण तभी सिद्ध होगा, जब उसके अनुसार कार्य होगा। इसी प्रकार आत्माके विषयका श्रवण तभी सिद्ध होगा, जब उसके अनुसार मनन और निदिध्यासन अपने-आप होता रहेगा। एक दूसरे दृष्टान्तसे इस विषयको और भी स्पष्ट किया जाता है। किसी सच्चरित्र युवकको एक प्रतिष्ठित पुरुषने बहुत-से आदमियोंके सामने झूठमूठ कह दिया कि 'तुम उस दिन एक कुलटा स्त्रीसे एकान्तमें क्यों बातें करते थे?' युवकने इस बातका प्रतिवाद किया। पर उसकी कौन सुनता है। उन प्रतिष्ठित पुरुषका कहना ही सब लोगोंने मान लिया और उसका तिरस्कार किया। निदान युवक वहाँसे लौटा। वह मनमें सोचने लगा कि उन्होंने मुझे इस प्रकार क्यों बदनाम किया, मैंने तो ऐसा काम कभी नहीं किया। जब वह घर आया तो भी वही चिन्ता बार-बार मनमें उठने लगती है। पुस्तक उठाकर पढ़नेकी चेष्टा करने लगता है, तो भी वही चिन्ता! झुँझलाकर वह उस बातको भूलनेकी चेष्टा करता है, तो भी थोड़ी देरमें वही बात मनमें उठने लगती है—'उन्होंने मेरी ऐसी बदनामी क्यों की?' खाने, नहाने, चलने, फिरनेमें केवल वही चिन्ता! उस पुरुषने इस युवकको ऐसा श्रवण करा दिया है कि उसका फल मनन अपने-आप होने लगा, भूलनेकी चेष्टा करनेपर भी मनन बंद नहीं हुआ। ठीक इसी प्रकार संसारके दुःखोंसे तापित व्यक्ति मुक्तिकी इच्छासे आत्मस्वरूप जाननेके लिये जब गुरुके पास जाता है, तब गुरु उसे आत्मस्वरूपका उपदेश देते हैं। वह उपदेश उसके हृदयमें बद्धमूल हो जाता है और उसके अनन्तर उस आत्मस्वरूपके श्रवणके अवश्यम्भावी परिणामरूप मनन अपने-आप होने लगता है। वह मुमुक्षु पुरुष उसमें लवलीन हो जाता है। किसी भी विक्षेपसे उसकी वह आत्मचिन्ता नहीं छूटती। इसी अवस्थाके एकाकार वृत्तिप्रवाहको ही निदिध्यासन कहते हैं। इसीका अव्यवहित परिणाम आत्मदर्शन है। यही ज्ञानका साधन है।

अब देखना चाहिये कि आत्मतत्त्वके श्रवण करनेके पश्चात् मनुष्य मनन अपने-आप क्यों करता है, उसे छोड़ क्यों नहीं देता? इसलिये कि, संसारकी सारी वस्तुओंसे आत्मा सभीके लिये प्रियतम है। पुत्र, स्त्री, वित्त आदि प्रिय हैं; अपना शरीर, इन्द्रिय आदि उनसे प्रियतर हैं; परन्तु आत्मा प्रियतम है।

बृहदारण्यक उपनिषद्में महर्षि याज्ञवल्क्य अपनी पत्नी मैत्रेयीसे कहते हैं—

न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति, आत्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति।

'अरे मैत्रेयी ! पतिके लिये कोई स्त्री पतिको प्रिय नहीं समझती, अपने सुखके लिये पतिको प्रिय समझती है।'

इसी प्रकार और भी कहा है कि स्त्रीके लिये, पुत्रके लिये, देवताके लिये, वित्तके लिये या सारे संसारके लिये कोई स्त्री, पुत्र, देवता, धन या सारे संसारको प्रिय नहीं समझता, बल्कि अपने सुखके लिये ही इनको प्रिय समझता है। इस कारण आत्मा सबसे अधिक प्रिय अर्थात् प्रियतम है। वेदान्तपञ्चदशीमें लिखा भी है—

अयमात्मा परानन्दः परप्रेमास्पदं यतः।
मा न भूवं हि भूयासमिति प्रेमात्मनीक्ष्यते ॥

'परम प्रेमका विषय होनेके कारण आत्मा परमानन्दस्वरूप है। क्योंकि मेरा अभाव कभी न हो, मेरा अस्तित्व सदा बना रहे—इस प्रकार अपने ऊपर प्रेम सभी जीवमें दिखायी पड़ता है।'

एक दृष्टान्तसे यह विषय और भी स्पष्ट हो जायगा। एक बड़े आदमीके घरमें आग लग गयी। सब लोग भाग निकले; परन्तु खोजनेपर एक छोटा बालक नहीं मिला, वह भीतर ही रह गया था। पिताने सब लोगोंसे कहा, 'जो मेरे पुत्रको निकाल लावेगा, उसे मैं एक लाख रुपया दूँगा।' एक पड़ोसीने सुनकर कहा, 'आप खुद ही जाकर लाइये न, क्यों एक लाख रुपया खोते हैं ?' परन्तु एक लाख रुपये या पुत्रसे भी अपना शरीर प्रिय है; इसलिये पिता आगके भीतर नहीं जाता। इसी प्रकार यदि उसके हाथ, पैर, नाक, कान आदि अङ्ग काट भी डाले जायँ तो भी वह जीना चाहता है; ऐसे ही यदि उसकी आँखें फूट जायँ, वह अंधा हो जाय, वह बहरा हो जाय, उसकी नाकमें सूँघनेकी या जिह्वामें स्वाद लेनेकी शक्ति न रहे, कोढ़ होकर शरीरमें स्पर्श ग्रहण करनेकी शक्ति भी लुप्त हो जाय यानी सारी इन्द्रियाँ नष्ट हो जायँ, मन विक्षिप्त और बुद्धि क्षिप्त (पागल) हो जाय तो भी वह अपनी आत्माको लेकर जीना चाहता है। इससे क्या यह सिद्ध नहीं होता कि आत्मासे बढ़कर प्रिय वस्तु संसारमें कोई नहीं है ? उस आत्माका स्वरूप जाननेके लिये जब मुमुक्षुके भीतर तीव्र इच्छा होती है और सद्गुरु उसे आत्मतत्त्वका उपदेश देते हैं, तब साधक उस अपने स्वरूपको कभी नहीं भूल सकता। वह विवश होकर उसका मनन करेगा, फिर निरन्तर उस आत्मस्वरूपका ध्यान करते-करते आत्मसाक्षात्कार लाभ करेगा। इसी आत्मज्ञानका फल मुक्ति है। श्रीभगवान् गीतामें कहते हैं—

ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥

'ज्ञान लाभ करके मनुष्य थोड़े ही समयके पश्चात् परम शान्ति अर्थात् मुक्ति प्राप्त कर लेता है।'

अब विचारना चाहिये कि आत्माका स्वरूप क्या है। आश्चर्यकी बात यह है कि हम संसारकी सारी वस्तुओंको तथा सारी विद्याओंको जाननेकी चेष्टा करते हैं; परन्तु जो आत्मा हमारा परम प्रिय है, जो हमारा अन्तरतम पुरुष है और जो हमारा अपना स्वरूप है उसे जाननेकी एक बार भी चेष्टा नहीं करते।

पहले प्रतिपादित किया गया है कि शरीर, इन्द्रिय, मन या बुद्धिके विकृत हो जानेपर भी मनुष्य अपनी आत्माको जीवित रखना चाहता है। इससे स्पष्ट हुआ कि आत्मा शरीर, इन्द्रिय, मन तथा बुद्धिसे परे या पृथक् है।

लोग कहते हैं 'मेरा शरीर'। 'मैं शरीर हूँ' ऐसा कोई नहीं कहता। मेरा वस्त्र, मेरा मकान, मेरा राज्य—कहनेसे जिस प्रकार दोनोंमें भेद प्रतीत होता है, ठीक उसी प्रकार मेरा शरीर, मेरी इन्द्रियाँ, मेरा मन, मेरे प्राण, मेरी बुद्धि कहनेसे भी 'मैं' शरीर, इन्द्रिय, मन, प्राण और बुद्धिसे पृथक् हुआ। मैं शुद्ध चेतन आत्मा हूँ। परन्तु लोग 'मेरी आत्मा' भी तो कहते हैं। अतः मुझको आत्मासे भी भिन्न होना चाहिये ? नहीं, यदि 'मैं' आत्मासे भी भिन्न होऊँ, तो मेरा वास्तविक स्वरूप क्या होगा ? शरीरमें जितने प्रकारके पदार्थ या अङ्ग हैं, सबसे भिन्न और सबके भीतर आत्मा है। आत्माके भीतर और कोई वस्तु नहीं है। इसलिये आत्मा ही मेरा वास्तविक स्वरूप है। अतः 'मेरी आत्मा' कहना भूल है।'

शरीरमें चेतन तत्त्व ही आत्मा है। देह, इन्द्रिय, मन, और बुद्धि अचेतन हैं। मन और बुद्धि चेतन आत्माकी छायामात्र पाकर चेतनकी तरह क्रिया करती हैं। जिस प्रकार आतिशी काँचके भीतरसे सूर्य-किरण आनेसे उसकी दूसरी ओरके कागज या पतली लकड़ीमें आग लग जाती है, ठीक उसी प्रकार स्वच्छ अन्तःकरणमें आत्माका प्रतिबिम्ब पड़नेसे उसमें ज्ञानशक्तिका आविर्भाव हो जाता है और उसके सम्बन्धसे शरीर भी चेतनकी तरह क्रिया करने लगता है।

प्रत्येक जीव 'मैं हूँ' इस प्रकार अपने स्वरूपका सामान्यरूपसे अनुभव करता है। आत्माके चेतन होनेमें यही सबसे

प्रबल प्रमाण है। शरीरके परिणामसे 'मैं बालक हूँ', 'मैं युवक हूँ', 'मैं वृद्ध हूँ', 'मैं रोगी हूँ', 'मैं बलवान् हूँ'— आदि भिन्न-भिन्न प्रकारका अनुभव औपाधिक है। परन्तु सब जीवोंमें सब अवस्थाओंमें 'मैं हूँ' यह अनुभव एक-सा है।

आत्मा सूक्ष्म तथा व्यापक है। परमाणु और आकाश दोनों सूक्ष्म हैं। आत्मा आकाशकी तरह सूक्ष्म और व्यापक है। किसीका कहना है कि आत्मा अणु-परिमाण है, क्योंकि दो इन्द्रियोंका ज्ञान एक साथ नहीं होता। देखते समय दृश्यके ऊपर ध्यान रहनेसे कानसे सुनायी नहीं पड़ता; ऐसे ही ध्यान दूसरी ओर रहनेसे सामनेकी कोई भी वस्तु दिखायी नहीं पड़ती। आत्मा शरीरमें भी व्यापक होनेसे एक साथ दो, तीन, चार इन्द्रियोंका ज्ञान हो सकता था। बात ऐसी नहीं है। विषयका ज्ञान मनमें होता है, आत्मामें नहीं। मन अणु-परिमाण है, इस कारण दो इन्द्रियोंका ज्ञान एक साथ नहीं होता।

आत्मा केवल शरीरमें ही व्याप्त नहीं है, बल्कि शरीरके बाहर ब्रह्माण्डमें व्याप्त है; जड़-चेतन सभी पदार्थोंमें एक ही आत्मा व्याप्त है। सब जीवोंकी आत्मा एक ही है। इस विषयमें किसीका कहना है कि यदि सब जीवोंमें एक ही आत्मा है, तो एक शरीरमें दुःख होनेसे दूसरे शरीरमें उसकी उपलब्धि क्यों नहीं होती? एकको भूख लगनेसे दूसरेको भूख क्यों नहीं लगती? इसका भी उत्तर वही है। सुख, दुःख, भूख, प्यास आदिकी उपलब्धि मनमें होती है। मन प्रति शरीरमें भिन्न-भिन्न है, इसलिये एक शरीरके सुख-दुःखादि दूसरे शरीरमें उपलब्ध नहीं होते। आत्मा सुख-दुःखादिसे परे है। गीतामें भगवान्ने कहा है—

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः। (२।१८)

अर्थात् नित्य शरीरी आत्माके देहसमूह नाशवान् हैं। यहाँ आत्माको एकवचनमें तथा शरीरोंको बहुवचनमें बतलाया गया है। मतलब यह है कि आत्मा एक है और उसके शरीर अनेक हैं।

कठोपनिषद्में कहा है—

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो
रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा
रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च॥

'जिस प्रकार एक अग्नि सारे संसारमें प्रविष्ट है और नाना रूपोंमें प्रकट होती है, उसी प्रकार सब प्राणियोंकी अन्तरात्मा एक है; वह नाना प्रकारके जीवोंके शरीरोंमें प्रकट होती है तथा शरीरके बाहर भी है।' शरीरके बाहर आत्माको सीमाबद्ध करनेके लिये कोई वस्तु समर्थ नहीं है। इसलिये शरीरके बाहर आत्मा दस दिशाओंमें अनन्त है। गीतामें लिखा भी है—

नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः। (२।२४)

'आत्मा नित्य है, सर्वगत यानी ब्रह्माण्डमें सर्वत्र व्यापक है, स्थिर, अपरिणामी तथा अनादि है।'

आत्मा नित्य है, त्रिकालमें भी इसका नाश नहीं है। जो छोटा यानी सीमाबद्ध होता है, वही नाशवान् है—जैसे घट, शरीर, वृक्ष आदि। घट, शरीर, वृक्ष आदि सीमाबद्ध हैं, इनका नाश भी लोगोंने प्रत्यक्ष किया है। इसी प्रकार आत्मा भी यदि शरीरमें सीमाबद्ध हो तो उसका भी नाश अवश्यम्भावी हो जाता है। इसी कारण भगवान्ने आत्माको 'नित्य' और 'सर्वगत' एक ही साथ कहा है।

निष्कर्ष यह हुआ कि आत्मा चेतन, सूक्ष्म, व्यापक, नित्य तथा सुख-दुःखादिसे परे है। सांसारिक विषयोंकी तथा सुख, दुःख, भूख, प्यास आदिकी उपलब्धि मनमें होती है। मन आत्माको देख नहीं सकता। आत्मा 'अवाङ्मनसगोचर' है यानी वाणी और मनसे अतीत है। श्रवण, मनन, निदिध्यासनरूप साधनके द्वारा मन आत्माका दर्शन करनेकी चेष्टा करता है; परन्तु दीपक जैसे सूर्यको प्रकाशित नहीं कर सकता, बल्कि सूर्यके सामने निष्प्रभ हो जाता है, उसी प्रकार मन भी आत्माको प्रकाशित नहीं कर सकता, बल्कि अन्तर्मुखी होकर आत्माके सामने जाते ही वह लुप्त हो जाता है। आत्मा स्वयंप्रकाश है, मनके लुप्त होनेपर आत्मा स्वयं ही प्रकाशित होता है। योगदर्शनमें महर्षि पतञ्जलिने लिखा है—

'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्।'

अर्थात् समाधिमें द्रष्टा आत्मा अपने स्वरूपमें स्थिर रहता है। श्रुतिने इसीको आत्मदर्शन कहा है। श्रवण, मनन और निदिध्यासन इसके साधन हैं—यह पहले ही बतलाया जा चुका है।

श्रुतिने जो 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' कहा है, वह रोचक वाक्यमात्र है। मनुष्यके मनको आत्माकी ओर अभिमुखी करना ही उसका उद्देश्य है। वास्तवमें आत्मा चक्षु या मनका विषय नहीं हो सकता। क्योंकि जो इन्द्रिय या मनका विषय है, वह अनित्य है। संसारके सभी पदार्थ किसी-न-किसी

इन्द्रियके अथवा मनके विषय हैं और वे अनित्य भी हैं। आत्मा भी यदि इन्द्रिय या मनका विषय है, तो वह सांसारिक पदार्थोंकी तरह अनित्य हो जायगा। परन्तु आत्माको सभी श्रुतियों, स्मृतियों तथा भगवद्गीतामें नित्य माना है। वास्तवमें जो सूक्ष्म, निरवयव और सर्वव्यापक है वह नित्य ही है—जैसे काल और दिक्। कोई स्थान संसारमें ऐसा नहीं है, जहाँ काल न हो और समय भी ऐसा नहीं था या न होगा जब काल न था या न रहेगा। इसलिये काल सर्वव्यापक और नित्य है। ऐसे ही दिक् या दिशा भी सर्वत्र व्याप्त और नित्य है।

अब यहाँ प्रश्न यह हो सकता है कि यदि मेरा आत्मा मेरे शरीरसे बाहर भी है, तो बाहर मुझको उसकी कुछ भी उपलब्धि क्यों नहीं होती। इसका उत्तर वही है, जो पहले सुख-दुःखादिके विषयमें दिया गया है। हमारे भीतर उपलब्धि होती है मनके द्वारा। मन शरीरके बाहर जा नहीं सकता। इस कारण बाहर हमें आत्मोपलब्धि नहीं होती।

लोग कहते हैं कि मन बड़ा चञ्चल है, वायुसे भी उसकी गति प्रबल है, क्षणभरमें वह दिल्ली, कलकत्ता, बंबई घूम आता है। अतः मन शरीरसे बाहर भी जाता है। नहीं, मन शरीरसे बाहर नहीं जाता। मनमें दिल्ली, कलकत्ता, बंबई आदि स्थानों तथा घटनाओंका स्मरणमात्र होता है, अनुभूत वस्तु या विषयका ही स्मरण होता है। शास्त्रोंमें कहा भी है—

'स्मृतिरनुभवपूर्विका' इति

अर्थात् अनुभवके अनन्तर स्मृति होती है। अनुभवके द्वारा मनमें जिसका संस्कार पड़ जाता है कालान्तरमें किसी कारणसे जब वही संस्कार मनमें उठता है, तब जिस प्रकारका अनुभव पहले हुआ था वैसा ही ज्ञान होता है। इसीको स्मरण कहते हैं। अतः मन शरीरके भीतर ही रहकर दिल्ली, कलकत्ता, बंबई आदिका स्मरण करता है। जहाँ मनुष्य गया है, जिस स्थानको उसने देखा है, उसीका वह स्मरण कर सकता है, अन्य स्थानका नहीं। मनमें यदि बाहर जानेकी शक्ति होती तो जहाँ मनुष्य नहीं गया है, ऐसे स्थानकी बात क्यों नहीं बतलाता? जो दिल्ली या लंडन गया है वह उन दोनों स्थानोंको स्मरणकर उनकी बातें ही बतला सकता है, परन्तु उनके आसपासके स्थान—जैसे मेरठ, एडिनबर्ग आदिकी बातें नहीं बतला सकता। इससे सिद्ध हुआ कि मन बाहर नहीं जाता, भीतर रहकर ही अनुभूत स्थान और विषयका स्मरणमात्र करता है। स्वप्नमें भी मन बाहर नहीं जाता। क्योंकि स्वप्न भी एक प्रकारकी स्मृति ही है। स्वप्नका लक्षण दर्शनशास्त्रोंमें इस प्रकार बतलाया गया है—

जागरितसंस्कारजप्रत्ययसविषयः स्वप्नः।

अर्थात् जाग्रत् अवस्थाके अनुभूत विषयके संस्कारसे निद्रावस्थामें उत्पन्न ज्ञान ही स्वप्न है। जाग्रत् अवस्थाके अनुभवजनित संस्कारसे यदि जाग्रत् अवस्थामें ही ज्ञान उत्पन्न हो, तो उसे स्मृति और यदि निद्रावस्थामें उस प्रकारका ज्ञान उत्पन्न हो, तो उसे स्वप्न कहते हैं। अतः स्वप्नावस्थामें भी मन भीतर रहकर ही पूर्वानुभूत विषयका स्मरण करता रहता है।

विषयेन्द्रिय-संयोगके दृष्टान्तसे भी यह बात समझमें आ सकती है। चक्षु, कर्ण, नासिका, जिह्वा और त्वचा—यही हमारी पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। इनके साथ विषयोंका जब संयोग होता है तभी मन भीतरसे रूप, शब्द, गन्ध, रस और स्पर्शकी उपलब्धि करता है। चमड़ेके साथ वस्तुका संयोग होनेसे ही मन भीतरसे समझ लेता है कि वह वस्तु कठिन है या कोमल। वस्तु चमड़ेसे थोड़ा भी अलग रहे तो उसके कठिन या कोमल स्पर्शकी उपलब्धि नहीं होती। मन त्वगिन्द्रियके बाहर आकर उपलब्धि नहीं कर सकता। जिह्वासे स्पर्श होनेपर ही मनमें उपलब्धि होती है, कि वस्तु मीठी है या खट्टी। जिह्वासे जरा भी अलग रहे, तो उसके रसकी उपलब्धि नहीं होती। सुगन्धित फूलके नाकके पास आनेसे उसके परागके कण नाकके भीतर पहुँच जाते हैं। उनके साथ घ्राणेन्द्रियका स्पर्श होनेपर मन फूलकी सुगन्धकी उपलब्धि करता है। फूल दूर रहे तो उसके परागकी रेणु नाकतक आकर नहीं पहुँचती, इस कारण उसकी गन्ध मालूम भी नहीं होती। यदि मनमें बाहर जाकर उपलब्धि करनेकी शक्ति होती, तो दूरके फूलतक भी मन पहुँच जाता और उसकी गन्ध सूँघकर लौट आता। इससे पासके फूलकी तरह दूरके फूलकी गन्ध भी मालूम होती। शब्दकी लहर वायुके भीतरसे आकर कानके पर्देपर धक्का देती है। इसीसे शब्दकी उपलब्धि होती है। बहुत दूर शब्द होनेसे उसकी लहर बहुत धीमी होकर आकर कानके पर्देपर बहुत हल्का धक्का देती है। इससे शब्द भी धीमा मालूम होता है। और भी दूरपर शब्द होनेपर उसकी लहर कानतक आती ही नहीं। इसलिये उसकी उपलब्धि ही नहीं होती। यदि मनमें बाहर जानेकी शक्ति होती, तो बाहर आनेपर मनकी गतिको कोई रोक नहीं सकता; अतः जितनी ही दूरपर शब्द क्यों न हो, मन वहीं जाकर उस शब्दको स्पष्टरूपसे सुन आता। आकाशमें बिजली चमकनेसे प्रायः थोड़ी देरके बाद ही आवाज़ सुनायी पड़ती है। बिजलीका प्रकाश उसी क्षण आकर आँखोंपर पड़ता है और शब्दके आनेमें कुछ क्षणोंका विलम्ब लगता है।

यदि मन बाहर जा सकता तो आँखके भीतरसे जितनी देरमें मेघमें पहुँचकर बिजलीके प्रकाशको देखता, उतनी ही देरमें कानके भीतरसे भी जाकर मेघसे शब्द सुन लेता। वास्तवमें ऐसा नहीं होता। प्रकाशकी गति बहुत तेज है, क्षणभरमें वह सहस्रों कोस दूर पहुँच जाता है। इस कारण वह मेघसे उसी क्षण आकर आँखोंपर प्रतिफलित होता है। परन्तु शब्दकी लहर वायुके स्तरोंमें धक्का खाते-खाते अग्रसर होती है। इस कारण उसके कानोंतक पहुँचनेमें दो चार क्षणका समय लग जाता है। नदीके उस पार धोबी जब घाटपर कपड़ा पटकता है, तब भी यह विषय स्पष्ट अनुभवमें आता है। धोबी जब कपड़ा पटकता है, तब वह तो उसी समय दिखायी पड़ता है; परन्तु उस पटकनेका शब्द तब सुनायी देता है, जब कि वह दुबारा पटकनेके लिये उस कपड़ेको फिरसे सिरपर उठाता है।

एक आदमी मकानके भीतर बैठकर बहुत ध्यानसे हिसाब कर रहा है अथवा गाना सुन रहा है। उस समय किसीने बाहरसे आवाज़ दी। वह उसे सुनायी पड़ी। क्यों? इसलिये कि उसके शब्दने वायुमण्डलमें तैरते हुए भीतरके आदमीके कानोंमें आकर धक्का दिया और उसे शब्द सुनायी पड़ा। इसीसे उसका ध्यान उधर खिंच गया। यदि बाहरके आदमीके मुँहमें जाकर मनको शब्द सुनना पड़ता, तो शब्द होते ही सुनायी पड़नेका कोई नियम ही न रहता; क्योंकि जब मनुष्य अपनी इच्छासे मनको बाहर भेजता तभी उसे शब्द सुनायी पड़ता, अन्यथा नहीं। बाहर हजार शब्द हुआ करें, जबतक भीतरके मनुष्यका मन बाहर नहीं जायगा तबतक कोई शब्द सुनायी न पड़ेगा। हिसाबमें या गाना सुननेमें जिसका मन लगा हुआ है, वह बिना किसी खास कारणके अपने मनको क्यों बाहर भेजने लगा। वास्तवमें ऐसा नहीं होता। जोरका शब्द होते ही सुनायी पड़ता है। इसीसे प्रमाणित होता है कि शब्द ही आकर कानोंमें धक्का देता है, तब वह सुनायी पड़ता है।

रातको सब लोग सोये हुए हैं। मेघ बड़े जोरसे गरजा। इससे हजारों आदमियोंकी नींद एक ही साथ खुल गयी। इसका भी वही कारण है, नहीं तो सोये हुए आदमीके मनमें यह इच्छा ही नहीं उठ सकती कि मनको जरा मेघके पास भेजकर देखें कि कोई शब्द हो रहा है या नहीं। दूसरी बात, हजारों आदमियोंको एक ही साथ ऐसी इच्छा होनी भी सम्भव नहीं। वास्तवमें वस्तुस्थिति यही है कि मेघके शब्दने ही आकर बड़े जोरसे हजारों आदमियोंके कानोंमें धक्का दिया, जिससे सब लोग एक ही साथ जाग उठे और शब्द भी एक ही साथ सबको सुनायी पड़ा। अतः सिद्ध हुआ कि मन बाहर जाकर शब्द नहीं सुनता।

अब रही आँखसे वस्तुके रूप देखनेकी बात। वस्तुका रूप आँखोंपर आकर प्रतिफलित होता है। वहींसे मन उसकी उपलब्धि करता है। फोटोग्राफ यन्त्रका आविष्कार इसको देखकर ही किया गया था। जब शुभ्र स्फटिकमें लाल फूलकी छाया पड़ती है, जल और शीशेमें भी वस्तुकी छाया पड़ती है, तब इन सबोंसे स्वच्छ आँखपर सामनेकी वस्तुका छायापात होना स्वाभाविक है। किसी मनुष्यके सामने यदि कोई खड़ा होकर उसकी आँखोंको ध्यानसे देखे तो उनमें अपनी छाया स्पष्ट देख भी सकता है। इसीको देखकर वेदान्तदर्शनमें भगवान् वेदव्यासजीने अक्षिपुरुषका ध्यान करनेकी बात लिखी है।

अंधेकी आँखोंमें वस्तुकी छाया ग्रहण करनेकी शक्ति नष्ट हो जाती है। इस कारण उसका मन किसी वस्तुका रूप नहीं देख सकता। मनमें यदि बाहर जानेकी शक्ति होती तो वह अंधेकी आँखोंमेंसे भी बाहर जाकर रूप देख लेता। अतः सिद्ध हुआ कि मन बाहर नहीं जाता, शरीरके भीतर रहकर ही सारे विषयोंकी उपलब्धि करता रहता है। इसी कारण शरीरके बाहर आत्माके विद्यमान रहनेपर भी मन उसके अस्तित्वकी उपलब्धि नहीं कर सकता और यही कारण है कि दूसरे शरीरके सुख-दुःखादिकी उपलब्धि अपने शरीरमें नहीं होती।

मन ही सांसारिक विषयोंसे सम्बन्ध करके सुख-दुःख-शोक-मोहादिको प्राप्त होता है। अतः मन ही जीवके बन्धनका कारण है। फिर यही मन जब विषयोंको छोड़कर विरक्त हो जाता है, और आत्मस्वरूपको उपलब्ध करनेके लिये अन्तर्मुख होता है तब वह मुक्तिका भी कारण बन जाता है। योगवासिष्ठमें महर्षि वसिष्ठ श्रीरामचन्द्रसे कहते हैं—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।
बन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं स्मृतम्॥

इस मनको निर्विषय करनेके लिये ही साधनकी आवश्यकता है। क्योंकि आत्मा साधन-निरपेक्ष है तथा त्रिकालमें मुक्त है। ऋषियोंने निष्कामकर्म-साधन, योग-साधन और भक्ति-साधन आदि अनेक प्रकारके साधनोंका निर्देश शास्त्रोंमें किया है। परन्तु श्रुतिप्रतिपादित श्रवण, मनन, निदिध्यासन-रूप साधन—जिसका वर्णन इस निबन्धके आरम्भमें किया गया है, सबसे सुगम तथा उत्तम है; इसके द्वारा आत्मा सुख-दुःखादिसे रहित है—यह प्रत्यक्ष होनेपर मनुष्य इस जीवनमें ही जीवन्मुक्तिका आनन्द प्राप्त कर सकता है।

कृष्ण-कल्पतरुका सेवन

(लेखक—श्रीहित रणछोड़लालजी गोस्वामी)

श्रीहितहरिवंशाचार्य महाप्रभुजीका एक दोहा है।

> तनहि राखि सतसंग में, मनहि प्रेम रस भेव।
> सुख चाहत हरिवंश हित कृष्ण कलपतरु सेव॥

इसका पहला पद है—

'तनहि'

तन अर्थात् यह देह पञ्चभूतोंसे बना है। इसमें वात, पित्त, कफ, मांस, मज्जा इत्यादि भरे हुए हैं। इस प्रकारके गंदे देहपर चमड़ी मढ़कर इसे सुन्दर बना दिया गया है। यह देह क्या है और उसका विषयोंके साथ क्या सम्बन्ध है, इन सब बातोंका विचार करनेसे इसमेंसे अहंता और ममताकी निवृत्ति हो जाती है—ऐसा शास्त्र कहते हैं। स्त्री और पुरुषके संयोगसे और उनके रज-वीर्यके सम्मेलनसे जीव अपने कर्मवश गर्भमें प्रवेश करके देह धारण करता है। फिर नौ मासतक मल-मूत्र, वात-पित्त-कफादिसे पूर्ण माताकी महामलिन कूखमें पड़ा-पड़ा जठरानलसे जला करता है और महान् कष्टका अनुभव करता है। अब जब प्रसवकाल होता है, उस समय दैवयोगसे यदि बालक गर्भके अंदर टेढ़ा-तिरछा हो जाता है तो अस्त्र-शस्त्रसे देहको काटकर उसे बाहर निकाला जाता है। अथवा यदि प्रसव ठीक हुआ तो प्रसूति-वायुसे प्रेरित होकर वह सङ्कुचित योनि-छिद्रमेंसे बाहर निकलता है, उस समय उसे अवर्णनीय कष्ट होता है। जन्म होनेके बाद नाना प्रकारकी आधि-व्याधि,सगे-सम्बन्धियोंके वियोग, विपत्ति, कलह एवं दरिद्रता आदिसे जो दुःख उसे उठाना पड़ता है वह भी अकथनीय ही है। नाना प्रकारके कर्मबन्धनोंसे बँधा हुआ यह जीव मनुष्य, पशु, पक्षी आदि नाना प्रकारकी योनियोंमें भटकता हुआ अनेक प्रकारके क्लेश भोगता है। इन सब योनियोंमें मनुष्ययोनि सबसे श्रेष्ठ एवं दुर्लभ है। मनुष्ययोनिमें भी उच्चकुलमें जन्म तथा शास्त्रीय ज्ञान प्राप्त करके भी जिसने हरिभक्ति, भगवान्‌की सेवा, अच्छे-बुरेका विवेक तथा देहकी नश्वरताका ज्ञान नहीं प्राप्त किया वह चाहे कितना ही धनवान्, बुद्धिमान् अथवा प्रतिष्ठित क्यों न हो, उसका जन्म वृथा है, भाररूप है और उसकी आयु व्यर्थ नष्ट होती है। एक-एक क्षण जो हमारा व्यतीत हो रहा है, उसे हम हजारों रुपये खर्च करके भी लौटा नहीं सकते। ऐसे अमूल्य समयको हमलोग व्यर्थ खो रहे हैं, इससे बढ़कर हमारी हानि क्या हो सकती है। और इससे बढ़कर आश्चर्यकी बात भी क्या हो सकती है। पशु, पक्षी आदि तिर्यक् योनियोंमें तो अच्छी प्रकारसे अपनी देहका भी ज्ञान नहीं रहता, भजन-सेवनकी तो बात ही क्या है। ऐसी दशामें भूख-प्यास, श्रम, रोग आदिसे पीड़ित होकर ये निरन्तर भार उठानेमें व्यस्त रहते हैं अथवा पिंजरे आदिमें बंद रहकर चलने-फिरनेकी स्वतन्त्रता भी खो बैठते हैं और रात-दिन दुखी रहते हैं। यही नहीं, ऊपरसे उन्हें मार भी पड़ती है तथा गालियोंकी बौछार भी सहनी पड़ती है। इस प्रकार उनके कष्टोंका वर्णन नहीं हो सकता।

इधर हमारे शरीरका यह हाल है कि नाकसे, मुँहसे, गुदासे तथा मूत्रेन्द्रियसे कफ, मल, मूत्र आदिके रूपमें तथा रोमकूपोंमेंसे पसीनेके रूपमें गंदगी सदा निकलती रहती है, जिसे देखकर स्वयं हमको घृणा होती है—यद्यपि यह मल अपना ही होता है, अपने ही शरीरसे निकलता है तथा शरीरमें सदा भरा रहता है। इस प्रकार ऊपरसे नीचेतक यह देह दुर्गन्धसे भरी है, इसका कोई भी भाग दुर्गन्धसे शून्य नहीं है। ऐसे दुर्गन्धयुक्त शरीरपर हम इत्र, फुलेल आदि मलकर, चन्दन आदि लगाकर तथा उसे फूलोंसे सजाकर उसके दोषोंको ढकनेकी चेष्टा करते हैं और उसे अच्छा मानते हैं। पुनः इस शरीरमें फोड़े-फुन्सी आदि हो जाते हैं तथा समयपर कीड़े भी पड़ जाते हैं। ऐसी दशामें वही शरीर, जिसपर हमारा इतना मोह था, अब अपनी ही घृणाका पात्र बन जाता है। ऐसे शरीरपर मोह रखना कितने आश्चर्य और मूर्खताकी बात है!

जो शरीर देखनेमें इतना सुन्दर मालूम होता था, मलाईकी तरह सफेद और कोमल शय्यापर सोता था, मखमलके गुदगुदे गद्दोंपर बैठता था और जिसे बड़े जतन और आरामसे रखखा जाता था, आयु शेष हो जानेपर उसी शरीरको मूँजसे कसा जाता है, कठोर बाँसोंपर रखकर बाँधा जाता है और कँटीली-खुरदरी चितापर रखकर भस्म कर दिया जाता है। कल जो शरीर गद्दे-तकियोंपर बैठकर हुक्म चलाता था और जिसे देखकर सगे-सम्बन्धी, नौकर-चाकर, स्त्री-पुत्र आदि हर्षित होते थे, वही आज देखते-देखते जलकर राखकी ढेरीमें बदल जाता है। कल उसे देखकर जो लोग हर्षसे फूले न समाते थे, वही आज उसे स्मरणकर आठ आँसू रो रहे हैं। ऐसी यह क्षणभङ्गुर और मलिन देह

प्रभुकी सत्तासे ही चल रही है, मनुष्यका किया कुछ नहीं होता। ऐसे दीनदयालु प्रभु श्रीराधावल्लभलालको भूलकर मनुष्य इस अनित्य एवं महामलिन देहमें अभिमान करता है, यह इसकी कितनी बड़ी भूल है! किन्तु फिर भी वह इसपर विचार नहीं करता। अतः महाप्रभुजी कहते हैं कि इसे सत्सङ्गमें रक्खो—

'राखि सतसंग में'

भक्तिमार्गमें असत्सङ्ग (दुःसङ्ग) बड़ा बाधक है, अतः वह सर्वथा त्याज्य है। सत्सङ्गका अर्थ है—जिसका मन प्रभुकी ओर फिर गया हो, उसीका सङ्ग करना। जिसका मन निरन्तर प्रभुमे ही रहता है, उसे तो किसी दूसरे सत्सङ्गकी आवश्यकता ही नहीं है; उसे तो सबसे बड़ा सत्सङ्ग प्राप्त है। क्योंकि 'सत्' नाम परमात्माका है और उनके चिन्तनसे बढ़कर और कोई सत्सङ्ग हो नहीं सकता। परन्तु जिसका मन अभी प्रभुमें नहीं रमता, उसे सत्सङ्गकी बड़ी आवश्यकता है। सत्सङ्गकी महिमा अपार है। सच्चे संतोंका एक क्षणका सत्सङ्ग भी महान् लाभदायक होता है। सभी शास्त्रोंने, अनुभवी पुरुषोंने तथा स्वयं भगवान्ने सत्सङ्गकी बड़ी महिमा गायी है—जो अक्षरशः सत्य है। सत्सङ्गके विना भगवान्का महत्त्व जाननेमें नहीं आता तथा उन्हें प्राप्त करनेकी वास्तविक कुंजी नहीं मिलती। भगवान्का महत्त्व जाने विना उनकी शरणमें नहीं जाया जाता और विना भगवान्के शरण हुए जीवका उद्धार सहजमें नहीं होता। परमार्थसाधनमें तो श्रद्धाके बाद सत्सङ्गका ही नंबर आता है, परन्तु सच्ची श्रद्धा सत्सङ्गसे ही होती है। सत्सङ्गमें तीन बातोंपर विशेष ध्यान देनेकी आवश्यकता है—

(१) जिसका हम सङ्ग करें, वह पुरुष सच्चा होना चाहिये।

(२) तदनुकूल आचरण करनेके उद्देश्यसे सच्ची जिज्ञासाके साथ निष्कपटभावसे श्रद्धापूर्वक उनका सङ्ग किया जाय। और—

(३) जिस मार्गमें अपनी निष्ठा हो, उसी मार्गपर चलनेवालेका सङ्ग किया जाय।

इन तीन बातोंमेंसे एकका भी अभाव होनेसे शीघ्र यथार्थ लाभ नहीं होता। शीघ्र लाभ न होनेसे मन चलायमान हो जाता है। और वास्तविक लाभ तभी होता है, जब निष्कपट हृदयसे, लाभकी सच्ची इच्छासे सत्सङ्ग किया जाय और तदनुकूल आचरण किया जाय। जैसे बरसातका पानी खेतोंमें रखनेके लिये किसान मेंड़ बनाता है, उसी प्रकार सत्सङ्ग करनेवालेको चाहिये कि वह संत-वचनोंका शुद्ध हृदयरूपी खेतमें संग्रह करे। भावशून्य, विकारयुक्त और विश्वासरहित हृदयसे किया हुआ सत्सङ्ग सत्सङ्ग नहीं कहलाता। शक्तिसम्पन्न गुरु शिष्यके अंदर शक्तिसञ्चार करना चाहते हैं, परन्तु शिष्यका हृदय कठोर भावनासे युक्त होनेके कारण उसे ग्रहण नहीं कर पाता, जिससे वह शक्ति बार-बार लौट जाती है। आधारकी योग्यता होनेपर ही उसके द्वारा शक्तिका ग्रहण होता है। इसीलिये गुरुके प्रति श्रद्धा रखने तथा उनकी शुश्रूषाका विधान है। जो लोग परीक्षा अथवा मनोरञ्जनके लिये सत्सङ्ग करते हैं, उन्हें बहुत कम लाभ होता है। जिसका हृदय शुद्ध है, उसके लिये कोई भी वस्तु दुर्लभ नहीं है। संसारमें सभी पदार्थ मौजूद हैं, उन्हें प्राप्त करनेके लिये योग्य पात्रकी आवश्यकता होती है। सत्सङ्गकी महिमापर शास्त्रोंमें अनेक वचन मिलते हैं। सत्सङ्गसे सब प्रकारकी सिद्धियाँ सुलभ हो जाती हैं। श्रीव्रजलाल गोस्वामिचरणने सेवा-विचारमें लिखा है—

> सत्सङ्गेन लभेत भक्तिपदवीं श्रीराधिकास्वामिनः
> सत्सङ्गेन वसेत्सदैव शुचिमान् वृन्दावने पावने।
> सत्सङ्गेन च नन्दनन्दनधिया श्रीमद्गुरुं स्वं भजन्
> सत्सङ्गेन च तापपापनिचयं मर्त्यो जहाति ध्रुवम्॥

'सत्सङ्गसे श्रीराधावल्लभलालकी भक्तिका रास्ता मिलता है, सत्सङ्गसे मनुष्य पवित्र वृन्दावनधाममें पवित्रताके साथ निरन्तर रहने लगता है और सत्सङ्गसे अपने गुरुको नन्द-नन्दनबुद्धिसे भजता हुआ प्राणी निश्चय ही पाप-तापके समूहसे छूट जाता है।'

जैसा अपना मार्ग हो, जैसा भाव हो और जैसी मनकी वृत्ति हो उसीके अनुकूल सत्सङ्ग मिलनेसे बात ठीक बैठती है, नहीं तो फल उलटा होता है। उदाहरणके लिये हम चाहते तो हैं योगी बनना और सङ्ग मिला हमें किसी भक्तका, अथवा चाहते हैं हम रामानुज-सम्प्रदायकी साधना करना और सङ्ग मिला हमें शाङ्करमतानुयायीका। ऐसी हालतमें हमें अभीष्टकी प्राप्ति नहीं होनेकी। महात्मा ध्रुवदासजीने कहा है—

> इष्ट मिलै अरु मन मिलै, मिलै भजन रस रीति।
> मिलिये तहाँ निसंक ह्वै, कीजै तिनसों प्रीति॥
> खान पान नित कीजिये रसिक मंडली माहिं।
> जिनके और उपासना तहाँ उचित ध्रुव नाहिं॥

और भाव जिनके नहीं, जुगल बिहार उपास।
सुन ध्रुव मन बच कर्म करि है रहु तिनको दास॥

यह सत्सङ्गकी अनन्यता है।

'मनहि'

मन ही मनुष्यके बन्धन और मोक्षका कारण है। मन ही मनुष्यको संसारसे बाँधता है और मन ही उसे संसारके बन्धनसे छुड़ाता है। जहाँ मन नहीं, वहाँ बन्धन भी नहीं। अहंता और ममता मनहीसे होती है। अहंता-ममतावाला मन ही बन्धनका कारण होता है और अहंता-ममतारहित मन मोक्षका कारण होता है। मन अज्ञान और अविवेकको लेकर मिथ्या स्थितिको सत्य मान लेता है, इसीसे वह सब कर्मोंका कर्ता बन जाता है। आत्माके साथ एकता करके स्वयं जीवात्मा बन बैठता है और इसीसे सुख-दुःखका भोक्ता बन जाता है। मन ही जीवात्माको विषयोंमें ले जाता है, इसीसे वह जन्म-मरणवाला भासता है। यह अति चञ्चल और महा बलवान् है। भगवान्ने भी गीताजीमें कहा है—

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम्।

महात्मा ध्रुवदासजी कहते हैं—

मन तौ चंचल सबनि ते कीजै कौन उपाय।
साधन को हरि भजन है, कै सतसंग सहाय॥

जगत्में रचे-पचे मनके लिये यही रास्ता है कि मनुष्य प्रभु-भजन करता जाय, सत्सङ्ग करता जाय और संसारसे वैराग्यको बढ़ाता जाय। गीतामें भगवान्ने मनको निगृहीत करनेका उपाय अभ्यास और वैराग्य ही बताया है—

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥

'प्रेम रस भेव'

प्रभु आनन्द, प्रेम, स्नेहके भंडार हैं। अतः जो कोई उन्हें आनन्द, प्रेम या स्नेहसे भजते हैं उन्हें वे अवश्य मिलते हैं। ज्यों-ज्यों मनुष्य भगवान्से प्रेम करता है, त्यों-ही-त्यों वह उनके अधिक समीप पहुँचता है। अपरिमित प्रेमस्वरूप भगवान्के साथ जब एकताका अनुभव होने लगता है, तब मनुष्यके अंदर दिव्य प्रेमका स्फुरण होता है—जिससे उसका जीवन सघन होकर परमानन्दका अनुभव करता है। देवर्षि नारदने प्रेमका स्वरूप इस प्रकार बतलाया है—

गुणरहितं कामनारहितं प्रतिक्षणवर्द्धमानमविच्छिन्नं सूक्ष्मतरमनुभवरूपम्।

अर्थात् प्रेम गुणरहित, कामनारहित, प्रतिक्षण बढ़नेवाला, अविच्छिन्न, सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म और केवल अनुभव-रूप होता है।

प्रेममें इतनी शक्ति है कि वह दुःखी जगत्के दुःखको दूर कर उसे सुखी कर सकता है। प्रेमका सम्बन्ध अन्तरके भावसे होनेके कारण प्रेममार्गमें बाह्य क्रियाकी प्रधानता नहीं है। केवल प्रेमपूर्वक भगवान्को भजनेसे तथा श्रीविहारीजीकी नित्य सेवा करनेसे ही प्रभुकी प्राप्ति हो जाती है। कहा भी है—

प्रेम एव परो धर्मः प्रेम एव परं तपः।
प्रेम एव परं ज्ञानं प्रेम एव परा गतिः॥

'प्रेम ही परम धर्म है, प्रेम ही परम तप है, प्रेम ही परम ज्ञान है और प्रेम ही परम गति है।'

ऊपर कहा जा चुका है कि प्रेम भावका विषय है, उसे शब्दोंद्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता। प्रेमकी भाषा अन्तःकरणके द्वारा ही समझी जा सकती है। वह गूँगेका गुड़ है। इसलिये प्रेमसहित प्रभुकी सेवा और भजन करनेकी आवश्यकता है। प्रभु सबके अन्तःकरणमें विराजते हैं। अतः वे प्रेमको समझने, देखने और अनुभव करनेमें सब प्रकारसे समर्थ हैं। गृहस्थाश्रममें रहकर पूजा-श्रवणादिके द्वारा श्री-प्रिया-प्रियतमको भजनेसे हृदयमें भक्तिका अङ्कुर जमता है। लौकिक व्यवहार करते हुए भी भगवान्के गुण-श्रवणादिमें निरन्तर चित्तको लगाये रखनेसे भगवान्में प्रेम अथवा आसक्ति उत्पन्न होती है। इसके बाद जीवको भगवान्का ही व्यसन हो जाता है। प्रपञ्चको भुलाकर भगवान्में आसक्ति करनेसे ही भगवान्का व्यसन होना है अर्थात् जीवकी ऐसी स्थिति हो जाती है कि फिर उससे भगवान्के सेवा-भजनादिके विना रहा नहीं जाता। ऐसी स्थिति हो जानेपर ही भक्तिका अङ्कुर दृढ़ हुआ समझना चाहिये। इस प्रकारका भाव उत्पन्न हो जानेपर फिर कालके प्रभावसे उसका नाश नहीं होता। भगवान्में प्रेम हो जानेपर अन्य वस्तुओंमें अनुराग अपने-आप हट जाता है। तब संसारके पदार्थ भक्तिमें बाधक और अनात्मरूप भासने लगते हैं। प्रिया-प्रियतमका व्यसन हो जानेपर ही जीवको कृतार्थ हुआ जानना चाहिये।

'सुख चाहत'

सच्चा सुख उसीका नाम है, जिसके पीछे दुःखका

लेशमात्र भी न हो। जगत्के जितने भी सुख हैं वे सभी मायिक एवं कल्पित हैं, क्षणिक हैं, सारहीन हैं, अनेक उपाधियोंसे युक्त हैं तथा परिणाममें दुःखरूप ही हैं। देह स्वयं नश्वर है, तब देहके सम्बन्धसे उत्पन्न होनेवाले सुख स्थायी कैसे हो सकते हैं? देहात्मवादी शरीरको ही आत्मा मानकर उसीके सुखको वास्तविक सुख मानते हैं, उन्हें आत्मसुखका पता ही नहीं होता। इसीलिये वे परिणाममें दुखी होते हैं। परन्तु बुद्धिमान् पुरुष देहसुखको त्याग कर आत्मसुखमें ही प्रसन्न होते हैं। वे मनका सम्बन्ध आत्माके साथ करके आत्मसुखानुभव करते हैं। श्रुति कहती है—'आनन्दं ब्रह्म'—आनन्द ही ब्रह्मका रूप है। जीव प्रभुका अंश है, अतः जीवका भी आनन्द ही गुण है। इस आनन्दरूप गुणकी उपलब्धि कर लेनेपर जीव सदाके लिये दुःखोंसे छूटकर सुखरूप हो जाता है। इस सुखकी उपलब्धिका साधन क्या है? प्रभु-भजन और सेवन। श्रीकृष्ण-नामका प्रेमपूर्वक भजन करनेसे मनुष्य अनन्त सुखका भागी बन जाता है। यद्यपि प्रारम्भमें मोहवश भजन करनेवाले मनुष्यको दुःखकी प्रतीति होती है, परन्तु परिणाममें उसे अविचल सुखकी प्राप्ति होती है। गणेशगीतामें लिखा है—

> विषवद्भासते पूर्वं दुःखस्यान्तकरं च यत्।
> इष्यमानं तथावृत्त्या यदन्तेऽमृतवद्भवेत्॥

'यह भजनरूपी सुख पहले विषके समान दुःखदायी प्रतीत होता है, परन्तु है यह दुःखका अन्त करनेवाला। इसकी बार-बार इच्छा करनेसे और पुनः-पुनः अभ्यास करनेसे यह परिणाममें अमृततुल्य हो जाता है।'

श्रीमद्भगवद्गीतामें भी कहा है—

> यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।
> तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम्॥

'जो प्रारम्भमें विषतुल्य प्रतीत होता है किन्तु परिणाममें अमृतके समान है तथा जो मन और बुद्धिकी प्रसन्नतासे उत्पन्न होता है वह सात्त्विक सुख कहलाता है।'

'हरिवंश हित'

'बानी' ग्रन्थोंमें लिखा है कि श्रीकृष्णचन्द्रके हृदयमें श्रीराधिकाजी विराजती हैं और श्रीराधिकाजीके हृदयमें श्रीकृष्ण विराजते हैं। दोनोंका निकुञ्जमें संयोग रहता है। अत्यन्त प्रेमसंयोगके समय श्रीलालजीने जाना कि मैं प्रियाजू हूँ और प्रियाजीने जाना कि मैं लालजी हूँ। इसी प्रकार अत्यन्त प्रेमावस्थामें दोनों हितमय अर्थात् प्रेममय बन गये। इससे दोनोंके हृदयमेंसे प्रेमका प्रकाश हुआ। तब प्रभुने दोनों प्रेमका संयोग किया, जिससे तीसरा स्वरूप प्रकट हुआ। वही श्रीहितहरिवंश महाप्रभुजी हैं। आचार्यश्रीके चार स्वरूप हैं—(१) श्रीलालजीके कर-कमलमें रहनेवाली तथा अहर्निश उनके अधर-रसका पान करनेवाली वंशी; (२) हित-सखी, जो निकुञ्जमें श्रीप्रिया-प्रियतमजूकी सन्निधिमें रहकर अहर्निश युगल स्वरूपकी सेवा-टहल किया करती हैं; (३) हितरूप, जिसका वर्णन ऊपर किया जा चुका है; तथा (४) आचार्यस्वरूप जिससे उन्होंने व्यास मिश्रजीके घर श्रीतारा रानीकी कोखसे प्रकट होकर श्रीराधावल्लभीय सम्प्रदाय चलाया और अनेक जीवोंको शरणमें लेकर जन्म-मरणके बन्धनसे छुड़ाया।

भक्तमालमें नाभाजीने आचार्यश्रीके सम्बन्धमें निम्नलिखित छप्पय लिखा है—

> (श्री) राधाचरन प्रधान हृदय अति सुदृढ़ उपासी।
> कुंज केलि दंपती तहाँकी करत खवासी॥
> सर्बस महाप्रसाद सिद्ध ताके अधिकारी।
> बिधि निषेध नहिं दास अनन्योत्कट ब्रतधारी॥
> (श्री) ब्यास सुवन पथ अनुसरं, सोइ भले पहिचानिये।
> (श्री) हरिवंश गुसाईं भजनकी रीति सुकृत सोइ जानिये॥

निकुञ्जमें रासके समय श्रीललिता सखीकी प्रार्थनासे श्रीप्रियाजीने श्रीलालजीके हस्तकमलमेंसे वंशी लेकर कहा कि यह वंशी कलियुगमें अवतार ले जीवोंका उद्धार करेगी और निकुञ्जकी गुप्त लीलाओंको भक्तजनोंके समक्ष प्रकाशित करेगी।

एतदर्थ आचार्यश्रीने कठिन मार्गका त्याग कर सरल एवं सुसाध्य प्रेम-भक्तिके राजमार्गका प्रचार किया और इस प्रकार अपने अपूर्व बुद्धि-कौशलका परिचय दिया। उन्होंने बताया कि ज्ञान और कर्म कलियुगमें साध्य नहीं हैं, अतएव उन्होंने प्रेमाभक्तिके उत्तम एवं सरल मार्गको प्रकट किया। वे सदा प्रभुके विचारमें ही मग्न रहा करते थे। उनके लौकिक-अलौकिक सभी व्यापार प्रभुके लिये ही होते थे और प्रभुसे सम्बन्धित रहते थे। उनकी भगवान्में अचल श्रद्धा और प्रेम था; वे अपरिमित आत्मबल एवं अलौकिक सामर्थ्यसे सम्पन्न थे; वे तत्त्ववेत्ताओंमें श्रेष्ठ, वेद-वेदान्तके मर्मको जाननेवाले, उत्तम उपदेशक, सबकी शङ्काओंका समाधान करनेवाले, परम सन्तोषी,

त्यागवृत्तिसे रहनेवाले, लौकिक विषयोंके आकर्षणसे सर्वथा मुक्त, स्वार्थरहित, संसारमें रहते हुए भी संसारसे निर्लेप तथा विवेक, धैर्य, प्रेम, सेवा आदि अनेक कल्याणमय गुणों-से विभूषित थे। ऐसे आचार्यशिरोमणिके उपदेशका आश्रय लेकर भगवान् श्रीकृष्णकी चरणसेवा करना ही उत्तम सुख-का उपाय है। यही बात दोहेके अन्तिम चरणमे कही गयी है—

'कृष्ण कलपतरु सेव'

प्रातःकाल उठते ही भगवान्का स्मरण कर शौच-स्नानादिसे देहशुद्धि कर प्रभु-सेवामें संलग्न हो जाना चाहिये। सेवा करते समय प्रभुके चरणोंमें ही चित्तको लगाये रखना चाहिये और इसके बाद लौकिक कार्य करने चाहिये। प्रभु हमारे सब कार्य स्वयं करेंगे, ऐसा समझकर उनपर दृढ़ विश्वास करके उनका भजन करना चाहिये। प्रभुकी सेवामें सभी देवताओंकी सेवा आ जाती है, इसलिये सब ओरसे चित्तको हटाकर उन्हींमें जोड़ देना चाहिये। तथा उनकी प्रीतिके लिये ही उनका भजन करना चाहिये, उनसे किसी वस्तुकी याचना नहीं करनी चाहिये। प्रभुमें ही सब इन्द्रियोंके व्यापारको केन्द्रित कर रखना तथा उन्हींमें चित्तको पिरोये रखना ही उनकी सेवा है। जो मनुष्य अपने लौकिक और अलौकिक कार्य प्रभुमें चित्तको निवेशितकर करते हैं, वही वास्तवमें भाग्यशाली हैं। अम्बरीष, जनक प्रभृति राजा लोग राजवैभव भोगते हुए भी निरन्तर प्रभुमें ही निवास करते थे। सभी मनुष्योंको ऐसे महानुभावोंका अनुकरण करना चाहिये।

कितने ही महानुभावोंका मत है कि सेवाके विना जीवन व्यर्थ है। श्रीरंगीलालजी गोस्वामी कहते हैं—

> सेवां विना जीवनमप्यपार्थं
> सेवां विनान्यत् सुकृतं किमर्थम्।
> सेवैव यज्ञश्च तपश्च तीर्थं
> तस्मान्न सेवां त्यज भोः कदाचित्॥
> (मनःप्रबोध)

'सेवाके विना जीवन ही निरर्थक है, सेवाके विना और सत्कर्म किस कामके। सेवा ही यज्ञ है, सेवा ही तप है, सेवा ही तीर्थ है; अतः हे मन! तू कभी सेवाका परित्याग न करना।'

सेवासे ही सब दुःखोंकी निवृत्ति होती है और बीचमें ब्रह्मका भी ज्ञान हो जाता है। इससे प्रिया-प्रियतमकी सेवा सदा करनी चाहिये।

सेवा तीन प्रकारकी कही गयी है—(१) तनुजा (जो शरीरसे की जाती है), (२) धनजा (जो धनसे अर्थात् नाना प्रकारकी सामग्रियोंसे की जाती है) और (३) मानसिकी (जो मनसे की जाती है)। इन तीनोंमें मानसिकी सेवा सर्वोत्तम है। जो सेवा अन्तरमें तैलधारावत् अविच्छिन्नरूपसे होती रहती है, वही मानसिकी सेवा है। मानसी सेवाकी सिद्धिके लिये ही तनुजा और वित्तजा सेवाका विधान है। सेवकको चाहिये कि वह सब कुछ भगवान्को अर्पण करके ही अपने उपयोगमें ले। जो लौकिक विषयोंकी प्राप्ति चाहते हैं, उन्हें त्रिदेवों (ब्रह्मा, विष्णु, महेश) मेंसे किसी एककी उपासना करनी चाहिये। और जो विषयोंकी इच्छा न करके केवल परमा-नन्दकी इच्छा रखते हैं, उन्हें श्रीप्रिया-प्रियतम युगलकिशोर नित्यविहारीकी सेवा करनी चाहिये। सेवा ही प्रभुप्राप्तिका साधन है। प्रेमसहित प्रभुको निरन्तर भजनेसे ही उनकी प्राप्ति होती है, दूसरे किसी उपायसे नहीं। और जो भगवान्के अनन्य दास हैं, वे प्रभुकी सेवाके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं माँगते। उनकी दृष्टिमें और सभी पदार्थ तुच्छ हैं, हेय हैं। जो मनुष्य बड़प्पनके अभिमानका त्याग कर प्रभुकी दासता स्वीकार करता है, प्रभु उसीसे प्रसन्न रहते हैं। जो सेवक स्वामीकी इच्छाके अनुसार चलता है, उसीपर स्वामीकी कृपा होती है। अतः भगवान्की प्रसन्नता प्राप्त करनेके लिये उनकी रुचि और आज्ञाका निरन्तर विचार और उसीके अनुसार आचरण करनेकी आवश्यकता है और भगवान्में मनको पिरोया हुआ रखनेसे ही उनकी रुचि, आज्ञा अथवा प्रसन्नताका पता लग सकता है, अन्यथा नहीं। जीवनयात्रा सुखपूर्वक कैसे चले, इसका ज्ञान भी सेवासे ही प्राप्त होता है; क्योंकि हमारी बुद्धिके प्रेरक भी श्रीभगवान् ही हैं। अपरिमित बल, अपरिमित स्नेह, अपरिमित सत्ता और अपरिमित गुणोंके स्वामीके साथ एकता सेवासे ही सम्भव है। अतः जिसे अपरिमित सुख प्राप्त करनेकी इच्छा हो, उसे अपरिमित सत्तावालेकी ही सेवा करनी चाहिये—यही निश्चित सिद्धान्त है। वे अपरिमित सत्तावाले श्रीभगवान् ही हैं, अतः उन्हींकी सेवा करनी चाहिये।

प्रकृति-पुरुष-योग

(कुण्डलिनी-उत्थापनद्वारा आत्मज्ञान-लाभ)

(लेखक—श्रीमद् गोपालचैतन्यदेवजी महाराज)

[गताङ्कसे आगे]

प्राणायामका सुचारुरूपसे अभ्यास होनेके बाद साधक योगसाधनाके पञ्चम अङ्ग—

प्रत्याहार

—की साधना शुरू करें। प्राणायामसे प्रत्याहारकी साधना और भी कठिन है। यथा—

स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः। (पातञ्जल० साधनपाद ५४)

अपने-अपने ग्राह्य विषयोंका त्याग करके इन्द्रियोंका अविकृत अवस्थामें चित्तके वश हो जाना प्रत्याहार है। इन्द्रियाँ स्वभावतः ही विषयोंकी ओर दौड़ा करती हैं, इन्द्रियोंको उन विषयोंसे निवृत्त कर लेना प्रत्याहार कहलाता है।

प्रत्याहारकी साधनासे इन्द्रियाँ वशमें होती हैं। प्रत्याहार-का साधन करनेवाले योगी प्रकृतिको वशमें करके परम स्थिरताकी प्राप्ति करते हैं, जिससे बाहरकी तमाम प्रकृति वशमें आ जाती है।

प्रत्याहारका साधन अत्यन्त कठिन होनेपर भी, सद्गुरुकी कृपासे जो साधक तीन घंटेतक प्राणायाम कर सकते हैं, अथवा साधनबलसे जिनकी कुण्डलिनी-शक्ति मूलाधारचक्रको त्याग कर स्वाधिष्ठान और मणिपूरचक्रका भेदन करती हुई अनाहतचक्रतक पहुँच जाती है, उनके लिये प्रत्याहारकी साधना बहुत ही सहज—बालकके खेल-जैसी हो जाती है। क्यों-कि भूः, भुवः तथा स्वः—इन तीनों लोकोंके सारे कार्य मूला-धार, स्वाधिष्ठान तथा मणिपूरतक होते हैं। इस त्रिलोकीमें ही तमाम कामना-वासना आदिका जंजाल है—इन्द्रियोंका काम है। कुण्डलिनी-शक्ति जब इन तीन चक्रोंको भेदकर अनाहतमें पहुँच जाती है, तब ये सारे जंजाल अपने-आप ही जाने कहाँ लय हो जाते हैं।

प्रत्याहारके बाद योगके छटे अङ्ग—

धारणा

—का साधन करना होता है।

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा। (पातञ्जल० विभूतिपाद १)

'चित्तको देशविशेषमें बाँध (किसी खास स्थानपर रोक) रखनेका नाम धारणा है।' अर्थात् पूर्वोक्त षोडश प्राणायामके द्वारा किसी देव-देवीकी प्रतिमूर्ति या किसी खास वस्तुमें चित्तको लगाये रखना धारणा कहलाता है।

धारणाके अभ्याससे चित्त एकमुखी हो जाता है, इसलिये योग-साधकके अतिरिक्त दूसरे प्रकारके साधक भी धारणाकी साधना किया करते हैं। मन सदा चञ्चल है। प्राणायामकी सहायतासे वायुके वश हो जानेपर मन अपने-आप ही चञ्चलता छोड़कर स्थिर हो जाता है। मनको स्थिर करनेका एक दूसरा उपाय आगे चलकर बतलाया जायगा, उससे भी मन आसानीसे स्थिर हो जाता है और धारणाकी साधनामें विशेष सहायता मिलती है। धारणा स्थिर होनेपर वही धारणा क्रमशः—

ध्यान

—नामक योगके सातवें अङ्गके रूपमें परिणत हो जाती है।

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्। (पातञ्जल० विभूतिपाद २)

'धारणाके द्वारा धारणीय पदार्थमें चित्तकी जो एकाग्र स्थिति हो जाती है, उसीका नाम ध्यान है।'

चित्तके द्वारा आत्मस्वरूपके चिन्तन करनेको ध्यान कहते हैं। सगुण और निर्गुण भेदसे ध्यान दो प्रकारका होता है।

परब्रह्म या सहस्रारमें स्थित परमात्माके ध्यान करनेका नाम निर्गुण ध्यान है।

सूर्य, गणपति, विष्णु, शिव, आद्याप्रकृति या षट्चक्रमें स्थित विभिन्न देवताओं आदिके ध्यानका नाम सगुण ध्यान है।

सगुण और निर्गुण ध्यानके सिवा बहुत-से लोग ज्योति-का ध्यान भी किया करते हैं। ध्यानकी पूर्ण परिपक्व अवस्थाको ही—

समाधि

—कहते हैं।

ध्यानके बहुत गाढ़ हो जानेपर अपनेमें और ध्येय वस्तुमें भेदज्ञान नहीं रहता। उस समय चित्त ध्येय वस्तुमें ही तदाकार हो जाता है। अथवा यों कहना चाहिये कि चित्त उसीमें लीन हो जाता है। इस लयावस्थाको ही 'समाधि' कहते हैं। समाधिके बारेमें आगे चलकर लिखा जायगा।

यहाँतक की हुई आलोचना अष्टाङ्गयोग या प्रकृति-पुरुष-योगका अङ्ग होनेपर भी साधनकल्प नहीं है। अतएव अब कुछ साधनविधि लिखी जाती है।

साधन-विधि

साधनाके लिये एकान्त स्थानमें बैठना उचित है। साधना-गृह स्वच्छ, पवित्र और गोबरसे लिपा-पुता होना चाहिये। जो साधक पर्वत-कन्दराओंमें निवास करके साधना करना चाहते हैं, उनकी तो बात ही निराली है। परन्तु उनको भी यह सदा स्मरण रखना चाहिये कि पर्वत-कन्दरा भी सदा पवित्र रहे। साधनगृहमें किसीको भी, चाहे वह साधु-ब्राह्मण ही क्यों न हो, प्रवेश न करने दिया जाय तो अति उत्तम है। क्योंकि नित्य-नियमितरूपसे जिस स्थानमें साधना की जाती है, कुछ दिनों बाद वह स्थान दिव्य शक्तिसे पूर्ण हो जाता है। किसी कारणवश यदि साधकका मन कदाचित् चञ्चल भी हो जाय, तो उस स्थानपर पहुँचते ही वहाँके वातावरणके प्रभावसे वह चञ्चलता तुरंत नष्ट हो जाती है और हृदय दिव्य भावसे पूर्ण हो जाता है। हाँ, साधनगृहको अपनी साधनाके और रुचिके अनुकूल देवी-देवताओंके, सिद्ध जीवन्मुक्त महापुरुषोंके एवं सद्गुरु महाराजके सुन्दर-सुन्दर चित्रोंसे सुशोभित रखना बहुत उत्तम है। साधनगृहमें किसीको न जाने देनेका मुख्य कारण यही है कि रजोगुणी या तमोगुणी प्रकृतिके मनुष्योंके तथा विरोधी साधनाके करनेवाले पुरुषोंके वहाँ जानेसे साधनगृहका सात्त्विक वातावरण बहुत अंशोंमें नष्ट हो सकता है तथा वातावरणकी एकरसतामें भी विघ्न होते हैं। अतएव इस ओर विशेष ध्यान रखना चाहिये। साधनगृहको अपने ही हाथोंसे झाड़ना-बुहारना और गोबर आदिसे लीपकर साफ रखना चाहिये।

साधनाके लिये आसनकी भी जरूरत होती है। नये अभ्यास करनेवाले साधकके लिये कृष्णसार हरिणका चर्म उत्तम है, फिर धीरे-धीरे व्याघ्रचर्म भी काममें लिया जा सकता है। कदाचित् मरे हुए जानवरका चर्म न मिले अथवा अन्यान्य कारणोंसे चर्मासन न बरता जाय, तो कम्बल या कुशासनपर बैठकर साधना कर सकते हैं। परन्तु इतना खयाल रहे कि अपनी साधनाके आसनको किसी भी कारणसे दूसरा कोई भी स्पर्श न करने पावे।

आसन इतना लंबा-चौड़ा अवश्य होना चाहिये कि जिसमें साधनाके समय साधकके शरीरका जरा भी अंश जमीनपर न लगे। क्योंकि साधनाके समय शरीरमें जो विद्युत्-शक्ति उत्पन्न होती है, शरीरका अंश पृथ्वीपर लगनेसे उस अङ्गकी विद्युत्-शक्ति मिट्टीमें चली जायगी, साधकको लाभ नहीं होगा; बल्कि धीरे-धीरे शक्तिहीन होते-होते साधकमें शिथिलता आ जायगी। अतएव इस ओर भी ध्यान रखना आवश्यक है।

किसी भी साधनाके समय शरीरसे पसीना निकले तो साधनाके बाद उसे मलकर शरीरमें ही खपा देना चाहिये। कपड़े आदिसे पोंछना नहीं चाहिये। पोंछनेसे शरीर निर्बल, इन्द्रियादि निस्तेज और मानसिक शक्ति धीरे-धीरे घटती जाती है।

निर्वाण-मुक्तिकी इच्छावाले साधकको उत्तर ओर मुख करके बैठना चाहिये। विज्ञानकी दृष्टिसे ऐसा माना जाता है कि उत्तर दिशामें चुम्बकका पहाड़ होनेके कारण मनके स्थिर करनेमें विशेष सहायता मिलती है। निर्वाणकी आशासे जिस प्रकार उत्तर दिशामें मुख रखकर साधना करनी चाहिये, उसी प्रकार सांसारिक उन्नति चाहनेवाले साधकको पूर्व दिशाकी ओर मुख करके साधनाका आरम्भ करना चाहिये।

नित्य नियमितरूपसे दिनमें चार बार साधन करना उचित है। पहले ब्राह्म मुहूर्तमें अर्थात् सूर्योदयके चार दण्ड (एक घंटे, छप्पन मिनट) पहले, दूसरी बार दोपहरके समय, तीसरी बार सूर्यास्तके बाद एवं चौथी बार रातको १२ बजेके बाद। रातको १२ बजेके बाद महानिशामें सांसारिक पुरुष मोहाच्छन्न रहते हैं, उस समय सारा संसार निस्तब्ध-सा हो जाता है। इसलिये उस समय साधक बड़ी आसानीके साथ मनको स्थिर करके साधनामें तल्लीन हो सकते हैं। किसी भी काममें मनके एकाग्र हुए विना सिद्धि नहीं मिलती। महानिशाके समय बहुत आसानीके साथ मन स्थिर किया जा सकता है। दूसरी मुख्य बात यह भी है कि उस समय योगी-ऋषि, देवी-देवता, गन्धर्व-किन्नर, सिद्ध-महापुरुषगण एवं सद्गुरु तथा जगद्गुरु साधककी सहायताके लिये विशेष तत्पर रहते हैं। उत्कण्ठाके साथ एकाग्र चित्तसे साधन

करनेवाले पुरुषोंका मनोरथ साधनाके समय उन लोगोंकी अहैतुकी कृपा प्राप्त हो जानेसे थोड़े ही परिश्रमसे पूर्ण हो जाता है। अतएव कोई भी साधक यदि रातको बारह बजेसे लेकर सूर्योदयतक एक आसनसे बैठकर एकाग्र चित्तसे साधनामें लीन रहें, तो उन्हें अति शीघ्र जगद्गुरुकी अनुकम्पा प्राप्त हो सकती है और उसके प्रभावसे वे अनायास ही कृतार्थ हो सकते हैं।

आसनपर बैठकर साधकको सबसे पहले सहस्रारमें शतदल कमलके ऊपर—

जगद्गुरु भगवान्

—श्रीश्रीमहादेवका ध्यान और उन्हें प्रणाम तथा प्रार्थना करनी चाहिये। पहले वर्ष तो साधकको केवल आसनोंकी ही साधना करना उचित है। एक आसनसे प्रति बार तीन घंटेतक बैठना साधकके लिये विशेष उपकारक हो सकता है। परन्तु मन ऐसा चञ्चल है कि साधनामें बैठनेपर भी वह इधर-उधर दौड़ता रहता है। अतएव उसे स्थिर करनेके लिये आसन लगाकर मणिपूरचक्रमें दृष्टि रखकर सिर्फ मणिपूर-चक्रको ही टकटकी लगाकर देखते रहना चाहिये। उस समय थोड़ी देरके लिये भी किसी दूसरी बातपर विचार करना उचित नहीं है। पाँच-सात मिनट ऐसा करनेसे ही मन स्थिर हो जायगा। मनके स्थिर होते ही आँखें बंद करके श्री-गुरुदेवका ध्यान करना चाहिये। जगद्गुरुका ध्यान योगी-लोग इस प्रकार करते हैं—

जगद्गुरुका ध्यान

मध्याह्नके समय भगवान् सूर्यदेवकी जैसी अति महान् ज्योति होती है, उससे भी करोड़ों गुनी अधिक ज्योतिका समुद्र हमारे मस्तकके भीतर है। छोटे बच्चोंका ब्रह्मरन्ध्र नरम रहता है, वह श्वास-प्रश्वासके समय ऊँचा-नीचा होता रहता है। उसी स्थानकी हड्डीके नीचे समुद्रके समान गम्भीर और विस्तृत उपर्युक्त अनन्त ज्योतिका ध्यान करना चाहिये। ऐसी दृढ़ भावना करनी चाहिये कि महान् तेजःपुञ्ज ज्योतिका समुद्र होनेपर भी वह सूर्यदेवकी ज्योतिके समान ऐसा तीक्ष्ण नहीं है, जिसकी ओर देखा ही न जा सके। वह करोड़ों चन्द्रमाओंके समान अत्यन्त सुशीतल और सुमधुर है। ज्योतिकी इस सुशीतलताका चिन्तन न करनेसे सिर गरम होकर अनेकों व्याधियाँ उत्पन्न हो सकती हैं। पाँच-दस मिनट इस प्रकार ध्यान करनेके बाद सोचे कि सरोवरमें जैसे कमल प्रस्फुटित रहता है, वैसे ही एक अति शुभ्र कमल उस ज्योतिःस्वरूप समुद्रमें प्रकट हुआ है। उस अति शुभ्र कमलकी किरणें उससे भी अधिक शुभ्र और सुप्रकाशित हैं। पाँच-दस मिनटतक ऐसे स्निग्ध-शुभ्र कमलका ध्यान करनेके बाद फिर ऐसी भावना करनी चाहिये कि जैसे साधारण कमलमें बीजकोष रहता है, वैसे ही उस ज्योतिर्मय कमलमें भी बीजकोष है। वह भी अति शुभ्र है। कुछ देर-तक ऐसा ध्यान करनेके बाद फिर देखे कि उस कमलके आसनपर जगद्गुरु भगवान् शिवजी आनन्दपूर्ण चित्तसे विराजमान हैं। शिवजीकी मूर्ति लिङ्गरूप नहीं है किन्तु अति सुन्दर, अति कमनीय, अपार करुणामय मानव-मूर्ति-जैसी है। उनके अङ्ग-प्रत्यङ्ग अति शुभ्र हैं एवं उन सभी अङ्गोंसे अति शुभ्र सुमधुर स्निग्ध प्रकाश निकल रहा है। जगद्गुरु भगवान् शिव इतने करुणामय, वात्सल्यमय, प्रेममय, स्नेहमय और आनन्दमय हैं कि चौदहों भुवनोंके किसी भी निवासीके साथ उनकी तुलना नहीं हो सकती। वे अतुल-नीय हैं। इस प्रकार ध्यानके बाद यह भावना करनी चाहिये कि 'मैं उनके श्रीचरण-सरोजमें पहुँच गया हूँ और उनके श्रीचरण-कमलोंको पकड़कर साष्टाङ्ग प्रणाम कर रहा हूँ। वे अपने प्यारे नन्हे-से बच्चेकी भाँति मुझको अपनी गोदमें उठाकर आशिष दे रहे हैं—बड़े प्यारसे मेरे सारे शरीरपर हाथ फेर रहे हैं और बड़ी ही स्नेहपूर्ण कृपादृष्टिसे मेरी ओर देख रहे हैं। बालक जैसे अपने पितासे नाना वस्तुओंके लिये प्रार्थना करता है, ज़ोर-जबरदस्ती करता है, वैसे ही मैं भी उनसे सिर्फ निर्वाण-मुक्तिकी प्रार्थना कर रहा हूँ।'

भगवान् शिव भक्तवाञ्छाकल्पतरु हैं, वे साधककी प्रार्थनाको अवश्य पूर्ण करेंगे। अतएव साधकको चाहिये कि वह अन्यान्य विविध विषयोंके लिये प्रार्थना न करके केवल एक 'निर्वाण-मुक्ति' के लिये ही प्रार्थना करे। एकमुखी प्रार्थना होनेसे वह अवश्य और शीघ्र पूर्ण होती है। प्रार्थना ऐसी हार्दिक होनी चाहिये कि प्रार्थना करते समय साधककी आँखोंसे अपने-ही-आप आँसू टपकने लगें।

जबतक आसनमें सिद्धिलाभ न हो, तबतक यदि इस प्रकारके ध्यानसे ही आसनका समय निकाल दिया जाय तो आसनके लिये कष्ट नहीं उठाना पड़ेगा। एवं मन भी सहज ही सहस्रारमें स्थिर रहकर तथा उसमें प्रेमभावका उदय होकर हृदय अनिर्वचनीय आनन्दसे पूर्ण हो जायगा। किसी-किसी भाग्यवान् साधकको इतनेमें ही अनाहत ध्वनिका श्रवण

आरम्भ हो जाता है। इसी प्रकार किसी-किसी साधकका चित्त अपने-आप ही सहस्रारमें लय हो जाता है और थोड़े समयके लिये उसमें समाधिका भाव उदय हो जाता है। ऐसे सौभाग्यवान् साधक संसारमें बहुत ही थोड़े हैं।

आसन-सिद्धिके बाद स्थिरचित्त साधक नाड़ी-शोधनका अभ्यास करें। शङ्करोक्त विधानसे नाड़ी-शोधन-कार्य विशेष सरल तथा विपत्तिशून्य है। अतएव हठयोगकी क्रियाएँ न करके शङ्करोक्त विधिसे ही नाड़ी-शोधन करना चाहिये। विधि पहले ही लिखी जा चुकी है। नाड़ी-शोधनमें सिद्धि-लाभ होनेपर शरीर फूल-जैसा हल्का, मन सदा ही आनन्दसे युक्त और देह व्याधिमुक्त हो जाता है एवं कभी-कभी नाना प्रकारके सुगन्धोंसे हृदयमें अपार आनन्दका स्रोत प्रवाहित होने लगता है। विधिवत् अभ्यास करनेपर लगभग तीन महीनेमें ही साधक नाड़ी-शोधनमें सिद्धिलाभ कर सकता है।

नाड़ी-शोधनके बाद साधक पहले शीतली प्राणायामका अभ्यास करें। यह प्राणायाम अति सरल है। दो ही महीनेमें इसका उत्तम रूपसे अभ्यास हो सकता है।

तदनन्तर सहित प्राणायाम जो सर्वसाधारणमें प्रचलित है, उसका विधिवत् अभ्यास करें। इस प्राणायामकी विधि भी पहले ही लिखी जा चुकी है। यह प्राणायाम न तो बहुत कठिन है और न विशेष सहजसाध्य ही है। परन्तु इसके लिये चिन्ता नहीं करनी चाहिये, बड़ी धीरताके साथ शनैः-शनैः अभ्यास करते रहना चाहिये। 'सहित प्राणायाम'में कुम्भक करना पड़ता है। कुम्भककी मात्रा जितनी ही लंबी हो (अवश्य ही विधिवत् धीरे-धीरे लंबा करना चाहिये), उतना ही वह अधिक लाभदायक होता है,। प्राणायामसे शरीरकी सारी व्याधियाँ नाश होकर शरीर कन्दर्प-जैसा सुन्दर, ज्योतिष्मान् हो जाता है।

प्राणायामके बाद यद्यपि प्रत्याहारकी साधना करना उचित है, तथापि प्रत्याहारकी साधना न करके अश्विनीमुद्राके द्वारा कुण्डलिनी शक्तिके जगानेकी चेष्टा की जा सकती है। कुण्डलिनी शक्ति जगकर जब एक चक्रसे चक्रान्तरमें जाती हुई अनाहतचक्रमें पहुँच जाती है, तब प्रत्याहारकी साधना अपने-आप ही बन जाती है। अतएव प्राणायामके द्वारा अश्विनीमुद्राकी सहायतासे कुण्डलिनी शक्तिको चैतन्य करनेकी चेष्टा करनी चाहिये।

भौतिक देहमें सहस्रारमें जगद्गुरु शिवरूपी पुरुष तथा मूलाधारमें जगन्मातारूपी शक्ति ही कुण्डलिनी हैं। इन्हींको प्रकृति-पुरुष कहते हैं। पहले बतलाये हुए कारणोंसे प्रकृति मायाच्छन्न होकर मूलाधारमें कुण्डलिनी शक्तिके रूपमें विराजिता हैं। इन दोनोंका संयोग यानी मिलन ही प्रकृति-पुरुष-योग या आत्मा-परमात्माका योग है। इस कुण्डलिनी शक्तिके बारेमें अनेकों प्रकारकी शास्त्रोक्तियोंके रहनेपर भी, साधकके लिये इसके सम्बन्धमें जितनी बातें जाननेकी जरूरत है—संक्षेपमें यहाँ उनका कुछ विवरण दिया जाता है।

कुल-कुण्डलिनी-तत्त्व

मूलाधार पद्म (इसका विवरण आगे लिखा जायगा) के बीचमें पूर्वोक्त ब्रह्मनाड़ीके मुखमें स्वयम्भू-लिङ्ग विराजमान है। उसके शरीरमें दक्षिणावर्त्तसे साढ़े तीन घेरे लगाकर कुण्डलिनी शक्ति विराजती है। यथा शिवसंहितामें कहा है—

'गुह्य और लिङ्ग—इन दोनोंके बीचमें पश्चिमाभिमुखी योनिमण्डल है, उस योनिमण्डलको कन्द भी कहते हैं। योनिमण्डलके बीचमें कुण्डलिनी शक्ति सब नाड़ियोंको लपेट-कर (सार्धत्रिकुटिलाकार—साढ़े तीन टेढ़े लपेटे लगाकर) साँपकी भाँति अपनी पूँछको मुँहमें डालकर सुषुम्णा विवरको रोके हुए अवस्थान कर रही है।'

यह कुण्डलिनी ही नित्य आनन्दस्वरूपा परमा प्रकृति है। इसके दो मुँह हैं, एवं यह विद्युल्लताकार (बिजलीके समान) तथा अति सूक्ष्म है, जो देखनेमें आधे ॐकार-की-सी प्रतिकृति मालूम होती है। नर-अमर-असुरादि सभी प्राणियोंके शरीरमें कुण्डलिनी विराज रही है। इस कुण्डलिनीके आभ्यन्तरमें केलेके कोष-जैसे कोमल मूलाधारमें चित्-शक्ति विराजिता है। उसकी गति अति दुर्लक्ष्य है।

कुण्डलिनी शक्ति प्रचण्ड स्वर्णवर्णा, तेजःस्वरूपा, दीप्ति-मती और सत्त्व, रज, तम—इन तीन गुणोंको पैदा करने-वाली ब्रह्मशक्ति है। यह कुण्डलिनी-शक्ति ही 'इच्छा', 'क्रिया' और 'ज्ञान'—इन तीनों नामोंमें विभक्त होकर समस्त शरीरके चक्रोंमें भ्रमण करती है। यही शक्ति हमारी जीवन-शक्ति है। इस शक्तिको अपने वशमें करना ही योग-साधनाका उद्देश्य है। योगशिखोपनिषद्में बतलाया है—

'मूलाधारस्थिता कुण्डलिनी शक्ति बिन्दुरूपिणी है। वही स्व यानी आत्माकी आधारभूता (जीवात्मा इसीका आश्रय लेकर अवस्थान करता है) है। सूक्ष्म बीजसे अङ्कुरकी

भाँति इस कुण्डलिनीरूपा प्राणशक्तिसे ही नादकी उत्पत्ति होती है। योगिगण इसीके द्वारा 'विश्व' अवस्थाका दर्शन करते हैं। इसी कारण नादकी इस अवस्थाको 'पश्यन्ती' कहते हैं। उसके बाद नाद हृद्देशमें पहुँचनेसे मेघगर्जनकी भाँति 'गुर-गुर' शब्द प्रकट होता है। उसके बाद वही नाद जब प्राणवायुके संयोगसे (कण्ठसे) 'स्वर' (आवाज–शब्द) नाम धारण करके निकलता है, तब उसे 'वैखरी' (प्रखर यानी सुस्पष्ट शब्द) कहा जाता है। फिर यह वैखरी शब्द ही कण्ठ, तालु, मूर्द्धादि स्थानोंको चोट पहुँचाकर शाखा-पल्लवरूपमें 'अ'कारसे 'क्ष'कारतक अक्षररूपमें अभिव्यक्त होता है। अक्षरोंके समन्वयसे पद एवं पदोंके समन्वयसे वाक्य प्रकाशित होता है। सारे मन्त्र, समग्र वेद, शास्त्र, पुराण तथा काव्यादि और भिन्न-भिन्न भाषा, सप्तस्वर-समन्वित गानादि–सभी इस नादसे ही उत्पन्न होते हैं। अतएव सरस्वती यानी वाग्देवी मूलतः सर्वभूतोंके मूलाधाररूप चक्रका आश्रय करके विराज रही हैं।'

साधनभूमि भारतवर्षके सनातनधर्मावलम्बी प्रायः सभी मानव जिस गायत्रीदेवीकी इतनी उपासना करते हैं, वह गायत्री भी इसी कुण्डलिनीसे उत्पन्न हैं। इसीसे कुण्डलिनीको उसकी माता भी कहा जा सकता है। यथा—

कुण्डलिन्यां समुद्भूता गायत्री प्राणधारिणी।
प्राणविद्या महाविद्या यस्तां वेत्ति स वेदवित्॥

(योगचूडामणि उपनिषद्)

'कुण्डलिनी ही प्राणशक्तिमयी गायत्रीका उत्पत्तिस्थान है। यह गायत्री ही प्राणविद्यारूपा महाविद्या है। जो व्यक्ति इस विद्याको जानते हैं, वे ही वेदवित् हैं।'

आत्माकी जैसे चार अवस्थाएँ—जाग्रत् (स्थूल), स्वप्न (सूक्ष्म), सुषुप्ति (कारण) तथा तुरीय हैं, वैसे ही कुण्डलिनीसे समुद्भूत नादकी भी चार अवस्थाएँ हैं—'परा', 'पश्यन्ती', 'मध्यमा' तथा 'वैखरी'। मूलाधारस्थिता सर्वशक्तिमयी ज्योतिर्बिन्दुरूपिणी परा शक्ति कुण्डलिनी ही 'परा' नामसे विख्यात है, यह 'परा' ही नादकी तुरीयावस्था है। बादमें वही नाद स्वाधिष्ठानचक्रमें उपस्थित होनेसे उसीको 'पश्यन्ती' कहते हैं। यह नादकी सुषुप्ति यानी कारणावस्था है। फिर उस नादके हृदयमें आनेसे उसे 'मध्यमा' कहते हैं। मध्यमावस्थाका नाद अनाहत नाद कहा जाता है। यह अनाहत नादकी सूक्ष्म या स्वप्नावस्था है। अन्तमें वह नाद जब कण्ठसे स्पष्टतया उच्चरित होता है, तब उसे 'वैखरी' कहते हैं। यह नादकी जाग्रत् या स्थूलावस्था है। नादकी 'परा' तथा 'पश्यन्ती' अवस्था सिद्ध योगियोंके अनुभवगम्य है। 'मध्यमा' अवस्थाका योगसाधनरत उन्नतिशील साधकोंको अनुभव होता है तथा 'वैखरी' अवस्थाका सर्वसाधारणसे सम्बन्ध है। परन्तु यह नाद कुण्डलिनीके साथ ब्रह्मनाड़ीके चक्रसे चक्रान्तरमें प्रवेश करते-करते जब सहस्रारमें जा पहुँचता है, तब इस नादका भी वहाँ लय हो जाता है। अस्तु,

अन्तर्मुख तथा बहिर्मुख भेदसे कुण्डलिनीके दो मुख हैं।

द्विमुखविशिष्टा सार्द्धत्रिवलयाकृति कुण्डलिनी एक मुखको ब्रह्मविवर (सुषुम्णाख्य ब्रह्मनाड़ी) में रखकर ब्रह्मद्वारको रोककर सो रही है और दूसरे मुखसे दण्डाहता भुजङ्गिनीकी भाँति श्वास-प्रश्वास ले रही है। यही जगजीवका श्वास-प्रश्वास है। इस मुखसे वह सदा जाग्रत् रहनेके कारण जगजीवका बाह्य चेतन यानी बाहरी ज्ञान विद्यमान है। इसी कारण जीवका ज्ञान भिन्न-भिन्न प्रकारका है, 'एकत्व'-ज्ञान नहीं है। अन्तर्मुख सुप्त या बंद रहनेके कारण ही जीवको अन्तर्ज्ञान यानी आत्मज्ञान नहीं है।

जिस रास्तेसे चलकर साधक ब्रह्मस्थान सहस्रारपर पहुँचकर ब्रह्मज्ञानको प्राप्त करता है, ब्रह्मनाडीस्थ उस ब्रह्मद्वारको रोककर परमेश्वरी कुण्डलिनी सो रही है (हठयोगप्रदीपिका)। इसी मार्गको 'अन्तर्मुख' कहते हैं। पश्चिम मार्ग यानी अन्तर्मुखके पथको प्रसिद्ध किये बिना (खोले बिना) मोक्षमार्गपर गति नहीं होती। प्राणायामके द्वारा प्राणापानादि वायुको वशीभूत तथा एकत्र करके कुण्डलिनीका बहिर्मुख बंद कर देनेसे उसका अन्तर्मुख अपने-आप ही खुल जाता है; क्योंकि वायुकी इस ओरकी गति रुक जानेसे वह दूसरी ओर अपने-आप ही गति कर लेता है, साथ ही अश्विनीमुद्राके द्वारा कुण्डलिनीको बारम्बार आघात करनेसे कुण्डलिनीका अन्तर्मुख जल्दी खुल जाता है एवं कुण्डलिनी जाग्रत् होकर गतिशीला हो जाती है। इसी प्रक्रियाको कुण्डलिनीका जगाना कहते हैं। अब कुण्डलिनीको चैतन्य करनेकी दूसरी विधि सुनिये—

कुण्डलिनी-चैतन्यकी विधि

पहले बताये हुए आसन, नाड़ीशोधन तथा सद्गुरु महाराजका ध्यान करते हुए प्राणायामकी विधिसे कुण्डलिनीको जगानेके लिये निम्नलिखित क्रिया करे।

बायें पैरकी एँड़ीसे योनिदेशको मजबूतीसे दबाकर

दाहिने पैरको बिल्कुल सीधा और सरल भावसे सामने रखकर बैठे। उसके बाद दाहिने पैरको दोनों हाथोंसे जोरसे दबाये रक्खे एवं कण्ठमें ठुड्डी लगाकर कुम्भकसे वायुको रोके। पीछे प्राणायामकी चालसे धीरे-धीरे उस वायुको निकाल दे। दण्डाहत साँप जैसे सरल भाव धारण करता है, वैसे ही इस क्रियाके करनेपर कुण्डलिनी शक्ति सीधा आकार धारण कर लेती है।

बित्तेके बराबर लंबे चार अंगुल चौड़े कोमल श्वेतवर्ण सूक्ष्म कपड़ेसे नाभिदेश (तोंदीकी जगह) को लपेटकर कमरमें डोरेसे बाँध दे। फिर एकान्त स्थानमें बैठकर दोनों नथुनोंसे प्राणवायुका आकर्षण करके उसे बलपूर्वक अपान-वायुमें मिलावे एवं जबतक सुषुम्णा-विवरमें वायु प्रवेश कर प्रकाश न पावे, तबतक अश्विनीमुद्रासे धीरे-धीरे गुह्यदेशको सिकोड़ता और फैलाता रहे। इस प्रकार श्वास रोककर कुम्भकयोगसे वायुरोध करनेपर कुण्डलिनी शक्ति जगकर सुषुम्णापथसे ऊपरकी ओर चलने लगती है।

दूसरी एक विधि इस प्रकार है—सिद्धासनसे बैठकर ठुड्डीको हृदयपर मजबूतीके साथ रक्खे, फिर दोनों हाथोंसे मुट्ठी बाँधकर दोनों हाथोंकी कुहनी हृदयपर दृढ़रूपसे रखकर नाभिदेशमें वायु धारण करे एवं गुह्यदेशको अश्विनीमुद्रासे सिकोड़ता-फैलाता रहे। नित्य ऐसा अभ्यास करनेसे भी कुण्डलिनी शक्ति शीघ्र ही चैतन्य होगी। यह कुण्डलिनी-चैतन्यका कौशल है; किन्तु एक चक्रसे दूसरे चक्रमें उठाने-की विधि दूसरी है, उसे यथासमय लिखा जायगा।

'मूलाधारस्थिता कुण्डलिनी शक्ति जबतक न जागे, तबतक मन्त्रजप और यन्त्रादिसे पूजार्चना करना सब विफल है। यदि पुण्यके प्रभावसे यह शक्ति देवी जग उठे, तो मन्त्र-जपादिकी सब क्रियाएँ सिद्ध हो सकती हैं।' (गौतमीय तन्त्र)

योगके अनुष्ठानद्वारा कुण्डलिनीका चैतन्य सम्पादन करनेमें ही मानव-जीवनका पूर्णत्व है। भक्तिपूर्ण चित्तसे प्रतिदिन कुण्डलिनी-शक्तिका ध्यान-पाठ करनेपर साधकको इस शक्तिके सम्बन्धमें ज्ञान प्राप्त होता है एवं यह शक्ति धीरे-धीरे जाग्रत् होती है। ध्यान इस प्रकार है—

ध्यायेत् कुण्डलिनीं सूक्ष्मां मूलाधारनिवासिनीम्।
तामिष्टदेवतारूपां सार्द्धत्रिवलयान्विताम्॥
कोटिसौदामनीभासां स्वयम्भूलिङ्गवेष्टिताम्॥

जो योग-साधना करना चाहते हों, उनके लिये नव-चक्र आदिकी बातें भी जाननेकी विशेष जरूरत है; क्योंकि किस चक्रमें कुण्डलिनी किस रूपमें प्रकाश पाती है, एवं किस चक्रमें कुण्डलिनीकी क्या-क्या शक्तियाँ हैं—इत्यादि बातोंको जाने बिना साधन नहीं बन सकता। इसलिये कुण्डलिनीचैतन्यके प्रसङ्गमें ही एक-एक चक्रके विषयमें भी विचार किया जायगा। सर्वसाधारणमें प्रायः षट्चक्रकी ही बात प्रचलित है, परन्तु वास्तवमें भौतिक शरीरमें नव चक्र विद्यमान हैं। सुकृतिमान् उत्तम साधक ही नव चक्रोंकी बात जानते हैं। नौ चक्रोंकी बात मनगढ़ंत नहीं है।

प्राणतोषिणी तन्त्रके वचन हैं—

मूलाधारं चतुष्पत्रं गुदोदूर्ध्वे वर्तते महत्।
लिङ्गमूले तु पीताभं स्वाधिष्ठानं तु षड्दलम्॥
तृतीयं नाभिदेशे तु दिग्दलं परमाद्भुतम्।
अनाहतमिष्टपीठं चतुर्थकमलं हृदि॥
कलापत्रं पञ्चमं तु विशुद्धं कण्ठदेशतः।
आज्ञाख्यं षष्ठकं चक्रं भ्रुवोर्मध्ये द्विपत्रकम्॥
चतुःषष्टिदलं तालुमध्ये चक्रं तु मध्यमम्।
ब्रह्मरन्ध्रेऽष्टमं चक्रं शतपत्रं महाप्रभम्॥
नवमं तु महाशून्यं चक्रं तु तत्परात्परम्।
तन्मध्ये वर्तते पद्मं सहस्रदलमद्भुतम्॥

इनमें प्रथम चक्र है—

मूलाधारचक्र

मानव-देहके गुह्यदेशसे दो अंगुल ऊपर और लिङ्ग-मूलसे दो अंगुल नीचे चार अंगुल विस्तृत जो योनिमण्डल विद्यमान है, उसीके ऊपर मूलाधार है। यह स्वल्प रक्तवर्ण और चतुर्दलविशिष्ट है। इसके दल व, श, ष, स—इन चार वर्णोंसे सजे हुए हैं। इन चार वर्णोंका रंग सोनेके-जैसा है। इस पद्मकी कर्णिकाके बीचमें अष्टशूलसे सुशोभित चतुष्कोण पृथ्वीमण्डल है। उसकी एक बगलमें पृथ्वीबीज 'लं' है। उसके बीचमें पृथ्वीबीजके प्रतिपाद्य इन्द्रदेव विराजित हैं। इन्द्रदेवके चार हाथ हैं, उनका पीतवर्ण है, तथा वे श्वेत हस्तीपर बैठे हुए हैं। इन्द्रदेवकी गोदमें शैशवा-वस्थामें चतुर्भुज ब्रह्मा विराजित हैं। ब्रह्माजीकी गोदमें रक्त-वर्णा, चतुर्भुजा और सालङ्कृता डाकिनी नाम्नी उनकी शक्ति विराजिता हैं।

'लं' बीजके दक्षिण भागमें कामकलारूप रक्तवर्ण त्रिकोण-मण्डल है। उसके बीचमें तेजोमय, रक्तवर्ण 'क्लीं'

बीजरूप कन्दर्पनामक रक्तवर्ण स्थिरतर वायुका निवास है। उसीके बीचमें ठीक ब्रह्मनाड़ीके मुखपर स्वयम्भूलिङ्ग है। यह लिङ्ग रक्तवर्ण और कोटिसूर्यकी भाँति तेजोमय है। इसके शरीरमें साढ़े तीन घेरे लगी हुई कुण्डलिनी शक्ति है। इस कुण्डलिनी शक्तिके अभ्यन्तरमें चित्शक्ति विराज रही है। यह कुण्डलिनीशक्ति सबके लिये इष्टदेवीस्वरूपिणी है एवं मूलाधारचक्र मानव-देहका आधारस्वरूप है, इसीलिये इसका नाम आधारपद्म भी है। साधन-भजनका मूल इसी स्थानमें है। इसीसे इसको मूलाधारपद्म कहते हैं। (योगीगुरु)

नित्य-नियमित रूपसे इस मूलाधारपद्मका ध्यान करनेसे गद्य-पद्यादि वाक्सिद्धि और आरोग्यादि प्राप्त होते हैं।

धैर्यशील साधक पूर्वोक्त साधनादिमें अभ्यस्त होनेके बाद, जब प्राणायामका अभ्यास उत्तम रूपसे हो जाय, तब कुण्डलिनी-उत्थापनकी चेष्टा करें।

साधक योग-साधनोपयोगी निर्जन स्थानमें कम्बल, मृग-चर्म आदि किसी भी आसनपर उत्तर या पूर्वकी ओर मुख करके आसन लगाकर बैठ जायँ। पहले बतायी हुई विधिसे मनको स्थिर कर श्रीश्रीगुरुदेवका ध्यान, प्रार्थना, प्रणाम करके निम्नोक्त क्रिया करें।

कुण्डलिनी-उत्थापन

पहले पञ्चप्राण, पञ्चज्ञानेन्द्रिय, पञ्चकर्मेन्द्रिय, मन और बुद्धि---इन सतरह तत्त्वोंके आधारस्वरूप जीवात्माको मूलाधारचक्रस्थित कुण्डलिनीके साथ एकीभूत करके (मिलाकर) चिन्तन करें। मूलाधारपद्म और कुण्डलिनी शक्तिका मानस नेत्रद्वारा दर्शन तथा 'हूं' इस कूर्चबीजका उच्चारण करते हुए दोनों नथुनोंसे धीरे-धीरे वायुका आकर्षण (पूरक) करके प्राण-अपान वायुओंको संयुक्त कर मूलाधारमें चालित करते-करते ऐसी भावना करें कि मूलाधारस्थित शक्तिमण्डलान्तर्गत कुण्डलिनीके चारों ओर कामाग्नि प्रज्वलित हो रही है और उस अग्निके समुद्दीपन होनेसे कुण्डलिनी जग उठी है। फिर 'हंस' उच्चारणपूर्वक अश्विनीमुद्रायोगसे गुह्यदेशको सिकोड़कर कुम्भकके द्वारा वायुका रोध करनेसे कुण्डलिनी ऊर्ध्वमुखी हो जायगी। तब साधक यह भावना करे कि यह कुण्डलिनी शक्ति महान् तेजोमयी है। उस समय कुण्डलिनी अपने पूर्व मुखको स्वाधिष्ठानचक्रपर चढ़ा लेती है एवं दूसरे मुखद्वारा मूलाधारस्थित ब्रह्मा और डाकिनी शक्ति एवं उस पद्मके चतुष्पत्रस्थ वं, शं, षं, सं–इन चार मातृका-वर्णोंको, समस्त देव-देवियोंको तथा उनकी वृत्तियोंको ग्रास कर लेती है। यानी ये सभी कुण्डलिनी शक्तिमें लय हो जाते हैं। एवं पृथ्वीमण्डल भी लय होकर उसका बीज 'लं' कुण्डलिनीके मुँहमें स्थिर हो जाता है। तब दूसरे मुखको भी स्वयं ही स्वाधिष्ठानमें चढ़ा लेगी। दूसरे मुखके चढ़ाते ही मूलाधारपद्म मुँद जायगा और वह म्लान हो जायगा।

विज्ञ साधकोंको एक विशेष जरूरी बात स्मरण रखनी चाहिये कि भौतिक शरीरमें स्थित सहस्रारको छोड़कर शेष सभी चक्र (पद्म) स्वभावतः ही निम्नाभिमुखी (नीचेकी ओर मुँह किये रहते) हैं। ध्यानके समय उन्हें ऊर्ध्वमुख, प्रस्फुटित (खुले हुए) देखना चाहिये। फिर कुण्डलिनी जब जिस चक्रपर अवस्थान करेगी, उस समय वह पद्म आप-ही-आप ऊर्ध्वमुख तथा प्रस्फुटित हो जायगा। वह जब जिस पद्मका त्याग कर देती है, वह पद्म भी उसीके साथ मुद्रित तथा म्लान (मलिन) होकर निम्नाभिमुख हो जाता है। उस समय उस पद्मकी सारी शक्तियाँ, सारी वृत्तियाँ अपने-आप ही कुण्डलिनीमें लय हो जाती हैं।

मूलाधारपद्म भूर्लोक है। सांसारिक जीवमें जितनी वृत्तियाँ विद्यमान रहती हैं, वे सब मूलाधारमें कुण्डलिनीके अचेतन रहनेके कारण ही होती हैं। इसी कारण जगत्के जीव इतनी मायामें फँसे रहते हैं। कुण्डलिनीके चैतन्य होनेसे कदाचित् वह चक्रान्तरमें प्रवेश न भी करे, तो भी चैतन्य कुण्डलिनीके कारण मानवका मन ऊर्ध्वाभिमुखी तो हो ही जाता है—मानव स्वभावतः ही सच्चे दिलसे धर्म-कर्ममें लग जाता है और साधन-भजनमें कालव्यतीत करनेको ही उत्तम मानने लगता है। अब द्वितीय चक्र—

स्वाधिष्ठान

—की बात सुनिये। लिङ्गके मूलमें रहनेवाले पद्मका नाम स्वाधिष्ठान है। यह खूब चमकीला अरुणवर्ण और षड्दलविशिष्ट है—'बं' 'भं' 'मं' 'यं' 'रं' 'लं'—छः मातृका-वर्णात्मक है। प्रत्येक दलमें अवज्ञा, मूर्च्छा, प्रश्रय, अविश्वास, सर्वनाश और क्रूरता--ये छः वृत्तियाँ भरी हैं। इसकी कर्णिकामें श्वेतवर्ण अर्द्धचन्द्राकार 'वरुणमण्डल' है। इसके बीचमें श्वेतवर्ण वरुणबीज 'वं' है, उसके बीचमें वरुणबीजके प्रतिपाद्य श्वेतवर्ण द्विभुज वरुण देवता मकरपर अधिष्ठित हैं। उनकी गोदमें जगत्का पालन करनेवाले नव-यौवनसम्पन्न हरि विराज रहे हैं। उनके चार भुजाएँ हैं,

जिनमें वे शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म धारण किये हुए हैं। वक्षःस्थलमें श्रीवत्स-कौस्तुभ सुशोभित हैं एवं पीताम्बर पहने हुए हैं। इनकी गोदमें दिव्यवस्त्र और आभरणोंसे भूषिता चतुर्भुजा गौरवर्णा राकिनी नाम्नी इनकी शक्ति विराज रही है।

इस पद्मका ध्यान करनेसे भक्ति, आरोग्य और प्रभुत्वादिकी सिद्धि मिलती है।

पूर्वोक्त क्रियासे मूलाधारपद्मको त्यागकर कुण्डलिनीके स्वाधिष्ठानपद्ममें पहुँचते ही वह अपना पूर्वमुख मणिपूर-चक्रमें चढ़ा लेती है। और पश्चिम मुखसे स्वाधिष्ठान-पद्मस्थित हरि और राकिनी शक्ति, पद्मपत्रस्थित देवता, बं, भं, मं, यं, रं, लं–ये छः मातृकावर्ण एवं प्रश्रय, अविश्वास, अवज्ञा, मूर्च्छा, सर्वनाश और क्रूरता—इन छहों वृत्तियोंका ग्रास कर लेती है। पूर्वोक्त पृथ्वीबीज 'लं' जलमें लय हो जाता है। और जल भी 'वं' बीजमें लीन होकर कुण्डलिनी-के मुखमें अवस्थान करने लगता है। फिर वह अपने पश्चिम-मुखको भी मणिपूरचक्रमें चढ़ा लेती है। इन सब प्रणालियोंका भावनाद्वारा अभ्यास होनेपर जब कुण्डलिनी उठने लगेगी, तब साधक इनका स्पष्टतया अनुभव कर सकेंगे एवं प्रत्यक्ष (मानस नेत्रसे) भी कर सकेंगे। क्योंकि कुण्डलिनी जहाँतक पहुँचेगी, वहाँतक मेरुदण्डके अंदर चींटी चढ़नेकी भाँति 'सर्र सर्र' होने लगेगा, शरीरपर रोमाञ्च होगा एवं साधक अपने मनमें अपार आनन्द प्राप्त करेंगे।

स्वाधिष्ठानपद्म भुवर्लोक है। मृत्युके बाद जीव स्थूल शरीरको त्यागकर कर्म-फलानुसार निर्दिष्ट समयके लिये इस भुवर्लोकमें अवस्थान करता है। कुण्डलिनीके स्वाधिष्ठान-चक्रमें चढ़नेपर स्वाधिष्ठानकमलके प्रस्फुटित होनेके साथ ही साधक भुवर्लोकका ज्ञाता हो जाता है, फिर वह भुवर्लोकके साथ ही बहुत ही आसानीसे अशरीरी जीवोंके दर्शन तथा उनके साथ बातचीत भी कर सकता है।

जलौका (जोंक) जैसे एक तृणसे दूसरे तृणपर जाते समय एक मुखसे अगले तृणको पकड़कर फिर दूसरे मुख-को वहाँ पहुँचा देती है, वैसे ही कुण्डलिनी शक्ति एक चक्रसे दूसरे चक्रमें पहुँचते समय पूर्वमुखको उठाकर ऊपर-के चक्रको पकड़ लेती है एवं पश्चिममुखसे उस चक्रके सारे तत्त्वोंको ग्रहण करके उस तत्त्वके प्रतिपाद्य मन्त्रको मुँहमें लेकर फिर पश्चिममुखको उठाकर ऊपरके चक्रपर पहुँच जाती है। अब तृतीय चक्र—

मणिपूर

—की बात सुनिये। नाभिदेशमें तृतीय पद्म मणिपूर अवस्थित है। यह मेघवर्ण दश दलयुक्त है। दश दल—ड, ढ, ण, त, थ, द, ध, न, प, फ—दशमातृका-वर्णात्मक हैं। इसके दसों वर्ण नीले हैं। प्रत्येक दलमें लज्जा, पिशुनता, ईर्ष्या, सुषुप्ति, विषाद, कषाय, तृष्णा, मोह, घृणा और भय–ये दस वृत्तियाँ हैं। मणिपूरपद्मकी कर्णिकाके बीच रक्तवर्ण त्रिकोण वह्निमण्डल है। उसके बीचमें वह्निबीज 'रं' है। यह भी रक्तवर्ण है। इस वह्निबीजके बीचमें उसके प्रतिपाद्य चार हाथवाले रक्तवर्ण अग्निदेव मेषारोहण कर अधिष्ठित हैं। उनकी गोदमें जगत्का नाश करनेवाले भस्म-भूषित सिन्दूरवर्ण रुद्र व्याघ्रचर्मके आसनपर बैठे हैं। उनके दो हाथ हैं। इन दोनों हाथोंमें वर और अभयमुद्रा शोभा पा रही हैं। उनके तीन आँखें हैं और वे व्याघ्रवर्ण चर्म पहने हुए हैं। उनकी गोदमें पीतवसनपरिधाना, नानालङ्कार-भूषिता चतुर्भुजा, सिन्दूरवर्णा 'लाकिनी' नाम्नी उनकी शक्ति विराज रही है।

इस पद्मका ध्यान करनेसे आरोग्य-ऐश्वर्यादि मिलते हैं एवं जगत्के नाशादि करनेकी शक्ति उत्पन्न होती है।

पूर्वोक्त क्रियासे स्वाधिष्ठानपद्मको त्यागकर कुण्डलिनीके मणिपूर-पद्मपर पहुँचते ही वह अपना पूर्वमुख अनाहत-चक्रमें चढ़ा लेती है और पश्चिममुखसे मणिपूरचक्रस्थित रुद्र और लाकिनी शक्ति, पद्मपत्रस्थित देवतागण, डं, ढं, णं, तं, थं, दं, धं, नं, पं, फं—दश मातृका-वर्ण एवं लज्जा, पिशुनता, ईर्ष्या, सुषुप्ति, विषाद, कषाय, तृष्णा, मोह, घृणा और भय—इन दसों वृत्तियोंको ग्रास कर लेती है। पूर्वोक्त 'वं' बीज अग्निमण्डलमें लय हो जाता है एवं अग्नि भी 'रं' बीजमें परिणत होकर कुण्डलिनीके मुँहपर अवस्थान करती है। फिर वह पश्चिममुखको भी क्रमशः जलौकाकी भाँति अनाहत-चक्रमें उठा लेती है। मणिपूरचक्रको 'ब्रह्मग्रन्थि' कहते हैं। इस ब्रह्मग्रन्थिके भेदके समय साधकके मेरुदण्डके भीतर 'चिन्-चिन्'-जैसे विषम दर्दका अनुभव होता है। इस समय साधकको उदर-रोग हो सकता है एवं उसका शरीर अति कृश और दुर्बल हो जाता है।

मणिपूर-चक्र स्वर्लोक है। स्वः यानी स्वर्ग देवताओंका निवासस्थान है। मणिपूर-चक्रमें कुण्डलिनीके चढ़ जानेसे मणिपूर-कमलके प्रस्फुटित होनेके साथ ही साधक स्वर्ग-

लोकका ज्ञाता हो जाता है । और वह बड़ी आसानीसे स्वर्गलोकस्थित देव-देवियोंके दर्शन तथा उनके साथ वार्तालाप कर सकता है ।

स्वर्गलोकतक यानी मणिपूर-चक्रतक कुण्डलिनीके चढ़ जानेपर भी यदि साधकका शरीर किसी भी कारणवश छूट जाय, तो उसको फिर मर्त्यलोक—मातृगर्भमें प्रवेश करना पड़ता है, माध्याकर्षणसे खिंचे हुएकी भाँति उसको फिर पृथ्वी-तलपर आना ही पड़ता है । क्योंकि मणिपूर कमलतक आवागमनका स्थान है । मणिपूरतक योगीके योगभ्रष्ट होने-की सम्भावना रहती है । परन्तु योगभ्रष्ट होनेपर भी साधारण जीवकी भाँति उसे कोई चिन्ता करनेकी जरूरत नहीं है । क्योंकि भगवान् स्वयं अपने श्रीमुखसे कहते हैं—

> **पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते ।**
> **न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति ॥**
> **प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः ।**
> **शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥**
> **अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।**
> **एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥**
> **तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् ।**
> **यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥**
> (गीता ६ । ४०—४३)

अतएव योगभ्रष्ट साधकको किसी भी कारणसे चिन्ता नहीं करनी चाहिये ।

स्वर्गलोक देव-देवियोंका निवासस्थान होनेपर भी वहाँके लोग मुक्त नहीं हैं । मुक्ति-लाभके लिये उन्हें भी फिर मानव-जीवन ग्रहण करके साधना करनी पड़ती है । इसलिये कुण्डलिनीके अनाहत-चक्रतक न पहुँचनेसे पूर्व साधकको आवागमनके हाथसे छुटकारा नहीं मिलता । अनाहतचक्रतक पहुँचनेके बाद यदि साधकका शरीर-त्याग हो जाय, तो उसको फिर मातृगर्भमें प्रवेश नहीं करना पड़ता । वह क्रमोन्नतिके मार्गसे स्वभावतः ही ऊर्ध्वगमन करता है । उसे माध्याकर्षण-के बाहर समझना चाहिये । वर्तमान समयके विज्ञानविद् लोग मङ्गलादि ग्रहमें प्रवेश करनेके लिये नाना प्रकारकी चेष्टा कर रहे हैं; इस कारण वे किसी ऐसे यन्त्रका आविष्कार करनेमें लगे हैं, जिससे माध्याकर्षण-शक्तिके बाहर पहुँचते ही मङ्गल ग्रहादिके आकर्षणसे वहाँ पहुँचकर उसका तत्त्व जान सकें । यह सम्भव होनेपर भी उन्हें और भी गम्भीरभावसे इस बातपर विचार करना चाहिये कि कदाचित् वे मङ्गल ग्रहादि-में यन्त्रकी सहायतासे पहुँच भी जायँ, तो वहाँका तत्त्वज्ञान प्राप्त करके वे पृथ्वीपर फिर कैसे लौट सकेंगे । ठीक इसी प्रकार आवागमनके हाथसे छुटकारा मिलनेपर यानी अनाहत-चक्रतक पहुँच जानेपर साधकका शरीर छूटनेसे मङ्गल ग्रहादिके आकर्षणकी भाँति श्रीश्रीसद्गुरु तथा जगद्गुरु-के विशेष आकर्षणसे साधक क्रमोन्नतिके पथपर क्रमशः उन्नति करता रहता है । फिर उसके पतनकी सम्भावना नहीं रहती । परन्तु इसमें सुदीर्घ समयकी अपेक्षा है, क्योंकि एक-एक लोकमें उसे कितने ही वर्षोंतक निवास करना पड़ता है । दूसरी ओर साधकका शरीरत्याग न हो, तो वह (जिसकी कुण्डलिनी अनाहततक पहुँच गयी है) आसानीसे इसी जन्ममें परामुक्ति या पराभक्तिका अधिकारी बन सकता है । अस्तु ! अब—

अनाहत-चक्र

—का वर्णन पढ़िये । हृदयमें कुन्दके पुष्पसदृश वर्ण-विशिष्ट द्वादशदलयुक्त (बारह पंखुड़ियोंवाला) चतुर्थ पद्म अनाहत है । द्वादश दल—कं, खं, गं, घं, ङं, चं, छं, जं, झं, ञं, टं, ठं—द्वादशमातृका-वर्णात्मक हैं । इन वर्णोंका रंग सिन्दूरका-सा है । प्रत्येक दलमें आशा, चिन्ता, चेष्टा, ममता (मेरापन), दम्भ, विकलता, विवेक, अहङ्कार, लोलुपता, कपट, वितर्क और अनुताप—ये बारह वृत्तियाँ हैं । इस पद्मकी कर्णिकाके भीतर अरुणवर्ण सूर्यमण्डल एवं धूम्रवर्ण षट्कोण वायुमण्डल है । इसके एक बगलमें धूम्रवर्ण वायुबीज 'यं' है । इस वायुबीजके बीचमें उसके प्रतिपाद्य धूम्रवर्ण, चतुर्भुज वायुदेव कृष्णसार (काले हरिण) पर अधिरोहण कर अधिष्ठित हैं । इनकी गोदमें वराभयलसिता, त्रिनेत्रा, सर्वालङ्कारभूषिता, मुण्डमालाधरा, पीतवर्णा राकिनी नाम्नी उनकी शक्ति विराजिता हैं । इस अनाहतपद्मके बीचमें बाणलिङ्ग शिव और जीवात्मा विराजित हैं ।

इस पद्मके त्रिकोण पीठपर वायुबीज 'यं' विराजित है । इस वायुमण्डलके बीचमें कानकलारूप तेजोमय और रक्तवर्ण पीठपर कोटि विद्युत्सदृश भास्कर सुवर्णवर्ण बाणलिङ्ग शिव विराजित हैं । इनके मस्तकपर श्वेतवर्ण तेजोमय अतिसूक्ष्म एक मणि है; उसमें निर्वात दीपकलिकाकी भाँति (वायुरहित स्थानमें स्थित स्थिर दीपककी भाँति) हंस-बीजप्रतिपाद्य विशेष ज्योति है । यह ज्योति ही जीवात्मा है । 'अहं' भावका

आश्रय करके यही जीवात्मा मानवदेहमें अवस्थान कर रहा है। हम जो मायासे मोहित और शोकसे कातर होते हैं, एवं सब तरहसे सुख-दुःखादि फल भोगते हैं, यह सब वस्तुतः हमारा, सबका हृदयस्थ वह जीवात्मा ही भोग करता है। अनाहत-पद्ममें जीवात्मा रात-दिन साधन या योग अथवा ईश्वरचिन्तन करता रहता है। यथा—

सोऽहं-हंसः पदेनैव जीवो जपति सर्वदा।

'हंसः' के उल्टे 'सोऽहं' का जाप जीव सर्वदा करता रहता है। श्वास-प्रश्वासमें 'हंसः' उच्चारित होता है। श्वास-वायुको छोड़ते समय 'हं' एवं ग्रहण करते समय 'सः'—ये ही शब्द उच्चारित होते हैं। 'हं' शिवस्वरूप और 'सः' शक्तिस्वरूपा है। यथा—

हंकारो निर्गमे प्रोक्तः सकारस्तु प्रवेशने।
हंकारः शिवरूपेण सकारः शक्तिरुच्यते॥

(स्वरोदयशास्त्र ११।७)

अन्यत्र भूतशुद्धिपर शास्त्रमें भी लिखा है कि 'हंस इति जीवात्मानम्।' अर्थात् हंस ही जीवात्मा है।

इस अनाहत-पद्मका ध्यान करनेसे अणिमा-लघिमा आदि अष्ट सिद्धियोंकी प्राप्ति होती है।

इस अनाहत-चक्रके विषयमें इससे पहले मणिपूरचक्रके प्रसङ्गमें संक्षेपसे कुछ कहा जा चुका है। साधक-सम्प्रदाय इस अनाहत-चक्र अर्थात् हृत्-चक्रपर अपने इष्टदेवताकी प्रतिष्ठा करके उसका पूजन-ध्यान किया करते हैं। नादानु-सन्धान करनेवाले साधक इस अनाहत कमलमें ही अनाहत ध्वनिका श्रवण कर अपार्थिव आनन्दका उपभोग करते हैं। शास्त्रमें कहा है—'हृत्पङ्कजस्थ अनाहत-कमलमें यह नाद स्वतः ही ध्वनित हो रहा है।' यह ध्वनि अन्+आहत अर्थात् विना आघात (चोट) के होती है, इसीलिये हृदयस्थ जीवाधार पद्मका नाम अनाहत पड़ा है।

पूर्वोक्त क्रियासे कुण्डलिनी अनाहत-चक्रमें पहुँचकर अपने पूर्वमुखको विशुद्धचक्रमें चढ़ा देती है एवं दूसरे मुखसे अनाहतचक्रस्थित देव-देवी, कं, खं, गं, घं, ङं, चं, छं, जं, झं, ञं, टं, ठं—द्वादश मातृकावर्ण एवं आशा, चिन्ता, चेष्टा, ममता, दम्भ, विकलता, विवेक, अहङ्कार, लोलुपता, कपट, वितर्क और अनुताप—इन द्वादश वृत्तियोंको ग्रास कर लेती है। पूर्वोक्त 'रं' बीज वायुमण्डलमें लीन हो जाता है एवं वायु भी 'यं' बीजमें परिणत होकर कुण्डलिनीके मुखमें अवस्थान करती है। तब वह इस मुखको भी विशुद्धचक्रमें चढ़ा लेती है। इस चक्रको विष्णुग्रन्थि कहते हैं; कुण्डलिनीके इस चक्रका त्याग करनेसे विष्णुग्रन्थि-का भेद हो जाता है।

अनाहत-चक्र 'महः' लोक है। इस चक्रमें कुण्डलिनीके विराजते समय साधकको 'महर्लोक' का सर्वज्ञान अपने-आप ही हो जाता है। यहाँ आवागमनसे छुटकारा मिल जाता है, अतएव इस अवस्थामें साधकका शरीरत्याग होनेसे वह सूक्ष्मशरीरसे क्रमोन्नतिके पथपर गमन करता है। अब पञ्चम—

विशुद्ध-चक्र

—की बात सुनिये। कण्ठदेशमें धूम्रवर्ण षोडशदल-विशिष्ट विशुद्ध-चक्र अवस्थित है। षोडश दल अं, आं, इं, ईं, उं, ऊं, ऋं, ॠं, ऌं, ॡं, एं, ऐं, ओं, औं, अं, अः—षोडशमातृका-वर्णात्मक हैं। इन वर्णोंका रंग तीसीके पुष्प-जैसा नीला होता है। प्रत्येक दलमें षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, धैवत, पञ्चम और निषाद—ये सप्त स्वर और 'हुम्', 'फट्', 'वौषट्', 'वषट्', 'स्वधा', 'स्वाहा', 'नमः', 'विष' और 'अमृत' प्रभृति विद्यमान हैं। इस पद्मकी कर्णिकामें श्वेतवर्ण चन्द्रमण्डलके बीच स्फटिकके समान वर्णवाला 'हं' बीज है। उसके बीच 'हं' बीजके प्रतिपाद्य आकाश-देवता श्वेत हाथीपर सवार हैं। उनके चार हाथ हैं; चारों हाथोंमें पाश, अङ्कुश, वर और अभय शोभा पा रहे हैं। उस आकाशदेवताकी गोदमें त्रिलोचनान्वित (तीन आँखोंवाले), पञ्चमुखलसित (पाँच मुँहवाले), दशभुज, सदसत् कर्म-नियोजक (भले-बुरे काममें लगानेवाले), व्याघ्र-चर्मके पहननेवाले सदाशिव विराजमान हैं। उनकी गोदमें शर, चाप, पाश और शूलयुक्ता, चतुर्भुजा, पीतवसना, रक्तवर्णा शाकिनी नाम्नी उनकी शक्ति अर्द्धाङ्गिनीरूपमें विराजती हैं। इन अर्द्धनारीश्वर शिवके पास सभीके बीजमन्त्र या मूलमन्त्र विद्यमान हैं।

इस विशुद्ध-पद्मका ध्यान करनेपर साधक जरा और मृत्युके पाशसे मुक्त होकर सब भोगादिको प्राप्त करता है।

पूर्वोक्त क्रियासे कुण्डलिनी विशुद्धपद्ममें पहुँचकर अपने पूर्वमुखको आज्ञा-पद्म नामक चक्रमें चढ़ा लेती है और दूसरे मुखसे विशुद्धपद्मस्थित अर्द्धनारीश्वर शिव, शाकिनी-शक्ति, पद्मपत्रस्थित समस्त देव-देवी, अं, आं, इं, ईं, उं, ऊं,

ॠं, ॠं, लं, लृं, एं, ऐं, ओं, औं, अं, अः—ये षोडश मातृकावर्ण एवं षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत, निषाद—ये सप्त स्वर तथा हुम्, फट्, वौषट्, वषट्, स्वधा, स्वाहा, नमः, विष, अमृत प्रभृतिको ग्रास कर लेती है। पूर्वोक्त वायुबीज 'यं' आकाशमण्डलमें लीन हो जाता है और आकाश भी 'हं' बीजमें परिणत होकर कुण्डलिनीके मुखमें अवस्थान करता है, फिर क्रमशः वह इस मुखको भी ललना-चक्रमें चढ़ा लेती है।

विशुद्ध-चक्र 'जन' लोक है। कुण्डलिनी-शक्तिके इस चक्रपर विराजते समय साधक जनलोकके सम्बन्धमें सम्यक् रूपसे ज्ञान-लाभ कर लेता है। अब छठे—

आज्ञा-चक्र

—की बात सुनिये। दोनों भौंहोंके बीच श्वेतवर्ण द्विदल-विशिष्ट आज्ञा-पद्म विद्यमान है। वे दो दल 'हं' और 'क्षं' हैं। इस पद्मकी कर्णिकाके भीतर शरत्कालीन चन्द्रमाके सदृश निर्मल श्वेतवर्ण त्रिकोणमण्डल है। त्रिकोणके तीनों कोणोंमें सत्त्व, रज और तम—ये तीन गुण एवं तीनों गुणोंवाले ब्रह्मा, विष्णु और शिव—ये तीन देवता विराज रहे हैं। त्रिकोणमण्डलके बीचमें शुक्लवर्ण चन्द्रबीज 'हं' दीप्तिमान् है। त्रिकोणमण्डलके एक बगलमें श्वेतवर्ण बिन्दु है। उसके बगलमें चन्द्रबीजके प्रतिपाद्य वर और अभयसे सुशोभित द्विभुज देवविशेषकी गोदमें जगन्निधानस्वरूप श्वेतवर्ण, द्विभुज, त्रिनेत्र ज्ञानदाता शिव विराजित हैं। उनकी गोदमें चन्द्रमाकी भाँति श्वेतवर्णा, षड्वदना (छः मुँहवाली), विद्या, मुद्रा, कपाल, डमरू, जपमालिका, वर, अभय, शर, चाप, अङ्कुश, पाश, पङ्कजसे विभूषित द्वादशभुजा हाकिनी नाम्नी तत्-शक्ति विराजती हैं।

आज्ञा-चक्रके ऊपर इडा, पिङ्गला और सुषुम्णा—इन तीनों नाड़ियोंके मिलनेका स्थान है। इस स्थानका नाम त्रिकूट या त्रिवेणी है। इस त्रिवेणीके ऊपर सुषुम्णाके मुँहसे नीचे अर्द्धचन्द्राकार मण्डल विद्यमान है। अर्द्धचन्द्रके ऊपर तेजःपुञ्जस्वरूप एक बिन्दु है। इस बिन्दुके ऊपर उच्च-नीच भावसे दण्डाकार नाद विद्यमान है। यह नाद देखनेमें ठीक एक तेजोरेखाके समान है। इसके ऊपर श्वेतवर्ण एक त्रिकोणमण्डल है। उसके बीचमें शक्तिरूप शिवाकार हकारार्द्ध है। इस स्थानमें वायुक्रियाका अन्त हो गया है। इसकी चर्चा आगे चलकर की जायगी। इस स्थानका नाम निरालम्बपुरी है।

इस आज्ञापद्मका एक दूसरा नाम ज्ञान-पद्म है। इसके परमात्मा अधिष्ठाता हैं एवं इच्छा उनकी शक्ति हैं। यहाँ प्रदीप्त शिखारूपिणी आत्मज्योति सुन्दर पीले स्वर्णरेणुकी भाँति विराजमान है। इस स्थानमें जो ज्योतिका दर्शन होता है, वही साधकका आत्मप्रतिबिम्ब है।

इस पद्मके ध्यानद्वारा दिव्यज्योतिके दर्शन पानेपर योगका चरम फल अर्थात् निर्वाण प्राप्त हो जाता है।

उसके बाद कुण्डलिनी आज्ञापद्ममें पहुँचकर आज्ञा-पद्मस्थ शिव, शक्ति और हं, क्षं, ये दो मातृकावर्ण, सत्त्व, रज और तम—तीनों गुण तथा ब्रह्मा, विष्णु, शिव प्रभृतिके साथ सबका ग्रास कर लेती है। पूर्वोक्त आकाशबीज 'हं' के मनश्चक्रमें लय होनेपर मन तथा मनश्चक्रस्थ शिव भी कुण्डलिनीके शरीरमें लीन हो जाते हैं। इस पद्मका नाम रुद्र-ग्रन्थि है। इस ग्रन्थिका भेद होनेसे साधक हृष्टपुष्ट, बलिष्ठ तथा तेजःपुञ्ज हो जाता है। शरीर भी रोगशून्य हो जाता है।

इसके बाद सप्तम चक्र, जो प्रायः जनसाधारणको अज्ञात है, वह—

ललना-चक्र

—तालुके मूलमें स्थित है। वह रक्तवर्ण चौंसठ दलवाला है। इस चक्रमें अहंतत्त्वका स्थान है। यहाँ श्रद्धा, सन्तोष, स्नेह, दम, मान, अपराध, शोक, खेद, अरति, सम्भ्रम, ऊर्मि और शुद्धता—ये बारह वृत्तियाँ एवं अमृतस्थाली विद्यमान हैं।

इस पद्मका ध्यान करनेसे उन्माद (पागलपन), ज्वर, पित्तादिजनित दाह, शूलादि वेदना, शिरःपीडा और शरीरकी जडता मिट जाती है।

कुण्डलिनीके विशुद्ध-चक्रमें विराजते समय वह अपना एक मुख ललना-चक्रमें चढ़ा देती है एवं दूसरे मुखसे विशुद्ध-चक्रका सब कुछ ग्रासकर उस मुखको भी ललना-चक्रमें उठा लेती है। इस समय कुण्डलिनी सर्पाकार न रहकर प्रखर ज्योतिसे पूर्ण बन जाती है। इसके बाद वह ज्योतिरूपसे ही ऊर्ध्वगमन करती है।

जिस निरालम्बपुरीकी बात अभी कही जा चुकी है, उसका पूरा वर्णन इस प्रकार है—

निरालम्बपुरी

—भौतिक शरीरमें शब्द-ब्रह्मरूप तथा वर्णब्रह्मरूप दो

ओङ्कार विद्यमान हैं। अनाहतकमलस्थ 'सोऽहं' यानी हंस ही शब्दब्रह्मरूप ओङ्कार है एवं आज्ञा-चक्रके ऊपर ललनाचक्रके बाद निरालम्बपुरीमें वर्णब्रह्मरूप ओङ्कार विराजमान है। जहाँ सुषुम्णा-नाडीका अन्त होकर शङ्खिनी-नाडीका आरम्भ होता है, उसी स्थानको निरालम्बपुरी कहते हैं। वही तेजोमय तारकब्रह्मका स्थान है। इसी स्थानमें ब्रह्म-नाडीके आश्रित तारक-बीज (प्रणव) ओङ्कार वर्तमान है। यही प्रणव वेदका प्रतिपाद्य ब्रह्मरूप एवं शिव-शक्ति योगसे प्रणवरूप है। शिव-शब्दमें हकार और उसका आकार गजकुम्भ-जैसा (अर्थात् ओकार) है। ओकार-रूप पलँगपर नादरूपिणी देवी हैं; उनके ऊपर बिन्दुरूप परमशिव विद्यमान हैं। ऐसा होनेसे ही (ॐ) ओङ्कार हो जाता है। इससे सिद्ध होता है कि शिव-शक्ति या प्रकृति-पुरुषके संयोगसे ही ओङ्कार बना है।

साधक यथाविधि योगानुष्ठानद्वारा षट्चक्र भेदकर ब्रह्मनाडीकी सहायतासे इस निरालम्बपुरीमें पहुँचनेपर महाज्योतिरूप ब्रह्म ओङ्कारका अथवा अपने इष्टदेवताका दर्शन कर सकता है तथा प्रकृत निर्वाणपदको प्राप्त होता है। समस्त देव-देवियोंके बीजस्वरूप वेदप्रतिपाद्य ब्रह्मरूप प्रणवतत्त्वको जानकर साधन करनेसे साधक इस तारक-ब्रह्मके स्थानपर ज्योतिर्मय देव-देवियोंका साक्षात् लाभ कर सकता है।

ओङ्कार केवल प्रणवका दूसरा नाममात्र है। ओङ्कारके तीन रूप हैं—श्वेत, पीत और रक्त। अ, उ, म् के मिलनसे प्रणव बनता है एवं ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर इस प्रणवमें प्रतिष्ठित हैं। अकार ब्रह्मा, उकार विष्णु और मकार महेश्वर हैं। अतएव प्रणवमें ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर—ये तीनों देवता; इच्छा, क्रिया और ज्ञान—ये तीनों शक्तियाँ एवं सत्त्व, रज और तम—तीनों गुण प्रतिष्ठित हैं। इसीलिये इसको त्रयी कहते हैं। शास्त्रमें लिखा है कि त्रयी—अकार, उकार और मकारविशिष्ट शब्द, प्रणवधर्म सदा फल देता है—'त्रयीधर्मः सदाफलः'। जो तीन प्रणवयुक्त गायत्रीका जप करता है, वह परमपदको प्राप्त होता है। इष्टमन्त्रके आदि और अन्तमें प्रणवद्वारा सेतुबन्धन कर जप न करनेसे इष्टमन्त्रका जप निष्फल हो जाता है। प्रणवका यही अकार नादरूप, उकार बिन्दुरूप, मकार कलारूप और ओङ्कार ज्योतिरूप है। साधकगण साधनाके समय पहले नादको सुनकर नादलुब्ध, फिर बिन्दुलुब्ध, तदनन्तर कलालुब्ध होकर अन्तमें ज्योतिर्दर्शन करते हैं। अस्तु—

तितिक्षा-शक्ति-सम्पन्न, कठोर संयमी साधक विधिवत् साधनाओंके द्वारा स्वयं ही कुण्डलिनीको चैतन्य करके आज्ञाचक्रतक पहुँच सकता है। किन्तु आज्ञाचक्रके ऊपर ललनाचक्रमें जब कुण्डलिनी ज्योतिरूपा हो जाती है, एवं वहाँ निरालम्बपुरी होनेके कारण साधक पुरुषार्थके बलसे उसके आगे बढ़ नहीं सकता, उस समय गुरु-कृपाकी विशेष आवश्यकता होती है। यों तो गुरुके विना किसी भी साधकको निरापद तथा यथार्थ मार्ग नहीं मिलता, तथापि 'अहम्' भावापन्न नास्तिक मनुष्य भी कदाचित् पुरुषार्थकी सहायता लेकर साधना शुरू कर सकता है और विधिवत् साधना करके आज्ञा-चक्रतक पहुँच भी जा सकता है। परन्तु इसके आगे तो गुरु-कृपाके विना पुरुषार्थ सर्वथा असमर्थ हो जाता है। अब—

गुरु-चक्र

—का वर्णन सुनिये। ब्रह्मरन्ध्रमें श्वेतवर्ण शतदलवाला अष्टमपद्म गुरुचक्र अवस्थित है। इस पद्मकी कर्णिकामें त्रिकोण-मण्डल विद्यमान है। इस त्रिकोण-मण्डलके तीनों कोणोंमें यथाक्रम ह, ल, क्ष—ये तीन वर्ण हैं। इसके सिवा तीनों ओर समस्त मातृकावर्ण विद्यमान हैं। इसी त्रिकोण-मण्डलको योनिपीठ और शक्तिमण्डल भी कहते हैं। इस शक्तिमण्डलके बीचमें तेजोमय कामकला-मूर्त्ति विद्यमान है। मस्तकमें एक तेजोमय बिन्दु है। उसके ऊपर दण्डाकार तेजोमय नाद विद्यमान है।

इस नादके ऊपर निर्धूम अग्नि-शिखाकी भाँति तेजका पुञ्ज विद्यमान है। उसके ऊपर हंस-पक्षीकी पाँखों-जैसा तेजोमय पीठ है। उसके ऊपर एक श्वेत हंस विराजमान है। इस हंसका शरीर ज्ञानमय है और उसके दोनों पक्ष (बाहु) आगम और निगम हैं। उसके दोनों चरण शिव-शक्तिमय, चोंच प्रणवस्वरूप एवं आँख और कण्ठ कामकलारूप हैं। यह हंस ही गुरुदेवके पादपीठस्वरूप है।

इस हंसके ऊपर श्वेतवर्ण वाग्भव बीज (गुरु-बीज) 'ऐं' विद्यमान है। उसके बगलमें अपने बीजप्रतिपाद्य गुरुदेव विराज रहे हैं। उनका वर्ण श्वेत एवं कोटिसूर्यकी भाँति तेजःपुञ्जस्वरूप है। उनके दो हाथ हैं—एक हाथमें वर और दूसरे हाथमें अभयमुद्रा शोभा पा रही है। वे श्वेतमाला और श्वेतगन्ध (चन्दन) धारण किये हुए हैं एवं श्वेतवस्त्र पहनकर हास्ययुक्त मुखसे अपनी करुण-दृष्टिके द्वारा कृपाका अमृत

बरसा रहे हैं। उनकी बायीं ओरकी गोदमें रक्तवर्ण वस्त्र धारण किये सर्व-भूषण-भूषिता, तरुण-अरुण-सदृशा, रक्तवर्णा गुरुपत्नी विराज रही हैं। उनके बायें हाथमें एक कमल है, एवं दाहिने हाथसे श्रीगुरुदेवके शरीरको लपेटकर बैठी हैं। श्रीगुरु और गुरुपत्नीके मस्तकके ऊपर सहस्रदल-पद्म छत्रीकी भाँति शोभा पा रहा है।

इस सहस्रदल-पद्ममें हंसपीठके ऊपर गुरुपादुका एवं सभीके गुरु विराजमान हैं। यही अखण्डमण्डलाकार चराचरमें व्याप्त हैं। इसी पद्ममें ऊपर लिखे प्रकारसे सपत्नीक गुरुदेवका ध्यान करना पड़ता है।

इस सहस्रदल-पद्मका ध्यान करनेसे समस्त सिद्धियाँ और दिव्यज्ञानका प्रकाश प्राप्त होता है।

इसके बाद कुण्डलिनी ललनाचक्र तथा सोमचक्र (गुप्तचक्र) के भीतरसे ऊपर चढ़ जायगी एवं सुषुम्णाके मुखके नीचे द्वारस्वरूप अर्द्धचन्द्राकार मण्डलका भेद करके जितना ही ऊपरकी ओर गमन करेगी, उतना ही क्रमशः नाद, बिन्दु, हकारार्द्ध, निरालम्बपुटी प्रभृतिका ग्रास कर डालेगी अर्थात् ये सब कुण्डलिनीके अंदर लय हो जायँगे। इस अर्द्धचन्द्राकार द्वार (कपाट) का भेद होते ही कुण्डलिनी स्वयं उत्थित होकर सहस्रदलकमलमें पहुँचकर परमपुरुषके साथ संयुक्त हो जायगी। यहींपर—

सहस्रदल

—कमलका वर्णन करना चाहिये। सहस्रदलकमल इस प्रकार है—

ब्रह्मरन्ध्रके ऊपर महाशून्यमें रक्तकिञ्जल्क (केसररेणु) श्वेतवर्ण सहस्रदलविशिष्ट नवम चक्र सहस्रार अवस्थित है। सहस्रदलकमलके चारों ओर पचास दल हैं एवं लगातार एक दूसरेपर बीस स्तरोंमें सजे हैं। प्रत्येक स्तरके पचास दलोंमें पचास मातृकावर्ण विद्यमान हैं।

सहस्रदलकमलकी कर्णिकाके भीतर त्रिकोण चन्द्रमण्डल विद्यमान है। उसीका दूसरा नाम शक्तिमण्डल है। इस शक्तिमण्डलके तीनों कोणोंपर यथाक्रमसे 'हं', 'लं', 'क्षं'—ये तीन वर्ण एवं तीनों ओर सब स्वर तथा व्यञ्जन वर्ण सन्निविष्ट हैं।

इस शक्तिमण्डलके बीचमें तेजोमय विसर्गके आकारसे मण्डल-विशेष है। उसके ऊपर मध्याह्नके कोटि-सूर्यस्वरूप तेजःपुञ्ज एक बिन्दु है। वह विशुद्ध स्फटिककी भाँति श्वेतवर्ण है। यह बिन्दु ही परमशिव नामक जगत्के उत्पादक, पालक और नाशकारक परमेश्वर हैं। यही अज्ञानके अन्धकारको नाश करनेवाले सूर्यस्वरूप परमात्मा हैं। इन्हींका भिन्न-भिन्न सम्प्रदायोंने भिन्न-भिन्न नामोंसे निर्देश किया है। साधनके बलसे इस बिन्दुको प्रत्यक्ष करनेका नाम ही ब्रह्म-साक्षात्कार है।

परमशिवस्वरूप यही बिन्दु सर्वदा द्रवित सुधाके समान है। इसके बीचमें सारी सुधाकी आधार गोमूत्र-वर्ण अमा नामकी कला है। यही आनन्द-भैरवी है। इसमें अर्द्धचन्द्राकार निर्वाणकामकला है। यह निर्वाणकामकला ही सबकी इष्टदेवता है। उसके बीचमें तेजोरूप परम निर्वाण शक्ति शोभित है—इसके आगे नि-रा-का-र-म-हा-शू-न्य है।

इस सहस्रदलकमलमें कल्पवृक्ष है। उसकी जड़में चार दरवाजेवाला ज्योतिर्मन्दिर है, उसके बीचमें पञ्चदश अक्षरात्मिका वेदिका है। उसके ऊपर रत्नके सिंहासनमें चणकाकार (चनेके आकारवाले) महाकाली और महारुद्र विराजित हैं। वे महाज्योतिर्मय हैं। इन्हींको 'चिन्तामणिके घरमें मायासे आच्छादित परमात्मा' कहते हैं।

इस सहस्रदलकमलका ध्यान करनेसे जगदीश्वरत्व प्राप्त होता है।

कुछ ही पहले यह कहा गया है कि कुण्डलिनी सहस्रारमें पहुँचकर परमपुरुषके साथ संयुक्त हो जाती है। आद्याशक्ति कुण्डलिनी इस प्रकार स्थूल भूतसे प्रकृतितक चौबीस तत्त्वोंका ग्रास कर शिरःस्थित सहस्रारमें चढ़कर परमपुरुषके साथ संयुक्त और एकीभूत होती है। उस समय प्रकृति-पुरुषके सामरस्यसम्भूत अमृत-धाराद्वारा क्षुद्र ब्रह्माण्डरूप शरीर प्लावित होता रहता है। उस समय साधक समस्त जगत्को भूलकर बाह्यज्ञानशून्य होकर एक अनिर्वचनीय अभूतपूर्व अपार आनन्दमें निमग्न हो जाता है। उस आनन्दको लेखनीकी सहायतासे प्रकट करना असम्भव है। वह आनन्द अनुभवके बिना वाणीसे कभी समझा-समझाया नहीं जा सकता। इस अव्यक्त अपूर्व भावको व्यक्त करनेके लिये भाषा है ही नहीं। यह अनिर्देश्य आनन्द अनिर्वचनीय, अवर्णनीय, अलेखनीय है।

सहस्रदल-पद्ममें कुण्डलिनीको महान् तेजोमयी अमृतानन्द-मूर्त्ति देखना चाहिये। उसके बाद सुधा-समुद्रमें निमज्जित और रसाप्लुत होकर कुण्डलिनीको परमशिवके साथ सामरस्य

सम्भोग कराकर फिर उसे यथास्थान लाना पड़ेगा। इस समय उसको अमृत-धारासे प्लावित महान् अमृतरूप आनन्दमयीके रूपमें देखना पड़ेगा।

सहस्रार-कमलके वर्णनमें बतलाया गया है कि शक्ति-मण्डलके बीच जो तेजःपुञ्ज एक बिन्दु विद्यमान है, वही परमशिव यानी पुरुष है। तथा मूलाधारस्थ कुण्डलिनी-शक्ति सर्व चक्रोंको भेदकर ज्योतिरूपसे आकर इस परमशिव-रूपी बिन्दुमें संयुक्त होकर लीन हो जाती है। कुण्डलिनी प्रकृति है। परमशिवके साथ परा-प्रकृतिका मिलन यानी पुरुष-प्रकृतिका मिलन ही इस प्रबन्धका लक्ष्य था। अब दोनों मिल गये हैं, अतः लेख भी यद्यपि समाप्त हो गया है, तथापि जब योगके पूर्णांगकी बातें मुझे लिखनी हैं, तब आगे भी और कुछ बतलाना आवश्यक है। स्मरण रहे कि ये दोनों मिलकर एक ही बिन्दुमें परिणत हो जाते हैं, तब इन दोनोंके विभिन्न नाम न रहकर ये केवल एक परमात्माके नामसे ही पुकारे जाते हैं। सृष्टिके पहले केवल ये ही विद्यमान थे। फिर जब उनकी इच्छा होती है कि मैं लीला करनेके लिये प्रजारूपमें बहु होऊँगा, तब फिर सृष्टिका आरम्भ होता है।

(शेष फिर)

साधक !

देव, यदि मैं बोल पाता !
तो ग्रसित ग्रन्थी हृदयकी आज अपनी खोल पाता।
देव ! यदि मैं बोल पाता॥

चिर समय मुझको हुआ था, आपकी आराधनामें;
कौन था, क्या था, कहाँ था, क्या हुआ चिर-साधनामें—
ये सभी झंझट झगड़ते, किन्तु सबको भूल पाता,
देव ! यदि मैं बोल पाता॥१॥

सो चुका संसार सारा था, निशाकी अंक पाये;
खोजता तुमको फिरा था, साथमें अवलम्ब था ये;
आज ये दुख दूर होकर, चित्त मेरा मोद पाता-
देव ! यदि मैं बोल पाता॥२॥

भूल तुम मुझको चुके थे, किन्तु मैं था याद करता;
हो चुका पतझड़ सभी था, पातपर मैं आश करता
छोड़ते जाते सभी फिर, जोड़ता नव-नेह-नाता-
देव ! यदि मैं बोल पाता॥३॥

हो चुकी उर्वर हृदयकी तप्त ये मेरी स्थली थी;
धमनियोंका रक्त रुककर, बढ़ रही फिर बेकली थी;
किन्तु इनको तुच्छ लखकर क्या न बन जाता सुहाता-
देव ! यदि मैं बोल पाता॥४॥

जो तनिक तुम बोल लेते, तो समझता भाग्य मेरा;
चल पड़ा अब स्वर्णका संसार पानेको घनेरा;
प्रेममय, उल्लास-मिश्रित, हर्षके मैं गीत गाता—
देव ! यदि मैं बोल पाता॥५॥

—क्षेमचन्द्र 'सुमन' साहित्य-रत्न, विद्या-भूषण

गुरु गुड़ ही रहे, चेला चीनी हो गया !

[कहानी]

(लेखक—मुखिया विद्यासागरजी)

(१)

ज्यादा दिनोंकी बात नहीं। संवत् १९०० वि०की एक सच्ची और विचित्र घटना सुनिये। उस घटनाने यह कहावत प्रमाणित कर दी कि—

'गुरु गुड़ ही रहे, चेला चीनी हो गया !'

दक्षिणके एक शहरमें भगवान् श्रीकृष्णका एक मन्दिर है। महन्त थे उस समय—बाबा धरमदासजी। एक दिन एक अहीरका लड़का उनके पास आया और उनका चेला हो गया। वह माता-पिताहीन एक बारह सालका लड़का था। वह अपने गाँवमें अपने काकाके पास रहता था। मगर उस कौए काकाने ऐसी 'कैं-कैं' लगायी कि लड़केको भागना पड़ा। लेकिन यदि काकाकी 'कैं-कैं' न होती तो न तो वह वहाँसे भागता और न विज़िगापट्टमके मन्दिरका महन्त ही बन सकता। शहरके समस्त रईस, समस्त अहलकार और समस्त भक्त नर-नारी उस मन्दिरमें आया करते थे और मूर्तिके साथ ही महन्तको भी प्रणाम किया करते थे। इसीलिये यह सिद्धान्त माना गया है कि मालिककी अकृपामें भी कृपा छिपी रहती है। रोषके भीतर भी पोष रहता है। अस्तु, उस लड़केको नाम मिला—गरीबदास। गरीबदासको दिनभर मन्दिरकी पाँच गायें वनमें चरानी पड़ती थीं। दोपहर और शामको बनी-बनायी रोटी खायी और पड़कर सो रहे। यही गरीबदासकी दिनचर्या थी। लिखना-पढ़ना कुछ नहीं। पूजा-बंदगी कुछ नहीं। दूध पीना और गायें चराना।

(२)

एक दिन आयी—एकादशी। महन्तजीने गरीबदाससे कहा—'आज दोपहरको यहाँ मत आना। मेरा व्रत है, इसलिये भोजन शामको बनेगा। तुम आधा सेर आटा और बीस आलू लिये जाओ। दोपहरीको स्नान करना और वनकी कंडी बीनकर आग सुलगाना। पानीसे उस जगहको पवित्र कर देना। समझे ?'

गरीब०—जी हाँ !

धरम०—अपने अँगोछेपर आटा गूँदना। मैं तुमको एक लौकीका कमण्डलु दूँगा, उससे पानीका काम करना। समझे ?

गरीब०—समझे !

धरम०—आध-आध पावके चार टिक्कर बनाना। फिर आलू भूनना। आज नमक नहीं खाना चाहिये। इसलिये *नमक नहीं दूँगा—समझे ?*

गरीब०—समझे ! तो अपने आलू भी अपने पास रखिये। समझे ?

बाबा धरमदासका तकिया-कलाम था—'समझे' ! चेला गरीबदासने भी वही तकिया-कलाम स्वीकार कर लिया। इस हरकतपर बाबाजी नाराज़ नहीं हुए—किन्तु प्रमुदित हुए कि चेलाने एक बात तो सीखी।

धरम०—पागल है क्या ? नमकहीन आलू और भी अच्छे लगते हैं। सोंधापन मिलता है। समझे ?

गरीब०—समझे !

धरम०—जब भोजन बन जाय, तब अपने गलेका हीरा उतारना—समझे ?

गरीब०—समझे ! हीरा कैसा—समझे !

धरम०—जिस दिन तुझे चेला किया था, उस दिन तेरे गलेमें मैंने एक शालिग्रामकी मूर्ति—तावीज़ बनाकर बाँध दी थी—उसीको हीरा कहते हैं। और वह तावीज है कहाँ ? तेरा गला तो सूना है ? समझे !

गरीब०—समझे ! उतारकर फेंक दिया। समझे !

धरम०—बड़ा गधा है। कहाँ फेंक दिया ? समझे !

गरीब०—छप्परमें खुरस दिया है—समझे !

धरम०—पूरा उल्लू मालूम पड़ता है। समझे ! अबे, उसे फेंक क्यों दिया ? समझे !

गरीब०—गलेमें पत्थर बाधनेसे फायदा ? समझे ! सोते समय कभी-कभी वह गलेके नीचे आ जाता था तो मालूम पड़े कि जान गयी। समझे ! मैं उसे नहीं पहनूँगा। समझे !

धरम०—अरे राम-राम ! चेला है कि—चैला ! समझे ! ले आ उसे मेरे पास। समझे !

गरीबदास घबड़ा गया। कहीं वृद्ध साधु उसे उस नाहक पत्थरके लिये पीटने न लगें। यह सोचकर वह चटपट ताबीज खोज लाया और गुरुजीको दे दिया।

धरम०—देखो बच्चा! तुम अभी नादान हो। समझे? इस कपड़ेके भीतर शालिग्रामकी मूर्ति है—समझे! मूर्तिके भीतर गुपालजी रहते हैं—समझे?

गरीब०—वही गुपालजी कि जिन्होंने 'बिनदामन' में अवतार लिया था? समझे! मेरी ही जातिके थे—अहीर थे। दिनभर गायें चराया करते थे और मुरली बजाया करते थे। समझे!

धरम०—हाँ-हाँ वही। समझे! जब भोजन बना लो, तब इस ताबीजको गलेसे उतारकर आगे रख देना और कहना कि 'गुपालजी! भोग लगाओ।' समझे? फिर तुम भोजन करना। समझे!

गरीब०—समझे!

धरम०—अच्छा तो आ—हीरा बाँध दूँ। समझे!

गरीब०—अहूँ! समझे!

धरम०—कोई हरज नहीं है—समझे?

गरीब०—उहुँ! समझे!

धरम०—हठ नहीं करना चाहिये। समझे?

गरीब०—गलेमें नहीं बाँधूँगा। सोते समय कभी गुपालजीने मेरा गला टीप दिया तो? चोर आदमीको दूर ही रखना चाहिये। समझे! मेरी कमरमें बाँध दीजिये—समझे!

धरम०—हुश! कमरमें नहीं। लाओ बाजूमें बाँध दूँ। समझे। हाथ जोड़कर—आँखें बंद करके भोग लगाना—समझे!

गरीबदासने अपना दाहिना हाथ आगे बढ़ा दिया। बाबाजीने वह ताबीज, बाजूबंदकी तरह बाँध दिया। इसके बाद आधा सेर आटा और बीस आलू दिये। आधा पाव गुड़ इसलिये दिया कि बाबाजी उसकी बातोंपर खुश हो गये थे। इसके अलावा उसने उनका तकिया-कलाम कण्ठ कर लिया था। फिर एक तूँबा देकर कहा—'जाओ बच्चा! हरेक एकादशीको ऐसा ही करना पड़ेगा—समझे!'

गायें लेकर गरीबदासने नदीका रास्ता पकड़ा।

(३)

जब दोपहरी हुई, तब गुरुजीके बताये विधानके अनुसार गरीबदासने चार टिक्कर बनाये। आलू भूनकर भरता बनाया और चारोंपर थोड़ा-थोड़ा रख दिया। ढाकके पत्तों-से एक पत्तल भी बना ली थी। उसीपर चारों टिक्कर रख दिये और मूर्ति भी रख दी। इसके बाद उसने अपने दोनों हाथ जोड़े और आँखें बंद कीं। फिर कहा—'गुपालजी! भोग लगाओ!'

आँखें खोलकर गरीबदासने देखा कि चारों रोटियाँ ज्यों-की-त्यों रक्खी हैं। एक भी कम नहीं हुई। यानी गुपालजीने भोग नहीं लगाया। वह सोच रहा था कि कम-से-कम एक रोटी तो गुपालजी खा ही लेंगे।

उसने फिर नेत्र बंद किये। फिर वही प्रार्थना की। मगर टिक्करोंमें कमी न हुई। गरीबदासने प्रतिज्ञा की कि जबतक गुपालजी भोग न लगावेंगे, तबतक वह भोजन न करेगा। गुरुजीकी आज्ञा ही ऐसी थी। ऐसा मुमकिन नहीं कि भोग लग जाये और भोजनमें कोई कमी न आये।

दोपहरके ग्यारह बजेसे गरीबदासकी यह हरकत शामके चार बजेतक जारी रही। गुपालजीने देखा कि गरीबदास वज्र-मूर्ख है। गुपालजी प्रकट हो गये। वह या तो वज्र पण्डितके प्रति प्रकट होते हैं, या वज्र मूर्खके प्रति। बीचवाले यों ही मुँह उठाये बैठे रहते हैं।

अबकी बार गरीबदासने जो नेत्र खोले तो देखता क्या है कि एक बारह सालका लड़का बैठा हुआ एक टिक्कर खा रहा है।

गरीब०—गुपालजी! तुम बड़े सुघर हो। जी चाहता है कि चिपटके रह जाऊँ। मगर हो—कठोर भी बहुत। समझे? मार डाला मुझे—भूखसे। तब प्रकट हुए—समझे? पहले ही बुलावेमें आ जाते तो क्या जाति घट जाती? समझे?

मुसकराकर गुपालजीने कहा—'अब पहले ही बुलावेमें आ जाया करूँगा।'

चटपट एक टिक्कर खतम करके गुपालजी खड़े हो गये और बोले—

गुपालजी—तुम भूखे तो नहीं रह जाओगे?

गरीब०—नहीं। एक टिक्कर ज्यादा था। समझे?

गुपालजी—लेकिन अबकी बार मेरे साथ राधाजी भी आवेंगी। तुम्हारे लिये दो ही टिक्कर बचेंगे—समझे?

गुपालजी अन्तर्धान हो गये। गरीबदासने भोजन

किया और अपना काम करने लगा। उसकी खुराक आध सेरकी थी। आज वह कुछ भूखा रहा था।

(४)

फिर एकादशी आयी। बाबाजीने आटा दिया, तब गरीबदासने कहा—

गरीब०—पहली एकादशीमें अकेले ठाकुरजी आये थे। अबकी बार ठकुरानी भी साथ आवेंगी। पाव भर आटा और दीजिये। समझे?

बाबाजीने सोचा कि भूखा रह गया होगा, इसलिये बकवाद कर रहा है। बेपरवाहीके साथ तीन पाव आटा तौलकर दे दिया। आलू भी दे दिये। बाबाजीने उसकी बात समझी नहीं। सुनी ही नहीं। सुनी, तो दिल्लगी मानी।

दोपहरको फिर वही लीला हुई। ६ टिक्कर थे। सबपर नमकहीन आलूका भुरता रक्खा था। ज्यों ही ठाकुरजीको बुलाया गया, त्यों ही ठकुरानीसहित आप आ गये। दो टिक्कर भोगमें ही चले गये।

गुपाल०—भूखे तो नहीं रहोगे—गरीबदास?

गरीब०—उस दिन तो तीन ही टिक्कर बचे थे और आज चार बचे हैं। भूखा नहीं रहूँगा—समझे?

गुपाल०—परन्तु अबकी एकादशीमें सेरभर आटा लाना। नहीं तो भूखे रह जाओगे—समझे?

गुपालजी चले गये। गरीबदास भोजन करने लगा। उसने गुपालजीकी बात नहीं याद रक्खी। क्योंकि वह उस बातको समझ नहीं सका था। दिल्लगी समझी थी।

फिर एकादशी आयी। गरीबदासने तीन पाव आटा लिया था, इसलिये ६ टिक्कर बने थे। भोग लगाया गया। ठाकुरजी और ठकुरानीजीके साथमें दो मूर्तियाँ और भी पधारी। सत्यभामा और रुक्मिणीजीसहित चारोंने चार टिक्कर उठा लिये। अपने लिये दो ही टिक्कर देख गरीबदास जी मसोसकर रह गया। उसने सोचा—'ठाकुरजीकी ठकुरानियोंका अन्त नहीं है क्या?'

जब सब लोग खा-पी चुके, तब हँसकर गुपालजीने कहा—'कहो गरीबदास! मैंने कहा नहीं था कि आटा सेर भर लाना? खैर, अबकी एकादशीपर डेढ़ सेर आटा लाना। समझे?'

गरीब०—सो क्यों? समझे?

गुपाल०—मेरे दो सखा भी आना चाहते हैं—मनसुखा और श्रीदामा। वे तो अभी आ रहे थे, कहते थे कि गरीबदासको देखेंगे कि कैसे भोग लगाता है। समझे?

गरीब०—उनको लानेकी जरूरत नहीं। मैं ठाकुरजीको भोग लगाता हूँ या ठाकुरजीके खानदान भरको? समझे?

गुपाल०—समझो, चाहे न समझो! अबकी बार आटा ज्यादा लाना। समझे?

इस लीलाद्वारा भगवान् महन्त धरमदासकी आँखें खोलना चाहते थे। इस मर्मको गरीब गरीबदास कैसे समझ सकता था। वह चुपचाप भोजन करने लगा। ठाकुरजी अपनी कंपनीसहित गोलोक चले गये।

(५)

धरम०—बेटा गरीबे! आज फिर एकादशी है। समझे?

गरीब०—रोज-रोज एकादशी खड़ी रहती है। समझे?

धरम०—तुम्हें क्या तकलीफ होती है? समझे?

गरीब०—जिसपर बीतती है, वही जानता है। समझे?

धरम०—क्या तुम भूखे रहते हो? तीन पाव खा जाते हो? यहाँ तो तुम दोपहरीमें आधा सेर ही खाते हो? वनमें तीन पावमें भी भूखे रहते हो? समझे? क्या आटा बेचने लगे हो—समझे?

गरीब०—मैं ही सब खा जाता हूँ क्या? समझे। ठाकुरजीके भोगमें कुछ खर्च नही होता है? समझे! कभी दो जने आते हैं—कभी चार आ जाते हैं। अबकी बार ६ प्रानी आवेंगे। डेढ़ सेर आटा दीजिये, नहीं तो मैं गाय चराने नहीं जाऊँगा। आपकी चें-चेंसे तो कक्काकी कें-कें ही भली थी। समझे?

धरमदासने डेढ़ सेर आटा दे दिया और स्थिर किया कि आज खुद दोपहरीमें छिपकर देखेंगे कि वह आटेको फेंकता है या बेचता है या क्या माजरा है।

भनभनाता हुआ गरीबदास जंगलकी तरफ़ चला गया।

दोपहरी हुई। महन्त धरमदास छिपकर वहाँ जा पहुँचे, जहाँ गरीबदास टिक्कर बना रहा था। एक झाड़ीमें पीछेकी तरफ़ बैठ गये। गरीबदासने बारह टिक्कर बनाये थे। आटा बचाया नहीं था। सब रोटियोंपर थोड़ा-थोड़ा

आलूका भुरता रक्खा था। ज़रा-ज़रा-सी मिठाई भी सबके साथ रख दी गयी थी। दोनों हाथ जोड़कर ज्यों ही गरीबदासने भोग लगाया, त्यों ही, यह क्या—

धरमदासने देखा कि सोलह हजार रानियोंसहित, आठ महारानियोंसहित, तीन सखाओंसहित, मुरलीधर प्रकट हुए। सबने सब रोटियाँ टुकड़े-टुकड़े कर खा डालीं। उस दिन गरीबदासको कुछ भी न बचा। सोलह आना एकादशी-को सामने देख, वह बेचारा अकबका गया। धरमदासका शरीर पसीने-पसीने हो रहा था। भोग या सर्वस्व भोग लगाकर नटवर तो रासलीला करने लगे। सब लोग नाचने और गाने लगे। गरीबदासने कहा—'मैंने पहले ही कहा था कि चोर आदमीसे दूर ही रहना चाहिये। समझे!'

थोड़ी देर बाद वह परस्तान गायब हो गया। कहीं कुछ नहीं। मनमारे बैठे हुए गरीबदासके पैर पकड़कर धरमदास रोने लगे। यह नयी आफ़त देख बेचारा गरीबदास और भी घबड़ा गया और उछलकर दूर जा खड़ा हुआ।

धरम०—धन्य हो महाराज! जो तुमको साक्षात् दर्शन होता रहा और साक्षात् भोग लगता रहा। हाय, मुझे तो जीवनभर पूजा करते हो गया। कभी सपनेमें भी अपने गुपालजीको न देखा। आजसे मैं चेला और आप गुरु! समझे।

गरीब०—आप कहते क्या हैं? समझे? आप तो कहते थे कि मैं आटेको बेचता हूँ। देखा कैसे बेचता हूँ। समझे?

धरम०—समझे! मैं पापी हूँ। मैं अपने प्रभुद्वारा त्यागा गया हूँ। समझे। मुझसे कहीं ज्यादा आपकी पहुँच है। अब मन्दिरपर चलो। आजसे आप महन्त हुए और कलसे मैं गायें चराया करूँगा।

गरीबदास और गायोंको साथ लेकर धरमदासजी मन्दिर-पर गये। गरीबदासके बहुत रोकनेपर भी उसे महन्ती दे दी गयी। दूसरे दिनसे धरमदासजी गायें चराने लगे।

शहरवालोंको जब यह घटना मालूम हुई तो उनके हृदयमें भगवान् कृष्णका विश्वास कहीं ज्यादा बढ़ गया। इस घटनापर पब्लिकने कहा—

'गुरु गुड़ ही रहे, और चेला चीनी हो गया!'

भजन

हरि! तुम कैसे जाने जात?
दीन-हीन, सब भाँति अकिंचन सबरीके फल खात॥
गोपिनके घर माखन लूट्यो, धरि कुमुरिन चित्र लात।
गज पशु अधम नीच कामी अति, ताहि उबारयु भात॥
अजामील रैदासहु गनिका तुम सँग भल बतरात।
शम-दम करि जप योग कीन्ह मुनि, सहि दुख आतप-वात॥
कीन्ह कृपा कबहूँ नहिं उनपर, विधि-मारग ते जात।
यज्ञ विश्वजित कीन्ह त्याग सब-धन, जन, सुत, सुख गात॥
दूरि रहे तुम सों तबहूँ वे, ऐसो कहि सकुचात।
करत ज्ञान बुध सामवेद नित, नेकु न सुनत लखात॥
सदाचार-व्रत धारि ओऽम्‌को जपत रहें दिन-रात।
देखि न पर्‌यो कबौं तुम उनको, जस सुत सँग रह तात॥
भक्त हृदय बिच प्रेम-पासमें बँधे परे मुसकात।
रीझि-बूझि लखि दया सिन्धुकी दीन 'सिरस' बलि जात।

—'सिरस'

विविदिषा एवं विद्वद्भेदसे संन्यासका भेदनिर्णय

(लेखक—श्रीछविनाथ त्रिपाठी शास्त्री, साहित्यरत्न)

संसार एवं परमार्थको दृष्टिमें रखते हुए भारतीय शास्त्रोंके प्रणेता ऋषि-मुनियोंने मनुष्यके इहलौकिक एवं पारलौकिक प्रेय और श्रेय-सुखकी कामनासे उसके जीवनको चार (आश्रमरूप) विभागोंमें विभक्त किया है—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास। इनमेंसे प्रथम तीन आश्रमोंके विषयमें इस समय कुछ वक्तव्य नहीं है। केवल चतुर्थ आश्रमके विषयमें ही इस छोटे-से लेखमें अति संक्षेपरूपसे विचार किया जायगा।

'संन्यास' शब्द चतुर्थ आश्रमका ही वाचक है। संसारकी समस्त सामाजिक एवं पारिवारिक चिन्ताओंसे मुक्त होकर आत्मचिन्तनमें रत रहते हुए उस परब्रह्मभावको प्राप्त करना—संक्षेपमें इसका यही अभिप्राय है। संन्यास तीन प्रकारसे ग्रहण किया जा सकता है। (१) ब्रह्मचर्य, गृहस्थ एवं वानप्रस्थ तीनों आश्रमोंको यथाक्रम तथा यथाविधि पूरा करके फिर अन्तमें संन्यास ग्रहण करना चाहिये। श्रुतिमें भी ऐसा ही क्रम है—

ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेत्, गृही भूत्वा वनी भवेत्, वनी भूत्वा प्रव्रजेत्। (जाबालोपनिषद्)

अर्थात् ब्रह्मचर्याश्रमको पूर्ण करके गृहस्थ बने, गृहस्थके बाद वानप्रस्थ और इसके बाद संन्यासी। इस प्रकारके संन्यासको ही क्रमसंन्यास कहते हैं।

(२) ब्रह्मचर्य, गृहस्थ अथवा वानप्रस्थ—किसी भी आश्रममें रहते हुए जब कभी पूर्ण वैराग्य हो जाय, तो सब लोकमाया-जाल छोड़कर संन्यास ले लेना चाहिये—यह द्वितीय प्रकार है। इसीलिये उपनिषद्में कहा है—

यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेद् वनाद्वा गृहाद्वा।

अर्थात् जिस दिन मनुष्यको पूर्ण वैराग्य हो जाय, उसी दिन गृहस्थ या वानप्रस्थ—कोई भी आश्रम हो—छोड़कर संन्यास ले लेना चाहिये।

(३) तीसरा प्रकार यह है कि यदि ब्रह्मचर्यमें ही पूर्ण वैराग्य हो जाय और गृहस्थ आदि आश्रमोंमें सर्वथा ही प्रवेश करनेकी कोई अभिलाषा न हो, तो ब्रह्मचर्य-आश्रमसे ही संन्यास ले लेना चाहिये—

ब्रह्मचर्यादेव वा प्रव्रजेत्। (जाबालोपनिषद्)

अर्थात् संन्यास ग्रहण करनेके लिये किसी समयविशेषका बन्धन नहीं है, अपि तु केवल पूर्ण वैराग्य ही उसके लिये अपेक्षित है। जिस पुरुषको वास्तविक पूर्ण वैराग्य हो गया है, उसे फिर सांसारिक प्रलोभन तथा बन्धन अपने पाशोंमें नहीं जकड़ सकते। उसके लिये तो शान्तिका एकमात्र उपाय आत्मज्ञान है और इसके लिये आवश्यकता है एकान्त-जीवनकी। मनुष्यके लिये एकान्तजीवन बिताना तभी सम्भव है, जब कि वह सांसारिक चिन्ताओंसे मुक्त होकर संन्यास ग्रहण करके गृहपरित्याग कर दे।

नात्यक्त्वा सुखमाप्नोति नात्यक्त्वा विन्दते परम्।
नात्यक्त्वा निर्भयः शेते सर्वं त्यक्त्वा सुखी भवेत्॥

अर्थात् बिना त्यागके कोई सुख प्राप्त नहीं कर सकता और न बिना त्यागके उस परब्रह्मकी ही प्राप्ति सम्भव है, और न बिना त्यागके कोई परम शान्ति ही पा सकता है। इसलिये मनुष्य सर्वस्व त्याग करके ही सुखी हो सकता है। और यदि किसीको पूर्वजन्मके तपोबलके द्वारा इस जन्ममें आश्रमान्तरोंमें रहते हुए भी तत्त्वज्ञान हो जाय, तो वह वहाँ भी यथासौकर्य अपनी साधना कर सकता है। इसी बातको 'संक्षेपशारीरक'के प्रणेता सर्वज्ञात्ममुनिने भी स्वीकार किया है—

जन्मान्तरेषु यदि साधनजातमासीत्
संन्यासपूर्वकमिदं श्रवणादिरूपम्।
विद्यामवाप्स्यति ततः सकलोऽपि यत्र
तत्राश्रमादिषु वसन्न निवारयामः॥

(संक्षेपशारीरक, तृतीयाध्याय)

अर्थात् यदि किसीने पूर्वजन्मोंमें संन्यासके द्वारा श्रवण, मनन एवं निदिध्यासनरूप साधनोंको प्राप्त कर लिया है, तो इस जन्ममें वह आश्रमान्तरोंमें रहता हुआ भी तत्त्वसाक्षात्कार कर सकता है।

संन्यास दो प्रकारका होता है—'विविदिषा-संन्यास' और 'विद्वत्संन्यास'। इन दोनों प्रकारके यतियोंका भेद हम आगे चलकर स्पष्ट करेंगे। अभी हम इनके स्वरूपका ही पाठकोंको दिग्दर्शन करा देना आवश्यक समझते हैं। हम

आरम्भमें ही बतला चुके हैं कि संन्यासके लिये पूर्ण वैराग्यकी आवश्यकता है। यह वैराग्य दो प्रकारका होता है—एक तीव्र और दूसरा तीव्रतर। प्रथम वैराग्यमें 'कुटीचक' और 'बहूदक' नामक संन्यासका अन्तर्भाव कर सकते हैं। ये दोनों ही संन्यासकी विशेष अवस्थाओंके नाम हैं। द्वितीय वैराग्यकी भी दो अवस्थाएँ होती हैं—'हंस' तथा 'परमहंस'। योगीकी 'परमहंस' अवस्थाके भी 'जिज्ञासु' और 'ज्ञानवान्'—दो भेद हो जाते हैं। परमहंस-अवस्थाके ये ही दोनों भेद 'विविदिषा-संन्यास' और 'विद्वत्संन्यास'के आधार हैं।

विविदिषा-संन्यास

ऊपर परमहंसकी दो अवस्थाएँ बतायी गयी हैं–जिज्ञासु और ज्ञानवान्। इनमें प्रथम विविदिषा-संन्यासका आधार है और द्वितीय विद्वत्का। 'जिज्ञासु' शब्दका वाच्यार्थ भी 'जाननेकी इच्छावाला' होता है। जिज्ञासा और विविदिषा दोनों एक ही चीज हैं। इसलिये जिज्ञासु-अवस्थाका नाम ही विविदिषा है। इसीलिये बृहदारण्यकोपनिषद्के तृतीयाध्यायमें—

एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति

अर्थात् त्यागी पुरुष इसी लोक (आत्मा) की इच्छा करते हुए संन्यास ग्रहण करते हैं।

लोक दो प्रकारके होते हैं—आत्मलोक तथा अनात्मलोक। अनात्मलोक तीन प्रकारके हैं—मनुष्यलोक, पितृलोक और देवलोक। मनुष्य पुत्रादि सन्तानके द्वारा मनुष्यलोकको, कर्मके द्वारा पितृलोकको और आत्मविद्याके द्वारा देवलोकको जीत सकता है—

अथ त्रयो वाव लोका मनुष्यलोकः पितृलोको देवलोक इति। सोऽयं मनुष्यलोकः पुत्रेणैव जय्यो नान्येन कर्मणा, कर्मणा पितृलोको, विद्यया देवलोक इति।

(बृहदारण्यक०)

किन्तु योगीके लिये केवल आत्मलोककी उपासना अर्थात् आत्माराधनका ही विधान किया गया है—

आत्मानमेव लोकमुपासीत। स य आत्मानमेव लोकमुपास्ते न हास्य कर्म क्षीयते।'

(बृहदारण्यक०)

यहाँपर 'कर्म' शब्दसे मोक्षरूप फलवाले कर्मका ग्रहण किया गया है। अतः आत्माके जिज्ञासुको आत्मलोककी उपासना अर्थात् आत्मज्ञानप्राप्तिके लिये ही प्रयत्नशील होना चाहिये। यह ज्ञान ही एकमात्र ऐसा साधन है, जिसके द्वारा संसारबन्धनसे छूटकर निःश्रेयस अर्थात् मुक्ति प्राप्त की जा सकती है। इसीलिये ज्ञानी पुरुष संसारबन्धनके हेतुभूत अनित्य काम्य कर्मोंको छोड़कर विद्यासे परमपदकी कामना करता है—

'किमर्थं वयं यक्ष्यामहे किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्मायं लोकः।' 'ये प्रजामीषिरे ते श्मशानानि भेजिरे, ये प्रजां नेषिरे तेऽमृतत्वं भेजिरे।'

(बृहदारण्यक०)

अर्थात् हम आत्माको छोड़कर यज्ञ और प्रजा (सन्तान) से क्या करेंगे ? जिन्होंने प्रजाकी कामना की, उन्हें उपहारमें मिली मौत; और जिन्होंने इन सबको तिलाञ्जलि दी, उन्हें मिली निरतिशय—शाश्वत आनन्ददायिनी मुक्ति। इसलिये जिज्ञासु योगीका यह परम कर्तव्य हो जाता है कि बन्धनके कारण सांसारिक कर्मोंको छोड़कर शान्त्यादि साधनोंसे ब्रह्म-साक्षात्कारके लिये निरन्तर उद्योगशील रहे। इसीलिये स्मृतिने कहा है—

ब्रह्मविज्ञानलाभाय ब्रह्महंससमाह्वयः।
शान्तिदान्त्यादिभिः सर्वैः साधनैः सहितो भवेत्॥

अर्थात् ब्रह्मज्ञानप्राप्तिके लिये ही परमहंस योगीको शम-दमादि साधनोंसे युक्त होना चाहिये। उसके लिये यह अत्यन्त आवश्यक है कि सर्वदा इसके लिये वह यत्नशील रहे। क्योंकि यह पथ कण्टकाकीर्ण है। इसपर यत्नपूर्वक चलते हुए सिद्धिको प्राप्त कर लेना कुछ आसान कार्य नहीं है। इसीलिये भगवान् श्रीकृष्णने भी—

अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्॥

—कहा है और आगे चलकर आसक्तिरहित—निष्काम कर्मका उपदेश दिया है—

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्॥
कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये॥
कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः॥

(गीता)

'त्याग एव हि सर्वेषां मोक्षसाधनमुत्तमम्।
त्यजतैव हि तज्ज्ञेयं त्यक्तुः प्रत्यक्परं पदम्॥'

(सुरेश्वराचार्य)

इन सब वचनोंका भाव यही है कि त्याग ही मोक्ष-प्राप्तिका उत्तम साधन है। इसलिये योगीको निष्कामभावसे

ही कर्म करने चाहिये । तभी वह अपनी साधनाको पूर्ण कर सकता है, अन्यथा नहीं ।

विद्वत्संन्यास

परमहंसके द्वितीय भेद 'ज्ञानवान्' का ही नाम विद्वत्संन्यास है । विद्वत्संन्यास विविदिषा-संन्यासके बाद ग्रहण किया जाता है । यह संन्यासकी अन्तिम कोटि है । यदि विविदिषाको 'साधन' कहें, तो इसे 'साध्य' कहना उचित होगा । यदि प्रथम एक सीढ़ी है, तो द्वितीय एक प्राप्तव्य उच्च शिखर । अर्थात् आत्मज्ञान प्राप्त करनेके लिये ही विविदिषा-संन्यास है और यह उसके बादकी अवस्था है ।

इस प्रकारके विद्वत्संन्यासको धारण करनेवाले विद्वच्छिरोमणि महर्षि याज्ञवल्क्य हुए हैं । जब उन्हें आत्म-साक्षात्कार हो गया, तो उन्होंने अपनी पत्नी—मैत्रेयीसे कहा कि—'अब मैं संन्यास लेता हूँ'—

'अथ ह याज्ञवल्क्योऽन्यद् वृत्तमुपाकरिष्यन् मैत्रेयीति होवाच याज्ञवल्क्यः प्रव्रजिष्यन् वा अरेऽहमस्मात् स्थानादस्मि ।'

'एतावदरे खल्वमृतत्वमिति होक्त्वा याज्ञवल्क्यो विजहार'

(बृहदारण्यक०)

अर्थात् 'यही मोक्षप्राप्तिका साधन है' कहकर याज्ञवल्क्यने सब छोड़कर संन्यास ग्रहण किया ।

इसी प्रकार 'कहोलब्राह्मण' में भी विद्वत्संन्यासका वर्णन मिलता है—

एतं वै तमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थाय भिक्षाचर्यं चरन्ति । इति

अर्थात् इस अपरोक्ष आत्माका साक्षात्कार करके ब्रह्म-वेत्ता पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणाको त्याग कर भिक्षाटन करते हैं । इसीको विद्वत्संन्यास कहते हैं ।

दोनोंमें भेदनिर्णय

यद्यपि विविदिषा और विद्वत् दोनों ही परमहंस-अवस्थाके भेद हैं, तथापि इन दोनोंमें भी परस्पर भेद है—जैसा कि ऊपरकी पंक्तियोंमें दिखाया गया है । प्रथम संन्यास ज्ञानप्राप्तिकी कामनासे लिया जाता है, जैसा कि स्मृतिमें भी विधान है—

संसारमेव निःसारं दृष्ट्वा सारदिदृक्षया ।
प्रव्रजन्त्यकृतोद्वाहाः परं वैराग्यमाश्रिताः ॥
प्रवृत्तिलक्षणो योगो ज्ञानं संन्यासलक्षणम् ।
तस्माज्ज्ञानं पुरस्कृत्य संन्यसेदिह बुद्धिमान् ॥

अर्थात् संसारको सारहीन अनुभव करके, साररूप परब्रह्मकी दर्शनेच्छासे गृहस्थाश्रममें प्रवेश करनेसे प्रथम ही परम वैराग्यवान् संन्यास धारण करते हैं । क्योंकि कर्म-योग प्रवृत्तिरूप है और ज्ञानका साधन संन्यास है । अतएव ज्ञानप्राप्तिको ही मुख्य समझते हुए बुद्धिमान् पुरुषको संन्यास धारण करना चाहिये ।

इस वाक्यसे विविदिषा-संन्यासका विधान किया गया है, क्योंकि आत्मज्ञानप्राप्तिके निमित्त ही तो वह ग्रहण किया जाता है ।

और—

यदा तु विदितं तत्त्वं परं ब्रह्म सनातनम् ।
तदैकदण्डं संगृह्य सोपवीतां शिखां त्यजेत् ॥
ज्ञात्वा सम्यक् परं ब्रह्म सर्वं त्यक्त्वा परिव्रजेत् ।

अर्थात् जब ब्रह्मतत्त्व विदित हो जाय, तब एक दण्ड-को ग्रहणकर यज्ञोपवीतसहित शिखाको त्याग दे और जब पूर्णरूपसे ब्रह्मसाक्षात्कार हो जाय, तो सर्वस्व परित्याग करके संन्यासी बन जाय ।

इस वाक्यसे विद्वत्संन्यासका विधान किया गया है, क्योंकि इस अवस्थाके बाद उसके लिये कुछ कर्तव्य शेष नहीं रह जाता । इस प्रकार सांसारिक चिन्ताओंसे रहित होकर विचरता हुआ पुरुष जीवन्मुक्त हो जाता है और देहपातके बाद वह इस भवसागरमें नहीं आता—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥

(कठोपनिषद्)

'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति
नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ।'

अर्थात् परब्रह्मका साक्षात्कार होनेपर हृदयकी ग्रन्थि खुल जाती है, समस्त संशय दूर हो जाते हैं, कर्म नष्ट हो जाते हैं । 'उसको ही जानकर मनुष्य मृत्युको पार करता है, उसके लिये ज्ञानके सिवा दूसरा मार्ग नहीं है ।'

ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन ।
'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति'

ज्ञानरूपी अग्नि सारे कर्मोंको भस्म कर डालती है और ब्रह्मवित् पुरुष साक्षात्कारके अनन्तर स्वयं ब्रह्मभावको प्राप्त कर लेता है और फिर उसे इस जीवन-मरणके बन्धनमें नहीं आना पड़ता ।

शिशु-साधना

भगवान् सबके हैं। हम सभी भगवान्के हैं। सभी उन्हें पा सकते हैं। बालकोंपर तो भगवान्की विशेष दया होती है। वे बालकोंको प्यार करते हैं, उनके साथ खेलते हैं। कभी गाते हैं, कभी नाचते हैं। कभी छिपते हैं, कभी सामने आ जाते हैं। कभी रूठते हैं, कभी मनाते हैं। कभी दाँव देते हैं, कभी दाँव लेते हैं। तरह-तरहके खेल खेलते हैं, अजब-अजब तमाशे करते हैं। बड़े-बड़े ज्ञानियोंको वे नहीं मिलते। बड़े-बड़े योगी-यति उन्हें ढूँढ़ते-ढूँढ़ते थक जाते हैं। बड़े-बड़े तपस्वी खोजते-खोजते निराश हो जाते हैं। भगवान् उन्हें नहीं मिलते, नहीं मिलते।

परन्तु एक सरल शिशुको वे तुरंत मिल जाते हैं। क्यों? क्योंकि भगवान्को सरलता प्यारी है। भगवान् ज्ञान नहीं ढूँढ़ते। भगवान् योग और तपकी ओर नहीं देखते। भगवान् खोजते हैं सरल हृदय। जिसका हृदय जितना सरल है, भगवान् उसके उतने ही पास हैं। जप-तप, पूजा-पाठ, मन्त्र-तन्त्र—इन सबसे बढ़कर है सरलता। सरलता भगवान्का ही एक गुण है। इसीलिये बड़े-बड़े साधु-महात्मा अत्यन्त सरल होते हैं—शिशुके समान सरल।

कहावत है-जैसा सङ्ग, वैसा रंग। अच्छा सङ्ग होगा, अच्छे बनोगे; बुरा सङ्ग होगा, बुरे बनोगे। बराबर भलेका सङ्ग करना चाहिये। गंदी बातोंसे बचना चाहिये। गंदी बात न मुँहसे बोलो, न कानसे सुनो। गंदी बातें जहाँ हो रही हों, वहाँ जाओ ही मत। गंदे आदमियोंकी सोहबतसे बचो। गंदगी एक छूतकी बीमारी है, बहुत जल्दी पकड़ लेती है। एक गंदा आदमी सारे वातावरणको गंदा कर देता है। एक मछली सारे तालाबको गंदा कर देती है।

साफ-सुथरे रहो—बाहरसे भी, भीतरसे भी। कपड़े-लत्ते साफ रक्खो। शरीर साफ रक्खो। खूब अच्छी तरह नहाओ। ध्यान रक्खो दाँत साफ रहें, नाखून साफ रहें, नाक और कान साफ रहें। सफाईमें शौकीनीसे बचो। सफाई और चीज है, शौकीनी और। सफाई अच्छी चीज है, शौकीनी बुरी। हर बातमें सादगीका खयाल रक्खो। सादगी-को ही सरलता कहते हैं। 'सादा जीवन, उच्च विचार'—यह होना चाहिये तुम्हारा आदर्श। खर्चीली आदतोंसे बचो। खर्चीले लोगोंसे बचो। खर्चकी आदत डालना आसान है, उससे छूटना बहुत कठिन। जीभकी गुलामीसे बचो। चटोरपन एक बहुत ही गंदी आदत है। इससे तरह-तरहकी बीमारियाँ होती हैं।

परन्तु एक और तरहकी भी सफाई होती है। वह है भीतरकी सफाई। इसपर और अधिक ध्यान देना चाहिये। बाहरका मैल नहाने-धोनेसे धुल जाता है। भीतरका मैल धोनेके लिये भीतरका स्नान करना होता है। यह स्नान है राम-नाम। राम-नामकी धुन लगते ही भीतरकी सारी गंदगी छूट जाती है। हृदय निर्मल हो जाता है, मन पवित्र हो जाता है। भगवान्का शीतल प्रकाश जगमगा उठता है।

अँधेरे कमरेमें रोशनी करते ही उजाला हो जाता है। खिड़कियाँ खोलते ही हवा आने लगती है। अगर-बत्ती जलाते ही सुगन्धि फैल जाती है। इसी प्रकार राम-नामकी धुन लगानेपर हृदयमें रोशनी फैल जाती है। सुगन्धि आने लगती है। आनन्द छा जाता है। सुख बरसने लगता है। मन खिले हुए फूलकी तरह झूम उठता है।

भगवान्ने तुम्हें आँखें दी हैं—पवित्र वस्तुओंको देखनेके लिये। फूलोंको देखो। किस आनन्दमें वे खिल रहे हैं, कितनी मस्तीमें झूम रहे हैं! भगवान्ने तुम्हें कान दिये हैं, पवित्र बातें सुननेके लिये। जहाँ भजन हो रहा हो, कीर्तन हो रहा हो, वहाँ जाते ही कितना सुख मिलता है! कान इसीलिये हैं।

जीभको राम-नामका रस दो, वह सुख पायेगी। प्रातःकाल बहुत सबेरे जागकर ऊपर आकाशकी ओर देखो। तुम निहाल हो जाओगे।

सबेरे उठनेकी आदत डालो। उठकर भगवान्‌का स्मरण करो। फिर माता-पिताके चरणोंमें प्रणाम करो। नहा-धोकर साफ धुले हुए कपड़े पहन लो। थोड़ी देर खुली हवामें बैठकर, उगते हुए सूर्यनारायणकी ओर देखते हुए राम-नाम लो। पाँच-सात मिनटके बाद ही तुम्हें आनन्द आने लगेगा। तुम अपने भीतर पवित्र प्रकाश पाओगे। दिनभर आनन्दमें बीतेगा। मस्तीमें बीतेगा। रातको सोते समय भगवान्‌का नाम लेते हुए सो जाओ। बड़ी मीठी नींद आयगी, बड़े सुन्दर सपने आयँगे। इस प्रकार तुम्हारा जीवन मधुर हो जायगा, आनन्दमय हो जायगा। आओ, हम मिलकर गायें—

जय गोविन्द, जय हरि गोविन्द

प्रेम-साधन

(लेखक—पं० श्रीनरहरिशास्त्री खरशीकर)

अनन्तकोटि ब्रह्माण्डनायक त्रिभुवनसुन्दर श्रीभगवान्‌की प्राप्ति ही मनुष्य-जन्मका इतिकर्तव्य है, यही सब शास्त्र और लोग बतलाते हैं। परन्तु भगवान्‌की प्राप्ति कोई हँसी-खेल नहीं है। अनेक जन्मोंके अनेक साधनोंसे भी भगवान्‌का मिलना अत्यन्त दुर्लभ है। जप, तप, उपासना, यज्ञ-याग, नित्य नैमित्तिक कर्म, अष्टाङ्गयोग, तीर्थयात्रा, दानधर्म इत्यादि नानाविध साधनोंको निष्कामभावसे करते चलो, कभी-न-कभी तो भगवान् मिलेंगे ही—इसी प्रकारका आशावाद प्रायः देख पड़ता है। इन सब साधनोंको करके भी यदि अनेक जन्मोंके बाद भी भगवान् न मिले, तो अपने सञ्चितको कारण जानकर आगे प्रयत्न करते रहो,—यही तो बतलाया जाता है। परन्तु यह साधन-क्रम बतलानेवाले लोग यह भी तो जानते ही हैं कि ब्रह्म पूर्ण है—'पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।' चराचर जगत्‌में उस ब्रह्मके सिवा और कुछ भी नहीं है। इस प्रकार जब सर्वत्र भगवान् ही हैं, तब साधनोंके द्वारा उन्हें प्राप्त करना भी तो एक बड़ा विकट प्रश्न है। इस प्रश्नका ही उत्तर इस छोटे-से लेखमें देनेका यत्न किया जायगा।

'अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्।' (नारदभक्तिसूत्र) प्रेमका स्वरूप अनिर्वचनीय है। यह प्रेम ही भगवान् है और यह दृश्य जगत् उन्हीं अव्यक्त भगवान्‌का व्यक्त रूप है। प्रेम सब प्राणियोंमें सहजभावसे है। पशु-पक्षियोंमें ही क्यों, वृक्षादि योनियोंमें भी जो सहज प्रेम है, उसे अनुभव किया जा सकता है। फिर मनुष्यों और देवताओंकी तो बात ही क्या है।

गेहूँका एक दाना जमीनमें बोया जाता है। वर्षाके होते ही वह स्वयं गायब हो जाता है—गायब हो जाता है यानी अङ्कुरित होकर हजारों दानोंके रूपमें प्रकट होता है। ऐसे ही अव्यक्त परमात्मा अपनी आत्यन्तिक रुचिसे प्रियत्वमें आते हैं। उस आनन्दसागरमें आनन्दके ही कल्लोल उठते हैं, उन्हींको प्रेम कहते हैं। ये अनेक कल्लोल अनेक देख पड़नेपर भी परमात्मसिन्धुरूपसे एक ही, अखण्ड और पूर्ण हैं। ये अनेक कल्लोल ही अनेक जीव हैं। सोनेके गहने बनते हैं। गहने बननेपर भी सोनेका सोनापन नष्ट नहीं होता, बल्कि सोना सोना रहकर ही गहने बनता है। वैसे ही परमात्मा परमात्मा रहते हुए स्वयं ही नाम-रूपात्मक जगत् बनते हैं, पर इससे उनके परमात्मत्वमें कुछ न्यूनता नहीं आती। परमात्मा और जगत् शब्द दो हैं, पर वस्तु एक ही है। यही श्रीज्ञानेश्वरादि सब संतोंने कहा है और अन्य सिद्धान्ती भी इसे स्वीकार करते हैं।

अब प्रश्न यह है कि यदि परमात्मा ही चराचर विश्व हैं, तो किसकी प्राप्तिके लिये किसको साधन करना है।

देवदत्त नामके एक मनुष्यको यह भ्रम हो गया कि 'मैं खो गया हूँ।' इस खो जानेपर वह बहुत रोया, चिल्लाया और खोये हुए अपने आपको जहाँ-तहाँ जिस-तिससे पूछता हुआ भटका किया। पर इस तरह इसे देवदत्त कितने जन्मोंमें मिलता? वास्तवमें जो खोया ही नहीं, वह किसी साधनसे मिल भी कैसे सकता है? 'मैं खो गया हूँ' इस भ्रममें भी देवदत्त खोया नहीं था। वैसे ही भगवान्‌की सत्ताका भान न होनेमें भी उनकी भगवत्ता खो नहीं जाती, पूर्ण ही होती है। तब इस पूर्णकी प्राप्तिका साधन पूर्ण क्यों करे? साधन

भगवान्‌से नहीं मिलाते, दूर ही ले जाते हैं—यही श्रीज्ञानेश्वर महाराजने अपने अनुभवसे कह रक्खा है।

तपस्विनो दानपरा यशस्विनो
मनस्विनो मन्त्रविदः सुमङ्गलाः।
क्षेमं न विन्दन्ति विना यदर्पणं
तस्मै सुभद्रश्रवसे नमो नमः॥
(श्रीमद्भा० २।४।१७)

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानै-
र्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके
द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर॥
(गीता ११।४८)

अर्थात् इन तपादि अथवा वेदाध्ययनादि साधनोंसे भगवान् नहीं मिलते, प्रत्युत भगवत्कृपासे ही मिलते हैं—'मुख्यतस्तु भगवत्कृपयैव।' सर्वत्र श्रीहरि ही प्रेमकल्लोल कर रहे हैं, वे ही रम रहे हैं—यह भावना जब गुरुकृपासे उदय हो जाती है, तब किसी साधनकी आवश्यकता नहीं रहती।

माता अपनी सन्तानके कारण माता कहाती है। सन्तान अपनी माँको जब माँ कहकर पुकारती है, तब उसे अपने माता होनेकी प्रतीति होती है। सन्तानके कारण ही उसका मनोगत अव्यक्त वात्सल्य व्यक्त होता है और इसका सुख भी उसे ही मिलता है। सन्तानसे माताका मातृत्व पूर्ण है, अन्यथा वह अपूर्ण है। सन्तान माताका जो स्तनपान करती है, उससे माताको ही अत्यन्त सुख होता है। बच्चा जब भूखसे रोता है, तब माताका हृदय स्तनको भेदकर दूधके रूपसे बाहर निकलता है और बच्चेको तृप्त करनेके नाते माताको वह सन्तोष होता है, जिसकी कोई उपमा नहीं। यह सही है कि बच्चेके रोनेसे माताके दूध निकल पड़ता है, पर रोना कहाँसे आता है? माताके हृदयमें अपने बच्चेको अपना सार-सर्वस्वरूप दूध पिलाकर परम सुखी होनेकी जो लालसा रहती है, उसीका जो संस्कार बच्चेके मनपर होता है, वही रुदनरूपसे प्रकट होता है। अर्थात् बच्चेकी इस क्रियाका उद्गमस्थान माताका ही हृदय है। माताके हृदयकी इस लालसाके कारण ही माता और सन्तान दोनों परम सुखी होते हैं। माता ही सन्तानरूप प्रेमको प्राप्त हुई और सन्तानके कारण ही अपने प्रेमको अनुभव कर सकी। सन्तान न होती तो उसे प्रेमसुखका मिलना कदापि सम्भव न था। प्रेमसुखकी अनुभूतिके लिये ही माता सन्तान हुई, इसके लिये माताने कितने-कितने कष्ट उठाये! सन्तान जनन-मरणके कष्ट भोगनेके लिये माँकी कोखमें नहीं आयी, बल्कि इसलिये आयी कि माताको वात्सल्य-सुख प्राप्त हो।

बात जब ऐसी है, तब माता अपनी सन्तानसे क्या कभी यह कह सकती है कि मैं अपने जीवनका सार निकालकर तुझे पिलाती हूँ, इसलिये तू भी इसकी कुछ कीमत दे, इसके लिये कुछ साधन कर? कोई माता ऐसा नहीं कह सकती। यदि कहे, तो बच्चा भी उसे यह उत्तर दे सकता है कि 'तूने मुझे जन्म दिया, यही तो मेरे अनन्त साधनोंका फल है। अब यदि विना साधन कराये तू मुझे दुधू नहीं पिलाना चाहती, तो रहने दे तेरा दूध तेरे ही पास। इससे मेरा जो होना होगा, होगा। मैं मर जाऊँगा तेरे दूधके विना, पर इससे क्या तुझे सुख होगा? तब यह दूध तू किसे देगी? तेरी देहमें यह जमकर तुझे ऐसी पीड़ा देगा जो तुझसे नहीं सही जायगी और मुझे न देखकर तेरी क्या अवस्था होगी? मेरे विना तू कैसे जीयेगी! तेरे दूधका अधिकारी तो मैं हूँ।' बच्चेके ये शब्द सुनकर माँकी आँखोंसे आँसू छलक-छलक कर गिरने लगेंगे! माँ-बेटेका सम्बन्ध साधनपर नहीं निर्भर करता। माँ ही तो सन्तान बनकर वात्सल्यको अनुभव कर रही है।

आनन्दको आनन्दका स्वानुभव न होनेसे उसने द्विधा होनेकी इच्छा की, 'एकोऽहं बहु स्याम्'। इस द्विधा होनेको ही प्रेमविकास कहते हैं। इस प्रेमरूपका ही नाम जीव है। यह जीव मूल आनन्दसे कभी पृथक् नहीं रहता। जीवके नेत्रेन्द्रियमें सारा विश्व समाया रहता है। उसके मस्तिष्कमें अखिल ब्रह्माण्डकी कल्पनाएँ भरी रहती हैं। ब्रह्माण्ड उसकी इन्द्रियोंमें लीन होता है। ये इन्द्रियाँ ज्ञानमें, ज्ञान आनन्दमें, आनन्द जीवत्वमें और जीवत्व प्रियत्वमें मिल जाता है। अर्थात् प्रियत्व ही अखिल विश्वका कर्ता, स्वामी है। यह प्रिय कल्लोल परमात्मसिन्धुके मिलनके लिये तब कौन-सा साधन करे? तरङ्ग किस साधनसे जलको पाले? अलङ्कार किस साधनको करके सुवर्ण बने? सूर्य-किरण किस साधनाके द्वारा सूर्यको प्राप्त हो? परमात्ममय जीव भी उसी प्रकार परमात्माको पानेके लिये किस साधनका आश्रय ग्रहण करे?

कर्मदृष्टिसे देखें तो भगवान् और भक्त भिन्न हैं, गुरु और शिष्य भिन्न हैं; पर प्रभुके प्रिय प्रकाशमें दोनों अभिन्न हैं।

इस प्रकार प्रियत्वरूप प्रभुके कल्लोल-तरङ्गरूप जीवके

लिये परमात्माकी प्राप्तिके अर्थ किसी साधनके करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। परन्तु इस प्रकारकी धारणाका होना श्रीसद्गुरु-कृपाके विना असम्भव है। जबतक ऐसी धारणा न हो ले, तबतक त्रिविध कर्म, तीन अवस्था, त्रिगुण—इन सबकी प्रतीति होती ही है। सूर्यके प्रकाशसे मृगजल भासता है; सूर्यास्तके होनेपर मृगजलको भगानेका कोई यत्न नहीं करना पड़ता, सूर्यास्तके साथ वह आप ही हट जाता है। पर सूर्यके रहते भी जो मृगजल देख पड़ता है, वह भी सूर्य-प्रकाश ही होता है, मृगजल नहीं। इसी प्रकार जीवके कर्म, अविद्या, अज्ञान आदिको मान लें, तो उनसे भी पूर्णता अपगत नहीं होती और इन अवस्थाओंसे निकलनेके लिये यदि साधन किये जायँ और उसी प्रकारकी विपरीत धारणा न हो, तो वे साधन भी साधन नहीं बल्कि भगवत्प्रेमके दिव्य रूप ही प्रतीत होंगे।

जीवकी प्रत्येक सत्तामें, उसकी नस-नसमें भगवान्‌की ही सत्ता है। ऐसा होते हुए भी जीव उसे भूलकर भगवान्‌को साधनोंके द्वारा प्राप्त करनेका प्रयास करता है! परन्तु परमात्मा प्रयाससाध्य नहीं हैं। परमात्मा तो सर्वत्र परिपूर्ण हैं; फिर भी वह नहीं हैं—यह जो धारणा हो जाती है, इसीको हटाना है। इसे भगवान् ही हटा सकते हैं, इसलिये हम उन्हींसे प्रार्थना करें कि भगवन्! आप सर्वत्र होते हुए भी क्यों अपने आपको विस्मृतिका परदा डालकर छिपाये हुए हैं? आप हैं तो यहाँ-वहाँ सर्वत्र, सब अवस्थाओंमें, सब प्रकारसे; तब जैसे भी आप हैं, मुझे दर्शन दीजिये। प्रार्थनासे अनुकम्पित होकर भगवान् सर्वाङ्गमें उदय होने लगते हैं। उनके उदय होनेका लक्षण यही है कि सारा तन-मन-प्राण उन्हींके प्रेममें डूब जाता है, शरीरपर अष्ट सात्त्विक भाव उदय होते हैं, नेत्रोंसे अश्रु गिरने लगते हैं और मुखसे 'राम' या 'राम कृष्ण हरि' अथवा 'माँ, माँ' की पुकार होने लगती है। अव्यक्त परमात्माके व्यक्त होने अथवा दर्शन-साक्षात्कार होनेके लिये ही भगवत्कृपासे ऐसी अवस्था हुआ करती है। इससे भक्त और भगवान् दोनों ही प्रसन्न होते हैं और दोनोंका द्वयभाव नष्ट होकर केवल प्रेम ही रह जाता है।

माता ही सन्तान बनकर यह प्रेमसुख लाभ करती है, भगवान् ही भक्त होकर अपने प्रेमका आनन्द उठाते हैं। सन्तानसे ही मातृत्वकी सिद्धि होती है और भक्तसे ही भगवान्‌की भगवत्ता प्रकट होती है। भगवान् भक्तकी अवस्थामें यदि न आयें, तो वे अपनी भगवत्ताको नहीं अनुभव कर सकते। बालकके लिये माँको 'माँ' पुकारनेके अतिरिक्त और किसी साधनकी जरूरत नहीं। माँ बच्चेकी पुकार सुनकर आप ही दौड़ आती है। भक्त भी भगवान्‌को माता समझकर 'माँ' कहकर पुकारे तो सही, फिर देखिये करुणामय भगवान् अपने मङ्गलमय स्वरूपसे कैसे भक्तके समीप चले आते हैं। माहुरवासी, देवी रेणुकाके परम भक्त, भगवतीके गलेके हार श्रीविष्णुदास महाराज कहते हैं कि 'किसी साधन-धनका काम नहीं, स्तवन-गानका कुछ दाम नहीं; सच्ची पुकार 'माँ' की है, तो बेड़ा पार है।' भगवान्‌को 'माँ' कहकर सभी संतोंने पुकारा है। माताकी अपने हृदयगत स्तन्य-अमृतका पान करानेकी इच्छा ही बच्चेको रुलाती है और जब माता इस अमृतका पान कराती है, तब माता और बच्चा दोनों ही एक दूसरेकी ओर अनिर्वचनीय प्रेमभरी दृष्टिसे देखते हुए परम सुखी होते हैं। यही भक्त और भगवान्‌की बात है।

विसरणका कारण

पैठणके परम भगवद्भक्त श्रीएकनाथ महाराज सब भूतोंमें भगवान्‌को देखा करते थे। परन्तु इनके घर श्रीखण्डिया नामका जो ब्राह्मण पानी भरा करता था, उसमें इन्हें कभी भगवद्बुद्धि नहीं हुई। पर किसी अन्य भक्तको यह स्वप्न हुआ कि पैठणमें जाओ, वहाँ श्रीएकनाथ महाराजके यहाँ श्रीखण्डियाको देखनेसे तुम्हें भगवत्साक्षात्कार होगा। वह भक्त पैठण पहुँचा, श्रीएकनाथ महाराजके घर आया, श्रीखण्डियाके उसने भक्तिभावसे दर्शन किये और श्रीकृष्ण उसके सामने प्रकट हुए। पर उसी क्षण श्रीखण्डियाका रूप अन्तर्धान हो गया। एकनाथ महाराजको तब यह ध्यान हुआ कि श्रीखण्डिया मेरा नौकर नहीं, उसके रूपमें मेरे नाथ श्रीकृष्ण ही थे। मुझसे उन्होंने यह कपट क्यों किया? एकनाथ महाराजको इस बातका बड़ा अनुताप हुआ कि मैं उन्हें क्यों न पहचान सका! भगवान्‌से उन्होंने बड़ी करुण प्रार्थना की। भगवान् प्रकट हुए और उन्होंने कहा, 'नाथ! मैं संत-सङ्गके अपार सुखको लूटना चाहता था; संतकी सेवाका जो आनन्द है, उसमें मैं अपने आपको भुलाना चाहता था। इसीलिये मैंने ही तुम्हारी स्मृतिपर जान-बूझकर परदा डाल रक्खा था। यदि ऐसा विसरण तुम्हें न कराया जाता, तो मुझे तुम्हारे सङ्ग और सेवाका लाभ कैसे मिलता? तुम्हें विसरण तो हुआ, पर उस विसरणमें मैं ही तो था।' एकनाथ महाराजने देखा, 'स्मरण ज्ञान है और विसरण प्रेम है।'

असीमकी सुखप्रतीतिके लिये असीमको सीमित होना पड़ता है और सीमित होनेपर उसके मनका सहज भाव स्मरण-विस्मरणात्मक होता है और ऐसा होता है, इसीलिये तो अपरिच्छिन्नका प्रेमानन्द परिच्छिन्न जीवके लिये प्राप्त करना सम्भव होता है।

तात्पर्य, विस्मरणमें भी भगवान् परिपूर्ण हैं—यह भावना जब दृढ़ हो जाती है, तब सब साधन समाप्त हो जाते हैं। मातृरूपसे भगवान्को सहज भावसे पुकार उठना ही इस अवस्थाकी पहचान है। 'माँ', 'माँ' कहकर भक्तका भगवान्को पुकारना भगवान्की वात्सल्य-रतिके लिये आवश्यक होता है। उससे भक्तको वात्सल्यामृत पान करानेके लिये माताके समान ही भगवान् दौड़ पड़ते हैं और भक्तके उस सुधापानसे भक्त और भगवान् परमानन्दमें निमग्न हो जाते हैं। यह सामर्थ्य केवल माताकी कृपामें है और किसी साधनमें नहीं। यह मातृकृपा माताको पुकारनेकी सहज वृत्तिसे अनुकम्पित होकर ही प्रकट होती है, यही संतोंका बोध और प्रेम-भोग है। इस प्रकारका बोध सब जीवोंको प्राप्त हो, यही श्रीजगन्मातासे प्रार्थना करके इस लेखको समाप्त करता हूँ।

उसकी पहचान

(लेखिका—श्रीबाबी बहिन मूलजी दयाल)

सब लोग किसीकी बाट देख रहे हैं, परन्तु किसीको इस बातका पता नहीं है कि कौन आनेवाला है। कोई आता है तो ऐसा मालूम होने लगता है कि यह वह नहीं है, यह वह नहीं है और वह, वह तो आ-आकर चला जाता है। वह नये-नये रूपमें आ-आकर कभी हँसता है, कभी रोता है, कभी अकुलाता है और बार-बार मिलनेके लिये आता है। परन्तु, परन्तु उसे कोई पहचानता नहीं। फिर भी सब-के-सब रात-दिन उसीकी बाट देख रहे हैं। किसी अज्ञात क्षणमें बाट देखनेवालोंमेंसे किसी विरले भाग्यशालीकी उससे चार आँखें होती हैं और वह उसे पहचान लेता है।

श्रीहरिनाम

(रचयिता—श्रीविनायकराव भट्ट)

कोई ज्ञान, कोई ध्यान, कोई पूजा, पाठ कोई,
कोई योग-आसनोंसे होते हैं सफलकाम;
कोई यज्ञ, कोई दान, कोई व्रत, नियमोंसे,
कोई धर्म-कर्म द्वारा पाते पद अभिराम॥
कोई सत्य, कोई तप, कोई तीर्थ, सेवनसे,
गंगादिक मज्जनसे जाते कोई पुण्य-धाम।
मेरे जान भुक्ति-मुक्ति-शान्ति-सुख-दाता, सर्व-
साधन-तिलक एक केवल श्रीहरिनाम॥

दो मोदक

(लेखक—श्रीप्रेमी शर्मा काव्यतीर्थ, साहित्यशास्त्री)

ये 'साधनाङ्क' के सर्वसुखद मिष्टान्न हैं। इनके गुण, स्वाद और रूपका उल्लेख नहीं किया जा सकता। स्वयंके अनुभव या अभ्याससे आभासित हो सकते हैं। एकका नाम है—'मानस-त्रिवेणी' और दूसरेका—'शाश्वती साधना'। इनकी अनुभूतिका उपाय नीचे लिखा जा रहा है।

प्रथमके लिये

आसन लगाकर बैठ जाइये। भय, चिन्ता और उद्वेगको बाहर निकाल दीजिये, नेत्रोंको बंद कर लीजिये। भगवान्के किसी भी स्वरूपको जो आपको अच्छा लगे, आँखोंके अंदर लीजिये। जिस प्रकार आप प्रत्यक्षमें दर्शन करते हैं, उसी प्रकार अन्तरात्मामें कीजिये। दर्शन करते समय अभीष्ट मन्त्र अथवा 'हरे राम०' मन्त्रका जप कीजिये। साथ ही मनमें एक, दो, तीन—जपकी संख्या भी करते जाइये। इस प्रकार ध्यान, जप और संख्या—तीनों एक साथ होंगे; सो भी उच्चारणमें नहीं, मनहीमें किये जायँगे। जीभ, होठ और दाँत हिलेंगे नहीं। इस प्रकार आप एक, पाँच या दस मिनटकी उत्तरोत्तर वृद्धिसे जितना अभ्यास बढ़ा सकें, बढ़ाइये। इससे आपको प्रथम मोदककी रस-माधुरी ज्ञात हो जायगी और उसके अभ्यासी बन जायँगे।

दूसरेके लिये

आसन लगाने, आँख मूँदने, अन्तर्दर्शन करनेकी आवश्यकता नहीं। चलते-फिरते, उठते-बैठते, सोते-जागते, काम करते हुए हर समय इष्टदेवके अभीष्ट मन्त्र अथवा उपर्युक्त—

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

—या 'सोऽहम्' मन्त्रका मानसिक जप प्रतिक्षण करते रहिये। सावधानी केवल इस बातकी रखिये कि काम चाहे जो कुछ भी हो—हर एक श्वासमें मानस जप होता रहे। एक श्वास भी खाली न जाय और प्रत्येक श्वासमें पूरा जप हो। मन जपमें लगा रहे। इस प्रकार करनेसे आपकी 'शाश्वती साधना' सिद्ध हो जायगी और संसारमें रहते हुए आपको संसारकी स्मृतितक नहीं होगी।

स्मृति

ए स्मृति! उसकी प्यारी, तू भी न छोड़ जाना।
मुझ-से कुवञ्चितोंकी तूही है इक दुगाना॥१॥
रहना बसी हियेमें, हियमें बसाए रहना।
करना पृथक् न क्षण भर, इस भाँतिसे जुगाना॥२॥
जब-जब ये प्राण टूटें उसके विरहमें आकुल,
ले चित्र उसका तब-तब मुझको दिखा जिलाना॥३॥
झोंका कभी कोई जो खाकर बहक मैं जाऊँ,
लेना सँभाल तब सुना प्रिय नामका तराना॥४॥
मम प्राण-त्राण, जीवन-अवलम्बिनी है तू ही।
कर-करके उसकी बातें कुछ मन-सुमन खिलाना॥५॥
निरवधि करुण-वियोगकी मेरे तू सङ्गिनी है।
वाणीकी तरह तू भी बहलाना, दुख भुलाना॥६॥
करुणासे कभी उसकी मिलना अगर हो तेरा।
दयनीय दशा मेरी उसको सखी, बताना॥७॥
मेरे औ उसके बीच तू सरिता-सी बह रही है।
उस तट पै खींच मुझको लहरोंसे फेंक आना॥८॥
उस काल-द्वीपमें हूँ, जिससे निकल न सकता।
है "बिन्दु" उन पै निर्भर आना, मुझे बुलाना॥९॥

—'श्रीबिन्दु' ब्रह्मचारी

मेरी साधना!

खेल खेलता ही रहा शिशु बनकर जहाँ,
प्रेम-पाठ सीखा, ऐसी गोदका दुलारा हूँ।
भावका अभाव नेक रहा भी न होवे जहाँ,
ऐसे भावमण्डलका सदाहीसे प्यारा हूँ॥
आगे बढ़ रहा आज लेके निज कर्म-कोष,
निश्चय किया है, नाथ! हिम्मत न हारा हूँ।
तन-धन वार दिया तेरे चरणों पै मैंने,
काया-मन-वचनसे अब तो तुम्हारा हूँ॥१॥

और साध—!!

हाथी हथसार घुड़सार हौं न चाहौं "प्रेम"
पैदल सिपाहिनकी गरद बचाइयो।
भावै न दुआर, घर-बार, न हज़ार कोष,
साहिबी अपार कारबार न दिखाइयो॥
साँचि झूठ बंध दुख-दंदन तें द्वन्द्व नाहिं,
कृत्रिम अनन्दके हू फंद न लगाइयो।
हौं तौ मतिमंद, एक बिनती है, दीनबन्धु!
पाद-रज आपुने ही जनकी बनाइयो॥२॥

—प्रेमनारायण त्रिपाठी "प्रेम"

तुलसीदास

(रचयिता—पाण्डेय श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री 'राम')

(१)

नाता कौन तोड़ना सिखाता विषयोंसे हमें,
भव्य भक्तिभावका प्रभाव दिखलाता कौन ?
लाता कौन छोर मोरपंख हरि-मस्तकसे
कनक-किरीट वहाँ सुन्दर सजाता कौन ?
जाता कौन झाँकी दिखा व्रजमें अवधकी भी,
हाथ गोपीनाथके धनुष धरा पाता कौन ?
पाता कौन यश यह तुलसी न होते यदि
माथ झुकते ही राम श्यामको बनाता कौन ?

तुलसीकी कविता

(२)

जा के बिन रामजू को पूजन न पूरो होत,
जा सों प्रीति बाढ़ति सदैव सिय-पी की है
पीवन मरंद सिद्ध-साधक मिलिंद-बृंद
अति अनुरक्ति की सुगन्ध भरी नीकी है।
जोग जो अनूठो भव-रोग हरिबे के हेत
काममयी सेवत जुकाम जाय जी की है
मन-अभिराम स्याम सुन्दर गुनन भरी
पात तुलसी की किधौं बात तुलसी की है ॥

(३)

मधुर पदावली की छाजति छटा है मंजु
कान्त कल्पना है, गुन-रीति को दरस है।
विविध अलंकृति सों लसति अलंकृत है,
होत व्यंजना सों दिव्य रस को परस है।
देत सुधी-बृंदन के मन को अमंद मोद
और हू कबींदन को कवित सरस है
नीको सब ही ते तुलसी की कविता को स्वाद
या में राम-रस है, न वा में राम-रस है ॥

नयी पुस्तक ! *प्रकाशित हो गयी !!* *नयी पुस्तक !!!*

गीताडायरी सन् १९४१ की

सम्पूर्ण पञ्चाङ्गसहित, मूल्य साधारण जिल्द ।), कपड़ेकी जिल्द ।-)

पिछले कई वर्षोंमें डायरीके दो-दो, तीन-तीन संस्करण निकालने पड़े और इसपर भी अन्तमें कई सज्जनोंको निराश होना पड़ा, अबतक इसकी दो लाख तीन हजार प्रतियाँ छप चुकीं, यही इसकी उपयोगिताका सबसे बड़ा प्रमाण है । इसमें हिन्दी, अंग्रेजी, बंगला, पंजाबी तिथियोंके साथ-साथ संक्षेपसे त्योहार भी छापे जाते हैं । गीता १८ अध्याय सम्पूर्ण तो रहती ही है । आरम्भके ६० पेजोंमें अनेक उपयोगी विषयोंके साथ सम्पूर्ण पञ्चाङ्ग भी दिया गया है । अन्तमें याददाश्तके सादे पन्ने हैं । यह सबके लिये एक उपयोगी सुन्दर डायरी है । अनेक विद्वानों और पत्र-पत्रिकाओंने इसकी बड़ी प्रशंसा की है । केवल २०,००० छापी गयी है, जिन्हें आवश्यकता हो, आर्डर देनेकी कृपा करें ।

इस बार ध्यान दो, विचार करो, विश्राम करो और मनन करो आदि उपदेश नये लगाये गये हैं । गत वर्षकी अपेक्षा इस बार ८ पेजका मसाला अधिक दिया गया है ।

कमीशन रुपयेमें चार आना काटकर एक अजिल्द डायरीके लिये रजिस्ट्री और डाकखर्चसहित ॥) और एक सजिल्दके लिये ॥-), तथा दो अजिल्दके लिये ॥।-) और दो सजिल्दके लिये ॥।≈) भेजना चाहिये । तीन अजिल्दका १-), छः अजिल्दका १॥।=), तीन सजिल्दका १।) और छः सजिल्दका २।) होगा । बिना रजिस्ट्री पैकेट खो जानेका डर है । १) से कमकी वी० पी० प्रायः नहीं भेजी जाती ।

विशेष सूचना—मँगवानेसे पहले अपने बुकसेलरोंसे पूछिये । थोक मँगानेवाले बुकसेलर हमारी पुस्तकें प्रायः पुस्तकपर छपे हुए दामोंसे बेचा करते हैं । बुकसेलरोंसे लेनेमें आपको सुभीता होगा । भारी डाकखर्चकी बचत होगी, क्योंकि हमारी पुस्तकोंका प्रायः मूल्य कम और वजन अधिक होता है ।

बुकसेलरोंको सूचना

अजिल्द-सजिल्द कम-से-कम २५० डायरियाँ एक साथ लेनेवालोंका नाम-पता डायरीपर बिना किसी खर्चके छाप दिया जायगा । इससे उनको बेचनेमें मदद मिलेगी । कमीशन २५) तो सबको ही दिया जाता है ।

पता—**गीताप्रेस, गोरखपुर**

Regd. No. A. 173.

विचार

शास्त्रोंका अनुगमन करनेवाली शुद्ध बुद्धिसे अपने सम्बन्धमें सर्वदा विचार करना चाहिये। विचारसे तीक्ष्ण होकर बुद्धि परमात्माका अनुभव करती है। इस संसाररूपी दीर्घरोगका सबसे श्रेष्ठ औषध विचार ही है। विचारसे विपत्तियोंका मूल अज्ञान ही नष्ट हो जाता है। यह संसार मृत्यु, संकट और भ्रमसे भरपूर है इसपर विजय प्राप्त करनेका उपाय एकमात्र विचार है। बुरेको छोड़कर अच्छेका ग्रहण, पापको छोड़कर पुण्यका अनुष्ठान विचारके द्वारा ही होता है। विचारके द्वारा ही बल, बुद्धि, सामर्थ्य, स्फूर्ति और प्रयत्न सफल होते हैं। राज्य, सम्पत्ति और मोक्ष भी विचारसे प्राप्त होता है। विचारवान् पुरुष विपत्तिमें घबड़ाते नहीं, सम्पत्तिमें फूल नहीं उठते। विचारहीनके लिये सम्पत्ति भी विपत्ति बन जाती है। संसारके सारे दुःख अविवेकके कारण हैं, विवेक धधकती हुई अन्तर्ज्वालाको भी शीतल बना देता है। विचार ही दिव्य दृष्टि है, इसीसे परमात्माका साक्षात्कार और परमानन्दकी अनुभूति होती है। यह संसार क्या है? मैं कौन हूँ? इससे मेरा क्या सम्बन्ध है? यह विचार करते ही संसारसे सम्बन्ध छूटकर परमात्माका साक्षात्कार होने लगता है। इसलिये शास्त्रानुगामिनी शान्त, शुद्ध बुद्धिसे विचार करते रहना चाहिये। (योगवासिष्ठ)

कल्याण
वर्ष १५.
अङ्क ४

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम । जय रघुनन्दन जय सियराम ॥
रघुपति राघव राजा राम । पतितपावन सीताराम ॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा । जय गणेश जय शुभ आगारा ॥

[संस्करण ५५६००]

वार्षिक मूल्य
भारतमें ४≡)
विदेशमें ६॥=)
(१० शिलिङ्ग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत चित आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण प्रति
भारतमें ।)
विदेशमें ।≡)
(८ पेंस)

Edited by H. P. Poddar and C. L. Goswami, M. A., Shastri.
Printed and Published by Ghanshyamdas Jalan at the Gita Press, Gorakhpur (India)

श्रीहरिः

आवश्यक सूचना

ग्रन्थों और पत्रोंमें 'प्राणायाम', 'आसन' तथा 'कुण्डलिनीजागरण' सम्बन्धी लेखोंको पढ़कर कुछ लोग विना अधिकारी गुरुसे सीखे हुए ही उनमें वर्णित क्रियाओंको करने लगते हैं, जिससे कभी-कभी उनके शारीरिक तथा मानसिक स्वास्थ्यको बड़ा आघात पहुँचता है। इस सम्बन्धमें कल्याणके पाठकोंको बार-बार सावधान किया जाता है, तथापि कुछ सज्जन शीघ्र सिद्धि पानेके लोभमें ऐसा करने लगते हैं। अभी हालमें ऐसे कुछ पत्र आये हैं, जिनसे पता लगता है कि मनमानी योगक्रियासे उनके स्वास्थ्यको हानि पहुँची है। अतः पुनः सेवामें निवेदन किया जाता है कि कोई सज्जन इन क्रियाओंको करना चाहें तो वे किसी योग्य गुरुसे सीखकर उनके आदेशानुसार ही इस प्रकारके अभ्यासमें लगें, केवल लेख पढ़कर ही अभ्यास हरगिज न शुरू करें। ऐसा करनेसे लाभकी अपेक्षा हानिकी ही अधिक सम्भावना है।

विनीत—सम्पादक

कल्याण नवम्बर सन् १९४० की

विषय-सूची

'साधनांक' शीघ्र खरीदिये

इस बार 'साधनांक' घाटेपर निकाला गया था। इसलिये उसके पुनः छप जानेकी सम्भावना बहुत कम है। लगभग ५०००० अंक जा चुके हैं। अब बहुत थोड़े अंक बचे हैं। जिन ग्राहकोंने अभी रुपये न भेजे हों या जो नये ग्राहक बनना चाहते हों, उन्हें रुपये भेजकर तुरन्त ग्राहक बन जाना चाहिये। रोज नये-नये ग्राहकोंकी माँगें आ रही हैं। 'साधनांक'के समाप्त हो जानेपर फिर मिलना कठिन हो जायगा। साधनांक कैसा उपयोगी है यह तो पढ़नेवाले जानते ही हैं।

मैनेजर

'कल्याण', गोरखपुर

श्रीरामचरितमानसके १२५००० पारायण

पाठकोंसे प्रार्थना

लौकिक, पारलौकिक तथा पारमार्थिक कल्याणके लिये 'कल्याण' के पाठकोंसे १२५००० मानस-पारायण करने-करानेके लिये प्रार्थना की गयी थी। १०००० पारायण चैत्रमें हो चुके थे। आश्विनमें भी कुछ पारायण हुए हैं, अभी समाचार मिल रहे हैं।

कल्याणके सब पाठक-पाठिकाओंसे हमारी सादर प्रार्थना है कि वे अगले चैत्रतक चेष्टा करके १२५००० की संख्या पूरी कर दें। यह जरूरी बात नहीं कि, अब पारायण चैत्रमें ही किये जायँ। अबसे लेकर चैत्र शुक्ल ९ तक जब कभी भी करें। जिनको अवकाश हो वे तो लगातार ही करते रहें। यदि कार्तिक शुक्ल १ या ८ से पारायण आरम्भ किये जायँ तो रामनवमीतक एक सज्जन १६-१७ पारायण कर सकते हैं। सब प्रेमी जनोंको विशेष उत्साहसे मानस-पारायण करने-करानेकी चेष्टा करनी चाहिये।

मानसपारायण-प्रचार-विभाग,
कल्याण-कार्यालय,
गोरखपुर।

मानसप्रेमी-मंडल

'साधनांक' में 'मानसप्रेमी-मंडल' की सूचना निकली थी। हर्षकी बात है कि अबतक लगभग ११०० सदस्य बन चुके हैं और प्रतिदिन ही नये-नये सदस्योंकी सूचनाएँ आ रही हैं। 'कल्याण'के तमाम पाठक-पाठिकाओंसे अत्यन्त विनयके साथ पुनः प्रार्थना है कि वे स्वयं इसके सदस्य बनें और अधिक-से-अधिक नर-नारियोंको सदस्य बनाकर सबके कल्याणमें सहायक हों। छपे हुए फार्म नीचे लिखे पतेसे मँगवाने चाहिये। जिन सदस्योंने अपने जिम्मके दो नये सदस्य अभी नहीं बनाये हैं, उनसे प्रार्थना है कि वे शीघ्र ही नये सदस्य बनाकर भेजें। जितनी जल्दी होगी, उतने ही सदस्य अधिक बनेंगे, और उतना ही अधिक कल्याण होगा।

मानसप्रेमी-मंडल,
गीताप्रेस, गोरखपुर

'साधनांक' शीघ्र खरीदिये

इस बार 'साधनांक' घाटेपर निकाला गया था। इसलिये उसके पुनः छप जानेकी सम्भावना बहुत कम है। लगभग ५०००० अंक जा चुके हैं। अब बहुत थोड़े अंक बचे हैं। जिन ग्राहकोंने अभी रुपये न भेजे हों या जो नये ग्राहक बनना चाहते हों, उन्हें रुपये भेजकर तुरन्त ग्राहक बन जाना चाहिये। रोज नये-नये ग्राहकोंकी माँगें आ रही हैं। 'साधनांक'के समाप्त हो जानेपर फिर मिलना कठिन हो जायगा। साधनांक कैसा उपयोगी है यह तो पढ़नेवाले जानते ही हैं।

मैनेजर

'कल्याण', गोरखपुर

श्रीरामचरितमानसके १२५००० पारायण

पाठकोंसे प्रार्थना

लौकिक, पारलौकिक तथा पारमार्थिक कल्याणके लिये 'कल्याण' के पाठकोंसे १२५००० मानस-पारायण करने-करानेके लिये प्रार्थना की गयी थी। १०००० पारायण चैत्रमें हो चुके थे। आश्विनमें भी कुछ पारायण हुए हैं, अभी समाचार मिल रहे हैं।

कल्याणके सब पाठक-पाठिकाओंसे हमारी सादर प्रार्थना है कि वे अगले चैत्रतक चेष्टा करके १२५००० की संख्या पूरी कर दें। यह जरूरी बात नहीं कि, अब पारायण चैत्रमें ही किये जायँ। अबसे लेकर चैत्र शुक्ल ९ तक जब कभी भी करें। जिनको अवकाश हो वे तो लगातार ही करते रहें। यदि कार्तिक शुक्ल १ या ८ से पारायण आरम्भ किये जायँ तो रामनवमीतक एक सज्जन १६-१७ पारायण कर सकते हैं। सब प्रेमी जनोंको विशेष उत्साहसे मानस-पारायण करने-करानेकी चेष्टा करनी चाहिये।

मानसपारायण-प्रचार-विभाग,
कल्याण-कार्यालय,
गोरखपुर।

मानसप्रेमी-मंडल

'साधनांक' में 'मानसप्रेमी-मंडल' की सूचना निकली थी। हर्षकी बात है कि अबतक लगभग ११०० सदस्य बन चुके हैं और प्रतिदिन ही नये-नये सदस्योंकी सूचनाएँ आ रही हैं। 'कल्याण'के तमाम पाठक-पाठिकाओंसे अत्यन्त विनयके साथ पुनः प्रार्थना है कि वे स्वयं इसके सदस्य बनें और अधिक-से-अधिक नर-नारियोंको सदस्य बनाकर सबके कल्याणमें सहायक हों। छपे हुए फार्म नीचे लिखे पतेसे मँगवाने चाहिये। जिन सदस्योंने अपने जिम्मेके दो नये सदस्य अभी नहीं बनाये हैं, उनसे प्रार्थना है कि वे शीघ्र ही नये सदस्य बनाकर भेजें। जितनी जल्दी होगी, उतने ही सदस्य अधिक बनेंगे, और उतना ही अधिक कल्याण होगा।

मानसप्रेमी-मंडल,
गीताप्रेस, गोरखपुर

छप रहा है ! दूसरा संस्करण छप रहा है !!

गीताडायरी सन् १९४१

सम्पूर्ण पञ्चाङ्गसहित, मूल्य साधारण जिल्द ।), कपड़ेकी जिल्द ।-)

२०००० प्रतियोंका प्रथम संस्करण केवल १॥ मासके अल्प समयमें ही प्रायः समाप्त हो गया। अभी नया साल आनेमें दो माहकी देर है और माँग धड़ाधड़ आ रही है। इसलिये ५००० प्रतियाँ और छापनेकी व्यवस्था की गयी है। इस कारणसे जिन ग्राहकोंको मिलनेमें कुछ विलम्ब हो वे कृपापूर्वक धैर्य रक्खें।

पिछले कई वर्षोंमें डायरीके दो-दो, तीन-तीन संस्करण निकालने पड़े और इसपर भी अन्तमें कई सज्जनोंको निराश होना पड़ा, अबतक इसकी दो लाख तीन हजार प्रतियाँ छप चुकीं, यही इसकी उपयोगिताका सबसे बड़ा प्रमाण है। इसमें हिन्दी, अंग्रेजी, बंगला, पंजाबी तिथियोंके साथ-साथ संक्षेपसे त्योहार भी छापे जाते हैं। गीता १८ अध्याय सम्पूर्ण तो रहती ही है। आरम्भके ६० पेजोंमें अनेक उपयोगी विषयोंके साथ सम्पूर्ण पञ्चाङ्ग भी दिया गया है। अन्तमें याददाश्तके सादे पन्ने हैं। यह सबके लिये एक उपयोगी सुन्दर डायरी है। अनेक विद्वानों और पत्र-पत्रिकाओंने इसकी बड़ी प्रशंसा की है।

इस बार ध्यान दो, विचार करो, विश्वास करो और मनन करो आदि उपदेश नये लगाये गये हैं। गत वर्षकी अपेक्षा इस बार ८ पेज अधिक दिये गये हैं।

कमीशन रुपयेमें चार आना काटकर एक अजिल्द डायरीके लिये रजिस्ट्री और डाकखर्चसहित ॥) और एक सजिल्दके लिये ॥-) तथा दो अजिल्दके लिये ॥।-) और दो सजिल्दके लिये ॥।≈) भेजना चाहिये। तीन अजिल्दका १-), छः अजिल्दका १॥।≈), तीन सजिल्दका १।) और छः सजिल्दका २।) होगा। बिना रजिस्ट्री पैकेट खो जानेका डर है। १) से कमकी वी० पी० प्रायः नहीं भेजी जाती।

विशेष सूचना—मँगवानेसे पहले अपने बुकसेलरोंसे पूछिये। थोक मँगानेवाले बुकसेलर हमारी पुस्तकें प्रायः पुस्तकपर छपे हुए दामोंसे बेचा करते हैं। बुकसेलरोंसे लेनेमें आपको सुभीता होगा। भारी डाकखर्चकी बचत होगी, क्योंकि हमारी पुस्तकोंका प्रायः मूल्य कम और वजन अधिक होता है।

बुकसेलरोंको सूचना

अजिल्द-सजिल्द कम-से-कम २५० डायरियाँ एक साथ लेनेवालोंका नाम-पता डायरीपर बिना किसी खर्चके छाप दिया जायगा। इससे उनको बेचनेमें मदद मिलेगी।

पता—गीताप्रेस, गोरखपुर

३८—श्रीकृष्ण-विज्ञान—गीताका मूलसहित हिन्दी-पद्यानुवाद, सचित्र, पृष्ठ २७२, मूल्य ।।।) सजिल्द ··· १)
३९—श्रीश्रीचैतन्य-चरितावली—(ख० १)—लेखक—श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी, ६ चित्र, पृष्ठ २९६, मूल्य ।।।=) सजिल्द १=)
४०— ,, ,, (ख० २)—९ चित्र, ४६४ पृष्ठ, पहले खण्डके आगेकी लीलाएँ, मूल्य १=) सजिल्द १।=)
४१— ,, ,, (ख० ३)—११ चित्र, ३८४ पृष्ठ, मूल्य १) सजिल्द ··· १।)
४२— ,, ,, (ख० ४)—१४ चित्र, २२४ पृष्ठ, मूल्य ।।=) सजिल्द ··· ।।।=)
४३— ,, ,, (ख० ५)—१० चित्र, पृष्ठ २८०, मूल्य ।।।) सजिल्द ··· १)

श्रीश्रीचैतन्य-चरितावली—पाँचों भाग—पूरी पुस्तक सजिल्द (दो जिल्दोंमें) लेनेसे ।।=) कम लगता है। अलग-अलग अजिल्द ४।=) सजिल्द ५।।=) पाँचों भाग दो जिल्दोंमें ··· ··· ५)

४४—मुमुक्षुसर्वस्वसार—भाषाटीकासहित, अनुवादक—श्रीमुनिलालजी, पृष्ठ ४१६, मूल्य ।।।–) सजिल्द ··· १–)
४५—तत्त्व-चिन्तामणि भाग १—सचित्र, लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका, पृष्ठ ३६०, एण्टिक कागज, मूल्य ।।=) स० ।।।–)
४६— ,, ,, ,, (गुटका) ,, ,, ,, ४४८, सचित्र, प्रचारार्थ मूल्य ।–) स० ।=)
४७— ,, भाग २— ,, ,, ,, ६३२, मूल्य ।।।=) सजिल्द १=)
४८— ,, ,, ,, (गुटका) ,, ,, ,, ७५०, सचित्र, प्रचारार्थ मूल्य ।=) स० ।।)
४९— ,, भाग ३— ,, ,, ,, ४६०, मूल्य ।।≢) सजिल्द ।।।=)
५०— ,, ,, ,, (गुटका) ,, ,, ,, ५६०, सचित्र, मूल्य ।–) सजिल्द ।=)
५१—पूजाके फूल—श्रीभूपेन्द्रनाथ देवशर्माके अनुभवपूर्ण भावमय लेखोंका संग्रह, सचित्र, पृष्ठ ४२०, मूल्य ।।।–)
५२—एकादश स्कन्ध—(श्रीमद्भागवतान्तर्गत) सचित्र, हिन्दी-टीकासहित बहुत उपदेशपूर्ण स्कन्ध है, पृष्ठ ३९२, मू० ।।।) स० १)

५३—देवर्षि नारद—५ चित्र, पृष्ठ २४०, मूल्य ।।।) स० १)
५४—शरणागतिरहस्य—सचित्र, पृष्ठ ३६०, मूल्य ।।≢)
५५—श्रीभगवन्नामकौमुदी—सानुवाद, पृष्ठ ३३६ सचित्र, ।।=)
५६—श्रीविष्णुसहस्रनाम—शांकरभाष्य, हिन्दी-अनुवाद-सहित, सचित्र, पृष्ठ २८६, मूल्य ।।=)
५७—शतपञ्च चौपाई—सानुवाद, सचित्र, पृष्ठ ३४०, मू० ।।=)
५८—सूक्ति-सुधाकर—सानुवाद, सचित्र, पृष्ठ २७६, मू० ।।=)
५९—ढाई हजार अनमोल बोल (संत-वाणी) पृष्ठ ३५२, ।।=)
६०—आनन्दमार्ग—सचित्र, पृष्ठ ३२४, मूल्य ।।–)
६१—कवितावली—गो० तुलसीदासजीकृत, सटीक, ४ चित्र, ।।–)
६२—दोहावली—(सानुवाद) अनु०—श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार, दो रंगीन चित्र, पृष्ठ २२४, मूल्य ।।)
६३—श्रुतिरत्नावली—सचित्र, सम्पा०—श्रीभोलेबाबाजी, मू० ।।)
६४—स्तोत्ररत्नावली—अनुवादसहित, ४ चित्र (नये संस्करणमें ७४ पृष्ठ बढ़े हैं) मूल्य ।।)
६५—दिनचर्या—सचित्र, पृष्ठ २४०, मूल्य ।।)
६६—तुलसीदल—सचित्र, पृष्ठ २९८, मूल्य ।।) सजिल्द ।।≢)
६७—श्रीएकनाथ-चरित्र—सचित्र, पृष्ठ २४४, मूल्य ।।)
६८—नैवेद्य—लेखक—श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार, पृष्ठ २७६, मूल्य ।।) सजिल्द ।।≢)
६९—श्रीरामकृष्ण परमहंस—५ चित्र, पृष्ठ २५६, मूल्य ।≢)
७०—भक्त-भारती—(सचित्र) कवितामें सात भक्तोंके चरित्र ।≢)
७१—तत्त्वविचार—सचित्र, पृष्ठ २०८, मूल्य ।=)
७२—उपनिषदोंके चौदह रत्न—पृष्ठ १०४, चित्र १४, मू० ।=)
७३—लघुसिद्धान्तकौमुदी—सटिप्पण, पृष्ठ ३६८, मूल्य ।=)

७४—भक्त नरसिंह मेहता—सचित्र, पृष्ठ १८०, मूल्य ।=)
७५—श्रीउड़ियास्वामीजीके उपदेश—सचित्र, पृष्ठ २१८, ।=)
७६—विवेक-चूडामणि—सचित्र, सटीक, पृष्ठ १९२, ।–) स० ।।)
७७—गीतामें भक्तियोग—सचित्र, ले०—श्रीवियोगी हरिजी ।–)
७८—प्रेम-दर्शन—(नारदरचित भक्तिसूत्रकी विस्तृत टीका) ।–)
७९—गृह्याग्निकर्मप्रयोगमाला—कर्मकाण्ड, पृष्ठ १९२, मू० ।–)
८०—भक्त बालक—५ चित्रोंसे सुशोभित, पृष्ठ ८०, मूल्य ।–)
८१—भक्त नारी—६ चित्रोंसे सुशोभित, पृष्ठ ८०, मूल्य ।–)
८२—भक्त-पञ्चरत्न—६ चित्रोंसे सुशोभित, पृष्ठ १००, मू० ।–)
८३—आदर्श भक्त—७ चित्रोंसे सुशोभित, पृष्ठ १००, मू० ।–)
८४—भक्त-सप्तरत्न—७ चित्रोंसे सुशोभित, पृष्ठ १००, मू० ।–)
८५—भक्त-चन्द्रिका—७ चित्रोंसे सुशोभित, पृष्ठ ९६, मू० ।–)
८६—भक्त-कुसुम—६ चित्रोंसे सुशोभित, पृष्ठ ९४, मूल्य ।–)
८७—प्रेमी भक्त—९ चित्रोंसे सुशोभित, पृष्ठ १०८, मूल्य ।–)
८८—प्राचीन भक्त—चित्र बहुरंगे १२, सादा १, पृष्ठ १५२, मू० ।।)
८९—भक्त-सौरभ—चित्र बहुरंगे ५, पृष्ठ ११६, मूल्य ।–)
९०—भक्त-सरोज—चित्र बहुरंगे ९, पृष्ठ ११६, मूल्य ।=)
९१—भक्त-सुमन—चित्र बहुरंगे ७, सादे २, पृष्ठ ११०, मू० ।=)
९२—भक्तराज हनुमान्—सचित्र, पृष्ठ ८०, मूल्य ।–)
९३—सत्यप्रेमी हरिश्चन्द्र—सचित्र, पृष्ठ ५६, मूल्य ।–)
९४—प्रेमी भक्त उद्धव—३ रंगीन चित्र, पृष्ठ ६८, मूल्य ≢)
९५—महात्मा विदुर—१ रंगीन चित्र, पृष्ठ ६४, मूल्य =)।।
९६—भक्तराज ध्रुव—चित्र ४ रंगीन, १ सादा, पृष्ठ ५२ मू० ≢)
९७—व्रजकी झाँकी—वर्णनसहित लगभग ५६ चित्र, मूल्य ।)
९८—श्रीबदरी-केदारकी झाँकी—सचित्र, पृष्ठ १२०, मूल्य ।)

Our English Publications

1. The Philosophy of Love. (By Hanumanprasad Poddar) 1-0-0
2. The Story of Mira Bai. (By Bankey Behari) 0-13-0
3. Mysticism in the Upanishads. (By Bankey Behari) 0-10-0
4. At the Touch of the Philosopher's Stone. (A Drama in five acts) 0-9-0
5. Songs from Bhartrihari. (By Lal Gopal Mukerji and Bankey Behari) 0-8-0
6. Mind: Its Mysteries & Control. (By Swami Sivananda) Part I 0-8-0
7. „ „ Part II 1-0-0
8. Way to God-Realization. (By Hanumanprasad Poddar) 0-4-0
9. The Divine Name and Its Practice. (By Hanumanprasad Poddar) 0-3-0
10. Our Present-day Education. (By Hanumanprasad Poddar) 0-3-0
11. The Immanence of God. (By Malaviyaji) 0-2-0
12. Wavelets of Bliss. (By Hanumanprasad Poddar) 0-2-0
13. The Divine Message. (By Hanumanprasad Poddar) 0-0-9

MANAGER—THE GITA PRESS, GORAKHPUR.

पुस्तकें मँगानेवालोंके लिये कुछ ध्यान देने योग्य बातें—

(१) हर एक पत्रमें नाम, पता, डाकघर, जिला बहुत साफ देवनागरी अक्षरोंमें लिखें। नहीं तो जवाब देने या माल भेजनेमें बहुत दिक्कत होगी। साथ ही उत्तरके लिये जवाबी कार्ड या टिकट आना चाहिये।

(२) अगर ज्यादा किताबें मालगाड़ी या पार्सलसे मँगानी हों तो रेलवे स्टेशनका नाम जरूर लिखना चाहिये। आर्डरके साथ कुछ दाम पेशगी भेजने चाहिये।

(३) थोड़ी पुस्तकोंपर डाकखर्च अधिक पड़ जानेके कारण एक रुपयेसे कमकी वी० पी० प्राय: नहीं भेजी जाती, इससे कमकी किताबोंकी कीमत, डाकमहसूल और रजिस्ट्रीखर्च जोड़कर टिकट भेजें।

(४) एक रुपयेसे कमकी पुस्तकें बुकपोस्टसे मँगवानेवाले सज्जन ।) तथा रजिस्ट्रीसे मँगवानेवाले ।=) (पुस्तकोंके मूल्यसे) अधिक भेजें। बुकपोस्टका पैकेट प्राय: गुम हो जाया करता है; अत: इस प्रकार खोयी हुई पुस्तकोंके लिये हम जिम्मेवार नहीं हैं।

(५) 'कल्याण' रजिस्टर्ड होनेसे उसका महसूल कम लगता है और वह कल्याणके ग्राहकोंको नहीं देना पड़ता, कल्याण-कार्यालय स्वयं बरदास्त करता है। पर प्रेसकी पुस्तकों और चित्रोंपर ।।) सेर डाकमहसूल और ≡) फी पार्सल रजिस्ट्रीखर्च लगता है, जो कि ग्राहकोंके जिम्मे होता है। इसलिये 'कल्याण' के साथ किताबें और चित्र नहीं भेजे जा सकते, अत: गीताप्रेसकी पुस्तक आदिके लिये अलग आर्डर देना चाहिये।

कमीशन-नियम

समान व्यवहारके नाते छोटे-बड़े सभी ग्राहकोंको कमीशन एक चौथाई दिया जायगा। ३०) की पुस्तकें लेनेसे ग्राहकोंके रेलवे स्टेशनपर मालगाड़ीसे फ्री-डिलीवरी दी जायगी। ३०) की पुस्तकें लेनेवाले सज्जनोंमेंसे यदि कोई जल्दीके कारण रेलपार्सलसे पुस्तकें मँगवावेंगे तो उनको केवल आधा महसूल बाद दिया जायगा। फ्री-डिलीवरीमें बिल्टीपर लगनेवाला डाकखर्च, रजिस्ट्रीखर्च, मनीआर्डरकी फीस या बैंकचार्ज शामिल नहीं होंगे, ग्राहकोंको अलग देने होंगे। ३०) से कमकी पुस्तकोंके साथ चित्रोंकी फ्री-डिलीवरी नहीं दी जायगी। पुस्तकोंके साथ चित्र मँगानेवालोंको चित्रोंके कारण जो विशेष भाड़ा लगेगा वह देना होगा।

व्यवस्थापक—गीताप्रेस, गोरखपुर

नोट—जहाँ हमारी पुस्तकें बुकसेलरोंके पास मिलती हों वहाँ उन्हींसे खरीदनेमें थोड़ी पुस्तकें यहाँसे मँगानेपर जो खर्च पड़ता है उससे कममें या उतनेमें ही मिल जाती हैं। अत: थोड़ी पुस्तकें बुकसेलरोंसे ही लेनेमें सुविधा होनेकी सम्भावना है।

महाभिनिष्क्रमण

बुद्धका त्याग

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥ (श्रीमद्भगवद्गीता १८ । ६५)

वर्ष १५ } गोरखपुर, नवम्बर १९४० सौर कार्तिक १९९७ { संख्या ४ / पूर्ण संख्या १७२

चेतावनी

राम से प्रीतम की प्रीति रहित जीव ! जाय जियत ।
जेहिं सुख सुख मानि लेत, सुख सो समुझि कियत ॥ १ ॥
जहँ जहँ जेहिं जोनि जनम महि पताल बियत ।
तहँ तहँ तूँ बिषय सुखहि चहत लहत नियत ॥ २ ॥
कत बिमोह लट्यो, फट्यो गगन मगन सियत ।
तुलसी प्रभु सुजस गाइ, क्यों न सुधा पियत ॥ ३ ॥

—गोस्वामी तुलसीदासजी

पूज्यपाद स्वामी श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजके उपदेश

(प्रेषक—भक्त रामशरणदासजी)

(१) प्रश्न—महाराजजी, यदि कथा समझमें न आवे तो क्या तब भी उसे सुनना चाहिये ?

उत्तर—अवश्य सुनना चाहिये। हमारे धर्मशास्त्रोंमें पाठ करने और सुनने दोनोंका ही फल बताया गया है। चाहे समझमें आवे या न आवे, पाठ करने और सुननेसे बड़ा पुण्य होता है। श्रीरघुनाथजीका भक्त रामायण समझे या न समझे, यदि वह उसका पाठ करता या सुनता है तो उसे महान् पुण्यकी प्राप्ति होगी। इसी प्रकार यदि भगवान् श्रीकृष्णका भक्त भागवतका पाठ करे या सुने तो वह परम कल्याणका अधिकारी होगा। एक बार महाप्रभु श्रीगौराङ्गदेव कहीं जा रहे थे। मार्गमें उन्होंने देखा कि एक पण्डितजी आसन लगाये बैठे हैं, उनके सामने भगवान्की मूर्ति रक्खी हुई है; वे गीताका पाठ कर रहे हैं और उनकी आँखोंसे निरन्तर अश्रुधारा बह रही है। उन्हें देखकर महाप्रभु उनके पास बैठ गये और जब पाठ समाप्त हुआ, तब पण्डितजीसे पूछा कि 'महाराज, आपने गीताके पाठमें क्या समझा ?' पण्डितजीने उत्तर दिया कि 'महाराज, मैंने समझा तो कुछ नहीं, परन्तु देखता यह था कि भगवान् श्रीकृष्ण गीता सुना रहे हैं और अर्जुन उसे बड़े प्रेमसे सुन रहे हैं।' यह सुनकर महाप्रभु गद्गद हो गये। वे उन पण्डितजीके पैरोंपर गिर पड़े और कहा कि 'महाराज, गीताको वास्तवमें आपने ही समझा। व्याकरण और साहित्यके बड़े-बड़े आचार्योंने कुछ नहीं समझा।' अस्तु, कहनेका तात्पर्य यह कि भगवान् श्रीराम अथवा श्रीकृष्णका भक्त यदि रामायण या भागवतकी कथामें बैठा हो तथा वह और कुछ न समझकर केवल यही समझता हो कि इस कथामें मेरे इष्टदेवकी चर्चा हो रही है, तब भी उसे बड़ा लाभ होगा।

(२) भागवत पढ़नेका उद्देश्य है—भगवान् श्रीकृष्णमें प्रेम होना और रामायण पढ़नेका उद्देश्य है—भगवान् श्रीराममें प्रीति होना। यह नहीं कि इनको पढ़ते समय कुतर्क-बुद्धिसे प्रश्न उठाकर व्यर्थ ही बहस की जाय कि रावणके दस सिर और बीस बाहु कैसे हुए और श्रीरामको वानरोंकी सहायता कैसे प्राप्त हुई, इत्यादि। इन प्रश्नोंके उत्तर भी हैं, परन्तु तुम्हें उससे क्या मतलब ? तुम्हें तो भगवान्की भक्ति प्राप्त करनी है। इसलिये तुम्हें केवल अपना लक्ष्य सामने रखकर श्रद्धा-विश्वासपूर्वक अपना काम करना चाहिये।

(३) शास्त्रोंकी बातोंपर शङ्का करना घोर पाप बताया गया है। इसलिये अपनी आस्थाको दृढ़ बनाकर शास्त्रोंका अध्ययन और श्रवण करते हुए तदनुसार आचरण करते जाना ही श्रेयस्कर है।

(४) प्रश्न—स्वामीजी, बहुत-से लोग ॐ (प्रणव) को जोर-जोरसे बोलकर चलते और जूती पहने हुए भी उसका उच्चारण करते हैं, यह कहाँतक ठीक है ?

उत्तर—हमारे धर्ममें तो यह बात है नहीं, शास्त्रोंमें इसका बहुत निषेध किया गया है। इसलिये सनातन-धर्मीको ऐसा नहीं करना चाहिये।

(५) सोमवार भगवान् शङ्करका दिन है। इसलिये सोमवारको भगवान् शङ्करका कीर्तन-भजन अधिक-से-अधिक करना चाहिये।

(६) भगवन्नामके आनन्दको वही जानता है, जो भगवान्का प्रेमी होता है।

(७) आजकलके स्कूल-कालेजोंमें पढ़ने-लिखने-वाले अधिकांश युवकोंके मनमें तीन बातें खटकती हैं—ईश्वर, धर्म और संस्कृत भाषा। वे इन तीनोंकी दिल्लगी

उड़ाते और इन्हें मिटाना चाहते हैं, ताकि उनको मनमानी करनेका मौका मिले। ऐसे ही लोगोंसे समाज और देश रसातलकी ओर जाता है।

(८) गृहस्थ होकर जो दूसरेका अन्न खाते हैं, वे महादरिद्र होते हैं। गृहस्थोंके लिये अपना अन्न खाना ही जीवन और दूसरेका अन्न खाना मृत्यु है।

(९) हँसी-दिल्लगी करना बहुत बुरा है। उससे बुद्धि विकृत हो जाती है और वैर-विरोध बढ़ता है। इसलिये हँसी-दिल्लगी नहीं करनी चाहिये।

(१०) भगवान्‌को उनके गुणों और बलके आधार-पर ही ईश्वर नहीं कहा जा सकता। वे गुण और बल तो योगियोंमें भी हो सकते हैं। गोवर्द्धन पर्वतको योगी भी उठा सकता है। अतएव भगवान् श्रीकृष्ण गुणागार और बलिष्ठ ही नहीं, बल्कि साक्षात् ईश्वर थे—इसमें जरा भी सन्देहकी बात नहीं है।

(११) मैं एक बार वृन्दावन गया था तो मुझे वहाँपर एक बड़े विरक्त महात्मा मिले थे। उन्होंने मुझसे कहा कि विरक्त वही है, जिसे विषयोंकी गन्ध भी बुरी मालूम पड़ती हो तथा जो साज-सिंगार और बढ़िया कपड़ोंको देखते ही घृणा करता है। वस्तुतः जब वैराग्य होता है, तब ऐसा ही होने लगता है। जिस प्रकार शराबीको शराबके नशेमें किसी और विषयका पता नहीं रहता, उसी प्रकार वैराग्यवान्‌को केवल वैराग्य ही सूझता है। उदाहरणतः एक स्वामी श्री-ब्रह्मानन्दजी महाराज थे, उनको पेड़के नीचे बैठना भी बुरा मालूम पड़ता था। चाहे गर्मी हो या सर्दी, वे मैदानमें ही पड़े रहते थे। आजकल ऐसे विरक्त महात्मा कम रह गये हैं। पहले ऐसे महात्मा बहुत थे।

(१२) मैं अपने अनुभवसे कह सकता हूँ कि आजकल भगवन्नामजप और जितेन्द्रियता ही सब कुछ है। तत्त्वज्ञान कलियुगी जीवोंकी समझमें नहीं आ सकता। तत्त्वज्ञान तो पवित्र हृदयवालोंको ही होता है और पवित्र हृदय तभी होता है, जब सब प्रकारकी पवित्रताका पालन किया जाय।

(१३) जिस कुलमें एक भी सच्चा भक्त होता है, उसकी २१ पीढ़ियाँ तर जाती हैं।

भक्तकी साध

ऐसो कब करिहौ गोपाल ?
मनसा नाथ मनोरथ दाता
हौ प्रभु दीन दयाल ॥
चित्त निरंतर चरनन अनुरत
रसना चरित रसाल।
लोचन सजल, प्रेम पुलकित तन,
कर कंजनि दल माल ॥
ऐसे रहत, लिखै छिनु-छिनु जम
अपनौ भायो जाल।
सूर सुजस रागी न डरत मन
सुनि जातना कराल ॥

—सूरदासजी

दीक्षा-रहस्य

(लेखक—महामहोपाध्याय पं० श्रीगोपीनाथजी कविराज, एम्० ए०)

(१)

विषय-सूचना

दीक्षा तथा गुरुतत्त्वके विषयमें वर्तमान समयमें आध्यात्मिक आलोचक तथा अनुशीलनकारियोंके बीचमें भी सर्वत्र स्पष्ट धारणा नहीं दीख पड़ती। किसीके मतमें तो दीक्षा तथा गुरुकी कोई आवश्यकता ही नहीं है, परन्तु कोई-कोई समझते हैं कि साधन-राज्यमें दीक्षाका प्रयोजन है और पथप्रदर्शकके रूपमें गुरुकी भी आवश्यकता है। इस प्रकारके स्थूल मतभेदोंके अतिरिक्त इस विषयमें नाना प्रकारके सूक्ष्म मतान्तर भी विद्यमान हैं। मेरे विचारसे तो दीक्षा तथा गुरुतत्त्वके विषयमें स्पष्ट बोध रहनेसे विभिन्न मतोंके समन्वयकी प्रणाली उपलब्ध हो सकती है। जो लोग दीक्षाको स्वीकार नहीं करते, वे भी बाह्य-अनुष्ठानात्मक दीक्षाको लक्ष्य करके ही अपने मतका प्रचार करते हैं। वे नहीं जानते कि इन्द्रियगोचर बाह्य आचरणको छोड़कर भी दीक्षाकार्य निष्पन्न हो सकता है। परन्तु किसी-किसी अवस्थामें स्थूल प्रक्रियाकी भी अपरिहार्यता माननी ही पड़ती है। इसी प्रकार 'गुरु' शब्दका वास्तविक तात्पर्य क्या है—इस विषयमें जबतक स्पष्ट ज्ञान नहीं होता, तबतक गुरुके विषयमें भी विभिन्न प्रकारके विकल्पोंका उदय होता है। अधिकारके अनुसार बाह्य गुरुकी आवश्यकता होती है। परन्तु क्षेत्रविशेषमें बाह्य गुरुको आश्रय किये बिना भी इष्टसिद्धि हो जाती है। 'बाह्य गुरु' शब्दसे मानव गुरु, सिद्धगुरु अथवा दिव्यगुरु—तीन प्रकारकी गुरुपंक्तियोंके अन्तर्गत कोई भी महापुरुष समझा जा सकता है। अथवा लौकिक दृष्टिसे साधारण मनुष्य भी समझा जा सकता है। किसी-किसीका मत है कि भगवान्‌के साथ जीवका विश्वास और भक्तिमूलक साक्षात् सम्बन्ध है। इसमें किसीकी मध्यस्थता (Mediation) की आवश्यकता नहीं है। भगवान् सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिसम्पन्न एवं दयालु हैं। अतएव उनकी कृपाके उनसे साक्षात् रूपसे प्राप्त होनेमें कोई प्रतिबन्धक नहीं हो सकता। सरल हृदयसे आवाहन करनेपर जीव अवश्य ही उन्हें प्राप्त कर सकता है, कम-से-कम प्राप्तिके स्थिर मार्गमें पैर तो रख ही सकता है। इसी प्रकार और भी बहुत-से विकल्प हैं। हमें एक-एक करके इनका समाधान करनेकी चेष्टा न करके दीक्षा तथा गुरुतत्त्वके विषयमें प्राचीन तान्त्रिक आचार्योंके सिद्धान्तका संक्षिप्त रूपसे विवेचन करना ही उचित जान पड़ता है। इससे उनका रहस्य समझनेमें विशेष सुगमता रहनेकी सम्भावना है।

(२)

दीक्षाका लक्षण और स्वरूपनिरूपण

दीक्षा वस्तुतः आत्मसंस्कारका ही नामान्तर है। आणव, मायीय और कार्म—इन तीन प्रकारके मल अथवा पाशोंसे संसारी आत्मा आच्छन्न रहता है। इनके प्रभावसे उसके स्वभावसिद्ध पूर्णत्वके प्रस्फुटित होनेका अवसर नहीं आता। आत्मा पारमार्थिक दृष्टिसे पूर्ण तथा शिवस्वरूप होनेपर भी आणव मलके कारण स्वरूपगत संकोचसे अपनेको अपूर्ण समझता है, स्वयं अपरिच्छिन्न होकर भी अपनेको सर्वथा परिच्छिन्न अनुभव करता है।* यह परिच्छिन्नता अथवा आणवभाव प्राप्त होनेके बाद उसमें शुभाशुभ वासनाओंका उद्भव होता है, जिनके विपाकरूपमें जन्म (देहसम्बन्ध), आयु (देह-स्थितिकाल) और भोग (सुख-दुःखानुभव) अनिवार्य हो जाते हैं। यही कार्ममल है। कर्मसे उत्पन्न कञ्चुकरूप आवरण (कला, विद्या, राग, काल तथा नियति और इनकी समष्टिभूता माया), पुर्यष्टक तथा स्थूलभूतमय विभिन्नजातीय कारण, सूक्ष्म एवं स्थूल देह—इन सब देहोंके आश्रयभूत विचित्र भुवन और नाना प्रकारके भोग्य पदार्थोंका अनुभव जिसके कारण होता है, उसे मायीय मल कहते हैं।† बद्ध आत्मामें इन तीन मलोंका आवरण सर्वदा

* यही 'अभिलाष' अथवा 'लौल्किा' नामसे प्रसिद्ध है। इसको कोई भूलकर भी रागतत्त्व न समझे। 'राग' शब्दसे विषयासक्ति समझी जाती है, जिसका प्रकाश 'मुझे कुछ चाहिये' इस रूपमें होता है और जिसके सम्बन्धसे ही पुरुष भोक्ता बन जाता है। परन्तु अभिलाष ऐसा नहीं है। यह केवल अपनी अपूर्णताका बोधमात्र है। यही अन्यान्य मलोंकी भित्तिस्वरूपा है।

† शरीर, भुवन, भाव, भूत—जो कुछ रूपमें प्रतिभात होता है, सभी मायीय मलके अन्तर्गत है। अपने स्वरूपसे भिन्नतया पदार्थका भान ही मायाका रूप है। कलासे लेकर पञ्चमहाभूतपर्यन्त जितने तत्त्व हैं, सभी देहस्थ मायीय पाशरूप हैं। यह पाश शरीर, इन्द्रिय, भुवन और भाव आदिको भोग-सम्पादनके लिये आकार प्रदान करता है। कलासे पृथिवीपर्यन्त ही संसार है।

ही रहता है। दीक्षाद्वारा इस मलयुक्त आत्माका संस्कार होता है। उससे मलनिवृत्ति तो होती ही है, निवृत्तिका संस्कार भी शान्त हो जाता है।

दीयते ज्ञानसद्भावः क्षीयते पशुवासना।
दानक्षपणसंयुक्ता दीक्षा तेनेह कीर्तिता॥

अर्थात् जिसके द्वारा ज्ञान दिया जाता है और पशुवासनाका क्षय होता है, ऐसी दान और क्षपणयुक्त क्रियाको 'दीक्षा' कहते हैं। यही दीक्षाका स्वरूप है। शक्तिपातकी तीव्रतादि और शिष्यके अधिकारवैचित्र्यके अनुसार दीक्षाके प्रकारभेदका निश्चय होता है।* पाशका प्रशमन तथा शिवत्वकी अभिव्यक्तिकी योग्यता दीक्षासे सिद्ध होती है। जिस प्रकार भुना हुआ बीज अङ्कुरित नहीं होता, उसी प्रकार मन्त्रकी अचिन्त्य शक्तिके प्रभावसे प्रभावित पाशोंके भी पुनः प्ररोहकी सम्भावना नहीं रहती।

जीवको मोक्ष देनेवाला ईश्वर है

पाशोंका विच्छेद तथा सर्वज्ञान-क्रियाका उद्भव अर्थात् सर्वज्ञत्व और सर्वकर्तृत्वका स्फुरण—यही मोक्षका स्वरूप है। परमेश्वर स्वयं अपनी क्रियाशक्तिरूप दीक्षाद्वारा पशु—आत्माको मुक्त करते हैं। किसी एक या दो पाशोंके विच्छेदको ही मोक्ष नहीं कहा जाता; मोक्षावस्थामें अज्ञत्व, अकर्तृत्व आदि नहीं रह सकते। ईश्वरसे प्रेरित हुए विना पशु स्वयं कुछ नहीं कर सकता; इसलिये उसके अपने क्रिया, ज्ञान प्रभृति उपायोंसे मोक्षकी सिद्धि नहीं हो सकती। प्रकृति प्रभृति पदार्थ पाशके ही अन्तर्गत हैं। इनसे भी मोक्षका उदय नहीं माना जा सकता।† जीवको मोक्षदान करनेमें एकमात्र परमेश्वर ही समर्थ हैं। पूर्ण स्वातन्त्र्य और किसीमें भी है नहीं। एक बात और है। सिद्धान्तमें मोक्ष मोचनीय जीवकी अवस्थाविशेष है, अन्य मतोंके समान मोचनकारी वस्तुकी अवस्था नहीं है; क्योंकि इस मतमें मोचनकारी वस्तु परमेश्वर ही है और उसमें, नित्यमुक्त होनेके कारण, किसी भी अवस्थामें किसी विशेषका आधान नहीं हो सकता। कोई-कोई आचार्य समझते हैं कि अज्ञानरूप मलसे सम्बद्ध पुरुष ही भ्रान्तिसे संसारमें परिभ्रमण कर रहा है और वही उसके विरुद्ध भावनाके अभ्यासके बलसे विवेकज्ञानका उदय होनेपर अज्ञान निवृत्त हो जानेसे सर्वज्ञत्वादि स्वरूपधर्म प्राप्त करता है। इस मतके अनुसार मोक्षका कर्तृत्व पुरुषको है। ईश्वर केवल अधिष्ठातामात्र है। परन्तु अधिकांश आचार्य इस मतका समर्थन नहीं करते। उनका कथन है कि धर्माधर्मका कर्तृत्व पुरुषमें है—यह तो ठीक है, क्योंकि कलाप्रभृतियोंसे किञ्चित् मात्रामें आत्माका मल अपसारित हो जानेके कारण उनके सम्बन्धसे पुरुषके ज्ञान और क्रिया यत्किञ्चित् विकसित हो जाते हैं; किन्तु यह विकास इतना अधिक कभी नहीं हो सकता कि जिससे सर्वज्ञत्वादिका भी स्फुरण हो सके। अतः कलादिके द्वारा पूर्ण मलनिवृत्ति असम्भव होनेके कारण पुरुषका कर्तृत्वादि भी परिच्छिन्न ही रहता है।

---

* शक्तिपातके स्वरूपलक्षण, प्रकारभेद और चिह्न प्रभृतिका साधनाङ्कके 'शक्तिपातरहस्य' शीर्षक लेखमें वर्णन किया गया है। —लेखक

† कोई-कोई पाशोंका निवर्तनस्वभाव स्वीकार करते हुए कहते हैं कि पाश अपने स्वभावसे ही निवृत्त हो जाते हैं। परन्तु यह बात ठीक नहीं है, क्योंकि जीव अथवा पाशोंका स्वतः प्रवृत्ति अथवा निवृत्तिमें सामर्थ्य नहीं है। ईश्वरकी प्रेरणा सर्वत्र ही अपेक्षित है। इसलिये मोक्षका कर्तृत्व ईश्वरमें ही मानना चाहिये। यह बात सत्य है कि संसारदशामें कार्य तथा करणरूपी पाशसमूह नाना प्रकारसे आत्मामें ज्ञान और क्रियाको अभिव्यक्ति करते हैं। परन्तु यह भी सत्य है कि मोक्षके विषयमें पाशका स्वयं कर्तृत्व हो ही नहीं सकता। मोक्ष अपरिच्छिन्न ज्ञान एवं क्रियाकी अभिव्यक्ति है। जिस व्यञ्जकमें जिस प्रकारकी व्यञ्जनाशक्ति प्रतीत होती है, उसे अन्यत्र अज्ञात विषयमें भी उसी प्रकारकी व्यञ्जनाशक्तिसे युक्त मानना होगा। इसीसे कार्य तथा करणके रूपमें प्रतीयमान अचेतन पाशमें ईश्वरकी प्रेरणा तथा स्वतःसिद्ध व्यञ्जनाशक्ति वर्तमान होनेपर भी शरीरादिमें आत्मबोधके कारण वह ऐसी ही ज्ञान और क्रियाको अभिव्यक्त करेगा जो अपने आवरणात्मक आकारसे सम्बद्ध, स्त्री आदि विषयोंके अनुरागसे युक्त, किसी समयमें किसी स्थलमें और किसी विषयमें राग-द्वेषादि विरुद्ध भावोंके द्वारा द्वन्द्वयुक्त तथा शरीरादिके नाशके साथ नष्ट हो जानेवाले हों। मोक्ष पूर्ण ज्ञान-क्रिया है। इसलिये पाशोंके द्वारा उसका अभिव्यक्त होना सम्भव नहीं है। दीपक घरको प्रकाशित कर सकता है, इसलिये वह ब्रह्माण्डको भी प्रकाशित कर देगा—ऐसी बात नहीं है। सिद्ध पुरुषोंकी ज्ञान-क्रियाशक्ति परमेश्वरकी शक्तिके समान ही पाशोंको नष्ट कर देती है, पशुओंके समान वह पाशोंके द्वारा अभिव्यक्त होनेवाली नहीं है और शरीरादिमें आत्मबोध तथा अनुरागादियुक्त भी नहीं है।

द्वैतमतमें (आणव) मल अज्ञान नहीं, अपितु अज्ञान-का हेतुभूत द्रव्यविशेष है। यह आत्माके अनादि आवरणका कारण है। जैसी नेत्रोंकी जाली होती है, वैसा ही यह भी है। द्रव्यरूप होनेके कारण यह ज्ञानसे नष्ट नहीं हो सकता, क्योंकि ज्ञान इसका विरोधी नहीं है। यह दीक्षारूपा क्रियाके द्वारा ही निवृत्त होता है। मलकी निवृत्तिसे उसका कार्य अज्ञान भी निवृत्त हो जाता है। इस मतमें अज्ञान दो प्रकार-का है—

(द्वैतमतमें मल, अज्ञान एवं उनकी निवृत्ति)

(क) बुद्धिगत अविवेक—सादृश्यका पूर्वानुभव रहनेपर ही ऐसे अज्ञानका उदय हो सकता है, अन्यथा नहीं; जैसे रज्जुमें सर्पभ्रम। इस प्रकारका अज्ञान 'यह सर्प नहीं है, रज्जु है' ऐसे विवेकज्ञानसे निवृत्त हो जाता है।

(ख) विकल्पज्ञान—यह काच, कमल प्रभृति द्रव्योंका सम्बन्ध होनेपर होता है। जैसे द्विचन्द्रज्ञान और पीतशङ्ख-ज्ञान इत्यादि। इसकी निवृत्ति इसके कारणभूत द्रव्योंकी निवृत्तिसे ही होती है, ज्ञानसे नहीं होती।

द्वैतमतमें आत्माका अज्ञान द्रव्यहेतुक है—यह बुद्धिगत अविवेकरूप नहीं है। इस द्रव्यको मल कहते हैं, जिसका विशेष विवरण आगमोंमें अनेकों स्थानोंमें देखा जाता है। ईश्वर दीक्षाव्यापारसे इस मलको निवृत्त करते हैं। इसलिये मोक्ष आत्मकर्तृक नहीं है, ईश्वरकर्तृक है।

'दीक्षैव मोचयत्यूर्ध्वं शैवं धाम नयत्यपि।'

अर्थात् दीक्षा ही मुक्त करती है और ऊपरकी ओर शिवधाममें भी ले जाती है।

वस्तुतः भगवान्‌की शक्ति एक और अखण्डित है। यह अभिन्न ज्ञानक्रियात्मिका है। यदि ज्ञानसे क्रिया भिन्न होती तो जैसे ईश्वरमें माया-का समवाय नहीं माना जाता, वैसे ही इसका भी नहीं माना जाता और ईश्वरको भी क्रियाशक्तिके अभावके कारण अकर्ता ही माना जाता। इस प्रकार कोई कर्ता न रहनेके कारण विश्वरचनाकी उपपत्ति भी न होती। ज्ञान और क्रियाका भेद कल्पित है। क्रियाशक्ति प्रयत्नरूपसे एक होनेपर भी व्यापारभेदसे वामा, ज्येष्ठा एवं रौद्री—तीन प्रकारकी मानी जाती है। जगत्‌के स्थिति एवं संरक्षणरूप व्यापार रोध अथवा आवरणात्मक हैं और वामाशक्तिके कार्य हैं, संहार ज्येष्ठाका कार्य है और पाशहरण अथवा अनुग्रह रौद्रीनाम्नी क्रियाशक्तिका कार्य है।

(ज्ञान और क्रिया-का मौलिक अभेद)

मल तथा वामाशक्तिके आवरणात्मक अधिकारके निवृत्त होनेपर आत्मामें एक अनिर्वचनीय कैवल्याभिमुख भावका उदय होता है।

(अनुग्रहकी प्रवृत्ति)

'क्षीणे तस्मिन् पिपासा स्यात्परं निःश्रेयसं प्रति।'*

(सूक्ष्मस्वायम्भूतन्त्र)

इस भावका उदय होते ही जगदुद्धारप्रवण परमेश्वर पशु-आत्माओंके ज्ञान एवं क्रियाओंका छेदन कर देते हैं। पशु-आत्मामें भी ज्ञान तथा क्रियाका अनन्तत्व रहता ही है, किन्तु आच्छन्नभावसे रहता है। मलके परिपाकसे आवरण हट जानेपर उसकी अभिव्यक्ति होती है।

अद्वैतवादी तन्त्रके मतसे अज्ञान तथा ज्ञान दोनों ही पौरुष एवं बौद्धभेदसे दो-दो प्रकारके हैं। पौरुषज्ञान विकल्पहीन है। यह कृत्रिम अहङ्कारादि विकल्पात्मक नहीं है, अपितु पूर्णाहंता-बोधमय है। परमेश्वरका परमतादात्म्य प्राप्त होनेपर ही इसकी अभिव्यक्ति होती है। इस तादात्म्यलाभके पहले ही सारे बन्धन निवृत्त हो जाने चाहिये। बन्धननिवृत्तिका हेतु पौरुष अज्ञानात्मक आणवमलका तथा काम एवं मायीय मलोंका क्षय है। दीक्षाके प्रभावसे पौरुष अज्ञान (आणव-मल) निवृत्त होता है। परन्तु देहारम्भक कार्ममल रहनेके कारण पौरुषज्ञानका उदय नहीं होता। यह मल ही प्रारब्ध कर्म है। यह कट जानेपर देहपात होता है। उस समय साक्षात्कारात्मक पौरुषज्ञान उदित होता है। अर्थात् जीव शिवरूपमें प्रतिष्ठित हो जाता है। शक्तिपातकी तीव्रताके अनुसार दीक्षाक्रम भिन्न-भिन्न प्रकारका होता है। तीव्रतम शक्तिपातसे अनुपायक्रमसे दीक्षा होती है, जिसमें एक क्षणमें ही अपवर्गकी प्राप्ति हो जाती है। शक्तिपात कुछ कम होने-से शाम्भवी दीक्षा, और भी कम होनेसे शाक्ती दीक्षा तथा अत्यन्त मन्द होनेसे आणवी दीक्षा होती है। दीक्षाके सिवा मुक्तिका कोई और उपाय नहीं है—इसमें कोई सन्देह नहीं; परन्तु बाह्य क्रियाकी आवश्यकता सर्वत्र नहीं रहती। आत्म-संस्काररूप आन्तर दीक्षा तो अवश्य ही होनी चाहिये। अद्वैत आगमशास्त्रोंमें जो बौद्धज्ञान उत्पन्न होता है, उसके प्रभावसे बौद्ध अज्ञान और उसका कार्य नष्ट हो जाता है। इससे जीवन्मुक्ति प्राप्त होती है। दीक्षादिसे बौद्ध अज्ञान

(अद्वैतमतानुसार दीक्षासे पूर्णत्व-प्राप्तिपर्यन्त क्रम)

* उस पाशके नष्ट होनेपर परम निःश्रेयसकी ओर जाने-की इच्छा होती है।

निवृत्त नहीं होता । इसीसे दीक्षा होनेपर भी विकल्पका उदय होना सम्भव है । बौद्ध अज्ञान निवृत्त होनेसे विकल्पोंका उन्मूलन होता है और सद्योमुक्ति प्राप्त होती है । परन्तु जिस चित्तमें विकल्प रह जाता है, उसकी मुक्ति देह रहते हुए नहीं होती । देह छूटनेके बाद ही उसे शिवत्व प्राप्त होता है । विकल्पहीन चित्तकी सद्योमुक्ति ही जीवन्मुक्ति है । विकल्प निवृत्त हो जानेपर देह रहनेपर भी मुक्तिमें बाधा नहीं होती । अतएव दीक्षाप्राप्तिसे पूर्णत्व लाभपर्यन्त अवस्थाओंका क्रम इस प्रकार है ।

(१) दीक्षा ।
(२) पौरुष अज्ञानका ध्वंस ।
(३) अद्वय आगमशास्त्रके श्रवणमें अधिकार और उनके श्रवणादि ।
(४) बौद्ध ज्ञानका उदय ।
(५) बौद्ध अज्ञानकी निवृत्ति ।
(६) जीवन्मुक्ति ।
(७) भोगादिद्वारा प्रारब्धनाश ।
(८) देहत्यागके अनन्तर पौरुष ज्ञानका उदय ।
(९) मोक्ष अथवा परमेश्वरत्वकी प्राप्ति ।

(३)

भगवान्‌का जीवोद्धार-क्रम

श्रीभगवान् ही गुरु हैं

भगवान् ही जीवके उद्धारकर्ता हैं । जीवको माया-पङ्कसे उठाकर परमपदमें स्थापित करनेका सामर्थ्य और किसीमें नहीं है । इसलिये उन्हींको सर्वत्र गुरुरूपसे वर्णन किया जाता है ।* योगभाष्यमें लिखा है—'तस्यात्मानुग्रहाभावेऽपि भूतानुग्रहप्रयोजनं ज्ञानधर्मोपदेशेन कल्पप्रलयमहाप्रलयेषु संसारिण उद्धरिष्यामीति ।' अर्थात् उसका अपना कोई प्रयोजन न होनेपर भी 'कल्पप्रलय और महाप्रलयमे ज्ञान एवं धर्मके उपदेशद्वारा संसारियोंका उद्धार करूँ' ऐसा जीवोंपर कृपा करनारूप प्रयोजन है । जीव अनुग्रहयोग्य होनेपर ही उनका अनुग्रह प्राप्त करता है—यह सत्य है । इसमें कोई काल-नियम नहीं है ।

कालके भेद-से जीवोद्धारकी प्रणालीका वैचित्र्य

प्रलयकालमें समस्त कार्यवर्ग परम कारणमें लीन हो जाता है और जीवोंका देह एवं इन्द्रियादि कुछ भी नहीं रहता । परन्तु इस समयमें भी प्रयोजनानुरूप मलपाक हो जानेपर अनुग्रह होनेमें विलम्ब नहीं होता । सृष्टि-समयकी बात भी ऐसी ही है । परन्तु दोनोंमें किसी-किसी अंशमें कुछ वैलक्षण्य है । जिन जीवोंका कर्मक्षय नहीं हुआ है, वे प्रलयाकल अणुरूपमें प्रलय-समयमें मायाके गर्भमें लीन हो जाते हैं; और जिनके सब कर्मोंका क्षय हो गया है, वे मायाका अतिक्रमण करके विज्ञानाकल अणुरूपमें माया और महामायाके अन्तरालमें वर्तमान रहते हैं । प्रलयकालमें जो अनुग्रह या दीक्षा होती है, उसके प्रभावसे जीव साक्षात् शिवत्व लाभ करता है । उस समय अशुद्ध सृष्टि न रहनेके कारण उसके ऊपर अधिकार अर्थात् जगद्व्यापारका उपयोग नहीं रहता । यही निरधिकार मुक्ति है । आधिकारिक-पदलाभ प्रलयकालीन अनुग्रहका फल नहीं है । परन्तु सृष्टि और संहारकालमें निरधिकार मुक्ति भी हो सकती है * और मलपाकके वैलक्षण्यके अनुसार ऐश्वर्य अथवा साधिकार मुक्ति भी हो सकती है । इनमेंसे जो लोग संहार-समयमें साधिकार अनुग्रहलाभ करते हैं वे रुद्राणु-अवस्था प्राप्त करते हैं । इन सबको आगामी सृष्टिमे सृष्टिका अधिकार प्राप्त होता है । और जो लोग सृष्टिके समयमें सर्व-ज्ञान-क्रियाकी अभिव्यक्ति-रूप अनुग्रहसे आधिकारिक-पद प्राप्त करते हैं वे परमन्त्रेश्वर, मन्त्र और अपरमन्त्रेश्वर प्रभृति पदोंमें प्रतिष्ठित होते हैं । †

* पातञ्जल योगसूत्रोंमें ईश्वरको पूर्वगुरुओंके भी गुरुरूपसे वर्णन किया गया है । सृष्टिके आदिगुरु प्रत्येक सृष्टिमें भिन्न-भिन्न होते हैं । ये 'सिद्धपुरुष' या 'कार्येश्वर' पदवाच्य हैं । परन्तु परमेश्वर कालावच्छिन्न न होनेके कारण नित्यसिद्ध है और कार्येश्वरोंका भी ईश्वरस्वरूप है । वही अनादि गुरुतत्व है ।

* सृष्टि अथवा संहारकालमें भी शिवत्वलाभकी सम्भावना रहती है, परन्तु बहुत ही कम । इसका कारण यह है कि मलपाक और परमेश्वरका अनुग्रह— इनमेंसे किसीमें कालका नियन्त्रण नहीं रहता ।

† प्रलयाकल जीव परमेश्वरका साधिकार अनुग्रह प्राप्त करनेसे मायागर्भाधिकारी अर्थात् अपरमन्त्रेश्वरपदमें आरोहण करते हैं । इन जीवोंको माया-पुरुषविवेकज्ञान सम्यग्रूपसे कर्मक्षयके अभावके कारण नहीं रहता । इसलिये ये सुप्तिके समय अर्थात् प्रलयकालमें मायाके गर्भहीमें सो जाते है और जाग उठनेपर पूर्ववत् मायिक देह प्राप्त करते है । पश्चान्तरमें परमेश्वरके साधिकार अनुग्रहके प्रभावसे इनको बैन्दव देह भी प्राप्त हो जाता है । विज्ञानाकल जीव साधिकार अनुग्रहसे मलपाकके अनुसार परमन्त्रेश्वर अथवा

ये सब मन्त्रेश्वर मायिक जगत्के विभिन्न विभागोंके मुख्य शासक और व्यवस्थापक हैं । परमन्त्रेश्वरवर्ग मायातीत महामायाके राज्यमें ईश्वरतत्त्वको आश्रय करते हुए अपने-अपने भुवनमें विराजते हैं । ये संख्यामें आठ हैं, जिनमें अनन्त ही प्रधान हैं । प्रत्येकका देह भोग्य और भुवनादि शुद्ध बैन्दव उपादानसे बना हुआ है । उनमें मायाका स्पर्श भी नहीं है । इसके बाद परमेश्वर सात करोड़ विज्ञानाकल अणुओंको साक्षात्रूपसे सर्वज्ञत्वादि शक्तियोंकी अभिव्यक्तिद्वारा अनुग्रह करके मन्त्रपदमें स्थापित करते हैं । अपरमन्त्रेश्वर मायागर्भके अधिकारी हैं । इनके देह मायिक तथा बैन्दव दोनों ही प्रकारके होते हैं । इनके भी अपने-अपने भुवनादि विभिन्न तत्त्वोंका आश्रय करके विद्यमान हैं ।

यह जो सृष्टि, संहार और प्रलयकालमें* भगवान्के अनुग्रहकी बात कही गयी है—इसे भगवान्का साक्षात् अनुग्रह समझना चाहिये; यह किसी पुरुषके देहमें अधिष्ठित होकर नहीं किया जाता । तान्त्रिक परिभाषामें इसे 'निरधिकरण अनुग्रह' कहते हैं । परन्तु स्थितिकालमें वे साधारणतया आचार्य या गुरुके देहको साक्षात् अथवा परम्परासे आश्रय करके † ऐसे 'सकल' (देहेन्द्रियादि-कलाविशिष्ट) जीवोंपर अनुग्रह करते हैं, जो उनका निरन्तर चिन्तन करनेके कारण शुद्ध चिद्भावको प्राप्त हो गये हैं । इस अनुग्रहके प्रभावसे शिवत्वलाभ भी हो सकता है अथवा केवल आधिकारिक पद भी मिल सकता है । ये विभिन्न पदप्राप्तियाँ शक्तिपातके तीव्रतादि वैचित्र्यकी अपेक्षासे होती हैं । ये पद स्थूलतया चार प्रकारके हैं—

(क) पञ्चाष्टकप्रभृति रुद्रोंका पद (रुद्रपद) ।

(ख) सात कोटि मन्त्रोंका पद (मन्त्रपद) ।

(ग) अपरमन्त्रेश्वरवर्गका पद (पतिपद) । *

(घ) ईश्वर (अनन्त), सदाशिव और शान्तस्वरूप ईशानका पद (ईशानपद) । इन सब पदोंकी प्राप्ति सालोक्यादिकी प्राप्ति समझनी चाहिये ।

प्रस्थानान्तर-की जीवन्मुक्ति

तान्त्रिक लोग कहते हैं कि आगमप्रतिपादित ज्ञान और योग छोड़कर जो लोग दूसरे प्रकारके ज्ञान या योगमार्ग (जो कि परमेश्वरसे उपदिष्ट नहीं हैं—जैसे कपिलसे उपदिष्ट सांख्यज्ञानका मार्ग और पतञ्जलिसे उपदिष्ट योगमार्ग) का अवलम्बन करके सिद्धिलाभ करते हैं, उन्हें सत्त्वगुणकी विशुद्धिसे माध्यस्थ्यलाभ होता है—उन्हें दो विरुद्ध कर्मोंकी अभिव्यक्ति समान हो जाती है, जिससे उपकारीके प्रति प्रसन्नता एवं अपकारीके प्रति क्रोध भी साम्यरूपा अभिन्न वृत्तिके रूपमें परिणत हो जाते हैं । यही मध्यस्थता है । उनके मतमें इसीका नाम जीवन्मुक्ति है ।†

तन्त्रोक्त साधिकारा मुक्तिका वैचित्र्य

परन्तु तन्त्रकी साधिकार मुक्तिमें एक विशेषता है । इन सब साधिकार मुक्तियोंमें दीक्षादि उपाय तथा तत्तत् पदप्राप्तिके विषयमें प्रीति, श्रद्धा प्रभृतिका तारतम्य है । अतएव उपाय और भक्ति-श्रद्धात्मक आदरके वैलक्षण्यसे तीन प्रकारकी योग्यताके अनुसार उत्कृष्ट, मध्यम और निकृष्ट—इन तीन प्रकारके साधिकार पदोंकी प्राप्ति होती है । इन तीन पदोंके नाम (१) मन्त्रमहेश्वर, (२) मन्त्रेश्वर और (३) मायिक

मन्त्र-पदमें प्रतिष्ठित होते हैं । इनका मायिक देह नहीं रहता, केवल बैन्दव देह ही रहता है । अनुग्रहलाभके पहले ही ये माया-पुरुष-विवेकज्ञानके कारण विज्ञानकैवल्य-अवस्थामें मायाके ऊपर विद्यमान थे । इसलिये बिन्दुके क्षोभसे जब विशुद्ध अध्वाकी सृष्टि होती है, उस समय सबसे पहले ये ही लोग विशुद्ध देह और भुवनादिको प्राप्त होते हैं ।

* जब कार्य कारणमें लीन होने लगता है तो इसमें जितना समय लगता है, उसे 'संहारकाल' कहते हैं । तथा लीन होनेके पश्चात् पुनः सृष्टि होनेतकके समयको 'प्रलयकाल' कहा जाता है ।

† मलपाक पूर्णतया हो जानेपर स्थितिकालमें भी कदाचित् किसी-किसीपर निरधिकरण अनुग्रह हो जाता है ।

* ये अनन्तादिके पद नहीं हैं । उन पदोंके प्राप्त होनेपर माया तथा कर्मके अभावसे अधोगति या पतन नहीं होता । रौरवागममें लिखा है—

भुक्त्वा भोगान् सुचिरममरस्त्रीनिकायैरुपेताः
त्यक्तोत्कण्ठाः शिवपदपरैश्वर्यभाजो भवन्ति ।

अर्थात् ये अनन्तादि पद प्राप्त करनेवाले चिरकालतक देवाङ्गनाओंके सहित भोग भोगकर उत्कण्ठाहीन हो शिवपदपर परम ऐश्वर्यके भागी होते हैं ।

† न हृष्यत्युपकारेण नापकारेण कुप्यति ।
यः समः सर्वभूतेषु जीवन्मुक्तः स उच्यते ॥

अर्थात् जो उपकारसे प्रसन्न नहीं होता और अपकारसे कुपित नहीं होता तथा समस्त प्राणियोंके प्रति समान रहता है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है । [परन्तु आगमसम्मत जीवन्मुक्ति ठीक इस प्रकारकी नहीं है ।]

अधिकारी हैं। इनमें द्वितीय और तृतीय पदोंमें आशङ्काकी पूर्ण निवृत्ति नहीं होती, क्योंकि ये पद चरम अवस्था अर्थात् परा सिद्धि या परामुक्तिरूप नहीं हैं। इसलिये इनमें आत्मा निश्चिन्त होकर विश्राम नहीं कर सकता। साथ ही इस अवस्थामें अपने पदसे स्खलित होकर नीचे गिरनेकी भी आशङ्का रहती है। तत्तत् भुवनकी प्राप्तिरूप मोक्ष वस्तुतः मुक्ति नहीं है—मुक्तिका आभासमात्र है। यह अवस्था महाप्रलयपर्यन्त ही रह सकती है। नवीन सृष्टिके प्रारम्भमें भुक्तावशिष्ट कर्मोंके प्रभावसे अधोगतिकी शङ्का है, क्योंकि कर्मफलभोग मायाके नीचे संसारमण्डलमें ही होता है। परन्तु इन सब भुवनोंमें रहते हुए भी मुक्ति हो सकती है। मलके परिपाकसे जब दीक्षा मिलती है, तब उस अवस्थासे मुक्त होनेके मार्गपर अधिकार हो जाता है। प्रत्येक भुवनमें ही दीक्षाके द्वारा मुक्त करनेकी योग्यतासे सम्पन्न सद्गुरु विद्यमान रहते हैं—

'भुवने भुवने गुरवः प्रतिवसन्ति।' (स्वायम्भुव आगम)

इन पदोंमें मन्त्रमहेश्वर पद ही श्रेष्ठ है। इस पदका अधिकार समाप्त होनेपर ही अपवर्ग-लाभ होता है; फिर पतनकी कोई आशङ्का नहीं रहती।

प्रलयके समय जो भगवान् जीवका उद्धार करनेके लिये उसे दीक्षा देते हैं, तब वे जीवोंकी पूर्वोक्त तीन प्रकारकी योग्यताओंकी ओर ध्यान नहीं देते। ये विभिन्न प्रकारकी योग्यताएँ अधिकारसे सम्बन्ध रखती हैं। प्रलयकालमें अधिकारका कोई उपयोग न रहनेके कारण उस समय अनुग्रह करते समय वे इसका कोई विचार नहीं करते; परन्तु स्थिति-कालीन अनुग्रह योग्यताकी अपेक्षा रखता है।

परमन्त्रेश्वर तथा मन्त्रोंकी मुक्ति अपरा मुक्ति है। ये सब परमेश्वरकी वामादि तीन शक्तियोंके कार्य और भगवदाज्ञाके अधीन होनेके कारण शक्तितत्त्वसे नीचे रहते हैं।* ये सब उत्पन्न होकर ही अपने-अपने अधिकारमें भगवत्-प्रेरणासे प्रवृत्त होते हैं। वे दोनों कलादि कार्य-करणहीन हैं और अधिकारविशिष्ट हैं। इसलिये व्यापक होनेपर भी इन्हें मायाके ऊपर माना जाता है। इनमें भी परमन्त्रेश्वर मन्त्रोंका प्रेरक होनेके कारण ऊपर तथा उससे प्रेरित होनेवाले मन्त्र नीचे हैं। इन दोनोंपर अनुग्रह करनेके बाद भगवान् इन सब मन्त्रेश्वरोंमें अधिष्ठित होकर मायासे कलादि तत्त्व एवं भुवन प्रभृतिकी रचना करते हैं और उन कलाओंसे जीवोंकी कर्मानुसार योजना करते हुए उनमेंसे पक्कमल जीवोंको मायागर्भाधिकारी या अपर मन्त्रेश्वरके पदमें स्थापित करते हैं। भगवान्‌का यह अनुग्रह-व्यापार परम्परासे ही होता है, साक्षात् रूपसे नहीं।

(४)

शिष्यकी योग्यताके अनुसार दीक्षाके भेद
(समयी दीक्षा)

तान्त्रिक लोगोंने दीक्षाके प्रकारभेदके विषयमें विभिन्न ग्रन्थोंमें जो कुछ कहा है, उसके सारांशकी आलोचना करनेपर मालूम होता है कि विभिन्न दीक्षाओंमें एक निर्दिष्ट क्रम है। शिष्यकी योग्यताकी भिन्नता ही इस क्रमका मुख्य कारण है; परन्तु यह क्रम स्वाभाविक होनेके कारण अपरिहार्य होनेपर भी शिष्यके अधिकार-भेदके अनुसार तत्तत् स्थलमें यथावत् अनुसृत नहीं होता। ब्रह्मचर्यादि चारों आश्रम जैसे क्रमबद्ध होनेपर भी तीव्र वैराग्य होनेपर मध्यवर्ती एक या दो आश्रमोंका उल्लङ्घन करते हुए भी पूर्ववर्ती किसी आश्रमसे संन्यास लेनेका अधिकार हो सकता है, ठीक वैसे ही दीक्षाक्रमकी बात भी समझनी चाहिये। दीक्षाओंमें सबसे पहले समय-दीक्षा ही विचारणीय है। इस दीक्षामें सब पशु-आत्माओंका समान अधिकार है। इसमें काल एवं आश्रमादिका कोई नियम नहीं है। आत्माका अनादि मल किञ्चिन्मात्र पक्व होनेसे जब भगवान्‌की कृपाशक्ति अत्यन्त मन्दरूपसे जीवमें उतरने लगती है, तभी यह दीक्षा हो सकती है। गुरुके द्वारा शिष्यके मस्तकपर शिवहस्तका अर्पण ही इस दीक्षाका स्वरूप है। इस दीक्षाके अनन्तर गुरुशुश्रूषा तथा विभिन्न देव-पूजाओंमें अधिकार होता है। तथा भगवान्‌के प्रति भी भक्तिका उन्मेष होने लगता है। इसका मुख्य फल प्राक्तन कर्मसमूहका परिपाक है। कर्म परिपक्व हुए विना नष्ट नहीं हो सकता। यद्यपि कालरूपी अग्निके द्वारा कर्मोंका पाक निरन्तर हो ही रहा है, तथापि यह समझना चाहिये कि काल क्रमधर्मक होनेके कारण उसके द्वारा किया हुआ पाक भी क्रमिक भोगकी ओर चित्तकी उन्मुखतामात्र

* यह अधोवर्तिता देशकृत नहीं है, क्योंकि ये सभी आत्मा समानरूपसे व्यापक और विभु हैं। परन्तु क्रियाशक्तिके विषयमें तारतम्य रहनेके कारण ऊर्ध्व-अधः ऐसा निर्देश किया जाता है। अतः तात्पर्य यह है कि विभुत्वमें समानता रहनेपर भी क्रियाशक्तिके विकासमें न्यूनता रहनेसे इन्हें अधोवर्ती माना जाता है।

है। क्रमिक भोगसे कर्मक्षय क्रमशः होता है, एक साथ नहीं होता—हो भी नहीं सकता। और उससे किसी भी समय कर्म निःशेष भी नहीं हो सकता, क्योंकि कर्मका मूल नष्ट न होनेके कारण नूतन कर्मसञ्चय चलता ही रहता है। अनादि कालसे असंख्य कर्म उपचित हो रहे हैं; उन्हें एक-एक करके क्रमशः नष्ट नहीं किया जा सकता। इसीलिये दीक्षाकी आवश्यकता होती है। यह समष्टिरूपमें कर्मबन्धनको शिथिल करने लगती है। अन्तमें किसी-न-किसी समय सब कर्म एक साथ नष्ट हो सकते हैं। साधारणतः उसीको पूर्णतम ज्ञानोदय कहते हैं। अपूर्ण ज्ञानोदयके समय सञ्चित कर्मराशि नष्ट होनेपर भी देहारम्भक कर्म शेष रह जाते हैं। सूक्ष्म दृष्टिसे देखनेपर प्रतीत होगा कि कालशक्ति भी भगवान्की क्रिया-शक्तिका ही रूपान्तर है। काल रुद्रविशेष (कालाग्निरुद्र) होनेके कारण कालशक्ति रौद्री शक्ति ही है। दीक्षा भी रौद्री नामकी क्रियाशक्तिका ही व्यापार है; परन्तु इन दोनोंमें मात्रा और विकासादिकी दृष्टिसे परस्पर विलक्षणता है।

'समय' शब्दसे आगमशास्त्रीय मर्यादाका पालन समझना चाहिये। प्रथम दीक्षा प्राप्त होनेपर अर्थात् समयी अवस्थामें उस शास्त्रके वाचन, श्रवण एवं निरन्तर पाठमें तथा होम, जप, पूजन और ध्यानादिमें योग्यता प्राप्त होती है। समयीका आत्मा चर्या तथा ध्यानसे शुद्ध होता है। गुरुके द्वारा उपदेश किये हुए अपने शास्त्रविहित आचारादिका पालन करना ही 'चर्या' है तथा 'ध्यान' योगाभ्यासका नामान्तर है। इस दीक्षाके प्रभावसे पूर्णत्व-लाभ नहीं होता तथा मन्त्राराधनक्रमसे भोगका लाभ भी नहीं हो सकता। परन्तु ईश्वरपदप्राप्ति अथवा अपरामुक्ति हो सकती है। तथा पुत्रकादि भावी पदोंको प्राप्त करनेकी भी योग्यता हो जाती है। ऐश्वर्यकी कारणभूता जो पाशशुद्धि है, वह दीक्षाके द्वारा ईश्वरसम्बन्ध होनेपर हो जाती है। परन्तु यह पाशशुद्धि पाशोंकी समूल निवृत्ति नहीं है; क्योंकि कला, तत्त्व एवं भुवन प्रभृति छः अध्वाओंकी शुद्धि तथा परतत्त्वकी योजना ये दोनों जबतक सिद्ध न हों, तबतक सम्पूर्ण पाशोंका विच्छेद सम्भव नहीं है और न पूर्णत्व ही प्राप्त हो सकता है। उसके लिये एक सूक्ष्म विधान है। परन्तु समयीके लिये वैसा विधान है भी नहीं और आवश्यक भी नहीं होता। यहाँ प्रश्न हो सकता है कि तब समयीमें ईश्वराराधनकी योग्यता किस प्रकार उत्पन्न होती है। इसका समाधान यह है कि वैसी योग्यता पानेके लिये अधिष्ठातृकारणवर्गोंका विश्लेषणमात्र ही पर्याप्त है। समयीका उतना तो हो ही जाता है।

जात्युद्धार, द्विजत्वप्राप्ति और रुद्रांशापत्ति—इन तीन व्यापारोंसे समयीका आत्मसंस्कार होता है। पशु-आत्मा प्रारब्ध भोग करनेके लिये जो देह पाता है, उससे सम्बद्ध जातिका उत्कर्ष ही जात्युद्धार है। जात्युद्धार यथावत् हो जानेपर पूर्वजातिसे सम्बन्ध नहीं रहता। इससे प्रतीत होता है कि इस व्यापारके प्रभावसे देहके सूक्ष्मतम अवयवसंस्थानमें एक आमूल परिवर्तन होने लगता है। इसके पश्चात् द्विजत्व-प्राप्तिके उपायका अनुष्ठान करना पड़ता है। जात्युद्धारके समान द्विजत्वप्राप्तिकी प्रक्रियामें भी प्रधानतया मन्त्रशक्तिसे ही काम लिया जाता है। मन्त्रशक्ति अलौकिक एवं अचिन्त्य है। योग्य प्रयोक्ताके द्वारा उससे दुःसाध्य कार्य भी सुगमतासे सिद्ध हो सकता है। सामान्यतः यह नियम है कि देहमें मन्त्र-शक्तिका प्रयोग नहीं करना चाहिये। उसका तात्पर्य प्रारब्धजनित भोगके खण्डनके विषयमें है। मन्त्रमें ऐसा सामर्थ्य है कि उसके प्रयोगसे क्षणभरमें प्राणोंका वियोग होकर देहपात हो सकता है। परन्तु ऐसा करना नहीं चाहिये, क्योंकि ऐसा करनेमें विना भोगे हुए प्रारब्धकर्मोंको भोगनेके लिये देहनाशके बाद भी अवस्थान्तरमें आबद्ध रहना पड़ता है। इससे मोक्षलाभके कालमें बहुत अधिक विलम्ब हो जाता है। शोषण, दाहन, आप्यायन और जात्युद्धार आदिके उद्देश्यसे वर्तमान देहमें भी मन्त्रप्रयोगकी व्यवस्था है। उग्र मन्त्रशक्तिसे देहका शोषणादि होता है, इसीसे अभिषेककी आवश्यकता होती है।

द्विजत्वापादनके लिये मन्त्रोंसे ही देहके योनि, बीज, आहार, देश तथा भावकी शुद्धि करनी पड़ती है। देह रज और वीर्यके संयोगसे उत्पन्न होता है। शुद्ध रजोवीर्य न होनेसे शुद्ध देह नहीं हो सकता। गर्भाधानादिका विज्ञान इस समय लुप्तप्राय हो गया है। स्त्री और पुरुषोंके नैतिक संयमके अभाव एवं चित्तकी चपलताके कारण वर्तमान युगमें विशुद्ध देहकी उत्पत्ति प्रायः असम्भव ही हो गयी है। इसलिये तन्त्रशास्त्रका आदेश है कि मन्त्रशक्तिके द्वारा ही योनि एवं बीजका शोधन कर लेना चाहिये। ऐसा करनेसे ही देहगत अशुद्धि निवृत्त हो सकती है। श्रौत तथा स्मार्त प्रक्रियासे आहारनिर्वाह ही आहारशुद्धिका उपाय है। किन्तु इस समय प्रायः यह भी ठीक-ठीक नहीं हो पाता। इसलिये इस त्रुटिकी पूर्ति भी मन्त्रोंसे ही करनी पड़ती है। म्लेच्छादिकोंके सम्बन्धसे देश अशुद्ध होता है। और असत्य एवं कुटिलता प्रभृति दोषोंसे भाव मलिन होता है। अतः देह और भावका

शोधन भी मन्त्रोंसे ही करना पड़ता है। इस प्रकार शुद्धिका आधान होनेपर मन्त्रसे शुद्ध विद्यामें जन्म प्राप्त होनेके प्रभावसे अलौकिक द्विजत्वकी सिद्धि होती है।* इसीका नाम द्वितीय जन्म है। यह द्विजत्व अलौकिक होनेके कारण लौकिक द्विजोंके लिये भी यह प्रक्रिया कर्तव्य मानी गयी है।† इस दीक्षासे एक ही जातिकी अभिव्यक्ति होने लगती है। वह शिवमयी अथवा भैरवीय जाति है। इसके पश्चात् पूर्व जातिसे अपना सम्बन्ध बताना भी शास्त्रीय मतके अनुसार तो प्रायश्चित्तके योग्य होता है। द्विजत्व सिद्ध होनेपर शिशुको‡ उपवीत देनेका नियम है। यह भी अलौकिक है। [उप=] आत्माकी सन्निधिमें [वि=] विशेषके द्वारा अर्थात् मन्त्र-सामर्थ्यसे [इत=] सम्बद्ध होना ही 'उपवीतग्रहण' है। तन्त्रशास्त्रके अनुसार उपवीत अनन्त मन्त्र और देवताओंके व्यापक शुद्धविद्यारूप शक्ति-सूत्रका निर्मल प्रतिरूपक है। गर्भाधानसे लेकर अन्त्येष्टिपर्यन्त चालीस संस्कारोंके बलसे शुद्धविद्यामें जन्म होनेके पश्चात् सूक्ष्म विज्ञान अथवा भावनाके द्वारा चैतन्य-संस्कार करना पड़ता है। दया, क्षमा प्रभृति आत्माके आठ गुणोंका आधान ही चैतन्यका संस्कार है। इस प्रकार अड़तालीस संस्कारोंके द्वारा पूर्ण द्विजत्व सिद्ध होता है।

इसके बाद समयीका रुद्रांशापादन रह जाता है। रुद्रांश न होनेपर शास्त्रका अर्थ समझकर रुद्रके ध्यानमें एकाग्र होना सम्भव नहीं है तथा भविष्यमें ईश्वरसम्बन्ध होना भी अशक्य है। इस क्रियाको सम्यक्रूपसे करनेके लिये गुरुको चाहिये कि पहले शिष्यका प्रोक्षण और तारण कर ले, उसके पश्चात् स्वयं ऊर्ध्वमार्गिक रेचकक्रियासे अपने शरीरसे बाहर होकर शिष्यके देहमें प्रविष्ट होकर उसी मार्गसे उसके हृदयतक पहुँच जाय। वहाँ जाकर शिष्यके चैतन्य अथवा पुर्यष्टकको शिथिल कर दे। इसे पारिभाषिक भाषामें 'विश्लेषण' कहते हैं। इसमें शरीरके साथ जीवका एक सूक्ष्म सूत्र या रश्मिमात्रका सम्बन्ध रह जाता है। इसके बाद पुर्यष्टकका छेदन करके अर्थात् उसे अलग करके फिर उसका अवगुण्ठन (शुद्ध उपादानसे आवरण) करे, फिर सम्यक् रूपसे आकर्षण करते हुए द्वादशान्त अर्थात् मस्तकमें स्थापित करे। तत्पश्चात् वहाँसे जीवको सम्पुटित करके संहारमुद्राके द्वारा खींच ले। इतना कार्य अपने साथ शिष्यका अभेदज्ञान दृढ़ रखकर ही करना होता है। फिर ऊर्ध्व-पूरकके द्वारा अपने हृदयमें लौट आना चाहिये। वहाँ कुम्भकके द्वारा सामरस्य सम्पादन करके अर्थात् अपने साथ शिष्यका अभेदापादन करके फिर ऊर्ध्व-उद्घेष्टनके क्रमसे रेचन करे। रेचनके समय जीव उत्तरोत्तर छः देवताओंको त्याग देता है। इन छः देवताओं-के नाम और स्थान इस प्रकार हैं—

१. हृदयमें ब्रह्मा।
२. कण्ठमें विष्णु।
३. तालुमें रुद्र।

---

* गर्भाधान प्रभृति चालीस संस्कार मन्त्रशक्तिसे ही सिद्ध होते हैं। ये सब संस्कार शुद्धविद्यामें जन्म लेनेके लिये सर्वथा उपयोगी होते हैं।

† मन्त्रशक्तिसे वर्तमान शरीरके दाह एवं जात्युद्धारादि होते ही हैं। किसी-किसीका मत है कि इसी प्रकार शुद्धतत्त्वमय देहान्तरका उत्पादन और द्विजत्वापादन अन्य जातियोंमें भी किया जा सकता है। यह प्रसिद्धि है कि योगिनियाँ अब भी मन्त्रोंसे अपनी एवं दूसरोंकी जातिका परिवर्तन कर देती हैं। आगमके अनुसार शिव, पुरुष एवं मायाको छोड़कर और सब तत्त्व एवं जाति प्रभृति अनित्य ही हैं। इसलिये जात्युद्धार तथा द्विजत्वापादन आदि व्यापारोंमें किसी भी अंशमें असङ्गति नहीं है। कोई-कोई समझते हैं कि देहमें शूद्रत्वादि जाति नित्य होनेके कारण नाशके योग्य नहीं है। इसी प्रकार द्विजत्व जाति भी नित्य होनेके कारण जन्य नहीं है। अतः यह द्विजत्वापादन केवल द्विजके लिये ही कर्तव्य है, अन्य किसीके लिये नहीं। इस मतके अनुसार यह वर्तमान देहविषयक है। वे लोग कहते हैं कि कर्मान्तरसे द्विजदेह प्राप्त होनेपर अड़तालीस संस्कारोंसे इस क्रियाकी सिद्धि होती है। इसमें शूद्रादिका अधिकार नहीं है। क्षेमराज कहते हैं कि यह पारमेश्वर आगमका सिद्धान्त नहीं है, क्योंकि यह प्रक्रिया अलौकिक है और भावी देहसे सम्बन्ध रखती है। इस विषयमें शङ्का हो सकती है कि इस स्थितिमें यदि यही सत्य हो तो भुवन-अध्वामें अड़तालीस संस्कारोंका आधान करके द्विजत्वापादन क्यों किया जाता है। यह शङ्का अमूलक है, क्योंकि उस क्रियाका उद्देश्य दूसरा है। वह पुत्रककी भोगशुद्धिके लिये है, समयीके लिये नहीं है। वागीश्वरीमें गर्भाधान प्रभृतिके द्वारा तत्तत्-तत्त्वमें उद्भूत सम्पूर्ण भूत-सर्गका अर्थात् चौदह प्रकारके प्राणियोंका भोग शुद्ध कर लेना पड़ता है। द्विजभोगशुद्धि भी उसीके अन्तर्गत है। यह पुत्रकके लिये ही कर्तव्य है। समयीके लिये तत्त्वशोधनका कोई आदेश शास्त्रमें नहीं है। इसलिये समयदीक्षामें उसका कोई स्थान नहीं है।

‡ अध्यात्मजगत्में नवीन जन्म ग्रहण करनेके कारण समयीको 'शिशु' कहा जाता है।

४. भ्रूमध्यमें ईश्वर ।

५. ललाटमें सदाशिव ।

६. ब्रह्मरन्ध्रमें शिव ।

देहके समान बाह्य जगत्‌में भी इन छः देवताओंका उत्तरोत्तर अधिष्ठान है । वस्तुतः विश्वके निम्नतम प्रदेशसे ऊर्ध्वतम प्रदेशपर्यन्त समस्त अध्वा ही इन छः देवताओंसे अधिष्ठित हैं । देवताओंके त्यागसे ही शिष्यके लिये उक्त देवताओंसे अधिष्ठित मार्गसे विश्लेष प्राप्त करनेकी योग्यता होती है । स्वामीको जीतनेसे उसके वशवर्ती सभी अपने अधीन हो जाते हैं । उनके लिये पृथक् युद्ध नहीं करना पड़ता । देवतात्यागके बाद अर्थात् देह अथवा विश्वके अधिष्ठातृ कारणवर्गसे विश्लेष हो जानेपर ईश्वरपदकी प्राप्तिके लिये ईश्वराराधनकी योग्यताका आधान करना पड़ता है । भ्रूमध्यसे जीवको लेकर सम्पुटित कर और संहारमुद्रासे उठाकर फिर शिष्यके हृदयमें स्थापित करना चाहिये ।

(५)

भोगदीक्षा—साधकदीक्षा

समयी दीक्षाके पश्चात् पुत्रकादि अन्यान्य दीक्षाओंकी व्यवस्था है । इसके विना आरम्भमें भी पुत्रकादि दीक्षाएँ हो सकती हैं । इन दीक्षाओंमें अध्वशुद्धि आवश्यक है । परन्तु वह पाशोंकी मूलपर्यन्त शुद्धि हुए विना नहीं हो सकती, तथा परतत्त्वयोजनके विना पाशोंका उन्मूलन असम्भव है । इसके अभावमें भोग या मोक्ष किसी भी प्रकारके फलकी प्राप्ति नहीं होती । समयी दीक्षामें अध्वशुद्धिकी आवश्यकता नहीं है । केवल दीक्षासे ही किसी अंशमें पाशशुद्धि हो जाती है ।

फलार्थी शिष्य भोग तथा मोक्षरूप फलके भेदसे भोगार्थी एवं मोक्षार्थी—इस प्रकार दो तरहके होते हैं । मुमुक्षु पुत्रक तथा आचार्यभेदसे दो प्रकारके हैं । शिष्यको दीक्षा देनेसे पहले यह देखना चाहिये कि वह स्वप्रत्ययी है या गुरुप्रत्ययी । यदि वह स्वप्रत्ययी हो तो गुरुको उसकी वासनाके अनुसार ही दीक्षा देनी चाहिये ।* और यदि वह गुरुप्रत्ययी एवं गुरुके प्रति निर्भरशील हो तो गुरुको चाहिये कि उसके लिये भोगदीक्षाका प्रबन्ध न करके मोक्षदीक्षाका ही प्रबन्ध करे ।

* आराध्यमन्त्र चिन्तामणिकी भाँति है । यह आराधककी वासनाके अनुसार ही फल प्रदान करता है—यही शास्त्रका सिद्धान्त है ।

शिवधर्मी तथा लोकधर्मी भेदसे साधक दो प्रकारके हैं ।

शिवधर्मिणी दीक्षा

इसलिये भोगदीक्षा अथवा भूतिदीक्षा भी शिवधर्मिणी एवं लोकधर्मिणी—दो प्रकारकी मानी जाती है । दोनों दीक्षाएँ विभिन्न प्रकारकी होनेपर भी साधन तो दोनोंहीमें है, इसलिये इन्हें 'साधकदीक्षा' कहते हैं । शिवधर्मिणी दीक्षाके प्रभावसे योग्यताके अनुसार साधकको तीन प्रकारकी सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं—(१) मन्त्रेश्वरपदकी प्राप्ति, (२) मन्त्रपदकी प्राप्ति । ये दोनों एक प्रकारसे पारमेश्वरिक फलकी प्राप्ति मानी जा सकती हैं । और (३) पिण्डसिद्धि तथा अवान्तर सिद्धियाँ । विभिन्न भोगभूमियोंमें आपेक्षिक अमृतत्व प्राप्त करके अभीष्ट सिद्धियोंको प्राप्त करना—यही तृतीय प्रकारकी सिद्धि है । दीक्षाके प्रभावसे जीव जिस भोग भूमिमे भोगास्वादनके लिये जाता है, वहाँ उसे अजर-अमर एवं स्थिर देह मिल जाता है । यह देह तबतक नष्ट नहीं होता, जबतक कि प्रलयकालमें उस लोकका नाश न हो । इसके साथ नाना प्रकारकी अवान्तर सिद्धियोंकी प्राप्ति भी समझनी चाहिये—जैसे अभीष्ट खड्गसिद्धि, अञ्जनसिद्धि एवं पादुकासिद्धि आदि । शिवधर्मी साधक गृहस्थ और यति दोनों ही हो सकते हैं । इनकी अध्वशुद्धि शिवमन्त्रसे निष्पन्न होती है । ये मन्त्रके आराधनमें तत्पर रहते हैं और आराध्य मन्त्रके आदेशके अनुसार सब काम करते हैं । ज्ञानवत्ता, अभिषेक प्रभृति इस दीक्षाके फल हैं । इस मार्गके साधकको भी समयाचारका पालन करना पड़ता है ।

लोकधर्मिणी दीक्षा

लोकधर्मिणी दीक्षाके प्रभावसे प्राक्तन (सञ्चित) और आगामी कर्मोंके भीतर अशुभांश या दुष्कृतांशमात्र नष्ट होता है और शुभांश अणिमादि सिद्धिरूपमें परिणत हो जाता है । प्रारब्धकर्मको अवश्य भोगना ही पड़ता है । भोगके अन्तमें जब प्रारब्धका फलभूत देह पतित हो जाता है, तब गुरु दीक्षित साधकको अणिमादि भोगके लिये ऊर्ध्वलोकमें सञ्चालित कर देते हैं । वहाँका भोग समाप्त होनेपर भी यदि भोग-वासना अतृप्त रह जाय, तो उस वासनाके अनुरूप भोगके लिये उसे ऊर्ध्वतर भुवनमें भेज देते हैं । इसी प्रकार फिर शुभकर्मभोगके अन्तमें वैराग्यका उदय होनेपर उसे वहींसे अर्थात् अन्तिम भोगभूमिसे ही परमेश्वरके निष्कल स्वरूपमें योजित कर देते हैं । यहाँ यह कहना अनावश्यक है कि यह योजन निष्कल ब्रह्मके साथ न होकर अनेक प्रकारसे मायातीत विभिन्न विशुद्ध भुवनोंके अन्तर्गत किसी भुवनके अधीश्वरके

साथ भी सालोक्यसे लेकर सायुज्यपर्यन्त फलप्राप्तिके लिये हो सकता है। ये सब अवस्थाएँ साधकके आध्यात्मिक उत्कर्षके तारतम्यपर निर्भर हैं। तन्त्रमें लिखा है—

लोकधर्मिणमारोप्य मते भुवनभर्तरि।
तद्धर्मापादनं कुर्याच्छिवे वा मुक्तिकाङ्क्षिणम्॥

अर्थात् लोकधर्मी साधकको गुरु अपने इष्ट भुवनेश्वरके स्वरूपसे युक्त करके उसके धर्मसे युक्त करें अथवा यदि वह मुक्तिकामी हो तो उसे शिवमें आरोपित करके उनके धर्मोंसे युक्त करें। ये ऊर्ध्वगति और योजन क्रमशः साधक और गुरुके सङ्कल्पके अनुसार होते हैं।

(६)

मोक्षदीक्षा

मुमुक्षुकी दीक्षा सबीज, निर्बीज और सद्योनिर्वाणदायिनी—तीन प्रकारकी है। वस्तुतः तृतीय दीक्षा द्वितीयका ही प्रकारभेद मात्र है; अतः मूलतः मुमुक्षुकी दीक्षाके दो ही भेद हैं।

निर्बीज दीक्षा

सामान्यतः निर्बीज दीक्षा बालक, मूर्ख, वृद्ध, स्त्री एवं व्याधिग्रस्त आदिके लिये है। अर्थात् जो लोग शास्त्रविचारमें कुशल नहीं हैं और जिनमें व्रतचर्यादि क्लेश सहन करनेकी शक्ति भी नहीं है, उन्हींके लिये निर्बीज दीक्षाका विधान है। इनके लिये समयाचार-पालनकी आवश्यकता नहीं होती। इस दीक्षाके प्रभावसे केवल गुरुभक्तिसे ही मुक्ति प्राप्त हो सकती है।

दीक्षामात्रेण मुक्तिः स्याद्भक्तिमात्राद् गुरोः सदा।

(स्वच्छन्दतन्त्र)

इसमें गुरुभक्ति मात्र ही समय (शर्त) है, दूसरा कोई समय नहीं है।

सद्योनिर्वाणदायिनी दीक्षा

सद्योनिर्वाणदायिनी दीक्षा मुमुक्षु-अवस्थामें देनी चाहिये, क्योंकि यह दीक्षा दीप्ततम मन्त्रसे सम्पन्न होनेके कारण अतीतादि तीनों प्रकारके पाशोंको नष्ट कर देती है। इस दीक्षाकी निष्पत्तिके साथ ही शुद्धि होती है और देहपात होनेपर परमपद प्राप्त हो जाता है।

दृष्ट्वा शिष्यं जराग्रस्तं व्याधिना परिपीडितम्।
उत्क्रमय्य ततस्त्वेनं परतत्त्वे नियोजयेत्॥

शिष्यको जराग्रस्त और व्याधिग्रस्त देखकर गुरु उसका शरीरसे उत्क्रमण कराकर परमतत्त्वमें नियुक्त करे।

सबीज दीक्षा

सबीज दीक्षा विद्वान् और कष्टसहिष्णु शिष्योंके लिये है। जो लोग इस दीक्षाको प्राप्त करते हैं, उन्हें शास्त्रनिर्दिष्ट समयाचारका अच्छी तरह पालन करना पड़ता है। वैसा न करनेसे उन्हें अपनी शिवमयी सत्तासे कुछ कालके लिये भ्रष्ट होकर विपद्ग्रस्त होना पड़ता है।

(शेष फिर)

जीवन-संग्राम

जीवन है संग्राम।
बंदे! जीवन है संग्राम ॥ध्रु०॥
देह-क्षेत्रमें पाँच इन्द्रियाँ
दुष्ट शत्रु उद्दाम ॥ १ ॥
लड़ना इनसे सदा धैर्य रख,
लेते प्रभुका नाम ॥ २ ॥
ज्ञान-विरति बाणोंसे इनका
होगा काम तमाम ॥ ३ ॥
इसी युक्तिसे 'सरिता' लेती
दयासिन्धुका धाम ॥ ४ ॥

—गोदावरी देवी

प्राचीन हिंदू राजाओंका आदर्श

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

हिन्दुओंकी समाजव्यवस्था सभी दृष्टियोंसे आदर्श है। क्योंकि उसके निर्माता वे क्रान्तदर्शी ऋषि थे, जिन्होंने ज्ञान, तप, योग, भक्ति एवं सदाचारके प्रभावसे अखिल विश्वके रहस्यको हृदयङ्गम कर लिया था, जिनकी दृष्टि सर्वथा राग-द्वेषशून्य एवं निर्भ्रान्त थी, जो समदर्शी थे, जिन्हें तीनों कालोंका ज्ञान था और जिनका एकमात्र व्रत लोककल्याणका अनुष्ठान था। वे वनोंमें रहकर फल-मूलसे अपना निर्वाह करते थे, वल्कल धारण करते थे और बदलेमें कुछ भी न चाहकर सदा लोकहितमें तत्पर रहते थे। उनमें स्वार्थकी गन्ध भी नहीं थी; अतएव उन्होंने संसारको जो कुछ ज्ञान दिया है, वह सर्वथा निर्भ्रान्त है और उसको आचरणमें लानेसे ही संसारमें सुख-शान्तिका सञ्चार हो सकता है और सब लोग अपने-अपने कर्तव्यका पालन कर लौकिक एवं पारलौकिक दोनों प्रकारका सुख प्राप्त कर सकते हैं। जितने अंशमें जगत्ने उनके बताये हुये मार्गका अनुसरण किया, उतने ही अंशमें वह सुखी रहा और उस मार्गसे जितना दूर वह हट रहा है, सुख-शान्ति भी उससे उतने ही दूर भागते जा रहे हैं। आज जगत्में जो भयङ्कर महासमर छिड़ा हुआ है और पहले भी जब-जब संसारमें इस प्रकारके उपद्रव हुए, वे ऋषियोंके चलाये हुए मार्गका अनुसरण न करनेके कारण ही हुए। और अब भी संसार यदि अपना कल्याण चाहता है तो उसे ऋषियोंके बताये हुए मार्गपर चलना चाहिये; अन्यथा सुख-शान्तिकी आशा दुराशामात्र होगी।

समाज विराट्रूप भगवान्का शरीर है। ब्राह्मण उक्त समाजरूपी शरीरका मुख अथवा मस्तकस्थानीय है, क्षत्रिय बाहु हैं, वैश्य ऊरु (जंघा) और शूद्र पैर हैं—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्याꣳ शूद्रो अजायत॥

(पुरुषसूक्त)

मस्तकका कार्य है बुद्धिके द्वारा शरीरका सञ्चालन करना, भुजाओंका कार्य है उसकी भौतिक आपत्तियोंसे रक्षा करना, ऊरुओंका कार्य है उसको स्थिर रखना तथा पैरोंका कार्य है उसे गति प्रदान करना, उसके सारे कार्योंको चलाना। शरीरके लिये उपर्युक्त अङ्गोंकी जो उपयोगिता है, वही समाजके लिये चारों वर्णोंकी है। इसी सिद्धान्तपर चातुर्वर्ण्यकी सृष्टि हुई और जबतक यह व्यवस्था सुचारुरूपसे चलती रही, तबतक समाजमें सर्वत्र सुख-शान्तिका साम्राज्य रहा। जबसे यह व्यवस्था बिगड़ी, लोगोंने अपने-अपने वर्णाश्रमोचित कर्तव्योंका पालन छोड़ दिया, तभीसे संसारके लिये विपत्तिका सूत्रपात हुआ और सर्वत्र कलह, राग-द्वेष एवं अशान्तिका विस्तार होने लगा।

ब्राह्मणोंका कार्य है संसारको ज्ञान प्रदान करना—पथ-प्रदर्शन करना, लोकहितकी व्यवस्था करना—कानून बनाना; क्षत्रियोंका कार्य है अस्त्र-शस्त्रके द्वारा राष्ट्रकी बाहरी आक्रमणोंसे तथा चोर-डाकुओंसे रक्षा करना, न्यायकी समुचित व्यवस्था करना, अत्याचारियोंका निग्रह करना, ब्राह्मणोंके बताये हुए मार्गपर लोगोंको चलाना। वैश्योंका कार्य है खेती, व्यापार और गोरक्षाके द्वारा समाजमें सुख-समृद्धिका विस्तार करना, राष्ट्रकी सम्पत्तिको बढ़ाना, धनका अर्जन कर उसे लोकोपकारी कार्योंमें लगाना और इस प्रकार समाजका पोषण करना। तथा शूद्रोंका कार्य है शिल्प, कला तथा उद्योग-धंधोंद्वारा समाजकी विभिन्न आवश्यकताओंको पूर्ण करना एवं सेवा करना तथा समाजको सुखी बनाना।

आज हमें अन्य वर्णोंकी चर्चा न कर केवल क्षत्रियों, विशेषकर राजाओंके कर्त्तव्यों एवं आदर्शके सम्बन्धमें कुछ विचार करना है। 'क्षत्रिय' शब्दका अर्थ ही है रक्षा करना (क्षतात् त्रायते)। अतः क्षत्रियोंका, विशेषकर राजाओंका प्रधान कर्त्तव्य है—प्रजाके जान मालकी, विशेषकर गौ-ब्राह्मणोंकी (जो धर्मके आधार हैं) तथा लोगोंके चरित्रकी, सदाचारकी, विशेषकर स्त्रियोंके सतीत्वकी रक्षा करना (क्योंकि उसीपर रक्तकी पवित्रता निर्भर है), प्रजाको सब प्रकारसे सुखी एवं समृद्ध बनाना, उसके कष्टोंको दूर करना, उसकी सभी उचित आवश्यकताओंको पूर्ण करना, उसे धर्ममार्गपर चलाना, उसकी सब प्रकारसे उन्नति करना। इस प्रकार राजाका प्रजाके प्रति वही कर्त्तव्य है, जो पिताका अपनी सन्तानके प्रति होता है। इसीलिये राजस्थानमें अब भी प्रजाजन राजाको 'मा-बाप' तथा 'अन्नदाता' आदि शब्दोंसे

सम्बोधित करते हैं। राजा दिलीपके सम्बन्धमें महाकवि कालिदासने क्या ही सुन्दर कहा है—

प्रजानां विनयाधानाद्रक्षणाद्भरणादपि।
स पिता पितरस्तासां केवलं जन्महेतवः॥
(रघुवंश १।२४)

'प्रजाजनोंकी शिक्षा-दीक्षाका समुचित प्रबन्ध करने, उन्हें धर्ममार्गपर चलाने तथा उनकी रक्षा एवं भरण-पोषण करनेके कारण वही (राजा दिलीप) उनके वास्तविक पिता (पाता=रक्षक) थे; लौकिक पिता तो केवल जन्म देनेवाले थे।' रक्षा करना विष्णुका कार्य है; इसीलिये हमारे शास्त्रोंमें राजाको विष्णुरूप तथा ईश्वरका अंश अथवा विभूति कहा गया है—'ना विष्णुः पृथिवीपतिः' (अमरकोश)। भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें भी राजाको अपनी विशेष विभूति बतलाया है—'*नराणां च नराधिपम्*'। जो राजा अपने इस कर्तव्यसे च्युत हो जाते हैं, जो रक्षकके बदले प्रजाके भक्षक बन जाते हैं, जो प्रजाको शोषणकर अपने ही ऐश-आराम तथा सुखकी सामग्री जुटानेमें व्यस्त रहते हैं तथा प्रजाके कष्टोंकी ओरसे आँख मूँद लेते हैं, जो स्त्रियोंके सतीत्वकी रक्षा न कर उल्टा उनका सतीत्व नष्ट करते हैं, उन्हें बहुधा इसी जन्ममें इसका दुष्परिणाम भोगना पड़ता है और मरनेपर उन्हें नरककी भीषण यन्त्रणाएँ भोगनी पड़ती हैं।

शासनकी समुचित व्यवस्थाके लिये, प्रजाजनोंकी शिक्षा-दीक्षा तथा उनके जान-माल तथा स्वास्थ्यकी रक्षाके प्रबन्धके लिये, उनकी उचित आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिये तथा उनके कष्टोंके निवारणके लिये द्रव्यकी भी अपेक्षा होती ही है। अतएव राजाको प्रजासे उचित मात्रामें कर वसूल करनेकी आज्ञा दी गयी है। परन्तु करकी रकम उतनी ही होनी चाहिये जितनी आसानीसे अदा की जा सके, जिसे देनेमें भार न मालूम हो और जिसकी अदायगीके बाद भी खाने-पहनने तथा अन्य उचित आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिये प्रजाजनोंके पास काफी द्रव्य बच रहे। और जितना द्रव्य करके रूपमें वसूल किया जाय, उसे प्रजाहितके ही काममें खर्च किया जाय; जितना वसूल किया जाय, उसका लाभ दूसरे रूपमें उन्हें ही पहुँचाया जाय। इसके लिये राजाको सूर्यका उदाहरण अपने सामने रखना चाहिये। सूर्य जितना जल अपनी किरणोंद्वारा समुद्रादिसे खींचता है, उसे वर्षाके रूपमें बरसाकर वह पृथ्वीको तर कर देता है और उसे नाना प्रकारके अन्न, फल, ओषधि आदि उत्पन्न करनेके योग्य बना देता है, जिससे प्रजा सुखी हो जाती है। राजा दिलीपके सम्बन्धमें महाकवि कालिदासने यही बात कही है—

प्रजानामेव भूत्यर्थं स ताभ्यो बलिमग्रहीत्।
सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः॥
(रघुवंश १।१८)

'प्रजाकी सुख-समृद्धिके लिये ही वह (दिलीप) उनसे कर लिया करता था। हजारगुने रूपमें पृथ्वीपर बरसानेके लिये ही भगवान् सूर्य जलका आकर्षण करते हैं।'

इसी बातको गोस्वामी तुलसीदासजीने दूसरे दृष्टान्तसे समझाया है। वे कहते हैं—

मुखिया मुखु सो चाहिऐ खान पान कहुँ एक।
पालइ पोषइ सकल अँग तुलसी सहित बिबेक॥
(अयोध्या० ३१५)

'मुखिया (स्वामी अथवा राजा) मुखके समान होना चाहिये, जो खाने-पीनेको तो एक (अकेला) है परन्तु विवेकपूर्वक सब अङ्गोंका पालन-पोषण करता है।'

तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार मुख खाता है भोजनके रसको सारे अङ्गोंमें पहुँचाकर उन्हें पुष्ट बनानेके लिये, केवल अपने लिये नहीं, उसी प्रकार राजाको चाहिये कि वह प्रजाके काममें उपयोग करनेके लिये ही उससे कर वसूल करे, अपने ऐश-आराम एवं भोगके लिये नहीं। गोस्वामीजीने इसीको राजधर्मका सार-सर्वस्व बतलाया है—'राजधरम सरबसु एतनोई।'

इसी आदर्शका पालन करनेके लिये प्राचीन कालमें राजालोग विश्वजित् यज्ञ किया करते थे, जिसमें वे अपना सर्वस्व लुटा देते थे और स्वयं अकिञ्चन बन जाते थे। दिलीपके पुत्र महाराज रघुके सम्बन्धमें, जिनके वंशमें भगवान् श्रीरामचन्द्रजी अवतीर्ण हुए और जिनके नामसे उनका कुल विख्यात हुआ, यह वर्णन आता है कि उन्होंने विश्वजित् यज्ञमें अपना सब कुछ दान दे दिया था—यहाँतक कि उनके पास धातुके पात्रतक नहीं रह गये थे, मिट्टीके बर्तनोंको वे व्यवहारमें लाते थे। उनकी इस दीन दशाको देखकर कौत्सनामक स्नातक ब्राह्मणकुमारको, जो गुरुदक्षिणाके लिये द्रव्यकी याचना करने उनके पास आया था—साहस नहीं हुआ कि उनसे कुछ माँगे।

तात्पर्य यह है राजाका सब कुछ प्रजाके लिये ही होता था। राजकीय कोशपर भी राजा अपना निजी स्वत्व नहीं मानते थे। वे तो ट्रस्टीकी भाँति अपनेको उसका रक्षकमात्र समझते थे। इसीलिये प्रजाके लिये उसे वितीर्ण कर देनेमें उन्हें तनिक भी कष्ट नहीं होता था। जो जिसकी सम्पत्ति है, उसे उसके लिये खर्च करनेमें खजानचीको कष्ट क्यों होने लगा। यही कारण था कि राजा और प्रजामें परस्पर बड़ा सद्भाव रहता था। राजा प्रजाके लिये सर्वस्व होमनेको तैयार रहते थे और प्रजा भी राजाके लिये प्राणतक देनेको तैयार रहती थी। यही कारण था कि भगवान् श्रीरामको वन जाते देखकर सारे अयोध्यावासी घर और कुटुम्बकी ममताको त्याग कर उनके पीछे हो लिये और उनकी खोजमें जंगलोंमें भटके। आज भगवान् रामकी-सी प्रजावत्सलता और अयोध्यावासियोंका-सा त्याग कहाँ देखनेको मिलता है। बात यह है कि उस समय सबका ध्यान अपने-अपने कर्तव्य-पालनकी ओर था, लोग अधिकारके लिये नहीं लड़ते थे, बल्कि कर्तव्यके पीछे लोग अपने न्याय्य अधिकारका त्याग कर देते थे। यही कारण था कि जहाँ आज एक-एक बित्ता जमीनके लिये भाइयोंकी तो बात ही क्या है, पिता और पुत्रमें मुकद्दमेबाजी होती देखी जाती है, वहाँ भगवान् श्रीरामने जेठे होनेके कारण राज्यके अधिकारी एवं प्रजाके अतिशय अनुरागभाजन होनेपर भी अपने छोटे भाई भरतके लिये हँसते-हँसते उसका त्याग कर दिया और स्वयं चौदह वर्षतक वनमें रहना स्वीकार किया। और इधर भरतने भी रामके द्वारा त्यागे हुए उस राज्य-वैभवको स्वीकार नहीं किया और धरोहरकी भाँति उसकी रक्षा करते हुए भी मनसे अपनेको उससे सर्वथा दूर रक्खा। धन्य भ्रातृप्रेम!

महाभारतके वनपर्वमें एक बड़ा सुन्दर आख्यान मिलता है। एक बार महर्षि अगस्त्यकी पत्नी लोपामुद्राने अपने पतिसे आभूषणोंकी याचना की। अगस्त्यजी अपनी पत्नीकी अभिलाषाको पूर्ण करनेकी इच्छासे श्रुतर्वा नामक राजर्षिके पास गये और उनसे कहा कि 'हे राजन्! मैं तुमसे धनकी याचना करने आया हूँ; अतः तुम दूसरोंको दुःख न देकर प्राप्त किये हुए धनमेंसे कुछ भाग मुझे दो।' राजा श्रुतर्वाने महर्षिके इस आदेशको सुनकर अपने आय और व्ययका पूरा ब्यौरा उनको दिखलाया और कहा कि इसमेंसे जो धन आप ठीक समझें, ले सकते हैं। समान दृष्टिवाले अगस्त्य मुनिने जब आय-व्ययको देखा तो उन्होंने दोनोंका जोड़ बराबर पाया। तब उन्होंने सोचा कि यदि मैं इस राजासे धन लेता हूँ तो इसकी प्रजाको कष्ट होगा। अतः उन्होंने उस राजासे धन लेना अस्वीकार कर दिया और उस राजाको साथ लेकर वे दूसरे राजा (ब्रध्नश्व) के पास गये, किन्तु वहाँ भी उन्होंने यही कैफियत पायी। वहाँसे ब्रध्नश्वको भी साथ लेकर वे तीसरे राजा त्रसदस्युके पास गये, किन्तु वहाँ भी उन्होंने आय-व्ययका हिसाब बराबर पाया। अन्तमें सब मिलकर इल्वल नामके दैत्यके पास गये, जिसकी आय व्ययकी अपेक्षा बहुत अधिक थी। उसने महर्षिको बहुत-सा धन दिया। इस कथासे यह पता चलता है कि प्राचीन कालके राजा लोग अपना आय-व्यय बराबर रखते थे, वे जो कुछ प्रजासे करके रूपमें वसूल करते थे, उसे सारा-का-सारा प्रजाके काममें ही लगा देते थे। आज भी यदि राजालोग इस आदर्शका पालन करें तो प्रजाके लिये कोई असन्तोषका कारण न रह जाय और वे सब उन्हें हृदयसे चाहने लगें।

जिस प्रकार सन्तानके सुधरने और बिगड़नेकी सारी जिम्मेवारी माता-पिताके ऊपर होती है, उसी प्रकार प्रजाकी भलाई-बुराईका सारा भार राजाके ऊपर होता है। कहा भी है—'यथा राजा तथा प्रजा।' यदि राजा धर्मात्मा, सदाचारी एवं न्यायशील होता है तो प्रजामें भी ये सारे गुण क्रमशः उतर आते हैं। इसके विपरीत यदि राजा दुराचारी, अन्यायी एवं प्रजापीड़क होता है तो प्रजामें भी उच्छृङ्खलता, अनाचार, पापाचार एवं प्रतिहिंसाके भाव फैल जाते हैं और इस प्रकार राजा और प्रजा दोनों ही अधोगतिको प्राप्त होते हैं।

जिस प्रकार पिताको अथवा गुरुको अपने आचरणके सम्बन्धमें सदा सतर्क रहना चाहिये, उसे कोई ऐसी चेष्टा नहीं करनी चाहिये जिसका प्रभाव उसकी सन्तानपर अथवा शिष्योंपर अच्छा न पड़े, जिसके कारण उसकी सन्तान अथवा शिष्योंके बिगड़नेका डर हो, उसी प्रकार राजाके लिये भी यह आवश्यक है कि वह प्रजाको धर्ममार्गपर चलानेके लिये स्वयं तत्परताके साथ धर्मका आचरण करे। साधारण व्यक्तियोंकी अपेक्षा नेताओं, धर्मगुरुओं, अध्यापकों और राजाओंकी जिम्मेवारी कहीं अधिक होती है। साधारण व्यक्ति तो केवल अपने तथा अपनी सन्तानके ही आचरणके लिये उत्तरदायी होते हैं; किन्तु नेता, गुरु, अध्यापक और राजा क्रमशः अपने अनुयायियों, शिष्यों तथा प्रजाजनोंके

आचरणके लिये भी उत्तरदायी होते हैं। शिष्य बिगड़ता है तो उसके लिये लोग गुरुको ही दोष देते हैं, अनुयायियों-का दोष उनके नेतापर मँढ़ा जाता है और प्रजाके अधर्मा-चरणके लिये लोग राजाको ही दोषी ठहराते हैं। इसीलिये राजाओंको विशेष चरित्रवान् एवं धर्मात्मा होना चाहिये, जिससे प्रजाजन भी उनका अनुकरण कर चरित्रवान् एवं धर्मात्मा बन सकें।

हमारे शास्त्रोंमें तो यहाँतक कहा गया है कि यदि किसी देशमें दैवी प्रकोप अधिक होते हैं—दुर्भिक्ष, बाढ़, भूकम्प, महामारी आदिके दौरे होते हैं, लोगोंकी अकालमृत्यु होती है, विधवाओंकी संख्या अधिक होती है तो इसके लिये उस देशका राजा दोषका भागी समझा जाना चाहिये। राजा यदि धर्मात्मा होता है तो उपर्युक्त उपद्रव हो ही नहीं सकते।

महाराज युधिष्ठिरके सम्बन्धमें महाभारतमें यह वर्णन मिलता है कि जब वे अपने भाइयोंके साथ विराटनगरमें छिपकर रह रहे थे, उस समय कौरवोंके द्वारा उनकी खोजके लिये अनेकों प्रयत्न किये गये; परन्तु सब निष्फल रहे। तब महात्मा भीष्मपितामहने उनको खोज निकालनेकी एक युक्ति बतलायी। वे बोले—'जिस नगर अथवा देशमें महाराज युधिष्ठिर रहते होंगे, वहाँके राजाओंका अमङ्गल नहीं हो सकता। उस देशके मनुष्य निश्चय ही दानशील, उदार, शान्त, लज्जाशील, प्रियवादी, जितेन्द्रिय, सत्यपरायण, हृष्ट-पुष्ट, पवित्र तथा चतुर होंगे। वहाँकी प्रजा असूया, ईर्ष्या, अभिमान और मत्सरतासे रहित होगी तथा सब लोग स्वधर्मके अनुसार आचरण करनेवाले होंगे। वहाँ निःसन्देह अच्छी तरहसे वर्षा होगी। सारा-का-सारा देश प्रचुर धन-धान्य-सम्पन्न और पीड़ारहित होगा। वहाँके अन्न सारयुक्त होंगे, वहाँकी पवित्र वायु सुखदायक होगी, पाखण्डरहित धर्मका स्वरूप देखनेमें आवेगा और किसीको भी भय न होगा। वहां प्रचुर मात्रामें दूध देनेवाली हृष्ट-पुष्ट गायें होंगी। धर्म वहाँ स्वयं मूर्तिमान् होकर निवास करेंगे। वहाँके सभी मनुष्य सदाचारी, प्रेम करनेवाले, सन्तोषी तथा अकालमृत्युसे रहित होंगे। वे देवता और अतिथियोंकी पूजामें प्रीति रखनेवाले, यथेष्ट दान देनेवाले उत्साहयुक्त और धर्मपरायण होंगे। वहाँके मनुष्य सदा परोपकारपरायण होंगे। जिस नगर अथवा देशमें ये सब लक्षण देखनेको मिलें, महाराज युधिष्ठिर वहीं निवास करते हैं—यह निश्चय जानना।'*

जिस राजाके निवासमात्रसे दूसरे देशोंमें यह हालत होती थी, वह राजा स्वयं कितना धार्मिक होगा और उसकी प्रजा कैसी सुखी और सदाचारपरायण होगी—वर्तमान युगमें इसका अनुमान करना भी कठिन है। इसीलिये तो महाराज युधिष्ठिर धर्मराजके नामसे विख्यात हुए। यह पदवी आजतक किसी भी राजाको प्राप्त नहीं हुई।

एक बारकी बात है, इन्द्रप्रस्थमें महाराज युधिष्ठिर अपनी सभामें बैठे हुए थे। इतनेमें ही देवर्षि नारद भगवान्का गुणगान करते हुए वहाँ आ पहुँचे। युधिष्ठिरने उनका बड़ा सम्मान किया और कुशल-प्रश्नके अनन्तर देवर्षि धर्मराजसे कहने लगे—'कहो राजन्! अर्थचिन्तन करते हुए क्या धर्मचिन्तनमें भी तुम्हारा मन लगता है? सुखोंके उपभोगमें अत्यन्त आसक्त होकर तुमने मनको दूषित तो नहीं कर डाला? धर्म, अर्थ और कामका सेवन करनेमें अपने पूर्वपुरुषोंके किये हुए सज्जनताके बर्तावको तो तुम नहीं भूल जाते हो? धर्माचरणमें उदासीनता तो नहीं करते? तुम्हारी दुर्गपति आदि सात प्रकृतियाँ दुर्व्यसनोंमें लिप्त तो नहीं हैं? तुम कहीं निद्राके वशीभूत तो नहीं रहते? ठीक समयपर

* तत्र तात न तेषां हि राज्ञां भाव्यमसाम्प्रतम्।
पुरे जनपदे चापि यत्र राजा युधिष्ठिरः॥
दानशीलो वदान्यश्च निभृतो ह्रीनिषेवकः।
जनो जनपदे भाव्यो यत्र राजा युधिष्ठिरः॥
प्रियवादी सदा दान्तो भव्यः सत्यपरो जनः।
हृष्टः पुष्टः शुचिर्दक्षो यत्र राजा युधिष्ठिरः॥
नासूयको न चापीर्षुर्नाभिमानी न मत्सरी।
भविष्यति जनस्तत्र स्वयं धर्ममनुव्रतः॥
सदा च तत्र पर्जन्यः सम्यग्वर्षी न संशयः।
सम्पन्नसस्या च मही निरातङ्का भविष्यति॥
वायुश्च सुखसंस्पर्शो निष्प्रतीपं च दर्शनम्।
न भयं त्वाविशेत्तत्र यत्र राजा युधिष्ठिरः॥
गावश्च बहुलास्तत्र न कृशा न च दुर्बलाः।
सम्प्रीतिमान् जनस्तत्र सन्तुष्टः शुचिरव्ययः॥
देवतातिथिपूजासु सर्वभावानुरागवान्।
इष्टदानो महोत्साहः स्वस्वधर्मपरायणः॥
(विराटपर्व २८। १४-१७, १९, २१, २२, २६, २७)

तुम जागते तो हो ? रात्रिके पिछले भागमें तुम उचित-अनुचितका विचार तो करते हो ? किसानलोग तुम्हारे परोक्षमें ठीक-ठीक व्यवहार तो करते हैं ? क्योंकि निःसन्देह प्रभुके ऊपर सच्चा प्रेम हुए बिना ऐसा होना असम्भव है। विश्वासपात्र, निर्लोभ, कुलपरंपरागत कर्मचारियोंसे तुम काम लेते हो न ? कार्योंको आरम्भ करनेके पूर्व उनकी परीक्षाके लिये तुम धर्मज्ञ एवं शास्त्रोंमें प्रवीण परीक्षकोंको नियत करते हो न ? युद्धविद्यामें प्रवीण वीर पुरुषोंके द्वारा कुमारोंको युद्धकी शिक्षा तो दिलाते हो न ? विनययुक्त, कुलीन, पूर्ण विद्वान्, किसीसे डाह न करनेवाले, उदारचित्त पुरुषको सत्कार करके तुमने अपना पुरोहित तो बनाया है ? तुमने निष्कपट, कुलपरम्परागत, पवित्र स्वभाववाले श्रेष्ठ मन्त्रियोंको उत्तम कार्योंपर नियुक्त किया है न ? प्रचण्ड दण्ड देकर तुम प्रजाजनोंको उद्वेजित तो नहीं करते ? हे भरतश्रेष्ठ ! मन्त्री तुम्हारे आज्ञानुसार राज्यका शासन तो करते हैं ? तुम्हारी सेनाके मुख्य योधा सब प्रकारके युद्धमें प्रवीण, प्रबल पराक्रमी, सच्चरित्र, साहसी और तुमसे उचित सम्मान तो पाये हुए हैं ? तुम अपनी सेनाको यथोचित वेतन और अन्न ठीक समयपर देते हो न ? उनको दिक तो नहीं करते ? युद्धके समस्त कार्योंको करनेके लिये तुमने एक ही यथेच्छाचारी पुरुषको तो नियुक्त नहीं कर दिया है ? क्योंकि स्वेच्छाचारी पुरुष शासनकी मर्यादाके बाहर हो जाता है। यदि कोई पुरुष अपने पुरुषार्थसे तुम्हारे कार्यको उत्तम रीतिसे सिद्ध करता है, तो वह तुमसे अधिक सम्मान और नियमितसे अधिक अन्न और वेतन पाता है न ? ज्ञानके प्रकाशयुक्त, विद्यावान्, अति विनीत गुणी पुरुषोंका उनके गुणोंके अनुसार यथोचित धन देकर सम्मान तो करते हो ? हे महाराज ! जो तुम्हारे उपकारके लिये कालके गालमें चले जाते हैं या बड़ी भारी विपत्तिमें फँस जाते हैं, उनके स्त्री-पुत्रादिका भरण पोषण करते हो न ? हे पार्थ ! बलहीन अथवा युद्धमें हारा हुआ शत्रु भयभीत होकर जब तुम्हारी शरणमें आता है, तो तुम उसकी पुत्रके समान रक्षा करते हो न ? जैसे पिता-माता सब सन्तानोंपर समान प्रेम करते हैं, वैसे ही आप भी सम्पूर्ण पृथ्वीको समदृष्टिसे देखते हो न ? वृद्धलोग, जातिके मनुष्य, गुरुजन, व्यापारी, कारीगर आश्रित, दीन, दरिद्र और अनाथोंको सदा धन-धान्य देकर उनपर अनुग्रह करते हो न ? कार्यकुशल, सावधान, हितैषी कर्मचारियोंको पहले उनका कोई अपराध बिना देखे तो उनके अधिकारसे अलग नहीं कर देते ? हे महाराज ! पुरुषोंकी उत्तम, मध्यम और अधम योग्यताको जानकर तुम उनको यथोचित कार्योंपर नियुक्त करते हो न ? हे राजन् ! तुम लोभी, चोर, वैरी अथवा पहले परीक्षा न किये हुए पुरुषोंको तो अपने कामोंपर नियुक्त नहीं करते ? चोर, लोभी, बालक अथवा स्त्रियोंकी प्रबलतासे अथवा तुम्हारे अत्याचारसे प्रजा दुःख तो नहीं पाती ? राज्यके किसान तो सन्तुष्ट चित्तसे समय बिताते हैं ? राज्यमें स्थान-स्थानपर जलसे भरे बड़े-बड़े सरोवर तो तुमने खुदवा रक्खे हैं ? खेतीका काम केवल वर्षाके भरोसे तो नहीं है ? तुम्हारे किसानोंके पास बीज और अन्न तो कम नहीं हो जाता ? आवश्यकता पड़नेपर अनुग्रहपूर्वक उन्हें ऋण दे देते हो न ? डाकू-चोर तुम्हारे राज्यमें सम-विषम स्थलोंमें दल बाँधकर नगरोंको लूटते तो नहीं फिरते ? स्त्रियोंको सन्तुष्ट और सुरक्षित तो रखते हो ? रात्रिके पहले दो पहर सोनेमें बिताकर रात्रिके पिछले पहरमें उठकर धर्मार्थका चिन्तन करते हो न ? हे राजन् ! दण्डके योग्य और पूजाके योग्य पुरुषोंकी यथोचित परीक्षा करके तुम धर्मराज यमके समान बर्ताव करते हो न ? हे पार्थ ! शरीरकी पीड़ाको औषध और पथ्यके द्वारा तथा मनकी पीड़ाको निरन्तर वृद्धोंकी सेवासे दूर करते हो न ? हे राजन् ! तुम किसी प्रकार लोभ, मोह वा अभिमानके वशमें होकर तो वादी-प्रतिवादियोंके कार्योंको नहीं देखते ? कहीं लोभसे, मोहसे, विश्वाससे अथवा प्रेमभावसे आश्रित पुरुषोंकी नौकरी तो नहीं रोक लेते ? दुर्बल शत्रुको बलात्कारसे तुम अधिक पीड़ा तो नहीं देते ? बल और मन्त्रसे किसीका सर्वनाश तो नहीं करते ? सब विद्याओंके विषयमें गुणोंका विचार करके ब्राह्मण और सज्जनोंका सम्मान करते हो न ? हे महाराज ! यत्नके साथ पूर्वपुरुषोंके आचरण किये हुए वेदोक्त धर्मका आचरण करनेमें तुम प्रवृत्त रहते हो न ? एकाग्रचित्त होकर मनको वशमें किये हुए अनेकों यज्ञोंको पूर्ण रीतिसे करते हो न ? गुरुजन, ज्ञातिके वयोवृद्ध, देवता, तपस्वी, चैत्यवृक्ष तथा कल्याणकर्ता ब्राह्मणोंको नमस्कार करते हो न ? हे अनघ ! तुम एकाएकी शोक वा क्रोधसे दब तो नहीं जाते ? तुम्हारे लोभान्ध, अनभिज्ञ अधिकारी पुरुषोंद्वारा चोरीका मिथ्या लाञ्छन लगाये हुए सच्चरित्र विशुद्धस्वभाव निष्पाप पुरुष मरणका दण्ड तो नहीं पाते ? हे नरश्रेष्ठ ! दुष्ट, अहितकारी, खोटे स्वभाववाले, दण्डके योग्य चोरको चोरी की हुई वस्तुके साथ पकड़कर भी तुम्हारे कर्मचारी धनके लोभसे उसे छोड़ तो नहीं देते ? हे भारत ! तुम्हारे मन्त्री धनके लोभमें पड़े हुए धनी और दरिद्रका

विवाद होनेपर झूठा फैसला तो नहीं देते ? नास्तिकता, मिथ्याभाषण, क्रोध, प्रमाद, दीर्घसूत्रता, ज्ञानवान् पुरुषोंसे न मिलना, आलस्य, चित्तकी चञ्चलता, निरन्तर धनकी चिन्ता इत्यादि दोषोंका तो तुमने सर्वथा त्याग कर दिया है न ? हे राजन् ! तुम्हारे नगर और राज्यमें व्यापारियोंका सम्मान तो होता है और तुम्हारे अधिकारियोंके परीक्षा ले लेनेपर ही वे व्यापारके पदार्थोंको राज्यमें लाने पाते हैं न ? हे तात ! तुम धर्मार्थदर्शी और तत्त्वज्ञानी वृद्ध पुरुषोंकी धर्मभरी उपदेशकी बातें नित्य सुनते हो न ? हे महाराज ! कोई तुम्हारा उपकार करे तो उसे याद तो रखते हो ? कोई सत्कर्म करे तो उसकी प्रशंसा और सज्जनोंमें आदर करके उसका सत्कार तो करते हो ? अग्निके भयसे तथा रोग और राक्षसी स्वभाववाले दुष्ट पुरुषोंके भयसे तुम अपने सम्पूर्ण राज्यकी रक्षा तो करते हो ? हे महाराज ! निद्रा, आलस्य, भय, क्रोध, अधिक नर्मी और दीर्घसूत्रीपन—इन छः अनर्थोंका तो तुमने एक साथ त्याग कर दिया है न ?' राजा युधिष्ठिरने बड़े ध्यानसे इन सब प्रश्नोंको सुना और नारदजीके चुप होनेपर वे उनसे कहने लगे—'हे भगवन् ! आपने जो धर्मका निश्चयरूप उपदेश दिया, वह बहुत ही ठीक और यथार्थ है और मैं यथाशक्ति न्यायानुकूल ऐसा ही करता हूँ । राजाओंको जो कार्य जिस प्रकार करना चाहिये तथा—पूर्वकालके राजा न्यायपूर्वक धनका संग्रह कर जिन सकल आवश्यक कार्योंको करते थे, उन्हें मैं भी करता हूँ ।'*

ऊपरके संवादसे यह बात भलीभाँति विदित हो जाती है कि राजाको किस प्रकारका आचरण करना चाहिये और वे सब आचरण महाराज युधिष्ठिरमें विद्यमान थे ।

छान्दोग्य उपनिषद्के पाँचवें अध्यायमें महाराज अश्वपतिकी कथा आती है । उनके पास एक बार अरुणके पुत्र उद्दालकके भेजे हुए कुछ मुनि वैश्वानर विद्या (अध्यात्मविद्या) सीखनेके लिये आये । उनका राजाने बड़ा सत्कार किया और उन्हें धनकी इच्छासे आया हुआ जान बहुत-सा धन देना चाहा । ऋषि तो दूसरे ही प्रयोजनसे आये थे, अतः उन्होंने धन लेनेसे इनकार किया । इसपर राजाने सोचा कि मेरे धनको निषिद्ध समझकर ये लोग स्वीकार नहीं कर रहे हैं । अतः अपने धनकी पवित्रताको सिद्ध करनेके लिये वह कहने लगा—'हे मुनियो ! मेरे राज्यमें कोई चोर—दूसरेका धन हरण करनेवाला नहीं है, न कोई कदर्य—सम्पत्ति रहते हुए दान न करनेवाला है, न कोई मद्यपान करनेवाला है, न अनाहिताग्नि है, न अविद्वान् है, न कोई स्वैरी—परस्त्रियोंके प्रति गमन करनेवाला है; अतः स्वैरिणी (कुलटा स्त्री) भी कैसे हो सकती है ?'* क्या आज कोई राजा इस प्रकारका दावा कर सकता है ?

रामराज्यकी सुख-सम्पदा तो प्रसिद्ध ही है । यही कारण है कि 'रामराज्य' शब्द आदर्श राज्यके पर्यायरूपमें बरता जाने लगा है । उसका वर्णन गोस्वामी तुलसीदासजीने रामचरितमानसमें बड़े ही सुन्दर शब्दोंमें किया है । वे कहते हैं कि 'भगवान् श्रीरामके राजगद्दीपर आसीन होते ही तीनों लोक शोकरहित हो गये । कोई किसीसे वैर नहीं करता था, भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके प्रतापसे सबकी विषमता (आन्तरिक भेदभाव) नष्ट हो गयी । सब लोग अपने-अपने वर्ण और आश्रमके अनुकूल धर्ममें तत्पर हुए वेदमार्गपर चलते थे और सुख पाते थे । उन्हें न किसी बातका भय था, न शोक था, और न कोई रोग ही सताता था । राम-राज्यमें दैहिक, दैविक और भौतिक ताप किसीको नहीं व्यापते थे । सब मनुष्य परस्पर प्रेम करते थे और वेदोंमें बतायी हुई नीति (मर्यादा) के अनुसार अपने धर्ममें लगे रहकर उसका आचरण करते थे । धर्म अपने चारों चरणों (सत्य, शौच, दया और दान) से जगत्में परिपूर्ण हो रहा था । स्वप्नमें भी कहीं पाप नहीं था । पुरुष और स्त्री सभी रामभक्तिके परायण थे और सभी परमगति (मोक्ष) के अधिकारी थे । छोटी अवस्थामें मृत्यु नहीं होती थी, न किसीको पीड़ा होती थी । सभीके शरीर सुन्दर और नीरोग थे । न कोई दरिद्र था, न दुखी था और न दीन ही था । न कोई मूर्ख था और न शुभ लक्षणोंसे हीन था । सभी लोग दम्भरहित, धर्मपरायण और पुण्यात्मा थे । पुरुष और स्त्री, सभी चतुर और गुणवान् थे । सभी गुणोंका आदर करनेवाले और पण्डित, तथा सभी ज्ञानी थे । सभी

* भगवन् न्यायमाहैतं यथावद्धर्मनिश्चयम् ।
यथाशक्ति यथान्यायं क्रियतेऽयं विधिर्मया ॥
राजभिर्यद्यथा कार्यं पुरा वै तन्न संशयः ।
यथान्यायोपनीतार्थं कृतं हेतुमदर्थवत् ॥
(महाभारत, सभापर्व ६ । २-३)

* तेभ्यो ह प्राप्तेभ्यः पृथगर्हाणि कारयाञ्चकार स ह प्रातः सञ्जिहान उवाच—
न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः ।
नानाहिताग्निर्नाविद्वान्न स्वैरी स्वैरिणी कुतः ॥

कृतज्ञ (दूसरेके किये हुए उपकारको माननेवाले) थे, कपट-चतुराई किसीमें नहीं थी । श्रीरामके राज्यमें जड-चेतन सारे जगत्‌में काल, कर्म, स्वभाव और गुणोंसे उत्पन्न हुए दुःख किसीको भी नहीं होते थे (अर्थात् इनके बन्धनमें कोई नहीं था) ।

'सभी नर-नारी उदार, सभी परोपकारी और सभी ब्राह्मणोंके चरणोंके सेवक थे । सभी पुरुष एकपत्नीव्रती थे । इसी प्रकार स्त्रियाँ भी मन, वचन और कर्मसे पतिका हित करनेवाली थीं । वनोंमें वृक्ष सदा फूलते और फलते थे । हाथी और सिंह वैर भूलकर एक साथ रहते थे । पक्षी और पशु सभीने स्वाभाविक वैर भुलाकर आपसमें प्रेम बढ़ा लिया था । शीतल, मन्द, सुगन्धित पवन चलता रहता था । लताएँ और वृक्ष माँगनेसे मधु टपका देते थे, गौएँ मनचाहा दूध देती थीं और पृथ्वी सदा खेतीसे भरी रहती थी । समुद्र अपनी लहरोंके द्वारा किनारोंपर रत्न डाल देते थे, जिन्हें मनुष्य उठा लिया करते थे । सूर्य उतना ही तपते थे, जितना आवश्यक होता था और मेघ माँगनेसे जब जहाँ जितना चाहिये, उतना ही जल देते थे । त्रेतायुगमें सत्ययुगकी-सी स्थिति हो गयी थी ।'

जैमिनीयाश्वमेध नामक ग्रन्थमें भक्त सुधन्वाकी कथा आती है, जिसमें सुधन्वाके पिता राजा हंसध्वजके सम्बन्धमें यह उल्लेख मिलता है कि उनके राज्यमें सब लोग एकपत्नीव्रती थे तथा देशके सभी नर-नारी भगवान्‌के परम भक्त थे । राज्यमें नौकरीके लिये बाहरसे कोई आदमी आता तो राजा सबसे पहले उससे यही कहते—

एकपत्नीव्रतं तात यदि ते विद्यतेऽनघ ।
ततस्त्वां धारयिष्यामि सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥
न शौर्यं न कुलीनत्वं न च क्वापि पराक्रमः ।
स्वदाररसिकं वीरं विष्णुभक्तिसमन्वितम् ॥
वासयामि गृहे राष्ट्रे तथान्येऽपि हि सैनिकाः ।
अनङ्गवेगं स्वान्ते ये धारयन्ति महाबलाः ॥

'हे निष्पाप ! यदि तुम एकपत्नीव्रतका पालन करनेवाले हो, तो मैं तुम्हें अपने यहाँ रख सकता हूँ; भाई ! मैं सत्य कहता हूँ कि निकम्मी शूरता, कुलीनता और पराक्रम मैं नहीं चाहता । जो वीर केवल अपनी एक ही पत्नीमें प्रेम करनेवाला और भगवान्‌की भक्तिसे सम्पन्न होगा, मैं उसीको अपने घरमें अथवा राष्ट्रमें स्थान दे सकता हूँ । तथा दूसरे भी जो सैनिक कामदेवके प्रबल वेगको धारण कर सकते हैं, वे ही वास्तवमें महाबली सैनिक हैं [अतः उन्हें ही मैं आश्रय दे सकता हूँ] ।' राजाकी सेनामें सभी योद्धा भगवद्भक्त, रणवीर, दीनोंपर दया करके उन्हें दान देनेवाले, एकपत्नीव्रती, संयमी और प्रिय बोलनेवाले थे—

सर्वे ते वैष्णवा वीराः सदा दानपरायणाः ।
एकपत्नीव्रतयुताः संयतास्ते प्रियंवदाः ॥

राजा स्वयं पक्के एकपत्नीव्रती थे, इसीसे वे अपनी प्रजासे भी इस नियमका पालन करा सके ।

श्रीरामका एकपत्नीव्रत तो प्रसिद्ध ही है । अश्वमेध यज्ञमें स्त्रीका होना आवश्यक है । परन्तु वहाँ भी उन्होंने भगवती सीताकी स्वर्णमयी प्रतिमाको पास बिठाकर ही काम निकाला किन्तु दूसरा विवाह नहीं किया, और इस प्रकार अपने अखण्ड एकपत्नीव्रतका परिचय दिया । धन्य मर्यादा !

भगवान् श्रीरामने तो अवतार ही लिया था जगत्‌में मर्यादा स्थापन करनेके लिये । इसीलिये वे मर्यादापुरुषोत्तम कहलाये । उनका तो प्रत्येक चरित्र शिक्षासे भरा हुआ है । जगत्‌में उनका उदाहरण देकर कोई भूलसे भी अनाचारको आश्रय न दे, इसके लिये उन्होंने लोकापवादको आदर देते हुए प्राणोंसे भी प्यारी सतीशिरोमणि जानकीका परित्याग कर दिया, यद्यपि उनके मनमें देवी जानकीकी पवित्रताके सम्बन्धमें कोई शङ्का नहीं थी और उनकी अग्निपरीक्षा भी हो चुकी थी । स्नेह, दया और सुखकी कोई परवा न कर वे प्रजाके सन्तोषके लिये इतना निष्ठुर व्यवहार करनेमें भी नहीं हिचकिचाये और जगत्‌में लोकरञ्जनका अलौकिक आदर्श स्थापित किया । स्नेह और दया आदिके वैयक्तिक भावोंको कुचलकर उन्होंने इस बातको प्रमाणित कर दिया कि राजाका अस्तित्व ही प्रजाके लिये होता है, उसकी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं होती ।

ऐसे आदर्शका पालन करते हुए महाराज हंसध्वजने अपने पुत्र सुधन्वाको युद्धमें विलम्बसे उपस्थित होनेके लिये घोर प्राणदण्ड दिया, राजा शिबिने एक शरणागत कबूतरकी रक्षाके लिये अपना शरीरतक देना स्वीकार कर लिया, सत्यकी रक्षाके लिये राजा हरिश्चन्द्रने अपने राज्यको तृणवत् त्याग दिया और स्त्रीतकको बेच डाला, अतिथिके प्रति अपना कर्तव्य पालन करनेके लिये महाराज रन्तिदेवने ४८ दिनतक भूखे रहनेके बाद मिले हुए अन्न-जलका भी परित्याग कर दिया । इस प्रकारके आदर्श त्यागसे ही प्राचीन कालके राजा लोग जगत्‌में धर्मका

स्थापन करनेमें समर्थ होते थे। यही कारण था कि उनकी प्रजा भी उन्हींके समान धर्ममें रत रहती थी और जगत्में सर्वत्र सुख-शान्तिका साम्राज्य था। क्या वर्तमान कालके राजा लोग भी इस प्राचीन आदर्शका अनुसरण कर जगत्में सुख-शान्तिका विस्तार करेंगे ?

ऊपर भगवान् श्रीरामचन्द्रजी तथा महाराज युधिष्ठिर आदिके शासनकी जो बातें दिखलायी गयी हैं तथा देवर्षि नारदने युधिष्ठिरको जो राजधर्मका उपदेश दिया है, वह सभी राजाओंके लिये अनुकरणीय एवं पालनीय है। केवल राजा ही नहीं, हमारे देशके जमीदार तथा अन्य सद्गृहस्थ भी यदि इन बातोंपर ध्यान दें और इन्हें अपने जीवनमें उतारनेकी चेष्टा करें तो इससे उनका, उनके वर्गका तथा उनकी प्रजा एवं आश्रितजनोंका बड़ा कल्याण हो सकता है। राजाओंद्वारा आय-व्ययको बराबर रखनेका जो प्राचीन आदर्श है, वह भी सबके लिये अनुकरणीय है। प्रजासे करके रूपमें जो कुछ भी वसूल किया जाय, उसे पूरा-का-पूरा उन्हींके काममें लगाया जाना चाहिये। ऐसा करनेसे राजा और प्रजाके बीच पिता-पुत्रका जो भाव है, वह सदा बना रह सकता है और ऐसा करनेवाले राजाकी प्रजा कभी उससे असन्तुष्ट नहीं रह सकती।

मातजीसे वार्तालाप

(३)

दृश्य-दर्शन, स्वप्न, सङ्कल्प और आत्मसमर्पण, भगवान्में गोता लगाना।

(अनुवादक—श्रीमदनगोपालजी गाड़ोदिया)

[भाग १४ के पृ० १७२७ से आगे]

'जनसाधारणकी यह धारणा है कि साधनामें सूक्ष्म भूमिकाओंके दृश्योंका दिखायी देना किसी उच्च आध्यात्मिकताका चिह्न है। क्या यह बात सच है?'

नहीं, यह कोई जरूरी बात नहीं है। इसके अतिरिक्त इन दृश्योंका दीखना एक बात है; किन्तु जो कुछ देखा है, उसको समझना और उसका अर्थ लगाना दूसरी ही बात है तथा और भी कठिन है। साधारणतया, जिन लोगोंको इस प्रकारके दृश्य दिखायी देते हैं वे धोखा खा जाते हैं। इसका कारण यह है कि वे अपनी ही इच्छाओं, आशाओं और धारणाओंके अनुसार इनका अर्थ लगाते या इनकी व्याख्या करते हैं। और फिर कई भिन्न-भिन्न प्रकारकी भूमिकाएँ हैं, जहाँ तुम्हें ये दृश्य दिखायी दे सकते हैं। ये मानसिक भूमिकापर दिखायी देते हैं, प्राणकी भूमिकापर दिखायी देते हैं; और कुछ दृश्य ऐसे होते हैं, जो एक ऐसी भूमिकापर दिखायी देते हैं जो इस स्थूल—भौतिक जगत्के अति समीप है। ये तीसरी श्रेणीके दृश्य इस प्रकारकी आकृतियों और प्रतीकोंमें प्रकट होते हैं, जो बिल्कुल स्थूल— भौतिक दिखायी देते हैं; क्योंकि ये अत्यन्त स्पष्ट, यथार्थ और स्पृश्य होते हैं। और यदि तुम इनका अर्थ लगाना जान जाओ तो तुम्हें मनुष्योंकी अवस्थाओं और उनकी आन्तरिक स्थितिके बिल्कुल ठीक-ठीक निर्देश मिल सकते हैं।

एक उदाहरण देकर समझाना अच्छा होगा। यह एक दृश्य-दर्शन (Vision) है, जो सचमुच एक आदमीको हुआ था। उसने देखा कि सूर्यके प्रकाशसे आलोकित एक सड़क है, जो चढ़ाईपर है और एक खड़े पर्वतकी चोटीकी ओर जा रही है। इस सड़कपर एक बड़ा भारी रथ चल रहा है, जिसको छः मजबूत घोड़े बड़ी कठिनाईसे धीरे-धीरे खींच रहे हैं। रथ मन्दगतिसे, पर लगातार आगे बढ़ रहा है। इतनेमें एक आदमी आता है, इस परिस्थितिका अवलोकन करता है। वह रथके पीछे चला जाता है और उसको पीछेसे ठेलने लगता है अथवा उसको ठेलकर पहाड़पर पहुँचा देनेकी चेष्टा करता है। अब एक समझदार आदमी

आता है और उससे कहता है कि 'भले आदमी, तुम क्यों व्यर्थ परिश्रम कर रहे हो ! क्या तुम यह समझते हो कि तुम्हारी इस मेहनतका कोई फल होगा ? तुम्हारे लिये यह असम्भव कार्य है । इसको करनेमें घोड़ोंको भी कठिनाई हो रही है ।'

अब, इस दृश्य-दर्शनका अर्थ समझनेकी चाबी छः घोड़ोंके रूपकमें है । घोड़े शक्तिके प्रतीक हैं और छः संख्या दिव्य सृष्टिका चिह्न है । अतः छः घोड़ोंका अर्थ हुआ दिव्य सृष्टिकी शक्तियाँ । रथ आत्मसाक्षात्कारका प्रतीक है,—जिस वस्तुको उपलब्ध करना है, प्राप्त करना है, चोटीतक पहुँचाना है—उस ऊँचाईतक जहाँ कि दिव्य प्रकाशका निवास है—उसका प्रतीक है । यद्यपि ये सृजन करनेवाली शक्तियाँ दिव्य हैं, किन्तु इस *आत्मप्राप्तिको पूर्ण करनेका काम इनके लिये भी* कष्टसाध्य है; कारण, इनको महान् विरोधका सामना और प्रकृतिके अधोगामी आकर्षणके विरुद्ध युद्ध करना पड़ता है । अब बेचारा मानव प्राणी आता है, जो अपने अभिमान और अज्ञानमें ग्रस्त है, जिसके पास मानसिक शक्तियोंकी जरा-सी सम्पत्ति है, और वह समझता है कि वह भी कुछ है और कुछ कर सकता है । उसके लिये तो सबसे उत्तम काम यह है कि वह रथमें जाकर आरामसे बैठ जाय और घोड़ोंके कार्यमें अपनी अनुमति देता रहे ।

स्वप्न बिल्कुल दूसरी ही चीज है । इनकी व्याख्या करना अधिक कठिन है, क्योंकि हरेक व्यक्तिके लिये उसकी अपनी विशेष प्रकारकी कल्पना-मूर्तियोंका स्वप्न-जगत् होता है । अवश्य ही ऐसे स्वप्न भी होते हैं, जिनका कुछ विशेष अर्थ नहीं होता । इस श्रेणीके अन्तर्गत वे स्वप्न आते हैं, जो चेतनाके अत्यन्त ऊपरी और भौतिक स्तरसे सम्बन्ध रखते है, और वे जो इधर-उधरके विचारों, आकस्मिक संस्कारों, यन्त्रवत् होनेवाली प्रतिक्रियाओं अथवा प्रतिघातजनित क्रियाओंके फलस्वरूप होते हैं । इनका कोई बँधा हुआ या सङ्गठित रूप, आकार और अर्थ नहीं होता । ये बहुत ही कम याद रहते और चेतनापर अपना कोई चिह्न भी प्रायः नहीं छोड़ जाते । परन्तु वे स्वप्न भी, जिनका जन्म किसी अधिक गहरे स्तरसे होता है, प्रायः अस्पष्ट ही होते हैं; क्योंकि वे विशेषरूपसे व्यक्तिगत होते हैं,—यह इस अर्थमें कि इन स्वप्नोंकी बनावट प्रायः पूर्णतया उन व्यक्तियोंके अपने निजी अनुभवों और स्वभावविशेषपर ही निर्भर करती है । स्वप्न ही नहीं, दृश्य भी ऐसे प्रतीकोंके बने हुए होते हैं जिनका विश्वव्यापी एक ही अर्थ नहीं होता । ये प्रतीक भिन्न-भिन्न जाति, परम्परा और धर्मके अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकारके होते हैं । हो सकता है कि कोई प्रतीक विशेषरूपसे ईसाईधर्मका हो, दूसरा विशेषरूपसे हिंदूधर्मका, तीसरा सामान्य-रूपसे पौरस्त्य लोगोंका हो और चौथा सामान्यरूपसे पाश्चात्त्य लोगोंका । परन्तु स्वप्न तो एकदम व्यक्तिगत होते हैं, वे दैनिक घटनाओं और संस्कारोंपर निर्भर करते हैं । किसी मनुष्यके लिये किसी दूसरे मनुष्यके स्वप्नका आशय बताना या अर्थ लगाना अत्यन्त कठिन है । प्रत्येक मनुष्य एक दूसरेके लिये एक बंद घेरेके समान है । परन्तु प्रत्येक व्यक्ति स्वयं अपने स्वप्नोंका अध्ययन कर सकता है, उनका मतलब खोल सकता और उनके अर्थका पता लगा सकता है ।

अब स्वप्नों और स्वप्नलोकके सम्बन्धमें कैसे बरतना चाहिये, इसपर विचार करें । पहले तो तुमको सचेतन, अर्थात् अपने स्वप्नोंसे सचेतन होना चाहिये । अपने जाग्रतकालकी घटनाओं और इन स्वप्नोंमें जो सम्बन्ध है, उसका निरीक्षण करना चाहिये । यदि तुम्हें रात्रि-कालकी अपनी अवस्था याद हो, तो बहुधा तुमको इस बातका पता लगेगा कि तुम्हारी दिनकी अवस्थाका कारण तुम्हारी रात्रिकी अवस्थामें है । निद्राकी अवस्थामें

तुम्हारी मनोमय, प्राणमय या अन्य भूमिकापर कुछ-न-कुछ क्रिया सदा होती रहती है। वहाँ जो कुछ घटनाएँ घटती हैं, वे तुम्हारी जाग्रत्-चेतनापर शासन करती हैं। उदाहरणार्थ, कुछ साधक सिद्धि प्राप्त करनेके लिये बहुत ही आतुर होते हैं और वे दिनके समय बहुत अधिक प्रयत्न करते हैं। वे सो जाते हैं और वे जब दूसरे दिन उठते हैं, तब अपने पहले दिनके प्रयत्नके फलस्वरूप उनको जो कुछ लाभ हुआ था उसका उन्हें कहीं पता भी नहीं मिलता। उन्हें एक बार फिरसे उसी भूमिको पार करना पड़ता है। इसका यह अर्थ है कि उनका वह प्रयत्न और उससे जो कुछ प्राप्त हुआ था, वह सत्ताके अधिक ऊपरी और जाग्रत् भागोंसे ही सम्बन्ध रखता था और सत्ताके जो गभीरतर और सुप्त भाग हैं, वे उससे अस्पृष्ट ही रहे। जब तुम सोये, तब तुम इन अचेतन भागोंके पंजेमें पड़ गये; ये खुले और सचेतनकालमें कठिन परिश्रम करके जो कुछ तुमने निर्माण किया था, उसको निगल गये।

सचेतन होओ! न केवल दिन, बल्कि रात्रिकालके जीवनसे भी सचेतन होओ। पहले तुमको सचेतनता प्राप्त करनी है, फिर वशित्व। तुममेंसे जिनको अपने स्वप्न याद रहते हैं, उनको यह अनुभव हुआ होगा कि स्वप्नके समय भी उनको इस बातका ज्ञान था कि यह स्वप्न है; वे यह जानते थे कि यह एक ऐसा अनुभव है, जिसका स्थूल–भौतिक जगत्से कोई सम्बन्ध नहीं। एक बार जहाँ तुमको यह ज्ञान हुआ कि वहाँ भी—स्वप्न-जगत्में भी—तुम उसी प्रकार कार्य कर सकते हो जैसा कि तुम स्थूल जगत्में करते हो, तुम स्वप्नके समय भी अपने सचेतन सङ्कल्पका प्रयोग कर सकते हो और अपने स्वप्नानुभवकी समस्त गतिविधिको ही परिवर्तित कर सकते हो।

और जैसे-जैसे तुम अधिकाधिक सचेतन होते जाओगे, वैसे-वैसे तुम रात्रिमें भी अपनी सत्तापर उतना ही वशित्व रखना आरम्भ कर दोगे, जितना तुम दिनमें रखते हो—हो सकता है कि उससे अधिक भी। क्योंकि रातमें तुम अपने शरीरकी यान्त्रिकताकी गुलामीसे मुक्त रहते हो। शारीरिक चेतनाके व्यापारोंपर वशित्व रखना अधिक कठिन है। कारण, ये मनोमय और प्राणमय व्यापारोंकी अपेक्षा अधिक कठोर होते हैं और परिवर्तनके लिये अपेक्षया कम राजी होते हैं।

रात्रिमें मन और प्राण—विशेषतः प्राण—बहुत अधिक क्रियाशील रहते हैं। दिनमें उनपर एक नियन्त्रण रहता है; कारण, भौतिक चेतना उनके स्वतन्त्र व्यापार और अभिव्यक्तिको दबाये रहती है। परन्तु निद्राके समय यह नियन्त्रण हट जाता है और वे अपनी स्वाभाविक और स्वतन्त्र गतियोंके साथ बाहर निकल पड़ते हैं।

'स्वप्नरहित निद्राका क्या स्वरूप है?'

साधारणतया तुम जिसको स्वप्नरहित निद्रा कहते हो, वह इन दोमेंसे एक प्रकारकी होती है—(१) या तो स्वप्नमें जो कुछ तुमने देखा, वह तुम्हें याद नहीं रहता; (२) या तुम ऐसी नितान्त अचेतनामें जा गिरते हो, जो लगभग मृत्यु ही होती है—मृत्युका एक आस्वाद होता है। परन्तु एक ऐसी निद्रा भी सम्भव है, जिसमें तुम्हारी सत्ताके प्रत्येक भागमें परिपूर्ण नीरवता, निश्चलता और शान्ति छा जाती है और तुम्हारी चेतना सच्चिदानन्दमें लीन हो जाती है। इस अवस्थाको निद्रा कहना ही नहीं चाहिये, कारण यह अत्यन्त सचेतन अवस्था होती है। इस अवस्थामें तुम कुछ क्षण रह सकते हो; किन्तु इन थोड़ेसे क्षणोंमें तुम्हें घंटों ली हुई साधारण निद्राकी अपेक्षा अधिक आराम और ताजगी मिल जाती है। यह अवस्था आप-ही-आप नहीं हो सकती, इसके लिये एक लंबी साधनाकी आवश्यकता होती है।

'स्वप्नोंमें कुछ ऐसे लोगोंसे भेंट और जान-पहचान हो जाती है, जिनसे फिर बाह्य जगत्में हमारी भेंट और जान-पहचान पीछेसे होती है; यह क्या बात है ?'

मनोमय या प्राणमय लोकमें एक दूसरेके साथ मेल होनेसे कुछ लोग एक दूसरेके प्रति आकृष्ट हो जाते हैं। इन लोकोंमें बहुधा ऐसे लोगोंसे भेंट होती है, जिनसे पृथ्वीपर अभी मुलाकात नहीं हुई है। ऐसे लोगोंका वहाँ इकट्ठा होना, परस्पर बातचीत करना और पृथ्वीपर जितने प्रकारके सम्बन्ध होते हैं उन सभी सम्बन्धोंका रखना सम्भव है। इन सम्बन्धोंको कुछ लोग जानते हैं, कुछ नहीं जानते। कुछ—और अधिकांश लोग ऐसे ही हैं, जो आन्तर सत्ता और आन्तर आदान-प्रदानको नहीं जानते होते; फिर भी यह होता है कि जब बाह्य जगत्में किसी ऐसे नवीन व्यक्तिका चेहरा उन्हें दिखायी देता है, तब वह उन्हें किसी कारण अत्यन्त परिचित और अच्छी तरह जाना-पहचाना हुआ बोध होता है।

'क्या झूठे दृश्य नहीं दिखायी देते ?'

ऐसे दृश्य होते हैं, जिनका बाह्य रूप झूठा होता है। उदाहरणार्थ, सैकड़ों क्या—हजारों आदमी ऐसे मिलेंगे, जो कहते हैं कि उन्होंने ईसामसीहको देखा है। इस बड़ी-सी संख्यामेंसे जिन्होंने वास्तवमें उनको देखा है, ऐसे लोग शायद एक दर्जन भी न निकलें। और इन थोड़े-से लोगोंने भी जो कुछ देखा है, उसके सम्बन्धमें बहुत कुछ कहनेकी गुंजायश है। बाकीके लोगोंने जो कुछ देखा है, वह हो सकता है कि ईसामसीहकी कोई विभूति हो, अथवा उनका अपना ही कोई विचार हो, या कोई ऐसी प्रतिमा हो जिसको उनके मनने याद कर रक्खा हो। इनमें कुछ लोग ऐसे भी होते हैं, जिनकी ईसामसीहमें दृढ़ श्रद्धा होती है और उन्हें किसी दिव्य शक्ति या सत्ताका अथवा उनकी अपनी स्मृतिमें पड़ी हुई किसी तेजोमय मूर्तिका जिसका उनपर गहरा असर पड़ता है दर्शन हुआ है। उन्होंने कुछ ऐसी चीज देखी है, जिसे वे दूसरे जगत्की और प्राकृत जगत्से परेकी अनुभव करते हैं और इस दृश्य-दर्शनने उनके अंदर भय, सम्भ्रम या हर्षका भावावेश उत्पन्न कर दिया होता है; और चूँकि उनकी श्रद्धा ईसामसीहमें ही होती है, इसलिये उनके ध्यानमें और कोई दूसरी चीज नहीं आती और वे समझते हैं कि उन्होंने ईसामसीहको ही देखा है। परन्तु वही दर्शन या अनुभव यदि किसी हिंदू, मुसलमान या अन्य धर्मावलम्बीको हो तो इसका नाम और रूप कुछ और ही हो जायगा। जिसका दर्शन या अनुभव हुआ, वह वस्तु मूलतः एक ही होती है; फिर भी उसको ग्रहण करनेवाले मनकी बनावटकी भिन्नताके अनुसार उसका रूप भी भिन्न-भिन्न प्रकारका बन जाता है। केवल वे ही लोग जो इन विश्वासों, श्रद्धाओं, धर्माख्यानों और परम्पराओंके ऊपर उठ चुके है यह कह सकते हैं कि वास्तवमें उन्होंने क्या देखा; किन्तु ऐसे लोग बहुत कम हैं, इने-गिने ही हैं। तुम्हें समस्त मानसिक रचनाओंसे मुक्त होना होगा और जो कुछ भी केवल स्थानीय या सामयिक है, उससे अपने-आपको दूर कर लेना होगा; ऐसा होनेपर ही तुम इन दृश्योंका सच्चा ज्ञान प्राप्त कर सकोगे।

आध्यात्मिक अनुभूतिका अर्थ है—अपने अंदर (अथवा अपने बाहर, जो उस क्षेत्रमें एक ही बात है) भगवान्‌का संस्पर्श। और यह अनुभूति सर्वत्र, सब देशोंमें, सब जातिके लोगोंमें—यहाँतक कि समस्त युगोंमें भी एक ही प्रकारकी होती है। भगवान्‌से जब तुम्हारी भेंट होती है, तो वह सर्वदा और सर्वत्र एक ही प्रकारसे होती है। फिर भी उनके भिन्न-भिन्न रूप दिखायी देनेका कारण यह होता है कि जो कुछ अनुभूत होता है और उसको जो रूप दिया जाता है, इन दोनोंके बीच एक बड़ी भारी खाई होती है। आध्यात्मिक अनुभूति सदा आन्तर चेतनामें होती है और जैसे ही तुमको कोई आध्यात्मिक अनुभूति होती है, वैसे ही

वह तुम्हारी बाह्य चेतनामें प्रतिबिम्बित हो जाती है और तुम्हारी अपनी शिक्षा, श्रद्धा और मानसिक धारणा-के अनुसार वहाँ उसकी किसी-न-किसी प्रकारकी व्याख्या हो जाती है । सत्य तो एक ही है, सद्वस्तु तो एक ही है; किन्तु जिन रूपोंद्वारा उसकी अभिव्यक्ति की जा सकती है, वे अनेक हैं ।

'जोन ऑफ आर्कको जो दृश्य-दर्शन होते थे, वे किस कोटिके थे ?'

हम लोग जिसको देवोंका लोक कहते हैं (अथवा कैथलिक सम्प्रदायवालोंके शब्दोंमें संतोंका लोक, यद्यपि ये दोनों लोक बिल्कुल एक नहीं हैं) उस लोककी कुछ सत्ताओंके साथ जोन ऑफ आर्कका स्पष्ट सम्बन्ध था । जिन सत्ताओंका उनको दर्शन होता था, उन्हें वे प्रधान देवदूत कहा करती थीं । ये सत्ताएँ उच्चतर मानस-लोक और अतिमानसलोक (विज्ञानमय लोक) के बीच-में जो लोक है, वहाँकी थीं; यही वह लोक है, जिसको श्रीअरविन्द अधिमानसलोक कहते हैं । यह सृष्टिकर्त्ताओं-का, रूप बनानेवालोंका लोक है ।

जो दो सत्ताएँ जोन ऑफ आर्कको सतत दर्शन दिया करती और उनसे बातें किया करती थीं, वे यदि किसी हिंदूके सामने होतीं तो उनका कुछ और ही रूप होता; कारण, जब कोई किसी सत्ताको देखता है, तब वह उनके रूपको अपने मनकी कल्पनाके अनुसार गढ़ लेता है । जो कुछ तुम देखते हो, उसको तुम वही रूप दे देते हो जिसके दर्शनकी तुमको आशा होती है । यदि एक ही सत्ता एक ही समय किसी ऐसी मण्डलीको दिखायी दे जहाँ क्रिस्तान, बौद्ध, हिंदू और शिंटो धर्मा-वलम्बी सभी हों तो ये विभिन्न धर्मावलम्बी उसको सर्वथा अलग-अलग नामोंसे पुकारेंगे । इनमेंसे हरेक व्यक्ति यह कहेगा कि इस सत्ताका स्वरूप इसके या उसके जैसा था; सभीकी राय एक दूसरेसे अलग होगी, यद्यपि सबके सामने एक ही सत्ता प्रकट हुई होगी । भारतवर्षमें तुम लोगोंको एक शक्तिका दर्शन होता है और इस शक्तिको तुमलोग भगवती माता (आद्या शक्ति) कहते हो । शक्तिके इसी दर्शनको कैथलिक सम्प्रदायवाले 'कुमारी मेरी' कहते हैं, जापानी कोनोन अर्थात् दयाकी देवी कहते हैं और दूसरे धर्मवाले किसी दूसरे ही नामसे पुकारते हैं । वह एक ही शक्ति है, एक ही सत्ता है; किन्तु उसकी प्रतिमाएँ भिन्न-भिन्न धर्मोंमें भिन्न-भिन्न प्रकारकी बन गयी हैं ।

'समर्पण-मार्गमें शिक्षण या तपस्याका क्या स्थान है ? यदि कोई आत्मसमर्पण करता है, तो उसका काम तपस्याके बन्धनमें पड़े बिना नहीं चल सकता क्या ? क्या तपस्या कभी-कभी बाधक नहीं होती ?'

तपस्या दूसरी चीज है; मैं तो सङ्कल्पपूर्वक कर्म करनेके सम्बन्धमें कह रही हूँ । यदि तुम समर्पण करते हो, तो तुम्हें प्रयास छोड़ देना होता है; किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि तुम्हें सङ्कल्पपूर्वक कर्म करना भी त्याग देना होता है । इसके विपरीत तुम अपना सङ्कल्प भगवान्के सङ्कल्पको दे देते हो, तो तुम सिद्धिकी ओर तीव्र गतिसे चलने लगते हो । यह भी एक प्रकारका समर्पण ही है । तुमसे किसी ऐसे निष्क्रिय समर्पणकी अपेक्षा नहीं की जाती जिसमें तुम एक जड पत्थरकी तरह हो जाओ, बल्कि यह अपेक्षा की जाती है कि तुम अपने सङ्कल्पको भगवान्के सङ्कल्पके अधीन कर दो ।

'परन्तु जबतक भगवान्के साथ हमारा योग नहीं हो जाता, तबतक इस कामको कोई कैसे कर सकता है ?'

सङ्कल्प तो तुममें होता ही है, तो इस सङ्कल्पको तुम भगवान्के अर्पण कर सकते हो । रात्रिकालमें सचेतन रहनेके उदाहरणको ही ले लो । यदि तुम निष्क्रिय समर्पणका भाव रक्खो, तो तुम कहोगे कि 'भगवान्की जब यह इच्छा होगी कि मैं सचेतन होऊँ, तभी मैं सचेतन होऊँगा ।' दूसरी ओर, यदि तुम अपने सङ्कल्पको भगवान्के अर्पण कर देते हो तो तुम सङ्कल्प-शक्तिका

प्रयोग करना आरम्भ कर देते हो; तुम कहते हो कि 'मैं अपने रात्रिकालसे सचेतन होऊँगा ।' तुम इस बातका सङ्कल्प करते हो कि ऐसा होना चाहिये; तुम प्रतीक्षा करते हुए चुपचाप बैठ नहीं जाते । अब इस क्रियामें समर्पणका भाव उस समय आ जाता है, जब तुम यह भाव धारण करते और कहते हो कि 'मैं अपने सङ्कल्पको भगवान्‌के सङ्कल्पके अर्पण करता हूँ, मेरी तीव्र इच्छा है कि मैं अपने रात्रिकालसे सचेतन होऊँ; इस कामको करनेका ज्ञान मुझमें नहीं है, भगवान्‌का सङ्कल्प मेरे लिये इस कामको पूरा करे ।' तुम्हारे सङ्कल्पको स्थिरतापूर्वक कार्य करते जाना चाहिये—किसी विशेष कार्यको पसंद करने या किसी विशिष्ट उद्देश्यकी प्राप्तिकी माँग करनेके तौरपर नहीं, बल्कि एक तीव्र अभीप्साके रूपमें जो अन्तिम लक्ष्यकी प्राप्तिपर केन्द्रित हो । यह पहली सीढ़ी है । यदि तुम सतर्क हो, यदि तुम्हारी दृष्टि सावधान है, तो तुम्हें 'क्या करना चाहिये' इस बातकी प्रेरणा किसी-न-किसी रूपमें अवश्य मिल जायगी, और इस प्रेरणाके अनुसार तुम्हें तत्काल कार्य करने लग जाना चाहिये । हाँ, एक बात तुम्हें याद रखनी है और वह यह कि समर्पण करनेका अर्थ है—तुम्हारे कर्मोंका जो कुछ भी फल हो, उसे स्वीकार करना,—फिर चाहे वह तुम्हारी आशाके सर्वथा विपरीत ही क्यों न हो । दूसरी ओर, तुम्हारा समर्पण यदि निष्क्रिय है तो तुम कुछ नहीं करोगे, किसी प्रकारका प्रयत्न नहीं करोगे । बल्कि मौजसे सो जाओगे और किसी चमत्कारकी प्रतीक्षा करोगे ।

अब इस बातको जाननेके सम्बन्धमें कि तुम्हारी इच्छा या सङ्कल्पका भगवान्‌के सङ्कल्पके साथ मेल है या नहीं—तुमको ढूँढ़ना और देखना चाहिये कि इस प्रश्नका तुमको कोई उत्तर मिलता है या नहीं, तुम अपनी इच्छाका समर्थन पाते हो या विरोध । मन, प्राण या शरीरके उत्तर, समर्थन या विरोधसे कुछ नहीं आता-जाता; इस बातको तुम्हें उससे पूछना चाहिये जो तुम्हारी गहराईमें, आन्तर सत्तामें, तुम्हारे हृदयमें वर्तमान है ।

'ध्यान करनेके लिये अधिकाधिक प्रयत्न करनेकी आवश्यकता नहीं है क्या ? जितनी अधिक देरतक कोई ध्यान करता है, उतनी ही अधिक उसकी प्रगति होती है—क्या यह बात सच नहीं है ?'

ध्यान करनेमें कितने घंटे बिताये, यह आध्यात्मिक प्रगतिका कोई प्रमाण नहीं है । आध्यात्मिक प्रगतिका प्रमाण तब समझना चाहिये, जब तुम्हारी यह अवस्था हो जाय कि ध्यान करनेके लिये तुमको किसी प्रकारका प्रयास ही न करना पड़े । तब तो ध्यानको रोकनेके लिये भले ही प्रयास करनेकी आवश्यकता हो । तब ऐसी अवस्था हो जाती है कि ध्यानको रोकना कठिन हो जाता है; भगवान्‌के चिन्तनको अटकाना, साधारण चेतनामें नीचे उतर आना कठिन हो जाता है । भगवान्‌में एकाग्रता जब तुम्हारे जीवनकी आवश्यकता बन जाय, जब तुम इसके बिना रह ही न सको, जब यह अवस्था स्वाभाविक रूपसे रात-दिन बनी रहे—फिर चाहे तुम किसी भी काममें क्यों न लगे होओ — तब यह समझना चाहिये कि निश्चितरूपसे तुम्हारी प्रगति हुई है, तुमने वास्तविक उन्नति की है । चाहे तुम ध्यान लगाकर बैठो या घूमो-फिरो और काम-काज करो; पर जिस बातकी तुमसे अपेक्षा की जाती है, वह है चेतना । यही एकमात्र आवश्यकता है—भगवान्‌का सदा सचेतन ज्ञान ।

'परन्तु क्या ध्यानमें बैठना एक अनिवार्य साधना नहीं है और क्या इसमें भगवान्‌के साथ अधिक प्रगाढ़ और केन्द्रित एकता नहीं होती ?'

यह हो सकता है । परन्तु कोरी साधना हमारा अभीष्ट नहीं है । हम जो कुछ चाहते हैं, वह है प्रत्येक कर्मके करते समय प्रत्येक क्षण, हमारी समस्त क्रियाओं

और प्रत्येक गतिमें, हमारी चेतना भगवान्‌में केन्द्रित रहे। यहाँ कुछ साधक ऐसे हैं, जिनसे ध्यान करनेको कहा गया है; किन्तु यहाँ ऐसे साधक भी हैं, जिनसे किसी प्रकारका कुछ भी ध्यान करनेको नहीं कहा गया। परन्तु भूलकर भी यह नहीं सोचना चाहिये कि ध्यान नहीं करनेवालोंकी प्रगति नहीं हो रही है। वे भी एक साधना करते हैं, किन्तु वह दूसरे प्रकारकी साधना है। भक्तिभावके साथ और आत्मोत्सर्गके भावके साथ कर्म करना, कार्य करना—यह भी एक प्रकारकी आध्यात्मिक साधना ही है। अन्तिम उद्देश्य यह है कि केवल ध्यानमें ही नहीं, बल्कि प्रत्येक अवस्थामें—जीवनकी प्रत्येक क्रियामें भगवान्‌के साथ सतत एकताका अनुभव किया जाय।

कुछ लोग ऐसे हैं जो, जब वे ध्यानमें बैठे होते हैं, तब एक ऐसी अवस्थामें चले जाते हैं जिसको वे बहुत ही सुन्दर और आनन्दमय समझते हैं। वे इस अवस्थामें आत्मसन्तोषपूर्वक बैठे रहते हैं और जगत्‌को भूल जाते हैं; किन्तु यदि इनके ध्यानमें कोई बाधा पहुँचती है तो वे उस अवस्थामेंसे क्षुब्ध और क्रुद्ध होकर निकलते हैं, क्योंकि उनके ध्यानको भङ्ग किया गया है। यह किसी आध्यात्मिक प्रगति या साधनका लक्षण नहीं है। कुछ लोग ऐसे भी हैं, जिनका आचरण इस प्रकारका होता है और जो ऐसा बोध करते-से दीखते हैं मानो उनका ध्यान करना भगवान्‌का कर्जा चुकानेके लिये हो। ये उन लोगोंकी तरह हैं, जो सप्ताहमें एक बार गिरजाघर हो आते हैं और समझते हैं कि उन्होंने भगवान्‌का सारा पावना चुका दिया।

यदि तुमको ध्यानावस्थित होनेके लिये प्रयत्न करना पड़ता है, तो आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करनेके योग्य बन जानेकी अवस्थासे अभी तुम बहुत दूर हो। जब ध्यानावस्थासे बाहर निकलनेके लिये तुम्हें प्रयत्न करनेकी आवश्यकता पड़े, तब तुम्हारा ध्यान इस बातका सङ्केत हो सकता है कि आध्यात्मिक जीवनमें तुम्हारा प्रवेश हो चुका है।

हठयोग और राजयोग-जैसी कुछ ऐसी साधनाएँ भी हैं, जिनका अभ्यास करते हुए भी यह हो सकता है कि साधकका आध्यात्मिक जीवनसे कुछ भी सम्बन्ध न हो। अधिक-से-अधिक हठयोगद्वारा शरीरपर और राजयोगद्वारा मनपर संयम हो जाता है। परन्तु आध्यात्मिक जीवनमें प्रवेश करनेका तो अर्थ है भगवान्‌में गोता लगाना, ठीक उसी तरह जैसे कोई समुद्रमें कूद पड़ता है। और यह भी एक आरम्भ ही है, अन्त नहीं। कारण, गोता लगानेके बाद फिर तुमको यह सीखना पड़ता है कि भगवान्‌रूपी समुद्रमें निवास कैसे किया जाय। ऐसा करनेका क्या उपाय है? तुम्हें तो बस, सीधे कूद पड़ना है और यह नहीं सोचना है कि 'मैं कहाँ गिरूँगा? मेरी क्या दशा होगी?' तुम्हारे मनकी यह झिझक ही है, जो तुमको रोकती है। तुम्हें तो बस, कूद ही जाना चाहिये। यदि तुम समुद्रमें गोता लगाना चाहते हो और साथ-ही-साथ यह सोचते रहते हो कि 'आह, कहीं आस-पासमें यहाँ कोई पत्थर या चट्टान न हो!' तो तुम कभी भी गोता नहीं लगा सकते।

'परन्तु समुद्र तो दिखायी देता है, इसलिये उसमें सीधे गोता लगाया जा सकता है; किन्तु आध्यात्मिक जीवनमें गोता कैसे लगाया जाय?'

अवश्य ही, जैसे तुम समुद्रको देखते हो और उसमें कूदनेसे पहले उसके विषयमें तुम्हें कुछ जानकारी होती है, उसी तरह भागवत सद्वस्तुकी भी कोई झाँकी तुमको अवश्य ही मिल चुकी होगी। यह झाँकी साधारणतया हृत्पुरुषकी जागृतिके रूपमें होती है। किसी-न-किसी प्रकारका साक्षात्कार तुमको अवश्य ही हुआ होगा—यदि गभीर हृत्पुरुषके अथवा सम्पूर्ण सत्ताके साक्षात्कारका संस्पर्श न हुआ हो, तो कम-से-कम

एक बलवान् मनोमय या प्राणमय सम्बन्ध अवश्य ही स्थापित हुआ होगा। अवश्य ही तुमने अपने अंदर या अपने आसपास भगवान्‌की उपस्थितिका स्पष्ट अनुभव किया होगा; भागवत जगत्‌में श्वास लेना क्या होता है, इसका कुछ अनुभव तुमको हुआ होगा। और इसके विपरीत, साधारण जगत्‌के दम घुटा देनेवाले श्वासका भी तुमको अनुभव हुआ ही होगा— जो तुमको इस पीड़ादायक वातावरणसे बाहर निकल आनेका प्रयत्न करनेके लिये बाध्य कर रहा होगा। यदि यह हुआ है तो अब तुम्हें बस, भागवत सद्वस्तुमें निःशेषभावसे आश्रय ले लेना है और उसकी सहायता और संरक्षणमें रहना है—केवल उसीमें रहना है। अपने साधारण जीवनमें अभीतक जो कुछ तुमने आंशिकरूपमें अथवा अपनी सत्ताके कुछ भागोंमें, या किन्हीं विशेष समयों या अवसरोंपर किया होगा, उसीको अब तुम्हें पूर्णरूपसे और सदाके लिये कर डालना है। यही वह गोता है, जो तुम्हें लगाना है; और जबतक तुम यह गोता नहीं लगाते तबतक वर्षों योग क्यों न करते रहो, सच्चे आध्यात्मिक जीवनके सम्बन्धमें तुम कुछ भी नहीं जान सकोगे। गोता सर्वांशतः और पूरा-पूरा लगाओ; ऐसा करते ही तुम इस बाह्य गोलमालसे मुक्त हो जाओगे और आध्यात्मिक जीवनका सच्चा अनुभव प्राप्त करोगे।

जगतका विश्वव्यापी दैनिक महायुद्ध किंवा ईश्वरकी अचिन्त्य क्रियाशीलता

(लेखक—देवर्षि पं० श्रीरमानाथजी शास्त्री)

भावानप्रतिरूपिणस्त्रिभुवने निर्माय या चिज्जडे
तानेकत्र पुनर्निवेश्य कुरुते कर्षप्रकर्षं तयोः।
क्रीडित्वा सुचिरं च तद्विषमतामुत्पाद्य तद्धिंसते
सद्रूपस्य हरेरियं विजयते काचित्क्रियाशीलता ॥ १॥

इस जगत्‌में क्रियाशीलता विद्यमान है। इसे भी किसीने बनाया ही है। हमारी समझमें तो यह क्रियाशीलता अनादि-अनन्त, सर्वदा विद्यमान रहती है। क्योंकि यह परमात्माका एक धर्म ही है। इस क्रियाशीलताने जगत्‌में अनेक पदार्थ तैयार कर दिये। और वे भी एक-से-एक अलग, कोई किसीसे मिलता नहीं। उन पृथक्-पृथक् पदार्थोंमें भी वह भगवान्‌की क्रियाशीलता वर्तमान रही। इसने फिर उन पदार्थोंमें प्रकर्षापकर्षभाव किया। एक-एक पदार्थमें अनेक-अनेक प्रकर्ष और अनेक अपकर्ष। कोई पत्थर हीरा: तो कोई कोरा पत्थर। कोई पानी नमक तो कोई आमका रस। यह बात केवल जड पदार्थोंमें ही हो, यह बात नहीं है। प्रकर्षापकर्ष चेतन प्राणियोंमें भी हो चुका है। एक कुत्ता किसी लार्डकी गोदमें बैठनेका सौभाग्य प्राप्त करता है तो दूसरा गलियोंमें भूखा पूँछ हिलाता फिरता है। एक राजा है, तो दूसरा भिखमंगा। पर हैं दोनों मानव। यह क्रियाशीलताका ही पराक्रम है। इस तरह यह क्रियाशीलता हजारों युगपर्यन्त प्रकर्षापकर्षकी गेंदसे खेलती रहती है। और जब इसकी क्रीडासे विराम पानेकी इच्छा होती है, तब यह क्रियाशीलता ही इस जगत्‌में एक दूसरेमें विरोध पैदा कराकर उन दोनोंका संहार कर डालती है। यह क्रियाशीलता परमेश्वरकी है, अतएव इसका सर्वदा विजय रहता है। यह श्लोकका संक्षिप्त अर्थ है। प्रत्येक पदार्थ प्रतिपल क्रियाशील है। हर वक्त हर एक पदार्थमें क्रिया होती रहती है। इसे हम युद्ध भी कहते हैं और क्रीडा भी कहते हैं। प्रतिपल क्रियाशील रहनेसे प्रत्येक पदार्थमें परिवर्तन होता रहता है। कितने ही परिवर्तन मीठे होते हैं और कितने ही कड़ुए। जवानी मीठा परिवर्तन है, पर बुढ़ापा कड़ुआ परिवर्तन है। उन्नति अच्छी मालूम देती है और अवनतिमें बड़ा दुःख होता है। पर इससे क्या, परिवर्तन तो होता ही है। जड पदार्थ कभी उन्नत होता है और कभी अवनत।

कितने ही यह समझे बैठे हैं कि उन्नति और अवनतिके ठेकेदार हम हैं। हम चाहें तो उन्नति कर सकते हैं और हम ही अपनी अवनति कर सकते हैं।

एक आदमी चरखा सिरपर रक्खे दो-तीन कोस चला। जितनी दूर और जिस जगह मनुष्य पहुँचा, उतनी दूर और उसी जगह चरखा भी पहुँचा। तो चरखा बोल उठा— 'मैंने नदी पार की, मैंने गाँव पार किया! ठीक है, चरखा

गाँवसे पार हो गया, पर मनुष्यकी क्रियाशीलताके सहारे। परमेश्वरकी व्यापक क्रियाशीलता चलती रहती है। उसीके अन्तर्गत उसके अंशोंकी भी क्रियाशीलता चलती है, यह ठीक है; पर मुख्य फल परमेश्वरकी क्रियाशीलतासे ही होता है। परमेश्वर अंशी है, पिता है, प्रजापति है और जड-चेतन दोनों उसके अंश हैं, पुत्र हैं, प्रजा हैं। प्रजापतिकी ही क्रियाशीलता प्रजाओंमें फैली हुई है। यदि ऐसा न होता, और यदि उन्नति और अवनतिके ठेकेदार इन क्रियाशीलों (योद्धाओं) की ही क्रियाशीलतापर भविष्य निर्भर होता, तो एक ही देशके योद्धा सारे भूमण्डलके स्वामी बन जाते। एककी ही सूचनापर समग्र देशोंको चलना पड़ता। पर ऐसा है नहीं, प्रत्युत इसके विपरीत होता है। सब यह चाहते हैं कि युद्ध न होने पावे, शान्ति बनी रहे; पर शान्ति रहती नहीं।

इससे यह स्पष्ट है कि किसी अचिन्त्य शक्ति—अमानव शक्तिकी क्रियाशीलतापर ही जगत्का परिवर्तन निर्भर है। उसकी ही क्रियाशीलतासे उन्नति होती है और उसीकी क्रियाशीलतापर अवनति निर्भर है। जड जगत्में यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है। सूर्यकी किरणें अपने स्वभावसे ही समुद्र-जलको सोखकर और अपनी किरणोंको ही मेघका रूप देकर जो चारों तरफ वर्षा करती हैं तथा उस वर्षासे सूखी हुई जमीन जो हरी-भरी हो जाती है—क्या यह परिवर्तन, या यह उन्नति किसी मानव वैज्ञानिककी कृति है? दिनकी रात्रि और रात्रिका दिन प्रतिदिन होता रहता है। क्या यह परिवर्तन, या उन्नति अवनति किसी मनुष्यका बुद्धि-वैभव है? नहीं, नहीं। उत्कर्ष या अपकर्ष कुछ भी हो—जड जगत्में जो ये अनेक परिवर्तन हो रहे हैं, वे सब उन-उन पदार्थोंमें गुप्त रहकर बैठी हुई किसी अचिन्त्य क्रियाशीलताके द्वारा ही हो रहे हैं—इसमें थोड़ा भी सन्देह नहीं है।

हम इस क्रियाशीलताको युद्ध कहते हैं। लीलापुरुषोत्तमके हिमायती इसे क्रीडा या लीला कहते हों, पर हम अभी इसे परस्परका युद्ध कहते हैं। जड और चेतन दोनोंका परस्पर दैनिक युद्ध चल रहा है। मार-काट, लूट-खसोट, संयोग-वियोग, भूख-प्यास, न्याय-अन्याय, रोना-हँसना, उठना-बैठना, चलना-रुकना, जीना-मरना, सुख-दुःख, प्रतिष्ठा-अप्रतिष्ठा, जय-पराजय—जो कुछ भी भावान्तर युद्धोंमें होते हैं, वे ही भावान्तर इस दैनन्दिन प्राकृतिक विश्वव्यापी क्रियाशीलतामें वर्तमान हैं। सारे संसारके प्रत्येक पदार्थमें यह अचिन्त्य क्रियाशीलता प्रतिक्षण चल रही है। इसीलिये हमें इसे संसारका विश्वव्यापी दैनिक महायुद्ध कहना पड़ा है। जो युद्ध एकदेशीय, कादाचित्क और क्षुद्र होता है तथा कभी-कभी हो जाता है, उसपर सबकी दृष्टि जम जाती है; पर दूसरी तरफ जो महायुद्ध सारे ब्रह्माण्डमें प्रतिपल चल रहा है, उसपर किसी एककी भी अभीतक दृष्टि नहीं गयी। इसका कारण? अभ्यास। मनुष्य इस अगम्य युद्धका पुतला बन रहा है। क्रियाशीलताको छोड़कर मनुष्यका जीवन ही नहीं चलता। या यों कहिये कि विश्वकी 'अस्ति' ही इस क्रियाशीलता (युद्ध) ने बना रक्खी है। उन्नति-अवनति, उत्कर्ष-अपकर्ष—सब कुछ युद्धसे होता है और हो रहा है। और इसी तरह अनन्तकालपर्यन्त चलता भी रहेगा। वेदोंमें इस युद्धका परोक्ष भाषामें वर्णन मिलता है। मैं चाहता हूँ कि ज्यों-का-त्यों उसे यहाँ प्रकाशित कर दूँ—

देवासुरा ह वै संयेतिर उभये प्राजापत्यास्तद्ध देवा उद्गीथमाजह्रुरनेनैनानभिभविष्याम इति।

(छा० १।२।१)

द्वया ह प्राजापत्या देवाश्चासुराश्च। ततः कनीयसा एव देवा ज्यायसा असुराः। त एषु लोकेष्वस्पर्धन्त। ते ह देवा ऊचुर्हन्तासुरान् यज्ञ उद्गीथेनात्ययामेति।

(बृह० १।३।१)

अर्थात् देव और असुर दोनों प्रजापतिके ही दो विभाग (पुत्र) थे। वे दोनों इस ब्रह्माण्डमें आँखोंपर चढ़ती हुई वस्तुओंपर आपसमें स्पर्धापूर्वक लड़ने लगे—अपनी-अपनी क्रियाशीलता दिखलाने लगे। किन्तु उन दोनोंमें असुरलोग सम्पन्न थे और देवगण लौकिक विषयोंमें कमजोर थे। तब देवोंने विचार किया कि हम निर्बल हैं तो क्या, हम यज्ञके द्वारा उद्गीथविद्यासे इन असुरोंको जीतेंगे।

वेदकी भाषा अति संक्षिप्त और परोक्ष (छिपी) होती है। अतएव इसके आशयको समझानेके लिये हमें वेद और वैदिक शास्त्रोंके द्वारा तदनुसार ही कुछ विशेष कहना-समझना पड़ेगा। देव, असुर, प्रजापति, लोक, अस्पर्धन्त, उद्गीथ, यज्ञ, अत्ययाम इत्यादि शब्द बड़े गहरे हैं। इनका सङ्कुचित अर्थ नहीं है, बड़ा विशद अर्थ है। सबसे पहले हमें प्रजापति और प्राजापत्य शब्दोंका अर्थ स्पष्ट करना है। प्राजापत्य शब्दमेंसे ही प्रजापति शब्द निकल आता है।

'प्रजापतेरिमे प्राजापत्याः ।' प्रजापतिके जो ये, वे प्राजापत्य । साथमें 'द्वया ह' शब्द भी हैं । प्राजापत्यका अर्थ प्रजापतिका भाग भी हो सकता है, पुत्र भी हो सकता है । प्रकरण और विषयके अनुसार यहाँ दोनों अर्थ सङ्गत हैं । प्रजापतिसे बना हुआ पदार्थ यदि चेतन है, तो पुत्र कहना पड़ेगा । और यदि वह जड पदार्थ है तो उसका 'भाग' अर्थ करना पड़ेगा । वास्तवमें देखा जाय तो—

'अङ्गादङ्गात्सम्भवसि आत्मा वै पुत्रनामासि ।'

—इत्यादि वेदवाक्योंसे स्पष्ट है कि पुत्र भी एक तरहका अंश या भाग ही होता है । कपड़ा रूईका ही 'अंश या भाग' है । सुवर्णका गहना तथा मिट्टीका बरतन भी अपने अंशीका भाग या अंश ही है । इसी प्रकार पुत्र भी पिताका भाग या अंश है, यह ठीक ही है ।

इसको हम यों भी कह सकते हैं कि पिता ही रूपान्तरसे पुत्र हो जाता है । रूई ही कपड़ा, मिट्टी ही बरतन और सुवर्ण ही गहना हो जाता है । इसी तरह प्रजापति ही दो प्राजापत्य (पुत्र या विभाग) हो गया और उन पुत्र या विभागोंके गुणस्वरूपानुसार देव और असुर नाम रक्खे गये—

'द्वया ह प्राजापत्या देवाश्चासुराश्च ।'

यह हमारा आशय अश्रौत नहीं है । 'स आत्मानꣳस्वयमकुरुत;' 'एकोऽहं बहु स्यां प्रजायेय;' 'सत्यं चानृतं च सत्यमभवत् ।' 'उस परमात्माने अपने स्वरूपको ही सब कुछ बना लिया ;' 'उस प्रजापतिने विचार किया कि एक मैं ही अनेक हो जाऊँ और प्रकर्ष-अपकर्षयुक्त हो जाऊँ ;' एक मूल सत्य पदार्थ ही सत्य और अमृत—दो हो गया ।' इस तरह वह सब कुछ हो गया । इन सब श्रुतियोंका समुदाय पूर्वोक्त आशयके अनुकूल ही है ।

यहाँ प्रजापति परमात्मा ही है । 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' सृष्टिके पूर्व यह सारा जगत सत् (भगवान्) ही था—इत्यादि श्रुतियोंसे स्पष्ट होता है कि सृष्टिके पूर्व जो कुछ था वह प्रजापति, परमात्मा, किंवा भगवान् ही था । और वही अपनी अचिन्त्य क्रियाशीलताके द्वारा एकमें अनेक और प्रकृष्ट, अपकृष्ट—सब कुछ हो गया । कितने ही ऐसे पदार्थ होते हैं जो अपनी ही अचिन्त्य क्रियाशीलताके द्वारा उन्नत, अवनत—दो भागोंमें बदल जाते हैं । मानना पड़ेगा कि दुग्धमें अत्यन्त मन्द गतिसे होनेवाली कोई क्रियाशीलता विद्यमान है । अतएव वह अपनी उस स्वाभाविक और अचिन्त्य क्रियाशीलता-शक्तिसे कुछ समयमें ही अपने-आप दधिरूपमें बदल जाता है । दधि दो रूपोंका समन्वय है । घृत और छाछ—इन दो रूपोंका समन्वयरूप दधि है । दधि जब क्रियाशीलताके द्वारा घृत और छाछके रूपमें बदलता है, तब वही उन्नत और अवनतरूप हो जाता है—यह कहना पड़ता है । घृत उन्नत है और छाछ अवनत है । दूधसे लेकर छाछपर्यन्त जो कुछ हुआ है, वह सब एक पदार्थकी अपनी अचिन्त्य क्रियाशीलतासे ही हुआ है—यह स्पष्ट है । इस क्रियाशीलताको हम विश्वव्यापी महायुद्ध कहते हैं ।

क्योंकि इस क्रियाशीलताके द्वारा ही प्रत्येक पदार्थ अपनी उन्नति और अवनति कर रहा है । प्रत्येक पदार्थमें गुप्त एक अपनी क्रियाशीलता वर्तमान है । क्रियाशीलता प्रत्येक पदार्थका स्वभाव हो चुका है । जहाँसे और जिसकी क्रियाशीलता और फिर उत्कर्षापकर्षका पहले पहल प्रारम्भ हुआ है, और जिसके ये स्वाभाविक धर्म या स्वभाव हैं, उसको हम प्रजापति किंवा परमात्मा कहते हैं । बृहदारण्यक और छान्दोग्य उपनिषदोंकी पूर्वोक्त श्रुतियोंमें उसको प्रजापति शब्दसे कहा है—'द्वया ह प्राजापत्याः ।' 'प्रजापतेरिमे (भागाः) प्राजापत्याः ।' जो कुछ द्वैतके रूपमें, अनेकके रूपमें या उत्कर्षापकर्षके रूपमें हम देख रहे हैं, वह सब ही प्राजापत्य है । प्रजापतिमें ही सबका विकास है । प्रजापति ही अपनी क्रियाशीलतासे दो रूप हो गया है—प्रकृष्ट और अपकृष्ट । और यही अर्थ 'एकोऽहं बहु स्यां प्रजायेय' इस श्रुतिसे व्यक्त है ।

'प्रजापति' शब्दमें 'प्र' का अर्थ प्रकर्ष है और 'जा' का अर्थ होना है । पदार्थका उन्नत होना प्रजाका अर्थ है । किन्तु प्रकर्ष या उन्नति शब्द आपेक्षिक हैं । यदि दुनियामें अवनति या अपकर्ष होता ही नहीं, तो उन्नति और उत्कर्षका कहीं पता न चलता । अपकर्ष है तो उत्कर्ष है । और उत्कर्ष है तो अपकर्ष भी है । ये दोनों शब्द परस्परापेक्षी हैं । कटु है तो मिष्ट है, और मिष्ट है तो कटु भी है । एककी सत्तासे दूसरा है । 'प्रजा' शब्दमें 'प्र'का अर्थ यदि प्रकर्ष है, तो वही अपकर्षको भी कह रहा है । यह प्रकर्षापकर्षयुक्त भवन (होना) ही 'प्रजा' शब्दका अर्थ है । और इसीसे यह स्पष्ट है कि प्रकर्षयुक्त भवन और अपकर्षयुक्त भवन—

इन दो प्रजाओंका जो पति है, उसे 'प्रजापति' शब्दसे कहा है। प्रकर्षयुक्त भवन और अपकर्षयुक्त भवन—ये दोनों धर्म इस प्रजापतिके स्वाभाविक हैं, स्वतःसिद्ध हैं। अतएव इन्हें 'प्राजापत्य' कहा है।

ये प्राजापत्य उसीके विभाग हैं, धर्म हैं या पुत्र हैं—इसलिये उसे प्रजापति कहा है।

जड और चेतन दोनों पदार्थोंमें प्रकर्ष और अपकर्ष विद्यमान हैं। इसीसे यह निश्चय होता है कि इनके मूल प्रजापतिमें भी अनादि कालसे ही ये प्रकर्षापकर्ष रहे होंगे। क्योंकि निर्मूल पदार्थ होता ही नहीं। जो धर्म कारणमें नहीं, वे कार्यमें भी नहीं होते। मूलतः कार्यका स्वरूप कारणमें ही होता है। वास्तवमें देखा जाय तो प्रकर्षापकर्ष दोनों ही मूल वस्तुतत्त्वसे पृथक् पदार्थ नहीं हैं। प्रकर्ष या अपकर्ष—ये दोनों ही मूल वस्तुतत्त्वके ही दो रूपान्तर अथवा नामान्तर हैं। अतएव वस्तुतत्त्वका शुद्ध अद्वैत है। इसको यों समझिये कि किसी एक चित्रकारने एक बहुत ही सुन्दर गुलाबका चित्र बनाया। उसे देखकर लोग कहते हैं कि वाह! वाह! क्या ही अच्छा पुष्प है। और दूसरी तरफ किसी नौसिखुए अनाड़ीने भी गुलाबका ही चित्र बनाया, पर वह खराब बना; अतएव उसे देखकर परीक्षक कहते हैं कि राम! राम! बड़ा खराब पुष्प बनाया। पुष्प एक ही—गुलाब है। वही खराब, वही अच्छा। गुलाबमें ही प्रकर्ष और अपकर्ष विद्यमान हैं। वास्तवमें देखा जाय तो एक विशेष प्रकारके रंगके सिवा पुष्प कोई पृथक् पदार्थ नहीं है, और उसका प्रकर्षापकर्ष भी उस रंगसे पृथक् नहीं है। रंगका एक अवस्थानविशेष या आकार-प्रकार ही सब कुछ है। खराबपन, अच्छापन और गुलाबका पुष्प—सब कुछ रंग-ही-रंग है। जिन छोटी-बड़ी, आड़ी-टेढ़ी, लंबी-चौड़ी रंगकी पंक्तियोंको यथास्थान रखकर एकने पुष्पमें सुन्दरता कर दी है, दूसरेने उन्हीं रंगकी लाइनोंको अयथास्थान रखकर पुष्पको खराब कर दिया है। जिन आड़ी-टेढ़ी, छोटी-बड़ी रंगकी लाइनोंसे उत्तम और खराब पुष्प बने हैं, उन लाइनोंको यदि एकदम पृथक् कर दिया जाय तो पुष्पका और उसके प्रकर्षापकर्षका कहीं नाम-निशान नहीं रह जायगा। इसलिये कहना पड़ता है कि पदार्थका उत्कर्ष या अपकर्ष कोई स्वतन्त्र पृथक् पदार्थ नहीं है।

पृथक्-पृथक् दीखनेवाले पदार्थ, और उनके धर्म भी वस्तुतत्त्वकी क्रियाशीलता और उसके अवस्थानविशेषसे अतिरिक्त कुछ नहीं हैं। मूल वस्तुतत्त्वने ही अपने अवस्थानविशेष और विभिन्न क्रियाशीलतासे इस जगत्के अपकर्ष और उत्कर्ष, या उन्नति और अवनतिको रचा है—इस सिद्धान्तको 'एकोऽहं बहु स्यां प्रजायेय' यह श्रुति डंकेकी चोट कह रही है। 'प्रजायेय' यह उत्तमपुरुषका एकवचन बतलाता है कि मैं ही अपनी क्रियाशीलता और अवस्थितिविशेषसे अनेक उत्कृष्ट पदार्थ हो जाता हूँ और मैं ही अपनी उन शक्तियोंसे अनेक अपकृष्ट पदार्थ भी हो जाता हूँ।

अस्तु, पदार्थोंमें स्वतन्त्र क्रियाशीलता हो या परतन्त्र, इतनी बात स्पष्ट है कि जगत्में उन्नत और अवनत दो प्रकारके पदार्थ अपनी सत्ता जमाये बैठे हैं। और यह उन्नति या अवनति पदार्थका स्वभाव बन चुकी है। विश्वमें उन्नत और अवनत—दो विभाग वर्तमान हैं। जिसके ये दो विभाग हैं, उस सर्वमूल पदार्थको हम प्रजापति कह रहे हैं। प्रजापतिके इन पृथक् हुए दो विभागोंको श्रुतिमें सुर और असुर नाम दिये गये हैं। सुर और असुर दोनों ही जगत्में अनन्त हैं। अमरकोषने असुरोंको पूर्वदेव भी कहा है। इसका अर्थ यह हो सकता है कि पहले जमानेमें असुर ही देव कहे जाते थे। अपकर्षको ही थोड़ी देरके लिये असुर मान लीजिये। आजकलकी दुनियामें अपकर्षसे ही उत्कर्ष होता चला आ रहा है, यह मान्यता फैल रही है। आजकलके अभिमानी कहते हैं कि दुनिया दिनोंदिन अवनतिसे उन्नति करती जा रही है। पहले बिजलीकी रोशनी नहीं थी। आज वह विद्यमान है। इस हिसाबसे पहले-पहल अपकर्ष ही उत्कर्ष समझा जाना चाहिये। तो फिर अमरकोषने जो असुरोंको पूर्वदेव कहा, सो ठीक ही है। पर आजकल उन्नतिको सुर और अवनतिको असुर माना जा रहा है।

ऐसा अनुमान होता है कि पहले-पहल अपकृष्ट पदार्थ ही प्रकाशमें आये होंगे। और इसीसे पूर्वोक्त युद्धश्रुतिने कहा है—

'ततः कनीयसा एव देवा ज्यायसा असुराः।'

—देवगण कमजोर थे और असुरलोग उन्नत हो रहे थे। इसे समझना चाहिये। पहले सुवर्ण सम्पूर्णसे अपूर्ण (टुकड़ा) हुआ। उन्नतिसे अवनति हुई। फिर उस अवनत टुकड़े सुवर्णपर नकाशी प्रभृति कारीगरीका काम बनाया गया। तब वही उन्नत हो गया, गहना हो गया। इस तरह यदि अवनतिसे उन्नति होती चली आ रही है, तो ठीक ही है।

पहले मिट्टी-ही-मिट्टी या मिट्टीका गोला-ही-गोला रहता है, अवनत पदार्थ रहता है । तदनन्तर वह अपकृष्ट ही अपनी क्रियाशीलताके द्वारा उत्कृष्ट अंशको बाहर निकालते-निकालते थोड़ी देरमें उत्कृष्ट घट हो जाता है । इस तरह वस्तुकी ही अचिन्त्य क्रियाशीलताके द्वारा उत्कृष्टका अपकृष्ट और अपकृष्टका उत्कृष्ट होता रहता है । इस दैनन्दिन नित्य परिवर्तनसे मालूम होता है कि सृष्टिके पहले चाहे वह प्रजापति कितना ही उत्कृष्ट क्यों न रहा हो, सृष्टिके प्रारम्भमें तो इस विश्वको पैदा करनेके लिये उसे कुछ-न-कुछ अपकृष्ट होना ही पड़ा होगा । इस सिद्धान्तका पोषण 'हन्त तिरोऽसानि' यह श्रुति भी कर रही है । वह प्रजापति कह रहा है कि सृष्टिको पैदा करनेके लिये अब मैं अपने स्वरूपके कुछ अंशका तिरोधान करूँ । इससे स्पष्ट होता है कि सृष्टिका प्रारम्भ उस प्रजापतिके अपकृष्ट, अनुन्नत अंशसे हुआ । इसको यों समझना चाहिये ।

आजसे सौ, दो सौ वर्ष पूर्व, जब विविध रंगोंकी सृष्टि नहीं हो पायी थी, सब लोग नवीन प्रचलित हुए लाल रंगको ही—जिसे आज शौकीन लोग भद्दा समझते हैं—उत्तम कहकर पसंद करते थे । इससे ज्ञात होता है कि जिस समय माना हुआ उत्कर्ष हो नहीं पाता, उस समय लोग उस अपकर्षको ही उत्कर्ष मानकर सन्तोष कर लेते हैं । अतएव यदि अमरकोषने असुरोंको ही पूर्वदेव कहा तो इसमें कोई आपत्ति नहीं है । उत्कृष्ट और अपकृष्ट दोनों ही अंश एक ही अंशीमूल पदार्थमें रहते हैं ।

अचिन्त्यशक्ति और निरन्तर क्रियाशील अव्यक्त पदार्थ उत्कृष्ट अंश उसीमें, रहते हुए भी प्रकाशित होनेके पहले देखनेमें नहीं आता । पर है वह उसीमें अन्यथा आता कहाँसे । असत्की सत्ता हो नहीं सकती । जो वस्तु नहीं है, वह त्रिकालमें भी पैदा नहीं की जा सकती । खरहेका सींग मिल नहीं सकता । अतएव कहना पड़ता है कि उत्कर्ष और अपकर्ष दोनों ही अनादि कालसे वर्तमान हैं । जो कोई मूल पदार्थ सृष्टिके आदिमें रहा होगा, वह भी उत्कर्ष-अपकर्षका सम्मिलित रूप रहा होगा । इसीलिये विरुद्धधर्मयुक्त एक ही पदार्थसे दो विरुद्ध धर्म पैदा हो सकते हैं । प्रजापति अवश्य सुरासुरमय था, अतएव उससे सुर और असुर नामके दो विभिन्न स्वभाववाले पदार्थ निकले और दोनों प्राजापत्य कहे गये हैं ।

जो हमें आश्चर्यकारक मालूम होता हो, जो हमारी समझमें न आता हो और जिससे अनेक भेदवाले अनेक पदार्थ निकल आते हों, मनुष्यदृष्टि उसे भी उत्कर्ष समझकर उस पदार्थको उत्कृष्ट कहती है । इस दृष्टिसे मानना होगा कि पहले-पहल जो कुछ भी पदार्थ होगा, वह सुरासुरमय रहते हुए भी अज्ञेय था, सर्वोत्कृष्ट था और पुरुषोत्तम था । ऐसे पदार्थको ही संस्कृत भाषामें 'पर' कहते हैं ।

यह हमने आविर्भावकी दृष्टिसे कहा, अब तिरोभावकी दृष्टिसे सुनिये । किसी सत् पदार्थका न दीखना—दृष्टिसे ओझल हो जाना ही तिरोभाव कहा जाता है । उसे ध्वंस, अभाव या नाश कुछ भी कहा जाय, है वह तिरोभाव ही; हमारी आँखोंसे छिप जाना, समझमें आना बंद हो जाना, मर जाना प्रभृति सब एक ही अर्थको द्योतित करते हैं । पर फिर भी इन सब क्रियाओंके साथ 'है' वर्तमान रहता है । घड़ेका तिरोभाव हो गया, दो कपाल हो गये । कपालोंका नाश हो गया, टुकड़े हो गये । उन्हे भी पीस डाला, धूल हो गयी । पर कुछ-न-कुछ रह गया अवश्य । बस, इस प्रकार एकका तिरोभाव होकर दूसरी वस्तुका हो जाना सर्वत्र हो रहा है । और यह सब कुछ अपनी-अपनी क्रियाशीलतासे—युद्धसे हो रहा है । लकड़ी सड़ते-सड़ते बुरादा हो गया, यहाँ उसीकी क्रियाशीलता—युद्ध काम कर रहा था । रेतीसे रेतनेसे जो लकड़ीका बुरादा हो जाता है, वह भी क्रियाशीलतासे ही होता है । पर यह परकृत क्रियाशीलतासे होता है । युद्ध चाहे स्वकृत हो या परकृत, नाश भी युद्धसे ही हो रहा है । एक दिन इस क्रियाशीतलता—युद्धसे ही सबका तिरोभाव हो जायगा । किन्तु सबका तिरोभाव होकर भी 'है' सर्वत्र रह जाता है । इस 'है' का तिरोभाव नहीं होता । शायद सृष्टिके अन्तमें भी न होता होगा । सृष्टिके अन्तमें यदि कुछ बचता होगा तो कहना पड़ेगा कि यह 'है' ही बचता होगा । दिनभर खर्च करते-करते रात्रिमें सबके बाद जितने और जो रुपये तिजोरीमें रक्खे गये हैं, सबेरे उतने और वे ही मिलेंगे । जो रात्रिके प्रारम्भमें बच रहता है, वही दिनके आदिमें मिलता है । इसी प्रकार अखिल सृष्टिका तिरोभाव हो जानेपर अन्तमें 'है' बच रहता है, इससे यह अनुमान होता है कि सृष्टिके प्रारम्भमें भी 'है' ही विद्यमान था । 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' 'सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः' इत्यादि श्रुतियोंके जाननेवाले विद्वान् इस नित्यवर्तमान 'है' को ही 'अस्ति', 'सत्', 'सत्ता'

कहते हैं। सबका तिरोभाव होते-होते जिसका कभी तिरोभाव न हो सके, उसे 'अक्षर' कहते हैं। अस्ति अक्षर है। और अस्ति ही अव्यक्त है, सर्वश्रेष्ठ है; इसलिये यह 'पर' कहा गया है। जो वस्तु सर्वदा विद्यमान रहती है, वह आदिमें भी रहनी ही चाहिये। अतएव कहना पड़ता है कि सृष्टिके प्रारम्भमें सृष्टिको पैदा करनेवाला हमारा श्रुत्युक्त प्रजापति अक्षर, पर और अस्ति था। यह प्रजापति नित्य वर्तमान रहनेसे 'सत्य' है।

मकान मध्यमें है, आदि-अन्तमें नहीं है। आदिमें चूना, पत्थर, लोहा, काष्ठ आदि पदार्थ रहते हैं; तथापि उन्हें कोई मकान नहीं कहता। मकानका ध्वंस हो जानेपर भी अन्तमें चूना, पत्थर आदि पदार्थ ही मिलते हैं; पर उन्हें भी कोई मकान नहीं कहता। यदि देखा जाय तो मकानकी स्थिति-अवस्थामें भी उतने ही नाप-तौलके पत्थर, चूना, काष्ठ, लोहा आदि पदार्थ ही रहते हैं; तथापि वे अपने ही अवस्थान-विशेषसे और अन्यकी क्रियाशीलतासे अपकृष्टसे उत्कृष्ट बनकर घर हो गये हैं और कहलाने भी लगे हैं। अब विचार करें कि क्या उनकी उत्कृष्टता आदि-अन्तमें नहीं थी। नहीं थी तो आयी कहाँसे? कारीगरोंने तो उसे अपने जेबमेंसे निकालकर रख नहीं दिया। अतः मानना पड़ेगा कि घरका उत्कर्ष लकड़ी, चूना, पत्थर प्रभृति पदार्थोंके अवस्थान (आकार)-विशेषोंमें ही छिपा पड़ा था। जब उन पदार्थोंके भिन्न-भिन्न अवस्थानविशेष क्रिया-शीलताके द्वारा सम्मिलित हो गये, तब उन्हीं पदार्थोंका वह उत्कर्ष मानवदृष्टिमें प्रकाशित हो गया।

मकान है, तब 'है' है। मकान बननेके पहले भी 'है' था। और मकान टूट जानेके पश्चात् भी 'है' रहेगा। यदि नहीं है तो अवस्थानविशेष नहीं है। अवस्थानविशेष ही मकान है। पर यदि इसका भी अन्वेषण किया जाय तो अवस्थानविशेष भी किसी-न-किसी रूपमें मिलता ही है। बड़ा अवस्थानविशेष छोटे-छोटे रूपोंमें बँटा हुआ है, अतएव विद्यमान है। मकान है, इसका अर्थ यह है कि छोटे-छोटे रूपोंमे बँटा हुआ वह बड़ा अवस्थानविशेष ही सम्मिलित होकर दृष्टिमें आने लगा है। अवस्थानविशेषसे ही अवस्थान-विशेषका आविर्भाव होता है, और अवस्थानविशेषसे अवस्थानविशेषका तिरोभाव भी हो जाता है। कड़ेसे कंठाका आविर्भाव हो जाता है तो कभी कंठेसे कड़ेका तिरोभाव भी हो जाता है। वह बनकर यह मिट गया, और यह बनकर वह मिट गया। यह आविर्भाव-तिरोभावका चक्र अनादि कालसे चल रहा है और अनन्त कालपर्यन्त चलता भी रहेगा। अवस्थानविशेषोंके आविर्भाव-तिरोभावोंमें आकार-प्रकार ही बदलता रहता है। आकार-प्रकार (अवस्थितिविशेष) का बदलना ही वस्तुका उत्पत्ति-नाश है और आकारका परिवर्तन ही वस्तुका मध्य है। एक अवस्थानविशेषका जब दूसरा अवस्थानविशेष हो जाता है, तब 'है' और 'नहीं' हो जाते हैं; पर पदार्थ स्थिर ही रहता है। यह बात चूने, माटी, पत्थर और मकानका दृष्टान्त देकर समझायी जा चुकी है। कहनेका तात्पर्य यह है कि किसी स्थिर पदार्थका अपनी क्रियाशीलतासे परिवर्तन होता रहना ही सब कुछ है। उत्कर्ष और अपकर्ष भी यही है। इसी सिद्धान्तको वेदोंमें अनेक प्रकारसे समझाया गया है। 'न्यग्रोधफलमाहर,' 'सैन्धव-खिल्यमुदके प्रास्तं,' 'अथ ये चास्य,' 'अथ यदास्य वाङ्मनसि' इत्यादि श्रुतियाँ विश्वके परिवर्तनात्मक रूपान्तरोंको ही समझा रही हैं। उन्नति और अवनति भी क्रियाशीलता-युद्धके द्वारा वस्तुका विविध परिवर्तन ही हैं। 'द्वया ह वै प्राजापत्याः' आदि श्रुतियोंमें भी क्रियाशीलतासे जो अवस्थानविशेष होते रहते हैं, उन्हींको समझाया है। जड, चेतन दोनों ही वस्तु हैं। मनुष्य भी पदार्थ है और पत्थर भी पदार्थ ही है। इसी दृष्टिसे प्राजापत्य और प्रजापति दोनों ही पदार्थ एक ही हैं। प्रजापतिरूप कारण ही अपनी क्रियाशीलताके द्वारा प्राजापत्य देव, असुर दो विभागोंमें बँट रहा है। यह दूसरी बात है कि एक वस्तु वस्तुतत्त्व है और दूसरी वस्तु ही है। इस तरह तत्त्व और वस्तुके दृष्टिसे पदार्थ अनन्त हो जाते हैं। इस एकको अनन्तता होनेमें युक्ति क्रियाशीलता और आकार-प्रकारका परिवर्तन नहीं है। अब पाठकोंके प्रकर्षा-पकर्षका—उन्नति-अवनतिका स्वरूप ध्यानमें आ गया होगा। प्रजाका यही अर्थ होता है और प्राजापत्यका भी यही—प्रकर्षापकर्षयुक्त होना। अर्थात् कभी उन्नत होना और कभी अवनत होना, यही 'प्रजा' शब्दका रहस्य है। प्रजाओंके पालन करनेवालेको प्रजापति* कहते हैं। प्रजापति अपनी प्रजा—सुर-असुरविभागोंको उनके स्वरूपमें बनाये रखता है, इसलिये प्रजापति कहा जाता है।

उन्नति-अवनति, सुर-असुर आदि प्रजा उस प्रजापतिकी सेना है। क्रियाशीलता युद्ध है। और युद्धका सञ्चालन करनेवाला सेनापति प्रजापति है। सेनाको सेनाका स्वरूप

* पा रक्षणे=स्वरूपमें रखना।

देना, तथा उसके स्वरूपको बनाये रखना सेनापतिका काम है। युद्धकार्यमें सेनापतिकी सहायता करना सेनाका कार्य है। इसी तरह विश्वव्यापी दैनिक महायुद्धमें प्रजापतिको सहायता देते रहना सुरासुरविभागका कार्य है। देखनेमें सुर उन्नत हैं, असुर अवनत हैं। उपर्युक्त शब्दोंके प्रवृत्ति-निमित्त क्रमशः उन्नति और अवनति हैं। ये दो विभाग सर्वत्र मिलते हैं।

हमारे सामने दो पदार्थ हैं—चेतनयुक्त जड और जडयुक्त चेतन। चेतनता और जडताकी प्रधानताको लेकर ये दो भेद हैं। चेतनांश और जडांश दोनों प्राजापत्य हैं, अतएव दोनों सर्वत्र विद्यमान रहते हैं। कहीं थोड़े, कहीं बहुत। कहीं स्थूल, कहीं सूक्ष्म। जडयुक्त चेतनविभागमें मनुष्य, पशु आदि हैं। और चेतनयुक्त जडविभागमें वृक्ष, पत्थर आदि हैं। फिर इनमें भी सुर, असुर आदि दो भेद हैं। ज्ञान, अज्ञान, सुख-दुःखकी कमती-बढ़तीसे सुर-असुर भेद होता है। जडमें भी सुरासुरविभाग है और चेतनमें भी।

अनन्दा एव ते लोका अन्धेन तमसावृताः।
तांस्ते मृत्वाभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥

जिन पदार्थोंका हम प्रत्यक्ष कर सकते हैं, उन्हें लोक कहते हैं। पत्थर आदि बहुतसे पदार्थ ऐसे हैं, जिनमें आनन्दका नाम नहीं है और जो सर्वदा अज्ञानान्धकारसे ढके रहते हैं। जिन्होंने अपने अपनपे (स्वरूप) को हनन किया है, ऐसे आत्महन्ता लोगोंका आत्मा ऐसे लोकों (पदार्थों) में पैदा होता है। पर ऐसे पदार्थोंमें भी परिवर्तन होता है—चाहे बहुत ही धीरे-धीरे क्यों न हो; क्योंकि ऐसे पदार्थोंमें भी अव्यक्त (बेमालूम) क्रियाशीलता रहती है। उनमें भी सुरासुर परमाणु होते हैं। उन दोनोंमें परस्पर युद्ध होता रहता है। चेतनका परस्पर युद्ध–क्रियाशीलता तो प्रत्यक्ष है। पर पत्थर आदिमें रहनेवाली क्रियाशीलता जल्दी समझमें नहीं आती। कितनी ही बातें अतिसूक्ष्म होनेसे समझमें नहीं आतीं। पत्थरमें भी युद्ध चल रहा है, पर अतिसूक्ष्म होनेसे वह समझमें नहीं आता। समझमें न आवे तो क्या, पर वहाँ भी प्रतिक्षण क्रियाशीलता विद्यमान है। कितने ही पत्थर विशेष प्रकारके जलवायु और तापके कारण पोले और जर्जर हो जाते हैं, और इस प्रकार जर्जर होते-होते एक दिन मिट्टीमें मिट्टी होकर मिल जाते हैं। इसी मिट्टीमें जब दूसरी तरहके जलवायु और तापकी सहायता पहुँचती है, तब उसमें अपने-आप अङ्कुर पैदा हो जाता है—यह देखा गया है और फिर उसमें बड़ा वृक्ष तैयार हो जाता है। वृक्षमें रहनेवाली चेतना, और उसकी क्रियाशीलताको आजकलके वैज्ञानिक भी स्वीकार करने लगे हैं। इस तरह अपनी ही चेतना और क्रियाशीलतासे पत्थरका वृक्ष हो जाता है। इसलिये मानना पड़ेगा कि पत्थरमें भी दो पदार्थोंका परस्पर युद्ध होता रहता है। पत्थरसे वृक्ष हो जाना—यह प्रकर्ष है, उन्नति है। और वृक्षका पत्थर हो जाना, यह युद्धका अपकर्षरूप फल है। वृक्षोंका चूर्ण होकर चिरकालमें उस मिट्टीका पत्थर हो जाता है, यह सबको विदित है। यह क्रियाशीलता—युद्धका अचिन्त्य प्रभाव है। इस तरह जड-चेतनमें सर्वत्र सुरासुर-संग्राम चल रहा है।

(शेष फिर)

विनय

बिनती करत मरत हौं लाज।
नख सिख लौं मेरी यह देही है पापकी जहाज॥ १॥
और पतित आवत न आँख तर देखत अपनो साज।
तीनों पन भरवार निबाहे, तौउ न आयो बाज॥ २॥
पाछे भयो न आगे ह्वैहै, सब पतितन सिरताज।
नरकहुँ भजै नाम सुन मेरो, पीठ दई जमराज॥ ३॥
अब लौं सुने जे तारे, ते ते सबही वृथा अकाज।
साँचौ बिरद सूरके तारें लोकनि लोक अवाज॥ ४॥

—सूरदासजी

कामके पत्र

(१)

संसारमें रहनेका तरीका

आपने लिखा 'नाटकके पात्रकी-ज्यों अभिनय करनेकी बात पूरी समझमें नहीं आयी; मनमें एक भाव हो और ऊपरसे दूसरा बतलाया जाय, तो उसमें झूठ और धोखेका आरोप होगा।' बात ठीक है, झूठ और धोखा नीयतमें दोष होनेसे होता है। नाटकके पात्रके द्वारा जो क्रिया होती है, वह इतनी जाहिर होती है कि किसीको उसमें झूठ और धोखेका अनुमान नहीं होता। सभी जानते हैं कि ये केवल अभिनय करनेवाले पात्र हैं, स्टेजपर जो कुछ दिखलाया जाता है वह खेल है। खेलमें जो आपसका व्यवहार होता है, वह स्टेजपर तो सच्चा ही होता है—और है भी वह स्टेजके लिये ही। इसी प्रकार यह संसार भगवान्‌का नाट्य-मञ्च (स्टेज) है। इसपर हमलोग सभी खेलनेवाले पात्र (ऐक्टर) हैं। सभीके जिम्मे अलग-अलग पार्ट हैं। अपना-अपना पार्ट सभीको खेलना पड़ता भी है। सभी बाध्य हैं, भगवान्‌के कानूनके। परन्तु जो खेलके सामानको, खेलसे होनेवाली आमदनीको अपनी मान लेता है, उसपर अधिकार करना चाहता है, अथवा अपना पार्ट ठीक नहीं खेलता यानी अकर्तव्य कर्म करता है, वह दण्डका पात्र होता है। जो ठीक खेल खेलता है, तथा खेलके सामान, खेलके पात्र और खेलकी आमदनीपर प्रभुका अधिकार समझता है, वह खेल चाहे किसी रसका हो—करुण हो या भयानक, सुन्दर हो या बीभत्स—वह सदा आनन्दमें रहता है। उसका काम है अपने पार्टको ठीक करना। धोखा या झूठ तब हो, जब वह मनसे तो पार्ट करना चाहे नहीं और केवल ऊपरसे करे। अर्थात् भगवान्‌के विधानके अनुसार जो जिसका पुत्र है, उसे (इस स्टेजपर-संसारमें) उसको ठीक पिता ही जानकर सच्चे मनसे पुत्रका-सा बर्ताव ही करना चाहिये। स्त्रीको पतिके साथ पत्नीका, पतिको पत्नीके साथ पतिका, माताको पुत्रके साथ माताका, पुत्रको माताके साथ पुत्रका इसी प्रकार सच्चे मनसे बर्ताव करना चाहिये। जब बर्ताव और मन एक हैं, तब धोखा और झूठ क्यों है। बर्ताव और मन दोनों ही व्यवहारमें हैं—अर्थात् स्टेजके खेलके लिये हैं। और व्यवहारमें दोनों ही समान हैं। रही स्टेजके बाहरकी बात—वास्तविक स्थितिकी बात, सो वास्तविक स्थिति तो खेल है ही। खेलमें वहींतक सत्यता है, जहाँतक खेलसे सम्बन्ध है। खेलके परे तो हम न पात्र हैं, न हमारा कोई नाता है। हमारा नाता तो केवल एक प्रभुसे है, जिसका यह सारा खेल है।

या यों समझना चाहिये कि यह घर मालिकका—भगवान्‌का है। हम इसमें सेवक हैं। भगवान्‌ने नाना प्रकारके सम्बन्ध रचकर हमसे सेवा लेनेके लिये इतने सम्बन्धियोंको भेजा है। हमें उनकी यथायोग्य सेवा करनी चाहिये—भगवान्‌के भेजे हुए समझकर। उनकी सेवासे भगवान् प्रसन्न होते हैं, तब उनकी सेवामें अवहेलना क्यों की जाय? परन्तु उनकी सेवा करनी है भगवान्‌की सेवाके लिये ही। हमारा सम्बन्ध तो भगवान्‌से ही है—भगवान्‌के नातेसे ही इनसे नाता है। इनकी सेवा इसीलिये हमको आनन्द देती है कि इससे भगवान् प्रसन्न होते हैं। यदि भगवान् कहें कि तुम्हें दूसरा काम दिया जायगा, इनकी सेवा दूसरोंको सौंपी जायगी, तो बहुत ठीक है। हमें तो भगवान्‌का काम करना है न? वे कुछ भी करावें। वे यहाँ रक्खें तो ठीक है, दूसरी जगह (और किसी योनिमें) भेज दें तो ठीक है। जिनसे सम्बन्ध है, उनके बीचमें रक्खें तो ठीक है और उनसे अलग रक्खें, तो भी ठीक है। घर उनका, घरकी सामग्री उनकी, घरके आदमी उनके और हम भी उनके। वे चाहे जैसे चाहें जिसका

उपयोग करें। न भोगकी इच्छा हो न त्यागकी; न कोई अपना हो न पराया; न जीनेमें सुख हो न मरनेमें दु:ख। हर बातके लिये वैसे ही तैयार रहना चाहिये, जैसे आज्ञाकारी सेवक अपने मालिकका हुक्म बजानेके लिये तैयार रहता है।

बस, मैनेजर बन जाय—मालिक नहीं। मालिकीका दावा छोड़ दे, ममत्व हटा ले; मालिक चाहे जहाँ रक्खें। इस दुकानके रुपये उस दुकानमें भेजनेकी आज्ञा दें, तो खुशी है; उस दुकानके रुपये यहाँ मँगवा लें, तो खुशी है। यहाँके किसीको भी बदली करके और किसी जगह भेज दें या और किसीको बदली करके यहाँ बुला लें—दोनोंमें ही खुशी है। और हमारी यहाँसे बदली कर दें तो भी खुशी है। हम भी उन्हींके, सब दुकानें उन्हींकी, सब सामान-धन उनका, और आदमी उनके। इस प्रकार संसारमें रहनेसे एक तो अभिमानका नाश होता है, जो बहुतसे पापोंकी जड़ है। तथा घर और घरके लोगोंमें ममता नहीं रहती, जो दु:खोंको उपजाती है। याद रखना चाहिये, दु:ख ममतासे ही होता है। न मालूम कितने लोगोंके रोज पुत्र मरते होंगे, कितनोंके दीवाले निकलते होंगे; हम नहीं रोते। परन्तु जिसमें 'मेरापन' है, उसको कुछ भी हो जाय तो बड़ा दु:ख होता है। मालिकका मान लेनेपर ऐसी ममता नहीं रहती। क्योंकि सारी दुनिया ही मालिककी है। कोई कहीं रहे, रहेगा मालिककी दुनियामें ही। पाप आसक्तिसे होते हैं, मालिकका मान लेनेपर आसक्ति भी नहीं रहती। और बिना किसी तकलीफके सावधानीके साथ संसारमें कर्तव्य-कर्म किया जाता है, इससे सेवारूप भजन भी होता है।

इस विषयको ठीक तरहसे समझना चाहिये। यह ठीक समझमें आ जानेपर फिर किसी भी हालतमें दु:ख या अशान्ति नहीं हो सकती। जीवन-मृत्यु, मान-अपमान, लाभ-हानि, सुख-दु:ख—सभीमें मालिककी लीला, मालिकका हाथ, मालिककी प्रसन्नता, मालिककी रुचि, मालिकका विधान और उसीमें अपना परममङ्गल देखकर अपार आनन्द और विशाल शान्ति रहती है। कर्तव्य-कर्म तो मालिककी सेवाके लिये किये जानेवाले अभिनयके रूपमें होता ही है। निरन्तर एक ही उद्देश्य रहता है, जीवन एक ही लक्ष्यपर लग जाता है—स्थिर हो जाता है; वह है भगवान्‌की प्रसन्नता, भगवान्‌का प्रेम, भगवान्‌की उपलब्धि। यही मनुष्य-जीवनका सर्वश्रेष्ठ लक्ष्य है। भगवान्‌की उपलब्धिको छोड़कर जीवनका और कोई भी प्रयोजन नहीं होना चाहिये। हमारा प्रत्येक कार्य, प्रत्येक चेष्टा, प्रत्येक भावना, प्रत्येक विचारधारा निरन्तर वैसे ही भगवान्‌की ओर अबाध गतिसे चलनी चाहिये, जिस तरह गङ्गाकी धारा सारे विघ्नोंको हटाती हुई अनवरत समुद्रकी ओर बहती है। समस्त पदार्थ, समस्त भावना, समस्त सम्बन्ध भलीभाँति अर्पण हो जाने चाहिये—भगवच्चरणोंमें। अपना कुछ भी न रहे, सब कुछ उनका हो जाय। जो कुछ उनका हो गया, वही सुरक्षित है, वही सफल है।

मन स्थिर करनेके लिये वैराग्यकी भावना तथा भजनके अभ्यासकी जरूरत है। जबतक संसारमें राग—आसक्ति है, तबतक मनकी चञ्चलताका मिटना बहुत कठिन है। संसारके बदले भगवान्‌में राग उत्पन्न करनेकी चेष्टा करनी चाहिये। पहले-पहल तो ध्यानके लिये बैठनेपर वे बातें याद आवेंगी, जो और समय नहीं आतीं—फालतू बातें। परन्तु अभ्यास जारी रखनेपर वे सब बातें चली जायँगी। इसके लिये निरन्तर अभ्यासकी आवश्यकता है।

सबसे सरल उपाय है भगवान्‌के नामका जप करना। मन लगे या न लगे, यदि श्रीभगवान्‌के नामका जप होता रहेगा तो अन्तमें उसीसे कल्याण हो जायगा—इस बातपर विश्वास करना चाहिये। साथ ही वैराग्यकी भावना बढ़ानी चाहिये। भगवान्‌के सम्बन्धको

छोड़कर जगत्में जो कुछ भी वस्तु है, अन्तमें दुःख देनेवाली ही है। जगत्की, घरकी, शरीरकी सेवा करनी चाहिये—भगवान्के सम्बन्धको लेकर ही। यदि भोगोंके सम्बन्धसे जगत्का सेवन होगा तो उससे दुःख ही उपजेगा, यह निश्चय समझना चाहिये। भगवान्से रहित जगत्—भोग-जगत् तो 'दुःखालय' ही है।

(२)

आसक्तिनाशके उपाय

श्रीभगवान्में आपका प्रेम तथा श्रद्धा बहुत शीघ्र बढ़ जायँ, आपके सारे दोष तुरन्त मिट जायँ तथा निरन्तर श्रीभगवान्का भजन-चिन्तन होने लगे—आपकी यह इच्छा तो बहुत ही सुन्दर, सराहनीय और अनुकरणीय है। परन्तु मेरा पत्र पढ़ते ही ऐसा हो जाय, मैं ऐसी बात लिखूँ—आपका यह भाव सुन्दर होनेपर भी मुझे अपनेमें ऐसी बात नहीं दिखायी देती कि मेरे लिखने-मात्रसे ऐसा हो जाय।

कामिनी, काञ्चन और भोगोंकी आसक्ति इनमें वैराग्य होनेसे या भगवान्के ऐश्वर्य, माधुर्य और सुहृदपन-में विश्वास होनेसे मिट सकती है। भोगोंमें सुख नहीं है, सुखका मोह है। भगवान्को छोड़कर भोग तो दुःखमय ही हैं। जैसे अफीम और संखिया जहर हैं, यह हमारा दृढ़ विश्वास है; इसीलिये लालच देनेपर भी, बहुत मीठी और सुन्दर मिठाईमें मिलाकर देनेपर भी, कोई जान-बूझकर इन्हें नहीं खाते। जानते हैं कि इन्हें खानेसे हम मर जायँगे। इसी प्रकार भोगोंका विषमय परिणाम निश्चय हो जानेपर उनमें कोई रमेगा नहीं। भगवान्ने तो गीतामें साफ ही कहा है कि भोगोंसे मिलनेवाला सुख आरम्भमें अमृत-सा मालूम होता है, परन्तु परिणाममें जहर-सा है। यह बात हम पढ़ते-सुनते हैं, परन्तु विश्वास नहीं करते। और यह भी विश्वास नहीं करते कि यदि हमें धन, भोग आदिमें ही सुख मिलता है तो ये भी सबसे बढ़कर श्रीभगवान्में ही हैं। जगत्में जितने भोग-सुख-ऐश्वर्य हैं, सभी अनित्य हैं, विनाशी हैं; और जो हैं, सो भी अत्यन्त ही अल्प हैं। जगत्में सारे भोग-सुख-ऐश्वर्य एक स्थानमें एकत्र कर लिये जायँ, तो वे सब मिलकर भी भगवान्के भोग-ऐश्वर्यके करोड़वें हिस्सेकी छायाकी भी तुलना नहीं कर सकते। 'भगवान्' शब्दका अर्थ ही है—जिसमें सम्पूर्ण ऐश्वर्य, सम्पूर्ण धर्म, सम्पूर्ण यश, सम्पूर्ण श्री, सम्पूर्ण ज्ञान और सम्पूर्ण वैराग्य—ये छः सदा एकरस, अनन्त एवं असीम रूपसे निवास करते हैं।

संसारमें बस, छः ही प्रधान वस्तुएँ हैं, जिनकी संसारी और साधक लोग कामना करते हैं—ऐश्वर्य, धर्म, यश (कीर्ति, मान, बड़ाई, प्रशंसा आदि), श्री (धन, दौलत, तेज, स्वास्थ्य, सौन्दर्य, स्त्री-पुत्रादिसे सम्पन्नता आदि), ज्ञान (लौकिक और पारमार्थिक ज्ञान) और वैराग्य; इनमेंसे कोई किसीको चाहता है, कोई किसीको। परन्तु खेद तो यह है कि चाहनेवाला चाहता है उससे, जिसके पास इनमेसे कोई भी चीज पूरी नहीं है। चाहता है वैसी चीज जो नाश होनेवाली है; चाहता है ऐसेसे जो दे या न दे, अथवा जिसमें देनेकी शक्ति ही न हो; और चाहता है ऐसी अवस्थामें कि जिसमें यदि कुछ मिल जाय तो रखनेको ठौर नहीं, सबको मिलती भी नहीं, मिलती तो अधूरी और दोषयुक्त ही मिलती है, एक जगह तो किसीको अधूरी भी प्रायः नहीं मिलती। ये छहों वस्तुएँ पूरी-की-पूरी—इतनी कि जिसकी सीमा ही न हो—एक साथ, एक समय, चाहे जितनी और चाहे जिसको एक श्रीभगवान्में मिल सकती हैं। और भगवान्में ये सब वस्तुएँ उस परमोच्च स्तरकी, सबसे बढ़िया—ऐसी क्वालिटीकी हैं कि जिसकी तुलना ही नहीं हो सकती। भगवान् हैं—हमारे सुहृद्! वे हमसे अकारण ही प्रेम करते हैं। वे देनेको तैयार हैं—अपने भण्डारकी चाभी। देर इतनी ही है कि हम विषयोंके तुच्छ मोहको छोड़कर उन्हींपर निर्भर हो जायँ

और अपनी कोई भी रुचि या इच्छा न रखकर उन्हींकी मर्जीपर अपनेको छोड़ दें। बस, भगवच्चरणोंमें अपनेको सर्वभावसे डाल दें। वे मारें या बचावें, उनकी इच्छा। और करें क्या—'तदर्पिताखिलाचारता तद्विस्मरणे परमव्याकुलता।' सब कुछ उन्हें सौंपकर निश्चिन्त होकर उनका स्मरण करें। जगत्में कुछ भी हो जाय, हमारा कुछ भी हो जाय, हमें कोई चिन्ता न हो, कुछ भी उद्वेग न हो, जरा भी हम न घबरावें। उद्वेग—व्याकुलता हो तब, जब एक आधे पलके लिये भी हम उन्हें भूल जायँ। उनका भूलना हमें सहन न हो। उस समय उससे भी अधिक तड़प हमारे मनमें हो, जो जलसे निकालनेपर मछलीको होती है। सुखके लिये हम चाह ही न करें। सुखकी चाह, सुखके लिये चिन्ता और व्याकुलता तो दुःखको बुलानेका साधन है। बस, चाह हो ही नहीं; हो तो एक यही कि उनका चिन्तन एक आधे क्षणके लिये भी न छूटे। प्रार्थना हो तो यही कि 'भगवन्! तुम्हारे स्मरण बिना यह जीवन न रहे। एक क्षण भी तुम्हारा विस्मरण इस जीवनको न सुहावे। तुम कहीं रक्खो इसे, यह अपने कर्मवश कहीं जाय—बस, तुम्हारी स्मृति बनी रहे और तुम अपना कल्याणमय हाथ स्मृतिरूपमें सदा इसपर रक्खे रहो।

चहौं न सुगति सुमति संपति कछु, रिधि सिधि बिपुल बड़ाई।
हेतु रहित अनुराग राम पद बढ़ै अनुदिन अधिकाई॥

बस, तुम्हारे चरणोंमें प्रेम बढ़ता रहे, जिससे स्मरण आनन्दमय हो जाय। मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा, भोग-वासना और कामिनी-काञ्चनका मोह तथा पाप-ताप सब बह जायँगे—भगवत्कृपाकी एक वर्षामें। अमोघ शक्ति है भगवत्कृपामें। उस भगवत्कृपापर विश्वास कीजिये। फिर शान्ति, समता, सर्वत्र भगवद्बुद्धि, सब कुछ भगवान्से ही होता है—यह विश्वास आदि सब अपने-आप ही आ जायँगे आपमें—जैसे राजाके पीछे उसकी सारी सेना आ जाती है। ये सब तो भगवत्कृपाके लवाजमे हैं। जहाँ भगवत्कृपाकी दृष्टि हुई कि सब काम बना। कृपा तो है ही, विश्वास कीजिये।

अन्तमें—और कुछ न हो, तो तीन बातोंपर ध्यान रखिये—

(१) पापोंका त्याग, (२) दैवी सम्पत्तिकी कमाई और (३) श्रीभगवन्नामका नियमित जप।

(३)

भजनकी महिमा तथा कुछ उपयोगी साधन

आपके तीन पत्र आ गये, मैं समयसे उत्तर नहीं दे पाया। मेरे स्वभावदोषसे आप परिचित ही हैं, फिर आप हैं भी अपने ही। ऐसी अवस्थामें आपसे क्षमा भी कैसे माँगूँ?

मेरा फाल्गुनके अन्ततक यहाँ ठहरनेका विचार है। आप पौषमें····आकर यहाँ मिलनेको आना चाहते थे, सो बताइये कब आते हैं। पौषका महीना तो लग ही गया है। काम-काज मजेमें चलता होगा। रुपये कमाते ही होंगे। असली धन कमानेका भी कुछ ख्याल रखते हैं या नहीं? मायाकी मोहिनीमें फँसकर उसके प्रवाहमें बह न जाइयेगा। यह सत्य है और निःसन्देह सत्य है कि किसी भी प्रकारसे भगवान्का थोड़ा-सा भजन किया हुआ भी मनुष्यको छोड़ता नहीं, वह स्वयं कभी नष्ट न होकर उसे बार-बार भगवान्की ओर प्रेरित करता रहता है और मौका पाते ही इस लोक या परलोकमें उसे परमात्माके पावन पथमें लगा ही देता है। इसी प्रकार महापुरुषका सङ्गमात्र भी महान् भयसे तारनेवाला होता है। आपने महापुरुषका सङ्ग किया या नहीं--इस बातका तो पता नहीं, परन्तु भगवान्का भजन तो किया ही है। यही कारण है कि वह अब भी समय-समयपर आपके चित्तमें भजनकी प्रेरणा करता है। और अपना अनुमान तो यही है कि देर-सबेर वह आपको सीधी राहपर लाकर ही छोड़ेगा। आप जरा सावधान रहेंगे और प्रवाहमें सहज ही नहीं बहेंगे, तो उसे अपने कार्यमें कुछ सुविधा होगी।

आपका यह लिखना कि 'मेरा ऐसा विश्वास है कि आपके आदेशके अनुसार करनेपर जरूर लाभ होता है' मेरे प्रति आपका अकृत्रिम प्रेम प्रकट करता है। इस प्रेमके कारण ही आपको ऐसा भासता है। मैं तो आपके इस प्रेमका ऋणी ही हूँ। वस्तुतः मैं यदि कभी कोई ऋषिप्रणीत शास्त्रोंके अथवा महात्माओंके द्वारा अनुभूत साधनसम्बन्धी बात कह देता हूँ और उसके अनुसार करनेपर किसीको लाभ होता है, तो इसमें श्रेय उन ऋषियों और संतोंको है अथवा श्रद्धानुसार साधन करनेवाले साधकको। ग्रामोफोनके रिकार्डमें जो सुन्दर गान सुना जाता है, उसमें रिकार्डका क्या है। जो कुछ है सो गान गानेवाले, भरनेवाले और सुननेवालेके ही पुरुषार्थका फल है। मुझे तो जड रिकार्ड-सा समझना चाहिये। आपने पूछा कि मुझे किस-किस समय क्या-क्या करना चाहिये, पहलेकी भाँति रातमें या दिनमें कुछ करनेका आदेश मिलना चाहिये। सो आदेश देनेका तो मुझमें न अधिकार है, न मेरी योग्यता है। आपके प्रेमके भरोसे नम्र सलाह देनेमें सङ्कोच अवश्य ही नहीं होता और इसी अभिप्रायसे कुछ लिखता हूँ। समय, सुविधा और चित्तकी अनुकूलता हो तो इसके अनुसार श्रद्धापूर्वक करना चाहिये (श्रद्धा फलवती तो होती ही है।)

१. दूसरेका अहित करनेकी या अहित देखनेकी भावना मनमें कभी न आने पावे। याद रखना चाहिये, दूसरेका अहित चाहनेवालेका परिणाममें कभी हित नहीं होता।
२. परस्त्रीकी ओर बुरी दृष्टि कभी नहीं होनी चाहिये।
३. व्यापारमें यथासाध्य सत्य, न्याय और परहित-का खयाल रखना चाहिये।
४. लोभकी वृत्तियोंको यथासम्भव दबाना चाहिये।
५. नित्य-निरन्तर भगवान्के नामका स्मरण और जप करते हुए ही संसारके काम करनेकी चेष्टा करनी चाहिये।
६. सबमें—खास करके जिनसे व्यवहार हो, उनमें परमात्माकी भावना करके मन-ही-मन उन्हें नमस्कार करना चाहिये, तथा इस तत्त्वको याद रखते हुए ही व्यवहार करना चाहिये।
७. किसी मनुष्यमें भी—खास करके सत्पुरुषमें दोषबुद्धि नहीं करनी चाहिये।
८. यथासाध्य वाणीको असत्य, परनिन्दा, परचर्चासे बचाना चाहिये और जिससे पराया अहित हो, ऐसी बात तो कहनी ही नहीं चाहिये।
९. अपनी धर्मपत्नीको प्रेमके व्यवहारसे परमात्माकी ओर लगाना चाहिये। रामायणादि पढ़नेका अभ्यास, नाम-जपका अभ्यास डलवाना चाहिये। विषयोंकी ओर प्रलोभन न बढ़ने पावे। विषया-सक्ति आपमें भी नहीं बढ़नी चाहिये।
१०. बहिनोंके साथ अधिक-से-अधिक अच्छे-से-अच्छा व्यवहार करना चाहिये।

अब कुछ खास साधन लिखता हूँ—

१. दोनों वक्त सन्ध्यावन्दन और एक गायत्रीकी माला-का जप यथासाध्य ठीक कालपर करना चाहिये।
२. प्रातःकाल पाँच माला 'ॐ नमः शिवाय' मन्त्रकी शुद्ध बुद्धि प्राप्त करनेके उद्देश्यसे जपनी चाहिये।
३. रातको सोनेसे पूर्व ग्यारह माला या कम-से-कम सात माला षोडश नामके महामन्त्र (हरे राम···) की जपनी चाहिये।
४. कुत्ते और गौओंको रोज कुछ रोटी, घास तथा दीन-दुखियोंको कुछ यथायोग्य सहायता अवश्य देनी चाहिये।
५. कमाईमेंसे कुछ हिस्सा भगवान्की सेवाके लिये निकालना चाहिये, और उसे जमा न करके हाथोंहाथ खर्च कर देना चाहिये।

भक्त-गाथा

शिवभक्त महाकाल

प्राचीन कालमें वाराणसी नगरीमें माण्टि नामके एक महायशस्वी ब्राह्मण रहते थे। वे शिवजीके बड़े भक्त थे और सदा शिव-मन्त्रका जप किया करते थे। प्रारब्धवश उनके कोई सन्तान नहीं थी। इसलिये उन्होंने पुत्रकी कामनासे लगातार सौ वर्षतक शिव-मन्त्र-जपका अनुष्ठान किया। सौ वर्ष पूरे हो जानेपर एक दिन भगवान् शङ्कर उनकी तपश्चर्यासे प्रसन्न हो उनके सामने प्रकट हुए और बोले—'वत्स माण्टि! मैं तुम्हारी आराधनासे प्रसन्न हूँ। तुम्हारा मनोरथ शीघ्र ही पूर्ण होगा और तुम्हें मेरे ही समान प्रभावशाली एवं शक्तिसम्पन्न मेधावी पुत्ररत्न प्राप्त होगा, जो तुम्हारे समग्र वंशका उद्धार करेगा। यों कहकर शिवजी अन्तर्धान हो गये और माण्टि भगवान् शङ्करके योगिदुर्लभ, नयनाभिराम रूपके दर्शन कर और उनसे मनचाहा वरदान पाकर अत्यन्त हर्षित हुए।

माण्टिकी पत्नीका नाम चटिका था। वह महान् पतिव्रता एवं तपस्याकी मानो मूर्त्ति ही थी। समय पाकर तपोमूर्त्ति ब्राह्मण-पत्नी गर्भवती हुई। क्रमशः गर्भ बढ़ने लगा और उसके साथ-साथ उस सतीका तेज और भी विकसित हो उठा; किन्तु पूरे चार वर्ष व्यतीत हो गये, सन्तान गर्भसे बाहर नहीं आयी। इस घटनाको देखकर सभी आश्चर्यचकित हो गये। माण्टिने सोचा कि अवश्य ही यह कोई अलौकिक बालक है, जो गर्भसे बाहर नहीं आना चाहता। अतः वे अपनी पत्नीके पास जाकर गर्भस्थ शिशुको सम्बोधन करके कहने लगे—'वत्स! सामान्य पुत्र भी अपने माता-पिताके आनन्दको बढ़ानेवाले होते हैं; फिर तुम तो अत्यन्त पवित्र चरित्रवाली माताके उदरमें आये हो और भगवान् शङ्करके अनुग्रहसे हमारी दीर्घकालकी तपस्याके फलरूपमें प्राप्त हुए हो। ऐसी दशामें क्या तुम्हारे लिये यह उचित है कि तुम माताको इस प्रकार कष्ट दे रहे हो और हमारी भी चिन्ताके कारण बन रहे हो? हे पुत्र! यह मनुष्य-जन्म ही धर्म, अर्थ, काम और मोक्षका साधक है। शास्त्रोंमें इसे देवताओंके लिये भी दुर्लभ बताया गया है। फिर तुम इस लोकमें आते हुए इतना भयभीत क्यों हो रहे हो? अन्यान्य योनियोंके प्राणी तो मनुष्य-योनिके लिये तरसते रहते हैं और निरन्तर विधातासे यह प्रार्थना करते हैं कि जिस योनिमें नाना प्रकारके धर्मोंका अर्जन किया जाता है तथा देवताओं एवं पितरोंकी अर्चना करके महान् फलकी प्राप्ति की जाती है, उस मनुष्ययोनिमें हमारा जन्म कब होगा! उस देववाञ्छित अतुलनीय मनुष्य-जन्मको पाकर भी उसके प्रति अनादरका भाव दिखलाते हुए तुम किस कारण माताके उदरसे बाहर नहीं आ रहे हो? वहाँ तो तुम आसानीसे हिल-डुल भी नहीं सकते होगे और घोर यन्त्रणाका अनुभव कर रहे होगे; फिर क्यों नहीं तुम शीघ्र ही बाहर आकर हम सब लोगोंको आनन्दित करते?'

गर्भ बोला—'हे तात! जो कुछ आपने कहा, वह सब मुझे ज्ञात है। मैं यह भी जानता हूँ कि इस भूमण्डलमें मनुष्य-जन्म अत्यन्त दुर्लभ है; परन्तु मैं कालमार्गसे अत्यन्त भयभीत हूँ। वेदोंमें काल और अर्चि नामके दो मार्गोंका वर्णन आता है। कालमार्गसे जीव कर्मोंके चक्करमें पड़ जाता है और अर्चिमार्गसे मोक्षकी प्राप्ति होती है। कालमार्गसे चलनेवाले जीव चाहे पुण्यके प्रभावसे स्वर्गमें ही क्यों न चले जायँ, वहाँ भी उन्हें सुखकी प्राप्ति नहीं होती। इसलिये बुद्धिमान् पुरुष निरन्तर इस चेष्टामें लगे रहते हैं कि जिससे उन्हें इस घोररूप गभीर कालमार्गमें न भटकना पड़े। अतः यदि आप कोई ऐसा उपाय कर सकें, जिससे मेरा मन नाना प्रकारके सांसारिक दोषोंसे लिप्त न हो, तो मैं इस मनुष्य-लोकमें जन्म ले सकता हूँ।'

गर्भस्थ शिशुकी इस शर्तको सुनकर माण्टि और भी भयभीत हो गये। उन्होंने सोचा कि भगवान् शङ्करको छोड़कर कौन इस शर्तको पूरा कर सकता है! जिन्होंने कृपा करके मेरे मनोरथको पूर्ण किया है, वे ही इस शर्तको भी पूरा करेंगे। यों सोचकर वे मन-ही-मन भगवान् शङ्करकी शरणमें गये और उनसे प्रार्थना करने लगे—'हे महेश्वर! आपको छोड़कर मेरे पुत्रकी प्रार्थनाको कौन पूरा कर सकता है! आपने ही कृपा करके इस सन्तानको दिया है, अब आप ही ऐसी कृपा कीजिये कि जिससे यह भूमिष्ठ हो जाय।' माण्टिकी प्रार्थना भगवान् आशुतोषने सुन ली। उन्होंने अपने धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्यादिको मूर्त्तरूपमें बुलाकर कहा कि 'देखो, माण्टिपुत्रको विपरीत ज्ञान हो गया है, अतः तुम लोग जाकर उसे समझाओ और ठीक रास्तेपर लाओ।' भगवान् महेश्वरकी आज्ञा पा, उनकी सारी विभूतियाँ साकार विग्रह धारणकर गर्भस्थ शिशुके निकट गयीं और उसे सम्बोधित कर कहने लगीं—'हे महामति माण्टिपुत्र! तुम किसी

प्रकारका भय न करो। भगवान् शङ्करकी कृपासे हम धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य कभी तुम्हारे मनका परित्याग नहीं करेंगे। अतः तुम निर्भय होकर गर्भसे बाहर निकल आओ।' यों कहकर वे चारों दिव्य मूर्त्तियाँ चुप हो गयीं। उनके चुप हो जानेपर अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्य भी विकराल मूर्त्तियाँ धारणकर भगवान् शङ्करकी आज्ञासे वहाँ उपस्थित हुए तथा माण्टिपुत्रसे कहने लगे कि 'तुम यदि हमारे भयसे बाहर न आते होओ, तो इस भयका त्याग कर दो। भगवान् शङ्करकी आज्ञासे हम तुम्हारे भीतर कदापि प्रवेश नहीं कर सकेंगे।'

इस प्रकार धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य तथा उनके विरोधी अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्यकी आश्वासन-वाणीको सुनते ही बालक माण्टिपुत्र अविलम्ब गर्भसे बाहर निकल आया और काँपते-काँपते रुदन करने लगा। उस समय भगवान् शङ्करकी विभूतियोंने माण्टिसे कहा कि देखो माण्टि! तुम्हारा पुत्र अब भी कालमार्गके भयसे काँप और रो रहा है। अतः तुम्हारा यह पुत्र कालभीति नामसे विख्यात होगा।' यों कहकर विभूतिगण अपने स्वामी शङ्करजीके पास चले गये।

बालक कालभीति शुक्लपक्षके चन्द्रमाकी भाँति क्रमशः बढ़ने लगा। पिताने क्रमशः उसके उपनयनादि संस्कार किये और उसे पाशुपतव्रतमें परिनिष्ठित कर शिव पञ्चाक्षर-मन्त्रकी दीक्षा दी। कालभीति अपने पिताके समान ही पञ्चाक्षर मन्त्रके परायण हो गये। उन्होंने तीर्थयात्राके प्रसङ्गसे विविध रुद्रक्षेत्रोंमें भ्रमण किया और घूमते-घूमते स्तम्भतीर्थनामक क्षेत्रमें पहुँचे, जहाँका प्रभाव उन्होंने लोगोंसे पहले ही सुन रक्खा था। वहाँ उन्होंने मही नामकी नदीके जलमें स्नान किया और उसके भीतर खड़े होकर बहुत जप किया। वहाँसे लौटते समय निकटवर्ती एक बिल्व-वृक्षको देखकर उसकी छायामें बैठकर एक लाख जप और किया। उस बिल्ववृक्षके नीचे बैठते ही उन्होंने एक अलौकिक शान्तिका अनुभव किया। वहाँ जप करते समय उनकी इन्द्रियाँ अपने-आप अन्तर्मुखी होकर लयको प्राप्त हो गयीं। उस समय वे अपनेको केवल परमानन्दस्वरूप अनुभव करने लगे। वह आनन्द ऐसा विलक्षण था कि स्वर्गका सुख भी उसके सामने कोई चीज न था। जिस प्रकार गङ्गाजल अपने ढंगकी एक ही चीज़ है, उसी प्रकार उस आनन्दको भी कोई उपमा नहीं दी जा सकती।

कुछ काल बाद जब कालभीति पुनः अपनी स्वाभाविक अवस्थाको लौटे, तब वे अत्यन्त विस्मित होकर मन-ही-मन कहने लगे—'अहा, इस स्थानमें मुझे जो आनन्द मिला, वह इससे पहले किसी भी स्थानमें प्राप्त नहीं हुआ था। इस समय मेरा चित्त नितान्त निर्विकार एवं इन्द्रियसमूह गङ्गा-जलकी भाँति निर्मल हो गया है। सभी जीवोंके प्रति मेरी परम प्रीति हो गयी है। यह सारा विश्व मुझे आनन्ददायक प्रतीत हो रहा है। मेरा मन भी इस बातको भलीभाँति समझ गया है कि जगत्में धर्म ही एकमात्र सार वस्तु है। अहा, इस स्थानका कैसा अपूर्व प्रभाव है! लोग सत्य ही कहते हैं कि जो स्थान निर्दोष, पवित्र एवं निरुपद्रव होता है वहाँ बैठकर धर्मकार्य करनेसे उसका हजारगुना अधिक फल होता है। अतः क्यों न मैं इसी जगह रहकर दीर्घकालतक तपश्चर्या करूँ? मैं अब घूम भी काफी चुका हूँ, अतः जगह-जगह भटकनेकी अपेक्षा एक स्थानपर बैठकर अपने इष्टदेवकी आराधना करना मेरे लिये अधिक लाभ-दायक होगा। जो लोग एक स्थानमें टिककर नहीं बैठते और अमुक स्थान अच्छा है अथवा अमुक—इसी खोजमें जीवनभर इधर-उधर भटकते फिरते हैं, उन्हें सिद्धि अथवा शाश्वत सुख नहीं प्राप्त होता। उनका जीवन यात्राके क्लेशमें ही बीत जाता है।'

यह सोचकर कालभीति वहीं उस बिल्ववृक्षके नीचे पैरके अँगूठोंके अग्रभागपर खड़े होकर, निर्जल और निराहार रहकर, एकाग्र मनसे रुद्रमन्त्रका जप करने लगे। उन्होंने यह नियम ले लिया कि सौ वर्षतक भोजनकी तो कौन कहे, जलकी एक बूँद भी ग्रहण नहीं करूँगा। ज्यों ही सौ वर्ष समाप्त होनेको आये कि एक अज्ञात पुरुष जलसे भरा हुआ एक घड़ा लेकर कालभीतिके पास आया और प्रणाम करके उस तपस्वी ब्राह्मणसे कहने लगा—'हे महामति कालभीति! आज तुम्हारा अनुष्ठान भगवान् शङ्करकी कृपासे पूर्ण हो गया है। तुम्हें भूख-प्यास सहते पूरे सौ वर्ष हो गये हैं। मैं बड़े प्रेमसे अत्यन्त पवित्र होकर यह जल तुम्हारे लिये ले आया हूँ। तुम कृपा करके इसे स्वीकार करो और मेरे श्रमको सफल करो।'

कालभीतिको वास्तवमें प्यास बहुत सता रही थी। अञ्जलिभर पानीके लिये उनके प्राण छटपटा रहे थे। परन्तु सहसा एक अपरिचित व्यक्तिके द्वारा लाया हुआ जल ग्रहण करना उन्होंने उचित नहीं समझा। वे शङ्कापूर्ण नेत्रोंसे उस आगन्तुक पुरुषकी ओर देखते हुए बोले—'आप कौन हैं?

आपकी जाति क्या है और आपका आचार कैसा है ? कृपा-कर बताइये। आपकी जाति और आचारको जान लेनेके बाद ही मैं आपके लाये हुए जलको ग्रहण कर सकता हूँ।' इसपर वह अपरिचित व्यक्ति बोला—'हे तपोधन! मेरे माता-पिता इस लोकमें हैं या नहीं, इसका भी मुझे पता नहीं है। उनके विषयमें मैं कुछ भी नहीं जानता। मैं सदा इसी ढंगसे रहता हूँ। आचार अथवा धर्मसे मेरा कोई प्रयोजन नहीं है। अतः आचारकी बात मैं क्या कह सकता हूँ ? सच पूछिये तो मैं किसी आचार-विचारका पालन भी नहीं करता।'

कालभीति बोले--'यदि ऐसी बात है, तब तो मैं आप-से क्षमा चाहता हूँ। मैं आपके दिये हुए जलको ग्रहण नहीं कर सकता। इस सम्बन्धमें मेरे गुरुदेवने जो श्रुतिसम्मत उपदेश मुझे दिया है, उसे मैं आपको सुनाता हूँ। जिसके कुलका हाल अथवा रक्तशुद्धिका पता न हो, साधु व्यक्ति उसके दिये हुए अन्न-जलको ग्रहण नहीं करते। इसी प्रकार जो व्यक्ति भगवान्‌के सम्बन्धमें कुछ भी ज्ञान नहीं रखता और न उनकी भक्ति करता है, उसके हाथका अन्न-जल भी ग्रहण करने योग्य नहीं होता। भगवान्‌को अर्पण किये विना जो व्यक्ति भोजन करता है, उसे बड़ा पाप लगता है। गङ्गाजलसे भरे हुए घड़ेमें एक बूँद मदिराके मिश्रित हो जानेसे जैसे वह अपवित्र हो जाता है, उसी प्रकार भगवान्‌की भक्ति न करनेवालेका अन्न चाहे कितनी ही पवित्रतासे बनाया गया हो, अपवित्र ही होता है। परन्तु यदि कोई मनुष्य शिवभक्त भी हो, परन्तु उसकी जाति और आचार भ्रष्ट हों तो उसका अन्न भी नहीं खाया जाता। अन्न-जलके सम्बन्धमें शास्त्रोंमें दोनों बातोंका विचार रक्खा गया है। अन्न या जल जो कुछ भी ग्रहण किया जाय, वह भगवान्‌को अर्पित हो और जिसके द्वारा वह अन्न अथवा जल लाया गया है, वह जाति तथा आचारकी दृष्टिसे पवित्र हो।'

कालभीतिके इन वचनोंको सुनकर वह मनुष्य हँसने लगा और बोला—'अरे तपस्वी! तुम तप एवं विद्यासे सम्पन्न होनेपर भी मुझे नितान्त मूर्ख प्रतीत होते हो। तुम्हारी इस बातको सुनकर मुझे हँसी आती है। अरे नादान! क्या तुम नहीं जानते कि भगवान् शिव सभी भूतोंके अंदर समान-रूपसे निवास करते हैं ? ऐसी दशामें किसीको पवित्र और किसीको अपवित्र कहना कदापि उचित नहीं है। अपवित्र कहकर किसीकी निन्दा करना प्रकारान्तरसे उसके अंदर रहनेवाले भगवान् शङ्करकी ही निन्दा करना है। जो मनुष्य अपने अथवा दूसरेके अंदर भगवान्‌की सत्ताके सम्बन्धमें सन्देह करता है, मृत्यु उस भेदज्ञानी मनुष्यके लिये विशेष रूपसे भयदायक होती है। फिर जरा विचारो तो सही कि जलमें अपवित्रता आ ही कैसे सकती है। जिस पात्रमें इसे मैं ले आया हूँ, वह मिट्टीका बना हुआ है—मिट्टी भी ऐसी-वैसी नहीं, किन्तु अवेंकी आगमें भलीभाँति तपायी हुई; और फिर वह जलके द्वारा शुद्ध हो चुकी है। मृत्तिका, जल और अग्नि—इनमेंसे कौन-सी वस्तु अपवित्र है ? यदि कहो कि हमारे संसर्गसे यह जल अपवित्र हो गया है, तो यह कहना भी ठीक नहीं। क्योंकि तुम और हम दोनों ही तो इस मिट्टी-से ही बने हैं और मिट्टीपर ही सदा रहते हैं। मेरे संसर्गसे यदि जल अशुचि हो सकता है तो जिस जमीनपर मैं खड़ा हूँ, वह जमीन भी मेरे संसर्गसे अपवित्र हो जानी चाहिये। तब तो तुम्हें भूमिको छोड़कर आकाशमें विचरण करना होगा। इन सब बातोंपर विचार करनेसे तुम्हारी उक्ति मुझे नितान्त मूर्खतापूर्ण प्रतीत होती है।'

कालभीतिने कहा—'अवश्य ही भगवान् शङ्करका सभी भूतोंमें निवास है। परन्तु इस बातको लेकर जो सब भूतोंके व्यवहारमें समानता करता है, वह अन्नादिका परित्याग कर मृत्तिका अथवा भस्मसे उदर-पूर्ति क्यों नहीं करता ? क्योंकि उसके मतानुसार अन्नमें जो भगवान् हैं, वे ही तो मृत्तिका और भस्ममें भी हैं। परन्तु उसकी यह मान्यता ठीक नहीं। परमार्थ-दृष्टिसे सब कुछ शिवरूप होनेपर भी व्यवहारमें भेद आवश्यक है। इसीलिये शास्त्रमें नाना प्रकारकी शुद्धिके विधान पाये जाते हैं और उनके फल भी अलग अलग निर्दिष्ट हुए हैं। शास्त्रकी आज्ञाके विरुद्ध आचरण करना कदापि उचित नहीं है। जो शास्त्र भगवान् शिवकी सत्ता सर्वत्र बतलाते हैं, वे ही व्यवहारमें भेदका भी विधान करते हैं। शास्त्रकी एक बात तो मानी जाय और दूसरी न मानी जाय, यह कहाँतक उचित है ? दोनों ही बातें अपनी अपनी दृष्टिसे ठीक हैं और दोनोंकी परस्पर सङ्गति भी है। देखो, विधाताने सृष्टिके आदिमें इस रूपात्मक जगत्‌का निर्माण किया और उसे नामके द्वारा इस प्रकार बाँध दिया, जैसे रस्सीके द्वारा गायको बाँध दिया जाता है। यह नाम-प्रपञ्च चार प्रकारका है—ध्वनि, वर्ण, पद और वाक्य। ध्वनिका स्वरूप नादात्मक है। अकारादिकी 'वर्ण' संज्ञा है। एक अर्थके बोधक वर्णसमूहको पद कहते हैं। जैसे 'शिवं भजेत्' (शिवको भजे) यहाँ 'शिवं' और 'भजेत्' ये दो पद हैं। और परस्परसम्बद्ध पदोंकी समष्टिको वाक्य कहते हैं। जैसे 'शिवं भजेत्' यह पदसमूह वाक्य है।

'वाक्य तीन प्रकारके कहे गये हैं—(१) प्रभुसम्मित, (२) सुहृत्सम्मित और (३) कान्तासम्मित । अधिकार-सम्पन्न स्वामी जिस प्रकार अपने पोष्य अथवा भृत्यको आज्ञा देता है कि अमुक कार्य करो और अमुक न करो और वह कार्य ठीक आज्ञानुसार ही किया जाता है, उसी प्रकार श्रुति और स्मृतिका उपदेश हमारे लिये सर्वथा पालनीय है, उसमें जरा भी आनाकानी करनेकी आवश्यकता नहीं; इसीलिये श्रुति और स्मृतिके उपदेशको प्रभुसम्मित उपदेश कहा गया है । इतिहास-पुराणादि शास्त्र मित्रकी भाँति मधुर वचनोंद्वारा हमारे हितका उपदेश करते हैं—हमें कर्तव्यकी ओर प्रवृत्त करते हैं तथा उसके न करनेमें हानि बतलाते हैं; इसलिये उनके उपदेशको सुहृत्सम्मित उपदेश कहा गया है । काव्यादिके द्वारा जो उपदेश हमें मिलता है, उसे कान्ता-सम्मित उपदेश कहते हैं; क्योंकि काव्य अनुकूल पत्नीकी भाँति नाना प्रकारसे हमारा मनोरञ्जन करते हुए बड़े ही रसीले शब्दोंमें हमें हितका उपदेश करते हैं । श्रुति कहती है कि बाहर-भीतरकी पवित्रता रक्खो । इसी बातको इतिहास-पुराण इन शब्दोंमें कहते हैं—यदि परलोकमें सुखी रहना चाहते हो और कष्टोंसे बचना चाहते हो, तो शौचाचारका पालन करो । पृथ्वीपर रहनेवाले व्यक्तियोंके लिये शौचाचार-का पालन अवश्यकर्तव्य है । ऐसी दशामें यदि तुम श्रुतियों-की अवहेलना कर 'सब कुछ शिवमय है' यह कहकर व्यवहारके भेदको मिटाना चाहते हो तो फिर बताओ, क्या श्रुति पुराणादि शास्त्र व्यर्थ नहीं हो जायँगे ? तुम्हारी बात यदि ठीक हो तो सप्तर्षि प्रभृति जो क्रिया-कुशल ब्राह्मण एवं क्षत्रियादि हो गये हैं, जिन्होंने वेद-शास्त्रके अनुसार आचरण किया है, वे सभी मूर्ख ठहरते हैं और भगवद्गीतादि शास्त्रोंमें जो यह बात कही गयी है कि सत्त्वगुणमें स्थित रहनेवाले पुरुष ऊर्ध्वगतिको प्राप्त होते हैं, राजस व्यक्ति मध्यम गतिके अधिकारी होते हैं और तमोगुणी पुरुष अधोगतिको प्राप्त करते हैं तथा सात्त्विक आहारसे सत्त्वगुणकी वृद्धि होती है, राजसिक आहारसे रजोगुणकी और तामसिक आहारसे तमोगुणकी—वह सब भी मिथ्या हो जाती है ।

'आप जो यह कहते हैं कि भगवान् शिव सभी भूतोंमें स्थित हैं, यह ठीक है । भगवान् शिव सर्वत्र हैं, यह बात अक्षरशः सत्य है । फिर भी व्यक्तिभेदसे उनकी सत्तामें भी भेद कहा जा सकता है । इसके लिये मैं आपको एक दृष्टान्त देता हूँ । यद्यपि सभी सोनेके गहने सुवर्ण नामकी एक ही धातुसे बने हुए होते हैं, तब भी सबका सोना एक ही दामका अथवा एक ही रंगका नहीं होता । उनमेंसे एकका सोना एकदम शुद्ध—टकसाली होता है, दूसरेका उसकी अपेक्षा कुछ नीचे दर्जेका होता है और तीसरेका और भी निकृष्ट होता है । परन्तु यह तो मानना ही पड़ेगा कि सभी सुवर्ण-के गहनोंमें सोना मौजूद है । साथ ही यह भी स्वीकार करना होगा कि सभी गहनोंका सोना एक-सा नहीं है । इसी प्रकार भगवान् शिव भी सब भूतोंमें हैं अवश्य; परन्तु एकके अंदर उनका प्रकाश अत्यन्त शुद्ध है, दूसरेके अंदर वह उतना शुद्ध नहीं है और तीसरेके अंदर वह और भी मलिन है । इस प्रकार समस्त पदार्थोंमें व्यवहारकी दृष्टिसे समता नहीं की जा सकती । जिस प्रकार निकृष्ट दर्जेका सोना दाहादिके द्वारा शोधित होकर क्रमशः उत्कर्षको प्राप्त होता है, उसी प्रकार मलिन अन्तःकरण तथा मलिन देहवाले जीव शौचादिके द्वारा शुद्ध होकर ही शुद्ध शिवत्वके अधिकारी होते हैं । सामान्य शौचादिके द्वारा सहसा शुद्ध शिवत्वका लाभ सम्भव नहीं है, इसीलिये शास्त्रोंमें देह-शोधनकी आवश्यकता बतायी गयी है । देह शोधित होनेपर ही देही स्वर्गादि उच्च लोकों-को प्राप्त हो सकता है । इस प्रकार जो बुद्धिमान् पुरुष देह-शोधनकी इच्छा रखते हैं, वे चाहे जिस व्यक्तिसे अन्न-जल नहीं ग्रहण करते । इसके विपरीत जो लोग शौचाचारका विचार न करके चाहे जिसका अन्न-जल ग्रहण कर लेते हैं, वे पवित्र आचरणवाले होनेपर भी कुछ ही समयमें तमोगुणसे आच्छन्न होकर जडीभूत हो जाते हैं । इसलिये मैं आपका यह जल ग्रहण नहीं कर सकता । इसके लिये आप मुझे क्षमा करें ।'

तपस्वीके इस शास्त्रानुमोदित एवं युक्तियुक्त भाषणको सुनकर वह अज्ञात मनुष्य चुप हो गया । उसने पैरके अँगूठे-से बात-की-बातमें एक बड़ा-सा गड्ढा खोद डाला और उसमें उस मटकेके जलको उँड़ेल दिया । वह बड़ा गड्ढा उस थोड़े-से जलसे लबालब भर गया, फिर भी थोड़ा जल उस मटकेमें बच रहा । उस बचे हुए जलसे उसने निकटवर्ती एक सरोवरको भर दिया, इस अद्भुत व्यापारको देखकर कालभीति तनिक भी विस्मित नहीं हुए । उन्होंने सोचा, भूतादिकी उपासना करनेवाले बहुधा इस प्रकारकी आश्चर्यजनक घटनाएँ कर दिखाया करते हैं । परन्तु इस प्रकारके आश्चर्योंसे श्रुति-मार्गमें कोई विरोध नहीं आ सकता ।

भक्त कालभीतिके दृढ़ निश्चयको देखकर वह अपरिचित व्यक्ति सहसा जोरसे हँसता हुआ अन्तर्धान हो गया । कालभीति

भी यह देखकर आश्चर्यमें डूब गये और उस व्यक्तिके सम्बन्धमें नाना प्रकारके ऊहापोह करने लगे। इस प्रकार जब वे विचारमें डूबे हुए थे कि उनकी दृष्टि सहसा उस बिल्ववृक्षके मूलकी ओर गयी। वहाँ उन्होंने देखा कि एक विशाल शिवलिङ्ग अकस्मात् प्रादुर्भूत हो गया है, उसके तेजसे दसों दिशाएँ उद्भासित हो उठी हैं। आकाशमें गन्धर्वगण सुमधुर गान कर रहे हैं और अप्सराएँ नृत्य कर रही हैं। देवराज इन्द्र उसके ऊपर पारिजातके पुष्पोंकी वर्षा कर रहे हैं तथा अन्यान्य देवता एवं मुनिगण भी जय-जयकार करते हुए नाना प्रकारसे भगवान् शङ्करकी स्तुति कर रहे हैं। इस प्रकार वहाँ बड़ा भारी उत्सव होने लगा। कालभीतिने भी अत्यन्त आनन्दित होकर उस स्वयम्भू लिङ्गको प्रणाम किया और वे इस प्रकार स्तुति करने लगे—

'जो पापराशिके काल हैं, संसाररूपी कर्दमके काल हैं, तथा कालके भी काल हैं, उन कलाधर; कालकण्ठ महाकाल-की मैं शरण आया हूँ। हे प्रभो! आप सब विद्याओंके ईश्वर हैं, वेद भी आपकी स्तुति करनेमें समर्थ नहीं हैं। आप भूतोंके अधिपति, ईश्वरोंके भी ईश्वर एवं ब्रह्माके भी पिता हैं। आपको मैं बार-बार नमस्कार करता हूँ। हे शिव! आपसे ही यह संसार उत्पन्न हुआ है और आप स्वयं अनादि हैं। जहाँ-जहाँ जिस-जिस योनिमें मैं जन्म लेता हूँ, वहाँ-वहाँ आप मेरे ऊपर करुणाकी निरन्तर वर्षा करते हैं। हे प्रभो! आप सब प्रकारसे मङ्गल करनेवाले एवं पुष्टिवर्द्धक त्र्यम्बक हैं, मैं पवित्र गन्धादि द्रव्योंके द्वारा आपकी पूजा करता हूँ। हे त्रिलोचन! जिस प्रकार पका हुआ कुम्हड़ेका फल अपने डंठलसे च्युत होकर भूमिपर गिर पड़ता है, उसी प्रकार आप भी मुझे मृत्युरूपी बन्धनसे कृपापूर्वक छुड़ा दीजिये। हे ईश्वर! जो संसारसे विरक्त होकर आपके षडक्षर मन्त्रका जप करते हैं, आप उन समस्त मुनिगणोंपर बहुत जल्दी प्रसन्न हो जाते हैं। हे प्रभो! मैं उसी 'ॐ नमः शिवाय' इस षडक्षरमन्त्रका निरन्तर जप करता हूँ।'

भक्तश्रेष्ठ कालभीतिकी इस स्तुतिको सुनकर भगवान् शङ्कर अत्यन्त प्रसन्न हुए। वे इसी लिङ्गमेंसे अपने स्वरूपमें प्रकट हो गये और दिव्य प्रकाशसे त्रिलोकीको प्रकाशित करते हुए उस ब्राह्मणसे बोले—'हे द्विजश्रेष्ठ! तुमने इस महीतीर्थमें कठोर तपस्याके द्वारा जो मेरी आराधना की है, इससे मैं तुमपर बहुत प्रसन्न हूँ। अब मेरी कृपासे काल भी तुम्हारे ऊपर कोई प्रभाव नहीं डाल सकेगा। मैंने ही मनुष्य-शरीर धारण करके तुम्हारे विश्वासकी परीक्षा ली थी और मुझे हर्ष है कि उस परीक्षामें तुम पूर्णतया सफल हुए। तुम्हारे-जैसे दृढविश्वासी पुरुष जिस धर्मका आचरण करते हैं, वही धर्म वास्तवमें श्रेष्ठ है। मैं तुम्हारे लिये जो जल ले आया था, वह समस्त तीर्थोंका जल है और अत्यन्त पवित्र है। मैंने उसके द्वारा ही उस गड्ढे एवं सरोवरको भरा है। और तुमने जिस रहस्यव्यञ्जक स्तोत्रके द्वारा मेरी स्तुति की है, उसका पाठ करनेसे लोगोंको महान् फलकी प्राप्ति होगी। अब तुम मुझसे अपना अभिलषित वर माँगो। तुम्हारी आराधनासे मैं इतना अधिक प्रसन्न हुआ हूँ कि तुम्हारे लिये मुझे कुछ भी अदेय न होगा।'

कालभीतिने कहा—'हे प्रभो! आपने मेरे प्रति जो प्रसन्नता प्रकट की है, उससे मैं वास्तवमें धन्य हो गया हूँ। वास्तवमें धर्म वही है, जिससे आपकी प्रसन्नता सम्पादित होती है। जिस धर्मसे आपकी सन्तुष्टि नहीं होती, वह धर्म धर्म ही नहीं है। अब आप यदि मुझपर प्रसन्न हुए हैं, तो मेरी आपके चरणोंमें यही प्रार्थना है कि आप अबसे सदा इस लिङ्गमें विराजमान रहें, जिससे कि इस लिङ्गके प्रति जो कुछ भी पूजा-अर्चा की जाय वह अक्षय फल देनेवाली हो जाय। हे महेश्वर! चूँकि इस लिङ्गमेंसे प्रकट होकर आपने मुझे कालमार्गसे सदाके लिये मुक्त कर दिया, इसलिये यह लिङ्ग महाकालके नामसे जगत्में विख्यात हो और इस कूपमें जो मनुष्य स्नान करके अपने पितरोंका तर्पण करें, उन्हें समस्त तीर्थोंके अवगाहनका पुण्य प्राप्त हो तथा उनके पितरों-को भी अक्षय गतिका लाभ हो।'

भगवान् शङ्कर कालभीतिकी इस निष्काम प्रार्थनाको सुनकर अत्यन्त प्रसन्न हुए और बोले—'हे विप्रवर! इस लिङ्गमें निवास करनेके सम्बन्धमें तो तुम्हें प्रार्थना करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है; जहाँ-जहाँ स्वयम्भू लिङ्ग प्रतिष्ठित हैं, वहाँ-वहाँ मैं निश्चय ही निवास करता हूँ। हे पुत्र! माघ महीनेकी कृष्ण चतुर्दशीके दिन शिवनामक योगमें जो मनुष्य इस लिङ्गके पूर्वकी ओर स्थित कूपमें स्नान करके पितरोंका तर्पण करेगा, उसे समस्त तीर्थोंके स्नानका फल प्राप्त होगा और उसके पितरोंको भी अक्षय गति मिलेगी। उक्त तिथिको रात्रिके समय जो मनुष्य पहर-पहरपर इस महाकाल लिङ्गकी अर्चना करके रात्रि-जागरण करेंगे, उन्हें जगत्के समस्त लिङ्गोंकी पूजाका और सर्वत्र रात्रि-जागरणका फल मिलेगा। हे द्विजोत्तम! जो व्यक्ति जितेन्द्रिय होकर इस लिङ्गकी

पूजा करेंगे, भुक्ति और मुक्ति दोनों निश्चय ही उन्हें प्राप्त होंगी। यदि कोई माघमासके शुक्लपक्षमें सोमवारको अथवा चतुर्दशी या अष्टमीके दिन इस सरोवरमें स्नान करके महाकालकी पूजा करेंगे, उन्हें अवश्य शिवलोककी प्राप्ति होगी। फलतः महाकालकी सन्निधिमें दान, तप, मन्त्रजप आदि जो-जो कुछ किया जायगा, वह सभी अक्षय हो जायगा। और हे वत्स! तुमने मेरी आराधनाके द्वारा कालमार्गपर विजय प्राप्त की है, इसलिये तुम भी महाकाल नामसे विख्यात होकर बंदीकी भाँति मेरे अनुचररूपमें चिर कालतक मेरे लोकमें सुखपूर्वक निवास करोगे। कुछ ही दिन बाद इस स्थानपर करन्धम नामके राजर्षि तुमसे मिलने आयँगे, उन्हें धर्मका उपदेश देकर तुम मेरे लोकमें चले आना।' भगवान् शिव यह कहकर उस लिङ्गके अंदर लीन हो गये। इसके बाद महाकाल भी आनन्दपूर्वक उस स्थानमें रहकर तपस्या करने लगे।

कुछ दिनों बाद राजा करन्धम महाकाल तीर्थका माहात्म्य और महाकालके चरित्रकी कथा सुनकर धर्मके सम्बन्धमें विशेष तत्त्व जाननेकी इच्छासे वहाँ आये। उन्होंने महीसागरके जलमें स्नान करके वहाँके अन्यान्य लिङ्गोंकी पूजा की और फिर महाकाल लिङ्गके पास आकर प्रमुदित हो बैठ गये। जिसके दर्शनसे पञ्चाक्षर मन्त्रके दस हजार जपका फल प्राप्त होता है, उस महाकाल लिङ्गका दर्शन करके करन्धम राजाके आनन्दकी सीमा न रही। उन्होंने उस समय अपने जीवनको सफल समझा। इसके बाद महामहोपचारसे उन्होंने महाकाल लिङ्गकी पूजा की और फिर भक्तवर महाकालके पास पहुँचकर प्रणाम किया। राजाको आते देखकर महाकालको भगवान् शङ्करका वचन स्मरण हो आया और उन्होंने हास्ययुक्त वदनसे राजाके सामने आकर उनका स्वागत किया और अर्घ्य-पाद्यादि उपचारके द्वारा उनका सत्कार किया। राजा करन्धमने शान्तमूर्ति भक्तवर महाकालसे कुशल-प्रश्नके अनन्तर अनेकों धर्मविषयक प्रश्न किये और महाकालने उन सबका शास्त्रानुमोदित उत्तर देकर राजाका समाधान किया। उनके उपदेशका सार यही था कि घरहीमें रहकर इस लोकमें धर्म, अर्थ, काम तथा मृत्युके बाद मोक्ष प्राप्त करनेका एकमात्र उपाय माहेश्वर धर्मका पालन अर्थात् सब प्रकारसे भगवान् शङ्करकी शरण होकर उनकी भक्ति करते हुए उन्हींकी प्रीतिके लिये वर्णाश्रमोचित कर्तव्यका पालन करना है।

इस प्रकार महाकाल विविध धर्मोंका उपदेश कर ही रहे थे कि सहसा आकाशमें बड़ा भारी शब्द होने लगा। महाकालने उस ओर ताका तो वे क्या देखते हैं कि ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, उनके अनुचर तथा भगवतीके सहित स्वयं भगवान् शङ्कर आ रहे हैं। उनके साथ इन्द्रादि देवता, वसिष्ठादि मुनीश्वर तथा तुम्बुरु प्रभृति गन्धर्व हैं। महामति महाकालने भक्तिनिर्भर चित्तसे उठकर सबकी अभ्यर्थना की और अनेक प्रकारसे पूजा की। ब्रह्मादि देवताओंने महाकालको उत्तम रत्नसिंहासनपर बिठाकर उस मही-सागर-सङ्गम क्षेत्रमें उनका अभिषेक किया। देवी भगवतीने महाकालको वात्सल्य-भावसे आलिङ्गन कर गोदमें बिठाया और पुत्रवत् प्यार करती हुई बोलीं—'हे शिवव्रतपरायण वत्स! यह ब्रह्माण्ड जबतक रहेगा, तबतक तुम शिवभक्तिके प्रभावसे शिवलोकमें निवास करोगे। भगवान् महेश्वर तुम्हें यह वर दे ही चुके हैं कि जो व्यक्ति इन्द्रियसंयमपूर्वक पवित्र होकर तुम्हारे द्वारा प्रतिष्ठित लिङ्गकी पूजा करेंगे, वे मरनेके बाद शिवलोकमें वास करेंगे तथा इस लिङ्गका जो कोई दर्शन, स्तुति, पूजा अथवा वन्दन करेंगे अथवा उनकी सन्निधिमें दान आदि शुभ कर्म करेंगे, उनके उस कर्मसे भगवान् शङ्करको परम सन्तोष होगा।' उस समय ब्रह्मा, विष्णु प्रभृति देवगण साधु-साधु कहकर महाकालकी प्रशंसा और स्तुति करने लगे, चारणलोग उनका गुणगान करने लगे और गन्धर्वगण मनोहर गानके द्वारा उन्हें प्रसन्न करने लगे। करोड़ों शिवजीके गण उनकी स्तुति करते हुए उन्हें घेरकर चारों ओर खड़े हो गये। इस प्रकार अपूर्व समारोहके साथ भक्तश्रेष्ठ महाकाल अपने आराध्यदेवके साथ सशरीर शिवलोकको चले गये।

इस समय भी जो लोग भक्तवर महाकालके द्वारा स्थापित शिवलिङ्गकी आराधनामें संलग्न रहते हैं, महाकाल बड़े प्रेमसे उनका आलिङ्गन कर शिवजीके आगे उनकी आराधनाका वृत्तान्त निवेदन करते हैं और उनपर भगवान् शङ्करकी कृपाका आकर्षण करते हैं।

बोलो भक्त और उनके भगवान्‌की जय!

(स्कन्दपुराण, माहेश्वरखण्डसे)

एक बालककी विनय

(लेखक—श्रीपरमानन्द खेमका)

नमस्तस्मै भगवते कृष्णायाद्भुतकर्मणे ।
अनन्तायादिभूताय कूटस्थायात्मने नमः ॥

ध्यानाभ्यासवशीकृतेन मनसा तन्निर्गुणं निष्क्रियं
ज्योतिः किञ्चन योगिनो यदि परं पश्यन्ति पश्यन्तु ते ।
अस्माकं तु तदेव लोचनचमत्काराय भूयाच्चिरं
कालिन्दीपुलिनेषु यत्किमपि तन्नीलं महो धावति ॥

यद्यपि मैं एक नादान बालक हूँ—मुझे न शास्त्रोंका ज्ञान है न कुछ लिखना ही आता है, फिर भी बालोचित चपलतावश 'कल्याण' के पाठकोंकी सेवामें टूटे-फूटे शब्दोंमें अपने कुछ अपरिपक्व विचार उपस्थित करनेका दुःसाहस करता हूँ । आशा है कि जिस प्रकार छोटे बच्चोंकी तोतली बोलीको सुनकर माता-पिता प्रसन्न ही होते हैं, उसी प्रकार मेरी इस बालविनयको पढ़कर कृपालु पाठक रुष्ट न होकर मुझपर प्रसन्न ही होंगे और मेरा उत्साह बढ़ायँगे ।

किसी कविने कहा है—

ग्यान बढ़ै गुनवान की संगति, ध्यान बढ़ै तपसी सँग कीन्हे ।
मोह बढ़ै परिवार की संगति, लोभ बढ़ै धन में चित दीन्हे ॥
क्रोध बढ़ै नर मूढ़ की संगति, काम बढ़ै तिय को सँग कीन्हे ।
बुद्धि बिवेक बिचार बढ़ै 'कबि दीन' सुसज्जन संगति कीन्हे ॥

तात्पर्य यह है कि मनुष्य जिस प्रकारका सङ्ग करता है, वैसा ही वह बन जाता है । कहावत प्रसिद्ध है—'जैसा संग, वैसा रंग ।' अच्छे पुरुषोंका सङ्ग करनेसे मनुष्यमें अच्छे गुण आते हैं, और बुरा सङ्ग करनेसे वह बुरे मार्गमें प्रवृत्त हो जाता है । ज्ञान-ध्यान, वैराग्य, भजन आदिमें रुचि बढ़ानी हो तो मनुष्यको चाहिये कि वह साधु-महात्माओंका सङ्ग करे । साधु-महात्माओंका सङ्ग किये बिना मनुष्यकी इन सब बातोंकी ओर प्रवृत्ति ही न होगी । और आत्माका कल्याण चाहनेवालोंके लिये यह आवश्यक है कि वे इन सब बातोंका अभ्यास करें । अतः साधु पुरुषोंका सङ्ग ही सब प्रकारसे सेवनीय है ।

संत-महात्मा इस संसारकी सबसे बड़ी विभूति हैं । उन्हींकी सत्तासे जगत्की सत्ता है, यदि ऐसा कहें तो भी अतिशयोक्ति न होगी । और तो क्या, भगवान्के अवतारका भी—जो जगत्की सबसे बड़ी घटना है—मुख्य प्रयोजन साधु पुरुषोंकी रक्षा ही है । भगवान् स्वयं अपने श्रीमुखसे कहते हैं—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥

(गीता ४ । ८)

'साधु पुरुषोंका उद्धार करनेके लिये, दूषित कर्म करनेवालोंका नाश करनेके लिये तथा धर्मकी अच्छी प्रकार स्थापना करनेके लिये मैं युग-युगमें प्रकट होता हूँ ।'

भगवान्को संत प्राणोंसे भी प्यारे होते हैं । भगवान् उद्धवसे कहते हैं—

न तथा मे प्रियतम आत्मयोनिर्न शङ्करः ।
न च सङ्कर्षणो न श्रीर्नैवात्मा च यथा भवान् ॥

(श्रीमद्भागवत ११ । १४ । १५)

'हे उद्धव ! आप [भक्तलोग] मुझे जैसे प्रिय हैं वैसे न तो मुझसे उत्पन्न हुए ब्रह्मा हैं, न मेरे स्वरूपभूत शङ्कर हैं, न मेरे व्यूहरूप सङ्कर्षण हैं, न मेरी अर्द्धाङ्गिनी तथा मेरे वक्षःस्थलमें सदा निवास करनेवाली लक्ष्मीजी हैं—बल्कि मैं स्वयं भी अपनेको उतना प्यारा नहीं हूँ ।'

भगवान् अपने प्रति किये हुए अपराधको तो क्षमा कर देते हैं, क्योंकि वे क्षमाकी मूर्ति हैं; परन्तु अपने

भक्तों तथा साधु-ब्राह्मणोंके प्रति किये हुए अपराधको वे कदापि क्षमा नहीं करते। रामचरितमानसमें भगवान् श्रीराम कबन्ध बने हुए गन्धर्वका उद्धार करके उसे कहते हैं—

सुनु गंधर्ब कहउँ मैं तोही। मोहि न सोहाइ ब्रह्मकुल द्रोही॥

'हे गन्धर्व! सुनो, मैं तुम्हें [एक रहस्यकी बात] कहता हूँ। मुझे ब्राह्मणवंशका द्रोही नहीं सुहाता।'

इसीलिये भगवान् ब्रह्मण्यदेव कहलाये।

उपर्युक्त भगवद्वाक्योंको स्मरण रखते हुए हमें कपट तथा छल-छिद्रको छोड़कर गौ-ब्राह्मण एवं साधु-संतोंकी सेवा करते हुए भगवच्चिन्तनमें अपना समय बिताना चाहिये। भगवान्‌को सरलता अत्यन्त प्रिय है। छल-कपट उन्हें रंचकमात्र भी नहीं सुहाता। भगवान् श्रीराम भक्तवर विभीषणसे कहते हैं—

निर्मल मन जन सो मोहि पावा। मोहि कपट छल छिद्र न भावा॥

(रामचरित० सुन्दर० ४३। ३)

अन्तमें भगवत्स्मरणके सम्बन्धमें दो शब्द कहकर मैं अपनी बालविनयको समाप्त करूँगा। भगवत्स्मरणकी शास्त्रोंने बड़ी महिमा गायी है। और तो क्या, भगवत्-स्मरणसे स्वयं भगवान् वशमें हो जाते हैं। भगवत्स्मरण करनेवालेके लिये गीतामें भगवान्‌ने अपनेको सुलभ बतलाया है। वे कहते हैं—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥

(८। १४)

'हे अर्जुन! जो पुरुष मुझमें अनन्य चित्तसे स्थित हुआ नित्य-निरन्तर मेरा स्मरण करता है, उस निरन्तर मुझमें युक्त हुए योगीके लिये मैं सुलभ हूँ।'

भगवान् ऐसे दयालु एवं शरणागतवत्सल हैं कि जो संसार-भयसे भीत होकर उससे त्राण पानेके लिये ही उनकी शरणमें जाते हैं, उन्हें भी वे बड़े प्रेमसे गले लगा लेते हैं और उनका फिर कभी परित्याग नहीं करते। भगवान् श्रीराम विभीषणके सम्बन्धमें कहते हैं—

जौं सभीत आवा सरनाईं। रखिहउँ ताहि प्रान की नाईं॥

(रामचरित० सुन्दर० ४३। ४)

फिर जो प्रेमसे उन्हें भजते हैं, उनका तो कहना ही क्या है। उनके हाथ तो भगवान् बिक जाते हैं और उनके पीछे-पीछे घूमते हैं। ऐसे दयालु एवं प्रेमी भगवान्‌का स्मरण हमें नित्य-निरन्तर अनन्य प्रेमसे करना चाहिये। यही जीवनका सार है। इसीमें जीवनकी सफलता है।

रामहि केवल प्रेम पिआरा। जानि लेउ जो जाननिहारा॥

हरिः ॐ तत्सत्।

चुटकुले

परलोकको पयान करते समय पिताने अपने खेद-खिन्न पुत्रको उपदेश दिया—

'जो होता है उसे देखो, जो हो सकता है उसे सोचो और जो होनेवाला है उसपर गम्भीरतापूर्वक विचार करो।

'जो बात हो चुकी है उसका चिन्तन व्यर्थ है और जो बात अब होनेवाली है उसकी आशङ्कासे घबराना और भयभीत होना भी व्यर्थ ही है।'

—श्रीबालकराम विनायक

सत्सङ्गके अमृत-कण

(श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके प्रवचनसे)

भगवान्‌की और महापुरुषोंकी दया अपार है। वह माननेसे ही समझमें आती है। ईश्वरसे कोई जगह खाली नहीं है और महात्माओंकी संसारमें कमी नहीं है। कमी है तो हमारे माननेकी, वे तो प्राप्त ही हैं। न माननेसे वे प्राप्त भी अप्राप्त हैं। घरमें पारस पड़ा है, परन्तु न माननेसे वह भी अप्राप्त ही है। भगवान्‌की दया और प्रेम अपार हैं। उन्हें न माननेसे ही वे अप्राप्त हो रहे हैं, मान लिये जायँ तो प्राप्त ही हैं। किसी दयालु पुरुषसे कहा जाय कि आप हमारे ऊपर दया करें तो इसका मतलब यह होगा कि वह दयालु नहीं है, हमारे साथ क्रूरताका बर्ताव कर रहा है। इसपर वह दयालु पुरुष समझता है कि यह बेचारा भोला है, नहीं तो मुझसे यह कैसे कहता कि दया करो। भगवान् और महापुरुष दोनोंके लक्षणोंमें यह बात आती है कि वे सबके मित्र और सुहृद् होते हैं—

हेतु रहित जग जुग उपकारी। तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी ॥

गीतामें भगवान् स्वयं कहते हैं—

सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति।

'मैं सब भूतोंका सुहृद् हूँ—बस, केवल इतना जानभर लो।' जो इस बातको जान लेता है, वह भी सब भूतोंमें ही तो है। अत: उसे भगवान् मेरे सुहृद् हैं, यह जानकर शान्ति मिल जाती है।

× × ×

वह सच्चिदानन्दघन परमात्मा सदा-सर्वदा सब जगह प्रत्यक्ष मौजूद है, किन्तु इस प्रकार प्रत्यक्ष होते हुए भी हमारे न माननेके कारण वह अप्राप्त है। सच्चिदानन्दघन परमात्माका कहीं कभी अभाव नहीं है। इस प्रकार न मानना ही अज्ञान है और इस अज्ञानको दूर करनेके लिये प्रयत्न करना ही परम पुरुषार्थ है। हमें इस अज्ञानको ही दूर करना है। इसके सिवा और किसी रूपमें हमें परमात्माकी प्राप्ति नहीं करनी है। परमात्मा तो नित्य प्राप्त ही है। उस प्राप्त हुए परमात्माकी ही प्राप्ति करनी है, अप्राप्तकी प्राप्ति नहीं करनी है। वह सच्चिदानन्दघन परमात्मा सदा-सर्वदा सबको प्राप्त है, यह दृढ़ निश्चय करना ही परमात्माको प्राप्त करना है। इस प्रकारका निश्चय हो जानेपर परमशान्ति और परमपदकी प्राप्ति सदाके लिये प्रत्यक्ष हो जाती है। यदि न हो, तो उसकी मान्यतामें कमी है।

इस प्रकारके तत्त्व-रहस्यको बतलानेवाले महात्मा भी संसारमें हैं। किन्तु हैं लाखों-करोड़ोंमें कोई एक। जो हैं, उनका प्राप्त होना दुर्लभ है और प्राप्त होनेपर भी उनका पहचानना कठिन है। उनको जान लेनेपर तो परमानन्द और परमशान्तिकी प्राप्ति सदाके लिये हो जाती है। यदि ऐसा न हो तो समझना चाहिये कि उसके माननेमें ही कमी है।

दीपावली

(लेखक—विद्याधुरीण पं० श्रीजौहरीलालजी शर्मा सांख्य-योगाचार्य)

कार्तिक मासमें प्रातःस्नान, अल्पभोजन, भगवद्भजन और दीपदानका विशेष माहात्म्य है। प्रातःस्नानके लिये विष्णुस्मृतिमें लिखा है—

तुलामकरमेषेषु प्रातःस्नानं विधीयते।
हविष्यं ब्रह्मचर्यं च महापातकनाशनम्॥

'कार्तिक, माघ और वैशाखके महीनोंमें प्रातःस्नान, हविष्यान्न—गेहूँ, जौ, चावल, तिल आदिका भोजन करना एवं—

स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्।
सङ्कल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृत्तिरेव च॥

—इन आठ प्रकारके मैथुन-त्यागरूप ब्रह्मचर्यका पालन करनेसे मनुष्यके बड़े-बड़े पातक नष्ट हो जाते हैं। आयुर्वेदशास्त्रमें कार्तिकके आठ दिन 'यमदंष्ट्रा' नामसे कहे गये हैं, इनमें स्वल्पाहार करनेवाला सुखी रहता है—'यमदंष्ट्राः समाख्याताः स्वल्पाहारः स जीवति।' इस महीनेमें मधुसूदनभगवान्‌का तुलसी, केतकी, कमल तथा चमेलीके पुष्पोंके साथ पूजन करनेसे भक्तकी सब कामनाएँ पूर्ण होती है। दीपदानके विषयमें पुष्कर-पुराणमें लिखा है—

तुलायां तिलतैलेन सायङ्काले समागते।
आकाशदीपं यो दद्यान्मासमेकं हरिं प्रति॥
महतीं श्रियमाप्नोति रूपसौभाग्यसम्पदम्॥

जो मनुष्य कार्तिकके महीनेमें सन्ध्याके समय भगवान् हरिहर, धर्म, भूमि, यमराज, प्रजापति तथा पितरोंके नामसे तिलके तेलका आकाशदीप जलाता है, वह अतुल लक्ष्मी, रूप, सौभाग्य एवं सम्पत्ति पाता है। कार्तिक कृष्ण अमावास्या तो, जो दीपमालिकाके नामसे जगत्प्रसिद्ध है, इस महीनेका एक विशिष्ट उत्सव है। नारदजीके वचनानुसार इस उत्सवको द्वादशी, त्रयोदशी, चतुर्दशी, अमावास्या और प्रतिपदा—पाँच दिनतक लगातार मनाना चाहिये, जिसका क्रम निम्नलिखित है। द्वादशीके दिन गोवत्सद्वादशीका उत्सव होता है। इसमें दूधवाली, बछड़ेसहित सुन्दर गौको स्नान कराकर झूल उढ़ावे, पुष्पमाला पहिनावे, सींग मँढ़ावे, चन्दन लगावे और ताम्रपात्रमें गन्ध, अक्षत, पुष्प और तिलसहित जल डालकर इस मन्त्रसे गौके चरणोंमें अर्घ्य प्रदान करे—

क्षीरोदार्णवसम्भूते सुरासुरनमस्कृते।
सर्वदेवमये मातर्गृहाणार्घ्यं नमो नमः॥

'अमृतमन्थनके समय क्षीरसागरसे उत्पन्न हुई, देवताओं तथा असुरोंद्वारा नमस्कृत, सर्वदेवस्वरूपिणी माता! मेरेद्वारा दिये हुए इस अर्घ्यको स्वीकार करो। तुम्हें बार-बार नमस्कार हैं।'

अनन्तर गौको उड़दके बड़े खिलावे और इस प्रकार प्रार्थना करे—

सुरभि त्वं जगन्मातर्देवि विष्णुपदे स्थिता।
सर्वदेवमये ग्रासं मया दत्तमिमं ग्रस॥ १॥
ततः सर्वमये देवि सर्वदेवैरलङ्कृते।
मातर्ममाभिलषितं सफलं कुरु नन्दिनि॥ २॥

'हे कामधेनु! हे जगदम्बे! हे स्वर्गमें रहनेवाली देवी! हे सर्वदेवमयि! मेरेद्वारा अर्पित इस ग्रासका भक्षण करो। हे सर्वरूपिणी देवी! हे समस्त देवताओंके द्वारा अलङ्कृत माता नन्दिनी! मेरा मनोरथ पूर्ण करो।'

इसके उपरान्त रात्रिके समय विधिपूर्वक देवता, ब्राह्मण, गौ, घोड़े आदि पशु एवं ज्येष्ठ और श्रेष्ठ—बूढ़े-बड़े लोगों तथा दादी, माता, बूआ, मौसी आदि पूज्य स्त्रियोंका भलीभाँति आदर-मानसहित नीराजन करे—आरती उतारे। दूसरे दिन अर्थात् कार्तिक कृष्ण १३को

धनतेरस अथवा धन्वन्तरि-त्रयोदशी कहते हैं। इस दिन भगवान् धन्वन्तरिजीने दुखी जनोंके रोग-निवारणार्थ जन्म लेकर आयुर्वेदका उद्धार किया था। इसलिये उस दिन भगवान् धन्वन्तरिजीका जन्ममहोत्सव भलीभाँति मनाना चाहिये। और सन्ध्या समय घरसे बाहर यमराजके नामसे मन्त्रोच्चारणपूर्वक यमदीपदान करना चाहिये। दीपदानका मन्त्र इस प्रकार है—

मृत्युना पाशदण्डाभ्यां कालेन श्यामया सह।
त्रयोदश्यां दीपदानात् सूर्यजः प्रीयतां मम॥

'त्रयोदशीके दिन दीपदानसे पाश और दण्ड लिये हुए मृत्यु देवता, कालके अभिमानी देवता तथा देवी श्यामाके सहित भगवान् यम मुझपर प्रसन्न हों।'

इसके दूसरे दिन अर्थात् कार्तिक कृष्ण १४ को नरकचतुर्दशीका उत्सव मनाया जाता है। इस दिन सूर्योदयसे पहले चन्द्रोदयके समय सुगन्धित तिलका तेल शरीरमें लगाकर ओंगा सिरपर घुमाते हुए ठंडे जलसे स्नान करना चाहिये; ऐसा करनेसे नरकका भय नहीं रहता। इस दिन तेलमें लक्ष्मीका और जलमें गङ्गाका निवास रहता है। साथ ही यम, धर्मराज आदि १४ नामोंसे तर्पण भी करना चाहिये। फिर प्रदोषके समय स्कन्दपुराणके वचनानुसार धर्मराजकी प्रीतिके निमित्त—

ततः प्रदोषसमये दीपान्दद्यान्मनोरमान्।
ब्रह्मविष्णुशिवादीनां भवनेषु मठेषु च॥

—ब्रह्मा, विष्णु, शिव, भगवती, गणेश आदि देवताओंके मन्दिरोंमें, छात्रावासोंमें तथा संन्यासी-महात्माओंके निवासस्थानोंमें सुन्दर दीपोंका दान करना चाहिये। इसी तरह नरकके उद्देश्यसे एक चौमुखा दीपक पापोंकी निवृत्तिके लिये निम्नलिखित मन्त्र पढ़कर जलाना चाहिये। मन्त्र इस प्रकार है—

दत्तो दीपश्चतुर्दश्यां नरकप्रीतये मया।
चतुर्वर्तिसमायुक्तः सर्वपापापनुत्तये॥

'आज चतुर्दशीके दिन नरकासुरकी प्रीतिके लिये तथा समस्त पापोंके विनाशके लिये यह चार बत्तियोंका चौमुखा दीपक मेरेद्वारा अर्पित किया गया।'

अगले दिन कार्तिक कृष्ण ३० को दीपावलीका प्रसिद्ध महोत्सव मनाया जाता है। इसमें सर्वत्र दीपोंद्वारा देवताओं आदिका नीराजन किया जाता है। इसीलिये यह दीपावली, दिवाली, दीपमाला, दीपमालिका आदि नामोंसे विख्यात है। इस दिन भी चतुर्दशीकी तरह अरुणोदयकालमें मङ्गल-स्नान करना चाहिये और सन्ध्या, जप, हवन, स्वाध्याय, पितृतर्पण, देवपूजन आदि नित्यकर्मसे निवृत्त हो हनुमत्पूजन एवं पितरोंकी तृप्तिके निमित्त श्राद्ध करना चाहिये। और प्रदोषकालमें, पहलेहीसे लिपे-पुते मकानोंको पुष्पमाला, पताका, वन्दनवार, आकाशदीपक एवं दीपवृक्ष आदिसे सजाकर, सुन्दर आसन बिछाकर, चौकी आदिपर श्रीनारायणसहित भगवती लक्ष्मीकी रत्नमयी, धातुमयी, पाषाणमयी, काष्ठमयी, लेप्या, लेख्या, मृण्मयी अथवा सिकतामयी (बालूसे निर्मित) मूर्तिका प्रधानरूपसे तथा गणेश, शिव, पार्वती, ब्रह्मा, सरस्वती, गङ्गा, हनुमान् आदि अन्य देवताओंका भी स्थापन करे। स्वयं भी स्वच्छ वस्त्र-आभूषण धारणकर घृत और तेलके अनेक दीपक जलावे और स्वस्तिवाचन कर वैदिक या तान्त्रिक मन्त्रोंसे विधिपूर्वक मनोनिग्रहके साथ स्थापित देवताओंका पूजन करे। पूजाविधि न जाननेवाले 'लक्ष्म्यै नमः' इसी मन्त्रसे पूजन करें। इसके पश्चात् भगवती लक्ष्मीकी प्रसन्नताके लिये गोपालसहस्रनाम, लक्ष्मीस्तोत्र एवं 'हिरण्यवर्णां हरिणीम्' इस वैदिक श्रीसूक्तका पाठ और हवन करें। इसी प्रकार अर्धरात्रिपर्यन्त पूजा करते रहें। अर्धरात्रिके समय भगवती लक्ष्मी प्रत्येक गृहमें आकर भक्तोंको वर देती और वहाँ निवास करती हैं। फिर चौथे पहरमें स्त्रियाँ सूप बजाकर घरमेंसे 'जाओ

दारिद्रय, आओ लक्ष्मी' कहती हुई अलक्ष्मी अर्थात् दरिद्रताको निकालें। पाँचवें दिन कार्तिक शुक्ला १ को गोक्रीडामें गौओंको अच्छी तरह सजाकर, पूजा कर, भक्ष्यादि दे, यों प्रार्थना करें—

लक्ष्मीर्या लोकपालानां धेनुरूपेण संस्थिता।
घृतं वहति यज्ञार्थे मम पापं व्यपोहतु॥

'धेनुरूपसे स्थित जो साक्षात् लोकपालोंकी लक्ष्मी है, तथा जो यज्ञके लिये घी देती है, वह गौ-माता मेरे पापोंका नाश करे।' और भगवान्का पूजन कर अनेक प्रकारके भक्ष्य, भोज्य, चोष्य, लेह्य आदि पदार्थोंका भोग लगाकर अन्नकूट नामका उत्सव करें। एवं रात्रिके समय बुभुक्षितोंको विविध दानादि देकर, गन्धाक्षत-पुष्पादिसे पूजा कर, राजा बलिको प्रसन्न करें। पूजनका मन्त्र यह है—

बलिराज नमस्तुभ्यं दैत्यदानववन्दित।
इन्द्रशत्रोऽमराराते विष्णुसान्निध्यदो भव॥

'हे दैत्यों एवं दानवोंद्वारा वन्दित, इन्द्रशत्रु, देवताओंका विरोध करनेवाले राजा बलि! तुम्हें नमस्कार है। अपने ही समान तुम मुझे भी भगवान् विष्णुका सान्निध्य (उनके समीप निवास) प्रदान करो।' ऐसा करनेसे विष्णुभगवान् प्रसन्न होते हैं। इसी रात्रिमें गोबरका सुन्दर गोवर्धन पर्वत बना, दीपदान कर, उसमें श्रीभगवान्का षोडशोपचार अथवा पञ्चोपचार (गन्ध, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य) से पूजन कर इस प्रकार प्रार्थना करें—

गोवर्द्धनधराधार गोकुलत्राणकारण।
बहुबाहुकृतच्छाय गवां कोटिप्रदो भव॥

'हे गोवर्धन पर्वतको उठानेवाले! हे गोकुलको उबारनेवाले तथा अनेक भुजाओंसे छाया करनेवाले प्रभो! हमें करोड़ों गायें प्रदान कीजिये।' यों पाँच दिनका यह दीपमालिकोत्सव सम्पन्न होता है। यहाँ प्रसङ्गसे यमद्वितीया—भैयादोजका भी कुछ वर्णन कर देना उचित जँचता है।

यह तिथि प्रतिपद्युक्त मध्याह्नमें मानी जाती है।

पूर्वकालमें यमुनाजीने अपने भाई यमराजको इस दिन अपने घर बुलाकर प्रीति और आदरके साथ भोजन कराया था। तभीसे यह तिथि यमद्वितीया नामसे प्रसिद्ध हो गयी है।* इस दिन पुरुषोंको अपने घर भोजन न कर प्रेमपूर्वक बहिनके हाथका बना हुआ भोजन करना चाहिये। उस दिन यदि यमुनास्नान मिल जाय तो सोनेमें सुगन्धका योग हो जाता है। बहिन-भाईको भोजन करानेसे पहिले इस मन्त्रका उच्चारण करना चाहिये—

एह्येहि मार्तण्डज पाशहस्त
यमान्तकालोकधरामरेश।
भ्रातृद्वितीयाकृतदेवपूजां
गृहाण चार्घ्यं भगवन्नमस्ते॥
भ्रातस्तवानुजाताहं भुङ्क्ष्व भक्तमिदं शुभम्।
प्रीतये यमराजस्य यमुनायां विशेषतः॥

'हे सूर्यपुत्र! हे पाश धारण करनेवाले! हे यम! हे काल! हे प्रकाशको धारण करनेवाले देवताओंके स्वामी! भ्रातृद्वितीयाको की हुई मेरी देवपूजा तथा अर्घ्य-दान स्वीकार करे। हे भगवन्! आपको मेरा नमस्कार है। हे भाई! हे कल्याणरूप! मैं तुम्हारी छोटी बहिन हूँ; यमराजकी प्रसन्नताके लिये विशेषकर यमुनातटपर तुम मेरे द्वारा अर्पित इस अन्नको स्वीकार करो।' भोजन करके भाई भी बहिनोंका यथाशक्ति उत्तमोत्तम वस्त्र, अलङ्कार, भोजन-सामग्री आदि देकर उचित सम्मान करें। सगी बहिन न हो तो मौसी, बुआ वा मामाकी लड़की अथवा अन्य रिश्तेकी बहिनके हाथका भोजन करें। इस प्रकार भोजन करानेसे भाईकी उम्र बढ़ती है एवं उसको धन, धान्य और सुख-सम्पत्तिकी प्राप्ति होती है और बहिनको भी पुत्रप्राप्ति आदि सब सुखोंका लाभ होता है, पतिकी आयुवृद्धि होती है।

* कार्तिके शुक्लपक्षस्य द्वितीयायां युधिष्ठिर।
यमो यमुनया पूर्वं भोजितः स्वगृहेऽर्चितः॥

हिंदूमात्रका परम कर्तव्य है कि श्रद्धा और भक्तिसे इस धार्मिक उत्सवको मनावें। उत्सव ही किसी जाति या राष्ट्रकी सौभाग्यलक्ष्मीका सूचक है। प्राचीन कालमें जब यह त्यौहार प्रेम और उत्साहसे मनाया जाता था, तब भारतवर्ष उन्नतिके शिखरपर आसीन था। भगवती लक्ष्मी पूजासे प्रसन्न हो यहाँपर निरन्तर निवास करती थीं। इन्द्रदेव समयपर वर्षा करते थे। रत्नगर्भा वसुन्धरा अनेक रत्न, सुवर्णादि धातु एवं जौ, चावल, गेहूँ आदि विविध धान्य और ओषधियाँ उत्पन्न करती थीं। गोमाता हृष्ट-पुष्ट हो दूध, दही, घृतकी नदियाँ बहाती थीं। ब्राह्मणादि चारों वर्ण निज-निज धर्मका पालन करते हुए तथा सङ्गठनके साथ प्रेमसे रहते हुए चौदह विद्या एवं चौंसठ कलाओंमें निपुणता प्राप्तकर, ब्रह्मचिन्तनमें तत्पर रह, इस लोकमें अभ्युदय और परलोकमें निःश्रेयसकी प्राप्ति करते थे। यही मनुष्यका ध्येय है।

वितरणका आदर्श *

(लेखक—पं०श्रीदयाशङ्करजी दुबे, एम्० ए०, एल्-एल्० बी०)

जन्माष्टमीका दिवस आ रहा है। इस अवसरपर मथुरा जानेके लिये राजाराम इधर कई वर्षोंसे उत्सुक हो रहे हैं। हर बार कोई-न-कोई विघ्न उपस्थित हो जाता और तैयार रहनेपर भी घरसे निकलना न होता था। परन्तु इस बार वे दो दिन पहलेसे ही घरसे निकलकर प्रयाग आ गये। सोचा, बिहारीबाबूको भी साथ ले लेंगे। बिन्दू और मुनियाँ उछल पड़े। बोले—मामा आये, मामा आये; तरह-तरहकी चीजें लाये।

मोहन बोला—मैं रोज सोच लेता था कि राजा मामा बहुत दिनोंसे नहीं आये।

बिहारीने कहा- आ गये। यह बहुत अच्छा हुआ।

शामको राजाराम, मोहन और बिहारी घूमने निकले और बाँध-रोडपर देरतक टहलते रहे। रास्तेमें कई मँगते मिले। उनमें दो आदमी थे, एक कुबडी औरत और एक लड़का। सामने पड़ते ही सब-के-सब पैसेके लिये गिड़गिड़ाने लगे। मोहनने तुरंत एक आना पैसा देकर कहा—सब लोग बाँट लेना।

तब वे मँगते सामनेसे हट गये। घूमते-घूमते ये लोग इधर-उधरकी बातें करते जा रहे थे। मोहनने इसी अवसरपर कह दिया—लेकिन चाचा, ये मंगते भी क्या अनुचित वितरणके शिकार हैं?

राजाराम बोले—मेरी रायमें तो इनसे वितरणका कोई सम्बन्ध नहीं होना चाहिये। समाजका कौन-सा लाभ ये करते हैं, इनके द्वारा धनोत्पत्तिमें कौन-सी सहायता मिलती है?

यह बात बिहारीको जरा खटक गयी। लेकिन उन्होंने कुछ कहा नहीं। वे कुछ क्षणोंतक मौन ही बने रहे।

मोहन अपने चाचाकी भाव-भङ्गी ताड़ता रहा। किन्तु यह स्थिति बहुत थोड़ी ही देर क़ायम रही। क्योंकि बिहारीसे बोले बिना नहीं रहा गया। उसने कहा——हाँ, इनको तो ज़हर देकर मार डालना चाहिये! संसारमें रहने और ज़िन्दगी लाभ करनेका इन्हें अधिकार ही क्या है!

राजाराम बिहारीके मनका भाव ताड़ गये। अतएव मुसकराते हुए बोले—मैं क्या जानूँ, क्या करना चाहिये, क्या नहीं। अर्थशास्त्रका दृष्टिकोणमात्र मैंने आपके सामने रक्खा है। उसके अनुसार उन लोगोंपर

* लेखककी शीघ्र प्रकाशित होनेवाली 'अर्थशास्त्रकी रूप-रेखा' नामक पुस्तकसे।

विचार नहीं किया जाता, जिनका सम्बन्ध उत्पत्तिसे नहीं है।

फिर थोड़ी देर चुप रहनेके अनन्तर बिहारी बोले—अच्छा, इन्हींसे पूछ लो किसने इनकी यह दशा की है। मोहन, ज़रा बुलाना तो इन मँगतोंको।

मोहनने आगे बढ़कर उन मँगतोंको बुलाया। उन लोगोंमेंसे एक आदमी बोला—कुछ काम है का, बाबू?

मोहनने कहा-हाँ, काम ही तो है। तुमको और पैसे दिलवायेंगे।

तब वे लोग प्रसन्नतापूर्वक मोहनके साथ चल दिये।

किनारे सड़कपर पत्थरकी बेंचें पड़ी हुई थीं। उन्हींपर राजाराम और बिहारी बैठ गये थे। मँगते भी पहुँच गये। बिहारीने पूछा—तुम लोग कितने दिनसे भीख माँगते हो?

एक मँगता—हजूर! पाँच बरिस हुइ गवा।

बिहारी—क्यों यह पेशा इख्तियार किया?

वही मँगता—जिमीदार लगान बढ़ाइ दिहिन, खेतन मां पैदावारी कुछु भई नाहीं। जब भूखेन मरै लागिन, और कुछु नहीं सूझ पड़ा, त भीखइ माँगन सुरू कै दिहिन!

तब दूसरे आदमीसे बिहारीने पूछा—और तुम?

वह आदमी—हमरे ऊपर सरकार महाजन क रुपया बहुत हुइ गवा रहा। कौनौ तना ते जब उद्धार न हुइ सकेन, बैलउ हमार बिकाइ गये, तब और का करतिन। कौनौ तना ते पेट त पालइ क चही।

बिहारीने तब जेबसे एक आना पैसा तुरंत निकालकर उन्हें दे दिया और कहा—जाओ; बस, इसीलिये बुलाया था।

जब वे लोग चले गये, तब बिहारीने गरजते हुए कहा—बोलो, मैं तुम्हींसे पूछता हूँ कि क्या यह जमींदारों तथा महाजनोंकी शोषण-नीतिका फल नहीं है? एक इन्हीं लोगोंका प्रश्न नहीं है। सारे देशकी यह दशा इसी शोषण-नीतिने कर रक्खी है। अगर वितरणकी नीतिमें दोष न होता, तो क्या इसकी सम्भावना थी?

तब राजाराम बोल उठा—यह मैं मानता हूँ। पर साधु-संतोंको पैसा देना परमार्थवादका आदर्श है। अर्थशास्त्रसे इसका कोई सम्बन्ध मेरी समझमें नहीं है।

बिहारी—तब मैं कहूँगा कि जो वितरण बंदर-बाँटकी नीतिके अनुसार होता है, वह हिंसापूर्ण है। और मैं तो यह भी मानता हूँ कि परमार्थमें ही स्वार्थका अनुभव करना—परोपकारमें ही आनन्दकी सत्ता मानना—वितरणका आदर्श है। मेरी दृष्टिमें तो जो महात्मा लोग जगत्के कल्याणके लिये निरन्तर मानसिक और शारीरिक परिश्रम करते और स्वयं बहुत ही सादा जीवन व्यतीत करते हैं, वे वन्दनीय हैं। मुझे तो उस वर्गसे सदा घृणा रही है, और रहेगी, जो अपने भाई, कुटुम्बी, साथी, पड़ोसी, जातीय और तदनन्तर मनुष्यमात्रके स्वार्थोंकी किञ्चित् भी परवा न करके अपना ही पेट भरना जानता है, अपना ही आराम देखता और अपने ही विलास, ऐश्वर्य और यश-वृद्धिकी चिन्तामें निरन्तर लीन रहकर दूसरोंकी असुविधाओं, तकलीफ़ों और कठिनाइयोंकी न परवा करता है न उनके निवारण और सुधारमें योग देता है। उसकी सम्पत्ति व्यर्थ है, उसका जन्म व्यर्थ हुआ है और उसके जीवनको धिक्कार है! मैं जब किसी गरीब विद्यार्थी, बेकार युवक और दुखी सद्गृहस्थको देखता हूँ, और चाहनेपर भी उसकी कुछ सेवा नहीं कर पाता, तब उस रातको मेरी नींद उचट जाती है। मैं सोचता रह जाता हूँ कि अगर मैं इस व्यक्तिकी कुछ सहायता नहीं कर सकता, तो मैं जीवित क्यों हूँ। वितरणके सम्बन्धमें भी मेरा यह विश्वास है कि जो वितरण हमारी आर्थिक

असमानताको बढ़ानेमें सहायक है, वह वास्तवमें गलत है। उसका आधार न्यायसङ्गत नहीं हो सकता, जरूर उसमें बड़ी कमी है।

राजाराम–आप अपनी बात जाने दीजिये। जो लोग खेती करते या कल-कारखाने कायम करते और उसमें अपनी सारी शक्तियाँ लगा देते हैं, वे परमार्थवादके अनुसार अगर व्यवहार करने लगें तो उनकी सारी योजना ही असफल हो जाय! क्या कभी इस दिशाकी ओर भी आपका ध्यान गया है?

बिहारी–इस दिशाकी ओर मेरा ध्यान सदासे रहा है। मैं ऐसे उत्पादकोंको भी जानता हूँ, जिन्होंने अपने खेतों और कल-कारखानोंमें वितरणके उच्च आदर्शका पूर्णरूपसे पालन किया है।

राजाराम–कोई उदाहरण दीजिये।

बिहारी–अभी दस वर्ष पहलेकी बात है, एक छोटी-सी रियासतके अधिकारी दो भाई थे। उन दिनों छोटा भाई विश्वविद्यालयमें पढ़ता था। जब वह शिक्षा पूरी करके रियासतके काममें पड़ा, तो उसने देखा बड़े भाई साहब किसानोंके अधिकारोंमें व्यर्थका हस्तक्षेप कर रहे हैं। तब उन्होंने बड़े भाई साहबसे कहा कि 'भैया! आप अगर इसी तरह किसानोंको सतायेंगे, तो मुझे अलग होना पड़ेगा।'

इसपर बड़े भाई बलवंतसिंहने कहा—यशवंत, तुम इस सुधार-नीतिके कारण बिल्कुल इसी हालतको प्राप्त हो जाओगे, जिस दशामें ये लोग हैं।

यशवंत बोला–मुझे खुशी होगी, आप बटवारा कर दीजिये। और बटवारा हो गया।

राजारामने मुसकराते हुए पूछा–उसके बाद उन जमींदार महाशयकी क्या गति हुई?

बिहारीने आवेशके साथ कहा-कोई दुर्गति नहीं हुई, राजाराम! उसने वे बेजा लगान, जो बलवंतने बढ़ा रक्खे थे, एकदमसे कम कर दिये। जो लोग बकाया लगानके कारण बीस-बीस वर्षसे महाजनोंके कर्जदार थे, उन सभी किसानोंका लगान दो-दो सालके लिये उन्होंने माफ कर दिया। उसके बाद उन्होंने उनके खेतोंकी चकबंदी कर दी। अनाजका बीज बढ़िया-से-बढ़िया उन्होंने मँगवाया और किसानोंको दिया। जुताने, सिंचाई कराने और कटानेका काम उन्होंने नयी मशीनोंके द्वारा आधुनिक रीतिसे कराया। इस नीतिसे पाँच वर्षके आयोजनमें उन्होंने अपनी रियासतके सारे किसानोंको खुशहाल कर दिया। वे सब लोग आज उन्हें अपना राजा मानते हैं। उनके गाँवोंमें जाकर देखो, तो तुम्हारी तबीयत खुश हो जाय। पक्की सड़कोंपर ऐसी सफाई है, मकानोंकी ऐसी सुन्दर बनावट है, शिक्षा-संस्थाएँ, चिकित्सालय तथा सहयोग-समितियोंका ऐसा सुन्दर आयोजन है कि आपको वहाँ दूसरा ही संसार नजर आयगा।

इसी समय राजारामने पूछा–और कुँवर यशवंतसिंहके कोषका क्या हाल है?

बिहारी–मान लो, कोषमें उतना नकद रुपया नहीं है, जितना बलवंत भाईके यहाँ। किन्तु इससे क्या, वितरणके आदर्शके अनुसार काम करनेपर सफलता तो उन्हें मिली है! यह ठीक है कि आजकल ऐसे उदाहरण बहुत कम देखनेमें आते हैं।

आजकल तो सुनता हूँ, सेठजी हड़तालके समय मिल बंद कर देते हैं और कहते हैं—'मेरा क्या बिगड़ेगा; ज़िंदगी भर आरामसे कट जायगी, इतना पैदा कर लिया है। पर देखना है, साम्यवादी नेताओंके बहकानेमें आकर ये हड़ताल करनेवाले मजदूर कितने दिनतक ठहरते हैं!' मैं तो कहता हूँ कि जो लोग अपने स्वार्थोंकी रक्षा करनेके लिये पसीना बहाने और खून सुखानेवाले किसानों और मजदूरोंकी जीविका अपहरण करनेमें किसी तरहकी विजय अथवा

आत्मतृप्तिका अनुभव करते हैं, वे मनुष्य नहीं रह गये ; वे पशु हो गये हैं। और आजका पूँजीवाद अगर वितरणके आदर्शकी रक्षा करनेमें समर्थ नहीं है, अगर वह असमर्थों और असहायोंको सहारा, भूखे-भटके व्यक्तियोंको रोटी और बेकारोंको जीविका देनेमें समर्थ नहीं है, तो उसका पोषक वह पूँजीपतिवर्ग मनुष्यतासे गिर गया है, धर्म-कर्मसे गिर गया है और अब वही स्थिति उसके सामने आनेको बाक़ी रह गयी है, जब वह यह अनुभव करेगा कि यह कुल्हाड़ी तो मेरे ही पैरोंमें लगी है !

मोहनने कहा—निःसन्देह, चाचा ! यही बात है।

राजारामने कहा—अच्छा, बहुत हो गया । अब चलो, लौट चलें।

तब सब लोग लौट पड़े।

थोड़ी देर मौन रहनेके बाद बिहारीने पूछा—तुम्हारे गाँवके उन रोशन महाशयका क्या हाल है, जो बहुत छोटे पैमानेपर करघा चलाते थे और कपड़ेकी बुनवाई-का काम करते थे ?

राजाराम चुपचाप, बिना किसी प्रकारका भाव-परिवर्तन प्रकट किये हुए बोले—अब तो मैं भी उनके इस धंधेमें शामिल हो गया हूँ।

आश्चर्यसे बिहारीने कह दिया—अच्छा !

और ठीक उसी समय राजाराम बोल उठे—गत वर्ष नब्बे रुपयेका लाभ हुआ था, जिसमें हमलोगोंने केवल बीस रुपये ले लिये, बाक़ी ७०) सात कर्म-चारियोंमें बाँट दिये।

तब तो हँसते हुए बिहारीने कहा—तुम बड़े बने हुए हो ! मुझको बेकार क्यों इतना तंग किया ?

स्त्रीकी शिक्षा

(लेखक—श्रीरामनाथ 'सुमन')

एक नयी स्त्री, जो घरमें आती है, बहुत सँभालकर रखने और बर्तनेकी चीज़ है। घरके, कुटुम्बके और समाजके अनुकूल उसे तैयार करनेका काम कुछ हँसी-खेल नहीं है; पर इसे पूरा किये बिना दाम्पत्य-जीवनमें सुख पानेकी उम्मीद करना महज़ ख़ामख़्याली है। दाम्पत्य-जीवनके सुख और शान्तिके लिये स्त्रीका शिक्षण बहुत आवश्यक है । परन्तु शिक्षासे मेरा मतलब अक्षर-ज्ञान या किताबी तालीमसे नहीं है। स्कूलों और कालेजों-में लड़कियोंको जो तालीम दी जाती है, वह जिंदगीकी जरूरतोंकी तरफ़ बिना ध्यान दिये दी जाती है। आठ-दस साल या इससे भी ज़्यादा समय हम शिक्षणमें खर्च करते हैं । पर कैसे अफ़सोसकी बात है कि आगे जीवनमें इस शिक्षाका बहुत कम उपयोग हो पाता है। हमारी ज़िंदगीका एक बहुत कीमती टुकड़ा यों ही बीत जाता है। हमारी मेहनत प्रायः व्यर्थ जाती है। इस तरहकी शिक्षा उस 'इन्वेस्टमेंट' या रुपया लगानेकी तरह है जिसका अच्छा बदला मिलना तो दूर रहा, जो खुद ही डूब जाता है।

कन्याशालाओंमें और घरोंपर भी, आज लाखों लड़कियाँ पढ़ रही हैं। हर साल हज़ारों लड़कियाँ हाई-स्कूलोंकी अन्तिम परीक्षाओंमें सफल होकर निकलती हैं और जिनको ईश्वरने साधन दिये हैं, वे कालेजोंमें भी जाती हैं। पर उच्चशिक्षित लड़कियोंमेंसे कितनी ऐसी हैं, जिनका विवाहित जीवन सफल कहा जा सकता है; जिनके जीवनमें अतृप्ति नहीं है, अशान्ति नहीं है और जो अपनी पिछली जिंदगीपर सहानुभूतिकी नज़र डाल सकती हैं, अपने वर्तमानसे सन्तुष्ट हैं और भविष्यकी तरफ़ आशापूर्ण दृष्टिसे देखती हैं ? जो कुछ देखनेमें

आता है, वह ठीक इसका उल्टा है। यह सच है कि पढ़ी-लिखी लड़कियाँ इससे इन्कार करेंगी, शिक्षित सम्प्रदाय इसपर प्रश्नचिह्न लगायेगा; पर इसका कारण यह है कि आधुनिक शिक्षाने हमें आत्मवञ्चनाकी कलामें पारङ्गत कर दिया है। जब हम घुट-घुटकर मर रहे हों, तब भी लोगोंसे यही कहना पसंद करते हैं कि कुछ नहीं हुआ है—हम मज़ेमें हैं। आबरू और इज्जतकी एक झूठी धारणा सत्यपर पर्देकी तरह पड़ी हुई है। फिर शिक्षित लड़कियाँ बोलना जानती हैं—अनेक प्रकारकी विचारधाराओंसे अपने मनके असली भावोंको और स्थितियोंको छिपा भी सकती हैं, छिपाती हैं।

यह नहीं कि जो शिक्षा उनको मिली है, वह तत्त्वतः बुरी है। उसमें अच्छाइयाँ हैं; उसमें कल्पना-शक्ति और बुद्धिके विकासकी गुंजाइश है। जो चीज़ बुरी है, वह है उसका गलत प्रयोग। भावी जीवनके उपयोगका ख़्याल किये बिना शिक्षाका प्रयोग करना नादानी है। और सबको एक ही साँचेकी शिक्षा देना भी ठीक नहीं। शिक्षित लड़कियाँ इसीलिये गृहजीवनमें अपनी विद्याका कुछ विशेष उपयोग नहीं कर पातीं; क्योंकि शिक्षा देते समय उनके भावी जीवनका कुछ विचार ही शिक्षकोंके मनमें, अथवा पाठ्यक्रम बनानेवालोंके सामने नहीं होता।

इसलिये जब मैं यह कह रहा हूँ कि दाम्पत्य-जीवनके सुखके लिये स्त्रीकी शिक्षा बहुत जरूरी है, तब मैं अक्षरज्ञान या किताबी ज्ञानकी बात नहीं कर रहा हूँ। मेरा मतलब उस ट्रेनिंग अथवा तैयारीसे है, जो स्त्रीके लिये दाम्पत्य-जीवनमें अपना महत्त्वपूर्ण स्थान समझने और उस स्थानकी जिम्मेदारी ठीक तौरपर निबाहनेके लिये जरूरी है।

सबसे पहली बात, जो स्त्रीको समझाने और उसके अंदर पैदा करनेकी ज़रूरत है। यह है कि वह सहिष्णु हो, सहनशील हो। सपनोंके पंखोंपर उड़नेवाली नारी काव्यकी दुनियाकी भले ही रानी हो, दाम्पत्य-जीवनमें उसका महत्त्व कुछ भी नहीं है—उल्टे वह उसके लिये एक अभिशाप है। जिंदगीमें दुःख-सुख लगे ही रहते हैं; जहाँ चार आदमी रहते हैं, वहाँ कभी-कभी कुछ खट-पट भी हो जाती है। कुटुम्बमें सभी तरहके लोग होते हैं। स्त्रीको इन सबसे बर्तना पड़ता है। इसके अलावा भी कभी माँदगी है, कभी कोई काम-परोजन है, कभी कुछ और सिलसिला है। किसीका आना लगा है, किसीका जाना। जन्म-मरण, शादी, त्यौहार-व्रत—मतलब कुछ-न-कुछ लगा ही रहता है। नन्ही-सी जान, उसे चारों तरफ़ पिलना पड़ता है; सभी उसे खींचते हैं। सभीकी दिलजोई उसे करनी पड़ती है; सबकी बात सुननी पड़ती है। ऐसी लगातार मेहनत और चिन्ताकी जिंदगीमें केवल भावनाओंके बलपर कोई स्त्री ज़्यादा दिन नहीं ठहर सकती। भावुक नारीको ऐसी जिंदगीमें रोना-ही-रोना आता है। उसे अपने उषा-से सुनहले बचपनके दिन याद आते हैं; उसे माँका दुलार और पिताका स्नेह याद आता है। उसे अपनी सहेलियोंकी चुहलबाजियाँ और ठिठोलियाँ याद आती हैं और फिर वह सोचती है—कैसे-कैसे अरमान लेकर मैं आयी थी! मुझे कहना चाहिये कि ऐसी स्त्री ब्याह करके कभी सुखी नहीं हो सकती। सुखी वह स्त्री हो सकती है, जो अपने भूतकालको—अपने बीते ज़मानेको भूल जाती है और कल्पनाओंको छोड़कर जो कुछ उसके सामने है उसीके सहारे, सचाईके साथ, अपनी गृहस्थीका निर्माण करनेमें लग जाती है। जो था या जो हो सकता था, इसकी कल्पनाको समझदार स्त्री दूर कर देती है। जो नहीं है, उसपर दुखी होनेकी जगह जो है उसे लेकर, उसका संस्कार और विकास करके एक सुखी और तृप्त जीवनकी रचना करनेमें तत्पर नारी विवाहित जीवनकी देवी है।

स्त्रीको सहिष्णुताकी, सहनशीलताकी शिक्षा देना

माता-पिताका भी, और उससे ज़्यादा पतिका पहला कर्तव्य है। विवाहित जीवनमें सन्तोष और क्षमाकी वृत्ति वह कवच है, जिसपर विपदाओंके अनेक प्रहार विफल हो जाते हैं। दूसरी बात नारीमें उदारहृदयताका विकास करना है। परिस्थिति, वातावरण, संस्कार और घरके प्राणियोंतक ही सहानुभूतिके सङ्कुचित हो जानेके कारण उदार माताओंका समाजसे लोप होता जा रहा है। प्रायः नारी अनुदार और सङ्कुचित हो जाती है। उसकी सङ्कुचितताको दूरकर उसके अंदर उदार हृदय पैदा करना पतिका काम है। केवल ज़बानी उपदेश देनेसे यह न होगा। जबतक पति स्वयं अपने आचरणसे इस प्रकारकी शिक्षा न देगा, तबतक उसका कुछ विशेष फल न होगा। पतिको समझना चाहिये कि गृह स्वयं एक छोटा समाज है। नारी इस समाजकी रानी है। यद्यपि उसका हृदय पतिमें केन्द्रित है, पर उसे देखना सबकी तरफ़ है। पतिके प्रेम और उसके प्रति श्रद्धासे वह बल ग्रहण करती है; वही उसका कवच है। परन्तु वह केवल रमणी नहीं है; वह बेटी है, वह पत्नी है, वह माता है, वह बहन है। उसे केन्द्रके चारों ओर फैले हुए अनेक बिन्दुओंका पोषण करना है। सास और ससुर उससे सेवा चाहते हैं—वे चाहते हैं लक्ष्मी-सी एक बहू आकर उनके घरके सब अभावोंको पूरा कर दे। बहूको अपनी विनय, अपनी सरलता और अपने प्रेमसे उनके हृदयके उस खाली स्थानको भर देना है, जो उनकी अपनी लड़कियोंके ससुराल चले जानेसे पैदा हो गया है। उसे ऐसा बनना है कि देवरानियाँ उसे पाकर समझें कि उनकी बड़ी बहन आ गयी है। ननदें फूल-सी खिल उठें। पति आश्वस्त होकर प्रभुको धन्यवाद दे कि उसके पुण्यका फल उदय हुआ है और बच्चे उसे पाकर अपना सब कुछ भूल जायँ। मतलब उसे सबकी ज़रूरतोंकी आगाही रखनी है और सबको सन्तुष्ट और सुखी करनेका यत्न करना है। एक साथ उसे कई तरहकी सेवाएँ देनी पड़ती हैं और यही उसकी ज़िन्दगीकी सबसे कठिन परीक्षा ली जाती है।

प्रफुल्लताको भी यों हम सहनशीलता और उदार-हृदयताके अंदर ही शामिल कर सकते हैं। पर असलमें यह चीज़ गृहस्थजीवनकी सफलताके लिये सबसे जरूरी है। दुःख-सुख जो आ पड़े, उसे हँसते हुए सहन करना सफल जीवनकी कुंजी है। इस ज्वारमें सब मैल बह जाती है और वर्षाकी दोपहरीमें बादलोंको फाड़कर निकल पड़नेवाले सूर्य-प्रकाशकी तरह दुर्दिन बीत जाते हैं और सौभाग्य हँस उठता है। यदि सचाई और ईमानदारीसे अभ्यास कराया जाय, तो इस गुणको प्राप्त कर लेना कुछ बहुत कठिन भी नहीं है। अभ्याससे यह सुलभ है।

स्त्रियोंका जीवन एक प्रकारका ज्वार-भाटा है। कभी उसमें तूफ़ान आता है; वे लहरोंपर नाचती फिरती हैं, भावनाओंकी दुनियामें उड़ती हैं और फिर क्षणभर बाद भावनाकी ये लहरें उन्हें सूखी रेतके निकट छोड़ जाती हैं। इसलिये स्त्रीको यह भी बताना चाहिये कि जीवन कठोर कर्मक्षेत्र है। इसमें पग-पगपर युद्ध करना है, काटोंके रास्तेपर चलना है। धीरज सबसे बड़ा मित्र है और उस समय भी सहायता करता है, जब अपने सब लोग उसे छोड़ देते हैं। इसीलिये जीवनमें आवश्यक गम्भीरता और धीरजकी वृत्ति भी होनी चाहिये।

सबसे बड़ी बात नारीके लिये यह है कि उसे अपने मातृत्वके गौरवका बोध हो; वह समझे कि वह माँ है, वह समाजकी माता है। इसलिये स्वभावतः उसे

कष्ट भी अपनी पद-मर्यादाके अनुकूल ही सहन करना है। कोई ऐसी सामान्य नारी नहीं है, जिसका हृदय 'माँ' की पुकारपर उमड़ता नहीं। यह एक शब्द—एक सम्बोधन उसके अंदर युग-युगसे सञ्चित हो रही भावराशिको उभाड़ देता है। हृदयकी गहराईसे वह उस शब्दका उत्तर देना चाहती है। जो नारी अपने इस गौरवको समझती है, वह कुटुम्बका कोई भी काम करते समय कठिनाइयों और बोझके कारण अधीर नहीं होती। क्योंकि वह माँ है—उसको तो देना-ही-देना है। उसको तो तिल-तिल करके अपनेको खपाना ही है। उसे तो अपने रक्त-मांससे सन्तति और समाजकी रचना करनी है। उसका दान कभी समाप्त नहीं होता। वह समाजकी चिरजाग्रत् यज्ञवेदिका है।

ऐसी स्त्री कामोंकी भीड़में नाक-भौं नहीं सिकोड़ती। उसे हर काममें एक स्वाद आता है। हर काममें वह निजत्वका बोध करती है। हँसते-हँसते वह दिनोंका काम घंटोंमें पूरा कर लेती है। उसके लिये पहाड़-से दिन फूल हो जाते हैं।

इसके विरुद्ध जो स्त्रियाँ अपने आन्तरिक गौरवका अनुभव नहीं करती, वे सदा अपने कष्टोंका रोना रोती हैं। उनके दुखड़ेका रजिस्टर कभी बंद नहीं होता। जब पति जल्द एक ग्लास ठंडा पानी माँगता है, तब वह बड़े आलस्य और कष्टका भाव जनाती हुई उठती है; जल्दी करनेको कहनेपर कहती है तुम तो हथेलीपर सरसो उगाना चाहते हो—कुछ मेरे अंदर बिजली तो है नहीं कि झट पहुँच गयी। बच्चे आकर मान करते हैं—घेरते हैं, गलेमें हाथ डालते हैं या चारों ओर किलकारियाँ मारते हैं, तो वह कहती है—बाप रे बाप! आसमान सिरपर उठा लिया। वह हर कामको दासी—मजदूरनीकी तरह करती है। किसी कामको करते समय उसके हृदयमें उत्साह या प्रसन्नता नहीं होती—स्फूर्ति नहीं होती। अगर वह अपनेको गृहलक्ष्मी और माता समझती तो सचमुच उसके शरीरमें बिजली कौंधती होती। प्रेम वह रसायन है, जो जीवनको कभी न मरनेवाली शक्तिसे भर देता है। उसीके सहारे जीवनकी कठिनाइयाँ बात-की-बातमें पार हो जाती हैं। मन, प्राण, शरीर–सब उस जीवनी-शक्तिसे पूर्ण रहते हैं, जो कामोंके बीच अपूर्व उल्लासका अनुभव करती है।

यदि नारीके हृदयमें धर्मका भाव है, श्रद्धा है, पतिके प्रति सच्चा प्रेम है, तो वह प्रत्येक कामको दिल लगाकर और ईमानदारीसे करती है। सेवामें ही उसका प्रेम बढ़ता और व्यक्त होता है। उसीमें उसका संस्कार होता है और उसीको पाकर वह तृप्ति बोध करती है।

इसलिये प्रत्येक पतिका धर्म है कि वह सच्चे गृहस्थ-जीवनके निर्माणके लिये स्त्रीको ऐसी शिक्षा दे और स्वयं तदनुकूल आचरण करके उसके साथ-साथ उसे प्रति पगपर आश्वस्त करते हुए, उसे सदैव अपने प्रेम और विश्वासकी छायामें रखते हुए चले। इससे गृहस्थजीवन स्वर्ग बन जायगा और प्राणोंमें अमृतका झरना बहने लगेगा।
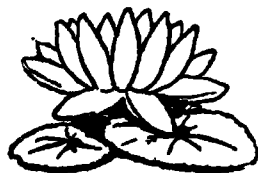
मेरे प्रियतम

(लेखक—श्रीव्रजमोहनजी मिहिर)

प्रियतमके पासतक पहुँचनेके लिये कुछ तैयारियाँ करनी पड़ती हैं। बिना सजे हुए वहाँ पहुँच जानेपर भला, उनकी दृष्टि क्यों पड़ने लगी। हृदयपटलपर आँखोंकी सेज बिछाये बिना उनका सान्निध्यलाभ कैसे सम्भव हो सकता है। यह तो हुई हृदयको गुदगुदा देनेवाली कोमल मधुर बात। इस स्थितिको प्राप्त करनेके हेतु कुछ कठिन तपश्चर्या भी करनी पड़ती है। सोना तप चुकनेके बाद ही चमकता है। श्रीठाकुरजीको लोग छप्पन प्रकारके व्यञ्जनोंका भोग लगाते हैं। यह सौभाग्य कुछ थोड़े ही लोगोंको प्राप्त है। किन्तु इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि किसी-न-किसी उचित सामग्रीसे तो प्रत्येक उपासक अपने उपास्यदेवकी आराधना, अर्चना और पूजा कर ही सकता है। प्रभु तो भूखे हैं केवल प्रेमके। इसमें अगर किसीके अंदर सचाई है, तो वह अपने प्रभुको बहुत जल्दी फुसला सकता है। प्रेम ही उनका आहार है। बस, इसे ही उनके श्रीचरणोंपर अर्पित करना है। जो इसमें जितना निपुण है, वह उन्हें प्राप्त करनेमें उतना ही सफल होता है। अगर किसीके पास छप्पन प्रकारके व्यञ्जन नहीं हैं, तो न सही—इसमें घबरानेकी कोई बात नहीं है। उन्हें लुभानेवाली इससे भी सुन्दर वस्तु हममेंसे प्रत्येकके पास है—प्राणी चाहे जिस सम्प्रदाय, देश और जातिका हो—और वह है पवित्र चरित्र। प्रत्येक इसे श्रीभगवान्‌के चरणोंमें समर्पित कर सकता है। इसे प्राप्त करके वे कभी प्रसन्न हुए बिना नहीं रह सकते। उनके चरणोंमें यह नैवेद्य ही मनुष्यके भावी जीवनका उजियाला होगा। उसकी अरुण प्रभाके सहारे मनुष्य पग बढ़ाता हुआ आगे बढ़ता जायगा। जितनी दूर वह आगे बढ़ेगा, उतना ही यह प्रकाश और भी अधिक उज्ज्वल होता जायगा। चरित्रकी पवित्रतामें नित्य और नैमित्तिक दोनों प्रकारके कर्मोंका समावेश होता है। अतः पूर्ण अभिध्यानद्वारा प्रथम इसे प्राप्त करना चाहिये। प्रभुके राज्य अर्थात् आनन्दके राज्यमें प्रवेश करनेके लिये इससे होकर ही गुजरना पड़ता है। अन्तःपुरमें पहुँचनेके हेतु यह प्रवेशद्वार है।

वहाँ पहुँच जानेपर सदाके लिये दुःख-दारिद्र्य मिट जाता है। प्राणी रङ्कसे राजा हो जाता है। अमीरी बढ़नेपर ऐसा नहीं होता कि राज्यके सब सुखोंका वही एकमात्र भोक्ता रहे। वह तो यह चाहने लगता है कि दूसरे भी इसमें भाग लें। अधिक लोगोंके सम्मिलित होनेसे उसके आनन्दमें भी वृद्धि होती है। जो लोग उसके सम्पर्कमें आते हैं, वे भी मालामाल हो जाते हैं। गरीबीकी दशामें लोग उसके समीप आते हैं, लेकिन जाते हैं निहाल होकर। उसका सम्पर्क इतना प्रभावशाली होता है कि वहाँसे आनेके पश्चात् लोग स्वयं अपना राज्य स्थापित करनेमें समर्थ हो जाते हैं।

जिसका जितना निर्मल, शुद्ध और स्थिर चित्त होता है उतना ही अच्छा उसपर रंग चढ़ता और खिलता है। जितना साफ कपड़ा रहता है, उतना ही चमकीला और तेज उसपर रंग चढ़ता है। सूर्यकी रोशनियाँ प्रत्येक स्थानपर एक ही प्रकारकी प्रखरता और चमकके साथ पड़ती हैं, किन्तु स्थानभेदके अनुसार उसके प्रभावमें अन्तर हो जाता है। पर्वतोंपर मेघगर्जनकी भी यही दशा है। समतल भूमिकी अपेक्षा पर्वतोंके उच्च शिखरोंपर मेघगर्जनकी आवाज अधिक वेगवती होती है। और यह भी नहीं है कि मेघोंकी यह गर्जना पर्वतके केवल एक ही शिखरपर रह जाय; बल्कि इसकी यह विशेषता होती है कि यह एक शिखरसे टक्कर खाकर दूसरे शिखर और तीसरे शिखरतक समान वेगसे सुन पड़ती है।

यही दशा सत्यकी है। जितना निर्मल और शुद्ध मन तथा जितना कोमल और सरल हृदय होता है, उतना ही अच्छा आविर्भाव सत्यका उस होनहार व्यक्तिके अंदर होता है। जहाँ जितने अच्छे प्रेमी और सच्चे उपासक होते हैं, वहाँ इसका प्रकाश उतना ही अच्छा और स्पष्ट दिखलायी पड़ता है। निर्मल और दृढ़ चरित्र-वाले मनुष्यके अंदर जब सत्यका उदय होता है तो वह उस एक ही स्थानपर नहीं रह जाता, बल्कि पर्वत-पर मेघमालाओंकी गर्जनाकी भाँति इसकी ध्वनि भी बहुत दूरतक और कभी-कभी सारे संसारमें गूँज उठती है। अपने अनुकूल कितने और स्थानोंपर भी उसका असर हुए बिना नहीं रहता।

सत्य ही मनुष्यका सच्चा सखा और शासनकर्ता है। इसमें अपूर्व शक्ति है, अलौकिक दिव्य प्रकाश है, अनोखी शान और गौरवसम्पन्न प्रतिष्ठा है। इसके साथ जिसकी मैत्री हो जाती है, उसका फिर क्या कहना है। उस व्यक्तिमें भी इसके सब गुण आ जाते हैं और उसकी दशामें बहुत परिवर्तन हो जाता है। पुलकित गात, सौरभयुक्त शरीर और प्रसन्नमनकी सहायतासे वह उसके साथ सदाके लिये तदात्मता प्राप्त कर लेता है। उसके अंदरकी दीनता निकल जाती है। उसमें इतना अधिक चरित्रबल आ जाता है कि सब लोगोंको वह प्यार करने लगता है। सभीको वह अपना सखा समझने लगता है और दूसरे भी उसके साथ वैसा ही आचरण करने लगते हैं। वह सबके साथ एक हो जाता है। यही इसकी विशेषता है। जो लोग भी उसके सम्पर्कमें आते हैं, उन सबको उससे सहायता मिलती है। लेकिन निर्बल उससे अधिक लाभ नहीं उठा सकते। क्योंकि उसकी अनोखी बातें उनकी समझमें अधिक नहीं आतीं। यह बात नहीं है कि उनके प्रति उसका कुछ दूसरा भाव हो। द्वैतजन्य भिन्नता मिट जानेसे एक ही वस्तु रह जाती है। लेकिन वह सत्यके लिये किसीसे कोई समझौता नहीं करता; बल्कि इसके लिये यदि बहुत-से प्राणी उसके सम्पर्कमें आनेसे छूट जाते हैं, तो वह इसकी भी चिन्ता नहीं करता। सत्य जब किसी असत्य वस्तुके साथ समझौता करने बैठेगा, तो वह सत्य ही नहीं रह जायगा। सत्य एक वस्तु है, अतः समझौतेकी इसमें कोई गुंजाइश ही नहीं है। सदा एक-सा रहनेपर इसे अपना अनोखा स्थान प्रकट करनेके लिये किसी प्रमाणकी भी आवश्यकता नहीं है। स्वयंसिद्ध वस्तुमें प्रमाणकी खोज व्यर्थ और अनर्थक होती है। झूठी चीजको जब सच्ची चीजकी तरह सामने रखनेकी कोशिश की जाती है, तो उसके ऊपर मुलम्मा चढ़ाना पड़ता है। सत्यके लिये ऐसा अनुचित प्रयास नहीं करना पड़ता। मेघगर्जन पर्वतशिखरपर ही अधिक होता है। छोटी-छोटी पहाड़ियोंकी अपेक्षा पर्वतराज हिमालय ही इसका अधिक स्वागत करते हैं। गर्जनमें किसी प्रकारका भेदभाव नहीं है। सूर्यका प्रकाश तो सभी स्थानोंपर है, लेकिन स्वच्छ स्थानपर ही उसकी चमकका पता चलता है। गगनचुम्बी उच्च-शिखर जिस समय हिमाच्छादित रहते हैं, उस समय सूर्यकी रश्मियाँ जब उनपर पड़ती हैं तो वहाँकी शोभा और आभा देखने योग्य होती है। कभी-कभी तो उस चमकके साथ आँख मिलाना मुश्किल हो जाता है। सत्यकी भी ऐसी ही महान् महिमा है। उपयुक्त पात्र-में जब इसकी उत्पत्ति होती है तो वह व्यक्ति स्वयं अपने परम सखाको प्राप्तकर आनन्दके झोकोंमें मतवाला हो जाता है। बहुत समयसे उसके हृदयमें परम वस्तुकी जो खोज हो रही थी, उसका अन्त हो जाता है और वह जीवनके नवीन पथपर चलना आरम्भ कर देता है। पेड़की ऊँची टहनीपर बैठनेके लिये जैसे किसी पक्षीको प्रयास नहीं करना पड़ता, वही दशा उस मनुष्यकी रहती है। उसके अंदर

जीवन-युद्ध समाप्त हो जाता है। किसी प्रकारकी चिन्ता, थकावट और प्रयास नहीं रह जाता। उसके अंदर महान् शक्ति रहती है, लेकिन वह बहुत ही विनम्र हो जाता है। चाहे जो कुछ जीवनमें आ पड़े, वह किसी बातको रोकता नहीं। यदि संसारका कुछ कल्याण होनेको होता है, तो ऐसे ही मनुष्योंद्वारा होता है। जो किसीसे कुछ नहीं चाहता, वही संसारको सब कुछ दे सकता है। कपड़ेकी गुड़ियेको यदि पानीमें डालिये, तो अंदर-बाहर उसके जल-ही-जल हो जाता है। ऐसे ही जो जीव अपनेमें स्थित हो गये हैं, उनके अंदर-बाहर आनन्द-ही-आनन्द दीख पड़ता है। जैसे वे अंदरसे सुन्दर होते हैं, वैसे ही उनकी बाहरी आकृति भी हो जाती है। इन सब शक्तियोंके होते हुए भी वे बहुत ही विनम्र होते हैं। उनके अंदरसे अपना-पराया मिट जाता है। उनका दुनियाके साथ क्या सम्बन्ध रहता है या दुनिया उन्हें कैसे जीवित रखती है, इसकी भी उनके अंदर कोई भावना नहीं रहती। दुनियामें रहते हुए तथा कर्म करते हुए भी वे उससे सम्बन्धित नहीं रहते। क्योंकि उनकी दुनिया तो उनके अंदर ही रहती है। उनके अंदर आनन्दका इतना अधिक वेग रहता है कि बाहरी दुनियाकी उनतक पहुँच ही नहीं होने पाती। इसी केन्द्रसे होकर संसारमें भगवान्‌की क्रियाशक्ति कार्य करती है। ऐसे आप्तकाम पुरुष चाहे कुछ करें या न करें, संसारमें शक्तिका प्रादुर्भाव इसी केन्द्रसे होता है। जब आनन्दका वेग बहुत ज्यादा बढ़ जाता है, तब तो सारा संसार उसके अंदर समाहित हो जाता है। किसी पहाड़की कन्दरामें अकेले रहते हुए भी वह कभी अकेला नहीं रहता। इसी प्रकार जनसमुदायके बीचमें रहते हुए भी वह उससे अलग है। प्रियतम सखा आनन्दके साथ जिसका निवास हो जाता है, वह फिर अकेला क्योंकर है। आनन्दको प्राप्त कर लेनेपर हमारे अंदर विकासकी ओरसे भी दृष्टि उठ जाती है। क्योंकि जबतक हमारे अंदर किसी वस्तुकी चाह है, तृष्णा है, आनन्द हमसे बहुत दूर है। आनन्दका दर्शन सबके बीचमें रहते हुए भी सबसे अलग रहनेपर ही होता है। ऐसी स्थिति प्राप्त हो जानेपर वह प्राणी सत्यका स्वरूप बन जाता है। उस समय वह संसारको अपनेसे पृथक् नहीं समझता। उसका देखना, बोलना, हँसना, खाना—सब कुछ आनन्दके ही दृष्टिकोणसे होता है। उसकी दृष्टिमें छोटे-बड़े, अपने-परायेका भेद मिट जाता है। सर्वत्र वह आनन्द-ही-आनन्द देखता है। जीवनकी हर एक स्थितिमें वह आनन्दका ही दर्शन करता है। संसारके सुख-दुःखमें भी वह उसी आनन्दका दर्शन करता है। इस स्थितिके आनन्दकी प्राप्ति कठिन है, लेकिन असम्भव नहीं है। यदि हमारे अंदर इसकी सच्ची लगन है, तीव्र वेग है, तो कोई कारण नहीं कि हमारा उसमें निवास न हो जाय। बस, वेग और सच्ची इच्छाको शीघ्र उत्पन्न करो; सब काम आप-से-आप बन जायगा।

सोचनेमें यह कठिन मालूम होता है; लेकिन यदि हमारे अंदर समझ आ गयी है, तो फिर यह कठिनता जाती रहेगी। मायाका यह पर्दा जो हमने अपने अंदर डाल रक्खा है, उसे उठा देनेपर सब वस्तुएँ स्पष्ट नजर आने लगेंगी। कुछ थोड़ी-सी बातें कर लेनेकी हैं, फिर आनन्दके साथ मैत्री तो स्वाभाविक ही हो जायगी। निर्मल दृष्टि, संयत मन, शिष्ट व्यवहार, निर्विकल्प प्रेम और विवेकयुक्त बुद्धिकी सहायतासे हम अवश्य ही आनन्दके सहचर बन सकेंगे। इन सब बातोंको ध्यानमें रखते हुए चुपचाप खड़े न रहकर उसके लिये प्रयत्न करने लगना चाहिये। सम्भव है कि आरम्भमें यकायक सफलता न प्राप्त हो, लेकिन इसकी क्या चिन्ता। यदि हम अपने ध्येयकी प्राप्तिके उद्योगमें लगे रहे, तो एक-न-एक दिन सफलता हमारा अवश्य वरण करेगी और हम सदाके लिये निहाल हो जायँगे।

सत्य एक बहुत ही सरल वस्तु है, किन्तु इस

सरलताको प्राप्त करनेके लिये बहुत बड़े-बड़े अनुभवोंके बीचसे होकर गुजरना पड़ता है। अगाध प्रेम, भक्ति और परमानन्दकी सहायतासे ही हमें जीवनकी सरलता प्राप्त होती है। इनमेंसे किसी चीजकी कमी होनेसे जीवनकी सरलता साध्य नहीं हो सकती।

इन तीनोंके मिश्रणसे सरल जीवनमें आश्रय मिलता है। आनन्दकी प्राप्तिके पश्चात् विपरीत दशाकी विभिन्नता शान्त हो जाती है। जो कुछ भी कठिनता है, वह केवल मार्गकी ही कठिनता है। कुछ क्षणके लिये भी इसका रसास्वादन कर लेनेपर इस सम्बन्धमें फिर कोई सन्देह नहीं रह जाता। ग्रीष्म-ऋतुमें पर्वतशिखरपर पहुँचनेके पूर्व मनुष्यको चलनेका कष्ट उठाना पड़ता है तथा कुछ दिक्कतोंका भी सामना करना पड़ता है। मार्गमें सूर्यतापसे सारा बदन झुलस उठता है और चित्त व्याकुल हो जाता है। इन कष्टोंकी व्यथा वह खुशी-खुशी सह लेता है; क्योंकि उसके मनमें विश्वास रहता है कि वहाँ पहुँच जानेपर सारे कष्टोंका अन्त हो जायगा। वहाँकी शीतल समीर भीनी-भीनी सुगन्ध जब शरीरको स्पर्श करती है, तो मार्गका सारा सन्ताप भूल जाता है। वहाँके शीतल, स्वच्छ और सुवासित जलसे मार्गकी थकावट और प्यास शान्त हो जाती है। इन कष्टोंको सहन करनेके पूर्व वहाँतक पहुँचनेकी इच्छा थी, इस बातका पूर्ण विश्वास था कि वहाँ पहुँचनेपर अवश्य सुख मिलेगा। यदि अधिक नहीं तो कम-से-कम इतना तीव्र वेग, इतना विश्वास और इतनी उत्कण्ठा तो जीवनकी उस सरलताको प्राप्त करनेके लिये अवश्य होनी ही चाहिये। उसे प्राप्त कर लेनेपर शरीर और मनका सारा ताप शान्त हो जाता है। जीवनकी सब अनुकूल और प्रतिकूल दशाएँ अपनी हो जाती हैं। इस अमृतके पान कर लेनेके पश्चात् मनकी ग्लानि जाती रहती है। वृद्धावस्थाका कष्ट भी उसे नहीं छू पाता।

ऐसे सखाको पाकर जीवन पूर्ण हो जाता है। कालचक्रसे छुट्टी मिल जाती है। कालातीत होकर वह प्राणी सत्यस्वरूप हो जाता है। जगत् उसकी क्रीडा-भूमि बन जाता है और सारे ब्रह्माण्डके साथ उसका ऐक्य स्थापित हो जाता है।

आर्यनारियोंकी सतीत्व-साधना

(लेखक—पाण्डेय श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री 'राम')

इस जगत्के सभी जीव साधक हैं, वे कुछ चाहते हैं और उसके लिये प्रयत्न करते हैं। आवश्यकता और प्रयत्न ही साधनाके चिह्न हैं। जहाँतक आवश्यकताका अनुभव होता और प्रयत्न जारी रहता है, वहाँतक हमारी साधना चलती रहती है। जगत्का जीवन ही साधनामय है। जन्मके समय इसका आरम्भ होता है और मृत्युके पश्चात् विश्राम। यह विश्राम पुनर्जन्मके समयतक ही रहता है। इसके बाद पुनः आमरण साधना प्रारम्भ होती है। साधनाका यह क्रम अनादि कालसे चलकर अनियत कालतक जारी रहता है। जिस समय आवश्यकताका अन्त होकर प्रयत्न अपने-आप छूट जाता है, वही इस साधनाकी—इस अनुष्ठानकी पूर्णता-का समय है, वही अनेक जन्मोंके पश्चात् मिली हुई संसिद्धि या परागतिकी अवस्था है। उस समय जीव इच्छा और प्रयत्नके बन्धनोंसे मुक्त होकर अपनी महिमामें—अपने अखण्ड बोधस्वरूपमें प्रतिष्ठित होता है। लोकदृष्टिमें शरीर और जीवन रहते हुए भी वह इनसे असम्बद्ध रहता है। वास्तवमें यह जीवकी सहजावस्था है, किसी साधनामें प्राप्त होनेवाला कोई नूतन फल नहीं। साधनासे तो उन मल, आवरण और विक्षेपनामक दोषोंका निवारणमात्र होता है, जिनके कारण हम सत्को असत, आनन्दमयको दुःखमय और चित्स्वरूपको जड मानने लगे हैं, नित्य मुक्त होकर भी अपनेको बद्ध और सहज सिद्ध होकर भी साधक मान बैठे हैं।

जानकर हो या अनजानमें, साधना होती ही है। यह जन्म ही साधनाके लिये होता है; यदि कुछ साधना न हो, तो कोई जन्म-मरणके चक्करमें पड़े ही नहीं। जीवनमें साधनासे एक क्षणके लिये भी छुटकारा नहीं मिलता। खाना-पीना, उठना-बैठना, सोना-जागना आदि सभी

व्यवहार इस साधन-प्रक्रियाके ही अन्तर्गत हैं—'यद्यत् कर्म करोमि तत्तदखिलं शम्भो तवाराधनम् ।' जो इस रहस्यको समझता है, जिसे लक्ष्यका बोध है, उसके लिये सभी व्यवहार साधनरूप हैं, अथवा उसके सभी व्यवहार लक्ष्यसिद्धिके अनुकूल होते हैं । जो वास्तविक लक्ष्यसे अपरिचित है, वह भी साधना करता है; पर उससे परमार्थकी सिद्धि नहीं होती, क्योंकि उसका उद्देश्य भिन्न है । साधनासे उद्देश्यकी सिद्धि होती है, वह उद्देश्य चाहे जो भी क्यों न हो ।

नित्य सुख या अक्षय आनन्दकी प्राप्ति ही प्राणिमात्रका लक्ष्य है; और उसके लिये सभी सचेष्ट देखे जाते हैं । किन्तु वास्तवमें सुख या आनन्द है क्या वस्तु ? इसका सम्यक् ज्ञान पशु-पक्षी आदिको नहीं होता । आहार, निद्रा और मैथुनका सुख पशु भी अच्छी तरह जानते हैं । वस्तुतः यह पशु-जीवनका ही सुख है । इसीलिये पशुसे मनुष्यको उत्कृष्ट बतानेके लिये 'धर्मो हि तेषामधिको विशेषः' कहा गया है ।

शरीर और उसके भोग प्रारब्धके फल हैं, इसलिये मनुष्य भी पशु आदिकी भाँति प्रारब्ध-भोगी है । उसमें विशेषता यही है कि वह धर्माचरण कर सकता है । धर्म एक वाञ्छनीय पुरुषार्थ है, जिसे सिद्ध करनेका अधिकार और साधन मनुष्यको ही प्राप्त है । दूसरे प्राणियोंको पुरुषार्थ-साधनकी योग्यता नहीं मिली है । इसीलिये मनुष्य सभी प्राणियोंसे उत्तम और अत्यन्त भाग्यशाली माना गया है । तथा इसी कारणसे 'नरत्वं दुर्लभं लोके' कहकर मानव-जीवनको परम दुर्लभ बताया गया है । 'बड़ें भाग मानुष तनु पावा' आदि संत-वचन भी इसी विशेषताके कारण मानव-जन्मकी सराहना करते हैं । आत्मोन्नतिका अमोघ साधन होनेके कारण इस मानवशरीरको 'कर्मक्षेत्र' कहते हैं । आध्यात्मिक अर्थमें यही गीताका धर्मक्षेत्र एवं कुरुक्षेत्र है । भगवान्ने भी 'मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये' कहकर मनुष्यको ही परमार्थका पथिक बताया है । मनुष्योंमें ही कोई पुरुषार्थी या साधक होता है, जो उस अभिलषित नित्य सुखको प्राप्त करता है ।

वह नित्य सुख क्या है ? और उसे ही मनुष्य क्यों चाहता है ? इसका उत्तर भी स्पष्ट है । मनुष्य ही क्या—जिन्हें अपनी हीनता और बद्धताका अनुभव होता है, वे जीवमात्र दैन्य और बन्धनसे मुक्त होने तथा सुख, बोध एवं अमृतत्व प्राप्त करनेकी इच्छा रखते हैं । यह नित्य सुख, बोध या अमृतत्व आत्मा अथवा परमात्माका सहज स्वरूप है । मूलतः सभी जीव आत्मा या परमात्मा हैं । अनादि अज्ञानके कारण वे इस तत्त्वको भूले हुए हैं; इसीलिये उन्हें अपने स्वरूपके विपरीत दैन्य, बन्धन और जन्म-मृत्युके कष्ट भोगने पड़ते हैं । जीव मृत्युसे इसलिये डरता है कि उसके द्वारा वह अपनी अखण्ड सत्ताको खण्डित हुई समझता है, वह सदा ही अमर रहना और अपने अस्तित्व-को कायम रखना चाहता है । इसी प्रकार वह अज्ञानकी निवृत्ति और ज्ञानका प्रकाश पानेको उत्सुक है, दुःखकी निवृत्ति करके अखण्ड आनन्दकी उपलब्धिके लिये लालायित है । यह लालसा उसे अपने वास्तविक स्वरूपकी ओर ही ले जानेके लिये होती है । प्रश्न हो सकता है कि 'जब उसका स्वरूप ही सच्चिदानन्दमय है तो वह अमृतत्व, सुख और बोध क्यों चाहता है; वे तो उसे नित्य प्राप्त हैं । जब उसमें अविद्या, दुःख और मृत्यु हैं ही नहीं तो इनकी निवृत्तिके लिये प्रयत्नकी क्या आवश्यकता है ?' हाँ, वास्तवमें ऐसी ही बात है । परमार्थदृष्टिसे उसकी इस चाहकी, उसके प्रयत्नकी कोई सङ्गति नहीं है । पर अनादि कालसे अविद्याके वशीभूत हो वह अपने परमार्थस्वरूपको, अपने प्रियतम परमात्माको भूल-सा गया है; अतः उसके हृदयमें वैसी सात्त्विक अभिलाषा जाग्रत् होनेकी आवश्यकता है, जो उसे उसके वास्तविक लक्ष्यतक पहुँचानेमें सहायक हो । उस साधनाकी जरूरत है, जो उसे उस भूले हुए प्रियतमसे मिला दे, आत्मसाक्षात्कार करा दे । मुख्य प्राप्तव्य वही है, जिसे पाकर कुछ पाना शेष न रह जाय, जिसे पाकर सारे अभावोंका, समस्त अभिलाषाओंका सदाके लिये अन्त हो जाय । ऐसी वस्तु वह परमात्मा ही है । मनुष्य चाहता तो नित्य सुख है, पर अनन्त सुखधाम परमात्माको और उनकी प्राप्तिके साधनको ठीक न जाननेके कारण संसारके निविड काननमें पथभ्रान्त पथिक-सा भटकता रहता है ।

ऊपर जो कुछ कहा गया, उससे स्पष्ट है कि आत्मबोध या परमात्माकी प्राप्ति ही चरम पुरुषार्थ है और इसकी साधनाका मुख्य अधिकारी मनुष्य है । मनुष्यमें भी दो वर्ग हैं—नर और नारी । इनकी प्रकृति एक होनेपर भी प्रत्ययमें भेद है । लक्ष्य या उद्देश्य एक होते हुए भी साधनाके सभी मार्ग नारीके लिये अनुकूल नहीं पड़ते । ऋषि-महर्षि, साधु-संतोंने साधनाके असंख्य प्रकार प्रदर्शित किये हैं, उनमें कठिन भी हैं और सरल भी । प्रायः सबमें संयम, त्याग, ब्रह्मचर्य, वैराग्य आदिकी आवश्यकता होती है । सभी

साधन प्रायः पुरुषवर्गके द्वारा पालित हैं। कुछ अपवादभूत स्त्रियोंको छोड़कर शेष स्त्रियाँ सब तरहकी साधनाओंका सफलतापूर्वक अनुष्ठान कर भी नहीं सकतीं। तथापि उन्हें भी उसी लक्ष्यको प्राप्त करना है, जिसे अन्य साधक प्राप्त करना चाहते हैं। शास्त्रोंमें अधिकार और योग्यताकी दृष्टिसे भी साधनोंका निश्चय किया गया है और नारीके लिये उसके स्वभावके अनुकूल अत्यन्त प्रशस्त साधन-पथका उपदेश किया गया है।

कुछ लोग प्रत्येक कार्यमें नारी और पुरुषके समानाधिकारका दावा करते हैं, पर उनका यह दावा विचारमूलक नहीं है। प्रत्येक कार्यमें तो सब पुरुषोंका ही अधिकार नहीं होता; फिर नारीके लिये तो कहना ही क्या है। नारीके स्वभावमें पुरुषसे बहुत कुछ भिन्नता है, उसके बाह्य अङ्गोंकी बनावटमें प्रत्यक्ष अन्तर है। स्त्रियोंमें कोमलता, सुकुमारता, सौन्दर्य और लावण्यका स्वाभाविक उत्कर्ष है। उनमें संवेदनकी प्रधानता होती है, मानसिक विकास ही अधिक होता है। शील, सङ्कोच, लज्जा, प्रेम, दया, सरलता, मुग्धता, दाक्षिण्य और औदार्य आदि भाव नारीके कोमल अन्तःकरणमें अधिक पनपते हैं। पुरुषकी भाँति शारीरिक परिश्रम वे नहीं कर सकतीं। उनका मस्तिष्क भी पुरुषके सदृश विकसित तथा विशेष कार्यक्षम नहीं होता। वे किसी विषयपर अधिक विचार नहीं कर सकतीं। दुरूह दार्शनिक गुत्थियोंको समझने और सुलझानेमें उनका दिमाग अधिक देरतक काम नहीं दे सकता। इतिहासमें इसका अपवाद भी मिल सकता है; पर अपवाद अपवाद ही रहता है, उससे भी नियमकी पुष्टि ही होती है।

नारी मातृत्वके सिंहासनको अलङ्कृत करती है, उसके समस्त अङ्ग मातृत्वके उपयुक्त बने हैं। उनकी आन्तरिक वृत्तियोंमें मातृत्वकी सहज प्रेरणा है। इसीलिये उनमें ममता, आसक्ति, दया और वात्सल्य आदिकी अधिक पुष्टि होती है। उक्त सभी भाव उनके मातृत्व (सन्तानके लालन-पालन आदि) में आवश्यक और उपयोगी हैं। दिव्य-शक्ति-सम्पन्न गार्गी, मैत्रेयी और मदालसा आदिकी बात अलग है; सभी स्त्रियाँ वैसी नहीं बन सकतीं। तथापि उनमें भी उपर्युक्त सद्गुणोंकी अधिकता थी। अतः सुकुमार और संवेदन-प्रधान होनेके कारण नारीके लिये आजीवन तप, ब्रह्मचर्य और वैराग्यमूलक साधन असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य हैं। घरसे दूर एकान्त-साधनामें नारीको अधिक भय है। विधर्मियों और अनाचारियोंके प्रलोभन तथा बलात्कारसे अपनी रक्षा करना नारीके लिये सहज नहीं है। ऐसी स्थितिमें नारी-समाजके लिये साधनका वह प्रशस्त मार्ग होना चाहिये, जिसपर वे सुगमतासे चल सकें—जहाँ जीवनके सभी आवश्यक व्यापार साधनाके विरोधी नहीं, सहायक हों।

नारी-जातिके अनुकूल गार्हस्थ्य एवं सतीत्व—इन दो धर्मोंकी ही साधना है। ये धर्म साधनामें जितने सुगम एवं अनुकूल हैं, महत्त्वकी दृष्टिसे इनका स्थान उतना ही ऊँचा है। सतीत्व नारी-जीवनका प्राण है। गार्हस्थ्य-धर्म पति-पत्नी दोनोंके सहयोगसे पालित होता है, उसमें नारी पतिकी सहयोगिनी होती है; किन्तु सतीत्वका सारा दायित्व केवल नारीपर है। गार्हस्थ्य-साधना दूसरे स्वतन्त्र लेखका विषय है। यहाँ सतीत्व-साधनापर ही प्रकाश डाला जा रहा है।

ऊपर बताया गया है कि परमात्माकी प्राप्ति ही चरम पुरुषार्थ है। इसके लिये शास्त्रोंमें नाना प्रकारकी साधनाओंका उल्लेख है। सबको मुख्यतः तीन भागोंमें विभक्त किया जा सकता है। निष्काम कर्मयोग, भक्ति और ज्ञान—ये ही तीन साधनाके प्रधान स्तम्भ हैं। इनके ही अवान्तर भेद-उपभेद नाना प्रकारके हो गये हैं। लौकिक-वैदिक वर्णाश्रमोचित शुभ कर्मोंका निष्कामभावसे सविधि अनुष्ठान करना निष्काम कर्मयोग है; बुद्धिके धरातलमें स्थित हो आत्मा या ब्रह्मतत्त्वका विचार करके ब्रह्मात्मैक्यबोधकी अनुभूति करना 'ज्ञान' है तथा श्रद्धा, वात्सल्य एवं अनुरागपूर्वक भगवान्‌का स्मरण, ध्यान और भजन-सेवन करनेको भक्ति कहते हैं। सनातन मर्यादाके अनुसार वर्णाश्रमोचित कर्मका प्रधान अधिकार पुरुषको है; स्त्री केवल उसकी सहयोगिनी, सहधर्मिणी होती है। इसलिये निष्काम कर्मयोग नारीके लिये मुख्य विधेय नहीं है। यद्यपि नारी निष्काम सेवाकर्म बड़ी तत्परताके साथ करती है तथापि वह कर्मयोग नहीं, भक्तिका ही अङ्ग है। वह प्रेम या भक्तिपूर्ण हृदयकी प्रेरणासे ही कठिन-से-कठिन सेवा करती है, त्याग करती है। नारीमें मस्तिष्ककी प्रधानता न होनेके कारण प्रायः वह ज्ञानमार्गकी साधना भी सफलतासे नहीं कर सकती।

अब रह गयी भक्ति; यह नारीस्वभावके सर्वथा अनुकूल है। भक्तिके माधुर्य, सख्य और वात्सल्य आदि सभी भाव नारी-हृदयमें स्वभावतः विकसित होते हैं। भक्तिमार्गमें भगवान्‌की उपासना होती है, इस उपासनाके द्वारा ही नारी भगवत्सामीप्य लाभ करती है। विभिन्न सम्प्रदायोंमें उपासनाकी बहुत-सी पद्धतियाँ प्रचलित हैं। इनमें अधिकांश

ऐसी हैं, जहाँ वैध मर्यादाओंका अतिक्रमण देखा जाता है; अतः उपासनाकी ऐसी कोई भी पद्धति, जो नारीके गृहस्थोचित उत्तम आदर्श-पालनसम्बन्धी उत्साहको शिथिल कर सके, उसके लिये वाञ्छनीय नहीं है। मर्यादाका अतिक्रमण ऐसे मनुष्यको, जिसका विचार परिपुष्ट नहीं है, अधिकतर उच्छृङ्खल बना देता है। यह उच्छृङ्खलता उत्थान और मुक्तिका कारण नहीं, उलटे पतन और बन्धनके निरय-गर्तमें गिरानेवाली होती है। स्वेच्छासे स्वीकार किया हुआ आदर्श और मर्यादाओंका बन्धन बन्धन नहीं, मुक्तिका द्वार है। अतः धर्म और सदाचारके आदर्शको कभी शिथिल नहीं होने देना चाहिये। सतीत्व ही नारीके लिये सुदृढ निर्भय तथा उज्ज्वल उपासनाका पथ है, जिसपर चलकर नारी इहलोक तथा परलोक दोनोंको सुधारनेके साथ ही अबाधरूपमें भगवान्‌को प्राप्त करती है।

सतीत्व एक विशिष्ट प्रकारकी उपासना है, जिसकी अधिकारिणी केवल नारी ही है। आर्यनारीके मन-प्राण तो इस सतीत्वकी भावनासे सदा ही प्रभावित रहते हैं। उपासना भगवान्‌के व्यक्त और अव्यक्त स्वरूपकी होती है। व्यक्तोपासनामें भगवान्‌का एक प्रतीक होता है, जिसपर उपासक अपनी श्रद्धा और भक्तिकी भेंट चढ़ाता है, नाना भाँतिके प्रेमसञ्चित उपहार अर्पण कर उसकी सेवा-पूजा करता है। अथवा भगवान्‌के हस्त-पादादिविशिष्ट सुन्दर सगुण चेतन विग्रहका ध्यान-पूजन किया करता है। अव्यक्तोपासनामें कोई व्यक्त प्रतीक नहीं होता, उपचार भी द्रव्यमय नहीं होते। उसमें मनोमय प्रतीकपर मानसिक उपचार ही अर्पण किये जाते हैं। यद्यपि यह भी साकारोपासना ही है, पर पूजनका स्वरूप बाहर व्यक्त न होनेसे इसे अव्यक्तोपासना कहा गया है। सती नारीके लिये व्यक्त और अव्यक्त उपासनाका यही स्वरूप है। वह नारी, जिसका पति जीवित है और घरपर मौजूद है, व्यक्तोपासना करती है। परमेश्वरके सजीव प्रतीक पतिदेवताकी प्रेम और अनुरागपूर्वक की हुई सेवाओंसे आराधना करके वह प्रसन्न एवं कृतकृत्य होती है। जिसका पति जीवित न हो अथवा विदेशमें गया हो, उस विधवा अथवा प्रोषितपतिका नारीके लिये अव्यक्तोपासना है। वह अपने स्वर्गीय अथवा प्रवासी पतिदेवके स्वरूपका ध्यान कर उसका मानसिक उपचारोंसे पूजन करके अपनी अखण्ड आराधना आजीवन चालू रखती है। नारीके लिये उसका पति ही भगवान्‌का व्यक्त या अव्यक्त प्रतीक है, पति ही उसका परमेश्वर है। स्त्रीके लिये शालग्राम-शिलाका स्पर्श निषिद्ध माना गया है, परन्तु शास्त्रोंने नारीके लिये शालग्राम-शिलासे भी अधिक अनुकूल भगवत्प्रतीक चुना है। ऐसे जीते-जागते अनुकूल भगवद्विग्रहको पाकर कौन नारी उसकी अनवरत सेवासे अपना लोक-परलोक दोनों सुधारनेका प्रयत्न नहीं करेगी। शालग्रामपर अर्पण किया हुआ पूजनोपचार भावनासे ही भगवान्‌को स्वीकार कराया जाता है, परन्तु पतिरूपी भगवान् नारीकी बाह्य और आन्तरिक सेवाओंको प्रत्यक्ष हँस-बोलकर स्वीकार करते हैं। जब सभी जड-चेतन भगवान्‌की ही विभूतियाँ हैं, तो पतिमें परमेश्वरकी भावना असङ्गत कैसे हो सकती है। जहाँ प्रतीक प्रत्यक्ष सेवा स्वीकार नहीं करता, वहाँ मनको पूरा सन्तोष नहीं होता। पतिदेव सती नारीकी सेवाएँ प्रत्यक्ष एवं प्रसन्नतासे स्वीकार करते हैं, इसलिये उसे अधिक सन्तोष होता है। इतना ही नहीं, पतिदेव भगवान्‌के प्रतिनिधिकी भाँति नारीके भरणकार्यमें सहायक होते हैं। पति नारीका उसके पुत्रोंसहित भरण-पोषण करता तथा अपने प्रेमामृतसे उसके मन, प्राण और आत्माको सदा ही परितृप्त करता रहता है। नारी पतिसे यह प्रेम-दान पाकर भी अपने सतीत्वके पुण्यफलको अक्षुण्ण बनाये रखती है—जैसे भक्त भगवान्‌की भक्ति करता है और भगवान् उसके योगक्षेमका वहन करते हैं, किन्तु वह भगवान्‌से योगक्षेम पाकर भी भक्तिके अक्षय फलको नहीं खो बैठता। हाँ, यदि पत्नी या भक्त साधक पति या भगवान्‌की लोभवश कुछ कामना रखकर सेवा करता है तो अवश्य ही वह हीरा देकर काँच मोल लेता है तथा अपने सतीत्व या भजनके समूचे फलको गँवा देता है।

इस उपासनाकी दीक्षा लेनेके लिये नारीको किसी दूसरे गुरुकी खोज नहीं करनी पड़ती। उसका तो सब कुछ पति ही है। पति ही भगवान् है, पति ही गुरु है। भगवान् और गुरुमें अन्तर ही क्या है—'गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः'। पति भी विष्णुका ही प्रतीक है, अतः गुरु ही है—'पतिरेको गुरुः स्त्रीणाम्।' आर्यनारीकी यह सतीत्व-साधना या उपासना विवाहके पश्चात् आरम्भ होकर आजीवन चलती रहती है। यदि ठीक तरहसे इसका पालन होता रहा, तो इस जीवनमें ही सतीत्वके अनेकों दिव्य चमत्कार अनुभूत होते हैं। विवाहके समय कन्यामें लक्ष्मीकी और वरमें विष्णुकी भावना करके पाणिग्रहण कराया जाता है—'इमां कन्यां श्रीरूपिणीम् अमुकवराय

विष्णुरूपिणे······सम्प्रददे ।' 'वरोऽसौ विष्णुरूपेण प्रतिगृह्णात्वयं विधिः ।'

विवाहकालमें पति नारीके लिये विष्णुरूपमें ही उपस्थित होता है और वह लक्ष्मीरूपसे उसका वरण करती है। यदि नारीकी यह भावना दृढ़ रहे, तो उसे उसी दिन भगवत्प्राप्ति हो जाती है। अब तो वह भगवान्‌की पत्नी है और भगवान् उसके पति। भगवान्‌ने जिस रूपमें उसका पाणिग्रहण किया है, केवल वही रूप उसके लिये पुरुष है। संसारके अन्य सभी रूप यदि हैं तो स्त्रीके ही रूपमें हैं, अन्यथा हैं ही नहीं—'सपनेहुँ आन पुरुष जग नाहीं।' पतिके अतिरिक्त दूसरा कोई, जिसे वह 'पुरुष' समझ सके, है ही नहीं। मध्यम श्रेणीकी नारीको संसारके अन्य पुरुष पिता, भाई और पुत्रके रूपमें प्रतीत होते हैं। विवाहकालमें ही स्त्रीको पतिदेवमें गुरुबुद्धि और भगवद्बुद्धिकी दीक्षा मिल जाती है। विवाह ही नारीका मुख्यतम संस्कार—उपनयन है; पति ही गुरु है; पतिके गृहमें रहकर पतिकी सेवा ही गुरुकुलका निवास और गृहकार्य ही अग्निहोत्र है। मनुजी भी यही कहते हैं—

वैवाहिको विधिः स्त्रीणां संस्कारो वैदिकः स्मृतः ।
पतिसेवा गुरौ वासो गृहार्थोऽग्निपरिक्रिया ॥

(२ । ६७)

विवाहसंस्कारमें उपयुक्त होनेवाले बहुत-से ऐसे वैदिक मन्त्र हैं जिनसे पतिके गुरुत्व, पतिके द्वारा पत्नीको शिक्षा-दीक्षा, सदुपदेश और आशीर्वादकी प्राप्ति तथा दोनोंमें अनन्य प्रेम, सुदृढ़ सम्बन्ध तथा सतीत्व आदि विषयोंपर प्रकाश पड़ता है। विवाहमें पाणिग्रहणके पश्चात् जब वर कन्याको साथ लेकर अग्निके समीप जाता है, उस समय वह सर्वप्रथम वधूके लिये यही आशंसा करता है कि 'समस्त दिशाओंके अधिष्ठाता देव, वायु और अग्नि आदि देवता तुम्हारा मन मुझमें लगावें।' आर्यनारीको सर्वप्रथम यही शिक्षा मिलती है कि वह अपना मन अन्यत्रसे हटाकर केवल पति-परमेश्वरमें लगावे—

यदैषि मनसा दूरं दिशो नु पवमानो वा हिरण्यपर्णो वैकर्णः स त्वा मन्मनसां करोतु ।

(पारस्करगृह्यसूत्र कं० ४ सू० १५)

फिर जब वर कन्याकी ओर देखता है, उस समय वह कन्याको इस प्रकार आशीर्वाद और उपदेश देता है—'हे देवि ! तुम्हारी दृष्टि सौम्य—मङ्गलमयी हो, तुम अपने पतिकी आयु बढ़ानेवाली हो, तुमसे पशुओंका भी कल्याण हो, तुम्हारा हृदय शुद्ध हो और तुम्हारे दिव्य तेजकी वृद्धि हो। तुम वीरमाता बनो, देवाराधनमें तुम्हारा मन लगे। तुमसे हमारे घरके मनुष्यों और पशुओंका कल्याण हो।' 'हे कल्याणि, तुमपर आजतक क्रमशः चन्द्रमा, गन्धर्व और अग्निदेवका प्रभुत्व रह चुका है, अब तुम्हारा पति यह मनुष्यकुमार हुआ है।' 'सोम देवताने गन्धर्वको, गन्धर्वने अग्निको और अग्निने अब मुझे यह कन्या अर्पण की है; साथ ही धन और पुत्र होनेका आशीर्वाद भी अग्निने दिया है।' 'हे देवि ! तुममें मेरी जीवनकी अनेकानेक अभिलाषाएँ निहित हैं, तुम मुझसे मिलो और मेरे लिये कल्याणकारिणी हो।' वे मन्त्र जिनसे संक्षेपतः उपर्युक्त अभिप्रायकी अभिव्यक्ति होती है, निम्नलिखित हैं—

'अघोरचक्षुरपतिघ्न्येधि शिवा पशुभ्यः सुमनाः सुवर्चाः ।
वीरसूर्देवकामा स्योना शन्नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे ॥'

(ऋ० १० । ७ । ८५ । ४४)

'सोमः प्रथमो विविदे गन्धर्वो विविद उत्तरः । तृतीयोऽग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजाः ॥'

(ऋ० १० । ७ । ८५ । ४०)

'सोमो ददद्गन्धर्वाय गन्धर्वो ददद्ग्नये । रयिं च पुत्रांश्चादादग्निर्मह्यमथो इमाम् ॥'

(ऋ० १० । ७ । ८५ । ४१)

'सा नः पूषा शिवतमा मे रसया न ऊरू उशती विहर ।
यस्यामुशन्तः प्रहराम शेपं यस्यामु कामा बहवो निविष्टयै ॥'

(पार० कं० ४ । १६)

अन्यान्य धर्मोंकी भाँति आर्यधर्मका विवाह खिलवाड़ नहीं है; आर्यदम्पतिके शरीर, मन, प्राण और आत्मा सब एक आत्मीय सम्बन्धमें आबद्ध होते हैं। वे शरीरसे दो होनेपर भी वास्तवमें एक ही होते हैं। एकके विना दूसरा अपूर्ण है। दोनों दोनोंके अभावकी पूर्ति करते और दोनों मिलकर पूर्ण—एक होते हैं। यही एकत्वकी भावना नारीको परमेश्वर-सायुज्यकी प्राप्ति कराती है; वह पहले पतिरूपी परमेश्वरका सायुज्य लाभ करती है, फिर उपाधिरहित निर्विशेष परमेश्वरमें मिल जाती है। पति-पत्नीकी एकताका आधिदैविक स्वरूप भगवान् अर्धनारीश्वरकी दिव्य आकृति है। एक ही शरीरमें अर्धार्धरूपसे उमा-महेश्वर विराजमान हैं। उपनिषदोंमें भी इस दाम्पत्यका उल्लेख मिलता है। वहाँ

कहा गया है कि पति और पत्नी एक ही चनेके दो दल हैं। दोनों दलोंके मिलनेसे ही चनेका आकार पूरा होता है; उसी प्रकार पत्नी ही पुरुषकी अर्धताको पूर्ण करती है।

स इममेवात्मानं द्वेधापातयत्ततः पतिश्च पत्नी चाभवताम्, तस्मादिदमर्धवृगलमिव स्व इति ह स्माह याज्ञवल्क्यस्तस्मादयमाकाशः स्त्रिया पूर्यते।

(बृ० उ० १।४।३)

विवाहसंस्कार स्त्री और पुरुष दोनोंके लिये बड़ा ही आवश्यक और महत्त्वपूर्ण संस्कार है। यह भोग-लिप्साकी पूर्तिका साधन नहीं, परमार्थके शिखरपर पहुँचनेका सोपान-मार्ग है। यहाँ दम्पतिका नये जीवनमें प्रवेश होता है, ब्रह्मचर्यसे गृहस्थ-आश्रममें आनेका अधिकार मिलता है। इस आश्रममें रहनेवाले गृहस्थपर सारे आश्रमोंकी सहायताका भार है। इसीलिये यह आश्रम सबका उपकारी कहा गया है—'सर्वोपकारक्षममाश्रमं ते।' पञ्च महायज्ञोंके अनुष्ठानद्वारा प्रतिदिन देवता, ऋषि, पितर, मनुष्य, भूत, पशु-पक्षी और कीट पतङ्ग आदि समस्त योनियोंसे पूर्ण अखिल विश्वकी तृप्ति करके ही गृहस्थ स्वयं अन्न-पानादि सेवन करनेका अधिकारी होता है। पत्नी इस महायज्ञमें पतिकी सहकारिणी होती है, इसलिये विवाह करना पड़ता है। सन्तानोत्पत्ति और उनके पालनद्वारा भगवान्‌की सृष्टि और पालन-लीलामें सहायता करना भी विवाह और सन्तानोत्पत्तिका उद्देश्य है। इसके अलावा सन्तानोत्पत्तिसे ही पितृ-ऋणका प्रतिशोध होता है। साथ ही परमार्थके पथपर चलनेके लिये दो प्राणी दम्पतिरूपसे एक दूसरेके सहायक होते हैं, इसलिये विवाह उत्तम माना गया है। स्त्रीके लिये तो विवाह-संस्कार इस कारण सबसे महत्त्वपूर्ण है कि उसे उपासनाके लिये परमेश्वरके चेतन प्रतीक पति भगवान्‌की प्राप्ति होती है। इस प्रकार विवाहके बड़े ही उत्तम और पवित्र उद्देश्य हैं। इन्द्रियोंकी उद्दाम वासनाको उद्दीप्त करनेके लिये नहीं, अपने संयमको परिपुष्ट और सुदृढ़ बनानेके लिये विवाह किया जाता है। आर्योंके जितने भी धार्मिक कृत्य हैं, सभी इसी प्रकारके परमार्थ-साधक उद्देश्योंसे पूर्ण हैं। अपनी नासमझी और दुर्बलताके कारण जो लोग इनसे लाभ नहीं उठाते, उनका भाग्य ही खोटा है।

आधुनिक विचारवाले लोग कहते हैं, पुरुषने नारीको अपना गुलाम बनानेके लिये विवाह और सतीत्वकी प्रथा चला दी। यह प्रथा प्राचीनतम नहीं है। ऐसे लोगोंके समाधानके लिये आगे अनेकों श्रुति-स्मृतिके वचनोंका उल्लेख किया जायगा, जिनसे विवाह और सतीत्वकी प्राचीनताका ही नहीं, वैदिकता और सनातनत्वका भी समर्थन होगा। विवाह करनेवाले पुरुषके नारीके प्रति क्या भाव होते हैं, यह उपर्युक्त वेद-मन्त्रोंमें कुछ बताया गया है तथा कुछ और मन्त्रोंद्वारा ही बताया जा रहा है। विवाह-संस्कारमें हवन करते समय वर प्रार्थना करता है—

'देवताओंमें श्रेष्ठ अग्निदेव यहाँ पधारें; वे इस कन्यासे होनेवाले सन्तानोंको मौतके जालसे बचावें तथा वरुणदेव ऐसा आशीर्वाद दें, जिससे यह स्त्री पुत्रसम्बन्धी व्यसनसे पीड़ित न हो।'* 'गार्हपत्य अग्नि इस वधूकी रक्षा करें, इसकी सन्तानोंको चिरजीवी बनावें; यह स्वयं सुपुष्ट इन्द्रियोंसे युक्त हो, पतिके साथ रहकर जीवित सन्तानोंकी माता बने और सदा सत्पुत्रजनित आनन्दका उपभोग करे।'†

नारीके प्रति इससे अधिक कल्याण-भावना क्या हो सकती है! आर्यनारीका हृदय पतिकी इस सच्ची सद्भावनाका अनुभव करता है और वह स्वयं भी 'लाजाहवन' करते समय इसी प्रकार पतिके कल्याणार्थ प्रार्थना करती है—

'यह कन्या अग्निमय अर्यमादेवका यजन (पूजन) करती है, हे पतिदेव! वे प्रेतलोकवासी अर्यमा देवता आपकी रक्षा करके मुझे तथा मेरे स्वजनोंको अपने भयसे मुक्त करें।'‡ 'यह नारी आज लाजा (खील)का हवन करती हुई अग्निदेवसे यह याचना करती है कि मेरे पतिकी आयु बढ़े तथा मेरे कुटुम्बके

* अग्निरैतु प्रथमो देवतानाᳬ सोऽस्यै प्रजां मुञ्चतु मृत्युपाशात्। तदयᳬ राजा वरुणोऽनुमन्यतां यथेयᳬ स्त्री पौत्रमघं न रोदात् स्वाहा॥

† इमामग्निस्त्रायतां गार्हपत्यः प्रजामस्यै नयतु दीर्घमायुः। अशून्योपस्था जीवतामस्तु माता पौत्रमानन्दमभिविबुद्ध्यतामियᳬ स्वाहा॥ (पार० कं० ५।११)

‡ अर्यमणं देवं कन्या अग्निमयक्षत। स नो अर्यमा देवः प्रेतो मुञ्चतु मा पतेः स्वाहा॥ (पार० कं० ६।२)

लोगोंका अभ्युदय हो।'* 'हे पतिदेव ! मैं इन लाजाओंका अग्निमें हवन करती हूँ, इससे आपकी समृद्धि बढ़े तथा आपकी और मेरी प्रार्थनाओंका ये अग्निदेव अनुमोदन करें अर्थात् अग्निदेवकी कृपासे हमारी अभिलाषा पूर्ण हो।'†

यह है आर्यनारीका अपने पतिके लिये दिव्य उद्गार ! जहाँ पति-पत्नीके एक दूसरेके प्रति इतने दिव्य, इतने उदार तथा इतने कल्याणमय भाव हों वहाँ उनके पारस्परिक प्रेमका क्या वर्णन हो सकता है। कौन कह सकता है कि विवाहकी प्रथामें आबद्ध होकर पति-पत्नी एक दूसरेके द्वारा ठगे गये हैं ! जहाँ इतना *आत्मविश्वास*, ऐसा अवर्णनीय अनुराग और इतना त्यागका भाव हो, वहाँ स्वर्गीय सुख भी फीका जान पड़ेगा। क्या सनातन मर्यादाओंका भङ्ग करके उच्छृङ्खल जीवन व्यतीत करनेकी सलाह देनेवाले सुधारक लोग विवाह-प्रथाका अन्त करके नारी और पुरुषमें परस्पर उतना ही प्रेम और विश्वास उत्पन्न करा सकते हैं, जितना एक दम्पतिके लिये इन मन्त्रोंमें प्रकट किया गया है ? आज जो अविश्वास और विद्रोहकी आग भड़क उठी है, यही तो इस सुधारकी देन है !

उपर्युक्त रूपसे नारीकी शुभकामना सुनकर पतिका हृदय आनन्दसे गद्गद हो उठता है और वह उसका अङ्गुष्ठ-सहित दाहिना हाथ पकड़कर कहता है—

'गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथासः। भगो अर्यमा सविता पुरन्धिर्मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः। अमोऽहमस्मि सा त्व ँ् सा त्वमस्यमो अहम्। सामाहमस्मि ऋक्त्वं द्यौरहं पृथिवी त्वं तावेहि विवहावहै सह रेतो दधावहै प्रजां प्रजनयावहै पुत्रान् विन्दावहै बहूंस्ते सन्तु जरदष्टयः। सम्प्रियौ रोचिष्णू सुमनस्यमानौ। पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शत ँ् शृणुयाम शरदः शतम्।'

(पार० कं० ६ । ३)

'हे कल्याणि ! आज मैं पतिके रूपमें अपने सौभाग्यकी वृद्धिके लिये तुम्हारा पाणिग्रहण कर रहा हूँ। तुम्हारी आत्मा मेरी आत्मासे कभी अलग न हो। हम दोनों एक साथ ही वृद्धावस्थाको प्राप्त हों। भग, अर्यमा, सविता और पुरन्धि—इन देवताओंने गार्हस्थ्य-धर्मका पालन करनेके लिये तुम्हें मेरी सहधर्मिणी बनाकर मेरे लिये अर्पण किया है। तुम्हारे बिना मैं लक्ष्मीशून्य हूँ, तुम लक्ष्मी हो। तुम्हें पाकर मैं लक्ष्मीवान् हो गया। हे देवि ! मैं साम हूँ और तुम ऋक् हो; ऋक् और सामका जैसा घनिष्ठ सम्बन्ध है, वैसा ही मेरा और तुम्हारा सम्बन्ध है। मैं आकाश हूँ, तुम पृथिवी हो; पृथ्वी और आकाशके ही समान हम दोनोंका ओतप्रोत सम्बन्ध है। इसलिये हे कल्याणि ! तुम आओ, मुझे आत्म-समर्पण करो। हम दोनोंका विवाह-सम्बन्ध सुदृढ़ हो; हम साथ-ही-साथ रेतःसंयम करें, फिर समयानुसार सन्तानोत्पत्ति कर उसका सुख उठावें। हमारी सन्तानें दीर्घजीवी हों। हम दोनोंमें अत्यधिक प्रेम हो, हमारा तेज बढ़े तथा हम दोनोंके हृदय शुद्ध एवं समुन्नत हों। इस प्रकार कर्तव्यपालन-पूर्वक जीवन व्यतीत करते हुए हम सैकड़ों वर्ष जियें, सैकड़ों वर्ष आँखोंसे देखें और कानोंसे सुन सकें।'

इस प्रकार आर्यदम्पति एक दूसरेको आत्मसमर्पण करके एक प्राण, एकात्मा हो जाते हैं। पत्नी पतिको प्राणेश्वर और आराध्यदेव मानती है और पति भी 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते' इस न्यायके अनुसार पत्नीको हृदयेश्वरीके सिंहासन-पर बिठाकर उसकी प्रेमाराधना करता है।

इसके बाद विवाहमें अश्मारोहण, गाथागान, अग्नि-परिक्रमा और सप्तपदीकी क्रियाएँ होती हैं। 'अश्मारोहणमें पतिके आदेशसे पत्नी अपना दाहिना चरण एक पत्थरकी शिलापर रखती है, उस समय पति आशीर्वाद देता है—'अश्मेव त्वं स्थिरा भव', तुम और तुम्हारा सौभाग्य प्रस्तरकी भाँति सुदृढ़ एवं अविचल हो। गाथागानमें पति आदर्श देवियोंकी कथा सुनाता है, जिसमें स्त्रीके पवित्र यशका गान होता है—'या स्त्रीणामुत्तमं यशः।' उससे पत्नी-के चित्तमें आदर्श नारी बननेका सुदृढ़ सङ्कल्प होता है। आज विवाहकी इन पवित्र भावनाओंका अनुशीलन न होनेके

* इयं नार्युपब्रूते लाजानावपन्तिका। आयुष्मानस्तु मे पतिरेधन्तां ज्ञातयो मम स्वाहा॥ (पार० कं० ६ । २)

† इमाँल्लाजानावपाम्यग्नौ समृद्धिकरणं तव। मम तुभ्यं च संवननं तदग्निरनुमन्यतामिय ँ् स्वाहा॥ (पार० कं० ६ । २)

कारण ही पति और नारीमें सुदृढ़ प्रेम तथा पातिव्रत्यका भाव शिथिल होने लगा है। भला, जो आर्य-दम्पति विवाह-संस्कारकी इन पवित्र भावनाओंको हृदयङ्गम करके परस्पर आत्मसमर्पण कर चुके होंगे वे भी कभी आजकी नवशिक्षिता नारीकी भाँति तलाक और विवाह-विच्छेदकी स्वप्नमें भी कल्पना कर सकते हैं। आजका नारी-समाज जिस आत्म-विश्वास, सम्मान, सुख-शान्ति तथा आनन्दके लिये लालायित हो रहा है उसकी प्रतिष्ठा आर्यनारीके हृदयमें विवाहकालमें ही कर दी जाती है।

अग्नि-परिक्रमा करते हुए दोनों दम्पति परस्पर कल्याणके लिये भगवान्से प्रार्थना करते हैं।* फिर सप्तपदीके समय एक साथ सात पग चलकर अपने इस सख्यभावको सुदृढ़ और परिपुष्ट करते हैं। 'साप्तपदीनं सख्यम्' भारतवर्षकी प्राचीन मान्यता है। विवाहके द्वारा पुरुष नारीको अपनी सहयोगिनी सखी बनाता है, दासी नहीं। सप्तपदीकी क्रियासे दास्यभावका नहीं, सख्यभावका ही पोषण होता है। इसमें पति पत्नीको शुभ आशीर्वादोंसे पुरस्कृत करता है।† दास्य-भाव तो नारीने अपनी उदारताके कारण अपनेमें आरोपित कर लिया, वह पतिदेवकी सेवामें इतनी तल्लीन हुई कि उसने अपनेको 'दासी' माननेमें ही जीवनकी सार्थकता समझी। इसकी इस भावनाका भी पतिने उसी प्रकार पूर्ण स्वागत किया। अनेकों स्थलपर प्रेमपरवश पतिने अपनेको प्रियतमा पत्नीका दास कहा है। भगवान् शङ्करने भी प्रेम-परीक्षामें विजयिनी हुई पार्वतीसे कहा था—'अद्य प्रभृत्यव-नताङ्गि तवास्मि दासः क्रीतस्तपोभिः।' (हे देवि! आजसे मैं तपस्याके मोल खरीदा हुआ तुम्हारा दास हूँ।) विवाहमें दाम्पत्य-सम्बन्धकी दृढ़ताके लिये ध्रुवका दर्शन भी कराया जाता है।

कहाँ तो दाम्पत्य-सम्बन्धको अविचल बनानेका प्राचीन आदर्श और कहाँ मनमाने ढंगसे तलाक और विवाह-विच्छेदका आधुनिक प्रयत्न! विवाह-प्रथाके विरुद्ध विचार रखनेवाली बहनोंको इन पंक्तियोंपर विचार करना चाहिये कि पुरुषकी सच्ची सहानुभूति और निश्छल प्रेम पाकर जितनी सुख-शान्ति मिल सकती है, क्या वैसी ही शान्ति अकेली मारी-मारी फिरने और विद्रोहकी धधकती ज्वालामें जलनेसे भी मिल सकती है!

आर्य-विवाह-संस्कारकी कुछ बातोंका दिग्दर्शन करानेसे यह बात स्पष्ट हो गयी कि नारीके लिये पति भगवान्का स्वरूप है, वह उसे आत्मसमर्पण कर सर्वतोभावसे उसकी सेवा करे, उससे प्रेम करे, उसके सभी शुभ कृत्योंमें सहयोग और सहायता दे—इसीमें उसके जीवनकी सफलता है। विवाहमें पुरुष नारीको जो अन्तिम उपदेश देता है, वही सतीत्वका मूलमन्त्र है, उसका पालन ही नारीके लिये आजीवन साधना है। वर वधूका हृदय स्पर्श करके कहता है—

मम व्रते ते हृदयं दधामि। मम चित्तमनुचित्तं ते अस्तु। मम वाचमेकमना जुषस्व। प्रजापतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यम्।
(पार० कां० ८। ८)

'हे देवि! मैं अपने व्रतमें तुम्हारे हृदयको लगाता हूँ—मेरे सङ्कल्प—मेरी प्रतिज्ञाकी पूर्तिमें तुम्हारा हार्दिक सहयोग प्राप्त हो। तुम्हारा चित्त सदा मेरे चित्तका अनुसरण करे—हम दोनोंके चित्तमें परस्पर विरोधी विचारोंको आश्रय न मिले। तुम एकमना—एकचित्त होकर मेरे आदेशका पालन करो। प्रजापति देवता तुम्हें सदा मेरी सेवामें नियुक्त करें।'

(शेष फिर)

---

* अग्निकी परिक्रमाका मन्त्र यह है—

तुभ्यमग्ने पर्यवहन्त्सूर्यां वहतुना सह। पुनः पतिभ्यो जायां दा अग्ने प्रजया सहेति। (पार० कां० ७। ३)

† सप्तपदीका मन्त्र इस प्रकार है—

१–एकमिषे विष्णुस्त्वा नयतु। २–द्वे ऊर्जे विष्णुस्त्वा नयतु। ३–त्रीणि रायस्पोषाय विष्णुस्त्वा नयतु। ४–चत्वारि मायोभवाय विष्णुस्त्वा नयतु। ५–पञ्च पशुभ्यो विष्णुस्त्वा नयतु। ६–षड् ऋतुभ्यो विष्णुस्त्वा नयतु। ७–सखे सप्तपदा भव सा मामनुव्रता भव विष्णुस्त्वा नयतु। (पार० कां० ८। १, २)

इसका भावार्थ इस प्रकार है—

हे कन्ये! विष्णुभगवान् अन्न-प्राप्तिके लिये एक पद, बल-प्राप्तिके लिये द्वितीय पद, धन एवं पञ्च महायज्ञादि नित्यकर्मके लिये तृतीय पद, सौख्यके लिये चतुर्थ पद, पशु-लाभके लिये पञ्चम पद, छहों ऋतुओंकी अनुकूलताके लिये षष्ठ पद तथा सख्यभावकी प्राप्तिके लिये सप्तम पगतक तुम्हें चलावें। इस प्रकार सात पग चलकर तुम मुझमें अपना मन लगाओ।

गोलोकवासी स्वामी श्रीरामकृष्णदासजी महाराज

इस धराधामकी शोभा भगवत्प्राण महापुरुषोंके कारण ही है। उन्हींके पावन पादपद्मोंके पुण्यस्पर्शसे मेदिनी अपनेको कृतकृत्य मानती है। जहाँ वे एक क्षण भी रहते हैं, वे ही स्थान संसारासक्त जीवोंको शान्ति प्रदान करनेवाले पुण्य-क्षेत्र हो जाते हैं। उन्हींके कारण तीर्थोंको तीर्थत्व प्राप्त होता है। उनके दर्शनमात्रसे जीवोंकी कल्मषराशि भस्मसात् हो जाती है।

यद्यपि इस कठोर कलिकालमें सच्चे संतोंका दर्शन अत्यन्त दुर्लभ ही नहीं, प्रायः अलभ्य ही हो रहा है, तथापि जबतक धरणीमें वन-पर्वत एवं विविध जीवोंको धारण करनेकी शक्ति है तबतक उनका अभाव तो माना नहीं जा सकता; क्योंकि वस्तुतः उन्हींके तपोबलसे उसे यह शक्ति प्राप्त है। अवश्य ही ऐसे महानुभाव अत्यन्त विरल हैं। परमहंस स्वामी श्रीरामकृष्णदासजी महाराज ऐसे ही एक दुर्लभ रत्न थे। श्रीव्रजमण्डल साक्षात् श्रीश्यामसुन्दरकी क्रीडास्थली है। उसमें स्वभावतः ही अनेकों भजननिष्ठ महानुभाव विराजते हैं। यहाँ भगवान्‌की देवदुर्लभ रूप-माधुरी, अद्भुत लीलामाधुरी और जनमनहारिणी गुणमाधुरी अनायास ही सरलहृदय अधिकारियोंको भगवद्भजनमें नियुक्त कर देती हैं। उनसे आकृष्ट होकर अनेकों भावुक भक्त अपने सर्वस्वको प्रभुकी त्रिभङ्गललित छविपर निछावर कर कन्था-कौपीन और एक मृत्पात्रमात्र परिग्रह कर अहर्निश उनके सुमधुर नाम और रूपका चिन्तन करते हुए भगवद्रस-का आस्वादन करते हैं। महात्मा रामकृष्णदासजी ऐसे भगवत्प्राण महानुभावोंमें मुकुटमणि थे। उनकी-जैसी भजन-निष्ठा इस समय दुर्लभ ही है।

स्वामीजीका आविर्भाव जयपुरनिवासी एक सुसम्पन्न ब्राह्मण-परिवारमें हुआ था। बाल्यकालमें ही उन्हें व्याकरण, न्याय, वेदान्त और ज्यौतिष आदि कई विषयोंकी उच्च कोटि-की शिक्षा दी गयी थी। कुछ वयस्क होनेपर आपकी वैराग्यवृत्ति जाग्रत् हो गयी और प्रायः बीस वर्षकी आयुमें आप गृहस्थाश्रम-से विरक्त होकर वृन्दावन चले आये। यहाँ ब्रह्मकुण्डपर सिद्ध श्रीनित्यानन्ददास नामक एक महात्मा थे। उन्हींसे आपने मध्वगौड-सम्प्रदायकी दीक्षा ग्रहण की। तबसे आजतक आप व्रजमण्डलसे बाहर नहीं गये। पहले तो आप व्रजके अन्यान्य स्थानोंमें भी विचरते रहते थे, किन्तु प्रायः पचीस वर्षसे तो श्रीवृन्दावनसे बाहर ही नहीं गये। आपका त्याग, वैराग्य, नामप्रेम और सौजन्य आदर्श था। आपके सेवकोंमें अनेकों धनी-मानी और राजालोग भी थे, किन्तु आपने अन्ततक न तो किसीसे कोई भेंट स्वीकार की और न व्रजवासियोंके सिवा किसी दूसरेका अन्न ही ग्रहण किया। आप प्रातःकालसे सायङ्कालके पाँच बजेतक भजन-ध्यानमें रहते और फिर स्वयं ही भिक्षा माँगने जाते थे। वर्षकी चौबीस एकादशियों, श्रीकृष्णजन्माष्टमी, श्रीराधाष्टमी और शिवत्रयोदशी आदि कई व्रत आप निर्जल रहकर करते थे। इस नियमको आपने अन्तिम समयतक निभाया। प्रायः नब्बे वर्षकी आयु और अत्यन्त रोगजर्जरित हो जानेपर भी आपने अपने सेवकोंको आदेश कर दिया था कि इन पर्वदिनोंपर वे उनमें जल ग्रहण करनेका आग्रह न करें। आपके दर्शनोंके लिये अनेकों भक्तलोग आते रहते थे, किन्तु आप उनके समर्पित पत्र-पुष्पादि भी स्वीकार नहीं करते थे। आपके इस त्याग और नाम-प्रेमके कारण सभी वैष्णवसम्प्रदायोंकी आपके प्रति समान श्रद्धा थी और सभी आपको अत्यन्त आदरकी दृष्टिसे देखते थे। आप दो-ढाई घंटेसे अधिक नहीं सोते थे।

गत एक वर्षसे आप संग्रहणीरोगसे ग्रस्त थे। इस अवस्थामें भी आपकी दिनचर्या यथासम्भव पूर्ववत् रहती ही थी। आपके सेवकोंने बड़ी तत्परतासे आपकी सेवा-शुश्रूषा की। किन्तु कराल कालसे तो किसीका भी वश नहीं चलता। अन्तमें आपके लिये भी वह समय उपस्थित हो ही गया और आपने गत आश्विन कृष्ण ४ के मध्याह्नोत्तरकालमें इस नश्वर शरीरको त्यागकर नित्यलीलामें प्रवेश किया। आपके वियोगसे श्रीवृन्दावनधामके सभी वैष्णवोंको आन्तरिक आघात पहुँचा है। यद्यपि इस समय आपके स्थानकी पूर्ति करनेवाले कोई अन्य महानुभाव दिखायी नहीं देते, तथापि आपके चरण-चिह्नोंका अनुसरण करनेसे ही अनेकों भक्तजन भगवत्कृपाके अधिकारी बनेंगे—इसमें सन्देह नहीं।

व्यभिचारसे बचो !

(लेखक—श्रीआत्मारामजी देवकर)

सम्प्रति व्यभिचारकी कुप्रथा बड़ा जोर पकड़ रही है। यह सर्वनाशिनी व्याधि मनुष्योंको उनके ईश्वरप्रदत्त अधिकारोंसे वञ्चित करके दहकती हुई शोकाग्निमें डाल देती है। वे अनेक घातक रोगोंके चंगुलमें फँस जीवनके सच्चे सुखसे हाथ धो बैठते हैं। यह कार्य अधर्मसङ्गत ही नहीं, प्रकृतिविरुद्ध है। मायारानीके प्यारे पशु-पक्षीतक अपने जोड़े बनाकर रहते हैं। इसीसे वे हृष्ट-पुष्ट, बलिष्ठ, नीरोग एवं परम प्रसन्न दिखलायी देते हैं। नैसर्गिक दृश्य अत्यन्त आकर्षक एवं हृदयरञ्जक होता है। इसीसे प्राचीन कालके ऋषि-मुनि सदा निर्जन वनमें वास करते थे। वे वास्तवमें प्रकृतिके उपासक थे और एकान्तमें बैठकर परमतत्त्वका अनुसन्धान किया करते थे। जो नैसर्गिक दृश्य उनके नेत्रोंके आगे आ जाते थे, वे उन्हें सर्वशक्तिमान् अनादि पुरुषका अनुभव कराते थे। अनुभवगम्य शब्दकी सृष्टि इसी आधारपर हुई है। पशु-पक्षियोंका आहार-विहार परिमित एवं नियमित रहता है। इसीसे वे विषयोंके दासत्व-पाशमें जकड़े हुए नहीं दिखलायी देते। इधर संसारके हाहारवको सुनकर हृत्पिण्ड कम्पित होता है। वह अपने जन्मसिद्ध अधिकारोंको खोकर दुःखके अथाह समुद्रमें डूबा पड़ा है। उसके सुखका एकमात्र साधन व्यभिचार ही रह गया है। घोर शारीरिक यन्त्रणासे पीड़ित व्यक्तिको वारुणी पिला देनेसे जो विश्राम मिलता है, वही व्यभिचारियोंको लब्ध होता है। यह उपचार नहीं, भयानक अपचार है। समाजकी अधोगतिका मुक्तद्वार है। राजदण्डसे मनुष्य बच भी जाय, पर प्रकृतिका दण्ड नितान्त अपरिहार्य है।

यह हुई वर्तमान कालकी बात। प्राचीन कालकी समाजभित्ति दूसरे ही प्रकारकी थी। उन दिनों सत्यका आदर होता था। इसीसे उस समयके मनुष्य चरित्रवान्, गुणवान्, जितेन्द्रिय तथा सच्चे कर्मनिष्ठ होते थे। इन्द्रियसुखकी लोलुपताने मनुष्योंको कापुरुष एवं अकर्मण्य बना दिया है। वे अपना आत्मबल खोकर अवनतिकी ओर झुकते चले जा रहे हैं। उदाहरणके रूपमें राजा इन्द्रहीको लीजिये। अहल्याके पति गौतम ऋषिका वेश बनाकर वह उनकी अनुपस्थितिमें उसके पास गया और महापातकमें लिप्त हुआ। अहल्या बेचारीका कोई दोष न था। तो भी शारीरिक शुद्धिके लिये ऋषिवर्य गौतमने उसे शिला बना दिया और इन्द्रकी दशा तो संसारके गये बीते मनुष्योंसे भी बुरी हो गयी। बृहस्पतिजीने उसकी सहस्र योनियोंको अपने कर्मबलसे सहस्र नेत्रोंमें परिवर्तित कर पुनः राज्यासनपर बिठला दिया। पर संसारने उसके अपराधको क्षमा नहीं किया। यही कारण है कि धर्मप्राण भारतमें श्रीरघुनाथजीके दास हनुमान्जीको मन्दिरोंमें प्रथमपूज्यपद दिया गया, पर स्वर्गके अधिपति इन्द्रको कभी किसीने प्रणामतक न किया—नामतक न लिया। बस, इतना ही लिखकर हम इस लेखको समाप्त करते हैं। शुभम्।

महाभारत-युद्धका तिथि-मास-निर्णय

(लेखक—स्वामी श्रीपुरुषोत्तमाश्रमजी उपनाम शतपथजी महाराज)

आजसे पाँच हजार वर्ष पूर्व द्वापर और कलिकी सन्धिमें कुरुक्षेत्रकी पुण्यभूमिपर अठारह दिनतक कौरव और पाण्डवोंका महायुद्ध हुआ था। इस युद्धका आरम्भ और अन्त किस मासकी किन तिथियोंको हुआ, यह जाननेकी लोगोंको बड़ी इच्छा रहती है। कल्पभेदसे कथाओंमें भेद हो जानेके कारण इसके सम्बन्धमें विद्वानोंका बहुत मतभेद है। तथापि केवल महाभारतके ही श्लोकोंके आधारपर विचार करनेसे जो बात निश्चय होती है, वह अपनी बुद्धिके अनुसार लिखता हूँ। विद्वज्जन इसके तथ्यातथ्यका निर्णय करनेकी कृपा करें।

गीताका उपदेश युद्धके पहले ही दिन प्रातःकालमें हुआ था। यह बात सबको विदित ही है। युद्धके लिये कौरव और पाण्डवोंकी सेनाएँ सूर्योदयके समय ही सुसज्जित हो गयी थीं, यह बात धृतराष्ट्रके निम्नलिखित प्रश्नसे सिद्ध होती है—

सूर्योदये सञ्जय के नु पूर्वं युयुत्सवो हृष्यमाणा इवासन्।

(भीष्म० २०। १)

हे सञ्जय! सूर्योदयके समय युद्धकी इच्छासे किस पक्षके वीर पहले उल्लसित-से हुए!

युद्धारम्भके दसवें दिन श्रीभीष्मपितामह शरशय्यापर गिरे थे। और उन्होंने माघशुक्ला अष्टमीको सूर्यके उत्तरायण होते ही देह त्यागा था। आजकल भी प्रतिवर्ष पञ्चाङ्गोंमें माघशुक्ला अष्टमीका ही भीष्माष्टमीके नामसे उल्लेख होता है। इस बीचमें अठारह दिनतक महाभारत-युद्ध, पाण्डवोंका राज्याभिषेक, राजा युधिष्ठिरको भीष्मका उपदेश और उनका हस्तिनापुर जाकर भीष्मके प्रयाणके दिन पुनः कुरुक्षेत्रमें आना—इतनी घटनाएँ हुईं। अब हमें इनके क्रमपर विचार करना है।

'ज्यौतिषसार'[1] नामक ग्रन्थके अनुसार शुक्लपक्षकी दशमी तिथि और रेवती या अश्विनी नक्षत्रमें राजाका अभिषेक होना अच्छा माना गया है। महाराज युधिष्ठिरका राज्याभिषेक पाञ्चजन्य शङ्खद्वारा भगवान् श्रीकृष्णने किया। उसके पश्चात् सायङ्कालमें धर्मराजने अपने भाइयोंसे कहा कि अब तुम लोग अपने-अपने स्थानपर जाकर विश्राम करो, मैं कल तुमसे मिलूँगा—'विश्रान्ताँल्लब्धविज्ञानान् श्वः समेतास्मि वः पुनः।' (शान्ति० ४४। ५) बस, सब भाई और महाराज युधिष्ठिर अपने-अपने महलोंमें चले गये। सात्यकिके साथ भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनके महलमें विश्राम किया। (शान्ति० ४४।१५) दूसरे दिन प्रातःकाल महाराज युधिष्ठिरने श्रीकृष्णचन्द्रको अर्जुनके महलमें ध्यानस्थ बैठे देखा। उस समय उन्होने उनसे कुशल-प्रश्न किया। इस प्रकार पूछनेपर भगवान्ने ध्यानको विसर्जन करते हुए कहा, 'शरशय्यापर पड़े हुए भीष्मजी मेरा ध्यान कर रहे थे, अतः मैं ध्यानद्वारा उनके पास गया था। राजन्! उनके स्वर्गवासी होनेपर राजधर्म आदिका ज्ञान अस्त हो जायगा, अतः तुम शीघ्र ही मेरे साथ चलकर उनसे उपदेश ग्रहण करो।' इसके पश्चात् सब लोग रथोंपर चढ़कर मुनिमण्डलीसे घिरे हुए पितामह भीष्मके पास गये। वहाँ भगवान्ने पितामहसे उनके चित्तकी व्यवस्था पूछी और उन्हें सान्त्वना देते हुए कहा कि 'हे कुरुनन्दन! अभी आपकी आयु छप्पन दिन और है। आप ज्ञातिवधके कारण शोकाकुल महाराज युधिष्ठिरको धर्म, अर्थ और ज्ञानसे युक्त सदुपदेश देकर इनकी चिन्ता दूर कीजिये—

पञ्चाशतं षट् च कुरुप्रवीर शेषं दिनानां तव जीवितस्य।

(शान्ति० ५१। १४)

तज्ज्ञातिशोकोपहतश्रुताय सत्याभिसन्धाय युधिष्ठिराय।
प्रब्रूहि धर्मार्थसमाधियुक्तं सत्यं वचोऽस्यापनुदाशु शोकम्॥

(शान्ति० ५१। १८)

यह राज्याभिषेकसे दूसरा दिन था और इस दिनसे भीष्मपितामहके निर्वाणकी तिथिके छप्पन दिन शेष थे। अतः यह माघशुक्ला अष्टमीसे सत्तावन दिन पूर्व, मार्गशीर्ष शुक्ल ११ होनी चाहिये। ऊपर राज्याभिषेककी तिथि दशमी बतायी गयी थी, अतः उससे दूसरा दिन होनेके कारण भी इसकी सङ्गति ठीक लग जाती है।

इसके पश्चात् सायङ्कालमें पाण्डवोंके सहित भगवान् श्रीकृष्ण अपने स्थानको चले गये। उस दिन सायङ्कालमें

1. मैत्रशाक्रकरपुष्यरोहिणीवैष्णवेषु तिसृषूत्तरासु च।
रेवतीमृगशिरोऽश्विनीषु च क्ष्माभृतां समभिषेक उच्यते॥

ही चन्द्रमाका उदय हो गया था—'ततः पुरस्ताद्भगवान्-निशाकरः समुत्थितस्तामभिहर्षयंश्चमूम्'। (शान्ति० ५२। ३३) इससे भी सिद्ध होता है कि उस समय शुक्लपक्ष ही था। दूसरे दिन पाण्डव लोग फिर पितामहके पास आये और उन्होंने उन्हें राजधर्मादिका उपदेश दिया। यह उपदेश शान्तिपर्वके अध्याय ५६ से ३६६ तक तथा अनुशासनपर्वके आरम्भसे अध्याय १६६ तक, इस प्रकार (३१०+१६६) ४७६ अध्यायोंमें है। उपदेश समाप्त होनेपर पितामहने पाण्डवोंको हस्तिनापुर जानेकी आज्ञा दी और उत्तरायणके आरम्भमें पुनः आनेके लिये कहा। तब पाण्डव हस्तिनापुर लौट आये और वहाँ पचास रात्रि बीत जानेपर सूर्यको उत्तरायण हुआ देख उन्हें पितामहकी बात याद आयी और वे तुरंत ही अनेकों पुरोहितोंको लेकर कुरुक्षेत्रको चल दिये—

उषित्वा शर्वरीः श्रीमान् पञ्चाशन्नगरोत्तमे।
समयं कौरवाग्र्यस्य सस्मार पुरुषर्षभः॥
स निर्ययौ गजपुरायाजकैः परिवारितः।
दृष्ट्वा निवृत्तमादित्यं प्रवृत्तं चोत्तरायणम्॥
(अनुशासन० १६७। ५—६)

इस प्रकार केवल ६-७ दिन ही भीष्मजीका उपर्युक्त उपदेश हुआ था। पाण्डवोंने पितामहके पास पहुँचकर उन्हें प्रणाम किया। उस समय भीष्मने महाराज युधिष्ठिरकी भुजा पकड़कर कहा 'राजन्! तुम आ गये, यह बहुत अच्छा हुआ। अब भगवान् सूर्य उत्तरायण हो गये हैं। इन तीक्ष्ण बाणोंपर पड़े पड़े मुझे अट्ठावन रात्रियाँ बीत गयी हैं, जो मुझे सौ वर्षके समान जान पड़ी हैं। अब सुमनोहर माघ मास आ गया है। इसके तीन भाग बीत चुके हैं और यह शुक्लपक्ष होना चाहिये।'* इससे स्पष्ट ही उस दिन माघशुक्ला अष्टमी होनी सिद्ध होती है।

इससे यह निश्चय होता है कि माघशुक्ला अष्टमीसे पचास रात्रियाँ पूर्व, पौषकृष्ण ३ को महाराज युधिष्ठिर भीष्मपितामहका उपदेश सुनकर हस्तिनापुर गये थे। इससे छः दिन पूर्व उपदेश आरम्भ हुआ था। उस दिन मार्गशीर्ष शुक्ला द्वादशी थी। उससे दो दिन पूर्व उनका अभिषेक हुआ था। यह मार्गशीर्ष शुक्ला दशमी थी। यही पितामहके प्रयाणदिवस माघ शुक्ला अष्टमीसे पूर्व अट्ठावनवाँ दिन था। युधिष्ठिरका राज्याभिषेक-दिवस होनेके कारण इसी दिनसे युधिष्ठिर-संवत्सर आरम्भ होता था। इसीसे यहाँ पितामहने अपनी शरशय्याकी रात्रियाँ अट्ठावन बतायी हैं। इसके विपरीत माननेसे पचास रात्रि, छप्पन दिन और अट्ठावन रात्रि—इन सबकी कोई सङ्गति नहीं लगेगी। यों तो भीष्मजी युधिष्ठिरके राज्याभिषेकदिवससे कई दिन पूर्वसे ही शरशय्यापर पड़े थे, इसमें सन्देह नहीं। अतः उनकी उपर्युक्त उक्तिका यह भी तात्पर्य हो सकता है कि यद्यपि मुझे शरशय्यापर पड़े हुए तिहत्तर दिन हो गये, तथापि इनमें पिछले अट्ठावन दिन तो पीड़ाकी अधिकताके कारण ऐसे कष्टसे बीते हैं कि सौ वर्षके समान मालूम हुए हैं।

अब दूसरे क्रमसे युद्धकी तिथियोंके विषयमें विचार किया जाता है। युद्धका आरम्भ होनेसे पूर्व पाण्डवोंने विराटनगरमें रहते हुए भगवान् श्रीकृष्णको अपना दूत बनाकर सन्धिके लिये हस्तिनापुर भेजा था। उस समयका इस प्रकार वर्णन किया गया है—

कौमुदे मासि रेवत्यां शरदन्ते हिमागमे।
(उद्योग० ८३। ७)
× × × ×
आरुरोह रथं शौरिर्विमानमिव कामगम्॥
(उद्योग० ८३। ८)

अर्थात् शरद्के अन्त और हेमन्तके आरम्भमें कौमुद मास और रेवती नक्षत्रमें श्रीकृष्णचन्द्र इच्छाचारी विमानके सदृश रथपर चढ़े। यहाँ कौमुद मासके विषयमें विद्वानोंमें मतभेद है। कोई इसका अर्थ आश्विन करते हैं और कोई कार्तिक। निर्णयसिन्धुमें लिङ्गपुराणका एक वचन है। उसमें

---

* दिष्ट्या प्राप्तोऽसि कौन्तेय सहामात्यो युधिष्ठिर।
परिवृत्तो हि भगवान् सहस्रांशुर्दिवाकरः॥
अष्टपञ्चाशतं रात्र्यः शयानस्याद्य मे गताः।
शरेषु निशिताग्रेषु यथा वर्षशतं तथा॥
माघोऽयं समनुप्राप्तो मासो सौम्यो युधिष्ठिर।
त्रिभागशेषः पक्षोऽयं शुक्लो भवितुमर्हति॥
(अनुशासन० १६७। २६—२८)

१. आश्विने पौर्णमास्यां तु चरेज्जागरणं निशि।
कौमुदी सा समाख्याता कार्या लोकैर्विभूतये॥
अर्थात् आश्विन-पूर्णिमाको रात्रिमें जागरण करे। यह पूर्णिमा 'कौमुदी' कही जाती है। वैभवकी वृद्धिके लिये लोगोंको इसमें जागरण करना चाहिये।

आश्विन-पूर्णिमाके अर्थमें ही 'कौमुदी' शब्दका प्रयोग हुआ है। त्रिकाण्डशेष कोशमें भी आश्विनका नाम ही कौमुद लिखा है। किसी भी प्रबल प्रमाणसे इसका अर्थ कार्तिक नहीं होता। आश्विन-पूर्णिमाको ही प्रायः रेवती या अश्विनी नक्षत्र भी होता है। 'आश्विनकार्तिकौ शरदृतुः' इस प्रमाणके अनुसार शरदृतु तो उस समय रहती ही है। किन्तु यदि कभी दो आश्विन मास हो जाते हैं तो शरत्पूर्णिमा पिछले मासके अन्तमें पड़नेके कारण उस समय शरद्का अन्त और हेमन्तका आरम्भ-सा अनुभव होने लगता है। भगवान्‌के हस्तिनापुर जानेके समय सम्भवतः ऐसा ही योग होगा। इसीसे उपर्युक्त श्लोकमें 'शरदन्ते हिमागमे' कहा है।

इस प्रकार शरत्पूर्णिमाको विराटनगरसे प्रस्थानकर भगवान् हस्तिनापुर पहुँचे। वहाँ कुछ दिनतक उन्होंने कौरवोंको समझानेका प्रयत्न किया। अन्तमें, उनके व्यवहारसे असन्तुष्ट होकर उन्होंने कहा—

सौम्योऽयं वर्तते मासः सुप्रापयवसेन्धनः।
(उद्योग० १४२। १६)

× × × ×

सप्तमाच्चापि दिवसादमावास्या भविष्यति।
संग्रामो युज्यतां तस्यां तामाहुः शक्रदेवताम्॥
(उद्योग० १४२। १८)

'आजसे आगेका एक मास बड़ा सुन्दर है। इसमें चारा और ईंधन भी खूब मिलता है। उसके सात दिन बाद अमावास्या होगी, उसे इन्द्र जिसका देवता है ऐसी ज्येष्ठा नक्षत्रवाली बताते हैं। उस दिन युद्ध ठान देना।'* इसी दिन भगवान्‌की बातोंसे क्रुद्ध होकर दुर्योधनने अपने मन्त्रियोंसे कहा था कि आज पुष्य नक्षत्र है, इसलिये कुरुक्षेत्रको कूच कर दो—

'प्रयाध्वं वै कुरुक्षेत्रं पुष्योऽद्येति पुनः पुनः।'
(उद्योग० १५०। ३)

—बस, उसी समय कौरवोंकी सेनाने कूच कर दिया। शरत्पूर्णिमाके बाद पुष्य नक्षत्र कार्तिक कृष्ण अष्टमीको ही आता है† और इसके सैंतीस दिन बाद मार्गशीर्ष कृष्णा अमावास्या आती है। ज्येष्ठा नक्षत्र केवल इसी अमावास्याको होता है। अतः दुर्योधनकी यह उक्ति कार्तिक कृष्ण सप्तमी या अष्टमीकी होनी चाहिये। जान पड़ता है उस वर्ष पुष्य नक्षत्र कार्तिक कृष्णा सप्तमीके मध्याह्नोत्तरमें आ गया था और उसी समय दुर्योधनकी आज्ञासे कौरवोंकी सेनाने कूच किया था। इसके पश्चात् कौरवसेनाको कूच करते देखकर भगवान्

* इन श्लोकोंका सरल शब्दार्थ तो इस प्रकार है—'यह महीना बड़ा सुन्दर है। इसमें चारा और ईंधन भी खूब मिलता है। आजसे सातवें दिन अमावास्या होगी, उसे इन्द्र जिसका देवता है ऐसी ज्येष्ठा नक्षत्रवाली बताते हैं। उस दिन युद्ध ठान देना।' ऐसा ही अर्थ महाभारतके टीकाकार नीलकण्ठजीने भी किया है। परन्तु जैसा कि उनकी 'पुष्यनक्षत्रं हि आश्विन्याः पौर्णमास्या उपरि अष्टम्यां भवति' इस उक्तिसे सिद्ध होता है, यदि इस कथनकी तिथि कार्तिक कृष्णा अष्टमी मानें तो उसके सातवें दिन आनेवाली कार्तिकी अमावास्याको ज्येष्ठा नक्षत्र नहीं हो सकता, उस दिन नियमसे चित्रा नक्षत्र ही होता है। ज्येष्ठा नक्षत्रवाली तो केवल मार्गशीर्षी अमावास्या ही है। अतः प्रसङ्गकी ठीक सङ्गति लगानेके लिये इसकी इस प्रकार व्याख्या करनी चाहिये—'अयं मासस्त्रिंशद्दिनात्मकः कालः सौम्यः शोभनः। तदनन्तरं त्रिंशद्दिनानन्तरं सप्तमदिवसादूर्ध्वं शक्रदेवता इन्द्रदेवतावती ज्येष्ठानक्षत्रयुक्ता अमावास्या भविष्यति तस्यां संग्रामो युज्यताम्।' अर्थात् 'यह एक मास—आगेके तीस दिनका समय बड़ा सुन्दर है। उन तीस दिनोंके पश्चात् सातवें दिन ज्येष्ठा नक्षत्रवाली अमावास्या होगी, उस दिन युद्ध ठान देना।' महाभारतके कई श्लोक कूट हैं। उनका अर्थ प्रसङ्गके अनुसार कुछ विलक्षण ही करना पड़ता है। ऐसा ही इसे समझना चाहिये।

अब एक बात और विचारणीय है। हमारे मतके अनुसार यह मार्गशीर्ष कृष्णा अमावास्या युद्धका चौदहवाँ दिन है। इसी दिन अर्जुनने जयद्रथका वध किया था और फिर रात्रिमें भी दोनों सेनाओंमें बड़ा भयङ्कर युद्ध होता रहा। उस समय अन्धकारके कारण एक दूसरेको न पहचाननेसे बहुत-से अपने ही पक्षके वीर मारे गये। फिर रात्रिके तीन भाग बीत जानेपर चन्द्रमाका उदय हुआ। यह बात द्रोणपर्व, अध्याय १८६ के प्रथम श्लोकसे सिद्ध होती है। यहाँ यह शङ्का होती है कि यदि उस दिन अमावास्या मानी जाय तो चन्द्रमाका उदय होना कैसे सम्भव होगा। इस विषयमें हमारा ऐसा मत है कि उस दिन जिस प्रकार दिनके समय अपने भक्त अर्जुनकी प्राणरक्षाके लिये भगवान्‌ने मायासे सूर्यको अस्त किया था, उसी प्रकार रात्रिमें भक्तके पक्षकी रक्षाके लिये ही उन्होंने मायासे चन्द्रमाका उदय करके दिखला दिया था। अपने भक्तके लिये भगवान् क्या-क्या नहीं करते।

† इस विषयमें महाभारतके टीकाकार श्रीनीलकण्ठजी भी ऐसा ही लिखते हैं—

श्रीकृष्ण तुरंत ही विराटनगरमें लौट आये और दूसरे दिन पाण्डवोंको सारा समाचार सुनाकर उस दिन पुष्य नक्षत्रमें ही पाण्डवोंकी सेनाका भी प्रस्थान कराया—

निर्गच्छध्वं पाण्डवेयाः पुष्येण सहिता मया ।

(गदा० ३५ । १०)

इस प्रकार दोनों ओरकी सेनाओंको युद्धके लिये प्रस्थान करते देखकर श्रीबलरामजीने विचार किया कि मुझे इस बन्धुविद्रोहमें किसीका पक्ष न लेकर तीर्थयात्राको चला जाना ही अच्छा है। ऐसा निश्चय कर वे उसी दिन पुष्य नक्षत्रमें ही तीर्थ-भ्रमणको चल दिये। इस प्रकार कौरवसेनाके प्रस्थानकी तिथि कार्तिक कृष्णा सप्तमी और पाण्डवसेनाके प्रस्थान तथा श्रीबलरामजीकी तीर्थयात्राके आरम्भकी तिथि कार्तिक कृष्णा अष्टमी निश्चित होती है।

महायुद्धके अन्तिम दिन जिस समय भीम और दुर्योधनका गदायुद्ध हो रहा था, श्रीबलरामजी अपनी यात्रा समाप्त करके कुरुक्षेत्र पहुँचे थे। उस समय उन्होंने कहा था कि 'यात्राको निकले हुए आज मुझे बयालीस दिन हुए। मैं पुष्य नक्षत्रमें चला था और आज श्रवण नक्षत्रमें लौटा हूँ।'

चत्वारिंशदहान्यद्य द्वे च मे निःसृतस्य वै ।
पुष्येण संप्रयातोऽस्मि श्रवणे पुनरागतः ॥

(शल्य० ३४ । ६)

इस वचनके अनुसार यदि कार्तिक कृष्णा अष्टमीसे गिनें, तो उस दिन मार्गशीर्ष शुक्ला पञ्चमी होनी चाहिये। यह युद्धारम्भदिवससे अठारहवाँ दिन है और इससे आठ दिन पूर्व भीष्मपितामह शरशय्यापर गिरे थे। इस हिसाबसे मार्गशीर्ष कृष्णा द्वितीया युद्धारम्भकी तिथि निश्चित होती है और मार्गशीर्ष कृष्णा एकादशी या द्वादशी भीष्मजीके पतनकी। युद्धारम्भके दिन प्रातःकालमें भगवान्‌ने अर्जुनसे श्रीदुर्गाजीकी आराधना करायी थी और उस समय दुर्गाजीने प्रत्यक्ष दर्शन देकर अर्जुनको वर भी दिया था; तो भी जिस समय वह कौरवसेनाके सामने आया और अपने सामने अपने सम्बन्धियोंको प्राणोंकी बलि चढ़ानेके लिये तैयार देखा तो उसका हृदय बन्धुवधजनित शोक और मोहसे ग्रस्त हो गया। उस समय उसका मोह निवृत्त करनेके लिये भगवान्‌ने गीताका उपदेश दिया। इस दिनसे अठारहवें दिन श्रवण नक्षत्र था, इसलिये उस दिन मृगशिरा नक्षत्र होना चाहिये। अतः मार्गशीर्ष कृष्णा द्वितीयाके लगभग मृगशिरा नक्षत्र ही गीताके आविर्भावका समय निश्चित होता है और उसी समय आजकल भी गीताजयन्ती मनानी चाहिये।

'पुष्यनक्षत्रं हि आश्विन्याः पौर्णमास्या उपरि अष्टम्यां भवति, पूर्वमपि (श्रीकृष्णेन कर्णं प्रति) 'सप्तमाद्दिवसादूर्ध्वममावास्या भविष्यति' इत्युक्तत्वात्।' (उद्योग० १५० । ३ की टीका)

इस मतकी पुष्टि एक दूसरे प्रमाणसे भी होती है। इसी दिन भगवान् वेदव्यासने राजा धृतराष्ट्रसे कहा था कि मैंने कार्तिकी पूर्णिमाको चन्द्रमा प्रभाहीन देखा है। ‡ इससे सिद्ध होता है कि यह दिन कार्तिकी पूर्णिमाके पीछे ही था। ऊपर बताया जा चुका है कि कौरव-सेनाका प्रस्थान कार्तिक कृष्णा अष्टमीको हुआ था और उसके दूसरे दिन पाण्डवोंकी सेना चली थी। तबसे अबतक तेईस-चौबीस दिन होते हैं। इन दिनोंमें सैन्यसंग्रह और शिविरनिर्माण आदि युद्धकी तैयारियाँ होती रही होंगी।

यहाँतक विचार करनेसे यह निश्चय होता है कि मार्गशीर्ष कृष्णा द्वितीयाको युद्ध आरम्भ हुआ, एकादशीको भीष्मजी शरशय्यापर गिरे, मार्गशीर्ष शुक्ला पञ्चमीको युद्धका अन्त हुआ, दशमीको युधिष्ठिरका राज्याभिषेक हुआ और माघ शुक्ला अष्टमीको भीष्मपितामह स्वर्ग सिधारे। इस प्रकार बहत्तर-तिहत्तर दिनतक वे बाणोंके ऊपर पड़े रहे। युद्धकी समाप्तिके बाद भी राज्याभिषेक होनेमें पाँच-छः दिन लगना स्वाभाविक ही है। महाभारतमें तो कहा है—

तत्र ते सुमहात्मानो न्यवसन् पाण्डुनन्दनाः ।
शौचं निर्वर्तयिष्यन्तो मासमात्रं बहिः पुरात् ॥

(शान्ति० १ । २)

वे महात्मा पाण्डुपुत्र शौच सम्पन्न करनेके लिये एक मासतक नगरके बाहर रहे। किन्तु युद्धमें मारे गये वीरोंका अशौच एक महीनेमें निवृत्त हो, यह धर्मशास्त्रके मतसे विरुद्ध है। इस विषयमें टीकाकार नीलकण्ठजी भी लिखते हैं—

‡ अलक्ष्यः प्रभया हीनः पौर्णमासीं च कार्तिकीम् ।
चन्द्रोऽभूदग्निवर्णश्च पद्मवर्णे नभस्तले ॥

(भीष्म० २ । २३)

कार्तिकी पूर्णिमाको पद्मवर्ण आकाशमें चन्द्रमा अलक्ष्य, प्रभाहीन और अग्निवर्ण हो गया था।

न चैते शूद्राः, येन मासमाशौचं कुर्युः ।

किञ्च—

उद्यतैराहवे शस्त्रैः क्षत्रधर्महतस्य च ।
सद्यः संतिष्ठते यज्ञस्तथाशौचमिति स्थितिः ॥'

इति संग्रामहतानां सपिण्डाः सद्य एव शुध्यन्तीत्युक्तं मनुना । तेन द्वादशाहमपि नैषामशौचं मासस्तु दूरो निरस्त इति प्रतीयते ।

अर्थात् महाभारतमें मारे गये ये वीरगण शूद्र नहीं थे, जो एक मासका अशौच रक्खा जाता । 'युद्धमें क्षत्रधर्मके द्वारा चलाये जानेवाले शस्त्रोंसे मरे हुए पुरुषोंका यज्ञ तथा शौच शीघ्र ही हो जाता है, ऐसी स्थिति है' इस वाक्यसे मनुजीने तो युद्धमें मारे गये वीरोंके सपिण्डोंकी शीघ्र ही शुद्धि बतायी है । इससे मालूम होता है कि एक मास तो दूर, उन्हें तो बारह दिनका भी अशौच नहीं लगा । इसलिये उपर्युक्त श्लोकका अन्वय इस प्रकार करना चाहिये—'मासमात्रं शौचं निर्वर्तयिष्यन्तः (कतिचिद्दिनानि) पुराद्बहिः न्यवसन् ।' अर्थात् एक मासमें पूरी होनेवाली शुद्धि करते हुए कुछ दिन नगरके बाहर रहे । तात्पर्य यह कि अन्य पुरुषोंको जिस शुद्धिमें एक मास लगता, वह उन वीरोंकी कुछ ही दिनोंमें हो गयी । अतः चार-पाँच दिन पाण्डवोंको शौच सम्पन्न करनेमें लगे ।

अब, कुछ अन्य मतोंपर विचार किया जाता है । कुछ लोग कहते हैं कि भीष्मपितामहके पतनसे आठवें दिन गदायुद्ध हुआ, चौबीसवें दिन पाण्डवलोग हस्तिनापुरमें आये, पचीसवें दिन उन्होंने श्राद्ध किया, सत्ताईसवें दिन राज्याभिषेक हुआ, अठाईसवें दिन विश्राम किया, उन्तीसवें दिन भीष्मके पास उपदेश ग्रहणके लिये गये और इस दिनसे तीसवें दिन अर्थात् शरशय्यापर गिरनेके अठावनवें दिन *भीष्मने शरीर त्यागा । इस मतको स्वीकार करनेसे उपर्युक्त छप्पन दिन और पचास रात्रिकी कोई सङ्गति नहीं लग सकती तथा युद्ध-समाप्तिके दिन श्रवण नक्षत्र भी नहीं मिलता । इसलिये यह माननेयोग्य नहीं है ।*

इसके *सिवा दूसरा मत यह है कि कार्तिक शु० १२ को* भगवान् हस्तिनापुर गये, मार्गशीर्ष कृ० ५ को पुष्य नक्षत्रमें सेना चली, इससे ४२ दिन पीछे पौष शु० १ को श्रवण नक्षत्रमें युद्ध समाप्त हुआ । युद्धारम्भसे दसवें दिन पौष कृ० ८ को भीष्मजी बाणोंपर गिरे तथा इसके बयालीसवें दिन माघ शुक्ला पञ्चमीको उन्होंने शरीर छोड़ा । इस मतके अनुसार भी छप्पन दिन, पचास रात्रि और अठावन दिनकी कोई सङ्गति नहीं लगती । और निर्णयसिन्धु आदि ग्रन्थोंके अनुसार जो माघ शुक्ला अष्टमीको भीष्माष्टमी मानी गयी है, वह बात भी नहीं मिलेगी । यथा—

'माघे मासि सिताष्टम्यां सलिलं भीष्मतर्पणम् ।'
(इति हेमाद्रौ पाद्मे)

'शुक्लाष्टम्यां तु माघस्य दद्याद्भीष्माय यो जलम् ।'
(इति पुराणान्तरे)

'अष्टम्यां तु सिते पक्षे भीष्माय तु तिलोदकम् ।'
(इति धवलनिबन्धस्मृतौ)

इस प्रकार इन दोनों मतोंमें न्यूनता रह जानेके कारण ही हमने महाभारतके मूल श्लोकोंके आधारपर अपना उपर्युक्त मत प्रकाशित किया है । ज्योतिषसारनामक ग्रन्थसे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि अधिक मास चैत्रसे आश्विनतक और क्षयमास कार्तिकसे माघतक ही हुआ करता है । इसलिये इन दिनोंमें कोई अधिक मास हुआ हो, ऐसी भी आशङ्का नहीं की जा सकती ।

यहाँ एक बात और ध्यानमें रखनी चाहिये । जिस वर्ष आश्विन अधिक मास होगा, उस वर्षके पञ्चाङ्गमें भी ठीक ये ही तिथि-नक्षत्रादि मिलेंगे । तिथियोंके घट-बढ़ जानेसे इनमें एक-दो दिनका अन्तर भले ही पड़ जाय, विशेष अन्तर नहीं होगा । जिस वर्ष आश्विन मास अधिक होगा, उस वर्षकी भीष्माष्टमीको कुम्भराशिका सूर्य सात अंशका अवश्य होगा । और कुम्भराशिके सात अंशपर धनिष्ठा नक्षत्र समाप्त हो जाता है । इससे यह सिद्ध होता है कि भीष्मके प्राण-प्रयाणके समय कुम्भराशिपर सात अंशका सूर्य था और सूर्यके धनिष्ठा नक्षत्रकी समाप्ति होती थी । आजकल ग्रहलाघवीय पञ्चाङ्गोंके अनुसार अयनांश २३ होनेके कारण सूर्यके उत्तरायण होनेके दिन (२२ दिसम्बरको) धनुराशि-का सूर्य सात अंशका होता है तथा सूर्यका मूलनक्षत्र आधा भुक्त हो जाता है । इसलिये तबसे अबतक आधा मूलनक्षत्र तथा पूर्वाषाढा, उत्तराषाढा, श्रवण और धनिष्ठा—ये साढ़े चार नक्षत्र भुक्त हुए । लोकमान्य तिलकने गीतारहस्यके गीताकी 'बहिरङ्ग परीक्षा' शीर्षक प्रकरणके 'वर्तमान गीताका काल'

नामक पाँचवें खण्डमें लिखा है कि एक नक्षत्रको भोगनेमें लगभग एक हजार वर्ष लगते हैं। इस हिसाबसे अबतक साढ़े चार हजार वर्ष हुए—यह निश्चय होता है। यदि लगभग एक हजारका अर्थ ग्यारह सौ अथवा इससे भी कुछ अधिक माना जाय तो इस घटनाको पूरे पाँच हजार वर्ष हो जाते हैं। आजकल संवत् १९९६ के पञ्चाङ्गमें गतकलि वर्ष ५०४० लिखे हैं। कलिका प्रारम्भ भगवान् श्रीकृष्णके स्वधामगमनके दिनमें होता है, जैसा कि श्रीमद्भागवतमें भी लिखा है—

> यस्मिन् कृष्णो दिवं यातस्तस्मिन्नेव तदाहनि।
> प्रतिपन्नं कलियुगमिति प्राहुः पुराविदः॥

महाभारत-युद्ध इसके ३५-३६ वर्ष पूर्व हुआ था। इससे सिद्ध होता है कि यह घटना आजसे पूरे पाँच हजार वर्ष पूर्वकी है और भीष्मपितामहका स्वर्गवास भी माघ शु० ८ को ही हुआ था। अब हम इस लेखद्वारा निर्धारित समस्त तिथियोंका संग्रह करके इसका उपसंहार करते हैं—

१. आश्विन शु० १५ को भगवान् श्रीकृष्णका दूत बनकर हस्तिनापुर जाना।

२. कार्तिक कृ० ७ को पुष्यनक्षत्रमें कौरवसेनाका कुरुक्षेत्रके लिये प्रस्थान।

३. कार्तिक कृ० ८ को पुष्यनक्षत्रमें पाण्डवसेनाका कुरुक्षेत्रको और बलरामजीका तीर्थयात्राके लिये प्रस्थान।

४. मार्गशीर्ष कृ० २ को मृगशिरा नक्षत्रमें गीताका उपदेश और युद्धका आरम्भ।

५. मार्गशीर्ष कृ० ११ को भीष्मपितामहका शरशय्यापर गिरना।

६. मार्गशीर्ष शु० ५ को भीम और दुर्योधनका गदायुद्ध एवं युद्धकी समाप्ति।

७. मार्गशीर्ष शु० १० को युधिष्ठिरका राज्याभिषेक।

८. मार्गशीर्ष शु० ११ को भगवान् श्रीकृष्णके सहित पाण्डवोंका भीष्मपितामहके पास जाना और भगवान्का पितामहके जीवनमें ५६ दिन शेष बताना।

९. मार्गशीर्ष शु० १२ को भीष्मपितामहके उपदेशका आरम्भ।

१०. पौष कृ० ४ को उपदेशकी समाप्ति।

११. माघ शु० ८ को पाण्डवोंका भीष्मके पास पहुँचना और उनका प्राण त्याग करना।

मालिनसे

चंदन सों अँगना न लिपे, और मोतिन चौक पुर दुब दूने।
फूलनके बँद द्वार न मावैं, रसालकी डार सजाई है तूने॥
आवत आज बसंत न लाज, सखी! हमरे मन प्रान हैं सूने।
सूने हैं स्याम बिना सब कुंज री! गये बिना घर घाट बिहूने॥

प्रेमयोग

अंगमें जैसे भभूत लसै, प्रति रोमसे आज पराग झरा है।
श्यामके चिन्तनमें रत है मन, श्वाससे नाम सदा सुमरा है॥
बैनके कुण्डल कर्ण पड़े नित, नैन-कमंडल नीर भरा है।
प्रेम उन्हींका वियोग बना, या वियोगने योगका रूप धरा है॥

—श्रीहोमवती देवी

विश्वास

[कहानी]

(लेखक—श्री'चक्र')

आकाश बादलोंसे घिरा हुआ था; जब कभी बिजलीकी चमक और शब्द भी होता था। शीतकालके बादलोंकी भयङ्करताने अभी कल ही पृथ्वीको ओलोंसे श्वेत कर दिया था। पता नहीं, अभी क्या होनेवाला है।

'रहने भी दो, आज यहीं सो रहो। अँधेरा हो रहा है, रास्ता ठीक नहीं और फिर ये बादल! यदि ओले मार्गमें पड़ने लगें तो········?'

'भैया! कोई बात नहीं, मेरे भगवान् वहाँ अकेले पड़े हैं। मुझे तो जाना ही होगा। ओला पड़े या पत्थर, मुझे वहाँ जाकर आरती करनी है। कोई भोग लगानेवाला भी नहीं, भगवान् भूखे रह जायँगे।'

यहाँ नगरसे एक मील बाहर बगीचेमें श्यामसुन्दरका बड़ा मनोहर मन्दिर है! सायं-प्रात: नित्यकर्मके लिये मैं प्राय: वहीं जाता हूँ। वहाँके पुजारी एक युवक गौरवर्ण ब्राह्मणकुमार हैं। बड़े सरल और भावुक! आज वे कार्यवश नगरमें आये थे और सन्ध्या हो गयी। मैं उन्हें रोक रहा था बादलोंके डरसे, और वे मानते ही न थे। अन्तत: वे विजयी रहे। हमारे देखते-देखते वे नंगे पैर ही भागे।

कठिनतासे वे दो सौ गज गये होंगे कि मूसलाधार वृष्टि होने लगी। वायुने शीत इतना बढ़ाया कि हम अँगीठियोंके पास पहुँचे। पुजारीजीकी चिन्ता थी—वे भीग गये होंगे। ओले भी पड़े, पर भगवान्‌की दयासे छोटे।

प्रात:कालतक वृष्टि रुकी नहीं, इच्छा होनेपर भी मैं मन्दिरकी ओर न जा सका। पता लगा, पुजारीजीको शीत हो गया। मेघ खुले और मैं मन्दिरकी ओर भागा।

ज्वरसे मूर्च्छित ब्राह्मण युवक चटाईपर पड़े थे। एक कम्बल ऊपर पड़ा था। मैं समीप बैठ गया। तनिक देरमें उन्होंने नेत्र खोले, मैंने प्रणाम किया।

'मैंने कल आते ही चारपाई ले ली। मेरे भगवान् भूखे ही रह गये। तनिक मन्दिरमें देख आओ। स्नान तो किया है?'

'हाँ, कहकर चुपचाप मैं मन्दिरमें गया। किसीने रात्रिमें दीप जला दिया था, वह जल रहा था अभीतक। मैंने बुझाया। भोग लगा था—इस सर्दीमें—छाछ और मूली तथा कुछ अमरूद। किसीने थालमें रख दिये होंगे। मैंने थाल उठाया और पुजारीजीके पास लाकर हँसते हुए कहा, 'खा चुके हैं आपके सरकार! यह रहा प्रसाद।'

मुझे क्या पता था कि इससे उन्हें दुःख होगा। उनके नेत्र भर आये, आँसू पोंछते हुए वे उस ज्वरमें भी उठ बैठे।

'भैया! इस सर्दीमें प्रभुने ये फल खाये और छाछ पी?'

फिर रोने लगे। उन्होंने थाल खींचा। 'हैं! आपको शीत हो रहा है; मैंने वैद्य बुलाया है और आप यह करने क्या जा रहे हैं?' मैं थाल हटाना चाहता था।

'भैया! यह अमृत है, प्रसाद ले लेने दो। लो तुम भी।' वह दृष्टि बड़ी वेधक थी। मैं अस्वीकार न कर सका। अमरूद एक तो ले ही लिया।

'बड़ा स्वादिष्ट है।' पूरी छाछ वे पी गये और मूली खाने लगे। 'रहने भी दीजिये।' मैंने फिर रोका।

'रहने क्यों दूँ ? भला, कोई अमृत छोड़ता है ?' वैद्यजीके आते-आते वे अन्तिम फल समाप्त कर रहे थे। मैंने वैद्यजीसे कहा, 'ये तो महादवा पी चुके।'

'मैं तो अच्छा भी हो गया !'

सचमुच वैद्यजीने नाडी देखकर कहा कि 'इन्हें ज्वर तो है नहीं।'

'पर आप दवा तो दे ही दीजिये। गोपालको सम्भवतः शीत हो गयी। मैं तो अमृतसे अच्छा हुआ, पर वे……'

मैंने बीचमें ही रोका—'जो अपने प्रसादसे दूसरोंको चंगा कर देते हैं, उन्हें दवासे क्या लेना-देना !'

'ना भैया ! वे अवश्य बीमार होंगे, नहीं तो कल मुझे ही क्यों ज्वर आता ?' इस तर्कका हमारे पास कुछ उत्तर न था।

वैद्यजीने अदरखके रसमें कुछ लाल-लाल रस छोड़ा और कहा, 'लीजिये, पिला आइये।' वे गये भोग लगाने और हम हँसते रहे।

'क्या एक ही बार देना है ?' उन्होंने लौटकर पूछा। 'हाँ, एक ही बार पर्याप्त है।' वैद्यजी हँस पड़े।

हमने स्वयं उन्हें दवा सिंहासनके सम्मुख रखते देखा था। वे पर्दा करके हटे और फिर पर्दा हटाया।

'मेरे लिये तनिक भी न छोड़ा।' खाली पात्र लिये झल्लाते हुए लौटे। हमने पूछा, 'क्या हुआ ?' पर उत्तर कुछ नहीं। पुजारीजी चुपचाप जाकर सो रहे। हमने देख लिया वे स्वस्थ थे। अतः लौट आये।

(२)

इस घटनाको बहुत दिन बीत गये। मैं प्रयागसे मथुरा आ गया और वहीं रहने लगा। पुजारीजीका हमें कुछ भी स्मरण न रहा।

बच्चा बीमार था, घरभर उसकी बीमारीसे आकुल हो रहा था। डाक्टर और वैद्योंका ताँता लगा रहता था। लोगोंके कहनेसे कुछ साधु-महात्मा भी बुलाये। लाभ कुछ भी नहीं हुआ। दशा बिगड़ती ही गयी।

मैं व्याकुल था, अन्तमें पूजाके कमरेमें गया और द्वार बंद कर लिया। पता नहीं कितनी देर वहाँ पड़ा रोता रहा। किसीने बाहरसे पुकारा 'राधे !'

देखा कि एक तेजस्वी तरुण संन्यासी भिक्षाके लिये खड़े हैं। प्रणाम करके मैंने भरे नेत्रोंसे कहा, 'भगवन् ! यहाँ तो हमलोग आपत्तिमें हैं, आगे पधारें।'

'व्रजमें भी आपत्ति रहती है क्या ?' विचित्र भावभंगीसे वे बोले—'अच्छा, तनिक उस आपत्तिको देखूँ तो कन्हैयासे बड़ी है या छोटी ?'

बड़ी विचित्र थी वह भावभंगी। मैं चुपचाप ही भीतर लौटा और वे आये मेरे पीछे। बच्चेको उन्होंने देखते ही एक ठहाका लगाया—'अच्छा, यह स्वाँग ?' सच मानिये, मुझे बड़ा बुरा लगा। यदि वे साधु न होते तो…………'

उन्होंने हमारी ओर देखकर 'यह रही इसकी दवा !' कहते हुए एक चुटकी धूलि पृथ्वीसे उठाकर बच्चेके मुखमें डाल दी।

बच्चा उठ बैठा, उसी समय ज्वर पूर्णतः उतर गया। डाक्टरने आश्चर्यसे स्वामीजीकी ओर देखा। हमारे परिवारमें जीवन आ गया। हम सब उनके चरणोंसे लिपट गये। सबको दूर करते वे चलने लगे।

'अरे ! यह व्रज-रज ही अमृत है। मुझमें कोई चमत्कार थोड़े ही है। तुमने पहचाना नहीं प्रयागके पुजारीको ?'

वे बड़ी तीव्रतासे चले गये। हम देखते ही रह गये।

'अरे ! ये अपने पुजारीजी ही थे !'

मैंने सोचा था कि उन्हें ढूँढ़ेंगे। मैं सन्ध्याको निकला और अनायास वे विहारीजीके मन्दिरके द्वारपर मिल गये।

'अभी तो दर्शनोंमें देर है, आप कुटियाको पवित्र करें तो बड़ी कृपा हो।'

'देर तो है, पर मुझे जाना है मथुरा—आज और अभी। विहारी दर्शन दे दें तो ठीक।'

'पर दर्शन तो सात बजे खुलेंगे।'

'आओ, भीतर चलें। आज ऐसा ही सही।' मैं चुपचाप भीतर चला। वे गम्भीर दृष्टिसे पर्देकी ओर देखकर बोले 'आज तनिक शीघ्र उठ जाओ तो क्या हानि है?' भीतर गोस्वामीजी शृङ्गार कर रहे थे। पता नहीं, क्या हुआ; वे भीतरसे द्वार खोलकर आये, असावधानीसे पर्दा गिर गया। हमने झाँकी की और हर्षसे उछल पड़े।

(३)

'मैं समझता हूँ, मैंने देखा और सोचा भी; पर विश्वास होता नहीं।' तीन दिन पश्चात् उन्हीं पुजारीजीके उपदेशोंके उत्तरमें मैंने कहा।

'दूसरा कोई उपाय नहीं, गोपालपर विश्वास करना ही होगा। यही सर्वश्रेष्ठ साधन है।'

'यह तो वही चाहें तो हो सकता है।'

'वह तो चाहेंगे, पर तुम भी तो चाहो।'

'मैं कैसे समझूँ कि वे चाहते हैं।'

'जैसे चाहो, वैसे समझ लो।'

मुझे कुतूहल हुआ, मैंने कहा—'अच्छा, वे स्वयं आकर समझा दें तो मान लूँ।'

'वे आवें, पर तुम नन्दगाँव नहीं जाओगे?'

'अभी चलें! वहाँ मिलेंगे तो?'

'घर छोड़कर जायँगे कहाँ?'

हम नन्दगाँवको गये। नन्दमन्दिरके द्वारपर पड़ रहे। एक दिन—दो दिन—तीन दिन। मैं घबड़ाया 'वे यहाँ नहीं हैं।' 'कहीं गये होंगे। आज और।' प्रातःमें पुजारीजीने जल छोड़ दिया।

'को है रे! इतै आ। ह्याँ क्यों परचो है? अपने घर भाग जा।' वह गोपबालक कहता हुआ आया और मेरी पुस्तक ले भागा। मैं पीछे दौड़ा। इसी हलचलमें पुजारीजी जग पड़े। मैं झुँझलाया हुआ था। मन्दिर खुलते ही भीतरसे पुजारीने एक पुस्तक फेंक दी—'जाने, कौनने पटक राखी है।'

पुस्तक तो मेरी ही थी। मैं उठा लाया।

'क्यों क्या देखा? अब भी कुछ कहना है?' मैं पुजारी स्वामीके चरणोंपर गिरकर रो रहा था। वे कह रहे थे 'अब तो विश्वास करोगे?'

मैं क्या कहता—'इस अविश्वासी हृदयका वे परिवर्तन कर दें, यही प्रार्थना है।'

सोच करने योग्य कौन है ?

सोच उस ब्राह्मणका करना चाहिये जो वेद नहीं जानता, और जो अपना धर्म छोड़कर विषयभोगमें ही लीन रहता है। उस राजाका सोच करना चाहिये, जो नीति नहीं जानता और जिसको प्रजा प्राणोंके समान प्यारी नहीं है।

उस वैश्यका सोच करना चाहिये जो धनवान् होकर भी कंजूस है, और जो अतिथिसत्कार तथा शिवजीकी भक्तिमें कुशल नहीं है। उस शूद्रका सोच करना चाहिये, जो ब्राह्मणोंका अपमान करनेवाला, बहुत बोलनेवाला, मान-बड़ाई चाहनेवाला और ज्ञानका घमंड रखनेवाला है।

पुनः उस स्त्रीका सोच करना चाहिये जो पतिको छलनेवाली, कलहप्रिय और स्वेच्छाचारिणी है। उस ब्रह्मचारीका सोच करना चाहिये जो अपने ब्रह्मचर्य-व्रतको तोड़ देता है और गुरुकी आज्ञाके अनुसार नहीं चलता।

उस गृहस्थका सोच करना चाहिये जो मोहवश कर्ममार्गका त्याग कर देता है; उस संन्यासीका सोच करना चाहिये, जो दुनियाके प्रपञ्चमें फँसा हुआ है और ज्ञान-वैराग्यसे हीन है।

वानप्रस्थ वही सोच करने योग्य है, जिसको तपस्या छोड़कर भोग अच्छे लगते हैं। सोच उसका करना चाहिये जो चुगलखोर है, बिना ही कारण क्रोध करनेवाला है तथा माता, पिता, गुरु एवं भाई-बन्धुओंके साथ विरोध रखनेवाला है।

सब प्रकारसे उसका सोच करना चाहिये जो दूसरोंका अनिष्ट करता है, अपने ही शरीरका पोषण करता है और बड़ा भारी निर्दयी है। और वह तो सभी प्रकारसे सोच करने योग्य है, जो छलको छोड़कर हरिका भक्त नहीं होता।

(श्रीरामचरितमानस)

कल्याण
वर्ष १५
अङ्क ५

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम । जय रघुनन्दन जय सियराम ॥
रघुपति राघव राजा राम । पतितपावन सीताराम ॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा । जय गणेश जय शुभ आगारा ॥

[संस्करण ५२१००]

वार्षिक मूल्य भारतमें ४≡) विदेशमें ६॥=) (१० शिलिङ्ग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत् चित् आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण प्रति भारतमें ।) विदेशमें ।≡) (८ पेन्स)

Edited by H. P. Poddar and C. L. Goswami, M. A., Shastri.
Printed and Published by Ghanshyamdas Jalan at the Gita Press, Gorakhpur (India).

श्रीहरिः

मानसाङ्क प्रथम खण्डका पाँचवाँ संस्करण

कल्याण दिसम्बर सन् १९४० की

विषय-सूची

गीता-जयन्ती

आगामी मार्गशीर्ष शुक्ल ११ ता० १० दिसम्बर मंगलवारको श्रीगीताजयन्तीका पर्व है। भारतके विभिन्न भागोंमें इस पर्वपर उत्सव मनाये जाते हैं। 'गीताधर्ममण्डल' पूनाके श्रीयुत करन्दीकर महोदयने बहुत छान-बीन करके मार्गशीर्ष शुक्ल ११ को गीता-जयन्तीका दिन निश्चय किया था। उसीके अनुसार इस दिन जयन्ती मनायी जाती है। प्रसिद्ध ऐतिहासिक श्रीयुत चिन्तामणि विनायकराव वैद्यने मार्गशीर्ष शुक्ल १३ बतलाया था। एक विद्वान् मार्गशीर्ष कृष्ण २ मानते हैं किन्तु जब सारे देशमें मार्गशीर्ष शुक्ल ११ को उत्सव मनाये जाने लगा है और इसके पक्षमें भी पर्याप्त प्रमाण हैं तब दिन परिवर्तन करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है।

गीता-जयन्तीके पर्वपर ये कार्य होने चाहिये—

१–गीता-ग्रन्थकी पूजा।

२–गीताके वक्ता भगवान् श्रीकृष्णकी और गीताको महाभारतमें संयोजित करनेवाले भगवान् व्यासदेवकी पूजा।

३–गीताका यथासाध्य पारायण—

४–गीता-तत्त्वको समझने-समझानेके लिये तथा गीताका प्रचार करनेके लिये स्थान-स्थानमें सभाएँ और गीतातत्त्व तथा गीता-महत्त्वका प्रवचन और व्याख्यान।

५–पाठशालाओं और विद्यालयोंमें गीतापाठ और गीतापर व्याख्यान तथा गीतापरीक्षामें उत्तीर्ण छात्रोंको पुरस्कार-वितरण।

६–प्रत्येक मन्दिरमें गीताकी कथा और भगवान्‌का विशेष पूजन।

७–(जहाँ कोई अड़चन न हो वहाँ) गीताजीकी सवारीका जुलूस।

८–लेखक और कविमहोदय गीतासम्बन्धी लेखों और कविताओंद्वारा गीताप्रचारमें सहायता करें।

गीता ही एक ऐसा ग्रन्थ है जिसको दुनियाभरके सभी विद्वान् परम आदरकी दृष्टिसे देखते हैं। गीताका एक-एक वाक्य मनन करने योग्य है। इस वर्ष यदि हमलोग गीताके निम्नलिखित श्लोकके अर्थपर ध्यान देकर तदनुसार अपना जीवन बनावें तो भगवान्‌की कृपासे हमारा बड़ा कल्याण हो सकता है। भगवान् कहते हैं—

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः। मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥ (गीता १८।५६)

'मेरा आश्रय लेनेवाला पुरुष सब कर्मोंको सदा करता हुआ भी मेरी कृपासे सनातन अविनाशी परम पदको प्राप्त हो जाता है।'

सम्पादक—कल्याण, गोरखपुर

The Bhakta Number
of
The "Kalyana-Kalpataru"

According to the announcement made in the November issue of the Kalpataru, arrangements have been made to bring out the eighth Special Number of the "Kalyana-Kalpataru" in January next under the title of the Bhakta Number. Valuable articles on the subject of Bhakti and Bhakta are being received from our distinguished contributors whose articles generally adorn the pages of the special number of the Magazine. The discipline of Bhakti is the easiest and surest means of reaching one's goal. According to Hindu scriptural authorities, Bhakti is the mother of Jñāna and Vairāgya (Knowledge and Dispassion). Therefore, cultivation of Bhakti is necessary even for the realization of Jñāna or Knowledge Absolute. And Bhakti is easily cultivated by reverential study of the lives of Bhaktas and the nectarean stories of God's Līlā (Sports) in all planes of existence, with which the lives of Bhaktas are invariably associated. We have every hope that the Bhakta Number will render practical help to all spiritual practicants to establish a living relationship with God.

The following are some of the distinguished contributors whose articles will appear in the number. As in previous years, the issue will be an illustrated one.

Names of Contributors:

Mahamahopadhyaya Dr. Ganganatha Jha; Panditpravara Panchanan Tarkaratna; Mahamahopadhyaya Pramathanath Tarkabhushan; Shastravachaspati Dr. P. D. Shastri; Swami Pavitranand; Swami Suddhananda Bharati; Swami Sivananda Saraswati; Swami Vipulananda; Swami Asanganand; Swami Aseshananda; Swami Bhumanand; Prof. Akshaya Kumar Banerji, M. A.; Syt. Basanta Kumar Chatterji, M. A.; Dewan Bahadur K. S. Ramaswami Sastri; Syt. Hirendranath Datta, M. A., Vedantaratna; Prof. Kokileswar Sastri, M. A.; Prof. M. S. Srinivasa Sarma, M. A.; Prof. Laljiram Shukla, M. A.; Prof. Dhirendra Krishna Mukerji, M.A.; Prof. K. V. Gajendragadkar, M.A.; Syt. Bhagavatiprasad Singh, M. A.; Syt. J. B. Durkal, M. A.; Dr. S. K. Das M. A., Ph. D.; Mahatma B. R. Vinayek; Syt. Y. Jagannathm, B. A.; Syt. Jayadayal Goyandka; Syt. Hanumanprasad Poddar, and others.

THE MANAGER,
"Kalyana-Kalpataru",
Gorakhpur.

झूलनलीला

वृन्दावनगतं ध्यायेत्कल्पकोद्यानमध्यगम् । दोलायमानं गोपीभिः सुवर्णदोलिकागतम् ॥
सूर्यायुतसमाभासं लसन्मकरकुण्डलम् । नानारत्नपरिभ्राजन्नानालङ्कारमण्डितम् ॥

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥ (श्रीमद्भगवद्गीता १८ । ६५)

वर्ष १५ } गोरखपुर, दिसम्बर १९४० सौर मार्गशीर्ष १९९७ { संख्या ५
पूर्ण संख्या १७३

झूलन-लीला

पालने झुलावत सुंदर स्याम ।
नखसिख लौं सिंगार सु सोहत मोहत कोटिक काम ॥
देखनकों जुरि आईं सबै मिलि सुंदर ब्रजकी बाम ।
सूरदास प्रभु झूलत पलना झुलवत हैं ब्रजभाम ॥

—सूरदासजी

प्रह्लादका उपदेश

हे दैत्यकुमारो ! विषयोंका जितना-जितना सङ्ग्रह किया जाता है उतना-उतना ही वे मनुष्यके चित्तमें दुःख बढ़ाते हैं। जीव अपने मनको प्रिय लगनेवाले जितने ही सम्बन्धोंको बढ़ाता जाता है उतने ही उसके हृदयमें शोकरूपी शल्य (काँटे) स्थिर होते जाते हैं। घरमें जो कुछ धन-धान्यादि होते हैं मनुष्यके जहाँ-तहाँ रहनेपर भी वे पदार्थ उसके मनमें बने रहते हैं और उनके नाश और दाह आदिकी सामग्री भी उसीमें मौजूद रहती है। इस प्रकार जीते-जी तो यहाँ महान् दुःख होता ही है, मरनेपर भी यम-यातनाओंका और गर्भप्रवेशका उग्र कष्ट भोगना पड़ता है। यदि तुम्हें गर्भवासमें लेशमात्र भी सुखका अनुमान हो तो कहो। सारा संसार इसी प्रकार अत्यन्त दुःखमय है। इसलिये दुःखोंके परम आश्रय इस संसार-समुद्रमें एकमात्र भगवान् ही सब लोगोंकी परम गति हैं—यह मैं सर्वथा सत्य कहता हूँ।

ऐसा मत समझो कि हम तो अभी बालक हैं, क्योंकि जरा, यौवन और जन्म आदि अवस्थाएँ तो देहके ही धर्म हैं, शरीरका अधिष्ठाता आत्मा तो नित्य है, उसमें यह कोई धर्म नहीं है। जो मनुष्य ऐसी दुराशाओंसे विक्षिप्त-चित्त रहता है कि 'अभी मैं बालक हूँ इसलिये इच्छानुसार खेल-कूद लूँ, युवावस्था प्राप्त होनेपर कल्याण-साधनका यत्न करूँगा।' फिर युवा होनेपर कहता है कि 'अभी तो मैं युवा हूँ, बुढ़ापेमें आत्मकल्याण कर लूँगा।' और वृद्ध होनेपर सोचता है कि 'अब मैं बूढ़ा हो गया, अब तो मेरी इन्द्रियाँ अपने कर्मोंमें प्रवृत्त ही नहीं होतीं, शरीरके शिथिल हो जानेपर अब मैं क्या कर सकता हूँ? सामर्थ्य रहते तो मैंने कुछ किया ही नहीं।' वह अपने कल्याणपथपर कभी अग्रसर नहीं होता; केवल भोग-तृष्णामें ही व्याकुल रहता है। मूर्खलोग अपनी बाल्यावस्थामें खेल-कूदमें लगे रहते हैं, युवावस्थामें विषयोंमें फँस जाते हैं और बुढ़ापा आनेपर उसे असमर्थताके कारण व्यर्थ ही काटते हैं। इसलिये विवेकी पुरुषको चाहिये कि देहकी बाल्य, यौवन और वृद्ध आदि अवस्थाओंकी बाट न देखकर बाल्यावस्थामें ही अपने कल्याणका यत्न करे।

मैंने तुमलोगोंसे जो कुछ कहा है उसे यदि तुम मिथ्या नहीं समझते तो मेरी प्रसन्नताके लिये ही बन्धनको छुड़ानेवाले श्रीभगवान्‌का स्मरण करो। उनका स्मरण करनेमें परिश्रम भी क्या है? स्मरणमात्रसे ही वे अति शुभ फल देते हैं तथा रात-दिन उन्हींका स्मरण करनेवालोंका पाप भी नष्ट हो जाता है। उन सर्वभूतस्थ प्रभुमें तुम्हारी बुद्धि दिन-रात लगी रहे और उनमें निरन्तर तुम्हारा प्रेम बढ़े; इस प्रकार तुम्हारे समस्त क्लेश दूर हो जायँगे।

(विष्णुपुराण)

कल्याण

याद रक्खो, तुम परमात्माके सनातन अंश हो, परमात्माकी दृष्टिसे तुम सदा परमात्मा ही हो। परमात्मा जिस प्रकार शुद्ध-बुद्ध-नित्यमुक्त हैं, वैसे ही तुम भी शुद्ध-बुद्ध-नित्यमुक्त हो। परमात्माकी ही भाँति तुम भी अनन्त, असीम, अपरिमेय, शाश्वत, ज्ञानमय और आनन्दमय हो।

अपने इस यथार्थ स्वरूपपर विश्वास करो, इस वास्तविक स्वरूपको पहचानो। तुम सत्यको देख सकते हो, तुम्हारा ज्ञान सत्यमय है, तुम सत्य ही हो। अपने इस सत्यस्वरूपमें स्थित हो जाओ।

तुम सदा ही बन्धनरहित हो। अज्ञान, अविद्या, माया—ये सब तो तुम्हारी क्रीड़ा-कल्पना हैं। तुम असीम हो, तुम स्वयं ही अपने अंदर विविध रूपोंसे विलास करते हो। पर अपने स्वरूपको भूल जानेके कारण तुम अपनेको मायाके बन्धनसे बँधे मान रहे हो। स्वरूपकी सच्ची स्मृति होते ही यह मिथ्या बन्धन टूट जायगा। सपनेसे जाग जानेकी भाँति तुम स्वरूपमें जाग जाओगे। असलमें तो कोई बन्धन है ही नहीं; कभी हुआ ही नहीं, यह तो भ्रम है—इस भ्रमको छोड़ दो, फिर बन्धनकी कल्पना भी नहीं रहेगी। यों तो यह भ्रम भी तुम्हारा विलास ही है। एक अखण्ड, असीम, आत्मस्वरूप तुम-ही-तुम हो।

तुम नित्य, असीम, सुखस्वरूप हो, दु:ख-शोकका तुम्हारे अंदर लेश भी नहीं है। तुम शुद्धस्वरूप हो, पाप-प्रपञ्चका तुम्हारे अंदर लेश भी नहीं है। तुम अनन्त अखण्ड सत्तास्वरूप हो, मृत्युका—विनाशका तुम्हारे अंदर लेश भी नहीं है। तुम ज्ञानस्वरूप हो—नित्य चेतन हो, अज्ञानका और जडताका तुम्हारे अंदर लेश भी नहीं है। अंदर और बाहर सर्वत्र तुम-ही-तुम हो, फिर इन दु:ख, पाप, विनाश, अज्ञान और जडताको रहनेके लिये स्थान ही कहाँ है? यह तो तुम्हारी ही कल्पना है। स्वरूपतः तुमसे भिन्न अगर कुछ है तो वह केवल तुम ही हो। सर्वत्र तुम्हारा ही प्रसार और विस्तार है।

जैसे एक ही आकाश—आकाशसे ही उत्पन्न पार्थिव वस्तुओंसे बने हुए नगर, मकान, कमरे, घड़े आदिके भेदसे अलग-अलग छोटे-छोटे भागोंमें विभक्त दीखता है, जैसे एक ही पुरुष स्वप्नमें अपने ही सङ्कल्पसे अपने ही अंदर नाना प्रकारकी सृष्टिरचना करके विभिन्न विचित्र स्वरूपों और घटनाओंको देखता है, वैसे ही एक ही अखण्ड आत्मामें स्थावर-जङ्गमात्मक समस्त जगत् दीखता है। आत्मा ही अपने सङ्कल्पसे इन सबको रचकर स्वयं ही इन सबको देखता है। वस्तुतः ये दृश्य, दर्शन उस द्रष्टा आत्मासे अभिन्न हैं। वह आत्मा तुम ही हो। तुम जगत्‌की दृष्टिमें जीव हो, मायाकी नजरसे नित्य शुद्ध-बुद्ध स्वप्रकाश परमात्मासे पृथक् दीखते हो—स्वरूपतः तुम परमात्मासे अभिन्न एक अखण्ड आत्मा ही हो।

अपने इस स्वरूपमें स्थित होकर देखो—तुम्हारे सिवा और कुछ है ही नहीं। तुम एक, नित्य, सत्य, सनातन, अनादि, अनन्त, अखण्ड, अपार, अव्यय, कूटस्थ, अपरिमेय, अचिन्त्य, सच्चिदानन्दघन हो। बस, ऐसी दृष्टि पाते ही तुम मुक्त हो जाओगे। मुक्त तो हो ही। बन्धनके स्वकल्पित भयसे जो अशान्त हो रहे हो—भ्रमका नाश होनेपर वह अशान्ति दूर हो जायगी और तुम अपने स्वरूपभूत प्रशान्त महासागरमें मिलकर अपने शाश्वत शान्तिस्वरूपका अनुभव करोगे। यह अनुभूति भी तुम्हारे स्वरूपसे अभिन्न ही होगी।

'शिव'

दीक्षा-रहस्य

(लेखक—महामहोपाध्याय पं० श्रीगोपीनाथजी कविराज, एम्० ए०)

[पृष्ठ ९६५ से आगे]

साधकका अभिषेक

मुमुक्षुकी सबीज एवं निर्बीज दोनों ही प्रकारकी दीक्षाओंका प्रयोजन मोक्ष है। उनमें आचार्यकी दीक्षा सबीज होती है। बुभुक्षुकी साधक-दीक्षा भी सबीज होती है। सबीज दीक्षा होनेपर ही अभिषेक हो सकता है। विद्वान् तथा कष्ट-सहिष्णु लोगोंको सबीज दीक्षा देकर आचार्य तथा साधक पदमें अभिषिक्त करना पड़ता है। आचार्य मुमुक्षु है, साधक भोगार्थी है। अभिषेकके विना भोग या मोक्षपर अधिकार नहीं हो सकता। केवल सबीज दीक्षा ही परमेश्वरके साथ योजन करानेवाली है। अतएव साधकका भी अर्थात् भोगाकांक्षा रहनेपर भी पहले शिव अर्थात् परमेश्वरके निष्कलरूपमें योजन होता है। उसके बाद भोगसिद्धिके लिये सदाशिव अर्थात् परमेश्वरके सकल रूपमें योग होता है। पहले निष्कलरूपमें योग करानेका तात्पर्य यह है कि सकलपद सिद्धिबहुल है, तथापि इस योजनक्रियाके प्रभावसे उसमें स्थित रहनेके समय सिद्धि या ऐश्वर्यमें मत्त रहनेपर भी उस भोगके अवसानमें उसकी परमपदप्राप्तिमें कोई बाधा नहीं आती। शिवधर्मिणी दीक्षामें साधकका साधकत्वमें अभिषेक होता है। यह अभिषेक विद्यादीक्षाके बाद ही होता है। शिवधर्मी साधककी शिव-पद-योजनके अनन्तर जो सदाशिव-पद-योजनात्मिका दीक्षा होती है, उसीका नाम 'विद्यादीक्षा' है। [बत्तीस वर्णोंवाला] सकल मन्त्र ही विद्या है और उससे की हुई दीक्षा ही 'विद्यादीक्षा' कहलाती है। सदाशिवपद विद्यात्मक है। यद्यपि सकलमन्त्रसे परमपद-प्राप्ति भी हो सकती है, तथापि वासनाभेदके कारण उसे विद्यादीक्षा कहा जाता है। सदाशिवपदपर्यन्त अणिमादि भोगदीक्षा ही 'भूतिदीक्षा' है। यह शान्तिपर्यन्त पदमें योजनके अनन्तर होती है। अवश्य ही गुरुकृपासे यह शिवयोजनात्मिका भी हो सकती है, यह बात पहले ही कही जा चुकी है। शिवधर्मी साधकको विधिपूर्वक कर्मोंका शोधन करना पड़ता है। निवृत्ति, प्रतिष्ठा तथा विद्या—इन तीन कलाओंमें जो कर्ममल है, वह स्थूल है। सूक्ष्मरूपसे पाँचों कलाओंमें कर्मकी सत्ता रहती है। अर्थात् शान्ति और शान्त्यतीत कलाओंमें भी सूक्ष्म कर्म है। इसलिये समनापर्यन्त समस्त अध्वाका ही पाशजालरूपमें वर्णन किया जाता है। साधकके कर्मोंका क्षय तो करना चाहिये, परन्तु सब कर्मोंका नहीं। प्राक्तन या सञ्चित और आगामी कर्मोंका क्षय तो एक साथ करे, परन्तु वर्तमान देहसे किये हुए मन्त्राराधनादिरूप कर्मको नष्ट नहीं करना चाहिये; क्योंकि ऐसा करनेसे साधकको सिद्धिलाभ या भूतिलाभ नहीं हो सकेगा। भोगार्थी साधकके लिये भोगके मार्गमें बाधा नहीं डालनी चाहिये। विद्यादेह अर्थात् सदाशिवरूपमें सकल मन्त्रका न्यास करके और इस देहको अणिमादिगुणसम्पन्न रूपसे ध्यान करके उस प्रकारकी गुणसम्पत्तिके लिये होमपूर्वक साधकका अभिषेक करना पड़ता है। सकल योजन ठीक-ठीक निष्पन्न होनेपर अणिमादि गुणोंके उदयके लिये प्रक्रिया करनी पड़ती है। अभिषेककी प्रणालीसे भी प्रतीत होता है कि भोगार्थी साधकके लिये आपाततः भोगकी व्यवस्था रहनेपर भी अन्तमें मोक्षकी ही प्राप्ति होती है।

अभिषेक पाँच कलशोंसे किया जाता है। ये पाँच कलश क्रमशः दक्षिण, उत्तर, पश्चिम, पूर्व और ईशानकोणमें स्थापित किये जाते हैं। निवृत्त्यादि तीन कलाओंका क्रमशः पहले तीन कलशोंमें न्यास करनेके पश्चात् शान्त्यतीत कलाका न्यास ईशानकोणके कलशमें करके अन्तमें पूर्व-दिशाके कलशमें शान्तिकलाका न्यास किया जाता है। शान्त्यतीत कलाके पीछे शान्तिकलाका न्यास करनेका तात्पर्य यह है कि साधक शिवदशामें विश्रान्तिपूर्वक निर्विघ्नभावसे सदाशिवदशाकी सिद्धियोंको प्राप्त कर सके और भोगोंके आस्वादनसे तृप्त होकर अन्तमें शिवत्वलाभ कर सके। शान्तिकलाका भोग ही परमेश्वरकी सकल अवस्थाका अणिमादि भोग समझना चाहिये। शान्त्यतीत कला पहली तीन कलाओंसे तथा शान्तिकलासे ढकी रहती है। इन पाँच कलशोंमें पृथिवी आदिका भी न्यास करना पड़ता है। 'पृथिवी आदि' शब्दसे पाँच स्थूलभूत ग्रहण नहीं किये जाते। ये यहाँ पञ्चब्रह्मस्वरूप हैं, जिनके भीतर समस्त तत्त्व और तत्त्वेश्वर स्फुरित होते हैं। इसके बाद एक-एक कलशमें आराध्य मन्त्र अर्थात् प्रधानतया सकल मन्त्रका अथवा अन्य मन्त्रका भी न्यास करके

सर्वज्ञत्वादि विद्याङ्गोंसे सकलीकरण किया जाता है। तदनन्तर उनमें इन विद्याङ्गोंका आवरण-न्यास किया जाता है। ये सर्वज्ञत्वादि विद्याङ्ग ही सिद्धिसम्पादनके अनुरूप होनेके कारण अन्य प्रकारके आवरण-न्यासकी आवश्यकता नहीं होती। इसके पश्चात् साध्यमन्त्रसे निवृत्त्यादि प्रत्येक कलशको अभिमन्त्रित किया जाता है, जिससे मन्त्रके प्रभावसे सभी भूमियाँ सिद्धिप्रद हो सकें।

अब संक्षेपमें आचार्याभिषेककी आलोचना करते हैं।

आचार्याभिषेक

हर किसी मनुष्यको आचार्यपदमें नियुक्त नहीं किया जा सकता। जिसको गुरुसे आगमीका यथार्थ ज्ञान प्राप्त हुआ है, जो कायिक, वाचिक तथा मानसिक प्रवृत्तियोंमें संयमशील है तथा जो सदाचार-सम्पन्न है और सम्यक् रीतिसे शास्त्रविधिका अनुष्ठान करता है ऐसा मनुष्य ही आचार्यपदपर अभिषिक्त होने योग्य है। यह अभिषेक शिवयोजनतक दीक्षा समाप्त हो जानेके बाद करना चाहिये। इसे करनेके समय पाँच कलशोंमें पृथिव्यादि पाँच तत्त्व और उनमें व्यापक निवृत्त्यादि पाँच कलाओंका न्यास करके उनमें अनन्तसे लेकर शिवपर्यन्त पाँच भुवनेश्वरोंको स्थापित किया जाता है। इसके बाद पूर्व-दिशाके क्रमसे षडङ्ग आवरणसे युक्त मन्त्रोंका चिन्तन करते हुए परमेश्वरका अर्चन होता है। तथा परमतत्त्व भावनाके साथ प्रत्येक कलशको अभिमन्त्रित किया जाता है। कलशों-का पूजन करके मुख्य अभिषेक-कार्य प्रारम्भ होता है। एक मण्डल बनाकर और उसे स्वस्तिकादिसे अच्छीतरह अलङ्कृत कर उसके ऊपर एक चँदोवा तानना चाहिये तथा उसे ध्वजाओंसे सुशोभित करना चाहिये। इसके पश्चात् उस मण्डपमें चन्दन अथवा किसी अन्य उत्कृष्ट काष्ठका पीठ स्थापित करे और उसमें अनन्तासनका न्यास करे। फिर जिस शिष्यका अभिषेक करना हो, उसको सकलीकरण क्रियाके द्वारा संस्कृत करके उस पीठपर ईशानाभिमुख बैठावे। इसके पश्चात् गुरु स्वयं शिवभावसे आविष्ट होकर उसका गन्ध-पुष्पादिसे अर्चन करते हुए आर्त्तिदीप तथा विभिन्न वस्तुओं-से पूर्ण कलशोंसे निर्भर्त्सन करे। इससे सब प्रकारके विघ्नोंकी शान्ति हो जाती है। फिर निवृत्त्यादिकलायुक्त पृथिव्यादि पाँचों कलशोंके मुखसे शिष्यके ऊपर जलकी धारा डाले। इसीका नाम अभिषेचन है। इसके बाद शिष्य पूर्व वस्त्र त्याग कर नवीन वस्त्र धारण करे। रूपकदृष्टिसे पूर्व वस्त्रोंको मायिक कञ्चुक समझना चाहिये, जो अभिषेकके बाद छूट जाता है, तथा नवीन वस्त्रोंको परमशिवका प्रकाश मानना चाहिये, जिसे अभिषेकके बाद सदाके लिये धारण किया जाता है। इसके अनन्तर उस योगपीठात्मक आसनपर बैठे हुए शिष्यको गुरु अधिकार दान करे। अर्थात् उष्णीष, मुकुटादि, छत्र, पादुका, आसन, अश्व, शिविका प्रभृति राजोचित उपकरण एवं आचार्यभावोपयोगी कर्त्तरी (कैंची), स्रुक्, दर्भ और पुस्तक आदि प्रदान करे। साथ ही यह आदेश भी करे कि 'आजसे तुम चारों आश्रमोंमें रहनेवाले पुरुषोंमें जिन्हें भगवत्-शक्तिपातयुक्त होनेके कारण दीक्षायोग्य समझो, उन्हें केवल अनुग्रह करनेकी इच्छासे ही [स्नेह-लोभादिके वशीभूत होकर नहीं] दीक्षा देना। तुम्हें यह अधिकार साक्षात् परमेश्वरकी आज्ञासे ही दिया जाता है।' इसके पश्चात् आचार्य अभिषिक्त शिष्यको अपने हाथोंसे उठाकर मण्डलमें प्रवेश करावें और वहाँ परमेश्वरकी पूजा कराकर इस प्रकार निवेदन करें—'भगवन्, आपहीके आदेशसे आपके आज्ञानु-वर्ती आचार्यपदपर प्रतिष्ठित मैंने इस जनको अभिषिक्त किया है। अब इसे गुरुपरम्परागत शिवतत्त्वका उपदेश करना है; सो आपके सामने मैं इसे करता हूँ, जिससे कि यह अनुगृहीत पुरुष आपके स्वरूपको प्राप्त हो सके।' इसके बाद गुरु मण्डपसे बाहर होकर एक-एक करके पाँचों कलाओंकी अग्निमें आहुति दें। सबके पश्चात् पूर्णाहुति देनी चाहिये। पूर्णाहुति-के पश्चात् अभिषिक्त शिष्यके दाहिने हाथको पाँच अङ्ग-मन्त्रोंसे चिन्हित करके उसकी कनिष्ठिकादि अँगुलियोंको भी यथाविधि स्पर्श करे। इस करस्पर्शके प्रभावसे सब मन्त्र दीप्त करणरूपमें अल्प समयमें ही कार्यक्षम हो जाते हैं और सारे पाश दग्धबीजवत् हो जाते हैं। उस समय शिष्य मण्डलाग्नि-के सामने परमेश्वर, कलश एवं अग्निको दण्डवत् प्रणाम करके अधिकारप्राप्तिके कारण प्रसन्न होकर जीवन्मुक्ति तथा परशिवरूप दोनों प्रकारका फल प्राप्त करता है। उसी समयसे वह शिवतुल्य होकर शिवधामप्रापक गुरुपदवाच्य हो जाता है।

यह जो परमेश्वरके सकलरूपके साथ योजन और उसके बाद अणिमादि गुणप्राप्तिके लिये किये जानेवाले अभिषेक-की बात कही गयी है, उससे पहले परमेश्वरके निष्कलरूपके साथ योजन और उसके गुणोंकी प्राप्ति करानेवाली क्रिया हो जानी चाहिये; क्योंकि भोगार्थी साधकके लिये शास्त्रोंमें पहले निष्कल योजन करके उसके पश्चात् सकल योजनकी व्यवस्था है। असली बात यह है कि दीक्षामात्रका अन्तिम फल मोक्ष ही है, इसमें कोई सन्देह नहीं। परन्तु जो लोग

निवृत्तिमार्गी हैं, उनके लिये भोगवासना न रहनेके कारण मोक्षरूप फलकी प्राप्तिमें कोई व्यवधान नहीं रहता और भोगार्थी पुरुष पहले इच्छानुरूप भोगोंका आस्वादन करके भोगवासना तृप्त हो जानेपर मोक्ष प्राप्त करते हैं। इन दोनों दीक्षाओंमें प्रयोजनकी दृष्टिसे भेद दीख पड़ता है, परन्तु फल दोनोंका एक ही है। बुभुक्षुकी दीक्षाका प्रयोजन भोगसिद्धि है, परन्तु दीक्षाका ऐसा ही माहात्म्य है कि अन्तमें उसे भी मोक्षरूप फल ही मिलता है। मुमुक्षुकी दीक्षाका प्रयोजन और फल दोनों ही मोक्ष है। बस, दोनोंमें इतना ही भेद है।

क्रिया-दीक्षा

दीक्षा क्रिया एवं ज्ञानके भेदसे दो प्रकारकी है। दोनों ही प्रकारकी दीक्षाओंमें एक विशिष्ट वैज्ञानिक भित्ति है,* जिसका परिचय सूक्ष्म दृष्टिसे अनुसन्धान करनेपर जिज्ञासुमात्रको मिल सकता है। क्रियादीक्षा छः अध्वाओंके भेदसे भिन्न-भिन्न प्रकारकी है—जैसे कलादीक्षा, तत्त्वदीक्षा, पददीक्षा एवं वर्ण, मन्त्र और भुवनदीक्षाएँ। तत्त्वदीक्षा साधारणतया चार प्रकारकी है—(१) षट्त्रिंशत्तत्त्वदीक्षा, (२) नवतत्त्वदीक्षा, (३) पञ्चतत्त्वदीक्षा और (४) त्रितत्त्वदीक्षा। इनके सिवा एकतत्त्वदीक्षाका भी वर्णन किया गया है। छत्तीस तत्त्वोंको नौ[१] तत्त्वोंमें परिणत कर सकनेसे नवतत्त्वदीक्षासे भी छत्तीस तत्त्वोंकी शुद्धि हो जाती है। इसी प्रकार छत्तीस तत्त्वोंको पाँच[२] अथवा तीन[३] तत्त्वोंमें परिणत कर लेनेपर पञ्चतत्त्व अथवा त्रितत्त्वदीक्षाकी प्रक्रिया समझमें आ जाती है। एकतत्त्वदीक्षामें छत्तीस तत्त्वोंको समष्टिरूपसे एकतत्त्वरूपमें ग्रहण किया जाता है। उसीको बिन्दु कहते हैं। उसके शोधनसे सब तत्त्वोंका शोधन हो जाता है। पददीक्षाकी प्रणाली नवतत्त्वदीक्षाके समान है और वर्ण, मन्त्र तथा भुवनदीक्षाओंकी प्रणाली कलादीक्षाके समान है। अतएव अध्वाके वैचित्र्यसे क्रियादीक्षा ग्यारह प्रकारकी होती है। परन्तु ज्ञानदीक्षा एक और अभिन्न ही होती है। इसमें वैचित्र्य नहीं है। सब मिलाकर मौलिक दीक्षाभेद बारह प्रकारका है। परन्तु शिष्यके अधिकारकी दृष्टिसे इन बारह दीक्षाओंका विचार करनेपर यहाँ चौहत्तर[४] प्रकारका दीक्षाभेद

क्रियादीक्षाके भेद

* क्रियात्मिका हूति या हौत्री दीक्षामें जो तत्त्वशुद्धि होती है उसमें भी ज्ञानका ही प्राधान्य रहता है। मतंगपरमेश्वरमें लिखा है—'यस्य ज्ञानान्न सम्प्राप्तिः क्रिया तस्य विधीयते' अर्थात् जिसे ज्ञानसे तत्त्वशुद्धिकी सम्यक् प्रकारसे प्राप्ति नहीं होती उसीके लिये क्रियाका विधान है। यहाँ किसी-किसीके मनमें ऐसी शंका होती है कि जो दीक्षाके द्वारा अशुद्ध आत्माको शुद्ध करनेके लिये प्रवृत्त होता है वह यदि स्वयं अशुद्ध हो तो सब निष्फल ही होगा और यदि वह अपनेको प्राणादिसे विलक्षणरूपमें पहचानकर शुद्ध हो गया हो तो केवल उसके परामर्शमात्रसे ही बाह्यव्यापार-प्रधाना क्रियात्मिका प्राकृती दीक्षाका प्रयोजन नहीं रहेगा। इसका समाधान यह है कि यदि शक्तिपातके कारण किसीके चित्तमें ऐसा ही विश्वास हो तो उसे प्राकृती दीक्षा न लेकर विज्ञानदीक्षा अथवा सूक्ष्मदीक्षा ही लेनी चाहिये। परन्तु यह दीक्षा विशिष्ट कोटिके ज्ञानीसे ही सम्पन्न हो सकती है। इस दीक्षामें गुरुको ब्रह्ममार्गमें प्रविष्ट होकर अपने पूर्णाहन्ता परामर्शमय मूलमन्त्रका एक बार उच्चारण करना चाहिये। उसीसे एक ही समयमें मायापर्यन्त भेदमय पाश तथा समना या महामायापर्यन्त भेदाभेदमय पाश शुद्ध हो जाता है। यह मन्त्र जैसे एक ओर सारे पाशोंका नाश करता है उसी प्रकार दूसरी ओर परमशिवपदमें नित्य स्थिति भी प्रदान करता है।

१—प्रकृति, पुरुष, नियति, काल, माया, विद्या, ईश्वर, सदाशिव और शिव—ये नौ तत्त्व हैं।

२—पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश—इन पांच तत्त्वोंमें।

३—शिवतत्त्व, आत्मतत्त्व और मायातत्त्व—इन तीन तत्त्वोंमें।

४—कलादीक्षा १, तत्त्वदीक्षा ४, एकतत्त्वदीक्षा १, पददीक्षा १ तथा मन्त्रवर्ण और भुवनदीक्षा ३ एवं साधारणदीक्षा १—ये सब मिलाकर ग्यारह क्रियादीक्षाएँ हैं। इनके अतिरिक्त एक ज्ञानदीक्षा सब मिलाकर कुल बारह दीक्षाएँ हुईं। पुत्रककी दीक्षा सबीज, निर्बीज एवं सद्योनिर्वाणदायिनी इस तरह तीन प्रकारकी होनेके कारण ये सब दीक्षाएँ १२×३=३६ होती हैं। आचार्य दीक्षाएँ केवल सबीज होनेके कारण बारह ही हैं। शिवधर्मी तथा लोकधर्मी साधककी दीक्षा दोनों मिलाकर १२+१२=२४ हैं। समयीकी दीक्षा (जिसमें अध्वाओंका न्यास नहीं है) ज्ञानद्वारा हृदयग्रन्थिप्रभृतियोंका भेदन होनेपर एक तथा क्रियाद्वारा ग्रन्थिभेद होनेपर एक—इस तरह दो हैं। इस प्रकार कुल दीक्षाएँ (३६+१२+२४+२)=चौहत्तर हैं।

शिष्योंके आशय भिन्न-भिन्न होनेके कारण एक साधकके लिये किसी अध्वाका तो प्राधान्य रहता है और अन्य अध्वाओंका गौणत्व रहता है। इसीलिये दीक्षा भी अनन्त प्रकारसे होती है। आचार्य अभिनवगुप्त कहते हैं—

प्रतीत होता है। सकल, निष्कल और अघोरेश्वरी प्रभृति अनुष्ठानोंके भेद, लोकधर्मी साधकके अवान्तर वैचित्र्य तथा भौतिक, नैष्ठिक एवं आचार्योंके भेद—इन सब दृष्टियोंसे विचार करनेपर दीक्षाका प्रकारभेद प्रायः असंख्य हो जाता है।

दीक्षाका विज्ञान स्पष्टतया समझनेके लिये दृष्टान्तरूपमें यहाँ एक दीक्षाका विवरण देना उचित जान पड़ता है। अध्वाओंके मूलमें कलाका ही प्राधान्य है और शिष्याधिकारके प्रकारभेदकी दृष्टिसे पुत्रकका प्राधान्य है, इसलिये यहाँ पुत्रककी कलादीक्षाका संक्षेपसे वर्णन किया जाता है। वागीश्वरीके गर्भसे जन्म लेनेके कारण जिसके संसारका उपशम हो गया है उसको तान्त्रिक परिभाषामें 'पुत्रक' कहा जाता है। पृथिवीसे लेकर कलातत्त्वपर्यन्त मायाका अधिकार है। इसीका नाम संसार-मण्डल है। इसके बाद शुद्धविद्याका राज्य है। शुद्धविद्या ही *वागीश्वरी है। इसके गर्भसे जन्म लेनेपर* विशुद्ध भुवनोंमें अवस्थान एवं सञ्चारका अधिकार प्राप्त होता है। यह जन्म वस्तुतः बैन्दव देह अथवा मंत्रदेहप्राप्तिका ही नामान्तर है। इक्कीस अवान्तर संस्कारोंके द्वारा यह जन्मव्यापार निष्पन्न होता है। इसके पश्चात् अधिकार, भोग, लय, निष्कृति तथा विश्लेष—ये पाँच संस्कार और भी किये जाते हैं। इन छः संस्कारोंके द्वारा मन्त्रोंके प्रभावसे पशुके पाशोंका विनाश किया जाता है। इस प्रकार पाशनिवृत्ति तथा पाशसंस्कारोंसे भी मुक्ति हो जाती है। 'पाशक्षपण'से अतिरिक्त दीक्षाके द्वितीय अङ्गका नाम 'शिवत्वयोजन' है। इसके लिये तेरह पदार्थोंका अनुभवात्मक ज्ञान आवश्यक है। सद्गुरुके

(कलादीक्षा-का विज्ञान, पाशक्षपण और शिवत्व-योजन)

यत्र यत्र हि भोगेच्छा तत्प्राधान्योपयोगतः।
अन्यान्तर्भावनातश्च दीक्षानन्तविभेदभाक्॥
(*तन्त्रालोक*)

इसी प्रकार तत्त्वाध्वामें भी जब किसी तत्त्वका प्राधान्य होता है तो अन्यतत्त्वोंका गौणत्व हो जाता है। इसलिये दीक्षामें भी वैचित्र्य होना स्वाभाविक है। संक्षेपमें कह सकते हैं कि छत्तीस तत्त्वदीक्षाकी अपेक्षा नवतत्त्वदीक्षाका अधिकारी और गुरु श्रेष्ठ है। तथा नवतत्त्वसे पञ्चतत्त्व, पञ्चतत्त्वसे त्रितत्त्व और त्रितत्त्वसे एकतत्त्व दीक्षाका अधिकार उच्च कोटिका है। वस्तुतः एकतत्त्वदीक्षाके योग्य गुरु और शिष्य दोनों ही दुर्लभ हैं।

एकतत्त्वविधिश्चैष सुप्रबुद्धं गुरुं प्रति।
शिष्यगतभोगकाङ्क्षमुदितः शम्भुना यतः॥

दीक्षाप्रदान-व्यापारसे पाशक्षपण तथा शिवत्वाभिव्यक्ति दोनों ही पूर्णतया निष्पन्न होते हैं। जिन तेरह विषयोंका विशेष ज्ञान आवश्यक है, उनके नाम ये हैं—१. चार प्रमाण, २. प्राण-सञ्चार, ३. छः अध्वाओंका विभाग, ४. हंसोच्चार, ५ वर्णो-च्चार, ६. वर्णोंके द्वारा कारणोंका त्याग, ७. शून्य, ८. सामरस्य, ९. त्याग, संयोग तथा उद्भव, १०. पदार्थभेदन, ११. आत्मव्याप्ति, १२. विद्याव्याप्ति और १३. शिवव्याप्ति।

पाशक्षपण

हमने दृष्टान्तरूपसे कला-अध्वाका उल्लेख किया, किन्तु इसमें अन्यान्य अध्वाओंका भी अन्तर्भाव समझना चाहिये। तत्त्वादि दीक्षाओंमें भी यही नियम है। इसके लिये अध्वाओंका सन्धान अथवा सम्मेलन करनेके अनन्तर उनका उपस्थापन करना आवश्यक होता है। कुम्भ, मण्डल, वह्नि, गुरु, शिष्य तथा पाशसूत्र,—जो कि दीक्षार्थी शिष्यके शरीरमें लटकाया जाता है—इन छः अधिकरणोंमें अवस्थित अध्वाओंको एकत्र मिलाना ही अध्वसन्धान है। इस व्यापार-के प्रभावसे साधारण अथवा अभिन्नरूपसे अध्वाओंका ज्ञान होता है। इसके बाद सम्मिलित अध्वामेंसे इष्ट अध्वाका प्रधानरूपसे उपस्थापन करना होता है। जब अध्वाकी उपस्थिति हो जाती है, तब उसकी व्याप्तिका अच्छी तरह निरीक्षण करना पड़ता है—जिससे स्पष्टतया पता लग जाय कि इष्ट अध्वाका विस्तार कहाँतक है, वस्तुतः इस व्याप्ति-दर्शनसे अध्वामें समग्र विश्वका ही अन्तर्भाव देख पड़ता है। कलादीक्षामें पाँच कलाओंमें छत्तीस तत्त्व, दो सौ चौबीस भुवन, पचास वर्ण, दश मन्त्र और इक्यासी पद अन्तर्भूत हैं—ऐसा भावनाद्वारा पहले समष्टिरूपमें और फिर पृथक्रूपसे निश्चय कर लिया जाता है। निवृत्त्यादि कलाएँ पृथिव्यादिकी शक्ति या सूक्ष्म रूप हैं। कलाओंके अधिष्ठाता ब्रह्मासे लेकर शिवपर्यन्त छः देवता हैं।*

(कलामें अन्य अध्वाका अन्तर्भाव)

इस अध्वशुद्धि व्यापारका तात्पर्य हृदयङ्गम करनेके लिये सृष्टि तथा शुद्धितत्त्वका रहस्य समझनेका प्रयत्न करना चाहिये। अद्वय-आगमशास्त्रके अनुसार चिदानन्दमय परमेश्वर अपनी स्वरूप-भूता स्वातन्त्र्य या उन्मना शक्तिके द्वारा समग्र विश्वको

(अध्वशुद्धि-रहस्य)

* पाँच कलाओंकी समष्टिभूता बिन्दुके अधिष्ठाता शिव हैं। इसलिये इन्हें सम्मिलित करके अधिष्ठाताओंकी संख्या छः बतायी गयी है। इन देवताओंकी शुद्धिसे भी कलाशुद्धि हो सकती है।

अपनेहीमें अपनेसे अभिन्न होनेपर भी एक साथ भिन्नवत् भासित करते हैं। शून्यसे लेकर पृथिवीपर्यन्त समग्र विश्व वाच्य अथवा ग्राह्य और वाचक अथवा ग्राहकरूपमें स्थित है। वाचक पर, सूक्ष्म तथा स्थूल रूपमें क्रमशः वर्ण, मन्त्र और पद—इन तीन नामोंसे प्रसिद्ध है। इसी प्रकार वाच्यमें भी पर आदि तीन भेद हैं। इन्हें क्रमशः कला, तत्त्व और भुवन कहते हैं। इससे प्रतीत होता है कि वर्ण अभेदविमर्शनात्मिका शक्ति हैं। कुछ स्थूल भावको प्राप्त होनेपर ये भेदाभेदविमर्शमय होकर मन्त्ररूप हो जाते हैं। जब स्थूलत्व कुछ और बढ़ जाता है, तो ये भेदविमर्श-प्रतिपादक पद बन जाते हैं। इसी प्रकार वाच्यरूपा पारमेश्वरी शक्ति अथवा कला उत्तरोत्तर वैशिष्ट्यको प्राप्त होकर तत्त्व एवं भुवनका रूप धारण करती है। वस्तुतः कला नामकी एक ही शक्ति स्फुरित हो रही है। इस स्फुरणमें यौगपद्य तो है ही, किन्तु दर्पण-नगरके सदृश क्रमका भी भान होता ही है। क्रमके भानमें भी कुछ वैशिष्ट्य रहता है। अर्थात् जो पूर्वकालिक है, वह उत्तरकालिकमें व्यापकरूपसे रहता है—जैसे मृत्तिका घटादिमें; और जो परकालिक है, वह पूर्वकालिकमें शक्तिरूपसे रहता है—जैसे वृक्ष अपने बीजमें। अतएव सभी वस्तु सर्वात्मक हैं।* इस दृष्टिसे देखनेपर ज्ञात होता है कि प्रत्येक प्रमाता अथवा भाव वास्तवमें परमशिवका ही स्वरूप है। यह स्वरूप छः अध्वाओंका स्फुरणरूप पारमेश्वरशक्तिमय है और अकारसे हकारपर्यन्त परामर्शात्मक पूर्ण अहन्तारूप विश्राम-स्थान है। परन्तु आत्मा अपनी मायाशक्तिके प्रभावसे अपना परमशिवभाव न जाननेके कारण अपनेको अपूर्ण समझता है। इसलिये शाब्दी कलाओंसे उसका ऐश्वर्य लुप्त हो जाता है। इस ऐश्वर्यलोपका मुख्य फल यह होता है कि वर्ण और कलाएँ अपने तात्त्विकरूपमें स्फुरित न होकर प्रत्ययोंकी उत्पादिका हो जाती हैं। ऐसा प्रत्यय होनेके कारण ही आत्मा देहादिमें अहं-प्रतीति करनेको बाध्य होते हैं। इसके साथ-ही-साथ विषयांशोंके साथ सम्बन्ध होनेसे अपनेको भोक्तारूप मानने लगते हैं। इस अभिमानके कारण वे खेचरी, दिक्चरी, गोचरी तथा भूचरी—इन चार शक्तिचक्रोंके अधीन होकर पशुपदवाच्य हो जाते हैं। इस पशुभावको दूर करनेके लिये पारमेश्वरी अनुग्राहिका शक्ति भगवद्भावाविष्ट गुरुके हृदयमें परमार्थस्वरूपसे स्फुरित होकर समग्र अध्वाको, उसके संकोचको निवृत्त करके, अनवच्छिन्न चित्शक्तिके स्फुरणरूपमें प्रदर्शित करती हुई दीक्षा एवं ज्ञानादिके द्वारा शोधित करती है। अतएव जो मन्त्रादि गुरुका स्फुरणरूप हैं, वे शोधक हैं और जो पशु-आत्मामें अभिनिविष्ट हैं, वे शोधनीय हैं। मन्त्रादिमें इस प्रकार शोध्य-शोधकभाव है, यह बात स्मरण रखनी चाहिये। एक-एक अध्वा सर्वमय होनेके कारण तत्तत् अध्वाके प्राधान्यसे दीक्षाव्यापारमें अन्य पाँच अध्वाओंका भी अन्तर्भूतरूपमें शोधन हो जाता है। इसीलिये व्याप्तिज्ञानकी आवश्यकता होती है।†

निवृत्तिकलाका शोधन

पूर्वोक्त उपस्थापनक्रियाके द्वारा कला-अध्वा सम्मुख होनेपर उसे निकट लाकर शोधन करना चाहिये। इसके बाद शिष्यके देहमें नीचेसे ऊपरकी ओर क्रमशः निवृत्ति आदि पाँच कलाओंका न्यास किया जाता है, जिसमें गुल्फपर्यन्त निवृत्तिके तथा नाभि, तालु, मूर्धा एवं ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्त क्रमशः प्रतिष्ठादि कलाओंके न्यासका विधान है। यहाँतक प्राथमिक व्यापार है। इतना सम्पन्न हो जानेपर अध्वगत तीन पाशोंका शोधन हो सकता है।

समग्र विश्व ही पाशमय है। निवृत्तिकलामें पृथ्वीतत्त्व है, जिसको आश्रय करके एक सौ आठ भुवन¹ विद्यमान हैं। यहाँ वर्ण एक (क्ष), मन्त्र दो और पद अट्ठाईस हैं। प्रतिष्ठाकलामें तेईस तत्त्व (जलसे लेकर प्रकृतिपर्यन्त), छप्पन भुवन², तेईस वर्ण (ह से लेकर ट पर्यन्त), तीन मन्त्र और इक्कीस पद हैं। विद्याकलामें सात तत्त्व (पुरुषसे मायापर्यन्त),

---

† इसी कारणसे पञ्चतत्त्वदीक्षामें अनाश्रित तत्त्वपर्यन्त भूतव्याप्ति दिखायी जाती है।

१—ब्रह्माण्डके अधोभागमें तीन (कालाग्नि, कूष्माण्ड और हाटक), मध्यभागमें एक (भूर्लोक) एवं ऊर्ध्वभागमें सत्यलोकपर्यन्त एक (ब्रह्मासे अधिष्ठित लोक)। उसके पश्चात् विष्णुलोक एक, और रुद्रलोक एक—ये सब मिलाकर सात भुवन ब्रह्माण्डके अन्तर्गत हैं। ब्रह्माण्डके बाहर दश दिशाओंमें सौ रुद्रभुवन हैं और सबके ऊपर एक भुवन सर्वाधिष्ठाता वीरभद्रका है। इस प्रकार ये सब एक सौ आठ भुवन निवृत्तिकलान्तर्गत पृथिवीतत्त्वमें आश्रित हैं।

२—जलतत्त्वमें गुह्याष्टक भुवन आठ, तेजतत्त्वमें अतिगुह्याष्टक आठ, वायुतत्त्वमें गुह्यातिगुह्यतराष्टक आठ, आकाशतत्त्वमें पवित्राष्टक आठ, अहङ्कार, तन्मात्र और इन्द्रियतत्त्वमें स्थाण्वष्टक आठ, बुद्धितत्त्वमें देवयोन्यष्टक आठ, तथा गुणतत्त्वमें योगीश्वराष्टक आठ—इस प्रकार कुल छप्पन भुवन हैं। यहाँ जो देवयोनिके भुवन लिखे हैं, उन्हें सूक्ष्म समझना चाहिये। इनके स्थूल भुवन ब्रह्माण्डके भीतर हैं।

सत्ताईस भुवनें, सात वर्ण (ञसे लेकर घ तक), दो मन्त्र और बीस पद हैं । शान्तिकलामें तीन तत्त्व (शुद्ध विद्यासे लेकर सदाशिवपर्यन्त), सतरह भुवनें, तीन वर्ण (ग ख क), दो मन्त्र और ग्यारह पद हैं । शान्त्यतीतकलामें बिन्दु-नाद-कलारूपा शक्ति और शिव—ये दो तत्त्व, सोलह भुवनें, सोलह वर्ण (विसर्गसे अ तक), एक मन्त्र और एक पद (ॐ) हैं ।

इस विशाल विश्वमय पाशजालके शोधनके लिये एक प्रणाली है, जिसमें जन्मादि छः संस्कार अन्तर्गत हैं । जगत्में चौदह प्रकारके प्राणी

(क) जन्मसंस्कार

हैं, जो देवता, मनुष्य और तिर्यक्—इन तीन मुख्य जातियोंके अन्तर्गत हैं । इन जीवोंके देहोंकी सृष्टि ही भूतसर्ग कही जाती है । किन्तु योनिके विना देहकी सृष्टि हो नहीं सकती । इन चौदह प्रकारकी भूतसृष्टिकी मूलभूता योनि शतरुद्रसे अनन्तपर्यन्त है । शतरुद्र ब्रह्माण्डके बाहर हैं तथा अनन्त ब्रह्माण्डके अधोभागमें स्थित हैं । वाक् अथवा वागीशी इन सब योनियोंमें ही नहीं, अपितु निवृत्तिसे ऊपर-की कलाओंमें भी व्याप्त रहती है । निवृत्तिव्यापिका वागीशीके साथ पृथिवीतत्त्वमें रहनेवाले अनन्तसे लेकर शत-रुद्रपर्यन्त विभिन्न भुवनोंके चौदह प्रकारके प्राणियोंके विभिन्न शरीरोंका सम्बन्ध है । वस्तुतः वागीशी ही सब शरीरोंको उत्पन्न करनेवाली है । कलादीक्षाके समय जब अध्वसन्निधान-के बाद अध्वविशेषरूपमें कला-अध्वाका और उसके अन्तर्गत निवृत्तिकलाका उपस्थापन होता है, उस समय उस निवृत्ति-व्यापिका वागीशीको निवृत्तिकलान्तर्गत योनियोंमें एक साथ ऋतुरूपमें सन्निहित करना होता है । वस्तुतः जिस मनुष्यपर भगवदनुग्रह हुआ है, उसके लिये वागीश्वरी आर्तवरूपमें सन्निहिता रहती ही है । यह आर्तव शुद्धसृष्टिकी उन्मुखतासे होनेवाली एक साथ अनेकों देहोंकी सृष्टिका सामर्थ्यमात्र है । गुरु केवल प्रयोजक व्यापारके द्वारा सन्निहित वागीशीको मुद्राबन्धनसे स्थापित करते हैं । इसके पश्चात् वे शिष्यके पाशसूत्रका प्रोक्षण और तारण करके अपने दक्षिणमार्गसे बाहर निकलकर शिष्यके वाममार्गद्वारा उसके देहमें प्रवेश करके पाशसूत्रस्थ पुर्यष्टकको छेदन करें । फिर छिन्न पुर्यष्टक-को आकर्षित करके देहके साथ उसका रश्मिमात्रसम्बन्ध रखते हुए अपने द्वादशान्तस्थान (मस्तक) में रक्खें । तथा वहाँके चैतन्यको सम्पुटित करके दीप्त शिवहस्तसे संहारमुद्राके द्वारा पूरक क्रियासे हृदयमें अपने आत्माके साथ उसका योजन करें । इसके पश्चात् कुम्भक और रेचक क्रियाओंके अनन्तर उसे द्वादशान्तसे उठाते हुए लिङ्गमुद्राके द्वारा सन्निहिता वागीशीके गर्भमें स्थापित करें । इस गर्भाधानके समय गुरु अपनेको क्रियाशक्तिप्रधान और स्रष्टा ईश्वरके रूपमें तथा वागीशीको मायाके रूपमें देखते हैं । इस समय वागीशी अशुद्ध जगत्की प्रसवकारिणी मायारूपा है । परन्तु कालान्तरमें शुद्ध जगत्का प्रसव करनेके समय यही महामायारूपा हो जायगी । इस मायारूपा वागीशीके साथ शुद्ध विद्याका कोई सम्बन्ध नहीं है, नहीं तो क्रमिक कर्म-भोगोंको एक ही समय शुद्ध करनेके लिये अनन्त देहसृष्टिकी आवश्यकता न होती । शिष्यके चैतन्यको इस मायारूपा

१—पुरुष और रागतत्त्वमें विद्येश्वरोंके आठ, नियति और विद्यातत्त्वमें वामासे मनोन्मनातक नौ, काल और कलातत्त्वमें महा-देवादिसे अधिष्ठित तीन, तथा मायातत्त्वमें सात—एक नीचे, एक ऊपर, चार मध्यमें और एक मायाधिष्ठाता अनन्तका भुवन—इस प्रकार ये कुल सत्ताईस भुवन हैं ।

२—शुद्धविद्यामें विद्याराशियोंका एक भुवन तथा ईश्वरतत्त्वमें पंद्रह भुवन—यथा ईश्वरका एक, अनन्तादि विद्येश्वरोंके आठ, धर्मादिके चार, वामादि तीन शक्तियोंका एक और ज्ञानक्रिया भुवन एक; एवं सदाशिव तत्त्वका एक भुवन । इस प्रकार कुल मिलाकर सतरह भुवन हैं । इनमेंसे ज्ञान-क्रिया भुवनमें उनसठ अवान्तर भुवन भी हैं, परन्तु यहाँ उनका विवरण देनेकी आवश्यकता नहीं है । सदाशिवभुवन शिव-रुद्रादि आवरणोंके अन्तर्गत अनन्त भुवनोंमें व्यापक है ।

३—शान्त्यतीतकलामें जो शिवतत्त्व है, उसमें बिन्दुसे लेकर समनापर्यन्त सब भूमियाँ अन्तर्गत हैं । इसमें बिन्दु, नाद और कला—ये तीन आवरण मुख्य हैं । बिन्दु-आवरणमें तीन भुवन हैं—यथा—निवृत्ति आदि चार कलाओंसे परिवेष्टित शान्त्यतीत भुवन तथा अपनी-अपनी पाँच कलाओंसे घिरे हुए अर्धचन्द्रभुवन और निरोधि-का भुवन । नादान्तमें छः भुवन हैं—नादमें इन्धिका प्रभृति पाँच शक्तियोंके पाँच भुवन तथा नादान्तमें सुषुम्नेश्वर परब्रह्मका एक भुवन । शक्ति-आवरणमें सात भुवन हैं—सूक्ष्मा प्रभृति चार शक्तियोंसे घिरा हुआ एक पराशक्तिका भुवन, व्यापिनी भूमिमें पाँच कलाओंके पाँच भुवन एवं समना या महामायामें उसमें व्याप्त एक शिवभुवन । इस प्रकार ये कुल सोलह भुवन हैं ।

४—दीक्षामें पुरुषगत पाशोंका ही शोधन होता है, बुद्धिगत पाशोंका नहीं । इसलिये बुद्धिमें दोष रह जानेसे भी दीक्षा निष्फल नहीं होती । अवश्य तीव्रतम शक्तिपातसे बुद्धिगत दोषोंके बीज भी नष्ट हो सकते हैं ।

वागीशीमें संयुक्त करके गुरुको निवृत्तिकलाप्रधान अध्वामें अर्थात् एक सौ आठ भुवनोंमें विभिन्न शरीरोंकी सृष्टि करनी पड़ती है। इन सब देहोंकी सृष्टिका उद्देश्य प्राक्तन कर्म-वासनाके कारण होनेवाली अनन्त जन्म, आयु और भोगात्मक फलोंकी प्राप्ति है। इन विभिन्न शरीरोंमें एक ही समयमें तत्तत् देश-काल और स्वभावके अनुसार भोग होता है, क्योंकि मन्त्रशक्तिके प्रभावसे ये सब शरीर एक ही समयमें फलोन्मुख हो जाते हैं। विभिन्न प्रकारके भोगोंके लिये शिष्यके केवल शरीर ही एक साथ विभिन्न प्रकारके और अनेक हो जाते हों—ऐसी बात नहीं, अपितु वह नियत भोगके लिये तदनुरूप नाना प्रकारके जीवरूपसे भी वागीशी योनिमें संयोजित होता है। यहाँ दीक्षापात्र एक होनेपर भी नाना शरीरधारी होनेके कारण उसे अनेक कहा गया है। नाना भोगके आश्रयभूत विचित्र देह और विचित्र भोग्योंके सम्बन्धसे उसमें नानात्व आ जाता है।

वागीशीके गर्भमें शिष्यके चैतन्यको योजित करनेके बाद सब गर्भोंमें एक ही साथ [शतरुद्रसे लेकर अनन्त-पर्यन्त] नाना प्रकारके देह परमेश्वरभावाविष्ट गुरुकी इच्छासे निष्पन्न होते हैं। इसके पश्चात् गर्भसे निष्क्रमण होता है। इसीका नाम जन्म है। पाशक्षपणार्थ छः संस्कारोंमें यही प्रथम संस्कार है।

(ख) अधिकारादि पाँच संस्कार

सब योनियोंमें वे देह एक साथ बढ़ने लगते हैं। उस समय उनका भोगमें अधिकार होता है। मायान्तर्गत भोग ही कर्मका फल है। कर्म शुभाशुभादि वासनात्मक होता है। यह क्रमिकभोगसम्पादक होनेपर भी मन्त्रके प्रभावसे अक्रमसे ही भोगोंकी निष्पत्ति हो जाती है, अनेकों जन्मोंसे सञ्चित प्राक्तन कर्म दग्ध हो जाते हैं और भविष्यत् कर्मोंकी वृत्तिका भी निरोध हो जाता है। केवल देहारम्भक कर्म ही भोगसे नष्ट होते हैं। कर्मोंके अनुष्ठानसे भोगके साधन मिलनेपर सुख-दुःखात्मक भोग भोगनेका अवसर आता है। भोग निवृत्त हो जानेपर कुछ कालके लिये एक अनिर्वचनीय तृप्तिका उदय होता है। यह परमा प्रीतिकी अवस्था है। तन्त्रोंमें इसका 'लय' नामसे वर्णन किया जाता है। इसके बाद निष्कृति नामक संस्कारकी आवश्यकता होती है। शुभ अथवा अशुभ कर्मोंसे वीरभद्रके भुवनपर्यन्त विभिन्न भुवनोंमें जन्म, आयु और भोग—इन तीन फलोंका भोग होता है। इसको शुद्ध करनेके लिये ही निष्कृतिसंस्कारकी आवश्यकता होती है। भुवनाकार विषयोंमें जितने विषय भोग्यरूप हैं, उन्हींका शोधन करना होता है। निष्कृतिसे समस्त कर्मफलभोग समाप्त हो जाता है। इससे केवल जन्मादिकी ही शुद्धि होती है—ऐसी बात नहीं है, रुद्रांशापादनरूपा शुद्धि भी होती है। भोगसमाप्तिरूपा निष्कृतिके बाद भोगोंसे विश्लेष होता है अर्थात् फिर भविष्यमें भोगोंके साथ कभी सम्बन्ध नहीं होता, क्योंकि उस समय भोक्तामें भोक्तृत्व नहीं रहता। आणवमलके कारण जो विषयोंके प्रति आसक्ति या राग होता है, वही भोक्तृत्वका स्वरूप है। विश्लेष अथवा भोगाभाव सिद्ध हो जानेपर भूतसर्गरूप नाना प्रकारके स्थूल-सूक्ष्मादि शरीर नष्ट हो जाते हैं, और उनकी पुनरुत्पत्तिकी सम्भावना नहीं रहती।

निवृत्तिकला-शोधनके अन्तर्गत अवशिष्ट क्रियाएँ

इस प्रकार दीक्षाके द्वारा तीनों प्रकारके पाशोंका विश्लेषण हो जाता है। उस समय सब शरीरोंका नाश हो जानेके कारण गुरु शिष्यको एक अविच्छिन्न चैतन्य रूपमें देखते हैं। पाशसम्बन्धहीन वह एकीकृत चैतन्य शुद्ध निवृत्तिकलाके ऊपर अनावृतरूपसे स्थित होता है और सुवर्णकी प्रभाके समान देदीप्यमान होता है। उस समय निवृत्तिव्याप्त पृथिवीतत्त्वसे शिष्यका उद्धार करना पड़ता है। यद्यपि वह चैतन्य निवृत्तिकी शुद्धिसे निर्मल हो जाता है तथापि अन्यान्य कलाओंका अभी शोधन न होनेके कारण व्यापक दृष्टिसे वह मलयुक्त ही रहता है। गुरु उस चैतन्यको पृथिवीतत्त्वसे खींचकर प्रणवसे सम्पुटित किये हुए हंसबीजके आकारमें संहारमुद्राके द्वारा पूरक क्रियासे अपने हृदयमें ले आवें। उसके बाद पूर्ववत् कुम्भक एवं द्वादशान्तमें रेचन कर फिर द्वादशान्तसे उठाकर नाडीरन्ध्रके द्वारा शिष्यके शरीरमें पहुँचा दें। तन्त्रोंमें इस क्रियाको 'तत्स्थीकरण' कहा है।

निवृत्तिकलाकी शुद्धिके बाद उस कलाके अधिष्ठाता ब्रह्माका आवाहन करके उनका पूजन और तर्पण करनेके बाद उन्हें शिष्यके पुर्यष्टक अथवा सूक्ष्मदेहका कुछ अंश अर्पण करें। पुरी अथवा सूक्ष्मदेहके आरम्भक पाँच तन्मात्र एवं मन, बुद्धि और अहङ्कार—इन आठ अवयवोंमेंसे शब्द, स्पर्श—ये दो अवयव ब्रह्माको अर्पण करें और इसके पश्चात् उन्हें परमेश्वरकी यह आज्ञा सुना दें कि—

भुवनेश त्वया नास्य साधकस्य शिवाज्ञया।
प्रतिबन्धः प्रकर्त्तव्यो यातुः पदमनामयम्॥
(मालिनीबीज)

'हे भुवनेश ! भगवान् शिवकी आज्ञासे तुम परमपदकी ओर जानेवाले इस साधकके मार्गमें विघ्न उपस्थित न करना।'

इसके अनन्तर पूजा-होमादि करनेके पश्चात् ब्रह्माका, और फिर वागीशीका विसर्जन करें। वागीशी वस्तुतः स्वातन्त्र्यशक्तिरूपा परावाक्का ही स्फुरणमात्र है। इसलिये परावाक्के साथ एकत्व-सम्पादन ही उसका विसर्जन है। तदनन्तर विशुद्ध निवृत्तिकलामें विशुद्ध पाशोंका दर्शन करें। इस दृष्टिसे प्राक्तन और भावी दोनों ही प्रकारके कर्मोंका अभाव हो जाता है—यह स्पष्ट दिखायी देता है, क्योंकि पुत्रक शिष्य मोक्षार्थी होनेके कारण साधककी भाँति फलोन्मुख नहीं होता।* फलदानोन्मुख वर्तमान या प्रारब्ध कर्मोंकी शुद्धि अवश्य नहीं की जाती। उसका क्षय तो केवल भोगद्वारा ही करना पड़ता है।

इस प्रकार निवृत्तिकला शुद्ध होनेपर उस कलाका सन्धान करना होता है। यह दो प्रकारसे किया जाता है—(१) शुद्ध कलाका सन्धान और (२) प्रतिष्ठाकलाके सम्बन्धसे अशुद्ध कलाका सन्धान। सम्पूर्ण पाशोंका शोधन करनेवाले निष्कल मन्त्र ही ग्यारह अङ्ग-ब्रह्ममन्त्रोंका शोधन करते हैं। ये निष्कल मन्त्र शुद्ध कलाके वाचक होनेके कारण शुद्ध कहे जाते हैं और ये ही अशुद्ध कलाके वाचक होनेपर अशुद्ध कहे जाते हैं। शुद्धनिवृत्तिवाचक निष्कलका ह्रस्वरूपसे उच्चारण किया जाता है। इसका स्वरूप परबिन्दुतक व्यापक है और उसमें किसी प्रकारका प्रसर नहीं है। अशुद्ध प्रतिष्ठावाचक निष्कलका दीर्घरूपसे उच्चारण किया जाता है। इसका स्वरूप नादपर्यन्त व्यापक है और यह प्रसरोन्मुख है। इन दोनोंके एकत्व या सामरस्यकी भावना करते हुए तथा शुद्धनिवृत्तिको लीन और अशुद्धप्रतिष्ठाको उद्बुद्ध करनेके लिये तद्वाचक मूलमन्त्रके साथ एकीभूतभावना करते हुए उच्चारण करना होता है।

इसके बाद पूर्ववर्णित प्रणालीसे प्रतिष्ठाकलाके शोधनका विधान है। यहाँ भी पूर्ववत् कलासन्धान, प्रतिष्ठाकलाका व्याप्तिदर्शन, वागीशीगर्भमें जन्म और तदनन्तरवर्ती अधिकारादि विश्लेषणतक सभी किया जाता है। परन्तु कहीं-कहीं निवृत्तिकी अपेक्षा कुछ विशेषता रहती है। इसमें तारण-प्रोक्षण प्रभृति कार्य क्रियाप्रधान ऐश्वर्यमूर्तिमें और अधिकार, भोग, लय एवं निष्कृति शिवभावापन्न होकर किये जाते हैं तथा विश्लेष, एकचैतन्यभावना और उद्धारादि क्रिया ज्ञानशक्तिप्रधान सदाशिवरूपसे होते हैं, क्रियाशक्तिप्रधान ईश्वररूपसे नहीं होते। प्रतिष्ठाकलाके अधिपति विष्णु हैं। इन्हें पूर्वोक्तप्रणालीसे पुर्यष्टकका रस अर्पण करना चाहिये। इनको भी पूर्ववत् भगवदाज्ञा सुनाकर विसर्जन करनेके बाद परावाक्में वागीशीका विसर्जन तथा ह्रस्व-दीर्घके प्रयोगद्वारा पूर्ववत् कलासन्धान करना चाहिये।

इस प्रकार दो कलाओंसे मुक्ति हो जानेपर पशुके चैतन्यको विद्यामें युक्त करके शुद्ध किया जाता है। इसमें भी सब प्रक्रिया पूर्ववत् ही है। परन्तु विश्लेष और पाशच्छेदके बाद आत्मस्थता और तत्स्थीकरण कर लेना चाहिये। इस कलाके अधिपति रुद्र हैं। उनका आमन्त्रण करके पुर्यष्टकका गन्धरूप अंश अर्पण करना चाहिये।

शान्ति और शान्त्यतीत कलाओंके शोधनमें भी कोई नवीन प्रक्रिया नहीं है। केवल इतना भेद अवश्य है कि पुर्यष्टकका अहंकार-अंश शान्त्यधिष्ठाता ईश्वरको और मन-अंश शान्त्यतीताधिष्ठाता सदाशिवको समर्पण किया जाता है।

पञ्चकलादीक्षा हो चुकनेपर वागीशीसे इस प्रकार क्षमा-प्रार्थना की जाती है—'मैंने आपको बार-बार परस्वरूपसे गर्भाधानादिके लिये उतारा है; अबसे आप इस दीक्षितके स्वरूपका आवरण न करें। अब आप अपने विश्रामस्थानमें लौट जायँ अर्थात् दीक्षितके आत्मस्वरूपमें जो परमशिवमय है, उससे अभिन्न होकर स्फुरित हों।' (क्रमशः)

* शिवधर्मिणी दीक्षामें साधकको भी जन्मान्तरसे सञ्चित शुभाशुभ और वर्तमान जन्ममें होनेवाले कर्मोंका शोधन करना पड़ता है। केवल भावी मन्त्राराधनरूप कर्मोंका जिनसे विभूतियोंका आविर्भाव होता है, शोधन नहीं किया जाता। लोकधर्मिणी दीक्षामें लौकिक साधकके प्राक्तन और आगामी कर्मोंके अधर्मांशमात्रका ही नाश किया जाता है, धर्मांश रख लिया जाता है। दीक्षाके प्रभावसे वह धर्मांश अणिमादि-विभूतिरूप फल प्रदान करता है।

१. निवृत्ति प्रभृति कलाओंके वाचक बीजमन्त्रोंको क्रमशः हृद, शिरः, शिखा, कवच और नेत्रमन्त्र कहा जाता है।

२. अधिकारादि ज्ञान प्रमुखसे होते हैं सदाशिवादि समस्त स्थलोंमें एकमात्र शिव ही प्रभु हैं।

अभेदवाद

(लेखक—श्रीब्रह्मानन्दजी)

असीम और पूर्ण वस्तु तभी हो सकती है, जब उसके अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु न हो । अपूर्णताका अस्तित्व पूर्णताके अस्तित्वकी अपेक्षा रखता है । किन्तु पूर्णताका अस्तित्व अपूर्णताके अस्तित्वकी अपेक्षा नहीं रखता, सिर्फ़ उसकी प्रतीतिकी अपेक्षा रखता है । अपूर्ण पदार्थोंका योगफल अपूर्ण ही हो सकता है, पूर्ण नहीं हो सकता । अतः अपूर्ण पदार्थोंकी समष्टि पूर्ण नहीं हो सकती । पूर्ण तो अखण्ड और असीम वस्तु ही हो सकती है ।

प्रश्न—अपूर्ण पदार्थोंका योगफल पूर्ण हो सकता है । ज्यामितिकी रेखाएँ आकाशकी कल्पित सीमाएँ होती हैं—त्रिभुज, चतुर्भुज इत्यादि । अतः आकाशके खण्डकी कल्पना की जा सकती है । यदि अनन्त टुकड़ोंकी कल्पना करें तो क्षेत्रफल अनन्त होगा । प्रत्येक भागका क्षेत्रफल परिमित है । और अनन्त भागोंका क्षेत्रफल अनन्त है ।

उत्तर—वस्तुतः आकाश अनन्त नहीं हो सकता । क्योंकि जो वस्तु किसी भी दृष्टिसे सान्त होगी, वह सभी दृष्टियोंसे सान्त होगी । कोई वस्तु किसी भी दृष्टिसे अनन्त नहीं होगी यदि वह किसी भी दृष्टिसे सान्त हो । आकाश धर्मकी दृष्टिसे सान्त है, क्योंकि उसका धर्म काल आदिमें नहीं है, अतः वह स्थानकी दृष्टिसे भी अनन्त नहीं हो सकता । इसका कारण यह है कि अनन्तता किसी प्रकारकी भी सान्तताको सहन नहीं कर सकती ।

और यदि आकाशको अनन्त मानें भी तो वह अनन्त वर्गोंका योगफल नहीं सिद्ध हो सकता । क्योंकि जो जिन पदार्थों या संख्याओंका योगफल होता है, उनमें किसीकी कमी होनेपर उस योगफलमें कमी आ जाती है । यदि सीमित संख्याओं या पदार्थोंका योगफल अनन्त सत्ता या संख्या हो, तो उनमें किसीकी भी कमी होनेपर उस अनन्ततामें कमी आ जायगी । चूँकि हम उस कमीको किसी भी तरह सिद्ध नहीं कर सकते, अतः अनन्त सत्ता या संख्या अनन्त पदार्थों या संख्याओंका योगफल नहीं हो सकती । अतः अनन्त वर्गोंका योगफल अनन्त आकाशको समझना युक्ति-विरुद्ध है । जो लोग अनन्तको अनन्त अंशोंके योगफल-के रूपमें सम्भव समझते हैं, उन्हें यह बताना चाहिये कि—१—अनन्त—१० महाशङ्ख क्या हुआ ? और २—अनन्त—१० महाशङ्ख तथा अनन्त—१ में क्या अन्तर है ? ३—यदि अनन्त—१ सान्त संख्या है तो कोई भी सान्त संख्या इकाई-दहाई आदिमें व्यक्त की जा सकती है । अतः उसे इकाई-दहाई आदिमें व्यक्त कीजिये ।

तीसरी बात यह कि अनन्त वर्गोंकी सत्ता भी साध्य है । क्योंकि पहले वर्गोंका योगफल अनन्त सिद्ध हो तब तो अनन्त वर्ग सिद्ध हों । और यह कहना कि 'अनन्त वर्गोंका योगफल अनन्त वर्ग हैं, प्रतिज्ञाको ही हेतुका रूप देना है । अभी तो अनन्तताको ही समझना है कि वह क्या है ? क्या वह सीमित वस्तुओंका योगफल है या एक अविभाज्य वस्तु है ? अतः 'अनन्त वर्गोंका योगफल' ऐसा कहते हुए आप एक ऐसे शब्दका प्रयोग कर रहे हैं जिसके अर्थको निश्चित करनेके लिये अभी बात ही हो रही है । तथा जो अभी निश्चित नहीं हुई है । जैसे कि कोई पूछे कि ये कितने आम हैं ? उसने कहा कि—'सौ' । किन्तु उसने जानना चाहा कि ये सौ हैं या नहीं ? तो उसने पचास-पचासकी दो राशि कर दी । अब उसने समझ

लिया कि ये सौ हैं। क्योंकि उसने दोनों राशियोंके विषयमें जान लिया कि ये पचास-पचासकी हैं। और यह भी उसे निश्चितरूपसे मालूम है कि ५०+५०= १०० होते हैं। किन्तु यदि उसे कोई कहता कि ये सौ आम इसलिये हैं कि ये सौ आम हैं, तो उसे समझमें नहीं आता। क्योंकि हेतुकी सत्तामें भी उसे वैसा ही सन्देह है जैसा कि साध्यकी सत्तामें। इसी प्रकार अपूर्ण पदार्थोंका योगफल पूर्ण हो सकता है, जैसे कि अनन्त वर्गोंका योगफल अनन्त आकाश हो सकता है, इसमें भी साध्य और हेतु, दोनों समानरूपसे अनिश्चित हैं।

प्रश्न--यदि पूर्ण ब्रह्म (उसे चाहे ब्रह्म कहें या और जो कुछ भी कहें) के अतिरिक्त और कुछ भी सत्य नहीं है तो 'एकमात्र पूर्ण ब्रह्म सत्य है' यह भी कैसे कहा जा सकता है ? क्योंकि एकता अनेकताकी, पूर्णता अपूर्णताकी सत्ताकी अपेक्षा रखती है।

उत्तर—वास्तविक सत्ताके ज्ञानके लिये उसके विरोधीकी कल्पना होती है। ऐसी स्थितिमें यह निश्चित नहीं कि वह काल्पनिक विरोधी वस्तु सत्य ही हो। हो सकता है कि उसका सिर्फ काल्पनिक अस्तित्व हो। जैसे कि सत्ताको समझनेके लिये असत्ताकी कल्पना की जाती है। पर इससे यह नहीं कहा जा सकता कि असत्ता भी कोई वस्तु है। यदि असत्ता भी कोई वस्तु हो तब तो वन्ध्यापुत्र और शशशृङ्गका भी अस्तित्व होना चाहिये। अत: पूर्णताकी प्रतीति अपूर्णताकी अपेक्षा रखती है, सिर्फ इतनेसे ही अपूर्णताकी वास्तविकता सिद्ध नहीं होती।

इस प्रकार एकमात्र अखण्ड पूर्ण पदार्थकी सत्यता सिद्ध होती है।

पाठक इस लेखसे यह न समझें कि मैंने कोई अपरिवर्तनीय सिद्धान्त निश्चित कर लिया है। क्योंकि ऐसा करना तो घोर अज्ञान है। अनन्तज्ञान-भण्डारकी प्राप्तिके लिये मनुष्यको सर्वदा नम्र जिज्ञासुके रूपमें ही रहना चाहिये। उत्तरोत्तर विचार-वृद्धिके द्वारा सत्यकी ओर बढ़नेके लिये प्रयत्नके रूपमें ही यह लेख लिखा गया है।

सरकारी आँखें

(गीत)

क्या कहें कि जो जो छिपा हुआ, सरकार ! तुम्हारी आँखोंमें।
सब दृश्य उपस्थित दर्शनीय, दिलदार ! तुम्हारी आँखोंमें॥
दिन-जैसी सहज ज्योति जगमग, निर्मलता स्वयं प्रकाशित है।
निशि-सी कारी सारी वारी, अँधियारी न्यारी—आँखोंमें॥
है ज्ञान सरोवर दाएँ में, है प्रेम सरोवर बाएँ में।
पलकोंमें पल पल करुनाका, सोता है जारी आँखोंमें॥
सचराचर विश्व पतंग बना, है ऐसी मोह मूर्ति उनमें।
निरमोही काल समान अहो, चल रही कटारी आँखोंमें॥
वैराग्य भरा दुनियाँ भर का, अनुराग भरा दुनियाँ भर का।
विपरीत कर्म करते रहते, है माया भारी आँखोंमें॥
हम एक दिवस रो उठे विलख, तब सम्मुख सहसा दर्शन था।
अब सीठे मीठे लगते हैं, थे आँसू खारी आँखोंमें॥
यह जगत बनाया है कैसे, बतलादो आप कहाँ रहते ?
हम रहें आपकी आँखोंमें, या आप हमारी आँखोंमें ?

—श्रीशिवनारायण वर्मा

कलियुगका परम साधन

(लेखक—श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी महाराज)

नवजलधरवर्णं चम्पकोद्भासिकर्णं
विकसितनलिनास्यं विस्फुरन्मन्दहास्यम् ।
कनकरुचिदुकूलं चारुबर्हावचूलं
कमपि निखिलसारं नौमि गोपीकुमारम् ॥

सभी शास्त्र कहते हैं कि भगवान्‌पर विश्वास करो। सभी संत महात्माओंका मत है कि भगवान्‌की शरण जाओ, तुम परम सुखी होओगे। तुम्हें अखण्ड आनन्द प्राप्त होगा। अब प्रश्न यह है कि हमारे पास रहनेको बढ़िया कोठी है, चढ़नेको मोटरें हैं, खानेकी भी सभी सामग्रियाँ और अप्सराओंके समान हमारी स्त्रियाँ हैं, लाखों-करोड़ों रुपये हमारे बैंकमें जमा हैं, हम तो सभी प्रकार सुखी हैं, फिर हम भगवान्‌का भजन क्यों करें ? हम क्यों भजन, सन्ध्यावन्दन, नाम-संकीर्तन और शास्त्राध्ययनके चक्करमें फसें ? हमें दुःख क्या है ? हमें भगवान्‌से क्या मतलब ?

आप ध्यानसे देखें तो संसारमें सुखी कौन है ? संसारी चीजोंसे सब प्रकारसे सुखी कौन हुआ है ? अमीर सेब-अंगूरोंको खाकर जितना सुखी होता है, एक किसान बजरीकी रोटियोंमें भी वही स्वाद पाता है। आजसे बीस वर्ष पहले जिन रूखी रोटियोंको खानेमें मुझे जितना स्वाद आता था आपसे सत्य-सत्य कहता हूँ उतना स्वाद आज बढ़िया-से-बढ़िया फलोंमें नहीं आता। स्वाद चीजोंमें नहीं, स्वाद तो भूखमें है। जिस अमीरको भूख ही नहीं लगती उसके लिये भाँति-भाँतिके व्यंजन मिट्टीके समान हैं, और जिसे भूख लगती है उसे भुने हुए चनोंमें बादामोंका स्वाद आता है। कहनेका मतलब यह है, कि कुछ भी खाइये यदि आपको भूख है तो खानेकी सभी चीजोंमें आनन्द आवेगा, और भूख नहीं तो सभी मिट्टी।

इसी प्रकार सांसारिक सुखोंकी बात है। राजा जितना अपनी रानीके साथ सुख पाता है, एक सूकर अपनी सूकरीके साथ भी उतना ही सुख पाता है। उन दोनोंके सुखमें कोई अन्तर नहीं।

एक अमीर खूब गुल्गुले गद्देपर सोता है, एक गरीब बाहर कंकड़ोंपर। सो जानेपर दोनों ही एक-से हैं। न गरीबको कंकड़ोंकी सुधि रहती है, न अमीरको गुल्गुले गद्देकी। यदि अमीरको चिंता है तो उसे वह गुल्गुला गद्दा शूलकी सेजके समान है। अतः निद्रा भी गरीब-अमीरकी एक-सी है।

आप कहेंगे कि अमीरके पास बहुत-से नौकर हैं, धन है, मकान है, अन्न-जलकी बहुतायत है, वैद्य हैं, दवाएँ हैं, उसे डर नहीं; परन्तु हमारे पास तो कुछ नहीं, अतः हमें चोरका, दरिद्रताका, वर्षाका, भूख-प्यासका और बीमारीका डर है। यह बात भी ठीक नहीं। अमीर-को भी सदा डर बना रहता है। इतनी बड़ी अंगरेज सरकार, जिसके राज्यमें कभी सूर्य अस्त नहीं होता, आज कई राष्ट्रोंको युद्धमें लगे देखकर भयभीत है। गरीब उतने बीमार नहीं होते जितने अमीर बीमार होते हैं। मेरे पास बड़े-बड़े अफसर आते हैं, बड़े-बड़े नामी वकील, खूब बड़े-बड़े जमीदार, ताल्लुकेदार। उनसे जब मैं कहता हूँ—भाई तुम ऐसा कठोर काम क्यों करते हो ? तब वे कहते हैं—'महाराज हम दिलसे नहीं चाहते कि ऐसा करें, किन्तु क्या करें पेटके लिये सब कुछ करना पड़ता है। इसे न करें तो खायें क्या ?' इससे पता चलता है कि गरीब हो चाहे अमीर हो, लखपती हो, राजा हो पेटकी चिन्ता सभीको है। इससे सिद्ध यही हुआ कि खाने-पीने, विषय-भोग, निद्रा और आत्मरक्षाकी चिन्ता सबको समान है। अमीर सोना

नहीं खाते और गरीब धूलि नहीं फाँकते। इन सब बातोंमें सब समान हैं। इन संसारी चीजोंसे किसीको पूर्णरूपसे संतोष न हुआ, न कभी होगा। चिन्तासे सभी दुखी होते हैं। बीमारीका, मरनेका दुख सभीको समान होता है। अत: भगवान्‌के भजनमें अमीर या कंगालका कोई सवाल नहीं। भगवान्‌का भजन तो गरीबसे गरीबको, अमीरसे अमीरको, ब्राह्मणसे लेकर चाण्डालतकको सभीको समानरूपसे करना है।

भगवान्‌के भजनका फल विषयोंकी प्राप्ति नहीं है। भगवान्‌के भजनका फल है, आत्मिक शान्ति। आन्तरिक आनन्द।

यदि एक सिपाही अपने सभी कामोंको भगवान्‌के लिये करता है, वह प्रभुके ऊपर विश्वास करके ही सब कामोंमें हाथ लगाता है। अपने आठ ही रुपयेमें बाल-बच्चोंका पालन करके सन्तोषके साथ काम करता हुआ भगवान्‌का भजन करता है, और उसका मालिक जज एक हजार रुपये पाता है, किन्तु उसे ईश्वरपर विश्वास नहीं, आवश्यकतासे अधिक खर्च है, उसका एक हजारमें भी पूरा नहीं पड़ता तो वह सिपाही उस जजसे बड़ा है। भगवान्‌के भजनकी सभीको समान रूपसे आवश्यकता है। भगवत्-भजनसे आत्मिक तुष्टि होती है। जिसे भगवान्‌के ऊपर विश्वास है उसे कभी कोई क्लेश नहीं। जनक इसके उदाहरण हैं। मिथिलामें आग लगनेपर भी वे कहते हैं,—मेरे जाने आग लगो चाहे पानी बरसो, मुझे न आन्तरिक क्लेश है, न उद्वेग। इसके विपरीत जिन्हें भगवान्‌पर विश्वास नहीं वे करोड़पती, अरबपती भी कभी आन्तरिक सुख नहीं पा सकते। विलायतमें एक दियासलाईके व्यापारी थे। वे बहुत साधारण आदमीसे बड़े धनी बन गये थे। अन्तमें उन्हें बहुत बड़ा घाटा हुआ और उन्होंने दु:खके मारे आत्महत्या कर ली। यदि आप यह समझते हों कि भगवान्‌के भजन करनेवालोंके चेहरेसे कोई अग्निकी ज्वाला निकलने लगेगी या वे सहसा अमीर बन जायँगे, उनके कोठियाँ चल जायँगी, यह ठीक नहीं है। भगवान्‌के भक्त गरीब भी हो सकते हैं और धनी भी। वे होंगे हमलोगोंकी तरह हाथ-पैरवाले साधारण मनुष्य ही, किन्तु उनकी आन्तरिक शान्ति हमसे लाखोंगुनी अधिक होगी।

आज हम सुनते हैं, रूसमें लोग भगवान्‌को नहीं मानते इससे वे सब बड़े सुखी हैं। मैं आपसे दावेके साथ कहता हूँ कि वे बड़े दुखी हैं, बड़े अशान्त हैं और आप देखेंगे वे अपनी अशान्तिके कारण दु:ख पाकर भटक-भटककर अन्तमें भगवान्‌की ही शरणमें आवेंगे। अन्तमें सबको वहीं आना है। वहाँ आये विना किसीका कल्याण नहीं।

अत: भगवान्‌का भजन कोई खास तरहके ही लोग करें यह बात नहीं, भगवान्‌के भजनकी उन सभीको जरूरत है जो आन्तरिक शान्ति चाहते हैं, फिर चाहे वे गरीब हों या अमीर, स्त्री हों या पुरुष, अथवा ब्राह्मण हों या चाण्डाल। भगवान्‌की शरण सभीको लेनी होगी। दाल-भात वही खा सकता है जिसे भूख हो। दाल-भात खानेमें सरकारी नौकर, देशभक्त, स्त्री-पुरुष, ऊँच-नीचका कोई भेद नहीं। जिसे भूखकी निवृत्ति करनी हो वही भोजन कर सकता है इसी प्रकार भगवान्‌का भजन भी सभी समानरूपसे कर सकते हैं। आप सैनिक हैं तो बन्दूक चलाइये, लड़ाईमें वीरतासे लड़िये किन्तु भगवान्‌को कभी न भूलिये। यदि आप परोपकारी हैं तो हजारोंके भोजनका प्रबन्ध कीजिये, अनाथालय खोलिये किन्तु भगवान्‌को सदा स्मरण रखिये। आप नौकर हैं तो ईमानदारीसे नौकरी बजाइये, किन्तु अपने सच्चे मालिककी स्मृतिको क्षण-भरके लिये भी न भुलाइये। सब काम करते हुए—सभी प्रकारकी स्थितिमें रहते हुए भगवान्‌को न भूलिये। आपकी आन्तरिक शान्ति नष्ट न होगी। हरेक स्थितिमें आप सुखी रहेंगे।

आजके युगमें हम सभी लोग ध्यानद्वारा भगवान्‌का भजन नहीं कर सकते। ध्यान करनेवाले विरले ही आजकल मिलेंगे। क्योंकि यह साधन सत्ययुगका है। समय ऐसा आ गया कि हम बड़े-बड़े यज्ञ-याग करके भी भगवत्-भजन नहीं कर सकते। आजकल शुद्ध सामग्री नहीं, बड़ी आयु नहीं। उतना धन नहीं, हमें स्वतन्त्रता नहीं। जङ्गल भी नहीं रहे। एक-एक तिल जमीनपर सरकारका कब्जा हो गया। अतः यज्ञ-याग भी आज हमारे लिये असम्भव-से ही हो गये हैं। इस उपायसे त्रेताके मनुष्य भगवदाराधन किया करते थे। भगवान्‌की विधिवत् पूजा भाँति-भाँतिकी सामग्रियोंसे होती है। उसके लिये भी हमारे पास धन नहीं। द्वापरके लोग भगवत्-परिचर्या करके प्रायः भगवत्-भजन करते थे।

हम कलियुगी जीव हैं, हमारे चित्तकी वृत्तियाँ स्वभावतः विषयोंकी ओर जाती हैं। हम अल्पबुद्धि हैं, हमारी छोटी आयु है, हमारे लिये तो प्राचीन महर्षियोंने एक ही साधन बताया है—केवल भगवन्नाम-गुणका कीर्तन। भगवान्‌के गुणोंका कीर्तन कीजिये, उनकी सुमधुर कथाएँ सुनिये, उनके नामोंका ताल-स्वरसे झाँझ-मृदङ्गके साथ कीर्तन कीजिये, साधुओंका संग कीजिये। इसीसे आप परमसिद्धि प्राप्त कर लेंगे। मैं यह नहीं कहता कि सङ्कीर्तन करनेके लिये आप अपने कामोंको छोड़ दें। आप जिसे धर्म समझकर अपना कर्तव्य मानकर कर रहे हैं उसे करते जाइये, किन्तु घंटे-दो-घंटे समय निकालकर भगवान्‌के नामोंका सब मिलकर या अकेले कीर्तन कीजिये। भगवान्‌के मंगलमय नामोंका श्रद्धापूर्वक जप कीजिये। नामप्रेमी अनुरागी संतोंका सत्संग कीजिये। भगवान्‌की दिव्य कथा सुनिये। यदि इन कामोंको आप सच्चे हृदयसे प्रेमपूर्वक करेंगे तो आपको निश्चय ही आत्मिक शान्ति मिलेगी। फिर आप न तो दुःखोंमें तड़फड़ायँगे और न संसारी सुखोंमें फूलकर कुप्पा ही बन जायँगे। आपको सुख-दुःख दोनों समान प्रतीत होंगे। आप अपने सभी कामोंमें अपने इन भजनीय भगवान्‌का प्रत्यक्ष हाथ देखेंगे। आप उन प्रभुके आनन्दमें मस्त हो जायेंगे।

कलियुगमें भगवन्नाम-सङ्कीर्तन ही एक ऐसा सर्वोपयोगी साधन है जिसे गरीब, अमीर, स्त्री-पुरुष सभी श्रेणी, सभी वर्णके लोग समानरूपसे कर सकते हैं।

तभी तो भगवान् व्यासजीने कहा है—

कृते यद् ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः।
द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्तनात्॥

'सत्ययुगमें जो फल ध्यानसे मिलता था, त्रेतामें जो यज्ञोंसे और द्वापरमें जो अर्चापूजासे मिलता था, वही फल कलियुगमें केवल भगवन्नाम-कीर्तनसे मिलता है।'

अतः मेरी यह प्रार्थना है कि आप भगवन्नाम-कीर्तनको अपने जीवनका एक आवश्यकीय दैनिक कर्तव्य बना लीजिये। नहाने-खानेकी भाँति भगवन्नाम-कीर्तन भी आपके जीवनका एक परमावश्यक अंग बन जाय।

विशेषकर नवयुवकोंसे मेरी प्रार्थना है आप इस धर्म-प्रधान देशमें उत्पन्न हुए हैं। आप पश्चिमीय विलास-प्रधान देशोंके निवासी नहीं हैं। आप भगवान्‌को कभी न भूलें। भगवान्‌पर विश्वास रखकर आप अपना कार्य करें। भगवान्‌के भजनसे उनपर विश्वास करनेसे क्या होता है इसे मैं आपको ठीक तरहसे समझा न सकूँगा। आप विश्वास कीजिये, आपको स्वतः ही अनुभव होगा। भगवान्‌की शरणमें जानेसे, सङ्कीर्तन करनेसे आप सुखी होंगे, आनन्दित होंगे। कभी झूठ न बोलनेवाले अनुभवी संतोंका यह विश्वास है। यदि हमें भगवान्‌पर विश्वास नहीं होता तो उन्हींसे प्रार्थना कीजिये कि 'प्रभो! हमें विश्वास कराओ' वे ही विश्वास भी करावेंगे।

अवतारका सिद्धान्त

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

अवतारका अर्थ है अव्यक्तरूपसे व्यक्तरूपमें प्रादुर्भाव होना। यह बहुत ही अलौकिक एवं रहस्यकी बात है। इसलिये जो पुरुष भगवान्‌के इस अवतरित होनेके दिव्य रहस्यको जानते हैं वे भगवान्‌को प्राप्त हो जाते हैं (गीता ४। ९)।

परम दयालु पूर्ण ब्रह्म परमात्मा सबपर अहैतुकी दया करके संसारके परम हितके लिये ही यहाँ अवतार लेते हैं। यानी जन्म धारण करते हैं। भगवान् इतने महान् हैं कि उनकी महिमा वर्णन करनेमें ब्रह्मादि देवता भी अपनेको असमर्थ समझते हैं। श्रीमद्भागवतमें श्रीब्रह्माजीने स्वयं कहा है—

> सुरेष्वृषिष्वीश तथैव नृष्वपि
> तिर्यक्षु यादस्स्वपि तेऽजनस्य।
> जन्मासतां दुर्मदनिग्रहाय
> प्रभो विधातः सदनुग्रहाय च॥
> को वेत्ति भूमन् भगवन् परात्मन्
> योगेश्वरोतीर्भवतस्त्रिलोक्याम्।
> क्व वा कथं वा कति वा कदेति
> विस्तारयन् क्रीडसि योगमायाम्॥
> (१०। १४। २०-२१)

'हे जगन्नियन्ता प्रभो! हे विधातः! आप अजन्मा हैं, तथापि देवता, ऋषि, मनुष्य, तिर्यक् और जलचरादि योनियोंमें आपके जो अवतार होते हैं वे असत्पुरुषोंके मदका मथन और सत्पुरुषोंपर कृपा करनेके लिये ही होते हैं।

हे भगवन्! आप सर्वव्यापक परमात्मा और योगेश्वर हैं; जिस समय आप अपनी योगमायाका विस्तार कर क्रीड़ा करते हैं उस समय त्रिलोकीमें ऐसा कौन है जो यह जान सके कि आपकी लीला कहाँ किस प्रकार कितनी और कब होती है?'

वे ही भगवान् हम लोगोंके साथ क्रीड़ा करनेके लिये हमारे-जैसे बनकर हमारे इस भूमण्डलमें उतर आते हैं, इससे बढ़कर जीवोंपर भगवान्‌की और क्या कृपा होगी। वे तो कृपाके आकर हैं। कृपा करना उनका स्वभाव ही है। कृपा किये विना उनसे रहा नहीं जाता। इसीलिये जब-जब भक्तोंपर विपत्ति आती है, पृथ्वी पापोंके भारसे दब जाती है, साधुपुरुष बुरी तरह सताये जाने लगते हैं और अत्याचारियोंके अत्याचार असह्य हो जाते हैं, तब-तब पृथ्वीका भार हरण करनेके लिये, भक्तोंको उबारनेके लिये, साधुओंकी रक्षा और दुष्टोंके अत्याचारोंका दमन करके संसारमें पुनः धर्मकी स्थापना करनेके लिये वे समय-समयपर इस पृथ्वीमण्डलपर अवतीर्ण हुआ करते हैं। भगवान् स्वयं गीताजीमें कहते हैं—

> अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
> प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥
> यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
> अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम्॥
> परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
> धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥
> (४। ६—८)

'मैं अजन्मा और अविनाशी स्वरूप होते हुए भी, तथा समस्त प्राणियोंका ईश्वर होते हुए भी अपनी प्रकृतिको अधीन करके अपनी योगमायासे प्रकट होता हूँ। हे भारत! जब-जब धर्मकी हानि और अधर्मकी वृद्धि होती है, तब-तब ही मैं अपने रूपको रचता हूँ अर्थात् साकाररूपसे लोगोंके सम्मुख प्रकट होता हूँ। साधु पुरुषोंका उद्धार करनेके लिये, पाप-कर्म करनेवालोंका विनाश करनेके लिये और धर्मकी अच्छी तरहसे स्थापना करनेके लिये मैं युग-युगमें प्रकट हुआ करता हूँ।'

यहाँ यह प्रश्न होता है कि 'भगवान् तो सर्वशक्तिमान् हैं, वे सब कुछ करनेमें समर्थ हैं, वे विना अवतार लिये ही अपनी शक्तिसे—अपने सङ्कल्पसे ही सब कुछ कर सकते हैं; फिर अवतार लेनेकी उन्हें क्या आवश्यकता है?' बात बिल्कुल ठीक है, भगवान् विना अवतार लिये ही सब कुछ कर सकते थे और कर सकते हैं और करते भी हैं; परन्तु लोगोंपर विशेष दया करके अपने दर्शन, स्पर्श और भाषणादिके द्वारा सुगमतासे उन्हें उद्धारका सुअवसर देनेके लिये एवं अपने प्रेमी भक्तोंको अपनी दिव्य लीलाओंका आस्वादन करानेके लिये इस पृथ्वीपर साकाररूपसे प्रकट होते हैं। उन अवतारोंमें धारण किये हुए रूपका तथा उनके गुण, प्रभाव, नाम, माहात्म्य और दिव्य कर्मोंका श्रवण, कीर्तन और स्मरण करके लोग सहज ही 'सार-

समुद्रसे पार हो जाते हैं। यह काम विना अवतारके नहीं हो सकता। इसीलिये भगवान् अवतार लेते हैं।

दूसरा प्रश्न यह होता है कि 'जो भगवान् निराकाररूपसे सर्वत्र व्याप्त हैं; वे अल्पकी भाँति किसी एक देशमें कैसे प्रकट हो सकते हैं और यदि होते हैं तो उतने कालके लिये अन्यत्र उनका अभाव हो जाता होगा अथवा उनकी शक्ति बहुत सीमित हो जाती होगी?' इस बातको समझनेके लिये हमें व्यापक अग्नि और प्रकट अग्निका दृष्टान्त लेना चाहिये। अग्नि निराकार रूपसे सर्वत्र व्याप्त है, इसीलिये उसे चकमक पत्थर तथा दियासलाई आदिसे चाहे जहाँ प्रकट किया जा सकता है। और जिस कालमें उसे एक जगह प्रकट किया जाता है उस कालमें अन्यत्र उसका अभाव नहीं हो जाता, बल्कि एक ही कालमें वह कई जगह प्रकट होती देखी जाती है। और जहाँ भी प्रकट होती है, उसमें पूरी शक्ति रहती है। इसी प्रकार भगवान् भी निराकार रूपसे सर्वत्र व्याप्त होते हुए ही किसी देशविशेषमें अपनी पूरी भगवत्ताके साथ प्रकट हो जाते हैं और उस समय उनका अन्यत्र अभाव नहीं हो जाता बल्कि एक ही समयमें उनके कई स्थलोंपर प्रकट होनेकी बात भी शास्त्रोंमें कई जगह आती है। श्रीमद्भागवतमें वर्णन आता है कि एक बार भगवान् श्रीकृष्ण द्वारकासे मिथिलापुरी गये। वहाँके राजा बहुलाश्व भगवान्के अनन्य भक्त थे। वहींपर श्रुतदेव नामके एक ब्राह्मण भक्त भी रहते थे। दोनोंने एक ही साथ भगवान्से अपने-अपने घर पधारनेकी प्रार्थना की। दोनों ही भगवान्की भक्तिमें एक-से-एक बढ़कर थे। भगवान् दोनोंमेंसे किसीका भी जी नहीं तोड़ना चाहते थे। अतः उन्होंने दोनोंका ही मन रखनेके लिये एक-दूसरेको न जनाते हुए एक ही समय दो रूप धारण करके एक साथ दोनोंके घर जाकर दोनोंको कृतार्थ किया।* एक और भी प्रसङ्ग श्रीमद्भागवतमें आता है। एक बारकी बात है, देवर्षि नारदजी यह देखनेके लिये कि भगवान् गृहस्थाश्रममें किस प्रकार रहते हैं, द्वारकामें पहुँचे। वे अलग-अलग सब रानियोंके महलोंमें गये और सभी जगह उन्होंने श्रीकृष्णको गृहस्थधर्मका यथायोग्य पालन करते हुए पाया। वे प्रातःकाल उठनेके समयसे लेकर रात्रिको सोनेके समयतकका समस्त दैनिक कृत्य अनेक रूपोंमें सब जगह विधिवत् करते थे। सभामें जानेके समय वे घरोंसे निकलते हुए अलग-अलग रूपोंमें दिखायी देते थे और फिर एक रूप होकर सभामें प्रवेश करते थे। नारदजी यह सब देखकर दंग रह गये और भगवान्को प्रणाम करके उनकी स्तुति करते हुए (ब्रह्मलोकको) चले गये। (देखिये भागवत १०। ६९। १३-४३)

ब्रह्माजीके मोहके प्रसङ्गमें भी भगवान्के बछड़ों और गोपबालकोंका रूप धारण करने और सालभरतक इस प्रकार अनेक रूप होकर रहनेकी बात श्रीमद्भागवतमें आयी है। (देखिये भागवत १०। १३)

भगवान् श्रीरामके सम्बन्धमें भी यह वर्णन आता है कि जब भगवान् लङ्का-विजय कर चौदह वर्षकी अवधि शेष होनेपर अयोध्या लौटे, उस समय उन्होंने पुरवासियोंको मिलनेके लिये अत्यन्त आतुर देखकर असंख्य रूप धारण कर लिये और पलभरमें एक साथ सबसे मिल लिये (देखिये रामचरितमानस उत्तर० ५। ३-४)*।

भगवान्के लिये यह कोई बड़ी बात भी नहीं कही जा सकती। जिन्होंने इस सारे विश्वको अपने सङ्कल्पके आधार-पर टिका रक्खा है और जो एक होते हुए भी लीलासे अनेक बने हुए हैं, वे यदि इस प्रकार एक ही समयमें एकसे अधिक रूप धारण कर लें, तो इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। यह कार्य तो एक योगी भी कर सकता है। फिर भगवान् तो योगेश्वरोंके भी ईश्वर तथा मायाके अधिपति ठहरे, उनके लिये ऐसा करना कौन कठिन काम है!

अब प्रश्न यह होता है कि 'क्या भगवान्का अवतार हम लोगोंके जन्मकी भाँति कर्मोंसे प्रेरित होता है? क्या उनका शरीर भी हमलोगोंकी भाँति पञ्चभूतोंसे बना हुआ मायिक होता है?' इसका उत्तर यह है कि भगवान्के अवतारमें इनमेंसे एक भी बात नहीं होती। भगवान्का अवतार न तो कर्मोंसे प्रेरित होकर होता है, न उनका शरीर पाञ्चभौतिक अथवा मायिक होता है। उनका जन्म और उनके कर्म दोनों ही दिव्य—अलौकिक होते हैं। उनका अवतार कर्मोंसे प्रेरित तो इसलिये नहीं होता कि वे काल

* भगवांस्तदभिप्रेत्य द्वयोः प्रियचिकीर्षया।
उभयोराविशद्गेहमुभाभ्यां तदलक्षितः॥
(भाग० १०। ८६। २६)

* प्रेमातुर सब लोग निहारी। कौतुक कीन्ह कृपाल खरारी॥
अमित रूप प्रगटे तेहि काला। जथा जोग मिले सबहि कृपाला॥
छन महिं सबहि मिले भगवाना। उमा मरम यह काहुँ न जाना॥

और कर्मसे सर्वथा परे हैं। कर्मकी स्थिति तो मायाके अन्दर है और वे मायासे सर्वथा अतीत हैं। अतः कर्म उनका स्पर्श भी नहीं कर सकते। वे स्वयं गीतामें कहते हैं—

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते॥
(४। १४)

'कर्मोंके फलमें मेरी स्पृहा नहीं है, इसलिये मुझे कर्म लिप्त नहीं करते—इस प्रकार जो मुझे तत्त्वसे जान लेता है, वह भी कर्मोंसे नहीं बँधता।' जब उन्हें तत्त्वसे जाननेवाला भी कर्मोंसे नहीं बँधता, तब उनके कर्मोंके वश होकर जन्म लेनेकी तो बात भी नहीं उठ सकती। वे तो अपनी इच्छासे भक्तोंपर अनुग्रह करनेके लिये शरीर धारण करते हैं। यह बात जेलके दृष्टान्तसे भलीभाँति समझमें आ सकती है। जेलके अन्दर कैदी भी रहते हैं, जेलके कर्मचारी भी रहते हैं और जेलके अफसर—जेलर भी रहते हैं तथा कभी-कभी जेलके मालिक स्वयं राजा भी जेलके अहातेके अन्दर जेलका निरीक्षण करने एवं कैदियोंपर अनुग्रह करनेके लिये तथा उन्हें जेलसे मुक्त करनेके लिये चले जाया करते हैं। परन्तु उनके जानेमें, और कैदियोंके जानेमें बड़ा अन्तर है। कैदी जाता है वहाँ राजाज्ञाके अनुसार सज़ा भुगतनेके लिये। नियत अवधितक उसे बाध्य होकर वहाँ रहना पड़ता है, अपनी इच्छासे वह वहाँ नहीं रहता। परन्तु राजा वहाँ अपनी स्वतन्त्र इच्छासे जाता है, सजा भोगनेके लिये नहीं, और जबतक उसकी इच्छा होती है, तबतक वहाँ रहता है। इसी प्रकार भगवान् भी प्रकृतिको वशमें करके अपनी स्वतन्त्र इच्छासे जन्म लेते हैं और लीला-कार्य समाप्त हो जानेपर पुनः बेरोक-टोक अपने धामको वापस चले आते हैं।

भगवान्‌का अवतारविग्रह भी हमलोगोंके शरीरकी भाँति पञ्चभूतोंसे बना हुआ मायिक नहीं होता, अपितु चिन्मय—सच्चिदानन्दमय होता है; इसलिये वह अनामय और दिव्य है। इस विषयमें दूसरी बात ध्यान देनेयोग्य यह है कि भगवान्‌का जन्म साधारण मनुष्योंकी भाँति नहीं होता। भगवान् श्रीकृष्ण जब कारागारमें वसुदेव-देवकीके सामने प्रकट हुए, उस समयका श्रीमद्भागवतका प्रसङ्ग देखने और विचारनेसे मनुष्य समझ सकता है कि उनका जन्म साधारण मनुष्योंकी भाँति नहीं हुआ। अव्यक्त सच्चिदानन्दघन परमात्मा अपनी लीलासे ही शङ्ख, चक्र, गदा, पद्मसहित विष्णुके रूपमें वहाँ प्रकट हुए। उनका प्रकट होना और पुनः अन्तर्धान होना उनकी स्वतन्त्र लीला है, वह हमलोगोंके उत्पत्ति-विनाशकी तरह नहीं है। भगवान्‌की तो बात ही निराली है, एक योगी भी अपने योगबलसे अन्तर्धान हो जाता है और पुनः उसी रूपमें प्रकट हो जाता है; परन्तु उसकी अन्तर्धानकी अवस्थामें कोई उसे मरा नहीं समझता। जब महर्षि पतञ्जलि आदि योगके ज्ञाता एक योगीकी ऐसी शक्ति बतलाते हैं, तब परमात्मा ईश्वरके लिये अन्तर्धान हो जाना और पुनः प्रकट होना कौन बड़ी बात है। अवश्य ही भगवान् श्रीकृष्णका अवतरण साधारण लोगोंकी दृष्टिमें जन्म लेनेके सदृश ही था; परन्तु वास्तवमें वह जन्म नहीं था, वह तो उनका प्रकट होना ही था। इसीलिये तो उन्होंने माता देवकीकी प्रार्थनापर अपने चतुर्भुजरूपको अदृश्य करके द्विभुज बालकका रूप धारण कर लिया।*

गीताके ग्यारहवें अध्यायमें भी वर्णन आता है कि भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनके प्रार्थना करनेपर पहले उसे अपना विश्वरूप दिखलाया, फिर उसीकी प्रार्थनापर चतुर्भुजरूप धारण किया और अन्तमें पुनः द्विभुज मनुष्यरूप हो गये।

भगवान् श्रीरामके भी इसी प्रकार चतुर्भुजरूपमें ही माता कौसल्याके सामने प्रकट होने और फिर उनकी प्रार्थनापर द्विभुज बालकके रूपमें बदल जानेकी बात मानसमें आती है। इससे प्रकट होता है कि भगवान् अपने भक्तोंकी इच्छाके अनुसार उन्हें दर्शन देकर अन्तर्धान हो जाते हैं।

मनुष्योंके शरीरके विनाशकी तरह भगवान्‌के दिव्य वपुका विनाश भी नहीं समझना चाहिये। जिस शरीरका विनाश होता है, वह तो यहीं पड़ा रहता है; किन्तु देवकीके सामने चतुर्भुजरूपके और अर्जुनके सामने विश्वरूप और चतुर्भुजरूपके अदृश्य हो जानेपर उन वपुओंकी वहाँ उपलब्धि नहीं होती। इतना ही नहीं, भगवान् श्रीकृष्णने जिस देहसे यहाँ लोकहितके लिये विविध लीलाएँ की थीं, वह देह भी अन्तमें नहीं मिला। वे उसी लीलामय दिव्यवपुसे परमधामको पधार गये। इसके बाद भी जब-जब भक्तोंने इच्छा की, तब-तब ही उसी श्यामसुन्दर-विग्रहसे पुनः प्रकट होकर उन्हें दर्शन देकर कृतार्थ किये और करते हैं। यदि

---

* इत्युक्त्वाऽऽसीद्धरिस्तूष्णीं भगवानात्ममायया।
पित्रोः सम्पश्यतोः सद्यो बभूव प्राकृतः शिशुः॥
(भाग० १० । ३ । ४७)

यह कहकर भगवान् चुप हो गये और माता-पिताके देखते-देखते अपनी मायासे तुरन्त ही एक साधारण बालक बन गये।

उनके देहका विनाश हो गया होता, तो (परमधाम पधारनेके अनन्तर) इस प्रकार पुनः प्रकट होना कैसे सम्भव होता।

इससे यह बात सिद्ध हुई कि भगवान्का परमधाम-प्रयाण अन्तर्धान होना है, न कि मनुष्य-देहोंकी भाँति विनाश होना। श्रीमद्भागवतमें लिखा है—

लोकाभिरामां स्वतनुं धारणाध्यानमङ्गलम्।
योगधारणयाऽऽग्नेय्यादग्ध्वा धामाविशत्स्वकम्॥
(११। ३१। ६)

'धारणा और ध्यानके लिये अति मङ्गलरूप अपनी लोकाभिरामा मोहिनी मूर्तिको योग-धारणाजनित अग्निके द्वारा भस्म किये विना ही भगवान्ने अपने धाममें प्रवेश किया।'

श्रीरामके सम्बन्धमें भी वाल्मीकीय रामायणमें वर्णन आता है कि भगवान्के परमधाम-गमनके समय सब लोकोंके पितामह ब्रह्माजी भगवान्को लेनेके लिये देवताओंके साथ सरयूके तटपर आये और भगवान्से अपने वैष्णव-देहमें प्रवेश करनेकी प्रार्थना की और भगवान्ने उनकी प्रार्थनाको स्वीकार कर तीनों भाइयोंसहित अपने इसी शरीरसे विष्णु-शरीरमें प्रवेश किया।*

भगवान्का शरीर मायिक नहीं होता—इसका एक प्रमाण यह भी है कि मायाके बन्धनसे सर्वथा मुक्त आत्माराम मुनिगण भी उनके त्रिभुवनमोहन रूपको देखकर मुग्ध हो जाते हैं, शरीरकी सुध-बुध भूल जाते हैं। यदि वह शरीर मायासे रचित त्रिगुणमय होता तो गुणोंसे सर्वथा ऊपर उठे हुए आत्माराम, आप्तकाम मुनियोंकी ऐसी दशा कैसे हो सकती थी।

जिस समय शरशय्यापर पड़े हुए भीष्मपितामह मृत्युके समयकी प्रतीक्षा कर रहे हैं, उस समय भगवान् श्रीकृष्णको अपने सम्मुख आया हुआ जान वे सबसे पहले उनके त्रिभुवनकमनीय रूपका ही ध्यान करते हैं और उसीमें प्रीति होनेकी प्रार्थना करते हैं।* यदि वह रूप मायिक होता तो भीष्म-जैसे ज्ञानी महात्मा, जिन्होंने सब ओरसे अपनी चित्तवृत्तियोंको हटा लिया था और जिनका सारा जीवन परमवैराग्यमय था मृत्युके समय उसमें अपने मनको क्यों लगाते?

श्रीराम-लक्ष्मण जब महर्षि विश्वामित्रके साथ धनुष-यज्ञ देखने जनकपुर जाते हैं तो जनक-जैसे महान् ज्ञानीकी उस अनुपम जोड़ीको देखकर जो दशा होती है, उसका चित्र गोस्वामी तुलसीदासजीने अपनी लेखनीद्वारा बड़ी मार्मिकतासे चित्रित किया है। उस प्रसङ्गको उन्हींके शब्दोंमें हम नीचे उद्धृत करते हैं—

मूरति मधुर मनोहर देखी। भयउ बिदेहु बिदेहु बिसेषी॥
प्रेम मगन मनु जानि नृपु करि बिबेकु धरि धीर।
बोलेउ मुनि पद नाइ सिरु गदगद गिरा गभीर॥
सहज बिरागरूप मनु मोरा। थकित होत जिमि चंद चकोरा॥
इन्हहि बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्मसुखहि मन त्यागा॥
पुनि पुनि प्रभुहि चितव नरनाहू। पुलक गात उर अधिक उछाहू॥
(रामचरितमानस बालकाण्ड)

'रामजीकी मधुर मनोहर मूर्तिको देखकर विदेह (जनक) विशेषरूपसे विदेह (देहकी सुध-बुधसे रहित) हो गये। मनको प्रेममें मग्न जान राजाने विवेकके द्वारा धीरज धारण किया और मुनिके चरणोंमें सिर नवाकर गद्गद (प्रेमभरी) गम्भीर वाणीसे कहा—हे नाथ! 'मेरा मन, जो स्वभावसे ही वैराग्यरूप बना हुआ है, इन बालकोंको देखकर इस तरह मुग्ध हो रहा है जैसे चन्द्रमाको देखकर चकोर। इनको देखते ही अत्यन्त प्रेमके वश होकर मेरे मनने जबर्दस्ती ब्रह्मानन्दको त्याग दिया है।' राजा बार-बार प्रभुको देखते हैं, दृष्टि वहाँसे हटना ही नहीं चाहती। प्रेमसे शरीर पुलकित हो रहा है और हृदयमें बड़ा उत्साह है।'

* अथ तस्मिन्मुहूर्ते तु ब्रह्मा लोकपितामहः।
सर्वैः परिवृतो देवैर्ऋषिभिश्च महात्मभिः॥
ततः पितामहो वाणी त्वन्तरिक्षादभाषत।
आगच्छ विष्णो भद्रं ते दिष्ट्या प्राप्तोऽसि राघव॥
भ्रातृभिः सह देवाभैः प्रविशस्व स्विकां तनुम्।
पितामहवचः श्रुत्वा विनिश्चित्य महामतिः।
विवेश वैष्णवं तेजः सशरीरः सहानुजः॥
(उत्तरकाण्ड ११०। ३, ८, ९, १२)

* त्रिभुवनकमनं तमालवर्णं रविकरगौरवराम्बरं दधाने।
वपुरलककुलावृताननाब्जं विजयसखे रतिरस्तु मेऽनवद्या॥
(भागवत १। ९। ३३)

'जो त्रिभुवनसुन्दर और तमालवृक्षके सदृश श्याम वर्ण है, सूर्यरश्मियोंके समान पीताम्बर धारण किये हुए है, तथा जिसका मुखकमल अलकावलीसे आवृत है—ऐसे सुन्दर रूपको धारण करनेवाले अर्जुनसखा श्रीकृष्णमें मेरी निष्काम प्रीति हो।'

ऊपरके विवेचनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि अवतार-शरीर मायिक नहीं होता, अवतारोंके जन्म-कर्म अलौकिक होते हैं 'जन्म कर्म च मे दिव्यम्' (गीता ४ । ९) और वे भक्तोंके प्रेमवश उनपर कृपा करनेके लिये स्वेच्छासे प्रकट होते हैं, कर्मोंके वश होकर नहीं। अब हमें यह देखना है कि अवतारोंकी सत्ता किन-किन शास्त्रोंसे प्रमाणित होती है। श्रीमद्भागवत, गीता, वाल्मीकिरामायण तथा तुलसीकृत रामायणके प्रमाण तो ऊपर उद्धृत किये ही हैं; अब हम उपनिषद् तथा महाभारतआदि ग्रन्थोंके आधारपर भी भगवान्‌का प्रादुर्भाव होना प्रमाणित करते हैं।

केनोपनिषद्‌में एक बड़ी सुन्दर कथा आती है। एक बारकी बात है परब्रह्म परमात्माने देवताओंको असुरोंके साथ संग्राममें जिता दिया। देवताओंको इस विजयपर बड़ा भारी गर्व हो गया। उन्होंने सोचा कि यह विजय हमींने अपने पुरुषार्थसे प्राप्त की है। यही हालत सब जीवोंकी है। वास्तवमें करते-कराते सब कुछ भगवान् हैं, परन्तु जीव अभिमानवश अपनेको कर्ता मान लेता है और फँस जाता है। भगवान् तो सर्वज्ञ ठहरे, और ठहरे दर्पहारी। देवताओंके अभिप्रायको जान गये और उनके अभिमानको दूर करनेके लिये एक अद्भुत यक्षके रूपमें उनके सामने प्रकट हुए। देवता लोग मायासे मोहित हुए समझ नहीं सके कि यह यक्ष कौन है। भगवान् यदि अपनेको छिपाना चाहें तो किसकी शक्ति है जो उन्हें पहचान सके। वे स्वयं ही जब कृपा करके जिसको अपनी पहचान कराते हैं वही उन्हें पहचान पाता है, दूसरा नहीं—'सो जानइ जेहि देहु जनाई।' उस महामायावीने अपनेको ऐसे कौशलसे इस मायारूपी पर्देके भीतर छिपा रक्खा है कि उसे सहसा कोई पहचान नहीं सकता। भगवान्‌ने स्वयं गीतामें कहा है—

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः। (७ । २५)

'अपनी योगमायासे छिपा हुआ मैं सबके प्रत्यक्ष नहीं होता हूँ।' इन्द्रने यक्षका पता लगानेके लिये क्रमशः अग्नि, वायुको उनके पास भेजा। यह बतलानेके लिये कि सारे देवता उन्हींकी शक्तिसे काम करते हैं, देवताओंके पास जो कुछ भी शक्ति है वह उन्हींकी दी हुई है और उनकी शक्तिके विना एक पत्ता भी नहीं हिल सकता, ब्रह्मने एक तिनका अग्निदेवताके सामने रक्खा और कहा कि 'इसको जलाओ तो।' अग्निदेवता, जो सम्पूर्ण ब्रह्माण्डको जला डालनेका अभिमान रखते थे—अपनी पूरी शक्ति लगाकर भी उस छोटे-से तिनकेको नहीं जला सके और लज्जित होकर वापिस चले आये। इसके बाद वायुदेवताकी बारी आयी। उन्हें अभिमान था कि मैं पृथ्वीभरके पदार्थोंको उड़ा ले जा सकता हूँ, परन्तु वे भी एक तिनकेको नहीं हटा सके। हटा सकते भी कैसे ? उनकी सारी शक्ति तो ब्रह्मने छीन ली थी, जो उस शक्तिका उद्गम स्थान है। फिर उनके अंदर रह ही क्या गया था, जिसके बलपर वे कोई कार्य करते। भगवान्‌के भक्तोंके सामने भी अग्नि आदि देवताओंकी शक्ति कुण्ठित हो जाती है। एक बार भक्त प्रह्लादके सामने भी अग्निका कोई वश नहीं चला था, वह उस भक्तके प्रभावसे जलकी तरह शीतल हो गया—'पावकोऽपि सलिलायतेऽधुना।' भक्त सुधन्वाके लिये उबलता हुआ तेल ठंढा हो गया था। अस्तु,

अबकी बार देवराज इन्द्र स्वयं यक्षके पास पहुँचे। उन्हें देखते ही यक्ष अन्तर्द्धान हो गये। इतनेहीमें हैमवती उमादेवी (पार्वती) वहाँ प्रकट हुईं और उन्होंने इन्द्रको बतलाया कि जो यक्ष अभी-अभी तुम्हारे नेत्रोंसे ओझल हो गया, वह ब्रह्म ही था। अब तो इन्द्रकी आँखें खुलीं और वे समझ गये कि हमलोगोंका अभिमान चूर्ण करनेके लिये ही ब्रह्मने यह लीला की थी। (केनोप० खं० ३) इस प्रकार ब्रह्मके साकार रूपमें प्रकट होनेकी बात उपनिषदोंमें भी आती है; केवल पुराणादि ग्रन्थोंमें ही भगवान्‌के साकार विग्रहकी बात आयी हो इतनी ही बात नहीं है। गीताके अतिरिक्त महाभारतमें और भी अवतारवादके पोषक कई प्रसंग हैं। स्थानसङ्कोचके कारण उनमेंसे एकाध ही प्रसंगका उल्लेख हम यहाँ करते हैं। महाभारत-युद्धकी समाप्तिके बाद जब भगवान् श्रीकृष्ण द्वारकाको लौट रहे थे, रास्तेमें उनकी महातेजस्वी उत्तङ्क मुनिसे भेंट हुई। बातों-ही-बातोंमें जब मुनिको मालूम हुआ कि श्रीकृष्ण कौरवों और पाण्डवोंके बीच सन्धि नहीं करा सके और दोनोंमें घमासान युद्ध हुआ, जिसमें सारे कौरव मारे गये, तो उन्हें श्रीकृष्णपर बड़ा क्रोध आया। उन्होंने कहा कि 'हे कृष्ण ! कौरव तुम्हारे सम्बन्धी थे, तुम चाहते तो युद्धको रोक सकते थे और इस प्रकार उनकी रक्षा कर सकते थे। परन्तु शक्ति रहते भी तुमने उनकी रक्षा नहीं की, इसलिये मैं तुम्हें शाप दूँगा।' मुनिके इन क्रोध-भरे वचनोंको सुनकर श्रीकृष्ण मन-ही-मन हँसे और बोले कि 'कोई भी पुरुष तप करके मेरा पराभव नहीं कर सकता। मैं नहीं चाहता कि तुम्हारे तपका व्यर्थ ही नाश हो। अतः तुम पहले जान लो कि मैं कौन हूँ, पीछे शाप देनेकी बात सोचना।'

यों कहकर भगवान्ने मुनिके सामने अपनी महिमाका वर्णन करना प्रारम्भ किया। वे कहने लगे—'हे मुनिश्रेष्ठ! सत्त्व, रज, तम—ये तीनों गुण मेरे आश्रय रहते हैं तथा रुद्र और वसुओंको भी तुम मुझसे ही उत्पन्न हुआ जानो। सारे भूत मुझमें हैं और मैं सब भूतोंके अंदर स्थित हूँ, इसे तुम निश्चय समझो। दैत्य, सर्प, गन्धर्व, राक्षस, नाग और अप्सराओंको भी मुझीसे उत्पन्न हुआ जानो। लोग जिसे सत्-असत्, व्यक्त-अव्यक्त तथा क्षर-अक्षर नामसे पुकारते हैं, वह सब मेरा ही रूप है। चारों आश्रमोंके जो धर्म कहे गये हैं तथा वैदिक कर्म भी मेरा ही रूप है, ओङ्कारसे आरम्भ होनेवाले वेद, हवनकी सामग्री, हवन करनेवाले होता तथा अध्वर्यु—ये सब मुझे ही जानो। उद्गाता सामगानके द्वारा मेरा ही स्तवन करते हैं, प्रायश्चित्तोंमें शान्तिपाठ और मङ्गलपाठ करनेवाले भी मेरी ही स्तुति करते हैं। धर्मकी रक्षाके लिये और धर्मकी स्थापनाके लिये मैं बहुत-सी योनियोंमें अवतार ग्रहण करता हूँ। मैं ही विष्णु हूँ, मैं ही ब्रह्मा हूँ, मैं ही उत्पत्ति और प्रलयरूप हूँ। सम्पूर्ण भूतोंको रचनेवाला और संहार करनेवाला मैं ही हूँ। जब-जब युग पलटता है, तब-तब मैं प्रजाजनोंके हितकी कामनासे भिन्न-भिन्न योनियोंमें जन्म धारण कर धर्मकी मर्यादा स्थापित करता हूँ। जब मैं देवयोनि ग्रहण करता हूँ, तब देवताओंका-सा वर्ताव करता हूँ; जब मैं गन्धर्व-योनिमें लीला करता हूँ, तब गन्धर्वोंका-सा व्यवहार करता हूँ; जब मैं नाग-योनिमें होता हूँ तो नागोंकी भाँति आचरण करता हूँ और जब मैं यक्ष आदि योनिमें स्थित होता हूँ, तब मैं उन-उन योनियोंका-सा बर्ताव करता हूँ। इस समय मैं मनुष्य-योनिमें हूँ और मनुष्योंका-सा आचरण करता हूँ। इसीलिये मैंने कौरवोंके पास जाकर उनसे सन्धिके लिये बड़ी अनुनय-विनय की; परन्तु मोहसे अन्धे हुए उन्होंने मेरी एक भी बात नहीं मानी। मैंने भय दिखाकर भी उन्हें मार्गपर लानेकी चेष्टा की; परन्तु अधर्मसे अभिभूत हुए और कालचक्रमें फँसे हुए वे माने नहीं और अन्तमें युद्ध करके मारे गये।' भगवान्के इन वचनोंको सुनकर मुनिकी आँखें खुल गयीं। फिर मुनिकी प्रार्थनापर भगवान् श्रीकृष्णने उन्हें अपना विराट् रूप दिखलाया—वैसा ही जैसा अर्जुनको दिखलाया था। (देखिये महाभारत, अश्वमेध पर्व अ० ५३—५५)

ऊपरके प्रसङ्गसे अवतारवादकी भलीभाँति पुष्टि होती है। केवल मनुष्य-योनिमें ही नहीं, अन्यान्य योनियोंमें भी भगवान् अवतार लेते हैं—यह बात भी इससे प्रमाणित हो जाती है। क्योंकि सभी योनियाँ उन्हींकी तो हैं। सभी रूपोंमें वे ही लीला कर रहे हैं। भगवान्के मत्स्य, कूर्म, वाराह, नरसिंह, वामनादि अवतार इसी प्रकारके अवतार थे जिनका पुराणोंमें विस्तृत वर्णन पाया जाता है। जिनकी चर्चा करनेसे लेखका आकार बहुत बढ़ जायगा। इसीलिये यहाँ केवल भगवान् राम और भगवान् कृष्ण इन दो प्रधान अवतारोंकी बात ही मुख्यतासे कही गयी है।

इनके अतिरिक्त भगवान्का एक अवतार और होता है। इसे अर्चावतार कहते हैं। पूजाके लिये भगवान्की धातु, पाषाण एवं मृत्तिका आदिसे जो प्रतिमाएँ बनायी जाती हैं, वे भगवान्के अर्चा-विग्रह कहलाती हैं। कभी-कभी उपासकके प्रेमबल और दृढ़ निष्ठासे ये मूर्तियाँ चेतन हो जाती हैं, चलने-फिरने लग जाती हैं, हँसने-बोलने लग जाती हैं। इन अर्चा-विग्रहोंमें भगवान्की शक्तिके उतर आनेको अर्चावतार कहते हैं। ऐसे अनेक भक्तोंके चरित्रोंका उल्लेख मिलता है, जिनकी इष्ट मूर्तियाँ उनके साथ चेतनवत् व्यवहार करती थीं। इनमेंसे किसी भी अवतारका आश्रय लेकर भगवान्की भक्ति करनेसे उनकी कृपासे उनके चरणोंमें सहजहीमें दृढ़ अनुराग होकर मनुष्य सदाके लिये कृतकृत्य हो जाता है। यही मनुष्य-जीवनका परम ध्येय है।

अवतारके सिद्धान्तको भिन्न-भिन्न द्वैतसम्प्रदायोंके आचार्योंने तो माना ही है, उनमेंसे कई तो भगवान् श्रीरामके और कई भगवान् श्रीकृष्णके अवतार-विग्रहोंको ही अपना उपास्य एवं सर्वोपरि अवतारी मानते हैं। अद्वैत-सम्प्रदायाचार्य स्वामी श्रीशंकराचार्यजीने भी अपने श्रीमद्भगवद्गीता-भाष्यके उपोद्घातमें भगवान् श्रीकृष्णको आदिपुरुष भगवान् नारायणका अवतार माना है, वे कहते हैं—

दीर्घेण कालेन अनुष्ठातॄणां कामोद्भवाद् हीयमानविवेकविज्ञानहेतुकेन अधर्मेण अभिभूयमाने धर्मे प्रवर्धमाने च अधर्मे, जगतः स्थितिं परिपिपालयिषुः स आदिकर्ता नारायणाख्यो विष्णुः—भौमस्य ब्रह्मणो ब्राह्मणत्वस्य रक्षणार्थं देवक्यां वसुदेवाद् अंशेन कृष्णः किल सम्बभूव। ब्राह्मणत्वस्य हि रक्षणेन रक्षितः स्याद् वैदिको धर्मस्तदधीनत्वाद् वर्णाश्रमभेदानाम्। स च भगवान् ज्ञानैश्वर्यशक्तिबलवीर्यतेजोभिस्सदा सम्पन्नस्त्रिगुणात्मिकां वैष्णवीं स्वां मायां मूलप्रकृतिं वशीकृत्य अजः अव्ययो भूतानामीश्वरो नित्यशुद्ध-

बुद्धमुक्तस्वभावोऽपि सन् स्वमायया देहवान् इव जात इव च लोकानुग्रहं कुर्वन्निव लक्ष्यते ।

"बहुत कालसे धर्मानुष्ठान करनेवालोंके अन्तःकरणमें कामनाओंका विकास होनेसे विवेक-विज्ञानका ह्रास हो जाना ही जिसकी उत्पत्तिका कारण है, ऐसे अधर्मसे जब धर्म दबता जाने लगा और अधर्मकी वृद्धि होने लगी तब जगत्‌की स्थिति सुरक्षित रखनेकी इच्छावाले वे आदिकर्ता नारायण-नामक श्रीविष्णु भगवान् भूलोकके ब्रह्मकी अर्थात् ब्राह्मणत्वकी रक्षा करनेके लिये श्रीवसुदेवजीसे श्रीदेवकीजीके गर्भमें अपने अंशसे श्रीकृष्णरूपमें प्रकट हुए ।

ब्राह्मणत्वकी रक्षासे ही वैदिक धर्म सुरक्षित होगा। क्योंकि वर्णाश्रमोंके भेद उसीके अधीन हैं ।

ज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति, बल, वीर्य और तेज आदि गुणोंसे सदा सम्पन्न वे भगवान् यद्यपि अज, अविनाशी सम्पूर्ण भूतोंके ईश्वर और नित्यशुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभाव हैं; तो भी अपनी त्रिगुणात्मिका मूल प्रकृति वैष्णवी मायाको वशमें करके अपनी लीलासे शरीरधारीकी तरह उत्पन्न हुए-से और लोगोंपर अनुग्रह करते हुए-से दीखते हैं ।" इस प्रकार अनेक युक्तियोंसे स्वामी श्रीशंकराचार्यजीने श्रीकृष्णकी भगवत्ता और वेदान्तप्रतिपाद्य ब्रह्मके साथ एकता दिखायी है । अब हम उन्हीं परम दयालु परमात्मा भगवान् श्रीकृष्णको बारम्बार प्रणाम करते हुए अन्तिम बात कहकर अपने लेखको समाप्त करते हैं ।

जो लोग अपने पुरुषार्थसे भगवान्‌को पानेमें अपनेको सर्वथा असमर्थ अनुभव करते हैं, जो निरन्तर केवल उन्हींकी कृपाकी बाट जोहते रहते हैं तथा मातृपरायण शिशुकी भाँति उन्हींपर सर्वथा निर्भर हो जाते हैं, उनसे मिलनेके लिये भगवान् स्वयं आतुर हो उठते हैं और उसी प्रकार दौड़ पड़ते हैं जैसे नयी ब्यायी हुई गौ अपने बछड़ेसे मिलनेके लिये दौड़ पड़ती है । अतएव हमलोगोंको भी परम दयालु भगवान्‌की शरण होकर उनके दयापात्र बननेके लिये श्रद्धा-भक्तिपूर्वक उनका नित्य निरन्तर भजन-ध्यान तत्परताके साथ करनेकी चेष्टा करनी चाहिये ।

गीता-त्रिवेणी

(लेखक—श्रीहीरेन्द्रनाथदत्त एम्.ए, बी.एल्, वेदान्तरत्न,)

(१)

गंगा, यमुना और सरस्वती—तीन नदियोंकी धाराएँ प्रयागमें मिलीं और मिलकर समुद्रकी ओर बही हैं । उनके सङ्गमपर प्रयाग पवित्र तीर्थ बन गया है ।

अर्जुनके सारथीके रूपमें भगवान् श्रीकृष्णद्वारा कुरुक्षेत्र-की युद्धभूमिमें आविर्भूत श्रीगीताजीकी धारा भी, उसमें अवगाहन करनेवालेके लिये, नूतनतर और अधिक आनन्दप्रद त्रिवेणी-स्वरूप है । इस अभिनव त्रिवेणीमें कर्म, ज्ञान और भक्तिकी त्रिधाराएँ आश्चर्यप्रद रीतिसे समन्वित और संयुक्त हुई हैं । यह पावन त्रिधारा सारे संसारको आप्लावित कर साक्षात् श्रीभगवान्‌की ओर बही है ।

कर्म, ज्ञान और भक्तिका यह समन्वय श्रीगीताजीकी अपनी विशेषता है । अन्य धर्मशास्त्रोंमें कहीं भी यह समन्वय इतने स्पष्टरूपसे व्यक्त नहीं हुआ । इसीलिये श्रीगीताजीमें सभी शास्त्र अन्तर्भूत हैं, सभी धर्मोंका सार, सभी शास्त्रोंका निष्कर्ष गीता है । एक वाक्यमें हम गीताको संसारभरकी बाइबल कह सकते हैं । इसीलिये कहा है 'गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः ।' गीताका सुन्दर रीतिसे गान करना चाहिये, अन्य शास्त्रोंके विस्तारमें पड़नेसे क्या लाभ ?

श्रीगीताजीमें प्रतिपादित इस समन्वयका स्पष्टीकरण करनेके लिये हमें पहले कर्म, ज्ञान और भक्ति-सम्प्रदायोंकी उस स्थितिकी आलोचना करनी पड़ेगी जो गीताके उपदेश करते समय थी ।

(२)

प्राचीन कालमें जो ऋषि कर्मकाण्डके पक्षमें थे उनका कथन था कि वेदोंका प्रयोजन यज्ञसे ही है, शेष सारी बातोंका महत्त्व बहुत कम है—

'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम् ।'

(मीमांसासूत्र १ । २ । १)

'कर्म' क्या है ? वेदविहित यज्ञोंका अनुष्ठान ही कर्म है । कर्मसे किस फलकी प्राप्ति होती है ? इसके द्वारा मनुष्य सुखके स्थान स्वर्गोंको जीत लेता है । **'स्वर्गकामः अश्वमेधेन यजेत'**—

'स्वर्गकी कामनावालेको चाहिये कि अश्वमेध यज्ञ करे।' क्योंकि—

'सर्वान् लोकान् जयति, मृत्युं तरति, पाप्मानं तरति, ब्रह्महत्यां तरति, यः अश्वमेधेन यजते।'

अर्थात् जिसके लिये अश्वमेध-यज्ञ किया जाता है, वह पुरुष सब लोकोंको जीत लेता है, मृत्युको पराजित कर देता है, पापसे छूट जाता है और ब्रह्महत्याके दोषसे भी छूट जाता है। इसके अतिरिक्त वह अक्षय पुण्य प्राप्तकर अमर भी हो जाता है।

'अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतं भवति''' अपाम सोमममृता अभूम'

इस प्रकार कर्मवादियोंके विचारसे कर्मकाण्ड ही मुक्तिका एकमात्र मार्ग है।

(३)

पुनः ज्ञानमार्गके पक्षपाती ऋषि ऊपरके मतका खण्डन करते हुए कहा करते थे—**'प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपाः'**।

अर्थात् ये यज्ञरूप नावें संसारसागरको पार करनेके लिये दृढ़ नहीं हैं। कर्मका परिणाम न केवल अस्थायी है, वरं भविष्यमें बन्धनकारक भी है। 'कर्मणा बध्यते जन्तुः' कर्मसे जीव बन्धनमें पड़ता है।

ज्ञानवादीके मतमें कर्म नहीं वरं ज्ञान ही परम शान्तिका सर्वश्रेष्ठ उपाय है। कर्म करनेसे नहीं, वरं सम्पूर्ण कर्मोंका त्याग करनेसे अमरता प्राप्त होती है—

'न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैकेनामृतत्वमानशुः।'

संक्षेपमें कह सकते हैं कि ज्ञानवादी ज्ञानको ही मुक्तिका उपाय बतलाते हैं।

(४)

जब विचारोंका ऐसा सङ्घर्ष चल रहा था, तब गीताने ही दोनों विरोधी पक्षोंमें सामञ्जस्य स्थापित किया और समझौतेका मन्त्र सुझाया।

गीता कहती है कि यदि विना कौशलके कर्म किया जाय तो वह बन्धनकारक होता है, किन्तु कर्म करनेकी एक विशेष विधि है जिससे कर्म करनेवाला कभी बन्धनमें नहीं पड़ सकता। यही 'योग' अथवा 'कर्मयोग' कहलाता है—'योगः कर्मसु कौशलम्' भगवान्‌ने गीतामें बताया है कि एकके बाद दूसरी—क्रमशः तीन श्रेणियाँ पार कर लेनेपर 'कर्मयोग'की अवस्था प्राप्त होती है।

(१) कर्मके सम्पूर्ण फलका त्याग—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन। (गीता २। ४७)

तुम्हारा प्रयोजन कर्मसे है, उसके फलसे कदापि नहीं। अतः तुम्हें फलासक्ति पूर्णरूपसे छोड़ देनी पड़ेगी। सुख और दुःख, लाभ और हानि, जय और अजय बराबर मानकर निःसंग भावसे कर्म करते रहो—

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥
(गीता २। ३८)

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर। (गीता ३। १९)

(२) अहङ्कारका त्याग—

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः पश्यति तथाऽऽत्मानमकर्तारं स पश्यति।
(गीता १३। २९)

'जो यह देखता है कि प्रकृतिके द्वारा ही सारे कार्य किये जा रहे हैं और आत्मा क्रियारहित है, उसीकी दृष्टि यथार्थ है।

अर्थात् आपकी वस्तु आपको ही समर्पित है। उससे मेरा क्या प्रयोजन! (यह दृष्टि होनी चाहिये)।

(३) भगवान्‌को सारे कर्मोंका समर्पण—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥
शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि॥
(गीता ९। २७-२८)

'जो कार्य करते हो, जो भोजन, जो यज्ञ, जो दान, जो तप करते हो, वह सब मुझे अर्पण कर दो। इस प्रकार तुम कर्मके बन्धनसे विमुक्त हो जाओगे, जिससे शुभाशुभ फल प्राप्त हुआ करते हैं, और संन्यासयोगसे युक्त होकर मुझे प्राप्त कर लोगे।'

(५)

इसी प्रकार गीताने यह भी कहा है—

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
× × × ×
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति।
(गीता ५। ४-५)

अर्थात् बालबुद्धिवाले ही ज्ञानयोग और कर्मयोगको पृथक्-पृथक् मानते हैं, पण्डितजन नहीं। जो सांख्य (ज्ञान) और योग (कर्म) को एक देखते हैं, वे ही यथार्थ दृष्टिवाले हैं।

इस प्रकार गीताके अनुसार 'ज्ञानयोग' और 'कर्मयोग' दोनों ही मोक्षके मार्ग हैं। वह इनमेंसे किसी एकका पक्षपात कर दूसरेका तिरस्कार नहीं करती।

सत्य तो यह है कि गीताकथित कर्मयोगकी सिद्धिके लिये भक्तको केवल कर्म करनेकी ही आवश्यकता नहीं है, उसे ज्ञानी भी होना चाहिये। विना ज्ञानके भक्त अहङ्कारका त्याग कैसे कर सकता है? ध्यान देनेकी बात यह है कि यह ज्ञान केवल पुरुष और प्रकृति, चेतन और जडका विभेद-ज्ञान नहीं है, वरं यह तत्त्वज्ञान है। यह वह ज्ञान है जिसके द्वारा भक्त पहले तो आत्मामें और तदुपरान्त परमात्मामें सारे भूतोंकी सत्ता देखता है—

येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि।

(गीता ४ । ३५)

जो ऐसा ज्ञानी है, उसीका मन साम्यमें स्थित होगा। उसके लिये ब्राह्मण, गाय और हाथी तथा चाण्डाल और कुत्ते बराबर (आत्मरूप) होंगे—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः।

(गीता ५ । १८)

—इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं; क्योंकि जिसे यथार्थ ज्ञान प्राप्त है, वह ईश्वरको सर्वत्र देखता है—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥

(गीता ७ । १८)

'अनेक जन्मोंकी साधनाके अन्तमें ज्ञानवान् मुझे प्राप्त होता है। वह सब कुछ वासुदेव (ब्रह्म) मय देखता है। ऐसा महात्मा वास्तवमें अत्यन्त दुर्लभ है।'

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥

(गीता ६ । २९)

आत्मा जो परमात्माके सतत चिन्तनद्वारा उससे युक्त हो गया है, अपनी 'समदृष्टि' की शक्तिद्वारा केवल चल या अचल पदार्थोंको नहीं देखता वरं सबको भगवान्‌की मूर्तिरूपमें ही देखता है। प्रत्येक वस्तु उसे अपने इष्टदेवकी भाँति दिखायी देती है। बँगलाके एक पद्यमें इसी भावकी व्यंजना हुई है—

स्थावर-जङ्गम देखे ना, देखे तार मूर्ति।
सर्वस्थाने होय तार इष्टदेव-स्फूर्ति॥

(६)

अब प्रश्न उठता है कि गीताप्रतिपादित कर्मयोगमें भक्तिके लिये कहाँ स्थान है?

वह स्थान है समस्त कर्मोंको भगवान्‌के समर्पण करनेमें—

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥

(गीता ५ । १०)

'जो ब्रह्ममें सारे कर्मोंका आधान करके आसक्तिरहित कर्म करता है, वह जलमें स्थित कमल जैसे जलसे अलग रहता है उसी प्रकार कभी पापमें लिप्त नहीं होता।'

जबतक भक्तिभाव नहीं होता, तबतक कोई व्यक्ति भगवान्‌में अपने सब कर्मोंका निःक्षेप कर ही कैसे सकता है?

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥

'मेरे आश्रित होकर सब कर्म करता हुआ भी मनुष्य मेरे प्रसादसे शाश्वत और अव्यय पद (मोक्ष) को प्राप्त होता है।'

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥

(गीता १२ । ६)

'वे (कर्मयोगी) मुझे ही अपना सर्वोच्च लक्ष्य मानकर, अपने सब कर्म मुझमें अर्पण करते हैं और अनन्यभावसे मुझमें युक्त होकर मेरा ध्यान और मेरी उपासना करते हैं।'

(७)

ज्ञान और भक्तिका घनिष्ठ सम्बन्ध समझानेके लिये गीता कहती है कि निःसन्देह ज्ञानके समान अत्यन्त पवित्र और कुछ भी नहीं है—'न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते' (४ । ३८)। पापका समुद्र ज्ञानकी नौकाद्वारा पार किया जा सकता है—'सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि' (४ । ३६)। किन्तु सम्पूर्ण ज्ञानकी परम निष्ठा भक्ति ही है—'निष्ठा ज्ञानस्य या परा' (१८ । ५०)।

पुनः ज्ञानके लक्षणोंका उल्लेख करते हुए गीता कहती है—'मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी' (१३ । ११) 'ज्ञान और कुछ भी नहीं है, अनन्यभावसे मेरी एकनिष्ठ भक्ति करना ही ज्ञान है।' और सर्वश्रेष्ठ भक्त कौन है? निःसन्देह ज्ञानी ही—'तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते (७ । १७)। 'सब भक्तोंमें ज्ञानी ही श्रेष्ठ है, क्योंकि वह प्रभुमें नित्ययुक्त होता है। ऐसा ज्ञानी पुरुष तो मानो भगवान्का आत्मा ही है—वह उन्हें इतना अधिक प्रिय है।

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्॥
(७ । १३)

ऐसा ज्ञानी भक्त सम्पूर्ण आसक्तियों, भयों और द्वेषोंका त्याग करके ज्ञानमयी भक्तिके द्वारा प्रभुको प्राप्त करता है—

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः॥
(४ । १०)

जिसने ज्ञानकी चरम स्थिति प्राप्त कर ली है और हिंसा, दर्प, राग, द्वेष, अहङ्कार और ममताका त्याग कर जो सम्पूर्ण अज्ञान और शोकके पार पहुँच गया है, जो ब्रह्मसे एकीभूत हो चुका है, वही पुरुष भगवान्की सर्वोच्च भक्तिका अधिकारी है। गीतामें कहा है—

अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते॥
ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥
(१८ । ५३-५४)

ज्ञानके द्वारा शुद्ध हुआ भक्त ही वास्तवमें यह जान सकता है कि भगवान् कौन और क्या हैं और इस प्रकार तत्त्वतः उन्हें जानकर वह भगवान्में प्रविष्ट हो जाता है।

भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥
(१८ । ५५)

श्रीमद्भागवतमें इसी तथ्यकी प्रतिध्वनि है—

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः॥
(१ । ७ । १०)

जो मुनि आत्मामें रमण करनेवाले हैं, जिनके अज्ञान और विषयवासनाकी ग्रन्थियाँ खुल गयी हैं, वे भी विना हेतु श्रीहरिकी भक्ति करते हैं; क्योंकि हरिके ऐसे ही गुण हैं।

(८)

इस प्रकार हम देखते हैं कि गीतामें भक्तिका गुणगान भरा हुआ है। गीताके अध्येताओंसे यह छिपा नहीं है कि कितने और किन-किन प्रकारोंसे उसमें भक्तिकी श्रेष्ठता सिद्ध की गयी है।

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्॥
(८ । २२)

हे पार्थ! वह परम पुरुष जो सर्वव्यापक है और जिसमें सब भूतोंका आवास है, अनन्यभक्तिसे ही प्राप्त हो सकता है।

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥
(६ । ३१)

'जो एकत्वमें स्थित होकर, सर्वभूतोंमें स्थित मुझको भजता है, वह योगी चाहे जहाँ भी रहे, वह मुझमें ही रहता है।'

गीता तो यहाँतक कहती है कि सब योगियोंमें वह योगी युक्ततम है (सबसे अधिक श्रेष्ठ है) जो मुझमें अपनी अन्तरात्माको लगाकर श्रद्धापूर्वक मेरा भजन करता है—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥
(६ । ४७)

(९)

इस प्रकार हम देखते हैं कि गीताजीकी शिक्षा यह है—'यदि इस मृत्युसंसारसागरसे पार होना चाहते हो तो मन भगवान्में लगाओ, बुद्धिको उन्हींमें एकाग्र करो। निश्चय ही ऐसा करनेपर तुम्हें शरीर छोड़नेके बाद श्रीहरिका परमपद प्राप्त होगा।'

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः॥

अधिक क्या, भक्तिकी साधनाके सम्बन्धमें गीताकी सर्वोच्च (सर्वगुह्यतम) शिक्षा यही है—

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्॥
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥
(१८।६४-६५)

'अर्जुन! तू मेरी सबसे अधिक गुह्य (गुप्त) और सबसे ऊँची बात सुन। तू मेरा अतिशय प्रिय है, अतः मैं तेरे हितके लिये कहता हूँ। अपना मन मुझमे लगा, मेरा भक्त बन, मेरे लिये यज्ञ कर, मुझे ही प्रणाम कर। मैं सच-सच प्रतिज्ञा करता हूँ, तू मेरा प्रिय है। तू अवश्य मुझे ही प्राप्त होगा।'

गीताके अनुसार, भगवान्‌की त्रिगुणमयी माया, जो जीवके बन्धनका कारण है, बड़ी ही दुर्गम है। इस मायाके पार वे ही जा सकते हैं जो भगवान्‌के शरण हो जाते हैं।

(१०)

भगवान्‌के समीप जानेका मार्ग क्या है? गीताजी कहती हैं—

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥
(१८।६२)

'हे भारत (अर्जुन)! अपने सारे भावसे उसीकी शरण जाओ। उसीके प्रसादसे परम शान्ति और शाश्वत (मोक्ष) पद प्राप्त करोगे।'

(११)

इस सम्बन्धमें ध्यान रखनेकी बात यह है कि गीताजीमें जो भक्ति उपदिष्ट है वह केवल भावनामात्र नहीं है, न वह भावुक हृदयकी अन्धभक्ति है और न भगवान्‌के प्रति ज्ञान और कर्मरहित भावासक्ति ही है। गीताजीके बारहवें अध्यायके निम्नाङ्कित श्लोकोंमें भक्तके जो लक्षण बतलाये गये हैं, उनसे इस सम्बन्धकी सारी शङ्का दूर हो सकती है—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहङ्कारः समदुःखसुखः क्षमी॥
सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥
यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः॥
अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥
यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान् यः स मे प्रियः॥
समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः॥
(गीता १२।१३–१९)

'जो सब भूतोंमें द्वेषभावसे रहित, निःस्वार्थ प्रेमी, अकारण दयालु है और जो ममता और अहङ्कारसे रहित, सुख-दुःखोंकी प्राप्तिमें सम तथा क्षमावान् है (अपराध करनेवालेको भी अभय देता है), जो योगमें युक्त हुआ सदा-सर्वदा सन्तुष्ट है और मन-इन्द्रियोंको वशमें किये हुए है तथा मुझमें दृढ निश्चय रखता है, वह मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिवाला मेरा भक्त मुझे प्रिय है।

'जिससे कोई भी जीव उद्वेगको नहीं प्राप्त होता और जो स्वयं किसी जीवसे उद्वेगको नहीं प्राप्त होता तथा जो हर्ष, अमर्ष (असहिष्णुता) भय और उद्वेगसे रहित है, वह मेरा भक्त मुझे प्रिय है।

'जो मेरा भक्त आकाङ्क्षासे रहित, बाहर-भीतरसे शुद्ध, सुयोग्य, पक्षपातसे रहित और दुःखोंसे छूटा हुआ है, वह सारे आरम्भों (कार्योंमें कर्त्तापनके भाव) का परित्यागी मुझे प्रिय है।

'जो न कभी हर्षित होता है न द्वेष करता है, न शोच करता है, न कामना करता है, जो शुभ और अशुभ सम्पूर्ण कर्मोंके फलोंको त्याग चुका है, वह भक्तियुक्त पुरुष मुझे प्रिय है।

'जो शत्रु-मित्रमें और मान-अपमानमें सम है, सर्दी-गर्मी और सुख-दुःखादिक द्वन्द्वोंमें भी जो सम है और जो संसारमें आसक्तिसे रहित है, जो निन्दा-स्तुतिको समान समझनेवाला एवं मननशील है तथा सभी स्थितियोंमें सन्तुष्ट है, जो अनिकेत है (घरमें जिसकी आसक्ति नहीं है) और स्थिर-बुद्धिवाला है (जिसकी बुद्धि डावाँडोल नहीं होती) वह भक्तिमान् पुरुष मुझे प्रिय है।'

(१२)

पुनः निम्नलिखित श्लोकमें गीता स्पष्टरूपमें यह बतलाती है कि भगवान्‌का भक्त केवल भावनामय ही नहीं है वरं क्रियाशील, ज्ञानी एवं आराधक—सब कुछ है।

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥

(गीता ११।५५)

'हे पाण्डव (अर्जुन)! जो मेरे लिये कर्म करता है, मुझे ही परम तत्त्व मानता है, मेरा भक्त है और सङ्गरहित है, तथा जो किसी भी भूतसे वैर नहीं रखता, वह मुझे प्राप्त होता है।'

प्रथम, जो 'मत्कर्मकृत्' है, मेरे लिये कर्म करता है (अर्थात् भगवान्‌के हाथका पुतला बनकर, उन्हींके नामसे और उन्हींके निमित्त कार्य करता है), तथा कर्म करता हुआ सङ्गविवर्जित अर्थात् अनासक्त रहता है, अर्थात् एक शब्दमें जो 'कर्मयोगी' है—

पुनः जो 'निर्वैरः सर्वभूतेषु'—सब प्राणियोंके प्रति द्वेष-रहित है और ज्ञानसम्पन्न होनेके कारण 'सर्वत्र समदर्शनः' (सब जगह एकको ही देखनेवाला) है, जो 'एकत्वमनुपश्यति'—सर्वत्र एकत्वके दर्शन करता है, जो किसीसे शत्रुभाव नहीं रखता वरं सबके प्रति मैत्री और करुणा (दया) का भाव रखता है, अर्थात् दूसरे शब्दोंमें जो 'ज्ञानयोगी' है—

और अन्तमें जो 'मत्परमः मद्भक्तः' भगवान्‌को सर्वोच्च माननेवाला और उनका उपासक है, जिसके लिये भगवान् ही परम लक्ष्य और एकमात्र पद हैं, जो कभी उनकी ओरसे दूसरी ओर दृष्टि नहीं कर सकता, भगवान्‌में ही जो ध्यानस्थ है, जो उन्हींके लिये यज्ञ करता, उन्हींका चिन्तन करता है, जिसका जीवन भगवान्‌में संलग्न है, जिसकी सम्पूर्ण मति-रति उन्हींके प्रति है, जो भागवतोत्तम है, संक्षेपमें जो 'भक्तियोगी' है—

एकमात्र वही भगवान्‌को पा सकता है, दूसरा कोई नहीं।

(१३)

अब प्रश्न यह होता है कि गीताने कर्म, ज्ञान और भक्तिके तीन भिन्न मार्गोंका समन्वय क्यों किया और कर्मयोगियों, ज्ञानयोगियों तथा भक्तियोगियोंकी पृथक्-पृथक् प्रणालियोंके ऊपर जाकर 'यही रास्ता ठीक है' वाली उनकी एकाङ्गिता और साम्प्रदायिक कट्टरताको क्यों दूर हटाया?

इसका उत्तर पानेके लिये दूर नहीं जाना है। हम जानते हैं कि जीवात्मा ब्रह्मका एक क्षुद्र अंश है, ब्रह्मरूपी अग्निका एक स्फुलिङ्गमात्र है, सच्चिदानन्दसिन्धुका एक बूँदभर है। बिन्दुमें सिन्धुके सब गुण निहित हैं। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं चेत्यस्तीह,(पञ्चदशी) 'अग्नेर्हि विस्फुलिङ्गोऽग्निरेव'(शङ्कर)।

जीवात्मा सच्चिदानन्द परमात्माका लघु रूप है। जीवात्मारूपी स्फुलिङ्गका लक्ष्य अपनेको प्रज्वलित कर अग्निरूप परमात्मा बन जाना है। बिन्दु सिन्धुरूप बनना चाहता है। संक्षेपमें जीव सच्चिदानन्दरूप होना चाहता है। वह लघु है, किन्तु महान् पदको प्राप्त करना चाहता है। इसीको ब्रह्मसायुज्य कहते हैं। ब्रह्म होता हुआ ही वह ब्रह्ममें प्रवेश करता है—'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति' (बृहदारण्यक उपनिषद् ४।४।६)

यह सान्त जीव अनन्त ब्रह्म कैसे बने? 'सायुज्य' की साधनाद्वारा ही वह ऐसा बन सकता है। यदि साधनद्वारा 'सत्, चित् और आनन्द' के अन्तर्निहित गुणोंका विकास हो जाय तो जीव ब्रह्मको प्राप्त कर सकता है। तब जीवके लिये 'तत्त्वमसि' (वह तू ही है) का समझना सम्भव हो जायगा। तभी वह कह सकता है—'सोऽहम्' मैं वही हूँ। 'चिदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम्।'

(१४)

सायुज्यकी प्राप्तिके लिये कर्म, ज्ञान और भक्ति—इनमेंसे किसी एक मार्गसे ही काम नहीं चल सकता। परमात्माका 'चिद्भाव', जिसका आंशिक आभास जीवके विज्ञानमय कोशमें मिलता है, पूर्णतः ज्ञानमार्गद्वारा ही प्रस्फुटित हो सकता है। पुनः भगवान्‌का 'आनन्दभाव', जिसका आंशिक आभास जीवके आनन्दमय कोशमें मिलता है, भक्तिमार्गद्वारा ही विकसित हो सकता है और उनका 'सद्भाव' जो जीवके हिरण्मय कोशमें आंशिक रूपसे प्रकट है, पूर्णतः कर्ममार्गद्वारा ही व्यक्त हो सकता है।

अर्थात् जीवको एक साथ ही, इसी शरीरसे, वीर, पीर और धीर (शक्तिशाली, महात्मा और भक्त) होना चाहिये।

जब जीव इन तीनों भावों (सत्, चित् और आनन्द) में पूर्णतः व्यक्त हो जायगा, जब उसके प्रताप (कर्म), प्रज्ञा (ज्ञान) और प्रेम (भक्ति) के अंशतः व्यक्त भाव चरम सीमापर पहुँच जायँगे तब यह जीव क्षुद्र जीव नहीं रह जायगा, वह अखण्ड, अव्यय ब्रह्म ही बन जायगा, तब वह यजुर्वेदकी ऋचाके अनुसार घोषित करेगा—

योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि।

इस प्रकार श्रीगीताकी शिक्षा यह लक्षित होती है कि कर्म, ज्ञान और भक्तिके तीनों साधन संयुक्तरूपसे किये जायँ—तभी जीवका पूर्ण विकास हो सकता है। इनमेंसे कर्म, ज्ञान या भक्ति कोई एक ही पर्याप्त नहीं है। इन तीनों मार्गोंका अनुसरण इसलिये करना चाहिये कि जीवका पूर्ण विकास ब्रह्मत्वमें हो सके।

संक्षेपमें हम कह सकते हैं कि कर्म, ज्ञान और भक्तिके तीनों मार्ग श्रीगीतामें अद्भुत कौशलके साथ समन्वित किये गये हैं। यही गीताकी त्रिवेणी है, जिसमें जी भरकर डुबकी लगाना हम सबके लिये (जीवमात्रके लिये) परम आवश्यक है।

श्रीमानस-शङ्का-समाधान

(लेखक—श्रीजयरामदासजी 'दीन' रामायणी)

शङ्का—रामचरितमानसके लङ्काकाण्डमें अङ्गद-रावण-संवादके प्रसङ्गमें रावणने श्रीराम-सेनाके सब प्रमुख योद्धाओं-की हँसी उड़ाकर जब हनुमानजीके सम्बन्धमें '''है कपि एक महा बलसीला ॥ आवा प्रथम नगरु जेहिं जारा।' कहा, तब उसे सुनकर अङ्गदजी आश्चर्यचकित हो जाते हैं और कहते हैं—

सत्य बचन कहु निसिचर नाहा। साँचेहुँ कीस कीन्ह पुर दाहा ॥
रावन नगर अल्प कपि दहई। सुनि अस बचन सत्य को कहई ॥

—इत्यादि। फिर अन्तिम दोहेमें वे कहते हैं—

सत्य नगरु कपि जारेउ बिनु प्रभु आयसु पाइ।
फिरि न गयउ सुग्रीव[1] पहिं तेहिं भय रहा लुकाइ ॥

—सो अङ्गदजीके इन वचनोंका क्या तात्पर्य है? प्रकट-में तो उनके ये वचन सर्वथा सत्यविरुद्ध प्रतीत होते हैं। क्योंकि हनुमानजी लङ्का जलानेके बाद समुद्रके दूसरे तटपर आकर अपने जाम्बवन्त आदि सब साथियोंके साथ, जिनमें अङ्गदजी भी थे, सीधे सुग्रीव और भगवान् रामके पास चले गये थे, मार्गमें किसी भयसे छिपे नहीं थे और उनके लङ्का जलाने-का समाचार भी सबको विदित हो गया था, स्वयं श्रीराम-चन्द्रजीने ही सबके सामने उनसे पूछा—'कहु कपि रावन पालित लंका। केहि बिधि दहेउ दुर्ग अति बंका?' जिसका उत्तर हनुमानजीने विगत-अभिमान होकर यह दिया कि—

'नाघि सिंधु हाटकपुर जारा। निसिचर गन बधि बिपिन उजारा ॥
सो सब तव प्रताप रघुराई। नाथ न कछू मोरि प्रभुताई ॥'

फिर क्या वहाँ सुग्रीवजी नहीं थे? यदि थे तो अङ्गदजीने रावणसे उपर्युक्त वचन क्यों कहे?

१—पाठान्तर—निज नाथ

समाधान—अङ्गदजीके 'साँचेहुँ कीस कीन्ह पुर दाहा' और 'सुनि अस बचन सत्य को कहई' इन वचनोंका तात्पर्य स्पष्ट है। वह यह है कि रावणके नगरको एक 'अल्प कपि' ने जला दिया, इस बातको सुनकर कोई सच्ची नहीं मान सकता; परन्तु जब रावण ही अपने मुखसे इसे स्वीकार कर रहा है, तब इसकी सत्यतामें तिलमात्र भी सन्देह नहीं रह जाता। इसलिये रावणके मुँहसे 'आवा प्रथम नगरु जेहिं जारा' निकलते ही 'सुनत बचन कह बालिकुमारा' आया है। अर्थात् रावणने अपना नगर जलानेकी बात ज्यों ही स्वीकार की, त्यों ही अङ्गदजीने यह पूछा कि 'क्या सचमुच उस वानरने तुम्हारी लङ्का जला दी? इसे सुना तो मैंने भी था, परन्तु निश्चितरूपसे आज ही मालूम हुआ; क्योंकि यदि लङ्का वास्तवमें न जलायी गयी होती तो तुम अपने मुँहसे उसे स्वीकार क्यों करते? अतः अब मुझे निश्चितरूपसे विदित हो गया कि हनुमानजीने सत्य ही तुम्हारे नगरको जला दिया, जिसके लिये प्रभु श्रीरामचन्द्रजीने उन्हें आज्ञा नहीं दी थी और इसी कारण मालूम होता है कि वे लङ्कासे लौटनेपर भयभीतकी तरह श्रीरघुनाथजी अथवा सुग्रीवके सम्मुख न जाकर छिप रहे थे!

अतः इस भावके अनुसार अङ्गदजी लङ्का जलानेकी बात जाननेका विरोध नहीं करते, बल्कि उसे स्वयं रावणके मुँहसे सुनकर उसपर अपना निश्चित विश्वास प्रकट करते हैं।

अब रही यह बात कि हनुमानजी लङ्कासे लौटनेपर श्रीरघुनाथजी या सुग्रीवजीसे छिपनेकी चेष्टा कर रहे थे या नहीं? उसका निर्णय सुन्दरकाण्डके उसी प्रसङ्गमें है। जब हनुमान-जी लङ्कासे लौटकर जाम्बवन्त आदिके साथ सुग्रीवजीके तथा श्रीरघुनाथजीके पास पहुँचे हैं, तब उन्होंने स्वयं कुछ नहीं कहा है, बल्कि जाम्बवन्तजीने सुग्रीवजीसे तथा श्रीरघुनाथजी

से उनकी सफलताका समाचार सुनाया है । उन्होंने सुग्रीवजीसे यह कहा है कि 'नाथ काजु कीन्हेउ हनुमाना । राखे सकल कपिन्ह के प्राना ॥' और फिर श्रीरघुनाथजीसे सुन्दरकाण्ड दोहा २९ के बाद 'जा पर नाथ करहु तुम्ह दाया' से लेकर 'सहसहुँ मुख न जाइ सो बरनी' तक हनुमानजीके कार्योंका वर्णन किया है । तात्पर्य यह कि एकमात्र जाम्बवन्तजीने ही दोनों स्वामियोंके समक्ष हनुमानजीके समुद्र-लङ्घन एवं लङ्कादाहन आदि समस्त चरित्रोंका वर्णन किया है और श्रीहनुमानजी स्वामि-आज्ञाके विना लङ्का जलानेके कारण उस समयतक अवश्य ही भय-सङ्कोचमें पड़े जान पड़ते हैं, जबतक श्रीरामचन्द्रजीने स्वयं प्रसन्न होकर श्रीसीताजीका कुशल-समाचार पूछनेके बाद लङ्का जलानेके सम्बन्धमें हर्षसूचक वचनोंसे यह नहीं पूछा कि—

कहु कपि रावन पालित लंका । केहि बिधि दहेहु दुर्ग अति बंका ॥

इसके नीचेकी चौपाई भी यह प्रमाणित करती है कि पहले हनुमानजीको लङ्का जलानेके कारण कुछ भय-सङ्कोच अवश्य था, परन्तु अब वे प्रभुकी प्रसन्नता जानकर उससे मुक्त और निर्भय हो गये हैं । यथा—

प्रभु प्रसन्न जाना हनुमाना । बोला बचन बिगत अभिमाना ॥

अतः यदि हनुमानजीको इस बातका खटका न होता कि देखें मेरे लङ्का-दाहनकार्यसे प्रभु प्रसन्न होते हैं या रुष्ट, क्योंकि यह कार्य विना उनकी आज्ञाके किया है, तो—

प्रभु प्रसन्न जाना हनुमाना । बोला बचन बिगत अभिमाना ॥

क्यों कहा जाता ? अस्तु,

इससे अङ्गदजीका रावणके प्रति जो कथन है, वह सर्वांशमें सत्य सिद्ध हो जाता है । उन्होंने रावणके मुँहसे लङ्कादाहका समाचार सुनकर अपना विश्वासमात्र पुष्ट किया है, न कि उसको सुनने और जाननेकी बात अस्वीकार की है । इसी प्रकार लङ्कासे लौटनेपर हनुमानजीकी भयवश छिपनेकी बात भी उन्होंने ठीक कही है । क्योंकि जब हनुमानजी लङ्का जलाकर लौटे, तब वे नीची गरदन किये हुए और सबके पीछे-पीछे छिपते हुए चलकर सुग्रीवजी और श्रीरघुनाथजीके समीप पहुँचे थे और स्वयं उनके सम्मुख अपने कार्योंको प्रकट करना नहीं चाहते थे । भले ही यह उनके विनयका सूचक हो सकता है और है भी यही, क्योंकि 'नमन्ति गुणिनो जनाः ।' तथापि उनको उस रूपमें देखकर अङ्गदजीका उपर्युक्त अनुमान भी असङ्गत नहीं कहा जा सकता और उसकी सत्यताकी पुष्टि—

प्रभु प्रसन्न जाना हनुमाना । बोला बचन बिगत अभिमाना ॥

—से और भी हो जाती है ।

शङ्का—ठीक है, इससे यह सिद्ध हुआ कि हनुमानजीने भगवान् श्रीरामचन्द्रजीका आदेश पाये विना ही लङ्काको जला दिया था । वास्तवमें श्रीरामचन्द्रजीने उनको अपने हाथकी अँगूठी देकर केवल इतना ही आदेश दिया था कि—

बहु प्रकार सीतहि समुझाएहु । कहि बल बिरह बेगि तुम्ह आएहु ॥

इसलिये हनुमानजीका यह कर्तव्य था कि वे केवल प्रभुकी आज्ञाका ही पालन करते । परन्तु उन्होंने उससे बहुत आगे बढ़कर और स्वयं कारण उपस्थित करके लङ्काको जला दिया और वह भी साधारणरूपसे नहीं, बल्कि 'उलटि पलटि कपि लंका जारी !' यह कहाँतक सेवा-कार्य हुआ !

समाधान—श्रीरामगीतावली, सुन्दरकाण्ड, पद-संख्या ५ के अन्तिम भाग—

देवि ! बिनु करतूति कहिबो जानिहैं लघु लोइ ।
कहौंगो मुख की समर सरि कालि कारिख धोइ ॥
करत कछू न बनत हरि हिय हरष सोक समोइ ।
कहत मन तुलसीस लंका करउँ सघन घमोइ ॥

—के अनुसार यह प्रमाणित है कि अशोकतरुके पल्लवोंमें छिपे हुए हनुमानजीने जिस समय माता श्रीसीताजीके प्रति रावणकी असह्य बातोंको कानोंसे सुना और उसके दुष्ट व्यवहारोंको आँखोंसे देखा, उस समय उनके क्रोधकी आग भड़क उठी थी, परन्तु उन्होंने उसे अनवसर जानकर दबा लिया । पीछे जब रावण चला गया, तब वे नीचे उतरकर माता श्रीसीताजीसे मिले और प्रणाम करके यह प्रार्थना की कि 'देवि ! विना कोई कर्तव्य किये कुछ भी कहना तुच्छता है । अब तो मुझे जो कुछ कहना होगा, उसे कल समर-सरितामें अपने मुँहकी कालिमा धोकर ही कहूँगा । आज तो कुछ करते नहीं बनता, किन्तु मनमें दृढ़ निश्चय हो गया है कि कल लङ्काको जलाकर आगकी ढेर बना दूँगा । अतः हनुमानजीकी वही क्रोधाग्नि स्वामिनी श्रीसीताजी (जो कि प्रभु श्रीरामजीसे 'गिरा-अर्थ' एवं 'जल-वीचि'के समान अभिन्न हैं) की सेवा-निष्ठासे उनके द्वारा रावणकी बुद्धिमें तदनुकूल प्रेरणा उत्पन्न करनेकी सहायतारूपी स्वीकृतिका सङ्केत पाकर लङ्काको भस्मसात् करनेमें प्रकट हुई । अस्तु,

इस प्रकार प्रभु श्रीरामजीकी अर्द्धाङ्गिनी श्रीसीता माताने एक तरहसे स्वयं अपने सच्चे सेवक मारुतिजीकी सेवा-निष्ठाका अनुमोदन लङ्कादाहके रूपमें किया और उसमें उनको सहायता भी प्रदान की। यथा—

बचन सुनत कपि मन मुसुकाना। भइ सहाय सारद मैं जाना॥

अतएव इससे समझना चाहिये कि लङ्कादाह सेवाके विरुद्ध न होकर सेवाकार्य ही था।

शङ्का—समझा। परन्तु इसी प्रसङ्गमें अङ्गदजीने 'रावन नगर अल्प कपि दहई' से लेकर 'पठवा खबरि लेन हम सोई' तक जो वचन कहे हैं, उनमें उन्होंने हनुमानजीकी अत्यधिक लघुता प्रदर्शित की है—यहाँतक कह दिया है कि 'सो सुग्रीव केर लघु धावन!' अतः उनकी ये बातें समझमें नहीं आतीं, जब कि समुद्र-लङ्घनके प्रकरणमें 'अंगद कहा जाउँ मैं पारा। जियँ संसय कछु फिरती बारा॥' इस वचनके अनुसार वे स्वयं हनुमानजीके समक्ष अपनी असमर्थता दिखा चुके थे और उसके कुछ ही समय पहले 'दुहुँ प्रकार भइ मृत्यु हमारी।' तथा 'मरन भयउ कछु संसय नाहीं' इन वचनोंसे अपनी मृत्युकी भी आशङ्का प्रकट कर चुके थे। फिर उन्होंने अपनी तथा अन्य साथियोंकी जीवन-रक्षा करनेवाले अद्भुतकर्मा हनुमानजीके सम्बन्धमें ऐसे वचन क्यों कहे?

समाधान—हनुमानजी जिस प्रकार 'अतुलितबलधाम' हैं, वैसे ही 'ज्ञानिनामग्रगण्य' भी हैं। सेवक-धर्मकी पूर्ण निष्ठाके अनुसार वे सदा-सर्वदा अपने स्वामियोंके सम्मुख दासभावकी पराकाष्ठाके ही प्रमाण बने रहते हैं। नीची-से-नीची सेवा भी उन्हें महान् महत्त्वका पद प्रतीत होती है। उन्हींके सुसङ्गसे तथा उन्हींके उदाहरणको देखकर अङ्गदजीने भी अपने हृदयकी 'नीचि टहल गृह कै सब करिहउँ' यह भावना प्रकट की थी और उन्हींके दासभावको (जैसा कि वे लघुतासुलभ मुद्रासे श्रीराम-चरणोंके समीप छोटे बने बैठे थे) देखकर रावण-दूत शुकने लङ्कामें लौटनेके बाद यह बयान दिया था कि 'जेहिं पुर दहेउ हतेउ सुत तोरा। सकल कपिन्ह महँ तेहि बलु थोरा॥' परन्तु इससे हनुमानजीकी महिमामें कमी नहीं आती और न उनका अपमान ही होता है। वास्तवमें सेवक-निष्ठावाले बड़भागीकी अल्पता एवं लघुताका वर्णन ही उसकी उत्कृष्टता और बड़प्पनका वर्णन है। अतः बिनय-पत्रिकाकी पद-संख्या २५१ के अनुसार हर, हनुमान, लखन और भरत—ये चार ही सेवा-भावके शिखर गिनाये गये हैं और इसी भावसे अङ्गदजीने हनुमानजीका यथार्थ स्वरूप बतलाया है, जैसी कि उनकी (हनुमानजीकी) निजकी धारणा थी। इसके अतिरिक्त उस प्रकारके वचनोंसे रावणको भी यह समझाना था कि श्रीराम-सेनामें एक ही कपि महाबलशील नहीं है, ताकि उससे उसका हित हो। क्योंकि प्रभु श्रीरामजीने अङ्गदजीको 'काजु हमार तासु हित होई। रिपु सन करेहु बतकही सोई॥' की ही आज्ञा दी थी। अतः उनके वचनोंसे कोई अन्यथा विचार नहीं करना चाहिये।

सियावर रामचन्द्रकी जय!

आत्मज्ञानकी साधना

(रचयिता—श्रीभगवतीप्रसादजी त्रिपाठी विशारद, एम्० ए०, एल्-एल्० बी०, काव्यतीर्थ)

स्वयं सच्चिदानन्द, सर्वज्ञाता अविनाशी।
मैं निरीह निर्द्वन्द्व, नित्य सर्वत्र निवासी॥

रचता सृष्टि अनेक, लोक मायाके द्वारा।
मैं हूँ द्रष्टा दृश्य, नहीं कुछ मुझसे न्यारा॥

मैं तो पूर्ण स्वतन्त्र हूँ, समझो संयम ध्यानसे।
झूँठे बन्धन तोड़ दो, सम्यक् आत्मज्ञानसे॥

सत्सङ्गका प्रसाद

(लेखक—पं० श्रीशान्तनुविहारीजी द्विवेदी)

(१)

एक जिज्ञासुने पूछा—भगवन्! अमुक महात्मा तो अपने शिष्योंका बहुत ध्यान रखते हैं! क्या यह किसी समदर्शी महात्माके अनुरूप है? महात्माजीने कहा—शिष्य भी तो महात्माजीका बहुत ध्यान रखते होंगे? जिज्ञासुने कहा—क्यों नहीं, उन्हें तो रखना ही चाहिये। महात्माजी बोले—तब जिसका ध्यान शिष्य रखते हैं, वह शिष्योंका ध्यान क्यों नहीं रक्खेगा? दोनोंकी एक ही दृष्टि है। शिष्यकी दृष्टिमें गुरु जो कुछ है, गुरुकी दृष्टिमें शिष्य भी वही है। इस विषयमें एक संवाद बहुत प्रसिद्ध है—

परमहंस रामकृष्ण नरेन्द्रपर बड़ी कृपा, बड़ा स्नेह रखते थे। जब दो-चार दिन नरेन्द्र (पीछे स्वामी विवेकानन्द) उनके पास न आते, तो वे बड़ी चिन्ता करने लग जाते थे। एक बार कई दिनतक नरेन्द्रके न आनेसे वे इतने चिन्तित हो गये कि उन्होंने नरेन्द्रको बुलानेके लिये अपने एक भक्तको भेजा। अपनी छात्रावस्थामें नरेन्द्र बहुत ही खुले हुए थे। सङ्कोच तो उन्हें छूतक नहीं गया था। परमहंसजीके सामने तो वे नन्हे-से शिशुकी भाँति अपने मनकी सब बातें कह दिया करते थे। उन्होंने आते ही पूछा—बाबा! आप मुझसे इतना स्नेह करते हैं, कहीं राजा भरतकी भाँति (वे एक हरिनसे प्रेम होनेके कारण दूसरे जन्ममें हरिन हो गये थे) आपको भी दूसरा जन्म न लेना पड़े? परमहंसजीने कहा—'नरेन्द्र! तुम मेरी दृष्टिसे देखो, तब तुम्हें मालूम होगा कि तुम कौन हो। शिष्य तो केवल श्रद्धाके बलसे गुरुको भगवान् मानते हैं। गुरुकी दृष्टिमें तो ज्ञान और अनुभवसे सब भगवत्स्वरूप ही दीखता है। तुम अपनेको जैसा देखते हो, वह तो अज्ञानदृष्टि है। वास्तवमें तुम भगवत्स्वरूप हो।'

इसलिये कौन महात्मा किसे किस दृष्टिसे देखकर क्या व्यवहार करता है, इसे केवल वही जानता है—उसपर शङ्का करनेकी आवश्यकता नहीं।

(२)

शायद अभी दो वर्षसे अधिक नहीं हुआ, जब उनका गोलोकवास हुआ था। वे व्रजके एक ख्यातिप्राप्त महात्मा थे। मस्त इतने थे कि बस, क्या पूछना, चोरोंको भी माखनचोर समझकर उनके साथ खेल लेते थे। कभी अपने सखाके बन्दी बन जाते, तो कभी रूठकर ऐसे बैठते कि दिनोंतक मानते ही नहीं। बड़े-बड़े भक्त आते, परन्तु वे खेलते ही रहते। यह सृष्टि उनके लिये कर्मजन्य या अज्ञानजन्य नहीं थी, भगवान्‌की लीलामात्र थी। इसी लीलामें लीलाप्रियकी इच्छाके अनुसार पात्र बने हुए वे भी एक सखा थे।

एक दिन एक प्रसिद्ध राजासे, जो कि उनके भक्त थे, उन्होंने कहा—'तू राजा बना फिरता है, मुझे भी एक दिन राजा बना दे!' राजा साहब बड़े श्रद्धालु थे। उन्हें बड़ा आनन्द हुआ। बाबाको अपनी राजधानीमें ले गये और तीन दिनके लिये बाक़ायदा उन्हें राज्यका सब अधिकार दे दिया। अब बाबा राजा हो गये।

राजा होते ही बाबाने वहाँकी सारी व्यवस्था उलट-पलट कर दी। दीवानको दरवान और दरवानको दीवान बना दिया। रानीको दासीके कामपर नियुक्त कर दिया। राजकुमारको चाँटे लगवाये। चारों ओर तहलका मच गया। बाबासे ऐसी आशा तो किसीको नहीं थी। सब लोग जाकर राजा साहबसे शिकायत करते, परन्तु उसका भी तो कोई फल नहीं था। राजा साहब कहते—'भाई, शान्त रहो। वे बहुत बड़े महात्मा हैं, न जाने किस उद्देश्यसे क्या करते हैं!' उनकी श्रद्धा ज्यों-की-त्यों रही। तीसरे दिन उन्होंने फिर सबको यथास्थान करके राजाको सब सँभला दिया।

राजाने बड़ी नम्रतासे पूछा—'बाबा, यह सब किस अभिप्रायसे आपने किया?' महात्माजी बोले—'तुम्हारा राज्य तो दुर्व्यवस्थाका केन्द्र हो गया था। मैनेजर चपरासियोंको बेईमान समझते थे तो चपरासी मैनेजरको जल्लाद। मैनेजरकी दिक़तें चपरासियोंको मालूम नहीं थीं और उनकी कठिनाइयोंका मैनेजरको पता भी नहीं था। इसीसे उनमें परस्पर बड़ा वैमनस्य चल रहा था। राजकुमारको मज़ा आता था—दूसरोंको पिटवानेमें। उन्हें इस बातका बिल्कुल अनुभव नहीं था कि पिटनेमें कितना दुःख होता है। रानी भी दासियोंकी सज़ा करती-करती परेशान हुई जा रही थीं। उन्हें दासियोंकी परिस्थिति और कठिनाईका बिल्कुल

ज्ञान नहीं था। मैंने सोचा कि मैं खिलवाड़ भी खेल लूँ और तुम्हारे परिजनोंमेंसे ये दोष भी निकल जायँ। इसीलिये यह सब करना पड़ा। अस्तु, तुम अपना राज्य सँभालो। मेरी मस्तीमें, मेरे माँगे हुए रोटीके टुकड़ेमें जो सुख है, वह इस अमीरीमें कहाँ ! फिर भी सब लालाकी ही लीला है। तुम खिलौनोंसे खेलो और मैं लालासे ! इसके बाद वे व्रजमें चले आये।

महात्माजीकी इस लीलासे क्या हम यह सीख सकेंगे कि हमारे जीवनमें भी अपने सामनेवालेकी परिस्थिति देखनेकी आदत पड़ जाय ?

(३)

बड़े कृपालु थे वे महात्मा। जब-जब गङ्गातटपर वे आते, हम उनके दर्शनोंको जरूर जाते थे। उनके पास कोई वस्त्र था तो केवल कौपीन और पात्र था तो एक मिट्टीकी हाँड़ी। वे बोलते बहुत कम थे, इतना कम कि उपदेशात्मक वाक्यका तो कभी उच्चारण ही नहीं करते। बहुत पूछनेपर भी यही कहते 'यह सब भगवान्की लीला-ही-लीला है ! इसमें जो हो रहा है वही ठीक है, बेठीक कुछ भी नहीं। जो इसे बेठीक कहते हैं, वे भी ठीक ही कहते हैं। अपनी-अपनी लीला सभी पूर्ण कर रहे हैं। चोर चोरीकी, जज सजाकी और जल्लाद फाँसीकी। सब ठीक ही तो है। फिर क्या प्रश्न और क्या उत्तर ! परन्तु वह भी ठीक ही है।'

हमारे बहुत आग्रह करनेपर उन्होंने अपने जीवनचर्य्याके परिवर्तनकी एक घटना बतायी। वह उन्हींके शब्दोंमें तो नहीं, जैसी याद है सुनिये—

मैं लोगोंको उपदेश करता फिरता था। मुझे ऐसा अभिमान था कि मैं ज्ञानी हूँ, सदाचारी हूँ। दूसरोंको जब मैं अज्ञानी और दुराचारी देखता तो मुझे बड़ी दया आती। मैं अपनेको दूधका धुला देवदूत समझता था और दूसरोंको नरकका कीड़ा। मैं उस समय कितना दयनीय था, यह अब समझ सकता हूँ। परन्तु वह भी थी भगवान्की दया ही और यह भी दया ही है।

एक दिन मैं आरामकुरसीपर बैठकर लोगोंके पतन और उत्थानकी समस्या हल कर रहा था। सोचते-सोचते नींद आ गयी। मैंने स्वप्न देखा। स्वप्नमें मैं एक महान् विद्वान् और सदाचारी उपदेशक था। मेरे रहनेका स्थान तो स्वर्ग था; परन्तु मैं कभी-कभी लोगोंको उपदेश देनेके लिये मर्त्यलोकमें भी आया करता था, विमानपर सवार होकर। मैं महान् था, वैभवशाली था, सम्मानित था और था लोगोंका उद्धारक। मैं अपनी स्थितिकी याद करके फूल उठता था।

एक दिन मैं विमानसे मर्त्यलोकमें आया। लोगोंको बताने लगा कि भगवान्की प्रार्थना कैसे करनी चाहिये। मैं संस्कृतका एक श्लोक बोलता और लोगोंको अपने पीछे बोलनेके लिये कहता। जब वे सीख लेते तब किस समय, किस मुँहसे खड़े होकर किस प्रकार पाठ करनेसे भगवान् प्रसन्न होते हैं—यह उनको बतलाता और सिर नवाकर वे मेरा उपदेश सुनते और मेरी प्रशंसा करते हुए चले जाते। मैं सोचता—मैंने इन लोगोंका उद्धार कर दिया।

मैंने देखा—एक आदमी यों ही बैठा हुआ है। न वह मेरा सम्मान करता है और न तो मुझसे प्रार्थना सिखानेका ही आग्रह करता है। मैंने सोचा—यह मूर्ख है, इसीसे मेरा उपदेश ग्रहण नहीं करता; मैं स्वयं चलकर इसे उपदेश दूँ। मैं उसके पास गया। मैंने पूछा—'क्यों रे ! तू परमात्माकी प्रार्थना करना जानता है ?' उसने कहा—'नहीं।' मैं—'तब इस संसारसे तेरा उद्धार कैसे हो सकता है ? तू मुझसे प्रार्थना सीख, तब भगवान् तुझपर कृपा करेंगे।' उसने कहा—'मैं तो कुछ जानता नहीं। आप जो सिखाइये, मैं सीखनेको तैयार हूँ।'

मैं उसे प्रार्थनाके श्लोक सिखाने लगा। इतना वज्रमूर्ख था वह कि एक-एक पद सौ-सौ बार रटानेपर भी याद नहीं कर सका। किसी कदर उसको एक श्लोक रटाकर विमानसे मैं स्वर्गके लिये रवाना हुआ। मैं सोचता जा रहा था कि 'यह कितना मूर्ख है और कितना नीचे गिरा हुआ है कि एक-दो श्लोक रटकर भगवान्की प्रार्थना भी नहीं कर सकता ! अच्छा, मैंने एक श्लोक तो रटा दिया न ? यदि यही याद रहा, तो उसका उद्धार हो जायगा। मैं यही सब सोच रहा था और यह भी सोच रहा था कि मेरी वजहसे कितने प्राणियोंका उद्धार हो रहा है !'

एकाएक मैं बड़े आश्चर्यमें पड़ गया। मेरा विमान जितनी तीव्रगतिसे ऊपर चढ़ रहा था, उससे भी अत्यन्त तीव्रगतिसे कोई मेरा पीछा कर रहा था। क्षण भरमें ही मैंने देखा वही आदमी, जिसे मैं श्लोक रटाते-रटाते परेशान हो गया था, एक ज्योतिर्मय मूर्तिके रूपमें मेरे सामने खड़ा है। उसने कहा—'हे उद्धारक ! हे आचार्य ! आपका बतलाया हुआ श्लोक मुझे भूल गया। अब मैं परमात्माकी प्रार्थना कैसे करूँगा ? मैं समझता था वे मेरे हृदयमें निवास

करते हैं—मेरी टूटी-फूटी भाषा भी समझते हैं, मैं उनसे अपनी भाषामें घंटों बातें किया करता था। सो जब वे मेरी भाषा समझते ही नहीं तो आप ठहरिये, मुझे वही भाषा सिखाइये जिसे वे समझते हों।'

मैं उसकी बात सुनकर अवाक् रह गया। मैंने कहा—'हे महात्मन्! मैंने तुमको पहचाना नहीं। तुम्हें श्लोक रटनेकी आवश्यकता नहीं। भगवान् तो बस, तुम्हारी ही भाषा समझते हैं। मैं अबतक उपदेशकपनेके भ्रममें भटक रहा था। मैं तो तुम्हारी चरणधूलिको स्पर्श करनेके योग्य भी नहीं हूँ। तुम, तुम महापुरुष हो; अपने चरणोंकी धूलि देकर मुझे कृतार्थ करो।' मैं उन महापुरुषके चरणस्पर्श करने जा ही रहा था कि मैं आरामकुरसीसे नीचे गिर गया और नींदके साथ ही वह स्वप्न भी न जाने कहाँ चला गया। यद्यपि था तो वह एक स्वप्न ही, परन्तु मेरे लिये जाग्रत्से अधिक मार्गोपदेशक था। मुझे ऐसा अनुभव हुआ कि भगवान्ने ही मेरे उद्धारके लिये यह लीला रची है। जीव जीवका क्या कल्याण कर सकता है। मेरा अभिमान मिथ्या था। भगवान् नाना रूपोंमें स्वयं सबका उद्धार कर रहे हैं। यह निश्चय होते ही मैंने उपदेशका काम छोड़ दिया। लोगोंके उद्धारका ठेका तोड़ दिया भगवान्ने। मैं तभीसे सर्वदा, सर्वत्र सब प्रकारसे भगवत्कृपाका अनुभव करता हुआ गङ्गातटपर विचर रहा हूँ।

(४)

जब कई साधु इकट्ठे होते हैं तो प्रायः वे अपनी-अपनी यात्राओंके अनुभव एक दूसरेको सुनाया करते हैं। कनखलके संन्यासियोंमें ऐसे ही अवसरपर एक विरक्त महात्माके मुखसे मैंने नीचे लिखी बात सुनी थी।

उन्होंने कहा—'एक बार गङ्गातटपर विचरता हुआ मैं कलकत्ते पहुँच गया। मनमें आया—चलें शहरमें, कुछ खिलवाड़ खेलें। जब मैं एक करोड़पति सेठकी गद्दीमें पहुँचा, तो वहाँके सभी लोग चकित रह गये। कहाँ मैं लँगोटी लगाये एक काला-कलूटा भिक्षुक और कहाँ वे सेठ-साहूकार! सेठजीने अपनी आँखें बहीके पन्नेपर गड़ा लीं। मैंने पुकारा—'सेठजी!' परन्तु सुने कौन? वे तो हिसाबमें मशगूल हो रहे थे। एक-दो बार पुकारनेपर मुनीमने कहा—'रोकड़ियाजी, इसे एकाध पैसा दे दो और दरवानको कहला दो आइन्दा ऐसे भिखमंगे अंदर न आने पावें।' मैंने कहा—'मुझे पैसा नहीं चाहिये, सेठजी! मेरी बात तो सुन लीजिये।' परन्तु फिर भी सेठजीकी जगह मुनीम ही बोले—'तब क्या गिन्नी लेगा? भाग जा यहाँसे। नहीं तो दरवानको बुलाता हूँ।'

अन्ततः दरवान आया। मेरा गला पकड़कर वह ले जानेवाला ही था कि मैंने कहा—'सेठजी, मैं तो जा ही रहा हूँ। न मुझे पैसेकी जरूरत है और न तो तुम्हारी कोठी ही दखल करनी है। हाँ, एक बात कहे देता हूँ—एक सालके अंदर तुम्हारी मौत हो जायगी। सिर्फ यही कहनेके लिये मैं तुम्हारे पास आया था। अब जाता हूँ।' इतना कहकर जो मैं चला सो सेठजीने आकर मेरे पाँव पकड़ लिये। मैं वहाँसे जानेका हठ करता और वे ठहरनेका। अन्ततः उन्हें मैंने समझाया—'इस धनको अपना मत समझो। यह गरीबोंको बाँटनेके लिये तुम्हें दिया गया है। यद्यपि उन्हें अपनी स्थितिमें सन्तुष्ट रहना चाहिये फिर भी तुम अपने कर्तव्यसे विमुख क्यों हो रहे हो?' उन्होंने हाथ जोड़कर मृत्युसे बचनेका उपाय पूछा। मैंने उन्हें प्रतिदिन नाम-जप, दान, सेवा और स्वाध्यायका नियम दिलाया।

उन्होंने आगे कहा—मनुष्य भोगोंमें इतना रम गया है कि विना भयके साक्षात् दर्शन हुए अब उसका उनसे छूटना कठिन हो गया है। भगवान् भी शायद युद्ध, महामारी, रोग-शोकद्वारा भय दिखाकर इसे मार्गपर ही लाना चाहते हैं, इतनेपर भी यदि यह मानव प्राणी चेत जाता!

(५)

काशीकी बात है। मैं एक सज्जनके साथ एक प्रतिष्ठित नेताके पास गया हुआ था। नेता बड़े यशस्वी और योग्य पुरुष हैं। जबतक हम उनके पास बैठे थे, उनकी बार-बार सिर झटक देनेकी आदत बड़े गौरसे देख रहे थे और उनकी आँख बचाकर मुस्करा भी लेते थे। बात यह थी कि उनके सिरपर जो घुँघराले लंबे-लंबे काले बाल थे, वे बार-बार कपोलोंपर आ जाया करते थे और वे उन्हें हटानेके लिये सिरको जरा पीछेकी ओर झटक दिया करते थे। प्रायः पाँच-सात मिनटमें वे एक-दो बार ऐसा अवश्य कर लेते।

जब हम वहाँसे चले, तब मेरे साथी कहने लगे कि 'यदि साधकको ऐसी आदत पड़ जाय तो क्या कहना! जब-जब संसारकी चिन्ता अपने सिरपर आवे, तब-तब उसे इसी प्रकार झटककर फेंक दे। कितना सुन्दर अभ्यास है! मैं जो मुस्करा रहा था, सो यही सब सोचकर।'

मैं सोचने लगा—'यदि आदमी शिक्षा लेनेपर उतारू हो तो सभी जगह शिक्षा ग्रहण करनेके अवसर हैं! केवल

उसके लिये उन्मुखता चाहिये । दत्तात्रेयजी महाराजके चौबीसों गुरु आज भी तो हमारे सामने घूमते रहते हैं । जो शिक्षा उन्होंने ग्रहण की थी, वह हम भी ग्रहण करें तो क्या दिक्कत है ? यद्यपि वे मेरे साथी अपने सिरपर बाल नहीं रखते, फिर भी वे अपना सिर बार-बार झटकते रहते हैं और हर बार अनुभव करते हैं, कि मैंने संसारको झटककर फेंक दिया ।

(६)

भगवान्‌की कृपाके सम्बन्धमें सत्सङ्ग चल रहा था । भक्त लोगोंका कहना था कि कृपासे ही सब कुछ हो जाता है, पुरुषार्थ अथवा साधनकी कोई आवश्यकता नहीं है । बाबा अपने आसनपर बैठे मन्द-मन्द मुस्करा रहे थे । भक्तोंका रुख देखकर एक बार बोले—'सत्य ही है । भगवत्कृपा तो तत्त्व है । कोई माने या न माने, जाने या न जाने, वह तो सबपर एकरस है ही । साधक, असाधक सभी उस कृपाके महान् समुद्रमें ही बरफकी चट्टानकी तरह डूब-उतरा रहे हैं । सबकी संघटना ही कृपामात्रसे हुई है ।' फिर चुप होकर मन्द-मन्द मुस्कराने लगे ।

एक भक्तने पूछा—'महाराजजी, तब क्या पुरुपार्थका कोई उपयोग नहीं है ?' बाबा—'है क्यों नहीं, पुरुषार्थ भी तो कृपा ही है । साधनकी प्रेरणा भी तो कृपाकी ही अभिव्यक्ति है । तुम साधनाको कृपासे भिन्न क्यों मानते हो ?' भक्त—'फिर साधन न करना भी तो कृपा ही हुआ ।' बाबा—'ठीक है । साधन करना और न करना दोनों ही कृपा है—इस प्रकारका विश्वास, निश्चय और अनुभव जिसे प्राप्त है वह तो महासाधनसम्पन्न है ।' भक्त—'परन्तु ऐसा विश्वास जिसे प्राप्त नहीं है, जो साधनमें संलग्न भी नहीं है, उसे क्या समझा जाय ?' बाबा—'सत्य तो यह है कि उसकी वह स्थिति भी कृपासे शून्य नहीं है । हमारी क्षुद्र बुद्धि चाहे उसे कृपा न समझे, सब कृपा-ही-कृपा है ।' बाबाकी बात सुनकर सब भगवान्‌की अनन्त कृपाका अनुभव करने लगे ।

कुछ समय बाद बाबा स्वयं बोले—'जहाँ अपनी पृथक्ताका अनुभव है, जहाँ दुःखको छोड़कर सुख पानेकी इच्छा है, वहाँ जीवको अपने धर्मका पालन करना ही पड़ेगा । जैसे भगवान्‌का धर्म है कृपा, वैसे ही जीवका धर्म है साधन । वह साधन क्या है ? भगवत्कृपापर विश्वास । विश्वास करना ही पड़ेगा । विना विश्वासके कृपा होनेपर भी वह बेकार-सी है । विश्वास करो—इतना ही तुम्हारा पुरुषार्थ है । भगवान्‌की कृपा तुम्हें इसके लिये प्रेरणा दे रही है ।' इस प्रकार बाबा कह ही रहे थे कि एक आगन्तुकने आकर बाबाके सामने साष्टाङ्ग दण्डवत् किया । वह आदमी बड़ा घबड़ाया हुआ-सा था । उसका चेहरा मुरझाया हुआ था । मालूम होता था यह बहुत ही भूखा-प्यासा है । बाबासे सान्त्वना और आश्वासन पाकर वह कहने लगा—

'मैं एक अत्यन्त पापी जीव हूँ । मैंने जान-बूझकर बहुतोंको दुःख दिया है, चोरी की है, हिंसा की है, व्यभिचार किया है, झूठ बोलकर लोगोंको धोखा दिया है । ऐसा कौन-सा पाप है, जो मैंने न किया हो ? अब मेरा हृदय जल रहा है । ग्लानिसे मैं मरा जा रहा हूँ । जीवन असह्य हो गया है । मेरी रक्षा करो, बाबा ! मेरी रक्षा करो ।' बाबाने कहा—'तुम इतना घबड़ाते क्यों हो ? अब तो पाप हो गये हैं न ? तुम्हारे घबड़ानेसे तो अब उनका होना न होना नहीं हो सकता ? तनिक शान्त चित्तसे विचार तो करो । अब तो हो गये, उनके लिये पश्चात्ताप कर ही रहे हो ! प्रायश्चित्त करो, दण्ड भोगो, नरकमें जाओ । जिस वीरतासे पाप किये, उसीसे उनका फल भी भोगो । घबड़ानेकी क्या बात है ?' उस नवागन्तुक मनुष्यने कहा—'महाराज, मेरे चित्तमें न शान्ति है और न स्थिरता । सिवा मृत्युके अब मेरे लिये कोई उपाय नहीं है । मेरी वीरता न जाने कहाँ चली गयी । अब तो मैं धधकती हुई आगमें जल रहा हूँ ।' बाबा—'तुम घबड़ाओ मत । भगवान्‌की कृपापर विश्वास करो । उनका नाम लो । उनके प्रति आत्मसमर्पण कर दो । उनके होते ही तुम्हारे पाप-ताप शान्त हो जायँगे । विश्वास करो—भगवान्‌की अहैतुकी कृपापर । वह अब भी तुमपर है और वैसी ही है, जैसी हमपर और किसीपर भी ।' नवागन्तुक—'प्रभो, मैं जल रहा हूँ । न मुझमें प्रायश्चित्त करनेकी शक्ति है और न तो विश्वास करनेकी । मेरी जीभसे नामोच्चारण भी नहीं होता । मैं आत्महीन हूँ, आत्मसमर्पण कैसे करूँ ? जबतक मेरे पाप हैं, तबतक मैं कुछ भी करनेमें असमर्थ हूँ ।'

एक क्षण मौन रहकर बाबाने कहा—'अच्छा, तुम एक काम करो । हाथमें गङ्गाजल, कुश और अक्षत लेकर अपने सारे पाप मुझे समर्पित कर दो ! मैं सहर्ष उन्हें स्वीकार करता हूँ । मैं तुम्हारे सब पापोंका फल भोग लूँगा । तुम निष्पाप होकर भगवान्‌की शरणमें जाओ, उनकी कृपापर विश्वास करो ।' आश्चर्यचकित होकर कुछ आश्वस्त-सा वह बोला—'बाबा, क्या ऐसा भी सम्भव है ? मुझ पापीपर भी

कोई ऐसे कृपालु हो सकते हैं, जो मेरे पापोंका फल भोगनेके लिये उन्हें स्वीकार कर लें।' बाबा—'इसमें क्या सन्देह है ? तुम्हें भगवान्‌की दयालुतापर सन्देह है क्या ? वे हम सबकी माँ हैं। माँ जब अपने बच्चेको गंदी नालीमें गिरा हुआ देखती है, तब उसके स्नान करके आनेकी प्रतीक्षा नहीं करती। वह तो दौड़कर विना विचार किये ही पहले उसे गोदमें उठा लेती है, फिर धोती-पोंछती है। गौका बच्चा जब नालमें जकड़ा हुआ पैदा होता है, तब माँ उसकी नालको, उसके गंदे बन्धनको अपनी जीभसे चाट जाती है, उसके दोषोंको अपना भोग्य बना लेती है। इसीको वत्सला गौका वात्सल्य कहते हैं। भगवान्‌का वात्सल्य तो इससे भी अनन्तगुना है। वे पापीको और पापोंको भी स्वीकार कर सकते हैं, करते हैं। तुम विश्वास करो—उन्होंने तुम्हें पहले ही स्वीकार कर लिया है। तुम उनके अपने नन्हे-से शिशु हो, उनकी गोदमें हो। वे तुम्हारा सिर सूँघ रहे हैं। वे तुम्हें पुचकार रहे हैं। अनुभव करो और आनन्दमें मुग्ध हो जाओ।'

उस समय सभी भक्त और उस आगन्तुककी आँखोंसे आँसू बह रहे थे। सबके शरीर पुलकित थे, सबके हृदय गद्गद हो रहे थे। बाबाने कहा—'अब भी तुम्हें शङ्का हो कि मुझ पापीको भगवान् स्वीकार नहीं करेंगे तो लाओ, सङ्कल्प कर दो—मैं तुम्हारे पाप स्वीकार करता हूँ।' नवागन्तुकने कहा—'मेरा विश्वास हो गया, बाबा! भगवान् मेरी उपेक्षा नहीं करेंगे। उन्होंने मुझे स्वीकार कर लिया, मेरा दृढ़ विश्वास है। अब मैं कभी उनके चरणोंसे दूर नहीं होऊँगा।'

बाबाने भक्तोंसे कहा—'यही पुरुषार्थका उपयोग है, जो कि भगवान्‌की बड़ी कृपासे होता है। यदि ये मुझे अपने पापोंका दान देते, तो भी इन्हें विश्वास करना ही पड़ता कि बाबाने मेरे पापोंको स्वीकार कर लिया। यदि इनके अन्तःकरणमें ऐसी श्रद्धा है, विश्वास है, शक्ति है तो फिर विलम्ब क्या है ? भगवान्‌ने तो स्वीकार कर ही रक्खा है। केवल विश्वासका विलम्ब है। यह विश्वास ही जीवका पुरुषार्थ है। इस प्रकार पुरुषार्थ कृपाकी अनुभूतिका साधन है, तो कृपा पुरुषार्थकी अभिव्यक्तिका हेतु है। दोनों एक ही हैं, दोनों एक ही हैं।'

(७)

इसी बीसवीं शताब्दीकी घटना है। एक बड़े शहरमें एक बड़े प्रतिष्ठित धनी निवास करते थे। उनके चित्तमें बड़ा वैराग्य था, भगवान्‌के भजनमें बड़ी रुचि थी। वे सोचते रहते थे कि कब वह अवसर मिलेगा, जब सबकी चिन्ता छोड़कर मैं भजनमें ही लग जाऊँगा। उनके सन्तान नहीं थी। एक भतीजा था, जिसके पढ़ाने-लिखानेकी जिम्मेदारी सेठजीपर ही थी। वे उसको योग्य बनाकर भजनमें लगना चाहते थे।

कुछ दिनोंमें पढ़-लिखकर सेठजीका भतीजा योग्य हो गया। सेठजीने व्यापारका सारा काम-काज उसे सँभला दिया और अपना विचार प्रकट किया कि मैं तो अब व्रजमें रहकर भगवान्‌का ही भजन करूँगा। भतीजेने पूछा—'चाचाजी, इस घरमें, व्यापारमें, रुपयेमें और भोगोंमें जो आनन्द है भजनमें उससे अधिक आनन्द है क्या ?' चाचाजी—'इसमें क्या सन्देह है, बेटा! हमारा व्यापार, भोग और सुख तो अत्यन्त अल्प हैं। संसारके त्रैकालिक सुखोंको और मोक्ष-सुखको भी यदि एकत्र करके एक पलड़ेपर रक्खा जाय और दूसरे पलड़ेपर भजनका लेशमात्र सुख रक्खा जाय, तो भी वह लेशमात्र सुख ही अधिक होगा। और तो क्या कहूँ, बेटा ! भजनमें जो दुःख होता है, वह भी संसारके सब सुखोंसे श्रेष्ठ है।' भतीजा—'चाचाजी ! जब भजनमें इतना सुख है, तब मुझे इस दुःखरूप व्यापारमें लगाकर आप अकेले क्यों उस सुखका उपभोग करने जा रहे हैं ? जिसे आप दुःख समझते हैं, उसमें मुझे डाल रहे हैं और आप सुखमें जा रहे हैं, भला, यह कहाँका न्याय है ? मैं भी आपके साथ चलूँगा।' चाचाजी—'बेटा, मैं तो चाहता हूँ कि संसारके सभी लोग भगवान्‌में लग जायँ। मुझे कई बार इस बातका दुःख भी होता है कि लोग ऐसा सुखमय भजन छोड़कर प्रपञ्चोंमें क्यों फँसते हैं। परन्तु संसारका अनुभव किये विना इसके दुःखोंका ज्ञान नहीं होता। तुम अभी नवयुवक हो। तुम कुछ दिनोंतक संसारके व्यवहारोंमें रहकर इसके सुख-दुःखोंको देख लो, फिर तुम्हारी रुचि हो तो भजनमें लग जाना।' भतीजा—'चाचाजी, आपकी बात मुझे जँचती नहीं है। मैं सोचता हूँ कि जिस व्यापार आदिमें लगे रहकर आपने अपनी इतनी उम्र बितायी है, उसका अनुभव आपसे अधिक मुझे कब होगा! जब आपका अनुभव इतना प्रत्यक्ष है, मेरी आँखोंके सामने है, तब फिर उसका अनुभव प्राप्त करनेके लिये इतना सुखद भजन छोड़ देना कहाँतक उचित है ? इसलिये मैं भजनके लिये अवश्य चलूँगा। आप साथ न रक्खेंगे तो मैं अकेला ही चला जाऊँगा।'

भतीजेका दृढ़ निश्चय देखकर सेठजीको प्रसन्नता हुई। अपनी सारी सम्पत्तिका उन्होंने ट्रस्ट बना दिया, जिस दीन-

दुखियोंकी सेवा हुआ करे। दोनोंने समस्त वस्तुओंका त्याग करके व्रजकी यात्रा की। रास्तेमें चाचाजीने अपने भतीजेसे बातचीत करते हुए कहा—'बेटा! ऐसी बात नहीं है कि घरमें भगवान्का भजन हो ही नहीं सकता; हो तो सकता है, होता है। मेरे सामने संसारके व्यवहार, व्यापारमें बहुत बड़ी कठिनाई थी। आजकल व्यापारकी प्रणाली इतनी कलुषित, इतनी गंदी हो गयी है कि बड़े-बड़े सत्पुरुषोंका व्यवहार भी पूर्णतः शुद्ध नहीं होता। जहाँ दूसरोंसे सम्बन्ध रखना पड़ता है, वहाँ कुछ-न-कुछ उनके सम्बन्धका ध्यान रखना ही पड़ता है। इसलिये कैसा भी सज्जन क्यों न हो, व्यवहारके क्षेत्रमें उसे विवश होकर अपराध करना पड़ता है। सम्भव है दो-एक इसके अपवाद भी हों। परन्तु है यह बहुत कठिन। अवश्य ही यह व्यापारका दोष नहीं है, किन्तु कलियुगमें ऐसे व्यक्तियोंकी ही भरमार है। इसीसे जो लोग अपने ईमान और सचाईकी रक्षा करना चाहते हैं, अपने अन्तःकरणको शुद्ध रखना चाहते हैं; वे थोड़े-से-थोड़ा व्यापार करते हैं अथवा उससे बिल्कुल अलग होकर भजन करने लग जाते हैं। भजन ही सर्वस्व है, भजन ही जीवन है। भजनके आनन्दके सामने त्रिलोकी तुच्छ है।'

दोनों ही चाचा और भतीजे व्रजमें रहकर भजन करने लगे। सत्सङ्ग करते, लीला देखते, जप करते, ध्यान करते और व्रजकी रजमें लोटते। दोनों अलग-अलग विचरण करते, अलग-अलग भिक्षा करते और रातको दूर-दूर रहते। कुछ दिनोंके बाद तो सत्सङ्ग करते-करते उनकी बुद्धि इतनी शुद्ध हो गयी कि एकको दूसरेकी याद ही नहीं रहती। कोई कहीं रहकर भजन कर रहा है, तो कोई कहीं। दोनों मस्त थे।

एक दिन बड़ी विचित्र घटना घटित हो गयी, सेठजी जप कर रहे थे। उनके मनमें बार-बार खीर खानेकी इच्छा होने लगी। एक तो यों ही मनुष्यकी इच्छाएँ उसके साथ जोड़ी जाती हैं; दूसरे भजनके समयकी इच्छा तो कल्पवृक्षके नीचे बैठकर की हुई इच्छाके समान है। भगवान् अपने भक्तकी प्रत्येक इच्छा उचित समझकर पूर्ण करते हैं। थोड़ी ही देरमें एक बारह वर्षकी सीधी-सादी लड़की वहाँ आयी और सेठजीके सामने दूध, चावल और चीनी रख गयी। सेठजीको बड़ा आश्चर्य हुआ। वे भगवान्की भक्तवत्सलता देखकर मुग्ध तो हुए, परन्तु उनकी खीर खानेकी इच्छा अभी मिटी नहीं थी। उन्होंने आग जलाकर खीर पकाना शुरू किया। अब उनके मनमें भतीजेकी याद आने लगी। वे सोचने लगे कि यदि वह भी आ जाता, तो उसे भी खीर मिल जाती। चाचाके स्मरणका प्रभाव भतीजेके चित्तपर पड़ा और वह अपने स्थानसे चलकर सेठजीके पास पहुँचा।

भतीजेकी स्थिति बहुत ऊँची थी, उसमें आत्मबल था। तभी तो वह एक ही दिनमें अपनी सारी सम्पत्ति छोड़ सका था। खीरकी तैयारी देखकर उसने चाचाजीसे सब बात पूछी और उदास हो गया। उसने कहा—'चाचाजी! यदि खीर ही खानी थी, तो घर क्यों छोड़ा? वहीं रहकर जो कुछ बनता भजन करते, दूसरोंको खीर-पूड़ी खिलाते और खुद भी खाते। जिसको छोड़ दिया, उसकी फिर क्या इच्छा? जिसको उगल दिया, उसको फिर खाना यह तो कुत्तोंका काम है। चाचाजी, आपने सनातन गोस्वामीकी बात तो सुनी ही होगी। इतने विरक्त थे वे कि अपने ठाकुरको भी बाजरेकी सूखी रोटी खिलाते थे। एक दिन ठाकुरजीने उनसे कहा—'भाई! कम-से-कम नमक तो खिलाया करो। सूखी रोटी मेरे मुँहमें गड़ती है।' भगवान्की यह बात सुनकर श्रीसनातन गोस्वामीको बड़ा दुःख हुआ। उन्होंने कहा—'मेरे चित्तमें स्वादकी वासना होगी, तभी तुम ऐसा कह रहे हो। अन्यथा तुम्हें नमककी क्या आवश्यकता है?' सनातन गोस्वामीकी बात स्मरण करके हमें तो अपनी दशापर बड़ा दुःख हो रहा है। अभी भोगोंकी आसक्ति हमारे चित्तसे मिटी नहीं। इसीसे तरह-तरहके बहाने बनाकर और प्रत्यक्ष भी हम भोग चाहते हैं। न जाने भगवान्की क्या इच्छा है।' भतीजा बोल रहा था और सेठजीकी आँखोंसे आँसू गिर रहे थे। 'यह भी भगवान्की कृपा ही होगी' इतना कहकर वह ध्यानमग्न हो गया।

थोड़ी देरमें वही लड़की, जो खीरका सामान दे गयी थी, आयी। वह कहने लगी—'बाबा, तुम रोते क्यों हो? अबतक तुमने खीर भी नहीं खायी है? ऐसा क्यों? क्या मेरा कोई अपराध था? उस लड़कीकी मधुर वाणी सुनकर दोनोंने आँखें खोलीं तो वह लड़की साधारण नहीं, ज्योतिर्मयी साक्षात् श्रीजी थीं। दोनोंने साष्टाङ्ग दण्डवत् करते-न-करते सुना कि श्रीजी कह रही हैं 'यह सब मेरी ही लीला थी। यह व्रजभूमि मेरी भूमि है। यहाँ रहकर तुम करने न करनेका अभिमान छोड़ दो। तुम कुछ करते नहीं, कर सकते नहीं। सब मैं करती हूँ। जबतक तुम अपनेको एक भी क्रिया या सङ्कल्पका कर्त्ता मानोगे, तबतक तुम्हें दुःख होगा। जैसे मैं रक्खूँ वैसे रहो। जो कराती हूँ, सो करो। तुम मेरे हो।'

दण्डवत् करके जब उन दोनोंने आँखें खोलीं, तब वहाँसे श्रीजी अन्तर्धान हो चुकी थीं। वे जीवनभर मस्त देखे गये।

भक्तिमती हरदेवी

हरदेवी विशालपुरीके सेठ स्थानकदेवकी एकमात्र कन्या थी। माताका नाम गजदेवी था। एकमात्र सन्तान होनेसे हरदेवी माता-पिताको बहुत ही प्यारी थी। घरमें किसी चीजकी कमी नहीं थी। हरदेवीका पालन-पोषण बड़े ही लाड़-चावसे हुआ था। हरदेवीकी माता बड़ी ही विदुषी थी और उसका हृदय भक्तिसे भरा था। वह नित्य श्रद्धापूर्वक भगवान् श्रीकृष्णकी पूजा करती। माताकी पूजाके समय हरदेवी पास बैठी रहती, वह भी माताकी देखा-देखी खेलनेमें भगवान्‌की पूजा किया करती। माता ही सन्तानकी प्रथम गुरु होती है। माताके स्वभाव, आचरण, चरित्र और व्यवहारका बालकके जीवनपर अमिट प्रभाव पड़ता है। हरदेवीके हृदयमें भी इसीके अनुसार भक्तिके अङ्कुर पैदा हो गये।

उचित शिक्षा-दीक्षा आदिके अनन्तर हरदेवी जब विवाहके योग्य हुई, तब बड़ी धूम-धामसे उसका विवाह चम्पकपुरीके सेठ गुणदेवके पुत्र हर्षदेवके साथ कर दिया गया। विवाह बड़े आनन्दसे हो गया। विदाईका दिन था। अकस्मात् हरदेवीकी माता गजदेवीको बुखार चढ़ आया। घरमें भीड़ बहुत थी, दवाकी चेष्टा नहीं हो सकी। गजदेवीका बुखार बड़ी तेजीसे बढ़ने लगा। वह अपने भगवान्‌के पूजा-भवनमें जाकर उनके सामने पड़ गयी। उसकी आँखोंमें आँसू थे और बड़ी ही गद्गद वाणीसे उसने कहना शुरू किया—

'भगवन्! माछ्म होता है, तुम अब मुझे अपने श्रीचरणोंमें बुलाना चाहते हो। मुझे इस बातका स्मरण होते ही बड़ा हर्ष हो रहा है। उसी हर्षके मारे मेरे नेत्रोंसे आँसुओंकी धारा बह रही है। हे मेरे अनन्त प्राणप्रियतम! तुम अन्तर्यामी हो, जानते हो मेरे मनमें बरसोंसे कभी कोई भी कामना नहीं उठी। मैं यही चाहती हूँ, कोई कामना मेरे मनमें कभी उठे ही नहीं। मेरा मन सदा यही कहता है कि तुम्हारी इच्छाका अनुसरण करनेमें ही परम कल्याण है। इससे मैं सदा यही प्रयत्न करती रहती हूँ—मेरे मनमें कोई इच्छा न रहे, सारी इच्छाएँ तुम्हारी इच्छामें विलीन हो जायँ। तुम्हारी इच्छा ही सफल हो। और तुमने सदा मेरी इस भावनाको बल दिया है तथा अपनी ओर खींचा है। आज तुम सदाके लिये अपनी सेवामें बुलानेकी व्यवस्था कर रहे हो, इससे बढ़कर मेरे लिये प्रसन्नताकी बात और क्या हो सकती है। परन्तु मेरे स्वामिन्! पता नहीं क्यों—शायद इसमें भी तुम्हारी ही प्रेरणा हो—मेरे मनमें एक कामना जाग्रत् हो रही है, वह यह कि इस बालिका हरदेवीकी आत्माको भी तुम अपने पावन चरणोंमें स्वीकार कर लो। यह तुम्हारी ही हो जाय। यद्यपि इसका विवाह हो गया है, आज यह अपने पतिके घर जा रही है; परन्तु इसके परम लक्ष्य तो तुम्हीं हो। बस, मैं तुमसे केवल इतना ही वरदान चाहती हूँ कि इसपर तुम्हारी कृपा-दृष्टि सदा बनी रहे और अन्तमें इसे भी सेवाधिकार प्राप्त हो। मेरे पति तो मेरी जीवन-यात्राके साथी ही रहे हैं, उनके लिये मैं क्या माँगूँ?'

गजदेवीकी सच्ची और पवित्र प्रार्थना स्वीकृत हो

गयी। भगवान्‌ने प्रकट होकर कहा—'देवि, तुम मेरी भक्त हो, मेरे ही परम धाममें जा रही हो और सदा वहीं रहोगी। हरदेवी तुम्हारी पुत्री है—इस सम्बन्धसे वह मेरी भक्तिको प्राप्त होती ही, परन्तु अब तो तुमने उसके लिये वर माँग लिया है। तुम्हारी यह चाह बड़ी उत्तम है। तुम निश्चिन्त हो जाओ, तुम्हारी चाहके अनुसार हरदेवी मेरी परम भक्त होगी और यथावसर मेरे परम धाममें आकर तुमसे मिलेगी। तुम्हारे सङ्गके प्रभावसे तुम्हारे पति भी मेरे परम धाममें ही आयेंगे। उनके लिये कुछ भी माँगनेकी जरूरत नहीं है।' इसके बाद गजदेवीने देखा—ज्योतिर्मय प्रकाशके अंदर भगवान् अन्तर्धान हो गये!

गजदेवीको बड़े जोरका ज्वर था, वह विवाहके सब कार्योंसे अलग होकर भगवान्‌के पूजा-मन्दिरमें पड़ी थी। सेठको पता लगा, तब वे वहाँ आये। गजदेवीने कहा—'स्वामिन्! आज यह दासी आपसे अलग हो रही है। विदा दीजिये। मेरे अबतकके अपराधोंको क्षमा कीजिये और आशीर्वाद दीजिये कि इसकी आत्मा भगवान् श्रीकृष्णकी चरण-रज पाकर धन्य हो जाय।' स्थानकदेव पत्नीकी ये बातें सुनकर स्तम्भित रह गये। वे बोले—'प्रिये! अशुभ क्यों बोल रही हो? ऐसा कौन-सा रोग है? ज्वर है, उतर जायगा। अभी वैद्यराजको बुलाता हूँ।'

गजदेवीने हाथ जोड़कर प्रार्थना की—'स्वामिन्! अब वैद्यराजजी इस शरीरको नहीं उबार सकेंगे। मुझे मेरे भगवान्‌ने बुला लिया है। अब तो मैं आपकी चरण-रज ही चाहती हूँ। मुझे आज्ञा दीजिये। इसमें अशुभ क्या है? जीवन और मरण दोनों ही भगवान्‌के विधान हैं। जो जन्मा है, उसे मरना ही पड़ेगा। यदि जन्म शुभ है तो मृत्यु अशुभ क्यों है? मृत्यु न हो तो नवीन सुन्दर जन्मकी प्राप्ति कैसे हो सकती है? पुरातनका संहार सुन्दर नवीनकी सृष्टिके लिये ही तो होता है। फिर मैं तो परम भाग्यवती हूँ, जो आपकी चरणधूलिको सिर चढ़ाकर आपके सामने जा रही हूँ और जा रही हूँ आपकी, अपने एवं अखिल ब्रह्माण्डोंके परम पति भगवान् श्रीकृष्णकी बुलाहटसे, उनकी नित्य सेवाधिकारिणी बनकर! मेरा जन्म-जीवन आज सफल हो गया। आज इस जीवकी अनादि-कालीन साध पूरी हो रही है। मेरी यही प्रार्थना है कि आप भी अपना जीवन भगवान् श्रीकृष्णके अनन्य भजनमें लगा दीजिये। मुझे पता लग गया है कि आपपर भगवान् श्रीकृष्णकी बड़ी ही कृपा है।'

'जिसको तुम-सरीखी कृष्ण-भक्त पत्नी प्राप्त हुई, उसपर श्रीकृष्णकी कृपा क्यों न होगी? प्रिये! धन्य हो तुम—जो तुम्हारा जीवन भगवान् श्रीकृष्णके पावन चरणोंमें अर्पित हो गया। और मैं भी धन्य हूँ जो तुम्हारे सङ्गसे मेरे हृदयमें पवित्र भावोंका प्रादुर्भाव हुआ और भगवान् श्रीकृष्णकी भक्ति मिली।' स्थानक-देवने गद्गद होकर कहा।

'अब आप पधारिये। हरदेवीको विदा कीजिये। जानेके पहले एक बार वह मुझसे मिल ले। आप निश्चय रखिये, मैं उसके विदा होनेके बाद ही शरीर-त्याग करूँगी। आप निश्चिन्त होकर विवाहका काम कीजिये। मैं अपने भगवान्‌के श्रीचरणोंमें सुखसे पड़ी हूँ।'

स्थानकदेवका हृदय बदल चुका था। अब उनके मनमें शोक-विषाद कुछ भी नहीं रहा। भक्तिके उच्छ्वाससे उनका हृदय आनन्दसे भर रहा है। वे पत्नीकी मृत्युमें भगवान्‌का शुभ विधान देखकर प्रफुल्लित हो रहे हैं। उन्हें यह जानकर बड़ी प्रसन्नता है कि यह मरकर इससे कहीं अच्छी स्थितिको—नहीं नहीं, परम और अनन्त महासुखकी दुर्लभ स्थितिको प्राप्त करने जा रही है। इसका यह मरण इसके लिये बड़ा ही मङ्गलमय है। इस अवस्थामें ऐसा कौन

आत्मीय होगा जो अपने आत्मीयकी ऐसी कल्याण-कारिणी मृत्युसे प्रसन्न न हो ? अतएव वे हर्षित चित्तसे वहाँसे उठकर चले आये और पुत्री हरदेवीकी विदाईके काममें लग गये। हरदेवीसे कह दिया कि 'तेरी माँ पूजा-मन्दिरमें तुझे बुला रही है।'

पिताकी बात सुनकर हरदेवी तुरन्त माताके पास गयी। माताको ज्वराक्रान्त देखकर उसे बड़ी चिन्ता हुई। वह माँके पास बैठ गयी। उसने देखा—माँ मुस्करा रही है, उसका चेहरा खिल रहा है और एक प्रकाशका मण्डल उसके चारों ओर छाया हुआ है। इतनेमें माताने बड़े दुलारसे हरदेवीका हाथ अपने हाथमें लेकर कहा—'बेटी ! तू जानती है, यह संसार असार है—श्रीकृष्णका भजन ही इसमें एकमात्र सार है। मैं आज इस असार संसारको छोड़कर श्रीकृष्णकी सेवा करने उनके परम धाममें जा रही हूँ। श्रीकृष्णने स्वयं मुझको बुलाया है। तू यह न समझना, मैं तुझे असहाय छोड़ जाती हूँ। तू जानती है—मनुष्यमें जो कुछ भी बुद्धि, विद्या, शक्ति, सामर्थ्य, तेज, प्रभाव आदि है, सब श्रीकृष्णका दिया हुआ है। उन्हीं श्रीकृष्णके हाथोंमें तुझे सौंपकर मैं जा रही हूँ। वे ही विश्वम्भर स्वयं तेरी सम्हाल करेंगे। उनसे बढ़कर सम्हाल करनेवाला और कौन होगा ? मुझे अनुमति दे, मैं जाऊँ। बेटी ! तुझे श्रीकृष्णकी पूजामें बड़ा आनन्द आता है। मुझे बुलाकर श्रीकृष्णने तेरे लिये बड़ी सुविधा कर दी है। अब इन भगवान्‌को तू ले जा। नियमितरूपसे श्रद्धा-भक्तिपूर्वक इनकी पूजा किया करना। कभी कुछ कहने-सुननेकी आवश्यकता हो तो निस्संकोच इन्हींसे कहा करना। ये जरूर तेरी बातें सुनेंगे और उसी समय उचित व्यवस्था भी कर देंगे। देख तो तेरे विश्वासके लिये ये अभी तेरी गोदमें चले आते हैं।'

इतना कहना था कि भगवान्‌की मूर्ति सिंहासन-सहित आकाशमें चलकर हरदेवीकी गोदमें आ गयी। फिर क्या था, हरदेवीको दृढ़ विश्वास हो गया और भगवत्प्रेरणासे माताके भावी वियोगका सारा शोक पलभरमें नष्ट हो गया। अब उसने माताकी प्रसन्नता, मुस्कराहट और उसके तेजोमण्डलका मर्म समझा। उसने मन्त्र-मुग्धकी तरह हँसते हुए कहा—'माँ ! ऐसा ही होगा। मैं आजसे इनकी हो गयी और ये मेरे हो गये। अब मुझे विश्वास है कि तुम्हारी जगह ये ही तुमसे भी बढ़कर मेरी रक्षा करेंगे। तुम तो मेरे साथ नहीं जा सकती, परन्तु ये तो नित्य मेरे पास रहेंगे। तुम आनन्दसे इनकी सेवामें जाओ। जब इन्होंने स्वयं तुमको अपने पास बुलाया है तब तुम्हें रोकनेका पाप कौन कर सकता है ? जाओ माँ, जाओ; भगवान्‌की सेवा करो। तुम धन्य हो जो भगवान्‌की इतनी प्रियपात्र हो और मैं भी धन्य हूँ जो मुझे तुम-जैसी सच्ची माताकी कोखसे पैदा होनेका सौभाग्य मिला है। माँ ! मुझे आशीर्वाद देती जाओ कि मैं भी तुम्हारी ही तरह भजन कर सकूँ और अन्तमें उनकी सेवामें ले ली जाऊँ।'

गजदेवीने कहा—'बेटी, ऐसा ही होगा, अवश्यमेव ऐसा ही होगा। तू निश्चिन्त रह। हाँ, एक बात कहनी है—अन्तिम और सच्चा सम्बन्ध तो एकमात्र भगवान्‌का ही है; परन्तु यह संसार भी भगवान्‌का है, इसलिये इसमें हमें सभी व्यवहार भगवान्‌की इच्छा और आज्ञाके अनुसार ही करने चाहिये। अवश्य ही करने चाहिये अपने भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये ही। शास्त्र भगवान्‌की ही आज्ञा हैं और उनमें स्त्रीके लिये पति-सेवाको ही मुख्य धर्म बतलाया गया है। पतिके सम्बन्धसे सास-ससुरकी सेवा भी अवश्य करनी चाहिये। तू भगवान्‌की भक्त है, ध्यान रखना—इस व्यवहारमें कोई त्रुटि न आने पावे ! 'जस नाचिय तस काछिय काछा !' सदाचार, सादगी, सेवा, सहिष्णुता और संयम तो सभीके लिये आवश्यक हैं। भक्तके लिये तो ये सर्वथा स्वाभाविक होने चाहिये।'

'माता ! ऐसा ही होगा । लाख दुःख उठानेपर भी तुम्हारी यह बेटी अपने कर्तव्यसे कभी नहीं डिगेगी'— हरदेवीने दृढ़ता और उल्लासके साथ कहा !

'बेटी, बड़ी-बड़ी परीक्षाएँ होती हैं । बड़े-बड़े भयके प्रसङ्ग आते हैं । भगवान्पर आस्था रक्खेगी तो उनकी कृपा-शक्तिसे तेरा व्रत अनायास ही निभ जायगा और तू अपने परम लक्ष्य भगवान्को प्राप्त करके कृतार्थ हो जायगी । बेटी, मैं हृदयसे आशीर्वाद देती हूँ कि तेरा मन सदा श्रीभगवान्के चरण-कमलोंका चञ्चरीक बना रहे और तू कभी भी उनकी कृपासे वञ्चित न हो ।'

'माँ—मेरी माँ ! मैं अत्यन्त बड़भागिनी हूँ, जो तुम्हारी बेटी हूँ । ऐसी माँ कितनी हैं, जो अपनी सन्तानको श्रीभगवान्के चरणोंकी भक्ति करनेका आदेश और आशीर्वाद देती हैं ?'—हरदेवीने आँसू बहाते हुए कहा ।

धन्य है माता और पुत्री दोनोंको ! सचमुच वही माता माता है—पिता पिता है, जो अपनी सन्तानको भगवान्के शुभ मार्गपर चलाता है और उसको अग्रसर करनेमें सब प्रकारकी सहायता करता है । अस्तु,

हरदेवीको उसके पिताने बुला लिया, वह भगवान्के सिंहासनको लेकर चली गयी । सिंहासनको सुरक्षित स्थानमें पधराकर उसने माताके पास कई चतुर और स्वामिभक्त सेविकाओंको भेज दिया, जो प्रसन्नतासे उसकी यथायोग्य सेवा करने लगीं । यद्यपि विदाईके दिन माताके बीमार और मरणासन्न हो जानेपर हरदेवी-को जगत्की चालके अनुसार बहुत शोक होना चाहिये था और हरदेवीके पिता स्थानकदेवके लिये भी यह कम चिन्ताका प्रसङ्ग नहीं था, परन्तु भगवदिच्छासे दोनोंके ही हृदय बदल चुके थे । वे गजदेवीके भगवान्के परमधाम-गमनकी खुशीमें मस्त थे और स्वयं भी उन दोनोंके हृदयोद्यानमें भक्ति-लतिका लहलहा रही थी तथा अपने मधुर पुष्पोंके सुन्दर सौरभसे क्षण-क्षणमें उन्हें मुग्ध कर रही थी । वे विवाहका कार्य तो मानो परवश—किसीकी प्रेरणासे कर रहे थे । सब कार्य भलीभाँति सम्पन्न हुए । हरदेवीके विदा होनेका समय आ गया । उसने एक बार फिर माताके श्रीचरणोंमें जाकर प्रणाम किया और उसका आशीर्वाद प्राप्त करके पिताके चरणोंमें गिरकर रथमें सवार हो गयी । भगवान्के सिंहासनको अपनी गोदमें ले लिया । कन्याकी माताकी अनुपस्थिति दोनों ओरके सभी बरातियोंको बहुत ही खल रही थी और वे सभी उदास-से हो रहे थे ।

कन्या विदा हो गयी । स्थानकदेव तुरन्त गजदेवीके पास चले आये । थोड़ी देर बाद गजदेवीने हँसते-हँसते भगवान्के पावन नामोंका उच्चारण करते हुए, पतिके चरणोंमें सिर रखकर नश्वर शरीरको छोड़ दिया । उस समय उसके शरीरसे दिव्य तेज निकलता हुआ दिखायी दिया और आकाशसे मधुर शंखध्वनि सुनायी पड़ी । स्थानकदेवने श्रद्धापूर्वक एवं विधिवत् पत्नीका अन्त्येष्टि-संस्कार और श्राद्धादि कर्म किये !

(२)

हरदेवीके ससुर गुणदेव वास्तवमें सद्गुणोंके घर थे । पिताकी भाँति पुत्र हर्षदेव भी बहुत अच्छे स्वभावका था, परन्तु हर्षदेवकी माता समलाका स्वभाव बड़ा ही क्रूर था । वह मौका पाते ही हरदेवीके साथ निर्दय व्यवहार करती थी परन्तु ससुरके अच्छे स्वभावके कारण हरदेवीको कोई खास कष्ट नहीं था ।

दैवकी गति विचित्र है । डेढ़ सालके बाद सेठ गुणदेवका देहान्त हो गया । अब तो समला सर्वतन्त्र स्वतन्त्र हो गयी । वह जो चाहती सो करती । यद्यपि हर्षदेवका स्वभाव सुन्दर और सौम्य था परन्तु वह सङ्कोचवश माताके सामने कुछ भी बोलना नहीं चाहता

था। इससे समलाका मन और भी बढ़ गया, वह पुत्रको अपने पक्षमें मानकर बहूको विशेषरूपसे सताने लगी। पहननेको अच्छे कपड़े न देना, खानेको रूखी-सूखी रोटियाँ देना वह भी भरपेट नहीं, बात-बातपर झिड़कना, हरेक काममें दोष निकालना, उसके माता-पिताको गालियाँ बकना आदि बातें तो उसके लिये स्वाभाविक थीं। कभी-कभी तो वह हाथ भी उठा लेती थी। उसने बर्तन माँजने और झाड़ू देनेवाले नौकरको अलग कर दिया, आटा पीसनेवाली नौकरानीको जवाब दे दिया; इसीलिये कि ये सब काम हरदेवीसे कराये जायँ। हरदेवीको किसी भी कामसे कोई इन्कार नहीं था, न उसे किसी बातका मनमें दुःख ही था। वह माताकी बात याद करके चुपचाप हर्षित मनसे सब कुछ सहन करती। परन्तु अत्यन्त सुखमें पली होने तथा बर्तन माँजने और आटा पीसने आदिका अभ्यास न होनेके कारण उसे स्वाभाविक ही शारीरिक थकावटका अनुभव तो होता ही था पर वह उससे दुखी नहीं होती थी। मनमें सोचती थी भगवान् मेरी परीक्षा लेते हैं। फिर यह दृढ़ निश्चय करती कि मै इस परीक्षामें भगवान्की कृपासे कभी भी फेल नहीं होऊँगी। कितना भी दुःख आवे–भगवान्का आशीर्वाद समझकर उसे सिर चढ़ाऊँगी और कभी मन मैला न होने दूँगी। वह ऐसा ही करती। सासकी झिड़कन और गालियाँ उसे दुलार और आशीर्वाद-सी जान पड़तीं। वह अम्लान मनसे सब काम किया करती। तन-मनसे पतिकी सेवा करती और नित्य नियमसे श्रीभगवान्की पूजा करती। पूजाके बाद यही प्रार्थना करती कि 'भगवन्! मैं तुम्हारी हूँ, मुझे कभी बिसराना नहीं। तुम्हारी मङ्गलमयी इच्छा पूर्ण हो, इसीमें मेरा मङ्गल है।' वह कभी भगवान्के सामने सासके अत्याचारोंके लिये रोती नहीं। न कभी पतिसे ही सासकी शिकायत करती।

हर्षदेवको निर्दोष और परम शीलवती पत्नीके प्रति अपनी माताका इस प्रकारका क्रूर बर्ताव देखकर बड़ा दुःख होता था। उसने एक दिन एकान्तमें हरदेवीसे कहा—'प्रिये! तुम मानवी नहीं हो, तुम तो स्वर्गकी देवी हो। तुमपर जान-बूझकर इतना अत्याचार होता है परन्तु तुम कभी चूँतक नहीं करती। मैंने तुम्हारे चेहरेपर भी कभी उदासी नहीं देखी—मानो कुछ होता ही नहीं। तुमने कभी आजतक मुझसे इस सम्बन्धमें एक शब्द भी नहीं कहा। परन्तु प्रिये! मेरा हृदय जला जा रहा है। अब यह जुल्म मुझसे देखा नहीं जाता। मैं आजतक कुछ नहीं बोला परन्तु अब तो हद हो गयी है। तुम्हारी राय हो तो हमलोग यहाँसे और कहीं चले जायँ या माताको ही अलग कर दें।'

'मेरे हृदयेश्वर! आप जरा भी दुःख न करें। मैं सच कहती हूँ मुझे तनिक भी कष्ट नहीं है। मैं प्रतिदिन दोनों समय जब अपने भगवान्की पूजा करती हूँ तो मुझे इतना आनन्द मिलता है कि उसमें जीवन-भरके बड़े-से-बड़े सन्ताप अनायास ही अपनी सत्ता खो देते हैं। फिर आपकी सेवाका जो आनन्द है वह तो मेरे प्राणोंका आधार है ही। मैं बहुत सुखी हूँ प्राणनाथ, आपके चरणोंमें रहकर। मुझे किसी प्रकारका सन्ताप नहीं है। माताजी अपने स्वभाववश जो कुछ कहती-करती हैं, इससे वस्तुतः उन्हींको कष्ट होता है। सच मानिये स्वामिन्! झिड़कन, अपमान और गाली आदि उन्हींको मिलते और जलाते हैं, जो इनको ग्रहण करते हैं। मैं इन्हें लेती ही नहीं। कभी लेती भी हूँ तो आशीर्वादरूपसे। फिर मेरे लिये ये दुःखदायी क्यों होने लगे? हाँ, कभी-कभी इस बातका तो मुझे दुःख जरूर होता है कि मैं माताजीके दुःखमें निमित्त बनती हूँ। आप कोई चिन्ता न करें। संसारमें सब

कुछ हमारे भगवान्‌के विधानसे, हमारे मङ्गलके लिये ही होता है। मुझे इस बातका विश्वास है, इसीसे मैं सदा प्रसन्न रहती हूँ।

नाथ! न तो माताजीको छोड़कर अलग जानेकी जरूरत है, न उन्हें अलग करनेकी। हमलोग यदि उनकी बातें न सहकर इस बुढ़ापेमें उन्हें अकेली छोड़ देंगे तो उनकी सेवा कौन करेगा? सबसे अधिक दुःखकी बात तो यह होगी कि हम माताजीकी सेवाके सौभाग्यसे वञ्चित हो जायँगे। वह सन्तान बड़ी ही अभागिनी है, जिसको अपने बूढ़े माता-पिताकी सेवा करनेका सुअवसर नहीं मिलता। और उसके दुर्भाग्य तथा दुष्कर्मका तो कहना ही क्या है कि जो किसी भी प्रतिकूलताके कारण माता-पिताकी प्राप्त हुई सेवाको छोड़ बैठता है। फिर, वे बेचारी कहती ही क्या हैं? मुझे तो आजतक कभी उनकी कोई भी बात बुरी नहीं लगी। सासकी सीखभरी झिड़कनें सहना तो बहूका सौभाग्य है।'

हरदेवीकी बात सुनकर हर्षदेवका हृदय गद्गद हो गया। उसके चित्तमें हरदेवीके प्रति बड़ी भक्ति उत्पन्न हो गयी और वह अपनेको धन्य मानने लगा ऐसी धर्मशीला पत्नी पाकर! उसने कहा—'देवि, इसीसे तो मैं कहता हूँ, तुम मानवी नहीं हो। तुम्हारे इन ऊँचे भावोंके सामने किसका मस्तक नहीं झुक जायगा? तुम धन्य हो! तुम्हारे माता-पिता धन्य हैं, जिनके घर तुम-सरीखी देवीने अवतार लिया। तुम्हारी एक-एक बात अनमोल है। परन्तु क्या करूँ, जब माताजी विना किसी कसूरके जान-बूझकर तुम्हें गालियाँ बकती हैं और बाघिनकी तरह मारने-काटने दौड़ती हैं, तब, यद्यपि मैं आजतक कुछ बोला नहीं परन्तु मुझे बड़ा दुःख होता है। मन होता है कि इस अन्यायका खुलकर विरोध करूँ परन्तु कुछ तो माताजीके संकोचसे रुक जाता हूँ और कुछ तुम्हारा यह दैवी-स्वभाव मुझे रोक देता है। जो कुछ भी हो कल मैं उनसे प्रार्थना अवश्य करूँगा।'

इतना कहकर हर्षदेव चला गया। हरदेवी कुछ कहना चाहती थी परन्तु उसे अवसर ही नहीं मिला।

दूसरे दिन हरदेवी बर्तन माँज रही थी, कुछ पुराने जंग लगे हुए बर्तन उसे माँजनेको सासने दिये थे। जंग रगड़-रगड़कर उतारनेमें देर लगी। इतनेमें सास समला लाल-पीली हो गयी और अनाप-शनाप गालियाँ बकने लगी। इसी बीचमें हर्षदेव वहाँ आ गया। उसको माताका यह बर्ताव बुरा मालूम हुआ, उसने नम्रतासे माताको समझानेकी चेष्टा की तो उसका गुस्सा और भी बढ़ गया। अब वह हर्षदेवको भी बुरा-भला कहने लगी। हर्षदेवको बहुत दुःख हुआ परन्तु वह हरदेवीके शील-स्वभावके संकोचसे कुछ भी बोला नहीं। जब दूसरा पक्ष कुछ भी नहीं बोलता, तब पहले पक्षको बक-बकाकर स्वयं ही चुप हो जाना पड़ता है। समला जब बोलते-बोलते थक गयी, तब अपने-आप ही चुप हो गयी। हर्षदेव विषादभरे हृदयसे बाहर चला गया। हर्षदेवका विषाद देखकर हरदेवीको दुःख हुआ। वह सारा काम निपटाकर अपने भगवान्‌के पूजा-मन्दिरमें गयी और वहाँ जाकर भगवान्‌से कातर प्रार्थना करने लगी। उसने कहा—

'भगवन्! मैंने कभी कुछ भी नहीं चाहा, आज पतिदेवको उदास देखकर एक चाह उत्पन्न हुई है, वह यह कि मेरी सासका स्वभाव सात्त्विक बना दिया जाय। वे समय-समयपर झल्लाकर हमलोगोंके साथ ही आपको भी बुरा-भला कह बैठती हैं, प्रभो! इस अपराधके लिये उन्हें क्षमा की जाय। इसीके साथ—नाथ! मेरी चिरकालकी आकांक्षा है कि मैं आपके दिव्य स्वरूपके

साक्षात् दर्शन करूँ। मेरे मनमें यह चाह तो थी ही, इस समय प्रार्थना करते-करते पता नहीं क्यों मेरी यह चाह अत्यन्त प्रबल हो गयी है। हे प्रभो! आप अन्तर्यामी हैं, घट-घटकी जानते हैं। यदि मेरी सच्ची चाह है, यदि वास्तवमें आप मेरी व्याकुलताको इस प्रकारकी तीव्र समझते हैं कि अब आपको प्रत्यक्ष देखे विना मेरा जीवन असम्भव है तो कृपा करके मुझे दर्शन दीजिये। आप सर्वसमर्थ हैं, मैं अत्यन्त दीन-हीन और मलिनमति हूँ, मुझे कुछ भी ज्ञान नहीं। आपकी भक्तिका तत्त्व भी मैं नहीं जानती। इतना ही जानती हूँ कि आप मेरे सर्वस्व हैं और मैं आपकी हूँ। आपके सिवा मेरे और कोई भी सहारा नहीं है। संसारके सब कार्य आपकी प्रसन्नताके लिये—आपके लिये ही करने हैं। पतिके द्वारा मैं आपकी ही उपासना करती हूँ। मुझे उसके बदलेमें आपकी प्रसन्नताके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं चाहिये। यदि यह सत्य हो तो आप कृपा करके दर्शन दीजिये।'

यों कहकर हरदेवी कातरभावसे रोने लगी। उसकी घिग्घी बँध गयी, गला रुक गया, बोली बन्द हो गयी। भगवान् अब नहीं रह सके। वहीं अपने विग्रहके सामने ही प्रकट हो गये बड़ी मनोहर मञ्जुल शोभा धारण किये हुए। नील श्याम वर्ण है। गलेमें रत्नोंकी माला है। करकमलोंमें मुरली है। होठोंपर मधुर मुस्कान है। नेत्रोंसे कृपा और प्रेमकी सुधा-धारा बह रही है। सौन्दर्य और माधुर्यकी अप्रतिम छबि हैं। हरदेवी भगवान्‌को सामने देखकर आनन्दसागरमें डूब गयी। वह कुछ भी बोल नहीं सकी। तब श्रीभगवान्‌ने कहा—

'बेटी! मैं तुझपर अति प्रसन्न हूँ। तूने अपने आचरणोंसे और अकृत्रिम भक्तिसे मुझे वशमें कर लिया है। तेरी सासका स्वभाव सुधरना तो तभी निश्चय हो गया था, जब तू वधू बनकर उसके घर आयी थी। अब तो तेरी कृपासे वह असाधारण भक्त बन गयी है। तूने अपने पति और सास दोनोंका उद्धार कर दिया। तेरा ससुर तो पहले ही तेरे प्रतापसे सद्गतिको प्राप्त हो चुका था। अब मेरी कृपासे तुम तीनों मेरी भक्ति करते हुए सुन्दर सदाचारपूर्ण जीवन बिताओगे और अन्तमें मेरे परम धाममें आकर मेरी सेवाका अधिकार प्राप्त करोगे।'

इतना कहकर भगवान् सहसा अन्तर्धान हो गये। हरदेवी स्तब्ध थी, उसका मन मुग्ध हो रहा था। इतनेमें उसने देखा, सास समला पास खड़ी है और रो-रोकर भगवान्‌से क्षमा-प्रार्थना कर रही है। हरदेवी उठी। सास अपने दोषोंका वर्णन करते हुए उससे क्षमा माँगने लगी। हरदेवीने सकुचाकर सासके चरण पकड़ लिये। समलाने उसे उठाकर हृदयसे लगा लिया। दोनोंके नेत्रोंसे प्रेमके आँसू बहने लगे। हर्षदेव घर लौटा तो माताकी ऐसी बदली हुई हालत देखकर आनन्दमग्न हो गया। तीनोंकी जीवनधारा एक ही परम लक्ष्यकी ओर जोरसे बहने लगी। एक लक्ष्य, एक साधन, एक मार्ग। मानो एक ही जगह जानेवाले तीन सहयोगी यात्री बड़े प्रेमसे एक दूसरेकी सहायता करते हुए आगे बढ़ रहे हों। अड़ोस-पड़ोसपर भी तीनोंके प्रेमका बड़ा प्रभाव पड़ा। इतना ही नहीं—उनके आचरणसे सारे नगरके नर-नारी सदाचारी और भगवद्भक्त बनने लगे!

बोलो भक्त और उनके भगवान्‌की जय।

श्रीभगवन्नाम-जपके लिये प्रार्थना

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

तीर्थानां च परं तीर्थं कृष्णनाम महर्षयः ।
तीर्थीकुर्वन्ति जगतीं गृहीतं कृष्णनाम यैः ॥
तस्मान्मुनिवराः पुण्यं नातः परतरं विदुः ।
कृत्वापि पातकं घोरं कृष्णनाम्ना विमुच्यते ॥
स्वयं नारायणो देवः स्वनाम्नि जगतां गुरुः ।
आत्मनोऽभ्यधिकां शक्तिं स्थापयामास सुव्रताः॥
जिह्वां लब्ध्वापि लोकेऽस्मिन् कृष्णनाम जपेन्न हि ।
लब्ध्वापि मुक्तिसोपानं हेलयैव च्यवन्ति ते ॥

(पद्मपुराण स्वर्गखण्ड)

'हे महर्षिगण ! कृष्णनाम तीर्थोंका भी परमतीर्थ है । जिनके द्वारा कृष्णनाम लिया जाता है वे इस सारी जगतीको तीर्थ बना देते हैं, इसलिये हे श्रेष्ठ मुनिगण ! यह जानिये कि इसके परे और कोई पुण्य नहीं है । घोर पाप करके भी मनुष्य कृष्णके नामसे मुक्त हो सकता है । हे सुव्रतगण ! जगद्गुरु नारायणदेवने अपने नाममें अपनी शक्तिसे भी अधिक शक्ति स्थापित कर दी है। इस लोकमें जीभ पाकर भी जो लोग कृष्णनामका जप नहीं करते, वे मुक्तिके सोपानपर चढ़कर भी लापरवाहीसे उससे गिर जाते हैं ।'

भगवान्‌के नामकी अपार महिमा है । कलियुगमें तो नामके अतिरिक्त और कोई सहारा है ही नहीं । इसीलिये 'कल्याण'के पाठकों और प्रेमियोंमें नाम-जपका अभ्यास बढ़ानेके हेतुसे प्रतिवर्ष २॥ महीने नाम-जप करनेके लिये सबसे प्रार्थना की जाती है ।

आनन्दकी बात है कि प्रतिवर्ष 'कल्याण'के ग्राहक और पाठक महोदय 'कल्याण'की प्रार्थना सुनकर स्वयं नाम-जप करते और दूसरोंसे करवाते हैं ।

गतवर्ष 'कल्याण' के पाठकोंसे पौष शुक्ल १ से फाल्गुन शुक्ल पूर्णिमातक अर्थात् ढाई महीनेमें उपर्युक्त सोलह नामोंके दस करोड़ मन्त्र-जप करने-करवानेकी प्रार्थना की गयी थी । और बड़े हर्षकी बात है कि प्रेमी पाठक-पाठिकाओंकी चेष्टा और उत्साहसे दस करोड़की जगह लगभग पचास करोड़ मन्त्रोंका जप हो गया ।

इस वर्ष भी फिर उसी प्रकार दस करोड़ मन्त्र-जपके लिये हाथ जोड़कर प्रार्थना की जा रही है । आशा है भगवत्-रसिक पाठक-पाठिकाएँ विशेष उत्साहके साथ नाम-जप करने-करवानेका महान् पुण्यकार्य करेंगे । नियमादि वही हैं ।

यह आवश्यक नहीं है कि अमुक समय आसनपर बैठकर ही जप किया जाय । प्रातःकाल उठनेके समयसे लेकर रातको सोनेतक चलते-फिरते, उठते-बैठते और काम करते हुए सब समय इस मन्त्रका जप किया जा सकता है । संख्याकी गिनतीके लिये माला हाथमें या जेबमें रक्खी जा सकती है; अथवा प्रत्येक मन्त्रके साथ संख्या याद रखकर भी गिनती की जा सकती है । बीमारी या अन्य किसी कारणवश जपका क्रम टूट जाय तो किसी दूसरे सज्जनसे जप करवा लेना चाहिये । यदि ऐसा न हो सके तो नीचे लिखे पतेपर उसकी सूचना भेज देनेसे उसके बदलेमें जपका प्रबन्ध करवाया जा सकता है । किसी अनिवार्य कारणवश यदि जप बीचमें छूट जाय, दूसरा प्रबन्ध न हो और यहाँ सूचना भी न भेजी जा सके, तब भी कोई आपत्ति नहीं । निष्कामभावसे जप जितना भी किया जाय, उतना ही उत्तम है । थोड़ी-सी भी निष्काम

उपासना अमोघ और महान् भयसे तारनेवाली होती है।

हमारा तो यह विश्वास है कि यदि 'कल्याण'के प्रेमी पाठक-पाठिकागण अपने-अपने यहाँ इस बातकी पूरी-पूरी चेष्टा करें तो आगामी अङ्क प्रकाशित होनेतक ही हमारे पास बहुत अधिक संख्याकी सूचना आ सकती है। अतएव सबको इस पुण्यकार्यमें मन लगाकर भाग लेना चाहिये।

१—किसी भी तिथिसे आरम्भ करें, परन्तु पूर्ति फाल्गुन शुक्ला पूर्णिमाको हो जानी चाहिये।

२—सभी वर्णों, सभी जातियों और सभी आश्रमोंके नर-नारी, बालक, वृद्ध, युवा इस मन्त्रका जप कर सकते हैं।

३—प्रतिदिन कम-से-कम एक मनुष्यको १०८ (एक सौ आठ) मन्त्र (एक माला) का जप अवश्य करना चाहिये।

४—सूचना भेजनेवाले सज्जन केवल संख्याकी ही सूचना भेजें। जप करनेवालोंके नाम भेजनेकी आवश्यकता नहीं। केवल सूचना भेजनेवाले सज्जन अपना नाम और पता लिख भेजें।

५—संख्या मन्त्रकी भेजनी चाहिये, नामकी नहीं। उदाहरणार्थ यदि सोलह नामोंके इस मन्त्रकी एक माला प्रतिदिन जपें तो उसके प्रतिदिनके मन्त्र-जपकी संख्या एक सौ आठ होती है, जिसमेंसे भूल-चूकके लिये आठ मन्त्र बाद देनेपर १०० (एक सौ) मन्त्र रह जाते हैं। जिस दिनसे जो भाई मन्त्र-जप आरम्भ करें, उस दिनसे फाल्गुन सुदी पूर्णिमातकके मन्त्रोंका हिसाब इसी क्रमसे जोड़कर सूचना भेजनी चाहिये।

६—संस्कृत, हिन्दी, मारवाड़ी, मराठी, गुजराती, बँगला, अंग्रेजी और उर्दूमें सूचना भेजी जा सकती है।

७—सूचना भेजनेका पता—

नाम-जप-विभाग,
'कल्याण'-कार्यालय,
गोरखपुर

नंदनंदनके नैन

नंदनंदनके ऐसे नैन।
अति छवि भरे नागके छौना तुरत डसैं करि सैन॥
इन सम साबर मंत्र न होई, जादू जंत्र तंत्र नहिं कोई;
एक दृष्टिमें मन हर लेवैं कर देवैं बेचैन॥ नंद०॥
चितवनमें घायल करि डारैं, इनपै कोटि बान ले वारैं;
अति पैने तिरछे हिय कसकैं, स्वास न देवैं लैन॥ नंद०॥
चंचल, चपल, मनोहर कारे, खंजन मीन लजावन हारे;
नारायण सुंदर मतवारे, अनियारे दुख दैन॥ नंद०॥

—नारायणस्वामी

जगत्का विश्वव्यापी दैनिक महायुद्ध किंवा ईश्वरकी अचिन्त्य क्रियाशीलता

(लेखक—देवर्षि भट्ट पं० श्रीरमानाथजी शास्त्री)

[गताङ्कसे आगे]

देव और असुर दोनोंका युद्धस्थल कुरुक्षेत्र उन-उनका देह ही है । समष्टिदेह सारा जगत् और व्यष्टिदेह एक पदार्थ । व्यष्टिदेहका युद्ध समष्टियुद्धपर निर्भर है । समष्टिदेह ब्रह्माण्ड-में प्रजापतिकी क्रियाशीलता व्याप्त है । उसके ही अंशयुद्ध व्यष्टियोंमें हो रहे हैं। परिच्छिन्न क्रियाशीलता–युद्धका सञ्चालन व्यापक क्रियाशीलता कर रही है । क्योंकि समष्टि क्रियाशीलता प्रजापतिकी है और व्यष्टियुद्ध प्रजाका है । दोनोंके मेलसे विश्वव्यापी दैनन्दिन महायुद्ध चल रहा है ।

जड संसारमें हीरा प्रभृति पदार्थ सुर हैं, देव हैं । क्योंकि ये उन्नत, हितावह, प्रिय और चिरस्थायी हैं । उन्नति, प्रियता, हितावहता और स्थिरता देवगुण हैं । और पदार्थकी अप्रियता, अकल्याणता, अवनति और अस्थिरता असुरगुण हैं । सूक्ष्मरूपसे दोनोंमें दोनों रहते हैं । एक अंश तिरोभूत रहता है, दूसरा आविर्भूत । दोनोंका परस्पर युद्ध चलता है । अब जिसका विजय हो गया, वही वह बन बैठता है । सुरका असुर, असुरका देव ।

पत्थरोंमें हीरा देव है । पर वह युद्धसे ही असुरका सुर हुआ है । हीरेके मूल तत्त्वोंपर यदि दृष्टि दी जायगी, तो उसमें रहनेवाले उसके अप्रियता, अवनति आदि गुणोंका ज्ञान हो सकेगा । हीरा पहले भी हीरा ही था, यह कौन कह सकता है ? जो इस समय उन्नत है वह हजार, दो हजार वर्ष पहले भी उन्नत ही था और आगे युग-युगान्तरमें उन्नत ही रहेगा—इसका ठेका कौन ले सकता है ? यह परस्परका युद्ध किसीको भी एक रूपमें कभी नहीं रहने देता । सब कुछ परिवर्तनशील है—

नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण ।

कितने ही वैज्ञानिकोंका यह मत है कि कोयलेमेंसे हीरा पैदा होता है । ऐसी हालतमें हीरेके गुण स्थिरता, हितावहता, प्रियता और उन्नति कोयलेमें कहाँ हैं ? और नहीं थे, तो कहाँसे आ गये ? आखिर कोयला ही तो चिरकालमें हीरा हो गया है । कहाँ कोयला, कहाँ हीरा ! कुछ भी समझ रखनेवालोंको इतना तो स्वीकार करना ही पड़ता है कि आखिर हीरा पत्थर ही है । पत्थरने अपनी क्रियाशीलताके द्वारा असुर-अंशको हटाकर, अपने दैव-अंशको बढ़ाकर हीरारूपमें प्रकाशित कर दिया । पृथ्वीमें हीरा और पत्थर दोनों अंश हैं । दोनोंमें परस्पर सङ्घर्ष-युद्ध चल रहा है । अवनत पदार्थका विजय न होकर उन्नत सुर-अंशका विजय हो गया; बस, हीरा प्रकाशित हो गया । एक ही पार्थिव देह कुरुक्षेत्रमें देवासुरसङ्ग्राम सैकड़ों वर्षसे चल रहा था । असुरोंपर सुरोंने विजय पा लिया, कोयलेका हीरा हो गया । इस तरहसे पदार्थमात्रमें दैनन्दिन देवासुरमहायुद्ध हो रहा है । किसका विजय होगा, यह नहीं कहा जा सकता ।

किस तरहकी क्रियाशीलता–युद्ध चलानेसे कोयलेका हीरा और हीरेका कोयला हो जायगा या सुरका असुर और असुरका सुर हो जाता है, यह ज्ञानांशके विना दुष्कर है । इस व्यवस्थित युद्धके चलानेके लिये व्यष्टि और समष्टि योद्धाओंमें ज्ञानकी अपेक्षा है । कृतिमात्रमें ज्ञानांशकी अपेक्षा रहती है । हम खड़े हो जायँ; आड़े हो जायँ, सो जायँ, चलें, बैठें, लौटें—ये सब क्रियाएँ–ज्ञानकी अपेक्षा रखती हैं । हम बैठनेके लिये कहें और दूसरा लेट जाय, तो वह अज्ञानी कहा जायगा, जड पदार्थोंमें कृतिका अस्तित्व तो अनुमानसे सिद्ध हो जाता है, पर उनमें ज्ञानकी सत्ता किसी गहरे वैज्ञानिककी ही समझमें आ सकती है; पर पूर्वोक्त युक्तियोंसे हम यह सिद्ध कर चुके हैं कि अति सूक्ष्मरूपमें भी ज्ञानकी सत्ता सर्वत्र है । जैसे सर्वथा परतन्त्र नौकर (गुलाम) की क्रियाओंमें स्वामीका ज्ञान काम कर रहा है, उसी तरह जड पदार्थोंकी क्रियाशीलतामें प्रजापतिका ज्ञान काम कर रहा है । सब कुछ अपने-आप होता है, यह तो अनीश्वरवाद है । इसे हम स्वीकार नहीं करेंगे । एक दिन हमने एक कविता सुनानेवालेसे पूछा कि 'यह कविता किसकी बनायी है ?' तो वह क्या उत्तर देता है कि 'महाराज ! यह अपने आप बन गयी है । एक रोज प्रेसमें बड़े जोरसे आँधी आयी । उसके वेगसे टाइप उड़-उड़कर जो आपसमें चिपकने और स्याहीमें भीगकर कागजोंपर गिरने लगे तो अकस्मात् यह कविता लिख गयी । कहिये !' हमें यह सुनकर बड़ी हँसी आयी । यह निश्चय है कि समझके विना कोई काम सफल नहीं होता ।

क्रियाशीलता प्रजापतिकी है, तो सर्वत्र ज्ञानांश भी उसीका है। प्रजापतिने ही अपनी प्रजा सुर-असुर दोनोंको अपने धर्म, क्रिया और ज्ञान बाँट रक्खे हैं। अथवा यों कहिये कि प्रजापति ही उन-उन देव-असुरोंके रूपमें प्रत्येक पदार्थके भीतर समाया हुआ है। रूई ही सूतोंके रूपमें वस्त्रमें समायी हुई है। क्रिया-ज्ञानविशिष्ट प्रजापति ही जब सर्वत्र समाया हुआ है, तब तो यह ठीक ही है कि उसकी ही समझसे सर्वत्र क्रियाशीलता (युद्ध) चल रही है। युद्ध सेनापतिकी समझसे ही ठीक-ठीक हो सकता है। सुर और असुर दोनोंकी क्रियाशीलतापर उस प्रजापतिका निरीक्षण है। प्रजापतिके हृदयमें पक्षपात नहीं है। उसको दोनोंकी अपेक्षा है। जगल्लीलामें सुर भी चाहिये, असुर भी। वह नहीं चाहता कि एक रहे, दूसरा न रहे। आम, नीम दोनों चाहिये; इसलिये युद्ध चल रहा है। सुर, असुर दोनों विद्यमान रहें—इसलिये दोनोंमें क्रियाशीलता चल रही है। पर यह क्रियाशीलता प्रजापतिके ज्ञानेच्छाके अनुसार चल रही है, यह बोध होता है। जलकी वर्षा प्रजा चाहती है, पर प्रजापति नहीं चाहता। ऐसे समय खेती सूख जानेपर भी, प्रजाके 'त्राहि! त्राहि!' चिल्लाते रहनेपर भी मेह नहीं बरसता। हीरेको सब लोग चाहते हैं, पर प्रजापति उसका सर्वत्र होना नहीं चाहता; इसलिये हीरा क्वचित् ही होता है। अतएव कितनोंका यह भी मत है कि दैव पदार्थ थोड़ा ही होता है और आसुर पदार्थ बहुतायतसे होता है। पर वास्तवमें यह पक्षपात है। सारी दुनिया किसने देखी है और सर्वज्ञ कौन है। न जाने कौन पदार्थ कहाँ-कहाँ कितना मौजूद है! कुछ भी हो, जडप्राजापत्योंमें खूब जोर-शोरसे युद्ध चल रहा है—यह प्रत्यक्ष है। और उसका फल यह हो रहा है कि समय-समयपर एक दूसरेपर विजय पा रहा है। दैवका असुर, असुरका दैव होता चला आ रहा है। एक दिन कोयला ही युद्ध करता-करता हीरा बनकर देवाधिदेव विष्णुके मुकुटपर स्थान पाता है, अपना नाम कर लेता है। यहाँतक जडप्राजापत्योंके युद्धका विजय कहा। अब चेतन-सम्बन्धी सुरासुरसंग्रामकी बातें सुनिये। चेतनका संग्राम इससे भी स्पष्ट है। पुरुष, अश्व, अजा, गौ और अवि (भेड़)—ये पाँच आग्नेय पशु प्रधान चेतन हैं। पर यह इनका स्वरूप क्या एक ही जन्ममें और परिगणित समयमें ही सिद्ध हुआ है? नहीं, नहीं। पुरुषको पुरुषरूपमें आनेके लिये करोड़ों वर्ष और लाखों जन्म लगे हैं। बड़ी-बड़ी काट-छाँटोंका यह फल है। क्रमसृष्टिका यह अपरिहार्य नियम है। 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः' इत्यादि श्रुतियाँ सारे जगत्के कारणभूत पदार्थोंकी क्रमसे उत्पत्तिका निरूपण कर रही हैं। आत्मा ही सब पदार्थोंका मूल उत्पत्तिस्थान है। श्रुतिमें इसे 'प्रजापति' शब्दसे कहा है। अनेक सहस्र युगपर्यन्त जब कारणोंका युद्ध चलता रहा, तब कहीं कारण ही कार्यरूपमें आ पाये। पुरुषादि, पशु प्रभृति तो कार्योंके भी कार्य हैं। अतएव अब पाठक समझ सकते हैं कि पुरुषादिको अपने स्वरूपमें आनेके लिये कितना समय लगा होगा। अस्तु, सर्वप्रधान पशु, चेतन मनुष्यमें अब भी युद्ध चल रहा है। इसका फल क्या होगा, यह कोट्यायु ही जान सकता है। मनुष्य-मनुष्यमें भी प्रतिदिन गृह्य महायुद्ध चल रहा है। युद्धके प्रयोजन अपेक्षाकृत हैं, अतएव अनेक हैं। युद्धसे ही मनुष्यने उन्नति की है। और अब भी करना चाहता है—यद्यपि क्रियाशीलता—युद्धसे उन्नति ही होगी, यह नियत सत्य नहीं है। युद्धसे अवनति भी हो सकती है। पर मनुष्य उन्नति चाहता है।

'युद्धेषु भाग्यचपलेषु न मे प्रतिज्ञा
दैवं नियच्छति जयं च पराजयं च।'
'यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः।'

प्रजापतिने मनुष्य-सृष्टिमें ज्ञानांश अधिक दिया है। अतएव इसकी इच्छाएँ सबसे बढ़कर हैं। इसकी क्रियाशीलता—युद्ध क्षुद्र प्रयोजनके लिये नहीं है। मनुष्यकी व्यक्त इच्छाएँ पाँच हैं। अनन्त कालपर्यन्त जीवन, पूर्णज्ञान, निरतिशय आनन्दभोग, सब तरहकी स्वतन्त्रता और सबका स्वामी हो जाना—इन पाँच फलोंके लिये पुरुषका युद्ध चल रहा है। किन्तु ये पाँचों सिद्धि ऐश्वर हैं। मनुष्य प्रजा है। ईश्वर प्रजापति है। ये सिद्धियाँ प्रजापतिकी हैं। किन्तु कितने ही कहते हैं कि 'मनुष्य भी तो प्राजापत्य है, इसलिये अपने पिताके दायभागका अधिकारी है। अतएव यह उन प्राजापत्य सिद्धियोंकी प्राप्तिके लिये युद्ध कर रहा है, इसमें किन्तु कैसी?' ठीक है, हम भी मानते हैं कि जब मनुष्य ईश्वरमेंसे ही निकला है, तो एक दिन यह ईश्वर हो जाय या ईश्वरकी सिद्धियोंकी प्राप्ति कर ले, इसमें किसी तरहका सन्देह नहीं है। अतएव इसका युद्ध करना भी ठीक है।

किन्तु यहाँ एक प्रश्न होता है कि मनुष्यलभ्य धनका खजाना वह प्रजापति अव्यक्त है, इन्द्रियातीत है। उसका, उसके अनन्त सत्ता आदि धनका और उसके भोग आदिका इस मनुष्यने कभी अनुभव ही नहीं किया। इसे यह भी

प्रत्यक्ष अनुभव नहीं है कि मेरा लभ्य धन ईश्वरके पास है। ऐसी अवस्थामें यह मनुष्यसमाज उसके लिये इतना क्रियाशील क्यों है? यह युद्ध क्यों हो रहा है? ईश्वर और ईश्वरीय धनका जब किसीने प्रत्यक्ष ही नहीं किया तो उसकी प्राप्तिके लिये लालसा, और यह अनादिसिद्ध युद्ध क्यों चल रहा है?

सुनिये! यह तो सबको प्रत्यक्ष है ही कि बड़े-से-बड़ा और छोटे-से-छोटा प्रत्येक मनुष्य प्रतिदिन क्रियाशील हो रहा है, परस्पर युद्ध कर रहा है। और यह भी सबके प्रत्यक्ष है कि जो अपने स्वरूपको समझ गया है वह चाहता है कि मैं सबका अधिपति हो जाऊँ, मुझे निरतिशय आनन्द मिलता रहे, मेरा अस्तित्व सदा बना रहे, मेरा ज्ञान पूर्ण हो, मैं किसीके परतन्त्र होकर न रहूँ। ज्यों-ज्यों मनुष्य इन कामनाओंमें अपनी उन्नति करता जाता है, वैसे-वैसे इसकी क्रियाशीलतारूपी युद्ध घोरतर होता चला जाता है। अब यदि यह मान लिया जाय कि पूर्वोक्त सिद्धियाँ कोई वस्तु ही नहीं हैं और न ये किसीके पास हैं और न कभी हुई, तो यह प्रश्न होता है कि फिर यह युद्ध क्यों चल रहा है। ससा (खरगोश) के सींगके लिये कोई क्रियाशील नहीं होता। सब कोई क्रियाशील, युद्धमग्न हो रहे हैं—इससे मालूम पड़ता है कि मानवसमाजमेंसे किसी-न-किसीने अवश्य पहले कभी किसीको इन सिद्धियोंका उपभोग करते देखा है। तबसे इसके हृदयमें पूर्वोक्त फलोंके प्राप्त करनेके लिये लालसा जागृत हुई और उसी दिनसे क्रियाशीलता—युद्ध छिड़ गया, जो आजतक बन्द नहीं हो पाया। यह लालसा निर्मूल भी नहीं है। आस्तिकलोग इस बातको समझे बैठे हैं कि पूर्वोक्त सिद्धियाँ ईश्वरकी स्वाभाविक हैं, और वह इनका नित्य उपभोग करता है।

पूर्वोक्त श्रुतिमें 'प्रजापति' इसी बातको कह रहा है। वह परमात्मा सुरासुररूप अपनी प्रजाका पति है, अर्थात् प्रजाकी रक्षा करना उसका धर्म है। जिस समय यह प्रजा अपरिमित लालसासे आँख मूँदकर क्रियाशील हो जाती है, अतएव युद्धमें सत्फलकी आशा न रहनेसे हार मान बैठती है किंवा राक्षसपनपर उतर जाती है, तब वह प्रजापति अव्यक्त होनेपर भी किसी प्रजाका रूप धारण कर अवतार लेता है। और मनुष्यसमाजको शुद्ध सभ्यताकी शिक्षा देता है जिससे उसे पूर्वोक्त सिद्धियोंका स्वरूप, उनका उपभोग और उनके मिलनेका मार्ग समझमें आ जाता है। यही प्रजापतिका प्रजापालन है।

'तद्धि एतान् भूखावति।' (श्रुति)

एकाधिपत्य, अनन्त सत्ता, पूर्ण ज्ञान आदि फल विशुद्ध मानवसभ्यताकी सिद्धियाँ हैं, ईश्वरीय गुण हैं। ये गुण ही मानवसमाजको युद्धके द्वारा प्राप्तव्य हैं। भगवान्का अवतार इतना ही करता है कि उन गुणोंका अपने स्वरूपमें प्रकाश करके मानवसमाजको अपने लक्ष्यपर पहुँचनेकी दृष्टि देता रहता है, जिससे युद्ध जारी रहता है।

अवतारोंका सिद्धान्त इसी धारापर निहित है। मार्गदर्शक अवतार हैं, और उन्नतिकारक क्रियाशीलता या वैसा युद्ध ही मानवसमाजका कर्तव्य है। ऋषि, मनु और देव आदि सब भगवान्के अवतार हैं। ये लोग अपनी क्रिया और वचनोंके द्वारा मनुष्यसमाजके शिक्षक हैं। क्रिया और शब्द दोनोंके द्वारा शिक्षाका प्रसार किया जा सकता है। कितने ही अवतार अपनी क्रियाशीलतासे, और कितने ही अपने वचनोंसे प्रजाको अपने लक्ष्यपर पहुँचाते रहते हैं। भारतके सिवा अन्य देशोंमें भी यही दो तरीके प्रसिद्ध हैं। इसके दृष्टान्त सर्वत्र प्रचुरतासे मिलते हैं। मनुष्योंको अपने लक्ष्यपर पहुँचा देनेवाला परमात्माका निर्दोष वाक्य हमारा वेद है। ऋषि-महर्षियोंके द्वारा पीछे उत्पन्न होनेवाली प्रजामें यह वेद-राशि आती रहती है। तप और त्यागसे विशुद्ध अन्तःकरणवाले महर्षिगण इस पारमेश्वर शब्दसमूहको ज्यों-का-त्यों प्राप्त करते हैं।

यहाँ यह प्रश्न होता है कि निर्दोष वेद-राशिके रहते भी इस प्राजापत्य मनुष्य समाजको इस तरह निम्नश्रेणीपर क्यों आना पड़ता है? इसका उत्तर इतना ही है कि प्राजापत्य रहते भी मनुष्य मनुष्य ही है। प्रजापति नहीं, प्रजा है। सर्वज्ञ नहीं, अल्पज्ञ ही है। वेद कैसा भी निर्दोष है, किन्तु यह आता तो है मनुष्यके पास ही। वेदरूप शब्द-राशि ऐश्वरी वाक् है। इसमें ईश्वरका हृदय निहित है। इसी तरह यह वेद जब मनुष्यवाणीमेंसे होकर निकलता है, तब इसमे मनुष्यका हृदय निहित होता है। जिस पात्रमे वस्तु रक्खी जाती है, उस पात्रका कुछ-न-कुछ अंश उस वस्तुमें संक्रान्त होता ही है। अवतारोंको छोड़कर अन्यत्र मनुष्य-हृदयमें ही वेद-राशि निहित होती है। अतएव उन-उनके स्वभावोंके गुण भिन्न-भिन्न होनेसे वाणीमे भी विचित्रता आती रहती है।

तेषां प्रकृतिवैचित्र्याच्चित्रा वाचः स्रवन्ति हि।

बाह्य जगत् और आन्तर जगत्में बहुत विभेद है। जगत्का जो स्वरूप हमें ऊपरसे दीख रहा है, भीतरसे वह

इसके बिल्कुल उल्टा है। ऊपरसे यह प्रेमास्पद है, तो भीतरसे घृणास्पद है। किसी कविने स्पष्ट कहा है—

स्तनौ मांसग्रन्थी कनककलशावित्युपमितौ
मुखं श्लेष्मागारं तदपि च शशाङ्केन तुलितम्।
स्रवन्मूत्रक्लिन्नं करिवरकरस्पर्धिजघनं
मुहुर्निन्द्यं रूपं कविवरविशेषैर्गुरु कृतम्॥

जो रूप भीतरसे देखनेपर अपवित्र और निन्दनीय है, वह बाहरसे देखनेपर स्पृहणीय दीखता है। अतएव बाह्यदृष्टि मिठबोले कवियोंने इसे वैसा कह दिया है। अवताररूप महर्षियोंके हृदयमें तप और त्याग रहनेसे उनपर बाह्य जगत्का असर नहीं हो पाता। अतएव उनके हृदयमें वेद यथार्थरूपमें आता है, और उसमें किसी प्रकारकी अशुद्धिका मेल नहीं होने पाता। किन्तु सामान्य मनुष्यके हृदयमें तप, त्याग और आन्तरज्ञान उतना न होनेसे उनके हृदयपर बाह्यजगत्का असर बहुत पड़ता है। उनका अन्तःकरण बाह्यमय हो जाता है। उनका भाव भी बाह्यमय होने लगता है। यद्यपि हमारा वेद ईश्वरीयज्ञानका राशि है, तथापि उसके विचारक मनुष्योंकी प्रकृति त्रिगुणमयी—बाह्य जगन्मयी हो चुकी है, इसलिये ये लोग उसका विचार करते समय, उसको समझते समय, और उसका अर्थ करते समय उसमें अपने बाह्यभावका भी किसी अंशमें सम्मिश्रण (मेल) कर लेते हैं। इस तरह अनादिकालकी मनुष्यपरम्परामें जाकर वेदके ज्ञानका रूपान्तर हुए विना नहीं रहता। रूपान्तरित हुआ वेद भी मुख्य फलके दान करनेमें असमर्थ हो जाता है।

यदि कोई कहे कि ऐसे समय भगवान्का अवतार प्रकट होकर सामान्य मनुष्योंकी बुद्धिको क्यों नहीं सुधार देता? तो इसका उत्तर इतना ही है कि कभी-कभी भगवान्को असुरोंका ही पक्षपात होता है। क्योंकि सुर और असुर दोनों ही प्राजापत्य हैं। क्रीडाके लिये प्रजापतिको दोनोंका ही अस्तित्व अपेक्षित है। ऐसे समय असुरोंका बाह्यज्ञान ही बलवान् रहता है। यद्यपि आन्तर पदार्थ आत्माको समझ लेनेके लिये ही अन्तरिन्द्रिय विशुद्ध मन, विशुद्ध बुद्धि और विशुद्ध चित्त आदिका निर्माण है, तथापि प्रजापतिके क्रीडार्थ आसुर जगत्के बलवान् हो जानेसे सबके अन्तरिन्द्रिय भी बाह्यमय हो जाते हैं, देह-सुखको ही परमपुरुषार्थ मानने लग जाते हैं। आत्माकी पहचान भी नहीं रहती। प्रजापतिको बाह्यक्रीडा करनी है अतएव उसने सामान्य जनताके अन्तरिन्द्रियोंको भी बाह्य बनाकर काट दिया, अन्तःप्रवेशके अयोग्य बनाकर आत्मातक पहुँचनेसे रोक दिया। श्रुति कहती है—

पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयम्भू-
स्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।

स्वयम्भूने मनुष्यकी इन्द्रियोंको बाह्य बनाकर काट दिया है, अतएव ये बाह्यजगत्को ही देखती हैं, अन्तःपदार्थ आत्माकी तरफ जाती ही नहीं। मनुष्यकी ज्ञानेन्द्रियाँ बाह्यपदार्थोंका ग्रहण सुलभरीतिसे करती रहती हैं। इसकी आन्तर समझ बहुत थोड़ी है। आन्तर और गूढ पदार्थोंका ग्रहण करनेके लिये इन्द्रियोंका पूर्ण परिष्कार करना पड़ता है। करोड़ोंमें कोई एक किसी समय इन्द्रियोंको निर्दोष बनानेके साधन पाता है और बड़े श्रमसे कभी-कभी आत्माके सम्मुख हो पाता है। प्रजापतिकी क्रीड़ा और उसके स्वरूपको समझ लेना—बस, यही विशुद्धताकी सिद्धि है। किन्तु आसुर समयमें ऐसा होना आश्चर्य समझा जाता है। अतएव हमारे ठाकुरने कहा है—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥

अन्तःसत्ता ही मुख्य है, सार्वदिक है। और बाह्य सत्ता गौण है, क्रीडार्थ है। अन्तःसत्ता शान्त है—अतएव सूक्ष्मक्रिय है, दुर्बल है, किन्तु बाह्य सत्ता अशान्त, व्याकुलक्रिय और बलवती है। कभी अशान्तको भी शान्त होना पड़े, बाह्यको भी आन्तर होना पड़े; यह बात दूसरी है; पर बाह्यसे आन्तर और आन्तरसे बाह्य सत्ता हुए विना नहीं रह सकती; क्योंकि दोनों सर्वदा क्रियाशील रहती हैं, दोनोंमें महायुद्ध चलता ही रहता है। उस महायुद्धसे ही आन्तर जगत्से बाह्य जगत् पैदा होता है और वह इतना बढ़ता है कि उस आन्तर जगत्को ढक देता है। इस सिद्धान्तको समझानेके लिये उपनिषदोंमें कई दृष्टान्त दिये हैं। यथा—

दध्नः सौम्य मथ्यमानस्य योऽणिमा स ऊर्ध्वः समुदीषति स सर्पिर्भवति॥

'दहीको जब हम मथते हैं, तब उसका जो अतिसूक्ष्म भाग होता है वह ऊपर उठ आता है, वह घृत या मक्खन कहा जाता है।'

यहाँ बाह्य सत्ता दही है, और आन्तर सत्ता घृत था। किन्तु बाह्य सत्ता इतनी बढ़ी-चढ़ी थी कि उसने घृतको दबा

रक्खा था। इन दोनोंकी मूल सत्ता दुग्ध एक ही पदार्थ है, पर उभयसम्मिलित है। दहीकी और घृतकी स्थिति उसीमें है, पर अति अव्यक्त। दुग्धदहीकी क्रियाशीलतासे अथवा यों कहिये कि दधि-घृतके परस्पर महायुद्धसे वह पहले दधि हुआ, पीछे उसने घृतरूप होकर असुरको बाह्य बनाकर फेंक दिया। आन्तर सत्ताने विजय पाया।

वास्तविक और प्रशान्त सत्ता परमेश्वर है। सर्वसमर्थ सत्ताको ईश्वर कहते हैं। वह सबसे श्रेष्ठ है, उससे पर कोई नहीं; इसलिये उस ईश्वरको 'परम' विशेषण दिया गया है।

पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः।

(श्रुतिः)

वह होना चाहता है, तब सब कुछ हो सकता है। उसमें असङ्कुचित रीतिसे स्वाभाविक ही सभी सामर्थ्य सर्वदा विद्यमान रहते हैं। पर जब वह स्वानन्दमग्न रहता है, तब एकदम प्रशान्त रहता है। वहाँ वाणी और मनकी भी पहुँच नहीं होती।

किन्तु जब कभी वह बाह्यक्रीडा करना चाहता है। तब वह अपनी शक्तियोंको प्रकाशित करता है। इस अव्यक्त प्रकाशनको उपनिषदोंमें प्रकम्पन, चलन, किंवा अव्यक्त क्रिया कहा है। उस क्रियाशीलतासे ही वह प्रजापतिरूपमें आता है। शक्ति, शक्तिमान्। प्रजापति और प्रजा। उसकी अन्तःशक्तियाँ, अन्तःसत्ताएँ ही उसकी प्रजा हैं। वे सभी क्रियाशील हैं। उनकी परस्पर क्रियाशीलतासे ही अन्तःसत्ताएँ बाह्य सत्ताओंका रूप धारण करती हैं। यह सब परिवर्तन हजारों युगोंमें हो पाया। इन आन्तर सत्ता और आन्तर शक्तियोंके परस्पर सङ्घर्षरूप युद्धसे बाह्य शक्ति और बाह्य सत्ताएँ प्रकाशित हुई। यहाँ आकर सुरासुरका युद्ध छिड़ गया। हम पहले कह चुके हैं कि 'कनीयसा एव देवा ज्यायसा असुराः'—देव प्रशान्त अतएव दुर्बल कहे जाते थे, किन्तु असुर लोग बढ़े-चढ़े थे। बाह्य सत्ताएँ और बाह्य शक्तियाँ इतनी बढ़ीं कि उन्होंने अन्तः-सत्ताको दबा लिया, ढक दिया।

यथा घनोऽर्कप्रभवोऽर्कदर्शितो
ह्यर्कांशभूतस्य च चक्षुषस्तमः।

मेघपंक्तियाँ सूर्यका ही रूपान्तर हैं। सूर्यकी किरणोंसे ही मेघोंकी उत्पत्ति है, किन्तु ये मेघ इतने बढ़ते हैं कि चातुर्मास्यमें सूर्यको ढक लेते हैं। इसी तरह आत्माप्रभृति अन्तःसत्ताओंसे ही देहादि बाह्य सत्ताएँ पैदा होती हैं, पर वे इतनी बढ़ती हैं कि अन्तःसत्ताओंको छिपा देती हैं। यह सब क्रियाशीलता—युद्धका प्रभाव है। इस पारस्परिक युद्धसे ही जगत् स्थिर है। युद्ध ही जगत्का प्रभव है और युद्धसे जगत् (बाह्य सत्ता) का संहार भी होता है।

जड जडका, चेतन चेतनका, जड चेतनका और चेतन जडका स्थापक है, उत्पादक है और संहारक भी है। जड-जीव-जगत्का ईश्वरीय विधान ही ऐसा है कि एक वस्तु, चाहे वह जड हो या चेतन, दूसरी वस्तुके नाशपर अपना जीवन निर्भर रखती है। छोटे बड़ोंका आहार हैं। बलवान् दुर्बलोंको अपने पेटमें रख लेते हैं। बलवान् जीवोंमें भी प्रकर्षापकर्ष, सुरासुर-विभाग विद्यमान रहता है; इसलिये वहाँ भी युद्ध और दुर्बलका नाश होता रहता है।

ऐसी अवस्थामें प्रजापति अपनी प्रजाओंकी रक्षा करनेके लिये बलका दान करता रहता है। बलहीन प्रजा बलके विना अपनी आत्माको सम्हाल नहीं सकती। 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः।' बुद्धि, जातीयता, परिवार और आत्मीयता आदि अनेक प्रकारके बल हैं। जड पदार्थमें समानग्राहकताका नियम ही बल है। रेणु दुर्बलतम है, वायु बलवान् है; अतएव वह इसे कहीं-का-कहीं उड़ाये लिये फिरता है। ईश्वरने समानग्राहकताका नियम पैदा कर दिया। पार्थिव परमाणु पार्थिव परमाणुओंको ग्रहणकर दृढसम्बद्ध हो जाता है। इस तरह वे सब अपनी जातीयता, आत्मीयता और परिवारके द्वारा बलवान् हो जाते हैं। वे ही रजःपरमाणुगण जब परिवारसम्बद्ध होकर शिला और पर्वत हो जाते हैं, तब वायु भी उनसे हार मान लेता है। चेतनमें बुद्धि ही बल है। क्रियाशीलतायुक्त चेतनोंमें बुद्धिसम्पन्न बलवान् है। मनुष्यजातिने अपने बुद्धिबलसे अन्यान्य प्राणियोंपर चिरकालसे अपना आधिपत्य स्थापित कर रक्खा है। शारीरिक बल और क्रियाशक्तिसम्पन्न सिंहादि जातियाँ भी बुद्धिके अभावसे मनुष्यके वश हो जाती हैं। 'आकाशाद्वायुः' इत्यादि क्रमसृष्टिके पक्षका ग्रहण करें तो कहना पड़ता है कि मनुष्यकी सृष्टि सबसे पीछे हुई है। क्योंकि इसमें बुद्धिका विकास अधिक है।

शास्त्र भी यही कह रहा है—

सृष्ट्वा पुराणि विविधान्यजयात्मशक्त्या
वृक्षान् सरीसृपपशून् खगदंशमत्स्यान्।
तैस्तैरतुष्टहृदयः पुरुषं विधाय
ब्रह्मावलोकधिषणं मुदमाप देवः॥

ब्रह्म सम्पूर्ण जगत्में व्यापक है। इसको समझ लेनेके लिये प्रजापतिने वृक्ष, पशु आदि बहुत-से प्राणी बनाये। किन्तु उनकी समझमें न तो अपना और न जगत्का स्वरूप आया। तब उसने बुद्धिसम्पन्न मनुष्यकी उत्पत्ति की। इसने अपने बुद्धिबलसे अपना और जगत्के स्वरूपको समझ पाया। तब भगवान्को सन्तोष हुआ। फिर भी मनुष्यको ज्ञानके विषयमे सन्तोष नही हुआ है। बुद्धिके बलसे ही मानव-जगत्का प्रत्येक व्यक्ति अपनी जातिका सङ्गठन करके अपना परिवार बना अपनी आत्मीयता बढ़ाकर अपनी स्थिति बढ़ानेके लिये दूसरोंके साथ युद्धमें अग्रसर हो रहा है। बलवान् बलवानोके साथ, बुद्धिसम्पन्नोंका बुद्धिमानोंके साथ, सिद्धान्तोंका सिद्धान्तोंके साथ और आदर्शोंका आदर्शोंके साथ घोर संग्राम चल रहा है। उत्पत्तियुद्ध, स्थितियुद्ध और संहारयुद्ध, तीनों तरहका युद्ध चल रहा है। आश्चर्यके साथ कहना पड़ता है कि जगत्की अनादिसिद्ध 'अस्ति' ही इस विश्वव्यापी महायुद्धपर निर्भर है। प्रजापतिका निर्माण-कौशल ही ऐसा हुआ है कि एकके पराजयमें ही दूसरेका जय निहित है। एकका नाश करके ही दूसरा जी सकता है। नूतनकी उन्नतिमें पुरातनका विनाश अनिवार्य है। इतना ही नहीं, किसी बातको हमारे न चाहनेपर भी इस युद्धका विराम नहीं होता। हम सुख चाहते हैं, दुःख नहीं। जन्मको चाहते हैं मृत्युको नहीं। संयोग चाहते हैं वियोग नहीं। वैभव चाहते हैं दारिद्र्य नहीं। पर इससे क्या? किसीके चाहने न चाहनेसे यह विश्वव्यापी देवासुरसंग्राम रुक नहीं सकता। इस विश्वव्यापिनी क्रियाशीलताने किसीके स्नेहका अनुरोध नहीं किया। किसीकी आवश्यकताका विचार न किया। और किसीकी प्रतिष्ठा न होने दी। प्रतिष्ठाकी अप्रतिष्ठा हो जानेपर भी, बन्धुस्नेहका विच्छेद हो जानेपर भी, आवश्यकताओंके रहने या न रहनेपर भी, यह महायुद्ध चलता ही रहा, और चलता ही रहेगा।

कभी-कभी हम ही हमारे नाशमें अग्रसर हो जाते हैं। क्योंकि यह दैनन्दिन महायुद्ध हमारा कर्तव्य हो रहा है। अपना जीवन और चिराभ्यस्त हो जानेसे इस तरफ हमारी दृष्टि ही नहीं जाती। जब कोई महायुद्ध, जगत्के किसी एक कोनेमें होने लगता है तो लोग उसके लिये हाय-तोबा मचा देते हैं। पर इस दैनिक गूढ़ महायुद्धकी तरफ किसीकी दृष्टि नहीं जाती। हम ही युद्धमें लिप्त रहते हैं और हमें ही कुछ नहीं मालूम होता।

वास्तवमें देखा जाय तो हेतुकी दृष्टिसे और स्वरूपकी दृष्टिसे भी, समुद्रमथनके समयका देवासुर-संग्राम, महाभारत-का कौरव-पाण्डव-युद्ध, यादवस्थली, जापान-रूसयुद्ध और यूरोपीय महायुद्ध आदि युद्ध इस जगत्के एक कोनेमें कदाचित् हो गये हैं। जगत्की विश्वव्यापिनी दृष्टिमें ये सब नगण्य हैं। तथापि इन छोटे-छोटे युद्धोंने सारे विश्वको कँपा दिया, किन्तु प्रतिदिन चलते रहते समग्र विश्वमें व्याप्त इस महायुद्ध-पर किसीकी दृष्टि भी नहीं आती, बस, यही उस प्रजापतिकी अचिन्त्य क्रियाकुशलता है।

युद्ध-युद्धमें भेद है। जिस युद्धको मनुष्य अपना कर्तव्य समझकर अपनी जीवनधारा चला रहा है, अपने धर्मकी रक्षा कर रहा है, अपनी प्रतिष्ठा और शान्तिकी रक्षा कर रहा है, एक तो यह युद्ध, और दूसरा वह युद्ध कि जिसमें शान्तिरक्षा और देशरक्षाका तो बाहरी ढोंग हो और भीतर हीनतम व्यक्तिस्वातन्त्र्य, व्यक्तिस्वार्थ और इन्द्रियतृप्तिकी लालसा ही भरी हुई हो। दोनोंका आकार-प्रकार भले एक-सा हो किन्तु दोनोंमें आकाश-पातालका भेद है। केवल दैहिक सुख, इन्द्रियारामता और हीनतम स्वार्थकी लिप्सा रखनेवालोंकी सब क्रियाशीलता ढोंग, अन्याय और परपीडनसे भरी रहती हैं। यह आसुर युद्ध है।

प्रवृत्ति और निवृत्ति, ग्रहण और त्याग ये दो बातें ही दैवासुर-संग्रामका भेद स्पष्ट कर देती हैं।

'प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः।'

आसुरोंमें क्रियाशीलता होती है किन्तु ग्रहण और त्यागकी समझ नहीं होती। इनके यहाँ ग्रहण-ही-ग्रहण है त्याग नहीं। हमारे यहाँ ऐसी क्रियाशीलता—युद्धका निषेध है।

'स स्तेनो दण्डमर्हति।'

'तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः।'

'अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति।'

भारतीय युद्धोंमें एक पक्षके हृदयमें वास्तविक शान्ति-रक्षा, न्याय और औचित्य बना रहता था, किन्तु आजकलके वैदेशिक युद्धमें दोनों पक्षके हृदयोंमें इन्द्रियारामता, तृष्णा, हीनस्वार्थ, अन्याय और परपीडन छिपा हुआ रहता है और ऊपरसे शान्तिरक्षाकी दुहाई दी जाती है। 'द्वया ह प्राजापत्याः' इत्यादि पूर्वोक्त श्रुतिके देवासुर-संग्राममें भी यही भेद है। असुरोंमें केवल क्रियाशीलता ग्रहण-ही-ग्रहण था।

अतएव वे बलवान् हो गये। पर देवोंमें त्याग ही था, नियमित क्रियाशीलता थी अतएव वे हलके कहे गये। आत्मा-परमात्माको न समझकर इन्द्रियतृप्ति आदि उद्देश्योंको पकड़-कर भयंकर क्रियाशीलतामें तत्पर रहनेवाले थोड़े समयके लिये बलवान् हो उठते हैं। पर थोड़े समयमें ही ऐसे लोग अपना और जगत्‌का नाश कर बैठते हैं। इन लोगोंके स्वरूपका कुछ दिग्दर्शन हमारे गीताके ठाकुरने कराया है—

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।
अपरस्परसम्भूतं किमन्यत्कामहैतुकम्॥
चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः॥
आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान्॥
इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्।
असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि॥
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी।
आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया॥
एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः॥

अर्थात् यह जगत् असत्य है। पुनर्जन्मादि सब गप्पें हैं। जो कुछ दीख रहा है वह इसी तरह चलता रहेगा, कहीं जाकर ठहरता नहीं। इसका कोई ईश्वर नहीं है। हम ही सब इसके स्वामी या व्यवस्थापक हैं। जो बलवान् वही ईश्वर। प्रकृति-पुरुष या किसी भी कर्ताने इस विश्वको नहीं बनाया है। अपने-आप ही पैदा होता जाता है, नष्ट भी होता रहता है। मौज-मजा उड़ानेके लिये ही यह दुनिया है। इसके सब विषयोंकी, सब तरहकी चिन्ता (विचार) और वह भी प्रलयपर्यन्तकी हमलोगोंको रखनी चाहिये। इसीसे रख रहे हैं। इन्द्रियोंको और देहको सुखी रखना बस, यही मनुष्यका परम पुरुषार्थ है। इसके सिवा दुनियामें कोई कर्तव्य है ही नहीं। इस तरह मनमाना दृढ सिद्धान्त मानकर सैकड़ों आशाओंकी फाँसियोंसे बँधे रहते हैं। सर्वदा काम-क्रोधादिसे भरे रहते हैं। यह तो मैंने ले ही लिया, अब इतना और ले लेनेकी मनमें है सो इस तरह ले लूँगा। इस तरह इन्द्रिय-सुख-भोगोंको भोगनेके लिये ही अन्यायसे धनका सञ्चय करते रहते हैं। मेरे इन विरोधियोंको तो मैंने दूर कर ही दिया। और अब भी जो मेरे स्वार्थका विरोध करेंगे उन्हें मारूँगा। मेरे बराबर दूसरा है कौन ? इस तरहके राजस-तामस सिद्धान्तोंको दृढ़ पकड़कर भयंकर क्रियाशीलतामें लगे रहनेवाले ये आत्मा (अन्तःसत्ता) से बेखबर, थोड़ी बुद्धिवाले आसुर जीव, पहले तो सारी दुनियापर अपनी धाक जमा लेते हैं पर अन्तमें सारी दुनियाका नाश करवा देते हैं। अतएव ये लोग वास्तवमें जगत्‌का अहित करनेवाले हैं। (गी० १६ अध्याय)।

केवल देहसुखकी वाञ्छा, अनियमित इन्द्रियारामता और अन्यायसे प्राणपोषण ये आसुरभावके प्रधान चिह्न हैं।

तुम न रूठना देव !

तुम न रूठना देव !, भले ही सब दुनियाँ मुख मोड़े।
तुम न रूठना देव !, भले ही स्वजन कुटिल हो हेरे॥
तुम न रूठना देव !, भले ही लक्ष्मी भी सँग छोड़े।
तुम न रूठना देव !, भले ही निविड़ कालिमा घेरे॥
तुम न रूठना देव ! और यह सब सह लूँगा प्रमुदित मन।
केवल स्मृतिमें रहने देना—निपुण पात्रका नाट्यकरण॥

—बालकृष्ण बलदुवा

सीखभरे चुटकुले

(संगृहीत)

(१)

भक्तका स्वभाव

प्रह्लादने गुरुओंकी बात मानकर हरिनामको न छोड़ा, तब उन्होंने गुस्सेमें भरकर अग्निशिखाके समान प्रज्ज्वलित शरीरवाली कृत्याको उत्पन्न किया। उस अत्यन्त भयङ्कर राक्षसीने अपने पैरोंकी चोटसे पृथ्वीको कँपाते हुए वहाँ प्रकट होकर बड़े क्रोधसे प्रह्लादजीकी छातीमें त्रिशूलसे प्रहार किया। किन्तु उस बालकके हृदयमें लगते ही वह झलझलाता हुआ त्रिशूल टुकड़े-टुकड़े होकर जमीनपर गिर पड़ा। जिस हृदयमें भगवान् श्रीहरि निरन्तर अक्षुण्णरूपसे विराजते हैं उसमें लगनेसे वज्रके भी टूक-टूक हो जाते हैं फिर त्रिशूलकी तो बातही क्या है?

पापी पुरोहितोंने निष्पाप भक्तपर कृत्याका प्रयोग किया था; बुरा करनेवालेका ही बुरा होता है, इसलिये कृत्याने उन पुरोहितोंको ही मार डाला। उन्हें मारकर वह स्वयं भी नष्ट हो गयी। अपने गुरुओंको कृत्याके द्वारा जलाये जाते देखकर महामति प्रह्लाद 'हे कृष्ण! रक्षा करो! हे अनन्त! इन्हें बचाओ' ऐसा कहते हुए उनकी ओर दौड़े।

प्रह्लादजीने कहा—'हे सर्वव्यापी, विश्वरूप, विश्व-स्रष्टा जनार्दन! इन ब्राह्मणोंकी इस मन्त्राग्निरूप दु:सह विपत्तिसे रक्षा करो। यदि मैं इस सत्यको मानता हूँ कि सर्वव्यापी जगद्गुरु भगवान् सभी प्राणियोंमें व्याप्त हैं तो इसके प्रभावसे ये पुरोहित जीवित हो जायँ। यदि मैं सर्वव्यापी और अक्षय भगवान्को अपनेसे वैर रखनेवालोंमें भी देखता हूँ तो ये पुरोहितगण जीवित हो जायँ। जो लोग मुझे मारनेके लिये आये, जिन्होंने मुझे जहर दिया, आगमें जलाया, बड़े-बड़े हाथियोंसे कुचलवाया और साँपोंसे डँसवाया, उन सबके प्रति यदि मेरे मनमें एक-सा मित्रभाव सदा रहा है और मेरी कभी पाप-बुद्धि नहीं हुई है तो इस सत्यके प्रभावसे ये पुरोहित जीवित हो जायँ।'

ऐसा कहकर प्रह्लादने उनका स्पर्श किया और स्पर्श होते ही वे मरे हुए पुरोहित जीवित होकर उठ बैठे और प्रह्लादका मुक्तकण्ठसे गुणगान करने लगे!

—विष्णुपुराण

(२)

प्रभुकी वस्तु

एक भक्तके एक ही पुत्र था, और वह बड़ा ही सुन्दर, सुशील और धर्मात्मा था। एक दिन अकस्मात् वह मर गया। इसपर वह भक्त प्रसन्न हुआ और उसने भगवान्का उपकार माना। लोगोंने उसके इस विचित्र व्यवहारपर आश्चर्य प्रकट करते हुए उससे पूछा—'पागल! तुम्हारा इकलौता बेटा मर गया है और तुम हँस रहे हो, इसका क्या कारण है?' उसने कहा—'मालिकके बगीचेमें फूला हुआ बहुत सुन्दर पुष्प माली अपने मालिकको देकर प्रसन्न होता है या रोता है? मेरा तो कुछ है ही नहीं, सब कुछ प्रभुका ही है। कुछ समयके लिये उनकी एक चीज मेरी सँभालमें थी इससे मेरा कर्तव्य था—मैं उसकी जी-जानसे देख-रेख करूँ, अब समय पूरा होनेपर प्रभुने उसे वापस ले लिया, इससे मुझे बड़ा हर्ष हो रहा है। और मैं उनका उपकार इसलिये मानता हूँ कि मैंने उनकी वस्तुको न मालूम कितनी बार अपनी मान लिया था—न जाने कितनी बार मेरे मनमें बेईमानी आयी थी। उसकी देख-रेखमें भी मुझसे बहुत-सी त्रुटियाँ हुई थीं, परन्तु प्रभुने मेरी इन भूलोंकी ओर कुछ भी ध्यान न देकर

मुझे कोई उलाहना नहीं दिया। इतनी बड़ी कृपाके लिये मैं उनका उपकार मानता हूँ तो इसमें कौन-सी आश्चर्यकी बात है ?'

(३)

समता

'अरे नामू ! तेरी धोतीमें खून कैसे लग रहा है ?'

'यह तो माँ ! मैंने कुल्हाड़ीसे पगको छीलकर देखा था।' माँने धोती उठाकर देखा—पैरमें एक जगहकी चमड़ी मांससहित छील दी गयी है। नामदेव तो ऐसे चल रहा था मानो उसको कुछ हुआ ही नहीं। नामदेवकी माँने फिर पूछा—

'नामू ! तू बड़ा मूर्ख है। कोई अपने पैरपर भी कुल्हाड़ी चलाया करता है ? पैर टूट जाय तो लंगड़ा होना पड़े। घाव पक जाय या सड़ जाय तो पैर कटवानेकी नौबत आवे।'

'तब पेड़को भी कुल्हाड़ीसे चोट लगनी चाहिये। उस दिन तेरे कहनेसे मैं पलासके पेड़पर कुल्हाड़ी चलाकर उसकी छाल उतार लाया था। मेरे मनमें आयी कि अपने पैरकी छाल भी उतारकर देखूँ, मुझे कैसी लगती है। पलासके पेड़को कुछ हुआ होगा यही जाननेके लिये मैंने ऐसा किया माँ।'

नामदेवकी माँको याद आया कि मैंने नामदेवको उस दिन काढ़ेके लिये पलासकी छाल लाने भेजा था। नामदेवकी माँ रो पड़ी—उसने कहा, 'बेटा नामू ! मालूम होता है तू महान् साधु होगा। पेड़ोंमें और दूसरे जीव-जन्तुओंमें भी मनुष्यके ही जैसा जीव है। अपने चोट लगनेपर दुःख होता है, वैसा ही उनको भी होता है।'

बड़ा होनेपर यही नामू प्रसिद्ध भक्त नामदेव हुए।

—शक्ति

(४)

साधुशिरोमणि

(लेखक—श्रीमूलचन्द आशाराम वैराटी, जौहरी)

एक साधुने ईश्वरप्राप्तिकी साधनाके लिये कठिन तप करते हुए छः वर्ष एकान्त गुफामें बिताये और प्रभुसे प्रार्थना की कि 'हे प्रभो ! मुझे अपने आदर्शके समान ही ऐसा कोई उत्तम महापुरुष बतलाइये, जिसका अनुकरण करके मैं अपने साधनपथमें आगे बढ़ सकूँ।'

साधुने जिस दिन ऐसा चिन्तन किया, उसी दिन रात्रिको एक देवदूतने आकर उससे कहा 'यदि तेरी इच्छा सद्गुणी और पवित्रतामें सबका मुकुटमणि बननेकी हो तो उस मस्त भिखारीका अनुकरण कर जो कविता गाता हुआ इधर-उधर भटकता और भीख माँगता फिरता है।' देवदूतकी बात सुनकर तपस्वी साधु मनमें जल उठा, परन्तु देवदूतका वचन समझकर क्रोधके आवेशमें ही उस भिखारीकी खोजमें चल दिया। और उसे खोजकर बोला कि, 'भई, तूने ऐसे कौनसे सत्कर्म किये हैं, जिनके कारण ईश्वर तुझपर इतने अधिक प्रसन्न हैं ?'

उसने तपस्वी साधुको नमस्कार करके कहा—'पवित्र महात्मा ! मुझसे दिल्लगी न कीजिये। मैंने न तो कोई सत्कर्म किया, न कोई तपस्या की और न कभी प्रार्थना ही की ! मैं तो कविता गा-गाकर लोगोंका मनोरञ्जन करता हूँ और ऐसा करते जो रूखा-सूखा टुकड़ा मिल जाता है, उसीको खाकर सन्तोष मानता हूँ।' तपस्वी साधुने फिर आग्रहपूर्वक कहा—'नहीं, नहीं, तूने कोई सत्कार्य अवश्य किया है।' भिखारीने नम्रतासे कहा, 'महाराज ! मैंने कोई सत्कार्य किया हो, ऐसा मेरी जानमें तो नहीं है।'

इसपर साधुने उससे फिर पूछा, 'अच्छा बता, तू भिखारी कैसे बना ? क्या तूने फिजूलखर्चीमें पैसे उड़ा दिये, अथवा किसी दुर्व्यसनके कारण तेरी ऐसी हालत हो गयी ?'

भिखारी कहने लगा—'महाराज ! न मैंने फिजूल-खर्चीमें पैसे उड़ाये और न किसी व्यसनके कारण ही मैं भिखारी बना। एक दिनकी बात है, मैंने देखा एक गरीब स्त्री घबरायी हुई-सी इधर-उधर दौड़ रही है, उसका चेहरा उतरा हुआ है। पता लगानेपर माळूम हुआ कि उसके पति और पुत्र कर्जके बदलेमें गुलाम बनाकर बेच दिये गये हैं। बहुत खूबसूरत होनेके कारण कुछ लोग उसपर भी अपना कब्जा करना चाहते हैं। यह जानकर मैं उसे ढाढ़स देकर अपने घर ले आया और उसकी उनके अत्याचारसे रक्षा की, फिर मैंने अपनी सारी मिल्कियत साहूकारोंको देकर उसके पति-पुत्रोंको गुलामी-से छुड़ाया और उनको उससे मिला दिया। इस प्रकार मेरी सारी सम्पत्ति चली जानेसे मैं दरिद्र हो गया और आजीविकाका कोई साधन न रहनेसे मैं अब कविता गा-गाकर लोगोंको रिझाता हूँ और इसीसे जो टुकड़ा मिल जाता है उसीको लेकर आनन्द मानता हूँ। पर इससे क्या हुआ? ऐसा काम क्या और लोग नहीं करते?'

भिखारीकी कथा सुनते ही तपस्वी साधुकी आँखोंसे मोती-जैसे आँसू झड़ने लगे और वह उस भिखारीको हृदयसे लगाकर कहने लगा—'मैंने अपनी जिन्दगीमें तेरे-जैसा कोई काम नहीं किया। तू सचमुच आदर्श साधु है।' —सन्देश

(५)

अन्यायका पैसा

जाने क्यों, सम्राट्की नींद यकायक उड़ गयी। पलंगपर पड़े रहनेके बदले बादशाह उठकर बाहर निकल आया। निस्तब्ध रात्रि थी। पहरेदारने अभी-अभी बारहके घण्टे बजाये थे।

पासके बैठकखानेमें तेज रोशनीकी एक बढ़िया चिराग जल रही थी। सम्राट्ने कौतूहलवश उस ओर पैर बढ़ाये।

बहीखातोंके ढेरके बीचमें, आयविभागका प्रधान मन्त्री (Revenue Minister) किसी गहरी चिन्तामें डूबा बैठा था। सम्राट्के पैरोंकी धीमी आहट सुननेतककी उसे सुध नहीं थी। साम्राज्यपर अचानक कोई भारी विपत्ति आ पड़ी हो और उसे दूर करनेका उपाय सोच रहा हो—वह इस प्रकार ध्यानमग्न था।

सम्राट् कुछ देरतक यह दृश्य देखता रहा; और मेरे राज्यके ऊँचे अधिकारियोंमें ऐसे परिश्रमी और लगनवाले पुरुष हैं, यह जानकर उसे अभिमान हुआ!

'क्यों, बड़ी चिन्तामें डूब रहे हो, क्या बात है?' सम्राट्ने कहा।

मन्त्रीने उठकर सम्राट्का स्वागत किया। अपनी चिन्ताका कारण बतलाते हुए मन्त्रीने कहा, 'गत वर्षकी अपेक्षा इस वर्ष लगानकी वसूलीके आँकड़े कुछ ज्यादा थे, इसलिये मैंने स्वयं ही इसकी जाँच करनेका निश्चय किया।'

'इस वर्ष लगान अधिक आया है, इसका तो मुझे भी पता है, परन्तु ऐसा क्यों हुआ, यह माळूम नहीं।' सम्राट्ने यह कहकर आयमन्त्रीकी बातका समर्थन किया।

'उस कारणको खोज निकालनेके लिये ही मैं जागरण कर रहा हूँ सरकार! सारे बहीखाते उलट डाले, कहीं खास परिवर्तन नहीं माळूम हुआ। संवत् भी बहुत अच्छा नहीं था।' आयमन्त्रीने असल बात कहनी शुरू की।

'तो हिसाबमें भूल हुई होगी।'

'हिसाब भी जाँच लिया। जोड़-बाकी सब ठीक हैं।'

'तब तुम जानो और तुम्हारा काम जाने। लगान तो बढ़ा ही है न? इसमें चिन्ताकी कौन-सी बात है? रात बहुत चली गयी है, अब इस बखेड़ेको कलपर रक्खो।' सम्राट्ने उकताकर मुँह फेर लिया।

'आमदनी बढ़ी है यह ठीक है, परन्तु यही तो साम्राज्यके लिये चिन्ताका कारण है। लगानकी कमी सही जा सकती है, परन्तु अन्यायकी अगर एक कौड़ी

भी खजानेमें आ जाती है तो वह सारे साम्राज्यके अंगोंसे फूट-फूटकर निकलती है।' आयमन्त्रीने अपने उद्वेगका इतिहास धीरे-धीरे कहना आरम्भ किया। 'सरकार! यहाँ भी ऐसा ही हुआ है। किसानोंके पैदायश नाममात्रकी है। गयी साल गर्मी बहुत पड़ी थी इससे गङ्गा-यमुना-जैसी भरीपूरी नदियोंका जल भी सूख चला था। जल सूख जानेसे किनारेकी जमीन निकल आयी थी। इस जमीनमें लोगोंने कुछ बाड़े बनाये और उन्हींके द्वारा सरकारी खजानेमें कुछ धन ज्यादा आया। आमदनी बढ़नेका यही गुप्त रहस्य है।'

'नदियाँ सूख गयीं—जल दूर चला गया और लगान बढ़ा।' मन्त्रीकी चिन्ताने सम्राट्के दिलपर भी चिन्ताका चेप लगा दिया। कुछ देरतक इन्हीं शब्दोंको वह रटता रहा।

'नदीका जल सूखना भी तो एक ईश्वरीय कोप है। इस कोपको सिर लेकर लगानकी मौज उड़ानेवाली बादशाही कबतक टिकी रह सकती है? यह अन्यायका पैसा है। मेरे खजानेमें ऐसी एक कौड़ी भी नहीं चाहिये।' सम्राट्ने अपनी आज्ञा सुना दी। आयमन्त्रीकी चिन्ता अकारण नहीं थी, सम्राट्को इसका अनुभव हुआ।

'इन गरीब प्रजाका लगान लौटा दो और मेरी ओरसे उनसे कहला दो कि वे रात-दिन गङ्गा-यमुनाको भरीपूरी रखनेके लिये ही भगवान्से प्रार्थना करें। लगानकी बढ़ती नहीं, परन्तु यह न्यायकी वृत्ति ही इस साम्राज्यकी मूल भित्ति है।' सम्राट्ने जाते-जाते यह कहा। धन्य! —जय स्वदेशी

(६)

मित्रता

डामन और पिथियस दो मित्र थे। दोनोंमें बड़ा ही प्रेम था। एक बार उस देशके अत्याचारी राजाने डामनको फाँसीका हुक्म दे दिया। डामनके स्त्री-बच्चे बहुत दूर समुद्रसे उस पार रहते थे। उसने उनसे मिलनेकी इच्छा प्रकट की। राजाने कहलवाया कि डामनके बदलेमें यदि कोई दूसरा आदमी जेलमें रहनेको तैयार हो और अगर डामन समयपर न पहुँच सके तो उसीको फाँसीपर चढ़ा दिया जाय यह उसे मंजूर हो तो डामन नियत समयके लिये घर जा सकता है। पिथियसने डामनसे बिना ही पूछे यह शर्त स्वीकार कर ली। पक्की लिखा-पढ़ी हो गयी और डामनको जेलखानेसे निकालकर उसकी जगह पिथियसको रख दिया गया। पिथियस सोच रहा था, 'हे भगवन्! डामन समयपर न लौटे तो बड़ा अच्छा हो।' समय बीतने लगा। हवा विरुद्ध होनेके कारण डामनकी नाव समयपर नहीं पहुँच सकी। फाँसीका समय समीप आ गया। पिथियसके मनमें आनन्द और शोक दोनोंकी लहरें उठ-बैठ रही थीं। जब वह सोचता कि 'डामन नहीं आया, मुझे फाँसी हो जायगी' तब वह आनन्दमें मस्त हो जाता। दूसरे ही क्षण जब यह विचार आता तो वह शोकमग्न हो जाता कि 'अभी मुझे फाँसी हुई तो नहीं, इसी बीचमें यदि वह आ पहुँचा तो मेरा मनोरथ असफल ही हो जायगा।' वह बड़े ही व्यग्रचित्तसे बार-बार भगवान्से प्रार्थना करता—'हे प्रभो! डामनके आनेमें देर हो जाय और मैं फाँसीपर चढ़ा दिया जाऊँ।' उधर डामन नावमें यह सोचकर अधीर हो रहा था कि 'कहीं मैं न पहुँच सका तो मेरे पिथियसकी फाँसी हो जायगी।' समय हो गया। डामन नहीं पहुँचा। पिथियसको फाँसीके मचानपर चढ़ाया गया। उसे बड़ा हर्ष था। लोगोंने कहा—'डामनने बहुत बुरा किया, समयपर नहीं आया।' इस बातको पिथियस नहीं सह सका। उसने कहा 'कई दिनोंसे हवा विपरीत चल रही है, इसीसे वह नहीं आ सका। उसपर किसीको कोई बुरा भाव नहीं करना चाहिये।' इतना कहकर वह जल्लादसे बोला—'भाई! समय हो गया है, अब तुम

देर क्यों कर रहे हो ?' उसे एक-एक क्षण असह्य हो रहा था। जल्लाद तैयार हुआ। इसी बीचमें दूरसे बड़े जोरकी आवाज सुनायी दी। 'ठहरो-ठहरो, मैं आ पहुँचा।' लोगोंके देखते-ही-देखते डामन पागल-सा हुआ घोड़ा भगाता हुआ आया और जीनसे कूदकर फाँसीके मचानपर जा चढ़ा। पिथियसको गले लगाकर बोला—'भगवान्‌को धन्य जो उन्होंने तुम्हारी प्राणरक्षा की।' पिथियसने हाथ मलते हुए कहा—'भगवान्‌ने मेरी प्रार्थना नहीं सुनी। तुम दो मिनट बाद क्यों न पहुँचे।' इस अद्भुत दृश्यको देखकर कठोर हृदयका राजा भी आश्चर्यमें डूब गया। उसपर बड़ा ही प्रभाव पड़ा और वह उनके समीप आकर गद्‌गद वाणीसे बोला—दोनों मचानसे उतर जाओ। मैं ऐसी बेजोड़ जोड़ीको तोड़ना नहीं चाहता। मेरी तो प्रार्थना है—दोके साथ तीसरा मैं भी ऐसा ही बन जाऊँ।

(७)

आदर्श दण्ड

फ्रेडरिककी सेनामें एक मनुष्य कभी लेफ्टेनेंट कर्नलके पदपर रहा था। काम न होनेसे उसे अलग कर दिया गया। वह बार-बार फ्रेडरिकके पास आता और उसी पदके लिये उसपर दबाव डालता। फ्रेडरिकने बार-बार उसे समझाया—'भैया ! अभी कोई जगह खाली नहीं है।' परन्तु उसने एक भी नहीं सुनी। आखिर फ्रेडरिकने हैरान होकर उसे बड़ी कड़ाईके साथ वहाँ आनेके लिये मने कर दिया। कुछ समय बाद किसीने फ्रेडरिकके सम्बन्धमें एक बड़ी कड़ी कविता लिखी। शान्तस्वभाव होनेपर भी फ्रेडरिक इस अपमानको न सह सका। उसने मुनादी करवा दी कि इस कविताके लेखकको पकड़कर जो मेरे सामने हाजिर करेगा उसे पचास सोनेकी मोहरें इनाम दी जायँगी। दूसरे दिन फ्रेडरिकने देखा वही आदमी सामने हाजिर है। फ्रेडरिकने क्रोध और आश्चर्यमें भरकर पूछा, 'तू फिर यहाँ कैसे फूट निकला ?' उसने कहा—'सरकार ! आपके विरुद्ध जो कड़ी कविता लिखी गयी थी, उसके लेखकको पकड़ा देनेवालेको आपने पचास सोनेकी मोहरें देनेकी मुनादी करवायी है न ?'

'हाँ हाँ, तो इससे क्या ?' फ्रेडरिकने शान्तभावसे पूछा।

'तब तो सरकार ! वह इनाम मुझे दिये बिना आपका छुटकारा नहीं।' उसने कहा।

'क्यों ?' फ्रेडरिकने संकोचसे पूछा।

'इसलिये सरकार ! कि उस कविताका लिखनेवाला यही आपका सेवक है। आप सरकार ! मुझे भले ही दण्ड दें, परन्तु क्या मेरे भूखों मरते हुए स्त्री-बच्चोंको अपनी घोषणाके अनुसार इनाम नहीं देंगे मेरे कृपालु स्वामी ?'

फ्रेडरिक एकदम लालपीला हो उठा। तुरंत ही एक कागजके टुकड़ेपर कुछ लिखकर उसे देते हुए फ्रेडरिकने कहा—'ले इस परवानेको लेकर स्पाण्डो किलेके कमाण्डरके पास चला जा। वहाँ दूसरोंके साथ कैद करनेका मैंने तुझको दण्ड दिया है।'

'जैसी मर्जी सरकारकी। परन्तु उस इनामको न भूलियेगा।'

'अच्छा सुन ! कमाण्डरको परवाना देकर उससे ताकीद कर देना कि भोजन करनेसे पहले परवाना पढ़े नहीं। यह मेरी आज्ञा है।' गरीब बेचारा क्या करता, फ्रेडरिककी आज्ञाके अनुसार उसने स्पाण्डोके किलेपर जाकर परवाना वहाँके कमाण्डरको दिया और कह दिया कि भोजनके बाद परवाना पढ़नेकी आज्ञा है।

दोनों खानेको बैठे। वह बेचारा क्या खाता। उसका तो कलेजा काँप रहा था कि जाने परवानेमें क्या लिखा है। किसी तरह भोजन समाप्त हुआ, तब कमाण्डरने परवाना पढ़ा और पढ़ते ही वह प्रसन्न होकर पत्रवाहकको बधाइयों-पर-बधाइयाँ देने लगा। उसमें लिखा था—

'इस पत्रवाहक पुरुषको आजसे मैं स्पाण्डोके किलेका कमाण्डर नियुक्त करता हूँ अतएव इसको सब काम सम्हलाकर और सारे अधिकार सौंपकर तुम पोटर्सडमके किलेपर चले जाओ। तुम्हें वहाँका कमाण्डर बनाया जाता है, इससे तुमको भी विशेष लाभ होगा। इसी बीचमें इस नये कमाण्डरके बाल-बच्चे भी सोनेकी पचास मोहरें लेकर पहुँच रहे हैं।'

पत्रवाहक परवाना सुनकर आनन्दसे उछल उठा और पुराने कमाण्डरको भी अपनी इस तबदीलीसे बड़ी खुशी हुई! —शुभसंग्रह

अनन्यता

[कहानी]

(लेखक—श्री'चक्र')

हरद्वारमें नीलधाराके उस पार एक छोटी-सी पहाड़ी है। पहाड़ीके शिखरपर बहुत प्राचीन चण्डीदेवीका मन्दिर है। इसीसे उस पहाड़ीका नाम भी चण्डी-पहाड़ी पड़ गया है। प्रतिवर्ष प्राय: गर्मियोंमें जब हरद्वारमें बाहरके यात्री आते हैं, तो नित्य ही चण्डी-पहाड़ीपर दर्शनार्थियोंकी भीड़ लगी रहती है।

यद्यपि तनिक घुमावका मार्ग है, पर है अच्छा ही। कोई विशेष असुविधा नहीं। सूखी पहाड़ीके ऊपर नीचेसे जलके घड़े ले जाकर कालीकमलीवालोंके स्वयंसेवक यात्रियोंको जलका कष्ट नहीं होने देते।

लोग प्रात: नीलधारा नौकासे पार हो लेते हैं, भोजनको साथ ले जाते हैं। चढ़ाईमें दो घण्टे तो लग ही जाते हैं। दोपहरका विश्राम किसी सघन वृक्षकी छायामें करके यात्री सन्ध्याके समय लौटते हैं।

यह तो आजकलकी बात हुई। पहले इतनी सुविधा नहीं थी। गङ्गाजीमेंसे तब नहर नहीं निकली थी। नीलधारामें गङ्गाजीका सम्पूर्ण जल जाता था। नौकाओंकी भी उस प्रखर प्रवाहमें गति नहीं थी। वर्षाके आरम्भसे ही चण्डीकी यात्रा बन्द हो जाती थी। केवल गर्मियोंमें, सो भी कोई बहुत श्रद्धालु भक्त ही यात्रा करनेका साहस करता।

पहाड़ीके ऊपर तब जल मिलनेकी कोई सुविधा न थी। जल स्वयं नीचेसे ले जाना पड़ता था। चढ़नेके लिये कोई बना हुआ मार्ग न था। यात्री वृक्षोंकी जड़ और चट्टानोंकी कोरें पकड़कर, जिधरसे सम्भव होता, ऊपर जानेकी चेष्टा करते। यदि प्रारब्धने साथ दिया, तो पहुँच जाते; नहीं तो यदि कहीं फिसले तो कम-से-कम उनके हाथ-पैर तो टूट ही जाते।

ऊपर उन दिनों व्याघ्रादि वन-पशुओंका भी बड़ा भय रहता था। वैसे तो चण्डीपहाड़ीके दूसरी ओर पहाड़ियोंके कथनानुसार अब भी घोर पशु रहते हैं। पर उन दिनों तो उनका ही राज्य था। कोई वर्ष ऐसा नहीं जाता था, जब कि वे एक-दो यात्रियोंकी भेंट न ले लेते हों।

उन दिनोंमें मन्दिरके पास एक साधु रहते थे। पता नहीं, उनका शरीर-निर्वाह पत्तोंसे होता था या वनमें उस समय कन्द-मूल और फल भी थे। अब तो वहाँ चीड़ और खैरके ही वृक्ष हैं। वे मन्दिरके बाहर एक शिलापर खुले आकाशमें वैसे ही बारहों महीने पड़े रहते थे। शरीरपर न कोई आच्छादन था और न बिछानेके लिये कोई आसन। शिला ही आसन थी और दिशाएँ ही उनके वस्त्र।

वन-पशु उनसे डरते तो थे ही नहीं, उनसे उनका प्रेम हो गया था। वे जब कभी किसी भी भयङ्कर वन-पशुके गलेमें हाथ डालकर झूल जाते और रोने लगते 'माँ! माँ!' पता नहीं वे पशु क्या समझते थे। यात्रियोंका कहना है कि पशु बड़े प्रेमसे उनके शरीरको चाटा करते थे।

किसी पेड़से लिपटकर 'माँ' को पुकारते हुए रोना उनके लिये साधारण चर्या थी। वे यदि कोई यात्री आता तो उसे साष्टाङ्ग प्रणाम करते। मनुष्योंसे न बोलनेकी सम्भवतः प्रतिज्ञा रही होगी। यात्रीको प्रणाम करके तुरंत जंगलकी ओर भाग छिपते और फिर उसके चले जानेपर लौटते।

'माँ' के अतिरिक्त उनका न तो कोई नियम था, न संयम। उनका यही महामन्त्र था। वे इसी महामन्त्रको पुकारते रहते। कभी रोते और कभी हँसते। रोते तो किसी पेड़, पशु या शिलाको पकड़कर, और हँसते भी किसी वस्तुके पास बैठकर।

(२)

कुछ यात्री गये, उन्होंने बड़ी चेष्टा की और अन्तमें सफल हुए। बाबाको किसी प्रकार वे चण्डीसे हरद्वार ले आये। बाबा आये, उन्होंने हरद्वार देखा और चला उनके दण्डवत्‌का क्रम। मनुष्य हो, पशु हो, स्त्री हो, पुरुष हो, बालक हो, वृद्ध हो, मन्दिर हो, मकान हो—बाबाका दण्डवत् सबके लिये था। शरीर छिल गया, रक्त आने लगा, भक्त डरे।

भक्त डरे, उस समयके प्रसिद्ध संन्यासी स्वामी ज्ञानानन्दजीने उन्हें मठमें ले जाकर एक कमरेमें बैठा दिया। स्वामीजी बोले 'अरे तुम माँकी उपासना तो करते ही हो, शङ्करजीकी और किया करो।'

'जो माँकी आज्ञा।' आपको धुन सवार हुई। जो भी आता उससे पूछते 'माँ! शङ्करजी कहाँ हैं?' किसीने मन्दिरमें पहुँचा दिया। वे लिङ्ग-मूर्त्तिसे लिपट गये—'माँ! बता न, शङ्करजी कहाँ मिलेंगे?' अब एक नयी आपत्ति आयी। खाना-पीना सब बंद। 'माँ कहती है शङ्करजीकी उपासना करो, पर शङ्करजीको बताती नहीं। मैं तो पूछकर रहूँगा!' अवधूतकी हठ थी—ऐसे अवधूतकी जो शङ्करजीको भी माँ ही देखे!

स्वामीजी घबड़ाये—रात्रिभर मन्दिरमें बैठकर प्रार्थना करते और रोते रहे 'मेरे सिर यह अपराध क्यों चढ़ाया जाता है? मेरा दोष ही है, तो क्षमा और कहाँसे मिलेगी?' रात व्यतीत हो गयी। प्रातःकाल स्वामीजीके नेत्र लगे, कुछ स्वप्न-सा हुआ। बाहर आकर शान्त हुए।

महात्माजीको दूसरे दिन मन्दिरमें रातको बैठा दिया गया। द्वार भीतरसे बंद हो गया। किसीको पता नहीं वहाँ क्या हुआ! स्वामीजीकी आज्ञा थी कोई उधर न जावे। कोई नहीं गया।

प्रातः मन्दिर खुला, अवधूतजी बड़े आनन्दसे नाच रहे थे। 'माँ री! तू ही शङ्करजी भी है?' उन्होंने प्रत्येक आनेवालेको प्रणाम किया और विनोदसे अपने प्रश्नको दुहराया।

स्वामीजीकी इच्छा थी महात्माजी यहीं रहें। पर अवधूत किसके घरका? एक दिन रात्रिको आप उठे और वर्षामें बढ़ी हुई नीलधाराको तैरकर पता नहीं कैसे अपनी उसी शिलापर जा पहुँचे। फिर उन्हें कोई नीचे नहीं ला सका।

माँकी झाँकी उनके समीप पत्ते-पत्तेमें थी। पर यदि कोई अब जाकर पूछता कि 'मैं किसकी पूजा करूँ?' तो झट उत्तर मिलता 'माँ तो शङ्करजी भी है और सब देवता भी है। हाँ, हाँ, माँ तो तू ही है। अच्छा, अपनी ही पूजा कर। माँ! अपनी पूजा करेगी?' खिलखिला पड़ते। धीरे-धीरे लोग उन्हें पागल समझने लगे थे।

जो लोग उनसे परिचित हो चुके थे, वे उनके दर्शनोंके लिये विशेषतः अब चण्डी जाने लगे। भक्तोंने

मार्ग भी ठीक कर लिया। भीड़ बढ़ने लगी। बाबा एक दिन उठे और कहीं भाग निकले। उसी दिनसे फिर वहाँ दृष्टिमें पड़े ही नहीं।

(३)

कलकत्तेमें युवक रहता था कालीघाटके पास। उसपर पहले तो मुसल्मानोंके प्रचारका प्रभाव रहा और फिर जन्मना हिन्दू होनेके कारण घरवालोंके आग्रहसे वह माँ कालीके मन्दिरमें जाने लगा। माँकी वह भव्य मूर्त्ति उसके हृदयमें धीरे-धीरे प्रवेश कर गयी।

पहले ही दिन जब वह मन्दिरमें पहुँचा, बड़ी देरतक उस कराल मूर्तिको एकटक देखता रहा। उसके हृदयको इसीकी आवश्यकता थी। बहुत देरतक देखता ही रहा। जब पिता हाथ पकड़कर बाहर ले आये, तो कहीं बाहर निकला।

उसी दिनसे उसकी विचित्र दशा हो गयी। मन्दिरमें गये बिना चैन मिलता ही न था। दिनका अधिकांश समय मन्दिरमें काट देता। पंडोंसे परिचय हो गया, बैठनेको स्थान मिल जाता था। माँके सम्मुख बैठकर माँकी ओर देखते रहता और जब कभी माँको पुकार लेता। इसे चाहें तो आप उपासना कह लें।

उसे बतलाया गया कि 'जो मन्दिरोंको गिरानेके पक्षमें हों और गिरा दें, उन्हें मुसलमान कहते हैं।' उन दिनों नवाबके प्रति हिन्दुओंमें घोर असन्तोष था। युवकके लिये माँके मन्दिरको गिरानेकी बात सुनना भी अब असह्य था।

वह विद्रोहियोंके साथ मिल गया। प्रारब्ध नवाबके साथ था, विद्रोह असफल रहा। कुछ जेलोंमें बंद हुए और कुछको प्राणदण्ड मिला। कुछ ऐसे भी थे, जिन्होंने किसी प्रकार मातृभूमिको अन्तिम प्रणाम करके जान बचायी। अपने चरित्रनायक भी इन्हीं लोगोंमेंसे थे।

'माँ' को अन्तिम प्रणाम करते हुए हृदय फटा जा रहा था। पर भला माँ बच्चेको छोड़ सकती है! वह कलकत्तेसे चलकर आपत्तियोंसे क्रीडा करता हुआ वृन्दावन पहुँचा। 'राधे!' माँका क्या यही नाम है? वह मन्दिरमें गया।

'यह किसका मन्दिर है?' मन्दिर तो क्या, एक कुटी ही थी उस समय। पुजारीजीने उत्तर दिया 'बाँके-बिहारीजीका।' वह लौटने लगा 'मुझे तो माँका मन्दिर चाहिये।'

पुजारी हँस पड़े। वे केवल पुजारी न थे, वे थे महात्मा हरिदासजी। 'भैया! लौटो मत, वह बाँकेबिहारी ही तुम्हारी माँ है। नटखट ही तो ठहरा, किसीकी माँ और किसीका बाप!'

युवक रुका 'मुझे माँका मन्दिर बता दीजिये।'

'भीतर जाकर दर्शन करो, फिर पूछना।'

जो किसीके लिये धनुर्धर हो सकता है, वह किसीके लिये माँ काली क्यों नहीं बन सकता। युवक भीतर गया, उसने देखा माँ तो यहीं विराजमान हैं। बड़ी देर हो गयी, पर वह बाहर नहीं आया।

भोग लगनेके लिये पट बंद हुए। युवक रो पड़ा—'माँ!' महात्माजीने बाहर आकर उसे समझाया। उनके आदेशके अनुसार वह हरद्वारके लिये चल पड़ा।

वही वर्षाके दिन थे। नीलधाराका प्रवाह बड़े वेगसे सागरसे मिलनेको आकुल दौड़ रहा था। युवक हरद्वारमें कई दिन सोचता रहा 'माँके समीप कैसे पहुँचूँ?' अन्तमें कुछ निश्चय करके वह धाराके किनारे पहुँचा।

उसने माँको वहींसे प्रणाम किया, वस्त्र उतारकर किनारेपर फेंक दिये। प्रवाहमें कूद पड़ा और माँ गङ्गा उसे ले चलीं। वह बहता हुआ काँगड़ी ग्रामके समीप-किनारे जा लगा। अधोवस्त्र भीग चुका था, उसे भी

विदा दी और पूरा शिशु बनकर वह उधरसे ही चण्डी-पहाड़ीके शिखरपर किसी प्रकार जा पहुँचा ।

(४)

अब कहनेके लिये बहुत थोड़ी-सी बात रह गयी है । भक्त उस चण्डीपहाड़ीके महात्माजीको बहुत दिनों-तक ढूँढ़ते रहे । जङ्गलोंमें कहीं उनका पता न लगा ।

एक भक्तने एक दिन उन्हें उसी शिलापर मन्दिरके ठीक सामने देखा । उसकी आँखोंका भ्रम था । वह तो उनका केवल प्राणहीन शरीर था । पशुओंने उनके शरीरका भी स्पर्श नहीं किया था ।

चढ़ाई समाप्त करके जिस सतहपर मन्दिर है, उसपर—सीढ़ियोंसे चढ़ते समय उस सतहपर सामने दक्षिण ओर तो मन्दिर है और बायीं ओर एक नन्ही-सी चौरस भूमि । एक शिलापर कुछ सिन्दूरसे रँगे पत्थर पड़े हैं ।

कोई उस मैदानमें भी जाकर अक्षत, पुष्प और जल चढ़ा आते हैं और कोई उधर न जाकर मन्दिरके वाम पार्श्वसे नीचे उतर आते हैं । वस्तुतः मन्दिरके सम्मुखके उस नन्हे मैदानमें वह उसी माँके अनन्य भक्तकी विश्रामशिला है । पीछेसे कुछ प्राचीन प्रासाद-खण्डके पत्थर उस शिलापर रख दिये गये । अब भक्त उसकी पूजा करते हैं ।

माँकी पूजासे उस शिलाकी पूजा कम या भिन्न है, मेरे लिये ऐसी कल्पना भी पाप है ।

'मानव'

क्षणभंगुर जीवनमें मानव, कितनी गहरी नींव लगाता !

सुगुण-सत्य की हिंसा करके,
अविचारोंको अपना करके;
क्रोध-मोह मदिरा पी करके;

अंबर-सी आशाओंको ले, कितना ऊँचे चढ़ने जाता !

सौख्य-शान्ति सम्बन्ध तोड़कर
दया-क्षमा अरु प्रेम छोड़कर;
मद-मत्सर-मालिन्य जोड़कर

व्यर्थ महत्त्वाकांक्षाओंमें, है यह कितना बढ़ने जाता !

पर-दुख को परिहास समझकर
नहीं काम किसके भी आकर;
व्यर्थ भूमिपर भार बढ़ा कर,

पैशाचिकताको मानव, मानव-जीवनमें पा इठलाता !!!

—घनश्यामलाल द्विवेदी

कामके पत्र

(१)

निःस्वार्थ प्रेम और सच्चरित्रताकी महिमा

……पत्र तो मैं नहीं दे पाता परन्तु आपकी और आपके घरभरकी मधुर स्मृति कई बार होती है। संसारका मिलना बिछुड़नेके लिये ही हुआ करता है। जहाँ राग होता है, वहाँ विछोहमें दुःख और स्मृतिमें सुख-सा प्रतीत होता है। जहाँ द्वेष होता है वहाँ विछोहमें सुख और स्मृतिमें दुःख होता है। राग-द्वेषसे परे निःस्वार्थ प्रेमकी एक स्थिति होती है वहाँ माधुर्य-ही-माधुर्य है। स्वार्थ ही विष और त्याग ही अमृत है। जिस प्रेममें जितना स्वार्थत्याग होता है, उतना ही उसका स्वरूप उज्ज्वल होता है। प्रेमका वास्तविक स्वरूप तो त्यागपूर्ण है, उसमें तो केवल प्रेमास्पदका सुख-ही-सुख है। अपने सुखकी तो स्मृति ही नहीं है। अस्तु,

धन कमानेमें उन्नति हो यह तो व्यावहारिक दृष्टिसे वाञ्छनीय है ही। परन्तु जीवनका उद्देश्य यही नहीं है। जीवनका असली उद्देश्य महान् चरित्रबलको प्राप्त करना है, जिससे भगवत्प्राप्तिका मार्ग सुगम होता है। धन, यश, पद, गौरव, मान, सन्तान सब कुछ हो परन्तु यदि मनुष्यमें सच्चरित्रता नहीं है तो वह वस्तुतः मनुष्यत्वहीन है। सच्चरित्रता ही मनुष्यत्व है।

धन कमानेकी इच्छा ऐसी प्रबल और मोहमयी न होनी चाहिये जिससे न्याय और सत्यका पथ छोड़ना पड़े, दूसरोंका न्याय्य स्वत्व छीना जाय और गरीबोंकी रोटीपर हाथ जाय। जहाँ विलासिता अधिक होती है, खर्च बेशुमार होता है, भोगासक्ति बढ़ी होती है, झूठी प्रेस्टिज (Prestige) का भार चढ़ा रहता है, वहाँ धनकी आवश्यकता बहुत बढ़ जाती है और वैसी हालतमें न्यायान्यायका विचार नहीं रहता। गीतामें आसुरी सम्पत्तिके वर्णनमें भगवान्ने कहा है—'कामोपभोगपरायण पुरुष अन्यायसे अर्थोपार्जन करता है।' बुद्धिमान् पुरुषको इतनी बातोंपर ध्यान रखना चाहिये—**विलासिता न बढ़े, फिजूलखर्ची न हो, जीवन यथासाध्य सादा हो, इज्जतका ढकोसला न रक्खा जाय, भोगियोंकी नकल न की जाय और परधनको विषके समान समझा जाय।** इन बातोंको ध्यानमें रखकर सत्यकी रक्षा करते हुए ही धनोपार्जनकी चेष्टा करनी चाहिये। और यदि धन प्राप्त हो तो उसे भगवान्की चीज मानकर अपने निर्वाहमात्रका उसमें अधिकार समझकर शेष धनसे भगवान्की सेवा करनी चाहिये। कुटुम्बसेवा, गरीब, दुःखी और विधवाओंकी सेवा आदिके रूपमें यह भगवत्सेवा की जा सकती है। सेवा करके अभिमान नहीं करना चाहिये। भगवान्की वस्तुसे भगवत्सेवा हो; हम तो केवल निमित्तमात्र हैं, उन्हींकी चीज है, उन्हींके काममें लगती है, उन्हींके आज्ञानुसार लगती है। इसमें हमारे लिये अहङ्कारकी कौन-सी बात है? प्रभुके काममें न लगाकर स्वयं भोगते तो बेईमानी थी, पाप था। इन सब बातोंका खयाल रखना चाहिये। हो सके तो नित्य कुछ सद्ग्रन्थोंका स्वाध्याय और भगवद्भजन भी अवश्य करना चाहिये। इसकी आवश्यकता पीछे अवश्य मालूम होगी और उस समय पहलेका अभ्यास न होनेसे बड़ी कठिनाई होगी।

(२)

श्रीजगन्नाथजीके प्रसादकी महिमा

आपका कृपापत्र मिला। श्रीजगन्नाथपुरी (पुरुषोत्तम-क्षेत्र) काशीकी भाँति ही बहुत ही प्राचीन तीर्थ है। पुराणोंमें इसका बड़े विस्तारसे वर्णन है। स्कन्दपुराणके विष्णुखण्डमें पुरुषोत्तम-माहात्म्यके ५१ अध्याय हैं। परिवर्तन तो सभी क्षेत्रोंमें हुए हैं। यहाँ भी हुए हैं। आपने श्रीजगन्नाथजीके प्रसादके सम्बन्धमें पूछा सो

इस सम्बन्धमें यह निवेदन है कि भगवान्‌के प्रसादमें साधारण अन्न-बुद्धि करना पाप माना गया है। प्रसाद प्रसाद ही है और विना किसी संकोचके सबको उसका ग्रहण करना चाहिये। फिर, श्रीजगन्नाथजीके प्रसादके सम्बन्धमें तो यहाँतक वचन मिलते हैं:—

पाकसंस्कारकर्तॄणां सम्पर्कोऽत्र न दुष्यति।
पद्मायाः सन्निधानेन सर्वे ते शुचयः स्मृताः॥
वेश्यालयगतं तद्धि निर्माल्यं पतितादयः।
स्पृशन्त्यन्नं न दुष्टं तद्यथा विष्णुस्तथैव तत्॥
निन्दन्ति ये तदमृतं मूढाः पण्डितमानिनः।
स्वयं दण्डधरस्तेषु सहते नापराधिनः॥
येषामत्र न दण्डश्चेद्ध्रुवा तेषां हि दुर्गतिः।
कुम्भीपाके महाघोरे पच्यन्ते तेऽतिदारुणे॥
कुक्कुरस्य मुखाद्भ्रष्टं तदन्नं पतते यदि।
ब्राह्मणेनापि भोक्तव्यं सर्वपापापनोदनम्॥
(स्कन्दपुराण, विष्णुखण्ड)

'रसोई बनानेवालोंके सम्पर्कमें कोई दोष नहीं होता; क्योंकि श्रीलक्ष्मीजीकी सन्निधिके कारण वे सभी पवित्र हो जाते हैं। महाप्रसाद यदि वेश्यालयमें हो अथवा पतितादिके द्वारा स्पर्श किया हुआ हो, तब भी दूषित नहीं होता। वह विष्णुकी तरह पवित्र ही रहता है। जो पण्डिताभिमानी मूढ़ लोग अमृतरूप प्रसादकी निन्दा करते हैं, भगवान् उनके अपराधको न सहकर स्वयं उन्हें दण्ड देते हैं। यहाँ कदाचित् उनको दण्ड भोगते हुए न भी देखा जाय परन्तु यह तो निश्चय ही है कि उनकी दुर्गति अवश्य होती है। मरनेके बाद वे महाघोर भयानक कुम्भीपाक नरकमें यातना भोगते हैं। सारे पापोंका नाश करनेवाला प्रसाद यदि कुत्तेके मुखसे गिरा हुआ हो, उसको भी ब्राह्मणतक खा सकते हैं।'

इसी प्रकार पद्मपुराणमें आया है—

चाण्डालेनापि संस्पृष्टं ग्राह्यं तत्राश्रमप्रजैः।
× × × ×
पवित्रं भुवि सर्वत्र यथा गङ्गाजलं द्विज।
तथा पवित्रं सर्वत्र तदन्नं पापनाशनम्॥

'पुरुषोत्तमक्षेत्रमें चाण्डालके द्वारा स्पर्श किया हुआ प्रसाद भी द्विजोंको ग्रहण करना चाहिये। हे द्विज! जैसे पृथ्वीमें गङ्गाजल सर्वत्र ही पवित्र है वैसे ही यह प्रसाद भी सर्वत्र पवित्र और पाप-नाश करनेवाला है।'

प्रसिद्ध भक्त श्रीरघुनाथ गोस्वामी तो पुरुषोत्तमक्षेत्रमें नालेमें बहकर आता हुआ प्रसाद बटोरकर उसे खाया करते थे। वह प्रसाद इतना पवित्र माना जाता था कि स्वयं श्रीचैतन्य महाप्रभुने एक दिन उनके हाथसे छीनकर उसको खा लिया था।

असल बात तो यह है कि श्रीभगवान्‌का प्रसाद भक्तोंके लिये साधारण अन्न नहीं है, वह तो परम दुर्लभ, सर्वपापनाशक महाप्रसाद है। प्रसादका स्वाद, उसकी बाहरी पवित्रता, उसका मीठा या कड़ुवापन नहीं देखा जाता। उसमें देखनेकी बात केवल एक ही है कि वह भगवान्‌का प्रसाद है। जिसको हमारे प्रभुने मुँहमें रख लिया वही हमारे लिये परम पवित्र, परम मधुर और परम अमृत है। अतएव भक्तोंको विना किसी विचारके भक्ति-श्रद्धापूर्वक तथा सत्कारके साथ प्रसादको ग्रहण करना चाहिये।

इसका यह अर्थ नहीं कि साधारण खान-पानमें पवित्रताका खयाल छोड़ दिया जाय। वहाँ तो शास्त्रोक्त सभी प्रकारकी पवित्रताका खयाल पहले करना चाहिये। भगवत्प्रसाद साधारण अन्नकी श्रेणीसे परे है।

खान-पानमें संयम

(लेखक—पं० श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट)

'कबिरा' क्षुधा है कूकरी, करत भजनमें भंग ।
याको टुकड़ा डारि के भजन करो निःशंक ॥

'स्वादकी दृष्टिसे किसी भी चीजको चखना अस्वाद-व्रतका भंग करना है। इस दृष्टिसे विचार करनेपर हमें पता चलेगा कि जो अनेक चीजें हम खाते हैं, वे शरीर-रक्षाके लिये जरूरी न होनेसे त्याज्य ठहरती हैं।'

—महात्मा गाँधी

पवित्र जीवनके लिये खान-पानके संयमकी अत्यन्त आवश्यकता है। भोजन यदि जीवन-रक्षाके लिये किया जावे तो वह आनन्दप्रद होता है; अन्यथा उसके द्वारा अधिक-से-अधिक जितनी हानि हो सकती है होती है। वास्तवमें हमें जीनेके लिये खाना चाहिये, न कि खानेके लिये जीना! जो लोग खानेके लिये ही जीते हैं, वे अधम श्रेणीके मनुष्य हैं। जीवन-रक्षाके लिये जो भोजन करते हैं, वास्तवमें वे ही भोजनके वास्तविक उपयोगको जानते हैं। क्षुधाको शान्त करनेके लिये भूखभर ही जो भोजन किया जाता है, वही वास्तविक आनन्दप्रद भोजन होता है। आवश्यकतासे यदि एक कौर भी अधिक भोजन कर लिया जाय तो वह एक ग्रास ही भोजन करनेवालेके पतनका कारण होता है। भूखसे अधिक भोजन शरीरके लिये तो हानिकर होता ही है, आत्माके लिये भी उससे कम हानिकर नहीं होता। जहाँ भूखसे बहुत कम खाना त्यागका गलत आदर्श है, उसी प्रकार अधिक भोजन करना भी बहुत बड़ी भूल है। केवल इन्द्रियतृप्ति और स्वादके लिये जो भोजन किया जाता है, वह मनुष्यको स्पष्टरूपसे पतनके भीषण गड्हेमें ले जाकर डाल देता है—इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं है। ऐसा भोजन हमें प्रभुपथसे विमुख कर नरककी भीषण ज्वालाओंमें ले जाकर पटक देता है। अतः हमें केवल शुद्ध, सात्त्विक और स्वास्थ्यप्रद भोजन करना चाहिये और सो भी केवल उतना, जितना हमारी क्षुधा-शान्तिके लिये अनिवार्य हो। केवल वही भोजन हमें साधनपथपर आरूढ़ करा सकेगा।

संसारमें मदिरा, ताड़ी, चाय, काफ़ी, कोको, भाँग, अफीम, चरस, गाँजा, तंबाकू, बीड़ी, सिगरेट, चुरुट आदि जितनी मादक वस्तुएँ हैं वे सब मनुष्यमात्रके लिये अव्यवहार्य हैं। उनका उपयोग मनुष्यको साक्षात् नरककी ओर ले जानेवाला है। ऐसी मनुष्यको राक्षस बनानेवाली तथा पतनके भीषण गर्तमें डुबानेवाली वस्तुएँ साधकोंके लिये कितनी हानिप्रद हैं, यह सभी सोच सकते हैं। उन्हें तो इस प्रकारकी सारी वस्तुओंका सर्वथा त्याग कर देना पड़ेगा। बिना इनका त्याग किये साधनपथपर अग्रसर ही नहीं हुआ जा सकता। तंबाकू—जिसे कि दुर्भाग्यसे अधिकांश भारतवासी पीनेके अभ्यासी हैं—कितने पापकी जड़ है। देखो—

धूम्रपानरतं विप्रे दानं कुर्वन्ति ये नराः ।
ते नरा नरकं यान्ति ब्राह्मणा ग्रामशूकराः ॥

—पद्मपुराण

धूम्रपान करनेवाले ब्राह्मणको दानतक देनेवाला नरकका अधिकारी होता है और उन ब्राह्मणोंका तो कहा ही क्या जावे। अभागोंको ग्रामशूकर बनकर विष्ठा-भोजन करना पड़ता है!!

अन्य मादक वस्तुओंका सेवन तो इससे भी अधिक पापका कारण है। जिन्हें देखना हो, वे पद्मपुराण खोल-कर देख सकते हैं। आत्मिक पतन और शारीरिक हानि —सभी बातें इनके सेवनसे प्राप्त होती हैं। मादक वस्तुओंकी हानियाँ इस प्रकार हैं—

१–इनसे दुःख और क्लेश, घृणा और द्वेष, पाप और बेशर्मीका द्वार खुल जाता है। मनुष्यका स्वभाव चिड़चिड़ा हो जाता है, उसमें मानवताके स्थानपर दानवता आ विराजती है, शक्ति घट जाती है, क्रोध बढ़ जाता है, आँखें लाल बनी रहती हैं, जीभ कटुभाषी हो जाती है!

२–काम-वासनाको इनसे खूब उत्तेजना मिलती है। शरीर भ्रष्ट और निरर्थक बन जाता है। उसमें बुरी-बुरी बीमारियाँ आकर डेरा जमा लेती हैं! सदैव 'आँखोंमें अबला और कानोंमें तबला' का साम्राज्य स्थापित रहता है!

३–बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है। मनुष्य वासनाओंका दास बन जाता है। उसकी अवस्था बिल्कुल पागलोंकी-सी हो जाती है। उसका चरित्र, चाल-ढाल, बोल-चाल, व्यवहार-बर्ताव पशुओंसे भी गया-बीता हो जाता है!

४–सारा संयम स्वाहा हो जाता है। सारे आवश्यक बन्धन टूट जाते हैं। किसी भी निन्द्य-से-निन्द्य कुकर्मके करनेमें उसे तनिक भी लज्जा नहीं आती! साधारण स्थितिमें मनुष्य जिन पापोंकी कल्पनातकसे घबड़ा उठता है, नशेकी अवस्थामें उसे अपनी इस पापभीरुतापर हँसी आती है और वह बिल्कुल निधड़क होकर पापोंमें संलग्न हो जाता है, अपना सारा कर्तव्यकर्म भूल जाता है। उसका हृदय कमज़ोर हो जाता है तथा उसकी आत्मिक शक्तिका सर्वथा लोप हो जाता है।

५–ईश्वर और धर्म दोनों ऐसे व्यक्तिके उपहास-के विषय बन जाते हैं। वह इनके सर्वथा प्रतिकूल हो जाता है। ऐसा होना स्वाभाविक भी है; क्योंकि दो परस्परविरोधी बातें एक साथ कभी हो ही नहीं सकतीं। एक व्यक्ति एक ही साथ पाप भी करता जाय और पुण्य भी–ऐसा होना सर्वथा असम्भव है। ऐसा व्यक्ति तो केवल शैतानकी उपासना करता है। मन्दिरमें जाकर भी शराब पीनेकी आज्ञा माँगता है–सो भी भगवान्‌की सर्वव्यापकताकी दुहाई देकर!

ज़ाहिद! शराब पीने दे मस्जिदमें बैठकर,
या वह जगह बता कि जहाँपर खुदा नहीं।

ऐसी उलटी बुद्धिको कोई क्या करे!

६–ऐसे व्यक्तिके जीवन-कर्मका सारा ढाँचा एक-बारगी ही पलट जाता है। दिन-रात उसे पापकर्म ही सूझा करते हैं। हरदम शैतानियतका भूत ही उसके सरपर सवार रहा करता है। प्रलोभन और दुर्बलताएँ सदैव ही उसे मनमानी रीतिसे नचाया करती हैं। इस प्रकार दिन-रात उसके पाप बढ़ते ही रहते हैं, घटनेका नाम नहीं लेते।

७–उसका आत्मा पतित और अधोमुखी हो जाता है, अतः वह सदैव दुष्कर्मों और पापोंके वशीभूत बना रहता है। वह अपनी सारी इच्छाशक्ति, बुद्धि, सामर्थ्य, साहस, पवित्रता आदिसे पूर्णरूपेण हाथ धो बैठता है। उसकी भला-बुरा सोचनेकी शक्ति मारी जाती है।

अतएव साधकोंको इस प्रकारके सारे व्यसन सर्वथा त्याग देने चाहिये, अन्यथा वे कभी भी अपने मनोरथमें सफल नहीं हो सकते।

८–मादक वस्तुओंका सेवन करनेवाले व्यक्तियोंको सभी सरलतासे पहचान सकते हैं। यह बीमारी सब बीमारियोंसे अधिक खतरनाक है। बीमारीसे तो केवल तन और धनकी हानि होती है, किन्तु इस बीमारीसे तो मनुष्यकी सर्वोत्तम वस्तु–आत्माका अकल्याण होता है, मानसिक पतन होता है। ऐसे अभागोंके बाहरी व्यवहार ही इस प्रकारके होते हैं, जिन्हें देखकर प्रत्येक मनुष्य ऐसे पापपूर्ण मार्गसे सदैव बचे रहनेकी शिक्षा ले सकता है। ऐसे लोगोंके भद्दे-गंदे इशारे, लम्बी-चौड़ी व्यर्थकी तमाम झूठी बातें, असभ्यतापूर्ण हास्य, बुद्धिशून्य गाली-गलौज, तमाम निस्सार और व्यर्थके पापपूर्ण कार्य,

कुम्भकर्णी निद्रा, पागलोंका-सा प्रलाप, नालियों आदिमें गिरकर घंटों पड़े रहना, वमन, मल-मूत्रका बिना विचारे यत्र-तत्र सर्वत्र त्याग आदि देख-सुनकर भला किसे न घृणा आवेगी !

साधकोंके चरणोंमें निवेदन है कि यदि दुर्भाग्यसे वे ऐसे किसी भी व्यसनके शिकार बन गये हों तो उनका कर्तव्य है कि वे शीघ्र-से-शीघ्र अपनेको उसके पाशसे मुक्त करनेका प्रयत्न करें। केवल तभी ही वे अपने अभीष्टतक पहुँचनेमें सफल हो सकेंगे, अन्यथा नहीं।

खान-पानमें संयम पालनेके नियम

१--भूख लगनेपर ही भोजन करने बैठो। उसके पूर्व किसी भी दशामें नहीं। भूख न लगी होनेपर भोजन करना पाप है।

२--कभी भी जल्दी-जल्दी और अधीर होकर मत भोजन करो। धीरे-धीरे खूब चबा-चबाकर केवल भूखभर भोजन करो। गटर-गटर भोजन करना असभ्यताकी निशानी है। दूसरे जल्दी-जल्दी खानेमें भूखसे कुछ-न-कुछ अधिक भोजन स्वतः ही कर लिया जाता है--जो कि एक महान् घृणित पाप है।

३--भोजनमें तुनकमिज़ाजी कभी मत करो। जो भोजन सामने आवे, उसमें मीन-मेष मत निकालो। जो रूखा-सूखा मिले, उसे भगवच्चरणोंमें निवेदित कर प्रभुका प्रसाद समझकर आनन्दपूर्वक ग्रहण करो। महात्मा गाँधीके इन शब्दोंको हृदय-पटलपर अंकित कर लो--

'जो कुछ बना है, और जो हमारे लिये त्याज्य नहीं है, उसे ईश्वरकी कृपा समझकर, मनमें भी उसकी टीका न करते हुए, सन्तोषपूर्वक--शरीरके लिये जितना आवश्यक हो--उतना ही खाकर हम उठ जायें।'

--सप्त-महाव्रत

४--भूखसे अधिक तो एक ग्रास भी मत खाओ। चाहे जितनी अच्छी-अच्छी भोजनकी वस्तुएँ सामने रक्खी हों, किन्तु आवश्यकतासे अधिक एक भी वस्तु मत खाओ। सुन्दर भोजन सम्मुख परोसा हुआ देखकर लालची मत बनो। अपना जी मत बिगाड़ो। उसमेंसे केवल उतना ही ग्रहण करो, जितना तुम्हारी शरीररक्षाके लिये आवश्यक जान पड़े तथा जितनेके बिना तुम्हारा काम चलना असम्भव जान पड़े। स्वादिष्ट समझकर किसी भी वस्तुकी ओर नेत्रोंको चञ्चल मत करो। स्मरण रक्खो कि नेत्रोंकी चपलता और स्वादकी आकाङ्क्षा सर्वनाशका प्रवेशद्वार है।

५--जहाँतक हो सके, दावतोंसे बचो। दुष्ट मित्रोंकी सङ्गति तो सर्वथा ही त्याग दो। जहाँपर प्रलोभन तथा आकर्षक वस्तुएँ अधिक होती हैं, वहींपर पतनकी अधिक सम्भावना रहती है। मनचले दोस्तोंका साथ तो और भी सर्वनाशकी जड़ है। वे अपने मित्रोंको केवल उन्हीं स्थानोंपर लिवा ले जाया करते हैं, जहाँपर पतनके सामान बहुतायतसे इकट्ठे होते हैं। ऐसे स्थानोंपर पहुँचकर भोलाभाला व्यक्ति सहज ही आकर्षणोंके सम्मुख घुटने टेक देता है। किया क्या जाय, मानव-स्वभाव है ही ऐसा ! ऐसे स्थानोंपर यदि विवेकसे काम न लिया जाय तो मनुष्यका फिसल पड़ना एक साधारण-सी बात है। प्रायः सभीको अपनी इस प्रकारकी दुर्बलताओंका पता रहता है, अतएव भूलकर भी ऐसे स्थानोंपर न जाना चाहिये जहाँपर जरा-सी भी ऐसी आशङ्का हो। क्योंकि--

काजरकी कोठरीमें कैसोहू सयानो जाय,
एक लीक काजरकी लागिहै पै लागिहै !

६--तुम अपने कल्याणके लिये जो सिद्धान्त निश्चित कर लो, उनके पालनमें कठोर-से-कठोर बन जाओ। यदि तुम उनका दृढ़तापूर्वक पालन नहीं करते तो यह स्पष्ट है

कि तुम स्वयं अपने आदर्शतक नहीं पहुँचना चाहते। अतः कैसा भी अवसर आवे, तुम अपने सिद्धान्तोंपर दृढ़ बने रहो। जैसे तुम्हारा केवल भूखभर ही भोजन करनेका सिद्धान्त है तो तुम किसी भी परिस्थितिमें उससे अधिक एक ग्रास भी मत खाओ। यह मत सोचो कि एक ग्राससे कौन-सा नुकसान हुआ जाता है— क्योंकि यह बात नहीं है। वह एक ग्रास ही इस बातका साक्षी है कि तुम एक आदर्शहीन, कायर व्यक्ति हो जो अपने सिद्धान्तोंका पालन नहीं कर सकते। भला, सिद्धान्तहीन व्यक्ति भी कभी किसी कार्यमें सफलता प्राप्त कर सकते हैं ! सिद्धान्त-पालनमें शिथिलता तुम्हारी निर्बलताहीकी द्योतक है; उसका परिणाम कितना भयङ्कर हो सकता है, यह तुम स्वयं ही सोच सकते हो।

७–तुम्हें जितनी भूख हो, उससे थोड़ा कम खाओ। चार रोटीकी भूखमें केवल साढ़े तीन रोटी खाना तुम्हारे लिये अत्यन्त ही लाभदायक होगा। वह तुम्हारे लिये स्वास्थ्यवर्धक भी होगा। पेट हल्का रहनेसे भजनमें खूब ध्यान लगता है।

८–'Plain living and high thinking'—सादा रहन-सहन और उच्च विचार—इस आदर्शको सदैव अपने सम्मुख रखकर जी-जानसे इसके पालनमें संलग्न रहो। आदर्शके पालनमें जो कष्ट और बाधाएँ आवें, उनका सहर्ष स्वागत करो, पर भूलकर भी अपने पथसे विचलित मत हो।

९–किसी भी व्यक्तिको उसकी सीमासे अधिक खिलानेका कभी भी प्रयत्न मत करो तथा न स्वयं ही किसी भी व्यक्तिके अनुरोधकी रक्षाके निमित्त अपनी सीमासे अधिक भोजन करो। ऐसा करना पाप है। दोनोंके मत्थे इसका पाप पड़ता है। किसी भी व्यक्तिके, भले ही वह तुम्हारा घनिष्ठ-से-घनिष्ठ मित्र हो, शुभेच्छु हो, उपकारी हो, अनुरोध करनेपर तुम किसी भी त्याज्य तथा मादक वस्तुका भोजन अथवा पान न करो।

१०–मांस, मदिरा, गाँजा, चरस, भाँग, अफीम, चंडू, मिर्च, खटाई, तंबाकू, बीड़ी, सिगरेट, चुरुट, सुल्फा आदि किसी भी हिंसात्मक और उत्तेजक पदार्थका भूलकर भी सेवन न करो। इससे शारीरिक स्वास्थ्य तो चौपट होता ही है, साथ-ही-साथ घोर आत्मिक पतन भी होता है।

खान-पानमें संयम पालनेवालेके लक्षण

१–वह सुन्दर और स्वादिष्ट भोजन देखकर ललचाया नहीं करता।

२–वह केवल उतना भोजन करता है, जितनी उसे भूख होती है तथा जितना वह अपनी शरीर-रक्षाके लिये आवश्यक समझता है।

३–उसकी अच्छा और स्वादिष्ट भोजन पानेकी इच्छा सर्वथा नष्ट हो जाती है।

४–मादक और उत्तेजक पदार्थोंसे उसे पूर्णरूपेण घृणा हो जाती है।

५–उसे अच्छी और गम्भीर निद्रा आती है, प्रातः-काल ब्राह्ममुहूर्तमें उसकी नींद खुल जाती है। सोकर उठनेपर उसका हृदय खूब आनन्द और उत्साहसे भरा रहता है।

६–परिश्रम करनेमें उसका खूब मन लगा करता है।

७–उसका हृदय सदैव स्वर्गीय आनन्दसे परिपूर्ण रहता है, जिससे प्रभु-प्रार्थनामें उसे बड़ा सुख मिलता है।

८–वह प्रलोभनोंका दास नहीं रहता।

९–उसकी वासनाएँ उसे अधिक नहीं सतातीं तथा वह सहज ही उनपर विजय प्राप्त कर लेता है।

आर्यनारियोंकी सतीत्व-साधना

(लेखक—पाण्डेय श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री 'राम')

(गताङ्कसे आगे)

ऊपर बताया जा चुका है कि 'पतिरेको गुरुः स्त्रीणाम्'—एकमात्र पति ही स्त्रीका गुरु है। गुरुकी सेवासे ही साधकका कल्याण है। गुरु अत्यन्त कृपायुक्त और प्रसन्न होकर ही शिष्यको अपनी सेवाका शुभ अवसर देते हैं। पति भी अत्यन्त प्रेम और आत्मविश्वास होनेपर ही पत्नीको अपनी सेवाका मङ्गलमय आदेश देता है। इस उपदेशको पाकर पत्नी अपना अस्तित्व पतिमें मिला देती है; उसका शरीर, उसका मन, पतिसे पृथक् नहीं होता। पतिके विचार उसके विचार होते हैं, पतिकी प्रसन्नता उसकी प्रसन्नता होती है। दोनोंका व्यक्तित्व मिलकर एक हो जाता है, एक दूसरेके विरोधी विचार कभी उठते ही नहीं। सतीत्वका पालन करनेवाली नारी इस लोकमें भी सुख और शान्तिकी अधिकारिणी होती है और परलोकमें भी विजय प्राप्त करती है। अशान्ति और दुःख तो कलह और विरोधसे होते हैं। जहाँ एकका स्वार्थ दूसरेके विपरीत हो, वहाँ संघर्षके कारण कलह होता है। जब पति-पत्नी मनसे एक हो गये तो उनका पृथक् स्वार्थ ही कहाँ रहा। अतः आर्यनारी सतीत्वके कवचसे सदा ही सुरक्षित रहकर शान्तिमय आनन्दका अनुभव करती है। सतीत्व बड़ा ही त्यागमय जीवन है; दूसरे देशकी स्त्रियोंके लिये यह अत्यन्त कठिन होनेपर भी आर्यनारीके लिये स्वाभाविक है, उसके जन्म-जन्मके संस्कार सतीत्वके अनुकूल होते हैं। हृदयके गाढ अनुरागपर ही सतीत्वकी प्रतिष्ठा है। सती नारीके मानससे प्रणय-तरङ्गिणीकी शत-शत धाराएँ प्रवाहित होकर पतिके आनन्द-सिन्धुको ही बढ़ाती हैं। शास्त्रोंमें नारीको पतिकी अर्धाङ्गिनी कहा है। यह बिल्कुल ठीक है। सती नारी पतिको पूर्ण बनानेमें ही अपना गौरव मानती है। वह पतिके दुःखसे दुखी और उसीके सुखसे सुखी होती है। 'तत्सुखसुखित्वम्' ही उसकी सहज साधना है। उसके मनमें कभी परपुरुषका चिन्तन नहीं होता। वह निरन्तर पतिरूपी परमेश्वरके ही स्मरणमें चित्त लगाये रहती है। उसका पूजा-पाठ, जप-तप, व्रत-नियम—सभी कुछ पतिकी आज्ञासे पतिकी प्रसन्नताके लिये ही होता है। पति भी उसकी सहज निष्ठासे प्रसन्न होकर उसे भगवदाराधन आदि शुभ कर्मोंके अनुष्ठानकी सुविधा देता और उसके हृदयको सदा सन्तुष्ट रखता है।

सती नारी पतिका चिर-वियोग नहीं सह सकती, वह सदा ही पतिको अपनी सेवासे सन्तुष्ट रखनेका शुभ अवसर चाहती रहती है। जिस दिन पति-सेवाका अवसर नहीं मिलता, उस दिन वह अपना दुर्भाग्य मानती है। उसका पतिमें अनन्य प्रेम होता है। उसके सारे विधान पतिदेवको सन्तुष्ट करनेके लिये ही होते हैं। पतिप्रेम ही उसके प्राणोंका पाथेय है। अगर वह कुछ चाहती है तो पतिका कल्याण। पतिको प्रसन्न देखकर सती नारीके प्राण आनन्दोन्मादसे थिरक उठते हैं। पति सुखी है तो उसे जीवनका सारा सुख मिल गया। यदि पतिको कष्ट है तो वह उसे दूर करनेके लिये त्रिभुवनके साम्राज्यपर भी लात मार सकती है। वह अपने प्रेमका प्रतिदान नहीं चाहती, उसके मनमें कभी यह भावना नहीं होती कि मैं जितना प्रेम, जैसी सेवा करती हूँ, पति भी वैसा ही करे। पतिका कर्तव्य पति जाने, उसके कर्तव्योंकी जिम्मेदारी उसपर है; सती नारीको तो अपने कर्तव्य—पति-सेवापर ध्यान देना है। पति कुरूप हो, बूढ़ा हो, गुणहीन या स्वेच्छाचारी हो, रोगी हो, कटु स्वभावका हो अथवा मूर्ख या निर्धन ही क्यों न हो, साध्वी नारीका वही देवता है,* वह उसीकी आराधना करेगी, प्राण देकर भी उसे प्रसन्न करेगी। प्रेमामृतकी बूँद पड़नेपर तो सूखा काठ भी हरा हो जाता है, फिर पतिका प्रतिकूल स्वभाव क्यों न बदलेगा। नारीका यह प्रेम, यह सेवाभाव देखकर पुरुषने कभी उसे दासी नहीं समझा, उसने देवी कहकर प्रकारान्तरसे अपनेको उसका प्रेम-पुजारी घोषित किया। उसे अपने घरकी और हृदयराज्यकी रानीके

---

* दुःशीलो दुर्भगो वृद्धो जडो रोग्यधनोऽपि वा।
पतिः स्त्रीभिर्न हातव्यो लोकेप्सुभिरपातकी॥
(श्रीमद्भा० १० । २९ । २५)

विशीलः कामवृत्तो वा गुणैर्वा परिवर्जितः।
उपचर्यः स्त्रिया साध्व्या सततं देववत्पतिः॥
(मनु० ५ । १५४)

सिंहासनपर बिठाया, अनुचरी नहीं सहचरी—सहधर्मिणी बनाया। प्राणेश्वरी और हृदयेश्वरी कहकर उसे सम्मानित किया तथा स्वयं उसके प्रेमपर अपनेको लुटा दिया। इस प्रेमाराधनामें नारी अपना सर्वस्व पतिको और पति अपना सर्वस्व नारीको समर्पण करते हैं। किन्तु आर्यनारी केवल समर्पण करना जानती है, उसे कुछ पानेका लोभ नहीं है; अगर कुछ मिला तो वह प्रियतमका प्रसाद समझकर सिर-आँखोंपर चढ़ाती है। वह कभी ऐसे अहङ्कारको हृदयमें नहीं आने देती कि 'हमें यह पानेका अधिकार था, हमें यह अपना हक मिला है। पतिका यह कर्तव्य है कि वह हमें हमारा हक विना किसी सोच-विचारके दे दे, नहीं तो वह बेइन्साफ है और उससे जबरदस्ती हक वसूल किया जायगा।'

आज सतीत्वका आदर्श भूल जानेसे नारी पतिके साथ समानाधिकारका दावा करती है। वह अपने प्रकृतिप्रदत्त अधिकारोंकी उपेक्षा करके पुरुषोंके साथ कचहरियों, कौंसिलों और आफिसोंमें काम करनेके लिये प्रतियोगितामें भाग ले रही है। जो विवाह एक धार्मिक संस्कार था, जिससे सतीत्वका व्रत लेकर नारी अपना और अपने पतिका लोक-परलोक दोनों सुधारती थी, जिस विवाह और सतीत्व-का अनादि वैदिक कालसे प्रचार है, उसे आजकी नारी एक अन्धप्रथा मानकर तोड़नेकी कोशिश कर रही है। आजीवन अविवाहित रहना, तलाक देना या इच्छानुसार नये-नये विवाह करते जाना आजकी सभ्यतामें अच्छा समझा जाने लगा है। इसके भीषण कुपरिणामपर ध्यान नहीं दिया जाता। प्रेमकी परीक्षा दुःखमें होती है। दुःखमें ही पतिकी सेवा करके पत्नी और पत्नीकी सेवा करके पति एक दूसरेके सच्चे सहायक सिद्ध होते हैं। विवाह-विच्छेद और तलाककी प्रथा जारी हो जानेसे जब परस्परका सम्बन्ध स्वार्थमूलक रह जायगा, तब कौन किसीके दुःखमें हाथ बँटानेको तैयार होगा। नवीन शिक्षाकी मादक मदिरा पीकर आजकी नारी अपनी विचारशक्ति खो बैठी है, अपने ही हाथसे अपने ही पैरोंमें कुल्हाड़ी मार रही है। वह युग, जिसे लानेके लिये सुधारकोंकी ओरसे जी-तोड़ परिश्रम किया जा रहा है, नारीके लिये कितना दुःखद, कितना हानिकर होगा—यह सोचकर हृदय काँप उठता है।

महाभारतमें दो प्रसङ्ग ऐसे हैं, जहाँ एक विशेष कार्य करानेके उद्देश्यसे कुछ कल्पित कथाएँ गढ़कर दो नारियोंको मोहमें डाला गया है। चित्राङ्गद और विचित्रवीर्यकी विधवा स्त्रियोंको नियोगके लिये उत्साहित करनेके विचारसे दीर्घतमा-का कल्पित उपाख्यान गढ़ा गया है। इसी प्रकार कुन्तीको देवताओंसे सन्तानोत्पत्तिके लिये तैयार करानेके विचारसे राजा पाण्डुने कुछ रोचक कथाएँ गढ़कर सुनायी हैं। ये दोनों प्रसङ्ग ऐसे हैं, जहाँ सन्तानोत्पादनकी ओर ही लक्ष्य रक्खा गया है। सतीत्वके संस्कारसे प्रभावित आर्यनारी पतिके सिवा किसी देवताका भी सम्पर्क अधर्म समझती है। कुन्तीने तो यहाँतक कह दिया है कि 'नैवाहमुपगच्छेयं मनसापि त्वदृते नरम्'—मैं आपके सिवा किसी अन्य पुरुषके पास जानेका विचार भी मनमें नहीं ला सकती, स्वयं जाना तो दूरकी बात है।' परन्तु राजा पाण्डु स्वयं अपनी पत्नीको कल्पित कथाओंद्वारा मोहमें डालते हैं केवल सन्तानके लोभसे। वे बहकाकर साबित करते हैं कि 'श्वेतकेतुने विवाह और पातिव्रत्यका नियम चलाया। पहले स्त्रियाँ स्वतन्त्र थीं।'

आजके सुधारक इन्हीं कथाओंको लेकर विवाह और सतीत्वको पीछे चलायी हुई प्रथा सिद्ध करना चाहते हैं। किन्तु यदि उनके पास बुद्धि है, आँखें हैं, तो वे श्रुतियोंको, स्मृतियोंको देखें और फिर विचार करें कि क्या वास्तवमें विवाह या सतीत्वकी प्रथा प्राचीन नहीं है। वेदोंमें पति-पत्नी-भाव, दाम्पत्यभावका कितना स्पष्ट उल्लेख है—इसका अनुभव उपर्युक्त वैवाहिक वेद-मन्त्रोंको देखनेसे हो जाता है। उन मन्त्रोंद्वारा सतीत्वकी जो सुन्दर शिक्षा मिलती है, इसका भी स्पष्टीकरण किया जा चुका है। कुछ लोग कहते हैं 'प्राचीन समाज धर्मान्ध होकर नारियोंको पतिके साथ हठात् चितापर इसलिये जला दिया करता था कि स्वर्गमें दोनों पुनः परस्पर मिलें।' किन्तु निम्नाङ्कित प्रमाणोंसे इस धारणाका भी खण्डन हो जाता है। ऋग्वेदमें मन्त्र है, जो मृत पतिके साथ जलनेको उद्यत हुई नारीको लक्ष्य करके कहा गया है—

उदीर्ष्व नार्यभिजीवलोकं गतासुमेतमुपशेष एहि।
हस्तग्राभस्य दिधिषोस्तवेदं पत्युर्जनित्वमभिसम्बभूथ॥

(ऋ० १। १८। ८)

'हे नारि! जीवलोकम् अभि उदीर्ष्व, एतं गतासुम् उपशेषे, एहि। हस्तग्राभस्य दिधिषोः, पत्युः तव इदं जनित्वम् अभिसंबभूथ' इत्यन्वयः। इसका भावार्थ यह है कि 'हे स्त्री, तुम अपने जीवित पुत्र-पौत्रादिके पास [उनका पालन-पोषण करनेके लिये] इस चिता-स्थानसे उठकर चलो। आह!

तुम साथ मरनेका निश्चय करके इस मृतक शरीरके पास आकर लेटी हुई हो। चलो! पाणिग्रहण तथा गर्भाधान करनेवाले इस पतिकी तुम पत्नी थीं, अतः अपने पत्नीत्वको लक्ष्य करके तुमने इसके साथ मरनेका निश्चय किया है। (पर असहाय बालकोंपर दया करके यहाँसे लौट चलो)।'

सती स्त्री मृत पतिके साथ मरना चाहती है, कुटुम्बके लोग उसे मरनेसे रोकनेकी कोशिश कर रहे हैं। कोई भी उसे ज़बरदस्ती चिताकी आगमें झोंकना नहीं चाहता! इस मन्त्रपर विचार करनेसे यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि सतीत्व और सहमरणका भाव आर्यनारियोंमें अनादि वैदिक कालसे ही है। इसे अर्वाचीन बताना अपनी अनभिज्ञताका परिचय देना है। इतिहास साक्षी है, प्राचीन युगसे अबतक इस धर्मप्राण देशमें सती स्त्रियाँ होती आयी हैं। सबने हँसते-हँसते पतिके साथ जीवनोत्सर्ग किया है। चित्तौरकी महारानी पद्मिनी और उनके साथ रहनेवाली हजारों राजपूत-ललनाओंने एक साथ जौहर-व्रत लेकर धधकती चिताओंमें अपनेको होम दिया। दिल्लीका सम्राट् चरण चूमना चाहता है; जिस सुखके लिये लोग तपस्या करते हैं, वह स्वयं द्वारपर उपस्थित है; पर पतिप्राणा राजपूत बालाओंने उसकी ओर आँख उठाकर देखा तक नहीं। वे सतियोंके मान और पतियोंके अभिमानकी रक्षा करनेके लिये जलकर राख हो गयी! क्या उन्हें भी समाजने हठात् चितामें झोंका था?

सुरीतिके पीछे कुरीति भी होती है; यदि कहीं किसीने किसी स्त्रीको बलात्कारसे चितापर जला दिया हो तो उसकी उस निष्ठुरताको सारे समाजपर नहीं लादा जा सकता। इसी प्रकार जहाँ सारे देशमें सतीत्वका साम्राज्य था, वहाँ कुछ नरकके कीट दुश्चरित्र स्त्री-पुरुष भी थे, जिनका उल्लेख दीर्घतमा और श्वेतकेतुकी कथाओंमें आया है। दीर्घतमा और श्वेतकेतुने सतीत्वका कोई नया नियम नहीं प्रचलित किया, उस पुरातन वैदिक नियमको ही पालनेपर जोर दिया जिसे उस समय कुछ उच्छृङ्खल स्त्री-पुरुष उपेक्षित किये हुए थे। सन्तानके लोभसे भी नियोगका समर्थन कभी नहीं किया गया; जिन्होंने किया, वे उस कर्मके कारण कलङ्कित ही हुए। मनुजीने तो इसका घोर विरोध किया है—

अपत्यलोभाद्या तु स्त्री भर्तारमतिवर्तते।
सेह निन्दामवाप्नोति पतिलोकाच्च हीयते॥

(मनु० ५। १६१)

'सन्तानके लोभसे परपुरुषका समागम करनेवाली स्त्री इस लोकमें निन्दा पाती है और पतिलोकसे भी वञ्चित होती है।'

नियोगसे भी सतीत्वको ठेस पहुँचती है, व्यभिचारको प्रोत्साहन मिलता है। किसी भी युगमें नियोगको आदर-दृष्टिसे नहीं देखा गया। सतीत्व आर्यनारीके लिये आजीवन साधने योग्य साधना है; साधनामें कुछ नियमोंका कठोरतासे पालन किया जाय तभी सफलता मिलती है। यदि नियोग आदिके द्वारा परपुरुष-सेवनकी सुविधा दे ही दी गयी, तो सतीत्वका मूल्य ही क्या रहा। और अखण्डित पातिव्रत्यका निर्वाह भी कैसे हुआ। इसीलिये नियोगका अनर्थकारी परिणाम सोचकर मनुजीने इसका घोर विरोध किया है। वे कहते हैं—

नान्यस्मिन् विधवा नारी नियोक्तव्या द्विजातिभिः।
अन्यस्मिन् हि नियुञ्जाना धर्मं हन्युः सनातनम्॥
नोद्वाहिकेषु मन्त्रेषु नियोगः कीर्त्यते क्वचित्।
न विवाहविधावुक्तं विधवावेदनं पुनः॥
अयं द्विजैर्हि विद्वद्भिः पशुधर्मो विगर्हितः।
मनुष्याणामपि प्रोक्तो वेने राज्यं प्रशासति॥

(मनु० ९। ६४-६६)

'द्विजोंको चाहिये कि विधवा स्त्रीका किसी भी अन्य पुरुषके साथ नियोग न करें। जो लोग परपुरुषके साथ विधवाका नियोग करते हैं, वे सनातन पातिव्रत्य-धर्मको नष्ट करते हैं। विवाहके मन्त्रोंमें नियोगका कहीं नाम भी नहीं है। तथा विवाहकी विधिका प्रतिपादन करनेवाले शास्त्रोंमें विधवाका पुनर्विवाह कहीं नहीं कहा गया है। विधवाका विवाह या नियोग पशुधर्म है, द्विजातियोंने सदा ही इसकी निन्दा की है। राजा वेनके समयमें इसका प्रचार कुछ निम्न श्रेणीके मनुष्योंमें हो गया था।'

द्विजेतर जातियोंमें तो आज भी विधवा-विवाह और नियोगकी प्रथा है; पर उनमें भी जो इससे बची रहती है, वह स्त्री सम्मानकी दृष्टिसे देखी जाती है। पूर्वकालमें भी निम्नश्रेणीके मनुष्योंमें ही इसका प्रचार था। 'द्विजैः' शब्दसे इस मतकी अच्छी तरह पुष्टि होती है। द्विजोंका सम्बन्ध वैदिक मर्यादाओंके साथ था, अतः वे नियोग और विधवाविवाहके कलङ्कसे बचे रहे। राजा वेनके राज्यकालमें इसका प्रचार हुआ, इतना ही कह देना इसकी निन्दनीयताके लिये काफी सबूत है। राजा वेन जैसा उच्छृङ्खल राजा था, वह किसीसे छिपा नहीं है; उसके शासन-कालमें जो-जो अनर्थ हुए हों, असम्भव नहीं हैं। वैदिक मर्यादाका पालन करनेवाले द्विजगण नियोगादिकी प्रथाको सदासे ही

पशुधर्म मानते आये हैं। मनुष्योंमें ऐसी निर्लज्जताका ताण्डव वे नहीं देखना चाहते थे। किन्तु खेद है, आज सभ्यताके नामपर कुछ इसी तरहके विचारोंका प्रचार किया जा रहा है। संयम और विवेकको हटाकर, मर्यादाओंको छिन्न-भिन्न करके उच्छृङ्खलतापूर्ण जीवनका आवाहन किया जा रहा है। नारी-पुरुष कहीं, किसीके साथ, कभी भी इच्छानुसार मिल सकते हैं—इस प्रकारकी स्वतन्त्रता चाही जा रही है। कहाँ तो मनुष्य संयम और सदाचारसे अपने भीतरके पशुत्वको प्रसुप्त कर देवत्वको जाग्रत् करता था और कहाँ आज आकार-प्रकारसे मनुष्य होकर भी अपने भीतर पशुभाव जाग्रत् करनेका प्रयत्न हो रहा है। मनुष्य पशु बनने जा रहा है सभ्यताके नामपर, कितना भयङ्कर पतन है!

सतीधर्मका पालन प्रत्येक स्त्रीके लिये अनिवार्य है, आर्यनारी अपने इस कर्तव्य और उत्तरदायित्वको समझकर आजीवन स्वधर्मका पालन करती और कल्याणभागिनी होती है। जो नारी पातिव्रत्यके पालनसे मुँह मोड़ती है, उसे लोकनिन्दाके साथ परलोकमें कितना भयङ्कर दण्ड मिलता है—इसका कुछ दिग्दर्शन कराया जाता है—

व्यभिचारात्तु भर्तुः स्त्री लोके प्राप्नोति निन्द्यताम्।
शृगालयोनिं प्राप्नोति पापरोगैश्च पीड्यते॥
(मनु० ५। १६४)

'एक पतिका उल्लङ्घन करके परपुरुषके साथ समागमसे स्त्री इस संसारमें निन्दित होती है और मरनेके पीछे गीदड़की योनिमें जन्म लेती तथा पापों और रोगोंसे कष्ट पाती रहती है।'

या नारी तु पतिं त्यक्त्वा मनोवाक्कायकर्मभिः।
रहः करोति वै जारं गत्वा वा पुरुषान्तरम्॥
तेन कर्मविपाकेन सा नारी विधवा भवेत्।
(स्कन्दपुराण)

नारी विधवा क्यों होती है? यह उसके पूर्व पापका ही परिणाम है। पतिका परित्याग करके या चोरी-चोरी मन, वाणी, शरीर और आचरणसे जो एकान्तमें जार पुरुषसे मिलती है या एकको छोड़कर दूसरा पति कर लेती है, वह अपने उसी पापके कारण विधवा होती है। यही नहीं, पति-वञ्चक व्यभिचारिणी नारीको करोड़ों कल्पोंतक रौरव नरककी यातना भोगनी पड़ती है।

पति बंचक परपति रति करई। रौरव नरक कल्प सत परई॥

केवल स्त्रीको ही यह दण्ड मिलता हो, ऐसी बात नहीं है, निर्दोष स्त्रीका परित्याग करनेवाले या परायी स्त्रीसे रतिकी इच्छा रखनेवाले पुरुषको भी अत्यन्त भयानक दण्डका शिकार होना पड़ता है। स्कन्दपुराणमें कहा है कि जो निर्दोष कुलाङ्गना धर्मपत्नीका त्याग करके परस्त्रीमें आसक्त होता है, वह भी दूसरे जन्ममें स्त्री-योनिमें जन्म लेकर विधवा होता है—

यः स्वनारीं परित्यज्य निर्दोषां कुलसम्भवाम्।
परदाररतो हि स्यादन्यां वा कुरुते स्त्रियम्॥
सोऽन्यजन्मनि देवेशि स्त्री भूत्वा विधवा भवेत्।

दक्षस्मृतिमें बताया गया है कि जो अपनी सुशीला स्त्रीको जवानीमें छोड़ देता है, वह मृत्युके पश्चात् वन्ध्या स्त्री होता है—

अदुष्टापतितां भार्यां यौवने यः परित्यजेत्।
स जीवनान्ते स्त्रीत्वं च वन्ध्यात्वं च समाप्नुयात्॥

इस प्रकार स्त्रीका अपमान करना अधर्म बताकर शास्त्रोंमें उसके आदरके लिये जोर दिया गया है। जो लोग कहते हैं कि शास्त्र पुरुषोंके बनाये हुए हैं, अतः उनमें स्त्रियोंको निन्द्य बताया गया है, वे निम्नाङ्कित वचनोंपर विचार करें—

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः॥
(मनु० ३। ५६)

'जहाँ स्त्रियोंका सम्मान होता है, वहाँ देवता निवास करते हैं। जहाँ इनका आदर नहीं, वहाँ किये हुए सारे शुभ कर्म निष्फल होते हैं।'

प्रजनार्थं महाभागाः पूजार्हा गृहदीप्तयः।
स्त्रियः श्रियश्च गेहेषु न विशेषोऽस्ति कश्चन॥
(मनु० ९। २६)

'स्त्रियाँ सन्तानोंको जन्म देती हैं, इसलिये बड़ी भाग्यशालिनी हैं। ये घरकी शोभा हैं, इनका सदा सम्मान करना चाहिये। घरके भीतर स्त्री और लक्ष्मीमें कोई अन्तर नहीं है। जैसे लक्ष्मीके विना घरकी शोभा नहीं होती, वैसे ही स्त्रीके विना भी घरकी शोभा नहीं होती।'

भार्या मनुष्यका आधा अङ्ग है, वह सर्वोत्तम सङ्गिनी है; जिन्हें सुशीला स्त्री प्राप्त है, वे ही यज्ञादि कर्म करनेमें सफल और धनवान् हैं। ये स्त्रियाँ एकान्तमें प्रेमी मित्रकी भाँति मधुर प्रेमालाप करती हैं, धर्मादि कार्योंमें पिताकी भाँति योग देती हैं और कष्टावस्थामें दयामयी माताकी भाँति सेवाएँ करती हैं—

अर्द्धं भार्या मनुष्यस्य भार्या श्रेष्ठतमः सखा।
भार्यावन्तः क्रियावन्तो भार्यावन्तः श्रियान्विताः॥
सखायः प्रविविक्तेषु भवन्त्येताः प्रियंवदाः।
पितरो धर्मकार्येषु भवन्त्यार्तस्य मातरः॥

संसारकी सभी स्त्रियाँ भगवती प्रकृतिके अंशसे उत्पन्न हुई हैं, अतः उनके अपमानसे प्रकृति देवीका ही अपमान होता है। जिसने सती नारीका पूजन किया, उसने मानो भगवती प्रकृति माताका ही पूजन कर लिया—

सर्वाः प्रकृतिसम्भूता उत्तमाधममध्यमाः।
योषितामवमानेन प्रकृतेश्च पराभवः॥
रमणी पूजिता येन पतिपुत्रवती सती।
प्रकृतिः पूजिता तेन वस्त्रालङ्कारचन्दनैः॥
(देवीभागवत)

इस प्रकार सम्पूर्ण शास्त्र स्त्रियोंको आदरकी दृष्टिसे देखते हैं। जहाँ कहीं निन्दा की गयी है, वहाँ किसी विशेष प्रकारके दुर्गुणको लक्ष्य करके ही की गयी है। दुर्गुण-दुराचार पुरुषमें हों या स्त्रीमें, उनकी निन्दा होती ही है; इसमें शास्त्रोंने पक्षपात नहीं किया है।

यहाँतक सतीत्वका संक्षिप्त स्वरूप, सतीत्व-पालनकी आवश्यकता, सतीत्वके परित्यागसे हानि और सती स्त्रियोंके आदरकी बात बतायी गयी। अब यह देखना चाहिये कि शास्त्रोंमें सतीका क्या कर्तव्य, कौन-सा लक्षण बताया गया है, तथा सतीत्वकी महिमा किस प्रकार गायी गयी है—

भुङ्क्ते भुक्तेऽथ या पत्यौ दुःखिते दुःखिता च या।
मुदिते मुदितात्यर्थं प्रोषिते मलिनाम्बरा॥
सुप्ते पत्यौ च या शेते पूर्वमेव प्रबुद्ध्यते।
नान्यं कामयते चित्ते सा विज्ञेया पतिव्रता॥

'जो पतिके दुखी होनेपर दुखी और प्रसन्न होनेपर प्रसन्न होती है तथा पतिके परदेश चले जानेपर मलिन वस्त्र पहनकर आमोद-प्रमोदसे दूर रहती है, जो पतिके भोजन करनेके बाद ही भोजन करती और उनके सोनेके पश्चात् ही शयन करती है, तथा पतिसे पहले ही जग जाती है, मनमें किसी परपुरुषकी कामना नहीं करती, उसे पतिव्रता समझना चाहिये।'

सतीत्वका पालन शरीर, वाणी और मनसे होना चाहिये। जिसके मनमें सतीत्वकी भावना पुष्ट है, वही सच्ची साध्वी हो सकती है। सतीके बाह्य सदाचारोंका पालन भी कम महत्त्व नहीं रखता, पर मनोयोग हुए विना उसमें पूर्णता नहीं आती। बाह्य आचार तो कभी दम्भपूर्वक दिखावेके लिये भी किया जा सकता है। इसीलिये गोस्वामी तुलसीदास-जी कहते हैं—

एकइ धर्म एक ब्रत नेमा। काय बचन मन पति पद प्रेमा॥

'मन, वाणी और शरीरसे पतिके चरणोंमें प्रेम होना ही पातिव्रत्यका यथार्थ लक्षण है।'

पति जीवित हो या नहीं, पतिलोकपर विजय चाहनेवाली साध्वी स्त्रीका कर्तव्य है कि वह कभी उसके प्रतिकूल आचरण न करे—

पाणिग्राहस्य साध्वी स्त्री जीवतो वा मृतस्य वा।
पतिलोकमभीप्सन्ती नाचरेत् किञ्चिदप्रियम्॥
(मनु० ५। १५६)

जो मन, वाणी और शरीरको अपने वशमें रखकर पतिका कभी अतिक्रमण नहीं करती, उसे सज्जन लोग साध्वी कहते हैं और वही पतिलोकपर अधिकार प्राप्त करती है—

पतिं या नाभिचरति मनोवाग्देहसंयता।
सा भर्तृलोकमाप्नोति सद्भिः साध्वीति चोच्यते॥
(मनु० ५। १६५)

जो पतिके जीवित रहते या मृत्युके पश्चात् कभी भी परपुरुषसे समागम नहीं करती, वह इस लोकमें यश पाती और मृत्युके पश्चात् पार्वतीजीके साथ आनन्द मनाती है—

मृते जीवति वा पत्यौ या नान्यमुपगच्छति।
सेह कीर्तिमवाप्नोति मोदते चोमया सह॥
(याज्ञ०)

शिवलोक ही साध्वी स्त्रीका पतिलोक है। वहाँ महेश्वर-रूपमें प्राप्त हुए पतिदेवके साथ उमारूपसे रहकर साध्वी स्त्री अनन्तकालतक अक्षय सुख-शान्तिका अनुभव करती है। जो सदा पतिके अनुकूल रहती है, कभी कड़वी बातें जबानपर नहीं लाती, गृहकार्यमें सदा दक्ष रहती है, सदाचार-का पालन करती और प्रिय वचन बोलती है, वह सर्वथा अपनी रक्षा रखनेवाली पतिभक्ता नारी मानुषी नहीं, देवता है!—

अनुकूला न वाग्दुष्टा दक्षा साध्वी प्रियंवदा।
आत्मगुप्ता स्वामिभक्ता देवता सा न मानुषी॥
(दक्षस्मृति)

जितने भी दान, यज्ञ, तीर्थसेवन, व्रत, तप, उपवास, धर्म, सत्यभाषण, देवाराधन आदि शुभकर्म हैं, वे सभी पतिकी सेवासे प्राप्त होनेवाले पुण्यकी सोलहवीं कलाके भी बराबर नहीं हैं—

सर्वदानं सर्वयज्ञः सर्वतीर्थनिषेवणम् ।
सर्वं व्रतं तपः सर्वमुपवासादिकं च यत् ॥
सर्वधर्मश्च सत्यं च सर्वदेवप्रपूजनम् ।
तत्सर्वं स्वामिसेवायाः कलां नार्हन्ति षोडशीम् ॥
(ब्रह्मवैवर्तपुराण)

यदि कहें कि विना पुत्रके सद्गति नहीं होती, इसलिये जो विधवा पुत्रवती नहीं है उसका उद्धार कैसे होगा, तो इसका उत्तर शास्त्र देते हैं कि सती विधवा ब्रह्मचर्यका पालन करे । नियोगकी आवश्यकता नहीं । नैष्ठिक ब्रह्मचारी जिन लोकोंको प्राप्त होते हैं, वहीं वह भी जायगी । उसके लिये दिव्य लोकोंमें स्थान सुरक्षित रहेगा—

मृते भर्तरि साध्वी स्त्री ब्रह्मचर्ये व्यवस्थिता ।
स्वर्गं गच्छत्यपुत्रापि यथा ते ब्रह्मचारिणः ॥
(मनु० ५ । १६०)

स्त्रियोंको अपनी सद्गतिके लिये अलग कोई यज्ञ, व्रत और उपवास आदि करनेकी भी आवश्यकता नहीं है । जिस सद्भावसे वह पतिकी शुश्रूषा करती है, उसीसे स्वर्गलोकमें सम्मानित होती है—

नास्ति स्त्रीणां पृथग्यज्ञो न व्रतं नाप्युपोषणम् ।
पतिं शुश्रूषते येन तेन स्वर्गे महीयते ॥
(मनु० ५ । १५५)

जो पतिके जीते-जी उसकी सेवामें कमी करके कठिन व्रत और उपवास आदि करती है, वह मानो अपने पतिकी आयु हरती है और अपने लिये नरकमें स्थान बनाती है—

पत्यौ जीवति या तु स्त्री उपवासं व्रतं चरेत् ।
आयुष्यं हरते भर्तुर्नरकं चैव गच्छति ॥

यदि पतिका स्वभाव अच्छा न हो, अथवा उसके पास धनका अभाव हो गया हो, तो भी जिनका स्वभाव और आचरण आर्य सती स्त्रियोंका-सा है उनके लिये तो वह उत्तम देवताके ही समान पूज्य है—

दुःशीलः कामवृत्तो वा धनैर्वा परिवर्जितः ।
स्त्रीणामार्यस्वभावानां परमं दैवतं पतिः ॥
(वा० रा० अयो० ११७ । २४)

विष्णुपुराणमें तो यहाँतक कहा गया है कि पुरुष जिन लोकोंको बड़ी कठिन तपस्या करके भी नहीं पा सकता, उन्हींको पतिका हित चाहनेवाली नारी मन, वाणी और कर्मसे केवल पति-सेवा करके अनायास ही पा जाती है—

योषिच्छुश्रूषणाद्भर्तुः कर्मणा मनसा गिरा ।
तद्धिता शुभमाप्नोति तत्सालोक्यं यतो द्विजाः ॥
नातिक्लेशेन महता तानेव पुरुषो यथा ।
(विष्णु० ६ । २ । २८-२९)

सती स्त्रीको गृहस्थ-जीवनमें रहकर कैसा व्यवहार रखना चाहिये, इसका उपदेश श्रीमद्भागवतमें संक्षेपसे मिलता है—

स्त्रीणां च पतिदेवानां तच्छुश्रूषानुकूलता ।
तद्बन्धुष्वनुवृत्तिश्च नित्यं तद्व्रतधारणम् ॥
सम्मार्जनोपलेपाभ्यां गृहमण्डलवर्तनैः ।
स्वयं च मण्डिता नित्यं परिमृष्टपरिच्छदा ॥
कामैरुच्चावचैः साध्वी प्रश्रयेण दमेन च ।
वाक्यैः सत्यैः प्रियैः प्रेम्णा काले काले भजेत्पतिम् ॥
सन्तुष्टालोलुपा दक्षा धर्मज्ञा प्रियसत्यवाक् ।
अप्रमत्ता शुचिः स्निग्धा पतिं त्वपतितं भजेत् ॥
या पतिं हरिभावेन भजेच्छ्रीरिव तत्परा ।
हर्यात्मना हरेर्लोके पत्या श्रीरिव मोदते ॥
(७ । ११ । २५—२९)

'पति ही जिनके देवता हैं, उन सती स्त्रियोंका कर्तव्य है—पतिकी सेवा करना, उनके अनुकूल रहना, उनके भाई-बन्धुओंकी आज्ञा पालना और सदा पतिव्रत धारण करना । वह प्रतिदिन घरको झाड़-बुहार, लीप-पोतकर साफ रक्खे, दरवाजोंपर सुन्दर मण्डल (चौक) बनावे । और स्वयं भी साफ वस्त्राभूषण पहनकर शृङ्गार किये रहे । साध्वी स्त्री सदा मन और इन्द्रियोंका संयम करके पतिकी छोटी-बड़ी सभी कामनाएँ पूर्ण करती हुई विनयपूर्ण, सत्य और प्रिय वचनोंसे तथा प्रेमपूर्ण व्यवहारसे पतिको प्रसन्न रखकर समय-समयपर उसकी सेवा करती रहे । उसे सन्तुष्ट रहना चाहिये, लोभ मनमें नहीं आने देना चाहिये, गृहकार्यमें दक्ष और स्वधर्मकी जानकार होना चाहिये । प्रिय और सत्य वचन बोले, कभी असावधान न रहे, बाहर-भीतरसे पवित्र रहे तथा स्नेहपूर्वक अपने सदाचारी पतिकी सेवा करे । जो भगवती लक्ष्मीकी भाँति पतिसेवामें परायण होकर अपने स्वामीको भगवान् समझकर भजती है, वह वैकुण्ठधाममें विष्णुरूपधारी पतिके साथ लक्ष्मीके समान शरीर धारणकर आनन्द भोगती है ।' (शेष फिर)

पतिव्रताकी परीक्षा

[कहानी]

(लेखक—मुखिया विद्यासागरजी)

(१)

सन् १८१८ ई० की यह घटना है । भारतपर ईस्ट इंडियन कंपनीका शासन चालू था। बंगालमें जबरन लगान वसूल करनेका आर्डर जारी हो चुका था । जिला मुर्शिदाबादके दीवान देवीसिंह नामके एक ठाकुर बनाये गये । उन्होंने जबरन लगान वसूल करना और माफ़ी ज़मीनपर लगान क़ायम करना शुरू कर दिया। ठाकुरसाहब बड़े ही ज़ालिम और बड़े ही व्यभिचारी थे। उनके भयानक और रोमाञ्चकारी कर्म आज दिन कहानियोंके रूपमें मुर्शिदाबादके ज़िलेमें वर्णन किये जाते हैं । उनकी एक करतूत इस कहानीमें प्रकट की जाती है ।

ख़ास मुर्शिदाबाद शहरमें जगन्नाथ भट्टाचार्य नामके एक ब्राह्मण रहते थे । उनकी स्त्रीका नाम कमला था । वह तनसे तो सुन्दर थी ही, मनसे भी सुन्दर थी। स्त्रियाँ तीन प्रकारकी होती हैं । प्रथम वे कि जिनके तनपर भी स्वर्ग छाया रहता है और मनपर भी। द्वितीय वे कि जिनके तनपर कुरूपता रहती है, परन्तु मनपर सुन्दरता छायी रहती है । तृतीय वे कि जिनके तनपर स्वर्ग छाया रहता है, परन्तु मनमें नरकका निवास होता है । कमलादेवी प्रथम श्रेणीकी महिला थी । वह पतिव्रता थी । अपने तीन लड़कों और पतिको लेकर सुखसे जीवन व्यतीत करती थी । वेदानुसार जैसा एक गृहस्थका घर होना चाहिये, जगन्नाथ भट्टाचार्यका वैसा ही गृहस्थाश्रम था । बादशाह अकबर-की दी हुई १०१ बीघा माफी थी । घरमें काफ़ी धन और धान था । रातको पुराणोंकी कथा होती थी। अतिथिका सत्कार होता था । घरके बाहर कथा और अतिथिका पूजन हुआ करता था, घरके भीतर तुलसी और शालग्राम पूजे जाते थे । तीनों लड़के संस्कृत तथा बँगला पढ़ते थे । उनके नाम थे—रामनाथ, कृष्णनाथ और विष्णुनाथ ! तीनों सुन्दर, तीनों चरित्रवान् और तीनों ही विनयी थे ।

एक दिन देवीसिंहने कमलाको मन्दिरमें देख लिया । उसकी सुन्दर आकृतिपर वह मोहित हो गया । दूसरे दिन देवीसिंहने जगन्नाथको बुलाया और कहा—'आपके वास्ते कंपनीका सख़्त हुक्म आया है । आपकी माफ़ीपर तीन रुपया बीघा लगान तीन सालसे क़ायम हो चुका है । १०१ बीघापर ३०३) रुपये सालाना हुए । इस प्रकार तीन सालका ९०९) रुपया आपपर बक़ाया लगान है । तीन दिनके भीतर आप सरकारी रुपया जमा करें । नहीं तो कुर्की करनी पड़ेगी । हम लोग नौकर हैं—जैसी मालिककी मर्ज़ी होगी, वैसा करना पड़ेगा ।'

जगन्नाथकी माफ़ीपर कंपनीने कोई लगान कायम नहीं किया था । कंपनीने भी उसे माफ़ी मान लिया था; परन्तु सरकार उतनी ज़ालिम नहीं कि जितने उसके हाकिम लोग ज़ालिम होते हैं । अच्छे शासनको भी बुरे शासक लोग बदनाम कर दिया करते हैं । कंपनीका नाम था और देवीसिंहका काम था ।

तीन दिनमें जगन्नाथने ५०५) रुपये जमा कर दिये । बाक़ीके लिये मुहलत माँगी । देवीसिंहने कहा—'तुम एक धनी आदमी हो । तुमको मुहलत कैसी ! कल सुबह कुर्की होगी । सरकारी पैसा है—जानते हो ?'

सुबह होते ही देवीसिंहने जगन्नाथका मकान घेर लिया । ठाकुरसाहबके सिपाहियोंने घरमें घुसकर

जेवरात, कपड़े और अनाज-मय बर्तनोंके-कुर्क कर लिये। अपनी समझसे उन्होंने घरमें कुछ भी न छोड़ा। किताबें और चारपाइयाँ भी उठा लीं। तख़्त और हथियार भी ले लिये। प्रायः तीन हजार रुपयेकी क़ीमतका सामान कुर्क किया गया, परन्तु उसका मूल्य केवल ३००) रुपया लिखा गया। १०४) रुपया नक़द बक़ाया निकाला गया। देवीसिंहने जगन्नाथको क़ैद कर लिया। जबतक यह बक़ाया जमा न हो, तबतक वे जेलकी हवा खावेंगे-ऐसा ही ठाकुरसाहबका आर्डर हुआ। धर्मात्मा जगन्नाथ अपना सर्वस्व देकर जेलमें ठूँस दिये गये। कारण कुछ नहीं। कारण यही था कि उनकी स्त्री सुन्दरी थी सो थी, पतिव्रता क्यों थी? यही उसका अपराध था।

(२)

दूसरोंका अनाज पीसकर और चरखा चलाकर बेचारी कमला अपने बच्चोंका पेट भरने लगी। एक दिन देवीसिंहने कमलाको बुलाया। अपने जीर्ण बच्चोंके साथ शीर्ण कमलाको आना पड़ा। बक़ाया जो लगी थी।

देवीसिंह-तुम जानती हो कि तुम्हारी माफ़ीपर जो सरकारी लगान क़ायम किया गया है, उसको मैं माफ़ करा सकता हूँ। लिख दूँगा कि उस आराज़ीमें कुछ पैदा ही नहीं होता, ऊसर ज़मीन है।

कमला-आप ऐसा कर सकते हैं।

देवीसिंह-इतना ही नहीं। तुमपर जो ९,०९,) रुपयेकी डिग्री हुई है, उसे भी मैं ख़ारिज करा सकता हूँ।

कमला-आप ऐसा कर सकते हैं।

देवीसिंह-इतना ही नहीं। कुर्कीका सारा सामान तुम्हारे घरमें जैसा-का-तैसा रखवा सकता हूँ। एक तिनका भी कम न होगा।

कमला-आप ऐसा कर सकते हैं।

देवीसिंह-इतना ही नहीं। तुमने जो ५०५) रुपया दिया है, वह भी वापस कर सकता हूँ।

कमला-आप ऐसा कर सकते हैं।

देवीसिंह-इतना ही नहीं। तुम्हारी माफ़ीके लिये एक ऐसी सनद दिलवा सकता हूँ कि चाहे जो राजा हो, तुम्हारी जमीन सर्वदा तथा सर्वथा माफ़ी ही बनी रहेगी।

कमला-आप ऐसा कर सकते हैं।

देवीसिंह-इतना ही नहीं। तुम्हारे पतिको जेलसे छोड़कर उनको समस्त मुर्शिदाबादका 'पुरोहित-मशाए' यानी धर्माचार्य बना सकता हूँ।

कमला-आप ऐसा कर सकते हैं।

देवीसिंह-मगर एक शर्त है। वह यह कि प्रति सोमवारकी रातको तुम मेरे घरमें रहा करो। तुम्हारे लिये ही यह सब तमाशा करना पड़ा है। मेरी शर्तको मंजूर करो और अपने घर जाओ।

कमलाने देवीसिंहके मुखपर थूक दिया और अपने बच्चोंसहित अपने घर चली आयी।

(३)

एक दिन कमलाका बड़ा लड़का रामनाथ देवीसिंहकी कोठीके द्वारपरसे होकर कहीं जा रहा था। देवीसिंहने उसे गिरफ्तार कर लिया।

दूसरे दिन देवीसिंहने रामनाथका सिर कटवाकर कमलाके पास भेज दिया; परन्तु कमलाका आसन न हिला। देवीसिंहने एक दिन कृष्णनाथको भी पकड़ मँगाया। उसका भी सिर काटकर कमलाके पास भेजा। परन्तु कमलाने उफ़ न की। एक दिन देवीसिंहने विष्णुनाथको पकड़वा लिया, उसकी भी वही हालत की। कमलाने अपने तीनों बच्चोंके सिर अपनी गोदमें देखे, रोयी भी बहुत, परन्तु देवीसिंहका प्रस्ताव स्वीकार न किया।

अन्तमें देवीसिंहने जगन्नाथका भी खून करा डाला। जगन्नाथका सिर देखकर कमला रोयी नहीं। उसने

अपनी कटार निकाली कि जिसे वह सदा अपने पास रखती थी। एक पत्थरपर पानी डालकर उसने कटारपर शान चढ़ायी। उसने अपने सिरके बाल खोल दिये और चण्डीका रूप धारण किया।

कटार लेकर कमला देवीसिंहके दरबारमें जा पहुँची। तख्तपर बैठा हुआ देवीसिंह अफ़ीमकी पीनकमें ऊँघ रहा था। सिंहवाहिनी-सी गरजकर कमला तख्तपर जा चढ़ी। उसको पकड़नेका साहस किसीको नहीं हुआ। कमलाके तेजके सामने किसीकी हिम्मत न पड़ी कि जो उस चण्डीकी राह रोकता। जिस क्षण अबला सबलाका रूप धारण करती है, उस समय साक्षात् महाकाल भी उसका सामना नहीं कर सकता। कमलाने देवीसिंहकी छातीमें कटार घूँस दिया। वह मरकर वहीं ढेर हो गया। कमलाने दूसरा हाथ अपने पेटपर चला दिया! वह भी मरकर वहीं गिर पड़ी।

लोगोंने एक ही चितापर जगन्नाथ, कमला और तीनों लड़कोंको बाँधा और श्मशानमें जलाया।

सामने ही देवीसिंहकी लाश जलायी गयी।

इसके बाद मुर्शिदाबादकी पबलिकने सतीकी मठिया बनवायी। नगरकी स्त्रियोंने कमलाकी मठी पूजना शुरू कर दिया। सतीकी मठिया आजतक पूजी जाती है। सती-की मठियाके सामने ही देवीसिंहका चबूतरा बनाया गया था। दर्शकलोग प्रथम सतीको प्रणाम करते और फिर देवीसिंहके चबूतरेपर पाँच जूते मारकर अपने घर जाते थे। न कमला रही और न देवीसिंह रहा। दोनोंकी अच्छी और बुरी कहानी रह गयी।

भगवान्‌की लीला

अबतक जो कुछ भी हुआ, अब हो रहा है और आगे होगा, सभी श्रीभगवान्‌का रचा हुआ है। सृजन और संहार आदि सभी उन नित्यलीलामयकी लीलाके ही अङ्ग हैं। यह लीला अनादि है, अनन्त है, नित्य है, नियमित है और अनिवार्य है। सृजनका मधुर रूप और संहारका कराल रूप दोनों ही उन्हींके स्वरूप हैं। वही वृन्दावनके माखनप्रेमी मुरलीधर हैं और वही कुरुक्षेत्र-समरानलके प्रारम्भमें अर्जुनको भयसे कँपा देनेवाले भयङ्करमूर्त्ति साक्षात् काल हैं। वस्तुतः लीलामें किसी भी रसका प्राकट्य हो, लीला नित्यानन्दमयी ही है। भयानक-से-भयानक लीलाके अंदर उनका नित्य-सुन्दर मनोहर मुसकराता हुआ मुखारविन्द छिपा है। लीलासे लीलाविहारीका बिलगाव कैसे हो? भगवत्कृपासे जिन भक्तोंको लीलादर्शनके योग्य नेत्र प्राप्त हो गये हैं वे एकमात्र श्रीभगवान्‌को ही विविध रूपोंमें चित्र-विचित्र लीला करते देखते हैं और प्रत्येक लीलामें ही उनके मधुर दर्शन और उनके सुकोमल करकमलका स्पर्श पाकर अपार्थिव आनन्दलाभ करते हैं। यह भी स्मरण रखना चाहिये कि भगवान्‌की इस लीलामें कुछ भी अनहोनी बात नहीं होती। जो कुछ होता है, वही होता है जो होना है; और जो होना है वही ठीक है, वही मङ्गलमय है। मङ्गलमय भगवान्‌का कोई भी विधान मङ्गलसे रहित नहीं हो सकता। इसीलिये महात्मा पुरुष प्रत्येक घटनाको भगवान्‌का अवश्यम्भावी मङ्गलमय विधान मानकर सन्तुष्ट रहते हैं और विधानमें स्वयं विधाताका साक्षात्कार कर कृतकृत्य होते रहते हैं। ऐसे कृतकृत्य महात्मा इस सत्यका प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं कि उनके अन्तःकरण और इन्द्रियोंसे होनेवाली प्रत्येक चेष्टा श्रीभगवान्‌की शक्तिद्वारा ही निर्दिष्ट और सञ्चालित होती हैं। वे स्वयं कुछ भी नहीं करते-

कराते, जो कुछ होता है सब भगवान्‌की प्रकृति (शक्ति) ही करती है। कार्य तो सभी जगह भगवान्‌की प्रकृतिके द्वारा ही होते हैं परन्तु दूसरे लोग इस सत्यका अनुभव न करके स्वयं अपनेको कर्त्ता मानते हैं और महात्मा लोग भगवत्प्रकृतिका कर्तृत्व प्रत्यक्ष ही देख पाते हैं, इसीलिये वे ऐसा अहङ्कार नहीं करते। अवश्य ही, वास्तवरूपमें महात्माओंका यह अकर्तृत्व, और साधारण जीवोंका कर्तृत्व भी भगवान्‌की लीलाके ही अङ्ग हैं। परन्तु यह तत्त्व जबतक प्रत्यक्ष न हो जाय, तबतक न तो कोई इसको इस प्रकार मान सकता है और न मानना ही चाहिये। इसीलिये साधारण लोगोंकी दृष्टिमें महात्मा लोग लोकहितार्थ सत्कर्म करते हुए देखे जाते हैं और उनके आदर्शके अनुसार साधारण लोग अपना कर्त्तव्य निश्चय करके कर्ममें लगते हैं।

यहाँ साधकोंको ऐसी धारणा करनी चाहिये कि यह जगत् भगवान्‌का नाट्यमञ्च है और हम सभी इसमें अभिनय करनेवाले ऐक्टर हैं। जगन्नाटकके सूत्रधारने हमारे लिये जो खेल नियत कर दिया, उसीको ईमानदारीसे खेलना हमारा कर्त्तव्य है। असलमें ऐक्टरके मनमें कोई स्वतन्त्र इच्छा नहीं हुआ करती। नाटकके स्वामीकी आज्ञाके अनुसार अपना पार्ट करना ही उसकी एकमात्र इच्छा और चेष्टा होती है। इसके अनुसार अपनी सारी कामनाओंका त्याग कर भगवान्‌के इस संसाररूपी नाट्यमञ्चपर भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये भगवान्‌के सङ्केतानुसार कर्म करना ही अपना परम धर्म है, यही उनकी उपासना है और यही भक्ति है। स्वामीके आज्ञानुसार कर्म न करना 'नमकहरामी' है और स्वामीकी सम्पत्तिको अपनी मानना 'बेईमानी।' नमकहरामी और बेईमानी दोनोंसे बचकर स्वकर्मके द्वारा स्वामीकी पूजा करनी चाहिये। चतुर ऐक्टरकी न तो किसी स्वाँगविशेषमें आसक्ति होती है, न किसी कर्मविशेषमें। उसे जब जो स्वाँग मिलता है वह उसीके अनुरूप दक्षताके साथ अभिनय करता है। इसीसे भगवान्‌ने कहा है—'अर्जुन! तुम आसक्ति छोड़कर भगवान्‌के लिये कर्मोंका भलीभाँति सम्पादन करो। ('तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर') जिस साधककी प्रत्येक कर्ममें यह दृष्टि रहती है तथा बिना किसी आसक्ति और कामनाके इस प्रकार कर्त्तव्य-कर्म करता है वह आगे चलकर भगवान्‌के हाथका सच्चा यन्त्र बन जाता है। उसकी कर्त्तव्य-बुद्धि भी भगवान्‌की विशुद्ध और स्पष्ट सञ्चालन-क्रियाके अंदर विलुप्त हो जाती है। फिर उसमें कोई अहङ्कार भी नहीं रहता। वह जड कठपुतलीकी भाँति भगवान् जैसे नचाते हैं वैसे ही नाचता है। वे जो कुछ कराते हैं वही करता है। वस्तुतः तात्त्विक दृष्टिसे भगवान्‌से भिन्न उसका पृथक् अस्तित्व ही नहीं रह जाता। वह भगवान्‌में रहता है; भगवान् उसमें। वह इसका प्रत्यक्ष अनुभव करता है। यह तो हुई संक्षेपमें सिद्धान्तकी और साधकके भाव तथा कर्त्तव्यकी बात। अब इस संहारलीलाके सम्बन्धमें कुछ विचार करना है—

ऊपरके विवेचनसे यह तो समझमें आ ही गया होगा कि यह संहार भी भगवान्‌की एक आवश्यक और अनिवार्य लीला या उनका मङ्गलविधान ही है। विश्व-शरीरमें जब सड़न पैदा हो जाती है, तब स्वाभाविक ही उस सड़नको मिटानेके लिये विश्वस्रष्टाको एक बड़ा ऑपरेशन करना पड़ता है। ऐसे ऑपरेशन अनादि कालसे अनेक युगोंमें होते आये हैं और होते रहेंगे। ये आवश्यक हैं और अनिवार्य हैं तथा इनका परिणाम कल्याणमय ही होता है। सारी सड़ी मवाद निकलकर जब शरीर बिलकुल विषमुक्त हो जाता है तब स्वाभाविक ही सुन्दर स्वस्थता प्राप्त होती है। हाँ, ऑपरेशन हो जानेपर जैसे घाव सूखनेमें कई दिन लग जाते हैं और इस बीचमें रोगीको घावकी वेदना सहनी पड़ती है। इसी प्रकार समष्टि शरीरको भी संहारके बाद कुछ

समयतक विषाद, निराशा, अवसन्नता और विश्रृङ्खलताकी यातना सहन करनी पड़ती है ।

यूरोपका यह समरानल भी एक प्रकारका ऑपरेशन है, जिसका होना अनिवार्य था । अनिवार्य न होता तो वह होता ही नहीं । यूरोपके अनेकों विद्वान्, बुद्धिमान् और प्रभावशाली पुरुष बहुत समयसे लगातार युद्धविरोधी चेष्टा कर रहे हैं परन्तु किसीकी भी बुद्धि और चेष्टा सफल न हो पायी । यह जानते-मानते और कहते हुए ही कि 'युद्धसे बड़ी हानि है, यह राक्षसीपन है और हम कदापि युद्ध नहीं चाहते'—बड़े-बड़े बुद्धिमान् लोग आज बड़ी तत्परताके साथ भीषण समराग्निमें सब कुछ होम देनेकी तैयारी करके रणाङ्गणमें उतर आये हैं और प्रतिदिन महान् विनाशका सामना करते हुए भी युद्धसे विरत नहीं होना चाहते । बल्कि अपनी सारी शक्ति लगाकर विनाशके विस्तारमें दत्तचित्त हैं, इससे सम्भव है युद्धकी यह आग और भी दूर-दूरतक फैले तथा पार्थिव धन और शरीरोंका और भी भीषण परिणाममें विनाश हो । जबतक पूरा मवाद निकल नहीं जायगा—शरीर बिल्कुल निरामय नहीं हो सकता । अतएव किसी कारणवश अभी यदि कहीं युद्ध रुक भी गया तो वह दूसरे भयानक महाविनाशके नये उद्योगके लिये ही रुकेगा । युद्धके अतिरिक्त भूकम्प, रोग, बाढ़, अकाल आदि साधनोंसे भी विनाश होता रहेगा । हमारी दृष्टिमें आनेवाले इस जगत्‌के प्राणियोंको इसके लिये तैयार हो जाना चाहिये । युद्ध वस्तुतः तभी मिटेगा जब लोगोंका हृदय बदलेगा, जब हमारा मन शुद्ध होगा । पाप तो हमारे मनोंमें है । भ्रम, बुरे विचार, राग-द्वेष, वैर-ईर्ष्या, काम-क्रोध, लोभ, हिंसा-प्रतिहिंसा आदि दोष तो हमारे अंदर हैं । यह अंदरका रोग है । बिजलीकी तोपों, हवाई जहाजों, बमों, टैङ्कों और डिस्ट्रॉयरों आदिसे इस रोगका नाश सहसा नहीं होता । इसके शीघ्र नाश होनेकी दवा तो है धर्माचरण, शुद्ध दैवी सम्पदा, सात्त्विक वृत्ति, दैवी बल और एकमात्र भगवान्‌के भजनसे ही प्राप्त होनेवाली श्रीभगवान्‌की दिव्य अमोघ कृपाशक्ति । इन दिव्य साधनोंपरसे आजके जगत्‌का विश्वास उठ गया है । इस प्रकारके साधन बतलानेवालोंको लोग आज पागल या मूर्ख मानते हैं । सभीके मन भौतिक साधनों, बाह्य आचारों और द्वेषभरी कुचेष्टाओंकी ओर खिंचते हैं । बात करनेमें सभी विश्वहित, लोकहित, स्वार्थहीनता और धर्मपरायणताकी ही डोंडी पीटते हैं परन्तु कार्य सभी उलटे करते हैं । किसी भी पक्षमें वस्तुतः सच्चे दिलसे विश्वहित, स्वार्थहीनता और धर्मपरायणताके भाव नहीं हैं । दोनों ही एक दूसरेको राक्षस बतलाकर अपनी न्यायपरायणता और स्वार्थहीनताकी घोषणा करते हैं परन्तु दोनों ही करते हैं वही राक्षसी कार्य । कारण स्पष्ट है, अंदर सड़न भरी है । गोदाममें जो चीज भरी होगी उसीकी गन्ध आवेगी । अंदर सड़ा मांस या प्याज भरा है तो केसर-गुलाबकी मीठी महक कहाँसे आवेगी । संस्कारके अनुसार वृत्ति बनती है और वृत्तियोंके अनुसार कर्म होते हैं । विश्वभरमें यही सड़न भर गयी है । इस सड़नके नाशमें ही विश्वका मङ्गल है । आत्मा तो अमर है—कभी मरता नहीं । शरीर विनाशी तथा नश्वर है, यह पैदा ही होता है नष्ट होनेके लिये । इसी प्रकार जगत्‌के पदार्थ भी सभी क्षणभङ्गुर और विनाशी हैं । 'आद्यन्तवन्त' इनका स्वभाव ही है । इस ऑपरेशनसे जब इन शरीरोंका और क्षणभङ्गुर पदार्थोंका भीषण विनाश होकर सारी सड़न निकल जायगी तब मन बदलेगा—वैराग्य और प्रेमकी भावना उत्पन्न होगी । जैसे घरमें अधिक लोगोंके एक साथ मर जानेपर बचे हुए लोगोंके मनमें क्षणिक वैराग्य होता है—वे ऐसा सोचते हैं जब इस प्रकार सभीको मरना है तब वैर-विरोध, पाप-प्रपञ्च क्यों किये जायँ । इसी प्रकार विश्वरूपी घरमें जब यादव-संहारकी भाँति परस्पर लड़कर बहुतसे आदमी मर जाँयगे, भोगसामग्रियोंका प्रचुरतासे विनाश हो जायगा तब बचे हुए लोगोंमें स्वाभाविक ही वैराग्यका भाव उत्पन्न

होगा और वे बुराई छोड़कर परस्पर प्रेम करेंगे। परिणामतः जबतक नयी बुराई पैदा नहीं होगी, तबतक जगत्‌में अबकी अपेक्षा बहुत अधिक सुख-शान्ति रहेगी। आजकल लोग जो शीघ्र ही सत्ययुगके आनेकी बात सुनते, कहते हैं उसका यही तात्पर्य है—यह क्रूर ग्रहकी विंशोत्तरीदशामें शुभ ग्रहकी अन्तर्दशाकी भाँति कुछ नियमित कालके लिये कलियुगमें सत्ययुगका अन्तर्भाव मात्र होगा।

प्रकृति स्वभावतः अधोगामिनी है। यदि निरन्तर ऊँचे उठने-उठानेका प्रयत्न न किया जाय तो स्वाभाविक ही प्रकृति पतनकी ओर बढ़ती है। उसे पतनसे बचानेके लिये सदा जाग्रत् रहने और प्रयत्न करनेकी आवश्यकता होती है। समष्टि जगत्‌में भी जीवोंके कर्मवश परमात्माकी प्रेरणासे ऐसा नियमित महाप्रयत्न भगवान्‌की प्रकृतिके द्वारा ही होता है, उसे कोई रोक नहीं सकता। वर्तमान संहार इसी प्रकारका परमात्मप्रेरित प्रकृतिका एक महान् प्रयत्न है, जो समष्टिकी शुद्धिके लिये अत्यावश्यक है।

इसमें सभी लोगोंको अपने-अपने जिम्मेका कार्य स्वभावतः करना ही पड़ेगा। जो नहीं करेगा वही दण्डका भागी होगा। भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा था—'तू यदि अहङ्कारवश मेरी बात न सुनेगा तो तेरा पतन हो जायगा।

यदहङ्कारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति॥

(गीता १८। ५९)

'यदि तू अहङ्कारवश ऐसा समझता है कि 'मैं युद्ध नहीं करूँगा, तो तेरा यह निश्चय मिथ्या है। प्रकृति तुझे बलपूर्वक युद्धमें लगा देगी।'

अब यह प्रश्न होता है कि अपनी ओरसे हमें इस समय क्या करना चाहिये। इसका उत्तर यह है कि इस समय साधारणतया हमारा कर्तव्य यह है कि हम अपने हृदयसे किसी भी पक्षविशेषसे राग-द्वेष न करके भगवान्‌से यही प्रार्थना करें कि, **'हे भगवन्! जगत्‌में सभी सुख-शान्तिको प्राप्त हों, सभी दैवी-सम्पत्तिका सेवन करें और सभी तुम्हारे भक्त बनें।'** हमें अपनी ओरसे यही प्रार्थना करनी चाहिये और सच्चे दिलसे यही प्रयत्न करना चाहिये, जिसमें व्यक्तिगत और समष्टिगत कलह और युद्ध न बढ़ें। ऐसे युद्धोंका शीघ्र अभाव हो जाय। अधर्मकी भावना सर्वथा नष्ट हो। परस्वापहरणकी कल्पना भी किसीके मनमें न उठे, सारे संसारमें प्रेमका विस्तार हो और सभी आत्मभावसे एक दूसरेकी सेवा-सहायता करें। इसके लिये सात बातें प्रधानरूपसे करनी चाहिये—

(१) श्रद्धा-विश्वासके साथ भगवान्‌की प्रार्थना।
(२) दैवी-सम्पत्तियुक्त जीवन बनानेका प्रयत्न।
(३) भगवान्‌के भजनमें तत्परता।
(४) गीता और रामचरितमानस-जैसे आशीर्वादात्मक कल्याणप्रद ग्रन्थोंका पारायण।
(५) गो-सेवा, दीन-सेवा और सर्वजीव-सेवा।
(६) सर्वत्र आत्मभावका प्रचार।
(७) जगत्‌की नश्वरताका विचार।

हनुमानप्रसाद पोद्दार

नोट—इस लेखमें एक ही साथ कई सिद्धान्तोंका उल्लेख हो गया है। पाठक विचारपूर्वक देखेंगे तो सबका समन्वय भी इसीमें पायेंगे।

* कल्याणके नियम *

उद्देश्य—भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, धर्म और सदाचार-समन्वित लेखोंद्वारा जनताको कल्याणके पथपर पहुँचानेका प्रयत्न करना इसका उद्देश्य है।

नियम

(१) भगवद्भक्ति, भक्तचरित, ज्ञान, वैराग्यादि ईश्वर-परक, कल्याणमार्गमें सहायक, अध्यात्मविषयक, व्यक्तिगत आक्षेपरहित लेखोंके अतिरिक्त अन्य विषयोंके लेख भेजनेका कोई सज्जन कष्ट न करें। लेखोंको घटाने-बढ़ाने और छापने अथवा न छापनेका अधिकार सम्पादकको है। अमुद्रित लेख बिना माँगे लौटाये नहीं जाते। **लेखोंमें प्रकाशित मतके लिये सम्पादक उत्तरदाता नहीं हैं।**

(२) इसका डाकव्यय और विशेषाङ्कसहित अग्रिम वार्षिक मूल्य भारतवर्षमें ४≈), बर्मामें ५) और भारतवर्षसे बाहरके लिये ६।।≈) नियत है। बिना अग्रिम मूल्य प्राप्त हुए पत्र प्रायः नहीं भेजा जाता।

(३) 'कल्याण' का वर्ष अगस्तसे आरम्भ होकर जुलाईमें समाप्त होता है; अतः ग्राहक अगस्तसे ही बनाये जाते हैं। वर्षके किसी भी महीनेमें ग्राहक बनाये जा सकते हैं किन्तु अगस्तके अङ्कसे। कल्याणके बीचके किसी अङ्कसे ग्राहक नहीं बनाये जाते; छः या तीन महीनेके लिये भी ग्राहक नहीं बनाये जाते।

(४) इसमें व्यवसायियोंके विज्ञापन किसी भी दरमें स्वीकारकर प्रकाशित नहीं किये जाते।

(५) कार्यालयसे 'कल्याण' दो-तीन बार जाँच करके प्रत्येक ग्राहकके नामसे भेजा जाता है। यदि किसी मासका 'कल्याण' न पहुँचे तो अपने डाकघरसे लिखा-पढ़ी करनी चाहिये। वहाँसे जो उत्तर मिले, वह हमें भेज देना चाहिये। डाकघरका जवाब शिकायती पत्रके साथ न आनेसे दूसरी प्रति बिना मूल्य मिलनेमें बड़ी अड़चन होगी।

(६) पता बदलनेकी सूचना कम-से-कम १५ दिन पहले कार्यालयमें पहुँच जानी चाहिये। **लिखते समय ग्राहक-संख्या, पुराना और नया नाम, पता साफ-साफ लिखना चाहिये।** महीने दो महीनोंके लिये बदलवाना हो तो अपने पोस्टमास्टरको ही लिखकर प्रबन्ध कर लेना चाहिये।

(७) अगस्तसे बननेवाले ग्राहकोंको रंग-बिरंगे चित्रों-वाला अगस्तका अङ्क (चालू वर्षका विशेषाङ्क) दिया जाता है। विशेषाङ्क ही अगस्तका तथा वर्षका पहला अङ्क होता है। फिर जुलाईतक महीने महीने नये अङ्क मिला करते हैं।

(८) चार आना एक संख्याका मूल्य मिलनेपर **नमूना** भेजा जाता है। ग्राहक बननेपर वह अङ्क न लेवें तो ।) बाद दिया जा सकता है।

आवश्यक सूचनाएँ

(९) 'कल्याण'में किसी प्रकारका कमीशन या 'कल्याण'की किसीको एजन्सी देनेका नियम नहीं है।

(१०) पुराने अङ्क, फाइलें तथा विशेषाङ्क कम या रियायती मूल्यमें प्रायः नहीं दिये जाते।

(११) ग्राहकोंको अपना नाम-पता स्पष्ट लिखनेके साथ-साथ **ग्राहक-संख्या** अवश्य लिखनी चाहिये।

(१२) पत्रके उत्तरके लिये जवाबी कार्ड या टिकट भेजना आवश्यक है।

(१३) ग्राहकोंको चन्दा मनीआर्डरद्वारा भेजना चाहिये क्योंकि वी० पी० के रुपये प्रायः देरीसे पहुँचते हैं।

(१४) ग्राहकोंको **वी० पी० मिले, उसके पहले** ही यदि **वे हमें रुपये भेज चुके** हों, तो तुरन्त हमें एक कार्ड देना चाहिये और हमारा (फ्री डिलेवरीका) उत्तर पहुँचने-तक वी० पी० रोक रखनी चाहिये, नहीं तो हमें व्यर्थ ही नुकसान सहना होगा।

(१५) प्रेस विभाग और कल्याण-विभाग अलग-अलग समझकर अलग-अलग पत्र-व्यवहार करना और रुपया आदि भेजना चाहिये। कल्याणके साथ पुस्तकें और चित्र नहीं भेजे जा सकते। सादी चिट्ठीमें टिकट नहीं भेजनी चाहिये।

(१६) चालू वर्षके विशेषाङ्कके बदले पिछले वर्षोंके विशेषाङ्क नहीं दिये जाते।

(१७) मनीआर्डरके कूपनपर रुपयोंकी तादाद, रुपये भेजनेका मतलब, ग्राहक-नम्बर, पूरा पता आदि सब बातें साफ-साफ लिखनी चाहिये।

(१८) प्रबन्धसम्बन्धी पत्र, ग्राहक होनेकी सूचना, मनीआर्डर आदि 'व्यवस्थापक "कल्याण" **गोरखपुर**'के नामसे और सम्पादकसे सम्बन्ध रखनेवाले पत्रादि **'सम्पादक "कल्याण" गोरखपुर'**के नामसे भेजने चाहिये।

(१९) स्वयं आकर ले जाने या एक साथ एकसे अधिक अङ्क रजिस्ट्रीसे मँगानेवालोंसे डाकखर्च नहीं लिया जाता।

(२०) 'कल्याण' [illegible] भारतके कई प्रान्तोंके शिक्षा-विभागके लिये स्वीकृत है। उन प्रान्तोंकी संस्थाओंके सञ्चालकगण (तथा स्कूलोंके हेडमास्टर) संस्थाके फण्डसे 'कल्याण' मँगा सकते हैं।

मनन करने योग्य

'ग्रन्थोंके भरोसे मत पड़े रहो, अब इसी बातकी जल्दी करो कि मनको देह-भावसे खाली करके भगवान्‌के प्रेमसे भर दो। दूसरे साधन कालके मुँहमें डाल देंगे, गर्भवासके कष्टोंसे कोई भी मुक्त न करेगा।'

'भगवान्‌के पास मोक्षका कोई थैला थोड़े ही रक्खा है, जो उसमेंसे थोड़ा-सा निकालकर वे तुम्हें भी दे देंगे? इन्द्रिय-विजयसे मनको साधो, निर्विषय बन जाओ। बस, मोक्षका यही मूल है।...तुका कहता है, फल तो मूलके ही पास है; उस मूलको पकड़ो; शीघ्र श्रीहरिकी शरण लो।'

'उन करुणाकरसे करुणा माँगो, अपने मनको साक्षी रखकर उन्हें पुकारो। कहीं दूर जाना-आना नहीं पड़ता; वे तो अन्तरमें साक्षीरूपसे विराजमान हैं। तुका कहता है, वे कृपाके सिन्धु हैं, भव-बन्धनको तोड़ते उन्हें कितनी देर लगती है!'

'ग्रन्थोंको देखकर फिर कीर्त्तन करो, तब उसमें (ज्ञानमें) फल लगेगा। नहीं तो व्यर्थ ही गाल बजाया और वासना तो हृदयमें रह ही गयी। तप-तीर्थाटन आदि कर्मोंकी सिद्धि तभी होगी जब बुद्धि हरिनाममें स्थिर होगी। तुका कहता है, अन्य झगड़ोंमें मत पड़ो। बस, यही एक संसार-सार हरि-नाम धारण कर लो।'

'श्रीहरि-गोविन्द नामकी धुन जब लग जायगी, तब यह काया भी गोविन्द बन जायगी, भगवान्‌से दुराव—कोई भेद-भाव नहीं रह जायगा। मन आनन्दसे उछलने लगेगा, नेत्रोंसे प्रेम बहने लगेगा। कीट भृङ्ग बनकर जैसे कीटरूपमें फिर अलग नहीं रहता, वैसे तुम भी भगवान्‌से अलग नहीं रहोगे।'

'जो जिसका ध्यान करता है, उसका मन वही हो जाता है। इसलिये और सब बातोंको अलग करो, पाण्डुरङ्गकी ध्यान-धारणा करो।'

—संत तुकाराम

कल्याण
वर्ष १५
अङ्क ६

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम । जय रघुनन्दन जय सियराम ॥
रघुपति राघव राजा राम । पतितपावन सीताराम ॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा । जय गणेश जय शुभ आगारा ॥

[संस्करण ५२१००]

वार्षिक मूल्य भारतमें ४≈) विदेशमें ६॥≈) (१० शिलिङ्ग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत् चित् आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण प्रति भारतमें ।) विदेशमें ।≈) (८ पेंस)

Edited by H. P. Poddar and C. L. Goswami, M. A., Shastri.
Printed and Published by Ghanshyamdas Jalan at the Gita Press, Gorakhpur (India).

श्रीहरिः

सूचना

मेरी एक पेटी, जिसमें बहुत-सी चिट्ठियाँ, कल्याणके पाठकोंके प्रश्नोत्तर और लेख आदि जरूरी कागजात थे, रेलमें चोरी चली गयी। यद्यपि पेटी तो मिल गयी है पर बहुत-से पत्र आदि गुम हैं। इसलिये जिन भाइयोंके पत्र और प्रश्नोंके उत्तर न जा सकें, वे परिस्थिति समझकर कृपापूर्वक क्षमा करें। —जयदयाल गोयन्दका

कल्याण जनवरी सन् १९४१ की

विषय-सूची

क्षमा-प्रार्थना

चालू वर्षके 'कल्याण' के दूसरे अङ्कमें पृष्ठ ८५१-८५६ पर पं० श्रीनारायण दामोदर शास्त्रीका 'रससिद्धि' शीर्षक एक लेख छपा था। लेखकने अपने मूल लेखमें एक जगह लिखा था कि उन्होंने इस विषयपर एक विद्वान्‌द्वारा लिखे हुए ग्रन्थकी सहायतासे तथा अपने निजी अनुभवके आधारपर उक्त निबन्ध लिखा था। परन्तु ग्रन्थ अथवा ग्रन्थकारका नाम न होनेसे यह वाक्य लेखका सम्पादन करते समय सम्पादकीय विभागद्वारा निकाल दिया गया था। पीछेसे यह मालूम हुआ कि उक्त लेखमें स्वर्गीय श्रीछोटालाल जीवनलाल, सम्पादक 'महाकाल' द्वारा प्रणीत गुजरातीके 'योगिनी कुमारी' नामक ग्रन्थके कुछ वाक्यों तथा पैरोंका अविकल अनुवाद दिया गया है। इस बातको लेखक भी स्वीकार करते हैं। किन्तु लेखमें उक्त ग्रन्थ तथा ग्रन्थकारके नामका उल्लेख न होनेसे ग्रन्थके प्रकाशकोंको जो कष्ट पहुँचा, उसके लिये हमें खेद है और हम अपनी ओरसे तथा निबन्धके लेखककी ओरसे भी उक्त ग्रन्थके प्रकाशकोंसे क्षमा माँगते हैं। —सम्पादक

मुरलीकी मोहिनी

वृन्दशो व्रजवृषा मृगगावो वेणुवाद्यहृतचेतस आरात् ।
दन्तदष्टकवला धृतकर्णा निद्रिता लिखितचित्रमिवासन् ॥ (श्रीमद्भागवत १० । ३५ । ५)

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥ (श्रीमद्भगवद्गीता १८ । ६५)

वर्ष १५ } गोरखपुर, जनवरी १९४१ सौर पाष १९९७ { संख्या ६ पूर्ण संख्या १७४

मुरली-गान

गोविंद करत मुरली गान ।
अधर कर धर स्यामसुन्दर सप्त स्वर बंधान ॥
बिमोही ब्रजनारि गो मृग सुनत धर रहे ध्यान ।
चल अचल सबकी भई यह गति अनूपम आन ॥
सुनत तजी समाधि मुनिजन थके ब्योम बिमान ।
कुंभनदास सुजान गिरधर रची अद्‌भुत तान ॥

—कुम्भनदासजी

श्रीभगवान् किसपर प्रसन्न रहते हैं

जो जितेन्द्रिय पुरुष दोषके समस्त हेतुओंको त्याग देता है, उसके धर्म, अर्थ और कामकी थोड़ी भी हानि नहीं होती। जो विद्या-विनयसे युक्त सदाचारपरायण प्राज्ञ पुरुष पापीके प्रति पापका बर्त्ताव नहीं करता, कुटिल मनुष्योंसे भी प्रिय भाषण करता है तथा जिसका अन्तःकरण मित्रताके भावसे सदा द्रवित रहता है, मुक्ति उसकी मुट्ठीमें रहती है। जो वैराग्यवान् महापुरुष कभी काम, क्रोध और लोभ आदिके वशमें नहीं होकर सदा-सर्वदा सदाचारमें स्थित हैं; यह पृथ्वी उन्हींके प्रभावसे टिकी हुई है। इसलिये प्राज्ञ पुरुषको वही सत्य कहना चाहिये जो दूसरोंकी प्रसन्नताका—कल्याणका कारण हो। यदि किसी सत्य वाक्यसे दूसरोंको दुःख होता हो तो वहाँ मौन रहना चाहिये। यदि प्रिय वाक्य भी अहित करनेवाला जान पड़े तो नहीं कहना चाहिये। उस अवस्थामें तो हितकर वाक्य ही कहना उत्तम है चाहे वह अत्यन्त अप्रिय ही क्यों न हो। जो कार्य इस लोक और परलोकमें प्राणियोंका हित करनेवाला हो, बुद्धिमान् पुरुषको मन, वचन और शरीरसे उसीका आचरण करना चाहिये।

जो मनुष्य दूसरोंकी निन्दा-चुगली नहीं करता, झूठ नहीं बोलता और ऐसा वचन भी नहीं बोलता जिससे दूसरोंको उद्वेग हो, उसपर निश्चय ही श्रीभगवान् प्रसन्न रहते हैं। जो पुरुष दूसरोंकी स्त्री, धन और हिंसामें रुचि नहीं करता उससे सदा ही श्रीभगवान् सन्तुष्ट रहते हैं। जो मनुष्य किसी भी प्राणी (मनुष्य-पशु-पक्षी-वृक्ष-लतादि) को पीड़ित नहीं करता और मारता नहीं, उससे श्रीभगवान् बहुत प्रसन्न रहते हैं। जो मनुष्य देवता, ब्राह्मण और गुरुजनोंकी सेवामें सदा तत्पर रहता है, श्रीभगवान् उससे सदा प्रसन्न रहते हैं। जो मनुष्य स्वयं अपने और अपने पुत्रोंके समान ही सब प्राणियोंका हित चाहता है, श्रीभगवान्‌को वह सहज ही प्रसन्न कर लेता है। जिसका मन रागादि दोषोंसे दूषित नहीं है, उस विशुद्धचित्त पुरुषसे श्रीभगवान सदा सन्तुष्ट रहते हैं।

(विष्णुपुराण)

दीक्षा-रहस्य

(लेखक—महामहोपाध्याय पं० श्रीगोपीनाथजी कविराज, एम० ए०)

[पृष्ठ १०४२ से आगे]

पुर्यष्टकार्पणका तात्पर्य

पहले यह दिखाया गया है कि पुर्यष्टकको ब्रह्मादि पाँच कारणोंमें अर्थात् कलाधिष्ठाता देवताओंमें अर्पण किया जाता है। ये पाँच देवता समस्त अध्वाके अधिपति हैं। ब्रह्मामें शब्द और स्पर्शका अर्पण होता है। ये ब्रह्मा परम व्यापक रूपमें नादान्तके ऊपर ब्रह्मरन्ध्रके अधिष्ठाता ब्रह्मस्वरूप हैं।* विष्णुमें रसका अर्पण होता है। ये प्रसरणमय शक्तिस्वरूप हैं।† रुद्रमें रूप और गन्धका समर्पण किया जाता है। ये परमव्यापकरूपमें व्यापिनीपदावस्थित अनाश्रित-नाथ हैं।‡ स्मरण रखना चाहिये कि व्यापिनी शून्यका ही नामान्तर है। बुद्धि और अहंकाररूप अंश ईश्वर-में अर्पित होते हैं। ये समनापदमें अधिरूढ सृष्टिके अधिकारसे युक्त शिव हैं।§ मन सदाशिवमें अर्पित होता है। ये सदाशिव निर्मल स्वातन्त्र्यमय और चिदानन्दघन परमशिवस्वरूप ही हैं।× इन देवताओंको पुर्यष्टकके अंश समर्पण करनेका उद्देश्य यह है कि इस उपायसे सूक्ष्मदेहका सूक्ष्मतम संस्कार भी शान्त हो जाय। सूक्ष्मदेह आत्यन्तिक-रूपसे निवृत्त होनेपर दीक्षाका प्रथम उद्देश्य प्रायः सिद्ध हो जाता है।

* ब्रह्मामें सूक्ष्मतम शब्द और स्पर्शका सम्बन्ध है, क्योंकि यह नादान्त और शक्तिकी मध्यवर्तिनी अवस्था है।

† विष्णुसे सूक्ष्म रसका सम्बन्ध है, क्योंकि शक्ति मूलतः स्पर्शप्रधाना होनेपर भी प्रसरण-अवस्थामें रसमयी होती है। इसीसे शक्तिमय विष्णुमें सूक्ष्मतम रसका सम्बन्ध माना जाता है।

‡ रुद्रमें सूक्ष्मतम संस्कारमात्रमें अत्यन्त तनु (सूक्ष्म) गन्धकी सत्ता है। व्यापिनी अथवा अनाश्रितपदमें समग्र विश्वके सन्धायक-स्वरूप रुद्रकी स्थिति है। सूक्ष्मतम संस्कार अर्थात् गन्ध पूर्वसृष्ट जगत्‌के उपसंहारके अनन्तर रहनेवाला बीजभाव मात्र है।

§ शिव केवल मननात्मक हैं। इसलिये उनमें लीन होती हुई बुद्धि और अहंकारवासनाका सम्बन्ध रहता है।

× परम शिव उन्मनाशक्तिसंश्लिष्ट हैं। इसलिये उनमें मनन-संस्कार भी नहीं रहता। परन्तु तान्त्रिक आचार्योंका कथन है कि 'उनमें अतिसुसूक्ष्मतम सुप्रशान्त मनःसंस्कारका सम्बन्ध रहता है।'

शान्त्यतीत कला शुद्ध होकर परम शिवमें लीन हो जाती है। ये परम शिव स्वातन्त्र्यमय और व्यापिनीसे लेकर पृथिवीपर्यन्त सब प्रकार भाव तथा अभावोंके भित्तिभूत महाशून्यके आश्रय हैं। स्वातन्त्र्यशक्ति उन्मना है और महाशून्य समनात्मक है।

पूर्वोक्त विवरणमें मायातत्त्वपर्यन्त अध्वाकी शुद्धि दिखायी गयी है। इतना अध्वा आत्मतत्त्वसे व्याप्त है और परदृष्टिसे प्रमेयात्मक है। मायाके ऊपर सदाशिवपर्यन्त अध्वा विद्या या भगवान्‌की ज्ञान-क्रियात्मिका शक्तिसे व्याप्त है। इतना अध्वा प्रमाणरूप या करणात्मक है। इसके बाद शक्ति या समनापर्यन्त अध्वा शिवतत्त्वसे व्याप्त है। यह प्रमातृरूप है। प्रकारान्तरसे कहा जा सकता है कि आत्मतत्त्व (पृथिवीसे मायातक) प्रमेय है, विद्यातत्त्व (शुद्धविद्यासे सदाशिवतक) प्रमाण है और शिवतत्त्व (शक्ति और शिव) प्रमाता है। इन तीन तत्त्वोंकी शुद्धिमें क्रमशः विधि (पूजा-होम इत्यादि) और अनुष्ठानगत न्यूनता या आधिक्यसे, मन्त्रोच्चारमें विलोम-भावसे एवं भावनामें (मनोविज्ञानमें) वैकल्य होनेसे जितनी त्रुटियाँ होती हैं, उनका भी निराकरण कर लेना चाहिये।

शिखाच्छेद

इसके बाद शिखाच्छेदका विधान है। स्थूल देहकी शिखा मस्तकपर्यन्त ऊर्ध्वगतिशील प्राणशक्तिका अनुकरण है। इस शक्तिका अधःप्रवाह ही बन्धनका हेतु है। इसका उपशम ही बाह्य शिखाच्छेदका तात्पर्य है। सब तत्त्वोंमें व्याप्त रहनेवाली, समस्त कारणोंकी कारण, सब प्रकारकी उपाधियोंसे रहित, निष्कलंका शान्त्य-तीता शक्तिको पुष्पके अग्रभागमें स्थित जलबिन्दुके सदृश शिष्यके शिखाग्रमें भावना करके उस शिखाका अभिमन्त्रित कर्तरी (कैंची) से छेदन करना चाहिये। इसके बाद प्राणशक्तिका विलापनरूप शिखाहोम होता है। इतना हो जानेपर गुरुको शिवहस्तपूजन करनेके बाद मण्डपमें परमेश्वर-की पूजा करके यह निवेदन करना चाहिये कि 'हे भगवन्! आपकी कृपासे छः अध्वाओंमें बँधे हुए पशुको खींचकर और उसके मलको शुद्ध करके शिखाच्छेदपर्यन्त सारे कृत्य

आपके बताये हुए क्रमके अनुसार मैंने किसी प्रकार सम्पादन किये हैं। अब आपका निरपेक्ष अनुग्रह ही उसको निश्चित रूपसे परमशिवावस्थामें पहुँचा देगा।'

(८)

क्रियादीक्षा

(शिवत्वयोजन)

पाशशुद्धिके बाद परमेश्वरकी आज्ञा लेकर अभेद-सम्पादक योजनक्रिया करनी पड़ती है। उसका प्राथमिक कृत्य समाप्त करके अंग-मन्त्रोंको शुद्ध करना होता है। ये मन्त्र भगवान्‌की अन्तरङ्ग शक्तियाँ हैं। ये चिदात्माके निष्कल स्वरूपका आच्छादन करके सकल भावको स्फुरित करते हुए भेदज्ञान उत्पन्न करते हैं। इनसे भी ऐसा अनुरोध करना पड़ता है कि वे पशुको सकल भावमें परिणत न करें। योजनकर्म अत्यन्त कठिन है। इससे ही जीवात्मा और परमात्माका योग होता है और जीव परम शिव-अवस्था लाभ करनेमें समर्थ होता है।* ज्ञान और योगका अभ्यास न रहनेपर यह योजनक्रिया सम्पन्न नहीं की जा सकती।

योजनोपयोगी क्रियाओंका तात्पर्य

पुर्यष्टकमें जो अहंभाव रहता है, पहले उसे उपशम किये विना भगवान्‌के साथ योग स्थापित नहीं हो सकता। पुर्यष्टकका आश्रय स्वप्नमें प्राण है तथा सुषुप्तिमें शून्य है। इसलिये प्राण और शून्य-भूमिको शान्त करनेकी आवश्यकता होती है, क्योंकि यद्यपि कारण देवताओंमें पुर्यष्टकके अवयवोंका अर्पण हो चुका है, तथापि उससे एक प्रकार वृत्तियोंका ही निरोध सिद्ध होता है, भूमिशुद्धि नहीं होती। परन्तु भूमिशुद्धि हुए विना योजनोपयोगी आत्मादिकी व्याप्ति नहीं हो सकती। प्राण और शून्यके प्रशमनके लिये कुछ ज्ञान और योगादि अन्तःक्रियाओंकी आवश्यकता होती है। इस प्रसंगमें श्वासका देशगत और कालगत परिमाण जानकर प्राणकी आरोहण और अवरोहण क्रियाओंका तत्त्व जानना होता है। उसके लिये पूर्णत्वप्राप्तिके मार्गमें जितने अध्वाका उल्लङ्घन करना पड़ता है, उसका भी परिचय लेना आवश्यक है। यह अध्वालङ्घन-व्यापार ऊर्ध्वनादसे सम्पन्न होता है, जिसका दूसरा नाम हंसोच्चार है। यह उच्चार स्वाभाविक और प्रयत्नपूर्वक भेदसे दो प्रकारका है। प्रयत्नपूर्वक उच्चारके प्रभावसे निष्कल मन्त्रके अवयवभूत अ, उ, म प्रभृति वर्ण ब्रह्मादि कारणोंको और तदनुकूल कालको त्यागनेमें समर्थ होते हैं। इतनी क्रियाओंसे प्राणकी शान्ति होती है। इसके बाद शून्यको शान्त करनेकी आवश्यकता होती है। इस विषयमें सम्यक् ज्ञान (विषुवत्) की अपेक्षा है, क्योंकि उसके विना मन्त्र, आत्मा और नाडी आदिका सामरस्य समझमें नहीं आता। जब सामरस्य ही समझमें नहीं आता तो परमेश्वरके साथ आत्माका योग कैसे हो सकता है। मन्त्रोच्चारके अंगरूपसे उसके अवयवभूत [असे लेकर उन्मनापर्यन्त] बारह प्रमेयोंको जानकर तत्तत् दशाओंको त्यागनेसे क्रमशः ऊर्ध्वारोहरूप उद्भव प्राप्त हो सकता है। परन्तु दशाओंको त्यागनेका क्रम जाननेसे पहले उनके संयोगका प्रकार भी जान लेना आवश्यक है। ज्ञान और मन्त्ररूप शूलोंके द्वारा अर्थात् विशुद्ध ज्ञानसे और मुद्रा एवं भावयुक्त मन्त्रसे ग्रन्थियोंका भेदन किये विना पूर्ववर्णित दशात्याग या उद्भव कुछ भी होना सम्भव नहीं है। इस ज्ञान और योगका मूल भावप्राप्ति है। अर्थात् सुदृढ़ धारणा और शब्दादिका अनुभव इन दो प्रकारके भावोंके प्रभावसे ही विशुद्ध ज्ञान और योगकी उपलब्धि हो सकती है। इस स्थितिमें शून्यका भी उपशम हो जाता है। इस दीर्घ मार्गके पार कर लेनेपर आत्मतत्त्वमें अपनी विशुद्ध अवस्थाका अनुभव होता है। यही आत्मव्याप्ति है। इसके पश्चात् विद्यातत्त्वका क्रमशः उन्मनामें विश्रान्त हो जानेपर विद्याव्याप्ति होती है। तथा अन्तमें शिवतत्त्वका परमशिवमें समावेश होता है तब शिवव्याप्ति होती है। शास्त्र तथा अनुभवसे इस तीन प्रकारकी व्याप्तिका यथावत् ज्ञान हो जानेपर ठीक-ठीक परतत्त्व-योजन हो सकता है।

प्राणप्रशमनमें अपेक्षित क्रियाएँ

परिमाणसहित प्राणोच्चारका विज्ञान

हृदयसे प्राण प्रसृत होकर ऊपरकी ओर समनाशक्तिके स्थान ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्त सञ्चार करता है। इस प्रदेशकी व्याप्ति अति बृहत्‌से लेकर अत्यन्त क्षुद्र प्राणीतक अपने-अपने मानसे छत्तीस अंगुल है। यह प्राणकी गति सब प्राणियोंके लिये समान होनेपर भी कर्मवैचित्र्यसे इसमें तारतम्य दिखायी देता है।

* तस्मिन्युक्तः परे तत्त्वे सर्वज्ञादिगुणान्वितः।
शिव एको भवेद्देवि अविभागेन सर्वतः॥ (स्वच्छन्दतन्त्र)

इस छत्तीस अंगुल सञ्चारमें जाना-आना दोनों ही प्रकारकी गति समझनी चाहिये—इसमें प्राणका आरोह और अपानका अवरोह समझना चाहिये। प्राणरूप सूर्य हृदयसे उदित होकर ब्रह्मरन्ध्रमें अस्त होता है—यही दिन है। तथा अपानरूप चन्द्र ब्रह्मरन्ध्रसे उदित होकर हृदयमें अस्त होता है—यही रात्रि है। इन प्राण-अपानरूप दिन-रातमें दो सन्ध्याएँ हैं। प्रातःसन्ध्या हृदयमें है और सायंसन्ध्या ब्रह्मरन्ध्रमें है। हृदयसे ब्रह्मरन्ध्रतक चलनेमें प्राणको जितना समय लगता है, उसे सोलह त्रुटि या एक निःश्वास कहा जाता है। इसी प्रकार ब्रह्मरन्ध्रसे हृदयपर्यन्त आनेमें अपानको भी उतना ही समय लगता है। इसे प्रश्वास कहते हैं। इन्हींमें दोनों सन्ध्याओंका भी अन्तर्भाव समझना चाहिये। प्रत्येक सन्ध्या एक-एक त्रुटिकाल रहती है। उसमें प्राण-अपान दोनोंको मिलाकर सवा दो अंगुलका सञ्चार रहता है।

जबतक परमतत्त्वका ज्ञान नहीं होता तबतक इस प्राण-सञ्चार क्रियाका अभ्यास करना पड़ता है। प्राणरूपी मन्त्र हृदयसे उठकर ज्ञानविकासके तारतम्यके अनुसार ऊपरकी ओर जाता है। परन्तु परमतत्त्वका ज्ञान न रहनेके कारण यह ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्त उठकर फिर नीचे लौट आता है, ब्रह्मरन्ध्रका भेदन नहीं कर सकता। पहले यह अठारह अंगुलतक उठकर तालुस्थानमें पहुँचता है। यह रुद्र या मायाग्रन्थिका स्थान है। इस ग्रन्थिका भेदन न कर सकनेके कारण यह मध्य नाडीके द्वारा भ्रूमध्यमें ईश्वरस्थानमें जाता है। पहले अठारह अंगुल प्राण तालुस्थानमें ही रह जाता है। फिर भ्रूग्रन्थिका भेदन न हो सकनेके कारण आगेका छः अंगुल वहीं रह जाता है। यहाँसे पार्श्ववर्तिनी दो नाडियोंके द्वारा शेष बारह अंगुल प्राण ब्रह्मरन्ध्रतक जाता है। परन्तु शाक्तबल न रहनेके कारण वह ब्रह्मरन्ध्रका भेदन नहीं कर सकता। अतः वह शेष बारह अंगुल वहीं रह जाता है। यही प्राणका अस्त होना है। इसके बाद अपानक्रियाके अनन्तर इसका हृदयदेशसे पुनः उद्गमन होता है। इसी प्रकार निरन्तर यह क्रिया हो रही है। परन्तु शाक्तबल प्राप्त होनेसे प्राणमें सब ग्रन्थियोंमें सञ्चार करनेका सामर्थ्य आ जाता है। परतत्त्वका ज्ञान हो जानेपर किसी भी ग्रन्थिमें स्थित रहनेपर भी प्राण बाधित नहीं होता। अर्थात् देहादिमें प्रमातृभावका उदय होकर वह उसके अधीन नहीं होता। पर-ज्ञानसे यह देहादिमें होनेवाला अभिमान सदाके लिये निवृत्त हो जाता है। प्राणके ऊर्ध्वसञ्चारकी मात्राके अनुसार अज्ञानसे ज्ञानका उदय और तदनन्तर ज्ञानकी वृद्धिका एक निर्दिष्ट क्रम देख पड़ता है। जिस समय प्राण शक्तिके द्वारा प्रतिहत होकर नीचेकी ओर जाता है उस समय वह अज्ञानकी अवस्थामें रहता है और 'अबुध' कहलाता है। जिस समय हृदयमें स्थित होकर वह वहाँसे उठने लगता है वह उसकी 'बुध्यमान' अवस्था है, जिसमें ज्ञानोत्पत्ति होने लगती है। उठते-उठते जब उसे शक्ति प्राप्त हो जाती है तब उसकी 'बुध' अर्थात् ज्ञानीकी अवस्था होती है। शक्तिका बल पाकर तत्त्वारोहणका कौशल जाननेके पश्चात् व्यापिनीमें पहुँचनेपर 'प्रबुद्ध' अवस्थाकी प्राप्ति होती है। इससे भी ऊपर उठकर समनापर्यन्त समस्त अध्वाका अतिक्रमण करनेसे 'सुप्रबुद्ध' अवस्था प्राप्त होती है। उस समय परमतत्त्वका आभास मिलता है। इस समय मनःसंस्कारका भी क्षय हो जानेके कारण उन्मनाभावकी प्राप्ति होती है। यह कहनेकी आवश्यकता नहीं कि यह अवस्था ब्रह्मरन्ध्रके भेदनेके पीछेकी है। इस अवस्थामें न अणुतमसे लेकर महत्तमपर्यन्त काल रहता है, न निवृत्त्यादि कलाएँ रहती हैं, न प्राण-अपानका सञ्चार रहता है, न पृथिव्यादि छत्तीस तत्त्व रहते हैं और न ब्रह्मा, विष्णु प्रभृति कारण ही रहते हैं। यह पराद्वयमयी परम शुद्ध अवस्था है। इस अवस्थाके अनुभवसे ही जीवन्मुक्तिकी सिद्धि होती है।

प्राणमें अध्वाओं-का विन्यास

प्राणोंमें ही छः अध्वाओंकी स्थिति है। ये प्राण सूक्ष्म और स्थूलभेदसे दो प्रकारके हैं। पहले प्राण-सञ्चारके प्रसंगमें जिस प्राणकी बात कही गयी है वह स्थूल प्राण है। सूक्ष्म प्राणमें सञ्चार नहीं है। यह एक और व्यापक है। परन्तु स्थूल प्राण छत्तीस अंगुलमात्र परिमाणवाला है। अध्वाओंकी स्थिति सूक्ष्म प्राणमें ही समझनी चाहिये। विशेषोंमें जो सामान्यका आभास है वही तत्त्व है। यही शरीर एवं भुवनादिकी रचनाका उपादान है। देह-मृत्तिका-काष्ठ एवं पाषाणादिमें जो काठिन्यका आभास है वह पृथिवीतत्त्व है। इसी प्रकार अन्यान्य तत्त्वोंके विषयमें भी समझना चाहिये। यह सामान्यका आभास चिद्रूप भित्तिमें ही भासता है। परन्तु परमचिद्भूमिमें सब कुछ चिदेकरस होनेके कारण वहाँ किसी प्रकारका विभाग नहीं है। संकोचके समय चित्–शक्ति पहले प्राणका रूप ग्रहण करती हुई देहमें व्यापक हो जाती है और तत्त्वोंके रूपमें स्फुरित होने लगती है। छः अध्वाओंमें यही तत्त्वाध्वा है। पैरोंसे लेकर मस्तकपर्यन्त चित्–शक्तिका जो

काठिन्यादि रूपमें भान होता है यही तत्त्वाध्वा या भुवनाध्वा है। समग्र देहमें व्यापक सूक्ष्म प्राणमें और-और अध्वाओंका विभाग समझना चाहिये; जैसे निवृत्ति और प्रतिष्ठा कला देहके अधोभागमें हैं तथा विद्यादि तीन कलाएँ ऊपरके भागमें हैं। आत्माकी शुद्धदशा शान्त्यतीत कलासे भी परे है। इसके भी आगे उन्मना और परतत्त्वका सामरस्यरूप अव्ययपद है। मन्त्रकलाओंकी स्थिति भी प्राणोंमें ही है। वर्ण शब्द ही हैं तथा शब्द ध्वन्यात्मक प्राणका ही स्वरूप हैं। इसलिये ध्वनिरूप प्राणसे ही वर्णोंका उद्भव होता है और उसीमें उनका लय भी होता है। इसलिये वर्णाध्वा भी प्राणमें ही स्थित है। शब्दातीत होनेपर परमतत्त्वके साथ अभेद और विभुत्वका आविर्भाव होता है। उस समय धर्माधर्म एवं प्राणापानादि सारे द्वन्द्वोंका नाश हो जाता है।* वर्णोंके समान मन्त्र और पद भी प्राणमें ही प्रतिष्ठित हैं, क्योंकि ये भी शब्दात्मक ही हैं।

अब संक्षेपमें दो-एक बातें हंसोच्चारके विषयमें कही जाती हैं। परमेश्वरकी बोधरूपा शक्ति विश्वको गर्भमें धारण करती हुई पराकुण्डलिनी होकर विमर्शात्मिका होनेके कारण नादात्मिका वर्णकुण्डलिनीके रूपमें स्फुरित होती है।† इसके बाद वह भीतर ही इस वर्णकुण्डलिनीके रूपको दबाकर प्राणकुण्डलिनीरूपमें भासती है। यह प्राण ही हंस है, जो स्वभावतः ऊपर और नीचेकी ओर चलता रहता है। इसके इस प्रकार चलनेसे 'ह'कार और 'स'कारके विमर्शरूपमें उसका भान होता है। इसमें 'ह'कारका धर्म त्याग या छोड़ना है और 'स'कारका धर्म ग्रहण या लेना है। यह नादरूपी हंसका स्वाभाविक उच्चार ही परिस्फुटवर्णका उच्चार है। यह वर्णोच्चार योगियोंको भ्रूमध्य स्थानमें बिन्दुरूपमें अनुभूत होता है। यह बिन्दु अविभक्त ज्ञानात्मक है। जगत्के सब प्रकारके भेद अर्थात् जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओंके सम्पूर्ण

हंसोच्चार, वर्णोच्चार

भेदोंकी वाचक अ, उ और म ये तीन मात्राएँ हैं। इन तीनोंको पिण्डित अर्थात् तीनोंको मिलाकर एकाकार कर देनेसे जो अविभक्त ज्योतिर्मय ज्ञानका उदय होता है उसे ही बिन्दु कहते हैं। इसकी उपलब्धि भ्रूमध्यमें होती है। इसके बाद मस्तक अर्थात् ललाटमें अर्धचन्द्रस्थानमें पहुँचनेपर पूर्वोक्त वर्णोच्चार बिन्दुरूपसे भी सूक्ष्म आकार धारण कर लेता है। बिन्दु अवस्थामें विभिन्न ज्ञेयोंका भेद विगलित होकर अभिन्न ज्ञेयरूपमें भान होता था। किन्तु उसमें ज्ञानांशका प्राधान्य नहीं था, ज्ञेयका ही प्राधान्य था। परन्तु अर्धचन्द्रमें ज्ञानांशकी वृद्धि होनेके कारण ज्ञेयांशका प्राधान्य कम होने लगता है। इसके बाद जब उच्चार निरोधिका अवस्थामें पहुँच जाता है तब ज्ञेयभावका प्राधान्य सर्वथा निवृत्त हो जाता है और परिस्फुट रेखाके रूपमें ऊर्ध्वोन्मुख प्रतीत होने लगता है। इसी रेखासे नादमें प्रवेश होता है। परन्तु अयोगीके लिये यह नाद-मार्गको रोक देती है। इसके 'निरोधिका' नामका यही तात्पर्य है। इसके अनन्तर वर्णोच्चार नाद और नादान्तभूमिको ग्रहण करता है। यह ईश्वरपद है, जिसमें ज्ञेयभाव अभिभूत रहता है और विभिन्न वाचक शब्दोंका अभेदज्ञान प्रधानतया स्फुरित होता है। यह स्मरण रखना चाहिये कि वाच्योंका अभेद बिन्दुमें होता है और वाचकोंका अभेद नाद और नादान्तमें होता है। इसके बाद प्राण ब्रह्मरन्ध्रमें अर्थात् शक्तिस्थानमें एक प्रकारका दिव्यस्पर्श अनुभव करते हुए कौशलसे ऊर्ध्वप्रवेशके अनन्तर व्यापिनीमें व्यापकत्व प्राप्त करता है। त्वक्के साथ जहाँ केशोंका सम्बन्ध है वहीं व्यापिनीके अनुभवका स्थान है। इसके भी पश्चात् समनापदमें अर्थात् शिखाके साथ केशोंका योग होनेके स्थानमें वह विशुद्ध मननरूपमें स्थित होता है। यह मन्तव्यहीन मनन अथवा विशुद्ध मनकी स्थिति है। परन्तु प्राणात्मक हंस इसको भी लाँघनेपर शुद्ध आत्मरूपमें दिखायी देता है, जिसका स्वभाव ही मनका उल्लङ्घन करना है। अर्थात् समनापर्यन्त ज्ञान-क्रियादि सभी क्रमसे होते हैं। समनाके ऊपर जब शुद्ध आत्मा अपने स्वभावको प्राप्त होता है तब वह क्रमका लङ्घन कर देता है। उस समय एक ही साथ समग्र विश्वका अभेद प्रकाशित हो जाता है। यह अभेदप्रकाश उन्मना शक्तिका व्यापार है, जिसके आश्रयसे शुद्ध आत्मा परमेश्वर-अवस्थाको प्राप्त होता है, अर्थात् चिदानन्दमय परशिवके साथ उसका अभेद हो जाता है।

* अधर्मके प्रभावसे स्थावरपर्यन्त देहोंकी प्राप्ति होती है। ये देह अपानप्रधान होते हैं। धर्मके कारण प्राणप्रधान शक्ति अथवा समनाभूमिपर्यन्त देवादि योनियोंकी प्राप्ति होती है। परन्तु विज्ञानसे अर्थात् अद्वयबोध हो जानेपर दोनोंहीका त्याग हो जाता है और जीवित रहते हुए ही सर्वव्यापकत्व अथवा विभुत्व आ जाता है।

† यह विश्वगर्भा कुण्डलिनी शक्ति सोये हुए सर्पके समान है। यह स्वभावतः ही अपने नादमय या विमर्शमय रूपको छोड़कर प्राणात्मक रूप धारण किये हुए है।

इस प्रकार शिवतत्त्वमें पहुँचनेके कारण प्राणात्मक हंस सञ्चारहीन हो जाता है। उसका सङ्कुचित प्रसरण निवृत्त हो जाता है। वह व्यापक हो जाता है अर्थात् छत्तीस तत्त्वमय समग्र विश्वरूपमें और साथ-ही-साथ विश्वातीतरूपमें भी स्फुरण होने लगता है।

वर्णोंका कारणत्याग

निवृत्त्यादि कलाओंके अधिष्ठाता हृदयादिप्रदेशस्थ[1] ब्रह्मादि देवताओंके साथ निष्कल मन्त्रके अवयव अकारादि वर्णोंका वाच्य-वाचकभाव-सम्बन्ध है। ये वर्ण इन छः कारणात्मक देवताओंका उल्लङ्घन करके परावाक्रूपमें सर्वकारणोंके कारण परमेश्वरके स्वरूपमें लीन होते हैं। इनमेंसे पहली तीन भूमियोंमें वाच्य और वाचक परस्पर भिन्न या पृथक् रहते हैं। परन्तु बिन्दुमें और उससे ऊपर उनमें किसी प्रकारका भेद नहीं रहता। अ, उ और म क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु और रुद्रके वाचक होनेपर भी साक्षात्रूपसे ब्रह्मादि नहीं कहे जा सकते। परन्तु बिन्दु स्वयं ईश्वर ही है। उसी प्रकार नाद स्वयं सदा शिवरूप है और समनापर्यन्त शक्ति आदि स्वयं शिवतत्त्व[2] हैं—ऐसा कहा जा सकता है। समनाका लङ्घन हो जानेपर योगी शुद्ध आत्मस्वरूपमें प्रतिष्ठित होते हैं और उन्मनाशक्तिमें अनुप्रविष्ट होकर परमशिवभाव प्राप्त करते हैं। वास्तवमें उन्मनाका त्याग नहीं होता। उसके आश्रयसे परमशिव-भावकी प्राप्ति ही उन्मनाका त्याग है।

कारणात्मक भावोंकी आपेक्षिक स्थूलता एवं सूक्ष्मता

यह जो कारणात्मक भावोंकी बात कही गयी है; इनमें आपेक्षिक स्थूलता और सूक्ष्मता लक्षित होती है। आरोहणके क्रमसे चरम अवस्थामें परम सूक्ष्म भावकी प्राप्ति होती है। वही भावोंकी परा अवस्था है, जिसका दूसरा नाम 'पर-सत्ता' है। सर्वकारणभूत परमेश्वरमें ही इस आत्यन्तिक सूक्ष्मताका विश्राम होता है। परन्तु वह अखण्ड भावस्वरूप होनेके कारण अत्यन्त खण्डकारणोंका अभावरूप है। इसीलिये कहीं-कहीं उसको 'अभाव' अथवा 'असत्' नामसे भी कहा जाता है। समना एवं समस्त उपाधियोंसे अतीत होनेके कारण उसे अलक्ष्य (अलख) भी कहते हैं; जहाँ कि इन्द्रिय एवं मनका कोई भी व्यापार नहीं चलता। द्रष्टामात्र होनेके कारण उसमें दृश्यात्मक किसी भी भावकी सत्ता नहीं है। वस्तुतः वह व्यवहारमें अभावपदवाच्य होनेपर भी चिदानन्दघन परमसत्ता ही है। उसकी प्राप्ति ही मोक्ष है। इस परमभावकी तुलनामें उन्मनाशक्तिको भी अपर-भाव कहा जाता है। यद्यपि उन्मना परमेश्वरकी समवायिनी शक्ति ही है तथापि यह स्वात्मविमर्शरूपा होनेके कारण अपर-भाव है, पर नहीं है। उन्मनाकी अपेक्षा समना अपरभाव है, क्योंकि उन्मना व्यापक है और समना उसका व्याप्य है। वस्तुतः समना उन्मनासे पृथक् नहीं है। इसी प्रकार व्यापिनी समनाका अपरभाव है। व्यापिनी सब भावोंको अपनेमें धारण करनेके कारण 'महाशून्य' पदसे कही जाती है। समना भी शून्य ही है। परन्तु वह व्यापिनीकी परावस्था है, क्योंकि महाशून्यका अतिक्रमण करनेपर भी समनाकी सत्ता मिलती है। व्यापिनीका अपरभाव शक्ति है। यह आनन्दात्मिका स्पर्शानुभूतिमयी है। इस आनन्दानुभवका अतिक्रम करनेपर ही व्यापिनीका अनुभव होना सम्भव है। स्पर्शरूपा शक्तिका अपरभाव नादान्तव्यापी नाद है। इसका अनुभव योगीको शब्दरूपमें स्पष्टतया मिलता है। यहाँ यह कहना अनावश्यक है कि शब्दानुभवकी निवृत्तिके बाद ही स्पर्शानुभव आनन्दरूपमें लक्षित होता है। नादका अपरभाव बिन्दुरूपा ज्योति है, जिसकी व्याप्ति अर्धचन्द्र एवं निरोधिकापर्यन्त है। ज्योतिका अपरभाव मन्त्र है। 'म'कार, 'उ'कार तथा 'अ'काररूप वर्ण-परामर्श ही मन्त्र है। यहाँ अर्थवाचक मन्त्र समझना चाहिये। मन्त्रका अपरभाव पृथग्भूतवाच्य अथवा कारणवर्ग है। अर्थात् रुद्र, विष्णु और ब्रह्मा है। इन ब्रह्मादि तीनों कारणोंका अपरभाव उनका आश्रयभूत तत्त्वसमुदाय है। इन सबके अन्तमें तत्त्वोंका अपरभाव भुवन हैं। भुवन सबसे स्थूल हैं। इनके बाद और कोई अपरभाव नहीं है। भावोंका यह परत्वा-परत्व आपेक्षिक दृष्टिसे सूक्ष्मता तथा स्थूलताका ही नामान्तर है। सारे भुवन ही पञ्चभूतात्मक हैं। जितने भुवन माया-विद्या-प्रभृति पदोंमें विद्यमान हैं, वे सब सूक्ष्म तत्त्वोंसे रचे हुए

---

१. ब्रह्माका स्थान हृदय है, विष्णुका कण्ठ है और रुद्रका तालुमध्य है। बिन्दुस्वरूप ईश्वरका स्थान भ्रूमध्य है, नादात्मक सदाशिवका ललाटसे मूर्धापर्यन्त और शिवकी अङ्गभूता शक्ति व्यापिनी और समनाके स्थान मूर्धाके मध्यसे क्रमशः ऊपर-ऊपरकी ओर हैं। बिन्दु अर्धचन्द्र तथा निरोधिका तक व्याप्त है तथा नादकी व्याप्ति नादान्तपर्यन्त है। आनन्दमयी स्पर्शानुभूतिके अन्तमें शक्तिका त्याग होता है। उसी प्रकार निर्विषयक मननमात्रका अनुभव होनेके पश्चात् समनाका त्याग हो जाता है।

२. ये शिव सदाशिवकी अपेक्षा अव्यय हैं, किन्तु परमशिवकी अपेक्षा सव्यय हैं।

हैं। परन्तु अधोदेशवर्ती भुवन स्थूल भूतोंसे बने हुए हैं। ये सभी भुवन अपने-अपने कारणोंसे अधिष्ठित हैं। वस्तुतः ये सभी शिवके ही छः स्थूल या अपर रूपोंके अन्तर्गत हैं। इन साकार रूपोंके ध्यानसे अनेक प्रकारकी सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, परन्तु मोक्ष नहीं मिल सकता। मोक्ष तो एकमात्र परम या चिन्मय रूपके ध्यानसे ही मिल सकता है। जो योगियोंके लिये ही सम्भव है। योगी भगवान्‌के भुवनादि साकार रूपोंको भी चिदानन्दमय शिवस्वरूपमें ही ध्यान करते हैं, साकार भावसे नहीं।

परमेश्वरके छः प्रकारके स्थूल रूप

भगवान्‌के स्थूलरूप इस प्रकार हैं—

(१) भुवन—इसके चिन्तनसे भुवनेश्वरत्वकी प्राप्ति होती है।

(२) विग्रह—ब्रह्मादि कारण देवताओंके विग्रहका चिन्तन करनेसे तद्रूपताकी प्राप्ति होती है।

(३) ज्योति अथवा बिन्दु—इसके ध्यानसे योगसिद्धि होती है। इससे त्रिकालज्ञान हो सकता है तथा योगके प्रकर्षसे ज्योतिके साथ तन्मयता प्राप्त होती है और श्रेष्ठ योगिपदमें प्रतिष्ठा हो जाती है।

(४) व्यापिनी अथवा आकाश—इसके ध्यानसे शून्यात्मताका उदय होकर विभुत्वका आविर्भाव होता है।

(५) नाद अथवा शब्द—इसके ध्यानसे शब्दात्मभाव होकर समस्त वाङ्मयपर अधिकार हो जाता है।

(६) मन्त्र—जप, होम तथा अर्चनाके द्वारा इसकी आराधनासे मन्त्रसिद्धि होती है।

सूक्ष्मरूपका ध्यान और उसका फल

परन्तु मोक्षदायक तो परमशिवका ही ध्यान है। परमशिव द्रष्टृस्वरूप होनेके कारण उनका ध्यान दृश्यरूपमें नहीं किया जा सकता। उसकी परसत्तात्मक चिद्रूपमें भावना करनी पड़ती है। सदाशिवसे लेकर पृथिवीपर्यन्त समस्त भावोंको निरालम्बन करना ही इसकी भावना है। ये सारे भाव जिस समय प्रशान्तरूप अर्थात् अरूप होकर शक्तिधाममें अनुप्रविष्ट हो जाते हैं उस समय ये सब शक्तिमय हो जाते हैं। यही भावोंकी आलम्बनशून्यता अथवा चित्तत्त्वकी भावना है। इसके परिणाममें उपाधिहीन परमतत्त्वकी प्राप्ति होती है। कारणत्यागका रहस्य यही है।

कालत्याग

इस प्रसंगमें आनुषङ्गिकरूपसे कुछ कालत्यागके विषयमें कहना भी आवश्यक है। समस्त अध्वा प्राणमें प्रतिष्ठित होनेके कारण निःसन्देह देश और काल दोनोंहीकी भित्ति प्राण है। आकारोंकी विभिन्नतासे जैसे देश-अध्वाका विभाग अथवा देशक्रमका आभास होता है, उसी प्रकार क्रियाके वैचित्र्यसे कालाध्वाका विभाग होकर कालक्रमका आविर्भाव होता है। प्राण परमेश्वरकी शक्ति है। इसलिये अन्तमें सभी अध्वा चित्स्वरूपमें ही विश्रान्त हैं। अतएव अमूर्त्त सर्वगामी एवं निष्क्रिय चैतन्यकी मूर्ति और क्रियाके रूपमें स्फूर्ति ही 'देश' और 'काल' नामोंसे परिचित है। काल ईश्वरका विश्वाभासक क्रियाशक्तिमय रूप है। परमात्माका यह नित्य रूप मायाप्रमाताकी दृष्टिमें कालतत्त्व है। उसको जबतक प्राणमें लीन नहीं किया जायगा तबतक परमभावमें स्थिति होनी असम्भव है। कालके प्रभावसे ही प्राणका उच्चार होता है, प्राणके उच्चारसे मातृकाओं (वर्णों) का उदय होता है। ये उदित होकर समस्त वाचकशब्दोंमें व्याप्त हो जाती हैं और वाचक वाच्य अर्थोंमें व्याप्त रहते हैं। इसलिये जगत्‌के सारे ही पदार्थ कालकी कलनाके अधीन हैं। तान्त्रिक आचार्योंका कथन है कि परम प्रकाशरूप परभैरव अथवा व्यापक सत्ताकी भित्तिमें हृदयसे द्वादशान्त तक होनेवाले प्राणसञ्चारमें अर्थात् इस छत्तीस अंगुलपरिमित प्रदेशमें एकके बाद एक आठ भैरवोंका उदय होता है। स्थूलप्राण सोलह त्रुटि परिमित होनेके कारण एक-एक भैरव दो-दो त्रुटियोंको आश्रय करके कार्य करते हैं। यही बात अपानमें है। * अनुभवयोग्य कालका आदि (सूक्ष्मतम रूप) त्रुटि है और अन्त (महत्तमरूप) महाकल्प है। यह वह महाकल्प नहीं है, जिसके अन्तमें ब्रह्माका अन्त होता है, परन्तु वह है जिसके अन्तमें सदाशिवका अन्त हो जाता है। अर्थात् इसे परम महाकल्प समझना चाहिये। भूर्लोक, पितृलोक एवं देवलोकादि स्थानोंके कालमानसे ब्रह्मलोकके कालमानमें जिस प्रकारका भेद है उसी प्रकार ब्रह्मलोकके कालमानसे सदाशिवलोकके कालमानका भेद है। ब्रह्माका लय हो जानेपर भी सम्पूर्ण सृष्टि लुप्त नहीं

* ये सब त्रुटियां कालको कारण हैं। ये प्राणको क्षुब्ध करके कालको उद्‌बुद्ध करती हैं। दो क्षणमें एक त्रुटि होती है। क्षण सूक्ष्म और स्फुट अनुभवके योग्य न होनेके कारण त्रुटिको ही कालका आदि माना जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि त्रुटिसे न्यून कालका मान नहीं होता।

होती, क्योंकि उस समय ब्रह्मलोकसे ऊपरकी सृष्टि तो रह ही जाती है । परन्तु सदाशिव समस्त लोकोंसे ऊपर स्थित और सम्पूर्ण भुवनोंके अधिष्ठाता हैं । अतः सदाशिवके लयसे ही सृष्टिका पूर्ण लय होता है—ऐसा कह सकते हैं । * ब्रह्माका संहार करनेवाला काल केवल एक कारणका उपसंहार करता है, परन्तु सदाशिवका संहार करनेवाला काल पाँचों कारणोंका उपसंहार कर देता है । जब यह काल ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर और सदाशिव इन पाँचों अधिष्ठाताओंके सहित इनके भुवनोंको ग्रास करके शक्तिमें अनुप्रविष्ट हो जाता है तब उसकी शान्ति होती है । शक्तिके मस्तकपर स्थित इस कालको अर्थात् परम महाकल्पको अपरकाल कहते हैं । तान्त्रिक परिभाषामें त्रुटिसे लेकर यह षोडशसंख्यक[1] काल है । इसलिये कभी-कभी इसको केवल 'षोडश' शब्दसे भी कहा जाता है । व्यापिनीमें जो साम्यसंज्ञक काल है वह पूर्वोक्त अपरकालका अंगीस्वरूप परम काल है । यह 'सप्तदश' काल है । समनामें यह भी नहीं रहता । वहाँके कालका नाम 'कालविषुवत्' है । यह परात्पर अथवा परार्ध काल है । संख्याक्रमसे यह अष्टादश है । यही सब कालोंका परम अवयवी है । इसके बाद और काल नहीं है । अथवा जो कुछ है वह नित्योदित है और परार्धपर्यन्त सब कालोंमें व्यापक है । उन्मनी अवस्थाके अन्तमें जब शक्ति और शक्तिमान्के अनुभवगत अद्वयभावका आविर्भाव होता है तब उसके साथ उस नित्य कालका अभिन्नरूपमें साक्षात्कार होता है । वहाँ काल नहीं है । एकमात्र प्राणोच्चारके द्वारा इस परार्धपर्यन्त विस्तृत बाह्य कालको शान्त करनेपर इस कालातीत पदमें स्थिति होती है । †

* सदाशिवपर्यन्त ही विश्वकी व्याप्ति है । अतः सदाशिवके लयके साथ जो शुद्ध और अशुद्ध दोनों प्रकारके अध्वाओंका लय होता है उसे 'महाप्रलय' कह सकते हैं । परन्तु इस उपसंहृत विश्वकी मूलभूता अरूपाशक्ति उस समय भी रह जाती है । अतः जब समनाभूमिमें इसका भी उपशम हो जाता है तभी यथार्थ 'महाप्रलय' समझना चाहिये ।

१. त्रुटिसे लेकर कालकी संख्याएँ इस प्रकार हैं—१. त्रुटि, २. लव, ३. निमेष, ४. काष्ठा, ५. कला, ६. मुहूर्त्त, ७. अहोरात्र, ८. पक्ष, ९. मास. १०. ऋतु, ११. अयन, १२. वत्सर, १३. युग, १४. मन्वन्तर, १५. कल्प और १६. महाकल्प ।

† यह जो कालत्यागकी बात कही गयी है; इससे वाच्य देवताका अवधिभूत बाह्यकाल समझना चाहिये । यह बाह्यतत्त्वगत विस्तारमय काल है । इसका प्रशमन करनेके लिये सूक्ष्म मन्त्रकलाके उच्चार-कालका आश्रय लेना पड़ता है । अर्थात् बीज नष्ट होनेसे जैसे स्वयं ही वृक्षका नाश हो जाता है, वैसे ही सूक्ष्म कालकी निवृत्तिसे स्थूल कालकी निवृत्ति स्वयमेव हो जाती है ।

शून्य प्रशमके लिये अपेक्षित ज्ञान

शून्यतत्त्व

परम शिव ही परमशून्यपद है । और-और शून्योंको जानकर उनका त्याग करनेसे ही इसकी प्राप्ति होती है । तान्त्रिकगण जो सात शून्योंकी बात कहते हैं, उनमें छः शून्य गतिशील होनेके कारण वास्तवमें शून्य ही नहीं हैं । अतः उन्हें छोड़कर सप्तम शून्यमें लय प्राप्त करना होता है । यही परमपद है । यह अवस्थाहीन चिद्रूप सत्तामात्र है । इसके प्रकाशसे ही सारे भाव और अभाव प्रकाशित होते हैं । इसमें किसी प्रकारका भेद नहीं है । यह लोकोत्तर स्थिति वस्तुतः शून्य या अभाव नहीं है, केवल प्रमेयादि प्रपञ्च या भावरहित होनेके कारण ही इसे शून्य कहा जाता है ।

> अशून्यं शून्यमित्युक्तं शून्यं चाभाव उच्यते ।
> अभावः स समुद्दिष्टो यत्र भावाः क्षयं गताः ॥

सब प्रकारके भेद उपशान्त हो जानेके कारण यह पद परम स्थिर और विश्वसे अतीत है । परन्तु साथ ही यह विश्वमय भी है, क्योंकि यह सत्तामात्ररूपी शून्य सब भावोंको तिल-तिलमें, अंश-अंशमें विचित्ररूपसे व्याप्त करके स्थित है । व्यापक ही व्याप्यरूपमें स्फुरित हो रहा है, व्याप्य उससे अतिरिक्त और कुछ नहीं है । एकमात्र वह महाप्रकाश ही स्थूल उपाधिके सम्बन्धसे स्थूल हो जाता है अर्थात् अपने स्वातन्त्र्यसे वही स्थूल-आभासरूपमें भासित होता है और स्थूल कहा जाता है । वह एक ही वस्तु स्थूल और सूक्ष्मरूपमें स्थित है । जिस महायोगीका बोध यहाँतक आरूढ हुआ है वह दृढ प्रतिपत्तिके द्वारा उसका अवलम्बन करके तन्मय हो जाता है । * जिन शून्योंका क्रमशः त्याग किया जाता है उनके नाम ये हैं—

१. अधःशून्य—जिस हृदयमें प्रपञ्चका उदय नहीं हुआ है ।

२. मध्यशून्य—कण्ठ, तालु, भ्रूमध्य, ललाट और ऊर्ध्व-

१. उन्मना भी एक अवस्था है, क्योंकि परतत्त्वमें प्रवेश करनेका यही उपाय है, इसलिये विज्ञानभैरवमें 'शैवीमुखमिहोच्यते' कहकर इसका वर्णन किया गया है ।

* निम्न अधिकारीको इस सूक्ष्म अर्थमें आश्वासन न मिलनेके कारण कारणत्यागादि प्रक्रियाका आश्रय लेना पड़ता है ।

रन्ध्रस्थान—इनमें जब अपनेसे अधोवर्ती प्रमेयोंका उपशम हो जाता है।

३. ऊर्ध्वशून्य—यह शक्तिस्थानमें है। यहीं नादान्त-पर्यन्त सब पाशोंका क्षय होता है।

४. ५. ६। व्यापिनी, समना तथा उन्मनाशून्य।

ये छहों शून्य चल होनेके कारण हेय हैं। परतत्त्वकी अपेक्षा उन्मनामें भी किञ्चित् चलत्व है। परतत्त्व या सप्तम शून्य अचल होनेके कारण उपादेय है। निम्नवर्ती शून्यों-के अधिष्ठाता भी परमशिव ही हैं, इसलिये ये सब सम्यक्तया शुद्ध न होनेपर भी तत्तत् सिद्धि प्रदान करनेमें समर्थ हैं ही।

(क्रमशः)

आनन्दमय जीवनका रहस्य

(लेखक—श्रीकृष्ण)

आजकल प्रायः सभी यही कहते हैं कि संसार दुःखमय है। जीवनको पूर्ण सुखी बनानेके लिये प्राणीमात्र प्रयत्न करते हैं किन्तु सब निष्फल ही होते हैं। जिधर देखो, उधर दुःख-ही-दुःख दिखायी देते हैं। समाधान कहीं नहीं होता। जीवन विषम प्रतीत होता है, इसके लिये बड़े-बड़े लोगोंके द्वारा अनेकों उपाय सोचे गये हैं किन्तु स्थिति वैसी-की-वैसी ही बनी है। व्यक्तिगत प्रयत्न निष्फल होनेसे सामुदायिक प्रयत्न हुए। समाजके लिये नये-नये उपाय सोचे गये, किन्तु वे सभी निष्फल सिद्ध हुए। व्यक्तिगत स्वार्थमय जीवनसे संसारमें दुःख प्रतीत होता है, इसलिये परोपकार, दूसरोंके लिये, समाजके लिये काम करना बतलाया जाता है। कोई कर्मयोग करनेको कहते हैं तो कोई उच्च नैतिक जीवन व्यतीत करनेको कहते हैं; कोई राजनैतिक, तो कोई आर्थिक परिवर्तनपर जोर देते हैं। कोई श्रमविभागकी तो कोई सम्पत्तिके समान विभाग-की बात कहते हैं। इस तरह अनेकों बाह्य उपाय सोचे जाते हैं परन्तु इनमेंसे कोई भी सम्पूर्ण सुखका उपाय नहीं सिद्ध होता। तो फिर क्या संसार सुखमय नहीं है? क्या संसारकी रचना करनेवालेने इसको दुःखमूल ही बनाया है? ऐसा माननेपर तो इसका बनानेवाला ही दोषी ठहरता है। हमारी समझसे संसारको दुःखमय नहीं बल्कि सुखमय ही बनाया गया है। तो फिर ऐसा अनुभव क्यों नहीं होता? क्या किसीको भी ऐसा अनुभव हुआ है? हाँ, हुआ है, इतिहास कहता है कि राजा जनक यथायोग्य राज्य करते हुए भी पूर्ण सुखी थे, उनका संसार दुःखमय नहीं किन्तु सर्वथा सुखमय ही था। यह तो एक उदाहरण है। प्राचीन कालमें ऐसे अनेकों ऋषि-मुनि थे, जिनका जीवन पूर्ण सुखमय था, और इस वर्तमान कालमें भी ऐसे ज्ञानी संत-महात्मा हैं।

तो फिर यह प्रश्न होता है कि उनको ऐसा कौन-सा साधन प्राप्त था जिससे वे पूर्ण सुखी थे? पता चलता है कि वे पारमार्थिक जीवन व्यतीत करते थे, इसलिये सुखी थे। यह 'परमार्थ' क्या है? आजकल परमार्थ शब्दका उच्चारण होते ही एक ऐसा विचार पैदा होता है कि स्त्री, पुत्र, घर-सम्बन्धी सब व्यवहारोंको छोड़ देना, अथवा संसारसे परे कोई और मुख्य ऐकान्तिक जीवन व्यतीत करना ही 'परमार्थ' है, परन्तु जब संसारको त्याग कर पारमार्थिक जीवन व्यतीत करनेवाले लोगोंकी ओर देखा जाता है तो उनका जीवन भी अपने ही जैसा दिखायी देता है। गति एक-सी ही है। केवल ढंग दूसरा है। काम, क्रोध, लोभ, भय, मद, मत्सर, ईर्ष्या, राग, द्वेष, मान, अपमान, अपना, पराया इत्यादि जो विकार संसारी लोगोंमें देखे जाते हैं वही इन पारमार्थिक मार्गके लोगोंमें भी देखे जाते हैं। केवल बाहरी वेश-भूषा और रहन-सहनमें अन्तर है, आन्तरिकमें कुछ भी नहीं। बाहरी रूपों और क्रियाओंमें वर्षों व्यतीत हो जाते हैं, आयु बीत जाती है, तो भी अंदरकी कामनाएँ वैसी-की-वैसी ही बनी रहती हैं। अंदरके विकार गये मालूम नहीं होते। तब ऐसे परमार्थसे श्रद्धा उठ जाती है। साधारण लोगोंको छोड़ दीजिये, जो बड़े-बड़े महात्मा कहे जाते हैं वहाँ भी यही स्थिति मिलती है। ऐसे परमार्थपर श्रद्धा कैसे रहे? श्रद्धाके बदले ऐसे परमार्थसे घृणा ही उत्पन्न होती है; इसका नाश करनेकी प्रवृत्ति होती है और आजकल रूस, टर्की आदि देशोंमें यही हो रहा है। हिंदुस्थानमें भी ऐसी प्रवृत्ति आरम्भ हो गयी है। इसमें समाजका क्या दोष? तो क्या फिर परमार्थ-मार्ग ही ऐसा है? नहीं, नहीं, वास्तविक परमार्थ ऐसा नहीं है। परन्तु उस सच्चे परमार्थके अंदरका जो प्राण है, वही इस समय निकल गया है। रह गया है केवल बाहरका कलेवर! ऊपरी ढाँचामात्र!

वह प्राण क्या है, इसीका विचार इस निबन्धमें किया गया है। यदि उस प्राणकी पुनः प्रतिष्ठा हो जाय, तो

आजकलका परमार्थ जैसा मुर्दा-सा दीख पड़ता है वैसा न रहे। और वह यदि जीता-जागता दिखायी देने लगे तो आज भी संसार सुखमय हो जाय। सच्चे परमार्थके लिये व्यवहार छोड़ देनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। बाहरी व्यवहार, बाह्य जीवन जैसा है वैसा ही बना रहे, केवल थोड़ा-सा आन्तरिक परिवर्तन करना है। कुछ ऐसा विचार ही है, जिससे जीवन दुःखमय न प्रतीत होकर पूर्ण आनन्दमय ही प्रतीत होने लगता है। और विशेष बात तो यह है कि इसके लिये किसी खास आयोजनकी आवश्यकता नहीं है, यह बिल्कुल ही सरल है। आवश्यकता है केवल थोड़ेसे विचारकी और वह विचार भी कोई गहन नहीं है। किन्तु उस विचारमें प्रवृत्त होनेसे पहले आपको अपने पूर्वपरिचित मत थोड़ी देरके लिये एक ओर रख देने पड़ेंगे। आपके आगे जो विचार रक्खा जाता है, उसको स्वतन्त्रतासे किसी भी मतके बन्धनके विना देखना होगा। क्योंकि जबतक अपने मतोंके आग्रहोंको वैसे ही पकड़े रखकर अर्थात् एक खास दृष्टिकोणसे किसी विचारको देखा जाता है तबतक उसके यथार्थ आशयका ग्रहण नहीं हो सकता।

प्रत्येक प्राणी यह चाहता है कि मुझे दुःख किञ्चित् भी न हो और हमेशा सुख-ही-सुख बना रहे, और उसीके लिये उसकी सारी चेष्टाएँ होती हैं। परन्तु अनुभव यह है कि सुख बहुत थोड़ा होता है, और शेष सब दुःख-ही-दुःख होता है। तब यह प्रश्न होता है कि जब सुखके लिये ही सारी चेष्टाएँ होती हैं दुःखके लिये एक भी नहीं होतीं, तब फिर उलटा दुःख क्यों होता है ? इसपर विचार करनेसे मालूम होता है कि कोई भी कार्य करनेसे पहले उसपर पूरा विचार ही नहीं किया जाता। प्रथम तो हममें विचार करनेयोग्य पूर्ण शक्ति नहीं होती, उसमें फिर पूर्वग्रह, राग-द्वेष, काम-क्रोधादि षड्विकार और धनासक्ति आदि दोषोंसे बुद्धि मलिन रहती है। अतएव पहले इन दोषोंको दूर करना होगा, फिर अनुभवी बुजुर्गोंकी सहायता लेनी होगी, उनकी सम्मतिके अनुसार विचार करना होगा, यदि उनके विचार अपनी अल्पबुद्धिसे पूर्ण न जँचते हों तो भी उनके वचनोंमें श्रद्धा रखनी होगी और श्रद्धा रखकर उसके अनुसार कार्य करना होगा। उसमें भी प्रमाद, आलस्य आ सकते हैं, अतः उसको त्याग कर पूरे धैर्यसे ही कार्य करना होगा। ऐसा करनेपर हम उस कार्यमें कुछ सफलताकी आशा कर सकते हैं। परन्तु इतनेसे काम नहीं चलता, क्योंकि कार्यकी सफलता केवल कर्तापर ही अवलम्बित नहीं है, दूसरे लोगोंसे भी उसका सम्बन्ध होता है, उनके अनुकूलताकी आवश्यकता होती है, और ऐसा करनेमें बहुत कष्ट उठाने पड़ते हैं। इसके उपरान्त उसके उपकरण—साधन शुद्ध चाहिये, जिनका मिलना आजकल बहुत कठिन हो गया है। इतना सब होनेपर भी सब कुछ प्रारब्धाधीन है। प्रारब्ध-काल अनुकूल हो तो ठीक, नहीं तो सभी प्रतिकूल। अर्थात् कार्यकी सिद्धिमें पहले तो अतिशय दुःख है, फिर उसकी पूर्ण सिद्धिकी तो आशा ही करना व्यर्थ है।

मान लें कि कार्य सफल हो गया तो उसके बाद भी सुख कितना स्वल्प—बहुत ही थोड़ा। दुःखकी परम्परा तो फिर भी बनी रहती है। कार्यके नष्ट हो जानेपर तो पूछना ही क्या है ? फिर तो दुःख-ही-दुःख है, सुखका कहीं नाम-निशान नहीं। सारांश यह कि कार्यसिद्धिके प्रारम्भमें दुःख, कार्यसिद्धिके भोग-फलमें दुःख और उसके अन्तमें यानी विनाशके बाद भी दुःख। इस प्रकार कार्य आदि, मध्य और अन्तमें दुःखसे ही भरा होता है। सुखका अनुभव तो बहुत थोड़ा होता है। इसी तरह किसी भी वस्तुका विचार कीजिये। हम सुखके लिये उसकी चाह करते हैं, प्राप्त करते हैं, किन्तु उस वस्तुकी प्राप्तिके पहले प्रयत्नमें दुःख, प्राप्त होनेपर उसकी सार सँभालमें और चिन्तामें दुःख, और उसके नष्ट होनेपर भी दुःख—जन्मसे लेकर मृत्युतक इस संसारमें थोड़ेसे सुखके अनुभवके साथ बहुत बड़े परिमाणमें दुःख-ही-दुःख भोगने पड़ते हैं। जब मनुष्य अतिशय दुःखोंसे दुखी होता है, सब तरहके प्रयत्न करनेपर भी दुःखोंको दूर नहीं कर सकता तब उन दुःखोंसे मुक्त होनेके लिये, उसकी दृष्टि इस संसारसे परे जाती है, वह उधर प्रयत्न करता है।

अब वह देवी-देवताको मनानेका प्रयत्न करता है, साधु-संतोंके पास जाता है। उसकी ऐसी इच्छा रहती है कि देवी-देवता या साधुसंत प्रसन्न हो जायँ, आशीर्वाद दे दें, तो मेरे सांसारिक दुःखोंकी निवृत्ति हो। परन्तु अनुभव तो ऐसा है कि इस प्रकारका प्रयत्न करनेपर भी दुःख ज्यों-का-त्यों बना रहता है, यद्यपि माने हुए सुखके साधनभूत इष्ट-पदार्थकी प्राप्ति होनेसे वह (दुःख) ऊपर-ऊपरसे कहीं-कहीं कुछ कम हुआ दिखायी देता है।

फिर मनुष्य विचार करता है कि केवल देवी-देवताओंकी मानतासे और महात्माओंके आशीर्वादसे काम नहीं चलेगा। वह आगे बढ़ता है और स्वयं कुछ करनेका निश्चय

करता है। अब वह अपनी वृत्ति अंदर ले जाता है। देव-सेवा, जप, तप, उपवास, कथाश्रवण, भजन-कीर्तन, प्राणायाम, ध्यान, समाधि वगैरह आन्तरिक साधनोंमें अपना चित्त लगाता है। कुछ समाधान होता है। वह वर्षों उसीमें लगा रहता है, परन्तु अन्तमें उसे निराशा ही होती है, दुःखकी परम्परा फिर भी वैसी ही बनी रहती है।

अब उसको इसके भी परे जाना होगा। अपने स्वरूपका यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर लेना होगा। स्वरूपका यथार्थ ज्ञान होते ही सब दुःखोंकी अपने-आप निवृत्ति हो जाती है। फिर वे दुःख लौटकर कभी भी नहीं आ सकते। जीवन सुखमय होता है। ज्ञानी संत-महात्माओंका ऐसा ही अनुभव है, इस स्वरूपका यथार्थ ज्ञान क्या है और वह कैसे प्राप्त होगा, अब इसपर विचार करना है।

गाढ निद्राका सबको अनुभव है कि वहाँ जरा-सा भी दुःख नहीं रहता, वरं परम सुख या आनन्द ही रहता है। यद्यपि उस समय उस सुखका भान नहीं रहता, क्योंकि भान करनेवाली इन्द्रिय वहाँ लीन रहती है, वह वहाँ अपने कामपर नहीं रहती। निद्राके बाद जागृतिमें जब वह इन्द्रिय कामपर आती है, तब आपको भान होता है कि आप परम आनन्दमें थे। सुषुप्तिके समय मन लीन होनेके कारण उसको वहाँके प्रत्यक्ष आनन्दका भान नहीं होता, परन्तु आनन्द तो वहाँ रहता ही है। यह आनन्द सदा बना रहता है, तीनों कालोंमें रहता है। निद्रामें रहता है वैसे ही जागृतिमें रहता है, गाढनिद्रामें रहता है वैसे ही स्वप्नमें भी रहता है, फिर भले कहीं उसका भान हो और कहीं न हो। राग-द्वेष, सुख-दुःख इत्यादि विकारोंसे आच्छादित होनेसे वह कहीं न भी दीखे, परन्तु रहता है वह अवश्य। उसके अस्तित्वकी सत्ताका कभी भी नाश नहीं होता, इसीसे वह 'सत्' भी कहलाता है। सत् यानी 'है', जो कभी 'नहीं है' ऐसा नहीं होता। वह है यानी जीवित है, इसीसे उसे चेतन भी कहते हैं। अलग-अलग दृष्टिकोणसे वह एक ही सत्, चित् और आनन्द कहलाता है।

आनन्द मौजूद होते हुए भी वह विकारयुक्त अशुद्ध मनके द्वारा प्रकट नहीं होगा। मन शुद्ध रहे तो आनन्द हमेशा स्वाभाविक ही प्रकट रहे। शुद्ध दूध, शुद्ध घृत, शुद्ध जल, शुद्ध हवा इत्यादि शुद्ध वस्तु दुःखके हेतु नहीं होते, किन्तु विकृत वस्तुएँ अवश्य दुःख देती हैं। अर्थात् विकार ही दुःखका हेतु है, जाग्रत् अवस्थामें काम करनेवाले मन, इन्द्रिय, शरीर यदि जरा भी विकृत न हों तो हमें दुःखका अनुभव कभी भी नहीं होगा। दुःखके आवरणसे ही आनन्दका भोग नहीं होता; परन्तु वह हमेशा बना अवश्य रहता है, वह अविनाशी है।

इससे यह सिद्ध हुआ कि यदि मन, इन्द्रिय और शरीर—ये उपकरण—साधन शुद्ध रहेंगे, अर्थात् अपना काम ठीक-ठीक करेंगे, विकृत न होंगे तो आनन्दका भोग सदा बना रहेगा। अतएव जीव सदा आनन्दित बना रहे, उस आनन्दका कभी भंग न हो, इसके लिये मन, इन्द्रियाँ और शरीरके विकारोंको दूर करना अत्यन्त आवश्यक है। अब इसका विचार करना है कि ये विकार कैसे बनते हैं और इनके नाशके लिये क्या उपाय करने चाहिये।

योग्य और शुद्ध आहार-विहारके अभावसे शरीरमें विकार होते हैं। नियमित शुद्ध सात्त्विक आहार, शुद्ध हवा, शुद्ध जल, परिमित निद्रा और शुद्ध आचार-विचारसे शरीरमें नये विकार नहीं होंगे। जो पहलेसे बने हैं उनके नाशके लिये उपवासादि शास्त्रीय उपाय करने पड़ेंगे। जैसे अशुद्ध और अधिक आहारसे शरीर विकृत होता है वैसे ही विषयोंके अशुद्ध और अति भोगसे इन्द्रियाँ भी विकृत होती हैं। उदाहरणके लिये एक स्वादेन्द्रियको लीजिये। दूध, फल, शाक, चावल, दाल आदि सब पदार्थोंका असली शुद्ध स्वाद हमारी स्वादेन्द्रिय ले नहीं सकती, क्योंकि हम इन चीजोंको उनके असली स्वरूपमें स्वादेन्द्रियको कभी देते ही नहीं; उनको बिल्कुल विकृत बनाकर देते हैं। नमक, मिर्च, मसाले, इमली, मीठा वगैरह मूल वस्तुके असली स्वरूपको बिगाड़नेवालोंकी मात्रा बढ़ते-बढ़ते इतनी बढ़ जाती है कि फिर स्मरणमात्रसे ही इन्द्रिय जागृत हो जाती है, जीभमें पानी छूटने लगता है। इस तरह हमारी सारी इन्द्रियाँ अयोग्य और अति भोगसे बिगड़ गयी हैं।

शरीर और इन्द्रियाँ मनके अधीन हैं, उनकी सब क्रियाएँ मनके लिये ही होती हैं, अतः यदि मन शुद्ध हो तो ये सब अपने-आप ही शुद्ध रह सकती हैं। सच्चे महत्त्वकी बात तो मनकी शुद्धि ही है, इसलिये अब उसीकी शुद्धिका खास विचार करें।

पहले नीचे लिखे मनके विशेष स्वभावोंको खूब याद रखना होगा।

१. मनके आगे जो भी विषय आ जाय, वह उसीमें रम जाता है, फिर वह विषय कुछ भी हो।

२. यदि कभी किसी कारणसे कोई विषय पहले नहीं भी रुचता, तो अभ्याससे वह रुचने लगता है ।

३. कोई भी विषय हो, मन जितनी ही बार उसको भोगेगा, उतनी ही उसकी उसमें आसक्ति बढ़ती चली जायगी । यह आसक्ति जब बहुत बढ़ जाती है तब बिना ही प्रयत्न, अनायास ही मन उस विषयको भोगता है । स्थूल विषय न मिलनेपर वह सूक्ष्म विषयमें ही रम जाता है ।

४. अनुकरण बहुत जल्दी करता है । इसीसे सङ्गतिका, चारों ओरके वातावरणका उसपर बहुत जल्दी असर होता है ।

५. विषय-रस-सम्बन्धी भावना कुछ पूर्वके संस्कारसे, कुछ आसपासके वातावरणके संस्कारसे और कुछ अपने-आप सहज कल्पनासे उत्पन्न होती है । यही रस-विषयक कल्पनाएँ मनुष्यको सुख देती हैं । इस सुखके अनुभवसे और इस विषयके सहवाससे, उस विषय-सम्बन्धी जो कल्पनाएँ की हैं, उनके विशेष मननसे उस विषयका उसको ध्यास लगता है और वह उसमें आसक्त होता है । प्रत्येक बारका विषय-भोग और उसकी कल्पनाएँ अपने संस्कार पीछे रखती जाती हैं । ये संस्कार मनके सामने अपने विषयका सारा इतिहास खड़ा कर देते हैं । इसीसे आसक्ति बलवान् होती है । आसक्तिसे उस विषयकी उसे कामना होती है । उस विषयके अनुकूल साधनोंमें राग, प्रतिकूल साधनोंमें द्वेष और प्रत्याघाती विषयोंसे क्रोध होता है । थोड़े विषयके भोगसे तृप्ति नहीं होती अतएव उस विषयका लोभ उत्पन्न होता है । उस विषयका कहीं अभाव न हो जाय ऐसा भय पैदा होता है । इस तरह आसक्तिसे सब दोष उत्पन्न होते हैं । इन्हीं दोषोंसे मन विकारी होता है, अशुद्ध होता है, और अशुद्ध मन ही सारे दुःखोंका मूल है ।

अब यह मन शुद्ध कैसे हो इसका उपाय सोचें । जिन कारणोंसे वह अशुद्ध बना है उन कारणोंको दूर करनेसे उसकी आगे होनेवाली अशुद्धि रुक जायगी । किन्तु इन कारणोंको दूर करना इतना सरल नहीं है । इसके लिये खास उपाय करने पड़ेंगे । अतएव अब इसपर विचार करना है कि जिससे नयी अशुद्धि न हो और पहलेकी आयी हुई अशुद्धि दूर हो जाय ।

विषयोंका सङ्ग, विषयी वातावरण, और विषयी श्रवणका त्याग करके सत्सङ्गति, सद्-वातावरण और सत्-श्रवण करना—सबसे पहला उपाय है । महात्माओंके साथ रहनेसे मन सहज ही उनका अनुकरण करने लग जायगा । यह बिल्कुल सरल उपाय है । सत्शास्त्रका श्रवण करो और सद्वातावरण पैदा करो । मनका स्वभाव ही है कि उसके सामने जो भी विषय रक्खो, वह उसीमें रम जाता है । यदि पहले उसे उसमें रस न आवे, तो अभ्याससे अपने-आप ही रस आने लगेगा । लगातार श्रवणसे मनन बनेगा और लगातार मननसे निदिध्यास अपने-आप ही बनेगा । निदिध्याससे उसीमें उसका सङ्ग हो जायगा । ज्यों-ज्यों इधरका सङ्ग बढ़ेगा, त्यों-ही-त्यों उधरका—पहलेके विषयोंका सङ्ग कम होता चला जायगा । इससे पहलेके संस्कार नाश तो नहीं होंगे, दब जायँगे । परन्तु दब जानेसे काम नहीं चलेगा, क्योंकि फिर जब-जब उनके सहायक विषय सामने आवेंगे, तब-ही-तब वे संस्कार जाग्रत हो जायँगे । संस्कार रसवृत्तिको जाग्रत करते हैं, इससे आसक्ति उत्पन्न होती है, और उस विषयकी कामना होती है ।

इन संस्कारोंका नाश होना ही परम आवश्यक है । इसके लिये ऐसा करो कि उस विषयके दोषोंपर खूब विचार करो । इसमें एक बात खास याद रखनी होगी कि जब विषय सामने हो तब हम उसके दोषोंपर अच्छी तरहसे विचार नहीं कर सकते । क्योंकि हमारी बुद्धि उस समय उस विषयके रससे—उस विषयकी कामनासे दूषित रहती है, जो योग्य विचार नहीं करने देती । विषय सामने न हो तब उस विषयके दोषोंपर विचार करना होगा । ऊपर-ऊपरसे इधर-उधरके झूठ-मूठ विचार करनेसे काम नहीं चलेगा, सच्चे दिलसे चारों ओरसे खूब बारीक विचार होना चाहिये । ऐसा होनेसे उस विषयसे मन हटेगा, उसमें अरुचि उत्पन्न होगी, उस विषयसे वैराग्य होगा । विषय-भोगके पश्चात् उसमें एक तरहकी उपरति होती है, उस विषयकी ग्लानि पैदा होती है । उस समय तुम अपने विचारे हुए दोषोंका फिर मनन करो । यह मनन बहुत पक्का होता है, जिससे उस विषयसे मन बिल्कुल हट जाता है और उस विषयके संस्कारोंके नाशमें कुछ सहायता करता है, इनका सम्पूर्ण नाश तो अभी भी बहुत दूर है ।

इन संस्कारोंके सम्पूर्ण नाशके लिये एक और खास बातका विचार करना पड़ेगा । विषयोंसे जो सुख मिलता है,

उसीके लिये संस्कार उत्पन्न होते हैं, उस सुखके लिये ही वह वस्तु फिर चाही जाती है । मनुष्यको जो सुख विषयसे मिलता है, वह सुख विषयका नहीं है, भूलसे ऐसा माना गया है । यह सत्य सिद्ध होते ही विषय फीके पड़ जायँगे, कामनाएँ मूलसहित उखड़ पड़ेंगी, फिर कामनाएँ उत्पन्न ही नहीं होंगी । विषयमें रस उत्पन्न न होनेसे नये संस्कार तो पैदा होंगे ही नहीं, परन्तु जो पुराने हैं वे भी जड़-मूलसे उखड़ जायँगे । इस रीतिसे उन संस्कारोंका सम्पूर्ण नाश होगा । विषयमें सुख नहीं है यही सिद्ध करनेके लिये आगे विचार करना है ।

शरीर और इन्द्रियाँ विषयभोगके स्थूल बाह्य साधन हैं, और मन सूक्ष्म अन्तर्साधन है । साधनको संस्कृतमें करण कहते हैं, इसीसे मन अन्तःकरण कहलाता है । इस अन्तःकरणके अपने पृथक्-पृथक् कर्तव्यानुसार और पाँच नाम पड़े हैं । अन्तःकरण जाग्रत होकर जब विषयकी ओर जाता है तब उसे वृत्ति कहते हैं । स्थिर है तबतक अन्तःकरण और जब चलित होता है तब उसीको वृत्ति कहते हैं । फिर जब वह संकल्प-विकल्प करता है तब मन, जब निश्चयकी क्रिया करता है तब बुद्धि, जब चिन्तन करता है तब चित्त, और जब कर्तृत्व-भोक्तृत्वका अभिमान करता है तब वही अहंकार कहलाता है ।

यह अन्तःकरण विषयका ग्रहण करता है । यह ग्रहण दो तरहका होता है, एक साधारण और दूसरा विशेष । बहुत-से शब्द हो रहे हैं, कर्णेन्द्रियद्वारा उनका ग्रहण होता है परन्तु सामान्यतया वे शब्द अन्तःकरणपर कोई असर पैदा नहीं करते, परन्तु यदि उसमें हमारा कोई सम्बन्ध हो अर्थात् हमारी स्तुति या निन्दा हो तो उस शब्दका विशेषतया ग्रहण होगा, उसका कोई-न-कोई असर हमारे अन्तःकरणपर जरूर होगा । यानी विषयग्रहणमें कोई आपत्ति नहीं, किन्तु उसका ग्रहण, यदि विशेषरूपसे हुआ तो अवश्य बाधा पहुँचावेगा-उसका अन्तःकरणमें जरूर असर होगा । यह असर ही संस्कार कहलाता है । संस्कार ही आगे चलकर संगरूपमें परिणत होते हैं । संस्कार दृढ होनेसे वही प्रारब्ध बनता है और फिर वही जन्मका हेतु होता है । सुख-दुःख, लाभ-हानिका जिस विषयसे सम्बन्ध है उसका ग्रहण विशेषतया होगा और जहाँ लाभ-हानि या सुख-दुःखका प्रश्न नहीं उसका ग्रहण साधारणतया होगा । विशेष रूपके ग्रहणसे ही नये संस्कार बनते हैं । इससे यह सिद्ध हुआ कि विषयका ग्रहण भले ही हो परन्तु वह कभी भी विशेषरूपसे न हो । यह तब सिद्ध होगा कि जब सुख-दुःख या लाभ-हानिकी ओर कोई दृष्टि न हो । अब प्रश्न यह रहा कि यह सुख-दुःख या लाभ-हानिकी दृष्टि कैसे दूर हो ? इसके लिये जीवके स्वरूपका विचार करना होगा ।

यह विचार पहले ही हो चुका है कि आनन्द हमेशा बना रहता है । उसका कभी क्षय नहीं होता । उसके अस्तित्वका कभी नाश नहीं होता । इसीसे वह 'सत्' कहाता है और वह सर्वदा नाशरहित—मृत्युरहित जीवित चेतन होनेसे 'चित्' कहलाता है । हर एकमें यह आनन्द एक-सा ही होता है, भेद नहीं है, गरीब और अमीरके आनन्दमें भेद नहीं है । इसे आनन्द कहो या दूसरे रूपसे चेतन कहो—सर्वत्र समान भरा हुआ है, सर्वव्यापी है और अविनाशी है । जिस तरह आकाश सर्वव्यापी है वैसे चेतन भी सर्वव्यापी है, कोई भी अणु चेतनसे खाली नहीं है । आकाश सर्वत्र एक होते हुए भी पृथक्-पृथक् घटोंसे व्याप्त आकाश, इस घटका आकाश, उस घटका आकाश ऐसे अलग-अलग आकाश कहा जा सकता है वैसे ही चेतन सर्वव्यापी होते हुए भी इस देहका चेतन, उस देहका चेतन, ऐसा व्यवहार होता है । एक शरीरमें व्याप्त चेतन अन्तःकरणसहित 'जीव' कहलाता है । अन्तःकरण अपने अनन्त संस्कारोंसहित होता है । एक अन्तःकरणके संस्कार दूसरे अन्तःकरणके संस्कारसे पृथक् रहते हैं यानी समस्त देहोंमें एक ही चेतन व्याप्त होनेपर भी देह और अन्तःकरण अनेक होनेसे, 'जीव' अनेक होते हैं ।

संस्कारोंमेंसे जो संस्कार अति दृढ होते हैं वे जी को बलपूर्वक विषयकी ओर खींचकर ले जाते हैं और उसको वह भोग भोगना ही पड़ता है । इन्द्रियोंके सहित यह देह भोग भोगनेका साधन है । इन साधनोंके विना जीव विषय नहीं भोग सकता । यह शरीर जबतक भोगके लिये योग्य साधनरूप रहता है तबतक तो चलता है परन्तु जब इस शरीरसे जीव विषय नहीं भोग सकता तब उसे इसको छोड़कर दूसरा शरीर धारण करना पड़ता है । इसी प्रकार जन्म मरणकी परम्परा चालू रहती है । नये संस्कार न बनें और पुराने किसी भी साधनासे नाश हो जायँ तो फिर नया शरीर धारण करनेकी आवश्यकता नहीं रहती यानी वह जन्म-मरणके चक्रसे मुक्त हो जाता है । ये नये संस्कार बनने तब बन्द हों जब जीव विषयको विशेषरूपसे ग्रहण न करे । यह तब हो जब उस विषयसे उसे कोई भी स्वार्थ न हो

यानी सुख-दुःख या लाभ-हानिका कोई प्रश्न ही न हो। वह हमेशा सुखकी चाह करता है। नित्य नये-नये विशेष-विशेष सुखकी खोजमें रहता है। स्वयं सुखस्वरूप होते हुए भी ऐसा क्यों होता है ? इसका उत्तर यह है कि अधिक समयतक रमते-रमते वह इन विषयोंमें इतना रम गया है कि अपने असली स्वरूपको ही भूल गया है। जैसे राजकुमार दूसरे बालकोंके साथ गुडियाँ खेलता है—उसमें वह इतना तल्लीन हो जाता है कि खेलमें गुडियोंकी हार-जीतसे वह दुःखी या सुखी होता है। चार गुडियोंके हारनेसे या जीतनेसे उसकी सच्ची सम्पत्तिमें कोई अन्तर नहीं होता, तो भी उन गुडियोंके लिये वह राजपुत्र होते हुए भी झूठ बोलता है, कपट करता है, लड़ाई-झगड़ा करता है, हार जानेपर रोता है और दुःखी भी होता है। उस समय उसे अपनी सम्पत्तिका भान नहीं रहता। इसी प्रकार जीव भी सम्पत्तिशाली है। जीव यानी अन्तःकरणयुक्त चेतन। चेतन यानी आनन्द जिसका कभी नाश नहीं, जो कभी कम हो नहीं सकता ऐसा अखण्ड पूर्ण आनन्दस्वरूप। ऐसा होते हुए भी वह तुच्छ विषयकी लाभ-हानिसे सुखी-दुखी होता है। विषयोंके सहवाससे वह मोहित होता है और अपने स्वरूपको भूल जाता है। सुख-दुःख भोगनेका साधन यह अन्तःकरण है। अन्तःकरणके विना सुख-दुःखका भान ही नहीं हो सकता। यदि विषयोंकी कामनाओंसे अन्तःकरण विकारित—दूषित न हो तो उसे अखण्ड आनन्द-ही-आनन्द प्राप्त हो, दुःखका लेश भी न रहे परन्तु वह तो विषयभोगमें रममाण हो जाता है और वहीं सुख खोजने लगता है, जहाँ उसे आदि, मध्य और अन्तमें दुःख-ही-दुःख भोगना पड़ता है। विषयमें जो कुछ थोड़ा-सा सुख मालूम होता भी है वह सुख विषयका नहीं होता, चेतनाका ही होता है। जैसे कुत्ता सूखी हड्डीको चबाता है और जब जबड़ा छिल जाता है तो उसके मुँहसे खून निकलने लगता है। उस खूनको चाटता हुआ वह सुखका अनुभव करता है। वह सुख उस सूखी हड्डीका नहीं है, वह है अपने ही खूनका, परन्तु अज्ञानवश वह ऐसा मानता है कि हड्डीमेंसे उसे स्वाद मिल रहा है। वैसे ही विषयमें आनन्द नहीं है। मनचाहे विषयकी प्राप्ति होनेपर एक तरहका समाधान होता है, अर्थात् कामना शान्त होती है, अन्तःकरण कामनाके विकारसे मुक्त होता है, ऐसा होते ही जीवको आनन्दका भान होता है, वह आनन्द अपने आत्माका होते हुए भी जीव अज्ञानवश उसको विषयसे उत्पन्न मानता है।

विषयमें यदि आनन्द होता—आनन्द देना विषयका काम होता तो वह सबको सब कालमें और एक ही प्रकारका आनन्द देता, परन्तु ऐसा अनुभव नहीं है। एक विषयसे एकको सुख होता है तो दूसरेको उसीसे दुःख होता है। एक पुरुषको उसी विषयसे एक समय सुख होता है तो दूसरे समय उसीसे दुःख होता है। जब सुख होता है तब भी वह एक-सा नहीं रहता। दूसरी बात यह है कि विषय ही सुख देता है यानी विना विषयके सुख नहीं होता ऐसा भी अनुभव नहीं है। निद्रामें, समाधिमें कोई भी विषय नहीं रहता तो भी वहाँ सुखका अनुभव होता है। जहाँ विषय हों वहाँ सुख होना ही चाहिये, और जहाँ विषय नहीं वहाँ सुख नहीं, ऐसा सिद्ध नहीं होता। इससे यह सिद्ध होता है कि विषयमें सुख नहीं है। विषयमें जो सुख भासता है वह वास्तविक स्व-रूपका ही—चेतनका ही होता है। विषय-भोगसे जिस क्षणमें जिसको समाधान होता है उसी क्षणमें उस पुरुषको सुख होता है। जब-जब समाधान, तब-तब सुख—यह सिद्धान्त त्रिकालाबाधित है। समाधानके समय कामनाकी शान्ति होनेसे, मन विकारसे मुक्त होता है। मनके निर्विकार, निर्दोष होते ही आनन्दका अनुभव होता है। यानी जब मन निर्विकार होता है तब जीव अपने सच्चे आनन्दस्वरूपका अनुभव करता है यह त्रिकालाबाधित सिद्धान्त है। निद्रामें, समाधिमें, इतना ही नहीं परन्तु यदि एक क्षणके लिये भी मन स्थिर हो जाय तो उसी समय आनन्दका अनुभव होता है, क्योंकि उस समय मन कामनाओंसे विकृत नहीं रहता।

ऊपरके विवेचनसे यह स्पष्ट हो गया कि जीव स्वयं सुख-स्वरूप है, उसको सुखके लिये कोई भी क्रिया करनेकी आवश्यकता नहीं, निर्हेतुक कर्म ज्ञानी ही कर सकता है, क्योंकि वह स्वयं सुखस्वरूप होनेसे उसे अन्य सुखकी चाह ही नहीं रहती। वही पुरुष आदर्शस्वरूप है। उसे सुखकी चाहके अभावमें अब कोई भी कामनाकी चाह नहीं रहती। कामनाका अन्त होते ही राग, द्वेष, लोभ, भय, क्रोध आदि सब विकार अपने-आप ही नष्ट हो जाते हैं। उसका मन इस प्रकार निर्विकार स्थितिमें रहता है और इस प्रकार उसके आनन्दस्वरूपकी च्युति कभी नहीं होती। उसके लिये जीवन–संसार सुखमय ही रहता है।

अबतक जो कुछ निरूपण हुआ उन सबका तात्पर्य यही है कि सर्वदुःखकी निवृत्तिसहित परम सुखकी प्राप्ति-

के उपायमें केवल अपने स्वरूपका ज्ञान ही आवश्यक है, क्योंकि प्रत्येक दुःख-परम्पराका मूल केवल अपने स्वरूपका अज्ञान ही है। इस स्वरूपज्ञानका विवेचन ऊपर इस प्रकार किया गया है कि आसानीसे समझमें आ जाय, इससे मुमुक्षुको स्वरूपका साक्षात्कार हुआ ही होगा। अब उसने जो कुछ समझा, उसीके अनुसार यदि उसकी क्रियाएँ हों यानी उसके ज्ञान और क्रियामें कोई अन्तर न रहे तो उसे और किसी बातकी आवश्यकता नहीं रही। जिसको व्यवहारमें, प्रत्यक्ष आचरणमें यानी ज्ञानानुसार क्रियामें कोई अड़चन मालूम होती हो तो उसे चाहिये कि वह समझी हुई वस्तुका खूब मनन करे। जितना ही अधिक मनन होगा उतना ही ज्ञान दृढ़ होगा। अन्तःकरणकी वृत्ति वस्तुको यथार्थ ग्रहण करेगी और फिर क्रिया स्वाभाविक ही ज्ञानानुसार होगी। यदि कोई कठिनाई मालूम हो तो उस कठिनाईपर सच्चे हृदयसे गम्भीरताके साथ खूब विचार करो। कुछ भी कठिनाई नहीं रहेगी, वह विषय आचारमें परिणत हो जायगा।

कोई भी कार्य हो, जब उसमें सम्पूर्ण साधनोंका अभाव रहता है, तब उसकी सफलताके लिये मनुष्य चिन्ता करता है। यह चिन्ता गलत है। चिन्ता करनेसे कुछ नहीं होगा, बुद्धि मलिन होगी और शरीर रोगी होगा। बुद्धिके मलिन होनेसे कार्यकी सफलताके लिये जो प्रयत्न होना चाहिये वह अच्छी तरहसे नहीं होगा। सच्ची बात तो यह है कि कार्यकी सफलतामें जो बाधाएँ हों उनको दूर करनेका यथासाध्य प्रयत्न जरूर करना चाहिये, उसमें कमी नहीं होनी चाहिये, वैसा प्रयत्न करते हुए भी यदि कार्य सफल न हुआ, कुछ कमी रह गयी तो उसके लिये तुम कर ही क्या सकते हो, वह तो वैसे ही भुगतना होगा। चिन्ता-करनेसे, रोनेसे भुगतना तो दूर होगा नहीं, फिर रोनेसे, चिन्ता-से मतलब ही क्या निकला? इस प्रकार निरन्तर विचार करना होगा। ऐसा करते जानेसे मनुष्य अपने आनन्द-स्वरूपसे च्युत नहीं होता। यहाँ कहने-सुननेका काम नहीं है, समझे हुए तत्त्वको व्यवहारमें—प्रत्यक्ष आचरणमें लाकर देखो, खूब विचार करो, मनन करो। दीखनेमें कठिन मालूम होता है, क्योंकि तुमने कभी इसका अनुभव नहीं किया, और करो तो कठिन नहीं होगा, किन्तु सहज प्रतीत होगा। संत-महात्माओंका अनुभव है। तुम कहोगे कि वे तो त्यागी थे। संत-महात्मासे यहाँ मेरा संसारत्यागीसे मतलब नहीं है किन्तु ज्ञानीसे है। संसारमें रहते हुए, संसारका सब काम करते हुए ज्ञानी अपने आनन्द-स्वरूपमें हमेशा बना रहता है। यह संतोंकी अनुभव की हुई बात है, केवल विचारकी बात नहीं है। श्रद्धा रखकर तुम भी एक बार अनुभव करनेका निश्चय करो, तुम्हें भी यही अनुभव होगा। कठिनाई है तो केवल विश्वासकी है। मनुष्यको विश्वास नहीं होता। इसीके लिये सद्गुरुकी खास आवश्यकता है। उसको वैसा न मानना ही माया है, अज्ञान है, अपने सामर्थ्यको भूलना ही उसका स्वरूप है। सीताजीकी खोजमें हनुमानजी चले। चलते-चलते समुद्रके किनारे पहुँचे। अब समुद्रके पार कैसे जायँ। बड़ी भारी रुकावट मालूम हुई। खोजका कार्य ही रुक गया। बड़े दुखी हुए। तब जाम्बवन्तने कहा—'हनुमानजी! आप तो इस समुद्रको सहज ही लाँघ सकते हैं।' इतना सुनते ही हनुमानजीको अपने सामर्थ्यका भान हुआ। सामर्थ्य होते हुए भी वे उसे भूल गये थे। जाम्बवंतने केवल उसकी याद दिलायी, उन्हें विश्वास दिलाया और वे समुद्रको एक ही छलाँगमें पार कर गये। बस, यही हाल मनुष्यका है। अपने आनन्द-स्वरूपका उसे भान नहीं है, वह भूल रहा है, सद्गुरु उसे उसका भान कराते हैं, याद दिलाते हैं और उसको विश्वास दिलाते हैं। ग्रन्थमें केवल शब्द ही होते हैं, सद्गुरुका तो प्रत्यक्ष आचरण होता है। आचरणका प्रभाव अति शीघ्र पड़ता है, विश्वास एकदम बैठता है, क्योंकि प्रत्येक बात प्रत्यक्ष दीखती है। सद्गुरुकी और भी विशेष आवश्यकता इसलिये है कि तुमको जब कभी कोई प्रत्यक्ष उलझन हो और उसमेंसे तुम अपनी बुद्धिसे बाहर न निकल सकते हो तो सद्गुरु तुम्हारी उस उलझनको सहज ही सुलझा देते हैं। चाहे वह उलझन कितनी ही थोड़ी क्यों न हो जबतक सुलझती नहीं तबतक ज्ञानकी दृढ़तामें बाधा उत्पन्न करती है। भ्रम ज्ञानका पक्का दुश्मन है। एक अग्निकी चिनगारी सब कुछ जला देनेमें समर्थ होती है। सद्गुरु समय-समयपर अंगुली दिखाकर ही सन्देह दूर कर देते हैं, जिससे फिर ज्ञान दृढ़ होता चला जाता है।

शुकाचार्य आत्मज्ञान प्राप्त करनेके लिये राजा जनकके पास गये। जनकने शुकाचार्यको बतलाया कि सच्चा ज्ञान क्या है। शुकाचार्य आश्चर्यसे चकित हो गये क्योंकि जो बात जनकने कही वह तो पहलेसे ही उनको विदित थी। भेद केवल इतना ही हुआ कि पहले उनको अपने ज्ञानमें

पूर्ण विश्वास नहीं था, वे समझते थे कि ज्ञान कुछ और होगा। वे जो कुछ समझे हैं, वह अपूर्ण ज्ञान है या सच्चा ज्ञान ही नहीं है। संशय होनेसे वह ज्ञान आचरणमें उतर नहीं सकता था। राजा जनकका ज्ञान संशयरहित था उसीसे उनकी क्रियामें और ज्ञानमें कोई अन्तर नहीं था। वे अपने आनन्दस्वरूपसे कभी भी च्युत नहीं होते थे। जनकका यह आचरण जब शुकाचार्यने प्रत्यक्ष देखा तब उनकी शंका निवृत्त हो गयी। शङ्काके निवृत्त होते ही उनकी क्रियाओंमें परिवर्तन हो गया। अब उनकी क्रियाएँ ज्ञानानुसार होने लगीं। उनका जीवन आनन्दमय हो गया।

शुकाचार्यका यह इतिहास तुमको भी खूब याद रखना चाहिये। तुम्हें भी मनमें, हृदयमें ऐसा लगता रहता है कि ज्ञान कुछ और होना चाहिये क्योंकि यदि यही ज्ञान होता तो मुझे भी आत्मसाक्षात्कार होना चाहिये और ऐसा होता तो फिर मैं सदा परमानन्दमें ही रहता, परन्तु ऐसा तो है नहीं; इससे सिद्ध होता है कि ज्ञान कुछ और ही है। इस तर्कमें भूल यह है कि तुम्हारा ज्ञान अभी शङ्कायुक्त है, इसीसे तुमको परमानन्दका अनुभव नहीं होता। ज्ञान तो बस इतना ही है कि जीव स्वयं आनन्दस्वरूप है, विषयोंमें रमते-रमते इतना रम गया है कि वह अपने असली स्वरूपको ही भूल गया है और फिर विषयोंके लाभ-हानिसे अपनेको सुखी-दुखी मानने लगा है, इस स्थितिमें जीव बहुत समयसे है, अनन्त युग बीत गये हैं इसीसे समझाते हुए भी—उसको उसके स्वरूपकी पहचान कराते हुए भी उसे एकदम विश्वास नहीं होता। उसकी स्थिति ठीक उसी शुककी-सी है जो अंदर सींखवाली मोगरीको अपने पैरोंसे पकड़े है और इस भयसे उसे छोड़ता नहीं है कि यदि मैं मोगरीके सहारेको छोड़ दूँगा तो नीचे गिरकर मर जाऊँगा। वह इतना भयभीत हो गया है, इतना मोहवश है कि अपने स्वरूपको ही भूल गया है। शुकाचार्य और शुक-ये दोनों इतिहास तुम्हारे सामने है। इनमेंसे तुम चाहे शुक-जैसे बरतो अर्थात् अपने स्वरूपमें विश्वास न रखते हुए बाह्य विषयोंपर अपने जीवनका झूठा आश्रय रखकर दुखी होते रहो या शुकाचार्यकी तरह अपने स्वरूपको समझकर उसमें श्रद्धा रक्खो और फिर बाह्य विषयपर अपना जीवन अवलम्बित न रखते हुए सदा-सर्वदा आनन्दस्वरूप बने रहो।

अभिलाषा

रूपका कभी जो मोह होवे मुझे जीवनमें
रूप पै तुम्हारे अनायास बिक जाऊँ मैं।
क्रोधमें मदान्ध जो मैं होऊँ किसी कारणसे
विस्मृति तुम्हारी पै स्व-क्रोध प्रकटाऊँ मैं॥
लोभ जो सतावे मुझे भूतिका दिगंतव्यापी
स्पर्शमें तुम्हारे भव-भूति दिव्य पाऊँ मैं।
चित्तमें 'द्विजेन्द्र' काम जागे कभी मेरे यदि
हास्यमें तुम्हारे उसे सर्वथा भुलाऊँ मैं॥ १॥

इन्द्रिय-समूह धूम भोगको मचावे यदि
भोगने तुम्हारा स्वच्छ प्रेम सिखलाऊँ मैं।
रमने 'द्विजेन्द्र' मनोवृत्तियाँ जो चाहें कहीं
अंगों पै तुम्हारे दिव्य उनको रमाऊँ मैं॥
प्राण जो पिपासाकुल होवें जग-भ्रांत मेरे
छविसे तुम्हारी तीव्र प्यासको मिटाऊँ मैं।
होके क्षुधातुर अंग-अंग जो शिथिल होवें
वाणीसे तुम्हारी जठराग्निको बुझाऊँ मैं॥ २॥

रहना कभी जो मौन कोलाहल-मध्य चाहूँ
ध्यानमें तुम्हारे मग्न, मौन रह पाऊँ मैं।
होऊँ समुत्कंठित जो बोलनेको बार बार
गुणके तुम्हारे मनोहारी गीत गाऊँ मैं॥
हँसनेकी लालसा जो जागे मृदु मानसमें
स्वप्नमें तुम्हारे हँस चित्त बहलाऊँ मैं।
रोनेको 'द्विजेन्द्र' मन चाहे यदि दीनबन्धो
यादमें तुम्हारी नित्य अश्रुको बहाऊँ मैं॥ ३॥

—श्रीगौरीशंकर मिश्र 'द्विजेन्द्र'

कल्याण

द्वैत-अद्वैत, व्यवहार-परमार्थ, दृश्य-द्रष्टा, भाव-अभाव, प्रकृति-पुरुष जो कुछ भी कहो, सब एक भगवान् ही हैं। जहाँ जगत्का अत्यन्ताभाव है, वहाँ भगवान् ही अभावरूप हैं और जहाँ जगत् है, वहाँ भगवान् ही उसके अभिन्न निमित्तोपादान कारणरूप हैं। वास्तवमें भगवान् ही आनन्दसत्तास्वरूप निस्पन्द शुद्ध चेतन हैं और भगवान् ही अनन्त विश्वसत्तारूप चिद्विलास हैं। इतना होनेपर भी साधकको अभ्यासका आरम्भ दोनोंको अलग-अलग मानकर ही करना चाहिये। दृश्य-प्रपञ्च जड है, अनात्म है, केवल व्यवहारमें ही उसकी सत्ता है, और उसका द्रष्टा आत्मा चेतन है। दृश्य विनाशी है, चेतन नित्य है। इस प्रकार द्रष्टारूपमें स्थित होकर दृश्य-प्रपञ्चको अनात्मरूपसे देखो।

इसके बाद यह देखो कि यह दृश्य-प्रपञ्च स्वप्नद्रष्टाके संकल्पसे उत्पन्न स्वप्न-जगत्की भाँति मुझ चेतन आत्माके संकल्पसे मुझमें ही स्थित है। यह सब मेरा ही विलास है। मुझसे भिन्न कुछ भी नहीं है। इसलिये अब दृश्यका अभाव करनेकी आवश्यकता नहीं, दृश्यमात्रमें आत्मबुद्धि करो।

परन्तु याद रक्खो, जहाँतक अनात्मबुद्धि या आत्मबुद्धिके द्वारा वस्तुका स्वरूप देखकर एकात्मज्ञान किया जाता है, वहाँतक तुम्हारा वह ज्ञान वृत्तिजन्य ही है। अनात्मबुद्धिसे समस्त दृश्य-प्रपञ्चका निषेध करते-करते जब वृत्ति अभावाकार हो जाती है या आत्मबुद्धिसे समस्त दृश्य-प्रपञ्चको आत्मरूप देखते-देखते जब वृत्ति भावाकार हो जाती है, तब उसी वृत्तिको 'सूक्ष्म बुद्धि' कहते हैं। इसीसे आत्माका साक्षात्कार होता है, परन्तु यह साक्षात्कार भी वस्तुतः वृत्तिजन्य ही है। यह एक प्रकारकी विशुद्ध ब्रह्माकारवृत्ति ही है।

भगवान् ऐसी वस्तु नहीं जो बुद्धिकी सीमाके अंदर आ सकें, चाहे वह बुद्धि कितनी ही विशुद्ध क्यों न हो। जहाँ एकमात्र भगवत्-सत्ता ही रह जाती है और ज्ञान-अज्ञान, प्राप्ति-अप्राप्ति, प्रपञ्चाभाव-प्रपञ्च, निवृत्ति-प्रवृत्ति, साध्य-साधन और परमार्थ-व्यवहार आदिकी कोई कल्पना किसी रूपमें नहीं रहती। ऐसी वृत्तिहीन स्वरूपस्थितिको ही वास्तविक साक्षात्कार कहा जाता है। परन्तु यह व्याख्या भी केवल समझनेके लिये संकेतमात्र ही है। बुद्धिवृत्तिसे सर्वथा अतीत, आदि-मध्यान्त-रहित, नित्य एकरस भगवत्तत्त्वकी स्वरूपव्याख्या तो किसी भी अवस्थामें हो ही नहीं सकती। कहनेको अवश्य ही यह कहा जा सकता है कि इस स्थितिमें प्रशान्तात्मा साधक कृतकृत्य हो जाता है। फिर उसके लिये कुछ भी करना या पाना शेष नहीं रह जाता। 'शिव'

समाजके कुछ त्याग करने योग्य दोष

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

भली और बुरी—दोनों ही बातें समाजमें रहती हैं। कभी भली बढ़ती हैं तो कभी बुरी। परिवर्तन होता ही रहता है। यह ठीक नहीं कि पुरानी सभी बातें बुरी ही होती हैं अथवा नयी सभी बातें अच्छी ही होती हैं। अच्छी-बुरी दोनोंमें ही हैं। मनुष्यको विवेक-विचार तथा साहसके साथ बुरीका त्याग और अच्छीका ग्रहण करना चाहिये। जो मनुष्य मिथ्या आग्रहसे किसी बातपर अड़ जाता है, उसका विकास नहीं होता। यही हाल समाजका है। हमारे हिन्दू-समाजमें भी अच्छी-बुरी बातें हैं—जो अच्छी हैं उनके सम्बन्धमें तो कुछ कहना नहीं है। जो बुरी हैं—फिर चाहे वे नयी हों या पुरानी—उन्हींपर विचार करना है। यहाँ संक्षेपमें कुछ ऐसी बुराइयोंपर विचार किया जाता है जिनका त्याग समाजके आध्यात्मिक, धार्मिक, नैतिक और आर्थिक सभी दृष्टियोंसे परम आवश्यक है।

रहन-सहन—

समय, वातावरण तथा स्थितिके अनुसार रहन-सहनमें परिवर्तन तो होता ही है, परन्तु ऐसी कोई बात नहीं होनी चाहिये जो घातक हो। इस समय हम देखते हैं कि समाजका रहन-सहन बहुत तीव्र गतिसे पाश्चात्त्य ढंगका होता चला जा रहा है। पाश्चात्त्य रहन-सहन बहुत अधिक खर्चीला होनेसे हमारे लिये आर्थिक दृष्टिसे तो घातक है ही, हमारी सभ्यता और सदाचारके विरुद्ध होनेसे आध्यात्मिक और नैतिक पतनका भी हेतु है। उदाहरणके लिये—जूता पहने घरोंमें घूमना, एक साथ बैठकर खाना, खानेमें काँटे-छुरीका उपयोग करना, टेबल-कुर्सियोंपर बैठकर खाना। जूतियोंके कई जोड़े रखना। रोज चर्बी मिश्रित साबुन लगाना, खाने-पीनेकी चीजोंमें संयम न रखना। भोजन करके कुल्ले न करना, मल-मूत्र-त्यागके बाद मिट्टीके बदले साबुनसे हाथ धोना या बिल्कुल ही न धोना। फैशनके पीछे पागल रहना। बहुत अधिक कपड़ोंका संग्रह करना। बार-बार पोशाक बदलना, आदि-आदि। इन सबका त्याग होना आवश्यक है।

खान-पान—

खान-पानकी पवित्रता और संयम—आर्य जातिके लोगोंके जीवनका प्रधान अङ्ग है। आज इसपर बहुत ही कम ध्यान दिया जाता है। रेलोंमें देखिये—हर किसीका जूठा सोडावाटर, लेमन पीना और जूठा भोजन खाना आमतौरपर चलता है। इसमें अपवित्रता तो है ही, एक दूसरेकी बीमारीके और गन्दे विचारोंके परमाणु एक दूसरेके अंदर प्रवेश कर जाते हैं। होटल, हलवाईकी दूकान या चाटवालेके खोंचेके सामने जूते पहने खड़े-खड़े खाना। हर किसीके हाथसे खा लेना, बिना सङ्कोच मांस-मद्यका आहार करना, लहसुन-प्याज, अण्डोंसे युक्त बिस्कुट और रसगुल्ले, बाजारू चाय, तरह-तरहके पानी, अपवित्र आइसक्रीम और बरफ आदि चीजें खाने-पीनेमें आज बहुत ही कम हिचक रह गयी है। शोककी बात है कि निरामिषभोजी जातियों-में भी डाक्टरी दवाओंके द्वारा और होटलों तथा पार्टियोंके संसर्गदोषसे अण्डे और मांस-मद्यका प्रचार हो रहा है। मांसमें प्रत्यक्ष हिंसा होती है। मांसाहारियोंकी बुद्धि तामसी हो जाती है और स्वभाव क्रूर बन जाता है। नाना प्रकारके रोग तो होते ही हैं।

इसी प्रकार आजकल बाजारकी मिठाइयोंमें भी बड़ा अनर्थ होने लगा है। असली घी तो मिलना मुश्किल है ही। वेजिटेबल नकली घी भी असली नहीं मिलता, उसमें भी मिलावट शुरू हो गयी। मावा, बेसन मैदा, चीनी,

आटा, मसाले, तैल आदि चीजें भी शुद्ध नहीं मिलतीं। हलवाई लोग तो दो पैसेके लोभसे नकली चीजें बरतते ही हैं। समाजके स्वास्थ्यका ध्यान न दूकानदारोंको है, न हलवाइयोंको। होता भी कैसे? जब बुरा बतलानेवाले ही बुरी चीजोंका लोभवश प्रसार करते हैं, तब बुरी बातोंसे कोई कैसे परहेज रख सकता है? आज तो लोग आप ही अपनी हानि करनेको तैयार हैं। यही तो मोहकी महिमा है!

अन्यायसे कमाये हुए पैसोंका, अपवित्र तामसी वस्तुओंसे बना हुआ, अपवित्र हाथोंसे बनाया और परोसा हुआ, अपवित्र स्थानमें रक्खा हुआ, हिंसा और मादकतासे युक्त, विशेष खर्चीला, अस्वास्थ्यकर पदार्थोंसे युक्त, सड़ा हुआ, व्यसनरूप, अपवित्र और उच्छिष्ट भोजन धर्म, बुद्धि, धन और स्वास्थ्य सभीके लिये हानिकर होता है। इस विषयपर सबको विशेष रूपसे ध्यान देना चाहिये।

वेश-भूषा—

वेशभूषा सादा, कम खर्चीला, सुरुचि उत्पन्न करनेवाला, पवित्र और संयम बढ़ानेवाला होना चाहिये। आजकल ज्यों-ज्यों फैशन बढ़ रहा है, त्यों-ही-त्यों खर्च भी बढ़ रहा है। सादा मोटा वस्त्र किसीको पसन्द नहीं। जो खादी पहनते हैं, उनमें भी एक तरहकी बनावट आने लगी है। वस्त्रोंमें पवित्रता होनी चाहिये। विदेशी और मिलोंके बने वस्त्रोंमें चरबीकी माँड लगती है, यह बात सभी जानते हैं। देशकी हाथकी कारीगरी मिलोंकी प्रतियोगितामें नष्ट होती है। इससे गरीब मारे जाते हैं, इसलिये मिलके बने वस्त्र नहीं पहनने चाहिये। विदेशी वस्त्रोंका व्यवहार तो देशकी दरिद्रताका प्रधान कारण है ही। रेशमी वस्त्र जीवित कीड़ोंको उबालकर उनसे निकाले हुए सूतसे बनता है, वह भी अपवित्र और हिंसायुक्त है। वस्त्रोंमें सबसे उत्तम हाथसे काते हुए सूतकी हाथसे बनी खादी है। परन्तु इसमें भी फैशन नहीं आना चाहिये। खादी हमारे संयम और स्वल्प व्ययके लिये है—फैशन और फिजूलखर्चीके लिये नहीं। खादीमें फैशन और फिजूलखर्ची आ जायगी तो इसमें भी अपवित्रता आ जायगी। मिलके बने हुए वस्त्रोंकी अपेक्षा तो मिलके सूतसे हाथ-करघेपर बने हुए वस्त्र भी उत्तम हैं।

स्त्रियोंके गहनोंमें भी फैशनका जोर है। आजकल असली सोनेके सादे गहने प्रायः नहीं बनाये जाते। हल्के सोनेके और मोतियोंके फैशनेबल गहने बनाये जाते हैं, जिनमें मजदूरी ज्यादा लगती है, बनवाते समय मिलावटका अधिक डर रहता है और जरूरत पड़नेपर बेचनेके समय बहुत ही कम कीमत मिलती है। पहले स्त्रियोंके गहने ठोस सोनेके होते थे, जो विपत्तिके समय काम आते थे। अब वह बात प्रायः चली गयी। इसी प्रकार कपड़ोंमें फैशन आ जानेसे कपड़े ऐसे बनते हैं, जो पुराने होनेपर किसी काम नहीं आते और न उनमें लगी हुई जरी, सितारे, कलाबत्तू आदिके ही विशेष दाम मिलते हैं। ऐसे कपड़ोंके बनवानेमें जो अपार समय और धन व्यर्थ जाता है सो तो जाता ही है।

नये पढ़े-लिखे बाबुओं और लड़कियोंमें तो इतना फैशन आ गया है कि वे खर्चके मारे तंग रहनेपर भी वेश-भूषामें खर्च कम नहीं कर सकते! साथ ही शरीरकी सजावट और सौन्दर्य-वृद्धिकी चीजें—साबुन, तेल, फुलेल, इत्र, एसेन्स, क्रीम, लवेन्डर, सेन्ट, पाउडर आदि इतने बरते जाने लगे हैं और उनमें एक-एक व्यक्तिके पीछे इतने पैसे लगते हैं कि उतने पैसोंसे एक गरीब गृहस्थीका काम चल सकता है। इन चीजोंके व्यवहारसे आदत बिगड़ती है, अपवित्रता आती है और स्वास्थ्य भी बिगड़ता ही है। धर्मकी दृष्टिसे तो ये सब चीजें त्याज्य हैं ही। एक बात और है, सौन्दर्यकी भावनामें छिपी कामभावना रहती है। जो स्त्री-पुरुष अपनेको सुन्दर दिखलाना चाहते हैं वे काम-

भावनाका विस्तार करके अपना और समाजका बड़ा अपकार करते हैं।

रस्म-रिवाज—

रस्म-रिवाजोंमें सुधार चाहनेवाली सभाओंके द्वारा जहाँ एक ओर एक बुरी प्रथा मिटती है तो उसकी जगह दो दूसरी नयी आ जाती हैं। जबतक हमारा मन नहीं सुधर जाता तबतक सभाओंके प्रस्तावोंसे कुछ भी नहीं हो सकता। खर्च घटानेके लिये सभाओंमें बड़ी पुकार मची। खर्च कुछ घटा भी, परन्तु नये-नये इतने रिवाज बढ़ गये कि खर्च-की रकम पहलेकी अपेक्षा बहुत अधिक बढ़ गयी। दहेजकी प्रथा बड़ी भयङ्कर है, इस बातको सभी मानते हैं। धारासभाओंमें इस प्रथाको बंद करनेके लिये बिल भी पेश होते हैं। चारों ओरसे पुकार भी काफी होती है, परन्तु यह प्रथा ज्यों-की-त्यों—नहीं-नहीं—बढ़े हुए रूपमें वर्तमान है और इसका विस्तार अभी जरा भी रुका नहीं है। साधारण स्थितिके गृहस्थके लिये तो एक कन्याका विवाह करना मृत्युकी पीड़ा भोगनेके बराबर-सा है। आजकल मोलतौल होते हैं। दहेजका इकरार तो पहले हो चुकता है, तब कहीं सम्बन्ध होता है और पूरा दहेज न मिलनेपर सम्बन्ध तोड़ दिया जाता है। दहेजके दुःखसे व्यथित माता-पिताओं-की मानसिक पीड़ाको देखकर बहुत-सी सहृदया कुमारियोंने आत्महत्या करके समाजके इस बूचड़खाने-पर अपनी बलियाँ चढ़ा दी हैं। इतना होनेपर भी यह पाप अभी बढ़ता ही जा रहा है। सुना था—दहेजके डरसे राजपूतोंमें कन्याओंको जीते-जी मार दिया जाता था। अब भी बहुतसे समाजोंमें जो कन्याका तिरस्कार होता है, उसके जीवनका मूल्य नहीं समझा जाता, बीमार होनेपर उसका उचित इलाज नहीं कराया जाता। यहाँतक कि कन्याका जन्म होते ही कई माता-पता तो रोने लगते हैं, दहेजकी पीड़ा ही इसका एक प्रधान कारण है। इस समय ऐसे धर्मभीरु साहसी सज्जनोंकी आवश्यकता है जो लोभ छोड़कर अपने लड़कोंके विवाहमें दहेज लेनेसे इन्कार कर दें, या कम-से-कम लेवें। लड़केवालोंके किये ही यह पाप रुकेगा। अन्यथा यदि यह चलता रहा तो समाजकी बड़ी ही भीषण स्थिति होनी संभव है।

विवाह वगैरहमें शास्त्रीय प्रसङ्गोंको कायम रखते हुए जहाँतक हो सके कम-से-कम रस्मे रहनी चाहिये और वे भी ऐसी, जो सुरुचि और सदाचार उत्पन्न करनेवाली हों, कम खर्चकी हों और ऐसी हों जो साधारण गृहस्थोंके द्वारा भी आसानीसे सम्पन्न की जा सकें। अवश्य देनेके वस्त्र और अलङ्कार भी ऐसे हों, जिनमें व्यर्थ धनव्यय न हुआ हो। सौ रुपयेकी चीज, किसी भी समय अस्सी-नब्बे रुपये कीमत तो दे ही दे। दस-बीस प्रतिशतसे अधिक घाटा हो, ऐसा कपड़ा-गहना चढ़ाना तो जान-बूझकर अभाव और दुःखको निमन्त्रण देना है। इसके साथ ही संख्यामें भी चीजें ज्यादा न हों और फैशनसे बची हुई हों।

विवाह आदिमें वेश्याओंके नाच, फुलवाड़ी, आतिश-बाजी, भँडुओंके स्वाँग, गन्दे मजाक, स्त्रियोंके गन्दे गाने, सिनेमा, नाटक, जुआ, शराब आदि तो सर्वथा बंद होने ही चाहिये—जहाँतक हो तम्बाकू, बीड़ी आदि मादक वस्तुओंकी मेहमानदारी भी नहीं होनी चाहिये। बरातियोंकी संख्या थोड़ी होनी चाहिये और उनके स्वागतमें कम-से-कम खर्च हो, सादगी और सदाचारकी रक्षा हो, ऐसा प्रयत्न स्वयं बरातियोंको करना चाहिये। लड़कीवालेके घर जाकर उससे अनाप-शनाप माँग करना और न मिलनेपर नाराज होना तो एक तरहका कमीनापन है।

गुजरात और महाराष्ट्रमें विवाहके अवसरपर हरि-कीर्तनकी बड़ी सुन्दर प्रथा है। हरिकीर्तनमें एक कीर्तनकार होते हैं, जो किसी भक्तचरित्रको गा-गाकर

सुनाते हैं—बीच-बीचमें नाम-कीर्तन भी होता रहता है। सुन्दर मधुर स्वरके वाद्योंका सहयोग होनेसे कीर्तन सभीके लिये रुचिकर और मनोरञ्जक भी होता है और उससे बहुत अच्छी शिक्षा भी मिलती है। उत्तर और पश्चिम भारतके धनीलोग उपर्युक्त कुप्रथाओं-को छोड़कर इस प्रथाको अपनावें तो बड़ा अच्छा है।

लड़कियोंके विवाह भी आजकल बहुत बड़ी उम्रमें होने लगे हैं। बाल-विवाहसे बड़ी हानि हुई है, परन्तु लड़कीको युवती बनाकर विवाह करना बहुत हानिकर है। शास्त्रीय मर्यादाके अनुसार रजोदर्शन होनेके बाद विवाह करना अधर्म तो है ही, आजकलके बिगड़े हुए समाजमें तबतक चरित्रका पवित्र रहना भी असम्भव-सा ही है। युवती-विवाहके कारण कुमारी-अवस्थामें आजकल व्यभिचारकी मात्रा जिस तीव्र गतिसे बढ़ रही है, उसे देखते भविष्य बहुत ही भयानक मालूम होता है। यही हाल स्कूली लड़कोंका है। अतएव लड़कीका विवाह रजोदर्शनसे पूर्व और लड़केका अठारह वर्षकी आयुतकमें कर देना उचित जान पड़ता है। अवश्य ही स्त्री-पुरुषका संयोग तो स्त्रीके रजोदर्शनके बाद ही होना चाहिये। नहीं तो धर्मकी हानिके अतिरिक्त स्त्रियोंके हिस्टीरिया, क्षय (तपेदिक) और प्रदर आदिकी भयङ्कर बीमारियाँ होकर उनका जीवन नष्टप्राय हो जाता है।

घरमें किसीकी मृत्यु हो जानेपर श्राद्धभोज और बन्धुभोजकी प्राचीन प्रथा है। यह वास्तवमें कोई दूषित प्रथा नहीं है, परन्तु निर्दोष प्रथा भी जब देश, काल और पात्रके अनुकूल नहीं होती तो वह दूषित हो जाती है। जिस समय खाद्य पदार्थ बहुत सस्ते थे और गृहस्थके दूसरे खर्च कम थे, उस समयकी बात दूसरी थी। अब तो बहुधा यह देखा जाता है कि इस प्रथाकी रक्षाके लिये ब्राह्मण-भोजन और बन्धुभोजनमें साधारण मध्यवित्त गृहस्थोंके स्त्री-धन और घर-मकान तथा जगह-जमीनतक बिक जाते हैं। परिणाम यह होता है कि पूरे परिवारमें सभी लोगोंके जीवन दुःखपूर्ण हो जाते हैं। इस प्रथामें शास्त्रोक्त ब्राह्मण-भोजन तो अवश्य कराना चाहिये, परन्तु कुटुम्बियोंको छोड़कर बन्धु-भोजनकी कोई आवश्यकता नहीं है।

बड़े शहरोंमें बड़े आदमियोंके यहाँ विवाहोंमें आजकल बिजलीका खर्च, मेहमानदारीका खर्च और ऊपरी आडम्बरका खर्च इतना बढ़ गया है कि गरीब गृहस्थोंके यहाँ उतने खर्चमें कई विवाह हो सकते हैं।

मान-सम्मान, कीर्ति और पोजीशनका मिथ्या मोह, मूढ़ता और हठधर्मी ही इन सारे रस्म-रिवाजोंके चलते रहनेमें प्रधान कारण हैं। अतएव इन सबको छोड़कर साहसके साथ ऐसे रस्मोंको त्याग देना चाहिये।

चरित्रगठन और स्वास्थ्य—

असंयम, अमर्यादित खान-पान और गन्दे साहित्य आदिके कारण समाजके चरित्र और स्वास्थ्यका बुरी तरहसे ह्रास हो रहा है। बीड़ी-सिगरेट पीना, दिनभर पान खाते रहना, दिनमें पाँच-सात बार चाय पीना, भाँग, तम्बाकू, गाँजा, चरस आदिका व्यवहार करना, उत्तेजक पदार्थोंका सेवन करना, विज्ञापनी बाजीकरण दवाएँ खाना, मिर्च-मसाले, चाट तथा मिठाइयाँ खाना, कुरुचि उत्पन्न करनेवाली गन्दी कहानियों और उपन्यास-नाटकोंका पढ़ना, श्रृंगारके काव्य और कोकशास्त्रादिके नामसे प्रचलित पुस्तकोंको पढ़ना, गन्दे समाचार-पत्र पढ़ना, अश्लील चित्रोंको देखना, पुरुषोंका स्त्रियोंमें और स्त्रियोंका पुरुषोंमें अमर्यादित जाना-आना, सिनेमा देखना, श्रृङ्गारी गाने सुनना और प्रमादी, विषयी, व्यभिचारी तथा नास्तिक पुरुषोंका सङ्ग करना आदि कई दोष समाजमें आ गये हैं। कुछ पुराने थे, कुछ नये—सभ्यताके नामपर—आ घुसे हैं, जो समाजरूप शरीरमें घुनकी तरह लगकर उसका सर्वनाश कर

रहे हैं। कामसम्बन्धी साहित्य पढ़ना, शृङ्गाररसके काव्यों तथा नाटक-उपन्यासोंका अध्ययन करना, सिनेमा देखना, सिनेमामें युवक-युवतियोंका शृङ्गारके अभिनय करना और निःसङ्कोच एक साथ रहना तो आज-कल सभ्यताका एक निर्दोष अङ्ग माना जाता है। कलाके नामपर कितना भी अनर्थ हो जाय, सभी क्षम्य है।

लड़कपनसे ही बालक-बालिकाओंका फैशनसे रहना, चरित्रहीन नौकर-नौकरानियोंके संसर्गमें रहना, शृंगारकी पुस्तकें पढ़ना, शृंगार करना, सिनेमा देखना, स्कूल-कालेजमें लड़के-लड़कियोंका एक साथ पढ़ना, कालेज-जीवनमें असंयमपूर्ण छात्रावासोंमें रहना आदि बातें चरित्र-नाशमें प्रधान कारण होती हैं। और आजके युगमें इन्हींका विस्तार देखा जाता है। दुःख तो यह है कि ऐसा करना आज समाजकी उन्नतिके लक्षणोंके अन्तर्गत आ गया है।

रात-रातभर जागना, प्रातःकालसे लेकर दिनके नौ-दस बजेतक सोना, चाहे सो खाना, ऐश-आरामकी सामग्रियाँ जुटाने और उनके उपभोग करनेमें ही लगे रहना, विलासिता और अमीरीको जीवनका अंग मानना, भद्दी-भद्दी दिल्लगियाँ करना, केशों और जूतोंको सजानेमें ही घण्टों बिता देना, दाँतोंसे नख छीलते रहना, ईश्वर और धर्मका मखौल उड़ाना, संत-महात्माओंकी निन्दा करना, शास्त्रों और शास्त्रनिर्माता ऋषि-मुनियोंका अनादर करना, सन्ध्या-प्रार्थना करनेका नाम भी न लेना, माता-पिताको कभी भूलकर भी प्रणाम न करना, केवल शरीरका आराम चाहना, मेहनतका काम करनेसे जी चुराना और लजाना, थोड़ी देरमें हो जाने लायक काममें अधिक समय बिता देना, कर्तव्य कर्ममें आलस्य करना और व्यर्थके कामोंमें समय नष्ट कर देना आदि दोष जहाँ समाजमें फैल रहे हों, वहाँ चरित्र-निर्माण, स्वास्थ्य-लाभ और आत्मोन्नतिकी सम्भावना कैसे हो सकती है? इन सब दोषोंको छोड़कर समाज संयम और सदाचारके पथपर चले इसके लिये सबको प्रयत्न करना चाहिये। इन बातोंके दोष बतलाने चाहिये और स्वयं वैसा आचरण करके आदर्श स्थापित करना चाहिये। केवल वाणीसे कहना छोड़कर यदि लोग स्वयं करना शुरू कर दें तो बहुत जल्दी कामयाबी हो सकती है।

कुविचारोंका प्रचार—

ईश्वर नहीं है, ईश्वरको मानना ढोंग है, ईश्वर-भक्ति मूर्खता है, शास्त्र और पुराणोंके रचयिता दम्भ और पाखण्डके प्रचारक थे, मुक्ति या भगवत्प्राप्ति केवल कल्पना है, खान-पानमें छूआछूत और किसी नियमकी आवश्यकता नहीं, वर्णभेद जन्म और कर्मसे नहीं, केवल कर्मसे है, शास्त्र न माननेमें कोई हानि नहीं है, पूर्व पुरुष आजके समान उन्नत नहीं थे, जगत्‌की क्रमशः उन्नति हो रही है, अवतार उन्नत विचारके महात्माओंका ही नामान्तर है, माता-पिताकी आज्ञा मानना आवश्यक नहीं है, स्त्रीको पतिके त्यागका और नवीन पति-निर्वाचनका अधिकार होना चाहिये, स्त्री-पुरुषोंका सभी क्षेत्रोंमें समान कार्य होना चाहिये, पर-लोक और पुनर्जन्म किसने देखे हैं, नरक-स्वर्गादि केवल कल्पना हैं, ऋषि-मुनिगण स्वार्थी थे, ब्राह्मणोंने स्वार्थसाधनके निमित्त ही ग्रन्थोंकी रचना की, पुरुष-जातिने स्त्रियोंको पददलित बनाये रखनेके लिये ही पाति-व्रत्य और सतीत्वकी महिमा गायी। देवतावाद कल्पना है। उच्च वर्णोंने नीचे वर्णोंके साथ सदा अत्याचार ही किया, विवाहके पूर्व लड़के-लड़कियोंका अश्लील रहन-सहन व्यभिचार नहीं है, सबको अपने मनके अनुसार सब कुछ करनेका अधिकार है—आदि ऐसी-ऐसी बातें आजकल इस ढंगसे फैलायी जा रही हैं कि भोले-भाले नर-नारी ईश्वरमें अविश्वासी होकर धर्म, कर्म और सदाचारका त्याग कर रहे हैं। इस ओर सभी विचारशील पुरुषोंको ध्यान देना चाहिये।

वहम और मिथ्या विश्वास—

इसीके साथ-साथ यह भी सत्य है कि समाजमें अभीतक नाना प्रकारके मिथ्या विश्वास और वहम फैले हुए हैं। भूत-प्रेत-योनि अवश्य है, परन्तु वहमी नर-नारी तो

बात-बातमें भूत-प्रेतकी आशंका करते हैं—हिस्टीरियाकी बीमारी हुई तो प्रेत-बाधा, मृगी या उन्माद हो गया तो प्रेतका सन्देह, और न मालूम कहाँ-कहाँ बहम भरे हैं। इसीलिये ठग और धूर्तलोग—तन्त्र-मन्त्रके नामपर—नाना प्रकारसे लोगोंको ठगते हैं। पीरपूजा, कब्रपूजा, ताजियोंके नीचेसे बच्चोंको निकालना, गाजीमियाँकी मनौती आदि पाखण्ड इसी बहमके आधारपर चल रहे हैं। इन मिथ्या विश्वासोंको हटानेके लिये भी समाजके समझदार लोगोंको प्रयत्न करना चाहिये।

व्यवहार-बर्ताव—

प्राय: मालिक लोग नेक नौकरों और मजदूरोंके साथ भी अच्छा व्यवहार नहीं करते। उन्हें पेट भरने लायक वेतन नहीं देते, बात-बातपर अपमान और तिरस्कार करते हैं। नौकर और मजदूर भले मालिकोंको भी कोसते और उनका बुरा चाहते हैं। भाई अपने भाईके साथ दुर्व्यवहार करते हैं। पिता पुत्रके साथ अच्छा बर्ताव नहीं करता। पुत्र माता-पिताका अपमान करता है। सास अपनी पुत्रवधूको गालियाँ बकती हैं तो अधिकारारूढ़ पुत्रवधू अपनी सासको कष्ट पहुँचाती हैं। ननद-भौजाईमें कलह रहती है। माता अपनी ही सन्तान—पुत्र और कन्याके साथ भेदयुक्त बर्ताव करती है। जमींदार किसानोंको लूट लेना चाहते हैं, किसान जमींदारोंका बुरा ताकते हैं। राजा अपनी प्रजाका मान, धन और अधिकार छीननेपर उतारू है तो प्रजा राजाका सर्वस्वान्त देखना चाहती है। ब्राह्मण शूद्रोंका अपमान करते हैं तो शूद्र ब्राह्मणोंको कोसते हैं। पड़ोसी-पड़ोसीमें भी दुर्व्यवहार और कलह है। जगत्‌में इस दुर्व्यवहार और कलहके कारण दु:खका प्रवाह बह चला है। प्राय: सभी एक दूसरेसे शंकित और भीत हैं। यह दशा वस्तुत: बड़ी ही भयावनी है। इसपर भी विशेष विचार करके इसका सुधार करना चाहिये।

व्यापारके नामपर जूआ—

जीवन अधिक खर्चीला तथा आडम्बरपूर्ण हो जानेसे धनकी लालसा समाजमें बहुत बढ़ गयी। धन एक साथ प्रचुर मात्रामें प्राप्त होनेके लिये सट्टा (Speculation) ही एकमात्र साधन सूझता है, इसीसे आजकल रूई, पाट, हैसियन, सोना, चाँदी आदि पदार्थोंका सट्टा-फाटका खूब चलता है। माल डिलेवर न लेकर जहाँ केवल भाव पटाया जाता हो, वह सब एक प्रकारका जूआ ही है। वर्षाका सौदा, आँकफरक (आखर, दड़ा) लगाना-खाना, बाजी लगाकर तास, चौपड़, शतरंज आदि खेलना, घुड़दौड़पर बाजी लगाना, लॉटरी डालना, चिट्ठी खेला करना आदि जूए तो प्रसिद्ध ही हैं। इस व्यसनमें पड़कर लोग बरबाद हो जाते हैं। घाटा लगनेपर बाप-दादोंकी जगह-जमीन, घर-मकान, स्त्रियोंके गहने आदि चीजें बन्धक रखकर तबाह हो जाते हैं और रात-दिन चिन्ताके मारे जलते रहते हैं। कहीं-कहीं तो आत्महत्यातक कर बैठते हैं। नफा होनेपर व्यर्थका प्रमाद, भोग, आलस्य, अकर्मण्यता और व्यर्थ खर्च आदि बढ़कर पतनके कारण बन जाते हैं। इस व्यसनकी अधिकता बुद्धि, स्वास्थ्य, समाज और धर्मके लिये भी घातक होती है। बड़े-बड़े लोग इसके फेरमें पड़कर बर्बाद हो चुके हैं। इतना ही नहीं, इससे लोक-परलोक दोनों भ्रष्ट होते हैं, इसलिये शास्त्रकारोंने सजीव और निर्जीव पदार्थोंको लेकर किसी प्रकार भी जूआ खेलना बड़ा भारी पाप और राज्यके लिये घातक बतलाया है। भगवान् मनुने तो जुआरियोंको देशसे निकाल देने आदिकी आज्ञा दी है।

इसलिये अपना हित चाहनेवाले पुरुषोंको इस विनाशकारी दुर्व्यसनसे सर्वथा बचना चाहिये।

उपर्युक्त विवेचन वर्तमान समयकी थोड़ी-सी कुरीतियों, फिजूलखर्ची और दुर्व्यसनोंका एक साधारण दिग्दर्शनमात्र है। इनके अतिरिक्त देश, समाज और जातिमें और भी जो-जो हानिकर, घातक और पतन-कारक दुर्व्यसन, फिजूलखर्ची एवं बुरी प्रथाएँ प्रचलित हैं, उनको हटानेके लिये भी सब लोगोंको विवेकपूर्वक तत्परताके साथ प्रयत्न करना चाहिये।

भक्त-गाथा

भक्त-परिवार

भक्त लाखाजी जातिके गौड़ ब्राह्मण थे। राजपूतानेके एक छोटे-से गाँवमें उनका घर था। लाखाजी विशेष पढ़े तो नहीं थे। परन्तु विष्णुसहस्रनाम और गीता उनके कण्ठस्थ थे और भगवान्‌में उनका अटूट विश्वास था। खेतीका काम करते थे। इनकी स्त्री खेमाबाई बड़ी साध्वी और पतिव्रता थी। घरका सारा काम तो करती ही, खेतीके काममें पतिकी पूरी सहायता करती थी; और पतिकी सेवा किये विना तो उसका नित्यका व्रत ही पूरा नहीं होता था। वह नित्य प्रात:काल स्नान करके पतिके दाहिने चरणके अँगूठेको धोकर पीती। लाखाजीको संकोच होता, वे मने भी करते, परन्तु खेमाबाईके आग्रहके सामने उनकी कुछ भी न चलती। उनके दो सन्तानें थीं—एक पुत्र दूसरी कन्या। पुत्रका नाम था देवा और कन्याका गंगाबाई। पुत्रके विवाहकी तो जल्दी नहीं थी परन्तु धर्मभीरु ब्राह्मणको कन्याके विवाहकी बड़ी चिन्ता थी। चेष्टा करते-करते समीपके ही एक गाँवमें योग्य वर मिल गया। वरके पिता सन्तोषी ब्राह्मण थे। सम्बन्ध हो गया और समयपर लाखाजीने बड़े चावसे अपनी कन्या गंगाबाईका विवाह करके उसे ससुराल भेज दिया। इस समय गंगाबाईकी उम्र बारह वर्षकी थी। देवा उम्रमें बड़ा था, परन्तु उसका विवाह कन्याके विवाहके दो साल पीछे किया गया। बहू घरमें आयी। बहूका नाम था लिछमी। वह स्वभावमें साक्षात् लक्ष्मी ही थी। इस प्रकार लाखाजी सब तरहसे सुखी थे। लाखाजीका नियम था—रोज सबेरे गीताजीका एक पूरा पाठ करना और रातको सोनेसे पहले-पहले विष्णुसहस्रनामके पचास पाठ कर लेना। उनके मुखसे पाठ होता रहता और हाथोंसे काम! यह नियम, जब वे दस वर्षके थे, तभीसे पिताने दिलाया था जो, जीवनभर अखण्डरूपसे चला। इसी नियमने उनको भगवद्विश्वासरूपी परम निधि प्रदान की।

सदा दिन एक-से नहीं रहते। न मालूम प्रारब्धके किस संयोगसे कैसे दिन बदल जाते हैं। लाखाजीके जामाताको साँप काट गया और विधिके विधानवश पचीस वर्षकी युवावस्थामें वह अपनी बाईस वर्षकी पत्नी और माता-पिताको छोड़कर चल बसा—जब लाखाजीको यह समाचार मिला, तब उन्होंने बड़ी धीरजके साथ अपनी स्त्री खेमाबाई और पुत्र तथा पुत्रवधूको अपने पास बुलाकर कहा—'देखो, संसारकी दृष्टिसे हमलोगोंके लिये यह बड़े ही दु:खकी बात हुई है। दु:ख इस बातका इतना नहीं है कि जवाँई मर गये! जीवन-मरण सब प्रारब्धाधीन है, इसे कोई टाल नहीं सकता। दु:ख तो इस बातका है कि गंगाबाईका जीवन दु:खरूप हो गया। यदि हमलोग अपने व्यवहार-बर्तावसे गंगाबाईका दु:ख मिटा सकें तो हमारा सारा दु:ख दूर हो जाय। उसके दु:ख दूर होनेका उपाय यह है कि उसको हम यहाँ ले आवें और हमलोग स्वयं विषय-भोगोंका त्याग करके उसे श्रीभगवान्‌की सेवामें लगानेका प्रयत्न करें। भोगोंकी प्राप्तिसे दु:खोंका नाश नहीं होता, न भोगोंके नाशमें ही वस्तुत: दु:ख है। दु:खके कारण तो हमारे मनके मनोरथ हैं। एक भी भोग न रहे, अति आवश्यक चीजोंका भी अभाव हो, परन्तु मन यदि अभावका अनुभव न करके सदा सन्तुष्ट रहे, उसमें मनोरथ न उठें तो कोई भी दु:ख नहीं रहेगा। इसी प्रकार भोगोंकी प्रचुर प्राप्ति होनेपर भी जबतक किसी वस्तुके अभावका अनुभव होता है और उसको प्राप्त करनेकी कामना रहती है तबतक दु:ख नहीं मिट सकते। यदि हमलोग चेष्टा करके गंगाबाईके मनसे उसके पतिके अभावको भुला दे सकें और उसकी सदा भावरूप परमपति भगवान्‌के चरणोंमें आसक्ति उत्पन्न कर दे सकें तो वह सुखी हो सकती है। यद्यपि यहाँके सारे सम्बन्ध इस शरीरको लेकर ही हैं, तथापि जबतक सम्बन्ध हैं, तबतक हमलोगोंको परस्पर ऐसा बर्ताव करना चाहिये, जिससे हमारे मन भोगोंसे हटकर भगवान्‌में लगें और हमें परम कल्याणरूप श्रीभगवान्‌की प्राप्ति हो। हित करनेवाले सच्चे माता-पिता, पुत्र-

भाई, स्त्री-स्वामी वही हैं, जो अपनी सन्तानको, माता-पिताको, भाई-बहिनोंको, स्वामीको और पत्नीको अनन्त क्लेशरूप जगज्जालसे छुड़ाकर अचिन्त्य आनन्दस्वरूप भगवान्‌के पथपर चढ़ा देते हैं। हमलोगोंको भी यही चाहिये कि हम शोक छोड़कर नित्य शोकरूप संसार-सागरसे गंगाबाईको पार लगानेका प्रयत्न करें।'

लाखाजीकी स्त्री, उनके पुत्र देवा तथा पुत्रवधू सभीका लाखाजीके वचनोंपर पूरा विश्वास था। वे सब प्रकारसे उनके अनुगत थे। अतः लाखाजीके इन वचनोंका उनपर बड़ा प्रभाव पड़ा और उन्होंने कहा—'आप गंगाबाईको यहाँ ले आइये, हमलोग आपके आज्ञानुसार भोगोंका त्याग करके उसे भगवान्‌के मार्गपर ही लगावेंगे। इसमें हमारा-उसका सभीका परम कल्याण होगा।'

लाखाजी समधीके घर गये और वहाँका दृश्य देखकर चकित रह गये। उन्होंने देखा—गंगाबाई अपने सास-ससुरको संसारकी क्षणभंगुरता और मिथ्या सम्बन्धका रहस्य समझाकर उन्हें सान्त्वना दे रही है और वे उसकी बात मानकर रोना छोड़कर भगवान्‌के नामका कीर्तन कर रहे हैं। अपनी पुत्रीकी यह स्थिति देखकर लाखाजीको दुःखमें सुख हो गया! उन्हें मानो जहरसे अमृत मिल गया। वे समधीसे मिले, उन्हें देखकर शोक-सागर उमड़ा, परन्तु गंगाबाईके उपदेशोंकी स्मृति आते ही तुरन्त शान्त हो गया। समधीने लाखा-जीसे कहा—'लाखाजी! आप धन्य हैं जो आपके घर ऐसी साध्वी कन्या उत्पन्न हुई। आप जानते हैं—युवा पुत्रकी मृत्युका शोक कितना भयानक होता है, स्त्रीके लिये तो पतिका वियोग सर्वथा असह्य है, परन्तु धन्य है आपकी पुत्रीको—जिसने विवेकके द्वारा स्वयं तो पतिवियोगका दुःख सह ही लिया, हमलोगोंको भी ऐसा उपदेश दिया कि हमारा दारुण पुत्र-शोक दूर हो गया! हम समझ गये—जगत्‌के ये सारे सम्बन्ध आरोपित हैं। जैसे किसी खेलमें अलग-अलग स्वाँग धरकर लोग आते हैं और अपना-अपना खेल पूरा करके चले जाते हैं, वैसे ही इस संसाररूपी खेलमें हमलोग आते हैं, सम्बन्ध जोड़ते हैं और खेल पूरा होते ही चले जाते हैं। यहाँ कोई किसीका पुत्र या पिता नहीं है। एकमात्र परमात्मा ही सबके परम पिता हैं। हम सबको उन्हींकी आराधना करनी चाहिये। आप आ गये हैं—अपनी इस साध्वी कन्याको आप अपने घर ले जाइये। हम दोनों स्त्री-पुरुष पुष्करराज जाकर भगवद्भजनमें ही शेष जीवन बिताना चाहते हैं। आपकी पुत्री हमारे साथ जानेका आग्रह करती है परन्तु हमारे मनमें भगवान् ऐसी ही प्रेरणा करते हैं कि वह आपके ही पास रहे। हाँ, इतना हम जरूर चाहते हैं यह अपनी भावनासे हमारा कल्याण करती रहे। आप जाइये, हमलोग आपके बड़े ही कृतज्ञ हैं, क्योंकि आपकी पुत्रीने ही हमारी आँखें खोली हैं और हमें वैराग्य-विवेकका परमधन देकर भगवान्‌की अव्यभि-चारिणी भक्ति प्रदान की है।'

लाखाजी समधीके वचन सुनकर अचरजमें डूब गये। उन्हें अपना विवेक-वैराग्य इनके सामने फीका जान पड़ने लगा। वे जामाताकी मृत्युके शोकको भूल गये और अपनी पुत्री तथा समधी-समधिनको जैसी स्थिति प्राप्त कराना चाहते थे, उससे भी कहीं अधिक उनकी ऊँची स्थिति देखकर उन्हें बड़ा आनन्द हुआ। उन्होंने समधी-समधिनको हर्षके साथ पुष्करराज भेज दिया। उनके निर्वाहके लिये घरमें जो कुछ था, सब बेचकर नगद रुपये उन्हें दे दिये। और गंगाबाईको साथ लेकर घरकी ओर प्रस्थान किया।

गंगाबाईको प्रसन्नचित्त देखकर लाखाजीने पूछा—'बेटी! तेरी ऐसी अनोखी हालत देखकर मैं अचरजमें डूब रहा हूँ। मैं तरह-तरहके विचार करता आया था कि तुझे कैसे समझाकर धीरज बँधाऊँगा, परन्तु तेरी स्थिति देखकर तो मैं चकित हो गया। बता बेटी! तुझे ऐसा ज्ञान कहाँसे और कैसे प्राप्त हुआ?' गंगाबाई-ने कहा—'पिताजी! यह सारा आपकी भक्ति तथा भजनका प्रताप है। आप जो रोज पूरी गीता और विष्णुसहस्रनामके पचास पाठ करते हैं, उन्हींके प्रतापसे भगवान्‌ने मुझको विश्वास प्रदान किया और

अपनी कृपाके दर्शन कराये। आपकी कृपासे भैया और मैं—हम दोनोंने विष्णुसहस्रनाम कण्ठस्थ कर लिया था। यहाँ आकर मैं जहाँतक मुझसे बनता, निरन्तर मन-ही-मन विष्णुसहस्रनामके पाठ किया करती। आपके जामाताकी मृत्युके तीन दिन पहले भगवान्ने मुझको स्वप्नमें दर्शन देकर कहा—'बेटी ! तेरे पतिकी आयु पूरी हो चुकी है, वह मेरा भक्त है। तेरे साथ कोई पूर्वसम्बन्धका संयोग शेष था, इसीसे उसने जन्म लिया था। अब इसे तीन दिन बाद साँप डँसेगा—उस समय तू इसे मेरा सहस्रनाम और गीता सुनाती रहना। ऐसा करनेसे इसका कल्याण हो जायगा और यह मेरे धामको प्राप्त होगा। मैं तुझे वरदान देता हूँ तुझे शोक नहीं होगा। तुझे सच्चा वैराग्य और ज्ञान प्राप्त होगा। तेरे उपदेशसे तेरे सास-ससुर भी कल्याण-पथके पथिक होकर अन्तमें मुझको प्राप्त करेंगे। और तू जीवनभर मेरी भक्ति करती हुई अपने पिता-माता तथा भाई-भौजाईके सहित मेरे परमधामको प्राप्त होगी।'

पिताजी ! इतना कहकर भगवान् अन्तर्धान हो गये। मैं जाग पड़ी। मानो उसी समयसे मुझे ज्ञानका परम प्रकाश मिल गया। मैं सारे शोक-मोहसे छूटकर पतिके कल्याणमें लग गयी। मैंने व्रत धारण किया और रातों जागकर पतिदेवताको गीता और सहस्रनाम सुनाती रही। तीसरे दिन पतिदेव स्नान करके तुलसी-जीमें जल दे रहे थे। मैं उनके पास खड़ी सहस्रनामका पाठ कर रही थी, वे भी श्रीभगवान्का नाम ले रहे थे। इसी समय अचानक एक कालसर्पने आकर उनके पैर-को डँस लिया और देखते-ही-देखते ब्रह्माण्ड फटकर उनके प्राणपखेरू उड़ गये। अन्तिम श्वासमें मैंने सुना—उनके मुखसे 'हे नारायण' नाम निकला और उनके कानमें विष्णुसहस्रनामके 'माधवो भक्तवत्सल:' नामोंने प्रवेश किया। उनकी आँखें खुल गयीं—मैंने देखा श्रीभगवान् चतुर्भुजरूपमें उनकी आँखोंके सामने विराजित हैं। इतनेमें ही जोरकी ध्वनि हुई और उनका कपाल फट गया। पिताजी ! पतिदेवकी इस मृत्युने मेरे मनमें भगवद्विश्वासका समुद्र लहरा दिया, अब मैं तो उसीमें डूब रही हूँ। आप मेरी सहायता कीजिये, जिससे मैं सदा इसीमें डूबी रहूँ। आपलोग मेरा साथ तो देंगे ही।'

लाखाजी पुण्यमयी गंगाकी पुण्यपूर्ण वाणी सुनकर गद्गद हो गये, उनकी आँखोंसे आनन्दके आँसू बह चले।

पिता-पुत्री घर आये। माता और भाई-भौजाईसे मिलकर गंगाबाईने उल्टी उन्हें सान्त्वना दी। लाखाजी और खेमाबाई तो उसी दिनसे विरक्त-से होकर समस्त दिन-रात भगवद्भजनमें बिताने लगे। घरकी सारी सम्हाल गंगाबाई करने लगी। भाई-भौजाई प्रत्येक काम उसकी आज्ञा लेकर करते। वह घरकी मालकिन थी और थी भाई-भौजाईको परमार्थपथमें राह दिखाकर—विघ्नोंसे बचाकर ले जानेवाली चतुर पथप्रदर्शिका। भाई देवाजी और भाभी लिछमी दोनों गंगाबाईकी आज्ञाके अनुसार पिता-माताकी सेवा करते, गंगाबाईकी सेवा करते और सब समय भगवान्का स्मरण करते हुए भगवत्सेवाके भावसे ही घरका सारा काम करते। उन्होंने भोगोंका त्याग कर दिया था और वे पूर्णरूपसे सादा-सीधा संयमपूर्ण जीवन बिताते थे। उनका घर संतोंका पावन आश्रम बन गया था। दैवी सम्पदाके गुण सबमें स्वभावसिद्ध हो गये थे। घरमें दोनों समय भगवान् बालकृष्णकी पूजा होती थी और उन्हें भोग लगाकर सब लोग प्रसाद पाते थे। इस प्रकार सबका जीवन पवित्र हो गया। लगभग पचीस वर्ष बाद लाखाजी और खेमाबाईने एक ही दिन श्रीभगवान्का नाम जपते हुए भगवान्की मूर्तिके सामने ही शरीर त्याग दिये। देवाजीने उनका शास्त्रोक्त रीतिसे अन्त्येष्टि-संस्कार तथा श्राद्ध किया। पुत्र, पुत्रवधू और कन्या-ने उनके लिये तीन हजार विष्णुसहस्रनामके पाठ किये।

माता-पिताकी मृत्युके बाद बहिन, भाई-भौजाई तीनों भगवान्के भजनमें लग गये। भाई-भौजाईके विशेष अनुरोध करनेपर एक दिन गंगाबाईने भगवान्से प्रकट होकर दर्शन देनेकी प्रार्थना की। भगवान्ने प्रार्थना सुनी और प्रत्यक्ष प्रकट होकर तीनों भक्तोंको अपने दिव्य रूपके दर्शन कराये। वे तीनों भगवान्के प्रत्यक्ष दर्शन पाकर कृतार्थ हो गये और भगवत्सेवामें ही अपना शेष जीवन लगाकर अन्तमें भगवान्के परमधामको चले गये।

'बोलो भक्त और उनके भगवान्की जय।'

कामके पत्र

(१)

रति, प्रेम और रागके तीन-तीन प्रकार

कृपापत्र मिला। आपके प्रश्नोंका उत्तर संक्षेपमें इस प्रकार है—

भगवान् श्रीकृष्ण आनन्दमय हैं। उनकी प्रत्येक लीला आनन्दमयी है। उनकी मधुर लीलाको आनन्द-शृङ्गार भी कह सकते हैं। परन्तु इतना स्मरण रखना चाहिये कि उनका यह आनन्द-शृङ्गार मायिक जगत्‌की कामक्रीड़ा कदापि नहीं है! भगवान्‌की ह्लादिनी शक्ति श्रीराधिकाजी तथा उनकी स्वरूपभूता गोपियोंके साथ साक्षात् भगवान् श्रीकृष्णकी परस्पर मिलनकी जो मधुर आकांक्षा है, उसीका नाम आप आनन्द-शृङ्गार रख सकते हैं। यह काम-गन्धरहित विशुद्ध प्रेम ही है। श्रीकृष्णकी लीलामें जिस कामका नाम आया है वह 'अप्राकृत काम' है। 'साक्षान्मन्मथमन्मथः' भगवान्‌के सामने प्राकृत काम तो आ ही नहीं सकता!

वैष्णव भक्तोंने रतिके तीन प्रकार बतलाये हैं—'समर्था', 'समञ्जसा' और 'साधारणी'। 'समर्था' रति उसे कहते हैं, जिसमें श्रीकृष्णके सुखकी ही एकमात्र स्पृहा और चेष्टा रहती है। यह अप्राकृत है और व्रजधाममें श्रीमती राधिकाजीमें ही इसका पूर्ण विकास माना जाता है। 'समञ्जसा' रति उसे कहते हैं, जिसमें श्रीकृष्णके और अपने—दोनोंके सुखकी स्पृहा रहती है और 'साधारणी' रति उसका नाम है जिसमें केवल अपने ही सुखकी आकांक्षा रहती है। इन तीनोंमें 'समर्था' रति सबसे श्रेष्ठ है। इसका प्रसार महाभाव-तक है। यही वास्तविक 'रस-साधना' है।

प्रेमके भी तीन भाव बतलाये गये हैं। 'मधुवत्', 'घृतवत्' और 'लाक्षावत्'। 'मधु' भावका प्रेम वह है जो मधुकी भाँति स्वाभाविक ही मधुर है। जिसमें स्नेह, आदर, सम्मान, सेवा आदि अन्य किसी भावका न तो जरा-सा मिश्रण ही है और न आवश्यकता ही है। जो नित्य-निरन्तर अपने ही अनन्यभावमें आप ही प्रवाहित है। यह प्रेम होता है केवल प्रेमके ही लिये। इसमें प्रेमास्पदका सुख ही अपना परम सुख होता है। अपना कोई भिन्न सुख रहता ही नहीं। इस प्रेममें प्रेमास्पदका स्वार्थ ही अपना एकमात्र स्वार्थ होता है। पूर्ण आत्मसमर्पण ही इसका रहस्य है, और नित्यवर्धन-शीलता ही इसका स्वभाव है। यह वस्तुतः अनिर्वच-नीय भाव है।

'घृतभाव'का प्रेम वह है जिसमें पूर्ण स्वाद और माधुर्य उत्पन्न करनेके लिये घृतमें नमक, चीनी आदिकी भाँति अन्य रसोंके मिश्रणकी आवश्यकता है। साथ ही, घृत जैसे सर्दी पाकर कड़ा हो जाता है और गर्मी पाकर पिघल जाता है, वैसे ही विविध भावोंके सम्मिश्रणसे इस प्रेमके भी रंग बदलते रहते हैं। यह प्रेमास्पदके द्वारा आदर—सम्मान पाकर बढ़ता है और उपेक्षा—घृणा पाकर मर-सा जाता है। इसमें प्रेमी अपने प्रेमास्पदको सुखी तो बनाना चाहता है, परन्तु स्वयं भी उसके द्वारा विविध भावोंमें सुखकी आकांक्षा रखता है। यदि प्रेमा-स्पदसे आदर-सम्मान नहीं मिलता तो यह प्रेम घट जाता है। इस प्रेममें स्वार्थका सर्वथा अभाव नहीं है। न इसमें पूर्ण समर्पण ही है।

'लाक्षाभाव'का प्रेम वह है, जो चपड़ेके समान स्वाभाविक ही रसहीन और कठोर होनेपर भी जैसे चपड़ा अग्निका स्पर्श पाकर पिघल जाता है, वैसे ही प्रेमास्पदको देखकर उदय होता है। प्रेमास्पदके द्वारा भोग-सुख प्राप्त करना ही इसका लक्ष्य होता है।

श्रीराधिकाजीके प्रेमको 'मधुवत्', चन्द्रावलीजी आदिके प्रेमको 'घृतवत्' और कुब्जा आदिके प्रेमको 'लाक्षावत्' कह सकते हैं।

इसी प्रकार रागके भी तीन प्रकार माने गये हैं—'मञ्जिष्ठा', 'कुसुमिका' और 'शिरीषा'।

मञ्जिष्ठानामक लाल रंगकी चमकीली बेल जैसे धोनेपर या अन्य किसी प्रकारसे नष्ट नहीं होती और अपनी चमकके लिये किसी दूसरे वर्णकी भी अपेक्षा नहीं रखती, इसी प्रकार 'मञ्जिष्ठा'नामक राग भी निरन्तर स्वभावसे ही चमकता और बढ़ता रहता है। यह राग श्रीराधामाधवके अंदर नित्य प्रतिष्ठित है। यह राग किसी भी भावके द्वारा विकारको प्राप्त नहीं होता है। प्रेमोत्पादनके लिये इसमें किसी दूसरे हेतुकी आवश्यकता नहीं होती। यह अपने-आप ही उदय होता है और विना किसी हेतुके आप ही निरन्तर बढ़ता है।

'कुसुमिका' राग उसे कहते हैं जो कुसुम्बेके फूलके रंगकी तरह हृदयक्षेत्रको रँग देता है और मञ्जिष्ठा और शिरीषादि दूसरे रागोंको अभिव्यञ्जित करके सुशोभित होता है। कुसुम्बेके फूलका रंग स्वयं पक्का नहीं होता। परन्तु किसी दूसरी कषाय वस्तुको साथ मिला देनेपर वह पक्का और चमकदार हो जाता है। वैसे ही यह राग भी श्रीकृष्णके मधुर मोहन सौन्दर्यादि कषायके द्वारा पक्का और चमकदार हो जाता है।

'शिरीषा' राग अल्पकालस्थायी होता है। जैसे नये खिले हुए शिरीषके पुष्पमें पीली-सी आभा दिखायी देती है, परन्तु कुछ ही समयमें वह नष्ट हो जाती है, वैसे ही यह राग भी भोगसुखके समय उत्पन्न होता है और वियोगमें मुरझा जाता है। इसीसे इसका नाम 'शिरीषा' है।

जिनका जीवन श्रीकृष्ण-सुखके लिये है, उनकी रति 'समर्था', प्रेम 'मधुवत्' और राग 'मञ्जिष्ठा' होता है। जिनका दोनोंके सुखके लिये है, उनकी रति 'समञ्जसा', प्रेम 'घृतवत्' और राग 'कुसुम्मी' होता है और जिनका प्रेम केवल निजेन्द्रियतृप्तिके लिये ही होता है, उनकी रति 'साधारणी', प्रेम 'लाक्षावत्' और राग 'शिरीषा' होता है। इनमें पहले भाव उत्तम, दूसरे मध्यम और तीसरे अधम हैं।

(२)

विपत्ति और निन्दासे लाभ

आपका पत्र मिला। विपत्तिका हाल मालूम हुआ। सचमुच विपत्तिमें ही मनुष्यके धैर्य और धर्मका पता लगता है। परन्तु यह विश्वास रखिये, जिनका जीवन केवल आराममें ही बीतता है, उनके लिये जीवनमें पूर्ण विकास और पूर्ण परिणति बहुत कठिन हो जाती है। वे न तो अपनेको भलीभाँति परख—पहचान सकते हैं और न दूसरेकी यथार्थ स्थितिका ही अनुभव कर सकते हैं। वे प्रायः अर्धविकसित और पाषाणहृदय ही बने रह जाते हैं। इसीसे बुद्धिमान् लोग विपत्तिसे घबराते नहीं। वे जानते हैं कि जो लोग 'हाँ-हुजूर' कहनेवाले खुशामदियों, सेवा करनेवाले नौकरों और तारीफके पुल बाँधनेवाले स्वार्थियोंसे घिरे रहकर इन्द्रिय-सुखभोगके आराममें लगे रहते हैं, वे भगवत्कृपाके परम लाभसे प्रायः वञ्चित ही रहते हैं। विपत्तिमें धीरज न छोड़कर उसे भगवान्‌की दैन मानकर सम्पत्तिके रूपमें परिणत कर लेना चाहिये। फिर विपत्तिका दुःख मिटते देर न लगेगी।

यही बात निन्दा करनेवाले भाइयोंके सम्बन्धमें समझिये। आप यह मानें कि आपकी जितनी ही निन्दा होती है, उतने ही आपके पातक धुलते हैं। निन्दा करनेवाले तो विना पैसेके धोबी हैं, हमारे अंदर जरा-भी मैल नहीं रहने देना चाहते। ढूँढ़-ढूँढ़कर हमारे जीवनके एक-एक दागको साफ करना चाहते हैं, वे तो हमारे बड़े उपकारी हैं। हमारे पाप धोने जाकर जो स्वाभाविक ही हमारे पापका हिस्सा लेनेको तैयार हैं, वे क्या हमारे कम उपकारी हैं? एक तरहसे उनका यह त्याग है। आपकी निन्दा होती है, यह वस्तुतः बहुत अच्छा होता है। जिसके कार्योंकी कड़ी

समालोचना कोई नहीं करता, वह असलमें बड़ा ही अभागा है। आप तो भाग्यवान् हैं, जो आपको इतने निन्दा करनेवाले मिल गये हैं। निन्दकोंसे कभी न तो द्वेष करना चाहिये, न उन्हें रोकना चाहिये और न मनमें बदला लेनेकी ही कोई भावना करनी चाहिये। हाँ, उनके बतलाये हुए दोषोंपर धीरज तथा शान्तिके साथ विचार करना चाहिये और उनमेंसे एक भी दोष अपने अंदर जान पड़े तो उसे दृढ़ता और साहसके साथ दूर करके मन-ही-मन निन्दकोंका उपकार मानना चाहिये।

विपत्तिसे डरनेसे विपत्तिका दुःख बढ़ता है, उत्साह टूटता है और मन निराशासे भर जाता है। सावन-भादोंमें काले-काले बादलोंकी बड़ी घनघोर घटा आती है, फिर थोड़ी ही देरमें आकाश साफ हो जाता है। इसी प्रकार ये विपत्तिके बादल भी हट जायँगे। भगवान् और धर्मका दृढ़ सहारा पकड़े रखकर साहस तथा धैर्यके साथ विपत्तिका सामना करना चाहिये। विपत्तिसे त्राण पानेका सबसे सुन्दर उपाय है— भगवान्में चित्त लगाकर उनकी प्रार्थना करना। भगवान्ने कहा है—

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।

'मुझमें चित्त लगानेपर तू मेरी कृपासे सारे सङ्कटोंसे पार हो जायगा।'

भगवान्के इन वचनोंपर विश्वास करके उनमें चित्त लगाना चाहिये। उनकी कृपासे विपत्तिका नाश होते देर नहीं लगेगी। बाहरी स्थिति प्रारब्धके किसी प्रतिबन्धकसे यदि कुछ समयतक प्रतिकूल भी रहेगी, तो भी मानसिक पीड़ारूप विपत्तिका नाश तो हो ही जायगा। यह सर्वथा सत्य है।

(३)

धनका सदुपयोग

आपका पत्र मिले बहुत दिन हो गये। मैं जवाब नहीं लिख सका, क्षमा कीजियेगा। आपके पत्रको मैंने ध्यानसे पढ़ा। उसमें कुछ झुँझलाहट-सी प्रतीत होती है। अभावग्रस्त लोग आपको सहायताके लिये तङ्ग करते हैं, इससे आपको ऊबना और झुँझलाना क्यों चाहिये? प्यासे प्राणी पानीके लिये जलाशयके पास ही तो जाते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि आप जगत्के सब प्राणियोंका दुःख दूर नहीं कर सकते। सबका तो दूर रहा, एकका भी दुःख दूर करना आपके-हमारे हाथकी बात नहीं है। प्राणियोंके दुःखोंका अन्त तो भगवत्कृपासे प्राप्त ज्ञानसे ही होगा। हमारा तो इतना ही काम है कि जब हमपर कोई विपत्ति आती है, तब हम जैसे अपनेको बचानेके लिये हाथ-पैर हिलाते हैं, वैसे ही अपने सामने जब किसी प्राणीपर विपत्ति आवे तो हमें अपनी शक्तिभर हाथ-पैर हिलाने चाहिये। सब प्राणी आपके पास आते ही कहाँ हैं? जो थोड़े-से आते हैं, वे भी (सम्भव है) आपकी हैसियतसे अधिक हों तो आप उन्हें स्पष्ट कह सकते हैं कि हम आपकी सेवा नहीं कर सकते। या ऐसी कोई सुन्दर व्यवस्था कर सकते हैं, जिसमें आपकी हैसियत और उनकी आवश्यकता-के अनुसार योग्य पात्रोंकी यथायोग्य सेवा भी हो जाय और आप तंग भी न हों। थोड़ी-सी सावधानी, नियमानुवर्तिता और उदारतायुक्त मजबूती रखनेसे ऐसा हो सकता है, यह भी एक कमजोरी है, इसे आप दूर कर सकते हैं।

असली बात तो यह है कि भगवान्ने आपको जो कुछ दिया है, वह आपका नहीं है, भगवान्का है। आप उसके स्वामी नहीं हैं, आप तो उसकी रक्षा, व्यवस्था और भगवदाज्ञानुसार भगवदर्थ खर्च करनेवाले सेवकमात्र हैं। इस धनको बड़ी दक्षताके साथ भगवान्-की सेवामें लगाना चाहिये। दक्षता यही कि दान करते समय परिवारके लोगोंको न भूल जायँ, धूर्तोंके द्वारा ठगे न जायँ और योग्य पात्र कभी विमुख न लौटें। दान-

की दूकान खोलनेकी जरूरत नहीं, परन्तु उचित अवसर प्राप्त होनेपर हाथ रोकना भी नहीं चाहिये। जहाँ अभाव है, वहाँ भगवान् ही उन लोगोंसे उस अभावकी पूर्ति करवाना चाहते हैं, जिनको भगवान्ने इस योग्य बनाया है। यह तो उनका सौभाग्य है जो उन्हें भगवान्की चीज भगवान्की सेवामें लगानेका सुअवसर मिल रहा है। अतएव आपके पास जब कोई अभावयुक्त बहिन-भाई सहायताके लिये आवें तब आपको हृदयसे उनका स्वागत करना चाहिये, और उचित जाँचके बाद यदि वे आपको योग्य पात्र जान पड़ें तो उनकी यथायोग्य सेवा करके अपनेको धन्य मानना चाहिये और आनन्द मनाना चाहिये इस बातका कि आप भगवान्की वस्तुके द्वारा भगवान्की सेवा होनेमें 'निमित्त' बन रहे हैं।

आपके द्वारा जिनकी सेवा हो, उनपर कभी अहसान नहीं जताना चाहिये। न यही मानना चाहिये कि वे आपसे निम्नश्रेणीके हैं। धन न होनेसे वस्तुतः कोई नीचा नहीं हो जाता। नीचा माननेवाले ही नीचे होते हैं। धन या पदका न तो कभी घमण्ड करना चाहिये और न धनके या पदके बलपर किसीको अपनेसे नीचा मानकर उसका तिरस्कार ही करना चाहिये। बल्कि ऐसा व्यवहार करना चाहिये, जिसमें आपसे सहायता पाकर किसीको कभी आपके सामने सकुचाना न पड़े—सिर न झुकाना पड़े। आपको यही मानना चाहिये कि आपने उसका हक ही उसको दिया है। वह उपकार मानकर कृतज्ञ हो तो यह उसका कर्तव्य है, परन्तु आपको तो यही मानना चाहिये कि मैंने उसका कोई उपकार नहीं किया है। वस्तुतः किसीको आप कुछ देते हैं तो आपका ही उपकार होता है—

१—भगवान्की चीज भगवान्की सेवामें लगी, आप बेईमानीसे बचे और भगवान्के दरबारमें ईमानदारीका इनाम पानेके अधिकारी हो गये।

२—धनका सदुपयोग हुआ जो आपकी सद्गतिमें कारण है—धनकी तीन गति होती है—दान, भोग और नाश। आपका कमाया हुआ आपके या दूसरे किसीके द्वारा बुरे काममें लगता तो आपको दुर्गति भोगनी पड़ती।

३-दानसे आपकी कीर्ति हुई, उसका और उसके परिवारका आशीर्वाद मिला। किसीको उचित वेतन या हिस्सा देकर रक्खा तो आपके व्यापारका काम ठीक चला, जिससे आपको लाभ पहुँचा। अच्छे आदमियोंसे आपकी प्रीति और मैत्री हुई जो समयपर विपत्तिमें आपकी सहायता देनेवाली होगी।

४—आपको तृप्ति हुई जिससे आनन्द प्राप्त हुआ। इस प्रकार वस्तुतः आपका ही उपकार हुआ।

'देकर भूल जायँ और लेकर याद रक्खें।' 'किसीका भला करके भूल जायँ और बुरा करके याद रक्खें।' 'किसीके द्वारा अपना बुरा होनेपर भूल जायँ और भला होनेपर याद रक्खें।' संतोंकी इस उक्तिको याद रखना चाहिये। नीचे लिखी सात बातें सदा याद रखनेकी हैं—

(१) नौकर और मजदूरोंको अपनेसे नीचा समझकर उनका अपमान न करें। उनको अपने धनका हिस्सेदार समझें और जहाँतक हो, उन्हें इतनी मजदूरी दें जिससे उनके बाल-बच्चोंको अन्न-वस्त्रका कभी अभाव न रहे। विपत्ति, रोग और अभावके समय सहानुभूतिपूर्ण हृदयसे उनकी विशेष सेवा करें।

(२) हो सके तो सबमें भगवद्बुद्धि करके भगवत्सेवाके भावसे सबके साथ यथायोग्य बर्ताव करते हुए उनकी सेवा करें।

(३) दूसरोंके साथ वैसा ही बर्ताव करें, जैसा दूसरोंसे हम अपने प्रति चाहते हैं।

(४) सबमें आत्मभाव रखकर यथासाध्य दूसरोंके दुःखोंको अपना दुःख समझकर जैसे अपना दुःख दूर करनेकी चेष्टा की जाती है, वैसी ही लगनके साथ उनका दुःख दूर करनेकी चेष्टा करें।

(५) संतोंका तो यह स्वभाव होता है कि वे अपने दु:खकी तो परवा नहीं करते, परन्तु दूसरोंके दु:ख और अध:पतनसे असह्य पीड़ाका अनुभव करते हैं और बड़ी लगनके साथ शक्तिभर उचित उपाय करके उनका दु:ख दूर करते और उन्हें ऊपर उठाकर गले लगाते हैं। संतोंके इस आदर्शपर बराबर विचार करें।

(६) मरनेके बाद धन यहीं रह जायगा। अपने हाथसे भगवान्‌की सेवामें लगा दिये जानेमें ही धनकी सार्थकता है। इस सिद्धान्तको सत्य मानकर घरवालोंके लिये उचित भाग रखकर शेष सब योग्य पात्रोंमें अपने ही हाथों दान, भेंट, वेतन, वितरण, कमीशन, भाग आदिके रूपमें सत्कारपूर्वक व्यय कर देना चाहिये।

(७) अभावग्रस्त लोग सहायता माँगें तो तंग आकर उनका कभी जरा भी अपमान नहीं करें। बल्कि यथाशक्ति उनकी सेवा करें। इसीमें धनका सदुपयोग है। न हो सके तो शान्तिपूर्वक विनम्र शब्दोंमें परन्तु मजबूतीके साथ अपनी असमर्थता प्रकट कर देनी चाहिये!

प्रभु-कृपा

(लेखिका—डा० सत्यवती एम्० कवि)

एक ब्राह्मणकन्याका बचपनसे ही प्रभुपर बहुत प्रेम था और उन्हींकी कृपासे वह विद्याभ्यासमें भी अच्छी प्रगति कर सकी। पूना मेडिकल कालेजमें भर्ती होनेके बाद इस बहिनको वातव्याधि (Rheumatism) हो गयी। वह दर्दके मारे बेचैन रहती। लिखना-पढ़ना सब छूट गया। वह दु:खके मारे रोज रो-रोकर भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रसे प्रार्थना करती—'प्रभो! मैं यदि पास न हो सकूँगी तो मेरा क्या होगा।' गरीब हालत थी। छात्रवृत्तिसे पढ़ती थी। परीक्षाके दस दिन पहले प्रात:काल पाँच बजेके समय अर्धजाग्रत् अवस्थामें भक्तवाञ्छाकल्पतरु भगवान् श्रीकृष्णने दर्शन देकर उससे पूछा—'बेटी! रोती क्यों हो?' उसने कहा—'प्रभो! मैंने कुछ भी अध्ययन नहीं किया। मैं कैसे उत्तीर्ण होऊँगी।' प्रभु मस्तकपर हाथ रखकर बोले—'बेटी! तू रो मत, तू जरूर पास हो जायगी।' फिर हाथ पकड़कर भगवान् उसे तीन सीढ़ी ऊपर ले गये। इतनेमें ही ब्राह्मण-कन्या जाग गयी। उसने अपनी सखी डा० मीरा चम्पूताई चव्हाण–जो इस समय कोल्हापुरमें लेडी डाक्टर हैं–से यह सब हाल कहा, डा० चम्पूताईका विश्वास कम था, उन्होंने कहा—तू भोली है, ऐसे स्वप्न या खयाल आ गया होगा। डा० चव्हाणने यह भी कहा कि अध्ययन (Study) किये विना तू कैसे पास हो सकती है? परन्तु इसके मनमें बड़ी श्रद्धा हो गयी थी। इसने निश्चय किया कि प्रभुके वचन कभी असत्य नहीं हो सकते। इधर परीक्षाका समय आया। उधर ब्राह्मणकुमारीकी बीमारी बढ़ गयी। डाक्टरोंने विश्राम (Rest) लेनेको कह रक्खा था। बहुत अनुनय-विनय करनेपर परीक्षामें बैठनेकी इजाजत मिली। वह परीक्षामें बैठी और महान् आश्चर्यकी बात है कि वह बहुत अच्छे नम्बरोंसे पास हो गयी। अगले साल बम्बईकी परीक्षामें वह दूसरे नम्बरमें आयी और उसे दो पुरस्कार (Prizes) भी मिले! उसका विश्वास अत्यन्त बढ़ गया।

तदनन्तर उसने अपनी सारी जिन्दगी भगवान् श्रीकृष्णको अर्पण कर दी। और समय-समयपर उसे भगवत्कृपाके बहुत विचित्र-विचित्र अनुभव भी हुए। प्रारब्धकी प्रेरणासे अब भी यह बहिन लेडी डाक्टरका काम कर रही है और वह अपने प्यारे प्रभुको सदा भजती रहती है।

माताजीसे वार्तालाप

(४)

समर्पण और सतत स्मृतिके उपाय स्वाधीनता और नियति

(अनुवादक—श्रीमदनगोपालजी गाड़ोदिया)

[भाग १५ पृष्ठ ९८० से आगे]

'यह कहा गया है कि योगसाधनमें उन्नति करनेके लिये यह आवश्यक है कि साधक हरेक वस्तुको, अपने जीवनमें वह छोटी-से-छोटी जो कोई भी चीज रखता या करता हो उस सबको, भगवान्‌के अर्पण कर दे। इसका ठीक-ठीक क्या अर्थ है?'

योगका अर्थ है भगवान्‌से एकता, और यह एकता होती है आत्मोत्सर्गद्वारा, आत्मसमर्पणद्वारा—इसका आधार है अपने-आपको भगवान्‌के प्रति उत्सर्ग कर देना। आरम्भमें इस उत्सर्गका प्रारम्भ तुम एक साधारण रूपमें करते हो और समझते हो मानो सदाके लिये तुम्हारा यह काम पूरा हो गया। तुम कहते हो कि 'मैं भगवान्‌का सेवक हूँ, मेरा जीवन पूर्ण रूपसे भगवान्‌को दे दिया गया है, मेरी समस्त चेष्टाएँ दिव्य जीवनकी प्राप्तिके लिये हैं।' परन्तु यह तो केवल पहली सीढ़ी है; कारण इतना ही पर्याप्त नहीं है। तुम्हारे सङ्कल्प कर लेनेके बाद भी, तुम्हारे इस निश्चयके बाद भी कि तुम अपने समग्र जीवनको भगवान्‌के अर्पण कर दोगे, तुम्हारे लिये यह बाकी रह जाता है कि तुम इस बातको अपने जीवनमें प्रत्येक क्षण याद रक्खो और इसे अपने अस्तित्वके प्रत्येक ब्योरेमें चरितार्थ करो। प्रत्येक पदपर तुमको यह अनुभव होना चाहिये कि तुम भगवान्‌के हो, तुमको यह सतत अनुभव होना चाहिये कि जो कुछ भी तुम सोचते या करते हो, उसमें सर्वदा भागवत चेतना ही तुम्हारे द्वारा कार्य कर रही है। तुम्हारे पास अब ऐसी कोई-चीज न रह जानी चाहिये जिसे तुम अपनी कह सको, जो कुछ भी तुम्हारे पास आवे उसको तुम्हें भगवान्‌के यहाँसे आया हुआ अनुभव करना चाहिये और उसको तुम्हें उसके मूल मालिकके चरणोंमें भेंट कर देना चाहिये। इस अनुभूतिको जब तुम प्राप्त कर सकोगे तब तुम देखोगे कि अत्यन्त सामान्य-से-सामान्य बातें, जिनपर अभी तुम बहुत ध्यान नहीं देते या जिनकी अभी तुम परवा नहीं करते, वे भी अब अकिञ्चन या तुच्छ नहीं रह गयी हैं, वे अर्थपूर्ण हो गयी हैं और उन्होंने तुम्हारी दृष्टिके सामने दूरतक देख सकनेके लिये एक विशाल दिग्मण्डलको खोल दिया है।

अपने सामान्यरूपसे किये हुए उत्सर्गको जीवनके प्रत्येक ब्योरेमें होनेवाले उत्सर्गोंकी अवस्थामें पहुँचा देनेके लिये तुम्हें जो कुछ करना है वह विधि यह है—भगवान्‌की उपस्थितिमें ही तुम्हारा निरन्तर निवास हो। इस अनुभवमें निवास हो कि यह उपस्थिति ही तुम्हें परिचालित कर रही है और तुम्हारे द्वारा होनेवाले प्रत्येक कर्मको यही कर रही है। अपनी समस्त चेष्टाओंको तुम इसीके प्रति उत्सर्ग करो, केवल प्रत्येक मानसिक क्रिया, प्रत्येक विचार और भावको ही नहीं, बल्कि अत्यन्त साधारण और बाह्य क्रियाओंको भी—उदाहरणार्थ, भोजन करनेको भी। जब तुम भोजन करते हो तब तुम्हें यह अनुभव करना चाहिये कि इस क्रियामें तुम्हारे द्वारा भगवान् ही आरोग रहे हैं। इस प्रकार जब तुम अपनी समस्त प्रवृत्तियोंको एक अखण्ड जीवनमें एकत्रित कर सकोगे, तब अभी जो तुममें भेदभाव है उसके स्थानपर एक अखण्ड एकता

स्थापित हो जायगी। तब यह अवस्था नहीं रहेगी कि तुम्हारी प्रकृतिका एक भाग तो भगवान्‌के अर्पित हो और बाकीके भाग अपनी साधारण वृत्तियोंमें पड़े हों, साधारण चीजोंमें लिप्त हों, बल्कि तब यह होगा कि तुम्हारे सम्पूर्ण जीवनको भगवान् अपने हाथमें ले लेंगे और तुम्हारी प्रकृतिका सम्पूर्ण रूपान्तर क्रमशः साधित होता रहेगा।

पूर्णयोगकी साधनामें सम्पूर्ण जीवनका रूपान्तर करना होगा, उसको दिव्य बनाना होगा। इस कामको पूरे ब्योरेके साथ करना होगा और यह देखना होगा कि कहीं कोई छोटी-से-छोटी चीज भी बाकी न बच जाय। इस साधनामें ऐसी कोई चीज नहीं है जो तुच्छ या उपेक्षणीय समझी जाय। तुम यह नहीं कह सकते कि 'जब मैं ध्यान करता हूँ, दर्शनशास्त्रसम्बन्धी पुस्तकें पढ़ता हूँ या इन वार्तालापोंको सुनता हूँ तब तो मैं भागवत-ज्योतिकी ओर अपने-आपको खोलकर रक्खूँगा और उसका आवाहन करूँगा, किन्तु जब मैं टहलने जाता हूँ या किसी मित्रसे मिलता हूँ तब यदि उसको बिल्कुल भूल भी जाऊँ तो चल सकता है।' इस भावको बनाये रखनेका तो यह अर्थ हुआ कि तुम्हारा कभी भी रूपान्तर न हो सकेगा और कभी भी तुम्हें भगवान्‌के साथ सच्ची एकता न प्राप्त होगी। सदा तुम्हारे दो भाग बने रहेंगे, अधिक-से-अधिक जो कुछ तुम्हें मिल सकेगा वह इस महत्तर जीवनकी कुछ झाँकीमात्र होगी। इसका कारण यह है कि इस अवस्थामें यद्यपि ध्यानके समय तुम्हारी आन्तर चेतनामें कतिपय अनुभूतियाँ और साक्षात्कार तुम्हें भले ही हों, पर तुम्हारा स्थूल शरीर और तुम्हारा बाह्य जीवन तो रूपान्तरित हुए बिना यों ही पड़ा रह जायगा। जिस आन्तर प्रकाशका शरीर और बाह्य जीवनपर कोई असर नहीं होता वह किसी विशेष उपयोगमें नहीं आता। कारण, इससे यह जगत् तो जैसा-का-तैसा ही रह जाता है। और यही है जो अभीतक लगातार होता आ रहा है। वे लोग भी जिन्हें अति महान् और शक्तिशाली उपलब्धि हुई थी जगत्‌से अलग हट गये, जिससे वे अपनी आन्तर स्थिरता और शान्तिमें अक्षुब्ध रूपसे निवास कर सकें। इन लोगोंने जगत्‌को अपने ही मार्गपर चलते रहनेके लिये छोड़ दिया, परिणाम यह हुआ कि विश्वसत्ताकी इस भौतिक भूमिकापर दुःख और जड़ता, मृत्यु और अज्ञानका राज्य पूर्ववत् अबाध गतिसे चालू रहा। जो लोग इस प्रकार किनारा खींच लेते हैं उनके लिये इस उपद्रवसे त्राण पाना, इन कठिनाइयोंसे दूर भागना और दूसरे लोकमें अपने लिये एक सुखी अवस्थाका पा लेना भले ही सुखकर हो, किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि वे इस जगत् और जीवनको अमार्जित और अरूपान्तरित अवस्थामें ही छोड़ जाते हैं; यही नहीं, बल्कि वे अपनी निजी बाह्य चेतनाको भी अपरिवर्तित अवस्थामें और अपने शरीरको सदाकी नाईं असंस्कृत अवस्थामें ही छोड़ देते है। ये लोग जब भौतिक जगत्‌में वापस लौटें तब यह सम्भव है कि इनकी दशा एक साधारण मनुष्यकी अपेक्षा भी बुरी हो, कारण इन लोगोंने स्थूल वस्तुओंपर प्रभुता प्राप्त करनेकी शक्तिको गँवा दिया होता है, अतएव यह सम्भव है कि भौतिक जीवनके साथ इनका व्यवहार बिल्कुल बेढंगा हो और इस जीवनकी धारामें वे अपनेको असहाय बोध करें तथा उनका जीवन प्रत्येक गुजरती हुई शक्तिकी दयापर निर्भर करे।

इस प्रकारका आदर्श उनके लिये भले ही ठीक हो जो इसे चाहते हैं, किन्तु हम लोगोंका योग यह नहीं है। कारण हम चाहते हैं इस जगत्‌पर तथा उसकी समस्त गतियोंपर भगवान्‌की विजय और यहाँ, इस पार्थिव जगत्‌में ही भगवान्‌की उपलब्धि। परन्तु यदि हम चाहते हैं कि यहाँ भगवान्‌का राज्य हो तो जो

कुछ भी हम हैं, जो कुछ भी हमारे पास है और जो कुछ भी हम यहाँ करते हैं, उस सबको हमें भगवान्‌को दे देना चाहिये। इस प्रकार सोचनेसे काम नहीं चलेगा कि अमुक बात गौण है अथवा बाह्य जीवन और उसकी आवश्यकताओंसे दिव्य जीवनका कोई सम्बन्ध नहीं है। यदि हम इस तरहका बर्ताव करेंगे तो हम वहाँ ही पड़े रहेंगे जहाँ हम सदा रहे हैं और इस बाह्य जगत्पर विजय कभी मिलेगी ही नहीं, यहाँ इस पार्थिव भूमिकापर किसी चिरस्थायी परिणामकी प्राप्ति होगी ही नहीं।

'जो लोग बहुत अधिक ऊपर उठ चुके हैं, क्या वे इस भूमिकापर फिर वापस आते हैं?'

हाँ, यदि इस भूमिकाका रूपान्तर करनेका उनका सङ्कल्प हो तो जितना अधिक वे ऊपर उठे होंगे, उतना ही उनका यहाँ वापस आना निश्चित है। और जिन लोगोंकी इच्छा यहाँसे भाग जानेकी है, वे भी, जब दूसरी दिशामें पहुँच जाते हैं तब हो सकता है कि यह अनुभव करें कि आखिर इस प्रकार भाग आनेका कोई विशेष फल नहीं हुआ।

'क्या इस बातका स्मरण बहुतोंको रहता है कि वे ऊपर पहुँच गये थे और पुनः वापस आये हैं?'

चेतनाकी एक विशेष अवस्थामें पहुँच जानेपर यह स्मृति हो सकती है। आंशिक रूपमें किसी थोड़ेसे कालके लिये इस अवस्थाका स्पर्श करना बहुत अधिक कठिन नहीं है, गभीर ध्यानमें, स्वप्नमें अथवा सूक्ष्म जगतोंके दृश्य जब दिखायी देते हैं तब किसीको इस प्रकारका अनुभव या आभास हो सकता है कि पहले वह अमुक जीवन बिता चुका है, उसको अमुक प्रकारका साक्षात्कार हुआ था, अमुक सत्यका उसको ज्ञान हुआ था। परन्तु इसे पूर्ण साक्षात्कार नहीं कहा जा सकता। पूर्ण अवस्थाको प्राप्त करनेके लिये यह आवश्यक है कि साधक उस स्थायी चेतनाको प्राप्त कर ले जो हमारे अंदर ही है, जो सनातन है तथा हमारे भूत, वर्त्तमान और भावी जीवनको एक साथ धारण किये हुए है।

'जिस समय हम मानसिक प्रवृत्तियोंमें अथवा बुद्धिके व्यापारोंमें एकाग्र रहते हैं उस समय हम भगवान्‌को कभी-कभी क्यों भूल जाते अथवा उनके स्पर्शको क्यों गँवा देते हैं?'

यह इसलिये होता है कि तुम्हारी चेतना अभीतक बँटी हुई है। तुम्हारे मनमें भगवान् अभीतक अच्छी तरह बस नहीं गये हैं, अभीतक तुम दिव्य जीवनपर पूर्णरूपसे न्योछावर नहीं हुए हो। नहीं तो चाहे जितना तुम मन-बुद्धिके व्यापारोंमें लीन क्यों न रहो फिर भी तुमको यह भान रहेगा कि भगवान् तुम्हारी सहायता कर रहे हैं और तुमको धारण किये हुए हैं।

अपनी प्रत्येक प्रवृत्तिमें, चाहे वह बौद्धिक हो या बाह्य, तुम्हारा एकमात्र मन्त्र होना चाहिये 'स्मरण रखो और समर्पण करो।' तुम जो कुछ भी करो वह सब भगवान्‌के अर्पणरूप हो। और यह भी तुम्हारे लिये एक सुन्दर साधना बन जायगा और अनेकों मूर्खतापूर्ण और निरर्थक कामोंसे तुम्हारी रक्षा करेगा।

'कर्म करनेके आरम्भमें प्रायः ऐसा किया जा सकता है, किन्तु जैसे-जैसे कोई कार्यमें लीन होता जाता है वैसे-वैसे वह भूलता जाता है। स्मृति बनाये रखनेका क्या उपाय है?'

जिस अवस्थाको प्राप्त करना है, जो योगकी वास्तविक पूर्णता है, अन्तिम प्राप्ति और सिद्धि है, जिसके लिये बाकी सब कुछ केवल तैयारीमात्र ही है, वह तो एक ऐसी चेतना है जिसमें भगवान्‌के बिना कुछ भी काम ही नहीं चलता। कारण, उस समय यदि तुम भगवान्‌के बिना होओ तो तुम्हारी क्रियाका आधार ही लुप्त हो जाता है, ज्ञान, शक्ति सब कुछ चले जाते हैं। परन्तु जबतक तुम यह अनुभव करते रहोगे कि जिन शक्तियोंका तुम उपयोग कर रहे हो वे तुम्हारी अपनी हैं तबतक तुम भगवान्‌के सहारेको नहीं गँवा दोगे।

योगसाधनकी आरम्भिक अवस्थामें यह बहुत सम्भव है कि बहुधा तुम भगवान्‌को भूल जाओ। परन्तु सतत अभीप्साके द्वारा तुम्हारी स्मृति बढ़ जाती है और विस्मृति घटती जाती है। परन्तु इसको किसी कठोर तपस्या या ड्यूटीके रूपमें नहीं करना चाहिये, यह साधना तो प्रेम और आनन्दकी एक सहज अभिव्यक्ति-स्वरूप होनी चाहिये। जब तुम इस प्रकार कर सकोगे तब तुम्हारी साधनामें शीघ्र ही एक ऐसी अवस्था आ जायगी कि तुम यदि प्रत्येक क्षण और अपने प्रत्येक कार्यमें भगवान्‌की उपस्थितिका अनुभव न करो, तो तुम तुरन्त अपने-आपको अकेला, उदास और दुःखी अनुभव करने लगोगे।

जब भी तुम्हें यह दिखायी पड़े कि तुम भगवान्‌की उपस्थितिका अनुभव किये विना ही किसी कामको कर सकते हो और फिर भी चैनसे रह सकते हो, तो तुमको यह समझना चाहिये कि तुम्हारी सत्ताके उस भागका अभीतक समर्पण नहीं हुआ है। यह तो साधारण मानव-समाजका तरीका है, जिसे भगवान्‌की जरूरत ही क्या है? परन्तु दिव्य जीवनके साधकका मार्ग सर्वथा भिन्न होता है। और जब भगवान्‌के साथ तुम्हारी पूर्णरूपसे एकता हो जाती है, तब यदि क्षणभरके लिये भी भगवान् तुमसे अलग हो जायँ, तो तुम बस निर्जीव हो जाओगे और पछाड़ खाकर गिर पड़ोगे। कारण अब भगवान् ही होते हैं तुम्हारे प्राणके प्राण, तुम्हारे समग्र जीवन, तुम्हारे एकमात्र और सम्पूर्ण शरण। अब यदि भगवान् तुम्हारे साथ न हों तो फिर तुम्हारे पास कुछ रह ही नहीं जाता।

'साधनाकी आरम्भिक अवस्थामें साधारण कोटिकी पुस्तकोंका पढ़ना, साधकके लिये उचित है क्या?'

धर्म-ग्रन्थोंको पढ़ते हुए भी तुम भगवान्‌से दूर रह सकते हो, और अत्यन्त मूर्खतापूर्ण प्रकाशनोंको पढ़ते हुए भी तुम भगवान्‌के स्पर्शमें रह सकते हो। जबतक रूपान्तरके स्वादको तुम चख न लो तबतक रूपान्तरित चेतना और उसकी गतियोंको समझना असम्भव है। भगवान्‌के साथ एकताको प्राप्त हुई चेतनाका एक मार्ग है जिसके द्वारा तुम जो कुछ भी पढ़ो, जो कुछ भी देखो उस सबमें रस ले सकते हो, यहाँतक कि अत्यन्त निरर्थक पुस्तकोंमें भी और अत्यन्त अरुचिकर दृश्योंमें भी। तुम अत्यन्त घटिया संगीतको—ऐसे संगीतको भी जिसे सुनकर कोई वहाँसे भाग जाना चाहे—सुनकर भी उसमें आनन्द ले सकते हो, उसके बाह्य स्वरूपके कारण नहीं, बल्कि उस संगीतके पीछे जो कुछ है उसके कारण। यह नहीं कि इस अवस्थामें तुम उच्च कोटिके संगीत और हीन कोटिके संगीतमें जो भेद है उसके विवेकको गँवा देते हो, बल्कि तुम इन दोनोंके परे जाकर वहाँ पहुँच जाते हो जिसको वह संगीत व्यक्त करता है। कारण संसारमें ऐसी कोई चीज है ही नहीं जिसका अन्तिम सत्य और आश्रय भगवान्‌में न हो। और यदि किसी चीजके भौतिक, नैतिक या रसमय रूप-को देखकर तुम वहीं न रुक जाओ, बल्कि उसके परे पहुँचकर उसका जो आत्मा है, उस चीजके अंदर वर्तमान जो भगवान्‌का अंश है, उसका स्पर्श करो तो साधारण इन्द्रियोंको जो कुछ तुच्छ, दुःखदायी अथवा बेसुरा लगता है उसके अंदर भी तुम सौन्दर्य और आनन्दको प्राप्त कर सकते हो।

'किसी मनुष्यको भूतकालका औचित्य दिखलानेके लिये क्या यह कहा जा सकता है कि उसके जीवनमें जो कुछ घटना हुई है वह होनी ही चाहिये थी?'

यह तो स्पष्ट ही है, जो कुछ हुआ है वह होनेको ही था, यदि उस प्रकार अभिप्रेत न होता तो वैसा होता ही नहीं। हमने जो भूलें की हैं, हमपर जो विपत्तियाँ पड़ी हैं, वे भी होनी ही चाहिये थीं, कारण उनकी कोई आवश्यकता थी, हमारे जीवनमें उनकी कोई उपयोगिता थी। परन्तु सच पूछो तो इन बातोंको मनके

द्वारा समझाना असम्भव है और चाहिये भी नहीं। कारण जो कुछ हमारे जीवनमें बीता है उसकी कोई आवश्यकता थी, यह आवश्यकता मानसिक तर्कके लिये नहीं थी, किन्तु इसलिये थी कि यह हमको वहाँ पहुँचा दे जो मनकी कल्पनाशक्तिसे परे है। परन्तु इसकी व्याख्या करनेकी कोई आवश्यकता है क्या? यह समग्र विश्वब्रह्माण्ड प्रत्येक चीजकी व्याख्या प्रत्येक क्षण स्वयं कर रहा है। और यह समग्र विश्व जैसा है इस कारणको लेकर ही कोई विशिष्ट घटना घटती है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि प्रकृतिके निष्ठुर नियमोंको हम अपनी अन्ध अनुमति देनेके लिये बँधे हुए हैं। अपने भूतकालको तुम निश्चित तथ्य कहकर स्वीकार कर सकते हो, और उसकी एक आवश्यकता थी ऐसा बोध कर सकते हो, फिर भी उससे तुम्हें जो अनुभव मिला उसका उपयोग तुम उस शक्तिके निर्माणके लिये कर सकते हो जो तुम्हें अपने वर्तमान और भविष्य कालका सचेतन रूपसे सञ्चालन और गठन करनेकी क्षमता प्रदान करेगी।

'भगवान्‌की योजनामें हरेक घटनाका काल भी निश्चित किया हुआ रहता है क्या?'

कौन किस भूमिकासे देखता और बोलता है, इस बातपर इस प्रश्नका उत्तर निर्भर करता है। भागवत चेतनाकी एक भूमिका है जहाँ सब कुछ परमार्थत: जाना हुआ रहता है और सृष्टिकी समस्त योजना पूर्वदृष्ट और पूर्वनिश्चित रहती है। इस प्रकारकी दृष्टि तो विज्ञानमय लोककी उच्चतम भूमिकामें पहुँचनेपर ही प्राप्त होती है, यह पुरुषोत्तमकी अपनी दृष्टि है। परन्तु जबतक हम इस चेतनाको प्राप्त न कर लें तबतक वहाँकी बातें करना निरर्थक है, क्योंकि वहाँकी बातें उस भूमिकापर ही काम देती हैं और वे हमारी वर्तमान दृष्टिसे परे हैं। चेतनाकी निम्नतर भूमिकामें तो पहलेसे कुछ भी सिद्ध या नियत नहीं होता, सब कुछ तैयार होनेकी प्रक्रियामें होता है। यहाँ इस भूमिकामें निर्धारित घटनाएँ हैं ही नहीं, यहाँ तो केवल सम्भावनाओंका खेल है, और इन सम्भावनाओंके संघर्षके भीतरसे ही वह वस्तु सिद्ध की जाती है जो होनेको होती है। इस भूमिकापर हम पसन्दगी और चुनाव कर सकते हैं। हम चाहें तो किसी एक सम्भावनाका त्याग कर दूसरीको स्वीकार कर सकते हैं, किसी एक मार्गका अनुसरण कर दूसरेको छोड़ दे सकते हैं। हम यह सब कुछ कर सकते हैं। फिर जो कुछ वस्तुत: घटित होता है वह चाहे किसी उच्चतर भूमिकामें पूर्वदृष्ट और पूर्वनिश्चित किया हुआ ही क्यों न हो।

परम चेतना प्रत्येक बातको पहलेसे जानती है, कारण वहाँ उसकी अनन्ततामें सब कुछ पहलेसे सिद्ध किया हुआ रहता है। परन्तु अपनी लीलाके लिये और जो कुछ उसके परम आत्मामें पूर्वनिर्दिष्ट है उसको पार्थिव भूमिकापर कार्यान्वित करनेके लिये, यहाँ, इस पृथ्वीपर वह इस प्रकार विचरती है मानो समस्त कहानी उसे ज्ञान ही न हो, वह इस प्रकार कार्य करती है मानो वह किसी नये और अपरिचित सूतको बुन रही हो। उच्चतर चेतनामें पूर्वनिश्चित समस्त विषयोंके सम्बन्धमें उसको जो भविष्य ज्ञान है उसकी आपात-दृष्ट यह विस्मृति ही है जो क्रियात्मक जीवनमें व्यक्तिको उसकी अपनी स्वतन्त्रता, स्वाधीनता और आरम्भ-शक्तिका भान कराती है। व्यक्तिके अंदर जो ये तत्त्व हैं वे ही उसके व्यावहारिक यन्त्र और साधन हैं और इनके द्वारा ही वे सब गतियाँ और परिणाम जो चेतनाकी अन्य भूमिकापर योजित किये हुए और पूर्वदृष्ट होते हैं, यहाँ इस पार्थिव भूमिकापर सिद्ध किये जाते हैं।

यदि तुम नाटकके एक पात्रका उदाहरण लो तो इस विषयके समझनेमें तुम्हें सहायता मिलेगी। नाटकके पात्रको अपने पार्टका सम्पूर्णरूपसे ज्ञान रहता है। रंगमञ्चपर जो घटना घटनेवाली है उसका क्रम और

परिणाम उसके मनके अंदर होता है। परन्तु जब वह रंगमञ्चपर आता है तो उसे इस प्रकार आना पड़ता है मानो वह कुछ जानता ही नहीं, उसे इस प्रकार अनुभव करना और पार्ट करना पड़ता है, मानो वह इन समस्त बातोंका जीवनमें प्रथम अनुभव कर रहा हो; मानो सम्भावनाओं, घटनाओं और आश्चर्योंसे भरा हुआ यह कोई एकदम नया जगत् है जिसका पट उसकी आँखोंके आगे खुल रहा हो।

'तो क्या वास्तविक स्वतन्त्रता जैसी कोई चीज है ही नहीं ? क्या सब कुछ यहाँतक कि जीवकी स्वतन्त्रता भी पूर्णरूपसे पूर्व निर्धारित की हुई होती है, और क्या प्रारब्ध-वाद ही परम रहस्य है ?'

स्वतन्त्रता और प्रारब्ध, स्वाधीनता और नियतिवाद, ये चेतनाके विभिन्न स्तरोंके सत्य हैं। अज्ञानके कारण यह होता है कि मन इन्हें एक ही स्तरपर लाकर रख देता है और एक दूसरेमें विरोध देखता है। चेतना कोई एक ही प्रकारकी सद्वस्तु नहीं है, वह बहुविध है, वह किसी समतल भूमिकी जैसी नहीं है, वह तो अनेक दिशाओंमें फैली हुई है। उच्चतम ऊँचाईपर पुरुषोत्तम हैं और निम्नतम गहराईपर जड प्रकृति (Matter) है, और इस निम्नतम गहराई और उच्चतम ऊँचाईके बीचमें चेतनाओंकी अनन्त भूमिकाओंका क्रमविन्यास है।

जड प्रकृतिके क्षेत्रमें और साधारण चेतनाके स्तरपर तुम हर ओरसे बँधे हुए हो। प्रकृतिकी यान्त्रिकताके गुलाम होनेके कारण तुम कर्मकी सांकलसे जकड़े हुए हो, और इस सांकलके बन्धनमें जो कुछ घटना घटती है वह अचूक रूपसे पूर्व कर्मोंके परिणामस्वरूप होती है। इस अवस्थामें भी तुम्हें जो यह भान होता है कि तुम्हारी गति स्वतन्त्र है सो तो एक भ्रम ही है, यथार्थ-में इस भूमिकापर दूसरे लोग जो कुछ करते हैं उसको ही तुम दोहराते भर हो, प्रकृतिकी जो सम्पूर्ण गतियाँ हैं, उनकी तुम प्रतिध्वनिमात्र करते हो, उसके विश्वयन्त्रके कुचल देनेवाले मायाचक्रपर आरूढ़ होकर तुम असहाय रूपसे भ्रमण करते रहते हो।

परन्तु ऐसा होना कोई आवश्यक बात नहीं है। तुम चाहो तो अपनी स्थितिको बदल दे सकते हो और नीचे पड़े रहकर रौंदे जाने या कठपुतलीकी तरह नचाये जानेके स्थानपर इसके ऊपरकी स्थितिमें उठ जा सकते हो और वहाँसे ही संसारचक्र और उसकी अवस्थाओंपर दृष्टिपात कर सकते हो तथा अपनी चेतनाके परिवर्तनद्वारा तुम यहाँतक कर सकते हो कि इस चक्रको फिरानेवाले किसी हत्थेको हथिया लो, जिससे कि इन आपातदृष्ट अनिवार्य घटनाओंको परिचालित कर सको और इन निश्चित अवस्थाओंको परिवर्तित कर सको। एक बार जहाँ तुम अपने-आपको इस भँवरसे बाहर निकाल लाये और ऊपर ऊर्ध्वमें जाकर खड़े हुए कि तुम अपने-आपको मुक्त पाओगे। समस्त गुलामीसे मुक्ति पाकर केवल इतना ही नहीं होगा कि अब तुम प्रकृतिके एक निष्क्रिय उपकरण नहीं रहे, बल्कि अब तुम उसके एक सक्रिय प्रतिनिधि बन जाओगे। अब केवल यही नहीं होगा कि तुम अपने कर्मफलोंके बन्धनसे मुक्त हो गये, बल्कि अब तो तुम अपने कर्मफलोंको भी बदल दे सकोगे। एक बार जहाँ तुम शक्तियोंकी लीलाको देख पाओगे, एक बार जहाँ तुम चेतनाकी उस भूमिकामें ऊपर उठ गये जहाँसे शक्तियोंका प्रादुर्भाव होता है और इन गतिशील उद्गमों-के साथ अपने-आपको एक कर लोगे, तो फिर तुम उस श्रेणीके नहीं रहोगे जिनका परिचालन किया जाता है, बल्कि उस श्रेणीके हो जाओगे जो परिचालन करती है।

अस्तु ! यही है योगका वास्तविक ध्येय—कर्म-चक्रसे बाहर निकलकर भागवत गतिमें प्रवेश करना। योगके द्वारा तुम प्रकृतिकी उस यान्त्रिक गतिसे छुटकारा

पा जाते हो जिसमें तुम्हारी अवस्था एक मूढ़ गुलामकी-सी है, जहाँ तुम एक असहाय और बेबस उपकरणकी तरह हो, और तुम एक दूसरी ही भूमिकामें ऊपर उठ जाते हो जहाँ किसी उच्चतर भवितव्यताको कार्यमें परिणत करनेमें तुम एक सचेतन सहयोग देनेवाले और उस कार्यके लिये भगवान्‌के एक सक्रिय प्रतिनिधि बन जाते हो। चेतनाकी यह गति द्विविध होती है। पहले तो चेतनाका आरोहण होता है, तुम अपनेको जड प्राकृतिक चेतनाकी सतहसे ऊपर उठाकर श्रेष्ठतर क्षेत्रोंमें ले जाते हो। परन्तु निम्नतर क्षेत्रोंसे ऊर्ध्वतर क्षेत्रोंमें जो यह आरोहण होता है वह ऊर्ध्वतर चेतनाको निम्नतर क्षेत्रोंमें अवतरण करनेके लिये आवाहन करता है। पार्थिव भूमिकासे ऊपर उठनेके फलस्वरूप ऊपरकी किसी चीजको भी तुम इस पृथ्वीपर उतार लाते हो—किसी ऐसी ज्योति या शक्तिको उतार लाते हो जो इस पृथ्वीकी पुरानी प्रकृतिका या तो स्वयं रूपान्तर कर देती है या उसको रूपान्तरित होनेके लिये प्रवृत्त कर देती है। और तब यह होता है कि वे जो अभीतक एक दूसरेसे अलग, बेमेल और विषम थे—तुम्हारे अंदर जो कुछ उच्च है वह और जो कुछ निम्न है वह, दूसरे शब्दोंमें तुम्हारी सत्ता और चेतनाके आन्तर और बाह्य स्तर—एक दूसरेसे मिल जाते और धीरे-धीरे आपसमें जुड़ जाते हैं तथा क्रमशः एक सत्य और एक सामञ्जस्यमें परिणत हो जाते हैं।

लोग जिन्हें चमत्कार कहते हैं, वे इसी तरह घटित होते हैं। यह जगत् चेतनाकी अनेक भूमिकाओं-द्वारा निर्मित हुआ है और प्रत्येक भूमिकाके अपने-अपने जुदा नियम हैं। एक भूमिकाके नियम दूसरी भूमिकापर लागू नहीं होते। चमत्कारका अर्थ ही है किसी प्रकारका आकस्मिक अवतरण, किसी अन्य चेतना और उसकी शक्तियोंका—जो बहुधा प्राणकी शक्तियाँ होती हैं—इस स्थूल-भौतिक लोकमें आविर्भूत हो जाना। यहाँकी स्थूल—भौतिक यन्त्र-रचनापर किसी उच्चतर भूमिकाकी यन्त्र-रचना हठात् उतर आती है। यह इस तरह होता है मानो कोई बिजली हमारी साधारण चेतनाके बादलोंको चीरकर उसमें उतर आयी हो और अन्य शक्तियों, अन्य गतियों तथा अन्य परिणामोंको उसमें भर दिया हो। और इसके फलको ही हम चमत्कार कहते हैं, क्योंकि हमारी साधारण भूमिकामें जो स्वाभाविक नियम काम कर रहे हैं उनमें अचानक एक परिवर्तन हो गया दिखायी देता है, ऐसा जान पड़ता है कि इन नियमोंमें एकाएक कोई हेर-फेर हो गया है, किन्तु इस परिवर्तन या हेर-फेरके कारण और व्यवस्थाको हम जान या देख नहीं पाते, क्योंकि इस चमत्कारका मूल कारण तो किसी दूसरी भूमिकामें विद्यमान होता है। अपने इस पार्थिव लोकपर अन्य ऊर्ध्व लोकोंके इस प्रकारके हमले होना कोई बहुत असाधारण बात नहीं है। ये तो बराबर होते ही रहते हैं, और यदि हमको दृष्टि हो और इनको किस प्रकार देखा जाता है इस बातका ज्ञान हो तो चमत्कार तो हमको प्रचुर परिमाणमें होते हुए दिखायी देंगे। विशेषतः वे साधक जो उच्चतर भूमिकाओंकी शक्तियोंको इस पार्थिव चेतनापर नीचे उतार लानेका प्रयत्न कर रहे हैं, उनमें तो ये अनवरत होते ही रहते हैं।

'क्या सृष्टिका कोई निश्चित लक्ष्य है? क्या इसका कोई अन्तिम ध्येय है जिसकी ओर यह अग्रसर हो रही है?'

नहीं, यह विश्व एक ऐसी गति है जो शाश्वतरूपसे स्वतः उद्घाटित हो रही है। यहाँ ऐसा कुछ नहीं है जिसको यह कहा जा सके कि यही इसका अन्त है, यही एक लक्ष्य है। परन्तु कार्यसञ्चालनके लिये हमको इस गतिका—जो स्वयं अनन्त है—खण्ड कर लेना पड़ता है और यह कहना पड़ता है कि हमारा अमुक लक्ष्य है, कारण कार्य करनेके लिये हमें किसी ऐसी चीजकी आवश्यकता पड़ती है जिसपर हम अपना लक्ष्य बाँध सकें। एक चित्र आँकनेमें तुम्हें उसकी रचना

और रंगोंकी एक निश्चित आयोजना कर लेनेकी आवश्यकता होती है, तुम्हें एक सीमा बाँधनी होती है, जो कुछ चित्रित करना है वह सब कुछ एक नियत ढाँचेमें आ जाय ऐसा करना होता है, किन्तु वह सीमा मिथ्या होती है, वह ढाँचा केवल सांकेतिक होता है। असलमें चित्रकी एक सतत निरवच्छिन्न धारावाहिता होती है जो किसी भी विशिष्ट ढाँचेका अतिक्रमण करती है, और उसकी प्रत्येक निरवच्छिन्नता, प्रत्येक धारा उसी प्रकारसे एक-एक ढाँचेमें उतारी जा सकती है और इस प्रकार अनगिनती ढाँचोंका कभी न समाप्त होनेवाला एक ढेर लग जा सकता है। हम यह कहते हैं सही कि हमारा लक्ष्य अमुक है, किन्तु हम यह जानते हैं कि इस लक्ष्यके परे जो दूसरा लक्ष्य होगा उसका यह प्रारम्भमात्र है, और इस प्रकार हमारे सामने एकके बाद दूसरा लक्ष्य आता रहता है और यह शृंखला सदा बढ़ती ही रहती है, कभी भी बन्द नहीं होती।

साधना और अध्यात्मवाद

(लेखक—श्रीलालजीरामजी शुक्ल एम्० ए०)

साधना प्रत्येक धर्मका एक मुख्य अङ्ग है। प्रत्येक धर्ममें तीन प्रकारकी भावनाएँ होती हैं। मनुष्य-जीवनके लक्ष्यकी कल्पना, उसकी वर्तमान परिस्थिति और लक्ष्य-को प्राप्त करनेका उपाय। साधना लक्ष्यको प्राप्त करने-का उपाय है। प्रत्येक धर्मका सामाजिक स्वरूप और वैयक्तिक स्वरूप होता है। जिस धर्मके अंशको समाजमें नैतिक नींव या सामाजिक प्रतिबन्धोंके रूपमें देखा जाता है वही वैयक्तिक जीवनमें साधनाके रूपमें व्यक्त होता है। व्यक्ति और समष्टिमें इतना प्रगाढ़ सम्बन्ध है कि हम एककी स्थिति दूसरेके विना नहीं पाते। समाज और व्यक्तिका भी वैसा ही सम्बन्ध है। सुव्यवस्थित समाज मनुष्यको अपने जीवनके लक्ष्यकी प्राप्ति करनेमें सुविधाएँ देता है और अनेक प्रकारके नियन्त्रणोंसे उसे उस ओर अग्रसर करता है। इसी तरह एक साधक अपने-आपके ऊपर पूरा अधिकार प्राप्त करके और अपने जीवनको सुव्यवस्थित रूपसे चलाकर समाजका स्वभावत: ही कल्याण करता है। इस तरह यदि हम देखें तो व्यक्तिके सुख और शान्तिमें समाजका सुख और शान्ति है। अच्छा समाज वही है जिसमें मनुष्योंमें साधनाकी भावनाएँ उठें।

उपर्युक्त कथनसे यह स्पष्ट है कि साधनाकी प्रथम आवश्यकता सुयोग्य वातावरण है। यह वातावरण मनुष्य अपनी पूर्व सुकृतिसे प्राप्त करता है। श्रीकृष्ण भगवान् इस प्रसङ्गमें कहते हैं—

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते॥
अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम्॥
तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन॥

योगभ्रष्ट पुरुष पुण्यवानोंके लोकोंको प्राप्त होकर उनमें बहुत वर्षोंतक निवास करके फिर शुद्ध आचरण-वाले श्रीमान् पुरुषोंके घर जन्म लेता है।

अथवा वैराग्यवान् पुरुष उन लोकोंमें न जाकर ज्ञानवान् योगियोंके ही कुलमें जन्म लेता है। इस प्रकार-का जन्म संसारमें अत्यन्त दुर्लभ है। वहाँ उस पहले शरीरमें संग्रह किये हुए बुद्धिसंयोगको अनायास ही प्राप्त हो जाता है और हे अर्जुन! उसके प्रभावसे वह फिर परमात्माकी प्राप्तिरूप सिद्धिके लिये (पहलेसे बढ़-कर) प्रयत्न करता है।

उपर्युक्त कथनमें भगवान् श्रीकृष्णने धर्मनिष्ठा और साधनामें वंशानुक्रम और वातावरण दोनोंकी महत्ता बतायी है। सुयोग्य घरमें जन्मा हुआ तथा सुयोग्य वातावरणमें पला हुआ बालक स्वतः ही ऊर्ध्वगामी हो जाता है। यहाँपर हम देखते हैं कि समाज व्यक्तिकी लक्ष्य-साधनाके लिये सब प्रकारकी सुविधाएँ पहुँचाता है। यदि ऐसा न हो तो व्यक्तिका मनोविकास रुक जाय और साधना असम्भव हो जाय।

किन्तु साधनाका सबसे बड़ा तत्त्व यह नहीं है कि वह विशेष प्रकारकी परिस्थितियोंका परिणाम है। साधनाकी सम्भावना आत्माकी स्वतन्त्रताका परिचायक है। साधनाका स्वरूप आत्माका नियन्त्रण करना है। किसी मनुष्यका साधनामें प्रवृत्त होना यह बतलाता है कि वह अपने-आपके ऊपर नियन्त्रण रखने लगा। वह जैसा आदर्श व्यक्ति बनना चाहता है और जैसा वह इस समय है इन दोनों स्थितियोंमें वह विषमताका अनुभव करता है और इस विषमताको हटानेकी चेष्टा करता है अर्थात् साधनाकी स्थितिमें मनुष्यका आत्मा दो भागोंमें विभक्त-सा हो जाता है। और एक भाग दूसरेके प्रति साक्षीका काम करता है। यही आत्मा उसके दूसरे रूपका पथ-प्रदर्शन करता है। साधना एक आत्मनियन्त्रणका कार्य है और यह कार्य मनुष्यके हृदयोंमें स्थित अन्तर्यामीके द्वारा होता है। अतएव साधनाकी क्रिया यह सिद्ध करती है कि हमारा व्यक्तित्व संस्कारोंका संघात (पुञ्ज) मात्र नहीं है। हमारे अंदर अपने हृदयोंमें स्थित संस्कारोंसे अतिरिक्त कोई स्वतन्त्र अविनाशी पदार्थ है। यही पदार्थ हमारे उत्कर्षकी प्रवृत्तिका मूल कारण है और इसीके कारण हमारे जीवनमें अनेकों प्रकारके लक्ष्य सामने आते हैं। जैसा कि जर्मनीके विद्वान् तत्त्ववेत्ता काण्टने कहा है कि आत्माकी सिद्धि हमारे निःश्रेयसकी प्रवृत्तिसे स्वतः ही होती है। इसके अतिरिक्त दूसरा कोई प्रमाण आत्माको सिद्ध करनेका नहीं है। अतएव जैसे-जैसे मनुष्य साधनामें रत होता है वैसे-वैसे ही उसका अध्यात्मतत्त्व-सम्बन्धी ज्ञान बढ़ता जाता है।

प्रकृतिवादी हरवर्ट स्पैन्सर-जैसे तत्त्ववेत्ता और आजकलके व्यवहारवादी मनोवैज्ञानिक मनको संस्कारोंका समूहमात्र मानते हैं। आत्मा-जैसा स्वतन्त्र पदार्थ मानना उनके विचारसे युक्तिसङ्गत नहीं। व्यवहारवादी तो मनका दिमागसे एकीकरण कर देते हैं। ह्यूम महाशयके अनुसार हमारा व्यक्तित्व अनेक क्षणिक ज्ञानोंका बना हुआ है। विज्ञानवादियोंके समान वह भी आत्माकी सत्ता नहीं मानते। ह्यूमका कथन है कि जब भी मैं अपने मनको देखने लगता हूँ तो उसमें किसी-न-किसी क्षणिक विज्ञानको चलता पाता हूँ, मैं अपने-आपको कहीं नहीं पाता। ह्यूमकी इस उक्तिको प्रायः यह कहकर काटा जाता है कि यदि तुम कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं होते तो अपने मनको कैसे देखने जाते और मनके स्वरूपका वर्णन कौन करता। जगद्गुरु श्रीशङ्कराचार्यजीने भी विज्ञानवादियोंका खण्डन इसी प्रकारकी उक्तियोंसे किया है।

किन्तु इस प्रकारकी उक्तियोंसे हम जडवादियोंको चुप कर सकते हैं, पर उनके संशयको नहीं मिटा सकते। संशय तो एक ही युक्तिसे मिटता है, वह है साधना। प्रत्येक व्यक्ति अपने-आपको उत्तरोत्तर अच्छा बनाना चाहता है और उसके लिये उसमें प्रयत्न करनेकी हृदयसे प्रेरणा होती है। यह प्रेरणा साधनाका मूल है। यदि हम विचार करें कि यह प्रेरणा क्यों होती है तो इसका उत्तर इसके अतिरिक्त कुछ भी नहीं हो सकता कि इस प्रेरणाका जीवन-प्राण कैवल्यावस्थाकी प्राप्ति है। जैसा कि इङ्गलैण्डके तत्त्ववेत्ता ग्रीन महाशयने कहा है कि भली और बुरी अवस्थाका ज्ञान होनेकी भावनाके अंदर यह बात निहित है कि कोई

ऐसी स्थिति भी है जो सबसे अच्छी है। अर्थात् निःश्रेयसकी अव्यक्त भावना हमारी सब साधनाओंका मूल स्रोत है।

मनुष्य जैसे-जैसे साधनामें अग्रसर होता जाता है वैसे-वैसे ही उसे अपने स्वरूपका ज्ञान होने लगता है। जडवादी आत्मनियन्त्रणकी घटनाको समझा नहीं सकता। हम कितनी बार अपने-आपको अनेक कामोंसे रोकते हैं और कितनी बार इच्छा न होते हुए भी अपने-आपको अनेक कामोंमें प्रवृत्त करते हैं, यह सम्भव कैसे होता है। इन बातोंको सुख और दुःखके सिद्धान्तके द्वारा समझाना किसी भी गम्भीर विचारकको शोभा नहीं देता। जडवादी इतना ही कह सकते हैं कि जिसमें हम सुखकी सम्भावना देखते हैं, उसे करते हैं और जिसमें दुःखकी सम्भावना देखते हैं उससे बचते हैं। ऐसा करनेपर हम एक प्राकृतिक नियमको ही चरितार्थ करते हैं। किन्तु क्या यह बात सत्य नहीं कि मनुष्य किसी सिद्धान्तके लिये अनेक प्रकारके शारीरिक कष्टोंको सहता है। वह अपने धर्मके हेतु प्रसन्नताके साथ शूलीपर चढ़ जाता है। इस प्रकारकी स्थिति जडवादी कैसे समझायेगा ? ऐसी स्थिति आत्माके स्वतन्त्र और अव्यय स्वरूपको प्रदर्शित करती है और जैसे-जैसे मनुष्य अपने ऊपर अधिकाधिक नियन्त्रण करता जाता है वह आत्माके उस अविनाशी स्वरूपका ज्ञान प्राप्त करता है।

भारतीय विचारपरम्परामें सदा इस बातको माना गया है कि आत्मा अविनाशी, स्वतन्त्र और चिद्रूप है, यह आत्मा मनका नियन्त्रण करता है। नियन्त्रित मनवाला आत्मा ही अपने स्वरूपको पहचान पाता है। इस स्वरूपको पहचाननेका यत्न ही साधना है।

विज्ञानसारथिर्यस्तु मनःप्रग्रहवान्नरः।
सोऽध्वनः परमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्॥

(कठोपनिषद् १।३।९)

संतके गुण

इतने गुन जामें सो संत।
श्रीभागवत मध्य जस गावत, श्रीमुख कमलाकंत॥ १॥
हरिकौ भजन साधुकी सेवा, सर्वभूत पर दाया।
हिंसा, लोभ, दंभ, छल त्यागै, विषसम देखै माया॥ २॥
सहनशील, आसय उदार अति, धीरजसहित, बिबेकी।
सत्यबचन, सबकों सुखदायक, गहि अनन्यब्रत एकी॥ ३॥
इन्द्रीजित, अभिमान न जाके, करै जगतकों पावन।
भगवतरसिक तासुकी संगति, तीनहुँ ताप नसावन॥ ४॥

—भगवतरसिक

सुख तथा शान्तिकी खोज

(लेखक—श्रीविश्वबन्धुजी सत्यार्थी)

सुख तथा शान्ति दोनों पृथक्-पृथक् होते हुए भी तत्त्वदृष्टिसे एक ही हैं। विषय-सुख आभासमात्र होनेपर भी सच्चा-सा प्रतीत होता है। विषय-सुखमें ऐसा आकर्षण है कि बड़े-बड़े विद्वानोंको भी वह लुभा लेता है। बड़े-बड़े आत्मज्ञानी कहे जानेवाले पुरुष भी बार-बार विषय-सुखका परित्याग करके एक बार फिर उसीकी इच्छा कर बैठते हैं। विचारदृष्टिसे देखा जाय तो जितने विषय-पदार्थ हैं, सभी सुख-दुःखसे रहित हैं। यदि विषयपदार्थोंमें सुख अथवा दुःख होता तो सभीके अनुभवमें सदृशता होनी चाहिये थी परन्तु ऐसा नहीं है। एक ही पदार्थ किसी व्यक्तिका जीवन है तो दूसरेका मरण। अफीम अफीमचीके लिये जीवन हो सकता है परन्तु जो अफीम नहीं खाता उसके लिये विष ही है।

सिगरेट, तम्बाकू ऐसी चीज़ हैं कि बहुतेरे बड़े प्रेमसे पीते हैं और इसके सुखके पीछे भोजनतकके आनन्द—सुखको भूल जाते हैं। परन्तु जो व्यक्ति इनका सेवन नहीं करता वह इनके धुएँसे भी घबराता है। इसलिये सिद्ध होता है कि सुख अथवा दुःख पदार्थोंमें नहीं है, कोई दूसरी ही वस्तु है।

मनकी वृत्तियोंके शान्त होनेपर सुखका अनुभव और वृत्तियोंके चञ्चल होनेपर दुःखका अनुभव होता है। वृत्तियोंकी चञ्चलता इच्छाओंसे पैदा होती है। जब मनमें किसी वस्तुका सङ्कल्प फुरा तो चित्त उसके लिये व्याकुल हो उठा। जब वह पदार्थ सम्मुख आया तो वृत्तियाँ शान्त-सी प्रतीत होने लगीं और सुखका अनुभव होने लगा। जब उस वस्तुका वियोग अथवा अप्राप्ति हुई तो दुःख और भी बढ़ गया, चित्त अत्यन्त व्याकुल हो उठा।

अब प्रश्न यह पैदा होता है कि वृत्तियोंके शान्त होनेसे सुख कहाँसे आ गया? सुख अपने ही अंदर था। वह सुख वृत्तियोंकी चञ्चलतासे ढक गया था। वृत्तियोंके शान्त होनेसे उसका विकास हो उठता है। अज्ञानी नासमझीसे अपने अंदर न समझकर दूसरेमें सुख समझता है इसलिये उसे बार-बार अनित्य पदार्थोंके पीछे दौड़ लगानी पड़ती है।

'यो वै भूमा तत्सुखम्' (छान्दोग्य उपनिषद्)

निश्चल आत्मा ही सुख और शान्तिका निकेतन है।

'पराचः कामाननुयन्ति बालास्ते मृत्योर्यन्ति विततस्य पाशम्। अथ धीरा अमृतत्वं विदित्वा ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते॥' (कठ०)

मूर्खलोग बाह्य इच्छाओंके पीछे दौड़ लगाते हैं और मृत्युके लम्बे-चौड़े आवागमनके पाशमें बँध जाते हैं और जो धीर विचारशील पुरुष हैं वे निश्चल अमृतत्व (आत्मतत्त्व) को जानकर नाशवान् बाह्य पदार्थोंके पीछे दौड़ नहीं लगाते।

'यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमाऽथ यत्रान्यत्पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्पम्। यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यम्॥'

जब धीर, विवेकी आत्मज्ञानी पुरुष आत्माके सिवा दूसरे पदार्थोंको सुखकी अभिलाषासे न तो देखते हैं, न सुनते हैं, न जाननेका प्रयत्न करते हैं, तभी वे अमृतत्वको प्राप्त होते हैं—जन्म-मरण-पाशसे मुक्त हो जाते हैं और जो मन्दबुद्धि पामर जीव विषय-पदार्थोंको सुखकी अभिलाषासे देखता है, सुनता है, पहचानता है, तो जन्म-मरणके पाशमें बँध जाता है।

साधु-परित्राण और दुष्ट-दमनकी चिरन्तन समस्याका सामयिक समाधान

(लेखक—श्रीरामावतारजी शास्त्री, विद्याभास्कर)

साधुलोगोंका चरित्र और उनका दृष्टिकोण साधारण लोगोंसे भिन्न प्रकारका होता है। उनका दृष्टिकोण सत्यकी रक्षा करना होता है। वे सत्यकी रक्षा करते हुए आनेवाली विपत्तियोंको भली प्रकार जानते हैं। फिर भी वे अपनेको उनसे बचा नहीं सकते। वे अपने सत्यभक्त स्वभावसे भौतिक सुविधाओंकी उपेक्षा करनेके लिये विवश होते हैं। उनकी सत्यनिष्ठा उनके ऊपर विपत्तिको बुलाकर खड़ा कर देती है। इसलिये कर देती है कि वे धर्मसङ्कटमें भी सत्यका त्याग करने और असत्यको अपनानेके लिये उद्यत नहीं होते। उनका यह कठोर स्वभाव स्वेच्छाचारी सत्यद्वेषी मदान्ध अत्याचारियोंके स्वार्थके मार्गको रोककर खड़ा हो जाता है। अत्याचारी उन्हें अपने स्वार्थका साधन बनाना चाहते हैं और वे साधुलोग अपने जीते-जी अत्याचारियोंके खोटे विचारोंको अपने साहस, कष्ट-सहन और पुरुषार्थके द्वारा प्रयोगमें नहीं आने देते। बस, यहीं देवासुर-संग्राम छिड़ जाता है। जो लोग किसी शक्तिशाली अत्याचारीके सङ्केतपर अपने जीवनको असत्यके कलङ्कसे कलङ्कित करनेका साहस दिखाते हैं वे अत्याचारियोंकी आँखोंमें शूलके समान खटकने लगते हैं। उन्हें अपनी शक्तिका दुरुपयोग करनेवाले अत्याचारियोंके हाथों नाना प्रकारकी यन्त्रणाएँ भोगनी पड़ती हैं। उनका और उनके परिवारका जीवन सङ्कटमें पड़ जाता है।

अन्याय अपने विरोधियोंपर ही हाथ उठाता है। वह विरोध न करनेवालोंपर हाथ नहीं चलाता। वह अपने सामने सिर झुकाकर आज्ञा स्वीकार कर लेनेवालोंपर हाथ नहीं डालता। जो लोग अधर्मके अभ्युत्थानके समय अन्याय, अत्याचार या उत्पीडनसे बचते हैं वे यों ही नहीं बचते। वे अन्यायके सामने सिर झुकानेके कारण ही उत्पीडनसे बचते हैं। उत्पीडन सर्वत्र सत्यपर डटनेवालोंका ही होता है। अत्याचारियोंके कथनानुसार असत्यकी ओर झुक जानेवालोंके उत्पीडनकी आवश्यकता ही नहीं पड़ती।

पापी शक्तियाँ सत्यनिष्ठ मनुष्यके व्यावहारिक जीवनको अपने मार्गका प्रतिबन्ध पाकर उसपर आक्रमण करती हैं। यह आक्रमण ऊपरसे देखनेमें एक किसी मनुष्यपर होता दीखनेपर भी किसी मनुष्यपर नहीं होता; किन्तु उस व्यक्तिके अपनाये हुए उस सत्यसिद्धान्तके ऊपर होता है, जिसे उसने अपना जीवन सौंप दिया है और जिसे सारा सभ्यसमाज गौरवके साथ अपनाता है। यही कारण है कि किसी एक सत्यनिष्ठपर आक्रमण करनेवालेको सारा ही सभ्यसमाज अपना शत्रु मानने लगता है। यही कारण है कि उस अत्याचारका विरोध करना मनुष्यसमाजके प्रत्येक सत्यप्रेमी सदस्यका व्यक्तिगत और सामाजिक दोनों प्रकारका परम कर्तव्य हो जाता है।

पामर लोगोंको तो छोड़ दीजिये, परन्तु समाजके विचारशील लोगोंका यह पवित्र कर्तव्य है कि वे सदा परस्पर सङ्गठित होकर अत्याचारका विरोध करें और अत्याचार-पीडित असहाय व्यक्तिकी रक्षाके लिये समाजकी सामूहिक सहानुभूतिको जगाकर खड़ा कर दें और उसकी सहायता करें। अत्याचारका साहसपूर्ण सक्रिय विरोध ही दुष्टदमन है और अत्याचारपीडितोंकी सर्वाङ्गपूर्ण सहायता ही साधुपरित्राण है।

इसलिये न्यायप्रेमी मनुष्यसमाजको अत्याचारके प्रतिकारके लिये सङ्गठित होकर रहना चाहिये, समाजमें अत्याचारका दमन करनेवाली सामूहिक भावनाको जगाना चाहिये और कहींसे अत्याचारकी सूचना पाते ही अपनी और अपने समाजकी सम्पूर्ण शक्तिसे उसके विरोधको दिगन्तव्यापी बना देना चाहिये। ऐसा करनेसे अत्याचारपीडितको समाश्वासन मिलेगा, समाजमें अपना न्याय पानेका स्वाभाविक अधिकार सँभालनेकी भावना जागेगी। समाज शक्तिमान् हो जायगा और अत्याचार लुप्त हो जायगा।

यही वह साधुकी रक्षा है और यही वह दुष्टदमनकी चिरन्तन भावना है जो मनुष्यसमाजमें सदासे प्रचलित है और जिसकी समाजको सदा आवश्यकता रही है। किन्तु इसपर एक गम्भीर प्रश्न आकर खड़ा होता है कि इस कामको कौन करे ? सब लोग तो अपनी-अपनी काल्पनिक निश्चिन्ततामें अपना-अपना अहोभाग्य मनाकर सिकुड़े बैठे हैं। इस समस्याने जगत्की विचारधाराको अनेक दिशाओंमें दौड़ाकर बहुत-सी नवीन-नवीन समस्याएँ तो खड़ी कर डालीं परन्तु समाधान किसीका भी नहीं हुआ। इसलिये नहीं हुआ कि समस्याका मूल नहीं जाना जा सका।

बात यह है कि शान्ति ही मनुष्यके मनकी चिरन्तन प्यास या समस्या है । जबतक मनुष्य-हृदयकी इस स्वाभाविक प्यासको बुझानेका पक्का सार्वजनिक प्रबन्ध नहीं किया जाता तबतक मनुष्यकी तृष्णा और उसका पुत्र 'दुष्कृत' ये दोनों बढ़ते चले जाते हैं और समस्या अधिक-अधिक उलझती चली जाती है । दुष्कृत मनुष्यसमाजकी शान्तिको नष्ट-भ्रष्ट कर डालता है । दुष्कृत ही अत्याचार है। अत्याचारको आँखोंके सामने देखकर उसे सह लेनेकी भावना अत्याचारको जन्म देती है । अत्याचारके सम्बन्धमें उदासीनता भी अत्याचारका एक प्रधान कारण है । कुछ लोग इस उदासीन रहनेको भूलसे आध्यात्मिकताके रङ्गमें रँगना चाहते हैं, परन्तु यह आध्यात्मिकता नहीं है । यह तो अत्याचारका एक प्रधान कारण है । अत्याचारके सम्बन्धमें उदास रहनेकी भावनारूपी मिथ्या आध्यात्मिकता तो दास-मनोवृत्ति है। इसलिये दास-मनोवृत्ति है कि लोगोंके उदासीन रहनेसे अत्याचारियोंको बड़ा भारी समर्थन मिल जाता है । उदास होकर अत्याचार देखना सदा अत्याचारीका प्यारा और अनुगामी बने रहनेकी भावना है । यह भावना स्पष्टरूपसे दासता है । नाम-यश चाहनेवाले लोगोंमें सर्वत्र यह स्वभाव पाया जाता है कि वे लोग अत्याचारोंसे तटस्थ रहते हैं और उदासीन रहनेमें अपना कल्याण देखते हैं । यही बात इन्हें स्वार्थी बताती है । यदि इन्हें किसी स्वार्थका मोह न होता तो ये अत्याचार देखकर तटस्थ और उदासीन कैसे रह सकते ? यद्यपि ये लोग दिन-रात 'समाजसङ्गठन' शब्द मुँहसे रटते हैं और कुछ सङ्गठनोंका नेतृत्व भी करते हैं । परन्तु ये नहीं जानते कि सङ्गठन किसे कहते हैं ! इन लोगोंकी स्वार्थी तथा दासबुद्धि इन्हें इस मोटे सिद्धान्तको नहीं समझने देती कि किसी भी अत्याचारको पकड़कर उसका विरोध करने लगो —इसीसे समाजका सङ्गठन हो जायगा । अत्याचारोंके विरोध ही समाजसङ्गठनोंके स्वाभाविक उपाय तथा समाजको स्वाधीन बनानेकी स्वाभाविक रीति होते हैं । अत्याचारोंके विरोधोंसे ही समाजोंके सङ्गठन होते हैं और उन्हें स्वतन्त्रता प्राप्त होती है । अत्याचार सदा अत्याचारका विरोध देखकर ही पीछे हटता है । यह ऐसी स्वाभाविक रीति है कि इसमें सदा अत्याचारियोंको नीचा देखना पड़ता है और अत्याचारितका न्याय पानेका अधिकार स्वीकार करना पड़ता है । बस, अत्याचार लुप्त हो जाता है ।

अत्याचारसे पीडित होनेवाला अकेला ही मनुष्य सारे समाजके सामने सङ्गठित होनेका सुअवसर लाकर खड़ा कर देता है । विचारशील समाज इस सुअवसरसे लाभ उठाता है और अपनेको सङ्गठित करके अत्याचारको असम्भव बना देता है । परन्तु स्वार्थी अन्धा समाज अत्याचारोंसे जूझनेवाले उस अकेले वीरको असहाय अवस्थामें अवसन्न होनेके लिये अकेला छोड़ बैठता है और निर्लज्जतासे तटस्थ होकर पत्थरका हृदय बनाकर उसे अपने मध्यमें ही मिटते हुए देखता रहता है । वह एक सत्यसेवकका अपनेमेंसे मिटना पसन्द कर लेता है परन्तु अपने सांसारिक सुख-भोगोंमें विघ्न आनेकी कल्पनासे भी घबराता है। यह मनुष्यसमाजकी पतितावस्था है । जब कि अत्याचारको देखते ही मनुष्यका *मन चाहता है कि अत्याचार न हो तब अत्याचार* देखकर चुप रहनेका मनुष्यको अधिकार कहाँ है ? जो बात मनुष्यका मनोदेवता चाहता है उससे बचना आध्यात्मिकता कैसे है ? जब कि पशु-पक्षीतकका स्वभाव अपने साथीपर आयी हुई विपत्तिको अपने ऊपर आयी विपत्ति मानकर अत्याचारीका विरोध करता पाया जाता है तब उनसे अधिक विवेक रखनेवाले मनुष्य प्राणीका अत्याचारके प्रति उदास रहनेका अधिकार कहाँ है ?

अत्याचारपीडितको अत्याचारीके हाथों नष्ट होते देखना अमनुष्योचित भावना होनेसे मृत समाजका चिह्न है। अत्याचारकी घटनाको न सहना, किन्तु अपनी सम्पूर्ण शक्तिसे अत्याचारपीडितकी सहायता करना ही (१) अत्याचारका विरोध, (२) न्यायकी विजय और (३) सन्तके स्वधर्मकी रक्षा कहलाती है । परन्तु मायामोहमें फँसा हुआ मनुष्य ये तीनों काम नहीं कर सकता, वह तो असत्यके विरोधका अवसर आते ही अपनी भौतिक परिस्थिति बिगड़ जानेके डरसे सत्यको त्यागकर झट असत्यकी ओर झुक जाता है और अपनेको सम्मानहीन ढंगसे निष्कण्टक बना लेना चाहता है । उपर्युक्त तीनों काम वही मनुष्य कर सकता है जो स्वार्थके मोहमें फँसा हुआ न हो । विचारशील पुरुषोंमें स्वभावसे व्यक्तिगत स्वार्थोंका मोह नहीं होता । वे अत्याचारके विरोधका अवसर आते ही अपनी परिस्थिति बिगड़ जानेका डर छोड़कर अन्यायके विरोधमें अपना तन, मन, धन लगाकर न्यायको विजयी बनानेमें ही अपना सच्चा कल्याण और स्वधर्म समझकर अत्याचारविरोधनामक यज्ञमें सहर्ष कूद पड़ते हैं ।

समाजोंकी शान्ति संत अर्थात् भले लोगोंसे ही सुरक्षित रहती है। इसलिये रहती है कि वे अपने मनमें दूसरोंको उनके उचित अधिकारसे वञ्चित करके कोई लाभ उठाना नहीं चाहते। दूसरोंको उनके उचित अधिकारसे वञ्चित न करना ही 'सत्य' है और यही 'ईश्वरकी भक्ति' है। अत्याचार-पीडितोंका यह उचित अधिकार है कि वे अपने समाजके भले लोगोंसे सहानुभूति और सहायता प्राप्त करें। अत्याचारीलोग दूसरोंका उचित अधिकार छीनकर उससे लाभ उठाना चाहते हैं। उनकी यह इच्छा असत्य, अधर्म और नास्तिकता कहलाती है।

सत्य और असत्यमें सदासे झगड़ा है। यह सदासे मनुष्य-समाजके साथ लगा हुआ है। यह झगड़ा कभी मनुष्यसमाजसे नहीं हटेगा। मनुष्यसमाजको इस झगड़ेका दमन कर-करके ही अपनी प्यारी शान्तिको पाना पड़ेगा। इस झगड़ेका दमन किये विना मनुष्यसमाजको शान्ति नहीं मिलेगी। झगड़ोंके पीछे छिपी हुई शान्तिको ढूँढ़ निकालनेका एकमात्र मार्ग, स्वयं सत्यको अपनाना और असत्यका विरोध करना है। जब मनुष्यसमाज ऐसा करने लगेगा तब ही उसे शान्ति मिलेगी। शान्ति सदा अशान्तिकी ओटमें बैठी रहती है। जो अशान्तिसे लड़कर उसे मिटाता है उसे ही शान्ति मिलती है। अशान्ति देखकर डर जानेवालेको शान्ति कभी नहीं मिलती।

सत्यको अपनानेवाले मनुष्यका व्यावहारिक जीवन असत्यमार्गवालोंके मार्गकी रुकावट बन जाता है। इसलिये बन जाता है कि अत्याचारी लोग तो उसे अपने धन, मान तथा यशका साधन बनाना चाहते हैं और उससे अपनी इच्छाके अनुसार काम करा लेना चाहते हैं किन्तु सत्यनिष्ठ मनुष्य उनका आखेट बनना या उनके धन-मान आदिका साधन बनना स्वीकार नहीं करता। अत्याचारी लोग उसे अपने स्वार्थोंका काँटा समझकर उसपर और उसके जीवनसाधनोंपर आक्रमण करते हैं। कोई भी धर्मप्रेमी ईश्वरभक्त मनुष्य उस आक्रमणको देखकर चुप नहीं बैठ सकता। ये आक्रमण सत्यनिष्ठोंके लिये असत्यका विरोध करनेके अवसर होते हैं। यह कभी नहीं हो सकता कि कोई मनुष्य धर्मप्रेमी ईश्वर-भक्त हो और उसके सामने असत्यके विरोध करनेका अवसर उपस्थित न हो और वह निडर होकर उसका विरोध न कर पड़े। निडरता ही ईश्वरभक्तिका ज्वलन्त प्रमाण है। डरपोककी ईश्वरभक्ति तो विडम्बनामात्र है।

मनुष्यके ईश्वरप्रेम प्रकट करनेका एक प्रधान मार्ग है कि वह असत्यका विरोध करे। जो मनुष्य असत्यका विरोध करनेसे बचता हो वह ईश्वरका यथार्थ प्रेमिक नहीं है। ईश्वर-प्रेमियोंका यह स्वाभाविक कर्तव्य है कि वे अन्यायको देखते ही उसपर टूट पड़ें और उसके विरोधमें खड़े हो जायँ। यदि ईश्वरप्रेमी कहानेवाले लोग असत्य, अन्याय, अधर्म और नास्तिकताका विरोध करनेसे बचते हों और उदासीनता दिखाते हों तो उनकी ईश्वरभक्ति भक्तिका धोखा है। ईश्वरप्रेमी मनुष्य किसी सत्यप्रेमीको सत्यसिद्धान्तकी सेवामें अवसन्न होते हुए नहीं देख सकता। उसका सर्वशक्तिमान् ईश्वर उसे विरोध करनेके लिये विवश कर डालेगा और अपना बल देकर उससे विरोध करवायेगा। आजतक संसारमें जितने मनुष्य ईश्वरभक्त नाम पाकर गये हैं वे सब अन्यायोंके विरोधमें लड़े हैं और लड़ते-लड़ते अपना सर्वस्वतक स्वाहा करके गये हैं। ईश्वरभक्तोंकी ईश्वरभक्ति सदा अन्यायोंके विरोधोंसे प्रकट हुई है। ईश्वरभक्तोंका जीवनपथ कह रहा है कि—अन्यायका विरोध ही ईश्वरभक्ति प्रकट करनेका एक प्रधान-मार्ग है। सच्चे ईश्वरभक्त असत्य और अन्यायको सहन नहीं कर सकते।

सच्चे ईश्वरभक्त और संत वे लोग हैं जो समाजका अंग बनकर रहे हैं, जो समाजमें रहते हुए सत्यको अपना रहे हैं, जो असत्यसे जान बूझकर जूझ रहे हैं जो असत्यकी अधीनता स्वीकार करनेको किसी भी प्रकार उद्यत नहीं हैं जो अपना सर्वस्व खो देनेको तो उद्यत हैं परन्तु अपने अपनाये हुए सत्यमार्गका त्याग करनेको सहमत नहीं होते। मनुष्यके व्यावहारिक जीवनमें जिस पवित्रताकी आवश्यकता है, वही संतपन है, वही ईश्वरभक्ति है, वही परमार्थ है और वही सत्यनिष्ठा है। संत मनुष्यका परमार्थी जीवन उसके दैनिक व्यवहारोंमें ही दीख सकता है। व्यावहारिक जीवनक्षेत्रसे अलग होकर संतपनेका कोई मूल्य नहीं रहता। इसलिये ईश्वरभक्त कहलानेवालोंके सिरपर यह कर्तव्य आ ही जाता है कि वे अपने साथी मनुष्योंके सुख-दुःख, शान्ति-अशान्ति, अत्याचार, अन्याय, उत्पीडन आदि सब परिस्थितियोंमें उनके साथ खुल्लमखुल्ला सहानुभूति करें।

मनुष्यसमाजके भले लोग अपनी भौतिक शान्तिको अपना न मानकर सत्यकी मानते हैं। वे उसपर अपना व्यक्तिगत अधिकार नहीं मानते। वे उसे अपने पास रक्खी हुई सत्यनारायणकी धरोहर मानते हैं। वे उसपर सत्यनारायण-का पूर्ण अधिकार चलने देते हैं। वे उसे सार्वजनिक सम्पत्ति मानकर अपने उपयोगके समान अपने पड़ोसियोंकी सेवामें भी हर्ष तथा उत्साहके साथ लगा डालते हैं। वे अपनी

सम्पत्तिका उचित उपयोग आ खड़ा होनेपर कृपणता नहीं करते। वे पड़ोसीपर होनेवाले अत्याचारको अपने ऊपर होनेवाला मानकर अपनी सम्पूर्ण शक्तिसे उसे दूर करनेका प्रयत्न करते हैं। वे अपने अत्याचारपीडित साथियोंकी सहायतामें कूदकर सर्वभूतात्मैक्यका अलौकिक आनन्द प्राप्त करते हैं।

सत्यकी सेवा करनेका अवसर तो सामने खड़ा हो और मनुष्य कृपण बनकर अपने भौतिक सामर्थ्यको उसकी सेवामें लगानेसे रोक ले, यह मनोवृत्ति धनका मोह है। कुछ लोग इस प्रकारका धनमोह रखते हुए भी ईश्वरभक्त और सत्सङ्गी बननेका दिखावा करते हैं। न तो वह उनकी ईश्वरभक्ति है और न वह उनका सत्सङ्ग है। वह इसलिये दिखावा है कि सत्यके पीछे अपना सर्वस्व खो डालनेवाले सच्चे अर्थोंमें संत कहलानेके अधिकारी लोग तो उनकी आँखोंके सामने अत्याचार तथा उत्पीडनसे अवसन्न होकर विनष्ट हो रहे हों, और वे ईश्वरभक्त तथा सत्सङ्गी कहलानेवाले लोग उन्हें अवसन्न होता देखकर उपेक्षा कर रहे हों तो इसका यह अर्थ हुआ कि वे लोग सत्यके रक्षक व्यावहारिक संतोंके साथ आवश्यक सहानुभूति दिखाना—जो सच्चा सत्सङ्ग है—छोड़कर, कोरी बातें करनेको ही सत्सङ्ग समझ रहे हैं। यह बनावटी सत्सङ्ग है। ऐसे सत्सङ्ग शाब्दिक वाद-विवादोंमें परिणत होते पाये जाते हैं। सत्यकी शाब्दिक चर्चामात्र ही सत्सङ्गका रूप नहीं है, किन्तु सत्यकी व्यावहारिक सहायता करना सत्सङ्गका व्यावहारिक रूप है। कार्यरूपमें परिणत न होकर केवल शाब्दिक चर्चातक ही सीमित रहनेवाला भ्रान्त सत्सङ्ग समाजमेंसे जितना शीघ्र हट जाय, उतना अच्छा है। आज समाजको सत्यनिष्ठाके कारण कष्ट भोगनेवाले सत्यरक्षक संतोंके साथ व्यावहारिक सहानुभूति दिखानेवाले शक्तिशाली सत्सङ्गोंकी आवश्यकता है। इसलिये आवश्यकता है कि असत्यको पराभूत करनेकी शक्ति इसी सत्सङ्गमें है। भले लोगोंके ऊपर होनेवाले अत्याचारको अपने ऊपर मानकर उसके दमनमें सहायता पहुँचाना ही सच्चा सत्सङ्ग है।

दुर्भाग्यसे हमारे देशकी सामाजिक मनोदशा इतनी बिगड़ चुकी है कि वह अत्याचारोंके विरोध करनेका अपना स्वाभाविक अधिकार छोड़ बैठी है और उससे बचने लगी है। वह उदासीन रहनेमें अपना कल्याण समझने लगी है और इस उदासीनताको आध्यात्मिकतामें सम्मिलित करना चाहती है। हमारे समाजके भले कहलानेवाले लोगतक अत्याचारोंकी ओरसे आँखें मूँदते पाये जाते हैं। सब-के-सब टालनेका एक ही कारण बताते हैं कि 'ऐसे अत्याचार देशमें बहुधा हो रहे हैं हम किस-किसकी सहायता करें।' उनके इस कथनका एक अभिप्राय तो यह निकला कि क्योंकि सर्वत्र अत्याचार हो रहा है इसलिये अब तो उसे देखकर चुप हो जाना और सह लेना चाहिये और जब अत्याचार होना बन्द हो जाय तब अत्याचारोंका विरोध करना चाहिये। उनके इस कथनका दूसरा अभिप्राय यह निकला कि अत्याचारका विरोध करना अत्याचारीको छेड़ना है। जिस कारणसे एकपर अत्याचार हो रहा है यदि उसके बीचमें हम बोल उठे तो हमपर भी वही अत्याचार होने लगेगा। यदि हम उस कारणसे बचते रहेंगे तो हम अत्याचारसे भी बचे रह सकते हैं। इसलिये हमें अत्याचारीको नहीं टोकना चाहिये। बताइये अत्याचारके प्रति उदासीनता दिखानेका यह कितना निर्मूल कारण है!

अधिक क्या कहें, इस समय हमारा समाज अत्याचारोंकी बहुमुखी उद्दण्डताके आगे सिर झुकाकर खड़ा हो गया है। हमारे देशवासी निर्बल मनवाले हो गये हैं। आज हमारे देशवासियोंकी सामूहिक शक्ति धनोपार्जन और मान-प्रतिष्ठाके मोहमें फँस गयी है। आज उन्हें उस सुख-समृद्धि तथा मान-प्रतिष्ठाका मोह हो गया है जो अनीति और अन्याय करके ही सुगमतासे मिलती है। आज हमारे देशवासियोंका सामूहिक बल सुख-समृद्धि और मान-प्रतिष्ठा पानेके लोभमें इतना अन्धा हो चुका है, कि उसका उपेक्षापूर्ण व्यवहार अत्याचारियोंके अत्याचारोंका सहायक बन गया है। हमारे देशवासियोंकी सुख-समृद्धिकी नपुंसक इच्छाने अत्याचारियोंका उत्साह बढ़ा डाला है।

क्योंकि हमारे समाजमें अधर्मका अभ्युत्थान हो चुका है इस कारण किसी भी धर्मरक्षक मनुष्यके जीवनपर अकस्मात् विपत्ति टूट पड़ना अत्यन्त स्वाभाविक हो गया है। आज भारतवर्षमें हमारी आँखोंके सामने दुष्टताका बल बढ़ता चला जा रहा है और भले लोग उदासीनताके मोहमें फँसते चले जा रहे हैं! दुष्टलोग दिन-दहाड़े अत्याचार करके समाजको दुखी कर रहे हैं। उन्होंने देख लिया है कि समाजके अत्याचारको रोकनेवाली सब शक्तियाँ सोयी पड़ी हैं इसलिये निःशङ्क होकर मनमाने अत्याचार करो।

अत्याचारका दमन करनेवाली शक्ति न होनेसे देशमें अशान्ति खड़ी हो गयी है। अत्याचारका दमन करनेवाली शक्तिका न होना ही देशकी अशान्तिका स्वरूप है। मूर्खोंके ऊपर कर्तव्यका कोई बोझा नहीं होता। अब विचारशील

मनुष्योंका यह स्वाभाविक कर्तव्य है कि वे अपने समाज या देशमें न्याय और शान्तिको विजय दिलावें और अत्याचारियों-का उत्साह तोड़ डालें ।

इस कामके लिये किन्हीं नेताओंका मुँह देखनेकी आवश्यकता नहीं है । अच्छे कामोंका नेतृत्व वे भगवान् करते हैं जो सबके घटमें बैठे हैं । भगवान् भले लोगोंके हृदयोंमें शुभ विचारोंके रूपमें प्रकट होते हैं । स्वभावसे सदाचारी और न्यायमार्गपर चलनेवाले लोग भले लोग कहलाते हैं । भले लोग न तो अपने ऊपर अत्याचार सहते हैं और न दूसरोंपर सहते हैं । वे यह मानते हैं कि सत्यनिष्ठोंके ऊपर अपनी आँखोंके सामने अत्याचार होने देना और उसका सक्रिय विरोध न करना अत्याचारीके अत्याचारमें सहायक बन जाना है ।

अब समय आ गया है और भारतीय मन चाहता है कि हमारे समाजके विचारशील लोग अत्याचारवाली घटनाओंको किसी एक मनुष्यके दुर्भाग्यकी उपेक्षणीय कष्टकहानीमात्र न समझा करें, किन्तु उसे 'धर्मपर अधर्मका आक्रमण' माना करें और यही मानकर उस सम्बन्धमें अपना समयोचित कर्तव्य निर्णय करें । अब भारतीय हृदय स्वभावसे यह आशा करता है कि स्वाभिमानकी रक्षाके कारण अत्याचारपीडित सत्यनिष्ठोंके रक्षक साधुपरित्राता भगवान् विचारशील भारतीयोंके हृदयोंमें अत्याचारदमनकी क्रियाशील चिन्ताका रूप धारण करके भारतमें उतरें और समाजमें शान्ति तथा कल्याणकी स्थापना करें ।

अब विचारशील भारतीयोंके सामने यह प्रश्न उपस्थित है कि क्या वे सत्यको असत्यसे और धर्मको अधर्मसे बचानेके लिये कोई स्थायी उपाय करना चाहते हैं ? यदि वे सचमुच ऐसा कोई उपाय करना चाहते हों तो हमारी विनम्र सम्मतिमें हमारे समाजके प्रभावशाली धार्मिक लोगोंको उदासीनताको दासता मानकर उदासी छोड़कर आगे आना चाहिये और ऐसे सब लोगोंको मिलकर अत्याचारोंका विरोध कर सकने-वाली सोयी हुई शक्तियोंको जगाकर खड़ा कर लेना चाहिये । अर्थात् अब उन्हें देशके कोने-कोनेमें *सार्वजनिक रूपमें* अत्याचारपीडितोंको सहायता पहुँचानेवाले, अत्याचारियोंके विरुद्ध सारे समाजको सावधान करनेवाले और समाजबलसे अत्याचारोंका विरोध करनेवाले सङ्गठन बनाकर खड़े कर लेने चाहिये । सबको सङ्गठित होकर ऐसे प्रबन्ध कर लेने चाहिये कि अत्याचारी लोग कहीं भी अत्याचार न करने पावें ।

जगतका विश्वव्यापी दैनिक महायुद्ध किंवा ईश्वरकी अचिन्त्य क्रियाशीलता

(लेखक—दैवर्षि पं० श्रीरमानाथजी शास्त्री)

(पृष्ठ १०८५ से आगे)

आत्माके हितके उद्देश्यसे देहसुखको भोगना, नियमित इन्द्रियसुखकी इच्छा और न्यायसे प्राणोंका पोषण यह देवभाव है । आसुरभावमें सहन करना असामर्थ्य समझा जाता है । इनके यहाँ ईश्वर, सत्-असत् कर्मोंकी चर्चा सब कहनेमात्रकी होती है । समयपर सब कुछ होता है । इनके नियम (धर्म) कोट-पतलूनकी तरह बदल दिये जा सकते हैं । इनका कोई प्रजापति नहीं है । ये स्वयं प्रजापति हैं । आसुरभावमें मनुष्य अपने-आपको सर्वथा स्वतन्त्र रखना चाहता है । व्यक्तिस्वातन्त्र्य इनका प्रिय सिद्धान्त है । ऐसे लोग हरिश्चन्द्र और रन्तिदेवको निर्बुद्धि और पोच समझते हैं । माना कि ब्रह्माण्डकी तरह यह देह ही एक युद्धक्षेत्र है । क्रियाशीलता ही युद्ध है । बुद्धि शस्त्र है । मनुष्य-समाज ही योद्धा राजा है । और युद्ध करनेके कुछ नियम भी हैं । पर इसका उद्देश्य क्षुद्र नहीं है । महत्त्वयुक्त है और होना चाहिये । प्रजापतिकी सम्पत्तिको प्राप्त करना ही इसका मुख्य उद्देश्य (प्रयोजन) होना चाहिये । इस तरहके युद्धके लिये प्राचीन महर्षियोंने कितने ही सरल नियम बनाये हैं । मनु भगवान्‌ने इन नियमोंको पाँच तरहसे संक्षिप्त कर दिया है ।

> अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
> एतत्सामासिकं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनुः ॥

परपीड़ाका त्याग, शरीर वाणी और मनसे सचाई रखना, अन्यायसे परधन और परस्वार्थको हड़प न जाना; मन, वचन एवं कर्ममें पवित्रता रखना और इन्द्रियोंको विषयोंका लोलुप न बनाना—संक्षेपमें ये पाँच नियम दैव महायुद्धके हैं । इन्हींको पूर्वोक्त श्रुतिमें यज्ञ और उद्गीथ शब्दोंसे कह दिया है—'यज्ञे उद्गीथेनाऽत्ययाम इति' । देवगणोंका कहना है कि हम सब, कुछ कमजोर हैं तो क्या ! हम इन असुरोंको यज्ञमें उद्गीथसे हरावेंगे । यज्ञ शास्त्रोक्त

नियमोंका नाम है। और प्राणबलको उद्गीथ कहते हैं। शास्त्रोक्त नियममें रहकर क्रियाशीलता दैव युद्ध है। शास्त्रोक्त नियमोंमें रहनेमें प्राणबलकी आवश्यकता है। मनको वशमें रखनेके लिये किंवा इसको एकाग्र रखनेके लिये ये पूर्वोक्त पाँच नियम बनाये गये हैं। मनुष्यकी मनोवृत्तियाँ प्रतिपल चारों ओर अनर्गल फैलती रहती हैं। उन मनोवृत्तियोंका अनर्गल फैलाव गीताके पूर्वोक्त श्लोकोंमें कुछ दिखाया है। ऐसी मनोवृत्तियोंको वैध उपायोंके द्वारा संकुचित करते रहना—यह धर्म शब्दका रहस्य है। पर उसके साथ प्राणबलकी भी अपेक्षा है। अहिंसा आदि पाँचों नियमोंमें मनोवृत्तियोंको नियमित करनेका उपाय है—परपीड़ाका त्याग कहिये या काम, क्रोध, लोभके समय मनको रोकना कहिये—एक ही बात है। इतना ही नहीं, भारतीय धर्ममात्र मनोवृत्तियोंको संकुचित बनानेके लिये बनाये गये हैं। मन बड़ा भयंकर देवोंका भी देव है। और इसको जो वशमें रक्खे, वह देवाधिदेव है।

मनकी वृत्तियाँ दो प्रकारकी हैं, एक आसुर वृत्तियाँ और दूसरी दैव वृत्तियाँ। अनर्गल असंकुचित चलनेवाली वृत्तियाँ आसुर हैं। और नियममें रहकर संकुचितरूपमें निकलनेवाली वृत्तियाँ दैव कही जाती हैं। आसुर वृत्तियाँ बड़ी वेगवाली हैं; वे कहीं नहीं रुकतीं, अतएव जबरदस्त हैं, बलवती हैं। इसीसे युद्धश्रुतिमें उनके लिये कहा है कि 'ज्यायसा असुराः'। किन्तु दैव वृत्तियोंका वेग रुक-रुककर चलता है। अतएव उनका वेग कमजोर है। इसीलिये उस श्रुतिमें इनके लिये कहा है कि 'ततः कनीयसा एव देवाः'। किसी कारणसे देवगण कमजोर ही थे। नियमबद्ध पुरुषको रुकना ही पड़ता है।

मनको शास्त्रमें आत्माका सेनापति कहा है। यह अपने सिपाहियोंको साथ लेकर चारों ओरसे आत्मा और देहकी रक्षा करता है। किन्तु ये मनःसिंहजी जब इन्द्रियोंके द्वारा विषयरूप घूस अधिक लेने लग जाते हैं तब ये इसीकी सेना होकर भी आत्मा और देहको हरवा देते हैं।

> सखाय इन्द्रियगणा ज्ञानं कर्म च यत्कृतम्।
> सख्यस्तद्वृत्तयः प्राणः पञ्चवृत्तिर्यथोरगः॥
> बृहद्बलं मनो विद्यादुभयेन्द्रियनायकम्।
> यथा यथा विक्रियते गुणाक्तो विकरोति वा।
> तथा तथोपद्रष्टाऽऽत्मा तद्वृत्तीरनुकार्यते॥
> गुणाभिमानी स तदा कर्माणि कुरुतेऽवशः।
> शुक्लं कृष्णं लोहितं वा यथा कर्माभिजायते॥
> (भा० स्कं० ४)

सेनापति मनसहित दस इन्द्रियगण, इस आत्माकी सेना है क्योंकि ज्ञानसम्बन्धी किंवा कर्मसम्बन्धी जो कुछ युद्ध हो रहा है वह सब इनके द्वारा ही हो रहा है। दोनों तरहकी इन्द्रियसेनाका अधिपति मन है यह बड़ा बलवान् है। किन्तु यह पञ्चवृत्ति प्राणसे डरता है। पाँचों ज्ञानेन्द्रियोंमें अपनी पाँच वृत्तियोंको फैलाकर मुख्य आसन्य प्राण इस देहमें ही रहता है। मनुष्य जैसे सर्पसे डरते हैं ऐसे ही मन और मनोवृत्तियाँ इस मुख्य प्राणसे डरती हैं। और अन्तमें यदि कोई मनको वशमें कर पाता है तो वह प्राण ही है। अतएव युद्धश्रुतिमें इस प्राणको उक्थ कहा है। यद्यपि मनको वश करनेके अनेक नियम (धर्म) कहे गये हैं। किन्तु उन सबमें प्राण ही बल देता है। जब कभी मनको प्राण सहारा नहीं देता तभी यह मन विषयोंके लालचमें पड़कर रजस्तमके कीचड़में फँस जाता है। उस समय इसकी वृत्तियाँ कामासक्त होकर वेगवती, बलवती हो जाती हैं। उन्हींको युद्धश्रुतिमें 'ज्यायसा असुराः' कहा है।

मन जिस समय रजस्तमका बल पा जाता है तब यह बड़ा बलवान् हो जाता है। फिर किसीकी शक्ति नहीं है जो इसे वशमें कर सके। फिर आत्मा भी इसके वशमें हो जाता है। इसके परतन्त्र हो जानेसे इसकी वृत्तियोंका ही आत्मा भी अनुसरण करने लग जाता है। यद्यपि रजस्-तमस् दोनों पदार्थ हानिकारक हैं तथापि इनमें भूल-भुलैयामें डालनेकी विशेषता रही है इसीलिये इन्हें गुण शब्दसे कहा है। रजोगुण, तमोगुण, सत्त्वगुण—ये तीनों प्रकृतिके भी गुण हैं। जहरमें मिठास मिलानी पड़ती है, अफीमका नशा हानिकारक है किन्तु खानेवालोंको मोहसे उसमें गुण मालूम होता है। प्रकृतिके गुणोंमें रँगे हुए मनके परतन्त्र हो जानेसे आत्माको भी गुणोंका अभिमान हो जाता है। मोहसे आत्मीयता हो जाती है। तब फिर वह परतन्त्र होकर उत्तम, मध्यम और अधम कर्म करता रहता है। और जैसे-जैसे काम करता है उसी तरहका जन्म ग्रहण करता रहता है। यही आत्माकी पराजय है।

अस्तु, हमारे कहनेका तात्पर्य यह है कि दुनियामें दैव-आसुर-युद्ध चल रहा है। पर हार और जीत आत्माको भोगनी

पड़ती है । इस हार-जीतका मूल मन और मनोवृत्तियाँ हैं। क्योंकि अच्छे-बुरे दोनों युद्ध इन्हींके हाथमें हैं। आत्मा तो उपद्रष्टामात्र है । जैसे आज-कलके राजा-बादशाह । व्यवस्था-का कोई अंश उनके हाथमें नहीं है । कुल कार्रवाई पार्लमेण्ट या राजकर्मचारियोंके हाथमें रहती है । मन और मनोवृत्तियाँ जिधर ले जाती हैं उसीमें आत्मा परवश होकर अपने हस्ताक्षर कर देता है । मनोदेव बड़े भयंकर हैं । दानादि लौकिक धर्म, वर्णाश्रमादि वैदिक धर्म, यम, नियम, शास्त्राध्ययनादि धर्म, व्रत आदि और भी सब प्रकारके कर्म इस मनोदेवको वशमें करनेके उपाय हैं । पर सबमें अच्छा उपाय वही है जिससे यह मन एकाग्र हो जाय, अपने वशमें हो जाय ।

तं दुर्जयं शत्रुमसह्यवेगमरुन्तुदं तन्न विजित्य केचित् ।
कुर्वन्त्यसद्विग्रहमत्र मर्त्यैर्मित्राण्युदासीनरिपून् विमूढाः ॥

मनको विजय करना अति कठिन है । इसका वेग किसी-से रुक नहीं सकता । यह घरमें बैठा-बैठा ही आत्माके विरुद्ध इन्द्रियोंको उभारता रहता है । युद्ध इसके साथ होना उचित है पर लोग मनुष्योंके साथ युद्ध कर-करके व्यर्थ अपना और पराया नाश किये जाते हैं । मनको मारनेके लिये जहरीली गैसें, बम और हवाई तोपें तैयार करनी थीं । किन्तु वैसा न होकर मनुष्यसंहार कितनी त्वरासे और कितनी विशेप संख्यामें हो सकता है, इसके उपाय ढूँढ़े जा रहे हैं । वेदकी बूढ़ी बुद्धिमें तो मनको जीतनेके लिये यज्ञ (धर्म) और उक्थ-प्राण ही उत्तम शान्त उपाय है। क्या कहा ? चारों तरफ स्वतन्त्रताका विगुल बज रहा है। व्यक्तिस्वातन्त्र्य, स्त्रीस्वातन्त्र्य, धर्मस्वातन्त्र्य, वाणीस्वातन्त्र्य, सर्वतन्त्रस्वातन्त्र्य–स्वतन्त्रताकी आँधी आ रही है । मनको बेरोक छोड़ देना, बस, यही स्वतन्त्रताका रहस्य है । किसी समय धर्म और प्राणका बल था पर आज मनका बल सर्वतोभद्र माना जाता है । आज-कल मन ही सब कुछ है ।

कितने ही कहते हैं कि आत्मा, धर्म और प्राण आदि बातें सुखी अवस्थाकी हैं । इस समय भारतपर बड़ा कष्ट आया हुआ है । दुनियामें चारों ओर अर्थसंग्राम मचा हुआ है । सभी अर्थसम्बन्धी विचारोंमें तत्पर हो रहे हैं। अर्थ-कष्टको दूर करनेकी सोच रहे हैं । यह धर्मयुग नहीं है, अर्थ-युग है । इस समय धर्मकी बातें नहीं, किन्तु अर्थसम्बन्धी ही कोई विचार उपस्थित करना चाहिये । आपने तो न जाने किस सदीका आत्मा, धर्म, प्राणायाम आदिका पचड़ा छेड़ दिया ! ठीक है ।

दूसरे यह भी कहते हैं कि दुनियाके इस अन्तिम दो सौ वर्षके जीवनमें बड़ी उन्नति हुई है, प्रजाको सब तरहका सुभीता मिला है । विदेशमें हमें हमारे घरके समाचार घर बैठे मिल जाते हैं । बम्बई, कलकत्तेमें जो-जो बातें होती हैं उन्हें हम दूसरे दिन घर बैठे पढ़ लेते हैं । हजार कोसके दूर स्थानपर भी हम दो-तीन दिनमें पहुँच सकते हैं। हमारे सुख-दुःखमें आत्मीय लोग उतनी ही जल्दी आ सकते हैं । हम अपने कष्टकी खबर दूसरोंको एक घण्टेभरमें कहीं-की-कहीं पहुँचा सकते हैं। इत्यादि-इत्यादि सुख पहले कहाँ थे ?

इन सबका उत्तर हम क्रमशः देते रहेंगे । प्रथम तो यह विचारना है कि दुनियाभरमें यह अर्थकष्ट क्यों उत्पन्न हुआ । हमें बड़े खेदके साथ कहना पड़ा है कि इस अनिवार्य अर्थकष्टका मूल कारण भौतिक उन्नति और मनो-वृत्तिको अनर्गल बना देना ही है । हमारे विचार शास्त्रोक्त अतएव प्रामाणिक अवश्य हैं पर दुनियासे पृथक् नहीं हैं । सर्वसाधारणतया सृष्टिके प्रारम्भसे आजतक अर्थका ही जमाना रहा है, धर्मका नहीं । धर्म तो अर्थकष्टसे बचानेके लिये व्यवस्थापक रहा है । अर्थ और काम दोनोंकी रक्षा धर्मसे किस तरह की जाती है यह हम आगे अच्छी तरह स्पष्ट करेंगे । भारतवर्षपर जो कष्ट आ पड़ा है उससे हम अपरिचित नहीं हैं । सबको मालूम है कि यहाँकी कितनी ही प्रजाको भरपेट अन्न भी मिलना दुर्लभ हो रहा है । जिस भारतमें दूध-दहीकी नदियाँ बहती थीं वहाँ आज बचोंतकको दूध मिलना कठिन हो रहा है । पर प्रश्न यह उपस्थित होता है कि यह हालत किसने उपस्थित की । गाय काटनेवालोंने या गोरक्षा करनेवालोंने ? दुनियाके प्रत्येक मनुष्यने अपनी मनोवृत्तिको अनर्गल बना रक्खा है । सब स्वतन्त्रता चाहते हैं । और अभी भी मनोवृत्तिको असंकुचित बनानेका ही उद्योग चल रहा है । दिनोंदिन बढ़ती हुई भौतिक उन्नति और इन्द्रिय-सुख-भोगमें ही सब अपना हित समझ रहे हैं । इसीका यह परिणाम है कि एक भारतवर्ष ही नहीं सारी दुनिया विपद्ग्रस्त और त्रस्त हो चुकी है । यह निर्णीत है कि भौतिक उन्नति मनोवृत्तिको निरर्गल (बेरोक) बना देती है । भौतिक उन्नतिसे और मनोवृत्तिको निरर्गल बना देनेसे शान्ति और सुख दोनों निवृत्त हो जाते हैं । सुख बाह्य पदार्थ नहीं है, आध्यात्मिक है । वह भौतिक उन्नतिसे सर्वथा अप्राप्य है । शान्ति भी आन्तर है, बाह्य नहीं । बाह्य आडम्बरोंसे अशान्तिको दूर करना सर्वथा अशक्य है ।

अर्थसे अर्थकी तृप्ति नहीं होती। प्रत्युत लालसा बढ़ती है। 'लाभाल्लोभः प्रवर्तते'। इसका उदाहरण आजकी दुनिया है। अर्थका बढ़ना अर्थकष्टका उपाय नहीं है, प्रत्युत अर्थका परिमित रहना ही सुख और शान्तिका उपाय है।

मैं समझता हूँ कि धर्मशब्दका अर्थ न समझनेवाले और धर्मको न चाहनेवाले ही हमारे सिद्धान्तसे चिढ़ेंगे। किन्तु जो लोग धर्मके वास्तव अर्थको समझ चुके हैं उन्हें तो मानना पड़ेगा कि धर्म अर्थ और काम दोनोंका व्यवस्थापक है, रक्षक है। धर्म आन्तर पदार्थ है, बाह्य नहीं और सुख तथा शान्ति भी आन्तर हैं; अतएव इनका उपाय धर्म ही हो सकता है। युद्धश्रुतिमें जो 'यज्ञ' शब्द आया है उसका तात्पर्य बाह्य धर्मसे नहीं है किन्तु वह शब्द आन्तर धर्मको कह रहा है। अहिंसा आदि मनूक्त पाँचों धर्म आन्तर हैं और मनुष्यमात्रमें विद्यमान हैं। मनुष्य हिंसा भले करता रहे पर उसका हृदय अहिंसाको ही स्वीकार करता है। दुनियाकी स्थिति बनाये रखना यह 'धर्म' शब्दका अक्षरार्थ है। दुनियाके आसुर योद्धालोग अपनी जिस अनन्त सत्ताकी चाहना रखकर दैनन्दिन महायुद्धमें प्रवृत्त हो रहे हैं वह भौतिक उन्नतिमें नहीं है—विषयलालसा और मनोवृत्तिको असङ्कुचित बना लेनेमें नहीं है। वह अनन्त सत्ता धर्मके अक्षरोंमें है, धर्मके पालनमें है, 'धरतीति धर्मः' जो लोग अभीतक धर्म और ईश्वरको नहीं पहचान सके उनकी स्थिरता-अस्थिरताका विचार छोड़ दीजिये तथापि हम सर्वसाधारणका विचार करते हैं। प्रकृतिमें धर्म हैं इसलिये वह स्थिर है। धर्मोंसे ही प्रकृतिने अपनी स्थिति सम्हाल रक्खी है। अग्निका दाह, जलकी शीतलता, ऊखकी मिठास, सूर्यका प्रकाश प्रभृति प्रकृतिके ही धर्म हैं। ये बाह्य नहीं, आन्तर हैं। इन धर्मोंने ही प्रकृतिको अनादि-अनन्त सत्ता दे रक्खी है। किन्तु मनुष्यने अपने धर्म छोड़ दिये। मनुष्यके धर्म आध्यात्मिक हैं, भौतिक नहीं। क्योंकि मनुष्य चेतन है, आध्यात्मिक है; भौतिक नहीं। भौतिक उन्नति और भौतिक इन्द्रियोंके सुखके चक्करमें पड़कर मनुष्यने भौतिक धर्मोंको स्वीकार कर लिया है। अब मनुष्य अपने पैरोंसे चलना नहीं चाहता। भौतिक साधनोंसे ही पैरोंका काम लेना चाहता है। हवामें उड़ना चाहता है। अपनी आँखोंसे देखना अब इसे नहीं सुहाता। लन्दनके पदार्थोंको यहींसे देखकर खुश होना चाहता है। क्योंकि आँख परिमित हैं और यन्त्र अपरिमित। हजारों कोसकी दूरीका शब्द या गीत यहीं अपने कमरेमें सुनना चाहता है। अब कहिये, अर्थकष्ट किसने उपस्थित किया? धर्मने या भौतिक उन्नतिने, धर्मने या मनोवृत्तिको असङ्कुचित बनानेने। शौचसे निवृत्त हो आनेपर हाथ-पैरोंको निर्मल बनाना है। प्राचीन लोग मिट्टीसे और आजकलके भौतिक उन्नतिवाले बिलायती साबुनसे निर्मलता—निर्गन्धता करते हैं। हम मानते हैं कि साबुनसे भी गंध दूर होता है पर सवाल यह है कि अर्थकष्ट किससे बढ़ेगा। ऐय्याशी किससे बढ़ेगी। साबुनसे या मिट्टीसे? इस तरह प्रत्येक भौतिक उन्नतिकी तुलना हो सकती है।

धर्ममें त्याग है और भौतिक उन्नतिमें ग्रहण है। एक पदार्थको यदि सभी असङ्कुचितरूपसे ग्रहण करने लग जायँगे तो अर्थसंकुलता या अर्थकष्ट बढ़ेगा या घटेगा? अवश्य बढ़ेगा। और यदि प्रत्येक पदार्थके ग्रहण करते समय सब लोग कुछ-कुछ त्याग करते रहेंगे तो अर्थकष्ट कभी नहीं होने पावेगा। अतएव धर्म स्थापक है और भौतिक उन्नति नाशक है। माना कि विमान या ऐरोप्लेन उन्नति है और इससे किसी-किसीको सुविधा भी हुई है। पर इसमें अर्थका कितना व्यय हुआ है यह कभी सोचा है? आजके बीस वर्ष पहले बम्बई इलाकेमें स्लॉटर हाउस (कतलखाना) बनवानेके विचारपर एक महती प्रतिरोध सभा हुई थी। उस समय यह चर्चा हुई थी कि छोटे-से-छोटे विमानके निर्माणमें भी आठ गौओंका चमड़ा अपेक्षित है। आजकलके भौतिक उन्नतिप्रिय और व्यक्तिस्वातन्त्र्यको ही जीवनका मूल समझनेवाले गृहस्थोंके यहाँके चमड़ेकी वस्तुओंकी यदि गिनती की जाय तो शायद कम-से-कम एक-एक, दो-दो गौ-भैंस उनके बटवारेमें आवें ही। धर्मकी बात जाने दीजिये, किन्तु इससे अर्थकष्ट कितना बढ़ा है यह हिसाब किसीने किया है? ऐसी हालतमें घी और दूध भारतमें बच सकता है? मेरी समझमें तो यदि इसी तरह भौतिक उन्नति, व्यक्तिस्वातन्त्र्य और ऐन्द्रियसुखकी अनर्गलता बढ़ती रही तो पाँच-दस सालमें ही घी-दूध म्युजियममें रखने लायक वस्तुएँ हो जायँगी।

भौतिक उन्नतिका एक सामान्य दृष्टान्त ही अर्थकष्टको स्पष्ट करनेके लिये पर्याप्त होगा—कागज। कागजकी कितनी उन्नति हुई है यह कहना या गिनाना आज-कल दुष्कर हो गया है। भोजपत्रमें या किसी वृक्षके पत्तेपर लिखकर काम चलानेवाले ऋषि-महर्षि किंवा पुरातन विद्वानोंको ये आज कलके कलके पुतले पश्चिमी सभ्यताके उपासक भौतिकतामें तन्मय हो जानेसे

पोच, आलसी, मूर्ख, निरुद्यमी आदि न जाने कैसे-कैसे विशेषण देते हैं। किन्तु इन भौतिक हाथ-पैरवालोंने कभी यह भी सोचा है कि इस भौतिक उन्नतिने हमको कितना परतन्त्र और कितना दुर्बल बना दिया है। भौतिक उन्नतिपर ही आधार रखनेसे अध्यात्म अपना कर्तव्य छोड़ देता है। जो कागजपर लिखकर ही सब बातें याद रखनेके अभ्यासी हो जाते हैं उनकी बुद्धि निकम्मी हो जाती है। अतएव अब उन्हें कागजकी उन्नति करनी ही पड़ती है। आध्यात्मिक उन्नतिके समयमें मनुष्यकी बुद्धि इतनी निकम्मी नहीं हुई थी। उनकी बुद्धिका यह सामर्थ्य था कि भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों कालोंकी बातोंका अनुभव कर लेते थे। व्यास भगवान्ने पाँच हजार वर्ष पहले ही आज-कलके मनुष्योंकी स्थितिका चित्र खींच दिया है। भूतकालिक कितने ही कल्पोंकी कथाएँ भी उस समय कह दी थीं। कुमारिलभट्टको अपना ग्रन्थ सुनाकर जब प्रभाकर अपने ग्राम चले गये तो मार्गमें उनका वह ग्रन्थ कहीं गुम हो गया। वे बड़े दुखी हुए और अपने गुरुजीको लिखा कि मुझे लिखते खेद होता है कि मेरा ग्रन्थ खो गया। उसके उत्तरमें कुमारिलभट्टने उनका वह ग्रन्थ ज्यों-का-त्यों लिखवा कर भेज दिया। यह कहावत प्रसिद्ध है। जिस समय कागजकी उन्नति नहीं हुई थी उस समयकी मनुष्यकी धारणाशक्ति और आज जब कागजकी उन्नतिका पार नहीं है उस समयकी बुद्धिकी तुलना कीजिये। आपको अपने आप स्पष्ट हो जायगा कि उन लोगोंके लिये कागजकी उन्नतिकी अपेक्षा ही नहीं थी। माना कि कागजकी उन्नति होनेसे सरलता-सुविधा बहुत-सी हो गयी है किन्तु वह निरपेक्ष हुई है, उसकी इतनी अपेक्षा नहीं थी। बहुत-सी भौतिक उन्नति ऐसी हुई हैं कि जिनमें इन्द्रिय-प्रीतिके सिवा कोई तत्त्व नहीं है और न जिनकी अपेक्षा ही थी। प्रायः सभी भौतिक उन्नतियाँ ऐसी हुई हैं जिन्होंने मनुष्यको निकम्मा कर दिया है। शहरके लोग प्रायः सभी इतने शक्तिहीन हो चुके हैं कि अपनी टाँगोंसे वे दो कोस नहीं चल सकते। और आज भी गाँवके लोग दिनभरमें बीस कोस बिना थके चल सकते हैं। इसका कारण यदि देखा जाय तो सवारियोंकी भौतिक उन्नति ही है। कागजकी उन्नति भी ऐसी ही है। अमेरिकाके समुद्रमें या नदी-तालाबमें कितना जल घट गया है या बढ़ गया है, इस बातको जाननेके लिये पहले मनुष्योंको लालसा ही नहीं थी, आवश्यकता भी नहीं थी। किन्तु इस उन्नतिकी बाढ़के समयमें अमेरिकाका फलाँ बन्दर कितना नाचता है, इंगलैण्डका रीछ काला होता है या भूरा, और जैसलमेरके ऊँटने अमावस्याको कितना पानी पिया और उतना पानी अष्टमीको क्यों नहीं पिया—इन अनावश्यक समाचारोंको जाननेके लिये आजके नवीन शिक्षितसमाजको इतनी प्यास है कि जिसके लिये कागजकी उन्नति अवश्य करनी ही पड़ती है। केवल समाचारपत्रोंकी ही इतनी बाढ़ आयी है कि अब यदि वे कुत्ते-बिल्लियोंकी लड़ाई जैसी अनावश्यक और क्षुद्र बातोंको न छापें तो अपने कालम भरनेके लिये कोई अपेक्षित समाचार पानेको उन्हें बहुत व्यय करना पड़ता है। दैनिक, साप्ताहिक, अर्धसाप्ताहिक, पाक्षिक, मासिक आदि समाचारपत्र, दैनन्दिनी (डायरी), पुस्तकें और कापीबुक आदि साधारण अनावश्यक बातोंमें ही इतना कागजका व्यय सिरपर लादा गया है कि अर्थकष्ट, जनकष्ट और श्रमकष्ट दिनोंदिन बढ़ रहा है। जो जनता सीधी-सादी सुखसे शान्त जीवन बिताती थी उसके हृदयमें चिन्ता-ज्वर उद्दीपित कर दिया गया है। यदि पूछा जाय कि इस उन्नतिने मनुष्यके शरीरस्वास्थ्यमें या आन्तर सुखमें कितनी वृद्धि की, तो अवश्य निषेधमें ही उत्तर मिलेगा। अस्तु, इतना होनेपर भी भौतिक उन्नतिने सन्तोष नहीं किया। अभीतक उसे यह अपेक्षा बनी हुई है कि समाचारोंको इधरसे उधर पहुँचानेके लिये कुछ और होना चाहिये। इसलिये चिट्ठी, तार, टेलीफोन, वायरलैस और रेडियो आदि बने। अर्थकष्ट बढ़ा, घटा नहीं। अर्थकष्ट और बेकारी बढ़ रही है अतएव कागज बनानेके कारखाने बनाये। प्रेसोंका निर्माण किया। टाइपफौण्डरी वगैरह तैयार हुई। तार, चिट्ठी, टेलीफोन, वायरलैस, रेडियो प्रभृतिमें भी मनुष्यसंख्याका बटवारा किया गया। पर अर्थकष्ट और बेकारी बढ़ती ही गयी। 'मर्ज बढ़ता गया ज्यों-ज्यों दवा की।' यदि कमीशन बैठाया जाय तो अनुमान है कि शायद रोगोंसे ज्यादा डाक्टर-वैद्य निकलेंगे। यही भौतिक उन्नतिमें भी हुआ है। अपेक्षासे ज्यादा उन्नति हो रही है। अतएव यह अर्थकष्ट भौतिक उन्नति, विषय-लालसा और मनोवृत्तिको अनर्गल कर देनेका प्रभाव है। ज्यों-ज्यों ये तीनों बढ़ती गयीं त्यों-त्यों अर्थकष्ट और बेकारी भी बढ़ती गयी। और जैसे-जैसे अर्थकष्ट और बेकारी बढ़ी वैसे-वैसे यह दैनन्दिन विश्वव्यापी महायुद्ध सात्त्विकसे राजस और राजससे तामस होता चला गया। और अब तो तामसमें भी राक्षस हो चुका है। अपने लिये एक दूसरेका निर्दय नाश करनेपर जगत् तुला हुआ है।

ऐन्द्रियसुखभोगेच्छाकी अनर्गल मनोवृत्तिको पूर्ण करनेके लिये अवैध भौतिक उन्नति हो रही है और फिर इन दोनोंने मनुष्यको राक्षस बना दिया है।

अनर्गल इन्द्रिय-सुखभोगेच्छाकी गति ही ऐसी है। सफल होनेके पहले सुखभोगेच्छा कदाचित् मर्यादित रह सकती है, किन्तु पूर्ण होनेके पश्चात् यह उतनी ही रही आवेगी यह असम्भव है। हमारी जो-जो सुखभोगेच्छाएँ पूर्ण हो जाती हैं, तत्सम्बन्धी सुख हमारी निगाहमें चिरकाल नहीं ठहरता। अभ्यास हो जानेसे वह सुख हमें सुख नहीं मालूम देता। प्रत्युत उससे बढ़ी-चढ़ी इच्छाएँ और भी प्रबलरूपमें पैदा हो जाती हैं और उनकी पूर्ति करनेके लिये मनुष्य फिर श्रम और दुःख उठाने लगता है। अतः दुःखका विराम कभी नहीं होता।

दुःखेष्वेकतरेणापि दैवभूतात्महेतुषु।
जीवस्य न व्यवच्छेदः स्याच्चेत्तत्प्रतिक्रिया॥

ऐन्द्रियसुखभोगके साधन और वह सुखभोग दोनों मर्यादित और परिमित ही हैं। किन्तु उनकी लालसाएँ अपरिमित और अमर्यादित ही होती रहती हैं। इन्द्रिय-सुखभोगेच्छाओंका विराम न कभी हुआ है और न होगा। वास्तवमें विचार किया जाय तो वैसी सुखभोगेच्छा भी एक मानसिक परिणाम या मनोवृत्ति ही है। वहाँ न तो सुखसाधनोंकी अपेक्षा है और न बाह्य क्रियाओंकी। स्त्रीसम्भोगके स्वप्नकी तरह वहाँ तो केवल मन है और उसकी कल्पनाएँ। अब यदि ऐसी सुखभोगेच्छाओंके परवश होकर मनुष्य अपने व्यवहारोंको भी उनके पीछे जोड़ दे तो दुःख ही बना रहेगा। अतएव भगवान्‌ने ऐसी सुखभोगेच्छाओंका निषेध किया है।

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ॥
(गीता)

प्रत्येक इन्द्रियका विषयोंपर राग और द्वेष व्यवस्थित है, किसी नियत व्यवस्थासे युक्त है। गाना अच्छा मालूम देता है, रोना बुरा। मधुर रसपर प्रीति रहती है और कड़ुएपर द्वेष होता है। यह स्वाभाविक नियम है। इसलिये मनुष्यको चाहिये कि वह उनके परतन्त्र न हो जाय। इन्द्रियविषयोंका आदी न हो जाय। क्योंकि धीरे-धीरे आगे चलकर ये राग और द्वेष ही मनुष्यके वैरी हो जाते हैं। द्वेषको छोड़कर मनुष्य ऐन्द्रियसुखमात्रके अधीन हो जाता है। इन्द्रियसुखके परवश हो जानेवाले प्रत्येक मनुष्यके हृदयमें लालसा बढ़ जानेसे अपरिमित और अमर्यादित सुख-भोगेच्छा जागती रहती है। अब यदि मनके दमनका कोई अनिवार्य नियम न रहे तो यह अवश्य प्राप्त है कि प्रत्येक मनुष्य अपनी अनर्गल मनोवृत्तिकी पूर्तिके लिये सुखसाधनोंका विशेष-से विशेष संग्रह करने लगेगा। किन्तु जगत्‌में सुखके साधन तो परिमित और मर्यादित ही हैं। यहाँसे अर्थकष्ट और भौतिक उन्नतिकी जड़ जमती है। सङ्घर्ष, परपीड़ा और वैरका प्रारम्भ होने लगता है। प्रजापतिने अपनी प्रजाके जीवनोपयोगी सभी सुखसाधनोंकी सृष्टि कर दी है। किन्तु वे सभी प्रजाके लिये समान रीतिसे बटवारेमें आ सकें, इतने ही पर्याप्त हैं, अधिक नहीं। ऐसी अवस्थामें यदि कोई अनर्गल मनोवृत्तिके परवश हुआ मनुष्य चाहे कि मैं अकेला ही सारे सुखसाधनोंका संग्रह कर लूँ और इस तरह उनका अपरिमित—अमर्यादित संग्रह करने लगे तो अर्थ-कष्ट बढ़ेगा ही। अपरिमित—अमर्यादितरूपसे संग्रह करनेके लिये सुखसाधन पर्याप्त नहीं हैं और न वे इस तरहसे सुखके साधन रहते हैं। प्रत्युत वे दुःखप्रद हो जाते हैं।

यत्पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः।
न दुह्यन्ति मनःप्रीतिं पुंसः कामहतस्य ते॥

जिस समय मनुष्यकी ऐन्द्रियसुखभोगेच्छा अमर्यादित हो जाती है, उस समय दुनियाके सभी अन्न, धन, पशु और स्त्री आदि उस एकके लिये भी पूर्ण नहीं होते। उसका मन सन्तुष्ट होता ही नहीं। तृष्णा बढ़ती ही रहती है। ऐसी अवस्थामें भौतिक उन्नतिका पाया डाला गया है। और तभीसे गुप्त रीतिसे अर्थकष्टका भी प्रारम्भ हुआ है। आज जो चारों ओर बेकारी और अर्थकष्टका हाहाकार मचा हुआ है यह तो उस पायेसे अब बड़ी बिल्डिंग (इमारत) तैयार हुई है। रेल, मोटर, साइकल, कल, कारखाने, तार, डाक, टेलीफोन, रेडियो, टेलीविजन, वायर-लैस, बिजली, कपड़ेकी मिलें, पानीके नल प्रभृति सब अनर्गल सुखभोगोंके बढ़ते हुए नमूने हैं। और इन सबसे अन्न, अर्थ-कष्ट, परस्पर कलह, ईर्ष्या, द्वेष, अविश्वास, अन्याय उत्पीडन, भय, अशान्ति और नाशका बगीचा खिला है। प्रत्येक भूभागोंमें यह बगीचा खिला हुआ प्रत्यक्ष है। आज-कल सभी एक दूसरेको निर्दयतापूर्वक निगल जानेके लिये तैयार हैं।

प्रकर्ष सुर है, अप्रकर्ष असुर है, यह ठीक है किन्तु इसकी जमीन दूसरी है। इसकी भूमि अध्यात्म है, अधिभूत नहीं। इन्द्रियोंका नियमन है, अनर्गल की हुई मनोवृत्तियाँ नहीं। सारे यूरोपके प्रत्येक मनुष्य और स्त्रीने अपनी मनो-

वृत्तियोंको अनर्गल बना रक्खा है। उनके यहाँके प्रायः सभी नियम मनुष्यकी मनोवृत्तिको अनर्गल कर देनेके लिये ही गढ़े जाते हैं। उनका कोई भी सामाजिक नियम ऐसा नहीं है जो अनर्गल बढ़ती हुई सुखभोगेच्छा और भौतिक उन्नतिपर अंकुश हो सके। दृष्टान्तके तौरपर उनके यहाँ हरेक मनुष्य जूते बनानेका काम कर सकता है। प्रत्येक मनुष्य अध्यापक हो सकता है। सभी स्त्रियाँ स्त्रियाँ हैं—भोग्या हैं।

भारतवर्षकी सभ्यतामें और यहाँके नियमोंमें मनुष्यकी अनर्गल बढ़ती हुई ऐन्द्रियसुखभोगेच्छा और अमर्यादित अधार्मिक भौतिक उन्नतिको पाप्मा कहा है। इसका विवेचन करनेके लिये हम फिरसे छान्दोग्य और बृहदारण्यक उपनिषद्‌की युद्धश्रुतिपर पाठकोंकी दृष्टि लाते हैं। 'द्वया ह प्राजापत्याः' इत्यादि श्रुतिसे हम देवासुर-संग्रामकी चर्चा कर चुके हैं। और उसको समझनेके लिये ही संग्राम, देवासुर और प्रजा-प्रजापति प्रभृतिके स्वरूपको अच्छी तरह समझा चुके हैं। देवगणने यह विचार किया कि हम असुरोंसे दुर्बल हैं अतएव यज्ञ और प्राणके आश्रयसे इन असुरोंको जीतें। यज्ञ और धर्मका भी स्वरूप हम संक्षेपमें सूचित कर चुके हैं। क्रियाशीलता युद्ध है। नियमित क्रियाशीलता देवसंग्राम किंवा धर्म है और अनर्गल क्रियाशीलता ही आसुरसंग्राम किंवा अधर्म है। धर्मको ही यज्ञ कहते हैं। धर्म जब शिथिल होने लगता है तब प्राण ही उसमें बल पहुँचाता है। प्राण और यज्ञसे देवोंका विजय होता है।

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।

ये संक्षेपमें पाँच धर्म हैं। मनोवृत्तिको मर्यादित करना—सङ्कुचित करना यह धर्म शब्दका रहस्यार्थ है। नियम शब्दका भी अक्षरार्थ यही है। जिस समय प्रजापतिने प्रजाको उत्पन्न किया उसी समय युद्धके कुछ नियम भी बना दिये। ये नियम ऐसे हैं जिनका बराबर पालन होनेपर सुरोंको अवश्य विजयप्राप्ति होती है। अपने पिता प्रजापतिकी सम्पत्तिका मिलना ही प्रजाका विजय है। मनोवृत्तियाँ ही सुरासुर प्रजा हैं। इनका परस्पर युद्ध हो रहा है अतएव ये सिपाही हैं, योद्धा हैं। क्रियाशीलता ही युद्ध है। मन इनका जमादार किंवा कमाण्डर है। और बुद्धि ही सेनापति है। ये दो तरहकी हैं व्यवसायात्मिका और अव्यवसायात्मिका। व्यवसायात्मिका बुद्धि सेनापति अपने सिपाहियोंको युद्ध-नियमोंको समझा-समझाकर मनको उनका पालन करनेके लिये ताकीद करता रहता है। गीताके ठाकुरने कहा है कि—

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥

प्रजापतिने प्रजा और उनके यज्ञ (नियम) दोनोंको साथ-साथ पैदाकर अपने पुत्रोंसे कहा कि अगर आपलोग इन नियमोंका पालन करते रहेंगे तो आप जो चाहेंगे वही फल इनसे मिलते रहेंगे। 'नितरां यमः वृत्तिसङ्कोचो येन स नियमः।' अपेक्षित वृत्तिसङ्कोच जिसके द्वारा होता रहे वह नियम है। यज्ञ भी इसी अर्थको कहता है।

इन्द्रियवृत्तियाँ यदि प्रकाशरूप हों तो देव कही जाती हैं। और यदि वे केवल चल किंवा आवरण करनेवाली अप्रकाशरूप हो जायँ तो असुर कही जाती हैं। मनोवृत्तिको बाहर फैलनेके लिये, कार्य करनेके लिये दस इन्द्रियवृत्तियाँ द्वार हैं। कार्य करनेमें हितकारक सुविधा होनेके लिये आत्माने अपना ही ज्ञान बुद्धिके द्वारा इन्हें बाँट रक्खा है। इनमें पाँच ज्ञानेन्द्रियवृत्तियाँ प्रधान हैं। इनके द्वारा जब मनोवृत्तियाँ बाह्य होती हैं तब वे इन्हीं इन्द्रियोंकी वृत्तियोंके नामोंसे पुकारी जाती हैं; यथा—दृष्टि, श्रुति, स्पर्श, गन्ध और रस। अप्रधान इन्द्रियाँ भी पाँच हैं—विसर्ग, स्पर्शानन्द, जिह्वा, गति और आदान (लेना)। इन इन्द्रियवृत्तियोंका ऐसा कोई स्वाभाविक स्वरूप नहीं है जो ये अपने-आप किसी नियमसे आवें-जावें। इन दसोंमें ज्ञानकी तरह मनोवृत्तियाँ भी घुसी हुई हैं। मनोवृत्ति स्वभावतः क्रियाशील है अतएव उसके भीतर भी कोई ऐसी रोक नहीं है जो वह अपने-आप रुकी रहे और अपनी अन्य वृत्तियोंको भी रोक रक्खे। यह काम ज्ञानका है। वह बुद्धिके पास है। आत्माके हित-अहितकी परीक्षा करके कर्तव्यका जो निश्चय कर चुकी है वह बुद्धि व्यवसायात्मिका है। व्यवसायात्मिका बुद्धि ही इन्द्रियवृत्तियोंको नियममें चला सकती है—रोक सकती है।

नियम शब्दका, धर्म शब्दका और यज्ञ शब्दका यदि दूसरी तरह विचार करें तो कह सकते हैं कि अनियममें, अधर्ममें और पाप्मामें केवल ग्रहण है और धर्म, यज्ञ और नियममें त्याग है, वृत्तिसंकोच है। यदि गहरा विचार किया जाय तो 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' इस सूत्रका भी तात्पर्यार्थ यही है। विधिका भी यही अर्थ है। शास्त्रमें जिस कार्यको कर्तव्य कहा है 'वह करो' इस विधिमें अशास्त्रीय कर्तव्योंका त्याग निहित है। जो मनोवृत्ति शास्त्रीय-अशास्त्रीय सभी ही कर्तव्योंमें अनर्गल प्रवृत्त होती थी उसपर इस विधिने अङ्कुश कर दिया है, वृत्तिका सङ्कोच कर दिया है।

फलेन परिचीयते

(लेखक—म० श्रीबालकरामजी विनायक)

साधना कोई भी हो, किसी भी सम्प्रदायकी हो, पूर्वीय वा पाश्चात्य पद्धतिकी हो, यदि उसका लक्ष्य भगवत्प्राप्ति है, तो भगवत्साक्षात्कारके प्रथम 'रामनाम' (जिसे कामिल और आमिल 'इस्मे-आज़म' * कहते हैं) का अचिन्त्य, अपूर्व एवं अनिर्वचनीय निनाद अखण्डात्मक ज्योतिष्मान् होगा और साधकमें भगवदीय दर्शनकी क्षमता उत्पन्न कर देगा। हिंदू संतोंका तो अनुभव है ही, भगवत्प्राप्त मुसलमान फ़क़ीर भी इसी निश्चयको पहुँचे हैं।

देवनागरी वर्णमालापर अनेक महात्माओंकी बाराखड़ियाँ हैं। जैसे सुदामाजीकी बाराखड़ी, मलूकदासजीकी बाराखड़ी। इसी तरह फारसीके अक्षरोंपर भी अनेक महानुभावोंके अलिफ़नामे हैं; जैसे ओजहनशाह, कबीरदासजी, रामसहायजी आदिके अलिफ़नामे। इनमें विशद पारमार्थिक भाव भरे पड़े हैं।

अल्लामा सुबहान साहब भी एक पहुँचे हुए फ़क़ीर हुए हैं। उन्होंने भी एक अलिफ़नामा लिखा है। उसकी एक रूबाई (चौपदा) नीचे देखिये—

अज़[1] रेआज़त[2] ता-[3]ब-मंज़िलगाहे[4]-इश्क़[5]।
शस्त-दह[6] ग़ौवासियाँ[7] दर-राहे[8]-इश्क़॥
चूँ[9] अलिफ़[10] आयद[11] मियाने[12] रे[13] व मीम[14]।
दर[15]-हक़ीक़त रू[16] नुमायद[17] शाहे[18]-इश्क़॥

अर्थात् योगाभ्याससे प्रेमकी ध्रुव-चोटीतक [पहुँचनेके लिये] प्रेममार्गमें सोलह तल्लीनताएँ†—(सहज समाधिकी अवस्थाएँ) हैं। (रे अक्षरसे मीम अक्षरतक इनके बीचमें, केवल सोलह ही अक्षर पड़ते हैं)। जब रे और मीमके बीचमें 'अलिफ़' आ जाता है (अर्थात् राम शब्द बन जाता है) तब प्रेमका राजाधिराज, प्रियतम प्रभु, आपरूप भगवान् वस्तुतः दर्शन देता है।

'अलिफ़'का अर्थ एक हज़ार है; जैसे 'अलिफ़-लैला' (सहस्र रजनी)। इसका ध्वन्यात्मक भाव-व्यञ्जन 'सहस्रार' की ओर है। योगीजन इसके मर्मको अच्छी तरह समझते हैं। वहीं आशिक़ और माशूक़ (प्रेमी और प्रीतम) का वसाल (मिलन) होता है। वहीं एक बार निर्भ्रान्तरूपसे अनुभव होता है कि 'राम-नाम' ही सत्य है। मृतकके साथ चलनेवाले उसी अभिप्रायको लेकर—'राम-नाम सत्य है'—घोषित करते जाते हैं।

---

* देखिये 'कल्याण' वर्ष ११, संख्या १०, पृष्ठ १३४७।

१. अज़=से। २. रेआज़त=योगाभ्यास। ३. ता-ब=तक। ४. मंज़िलगाहे=प्राप्यस्थान, परधाम। ५. इश्क़=प्रेम। ६. शस्त-दह=सोलह। ७. ग़ौवासियाँ=तल्लीनताएँ। ८. दर-राहे-इश्क़=प्रेमके मार्गमें। ९. चूँ=जब। १०. अलिफ़=प्रथमाक्षर। ११. आयद=आवे। १२. मियाने=बीचमें। १३. 'रे'=१४वाँ अक्षर। १४. 'मीम'=३१वाँ अक्षर। १५. दर-हक़ीक़त=वस्तुतः, वास्तवमें। १६. रू=मुख। १७. नुमायद=दिखलावे। १८. शाहे-इश्क़=प्रेमराज, भगवान्।

† (१) जाग्रत्। (२) जाग्रत्के भीतर स्वप्न। (३) जाग्रत्के भीतर सुषुप्ति। (४) जाग्रत्के भीतर तुरीय। (५) स्वप्न। (६) स्वप्नके भीतर जाग्रत्। (७) स्वप्नके भीतर सुषुप्ति। (८) स्वप्नके भीतर तुरीय। (९) सुषुप्ति। (१०) सुषुप्तिके भीतर जाग्रत्। (११) सुषुप्तिके भीतर स्वप्न। (१२) सुषुप्तिके भीतर तुरीय। (१३) तुरीय। (१४) तुरीयके भीतर जाग्रत्। (१५) तुरीयके भीतर स्वप्न। (१६) तुरीयके भीतर सुषुप्ति।

आळवार कवयित्री गोदा

(लेखक—श्रीयुत का० श्री० श्रीनिवासाचार्यजी)

मातः समुत्थितवतीमधिविष्णुचित्तं
विश्वोपजीव्यममृतं वचसा दुहानाम् ।
तापच्छिदं हिमरुचेरिव मूर्तिमन्यां
सन्तः पयोधिदुहितुः सहजां विदुस्त्वाम् ॥ १ ॥
तातस्तु ते मधुभिदः स्तुतिलेशवश्यात्
कर्णामृतैः स्तुतिशतैरनवाप्तपूर्वम् ।
त्वन्मौलिगन्धसुभगामुपहृत्य मालां
लेभे महत्तरपदानुगुणं प्रसादम् ॥ २ ॥
दिग्दक्षिणापि परिपक्त्रिमपुण्यलभ्यात्
सर्वोत्तरा भवति देवि ! तवावतारात् ।
यत्रैव रङ्गपतिना बहुमानपूर्वं
निद्रालुनापि नियतं निहिताः कटाक्षाः ॥ ३ ॥

—श्रीवेदान्तदेशिकाचार्य

प्रवेश

भारतकी भक्ति-धारा दक्षिणसे उत्तरकी ओर बही है। दक्षिणके आळवार और नायन्मार भक्ति-मन्दाकिनीके हिम-शैल हैं। आळवार वैष्णवधर्मके और नायन्मार शैवधर्मके संत हैं। प्रायः दोनोंके भक्तिमार्ग और उपासनाप्रणालीमें समता है। दोनों विशेषतया ईश्वरीय प्रेमको ही महत्त्व देते हैं।

तमिळ प्रान्तकी भक्तिधारा बहुत पुरानी है। आळवारोंके समयसे पहले भी वैष्णवधर्म प्रचलित था, इसके कई प्रमाण तमिळके प्राचीन सङ्घ-साहित्यमें मिलते हैं।

आळवार विशिष्टाद्वैत अर्थात् श्रीसम्प्रदायके संत हैं। यह सम्प्रदाय प्राचीन एकायन, भागवत वा पाञ्चरात्र धर्मका ही रूपान्तर है। दक्षिणमें श्रीवैष्णव और माध्व-सम्प्रदाय; उत्तरमें श्रीसम्प्रदायके अतिरिक्त निम्बार्कका सनक-सम्प्रदाय, वल्लभाचार्यका पुष्टिमार्ग और रामानन्द स्वामीका 'रामायत सम्प्रदाय'—ये सभी वैष्णवधर्मकी शाखाएँ हैं। इन सभी शाखाओंका मूलस्रोत एक होनेके कारण इनमें मतभेद होते हुए भी समानताकी मात्रा अधिक है। भाई-भाईमें अभिप्राय-भेद होनेपर भी, आखिर वे भाई ही तो हैं! आज जब हम अन्तर-प्रान्तीय साहित्यके एकीकरणकी ओर उन्मुख हैं, तब हमारा यह कर्तव्य हो जाता है कि हम अपने धार्मिक साहित्यका भी सङ्गठन करें। वह कैसा सुदिन होगा, जब इन सभी शाखाओंके वैष्णव एक सूत्रमें बँध कर अपनी समताओंका अनुसन्धान करेंगे और अपने सुपुष्ट धार्मिक सङ्गठनसे हिंदू-धर्मके साथ-साथ विश्वधर्मको भी पुष्ट करेंगे; क्योंकि वैष्णव-धर्ममें विश्वधर्मके सार्वभौम सिद्धान्त गर्भित हैं और इसीसे उसे विश्वधर्ममें विशिष्ट स्थान मिला है! वह दिन कितना सुन्दर होगा, जब यह सारी वैष्णव-मण्डली अपने आपसकी शाखाओंके संतोंके ग्रन्थोंको पढ़ेगी और जानेगी कि उन सबकी हृदयधारा एक है!

आळवार

'आळवार' शब्दका अर्थ है—'मग्न'। भगवद्भक्तिमें तथा भगवद्गुणोंके अनुभवमें मग्न होनेके कारण वे 'आळवार' कहलाये। कहा भी है—'क उत्तमश्लोकगुणानुवादात् पुमान् विरज्येत विना पशुघ्नात् ।'

आळवारोंकी संख्या बारह है और इन द्वादशादित्योंके उदयसे भक्ति-साहित्यका गगनाङ्गन देदीप्यमान हो उठा है। सभी आळवार रहस्यवादी हैं। वे उस अदृश्यकी खोजमें लगे हुए हैं जो डाल-डालपर भागता है और वे पात-पातमें उसे खोजते हैं। वे मनीषी जगत्‌के सभी नैसर्गिक और अनैसर्गिक दृश्योंको अपने सामने देखते हैं। वे प्रकृतिके अणु-अणुमें विश्वात्माके दर्शन करते हैं। वे मेघोंके साथ सञ्चार करते हैं, पर्वतोंके साथ ऊपर उठते हैं, तरङ्गोंके साथ नाचते हैं, फूलोंके साथ हँसते हैं, भौंरोंके साथ गुंजार करते हैं, कोयलोंके साथ कूकते हैं और हंसोंके साथ उड़ते हैं। भगवान्‌के श्रीचरणोंमें अनुरक्त होकर वे यमको तुच्छ समझते हैं। वे कहते हैं—'उठो, जागो! दुनियाका शाप मिट गया। यातनाप्रद नरक नष्ट हो गया। यमका अब यहाँ कोई काम न रहा। देखो कलिका सर्वनाश हो गया। भूतल-पर भगवान्‌के असंख्य सेवकगण—उनके पार्षद उनका गुणगान करते हुए सर्वत्र सञ्चार कर रहे हैं!!' 'कृतकृत्याः प्रतीक्षन्ते मृत्युं प्रियमिवातिथिम्' कहे जानेवाले लोगोंसे भी वे श्रेष्ठ हैं। उनकी कृतियोंसे तमिळ-साहित्यका भंडार भरा हुआ है।

आळवारोंमें सभी जातिके लोग थे। वे अपनी भगवद्भक्ति और आत्मोन्नतिके कारण समानभावसे एक ही मार्गमें एकत्रित हो गये थे। श्रीवैष्णव जनता उनको साक्षात् ईश्वर-से भी अधिक मानती है और मन्दिरोंमें उनकी मूर्तियोंकी

प्रतिष्ठा कर, भगवान्की भाँति ही उनकी नित्य पूजा करती है। भगवान्के समान ही उनके उत्सव भी मनाये जाते हैं। उनकी दिव्य सूक्तियाँ भगवान्के 'पाञ्चरात्र' से भी अधिक आदृत होती हैं।

यद्यपि सेंट मार्टिनने कहा है—"All mystics speak the same language, for they come from the same country." यानी सभी रहस्यवादियोंकी भाषा एक है, क्योंकि वे सब एक ही मुल्कसे आते हैं। फिर भी हर एक रहस्यवादी अपने अनुभवोंकी भिन्नता और विविधताके कारण, एक नवीन और अत्यन्त रमणीय वस्तु प्रतिक्षण देखते रहनेपर भी नयी-ही-नयी जान पड़नेवाली वस्तु संसारके सामने ला रखता है। धन्य हैं वे भक्त कवि जिन्होंने अपनी अलौकिक अनुभूति, अद्भुत वर्णन-चातुरी और कोमल-कान्त पदावलीसे सारे संसारको जीवनका लक्ष्य बताया और सभी प्राणियोंको आत्मोन्नतिका मार्ग दिखाकर, लौकिक आनन्दके साथ ही अलौकिक आनन्दका भी रस लेना सिखाया!

दिव्य-प्रबन्ध

आळवारोंकी कृतियाँ समग्ररूपमें 'दिव्य-प्रबन्ध'के नामसे अभिहित हैं। भगवान्के स्वरूप, रूप, गुण और विभूतियोंका अनुभव करनेपर जो अनुभूतियाँ आळवारोंके हृदय-सागरसे उमड़ पड़ीं, उन्हींका वर्णन 'दिव्य-प्रबन्ध'में है। संक्षेपमें वेद, वेदाङ्ग और वेदान्तोंके सारभूत सनातन धर्मको अपने नित्य-जीवनमें लाकर अपनानेवाले दिव्यसूरि आळवारोंके मनन, अनुभूति, आनन्द और आत्मविद्याका शाब्दिक रूप ही 'दिव्य-प्रबन्ध' है। अपने प्रेमीके सौन्दर्यमें मनको गँवाकर जब कभी ये आळवार विश्वविरहकी तान छेड़ देते हैं, तब हमारा हृदय प्रेमसे पल्लवित होकर एक अज्ञात दिव्य सञ्जीवनी शक्तिसे सजीव हो उठता है और हमें ऐसा लगता है कि हम भी कहीं उसी प्रेमलोकमें मँडरा रहे हैं और परमेश्वर हमारे आसपास ही कहीं है।

गोदा

इन आळवारोंमें आळवार श्रीविष्णुचित्तकी पुत्री गोदाका स्थान अद्वितीय है। श्रीविष्णुचित्त गरुडांश माने जाते हैं और इनका अवतार 'गुरुपरम्परा'नामक ग्रन्थके अनुसार कलिवर्ष ४७ यानी आजसे ४९९३ वर्ष पूर्वका बताया जाता है। गुरुपरम्परा कहती है कि भूदेव्यंशा गोदाका अवतार कलिवर्ष ६८ में हुआ। आधुनिक ऐतिहासिकोंने सबल प्रमाणोंके आधारपर यह सिद्ध किया है कि श्रीविष्णुचित्तका अवतार ईसवी सन् ६९०में हुआ था और गोदाका 'श्रीव्रत' ईसवी सन् ७३१ में मार्गशीर्ष पूर्णिमाके दिन प्रणीत हुआ था। इसपर विस्तृतरूपसे हम फिर कभी लिखेंगे।

गोदाका दूसरा नाम 'आंडाळ्' भी है, जिसका अर्थ है—'शासन करनेवाली' या 'स्वामिनी'। अखिल विश्वकी रक्षा करने और भगवान्की पत्नी होनेके कारण उन्होंने यह असाधारण नाम पाया। तमिळ ग्रन्थोंमें उनका यही नाम अधिक व्यवहृत है।

गोदाका वैशिष्ट्य

आळवारोंमें गोदाके स्थानका जिक्र करते हुए एक भक्तशिरोमणि लिखते हैं—'देहाभिमानियों और आत्मस्वरूपको जाननेवाले ऋषियोंमें जो पर्वत-परमाणुका-सा भेद है, वही ऋषियों और आळवारोंमें है; वही फ़र्क दूसरे आळवारों और श्रीविष्णुचित्तके बीच है; वही अन्तर श्रीविष्णुचित्त और गोदामें है। इस अन्तरका कारण यह है कि आळवारोंने अनादि मायाके कारण सोये हुए इस संसारको जगाया और जब भगवान्ने स्वयं दर्शन दिये, तब उनको देखा। परन्तु गोदाने खुद जाकर भगवान्को जगाया और उनको अपनी दुःख-गाथाएँ—व्यथित आत्माकी पुकार सुनायीं। शैशवावस्थासे ही वह भगवान्के गुणोंपर मुग्ध थीं। (आळवारोंमें यही एक स्त्री हैं।) उनकी कान्तासक्ति और आळवारोंकी भक्तिसे भिन्न थी। दूसरे आळवारोंकी अपेक्षा भगवान्में परम-भक्तिका आधिक्य ही गोदाकी विशेषता है।'

दूसरे एक आचार्यवर्य कहते हैं—'भगवत्प्राप्ति और अप्राप्तिमें जन्मवृत्तोंके उत्कर्ष और अपकर्षका कोई प्रयोजन नहीं है; भगवत्सम्बन्धासम्बन्धका ही उसमें प्रयोजन है।···· ब्राह्मणोत्तम श्रीविष्णुचित्त और उनकी सुपुत्री गोदाने अपनेको गोप-जन्मका आस्थान बनाया था (अर्थात् श्रीकृष्णानुभवमें अभिनिवेशातिशयके कारण उन्होंने अपने वर्णसे निकृष्ट, ज्ञानविहीन, भोलेभाले गोपजन्मको अपनाया था)।'

गोदाके जीवनकी झाँकी

श्रीविष्णुचित्त नियमानुसार भगवान्की मालाके लिये नन्दनवनमें फूल चुन रहे हैं। उन्हें आश्चर्य होता है—

'अभीतक सूर्योदय क्यों नहीं हुआ ? इतना प्रकाश कहाँसे आ रहा है !' वे इधर-उधर ध्यानसे देखते हैं। नन्दनवनके एक पार्श्वमें ज्योतिःपुञ्ज-सा दिखायी देता है। उस जगहपर प्रभालोक क्षण-क्षणपर बढ़ता ही जा रहा है। हरी-भरी तुलसियोंका वह वन है। हरित कान्तिसे आलोकित तुलसी-दलोंका दिव्य सौरभ चारों ओर फैला हुआ है।

उस जागती ज्योतिसे आकर्षित होकर श्रीविष्णुचित्त उस स्थानपर जाकर देखते हैं कि एक बालिका तुलसीको ही माता मानकर लेटी हुई है, पासके पुष्पवृक्ष उसपर फूल बरसा रहे हैं, कोयलें उसे अपनी सुरीली तान सुना रही हैं, हंस अपने पंखोंसे उसकी रक्षा कर रहे हैं।

श्रीविष्णुचित्त उसे देखकर आनन्द और विस्मयसे भर गये। वे सोचने लगे—'आज भगवान्‌के लिये यह दैवी सुमन मिला है ! भागवतोंके और मेरे पुण्योंका फल आज हमें इस रूपमें प्राप्त हुआ है !'

तरह-तरहकी पुष्पावलियोंसे सुरभित, मन्द, शीत पवन बह रहा था। सारी प्रकृति आनन्द-विभोर थी। श्रीविष्णुचित्तके आनन्दका तो ठिकाना ही न रहा। वे उस बच्चीको लेकर, लता-वितानों और फल-भरित वृक्ष-मालाओंको लाँघते हुए मन्दिरकी ओर चल पड़े।

बाल-सूर्यकी स्वर्ण-किरणोंसे विमान और गोपुरके कलश जगमगा रहे थे। सारी भक्त-जनता उत्सुक होकर, निर्निमेष दृष्टिसे, उस बालिकाको देख रही थी। श्रीविष्णुचित्त भगवान्‌की कृपापर मुग्ध थे।

× × ×

गोदा—गोदा* ही उस बालिकाका नाम था—अपने पिताहीके समान प्राकृतिक सौन्दर्यमें कृष्ण-दर्शन करने लगी। कृष्णके प्रति उसका प्रेम दिन-दिन बढ़ता ही गया। वह एकान्तमें जाकर अपनेको सजा लेती और आइनेमें अपना सौन्दर्य देखकर पूछ बैठती—'क्या मैं उनके अनुरूप हूँ !'

× × ×

* गो-दा=अपनी वाणी भगवान्‌के लिये समर्पित करनेवाली, अथवा अपनी विश्वोपजीव्य अमृतमयी सूक्तियाँ प्रदान कर लोक-कल्याण करनेवाली। एक सामवेदीय शाखाकी आचार्याका नाम भी गोदा है। (Sir Monier William's Sanskrit-English Dictionary, p. 368.)

गोदाके लिये अब उनका विरह दुःसह हो उठा। गोपियोंकी भाँति उन्होंने भी व्रतका अनुष्ठान करके उनका अनुकरण किया। उन्होंने अपनी व्यथाको, अपनी सूक्तियों-के रूपमें, भगवान्‌के सामने रक्खा।

श्रीविष्णुचित्त रोज मालाएँ बना ले जाकर, भगवान्‌को पहनाते थे। गोदा रोज एकान्तमें जाकर उन मालाओंको खुद पहनकर ही भगवान्‌के पास भेजती थीं। भगवान्‌ने उन मालाओंमें अपनी प्रियाके करस्पर्शका सुख पाया; भक्तोंने उसमें एक विलक्षण सौरभका अनुभव किया। लोगोंका अनुमान था कि श्रीविष्णुचित्तकी भक्तिके कारण ही फूल इतने सुगन्धित रहते हैं।

× × ×

एक दिन रहस्य खुल गया। श्रीविष्णुचित्तने गोदाको माला पहनते देख लिया। वे उनपर बहुत बिगड़े और दूसरी माला बनाकर भगवान्‌के पास ले गये। भक्त-पराधीन भगवान्‌को अपनी अलौकिकता दिखाना आवश्यक हुआ। उन्होंने कहा—'गोदा अबतक अपनी सूक्तिमालाएँ और पुष्पमालाएँ मेरे पास भेजती रही हैं। मुझे वही माला पसंद है, जिसे गोदा स्वयं धारण कर मेरे पास भेजती हैं।'

'त्रुटिर्युगायते त्वामपश्यताम्' की नौबत आयी। प्रेमिकाकी प्रेमीसे मिलनेकी उत्कण्ठा बढ़ती ही गयी और वह अन्तमें उससे विवाह होनेपर ही शान्त हुई। अपनी सुव्यवस्थासे इस विवाहको सुसम्पन्न करनेका सौभाग्य पाण्ड्यराज श्रीवल्लभदेवको मिला। और जब स्वयं गोदाने अपने विवाह-वैभवका वर्णन किया है, तब इसपर कौन क्या कह सकता है। आज भी दक्षिणके मन्दिरोंमें प्रतिवर्ष गोदाके शुभ विवाहका उत्सव मनाया जाता है।

गोदाकी काव्य-कृतियाँ

गोदाकी काव्य-कृतियाँ तमिळ-साहित्यके ही नहीं, बल्कि तमाम भारतीय साहित्यके उज्ज्वल रत्न हैं और कितने ही प्राच्य और पाश्चात्य विद्वान् और दार्शनिकोंने उनकी मुक्तकण्ठसे प्रशंसा की है। पाठकोंकी जानकारीके लिये तमिळ भाषाके दो प्रकाण्ड पण्डितोंकी सम्मतियाँ नीचे दे रहे हैं। ये दोनों आधुनिक तमिळ-साहित्यके जन्मदाता समझे जाते हैं और इनमेंसे एक तो गम्भीर समालोचक और विश्वसाहित्यके विशेषज्ञ हो गये हैं और दूसरे तमिळ भाषाके कविचक्रवर्ती।

स्वर्गीय श्री व० वे० सुब्रह्मण्य अय्यरने एक जगहपर लिखा है—'नायिकाकी भावनासे भगवद्भक्ति करनेकी प्रथा प्राचीन कालसे ही भक्तों और कवियोंने चलायी है। रोमन-कैथोलिक पंथमें भी भक्तवर्गको नायिका और हज़रत ईसाको नायक मानकर लिखे गये बहुत-से स्तोत्र हैं। हमारे भागवत-में भी गोपियोंके उपाख्यान इसी भावको लेकर लिखे गये हैं। महाभक्तिमती मीराबाईकी भावना यह थी कि दुनिया-की सभी जीवकोटि प्रकृति (स्त्री) हैं और भगवान् एक ही पुरुष हैं, और उन्होंने इसी भावनासे परमेश्वरकी भक्ति की थी। कहा जाता है कि श्रीरामकृष्ण परमहंसने अपनी लीलाओंमें एक बार नायिकानुभवका रसास्वादन करनेकी इच्छा की थी। और उसके अनुसार साड़ी पहनकर, राधाकी भावनासे श्रीकृष्णका भजन किया था। तमिळ जनताके लिये जिसने 'तिरुक्कोवैयार' और रामलिङ्ग स्वामीजीके 'तिरुवरुट्पा' का रसास्वादन किया है, यह भक्तिकी रीति कुछ अनोखी नहीं है।

परन्तु इस भावनाका निर्वाह करना असिधारपर चलना है। इसके लिये एक सीमा निर्धारित है। उस सीमाके इस ओर या उस ओर ज़रा भी हट जानेसे रसाभास हो जायगा, सारा मज़ा किरकिरा हो जायगा!

'करुप्पूरम् नारुमोमे शुरू करके आण्डाळ्ने अपने पद्योंमें इस भावनाको जिस निर्दोष रीतिसे आखिरतक निभाया है उस रीतिसे उसे पूरा-पूरा, बिना किसी भी दोषके निभाना बहुत करके असाध्य है।'

दक्षिणके राष्ट्रीय कवि, कविचक्रवर्ती स्व० श्रीसुब्रह्मण्य भारतीने अपने 'आर्य-सम्पत्' शीर्षक लेखमें लिखा है—'हमारे वेद, हमारे शास्त्र, हमारा समाज, हमारी भाषाएँ, हमारी कविता, हमारा शिल्प, हमारा सङ्गीत, हमारा नाट्य, हमारे शिष्टाचार, हमारे गोपुर, हमारे मण्डप, हमारी कुटियाँ—इन सबका सर्वसाधारण नाम है 'आर्य-सम्पत्'। कालिदास-का 'शाकुन्तल', तुलसीदासजीकी रामायण, 'कम्ब-रामायण', 'शिलप्पधिकारम्', 'तिरुक्कुरळ्', आण्डाळ्की श्रीसूक्तियाँ—इन सबका आमफ़हम नाम है—'आर्य-सम्पत्'। तंजावूरका मन्दिर, तिरुमलै-नायकर महल, त्यागराजके कीर्तन, एल्लोराकी गुफा, आगरेका ताजमहल, शरभशास्त्रीका मुरलीवादन—इन सबका आमफ़हम नाम है—'आर्य-सम्पत्'। संक्षेपमें, हिन्दुस्तानकी संस्कृतिहीका नाम 'आर्य-सम्पत्' है। जबतक हम इन सम्पदाओंकी रक्षा करेंगे, तबतक इस जातिमें जान रहेगी।'

इससे यह स्पष्ट है कि गोदाके स्वरूपका परिचय न पाना, आर्य-सम्पदाओंके एक अनमोल रत्नके ज्ञानसे अपनेको वञ्चित रखना है। गोदाके सच्चे स्वरूपको जाननेके लिये हमें उनकी दोनों काव्य-कृतियोंको पढ़ना होगा। उन दोनोंमें, पहली कृति है 'श्रीव्रत' और दूसरी 'गोदाकी श्रीसूक्तियाँ'।

श्रीव्रत (तिरुप्पावै)

'श्रीव्रत' में कवयित्रीकी कल्पना अवर्णनीय है। कृष्ण-प्रेममें वह इतनी तन्मय हो गयी है कि वह अपने 'विल्लिपुत्तूर' को ही गोकुल (व्रज), वहाँकी लड़कियोंको गोपियाँ और भगवान्‌के मन्दिरको नन्दका घर और मन्दिरमें विराजमान भगवान्‌को ही श्रीकृष्ण समझकर अत्युत्कट भावनासे गोपियोंका अनुकरण करती है। उसने सुन रक्खा था कि जब रासलीलाके बाद श्रीकृष्ण गोपियोंकी आँखोंसे ओझल हो गये, तब गोपियोंने विरह-धारणके लिये श्रीकृष्णका अनुकरण करना शुरू किया था। (इसका विस्तृत विवेचन श्रीभागवत-में मिलता है। 'दुष्ट कालिय! तिष्ठात्र कृष्णोऽहमिति चापरा' इत्यादि वर्णन देखें।)

इस भक्ति-काव्यमें एक व्रतका उल्लेख है। श्रीकृष्णके सौन्दर्य एवं गुणोंके कारण गोपियोंको उनकी ओर आकृष्ट होते देखकर वहाँके वृद्ध गोप अपनी बालिकाओंको घरमें ही छिपा रखते हैं। दैववश उस साल वर्षा बंद हो जाती है। तब सब ग्वाले इकट्ठे होकर, वर्षाके लिये सब बालिकाओं-से व्रत करानेका निश्चय करते हैं। यह तय होता है कि इस व्रतके प्रबन्धकर्ता नन्दनन्दन श्रीकृष्ण होंगे और व्रतके लिये आवश्यक सभी सामग्रियाँ वही कन्याओंको ला देंगे। पहले तो श्रीकृष्ण इसे क़बूल नहीं करते, पर आखिर उन्हें मजबूरन यह काम करना ही पड़ता है। जब इस तरह गोप-वृद्ध अपनी कन्याओंको श्रीकृष्णके हाथ सौंपकर चले जाते हैं, तब श्रीकृष्ण उन कन्याओंके साथ, शरच्चन्द्र मनोरमा रात्रिमें, यमुनाके करील-कुञ्जोंमें वन-विहार करते हैं। फिर वे कन्याएँ यह कहकर कि सुबह हम श्रीकृष्णको जगाकर व्रतस्नानके लिये साथ ले जायँगी, अपने-अपने घर चली जाती हैं। कृष्ण-गुण-मुग्धा गोपकन्याएँ, बिना सोये ही, रातको जैसे-तैसे काटती हैं और तड़के ही सब कन्याओंको जगाकर सब एक साथ नन्दबाबाके घर जाकर 'कन्हैया' को जगाती हैं और उससे व्रतके लिये उपयुक्त सामग्रियाँ माँगती हैं। श्रीकृष्ण उनको सभी सामग्रियाँ देते हैं; वे व्रतका अनुष्ठान करती हैं

और तब वर्षा होती है । यही इस काव्यका कथाभाग है । तीस पद्योंका यह काव्य वैष्णव-साहित्यमें इतना प्रसिद्ध है कि इसके बारेमें एक भक्तप्रवरने कहा है—'जो मनुष्य गोदाके तीस पद्योंको नहीं जानता, उसका जीना भूमिके लिये भाररूप है ।'

गोदाकी श्रीसूक्तियाँ (नाचियार् तिरुमोळि)

यह काव्य चौदह दशकोंमें विभक्त है और हर एक दशकमें दस या ग्यारह पद्य हैं । यह तमिळमें 'नाचियार् तिरुमोळि' के नामसे प्रसिद्ध है ।

पहले दशकमें हम गोदाको श्रीकृष्णसे अपनेको मिलानेके लिये स्तुति करती हुई देखते हैं । वह कहती हैं—'शङ्ख-चक्रधारी पुरुषोत्तमको समर्पित इस मेरे हृदयको किसी मानवके लिये अर्पण करनेकी बात उठाना वैसा ही होगा, जैसे यागमें स्वर्गवासी देवोंके लिये वैदिकोंद्वारा समर्पित हविर्भागको वनमें विचरनेवाला सियार स्पर्श करे और सूँघे । ऐसी बात अगर मैं सुनूँगी तो हे मन्मथ, अपने प्राण त्याग दूँगी ।'

दूसरे दशकमें गोपकन्याओंके निर्मित सैकत-भवनों (बालूके बने घरों) को नष्ट न करनेके लिये कवयित्री स्वयं गोपकन्याके रूपमें भी कृष्णसे प्रार्थना करती हैं ।

तीसरे दशकमें हम देखते हैं कि श्रीकृष्णने स्नान करती हुई व्रजबालाओंके वस्त्रोंको कदम्बकी डालियोंपर छिपा रक्खा है और वे उनसे अपने वस्त्र वापस देनेकी याचना करती हैं । यहाँ नायिकाकी उस दशाका वर्णन है, जिसे बिहारीने इस दोहेमें दिखाया है—

नई लगनि, कुल की सकुच, बिकल भई अकुलाइ ।
दुहूँ ओर ऐंची फिरति, फिरकी लौं दिन जाइ ॥

चौथे दशकमें गोदा शकुन देखती है कि मैं श्रीकृष्णसे मिलूँगी या नहीं ।

पञ्चम दशकमें वह भगवान्‌को बुलानेके लिये कोयलको भेजती हैं । वह कोयलसे कहती हैं—'मेरे शरीरकी हड्डियाँ गल गयी हैं । लंबी-लंबी आँखें बहुत दिनोंसे मुँदी नहीं हैं (नींद नहीं ली) । दुःखसागरमें निमग्न होकर 'वैकुण्ठ' नामक नावको न पाकर मैं मारी-मारी फिरती हूँ । कोयल री ! प्रेमियोंके वियोगका दुःख कैसा होता है, यह तुम भी तो जानती हो ! कुंदनके-से देहवाले, गरुडध्वज पुण्य-पुरुषको यहाँ बुलानेके लिये कूजन करो ।'

छठे दशकमें गोदा एक अद्भुत स्वप्न देखती हैं और उसे अपनी सखीको सुनाती हैं । उन्होंने देखा कि 'मथुरापति, मधुसूदन, माधवके साथ उनका विवाह हो रहा है । हज़ारों हाथियोंके साथ जुलूसमें भगवान् पधार रहे हैं । नगरमें घर-घर सोनेके पूर्णकुम्भ रक्खे हैं । सभी जगह तोरण बाँधे गये हैं । इन्द्रादि देव आकर, विवाहकी बात पक्की कर उनके हाथमें वरमाला दे रहे हैं । चारों दिशाओंसे लाये गये पुण्य-तीर्थोंसे वेदध्वनिके साथ ब्राह्मण-देवता भगवान्‌के दिव्य कर-कमलोंसे गोदाके हाथमें मङ्गल-सूत्र बँधवा रहे हैं । दीप-कलशोंके साथ सुवासिनियाँ नव-दम्पतिका स्वागत कर रही हैं । मृदङ्ग बज रहा है । शङ्ख घोष आसमानको भेद रहा है । चारों ओर बँधे हुए मौक्तिक हारोंके बोझसे किञ्चित् झुके हुए उस सुशोभित मण्डपमें मधुसूदन उनका पाणिग्रहण कर रहे हैं । मन्त्रद्रष्टा ऋषिगण विवाह-विधिको सुसम्पन्न कर रहे हैं । वह कृष्णका हाथ पकड़कर, उसके साथ अग्निकी परिक्रमा कर रही हैं । सप्तपदी समाप्त होती है; लाजा-होम होता है । कुङ्कुम और तिलक धारण करके नव-वधू-वर नगरनिवासियोंको दर्शन देते हुए जुलूसमें निकलते हैं और हाथीपर दोनोंका मङ्गल-स्नान होता है ।'

कैसा था वह दिव्य स्वप्न ! आज भी वैष्णवोंके यहाँ विवाहोंमें यह स्वप्न-गाथा गायी जाती है ।

सातवें दशकमें गोदा भगवान्‌के साथ उनके शङ्ख पाञ्चजन्यका सम्बन्ध बताती हैं । वह उससे पूछती हैं—'हे धवल शङ्ख ! मैं तुमसे बड़ी उत्सुकताके साथ पूछती हूँ ।' कहो तो, माधवकी वह सुगन्धपूर्ण अधर-माधुरी और वदन-सौगन्ध्य कैसे हैं ! क्या उसमें कपूरकी सुगन्ध आती है ? या उसमें नव-विकसित कमलका सुवास है ! माधवका वह विद्रुम (मूँगा)-जैसा अधर बहुत मीठा है न ?' वह फिर प्रश्न करती हैं—'सोलह हज़ार देवियोंके समक्ष तुम माधवके अधरामृतका बेधड़क पान करते हो । हे भाग्यवान् शङ्ख ! क्या उस समय वे देवियाँ तुमसे गुस्सा नहीं करतीं ?'

आठवें दशकमें गोदा मेघोंको दूतके रूपमें भगवान्‌के पास भेजती हैं । वह उनसे कहती हैं—'मस्त हाथीकी भाँति उठनेवाले और वेङ्कटगिरिपर वास करनेवाले ऐ बादलो !

शेषशायीकी बात तुमसे क्या कहूँ। यह जानते हुए भी कि आप स्वयं ही उसकी एकमात्र गति हैं, उसने एक वनिता-लताको मरणान्त कष्ट पहुँचाया'—यह बात अगर दुनियामें फैल गयी तो कोई उसका आदर नहीं करेगा, कोई उसे कुछ महत्त्व न देगा।'

नवम दशकमें वह वनाद्रीश्वरके [वनाद्रि—एक पुण्य-क्षेत्र जो मदुरासे बारह मीलके फ़ासलेपर है। यहाँके भगवान् 'सुन्दरबाहु' के नामसे विख्यात हैं। आचार्य श्रीवत्साङ्कमिश्र-ने भी इनपर एक स्तोत्र 'सुन्दरबाहुस्तव' के नामसे गाया है, जो उनके पञ्चस्तवोंमें एक है।] ध्यानमें संलग्न हैं। उन्हें यह दृश्य दिखायी देता है कि 'सबेरे उठते ही काली चिड़ियाँ भगवान्‌के आगमनकी बात सुना रही हैं। क्या यह बात सच निकलेगी ? 'वनाद्रीश्वर', 'द्वारकापति' और 'वटपत्रशायी' इन्हीं शब्दोंको वे बार-बार दुहरा रही हैं।'

दसवें दशकमें गोदा सामने दीखनेवाले फूलों, कोयलों, मोरों, वर्षा और समुद्रसे बातें करती हैं। वह कोकिलासे कहती हैं—'अरी कूकनेवाली कोयलो! यह तुम क्या गा रही हो? जिस समय वेङ्कटदेशवासी हमें एक नवजीवन प्रदान करेगा, उस समय आकर गाइयो। जब गरुड़ध्वज भगवान् मुझपर अनुग्रह करेंगे और उनसे मैं मिलूँगी, तब तुम्हें बुलाकर अपने नाथके साथ तुम्हारे गाने सुनूँगी।'

ग्यारहवें दशकमें नायिका (गोदा) अपनी माता और सखियोंसे नायक (माधव) की लीलाओंका वर्णन करती है।

बारहवें दशकमें वह अपने बन्धुओंसे अपनेको उन स्थानोंपर ले जाकर छोड़ देनेको कहती है, जहाँ श्रीकृष्ण रहते हैं। वह उनसे कहती है—'पिता, माता और बन्धु-बान्धवोंके रहते भी वह मनमौज चली गयी—यह अपवाद अगर लग गया तो फिर उसका मिटना असम्भव है। वह मायावी आकर मुझे अपना रूप दिखा रहा है। उस उद्धत, नटखट लड़केके पिता नन्दगोपालके द्वारपर मुझे आधीरातको छोड़ आइये।'

तेरहवें दशकमें नायिका अपनी सखियोंसे श्रीकृष्णके पहने हुए पीताम्बर आदिसे अपना सन्ताप शान्त करनेका उपाय बताती है; जैसे—'क्षीर-वटमें सोनेवाले उस परमपुरुष-के जालमें फँसी हुई मुझे, भालेसे छेदनेकी तरह, जली-कटी (अप्रिय) बातें न सुनाना। हाथमें छड़ी लेकर गायें चराने-वाले उस कृष्णके पाससे ठंडे तुलसी-दल लाकर मेरे कोमल कुन्तलोंपर रख दो।'

चौदहवें अर्थात् अन्तिम दशकमें गोदाको वृन्दावनमें श्रीकृष्णके दर्शन होते हैं। इसके हर एक पद्यका पूर्वार्ध प्रश्न और उत्तरार्ध उत्तर है। एक गोपी पूछती है—'मेरे मायावी प्रिय कृष्णको तुमने कहीं देखा?' दूसरी जवाब देती है—'मैंने श्रीकृष्णको वृन्दावनमें गायें चराते देखा।'

इस कृष्ण-दर्शनके साथ यह काव्य समाप्त होता है। वियोग-शृङ्गारके बाद संयोग शृङ्गार, ग्रीष्मके बाद वर्षा और परमभक्तिके बाद भगवद्दर्शन हमें यहाँ देखनेको मिलते हैं। इसी आनन्दमय स्थितिमें हम इस विषयको यहीं समाप्त करते हैं।

माधुर्य

गोरी श्रीवृषभानु-लली।
सुन्दर स्याम साँवरे सजनी जोरी मिली भली॥
इनको वदन विमल विधु आली उत वे उदधि अगाध।
इनकी प्रीतिरीति जो जाने सोई साँचो साध॥
कोउ कह माया-ब्रह्म दोऊ कोउ प्रकृति-पुरुष करि मानें।
वेदनकी यह बात बड़ी हम कहा गँवारिन जानें॥
अपने तो जीवनधन ये ही-ऐसौ मतौ विचारें।
इनकी रूपछटामें छकि-छकि कहा न इनपै वारें॥

—मुनिलाल

श्रद्धा और विश्वास

(लेखक—राय साहिब लाला लालचन्दजी)

श्रद्धा

पुरुष श्रद्धामय है। जैसी जिसकी श्रद्धा होती है, वैसा वह स्वयं होता है—यह अटल सत्य है।

पूरे विचारके बाद, गहरे-गम्भीर तर्कके पश्चात् जिन भावोंमें मनुष्यकी गाढ़ प्रीति हो जाती है वह उन भावोंके प्रति श्रद्धा कही जाती है।

बिना पूरी खोजके जो राग या पुनः-पुनः मेल है, अथवा अनुराग है, वह श्रद्धा नहीं कहा जा सकता। वह तो अन्धविश्वास है, उसमें धोखा होना सम्भव है। पर पूर्ण विचार और अनुभवके पश्चात् जिस प्रेमकी उत्पत्ति होती है, वही श्रद्धा है। वह मनुष्यके चरित्रको ऊँचा और उज्ज्वल बनाती है।

मनुष्य उन्नत हो, पूर्णताकी ओर अग्रसर हो—यह भावना जाति-उत्थानका हेतु बनती है। जब चरित्रमें अबाध उन्नति दिखायी देती है, तो अपने अनुभवपर अवलम्बित जीवनचर्या निश्चय सत्य और ऋतको चरितार्थ करती हुई स्वतन्त्रता और अदीनता लाती है।

जो मनुष्य दीन है, वह अवश्य हीन भी है। श्रद्धामय जीवन व्यतीत करता हुआ मनुष्य न तो हीन रह सकता है और न दीन ही रहेगा। वह स्वावलम्बी पुरुष सदा सीधा-सरल मार्ग ढूँढ़कर उसपर निश्चित पग रखता हुआ आगे बढ़ेगा। श्रद्धालु सज्जन ही जगत्में स्थिर और दृढ़ भावोंको धारण करते हुए सदैव सुकृतमें लगे रहते हैं और यश, मान, सम्पदा—सभी कुछ प्राप्त करते हैं।

श्रद्धामें अतुल शक्ति है। श्रद्धावान् कभी घबराता नहीं, कभी डाँवाडोल नहीं होता। श्रद्धावान्को ही निश्चयात्मिका बुद्धि प्राप्त होती है। श्रद्धा बिना कोई मेधासम्पन्न नहीं हो सकता। मनुष्य जगज्जननीको शिवसङ्कल्प और श्रद्धाबलसे प्राप्त होता है और कल्याण-युक्त मनसे सदा सबका मङ्गल करता हुआ विजयी होता है।

जय तो साधारण लोग भी सङ्गठित होनेसे प्राप्त कर लेते हैं, पर विजयका अधिकारी तो श्रद्धावान् ही होता है। अपनेपर जय प्राप्त करना विजय है, वह उतावलापन करनेवालेको नहीं मिलती। स्थिरता और दृढ़ता बिना पूरी श्रद्धाके प्राप्त नहीं होती और इनके बिना आत्मजय सम्भव नहीं है।

जबतक मनुष्य आत्मस्थ नहीं होता, वह स्वस्थ नहीं कहा जा सकता। श्रद्धासे ही यह स्वस्थता प्राप्त होती है। अपने आपमें स्थिर होना स्वस्थ अवस्था है, आत्मस्थ अवस्था है। 'स्वस्थ' और 'आत्मस्थ' शब्द एक ही अवस्था-विशेषको बतलानेवाले हैं।

गाढ़ श्रद्धासे प्रेमकी उत्पत्ति होती है। श्रद्धासे ही सरलता और ऋजुता मिलती है। ऋजुता और सरलतासहित श्रद्धा आनन्दकी प्राप्तिमें सहायक होती है।

मनुष्यका ध्येय आनन्दप्राप्ति है, पूर्णता है। यह बिना श्रद्धाके सम्भव नहीं। श्रद्धापूर्वक किये हुए कार्य अवश्य सफल होते हैं और मनुष्य कृतकार्य होकर आनन्द प्राप्त करता है।

श्रद्धावान् पुरुष जगत्में शुभ कार्य करता हुआ निरन्तर सुखी रहता है, श्रद्धासे किये हुए कार्य सफल होते हैं और सफल कार्य अधिक श्रद्धा बढ़ानेमें समर्थ होते हैं। फिर पुरुष शक्तिमान् होकर नम्र और क्षमावान् होता है।

श्रद्धावान् पुरुषमें पुष्टि और सुगन्धि होती है, उसका जीवन शुद्ध और सरल हो जाता है। भगवान्में श्रद्धा रखनेसे पुरुषका पुरुषार्थ सुफल होता है और वह अभय बनकर निरन्तर जनसेवा और सर्वभूतहितके सुन्दर विचार और कार्य करनेमें समर्थ होता है।

श्रद्धाहीन जीवन एक भद्दा जीवन है। श्रद्धाहीन मनुष्य केवल जीता है, उन्नति नहीं करता। उसका चित्त चञ्चल और मन विकारोंसे भरा रहता है। मानसिक विकारोंसे घिरा हुआ मनुष्य अविश्वासी हो जाता है और पग-पगपर ठोकरें खाता रहता है; वह किसी भी कार्यको निश्चयके साथ नहीं कर सकता और जब श्रद्धालु पुरुष सङ्कल्प और लगनसे कार्य करके सफल होते हैं तो वह उनसे ईर्ष्या-द्वेष करता है। ऐसा मनुष्य यदि किसी प्रकार सम्पत्ति प्राप्त कर लेता है तो अपनेसे छोटोंके प्रति घृणा करने लगता है।

श्रद्धामें ही सच्चा, सीधा जीवनमार्ग मिलता है।

विश्वास

संसारका इतिहास विश्वासकी महिमासे पूर्ण है। विश्वासी महापुरुषोंने ही संसारमें नाम छोड़ा है। विश्वासियोंने ही संसारकी काया पलट दी है। विश्वास ही उनकी उन्नति और अमर यशका कारण हुआ है। विश्वासने दुर्बलोंको बलवान् बनाया; रोगियोंको नीरोग बनाया और मूर्खोंको पण्डित कर दिया। विश्वासने संसारमें आश्चर्यजनक कार्य करके दिखला दिये।

विश्वासी पुरुष जिस कार्यको शान्ति और उत्साहके साथ करता है, अविश्वासी अपने उतावलेपन और अनिश्चयसे उसे बिगाड़ लेता है। विश्वासी स्त्री-पुरुष तन-मनसे सदैव पुष्ट दिखलायी देते हैं। वे कार्य करनेकी अधिक शक्ति रखते हैं, उनका जीवन मर्यादायुक्त होता है और उनकी कार्यशैली नियमबद्ध और सुश्रृङ्खल होती है।

विश्वासी पुरुष जीवनमें सत्यको चरितार्थ करते हैं। निश्चयसे, स्थिरतासे दृढ़ होकर, सत्यपर भरोसा रखकर वे सदा विजयी होते हैं। सत्य असीम है, अनन्त है। जितना सत्य मनुष्य जान गया है, उसपर उसे प्राणपणसे डटे रहना चाहिये। इसमें अपनी शक्तिका विकास होता है। सत्यमें जीवनकला निहित है। सत्यार्थीके जीवनमें लगन होती है, उसकी चितिशक्ति जाग्रत् रहती है और कल्याण-मार्गपर उसे सतत प्रकाश मिलता रहता है।

विश्वासी पुरुष ईर्ष्या नहीं करते, द्वेष नहीं करते, शिकायत नहीं करते, निन्दा नहीं करते; वे तो निरन्तर अपने कर्तव्यमें लगे रहते हैं। वे कार्यक्षम कर्तव्यनिपुण पुरुषार्थी होते हैं, इसीलिये उनका जीवन मधुमय होता है। उनमें एक विशेष प्रकारकी मिठास और सुगन्धि होती है, जो संसारमें फैलती है। उनमें एक अनुपम आकर्षण-शक्ति होती है, जो सहृदय मनुष्योंको अपनी ओर खींचती है।

एक-एक विश्वासी पुरुषने संसारमें ऐसे-ऐसे अद्भुत काम किये हैं, जिनके लिये जगत् अबतक मुक्तकण्ठसे उनका यश गा रहा है और प्रलयकालतक गाता रहेगा। अमर होना यही तो है।

विश्वासी पुरुषोंमें जहाँ अदम्य उत्साह हुआ करता है; वहाँ साथ-ही-साथ अगाध प्रेम भी स्पष्ट दिखायी देता है। वे पड़ोसीके दुःखमें सहानुभूति करते हैं। वे आत्मतुष्टिमें ही प्रसन्न नहीं होते, किन्तु दुःखका नाश और सुखकी वृद्धि ही उनका ध्येय हो जाता है।

विश्वासमें ऐसी अनुपम शक्ति है कि इससे भ्रम, भय, संशय सभी दूर हो जाते हैं। जिसमें विश्वास, उत्साह और प्रेम हो, उसे किसीसे भय नहीं रहता।

विश्वासी सबको प्रेममय देखता है। वह स्वयं किसीसे कपट नहीं करता। किसी विश्वासी पुरुषसे मिलनेपर हृदयके विकार सामने आ जाते हैं और उत्तम सङ्कल्पोंकी भावना उदय होने लगती है।

विश्वासी अपने अंदर ऐसी आकर्षण-शक्ति भगवान्से प्राप्त करता है। विश्वासीसे मिलनेमें जो आनन्द होता है, उसे आत्मा ही अनुभव करता है। इसीलिये विश्वासी पुरुषके सत्सङ्गसे आत्मशक्ति जाग्रत् होती है और मनुष्य पवित्र हो जाता है।

व्रजकी मधुर लीला

श्रीजीकी कृपा हुई और मुझे चौदह वर्षोंके बाद पुनः श्रीव्रज-दर्शनकी आज्ञा मिली। मैं वृन्दावन होता हुआ श्रीलाड़िलीजीके बरसाने पहुँचा। सन्ध्या-समय साँकरी-खोर गया। सुन्दर लता-पताओंसे आच्छादित दो छोटी-छोटी पहाड़ियोंके बीच केवल एक ही मनुष्यके चलने योग्य सँकरी गलीके पुण्य दर्शन हुए। यहींपर मनमोहन नटनागर व्रज-बालाओंको रोककर दहीका दान लेते और प्रेमका झगड़ा किया करते थे। एक डूँगरके छोटे-से वृक्षके नीचे पत्थरपर दही गिरनेके चिह्न देखकर मैं सोचने लगा कि यहाँपर दही कैसे गिरा। इसी बातपर विचार करता हुआ गह्वर-वन होकर वापस आया। दूसरे दिन प्रातःकाल फिर वहीं गया। देखा कि एक वृद्धा ग्वालिनी माई साधारण घाँघरा-ओढ़नी पहने और माथेपर दो दहेड़ियाँ रक्खे चमोली गाँवकी ओरसे आयी। डूँगरके नीचे खड़ी होकर दहेड़ीसे एक कटोरी दही निकालकर पत्थरपर डाल दिया। मैंने उससे पूछा और जो कुछ उसने कहा उसको उसीके शब्दोंमें ज्यों-को-त्यों लिखनेका प्रयत्न करता हूँ—

मैं—माई! तूने यहाँ दही क्यों गिराया?

वृद्धा—मैंने वाके लिये दही दै दीनो हैं। वह ह्याँ पै दान लेय हैं—दान!!

मैं—क्या वह दान लेकर तुम्हारा दही खाता है?

वृद्धा—क्यों नायँ? बराबर तो वाको दर्शन होय नायँ। याही गैल मैं दह्यो ले जायो करतो हो। एक बार वाने एक छोटो-सो छोरा—दसेक बरसकौ, मोयँ याई ठौं रोको। कह्यो कि तूँ मेरो दान दै के जा। मैंने कह्यो मैं तोयँ दान दूँगी। जब तूँने गूजरीन ते दान लीनों हैं तो मैं च्यों न दूँगी! चल परें तें चल मैं दऊँ हूँ।

वाने कह्यो—डोकरी! तूँ भग जायगी!! मोयँ ना देयगी!!! ऐसो कह, वा पत्थरपर बैठ बंसी बजान लग्यो! मैंने एक बेली दही निकारि, कह्यो 'लै अपनो दान।'

वाने बंसी कूँ बगलमें दाब लीनी—दोनों हाँथन कूँ या तरियाँ सूँ जोरके दोना बनायो—वामें दह्यो ले; चाटते-चाटते वा गैल सूँ ऊपर चल्यो गयो। जब सों मैं वाकूँ यहाँ दान दै जाय करूँ हूँ या वाई कूँ दान दीनों हैं! वाई कूँ!!

इस सीधी-सादी वृद्धा ग्वालिनीकी बातें इतनी मधुर, स्वाभाविक और भावपूर्ण तथा सचाईसे ओत-प्रोत थीं कि मेरा हृदय प्रेम और आनन्दसे भर गया। जब उसने 'पत्थर' की ओर अपनी अँगुलीसे निर्देश किया तथा दोनों दहेड़ियोंको सिरपर रक्खे-रक्खे अपनी दोनों अँजुलियोंको जोड़कर दोनाका आकार बनाया और ऊपरकी ओर उसके दही चाटते-चाटते चले जानेका मार्ग दिखलाया—मेरे हृदयका आनन्द रुक नहीं सका। प्रेमाश्रुके रूपमें नेत्रोंसे बाहर निकल पड़ा। मैं उस प्रेममयी बड़भागिनके दोनों चरणोंको पकड़कर प्रेम-जलसे धोने लगा। उसकी आँखोंमें भी जल भर आया। उसके सत्संगसे मैंने अपनेको कृत-कृत्य माना। श्रीजीकी कृपाका अनुभव हुआ। व्रज-वासियोंका कथन सत्य ही है कि '*मेरो लाला, व्रज तें कहूँ बाहर नहीं गयो है*।' आज भी ये व्रज-वासिनें धन्य हैं जो उस नटनागरकी लीलाका प्रत्यक्ष अनुभव करती हैं।

—मथुराप्रसाद

धर्मो रक्षति रक्षितः

[कहानी]

(लेखक—श्री 'चक्र')

(१)

लखनऊसे लगभग दस मीलकी दूरीपर एक ग्राम था भगवानपुर। अब वह ऊजड़ हो चुका है, पता नहीं सरकारी कागजोंमें उसका नाम है या नहीं। गोमतीके सीधे-टेढ़े बहाव बड़ी अच्छी तरहसे गाँवसे दीखते थे। गाँव साधारणतया ब्राह्मणोंका था। कुछ दूसरी जातिके लोग भी रहते थे। ब्राह्मण आस-पासके गाँवोंके लोगोंके यज्ञ, हवन तथा संस्कार आदि कराकर जो कुछ भी मिलता, उसीसे जीवन-निर्वाह करते थे। कुछ कृषि भी कर लेते थे।

भगवानपुरमें पण्डित रामदयालजी सबसे साधारण स्थितिके थे। उनके यजमान भी थोड़े थे और वे कृषि भी नहीं करते थे। परिवारमें पत्नी, दो पुत्र एवं दो कन्याएँ थीं। जीवन-निर्वाह तो हो जाता था, किन्तु कन्याओंके विवाहका प्रश्न उन्हें चिन्तित रखता था। किसी भी अच्छे कुलमें कन्याको पहुँचानेके लिये उस समय भी पर्याप्त दहेजकी आवश्यकता होती थी।

जबसे रामदयालजीका बड़ा पुत्र काशीसे ज्योतिष पढ़कर आया है, तबसे पण्डितजीके भाग्य कुछ जग-से गये हैं। पुत्रको उन्होंने हृदयको वज्र बनाकर विद्याध्ययनके निमित्त अपनेसे पृथक् किया था। बड़ी कठिनाईसे घरकी वस्तुएँ बेचकर उसको मार्ग-व्यय दिया था। काशीमें जाकर भी उस बच्चेको महान् कठिनाइयोंका सामना करना पड़ा। कहीं रहनेको स्थान नहीं, भोजनका प्रबन्ध नहीं, पण्डितोंसे परिचय नहीं। पर उसके दृढ़ निश्चयने समस्त कठिनाइयोंको पराजित किया। वह काशीसे ज्योतिषका प्रकाण्ड विद्वान् होकर ही लौटा। ढूँढ़-ढूँढ़कर विद्वानों एवं ज्योतिषियोंसे उसने गणितके रहस्योंका अध्ययन किया।

ज्यौतिषाचार्य पण्डित श्यामसुन्दर शर्माकी गणित-की बारीकी इतनी अच्छी थी कि उनकी बातें अक्षरशः सत्य होने लगीं। पुत्रके पाण्डित्यने पिताका मस्तक ऊँचा कर दिया। रामदयालजीका सम्मान दूना हो गया। सब लोग उनका स्वागत करनेको उत्सुक रहते थे।

केवल सम्मानसे काम तो चलता नहीं। गृहकार्यों-के लिये तो द्रव्य चाहिये। रामदयालजीको पुत्रकी विद्वत्तासे सम्मान तो मिला, पर वह कोरा सम्मान किस कामका। श्यामसुन्दर बहुत दयालु प्रकृतिके थे। वैसे भी उस समय कुछ मूल्य लेकर ज्योतिषकी गणना नहीं की जाती थी। जो कोई कुछ पूछने आता, गणित करके ज्यौतिषाचार्यजी उसे बता देते। वह धन्यवाद देकर, तथा प्रशंसा करता हुआ चला जाता। इस धन्यवाद और प्रशंसाने उन्हें रत्तीभर सहायता नहीं दी। आर्थिक स्थिति और भी कष्टमय हो गयी। बहिनोंके विवाहका प्रश्न सामने था।

(२)

पण्डितजी! राममनोहरने अपनी सन्ततिके विषय-में कुछ पूछा था क्या? रामपुरके प्रसिद्ध जमीदार बाबू केदारसिंहने प्रणाम करते हुए ज्यौतिषाचार्यजीसे पूछा।

'पूछा तो था; पर मैं बाल बनवा रहा था, अतः कोई उत्तर नहीं दे सका। बाबूजी सन्ध्याको फिर आनेके लिये कह गये हैं। आप विराजें; मैं सन्ध्या कर लूँ, फिर आपको ही बता दूँगा।' गीली धोतीको सुखाते हुए आचार्यजीने कहा—

'आप निश्चिन्त होकर सन्ध्या करें। मैं बैठता हूँ।' केदारसिंह चौकीपर बैठ गये। पण्डितजीके छोटे भाईने उन्हें जलपानके लिये पूछा, किन्तु उन्होंने अस्वीकार कर दिया। पण्डितजी लगभग आधे घंटेमें सन्ध्या करके उठे। पत्रा लेकर वे आ बैठे।

थोड़ी देर एक कागजपर कुछ गणित करके उन्होंने बताया—'आपको भतीजा ही होगा।' जैसे केदारसिंहपर वज्र पड़ा हो। वे चिन्तित एवं उदास हो गये। कुछ देर चुप रहकर उन्होंने कहा 'पण्डितजी! मैं आपका बड़ा उपकार मानूँगा, बहुत आभारी होऊँगा, आप यह बात और किसीसे न कहें। जो कोई भी पूछे, उसे मूढ़ गर्भ बता दें। आप इसके बदले जो भी सेवा चाहें, मैं करनेको प्रस्तुत हूँ।' उन्होंने पण्डितजीके चरणोंमें मस्तक रख दिया।

आश्चर्यसे पण्डितजीने कहा—'भला, यह कैसे हो सकता है? मैं ब्राह्मण होकर झूठ तो बोलूँगा नहीं। फिर आपकी इसमें हानि ही क्या है?'

'हानिकी कुछ मत पूछिये। वह बहुत दिनोंसे पुत्रके लिये व्याकुल था। अन्तमें निराश होकर उसने संन्यास ले लेनेका निश्चय किया। बीचमें ही उसकी पत्नीको सन्ततिकी आशा हुई। आस-पासके वैद्य कहते हैं कि वह मूढ़ गर्भ है। अब आपपर ही सारा निश्चय है। यदि आपने भी मेरा समर्थन कर दिया, तो वह संन्यासी हो जायगा। उसकी स्त्री मेरी रक्षामें रहेगी, तब मैं उसके गर्भको किसी प्रकार नष्ट करा दूँगा। आपका अयश भी नहीं हो सकेगा। वह मेरी सम्पत्तिके आधेका भागीदार है। यदि उसके पुत्र हो गया तो मुझे उस सम्पत्तिसे वञ्चित रहना होगा। मैं इस कार्यके लिये आपको सहस्र मुद्राएँ दूँगा।'

'राम! राम!! झूठ बुलाकर भ्रूणहत्याका पाप भी आप मेरे ही सिर चढ़ाना चाहते हैं? मैं एक परिवारके नाशका कारण नहीं बन सकता!' यहाँसे काम चलता न देखकर केदारबाबू आचार्यजीके पिताके पास पहुँचे। उन्होंने वृद्ध ब्राह्मणको भली प्रकार भ्रममें डाला। दस सहस्र मुद्राओंतकका प्रलोभन दिया। सीधे-सादे रामदयालजी लोभमें आ गये। उन्होंने पुत्रसे कहा—'तनिक-सा कहना ही तो है, कह दो!' एकान्तमें ले जाकर समझाया 'दो लड़कियोंका विवाह करना है। घरमें भोजन-वस्त्रके भी लाले पड़ रहे हैं, इसमें पाप ही कौन-सा धरा है! अरे प्रायश्चित्त कर लेंगे। तीर्थ कर आना, यज्ञ और दान कर लेना। जीवन तो सुखसे बीतेगा।'

नम्र पुत्रने विनीत स्वरमें कहा—'पिताजी! क्षमा करें। मैं इस आज्ञाका पालन करनेमें असमर्थ हूँ। मुझसे एक पूरे वंशका सर्वनाश नहीं हो सकेगा।' पण्डितजी जानते थे कि लड़का आग्रही है। वह जिस बातपर अड़ जाता है, उसे नहीं छोड़ता। उनके मुखपर निराशा दौड़ गयी। कुछ रुष्ट स्वरमें बोले 'जो तुम्हारी समझमें आवे, करो। भाग्यमें तो भीख माँगना लिखा है, लक्ष्मी कैसे अच्छी लगेगी!' नेत्र भर आये, पर विद्वान् पुत्रने पिताको प्रत्युत्तर नहीं दिया। वह चुपचाप वहाँसे उठ आया।

केदारबाबूने पुनः समीप आकर कहा—'पण्डितजी! पन्द्रह हजार दूँगा। सोच लीजिये! आप मुझसे शत्रुता कर रहे हैं।' उन्हें उत्तर मिला—'बाबूजी! ये मुद्राएँ आप दीनोंको बाँट दें, पुण्यकार्यमें लगा दें, आपका कल्याण होगा। मेरी क्या शक्ति कि आपसे शत्रुता करूँ! आपकी न्यायतः सेवा करनेको मैं सदा प्रस्तुत हूँ। हाँ, मुझसे यह पाप नहीं हो सकेगा।'

'अच्छा! देखता हूँ कि तुम कितने बड़े धर्मात्मा हो।' क्रोधमें बड़बड़ाते हुए केदारबाबू वहाँसे चले गये।

(३)

दिनमें ही डाका पड़ा। बड़े हट्टे-कट्टे, काले-कलूटे कोलोंने पण्डित रामदयालजीके घरकी एक-एक वस्तु लूट ली! लड़कियोंके शरीरपरके आभूषण भी उतार लिये। घरमें आग लगा दी। गाँवके लोगोंका साहस नहीं हुआ कि उनका प्रतिकार करें। उन सबोंने ज्यौतिषाचार्यजीको बहुत पीटा। अधमरा-सा करके छोड़ दिया। घरके दूसरे लोगोंको भी पीटा।

घर जलकर छार हो चुका था। न तो रहनेको स्थान था और न पहननेको वस्त्र। केदारके डरसे कोई आश्रय देनेका साहस भी नहीं कर सकता था। उसकी दुष्टताका आतङ्क गाँवभरपर छाया हुआ था। लोग उसके नामसे काँपते थे। पण्डितजीको सबसे अधिक दुःख अपनी पुस्तकोंके जलनेका था।

इसी समय एक आदमी आया। उसने आचार्यजी-के हाथमें एक पत्र दिया। पत्रमें किसीका नाम नहीं था। उसमें लिखा था 'मुझसे दुराग्रह करनेका यह फल है। अब भी मेरी बात मान लो तो घर बनते एक घंटा भी नहीं लगेगा। मैं पन्द्रहके बदले बीस हजार दे दूँगा। यदि अब भी बुद्धि ठिकाने न आयी हो, तो मारे-मारे भटको। देखता हूँ कि तुम्हें कौन सहायता देता है।'

पण्डितजीने उस आदमीसे कलम माँगकर पत्रकी पीठपर लिख दिया 'यदि शास्त्रोंका यह वाक्य 'धर्मो रक्षति रक्षितः' सत्य है, तो मेरी भी इस काण्डमें रक्षा हुई है। भगवान्‌ने जो भी किया, कल्याणके लिये ही होगा। मुझसे पाप नहीं हो सकेगा; न्याययुक्त जो आपकी सेवा हो, उसके लिये मैं सदाकी भाँति अब भी प्रस्तुत हूँ।' पत्र उन्होंने उसी आदमीको दे दिया।

(४)

श्यामसुन्दरजीकी प्रसिद्धि बहुत दूर-दूरतक हो चुकी थी। चित्रकूट-नरेशका दूत उन्हें ढूँढ़ता हुआ लेनेके लिये वहाँ आ पहुँचा। यह ब्राह्मण-परिवार आश्रयहीन अपने उसी भस्मावशेष घरमें बैठा हुआ भाग्यको कोस रहा था। राजदूतको गाँवमें आते ही समस्त घटना ज्ञात हो गयी। उसने पूरे विप्र-कुटुम्बको रथपर बैठा लिया और चित्रकूटको ले चला।

जाते-जाते आचार्यजीने राममनोहरबाबूके यहाँ समाचार भेज दिया कि गणितसे यह सिद्ध हुआ है कि उन्हें पुत्र होगा। उस समाचारमें अपने कष्टका नाम भी नहीं था।

चित्रकूटसे थोड़ी दूरपर उस समय महाराज उदयकुमारसिंहकी राजधानी थी। दूतने पण्डितजीको अतिथिशालामें ठहराकर महाराजको सूचना दी। समाचार पाते ही महाराजने अपना सरोवरपरका एकान्त भवन ज्योतिषीजीको प्रदान कर दिया।

विद्वान्‌का सब कहीं सम्मान होता है। अपनी विद्या और धर्मनिष्ठाके कारण श्यामसुन्दरजी महाराजके गुरु हो गये। और भी कई रियासतोंके अधिपतियोंने भी उन्हें अपने यहाँ बुलाकर सम्मानित किया। उनकी बहिनोंका विवाह रीवाँ और बूँदी-जैसे राज्योंके राजपुरोहितोंके साथ हो गया।

जन्मभूमि किसीको भूलती नहीं। श्यामसुन्दरजीने थोड़े ही दिन बाद अपनी जन्मभूमिके उस टूटे-फूटे, भस्मकी ढेरी हुए मकानके स्थानपर एक विशाल भवन बनवाया। उनका परिवार प्रायः वहीं रहता था। आवश्यकता होनेपर वे प्रायः राज्यमें आमन्त्रित होते थे।

प्रारब्धवश या कालके फेरसे केदारबाबूका परिवार बीमारियोंकी भेंट हो गया। उनकी सम्पत्ति चोरोंने हड़प ली। भूमिपर ऋण हो गया। वृद्धावस्थामें उनके लिये रहने एवं भोजनका भी प्रबन्ध नहीं रह गया। उनके पहलेके कृत्योंका स्मरण करके कोई उन्हें सहायता भी नहीं देता था।

केदारबाबूकी दशा देखकर श्यामसुन्दरजीको दया आ गयी। उन्होंने उन्हें अपने भवनमें द्वारके समीपका एक सुन्दर कमरा दे दिया। भोजन पण्डित-जीके घरसे उन्हें मिल जाता था। वृद्ध केदारका अब प्रायः पूरा समय पूजा-पाठमें लगता था। वे किसीसे कुछ बोलते न थे। एकान्तमें ही रहते थे। कभी-कभी अपने-आप कह उठते थे—

'धर्मो रक्षति रक्षितः।'

आर्यनारियोंकी सतीत्व-साधना

(लेखक—पाण्डेय श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री 'राम')

(गताङ्कसे आगे)

कुछ आदर्श सतियाँ

इस प्रकार श्रुति, स्मृति, पुराण आदि सभी धर्म-शास्त्रोंमें स्त्रीके लिये पातिव्रत्य-धर्मका निरूपण किया गया है। तथा सर्वत्र ही सती नारी और उसके सतीत्वकी महिमा गायी गयी है। सतीत्व-पालनके लिये नारीको न गृहका त्याग करना पड़ता है न परिवारका। उसके लिये घर ही तपोवनका काम देता है। मनोभूमिपर पति-प्रेमका अखण्ड राज्य हो जानेपर उसे भोग भी योगसाधनाका काम देते हैं, ममता भी मुक्तिका द्वार बन जाती है। पतिप्राणा सती नारीके जन्मसे उसका परिवार, गाँव, प्रान्त और देश सभी पवित्र और धन्य हो जाते हैं। अधिक संख्यामें सती-साध्वी नारियोंको जन्म देनेका श्रेय अबतक समस्त संसारके बीच केवल भारतवर्षको प्राप्त है। आर्यनारियोंने अपने सतीत्वके प्रभावसे समस्त त्रिभुवनको आश्चर्यचकित कर दिया है। सतीत्वका यह आदर्श जगज्जननी आदिशक्ति भगवती दुर्गाने ही संसारके सामने रखा है। उन्होंने ही विभिन्न सतियोंके रूपमें आविर्भूत हो आर्यनारियोंको पातिव्रत्यका पाठ पढ़ाया है। सती-शिरोमणि दक्षकन्या 'सती' का नाम कौन नहीं जानता, जिन्होंने पतिका अपमान होते देख अपना प्राण त्याग कर दिया था। गिरिराज-कुमारी पार्वती भी पतिव्रताओंमें अग्रगण्य हैं, ये सतीकी ही अवतार हैं; इन्होंने पातिव्रत्यके ही बलसे सर्वलोक-महेश्वरके आधे शरीरमें स्थान पाया है। महर्षि भृगुकी कन्या लक्ष्मीने, जिनके नामपर आज भी सती स्त्रियोंको लक्ष्मी कहते हैं, अपने सतीत्वके प्रतापसे ही भगवान् नारायणके वक्षःस्थलमें नित्य निवास पाया है। इसी प्रकार जिनके अंशसे अवतार लेकर राजकुमारी सावित्रीने जगत्में पातिव्रत्यका डङ्का पीट दिया, वे ब्रह्म-शक्ति देवी सावित्री भी सतीत्वके ही कारण ब्रह्माजीकी हृदयेश्वरी हुईं। ब्रह्मर्षि वशिष्ठकी पत्नी देवी अरुन्धती भी सतीत्वके ही प्रतापसे सप्तर्षियोंके साथ पूजी जाती हैं। अनेकों बार पातिव्रत्यकी अग्निपरीक्षामें ये सर्वप्रथम उत्तीर्ण हुई हैं। महर्षि अत्रिकी पत्नी देवी अनसूयाका नाम धार्मिक जगत्में विख्यात है, इन्होंने अपने सतीत्वके प्रभावसे ब्रह्मा, विष्णु, शिव तीनों देवताओंको पुत्ररूपमें प्राप्त किया था। एक समय घोर अवृष्टिके समय अनसूयाने ही प्रजाकी रक्षा की थी। इन्होंने ही भगवती सीताको वनवासके समय पातिव्रत्यकी शिक्षा दी थी। महाभारत वनपर्वके २०६ वें अध्यायमें एक पतिव्रता ब्राह्मणीकी कथा आती है जिसने सतीत्वके बलसे ही एक तपस्वी ब्राह्मणका अहङ्कार दूर किया था। राजा अश्वपतिकी कन्या सावित्रीने सतीत्वके बलसे ही यमराजको परास्त करके अपने सौभाग्य और पतिको मौतके मुखसे निकाला था। भगवती सीताका नाम तो घट-घटमें रम रहा है, इनका परिचय क्या दिया जाय। रामायणके पाठक जानते हैं कि सीता सतीत्वकी कितनी कठिन अग्नि-परीक्षामें उत्तीर्ण हुई थीं। इसी प्रकार सुलोचना, दमयन्ती, और शकुन्तला आदि सतियोंकी कथा भी प्रसिद्ध है। इन्होंने कितने कष्ट झेलकर सतीत्वकी रक्षा की थी। भगवान् श्रीकृष्णकी रानियों और पाण्डवोंकी महारानी द्रौपदीका पातिव्रत्य भी स्तुत्य है। इनके अलावे भी इस देशमें घर-घर सती-साध्वी स्त्रियाँ हुई हैं, सबका नामोल्लेख अनावश्यक और असम्भव है। निकट भूतमें राजपूतानेकी क्षत्राणियोंने अपने सतीत्वकी जितनी कड़ी परीक्षामें सफलता प्राप्त की है, वह इतिहासमें अद्वितीय है। उनके पातिव्रत्यका उज्ज्वल आलोक आज भी आर्यनारियोंका मार्ग आलोकित कर रहा है। इन सभी सतियोंकी विस्तृत जीवनी पढ़नेसे स्वधर्मपालनके लिये उत्साह और बल मिलता है। आर्यललनाओंको इन प्राचीन और अर्वाचीन सतियोंकी जीवनी और सन्देशसे लाभ उठाना चाहिये। उदाहरणके लिये सावित्री और सीताके जीवनका दो-एक प्रसङ्ग उद्धृत किया जाता है, आर्यनारियोंको इसका मनन करना चाहिये।

सावित्रीके पतिकी आयु केवल एक साल शेष थी, विवाहके पहले ही नारदजीके मुखसे इसका पता लग गया था। पिताने सावित्रीको यह बात बताकर कहा—'बेटी, तू दूसरा वर चुन ले।' उस समय सावित्री जितनी दृढ़तासे उत्तर देती

है, उससे उसकी अद्वितीय पातिव्रत्य-निष्ठाका पता चलता है। सावित्री कहती है—

सकृदंशो निपतति सकृत् कन्या प्रदीयते।
सकृदाह ददानीति त्रीण्येतानि सकृत् सकृत्॥
दीर्घायुरथवाल्पायुः सगुणो निर्गुणोऽपि वा।
सकृद्वृतो मया भर्ता द्वितीयं न वृणोम्यहम्॥
मनसा निश्चयं कृत्वा ततो वाचाभिधीयते।
क्रियते कर्मणा पश्चात् प्रमाणं मे मनस्ततः॥
(महा० वन० २९४। २६-२८)

'पिताजी! पैतृक सम्पत्तिका बटवारा एक ही बार होता है, अपनी कन्या किसीको एक ही बार दी जाती है, तथा 'मैं अमुक वस्तु दूँगा' ऐसी प्रतिज्ञा एक ही बार की जाती है। ये तीन बातें एक ही बार होती हैं। सत्यवान्‌की आयु अधिक हो या थोड़ी, वे गुणवान् हों या निर्गुण, मैंने उन्हें एक बार पतिरूपसे मन-ही-मन वरण कर लिया, अब किसी दूसरे पुरुषका वरण नहीं कर सकती। पहले मनसे निश्चय करके वाणीसे कोई बात कही जाती है, फिर उसे कार्यरूपमें परिणत किया जाता है। मैं भी सत्यवान्‌को पति बनानेका निश्चय कर चुकी हूँ, इस विषयमें मेरा मन ही प्रमाण है।'

शीघ्र ही मौतके मुखमें जानेवाले पुरुषको कौन अपना पति बनानेका साहस कर सकती है? धन्य है सावित्रीके त्याग और सत्यनिष्ठाको! जिसने भविष्यके सुखकी कुछ भी परवा न करके अपनेको मानसिक व्यभिचारसे बचा लिया। यही कारण था कि उसके पतिको मौत नहीं मार सकी। आज भी साधारणतया लोगोंका विश्वास है कि पतिव्रताका सौभाग्य उसके जीते-जी मृत्यु भी नहीं छीन सकती।

इसी प्रकार भगवती सीताका चरित्र भी बड़ा ही उज्ज्वल है। जिस समय सीताजी वनमें अत्रिके आश्रमपर पधारी थीं, वहाँ अनसूयाने उन्हें सतीत्वका उपदेश देते हुए कहा था—'तुम अपने पतिमें मन लगाकर सती एवं शुद्धाचारिणी रहती हुई पतिदेवको सर्वप्रधान मानकर उनकी अनुगामिनी बनी रहो। ऐसा होनेसे तुम्हें अक्षय यश और धर्मका लाभ होगा।'*

सीताजी नारीके प्रधान धर्म पातिव्रत्यको बचपनसे ही जानती थीं, इसका उन्होंने स्वयं ही प्रतिपादन किया है। उन्होंने अनसूयासे कहा—'जब मैं वनमें आने लगी, उस समय मेरी सासने सतीत्वके विषयमें जो कुछ शिक्षा दी, वह मेरे हृदयमें स्थिर है, भूली नहीं है। पाणिग्रहणके समय अग्निदेवके निकट मेरी माताने जो कुछ मुझे उपदेश किया था, वह भी मुझे याद है। नारीके लिये पतिकी सेवासे बढ़कर दूसरा तप नहीं है। सावित्री पतिकी सेवासे ही स्वर्गलोकमें सम्मानित हुई है। तथा हे अनसूयाजी! आप भी इसी प्रकार पतिसेवा करनेसे ही देवलोकमें स्थान पा चुकी हैं। संसारकी समस्त नारियोंमें श्रेष्ठ और स्वर्गकी देवता यह सती-साध्वी रोहिणी चन्द्रमाके विना एक क्षण भी नहीं दिखायी देती। इस तरह पतिमें दृढ़ निष्ठा रखनेवाली अनेकों उत्तम स्त्रियाँ हैं, जो अपने शुभ कर्मके कारण आज देवलोकमें सम्मान पा रही हैं।'†

लङ्काकी अशोकवाटिकामें विरहिणी सीता हृदयमें भगवान्‌का ध्यान और वाणीसे उनके नामकी रट लगा रही थीं। उस समय उनकी दुःखकी सङ्गिनी त्रिजटानामक राक्षसी उनके साथ रहती थी। विरहोन्मादमें पड़ी हुई सीताके मनमें सहसा एक विचार उठा, जिससे वे भयभीत हो गयीं, उन्होंने त्रिजटाको पास बुलाकर कहा—'बहन त्रिजटे! देखो न, यह कीट निरन्तर भ्रमरका ध्यान करनेसे स्वयं भी भ्रमर बन जाता है। मुझे भय है कि कहीं मैं भी रात-दिन प्राणाधार रामका ध्यान करके राम हो न बन जाऊँ। यदि ऐसा हुआ तो दाम्पत्य-सुखकी तो इतिश्री हो जायगी। मैं सीताके रूपमें उनकी सेवाका जो सुख उठाती थी, उससे तो वञ्चित होना पड़ेगा।'

* तदेवमेतं त्वमनुव्रता सती पतिप्रधाना समयानुवर्तिनी।
भव स्व भर्तुः सहधर्मचारिणी यशश्च धर्मं च ततः समाप्स्यसि॥
(वा० रा० अयो० ११७। २९)

† आगच्छन्त्याश्च विजनं वनमेवं भयावहम्।
समाहितं हि मे श्वश्र्वा हृदये यत्स्थिरं मम॥
पाणिप्रदानकाले च यत्पुरा त्वग्निसन्निधौ।
अनुशिष्टं जनन्या मे वाक्यं तदपि मे धृतम्॥
पतिशुश्रूषणान्नार्यास्तपो नान्यद्विधीयते॥
सावित्री पतिशुश्रूषां कृत्वा स्वर्गे महीयते।
तथावृत्तिश्च याता त्वं पतिशुश्रूषया दिवम्॥
वरिष्ठा सर्वनारीणामेषा च दिवि देवता।
रोहिणी न विना चन्द्रं मुहूर्तमपि दृश्यते॥
एवंविधाश्च प्रवराः स्त्रियो भर्तृदृढव्रताः।
देवलोके महीयन्ते पुण्येन स्वेन कर्मणा॥
(वा० रा० अयो० ११८। ७-१२)

त्रिजटाने उन्मादकी इस कल्पनाका ऐसा ही उत्तर दिया—हे मिथिलेशकुमारी! इसके लिये शोक न करो, राम भी तो तुम्हारा निरन्तर चिन्तन करते हैं, यदि तुम राम हो जाओगी तो राम भी सीता हो जायँगे, फिर सीता-रामका दाम्पत्य-योग ज्यों-का-त्यों रह जायगा।' इस मर्मस्पर्शी भावका वर्णन कविके शब्दोंमें इस प्रकार है—

> कीटोऽयं भ्रमरीभवत्यतिनिदिध्यासैर्यथाहं तथा
> स्यामेवं रघुनन्दनोऽपि त्रिजटे दाम्पत्यसौख्यं गतम्।
> शोकं मा वह मैथिलेन्द्रतनये तेनापि योगः कृतः
> सीता सोऽपि भविष्यतीति सरले तस्यो मतं जानकि॥

रावण मारा गया, सीता अशोकवाटिकासे भगवान्के समीप लायी गयीं। भगवान्ने सीताकी परीक्षाके लिये उनके चरित्रपर सन्देह किया, उन्हें त्याग दिया। एक सती अपने चरित्रके कलंकको नहीं सह सकती। उन्होंने लक्ष्मणसे चिता तैयार करनेको कहा। चितामें आग लगा दी गयी। सीताने अग्निमें प्रवेश करनेके पहले अपनी पवित्रताके सम्बन्धमें जो कुछ कहा वह पतिव्रताओंके लिये सदा स्मरणीय है—

> यथा मे हृदयं नित्यं नापसर्पति राघवात्।
> तथा लोकस्य साक्षी मां सर्वतः पातु पावकः॥
> यथा मां शुद्धचारित्रां दुष्टां जानाति राघवः।
> तथा लोकस्य साक्षी मां सर्वतः पातु पावकः॥
> (वा० रा० युद्ध० ११६। २५-२६)

'यदि मेरा मन सदा रामसे अलग न रहता हो तो लोकसाक्षी अग्निदेव मेरी सब ओरसे रक्षा करें। मेरा चरित्र शुद्ध है, फिर भी रघुनाथजी मुझे दुष्टा समझ रहे हैं। ऐसी अवस्थामें लोकसाक्षी अग्निदेव मेरी सब ओरसे रक्षा करें।'

इसके बाद सीताने अग्निदेवको सम्बोधित करके कहा—

> मनसि वचसि काये जागरे स्वप्नसङ्गे
> यदि मम पतिभावो राघवादन्यपुंसि।
> तदिह दह ममाङ्गं पावनं पावकेदं
> सुभगप्रकृतिभाजां त्वं हि कर्मैकसाक्षी॥

'हे अग्निदेव! जागते समय अथवा स्वप्नमें मन, वाणी और शरीरके द्वारा कभी भी यदि श्रीरामचन्द्रके सिवा किसी दूसरे पुरुषमें मेरी पति-भावना हुई हो तो मेरे इस पवित्र अङ्गको तुम भस्म कर दो; क्योंकि शुद्ध प्रकृतिवाले प्राणियोंके शुभाशुभ कर्मोंके तुम्हीं एकमात्र साक्षी हो।'

पातिव्रत्यके कवचसे सुरक्षित सीताके लिये अग्निदेव शीतल चन्दनके समान हो गये। उन्होंने स्वयं प्रकट होकर सीताकी शुद्धताका समर्थन किया। सतीत्वके ही प्रभावसे आज जानकीको पुण्यश्लोका कहकर प्रातःकाल स्मरण किया जाता है—पुण्यश्लोका च वैदेही।

एक बड़े परिवारके भीतर रहनेवाली सती-साध्वी स्त्रीकी जीवनचर्या कैसी हो? वह किस प्रकार किससे व्यवहार करे? गृहकार्यमें कितनी चतुरता आवश्यक है? सतीत्वका कैसे निर्विघ्न पालन हो? इन सब बातोंका यथार्थ उत्तर एक सती ही दे सकती है। महाभारत वनपर्वमें सतीशिरोमणि द्रौपदी और सत्यभामाके संवादमें इस विषयपर अच्छा प्रकाश पड़ा है। यह प्रसंग पतिव्रताओंके लिये बड़े कामका है।

द्रौपदीका सत्यभामाको सतीत्वका उपदेश

पाँचों पाण्डव द्रौपदीसहित वनमें निवास करते थे, एक दिन भक्तवत्सल भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र देवी सत्यभामाके साथ वहाँ उनसे मिलने आये। अपने अनन्य प्रियतम दीनबन्धु भगवान्से मिलकर पाण्डव बड़े ही प्रसन्न हुए और प्रेमगद्गदवाणीसे उनका स्वागत किया। द्रौपदी और सत्यभामा भी प्रेमाश्रुओंकी वर्षा करती हुई परस्पर गले मिलीं। महात्मा पाण्डवगण वहाँ पधारे हुए ब्राह्मणों, ऋषियों तथा भगवान् श्रीकृष्णके साथ एक वृक्षके नीचे बैठकर सत्सङ्गका आनन्द उठाने लगे। दूसरी ओर कुछ दूर हटकर सत्यभामा और द्रौपदी प्रेमालाप करने लगीं।

सत्यभामाका भगवान् श्रीकृष्णमें अनन्य अनुराग था और भगवान् भी सत्यभामासे बहुत प्रेम रखते थे। इतनेपर भी भोली-भाली सत्यभामाका कोमल हृदय सदा ही शङ्कित रहता था कि कहीं उनके प्रियतम उनसे रूठ न जायँ। सौतें अधिक हैं, कोई जादू-टोना, मन्त्र-यन्त्र करके श्रीकृष्णको अपने ही वशमें न कर लें—यह डर सदा ही बना रहता था। अपने पतिको वशमें करनेका उपाय जाननेके लिये सत्यभामा द्रौपदीसे इस प्रकार बोलीं—

'बहन, मैं तुमसे एक बात पूछती हूँ, बुरा न मानना, प्रेमसे बताना। तुम्हारे पति लोकपालोंके समान शूरवीर हैं, इनका शरीर पुष्ट, बलिष्ठ और सुदृढ़ है, इन सबका स्वभाव भी एक-सा नहीं है, फिर भी ये तुम्हारे वशमें कैसे रहते हैं? मैं सुनती हूँ और देखती भी हूँ कि ये कभी तुमपर नाराज

नहीं होते, सदा तुम्हारे अधीन रहते हैं, हर बातमें तुम्हारा मुँह जोहते रहते हैं, तुम्हारी इच्छाके विरुद्ध कभी कुछ भी नहीं करते। इसका क्या कारण है? इन्हें वशमें करनेके लिये तुमने कोई व्रत, तपस्या, स्नान-दान अथवा यन्त्र-मन्त्रका प्रयोग तो नहीं किया है? या इन्हें कोई दवा तो नहीं खिला दी है? अथवा तुम्हारे पास कोई वशीकरणकी विद्या तो नहीं है? कोई दिव्य शक्ति या बल तो नहीं है? जप, होम अथवा अञ्जन-आदि औषधोंके बलसे तो तुम्हें यह सफलता नहीं मिली है? यदि वास्तवमें कोई व्रत आदि साधन है तो वह सौभाग्य और यशको बढ़ानेवाला उपाय मुझे भी बताओ; जिससे मेरे प्रियतम श्रीकृष्ण सदा मेरे ही वशमें रहें।'

सत्यभामाका यह प्रश्न सुनकर द्रौपदीको आश्चर्य हुआ, साथ ही उनके भोलेपनको देखकर तरस भी आयी। द्रौपदी बोलीं—

'बहन सत्यभामा, तुम बड़ी बुद्धिमती और भगवान् श्रीकृष्णकी प्यारी पटरानी हो। तुमने जो ऐसा प्रश्न और मेरे विषयमें इस तरहका सन्देह किया यह नितान्त अनुचित है। अरी! तुमने जिसके विषयमें जिज्ञासा की है, वह सती-साध्वी स्त्रियोंका नहीं, दुराचारिणी और कुलटा स्त्रियोंका व्यवहार है! कोई साध्वी नारी पतिको वशमें करनेके लिये छिप छिपकर यन्त्र-मन्त्र आदि वञ्चनापूर्ण उपायका अवलम्बन नहीं कर सकती। मैं तो ऐसे प्रश्नोंका उत्तर भी नहीं देना चाहती थी, किन्तु तुम्हारा हृदय सरल है, तुमने शुद्ध भावसे ही पूछा है, इसलिये कुछ कहना ही पड़ता है।

'जो स्त्री ऐसा समझती है कि यन्त्र-मन्त्र आदिसे मैं पतिको वशमें कर लूँगी; वह भूल करती है। जब पतिको यह पता लग जाता है कि मेरी स्त्री मुझे वशमें करनेके लिये यन्त्र-मन्त्रका प्रयोग कर रही है, तो वह सर्पयुक्त गृहके समान सदा उससे दूर रहनेकी कोशिश करता है। अपनी स्त्रीको डाइन समझकर वह सदा उससे उद्विग्न और दुखी रहता है। उसे कभी शान्ति नहीं मिलती, अशान्तको सुख कहाँ? बेचारा रातोंदिन चिन्तासे सूखा जाता है। इसलिये स्मरण रखो, वशीकरण आदिका प्रयोग करनेसे पुरुष कभी भी स्त्रीके वशमें नहीं होता, बल्कि इसका उलटा ही परिणाम निकलता है। दोनोंका जीवन अधिक दुःखमय हो जाता है। इसके सिवा ऐसे अवसरोंपर शत्रुओंका काम बनता है, वे किसी विश्वस्त व्यक्तिद्वारा भोली-भाली स्त्रियोंको यह बताकर कि 'यह वशीकरणकी बूटी है, इसको खिलानेसे पति सदा पत्नीके अधीन रहता है' बूटीके नामपर घातक दवा या विष दे देते हैं, जिससे उनके पतियोंको नाना प्रकारके दारुण रोग उत्पन्न हो जाते हैं; तथा बहुतेरे जीवन-से भी हाथ धो बैठते हैं। ऐसे-ऐसे भयानक चूर्ण दे देते हैं, जिन्हें जीभपर रखते ही या त्वचासे स्पर्श कराते ही प्राण निकल जाते हैं। कितनी ही दुराचारिणी स्त्रियोंने अपने पतियोंको वशमें करनेकी आशासे धोखा खाकर उन्हें जलोदर-का रोगी बना दिया है। कितनोंको कोढ़ी, नपुंसक, वृद्ध और जड बना डाला है। कितने ही बेचारे पति ऐसी स्त्रियोंके द्वारा अन्धे और बहरे बनाये जा चुके हैं। ऐसा व्यवहार करनेवाली स्त्रियाँ अधिकांश दुराचारिणी होती हैं। वे स्वयं तो पापियोंका अनुसरण कर पापाचारमें प्रवृत्त होती हैं और अपने पतियोंको दवा देकर रोगोंका शिकार बना देती हैं।

'साध्वी स्त्रीका तो यही धर्म है कि वह कभी भी पतिका अप्रिय न करे। मैं स्वयं महात्मा पाण्डवोंके साथ कैसा व्यवहार करती हूँ, यह भी सुनो—अहङ्कार, काम और क्रोधको त्यागकर नित्य सावधानीसे पाण्डवोंकी सेवा करती हूँ। केवल उन्हींकी नहीं, उन सबकी जो अलग-अलग स्त्रियाँ हैं, उनकी भी यथायोग्य सेवा करती हूँ। मेरे मनमें सेवाका भाव है, इसीलिये उनसे या उनकी अन्य स्त्रियोंसे मुझे ईर्ष्या नहीं होती। मैं अपने मनको स्वाधीन करके अभिमानशून्य हो सदा पतियोंका चित्त प्रसन्न रखती हूँ। कभी मेरे मुखसे कोई कड़ी बात न निकल जाय—इसके लिये सदा सावधान रहती हूँ। असभ्यकी तरह खड़ी नहीं होती, निर्लज्जाकी भाँति सब ओर दृष्टि नहीं डालती। बैठते-उठते समय या मानसिक अभिप्राय प्रकट करनेके लिये संकेत आदि करते समय असभ्यतासे बचनेका प्रयास करती हूँ। अच्छे-अच्छे वस्त्रालङ्कारोंसे विभूषित, परम सुन्दर, रूपवान्, धनवान् और तरुण-अवस्थावाला कोई मनुष्य, गन्धर्व अथवा देवता ही क्यों न हो, परपुरुषकी ओर मेरा मन कभी नहीं जाता। मैं तो अपने पतियोंको ही देवताओंसे भी बढ़कर मानती और उनकी सेवामें तल्लीन रहती हूँ। पतियों और उनके सेवकोंको भोजन कराये विना कभी भोजन नहीं करती। पतियोंको नहलाकर ही नहाती हूँ। यदि वे खड़े हों तो मैं कभी बैठी नहीं रहती। मेरे पति बाहरसे जब-जब घरमें आते हैं, तब-तब खड़ी होकर उनका स्वागत करती और आसन तथा जल देकर उन्हें

सन्तुष्ट करती हूँ। घरके सब बर्तन माज-धोकर साफ रखती, मधुर भोजन बनाती, समयपर रसोई करके सबको भोजन कराती और घरको लीप-पोतकर सदा स्वच्छ और पवित्र बनाये रखती हूँ।*

'मैं ऐसी बात कभी नहीं बोलती, जिससे किसीको अपमान जान पड़े। दुष्टा स्त्रियोंके सम्पर्कसे सदा बचती रहती हूँ। आलस्यको तो पास नहीं आने देती और सदा पतिके अनुकूल आचरण करती हूँ। पतिके किये हुए परिहासके सिवा अन्य समयमें मैं नहीं हँसा करती। प्रायः दरवाजेपर नहीं खड़ी होती। जहाँ कूड़े-करकट फेंके जाते हों, ऐसे गंदे स्थानोंमें मैं नहीं ठहरती। बगीचोंमें भी अकेली देरतक नहीं घूमती रहती। न अधिक हँसती हूँ, न रंज रहती हूँ। जहाँ जानेसे मनमें क्रोधका भाव हो, वहाँ नहीं जाती। सदा सत्य बोलती और पतिसेवामें लगी रहती हूँ। जहाँ पतिकी दृष्टि न हो, ऐसे एकान्त स्थानमें अकेली रहना मुझे बिल्कुल नहीं भाता।

'जब कभी मेरे स्वामी कुटुम्बके किसी कार्यसे परदेशमें चले जाते हैं, उन दिनों मैं अङ्गराग नहीं लगाती, फूलोंके हार नहीं पहनती, सौभाग्यविन्दुके अतिरिक्त अन्य सभी शृङ्गार त्याग कर ब्रह्मचर्यव्रत धारण किये रहती हूँ। मेरे पति जो चीज़ नहीं खाते, नहीं पीते या नहीं सेवन करते, उन सबको मैं भी त्याग देती हूँ। शास्त्रोंके उपदेशके अनुसार नियमपूर्वक चलती हूँ। जब पतिदेव घर रहते हैं, तो सुन्दर वस्त्राभूषणोंसे विभूषित हो सदा उनका प्रिय और हित-साधन करनेमें लगी रहती हूँ। तथा मेरी सासने अपने परिवारके लोगोंके साथ बर्ताव करनेके जो धर्म बताये थे, उनका सदा पालन करती हूँ। मैं दिन-रात आलस्य छोड़कर भिक्षा, बलिहरण, श्राद्ध, पर्वकालोचित स्थालीपाक यज्ञ, मान्य पुरुषोंका आदर-सत्कार, विनय, नियम तथा अन्यान्य सभी विहित धर्मोंका पालन करती रहती हूँ। मेरे पति बड़े ही सज्जन और मृदुल स्वभावके हैं, सत्यवादी तथा सत्य धर्मका आश्रय लेनेवाले हैं, तो भी कुपित हुए विषैले साँपके सिरपर लात पड़ जानेसे वह डस लेगा—यह जानकर लोग जिस तरह उससे सावधान रहते हैं, उसी प्रकार मैं भी पतियोंसे सावधान रहकर उनकी सेवा करती हूँ। कभी उनके प्रतिकूल चलनेका साहस नहीं करती। मैं इसी सिद्धान्तको मानती हूँ कि पतिके आश्रित रहना ही स्त्रियोंका सनातन धर्म है। पति ही उनका देवता है, पति ही उनकी गति है। पतिके सिवा नारीका दूसरा कोई सहारा नहीं है। ऐसे पतिदेवताका भला कौन स्त्री अप्रिय करेगी?* मैं पतिसे पहले कभी सोती नहीं, उनसे पहले कभी भोजन नहीं करती, तथा उनकी इच्छाके विरुद्ध कभी आभूषण भी नहीं पहनती। अपनी सासले कभी कटुवचन नहीं बोलती। सदा ही भलीभाँति नियमोंमें बँधी रहती हूँ। प्रमाद छोड़कर नित्य उत्साहके साथ कार्यमें लगी रहती हूँ और गुरुजनोंकी सेवा किया करती हूँ। इन्हीं सब कारणोंसे मेरे पति मेरे वशमें रहते हैं।

'मेरी सास वीरमाता आर्या कुन्ती पृथ्वीके समान क्षमाशील हैं। मैं उनसे कभी ऐंठकर नहीं बोलती। उन्हें समयपर पीनेके लिये जल, जीमनेके लिये भोजन तथा पहननेके लिये वस्त्र देकर सदा उनकी परिचर्या किया करती हूँ। वस्त्र, आभूषण और भोजनके विषयमें कभी सासकी आज्ञाके विरुद्ध नहीं चलती। सब काममें उनकी नेक सलाह लेती रहती हूँ।

'मेरे पति धर्मराज जब राज्य-शासन करते थे, उन दिनों महाराजके भवनमें लाखों ब्राह्मण, ब्रह्मचारी तथा संन्यासी अतिथि भोजन करते थे। बलिवैश्वदेवके अनन्तर अग्रहारनामक अन्नोंसे उन अतिथियोंका सत्कार करती हुई मैं पति-देवके पुण्यकार्यमें योग देती थी। अन्तःपुर और बाहरके नौकर क्या काम करते हैं और क्या नहीं करते? गौओं तथा भेड़ोंके चरवाहे अपना काम ठीकसे सँभालते हैं या नहीं? इन सब बातोंका मैं ध्यान रखती थी।

---

* यह भारतवर्षके चक्रवर्ती नरेशकी महारानीकी जीवनचर्या है। वे ऐसे साधारण कार्य भी अपने हाथों कर लेती थीं, जिन्हें आजकल साधारण स्त्रियाँ भी मिथ्या-अभिमानवश अपने हाथसे करनेमें संकोच करेंगी। द्रौपदी कहती है—

प्रमृष्टभाण्डा मिष्टान्ना काले भोजनदायिनी।
संयता गुप्तधान्या च सुसम्मृष्टनिवेशना॥
(महा० वन० २३३। २६)

* पत्याश्रयो हि मे धर्मो मतः स्त्रीणां सनातनः।
स देवः सा गतिर्नान्या तस्य का विप्रियं चरेत्॥
(महा० वन० २३३। ३७)

पाण्डवोंकी कितनी आमदनी है? क्या खर्च है? और कितनी बचत है? इन सबका हिसाब मैं अकेली रखती थी। पाण्डव लोग समस्त कुटुम्बका भार मुझपर ही छोड़कर उपासना तथा अतिथि-सत्कारमें लगे रहते थे। मैं अपने शारीरिक सुखकी परवा न करके प्रसन्नतापूर्वक कुटुम्बके प्रबन्धका दुर्वह भार वहन करती थी। मेरे यहाँ महासागरके समान अपार धनराशि थी। धनके भाण्डारोंको मैं ही अकेली जानती थी। यह सब करती हुई रात-दिन भूख-प्यास सहकर पाण्डवोंकी सेवामें लगी रहती थी। मैं प्रतिदिन सबके पीछे सोती और सबसे पहले जागती थी। यह पतिभक्ति और सेवा ही मेरा वशीकरण-मन्त्र है।'

द्रौपदीकी यह नित्यचर्या सुनकर सत्यभामा दङ्ग रह गयीं और बोलीं—'बहन, मैंने जो अनुचित प्रश्न किया है, उसके लिये मुझे बड़ा ही संकोच और खेद है। तुम मुझे क्षमा कर दो, सखियोंके साथ प्रेमालाप करनेमें कभी-कभी ऐसी बातें निकल जाया करती हैं।'

द्रौपदीने हँसकर कहा—'सखी, मैं तुमसे वशीकरणका एक निष्कपट मार्ग बतलाती हूँ। यदि तुम उसका पालन करोगी तो तुम्हारे पतिका मन अपने आप तुम्हारी ओर अधिक आकृष्ट होगा। हे सत्यभामा! इस लोक या परलोकमें स्त्रियोंका देवता पति ही है। पतिके समान दूसरा कोई देवता नहीं है। पतिके प्रसादसे नारीकी सभी कामनाएँ पूर्ण होती हैं और पतिके खिन्न होनेपर उसके सब सुखोंका नाश हो जाता है।* स्त्रियाँ भक्ति और सेवाद्वारा प्रसन्न किये हुए पतिसे नाना भाँतिके भोग, सुन्दर पलंग, अच्छे आसन, बहुमूल्य वस्त्र, हार और सुगन्धित वस्तुएँ प्राप्त करती हैं; साथ ही उनका अत्यन्त सुयश बढ़ता है और अन्तमें वे स्वर्गलोकपर अधिकार प्राप्त करती हैं। इस संसारमें अनायास ही सुख नहीं मिलता, पतिव्रता स्त्री पहले शरीरसे कुछ कष्ट उठाकर ही पीछे अधिक सुख प्राप्त करती है। इसलिये तुम प्रतिदिन प्रेम और सौहार्द भावसे, सुन्दर वेष-भूषासे, उत्तम आसन, मनोहर पुष्पमाला, सुगन्धित द्रव्य, तथा उदारता एवं व्यवहारकुशलतासे अपने प्रियतम श्रीकृष्णकी आराधना करो। तुम्हें कुछ कहना न पड़े, तुम्हारी निश्छल सेवा और अनन्य प्रेम देखकर भगवान् स्वयं ही यह अनुभव करें कि सत्यभामा मुझसे बहुत ही प्रेम करती है। फिर तो वे स्वतः तुम्हारी ओर अधिक आकृष्ट होंगे। जब दरवाजेपर स्वामीकी आवाज़ सुनायी पड़े उस समय तुम आसन छोड़कर घरमें खड़ी हो जाओ और उनके आनेकी प्रतीक्षा करो। ज्यों ही वे घरमें प्रवेश करें, तुरन्त ही उन्हें बैठनेके लिये आसन दो और जल लाकर अपने हाथोंसे प्रियतमके चरण पखारो। यदि वे किसी कामके लिये किसी दूसरी दासी आदिको आज्ञा दें तो भी तुम दासीको रोककर स्वयं ही वह काम पूरा करो। ये सब सेवाएँ उन्हें दिखाने या प्रसन्न करनेके लिये नहीं, अपना परमधर्म समझकर करो।

'यदि तुम्हारे पति तुमसे कोई बात कहें और अत्यन्त गोपनीय न हो, तो भी तुम उसे किसी दूसरेपर प्रकट मत करो, मनमें ही रखो; क्योंकि यदि तुम्हारी कोई सौत तुमसे सुनकर वह बात श्रीकृष्णसे कह दे, तो वे तुमसे उदासीन होंगे। पतिके प्रेमियों और हितैषियोंको भोजनादिसे सन्तुष्ट करो और उनके द्वेषियोंसे सर्वथा बची रहो। परपुरुषोंके सामने मद और प्रमादको त्याग कर सावधान रहो, अपना मनोभाव किसीपर प्रकट न होने दो। औरोंकी तो बात ही क्या, एकान्तमें कुमार प्रद्युम्न और साम्बके साथ भी कभी मत बैठो; तथा उनसे बात चीत भी न करो। जो स्त्री अच्छे कुलमें उत्पन्न हुई हो, पापसे दूर रहनेवाली और सती-साध्वी हो, उसे सखी बनाओ। जिनका स्वभाव क्रूर हो, जो दूसरेके साथ वञ्चना करनेमें कुशल हों, अधिक भोजन करती हों, चोर हों तथा अत्यन्त दुष्ट एवं चपल हों, उन्हें पास न फटकने देना। हे सत्यभामा! यह स्वामीकी सेवाका मार्ग सुन्दर, सुयश देनेवाला और सुख-सौभाग्यकी वृद्धि करनेवाला है। इससे बाह्य और आन्तरिक शत्रुओंका नाश होता और अन्तमें दिव्य लोकोंकी प्राप्ति होती है।'

द्रौपदीके इस उपदेशमें पतिप्रेम, सेवा और गृहकार्य-कुशलताका इतना सुन्दर निरूपण किया गया है, जिसकी कोई उपमा नहीं। इसके अनुसार जीवन बनाकर कोई भी स्त्री आदर्श नारी बन सकती है। यही सतीत्वका आदर्श है। इसीको अपनानेसे नारीके लोक-परलोक, स्वार्थ-परमार्थ सब कुछ सिद्ध होते हैं। सतीत्व ही आर्य नारीकी मुख्य साधना है।

* नतादृशं दैवतमस्ति सत्ये सर्वेषु लोकेषु सदेवकेषु।
यथा पतिस्तस्य तु सर्वकामा लभ्याः प्रसादात् कुपितं च हन्यात्॥
(महा० वन० २३४। २)

श्रीजयदयालजी गोयन्दकाका एक पत्र

[श्रीजयदयालजीने मारवाड़ी अग्रवाल-समाजमें सगाई-विवाह आदिके अवसरपर आजकल जो फिजूल-खर्ची बढ़ रही है, उसके सम्बन्धमें एक पत्रमें अपने विचार प्रकट किये हैं। यद्यपि ये विचार खासतौरपर मारवाड़ी अग्रवाल-समाजसे ही सम्बन्ध रखते हैं, परन्तु सामाजिक कुरीतियाँ तो सभी समाजोंमें हैं। इसी भाँति अन्यान्य समाजोंके विचारशील समर्थ पुरुष भी अपने-अपने समाजोंमें फिजूलखर्ची रोकनेका प्रयत्न करें तो सबको लाभ हो सकता है। इसी अभिप्रायसे यह पत्र यहाँ प्रकाशित किया जाता है—**सम्पादक**]

मारवाड़ी-समाजकी सामाजिक फिजूलखर्ची और कुरीतियोंके सम्बन्धमें मेरे विचार ये हैं—

हमारे मारवाड़ी-समाजमें तो वाग्दान (सगाई), विवाह और गौना आदि अवसरोंपर फिजूलखर्च और कुरीतियाँ इतनी बढ़ी हुई हैं कि यदि उन्हें ठीक-ठीक लिखा जाय तो एक पूरी पुस्तक बन जाय। यहाँ संक्षेपमें कुछ बातोंका दिग्दर्शन कराया जाता है।

सगाईके समय पहले मुद्देके नेगका केवल १) दिया जाता था। आज उसी जगह चोली, कब्जे और नगद मिलाकर बहुत साधारण गृहस्थके लगभग १००) खर्च हो जाते हैं। धनवानोंका तो कोई ठिकाना ही नहीं है।

सगाईके बाद कचोलेके नेगमें लड़कीवाले करीब ११) दिया करते थे। अब उसकी जगह चोली, कब्जे और नगद मिलाकर १००) से भी अधिक खर्च हो जाते हैं। सगाईके बाद सगोंकी मिलनीके ४) देते थे, वे अभीतक ४) ही कायम हैं, किन्तु उसके साथ एक फिजूल कुप्रथा यह चल पड़ी है कि लड़केके हाथमें लोग रुपये या गिन्नी (मोहर) देने लगे हैं। स्त्रियोंकी मिलनीके भी ५०), ६०) देने लगे हैं। इस प्रकार सब मिलाकर लगभग १००) हो जाते हैं। उसके बाद 'हराभरा' का नेग होता है। इसमें पहले लोग १०), २०) की सब्जी भेज दिया करते थे। समय पाकर २०), ३०) नगद भी भेजे जाने लगे, पर आजकल तो इसकी मात्रा यहाँतक बढ़ गयी है कि साधारण स्थितिवाले लोगोंको भी १००) की सब्जी और २००) करीब नगद भेजने पड़ते हैं। धनवान्‌की तो कोई सीमा ही नहीं है। उसके बाद आँगी-मेवेका नेग होता है। कुछ समय पूर्व इस नेगमें दो पोशाक स्त्रियोंकी और दो पुरुषोंकी, कुछ मेवा, थोड़े खिलौने और लड्डू दिये जाते थे, किन्तु आजकल उनकी जगहपर साधारण स्थितिवालेको भी नगद और सामान मिलाकर ५००), ७००) या १०००) तक खर्च करने पड़ते हैं। धनियोंकी तो कोई अवधि ही नहीं है।

इसके बाद कन्याके लिये जब गहने और पोशाक आती है, उस समय पहले ११) या २१) दिया करते थे, उसकी जगह अब चोली, कब्जे और नगद मिलाकर १००) से अधिक तो साधारण स्थितिवालेके खर्च हो जाते हैं। यहाँतक तो सगाईके साथ सम्बन्ध रखनेवाले नेगोंकी बात हुई। अब विवाहके अवसरकी बात सुनिये। हमारे समाजमें आजकल प्रायः लड़कीवालेको अपने कुटुम्ब (३० से ४० मनुष्यों) को साथ लेकर लड़कीका विवाह करनेके लिये लड़केवालेके यहाँ जाना पड़ता है। धनी लोग तो १००, २०० आदमी साथ ले जाते हैं। उन लोगोंके जाने-आने और खाने-पीनेमें बहुत अधिक धन व्यय होता है। उन लोगोंके पहुँचनेके बाद वरपक्षकी ओरसे पुनः कचोलेका नेग होता है, जिसमें किसी समय १०), ५) दिये जाते थे पर आज कब्जे, चोली और नगद मिलाकर लगभग १००) खर्च हो जाते हैं। उसके बाद वरपक्षकी स्त्रियाँ कन्यापक्षकी

स्त्रियोंको चाब देने जाती हैं। चाबके नेगके पहले एक पोशाक (स्त्रियोंकी) और ११) या १५) दिये जाते थे पर आज उसके स्थानपर पोशाकके सिवा चोली, कब्जे, नगद आदि मिलाकर १५०) करीब खर्च हो जाते हैं। इसके बाद कुँआरीमिठाई (झोला भरना) होती है। इस नेगमें पहले तो वरको दो पोशाकें और कुछ मेवा-मिठाई दी जाती थी, पर अब इसमें मेवा-मिठाई, पोशाक, नगद आदि मिलाकर एक मध्यश्रेणी गृहस्थके १५०), २००) करीब खर्च हो जाते हैं। इसके बाद हाँस (स्त्रियोंका मिलन) का नेग होता है। इस काममें पहले २१) करीब दिये जाते थे, पर आज एक साधारण गृहस्थको १००), १२५) नगद स्त्रियोंको और वरके हाथमें एक गिन्नी देनी पड़ती है। इसके अनन्तर कोरथका नेग दिया जाता है, जिसमें १०१) अधिक-से-अधिक देनेकी पुरानी प्रथा अभीतक कायम है। इसके बाद दात (छाक) का नेग होता है, जिसमें किसी समय स्त्रियोंकी ९ पोशाकें दी जाती थीं, आज इस काममें पोशाक और नगद मिलाकर साधारणतया ४५०), ५००) दिये जाते हैं। इसके बाद सिरगुंथीके समय गाँठका नेग होता है, जिसमें पहले दो आँगी और २) नगद दिये जाते थे, आजकल कब्जे, चोली और नगद मिलाकर करीब ५०) खर्च होते हैं। इसके अनन्तर पहरावनीका नेग होता है, उसमें पहले गहने, कपड़े, बरतन, नगद आदि साधारणरूपसे दिये जाते थे, पर आजकल उसके स्थानपर एक मध्यम श्रेणीके गृहस्थके लगभग १५००), २०००) रुपये खर्च हो जाते हैं। इन सबके अतिरिक्त बारातके स्वागत-सत्कार और खिलाने-पिलाने आदिमें भी सैकड़ों-हजारों रुपये व्यय करने पड़ते हैं। यहाँतक तो विवाहके सम्बन्धसे होनेवाले खर्चकी बात हुई। अब गौने (मुकलावे) का नम्बर आता है। पहले लड़कीके लिये कुछ गहने, कपड़े, खिलौने आदि सामान, उसकी सासके लिये कपड़े और २०), ३०), ५०) नगद दिये जाते थे; आज उसके स्थानपर हजारों रुपयोंके गहने, कपड़े और नगद दिये जाते हैं। यह खर्च विवाहकी पूरी रकमका लगभग आधा हो चला है। इसके बाद दूसरका दिया जाता है जो गौनेका लगभग तिहाई होता है। इसके बाद लड़कीके गर्भवती होनेपर 'साध' नामक नेग दिया जाता है, जिसमें पहले साधारण पोशाक लड़कीके लिये भेजी जाती थीं, अब उस स्थानपर कपड़ा और नगद मिलाकर करीब ७५), १००) खर्च हो जाते हैं। यदि लड़का पैदा होता है तो खीचड़ीका नेग और लड़की होती है तो तालवेका नेग होता है। पहले खीचड़ीके नेगमें करीब १००) और तालवेमें ५०), ६०) खर्च होते थे, किन्तु अब गहने, कपड़े और नगद मिलाकर एक साधारण आदमी भी खीचड़ीमें ३००) और तालवेमें १५०) खर्च करता है। इसके बाद लड़की जब बालक साथ लेकर नैहरमें आती है तो उसे बिदा करते समय पहले गहने, कपड़े मिलाकर करीब १५०) खर्च होते थे, अब एक मध्यम श्रेणीका गृहस्थ भी ४००), ५००) खर्च करता है। इसे छूछकका नेग कहते हैं। इसके अनन्तर ससुरालमें जानेपर बच्चेका 'परोजन'नामक नेग होता है। इस काममें भी पहले १००), १५०) करीब खर्च होते थे, जिनके स्थानपर आज कन्याके पिताके ४००), ५००) खर्च हो जाते हैं। यह सारा हिसाब एक लड़कीकी सगाईसे लेकर उसके बच्चा पैदा होनेतकका है। बादका हिसाब कहाँतक बतलाया जाय! जब एक लड़कीके निमित्तसे इतना खर्च होता है तो फिर किसी साधारण श्रेणीके गृहस्थके चार-पाँच लड़कियाँ हों तो उसकी क्या दशा होगी ?

वरपक्षकी इच्छानुसार दहेज देने और उनके

आदर-सत्कार करनेमें साधारण श्रेणीके भाइयोंका तो नाकों दम आ जाता है। बेचारे गरीब भाई इतने दुखी हो जाते हैं कि उन्हें कोई उपाय ही नहीं दीख पड़ता। वे लोग किसी प्रकार भी ऋण लेकर या सहायतारूपमें लोगोंसे धन प्राप्त करके बड़े कष्टके साथ काम चलाते हैं। वर्तमान बेकारीके समयमें कहीं-कहीं तो उस ऋणको अदा करनेमें बहुत-सा जीवन बरबाद हो जाता है। कहीं-कहीं ऐसा भी होता है कि समझदार लड़कियाँ माँ-बापको इस प्रकार कष्टमें देखकर अपनेको उसका कारण समझकर आत्महत्यातक कर बैठती हैं। हमलोग इस दुःखका कहाँतक अनुमान करें? इस दुःखके कारण कहीं-कहीं तो लोग अपनी लड़कीको रुपया लेकर किसी वृद्धके हाथ बेच डालते हैं और इसी कारणसे आज समाजमें जब किसीके यहाँ लड़की बीमार पड़ जाती है तो उसके इलाजका उचित प्रबन्ध भी नहीं करते और मर जानेपर ऊपरसे शोकचिह्न दिखलाते हुए भी मनमें दुःखी नहीं होते। यदि इस रोगकी उचित औषध न की गयी तो आगे जाकर माता-पिता अपनी लड़कीकी हत्या करने लग जायँ तो कोई असम्भव बात न होगी। इस प्रकार कन्याएँ यदि मरने लगेंगी तो धर्म और जातिका विनाश होना सम्भव है। इसलिये मेरी वरपक्षके लोगोंसे बहुत ही नम्रता और आग्रहपूर्वक प्रार्थना है कि वे लोग सगाई-विवाहमें कन्यापक्षवालोंसे उनकी शक्तिको देखते हुए कम-से-कम दहेज लेनेकी कृपा करें। अधिक लेनेके लिये उनपर संकेतसे, हाव-भाव या अन्य किसी प्रकारसे भी दबाव न देकर वे जितना इच्छापूर्वक देना चाहते हों, उससे भी जहाँतक हो सके कम-से-कम लेनेकी चेष्टा करें तथा बारातमें कम-से-कम संख्यामें लोगोंको ले जायँ। इसके अधिक विस्तारसे फजूल खर्च बढ़ता है तथा अनेक प्रकारकी नयी-नयी कुरीतियाँ बढ़ती हैं। बारातके स्वागतके लिये कन्यापक्षवालोंपर अनुचित दबाव न दिया जाय, इससे गरीब भाइयोंको बहुत कष्ट सहन करना पड़ता है। कुछ दिनों पूर्वकी एक घटना मेरे देखनेमें आयी। एक विवाहमें बारातके जुलूसके स्वागत-में लड़कीवालेपर दबाव डालकर पाश्चात्त्य ढंगसे टेबल, कुरसी आदिपर बैठाकर खिलाने-पिलानेका प्रबन्ध करवाया गया जो कि मारवाड़ी-समाजमें एक प्रकारसे कलङ्करूप है। इस प्रकारकी अनावश्यक कुरीतिके चलानेसे समाजमें व्यर्थ खर्च, परिश्रमकी वृद्धि और जाति एवं धर्मकी हानि होती है। अतएव इस कुरीति-का घोर विरोध करना चाहिये।

समाजकी वर्तमान अवस्था देखते हुए इस बेहद फिजूलखर्चीकी वृद्धिमें कन्यापक्षवालेका कोई विशेष दोष नहीं है। यदि वह इस प्रकार न करे तो योग्य घर-वर मिलना कठिन हो जाता है; इसलिये उसे बाध्य होकर विना इच्छा भी खर्च करना पड़ता है। पर इसका परिणाम दिन-प्रतिदिन बड़ा ही भयंकर हो रहा है। पता नहीं, भविष्यमें कहाँतक पतन होगा। अपना और समाजका हित चाहनेवाले सज्जनोंको इसपर विशेष ध्यान देना चाहिये। जबतक वरपक्षवाले लोग इस अनुचित स्वार्थवृत्तिका त्याग न करेंगे, तबतक इसके सुधारका कोई उपाय ध्यानमें नहीं आता।

कन्यापक्षवालोंसे भी मेरी सविनय प्रार्थना है कि वे कन्याके लिये अधिक गहना घलवानेका और बढ़िया तथा ज्यादा तीलें लेनेका वरपक्षवालोंपर दबाव तो दें ही नहीं, किन्तु इच्छा भी न रक्खें और कमके लिये आग्रह करें।

विवाह होनेके बाद मुकलावेसे लेकर छूछकतक जो दहेज दिया जाता है, इसमें अधिकांश, लड़की और उसकी माताके आग्रहसे ही अधिक खर्च किया जाता है, इसलिये स्त्रियोंको समझाकर इस काममें खर्च कम करना चाहिये।

वरपक्षकी बहिन-बेटियोंसे भी मेरी प्रार्थना है कि

कब्जा, चोली आदिकी इस बढ़ी हुई कुप्रथाको हटानेके लिये वे लोग भी इनको कन्यापक्षवालोंसे लेनेकी इच्छा न करें। इनके बदलेमें वरपक्षवालोंसे भी कुछ लेनेकी इच्छा न करें, बल्कि देनेपर भी इन्कार कर दें और नेगोंमें भी त्याग-वृत्ति ही रक्खें। त्यागमें ही शोभा और गौरव है, त्यागसे ही शान्ति मिलती है।

धनवान् भाइयोंसे मेरी विशेष प्रार्थना है कि वे साधारण और मध्यम श्रेणीके भाइयोंपर दया करके समाजके सम्मुख त्यागपूर्ण आदर्श उपस्थित करें। पुराने जमानेके अनुसार नेग लेनेकी प्रथा जारी कर सकें तो बहुत ही सराहनीय और आदर्श काम होगा। ऐसा न कर सकें तो अधिक-से-अधिक निम्नलिखित रूपमें नेग लेनेकी कृपा करें।

वाग्दान (सगाई) के समय मुद्देका केवल १) ही हो। यदि कोई सुहासिनी मुद्दा लेने जाय तो अधिक-से-अधिक २) और दो चोली-कब्जातक दे सकते हैं कचोलेके नेगके ११) से ज्यादा न हों। मिलनीके केवल पुरुषोंके ही ४) हों, लड़केके हाथमें गिन्नी या रुपया न स्वीकार किया जाय। हरे-भरेके सब्जीसहित १०१)से अधिक न लिये जायँ। लड़कीको गहना भेजनेके नेगके २१) से अधिक न लिये जायँ। आँगी-मेवा बिल्कुल न लिया जाय। सगाईके सब नेगोंको मिलाकर इस प्रकार कुल १४०)से अधिक न लिये जायँ। चोली, कब्जे बिल्कुल न लिये जायँ। विवाहके अवसरपर कचोला दिखलाना, चाब देना और गाँठोंके समयके नेगको कतई बन्द कर देना चाहिये। कुँआरी मिठाईमें कपड़े, खिलौने, मेवा, मिठाई और नगद—सब मिलाकर १०१) से ज्यादा न लिया जाय। हाँसके समय स्त्रियोंकी मिलनीके कुल रुपये ५१) से अधिक न हों। लड़केके हाथमें रुपये और गिन्नी न ली जाय। कोरथकी प्रथामें परिवर्तनकी आवश्यकता नहीं है। दातकी तीलोंमें कपड़ा और नगद मिलाकर ३००) से अधिक न लिया जाय। पहरावनीमें कन्यापक्षवाला प्रसन्नचित्तसे आग्रहपूर्वक जितना देना चाहे, उससे कम ही लेना चाहिये। जितना त्याग किया जाय, उत्तम है।

मुकलावेमें विवाहके खर्चकी अपेक्षा एक चौथाईसे अधिक देने-लेनेकी चेष्टा और इच्छा न रखनी चाहिये। दूसरका और साधके नेग अनावश्यक समझकर इनको बन्दकर देने चाहिये। 'परोजन'का नेग अशास्त्रीय और अनावश्यक है, इसमें दोनों तरफसे ही व्यर्थ खर्च होता है, अतः हो सके तो इसे भी उठा दिया जाय। खीचड़ी, तालुआ और छूछकके नेगोंमें भी खर्च कम करनेकी चेष्टा रखनी चाहिये।

सगाई, विवाह, मुकलावा आदिके अवसरपर जो दहेजका दिखलावा किया जाता है, यह भी एक बड़ी भारी कुरीति है। इसमे लोगोंमें मान, प्रतिष्ठाके लिये व्यर्थ खर्च करनेकी भावना बढ़ती है। कहीं-कहीं तो यहाँतक पाप होता है कि जितना देते हैं, उससे अधिक एवं दुबारा दिखलाया जाता है। कहीं-कहीं तो लड़कीसे रुपये लेकर भी उन्हें अपनी ओरसे दहेजके रूपमें दिखाया जाता है, अतएव इस प्रथाका भी सर्वथा त्याग कर देना चाहिये।

विवाहमें होनेवाली कुरीतियोंको भी दूर करनेके लिये चेष्टा करनी चाहिये जैसे सीठने गाना, सिनेमा-नाटक करवाना, फुलवाड़ी निकालना, आतिशबाजी करना, अश्लील हँसी-मजाक करना, एकान्तमें वरको बुलाकर उससे स्त्रियोंका अश्लील बातें करना आदि। ब्रह्मचर्यके लिये महान् हानिकर समझकर फेरपाठेका नेग भी बन्द कर देना चाहिये।

नेगके नामपर होनेवाली कुरीतियोंको भी हानिकर समझकर अवश्यमेव त्याग देना चाहिये। जैसे चाक पूजना, काजल घालना, टूंटिया करना, जूआ खेलना, बिनौरी निकालना, सिरगूँथीके समय छकड़ लगाना आदि।

इनसे धन, धर्म और ब्रह्मचर्यकी हानि तथा समाजका अधःपतन होता है। इससे अपना और समाजका हित चाहनेवाले भाइयोंको इस फिजूलखर्च और कुरीतियोंके त्यागके लिये विशेष चेष्टा करनी चाहिये।

संतोंके जीवनसे—

(संकलित)

(१)

संतकी असहिष्णुता

एक संत नौकामें बैठकर नदी पार कर रहे थे। शामका वक्त था। आखिरी नाव थी, इससे उसमें बहुत भीड़ थी। संत एक किनारे अपनी मस्तीमें बैठे थे। दो-तीन मनचले आदमियोंने संतका मजाक उड़ाना शुरू किया। संत अपनी मौजमें थे, उनका इधर ध्यान ही नहीं था। उन लोगोंने संतका ध्यान खींचनेके लिये उनके समीप जाकर पहले तो शोर मचाना और गालियाँ बकना आरम्भ किया, जब इसपर भी संतकी दृष्टि नासिकाके अग्रभागसे न हटी, तब वे संतको धीरे-धीरे ढकेलने लगे। पास ही कुछ भले आदमी बैठे थे, उन्होंने उन बदमाशोंको डाँटा और संतसे कहा— 'महाराज! इतनी सहनशीलता अच्छी नहीं है, आपके शरीरमें भी काफी बल है, आप इन बदमाशोंको जरा-सा डाँट देंगे तो ये अभी सीधे हो जायँगे।' अब संतकी दृष्टि उधर गयी। उन्होंने कहा—'भैया! सहनशीलता कहाँ है, मैं तो असहिष्णु हूँ, सहनेकी शक्ति तो अभी मुझमें आयी ही नहीं है। हाँ, मैं इसका प्रतीकार अपने ढंगसे कर रहा था। मैं भगवान्‌से प्रार्थना करता था कि वे कृपाकर इनकी बुद्धिको सुधार दें, जिससे इनका हृदय निर्मल हो जाय।' संतकी और उन भले आदमियोंकी बात सुनकर बदमाशोंके क्रोधका पारा बहुत ऊपर चढ़ गया। वे संतको उठाकर नदीमें फेंकनेको तैयार हो गये। इतनेमें ही आकाशवाणी हुई—'हे संतशिरोमणि! ये बदमाश तुम्हें नदीके अथाह जलमें डालकर डुबो देना चाहते हैं, तुम कहो कि इनको अभी भस्म कर दिया जाय।' आकाशवाणी सुनकर बदमाशोंके होश उड़ गये और संत रोने लगे। संतको रोते हुए देखकर बदमाशोंने निश्चित,समझ लिया कि अब यह हम लोगोंको भस्म करनेके लिये कहनेवाला है। वे काँपने लगे। इसी बीचमें संतने कहा— ऐसा न करें स्वामी! मुझ तुच्छ जीवके लिये इन कई जीवोंके प्राण न लिये जायँ। प्रभो! यदि आप मुझपर प्रसन्न हैं और यदि मेरे मनमें इनके विनाशकी नहीं, परन्तु इनके सुधारकी सच्ची आकांक्षा है तो आप इनको भस्म न करके इनके मनमें बसे हुए कुविचारों और कुभावनाओंको, इनके दोषों और दुर्गुणोंको तथा इनके पापों और तापोंको भस्म करके इन्हें निर्मलहृदय बना दीजिये। आकाशवाणीने कहा—'संतशिरोमणि! ऐसा ही होगा। तुम्हारा भाव बहुत ऊँचा है। तुम मुझको अत्यन्त प्यारे हो। तुम्हें धन्य है।'

बस, बदमाश परम साधु बन गये और संतके चरणोंपर गिर पड़े।

(२)

शिवाजीको पत्र

संत तुकारामजी लोहगाँवमें थे। छत्रपति शिवाजीने अपने खास आदमियोंके साथ बहुत-सी मशालें, घोड़े तथा बहुमूल्य जवाहिरात भेजे और उनसे पूना पधारनेके लिये प्रार्थना की। विरक्त-हृदय तुकारामजीने उनकी भेजी हुई चीजोंको छुआतक नहीं। उन्होंने सब चीजें लौटा दीं और नौ अभंगोंमें उनको नीचे लिखा पत्र लिख भेजा—

'मशाल, छत्र और घोड़ोंको लेकर मैं क्या करूँ। यह सब मेरे लिये शुभ नहीं है। हे पुण्डरीनाथ! अब मुझे इस प्रपञ्चमें क्यों डालते हो? मान और दम्भका कोई भी काम मेरे लिये शूकरी-विष्ठा ही है। आप दौड़कर आइये और इससे मुझे बचाइये।'

'मेरा चित्त जिसको नहीं चाहता, वही तुम मुझको दिया करते हो, क्यों मुझे इतना तंग कर रहे हो?'

'मैं संसारसे अलग रहना चाहता हूँ, विषयका संग चाहता ही नहीं। मैं चाहता हूँ—एकान्तमें रहूँ और किसीसे कुछ भी न बोलूँ। मन चाहता है कि सब विषयोंको वमनके समान त्याज्य समझूँ। मैं तो यह चाहता हूँ, परन्तु हे नाथ! करने-धरनेवाले तो तुम्हीं हो।'

मैं क्या चाहता हूँ सब तुम्हें पता है। परन्तु जानकर भी तुम टाल देते हो। यह तो तुम्हें आदत ही पड़ गयी है कि जो भी तुम्हें चाहता है, तुम उसके

सामने ऐसी-ऐसी चीजें लाकर रखते हो कि जिससे वह उनमें फँसकर तुम्हें भूल जाय। परन्तु हे नाथ! तुकाने तो तुम्हारे चरणोंको जोरसे पकड़ लिया है। देखूँ तो सही, तुम इन्हें कैसे छुड़ाते हो।

[भगवान्‌से इतना कहकर अब तुकारामजी छत्रपति शिवाजीसे कहते हैं—]

'चींटी और सम्राट् दोनों ही मेरे लिये एक-से हैं। मोह और आशा तो कलिकालकी फाँसियाँ हैं। मैं इनसे छूट गया हूँ। मेरे लिये अब सोना और मिट्टी दोनों बराबर हैं। सारा वैकुण्ठ घर बैठे ही मेरे यहाँ आ गया है। मुझे किस बातकी कमी है।'

'मैं तो तीनों लोकोंके सारे वैभवका धनी बन गया हूँ। सबके स्वामी भगवान् मेरे माता-पिता मुझको मिल गये हैं, अब मुझे और क्या चाहिये? त्रिभुवनका सारा बल तो मेरे ही अंदर आ गया। अब तो सारी सत्ता मेरी ही है!'

'फिर, आप मुझे दे ही क्या सकते हैं? मैं तो विट्ठलको चाहता हूँ। हाँ, आप उदार हैं, चकमक पत्थर देकर पारस लेना चाहते हैं; प्राण भी दें, तो भी भगवान्‌की एक बातकी भी बराबरी नहीं हो सकेगी। धन क्या देते हैं? धन तो तुकाके लिये गोमांसके समान है। (यदि कुछ देना ही चाहते हैं तो बस यह दीजिये—) मैं इसीसे सुखी होऊँगा। मुखसे 'विट्ठल' 'विट्ठल' कहिये। गलेमें तुलसीकी कण्ठी पहनिये। एकादशीका व्रत कीजिये और हरिके दास कहलाइये। बस, तुकाकी आपसे यही आशा है।'

'बड़े-बड़े पर्वत सोनेके बनाये जा सकते हैं, वनके तमाम पेड़ोंको कल्पतरु बनाया जा सकता है, नदियों और समुद्रोंको अमृतसे भरा जा सकता है, मृत्युको रोका जा सकता है, सिद्धियाँ प्राप्त की जा सकती हैं। यह सब हो सकता है, परन्तु प्रभुके चरणोंका प्रेम प्राप्त करना परम दुर्लभ है। इन सब सिद्धियोंसे भगवच्चरणोंका लाभ नहीं होता। श्रीविट्ठलके ऐसे परम दुर्लभ, परम पावन, परमानन्द देनेवाले श्रीचरण बड़े भाग्यसे मुझको मिल गये हैं, इनके सामने अब मैं इन मशालों, छत्रों और घोड़ोंको अपने हृदयमें कहाँ जगह दूँ?'

'आपने बड़े-बड़े बलवानोंको अपना मित्र बनाया है, परन्तु याद रखिये—अन्त समय ये कोई भी काम नहीं आवेंगे। पहले राम-नाम लीजिये; इस उत्तम 'सम' को अपने अंदर भर लीजिये। यह परिवार, लोक, धन, सैन्य किसी काम नहीं आवेंगे। जबतक काल सिरपर सवार नहीं होता, तभीतक आपका यह बल है। तुका कहता है—प्यारे! लखचौरासीके चक्करसे बचिये!'

(३)

सोनेका दान

एक धनी सेठने सोनेसे तुलादान किया। गरीबोंको खूब सोना बाँटा गया। उसी गाँवमें एक संत रहते थे। सेठने उनको भी बुलाया। वे बार-बार आग्रह करनेपर आ गये। सेठने कहा—'आज मैंने सोना बाँटा है, आप भी कुछ ले लें तो मेरा कल्याण हो।' संतने कहा—'भाई! तुमने बहुत अच्छा काम किया, परन्तु मुझको सोनेकी आवश्यकता नहीं है।' धनीने फिर भी हठ किया। संतने समझा कि इसके मनमें धनका अहङ्कार है। संतने तुलसीके पत्तेपर राम-नाम लिखकर कहा—'भाई! मैं कभी किसीसे दान नहीं लेता! मेरा स्वामी मुझे इतना खाने-पहननेको देता है कि मुझे और किसीसे लेनेकी जरूरत ही नहीं होती। परन्तु तुम इतना आग्रह करते हो तो इस पत्तेके बराबर सोना तौल दो।' सेठने इसको व्यंग्य समझा और कहा—'आप दिल्लगी क्यों कर रहे हैं, आपकी कृपासे मेरे घरमें सोनेका खजाना भरा है, मैं तो आपको गरीब जानकर ही देना चाहता हूँ।' संतने कहा—'भाई! देना हो तो तुलसीके पत्तेके बराबर सोना तौल दो।' सेठने झुँझलाकर तराजू मँगाया और उसके एक पलड़ेपर पत्ता रखकर वह दूसरेपर सोना रखने लगा। कई मन सोना चढ़ गया परन्तु तुलसीके पत्तेवाला पलड़ा तो नीचे ही रहा। सेठ आश्चर्यमें डूब गया। उसने संतके चरण पकड़ लिये और कहा—'महाराज! मेरे अहंकारका नाश करके आपने बड़ी ही कृपा की। सच्चे धनी तो आप ही हैं।' संतने कहा—'भाई! इसमें मेरा क्या है। यह तो नामकी महिमा है। नामकी तुलना जगत्‌में किसी भी वस्तुसे नहीं हो सकती। भगवान्‌ने ही दया करके तुम्हें अपने

नामका महत्त्व दिखलाया है । अब तुम भगवान्‌का नाम जपा करो, तुम्हारा जीवन सफल हो जायगा ।'

(४)

पितरोंका आगमन

संत एकनाथजीके पिताका श्राद्ध था । घरमें श्राद्धकी रसोई बन रही थी । हलवा पकने लगता है तब उसकी सुन्दर सुगन्ध दूरतक फैल जाती है । अतएव इनके भी घरके बाहरतक सुगन्ध छा रही थी । इसी समय कुछ महार सपरिवार उधरसे जा रहे थे । सुगन्ध उनके नाकोंमें भी गयी । महारके एक बच्चेने कहा—'माँ ! कैसी मीठी महक है । कैसे बढ़िया पक्वान्न बने होंगे ।' माँने उदास होकर कहा—'बेटा ! हम लोगोंके नसीबमें ये चीजें कहाँ रक्खी हैं । हम अभागोंको तो इसकी गन्ध भी दुर्लभ है ।' संत एकनाथजीने उनकी यह बात सुन ली । उनका हृदय द्रवित हो गया । उन्होंने सोचा—'सब शरीर भगवान्‌के ही तो मन्दिर हैं—इन महारोंके द्वारा भी तो भगवान् ही भोग लगायँगे ।' उन्होंने तुरंत महारोंको बुलाया और अपनी पत्नी गिरिजाबाईसे कहा कि यह रसोई इनको दे दो । गिरिजाबाईका भाव और भी सुन्दर था, उन्होंने कहा—'अन्न तो बहुत है, इनको सब बाल-बच्चों और स्त्रियोंसहित बुलवा लीजिये, सबको अच्छी तरह परोसकर जिमाया जाय । भगवान् सर्वत्र हैं, सब प्राणियोंमें हैं, आज भगवान्‌ने ही इनके द्वारा यह अन्न चाहा है, अतएव आज इन्हींको तृप्त करके भगवान्‌की सेवा करनी चाहिये ।' सबको बुलाया गया, रास्तेपर पत्तलें रक्खी गयीं और बड़े आदर-सत्कारके साथ सब पक्वान्न बाहर लाकर उनको भोजन कराया गया । जिसकी गन्ध भी कभी नसीब नहीं होती, उन चीजोंको भरपेट खाकर महार और उसके स्त्री-बच्चोंको कितना आनन्द हुआ, इसका अनुमान हम नहीं लगा सकते । इस भोजनसे तो उनको अपरिमित प्रसन्नता हुई ही, इससे भी अधिक सुख मिला उनको संत एकनाथ और साध्वी गिरिजाबाईके प्रेमपूर्ण नम्र व्यवहारसे । उनके अङ्ग-अङ्ग एकनाथजीको मूक आशीर्वाद देने लगे ! गिरिजाबाईने पान-सुपारी देकर उन्हें विदा किया । तदनन्तर वर्णाश्रमधर्मको माननेवाले एकनाथ और गिरिजाबाईने घर-आँगन धोया, बर्तन मले, नया शुद्ध जल मँगवाया और फिरसे श्राद्धकी रसोई बनवायी । परन्तु जब निमन्त्रित ब्राह्मणोंने सब हाल सुना तो उन्होंने भोजन करनेसे इन्कार कर दिया । एकनाथजीने हाथ जोड़कर उनसे प्रार्थना की—'पूजनीय ब्राह्मणगण ! पहली रसोई बनी तो थी आप लोगोंके लिये ही, परन्तु जब उसकी गन्ध अन्त्यज परिवारके नाकोंमें पहुँच गयी, तब वह उच्छिष्ट अन्न आपको कैसे परोसा जाता । वह अन्न उन लोगोंको खिला दिया गया और फिरसे सारी सामग्री इकट्ठी करके आपके लिये नयी रसोई बनायी गयी । आप लोग हमें क्षमा करके इसे ग्रहण कीजिये ।' बहुत अनुनय-विनय की, परन्तु ब्राह्मणोंको उनकी बात नहीं जँची । एकनाथजीको चिन्ता हुई । उनके यहाँ श्रीखंडिया* तो रहता ही था । श्रीखंडियाने उनसे कहा—'नाथजी ! आपने रसोई पितरोंके लिये बनायी है न ? फिर चिन्ता क्यों करते हैं ? पत्तलें परोसकर पितरोंको बुलाइये । वे स्वयं आकर भोजन क्यों नहीं करेंगे ?' एकनाथजीने ऐसा ही किया । पत्तलें लगा दी गयीं और 'आगतम्' कहते ही सूर्यनारायण, चक्रपाणि और भानुदास तीनों पितर आकर अपने-अपने आसनोंपर बैठ गये । एकनाथजीने बड़े भक्तिभावसे उनका पूजन किया और भोजन परोसकर उन्हें जिमाया । तीनों पितर तृप्त होकर आशीर्वाद देकर अन्तर्धान हो गये । जब ब्राह्मणोंको यह सब हाल मालूम हुआ तब उन्होंने एकनाथजीका महत्त्व समझा और अपनी करनीपर पश्चात्ताप किया !

* कहते हैं स्वयं श्रीभगवान्‌ने श्रीखंडियाके नामसे बरसोंतक एकनाथजीके घर नौकरी की थी ।

बन्ध और मोक्षका स्वरूप

तदा बन्धो यदा चित्तं किञ्चिद्वाञ्छति शोचति ।
किञ्चिन्मुञ्चति गृह्णाति किञ्चिद् हृष्यति कुप्यति ॥
तदा मुक्तिर्यदा चित्तं न वाञ्छति न शोचति ।
न मुञ्चति न गृह्णाति न हृष्यति न कुप्यति ॥
तदा बन्धो यदा चित्तं सक्तं कास्वपि दृष्टिषु ।
तदा मोक्षो यदा चित्तमसक्तं सर्वदृष्टिषु ॥
यदा नाहं तदा मोक्षो यदाहं बन्धनं तदा ।
मत्वेति हेलया किञ्चिन्मा गृहाण विमुञ्च मा ॥

'जब चित्त किसी वस्तुकी कामना करता है और किसीके लिये शोक करता है, किसीका परित्याग करता है और किसीका संग्रह करता है, किसीपर हर्षित होता है और किसीपर क्रोध करता है तब बन्धन है। जब चित्त न कुछ चाहता है और न किसीके लिये शोक करता है, न किसीका त्याग करता है और न किसीका संग्रह करता है, न किसीसे हर्षित होता है और न किसीपर क्रोध करता है, तब मुक्ति समझनी चाहिये। जब चित्त किन्हीं दृष्टियोंमें आसक्त है तब बन्धन है और जब किसी भी दृष्टिमें आसक्त नहीं है तब मोक्ष है। जब अहंकार नहीं है तब मोक्ष है, जब अहंकार है तब बन्धन है—ऐसा समझकर किसीका भी संग्रह अथवा त्याग मत करो—मौजसे रहो।'

—अष्टावक्रगीता

कल्याण
वर्ष १५
अङ्क ७

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

जयति शिवा शिव जानकि राम। जय रघुनन्दन जय सियाराम॥

रघुपति राघव राजा राम। पतितपावन सीताराम॥

जय जय दुर्गा जय मा तारा। जय गणेश जय शुभ आगारा॥

वार्षिक मूल्य
भारत में ४=)
विदेश में ६॥=)
(१० शिलिङ्ग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत् चित आनँद भूमा जय जय॥

जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन जय जय॥

जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥

साधारण प्रति
भारत में

कल्याण फरवरी सन् १९४१ की

विषय-सूची

श्रीहरिः

आवश्यक सूचना

चित्रोंके दामोंमें परिवर्तन

वर्तमान महायुद्धके कारण विलायती आर्टपेपरके दाम करीब दूने हो गये हैं, इसलिये चित्रोंके दामोंमें कुछ वृद्धि करनी पड़ी है। १ जनवरी १९४१ से निम्नलिखित परिवर्तन किया जाता है—

कागज-साइज	१५×२०	इञ्च	सुनहरी	प्रत्येकका	-)॥।
,,	,,	,,	रंगीन	,,	-)।
,,	७॥×१०	,,	सुनहरी	,,	)॥
,,	,,	,,	रंगीन	,,	)।¼
,,	५×७॥	,,	,,	प्रति सैकड़ा १।)	

उपर्युक्त रेट कम-ज्यादा कितने भी चित्र लेनेपर इसी हिसाबसे होगा। सेटोंके दाम अब इस प्रकार हो गये हैं—

१५×२० साइजके सुनहरी १० और रंगीन ४७ चित्रोंके सेटकी नेट कीमत ४॥।)।, पैकिंग)॥।, डाकखर्च १≡) कुल लागत ६) लिये जायँगे।

७॥×१० साइजके सुनहरी १७, रंगीन २५२ कुल २६९ चित्रोंके सेटकी नेट कीमत ५।≡)।, पैकिंग -)॥।, डाकखर्च १≡) कुल ६॥।) लिये जायँगे।

५×७॥ साइजके रंगीन ७२ चित्रोंका नेट दाम ॥।=)॥, पैकिंग -)।, डाकखर्च ।=)।, कुल १।=) लिये जायँगे।

१५×२०, ७॥×१०, ५×७॥ के तीनों सेटकी नेट कीमत ११=), पैकिंग -), डाकखर्च २≡), कुल १३।=) लिये जायँगे।

रेलपार्सलसे मँगानेवाले सज्जनोंको ११=) चित्रका मूल्य, पैकिंग =)॥।, रजिस्ट्री ।)।, कुल ११॥-) भेजना चाहिये। साथमें पासके रेलवे स्टेशनका नाम लिखना जरूरी है।

नियम—(१) चित्रका नम्बर, नाम जिस साइजमें चित्र-सूचीमें दिया हुआ है वह उसी साइजमें मिलेगा, आर्डर देते समय नम्बर भी देख लें। समझकर आर्डरमें नम्बर, नाम अवश्य लिख दें। (२) पुस्तकोंके साथ मालगाड़ीसे चित्र मँगानेपर कुल मालका चित्रोंकी क्लासका किराया देना पड़ता है, इसलिये जितना किराया अधिक लगेगा वह ग्राहकोंके जिम्मे होगा, आर्डर देते समय इस नियमको समझ लें। (३) ३०) के चित्र लेनेसे ग्राहकके रेलवे स्टेशनपर मालगाड़ीसे फ्री डिलीवरी दी जायगी। रजिस्ट्री वी० पी० खर्चा ग्राहकको देना होगा। (४) केवल २ या ४ चित्र पुस्तकोंके साथ या अकेले नहीं भेजे जाते, क्योंकि रास्तेमें टूट जाते हैं। (५) 'कल्याण' के साथ भी चित्र नहीं भेजे जाते।

व्यवस्थापक—गीताप्रेस, गोरखपुर

नोट—सेट सजिल्द भी मिला करता है। जिल्दका दाम १५×२० का ॥।), ७॥×१० का ॥), ५×७॥ का ≠) अधिक किया जाता है। सजिल्द सेटका डाकखर्च ज्यादा लगता है।
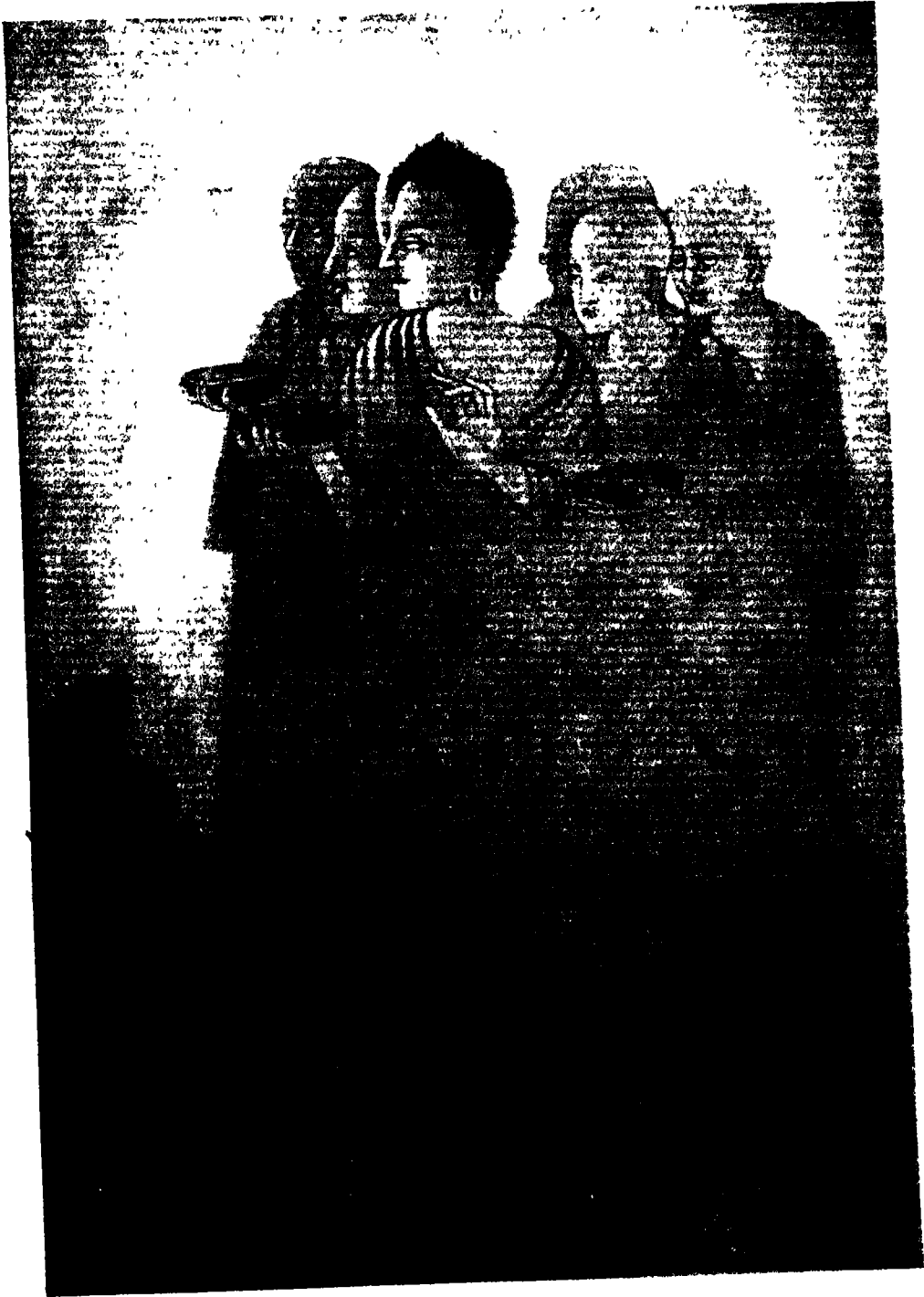
बुद्ध शिष्योंसहित

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥ (श्रीमद्भगवद्गीता १८ । ६५)

वर्ष १५ | गोरखपुर, फरवरी १९४१ सौर माघ १९९७ | संख्या ७ पूर्ण संख्या १७५

तेरा कुछ भी नहीं

बटाऊ रे चलना आज कि काल ।
समझ न देखै कहा सुख सोवै रे मन राम सँभाल ॥
जैसैं तरवर बिरख बसेरा पंखी बैठे आय ।
ऐसैं यह सब हाट पसारा आप आपकूँ जाय ॥
कोइ नहिं तेरा सजन सँगाती मत खोवै मन मूल ।
यह संसार देख मत भूलै सबही सेमर फूल ॥
तन नहिं तेरा, धन नहिं तेरा कहा रह्यो इन लाग ।
दादू हरि बिन क्यूँ सुख सोवै काहे न देखै जाग ॥

—दादूजी

स्तुति

(अनुवादक—श्रीमुंशीरामजी शर्मा, एम्. ए. 'सोम')

उप त्वाग्ने दिवे दिवे दोषावस्तर्धिया वयम् । नमो भरन्त एमसि ।

(ऋ० १।१।७ साम० १।१।४)

दिवसके प्रथम, रात्रिसे पूर्व, भक्तिसे स्वार्थत्यागके साथ;
आ रहे हैं प्रति दिन ले भेंट, तुम्हारी चरणशरण हम नाथ !

त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ । अथा ते सुम्नमीमहे ।

(ऋ० ८ । ९८ । ११)

हमारे जनक, हमारी जननि, तुम्हीं हो हे सुरेन्द्र सुखधाम;
तुम्हारी स्तुतिमें रत, कर-बद्ध, करे कविकुल बहुबार प्रणाम ।

यस्य भूमिः प्रमान्तरिक्षमुतोदरम्; दिवं यश्चक्रे मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ।

(अथर्व० १०।७।३२)

भूमि पद, अन्तरिक्ष है उदर, परमज्योतिर्मय जो सुखधाम;
बनाया शिर जिसने द्यौलोक, उसी प्रभुको बहुबार प्रणाम ।

यस्य सूर्यश्चक्षुश्चन्द्रमाश्च पुनर्णवः । अग्निं यश्चक्र आस्यं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ।

(अथर्व० १०।७।३३)

सूर्य अभिनव प्रति वासर सोम, बने हैं जिसके नेत्र ललाम;
अग्निको जिसने निज मुख किया, उसी प्रभुको बहुबार प्रणाम ।

यस्य वातः प्राणापानौ चक्षुरङ्गिरसोऽभवन् । दिशो यश्चक्रे प्रज्ञानीस्तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ।

(अथर्व० १०।७।३४)

वायु है श्वास और प्रश्वास, रश्मियाँ चक्षुरूप अभिराम;
दिशाएँ जिसके श्रोत्र समान, उसी प्रभुको बहुबार प्रणाम ।

यो भूतं च भव्यं च सर्वं यश्चाधितिष्ठति । स्वर्यस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ।

(अथर्व० १०।८।१)

भविष्यन् भूत सभीका रहा, अधिष्ठाता मंगल गुण-ग्राम;
रूप जिसका केवल आनन्द, उसी प्रभुको बहुबार प्रणाम ।

ऋतूयन्ति ऋतवो हृत्सु धीतयो वेनन्ति वेनाः पतयन्त्या दिशः । न मर्डिता विद्यते अन्य एभ्यो देवेषु मे अधि कामा अयंसत ।

(ऋ० १०।६४।२)

हृदयमें निहित सकल संकल्प अरे जाते हैं किसकी ओर ?
प्रेममय अभिलाषाएँ किसे चाहती हैं, छू नभके छोर !
प्रेरणाएँ, मंगल-निर्देश चाहते हैं किसकी मृदु गोद ?
कहाँ है इनका जीवन-केन्द्र, कहाँ है इनका नित्य प्रमोद ?
वही हैं देव दयामय यहाँ, न उनसे भिन्न अन्य सुखस्रोत;
उन्हींमें नियमित सब संकल्प, कामना मेरी ओत-प्रोत ।

कल्याण

तुम विद्या-बुद्धिमें, शक्ति-सामर्थ्यमें, बल-पौरुषमें, पद-प्रतिष्ठामें, धन-ऐश्वर्यमें, कला-कौशलमें, सौन्दर्य-माधुर्यमें, संयम-साधनमें, त्याग-वैराग्यमें और ज्ञान-विज्ञानमें कितने ही बड़े क्यों न हो जाओ, भूलकर भी कभी भगवान्के आसनको मत चाह बैठना।

भगवान्की अचिन्त्य शक्तिका तिरस्कार करके जो मनुष्य मोह या अभिमानवश लोगोंके हृदयसे भगवान्के दिव्य और नित्य नाम-रूपको हटाकर अपने भौतिक और अनित्य नाम-रूपको बैठाना चाहता है और भगवान्के बदले उनसे अपने हाड़-मांसके अपावन पुतलेकी पूजा-अर्चा करवाता है, उसका पतन होते देर नहीं लगती !

तुम्हारे अंदर जो कुछ भी शक्ति है, जो कुछ भी सत्ता-महत्ता है, सब भगवान्से आयी है, भगवान्की दी हुई है। उनकी दी हुई शक्ति-सत्ता-महत्ताको विनय-पूर्वक हमेशा ईमानदारीके साथ उन्हींकी सेवामें समर्पण करते रहो। ऐसा करनेसे ये और भी बढ़ेंगी, और भी पवित्र होंगी। भगवान्की महत्त्वपूर्ण शक्तियोंका स्रोत तुम्हारी ओर बह चलेगा और तुम्हें अपने अंदर लेकर महान् शक्तिशाली बना देगा।

सदा विनम्र रहो। सारे सद्गुणों और अखिल ऐश्वर्योंके भण्डार श्रीभगवान्के चरणोंमें अपनेको अर्पण करते रहो। तुम्हारे पास कोई भी आवे, उसे सीधा भगवान्का नाम बतला दो। तुम्हारी पूजाके लिये कैसा भी बहुमूल्य पदार्थ तुम्हारे सामने आवे, उसे सीधे भगवान्के अर्पण करवा दो। ललचा मत जाओ—किसी भी लोभनीय वस्तुको देखकर ! ललचाये कि गिरे ! तुम तो अपने लिये सबसे अधिक, नहीं नहीं, एकमात्र लोभनीय मानो श्रीभगवान्को ही। और अपने आचरणोंसे, सद्व्यवहारसे, भगवान्की दी हुई शक्तिके सदुपयोगसे ऐसा प्रयत्न करो कि जिसमें जगत्के नर-नारी श्रीभगवान्की ओर झुकें, उनकी भक्ति करें और उनके प्रेमको पाकर कृतार्थ हो जायँ।

जहाँतक हो, गुरु बननेकी चेष्टा मत करो, शिष्य ही रहो। इसीमें तुम्हारी भलाई है। कहीं भगवान्की प्रेरणासे गुरु बनना पड़े तो सावधान हो जाओ। तुम्हारी जिम्मेवारी और भी गुरुतर हो जाती है। गुरुपनका घमण्ड न करो। सदा-सर्वदा सचेत रहकर निष्कपटभावसे बाहर और भीतरसे अपनी प्रत्येक चेष्टाको शुद्ध सात्त्विक और भगवत्सेवामयी बना लो। तुम्हारी एक भी चेष्टा—एक भी क्रिया ऐसी नहीं होनी चाहिये जिससे सर्वाराध्य भगवान्के प्रति किसीके भी मनमें तनिक-सी भी अमङ्गलमयी अश्रद्धा उत्पन्न हो। भगवान्से सदा प्रार्थना करते रहो और उनकी कृपाके बलपर ऐसा दृढ़ निश्चय रक्खो जिससे कभी कोई अनीति-अनाचार तुम्हारे द्वारा बने ही नहीं। शिष्योंको जैसे बनाना चाहते हो, स्वयं पहले अपने आचार-विचारसे, क्रिया और भावनासे वैसे ही बन जाओ ! पहले अपने गुरु बनो, फिर दूसरोंके।

भगवान्को प्राप्त होनेवाली पूजा-प्रतिष्ठा और मान-बड़ाईसे सदा बचते रहो। जहाँ कोई भी पुरुष, किसी भी स्थितिमें, किसी भी कारणसे भगवान्के बदले तुम्हें उनके सिंहासनपर बैठाना चाहे, वहीं तुरन्त सच्चे हृदयसे विनयपूर्ण परन्तु दृढ़तापूर्वक विरोध करके उसके अभिलाषकी जड़ ही काट डालो। याद रक्खो, ऐसा विचार ही तुम्हारे पतनका बीज है ! देखो ! तुम्हारी असावधानी या मूढ़तासे यह बो न दिया जाय। ऐसी विकट भूल न कर बैठना ! —'शिव'

दीक्षा-रहस्य

(लेखक—महामहोपाध्याय पं० श्रीगोपीनाथजी कविराज, एम्० ए०)

[११२२ पृष्ठ से आगे]

विषुवत् तत्त्व

सामरस्य होनेके पहले विषुवत् अथवा साम्यका ज्ञान आवश्यक है। यह सात प्रकारका है। शिष्यके आत्मा और मनको पूर्णरूपसे मध्य-मार्गसे चलनेवाले प्राणमें युक्त किया जाता है। इसे प्राणविषुवत् कहते हैं। इसके बाद जबतक मन अनन्य-भावापन्न न हो तबतक मन्त्रका उच्चारण होता रहता है। मन्त्रकी दो अवस्थाएँ हैं—नादपर्यन्त इसकी निम्नावस्था है और उसके बाद उन्मनापर्यन्त परावस्था है। यह मन्त्रविषुवत् है। सुषुम्ना अथवा मध्यनाडी नाभिसे चलकर ऊपरकी ओर शिवतत्त्वपर्यन्त जाती है। यहाँ यह कहना आवश्यक नहीं है कि यह नाडीकी गति शक्तिभावापन्न है। इसमें अव्यक्त ध्वनिरूप नादका प्रवाह चलता है। अर्थात् अकारादि वर्णोंके संयोगसे वह ऊपरकी ओर चलने लगता है। इस समय सब नाडियोंका साम्यभाव हो जाता है। यह नाडीविषुवत् है। जब हृदयसे प्राणका सञ्चार होने लगता है तब वह छत्तीस अङ्गुल क्षेत्रमें कालके अधिकारके अनुसार मकरादि राशियोंमें संक्रमण करते हुए होता है। छः-छः अङ्गुलमें ब्रह्मादि एक-एक कारणकी स्थिति मानी गयी है। अतः छत्तीस अङ्गुल संचार पूरा हो जानेसे समस्त विश्वमें व्याप्त छहों कारणोंका अतिक्रम हो जाता है। इसके बाद परम कारण अर्थात् सप्तम कारण परम शिवमें स्थिति होती है। इसमें सब कारणोंकी साम्यावस्थारूप प्रशान्ति होती है। यही प्रशान्तविषुवत् है।* नाद जब सदाशिवपदसे ऊपरकी ओर चलता है उस समय उसकी गति शक्तिस्थानकी ओर होती है। नादकी इस मध्यस्थ अवस्थाको शक्तिविषुवत् कहते हैं। प्राणकी सोलह त्रुटियोंमें अन्तिम त्रुटिके अर्द्धांशको तीन भागोंमें बाँटना चाहिये। इन तीन भागोंमें एक स्थूल, एक सूक्ष्म और एक पर होता है। इनमें अन्तिम भाग कालविषुवत् नामसे प्रसिद्ध है, जिसका अनुभव समना पदमें होता है और जिसका पहले वर्णन किया जा चुका है। आत्मा उन्मनामें युक्त होनेपर तन्मय हो जाता है। यह आत्माका उन्मनायोग ही तत्त्वविषुवत् है।

सामरस्यतत्त्व

सामरस्य साधारणतः सात प्रकारका माना जाता है। इनमें सप्तम या तत्त्व-सामरस्य ही प्रधान है। और सब इसीके साधनस्वरूप हैं, जो कि आत्मा मन्त्र नाडी शक्ति व्यापिनी और समनामें होते हैं। मनुष्य-देहमें बहुत-सी नाडियाँ हैं। इनमेंसे कुछ तिर्यक्-रूपमें चारों ओर फैली हुई हैं और कुछ नीचेकी ओर जाती हैं। केवल एक ऊपरकी ओर जानेवाली नाडी है, जो 'सुषुम्ना' कहलाती है। वायुकी गति पहली दो प्रकारकी नाडियोंद्वारा होनेके कारण हमारे चित्त और प्राण चञ्चल रहते हैं। जब पूरकादि कुम्भकके बलसे समानवायु पुष्ट होकर सब नाडियोंको आक्रान्त कर लेता है और उनकी वृत्तियोंको रोककर उन्हें खींचकर सुषुम्नाके साथ मिलाकर एक अभिन्न नाडीरूपमें परिणत कर देता है तब तत्तत् नाडियोंमें चलनेवाले विभिन्न वायु भी सुषुम्नावाही प्राणके साथ सामरस्य प्राप्त करते हैं। यह नाडी सामरस्य है। इसके प्रभावसे शिष्यके आत्मा अर्थात् सूक्ष्म देहको संगृहीत करके तारण-छेदनादिपूर्वक चैतन्यमें संयुक्त किया जाता है। इस दशामें निर्विकल्प विमर्शनसे सूक्ष्म देहको विश्रान्ति दी जाती है। यह आत्मसामरस्य है। नाडी-सामरस्य होनेके बाद मन्त्र स्वतः ही प्रसृत अर्थात् उच्चरित होने लगता है। इसको भावनाके द्वारा अव्यक्त ध्वनिरूप नादमें लीन करना ही मन्त्रसामरस्य है। स्मरण रखना चाहिये कि नाद सदाशिवपद है। इस प्रकार मन्त्र, आत्मा और नाडी तीनोंका सामरस्य होता है। जब यह एक साथ वाम, दक्षिण एवं मध्य तीनों मार्गोंमें होता है तब नादको छोड़ देना चाहिये। अर्थात् (तान्त्रिक परिभाषाके अनुसार) इसे सेतुबन्ध मार्गतक पहुँचाना चाहिये। तन्त्रमतमें शक्ति व्यापिनी समना और उन्मना—इन्हींका नाम सेतुबन्ध है। यही समग्र विश्वके परपारवर्ती परमपदतक पहुँचानेका मार्ग है। इस महाप्रस्थानपथको प्राप्त न करनेसे सदाशिवके आगे परमपद-तक जानेका कोई और उपाय नहीं है। नादकी इस सेतु-

---

* सद्गुरुको इसी विषुवत्‌में विश्राम करके शिष्यको दीक्षा देनी चाहिये—ऐसी शास्त्रकी आज्ञा है।

बन्धगतिसे ही संसारकी निवृत्ति होती है। इस समय स्वयं ही कारणवर्गका सामरस्य हो जाता है। अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु आदि अधिष्ठातृगण एकाकार हो जाते हैं। परन्तु अ, उ प्रभृतिके उच्चारसे हृदय-कण्ठ प्रभृति स्थानोंमें विश्रान्ति होनेपर कारणोंका साम्यभाव नहीं होता। उस अवस्थामें ब्रह्मादि देवगण अलग-अलग ही रहते हैं। सेतुबन्धमें नादभावापन्न आत्मा मन्त्र और नाडियोंका अर्थात् कारणरूपी सब देवताओंका उच्चारण* करना पड़ता है। क्रमशः ऐसा करते-करते नादाकार ये सब शक्तिमें लीन हो जाते हैं। उसके बाद शक्तिरूप व्यापिनीमें तन्मय हो जाते हैं। उस अवस्थामें आत्मादि व्यापिनीके साथ अभिन्न होनेके कारण ही उसमें तन्मय हो सकते हैं। व्यापिनीमें तन्मय होनेका तात्पर्य यह है कि ये चारों ओर व्यापक हो जाते हैं। तदनन्तर समनाको प्राप्त होकर व्यापिनी भी उसके साथ सामरस्य प्राप्त करती है। यह छठा सामरस्य है। इस अवस्थामें आत्मादि सारे पदार्थ समना या महामायाके साथ अभिन्न होकर रहते हैं। जब यह छूटकर उन्मनाशक्तिमें अनुप्रवेशके कारण तत्त्वसामरस्य होता है तब परमपदकी प्राप्ति होती है। ऐसा पुरुष छः अध्वाओंमें व्याप्त होकर देवतादि चौदह प्रकारके स्थावर-जंगम प्राणियोंमें आन्तर (धर्माधर्मादि) तथा बाह्य (घट-पटादि) भावोंमें, पृथिव्यादि सब तत्त्वोंमें, भोगकी साधनभूता समस्त इन्द्रियोंमें समरसरूपमें स्थित होता है। उसका परशिवभाव सारी अवस्थाओंमें अखण्डित ही रहता है। यह एक प्रकारकी व्युत्थानहीन समाधि है। अभीष्ट पदकी अप्राप्तिसे ही मनकी वक्रगति होती है और भोगकी अभिलाषासे व्युत्थान होता है। परन्तु जब भाव परतत्त्वमय होकर निश्चल पूर्ण और आकाङ्क्षाहीन हो जाता है तब सभी अवस्थाओंमें मन अचञ्चल ही रहता है। मन कहीं भी जाय उसे सर्वत्र परतत्त्वका ही चिन्तन होता है। सभी वस्तुएँ शिवमयी होनेके कारण मन चञ्चल होकर जायगा भी कहाँ ? इसलिये इस प्रकारका योगी सब विषयोंमें अर्थात् इन्द्रियोंकी भोग्य वस्तुओंमें स्थित होकर चाहे कैसा भी व्यवहार करे सब शिवमय ही होगा। उसके लिये कहीं भी अशुभ नहीं रहता। इस तत्त्वसामरस्यके बाद फिर कभी मोह नहीं आता। अपूर्ण योगीको समाधिमें मोह न रहनेपर भी व्युत्थानमें मोह रहता ही है। किन्तु पूर्ण योगी सामरस्यके प्रभावसे सर्वगत हो जाता है।

* ऊपरकी ओर चलाना।

(९)
क्रिया-दीक्षा

पदार्थभेदन

हृदयादि स्थानोंमें प्राणशक्ति स्पष्ट होनेके कारण विभिन्न प्रकारके अनुभव होते हैं। हृदयग्रन्थिका भेद होनेपर मन्त्रकी प्रथम कला (अ—एक मात्रा) स्वयं ही अविकल्परूपसे ऊपरकी ओर चलने लगता है। यही उच्चार है। इसमें एकाग्रता होनेके कारण चारों ओरसे आकाशके साथ योग हो जाता है; इसलिये उपांशुरूपमें हृदयकी धड़कनके समान इस पहली कलाकी ध्वनि सुन पड़ती है। हृदयका मान चार अङ्गुल है। यह कण्ठसे छः अङ्गुल नीचे और नाभिसे बारह अङ्गुल ऊपर है। यह पृथिवी आदि चौबीस तत्त्वोंके अधिष्ठाता ब्रह्माका स्थान माना जाता है। मन्त्र कण्ठपर्यन्त (आठ अङ्गुल) उठनेपर वह ध्वनि शान्त हो जाती है। कण्ठ-पुरुषसे लेकर कलातत्त्वतक छः तत्त्वोंके अधिष्ठाता विष्णुका स्थान है। कण्ठभेद करनेके समय मन्त्रकी दूसरी कला (उ—दो मात्रा) का उच्चार होता है। उसकी ध्वनि धुक्-धुक्—इस प्रकार होती है। इसके बाद मन्त्र (चार अङ्गुल) तालुके मध्यमें होकर रुद्रसे अधिष्ठित तालुग्रन्थिका भेदन करता है। यहाँ तीसरी कला (म—तीन मात्रा) का उच्चार होता है। वह घुं-घुं इस प्रकार सुन पड़ता है। अकार, उकार एवं मकार—ये तीन व्याप्त कलाएँ हैं। इनके उच्चार-स्थानोंमें ग्रन्थिभेदके अनुभवकी सूचक जो ध्वनियाँ होती हैं उनमें आठ कलाएँ हैं, जिनके नाम ये हैं—घोष, राव, स्वन, शब्द, स्फोट, ध्वनि, झंकार और धुंकृत। ये आठों कलाएँ सर्वत्र ही रहती हैं किन्तु इनमेंसे कहीं किसीका और कहीं किसी दूसरीका प्राधान्य रहता है। हृदयादि स्थानोंमें प्राणके सञ्चारके अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकारके अनुभव होते हैं, किन्तु जब उन स्थानोंमें प्राण रुक जाता है तो वह तद्रूप हो जाता है। जहाँ वह स्थिर होता है वहाँ उसके भावानुसार ब्रह्मादि तत्तत् कारणका अन्तर्भाव हो जानेसे उसे तत्तत् रूपकी प्राप्ति होती है। जैसे ब्रह्माधिष्ठित हृदयमें स्थित होनेपर प्राण सृष्टिरूप होता है तथा विष्णुद्वारा अधिष्ठित कण्ठमें स्थित होनेपर वह स्थिति-रूप धारण करता है। इसी प्रकार अन्यान्य स्थानोंमें भी समझना चाहिये। प्राणके भ्रूमध्यमें (दो अंगुल) जानेपर अविभक्त ध्वनिरूप स्फोट शब्दका उदय होता है, बिन्दुभेद करनेके समय यह घुं-घुंरूपमें सुनायी देता है। यही बिन्दु-कलाका बोध है। इस ग्रन्थिका भेदन करना ही भेदमय संसारका लङ्घन करना है। वस्तुतः यही मोक्षमार्गका प्रथम

सोपान है। अर्धचन्द्र तथा निरोधिका कलाओंका भेदन करनेके समय भी क्रमशः झिम्-झिम् और शिम्-शिम् ऐसी ध्वनियाँ सुनायी देती हैं। भ्रूमध्यस्थ बिन्दु आदि तीन स्थान विद्या और ईश्वरतत्त्वके अधिष्ठाता ईश्वरके स्थान हैं। इनकी मात्राओंकी संख्याएँ इस प्रकार हैं—बिन्दुकी १/२, अर्धचन्द्रकी १/४ और निरोधिकाकी १/८। बिन्दुस्थानमें जो अविभक्त ध्वनि सुनायी देती है अर्धचन्द्रस्थानमें उसकी प्रतिध्वनि सुनी जाती है। यहाँ भी प्राणके सञ्चार और स्थिरताके अनुसार ही आत्माको अनुभव और सारूप्यकी प्राप्ति होती है। भ्रूमध्यके बाद ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्त ग्यारह अङ्गुलमें सदाशिव तथा शक्तितत्त्वोंके अधिष्ठाता सदाशिव हैं। निरोधिका-भेदनके बाद नादकी प्राप्ति होती है। उस समय अत्यन्त सूक्ष्म बाँसुरीकी-सी ध्वनि सुनायी देती है। नादका विश्रामस्थान अथवा नादान्त ब्रह्मरन्ध्र है। यह देहके ऊर्ध्वद्वारके कपाटोंके छिद्रके समान है। इसे भेदन करना बहुत ही कठिन है। इसके भेदनके समय शुम्-शुम् शब्द सुनायी देता है। ये दो स्थान सदाशिवके हैं। नादकी मात्रा १/१६ है और नादान्तकी कुछ नहीं है। नादान्त या ब्रह्मरन्ध्र ही छत्तीस अङ्गुल प्राणोच्चारकी अन्तिम सीमा है। इसका भेदन करनेपर प्राण शक्तिमें प्रवेश करता है। उस समय अत्यन्त मधुर वंशीध्वनिके समान शब्द सुनायी देता है। यहाँ आनन्दका अनुभव ऐसे तीव्ररूपमें होता है कि अत्यन्त उच्च कोटिके योगियोंके सिवा साधारण साधक इस स्थानसे आगे नहीं बढ़ सकते। शक्तिकी मात्रा १/३२ है। यह अत्यन्त दुर्भेद्य है। इसका भेदन करनेके समय पूर्वोक्त शुम्-शुम् ध्वनि शान्त होकर आनन्दमय स्पर्शका रूप धारण कर लेती है। मन्त्र, कला और शक्तिका भेदन करनेके बाद प्राण व्यापिनीरूपमें परिणत हो जाता है। यह अत्यन्त शान्तिमय स्थान है जहाँ शब्दका स्फुरण बिल्कुल नहीं है, केवल पिपीलिकासञ्चारके समान सूक्ष्म स्पर्शका ही बोध रहता है। व्यापिनीकी मात्रा १/६४ है। नाद, शक्ति और व्यापिनी—इन तीन स्थानोंमें भी प्राण चलते-चलते स्थिर होनेपर तद्रूप हो जाता है। क्रियाविशेषके द्वारा व्यापिनी कला अर्थात् महाशून्यका भेदन करनेपर समनामें पहुँचकर मनके द्वारा ही मनको त्यागना पड़ता है। समनाकी कला १/६४ है। समनाभूमिका त्याग करनेपर ही कैवल्यकी प्राप्ति होती है। शक्ति व्यापिनी और समना प्राणोच्चारके अन्तमें हैं। इनका उच्चार भेदहीन स्पर्शमात्रके अनुभवरूपमें होता है। एक ही स्थानमें अर्थात् एक अङ्गुल ग्रन्थिस्थानमें, जो शक्ति अथवा अनाश्रित नामक शिवसे अधिष्ठित है, छत्तीस अङ्गुलके अन्तमें शक्ति है और फिर त्वक्के अन्तमें व्यापिनी तथा केशदेशमें समना है। इसके बाद उन्मना और परतत्त्व हैं। परन्तु ये परिणामहीन और अनन्त हैं तथा ये ही सप्तम पद अथवा परमपद हैं।

उन्मनामें स्थिति होनेके लिये यह क्रमिक भेदन करना पड़ता है। इसका मुख्य उपाय मन्त्रशूल और ज्ञानशूल नामोंसे प्रसिद्ध है। मन्त्रका वर्णन यहाँतक हो चुका है। 'ज्ञान' शब्दसे पराशक्तिका स्फुरण समझा जाता है। यह ज्ञान जिस समय समरसीभूत इच्छादि तीन शक्तियोंसे आच्छन्न रहता है उस समय यह अत्यन्त तीव्र होकर ग्रन्थियोंका भेदन करनेमें समर्थ होता है। तभी इसे 'शूल' कहा जाता है। ज्ञानका कार्य केवल अज्ञानका भेद करना ही नहीं है, अपि तु परतत्त्वका ज्ञापन करना भी है। जिस प्रकार दीपकके द्वारा इष्टवस्तुको देखकर उसे लिया जाता है वैसे ही द्योतनशील ज्ञानके द्वारा ज्ञेय अर्थात् परवस्तुमें स्थिति या विश्राम प्राप्त होता है। यह ज्ञान वस्तुतः ज्ञेयतत्त्वका ही गुण या असाधारण धर्म है, यह उससे भिन्न नहीं है। इसलिये यह परमशिवकी सृष्ट्यादिकारिणी स्वातन्त्र्यरूपा शक्ति है। यह परतत्त्वसे नित्य अवियुक्त है। ये ज्ञान और ज्ञेय अथवा गुण और तत्त्व या स्वातन्त्र्य शक्ति और परमशिव नित्य लोलीभूत हैं अर्थात् अविच्छेद्यरूपमें संयुक्त हैं। परमशिवको उनकी स्वातन्त्र्यशक्तिके सिवा और कोई नहीं जान सकता। प्रत्यक्षानुभव आदि प्रमाण भी उस शक्तिके ही अधीन हैं।

आत्मख्याति

पहले कहा गया है कि व्यापिनीके भेदनके पश्चात् समनामें मनको छोड़कर जीव कैवल्य प्राप्त करता है। व्यापिनीका लङ्घन होनेपर समनामें प्रवेश होता है। मन तबतक सविकल्प रहता है जबतक कि मननका विषय है। स्पर्शकी भी निवृत्ति हो जानेपर मनका कोई विषय नहीं रहता। इसलिये समनामें जो मन रहता है वह अविकल्पक मनन या ज्ञानात्मक होता है। इस अविकल्पक मननके द्वारा ही अविकल्पक मनका निरोध किया जाता है। ऐसा एकाग्रताके प्रकर्षसे ही हो सकता है। उस समय ज्ञेय अथवा दृश्यरूप आभास ग्रहण करनेकी इच्छातक नहीं रहती। इससे ज्ञान संकोचशून्य हो जाता है और आत्मा केवलत्व प्राप्त करके शुद्ध ज्ञातृ या द्रष्टृस्वरूपमें स्थित हो जाता है। यही विशुद्धकैवल्य है। प्रकृति-पुरुष-विवेक-ज्ञानसे अथवा माया-

पुरुष-विवेक-ज्ञानसे पुरुषका जो कैवल्य होता है वह तन्त्रमतमें शुद्ध कैवल्य नहीं है, क्योंकि प्रथम कैवल्यमें प्राकृत कर्मका क्षय होनेपर भी तीनों मल रह जाते हैं। तथा द्वितीय कैवल्यमें कार्म एवं मायीय मलोंका क्षय हो जानेपर भी आणव मल रह जाता है। परन्तु विशुद्ध कैवल्य महामायासे पुरुषका विवेक-ज्ञान होनेपर होता है। इस अवस्थामें तीनों प्रकारके मलोंकी सर्वथा निवृत्ति हो जाती है, उनकी वासनातक नहीं रहती। आत्मा केवल सत्ता या प्रकाशमात्र स्वरूपसे स्थित रहता है। किन्तु उसमें आत्माकी स्वाभाविकी ज्ञान-क्रिया अवश्य रहती है। आत्माकी इस अवस्थामें सामरस्यभावापन्न परमशिवकी ज्ञान-क्रिया नहीं रहती—इसमें कोई सन्देह नहीं। तन्त्रमतमें पूर्वोक्त प्रथम कैवल्य वस्तुतः विज्ञान-कैवल्य भी नहीं है, द्वितीय कैवल्य विज्ञान-कैवल्य होनेपर भी विशुद्ध विज्ञान-कैवल्य तो उससे भी भिन्न है, क्योंकि इन दोनोंके हेतुभूत विज्ञानोंमें भी भेद है। अशुद्ध विज्ञान-कैवल्यका कारणभूत विज्ञान मायासे पुरुषका भेदज्ञान होना है। इस ज्ञानका विषय समग्र विश्व नहीं होता। परन्तु विशुद्ध विज्ञान-कैवल्य जिस विज्ञानसे होता है वह समग्र अध्वाको अपने ज्ञेयरूपसे विषय करता है। यह शुद्ध आत्माका ज्ञान मन्त्र तथा मन्त्रेश्वरोंके ज्ञानसे भी निर्मल है, क्योंकि पूर्वोक्त ज्ञानमें ज्ञेयका सम्बन्ध रहता है और यहाँ वह नहीं रहता। शुद्ध आत्मा सदाशिवरूप परमेश्वरके अपरभावका अतिक्रम किये हुए है। परन्तु उसने अभी उनके चिदानन्दघन परमरूपको प्राप्त नहीं किया। यह केवल ज्ञातृरूप स्वरूपमें प्रतिष्ठित है। यही आत्मव्याप्ति है। इसमें समनापर्यन्त बन्धन शान्त हो गया है, परन्तु अभी बन्धन-निवृत्तिका संस्कार मौजूद है। परमशिवभावमें उसका भी अभाव हो जाता है। परशिव विश्वातीत होते हुए भी विश्वमय स्वतन्त्र चिदानन्दघन भाव है।

विद्याव्याप्ति

इसीसे इस प्रकारके मुक्त शुद्धात्मभावको भी त्यागकर अपनेको विद्यातत्त्वमें नियोजित करनेकी आवश्यकता है। यहाँ विद्या शब्दसे 'उन्मना' समझनी चाहिये। मन अथवा संकल्प क्रमिक ज्ञानरूप है। परन्तु उन्मना युगपद् ज्ञान है, क्योंकि विश्वका अवभासन-निर्माण प्रभृति भेद रहनेपर भी विद्या अर्थात् उन्मनामें वह नित्योदित आनन्दमयी स्वातन्त्र्य-शक्तिके आभासरूपमें विद्यमान रहता है। इस उन्मना ज्ञानको पराविद्या कहते हैं। इसे शुद्धविद्यातत्त्व नहीं समझना चाहिये, क्योंकि शुद्धविद्या मायातत्त्वपर्यन्तव्यापक आत्मतत्त्वके परे शुद्ध विद्यासे लेकर शक्तितत्त्वपर्यन्त अध्वामें व्यापक है और उन्मना समग्र विश्वको धारण किये है—वह सभी तत्त्वोंमें व्यापक है। इसमें एक साथ अभिन्नरूपमें सर्वज्ञत्वादि समस्त भगवद्गुणोंकी प्राप्ति होती है।

शिवव्याप्ति

यहाँ आत्माकी संकोचहीना परशिवरूपा चिज्ज्योतिका प्रत्यभिज्ञान होता है, जिसके प्रभावसे उसके साथ तादात्म्य हो जाता है। दिव्य करण और मन्त्रके संघर्षसे जो उत्तेजन होता है उससे दैहिक प्राण उद्दीप्त होकर सुषुम्नामार्गमें उदानात्मक वह्निको प्रज्वलित कर देता है। वह अग्नि क्रमशः ऊपरकी ओर बढ़ता रहता है। शुद्ध विज्ञान केवल आत्मा इसीकी शिखा है। यह शिखा समना-पर्यन्त समग्र देहको दग्ध करके लीन हो जाती है। यही निर्वाण अर्थात् शुद्ध आत्माका परशिवके साथ तादात्म्य लाभ है।

परमशिवमें योजन

उस समय सद्गुरु परमपदोचित पूर्णाहन्तारूप अभिमान ग्रहण करते हैं। 'मैं परम कारण शिव हूँ। मैं परम शिवरूपी अपने छः अध्वाओंमें व्यापक प्राणमें समरस या लीनभावसे विद्यमान पशु-आत्माको मन्त्र करण और क्रियायोगके द्वारा परमशिवमें ही युक्त करता हूँ'—यही उक्त अभिमानका स्वरूप है।

यह केवल बात बनानेसे नहीं हो सकता। जिन गुरुदेवने तात्त्विक अनुभूतिके द्वारा परमशिवसे अपने अभेदकी उपलब्धि की है, वे ही अग्नि जिस प्रकार इन्धनको दग्ध करता है उसी प्रकार समस्त दैहिक पाशोंको दग्ध करके अपने भास्वर ज्योतिर्मय रूपमें स्थित होकर शिष्यके आत्माको परशिवके साथ युक्त कर सकते हैं। अग्निकी शिखा जैसे आकाशमें लीन होकर उसके साथ ऐक्यलाभ करती है इस योगका फल भी वैसा ही समझना चाहिये। परमतत्त्वमें युक्त अर्थात् एकीकृत होकर आत्मा अविभक्त शिवरूपमें ही विराजने लगता है।

गुरु प्राणोच्चारप्रभृति विधान और परतत्त्वभावना दोनोंमें निष्णात होते हैं। वे क्रियादीक्षामें एक पूर्णाहुतिके द्वारा शिष्यको परतत्त्वमें युक्त कर देते हैं। इस आहुतिका प्रयोग तन्त्रशास्त्रमें वर्णित है। यहाँ उसका विशेष विवरण देनेकी आवश्यकता नहीं है; केवल इतना ही कहना है कि गुरु अपने दोनों पैरोंको बराबर जुड़े हुए रखकर ग्रीवाको सीधे रखते हुए

स्थिरभावसे खड़े हों और नाभिस्थानमें स्रुक्के मूलको उत्तान-भावसे रखकर उसके ऊपर अधोमुखभावसे स्रुवको रक्खें। ये दोनों क्रमशः शक्ति और शिवके प्रतीक हैं। इन्हें इस प्रकार रखनेका उद्देश्य दोनोंकी उन्मुखता सम्पादन करना है। उसके बाद अन्तमें स्रुक्को घृतसे भरकर ऐसा अभिमान करें कि 'मैं ही परमतत्त्व हूँ और स्थूल, सूक्ष्म एवं पररूपोंमें स्थित हूँ।' यह केवल अभिमानमात्र नहीं है, क्योंकि वस्तुतः सभी वस्तुएँ चिन्मात्ररूप होनेके कारण तत्त्व एक और अभिन्न ही हैं। इसका उद्देश्य यह है कि शिष्यमें मायाप्रमातृ-स्वरूप भेदाभिमान फिर न आवे। इसके पश्चात् कुम्भ, मण्डल, अग्नि और शिष्यस्थ छः अध्वाओंको घृतरूपमें मध्यनाडी अर्थात् सुषुम्नानाडीरूप स्रुक्में डालकर प्राणस्थ अध्वाको भी उसीमें रखकर मध्यप्राण अर्थात् सुषुम्नासञ्चारिणी प्राणशक्ति और स्रुग्गत घृतकी धाराको समान करके मन्त्राग्निसे गलाये हुए षडध्वमय रसरूपमें *भावना करते हुए* उसे *अविच्छिन्न* धारासे डालना चाहिये। इस समय प्राणका द्वादशान्तस्थ शिवाग्निमें और घृतधाराका बाह्य-अग्निमें अभिन्नभावसे हवन करे। *यही वसुधारा है। नाभिस्थानस्थित स्रुक्के मूलको* नासाग्र (भ्रूमध्य) पर्यन्त ले जाना चाहिये। सुषुम्नावाही प्राणको सम्यक् प्रकारसे अभ्यस्त प्राणोच्चारक्रियाके द्वारा द्वादशान्तमें विश्राम कराना चाहिये। इसके प्रभावसे केवल यही नहीं कि षडध्वा गलकर रसमय हो जाता है अपितु षडध्वस्थ प्राण भी वर्णभावको प्राप्त होता है। अर्थात् मन्त्रपरामर्श (अभेदज्ञान) का आकार धारण करता है। इससे छहों अध्वाओंमें कोई प्रमेय शेष नहीं रहता; अर्थात् सभी मन्त्रपरामर्शमय हो जाते हैं। समनापर्यन्त हेय पदार्थ और शुद्धात्मा उन्मना एवं परमशिवरूप उपादेय पदार्थ सभी वाचक मन्त्रके भीतर उसके अभिन्नरूपमें स्थित हो जाते हैं। अकारादि मन्त्रध्वनिरूप वर्णोंसे पूर्ववर्णित छः कारण अथवा तत्त्वोंके छः अधिष्ठाता व्याप्त हैं और उनके द्वारा समग्र विश्व ही व्याप्त है। इसलिये उन छः कारणोंको त्याग कर सप्तममें लय करना पड़ता है। यहाँ एक बात समझ लेनी चाहिये। मन्त्रान्तर्गत अकारसे लेकर समना-पर्यन्त छः कारणोंसे सम्बद्ध सारी ही वस्तुएँ पाशके अन्तर्गत हैं। ये भेदकल्पनामय हैं, इसीसे हेय हैं। जब ये ही अभेद-विमर्शात्मक होती हैं तो हेय नहीं रहतीं, उपादेय हो जाती हैं। समनापर्यन्त पाशोंके ऊपर आकाशके समान अत्यन्त निर्मल और व्यापक आत्मा है। यह चिद्रूप है। इसमें परमेश्वरके अभिन्न सर्वज्ञत्वादि गुणोंका एक आभास पड़ता है। इसीलिये यद्यपि इसे सृष्ट्यादि पञ्चकृत्यकारित्वरूप स्वातन्त्र्य प्राप्त नहीं है तथापि वह प्राप्यरूपमें दिखायी देने लगता है। आत्माको पाशोंके रूपमें अभिमान न करके अपने स्वरूपका पाशोत्तीर्णरूपमें दर्शन करना—यही आत्मव्याप्ति है। व्यापक एवं अभिन्न सर्वज्ञत्वादि धर्मोंकी भावनासे आत्मामें शिवकी व्याप्ति होती है। सब प्रकारके भेदोंसे शून्य शिवरूपी भित्तिमें लग्न होकर ही समग्र विश्वकी प्रतीति होती है। इसलिये शिव धर्मी हैं और विश्व उनका धर्म है। आत्मा और मन दोनों ही शब्द और मनके अगोचर हैं। इसीसे परमात्माके साथ जीवात्माको युक्त करनेके समय गुरु *मानसिक क्रियाका त्याग कर* शिष्यात्माको अपने आत्माके साथ समरस करें तथा समनापर्यन्त समस्त अध्वाका अति-क्रमण करके शुद्ध आत्मामें स्थित हों और फिर बोधरूपमें अर्थात् उन्मनाशक्तिमें अनुप्रविष्ट होकर शिष्यके आत्माका परमात्माके साथ योजन करें। इसीसे शिवभावका उदय होकर पशुको भवसमुद्रसे मुक्ति मिल सकती है।

इस समय स्रुवको फिर घृतसे भरे और जबतक स्रुक्के छिद्रसे अग्निमें गिरता हुआ घृत समाप्त न हो जाय तबतक बहिःकुम्भक अर्थात् द्वादशान्तमें कुम्भक करे। इस कुम्भकसे *शिव और शक्तिका सामरस्य* होता है तथा जीव और शिवका अभेद सिद्ध हो जाता है—जीव शिवत्व प्राप्त कर लेता है।

परमशिवके गुणोंका आपादन

इसके बाद गुणापादन करना चाहिये। शिवत्व प्राप्त होनेपर शिवसे अभिन्न गुणोंकी प्राप्ति भी उसके साथ-ही-साथ हो जाती है। परन्तु मन्त्रपरामर्शसे उसको स्पष्ट करना पड़ता है। परमेश्वरके छः असाधारण गुणोंके नाम ये हैं—सर्वज्ञत्व, परितृप्तत्व, अनादिबोध, स्वातन्त्र्यशक्तित्व, अलुप्तशक्तित्व और अनन्तशक्तित्व। एकमात्र परमेश्वरमें ही इन सब गुणोंका एककालिक समावेश रहता है, अन्यत्र नहीं। जैसे दृष्टान्तस्वरूप यह दिखाया जा सकता है कि कपिलादि सिद्धगण सर्वज्ञ तो हैं परन्तु विमर्शहीन चिदात्मक होनेके कारण उनमें आनन्दशक्तिका अभाव है, अतः वे अतृप्त हैं। दूसरी ओर कुछ ऐसे भी लोग हैं जो आनन्द-शक्तियुक्त अर्थात् परितृप्त तो हैं परन्तु भावनासे वैसा रूप धारण करनेके कारण उनमें अनादि बोध नहीं है। कोई-कोई पुरुष ऐसे भी होते हैं जो सर्वदा सर्वज्ञ होनेके कारण

अनादि बोधमय हैं परन्तु उनमें निर्मल शक्ति न रहनेके कारण स्वातन्त्र्यका अभाव है। ब्रह्मादि किन्हीं-किन्हींमें सृष्टि आदि व्यापारका स्वातन्त्र्य तो है परन्तु उनकी शक्ति सर्वदा अलुप्त नहीं रहती, क्योंकि अपनी-अपनी रात्रिरूप प्रलयादि कालमें वे मोहमग्न रहते हैं और उस समय उनकी शक्तिका लोप हो जाता है। मन्त्र एवं मन्त्रेश्वरादिमें प्रलयावस्थामें भी मोह नहीं होता और न उनकी शक्तिका ही लोप होता है—यह तो ठीक है, परन्तु वे अनन्तशक्ति नहीं हैं, क्योंकि वे विश्वको अपनेसे भिन्नरूपमें देखते हैं, इसलिये विश्व उनकी आत्मशक्तिके रूपमें स्फुरित नहीं होता।

दीक्षान्त अभिषेक तथा दक्षिणा

दीक्षाके बाद अवभृथस्नानका विधान है। यही अभिषेक है। गुरुको अपने द्वादशान्तमें विश्राम करते हुए आनन्दस्पर्शात्मक पराशक्तिरूप अमृतको क्षुब्ध करके ऐसी भावना करनी चाहिये कि शिष्यके द्वादशान्तसे उसके मूर्धामें वह अमृत धारावाहिकरूपमें गिर रहा है। फिर ऐसी भावनाके साथ बाह्य कलशसे शिष्यके मस्तकपर जलकी धारा डालें। यह अमृत तुरीयद्वारमें अर्थात् तुरीयानुभवके स्थान ब्रह्मरन्ध्रमें प्रविष्ट होकर, साधकके उग्र मन्त्रशक्तिसे शुष्क और दग्ध शरीरको स्निग्ध कर देता है।

इसके अनन्तर शिष्यको यथाशक्ति गुरुदक्षिणा देनी चाहिये। निःस्पृह होनेके कारण गुरुको किसी वस्तुकी अपेक्षा न रहनेपर भी शिष्यको तो कर्तव्यबोधसे ऐसा करना ही चाहिये, नहीं तो क्रिया विधिहीन हो जाती है।

यहाँ क्रियादीक्षाका विवरण समाप्त होता है। इसके पश्चात् विज्ञान-दीक्षाके विषयमें दो-चार बातें कहकर इस प्रबन्धका उपसंहार किया जायगा।

(१०)

विज्ञान-दीक्षा तथा गुरु-तत्त्व

विज्ञान-दीक्षा

विज्ञान-दीक्षामें होत्रादि नहीं होता और प्राणोच्चार भी नहीं होता। यहाँ जो उच्चार है वह ज्ञानके द्वारा सुषुम्नामार्गमें आरोहण करना है। गुरु पहले शिष्यात्माको अपने प्राणमें युक्त करके 'मैं परमहंस हूँ' ऐसा अभिमानात्मक वाक्य उच्चारण करते हुए इस दीक्षाकार्यमें प्रवृत्त हों। वे निर्दिष्ट मुद्रासे निष्कल स्वरूपको उच्चारण करके शिष्यमें पृथिव्यादि अध्वाकी भावनासे व्याप्त करके उसका शोधन करें। निष्कलमन्त्रके उच्चारणका नियम यह है—अ, उ, म इन अक्षरोंको एक-एक करके अन्तर-उच्चारविशिष्ट पश्यन्तीरूपमें अर्थात् अविचलित मन्त्रध्वनिरूपमें उच्चारण करें। एक-एक अक्षर मन्त्र-कलाकी व्याप्तिके कारण भिन्न-भिन्न है, परन्तु निर्विकल्प परामर्शकी एकताके कारण वे परस्पर अभिन्न हैं। तथा ब्राह्मीप्रभृति देवताओंसे अभिन्नतया व्याप्त हैं। भ्रूमध्यसे ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्त पृथिव्यादि पाँच अतिसूक्ष्म ग्रन्थियाँ हैं और उनके कारण भी हैं। उद्घात क्रियाके द्वारा इनका भेदन करनेसे परमेश्वरकी प्राप्ति होती है। विस्तारभयसे यहाँ इसकी प्रक्रियाका वर्णन नहीं किया जाता।

मन्द तीव्र शक्तिपातसे सद्गुरुकी प्राप्ति होती है और उनसे ज्ञानदीक्षा मिलती है, जिसके प्रभावसे शीघ्र ही जीवन्मुक्तिका आनन्द मिल जाता है। यह ज्ञानदीक्षा प्रयोगके भेदसे अनेक प्रकारकी होती है। यह गुरुके अवलोकन, वचन, शास्त्रव्याख्यान अथवा चर्याके प्रदर्शनसे या उनके दिये हुए चरुसे निष्पन्न होती है। इनमें पहली दीक्षा चाक्षुषी-दीक्षा कही जाती है, जिसका दूसरा नाम दृग्दीक्षा भी है। कुलार्णवतन्त्रमें लिखा है कि गुरुके नेत्र मूँदकर परतत्त्वका ध्यान करनेके अनन्तर शिष्यकी ओर देखनेसे यह दीक्षा हो जाती है। दूसरी दीक्षा वाग्दीक्षा है। तत्त्वमें चित्त समाहित करके परभावसे अनुप्राणित मन्त्रोंका उच्चारण करना ही इस दीक्षाका स्वरूप है। कुलार्णवतन्त्रमें जिन तीन दीक्षाओंका सद्योज्ञानप्रदायिनी शाम्भवी दीक्षारूपमें वर्णन किया गया है। उनमें पूर्वोक्त दो दीक्षाओंके अतिरिक्त स्पर्शदीक्षाका भी उल्लेख है। चित्तको गुरुके चरणोंमें समाहित करके शिष्यको करुणापूर्वक स्पर्श करना ही स्पर्शदीक्षा है।

ज्ञान और योग

साधनमार्गमें ज्ञान तथा योगका स्थान अत्यन्त उच्च है। इनके अधिकारसे सम्पन्न गुरु ही ठीक तरहसे अपना कार्य सम्पादन कर सकते हैं। ज्ञान श्रौत, चिन्तामय और भावनामय होनेके कारण तदनुसार ज्ञानी भी तीन प्रकारके माने जाते हैं। इनमें श्रौत ज्ञान निकृष्ट है और भावनामय श्रेष्ठ है। विक्षिप्त चित्तका शास्त्रार्थ-परिज्ञान ही श्रौत ज्ञान है। शास्त्रके तात्पर्यकी आलोचना करके इस प्रसङ्गमें यही उपयोगी है—ऐसा स्थिरबोध होना ही चिन्तामय ज्ञान है।

अभ्यासकी मन्दता और तीव्रताके तारतम्यसे यह दो प्रकारका होता है। इस चिन्तामय ज्ञानका दीर्घकालतक तीव्रतापूर्वक अभ्यास करनेपर उससे भावनामय ज्ञानका उदय होता है। यही मोक्षका एकमात्र कारण श्रेष्ठतम ज्ञान है। इसीसे योग तथा योगफलकी प्राप्ति होती है। इस प्रकारके भावनामय ज्ञानके विना अशुद्ध तत्त्वोंसे उद्धार और इच्छानुरूप सकल या निष्कल ब्रह्ममें योजन नहीं हो सकता। अर्थात् गुरु ज्ञानी होनेपर भी तत्त्वसाक्षात्कार न करनेसे उद्धार एवं योजनकार्यमें सफल नहीं होते। योगी चार प्रकारके होते हैं—संप्राप्त, घटमान, सिद्ध और सुसिद्ध। जिन्हें योगका उपदेश प्राप्त हुआ है वे 'संप्राप्त' योगी कहे जाते हैं। जो योगका उपदेश पाकर उसके अनुसार अभ्यास करते रहते हैं उन्हें 'घटमान' कहते हैं। इन दो प्रकारके योगियोंका ज्ञान या योग परिपक्व नहीं होता। इसलिये ये दूसरोंका कोई उपकार नहीं कर सकते। परन्तु 'सिद्ध' योगी ऐसे नहीं होते क्योंकि उन्हें भावनामय ज्ञानका पर्याप्त अभ्यास रहता है। साथ ही सिद्धि भी रहती है। ये दूसरोंको भी मुक्त कर सकते हैं; किन्तु ज्ञानके द्वारा, सिद्धिके द्वारा नहीं। योगी और ज्ञानियोंमें इन्हींको सबसे श्रेष्ठ माना जाता है, क्योंकि ये सिद्ध होकर भी ज्ञानी होते हैं। इनके आगे चौथे प्रकारके सुसिद्ध योगीका स्थान है। ये सर्वदा आत्मस्वरूपमें स्थित रहते हैं। ये कहीं भी रहें और किसी भी प्रकारका फल भोगें परन्तु सर्वदा निर्विकार ही रहते हैं। ये साक्षात् शिवतुल्य जीवन्मुक्त पुरुष हैं। एकमात्र इन्हींमें सब अध्वाओंकी सिद्धि हुई है। ये गुरुभावको लेकर साक्षात्‌रूपसे मनुष्योंका उद्धार नहीं करते, किन्तु परम्परासे विद्येश्वरोंके द्वारा करते हैं।

अब यहाँ ज्ञान और योगके पारस्परिक सम्बन्धकी आलोचना की जाती है। योगी योगबलसे तत्तत् तत्त्वकी सिद्धि करते हैं—यह ठीक है, परन्तु उसी बलसे वे उन तत्त्वोंमें शिष्यका योजन नहीं कर सकते। उसके लिये ज्ञानकी आवश्यकता है, क्योंकि निम्नवर्ती तत्त्वमें जो योगजनित सिद्धि होती है वह शिष्यको मुक्त करनेका उपाय नहीं है। ऊर्ध्ववर्ती सदाशिवादि तत्त्वोंमें योगीकी योगज सिद्धि नहीं होती। इन सब उत्तम पदोंमें उनको भावनामय विज्ञानका अभ्यास रहनेसे वे उसीके प्रभावसे उनमें शिष्यका योजन कर सकते हैं, सिद्धिके प्रभावसे नहीं। इसलिये दीक्षादि व्यापारोंमें ज्ञानीको ही श्रेष्ठ माना जाता है। इसीसे मालिनीतन्त्रमें भी अभ्यस्त ज्ञानवान् गुरुको ही मोक्षप्रद कहा गया है। भावनामय विज्ञानका अभ्यास रहना—यही गुरुका लक्षण है, योगित्व नहीं। परन्तु योगी भी गुरु हो सकते हैं। शिष्यके अधिकारके अनुसार ज्ञानी या योगी गुरु होते हैं। जो शिष्य मोक्षज्ञानकी इच्छा करता है उनका गुरु अभ्यस्त ज्ञानवान् होना चाहिये, और जो भोग, मोक्ष एवं विज्ञानकी इच्छा करता है उसका गुरु अभ्यस्त ज्ञानवान् ही नहीं, योगसिद्ध भी होना चाहिये। यही 'सिद्ध' योगी है। जो केवल विज्ञान और मोक्ष चाहते हैं उनके लिये केवल ज्ञानी गुरु ही पर्याप्त है। केवल भोगाश देनेमें तो मितयोगी भी समर्थ है। जो योगकी द्वितीय या घटमान अवस्थाको पार कर सिद्ध या तृतीय अवस्थातक नहीं पहुँचा वह 'मितयोगी' कहा जाता है। ऐसे भोगार्थी मनुष्यके लिये अभ्यस्त ज्ञानी या अमितयोगीकी अपेक्षा नहीं है। जो योगी संप्राप्त या घटमान अवस्थामें वर्तमान है और जो मोक्ष तो दूर भोगमात्र देनेमें भी समर्थ नहीं है, केवल उपायका ही उपदेश कर सकता है वह गुरुपदपर बैठनेके योग्य नहीं है। उससे मितज्ञानी गुरु श्रेष्ठ है, क्योंकि वह ज्ञानके उपायका उपदेश देकर क्रमशः मुक्त कर सकता है। शिष्य यदि पूर्ण ज्ञानार्थी हो और उसका गुरु अपूर्ण ज्ञानवान् हो तब विभिन्न अपूर्ण ज्ञानवान् गुरुओंसे अंशक्रमसे ज्ञान लेकर अपने आत्मामें अखण्डमण्डलाकार पूर्णज्ञानका आविर्भाव करना पड़ता है। एक अपूर्ण ज्ञानीसे पूर्ण ज्ञानकी प्राप्ति नहीं हो सकती, इसीसे अपने ज्ञानकी पूर्तिके लिये अनेकों अपूर्ण गुरुओंकी आवश्यकता होती है। तीव्र शक्तिपात रहनेपर आरम्भमें ही पूर्ण ज्ञानसम्पन्न आदर्श गुरुकी प्राप्ति होती है, जिनकी कृपासे अनायास ही स्वात्मामें पूर्ण विज्ञानका उदय हो जाता है।

गुरुका माहात्म्य

ये आदर्श गुरु परमेश्वरके साथ अभेदबोधमय होते हैं। उनके दर्शन, स्पर्शन, स्मरण और सम्भाषणसे भी देहपातके अनन्तर शिवव्याप्ति हो जाती है और अधःपतनसे तो सभी समय रक्षा होती रहती है। उनके करण व्यापिनी और समना होनेके कारण ही उनके सङ्गकी इतनी महिमा है। अनुत्तर शक्तिपातके कारण जीव इस प्रकारके गुरुसे शिवयोगको प्राप्त होनेपर स्वयं ही परमपदमें स्थित हो जाता है। ऐसे गुरुकी कृपासे ब्रह्महत्यादि महान् अपराधोंका भी क्षालन हो जाता है। वस्तुतः जीवको अनुगृहीत करनेके लिये परमेश्वर स्वयं ही गुरुदेवको आश्रय करके पशुओंके पाशका छेदन करते हैं। इसलिये सर्वफलदाता

श्रीगुरुदेवमें मनुष्यभावना नहीं करनी चाहिये। अनन्तादि विद्येश्वरगण भी गुरुमन्त्र तथा परमेश्वरमें भेदज्ञान नहीं करते। इसलिये उनसे अनुगृहीत मनुष्योंको भी इनमें भेद-दृष्टि नहीं करनी चाहिये। शिष्योंके तथा अपने विभिन्न कुलोंका संसारसे उद्धार करना ही गुरुओंका स्वभाव होता है।

गुरुपरम्परा

तन्त्रमतमें परमेश्वर अथवा परशिव गुरुपरम्पराके मूल या आदि हैं। परमेश्वर स्वयं ही एक भूमिका ग्रहण करके गुरु होते हैं और दूसरी भूमिका ग्रहण करके स्वयं ही अपने शिष्य होते हैं। उनका गुरुरूप ही सदाशिवरूप है और शिष्यरूप ईश्वररूप है। वस्तुतः ये दोनों ही रूप शिवके अपने ही स्वरूप हैं। तत्त्वज्ञानके उपदेशके लिये ही ऐसा करनेकी आवश्यकता होती है। यह तन्त्र परम महापश्यन्तीरूपा वाक्शक्तिसे ग्रथित वाक्समूह है। ईश्वर अर्थात् परमात्मा (अनाश्रित या अपर शिव) साढ़े तीन करोड़ यन्त्रोंके अधिपति हैं और पञ्च-मन्त्रात्मक हैं। ये जो महाज्ञान परमशिवसे पाते हैं उसका स्वरूप दृष्ट नहीं है, क्योंकि वह परद्रष्टासे अभिन्न है। यह ध्वनिरूप अर्थात् नादविमर्शमय है तथा अप्रमेय और विश्व-व्यापक है। यह अकारादि कलाओंसे ग्रस्त नहीं है। ईश्वर उस महाज्ञानको अनुग्रहपात्र जीवोंके आशयके अनुसार पृथक् पृथक् अनन्त ग्रन्थोंके रूपमें ग्रथित करते हैं। जिन्हें साक्षात् ईश्वरसे वह ज्ञान प्राप्त हुआ है उनके नाम ये हैं— (१) आठ वर्गोंमें विभक्त परा मातृकामण्डल, (२) सम्पूर्ण मन्त्रगण और (३) अनन्तादि मन्त्रेश्वर। ये तीनों मायाके ऊपर हैं, और गुणतत्त्वमें रहनेवाले श्रीकण्ठ[1] मण्डलीप्रभृति आठ कञ्चुकवासी रुद्रगण अनन्तके शिष्य हैं। कैलासवासी तन्त्रप्रवक्ता उमानाथ शङ्कर भी श्रीकण्ठके शिष्य हैं। इन्हें भी श्रीकण्ठसे ही दीक्षा तथा अभिषेक प्राप्त हुए हैं। उमापति शङ्करसे स्वयं उमाजीको विश्वपर अनुग्रह करनेका अधिकार प्राप्त हुआ है। उमाके शिष्योंमें दिव्य, मिश्र एवं अदिव्य तीन प्रकारके गण हैं। दिव्य गणोंमें स्कन्द, रुद्र, ब्रह्मा, विष्णु एवं इन्द्रादि देवगण हैं। इन्हें दीक्षा तथा अभिषेक दोनों ही प्राप्त हुए हैं। मिश्रगणोंमें प्रधानतया ऋषिगण हैं तथा अदिव्य गणोंमें मनुष्य हैं।

(११)

उपसंहार

दीक्षातत्त्वकी आलोचना करते-करते बहुत विस्तार हो गया है, अतः अब इस विषयमें और अधिक न कहकर यहीं इस प्रसङ्गका उपसंहार करना उचित जान पड़ता है। तन्त्रशास्त्र प्रमेयबहुल और जटिल है। उपासना और ज्ञान-काण्डके प्रत्येक विषयका इस विशाल साहित्यमें सूक्ष्मरूपसे वर्णन हुआ है। तदनुसार दीक्षातत्त्वका आलोचन भी शिष्य-के अधिकारभेद तथा क्रिया एवं ज्ञानादि उपायोंके भेदसे और देशकालादिके सम्बन्धोंसे विभिन्न प्रकारसे हुआ है। इन सब विषयोंका संग्रह करना इस लेखका उद्देश्य नहीं है। यह तो इस गम्भीर विषयकी एक विश्लेषणात्मक भूमिकामात्र है। बहुत-सी त्रुटियाँ रहनेपर भी इससे तत्त्वकी आलोचना करनेमें जिज्ञासुको सहायता मिलेगी—ऐसी आशा है। जिन्हें इस विषयका विशेष ज्ञान प्राप्त करना हो उन्हें सद्गुरुके उपदेशके अनुसार अनुभवमार्गमें आरूढ़ होकर स्वयं मूल ग्रन्थोंका अनुशीलन करना चाहिये। (समाप्त)

काल करे सो आज कर !

जो काम कल करना है उसे आज ही, और जो तीसरे पहर करना है उसे अभी कर डालो। मौत यह नहीं सोचेगी कि तुम्हारा काम पूरा हुआ या नहीं। वह अचानक आक्रमण करेगी। जब मौत निश्चित है और कब आ जायगी इसका पता नहीं, तब एक क्षणका भी समय नष्ट क्यों किया जाय? दुराचारी और नास्तिक मनुष्योंका सङ्ग छोड़कर सावधानी, दृढ़ निश्चय और स्थिर चित्तसे भगवान्‌की खोजमें अभी लग जाओ और मरनेसे पहले-पहले ही उन्हें प्राप्त कर लो।

(भगवान् व्यासदेव)

१. श्रीकण्ठ ईश्वररूपी शिवके साक्षात् शिष्य होनेके कारण ही ये गुण-तत्त्ववासी होनेपर भी अपनेसे ऊपर रहनेवाले क्रोधादि आठ पुरुषोंको और आधारतत्त्वगत शतरुद्रपर्यन्त रुद्रोंको दीक्षासे अनुगृहीत करते हैं। पुंस्तत्त्वके अधिष्ठाता रुद्रगण बन्धनके हेतु हैं, इसलिये उनमें इस परम दुर्लभ ज्ञानशक्तिका सञ्चार नहीं किया जाता। दीक्षाके बिना ज्ञानका ग्रहण नहीं हो सकता और अभिषेकके बिना ज्ञानका दान नहीं हो सकता।

परम प्रेमस्वरूप गोपीजनवल्लभ भगवान् श्रीकृष्ण

(लेखक—श्रीभीमेश्वर कोटेश्वर भट्ट एम्० ए०)

कृषिर्भूवाचकः शब्दो 'ण'श्च निर्वृतिवाचकः ।
तयोरैक्यं परं ब्रह्म 'कृष्ण' इत्यभिधीयते ॥

'कृष्' शब्द सत्तावाचक है और 'ण' आनन्द-वाचक । इन सत् (चित्) और आनन्दका ऐक्य 'कृष्ण' परब्रह्म है । सच्चिदानन्दात्मक ब्रह्ममें सर्ववेदान्त-ग्रन्थोंका पर्यवसान है । वस्तुमात्र सत्-चित्-आनन्दरूप है । जड पदार्थोंमें केवल 'सत्' आविर्भूत है तथा चेतन पदार्थोंमें 'सत्, चित्' आविर्भूत है और आनन्द तिरोहित । वास्तवमें सारा चराचरात्मक विश्व श्रीकृष्णचन्द्र-का अंशमात्र है—

विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥
(गीता १० । ४२)

'सत्' ब्रह्म त्रिकालाबाधित स्वसंवेद्य आनन्दघन है । सत्तत्त्वका चिद्रूपसे आविष्कार निजानन्दकी अपरोक्षानु-भूतिके लिये है । यह आनन्द इन्द्रियजन्य वासना नहीं है, हृदयकी गूढ़ पिपासा है । सत्-चित्-आनन्द श्रीकृष्ण जगत्के कारणभूत, आनन्दघन अखण्डरसपरिपूर्ण रसेश्वर हैं । परब्रह्म श्रीकृष्ण आनन्दमय हैं, रसस्वरूप हैं—इस विषयमें अनेक प्रमाण हैं—

'रसो वै सः, रसꣳ ह्येवायं लब्ध्वा आनन्दीभवति ।'
'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन ॥'
'क एवान्यात् कः प्राण्याद् यद्येष आकाश आनन्दो न स्यात् ।'

'यो वै भूमा तत् सुखं न हि अल्पे सुखमस्ति ।'
'आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, आनन्देन जातानि जीवन्ति, आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति ।'
'लोकवत् तु लीलाकैवल्यम् ।' (ब्रह्मसूत्र) इत्यादि ।

भगवती श्रुति प्रतिपादन करती है कि समस्त विश्व ब्रह्मकी आत्मरति, आत्मक्रीडा, आत्ममिथुन है, निजलीला है, निज रसास्वादन है । ब्रह्मरूपसे, परमात्मरूपसे और भगवान् शब्दसे एक ही पुरुषोत्तमका बोध होता है । जैमिनीय पूर्वकाण्डमें भगवान् यज्ञरूप हैं, उत्तरकाण्डमें ब्रह्म हैं और श्रीभागवतमें अवतारी श्रीकृष्ण हैं । पूर्व-मीमांसामें क्रियाविशिष्ट यज्ञपुरुष वर्णित है, उत्तर-मीमांसामें ज्ञानशक्तिमान् ब्रह्मस्वरूप श्रीकृष्ण वर्णित हैं । ज्ञान और क्रियाविशिष्ट श्रीकृष्णकी लीलाका वर्णन श्रीमद्-भागवतमें प्रतिपादित है ।

परब्रह्म श्रीकृष्णके चिदंश जीवमें भगवान्का आनन्दांश तिरोहित है । इसलिये समस्त जीवन उस तिरोहित आनन्दकी खोजमें लगा हुआ है । अपूर्ण जीवोंमें आनन्द-का अशुद्ध इन्द्रियोंद्वारा प्राकट्य होनेसे वह वासनाका स्वरूप पकड़ता है । वासना रजोगुणात्मक और तमो-गुणात्मक है । यह वासना-भोगलिप्सा-तृष्णा परमानन्द-का विकार है । इसलिये भोगतृप्ति होनेपर भी उसकी शान्ति नहीं होती और जीव अन्यान्य तृष्णाओंके पीछे दौड़ता है । जीवकी यह पिपासा बता रही है कि जीवनका आदि कारण कोई लोकवेदातीत परम प्रेमस्वरूप आनन्दैकरसतत्त्व है । वह परात्परतत्त्व ही वेदान्त-वाक्योंद्वारा प्रतिपादित परमानन्दतत्त्व है । सुखके, रसके, परम प्रेमके इस परम धामको हम श्रीकृष्ण परमात्मा कहते हैं । इस परमधामसे च्युत होकर हम अपने आनन्दस्वरूपको भूल गये हैं । यह विस्मरण ही हमारी भिन्नताका, अज्ञानका तथा दुःख और कलहका कारण है । संतों तथा ऋषि-मुनियोंने इन्द्रिय और मनकी पूर्ण उपशमवृत्तिसे उपर्युक्त विस्मरणका भेद पाया है । बिना उद्देश्य कोई भी किसी काममें प्रवृत्त नहीं होता । आनन्द मनुष्यमात्रके जीवनका सामान्य हेतु है । उसकी प्राप्तिके लिये मनुष्य ही नहीं, खग-मृगादि भी लालायित

रहते हैं। बीजमें वृक्षके समान सम्पूर्ण विश्व परमानन्द-स्वरूप श्रीकृष्णमें अन्तर्हित था। वहींसे भगवान्‌के निजानन्दका रसास्वाद करनेके लिये इसका आविर्भाव हुआ है। यह स्मृति बाह्य चेतनाके कारण हममें लुप्त हो गयी है, किन्तु हृदयमन्दिरमें सतत अखण्डित रूपसे विद्यमान है। जीवनमें ऐहिक सुखकी लालसा वस्तुतः इस परमानन्दकी ही खोज है। शोककी बात है कि हम इस विषयका ज्ञान नहीं रखते। धनकी इच्छावाला पुरुष तरह-तरहके भोग-विलासोंमें पड़कर भी तृप्ति नहीं पाता और बार-बार उपभोगोंके सञ्चयमें ही लगा रहता है। वह इस विपरीत भावनासे कि—मर्त्य प्राणीके लिये विलासिता ही मनुष्य-जीवनकी पराकाष्ठा है, वञ्चित होकर मायाकी भूलभुलैयामें फँस जाता है।

यह आत्मवञ्चना चिरस्थायिनी या आत्यन्तिकी नहीं है। इस परिस्थितिमें हृदय यह साक्षी देता है कि कुछ न्यूनता, कुछ अज्ञात अवश्य है। वह जिस अखण्ड अनन्त सनातन परम आनन्दमयी स्थितिको चाहता है वह तो यह नहीं है। वह जिज्ञासा कर रहा है कि मुझको अबाधित शाश्वत सुख प्राप्त कैसे हो? किन्तु खेद है कि अज्ञानके कारण उसे उसका पता नहीं लग सकता। बेचारा मनुष्य सत्य सुखके रहस्यसे अनभिज्ञ ही रहता है। वह आनन्द ऐसा पूर्ण, अनन्त और शाश्वत है कि हृदयसे निकलकर ज्ञानवाहिनी नाड़ियोंद्वारा सारे विश्वमें फैलकर उसे आनन्दमय बना देता है। परन्तु यह अनन्त सुख भौतिक विषयोंमें नहीं है। जड पदार्थ तो सब-के-सब स्वरूपसे विकारी ही हैं। वे मनुष्यको अखण्ड और निर्विकार सुख नहीं दे सकते। वह निर्विकार सुख जो रसकी अविच्छिन्नताके कारण आनन्द कहलाता है, प्राकृत सुखसे भिन्न प्रकार-का है। वैज्ञानिक (Scientists) समझते हैं कि अखण्ड सुखकी भावना कोरा इन्द्रजाल ही है; किन्तु यह उनका भ्रम ही है। विज्ञानने निःसन्देह बहुतसे असाधारण काम किये हैं; किन्तु वस्तुतः जीवनकी विविध प्रकारकी सुविधाएँ पैदा करके उसने मनुष्यको असन्तोषी और दुखी ही बनाया है। इस अल्प जीवनमें अनन्त सुखस्वरूप चरम लक्ष्यकी प्राप्ति करानेमें तो वह कण्टक-सा हो गया है। वे भौतिक पदार्थ वास्तविक और अपरिच्छिन्न सुख कदापि नहीं दे सकते। यह सतत सुखका झरना तो हृदयपद्मकी कर्णिकासे निकलकर पिण्ड और ब्रह्माण्डमें सर्वत्र अबाधित गतिसे प्रवाहित हो रहा है। परन्तु तृष्णाके बादलोंसे आच्छादित मन इस सुखके समुद्रकी झाँकी नहीं कर सकता। यह तिरोहित परमानन्दसिन्धु ही श्रीकृष्ण है। जिस समय इसकी प्रत्यक्ष उपलब्धि नहीं होती उस समय भी हृदय-में इसकी अभिलाषा तो निरन्तर जाग्रत् रहती ही है। इस प्रकार जो चराचर विश्वको अविच्छिन्नरूपसे अपनी ओर आकर्षित करते रहते हैं वे पूर्ण प्रेमस्वरूप परमा-नन्दमूर्ति परमात्मा ही श्रीकृष्ण हैं।

एक समय हमारा निवास श्रीकृष्णमें था। हम सृष्टि-के अव्यक्त परमाणुरूपसे श्रीकृष्णके हृदयाकाशमें उनकी इच्छाशक्तिके अंदर सुषुप्त्यवस्थामें विद्यमान थे। फिर उनकी इच्छासे उन्हींकी लीलाके लिये उन परमाणुओंका हृदयाकाशसे महाकाशमें प्रादुर्भाव हुआ। उन्हींसे अहंकारादि क्रमसे यह पञ्चभूतात्मक विराट् विश्व उत्पन्न हुआ। किन्तु ब्रह्माण्डके हरेक परमाणुको अपने मूलभूत आनन्दमय स्थानका परोक्ष या अपरोक्ष भान है। एक समय परमाणु पूर्णानन्दमें मग्न था। उसे उस अद्वितीय अमृतका रसास्वाद मिला था। वह पूर्ण प्रेमकी स्मृति ही सब प्रकारके असन्तोष, अतृप्ति, यत्न, महत्त्वाकाङ्क्षा और सिद्धिकी कारण है। यही सारे तत्त्वज्ञान और ब्रह्म-विचारकी तथा मनुष्यत्वसे देवत्वकी ओर अग्रसर होने-की भी हेतु है। हम परमानन्दस्वरूप रसेश्वर श्रीकृष्णसे ही आये हैं और उन्हीं अखण्ड सच्चिदानन्द श्रीकृष्णकी

ओर जा रहे हैं। हमारे सारे शुभाशुभ कर्म उस नित्य अभीष्ट प्रेमस्वरूप श्रीकृष्णके प्रति होती हुई हमारी यात्राकी मन्द-मन्द पदपंक्तियाँ हैं। दुर्भाग्यसे हम इस प्रेमधामसे बिछुड़ गये हैं; और अब ज्ञात या अज्ञातरूपसे निरन्तर उसीके लिये छटपटा रहे हैं।

प्रत्येक जीव परब्रह्मकी परा प्रकृतिका किरण है और जड पदार्थ अपरा प्रकृतिका।

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥

(गीता ७। ५)

समस्त चराचरात्मक विश्व श्रीकृष्णकी परा और अपरा प्रकृति है। और वह प्रभुके निजानन्दके लिये ही प्रवृत्त हुई है।

'यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी।'

(गीता १५। ४)

इस विवेचनसे भगवान् श्रीकृष्णका रसेश्वरस्वरूप पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है। पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण ही पुरुष हैं; उनकी स्वात्मशक्ति जीवभूता चेतन प्रकृति ही पुरुषोत्तमकी पत्नी है। जीव गोपी है, यह परा प्रकृतिरूप जीव अपने प्रियतम सच्चिदानन्द श्रीकृष्णको हृदयसे आलिंगन करना चाहता है। इस प्रकार समष्टि ईश्वरका समष्टि परा और अपरा प्रकृतिसे यह इन्द्रियातीत अखण्ड रास होता रहता है। जो बात ब्रह्माण्डके लिये सत्य है वही पिण्डके लिये भी है। गोपीरूप जीवका हृदय वृन्दावन है। उसमें सुषुम्नारूप सूक्ष्म यमुना आनन्दमयी कल्लोलके द्वारा नृत्य करती रहती है। इस प्रकार आत्मस्वरूप रसेश्वर श्रीकृष्ण ज्ञानतन्तुरूप कुञ्जोंमें मानसिक भावनारूप गोपियोंके साथ अनन्त रासक्रीडा कर रहे हैं।

प्रियवर! आप कोई भी हों, मैं आपको प्रियवर कहूँगा, क्योंकि आप मेरे प्रियतम श्रीकृष्णके प्यारे हैं। चलिये! नरसारथि नारायणका आश्रय लें, देहात्मभावरूप मोहको दूरकर अर्जुनके समान आत्मस्मृतिको—परमानन्दमूर्ति श्रीकृष्णकी स्मृतिको प्राप्त करें। 'नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।' बस, अर्जुनकी तरह हमारे भी संसारके रहस्यविषयक सब सन्देह दूर हो जायँगे और अपने प्राणनाथ श्रीकृष्णकी आज्ञाका पालन करते हुए हम जन्म-मरणके चक्रसे मुक्त हो आत्मस्वरूपमें स्थित होंगे।

स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव॥

(गीता १८। ७३)

नमो भगवते तस्मै कृष्णायाद्भुतकर्मणे।
नामरूपविभेदेन जगत् क्रीडति यो यतः॥

ब्रह्महत्याका पाप किन-किनको लगता है?

'ब्राह्मणको न मारनेपर भी ब्रह्महत्याका पाप कौन-कौनसे कर्मोंसे लगता है?' पितामह भीष्मके इस प्रश्नका उत्तर देते हुए भगवान् व्यासदेवने कहा—

'जो मनुष्य किसी गुण-सम्पन्न ब्राह्मणको कुछ देनेके लिये बुलाकर उसे खाली हाथ लौटा देता है, जो विद्वान् ब्राह्मणकी जीविका नष्ट करता है। जो प्यासे गाय-बैलोंको पानी पीनेसे रोकता है, जो बिना सोचे-समझे ही वेदों और ऋषि-महर्षियोंके रचे हुए शास्त्रोंकी निन्दा करता है, जो जान-बूझकर अपनी कन्याका विवाह योग्य वरसे नहीं करता, जो विना कारण ही ब्राह्मणोंके हृदयमें चोट पहुँचाता है, जो अन्धे, गूँगे, लूले-लँगड़े और अनाथ-असहाय नर-नारियोंका सर्वस्व छीन लेता है और जो वन, आश्रम, नगर, गाँव आदिमें आग लगा देता है। इनमेंसे किसी एक भी कर्मके करनेवाले मन्दमति मनुष्यको ब्रह्महत्याका पाप लगता है।' (महाभारत अनुशासनपर्व)

संतोंके जीवनसे—

(संकलित)

(१)

मनका पाप

एक संत थे। विचित्र जीवन था उनका। वे हरेकसे अपनेको अधम समझते, और हरेकको अपनेसे उत्तम। घूमते-फिरते एक दिन वे नदीके तीरपर जा पहुँचे। सुनसान एकान्त स्थान था; परम रमणीय। उन्होंने दूरसे देखा—नदीके तटपर स्वच्छ सुकोमल बालूपर एक प्रौढ़ उम्रका मनुष्य बैठा है, बहुत उल्लास-में है वह। पास ही पन्द्रह-सोलह सालकी एक सुन्दरी युवती बैठी है। उसके हाथमें काँचका एक गिलास है। गिलासमें जल-जैसा कोई द्रव पदार्थ है। दोनों हँस-हँसकर बातें कर रहे हैं—बेधड़क। इस दृश्यको देखकर संत मन-ही-मन सोचने लगे—'इस प्रकार निर्जन स्थानमें परस्पर हँसी-मजाक करनेवाले ये स्त्री-पुरुष जरूर कोई पाप-चर्चा ही करते होंगे, और गिलासमें जरूर शराब होगी। व्यभिचार और शराबका तो चोली-दामनका सम्बन्ध है। तो क्या मैं इनसे भी अधम हूँ? मैं तो कभी किसी स्त्रीसे एकान्तमें नहीं मिलता। न मैंने कभी शराब ही पी है!'

संत इस तरह विचार कर ही रहे थे कि उन्हें नदीकी भीषण तरंगोंके थपेड़ोंसे घायल एक छोटी-सी नाव डूबती दिखलायी दी। नाव उलट चुकी थी। यात्री पानीमें इधर-उधर हाथ मार रहे थे, सबकी जान खतरेमें थी। संत हाय! हाय! पुकार उठे। इसी बीचमें बिजलीकी तरह वह मनुष्य दौड़कर नदीमें कूद पड़ा और बड़ी बहादुरीके साथ बात-की-बातमें नौ मनुष्योंको बचाकर निकाल लाया! इतनेमें संत भी उसके पास जा पहुँचे। इस तरह—अपने प्राणोंकी परवा न कर दूसरोंके प्राण बचानेके लिये मौतके मुँहमें कूद पड़ना और सफलताके साथ बाहर निकल आना—देखकर संतका मन बहुत कुछ बदल गया था। वे दुविधामें पड़े उसके मुखकी ओर चकित-से होकर ताक रहे थे। उसने मुसकुराकर कहा—'महात्माजी! भगवान्‌ने इस नाचीजको निमित्त बनाकर नौ प्राणियों-को तो बचा लिया है, एक अभी रह गया है, उसे आप बचाइये।' संत तैरना नहीं जानते थे, उनकी कूदनेकी हिम्मत नहीं हुई। कोई जवाब भी नहीं बन आया! तब उसने कहा—'महात्माजी! अपनेको नीचा और दूसरोंको ऊँचा माननेका आपका भाव तो बहुत ही सुन्दर है, परन्तु असलमें अभीतक दूसरोंको ऊँचा देखनेका यथार्थ भाव आपमें पैदा नहीं हो पाया है। नीचा देखकर ऊँचा मानना—अपनेमें यह अभिमान उत्पन्न करता है कि मैं अपनेसे नीचोंको भी ऊँचा मानता हूँ। जिस दिन आप दूसरोंको वस्तुतः ऊँचा देख पावेंगे, उसी दिन आप यथार्थमें ऊँचा मान भी सकेंगे। भगवान् यदि मूर्खके रूपमें आपके सामने आवें और आप उन्हें पहचान लें तो, फिर मूर्खका-सा बर्ताव देखकर भी क्या आप उनको मूर्ख ही मानेंगे? जो साधक सबमें श्रीभगवान्‌को पहचानता है, वह किसीको अपनेसे नीचा नहीं मान सकता। दूसरी एक बात यह है, कि अभीतक आपके मनसे पूर्वके अनुभव किये हुए पाप-संस्कारोंका पूर्णतया नाश नहीं हुआ है। अपने ही मनके दोष दूसरोंपर आरोपित होते हैं। व्यभिचारीको सारा जगत् व्यभिचारी और चोरको सब चोर दीखते हैं। आपने अपनी भावनासे ही हमलोगों-पर दोषकी कल्पना कर ली। देखिये—यह जो लड़की बैठी है—मेरी बेटी है। इसके हाथमें जो गिलास है, वह इसी नदीके निर्मल जलसे भरा है। यह बहुत

दिनों बाद आज ही ससुरालसे लौटकर आयी है। इसका मन देखकर हमलोग नदी-किनारे आ गये थे। बहुत दिनों बाद मिलनेके कारण दोनोंके मनमें बड़ा आनन्द था, इसीसे हमलोग हँसते हुए बातें कर रहे थे। फिर बाप-बेटीमें संकोच भी कैसा ? असलमें मैं तो भगवान्‌की प्रेरणासे आपके भावकी परीक्षाके लिये ही यहाँ आया था।'

उसकी ये बातें सुनकर संतका बचा-खुचा अभिमान और पापके सारे संस्कार नष्ट हो गये। संतने समझा—'मेरे प्रभुने ही दया करके इनके द्वारा मुझको यह उपदेश दिलवाया है।' संत उसके चरणोंपर गिर पड़े। इतनेमें वह डूबा हुआ एक आदमी भी भगवान्‌की कृपा-शक्तिसे नदीमेंसे निकल आया।

तबसे संतको किसीमें भी दोष नहीं दीखते थे। वे किसीको भी अपनेसे नीचा नहीं मानने और किसीसे भी अपनेको ऊँचा नहीं देखते थे।

(२)

मिट्टीसे खेल

एक योगभ्रष्ट संत मरकर फिर पैदा हुए, परन्तु उन्हें पूर्वजन्मकी याद थी, इसलिये वे अपने मनको लड़कपनसे ही भगवान्‌की ओर लगाये हुए थे। एक दिन वे अपनी मौजमें मिट्टीसे खेल रहे थे। राजाकी सवारी उधरसे निकली। राजाने अकेले ही मिट्टीसे खेलते हुए लड़केसे पूछा—'तू मिट्टीसे क्यों खेल रहा है ?' बालक संतने उत्तर दिया—'शरीर मिट्टीसे ही बना है, मिट्टीमें ही मिल जायगा, इसलिये मिट्टीसे ही खेल रहा हूँ।' राजा उसकी बात सुनकर प्रसन्न हो गया। राजाने कहा—'तू मेरे साथ रहेगा ?' बालकने कहा, 'जरूर रहूँगा, परन्तु मेरी चार शर्तें हैं—मैं सोऊँ, तू सदा जागकर मेरी रक्षा कर; मैं खाऊँ, तू कुछ भी न खा; मैं पहनूँ, तू कुछ भी न पहन और मैं जहाँ जाऊँ, वहीं सदा मेरे साथ रह।' राजाने कहा—'तेरी शर्तें तो असम्भव हैं। मैं तुझे साथ भी रख सकता हूँ, तेरे सोनेपर रक्षाका प्रबन्ध भी कर सकता हूँ। मैं जो कुछ खाऊँ तुझे वही खिला सकता हूँ और जैसे गहने-कपड़े पहनूँ वैसे ही पहना सकता हूँ; परन्तु मैं कभी सोऊँ नहीं, या खाऊँ-पहनूँ नहीं, यह कैसे हो सकता है ?' इसपर संत बालकने कहा—'जब मेरी शर्तें ही पूरी नहीं कर सकते तब मुझे साथ क्या रक्खोगे ? मेरा स्वामी तो ऐसा है जो स्वयं सदा जागता है और सोते-जागते सदा मेरी रक्षा करता है। स्वयं कुछ भी खाता-पहनता नहीं और मुझे मनचाहा खिलाता-पहनाता है और मेरा साथ तो वह कभी छोड़ता ही नहीं। ऐसे प्रभुको छोड़कर तुम्हारे-जैसेके साथ रहनेके लिये मैं क्यों जाऊँ ?'

(३)

अमरफल

पिताने अपने नन्हें-से पुत्रको कुछ पैसे देकर बाजार भेजा, फल लानेके लिये। बच्चेने रास्तेमें देखा, कुछ लोग, जिनके बदनपर चिथड़े भी पूरे नहीं हैं, भूखके मारे छटपटा रहे हैं। उसने पैसे उनको दे दिये। उन्होंने उन पैसोंसे उसी समय उदरपूर्तिके लिये सामान खरीद लिया। बालकको इससे बड़ी खुशी हुई। वह मन-ही-मन फूलता हुआ खाली हाथ घर लौट आया। पिताने पूछा—'बेटा ! फल नहीं लाये ?' बालकने उत्तर दिया—'आपके लिये अमरफल लाया हूँ पिताजी !' पिताने पूछा—'वह कौन-सा ?' उसने कहा—'पिताजी ! मैंने देखा—कुछ अपने ही जैसे आदमियोंको भूखों मरते हुए, मुझसे रहा नहीं गया। मैंने वे सब पैसे उनको दे दिये। उनकी आजभरकी भूख मिट गयी ! हमलोग फल खाते, दो चार क्षणोंके लिये हमारे मुँह मीठे हो जाते; परन्तु इसका फल तो अमर है न पिताजी !' पिता भी बड़े धार्मिक थे। पुत्रकी बात सुनकर उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई !

यही बालक आगे चलकर संत रंगदास हुए !

काम करते हुए भगवत्-प्राप्तिकी साधना

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

काम करते हुए भी हम ईश्वरको सदा-सर्वदा याद रखते हुए अपना कल्याण किस प्रकार कर सकते हैं—इस सम्बन्धमें कुछ निवेदन किया जाता है। निश्चय ही सभी लोग कामको छोड़कर भजन-ध्यानमें नहीं लग सकते। वास्तवमें गीताके अनुसार कामको छोड़ देनेकी आवश्यकता भी नहीं है। लोग भूलसे ही यह धारणा कर लेते हैं कि गीता तो संन्यास ले लेनेका ही उपदेश देती है। किन्तु यह बात ठीक नहीं क्योंकि अर्जुन तो सब कुछ छोड़कर भीखके द्वारा अपना जीवन-निर्वाह करनेको तैयार ही हो गये थे। उन्होंने भगवान्से स्पष्ट कह दिया था कि—

गुरूनहत्वा हि महानुभावान्
श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव
भुञ्जीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान्॥
(गीता २ । ५)

'इन महानुभाव गुरुजनोंको न मारकर मैं इस लोकमें भिक्षाका अन्न भी खाना कल्याणकारक समझता हूँ। क्योंकि गुरुजनोंको मारकर भी इस लोकमें रुधिरसे सने हुए अर्थ और कामरूप भोगोंहीको तो भोगूँगा।'

किन्तु भगवान्ने उसे अपना स्मरण करते हुए ही स्वधर्मरूप युद्ध करनेकी आज्ञा दी।

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्॥
(गीता ८ । ७)

'इसलिये हे अर्जुन! तू सब समयमें निरन्तर मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर। इस प्रकार मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिसे युक्त होकर तू निस्सन्देह मुझको ही प्राप्त होगा।'

भगवान्के इस उपदेशके अनुसार जब भगवत्स्मृतिके रहते हुए युद्ध-जैसी क्रिया भी हो सकती है तो फिर हमलोगोंके साधारण कार्योंके होनेमें तो कठिनाई ही क्या है? गीता अध्याय १८ श्लोक ५६में तो सदा कर्म करते हुए भी भगवत्प्राप्ति होनेकी बात कही गयी है।

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥

'मेरे परायण हुआ कर्मयोगी तो सम्पूर्ण कर्मोंको सदा करता हुआ भी मेरी कृपासे सनातन अविनाशी परमपदको प्राप्त हो जाता है।'

अतः भगवान्की शरण होकर कर्म करने चाहिये। कई भाइयोंका कहना है कि काम करते हुए भजन करनेसे काम अच्छी तरह नहीं होता, और कामको अच्छी तरह करनेसे भजन निरन्तर नहीं होता। उनका यह कहना ठीक है। आरम्भमें ऐसी कठिनाई हो सकती है, किन्तु आगे चलकर अभ्यासके बढ़ जानेपर भगवत्कृपासे यह कठिनाई नहीं रहती। इसलिये काम करते समय हमें इसका अभ्यास डालना चाहिये। इस सम्बन्धमें नटनीका उदाहरण सामने रखा जा सकता है। नटनी बाँसपर चढ़ते समय ढोल भी बजाती रहती है और गायन भी करती रहती है। किन्तु इन सब क्रियाओंको करते हुए भी उसका ध्यान निरन्तर पैरोंकी तरफ़ ही रहता है। इसी प्रकार गाने-बजानेकी भाँति हमें सब काम करने चाहिये और उसके पैरोंके ध्यानकी तरह हमें परमात्मामें अपना मन रखना चाहिये।

जब हमलोग कोई भी काम करें, उस समय श्वास या वाणीके द्वारा भगवान्के नामका जप, और गुण तथा प्रभावके सहित उनके स्वरूपका ध्यान करते हुए ही

काम करनेका अभ्यास डालना चाहिये। काम करते समय यह भाव रहना चाहिये कि यह काम भगवान्का है, और उन्हींके आज्ञानुसार, मैं इसे उन्हींकी प्रसन्नताके लिये कर रहा हूँ। प्रभु मेरे पास खड़े हुए मेरे कामको देख रहे हैं—ऐसा समझकर सदा प्रसन्न रहना चाहिये।

इस प्रकार मनसे परमात्माका चिन्तन, और श्वास या वाणीसे उनके नामका जप करते हुए काम करनेका अभ्यास करनेसे परमात्माकी प्राप्ति सहज ही हो सकती है। ऐसा अभ्यास करनेसे आरम्भमें यदि काममें कमी भी आवे तो कोई हर्ज नहीं। वास्तवमें भजन-ध्यानमें कमी नहीं आनी चाहिये।

हमलोगोंको प्रातः-सायं दोनों समय नियमितरूपसे अपने-अपने अधिकारके अनुसार ईश्वरकी उपासना अवश्य ही करनी चाहिये। क्योंकि प्रातःकालकी उपासना करनेपर परमात्माकी कृपासे दिनभर उनकी स्मृति रह सकती है। स्मृतिको तैलधाराकी तरह अखण्ड बनाये रखनेके लिये हमें चलते-फिरते, उठते-बैठते, खाते-पीते तथा प्रत्येक कार्य करते हुए भगवान्को अपने साथ समझना चाहिये। मनमें सदा-सर्वदा यह निश्चय रखना चाहिये कि हम जो कुछ करते हैं उसे भगवान् ही करवाते हैं। गुरु जिस प्रकार बच्चेका हाथ पकड़कर उससे अक्षर लिखवाते हैं, उसी प्रकार परमात्मा हमें प्रेरित करके समस्त कार्योंका आचरण हमसे करवाते हैं। कठपुतली जिस प्रकार सूत्रधारके इशारेपर नाचती है उसी प्रकार हमें भगवान्के हाथमें अपनी बागडोर सम्हलाकर काम करना चाहिये। इस प्रकारके अभ्याससे हमें प्रत्यक्षमें शान्तिका अनुभव होने लगेगा और हमारे इस साधनसे परमात्मा विशेष प्रसन्न होंगे। इसी प्रकार सायङ्कालकी उपासना करनेपर भगवत्कृपासे रात्रिमें, और सोनेके समय भी भगवान्की स्मृति रह सकती है। उससे दुःस्वप्नोंका नाश होकर वृत्तियाँ सात्त्विक हो जाती हैं, और निरन्तर प्रसन्नता तथा शान्ति रहती है। इसलिये हमें अपने मस्तकपर प्रभुका हाथ समझकर सदा आनन्दित रहना चाहिये, और भोग, आराम, पाप, आलस्य तथा प्रमाद आदिको मृत्युके समान समझकर अपने जीवनके क्षणोंका उपयोग उत्तम-से-उत्तम कार्योंमें ही करना चाहिये। भगवान्के नामका जप और गुण, तथा प्रभावके सहित उनके स्वरूपका ध्यान करते हुए ही उनकी आज्ञाके अनुसार तत्परताके साथ काम करना चाहिये।

परन्तु इस कर्मयोगकी साधनामें निम्नलिखित बातें अत्यन्त बाधक हैं—क्रोध, वैमनस्य, ईर्ष्या, भय, मनोमालिन्य, द्वेष और घृणा आदि। इन विघ्नोंको मृत्युके समान समझते हुए इनका सर्वथा परित्याग कर देना ही उचित है। इनसे छुटकारा पानेका मुख्य उपाय है—ईश्वरकी शरण। इस शरणागतिका यदि पूर्णतया पालन कर लिया जाय तो उपर्युक्त विघ्नोंसे सहज ही मुक्ति प्राप्त की जा सकती है—इसमें तो सन्देह ही क्या है, किन्तु परेच्छा और अनिच्छासे जो कुछ भी प्राप्त हो उसे ईश्वरका भेजा हुआ पुरस्कार मानकर प्रसन्न होनेसे भी इन विघ्नोंसे छुटकारा हो सकता है। मनके प्रतिकूल जो कार्य होता है उसे दैवेच्छा यानी भगवदिच्छासे होनेवाला मान लें तो तुरन्त ऊपर लिखे विघ्न नष्ट हो सकते हैं। जब कोई कार्य हमारे मनके प्रतिकूल हो तो हमें समझना चाहिये कि इसमें निश्चय ही भगवान्का हाथ है। यह उनकी हमपर बड़ी भारी दया हो रही है कि वे सब कुछ जानते हुए भी आज हमारे हितके लिये हमारी परीक्षा ले रहे हैं। अब हमें सावधान रहना चाहिये कि कहीं हम उस परीक्षामें अनुत्तीर्ण न हो जायँ। इस प्रकार जो उस स्थलपर भी आनन्दका ही अनुभव करता है वही वास्तविक भक्त है। भगवान्के प्रत्येक विधानमें प्रसन्न रहना ही तो भक्तका परम कर्तव्य है।

अतएव भगवान्‌का भक्त बननेकी इच्छावालोंको चाहिये कि वे उनके प्रत्येक विधानमें प्रसन्न रहें। भगवान् हमें पापोंसे मुक्त करके विशुद्ध बनाने तथा सहनशील और धैर्यवान् होनेके लिये हमारे मनके प्रतिकूल पदार्थ भेजकर हमें चेतावनी दिया करते हैं। बाढ़, भूकम्प, महामारी और दुर्भिक्ष आदि अनिच्छासे होनेवाले अनिष्ट भगवान्‌के द्वारा ही भेजे हुए होते हैं। मनुष्यों तथा पशु-पक्षियों आदिद्वारा परेच्छासे जो अनिष्ट होते हैं, उनमें भी भगवान्‌की ही प्रेरणा समझनी चाहिये। यह समझकर हमें उन विपरीत परिस्थितियोंमें भी इतना आनन्द होना चाहिये जितना कि एक दरिद्र पुरुषको पारसके प्राप्त होनेपर भी नहीं होता।

निन्दा और अपमान हमको जिस दिन अच्छे मालूम होने लगेंगे, उस दिन समझना चाहिये कि हम भगवान्‌के सन्निकट पहुँच रहे हैं। वर्तमान स्थितिसे वह स्थिति बिल्कुल विपरीत होगी। जो मान और स्तुति आज हमको अमृतके समान मधुर लगते हैं, वे ही भगवत्-शरणापन्न होनेपर विषके समान लगने लगेंगे। जिस प्रकार स्तुति सुनकर हमारे हृदयमें प्रसन्नताकी लहर उठती है, उसी प्रकार जब निन्दा सुनकर भी हमारे हृदयकी वही स्थिति बनी रहेगी, हमारे हृदयमें स्तुति सुननेके समान ही प्रसन्नताकी लहर उठेगी, तब समझना चाहिये कि हम भगवान्‌के समीप आ गये हैं। आज पुष्पमाला पहनकर जिस हर्षका अनुभव हम करते हैं, ठीक उसी हर्षकी अनुभूति तब हमें जूतोंसे तिरस्कृत होनेपर भी होगी।

हमें चाहिये कि हम उन पुरुषोंको, जो हमारी निन्दा करते हैं, उसी भावसे देखें जिस भावसे हम अपनी प्रशंसा करनेवालेको देखते हैं। महात्मा कबीरदासजी तो यहाँतक कहते हैं कि निन्दक पुरुषको अपनी कुटिया देकर अपने पास बसाना चाहिये।

निन्दक नियरे राखिये, आँगन कुटी छवाय।
बिन पानी साबुन बिना, निरमल करै सुभाय॥

कहनेका तात्पर्य यह है कि जिस किसी भी प्रकारसे हो अपनी निन्दा करनेवालेको अधिक-से-अधिक अपने सम्पर्कमें रक्खा जाय, क्योंकि वह हमारे जिस कार्यकी निन्दा करेगा उसे सुधारनेकी चेष्टा हमारे द्वारा अवश्य ही होगी। मनुष्यको अपने दोष शीघ्र दिखलायी नहीं पड़ते, परन्तु किसीके द्वारा अपने दोषोंके लिये चेतावनी दिये जानेपर कल्याणकामी पुरुष उन्हें दूर करनेकी चेष्टा करता है। अतएव हमें प्रसन्नतापूर्वक अपनी निन्दा सुननेका स्वभाव बनाना चाहिये। ऐसा स्वभाव बनानेपर हमारे द्वारा होनेवाले निन्दनीय कार्योंका तथा निन्दा-श्रवणसे उत्पन्न होनेवाले हमारे अन्तःकरणके विकारोंका विनाश हो जायगा। इसी बातका स्पष्टीकरण करनेके लिये एक काल्पनिक उदाहरण दिया जाता है।

एक दूकानदार था। उसके हृदयमें किसीके प्रति जरा भी क्रोध, द्वेष या घृणाका भाव नहीं था। वह सभी कार्योंमें भगवत्प्रेरणाका ही अनुभव किया करता था। वह अपने-आपको प्रभुके चरणोंमें समर्पित कर चुका था। एक बार पासके एक दूकानदारने उसे इस प्रकार प्रत्येक विधानमें सन्तुष्ट और कभी क्रोध न करते हुए देखकर विचार किया कि आज चाहे जैसे हो उसको क्रोध दिलाना चाहिये। यह निश्चय करके वह उसकी दूकानपर गया और प्रत्येक बातमें उसके विपरीत बोलने लगा। उसने उसके प्रति न जाने कितनी कटूक्तियाँ—कितने अपशब्द कहे पर वह अपनी स्थितिसे तिलभर भी विचलित न हुआ। अन्तमें उसे किसी प्रकार भी क्रोध न करते देखकर उस दूकानदारको अपनी असफलतापर कुछ निराशा हुई किन्तु फिर भी उसने मन-ही-मन इस बातका दृढ़ संकल्प किया कि मैं इसे क्रोध दिलाकर ही विश्राम लूँगा। कुछ दिनों बाद मौका देखकर वह फिर उसके पास गया और कहने लगा—'आज मुझे अपने ससुराल जाना है। मैं चाहता हूँ कि तुम भी मेरे साथ चलो।' उस भक्तने उसके संतोषके लिये उसकी

बातको स्वीकार कर लिया और साथ जानेके लिये तैयार हो गया । जब वे दोनों चलने लगे तब उसने उस भक्तसे कहा कि इस समय मेरे पास कोई नौकर नहीं है और मेरी इस मिठाईकी हँडियाको ससुरालतक ले जाना जरूरी है । क्या तुम अपने सिरपर रखकर उसे वहाँतक ले चलोगे ? उस भक्तने सहर्ष उस हँडियाको अपने सिरपर रख लिया और वह उस दूकानदारके आगे-आगे चलने लगा । जब वे लोग एक ऐसे स्थानपर पहुँचे जहाँपर बड़ा भारी जनसमूह एकत्र था । उपयुक्त अवसर देखकर दूकानदारने पीछेसे अपनी छड़ीसे उस हँडियाको फोड़ दिया । हँडियाका फूटना था कि उसके भीतरका सारा कीचड़ और सारा मैला उस भक्तके बदनपर फैल गया । उस भक्तको इस दशामें देखकर सारा जनसमाज हँस पड़ा । वह दूकानदार भी भक्तके सामने खड़ा होकर खूब हँसने लगा । उन सबको हँसते देखकर वह भक्त भी खिल-खिलाकर हँसने लगा । तब उस दूकानदारने पूछा कि भाई ! मैं तो तुम्हारी इस दुरवस्थापर हँस रहा हूँ पर तुम्हारे हँसनेका क्या कारण है ? उस भक्तने कहा—'मैं अपने ऊपर भगवान्की महती अनुकम्पाका अनुभव करके हँस रहा हूँ । आपकी भी मुझपर कितनी दया है जो कि आप पद-पदपर मेरी सम्हाल रखते हैं । नहीं तो किसको क्या गरज पड़ी है कि वह बिना किसी स्वार्थके दूसरेका भला करे—उसकी पूरी सम्हाल रक्खे । अहो ! मैं आपका कहाँतक गुणगान करूँ, आप तो हमेशा ही मुझपर कृपा करके ऐसा कार्य करते रहते हैं जिससे मैं अक्रोधकी कसौटीपर खरा उतर सकूँ ।' इस बातको सुनते ही वह दुष्टात्मा दूकानदार पानी-पानी हो गया । उसकी कलुषित भावनाएँ एकदम विलुप्त हो गयीं । उसकी आँखें खुल गयीं । वह उस भक्त दूकानदारके चरणोंमें लोट गया और अपने अपराधोंके लिये क्षमा-प्रार्थना करने लगा । उस भक्तने उसे अपने हाथोंसे उठा लिया और कहा—'भाई, आप तो मेरे गुरु हैं । आपके द्वारा ही तो मैं अक्रोधका पाठ पढ़ सका हूँ । मेरे हितकी दृष्टिसे ही भगवान्ने आपके द्वारा यह कार्य करवाया है । आप चिन्ता न कीजिये । इस कार्यके करवानेमें भगवान्की इच्छा थी ।'

कहनेका अभिप्राय यह है कि सब कार्योंमें भगवदिच्छाका अनुभव करनेके कारण ही उस महात्माके मनमें स्वयं जनसमाजमें अपमानित किये जानेपर भी किञ्चित्मात्र भी विपरीत भाव उत्पन्न नहीं हुआ । अस्तु,

भगवान् अपने भक्तोंके सम्मुख उनके हितके लिये इस प्रकारकी प्रतिकूल परिस्थितियाँ पैदा करते रहते हैं । उन विपरीत विधानोंके प्राप्त होनेपर भी जो जरा भी उद्विग्न न होकर उसे भगवान्का भेजा हुआ पुरस्कार समझकर उसमें सदा सन्तुष्ट रहते हैं, वे ही सच्चे भक्त हैं । इसके विपरीत यदि हम उनके विधानमें आनन्द नहीं मनाते, उनकी प्रसन्नतामें प्रसन्न नहीं होते तो हम भगवान्के भक्त कहाँ ? इसलिये इन सब विपरीत विधानोंमें भी हमें हर्ष मानना चाहिये, क्योंकि ऐसा करनेसे हमारे पूर्वकृत पापोंका नाश होता है, आत्मबल और सहनशक्तिकी वृद्धि होती है और साथ-ही-साथ भगवत्स्मृति होकर शास्त्र-विपरीत कर्मोंका होना रुक जाता है, तथा शत्रु मित्र बन जाता है और विष अमृतके रूपमें परिणत हो जाता है ।

श्रीतुलसीदासजीने भी यही कहा है—

गरल सुधा सम अरि हित होई । तेहि मनि बिनु सुख पाव न कोई॥

इसकी चरितार्थता प्रह्लाद और मीरा आदिके जीवनमें प्रत्यक्ष देखी जाती है । मीराबाई भगवान्की अनन्य उपासिका थी । उसकी भक्तिसे चिढ़कर राणाने उसके प्राणोंका हनन करनेके लिये उसके पास विषका प्याला यह कहकर भेजा कि मीरा ! यह तेरे उपास्य-देवका चरणामृत है । कहना नहीं होगा कि भक्तिमती मीरा भगवान्का नाम लेकर उसे पी गयी । भगवान्के चरणामृतसे बढ़कर उत्तम वस्तु उसके लिये और हो ही क्या सकती थी ? भगवान् भी अपने भक्तोंका

अनिष्ट कैसे होने देते ? तुरन्त मीराका वह विष अमृत हो गया। यह दृश्य देखकर राणा अवाक् रह गया और मीराकी भक्तिके प्रभावसे प्रभावित होकर अन्तमें उसका भक्त बन गया। यह है ईश्वर-भक्तिका प्रताप !

इसलिये हमलोगोंको भी अपने मनके प्रतिकूल जो कुछ भी हो उसे भगवान्‌का विधान समझकर हर समय सन्तुष्ट रहना चाहिये क्योंकि उन प्रभुकी प्रेरणाके विना वृक्षका एक पत्ता भी नहीं हिल सकता। अतएव चाहे हमारा कोई कितना ही अनिष्ट क्यों न करे, हमें उसको भगवान्‌की ही प्रेरणा जानकर उससे प्रेम ही करना चाहिये—उसके प्रति आदर-बुद्धि ही रखनी चाहिये। यह भी ईश्वर-शरणागतिका तत्त्व है। अपनेसे प्रेम करनेवालेके साथ तो पशु भी प्रेम करते हैं। कुत्ते, गधे आदि सभी इसके प्रमाण हैं। देखा जाता है कि एक जब दूसरेसे प्रेम करता है तो दूसरा भी उससे प्रेम करता है। जब एक कुत्ता दूसरेको चाटता है तो दूसरा भी उसको चाटता है। इसी प्रकार वैरके विषयमें भी समझ लेना चाहिये। यदि हमलोग भी अपनेसे प्रेम करनेवालेके साथ प्रेम और अपनेसे द्वेष रखनेवालेके साथ द्वेष करें तो फिर हममें और पशुओंमें अन्तर ही क्या है ? हमें तो अपनेसे वैर करनेवालेके साथ भी अधिक-से-अधिक प्रेम करना चाहिये। ऐसा करनेसे ही हमारा वास्तविक मनुष्यत्व सिद्ध होगा।

इस विषयमें हमारे सामने मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने प्रेमके व्यवहारका जो आदर्श रक्खा है वह कितना उच्च है ? निरपराधी रामको कैकेयी दशरथ-जीकी इच्छा न रहते हुए भी चौदह वर्षके लिये वनमें भेज रही है। भगवान् राम उसकी आज्ञाको शिरोधार्य करके सहर्ष वन जानेको तैयार हैं। कैकेयीके बाणके समान मर्मवेधी वचनोंका उत्तर भगवान् कितनी नम्रता और मधुरताके साथ देते हैं। वे कहते हैं—'माता ! वनमें जानेसे मुनियोंके दर्शनोंका सौभाग्य प्राप्त होगा। वन जानेमें पिताजीकी आज्ञा और आपकी भी सम्मति है। मेरे वन जानेसे भाई भरतको राज्य मिलेगा। इससे बढ़कर मेरे लिये सौभाग्यकी और बात ही क्या हो सकती है ?' श्रीतुलसीदासजीने अयोध्याकाण्डमें कहा है—

मुनिगन मिलनु बिसेषि बन सबहि भाँति हित मोर।
तेहि महँ पितु आयसु बहुरि संमत जननी तोर॥
भरत प्रानप्रिय पावहिं राजू। बिधि सब बिधि मोहि सनमुख आजू॥
जौं न जाउँ बन ऐसेहु काजा। प्रथम गनिअ मोहि मूढ़ समाजा॥

इतने विनय और प्रेमपूर्ण व्यवहारके होनेपर भी कैकेयीने निष्ठुरताका ही व्यवहार किया।

सहज सरल रघुबर बचन कुमति कुटिल करि जान।
चलइ जोंक जल बक्रगति जद्यपि सलिलु समान॥

जब सीता भी रामचन्द्रजीके साथ वन जानेको तैयार हो गयी तब कैकेयी उसे कहती है—'हे सीते ! लो, तुम भी वल्कल वस्त्र धारण कर लो।' सीता वल्कल वस्त्र अपने हाथमें ले लेती है। परन्तु वह राजकुमारी, जिसने कभी अपने हाथसे आभूषणादि भी नहीं पहने, वल्कल वस्त्र पहनना क्या जाने ? वह भगवान्‌की ओर देखने लग जाती है। ऐसी परिस्थितिमें भगवान् लज्जाकी परवा न करके सीताको वल्कल वस्त्र पहनाते हैं। इस अनुचित और करुणापूर्ण दृश्यको देखकर रनवासकी स्त्रियाँ रो पड़ती हैं। और वशिष्ठजी कैकेयीके इस कठोर व्यवहारकी कड़ी आलोचना करके सीताको वल्कल वस्त्र नहीं पहनानेका विधान करते हैं। अन्तमें अपनी विमाताके दुर्व्यवहारोंकी ओर तनिक भी ध्यान न देकर मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामचन्द्रजी प्रसन्नवदन होकर हँसते-हँसते वनकी ओर चले जाते हैं। इतना ही नहीं, अपि तु चित्रकूटमें तथा चौदह वर्षकी अवधि पूर्ण होनेपर अयोध्या लौटकर सबसे प्रथम कैकेयीका ही आदर करते हैं। उनके इस आदर्श व्यवहारसे हमें यह शिक्षा लेनी चाहिये कि अपने साथ कोई चाहे कितना ही कठोरतापूर्ण व्यवहार करे किन्तु हमें उसके साथ प्रेमका ही व्यवहार करना चाहिये।

जब किसीको हमपर क्रोध होता है तो हमें समझना चाहिये कि हमारा कोई अपराध बन गया है, इसीसे तो इनको क्रोध आया है। यदि हमारा कोई भी अपराध न होता तो इन्हें अकारण ही क्यों क्रोध आता। इस प्रकार अपनेपर दूसरेके क्रोधित होनेमें अपनेको ही उसका कारण मानकर अपनेको ही अपराधी समझना चाहिये। परन्तु यदि अपनेको भी क्रोध आ गया तो फिर अपनी नीचताकी चरम सीमा ही समझनी चाहिये। किसी भी जीवपर क्रोध करना भगवान्पर ही क्रोध करना है। इसलिये किसीपर भी क्रोध न करके सबके साथ अहैतुक प्रेम करना चाहिये। क्योंकि किसीके साथ जो प्रेम करना है वह भगवान्के साथ ही प्रेम करना है। इस प्रकारके प्रेमपूर्ण व्यवहारके प्रभावसे हम भगवान्के परमप्रिय बन जायँगे। गीताके १२वें अध्यायके १५वें श्लोकमें भगवान् श्रीकृष्ण अपने प्रेमी भक्तोंके लक्षणोंका वर्णन करते हुए कहते हैं—

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः॥

'जिससे कोई भी जीव उद्वेगको प्राप्त नहीं होता और जो स्वयं भी किसी जीवसे उद्वेगको प्राप्त नहीं होता; तथा जो हर्ष, अमर्ष, भय और उद्वेगादिसे रहित है—वह भक्त मुझको प्रिय है।'

अतः साधकोंको भगवान्का निरन्तर स्मरण और उनकी आज्ञाके अनुसार काम करते हुए ही अपने मनके प्रतिकूल कार्योंको भी भगवान्का विधान समझकर सदा उनमें सन्तुष्ट रहना चाहिये; क्योंकि भगवान्का प्रत्येक विधान जीवोंके कल्याणके लिये ही होता है। यदि यह रहस्य याथातथ्य समझमें आ जाय तो भगवत्साक्षात्कार होकर सदाके लिये परमानन्द और परमशान्तिकी प्राप्ति हो सकती है।

एकाकार

अहा स्वप्न-सी बात आज है तन मन किसपर रहा निसार?
किसकी मूर्ति मधुरिमा हित थे दृग लालायित बारम्बार?
किसपर करता मोह यहाँ है कौन तुम्हारा, किसका प्यार?
इस मिट्टीके पुतलेकी भी अन्तिम गति है गंगाधार॥
पड़ा-पड़ा विक्षुब्ध यहाँ क्या करता कैसा लोकाचार?
प्यारा तो वह अजर अमर है रूप अनेक अनन्त अपार॥
व्यापक वह सर्वत्र सभीमें प्रेमरूप प्रिय प्राणाधार।
अपना तो अपनेमें हरदम 'दत्त' सदा है एकाकार॥

—अम्बिकादत्त

कर्म-रहस्य

कर्म-बीज

(लेखक—स्वामी श्रीकृष्णानन्दजी)

प्राणीमात्रमें अवस्थित जीवात्मा चेतन और नित्य है। उसके साथ अनादिकालसे मनका संयोग चला आ रहा है। इस मनमें अनन्त जन्मोंके संस्कार (कर्म-बीज) निहित हैं। इन संस्कारोंकी उत्पत्ति जीवोंके कायिक, वाचिक और मानसिक शुभाशुभ कर्मोंके द्वारा हुई है। यह कर्म-बीज दो प्रकारके संस्कारोंसे युक्त है—वासनात्मक संस्कार और सुख-दुःखात्मक संस्कार। वासनाके कारण शुभाशुभ, हिताहित कर्मोंमें प्रवृत्ति होती है और कर्मविपाक-अवस्थामें ये ही सुख-दुःखरूपी फल प्रदान करते हैं।*

जिस प्रकार एक ही भूततत्त्वके नैसर्गिक नियमोंके अनुसार विभिन्न गुणोंके आश्रयसे सुवर्ण, रौप्य, पत्थर, मिट्टी आदि अनेक प्रकारके रूपान्तर होते हैं। जिस प्रकार सुवर्ण आदि धातुओंको अग्निमें डालने, जलमें भिगोने या सूक्ष्म रजःकणमें परिवर्तित कर देनेपर भी उनके स्वाभाविक गुण नष्ट नहीं होते। जिस प्रकार आयुर्वेदिक पद्धतिसे इन धातुओंका भस्म बनानेपर भस्ममें भी इनके गुण स्थित रहते हैं, तथा उसमें विभिन्न मूल धातुओंके अनुरूप पृथक्-पृथक् गुण-धर्मोंका संरक्षण होता है। उसी प्रकार जीवके संस्कारोंकी अवस्था होती है। ये कर्म-बीज (संस्कार) असंख्य जन्म बीत जानेपर भी विना फल प्रदान किये नष्ट नहीं होते।† जिस प्रकार सहस्रों गायोंमें बछड़ा अपनी माताके पास चला जाता है, उसी प्रकार जीवके किये हुए शुभाशुभ कर्म उसके पीछे-पीछे चलते हैं।‡

जीवोंमें दो प्रकारकी वासनाएँ पायी जाती हैं—शुभ और अशुभ। इन वासनाओंके अनुसार ही मनुष्यमें शुभाशुभ विषयोंकी इच्छा उत्पन्न होती है। अशुभ वासना पुरुषको दुराचारकी ओर प्रेरित करती है और उसे पुनर्जन्मके बन्धनमें डालती है। तथा शुभ वासना सदाचारकी ओर प्रेरित करके मनुष्यमें जन्म-मरणरूपी संसार-प्रवाहका आत्यन्तिक नाश करनेकी जिज्ञासा उत्पन्न करती है। इन वासनाओंका नाश विरोधी विचारोंके द्वारा होता है। कुसङ्ग आदिसे उत्पन्न अशुभ विचारोंके द्वारा शुभ वासनाके बीज नष्ट होते हैं और सत्संग आदिसे उत्पन्न शुभ विचारोंके द्वारा अशुभ वासनाके बीज नष्ट होते हैं। इसी कारण मानव-समाजको नीति और सदाचारकी शिक्षा देकर अशुभ वासना-जालसे मुक्त करनेके लिये शास्त्रोंकी रचना हुई है। शास्त्रीय ज्ञान प्राप्त होनेपर मनुष्य अशुभ वासनाओंको नष्ट करनेके लिये पुरुषार्थ करता है। पुरुषार्थ किये विना वासनाओंका नाश नहीं होता।§

शुभ कर्मोंकी अपेक्षा अशुभ कर्मोंमें ही मनुष्यकी सहज प्रवृत्ति होती है। सदाचारका पालन करके अर्थोपार्जन करनेकी अपेक्षा ठगी, जूआ, चोरी और डकैतीसे अर्थ-प्राप्ति करनेमें प्रायः कम प्रयत्न और समयकी अपेक्षा होती है। इसी कारण वे पुरुष, जिनके विचार दृढ़ नहीं हैं, तथा जिनको कर्मविपाकका ज्ञान नहीं है, अनायास निन्दित पथका अनुसरण कर लेते हैं। परन्तु कर्मविपाकमें श्रद्धा रखनेवाले विवेकी पुरुष प्रबल इच्छा होनेपर भी अशुभ कर्मोंके दुःखरूपी परिणामका विचार कर मनःसंयम करते रहते हैं। दृढ़ सत्यवादी नीति-पथसे च्युत नहीं होते, उसी प्रकार पक्के दुराचारी पुरुषके द्वारा नीति-नियमोंका पालन करना कठिन हो जाता है। परन्तु मानव-समाजमें ऐसे दृढ़ तथा उन्नत सदाचारी और महान् दुराचारी पुरुषोंकी संख्या सदा स्वल्प ही रहती है, अधिकतर मनुष्य अदृढ़ विचारवाले ही होते हैं। इनको अच्छे-बुरे जैसे विचार दिये जाते हैं, इनका चरित्र प्रायः वैसा ही बन जाता है। ऐसे विचलित विचारवाले पुरुष पूर्वजन्मकृत कर्मोंकी वासनाके अनुरूप विचारोंको तो शीघ्रतापूर्वक ग्रहण कर लेते हैं, उन वासनाओंके प्रतिकूल सद्विचारोंका ग्रहण करना उनके लिये कठिन होता है। पर अभ्यास करनेपर कुछ समयके बाद ऐसे सद्विचार भी ग्रहण किये जा सकते हैं। नीतिमान् पुरुष भी कुसङ्गादिमें

---

* 'ते ह्लादपरितापफलाः पुण्यापुण्यहेतुत्वात्।' (योगदर्शन २।१४)

यथा यथा कर्मगुणं फलार्थी करोत्ययं कर्मफले निविष्टः।
तथा तथायं गुणसंप्रयुक्तः शुभाशुभं कर्मफलं भुनक्ति॥ (महा० शां० २०१।२३)

† अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।
नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि॥

‡ यथा धेनुसहस्रेषु वत्सो विन्दति मातरम्।
तथा पूर्वकृतं कर्म कर्तारमनुगच्छति॥ (महा० शां० १८१।१६)

§ शुभाशुभाभ्यां मार्गाभ्यां वहन्ती वासनासरित्।
पौरुषेण प्रयत्नेन योजनीया शुभे पथि॥ (मुक्तिकोपनिषद् २।५)

पढ़कर अनीति-मार्गका अनुसरण कर सकता है। तथा अनीतिमान् पुरुष सत्संगके प्रभावसे पश्चात्ताप करके नीतिमान् बन जाता है। इसी कारण अज्ञानी पुरुषोंको कर्मफलका ज्ञान प्रदान करके कुवासनाओंका त्याग करानेके लिये शास्त्रकारोंने प्रयत्न किया है।

जैसे ग्रामोफोनके प्लेटमें शब्दके संस्कार संगृहीत किये जाते हैं और जब उस प्लेटका आलपीनके साथ घर्षण होनेके कारण वातावरणमें कम्पन उत्पन्न होता है तो उन संस्कारोंके अनुरूप शब्दोत्पत्ति होने लगती है। यद्यपि उन संस्कारोंका नेत्रोंके द्वारा प्रत्यक्ष नहीं होता, तथापि शब्दोत्पत्तिरूपी कार्यसे उनका अनुमान हो जाता है। इसी प्रकार आहार-विहार-ध्यानादि अनेकों ऐच्छिक कर्मोंसे शारीरिक और मानसिक वासनात्मक संस्कारोंकी उत्पत्ति होती है। लिखने-पढ़ने तथा खेल-कूद आदि कर्मोंमें संस्कारोंका प्रभाव प्रत्यक्ष देखनेमें आता है। इच्छापूर्वक शारीरिक कर्म करनेसे शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकारके संस्कार होते हैं, तथा मानसिक विचारोंसे केवल मानसिक संस्कार उत्पन्न होते हैं। इन द्विविध संस्कारोंमें शारीरिक संस्कार, चाहे वे अनुकूल हों या प्रतिकूल, शरीरके नाशके साथ ही नष्ट हो जाते हैं; परन्तु मानसिक संस्कार शरीरके नष्ट होनेपर भी जीवात्माके साथ मनमें रह जाते हैं।

शारीरिक कृत्योंसे बहुधा शारीरिक और मानसिक संस्कार एक साथ ही उत्पन्न होते हैं। तथा शारीरिक और मानसिक कार्य भी प्रायः एक साथ ही होते हैं। इस कारण अज्ञानी पुरुषोंको यह भ्रम हो जाता है कि मनका आविर्भाव भी शरीरसे ही हुआ है, तथा दोनोंका एक ही साथ नाश हो जाता है। वस्तुतः शरीर और मन दोनों पृथक् वस्तुएँ हैं। शरीरकी उत्पत्ति माता-पिताके रज-वीर्यसे होती है, और मन जीवात्माका करण होनेके कारण अनादि कालसे उसके साथ रहता है। मनकी उत्पत्तिमें शुक्र शोणितका कोई उपयोग नहीं होता। जब शरीर विनाशको प्राप्त होता है तब इन्द्रियाँ मनमें मिल जाती हैं, मनका प्रवेश प्राणमें होता है, प्राण तेजोपहित जीवात्मामें लय हो जाता है।* जीवात्मा इन्द्रिय, मन और प्राणको लेकर बाहर निकल जाता है।†

* अस्य सोम्य पुरुषस्य प्रयतो वाङ्मनसि सम्पद्यते, मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायाम्। (छान्दो० ६।८।६)

'तन्मनः प्राण उत्तरात्' तथा 'सोऽध्यक्षे तदुपगमादिभ्यः।' (ब्र० सू० ४।२।३-४)

† 'तदनन्तरप्रतिपत्तौ रंहति संपरिष्वक्तः प्रश्ननिरूपणाभ्याम्' (ब्र० सू० ३-१-१)

सृष्टिका मूलतत्त्व अविनाशी चेतन मनके सम्बन्धसे ही जीवात्मा कहलाता है। जीवात्मा नित्य होनेके कारण शरीरके साथ नष्ट नहीं होता।* जबतक वासनाओंका आत्यन्तिक विनाश नहीं होता, तबतक जीवात्माको यथार्थ-रूपमें ब्रह्मात्मैक्यका बोध नहीं होता, और न मनका विनाश ही होता है, तथा न जीवकी मूलस्वरूपमें स्थिति ही होती है। इस प्रकार मन असंख्य जन्मोंतक विद्यमान रहता है। मोक्षकी प्राप्ति होनेपर मनका लय हो जाता है। अतः जीवात्माकी दृष्टिसे ही मन नित्य है, इसकी यह नित्यता आपेक्षिक है, निरपेक्ष नहीं।

शरीर और मन दोनोंकी क्रियाओंमें स्थूल और सूक्ष्म-का भेद होनेपर भी, दोनोंका घनिष्ठ सम्बन्ध है। आहार-विहारके अनुसार दोनोंको लाभ-हानि पहुँचती है। शुद्ध और सात्त्विक आहारसे शरीर स्वस्थ रहता है और मनकी शुद्धि होती है। आहारके स्थूल भागका मल बनता है, मध्यम भाग शरीरका पोषक होता है और सूक्ष्म भाग मनका।† शरीरके व्याधिग्रस्त होनेपर मनोवृत्तियाँ विकृत हो जाती हैं और मनोवृत्तियोंमें विकारके आनेसे शारीरिक कार्योंमें दोष उत्पन्न हो जाते हैं। इस प्रकार दोनोंका प्रगाढ़ सम्बन्ध होनेपर भी दोनोंकी पृथक्ता स्पष्ट ज्ञात होती है।

जिस पुरुषका मन अन्यत्र आसक्त है, उसे शारीरिक वेदनाका भान नहीं होता। उसे नेत्रोंसे देखनेपर या श्रोत्रसे सुननेपर भी श्रवण और दर्शनका सम्यक् बोध नहीं होता।‡ इससे ज्ञात होता है कि शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध इन विषयोंका ग्रहण करनेवाला मन है, और वह शरीरसे पृथक् शारीरिक सुख-दुःखका अनुभवकर्ता है।

स्थूल शरीरके रक्त, त्वचा, मांसादिके समस्त अणु-परमाणुओंका परिवर्तन रक्ताभिसरण-क्रियाके द्वारा

'तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति, प्राणमनूत्क्रामन्तꣳ सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति।' (बृह० ४।४।२)

* 'जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते न जीवो म्रियते।' (छान्दो० ६।११।३)

'बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।' (गीता ४।५)

† 'अन्नमशितं त्रेधा विधीयते तस्य…योऽणिष्ठस्तन्मनः' (छान्दो० ६।५।१)

‡ 'अन्यत्रमना अभूवं नादर्शमन्यत्रमना अभूवं नाश्रौषमिति मनसा ह्येव पश्यति मनसा शृणोति।' (बृह० १।५।३)

तीनसे लेकर सात वर्षके भीतर हो जाता है। इससे जीर्ण परमाणुओंके स्थानमें नवीन परमाणुओंका समावेश होता रहता है। परन्तु इस क्रियासे मनका परिवर्तन नहीं होता। यदि देहसे मनकी उत्पत्ति हुई होती तो इसका भी परिवर्तन होता। यदि मनका परिवर्तन होता तो कर्मसे उत्पन्न मानस-संस्कार भी नष्ट हो जाते। और दस-पाँच वर्ष पूर्वके अनुभूत प्रसङ्गोंकी स्मृति नहीं होती। स्थिरबुद्धि और अस्थिरबुद्धि (पागल) सभीको भूतकालकी स्मृति होती है। ज्ञानतन्तुओंके केन्द्र-स्थानमें विकृति हो जानेपर उन्मादग्रस्त पुरुष सदसद्विवेकके न रहनेपर भी विना विचारके ही अभ्यासानुसार चेष्टा करते रहते हैं। तथापि ऐसे पागल मनुष्योंके मनमें भी अनेक प्रकारके प्राचीन संस्कारोंकी प्रतीति होती है। अतः इस प्रत्यभिज्ञासे भी यह निश्चय होता है कि शारीरिक परमाणुओंके परिवर्तनके साथ मन परिवर्तित नहीं होता। जब इस प्रकार मन अन्ततक शरीरसे पृथक् सत्ता रखता है, तब मृत्युके समय देहके साथ कैसे नष्ट हो सकता है ?

यही कारण है कि बहुत-से आदमियोंमें माता-पिताके संस्कारोंके विपरीत संस्कार जन्मजात सिद्ध होते हैं। बहुत-से आदमी अत्यन्त आश्चर्यजनक विद्यादि सद्गुणोंके संस्कार लेकर और बहुतेरे अत्यन्त दुर्गुणोंके संस्कार लेकर उत्पन्न होते हैं। इन विचित्र संस्कारोंकी उत्पत्ति माताके गर्भसे नहीं हो सकती। योगीजन इन पूर्वजन्मके अर्जित संस्कारोंको प्रत्यक्ष करते हैं। अतः मनको देहसे पृथक् मानना पड़ेगा। नास्तिक, जो पूर्वजन्मके संस्कारोंकी नित्यताको नहीं मानते, कर्मवादका समाधान नहीं कर सकते। कर्मवाद और पुनर्जन्मके तत्त्वज्ञानसे ही धर्मशास्त्रोंके रहस्योंका सन्तोषजनक समाधान होता है।

कर्म करनेमें जीव स्वतन्त्र है या परतन्त्र

इस विश्वका मूल है कर्म। परब्रह्म, पुरुष-प्रकृति या परमाणुमें गति, कर्म, क्रिया या व्यापारके होनेसे ही सृष्टिकी उत्पत्ति होती है। कर्मके द्वारा ही विश्वकी स्थिति, गति और अन्त होते रहते हैं। कर्मका प्रवाह सृष्टिके आदिसे लेकर प्रलयतक चलता रहता है। यह कर्म संसारके प्रत्येक अङ्ग-प्रत्यङ्ग, अणु-परमाणुमें वर्तमान है। समस्त प्राणिशरीरोंके अंदर भी इस कर्मकी प्रतीति होती है। परन्तु यह निश्चय करना कठिन है कि इस कर्मका या विश्वका प्रारम्भ कब हुआ है। ऋग्वेदके नासदीय सूक्तसे भी यही भाव व्यक्त होता है। जैसे—

> को अद्धा वेद क इह प्रवोचत्
> कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः।
> अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाथा
> को वेद यत आबभूव॥
> (ऋग्वेद १०। १२९। ६)

'कौन अच्छी तरहसे जानता है, कौन यहाँ ठीक ठीक बतला सकता है कि विश्वका यह विसर्ग-व्यापार किससे, कहाँसे उत्पन्न हुआ। देवताओंकी प्रतीति सृष्टि-व्यापारके अनन्तर होनेके कारण कौन जान सकता है कि यह विश्व कहाँसे निकला ?'

अतएव शास्त्रकारोंने इस विश्व-प्रपञ्चको अनादि कहा है। यद्यपि यह निर्णय करना कठिन है कि इस विश्व-प्रपञ्च या कर्मचक्रमें जीव कबसे फँसा है, तथापि यह स्वीकार करना पड़ेगा कि यदि एक बार जीवके अन्तःकरणपर कर्मके संस्कार पड़ गये तो फिर आगे विश्व-यन्त्रमेंसे उसका बाहर निकलना कठिन हो जाता है। कर्म-प्रवाहमें पड़े हुए जीवको आजका किया कर्म कल भोगना पड़ता है। कलका परसों, पहलेका इस जन्ममें, इसका अगले जन्ममें—इस प्रकार जन्म-जन्मान्तरतक कर्म और फल-भोगका सिलसिला लगा रहता है। वह निरन्तर पूर्वकर्मोंके फलको भोगता जाता है और साथ ही नये कर्मोंकी सृष्टि करता रहता है। इस प्रकार कर्म-प्रवाह अनादि और अनन्त है।*

कर्मके संस्कार अन्तःकरणमें रहते हैं। अन्तःकरण (सूक्ष्म शरीर) स्थूल शरीरके नाशके बाद भी बना रहता है, अतः इस स्थूल शरीरसे मुक्त होनेपर भी जीवको कर्म-चक्रसे मुक्ति नहीं मिलती। कर्मका यह नियम है कि जहाँ एक बार उसका आरम्भ हो गया, फिर अखण्ड प्रवाह चलता रहेगा। इस सृष्टिका प्रलय होनेपर भी कर्म-प्रवाहका आत्यन्तिक नाश नहीं होता। सब जीवोंके संस्कारयुक्त मन प्रकृतिके आश्रयसे सुप्तावस्थामें शेष रह जाते हैं। पुनः सृष्टिका आविर्भाव होनेपर उन्हीं जीवोंका पुनरागमन होता है और वे मन तथा इन्द्रियोंसे युक्त होकर पूर्व-संस्कारोंके

* 'नान्तो न चादिर्न च सम्प्रतिष्ठा।' (गीता १५। ३)

अनुसार अपने-अपने कर्मोंका फल भोगने लगते हैं।* तथा वासनाके अनुसार पराधीन होकर नित नये-नये कर्म करने लगते हैं। जीव क्षणमात्र भी कर्म किये विना नहीं रह सकते।† अतएव उन्हें मुक्ति नहीं मिलती। इस प्रकार कर्मप्रवाहसे बच निकलना अति कठिन है। तथापि जीवोंके कल्याणके लिये शास्त्रकारोंने मुक्त होनेके सम्यक् उपाय बतलाये हैं।

विचार करनेसे जान पड़ता है कि कर्म करनेमें जीवका कर्तापन व्यावहारिक अवस्थामें देहादिके सम्बन्धसे भासता है। अतः कर्तापन जीवमें उपाधिके कारण है, स्वाभाविक नहीं है। फिर भी व्यावहारिक अवस्थामें 'जीव कर्म करनेमें स्वतन्त्र है या परतन्त्र' समाजके कल्याणार्थ इस बातका यहाँ विचार करते हैं।

कर्मके व्यापार दो प्रकारके होते हैं—एक नैसर्गिक कर्म, और दूसरे जीवोंके ऐच्छिक कर्म। शीत, वर्षा और आतप आदि भौतिक क्रियाएँ तथा श्वास-प्रश्वास, रक्तसञ्चालन, आहारका पाचन, मांस, मज्जा आदि धातुओंका परिपाक, मल-मूत्रादिका विभाजन आदि शारीरिक क्रियाएँ नैसर्गिक कर्मके अंदर आ जाती हैं, तथा मन, बुद्धि और इन्द्रियोंके द्वारा इच्छापूर्वक जो कर्म होते हैं, वे ऐच्छिक कर्म कहलाते हैं।

इन दो प्रकारके कर्मोंमें विधि-निषेध (यह करना चाहिये और यह नहीं करना चाहिये) रूप ऐच्छिक कर्मोंके करनेमें जीवको पूर्णतः परतन्त्र नहीं माना जा सकता। यद्यपि कभी-कभी मनकी निर्बलताके या व्यसनमें फँसे रहनेके कारण इच्छानुसार चेष्टा करनेमें मनुष्य समर्थ नहीं होता, तथापि यदि युक्तिपूर्वक मनको धीरे-धीरे अपने अधीन बनानेका अभ्यास किया जाय तो वह वशमें हो सकता है। और तब किसी भी कार्यमें इच्छानुसार प्रवृत्ति-निवृत्ति हो सकती है। वशमें किया हुआ मन ही वृत्तियोंके निग्रहमें समर्थ होता है।

* 'आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ॥' (कठ० १।३।४)

'यथा च तक्षोभयथा।' (ब्र० सू० २।३।४०)

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे ॥
(गीता ८।१९)

† न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥
(गीता ३।५)

'मन एव समर्थं हि मनसो दृढनिग्रहे।' (महो० ४।१०५)

इसी उद्देश्यसे शास्त्रकारोंने अनेक प्रकारकी विधि-निषेधकी आज्ञाएँ दी हैं। परन्तु ये आज्ञाएँ सब जीवोंपर समानरूपसे लागू नहीं हो सकतीं। क्योंकि कर्म करनेवाले जीवोंकी दो प्रधान अवस्थाएँ होती हैं, अभिमान-प्राधान्य अवस्था और अभिमान-शून्य अवस्था। अभिमान-प्राधान्य अवस्थामें जीव कर्मका कर्त्ता बनता है, तथा अभिमान-शून्य अवस्थामें अकर्ता। शैशवावस्था, बेहोशी, मूर्च्छा और सुषुप्ति—इन अवस्थाओंमें अभिमान (अहंता, ममता) के न रहनेके कारण जीवसे इन्द्रिय या मन-बुद्धिके द्वारा जो कर्म हो जाते हैं, उनका वह स्वतन्त्र कर्ता नहीं माना जाता। इसी प्रकार जिन मुक्त या भक्तजनोंने अहंता-ममता या तन-मन-धनको ईश्वरार्पण कर दिया है, जिन्होंने शिशुकी भाँति ईश्वररूपी माताको ही अपने जीवनका एकमात्र आधार मान लिया है, जो कोई भी कर्म अहंता-ममतापूर्वक नहीं करते, जिनकी सारी क्रियाएँ अन्तर्यामीकी प्रेरणाके अनुसार होती रहती हैं, उनको भी कर्मका स्वतन्त्र कर्ता नहीं माना जा सकता।

जीवोंकी दूसरी अभिमान-प्राधान्य अवस्था है। बाल्यावस्थामें जब जगत्का बोध होने लगता है, मैं और मेरा, तू और तेरा—यह भेद-भावना उत्पन्न हो जाती है, तबसे यह अवस्था प्रारम्भ होती है। अविवेकी लोग इसी अवस्थामें जीवन-यापन करते हैं। इस अवस्थामें जीव अहंता, ममतासे बद्ध होनेके कारण स्वार्थसिद्धिके लिये देह-इन्द्रिय तथा मन-बुद्धिके द्वारा नाना प्रकारके कर्म करता रहता है, और कर्म-जालमें फँसता जाता है। इन अविवेकी पुरुषोंको इस बातका बोध नहीं होता कि वस्तुतः प्रकृति (देह-इन्द्रिय-मन-बुद्धि-अहङ्कारके रूपमें) ही विश्वमें क्रीड़ा कर रही है। 'यह मैंने किया, करता हूँ या करूँगा'—इत्यादि, अहङ्कारके कारण भ्रममात्र है। शास्त्रकारोंने इसी अवस्थाके जीवोंको कर्ता माना है।*

* प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥
(भगवद्गीता ३।२७)

'कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात्।' 'विहारोपदेशात्।' 'उपादानात्।'
(ब्र०सू० २।३।३३-३५)

'स्वतन्त्रः कर्ता।' (पा० सू० अष्टाध्यायी १।४।५४)

जीव इस अवस्थामें कर्म करनेमें पूर्णतः परतन्त्र नहीं है। बल्कि मनमें उत्पन्न होनेवाली प्रेरणा और वासनाओंका निवारण करनेमें स्वतन्त्र है। अपने चरित्रका सुधार, सन्तानका पालन-पोषण, उनकी शिक्षा-दीक्षाका प्रबन्ध—इत्यादि कर्तव्य-कर्म संसारमें सफल होते देखे जाते हैं। इसी प्रकार सत्सङ्ग, सदुपदेश, सदाचार, सत्यपालनादि कर्मोंके शुभ फल और कुसङ्ग, अविद्या, दुराचार आदिके अशुभ फल भी देखनेमें आते हैं। इस कारणसे समाजमें जीवोंको कर्म करनेमें स्वतन्त्र मानकर ही पारस्परिक व्यवहार चलता है।

शङ्का—'मनुष्यका क्रम-विकास' (Evolution of Man) नामक सुप्रसिद्ध ग्रन्थके कर्ता हेगल् साहबके सिद्धान्तानुसार कतिपय भारतीय नास्तिकवादी भी कहने लगे है कि जड और चेतनसे बना हुआ यह मनुष्य (देह और आत्मा) विश्वव्यापी तत्त्वका अविभाज्य अंश है। इसे विश्वयन्त्रसे कोई पृथक् नहीं कर सकता। सृष्टि-चक्र मनुष्यको जिस ओर खींचता है, उसे उस ओर जाना ही पड़ता है। इस विश्वमें कोई भी जीव कर्तव्य-कर्म करनेमें स्वतन्त्र नहीं है। वृक्षके पत्तेको स्वेच्छानुसार क्रिया करनेका जितना अधिकार है, उतना ही मनुष्यको भी है। मनुष्य आज जो कृत्य करता है, वह उसकी इच्छापर अवलम्बित नहीं है। संस्कारानुसार परतन्त्र होकर कर्म करना ही पड़ता है। इस विषयमें नीचे लिखे हुए शास्त्र-वचन भी प्रमाण हैं—

'कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥'
(गीता ३। ५)

'प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥'
(गीता ३। ३३)

'अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥'
(गीता ३। ३६)

'मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥'
(गीता १८। ५९)

'बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति ॥'
(मनु० २। २१५)

'केनापि देवेन हृदिस्थितेन
यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि।'
(पाण्डवगीता)

जड-विकासवादी हेगल् साहबके मतका सार यह है कि अपनी दुष्ट-बुद्धि, वासना या वाञ्छाको आवृत करनेका प्रयत्न करनेमें जीव स्वतन्त्र नहीं है। संसारके समस्त जीव विश्वरूपी यन्त्रमें लघु-चक्रवत् कर्मरूपी पेचकश (Screw) से बिल्कुल जकड़े हुए हैं। अतएव मनुष्य अपनी उन्नति-अवनति करनेमें बन्दीके समान पराधीन है।

समाधान—संसार-चक्र प्राणीमात्रको कर्म करनेकी प्रेरणा करता है। तथापि कर्मकी दिशाका बदलना, अमुक कर्म करना और अमुक न करना—यह मनुष्यके अधिकारमें है। इसी कारणसे मनुष्य सदाचारी और ज्ञानी बनता है। प्रकृति जीवको नियमानुसार सदा संसार-चक्रमें घुमाती रहती है, तथापि ज्ञानके द्वारा जीव अपनी मानसिक शक्तिका उपयोग करके उन्नति कर सकता है, और कर्मपाशसे मुक्त भी हो सकता है। जिस प्रकार जल स्वभावतः निम्नभूमिकी ओर प्रवाहित होता है, परन्तु यदि उसका वायुके साथ संयोग हो जाय तो वह वायुके सम्बन्धसे ऊपरकी ओर भी प्रवाहित होने लगता है, जैसे शहरोंमें नलके द्वारा पानी बड़े-बड़े मकानोंके ऊपर चढ़ाया जाता है, इसी प्रकार बहिर्मुख प्रवृत्तिवाले मनका सम्बन्ध प्रबल आत्माकी शक्तिके साथ करा दिया जाय तो पूर्वाभ्यास (भूतकालकी बाह्य-विषयोंकी आसक्ति) से विपरीत ही उसकी गति हो जायगी। क्योंकि आत्मामें अनन्त और अविनाशी शक्ति है। आत्माकी शक्तिका ह्रास या नाश कभी नहीं होता।* और यही कारण है कि योगीजनोंमें अपूर्व मानसिक शक्ति देखनेमें आती है।

वायुके सम्बन्धके अनुसार जिस प्रकार नलके साथ जल न्यूनाधिक वेगसे ऊपर चढ़ता है, तथा नलके आयामके अनुसार जलके परिमाणमें न्यूनाधिकता होती है, उसी प्रकार आत्मिक शक्तिको जितना धारण किया जाय, तथा जितना ही मनको विकसित किया जाय, उतनी ही अधिक मनमें दृढ़ता बढ़ती है और शीघ्रतापूर्वक कार्य-सम्पादन होता है। यही कारण है कि शराब, गाँजा, अफीम, तम्बाकू, चाय आदिके व्यसनोंमें फँसे हुए लोगोंमें जो दृढ़ मनवाले होते

* 'न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात्।'
(बृह० ४। ३। २३)

हैं, वे सदुपदेश मिलनेपर व्यसनको शीघ्र छोड़ देते हैं, और निर्बल मनवाले कुछ समयके पश्चात् धीरे-धीरे व्यसनसे मुक्त हो पाते हैं। तथा तामसिक मनवाले पुरुषार्थहीन पुरुष अपनेको प्रकृतिके वश मानकर अपने दोषोंको देखते हुए भी पराधीन बनकर जीवनभर दुःख भोगते ही रहते हैं।

जीवोंकी परतन्त्रतासे सम्बन्ध रखनेवाले जो शास्त्र-प्रमाण ऊपर उद्धृत किये गये हैं, उनका तात्पर्य यही है कि पूर्व-कालमें किये गये कर्मोंकी वासनाएँ जब बहुत बलवती हो जाती हैं, तब उनको अपने अधीनस्थ करनेमें बहुत अधिक शक्ति लगानी पड़ती है, ऐसी अवस्थामें बिना पूर्ण परिश्रम किये सफलता नहीं मिलती। यही कारण है कि श्रीभगवान्‌ने अर्जुनको मनःसंयमका उपदेश देते हुए कहा है—

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥
(गीता ६। ३५)

हे अर्जुन! इसमें सन्देह नहीं कि मन चञ्चल है और इसका निग्रह करना बहुत कठिन है, तथापि हे कौन्तेय! अभ्यास और वैराग्यके द्वारा वह अपने अधीन किया जा सकता है। यही बात पातञ्जलयोगदर्शनमें 'अभ्यास-वैराग्याभ्यां तन्निरोधः' इस सूत्रमें बतलायी गयी है।

कोई भी सद्ग्रन्थका निर्माता अपने एक ही ग्रन्थमें पूर्वा-पर-विरोधी वचन नहीं लिख सकता। इसलिये शास्त्रवचनोंका अर्थ पूर्वापर सारे प्रसङ्गोंपर विचार करके ही करना चाहिये। ऐसा न करनेसे ही अविवेकी पुरुषोंको भ्रान्ति होती है। जैसे कोई मनुष्य अपने छोटी उम्रके अल्पशक्ति बच्चेसे कहे कि 'तुझसे एक मन बोझ नहीं उठ सकेगा।' इसका यह अर्थ नहीं हो सकता कि वह मृत्युपर्यन्त कभी मनभर बोझ नहीं उठा सकता। इसका इतना ही भाव है कि छोटी उम्रमें वह ज्यादा भार नहीं उठा सकता। पर यदि आरम्भसे व्यायामका अभ्यास किया जाय तो बड़ा होनेपर वह कई मन (प्रोफेसर राममूर्तिकी तरह पचास-साठ मन) बोझ उठा सकता है। प्रसङ्गभेदसे कहे हुए शास्त्रवचनोंका तात्पर्य इसी शैलीसे लगाना चाहिये।

जिस प्रकार निरन्तर दीर्घ कालतक अभ्यास करनेसे निशानची अचूक निशाना मार सकता है। नटी नियम-पूर्वक तालबद्ध नृत्य और गान करती है। पनिहारिन सिरपर दो-दो, तीन-तीन घड़े रखकर आनन्दसे बातचीत करती हुई तथा हस्त-सञ्चालन आदिके द्वारा भाव प्रदर्शित करती हुई निधड़क चली जाती है। उसी प्रकार विचारवान् पुरुष अभ्यासके द्वारा अपने मनकी गतिको बदल दे सकता है। अशुभ पथका त्याग करके शुभ पथका अवलम्बन कर सकता है।

मनुष्य स्वतन्त्र होनेपर भी इन्द्रियोंकी स्वच्छन्द वृत्तिके कारण पराधीन-सा बन जाता है। जैसे पक्का घुड़सवार जबतक नये घोड़ेको सवारीके योग्य न बना ले तबतक अशिक्षित घोड़ेपर सवार होकर चलनेमें उसे सन्तोष नहीं होता। वैसे ही जीवात्मा जबतक इन्द्रिय और मनकी स्वच्छन्द वृत्तियोंका दमन नहीं कर लेता, तबतक उसे सन्तोष या सुख नहीं मिल सकता। अतएव जैसे घोड़ेको वशमें करके उसे शिक्षा दी जाती है, वैसे ही पहले इन्द्रिय-दमन और मनःसंयमका अभ्यास करना चाहिये।

मनमें दो प्रकारकी प्रेरक वृत्तियाँ दिखलायी देती हैं। एक तो विषय-भोगकी प्रेरणा करती हैं और दूसरी विषय-भोगको त्याग करनेमें प्रवृत्त करती हैं। ये दोनों प्रकारकी प्रेरणाएँ परस्पर विरोधी हैं और जीवनमें इन दोनोंमें परस्पर युद्ध होता रहता है। मनुष्यको इस युद्धमें किसी एक प्रेरणाका साथ देना ही पड़ता है। इस अवसरपर अविवेकी और विवेकी दोनोंके मार्ग विभिन्न हो जाते हैं। जहाँ विवेकी अपनी इन्द्रियोंको वशमें करके वासनाका त्याग करता हुआ अपने सच्चे कल्याणके मार्गपर अग्रसर होता है, वहाँ अविवेकी मनको स्वच्छन्द रखते हुए वासना-पङ्कमें फँसकर अधःपतनकी ओर अग्रसर होता है। अतएव विचारशक्तिका विकास करके मनुष्य अपने कर्मोंको इच्छानुसार बनानेमें सर्वथा समर्थ है।

मनुष्य अपने भावी हिताहितका विचार करके तदनुकूल कर्म करनेमें असमर्थ या अस्वतन्त्र नहीं है। जैसे कई मार्ग अपने सामने हों तब उनमेंसे प्रतिकूल और कम लाभदायक मार्गोंको छोड़कर हमलोग अधिक लाभदायक

मार्गका ग्रहण करते हैं। कदाचित् भूलसे विपरीत मार्गपर चलने लगे हों तो पता लगते ही उसे छोड़कर दूसरे मार्गका अनुसरण करते हैं। इसी प्रकार पहले कभी भूलसे स्वीकार किये हुए अथवा पूर्वपुरुषोंद्वारा प्राप्त अशुभ और हानिकर रिवाजों, वासनाओं और व्यसनोंको त्याग कर विवेक-दृष्टिसे निश्चित किये हुए शुभ कर्मोंको ग्रहण कर लेते हैं। बुरा व्यसन यदि बहुत जल्दी न छूट सके तो दृढ़तासे अभ्यास करनेपर वह एक-न-एक दिन अवश्य छूट जाता है। इसीलिये, ऐसे हजारों दृष्टान्त इतिहासमें मिलते हैं कि जो पहले डाकू, चोर, शराबी या व्यभिचारी थे, वे अभ्यास करनेसे इन दोषोंसे मुक्त होकर सन्मार्गगामी साधु हो गये हैं।

जिस प्रकार मनुष्य कर्म करनेमें स्वतन्त्र होनेके कारण अपनी ऐच्छिक क्रियाओंको अपने अधीन कर सकता है, उसी प्रकार अभ्यासके द्वारा नैसर्गिक क्रियाओंको भी अपने अधीन करनेकी शक्ति उसे प्राप्त हो सकती है। जिस प्रकार क्लोरोफार्मके प्रयोगसे नैसर्गिक प्राणस्पन्दनकी क्रिया बंद हो जाती है, उसी प्रकार योगीजन योगाभ्यासके द्वारा प्राण-स्पन्दनकी क्रियाको अपने अधीन कर लेते हैं। पञ्जाबके सुप्रसिद्ध हठयोगी श्रीहरिदासजी महाराजने छः-छः मास-पर्यन्तकी समाधि अनेक बार लेकर इस तथ्यकी प्रामाणिकताको प्रत्यक्ष कर दिखाया था। प्राचीन कालके योगी तो सुदीर्घ काल-पर्यन्त प्राण-स्पन्दनकी क्रियाको वशमें करके समाधिस्थ अवस्थाकी चरम शान्तिका आनन्द लेते थे। इस प्रकार शरीरकी नैसर्गिक क्रियाओंपर मनुष्यकी सत्ता काम करती है। केवल शरीरस्थ क्रिया ही नहीं, बल्कि अभ्यासके द्वारा योगी विश्वके व्यापारकी क्षुद्र क्रियाओंमें आंशिकरूपसे हस्तक्षेप कर सकता है।

इसी इच्छा-शक्तिको अपने अधीन करके मेस्मेरिज्म तथा योगके साधक दूसरोंके शरीरपर भी अच्छा-बुरा प्रभाव डाल सकते हैं। शाप या आशीर्वादके द्वारा हानि-लाभ पहुँचा सकते हैं। इन सब बातोंसे स्पष्ट हो जाता है कि मनुष्य जडवस्तु या यन्त्रके समान पराधीन नहीं है, बल्कि वह अपनी इच्छा और कर्मके करनेमें स्वाधीन है।

बौद्ध और जैन भी जीवात्माको कर्म करनेमें स्वतन्त्र मानते हैं। इसी प्रकार फ्रांसके सुप्रसिद्ध आधिभौतिक तत्त्ववेत्ता कॉन्ट (Conte) ने ईश्वरकी सत्ताको अस्वीकार करते हुए भी इसे प्रत्यक्षसिद्धरूपमें स्वीकार किया है कि मनुष्य अपने बर्ताव और परिस्थितिको सुधार सकता है।

जीवात्मा कर्म करनेमें स्वतन्त्र है, इसी दृष्टिसे शास्त्रकारोंने इसे धर्माचरणकी आज्ञा प्रदान की है। दुराचारी लोग स्वार्थवश या मूढ़ताके कारण बारम्बार धर्माचरणका त्याग करते हैं और उनको बारम्बार अपने दुष्कृत्योंके लिये परिताप भी होता है। इस प्रकारके परितापसे भी जीवात्माकी कर्म करनेमें स्वाधीनता ही सिद्ध होती है।

ऐसा देखा जाता है कि बहुत-से मनुष्य प्रबल इच्छा, प्रेरणा और अनुकूलता होनेपर भी कर्मविपाक या ईश्वरके दण्डके भयसे निषिद्ध कर्म नहीं करते। कुछ लोग विपत्तिमें पड़नेपर निषिद्ध कर्म करनेकी इच्छा कर बैठते हैं, परन्तु पर-लोकके या मानहानिके भयसे उसे त्याग देते हैं। इससे भी यही सिद्ध होता है कि मनुष्य कर्म करनेमें स्वतन्त्र है। अनुभव और युक्तिसिद्ध सत्यको कोई अस्वीकार नहीं कर सकता।

संसारके समस्त धर्मशास्त्र, आस्तिक और नास्तिक सब समाजोंके नियम, जीवोंके कर्म-स्वातन्त्र्यको मानकर ही बनाये गये हैं। इन नियमोंके कारण ही मनुष्य-समाज जीवित है, नहीं तो कभीका नष्ट-भ्रष्ट हो चुका होता।

मानव-जीवनकी उन्नति प्रेम और दयाके साथ शुभ शिक्षासे ही हो सकती है, तथापि अपराधको रोकनेके लिये दण्डके विधानकी आवश्यकता होती है। और यह दण्ड भी मनुष्यको कर्म करनेमें स्वतन्त्र मानकर ही दिया जा सकता है। इससे कर्म करनेमें मनुष्यकी स्वतन्त्रता सिद्ध होती है।

यदि आधिभौतिकवादीके कथनानुसार मनुष्यको कर्म करनेमें बिल्कुल पराधीन मान लें तो सदाचार, सत्यपालन, नीति-रक्षा, बुद्धिकी विशुद्धता, ज्ञान-वृद्धिके लिये यत्न, शुभ कार्यमें प्रवृत्ति तथा अशुभ कार्यसे निवृत्ति—इत्यादि विषयोंके लिये नियमोंका विधान और उन नियमोंके भङ्ग करनेवालोंके लिये दण्डका विधान, दोनों ही व्यर्थ हो जायँगे और संसारकी व्यवस्था न रहेगी। यदि जीवोंको कर्म करनेमें स्वाधीन न मानें तो संसारमें पुरुषार्थका लोप हो जायगा। अतएव मानना ही पड़ेगा कि मनुष्य कर्म करनेमें स्वतन्त्र है।

परमार्थ-पत्रावली

(श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पत्र)

सप्रेम यथायोग्य। आपका पत्र यथासमय मिल गया था। उत्तर देनेमें विलम्ब हो गया, इसके लिये किसी प्रकारका विचार नहीं करना चाहिये। आपने लिखा कि आपकी स्मृति कई बार हुआ करती है, सो स्मृति तो भगवान्‌की ही रखनी चाहिये। भगवान्‌की स्मृतिसे ही मनुष्यका कल्याण हो सकता है। मनुष्यकी स्मृतिसे विशेष क्या लाभ है ?

ऋषिकेशके मेरे व्यवहारसे आपको प्रसन्नता हुई, यह आपके प्रेमकी बात है, किन्तु ग्वालबालोंके प्रसङ्गको लेकर मेरी भगवान्‌से तुलना की, सो इस प्रकारकी बात नहीं लिखनी चाहिये। मैं तो एक साधारण मनुष्य हूँ, किसी भी मनुष्यके साथ भगवान्‌की तुलना करनी ठीक नहीं। तथा आपने लिखा कि श्रीतुलसीदासजी तो भक्तोंको भगवान्‌से भी बढ़कर बतलाते हैं, सो ठीक है, श्रीतुलसीदासजी महाराजने विनोदसे 'राम ते अधिक रामकर दासा' यह बात जिन भक्तोंको लक्ष्य करके कही है, उनके साथ मेरी तुलना करनी उचित नहीं है। आपने लिखा कि मेरी श्रद्धाकी ही कमी है, सो ठीक ही है, मैं तो ऐसी श्रद्धाके लायक हूँ भी नहीं, इस न्यायसे श्रद्धा कम होनी उचित ही है।

आपने लिखा कि ऐसी बातें लिखें, जिनसे भगवान् प्रकट हो जायँ, किन्तु जिन बातोंके लिखनेसे भगवान् प्रकट हो जायँ वैसी बातें न तो मेरे हृदयमें प्रकट ही होती हैं और न मैं इसका पात्र ही हूँ; इसलिये ऐसी बातें कैसे लिखूँ ? आपके प्रश्नोंके उत्तर इस प्रकार हैं—

प्रश्न—भगवान्‌की निरन्तर स्मृति बनी रहे इसका मुख्य उपाय तथा इसके सहायक और बाधक क्या-क्या हैं ? लिखनेकी कृपा करें !

उत्तर—भगवान्‌की निरन्तर स्मृतिके लिये भगवान्‌में अनन्य प्रेम ही मुख्य उपाय है। इसमें वैराग्य, सत्सङ्ग, जप और स्वाध्याय आदि तो सहायक हैं और विषयोंका तथा विषयी, पामर और नास्तिक पुरुषोंका सङ्ग एवं विषयासक्ति, अभिमान, संशय, भ्रम और अज्ञान आदि इसके बाधक हैं। चिट्ठीमें विस्तारसहित लिखनेमें बहुत समय लग सकता है और पूरी बात लिखी भी नहीं जा सकती; अतः कभी मिलना हो तो इस विषयमें बातचीत कर सकते हैं।

प्र०—निरन्तर सत्सङ्ग होनेका क्या उपाय है और सर्वोत्तम सत्सङ्ग किसे कहते हैं ?

उ०—पूर्वकृत पुण्योंके प्रभावसे एवं ईश्वर और महात्माओंकी कृपासे तथा श्रद्धा और प्रेमके होनेसे निरन्तर सत्सङ्ग हो सकता है। आचरणमें लानेके उद्देश्यसे श्रद्धा और प्रेमपूर्वक किया हुआ महापुरुषोंका सङ्ग ही सर्वोत्तम सत्सङ्ग है तथा उनका पुनः-पुनः मनसे मनन करके उत्साहपूर्वक आचरणमें लाना उससे भी बढ़कर है।

प्र०—गीताप्रेसके कामको कोई भगवान्‌का काम समझकर करना चाहे तो वह कैसे करे ?

उ०—इसका उद्देश्य केवल भगवद्भक्तिविषयक साहित्यके प्रचारद्वारा जनतामें प्रेम, भक्ति, ज्ञान तथा सदाचारका विस्तार करना है। इसकी आमदनी भी धर्म-कार्य एवं भगवान्‌के गुण, प्रभाव, नाम, रूप, लीला, रहस्य आदिके प्रचारमें ही व्यय की जाती है। इसमें किसीका व्यक्तिगत स्वार्थ न होनेसे इसको भगवान्‌का काम समझकर किया जा सकता है।

प्र०—क्या भगवान्‌का ध्यान और काम दोनों साथ-साथ हो सकते हैं ?

उ०—हाँ, यदि भगवान्‌में पूर्ण श्रद्धा और प्रेम हो तो निरन्तर भगवान्‌का ध्यान रहते हुए ही संसारके सब काम हो सकते हैं।

प्र०—प्रतिकूल पदार्थोंकी प्राप्तिमें द्वेष और अनुकूल पदार्थोंकी प्राप्तिमें राग होता है, इनका विनाश होकर समता कैसे हो ?

उ०—प्रत्येक क्रिया, पदार्थ और परिस्थितिकी प्राप्तिमें पद-पदपर भगवान्‌की अपरिमित दयाका अनुभव करनेसे भगवान्‌में श्रद्धा-विश्वास होकर प्रेम होनेपर तथा यह माननेसे कि अनिच्छा या परेच्छासे जो कुछ भी अनिष्ट होता है वह भगवान्‌का ही किया हुआ मेरे हितके लिये मङ्गलमय विधान है, भगवान् मेरे सुहृद् हैं, ऐसा विश्वास हो जानेपर किसी भी प्रतिकूलताकी प्राप्तिमें किञ्चित् भी द्वेषबुद्धि नहीं रह सकती। तथा मान, बड़ाई, पूजा, प्रतिष्ठा आदि-में मेरा बड़ा भारी अहित है, इसलिये इनको स्वीकार करनेमें भगवान्‌की सम्मति नहीं है, यह जान लेने-पर भगवान्‌की प्रसन्नता चाहनेवालेकी मान, बड़ाई, पूजा-प्रतिष्ठा आदि अनुकूलताकी प्राप्तिमें किञ्चित् भी रागबुद्धि नहीं रह सकती। इस प्रकार राग-द्वेषका नाश होकर समताकी प्राप्ति हो जाती है।

प्र०—जिसे भगवान्‌के एक बार दर्शन हो जाते हैं, उसे फिर जब वह चाहे तब दर्शन हो सकते हैं या नहीं ?

उ०—भावसे तो जब चाहे तभी दर्शन हो सकते हैं, किन्तु स्वरूपसे प्रत्यक्ष दर्शन तो तभी हो सकते हैं, जब कि भक्तने इस प्रकारका वर प्राप्त कर लिया हो। नहीं तो दर्शन देना भगवान्‌की इच्छापर निर्भर है।

प्र०—भगवान्‌का भजन करना ही सर्वोत्तम है, ऐसा निश्चय किस प्रकार हो सकता है ?

उ०—भगवान् क्षर-अक्षररूप जड़-चेतन, स्थावर-जङ्गम समस्त संसारसे श्रेष्ठ हैं, इस बातका महात्माओंकी कृपासे तात्त्विक ज्ञान हो जानेपर तथा भगवान्‌के गुण, प्रभाव जानकर उनका भजन करनेसे 'उनका भजन करना सर्वोत्तम है' ऐसा विश्वास हो सकता है। इसका विशेष तात्पर्य समझनेके लिये गीता-तत्त्वाङ्क अध्याय १५ श्लोक १६ से १९ तकका अर्थ देख सकते हैं।

प्र०—जबतक कोई किञ्चित् भी असत्य बोलता है या छिप-कर शास्त्रनिषिद्ध कोई भी कार्य करता है तो ऐसी परि-स्थितिमें वह अपनेको नास्तिक समझे या आस्तिक ?

उ०—ऐसी स्थितिमें न तो उसे पूरा आस्तिक ही कहा जा सकता है और न नास्तिक ही; क्योंकि नास्तिक तो इसलिये नहीं कहा जा सकता कि वह जो कुछ छिपाता है उसे वह पाप समझता है, और वह छिपकर पाप करता है, इसलिये पूरा आस्तिक भी नहीं कहा जा सकता। अतः उसे मध्यम श्रेणीका समझना चाहिये।

प्र०—यदि आप मुझे भगवान्‌के अस्तित्वमें और उनके अनन्त गुणोंमेंसे, किसी भी एक गुणमें विश्वास करा दें तो मैं भगवान्‌को शीघ्र ही प्राप्त कर सकता हूँ; उनके लिये मर मिटनेको प्रस्तुत हो जाऊँ ऐसा प्रतीत होता है।

उ०—आपका लिखना बहुत ठीक है, विश्वास हो जानेपर ऐसा हो जाना बहुत सम्भव है। किन्तु यह मेरी सामर्थ्यके बाहरकी बात है, अतः इसके लिये भगवान्‌की शरण होकर एकान्तमें आर्तस्वरसे गद्गद होकर उनसे प्रार्थना करनी चाहिये। भगवान् ऐसा विश्वास करा सकते हैं।

प्र०—महापुरुषोंका ध्यान और उनकी मानसिक पूजा करने-से भी लाभ होता है क्या ? यदि होता है तो क्या लाभ हो सकता है, क्या भगवान्‌के दर्शन हो सकते हैं ?

उ०—महापुरुषोंके ध्यान और पूजासे भगवान् प्रसन्न होते हैं, तथा भगवान्‌की कृपासे उनके दर्शन भी हो सकते हैं, किन्तु उससे भी बढ़कर भगवान्‌की पूजा और ध्यान करना है; क्योंकि श्रद्धा, भक्ति-पूर्वक की हुई भगवान्‌की मानसिक पूजा और ध्यानसे तो अवश्य ही भगवान्‌के दर्शन हो जाते हैं।

प्र०—मैं तो प्रेमी नहीं हूँ, पर भगवान् तो प्रेमी हैं। जिसमें प्रेम होता है वह मिले विना कैसे रह सकता है ? इस दृष्टिसे प्रेमी प्रभु मुझे दर्शन दिये विना कैसे रह रहे हैं ?

उ०—निश्चय ही प्रभु बड़े प्रेमी हैं, इसलिये जो प्रेमके पात्र हैं तथा प्रभुसे प्रेम करनेकी तीव्र लालसावाले हैं, उनसे मिलनेके लिये प्रभु बाध्य हैं। प्रेम न करनेवालोंसे भी यदि मिलते तो फिर सभीसे मिलना चाहिये था, किन्तु ऐसा विधान नहीं है। यही कहा है—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

(गीता ४ । ११)

अतएव यदि आपका प्रभुमें प्रेम नहीं है तो आपका यह दावा नहीं चल सकता।

भगवान् प्रेमी हैं, इस बातका दृढ़ निश्चय हो जानेपर मनुष्य उनसे मिले विना रह भी कैसे सकता है ? अत: यही मानना पड़ेगा कि यह केवल कथनमात्र ही है कि भगवान् प्रेमी हैं; वास्तवमें हमारे विश्वासकी ही कमी है।

प्र०—भगवान्‌के दर्शन होनेमें विलम्ब क्यों हो रहा है ?

उ०—श्रद्धा और प्रेमकी कमीके कारण साधनमें शिथिलता रहनेसे ही भगवान्‌के दर्शन होनेमें विलम्ब हो रहा है।

प्र०—प्रभुके जल्दी-से-जल्दी दर्शन होनेका उपाय क्या है ?

उ०—भगवान्‌के नामका जप, गुण-प्रभावसहित स्वरूपका ध्यान और लीलाओंका चिन्तन (मनन), सत्पुरुषोंका सङ्ग, सबको भगवान् समझकर उनकी निष्कामभावसे सेवा करना यही सबसे सरल और जल्दी-से-जल्दी भगवान्‌के दर्शन होनेका उपाय है।

प्र०—आप मेरे मनकी बात जानते हैं, मुझे ऐसा विश्वास करा दीजिये, ऐसा विश्वास हो जानेपर निषिद्धाचरण छूट सकते हैं।

उ०—मैं तो किसीके मनकी बात नहीं जानता, फिर इस प्रकारका विश्वास कैसे करवा सकता हूँ। सबके मनकी बात तो केवल अन्तर्यामी प्रभु ही जानते हैं, अत: इस बातके विश्वासके लिये उन्हींसे प्रार्थना करनी चाहिये। इस प्रकारका विश्वास होनेपर निषिद्धाचरण सर्वथा बन्द हो सकते हैं।

प्र०—क्या केवल नाम-जप करनेसे ही भगवान्‌का ध्यान हो सकता है ? यदि हो सकता है तो कितने नाम-जपसे ?

उ०—नाम-जप करते-करते ध्यान हो सकता है। किन्तु इसके लिये संख्याका नियम नहीं बतलाया जा सकता, क्योंकि यह सब मनुष्यके पूर्वसंस्कार, प्रकृति तथा श्रद्धा और प्रेमपर निर्भर है। यदि पाप अधिक हैं, स्वभाव खराब है और श्रद्धा-प्रेमकी कमी है तो ध्यान विलम्बसे होगा और पाप कम हैं, स्वभाव भी अच्छा है तथा श्रद्धा और प्रेम भी पर्याप्त है तो परमात्माके स्वरूपमें मन और बुद्धि शीघ्र ही स्थिर हो सकते हैं।

प्र०—वाणी, भोजन और शयनका संयम किस प्रकार हो सकता है ?

उ०—अकारण अधिक बोलना प्रमाद है। अधिक भोजन और शयनसे निद्रा-आलस्यकी वृद्धि होती है। निद्रा, आलस्य और प्रमाद ये तीनों ही तमोगुणके कार्य होनेसे पतन करनेवाले हैं—'अधो गच्छन्ति तामसा:' (गीता १४ । १८) इस प्रकार विचार करनेसे आवश्यकतासे अधिक खाना, सोना और बोलना कम हो सकता है।

प्र०—निरन्तर ध्यानकी मस्ती किस प्रकार बनी रह सकती है ?

उ०—संसारमें वैराग्य, सत्पुरुषोंका सङ्ग और श्रद्धा-प्रेमपूर्वक नामका जप करनेसे निरन्तर ध्यानकी मस्ती बनी रह सकती है !

गीतामें कर्मयोग

(लेखक—श्रीवसन्तकुमार चट्टोपाध्याय एम्० ए०)

कर्मयोगके विवेचनमें दो प्रश्नोंका समाधान मुख्य हो जाता है—प्रथम यह कि कौनसे कर्म किये जायँ और द्वितीय यह कि उनके करनेकी उचित विधि क्या है? इस निबन्धमें हम यह जानना चाहते हैं कि श्रीमद्भगवद्गीताद्वारा इन दोनों प्रश्नोंपर किस रूपमें प्रकाश डाला गया है।

कौन-सा कर्म किया जाय? इस प्रथम प्रश्नके सम्बन्धमें हम गीतामें निम्नलिखित उत्तर पाते हैं—

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥

अर्थात् 'शास्त्र ही इस विषयमें प्रमाण हैं कि कौन-से कार्य किये जायँ और कौनसे न किये जायँ। तुम इस विषयमें शास्त्रकथित विधानको जान लो और तब कर्म करनेमें तत्पर हो।'

हम इस संसारमें इसके पूर्व असंख्यों बार उत्पन्न हो चुके हैं। उन पूर्वजन्मोंमें कभी हम मनुष्य हुए, कभी पशु और कभी कीटादि। उन जन्मोंमें हमने जो कुछ कर्म किये, हमारे मनमें संस्काररूपसे वे अब भी विद्यमान हैं और हमसे उचित-अनुचित कार्य कराते रहते हैं। आध्यात्मिक उन्नतिके लिये यह आवश्यक है कि कर्मकी वासनाओं और आसक्तियोंसे हम सर्वथा मुक्त हो जायँ। इनसे मुक्त होनेका उपाय यही है कि हम शास्त्रविहित कर्म ही करें। क्योंकि शास्त्रविहित कर्म करनेमें हमें उसके विधि-निषेधोंका ध्यान रखते हुए आत्मसंयम करना होगा, और परिणाममें हम अनेक ऐसे अनुचित कर्मोंसे बच जायँगे जो स्वाभाविक प्रवृत्तिवश किये जाते हैं। इस उपायसे हम क्रमशः इन्द्रियों और मनके प्रभावसे सुरक्षित हो जायँगे और हमारी वासनाएँ तथा आसक्तियाँ क्षीण पड़ने लगेंगी। इस प्रकार हम पूर्वजन्मके अपने अशुभ कर्मोंके फलसे बच जायँगे। ईशोपनिषद्में निम्नाङ्कित मन्त्र इस सम्बन्धमें आया है—

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयꣳ सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते॥

अर्थात् जो विद्या और अविद्या दोनोंको जान लेता है, वह अविद्याके द्वारा मृत्युका अतिक्रमण कर सकता है और विद्याद्वारा शाश्वत सुखका उपभोग कर सकता है।

यहाँ विद्याका अर्थ ज्ञान और अविद्याका कर्म है। शास्त्रोक्त कर्म करना और ब्रह्मविद्या (ज्ञान) की शिक्षा प्राप्त करना दोनों ही आवश्यक हैं। ऊपरके मन्त्रमें कहा है कि कर्मद्वारा मनुष्य मृत्युको पार कर सकता है। इसका तात्पर्य यह है कि शास्त्रविहित कर्मके द्वारा हम सहजात अनुचित प्रवृत्तियोंसे बचकर रह सकते हैं और इस प्रकार उन प्रवृत्तियोंके फलस्वरूप होनेवाले जन्म-मृत्युसे मुक्त हो सकते हैं। जब अन्तःकरण (शास्त्रीय कर्मोंद्वारा) शुद्ध हो जाय तभी ब्रह्मविद्याका अभ्यास करके ब्रह्मत्वकी प्राप्ति की जा सकती है (यह व्याख्या श्रीरामानुजाचार्यकी की हुई है, श्रीशंकराचार्यने इसपर दूसरे ढंगसे विचार किया है)।

इस जन्ममें हम जो भले-बुरे कर्म करते हैं, उनका भोग अधिकांश स्वर्ग या नरकमें ही हमें करना पड़ता है। किन्तु स्वर्ग या नरकमें रहकर कर्मभोग कर चुकनेपर भी कुछ कर्मोंका भोग शेष रह जाता है। ये अवशिष्ट कर्म ही हमारे इस जन्मके अदृष्ट बनते हैं। इस तथ्यका छान्दोग्योपनिषद्के निम्नलिखित वाक्योंमें उल्लेख किया गया है—

तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन्ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वाथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरञ्श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चाण्डालयोनिं वा। (५।१०।७)

अर्थात् 'जो रमणीय कर्म (सत्कर्म) करते हैं वे रमणीय (उच्च) योनिमें जन्म लेते हैं—जैसे ब्राह्मण-योनि, क्षत्रिययोनि, वैश्ययोनि आदि, और जो असत्कर्म करते हैं वे कूकर, सूकर अथवा चाण्डालादि अशुभ योनियोंमें जन्म लेते हैं।'

जो ब्राह्मणयोनिमें उत्पन्न होते हैं उन्होंने पूर्व-जन्ममें एक विशेष प्रकारके कर्म किये होते हैं। जो क्षत्रिययोनिमें जन्म लेते हैं, उन्होंने कुछ दूसरे प्रकारके कर्म किये होते हैं। यही कारण है कि शास्त्रोंमें ब्राह्मणों-के लिये एक प्रकारके, क्षत्रियोंके लिये दूसरे, वैश्योंके लिये तीसरे और शूद्रोंके लिये चौथे प्रकारके कर्मोंका विधान किया गया है। वर्णाश्रमधर्मका यह मूल सिद्धान्त है। ब्राह्मणको ब्राह्मणके कर्म करनेसे ही पुण्यकी प्राप्ति होगी। किन्तु यदि कोई क्षत्रिय ब्राह्मणका कर्म करने लगे, जो क्षत्रियके लिये अविहित है, तो वह पुण्यके बदले पापका भागी होगा। इसीलिये जब अर्जुनने कहा कि 'मैं अपने सम्बन्धियोंको युद्धमें नहीं मारूँगा, उन्हें मारनेकी अपेक्षा मैं भिक्षा-वृत्तिसे जीवननिर्वाह करना उत्तम समझूँगा', तब श्रीकृष्णने अर्जुनको समझाया कि यदि तुम धर्मयुद्धमें अपने सम्बन्धियोंका वध भी करोगे तो भी पुण्यके भागी बनोगे। क्योंकि तुम क्षत्रिय हो और शास्त्रोंमें क्षत्रियोंका यह कर्तव्य लिखा है कि वह धर्मयुद्ध करें। भिक्षाद्वारा जीविका करना तो शास्त्रोंमें ब्राह्मणोंका धर्म बतलाया गया है। ब्राह्मण यदि ऐसा करे तो उसे पुण्य होगा। किन्तु क्षत्रिय यदि युद्ध-भूमिसे भाग जाय और भिक्षा-वृत्ति धारण कर ले तो वह पापका भागी होगा।

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।

'हे अर्जुन! यदि तुम्हारे सहज कर्म (जो तुम्हारे साथ ही उत्पन्न हुए हैं) दोषपूर्ण भी प्रतीत हों तो उन्हें छोड़ना नहीं चाहिये।' अर्थात् तुम जन्मसे क्षत्रिय हो, तुम्हें युद्धरूपी अपने स्वाभाविक कर्मका त्याग नहीं करना चाहिये, यद्यपि युद्धमें हिंसा अवश्य होती है।

गीतामें इस विषयका विशेष विवरण नहीं प्राप्त होता कि किन परिस्थितियोंमें कौन-से विशेष कर्म करने चाहिये। इसका कारण यही है कि गीता कोई स्मृति-ग्रन्थ नहीं है। स्मृतियोंमें इस बातका सविस्तार उल्लेख किया गया है कि भिन्न-भिन्न व्यक्तियोंके लिये भिन्न-भिन्न परिस्थितियोंमें कौन-से कर्म विधेय हैं और कौन-से त्याज्य। गीताको केवल यह मूल सिद्धान्त निर्दिष्ट करके ही सन्तोष करना पड़ा है कि मनुष्यको शास्त्रसम्मत कर्म ही करने चाहिये। गीतामें संक्षिप्तरूपसे यह भी बताया गया है कि चारों वर्णोंके लिये कौन-कौन-से कर्म विहित हैं–करने योग्य हैं। इस सम्बन्धमें यह बतला देना प्रासङ्गिक होगा कि गीताके मतमें स्पष्टतः जन्मसे वर्ण-व्यवस्था मानी गयी है। यदि वर्णव्यवस्था जन्मसे न होती तो श्रीकृष्ण अर्जुनको यह नहीं कह सकते थे कि 'अर्जुन! तुम क्षत्रिय हो। युद्ध करना तुम्हारा स्वधर्म है। यदि तुम रणक्षेत्रसे भागकर भिक्षा-वृत्ति ग्रहण करोगे तो यह तुम्हारे लिये पापाचरण होगा।' यदि जन्मसे वर्णका विधान न होता तो जो कोई युद्ध करता वही क्षत्रिय कहलाता और जो पूजा-पाठ, भिक्षा आदि वृत्तियोंका अवलम्बन करता, वही ब्राह्मण कहलाता। ऐसी अवस्थामें किसीके 'स्वधर्मत्याग' का प्रश्न ही न उठता। श्रीकृष्णने कहा है—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।

अर्थात् 'मैंने गुण और कर्मके विभागसे चारों वर्णोंकी सृष्टि की है।'

कुछ लोग इसका यह अर्थ लगाते हैं कि किसीके वर्णका निर्णय उसके इस जन्मके 'गुण' और 'कर्म'-से करना चाहिये; किन्तु परीक्षा करनेपर यह बात सत्य नहीं सिद्ध होती। क्योंकि जबतक वर्णका निश्चय पूर्वजन्मके कर्मोंसे न किया जाय तबतक यह कहना नहीं बनता कि किसी व्यक्तिको अपने वर्णानुसार शास्त्र-विहित कर्म करनेसे पुण्य और न करनेसे पापका भागी बनना पड़ता है। न यही कहा जा सकता है कि 'जन्मतः जो कर्म तुम्हें करने हैं उन्हें न छोड़ो, नहीं तो पाप होगा।' इस कारण यही निर्णय करना पड़ेगा कि इस श्लोकमें 'गुण' और 'कर्म' पूर्वजन्मके 'गुण-कर्म' हैं, इस जन्मके नहीं। इसका आशय यह है कि भगवान् प्रत्येक व्यक्तिके पूर्वजन्मोंके गुण और कर्मका विचार करके उन्हींके अनुसार उसे किसी खास वर्णमें उत्पन्न करते हैं। जन्म कोई आकस्मिक घटना नहीं है। यही अर्थ करनेपर इस श्लोककी सङ्गति गीताके प्रधान सिद्धान्तोंसे ठीक-ठीक बैठ सकती है और उपनिषद्के ऊपर उद्धृत किये हुए वाक्यसे भी इसका मेल मिल सकता है, अन्यथा नहीं।

भगवान् श्रीकृष्णने यह कहा है कि शास्त्रविहित कर्म ही करने चाहिये। किन्तु प्रश्न यह है कि शास्त्र क्या हैं ? शास्त्रोंमें वेद, पुराण, स्मृति, इतिहास (रामायण और महाभारत आदि इतिहास कहे जाते हैं) आदिकी गणना होती है। वेद तो हिन्दू-धर्मके आदिस्रोत हैं। किन्तु अब वेदोंके अनेक अंश अप्राप्य हैं। उन लुप्त अंशोंका आशय पुराणों, स्मृतियों और इतिहासग्रन्थोंकी सहायतासे समझना चाहिये, क्योंकि ये ग्रन्थ उन ऋषियोंद्वारा निर्माण किये गये हैं जो वेदोंके ज्ञाता थे, और सभी वेदोंका अनुसरण करनेवाले हैं। दिव्य ज्ञानके बिना यह नहीं कहा जा सकता कि पूर्वजन्ममें कौन-से कर्म करनेपर इस जन्ममें कौन-सा वर्ण या जाति प्राप्त होती है। न यही कहा जा सकता है कि इस जन्ममें कौन-सा कर्म करनेपर पूर्वजन्मके अशुभ कर्मोंका मार्जन हो सकेगा। यदि शास्त्रमें कथित कोई कर्म अनुचित प्रतीत हो या शास्त्रमें निषिद्ध कोई कर्म उचित प्रतीत हो तो समझना चाहिये कि यह हमारी गलती है, हमारी ही बुद्धिका भ्रम है। हमारा मन आसक्तियों और राग-द्वेषसे भरा हुआ है। इसी कारण भली वस्तुएँ भी कभी-कभी बुरी और बुरी भली मालूम पड़ती हैं। किन्तु भगवान्की आज्ञा कभी अनुचित नहीं हो सकती। ऋषियोंने शास्त्रोंमें भगवान्की आज्ञाओंका ही उल्लेख किया है। वे स्वयं नितान्त निःस्पृह और राग-द्वेषसे शून्य थे। अतः भगवान्की आज्ञाओंको समझनेमें वे कदापि भूल नहीं कर सकते थे।

अबतक हम यह विचार कर रहे थे कि गीतामें किन कर्मोंके करनेका आदेश दिया गया है। वे कर्म किस रीतिसे किये जाने चाहिये, इस सम्बन्धमें भी गीताकी शिक्षाएँ बड़ी मूल्यवान् हैं; इतना ही नहीं, वे संसारभरके धार्मिक साहित्यमें अपूर्व हैं। प्रथम तो हम अपना कर्तव्य-कर्म करते हुए भी कर्मके प्रति आसक्ति छोड़ दें। दूसरे शब्दोंमें हम कर्म इसलिये न करें कि वह हमें अच्छा लगता है, वरं इसलिये करें कि वह हमारा कर्तव्य है। 'तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।' अर्थात् तू सदैव अनासक्त होकर कर्तव्य-कर्म कर। कर्तव्यके प्रति आसक्ति भी हानिकर हो सकती है; क्योंकि हम उन लोगोंके प्रति क्रुद्ध हो सकते हैं जो हमारे कर्तव्य-कर्मके अनुष्ठानमें रुकावट डालते हों। दूसरी बात यह है कि हमें अपने कर्मोंके फलका भी त्याग कर देना होगा। 'युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।' अर्थात् योगी कर्मके फलकी आकांक्षा छोड़कर परम शान्ति प्राप्त करता है। कर्तव्यका पालन हम इसलिये करें कि हमें ऐसा करना चाहिये। उसका फल

भगवान्‌के हाथमें है। भगवान्‌की मर्जी होनेपर ही हमारे कर्म सफल होंगे, अन्यथा असफल होंगे। किन्तु वे सफल हों या असफल, इससे हमारे चित्तमें कोई विकार नहीं होना चाहिये। कर्मयोगी जब कोई कर्म करता है, तब उसका लक्ष्य चित्तको शुद्ध करना-मात्र होता है। यदि शास्त्रविहित कर्म ठीक तरहसे किये जायँ तो मन सारी वासनाओंसे छूट जायगा, सांसारिक आसक्तियाँ मिट जायँगी और भगवान्‌को छोड़कर इच्छा करने योग्य कोई वस्तु न रह जायगी। जब हम किसी दूसरेके हितका कार्य करें तब भी यही सोचें कि 'हमारी शक्ति सीमित है। हमारी बुद्धि संकुचित है, हम किसी दूसरेका कष्ट कैसे दूर कर सकते हैं? हममें यह जाननेकी शक्ति भी कहाँ है कि हम किस उपायसे दूसरेका दुःख दूर कर सकेंगे। भगवान्‌की शक्ति सीमारहित है। उनकी दया अपार है। हम अहङ्कारवश यह समझनेकी मूर्खता न करें कि भगवान् जिस कष्टको दूर नहीं कर सकते उसे हम दूर कर देंगे। हम जो अपनी समझसे दूसरोंके दुःख-निवारणकी चेष्टा करते हैं, वह केवल इसलिये कि यह ईश्वरकी आज्ञा है कि हम ऐसा कार्य करें। यदि हम ऐसा करेंगे तो हमारी मलिन वासनाओंका क्षय होकर हमारा चित्त शुद्ध होगा। गीताका यह भी उपदेश है कि कर्म करते हुए हमें आत्माके वास्तविक स्वरूपको न भूलना चाहिये, जो शरीर, इन्द्रियों और मनके परे है। कर्म तो सब-के-सब शरीर, इन्द्रिय या मनके द्वारा ही होते हैं; किन्तु अज्ञानी यह समझते हैं कि आत्मा कर्म करता है। 'अहङ्कार-विमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते।' अर्थात् अहङ्कारमें डूबा हुआ मनुष्य अपनेको कर्ता मानता है। बुद्धिमान् पुरुषको ऐसे अहङ्कारसे सर्वथा रहित होना चाहिये। यद्यपि उसे कर्ममें आसक्ति नहीं होनी चाहिये, न कर्मफलकी आकांक्षा करनी चाहिये और न 'कर्म मैं करता हूँ' यह अहङ्कार ही होना चाहिये; किन्तु कर्मके सम्पन्न होनेके लिये जो उचित उद्योग और शक्ति आवश्यक है, उसमें शिथिलता नहीं आनी चाहिये। आदर्श कर्मयोगीमें कर्म करनेकी पूरी शक्ति और धैर्य होना चाहिये। यदि ऐसा हो तो वह कर्मयोगी दूसरोंकी अपेक्षा अपने उद्योगोंमें अधिक सफल हो सकेगा। साधारणतः जिन मनुष्योंमें कार्य करनेका साहस और शक्ति अधिक होती है उनमें उन कार्योंके प्रति आसक्ति और उनके फलोंकी कामना भी अधिक होती है। किन्तु आसक्ति और कामना कार्यमें सहायक न होकर बाधक ही सिद्ध होती हैं। कर्मयोगी उद्योगमें तो कमी नहीं करता और अनासक्तरूपसे और निष्काम भावसे कर्म करता है। आसक्ति और कामना इन दोनोंके त्यागसे उसके कार्योंमें सफलताकी सम्भावना बहुत बढ़ जाती है।

जो पुरुष कर्ममात्रका त्याग कर देना चाहते हैं, उनका कथन है कि प्रत्येक कर्म बन्धनकारक है; क्योंकि प्रत्येक कर्मका फलभोग अवश्यम्भावी है। इसीलिये वे कर्मसे ही छुट्टी ले लेना चाहते हैं। किन्तु गीता कहती है कि कर्ममात्रका त्याग कर देना सम्भव नहीं है; क्योंकि यदि वैसा किया जाय तो मनुष्य जीवन धारण नहीं कर सकता। और साथ ही कर्मका त्याग कर देनेभरसे कर्मके फलका त्याग नहीं हो जाता। यदि हम भोजन करना बंद कर दें पर मनसे भोजनका चिन्तन करते रहें तो यह चिन्तन भी एक कर्म हो जायगा, जिसका फल हमें अवश्य प्राप्त होगा। गीतामें इस रहस्यका स्पष्टीकरण कर दिया गया है कि कर्मका फल हमें क्यों भोगना पड़ता है। वह रहस्य यह है कि हमारे अंदर कर्मके प्रति आसक्ति होती है। फलकी कामना होती है और यह अज्ञान होता है कि हम कर्म करनेवाले हैं। यदि हम इन तीनों दोषोंको दूर कर सकें तो हमें कर्मफलका भोग नहीं करना होगा।

यदि हम शास्त्रविहित कर्मोंको उपर्युक्त विधिसे करें तो हमारा चित्त शुद्ध हो जायगा। ऐसे कर्मोंका फल हमें नहीं भोगना पड़ेगा। बल्कि ऐसे कर्म हमें पूर्वकृत कर्मोंके बन्धनसे भी छुड़ा देंगे।

अस्तु, हमने देख लिया कि इस निबन्धके आरम्भमें जो दो प्रश्न कर्मके सम्बन्धमें उपस्थित किये गये थे उनके सम्बन्धमें गीताका क्या उत्तर है।

'कौन-सा कर्म किया जाय?' इस प्रश्नका उत्तर गीता यह देती है कि 'वे ही कर्म किये जायँ जिनका विधान शास्त्रोंमें है।' और 'कर्म किस रीतिसे किये जायँ?' इस दूसरे प्रश्नके उत्तरमें गीताजीका आदेश यह है कि 'कर्मके प्रति आसक्तिरहित होकर और फलकी आकांक्षाका त्याग कर कर्म करो। कर्म करते हुए यह भी ध्यान रक्खो कि कर्म करनेवाले शरीर और इन्द्रियाँ हैं, आत्मा कोई कर्म नहीं करता। किन्तु कर्म करो पूर्ण सामर्थ्य और धैर्यके साथ। शिथिलता कदापि न आने दो।'

जीवन-यात्रा

(लेखक—हितैषी अलावलपुरीजी)

जीवन क्या है? एक पहेली, इसे समझनेको मनुष्य घरसे निकला। प्रात: सोकर उठना, स्नान करके पेट भर लेना, दिनभर परिश्रम करना, शामको घर लौट आना, खा-पीकर रातको सो जाना और नींद या प्रमादमें रात व्यतीत कर देना आदि उसका रोजका प्रोग्राम बन गया।

× × × ×

उसने बहुत-सी यात्रा कर ली, परन्तु 'मंज़िल' अभी बहुत दूर थी और वह थक गया था। एक दिन एकान्तमें बैठकर वह सोचने लगा 'क्या जीवनका यही उद्देश्य है? क्या मैं इसीलिये उत्पन्न हुआ हूँ कि दिन पैसा कमानेमें और रात विषयभोगमें व्यतीत कर दूँ? यह कुछ तो—यह सब कुछ तो पशु भी करते हैं फिर मनुष्यको श्रेष्ठतम क्यों कहा गया है? वह सोचते-सोचते इस परिणामपर पहुँचा कि अवश्य उसकी यात्रा बिना मंज़िलके नहीं—फिर वह मंज़िल क्या है? कहाँ है? उसतक कैसे पहुँचा जाय? वह परेशान हो गया। अन्तरात्मासे आवाज़ आयी परम सुख, आनन्द, मुक्ति। हाँ, हाँ, मुक्तिके लिये ही तो यह यात्रा प्रारम्भ की थी—'अमरपद' तक पहुँचनेका नाम ही तो 'मंज़िले मकसूद' है। मनुष्य यही तो जानना चाहता है कि उसकी यात्राका अन्त क्या है और भिन्न-भिन्न रूपों और जीवनोंमें उसकी यह यात्रा जारी न रहकर कहीं समाप्त हो जाय।

× × × ×

इस मंज़िलतक पहुँचनेके लिये मनुष्य जो मार्ग ग्रहण करता है वह 'प्रेय-मार्ग' है परन्तु वास्तविक पथ है 'श्रेय-मार्ग', जो बहुत कठिन है। काम, क्रोध, मोह, लोभ और अहङ्कारके काँटे उसमें बिछे हैं, इस मार्गको छोड़कर वह 'प्रेय-मार्ग' पर चल पड़ा। थोड़ी दूर जाकर ही उसे ज्ञात हो गया कि वह मार्ग भूल गया है। वह पछताने लगा—इससे अब क्या लाभ? जीवन समाप्त हो चुका था, अभी यात्रा बहुत लम्बी थी—और मंज़िल बहुत दूर—

जगत्का विश्वव्यापी दैनिक महायुद्ध किंवा ईश्वरकी अचिन्त्य क्रियाशीलता

(लेखक—देवर्षि पं० श्रीरमानाथजी शास्त्री)

[पृष्ठ ११६६ से आगे]

भारतवर्षमें मनोवृत्तियोंकी अनर्गल प्रवृत्तियोंका अनेक प्रकारसे दमन कर दिया गया है। यह दमन वेदादि शास्त्रोंके आज्ञा-पालनसे स्वतः ही हो जाता है। नियमोंका तात्पर्य वृत्तिसङ्कोचमें ही है। नियमोंमें कोई ग्रहणात्मक हैं और कोई त्यागात्मक। असुरोंके यहाँ सब नियम ग्रहणात्मक ही हैं। वहाँ किसी कामका निषेध ही नहीं है। उनका सिद्धान्त है कि मनुष्य सब कुछ कर सकता है, 'नहीं हो सकता' यह उनकी डिक्सनरी (शब्दकोष) में है ही नहीं। नियमोंको बदल देना उनकी इच्छापर निर्भर है। देवसृष्टि नियमोंके अधीन है किन्तु आसुरसृष्टि नियमोंको अपने अधीन समझती है। वहाँ मनुष्य स्वयं प्रजापति बना हुआ है। अतः असुरसमुदाय क्रियाशील (योद्धा) अधिक हैं। उसकी क्रिया कहीं नहीं रुकती, पर देवसृष्टिकी क्रियाशीलतापर अङ्कुश लगा दिया गया है, उसकी क्रियाशीलता परिमित है। इसीसे युद्धश्रुतिमें कहा है—'ज्यायसा असुराः' 'कनीयसा एव देवाः'। देवगण नित्य-पुरुषार्थपर्यवसायी युद्ध चाहते हैं, केवल अनियन्त्रित युद्ध ही नहीं। अतएव उनके युद्ध (क्रियाशीलता) में विधि-निषेध हैं—रुकावट हैं।

यह हम पहले कह चुके हैं कि 'हन्तासुरान् यज्ञे उद्गीथेनात्ययामः–' चलो अब हम धर्ममार्गमें प्राणबलसे इन असुरोंको हरावें। मनोवृत्ति और इन्द्रियवृत्तियोंको शास्त्रोक्त नियमोंके अनुसार चलाना—यह यज्ञ है, धर्ममार्ग है। किन्तु फलपर्यन्त पहुँचनेके लिये इस मार्गमें प्राणबलकी आवश्यकता है। मनुजीके बताये हुए अहिंसा, सत्य आदि धर्मयज्ञ हैं, किन्तु इनके आचरणमें भी प्राणबलकी अपेक्षा है, दश प्राण शरीरके दश स्थानोंमें रहते हैं। पर ये सब मुख्य प्राण—आसन्य प्राणके अंश हैं। ये प्राण और ज्ञान दसों इन्द्रियवृत्तियोंके साथ रहते हैं। किन्तु इन सबका राजा आसन्य प्राण है। यह भगवद्रूप है। इसपर मनोवृत्तिका जोर नहीं चलता। ये सुर लोग पहले वागिन्द्रिय—प्राणके समीप गये—

'ते ह वाचमूचुस्त्वं न उद्गायेति। तथेति, तेभ्यो वागुद्गायत्। यो वाचि भोगस्तं देवेभ्य आगायत्। यत्कल्याणं वदति तदात्मने। ते विदुः। अनेन वै न उद्गात्रात्येष्यन्तीति। तमभिद्रुत्य पाप्मनाऽविध्यन्। स यः स पाप्मा। यदेवेदमप्रतिरूपं वदति स एव स पाप्मा।'

(बृहदारण्यक० १। ३। २)

अथ ह वाचमुद्गीथमुपासांचक्रिरे। ताᳬहासुराः पाप्मना विविधुस्तस्मात्तयोभयं वदति सत्यं चानृतं च। पाप्मना ह्येषा विद्धा।

(छान्दोग्य० १। २। ३)

सबसे पहले देवगण वाणीसे सहायता लेने गये। देहमें सबसे पहली इन्द्रिय वाक् है। यद्यपि समस्त इन्द्रियाँ मनोवृत्तिके संकेतानुसार ही कार्य करती हैं, क्योंकि वास्तवमें सर्वत्र मनोवृत्तिके अंश ही बँटे हुए हैं तथापि इन्द्रियोंमें ज्ञान और प्राणका अंश भी है। छान्दोग्योपनिषद्में सबसे पहले नासिक्य प्राणकी उपासना कही गयी है, तथापि हमने यहाँ वाणीके ज्ञानांशकी स्पष्टताको महत्त्व देकर बृहदारण्यककी श्रुतिको ही प्रथम स्थान दिया है। वाणी आत्माकी सेना है। आत्माका हित करे इसलिये ही इसका निर्माण हुआ है। किन्तु जब मनोवृत्ति असंकुचित—अमर्यादित हो जाती है तब वह वाणीको आत्माके हितपर नहीं रहने देती। उसे अपने मनमाने तौरपर चलाने लगती है।

अस्तु, मनकी दैवी वृत्तियाँ आत्माके हितकी आशा रखकर वाणीसे सहायता लेने गयीं और कहने लगीं कि 'त्वं न उद्गाय इति'—हे वाणि! तुम हमें यश दिलाओ। अर्थात् सत्य-ही-सत्य बोलकर आत्माका हित करो, जिससे हमें यश मिले। जब वाणी सत्य बोलती है तब उसे मर्यादित—परिमित होना पड़ता है। तभी आत्माका हित होता है और मनोवृत्तियोंका यश बढ़ता है। वाणीने देवताओंकी बात मान ली। अर्थात् सत्य बोलनेका नियम कर लिया। वाणीकी वृत्ति एक प्रकारसे संकुचित हो गयी। वाणीने स्वयं श्रम सहन करके मनोवृत्ति (दैवी) की कीर्ति बढ़ाना शुरू कर दिया। यही बात युद्धश्रुतिमें भी कही है—'तथेति तेभ्यो वागुदगायत्।'

वाणीमें सत्य ही भोग्य है। सब लोग साधारणतया सत्य ही चाहते हैं। वाणीने इतना त्याग किया कि अपनी सत्यवृत्तिकी कीर्ति देवोंके लिये गान करा दी। अर्थात् जो सत्यभाषणविषयक यश अपने लिये गान कराना चाहिये था उसे अपने लिये न कराकर, उसने मनोवृत्तिके लिये करा दिया। इसीसे जो आदमी सत्य बोलता है उसकी मनोवृत्तिको लोग अच्छा समझते हैं। 'यो वाचि भोगस्तं देवेभ्य आगायत्।' देह, इन्द्रिय, अन्तःकरण और आत्मा मिलकर अपना-आप कहा जाता है। वास्तवमें आप तो आत्मा ही है, क्योंकि इन सबमें वही मुख्य है। 'यत्कल्याणं' वदति तदात्मने।' मनुष्य जितना भी सत्य बोलता है, कल्याणकारक बोलता है, उससे आत्माका हित होने लगता है। आत्माके हितमें सबका हित है। क्योंकि आत्मा राजा है। वाणीने सत्य बोलनेका नियम कर लिया, तबसे आत्माका हित होने लगा।

'ते विदुः' यह बात असुरों (आसुरमनोवृत्तियों) ने जान ली। उन्होंने देखा, गजब हो गया। मनकी अनर्गल वृत्तियाँ ही असुर हैं। वाणी प्रभृति सब मनोवृत्तियोंके ही अधीन रहती हैं। मनोवृत्तियोंने देखा—'अनेन वै न उद्गात्रात्येष्यन्तीति' हमारा ही उद्गाता (भाट, चारण) यह वाणी है। हमारे दुश्मन देवगण हमारे उद्गाताके द्वारा हमें ही हरा देंगे—यह तो बड़ा अपमान होगा। वाणी हमारी भी तो है। इसे क्या अधिकार है कि हमारे विरुद्ध चले। हमारे दुश्मनोंका यश गान करावे। यदि वाणी इस तरह सत्य-ही-सत्य बोलती रही तो हमारा सब काम चौपट हो जायगा। अनियमित वृत्तियोंका कहीं नाम-निशान नहीं रहेगा। यह न होना चाहिये। 'तमभिद्रुत्य पाप्मनाऽविध्यन्' (बृह०)। तꣳ हासुराः पाप्मना विविधुः।' वे वाणीके पास दौड़कर गये और उसे पापमें शामिल कर लिया। वाणी अपना नियम छोड़ दे और अनर्गल बोलना स्वीकार कर ले, बस, यही वाणीका पाप्मा है। अनर्गल बोलनेमें यद्यपि आपाततः सुख मालूम होता है तथापि यह परिणाममें दुःखप्रद है, आत्माको अहितकर है। वाणी आदि वृत्तियोंपर आत्मांश (ज्ञान) और प्राणांशकी अपेक्षा मनोवृत्तिका अधिकार अधिक है। क्योंकि मनको ही इन वृत्तियोंके द्वारा आत्माकी आज्ञाओंका पालन करना पड़ता है। वह इस सेनाका सेनापति है। अतएव मनकी काम-लोभादि वृत्तियाँ इन इन्द्रिय-वृत्तियोंमें जल्दी उतर आती हैं। इसलिये कामके लालचमें आकर वाणीने मनोवृत्तिका कहना मान लिया। अब वह अनर्गल बोलनेके लोभसे फिर सत्य और असत्य दोनों बोलने लगी। देवगण यहाँ हार गये। यही बात युद्धश्रुतिमें इस तरह कही है।

स यः स पाप्मा। यदेवेदमप्रतिरूपं वदति स एव स पाप्मा। (बृहदारण्यक०)

तस्मात्तयोभयं वदति सत्यं चानृतं च। पाप्मना ह्येषा विद्धा। (छान्दोग्य०)

आत्माके अप्रतिरूप विरुद्ध बोलना ही पाप है। जो ऐसा बोलता है वह सपाप्मा है। वाणीको असुरोंने काम-भोगका लालच दिया। तब लौकिक सुख-भोगकी इच्छासे वाणीने अपना नियम छोड़ दिया। अब वह सत्य भी बोलने लगी और झूठ भी, जैसा मौका देखती वैसा ही बोलने लगती। बस, यही पाप्मा है।

जब देवोंने देखा कि यहाँ तो हमें असुरोंने हरा दिया तब वे नासिक्य प्राणसे सहायता लेने गये।

अथ ह प्राणमूचुस्त्वं न उद्गायेति। तथेति, तेभ्यः प्राण उदगायत्। यः प्राणे भोगस्तं देवेभ्य आगायत्। यत्कल्याणं जिघ्रति तदात्मने। ते विदुः। अनेन वै न उद्गात्रात्येष्यन्तीति। तमभिद्रुत्य पाप्मनाऽविध्यन्। स यः स पाप्मा। यदेवेदमप्रतिरूपं जिघ्रति स एव स पाप्मा। (बृहदारण्यक० १।३।३)

ते ह नासिक्यं प्राणमुद्गीथमुपासांचक्रिरे। तꣳहासुराः पाप्मना विविधुः। तस्मात्तेनोभयं जिघ्रति। सुरभि च दुर्गन्धि च। पाप्मना ह्येष विद्धः। (छान्दोग्य० १।२।२)

रहस्यविद्यामें उद्गीथ ओंकारको कहा है। प्राणके उत्थान-अवस्थानमें ओंकारका सूचन होता है, इसलिये यहाँ प्राणको उद्गीथ कहा है। नासिक्य प्राणमें भी ओंकारका सूचन विशेष होता है, इसलिये उसमें भी उद्गीथशब्दका साहचर्य है।

आत्मीय सेनासे ही यदि आत्माको अशान्ति, दुःख और विनाश भोगना पड़े तो यह उस सेनाका असत्त्व ही है। सेनाका कर्तव्य तो यह है कि उसकी क्रियाशीलता (युद्ध) से आत्माको शान्ति, सुख और नित्य सत्ता मिले। ऐसी सेना ही सत् (भली) कही जाती है। इस सेनाके मोहमय स्नेहमें फँसकर आत्मा अपना ही नाश करा लेता है—

देहापत्यकलत्रादिष्वात्मसैन्येष्वसत्स्वपि ।
तेषां प्रमत्तो निधनं पश्यन्नपि न पश्यति ॥

सेना दो तरहकी है—आन्तर और बाह्य । देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि आन्तर सेना है तथा पुत्र, स्त्री, धन, गृह प्रभृति बाह्य सेना है । आत्माका हित करनेके लिये इसे दोनों तरहकी सेना दी गयी है । जब आसुरमनोवृत्तियाँ अनर्गल हो जाती हैं तो वे इनको आत्मासे विरुद्ध कर देती हैं । उस समय आत्माको कामका (यथेच्छ सुख-भोगका) लालच दिया जाता है, बस, यही पाप्मा है ।

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥

काम, क्रोध और लोभ—ये तीनों आत्माका नाश करनेके प्रारम्भिक हेतु हैं । ऐन्द्रिय सुख-भोगकी इच्छा काम है, चित्तकी विकृतिसे होनेवाली तेजी क्रोध है और ऐन्द्रिय सुख-भोगकी लम्पटता लोभ कहलाती है । आसुर मनोवृत्तियाँ इन्द्रियोंको भोगोंका लालच दे देती हैं, बस, इसीसे वे इस फेंके हुए टुकड़ेमें मस्त होकर आत्माका नाश करा देती हैं । सभी समझदार इस लालचके चक्करमें आ जाते हैं । वाणीको भी यथेच्छाचारका लालच देकर असुरोंने सपाप्मा कर दिया, यह कह चुके हैं । अब नासिक्य प्राणकी भी यही दशा हुई सो कहते हैं—

'ते ह नासिक्यं प्राणमूचुः' इत्यादि ।

फिर देवगणोंने नासिका-निवासी प्राणसे जाकर कहा कि भाई ! हम और तू एक ही घरमें रहनेवाले हैं, अतः तू ही इस गृहयुद्धमें हमारा सहायक हो जा । तब घ्राणेन्द्रियने उनकी सहायता करना स्वीकार कर लिया । उसने अपना भोग दैववृत्तियोंको सौंप दिया और अपनी वृत्तिको सन्मार्ग-गामिनी बना लिया । उसने उसे परिमित—मर्यादित करके लशुनगन्ध आदिका त्याग कर दिया एवं आत्माका हित करनेवाले पवित्र गन्धको ही ग्रहण करना स्वीकार कर लिया । 'ते विदुः' यह बात असुरोंने जान ली । उन्होंने देखा कि हमारे शत्रु हमको ही कीर्ति प्रदान करनेवाले मनुष्यसे हमारा नाश करा देंगे । यह सोचकर वे दौड़कर नासिकाके घर पहुँचे और नासिक्य प्राणको भी पापमें फँसा दिया । काम ही पाप्मा है । आसुर वृत्तियोंने उसे कामका लालच दिया और वह उस लालचमें फँस गया । अतः वह आत्माके हित-अहितका विचार छोड़कर स्वच्छन्दरूपसे गन्ध ग्रहण करने लगा । असुरोंके यहाँ दुर्गन्धका परित्याग नहीं है । यहाँतक कि विष्ठातकका सुहागा बनानेमें उन्हें घृणा नहीं होती । बस, देवगण हार गये ।

अब वे तीसरे जमादार या सिपाही चक्षुके पास पहुँचे और उससे सहायता माँगी ।

अथ ह चक्षुरूचुस्त्वं न उद्गाय इति । तथेति, तेभ्यश्चक्षुरुदगायत् । यश्चक्षुषि भोगस्तं देवेभ्य उदगायत् । यत्कल्याणं पश्यति तदात्मने । ते विदुः । अनेन वै न उद्गात्राऽत्येष्यन्तीति । तमभिद्रुत्य पाप्मनाऽविध्यन् । स यः स पाप्मा । यदेवेदमप्रतिरूपं पश्यति स एव स पाप्मा ।

(बृहदारण्यक० १ । ३ । ४)

अथ ह चक्षुरुद्गीथमुपासांचक्रिरे । तद्धासुराः पाप्मना विविधुः । तस्मात्तेनोभयं पश्यति दर्शनीयं चादर्शनीयं च । पाप्मना ह्येतद्विद्धम् । (छान्दोग्य० १ । २ । ४)

देहमें मुख्य-प्राण ही राजा है । वही जीवनदाता है । वह सारे शरीरमें अपने अंशोंसे फैला हुआ है । इन्द्रियोंमें भी है ही । इन्द्रियोंकी जीवनशक्ति और कृतिशक्ति प्राण-वृत्तिके बलपर ही हैं । देवगण जब नासिक्य प्राणसे साहाय्य लेनेमें असफल हुए तब वे चक्षुःप्राणवृत्तिके पास पहुँचे । और बोले कि 'मित्र ! तुम हमारे यशको बढ़ाओ । युद्धमें हमारी सहायता करो ।' चक्षुने दैव मनोवृत्तियोंको सहायता पहुँचाना स्वीकार किया । अपनी कीर्ति देवगणको दे दी । चक्षुके पास अपना बल बढ़ानेवाला जो भोग था उसे देवोंको देकर वह उनकी बड़ाई कराने लगा । चक्षुके लिये दर्शनीय बलकारक है और अदर्शनीय निर्बलताकारक । स्वस्त्री दर्शनीय है—बलकारक है, और परस्त्री अदर्शनीय है—निर्बलताकारक है । एक भोग्य है और दूसरी अभोग्य । चक्षुने इतना त्याग किया कि अदर्शनीयका दर्शन करना छोड़ दिया । जो यश चक्षुका भोग्य था उसे देवोंको दे दिया । इससे देवोंकी बड़ाई होने लगी । अर्थात् चक्षुने जब यह नियम किया कि मैं 'केवल देखने योग्य पदार्थोंको ही देखूँगा, अदर्शनीयको नहीं' तो इसका यश चक्षुको मिलना चाहिये था; पर ऐसा नहीं होता, लोग मनोवृत्तिकी ही बड़ाई करते हैं, चक्षुकी नहीं । वे यही कहते हैं, 'अजी साहब ! इनका मन बड़ा निर्मल है' इत्यादि । यही चक्षुका देवोंके लिये उद्गान है । यही दैवीवृत्तिको सहायता पहुँचाना है ।

इससे आत्माका हित होने लगा। चक्षुकी जो कल्याणमयी दृष्टि है वह आत्माको हित पहुँचानेवाली है। 'यत्कल्याणं पश्यति तदात्मने'। यह बात असुरोंने समझ ली। 'ते विदुः'। कि हमारे शत्रु हमारे कीर्तिगायकसे ही हमारी अकीर्ति और अपनी कीर्ति गवाना चाहते और इस तरह हमारा नाश करना चाहते हैं। तब असुर लोग दौड़कर चक्षुके पास गये और उसका भी पापसे वेध किया। कामका लोभ दिया 'चक्षुदेव! तुम बन्धनमें क्यों पड़ते हो, स्वतन्त्रतापूर्वक सब कुछ देखो। तुम्हारा निर्माण ही सब कुछ देखनेके लिये हुआ है।' बस, यह लालच चक्षुकी समझमें आ गया और वह फिर अपनी प्राकृत स्थितिपर आ गया। दर्शनीय-अदर्शनीय सब कुछ देखने लगा। जो दर्शनीय-अदर्शनीय सबको समान रीतिसे देखता है वही सपाप्मा है। 'स एव स पाप्मा' आत्माके हितके प्रतिकूल दर्शनकार्य कराना ही चक्षुको पापविद्ध करना है।

इस तरह चक्षुको पापविद्ध बनाकर असुरोंने अर्थात् आसुर मनोवृत्तियोंने निरर्गल सुखभोगेच्छाके द्वारा देवोंको हरा दिया। तब देवलोग वहाँसे श्रोत्रस्थित उक्थके पास गये।

अथ ह श्रोत्रमूचुस्त्वं न उद्गाय इति, तथेति। तेभ्यः श्रोत्रमुदगायत्। यः श्रोत्रे भोगस्तं देवेभ्य आगायत्। यत्कल्याणं शृणोति तदात्मने। ते विदुः। अनेन वै न उद्गात्राऽत्येष्यन्तीति। तमभिद्रुत्य पाप्मनाऽविध्यन्। स यः स पाप्मा। यदेवेदमप्रतिरूपं शृणोति स एव स पाप्मा।

(बृहदारण्यक० १।३।५)

अथ ह श्रोत्रमुद्गीथमुपासांचक्रिरे। तद्धासुराः पाप्मना विविधुः। तस्मात्तेनोभयं शृणोति श्रवणीयं चाश्रवणीयं च। पाप्मना ह्येतद्विद्धम्। (छान्दोग्य० १।२।५)

जब चक्षुःस्थित प्राणसे कोई आशा न रही तब देवगणने श्रोत्रस्थित प्राणका आश्रय लेना चाहा। उन्होंने कर्णगोलकमें स्थित प्राणसे कहा कि 'तुम हमारी सहायता करो। हमारे उद्गाता यशोगायक बनो।' श्रोत्रस्थित आत्मांशको उनकी यह सलाह अच्छी लगी और उसने उन्हें सहायता देना स्वीकार कर लिया। प्रत्येक इन्द्रियमें आत्मा, प्राण और मन इन तीनोंका न्यूनाधिक अंश रहता ही है। देवोंकी सहायता करना भी आत्माका कर्तव्य ही है। अतः कर्णेन्द्रियने देवोंका उद्गान कराना प्रारम्भ कर दिया। कर्णेन्द्रियमें, अच्छी बात सुनना और बुरी बात भी सुनना, दोनों धर्म (विशेष) रहते हैं। किन्तु असद्वार्तासे आत्माकी हानि होती है। असत् शब्द सुनना, यह कर्णेन्द्रियका वास्तव भोग्य नहीं है। वास्तवमें तो भले शब्द सुनना ही उसका भोग है। अतएव असद्वार्ताएँ भले ही कर्णेन्द्रियको प्रिय लगें, पर वे कल्याणकारक नहीं। सुरोंके कहनेके अनुसार अब कर्णेन्द्रियने 'नियम कर लिया कि मैं कल्याणकारक शब्दराशिका ही श्रवण किया करूँगा।' यह नियम आत्माको हित पहुँचाने लगा। धीरे-धीरे यह समाचार असुरोंने जान लिया। कानमें असुरोंका भी हिस्सा है। उन्होंने सोचा कि कान यदि अच्छी-ही-अच्छी बातें सुनते रहेंगे तो हम निर्बल हो जायँगे और हमारा नाश हो जायगा। हमारा उद्गाता होकर हमारे ही नाशमें प्रवृत्त हो, यह ठीक नहीं। यह सोचकर असुरलोग कर्णेन्द्रियके पास दौड़े और उसे भी पापमें सम्मिलित कर दिया। मनोवृत्तियोंने कानको समझाया कि 'जो शब्द तुम्हें प्रिय लगे वह अच्छा हो अथवा बुरा, सभीको सुनना तुम्हारा काम है, तुम सब कुछ सुन सकते हो। ऐसा सुनो, वैसा मत सुनो—यह दबाव तुम क्यों सहते हो। सत्-असत् दोनोंसे तुम्हें मतलब नहीं, तुम्हें तो अपने कामसे काम है।' मनोवृत्तिका भी साधारणतया यही हाल है। बुरी बातें प्रायः सबको प्यारी लगती हैं। बस, कर्णेन्द्रियने आसुर मनोवृत्तिकी बात मान ली। और वह फिर श्रवणीय-अश्रवणीय जो प्यारी लगें, सभी बातें सुनने लगा। बस, यही पाप्मा है। अनर्गल श्रवणवृत्ति आत्माके विरुद्ध है, अहित करनेवाली है। इतना ही नहीं, आत्माके साथ-साथ ये बुरी बातें तो कानका भी नाश कर देती हैं। अतएव यह पाप है। श्रवणके लालचमें फँस जानेसे यह रहस्य कर्णेन्द्रियकी समझमें नहीं आया और वह भी पापविद्ध हो गया।

अब ये देवगण मनके पास पहुँचे। सत्संकल्प (अच्छे विचार) और असत्संकल्प (बुरे विचार) दोनों ही मनमें होते हैं। दैवी वृत्तियोंने मनसे सहायता माँगी।

अथ ह मन ऊचुस्त्वं न उद्गाय इति, तथेति। तेभ्यो मन उदगायत्। यो मनसि भोगस्तं देवेभ्य आगायत्। यत्कल्याणं संकल्पयति तदात्मने। ते विदुः। अनेन वै न उद्गात्राऽत्येष्यन्तीति। तमभिद्रुत्य पाप्मनाऽविध्यन्। स यः स पाप्मा। यदेवेदमप्रतिरूपं संकल्पयति स एव स पाप्मा। एवमु खल्वेता देवताः पाप्मभिरुपासृजन्। एवमेनाः पाप्मनाऽविध्यन्। (बृह० उ० १।३।६)

अथ ह मन उद्गीथमुपासांचक्रिरे । तद्धासुराः पाप्मना विविधुः । तस्मात्तेनोभयं संकल्पयते संकल्पनीयं चासंकल्पनीयं च । पाप्मना ह्येतद्विद्धम् । (छान्दोग्य० १ । २ । ६)

मन सब इन्द्रियोंमें प्रधान है । सब इन्द्रियाँ उसके वशमें रहती हैं । भौतिक उन्नति और उत्तरोत्तर बढ़ती हुई इच्छाओंका घर भी यही है । दुनियाके बाह्य पदार्थोंको यही इन्द्रियोंके द्वारा आत्माके पास पहुँचाता है और उनका स्वाद चखाकर आत्माको अपने अनुकूल बना लेना भी इसीका कार्य है । यद्यपि इन्द्रियादि सबको ठीक कर देनेकी शक्ति बुद्धिमें है, क्योंकि वह सेनापति है, तथापि यदि मन बिगड़ खड़ा हो, और बुद्धि थोड़ी भी भूलमें हो तो यह उसकी परवाह नहीं करता । फिर यह स्वतन्त्र होकर इन्द्रिय, बुद्धि और आत्मातकको अपने ढंगपर ले आता है तथा सबको दुनियाके रंगमंचपर ले जाकर यथेच्छ नाच नचाता है । इसलिये मानना पड़ेगा कि मन बड़ा बलवान् योद्धा है ।

यह बात समझकर दैवी वृत्तियोंने मनसे सहायता लेना उचित समझा । उन्होंने उससे कहा 'कि तुम देवोंका यश बढ़ाओ ।' मनने संकोचवश थोड़ी देरके लिये इनकी बात स्वीकार कर ली । वह उनका उद्गान कराने लगा । हित ंकल्प मनके भोग्य हैं और अहित संकल्प अभोग्य । संकल्पोंके हिताहितका निर्णय बुद्धिके निश्चयपर है । जब बुद्धि ऐसा निर्णय कर दे कि 'इसमें आत्माका हित होगा' तब उसीके अनुसार संकल्प-विकल्प करना और वैसे ही इन्द्रियोंकी प्रेरणा करना—यही मनका कार्य है और यही उसका भोग भी है । यह भोग उसने देवोंको अर्पण कर दिया । अर्थात् 'आजसे मैं देवहित और आत्महितके अनुरूप ही संकल्प-विकल्प करूँगा । आत्महिताहितका निर्णय करके जैसा करनेके लिये बुद्धि कहेगी, वैसे ही मैं इन्द्रियोंको प्रेरित करूँगा'—यह नियम मनने कर लिया । इस प्रकार जब मन आत्महितकारक संकल्प-विकल्प करने लगा तो उससे आत्मा बलवान् होने लगा ।

यह बात असुरोंने जान ली । उन्होंने सोचा कि जब हमारा उद्गाता ही दैवी जीवोंका यश कराने लगा तो हमारी हार अवश्य होगी । अतः वे दौड़कर मनके पास पहुँचे और उसे भी पापका स्पर्श कराया—स्वतन्त्रताका लालच दिया । वे बोले, 'बुद्धि और आत्माके परतन्त्र न रहकर तुम अपनी स्वतन्त्रतासे ही बाह्य विषयोंका भरपेट चिन्तन क्यों नहीं करते ? परतन्त्र क्यों रहते हो ?' यह बात जब असुरोंने सुझायी तो मनकी समझमें भी भर गयी, क्योंकि वह तो पहलेसे ही कुछ सपाप्मा था, अतः उसने फिर हित-अहित दोनों प्रकारके संकल्प-विकल्पोंमें भाग लेना आरम्भ कर दिया । तथा अपनी इच्छाके अनुसार बाह्य विषयोंमें इन्द्रियोंकी आसक्ति कराने लगा । आत्माके विरुद्ध संकल्पादि करना यही पाप्मा है अतः इस प्रकार वह आत्माको पापविद्ध करने लगा ।

ज्ञानेन्द्रियोंकी बात हो चुकी । इसी तरह देवगण त्वक्, हस्त, पाद आदि कर्मेन्द्रिय और उनके प्राणोंसे भी सहायता लेने गये । पर जहाँ-जहाँ ये गये, वहाँ-वहाँ आसुर वृत्तियोंने भी पहुँचकर उस-उस सेनाको स्वच्छन्दताका लालच दिया और नियमित होनेसे हटा दिया । अब देवोंको कोई सहारा न रहा । उन्होंने विचार किया कि जहाँ असुरोंका बलप्रयोग न हो सके प्रत्युत ये असुर ही जिसके वशमें हो जायँ तथा मन भी जिसका दबाव मानता हो ऐसे आश्रयका सहारा लेना चाहिये । ऐसा विचार कर वे मुख्यप्राणसे सहायता लेने गये । यह आसन्यप्राण ही देह, इन्द्रिय, मन आदिको अपने भयमें रखनेवाला सर्वनिरीक्षक है । इसके प्रतिकूल कोई नहीं हो सकता । तथा यह स्वतन्त्र भी है । हम आगे चलकर इसकी स्वतन्त्रता और सर्वविजयका इतिहास वेदकी भाषामें ही कहेंगे । प्राण ही सबका स्थितिरक्षक है, इसलिये इससे सब डरते हैं—

अथ ह इममासन्यं प्राणमूचुस्त्वं न उद्गाय इति, तथेति । तेभ्य एष प्राण उद्गायत् । ते विदुः । अनेन वै न उद्गात्राऽत्येष्यन्तीति । तदभिद्रुत्य पाप्मनाऽविध्यन् । स यथाऽश्मानमृत्वा लोष्टो विध्वꣳसेतैवꣳहैव विध्वꣳसमाना विष्वञ्चो विनेशुः । ततो देवा अभवन् पराऽसुराः । भवत्यात्मना पराऽस्य द्विषन् भ्रातृव्यो भवति य एवं वेद । (बृहदारण्यक० १।३।७)

अथ ह य एवायं मुख्यः प्राणस्तमुद्गीथमुपासांचक्रिरे । तꣳ हासुरा ऋत्वा विदध्वꣳसुर्यथाऽश्मानमाखणमृत्वा विध्वꣳसेत ।

(छान्दोग्य० १ । २ । ७)

इस शरीरमें मुख्यप्राणकी गौणवृत्तियाँ पाँच हैं और फिर उनकी अवान्तर वृत्तियाँ तो अनन्त हैं । सबको बल पहुँचानेवाला यह मुख्यप्राण है । वायु दूसरा पदार्थ है और प्राण दूसरा । प्राण भगवत्पदार्थ है । इसने अपने और अङ्गोंद्वारा इस बाण (शरीर) को धारण कर रक्खा है, जैसे खम्भे मकानको धारण किये रहते हैं । लोकमें मुख्यप्राणको ही प्राणशब्दसे कहते हैं । दशविध इन्द्रियोंमें इस प्राणके ही अङ्गोपाङ्ग रहते हैं । किन्तु यह स्वतन्त्र और प्रधान है । देवगणने इस प्राणसे सहायता माँगी । वे बोले, 'हे प्राणदेव !

तुम हमारी कीर्ति बढ़ाओ ।' प्राणने उनकी प्रार्थना सफल की। उसने अपना बल दैवी वृत्तियोंको दिया। प्राणका बल पाकर इन्द्रिय, देह और मन नियमित हो गये। ये जब नियममें चलने लगते हैं तब असुरोंकी नहीं चलती। क्योंकि मुख्यप्राणपर मनकी कामादि आसुर-वृत्तियोंका किंवा भौतिक उन्नतिका असर नहीं होता। वह तो स्वतन्त्र पदार्थ है। इसका बल मिलनेसे देह, मन, इन्द्रिय आदि सब निष्पाप हो गये तथा सब मिलकर आत्माके हितमें जुट गये। यह बात असुरोंने जान ली। उन्होंने यहाँ भी वही किया।

जिस मुकद्दमेबाजको रिश्वत देकर या खुशामदसे मुकद्दमा जीतनेका अभ्यास-सा हो जाता है वह प्रायः प्रत्येक जज या हाकिमके यहाँ अपना साहस आजमाना चाहता है। उसी अभ्यासके अनुसार असुरोंने प्राणपर भी पापका वेध किया। उसे भी भौतिक उन्नति और विषय-भोगकी अनर्गल इच्छाका लालच दिया। पर प्राणके आगे ये सब निरर्थक हो गये। जैसे मिट्टीके ढेले सख्त पत्थरपर गिरकर चूर-चूर हो जाते हैं और पत्थरका कुछ भी नहीं बिगाड़ पाते, इसी तरह प्राणको ललचानेके लिये जाते हुए ये असुरलोग आप ही नाशको प्राप्त हो गये। प्राणायामादि योग (उपाय) करनेसे सभी आसुरवृत्तियाँ नष्ट हो गयीं—विषय-भोगकी सारी अनर्गल इच्छाएँ जाती रहीं। बस, देवोंका विजय हो गया और असुरलोग भाग गये।

यह श्रुत्युक्त देवासुर-संग्राम विश्वव्यापी है। इस युद्धसे ही जगत्‌की स्थिति बनी हुई है, इसीसे शान्ति रहती है तथा अर्थ और काम सुरक्षित रहते हैं। अतएव यह महायुद्ध आध्यात्मिक है, धार्मिक है। आध्यात्मिक अर्थ-काम और भौतिक अर्थ-काममें विभेद है। भौतिक अर्थ और काम दोनों प्राकृत हैं और आध्यात्मिक अप्राकृत हैं। प्राकृत या भौतिक अर्थ-काम दुःखमिश्रित, मलिन, अन्यनियम्य, सातिशय, अस्थिर और परतन्त्र होते हैं। यद्यपि बैठनेकी दृष्टिसे जमीन या कुर्सीपर बैठनेमें कोई भेद नहीं है, तथापि एक भेद अवश्य है। इनमें एक स्वतन्त्र है और दूसरा परतन्त्र। जमीनपर बैठनेवाला सब प्रकारसे बैठ सकता है पर कुर्सीपर एक ही तरहसे बैठना होता है। अतएव जमीनपर बैठना स्वतन्त्र है, स्वनियम्य है। जमीनपर बैठनेके लिये अन्यकी अपेक्षा नहीं है। यह दुःखरहित और निर्मल है तथा सबके लिये सुलभ है, इसलिये ईर्ष्यादि दोषोंसे अस्पृष्ट है, शान्त है। कुर्सीपर बैठनेवालोंको काष्ठ और अच्छे कारीगरकी अपेक्षा तो आरम्भमें ही होती है। थोड़े बहुत पैसोंकी भी आवश्यकता है ही। यदि अच्छा काष्ठ और अच्छा कारीगर न मिला तो दुःख बना ही है। पैसा न हुआ तो भी दुःख। अन्यनियम्यता भी बनी ही हुई है। ऐसोंका सुख भी सातिशय रहता है। एकके पास काठकी कुर्सी है तो दूसरोंके पास काचकी, चाँदीकी और सोनेकी भी हो सकती है। ऐसी हालतमें प्रत्येकके हृदयमें अतिशयताका दुःख रहता ही है। ऐसे पदार्थोंका जीर्ण-शीर्ण और मैला-कुचैला होना भी लगा ही हुआ है। कभी-न-कभी उनका नाश या वियोग भी होगा ही। अतः कभी-न-कभी यह दुःख भी भोगना ही है। अर्थकष्ट भी उत्तरोत्तर बढ़ता ही रहता है। इस तरह बैठनेका सुख (काम) और (कुर्सी आदि) सुखके साधन दोनों दुःखसम्भिन्न, अन्यनियम्य, मलिन, नश्वर और सातिशय हैं—यह स्पष्ट है। किन्तु जिन्हें आध्यात्मिक अभ्यास है वे तो भूमिपर भी आनन्दसे बैठ सकते हैं, उन्हें पूर्वोक्त असुविधाओंका स्पर्श भी नहीं होता। इस एक ही दृष्टान्तसे आप भौतिक उन्नति चाहनेवाले और विषयभोगेच्छाको उत्तरोत्तर अनर्गल रखनेवालोंके सब प्रकारके अर्थ और कामोंकी तुलना कर सकते हैं। यही सुरयुद्ध और आसुरयुद्धका भेद है।

इसपर कितने ही भौतिक उन्नतिवादी कहने लगते हैं कि इन धार्मिक लोगोंके प्राचीन कुसंस्कार ऐसे जम गये हैं कि इन्हें दुःखमें ही सुख मालूम होता है, जमीनपर धूलमें बैठना-लेटना ही अच्छा लगता है। इनसे कोई पूछे कि 'तुम्हारे धर्मयुगमें ये लेटकुर्सी, पलेट कुर्सी, ईज़ी चेयर आदि सुख-साधन कहाँ थे! जब नहीं थे तो जमीनमें बैठना-लेटना ठीक था, किन्तु अब क्यों? क्या इन नये आविष्कारोंसे आपलोगोंको सुख नहीं मिलता ?'

इसके उत्तरमें हमें इतना ही कहना है कि यह हम भी स्वीकार करते हैं कि इन आविष्कारोंसे धार्मिकोंको भी सुख मिलता है, किन्तु प्रश्न इतना ही है कि इनकी आवश्यकता क्या थी? कुर्सी, तार और डाक आदिके आविष्कारोंसे क्या शारीरिक दुःख कम हुआ है? अर्थकष्ट घटा है? मानसिक सुख बढ़ा है? दुःख घटा है? क्या इन आविष्कारोंके विना मनुष्यजीवन असम्भव था? प्रत्युत अनुभवसे तो यह सिद्ध हो चुका है कि इन आविष्कारोंसे ही मनुष्यका जीवन श्रममय, दुःखमय और मृत्युभयमय हो गया है। रेल, तार, डाक, वायरलैस, मोटर आदिसे जितना सुख

और सुविधा हुई है उससे कहीं अधिक दुःख भी बढ़ गया है। सर्वत्र अर्थकष्ट मुँह बाये खड़ा है। इससे हमें परम-पवित्र और स्वतन्त्र आत्मसुखकी तुलना करना अभीष्ट नहीं है। किन्तु केवल यही बताना है कि जो सुख इन नयी भौतिक उन्नतियोंसे प्राप्त होता है वह कितना महँगा, अनपेक्षित और परतन्त्रतामें डालनेवाला है।

प्राचीन कालमें भारतीय जनताने भौतिक उन्नति नहीं देखी थी अथवा नहीं की थी—ऐसा नहीं है। यहाँ भौतिक उन्नतिका भी पूर्ण विकास हुआ था—यह बात इतिहाससे स्पष्ट है। यद्यपि यहाँके ऐतिहासिक ग्रन्थ पूरे-पूरे नहीं मिलते तथापि जो कुछ मिलते हैं उनसे ही यहाँकी भौतिक उन्नतिका आश्चर्यकारक पता लग जाता है। वैदेशिक सभ्यता, भाषा और दबावमें फँसकर जिन्हें यहाँके ऋषि, महर्षि, देवता, शास्त्र और नियमोंपर अश्रद्धा हो गयी है और जिनकी बुद्धि अपनी प्राचीन बातोंपर विश्वास करना ही नहीं चाहती उनकी बात तो जाने दीजिये। वे तो वैदेशिक उन्नतिके दलाल हैं और हमारे लिये वैदेशिकवत् ही हैं। उनके लिये हमारा कथन भी नहीं है। किन्तु जो लोग 'अस्तीत्येवोपलब्धव्यः' इस सिद्धान्तके हैं तथा अपने घरकी बातें जानना और सुनना चाहते हैं उन्हें यह जान लेना चाहिये कि जो-जो उन्नतिकी बातें आज विद्यमान हैं वे प्रायः सभी रूपान्तरसे पहले भी थीं। इसे सिद्ध करनेके लिये हम दो-चार नमूने दिखाते हैं।

आजकलकी परमा उन्नति विमान है। हमारे यहाँ सृष्टिकी प्रारम्भिक अवस्थामें ही ब्रह्मदेवके पास हंस नामक विमान था। इसके पश्चात् कर्दम प्रजापतिके पास भी कामग नामका विमान था और वह आजकलके सभी विमानोंसे उत्तम होगा। यह वहाँके अक्षरोंसे स्पष्ट होता है—

> प्रियायाः प्रियमन्विच्छन् कर्दमो योगमास्थितः।
> विमानं कामगं क्षत्तस्तर्ह्येवाविरचीकरत्॥
> सर्वकामदुघं दिव्यं सर्वरत्नसमन्वितम्।
> सर्वर्द्ध्युपचयोदर्कं मणिस्तम्भैरुपस्कृतम्॥
> उपर्युपरिविन्यस्तनिलयेषु पृथक् पृथक्। इत्यादि।

इन अक्षरोंसे यह भी सूचना मिलती है कि उस अति प्राचीन समयमें भारतवर्षमें प्रजापति (प्रेसीडेण्ट) प्रथा थी। उसके बहुत समय बाद राजप्रथा चली। आदिराजा पृथु थे। महाभारतके एक प्रकरणसे भी यही पता मिलता है। पहले तो कश्यप, कर्दम आदि अपने-अपने समयमें प्रजापति ही हुए हैं। ये लोग अपनी ऋतम्भरा प्रज्ञाके द्वारा प्रजाके लिये नियमोंका प्रकाश करते थे। तदनुसार सभी प्रजा अपने-आप उन नियमों (धर्मों) का पालन करती थी।

उस समयकी प्रजा और प्रजापति सब निवृत्तिप्रधान थे। इसलिये उस समयके नियम भी निवृत्तिप्रधान ही थे, तथापि वे प्रजापति प्रवृत्तिमार्गमें भी पूर्ण निपुण थे। दोनों मार्गोंमें कुशल पुरुषको ही 'योगी' शब्दसे कहा गया है। वे योगकुशल होनेसे भौतिक उन्नतिमें इतने कुशल थे कि उपायोंके द्वारा देहका परिवर्तन भी सहज ही कर देते थे। च्यवन ऋषि और कर्दम प्रजापतिके इतिहाससे यह स्पष्ट है कि उनकी भौतिक और दैहिक उन्नति करनेकी भी पूर्ण शक्ति प्राप्त थी। भारतीयोंके प्रायः सभी आविष्कार महाभारत-युद्धमें वैज्ञानिकोंके नष्ट हो जानेसे लुप्त हो गये। अतएव प्रत्यक्ष दृष्टान्त देना दुर्लभ हो रहा है। (शेष आगे)

माला

मैं प्रभुको माला पहनाऊँ।
पुलक-पुलक निज रोम-रोम को फूला फूल बनाऊँ॥
श्रद्धा की शुचि पंखुड़ियाँ हों, प्रेम-भक्ति की लाली।
श्वास-सुरभि हो, राम-नामकी मधुपावलि मतवाली॥
स्मृतियों की पावन डोरी हो, आँसूके हों मोती।
मेरा तन-मन सब सोता हो, जगती भी हो सोती॥
निर्जन में एकान्त-विपिन में माला-सुभग बनाऊँ।
मेरे प्रभु मेरे सम्मुख हों, मैं माला बन जाऊँ॥

—प्रकाशचन्द्र वर्मा

अन्धेर नहीं, देर है

(लेखक—श्रीरामइकबालजी श्रीवास्तव एम्० ए०, एल्० टी०)

इस अविश्वास तथा अश्रद्धाके युगमें सद्व्यवहार और पुण्यके कामोंसे लाभ-हानिका प्रश्न अक्सर उठ जाता है। लोगोंको अक्सर यह कहते हुए सुनते हैं कि 'पापी ही आजकल उन्नतिपर हैं और बेचारे ईश्वरसे डरनेवाले तथा नित्य पूजा-पाठादिमें लगे रहनेवाले दुःख ही उठा रहे हैं। धूर्तों, चोरों, दगाबाजों और अन्यायियोंकी सब जगह पूछ-ताछ है, उनसे सभी डरते हैं उनका सभीपर रोब-दाब है और सीधे-सादे सच्चे और सरल-व्यवहारवालोंको लोग मूर्ख समझते हैं। घोर पाप करनेवालोंकी धन-जन सब प्रकारसे उन्नति दिखायी देती है और साधु-स्वभाववालोंका जीवन एक-एक पैसे और सन्तानके लिये तरसते बीतता है।' मैं भी कभी-कभी इस उलझनमें पड़ जाता था और सोचता था कि हमारे ऋषियोंका 'यतो धर्मस्ततो जयः' का सिद्धान्त— केवल पुस्तकोंके पन्नोंको ही सुशोभित करनेके लिये है अथवा इसमें कुछ रहस्य भी है ? एक बार तो मेरे एक पुराने शिक्षकने बड़े जोरोंसे कहा भी 'यह खद्दरका कुरता और छः पैसेकी टोपी छोड़ो और जरा ठाटसे रहो।' नहीं जानते हो कि, 'नाचे गावे तोरै तान, तेहिकर दुनिया राखै मान' मैंने चुपचाप यह सलाह सुनी और मन-ही-मन सोचता रहा कि क्या वे ठीक कह रहे थे।

परन्तु सन् १९३४ की घटनाने कम-से-कम मेरे लिये इस उलझनको सदाके लिये सुलझा दिया। मुझे उसने इतना प्रभावित किया कि मैं सदैव उसे याद रखता हूँ और प्रायः लोगोंको सुनाया करता हूँ।

विहारप्रान्तके किसी गाँवमें एक बड़े धनी पुरुष रहते थे। धन-सम्पत्ति पर्याप्त थी परन्तु उनके सन्तान नहीं थी। दोनों स्त्री-पुरुष सदा इसी शोकसे व्याकुल रहते थे। घरमें कोई भाई-भतीजा भी न था जिसे प्रेम करके वे सन्तान-सुख भोगनेका प्रयत्न करते। इसके लिये उन्होंने बहुत प्रयत्न किया, देवी-देवताकी पूजा और यज्ञ आदि किये, परन्तु सब विफल हुए।

एक समय पति बैठकमें खाटपर बैठा था और स्त्री दरवाजेसे लगी किंवाड़के पास बैठी थी। दोनों बातें कर रहे थे कि एक फकीर उधरसे आ निकला। पुरुषने प्रणाम किया और खाटसे उतर कर खड़ा हो गया। फकीर अंदर आकर बैठ गया। जब फकीरने भिक्षा पा ली तो पूछा—'बाबा! तुम इतने उदास क्यों हो, तुम्हें कौन चिन्ता खा रही है ?' पुरुषकी आँखें डबडबा आयीं और उसने कहा कि—'सन्तानकी चिन्ता मुझे दिन-रात व्याकुल रखती है।' फकीरने इधर-उधर ताककर कहा कि 'यह कौन बड़ी बात है। तुम्हें मौला अवश्य पुत्र देंगे।' इसपर उसकी आँखें चमक उठीं और आशासे चेहरा खिल उठा। उसकी स्त्री किंवाड़के बहुत नजदीक चली आयी। फकीरने कहा कि 'यदि तुम अथवा तुम्हारी स्त्री अपने पड़ोसीके बच्चेको मारकर उसके खूनसे नहा ले तो तुम्हें अवश्य पुत्र होगा।' फकीर इतना कहकर चलता हुआ।

पुरुष-स्त्री कुछ देरतक चुप रहे। पुरुषने मन-ही-मन कहा—'पुत्रके लिये दूसरेकी सन्तानकी हत्या! नहीं, ऐसा मुझसे नहीं हो सकता।

× × ×

स्त्रीका हृदय कितना कोमल और कितना कठोर होता है या हो सकता है, कहना कठिन है। जिसे बलवान् पुरुष नहीं कर सका उसे कोमलाङ्गी स्त्रीने कर दिया। और किसीको पता भी नहीं चला। ईश्वरकी लीला! दसवें महीने उस बाँझके सुन्दर पुत्र उत्पन्न हुआ। [यहाँ यह नहीं मानना चाहिये कि पड़ोसीके पुत्रको मारनेसे यह पुत्र हो गया। पुत्र तो हुआ पूर्वजन्मकृत कर्मके प्रारब्धसे। इस पापका फल तो आगे भोगना पड़ेगा] जब उस सन्तानहीन पुरुषने यह समाचार सुना तो वह सन्न हो गया, उसके रोंगटे खड़े हो गये और वह चिल्ला उठा—'अन्धेर है! अन्धेर है!!'

अब वह कुछ खब्ती-सा रहने लगा। घरके किसी

काम-काजसे उसका कोई मतलब न था। जो मिल जाता, खा लेता–जो दे दिया जाता, पी लेता। जीमें आता तो घरसे निकल पड़ता और कई रोज इधर-उधर घूमता रहता। फिर घर आ जाता और चल देता। परन्तु अक्सर यही कहा करता; 'अन्धेर है!' कोई पूछता कि इसका क्या अर्थ तो केवल यही कहता कि 'अन्धेर है।'

उधर उसकी स्त्री बहुत प्रसन्न थी। वह बड़े लाड़-प्यारसे बच्चेका लालन-पालन करने लगी। समय बीतते देर नहीं लगती। लड़का बड़ा हुआ, कुमार हुआ। उसकी शादी हुई, घरमें बहू आयी। एक-एक करके उसके चार पुत्र हुए। बुढ़ियाकी खुशीका पार नहीं था। जिस घरमें अन्धेरा था—सुनसान मालूम पड़ता था, अब उसी घरमें रात-दिन चहल-पहल रहने लगी। जो बुढ़िया एक पुत्रके लिये तरसती थी अब वह पुत्रके पुत्रोंको देख-देखकर आनन्दसे फूली न समाती थी।

× × ×

सन् १९३४ के भूकम्पके बाद वह पागल बूढ़ा कई दिनोंके बाद बाहरसे घूमता हुआ अपने गाँवको लौटा। जब अपने मकानके पास पहुँचा तो क्या देखता है कि पूरा मकान बैठ गया है और लोगोंसे मालूम हुआ कि उसका सारा परिवार उसीमें दबकर मर गया है। यह सब हाल देख-सुनकर वह पागल बूढ़ा बड़े जोरसे हँसा और अपने मकानकी परिक्रमा करने लगा तथा कहने लगा 'अन्धेर नहीं, देर है।' गाँवके बहुतसे लोगोंको इकट्ठा करके उसने अपना पूरा हाल कह सुनाया। उसने कहा कि जब हत्याके बदले पुत्र मिला तो मैंने समझा कि ईश्वरके दरबारमें भी अन्धेर है और इसीलिये मैं कहा करता था कि 'अन्धेर है' परन्तु आज मैं उस हत्यासे फूले-फले पूरे वृक्षका सहसा सर्वनाश देखकर बहुत ही प्रसन्न हूँ और अब मैं समझ गया कि ईश्वरके दरबारमें अन्धेर नहीं हो सकता, न्याय होनेमें भले ही देर हो, और इसीलिये अब कहता हूँ कि 'अन्धेर नहीं, देर है।'

हृदयकी बात

प्रभो! तुम्हारे और मेरे बीच पड़े हुए कुछ-कुछ उजले अन्धकारके इस पटलके कारण मुझे तुम्हारी वह सहस्रों सूर्योंके तेजसे भी अधिक तेजस्वी मुनि-मन-मोहिनी परम दिव्य छवि स्पष्ट नहीं दिखायी देती! इसीलिये ये प्राण व्याकुल हैं! नाथ! यद्यपि मैं यह जानता हूँ कि अन्धकारके पटलके इस ओर भी तुम्हारी ही निम्न (अपरा) प्रकृतिके इस राज्यमें, जहाँ मैं हूँ, तुम्हारी कृपा मेरे ऊपर बनी है। तुम्हारे प्रेमके प्रकाशसे ही तो वह सघन और अन्धकारका पटल कुछ-कुछ उजला-सा हो गया है। नहीं तो निम्न-प्रकृतिके इस तमाच्छादित बीहड़ वनमें, जहाँ घोर हिंस्र पशु इधर-से-उधर और उधर-से-इधर घूम रहे हैं, मेरे लिये तुम्हारी ओर बढ़ना असम्भव हो जाता! पर मेरे सर्वस्व! वह समय कब आयेगा जब कि तुम्हारे और मेरे बीचका यह अन्धकार पूर्णतया विलीन हो जायगा और तुम मेरे इतने निकट पहुँच जाओगे कि मैं परम आह्लादसे अपना मस्तक तुम्हारे चरणोंपर रख दूँगा और मिलनके इस अनिर्वचनीय आनन्दमें मुझे तन-मनकी भी सुधि नहीं रहेगी? बस, फिर आगे क्या होगा सो तुम्हीं जानो!

प्रभो! अपने इस प्रकारके दिव्य दर्शनसे कृतकृत्य करना तो पूर्णतया तुम्हारी ही इच्छापर निर्भर है। तुम जब चाहो तब मिलो। यह बिल्कुल ही मेरे हाथकी बात नहीं है। नाथ! मैं तो केवल जिस तरह तृषित चातक चोंच खोलकर मेघ-मण्डलकी ओर निहारता हुआ स्वाती-बिन्दुके लिये आशा लगाये बैठा रहता है उसी तरहसे आशा लगाये बैठा हूँ!

—तुम्हारा एक प्रेमी

नारी

[पाश्चात्य और हिन्दू-समाजमें]

(लेखक—श्रीचारुचन्द्र मित्र, एटर्नी-एट्-लॉ)

पिछले निबन्धमें यह दिखलाया जा चुका है कि हम जिन पाश्चात्य देशोंकी समृद्धिको देखकर उनके अनुकरणकी चेष्टा कर रहे हैं; वहाँ, हमारे देशके समान मनुष्योंमें प्राकृतिक, भाषासम्बन्धी, आचार-व्यवहारसम्बन्धी, सभ्यताके स्तरसे सम्बन्ध रखनेवाली इतनी अधिक विषमताओंके न होनेपर भी साम्यवाद एवं अबाध प्रतियोगिताके फलस्वरूप धनीलोग ही सारे धनोपार्जनके प्रधान उपायों—वाणिज्य-व्यवसाय और शिल्प-कृषि आदिको क्रमशः अधिकाधिक हस्तगत करते जा रहे हैं, देशकी समस्त सम्पत्तिपर उन्हींका अधिकार हो गया है, वहाँ सुख-समृद्धि केवल धनियोंको ही प्राप्त है, वे ही लोग वस्तुतः (प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्षरूपमें) समाज और राजनीतिके नियन्ता हैं। इस प्रकार धनोपार्जनके सारे उपाय धनियोंके हाथमें चले जानेके कारण समाजके अधिकांश लोगोंको उनकी आशाके अधीन वेतनभोगी दास होनेके लिये बाध्य होना पड़ा है; और जब उनको इस प्रकारकी दासता भी नहीं प्राप्त होती, तब उनकी दुर्दशाकी सीमा नहीं रहती।

विज्ञानकी उन्नतिने धनियोंके धनोपार्जनमें विशेष सुविधा प्रदान की है। विज्ञानने ही बड़े-बड़े कल-कारखानोंकी सृष्टि करके देशके शिल्प और कृषि-कार्यको भी धनियोंके अधीन करके साधारण लोगोंको उनका दास बना दिया है—अधिक-से-अधिक मनुष्योंकी हत्या करनेवाले अस्त्र-शस्त्रोंका निर्माण कर दूसरे देशोंपर विजय प्राप्त कर उन देशोंसे प्रचुर धन मिलनेकी सुविधा कर दी है। इसीलिये आज पदार्थ-विज्ञानकी सर्वापेक्षा अधिक प्रतिष्ठा है—इस विज्ञानके ज्ञाता ही विद्वान् माने जाते हैं। पदार्थ-विज्ञानकी अनेकों शाखाएँ हैं; उनमेंसे एक-एकका क्षेत्र अत्यन्त सङ्कीर्ण है, तथा उसमें पारदर्शिता प्राप्त करनेके लिये आजीवन अध्यवसायकी आवश्यकता है। जिनकी विद्या-बुद्धि और समय किसी एक प्रकारके पदार्थ-विज्ञानके सङ्कीर्ण क्षेत्रमें लगा हुआ है, वे सर्वसाधारणसे सम्बन्ध रखनेवाली व्यापक दृष्टि (Comprehensive view) से सम्पन्न नहीं हो सकते। इन्द्रियग्राह्य विषयोंके सिवा जगत्में उन्हें और कुछ नहीं दिखलायी देता।

मनुष्य-जीवनके सुख, स्वच्छन्दता, शान्ति और सन्तोष मनकी अवस्थाके ऊपर ही—त्यागमूलक प्रेमके आदान-प्रदानपर ही प्रधानतः अवलम्बित हैं (भोगमूलक प्रेम भी प्रगाढ़ और एकनिष्ठ होनेपर प्रकृतिके रसायनागारमें त्यागमूलक श्रेष्ठ प्रेमके रूपमें परिणत हो जाता है) तथा मनकी स्थिति निर्भर करती है शरीरके स्वास्थ्य, विशेषतः स्नायु और रसग्रन्थियों (Glands) की स्वाभाविक क्रियाके चलते रहनेपर; वह विषय-भोगोंकी बहुलतापर निर्भर नहीं करती। इस बातको न तो ये समाजके नियन्त्रण करनेवाले धनी ही समझते हैं, न साधारणतः हमलोग ही समझते हैं। और इसीलिये हम लोग सदा भोगोंकी अधिकताके लिये ही व्यस्त रहते हैं। विषय-भोगोंसे यदि सुख मिलता होता तो सभीको एक प्रकारके भोगमें समान सुख मिलता। एक ही मनुष्यको उसकी मानसिक अवस्था बदलती रहनेके कारण एक समय जो वस्तु सुखप्रद होती है, दूसरे समय वही सुखप्रद नहीं होती, बल्कि कष्टप्रद भी हो जाती है। अनेकों करोड़पति भी—खास करके यूरोप, अमेरिका आदि देशोंमें प्रतिवर्ष आत्महत्या करते हैं। बुद्ध, ईसा, चैतन्य, मैज़िनी प्रभृति प्रायः सभी जगत्पूज्य लोगोंने विषय-भोगको तुच्छ समझा था। उन्हें दूसरे प्रकारके अर्थात् विषय-भोगके निरपेक्ष किसी विलक्षण सुखका पता लग गया था, इसी कारण वे भोगवासनाका त्याग कर सके थे। परार्थपरता (परोपकार-शीलता) का सुख विषय-भोगकी अपेक्षा न रखनेवाला सुख है। जिनके अंदर विषय-भोगसे निरपेक्ष सुखका बोध जाग्रत् हो गया है, केवल वे पुरुष ही जीवनमें स्थायी सुख-स्वच्छन्दताका अनुभव कर सकते हैं, वे ही वस्तुतः स्व-अधीन हैं; वे ही यथार्थ स्वाधीनताका अनुभव कर सकते हैं। वही सुख त्यागमूलक है, विषयजन्य सुख उससे विरुद्ध धर्मवाला एवं क्षणिक है; इसी कारण जिस विषय-भोगके लिये मनुष्य अत्यन्त व्यग्र होता है कुछ दिनों बाद वही उसे त्याग देता है। विषय-भोगसे सामान्यतः भोगतृष्णाकी अधिकाधिक वृद्धि ही होती है। किसी प्रकार भी सन्तोष या तृप्ति नहीं होती!

सभी मनुष्य भोगके भयानक भँवरमें पड़े हुए बिना विराम घूम रहे हैं, किसीके भी जीवनमें शान्ति, सन्तोष और

तृप्ति नहीं है। इस भोगेच्छापूर्तिकी चेष्टासे ही युद्ध, मार-काट और ईर्ष्या-द्वेष आदि कुप्रवृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं। वासनाओंका अन्त नहीं और वासनापूर्तिकी शक्ति सभीकी सीमाबद्ध होती है, अतएव भोगसे किसीको यथार्थ सुखकी प्राप्ति नहीं होती—इस बातको हमलोग नहीं देखते। भोग-वासनाकी निवृत्ति होनेपर ही यथार्थ सुखका पता लगता है, मनुष्य स्वयं सुखी होता है और दूसरोंको भी सुखी कर सकता है। सुखके लिये, दुःखकी निवृत्तिके लिये सभी लालायित हैं—यही दर्शनशास्त्रोंका प्रधान आलोच्य विषय है; परन्तु पदार्थ-विज्ञानकी प्रधानताके इस युगमें भोगलोलुप, धनप्रभावसे ग्रस्त पाश्चात्त्य-समाजमें दर्शनशास्त्रका कोई सम्मान नहीं है, इस प्रकारकी बातोंको वे व्यर्थका बकवाद समझते हैं। अतएव जिस प्रकारकी शिक्षासे, जिस प्रकारके नियमोंका अनुकरण करनेसे मनुष्य वास्तवमें सुखी हो सकता है, स्व-अधीन हो सकता है, यह कहना अत्युक्ति न होगा कि उस ओर आजकलके पाश्चात्त्य-समाजमें किसीकी भी दृष्टि नहीं है—इसीसे यथार्थ स्वाधीनता, यथार्थ सुख-शान्ति किसीको भी प्राप्त नहीं है। सब लोगोंने भोगोंमें ही सुख मान लिया है, इसी कारण स्त्रियोंको अर्थोपार्जनसम्बन्धी कर्मोंके करनेकी सुविधामें ही उनके अधिकारकी वृद्धि समझी जाती है!

धनियोंने ही सारे शिल्पोंको हथिया लिया है; अतएव साधारण लोगोंके भोगासक्त होनेसे उन्हींको लाभ होता है। धनीलोग प्रायः स्वयं भोगासक्त होते हैं; अतएव धनीलोगों-के प्रभावसे ग्रस्त पाश्चात्त्य-समाजमें भोगासक्तिके कम करनेकी आवश्यकता किसीको नहीं दिखलायी देती। बल्कि, उन लोगोंको देखकर सभीकी भोगासक्ति बढ़ गयी है। इसके अतिरिक्त धनियोंके सारे वाणिज्य-व्यवसाय, कृषि और शिल्प-को अधिकाधिकरूपसे हस्तगत कर लेनेके कारण साधारणतया बहुत-से लोगोंको अन्न-वस्त्र मिलना दूभर हो गया है, कहीं कुछ मिल जानेपर भी आगेके लिये तो निराशा ही होती है, इसीसे बहुत लोग सैनिक और नाविकका कार्य करनेके लिये बाध्य होकर बहुत समयतक विवाह नहीं कर पाते, बहुत-से तो जीवनभर विवाह नहीं कर सकते। जब बहुत-से पुरुष विवाह नहीं करते, तो बहुतेरी स्त्रियाँ भी बहुत समयतक या जीवनभरके लिये अविवाहित रह जाती हैं, अतएव उन्हें भोजन-वस्त्रके निमित्त अर्थोपार्जन करनेके लिये बाध्य होना पड़ता है। जब पहले अविवाहिता स्त्रियोंकी संख्या थोड़ी थी, तब वे अपने लिये उपयोगी कार्मोंको—जैसे चाकरानी और दाई इत्यादिका काम करके अपना निर्वाह कर लेती थीं। परन्तु उपर्युक्त अनेकों कारणोंसे जब बहुत समयतक अविवाहित रहनेवाली स्त्रियोंकी संख्या उत्तरोत्तर बढ़ने लगी तब जो अपेक्षाकृत अच्छी आर्थिक स्थितिमें पली हैं, उन स्त्रियोंके लिये भी धन कमाना और साथ ही समय काटनेके लिये नाना प्रकारके कार्योंमें लगना आवश्यक हो गया; इसी-से लाचार होकर उन लोगोंने सभी आर्थिक और राजनीतिक क्षेत्रोंमें काम करनेकी माँग पेश की और वैसी योग्यता पाने-के लिये शिक्षा प्राप्त करना चाहा।

धनियोंने देखा कि यदि स्त्रियाँ सब प्रकारके अर्थोपार्जन सम्बन्धी कार्मोंको करने लगेंगी तो हमें विशेष सुविधा होगी। धनीलोग धनोपार्जनके प्रधान उपायों, वाणिज्य-व्यवसाय, शिल्प और कृषिको पहलेसे ही हस्तगत किये बैठे थे; अतएव जिनको भोजन-वस्त्रके लिये अर्थोपार्जनकी आवश्यकता होती, उनमेंसे अधिकांशको या तो धनियोंकी ही नौकरी करनी पड़ती या उनकी मनस्तुष्टि अथवा चित्तविनोदका साधन बनना पड़ता। स्त्रियोंके भी नौकरीके लिये प्रार्थना करने-पर उम्मेदवारोंकी संख्या बढ़ जाती है और माँग और पूर्ति (Demand and Supply) के नियमके अनुसार सभी नौकरियोंकी दर कम हो जाती है, जिससे धनियोंको ही लाभ होता है। यदि स्त्रियाँ उनके मनोरञ्जनके कार्मोंमें लगती हैं, तब भी उन्हें कई कारणोंसे सुविधा हो जाती है। मतलब यह कि एक तो इस प्रकारके लोगोंकी संख्या बढ़ जानेपर धनियोंको कम पैसोंमें अधिक आदमी मिल जाते हैं, दूसरे, उन्हें नये ढंगके मनोरञ्जनका अवसर मिलता है। इसके अतिरिक्त नौकरी हो या मनोरञ्जनका कार्य, सभी जगह स्त्रियोंकी चरित्रहीनता प्रायः उनके धन कमानेमें विशेष सहायक होती है; अतएव इस प्रकारके कार्मोंमें लगी हुई स्त्रियोंमेंसे बहुतोंके लिये उस लोभका संवरण करना कठिन हो जाता है और वे पतनके गहरे गड्ढेमें गिर पड़ती हैं, इससे भोगलोलुप धनियोंको ही विशेष सुविधा होती है। इसीसे समाजके ये धनी नियन्ता स्त्रियोंको सभी क्षेत्रोंमें समान अधिकारकी माँगका विशेषरूपसे समर्थन करते हुए यह प्रचार करने लगे कि इस प्रकार जब स्त्रियाँ सब काम करने पायेंगी तभी उनके अधिकारका विस्तार होगा। साथ ही वे सबको यह समझाने लगे कि 'पुराने जमानेमें पुरुष स्त्रियोंको अर्थो-पार्जनसम्बन्धी काम नहीं करने देते थे; इसी कारण स्त्रियोंको

लाचार होकर पुरुषोंकी गुलामी करनी पड़ती थी—यह उनके ऊपर घोर अत्याचार था।'

इस प्रकार इस प्रगतिशील युगके इन नारीभक्त परम कारुणिक समाजनियन्ताओंने स्त्रियोंके दुःखसे द्रवित होकर पुराने जमानेके पुरुषोंद्वारा स्त्रियोंके प्रति किये गये इस घोर अत्याचारके प्रतिकारके लिये कमर कस ली; और 'पुरुष और स्त्री दोनों समान हैं, स्त्रियाँ उनसे किसी विषयमें हीन नहीं हैं, उनको पुरुषोंके साथ सभी कामोंके करनेका समान अधिकार होना चाहिये। इस प्रकारके साम्यका होना ही सभ्यताके विकासका माप-दण्ड है।' इत्यादि बातोंका प्रचार होने लगा। इस युगके इन दयामय समाजनियन्ताओंको सभी धन्य-धन्य कहने लगे; उनकी प्रशंसा करनेवाले समाचार-पत्र भी इसी साम्यवादकी विजय-दुन्दुभि बजाने लगे!!

धनियोंके दास (मजदूर, सैनिक और नाविक) यदि कुछ पढ़ना-लिखना सीख लें तो उन्हें विशेष सुविधा हो जायगी, यह कहकर प्रधानतः सबको प्राथमिक शिक्षा दी जाती है, स्त्रियोंको भी इसी प्रकार शिक्षा दी जाती है। सभीमें अहङ्कारकी मात्रा होती है, यह साम्यवाद उस अहम्मन्यताका पोषक है, अतएव इस साम्यवादके प्रचारसे 'शिक्षिता' स्त्रियाँ प्रसन्न हो उठीं। विशेषतः जिनको पेटके लिये अर्थोपार्जन करना पड़ता था, नाना प्रकारके अर्थोपार्जनके मार्ग खुल जानेसे वे विशेष प्रसन्न हुईं। उन्होंने समझ लिया कि इस साम्यवादके अनुसार स्त्रियोंका सभी कामोंमें पुरुषोंके साथ प्रतियोगितामें उतर सकना ही स्त्रियोंके स्वत्वाधिकारकी वृद्धि है। इस साम्यवादके फलस्वरूप साधारण लिखना-पढ़ना सीख लेनेसे ही सब अपनेको पण्डित समझने लगते हैं, और प्रत्येक विषयमें प्रत्येक व्यक्तिकी युक्तिका प्राधान्य मानते हैं। इसीके परिणामस्वरूप समाज-गठन, सामाजिक प्रथा, सामाजिक नियम, धर्मविश्वास, पूजापद्धति और परलोक, परमात्मा आदि सभी विषयके प्रत्येक मतको प्रत्येक व्यक्तिकी युक्तिके दरबारमें परीक्षा देकर अपनेको पास कराना पड़ता है। और इस परीक्षामें, साम्यवादके द्वारा जिनका मस्तिष्क विशेष स्फीत हो गया है उन अगाध पण्डितोंके सामने, प्राचीन कालके सभी समाजनियन्ता—मनु, याज्ञवल्क्य, कनफ्यूशस और मूसा आदि फेल हो गये हैं। उन्होंने यह निर्णय दे दिया है कि ये सभी लोग स्त्रियोंके प्रति घोर अत्याचारी थे! वैदिक-ऋषि, बुद्ध, चैतन्य आदि सभी भ्रान्त, जालसाज और मिथ्यावादी प्रमाणित कर दिये गये हैं! आजकल बहुसंख्यक लोगोंका मत (Majority) मान्य समझा जाता है। अतएव इन नवीन सिद्धान्ती शिक्षित सम्प्रदायके लिये पुरुष और स्त्रीका यह साम्य ही 'प्रगति'का माप-दण्ड बन गया है, इस साम्यवादकी जयध्वनिमें इसके प्रतिवादकी क्षीणध्वनि दब गयी है!

कुछ थोड़े-से लोग ही देख पाये कि इस साम्यवाद और अबाध प्रतियोगिताके फलस्वरूप धनीलोगोंने सारे धनोपार्जनके प्रधान उपायोंको उत्तरोत्तर, अधिकाधिक रूपमें हस्तगत कर लिया है और इसीलिये उत्तरोत्तर अधिकांश लोगोंको इन्होंने अपने आज्ञावर्त्ती दास (नौकर) होनेके लिये बाध्य कर दिया है—अधिकांश लोगोंको सैनिक, नाविक तथा खानों और बड़े-बड़े कल-कारखानोंके मजदूरोंका अत्यन्त कष्टपूर्ण और दुःखमय जीवन स्वीकार करनेके लिये मजबूर कर दिया है। इस अवस्थामें विवाह करना कठिन होनेके कारण बहुतेरे विवाह नहीं कर पाते, तथा बहुतेरी स्त्रियोंको भी पुरुषोंके साथ अ-सम प्रतियोगितामें अर्थोपार्जन करनेके लिये बाध्य होना पड़ रहा है, अधिकांश पुरुष और स्त्रियाँ जीवनकी सर्वश्रेष्ठ वस्तु—प्रेमसे दीर्घकालतक या सदाके लिये वञ्चित हो रहे हैं,—प्रेमोपभोगके सर्वोत्तम काल—यौवनको व्यर्थ ही बिता देनेके लिये बाध्य हो रहे हैं, तथा वे ही अपनी सान्निपातिक भोग-तृष्णा मिटानेके लिये स्वदेशकी गौरववृद्धि या कल्याणके नामपर दूसरे देशोंपर विजय प्राप्त करनेके निमित्त उत्तरोत्तर अधिकाधिक पुरुषोंको नियुक्त कर रहे हैं और करोड़ों मनुष्योंको युद्धक्षेत्रकी वध्यभूमिमें भेज रहे हैं; विजित देशवासियोंके धनका दोहन कर, उनके जीवनकी स्वतन्त्रताको नष्ट कर उनके जीवनको अत्यन्त कष्टमय बना रहे हैं! वे ही परम कारुणिक आजकलके पाश्चात्य देशोंके धनी समाजनियन्ता प्रभु आज स्त्रियोंको इस साम्यवादके जालमें फँसाकर उनको अत्यन्त सुखदायिनी गुलामी करनेके लिये आदरपूर्वक बुला रहे हैं और कह रहे हैं—'तुम सब झुण्डकी-झुण्ड चली आओ और हमारी सभी प्रकारकी सेवाओंका महान् सुख भोग करो। अबतक अपने पतियों और सन्तानोंके लिये तुम बिना ही वेतन मुफ्त इतनी मेहनत करती थीं; हम तुम्हें वेतन देंगे; उससे तुम इच्छानुसार खाओ-पियो, पहनो-ओढ़ो, नाटकोंमें जाओ, सिनेमा देखो, नाचो-गाओ, नाना प्रकारके आमोद-प्रमोदका उपभोग करो और अपने जीवनको सार्थक करो। अब तुम्हें पति या माता-पिता किसीकी भी अधीनता नहीं स्वीकार करनी पड़ेगी; तुम्हारी जो इच्छा होगी, तुम निःसंकोच वही कर सकोगी। पहले तुम

एक ही पुरुषके पास रह सकती थी, ओहो! कितना भयानक अत्याचार था ! अब तुम मनमाने तौरपर कितने ही पुरुषोंके पास रहो। काम-सुख ही जीवनका सर्वोत्तम उपभोग है। तुम चाहोगी तो इससे काफी धन भी कमा सकोगी। कुसंस्कारमें पड़े हुए माता-पिताका भी तुम्हारे बीचमें कुछ भी बोलनेका अधिकार न मानना। तुम यह निश्चय समझो कि माँ-बापकी अपेक्षा आजकलके समाजनियन्ता तुम्हारे अधिक शुभचिन्तक हैं ! तुमने पढ़ना-लिखना सीखा है, तुम अब सयानी हो गयी हो, माता-पिताको तुम्हारी स्वाधीनतामें हस्तक्षेप करनेका कोई अधिकार नहीं है। तुम्हें गर्भधारणके कष्टसे बचानेके लिये वैज्ञानिकोंने नाना प्रकारकी गर्भनिरोध-प्रणालियोंका आविष्कार कर दिया है। गर्भपातकी भी डाक्टरोंने सुविधा कर दी है। देखो, अमेरिकामें प्रतिवर्ष १५ लाख तथा इङ्गलैण्ड, जर्मनीमें ६ लाख स्त्रियाँ विना दण्डके गर्भपात करती हैं। पुराने लोग कहते हैं कि जबतक जवानी रहती है तबतक जीवन अवश्य ही खूब मौजमें कट जाता है; परन्तु यौवनका अन्त हो जानेपर जब शरीर अस्वस्थ हो जाता है, तब जीवन अत्यन्त कष्टप्रद हो जाता है, फिर कोई समीप भी नहीं जाता; जीवन काल-कोठरीके समान हो जाता है। वे प्राचीन समयकी स्वाधीन स्त्रियोंके जीवनकी ओर निर्देश करते हैं, परन्तु इन पुराने खसूटोंकी बातें तुम्हें नहीं सुननी चाहिये। आजकल तो ऐसी चीजें भी निकली हैं कि जिनके व्यवहारसे बूढ़ी स्त्रियाँ भी युवती-सी दिखलायी पड़ती हैं। बुढ़ापेकी तो बात ही क्या है, हम लोग तो मौतको भी संसारसे मिटा देना चाहते हैं। हमारे वैज्ञानिक क्या नहीं कर सकते ? फिर अनिश्चित भविष्यकी चिन्तामें वर्तमान सुख और आमोदका त्याग करना कोई बुद्धिमानीका काम भी तो नहीं है।'

इस प्रकारकी बातोंसे भोग-वासनाकी पूर्त्तिके लोभमें अनेकों शिक्षिता पाश्चात्य स्त्रियाँ उत्साहित होकर तथा अन्य भी बहुतेरी पाश्चात्य युवतियाँ, जो समाज-गठनके दोषसे जिस दुर्दशामें पड़ी हैं, उससे छुटकारा पानेका कोई उपाय न दीख पड़नेपर 'कार्यं वा साधयामि, देहं वा पातयामि' इस प्रतिज्ञाके साथ इस स्वाधीनताके युद्धमें पुरुषोंके साथ समकक्षताका अधिकार सिद्ध करनेके लिये आन्दोलन करने लगीं और उन्हें इसमें सफलता भी मिली। पति और सन्तान-की विना वेतनकी गुलामी करनेके बदले उन्हें पुरुषोंके साथ प्रतियोगितामें धनी मालिकोंकी प्रायः सभी प्रकारकी सेवा करनेका सुअवसर प्राप्त हो गया! (हाँ, उन्हें अभीतक सैनिक और नाविकके जीवनका परम सुख नहीं मिल सका है !), तथा स्त्रीका स्त्रीत्व जो मातृत्वमें है, उस मातृत्वका बहिष्कार कर वे नारी-अधिकारकी वृद्धि कर रही हैं। धनी मालिकोंकी गुलामीके लिये होनेवाले इस सङ्घर्षमें पुरुष और स्त्रीजातिके बीच ऐसा द्वेषभाव बढ़ गया है जो प्राणिजगत्में कहीं देखनेको नहीं मिलता और जिसका इतिहासमें कोई उदाहरण नहीं है। इस समकक्षता (समानता) की माँग और भोगलोलुपताकी वृद्धिसे घर-घरमें अशान्ति फैल रही है। उत्तरोत्तर अधिकाधिक घर नष्ट हो रहे हैं; माता-पिता और सन्तानका प्रेम-सम्बन्ध टूट-सा रहा है; अधिकाधिक मनुष्य नित्य नये होटलोंमें भोजन कर रहे हैं और नित्य नये क्षण-स्थायी प्रेमका उपभोग कर रहे हैं (और सन्तान नित्य नये माता या पिताकी सेवा एवं प्रेमको प्राप्त करनेका सौभाग्यलाभ कर रही है) तथा बीमारी और बुढ़ापेमें भाड़ेकी या निःशुल्क सेवासदनकी सेवा-शुश्रूषा प्राप्तकर अथवा अनाथ (बेकार) आश्रमोंके द्वारा सत्कार पाकर इस प्रगतिशीलताके परमानन्दका उपभोग कर जीवनको सार्थक करते हैं; और सभी 'प्रगति' (उन्नति) का जय-जयकार कर रहे हैं।

हमारे देशकी भी शिक्षिता नवीन युगकी नारियाँ, आजकल पाश्चात्य स्त्रियोंको सब प्रकारकी गुलामी करनेका अधिकार प्राप्त करके जो महान् सुख मिल रहा है, उसे देखकर उसीकी प्राप्तिके लिये उठ-पड़कर लग गयी हैं, हिन्दुओंकी प्राचीन विचारधारा और समाजसंगठनको तोड़नेके लिये उन्होंने कमर कस ली है! अद्वैततत्त्वकी अनुभूतिसे जिनका मस्तिष्क विकृत हो गया था, उन याज्ञवल्क्य आदि ऋषियोंने ऐसे नारीनिग्रही समाजका गठन किया था कि 'जबतक वह समाज-गठन बना रहा तबतक हिन्दू स्त्रीको (अत्यन्त दीन-हीन दरिद्र कुछ थोड़ी-सी स्त्रियोंको छोड़कर) वेतन लेकर किसी दूसरेकी गुलामी नहीं करनी पड़ी। यहाँतक कि उस समाजव्यवस्थाने हजार वर्षके लम्बे मुसलमानोंके राजत्वकालमें भी, तथा बहुकाल-व्यापी अराजकताके समयमें भी स्त्रीको उस गुलामीकी स्वाधीनताके सुख और स्वच्छन्दताका अनुभव नहीं करने दिया। इस प्रकारकी विचारधारा चलाकर स्त्रियोंके अंदर क्रीतदासकी भावना लायी गयी, इसीसे वे बिना वेतन लिये केवल अन्न-वस्त्रपर ही अपने पति, पुत्र, पिता, भाई एवं आत्मीय स्वजनोंकी सेवा-शुश्रूषा करके सुखी रहती थीं—और

पुरुष भी ऐसे मूर्ख एवं अर्थशास्त्रके ज्ञानसे शून्य थे कि ऐसी अर्थोपार्जनसे विमुख और गँवार स्त्रियाँ जब भी उनसे आश्रय चाहती थीं, तो ये विकृतमस्तिष्क ऋषियोंके कथनानुसार स्वयं साग-सब्जी खाकर भी उन स्त्रियोंको यथेष्ट खाने-पहननेके लिये देते थे! इन दरिद्र स्त्रियोंको मौसी, फूआ, दीदी कहते भी उन्हें लज्जा नहीं आती थी। यहाँतक कि इनमें जिन स्त्रियोंकी उम्र बड़ी होती थी, घरकी मालिकनको भी उसकी अधीनता स्वीकार करनी पड़ती थी, इतना होनेपर भी न तो उन्होंने विजेताओंकी नौकरी करनेकी स्वाधीनता और सुख-स्वच्छन्दता प्राप्त की और न उसे पानेकी उनमें कभी प्रवृत्ति ही हुई। कैसी घोर निष्ठुरता थी! नारियोंके प्रति कैसा भयानक अत्याचार था। कैसा दासताकी मनोवृत्तिका प्रचार था। इतना अत्याचार, इस प्रकारकी दासताकी मनोवृत्तिका प्रचार, पाश्चात्य शिक्षाने जिनकी आँखें खोल दी है, वे स्वाधीनताके लिये प्रयास करनेवाले, नारी-स्वत्वप्रसारकी इच्छा रखनेवाले नवीन सिद्धान्ती महानुभाव भला कब सहन कर सकते थे? अधिकांश लोग शिक्षित पुरुषोंमें विजेताओंकी गुलामीका अधिकार प्राप्तकर (वकील लोग भी एक तरहसे गुलामी ही करते हैं, उनकी भी अदालतके कर्मचारियोंमें गणना की जाती है, सिर्फ पुराने जमानेके राज-रजवाड़ोंके भाँड़ों (Court-jester) के समान कभी-कभी दो-चार बातें मुलायम ढंगसे सुनानेका उन्हें अधिकार है) अपने जीवनको धन्य समझते हैं। वाणिज्य-व्यवसाय, शिल्प और कृषि वे कर नहीं सकते—इन कामोंको करके वे अपनी शिक्षाका अपमान नहीं करना चाहते, इनको तो उन्होंने अशिक्षितोंके हाथोंमें सौंप रक्खा है, इस गुलामीके सुखमें उनका शरीर जर्जर हो रहा है। इसीलिये, जान पड़ता है, शिक्षित नवीन सिद्धान्ती शायद यह समझते हैं कि हमारी स्त्रियाँ, जिनकी संख्या देशभरकी जनसंख्याकी प्रायः आधी है, यदि विजेताओंकी अत्यन्त सुखप्रद नौकरी करनेकी स्वाधीनता नहीं पाती हैं (विजेता ही अधिक वेतन देनेमें समर्थ होते हैं—हमारे देशवासियोंमें प्रतिशत एककी भी १००) से अधिक मासिक आय नहीं है, अतएव शिक्षिता स्त्रियोंके अर्थोपार्जनके लिये सचेष्ट होनेपर विजेताओंकी नौकरी पानेकी ही चेष्टा करनी पड़ेगी) तो इससे देशकी स्वाधीनता ही नष्ट हो जाती है—स्त्रियोंका जीवन ही व्यर्थ हो जाता है। पुरानी चालके बेसमझ लोग स्त्रियोंके प्रति अत्याचार करनेमें अभ्यस्त हैं, इस कारण वे इस बातको समझ नहीं सकते! अतएव शिक्षित नवीन सिद्धान्तियोंका एक दल देशकी सारी प्राचीन विचारधारा, सामाजिक नियम एवं समाजगठनको तोड़नेके लिये कमर कसकर तैयार है और उसने यह निश्चय कर लिया है कि हिन्दुओंके सुदीर्घ जातीय जीवनकी सारी साधना (Culture) को, उनकी सारी अभिज्ञताको समुद्रके अथाह जलमें डुबोये विना देशका और स्त्रियोंका कुछ भी मङ्गल नहीं हो सकता! हिन्दुओंकी सारी विशेषता लोप किये विना उनकी कोई उन्नति हो नहीं सकती!

१९२१ ई० की मर्दुमशुमारी (Census Report) से ज्ञात होता है कि सारे भारतवर्षमें प्रतिशत ७२-७३ और बंगालमें प्रतिशत ७६ या ७७ मनुष्योंका जीवन खेतीपर निर्भर करता है। भारतवर्षमें ११ और बङ्गालमें केवल ८ मनुष्य शिल्प (Industry) के ऊपर, भारत और बङ्गालमें ६ प्रतिशत वाणिज्यके ऊपर, २ या २॥ प्रतिशत अन्य पेशों—वकील, डाक्टर, इञ्जीनियर इत्यादिके कामोंपर तथा सरकारी नौकरीपर केवल डेढ़ या पौने दो प्रतिशत (जिनमें सैनिक और पुलिसके कर्मचारी भी शामिल हैं) निर्भर करते हैं—शेष बेकार, भिखारी आदि हैं। उनकी स्त्रियाँ, पुत्र और कन्याएँ भी इसी गणनाके अन्तर्गत हैं। इस हालतमें शिक्षिता स्त्रियाँ, जिन्होंने पुरुषोंके समान ही शिक्षा प्राप्त की है, यदि धन कमानेको निकल पड़ेंगी तो वे किस साधनसे धन कमावेंगी, इस बातपर कोई विचार नहीं करता! यह भी प्रत्यक्ष ही है कि आज इस प्रकारके शिक्षित अनेकों पुरुष बी. ए., बी. एस्-सी., एम्. ए., एम्. एस्-सी., एम्. बी., बी. ई., बी. एल्. आदि परीक्षाएँ पास करके मुँह बाये इधर-उधर भटक रहे हैं। कहीं उनको आश्रय नहीं मिलता। आज सभी लोग पास होनेवाली युवतियोंकी संख्या-वृद्धिसे तथा कन्या-विद्यालयों, छात्राओंकी संख्यावृद्धिसे प्रसन्न हैं और समझते हैं कि बड़ी तेजीसे देशकी उन्नति हो रही है। इस प्रकारकी शिक्षासे शारीरिक श्रमसे मन हट जाता है और भोग-वासना बढ़ जाती है, यह बात तो निश्चित है। बीस-तीस रुपये मासिकके क्लर्क भी आज एक कोस चलना हो तो ट्रामपर चढ़कर जायँगे। (सुना जाता है कि पुराने जमानेके लोग प्रतिदिन दूर-दूरसे पैदल आकर कलकत्तेमें नौकरी करते थे।) देशभरमें हाहाकार मचा है पर बोलते हुए सिनेमाओंकी संख्या क्रमशः बढ़ती ही जा रही है। सिनेमाके

तथा फुटबाल आदिके मैचोंके टिकट खरीदनेमें बहुतसे लोग कंगालोंके प्रति होनेवाला सम्मानपूर्ण व्यवहार भी सहते ही हैं। इस गरम देशमें अधिक कपड़े पहननेका रिवाज़, चाय पीनेका अभ्यास और हलवाइयोंकी दूकानोंके सामने खड़े-खड़े मिठाई और चाट उड़ानेका चसका क्रमशः बढ़ता जा रहा है। सभी स्कूलों और कालिजोंमें नाटक खेले जाते हैं, शिक्षित नवयुवक नाचने और गाने-बजानेमें कुशल नवयुवतियोंके साथ विवाह करना चाहते हैं; फलतः घर-घरमें गाने-बजानेकी शिक्षा दी जाने लगी है। (माता-पिताको यह खर्चा चलाना अत्यन्त दुष्कर हो रहा है।) इन सब बातोंसे भोग-वासनाकी वृद्धि प्रमाणित होती है।

युवतियाँ भी इस प्रकारकी शिक्षा प्राप्तकर शारीरिक श्रमसे मुँह मोड़ रही हैं; उनका स्वास्थ्य नष्ट हो रहा है, और भोगवासना बढ़ रही है। इस प्रकारकी शिक्षा पाकर पुरुष अंग्रेजीभावापन्न हो गये हैं और अंग्रेजोंकी देखा-देखी हैसियतसे अधिक विलासी बन गये हैं। पहलेकी तरह आजकल देशमें सर्वत्र नौकरी मिलना कठिन हो गया है। भोगवासनाकी वृद्धिके कारण हम लोगोंने सम्मिलित परिवारकी प्रथाको तोड़ दिया है। हैसियतसे अधिक भोगासक्त होनेके कारण तथा सम्मिलित परिवार-प्रथासे सहायता पानेकी आशा न रहनेके कारण शिक्षित युवक आज विवाह नहीं करना चाहते। अतएव विवाहकी उम्र क्रमशः बढ़ती जा रही है। २०, २५, ३० वर्षतककी उम्रवाली कुमारियोंकी संख्या भी बढ़ रही है और जिस शिक्षासे पुरुष वाणिज्य-व्यवसाय, शिल्प और कृषिका कार्य करनेमें असमर्थ हो गये हैं, केवल नौकरी करनेकी योग्यता हासिल कर सके हैं,—आज युवतियाँ भी वही शिक्षा पा रही हैं। इसी कारण उनकी भी भोगवासना बढ़ रही है। शिक्षित युवकोंके लिये—जो पूर्वकालकी भाँति विना वेतनकी दासी होकर रहनेवाली स्त्रियोंका भी पालन करनेमें आज असमर्थ हैं—इस प्रकारकी शिक्षित युवतियोंका, जिनकी भोगवासना शिक्षाके प्रभावसे उद्दीप्त हो गयी है तथा 'व्यक्तित्व' विकसित (Developed) हो गया है, पालन करना हजार क्या, दस हजारमें एकके लिये भी सम्भव नहीं है—इस बातको कोई नहीं देखता! इसका नतीजा यह होगा कि अधिकांश युवतियोंको (विशेषतः जो रूपवती नहीं हैं उन्हें) चिरकालतक अविवाहित रहना पड़ेगा, क्लर्की तथा अध्यापकीकी उम्मेदवारीमें दर-दर भटकना और असफल होना पड़ेगा, अथवा जीवनके शून्य हृदयका दुःख भोग करना पड़ेगा। आजकल भी यही हो रहा है। पिताकी मृत्युके बाद उनकी कैसी भयानक दुर्दशा होती है और होगी, इस ओर भी किसीका ध्यान नहीं है। इन स्त्रियोंको, विजेताओंमें भी जो थोड़े-से अर्थ-सम्पन्न लोग हैं, उनकी गुलामी या मनोरञ्जन करनेवाले कामोंके संघर्षमें उतरना होगा, उम्मेदवारोंकी संख्या बढ़ जानेसे इनका मेहनताना भी बहुत कम हो जायगा—हो सकता है दो चार सौ या अधिक-से-अधिक एक हजार स्त्रियाँ २०), ३०), ४०) रुपये मासिककी नौकरी पाकर परम सुख उपभोग करें। धनी स्वाधीन पाश्चात्त्य देशोंमें स्त्रियोंको इस प्रकार सब काम करनेका अधिकार प्राप्त हो जानेके कारण स्त्रियों और पुरुषोंमें परस्पर जैसा द्वेष और विरोध फैल रहा है, वैसा न कभी कहीं सुना गया न कहीं देखा गया। एलेन की (Ellen key) प्रभृति स्त्रियोंकी स्वाधीनताके नेताओंका कहना है कि स्त्रियोंका कर्मक्षेत्र यदि पृथक् नहीं हुआ तो यह द्वेषभाव और भी बढ़ेगा, स्त्रियाँ भी 'मातृत्व' के कार्यके लिये अनुपयोगी हो जायँगी। यहाँ वही हो रहा है। आज गली-गलीमें गर्भनिरोध करनेवाली दवाइयाँ और सामग्रियाँ बिक रही हैं, और सर्वत्र ही उनका खुला विज्ञापन हो रहा है!

स्वाधीन धनी पाश्चात्त्य देशोंमें पुरुष और स्त्रियोंका साम्यवाद—उन्हें सब कामोंके करनेमें समान अधिकार देना—स्त्रियोंको धनी मालिकोंकी गुलामीमें फँसानेका एक फंदामात्र है, इससे केवल धनियोंकी सुविधा बढ़ी और बढ़ रही है, तथा स्त्रियोंकी दुर्गति हो रही है, इस बातको आज वे भी समझ रहे हैं। अब हम, विचारशील लेखक Lewis Windham (विंढम लुइस) ने स्वरचित 'Doom of Youth' (युवकोंका विनाश) नामक ग्रन्थमें इस सम्बन्धमें जो कुछ लिखा है उसे पाठकोंकी जानकारीके लिये नीचे उद्धृत किये देते हैं। वे लिखते हैं—

'स्त्रियोंको समानाधिकार देनेका जो सिद्धान्त है, उससे दो प्रकारके उद्देश्य सिद्ध हुए हैं—एक तो पुरुषोंके पारिश्रमिककी दर कम करना, दूसरे उन अनेकों स्त्रियोंको, जिन्होंने अबतक मजदूरीका पेशा अङ्गीकार नहीं किया था, कम वेतन पानेवाले श्रमिकोंकी श्रेणीमें ले आना ××× नारी-प्रगति (स्त्रियोंकी सभी कामोंमें समानाधिकारकी माँग) चेष्टा करके उत्पन्न की गयी है × × × आधुनिक धनप्रभावग्रस्तताकी गति यदि नहीं रोकी जाती है तो भविष्य-

में मनुष्यसमाज दो श्रेणियोंमें विभक्त हो जायगा—(१) थोड़ेसे उच्च श्रेणीके लोग और (२) श्रमिक । संसारमें भविष्यमें उच्च श्रेणीके लोग दीर्घजीवी होंगे और श्रमिक केवल दस वर्षतक अत्यधिक परिश्रम कर कुत्तेका-सा जीवन व्यतीत करेंगे ।*

इस पराधीन देशमें—जिसका शिल्प नष्ट हो गया है और वाणिज्य दूसरोंके हाथमें चला गया है, लोगोंकी औसत आय चार, पाँच या छः रुपये मासिक है । प्रतिशत एक आदमीकी भी आय १००) रुपया मासिक नहीं है । संसारकी कुटिलता तथा स्वार्थपरतासे अनभिज्ञ, अनेकों भारतीय ऋषियोंकी उग्र तपस्याके फलस्वरूप, त्यागकी जीवन्त मूर्त्ति, इन भारतीय महिलाओंमें कितनोंको हम कितना भोग-सुख प्रदान कर सकते हैं; जिसके लिये उन्हें हम पुरुषोंके साथ अ-सम प्रतियोगितामें अर्थोपार्जनके सङ्घर्षमें—जो केवल गुलामी प्राप्त करनेका सङ्घर्ष है—झोंक देना चाहते हैं; इस बातपर क्या स्थिरचित्तसे सब लोग एकबार विचार करेंगे ? उन देवियोंकी त्यागशीलता और प्रेमका अक्षय स्रोत इस गरीब पराधीन देशमें दीन-दरिद्र, पापी-तापी, सभी लोगोंकी जीवनरूपी मरुभूमिमें मरूद्यान (Oasis) की रचना कर उनके अत्यन्त संतप्त हृदयको सरस और शान्तियुक्त रखता रहा है—घर-घरमें गृहलक्ष्मीके रूपमें उनके विराजित होनेके कारण जीवन इतना सुखप्रद रहता आया है कि पाश्चात्त्य देशोंमें कहावत-सी हो गयी है कि 'Happy as a poor Indian village' (एक दरिद्र भारतीय ग्रामके समान सुखी)। मातृत्वमें ही नारीत्व होनेके कारण स्त्रियोंके जीवनका प्रधान सुख ही है मातृत्वका त्यागात्मक प्रेम, भोगमूलक प्यार नहीं । उस त्यागात्मक प्रेमसे वञ्चित होनेपर वे न तो कभी किसी भी अवस्थामें स्वयं सुखी हो सकती हैं और न किसी दूसरेको ही सुख प्रदान कर सकती हैं—इस मूलतत्त्वको हमलोग भूल रहे हैं ! आज साम्यवादकी मदिरासे मतवाले होकर हम अबलाओंके कन्धेपर गुलामीका जूआ डालकर उनका कल्याण कर रहे हैं, या पाश्चात्त्य प्रगतिरूपी पिशाचीके सामने उन्हें बलि चढ़ानेके लिये ले जा रहे हैं ! हम पाश्चात्त्योंकी देखा-देखी उन्नतिकी चेष्टा करते हुए 'ईसप्स फेब्लस्' के लोभी कुत्तेके समान केवल 'इतो नष्ट ततो भ्रष्ट' ही हो रहे हैं !!

गुबिन्दके पदारविन्द

कोई कहै 'राम-राम' कोई 'कृष्ण-कृष्ण' कहै; कोई कहै 'शिव-शिव' अपने मुखारविन्द ।
कोई 'हरिहर' कहै, 'नारायण' कहै कोई; कोई 'परब्रह्म' ध्यावें मूदि नयनारविन्द ॥
कोई 'जप-तप' करे, 'पूजा-पाठ' रातदिन, पदसे करे 'सुतीर्थ' 'दान' दे करारविन्द ।
किन्तु दीन सेवक 'द्विजेन्द्र' करजोरि कहै, मेरे तौ अधार हैं—"गुबिन्दके पदारविन्द ॥"

—'द्विजेन्द्र'

---

* "Femininism served the double purpose of cheapening the labour of man and of tapping an enormous, until—then unused labour-market......the femininist movement was artificially created for this purpose......the tendency of modern capitalism, if unchecked, will be to produce a world in which men are divided into two classes—(1) the very small upper class (2) labour.' In the world of future, the upper class will be long-lived and the labour will have about 10 years of active working life—the life of a dog."

मानसमें विवाह-प्रसंगकी दो चौपाइयोंका अर्थ

(लेखक—पं० श्रीविजयानन्दजी त्रिपाठी)

कुँअरु कुँअरि कल भाँवरि देहीं।
नयन लाभ सब सादर लेहीं॥
मनहु मदन रति धरि बहुरूपा।
देखत राम बिवाहु अनूपा॥१॥

अर्थ—राजकुमार रामजी और राजकुमारी सीताजी सुन्दर भाँवरें दे रहे हैं। सब लोग आँखोंका फल ले रहे हैं। मानो काम और रति बहुत-से रूप धारण करके श्रीरामजीका अनुपम विवाह देख रहे हैं।

भाव—कुँअरु कुँअरि—भाव यह है कि ग्रन्थिबन्धन हो गया है, जबतक ग्रन्थिविमोक न होगा दोनों साथ रहेंगे। भाँवर पड़ते समय वर-वधू साथ ही प्रदक्षिणा करते हैं। अतः कुँअरु-कुँअरि एक साथ कहा। यथा—

राजत राम-जानकी जोरी।
स्याम सरोज जलद सुंदर बर दुलहिन तडित बरन तन गोरी॥
ब्याह समय सोहत बितान तर उपमा कहुँ न लहत मति मोरी।
मनहु मदन मंजुल मंडप मँह छबि सिंगार सोभा इक ठौरी॥
मंगलमय दोउ अंग मनोहर ग्रथित चूँदरी पीत पिछौरी।
कनक-कलस कहँ देन भाँवरी निरखि रूप सारद भइ भोरी॥
(गीतावली)

कल—युगल मंगलमय मूर्तियोंके भाँवर देनेमें बड़ी शोभा है, इससे 'कल' कहा। अथवा देहरी-दीपक-न्यायसे, कल शब्दका अन्वय कर्ताके साथ भी होगा। भाँवरि फिरनेकी सुन्दरता अतिमन्दगतिमें है, और प्रदक्षिणा करनेमें इसी प्रकारसे चलनेका विधान भी है।

भाँवरि देही—विवाहके समयकी प्रदक्षिणाको भाँवरि कहते हैं। विवाहप्रसंगान्तर्गत भाँवरिका प्रसंग 'करि होम बिधिवत गाँठ जोरी होन लागी भाँवरी'—से प्रारम्भ हुआ था। यहाँ उपसंहार कर रहे हैं। बीचमें, भाँवरीके समय लोगोंके जय-जयकार, बन्दियोंके विरद-घोष, वेदध्वनि, स्त्रियोंके मङ्गलगान, नगाड़ोंके शब्द और देवताओंकी पुष्पवर्षाका वर्णन किया। यथा—

जयधुनि बंदी बेदधुनि मंगल गान निसान।
सुनि हरखहिं बरखहिं बिबुध सुरतरु सुमन सुजान॥

इसके बाद देखनेवालोंका प्रसंग चला।

नयन लाभ—आँख होनेका फल इतना ही है कि इस मङ्गलमयी जोड़ीके दर्शन हों। यथा—

दूलह राम सीय दुलही री।
घन दामिनि बर बरन हरन मन सुंदरता नखसिख निबही री॥
ब्याह बिभूषन बसन बिभूषित सखि अवली लखि ठगि सी रही री।
जीवन जनम लाहु लोचन फल है इतनोइ लह्यो आज सही री॥
सुखमा सुरभि सिंगार छीर दुहि मयन अमियमय कियो दही री।
मथि माखन सियराम सँवारे सकल भुवन छबि छाँछ मही री॥
(गीतावली)

सब—भाव यह कि जितने नर-नारी थे वे सभी। राजाओं और ऋषियोंके सिंहासन मण्डपके बाहर लगे हुए थे। 'निज पानि जनक सुजान सब कहँ आनि सिंहासन धरे।' बैठकर ही व्याह होता है, अतः सब लोग छबि देखनेसे वञ्चित थे। जब भाँवरी देनेके लिये खड़े हुए, तब सबको दर्शन होने लगे।

सादर लेहीं—भाव यह कि आदरके साथ दर्शन करनेसे ही जन्म सफल होता है। यथा—

लेहु री लोचननि को लाहु।
कुँअर सुंदर साँवरो सखि सुमुखि सादर चाहु॥

मनहु मदन रति—उस समय जो समा बँधा था, उसकी पूर्ति देखनेवालोंका वर्णन किये बिना नहीं होती। उस परम मनोहर दृश्यके देखनेवाले भी सुन्दर थे। अतः पूरा समाज ही दर्शनीय था। नगरके नारी-नर रूपके निधान हैं अतएव उनकी उपमा रति-कामसे दी गयी। यथा—

नगर नारि-नर-रूप निधाना। सुघर सुधरम सुसील सुजाना॥
तिनहिं देखि सब सुर नर-नारी। भये नखत जनु बिधु उँजियारी॥

धरि बहुरूपा—देखनेवाली और देखनेवाले बहुत हैं। रूपभेद सबमें होता ही है। पर हैं सब-के-सब सुन्दर। सब रतिकामसे ही उपमित होने योग्य हैं, यथा—

बिधुबदनी सब सब मृगलोचनि।
सब निज तन छबि रतिमद मोचनि॥

देखत—जिन भाग्यवानोंने इस विवाहको देखा, उनका भी वर्णन श्रीगोस्वामीजी करते हैं। यथा—

कुँअर कुँअरि सब मंगलमूरति नृप दोउ धर्मधुरंधर धोरी।
राज समाज भूरि भागी जिन लोचन लाहु लह्यो इक ठौरी॥

रामबिबाह अनूपा—रामजीके विवाहकी उपमा ही नहीं। न कहीं ऐसे समधी, न कहीं ऐसे वर-दुलहिन। यथा—

देखे हैं अनेक ब्याह, सुने हैं पुरान बेद,
बूझे हैं सुजान साधु नरनारि पारखी।
ऐसे सम समधी समाज ना बिराजमान,
राम-से न बर दुलही न सिय सारखी॥
(कविता)

और न ऐसा मण्डप ही—

रचना देखि बिचित्र अति मन बिरंचि कर भूल।

दरस लालसा सकुच न थोरी।
प्रगटत दुरत बहोरि बहोरी॥
भये मगन सब देखनिहारे।
जनक समान अपान बिसारे॥ २॥

अर्थ—दर्शनकी लालसा है, और सङ्कोच भी कम नहीं है। इसलिये बार-बार प्रकट होती हैं और छिप जाती हैं। देखनेवाले सब मगन हो गये, जनकके समान अपनेको ही भूल गये।

भाव—दरस लालसा—सबको इस विवाहके देखनेकी लालसा है। यथा—

जौं बिधि बस अस बनै सँजोगू। तौ कृतकृत्य होहिं सब लोगू॥

पुर नारि सकल पसारि अंचल बिधिहि बचन सुनावहीं।
ब्याहिअहु चारिउ भाइ एहि पुर हम सुमंगल गावहीं॥

सकुच न थोरी—स्त्रियोंको समधीका बड़ा संकोच होता है। गाँवमें किसीके यहाँ समधी आवे, तो गाँव-भरकी स्त्रियाँ उसे समधी मानकर सामने होनेमें संकोच करती हैं। यहाँ आँगनमें समाजसहित समधी चक्रवर्ती-जी बैठे हैं। अत: सामने होकर विवाह देखनेमें संकोच है। (यह भाव मुकुन्दासाहु रामायणीका है)

प्रगटत दुरत बहोरि बहोरी—दर्शनकी लालसासे रहा नहीं जाता, अत: कोठेपरसे झुककर देखती हैं। नीचे समाजसहित समधीको देखकर फिर छिप जाती हैं। लालसा और सङ्कोचवश ऐसा बार-बार हो रहा है। इसीलिये कहते हैं 'प्रगटत दुरत बहोरि बहोरी।' यहाँ स्त्रियोंके स्वभावका कितना सुन्दर चित्र खींचा गया है। बारात लौटकर जब अयोध्या आती है, तब कुल-बधुओंकी भी ऐसी ही अवस्था वर्णन की गयी है। वे बारात देखनेके लिये कोठेपर आ जाती हैं, फिर गुरुजनोंको देखकर छिप जाती हैं। यथा—

प्रगटत दुरत अटन पर भामिनि। चारु चपल जिमि दमकत दामिनि

भये मगन—अपनी सुध-बुध जाती रही। स्त्रियोंके लिये ऐसा नहीं कहा, क्योंकि वे संकोच और लालसावश प्रकट होती और छिपती रहीं। एकाग्र न हो सकीं। पुरुष लोग एकाग्र होनेसे मगन हो गये।

सब देखनिहारे—देखनेवालियोंका वर्णन करके अब देखनेवालोंका वर्णन करते हैं। ऐसे स्थलोंमें पुरुष-स्त्रीका भेद प्रकरणानुसार किया जाता है। लालसा और संकोचके कारण प्रकट होना और छिपना स्त्रियोंमें ही बनता है। अत: उपर्युक्त अर्धाली स्त्रियोंके लिये है। यथा—

करि मज्जन पूजहिं नर नारी। गनप गौरि तिपुरारि पुरारी॥
रमा रमन पद बंदि बहोरी। बिनवहिं अंजलि अंचल जोरी॥

यहाँ यद्यपि 'जोरी' क्रियाका कर्ता 'नरनारी' शब्द है, पर अञ्चल जोड़ना नारीके पक्षमें और अंजुलि जोड़ना नर-पक्षमें प्रकरणबलसे माना जाता है । इसी बातके न समझनेसे संवत् १७०४ के बादकी प्रतियोंमें दो नयी अर्धालियाँ—

बरनि न जाइ मनोहर जोरी। जो उपमा कछु कहौं सो थोरी॥
रामसीय सुंदर परिछाहीं। जगमगात मनिखंभन्ह माहीं॥

—की सृष्टि हुई ।

जनक समान अपान बिसारे—महाराज जनक राज्य करते हुए भी समाधि-सुखका अनुभव करते थे । यथा—

भूमि भोग करत अनुभवत जोगसुख,
मुनिमन अगम अलखगति जान को ।
(गीतावली)

ये विवाह देखनेवाले भी विवाह देखते-देखते समाधिस्थ हो गये । इसीलिये 'जनक-समान' कहा । 'तुलसी सो आनंद मगन मन, क्यों रसना बरनै सुख सो री ।' यहाँपर 'नयन लाभ सब सादर लेहीं' कहकर जो प्रसङ्ग आरम्भ किया था, उसका उपसंहार करते हैं । अब जहाँसे भाँवरीका प्रसङ्ग छोड़ा था वहींसे फिर उठावेंगे ।

प्रमुदित मुनिन भाँवरी फेरी । नेगसहित सब रीति निबेरी ॥

मायासे

(गीत)

(१)

छोटी-सी गोरी गाँवकी—सब जादू जाने रे !
पद पद पर है बात काटती
बात बातमें जीभ चाटती
आँख मरोर मरोर डाँटती
—कहा न माने रे !
छोटी-सी गोरी गाँवकी—सब जादू जाने रे !

(२)

पहिने तारागणकी सारी
चन्द्रकला चोली छवि प्यारी
लूट रही नकबेसरवारी
—भौहें ताने रे !
छोटी-सी गोरी गाँवकी—सब जादू जाने रे !

(३)

अंग-अंगसे सैन चलाकर
तीन गुणोंकी कविता गाकर
निज माया बलसे इठलाकर
—मिट्टी छाने रे !
छोटी-सी गोरी गाँवकी—सब जादू जाने रे !

—शिवनारायण वर्मा

मधु-विद्या

(लेखक—पं० श्रीगोविन्दनारायणजी शर्मा आसोपा)

बृहदारण्यक अथवा वाजसनेयिब्राह्मणोपनिषद्‌के द्वितीय अध्यायके पञ्चम ब्राह्मणमें मधु-विद्या या ब्रह्मज्ञानका वर्णन १९ मन्त्रोंमें किया हुआ है, जिसे 'मधु-ब्राह्मण' भी कहते हैं। उसका सारांश नीचे दिया जाता है।

१–यह पृथिवी सब प्राणियोंके लिये मधु (विज्ञानरूप अथवा शहदके समान मधुर) है और इस पृथिवीके लिये सब प्राणी मधु (विज्ञानरूप) हैं। जो इस पृथिवीमें तेजोमय अर्थात् चिन्मात्र प्रकाशमय और अमृतमय अर्थात् अमरणधर्मा पुरुष है और जो अध्यात्म अर्थात् शरीरसम्बन्धी अथवा शरीरका अधिष्ठाता लिङ्गाभिमानी तेजोमय अमृतमय पुरुष है वही आत्मा या परमात्मा है, वही अमृत है, वही ब्रह्म है और वही सब है।

२–यह जल सब प्राणियोंके लिये मधु (विज्ञानरूप) है और इस जलके लिये सब प्राणी मधु (विज्ञानरूप) हैं; जो इस जलमें तेजोमय अमृतमय पुरुष है और अध्यात्म या शरीरमें रेतस् (वीर्य) सम्बन्धी या वीर्यका अधिष्ठाता तेजोमय अमृतमय पुरुष है वही आत्मा है, वही अमृत है, वही ब्रह्म है और वही सब है।

३–यह अग्नि सब प्राणियोंके लिये मधु (विज्ञानरूप) है और इस अग्निके लिये सब प्राणी मधु (विज्ञानरूप) हैं; जो इस अग्निमें तेजोमय अमृतमय पुरुष है और जो अध्यात्म या शरीरमें वाक् (वाणी) सम्बन्धी या वाणीका अधिष्ठाता तेजोमय अमृतमय पुरुष है, वही आत्मा है, वही अमृत है, वही ब्रह्म है और वही सब है।

४–यह वायु सब प्राणियोंके लिये मधु (विज्ञानरूप) है और ये सब प्राणी वायुके लिये मधु (विज्ञानरूप) हैं; जो इस वायुमें तेजोमय अमृतमय पुरुष है और जो इस अध्यात्म वा शरीरमें प्राणसम्बन्धी या प्राणका अधिष्ठाता तेजोमय अमृतमय पुरुष है, वही आत्मा है, वही अमृत है, वही ब्रह्म है और वही सब है।

५–यह सूर्य सब प्राणियोंके लिये मधु (विज्ञानरूप) है और ये सब प्राणी सूर्यके लिये मधु (विज्ञानरूप) हैं; जो इस सूर्यमें तेजोमय अमृतमय पुरुष है और जो इस अध्यात्म या शरीरमें चक्षुसम्बन्धी या नेत्रका अधिष्ठाता तेजोमय अमृतमय पुरुष है, वही आत्मा है, वही अमृत है, वही ब्रह्म है और वही सब है।

६–ये दिशाएँ सब प्राणियोंके लिये मधु (विज्ञानरूप) हैं और ये सब प्राणी दिशाओंके लिये मधु (विज्ञानरूप) हैं; जो इन दिशाओंमें तेजोमय अमृतमय पुरुष है और जो अध्यात्म या शरीरमें श्रोत्रसम्बन्धी अथवा श्रोत्रका अधिष्ठाता तेजोमय अमृतमय पुरुष है, वही आत्मा है, वही अमृत है, वही ब्रह्म है और वही सब है।

७–यह चन्द्रमा सब प्राणियोंके लिये मधु (विज्ञानरूप) है और ये सब प्राणी चन्द्रमाके लिये मधु (विज्ञानरूप) हैं; जो इस चन्द्रमामें तेजोमय अमृतमय पुरुष है और जो अध्यात्म या शरीरमें मनसम्बन्धी या मनका अधिष्ठाता तेजोमय अमृतमय पुरुष है, वही आत्मा है, वही अमृत है, वही ब्रह्म है और वही सब है।

८–यह बिजली सब प्राणियोंके लिये मधु (विज्ञानरूप) है और ये सब प्राणी बिजलीके लिये मधु (विज्ञानरूप) हैं; जो इस बिजलीमें तेजोमय अमृतमय पुरुष है और जो अध्यात्म या शरीरमें तेज अथवा त्वचासम्बन्धी या त्वचाका अधिष्ठाता तेजोमय अमृतमय पुरुष है, वही आत्मा है, वही अमृत है, वही ब्रह्म है और वही सब है।

९–यह मेघ सब प्राणियोंके लिये मधु (विज्ञानरूप) है और ये सब प्राणी मेघके लिये मधु (विज्ञानरूप) हैं; जो इस मेघमें तेजोमय अमृतमय पुरुष है और जो अध्यात्म या शरीरमें शब्दसम्बन्धी और स्वरसम्बन्धी, अथवा शब्द और स्वरका अधिष्ठाता, तेजोमय अमृतमय पुरुष है, वही आत्मा है, वही अमृत है, वही ब्रह्म है और वही सब है।

१०–यह आकाश प्राणियोंके लिये मधु (विज्ञानरूप) है और ये सब प्राणी आकाशके लिये मधु (विज्ञानरूप) हैं; जो इस आकाशमें तेजोमय अमृतमय पुरुष है और जो अध्यात्म या शरीरमें हृदयरूपी आकाश या अवकाश-सम्बन्धी अथवा आकाशका अधिष्ठाता तेजोमय अमृतमय पुरुष है, वही आत्मा है, वही अमृत है, वही ब्रह्म है और वही सब है।

११–यह धर्म सब प्राणियोंके लिये मधु (विज्ञानरूप) है, और ये सब प्राणी धर्मके लिये मधु (विज्ञानरूप) हैं; जो इस धर्ममें तेजोमय अमृतमय पुरुष है और जो इस अध्यात्म या शरीरमें धर्म-सम्बन्धी, या धर्मका अधिष्ठाता, तेजोमय अमृतमय पुरुष है, वही आत्मा है, वही अमृत है, वही ब्रह्म है और वही सब है ।

१२–यह सत्य सब प्राणियोंके लिये मधु (विज्ञानरूप) है और ये सब प्राणी सत्यके लिये मधु (विज्ञानरूप) हैं; जो इस सत्यमें तेजोमय अमृतमय पुरुष है और जो इस अध्यात्म या शरीरमें सत्यसम्बन्धी या सत्यका अधिष्ठाता तेजोमय अमृतमय पुरुष है, वही आत्मा है, वही अमृत है, वही ब्रह्म है और वही सब है ।

१३–यह मनुष्य या मनुष्यजाति सब प्राणियोंके लिये मधु (विज्ञानरूप) है और ये सब प्राणी मनुष्य या मनुष्य-जातिके लिये मधु (विज्ञानरूप) हैं; जो इस मनुष्य अर्थात् विराट् स्वरूपमें तेजोमय अमृतमय पुरुष है और जो इस अध्यात्म अथवा शरीरमें मनुष्यसम्बन्धी या मनुष्यजातिका अधिष्ठाता, तेजोमय अमृतमय पुरुष है, वही आत्मा है, वही अमृत है, वही ब्रह्म है और वही सब है ।

१४–यह आत्मा (जीवात्मा अथवा शरीर और इन्द्रियोंका समुदाय) सब प्राणियोंके लिये मधु (विज्ञानरूप) है और ये सब प्राणी आत्माके लिये मधु (विज्ञानरूप) हैं; जो इस आत्मामें तेजोमय अमृतमय पुरुष है और जो यह स्वयं आत्मा (जीवात्मा) अथवा शरीर-इन्द्रियोंके समुदायका अधिष्ठाता, तेजोमय अमृतमय पुरुष है, वही आत्मा है, वही अमृत है, वही ब्रह्म है और वही सब है ।

१५–यह वह आत्मा सब प्राणियोंका अधिपति है, सब प्राणियोंका राजा है । जैसे रथकी नाभि (बीच) में और रथकी नेमि (चक्र वा चक्के) में सब अरे आरोपित (लगे हुए) होते हैं, वैसे इस आत्मामें सब प्राणी मनुष्य आदि, सब देवता अग्नि आदि, सब लोक भू आदि, सब प्राण वाक् आदि और ये सब जलमें चन्द्रमाके प्रतिबिम्बके समान प्रत्येक शरीरमें प्रविष्ट हुए, अर्थात् अविद्यासे रचे हुए, आत्मारूपसे आरोपित हैं । अर्थात् यह सब जगत् परमात्मामें समर्पित है । यह परमात्माका सर्वात्मभाव है ।

१६–यह वह मधु (विज्ञान) आथर्वण (अथर्वा ऋषिके पुत्र) दधीचिने अश्विनीकुमारोंसे कहा था । वह उस मन्त्रद्रष्टा ऋषि दधीचिने अपने घोड़ेके मुखसे आप अश्विनीकुमारोंके लाभके लिये कहा था कि–'हे अश्विनी-कुमारो ! मैं आपके उस उग्र (क्रूर वा प्रशंसाके योग्य) कर्म (घोड़ेके मस्तकको काटकर अपने–दधीचिके–मस्तकमें जोड़ देनारूप कर्म) को इस प्रकार प्रकट करूँगा, जैसे मेघ वृष्टिको प्रकट करता है ।' अर्थात् जब वृष्टि होती है तभी मेघ गर्जना करते हैं ।

१७–यह वह मधु (विज्ञान) अथर्वाके पुत्र दधीचि ऋषिने अश्विनीकुमारोंसे कहा था । वह उस मन्त्रद्रष्टा दधीचि ऋषिने कहा था कि 'हे अश्विनीकुमारो ! आपने पहले मेरे घोड़ेका सिर लगा दिया था और उसके काटे जानेपर आपने फिर पीछे मनुष्यका सिर लगा दिया और घोड़ेका सिर घोड़ेके जोड़ दिया था । उस ऋषिने अपने वचनको सत्य करते हुए त्वष्टा अर्थात् सूर्यसम्बन्धी मधु (विज्ञान) का उपदेश दिया था–जो कि हे अश्विनीकुमारो ! गोप्य अथवा रहस्यरूप है, क्योंकि वह परमात्मासम्बन्धी विज्ञान प्रवर्ग्य अथवा ब्रह्मविद्यारूप होनेसे गोप्य है । उसे आपको दधीचि ऋषिने बताया ।'

१८–यह वह मधु (विज्ञान) अथर्वाके पुत्र दधीचि ऋषिने आप अश्विनीकुमारोंसे कहा था । वह उस मन्त्र-द्रष्टा ऋषिने कहा कि—'उस परमात्माने दो पैरवाले मनुष्य, पक्षी आदिके पुर (शरीर) बनाये, फिर चार पैर-वाले चौपाये घोड़ा, गौ आदिके पुर (शरीर) बनाये और फिर वही परमात्मा पक्षी (लिङ्ग-शरीर) बनकर उन शरीरोंमें प्रविष्ट हो गया । पुनः यह वही परमात्मा पुरुष बनकर उन शरीरोंमें प्रविष्ट हुआ । यह वही परमात्मा सब पुरों (शरीरों) में शयन करता है, इसी लिये वह 'पुरिशय' वा पुरुष कहलाता है । इस पुरुषरूप परमात्मासे कुछ भी न तो ढका या छिपा हुआ है और न कुछ भी नहीं ढका हुआ या नहीं छिपा हुआ है ।' अर्थात् वह परमात्मा ही अंदर और बाहररूपसे, अथवा कारण वा कार्यरूपसे, व्यवस्थित है । उससे पृथक् वा अन्य दूसरा कुछ भी नहीं है । इससे आत्मा वा परमात्माकी सर्वात्मकता सिद्ध होती है ।

१९–यह वह मधु (विज्ञान) अथर्वाके पुत्र दधीचि ऋषिने अश्विनीकुमारोंसे कहा था । वह (विज्ञान) कहते

उस मन्त्रद्रष्टा दधीचि ऋषिने उपदेश दिया था कि—'वह परमात्मा देहरूप उपाधिभेदमें प्रतिबिम्बित होनेसे बहुरूप या अनेक रूपका हो गया है। वही उपाधिरहित परमात्मा अपने रूप (या स्वरूप अर्थात् आत्मा) की यथार्थताके विवेचनके लिये बुद्धिगम्य हो गया। जैसे वस्त्रसे आच्छादित वस्तु (चीज़) का कुछ पता नहीं लगता, वैसे बुद्धिसे ढके हुए परमात्माका कुछ पता नहीं पड़ता। परमात्मा केवल सूक्ष्म, शुद्ध बुद्धिद्वारा ही जाना जा सकता है। वह इन्द्र (ऐश्वर्यवाला परमात्मा) अनेक विक्षेपोंके कारण अनेक रूप धारण करनेवाली माया (विषय अथवा नाम-रूपात्मक मिथ्याभिमानरूपसे परिणामको पायी हुई माया) से बहुरूप हो गया। अर्थात् जैसे जलसे भरे अनेक कटोरोंमें सूर्य एक होनेपर भी अनेक रूपसे प्रतीत होता है, वैसे परमात्मा एक होकर भी अनेक देहोंमें अनेक रूपसे प्रतीत होता है। इस परमात्माके, रथमें जुते हुए घोड़ोंके समान, आत्मारूप इन्द्रियाँ हैं—जो दस सौ (एक हजार), दस सहस्र, बहुत और अनन्त हैं। ये सब (आत्मा और इन्द्रियाँ) ब्रह्म हैं। जो अपूर्व (अर्थात् जिसका कोई पूर्व या कारण नहीं) है, अपर (जिसका कुछ पर या कार्य नहीं) है, अबाह्य (जिसके बाहर कुछ नहीं) है और अनन्तर (जिसके अंदर या बीचमें जात्यन्तर वस्तु कुछ नहीं) है। यह प्रत्यक् अर्थात् सबके अंदरके भी अंदर रहनेवाला चेतन आत्मा ब्रह्म है। जो स्वयं सब वस्तुओंका अनुभव करता है अर्थात् जो द्रष्टा, श्रोता, मन्ता, बोद्धा, विज्ञाता है वही प्रत्यक् (चैतन्यस्वरूप) आत्मा है। यही सब वेदान्तोंका अर्थ वा साररूप शिक्षा है। स्थलसंकोचके कारण असल मन्त्र नहीं दिये हैं, किन्तु उनका भावार्थ नीचे लिखा जाता है।

मधुविद्या, प्रवर्ग्यविद्या, ब्रह्मविद्या, आत्मविद्या, अध्यात्मविद्या, आत्मज्ञान, ब्रह्मज्ञान, तत्त्वज्ञान आदि सब पर्यायवाची शब्द हैं। इस ब्राह्मणमें मधुविद्याका वर्णन है, इसलिये इसे 'मधु-ब्राह्मण' कहते हैं। इस सृष्टिके बाहर और अंदर रूपसे दो भेद हैं, जिनको बहिर्जगत् और अन्तर्जगत् अथवा ब्रह्माण्ड और पिण्ड नामसे पुकारते हैं। यह सृष्टि परस्पर एक दूसरेका उपकार करती है। जैसे पृथिवी जीते-जागते जन्तुओंको जन्म देती है और उनको आश्रय देती है, इसलिये वह उनकी आधार-भूत वा सहारारूप है। और यह उनके लिये बनायी गयी है, इस कारण वे जन्तु इसके जन्मके निमित्तकारण हैं। यह पृथिवी उनका कार्य भी है और कारण भी है। जिस प्रकार शहदकी मक्खियाँ शहदको बनाती हैं, शहदमें पलती हैं और वे सब एक दूसरेके लिये होती हैं, उसी प्रकार सारा जगत् एक दूसरेके लिये है। इससे प्रतीत होता है कि इन सबके अंदर इनका अधिष्ठाता एक अमृतमय पुरुष है। वह अमृतमय पुरुष परमात्मा है, जो अंदर और बाहर—सर्वत्र विद्यमान है। उसको पहचाननेके लिये ही यह बताया गया है कि जो इन पृथिवी, जल, अग्नि, वायु आदिका अधिष्ठाता परमात्मा है वही इस शरीरका अधिष्ठाता है—जो क्रमशः पञ्चभूतात्मक देह, वीर्य, वाक् और प्राणरूपसे प्रतीत होता है। सूर्यमें जो तेजोमय पुरुष है, वही नेत्रका अधिष्ठाता तेजोमय पुरुष है। इसी प्रकार दिशाएँ, चन्द्रमा, बिजली, मेघ, आकाश, धर्म, सत्य, मनुष्य आदिका अधिष्ठाता तेजोमय पुरुष है; वही क्रमशः श्रोत्र, मन, त्वचा, शब्द और स्वर, हृदयाकाश, शारीरिक धर्म, शारीरिक सत्य तथा मनुष्यजातिका अधिष्ठाता तेजोमय पुरुष है। ये दोनों ही आत्मा, अमृत, ब्रह्म और सर्वरूप हैं—जैसे पृथिवी आदि सारे जगत्का उपकार करते हैं, और सारे जीव इनका प्रत्युपकार करते हैं। यह इनका परस्परका उपकार धर्मके अधीन है। बाह्य जगत् धर्ममात्रका फल है, अर्थात् सबके साथ धर्मका फल है और भिन्न-भिन्न शरीर निज धर्मका फल है। इसीलिये धर्म सामान्य रूपसे सारे विश्वकी रचनामें निमित्त है और विशेष रूपसे अलग-अलग शरीरोंकी रचनामें निमित्त है। दोनों जगह जगत्का अधिष्ठाता वही सर्वान्तरात्मा है। इसी प्रकार सत्यसे तात्पर्य उन नियमोंसे है, जो इस बाह्य जगत्में काम कर रहे हैं और अन्तर्जगत् वा शरीरमें भी काम कर रहे हैं। किन्तु आत्माके अधिष्ठाताके विषयमें यह बात नहीं है; क्योंकि जैसे बाह्य जगत्में पृथिवी आदिका और अध्यात्म जगत्में शरीर आदिका अधिष्ठाता बतलाया है, वैसे यहाँ आत्माके विषयमें बाह्य जगत्का कोई पदार्थ नहीं बतलाया जा सकता। आत्मा तो स्वयं अंदरका ही पदार्थ है। इसीलिये आत्माका सबके अन्तमें अन्तर्यामी रूपसे ही वर्णन किया है। इसलिये यहाँ आत्माके विषयमें उसे तेजोमय अमृतमय पुरुष बतलाकर फिर उसका स्वरूप ही बता दिया है कि जो यह तेजोमय अमृतमय पुरुष है, वही आत्मा है।

इस प्रकार परमात्माको बाह्य और अध्यात्म दोनों जगत्का अधिष्ठाता बतलाकर अन्तमें उसे आत्मा (जीवात्मा)

का भी आत्मा ठहराया है। फिर उस सारे बाह्य और अध्यात्म जगत्को वशमें रखनेवाले और सबके आधारभूत परमात्माका वर्णन १५ वें मन्त्रमें इस प्रकारसे किया है कि—यह परमात्मा सब जीवोंका अधिपति अर्थात् हुकूमत करनेवाला है। सब जीवोंका राजा है। जैसे रथके मध्यभागमें और धारा (गोल चक्र) में सब अरे पिरोये हुए होते हैं, वैसे इस परमात्मामें सारे जन्तु, सारे देवता, सारे लोक, सारे प्राण और सारे ये आत्मा (जीवात्मा) पिरोये हुए हैं।

सोलहवें मन्त्रका भाव समझनेके लिये दधीचि ऋषिने घोड़ेके सिरसे अश्विनीकुमारोंको ब्रह्मविद्याका उपदेश दिया था। उस आख्यायिकाको जानना आवश्यक है। वह इस प्रकार है कि एक समय इन्द्रने दधीचि ऋषिसे ब्रह्मविद्या सीखी थी। ऋषिने उपदेशके समय भोगोंकी निन्दा करते हुए इन्द्रके लिये कुछ हल्के शब्दोंका प्रयोग कर दिया। इससे अप्रसन्न होकर इन्द्रने ऋषिसे कह दिया कि यह विद्या अब आप किसीको न बताइयेगा, अगर बता दी तो मैं आपका सिर काट डालूँगा। अश्विनीकुमार भी दधीचिके शिष्य थे। उन्होंने जब ब्रह्मविद्याके उपदेशकी प्रार्थना की तो ऋषिने इनसे इन्द्रकी कही हुई बात कह दी। इसपर अश्विनीकुमारोंने ऋषिका सिर उतारकर एक घोड़ेके साथ जोड़ दिया और उस घोड़ेका सिर ऋषिके लगा दिया। इस घोड़ेके मुखसे ऋषिने ब्रह्मविद्या बता दी, जिसका पता लगनेपर इन्द्र आया और उसने ऋषिका घोड़ेवाला मस्तक काट दिया। अश्विनीकुमारोंने उस घोड़ेके सिरको फिरसे घोड़ेके लगा दिया और ऋषिका सिर पीछा ऋषिके लगा दिया और दोनोंको सञ्जीवनी विद्यासे जीवित कर दिया।

इस ब्रह्मविद्या अथवा मधुविद्याका उपदेश अथर्वाके पुत्र दधीचि ऋषिने अश्विनीकुमारोंको दिया था। तब ऋषिने अश्विनीकुमारोंसे कहा था कि 'हे अश्विनीकुमारो! आपने ब्रह्मविद्याकी शिक्षाके लिये एक असाधारण (ज़बरदस्त) कार्य किया कि मेरा सिर काटकर घोड़ेके जोड़ दिया और घोड़ेका सिर काटकर मेरे लगा दिया, जिससे मैंने आपको उस विद्याका उपदेश दिया। मैं आपके एक सिरको काट दूसरेके लगानेरूप उग्र (ज़बरदस्त) कार्यको जगत्में ऐसे प्रकट करूँगा जैसे मेघ वृष्टिको प्रकट करते हैं।'

सत्रहवें मन्त्रमें भी ऊपरकी आख्यायिकाका अनुवर्तन है कि अथर्वाके पुत्र दधीचिने अश्विनीकुमारोंको मधुविद्याका उपदेश दिया और उपदेश देते समय यह कहा कि—'हे अश्विनीकुमारो! आपने इस मधुविद्याकी प्राप्तिके लिये पहले घोड़ेका सिर काटा, फिर मेरा सिर काटा, फिर घोड़ेके सिरको मेरे मस्तकपर लगा दिया।' उस दधीचिने आप दोनों भाइयोंको मधुविद्याका उपदेश अपनी पूर्वप्रतिज्ञाका पालन करनेके लिये अर्थात् उसे सत्य करनेके लिये दिया था—जो त्वाष्ट्र अर्थात् त्वष्टा (सूर्य) सम्बन्धी अर्थात् त्वष्टाके यज्ञशिरको काटनेके विषयका ही नहीं था, अपितु हे अश्विनीकुमारो! वह अति गोप्य था; क्योंकि वह परमात्मासम्बन्धी विज्ञान था।

अठारहवें मन्त्रका यह भाव है कि अथर्वाके पुत्र दधीचि ऋषिने मधुविद्याका उपदेश देते हुए अश्विनीकुमारोंसे यह कहा था कि—'उस परमात्माने पहले भूः आदि लोकोंकी रचना की; फिर दो पैरवाले मनुष्य, पक्षी आदिके पुर (शरीर) रचे; पुनः चार पाँववाले चौपाये-गौ, घोड़ा आदिके पुर (शरीर) बनाये। तब वह परमात्मा पक्षी (लिङ्गशरीर) बनकर उन पुरों (शरीरों) में घुसा। पुरोंमें शयन करनेसे ही परमात्माका नाम 'पुरिशयः' या पुरुष हुआ है, क्योंकि यह परमात्मा सब प्रकारके पुरों (शरीरों) में शयन करता या रहता है। इस पुरुषरूप परमात्मासे कुछ भी प्रकट और अप्रकट नहीं है।'

उन्नीसवें मन्त्रका यह भावार्थ है कि परमात्मा जिस शरीरमें प्रविष्ट होता है, वह उसी शरीरके समान (अनुरूप) हो जाता है। परमात्मा इस जगत्के छोटे-से-छोटे और बड़े-से-बड़े पदार्थमें व्याप्त हो रहा है और उसके हरेक वस्तु और प्रदेशमें व्यापक होनेसे वह उसीके प्रतिरूप होकर दिखायी देता है। यह सारा विश्व उसी परमात्माके प्रकाशसे प्रकाशित हो रहा है। इसलिये यह अपने प्रकाशसे उसी विश्वको दिखा रहा है, क्योंकि वह स्वयं विश्वरूप है। या यों कहिये कि यह ब्रह्माण्ड एक प्रकारका रथ है, जिसे वह अपनी अनन्त शक्तियों (घोड़ों) से चला रहा है। ये सब शक्तियाँ (आत्माएँ) भिन्न-भिन्न देवताओंसे भिन्न-भिन्न रूपोंमें प्रकट होती हैं। वस्तुतः ये सारी शक्तियाँ उस परमात्मासे पृथक् नहीं हैं। आत्मा या परमात्मा सर्वरूप है। परमात्माकी सर्वात्मकताके अनेक प्रमाण हैं, जिनमेंसे थोड़ेसे नीचे लिखे जाते हैं—

(१) अनेजदेकं मनसो जवीयः— (ईश० ४)

यह ईश्वर न चलता हुआ भी मनसे अधिक वेगवाला है।

(२) तदेजति तन्नैजति— (ईश० ५)

वह चलता है और नहीं भी चलता है, वह दूर भी है और पास भी है, वह इस विश्वके भीतर भी है और बाहर भी है ।

(३) यस्मात् परं नापरमस्ति किञ्चित्— (श्वेता० ३ । ८)

जिससे पर और अपर कुछ नहीं है, न जिससे कुछ सूक्ष्म है, न कुछ बड़ा है; जो वृक्षके समान अचल है, एक ही स्वर्गमें स्थित है; जिस पुरुषसे यह सब पूर्ण है ।

(४) अणोरणीयान् महतो महीयान्—

(कठ० २ । २०, श्वेता० ३ । २०)

सूक्ष्मोंसे भी सूक्ष्म, महानोंसे भी महान् आत्मा इस जीवकी बुद्धिरूप गुहामें स्थित है; उस आत्माकी महिमाको निष्काम वीतशोक पुरुष मन आदिके निर्मल होनेसे देखता है ।

(५) एष सर्वेषु भूतेषु गूढोऽऽत्मा न प्रकाशते—

(कठ० १ । ३ । १२)

यह सब भूतोंमें गूढ़ आत्मा प्रकाशित नहीं होता, मुख्य सूक्ष्म बुद्धिसे सूक्ष्मदर्शियोंसे देखनेमें आता है ।

(६) अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति—

(कठ० २ । ४ । १२)

अङ्गुष्ठमात्र पुरुष भूत, भविष्य, वर्तमानका ईश्वर शरीरके मध्यमें स्थित है । उसको जानकर फिर आत्माकी रक्षा करनेकी इच्छा नहीं करता ।

(७) अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टः— (कठ० २ । २ । ९)

जैसे एक ही अग्नि काष्ठसमूहमें प्रवेश करके अनेक प्रकारके रूपका हो जाता है, उसी प्रकार एक ही आत्मा सब भूतोंमें अनेक प्रकारका हो जाता है ।

(८) सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुः— (कठ० २ । २ । ११)

जैसे सब लोकोंका नेत्ररूप सूर्य नेत्रके बाह्य दोषोंसे लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार सब भूतोंका अन्तरात्मा बाहरके लोकोंके दुःखसे लिप्त नहीं होता ।

(९) वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टः— (कठ० २ । २ । १०)

जैसे इस लोकमें प्रविष्ट हुआ वायु प्रत्येक रूपके अनुरूप हो रहा है, वैसे सब भूतोंका अन्तरात्मा प्रत्येक रूपके अनुरूप हो रहा है और उनसे बाहर भी है ।

(१०) गीतामें

(अ) अहं क्रतुरहं यज्ञः—

मैं ही क्रतु और मैं ही यज्ञ हूँ ।

(आ) पिताहमस्य जगतः—

मैं इस जगत्का पिता हूँ ।

(इ) नादत्ते कस्यचित् पापं—

वह किसीका पाप नहीं लेता ।

(ई) समं सर्वेषु भूतेषु—

वह सब भूतोंमें सम है ।

(उ) अविभक्तं विभक्तेषु—

वह विभक्तोंमें एक है ।

(ऊ) ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च—

वह ग्रसनेवाला और उत्पन्न करनेवाला है ।

इस मन्त्रके 'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव' का अर्थ यदि 'रूपान्तर हो गया' ऐसा किया जाय तो जैसे माता-पिता होंगे वैसा ही पुत्र होगा, यह भाव होगा । उसका यह खुलासा है कि द्विपदका पुत्र द्विपद ही होगा, चतुष्पद नहीं होगा । उसी प्रकार चतुष्पदका बच्चा चतुष्पद ही होगा, द्विपद नहीं होगा । वही परमात्मा नामरूपात्मक जगत्को प्रकट करता हुआ स्वयं प्रत्येक स्वरूपका प्रतिरूप (सदृश) बन गया । यदि वह परमात्मा अपने आत्माके रूपके प्रतिख्यापन (प्रसिद्धि) के लिये नामरूपात्मक जगत्के रूपसे प्रकट न होता, तो उस परमात्माका निरुपाधि (उपाधिरहित) प्रज्ञानघन रूपका प्रतिख्यापन (प्रसिद्धि) नहीं होता । जब कार्य-कारणात्मक परमात्माने नामरूपात्मक जगत्को प्रकट किया तब उसका स्वरूप प्रकट हुआ । इसीलिये इन्द्र (सर्वैश्वर्यशाली)-रूप परमात्माने अपनी मायासे अनेक रूप धारण कर लिये । आत्माके अनेक होनेसे उसके अनेक रूप हैं, किन्तु वास्तवमें तो वह बहुरूप होकर भी प्रज्ञानघन रूपसे एकरूप ही है । इस परमात्माके आत्मारूप अनेक घोड़े हैं, अथवा इन्द्रियाँरूप अनेक घोड़े हैं, जो शरीररूप रथमें जुते हुए हैं । ये घोड़ेरूप इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयके प्रकाशनके लिये दस सौ (एक हजार) हैं, दस हजार हैं, बहुत हैं और अनन्त हैं । यह अनन्तता प्राणियोंके अनन्त होनेके कारण, इन्द्रियोंके अनन्त होनेके कारण, इन्द्रियोंके

विषय अनन्त होनेके कारण और ब्रह्माण्डोंके अनन्त होनेके कारणसे है। इन ब्रह्माण्ड, प्राणी, इन्द्रियाँ और इन्द्रियोंके विषयोंके अनन्त होनेपर भी इन सबमें रहनेवाला और सबका प्रेरक, नियामक और प्रकाशक परमात्मा एक ही है। यह परमात्मा ही स्वयं ब्रह्माण्डरूप, प्राणीरूप, इन्द्रियरूप और इन्द्रियोंके विषयरूपसे भास रहा है। इससे यह अनन्त है अर्थात् इसका अन्त नहीं आ सकता, यह अपूर्व है अर्थात् इसका पहले कोई कारण नहीं था, यह अपर है अर्थात् इसके आगे पर या कार्य कोई नहीं है, यह अनन्तर है अर्थात् इसके अन्तरमें कोई नहीं है, यह अबाह्य है अर्थात् इसके बाहर कुछ नहीं है। दूसरे शब्दोंमें यह परमात्मा कारणरहित, कार्यरहित, अन्तररहित और बाह्यरहित है। वही ब्रह्म है। यह परमात्मा ही प्रत्यक् (चैतन्य) रूप आत्मा है, जो सब चेतनोंका भी चेतन है। यह आत्मा या परमात्मा ही द्रष्टा, श्रोता, मन्ता, बोद्धा, विज्ञाता है और सर्वात्मरूपसे सबका अनुभव करता है। यही वेदान्तका अनुशासन है, यही साररूप उपसंहार है। यही अमृत है, और यही अभय है।

मेरा साधन-क्षेत्र

(लेखक—काठियावाड़के एक अवसरप्राप्त प्रोफेसर)

मेरे पिता गायत्रीके उपासक थे। गत वर्ष ही ८२ वर्षकी अवस्थामें उनका देहावसान हुआ। उन्होंने पिछले १५-१६ वर्षोंके अंदर गायत्रीके चार पुरश्चरण किये थे (प्रत्येक पुरश्चरण २४ लाखका)। भगवत्कृपा प्राप्त करनेके लिये जपादि अनुष्ठानोंमें मेरी श्रद्धा उन्हींकी शिक्षाका फल है।

गायत्रीपर मेरी श्रद्धा है और एक चतुर्मास मैंने गायत्रीका अल्प-सा एक अनुष्ठान भी किया, पर गायत्री-जपमें मेरा मन एकाग्र न हो सका। मन्त्रपर मेरा विश्वास है पर मन्त्रके अर्थपर मनका एकाग्र होना मैं बहुत ही आवश्यक समझता हूँ। इसलिये दूसरे चतुर्मासमें मैंने महारुद्राभिषेक किया। इसमें मन्त्रोंके उच्चारणमें मेरा मन लगा और जलाधारीपर भी दृष्टि स्थिर रही। तबसे चतुर्मासमें मैं महारुद्राभिषेक बराबर करने लगा। प्रतिदिन यजुर्वेदीय अष्टाध्यायीसे रुद्रके दो अभिषेक करके चातुर्मास्यमें एक अभिषेकात्मक महारुद्र सम्पूर्ण करता। इस उपासनाके साथ मेरा प्रेम हो गया।

छः वर्ष इस तरह बीते। सातवें वर्ष अर्थात् सन् १९३३ में मेरी स्त्री क्षयरोगसे पीड़ित हुई। रोग बड़ी तेजीसे बढ़ने लगा। यहाँतक नौबत आयी कि डाक्टरों और वैद्योंने जवाब दे दिया। तब अपनी जातिके एक विद्वान् ज्योतिषी और कर्मकाण्डी ब्राह्मणकी अनुमतिसे मैंने महाशिवरात्रिमें महामृत्युञ्जय मन्त्रका प्रयोग किया। विधि यह थी कि दाडिमकी डालकी लेखनीसे एक ताड-पत्रपर अष्टगन्ध चन्दनसे यह मन्त्र लिखना—

'ॐ ह्रौं जूं सः ॐ भूर्भुवः स्वः ॐ त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्द्धनम् उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात् ॐ स्वः भुवः भूः सः जूं ह्रौं ॐ ॥'

—और किसी शिवमन्दिरमें जाकर इसे रातभर जपना। रुग्णा स्त्रीके करनेकी यह बात थी कि वह शय्यापर पड़े-पड़े 'नमः शिवाय' का जप बराबर करती रहे। रातभर उक्त विधिसे शिवमन्दिरमें मन्त्रका जप करनेके बाद वह ताडपत्र नये वस्त्रमें लपेटकर एक कूएँके तलमें रख दिया गया। इसका फल यह हुआ कि कुछ ही दिनोंमें उसमें इतनी शक्ति आ गयी कि वह शिमलेके पहाड़ोंपर धरमपुरके किंग एडवर्ड सैनिटोरियममें इलाजके लिये भेजी जा सकी। धरमपुर जाते हुए रास्तेमें शिवजीकी उसपर ऐसी कृपा हुई कि उसे अपने भ्रूमध्यमें ज्योत्स्नामय अर्द्धचन्द्रके दर्शन हुए और खुले नेत्रों विद्युत्स्फुलिंग दिखायी देने लगे। धरमपुरमें सात मास रहना पड़ा, तबतक उसे ये दर्शन बराबर हुआ करते थे। सात मास बाद वह बिल्कुल चंगी होकर घर लौटी। मैंने भी घर रहते हुए पूर्ववत् यथासमय महारुद्राभिषेक महामृत्युञ्जयमन्त्रका सम्पुट देकर किया।

सन् १९३७ में ११ वाँ महारुद्राभिषेक हुआ और इस तरह अतिरुद्रका क्रम सम्पूर्ण हुआ। इस प्रसङ्गमें ५ दिन २० ब्राह्मणोंद्वारा होम भी किया गया। इसी समय यज्ञके आचार्य-

ने मेरी नित्य-पूजामें जो एक त्रुटि हो रही थी उसकी ओर मेरा ध्यान दिलाया। उन्होंने कहा कि पूजामें शिवके साथ शक्तिका भी होना आवश्यक है। मैंने श्रीपार्वतीजीकी चाँदीकी एक मूर्त्ति बनवा ली और तबसे पुरुषसूक्त और श्रीसूक्तके द्वारा श्रीशङ्कर-पार्वतीका षोडशोपचार पूजन नित्य करता हूँ।

सन् १९३५ में मेरी उम्र ५५ वर्ष हो चुकी थी। राज्यके अधिकारियोंने मुझे नौकरीका एक्सटेन्शन न देकर पेंशन दे दी। इससे इतने बड़े परिवारका खर्च चलाना और आश्रितोंकी सहायता करना मेरे लिये बहुत ही कठिन हो गया। इसलिये मैंने चैत्रके नवरात्रमें—

'ॐ ह्रीं क्लीं विधेहि द्विषतां नाशं विधेहि बलमुच्चकैः।
रूपं देहि जयं देहि यशो देहि द्विषो जहि क्लीं ह्रीं ॐ॥'

—इस मन्त्रका १२५०० जप प्रयोग किया। इसका तत्काल यह फल हुआ कि जिस दिन इसका होम किया गया उसी दिन एक जैन-संस्थाके प्रबन्धकका काम मुझे मिला। प्रबन्धकके वेतन और प्रोफेसरीकी पेंशनसे मेरा काम ठीक चलने लगा। इस संस्थासे या इसके किसी आदमीसे मेरी कोई जान-पहचान नहीं थी। इसकी कोई बात मैंने कभी स्वप्नमें भी नहीं सोची थी।

सन् १९३८में मैंने अपनी स्त्रीके साथ चारों धामकी यात्रा की। नर्मदा, गोदावरी, कावेरी, चन्द्रभागा, गङ्गा आदि पावन तीर्थोंमें स्नान किये। मेरी स्त्री क्षयरोगसे अच्छी होनेके बाद भी इतनी क्षीण हो गयी थी कि घरपर गरम जलसे नहाना भी उसे बर्दाश्त नहीं होता था और बीच-बीचमें बीमार हो जाती थी; पर उसे तीन महीनेकी इस यात्रामें, गङ्गादि तीर्थोंमें स्नानादिसे कुछ भी कष्ट नहीं हुआ, यह भगवतीकी ही विशेष कृपा है। यात्रा बड़े आनन्दसे हुई, किसी प्रकार कोई भी कष्ट नहीं हुआ और भगवत्-प्रसादके साथ हमलोग घर लौटे।

सन् १९३९ का वर्ष मेरी जन्मकुण्डलीके हिसाबसे मेरे लिये बहुत खराब था। इसी वर्ष मेरे पिता चल बसे और इसी समय मेरे तीसरे पुत्र (उम्र १९) को क्षय हुआ। पिताकी मृत्युके बाद इसकी बीमारी बढ़ गयी। उसके दोनों फेफड़ोंमें छेद हो गये थे। बंबईके डाक्टरोंने साफ ही कह दिया था कि यह अच्छा नहीं हो सकता। तब लड़केको धरमपुर भेजा गया। वहाँ भी डाक्टरोंने कोई आशा नहीं दिलायी। पर मृत्युञ्जय-जप तथा राहु मन्त्र-जपसे और श्रीजगदम्बाकी कृपासे ९ महीनेमें लड़का पूर्ण स्वस्थ हो गया और उसे हमलोग घर ले आये।

अब मैंने जैन-संस्थाका काम छोड़ दिया है और भगवान्-भगवतीके ही भजन-पूजनमें अधिक-से-अधिक समय बिताना चाहता हूँ।

इस लेखको समाप्त करनेके पूर्व मैं उन दो स्वप्नोंकी बात भी सुना देना चाहता हूँ जो मेरी स्त्रीको हुए थे, एक १९३३ में जब वह स्वयं धरमपुरके रुग्णालयमें रुग्णावस्थामें पड़ी थी और दूसरा १९३९ में जब उसका लड़का उसी रुग्णालयमें रक्खा गया था।

(१) सितम्बरके महीनेमें एक दिन प्रातःकालके समय उसे यह स्वप्न हुआ कि वह किसी अज्ञात शिवमन्दिरमें चली गयी। मन्दिरका द्वार खोला तो मालूम हुआ कि किसी छोटे-से छिछले तालाबके बीचमें भीतरका मन्दिर एक टापू-सा है। इस गर्भ-मन्दिरके भीतर प्रवेश करनेके लिये वह जलमें उतरी। जलमें उतरते ही उसके दाहिने-बायें पैरोंमें साँप लिपट गये। इसने झकझोर कर साँपोंको अलग किया और गर्भ-मन्दिरमें गयी। यहाँकी जमीन छोटे-छोटे साँपोंसे भरी हुई थी मानो साँपोंकी ही फर्श थी। उनसे इसे कोई भय नहीं हुआ। इसने सब साँपोंको उठा-उठाकर बाहर फेंक दिया और श्रीशिवलिङ्गके पूर्ण दर्शन किये तथा बार-बार प्रणाम किया। इस स्वप्नके बादसे इसकी बीमारी जल्द अच्छी हो चली और अक्टूबर महीनेमें तो वह घर ही आ गयी। बीमारीकी हालतमें सात महीने जो उस रुग्णालयमें रहना पड़ा उस समय यह पञ्चाक्षर (नमः शिवाय) मन्त्रका जप बराबर करती रहती थी। सन्ध्या समय शय्यापर पड़े-पड़े रामायणका भी पाठ करती थी और नित्य दोनों समय गीताप्रेस, गोरखपुरसे प्रकाशित ध्यानस्थ शङ्करको धूप, दीप, आरती चढ़ाती थी। यह चित्र सदा उसकी शय्याके पास रहता था।

(२) सन् १९३७ में अतिरुद्रक्रम समाप्त होनेके बादसे चातुर्मास्यके लिये मैंने पाठात्मक शतचण्डी और होमात्मक नव-चण्डीका व्रत लिया है। १० वर्ष बाद यानी १९४७ में सहस्रचण्डी करनेका मेरा विचार है। अब हमलोगोंका शक्तिपूजनमें ही विशेष ध्यान होनेसे, सन् १९३९ में जब कि मेरी स्त्री धरमपुरके रुग्णालयमें मेरे पुत्रकी सेवा-शुश्रूषामें

लगी थी, उसे आश्विनके नवरात्रमें किसी दिन भोरमें यह स्वप्न हुआ कि आबूरोडके समीप अम्बाजी स्थानकी श्रीजगदम्बा उसके सामने प्रकट हुई और दर्शन देकर बोलीं कि धरमपुरसे अपने घर भावनगरको लौटते हुए लड़केको अम्बाजी ले आओ और पादुका-पूजन, सप्तशती-पाठ और नवार्ण-जप कराओ और रेशमी साड़ी तथा चाँदीका छत्र चढ़ाओ। तदनुसार परिवारके हम सब लोग अम्बाजी गये, तीन दिन वहाँ रहे और माँकी आज्ञाके अनुसार सब कार्य किया। अन्तिम दिन हमलोग गब्बर-गिरिपर चढ़े। कहते हैं कि पहले इसी गिरिपर भगवतीका निवास था। पीछे वे नीचे उतर कर ग्राममें आयीं। फिर दिसम्बरके अन्तमें हमलोग घर लौट आये।

गत तीन माससे घरके बड़े बूढ़े बच्चे सभी प्रति रविवार और मङ्गलवारको यह अनुभव करते हैं कि माँ घरमें आयी हैं, उनके नूपुर बज रहे हैं और वे हँस रही हैं तथा खेल रही हैं। श्रीजगदम्बाकी सत्ता और उनके प्रभावको घरके सभी लोग अनुभव कर रहे हैं और घरमें सदा एक दैवी वातावरण बना रहता है।

तू और मैं

(गजल)

(र०—रायसाहेब श्रीकृष्णलालजी बाफणा)

यह तो मैं क्योंकर कहूँ तेरे खरीदारोंमें हूँ।
तू सरापा नाज़ है मैं नाज़बरदारोंमें हूँ॥ १॥

तू सितमगर बा वफ़ा है मैं जफ़ाकारोंमें हूँ।
अब बाराने सियह तू मैं सियहकारोंमें हूँ॥ २॥

बेकलोंकी कल है तू मैं महव कल्दारोंमें हूँ।
ग़म ग़लत करता है तू मैं तेरे ग़मख्वारोंमें हूँ॥ ३॥

तू अगर माशूक़ है तो मैं भी अय्यारोंमें हूँ।
आशिक़े दिलदादा तू तो मैं दिलअफ़गारोंमें हूँ॥ ४॥

तुझको गर ग़ैरोंसे उलफ़त तो मैं अग़ियारोंमें हूँ।
तू क़रज़ख्वाहोंमें है तो मैं क़रजदारोंमें हूँ॥ ५॥

तेरी बख़शिशके लिये लीडर गुन्हागारोंमें हूँ।
तू शहरयारोंमें है तो मैं शहरदारोंमें हूँ॥ ६॥

तू अगर है फ़िननागर तो मै धुवाँधारोंमें हूँ।
तू तक़ुब्बुर है अगर तो मैं भी हुशियारोंमें हूँ॥ ७॥

तू मेरा मालिक मैं तेरे फरमांबरदारोंमें हूँ।
तू मेरा प्यारा अगर है मै तेरे प्यारोंमें हूँ॥ ८॥

तू है सरवर दो जहाँ मैं तेरी सरकारोंमें हूँ।
हूँ सिपहसालारे शैतां मैं भी सरदारोंमें हूँ॥ ९॥

प्रकृति-पुरुष-योग

(कुण्डलिनी-उत्थापनद्वारा आत्मज्ञान-लाभ)

(लेखक—श्रीमद्‌गोपाल चैतन्यदेवजी महाराज)

[पृष्ठ ९३८ से आगे]

कुण्डलिनी-अवतरण तथा जगत्-सृष्टि

कुण्डलिनीके अवतरणके समय साधक 'सोऽहम्' मन्त्रका उच्चारण करके दोनों नासापुटोंसे धीरे-धीरे श्वास त्याग करे। मूलाधारसे सहस्रारतक एक ही कुम्भकमें पूर्वोक्त सारी क्रियाएँ करनी पड़ती हैं। अतः कितने लम्बे कुम्भककी आवश्यकता होती है, उसे विज्ञ पाठक आसानीसे समझ गये होंगे। इतने लम्बे प्राणायामके सिवा उपर्युक्त विधिसे कुण्डलिनीको यहाँ-तक नहीं पहुँचाया जा सकता। तथापि साधकको धैर्यच्युत या निराश नहीं होना चाहिये। धीरे-धीरे प्राणायामका अभ्यास बढ़ाता जाय। जब प्राणायाम उत्तमरूपसे अभ्यस्त हो जायगा, तब पहले प्राण-अपान वायुको संयुक्त करके केवल कुण्डलिनीको जगानेकी चेष्टा करे। कुण्डलिनी जगनेके बाद उसे केवल मूलाधारसे स्वाधिष्ठानमें पहुँचावे, वहाँसे वापस लाकर फिर मूलाधारमें स्थित कर श्वास-त्याग करे। इसका उत्तम रूपसे अभ्यास होनेके बाद फिर पूर्वोक्त विधिसे मूलाधारमें स्वाधिष्ठान भेदकर कुण्डलिनीको मणिपूर-चक्र-तक पहुँचावे। इसी प्रकार क्रमानुसार बहुत धीरे-धीरे अभ्यास बढ़ाते-बढ़ाते अन्तमें कुण्डलिनीको सहस्रारमें पहुँचाकर सदाशिवके साथ उसका मिलन करा दे। इन सब कामोंमें स्थिर विश्वास, अटल धैर्य, विधिवत् नियमित साधना, आहार-विहारपर सतर्क दृष्टि, गुरुपर अचल भक्ति, चञ्चलताका त्याग और कठोर ब्रह्मचर्यकी रक्षा विशेष आवश्यक है। धैर्यशील साधकके विना इसमें सिद्धि प्राप्त करना असम्भव-जैसी बात है। अस्तु!

कुण्डलिनीको उतारते समय साधक 'सोऽहम्' मन्त्र उच्चारण कर दोनों नथुनोंसे धीरे-धीरे श्वास-वायु परित्याग (रेचक) करे। ऐसा करनेसे वह निम्नाभिमुखी हो जायगी। प्रत्यागमनके समय निरालम्बपुरी, प्रणव, नाद, बिन्दु आदि-को उगलकर जब कुण्डलिनी ललनाचक्र भेदकर आज्ञाचक्रमें पहुँचेगी, तबसे मन, परमशिव, हाकिनी शक्ति और सत्त्व, रज, तम—ये तीनों गुण, मातृकावर्ण और पद्मस्थित अन्यान्य सभी सृष्ट होकर पूर्ववत् यथास्थानपर अवस्थान करेंगे। तदनन्तर मनश्चक्रसे 'हं' आकाश-बीज उत्पन्न होनेसे उसे मुँहमें लेकर उस मुखको वह विशुद्ध-चक्रमें पहुँचायेगी। यहाँ भी पूर्वोक्त रीतिसे जोंककी भाँति एक मुखको दूसरे चक्रमें स्थापित कर दूसरे मुखको उठाती जायगी।

उसके बाद विशुद्ध-चक्रमें पहुँचनेपर उसके मुखसे अर्द्धनारीश्वर शिव तथा शाकिनी शक्ति एवं मातृकावर्ण, सप्तस्वरादि—जो कुछ उसने पहले ग्रास किया था, वे सब तथा अमृत प्रभृति सृष्ट होकर यथास्थानमें संस्थित हो जायँगे। फिर वह दूसरे मुखको आज्ञा-चक्रसे यहाँपर ले आयगी और आकाशबीज 'हं' से आकाशका आविर्भाव होगा। फिर आकाशसे 'यं' बीज उत्पन्न होकर उसके मुखमें अवस्थान करेगा। तदनन्तर वह उस मुखको अनाहत-पद्ममें उतार देगी।

अनाहत-पद्ममें पहुँचनेपर कुण्डलिनीके मुखसे पद्मस्थित समस्त देव-देवियाँ, मातृकावर्ण, आशा प्रभृति समस्त वृत्तियाँ उत्पन्न होकर पूर्ववत् यथास्थानमें स्थित हो जायँगी, एवं क्रमशः दूसरे मुखको वह इस पद्मपर ले आयगी। 'यं' वायु-बीजसे वायुकी सृष्टि होगी। वायुसे अग्निबीज 'रं' के आविर्भूत होनेपर पूर्ववत् इस बीजको मुखमें लेकर वह मणिपूर-पद्ममें आकर उपस्थित हो जायगी।

मणिपूरमें पहुँचकर कुण्डलिनी अपने मुखसे इस पद्ममें स्थित रुद्र और लाकिनी शक्ति, मातृकावर्ण, लज्जादि वृत्तियाँ एवं अन्यान्य सबकी सृष्टि करके पहलेकी भाँति यथास्थानमें स्थापित कर देगी। तदनन्तर दूसरे मुखको इस पद्ममें लायेगी। अग्निबीज 'रं' से वरुणबीज 'वं' उत्पन्न होकर कुण्डलिनीके मुँहमें अवस्थान करेगा।

कुण्डलिनी 'वं' बीजको मुँहमें लेकर स्वाधिष्ठान-पद्ममें पहुँचेगी। उसके मुखसे इस पद्ममें स्थित विष्णु और राकिनी

शक्ति, मातृकावर्ण, अविश्वासादि वृत्तियाँ एवं अन्यान्य सभी आविर्भूत होकर पूर्ववत् यथास्थानमें स्थित होंगे। तब दूसरे मुखको भी क्रमशः इस पद्मपर लायेगी। वरुणबीज 'वं' से जलकी उत्पत्ति होगी एवं जलसे पृथ्वीबीज 'लं' उत्पन्न होकर कुण्डलिनीके मुखमें अवस्थान करेगा।

उसके बाद कुण्डलिनी 'लं' बीजको मुखमें लेकर स्व-आधार मूलाधार-पद्ममें पहुँचेगी। उसी समय उसके मुखसे ब्रह्मा और डाकिनी शक्ति, मातृकावर्ण और अन्यान्य सभी उत्पन्न होकर यथास्थानमें अवस्थित होंगे। पृथ्वीबीज 'लं' से पृथ्वीमण्डल सृष्ट होगा। तब दूसरे मुखको क्रमशः इस पद्ममें लाकर उसे ब्रह्म-विवरमें स्थापित कर ब्रह्मद्वारका रोध करके वह मुखसे नींद लेगी एवं दूसरे मुखसे श्वास-प्रश्वासका परित्याग करती रहेगी। तब पुनर्वार जीवात्मा भ्रान्ति और माया-मोहमें संमुग्ध होकर जीवभावसे यथास्थानमें अवस्थान करेगा।

इन सब साधनाओंका कुम्भक योगसे भावनाके द्वारा क्रमशः अभ्यास करना पड़ता है। कुण्डलिनी सर्वस्वरूपिणी है; अतः कुण्डलिनी-उत्थापनके लिये सभीको चेष्टा करनी चाहिये। कुण्डलिनी सब जीवोंके देहमें, सभीके मूलरूपमें मूलाधारमें स्थित है। शाक्त, शैव, वैष्णव, गाणपत्य, बौद्ध, ब्राह्म, पारसी, सिक्ख, मुसल्मान, ईसाई प्रभृति कोई किसी भी सम्प्रदायके अधीन क्यों न हो, उपर्युक्त नियमसे कुण्डलिनीका उत्थापन कर सांख्ययोगका साधन कर सकते हैं।

जो सज्जन स्थूल-मूर्त्तिकी उपासना करते हैं; उनमेंसे जो शाक्त यानी शक्तिमन्त्रके उपासक हैं, वे कुण्डलिनीको उठाते समय 'हंस' कहकर उठावें एवं उतारते समय 'सोऽहम्' कहकर उतारें। कुण्डलिनीको पूर्वोक्त प्रकारसे सहस्रारमें चढ़ाकर उसे गुरूपदिष्ट इष्टदेव अर्थात् जो जिस देवताका उपासक हो, वह कुण्डलिनीको उसी देवी एवं परमपुरुषको तन्निर्दिष्ट भैरवके रूपमें कल्पना कर दोनोंको एकमें मिलाकर सामरस्य सम्भोग करे। मूलाधारकमलस्थिता कुण्डलिनी-शक्तिका सहस्रारस्थित परमशिवके साथ जो सम्मिलन है, उसीको ब्रह्मतत्त्व कहते हैं।

जो साधक वैष्णव हैं, वे भी पूर्वोक्त प्रकारसे कुल कुण्डलिनीको सहस्रारमें चढ़ाकर पुरुषके साथ संयुक्त करते समय कुण्डलिनीको पराप्रकृतिरूपिणी राधा एवं सहस्रार-स्थित परम पुरुषको श्रीकृष्ण कल्पना कर दोनोंका सामरस्य-सम्भोग करें। नारदपाञ्चरात्रमें लिखा है—

'मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञानामक षट्चक्रको हृदयमें भावना करके सशक्ति एवं कुण्डलिनीके साथ सहस्रदलपद्मस्थित परमात्मा प्रभुका ध्यान करके, द्विभुज और पीत-कौषेय वस्त्रपरिहित, ईषत् हास्ययुक्त, सुन्दर तथा विशुद्ध और नवीन मेघकी भाँति प्रभाविशिष्ट श्रीकृष्णचन्द्रके दर्शन करें।'

अतएव प्रेममय वैष्णव-साधकगण कुण्डलिनीकी साधनाको शाक्त साधना समझकर उसकी उपेक्षा न करें। भगवद्गीतामें पूर्णावतार भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं कहा है कि—'मेरी मायारूपा प्रकृति भूमि, जल, अनल, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार—इन आठ प्रकारसे विभक्त है, हे महाबाहो! यह प्रकृति अपरा (निकृष्टा) है। इसके अतिरिक्त मेरी और एक जीव-स्वरूपा परा (उत्कृष्टा) प्रकृति है, वह इस जगत्को धारण कर रही है।' (गीता ७। ४-५) यह परा प्रकृति ही कुण्डलिनी-शक्ति है। इसीकी साधन-विधिका इस प्रबन्धमें प्रकाश किया गया है। देवीभागवतमें कहा है—'हे मुनिगण! उसी परब्रह्म-रूपिणी सच्चिदानन्दमयी पराशक्ति देवीका ब्रह्मवादी मनीषियोंने सगुण और निर्गुण दो प्रकारसे कीर्तन किया है। उनमेंसे रागियोंके लिये सगुणभाव एवं विरागियोंके लिये निर्गुणभावकी आराधना बतलायी गयी है।'

भक्तिपूर्ण चित्तसे प्रतिदिन मूलाधारमें कुण्डलिनीका चिन्तन और उनका स्तवन-पाठ करनेसे नित्य चिन्तनके फलसे उस शक्तिके सम्बन्धमें ज्ञान उत्पन्न होता है। कुण्डलिनी-शक्तिका स्तव इस प्रकार है—

ॐ नमस्ते देवदेवेशि योगीशप्राणवल्लभे।
सिद्धिदे वरदे मातः स्वयम्भूलिङ्गवेष्टिते॥
प्रसुप्तभुजगाकारे सर्वदा कारणप्रिये।
कामकलान्विते देवि! ममाऽभीष्टं कुरुष्व च॥
असारे घोरसंसारे भवरोगान्महेश्वरि।
सर्वदा रक्ष मां देवि! जन्मसंसाररूपकात्॥
इति कुण्डलिनीस्तोत्रं ध्यात्वा यः प्रपठेत्सुधीः।
स मुक्तः सर्वपापेभ्यो जन्मसंसारसागरात्॥

(योगसार)

कुण्डलिनीके चैतन्य करनेकी और भी अनेकों विधियाँ हैं। उपर्युक्त विधि अष्टाङ्गयोगके अन्तर्गत है। साधारणतया योगिगण उपर्युक्त विधिसे ही कुण्डलिनी-चैतन्य कर आत्मा-

परमात्माका संयोग यानी मिलन कराकर, अपूर्व आनन्द लाभ करके मुक्तिके अधिकारी बनते हैं। इसके अतिरिक्त योनिमुद्रा-योगसे भी कुण्डलिनी-चैतन्य किया जाता है।

लिखते-लिखते लेख बहुत बड़ा हो गया, परन्तु क्या किया जाय, विषयका प्रतिपादन इससे छोटे लेखमें हो ही नहीं सका, इस असमर्थताके लिये मैं हाथ जोड़कर कृपा-प्रार्थना कर अन्तमें आपलोगोंसे आशीर्वाद चाहता हूँ, कि जिससे मैं इस मानव-जीवनमें ही अमरत्व प्राप्त करके, अन्तमें श्रीश्रीश्रीश्रीसद्गुरु महाराजके तरुण-अरुण श्रीश्री-चरण-सरोजोंमें लीन हो जाऊँ !

उद्बोधन

(राजस्थानी-सोरठे)

(रचयिता—पं० मुरलीधरजी व्यास लालाणी 'विशारद')

किणरी निजर अपार ? कुण गरीब रा गुण लखै।
बिन पारख संसार गुप्त पड्या गळ जाय रै॥ १॥

किसकी दृष्टि इतनी सूक्ष्म है, कौन गरीबके गुणोंकी कद्र करता है ? पारखीके अभावमें वे सब अप्रकट रहकर ही नष्ट हो जाते हैं ॥ १ ॥

किणने कँवाँ रोय, कुण गरीब रा दुख दळै।
परम पिता बिन कोय, नीर न पूँछै नैण रो॥ २॥

किसको रोकर दुखड़ा सुनावें ? कौन गरीबका दुःख दूर कर सकता है ? परमपिता परमात्माके सिवा गरीबकी आँखोंसे झरते हुए गर्म आँसुओंको और कोई नहीं पोंछता ॥२॥

मिनखा जूणी पाय, थारी म्हारी करण में।
जाय जमारो हाय, मन-मिण मैल धुपै नहीं॥ ३॥

बड़े दुःखकी बात है कि मनुष्ययोनि प्राप्त करके 'तेरी-मेरी' करनेमें ही जीवन नष्ट हो जाता है और मनरूपी मणिकी मैल धुल नहीं पाती ॥ ३ ॥

जोर जुलम जग जाल, जनम गँवायो जड़ मिनख।
जगपति जमा लबार ! जोड़ी. नहिं रीतो चल्यां॥ ४॥

अरे मूढ़ मनुष्य ! तैंने संसारके जालमें फँसकर जबरदस्ती तथा अत्याचार करनेमें ही अपना जीवन नष्ट कर दिया। अरे वाचाल ! तैंने भगवन्नामकी पूँजी नहीं जोड़ी, अब खाली हाथ दीन-हीन अवस्थामें ही जा रहा है ॥ ४ ॥

देह पींजर पाळ, पंछी राख्यो सोवणो।
मिनकी मारी फाळ निजर बचा नस तोड दी॥ ५॥

शरीररूपी पिंजरेमें मनोहर पक्षी पालकर रक्खा था। किन्तु बिल्लीने नज़र बचाकर गर्दन तोड़ दी ॥ ५ ॥

रोती छोडी माय, घर-नारी सिर पीटतां।
किण रो नहिं उपाय, आडो आयो जगतमें॥ ६॥

माँ रोती रही, स्त्री सिर पीटती रही, इस संसारमें (जिसे तू मेरा कहा करता था) किसीका उपाय तुझे मौतसे नहीं बचा सका॥६॥

विद्या वित्त विलास, बीछड़तां नहिं संग चलै।
मनमें राख हुलास, क्यूं नहिं संचै रामधन॥ ७॥

संसारको छोड़ते समय विद्या, धन तथा सांसारिक भोग कोई भी तेरे साथ नहीं जायगा। अतः उत्साहपूर्वक भगवन्नामरूपी धनको क्यों नहीं जोड़ता ? (क्योंकि केवल वही तेरे साथ चलेगा।) ॥७॥

प्रभू तणो बिश्वास, जद मनमें पूरो जमैं।
सारी जगरी फाँस, कट जावे उळझै नहीं॥ ८॥

जब मनमें भगवान्पर पूर्णरूपसे विश्वास जम जाता है तब संसारकी सारी फाँसियाँ कट जाती हैं और मनुष्य फिर उनमें नहीं फँसता ॥८॥

पत राखे किरतार, इत उत क्यूं भटक्यो फिरै ?
देसी देवणहार, नेहचो राखै क्यूं नहीं॥ ९॥

ऐ मनुष्य ! प्रभु लाज बचावेंगे। तू क्यों इधर-उधर मारा मारा फिरता है। वह दाता देगा ही, ऐसा निश्चय मनमें क्यों नहीं रखता ? ॥९॥

सीखो हुंनर लाख, विद्या पण सीखो घणी।
बिन हरि तूठाँ साख, जमें जरा नहिं जगतमें॥१०॥

चाहे लाखों हुनर सीख लो, और चाहे धुरन्धर विद्वान् बन जाओ, बिना प्रभुकी कृपाके संसारमें मनुष्यकी साख जरा भी नहीं जम सकती ॥१०॥

हरि जद राखै हाथ, जग निंवकर नेड़ो छिड़े।
क्यूं न जतन रे साथ, मूळ न सींचै मूढ़ नर॥११॥

भगवान् जब मस्तकपर हाथ रख देते हैं तब संसार नतमस्तक होकर सम्बन्ध जोड़नेके लिये लालायित हो उठता है। इसलिये ऐ मूढ़ मनुष्य ! तू जतनके साथ मूलको ही क्यों नहीं सींचता ? (जिससे शाखा-प्रशाखा अपने-आप ही पनपने लगेंगी।) ॥११॥

हमारा पाप

एक शिक्षित सज्जनने लम्बा पत्र लिखा है, उसमें उन्होंने बड़े दु:खके साथ एक घटनाका वर्णन किया है। उनके पत्रका सार है—'मैं अपने कुछ मित्रों और उनकी पत्नियोंके साथ, बड़ी प्रशंसा सुनकर एक महात्माके पास गया। वहाँ जानेपर उनकी बहुत बड़ाई सुनी। भक्तलोग उनको साक्षात् भगवान्का अवतार बतलाते थे। महात्माजी विशेष पढ़े-लिखे तो नहीं थे परन्तु उनके उपदेश बहुत आकर्षक होते थे। वे अपने उपदेशोंमें शरणागति, समर्पण और गुरु-सेवापर बड़ा जोर देते। हमने देखा—बहुतसे नर-नारी बड़ी श्रद्धाके साथ उनकी सेवा करते हैं। हमारी भी इच्छा हुई। हम लोगोंने उनसे वैष्णवी दीक्षा ली। और परम कल्याणकी आशासे वहीं रहकर उनकी सेवा करने लगे। हम लोगोंमें एक सज्जनको उन्होंने अपने अन्तरंग सेवकोंमें ग्रहण कर लिया। उन सज्जनने उनकी कई बातें सन्देहजनक देखीं परन्तु श्रद्धाके कारण उन्होंने कोई ध्यान नहीं दिया। उनकी नवयुवती पत्नी भी महात्माजीके द्वारा दीक्षा प्राप्त कर चुकी थी। वे उसको गुरुजीके पास उपदेश-ग्रहणके लिये भेजते। किसीके मनमें कोई सन्देह था ही नहीं। एक दिन उन महात्माजीने एकान्तमें उस देवीके साथ गंदी चेष्टा की। लड़कीने पहले तो समझा कि गुरुजी उसकी परीक्षा कर रहे हैं परन्तु जब बात आगे बढ़ी तो वह बेचारी काँप गयी। और किसी तरह वहाँसे आ गयी। उसके पतिको सब हाल माळूम हो गया। बात फूटनेपर महात्माजीने उन दोनोंसे एकान्तमें क्षमा माँगी और यहाँतक कहा कि 'हम तो इन धनियोंको उल्लू बनाकर अपना मतलब साधा करते हैं। तुमसे बड़ी आशा थी। परन्तु अब हमारी यह बात किसीसे कहना मत। नहीं तो हमारी बड़ी अप्रतिष्ठा हो जायगी।' महात्माजीने और भी एक नवयुवती स्त्रीके साथ ऐसी ही चेष्टा की और पता लगनेपर कह दिया कि हम तो उसकी परीक्षा करते थे। पत्र-लेखकका कहना है कि ये महात्मा भगवान्के नामपर भयङ्कर अनाचार फैला रहे हैं। लोगोंका धन और भले घरोंकी देवियोंका शील हरण कर रहे हैं।

पत्रमें लिखी घटना यदि सत्य है तो बड़ी भयानक है। परन्तु इसमें आश्चर्यकी बात कुछ भी नहीं है। ऐसी घटना बिरली ही नहीं होती। आये दिन ऐसी, और इससे भी अधिक भयानक घटनाओंके समाचार सुने और पढ़े जाते हैं। अधिकांश घटनाएँ तो प्रकाशमें ही *नहीं आतीं। इसका कारण यह है कि हम लोगोंमें* वस्तुत: भगवत्परायण पुरुष बहुत ही थोड़े हैं, सब इन्द्रियपरायण ही हैं। इसीसे आध्यात्मिक, धार्मिक, राजनीतिक और सामाजिक—सभी क्षेत्रोंमें ऐसे पाप होते हैं। शिक्षालय, त्यागी पुरुषोंके आश्रम, सदाचारके स्थान और विधवाश्रम आदि पवित्र स्थान भी इस दोषसे नहीं बचे हैं। वनवासी त्यागी पुरुषोंके मनोंमें भी संगदोषसे विकार पैदा हो जाते हैं, फिर आजकलके दूषित वातावरणमें रहनेवाले इन्द्रियपरायण लोगोंके जीवनमें ऐसा हो जाना कोई अस्वाभाविक नहीं है। दु:खकी बात तो यह है—कुछ लोग जान-बूझकर महात्मा, संत या साधुके वेशमें दुराचार करते हैं और परमार्थ-पथके बदले अपने साथ ही अपने पास आनेवाले नर-नारियोंको भी नरकके मार्गपर घसीट ले जाते हैं। असलमें यह महात्मा या साधुसमाजका, वैष्णवादि किसी सम्प्रदायका दोष नहीं है। दोष तो उन दाम्भिक मनुष्योंका है, जो ऊपरसे महात्मा, साधु या भक्त बनकर, उद्धारक और सहायकका बाना पहनकर, सच्चे महात्मा, भक्त और सहायकोंको भी सन्देहास्पद बना देते और बदनाम करते हैं। सबसे बड़ी दु:खकी बात तो यह है कि भगवान्के नामपर भी ऐसा होता है! और-और कारणोंके साथ ही नास्तिकताकी वृद्धिका यह भी एक प्रबल कारण है।

यह बड़ा पाप है जो लोगोंके मनमें भगवान्‌के मार्गमें अविश्वास पैदा करवाकर उन्हें नास्तिकताकी ओर ले जाता है। इसके लिये, जो झूठा स्वाँग बनाकर अपना स्वार्थ-साधन करते हैं उनसे तो कुछ कहना ही नहीं है, वे हमारी बात क्यों सुनने लगे। जबतक उनके पापका भण्डा नहीं फूटेगा, तबतक वे तो अपना काम चलाना ही चाहेंगे। विधि-निषेधके परे पहुँचे हुए जीवन्मुक्त महापुरुषोंसे भी कुछ कहना हमारे लिये अनधिकार चर्चा है। उनसे तो इतनी ही प्रार्थना है कि लोकसंग्रहकी दृष्टिसे उनको भी शास्त्रमर्यादाका पालन ही करना चाहिये। हमारी प्रार्थना तो उन भोले साधकोंसे है जो यथार्थमें भगवान्‌के मार्गकी ओर बढ़नेकी इच्छा रखते हुए भी कुसङ्गवश या पूजा-प्रतिष्ठाके लोभमें पड़कर धन और स्त्रियोंके संसर्गमें आकर उनके प्रलोभनमें पड़ जाते हैं और आखिर पापपङ्कमें पड़कर उसमें फँस जाते हैं, तथा अपनी ही भूलसे अपने जीवनको दोषमय बनानेका कारण बनते हैं। उन्हें सावधान होना चाहिये। वे विलासिता तथा इन्द्रियोंके आरामकी ओर न ताककर संयम-नियमोंका दृढ़ताके साथ पालन करें और जहाँतक हो—धन और स्त्रीके संसर्गसे अपनेको बचाये रक्खें। चुपचाप अपना साधन करें। किसीको भी शिष्य न बनावें। कम-से-कम स्त्रियोंको तो कभी शिष्य बनावें ही नहीं। किसी स्त्रीसे एकान्तमें तो कभी मिलें ही नहीं।

दूसरे, हम उन भाइयोंसे प्रार्थना करते हैं जो अपनी स्त्रियों और बहिन-बेटियोंको दीक्षा, उपदेश आदिके लिये एकान्तमें किन्हींके पास भेजते हैं। याद रखना चाहिये कि इन्द्रियोंपर सर्वथा विजय पाये हुए पुरुष बहुत थोड़े ही होते हैं। एकान्तमें स्त्री-पुरुषका एक साथ रहना बड़े-बड़े संयमी पुरुषोंके लिये भी पतनका कारण होता है। जो अपने घरकी स्त्रियोंको इस प्रकार एकान्तमें भेजते हैं, उनके घरमें तो पाप आता ही है, वे उन साधकों और महात्माओंके भी पतनमें सहायक होते हैं। अन्तमें हम अपनी माता-बहिन और पुत्रियोंसे नम्रतापूर्वक प्रार्थना करते हैं—वे इस बातका ध्यान रक्खें कि आजकलका वातावरण बहुत ही बिगड़ा हुआ है। कोई कितना भी सात्त्विक स्वभावका आदमी हो—है तो वह इसी वातावरणमें रहनेवाला मनुष्य ही न? पता नहीं कब किसकी बुद्धिमें विकार आ जाय। दूसरी बात, ऐसे लोग भी कम नहीं हैं जो वास्तवमें असाधु होनेपर भी साधु या भक्त सजे हुए हैं। और जिस किसी प्रकारसे अपनी पाप-वासनाकी पूर्ति करना चाहते हैं। अतएव किसी भी पुरुषसे, चाहे वह कितना ही बड़ा महात्मा या भक्त क्यों न माना जाता हो,—एकान्तमें नहीं मिलना चाहिये। युवती स्त्रियोंके लिये किसी भी पुरुषको गुरु बनाकर उनसे एकान्तमें दीक्षा लेना और मिलना सर्वथा अनुचित है। सधवा स्त्रियोंके गुरु उनके पति हैं, भगवान् तो सभीके गुरु हैं। अतएव सधवा, विधवा सभीको चाहिये कि वे श्रीभगवान्‌को गुरु बनाकर उन्हींके मन्त्रसे दीक्षित हों और उनके आज्ञानुसार शास्त्र-मर्यादाको मानकर अपने गृहस्थधर्मका पालन करती हुई अपने जीवनको सफल बनावें।

धर्म और भगवान्‌के नामपर भी जब यहाँतक होने लगा है तब सहशिक्षा, युवतीविवाह, सिनेमाओंमें अभिनय आदिका परिणाम कितना भयंकर होगा, भगवान् ही जानें!

पत्रलेखक महोदयसे निवेदन है कि वे इस घटनाको शिक्षारूप समझें। उनमें साहस हो तो सच्ची बातको प्रकाशित कर दें और ऐसा करनेमें कोई विपत्ति आवे तो उसको खुशीसे सहन करें। इस घटनासे उन्हें जो वैष्णव-सम्प्रदाय और वैष्णव-चिह्नोंसे घृणा हो चली है सो ठीक नहीं है। जो लोग वैष्णव-सिद्धान्तके विरुद्ध पापाचार करते हैं, वे तो वस्तुतः वैष्णव ही नहीं हैं। उनके दोषसे सम्प्रदायको दोषी मानना और उसके चिह्नोंसे घृणा करना उचित नहीं है।

भक्त-गाथा

भक्त रामचन्द्र

दक्षिणमें करवीर (वर्तमान कोल्हापुर) के पास ऊर्णानदीके तटपर एक गाँवमें एक ब्राह्मण-परिवार रहता था। दो स्त्री-पुरुष थे और तीसरा एक छोटा-सा शिशु था। ब्राह्मण-वृत्तिसे गृहस्थका निर्वाह होता था। घरमें तुलसीजीका पेड़ था, भगवान् शालग्रामकी पूजा होती थी। पत्नी आज्ञाकारिणी थी, पति पत्नीकी रुचिका आदर करनेवाले थे। दोनोंमें धार्मिकता थी, अपने-अपने कर्तव्यका ध्यान था और था बहुत ऊँचे हिंदू आदर्शोंका अकृत्रिम प्रेम। भगवान्की दयासे बच्चा भी हो गया था। दम्पति सुखी थे। परन्तु दिन बदलते रहते हैं। सुखका प्रकाशमय दिवस सहसा दुःखकी अमा-निशाके रूपमें परिणत हो जाता है। मनुष्य सोचता है 'जीवन सुखमें ही बीतेगा, ये आनन्दके दिन कभी पूरे होंगे ही नहीं, इस प्रेममदिराका नशा कभी उतरेगा ही नहीं। छके रहेंगे जीवनभर इसीमें।' परन्तु विधाताके विधानसे बात बिगड़ जाती है। कितनी आशासे, अन्तस्तलके कितने अनुरागसे, हृदयके सुधामय स्नेह-सलिलसे जिस जीवनाधार वृक्षको सींचा जाता है, वही सहसा विच्छिन्न होकर हमारे हृदयके सारे तारोंको छिन्न-भिन्न कर देता है। जन्म-मृत्युका चक्र चौबीसों घण्टे चलता ही रहता है और बड़े स्पष्टभावसे वह घोषणा करता है— 'जीवन क्षणभङ्गुर है, सुख अनित्य है और आशा दुःखपरिणामिनी है!' गाँवमें एक बार जोरसे हैजा फैला और देखते-ही-देखते प्राण-प्रतिमा ब्राह्मणी कालके कराल गालमें चली गयी! ब्राह्मण महान् दुखी हो गये। मातृहीन शिशुकी भी बुरी अवस्था थी। कुछ दिनों बाद ब्राह्मण भी हैजेके पंजेमें आ गये और दुधमुँहे नन्हे-से ढाई सालके बच्चेको छोड़कर बरबस चल बसे। जी बच्चेमें अटका परन्तु मृत्युकी अनिवार्य शक्तिके सामने कुछ भी बस नहीं चला।

गाँवसे बाहर एक साधु रहते थे। पहुँचे हुए थे। पता नहीं, उनके मनमें कहाँसे प्रेरणा हुई। ममताके उस पार पहुँच गये थे। दया भी मायाकी ही एक त्याज्य वृत्ति थी उनके अनुभवमें। परन्तु ब्राह्मण-दम्पतिके मरण और अनाथ बालककी दुर्दशाके समाचारने उनके मनमें दयाका सञ्चार कर दिया, भले ही वह बाधितानुवृत्तिसे ही हो! साधुबाबा दौड़े गये और शिशुको अपनी कुटियापर उठा लाये। बड़ी ममतासे हजार माताओंका स्नेह उँड़ेल कर वे उसे पालने लगे। उनका प्रधान काम ही हो गया बच्चेको नहलाना-धुलाना, खाना खिलाना और उसकी देख-रेख करना। भगवान्की लीला!

महात्माकी कुटिया एकान्तमें थी। कुटियाके नीचे ही नदी बहती थी। चारों ओर मनोरम वन था। बड़ा सात्त्विक वातावरण था। संसारके काम, क्रोध, लोभ, असत्य और हिंसा वहाँ फटकते भी नहीं थे, देखनेको भी नहीं मिलते थे। कुत्सित क्रिया या दूषित चेष्टा करनेवाला वहाँ कोई आता ही नहीं था। भोग-विलास-की सामग्रियोंके तो स्वप्नमें भी दर्शन नहीं होते थे, खान-पानमें पवित्रता और सादगी थी। सोने, उठने और आहार-विहारके समय और परिमाण निश्चय थे। सबसे बड़ी बात तो यह कि वहाँ दिन-रात भगवदाराधना, भगवच्चर्चा और भगवच्चिन्तन होता था। मन-इन्द्रियोंके सामने ऐसा कोई दृश्य आता ही न था जिससे उनमें विकार पैदा होनेकी सम्भावना हो। काम, क्रोध, असत्य और हिंसादि दोष मनके धर्म नहीं हैं, इन्द्रियोंकी कुचेष्टा इनका स्वभाव नहीं है। ये तो विकार हैं— आगन्तुक दोष हैं जो प्रधानतया सङ्ग-दोषसे उत्पन्न होते हैं और फिर, तदनुकूल चेष्टाओंसे बढ़ते-बढ़ते

चित्तमें यहाँतक अपना स्थान बना लेते हैं कि उनका चित्तसे अलगाव दीखता ही नहीं। मालूम होता है कि ये चित्त और इन्द्रियोंके सहज स्वाभाविक धर्म हैं, उनके स्वरूप ही हैं। अस्तु! जन्मसे ही माता-पिताकी सच्चेष्टा, संतकी कुटियाके शुद्ध वातावरण और सत्सङ्गके प्रभावसे बालकके जीवनमें कोई नया दोष तो आया ही नहीं। पूर्वसंस्कारजनित दोष भी दबकर क्षीण हो गये–बहुत-से मर गये! बुरे विचार, बुरी भावना और बुरी क्रियाओंसे मानो वह अपरिचित ही रह गया। महात्मा उसे पढ़ानेके साथ ही परमार्थकी साधनामें भी लगाये रखते थे। पता नहीं–पूर्वजन्मका कोई सम्बन्ध था या विशुद्ध भगवत्प्रेरणा थी। महात्माजी अपनी सारी साधना–सारा ज्ञान उस बालकके निर्मल हृदयमें एक ही साथ उँड़ेल देना चाहते थे। परिणाम यह हुआ कि सोलह वर्षकी उम्रमें ही बालक एक महान् साधक बन गया। अहिंसा, सत्य, प्रेम, संयम उसके स्वभाव बन गये। भगवान्की भक्तिका स्रोत उसके अंदरसे फूट निकला और सबको पवित्र करने लगा। उसकी वाणी अमोघ हो गयी सत्यके प्रतापसे, और उसकी प्रत्येक इच्छा फलवती हो गयी संयम और त्यागकी महिमासे। वह बाहर और भीतरसे सच्चा महात्मा हो गया। उसका चेहरा ब्रह्मतेजसे चमक उठा!

सबका समय निश्चित है। महात्माजीके जीवनकी अवधि भी पूरी हो गयी। वे इस असार संसारको छोड़कर हँसते-हँसते भगवान्के परमधाममें चले गये। बालक निराश्रय तो हो गया, परन्तु महात्माजीकी कृपासे उसे कोई शोक नहीं हुआ। भगवान्का विधान उसने शिरोधार्य किया आदरपूर्वक, शान्त हृदयसे।

महात्माजी उसे रंगनाथ कहते थे, इससे उसका यही नाम प्रसिद्ध हो गया। वह दिन-रात भजन-ध्यानमें रहता। भगवान्की कृपासे जो कुछ मिल जाता, उसीपर निर्वाह करता। उसके जीवनका एक-एक क्षण भगवत्सेवामें लगता था। उसके तप-तेजकी ख्याति दूर-दूरतक फैल गयी। लोग दर्शनको आने लगे। उसने दिनभरमें एक पहरका समय ऐसा रख लिया, जिसमें लोगोंके साथ भगवच्चर्चा होती। शेष सारा समय एकान्तमें बीतता।

एक बार एक दुखी मनुष्य रंगनाथजीके पास आया। उसने उन्हें एकान्तमें अपना दुःख सुनाया। दुःख था—धनकी कामनाका। रंगनाथजीको उसके दुःखसे दुःख अवश्य हुआ। परन्तु उन्होंने अपने मनमें कहा कि यह भूलसे ही इतना दुखी हो रहा है। धनमें सुख होता तो जिन लोगोंके पास प्रचुर धन है, उनका जीवन तो सुखमय होना चाहिये था। परन्तु वे भी तो दुखी ही देखे जाते हैं। दुःखका कारण तो है—अज्ञानजनित असन्तोष। वह मिट जाय तो मनुष्य प्रारब्धानुसार किसी भी हालतमें रहे, वह सर्वदा सुखी रह सकता है। रंगनाथजीने उसको समझानेकी चेष्टा की। बड़े प्रेमसे उसको सब बातें बतलायीं। परन्तु उसे सन्तोष नहीं हुआ। उसने कहा—'एक बार आप अपने मुखसे कह दें तो मेरे खूब धन हो जायगा तो बस मैं कृतार्थ हो जाऊँगा।' रंगनाथजीने कहा—'भाई! प्रथम तो यह बात है कि मेरे कहनेसे होता ही क्या है, दूसरे जब मैं प्रत्यक्ष देखता हूँ और अनुभव करता हूँ कि अधिक धनसे तुम्हारा दुःख बढ़ेगा, घटेगा नहीं, तब मैं यदि सचमुच तुम्हारा हित चाहता हूँ तो तुम्हे वह मिले, ऐसी इच्छा क्यों कर सकता हूँ। साथ ही एक बात और है, धन मिलना वस्तुतः तुम्हारे प्रारब्धके अधीन है। न मालूम धनके मिलनेमें तुम्हारा कौन-सा प्रबल कर्म बाधक है। मैं तुम्हें कह दूँ और धन न मिले तो तुम्हारा भगवान्तकपर अविश्वास हो सकता है। इसलिये भैया! तुम एक काम करो—सर्वात्मभावसे श्रीभगवान्की शरण होकर उनके सामने अपनी सारी परिस्थिति रख दो और

उनसे विनय करो कि वे तुम्हारे लिये जो कुछ मंगल-जनक समझते हों, वही करें। सचमुच, अभी भी वे तुम्हारा-मेरा सबका कल्याण ही कर रहे हैं। परन्तु विश्वास नहीं होता, इसीसे दुःख होता है। भैया! भगवान्‌के विधानमें प्रसन्न रहो। वे मंगलमय हैं।' इस प्रकार बहुत समझानेपर जब उसको सन्तोष नहीं हुआ, तब परम तपस्वी रंगनाथजीने उसको एक बार आँख मूँदनेको कहा। उसने आँखें मूँदीं तो क्या देखता है कि उसके जाने-पहचाने हुए बड़े-बड़े धनी लोग जिनको वह बहुत सुखी समझता था—भीषण नरकाग्निमें जल रहे हैं। उनमेंसे एक कह रहा है—'सत्य है, धनका ही यह भीषण परिणाम है। मैंने धनके मदमें पागल होकर बड़ा अहङ्कार किया था। मैंने किसीको कुछ नहीं समझा। ज्यों-ज्यों धन बढ़ा, त्यों-ही-त्यों मेरा लोभ बढ़ता गया। मैंने छल-बल-कौशलसे दूसरोंका धन हरण किया। लोगोंमें बड़ा धर्मात्मा और सुखी माना जाता था मैं। परन्तु उस समय भी मैं जलता ही था और आज तो इस नरकाग्निमें कैसी भीषण यातना भोग रहा हूँ—इसे मैं ही जानता हूँ। दुःखसे छुटकारा चाहनेवाला कोई भी इस भयङ्कर परिणामपर पहुँचानेवाले धनका लोभ न करे। यदि न्याय और सत्यके द्वारा धन प्राप्त हो तो उसपर अपना अधिकार न मानकर उसे श्रीभगवान्‌की सम्पत्ति समझे और दीन-दुखी जीवोंकी सेवाके रूपमें प्रसन्न चित्तसे उसका सदुपयोग करता रहे। धनसे पन्द्रह दोष मुझमें उत्पन्न हो गये थे—दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध, हिंसा, ममता, मोह, लोभ, काम, असत्य, प्रमाद, दुःसंग, द्यूत, विलासिता और इन्द्रियासक्ति। मैंने धनमदान्ध होकर न जाने क्या-क्या किया था। उस समय उसका यह भीषण परिणाम नहीं सूझता था। परन्तु आज मैं उसीका फल—यह नरकानल भोग रहा हूँ। असलमें अपने लिये तो मनुष्यको उतने ही धनसे प्रयोजन है जितनेसे अन्न-वस्त्रका काम चल जाय। अधिक धनका लालच तो भोगवासनाके कारण होता है। मैं उस समय इस बातको भूल रहा था। अब तो हे भगवन्! किसी प्रकार यहाँसे छुटकारा मिले तो पीड़ा दूर हो।' दूसरेने कहा—'मैं बहुत धनी था, किसी भी प्रकारसे धन बटोरना ही मेरे जीवनका उद्देश्य बन गया था। मैंने धनको कभी गरीबोंकी सेवामें नहीं लगाया। इससे पहले तो साँप बना और अब इस दुर्गतिको भोग रहा हूँ।' कुछ नारकी जीवोंने और भी कई बातें सुनायीं। फिर नरकयन्त्रणाके मारे सभी फुफकार-फुफकार कर रोने लगे। उनका आर्तनाद सुना नहीं जाता था। बड़ा ही करुण दृश्य था। इसके बाद यकायक वह दृश्य हट गया और उसकी आँखें खुल गयीं। उसने देखा—महात्मा रंगनाथजी बड़ी करुण-दृष्टिसे उसकी ओर देख रहे हैं और मुसकरा रहे हैं। देखे हुए दृश्यका और भक्त रंगनाथजीकी दयादृष्टिका उसपर बड़ा ही सुन्दर प्रभाव पड़ा। आश्रमके सात्त्विक वातावरण और सत्सङ्गका स्वाभाविक असर तो था ही। भगवत्कृपासे उसकी धन-कामना नष्ट हो गयी। उसने कहा—'गुरुदेव! मुझे ऐसा उपाय बतलाइये जिससे मेरा मानव-जन्म सहज ही सफल हो जाय। मुझे धन-मान नहीं चाहिये। मैं चाहता हूँ—भगवत्प्रेम, भगवान्‌की अव्यभिचारिणी भक्ति। आप दया कीजिये।' उसका नाम था रामचन्द्र। रामचन्द्रके हृदयका सुन्दर परिवर्तन देखकर रंगनाथजीको बड़ी प्रसन्नता हुई। वे भगवान्‌की कृपाका प्रत्यक्ष प्रभाव देखकर गद्गद हो गये। उन्होंने कहा—'भाई रामचन्द्र! जबतक चित्तमें भोगोंकी कामना भरी है, तबतक उसका अन्धकार नहीं मिटता। और इस अन्धकारके रहते शोक-सन्ताप-से कभी छुटकारा नहीं मिल सकता। भोग-वासनाका नाश सच्चे वैराग्यवान् प्रभुप्रेमी संतोंके सङ्गसे ही हो सकता है। असलमें भगवान्‌के प्रति भक्ति होनी चाहिये।

भक्ति विषय-वैराग्य विना हो नहीं सकती। विषयोंमें प्रीति रहते भगवान्‌में प्रीति कैसे हो और जिसमें प्रीति ही नहीं है, उसे पानेकी चेष्टा भी क्यों होने लगी ? सच्ची बात तो यह है कि भगवान् ही हमारे प्राणाधार हैं, हमारे परम आत्मीय हैं, सुख-दुःखके नित्य साथी हैं, निज जन हैं। वे ही परम प्रियतम हैं। एक बार उन्हें किसी तरह पहचान लिया जाय, जान लिया जाय तो फिर उनकी ओर हृदयका आकर्षण हुए विना रह नहीं सकता। ऐसे ही हैं वे प्राणप्रियतम, सौन्दर्य, माधुर्य, वात्सल्य और औदार्यके समुद्र! उनकी एक बार पहचान हो जानी चाहिये, फिर तो प्राण अपने-आप ही उनके लिये रो उठेंगे। उनको प्राप्त किये विना एक क्षण भी चैन नहीं पड़ेगा। कुछ भी अच्छा नहीं लगेगा। सब कुछ छोड़कर—सारे बन्धनोंको तोड़कर चित्तकी सारी वृत्तियाँ एकमुखी होकर उन्हींकी ओर बहने लगेंगी प्रचण्ड वेगसे अत्यन्त द्रुतगामिनी होकर! असह्य हो जायगा उनका निमेषमात्रका वियोग। ऐसा होना ही मनुष्य-जीवनकी पूर्ण सफलताका पूर्वरूप है। मनुष्यको अपने जीवनमें इसीके लिये पूर्ण प्रयत्न करना चाहिये। इसका उपाय है भगवान्‌का भजन। मैं तुम्हें द्वादशाक्षर मन्त्र बतलाता हूँ—तुम कामिनी, काञ्चन और मान-प्रतिष्ठाका मोह छोड़कर नित्यप्रति इस मन्त्रका पवित्र श्रद्धापूर्ण चित्तसे अधिक-से-अधिक जप किया करना। मन्त्र है—'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय'। खबरदार, बड़े-बड़े प्रलोभन आवेंगे तुम्हें डिगानेके लिये, परन्तु किसी प्रकार भी लालचमें फँस न जाना। भगवान् कल्याणमय हैं, तुम्हारी निष्ठा सच्ची होगी तो वे अपने दर्शनसे तुम्हें कृतार्थ करेंगे।'

रामचन्द्र भी अभी अविवाहित थे। उनके पास पिताका छोड़ा हुआ कुछ धन तो था, परन्तु उनकी इच्छा थी कि पहले किसी भी साधनसे खूब धनी बनना, तदनन्तर विवाह करके मौज उड़ाना। गृहस्थ-धर्म-पालनकी अपेक्षा इन्द्रिय-भोग और मौज-शौकपर उनकी दृष्टि कहीं अधिक थी। बल्कि यही कहना चाहिये कि वे विलासमय जीवन बितानेके लिये ही धन संग्रह करना चाहते थे, उन्होंने बहुत-से उपाय किये। कोई कुछ भी बतलाता, वही करने लगते। अन्तमें भक्त रंगनाथजीकी वाक्सिद्धिकी बात सुनकर किसी पूर्वपुण्यके प्रभावसे वे इनके पास आये थे और इनके अमोघ सङ्गसे उनकी मोहनिद्रा टूट गयी। वे जग गये और घर लौटकर संतके आज्ञानुसार लग गये भगवत्कृपा प्राप्त करनेके लिये द्वादशाक्षर मन्त्रके जपमें। जितना-जितना जाप बढ़ने लगा, उतना-उतना ही उनका आनन्द बढ़ने लगा। अब तो—जो लक्ष्मी उनसे दूर-दूर रहती थी वही विना बुलाये ही उनके पास आने लगी—परन्तु वे बड़े दृढ़ रहे अपने व्रतपर। वे जितना ही हटते, उतनी ही भोग-सामग्रियाँ आ-आकर उनके सामने लोट पड़तीं, उनके चरणोंपर न्योछावर होतीं। परन्तु उन्होंने किसीकी ओर कभी नजर ही नहीं डाली। मनुष्योंने, देवताओंने उन्हें जमीन-मकानके, महल-सहलके, स्त्री-पुत्रके, धन-दौलतके, मान-प्रतिष्ठाके बड़े-बड़े प्रलोभन दिये। सब चीजें मानो प्रत्यक्ष होकर उनकी सेवा करनेको तैयार हो गयीं, परन्तु उन्होंने उनको वैसे ही त्याग दिया जैसे मनुष्य अपने वमनको त्याग देता है।

रमाबिलास राम अनुरागी। तजत बमन इव नर बड़भागी॥

उनकी आराधना सफल हुई। वे एक दिन पवित्र एकान्त देशमें सन्ध्यावन्दनादि करनेके पश्चात् ध्यानस्थ होकर भगवान्‌के परम मन्त्रका जप कर रहे थे कि साक्षात् भगवान् नारायण वहाँ प्रकट हो गये। रामचन्द्रजी ध्यानसुखमें मग्न थे। आखिर भगवान्‌की प्रेरणासे उनके नेत्र खुले। और वे साधुरक्षक भगवान्‌के दिव्य स्वरूपके दर्शन कर निहाल हो गये। निर्निमेष नेत्रोंसे रूप-सुधाका पान करने लगे। किसी तरह भी तृप्ति नहीं होती थी। बहुत देरके बाद उनकी वाणी खुली और वे भगवान्‌की स्तुति करने लगे। भगवान्‌ने प्रसन्न होकर उन्हें अपनी प्रेमभक्ति दान की। जीवन सफल हो गया! बोलो भक्त और उनके भगवान्‌की जय!

प्रेमका पन्थ निराला है !*

(लेखक—पं० श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट)

जरा-सा भी पत्ता खटकता है कि शबरी चौंक पड़ती है कहीं उसके राम तो नहीं आ रहे हैं ! थोड़ी-सी भी आवाज हुई कि वह सोचने लगी शायद उसके प्रियतम भगवान् राम आ रहे हैं ! बार-बार कुटियासे बाहर जा-जाकर वह मार्ग देख आती है। उनके मार्गपर उसके पलक-पाँवड़े बिछे हुए हैं। उसे अपने गुरुदेव मातङ्ग ऋषिके इस वाक्यपर पूर्ण विश्वास है कि श्रीराम एक दिन अवश्य ही उसकी कुटियापर अपनी चरण-रज बिखेरने आवेंगे। इसी विश्वासके बलपर तो वह इतने कालसे चुपचाप उनके आगमनकी पावन प्रतीक्षामें अपना समय बिता रही है।

ऐसा भी नहीं है कि वह प्रियतमके आतिथ्यकी ओरसे उदासीन हो। इसका तो उसे बहुत पहलेसे ही ध्यान है। वह प्रतिदिन जंगलसे कन्द-मूल-फल बीन लाती है। उनमेंसे वह प्रत्येकको चखकर देखती है। जो उसे मधुर और स्वादिष्ट प्रतीत होता है उसे अपने प्यारे रामके लिये रख छोड़ती है और जो खट्टा-खराब होता है उसे स्वयं खा डालती है।

अचानक एक दिन उसे समाचार मिलता है कि उसके आराध्यदेव आ रहे हैं ! प्रियतम ज्ञानशिरोमणि ऋषियोंसे पूछते हैं—"महाराज, इधर कहीं शबरी भीलनीकी झोंपड़ी है ?" आश्चर्यसे चकित ऋषिगण उन्हें अछूत भीलनीकी कुटियाका मार्ग दिखाते आ रहे हैं ! उनकी समझमें ही नहीं आ रहा है कि आखिर इसका कारण क्या है ? उनकी कुटियोंमें न पधारकर भगवान् उस अछूत भीलनीकी कुटियाकी ओर क्यों जा रहे हैं ? पर—समझमें आने लायक बात भी तो हो ! वे बेचारे क्या जानें कि प्रेमके आगे ज्ञान पानी भरता है। भक्तिके आगे विद्वत्ता हाथ बाँधे खड़ी रह जाती है। सच्ची लगनके सम्मुख सारा पाण्डित्य सींकेपर टँगा रह जाता है ! जहाँ सर्वात्मसमर्पण होता है, अनन्य शरणागति होती है, प्रियतमके चरणोंपर सब कुछ दे डाला जाता है। वहाँ ज्ञान, कर्म, उपासना, व्रत, नियम, उपवास—सभी एक किनारे खड़े रह जाते हैं ! वहाँ तो वह मनवाला प्रेमी प्रेमास्पदपर एकछत्र साम्राज्य जमा बैठता है। सब कुछ देकर सब कुछ खरीद लेता है। प्रेमकी झीनी-सी जंजीरमें प्रेमस्वरूप सच्चिदानन्दको ही बाँध लेता है। अहा, कितना अनोखा है यह प्रेम-बाजारका अलबेला सौदा !

शबरीकी ओर प्रभुका यह प्रेम देखकर ऋषिगण अपनी निस्सार साधनाको धिक्कारने लगते हैं। प्रभु-प्रेमकी दीवानी शबरीकी आजतक उन्होंने न जाने कितनी अधिक उपेक्षा और अवहेलना की है, शूद्रा और अन्त्यज कहकर उससे अपार घृणा की है, उसकी छायातकको अपने पास नहीं फटकने दिया है और आज—आज वही शबरी उन सबसे बाजी मार ले गयी है। भगवान् आज उसीकी कुटियामें अपनी चरणरज बिखेरने जा रहे हैं। धन्य है, धन्य है—इस अशिक्षित मूर्ख भीलनीका प्रेम—जिसके वशीभूत हो आज वे परम दयालु श्रीभगवान् उसकी ओर बरबस खिंचे चले जा रहे हैं ! आज उनका सारा गर्व, सारा अहंकार—चूर-चूर होकर शूद्रा भीलनी शबरीके चरणोंपर बिखर जानेको व्याकुल हो रहा है।

इधर शबरीका और ही विचित्र हाल है। प्रियतमके आगमनके समाचारने उसकी अजीब ही अवस्था बना दी है। वे आ रहे हैं—भला, इससे भी बढ़कर किसी प्रेमीको और कोई मंगल-संवाद हो सकता है ? जिनकी प्रतीक्षा करते-करते उसकी आँखें पथरा गयीं, दिन-रात, मास-वर्ष—सभी एक-एक कर व्यतीत होते गये—पर वे आजतक नहीं आये, वे ही—परम प्रेमास्पद आज

* अप्रकाशित 'प्रेम-मदिरा' से।

आ रहे हैं—यह आनन्द भला, कोई हृदयमें समाने लायक बात है ? इस प्रेमानन्दको रखनेके लिये उसे कोई ठौर ही ढूँढ़े नहीं मिलता ! कितना सुहावना है आजका दिन—जब उसकी वर्षोंकी नहीं-नहीं, जन्म-जन्मान्तरोंकी साधना सफल होने जा रही है !

आजहीके दिनके लिये तो वह इतनी लम्बी प्रतीक्षा करती आ रही है। अहा, कितनी कठिन है यह अनवरत साधना ! दिन-पर-दिन बीतते चले जाते हैं, मासों-पर-मास निकलते चले जाते हैं, सालोंपर सालें गुजरती चली जाती हैं— पर, यहाँ हताश होनेका काम नहीं। सतत जागरूक रहना पड़ता है। पल-पलपर प्यारेकी यादमें मशगूल रहना पड़ता है। हर घड़ी उनके मार्गपर आँखें बिछाये चुपचाप बैठा रहना पड़ता है। क्या पता, प्रियतम कब आ जावें ? वे तो सुबह और शाम, दोपहर और आधी रात, वर्षा और तूफान, आँधी और पानी, गर्मी और सर्दी—कुछ देखते नहीं, जब जी चाहता है तभी प्रेमीके द्वारपर आ उपस्थित होते हैं—तब यदि प्रेमी उनके स्वागतके लिये प्रस्तुत न रहे, वे आकर द्वारसे वापिस लौट जावें तो इससे बढ़कर प्रेमीके लिये और दुःखकी बात हो ही क्या सकती है ?

शायद तुम कहो कि यह प्रतीक्षा तो बड़ी बुरी चीज है तो भैया, साधना और सो भी प्रेम-साधना— कोई सरल बात नहीं है ! सभीका मन उसमें नहीं लग सकता। तभी तो सभी लोग प्रभुके प्यारे नहीं बन पाते ? सच्चे प्रेमियोंको छोड़कर और सबको तो इस मार्गमें नीरसताका ही बोध होता है। सभी वेदान्तको, योग और उपासनाको शुष्क विषय कहा करते हैं, किस लिये ? इसी अनवरत साधनाहीके कारण तो ! यह प्रतीक्षा, यह इन्तजारी ही तो लोगोंको खलती है और इसीसे अनेक इस मार्गपर आकर इसे छोड़ बैठते हैं, पर भैया, प्रेमीको इस प्रतीक्षामें ही आनन्द मिलता है, तभी तो वह हँस-हँसकर कहा करता है कि—

> "वस्लमें हिज्रका ग़म, हिज्रमें मिलनेकी ख़ुशी,
> कौन कहता है जुदाईसे विसाल अच्छा है।"

वे तो इसे प्रेम-मिलनसे भी उत्तम वस्तु समझते हैं। भला, कुछ ठिकाना है ऐसे मस्तोंकी अलबेली मस्तीका !

हाँ, तो शबरीके हर्षका आज पार नहीं है। वह कभी कुटियाके बाहर जाती है, कभी भीतर ! कभी हाथकी मालामें सुमन गूँथने बैठ जाती है कभी द्वारकी ओर ताकने लगती है। कभी झाड़ू उठाकर द्वारके आस-पासका सारा मार्ग बुहार आती है—कि कहीं कोई कंकड़ी उसके प्रियतमके पावन पदारविन्दोंमें चुभ न जाय। कभी चुपचाप बैठकर सोचने लगती है कि वे परम प्रेमास्पद जब आवेंगे तो मैं किस प्रकारसे उनका स्वागत करूँगी। किस भाँति उनकी अभ्यर्थना करूँगी। किन शब्दोंमें उनसे वार्तालाप करूँगी !—पर इन सब व्यापारोंमेंसे किसीमें भी उसका मन नहीं लगता। चित्तकी बड़ी ही विचित्र अवस्था है। कुछ समझमें ही नहीं आता कि वह क्या करे ? नेत्रोंसे प्रेमाश्रुओंका प्रवाह अविरल स्रोतकी भाँति बहता जा रहा है और वह उसीमें डूब उतरा रही है। सारा होश-हवास गायब है। प्रियतम कितनी देरसे उसकी कुटियामें खड़े उसकी ओर देखते हुए मुस्कराते खड़े हैं और वह उनकी ओर हक्की-बक्की-सी देखती हुई चुपचाप खड़ी है। अहा, यही तो है वह अनुपम मञ्जुल मूर्ति जिसका वर्णन उसके गुरुदेवने उससे किया था ! इसी मूर्तिको तो वह इतने अधिक दिनोंसे हृदयमें धारण किये हुए थी। इसीके दर्शनोंकी प्रतीक्षामें तो वह अभीतक अपने प्राणोंको शरीरके घेरेमें बन्द किये हुए थी ! बंगभाषाके एक कविने ठीक ही तो कहा है कि—

> साधनाये सिद्धि लाभ एके दिने नाँहि हय,
> श्रमेर साफल्य आछे ए जगते सुनिश्चय,
> सुदिन होलो आगत पूर्ण हके मनोरथ,
> सद्यः जात तरु शाखा फुटे न कुसुम भार,
> समये दिबेन विभु श्रम योग्य पुरस्कार,

परिश्रमका पुरस्कार तो मिलेगा ही, भले ही आज न मिले, दस दिन बाद मिले ! साधनामें यदि साधकको शीघ्र ही सफलता नहीं मिलती तो हताश न होना चाहिये। उसे छोड़ बैठनेकी आवश्यकता नहीं है। यहाँ तो सतत प्रयत्नमें लगे रहना पड़ता है। 'राम' के शब्दोंमें यहाँ तो—

हर रात नयी इक शादी है, हर रोज मुबारक बादी है।
रिमझिम रिमझिम आँसू बरसें—क्या अब्र बहारें देता है॥
क्या खूब मज़ेकी बारिशमें, वह लुत्फ वस्लका लेता है।
किश्ती मौजोंमें डूबे हैं, बदमस्त उसे कब खेता है॥
यह गर्क़ाबी है जी उठना, मत झिझको उफ़! बरबादी हैं।
क्या रंगत है क्या राहत है, क्या शादी है आजादी है॥हर०॥

भैया, यह तो भक्तिका मार्ग है, प्रेमका सौदा है। इसे 'सिरकी बाजी' कहा जाता है। फिर इसमें हताश होनेकी बात ही क्या है? निरन्तर अपने कर्तव्य-पथपर आरूढ़ रहो, कर्ममें संलग्न बने रहो, साधनाकी अग्नि प्रज्वलित बनाये रक्खो। एक-न-एक दिन अवश्य ही तुम्हारी साधना सफल होगी और शबरीकी भाँति तुम्हारी कुटियापर भी वे श्रीहरि पद-रज बिखेरने आ जावेंगे! 'पगली, कुछ खिलाये पिलायेगी या यों ही, खड़ी-खड़ी मेरा मुख ताका करेगी?' प्रियतमके इन मधुर वाक्योंसे शबरीकी समाधि भग्न हुई। लज्जासे व्याकुल होकर वह अपने आराध्यदेवके चरणोंमें लिपट गयी और अपने नयनोंके पावन जलसे प्रियतमके चरण पखारनेमें संलग्न हो गयी! आँसुओंकी रेल-पेल मच गयी। इनकी मधुर वर्षामें यह प्रेमी और प्रेमास्पदका, भक्त और भगवान्‌का, जीव और ईश्वरका, शबरी और रामका—मधुर सम्मिलन हुआ। साधनाके मधुर फलको पाकर शबरी प्रेमानन्दमें विभोर हो गयी।

वह एकटकसे प्रियतमकी झाँकी करनेमें संलग्न है। आँसुओंकी मौन भाषामें ही वह अपने प्रियतमकी अभ्यर्थना कर रही है। उसके पास और तो शब्द ही नहीं हैं। किन शब्दोंमें वह अपने प्यारे प्रियतमकी आराधना करे। अन्तमें—

अधम ते अधम, अधम पुनि नारी। तिन महँ मैं मतिमंद गँवारी॥

मैं भला क्या जानूँ कि किन शब्दोंसे तुम्हारी पूजा की जाती है—कहकर वह पुनः गद्गद होकर अपने लाड़ले प्रेमीके चरणोंमें गिर पड़ी। पूजा और अर्चा, भजन और प्रार्थना, मन्त्र और श्लोक—उसके लिये अज्ञात लोककी वस्तुएँ हैं। वह इनमेंसे कुछ भी नहीं जानती। पर वे श्यामसुन्दर तो यह कुछ देखते नहीं। तभी तो ऐसे निर्मल हृदयवालोंसे उनकी पटरी बैठ जाती है। उनका तो यह वचन है कि—

निरमल मन जन सो मोहि पावा। मोहि कपट छल छिद्र न भावा॥

इसीसे तो वे भक्तोंपर इतनी जल्दी रीझ जाते हैं, तभी तो तुलसी बाबाने कहा है कि—

का भाषा का संस्कृत प्रेम चाहिये साँच।
काम जो आवै कामरी का लै करै कमाच॥

भैया, वे केवल संस्कृत, फारसी और अंग्रेजी ही नहीं जानते, वे संसारकी सारी भाषाओंके ज्ञाता हैं। वेदकी ऋचाओं, कुरानकी आयतों, बाइबिलके समुल्लासोंके पाठहीसे वे केवल प्रसन्न होते हों—ऐसा नहीं है। अरे, वे तो अपने प्रेमीकी टूटी-फूटी, व्याकरणसे सर्वथा अशुद्ध भाषासे भी प्रसन्न हो जाते हैं। सच्चे प्रेमका एक आँसू ही उन्हें रिझा देनेके लिये, भक्तिपरवश कर देनेके लिये बहुत है—पर कोई हो भी तो वैसा आँसू ढुलकानेवाला! भैया, प्रेमकी मूक वेदनाकी भाषा तो उन्हें सबसे अधिक प्रिय है। प्रेमियोंकी टूटी-फूटी प्रार्थनामें उन्हें यजुर्वेदपाठी पण्डितके पाठसे कम आनन्द नहीं आता। रुदनकी मूक भाषाको समझना, उसमें अवगाहन करना, उसकी गहराईका पता लगाना वे भली प्रकार जानते हैं। मन्त्रों और ऋचाओं, श्लोकों और स्तोत्रोंकी जितनी स्वच्छन्दतासे उनके घेरेमें पहुँचनेकी शक्ति है, उतनी ही शक्ति प्रेमसे गद्गद एक टूटी-फूटी पुकारमें भी है—इस बातको तुम भली प्रकार समझ रक्खो। भैया, वे तो वास्तवमें भाव देखा करते हैं। भावोंके वे सच्चे पुजारी हैं।

जहाँ भी सच्चे भावसे उन्हें पुकारा गया, उनका स्मरण किया गया वहींपर वे आ उपस्थित हुए—इसमें जरा-सा भी सन्देह करनेकी गुंजायश नहीं। और सन्देह करके कोई उनके मार्गका पथिक भी तो नहीं बन सकता। तर्क और प्रमाण, शंका और सन्देह-को लेकर उन्हें नहीं पाया जा सकता। उनके मार्गपर तो श्रद्धा, विश्वास और धैर्य लेकर ही अग्रसर हुआ जा सकता है। सच्चे भावसे उन्हें पुकारना पड़ता है, तभी और केवल तभी ही सफलताका सुनहला मुख दीख पड़ता है अन्यथा नहीं। वास्तवमें—

राम राम सब कोइ कहै, ठग ठाकुर औ चोर।
बिना भाव रीझै नहीं, नटवर नन्दकिशोर॥

शबरी शूद्रा थी, मूर्खा थी, ज्ञानशून्या थी—पर इससे क्या? उसके हृदयमें प्रेमका दरिया तो उमड़ रहा था। उसके हृदयमें आराध्यदेवके लिये सर्वोत्तम आसन तो बिछा हुआ था। प्रेम-मदिराका अलबेला प्याला तो उसने जी भरकर गलेके नीचे उतार लिया था। उसमें वह रात-दिन मस्त तो बनी घूमा करती थी—फिर वे प्रेमके हाथोंकी कठपुतली, मनमोहन प्रेमस्वरूप उसकी ओर आकृष्ट न होते यह कैसे सम्भव था? प्रेमीकी ऐसी अनवरत साधना देखकर वे कबतक उससे दूर रह सकते थे? शबरीके आँसू पोंछकर उन्होंने कहा—'पगली, तू रोती क्यों है? तू क्या यह नहीं जानती कि मैं तो—'मानउँ एक भगति कर नाता!' मैं तो और कुछ मानता नहीं; पापी-से-पापी, दीन-से-दीन, शूद्र-से-शूद्र व्यक्तिको भी—यदि वह सच्चे हृदयसे मुझसे प्रेम करता है तो मैं उसे हृदयसे चिपटा लेनेको सदैव व्याकुल रहा करता हूँ। अपने प्रेमियोंको मैं तो प्राणोंसे भी अधिक प्रेम करता हूँ—फिर तू तो ठहरी मेरी सच्ची प्रेमिन। तुझमें तो वे सारे लक्षण मौजूद हैं जो एक प्रेमी भक्तमें होने चाहिये। तुझे यों व्याकुल होनेकी आवश्यकता नहीं। उठ, बहुत रो लिया। अब मेरे लिये कुछ खानेको तो ले आ। देख, मैं कबसे तुझसे खानेके लिये कुछ माँग रहा हूँ। तू तो रोनेके मारे मेरी भूखकी ओर ध्यान ही नहीं दे रही है। ला, ला, देर न कर। देखूँ, तूने मेरे लिये खिलानेका क्या प्रबन्ध किया है!'

हर्षविह्वला पगली उठी और बड़े प्रेमसे अपनी डलिया उठा लायी। और फिर क्या था—

प्रेमिनका ऐसा प्रेम देख रघुनाथजी हाथ बढ़ाते हैं।
चक्खे हुए बेरोंको बेर बेर खुश होकर भोग लगाते हैं॥

साथ ही कहते भी जाते हैं कि—

ला बेर बेर क्यों बेर करे, अमृतसे बढ़कर बेर हैं ये।
पके मीठे औ ताक़तवर, अति सुन्दर मीठे बेर हैं ये॥

क्यों न हो, प्रेम-सुधाकी अनुपम मिठास जो इनमें भरी हुई है!

लक्ष्मणको भी देते हुए वे कहने लगते हैं—

हे लक्ष्मण! तुमने खाये नहीं, देखो तो कैसे मीठे हैं।
पातालसे लेकर स्वर्ग तलक जो हैं सो इससे फीके हैं॥

और लो—

तुमने भी बहुत खिलाये हैं, पर—उनमें यह आनन्द नहीं।
सीताका भी परसा भोजन है इतना मुझे पसन्द नहीं॥

भला इस प्रेमवत्सलताका भी कुछ ठिकाना है? आज मर्यादापुरुषोत्तम प्रेमके आगे जाति, कुल, वर्ण, जूठा-सखरा—सब कुछ भुला बैठे हैं। उनका यह व्यवहार हमें पुकार-पुकारकर समझा रहा है कि 'भैया, प्रभु तो प्रेमके वशमें हैं।' तब भी यदि हम उनके पावन पदारविन्दोंके चञ्चरीक न बनें, उनकी प्रेम-मदिराके दीवाने न बनें तो हम-सा अभागा और कौन होगा?

हे परम पावन प्रियतम! हमें अपने इस निराले पथका पथिक न बनाओगे क्या?

प्रेमका आदर्श

[कहानी]

(लेखक—श्री 'चक्र')

वह सचमुच प्रेमी था। यदि वह उससे मोह करता तो वह चाहता कि 'वह मेरे निकट रहे, मेरी पाशविक वासनाकी तृप्ति करे। चाहे उसकी ऐसी इच्छा हो या न हो।' पर एक दिन भी तो उसने ऐसा नहीं सोचा।

वह था डाक्टर, प्लेगके दिन थे, टीका लगानेमें वह व्यस्त था। एक सुन्दर-सी मूर्ति उसके सम्मुख आयी। पिताका आग्रह था 'इसे प्लेगका टीका लगा दो।' इच्छा न होनेपर भी उसने उस कोमल भुजामें वह दवा भरी सुई चुभा दी। इतना ही है उसके प्राथमिक परिचयका इतिहास।

इस घटनाके पश्चात् वह नित्य उसके द्वारपर एक बार जाता। उसके पितासे पूछता 'घरमें सब अच्छे तो हैं?' यह उसका नित्यका क्रम बन गया। सङ्कोचवश ही समझिये, मुहल्लेके दूसरे घरोंसे भी यही प्रश्न होने लगा।

प्रश्नका अर्थ ही था अमूल्य चिकित्सा। एक प्रकारसे वह स्वयंसेवक हो गया। उसे भी अब इस सेवामें आनन्द आता था। प्रात: दवाका बक्स कम्पाउण्डरके हाथमें देकर निकलनेके पश्चात् कभी दोपहरको भोजनका अवकाश मिलता और कभी नहीं।

दूकानपर कोई रहता ही नहीं था तो आय कहाँसे होती? कुशल यह थी कि डाक्टरके घरमें कोई उलाहना देनेवाला नहीं था। वे यहाँ प्रवासी थे और अविवाहित तो थे ही। उन्हें चाहे और कुछ न मिले किन्तु दुखियोंका हार्दिक आशीर्वाद तो मिलता ही था। उनका हृदय इस आशीर्वादसे खिल उठता था।

वे बराबर उसके घर जाते रहे। कभी-कभी तो अवसर नहीं मिलता तो आठ-नौ बजे रात्रितक उसके यहाँ पहुँच पाते। रोगियोंकी संख्या जैसे-जैसे बढ़ती जाती थी वैसे-वैसे ही डाक्टरका कार्य और चिन्ता भी।

उन्होंने उस टीकावाले दिनको छोड़कर फिर उसे देखा नहीं और न देखनेकी चेष्टा की। वे आकर केवल उसके पितासे पूछते और प्रसन्न होकर विदा हो जाते। वह स्वस्थ है, इतना जान लेना ही डाक्टरके लिये पर्याप्त था।

डाक्टरकी सेवा उसके पितासे छिपी न थी। आसपासके लोग डाक्टरको देवता समझते थे। जब डाक्टर आते तो उसके पिता बड़े आदरसे उनसे मिलते। बैठने और जलपानका आग्रह करते। डाक्टरका एक ही उत्तर था और था भी सच्चा 'कई रोगियोंका देखना आवश्यक है।'

(२)

अचानक एक दिन डाक्टरके प्रश्नके उत्तरमें पिताने कहा—'नन्हेंको ज्वर आ गया है।' इस उत्तरकी आशा भी न थी। जाकर देखा कि उसका छोटा भाई ज्वरसे मूर्छित पड़ा है। यथासम्भव डाक्टरने कोई चेष्टा उठा न रक्खी, पर दो गिल्टियाँ उठ ही आयीं।

आजकल डाक्टर बहुत कम किसीके यहाँ जाते। वे रात्रिको भी उसीके घर सो रहते। दिन-रात उस बच्चेका उपचार हो रहा था।

इसी बीच उसके पिताको भी ज्वर आया। वह व्याकुल हो गयी। 'डाक्टर साहब! आप पिताजीकी रक्षा करें।' डाक्टरको स्वयं कम चिन्ता नहीं थी। उसे पैरोंपरसे उठाकर बोले—

'मैं अपने वशभर कुछ उठा नहीं रक्खूँगा।'

दिन और रात्रि जागरण करते हुए पिता एवं उस लड़केकी दवा होने लगी। दोमेंसे एक कम्पाउण्डर सदा उपस्थित रहता था। डाक्टरने निद्राको हाथ जोड़ लिये थे।

वह कभी रोती और कभी डाक्टरके पैरों पड़ती। डाक्टर उसे सान्त्वना देकर किसी प्रकार शान्त करते। उसका रोना सार्थक था। इस विदेशमें पिताके अतिरिक्त उसका कोई अपना नहीं था। स्वदेशसे तो आपत्ति एवं अर्थाभावके कारण यहाँ आये ही थे। वहीं कौन अपना बैठा था? यहाँ पिताकी वकालत चल निकली थी, इससे कुछ आधार था।

परिवारमें वह, छोटा भाई और पिता, बस ये ही तीन प्राणी थे। यदि डाक्टर सहायक न होते तो आज उसकी दशा सोचने योग्य न रहती। भगवान् सबके सहायक होते हैं। डाक्टरकी भेंट भी कोई ईश्वरीय प्रेरणा ही होगी।

बच्चेकी दशा बिगड़ती जा रही थी। पिताको भी गिल्टियाँ निकल आयी थीं। डाक्टर उसे तो धैर्य देते पर स्वयं उसके किसी कार्यमें लगनेपर सोचने लगते। गम्भीर चिन्तामें डूब जाते कि 'भगवान् इस परिवारका क्या करनेवाले हैं?'

मनुष्य उपचार और दवाके अतिरिक्त कर भी क्या सकता है। प्रारब्धका पलटना किसीके हाथमें तो है नहीं। डाक्टरकी चेष्टाओंपर पानी फेरकर वह बच्चा एक दिन चल बसा। घरमें हाहाकार मच गया। वह मूर्छित होकर गिर पड़ी। बीमारीके दिनोंमें शवको ले जानेवाला भी कोई नहीं मिलता था। डाक्टरने स्वयं दोनों कम्पाउण्डरोंकी सहायतासे शव उठाया और माँ गङ्गाकी गोदीमें छोड़ आये।

वह अब बहुत बेचैन रहने लगी। पर एक आश्वासन था। प्लेग घट गया था। लोग बाहरसे घरोंमें लौट रहे थे। डाक्टरको भी कुछ सन्तोष-सा था। शहरमें बीमारीका आतङ्क नहीं रहा था। अब नये बीमार नहीं होते थे। दो-चार पुराने बीमार थे, उन्हींमें उसके पिता भी।

गिल्टियाँ कुछ ढीली भी पड़ने लगी थीं। वे प्रसन्न भी थे। सबको सन्तोष था। सहसा एक दिन ज्वर घटने लगा। डाक्टर घबड़ाये। उन्होंने सुईसे दवा प्रवेश करना आरम्भ किया। दस-बारह सुइयाँ लगीं। गर्मी बढ़ी और फिर एक-एक शरीर शीतल हो गया। सब समाप्त!

(३)

वह अब डाक्टरके घरपर रहती थी। अन्तत: निराधार इस विदेशमें एक लड़की अकेली रहती कैसे? डाक्टर पहले बड़े सोच-संकोचमें रहे। 'लोग क्या कहेंगे?' एक दिन दिनभर दूकानपर बैठे सोचते रहे। सन्ध्याको आकर पुकारा 'बहिन जल तो देना।' आज सब भार दूर हो गया। इस सम्बोधनमें उसने भी बन्धुत्वका अनुभव किया।

वह अब डाक्टरकी बहिन थी। डाक्टर आजकल नगरके सर्वश्रेष्ठ डाक्टर समझे जाते थे। प्लेगकी सेवाने डाक्टरको ऊँचा उठा दिया था।

वह, पता नहीं, क्या सोचा करती थी। डाक्टरने पूछा उससे विवाहके विषयमें। एक स्थानपर उन्होंने एक सुयोग्य वर देख लिया था।

वह फूट-फूटकर रोने लगी। भला उसकी शादी कैसे हो सकती थी? आज डाक्टरको पता लगा कि वह ब्राह्मण वकीलकी विधवा पुत्री है।

'बहिन तब कोई बात नहीं। घर तो तुम्हारा है ही। मुझे क्या पता था, तुमने बताया भी तो नहीं। अच्छा, जाने दो इस प्रसंगको।' फिर ऐसी कोई चर्चा नहीं चली।

एक मन्दिर बन गया, वह पूजा करती और एकान्तमें बैठी दिनभर रामायणका पाठ। डाक्टरकी शादीका प्रश्न आया। उसने बहुत आग्रह किया। पर डाक्टरका उत्तर बड़ा दृढ़ था 'भाईका नाता ही रहे, संसारकी बहिनोंसे अब दूसरा कोई नाता अपनेको इष्ट नहीं।'

वे किसीकी भी तो नहीं सुनते थे। एक दिन दूकानका साइनबोर्ड हटा दिया और वह भवन सेवाश्रम बन गया। वहाँ रोगियोंके लिये भोजनकी व्यवस्था भी थी। स्वयं डाक्टर साहब उसके प्रबन्धक एवं सेवक थे।

उसकी पूजा-पाठका काम बढ़ता गया, डाक्टरने कभी कोई बात पूछी नहीं। मन्दिरके उत्सवोंपर जो व्यय होता वह आज्ञा पाते ही नौकर उपस्थित कर देता। कभी उसने अनुभव नहीं किया 'मैं दूसरेके घरमें हूँ।'

स्वत: डाक्टरकी पूजा-पाठपर कोई श्रद्धा न थी। फिर भी उन्होंने उससे कभी कुछ कहा नहीं। जब कभी वह आग्रह करती मन्दिरमें दर्शन कर आते। उत्सवोंमें भी आ जाते केवल उसके सन्तोषके लिये। वह चाहती थी कि डाक्टर भी उपासक बनें। पर यह नहीं हो सका।

उसने पूछा 'मेरी इच्छा अवधमें रहनेकी है।' तनिक रुककर उत्तर मिला 'अपना यहाँ क्या धरा है?' दूसरे ही दिन सेवाश्रम अयोध्याके लिये प्रस्थित हो गया। यहाँके मन्दिरकी पूजा एक ब्राह्मणको दे दी गयी।

अब वह घरमें पाठ करती और कनकभवनके

नियमसे दर्शन । सरयूजीके स्नानमें कभी बाधा नहीं पड़ती थी । डाक्टर भी अपने रोगियोंकी सेवामें लगे थे । उनके सेवाश्रममें यहाँ भी पर्याप्त पीड़ित आते और आरोग्य-लाभ करते थे ।

वह कथामें जाती, महात्माओंको भोजन कराती और उनके मन्दिरोंमें दर्शन करने जाती । घरका विश्वस्त सेवक साथ रहता था । व्ययके लिये रुपये उसके पास होते थे ।

डाक्टर घर आते कभी अर्धरात्रिमें और कभी उसके भी पश्चात् । रोगियोंकी सेवासे जब समय मिलता । वह उसके लिये भोजन रखकर प्रतीक्षा करती रहती । भोजनके समय वह भाईके रोगियोंकी दशा पूछती और भाई बहिनके सत्संगसे अभिज्ञ होते । बस—फिर दोपहरको भोजनके समय ही मिलते ।

(४)

केवल एक दिन ज्वर आया । रामनवमीको दूसरे दिन तो फिर वह स्वस्थ हो गयी । उसके आग्रहपर डाक्टर आज घर ही थे । जन्मका उत्सव हुआ । साधुओंको उसने प्रसाद कराया और आगतोंका यथोचित सत्कार किया । आज वह अत्यन्त प्रसन्न थी ।

भाईको बड़े प्रेमसे अन्तमें प्रसाद कराया और फिर स्वयं चरणामृत लेकर बोली—'भैया ! आशीर्वाद दो, आज विदा होना है ।'

'जाना कहाँ है, तुम कह क्या रही हो ?'

वह बैठ गयी थी भाईके चरणोंके पास । नेत्र बन्द हो चुके थे । डाक्टरने देखा महाप्रयाण हो चुका है ।

डाक्टरके नेत्रोंमें न तो अश्रु थे और न चेहरेपर शोक । एक विचित्र भाव था । बड़ी धूम-धामसे उन्होंने बहिनकी सविधि अन्त्येष्टि क्रिया समाप्त की । तेरहवें दिनके भण्डारेमें अयोध्याके एक-एक संत निमन्त्रित हुए ।

भण्डारा समाप्त हुआ । जो बचा वह दीनोंको बाँट दिया गया । घरमेंकी एक-एक वस्तुएँ डाक्टरने दीनोंको दान कर दीं । सेवाश्रम भी दान-खाते चला गया । अन्तमें शरीरपरके वस्त्रोंकी बारी आयी और वे भी दे दिये गये ।

डाक्टर साहब कौपीनधारी हो गये । उन्होंने उसी समय भाड़ा चुकाकर वह मकान छोड़ दिया । सर्वस्व दान करके वे सीधे कनकभवनमें गये । बड़ी देरतक चुपचाप भगवान्‌के श्रीविग्रहकी ओर देखते रहे ।

जब पट बन्द हुए तो वे मन्दिरसे बाहर आये । एक बार फिर घूमकर मन्दिरकी ओर देखा और चले गये । दिनभर तो पता नहीं वे कहाँ रहते थे और सन्ध्याको ठीक उसी समय कनकभवन पहुँच जाते । पट बन्द होनेपर ही लौटते ।

बहुत दिनतक डाक्टर साहबका यही क्रम चलता रहा । सहसा एक दिन वे दर्शन करके लौटे और महलके बाहरी घेरेमें बैठ गये । यहाँके सब लोग उनसे परिचित हो चुके थे । किसीने रोका नहीं ।

फिर किसीने उन्हें वहाँसे उठते हुए नहीं देखा । मन्दिरसे कोई प्रसाद ला देता तो पा लेते । कोई जल पिला देता तो पी लेते । न मन्दिरमें गये और न बाहर । अखण्ड मौन तो था ही ।

ठीक वही रामनवमीका दिन था, एक वर्ष पश्चात् । डाक्टर अब बाबा बन चुके थे । प्रातःसे ही बीच-बीचमें आज जाने क्यों हँसते रहते थे ।

जन्मोत्सव समाप्त हो गया । प्रसाद ग्रहण करके संत भीतरसे लौट रहे थे । एक संत डाक्टरके लिये भी प्रसाद लाये थे । उन्होंने प्रसाद देनेके लिये उन्हें पुकारा । बोले कौन ? वे तो साकेत पधार चुके थे ।

अरथी संतोंने ही सजायी, सरयूमैयाको समर्पित करनेके लिये । वायुमण्डल झंकृत हो उठा ।

'राम नाम सत्य है ।'

ॐ

अहिंसा-धर्मका पालन करो

जो पुरुष काम, क्रोध और लोभको पापोंकी खान समझकर उनका त्याग करके अहिंसा-धर्मका पालन करता है, वह मोक्षरूप सिद्धि-को प्राप्त होता है, इसमें कोई सन्देह नहीं। जो मनुष्य अपने आरामके लिये दीन प्राणियोंका वध करता है, वह मृत्युके बाद कभी सुखी नहीं हो सकता। मरनेके बाद परम सुख उसीको मिलता है, जो सभी प्राणियोंको अपने ही समान समझकर किसीपर भी क्रोध नहीं करता और किसीको भी चोट नहीं पहुँचाता। जो मनुष्य प्राणीमात्रको अपने ही समान सुखकी कामना और दुःखकी अनिच्छा करनेवाले जानकर सबको समान दृष्टिसे देखता है, वह महापुरुष देवदुर्लभ ऊँची गतिको प्राप्त होता है। जिस कामको मनुष्य अपने लिये प्रतिकूल समझता है, वह काम दूसरे किसी भी प्राणीके लिये नहीं करना चाहिये। जो मनुष्य इसके विरुद्ध व्यवहार करता है, वह पापका भागी होता है। दान, अपमान, सुख, दुःख, प्रिय और अप्रिय इनमें जैसे अपनेको सन्तोष और असन्तोष होता है, वैसे ही दूसरोंको भी होता होगा, यही समझकर व्यवहार करे। जो मनुष्य हिंसा करता है, उसकी हिंसा होती है और जो रक्षण करता है, उसकी दूसरोंके द्वारा रक्षा होती है। अतएव हिंसा न करके सबकी रक्षा करनी चाहिये। जो मनुष्य किसी भी प्राणीकी किसी प्रकार भी हिंसा नहीं करता, वह सत्पुरुषोंके बतलाये हुए धर्मके समान संसारमें प्रमाणरूप होता है।

(महाभारत)

वर्ष १५
अङ्क ८

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम । जय रघुनन्दन जय सियराम ॥
रघुपति राघव राजा राम । पतितपावन सीताराम ॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा । जय गणेश जय शुभ आगारा ॥

[संस्करण ५५१००]

वार्षिक मूल्य भारतमें ४≡) विदेशमें ६।≈) (१० शिलिङ्ग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत चित आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण प्रति भारतमें ।) विदेशमें ।≈) (८ पेंस)

Edited by H. P. Poddar and C. L. Goswami M. A., Shastri
Printed and Published by Ghanshyamdas Jalan at the Gita Press, Gorakhpur (India)

श्रीहरिः

कल्याण मार्च सन् १९४१ की

विषय-सूची

पञ्चमुखी महादेव

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥ (श्रीमद्भगवद्गीता १८ । ६५)

वर्ष १५ } गोरखपुर, मार्च १९४१ सौर फाल्गुन १९९७ { संख्या ८ पूर्ण संख्या १७६

दाता शंकर

दानी कहुँ संकर-सम नाहीं ।
दीन-दयालु दिबोई भावै, जाचक सदा सोहाहीं ॥
मारिकै मार थप्यो जगमें, जाकी प्रथम रेख भट माहीं ।
ता ठाकुरको रीझि निवाजिबो, कह्यो क्यों परत मो पाहीं ॥
जोग कोटि करि जो गति हरिसों, मुनि माँगत सकुचाहीं ।
बेद-बिदित तेहि पद पुरारि-पुर, कीट पतंग समाहीं ॥
ईस उदार उमापति परिहरि, अनत जे जाचन जाहीं ।
तुलसिदास ते मूढ़ माँगने, कबहुँ न पेट अघाहीं ॥

(बिनय-पत्रिका)

उपनिषद्-वाणी

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः
सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः
साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥

समस्त प्राणियोंमें स्थित एक देव है; वह सर्वव्यापक, समस्त भूतोंका अन्तरात्मा, कर्मोंका अधिष्ठाता, समस्त प्राणियोंमें बसा हुआ, सबका साक्षी, सबको चेतनत्व प्रदान करनेवाला, शुद्ध और निर्गुण है ।

एको वशी निष्क्रियाणां बहूना-
मेकं बीजं बहुधा यः करोति ।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा-
स्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥

जो एक अद्वितीय स्वतन्त्र परमात्मा बहुत-से निष्क्रिय जीवोंके एक बीजको अनेक रूप कर देता है, अपने अन्तःकरणमें स्थित उस देवको जो मतिमान् देखते हैं, उन्हें ही नित्य सुख प्राप्त होता है, औरोंको नहीं ।

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनाना-
मेको बहूनां यो विदधाति कामान् ।
तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्यं
ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥

जो नित्योंमें नित्य, चेतनोंमें चेतन और अकेला ही बहुतोंको भोग प्रदान करता है, सांख्य-योगद्वारा ज्ञातव्य उस सर्वकारण देवको जानकर पुरुष समस्त बन्धनोंसे मुक्त हो जाता है ।

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥

वहाँ सूर्य प्रकाशित नहीं होता, चन्द्रमा और तारे प्रकाशित नहीं होते और न ये बिजलियाँ ही चमकती हैं, फिर यह अग्नि तो कैसे प्रकाशित हो सकता है ? सब उसके प्रकाशित होनेसे ही प्रकाशित होता है, उसीके प्रकाशसे यह सब प्रकाशित है ।

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं
यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै ।
तꣳ ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं
मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ॥

जो सृष्टिके आरम्भमें ब्रह्माको उत्पन्न करता है और जो उसके लिये वेदोंको प्रवृत्त करता है, अपनी बुद्धिको प्रकाशित करनेवाले उस देवकी मैं मुमुक्षु शरण ग्रहण करता हूँ ।

(श्वेताश्वतरोपनिषद्)

भक्त और भगवान्

(लेखक—श्रीअक्षयकुमार वन्द्योपाध्याय एम्० ए०)

श्रीमद्भागवतमें स्वयं श्रीभगवान् कहते हैं—'मेरे भक्त मेरा हृदय हैं और मैं अपने उन भक्तोंका हृदय हूँ।' अन्यत्र यह वर्णन भी आता है कि भगवान् अपने आपको तथा अपने स्वभावकी अनन्त सनातन महिमाको जो कुछ भी जानते हैं वह अपने भक्तोंके सम्बन्धसे ही जानते हैं। भक्त ही वे जीते-जागते दर्पण हैं जिनमें भगवान् अपने असली रूपमें प्रतिबिम्बित होते और अपने ऐश्वर्य, सौन्दर्य और माधुर्यका आनन्द लेते हैं। भक्तोंके बिना भगवान्का कोई आत्मप्रकाश, कोई आत्मचैतन्य, कोई आत्मरति नहीं; भक्तोंकी भी भगवान्के बिना कोई सत्ता, कोई ज्ञान, कोई भाव, कोई कर्म नहीं। भक्त और भगवान् परस्पर इतने सम्बद्ध हैं कि इनमेंसे किसी एककी दूसरेके बिना कल्पनातक नहीं की जा सकती। भगवान् यथार्थमें वैसे ही हैं जैसे कि वे अपने भक्तोंमें प्रतिबिम्बित होते या उनके सामने वे अपने आपको प्रकट करते हैं; और भक्त भी अपने वास्तविक स्वरूपको भगवान्में ही देख पाते हैं—वे भगवान्में, भगवान्के लिये और भगवान्के द्वारा ही रहते हैं, उनकी समग्र चेतना-वेदना भगवान्से ही व्याप्त रहती है और उनके मन, प्राण, इन्द्रियोंकी सब क्रियाएँ अपने भगवद्रूप सनातन केन्द्रके वर्तुलमें ही हुआ करती हैं। जो कोई सच्चे दिलसे भगवत्स्वरूपका यथार्थ बोध लाभ करना चाहता हो उसे भगवान् और उनके आत्मप्रकाशको भगवान्के सच्चे भक्तोंमें ही ढूँढ़ना होगा और भक्तकी वह दृष्टि पानेका प्रयास करना होगा जिससे वह भगवान्को उनके असली रूपमें देख सके।

युक्तिवादी ईश्वरसत्ताके विश्वासी लोग जगत्-प्रपञ्च-सम्बन्धी अपने ज्ञानके आधारपर ईश्वर-सत्ता प्रमाणित करनेका प्रयास करते और ईश्वरके स्वरूपका निश्चय किया करते हैं। यह जगत् कारणरूपसे परस्पर सम्बद्ध असंख्य पृथक्-पृथक् कार्योंका एक विलक्षण सामञ्जस्य-सा प्रतीत होता है। इस बृहत् ब्रह्माण्डके अंदर नानाविध असंख्य पदार्थोंकी परस्पर-विभिन्नताओंके अंदर जो आश्चर्यमयी एकता, बाह्यतः एक दूसरेसे सर्वथा पृथक् पदार्थोंमें अनुस्यूत जो एक कार्यकारणपरम्परा, भूर्भुवःस्व-रादि सब लोकोंको परस्पर सम्बद्ध रखनेवाली जो एक व्यवस्था, परस्पर साधकता, एकरूपता, नियमितता, विधानता और तात्त्विक सत्ता देख पड़ती है उससे बुद्धिको यह मानना ही पड़ता है कि इस भव्यातिभव्य रचनाचातुर्यके मूलमें कोई अनन्त, शाश्वत, निरपेक्ष आधार और कारण विद्यमान होगा, और यह सत्ता और कारण अनन्त शक्तिसम्पन्न, अनन्त ज्ञानसम्पन्न और सर्वथा शुद्ध-बुद्ध-मुक्त आत्मस्वरूप परम पुरुष होगा। मनुष्य-स्वभावके अंदर जो नैतिक चैतन्य है जिसका इस विश्वरचनामें इतना महत्त्वपूर्ण स्थान है और उसी प्रकार मनुष्यमें जो यह विश्वास है कि मनुष्य-स्वभावके इस नैतिक चैतन्यकी आकांक्षाएँ इस जगत्में परिपूर्ण होंगी, उससे अनेक मनीषियोंने यह सिद्धान्त निकाला कि इस जगत्का परम आधार उच्चातिउच्च नैतिक गुणोंसे पूर्ण सम्पन्न होगा—इस नैतिक चैतन्य-का तथा जिस जगत्में यह नैतिक चैतन्य रक्खा गया है उस जगत्का जो स्रष्टा ईश्वर है वह निश्चय ही पूर्ण न्यायी, पुण्यश्लोक, परम उपकारी और परम पावन होगा। कुछ ऐसे मनीषी भी हैं जिन्हें सौन्दर्य और माधुर्यकी अच्छी परख है और जिन्होंने इस बाह्य जगत्के विविध क्षेत्रोंमें सौन्दर्य, माधुर्य और पावित्र्यके तारतम्यका विशेष अनुभव कर इस जगत्को इसी दृष्टिसे एक सुन्दर-मनोहर रचना-चातुर्यके रूपमें देखा है, इनका यह कहना है कि इस रचनाका उत्पादक कोई ऐसा पुरुष होगा जो सौन्दर्य, माधुर्य

और पावित्र्यकी खान, कोई महान् रसिक, प्रेमी, आनन्दमय लीलानट ही हो सकता है।

इस प्रकार बाह्य जगत्से प्राप्त तथ्योंद्वारा ईश्वरकी सत्ताका अनुमान और वैज्ञानिक तथा दार्शनिक भित्तिपर धर्मका संस्थापन करनेके अनेक प्रयास आस्तिक बुद्धि-वादियोंने किये हैं। ये सब युक्तियाँ स्पष्ट ही प्रमाके विषय हैं और इनसे यही प्रयास किया जाता है कि कार्योंकी एक अटूट परम्परासे मूलकारणके स्वरूपका निश्चय हो, नानाविध क्षणविध्वंसी, सान्त और सापेक्ष पदार्थोंकी बहुलतासे एक ही नित्य अनन्त सत्ता प्रमाणित की जाय, हमारे अंदर और बाहर जो असिद्धता, अपूर्णता हर बातमें देख पड़ती है उससे किसी पूर्ण नीतिमान्, सौन्दर्यशाली और आत्मवित् परम पुरुषकी सत्ताको जाना जाय, और हमलोगोंमें शक्ति और ज्ञानकी जो अल्पता और परिच्छिन्नता है उससे यह सिद्ध किया जाय कि इसके परे कोई सर्वशक्तिमत्ता और सर्वज्ञता भी है। संशयी प्रतिवादी इन युक्तियोंको बुद्धि-से ही जाँचकर इनमें छिपे हुए बहुतसे भ्रमोंको प्रकट कर देते हैं और इन्हें धार्मिक बुद्धिकी ऐसी उत्प्रेक्षाएँ बतलाते हैं तथा कहते हैं कि इनसे समाधान नहीं हो सकता और इसलिये इनपर विश्वास नहीं किया जा सकता। इन युक्तियोंसे इतना ही जाना जाता है कि धर्म-ग्रन्थोंमें ईश्वरका जो वर्णन है और धर्म-साधनोंद्वारा जिसकी प्राप्ति होती है उस ईश्वरके साथ अपने अनुभूत इस जगत्का कोई युक्तिसिद्ध विरोध नहीं है। ईश्वरके सम्बन्धमें अपनी धारणाको दृढ और समृद्ध बनानेमें भी ये युक्तियाँ सहायक होती हैं। परन्तु ईश्वरकी सत्ता और उनके दिव्य चरित्रके विषयमें इन युक्तियोंको ही प्रमाण मानकर इनके भरोसे रहना ठीक नहीं है। इन युक्तियोंको प्रयोगकी तार्किक सिद्धि तो नहीं मान सकते।

फिर, यह बात भी है कि इन युक्तियोंको पेश करनेवाले विद्वान् मनीषी इस बातको भूल जाते हैं कि बाह्य जगत्के अनुभव और ज्ञानके रूपसे जो कुछ वे ग्रहण करते और सामने रखते हैं उसमें बहुत-सा अंश तो उनकी अपनी दृष्टिका ही फल होता है, अर्थात् उस ज्ञान और अनुभवमें मानव-अज्ञान और भ्रमकी बहुत-सी बातें मिली हुई होती हैं। देखनेवाला ही तो उन चीजोंको वैसा घड़ लेता है जैसी कि वे उसे दिखायी देती हैं। जगत्के कतिपय अग्रगण्य तत्त्ववेत्ताओं-ने इन्द्रियार्थसंनिकर्षका परीक्षण करके यह दिखलाया है कि जाननेवाला मन ही अपने जाने हुए जगत्का निर्माता होता है। जाननेकी क्रिया स्वयं ही एक सृष्टिक्रिया है, यह बात सिद्ध की गयी है। भिन्न-भिन्न वर्ण, ध्वनि, रसास्वाद इत्यादि जो हम बाह्य जगत्में अनुभव करते हैं, कुछ ऐसे द्रव्योंसे उत्पन्न होते और अपना विशिष्ट स्वभाव प्राप्त करते हैं कि जो हमारे इन्द्रिय-गोचर नहीं है। काल और देशका अस्तित्व तो केवल हमारे अनुभव और विचार करनेकी रीतिसे ही है। एकत्व और बहुत्व, कारण और कार्य, व्यवस्था और दुरवस्था, शुभ और अशुभ, सौन्दर्य और कादर्य, महत्ता और लघुता इत्यादि सब रीतियाँ हैं जिनसे ज्ञाता मन अपने विषयोंको ज्ञात करता है। यदि ये सब मनोगत सम्बन्ध विषयभूत जगत्से हटा दिये जायँ तो इसका क्या शेष रहता है? अनेक मनीषियोंका यह मत है कि कुछ भी नहीं रहता, अथवा यदि कुछ रहता है तो वह न रहनेके ही बराबर है, क्योंकि उसका कोई परिचय हमें नहीं प्राप्त हो सकता। इसलिये जगत्के पदार्थोंसे प्राप्त ईश्वरी सत्ताके प्रमाण और उसके स्वरूप-के विषयमें होनेवाले निश्चयका यदि कुछ अर्थ है तो वह केवल इतना ही है कि मानव-मनके अन्तर्बाह्य सर्वविध परीक्षणसे ईश्वरके सम्बन्धमें कोई संगत और समीचीन सिद्धान्त स्थिर करनेके ही ये सब प्रयास हैं। इन सब प्रयासोंका अन्तिम सूचन यही है कि मनुष्यकी बुद्धि जैसी कुछ बनी और विकसित हुई है,

वह ईश्वरकी भावना किये विना रह ही नहीं सकती—उसे एक अनन्त सनातन सदाशिव, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वबन्धविनिर्मुक्त जगन्नियन्ताको मानना ही पड़ता है।

इस प्रकार परम सम्बन्ध जो कुछ प्रतीत होता है वह मानव जीव और परमात्मा, सृष्ट मानस और स्रष्टा मानस, सान्त अपूर्ण चञ्चल चेतना और अनन्त पूर्ण आनन्दमय चैतन्य, मनुष्य और ईश्वरके बीचमें ही है। मनुष्य और ईश्वरका यह सम्बन्ध विषयभूत जगत्की मध्यस्थतासे नहीं स्थापित हुआ है जैसा कि बुद्धिवादियोंके विचारोंसे प्रतीत होता है, बल्कि यह प्रत्यक्ष और मध्यस्थरहित सम्बन्ध है। ईश्वरकी सत्ताके सम्बन्धमें इनके जो प्रमाण या प्रमाणाभास हैं उनसे इतना ही प्रमाणित होता है कि जगत् तो हमारे सामने प्रत्यक्ष है और इसलिये इसकी सत्ता अस्वीकार की ही नहीं जा सकती; परन्तु ईश्वर तो केवल अनुमानसे सिद्ध है, इसलिये उसकी सत्ता विवादास्पद है। इनसे ईश्वरकी सत्ताका विचार एक वाद मात्र रह जाता है और वह वाद भी विज्ञान और तर्कसे संसिद्ध नहीं। परन्तु विचारकी गहराईमें डूबनेसे पता चलता है कि समस्त भूतोंके मूल कारणस्वरूप भगवत्सत्ताका केवल अनुमान नहीं, बल्कि अन्तर्ज्ञान जीव मात्रके स्वभावमें अन्तर्निहित है और दोनोंके बीच एक ऐसा आन्तरिक आकर्षण है जो जीवको भगवान्की ओर सतत खींच रहा है। यह अन्तर्ज्ञान हमारी सामान्य जाग्रत् अवस्थामें हमारी बुद्धिप्रधान बाह्य चेतनामें प्रत्यक्ष नहीं होता तथापि बद्ध जीवके अंदरसे इसकी नियन्तृ-शक्ति अपना काम बराबर करती ही रहती है। यह अन्तर्ज्ञान उसकी बाह्य चेतनाके सामने ईश्वरको उसकी गतिके परम गन्तव्यके रूपमें, उसके ज्ञान और कर्मके परम ध्येय और आराध्यके रूपमें रखता और क्रमशः उसे उसकी ओर ले जाता है। परम पुरुषके सम्बन्धमें यह अन्तर्ज्ञान ही मानव चेतनाके अंदर रहनेवाली सच्चरित्रताका मूल है और यही मनुष्यको बतलाया करता है कि तुम्हारे अंदर चरित्रबलकी कितनी कमी है, यही कर्त्तव्याकर्त्तव्यका बोध कराता है और यही शुभ और पवित्रकी ओर चलनेकी लालसा उत्पन्न करता है। परमसत्यविषयक यह अन्तर्ज्ञान ही मानवी बुद्धिको जगत्के मूलकारणके अनुसन्धानमें प्रवृत्त करता और इस सान्त विकारशील विश्वके पीछे रही हुई किसी अनन्त शाश्वत सत्ताकी तथा इस नाना नामरूपात्मक परापेक्ष जगत्के किसी निरपेक्ष एकमेवाद्वितीय मूलतत्त्वकी उससे खोज कराता है। यही श्रीकृष्णकी वंशीकी अन्तर्निनादित आकर्षण शक्ति इस परिच्छिन्न बाह्य जगत् और शरीरकी चहारदीवारीके अंदर बद्ध जीवोंको बेचैन किये रहती और अपनी ओर—अनन्त सनातन शुद्ध बुद्ध मुक्त आनन्दमय निरपेक्ष परम पुरुषकी ओर उनकी मन, प्राण, हृदय और इन्द्रियोंकी क्रियाओंसे होकर खींचती रहती है। यही कारण है कि बद्ध जीवोंमें कोई ऐसी आन्तरिक प्रेरणा हुआ करती है जिसे वे हटा नहीं सकते और वही उनसे इस नानात्वके मूल कारणस्वरूप एकत्वकी, इन विविध सीमित क्षणिक जीवोंका अन्तर्भाव जिनके अंदर होता है उन अनन्त सनातन सत्की, इन समस्त स्थूल, सूक्ष्म लोकोंके प्रकाशक और चालक चिन्मय स्वतःसिद्ध स्वयं पूर्ण पुरुषकी, प्रेम और आनन्दके उन अगाध स्रोतकी खोज कराता है। यही अन्तर्ज्ञान हमारे सम्पूर्ण ज्ञान, भावभावना और सत्प्रयासका स्फूर्तिप्रद और नियामक तत्त्व है। इस प्रकार ईश्वर और जीवके बीच जो सम्बन्ध है वह अत्यन्त वास्तविक, प्रत्यक्षतम और मध्यस्थरहित है, और इसलिये भगवान्के प्रति जीवकी जो भक्ति होती है वह स्वभावतः और अनिवार्यतः इसी अन्तःस्थित सम्बन्धके ही पीछे चलती है।

मनुष्यके इसी अपूर्ण, पर साथ ही स्वबोधस्वरूप स्वतःसिद्ध स्वभावमें भक्ति प्रबुद्ध और मुक्त होती और उसकी आत्मपूर्णता सम्भावित होती है। जब कोई

मनुष्य अपनी चेतनाके अंदर स्पष्टरूपसे, जान-बूझकर और स्वेच्छासे, अपने आपको भगवत्प्रवण अनुभव करता है अर्थात् उसे यह अनुभव होता है कि असलमें मैं भगवान्का हूँ, भगवान्के लिये हूँ और भगवान्के साथ मेरा जो शाश्वत सम्बन्ध है उसे पूर्णतया स्वानुभवसे जानना और सदा उनके साथ युक्त होनेका सौभाग्य लाभ करना ही मेरी इस प्राकृत सत्ताका परम लक्ष्य है, तब ऐसे उस मनुष्यको भगवान्का भक्त कहते हैं। भक्ति जीवका असली स्वभाव है। भक्ति ही जीवनका वास्तविक केन्द्र है। बद्ध जीवोंके सम्पूर्ण ज्ञान और कर्म भक्तिसे ही निर्धारित होते हैं। द्वेष, भय, मात्सर्यादिकी छायाओंसे भक्ति जितनी ही मुक्त होकर निखर आती है और जितनी ही अधिक वह प्रबुद्ध, सुसंस्कृत और स्वच्छन्द होती है, जीवनके उतने ही अधिक ऊँचे स्तरोंपर जीवोंकी स्थिति होती है। जब यह भक्ति जान-बूझकर स्वेच्छापूर्वक परम पुरुषकी ओर लगायी जाती और इसीके द्वारा सब कर्म सञ्चालित होते हैं, जब अपनी ओर तथा जगत्की ओर देखनेकी दृष्टिका उद्गम ही उन जीवनाधारकी भक्तिसे होता है, तब उसे शास्त्रोंके अनुसार, भक्तिका पद प्राप्त होता है। ऐसी भक्ति जीवके लिये मानुषी तनुमें सम्भावित होती है, कारण मानव-मन और तनमें ही जीवका समुचितरूपसे निवास होता है।

भगवद्भक्त जगत्की ओर अपनी भक्तिकी दृष्टिसे देखता है। जगत्के साथ उसका सम्बन्ध कुछ दूसरा ही हो जाता है। सामान्य प्राकृत मनुष्यका भगवान्के साथ सम्बन्ध तो ऐसा है कि उसके और भगवान्के बीचमें जगत् खड़ा है, पर भक्तका सम्बन्ध ऐसा नहीं, उसके और जगत्के बीचमें भगवान् खड़े हैं। उसकी प्रतीति भगवान् हैं, अनुमिति जगत् है। भगवान्के साथ उसका सम्बन्ध प्रत्यक्ष और जगत्के साथ, उसकी अपेक्षासे, अप्रत्यक्ष होता है। वह भगवान्से इसलिये भीत और विस्मित नहीं होता और न इसलिये उनकी स्तुति और भक्ति करता है कि भगवान् इस नानात्व-परिपूर्ण असीम अनिर्वचनीय जगत्के स्रष्टा, नियन्ता और संहारकर्ता हैं; बल्कि यह जगत् उसके लिये आश्चर्य, स्तुति और स्नेहका इसलिये विषय हो जाता है कि इसमें वह अपने परम प्रेमास्पद प्रभुकी अपनी छवि देखता है, इसमें उसे भगवान्की शक्ति और ज्ञान, उनके सौन्दर्य और प्रेम, उनकी जगमगाहट और महत्ता, उनके धर्म और न्याय-नीति, उनके प्रेम और दयाके दर्शन होते हैं। यह जगत् उसे प्रिय लगता है, क्योंकि यह उसके प्रियतमका जगत् है; सब मनुष्य और सब प्राणी उसे प्यारे लगते हैं, क्योंकि ये सब उसके परम प्रेमास्पदके अपने ही रूप हैं जैसे कि वह स्वयं भी एक रूप है। भगवत्प्रेमकी दृष्टिसे वह देखता, भगवत्प्रेमके हाथोंसे काम करता, भगवत्प्रेमकी वाणीसे बोलता, भगवत्प्रेमके मन-बुद्धिसे सोचता है। भगवत्प्रेम उसके मन और इन्द्रियोंके स्वभाव गढ़ता है, उसके सोचने, समझने, चाहने, करनेके सब ढंग निर्माण करता है। वह इस जगत्के इन्द्रियग्राह्य पदार्थोंसे उतना ही सम्बन्ध रखता है जितना कि उसके परम प्रेमास्पदकी सेवामें उनका उपयोग होता और उनमें उसे अपने परम प्रेमास्पदकी सनातनी अनन्त आत्मरतिकी दिक्कालगत अनुभूति होती है। परब्रह्म परमेश्वर, परम प्रिय भगवान्, उसके चिरन्तन प्रेमी, उसके अन्तरात्माके अन्तरात्मा, सब जीवोंके अन्तरात्मा, विश्व-प्रकृतिके अन्तरात्मा, ये ही उसके सर्वस्व हैं। उन्हींसे और केवल उन्हींसे उसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। उसके अन्तःकरण और शरीरका सारा तेज उन्हींकी ओर सतत प्रवाहित हो रहा है, वे ही इसके मूल स्रोत हैं। प्रेम ही स्रष्टा और सृष्टको, असीम और ससीमको, विश्वपुरुष और व्यष्टिपुरुषको एक कर देता है।

ब्रह्म ही जब अपने आपको अपने भक्तके सामने प्रकट करते हैं तब भगवान् कहाते हैं। भगवान्‌को प्रत्यक्षरूपसे भक्त ही जान सकता है, देख सकता है, उन्हें स्पर्श कर सकता है, उनकी सेवा कर सकता है, उनसे बोल सकता है, उनकी बात सुन सकता है। उसका भगवत्-ज्ञान प्रत्यक्ष और मध्यस्थरहित होता है, अप्रत्यक्ष या समध्यस्थ या आनुमानिक नहीं। भक्ति वह प्रमादरहित करण है जो भक्तको भगवान्‌से प्रत्यक्ष मिला देता है और तब भगवान् अपना वास्तविक स्वरूप प्रकट कर देते हैं। भगवान्‌को इस प्राकृत विषयभूत जगत्‌का स्रष्टा, धारक, नियामक और संहार-कर्ता जानना अप्रत्यक्ष ज्ञान है। बाह्य जगत्‌के सम्बन्धसे जाने हुए भगवान् जाननेवालेसे बहुत दूर हैं—यह सारा विश्व बीचमें है। भगवान्‌के सृष्टि, स्थिति, संहारात्मक गुणधर्म विश्वप्रकृतिके सम्बन्धसे हैं और भगवद्भावके ये केवल बाह्य रूप हैं। भगवत्स्वरूपके आन्तरिक और वास्तविक लक्षण भक्तोंपर ही प्रकट होते हैं, क्योंकि भक्त हृदयकी आँखसे भगवान्‌को देखते और अपने ज्ञानदीप्त अनन्य प्रेमसे उनके हृदयमें प्रवेश करते हैं।

प्रेम ही यथार्थमें भगवान् या भगवच्छक्तिका मुख्य मूलगत लक्षण है, इसीके द्वारा स्वयं भगवान् अपने परम स्वरूपकी सनातनी महिमाको अनुभव करते और उसका आनन्द लेते हैं। ये सब जीव उन्हींके प्रेमके असंख्य आविर्भाव हैं। आत्मप्रेम और भगवत्प्रेम मूलतः एक ही है और यह प्रेम ही जीवोंका अन्तःस्वरूप है। प्रत्येक जीव भगवान्‌के आत्मप्रेम और आत्मरतिका एक-एक विशेष केन्द्र है। प्राकृत जीवोंको अपने केन्द्र होनेका कोई बोध नहीं होता, पर भक्तको होता है। प्रत्येक भक्त इस आत्मप्रेम और आत्मरतिका स्वानुभवसे केन्द्र होता है। भक्ति किसी साधनाका फल नहीं है, यह जीवका अन्तःस्वभाव है। प्रत्येक मनुष्यके मूल स्वरूपमें यह निहित है। मनुष्यके अंदर जो देवत्व है वह यही है। पर यह भगवान्‌की लीला है जो यह प्रेम सांसारिक बन्धनोंसे बाँधकर रक्खा गया है इसलिये कि विभिन्न अवस्थाओंमेंसे होकर यह विकसित हो और भगवान् उसका असंख्य रूपोंमें और असंख्य रूपोंद्वारा आस्वादन करें। भक्ति अपने विकास या संस्कार या आत्मानुभूतिकी विभिन्न भूमिकाओंमें भगवान्‌के आनन्दमय स्वरूपके विभिन्न दिव्य भाव दरसाती और उन्हें भगवान्‌के सामने उनके भोगार्थ नैवेद्यरूपसे निवेदित करती है। इनमेंसे प्रत्येक भाव वास्तविक है, यद्यपि है भगवत्स्वरूपका केवल आंशिक आविर्भाव। भक्ति-विकासकी प्रत्येक भूमिकामें भक्तको भगवत्सम्बन्धी विशेष अन्तर्ज्ञानका भाग्य-लाभ होता है, आत्मरत भगवान्‌का प्रत्यक्ष दर्शन और स्पर्श प्राप्त होता है और इस प्रकार प्राप्त भगवद्-ज्ञान अंशज्ञान होनेपर भी आनुमानिक या गृहीत ज्ञानसे कहीं श्रेष्ठ होता है।

भक्तिकी अधिकाधिक उन्नत भूमिकाओंमें जहाँ भक्ति विशेष विकसित, संस्कृत और ज्ञानदीप्त होती है, भगवद्भाव भी अधिकाधिक स्पष्टता और पूर्णताके साथ उसमें प्रकट होता है और भक्त भगवत्प्रेम, भगवद्-ज्ञान और भगवदात्मरतिका अधिकाधिक वास्तविक प्रतीक बनता जाता है। भक्तिकी सर्वोच्च भूमिकामें, जहाँ यह समस्त सांसारिक बन्धनों और अपने मन-प्राणकी वृत्तियोंकी मिलावटसे सर्वथा मुक्त होती है वहाँ भगवान् अपने सम्पूर्ण सौन्दर्य, माधुर्य, माङ्गल्य, पावित्र्य और आनन्दमय पूर्णत्वके साथ प्रकट होते हैं। भगवान् जो अपने पूर्ण भक्तके अंदर अपने आपको प्रकट करते और अपना आप ही आनन्द लेते हैं, यही साकार स्वबोधस्वरूप पूर्ण ब्रह्म हैं।

जगत् और जीवसे सर्वथा अतीत, अशेष-

विशेषातीत शक्तिरहित, सजातीय-विजातीय भेदरहित एकमेवाद्वितीय ब्रह्म मन-वाणीके परे है, उसके विषयमें यह भी सोचना या कहना नहीं बनता कि वह अपने आपको किसी प्रकार जानता, भोगता या प्रकट करता है। उसमें भाव-अभाव, सत्-असत्के कोई स्वगत-विगत भेद नहीं हैं। पर जब उसी ब्रह्मको हम सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, जगत्-स्रष्टा, भर्त्ता, नियन्ता और संहर्त्ता समझते हैं, तब उसका यह वर्णन उसकी बाह्य शक्ति और महिमा तथा उसकी आत्मविभूतियोंकी निम्नतम कक्षाका ही वर्णन हुआ करता है। उसी ब्रह्मको सब जीवोंका अन्तरात्मा, सब पदार्थोंका सत्तत्त्व, सर्वभूताशयस्थित विश्वात्मा, नाना जीवभावोंमें आविर्भूत परमात्मा समझना अवश्य ही गूढ़तर भावना है और योगी ध्यानके द्वारा इस भावनाको स्वानुभूत सत्यमें परिणत कर लेते हैं। परन्तु ब्रह्मकी और भी अधिक पूर्ण भावना तब होती है जब हम उसे अधिकाधिक उच्च कोटिके ज्ञानवान् भक्तोंके हृदयों और जीवनोंमें प्रतिबिम्बित और प्रकाशित रूपमें देखते हैं। भक्तोंके साथ ब्रह्मका जो यह सम्बन्ध है, इसमें ब्रह्म अपने अन्तःस्वरूपके सौन्दर्य और महिमाको पूर्णतया जानता हुआ-सा प्रतीत होता है; यहाँ वह न केवल, न मुख्यतया भी सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, सर्वकर्त्ता-धर्त्ता-विधाता ही है, बल्कि प्रधानतया परम सुन्दर, लीलामय, मधुर, प्रेमास्पद, भोक्ता और भोग्य भी है; जीवोंके साथ उसका जो व्यवहार है उसमें वह भक्तोंको न केवल न्यायवान् और सत्यपरायण, बल्कि दयावान्, कल्याणकारी, सुकुमार और क्षमाशील भी देख पड़ता है। प्रेम, दया, माधुर्य, मार्दव, क्षमा, पतितोद्धार आदि गुण निश्चय ही स्रष्टृत्व और नियन्तृत्व, ज्ञातृत्व और कर्तृत्व, तथा कर्मफलविधातृत्वकी शक्तियोंसे अधिक उदात्त हैं। ये उदात्त और श्रेष्ठ भगवदीय गुण भक्तोंके हृदयोंपर प्रकट होते हैं।

श्रीमद्भागवत भक्ति, भक्त और भगवान्के सम्बन्धमें सबसे महान्, सुन्दर और प्रामाणिक ग्रन्थ है। इसमें भक्तोंके अनेक सम्प्रदाय वर्णित हैं, भक्तिके विविध प्रकारोंके व्याख्यान और दृष्टान्त हैं और बड़े ही मनोहर और विश्वसनीय ढंगसे यह दर्शित हुआ है कि किस प्रकार भगवान् अपने महामहिम स्वरूप और चारित्र्यके विविध गुण अपने भक्तोंके सम्बन्धसे प्रकट किया करते हैं। नारद, व्यास, मैत्रेय, विदुर, शुक, सनक, उद्धव, अक्रूर, अम्बरीष, अजामिल, ध्रुव, प्रह्लाद, पाण्डव, नवयोगीन्द्र, गजेन्द्र, जडभरत, गोप और गोपी आदि भक्तिकी ही विभूतियोंके विविध भागवत रूप हैं। भक्ति सभी जीवोंकी अन्तःस्थित दिव्य सम्पदा है और सभी जीवोंपर भगवान्के गुण विभिन्न प्रकारोंसे प्रकट होते हैं। वृन्दावनके गोप और गोपीगण प्रेम और सौन्दर्यके उत्कृष्ट रूप माने जाते हैं। उनके जीवन भक्ति और भक्तके सर्वोच्च पदके निदर्शन हैं। भगवद्भावके अन्यान्य स्वरूपोंको जानते हुए भी उनके लिये भगवान् केवल प्रेम, सौन्दर्य और लीलामय हैं। भगवान्के साथ उनका कोई परदा नहीं, कोई भेदभाव नहीं; उन्हें भगवान्के हृदयके अन्तस्तम अन्तःपुरमें प्रवेश करनेका अधिकार है। भक्तिकी सर्वोत्कृष्ट और पूर्णतम प्रतिमा हैं गोपीगणमहिषी, व्रजेश्वरी श्रीराधाजी। भक्तिसाधना या प्रेमधर्मकी वे ही परमाराध्या हैं, स्त्री-पुरुष सबकी वे परम भजनीया देवी हैं। राधातत्त्वमें ही निरपेक्ष और सापेक्ष, अनन्त और सान्त, नित्य और अनित्य दोनों प्रेम और सौन्दर्यसे युक्त पूर्ण एकीभूत हैं और दोनों ही एक दूसरेमें अपने सदात्माको पूर्णतया अनुभव करते और आनन्दित होते हैं। निरपेक्ष पूर्णब्रह्म भगवान् श्रीकृष्ण अपने हृदयसे श्रीराधाका हृदय आलिङ्गन किये हुए हैं और श्रीराधाके हृदयपर श्रीकृष्ण अपने आपको प्रतिबिम्बित कर रहे हैं। श्रीराधा मनुष्यजातिकी परमाराध्या हैं, भगवत्-प्रेमका पूर्णावतार हैं और इसलिये

भक्तलोग उन्हें निरपेक्ष पूर्णब्रह्मकी आत्मविभूतिका परम उत्कृष्ट स्वरूप जानते और भक्तियोगके पथमें परम सत्यके जिज्ञासुओंके ध्यान और अर्चनके लिये परम ध्येय मानते हैं।

प्रेम जब अचेत, अर्धचेत या सहज प्राकृत बुद्धिकी परस्पर आकर्षण और आसक्तिकी अवस्थाको प्राप्त होता है उसकी बात तो दूसरी है, पर अन्यथा प्रेम और प्रेमास्पदका सम्बन्ध पौरुषेय हुआ करता है। प्रेमी और उसका प्रेमास्पद विषय चाहे वह स्त्री हो या पुरुष, दोनों ही कोई व्यक्ति हों और उन्हें अपने स्वरूप और स्वातन्त्र्यका बोध हो, यह आवश्यक है। यदि अपने स्वरूप और स्वातन्त्र्यका बोध मनुष्यका मूलगत वास्तविक स्वभाव हो तो मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है जो यथार्थ प्रेमी हो सकता है और उसका प्रेमास्पद विषय भी ऐसा ही हो सकता है जिसमें मानव-भावके विशिष्ट लक्षण हों। अर्थात् उत्तम प्रेमी वही मनुष्य हो सकता है जो मनुष्योंमें उत्तम हो, जिसमें अपने स्वरूपका पूर्ण बोध और पूर्ण स्वातन्त्र्य हो, किसी प्रकारका कोई बन्धन, कोई अन्तराय या कोई दुःख न हो। ऐसा होनेके लिये उसे सब प्रकारके काम-क्रोधादिकोंसे, अभावों और त्रुटियोंसे, भौतिक मानसिक प्रभावोंसे मुक्त होना पड़ता है जिसमें ये उसके स्वातन्त्र्यको किसी प्रकार हर न सकें, उसके स्वरूप-बोधको कलुषित न कर सकें और उसके अन्तरात्माके निर्मल, प्रेममय और आनन्दमय स्वभावपर कोई परदा न डाल सकें। उसे पूर्ण पुरुष होकर तेजोमय होना पड़ता है।

पूर्ण प्रेमका यथार्थ विषय भी पूर्ण और विश्वात्म-स्वरूप भगवदीय पुरुष ही हो सकता है। निरपेक्ष ब्रह्म पूर्णभक्तको—भक्तिकी अत्युच्च दशामें—जिस रूपमें प्रतिभात होता है वह ऐसा सगुण साकार पुरुषरूप ही हो सकता है जो सर्वबन्धविनिर्मुक्त, स्वबोधयुक्त, परम सुन्दर और आनन्दमय हो, जिसकी सत्ता, ज्ञान, शक्ति और कर्म अबाध हो। उसके कोई अभाव नहीं होता जिसे वह पूरा करना चाहे, कोई वस्तु अप्राप्त नहीं होती जो उसे प्राप्त करनी हो, कोई ऐसा अनुपलब्ध ध्येय नहीं होता जिसे उपलब्ध करना हो, इसलिये किसी कर्मको करनेमें उसका कोई हेतु ही नहीं हो सकता। उसके सब कर्म उसके दिव्य स्वभावके ही अभिव्यञ्जन होते हैं, उसके सब कर्म सृष्टि करनेवाले और लीलामात्र-से होते हैं। वे हैं ही परम लीलामय पुरुष। जगत्में प्रकट होनेवाले उनके सब सृष्टि-स्थिति-संहारकर्म, जगत्के जीवोंके सम्बन्धमें उनके कठोर और जागरूक न्याय-विधान, दुखियोंपर उनकी दया और मुमुक्षुओंको मोक्षदान आदि उनके सब कर्म पूर्ण भक्तकी दृष्टिमें लीलाभिनय ही हैं। भगवान्का सच्चा भक्त इस विश्वके सब व्यवहारोंमें अपने चिरन्तन और अनन्य प्रेमास्पदकी ही लीला देखता और आनन्दित होता है और अपने आपको भी उनके सब लीलाभिनयोंमें उनका सनातन सङ्गी होना ही अनुभव करता है। जो कुछ वह देखता, सुनता, स्पर्श करता या सोचता-समझता है उसमें अपने प्रेमास्पद भगवान्के साथ अपना निगूढ़ समालिङ्गन ही अनुभव करता है। इस प्रकार परब्रह्म भगवान् अपने परम भक्तके सामने लीलामय पुरुषके रूपमें प्रकट होते हैं और भक्तके लिये फिर उनसे तथा उनकी लीलासे अतीत अथवा पृथक् और कुछ भी नहीं रह जाता। उसके लिये वे ही सब कुछ हैं, सबमें वे ही हैं और उन्हींमें सब है। बाह्यतः विभिन्न दीखनेवाले ये सब असंख्य भाव और पदार्थ उन्हींके असीम प्रेम, सौन्दर्य, औदार्य, आनन्द और चिरन्तन यौवन और क्रीडनके अभिव्यञ्जन हैं। भगवान्का सच्चा भक्त परब्रह्म परमेश्वरको इसी रूपमें पाता है और यही परम प्रेमी और परम प्रेमास्पद, परम प्रेम और परम सौन्दर्य-स्वरूप श्रीराधा-कृष्णकी जोड़ीके रूपमें भगवान्के दर्शन देनेका अभिप्राय है।

सरलता और आनन्द

(लेखक—पं० श्रीलालजीरामजी शुक्ल एम्० ए०)

सरलता ही आनन्दका मूल स्रोत है। सरलता ही शक्तिका केन्द्र है। सरलता भगवान्‌को प्यारी है। जैसे-जैसे बालक चतुर होता जाता है, निजानन्दको खोता जाता है। आनन्दपूर्वक जीवित रहनेके लिये प्रत्येक व्यक्तिको बालभाव प्राप्त करना तथा बालकोंमें मिलना आवश्यक है। बच्चोंसे हरेक व्यक्ति प्रसन्न रहता है। बड़े-बड़े सांसारिक जटिल कार्य करनेवाले लोग, जिनका उत्तरदायित्व असीम रहता है, अपना थोड़ा-सा समय बच्चोंके साथ व्यतीत करनेमें अपना सौभाग्य समझते हैं। बच्चे उनमें नवजीवनका सञ्चार कर देते हैं।

इङ्गलैण्डके राजा अलफ्रेडके बारेमें यह कथा प्रसिद्ध है कि वह किसी-किसी दिन गुप्तरूपसे अपना राज्य-का कार्य छोड़कर एक गरीब बुढ़ियाके यहाँ चला जाता था। उसकी संरक्षकतामें दो शिशु रहते थे, राजा उन बालकोंके साथ खेलता था। उनके आनन्द-विनोदको बढ़ाता था। कभी-कभी अलफ्रेड स्वयं घोड़ा बनकर पैरों और हाथोंसे चलने लगता था और बच्चे उसके ऊपर सवार होते थे। इस प्रकार अलफ्रेड बच्चोंके साथ असीम आनन्दका उपभोग करता था। जो आनन्द राज्यका इतना बड़ा अधिकार प्राप्त करनेमें नहीं था वही बच्चोंकी सङ्गतिमें उसको सुलभ हो गया।

बच्चोंकी ओर हम आकर्षित क्यों होते हैं? इसका कोई बौद्धिक उत्तर देना कठिन है। यह हमारे अव्यक्त मनकी प्रेरणा है। अज्ञातरूपसे वह हमें सरलता और स्फूर्तिकी ओर ले जाती है। बालकमें सरलता, स्फूर्ति और आनन्द भरपूर होता है। बस, यही वस्तुएँ हमें उसकी ओर खींच लेती हैं। हमारा सहज स्वरूप सरलता, स्फूर्ति और आनन्दमय है। बालक हमें अपने स्वरूपका स्मरण करा देते हैं। उसी असीम आनन्दकी ओर हमें ले जाते हैं।

महात्मा ईसाने कहा है—'जबतक तुम बच्चे-जैसे नहीं बन जाओगे तबतक परमात्माकी प्राप्ति कभी नहीं होगी।' हमारा सांसारिक जीवन निरानन्दमय होता है। अतएव वह हमें आत्मस्थितिसे अथवा आत्मानन्दसे दूर ही ले जाता है।

बालककी सङ्गति यदि बोधपूर्वक की जाय तो वह अवश्य परमानन्द और आत्मज्ञान प्राप्त करनेमें सहायक होगी। मनुष्य अपने साधारण व्यवहारमें कपट-छलसे प्रेरित रहता है। हमारी आत्मा इस प्रकारके अनुभवोंसे पीड़ित हो उठती है। हम सचाईको ढूँढ़ना चाहते हैं। असत् व्यवहार बालकके स्वभावके प्रतिकूल है। बालकका जीवन सद्भावनामय होता है, अतएव उसका दर्शनमात्र मनुष्यको पवित्र करता है।

हम अपने मित्रों और संसारके व्यक्तियोंमें जो बहुत शिष्टाचार पाते हैं वह प्रायः छलमय होता है। हम स्वयं इसी प्रकारका छलमय व्यवहार संसारमें करते हैं। इसी प्रकारके व्यवहारसे हमारा हृदय आक्रान्त हो उठता है। बालकके हृदयमें कपट-व्यवहारके लिये स्थान नहीं। अतएव वह सदा आनन्दसमुद्रमें निमग्न रहता है।

मनुष्यकी सभ्यताका दूसरा नाम छल है। सभ्यता कपट-व्यवहारका विकसित रूप है। रूसो महाशयने अपने एक लेखमें यही दिखलाया है कि जैसे-जैसे सभ्यता बढ़ती जाती है, मनुष्यके सदाचारका नाश होता है। जो मनुष्य जितना सभ्य और शिष्ट कहलाता है वह प्रायः उतना ही असद्व्यवहार करनेवाला और धूर्त्त होता है।

रूसोका दृष्टिकोण महात्माओं, कवियों और तत्त्वज्ञानियोंका दृष्टिकोण है। कवि सरल-हृदय होता है। कविता गङ्गाजीकी पवित्र धाराके समान कविके हृदयरूपी स्वच्छ मानसरोवरसे निकलती है। कविता दलदलकी उपज नहीं, संसारके आघात-प्रतिघातसे

विकृत बुद्धि कविताका उद्गमस्थान नहीं बन सकती। सरलता, सहानुभूति और सद्व्यवहार—सबका स्रोत एक है। सरलता महात्माओंका गुण है, सहानुभूति कवियोंका और सद्व्यवहार तत्त्वज्ञानियोंका। वास्तवमें तीनों गुण एक ही तत्त्वके भिन्न-भिन्न नाम हैं।

मनुष्य चतुर बनकर कुछ भी स्थायी लाभ प्राप्त नहीं कर पाता। चतुर मनुष्य सांसारिक व्यवहारमें कुशल होता है, किन्तु वह आत्मज्ञानसे वञ्चित रहता है। इस प्रकारके मनुष्यसे उसके आस-पास रहनेवाले लोग भयातुर अवश्य रहते हैं, किन्तु वह प्रेमका पात्र नहीं हो पाता। ऐसे मनुष्यके हृदयमें किञ्चिन्मात्र भी आनन्द नहीं रहता। वह जहाँ जाता है वहीं अपने आस-पासके व्यक्तियोंमें शङ्का, भय और चिन्ताका संसार निर्माण कर देता है। जिस तरह बालक अपनी सरलतासे आसपासके लोगोंको सन्तुष्ट करता है, जिस प्रकार एक-एक खिला हुआ फूल देखनेवालोंके मनको खिला देता है, उसी प्रकार सरल स्वभाववाला आदमी सदा अपने-आप प्रसन्न रहता है और उस प्रसन्नताका दान दूसरोंको भी दिया करता है। इसके विपरीत चतुर मनुष्य दूसरे लोगोंको चतुर बनाता है और इस तरह उनके हृदयको सङ्कुचित और कपटसे कलुषित कर देता है। अंगरेजीमें एक कहावत है—'स्वास्थ्य उतना ही सङ्क्रामक है, जितनी कि बीमारी।' बीमार आदमी सबमें बीमारी फैलाता है और स्वस्थ मनुष्य स्वास्थ्य। इसी तरह जिस मनुष्यका जीवन संसारमय है, वह अपने सम्पर्कसे दूसरोंको संसारी बनाता है और जिसका जीवन परमार्थमें लगा हुआ है, वह दूसरोंके मनमें भी परमार्थकी भावनाको दृढ़ करता है।

संतोंके जीवनसे—

(संकलित)

मनका भुलावा

एक संत कहीं जा रहे थे। गाँव बहुत दूर था। बड़ी भूख लगी! मनने कहा—'प्रभुसे माँग लो।' संतने जवाब दिया—'विश्वासी मनुष्यका यह काम नहीं है।' जब मनकी यह कुचाल विफल हो गयी तब उसने दूसरी तरहसे जाल बिछाना शुरू किया; मनने कहा—'अच्छी बात है तुम खानेको मत माँगो। परन्तु भूखके मारे धीरजको कबतक रख सकोगे? इसलिये धीरज तो माँग लो।' संतने कहा—'ठीक है। धीरज माँगनेमें हर्ज नहीं है।' इतनेहीमें उन्हें अपने अंदर भगवान्‌की यह दिव्य वाणी सुनायी दी। 'देख! धीरजका समुद्र मैं सदा तेरे साथ ही हूँ न? तू माँगकर अपने विश्वासको क्यों खो रहा है? क्या मैं बिना माँगे नहीं देता? भक्तके योगक्षेमका सारा भार उठानेकी तो मैंने घोषणा ही कर रक्खी है।'

संतका समाधान हो गया। उन्होंने कहा—'सच है! मैं मनके भुलावेमें आ गया था। भूला था प्रभो! भूला था!'

वर्णाश्रम-विवेक

(लेखक—श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्री १०८ स्वामी श्रीशङ्करतीर्थजी महाराज)

नमः सत्याय धर्माय भवसागरसेतवे।
चैतन्यज्योतिषे तुभ्यं सर्वकल्याणहेतवे॥

हे गुरो! तुम्हीं सत्य हो, तुम्हीं धर्म हो, तुम्हीं चैतन्य हो, तुम्हीं ज्योति हो, भवसागर पार करनेके लिये तुम्हीं सेतु हो, सर्वकल्याणके हेतु भी तुम्हीं हो। तुम्हें नमस्कार है।

श्रीकृष्ण भगवान्ने गीतामें कहा है—'सिद्धानां कपिलो मुनिः।' (१०। २६) 'सिद्धानां जन्मनैव धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्यातिशयं प्राप्तानां कपिलो मुनिः।' (शाङ्करभाष्य) 'सिद्धानां जन्मनैव विना प्रयत्नं धर्मज्ञान-वैराग्यैश्वर्यातिशयं प्राप्तानामधिगतपरमार्थानां मध्ये कपिलो मुनिरहम्।' (मधुसूदनी व्याख्या) कैवल्यमोक्षमें, आत्मतत्त्वमें, सिद्धपुरुषोंमें—अर्थात् जन्मसे ही आत्म-तत्त्वके ज्ञाताओंमें मैं आदि विद्वान् परमर्षि कपिल मुनि हूँ—जन्मसे ही स्वभावतः आत्मदर्शनमें निरतचित्त—आत्मतत्त्वमें मननशील कपिलके रूपमें मेरी ही विभूति है। मैं ही विशेषरूपसे प्रकाशित हूँ। इन भगवान् कपिलने ध्यानावस्थित होकर भूत, वर्तमान और भविष्यके सम्यक् ज्ञानसे अवगत होकर सब जीवोंके कल्याणके लिये एक अपूर्व दर्शनकी रचना की है, जिसका नाम है 'सांख्य-दर्शन'। यह जगत्का परम प्राचीन दर्शन-शास्त्र है। इसमें उन्होंने कहा है—'साम्यवैषम्याभ्यां कार्यद्वयम्।' (सांख्यदर्शन ६। ४२) 'साम्यात्प्रकृतेः सदृशपरिणामात्प्रलयः। वैषम्यात्प्रकृतेर्महदादिभावेन विसदृशपरिणामात्सृष्टिः।' (अनिरुद्धकृतसांख्यसूत्र-वृत्तिः) सत्त्व, रज और तम, इस त्रिगुणात्मिका प्रकृतिके साम्य अर्थात् सदृश परिणामसे प्रलय, तथा इसके महदादि भावमें विसदृश परिणामसे सृष्टि होती है। साम्यभाव—एकाकार लयका, ध्वंसका कारण है, तथा वैषम्य जातिभेद, सृष्टिका कारण है। अतएव यह समझना चाहिये कि सृष्टि या जन्मके साथ-साथ ही उत्पन्न व्यक्तिका जातिधर्म भी निर्दिष्ट हो जाता है। अतएव वर्णभेद जन्मगत है।*

सृष्टि भेदमूलक है। अभेद अवस्थामें भेद न रहनेपर सृष्टि कहाँ और किस प्रकार सम्भव हो सकती है? ब्रह्माण्डके अधिपति परमात्माने जिस दिन सृष्टिरचनाका सङ्कल्प किया था, उसी दिनसे भेदसृष्टि हुई है। जिस दिन भेद मिट जायगा, उस दिन सृष्टिका भी अन्त हो जायगा। जबतक सृष्टि रहेगी, तबतक भेदका रहना प्राकृतिक नियम है। भेद ही जगत्का जगत्त्व है।

सबसे पहले पञ्चमहाभूतोंकी सृष्टि हुई। वेद कहते हैं—'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी।' (तैत्तिरीयोपनिषद् २। १। १) अर्थात् उस आत्म-स्वरूप ब्रह्मसे सर्वप्रथम शब्दगुणात्मक आकाश उत्पन्न हुआ; आकाशसे शब्द-स्पर्श-गुणसम्पन्न वायु; वायुसे शब्द, स्पर्श और रूप, इन तीन गुणोंसे युक्त तेज (अग्नि); अग्निसे शब्द, स्पर्श, रूप, रस—इन चार गुणोंसे युक्त जल; तथा जलसे शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—इन पञ्च गुणोंसे विशिष्ट पृथिवी उत्पन्न हुई।†

अथर्ववेदीय मुण्डकोपनिषद्में लिखा है—

* सृष्टिके सम्बन्धमें हर्बर्ट स्पेन्सर कहते हैं—

"Evolution is an integration of matter and concomitant dissipation of motion; during which the matter passes from an indefinite, incoherent, homogeneity to a definite, coherent heterogeneity."
—First Principles, Page 396.

† ज्ञानसंकलिनी तन्त्रमें आया है—

आकाशाज्जायते वायुः वायोरुत्पद्यते रविः।
रवेरुत्पद्यते तोयं तोयादुत्पद्यते मही॥

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च
यथा पृथिव्यामोषधयः संभवन्ति ।
यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि
तथाक्षरात्सम्भवतीह विश्वम् ॥
(१।१।७)

इस श्रुतिका तात्पर्य यही है कि मकड़ी जिस प्रकार विना किसी दूसरी वस्तुकी सहायता लिये स्वयं ही तन्तुओंकी सृष्टि करती है, और फिर उन्हें अपने भीतर समेट लेती है, पृथिवीसे विना किसी दूसरेकी सहायताके जिस प्रकार ओषधियाँ स्वयं ही प्रादुर्भूत होती हैं, तथा जीवित शरीरसे जिस प्रकार केश और लोम स्वयं ही उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार अक्षर, अच्युत ब्रह्मसे यह दृश्यमान सकल जगत्-प्रपञ्च प्रादुर्भूत होता है । यहाँ अनायास अर्थ-प्रतीतिके लिये बहुत-से उदाहरणोंकी अवतारणा की गयी है ।

यहाँ 'अक्षर ब्रह्म' का सम्यक् परिचय प्राप्त हुए विना विषयके समझनेमें कुछ असुविधा हो सकती है । इसलिये अत्यन्त संक्षेपमें इसका उल्लेख किया जाता है । श्रीमद्भगवद्गीतामें लिखा है—

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥
(१५ । १६)

अर्थात् क्षर और अक्षर नामके दो पुरुष इस लोकमें प्रसिद्ध हैं । इनमें ब्रह्मासे लेकर स्थावरपर्यन्त शरीरधारी भूतवर्ग क्षर पुरुष हैं, और कूटस्थ ही अक्षर पुरुष कहलाता है । 'कूट' शब्दके अनेक अर्थ हैं । लोहार जिस लौहखण्डके ऊपर लोहा रखकर पीटता है, उसे 'कूट' कहते हैं । सूखे हुए वृक्ष आदिका नाम भी 'कूट' है, पर्वतादिका नाम 'कूट' है । असलमें—यह सब पदार्थ निर्विकाररूपमें अवस्थित होनेके कारण कूट कहलाते हैं । "कूटवत् निर्विकारेण स्थितः कूटस्थ उच्यते ।" (पञ्चदशी) । इसी निर्विकार अक्षर पुरुषसे यह दृश्यमान जगत् उत्पन्न हुआ है । कैसे उत्पन्न हुआ है ? यथा—

तपसा चीयते ब्रह्म ततोऽन्नमभिजायते ।
अन्नात्प्राणो मनः सत्यं लोकाः कर्मसु चामृतम् ॥
(मुण्डकोप० १।१।८।)

अर्थात् अक्षर ब्रह्मसे जो जगत् उत्पन्न होता है, वह क्रमशः उत्पन्न होता है, एक साथ नहीं । इसलिये वह क्रम प्रदर्शित किया जाता है । तपस्या अर्थात् उत्पादन-उपयोगी ज्ञानके द्वारा सर्वज्ञानस्वरूप अक्षर ब्रह्म उपचयको प्राप्त होता है—सृष्टि करनेके लिये उन्मुख होता है । उसी उपचित ब्रह्मसे अन्न अर्थात् जीवका उपभोग्य अव्याकृत प्रकृति उत्पन्न होती है । अन्न अर्थात् अव्यक्त प्रकृतिसे प्राण अर्थात् विशेष ज्ञान और क्रियाशक्तिका आश्रय हिरण्यगर्भ, उससे मन (अन्तःकरण), उससे सत्य अर्थात् आपेक्षिक सत्यरूप आकाशादि सूक्ष्म पञ्चभूत अर्थात् पञ्चतन्मात्र, और उससे पृथिव्यादि लोकसमूह, लोकोंसे मनुष्यादि प्राणियोंके सदसद् विविध कर्म, तथा शुभाशुभ कर्मोंसे फिर दीर्घकालतक रहनेवाले कर्मफल उत्पन्न होते हैं । इस बातको कुछ और विस्तारपूर्वक कहा जाता है ।

भूतयोनि ब्रह्म, तपस्या अर्थात् उत्पत्तिविषयक ज्ञानके द्वारा उपचित होते हैं । मानो आनन्दमें वृद्धिको प्राप्त होते हैं, अङ्कुरसदृश इस जगत्को उत्पन्न करनेके लिये उक्त बीज भी मानो स्फीत होता है (फूल जाता है), जैसे समुद्रमें ज्वारका जल उच्छ्वासके द्वारा स्फीत होता है । इस प्रकार सर्वज्ञतासे युक्त सृष्टि, स्थिति और संहारविषयक शक्ति और ज्ञानमें सम्यक् रूपसे उपचित उस ब्रह्मसे 'अन्न' (जो भोग किया जाता है वही 'अन्न' संसारी जीवोंका साधारण अव्याकृत प्रधान ही वह 'अन्न' है); उस अन्नसे प्राण अर्थात् हिरण्यगर्भ जन्म ग्रहण करते हैं । यह प्राण ही समस्त जगत्के ज्ञान और क्रियाशक्तिका अधिष्ठाता है, अविद्या, कामना और तदनुगत कर्मसमष्टिरूपी बीजका अङ्कुर है, तथा जगत्की आत्मा है । उस प्राणसे

सङ्कल्प-विकल्प, संशय, निर्णय आदि स्वभावसे युक्त 'मन' नामक अन्तःकरण उत्पन्न होता है। उस सङ्कल्पादि स्वभाववाले मनसे 'सत्य' नामक आकाशादि सूक्ष्म पञ्चभूत तथा सूक्ष्म पञ्चभूतोंसे समस्त ब्रह्माण्ड—क्रमशः पृथिवी आदि लोकोंकी सृष्टि होती है। इन समस्त लोकोंमें देवता-मनुष्य आदि प्राणियोंके वर्ण और आश्रमके अनुसार नाना प्रकारके कर्म, तथा इन कर्मोंके अधीन शुभाशुभ कर्मफलोंकी उत्पत्ति होती है। जबतक कर्म नष्ट नहीं हो जाते, तबतक उनका फल भी नष्ट नहीं होता। अर्थात् जबतक कर्म रहता है, तबतक उसका फल भी अक्षुण्ण रहता है। इसी कारण कर्मफलको 'अमृत' कहा गया है।

पञ्चमहाभूतोंके बाद नाना प्रकारके वृक्ष, वृक्षोंके बाद नाना प्रकारके पक्षी, पक्षीके बाद अनेक जातिके पशुओंकी सृष्टि हुई। पशु-सृष्टिके बाद परमात्माने विद्याधर, अप्सरा, यक्ष, राक्षस, गन्धर्व, किन्नर आदि विभिन्न देवजातियोंको उत्पन्न किया। यथा—

विद्याधराप्सरोयक्षरक्षोगन्धर्वकिंनराः ।
पिशाचो गुह्यकः सिद्धो भूतोऽमी देवयोनयः ॥

सबके अन्तमें परमात्माने मनुष्यजातिकी रचना की। पूर्वोक्त विविध प्रकारकी जातियोंके समान मनुष्योंमें भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रका भेद उत्पन्न किया। इस विषयमें वेद भगवान् कहते हैं—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥
(ऋग्वेद ८।१०।९० तथा शुक्ल यजुर्वेद ३१।११)

अर्थात् विराट् पुरुषके मुखसे ब्राह्मण, बाहुओंसे क्षत्रिय, ऊरूसे वैश्य तथा चरणोंसे शूद्र उत्पन्न हुए। ये चारों वर्ण समाजशरीरके विभिन्न अवयवविशेष हैं, यन्त्रविशेष हैं। सभी विराट् पुरुषसे उत्पन्न हुए हैं। विभिन्न कर्मोंके लिये विभिन्न सत्त्वादि गुणोंकी प्रधानताके साथ विभिन्न वर्णोंके रूपमें परमात्मा ही प्रकाशित होते हैं। यह पुरुषसूक्तका ग्यारहवाँ मन्त्र है। अथर्ववेद-संहितामें भी यह मन्त्र कुछ भिन्नताके साथ आता है—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्योऽभवत्।
मध्यं तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत ॥

इस पुरुषसूक्तका भाव यही है कि विराट् पुरुष स्वयं ही पहले सत्त्वगुणकी अधिकतासे, तथा शम, दम, तपस्यादिकी प्रवृत्तिसे ब्राह्मणके रूपमें प्रकाशित होते हैं; उसके बाद सत्त्वगुणकी अप्रधानता तथा रजोगुणकी प्रधानतासे शौर्य, तेज आदि गुणोंसे युक्त क्षत्रियरूपमें प्रकाशित होते हैं। उसके बाद तमोगुणकी अप्रधानता तथा रजोगुणकी अधिकतासे कृषि, वाणिज्य आदि प्रवृत्तिसे युक्त वैश्यरूपमें प्रकाशित होते हैं, तथा अन्तमें रजोगुणकी अप्रधानता और तमोगुणकी प्रधानतासे शुश्रूषा प्रवृत्तिसे युक्त शूद्रवर्णके रूपमें प्रकाशित होते हैं।

भगवान् मनु भी श्रुतिका अनुवाद करते हुए कहते हैं—

लोकानां तु विवृद्ध्यर्थं मुखबाहूरुपादतः।
ब्राह्मणं क्षत्रियं वैश्यं शूद्रं च निरवर्तयत् ॥
(मनुसंहिता १। ३१)

अर्थात् पृथिवी आदि सब लोकोंकी सम्यक्‌रूपसे वृद्धिके लिये श्रीभगवान् अपने मुख, बाहु, ऊरु और पाददेशसे क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चार वर्णोंको उत्पन्न करते हैं।

महाभारत अनुशासनपर्व ४८ वें अध्यायके तीसरे श्लोकमें कहा गया है कि—

चातुर्वर्ण्यस्य कर्माणि चातुर्वर्ण्यं च केवलम्।
असृजत् स हि यज्ञार्थे पूर्वमेव प्रजापतिः ॥

अर्थात् भीष्मजी कहते हैं कि हे वत्स! भगवान् प्रजापतिने पहले यज्ञके निमित्त ब्राह्मणादि चार वर्णोंकी सृष्टि करके उनके कार्योंका निर्देश किया। (कालीप्रसन्नसिंहकृत अनुवाद)

शतपथब्राह्मण और बृहदारण्यक उपनिषद् (प्रथम अध्यायके चतुर्थ ब्राह्मण) में कहा गया है—

ब्रह्म वा इदमग्र आसीदेकमेव, तदेकं सन्न व्यभवत्। तच्छ्रेयो रूपमत्यसृजत क्षत्रं यान्येतानि देवत्रा क्षत्राणीन्द्रो वरुणः सोमो रुद्रः पर्जन्यो यमो मृत्युरीशान इति। (मन्त्र ११)

सृष्टिके पूर्व-जगत्के जगत्‌रूपमें व्याकृत होनेके पहले केवल एक ब्रह्म ही था। उस समय एक वर्ण (जात्यादिसे रहित निर्विशेष अवस्थामें) था (एकमात्र ब्रह्म ही ब्राह्मणरूपमें विद्यमान था)। परन्तु ब्राह्मण जात्यभिमानी एक ब्रह्मासे सृष्टि, स्थिति आदि विश्वके समस्त कार्योंका निर्वाह नहीं हो सकता। एक ब्रह्मा सृष्टि, स्थिति आदि निखिल कार्योंको सम्पादन करनेमें पर्याप्त समर्थ नहीं हैं। इसी कारण कर्म करनेकी इच्छासे परमात्मा प्रशस्तरूपमें क्षत्रिय-भावसे युक्त हुए। इन्द्र, वरुण, सोम, रुद्र, पर्जन्य, यम, मृत्यु और ईशान-रूपमें व्यक्त हुए। इन्द्रादि देवगण क्षत्रिय जातिके देवता हैं। (ब्रह्मीभूत स्वामीपाद योगत्रयानन्द सरस्वतीकृत अनुवाद)

स नैव व्यभवत्, स विशमसृजत-यान्येतानि देवजातानि गणश आख्यायन्ते-वसवो रुद्रा आदित्या विश्वेदेवा मरुत इति। (मन्त्र १२)

केवल ब्राह्मण और क्षत्रिय देवताके द्वारा भी सब कार्य नहीं चल सकते, धन अर्जन करनेवाले देवताकी भी आवश्यकता है। इसी कारण धन अर्जन करनेमें पटु वैश्यजातिकी सृष्टि हुई। व्यवसाय-वाणिज्य अकेले-अकेले नहीं होता। इसी कारण प्रायः वैश्यलोग झुंड-के-झुंड मिल-जुलकर कार्य करते हैं।

'प्रायेण संहता हि वित्तोपार्जने समर्था नैकैकशः।' (शाङ्करभाष्य)

अष्ट वसु, एकादश रुद्र, द्वादश आदित्य, त्रयोदश विश्वेदेव तथा उनचास मरुत् अर्थात् वायु इत्यादि-गण देवता सभी वैश्य हैं।

'स नैव व्यभवत्, स शौद्रं वर्णमसृजत पूषणमियं वै पूषेयं हीदं सर्वं पुष्यति यदिदं किञ्च।' (मन्त्र १३)

किन्तु इससे भी पूर्ण न हुआ, परिचारकके बिना वह फिर भी असमर्थ ही रह गये। इसी कारण शूद्र-वर्णकी सृष्टि हुई। तमोगुणबहुल पृथिवी शूद्रदेवता है। यह पृथ्वी ही पूषानामसे प्रसिद्ध है। क्योंकि जो कुछ देखनेमें आता है, सबका पोषण यही करती है।'

स नैव व्यभवत् तच्छ्रेयोरूपमत्यसृजत धर्मम्। (मन्त्र १४)

ब्राह्मणादि चारों वर्णोंकी सृष्टि करके भी विश्वस्रष्टाके मनमें आया कि अभी सृष्टिके कार्यकी अत्यन्त निष्पत्ति नहीं हुई। सृष्टिके कार्यमें फिर भी अपूर्णता रह ही गयी, यह बात उनकी समझमें आयी। क्षत्रियवर्णको जगत्का शासनकर्त्ता बनाया अवश्य, परन्तु क्षत्रिय किन नियमोंके अनुसार शासन करेंगे, यह निश्चित नहीं हुआ। और इसके बिना शासनकार्यका सुचारुरूपसे चलना असम्भव था, ऐसा विचारकर परमेश्वरने धर्मको सर्वोपरि नियामक बना दिया। सभीको अपने-अपने धर्मके अनुसार कार्य करना पड़ेगा, सभीको धर्मके शासनके अनुसार चलना पड़ेगा। किस प्रकारके कर्म धर्म हैं, किस प्रकारका आचरण करनेसे अपने-अपने धर्मके अनुसार कार्य किया जा सकता है। इसका निर्णय कैसे किया जायगा ? परमेश्वरसे निःश्वासके समान सहज ही आविर्भूत वेद ही धर्माधर्मका निर्णय कर सकते हैं। वेद ही धर्माधर्मके व्यवस्थापक हैं। वेदोंकी आज्ञाका उल्लङ्घन करके कर्म करनेसे अधर्म होगा, सत्य विद्याप्रकाशक, सत्यविद्यामय, निखिल ज्ञान-विज्ञानके जन्मदाता वेद ही धर्माधर्मके निर्णयके कारण हैं। वेदने ब्राह्मणको जिस प्रकारके कर्मोंके करनेका आदेश किया है, ब्राह्मणके लिये वही ब्राह्मणोचित कर्म है, अन्य वर्णोंके लिये भी ऐसा ही समझना चाहिये।

"तदेतद्ब्रह्म क्षत्रं विट् शूद्रस्तदग्निनैव देवेषु ब्रह्माभवद् ब्राह्मणो मनुष्येषु क्षत्रियेण क्षत्रियो वैश्येन

वैश्यः शूद्रेण शूद्रस्तस्मादग्नावेव देवेषु लोकमिच्छन्ते, ब्राह्मणे मनुष्येष्वेताभ्यां हि रूपाभ्यां ब्रह्माभवत् ।"

(मन्त्र १५)

इस मन्त्रके भाष्यमें भगवान् श्रीशङ्कराचार्य कहते हैं—'इस प्रकार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चारों वर्ण उत्पन्न हुए। वह (ब्रह्मा) देवताओंमें अग्निके रूपमें ही ब्राह्मणवर्ण बने, मनुष्योंमें ब्राह्मणके रूपमें ही ब्राह्मण हुए। अन्य वर्णोंमें रूपान्तरका अवलम्बन करके प्रकट हुए ।'

इसका तात्पर्य यही है कि ब्रह्म, देवताओंमें पहले अग्निरूपमें ब्राह्मण होकर प्रकट होते हैं, उसके पश्चात् उसी अग्निरूपमें रहते हुए ही दैवने क्षत्रिय-वैश्य आदिकी सृष्टि की। फिर मनुष्योंके बीच वह पहले ब्राह्मणके रूपमें प्रकटित हुए। अन्तमें उन्होंने ब्राह्मणके रूपमें रहते हुए ही मानवीय क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रकी सृष्टि की।

अतएव ब्राह्मण-क्षत्रिय आदिका जातिभेद सृष्टिके समसामयिक है। जातिभेदके बिना सृष्टि नहीं होती। जातिभेद होनेपर ही सृष्टि होती है, जबतक सृष्टि रहेगी, तबतक जातिभेदका रहना प्राकृतिक नियम है। जातिभेदके बिना जगत् नहीं चल सकता। साम्यभाव, एकाकार (Equilibration) लयावस्था, ध्वंसके कारण हैं।

भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा है—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।

(गीता ४ । १३)

सत्त्व, रज और तम—इन गुणों या त्रिविध शक्तियों,* और ब्राह्मणादि वर्णोचित शम-दमादि अनादि कर्मोंके विभागके अनुसार मेरे (सर्वेश्वर सर्वज्ञ श्रीकृष्णके) द्वारा ब्राह्मणादि चतुर्वर्णोंकी सृष्टि हुई है।

* 'गुण' शब्द यहाँ Attribute नहीं है।

ब्राह्मणादि चारों वर्णोंके अनुष्ठेय कर्मोंका निरूपण करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण दूसरी जगह कहते हैं—

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परन्तप ।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥

(गीता १८ । ४१)

ब्राह्मणादि चतुर्वर्णोंके पृथक्-पृथक् रूपमें निर्दिष्ट कर्म प्राकृतिक सत्त्व, रज, तम—इन तीनों गुणोंके द्वारा अथवा पूर्वजन्मकृत कर्मोंके संस्कारसे प्रादुर्भूत सात्त्विकादि गुणोंके अनुसार पृथक्-पृथक् रूपमें विहित हुए हैं।

'स्वभाव ईश्वरस्य प्रकृतिः, त्रिगुणात्मिका माया, स प्रभवो येषां गुणानां ते स्वभावप्रभवास्तैः। अथवा जन्मान्तरकृतसंस्कारः प्राणिनां वर्तमानजन्मनि स्वकार्याभिमुखत्वेन अभिव्यक्तः स्वभावः स प्रभवो येषां गुणानां ते स्वभावप्रभवगुणाः ।'

(शाङ्करभाष्य)

सूर्यसिद्धान्तनामक ज्योतिषके ग्रन्थमें लिखा है—

गुणकर्मविभागेन सृष्ट्वा प्राग्वदनुक्रमात् ।
विभागं कल्पयामास यथास्वं वेददर्शनात् ॥

विधाताने सत्त्वादि गुण तथा पूर्वजन्मार्जित सदसत्कर्म इन दोनोंको एक करनेवाले विभागके द्वारा पूर्व सृष्टिके क्रमके अनुसार चराचर जगत्की सृष्टि करके वेदोंके अनुसार देश और कालकी दृष्टिसे सृष्ट पदार्थोंकी पृथक्-पृथक् स्थितिका विधान किया।

(क्रमशः)

कल्याण

तुम्हारे पतन और विनाशका कारण है—विषय-चिन्तन; और उत्थान तथा अमरपदकी प्राप्तिका कारण है—भगवच्चिन्तन। जबतक मन केवल विषयोंका ही स्मरण करता है, तबतक पाप-तापसे कभी छुटकारा नहीं मिल सकता। तुम यदि असलमें पाप-तापसे छूटकर अपने जीवनको पुण्यमय, शान्तिमय, ऊँची स्थितिके भगवद्भावसे युक्त बनाना चाहते हो तो भगवान्का स्मरण करो।

याद रक्खो—जो मन भगवान्के स्मरणसे भरा है—उस मनसे किसी भी कर्मके लिये जो प्रेरणा होती है वह विशुद्ध होती है और उसके अनुसार होनेवाला काम चाहे देखनेमें बहुत ऊँचा न भी मालूम हो तो भी वह होता है परम पवित्र और भगवान्की पूजा-स्वरूप! युद्ध-जैसा कर्म भी भगवत्प्राप्तिमें हेतु होता है यदि वह भगवान्के स्मरणसे युक्त हो। इसीसे तो भगवान्ने अर्जुनसे कहा है—'तुम सदा-सर्वदा मेरा स्मरण करते हुए युद्ध करो।'

भगवान्का स्मरण होते-होते जब भगवान्में ऐसा आकर्षण हो जायगा जैसा विषयोंमें विषयी पुरुषोंका और कामिनियोंमें कामियोंका होता है, तब स्मरण अपने-आप ही होगा, और तभी उस स्मरणमें आनन्दका अनुभव होगा। जबतक वैसा नहीं होता तबतक भगवान्के गुण, प्रभाव, लीला, नाम आदिको सुन-सुनकर उनमें मन लगाते रहो।

याद रक्खो—अभी तुम्हारी चित्तवृत्ति व्यभिचारिणी हो रही है; क्योंकि उसने भोगोंको ही आनन्द देनेवाला मान रक्खा है और रात-दिन वह उन्हींके साथ रमण कर रही है। भगवान्को छोड़कर जो भोगोंके प्रति आकर्षण है, यही तो मनका व्यभिचार है। इसीसे तो वह भगवान्के प्रति खिंचता नहीं है। मन भगवान्की ओर जाय, इसके लिये लगातार चेष्टा करते रहो। भगवान्के गुण सुनो, उनके नामोंका कीर्तन करो, सब कामोंमें भगवान्का हाथ देखो, उनकी मङ्गलमयी मूर्तिका ध्यान करो, उनके भक्तोंका सङ्ग करो और उनके माहात्म्यको प्रकट करनेवाले ग्रन्थोंको बार-बार—बार-बार पढ़ो।

अपने मनको देखते रहो वह कितनी देर भोगोंका चिन्तन करता है और कितनी देर भगवान्का? सावधान! मन बड़ा धोखा देगा। तुम समझोगे, हमने उसे भगवान्के चिन्तनमें लगा रक्खा है और वह छिपकर ऐसा भागेगा और इस प्रकार भोगोंमें रम जायगा कि तुम्हें पता भी नहीं लगेगा। बार-बार देखते रहो। जितना ही अधिक मनकी ओर देखोगे, उतना ही वह जल्दी वशमें होगा। ज्यों-ज्यों वह भागे त्यों-ही-त्यों उसे खींच-खींचकर भगवान्में लगाओ। उसके सामने भगवान्के सौन्दर्य, माधुर्य, ऐश्वर्य, आनन्द, शान्ति और कल्याणमय मङ्गल स्वरूपको बार-बार रक्खो। बार-बार उसे लुभानेकी चेष्टा करो—भगवान्के मनोहर रूपसे। सचमुच विषय तो भयङ्कर हैं, ऊपरसे ही सुन्दर लगते हैं। अज्ञान शत्रुने उनको विष मिले हुए लड्डूकी तरह सुन्दर और स्वादिष्ट बना रक्खा है, परन्तु भगवान् तो नित्य सुन्दर और नित्य मधुर हैं। मन एक बार उनकी झाँकी कर लेगा, उनकी सौन्दर्य-सुधाका स्वाद चख लेगा तो फिर वहाँसे सहजमें हटेगा नहीं। जिस दिन भगवान् माशूक बन जायँगे तुम्हारे मन आशिकके—उस दिन सब कुछ आप ही ठीक हो जायगा। चेष्टा करो और भगवान्की कृपापर विश्वास करके अपनेको बार-बार उनके स्वरूप-समुद्रमें डुबा देनेका प्रयत्न करो। भगवत्कृपासे तुम सफल होओगे।

—'शिव'

प्रेम और समता

(श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके व्याख्यानसे)

जिससे प्रेम बढ़ाना हो, स्वार्थ और अहङ्कारको त्याग कर उसके हितके कार्योंमें लग जाना ही प्रेम-वृद्धिका सर्वोत्तम उपाय है। जैसे मनुष्य अपने हितके लिये सदा सोचता रहता है, वैसे ही जिससे प्रेम करनेकी इच्छा हो उसके हितका विचार भी सदा करते रहना चाहिये।

प्रेममें स्वार्थकी गन्ध भी नहीं होनी चाहिये। जहाँ स्वार्थका भाव आया, वहीं प्रेमका टूटना प्रारम्भ हुआ। वास्तवमें स्वार्थ और अहङ्कार—ये दोनों ही प्रेम-मार्गमें बड़े बाधक हैं। मान लीजिये हमने किसीके हितका काम किया और फिर यह कह दिया कि 'इसके हित-साधनमें मेरा कोई भी स्वार्थ नहीं है।' बस, इस अहङ्कारके उत्पन्न होते ही प्रेमकी वीणाके तार छिन्न-भिन्न होने लगते हैं। आप सेवा करके किसीको रोगादि सङ्कटोंसे बचाते हैं—द्रव्यादिके द्वारा किसीकी विपत्तिका निवारण करते हैं। ये सभी हितपूर्ण कार्य प्रेमकी वृद्धिमें परम सहायक हैं, किन्तु आप इन सेवाओंको यदि किसीके सामने प्रकट कर देते हैं तो सब किया-कराया मिट्टी हो जाता है। इसलिये किसीकी सेवा या उपकार करके उसे कहना नहीं चाहिये; क्योंकि अपने उपकारोंको प्रकट करनेसे अभिमानकी वृद्धि होती है और अभिमानको कोई भी सहन नहीं कर सकता। मनुष्य स्वयं चाहे अहङ्कारका कितना ही शिकार बना रहे, किन्तु वह दूसरेके अहङ्कारको नहीं सह सकता।

जरा-सी खटाई पड़ जानेपर जिस प्रकार दूध एक-दम फट जाता है, उसी प्रकार उत्तम सेवारूप दूधमें अहङ्कारपूर्ण वचनकी खटाईके पड़ जानेपर वह सारी सेवा व्यर्थ हो जाती है। जब कि सेवा और हित-साधनके कार्य ही प्रेमके आधार हैं तो उनके व्यर्थ हो जानेपर प्रेम टिक ही कैसे सकता है? इसलिये प्रेमको बढ़ाने और उसे स्थिर बनाये रखनेके लिये निःस्वार्थ और निरभिमान होकर सबके हितमें रत रहना चाहिये।

हम लोगोंमें स्वार्थ और अहङ्कारकी भावनाएँ बद्ध-मूल हो रही हैं। वास्तवमें ये स्वार्थ और परमार्थ दोनों-हीके लिये बाधक हैं। मान लीजिये, हमने अपने किसी कष्टमें पड़े हुए मित्रको आर्थिक सहायता देकर कष्टसे बचाया और अब फिर किसी दूसरे अवसरपर किसी सज्जनके सामने अपनी इस सेवाका बखान कर दिया। संयोगवश इन सज्जनके द्वारा यह बात उस दुःखित मित्रके पास पहुँचा दी गयी। इसका परिणाम क्या होगा? यही कि सेवा करनेवाले मित्रके प्रति दुःखित मित्रका विश्वास उठ जायगा और उसे इस बातका पश्चात्ताप होगा कि 'मैंने उस मौकेपर इसकी सहायता लेकर बड़ा ही बुरा काम किया।' वह अपने मनमें बार-बार यही सङ्कल्प करके दुःखित होता रहेगा कि 'मुझे यदि यह पता होता कि वह मेरी सहायताकी चर्चा दूसरोंके सामने करके मेरे आत्म-सम्मानपर इस प्रकार आघात पहुँचायेगा तो मैं उसकी सहायताको कभी स्वीकार ही न करता।'

इस तरह हम अपने एक प्रेमी मित्रकी सद्भावनाओंसे हाथ धोकर स्वार्थदृष्टिसे अपना बड़ा भारी अहित कर बैठते हैं। इसी प्रकार अपनी सेवाओं और सत्कार्योंको अपने मुखसे गिना देनेपर हम पारमार्थिक लाभसे भी वञ्चित हो जाते हैं। शास्त्रकारोंका तो यहाँतक कहना है कि अपने उत्तम कर्मोंको गिना देनेसे वे कर्म सर्वथा व्यर्थ हो जाते हैं। राजा त्रिशंकूने अपने मुँहसे अपने कर्मोंकी प्रशंसा की थी इससे वे स्वर्गसे च्युत हो गये थे। इसलिये हमलोग जो भी भजन, ध्यान, सेवा और परोपकारादि उत्तम कर्म करें, उनका बखान अपने मुँहसे हमें कभी नहीं करना चाहिये। पूछे जानेपर भी इस सम्बन्धमें मौन रहना अथवा उस

प्रसङ्गको टाल देना ही श्रेयस्कर है। स्त्रियोंमें प्रायः यह दोष अधिकरूपसे देखा जाता है। वे सेवा आदि उत्तम कामोंको अधिकतर गुप्त नहीं रख सकतीं। पुरुष भी प्रेमको तोड़नेवाली इस बुरी आदतके कम शिकार नहीं हैं। इसलिये हम सभीको इस बातका विशेष प्रयत्न करना चाहिये कि किसीके प्रति किया हुआ उपकार किसीके भी सामने प्रकट न किया जाय। जिसका उपकार किया जाता है वह तो उस उपकारको जानता ही है, फिर दूसरोंके सामने यदि उसे प्रकट किया जाता है तो उसमें मान-बड़ाईकी प्राप्तिका भाव ही छिपा हुआ समझना चाहिये। अन्यथा डिंडिम-घोष करनेसे लाभ ही क्या है ? किन्तु, हाँ, यदि किसीके प्रति किये हुए हितको जनाने और कहनेसे उस उपकृत व्यक्तिका लाभ होता हो तो उसे प्रकट करना दोष नहीं है, किन्तु ऐसे स्थल बहुत ही कम प्राप्त होते हैं। मान लीजिये, किसी सज्जनको दो सौ रुपयोंकी जरूरत है। उन्होंने हमसे यह बात कही। हम उन्हें दो सौ न देकर केवल पचास ही दे सके, अब उनके शेष डेढ़ सौकी पूर्तिके उद्देश्यसे अपने द्वारा दिये हुए पचास रुपयोंका प्रसङ्ग किसीके सामने चलानेको हम यदि विवश होते हैं और इससे उन सज्जनको और रुपये मिल जाते हैं तो निश्चय ही हमारा इस बातको प्रकट करना हानिकारक न होकर लाभदायक ही है; क्योंकि ऐसा करनेसे उनको दुःख न होकर उल्टा सुख ही प्राप्त होता है और हमारा उद्देश्य भी मान-बड़ाईका न होकर केवल हितसाधनका ही है, किन्तु ऐसा करते समय भी हमें बहुत सावधान रहनेकी आवश्यकता है, स्वार्थका भाव किसी-न-किसी रूपमें आ ही जाता है। इसलिये उस समय भी अपने हृदयको अच्छी तरह टटोल लेना चाहिये कि अपने द्वारा की हुई उस सेवाके प्रकट करनेमें कहीं मान-बड़ाईकी सूक्ष्म भावना तो अंदर नहीं छिपी है ?

आजकल निष्कामभावका तो प्रायः अभाव-सा ही हो गया ! जिधर देखिये उधर ही स्वार्थका बोलबाला है। वास्तवमें स्वार्थकी भावना निष्काम प्रेमके लिये कलङ्कस्वरूप है। निष्कामभावसे किया हुआ आचरण अमृतस्वरूप माना गया है। भगवत्प्राप्तिके उद्देश्यसे यदि किसीसे भी प्रेम किया जाता है तो वह भगवान्के ही लिये समझा जाता है और यदि धन अथवा मान-बड़ाई और प्रतिष्ठा आदि सांसारिक वस्तुओंकी प्राप्तिके लिये किया जाता है तो वह उनके लिये ही है, ईश्वरके लिये नहीं।

प्रेमकी उत्पत्ति सेवासे होती है। भगवत्-प्रेमकी प्राप्ति भी सेवा और भक्तिसे ही होती है। सेवासे भी भक्तिका दर्जा ऊँचा है। सेवा तो हर किसीकी हो सकती है, किन्तु भक्ति हर किसीकी नहीं होती। भक्तिमें सेवा तो रहती ही है, पर साथमें श्रद्धा और प्रेमका भी समावेश रहता है, प्रेमका महत्त्व तो भक्तिसे भी अधिक है। प्रेम भक्तिका फल है और वह व्यापक भी है। सेवाका फल भी प्रेम ही है।

प्रेमकी प्राप्ति भक्ति और उपकारसे हो सकती है। इसलिये प्रेमके इच्छुकोंको चाहिये कि वे यथासाध्य सबके उपकार और सेवा करनेमें तत्परताके साथ लग जायँ। सेवा और उपकारमें भी अन्तर है, सेवामें तो विनयकी अधिकता और अहंकारका अभाव है, किन्तु उपकारमें अहङ्कारका समावेश भी है। दूसरेके हितसाधनमें रत रहनेवालेको स्वार्थ और अहंकारका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये। निःस्वार्थभावसे निरहंकार होकर सबकी सेवा करना ही सबके प्रेमको प्राप्त करना है। सेवक होकर यदि अपने सेवाकार्यको गिना दे, उसका अहसान कर दे तो उस सेवाकी कीमत वहीं घट जाती है—निष्कामभावमें कलङ्क लग जाता है। यदि सेवा निष्काम-भावसे की गयी तो उसे प्रकट क्यों किया गया, प्रकट करते ही वह सकाम हो जाती है। सेवा करके उसे कह देनेपर सेवाका महत्त्व तो घट ही जाता है, किन्तु

उसके साथ ही यदि यह कह दिया गया कि 'मैंने तो निष्कामभावसे सेवा की' तो उसका दर्जा और भी घट जाता है। निष्कामभाव तो हृदयमें रखने योग्य एक गोपनीय निधि है। वह ढिंढोरा पीटनेकी चीज नहीं।

हमलोगोंका प्रेम उच्च कोटिका नहीं, साधारण श्रेणीका है। जहाँ प्रेम होता है वहाँ नेम नहीं रहता। संकोच, भय और आदर आदिको प्रेमके राज्यमें कोई स्थान नहीं मिलता। मान-बड़ाई और संकोच आदिकी वहाँ गन्ध भी नहीं है। इन भावोंका जितना ही अभाव होता है उतना ही प्रेम अधिक महत्त्वका माना जाता है। प्रेम, प्रेमी और प्रेमास्पद—ये तीनों वास्तवमें एक ही हैं। प्रेमास्पद प्रेमीका जितना ही निरादर करता है उतना ही वह आनन्दित होता है। प्रेमीको चाहे कितनी खोटी-खरी सुनायी जाय, कितना ही वह तिरस्कृत हो किन्तु फिर भी प्रेमास्पदके प्रति उसके मनमें अधिकाधिक प्रेम ही बढ़ता रहता है। जिसको हम विना हिचकिचाहटके उपालम्भ दे सकें, निस्संकोच कड़ी बातें सुना सकें, वही सच्चा प्रेमी है। जिसमें प्रेमका अभाव है, वह कड़ी आलोचना या निन्दा सह नहीं सकता। मान लीजिये कि मैं किसीके सामने आपकी बुराई, आपके दोषोंकी चर्चा करूँ अथवा आपकी चीज किसीको दे दूँ या किसीके सामने आपकी जिम्मेवारी ले लूँ और आपके चित्तमें कोई विकार न हो तो समझा जाय कि आपका मुझपर प्रेम है। यदि प्रेमास्पद प्रेमीकी चीजको उसकी सम्मति लिये विना ही किसीको दे देता है तो प्रेमीके चित्तमें आनन्द होता है। वह यह कभी नहीं सोचता कि मेरे पूछे विना ही मेरी वस्तुका इस प्रकार उपयोग क्यों किया गया। प्रेमीको कठिन-से-कठिन काममें यदि प्रेमास्पद नियुक्त कर दे, यहाँतक कि उसकी सम्मतिके विना उसका बलिदान भी कर दे तो भी प्रेमी प्रसन्न ही रहता है, उसके चित्तमें इतना उल्लास होता है कि मानो उसे साक्षात् ईश्वरके दर्शन ही हो गये किन्तु ऐसा प्रेमी मिलना बहुत मुश्किल है। अस्तु—

जिन्हें प्रेम प्राप्त करना हो उन्हें दो बातोंको भूल जाना चाहिये। दूसरेके प्रति किया हुआ उपकार और दूसरेके द्वारा किया हुआ अपना अपकार। इनका संस्काररूपसे भी मनमें रहना निष्काम भावके लिये कलङ्कस्वरूप है। दो बातें कभी भुलानी नहीं चाहिये—(१) हमारे प्रति दूसरेका किया हुआ उपकार और (२) अपने द्वारा किया हुआ दूसरेका अपकार। इन बातोंको जीवनपर्यन्त याद रखना चाहिये। जो हमारा उपकार करता है उसे याद रखनेसे हमारे मनमें उसका उपकार करनेकी भावना सदा बनी रहेगी, जो हमारे कल्याणमें सहायक सिद्ध होगी। हमारे द्वारा जो अपकार बन गया है उसको याद रखनेपर हमारे मनमें पश्चात्ताप होगा। पश्चात्ताप एक प्रकारका प्रायश्चित्त है जो अन्तःकरणकी शुद्धि करके हमें कल्याण-मार्गमें अग्रसर करता है। उपकारकके प्रति जब हम कृतज्ञ बने रहेंगे तो समय पड़नेपर हम उस उपकारके ऋणसे मुक्त हो सकेंगे। अपने द्वारा किये हुए अनिष्टका चिन्तन रहनेसे पश्चात्तापरूपी प्रायश्चित्तके द्वारा हम पापसे मुक्त हो सकेंगे। इस प्रकार पाप और ऋणसे मुक्ति पाना ही मोक्षको प्राप्त करना है। बार-बार जन्म होनेमें दो ही प्रधान हेतु हैं—(१) पाप, (२) ऋण। जो निष्पाप और उऋण हैं वे मुक्त ही हैं।

यदि हमने किसीका उपकार करके वाणीसे प्रकट नहीं किया किन्तु मनमें संस्काररूपसे भी उसे रहने दिया तो भी निष्काम भावके लिये, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, कलङ्करूप ही है। इसी प्रकार दूसरेके द्वारा किये हुए अपने अपकारको भी यदि हृदयसे सर्वथा नहीं हटाया तो हमारे मनमें इस बातकी इच्छा बनी रहेगी कि उस अपकारकको किसी प्रकार दण्ड मिल जाय तो ठीक है। अतएव प्रेमकी वृद्धिके

लिये मन, वाणी और व्यवहारमें निष्काम भाव और निरहङ्कारताका होना बहुत ही आवश्यक है। जहाँ स्वार्थ और अहंकार होता है वहाँ प्रेम नहीं ठहर सकता।

व्यवहारमें समताके भावकी भी बड़ी आवश्यकता है। संसारमें वस्तुतः वही मनुष्य धन्य है जिसे समता भावकी प्राप्ति हो गयी है। इस भावको कार्यरूपमें परिणत करना ही गौरवकी बात है। मनुष्यका अपने शरीरके सभी अङ्गोंमें आत्मीयता और प्रेमका भाव समानरूपसे रहता है। सिर, हाथ-पैर आदि शरीरके किसी भी अवयवके दुःखका अनुभव मनुष्यको समान रूपसे होता है। इसी प्रकार यदि मनुष्य सबके सुख-दुःखोंका अनुभव अपने ही सुख-दुःखोंकी भाँति करने लगे तो उसे समताका भाव माना जा सकता है। भगवान् श्रीकृष्णने ज्ञान-पक्षसे यही बात गीतामें कही है—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥
(६।३२)

'हे अर्जुन! जो योगी अपनी भाँति सम्पूर्ण भूतोंमें सम देखता है और सुख अथवा दुःखको भी सबमें सम देखता है, वह योगी परम श्रेष्ठ माना गया है।'

वास्तवमें महात्मा वही है जो ब्रह्माण्डभरमें अपने आत्माको व्यापक देखता है। एक देशमें—अर्थात् केवल शरीरमें ही आत्माको सीमित समझनेवाला महात्मा नहीं—अल्पात्मा है। वह महात्माकी भाँति समस्त प्राणियोंके सुख-दुःखोंका अनुभव नहीं कर सकता। उसमें सहानुभूति और समवेदनाका बड़ा अभाव रहता है। समदर्शी महात्माओंकी स्थितिका ज्ञान-दृष्टिसे वर्णन करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥
(गीता ६।२९)

'सर्वव्यापी अनन्त चेतनमें एकीभावसे स्थिति-रूप योगसे युक्त आत्मावाला तथा सबमें समभावसे देखनेवाला योगी आत्माको सम्पूर्ण भूतोंमें और सम्पूर्ण भूतोंको आत्मामें देखता है।'

यह समदर्शिताकी स्थिति—यह समताका भाव भगवान्की कृपासे प्राप्त हो सकता है। इसलिये भगवान्को याद रखते हुए ऐसा भाव प्राप्त करनेकी चेष्टा करनी चाहिये।

जब भक्तिके सिद्धान्तसे विचार करते हैं तो समस्त संसारको ईश्वरका रूप समझ लेनेपर समताका भाव प्राप्त हो जाता है। श्रीतुलसीदासजी महाराजने कहा है—

सो अनन्य जाकें असि मति न टरै हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥

वास्तवमें भगवान्का वही अनन्य भक्त है, जो समस्त सचराचर भूत-समुदायको साक्षात् ईश्वरका स्वरूप समझकर सबके साथ समताका व्यवहार करता है। ज्ञानकी दृष्टिसे यह भाव रहता है कि यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड मेरा ही आत्मा है और भक्तिकी दृष्टिसे यह भाव रहता है कि यह सब मेरे स्वामीका ही रूप है और मैं इस समस्त भूतसमुदायका सेवक हूँ।

दोनोंमेंसे किसी एक मार्गसे भी समत्वबुद्धि प्राप्त हो जानेपर मनुष्यमें स्वाभाविक ही दया, विनय और प्रेम आदि उत्तमोत्तम गुणोंका अधिकाधिक विकास हो जाता है और उसके अन्तःकरणके राग-द्वेष आदि समस्त विकार नष्ट हो जाते हैं। ऐसे राग-द्वेषरहित समदर्शी महात्माके द्वारा जो भी व्यवहार होता है वह लोगोंके लिये आदर्श और कल्याणप्रद ही होता है। अतएव समताका भाव प्राप्त करनेके लिये निरन्तर भगवान्को याद रखनेकी विशेष चेष्टा करनी चाहिये।

कामके पत्र

(१)

प्रेमके नामपर

आपका कृपापत्र मिला। उत्तर लिखनेमें कुछ देर हो गयी। इधर काम भी ज्यादा रहा और स्वभावदोष तो है ही। क्षमा कीजियेगा।

आपने अपने मनकी हालत बताकर मेरी सम्मति पूछी, सो इस सम्बन्धमें मैं क्या कहूँ? यदि आपके मनमें पवित्रता है और उधरसे भी कोई विकार नहीं है तो बहुत ही अच्छी बात है, परन्तु जहाँतक मैं समझ सका हूँ,—इस स्पष्टोक्तिके लिये आप क्षमा कीजियेगा,—आप लोगोंका प्रेम पवित्र नहीं है। जिस प्रेममें भोग-सुखकी इच्छा है, संयमका अभाव है, कर्त्तव्य-विमुख होकर केवल पास रहने या देखते रहनेकी ही चेष्टा है, जरा भी मानसिक विकार है, स्वार्थ-साधनका प्रयास है और परस्पर पवित्रता बढ़ानेकी जगह इन्द्रिय-तृप्तिकी सुविधा खोजी जा रही है, वह प्रेम कदापि पवित्र नहीं हो सकता।

प्रेमका प्रधान स्वरूप है निज-सुखकी इच्छाका सर्वथा त्याग। भोगप्रधान पाशविक इन्द्रिय-सुखका प्रयास तो पवित्र प्रेमके नामको कलङ्कित करनेवाला पाप है। प्रेम सदा देता ही रहता है, जरा भी बदला नहीं चाहता। असलमें जिस प्रेमके आधार भगवान् नहीं हैं वह यथार्थ प्रेम नहीं है। प्रेम सदा स्वार्थशून्य है, इन्द्रियविकाररहित पवित्र है, भोगेच्छाके लिये उसमें स्थान नहीं। आजके मनुष्यने तो मोहको ही प्रेमका नाम दे रक्खा है और इसीका फल है महान् मानसिक अशान्ति और दारुण दुःखभोग।

जिनका परस्पर पवित्र प्रेम है, उनको परस्पर पवित्रता, पुण्य और सदाचरणकी उन्नतिमें सहायक होना चाहिये। परस्पर आत्मसंयमका क्रियात्मक अध्ययन करना चाहिये। त्याग और भगवदनुरागकी वृद्धि करनी चाहिये। आपके पत्रसे पता लगता है कि आप लोगोंको ये बातें रुचती ही नहीं। आप तो कल ही नाश हो जानेवाली चमड़ीके रूपपर और काल्पनिक गुणोंपर मोहित हैं। कुछ ही कालमें यदि ये गुण न दिखायी दें तो आपका प्रेम कच्चे सूतके धागेकी तरह टूट जा सकता है। यह भी कोई प्रेम है? प्रेम कभी टूटता ही नहीं। घटता भी नहीं। जितना है उतना ही नहीं रहता—वह तो प्रतिक्षण बढ़ता ही रहता है। उसमें रूप-गुणकी अपेक्षा नहीं है, वह तो प्रेमस्वरूप अच्युत परमात्माकी पवित्र देन है। आप इस मोहका त्याग कीजिये, इसीमें भलाई है। नहीं तो प्रेमके नामपर कामके कलुषित नरक-कुण्डमें जा गिरियेगा। सावधान!

(२)

असली सद्गुण

भैया! नाटकमें पार्ट करनेकी तरह किये जानेवाले दिखावटी सत्य, अहिंसा, अक्रोध, क्षमा, ब्रह्मचर्य, दया आदिसे कुछ भी नहीं होता। उसी प्रकार नाटकीय ज्ञान, वैराग्य, भक्ति और प्रेम भी निरर्थक ही हैं। जैसे नाटकका राजा वस्तुतः राजा नहीं है, वैसे ही नाटकका ज्ञानी, तपस्वी और सदाचारी भी वस्तुतः वैसा नहीं है। मुझको अच्छा बोलना—लोगोंको समझाना आ गया। बड़ी-बड़ी ऊँची बातोंका उपदेश भी मैं करने लगा। परन्तु यदि मैंने स्वयं उनका मर्म नहीं समझा और मेरे जीवनमें उन ऊँची बातोंने प्रवेश न किया तो मुझे क्या लाभ हुआ? धनके झूठे आडम्बरसे कोई धनी थोड़े ही हो गया? अतएव जीवनमें सात्त्विक गुणोंका और भक्ति, वैराग्य, ज्ञानका सच्चा विकास होना चाहिये। बड़ी लगनसे ऐसी चेष्टा करनी चाहिये। यह होता है—दूसरोंके दोष न देखकर उनके गुण देखनेसे, अपने अवगुण देखनेसे और जी-जानसे अपने अवगुणोंको नष्ट करके सद्गुणोंके प्रकाशके लिये अथक

प्रयत्न करनेसे। लोग दूसरोंके दोष देखते हैं, अपने नहीं देखते—फल यह होता है कि अपने अन्दर दोष आ-आकर भरते चले जाते हैं। सारे सद्गुण हमारे व्यवहारमें उतर आने चाहिये। बहुत बार आदमी भूलसे व्यावहारिक सत्तामें दोषोंका रहना अनिवार्य मानकर, युक्तिपूर्वक दोषोंका समर्थन करने लगता है, यह मनका बड़ा धोखा है। दोषका समर्थन किसी भी रूपमें नहीं करना चाहिये और अपने एक-एक दोषको दु:सह समझकर उसका त्याग करना चाहिये। सद्गुण और सद्व्यवहार केवल कथनमात्र न होकर क्रियात्मक होने चाहिये। और प्रत्येक प्रतिकूल अवसरपर सावधानीके साथ डटे रहना चाहिये। जिससे सद्गुण और सद्व्यवहारका अभाव न हो जाय। धर्मकी परीक्षा काम पड़नेपर ही होती है। एकान्तमें सच्ची भक्ति हो, वही भक्ति है। सत्य और अहिंसा—जीवनमें उतरे रहें वही सच्चे सत्य और अहिंसा व्रत हैं।

(३)

भगवद्भक्ति और दैवी सम्पत्ति

आपका कृपापत्र मिला। भगवान्‌के नाम और भगवद्भक्तिकी महिमा अनन्त है। आप और हम तो क्षुद्र हैं—महापुरुष भी इनकी महिमा पूरी-पूरी नहीं गा सकते। परन्तु भाई साहब! आप जिस ढंगसे भक्ति और भगवन्नामका माहात्म्य बतलाते हैं, वह मुझे पसन्द नहीं है। मैं तो मानता हूँ, भगवन्नामसे पापका लेश भी नहीं रहता। फिर यह कैसे स्वीकार करूँ कि भगवन्नामका सहारा लेकर दुष्कर्म करते रहना—जान-बूझकर भी उनसे हटनेका प्रयास और अभिलाष न करना उचित है? मेरी समझसे भगवद्भक्तिके साथ दैवी सम्पत्तिका अनिवार्य संयोग है। कोई भगवद्भक्त भी बने और बेरोक-टोक व्यभिचार और परधन-हरण भी करता रहे। घण्टे, आध घण्टे कीर्त्तन कर ले और दिन-रात विना किसी ग्लानिके, खुशी-खुशी जूए, शराब, परनिन्दा, परदोष-दर्शन और दूसरोंको ठगने और कष्ट पहुँचानेमें बीतें, यह कैसी भक्ति है, कुछ समझमें नहीं आता। यह सत्य है कि इससे अधिक पाप करनेवालोंको भी भगवन्नाम-कीर्त्तन और भक्ति करनेका अधिकार है, भगवान्‌का द्वार पापियोंके लिये बन्द नहीं है तथा भगवन्नाम और भगवद्भक्तिसे पापी भी शीघ्र पुण्यात्मा-महात्मा भी बन सकते हैं; परन्तु जिनके मनमें बुरे कर्मोंसे जरा भी ग्लानि नहीं और जो इसीलिये भगवन्नाम लेते हैं कि उनके पाप ढके रहें या पाप करनेमें उन्हें सुविधा मिल जाय, उनके लिये बहुत विचारणीय बात है। यह सत्य है कि भगवन्नामकी पाप-नाश करनेकी शक्ति पापीके पाप करनेकी शक्तिसे कहीं अधिक है और अन्तमें उसके पापोंका नाश करके भगवन्नाम उसे तार देगा, परन्तु जान-बूझकर पाप करनेके लिये ही नाम लेना भगवद्भक्तिका आदर्श क्योंकर माना जा सकता है? मेरा तो यह विश्वास है कि जो लोग भगवान्‌की सच्ची भक्ति करते हैं, उनमें मनका निग्रह, इन्द्रियोंका वशमें होना, अहिंसा, सत्य, सेवा, क्षमा, परदु:ख-कातरता, मैत्री, दया आदि गुण क्रियात्मकरूपमें प्रत्यक्ष आ जाते हैं, और इनके आनेपर ही भक्ति आदर्श मानी जाती है। अतएव मेरी तो आपसे प्रार्थना है कि आप भक्तिके साथ उसकी चिरसङ्गिनी—जिसके विना भक्ति रह नहीं सकती—दैवी सम्पत्तिका भी पूरा आदर करें, तभी भक्तिका यथार्थ विकास होगा और तभी तुरंत शान्ति मिलेगी। यह याद रखना चाहिये कि भगवद्भक्तिके विना दैवी सम्पत्ति प्राणहीन है और दैवी सम्पत्तिके विना भक्ति नहीं होती। इन दोनोंका परस्पर अन्योन्याश्रयसम्बन्ध है। भगवद्भक्तमें कैसे गुण होने चाहिये इसका विशेष विवरण गीतामें भगवान्‌ने बतलाया है। बारहवें अध्यायके १३वेंसे २०वें श्लोकतक देखना चाहिये।

(४)

गम्भीरता या प्रसन्नता

पत्र मिला, धन्यवाद ! निवेदन यह है कि एक ऐसी भी आध्यात्मिक स्थिति होती है और वह अच्छी होती है, जिसमें अन्तरमें उदासी न होनेपर भी चेहरेपर उदासी-सी माल्रम होती है । यह वैराग्यकी एक अवस्था है । परन्तु चेहरेकी उदासी और गम्भीरता ही आध्यात्मिक उन्नति या स्थितिकी पहचान नहीं है । गम्भीरता होनी चाहिये भीतर, इतनी कि जो किसी भी प्रकारसे किसी भी बाह्य परिस्थितिमें चित्तको क्षुब्ध न होने दे । बाहर तो सदा प्रसन्नता और हँसी ही होनी चाहिये । समुद्रका अन्तस्तल कितना गम्भीर होता है, उसमें कभी बाढ़ आती ही नहीं, परन्तु उसके वक्षःस्थलपर असंख्य तरङ्गें नित्य-निरन्तर नाचती रहती हैं—अठखेलियाँ करती रहती हैं । इसी प्रकार हृदय विशुद्ध, विकाररहित, स्थिर, गम्भीर और भगवत्संयोगयुक्त होना चाहिये और बाहर उनकी विविध लीलाओंको देख-देखकर पल-पलमें परमानन्दमयी हँसीकी लहरें लहराती रहनी चाहिये । मुर्दे-सा मुर्झाया हुआ मुँह किस कामका ? जिसे देखते ही देखनेवालोंका भी हृदय हँस उठे, मुखकमल खिल उठे, मुखमुद्रा तो ऐसी ही होनी चाहिये ।

इसका यह अर्थ भी नहीं कि विनोदके नामपर मर्यादारहित अनर्गल, असत्य प्रलाप किया जाय। उसका तो त्याग ही इष्ट है ।

(५)

वर्तमान दुःसमयमें हमारा कर्त्तव्य

आपका लिखना सत्य है कि आजकल सभी ओर ईश्वर और धर्मपर अश्रद्धा बड़े जोरोंसे बढ़ रही है । लोगोंमें इस तरहकी भावना पैदा हो रही है कि ईश्वर और धर्मको मानना मूर्खता और परम्परागत कुसंस्कारका परिणाम है । ऐसी अवस्थामें धर्म और ईश्वरको माननेवाले लोगोंको उचित है कि वे यथासाध्य अपने कर्त्तव्यका पालन करें और धर्म तथा ईश्वरके न माननेसे होनेवाले दुष्परिणामों—आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक तापोंसे देशको बचानेके लिये निम्नलिखित साधनोंका उपयोग करें ।

१—सभी लोग प्रतिदिन नियमितरूपसे भगवान्से प्रार्थना करें ।

२—सभी लोग प्रतिदिन भगवान्के नामका जाप करें । विश्वासपूर्वक की जानेवाली भगवान्की प्रार्थना और उनके नाम-जपसे सारे पाप-ताप नष्ट हो सकते हैं, यह निश्चित है ।

३—धनी लोग प्रार्थना और जापके अतिरिक्त खुले हाथों धर्मकी रक्षाके लिये दान करें । देखा जाय तो बहुत-से धनी तो दान करते ही नहीं; जो करते हैं वे नामके लिये प्रायः ऐसे ही कामोंमें दान करते हैं जिनसे उलटे अधर्मकी वृद्धि और धर्मपर कुठाराघात ही होता है । धनियोंको इस ओर विशेष ध्यान देना चाहिये । अधार्मिक भावना विशेषरूपसे फैल गयी तो उन्हें भी बहुत अधिक नुकसान उठाना पड़ेगा ।

४—मठाधीशों, महन्तों, गुरुओं और आचार्यों आदिको त्यागी, सच्चरित्र और विद्वान् बनना चाहिये । वे अपनेको धर्मका रक्षक मानते हैं और जब उनके ही चरित्र आदर्श न हों, कलङ्कपूर्ण हों तो लोगोंमें धर्म और ईश्वरपर श्रद्धा कैसे रह सकती है । गुरुवर्ग सदाचारी, पूर्णत्यागी, ईश्वरनिष्ठ, धर्मपरायण और विद्वान् हो जाय तो धर्मकी रक्षा बहुत आसानीसे हो सकती है ।

५—स्त्रियोंको पतिपरायणा होना चाहिये और नयी लहरमें न बहकर सतीत्व-धर्मका आदर्श कायम रखना चाहिये ।

परमार्थ-पत्रावली

(श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पत्र)

(१)

सप्रेम राम राम। आपका पत्र मिला। समाचार ज्ञात हुए। आपने लिखा कि 'आजकल लोग कहा करते हैं कि मनुष्य अपने भाग्यका निर्माता स्वयं है।' इसका हम लोग यह अर्थ भी ले सकते हैं कि हम जैसे कर्म करेंगे, फल भी वैसा ही मिलेगा। दूसरे आधुनिक समझके लोग यह भी अनुभव करते हैं कि 'सब कुछ मनुष्यके पौरुषपर ही निर्भर है।' इनमें कर्मोंके अनुसार फल मिलनेकी बात तो ठीक है परन्तु सब कुछ मनुष्यके पौरुषपर ही निर्भर है, यह सिद्धान्त केवल धर्म और मोक्षके विषयमें ही मानना चाहिये। अर्थ (धन) और काम (भोग) की प्राप्तिके विषयमें नहीं, क्योंकि ये कर्मोंके फल होनेके कारण इनमें प्रारब्धकी ही प्रधानता है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इनमें अर्थ और कामके विषयमें प्रारब्धकी प्रधानता समझनी चाहिये, और धर्म तथा मोक्षके विषयमें पुरुषार्थकी। क्योंकि ये कर्त्ताके साधनपर ही निर्भर हैं। इस प्रकार समझकर अपनी समस्या सुलझानी चाहिये और भारी-से-भारी विपत्तिमें भी धर्म (सत्य और न्याय) का त्याग कभी नहीं करना चाहिये। महाभारत स्वर्गारोहणपर्वमें कहा है—

> **न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्**
> **धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः।**
> **नित्यो धर्मः सुखदुःखे त्वनित्ये**
> **जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः॥**
> (५। ६३)

अर्थात् 'मनुष्यको किसी भी समय कामसे, भयसे, लोभसे या जीवन-रक्षाके लिये भी धर्मका त्याग नहीं करना चाहिये। क्योंकि धर्म नित्य है और सुख-दुःख अनित्य हैं, तथा जीव नित्य है और उसका हेतु (जीविका) अनित्य है।'

आपके घरकी परिस्थितिका हाल पढ़कर विचार हुआ, पर जब मनुष्यपर सङ्कट पड़ता है तो उसे स्वयं ही भोगना पड़ता है। युधिष्ठिर, नल आदि-जैसे अच्छे-अच्छे पुरुषोंपर भी प्रारब्धसे सङ्कट आये थे। प्रारब्धसे प्राप्त इस सङ्कटको भगवान्‌का विधान समझकर सहर्ष सहन करना चाहिये। इससे स्वार्थ और परमार्थ दोनोंमें लाभ है।

आपने लिखा कि 'अन्य मतावलम्बी ईसाई अथवा यवन मेरी विपत्तिसे अनुचित लाभ उठानेका प्रयत्न करते हैं। पापी मन कभी-कभी विचलित-सा हो जाता है और मैं सोचने लग जाता हूँ कि जिस जातिमें शिक्षाका मान नहीं, भाईका सम्मान नहीं, गरीबोंपर दया नहीं और पारस्परिक सहायताका नाम नहीं, उसमें व्यर्थ घुटकर मरनेसे क्या लाभ?' सो इस विषयपर आपको गहरा विचार करना चाहिये। मुसल्मानोंमें हिन्दू-जातिसे अधिक सम्मान-सत्कार और दया मिलनेकी सम्भावना तो भ्रममात्र है। उनमें तो प्रायः अनादर और अत्याचार-की मात्रा ही अधिक देखी जाती है। इसलिये सांसारिक सङ्कट प्राप्त होनेपर भी आपको प्रलोभनोंमें नहीं पड़ना चाहिये। उनसे सांसारिक स्वार्थ सिद्ध होनेकी आशा भी कभी नहीं करनी चाहिये। पारमार्थिक हानि तो है ही। ईसाई, आरम्भमें तो वे अवश्य ही अच्छा व्यवहार करते हैं, परन्तु यह भी उन लोगोंकी एक पालिसीमात्र है। आरम्भमें तो वे खूब प्रेम करते हैं, प्रलोभन देते हैं। परन्तु पीछे ऐसा छिटका देते हैं कि कभी सम्हालते भी नहीं। थोड़ी देरके लिये मान भी लें कि उनके यहाँ सांसारिक सुख मिलेंगे, तो भी क्या, अपने धर्मको छोड़ना चाहिये! मेरी समझसे तो प्राण देकर भी अपने धर्मकी रक्षा करनी चाहिये। किसी दूसरे भाईकी भी वृत्ति यदि इस ओर

जाय तो आप-जैसे पढ़े-लिखे पुरुषको उसे भी समझा-बुझाकर उस तरफ न जानेके लिये ही उत्साहित करना चाहिये। धर्म ऐसी वस्तु नहीं है, जो सङ्कटके डरसे छोड़ दिया जाय। धर्मरक्षाकी परीक्षा तो सङ्कटमें ही हुआ करती है।

आपने लिखा है कि 'जीते रहकर कलङ्क लगानेकी अपेक्षा मृत्यु क्या बुरी है ? परन्तु यदि इन आपत्तियोंसे ऊबकर माता, पिता और अपने आश्रितजनोंको छोड़कर आत्महत्या कर ली जाय तो यह घोर पाप लगेगा।' आपका यह लिखना ठीक है, धर्मसे विचलित न होकर मृत्यु हो जानेको अच्छा समझना तो सराहनीय है।

किन्तु आप-जैसे पढ़े-लिखे और बुद्धिमान् पुरुषको सङ्कट पड़नेपर आत्महत्याका विचार ही क्यों करना चाहिये ? मनुष्यपर कभी सङ्कट आ भी जाता है तो वह सदा थोड़े ही रहता है। ईश्वर-भक्ति और सदाचारपर दृढ़ रहना चाहिये, और उसके बलसे सङ्कट कटनेकी आशा-प्रतीक्षा करनी चाहिये। मुझे तो विश्वास है कि इनपर दृढ़ रहनेवालेको बहुत दिनोंतक तकलीफ नहीं उठानी पड़ती। इसलिये आत्महत्याका विचार तो कभी नहीं करना चाहिये। ऐसी परिस्थितिमें केवल भगवान्की शरण लेनी चाहिये। भगवान्के भजनकी शरण हो जानेसे मनुष्य सब सङ्कटोंसे पार हो सकता है (गीता १८।५८)। हिन्दू-धर्मके अनुसार परलोक और पुनर्जन्म सत्य ही हैं। इसलिये आत्महत्या करनेसे दुःखोंसे छुटकारा हो जायगा, यह समझना भी भारी भूल है।

आपने लिखा कि 'गरीबी ही संसारके समस्त पापोंकी जड है, झूठ बोलना, कपट करना, चोरी आदि करना सब इसीके अन्तर्गत हैं।' सो ऐसा नहीं मानना चाहिये। धनी लोग प्रायः गरीबोंसे अधिक झूठ बोलते हैं और पाप भी प्रायः अधिक ही करते हैं। धनियोंकी अपेक्षा गरीब धर्मके पालनमें भी बहुत अच्छे हैं, उनमें विनय होती है, ईश्वरका भय भी रहता है। धनियोंमें तो इसके विपरीत प्रायः उद्दण्डता और प्रमाद ही देखे जाते हैं। इन सब दोषोंके होनेमें कुसङ्ग (बुरा वातावरण) और स्वभाव (अन्तःकरणकी राजसी-तामसी वृत्तियाँ) ही हेतु हैं। इनको हटानेके लिये भी सत्सङ्ग और ईश्वरकी शरणागति ही मुख्य उपाय है। शरणागतिका भाव कल्याणके १४ वें वर्षके विशेषाङ्क 'गीतातत्त्वाङ्क' में १८ वें अध्यायके ६२ वें श्लोकके अर्थमें देखना चाहिये।

'पवित्र आत्मा कलुषित होती जा रही है' लिखा, सो उसे पवित्र बनाये रखनेके लिये और उसकी पवित्रताकी वृद्धिके लिये भी भगवान्की शरणागति हो उपाय है। 'दुविधामें दोनों गये माया मिली न राम' यह उद्धरण प्रमाणमें लिखकर आपने अपनेको द्विविधाग्रस्त लिखा सो यह दुविधा न रखकर केवल एक भगवान्के नामकी ही शरण लेनी चाहिये, उसके आश्रयसे सब कुछ हो सकता है। कठोपनिषद्में कहा है—

एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते॥
(१।२।१७)

अर्थात् 'यही श्रेष्ठ आलम्बन है, यही परम आलम्बन है। इस आलम्बनको जानकर पुरुष ब्रह्मलोकमें महिमान्वित होता है।'

आपने लिखा कि 'जिस देहसे प्राणीमात्रकी सेवा नहीं होती, वह मृतकके समान है; भगवान् उसीके प्रिय हैं जो उसकी रची हुई प्रजामें उसीका स्वरूप लखकर उससे प्रेम करते हैं और उसके दुःखमें दुखी होते हैं।' सो ऐसा ही करना चाहिये। आपने लिखा कि 'आप मुझे आपत्तिके समय आश्वासन दें तथा इसका उत्तर सान्त्वनाभरे शब्दोंमें दें, जिससे मेरी आत्मा सन्तुष्ट

हो ।' सो आश्वासन और सान्त्वना देनेवाले तो भगवान् ही हैं । मैं तो साधारण आदमी हूँ । फिर भी आप यदि मेरे पत्रसे सन्तोष मानेंगे तो यह आपके प्रेमकी बात है ।

आपने लिखा कि 'धन तो चञ्चल बिजलीके समान है, इससे जो कुछ यश और धर्म कमाया जा सके यही अच्छा है' सो बहुत ठीक है । यशसे भी धर्म कमाना उत्तम है ।

(२)

आपने पूछा, अपनी दिनचर्या किस प्रकार बनानी चाहिये, क्या-क्या नित्यकर्म करना, काम किस समय करना, कामके समय भाव कैसा रखना तथा कौन-सी पुस्तक किस समय पढ़नी चाहिये ? अतएव, सबेरे जागनेसे लेकर रातको सोनेतकका समय विभाग करके यहाँ लिखा जा रहा है । आप अपने सुभीतेके अनुसार पाव-आध घण्टेकी कमी-बेशी चाहे जैसे कर सकते हैं ।

प्रातःकाल ४ बजे—जगना ।

४ बजेसे ४।।।—शौच-स्नान आदि ।

४।।। से ६—सन्ध्या तथा गायत्री-जप । सन्ध्या करनेके बाद शेष एक घण्टेमें गायत्रीकी सात माला जपना ।

६ से ६।।—गीताजीका पाठ और विवेचनपूर्वक मनन करना ।

६।। से ७।।—मानसिक पूजा और नाम-जपसहित ध्यान करना । ध्यानके समय यदि विक्षेप-आलस्य आवे तो ध्यानकी वृत्तियाँ बनानेके लिये भगवान्‌की स्तुति-प्रार्थना करनी चाहिये अथवा गीतातत्त्वाङ्कमें प्रकाशित प्रेम, वैराग्य और ध्यानविषयक बातें पढ़नी चाहिये ।

७।। से ८—स्वास्थ्यके लिये व्यायाम करना तथा घूमना ।

८ से १०—भगवान्‌के नामका जप तथा उनके स्वरूपका ध्यान करते हुए ही कामको भगवान्‌का काम समझकर भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये भगवान् ही हमारे साथ रहकर काम करवा रहे हैं—इस भावसे काम करना चाहिये ।

१० से ११—भोजन करके बड़े उत्साह और प्रेमसे चित्त-वृत्तियोंको भगवन्मयी बनानेके लिये भागवत, रामायण आदिका विवेक और वैराग्य-युक्त बुद्धिसे विचार करना चाहिये, केवल पाठमात्र ही नहीं ।

११ से ४—पूर्वमें ८ से १० तकके लिये बताये हुए भावके अनुसार ही काम करना ।

४ से ४।।।—शौच-स्नान आदि ।

४।।। से ५।।—सन्ध्या करके गायत्रीका तीन माला जप इस समय कर लेना चाहिये ।

५।। से ७—गुण, प्रभाव, लीलासहित श्रद्धा-भक्तिपूर्वक नाम-जप करते हुए भगवान्‌के स्वरूपका ध्यान करना चाहिये । ध्यानके समय यदि विक्षेप-आलस्य आवें तो इनके नाशके लिये वैराग्य, भक्ति, ज्ञान, ध्यान और प्रेमसम्बन्धी पुस्तकें पढ़नी चाहिये ।

७ से ७।।—भोजन, विश्राम ।

७।। से ८।।—साधना-कमेटीमें जाकर गीताका अभ्यास करना ।

८।। से १०—सद्ग्रन्थोंका स्वाध्याय करना और संस्थाके कार्यकी आवश्यकता हो तो प्रातः ८ से १० तकके लिये बताये हुए भावके अनुसार ही संस्थाका काम करना चाहिये ।

१० से ४—भगवान्‌के नामका जप और स्वरूपका ध्यान करते हुए ही सोना ।

आपने लिखा कि कभी प्रार्थनामय ही बननेकी मनमें आती है, तो कभी गीता ही पढ़नेकी और कभी

नाम-जपपरायण ही होनेकी मनमें आती है, तो कभी सद्ग्रन्थोंको पढ़नेकी ही प्रधानता करनेकी आती है सो ठीक है, भगवान्‌के नामका जप और स्वरूपका ध्यान तो हर समय—आठों पहर ही रखनेकी चेष्टा करनी चाहिये। सोनेके समय नाम-जप और ध्यान करते हुए ही सोना चाहिये तथा सोते हुए भी स्वप्नमें नाम-जप और ध्यान ही करते रहना चाहिये। रही गीता और सद्ग्रन्थोंके पढ़नेकी तथा प्रार्थना करनेकी बात, सो समय-समयपर ऐसा करनेके लिये ऊपर लिखा ही है।

आपने लिखा कि कमेटीमें जानेसे कभी-कभी तो उल्टा निरुत्साह ही होता है सो ठीक है, कमेटीमें न जायँ तो कोई हर्ज नहीं।

आपने लिखा कि और भी बहुत-सी बातोंको लेकर खटपट बनी ही रहती है, आपसे पूछनेकी मनमें आती है किन्तु फिर यह मनमें आ जाता है कि 'भजन-ध्यानसे यह सब मिट जायगी' सो ठीक है। परन्तु हमसे पूछनेमें आपको कोई संकोच नहीं करना चाहिये।

आपने लिखा कि 'काम करते समय नाम-जप खूब अच्छी तरह हो सकता है—यह तो खूब विश्वास है।' सो ठीक है, यदि काम करते समय जप, ध्यान, प्रसन्नता, शान्ति रहे तो काममें अधिक समय लगाया जाय तो भी कोई हर्ज नहीं, क्योंकि ऐसा काम भी उत्तम साधन है (गीता ८। ७; १८। ५७)।

आपने लिखा कि कभी मनमें आता है कि दूध पीना चाहिये और कभी मनमें आता है कि अपने शरीरके लिये इतना अधिक खर्च नहीं करना चाहिये सो ठीक है, यदि हजम हो तो दोनों समय दूध पीना चाहिये। दूध सात्त्विक पदार्थ है। इसके सेवनसे वृत्तियाँ सात्त्विक रहती हैं। यह मेरा अपना अनुभव है। दूधके खर्चको अधिक खर्च नहीं समझना चाहिये। वह तो सादे जीवनमें ही शामिल है।

व्यायामके बारेमें लिखा सो ठीक है, व्यायाम नियमपूर्वक करना चाहिये। शीर्षासन १० मिनटसे ज्यादा नहीं करना चाहिये।

आपने अपने मनके अनुकूल ही उत्तर न लिखनेके लिये लिखा सो ठीक है, आपके मनके अनुकूल ही सब बातें नहीं लिखी हैं। आपकी प्रकृति, स्वास्थ्य, समय, कार्यकी परिस्थिति तथा सुविधा लक्ष्यमें रखकर ही ये सब बातें लिखी गयी हैं।

व्यर्थकी बातोंमें बहुत समय चला जाता लिखा सो व्यर्थ बातें तो न सुननी और न करनी ही चाहिये। इस विषयमें जितना संयम करें उतना ही अच्छा है। और आपमें तो प्रायः संयम ही देखा जाता है। यदि योग्यतासे उचित मात्रामें बोलनेका काम पड़े तो उसके लिये ग्लानि नहीं करनी चाहिये। बात करते समय बात करनेवालेके स्थानमें या उसके अंदर भगवान्‌को देखना चाहिये। फिर बात भी साधन हो सकता है।

(३)

सप्रेम हरि-स्मरण। आपका पत्र मिला। आपने पहले भी पत्र लिखा था परन्तु मेरा उत्तर न पहुँचा। इसका कारण यह हो सकता है कि कुछ दिनों पहले मेरी एक पेटी, जिसमें बहुत-से कामके कागज तथा पत्र आदि थे, खो गयी थी। सम्भव है उसीमें आपका पत्र रहा हो, और इसीसे उत्तर न जा सका हो। इस पत्रमें भी पता न रहनेसे मैं इसका उत्तर डाकद्वारा आपको न लिख सका।

आप मेरे लेख कल्याणमें पढ़ते हैं और वे आपको अच्छे लगते हैं सो आपके प्रेमकी बात है।

आपका शरीर कमजोर है। इसके लिये आपको नियमित व्यायाम और दूधका सेवन अधिक करना चाहिये। साथ ही बड़ी सावधानीसे ब्रह्मचर्यका पालन करना चाहिये।

आप श्रीमारुति भगवान् (श्रीहनूमान्‌जी) की

सेवा करते हैं सो बहुत ठीक है। आपने लिखा कि 'मैं सेवा गुप्तरूपसे करता हूँ। घरवालोंके नाराज होनेका डर रहता है। उनसे छिपाकर रखनेका फिक्र लगा रहता है।' इसके उत्तरमें यह निवेदन है कि उत्तम कार्य या साधन छिपाकर करने तो अच्छे हैं। इनका गुप्त रखना कोई पाप नहीं है बल्कि, गुप्त रखनेकी ही विधि है। परन्तु फिक्र क्यों करना चाहिये। घरवालोंको मालूम हो जानेमें क्यों आपत्ति होनी चाहिये। मेरी समझसे—घरमें प्रतिदिन बड़ोंको प्रणाम करने, उनकी सेवा करने, आज्ञापालन करने और नम्रतापूर्वक समझाकर सन्तोष करानेसे वे अपने अनुकूल हो सकते हैं। श्रीमारुतिजीकी भक्ति तो अच्छी बात है, घरवालोंके अनुकूल रहकर उनकी सेवा करनेसे—वे इस भक्तिसे नाराज क्यों होने लगे? इसपर भी यदि आप यह समझें कि उनको सन्तोष नहीं है तो गुप्तरूपसे ही श्रीमारुतिकी भक्ति करते रहिये।

श्रीहनूमान्‌जीकी भक्ति करना बहुत उत्तम है, हनूमान्‌जी भगवान्‌के परम भक्त हैं, अतएव हनूमान्‌जीकी भक्तिसे श्रीभगवान् बहुत प्रसन्न होते हैं।

ध्यानके समय नींद सताने लगती है, इसके नाशके लिये श्रीरामायणके दोहे-चौपाइयोंका अर्थ समझनेमें बुद्धिको लगाना चाहिये। बुद्धिमें चेतनता आनेसे मन लग सकता है और नींद दूर हो सकती है। श्रीरामायणके अध्ययनसे श्रीहनूमान्‌जी तो प्रसन्न होते ही हैं।

आपने लिखा कि 'मुझे दो साल हो गये, तीसरा भी आरम्भ हो गया, परन्तु कुछ लाभ नहीं हुआ।' सो इसके लिये साहस और उत्साहको कम न होने देना चाहिये। किसी आदमीको पुरानी बीमारी हो, और वह कुछ ही दिन चिकित्सा करवाकर ऊब जाय तो उसकी बीमारी कैसे मिटेगी? पुराने रोगके नाशके लिये तो दीर्घकालतक दवा लेनेकी जरूरत है। फिर यह तो अनेकों जन्मोंका रोग है, इससे छुटकारा पानेके लिये बहुत दिनोंतक निरन्तर साधन करनेकी आवश्यकता है। कुछ ही दिनोंमें सफलता न मिले तो उत्साहको कम न होने देना चाहिये। बल्कि उत्तरोत्तर अधिक उत्साह और उमङ्गके साथ साधन करना चाहिये। दूसरे, भजन-ध्यानसे बढ़कर कोई वस्तु है ही नहीं, अतएव इसमें जरा भी शिथिलता नहीं करनी चाहिये।

आपका मन अधिक-से-अधिक पाठ करने और सीताराम-सीताराम रटनेका होता है सो बहुत अच्छी बात है। घरवालोंकी नाराजी मिटानेके लिये उनकी सेवा करनी चाहिये, और मनकी सारी परिस्थिति उन्हें विनम्रताके साथ समझानी चाहिये तथा जहाँतक हो, उन्हें पूरा सन्तोष कराना चाहिये।

आपके घरवाले आपका विवाह करनेपर जोर देते हैं, परन्तु आपका स्वास्थ्य ठीक न होनेके कारण आप विवाह नहीं करना चाहते। इस सम्बन्धमें मेरी तो यह राय है कि वास्तवमें आप अस्वस्थ हों, स्त्रीमें आसक्ति न हो और स्त्रीके भरण-पोषण करनेकी अपनेमें योग्यता न समझते हों तो वैसी हालतमें विवाह न करनेमें कोई हानि नहीं है।

आगेके लिये मेरी यही सलाह है कि विषयोंमें न फँसकर व्यवसायको भी श्रीभगवान्‌का काम समझकर भगवान्‌को सदा अपने पास मानकर उनकी प्रसन्नताके लिये किया जाय तो व्यवसाय भी भजनके ही समान समझा जा सकता है। काम करते हुए भी भजन-ध्यान कैसे हो सकता है, इस सम्बन्धमें कल्याणके फरवरी-अंकमें प्रकाशित 'काम करते हुए भगवत्प्राप्तिकी साधना' शीर्षक लेख देखना चाहिये।

और बन सके तो उसके अनुसार चेष्टा करनी चाहिये ।

आपको यह निश्चय रखना चाहिये कि भगवान्‌की सेवा कभी निष्फल नहीं होती ।

आपने लिखा 'शक्तिहीन मनुष्य कुछ नहीं कर सकता ।' सो शक्तिहीन मनुष्यको मनसे भजन-ध्यान आदि करने चाहिये । बलके लिये प्रार्थना करनेपर प्रभुसे बल भी मिल सकता है, पर छोटी बातके लिये उनसे याचना नहीं करनी चाहिये—इसको प्रारब्धके भरोसे छोड़ देना चाहिये, भजन तो केवल भगवान्‌की प्रसन्नता-के लिये ही करना चाहिये ।

आपने लिखा 'एक प्रतिष्ठित परिवारमें भजन-ध्यान कैसे हो सकता है ?' सो मेरी समझमें प्रतिष्ठित परिवारको इसमें क्यों आपत्ति होनी चाहिये ? भगवान्‌के भजनमें जाति-वंश किसीकी भी बाधा नहीं रहती और मनमें प्रेम और टान हो तो कोई बाधा दे भी नहीं सकते । अतएव भजन-ध्यानके लिये मनमें प्रेम और टान जितनी बढ़ सके, बढ़ानी चाहिये और भगवान्‌पर पूरा भरोसा रखकर साधन करते रहना चाहिये । फिर सब विघ्न-बाधाएँ आप ही हट जा सकती हैं और उत्साह भी मिल सकता है ।

नाम-महिमा

(लेखक—कविभूषण श्रीजगदीशजी)

कहौं कहाँ लगि नाम बड़ाई । राम न सकहिं नाम गुण गाई ॥

—श्रीरामचरितमानस

इस असार संसारसे पार होनेके लिये नाम-स्मरणके समान कोई अन्य सरल साधन नहीं है । एकमात्र यही ऐसा साधन है जो जीवको प्रारम्भिकसे परावस्था-तक ले जाता है । यह एक सीधी गाड़ी (Through train) है, जिसमें सवार होनेपर बीच-में कहीं उतरना नहीं पड़ता और जो सीधे मनोनीत स्थानपर पहुँचा देती है । आजकल पाश्चात्य शिक्षाके प्रभावसे प्रेरित होकर कोई-कोई कहा करते हैं कि बार-बार नाम लेनेसे क्या लाभ है ? क्या शक्कर-शक्कर पुकारनेसे मुँह मीठा हो सकता है ? अनेक बार आवाज देनेपर तो साधारण मनुष्य भी चिढ़ जाता है तो फिर जिसका नाम लेकर तुम पुकारते हो वह क्यों न चिढ़ेगा ?

ऐसी निःसार कल्पना वे ही लोग कर सकते हैं जो उपासनाके तत्त्वसे सर्वथा अनभिज्ञ हैं । उनका संग कभी भूलकर भी नहीं करना चाहिये । वस्तुतः नाम और नामीका तो अभिन्न सम्बन्ध है । नामका उच्चारण करते ही हमारे सामने नामीकी मूर्ति अंकित हो जाती है । जब हम अपने किसी अभिन्नहृदय सुहृद्‌का नाम लेते हैं तो हमारे हृदयमें उसकी मधुर स्मृति जाग उठती है और हमें किसी अंशमें मिलन-सुखका-सा अनुभव होने लगता है । इसी प्रकार राम-नाम लेनेसे भी हमारी वृत्तियाँ रामाकार हो जाती हैं और श्रीरामकी पुनः-पुनः स्मृति होनेसे हमारे हृदयमें उत्तरोत्तर रामप्रेमकी वृद्धि होने लगती है । स्थूलदृष्टिसे विचार करें तो भी नामका कुछ कम प्रभाव नहीं है । एक स्थानपर कई व्यक्ति गहरी निद्रामें सो रहे हों तो हम उनमेंसे जिसका नाम लेकर पुकारेंगे वही उठकर खड़ा होगा । जब अचेतन अवस्थामें भी इसका इतना प्रभाव पड़ता है तो इससे नित्य जाग्रत् करुणावरुणालय श्रीहरि अपने अनुरक्त भक्तके प्रति क्यों आकर्षित न होंगे ? जब साधारण पुरुष भी किसीकी शरणापन्न दीन-

हीन प्राणीके आर्त्तनादको सुनकर उसकी सहायताके लिये दौड़ पड़ता है तो सर्वशक्तिसम्पन्न करुणामय हरि अपने अनुगत भक्तकी विपन्न वाणीकी किस प्रकार उपेक्षा कर सकते हैं ? उस समय तो उन्हें एक क्षणका विलम्ब भी असह्य हो जाता है। गजेन्द्रका उद्धार करते समय उन्हें पक्षिराज गरुडकी अव्याहत गति भी कुण्ठित-सी जान पड़ी और वे उन्हें छोड़कर पयादे ही दौड़े। इसी प्रकार प्रह्लाद और द्रौपदीकी रक्षाके लिये भी वे स्तम्भ और वस्त्रमें ही प्रकट हो गये।

एक बात और भी ध्यान देने योग्य है। देखिये, जब माता गृहकार्योंमें लगी होती है और अपने पुत्रको गोदसे उतारकर इधर-उधर खेलमें लगा देती है, उस समय यदि थोड़ी ही देर बाद वह 'माँ-माँ' कहकर पुकारने लगता है तो क्या वह चिढ़ जाती है ? नहीं, वह तो तुरन्त ही उसे गोदमें लेकर प्यार करने लगती हैं। इसी तरह प्रभु, जो सारे जगत्‌के माता-पिता हैं, अपने अनन्यशरण भक्तोंके मुखसे अपने सुमधुर नामोंका घोष सुनकर हठात् उनकी ओर आकर्षित हो जाते हैं और उन्हें अपने निर्भय अंकमें उठाकर उनके सम्पूर्ण पाप-तापोंको शान्त कर देते हैं।

यों तो भगवान्‌के सभी नाम मन्त्रमय हैं तथापि उनके रामनामकी तो शास्त्रोंमें बड़ी ही महिमा गायी गयी है। यह छिपे हुए अग्निके समान है। यदि अज्ञानावस्थामें भी इसका उच्चारण किया जाय तो भी यह जीवके सारे प्रत्यवायोंको समूल भस्म कर देता है। इसकी महिमाको समझ-बूझकर जप करनेपर तो वह प्रज्वलित अग्निके समान तत्काल फल प्रदान करता है। किन्तु एक बात अवश्य याद रखनी चाहिये—जिस मनुष्यने सब प्रकारकी आशा-तृष्णा और संकल्प-विकल्पोंको त्याग दिया है, वही इसका ठीक-ठीक रसास्वादन कर सकता है। जिस प्रकार मुखमें चावल लेकर चीनीकी ढेरीके ऊपर घूमनेवाली चींटीको उसकी माधुरीका आस्वादन नहीं हो सकता उसी प्रकार सवासनिक पुरुषोंको नाम-जप करनेपर भी उसका यथार्थ सुख नहीं मिल सकता। इसके लिये तो सारी वासनाओंको सदाके लिये जलाञ्जलि देनी होगी तभी उसे यथार्थ रामरसका अनुभव होगा। वास्तवमें रसना तो वही है जो रामरसका आस्वादन करती है—विषय-विषका रस तो कूकर-शूकर भी चखते ही हैं, फिर उनसे मनुष्यका भेद ही क्या हुआ ? श्रीगोसाईंजी महाराज कहते हैं—

> राम रटे रसना वही, सही सजीवन मूरि।
> नहिं तो जिह्वा स्वानकी, तुलसी डारहु धूरि॥

ऊपर कहा जा चुका है कि नाम और नामीका अभेद है, अतः जिस प्रकार भगवान् राम सम्पूर्ण विश्ववृक्षके बीज हैं, उसी प्रकार राम-नाम भी सम्पूर्ण वाङ्मयका बीज है। जिस प्रकार बीजसे वृक्षका आविर्भाव होना है और फिर वही उसके फलमें भी स्थित रहता है उसी प्रकार सारा प्रपञ्च श्रीरामसे ही प्रकट हुआ है और वे ही इसमें ओतप्रोत हैं। इसी तरह राम-नाम भी सम्पूर्ण वाङ्मयमें व्याप्त है। जिसने इस अमृतमय नामका जप नहीं किया उसका मनुष्यजन्म लेना व्यर्थ ही है। इसका आश्रय लेनेसे ही मानवदेहकी सार्थकता होती है। जिस प्रकार पारसके स्पर्शसे लोहा सुवर्ण हो जाता है, उसी प्रकार राम-नामके प्रभावसे जीव शिव हो जाता है। किसी कविने कहा है—

> राम जपत कुष्टी भला, चुइ चुइ परै जु चाम।
> कंचन-देह केहि कामकी, जा मुख नाहीं राम॥
> पारसरूपी राम है, लोहारूपी जीव।
> जब जा पारस भेटि है, तब जिव होसी सीव॥

अतः मनुष्यको बाल्यावस्थासे ही राम-नामका आश्रय लेना चाहिये । जिसने रात-दिन नाम-जप करके अपनी जीभ और हृदयको पवित्र कर लिया है तथा जीवनभर इसी व्रतमें लगा रहता है, उसीको अन्त समयमें प्रभुका स्मरण होता है और वही प्रभुके परमधाममें प्रवेश कर सकता है । ऐसा नामनिष्ठ पुरुष यदि किसी बीमारीके कारण अन्तकालमें बेहोश हो जाय और नाम-स्मरण न कर सके तो प्रभु स्वयं स्मरण करके उसका उद्धार कर देते हैं । वे स्वयं कहते हैं—

कफवातादिदोषेण मद्भक्तो न च मां स्मरेत् ।
तस्य स्मराम्यहं नो चेत् कृतघ्नो नास्ति मत्परः ॥

'यदि मेरा भक्त कफ-वातादि दोषोंके कारण (अन्तमें) मेरा स्मरण नहीं कर पाता तो मैं स्वयं उसे स्मरण करता हूँ, नहीं (जीवनभर मेरा स्मरण करनेवाले भक्तको यदि उसके अन्तकालमें मैं बिसार दूँ) तो मुझसे बढ़कर और कोई कृतघ्न नहीं हो सकता ।' इस प्रकार जिस नामनिष्ठ भक्तके स्वयं प्रभु ऋणी हो जाते हैं और उसे भूलनेमें अपनी कृतघ्नता समझते हैं उसके उद्धारके विषयमें क्या शंका हो सकती है ? उस-जैसा बड़भागी तो वही है ।

राम-नामकी महिमाका हम एक मुखसे किस प्रकार वर्णन करें ! उसका ठीक-ठीक निरूपण तो सहस्रमुख-से श्रीशेषजी भी नहीं कर सकते । वे ही क्या, जब स्वयं राम ही उसका वर्णन करनेमें असमर्थ हैं— 'राम न सकहिं नाम गुन गाई'—तो औरोंका तो कहना ही क्या है ? वाल्मीकिने उलटा नाम जपकर भी महर्षिपद प्राप्त कर लिया और राक्षस लोग वैरभावसे स्मरण करके भी परमपदपर प्रतिष्ठित हो गये तो जो श्रद्धा-भक्तिपूर्वक उसका निरन्तर चिन्तन करते हैं उनकी सद्गतिमें किस प्रकार कोई सन्देह किया जा सकता है ? ठाकुर रामसिंहजी कहते हैं—

यातु वैरभाव भजि पाये हैं अशोकपद,
स्वामीभाव ही तें जग-जालमें परेगो का ?
वाल्मीक राम बाम जपिके कुकर्म जारे,
अनुक्रम जपै वपु नाहिं उधरेगो का ?
निन्दक सियाको अघ टारि निज लोक दीन्हों,
बन्दन किये ते चिता-अनल जरेगो का ?
रामांकित उपल तरे हैं तोय-सिन्धुतन,
राम उर धारे भवसिन्धु ना तरेगो का ?

इसमें एक विशेषता और भी है । इसके जपमें किसी प्रकारके अधिकारादिका प्रतिबन्ध नहीं है । सभी वर्ण और सभी आश्रमोंके लोग समान रूपसे जप सकते हैं । इसका आश्रय लेकर सभी वर्ण और सभी आश्रमोंमें अनेकों महापुरुष हो गये हैं । किन्तु जो राम-विमुख हैं वे बड़े आचारनिष्ठ होनेपर भी प्रभुके कृपा-भाजन नहीं हो सकते । श्रीगोसाईंजी महाराज कहते हैं—

चतुराई चूल्हे परै, धूर परै आचार ।
'तुलसी' रघुवर भजन बिनु, चारों वरन चमार ॥

योगिराज गुमानसिंहजी कहते हैं कि यदि रामनाम-रूप दो तूँबोंको घट (हृदय) से बाँध ले तो संसार-सागरको गोपदके समान अनायास ही पार कर सकता है—

राम नाम है तुम्बको, घट बिच बाँध गुमान ।
भवसिन्धू गोपद कछुक, तरनो सहज प्रमान ॥

अतः सब प्रकारकी वासना-कामनाओंको छोड़कर केवल राम-नामका ही आश्रय लेना चाहिये । नामकी डोरीमें प्रभु स्वयं बँध जाते हैं और जिनके बन्दी स्वयं राम हों उन्हें फिर दुर्लभ ही क्या रह सकता है ?

माताजीसे वार्तालाप

(५)

योगमें बुद्धिका स्थान—विरोधी शक्तियोंसे मुकाबला—श्रद्धाकी शक्ति—मृत्युविजय—प्राकृतिक विपर्यय—पूर्वजन्मोंकी स्मृति

(अनुवादक—श्रीमदनगोपालजी गाड़ोदिया)

[भाग १५ पृष्ठ ११५२से आगे]

'बुद्धिका यथार्थ व्यापार क्या है? यह साधनामें सहायक है या बाधक ?'

साधनामें बुद्धिका सहायक या बाधक होना इसके उपयोग करनेवाले व्यक्तिपर, और किस प्रकार इसका उपयोग किया जाता है, इसपर निर्भर करता है। बुद्धिकी क्रिया सही भी होती है और गलत भी। सही क्रिया सहायक होती है और गलत क्रिया बाधक होती है। जो बुद्धि अपनेको बहुत अधिक महत्त्व देती और अपनी ही आत्मसन्तुष्टि करना चाहती है, वह उच्चतर सिद्धिको प्राप्त करनेमें बाधक होती है।

परन्तु यह बात किसी विशेष अर्थमें ही सत्य नहीं है और यह केवल बुद्धिपर ही लागू नहीं होती; यह सर्वसाधारण है और मनुष्यकी जो अन्य शक्तियाँ हैं उनपर भी उसी प्रकार लागू होती है। उदाहरणार्थ, प्राणकी वासनाओं अथवा पाशविक तृष्णाओंकी तृप्तिमें ही लीन रहनेकी वृत्तिको लोग सद्गुण नहीं समझते। इस सम्बन्धमें वे नैतिक धारणाको एक नियन्त्रणके तौरपर स्वीकार करते हैं। यह नैतिक धारणा उन्हें बतलाती है कि वासनाओं और तृष्णाओंकी सीमा यहाँतक है और इनका उल्लङ्घन करना अनुचित है। केवल बुद्धिकी क्रियाओंके सम्बन्धमें ही मनुष्य ऐसा समझते हैं कि किसी नियन्त्रण या अङ्कुशके विना उनका काम चल जायगा।

सत्ताका कोई भी भाग जो अपने उचित स्थानपर रहता और अपने नियत धर्मका पालन करता है, वह सहायक होता है, किन्तु जैसे ही वह अपनी सीमाके बाहर निकला कि वह आकुञ्चित, विकृत और इस कारण असत्य बन जाता है। किसी भी शक्तिका प्रयोग जब भागवत प्रयोजनकी पूर्तिके लिये किया जाता है, तब वह उचित है, किन्तु वही शक्ति जब अपने ही सन्तोषके लिये प्रयोगमें लायी जाती है तब उसकी गति अनुचित होती है।

बुद्धि अपने सत्य स्वरूपमें अभिव्यक्ति और कर्मका उपकरण है। ऐसा समझो कि मनके ऊपर, उच्चतर भूमिकाओंमें स्थित जो सत्यज्ञान है और यहाँ पार्थिव भूमिकापर उसकी जो उपलब्धि होती है—इन दोनोंके बीच मध्यवर्ती वस्तु 'बुद्धि' है। बुद्धि, और अधिक साधारण रूपमें यदि कहा जाय तो मन, इस सत्यको आकार प्रदान करता है, प्राण इसमें गतिशीलता लाता और जीवन-शक्तिका सञ्चार करता है, और सबके अन्तमें जड़तत्त्वकी बारी आती है जो इसको स्थूलरूपमें मूर्तिमान् करता है।

'उन विरोधी शक्तियोंका, जो नेत्रोंसे अगोचर होते हुए भी जीवन्त और स्पष्टतया अनुभवनीय हैं, मुकाबला किस प्रकार करना चाहिये ?'

यह तुम्हारी चेतनाके विकासकी अवस्थापर बहुत कुछ निर्भर करता है। आरम्भमें यदि तुम्हारे पास विशेष सूक्ष्म ज्ञान और शक्ति न हो तो तुम्हारे लिये सबसे अच्छी बात यह है कि तुम जहाँतक सम्भव हो वहाँतक शान्त और स्थिर रहो। यदि आक्रमण विरोधी सुझावोंका

रूप धारण करे तो तुमको उसे शान्तिके साथ ठीक उसी तरह दूर फेंक देना चाहिये जैसे किसी भौतिक पदार्थको प्रतिकूल होनेपर फेंक दिया जाता है। तुम्हारी शान्ति जितनी ही अधिक होगी उतने ही तुम शक्तिशाली होओगे। सभी आध्यात्मिक शक्तियोंका सुदृढ़ आधार है समचित्तता। किसी भी चीजको तुम्हें ऐसा अवसर नहीं देना चाहिये कि वह तुम्हारी समताको भङ्ग कर सके। यदि तुम ऐसा कर सको तो फिर किसी भी आक्रमणका प्रतिरोध कर सकोगे। इसके अतिरिक्त, यदि तुम्हारे पास यथेष्ट विवेक-शक्ति हो और जैसे ही विरोधी सुझाव तुम्हारे पास आवें वैसे ही तुम उन्हें देख और पकड़ सको तो उन्हें निकाल बाहर करना और भी सहज हो जाता है। किन्तु कभी-कभी ये अलक्षित रूपसे घुस आते हैं और तब इनसे युद्ध करना अधिक कठिन होता है। जब ऐसा हो तब तुम्हें स्थिर होकर बैठना चाहिये और शान्ति तथा गभीर आन्तरिक स्थिरताका आवाहन करना चाहिये। अपने-आपको दृढ़ बनाये रक्खो और श्रद्धा तथा विश्वासके साथ भगवान्‌को पुकारो। यदि तुम्हारी अभीप्सा शुद्ध और अविरत है तो तुम अवश्य सहायता प्राप्त करोगे।

विरोधी शक्तियोंके आक्रमण अपरिहार्य हैं। इनके विषयमें तुम्हें यों समझना चाहिये कि साधनाके मार्गमें ये एक तरहकी परीक्षाएँ हैं और इन अग्नि-परीक्षाओंमेंसे तुम्हें साहसके साथ गुजरना चाहिये। हो सकता है कि यह सङ्घर्ष कठिन हो, किन्तु जब तुम इसको पार करके बाहर निकलोगे तब तुम देखोगे कि तुमने कुछ प्राप्त किया है, तुम एक कदम आगे बढ़े हो! विरोधी शक्तियोंके होनेकी भी एक आवश्यकता है। ये तुम्हारे निश्चयको अधिक दृढ़ करती और तुम्हारी अभीप्साको अधिक शुद्ध बनाती हैं।

फिर भी, यह सत्य है कि इनका अस्तित्व इसीलिये है कि तुमने इनके अस्तित्वके लिये कारण दे रक्खा है। जबतक तुममें कोई भी चीज ऐसी है जो इनकी पुकारका उत्तर देती है तबतक इनका हस्तक्षेप करना सर्वथा उचित है। यदि तुम्हारा कोई भी भाग इनका प्रत्युत्तर न दे, यदि तुम्हारी प्रकृतिके किसी भी अंशपर इनका वश न हो तो ये लौट जायँगी और तुम्हें छोड़ देंगी। परन्तु कुछ भी क्यों न हो, ये तुम्हारी आध्यात्मिक प्रगतिको रोक या अटका नहीं सकतीं।

विरोधी शक्तियोंसे युद्ध करनेमें तुम्हारी पराजय तो एक ही कारणसे हो सकती है और वह है भागवत साहाय्यमें सच्चे विश्वासका न होना। अभीप्साकी सचाई आवश्यक साहाय्यको सदा ले ही आती है। शान्त आवाहन, ऐसा विश्वास कि सिद्धिकी ओर तुम्हारा जो आरोहण हो रहा है उसमें कभी भी तुम अकेले नहीं चल रहे हो और यह श्रद्धा कि जब कभी भी किसी सहायताकी आवश्यकता होगी तो वह सदा तुम्हें उपस्थित मिलेगी,—तुम्हें सहज और निरापदरूपसे इस संग्रामके पार पहुँचा देगी।

'ये विरोधी शक्तियाँ साधारणतया बाहरसे आती हैं या अंदरसे?'

यदि तुम ऐसा सोचते या अनुभव करते हो कि ये अंदरसे आती हैं तो सम्भवतः तुमने अपने-आपको उनके लिये खोल दिया है और वे तुम्हारे अंदर अलक्षितरूपसे आकर जम गयी हैं। वस्तुओंका सहज स्वभाव सामञ्जस्यका स्वभाव होता है, किन्तु कतिपय जगत् ऐसे हैं जहाँ इस सामञ्जस्यमें विकार पैदा होता है जिसके फलस्वरूप विकृति और विरोधकी सृष्टि हो जाती है। विकार पैदा करनेवाले इन जगतोंके साथ यदि तुम्हारा बहुत मेल खाता हो तो यह हो सकता है कि वहाँकी सत्ताओंके साथ तुम मित्रता स्थापित करो और उनकी पुकारका तुम भरपूर उत्तर दो। ऐसा होता है, किन्तु यह कुछ अच्छी अवस्था नहीं है। चेतना तुरन्त अन्धी हो जाती है और तुम सत्य

और असत्यमें विवेक करनेमें असमर्थ हो जाते हो तथा तुम यह कहनेके योग्य भी नहीं रह जाते कि कौन-सी चीज तो मिथ्या है और कौन-सी नहीं ।

कुछ भी हो, जब कोई आक्रमण हो रहा हो तब बुद्धिमानी इसीमें है कि साधक यह समझे कि यह आक्रमण बाहरसे आया है और कहे कि 'यह मेरा स्वरूप नहीं है और मैं इससे किसी प्रकारका सम्पर्क नहीं रक्खूँगा ।' समस्त निम्नतर आवेगों और इच्छाओं तथा मनके समस्त सन्देहों और शङ्काओंके साथ भी तुम्हें यही व्यवहार करना होगा । यदि तुम अपने-आपको इनके साथ तदाकार कर लो तो इनके साथ तुम्हारा युद्ध और भी विकट हो जाता है, कारण उस समय तुम यह अनुभव करने लगते हो कि तुम अपने ही स्वभावको पराजित करने-जैसे अतिदुष्कर कार्यमें लगे हो । परन्तु ज्योंही तुम यह कह सको कि 'नहीं, यह मेरा स्वरूप नहीं है, इससे मैं किसी प्रकारका सम्बन्ध नहीं रक्खूँगा', त्योंही इनको हराकर भगा देना बहुत सहज हो जाता है ।

'अन्तर और बाह्यको जुदा करनेके लिये यदि एक रेखा खींची जाय तो उसका स्थान कहाँपर होगा ?'

यह रेखा अत्यन्त लचीली होगी, तुम चाहो जितना यह तुम्हारे समीप हो सकती है और तुम चाहो जितना यह तुमसे दूर हो सकती है । तुम चाहो तो हरेक बातको अपने ऊपर लेकर उसको अपने वास्तविक आत्माका एक अङ्ग और अंश मान सकते हो अथवा तुम चाहो तो उसको, एक केश या नाखूनके टुकड़ेकी तरह, मनपर किसी बातका असर आने दिये विना, दूर फेंक सकते हो ।

जगत्‌में ऐसे धर्मोंकी सृष्टि हुई है जिनके अनुयायी अपने केश या नाखूनके एक टुकड़ेको भी अपनेसे अलग नहीं करते; कारण, उन्हें भय होता है कि इसमें वे अपने व्यक्तित्वके किसी भागको गँवा न दें । जो लोग अपनी चेतनाको जगत्‌में जितनी ही विशाल बनाकर फैला देनेमें समर्थ होते हैं, वे स्वयं जगद्रूप हो जाते हैं, किन्तु जो लोग अपने क्षुद्र शरीरों और सीमित अनुभवोंमें ही बंद हैं, वे उन सीमाओंपर आकर रुक जाते हैं, उनके शरीर और उनके क्षुद्र अनुभव ही उनके लिये उनका समग्र आत्मा होता है ।

'क्या केवल श्रद्धा सब कुछ सृजन कर सकती है, सब कुछ जय कर सकती है ?'

हाँ, किन्तु यह श्रद्धा सर्वाङ्गसम्पूर्ण होनी चाहिये और निरपेक्ष होनी चाहिये । इसके अतिरिक्त यह सच्चे प्रकारकी होनी चाहिये । यह केवल मानसिक विचार या सङ्कल्पकी एक शक्तिके रूपमें हो, इतनेसे ही काम नहीं चलेगा, यह होनी चाहिये इन सबसे आगे बढ़ी हुई और अधिक गहरी । मनके द्वारा प्रयुक्त जो सङ्कल्प होता है वह विरोधी प्रतिक्रियाओंको उभाड़ता और प्रतिरोध उत्पन्न करता है । रोगियोंको अच्छा करनेकी एमिल कू (Emil Coue) की चिकित्सा-पद्धतिके बारेमें तुमने सुना होगा । वे इस शक्तिके रहस्यको कुछ-कुछ जानते थे और इस शक्तिका प्रयोग उन्होंने बहुत कुछ सफलतापूर्वक किया था । परन्तु इस शक्तिको वे कल्पनात्मक मानते थे और उनकी पद्धतिसे श्रद्धाकी जो शक्ति उत्पन्न होती थी उसे उन्होंने बहुत ही अधिक मानसिक रूप दे दिया था । परन्तु केवल मानसिक श्रद्धा पर्याप्त नहीं है । इस श्रद्धाको प्राणकी श्रद्धाद्वारा यहाँतक कि भौतिक श्रद्धा अर्थात् शरीरकी श्रद्धाद्वारा भी पूर्ण और शक्तिशालिनी बनाना होगा । यदि तुम अपने अंदर, अपनी समस्त सत्तामें इस प्रकारकी एक सर्वाङ्गसम्पूर्ण शक्तिकी सृष्टि कर सको तो फिर कोई भी चीज इस शक्तिका प्रतिरोध नहीं कर सकेगी । परन्तु तुम्हें अपने अत्यन्त अवचेतन भागोंतक पहुँचना होगा । अपने शरीरके एक-एक अणुतकमें इस श्रद्धाको स्थापित कर देना होगा । उदाहरणार्थ, आजकल भौतिक वैज्ञानिकोंमें भी इस ज्ञानका प्रारम्भ हो चुका

है कि 'मृत्यु' आवश्यक नहीं है। परन्तु सारी मानव-जाति 'मृत्यु'में दृढ़तापूर्वक विश्वास करती है। ऐसा कहा जा सकता है कि यह मनुष्योंमें सर्वसाधारण-रूपसे बैठी हुई एक धारणा है जो एक ऐसे अनुभवपर स्थापित है जो दीर्घकालसे अपरिवर्तितरूपमें होता चला आया है। यदि इस विश्वासको पहले तो सचेतन मनसे और बादमें प्राण-प्रकृति और अवचेतन भौतिक स्तरोंसे निकाल बाहर कर दिया जाय तो मृत्यु एक अपरिहार्य वस्तु नहीं रह जायगी।

'परन्तु मृत्युकी यह धारणा केवल मानव-मनमें ही तो नहीं है, पशुजाति इसको मनुष्यके पहलेसे ही जानती थी?'

मृत्यु एक तथ्यके रूपमें तो इस पृथ्वीपर जितने जीवन हैं उन सभीके साथ लगायी गयी है। किन्तु प्रकृतिने इसको जिस मूल अर्थमें रक्खा था उसको छोड़कर मनुष्य इसे दूसरे ही अर्थमें समझता है। मनुष्य और मनुष्यके तलके अतिसमीपस्थ पशुओंकी चेतनामें मृत्युकी आवश्यकताका एक विशिष्ट रूप और एक विशिष्ट अर्थ हो गया है। परन्तु इस निम्नतर प्रकृतिमें निहित जो अवचेतन ज्ञान है, जो इस अर्थको आश्रय दिये हुए है, वह है पुनर्नवता, परिवर्तन और रूपान्तर करनेकी आवश्यकताका अनुभव।

पृथ्वीपर जड़तत्त्वकी जो अवस्था है उसके कारण ही मृत्यु अनिवार्य हो गयी। जड़तत्त्वके विकासका सारा अर्थ ही यह है कि वह पहले जो उसकी अचेतन अवस्था थी उसको छोड़कर उत्तरोत्तर बढ़ती हुई चेतनामें परिणत होवे। और परिणत होनेकी इस प्रक्रियामें, जब कि यह सब यथार्थमें क्रियान्वित होने लगा, आकारोंका विनाश होना एक अपरिहार्य आवश्यकता हो गयी। कारण, संगठित व्यष्टिगत चेतनाको स्थायी सहारा देनेके लिये दृढ़प्रतिष्ठ रूपकी आवश्यकता हुई। और फिर आकारकी यह दृढ़प्रतिष्ठता ही है जिसने मृत्युको अपरिहार्य बना दिया। जड़तत्त्वको आकार धारण करने थे, कारण आकार-धारणके बिना जीवन-शक्तियों अथवा चेतनाकी शक्तियोंका व्यष्टिकरण तथा पिण्ड-रूप-ग्रहण असम्भव होता और इनके बिना पार्थिव भूमिकापर संगठित अस्तित्वके लिये अपेक्षित प्रारम्भिक अवस्थाओंका ही अभाव होता। परन्तु आकारपरिमित और पिण्डरूपप्राप्त रचनाका यह स्वभाव है कि वह तुरन्त कठोर, सख्त और पाषाणवत् बन जानेकी ओर प्रवृत्त होती है। व्यक्तिरूप-प्राप्त आकार हर ओरसे बाँध रखनेवाले साँचेके रूपमें स्थिर और कायम रहना चाहता है। वह शक्तियोंकी गतियोंका अनुसरण नहीं कर सकता। विश्वलीलाकी गतिशीलतामें जो परिवर्तन होते रहते हैं उनके साथ सामञ्जस्य रखकर वह अपनेको परिवर्तित नहीं कर सकता, प्रकृतिकी माँगोंको वह लगातार पूरा नहीं कर सकता और उसके साथ-साथ नहीं चल सकता; वह प्रवाहसे बाहर हो जाता है। आकार और उसपर दबाव डालनेवाली शक्तिके बीचमें जो यह उत्तरोत्तर वृद्धिको प्राप्त होती जाती हुई असमानता और असामञ्जस्य है वह जब एक विशिष्ट सीमाको पहुँच जाता है तब आकारको पूर्ण रूपसे नष्ट कर देना अनिवार्य हो जाता है। तब एक नये आकारकी सृष्टि करनी पड़ती है, एक नवीन सामञ्जस्य और समानताको सम्भवित करना पड़ता है। मृत्युका सच्चा अर्थ यही है और प्रकृतिमें यही इसका उपयोग है। परन्तु यदि आकार अधिक फुरतीला और नमनशील बन सके और शरीरके अणुओंकी परिवर्तित होती हुई चेतनाके अनुसार जागृत किया जा सके तो ऐसे उग्र विनाशकी आवश्यकता नहीं होगी, मृत्यु अपरिहार्य नहीं रह जायगी।

'किसीने कहा है कि प्रकृतिमें जो दुर्घटनाएँ और विपर्यय होते हैं, जैसे कि भूकम्प, भयङ्कर बाढ़ और महा-द्वीपोंका जलमग्न हो जाना आदि, वे बेसुरी और पापपूर्ण मानवजातिके कारण ही होते हैं और मानवजातिकी उन्नति

और विकासके साथ-साथ भौतिक प्रकृतिमें भी तदनुरूप परिवर्तन हो जायगा—यह बात कहाँतक सत्य है ?'

इस विषयका सत्य शायद यह है कि विपत्तियों और विपर्ययसे आकीर्ण प्रकृतिमें तथा असामञ्जस्यपूर्ण मानवजातिमें, दोनोंमें, चेतनाकी एक ही अभिन्न गति है जो अभिव्यक्त होती है। इन दोनोंमें कार्य-कारण-सम्बन्ध नहीं है, बल्कि ये दोनों एक ही भूमिकापर स्थित हैं। इन दोनोंके ऊपर विद्यमान एक चेतना है जो पृथ्वीपर अभिव्यक्त और मूर्त्तिमान् होनेकी चेष्टा कर रही है, और पृथ्वीकी ओर उसका जो अवतरण होता है उस क्रियामें वह सर्वत्र ही, अर्थात् मनुष्य और भौतिक प्रकृति, दोनोंको ही, समानरूपसे प्रतिरोध करते हुए पाती है। पृथ्वीपर जो कुछ भी अव्यवस्था और असामञ्जस्य है वह इस प्रतिरोधका ही फल है। विपत्ति और विपर्यय, संघर्ष और हिंसा, अन्धकार और अज्ञान—ये समस्त दोष इस एक ही स्रोतसे निकलते हैं। बाह्य प्रकृतिका कारण मनुष्य नहीं है, उसी तरह मनुष्यका कारण बाह्य प्रकृति नहीं है, बल्कि ये दोनों ही उस एक वस्तुपर निर्भर करते हैं जो इनके पीछे है, इनसे महान् है, और उस वस्तुको अभिव्यक्त करनेके लिये हो रही इस जड़ प्राकृतिक जगत्की जो शाश्वत और प्रगतिशील गति है—उसके ये दोनों ही अंश हैं।

अब, यदि पृथ्वीमें कहींपर एक ऐसी ग्रहणशीलता जागृत हो जाय, एक ऐसा उद्घाटन हो जाय जो अपनी पवित्रतामें भागवत चेतनाकी किसी चीजको उतार लानेके लिये पर्याप्त हो तो जड़ जगत्में जो यह अवतरण या अभिव्यक्ति होगी वह केवल आन्तरिक जीवनका ही रूपान्तर नहीं करेगी, बल्कि जड़ प्राकृतिक अवस्थाओंका भी; मनुष्य और प्रकृतिमें जो भौतिक अभिव्यक्ति है, उसका भी रूपान्तर कर सकेगी। इस अवतरणका सम्भवित होना मानवजातिकी सामूहिक अवस्थापर निर्भर नहीं करता। यदि हमको उस समयतक ठहरना पड़े जब कि मानवजाति सामूहिक रूपसे सामञ्जस्य, एकता और अभीप्साकी एक ऐसी अवस्थाको प्राप्त हो जाय जो दिव्य प्रकाशको उतार लाने और जड़ प्राकृतिक अवस्थाओंका रूपान्तर करनेके लिये काफी बलवान् हो, तब तो कुछ विशेष आशा नहीं रक्खी जा सकती। परन्तु कोई एक व्यक्ति अथवा एक छोटा-सा सङ्घ या कुछ थोड़े-से लोग इस अवतरणको प्राप्त करा सकें ऐसी सम्भावना है। इस विषयमें संख्या अथवा विस्तार कोई महत्त्वकी बात नहीं है। भागवत चेतनाका एक बिन्दु भी यदि पार्थिव चेतनामें प्रवेश कर जाय तो वह यहाँकी हरेक वस्तुका रूपान्तर कर सकेगा।

चेतनाकी उच्चतर और निम्नतर भूमिकाओंमें परस्पर सम्बन्ध स्थापित होने और इनके एक दूसरेमें मिल जानेका जो रहस्य है, वही महान् गुह्य है, गुप्त कुञ्जी है। इसमें रूपान्तर करनेकी शक्ति सदा ही रहती है, अन्तर इतना ही है कि यहाँ वह शक्ति अधिक परिमाणमें होगी और उच्चतर अवस्थाको प्राप्त करावेगी। यदि पृथ्वीपर कोई ऐसा व्यक्ति हो जिसमें उस भूमिकाके साथ जिसकी अभीतक यहाँ अभिव्यक्ति नहीं हुई है, सचेतन सम्बन्ध स्थापित करनेकी क्षमता हो और उस भूमिकामें ऊपर उठनेके द्वारा वह अपनी चेतनाके अंदर उस भूमिका और पार्थिव भूमिकाका मिलन कराकर उन्हें एक स्वरमें मिला सके, तो प्रकृतिके रूपान्तर करनेके जिस महान् कार्यका निश्चय किया जा चुका है, पर जो अभीतक बाकी पड़ा है, वह पूरा हो जायगा। एक नयी शक्ति अवतरण करेगी और पृथ्वीपर अभी जो जीवन है उसका परिवर्तन कर देगी।

फिर भी, इतना तो है ही कि जब-जब किसी महान् आत्माका आविर्भाव हुआ है और उन्होंने सत्यकी किसी ज्योतिको प्रकट किया अथवा पृथ्वीपर किसी नयी शक्तिका अवतरण कराया, तब-तब पृथ्वीकी अवस्थाओंमें

फेर-फार हुआ है, फिर चाहे यह परिवर्तन बिलकुल उस प्रकारसे न भी हुआ हो जैसी कि उसके द्वारा आशा और प्रतीक्षा की गयी थी। उदाहरणार्थ, कोई व्यक्ति जिसने ज्ञान, चेतना और आध्यात्मिक अनुभूतिकी अमुक भूमिकाको प्राप्त किया है, आया और कहा कि 'मैं तुम्हारे लिये मुक्ति ला रहा हूँ' अथवा यह कहा कि 'मैं तुम्हारे लिये शान्ति ला रहा हूँ।' अब जो लोग उसके इर्द-गिर्द थे उन्होंने शायद यह समझा कि वह उस वस्तुको स्थूलरूपमें ला रहा है, किन्तु जब उन्होंने देखा कि उन्होंने जैसा सोचा था वैसा कुछ भी नहीं हुआ, तब वे उस व्यक्तिकी कृतिको समझ न सके। उसने जो कुछ किया था वह तो चेतनाका एक परिवर्तन था, एक ऐसी शान्ति थी, जिसको लोग अभीतक नहीं जानते थे, अथवा वह मुक्तिलाभ करनेकी एक ऐसी क्षमता थी जो लोगोंमें पहले नहीं थी। परन्तु ये सब जो कुछ क्रियाएँ हुईं वे आन्तर जीवनसे सम्बन्ध रखती थीं और इनसे जगत्के बाह्य रूपमें कोई दृश्य परिवर्तन नहीं हुआ। सम्भव है कि जगत्के बाह्य स्वरूपका परिवर्तन करनेकी उसकी इच्छा ही न रही हो, हो सकता है कि ऐसा करनेके लिये उसके पास आवश्यक ज्ञान न हो, पर फिर भी इस प्रकारके पथ-प्रदर्शक जगत्में कुछ कर गये है।

पृथ्वीका बाह्यस्वरूप सब प्रकारसे विपरीत दिखायी देनेपर भी, यह अच्छी तरहसे कहा जा सकता है कि पृथ्वी किसी विशिष्ट साक्षात्कारके लिये क्रमशः धीरे-धीरे तैयार हो रही है। मानवसभ्यतामें और प्रकृतिमें कुछ परिवर्तन हुआ है। यदि यह प्रत्यक्षरूपसे दिखायी नहीं देता है तो इसका कारण यह है कि हमलोग इस विषयको केवल बाह्य दृष्टिकोणसे ही देखते हैं और यह कि जड़तत्त्व और उसकी कठिनाइयोंका सामना अभीतक गम्भीरतापूर्वक और सम्यक्रूपसे नहीं किया गया है। फिर भी आन्तरिक प्रगति हुई है, आन्तरिक चेतनामें दिव्य ज्योतिके अवतरण हुए हैं। परन्तु जड़तत्त्वमें कोई उपलब्धि हुई है या नहीं, इसके बारेमें कुछ भी कहना कठिन है, कारण वहाँ जो कुछ हो चुका होगा उसको हमलोग ठीक-ठीक नहीं जानते हैं।

अतिप्राचीन कालमें महान् और सुन्दर सभ्यताएँ हो चुकी हैं, जिनकी भौतिक अवस्था सम्भवतः वर्त्तमान कालके जितनी ही उन्नत थी। एक विशिष्ट दृष्टिकोणसे देखनेपर यह ज्ञात हो सकता है कि अत्यन्त आधुनिक सभ्यता अत्यन्त प्राचीन सभ्यताकी पुनरावृत्तिमात्र ही है। फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि कहींपर कोई प्रगति हुई ही नहीं है। कम-से-कम यह तो हुआ ही है कि हमारी आन्तरिक प्रगति हुई है, और हमारे जड़ प्राकृतिक अंगोंमें उच्चतर चेतनाके आवाहनका प्रत्युत्तर देनेकी तत्परता अधिक परिमाणमें जागृत हो गयी है। बारम्बार एक ही क्रियाको इसलिये दोहराना पड़ा है कि जिस बातका प्रयास किया गया था वह कभी भी पर्याप्तरूपमें नहीं किया गया। परन्तु प्रत्येक बार वह पर्याप्तरूपमें किये जानेके समीप पहुँच रहा है। किसी कसरतको जब हम बारम्बार करते हैं तब हमें यह मालूम होता है कि हम सदा एक ही चीजकी पुनरावृत्ति कर रहे हैं, किन्तु यह होते हुए भी उसके एकत्रीभूत परिणामको देखनेपर यह मालूम होता है कि उस क्रियाके फलस्वरूप बहुत कुछ परिवर्तन हुआ है।

भूल यह होती है कि इन बातोंको हम मानव चेतनाके सीमित परिमाणोंद्वारा देखते हैं। और इस तरह देखी गयी ये गहन और विशाल गतियाँ समझमें नहीं आतीं। मर्यादित मानवबुद्धिद्वारा इनको समझने या इनकी व्याख्या करनेका प्रयत्न करना खतरनाक है। यही कारण है कि दर्शनशास्त्र जगत्के रहस्यका उद्घाटन करनेमें सदा असफल रहा है। यह इसलिये कि उसने इस विश्वको मानव-मनके छोटेसे ढाँचेके अंदर बैठा देनेकी चेष्टा की है।

'हममेंसे कितने ऐसे हैं जिन्हें अपने पूर्वजन्मोंकी स्मृति है ?'

सभीके अंदर, हमारी चेतनाके एक भागमें, यह स्मृति रहती है। परन्तु यह एक खतरनाक विषय है, कारण मानव-मनको अद्भुत-अद्भुत कहानियोंका बड़ा शौक होता है। जैसे ही उसको पुनर्जन्मके सत्यके बारेमें कुछ ज्ञात होता है, वैसे ही वह इसके चारों ओर एक सुन्दर कहानी गढ़ डालना चाहता है। इस सृष्टिकी रचना किस प्रकार हुई, भविष्यमें इसकी क्या गति होगी, तुम पहले कैसे और कहाँ जन्मे थे और आगे क्या होओगे, कैसे-कैसे जीवन तुमने बिताये हैं और अब कैसे-कैसे जीवन बिताओगे, इन बातोंके विषयमें अद्भुत-अद्भुत कहानियाँ कहनेवाले तुम्हें बहुत-से लोग मिलेंगे। परन्तु इन सबसे आध्यात्मिक जीवनका कुछ सम्बन्ध नहीं। पूर्वजन्मोंकी सच्ची स्मृति पूर्ण ज्ञानका एक अङ्ग अवश्य हो सकती है, किन्तु इस ज्ञानकी प्राप्ति इस प्रकारकी सुन्दर-सुन्दर कल्पना-तरङ्गोंसे सम्भव नहीं। यह ज्ञान यदि एक ओरसे विषयाश्रित है तो दूसरी ओरसे यह बहुत कुछ व्यक्तिगत और विषयीभूत अनुभूतिपर निर्भर करता है और यहींपर बनावट और विकार पैदा करने तथा असत्य रचनाओंको गढ़ डालनेकी सम्भावना रहती है। इन बातोंके सत्यतक पहुँचनेके लिये यह आवश्यक है कि अनुभव ग्रहण करनेवाली तुम्हारी जो चेतना है वह शुद्ध और निर्मल हो, किसी भी मनोमय या प्राणमय हस्तक्षेपोंसे स्वतन्त्र हो और तुम्हारी व्यक्तिगत धारणाओं और भावुकताओंसे तथा अपने ही तरीकेसे समझाने या व्याख्या करनेकी मनकी जो आदत है उससे, मुक्त हो। पूर्वजन्मोंका जो अनुभव होता है वह सत्य हो सकता है, किन्तु तुमने जो कुछ देखा और तुम्हारे मनने उसकी जो कुछ व्याख्या की, अथवा उसका जो रूप गढ़ा, इन दोनोंके बीचमें एक बड़ी भारी खाई होती ही है। जब तुम मानव-भावनाओंसे ऊपर उठ सकोगे और अपने मनसे अलग हो सकोगे तभी यह हो सकता है कि तुम इस सत्यतक पहुँच सको।

आज और कल

(लेखक—श्रीलावेल फिल्मोर)

याद रक्खो तुम्हारा भविष्य तुम्हारे वर्तमानपर निर्भर करता है। आज तुम जो कुछ हो, जैसा सोच रहे हो, कर रहे हो—इसीमें निहित है तुम्हारा कलका जीवन, तुम्हारा सोचना और करना। यदि तुम बीते हुए 'कल' से आनेवाले 'कल' को श्रेयस्कर बनाना चाहते हो तो आजकी क्रियाओंको सुन्दर बनाओ।

आनेवाले 'कल' के लिये आजका दिन बीता हुआ 'कल' है। तुम्हारा जो आजका जीवन है, उसे तुम कैसा समझ रहे हो ? क्या यह उतना सुन्दर है जितना कि तुम इसे कल बनानेकी इच्छा करते थे ? क्या तुमने 'कल' अपने जीवनकी अपूर्णताओंकी उपेक्षा करके आशा की थी कि कल यह सुधर जायँगी ? क्या तुम आज भी वही भूल कर रहे हो और आजके अवसरकी उपेक्षा करके आनेवाले कलका सुन्दर स्वप्न देख रहे हो ?

यही समय है जिसने तुम्हें स्वर्ण अवसर प्रदान किया है। तुम्हारे आनेवाले जीवनकी सफलताकी कुञ्जी इसीके पास है। वह कुञ्जी है अपनी सफलताके स्रोतको ठीक-ठीक अनुभव करना और उसके साथ-साथ चलना। यदि तुम अपने आध्यात्मिक कल्याणके स्रोतको आज ढूँढ़ते हो तो निश्चय ही इससे तुम कलके कल्याणकी अभिव्यक्तिकी दृढ़ नींव डालते हो।

यथार्थमें कल है ही नहीं, क्योंकि यहाँ सदा आज-ही-आज है। यदि तुम्हारा आज बिगड़ा, तो तुम्हारा कल बिगड़ जायगा। यदि तुम अपने कल्याणको कलके लिये टाल देते हो तो वह तुम्हारे हाथसे चला जाता है। उसे तबतक हस्तगत किये रक्खो, जबतक तुम कर सकते हो, अभ्यास करो, इसका विकास होगा, और जब आनेवाला कल आज बनेगा तो तुम इसके समृद्ध फलका उपभोग करोगे।

नवीन आयोजनका चिन्तन करना अच्छा है, परन्तु जो अवसर हमें इस समय प्राप्त हुए हैं उनकी ठीक-ठीक क़द्र करना ही सभी आयोजनोंकी सफलताका आधार है। बहुत-से लोग समझते हैं कि वर्तमान तो खाली है और भविष्यमें उनके लिये समृद्धि और प्रतिष्ठा निहित है। वे आजकी भली वस्तुओंको, जो सामने हैं, नहीं देखते; क्योंकि उनका मन भविष्यके ऊपर ही केन्द्रित होता है। भविष्यका रोना रोनेसे तुम्हारी सफलतामें कोई प्रगति नहीं हो सकती; वर्तमानसे ही भविष्यके आनन्दका आविर्भाव होगा। वर्तमान जीवनको सुन्दर, कल्याणमय और उन्नत बनाना पड़ेगा, क्योंकि भविष्यका जीवन इसीपर अवलम्बित है। वर्तमानके ऊपर विरक्त मत होओ, क्योंकि यही तुम्हारा विश्वास-पात्र और उदार मित्र है, और तुम्हारे प्रेम और सदिच्छाका भरपूर बदला चुकाता है। सदा सन्निहित रहनेवाले अपने इस मित्रकी सम्भावनाओंसे परिचय प्राप्त करनेमें देर न लगाओ। कदाचित् इनमें सबसे बड़ी सम्भावना है तुम्हारे लिये अन्तःकरणमें स्थित भगवान्के साथ परिचय प्राप्त करनेका शुभ अवसर। इस आनन्दमय अनुभवको किसी दूसरे अधिक सुविधाजनक अवसरके लिये स्थगित न करो। अपने अध्यात्म-प्रसादके आनन्दको कलके लिये मत टालो। तुम सोने, खाने-पीने, साँस लेनेको तो कलपर नहीं छोड़ते। याद रक्खो कि तुम्हारा अस्तित्व पूर्णतः उस भौतिक आहारपर ही अवलम्बित नहीं है, जिसे तुम लेते हो, क्योंकि तुम्हारा पोषण आत्मोत्साहके द्वारा होता है। प्रत्येक भगवद्वाणी तुम्हारे जीवन-धारण करनेमें मदद करती है, और तुम्हें स्वस्थ और प्रसन्न बनाती है। इस आध्यात्मिक आहारके बिना तुम्हारी आत्मा भूखी रह जायगी। प्रतिदिन स्वतन्त्रतापूर्वक भगवान्की अमृत-वाणीका आत्मपोषक आहार ग्रहण करते रहो। तुम्हारा जीवन अधिकाधिक समृद्ध होता जायगा।

बहुत-से आदमी जीवनसे ऊब जाते हैं, यह कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। इसका कारण यह है कि वे लोग केवल भौतिक आहारपर ही जीनेकी चेष्टा करते हैं। वे जीवनके वास्तविक आध्यात्मिक आहारको भविष्यके लिये टाल देते हैं। आध्यात्मिक दृष्टिसे वे भूखे रह जाते हैं, और उन्हें अपनी अवस्थाका ज्ञान नहीं रहता।

तुम आजसे ही जीवनके इस आहारका उपभोग करना प्रारम्भ कर दो और मनसे इसका आस्वादन करते हुए अपने जीवनको आनन्द, शान्ति, प्रेम और समतासे भर दो। इन भली वस्तुओंके उपभोगको कलपर मत टालो। अभीसे इनका उपभोग करना प्रारम्भ कर दो।

भगवान्ने कहा है—'तू पहले उसके साम्राज्य और उसके धर्मको ढूँढ़। और यह सब वस्तुएँ तुझे प्राप्त हो जायँगी।' उन्होंने यह भी कहा है कि—'भगवान्का साम्राज्य तुम्हारे भीतर है।' उनके कहनेका यह मतलब नहीं है कि वह तुम्हारे भौतिक शरीरके भीतर है, बल्कि आध्यात्मिक साम्राज्यके सम्पर्कमें रहनेकी योग्यता तुम्हारे भीतर निहित है। भगवान्का साम्राज्य आध्यात्मिक पुरुषके भीतर है। जैसे ही तुम अपने हृदयमें भगवान्को खूब सावधानीके साथ ढूँढ़ोगे, तुम्हें वे मिल जायँगे।

तुम्हारे जीवनके आध्यात्मिक स्रोत हैं भगवान्! भगवान्की कृपासे ही तुम उन्हें जान सकते हो। भगवान् तुम्हारी चेतनाके द्वारको खटखटा रहे हैं। क्यों नहीं आज ही द्वार खोलकर उन्हें भीतर ले लेते हो? आजसे ही जीवनको अधिकाधिक समृद्ध बनाओ। भगवान्के अवतरित होनेका मूल कारण यही है कि हम जीवन प्राप्त करें और उसे अधिक समृद्ध बनावें। वह समृद्ध जीवन सर्वत्र व्यापक है और इस प्रतीक्षामें है कि तुम उसका उपभोग करो। वही भगवान्-का अस्तित्व है, उसे आज ही ग्रहण करो, उपभोग करो और तन्मय हो जाओ। क्योंकि कलका कोई अस्तित्व नहीं है, इसलिये इसे आज ही करो!

('युनिटी' से)

संकीर्तनमें अन्तःक्रिया

(लेखक—रायबहादुर पंड्या श्रीबैजनाथजी बी० ए०)

'कल्याण'के साधनाङ्कमें जो 'कीर्तनका सविशेष वर्णन' शीर्षक मेरा लेख छपा था उसे पढ़कर बहुत-से सज्जनोंने मुझे पत्र लिखकर कई प्रश्न पूछे हैं। इसलिये मैं इस विषयको वैज्ञानिक शोधकी दृष्टिसे लिखता हूँ और मेरी दृष्टिमें जो उसके गुण और संभाव्य दोष हैं उनको भी प्रकट कर देना चाहता हूँ ताकि पाठकगण विचारकर उस विषयको पूर्णरीतिसे समझ लें। उसे समझनेके लिये हमें यह ध्यानमें रखना चाहिये कि प्रकृतिमें सात लोक हैं, भू, भुवः, स्वः, महः, जन इत्यादि। अर्थात् सूर्यमण्डलमें सब ग्रहोंमें प्रकृति सात प्रकारकी है; इन सात लोकोंमें और ग्रहोंके समान अलग-अलग सृष्टियाँ भी हैं और उन लोकोंकी हमारी चेतनाएँ भी अलग-अलग हैं। हमारी भूलोककी चेतनाको हम जाग्रत्, भुवर्लोककी चेतनाको स्वप्न, स्वर्लोककी चेतनाको सुषुप्ति और महर्लोककी चेतनाको तुरीय, उससे आगेवालीको तुरीयातीत कहते हैं। उससे आगे भी चेतना है। पर सब मनुष्य वहाँ साधारणतः नहीं पहुँच सकते। इन लोकोंमें कार्य करनेके लिये मनुष्यमें उन प्रकृतियोंके बने शरीर भी हैं। भूलोकमें स्थूल शरीर या अन्नमयकोश काम करता है। भुवर्लोकमें मनके भावोंको प्रकट करनेवाला वासना-देह (Astral body) है। मनके सब भावोंसे वह कम्पित होता है। स्वप्न-अवस्थामें उसी शरीरमें निकलकर जीव भुवर्लोकमें विचरता है, प्रेतोंसे भी मिल सकता है, और प्रेतलोकमें बहुत-से सहायताके कार्य कर सकता है। मनोमयकोशसे नीचे स्वर्गमें या सुषुप्तिमें पहुँचना होता है। वासनादेहको वेदान्तने मनोमयकोशमें ही शामिल कर दिया है क्योंकि भावना और विचार दोनों साथमें ही क्रिया करते हैं। विज्ञानमयकोश ऊँचे स्वर्गमें कार्य करता है और आनन्दमयकोश महर्लोकमें। महर्लोकमें अति आनन्द और एकताका भान होता है और वहाँ रूपका अभाव है। विचारके मनमें आनेसे मनोमयकोश कम्पित होता है। उसीके अनुकूल भाव भी उठता है और वासनादेह भी कम्पित होता है। यदि विचार शुद्ध, निःस्वार्थ, प्रेम, भक्ति, सेवा आदिका हो तो विज्ञानमयकोश भी कम्पित होगा। अतिशुद्ध प्रेम और एकताके विचारोंसे आनन्दमय भी कम्पित होता है। इन ऊँचे विचारोंसे और कम्पनोंसे उन कोशोंकी उन्नति होती है। इन विचारोंके कम्प हमारी इन देहोंसे निकलकर दूसरे मनुष्योंके देहोंको भी कम्पित करते हैं और उनमें वैसे भाव प्रकट करनेका प्रयत्न करते हैं।

समूहके विचारों (Massmentality) में बहुत बड़ी शक्ति रहती है। उसके क्षेत्रमें यदि दूसरे लोग आ जायँ तो उनपर भी वही प्रभाव पड़ता है। इसके उदाहरण हमलोग लड़ाई-दंगोंमें देखते हैं कि समूहमें जो क्रूरता होती है वह व्यक्तिकी क्रूरतासे कईगुना अधिक होती है। ऐसे ही यदि समूहकी भक्ति होगी तो वह इतनी बलवती होगी कि दूसरे लोग उसके कार्यक्षेत्रमें आनेसे उस प्रवाहमें बह जायँगे। ईसाई देशोंमें जब बड़े-बड़े जनसमूहोंमें धार्मिक उपदेश होते हैं तो कई लोग पागल-से होकर जमीनपर लोटने लगते हैं और कुछ कालके लिये उनमें बड़ा धार्मिक आवेश हो जाता है। सामूहिक कीर्तनका भी ऐसा प्रभाव पड़ता है। समूहकी भक्तिसे, क्रोधसे या द्वेषसे भुवर्लोककी प्रकृतिमें बहुत क्षोभ या हलचल होती है जिससे उसमें अन्तरिक्षचारी यक्षगण खिँच आते हैं, और वे भी उस क्षोभका आनन्द लेनेको उसे और बढ़ा देते हैं।

मि० लेडबीटर दिव्यदृष्टिवाले एक बड़े योगी और ज्ञानी थे। उनका कहना है कि लोग अक्सर भुवर्लोकके भक्तिप्रवाहको सत्य, आध्यात्मिक उद्गार समझते हैं। पश्चिमीय देशोंमें धार्मिक पुनरुद्दीपन (Religious revivalist) सभाओंमें इस बातके उदाहरण देखनेमें आते हैं, जब बिलकुल अपढ़ और अविकसित मनुष्योंमें गाढ़ भक्तिवाले मनुष्यके उपदेश या व्याख्यानसे थोड़ी देरके लिये गाढ़ भक्तिका उन्माद (Ecstasy) उत्पन्न हो जाता है। उससे बहुत कुछ लाभ तो होता है पर केवल भुवर्लोकका और मनुष्यके भावका। कई बार ऐसी सभाओंसे कुछ हानि भी होती है। कभी-कभी कोई-कोई लोग मनके दुर्बल या पागल भी हो जाते हैं। जहाँ लोग महर्लोककी चेतनातक पहुँच सकते हैं वहाँ सच्चा लाभ होता है। जिस प्रेमोन्मादमें केवल कूदना, जोरसे चिल्लाना हो, जिसमें व्यक्तिको यह भान न रहे कि मैं क्या करता हूँ, जिसमें अपना अधिकार मिट जाय वह वाञ्छनीय नहीं है और अध्यात्मविद्याके जिज्ञासुको ऐसा उन्माद त्यागना चाहिये। जो भक्तिके आवेशमें महर्लोककी चेतनाको प्राप्त

होता है उसे भी अवर्णनीय आनन्दका भान होता है और वह भी अपने शरीरसे निकल जाता है; पर उसका यह भान कभी नहीं मिटता कि मैं 'मैं' हूँ । वह ऊँचे लोकमें है और उसका अपने ऊपरका अधिकार बना रहता है ।

दिव्यदृष्टिवालेको ऐसी धार्मिक पुनरुद्दीपन (Revivalist) सभाओंमें दीख पड़ता है कि उसमें छोटे अन्तरिक्षचारी (Non-human entities) असंयत मनके भावोंकी लहरोंका लाभ उठानेके लिये जमा हो जाते हैं । मनके भावोंमें बड़ी शक्ति रहती है । भुवर्लोकमें इन भावोंसे बड़ी-बड़ी तरंगें उठती हैं जैसी समुद्रमें बड़े तूफानसे उठती हैं । बहुत-से भुवर्लोकके जीव इस तूफानमें लोटते हैं और उसे और बढ़ाते हैं । इनके कारणसे उस भावप्रवाहकी शक्ति और भी बढ़ जाती है । यदि गाढ़ भक्ति-प्रवाहके आनन्द और उच्च दशा-प्राप्तिके साथ-साथ अति शान्तिका अनुभव हो तो समझना कि ऊँची स्थिति प्राप्त हुई है । जहाँ उत्तेजना (Excitement), क्षोभ (Disturbance) और आत्मसंयम (Self-control) का नाश है वहाँ वह नीची स्थितिको प्राप्त हुआ है । (देखिये Talks on the Path of Occultism pp. 800-3)

इसी पुस्तकके पृष्ठ २६३ में लिखा है कि चाहे जितने ऊँचे लोकमें पहुँच सकें पूर्ण चेतना रहनी चाहिये । किसी लोकको पहुँचकर हम सन्तुष्ट होकर अक्रिय नहीं रहना चाहते, पर अपनी चेतना छोड़कर अचेतनता या समाधिकी अवस्थाको भी नहीं जाना चाहते । 'समाधि' शब्द आपेक्षिक है । प्रत्येक व्यक्तिके लिये समाधि वह अवस्था है जहाँ उसकी चेतना लोप होने लगती है । यदि कोई भुवर्लोककी चेतना रख सकता है और स्वर्गलोककी नहीं तो उसके लिये स्वर्गलोकमें जाना ही समाधि है । अपनी चेतनाके हदके परे जाना, एक प्रकारकी अचेतनतामें जाना, जहाँसे लौटनेपर साफ-साफ चेतना नहीं रहती पर दिव्य और सुन्दर भाव रहता है, समाधि है । लोगोंको ध्यान करते समय ऐसी अचेतनताको प्राप्त न होना चाहिये । उन्हें अपनी चेतना बनाये रखनी चाहिये, जिससे लौटनेपर पूरी याद बनी रहे कि हमने क्या-क्या देखा है । समाधिमें जानेसे और आनन्दका अनुभव करनेसे उन्नति सिद्ध नहीं होती क्योंकि वे अपने ऊपर अपना अधिकार छोड़ देते हैं और उन्हें स्पष्ट रीतिसे यह खबर नहीं रहती कि हम क्या करते थे । इस अवस्थामें कुछ जोखिम रहती है कि मालूम नहीं कि शरीरमें कब लौट आना होगा । ×××× चेतना खो देना अच्छी बात नहीं है । अपने कोशोंको अपने वशमें रखना और यह देखते रहना कि हम कहाँ जा रहे हैं यह अच्छी बात है ।

इस कथनका सार यह हुआ कि जब भक्त भक्तिके आवेशमें शान्तिपूर्वक ऊँचे महर्लोकमें पहुँचकर अत्यानन्द और पूर्ण शान्तिको प्राप्त होता है और अपने ऊपर अपना अधिकार बनाये रखता है तब वह अच्छी वाञ्छनीय अवस्थामें है । जहाँ कीर्तनमें भक्तिके उन्मादमें भक्त शरीरसे तो निकल जाता है परन्तु अपने ऊपर उसका अधिकार मिट जाता है वह दशा अवाञ्छनीय है । उसमें मनके दुर्बल होनेका, उन्मादका होना सम्भव है । ऐसी भावना जब उत्पन्न होने लगे तब उस व्यक्तिको चैतन्य हो जाना चाहिये या ऐसे प्रसङ्गपर कीर्तन रोक देना चाहिये । मेरा विश्वास है कि हमलोगोंके कीर्तनमें कोई ऊँचे अदृष्ट व्यक्ति उपस्थित रहकर कीर्तनको सँभालते रहते हैं; सब लोगोंपर अपने आशीर्वादकी क्रिया करते हैं । उनका कहना है कि इसमें किसी भी हानिकी सम्भावना नहीं है । परन्तु हम अपनी अयोग्यताके कारण इनकी उपस्थितिका और नुकसानकी असम्भावनाका निश्चय नहीं कर सकते । इसीलिये ऊपर लिखी चेतावनी देना अत्यावश्यक समझते हैं ।

इसका अर्थ यह नहीं है कि डरकर हमलोग कीर्तनको ही त्याग दें । दूसरे मार्गोंसे भक्तिमार्ग सरल है । स्त्री, पुरुष, पढ़े और अपढ़ सभी इसका लाभ उठा सकते हैं और समूहके कीर्तनसे कीर्तनकारोंको, उस मुहल्लेके लोगोंको और और लोगोंको भी लाभ पहुँचता है अर्थात् आत्मकल्याणके साथ जनकल्याण और जगकल्याण भी होता है । इसलिये संकीर्तन अवश्य करना चाहिये । अब उसकी विधि और आवश्यकताओंको देखें ।

कीर्तनकी प्रथम आवश्यकता परम प्रेम है, गहरी भक्ति है । हमें अपने इष्टसे, रामसे, कृष्णसे, ईश्वरसे तल्लीनता प्राप्त करनेकी गहरी उत्कण्ठा, भारी प्यास, बड़ी तालाबेली, अति मानसिक पीडा होनी चाहिये । कीर्तनके साथ-साथ हृदयकी गहरी पुकार होनी चाहिये तभी हमारे प्यारे श्रीकृष्ण उस कीर्तनमें खिँच आते हैं । दादू भक्त कहते हैं—

दादू पीर ना ऊपजी ना हम करी पुकार ।
तातें साहिब ना मिला दादू दीती बार ॥

दूसरा भक्त कहता है:—

प्रेमभक्तिमाता रहे तालाबेली अंग।
सदा सपीडा मन रहे राम रमे हम संग॥

इसी विरहमें उनका मिलन होता है। जैसे भक्तके चित्तमें विरहका घाव है वैसा उनके हृदयमें भी बड़ा घाव है। कबीरने सत्य कहा है—

बिरहा पीव पठाइयाँ कहि साधू परमोधि।
जा घट तालाबेलियाँ तिन लावो तुम शोधि॥
(साखी ४०)

तभी तो अर्जुन श्रीकृष्णसे कहते हैं—

'प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम्।' (गीता ११।४४)

'हे देव! जैसे पति अपनी प्रियतमा पत्नीके अपराधको सहन करता है वैसे ही आप भी मेरे अपराधको सहन करने योग्य हैं।' मनुष्य अपने इष्टको अपना आशिक या माशूक जो चाहे सो मान सकता है। दोनों एक दूसरेका आकर्षण करते हैं। भक्तिका अर्थ ही है 'परम प्रेम और उनके विस्मरणमें परम व्याकुलता'। यदि ये गुण नहीं हैं तो कीर्तनमें पूरी सफलता न होगी। यदि ये उपस्थित हैं तो अकेले बैठकर कीर्तन करनेकी ध्वनि भी उनतक पहुँच जायगी। जिनमें अभी परम प्रेम और भगवान्के विस्मरणमें परम व्याकुलता नहीं है उन्हें उनको लानेका अभ्यास करना चाहिये। बार-बार वैसे भावोंके अनुभव करनेका प्रयत्न करनेसे वे भाव उपस्थित होने लगेंगे। उन्हें अपने स्त्री-पुत्र-मित्रादिके प्रति गहरे प्रेमका बर्ताव करना चाहिये। ऐसे प्रेमके संकीर्तनसे वे शीघ्र ही प्रकट हो जाते हैं और भक्तोंको अपना अनुभव देते हैं। गीताप्रेसका छपा 'प्रेमदर्शन' ग्रन्थ भक्तिशास्त्रका प्रधान ग्रन्थ है। उसे सब भक्तोंको अवश्य पढ़ लेना चाहिये।

संकीर्तनमें शामिल होनेवाले सदाचारी, उत्साही, श्रद्धा-युक्त, एक दूसरेमें मित्रभाववाले हों, शान्त और पवित्र हों। यदि एक भी विरोधी भाववाला या दोषदृष्टिवाला होगा तो कीर्तनमें उससे बाधा होगी। इस कारण कीर्तन रात्रिको सरलतासे अच्छा जमता है, दिनमें हलचल और चिन्ताओंके कारण थोड़ी अशान्ति रहती है। जहाँतक हो सके कीर्तन करनेका कमरा उसी कामके लिये रक्खा जाय। उसमें दूसरा कोई काम न हो, वह साफ और पवित्र हो और उसमें फालतू दूसरा सामान भरा न हो। तब उसका वातावरण भी भक्तिकारक और पवित्र बना रहेगा। यदि दूसरा सामान होगा तो वह भी अपना प्रभाव डालता रहेगा और उससे थोड़ी बाधा आती रहेगी।

सामूहिक नामसंकीर्तनमें कीर्तन करनेवालोंके भाव पवित्र अवश्य होने चाहिये। कीर्तन केवल भगवान्को रिझानेके लिये हो, लोगोंमें वाहवाही लूटनेके लिये नहीं। दिखावटी आवेश तो दम्भ होता है, उससे बचना चाहिये। कीर्तन करते समय मनमें इष्टदेवका ही चिन्तन होना चाहिये। कामिनी-काञ्चनकी स्मृति बिल्कुल न रहे। न मान पानेकी इच्छा हो। तभी संकीर्तन सफल होता है।

नामसंकीर्तन करनेमें संगीतकी सहायता लेना अच्छी बात है पर संगीत मधुर और भक्तिसे भरा हो। ऐसा भी न हो कि संगीतमें ध्यान लगनेसे हम भक्ति और प्रेमको भूल जायँ। भक्ति और प्रेममय संकीर्तन बिना संगीतके भी सिद्ध होता है। संकीर्तनमें उन्माद न होकर पूर्ण शान्ति, अत्यानन्द, पूर्ण प्रेम, भक्ति और परम आत्मसंयम बने रहने चाहिये।

कभी यह भी पूछा जाता है कि कीर्तन कितनी देरतक करना चाहिये। मेरे विचारसे कम-से-कम आधा घंटातक अवश्य होना चाहिये। यदि कुछ समय अधिक हो तो अच्छी बात है। पर आरम्भमें आध घंटा काफ़ी है। अभ्यास होनेपर समय बढ़ा सकते हैं। कीर्तन समाप्त होनेपर पाँच मिनटतक शान्त भक्ति-भावयुक्त बैठे रहना आवश्यक है; क्योंकि जो आशीर्वाद बरसनेकी क्रिया होती है वह तुरन्त बन्द नहीं हो जाती और उस आशीर्वादके हममें मिल जानेके लिये भी कुछ समय चाहिये। हमारी सच्ची भक्ति देवताओंके द्वारा ईश्वरतक पहुँच जाती है और उससे आशीर्वादका बड़ा प्रवाह उतरता है।

संकीर्तनके स्थानमें श्रीकृष्ण, श्रीराम अथवा भगवान्का और कोई चित्र शुद्ध पीढ़ेपर रक्खा हो। भक्तिसे उसे फूल-माला या फूल चढ़ाये गये हों। उसके पास पूजाके लिये घृतका दीपक भी जलाया गया हो और धूप भी जलायी हो। पूजार्थ दीपक जलानेसे कीर्तनमें बहुत अन्तर पड़ जाता है। कीर्तनके अन्तमें आरती गाना भी आवश्यक है। उससे देवताओंको इत्तिला मिल जाती है कि अब कार्य समाप्त होता है। धूप जलानेसे वातावरण शुद्ध होता है इसलिये धूपबत्तीके सिवा चन्दनके बुरादेमें थोड़ा-सा कोड़ियालोबान मिलाकर जलानेसे वाता-वरणमें पवित्रता बहुत होती है।

अब कीर्तनमें क्या कहना चाहिये । आरम्भमें भगवान् शिवजीको प्रणाम कर लेना चाहिये; क्योंकि शिवजी आदि गुरु और आदि योगी हैं । यह परम्परा भी है । फिर इच्छा हो तो एक कोई ऐसा भजन गाया जाना चाहिये, जिसमें भक्तिका उद्गार हो, न हो सके तो कोई बात नहीं है । इसके बाद नामसंकीर्तन शुरू होना चाहिये । जो नाम अपनेको प्रिय हो उसीका प्रेमभक्तिसे उच्चारण करना चाहिये जैसे अपने प्यारे स्वजनको आतुरतासे बुलाते हों । नामसे नामी खिँच आता है । हमें उस नामीसे एकत्व प्राप्त करना है, वही बन जाना है । किसीने कहा है—

देवो भूत्वा यजेद्देवं नादेवो देवमर्चयेत् ।
येन केन प्रकारेण द्वैतभावं विवर्जयेत् ॥

देवताकी पूजा देव बनकर ही करनी चाहिये । विना देव बने देवताकी पूजा नहीं करनी चाहिये । जैसे भी बने द्वैतभावका त्याग करना चाहिये । कलिसन्तरण-उपनिषद् एक छोटा उपनिषद् है । भारतके ऊँचे जीते-जागते हिन्दू-धर्मके रहस्य इन छोटे उपनिषदोंमें छिपे पड़े हैं । उसमें लिखा है कि नीचे लिखे मन्त्रके, इन १६ नामोंके उच्चारणसे ही कलिके सब पाप धुल जाते हैं, जीवके सब आवरण नाश होते हैं और उसे परब्रह्मकी प्राप्ति होती है । इस कीर्तनकी कोई खास विधि नहीं है । वह मन्त्र यह है—

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे ।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

इसीको महामन्त्र समझना चाहिये । इसका बड़ा प्रभाव पड़ता है । दूसरे भी बहुत-से पद हैं जैसे 'गोविन्द जय जय, गोपाल जय जय । राधारमण हरिगोविन्द जय जय ॥' यह भी बहुत प्रभाव उत्पन्न करता है । 'राधामनमोहन कुंजविहारी । बन-बन फिरे गोपी बिरह की मारी ।' इससे भी अति भक्ति उत्पन्न होती है । कीर्तन प्रायः श्रीराम या श्रीकृष्णका होना चाहिये । सब देवोंके गीत गानेमें भक्तिका उद्गार कम हो जाता है । हाँ, यदि कई लोग एक ही इष्टकी साधनावाले इकट्ठे हुए हों तो वे उस अपने इष्टका कीर्तन कर सकते हैं । पर इष्ट ईश्वररूप ही हो । भगवद्गीताका यह श्लोक सदैव याद रहे—

देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥
(७ । २३)

बहुत-से लोग कीर्तन करते-करते रुक जाते हैं । बीचमें बोल उठते हैं, 'बोलो कृष्णभगवान्‌की जय' इसमें भक्तिका प्रवाह टूट जाता है । इसलिये जितने काल कीर्तन करना है, बराबर कीर्तन जारी रखना चाहिये । कीर्तन खतम होनेतक किसीको बीचमेंसे उठकर चले न जाना चाहिये । संकीर्तनके बीचसे उठकर चले जानेसे आशीर्वादकी क्रियामें बाधा पड़ती है और 'उस पार'वाले व्यक्ति उसे पसंद नहीं करते ।

ऐसे कीर्तन करनेमें कभी-कभी कोई-कोई लोग शरीरसे निकल जाते हैं । छोटे बालकोंपर कीर्तनका बड़ा असर होता है । वे 'उस पार' जाकर श्रीकृष्ण भगवान्‌के साथ खेलते हैं । जो बातचीत होती है उनका शरीर बोलता जाता है । बड़े प्रेमसे खेलते हैं । श्रीकृष्णके चले जानेको रोकते हैं और चले जानेपर खिन्न हो जाते हैं और अपने शरीरमें लौट आते हैं । कोई-कोई बड़े भी बहुत शान्तिसे उनका दर्शन करते हैं और ऊँचे आनन्दका अनुभव करते हैं । एक व्यक्तिके मुखसे भक्तिके उद्गारमें ये वाक्य निकले थे—

हम कृष्ण कन्हैयाकी सेवामें तन-मन-धनको लगा देंगे ।
हम कैसे भक्त हैं प्रभुवरके—दुनियाको खूब दिखा देंगे ॥
जब दुनियामें कुछ ग़म होंगे—ग़मख़ार दिलोंमें हम होंगे ।
उस दर्दके साथी हम होंगे—ग़म सारे जहाँका मिटा देंगे ॥
जब किश्ती भँवरमें पावेंगे—तूफानका जोश मिटा देंगे ।
हम डूबेंगे मर जायेंगे—पर बेड़ा पार लगा देंगे ॥

ये भाव ऊँचे हैं । जब कोई व्यक्ति मूर्च्छित हो जाय तो उसे दूसरे छुएँ नहीं । वह थोड़ी देरमें स्वयं जाग उठेगा । यदि मदद देना है तो उसके सिरसे पाँवतक विना छुए हाथसे आशीर्वाद देते हुए दो-तीन बार पास (Pass) कर देना चाहिये अर्थात् हाथ विना छुए सिरसे पाँवतक आशीर्वाद देनेकी भावनासे ले जाना चाहिये । पर अच्छी बात यही है कि कोई मूर्च्छित न हो, न मूर्च्छित होनेकी इच्छा ही करे ।

वायुपुराणके ११ वें अध्यायमें लिखा है कि यदि योगी हुतसंज्ञ या बेहोश हो जाय तो उसके सिरपर बाँसका छोटा टुकड़ा या तख्ता रखकर उसको धीरे-धीरे दूसरी लकड़ीसे ठक ठक करे तो चेतना वापस आ जाती है ।

सम्भव है कि कीर्तनकारोंके विचारोंके अनुसार ही रूप बनता है । जैसा गीता अध्याय ४ । ११ और ७ । २१ में लिखा है । पर उसमें शक्ति सच्चे इष्टदेवकी ही या ईश्वरकी ही समाती है और कार्य करती है । वह बहुत ही थोड़ी क्यों न हो पर अनन्तका थोड़ा अंश भी तो अनन्त ही है ।

जगत्का विश्वव्यापी दैनिक महायुद्ध किंवा ईश्वरकी अचिन्त्य क्रियाशीलता

(लेखक—देवर्षि पं० श्रीरमानाथजी शास्त्री)

(पृष्ठ १२२९ से आगे)

भारतीय सभ्यतामें आत्माको ही वास्तव वस्तुतत्त्व माना गया है। अतएव भौतिक और दैहिक उन्नतिको वे हेय समझते थे। इसकी गवाहीमें यहाँके शास्त्र विद्यमान हैं। वे आत्मा और आत्मसम्बन्धी नियमोंको ही ग्राह्य मानते हैं। यहाँतक कि उनके युद्धादिके सामान्य नियम भी त्यागयुक्त ही हैं। किन्तु आजकलकी वैदेशिक प्रजा और उनके प्रधान पुरुष तो अभी आत्मतत्त्वतक नहीं पहुँच पाये हैं। अतएव वे देह और देहसुखको परम पुरुषार्थ मानकर भौतिक उन्नतिमें ही अपना जीवन लगा रहे हैं। वैदेशिक जनता और भारतीय जनताके ध्येयोंमें भेद है। उनका ध्येय सर्वग्रहण है तथा भारतीयोंका ध्येय त्याग है। भौतिक उन्नतिमें पवित्र-अपवित्र, योग्य-अयोग्य, पाप-पुण्य—किसीका विचार नहीं है; अतएव वहाँ सभी पदार्थोंकी उपादेयता है। किन्तु आध्यात्मिक उन्नतिके प्रतिपादक सांख्यादि शास्त्रोंमें प्रत्येक पदार्थोंकी परीक्षा करके कुछ इने-गिने पदार्थोंको ही ग्रहण किया गया है, और सबका तो त्याग ही है। भौतिक उन्नतिका प्रधान मन्तव्य यह है—

'दुनियाका जीना मरना
इन बातोंसे क्या डरना
बस अपनी जेबें भरना।'

और अध्यात्म-उन्नतिका प्रधान सिद्धान्त यह है—

'त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः' 'समत्वं योग उच्यते'
न तत्परस्य संदध्यात्प्रतिकूलं यदात्मनः।
एष संक्षेपतो धर्मः कामादन्यः प्रवर्तते॥

जो कार्य अपने विरुद्ध जँचता हो, दुःखद मालूम होता हो, उसे दूसरोंके साथ भी मत करो—संक्षेपतः यही धर्म है। समान भाव ही आत्म-प्राप्तिका उपाय है। इस तरहका आचरण करनेमें यदि अपने स्वार्थका भी त्याग करना पड़े तो प्रसन्नतासे कर दो, *क्योंकि त्यागसे ही आत्मनिर्वाण मिलता है।*

इतना होनेपर भी भारतमें भौतिक उन्नति और दैहिक उन्नतिके विज्ञाता नहीं थे—ऐसी बात नहीं है। कर्दमसे लेकर सभी प्रजापति (प्रेसीडेण्ट) भौतिक उन्नतिमें कुशल थे ही। कर्दम प्रजापतिका बनवाया हुआ विमान, आजकलके विमानोंसे कहीं श्रेष्ठ था यह 'सर्वर्द्ध्युपचयोदर्कम्' आदि अक्षरोंसे स्पष्ट है। आजतक वैसा विमान नहीं बना है। ब्रह्माका विमान हंस था। उपरिचर वसु बारहों महीने अपने विमानमें ही बैठा फिरता था। रावणके यहाँ पुष्पकविमान था ही। शाल्व राजाके पास सौभनामक सांग्रामिक विमान था, जिसमें सर्वदा युद्धके सभी उपकरण विद्यमान रहते थे। आजकल जैसे पक्षीके आकारके विमान बनाये जाते हैं इसी तरह पहले भी हंस, गरुड़ आदि पक्षी और पशुओंके आकारके विमान बनते थे—यह देवासुर-संग्रामोंके इतिहाससे स्पष्ट है। वहाँ बलिके विमानका वर्णन है—

वैरोचनो बलिः संख्ये सोऽसुराणां चमूपतिः।
यानं वैहायसं नाम कामगं मयनिर्मितम्॥
सर्वसांग्रामिकोपेतं सर्वाश्चर्यमयं प्रभो।
अप्रतर्क्यमनिर्देश्यं दृश्यमानमदर्शनम्॥

अर्थात् असुरोंका सेनापति राजा बलि युद्धके समय मयके बनाये आकाशमें उड़नेवाले कामग नामके विमानपर चढ़कर आया था। यह विमान अनेक आश्चर्योंसे भरा हुआ था, सारी युद्ध-सामग्रियोंसे सुसज्जित था। इसकी बनावट किसीकी समझमें नहीं आती थी और न कोई इसका पूरा-पूरा वर्णन ही कर सकता था। यह कभी दीखता और कभी इसका दीखना बंद हो जाता था।

अस्त्र-शस्त्रोंकी उन्नतिके विषयमें भी 'पार्जन्यास्त्र' प्रभृति नामोंसे और उनके कार्योंसे स्पष्ट होता है कि पुराने समयमें भौतिक उन्नति पूर्ण थी। शिल्पविद्याकी उन्नति भी 'सप्तभूमिकप्रासाद' आदि शब्दोंसे स्पष्ट होती है। पुराणान्तरोंमें ऐसे भी वाहनोंकी चर्चा है जिनके द्वारा एक-एक मनुष्य आकाशमें उड़कर यथेष्ट स्थानपर आ-जा सकता था। सुधर्मा सभा आदि प्रासादोंकी कथाएँ भारतीय शिल्पकी पूर्ण उन्नति कह रही हैं। यह भौतिक उन्नतिकी बात हुई।

आत्मशक्तिके द्वारा भी महर्षिलोग ऐसे कार्य करते थे। योगसिद्धियोंमें एक लघिमा सिद्धि भी है। इससे मनुष्य अपने शरीरको इतना हलका और अपने वशमें कर लेता था

कि आकाश-मार्गसे उड़कर इच्छित देशमें पहुँच जाता था। देवर्षि नारद आकाशमार्गसे ही हस्तिनापुरसे द्वारका पहुँचे थे। आजके २०-२५ वर्ष पहले समाचारपत्रोंमें प्रकाशित हुआ था कि अरविन्दका भाई योगसाधनाके द्वारा जमीनसे दो हाथ ऊँचा उठ जाता है। इससे यह विश्वास हो सकता है कि प्राचीन समयके ऋषियोंका आकाशमार्गसे गमनागमन होना कोई असम्भव कल्पना नहीं है।

इस प्रकार यद्यपि यह निश्चय हो जाता है कि प्राचीन कालमें भारतवर्षमें भौतिक और दैहिक उन्नति पूर्ण थी तथा यह देश धन-धान्य और रत्न आदिसे भरा हुआ था। तथापि यह शङ्का तो हो ही सकती है कि आज वैदेशिकोंने जैसी उन्नति की है वैसी ही वह भी थी—इसका कोई प्रमाण नहीं है। जिस प्रकार आजकल साधारण जनता भी इस भौतिक उन्नतिका उपभोग कर सकती है, इस तरह पहले उस उन्नतिका उपभोग सामान्य जनताको कहाँ मिलता था! पहले उसके उपभोगमें भेद रहता था। किन्तु आजकल भ्रातृभाव हो जानेसे प्रत्येक पुरुष इससे लाभ उठा सकता है।

इस विषयमें हम पहले ही कह चुके हैं कि महाभारत-युद्धमें महान् जनसंहार होने और द्वारका-दुर्गके जलमग्न हो जानेसे अब पाँच सहस्र वर्षके बाद उस उन्नतिका कोई प्रत्यक्ष प्रमाण मिलना असम्भव है। अतः यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि उस समय भौतिक उन्नतिका सामान्य जनता भी उपभोग कर सकती थी या नहीं। हाँ, इतना अवश्य कह सकते हैं कि ऐसा न होनेपर भी उस समय यहाँके सामान्य लोक आजसे कहीं अधिक सुखी थे। उन दिनों इस देशकी प्रकृतिसे ही इतना सुख मिलता था कि उन्हें बाह्य आगन्तुक सुखोंकी कोई अपेक्षा ही नहीं होती थी।

> कामं ववर्ष पर्जन्यः सर्वकामदुघा मही।
> सिषिचुः स्म व्रजान्गावः पयसोधस्वतीर्मुदा॥
> नद्यः समुद्रा गिरयः सवनस्पतिवीरुधः।
> फलन्त्योषधयः सर्वाः काममन्वृतु तस्य वै॥
> नाधयो व्याधयः क्लेशा दैवभूतात्महेतवः।
> अजातशत्रावभवञ्जन्तूनां राज्ञि कर्हिचित्॥

राजा युधिष्ठिरके राज्यसमयमें वर्षा खूब होती थी। पृथ्वीपर सभी पदार्थ मनोनुकूल पैदा होते थे। उस समय-की गायें सब तरहसे आनन्दमग्न रहती थीं। उनके स्तनोंमें दुग्ध इतना भरा रहता था कि गोशाला और ग्रामोंके मार्ग दूधसे सिंचे रहते थे। नदी, समुद्र, पहाड़, बड़े वृक्ष और छोटे-छोटे पौधे भी जनताको अपने फलोंका दान करते रहते थे। प्रत्येक ऋतुमें सभी ओषधियाँ फलवती होती थीं। मनुष्यों-को ही नहीं, जीवमात्रको ही आधिदैविक, आध्यात्मिक और आधिभौतिक आधि-व्याधि एवं क्लेश नहीं हो पाते थे। इस प्रकार किसी भी समय यहाँका कोई निवासी दुःखी नहीं होता था।

हम यह कह चुके हैं कि आजकलकी भौतिक उन्नति क्रियाशीलता और अपरिमित भोगेच्छाका परिणाम है। इतना होनेपर भी दुःख कुछ बढ़े ही हैं, घटे नहीं हैं। अर्थ-कष्ट-की निवृत्तिके उपाय होते रहते भी वह बना ही रहता है। इसका कारण अवश्य है। हम यह पहले कह चुके हैं कि सारी दुनियाकी उत्पत्ति, स्थिति और विनाश भी स्वकीय और परकीय पारस्परिक क्रियाशीलता (युद्ध) से ही हो रहे हैं। पर यह क्रियाशीलता (युद्ध) दैवी होनी चाहिये, आसुर नहीं। आसुर-युद्धसे दुःख अधिक बढ़ता है और दैवी क्रिया-शीलतासे सुखकी वृद्धि होती है। माना कि आजकल अत्यधिक क्रियाशील होनेसे विदेशी लोग भौतिक उन्नतिके शिखरपर चढ़ चुके हैं। किन्तु इस भौतिक उन्नतिने ही भेद, अविश्वास, वैर, संस्पर्धा और दुःख आदिकी भी झड़ी लगा दी है। यह क्रियाशीलता आसुर ही नहीं, राक्षसी हो चली है। एक दूसरेका निर्दय भक्षण कर जानेको तैयार है, भले ही उससे अपना ही नाश क्यों न हो जाय। पर दैवयुद्ध-में दुःख बहुत कम होता है, शान्ति बनी रहती है और आत्मनाश होने नहीं पाता। वास्तवमें अपना आप तो आत्मा ही है। देहात्मवादीलोग देहेन्द्रियादिको ही 'आत्मा' कहते हैं। किन्हींका यह भी मत है कि अर्थ भी आत्मा है, क्योंकि अर्थका नाश होनेसे अपना भी नाश हो जाता है और अर्थकी रक्षासे अपनी भी रक्षा रहती है। सर्व ब्रह्मवादियों-का कहना है कि 'इदꣳसर्वं यदयमात्मा' यह सब जो कुछ है आत्मा है। ऐसी हालतमें सारा जगत् ही अपना आप है। इस आत्मभूत जगत्का नाश न हो इस तरहकी क्रिया-शीलताको ही दैवयुद्ध कहना उचित है। सुखभोगके साधन-को अर्थ कहते हैं। अतएव सारा जगत्, सारे जगत्के सुख-भोगका साधन है। कुछ जगत् हमारे सुखभोगका साधन है तो कुछ अन्य जीवोंके सुखका। इस तरह सारा जगत् अर्थ ठहरता है। इसलिये मानना पड़ेगा कि जिन्हें सुखभोगकी

इच्छा है उन्हें ऐसी क्रियाशीलता (युद्ध) चालू रखनी चाहिये जिससे जगत्का नाश न हो।

अब हम सुखभोग और उसके साधनोंका भी कुछ विचार कर लेना उचित समझते हैं। यह तो निश्चित है कि सुखभोग और उसके साधन परिमित और मर्यादित ही हैं। सुखसाधनोंका परिमित और मर्यादित संग्रह रहनेसे ही सुख-भोग भी परिमित और मर्यादित रहते हैं। ये जहाँतक परिमित और मर्यादित रहते हैं वहींतक सुखभोग रहते हैं किन्तु जब अमर्यादित और अपरिमित हो जाते हैं तब वे सुख नहीं दुःख हो जाते हैं। गर्मीमें अमीरोंको गुलाब और गुलाब-जलसे सुख होता है यह ठीक है, पर वह परिमित और मर्यादित ही रहना चाहिये। गाना सुननेसे शौकीनोंको सुख होता है पर यह सुखसाधन और सुखभोग दोनोंका परिमित और मर्यादित ही रहना सुखकर है। सुखका अतिशय अमर्यादित भोग भी दुःखरूपमें परिणत हो जाता है। यही दशा सुख-साधनोंकी भी है। वे भी यदि अपरिमित और अमर्यादित हो जायँ तो सुख और शान्तिका नाश करनेवाले हो जाते हैं।

जड़ और चेतन दोनों ही सुखके साधन हैं। किन्तु वे होने चाहिये परिमित और मर्यादित ही। स्त्री, पुत्र, हाथी, घोड़े, नौकर-चाकर आदि सुखके साधन चेतन हैं, पर ये परिमित और मर्यादित ही होने चाहिये। स्त्री एक और मर्यादानुकूल होनेपर ही सुखका साधन होती है। दस-पाँच और मर्यादाको छोड़ देनेवाली स्त्रियाँ तो दुःखरूप हो जाती हैं। हाथी-घोड़े एक-दो ही सुखकारक हो सकते हैं। हजारों अथवा मर्यादाका अतिक्रम करनेवाले तो एक-दो हाथी-घोड़ोंसे भी दुःख ही होता है। नौकर-चाकर, पुत्र-परिवार एवं पड़ोसी आदि अन्य चेतन सुखसाधनोंकी भी यही दशा है। इनके सिवा हवा, पानी, अग्नि आदि जड पदार्थ भी सुखके साधन हैं। किन्तु वे भी परिमित और मर्यादित ही होने चाहिये। अपरिमित और अमर्यादित जल, अग्नि और वायुको तो लोग प्रलय कहते हैं।

दूसरी बात यह है कि ये जड पदार्थ एक व्यक्तिके लिये परिमित और मर्यादित ही रहनेके लिये बनाये गये हैं। अतएव ये मर्यादित और परिमित रहनेपर ही सुखकारक होते हैं। अवश्य ही प्रकृतिमें इनका संकोच नहीं है, किन्तु उनकी अनन्तता अनन्त भोक्ताओंकी दृष्टिसे है। एक ही पदार्थ हजारके लिये हजारगुना और लाखके लिये लाखगुना अपेक्षित है। अतः पदार्थ जो बहुत हैं वह बहुतोंके लिये हैं, एकके लिये नहीं। ऐसी अवस्थामें यदि लाखों पुरुषोंके भोग्य आकाशादिका भी कोई एक ही पुरुष अपरिमित और अमर्यादित रूपसे उपभोग करने लगे तो पारस्परिक उत्पीडन, कलह, अशान्ति और नाश अवश्यम्भावी है।

सारे विश्वके जड या चेतन पदार्थोंको सुखका साधन मानकर यदि एक ही पुरुष अपने लिये अधिक-से-अधिक संग्रह करने लगे तो अवश्य ही विश्वमें अशान्ति, क्लेश, दुःख और नाशका बाजार गर्म हो जायगा। भौतिक पदार्थोंकी असीम उन्नतिका अर्थ यही होता है कि जड सुख-साधनोंका स्वार्थवश अधिक-से-अधिक संग्रह किया जाय। इसका फल, एक-न-एक दिन भयावह ही होता है। माना कि आज-कलकी भौतिक उन्नतिने मनुष्योंकी इन्द्रियोंको सुख पहुँचाया है। कौन ऐसा है जो मोटरमें न बैठना चाहता हो, ट्रेनके सेकेण्डक्लास कम्पार्टमेंटमें बैठकर सफर करना न चाहता हो, ग्रामोफोनद्वारा थोड़ेसे खर्चमें बड़े-बड़े गवैयोंका गाना सुनना न चाहता हो तथा सिनेमा देखकर सुख न मानता हो। किन्तु विचारना चाहिये कि पैसेको पानीकी तरह बहाकर अधिक अर्थकष्ट सहकर भी सिवा इन्द्रिय-प्रीतिके इनसे कोई भी शारीरिक या पारलौकिक उन्नति न हो सकी। भला, इन सबकी अपेक्षा भी कितनी थी ? । क्या ये वस्तुएँ न होतीं तो देह और इन्द्रिय नष्ट ही हो जाते ? क्या इस प्रकारकी उन्नति और सुखसाधनोंसे वञ्चित रहनेके कारण प्राचीन कालके लोग अस्वस्थ और दुर्बल ही रहते थे ? और फिर इन अनावश्यक उन्नतियोंके लिये पैसा भी तो चाहिये ? पैसा कहाँ है ? दिनोंदिन अर्थकष्ट बढ़ता जा रहा है। हजार रुपया मासिक पानेवाले भी अपना जीवन सुखपूर्वक नहीं चला सकते। इसीसे अर्थके लिये चारों ओर कष्ट, उत्पीडन, धोखा, जालसाजी, ईर्ष्या, द्वेष, झूठ, संघर्ष और निर्दयता आदि अनर्थ दिनोंदिन दुगुने-चौगुने बढ़ रहे हैं। इन सब अन्यायोंको राजनीति और होशियारी आदि नाम दिये जाते हैं। इनके मूल भी अर्थकष्ट तथा भौतिक उन्नति और विषय-भोगोंकी अनर्गल लालसा ही हैं।

लोहा उतना ही है जितना कि पहले था। इसी प्रकार काष्ठ और जल भी उतने ही परिमाणमें हैं। किन्तु आज इनका उपयोग इतना बढ़ गया है कि जिसे सुनकर आश्चर्य-चकित होना पड़ता है। एक आदमी दस कुर्सियोंसे भी नहीं अघाता। सेठलोगोंको दो-दो, चार-चार मोटरकार रहते

हुए भी उनका अभाव बना ही रहता है। राजाओंको अब ऐरोप्लेन विना सफर करना असुविधाजनक जान पड़ता है। संन्यासीलोग भी पंप शू पहने विना बाहर निकलनेमें अपनी अप्रतिष्ठा समझने लगे हैं। यहाँतक कि गरीब-से-गरीब भी अब इन भौतिक उन्नतियोंको देखकर अपनी इन्द्रियवृत्तियोंको काबूमें रखना भूल गया है और न्याय-अन्याय किसी भी तरहसे इनका उपभोग करना अपना आवश्यक कर्तव्य समझने लगा है। अतएव राजा-महाराजासे लेकर क्या उत्तम, क्या मध्यम और क्या कनिष्ठ सभी वर्ग अर्थकष्टका अनुभव कर रहे हैं और इससे बचनेके लिये दिनोंदिन क्रियाशीलता (युद्ध) घोररूप धारण कर रही है। अपरिमित और अमर्यादित भौतिक उन्नति तथा दूसरी तरफ अनर्गल ऐन्द्रिय-भोगलिप्साका उद्देश्य रखकर अनेक अनर्थोंसे भरा हुआ यह युद्ध (क्रियाशीलता) आसुर और राक्षस हो चुका है। अतएव यह पाप्मा है, पापविद्ध है। इसे ही युद्धश्रुतिमें 'स यः स पाप्मा' कहा है।

> कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्।
> महाशनो महापाप्मा विद्धयेनमिह वैरिणम्॥
> तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ।
> (गीता)
>
> सामिषं कुररं जघ्नुर्बलिनो ये निरामिषाः।
> (भाग०)

कोई किसीका वैरी नहीं है। आप ही अपना वैरी है। काम शत्रु है। उससे बड़ा शत्रु लोभ है। और उससे बढ़कर क्रोध है। आजकल जिसको क्रियाशीलता, उद्योग और नीतिकुशलता कहते हैं, उसके भीतर घुसकर यदि देखा जाय तो राग, द्वेष, ईर्ष्या, मस्ती, काम-क्रोध, लोभ, मोह, अन्याय, अशान्ति, श्रम, दुःख, चोरी, झूठ, ढोंग, हिंसा, व्यसन आदि अनेकों पाप स्पष्ट दिखायी देते हैं। यह युद्ध आसुर है और अब राक्षस हो चला है।

ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय और मनकी वृत्तियोंको नियममें चलाना ही धर्म है। किन्तु धर्ममें भी प्राणबल सहायक है। धैर्य किंवा हिम्मत ही प्राणबल है। मुख्य प्राणकी वृत्तियाँ सर्वत्र बटी हुई हैं। यह प्राणबल ही सर्वत्र देहेन्द्रियादिको बल पहुँचाता है। प्राणबलसे दुर्बल भी बलवान् हो जाता है। लोकमें जिसे आत्मबल कहते हैं वह प्राणबल ही है। यह भगवदीय है। हम विषयको बढ़ाना नहीं चाहते पर वस्तु-तत्त्वका कथन छोड़ना भी नहीं चाहते। शुद्ध और अशुद्ध वासनाके कारण यह प्राणबल भी शुद्ध-अशुद्ध होता रहता है। इसीसे इसके बलपर रावणने कहा था कि चाहे मेरा सर्वनाश हो जाय परन्तु मैं सीताका त्याग नहीं करूँगा। इस अशुद्ध प्राणबलसे ही दुर्योधनने कहा था कि—

> 'सूच्यग्रं नैव दास्यामि विना युद्धेन केशव।'

और शुद्ध प्राणबलपर भार रखकर श्रीरामने कहा था कि—

> अप्यहं जीवितं जह्यां त्वां वा सीते सलक्ष्मणाम्।

हे जानकि! मैं अपने जीवनका परित्याग कर सकता हूँ, प्राणोंसे भी प्रिय तुम्हारा और लक्ष्मणका भी त्याग कर सकता हूँ पर तपस्वी ऋषियोंसे की हुई प्रतिज्ञाका त्याग नहीं कर सकता। ये अशुद्ध और शुद्ध प्राणबलके नमूने हैं। तथापि यह दोनों प्रकारका प्राणबल है भगवदीय ही। और भगवद्वासनाके अनुसार ही यह जीवोंका अनुसरण करता है।

'प्राणस्तथानुगमात्' 'अतएव प्राणः' आदि ब्रह्मसूत्रोंमें, तथा 'प्राण इति होवाच' 'सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशन्ति प्राणमभ्युज्जिहते।' 'प्राणो वा अहमस्मि प्रज्ञात्मा। मामायुरमृतमित्युपास्स्व' 'एवमेवैता भूतमात्राः प्रज्ञामात्रास्वर्पिताः प्रज्ञामात्राः प्राणे अर्पिताः। स एव प्रज्ञात्माऽऽनन्दोऽजरोऽमृतो न साधुना कर्मणा भूयान्नोऽसाधुना कर्मणा कनीयान्' इत्यादि उपनिषदोंमें प्राणको भगवान्‌का साक्षात् अंश कहा है। सारी इन्द्रियों और उनकी वृत्तियोंमें समय-समयपर इस मुख्य प्राणका ही बल पहुँचता है। जब कितनी ही मनोवृत्तियाँ अनर्गल विषयभोगेच्छा और भौतिक उन्नतिसे विरत होकर नियमित अतएव धर्मयुक्त हो जाती हैं, तब उन्हें प्राणभगवान्‌का बल मिलता है। भगवान् होनेसे ही प्राणपर असुरोंका पापप्रक्षेप कुछ काम नहीं कर सका। यह पदार्थ ही निर्लेप है। यही सब बातें 'न साधुना कर्मणा' इत्यादि श्रुतियोंमें कही गयी हैं। इससे यह भी सूचित होता है कि जिस धीर-वीर पुरुषका हृदय भले-बुरे असरोंसे निर्लेप रहता है उसकी ही इस विश्वव्यापी महायुद्धमें विजय होती है।

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, पवित्रता और इन्द्रियनिग्रह आदि धर्मोंमें मुख्य धर्म इन्द्रियनिग्रह है। यह चारों वर्णोंका विजय करानेवाले युद्धका मुख्य शस्त्र है, क्योंकि इसका सब धर्मोंमें समन्वय रहता है। इन्द्रिय-वृत्तियोंको नियमित किये विना

सत्य, अस्तेय, अहिंसा और पवित्रता आदि किसी धर्मकी भी स्थिति स्थिर नहीं रह सकती। इन्द्रियोंको शास्त्रोक्त नियमोंमें चलानेसे ही पवित्रता बनी रहती है तथा मनुष्य हिंसासे बचता, सत्य बोलता और सत्यका आचरण करता है। इन्द्रियनिग्रह रखनेसे ही वह पर-द्रव्यका अपहरण नहीं करता। ये सब पाप्मा हैं। जो लोग मनोवृत्ति और इन्द्रियवृत्तियोंको अनियमित छोड़ देते हैं, उनमें असत्य, हिंसा आदि पाप्मा घर कर लेते हैं। किन्तु जो प्राणबलकी सहायतासे इन्द्रियोंको मनके द्वारा काबूमें कर लेते हैं उनकी विजय अवश्य होती है। प्राणपर असुरोंके फेंके हुए पापका जोर नहीं चलता। दैवी मनोवृत्तिको प्राणका बल मिलता है। यद्यपि प्राणके अंश सब इन्द्रियवृत्तियोंमें भी फैले हुए हैं, तथापि वहाँ आसुर संसर्ग भी रहता है इसलिये वे दुर्बल भी हो जाते हैं, पर जब इस भगवदीय मुख्य प्राणका बल मिलता है तब आसुर संसर्ग अपना असर नहीं डाल सकता। यह मुख्य प्राण सबको बल देनेवाला है। सबका स्वरूपस्थापक है। इसके विना देह, इन्द्रिय और मन एक क्षण भी अपनी स्थिति नहीं रख सकते। उपनिषद्में इस विषयमें एक कथा है—

'अथ ह प्राणा अहꣳ श्रेयसि व्यूदिरे। अहꣳश्रेयानस्म्यहꣳ श्रेयानस्म्यहꣳ श्रेयानस्मीति। ६। ते ह प्राणाः प्रजापतिं पितरमेत्योचुर्भगवन् को नः श्रेष्ठ इति तान्होवाच यस्मिन्व उत्क्रान्ते शरीरं पापिष्ठतरमिव दृश्येत स वः श्रेष्ठ इति। ७। सा ह वागुच्चक्राम सा संवत्सरं प्रोष्य पर्येत्योवाच कथमशकतर्ते मज्जीवितुमिति ? यथा कला अवदन्तः प्राणन्तः प्राणेन पश्यन्तश्चक्षुषा शृण्वन्तः श्रोत्रेण ध्यायन्तो मनसैवमिति प्रविवेश ह वाक्। ८। इत्यादि।

अथ ह प्राण उच्चिक्रमिषन्स यथा सुहयः पड्वीशशङ्कून्संखिदेदेवमितरान्प्राणान्समखिदत्तꣳहाभिसमेत्योचुर्भगवन्नेधि त्वं नः श्रेष्ठोऽसि मोत्क्रमीरिति। अथ हैनं वागुवाच यदहं वसिष्ठोऽस्मि त्वं तद्वसिष्ठोऽसीत्यथ हैनं चक्षुरुवाच यदहं प्रतिष्ठास्मि त्वं तत्प्रतिष्ठासीति। अथ हैनꣳ श्रोत्रमुवाच यदहꣳ सम्पदस्मि त्वं तत्संपदसीत्यथ हैनं मन उवाच यदहमायतनमस्मि त्वं तदायतनमसीति।

(छा० उ० अ० ५, खं० १, मं० १२, १३, १४)

अर्थात् एक समय इन्द्रियवृत्तिस्थ शक्तियोंमें अपनी-अपनी श्रेष्ठताके विषयमें परस्पर विवाद हुआ। सभी सबसे झगड़ने लगे कि 'सबमें मैं ही श्रेष्ठ हूँ, मैं ही श्रेष्ठ हूँ।' आखिर जब झगड़ेका अन्त आपसमें न हो सका तब सब मिलकर अपनी उत्पत्ति करनेवाले प्रजापतिसे इसका निर्णय कराने गये। सबने उनसे कहा 'हे भगवन्! हम सबमें श्रेष्ठ कौन है ?' प्रजापतिने कहा 'इस शरीरमेंसे जिसके निकल जानेपर यह शरीर बिलकुल निकम्मा हो जाय, वही तुम सबमें श्रेष्ठ है।' अब तो सभी अपनी-अपनी परीक्षा करने लगे। सबसे पहले शरीरमेंसे वाणीकी शक्ति निकली और एक वर्षपर्यन्त शरीरसे बाहर रही। मनुष्य गूँगा ही रहा। फिर जब वापस लौटी तो सबसे पूछने लगी कि भाइयो! तुमलोग मेरे विना कैसे जीते रहे। यह सुनकर इन्द्रियवृत्तियाँ बोलीं कि 'तुम्हारे विना हमारी कुछ भी हानि नहीं हुई। जैसे गूँगे लोग जीते रहते हैं, वैसे ही हम भी जीते, श्वास लेते, देखते-सुनते और विचार करते रहे, सब काम जैसे-का-तैसा होता रहा। यह सुनकर वाणी चुपचाप शरीरमें आ बसी। इसी तरह कर्ण, चक्षु, मनपर्यन्त सभी वृत्तियाँ शरीरका त्याग कर एक-एक वर्षतक बाहर रहीं पर शरीरकी कुछ भी हानि नहीं हुई। वह अपना जीवन यथावस्थित चलाता रहा। अब मुख्य प्राणकी बारी आयी। किन्तु उसने ज्यों ही शरीरसे निकलनेका उपक्रम किया कि चक्षुसे लेकर बुद्धिपर्यन्त सभी वृत्तियाँ शिथिल हो गयीं, सभी घबराने लगीं तथा शरीर मृतप्राय हो गया। तब वे सब हाथ जोड़कर मुख्य प्राणसे प्रार्थना करने लगीं, 'भगवान् प्राणदेव! तुम हम सबसे श्रेष्ठ हो, हमारे स्वामी हो। आप इस देहमें ही बने रहिये, निकलिये मत।' इसके बाद सभी इन्द्रियवृत्तियोंने इस मुख्य प्राणकी स्तुति की। 'हे प्राण! भगवन्! यद्यपि हम सब इस शरीरकी प्रतिष्ठा और संपत् हैं किन्तु आप हम सबकी प्रतिष्ठा और संपत्ति हैं। मनने कहा कि मैं सबका आधार हूँ पर आप मेरे भी आधार हैं।'

इस तरह प्राणके महत्त्वकी कथा उपनिषदादि अनेकों शास्त्रोंमें वर्णित है, क्योंकि यह भगवान् हैं। इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंका ग्रहण करनेमें अर्थात् उनका उपभोग करनेमें प्राणबलकी आवश्यकता नहीं होती। किन्तु इन्द्रियवृत्तियोंको सङ्कुचित करने, नियमित करने या विषयोंका त्याग करनेमें प्राणबलकी अपेक्षा है। भौतिक उन्नतिमें विशेष प्राणबलकी अपेक्षा नहीं है किन्तु इस उन्नतिको समझकर और उसके सुख-साधनत्वको जानकर उसका त्याग करनेमें इसकी पूरी आवश्यकता है। यह प्राणबल हमारे पूर्वज ऋषि-महर्षियोंमें पर्याप्त मात्रामें था। उन्हींमें नहीं, भारतकी सभी धार्मिक

प्रजामें इसकी प्रधानता थी। वस्तुतः धैर्यमें ही प्राणबल रहता है।

विकारहेतौ सति विक्रियन्ते
येषां न चेतांसि त एव धीराः।

श्रीरामचन्द्रने यौवराज्यके सब सुखोंका स्वाद जानकर भी अपने पिताकी आज्ञासे उसे त्याग दिया था। यह उनका प्राणबल था। सत्यधर्मके पालन करनेमें राजा हरिश्चन्द्रने राज्यको समर्पण कर दिया, यह उनके प्राणबलका दृष्टान्त है। ऐसे कई उदाहरण शास्त्रोंमें मिल सकते हैं।

न जातु कामान्न भयान्न लोभा-
द्धर्मं जह्याज्जीवितस्यापि हेतोः।

शास्त्रकी यह आज्ञा भारतीय जनताके प्राणबलपर भरोसा रखकर ही की गयी है। भारतके उत्कृष्ट वैज्ञानिक ऋषि-महर्षियोंने भौतिक उन्नति करनेकी पूर्ण शक्ति रहते हुए भी और उसके स्वादको पूर्णतया समझते हुए भी जो उसपर उतना ध्यान न दिया, विषय-विचित्रताको जो हेय समझा, यह उनका बुद्धूपन नहीं था, अपितु उनकी विश्व-शान्तिकी कामना थी, विश्वरक्षाकी इच्छा थी और स्वात्माको सुरक्षित रखना था। अतः यह उनका प्राणबल था। जगत् और जाग्रत्‌की उन्नति, युद्धरूप (क्रियात्मक) होनेसे विचित्र परिवर्तनशील है। आज एकका तो कल दूसरेका जय अवश्य होनेवाला है। इसका शोक या हर्ष करना व्यर्थ है। देखना यह है कि *देवयुद्ध किसका है और आसुरयुद्ध किसका?* विश्वकी समता किस युद्धसे रहती है? अध्यात्म किसका बलिष्ठ है, प्राणबल किसमें अधिक है, उत्पीडन, अशान्ति, दुःख, श्रम, ईर्ष्या, वञ्चना, निर्दयता आदि दुर्गुण किसमें अधिक पाये जाते हैं।

विश्वकी शान्ति, विश्वका अनुद्वेग, विश्वकी समता, विश्वका प्रेमबन्धन, विश्वका सुख और विश्वकी रक्षा त्यागमें है, निरर्गल ग्रहणमें नहीं; धर्ममें है अधर्ममें नहीं; अध्यात्मोन्नतिमें है, भौतिक उन्नतिमें नहीं। जीवन परिमित सुख-भोगमें है, अमर्याद ऐन्द्रिय सुखभोगमें नहीं। इसीसे वह देवयुद्धमें है आसुरयुद्धमें नहीं। आपात दृष्टिसे भले ही भौतिक उन्नति और ऐन्द्रिय सुखभोग प्रिय एवं हितकर मालूम हो, किन्तु परीक्षककी परोक्ष और परिणामदृष्टिसे तो ये दोनों अहितकर, दुःखप्रद और नाशकारक सिद्ध हो चुके हैं। इसका दृष्टान्त आजकल हमारे सामने है। यूरोपका उद्देश्य अपरिमित एवं अमर्यादित भौतिक उन्नति और ऐन्द्रिय सुख-भोग करनेका है। यूरोपीय सभ्यता अनर्गल ऐन्द्रिय सुखभोग करनेमें है। वहाँके नियम अनर्गल सुख-भोग एवं अवैध और अमर्यादित उन्नतिकी दृष्टिसे ही बनाये जाते हैं। विधवाविवाह, सर्वावस्थ-विवाह, कोर्टशिप, तलाक, व्यक्तिस्वातन्त्र्य, स्त्रीसमानाधिकार आदि उनके सभी नियम अनर्गल ऐन्द्रिय सुखभोग और अपरिमित एवं अवैध भौतिक उन्नतिके पक्षपाती हैं। वहाँ कोई वस्तु त्याग करने योग्य है ही नहीं। सभी ग्रहण करने योग्य हैं। *सबका ग्रहण है। अतः उनका युद्ध (क्रियाशीलता)* दैव नहीं, आसुर है। उनकी क्रियाशीलतामें उत्पीडन, संघर्ष, भय, हानि, उद्वेग, दुःख और नाश आदि प्रत्यक्ष दीख रहे हैं। इतना रहनेपर भी प्रकर्ष और अपकर्ष दोनों तरफ चल रहे हैं। जिस प्रकार कभी दैव उन्नत होते हैं और कभी अवनत, उसी प्रकार आसुरलोग भी कभी अवनतिके गढ़ेमें गिरते हैं तो कभी उन्नतिके शिखरपर चढ़ जाते हैं। इसका कारण? इसके कारण दैव और कर्म (युद्ध) दोनों ही हो सकते हैं। कर्म (क्रियाशीलता) ही किसी अवस्थामें दैव बन जाता है। दैवको प्रारब्ध भी कहते हैं। यह मत अर्द्ध आस्तिकोंका है पर वास्तविक शुद्ध आस्तिकोंका तो कथन है—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥
'मत्तः सर्वं प्रवर्तते' 'मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च'
(गीता)

हानि लाभ जीवन मरन, जस अपजस बिधि हाथ।
(तुलसी)

यहाँ आकर हमारा यह विश्वव्यापी महायुद्ध समाप्त हो जाता है क्योंकि धर्मका विजय सिद्ध हो जाता है।

(समाप्त)

साधना

(लेखक—श्रीकृष्णशङ्कर उमियाशङ्कर)

साधनाङ्कमें छपे मेरे 'साधना' शीर्षक लेखपर बहुतसे लोगोंका ध्यान आकर्षित हुआ है। यह बात मेरे पास आनेवाले पत्रोंसे ज्ञात होती है।

पत्र लिखनेवालोंको अलग-अलग उत्तर देनेकी अपेक्षा कल्याणमें ही सामूहिकरूपसे उत्तर देनेसे पत्र लिखनेवालोंको और न लिखनेवालोंको भी लाभ पहुँचेगा। यद्यपि मैं कोई मन्त्रशास्त्री नहीं तथापि मुझे जो अनुभव हुआ है, उसे पूर्णत: प्रदान कर दूँगा, कुछ गुप्त न रक्खूँगा। यह खेदकी बात है कि अपने अनुभवको जानकार लोग प्रकट नहीं करते। जिस पुरुषको जैसा जो कुछ अनुभव हो उसे इस धार्मिक मासिक 'कल्याण' द्वारा प्रकट करना चाहिये—यह मेरी नम्र विनती है।

ॐ कांसोऽस्मि तां हिरण्यप्राकारामार्द्रां
ज्वलन्तीं तृप्तां तर्पयन्तीम्।
पद्मे स्थितां पद्मवर्णां तामिहोपह्वये श्रियम्॥
(श्रीसूक्तम् ४)

उपर्युक्त मन्त्र लक्ष्मीसूक्तका मन्त्र है। चण्डीपाठकी प्रस्तावनामें बतलाया है कि इस मन्त्रसे लक्ष्मीकी प्राप्ति होती है।

दुर्गापाठमें प्रारम्भमें 'कवच' 'अर्गला' तथा 'कीलकस्तोत्र' दिया गया है। वहाँ 'कीलकस्तोत्र' के सातवें, आठवें श्लोकमें बतलाया है कि—

यो निष्कीलां विधायैनां नित्यं जपति संस्फुटम्।
स सिद्धः स गणः सोऽपि गन्धर्वो जायते नरः॥

इस उपर्युक्त श्लोकको पढ़कर मैंने 'कांसोऽस्मि ताम्' मन्त्रसे 'संपुट' पाठ प्रारम्भ किया। प्रत्येक मासकी दोनों अष्टमी और दोनों चतुर्दशी तथा नवरात्रके नौ दिन, रात्रिके साढ़े ग्यारह बजेसे लेकर तीन बजेतक पाठ करता था। फलाहारके सिवा कुछ लेता नहीं था। प्राय: सारी रात जागता था। यदि निद्रा आती तो मृगचर्मके ऊपर ही सो रहता। घृत और तेलके दो दीपक अखण्ड जलाये रखता।

कालरात्रि, महारात्रि, मोहरात्रि तथा दारुणरात्रि—ये चार रात्रियाँ दैवीकार्यके लिये उत्तम समझी जाती हैं। कालरात्रि कार्तिक कृष्ण चतुर्दशी (दीपमालिका) के दिन, महारात्रि महाशिवरात्रिके दिन, मोहरात्रि जन्माष्टमीके दिन और दारुणरात्रि फाल्गुन शुक्ल पूर्णिमा (होली) के दिन आती है। इन तिथियोंमें व्रत करनेसे शीघ्र फलकी प्राप्ति होती है, ऐसा मैं मानता हूँ। और मुझे भी जन्माष्टमीके दिन ही अनुभव हुआ था।

पञ्चदेवोंका पूजन करनेके बाद 'षोडशी' यन्त्रका, जो 'कल्याण' के 'शक्ति-अंक' में प्रकाशित है, पूजन-अर्चन करता था। 'कांसोऽस्मि ताम्' जप तो नित्य करता था। पहले हिसाब रखता था। परन्तु पीछे उकताकर हिसाब रखना छोड़ दिया। परन्तु साधकको दो-चार लाख जप तो अवश्य करना चाहिये, ऐसा मेरा मत है। व्यापार करनेवालोंको पहले पूँजी तो चाहिये ही।

दैवीकार्य रात्रिमें करना ठीक है। क्योंकि नवरात्र, कालरात्रि आदि रात्रिके ही व्रत हैं। दिनमें करनेसे फल नहीं होता, ऐसा मैं नहीं कहता। गुड़को जब कभी खायँ वह तो मीठा ही लगेगा।

इतना विवरण देनेका कारण यही है कि कितने ही पत्र ऐसे आये हैं जिनमें 'दीप घीका दें या तेलका' 'प्रात:काल जप करें या रातमें', 'किस दिन प्रारम्भ करें' और 'कैसे सिद्धि मिलेगी' इत्यादि बातें पूछी गयी हैं। कुछने तो लिखा है कि 'आप ही कीजिये

और सिद्धि प्रदान कीजिये । जरूरत हो तो हम आनेको तैयार हैं ।'

कुछ पत्र ऐसे सज्जनोंके आये हैं कि जो हिन्दी और अंग्रेजी जानते हैं । संस्कृत नहीं जानते । किसी पत्रमें अपने कुटुम्बकी करुणाजनक स्थितिका वर्णन है जिसे पढ़कर दया आती है । कुछ लोग दुर्गापाठ तथा 'कांसोऽस्मि ताम्' से बिल्कुल ही अनभिज्ञ हैं । अस्तु !

इस प्रकार जब मुझे बारह-तेरह वर्ष बीत गये, पन्द्रह सौसे अधिक पाठ हो गये पर हुआ कुछ नहीं, तब आशा और निराशाके बीचमें पड़कर मैं हताश हो गया ! इस समय मेरा 'यो निष्कीलाम्' पर ध्यान गया और मनमें आया कि इसको आजमाकर तो देखा जाय । उसके बाद जो कुछ हुआ, उसे मैंने अपने पहले लेखमें लिखा ही है ।

'निष्कील' कैसे होता है । इसकी विधि एक पुरानी प्रतिसे यहाँ उद्धृत करता हूँ ।

'अस्य श्रीभगवती कात्यायनी उत्कीलनमन्त्रस्य मार्कण्डेयऋषिः गायत्रीछन्दः भगवती कात्यायनी देवता उत्कीलनार्थं जपे विनियोगः ।'

हाथमें जल लेकर उपर्युक्त मन्त्र पढ़कर विनियोग छोड़ दे । फिर निम्नलिखित मन्त्रोंसे करन्यास करे ।

ॐ श्रीं अङ्गुष्ठाभ्यां नमः । ॐ क्रीं तर्जनीभ्यां नमः । ॐ ह्रीं मध्यमाभ्यां नमः । ॐ हुं अनामिकाभ्यां नमः । ॐ ह्रां कनिष्ठिकाभ्यां नमः । ॐ हूं करतलकरपृष्ठाभ्यां नमः ।

करन्यासके बाद इसी प्रकार अङ्गन्यास करे ।

ॐ श्रीं हृदयाय नमः । ॐ क्रीं शिरसे स्वाहा । ॐ ह्रीं शिखायै वषट् । ॐ हुं कवचाय हुम् । ॐ ह्रां नेत्रत्रयाय वौषट् ॐ हूं करतलकरपृष्ठाभ्याम् अस्त्राय फट् ।

तत्पश्चात् निम्नलिखित मन्त्रका १०८ बार जप करे ।

'ॐ क्रीं ह्रीं हुं ह्रां हूं भगवती कात्यायनी उत्कीलनं कुरु कुरु स्वाहा ।'

इसके बाद नवार्णमन्त्रकी एक माला जपे । नवार्णमन्त्र यह है—

'ॐ ऐं ह्रीं क्लीं चामुण्डायै विच्चे ।'

इस प्रकार अभ्यास करनेसे लक्ष्मीकी प्राप्ति अवश्य होती है । अब प्रश्न है देर और जल्दका, और वह साधककी श्रद्धा, परिस्थिति और पुरुषार्थपर निर्भर करता है । मैंने दो-तीन सालोंमें इसका अनुभव किया है । अन्तमें यह निवेदन है कि साधकमें अटूट श्रद्धा और अडिग धीरज चाहिये । कौतूहलवश आजमानेके लिये कोई करेंगे तो लाभ न होगा । इसी प्रकार कुछ करके उकता जायँगे और छोड़ बैठेंगे, उन्हें भी अश्रद्धाके सिवा और क्या मिलेगा ।

अनुष्ठानका स्थान भी एकान्त, पवित्र और निर्जन होना चाहिये । वस्त्र भी शुद्ध होने चाहिये । मन्त्र-सिद्धिमें ये १२ बातें बहुत सहायक होती हैं ---

जमीनपर सोना, ब्रह्मचर्यपालन, मौन, गुरु-सेवा, नित्य स्नान, पूजन, दान, स्तवन, नैमित्तिक पूजा, दृढ़ विश्वास, जपमें निष्ठा, जपके समय छींक, अधोवायु आदिका त्याग न हो ।

भक्त जयमलजी

(लेखक—"जयराम")

राजपूतानेमें जिन भक्तिमूर्ति मीराबाईने प्रकट होकर भगवत्-प्रेमकी सरिता बहा दी थी, कहते हैं कि ये जयमलजी उन्हीं मीराबाईके भाई होते थे। पहले आप भक्त नहीं थे, राजनीतिके अनुसार राज्य-कार्य चलाते थे और ऐश्वर्य-भोगमें निमग्न रहते थे।

एक बार आपके नगरमें श्रीकृष्णदासजी पयहारी आये। ये परम तेजस्वी और सिद्ध महात्मा थे। 'भक्तमाल' कर्त्ता श्रीनाभाजीके गुरु अग्रदासजीके गुरु थे। श्रीपयहारी-जी आकर एक सरोवरपर विश्राम करने लगे। थोड़ी देरके पश्चात् एक जल भरनेवाला मजदूर भैंसा लेकर आया। पयहारीजीने पूछा—'तुम कौन हो?'

"मैं एक मजदूर हूँ, और यहाँके राजा जयमलजी-के महलमें कुछ इमारत बन रही है, वहाँ इस भैंसेपर लादकर जलकी मशकें ले जाता हूँ।" मजदूरने उत्तर दिया।

'क्या तुम मेरी एक बात अपने राजासे कह सकते हो?'

'हाँ, अवश्य कह सकता हूँ, राजा साहब स्वयं ही इस समय इमारतकी देख-रेख कर रहे हैं।'

'तो राजा साहबसे यह कह देना कि एक महात्मा आये हुए हैं, वे केवल दुग्धपान करते हैं; उनके लिये आध सेर दूध भेजवा दीजिये।'

'बहुत अच्छा' कहकर मजदूर भैंसेपर जलसे भरी हुई मशक लादकर चला गया।

मजदूरने राजा जयमलजीसे डरते-डरते महात्माजी-की बात सुना दी। सुनकर राजा साहबको बड़ी हँसी आयी और वे पास खड़े हुए एक मन्त्रीसे कहने लगे—'देखिये! साधु लोग कैसे उद्दण्ड होते हैं। आध सेर दूध किसी मामूली आदमीसे माँगा जा सकता था फिर मुझसे माँगनेकी क्या जरूरत थी?' मन्त्रीने—'हाँ, हुजूर! साधु लोग बड़े ढीठ हो गये हैं।' कहकर अनुमोदन किया।

राजा साहबने मजाक उड़ाते हुए मजदूरसे कहा—'अब जाकर उस साधुसे कह देना कि—इस भैंसेका दूध दुहकर पी लो।' मजदूर भैंसेको लेकर हँसता हुआ सरोवरपर आया और कहने लगा—'राजा साहबने कहा है कि—'इस भैंसेका दूध दुहकर पी लेवें।'

सुनकर श्रीकृष्णदासजीने विचार किया कि—यह राजा राज्यमदमें मतवाला हो रहा है, इसका मद उतारकर ही यहाँसे जाना ठीक होगा। श्रीपयहारी-जीने अपना करकमल उस भैंसेके मस्तकपर रख दिया। वह भैंसा तत्काल ही भैंस बन गया। उसके बड़े-बड़े थन निकल आये और थनोंसे दूधकी धारा बहने लगी।

मजदूर आश्चर्यचकित होकर महात्माजीके चरणोंपर गिर पड़ा और शीघ्रतापूर्वक जलकी मशक लादकर यह आश्चर्य सबको दिखलानेके लिये चल दिया। भैंसेके थनोंसे दूधकी धारा बहती जा रही थी। मार्गमें लोगोंने यह समाचार सुना और महात्माजीके दर्शनोंको दौड़ पड़े। महलमें आकर मजदूरने यह अद्भुत कौतुक सुनाया। भैंसेके थनोंसे दुग्ध-धारा बहकर राजमहलकी जमीनपर फैलने लगी। यह देखकर राजा जयमलके आश्चर्यका ठिकाना न रहा। अपनी भूलपर पश्चात्ताप करते हुए वे नङ्गे पैरों दौड़े और सरोवरपर आकर महात्माजी-के चरणोंमें गिरकर क्षमा-याचना करने लगे।

महात्माजी परम दयालु थे। उन्होंने प्रेमपूर्वक समझाया कि 'साधुओंसे द्वेष नहीं करना चाहिये। जो साधुओंसे द्वेष करते हैं वे कभी-न-कभी अवश्य

ही धोखा खाते हैं, और जो साधुओंकी सेवा करते हैं वे कभी-न-कभी अवश्य ही परमात्माको पाते हैं। साधुवेषकी सेवा करते रहनेसे कभी सच्चे साधु भी मिल ही जाते हैं।'

राजा जयमल्लजी इनके शिष्य हो गये। दीक्षा लेकर भगवान्‌की सच्ची भक्ति और संत-सेवा करने लगे। जयमल्लजी गुरुजीके आज्ञानुसार मानसिक सेवा भलीभाँति करते थे। साथ ही आप महलके एक कमरेमें स्वर्ण-सिंहासनपर विराजित शालग्रामजीके विग्रहकी भी पूजा-अर्चा किया करते थे। एक बार गर्मीके दिनोंमें आपकी शय्या तिमंजिलेपर बिछी हुई थी। लेटे हुए आप भगवान्‌की मानसिक सेवा कर रहे थे, सहसा आपके हृदयमें यह भाव आया कि—मैं तो यहाँ ठंढी हवाका आनन्द ले रहा हूँ और भगवान् नीचे कमरेमें गर्मीमें हैं, यह ठीक नहीं; आप उसी क्षण नीचे उतर आये और रातभर भगवान्‌को पंखा झलते रहे।

दूसरे ही दिन आपने तिमंजिलेपर एक अत्यन्त सुन्दर हवादार कमरा बनवाना शुरू कर दिया। कमरा बन चुका तब उसे कीमती सामानोंसे सजाकर अपनेसे कई-गुनी अधिक कीमतकी एक सुन्दर शय्या बनवाकर बिछा दी और नाना प्रकारकी ऐश्वर्य-सामग्री उपस्थित करके भावना करने लगे। नित्यप्रति सैकड़ों रुपयोंकी भोजन-सामग्री बनवाकर ऊपर ले जाते थे। उस कमरेमें जानेके लिये कोई जीना नहीं बनाया गया था, सिर्फ राजा साहब स्वयं एक सिड्ढी लगाकर जाते थे और उस यन्त्रमय सिड्ढीको तोड़कर अपने पास रख लेते थे। इसपर भी यह आज्ञा थी कि—अगर कोई ऊपर कमरेमें चला जायगा तो उसे भयानक दण्ड दिया जायगा। भयके कारण कभी कोई ऊपर नहीं जाता था। सायङ्कालके समय राजा साहब भोग-थाल सजाकर और शय्या बिछाकर छोड़ आते थे और नीचे आकर रात्रिमें भावना किया करते थे कि—अब भगवान् पधारे होंगे और अब भोजन कर चुके होंगे और अब पान खाकर सोये होंगे!

श्रीजयमल्लजीकी रानीने महाराजकी कठोर दण्डाज्ञाको जानते हुए भी एक दिन रात्रिमें कौतूहलवश राजा साहबको सोये हुए जानकर सिड्ढी लगा ली और ऊपरकी सजावट देखनेके लिये चढ़ गयी। उजाली रात थी। चन्द्रमाकी चाँदनीमें उसने देखा कि—शय्यापर मुकुट-कुण्डल धारण किये एक किशोर, सुकुमार, श्यामवर्ण, मनोहर राजकुमार सो रहा है। बारम्बार आश्चर्यसे देखकर रानी नीचे उतर आयी और सिड्ढी रखने ही लगी थी कि सहसा जयमल्लजीकी आँखें खुल गयीं। रानीने संकोचके साथ पूछा—"महाराज! मैंने आज आपकी आज्ञा उल्लङ्घन करके ऊपर जाकर आपके परम मनोहर मुकुटधारी श्यामसुन्दर राजकुमारको देख लिया है, बतलाइये वे राजकुमार कौन हैं?"

रानीकी बात सुनकर जयमल्लजी सिड्ढी लगाकर रानीके साथ ऊपर गये, परन्तु अब वहाँ कोई नहीं था। शय्या खाली थी। श्रीजयमल्लजी विरहसे व्याकुल होकर अश्रु बहाने लगे और बोले—'तुम्हारे भाग्यमें भगवान्‌के दर्शन थे। मैं तो अभागी हूँ जो मेरे आते ही भगवान् अन्तर्धान हो गये।' ऐसा कहकर श्रीजयमल्लजीने रानीकी परिक्रमा की और उसे प्रणाम करने लगे। रानी लज्जित होकर घरमें चली आयी और भगवान्‌की रूपमाधुरीके अवलोकनसे निष्पाप हो जानेके कारण प्रेमा-भक्तिको प्राप्त होकर भजन करने लगी।

श्रीजयमल्लजीने अपने देशमें भक्तिका खूब प्रचार किया। आप साधुओंको अपना सगा भाई समझते थे। आपकी कथा भक्तमालमें भी वर्णन की गयी है। श्रीवृन्दावन-निवासी व्यासदासजीने भी एक पदमें, साधुओंके प्रति आपका जो आदर्श बन्धुभाव था, उसका वर्णन किया है—

बिहारिहिं स्वामी बिनु को गावै ।
बिनु हरिबंस राधिकावल्लभ को रसरीति सुनावै ॥
रूप सनातन बिनु को वृन्दाविपिन माधुरी पावै ।
कृष्णदास बिनु गिरिधरजूको को अब लाड लडावै ॥
मीराबाई बिनु को भक्तनि पिता जानि उर लावै ।
स्वारथ परमारथ जयमल बिनु को सब बन्धु कहावै ॥
परमानन्ददास बिनु को अब लीला गाय सुनावै ।
सूरदास बिनु पद रचना को कौन कबिहिं कहि आवै ॥
और सकल साधन बिनु को अब यह कलिकाल कटावै ।
'व्यासदास' इन बिनु को मेरे तन की तपनि बुझावै ॥

बिना स्वार्थ और परमार्थके ही सबको अपना बन्धु मानना और मानना ही नहीं, कार्यमें परिणत करके दिखलाना यह आपका अपूर्व गुण था । भक्ति-भावमय आपका चरित्र अत्यन्त विस्तारसे है, यहाँ संक्षेपसे कुछ वर्णन किया गया है । आपको कई बार भगवान्‌के प्रत्यक्ष दर्शन हुए थे और अनेकों अद्भुत रहस्य आपके द्वारा प्रकट हुए थे ।

हिन्दू-धर्ममें स्त्रीजातिका अधिकार

(लेखक—श्रीयुत रामचन्द्रजी)

स्त्रीजातिके अधिकारके सम्बन्धमें आजकल मुख्यत: दो प्रकारके विचार हिन्दू-जातिमें प्रचलित हैं । नव-शिक्षित स्त्री-पुरुषोंका विचार है कि 'स्त्री और पुरुषमें कोई भेद नहीं है, अत: दोनोंका समान अधिकार होना चाहिये ।' अंग्रेजी पढ़ी हुई स्त्रियाँ तो एक कदम और आगे बढ़कर कहती हैं कि, 'अंग्रेजीमें स्त्रियोंको 'Better half' (यानी श्रेष्ठ अर्द्ध-अंग) कहा जाता है । अत: उनको पुरुषोंसे अधिक अधिकार मिलना चाहिये । इसीलिये वे नौकरीके प्रत्येक विभागमें, प्रत्येक व्यवसायक्षेत्रमें, म्यूनिसिपलिटीमें, डिस्ट्रिक्ट बोर्डमें, कौंसिलों और एसेम्बलियोंमें पुरुषोंके बराबर ही अधिकार माँग रही हैं । उनका विचार है कि यदि कौंसिलोंमें केवल पुरुष ही गये तो स्त्रीजातिके अधिकार सुरक्षित न रहेंगे । कैसी दु:खकी बात है कि उनका अपने पति, पिता और भाईके ऊपर भी यह विश्वास नहीं रहा कि वे कौंसिलोंमें जाकर उनके अधिकारकी रक्षा कर सकते हैं ।

दूसरे प्रकारके लोगोंका विचार है कि स्त्रीजातिको पुरुषके अधीन रहकर घरके कामोंमें ही अपना जीवन व्यतीत करना चाहिये । उसे शिक्षा देने या विद्या पढ़ानेकी भी कोई आवश्यकता नहीं है, इत्यादि ।

मेरे विचारसे ये दोनों प्रकारके विचार ठीक नहीं हैं, और इस विषयपर धार्मिक और व्यावहारिक दृष्टिसे विचार करनेकी आवश्यकता है । पहली बात यह है कि स्त्री और पुरुषमें प्रकृतित: ही भेद पाया जाता है । उनके शारीरिक अवयवोंमें तो भेद है ही, इसके अतिरिक्त, स्त्रियोंका शरीर प्राय: अधिक कोमल, हलका और नाजुक होता है, विपरीत इसके पुरुषका शरीर कठोर, भारी और मजबूत होता है । अतएव प्रकृतिने स्त्रीका शरीर ही ऐसा बनाया है कि जिससे शारीरिक दृढ़ता, कठोरता और मजबूतीका काम न हो सके । यही कारण है कि लकड़ी चीरना, बोझ ढोना, हल चलाना, कुआँ चलाना, खेतीके काम करना, फौजोंमें मार-काट करना आदि पुरुषोचित कर्मोंको स्त्रियाँ उतनी आसानीसे नहीं कर सकतीं जितनी आसानीसे रोटी पकाना, पीसना, कातना, सीना-पिरोना, बर्तन और कपड़े धोना तथा बच्चोंकी देख-भाल करना आदि कामोंको कर सकती हैं ।

यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि कोई-कोई स्त्री तो पुरुषसे भी बढ़कर मजबूत होती हैं और शारीरिक श्रमके कामोंमें पुरुषसे भी बाजी मार सकती हैं । परन्तु

यह व्यापक नियम (General rule) नहीं, बल्कि अपवाद (Exception) है । दो-चार वन्ध्या स्त्रियोंको देखकर यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि वन्ध्यात्व स्त्रीका लक्षण है । अतः यह बात समस्त स्त्री-जातिपर नहीं लागू हो सकती ।

कुछ लोग कहेंगे कि बहुत-से देशोंमें तो स्त्रियाँ ही हल चलाना आदि पुरुषके काम किया करती हैं । परन्तु यहाँ भी उपर्युक्त नियमका अपवाद ही है । क्योंकि जहाँ ऐसी प्रथा है, वहाँ पुरुषोंको इसकी अपेक्षा भी अधिक श्रमके काम करने पड़ते होंगे । उदाहरणार्थ, पहाड़ी प्रदेशोंमें जहाँ प्रायः स्त्रियाँ हल चलाने आदिका काम करती हैं, पुरुषोंको दूध, तथा अन्य खेतमें उत्पन्न हुई वस्तुओंको शहरमें बेचनेके लिये जाना पड़ता है । और ऐसे प्रदेशोंमें प्रायः शहर गाँवोंसे सात-आठ मील या इससे भी अधिक दूरीपर होते हैं । अतएव उनके स्थानमें स्त्रियाँ हल चलानेका काम कर लेती हैं । अतिरिक्त इसके, पहाड़ी प्रदेशोंमें मैदानकी भूमिकी अपेक्षा हल चलाना सरल भी होता है ।

दूसरी आपत्ति यहाँ हो सकती है कि सृष्टिके प्रारम्भसे ही स्त्री-पुरुष इस प्रकार काम करनेके लिये अभ्यस्त हो गये हैं, इसी कारण यह उनका स्वभाव-सा जान पड़ता है । परन्तु यदि उनसे विपरीत ही अभ्यास कराया गया होता तो जिस कामको आज पुरुष करते हैं उसको स्त्रियाँ आसानीसे सँभाल लेतीं, और जिसको स्त्रियाँ करती हैं, वह काम पुरुष करते । उल्टा ही नक्शा हमारे सामने होता । क्योंकि सदियोंका अभ्यास स्वभाव बन जाता है और उसको बदलना मुश्किल होता है । इसका उत्तर यह है कि सृष्टिके प्रारम्भमें स्त्रियों और पुरुषोंने अपनी-अपनी प्रकृतिके अनुरूप ही कार्योंको सँभाला था । यदि ऐसी बात न होती तो बच्चोंको उत्पन्न करनेका जो स्त्रियोंका काम है उसे पुरुष भी कर सकते । फिर जब बच्चे पैदा करना स्त्रियोंका प्राकृतिक काम है, तो उनके पालन-पोषणके लिये कुछ कालतक घरमें रहना भी आवश्यक है । और स्त्री तथा बच्चोंके भरण-पोषणके लिये पुरुषोंको बाहर खेती आदिके काम करना भी आवश्यक है । अतः सृष्टिके प्रारम्भमें जो कुछ हुआ, वह स्त्री-पुरुषोंकी शारीरिक और मानसिक अवस्थाके अनुसार ठीक ही हुआ । और यह भेद किसी एक देशमें नहीं, बल्कि संसारके सभी देशोंमें न्यूनाधिक रूपमें समान ही है । अतएव यह सिद्ध होता है कि स्त्री और पुरुषोंकी शारीरिक बनावटमें, उनके गर्भधारणादि शारीरिक धर्मोंमें और बच्चोंके पालन-पोषणादि शारीरिक कर्मोंमें उनके भेद होनेके कारण उनके कर्त्तव्य-कर्मों तथा व्यवहारादिमें भी भेदका होना अनिवार्य है ।

शारीरिक अवस्थाके अतिरिक्त स्त्री और पुरुषोंकी मानसिक अवस्थामें भी बड़ा अन्तर है । आधुनिक मानसशास्त्रके अनुसार मनकी तीन प्रधान अवस्थाएँ हैं—१—जानना (Knowing), २—अनुभव करना (Feeling) ३—इरादा करना (Willing) । अब इन तीनों अवस्थाओंकी परीक्षा करके यह देखना है कि इनमें स्त्री कहाँतक पुरुषके साथ समानता रखती है । ज्ञानके क्षेत्रमें तो स्त्री और पुरुषमें कोई अधिक अन्तर नहीं दीखता । वैदिक कालसे लेकर आजतक बहुत-सी स्त्रियाँ पुरुषों-जैसी विद्वान् हुई हैं । बहुत-से वैदिक मन्त्रोंकी द्रष्टा भी स्त्रियाँ हुई हैं; परन्तु उनकी संख्या पुरुषोंके समान नहीं है । इसका कारण यही है कि साधारणतः स्त्रीको सन्तानोत्पत्ति तथा सन्तानके पालन-पोषणके कार्यमें व्यस्त रहनेके कारण गृहबद्ध अर्थात् घरेलू जीवन ही व्यतीत करना पड़ता है । ऐसी अवस्थामें विशेष कारणवश जिन स्त्रियोंको घरके बन्धनोंसे छुटकारा मिला हो वे ही विद्याके क्षेत्रमें उन्नत हो सकती हैं ।

अनुभव (Feeling) के क्षेत्रमें स्त्री और पुरुषोंमें महान् अन्तर होता है । स्त्री स्वभावसे ही मृदु और

नम्र होती है, तथा पुरुष कठोर और अभिमानी होता है। स्त्रीमें दयाभाव पुरुषसे बहुत अधिक होता है। सहनशीलता और क्षमामें तो स्त्रियाँ पुरुषकी अपेक्षा बहुत ही आगे बढ़ जाती हैं। भय और लज्जा तो स्त्रीका आभूषण है। परन्तु पुरुषमें ये कम पाये जाते हैं। मान-बड़ाई, ईर्ष्या-द्वेषमें भी स्त्री पुरुषसे उन्नत होती है। परन्तु गम्भीरता स्त्रीमें पुरुषकी अपेक्षा कम होती है और चञ्चलता अधिक। स्त्री स्वभावसे ही सौन्दर्यप्रिय होती है, पुरुष उतना नहीं होता। यही कारण है कि सौन्दर्यशास्त्रसे सम्बन्ध रखनेवाले विषयोंमें तथा गाने-बजाने, कसीदा निकालने आदि ललित कलाओंमें स्त्रियोंकी प्रवृत्ति पुरुषकी अपेक्षा अधिक होती है। क्रोध करना और बदला लेनेका विचार भी स्त्रियोंमें पुरुषकी अपेक्षा तीव्रतर होता है। इसके अतिरिक्त भाव-प्रवणता भी पुरुषकी अपेक्षा स्त्रीमें अधिक उन्नत होती है। इसी कारण इस क्षेत्रमें स्त्रियोंके जितना उन्नत होनेकी सम्भावना होती है, उतने ही भयानक पतनकी भी। प्रकृतिका यह नियम है कि जितनी अधिक ऊँचाईसे कोई गिरता है, उतनी ही अधिक चोट उसे लगती है। इसी कारण उसकी रक्षाकी भी उतनी ही अधिक आवश्यकता पड़ती है। यही कारण है कि शास्त्रोंमें स्त्रियोंकी सदैव रक्षा करनेका विधान है।

तीसरा क्षेत्र है संकल्प, इरादा (Willing) का। इसमें भी स्त्रियोंका दर्जा ऊँचा है। स्त्री जब एक बार किसी कार्यके करनेका इरादा कर लेती है, तो चाहे जो हो हटती नहीं। बालहठ, राजहठ और स्त्रीहठ— ये तीनों हठ प्रसिद्ध ही हैं। सहस्रों स्त्रियाँ अपने मृत पतिके साथ चितामें बैठकर सती हो गयीं, परन्तु एक भी ऐसे पुरुषका पता नहीं लगता जो अपनी मृत स्त्रीकी चिताके साथ दग्ध हो गया हो। परन्तु संकल्पकी यह दृढ़ता अच्छे मार्गमें भी ले जा सकती है और बुरे मार्गमें भी। जब कोई स्त्री कुसंगसे कोई बुरा हठ ठान लेती है, तो हजार कोशिश करनेपर भी वह नहीं मानती। यही कारण है कि सदा ही स्त्रीकी रक्षा आवश्यक है। जैसे घास, रूई, कपूर या शीघ्र अग्नि पकड़नेवाली अन्य वस्तुओंको सदा ही आगसे बचाये रखनेकी आवश्यकता पड़ती है, उसी प्रकार स्त्रीजातिको भी सदैव कुसंगसे बचाये रखनेकी आवश्यकता है। यही कारण है कि समाजमें स्त्रियोंके लिये बन्धनोंका विधान है। यह बन्धन यथार्थतः स्त्रियोंके लाभके लिये ही है। विचारहीन पुरुष-स्त्री इसे पुरुषका स्वार्थ बतलाकर स्त्रियोंके लिये अहितकर कहते हैं। यह उनकी बड़ी भूल है। स्त्री प्रेमकी पुतली है, अतः प्रेम-बन्धन ही एक ऐसा बन्धन है, जो उसे सत्पथपर चला सकता है। बाल्यावस्थामें कन्या माता-पिताके प्रेमके वश होकर उनकी आज्ञाके अनुसार किस प्रकार गृह-कार्यमें लग जाती है। युवावस्थामें पति-प्रेम उसे गृहस्थीके झंझटोंमें व्यस्त रखता हुआ निरन्तर प्रसन्नता प्रदान करता है। फिर आगे चलकर सन्तान-प्रेम उससे क्या-क्या नहीं कराता, यह सबको ज्ञात ही है। स्त्रियाँ अपना आराम, अपनी खुशी, अपनी भूख-प्यास—यहाँतक कि अपने जीवनतकको सन्तानके ऊपर न्यौछावर करनेके लिये सदा तैयार रहती हैं। सचमुच स्त्री ईश्वरीय-शक्ति है। वह लक्ष्मी है, सरस्वती है। वह अनेक रूपोंमें संसारमें विराजमान है। वही संसारकी उत्पादिनी शक्ति है, वही माया है, प्रकृति है। अनिर्वचनीय सत्ता है।

'विद्याः समस्तास्तव देवि भेदाः
स्त्रियः समस्ताः सकला जगत्सु।'

'हे देवि! समस्त विद्याएँ तुम्हारे ही भेद हैं और संसारकी सब स्त्रियाँ तुम्हारा ही स्वरूप हैं।'

परन्तु स्त्री है पुरुषके अधीन। पुरुषके विना वह कुछ भी नहीं कर सकती। यद्यपि पुरुष भी स्त्रीके

बिना कुछ नहीं कर सकता। क्योंकि प्रकृतिकी शक्तिसे ही पुरुष शक्तिमान् बनता है। और स्त्री पुरुषके सहारे ही सब कार्योंके करनेमें समर्थ होती है अतः वह उसके वशीभूत है। परन्तु शास्त्रोंने स्त्रीको पुरुषसे ऊँचा दर्जा प्रदान किया है। इसी कारण स्त्रीका नाम पुरुषके पहले लिया जाता है। जैसे लक्ष्मीनारायण, गौरीशंकर, सीताराम, राधाकृष्ण इत्यादि।

कुछ लोगोंका जो यह विचार है कि हिन्दूशास्त्रोंने स्त्रियोंको समाजमें नीचा दर्जा दिया है, यह सर्वथा निर्मूल है। हिन्दूशास्त्रोंने स्त्री-तत्त्वको जितना समझा है, उतना कहीं किसीने नहीं समझा। शास्त्रप्रमाण आगे चलकर उपस्थित किये जायँगे।

अब हम विज्ञानकी दृष्टिसे देखना चाहते हैं कि स्त्री-तत्त्व क्या वस्तु है। यह तो सभी मानते हैं कि आत्मतत्त्व केवल सत्तामात्र है जो प्रत्येक वस्तुमें व्यापक होकर उसको नाना प्रकारका नाम, रूप और रंग प्रदान कर रहा है। जिस प्रकार विद्युत् एक सत्ता है, परन्तु वही नाना प्रकारके तत्त्वोंमें, नाना रूपमें प्रकट होती हुई प्रतीत होती है। अतः आत्मामें न स्त्रीत्व है, न पुरुषत्व; और न बालत्व है, न वृद्धत्व— इत्यादि। वह जिस प्रकारके शरीर या आकारमें आता है उसको उसी प्रकार लोग देखने और कहने लगते हैं। और जिस वस्तुसे नाना प्रकारके आकार और शरीर बनते हैं, उसे जड-तत्त्व या प्रकृति कहते हैं। परन्तु यह जड-चेतनका विभाग भी केवल कल्पना-मात्र ही है। वस्तुतः सृष्टिके सभी पदार्थोंमें चेतनतत्त्व विद्यमान है। भेद केवल यही है कि कहीं तो वह अधिक व्यक्त प्रतीत होता है, और कहीं कम। और यह न्यूनाधिकता उस वस्तुके आकारादिपर निर्भर है। श्रुति भी कहती है—

यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन् सर्वेभ्यो भूतेभ्योऽन्तरो यं सर्वाणि भूतानि न विदुर्यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरं यः सर्वाणि भूतान्यन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः।

(बृह० ३।७।१५)

जो सब भूतोंमें रहता हुआ भी सबसे पृथक् है। जिसे सारे भूत नहीं जानते। सारे भूत जिसका शरीर हैं, जो सब भूतोंमें स्थित होकर उनको नियममें रखता है वह तेरा आत्मा है, जो सबमें व्यापक है।

आधुनिक पदार्थविद्या (Science) की दृष्टिसे भी इस सृष्टिकी रचनामें दो तत्त्व विद्यमान हैं। एक चित्-तत्त्व या आत्मा, और दूसरा जड-तत्त्व या प्रकृति। यह प्रकृति-तत्त्व फिर दो भागोंमें विभक्त हो जाता है जिसे धन (Positive) और ऋण (Negative) कहते हैं। यही धन और ऋण दोनों पुरुष और स्त्री-तत्त्व हैं। यह दोनों तत्त्व विद्युत् (Electricity) में बहुत स्पष्टरूपसे दीखते हैं। वायुमें अम्लजन (Oxygen) स्त्री-तत्त्व है और नेत्रजन (Nitrogen) पुरुष-तत्त्व। जलमें अम्लजन (Oxygen) स्त्री-तत्त्व है और अंगाराम्ल (Hydrogen) पुरुष-तत्त्व।

यह बात केवल आधुनिक पदार्थविद्याकी ही नहीं है, अपि तु हमारे प्राचीन शास्त्र भी ऐसा ही कहते हैं। प्रश्नोपनिषद्में कात्यायनने जब पिप्पलाद ऋषिसे प्रश्न किया कि 'भगवन्! यह सृष्टि किस प्रकार उत्पन्न हुई' तो ऋषिने उत्तर दिया—

तस्मै स होवाच प्रजाकामो वै प्रजापतिः स तपोऽतप्यत स तपस्तप्त्वा स मिथुनमुत्पादयते। रयिं च प्राणं चेत्येतौ मे बहुधा प्रजाः करिष्यत इति। (१।४)

जब प्रजापतिने प्रजा उत्पन्न करनेकी कामना की तो उसने पहले मिथुन अर्थात् जोड़ा उत्पन्न किया। एकका नाम रयि था और दूसरेका प्राण। बस, इस रयि और प्राणसे ही सारा संसार निर्मित हुआ है।

वनस्पति-शास्त्रके विशेषज्ञ कहते हैं कि वृक्षों और बीजोंमें ये दोनों तत्त्व एक ही स्थानमें होते हैं। बहुत-से छोटे-छोटे प्राणियोंमें भी ऐसा ही देखनेमें आता है। परन्तु जब जीवोंके आकार कुछ अधिक विकसित होते हैं तब ये पृथक्-पृथक् शरीरोंमें प्रधानरूपसे व्यक्त होते हैं। परन्तु दोनों ही विद्यमान होते हैं। इसी कारण कितने ही शरीरके अंग स्त्री-पुरुषोंमें समान होते हैं। परन्तु जहाँ स्त्रीत्वकी प्रधानता हो जाती है, वहाँ स्त्रीका आकार तथा जहाँ पुरुषत्वकी प्रधानता होती है वहाँ पुरुषका आकार मूर्तिमान् हो जाता है। सारांश यह है कि स्त्रीत्व और पुरुषत्व, ये दोनों शरीरमें ही हैं, जीवात्मामें नहीं। शरीर जीवात्माका साधन है। अतएव जिस जीवात्माको जैसा साधन मिला है उसके अनुसार ही उसका कर्तव्य भी होना चाहिये।

प्रश्नोपनिषद्में ही फिर आगे चलकर कहा है—

'आदित्यो ह वै प्राणो रयिरेव चन्द्रमा……।' (१।५)

अर्थात् आदित्य प्राणस्वरूप है और चन्द्रमा रयि-स्वरूप। इस श्रुतिवाक्यसे इन दोनों तत्त्वोंका सम्बन्ध भलीभाँति समझा जा सकता है। आदित्य स्वयंप्रकाश-स्वरूप है और चन्द्रमा सूर्यके प्रकाशसे प्रकाशित होता है। अर्थात् चन्द्रमा सूर्यके सहारे जीवन धारण करता है। सूर्यके प्रकाशसे प्रकाशित होकर नभोमण्डलको सौन्दर्य प्रदान करता है। इसी प्रकार स्त्री-तत्त्व भी पुरुष-तत्त्वसे जीवित तथा प्रकाशित होकर गृहस्थ-मण्डल-को सुशोभित करता है। इसीलिये कहा है—

न गृहं गृहमित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते।

अर्थात् घर, घर नहीं है, गृहिणी (स्त्री) ही घर है। और यही कारण है कि हिन्दूशास्त्र स्त्रीको पुरुष-का वाम अंग बतलाते हैं। वाम अंगमें ही हृदयका स्थान है और हृदयपर ही सारा जीवन अवलम्बित है। इसी प्रकार गृहस्थ-जीवनका हृदय स्त्री है और उसीके ऊपर गृहस्थ-जीवनका सारा अस्तित्व निर्भर करता है। हृदय प्रेमका केन्द्र है, और स्त्रीमें भी प्रेमका भाव पुरुषकी अपेक्षा अधिक है। इन्हीं विचारोंको लक्ष्यमें रखकर शास्त्रकारोंने स्त्री और पुरुषके अधिकारोंका निर्माण किया है।

अब यह दिखलाया जाता है कि हिन्दूशास्त्रोंने स्त्री-पुरुषोंके लिये कौन-से अधिकार प्रदान किये हैं। यहाँ यह ध्यानमें रखनेकी बात है कि शास्त्रोंके विधान अनु-मानसे गढ़े हुए मनमाने अथवा पक्षपातपूर्ण नहीं हैं। बल्कि प्रत्येक वस्तुओंके मर्म और धर्मको समझकर ही शास्त्रकारोंने तदनुसार कर्म या अधिकारकी व्यवस्था की है। मनु भगवान्ने स्त्री-पुरुषके तत्त्वके विषयमें कहा है,

द्विधा कृत्वाऽऽत्मनो देहमर्द्धेन पुरुषोऽभवत्।
अर्द्धेन नारी तस्यां स विराजमसृजत्प्रभुः॥
(मनु० १।३२)

अर्थात् प्रभुने अपने देह अर्थात् व्यक्त स्वरूपके दो भाग किये। उनमें एक भाग पुरुष हुआ और दूसरा नारी। उस नारी भागमेंसे विराट् जगत्को (पुरुषभाग-के द्वारा) उत्पादन किया। इस श्लोकमें सूक्ष्मरूपमें स्त्री और पुरुषके अधिकारोंका संकेत है। इस बातको कर्म मीमांसाकार और भी स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

यागपरः पुरुषधर्मः। तपःप्रधाना नार्यः।

अर्थात् गृहस्थरूपी विश्वमें पुरुषका धर्म है कि वह 'याग'रूप होकर रहे, और नारीका कर्त्तव्य है कि वह 'तप' रूप होकर रहे। भाव यह है कि पुरुषको ऐसे काम करने चाहिये जिससे उसे ऐहिक और पारमार्थिक ऐश्वर्यकी प्राप्ति हो, और स्त्री पुरुषके इन कार्योंमें सहायता करनेके लिये शारीरिक कष्टोंको सहन करती रहे। 'तप' धर्म कोई आसान कर्म नहीं है। इसके लिये भी बड़ी चतुरता, बुद्धि, ज्ञान और शीलता आदि गुणोंकी आवश्यकता है। अतः माता-पिताका धर्म है कि अपनी

कन्याओंको विद्यादि शुभ गुणोंसे सुशोभित करके कन्या-दान करें । एक विद्वान्ने कहा है—

यदि कुलोन्नयने सरसं मनो
यदि विलासकलासु कुतूहलम् ।
यदि निजत्वमभीप्सितमेकदा
कुरु सुतां श्रुतशीलवतीं तदा ॥

यदि तुम चाहते हो कि तुम्हारे कुलकी उन्नति हो, यदि तुम्हें विलासकला (ललित कलाओं) में रुचि है, यदि तुम अपना और अपनी सन्तानका कल्याण करना चाहते हो तो अपनी कन्याको विद्या, धर्म और शीलसे युक्त करो ।

शास्त्रोंमें स्त्रियोंके दो भेद हैं—एक ब्रह्मवादिनी अर्थात् जो गृहस्थाश्रममें प्रवेश नहीं करतीं, और दूसरी वे जो गृहस्थाश्रममें प्रवेश करती हैं । जो गृहस्थाश्रममें प्रवेश करें वे—

वैवाहिको विधिः स्त्रीणां संस्कारो वैदिकः स्मृतः ।
पतिसेवा गुरौ वासो गृहार्थोऽग्निपरिक्रिया ॥

विधिपूर्वक विवाह करके पतिकी सेवा करें । यही उनका गुरु-गृह-वास है, क्योंकि पति ही स्त्रीका गुरु है । (पतिरेको गुरुः स्त्रीणाम्) और घरके काम-काज करना ही उनका ब्रह्मचर्यकालका अग्निहोत्र है ।

पहले स्त्रीके भयानक अधःपतनके विषयमें कहा गया है, और वहाँ बतलाया गया है कि इसी कारण स्त्रीको सदा ही सुरक्षित रखना चाहिये । इस विषयमें मनु भगवान् कहते हैं—

बालया वा युवत्या वा वृद्धया वापि योषिता ।
न स्वातन्त्र्येण कर्तव्यं किञ्चित्कार्यं गृहेष्वपि ॥
बाल्ये पितुर्वशे तिष्ठेत्पाणिग्राहस्य यौवने ।
पुत्राणां भर्तरि प्रेते न भजेत्स्त्री स्वतन्त्रताम् ॥
(मनु० ५ । १४७-१४८)

स्त्रीको कभी स्वतन्त्र न बर्तना चाहिये; क्योंकि स्वतन्त्रतामें उसके पतनका भय है । अतएव बाल्या-वस्थामें वह पिताके वशमें रहकर शिक्षा प्राप्त करे, यौवनावस्थामें पतिके अधीन रहकर गृहकार्य करे और पतिके मर जानेपर पुत्रोंके अधीन रहे ।

पित्रा भर्त्रा सुतैर्वापि नेच्छेद्विरहमात्मनः ।
एषां हि विरहेण स्त्री गर्ह्यां कुर्यादुभे कुले ॥
(मनु० ५ । १४९)

स्त्री अपने पिता, भर्ता या पुत्रोंसे अलग होनेकी कभी इच्छा न करे । क्योंकि इनसे अलग होनेपर वह दोनों कुलोंको निन्दनीय बना देती है ।

घरके काम-काजमें स्त्रीको किस प्रकार लगे रहना चाहिये, इस विषयमें मनु कहते हैं—

सदा प्रहृष्टया भाव्यं गृहकार्येषु दक्षया ।
सुसंस्कृतोपस्करया व्यये चामुक्तहस्तया ॥
(मनु० ५ । १५०)

स्त्रीको चाहिये कि सदा प्रसन्नमुख रहे । जलना, कुढ़ना, तपना और खीझना स्त्रीके लिये पाप है । क्योंकि इससे सारे घरका वायुमण्डल अशान्त और दुःखित हो जाता है । घरके कामोंमें चतुर रहे । रसोईके बर्तनों-को साफ-सुथरा रक्खे और खर्चमें किफायतसे काम ले ।

यस्मै दद्यात्पिता त्वेनां भ्राता वानुमते पितुः ।
तं शुश्रूषेत जीवन्तं संस्थितं च न लङ्घयेत् ॥
मङ्गलार्थं स्वस्त्ययनं यज्ञश्चासां प्रजापतेः ।
प्रयुज्यते विवाहेषु प्रदानं स्वाम्यकारणम् ॥
अनृतावृतुकाले च मन्त्रसंस्कारकृत्पतिः ।
सुखस्य नित्यं दातेह परलोके च योषितः ॥
विशीलः कामवृत्तो वा गुणैर्वा परिवर्जितः ।
उपचर्यः स्त्रिया साध्व्या सततं देववत्पतिः ॥
नास्ति स्त्रीणां पृथग्यज्ञो न व्रतं नाप्युपोषणम् ।
पतिं शुश्रूषते येन तेन स्वर्गे महीयते ॥
(मनु० ५ । १५१-१५५)

जिसे उसका पिता दे या पिताकी अनुमतिसे भाई दे, वह जबतक जीवित रहे स्त्रीको उसकी सेवा करनी चाहिये, उसकी आज्ञाका उल्लङ्घन नहीं करना चाहिये । स्वस्तिवाचन, और विवाहमें प्रजापतिका

यज्ञ उसके मंगलके लिये होता है। परन्तु दान (वाग्दान) ही (स्त्रीके ऊपर पतिके) स्वामित्वका कारण है। मन्त्रोंसे संस्कार करनेवाला पति ही स्त्रीका सदा सुखदाता है ऋतुकालमें और ऋतुकालके अतिरिक्त समयमें भी, तथा इस लोकमें भी और परलोकमें भी। खोटे स्वभाववाला हो, कामी हो, या गुणहीन हो, तथापि साध्वी स्त्रीके लिये पति सदा देवताके समान सेवा करने योग्य है। इसके सिवा स्त्रीके लिये न यज्ञ है, न व्रत है, न उपवास है। यदि वह पतिकी सेवा करती है तो इसीसे स्वर्गमें महिमाको प्राप्त होती है।

पाणिग्राहस्य साध्वी स्त्री जीवतो वा मृतस्य वा।
पतिलोकमभीप्सन्ती नाचरेत्किञ्चिदप्रियम्॥
कामं तु क्षपयेद्देहं पुष्पमूलफलैः शुभैः।
न तु नामापि गृह्णीयात्पत्यौ प्रेते परस्य तु॥
आसीतामरणात्क्षान्ता नियता ब्रह्मचारिणी।
यो धर्म एकपत्नीनां काङ्क्षन्ती तमनुत्तमम्॥
अनेकानि सहस्राणि कुमारब्रह्मचारिणाम्।
दिवं गतानि विप्राणामकृत्वा कुलसन्ततिम्॥
मृते भर्त्तरि साध्वी स्त्री ब्रह्मचर्ये व्यवस्थिता।
स्वर्गं गच्छत्यपुत्रापि यथा ते ब्रह्मचारिणः॥
(मनु० ५। १५६-१६०)

साध्वी स्त्री जो (मृत्युके बाद) पतिलोक (पतिके साथ वास) की इच्छा करती है, उसे चाहिये कि अपने हाथ पकड़नेवाले पतिके लिये अप्रिय किसी कार्यको न करे, चाहे वह पति जीता हो या मर गया हो। शुभ फूल, फल और मूलपर निर्वाह करके अपने शरीरको सुखाना पड़े तो सुखा डाले, परन्तु पतिके मरनेपर दूसरे पुरुषका नाम भी न ले, अर्थात् किसीको पति बनानेकी इच्छा भी न करे। एक पतिवाली स्त्रियोंके अत्युत्तम धर्मका पालन करनेकी इच्छा करती हुई, मरण-पर्यन्त कठिनाइयोंको सहती हुई, अपने-आपको वशमें रखती हुई ब्रह्मचारिणी बनी रहे। कुमारावस्थासे ही ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन करनेवाले हजारों ब्राह्मण कुल-सन्ततिका सम्पादन विना किये हुए भी स्वर्गको प्राप्त हुए हैं। उन्हीं ब्रह्मचारियोंके समान साध्वी स्त्री भी पतिके मरनेके बाद ब्रह्मचर्यमें स्थिर रहकर पुत्रके न रहनेपर भी स्वर्गको जाती है।

अपत्यलोभाद्या तु स्त्री भर्तारमतिवर्तते।
सेह निन्दामवाप्नोति पतिलोकाच्च हीयते॥
नान्योत्पन्ना प्रजास्तीह न चाप्यन्यपरिग्रहे।
न द्वितीयश्च साध्वीनां क्वचिद्भर्तोपदिश्यते॥
पतिं हित्वापकृष्टं स्वमुत्कृष्टं या निषेवते।
निन्द्यैव सा भवेल्लोके परपूर्वेति चोच्यते॥
(मनु० ५। १६१-१६३)

सन्तानके लोभसे जो स्त्री पतिका उल्लङ्घन करती है, वह इस लोकमें निन्दाको प्राप्त होती है, और पतिलोकसे च्युत हो जाती है। क्योंकि अन्य पुरुषसे उत्पन्न हुई अथवा अन्य स्त्रीसे उत्पन्न की हुई सन्तान लोकमें अपनी सन्तान नहीं होती। और न साध्वी स्त्रीके लिये कहीं दूसरे पतिका विधान ही किया गया है। जो स्त्री अपने निकृष्ट (वर्ण या पदके) पतिको छोड़कर उत्कृष्टका सेवन करती है, वह इस लोकमें निन्दनीया हो जाती है और परपूर्वा कहलाती है।

व्यभिचारात्तु भर्तुः स्त्री लोके प्राप्नोति निन्द्यताम्।
शृगालयोनिं प्राप्नोति पापरोगैश्च पीड्यते॥
पतिं या नाभिचरति मनोवाग्देहसंयता।
सा भर्तृलोकमाप्नोति सद्भिः साध्वीति चोच्यते॥
अनेन नारीवृत्तेन मनोवाग्देहसंयता।
इहाग्र्यां कीर्तिमाप्नोति पतिलोकं परत्र च॥
(मनु० ५। १६४-१६६)

पतिसे विमुख होनेपर स्त्री लोकमें निन्दाको प्राप्त होती है, मरनेके बाद उसे गीदड़की योनि प्राप्त होती है तथा वह कुष्ठ आदि पाप-रोगोंसे कष्ट पाती है। जो स्त्री मन, वाणी और शरीरसे अपने पतिसे विमुख नहीं होती है, वह पति-लोकको प्राप्त होती है और सत्पुरुष लोग उसे साध्वी स्त्री कहते हैं। इस प्रकारके स्त्रीजनोचित आचारके द्वारा मन, वाणी और शरीरको

वशमें रखते हुए स्त्री यहाँ श्रेष्ठ कीर्तिको प्राप्त होती है और परलोकमें पतिलोकको ।

परन्तु जो पुरुष स्त्रीजातिसे ऐसी कठिन तपस्याकी आशा करते हैं, उनको भी सत्पुरुषों-जैसी कठिन तपस्याका आचरण करना होगा। यदि पुरुष एकपत्नी-व्रतसे च्युत है तो उसे स्त्रीजातिसे पतिव्रतधर्मके पालन करनेकी आशा करना व्यर्थ ही है । स्त्री पतिसे सहवास करती है, अतएव स्त्रीजातिपर पतिके आचरणका प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही है । बहुत-से भोले-भाले भाई यह समझते हैं कि पुरुषका बाहरी आचरण अच्छा होना चाहिये । घरके भीतरका आचरण चाहे जैसा हो उससे कोई हानि नहीं होती । उनका यह विचार भ्रमपूर्ण है । हमारे बाल-बच्चों, स्त्रियों तथा कुटुम्बके अन्य लोगोंपर हमारे घरेलू आचार-व्यवहारका ही प्रभाव अधिक पड़ता है । अतः हमारा घरेलू आचार सर्वथा शुद्ध और उच्च होना चाहिये । हमारा बाहरका आचार बाहरके लोगोंपर प्रभाव डालता है, परन्तु बाहरके आचारको सुधारनेवाले हमें बहुत मिल जाते हैं । घरेलू आचरणको सुधारनेवाला कोई नहीं मिलता । अतः घरके आचरणके सुधारमें हमें स्वयं पूर्ण सावधानी रखनेकी आवश्यकता है ।

यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि स्त्री-जातिके लिये ऐसी कठिन तपस्याका विधान शास्त्रोंमें क्यों किया गया है ? क्यों उनके लिये अयोग्य पतिकी भी सेवा करना धर्म बतलाया गया है ? उन्हें यह अधिकार क्यों नहीं दिया गया कि वे एक पतिको छोड़कर दूसरा पति कर लें ?

इसका उत्तर यह है कि हिन्दू-संस्कृतिके अनुसार विवाह जीवनभरका योग है, यह जब एक बार बँध गया तो फिर टूटता नहीं । पुरुष भी अयोग्य स्त्रीको त्यागनेका अधिकार नहीं रखता । हाँ, यदि स्त्री सन्तानोत्पादनमें किसी कारणसे असमर्थ हो जाय, तो ऐसी अवस्थामें कई स्मृतिकारोंने पुरुषके लिये सन्तानार्थ द्वितीय विवाहका अधिकार दिया है । क्योंकि वंश-परम्पराको चलाना भी पुरुषका धर्म है । अतः उस धर्मके पालनार्थ यदि वह ऐसा करता है तो दोषी नहीं बनता । परन्तु यह काम भी वह अपनी पहली पत्नीकी प्रसन्नतापूर्वक दी हुई आज्ञासे ही कर सकता है, और उसके पालनके भारको भी पूर्ववत् आदर और प्रेमके साथ ही उसे वहन करना पड़ता है । यहाँ यह ध्यान रखनेकी बात है कि हिन्दू-संस्कृतिमें सामाजिक गठनके आधार हैं आध्यात्मिक नियम; परन्तु इतर जातियोंमें सामाजिक गठन ऐहिक सुखोंको ही दृष्टिमें रखकर किये जाते हैं । अतएव उनका अनुकरण करना हिन्दुओंके लिये उचित नहीं है ।

कुछ लोग आपत्ति करेंगे कि इन बातोंसे ही यह सिद्ध होता है कि हिन्दू-संस्कृतिमें स्त्रीजातिको अनादरकी दृष्टिसे देखा गया है । अतः इसका अनुकरण करना हमारे लिये उचित नहीं है । परन्तु ऐसा कहना सर्वथा भूल है । हम पहले कह चुके हैं, और अब और भी अधिक बलपूर्वक कहते हैं कि हिन्दू-संस्कृतिमें स्त्रीजातिके प्रति जो आदरका भाव विद्यमान है, वैसा अन्यत्र कहीं पाना दुर्लभ है । शास्त्रकार कहते हैं—

उपाध्यायान्दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता ।
सहस्रं तु पितॄन्माता गौरवेणातिरिच्यते ॥

उपाध्यायसे आचार्य दसगुना, आचार्यसे पिता सौगुना और पितासे माता सहस्रगुना बढ़कर पूजाके योग्य है । भला, इससे बढ़कर स्त्रीजातिका और क्या आदर किया जा सकता है ?

पितृभिर्भ्रातृभिश्चैताः पतिभिर्देवरैस्तथा ।
पूज्या भूषयितव्याश्च बहुकल्याणमीप्सुभिः ॥
यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः ।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः ॥

शोचन्ति जामयो यत्र विनश्यत्याशु तत्कुलम् ।
न शोचन्ति तु यत्रैता वर्धते तद्धि सर्वदा ॥
जामयो यानि गेहानि शपन्त्यप्रतिपूजिताः ।
तानि कृत्याहतानीव विनश्यन्ति समन्ततः ॥
तस्मादेताः सदा पूज्या भूषणाच्छादनाशनैः ।
भूतिकामैर्नरैर्नित्यं सत्कारेषूत्सवेषु च ॥
सन्तुष्टो भार्यया भर्ता भर्त्रा भार्या तथैव च ।
यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम् ॥
(मनु० ३ । ५५–६०)

न केवल विवाहके समय बल्कि सदैव ही पिता, भाई, पति और देवर जो अपना कल्याण चाहते हैं, उन्हें चाहिये कि स्त्रियोंका सत्कार करें और उन्हें आभूषित करें । जहाँ स्त्रियोंका सत्कार होता है वहाँ देवता आनन्द मनाते हैं, और जहाँ इनका सत्कार नहीं होता वहाँ सारी क्रियाएँ निष्फल हो जाती हैं । जहाँ कुलीन स्त्रियाँ शोकमें रहती हैं, वहाँ वह कुल शीघ्र नष्ट हो जाता है और जहाँ ये शोक नहीं करतीं वहाँ कुल सदा बढ़ता ही रहता है । अपमानित स्त्रियाँ जिन घरोंको शाप देती हैं, वे घर कृत्या (जादू) से नष्ट हुएके समान बिल्कुल ही नष्ट हो जाते हैं । अतएव ऐश्वर्यकी कामना करनेवाले पुरुषोंको चाहिये कि पर्व, त्यौहार तथा उत्सवोंमें सदा ही भूषण-वस्त्र और भोज्य वस्तुओंके द्वारा इनका सत्कार करते रहें । जिस कुलमें स्त्रीसे पति और पतिसे स्त्री सदा प्रसन्न रहती हैं उस कुलमें निश्चयपूर्वक शाश्वत कल्याणकी प्राप्ति होती है ।

भला, इससे बढ़कर स्त्रीजातिका और क्या मान और सत्कार हो सकता है ? अंग्रेजी शिक्षाके कारण पाश्चात्त्य सभ्यताकी चकाचौंधसे भूले हुए युवक और युवतियाँ समझते हैं कि हिन्दू-संस्कृतिमें स्त्रीजातिका बड़ा अपमान किया गया है । हम प्रार्थना करेंगे कि ये भाई और बहनें पाश्चात्त्य सभ्यताके चश्मेको उतारकर अपने पूर्वजोंके लेख और इतिहासको पढ़ें, उन्हें ज्ञात हो जायगा कि स्त्रीजातिको जो गौरव हिन्दू-सभ्यतामें प्राप्त है वह और कहीं नहीं है । भला, जहाँ तलाकके द्वारा स्त्रीको सदाके लिये त्याग कर दिया जाता है, वहाँ स्त्रीजातिको कौन-सा गौरव प्राप्त है । वहाँ तो उनका अस्तित्व भेड़-बकरी-जैसे पशुओंके समान है । दूरके ढोल सुहावने लगते हैं । पास जानेपर वस्तुकी असलियतका पता लग जाता है । स्वर्गीय लाला हरदयालने, जब वह विलायतमें रहते थे, 'माडर्न रिव्यू' में लिखते हुए कहा था कि 'हमारा यह पहले विचार था कि स्त्रीजातिकी अवस्था दूसरे देशोंकी अपेक्षा भारतवर्षमें बड़ी खराब है, परन्तु हमारा यह विचार गलत निकला । हमने यूरोपमें अपनी आँखों जब स्त्रीजातिकी हालत देखी तो हमको पता लगा कि हमारे भारतवर्षकी स्त्रियोंकी अपेक्षा यहाँकी स्त्रियोंकी अवस्था बहुत ही शोचनीय है । भारतवर्षमें प्रत्येक स्त्री, चाहे वह एक गरीब कुलीकी ही स्त्री क्यों न हो, अपने छोटे-से झोपड़ेमें पटरानीकी हैसियत रखती है । परन्तु यहाँ जब हम नवयुवतियोंको स्टेशन, बैंक तथा पोस्टआफिसोंमें क्लर्कका काम करते देखते हैं तो हमारा कलेजा मुँहको आ जाता है । कितने दुःखकी बात है कि नवयुवतियोंको अपनी रोटी कमानेके लिये परपुरुषोंकी गुलामी करनी पड़ती है ।'

याद रखना चाहिये कि हमारे लिये सीता, सावित्री, दमयन्ती, द्रौपदी, कुन्ती, गार्गी आदि ही आदर्श महिलाएँ हैं । उन्हींका जीवन-चरित हमारे देशकी स्त्रियोंके लिये अनुकरणीय है । बस, अन्तमें भाई-बहनोंसे यह प्रार्थना है कि वे शास्त्रोंके विचारके अनुसार ही अपने गृहस्थजीवनके आचार-व्यवहारको बनावें । इसीमें उनका कल्याण होगा ।

विश्व-विरहका गान

(लेखक—श्रीका० श्री० श्रीनिवासाचार्य)

[१]

आकुलता ही आज हो गयी तन्मय राधा,
विरह बना आराध्य द्वैत क्या कैसी बाधा ?

—साान्ध्यगीत

यह सारा जीवित प्राणियोंका समूह युग-युगान्तरोंसे एक अज्ञात विरहका अनुभव करता चला आ रहा है। जगमें जीवित रहनेके अपने सतत सङ्घर्षों और क्रान्तियोंके बावजूद भी, वह अपने इस विरहको भूल नहीं रहा है; विश्वात्माको पानेके उसके प्रयत्न अब भी जारी ही हैं और आगे भी रहेंगे। दुनिया उसे आसानीसे भुला भी नहीं सकती है, क्योंकि कवि टेनिसनके शब्दोंमें, 'यह सारी गोल पृथ्वी हर तरहसे उस महाप्रभुके चरणोंके आसपासहीके स्वर्ण-सूत्रोंसे बँधी हुई है'[१]। वह परिवर्तनशील प्राकृतिक जगत् चाहे कितना ही क्यों न बदल जाय, हमारा भाग्य-विधान, हमारे अस्तित्वका रहस्य और हमारा स्थान उसी आनन्त्यमें, सिर्फ वहींपर है[२]।

मानव-समाजको प्रकृतिकी गोदमें ही हमेशा सुख-सान्त्वना और शान्ति मिली है और प्रकृतिसे उत्तेजना भी उसने कम नहीं पायी है[३]। जब मानव, प्रकृतिको भी अपने-जैसे ही किसी दुःखसे अभिभूत पाता है, तब उसकी व्यथा बँट जाती है; उसके मनका बोझ हल्का हो जाता है। वहीं वह अपने दुःखोंका अन्त भी पाता है; क्योंकि सब चीजोंमें समभावको देखने और उनमें विश्वात्माके अस्तित्वको साक्षात्कार करनेकी प्रवृत्ति तब उसमें उत्पन्न हो जाती है।

दुनियाके छोटे-मोटे सभी वियोग-दुःख इसी महाविरहके अणु-अणु हैं। जिस विप्रलम्भ शृङ्गारकी नींवपर प्रख्यात महाकवियोंने अपने विशाल काव्य-भवन खड़े कर दिये हैं, वह इसीका एक अंश है। बच्चा पैदा होते ही जो रोने लगता है उसका भी कारण इसीमें निहित है। रामचन्द्रके विरहसे फूल, अङ्कुर और कलियोंके साथ वृक्षोंके भी सूख जानेका जो वर्णन महर्षि वाल्मीकिने किया है[४], उसका भी यही कारण है। श्रीमद्भागवतमें गोपियोंके गीतमें 'त्रुटिर्युगायते त्वामपश्यताम्' की जो रागिनी बजती है, उसमें इसी विश्व-विरहका महान् इतिहास सुरक्षित है। श्रीचैतन्य महाप्रभुने इसका जो अनुभव किया था, वह तो अप्रतिम ही था। 'A night among the pines' के सुप्रसिद्ध लेखक आर्. एल्. स्टीवेन्सनको यह अनुभव हुआ था कि हर रातको दो बजे दुनियाके सब जीव-जन्तु अपनी नींदसे थोड़ी देरके लिये जाग उठते हैं। विश्वकी सारी वस्तुओंमें यह जो एक ही तरहकी प्रवृत्ति काम कर रही है, इसका अनुभव कवि वर्ड्सवोर्थने भी किया था[५]।

१. "The whole round earth is every way
Bound by gold chains about the feet of God."
—*Tennyson. 'Morte d' Arthur,' 254.*

२. "Whether we be young or old,
Our destiny, our being's heart and home
Is with infinitude, and only there."
—*Wordsworth: 'The Prelude', Book VI.*

३. "In the beauty of flower and sunset, in the happy and perfect movement of young animals and in the delight of 10,000 various landscapes, we have some intimations of what life can do for us, and in some few works of plastic and pictorial art, in some great music, in a few noble buildings and happy gardens, we have an intimation of what the human will can do with material possibilities." *H. G. Wells: 'A short History of the world', page 308.*

४. विषये ते महाराज ! रामव्यसनकर्शिताः।
अपि वृक्षाः परिम्लानाः सपुष्पाङ्कुरकोरकाः॥
(अयोध्या० सर्ग ५९)

५. "Of something far more deeply interfused,
Whose dwelling is the light of setting suns,
And the round ocean, and the living air,
And the blue sky, and in the mind of man,

आजसे करीब १२०० वर्ष पूर्व, दक्षिणके संत-कवि आल्वार श्रीपराङ्कुशने जिनका दूसरा नाम 'शठकोप' भी है—इस महाविरहका अनुभव किया था। उन्हें मूर्ख बगुलेके जागरणमें, चकवीके प्रलापमें, महाजलधिके अविराम घोषमें, मन्द समीरमें, आसमानकी नीलिमामें, स्निग्ध लेकिन दिन-प्रति-दिन क्षीण होती हुई चाँदनीमें, गाढ़ अन्धकारकी शान्तिमें, महानदकी लम्बाईमें और दीपककी जलती हुई रोशनीमें इसी विरहकी ध्वनियाँ मिलीं। अर्धरात्रिमें भी जब सारा स्वर्ग सोया हुआ था, उन्होंने प्रकृतिके इन लाड़ले शिशुओंको जागते हुए पाया। उनके भक्तिकाव्य 'सहस्रगीति'में बोया हुआ यह सुन्दर और शिव-सत्य, अमर बना हुआ, आज भी विश्वको उसके विरहका स्मरण करा रहा है।

[२]

(१) मछली पकड़नेकी ताकमें खाड़ीके किनारे खड़े हुए बगुलेको देखकर आल्वारके मनमें यह भावना उठती है कि वह भी उसी प्रभुके वियोग-दुःखसे व्यथित है। वे बगुलेसे कह रहे हैं—'पास आनेवाली तरंगोंको बार-बार ऊपर उछालते हुए, खाड़ीके किनारे खड़े रहनेवाले ओ मूर्ख बगुले! तुम्हारे सो जानेपर भी स्वयं जागकर तुम्हारी रक्षा करनेवाली तुम्हारी माँ और कभी नींद न लेनेवाला स्वर्गलोक—दोनों सो गये; फिर भी तुम नहीं सोये! परमात्माके प्रेममें पड़कर मैं उसके विरहके रोगसे पीड़ित हूँ; मेरे शरीरकी कान्ति पीली पड़ गयी है। कहीं तुम्हारा भी मन उसीके कारण तो व्यथित नहीं हो रहा है!'

(२) चकवीसे वे कहते हैं—

'ओ तीखी आवाज़वाली चकवी! इस लम्बी रातमें तुम विना सोये क्यों इस तरह चीखती-चिल्लाती रहती हो! कहीं तुम्हारे मनको भी वह हर न ले गया हो! क्या तुमने भी, हमारी ही तरह, जो उसके सेवक हैं, उसके चरण-कमलोंमें संलग्न शीतल तुलसी-मालाकी कामना की थी!'

(३) दिन-रात चिल्लाते हुए समुद्रको देखकर कविकी वाणी बोल उठती है—

'ओ मेरे साथी! ओ हमेशा चिल्लाते रहनेवाले समुद्र! अपनी चाही हुई वस्तु न मिलनेके कारण ही सारे दिन और सारी रात तुम्हारी आँखें झपकती नहीं हैं; तुम्हारा दिल पानी-पानी हो गया है; तुम व्यथित होकर रो रहे हो। जिसने अग्निदेवको सारी लंका खानेके लिये दे दी थी, उस प्रभुके चरणोंको पानेकी मेरी इच्छा है। उसीसे मेरी यह दशा हो गयी है। क्या तुम भी उसी आपत्तिमें फँस गये हो? नहीं, तुम्हारा दुःख दूर हो और तुम हजारों साल जीते रहो, यही मेरी कामना है।'

(४) आल्वार निरन्तर चलती हुई हवाको भी विश्व-नियन्ताके प्रेमसे व्याकुल पाते हैं—

'ओ रे शीतल, मन्द समीर! तुम समुद्र, पहाड़ और आसमानको छूते हुए, सूर्यके प्रकाशसे उज्ज्वल दिनमें और चन्द्रमाकी ज्योत्स्नासे धवलित रात्रिमें, मेरी ही भाँति जागते रहते हो; तुम कभी सोते नहीं हो। मुझे तो ऐसा लगता है कि महाभारतके युद्धमें सुदर्शन-चक्रको चलानेवाले उस कृष्णके दर्शन करनेकी लालसासे ही तुमने युग-युगसे यह रोग पाल रक्खा है!'—यही उसके प्रति उनका कथन है।

(५) मेघको देखकर कविके मुखसे निकल पड़ता है—

'दुनियाके लिये समुद्रका पानी ले आकर मधुर वर्षाके रूपमें पिघल पड़नेवाले और युग-युगान्तरोंसे जगत्को जीवन प्रदान करनेवाले ओ मेघ! मधुसूदनके भुज-बलसे आकृष्ट होकर क्या तुम्हारी भी आँखें उससे लड़ गयीं, जिससे तुम यों शिथिल हो रहे हो!'

(६) कलाविहीन चन्द्रमासे भी कवि कुछ बातें कह जाते हैं—

'ओ एक ही कलावाले चन्द्र! तुम अभी काले अंधेरेको दूर करनेमें समर्थ नहीं हो। तुम्हारी कान्ति गल-गलकर क्षीण होती जा रही है। पञ्चशीर्ष शेषनागके बिछौने-पर पड़े रहनेवाले और सुदर्शनधारी भगवान्के वचनको सत्य मानकर, क्यों तुम भी, मेरे ही तरह, अपने तनको यों घुला रहे हो!'

(७) अन्धकार भी प्रेमकी बातें जानता है। परमात्माके विरहसे उसका स्वभावसे ही काला तन, अब बिल्कुल काला हो गया है। उसके दुःखको देखकर तो आल्वारका

A motion and a spirit, that impels
All thinking things, all objects of all thought,
And rolls through all things."

दुःख पहलेसे भी कई गुना अधिक हो जाता है। एक तरहसे वह उनका दुश्मन भी बन जाता है। उसकी कालिमा उनको और चीज़ोंको देखनेसे रोकती है। कालिमाकी आड़में छिपकर वह उनपर वह वार करता है जो कोई जानी दुश्मन भी नहीं कर सकेगा। इसलिये वे उससे कहते हैं—

'ओ गाढ़ अन्धकार! भक्तिमें चञ्चल मेरे मनको मेरा स्वामी हर ले गया। मेरे ही-जैसे शील-गुणवाले कुछ साथी मुझे मिल गये थे, जिनके साथ मैं अपने विरहकी बातें करता हुआ रो रहा था। इसी बीचमें तुम अपनी कालिमा लिये मेरे सामने आकर खड़े हो गये हो! क्रूर-से-क्रूर शत्रु भी मुझपर इतना आघात नहीं करेगा, जितना कि तुम कर रहे हो। आखिर कबतक तुम यों मेरे सामने खड़े रहोगे? वाह रे अंधकार! परमात्मा तुम्हें सुखी रक्खे!'

(८) महानद हमेशा चलता जा रहा है। 'आदमी आयें और आदमी चले जायँ; लेकिन मैं सदाके लिये चलता रहूँगा' (Men may come and men may go; But I go on for ever)—यही उसका उद्गार है। आल्वारको कुछ सान्त्वना मिली, महानदको देखकर। 'समानशीलव्यसनेषु सख्यम्'—मित्रता समान शील और व्यसनवालोंसे ही की जाती है; और जो मित्रता इसके विपरीत होती है उसका अन्त बहुत बुरा होता है। ('Disproportioned friendships ever terminate in disgust.'—Charles Dickens) आल्वारने महानदमें अपने व्यसनको—दुःखको—प्रतिबिम्बित पाया। उससे वे कहते हैं—

'गहरे और इसलिये काले पानीसे भरे हुए ओ महानद! इसमें शक नहीं कि तुम भी उसीके पचड़ेमें पड़ गये हो। दिन और रात चाहे मर क्यों न जायँ; लेकिन तुम कभी नींदका नाम नहीं लोगे। शकटासुरहन्ता श्रीकृष्णकी कृपाके पात्र बननेकी महान् आकांक्षासे ही तुम इस तरह दुःखित हो रहे हो न!'

(९) जलते हुए दीपकके प्रति कविका यह वाक्य था—'बीचमें बिना बुझे जलते ही रहनेवाले ओ दीपक! तुम भी हमारी दयाके पात्र हो। असह्य विरह-वेदनाने तुम्हारी मृदु आत्माको भीतर-ही-भीतर झुलसा दिया है। तुम्हारा सारा शरीर अब अग्निमय हो गया है। क्या इसका कारण यही तो नहीं कि तुमने लाल-लाल कमलदल-जैसी लम्बी आँखोंवाले और लाल कुंदरूफल-जैसे अधरोंवाले मेरे स्वामीकी सुन्दर और शीतल तुलसीमालाको पानेकी इच्छा की थी!'

(१०) अपने भक्तका यह करुण-क्रन्दन भक्तवत्सल भगवान्‌से सहा नहीं गया। आखिर उसने उन्हें अपने दर्शन दे ही दिये। इस मिलन-वेलामें आल्वारकी प्रार्थना यही थी—'मेरे हृदयमें निरन्तर जलते हुए प्रेम-रोगने मेरी मृदु आत्माको कसकर पकड़ लिया और भीतरसे ही उसे पूरा सुखा डाला। दिन-रात और घड़ी-घड़ी तेरी ही स्मृतिमें मैं घुला जाता था। यही सब करके तुम सोच रहे हो कि मैंने अपना काम पूरा कर दिया। विश्वके हे निर्जर आदि-पुरुष! आगेसे तुम मुझे छोड़कर कभी मत जाओ!'

(११) अन्तमें कविराज फलश्रुति भी कह जाते हैं—'जो विश्वके विविध वस्तुओंका कारण है, जो आदिज्योतिके नामसे अभिहित है, ऐसे उस परमात्मामें अतृप्त भक्तिवाले 'शठकोप' के विरचित इन पद्योंका जो निरन्तर अध्ययन करेंगे, वे अवश्य ही सदा परमात्माको अपने पास ही पायेंगे; उनसे बिछुड़कर वह कहीं नहीं जायगा।'

हाँ, क्यों नहीं? जिसको सत्यसे असीम प्रेम है, जिसने सत्यकी प्राप्तिमें अपना सब कुछ न्यौछावर कर दिया है, उसे उस अप्रकम्प्य सर्वशक्तिमान्‌के प्रति अगाध और अटल विश्वास भी तो होना ही चाहिये।

भक्त-गाथा

भक्त सुव्रत

सोमशर्मा नामक एक सुशील ब्राह्मण थे। उनकी पत्नीका नाम सुमना था। सुव्रत उन्हींके सुपुत्र थे। भगवान्‌की कृपासे ही ब्राह्मण-दम्पतिको ऐसा भागवत पुत्र प्राप्त हुआ था। पुत्रके साथ ही ब्राह्मणका घर ऐश्वर्यसे पूर्ण हो गया था। सुव्रत पूर्वजन्ममें धर्माङ्गद नामक भक्त राजकुमार थे। पिताके सुखके लिये उन्होंने अपना मस्तक दे दिया था। पूर्वजन्मके अभ्यासवश लड़कपनमें ही वे भगवान्‌का चिन्तन और ध्यान करने लगे थे। वे जब बालकोंके साथ खेलते तब अपने साथी बालकोंको भगवान्‌के ही 'हरि, गोविन्द, मुकुन्द, माधव' आदि नामोंसे पुकारते। उन्होंने अपने सभी मित्रोंके नाम भगवान्‌के नामानुसार ही रख लिये थे। वे कहते—भैया केशव, माधव, चक्रधर, आओ-आओ! पुरुषोत्तम आओ! हमलोग खेलें। मधुसूदन, मेरे साथ चलो! खेलते-खाते, पढ़ते-लिखते, हँसते-बोलते, सोते-जागते, खाते-पीते, देखते-सुनते, सभी समय वे भगवान्‌को ही अपने सामने देखते। घर, बाहर, सवारीपर, ध्यानमें, ज्ञानमें—सभी कर्मोंमें सभी जगह उन्हें भगवान्‌के दर्शन होते और वे उन्हींको पुकारा करते। तृण, काठ, पत्थर तथा सूखे-गीले सभी पदार्थोंमें वे पद्मपलाश-लोचन गोविन्दकी झाँकी करते। जल-थल, आकाश-पृथ्वी, पहाड़-वन, जड-चेतन—जीवमात्रमें वे भगवान्‌के सुन्दर मुखारविन्दकी छवि देख-देखकर निहाल होते। लड़कपनमें ही वे गाना सीख गये थे और प्रतिदिन ताल-लयके साथ मधुर स्वरसे भगवान्‌के गुण गा-गाकर भगवान् श्रीकृष्णमें प्रेम बढ़ाते। वे गाते—

'वेदके जाननेवाले लोग निरन्तर जिनका ध्यान करते हैं, जिनके एक अंगमें अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड स्थित हैं, जो सारे पापोंका नाश करनेवाले हैं मैं उन योगेश्वरेश्वर मधुसूदन भगवान्‌के शरण हूँ। जो सब लोकोंके स्वामी हैं, जिनमें सब लोक निवास करते हैं मैं उन सर्वदोषरहित परमेश्वरके चरणकमलोंमें निरन्तर नमस्कार करता हूँ। जो समस्त दिव्यगुणोंके भण्डार हैं, अनन्त-शक्ति हैं इस अगाध अनन्त संसारसागरसे तरनेके लिये मैं उन श्रीनारायणदेवकी शरण ग्रहण करता हूँ। जो योगिराजोंके मानससरोवरके राजहंस हैं, जिनका प्रभाव और माहात्म्य सदा और सर्वत्र विस्तृत है, उन असुरोंके नाश करनेवाले भगवान्‌के विशुद्ध, विशाल चरणकमल मुझ दीनकी रक्षा करें। जो दुःखके अँधेरेका नाश करनेके लिये चन्द्रमा है, जिन्होंने लोक-कल्याणको अपना धर्म बना रक्खा है, जो समस्त ब्रह्माण्डोंके अधीश्वर हैं उन सत्यस्वरूप सुरेश्वर जगद्गुरु भगवान्‌का मैं ध्यान करता हूँ। जिनका स्मरण ज्ञानकमलके विकासके लिये सूर्यके समान है, जो समस्त भुवनोंके एकमात्र आराध्यदेव हैं, मैं उन महान् महिमान्वित आनन्दकन्द भगवान्‌के दिव्य गुणोंका तालस्वरके साथ गायन करता हूँ। मैं उन पूर्णामृतस्वरूप सकल कलानिधि भगवान्‌का अनन्य प्रेमके साथ गायन करता हूँ। पापी जीव जिनका दर्शन नहीं कर सकते, मैं सदा-सर्वदा उन भगवान् केशवके ही शरणमें पड़ा हूँ।' इस प्रकार गायन करते हुए सुव्रत हाथोंसे ताली बजा-बजाकर नाचते और बच्चोंके साथ आनन्द लूटते। उनका नित्यका यही खेल था। वे इस तरह भगवान्‌के ध्यानमें मस्त हुए बच्चोंके साथ खेलते रहते। खाने-पीनेकी कुछ भी सुध नहीं रहती। तब माता सुमना पुकारकर कहती—'बेटा! तुम्हें भूख लगी होगी, देखो, भूखके मारे तुम्हारा मुख कुम्हला रहा है, आओ, जल्दी आओ, कुछ खा जाओ।' माताकी बात सुनकर सुव्रत कहते—'माँ, श्रीहरिके ध्यानमें जो अमृतरस झरता है, मैं उसीको पी-पीकर तृप्त हो रहा हूँ।' जब माँ बुला लाती और वे खानेको बैठते, तब मधुर अन्नको देखकर कहते—'यह अन्न भगवान् ही है, आत्मा अन्नके आश्रित है। आत्मा भी तो भगवान् ही है। इस अन्नरूपी भगवान्‌से आत्मारूप भगवान् तृप्त हों। जो सदा क्षीरसागरमें निवास करते हैं, वे भगवान् इस भगवत्स्वरूप जलसे तृप्त हों। ताम्बूल, चन्दन और इन मनोहर सुगन्धयुक्त पुष्पोंसे सर्वात्मा भगवान् तृप्त हों।' धर्मात्मा सुव्रत जब सोते तब श्रीकृष्णका चिन्तन

करते हुए कहते—मैं योगनिद्रासम्पन्न श्रीकृष्णके शरण हूँ ! इस प्रकार खाने-पहनने, बैठने-सोने आदि सभी कार्योंमें वे श्रीभगवान्‌का स्मरण करते और उन्हींको सब कुछ निवेदन करते। यह तो उनके लड़कपनका हाल है।

वे जब जवान हुए, तब सारे विषय-भोगोंका त्याग करके नर्मदाजीके दक्षिण तटपर वैदूर्य पर्वतपर चले गये और वहाँ भगवान्‌के ध्यानमें लग गये। यों तपस्या करते जब सौ वर्ष बीत गये तब लक्ष्मीजीसहित श्रीभगवान् प्रकट हुए। बड़ी सुन्दर झाँकी थी। सुन्दर नील-श्याम शरीरपर दिव्य पीताम्बर और आभूषण शोभा पा रहे थे। तीन हाथोंमें शङ्ख, चक्र और गदा सुशोभित थे। चौथे करकमलसे भगवान् अभयमुद्राके द्वारा भक्त सुव्रतको निर्भय कर रहे थे। उन्होंने कहा—'बेटा सुव्रत! उठो, उठो, तुम्हारा कल्याण हो! देखो! मैं स्वयं श्रीकृष्ण तुम्हारे सामने उपस्थित हूँ। उठो, वर ग्रहण करो।'

श्रीभगवान्‌की दिव्य वाणी सुनकर सुव्रतने आँखें खोलीं और अपने सामने दिव्य मूर्ति श्रीभगवान्‌को देखकर वे देखते ही रह गये। आनन्दके आवेशसे सारा शरीर पुलकित हो गया। नेत्रोंसे आनन्दाश्रुओंकी झड़ी लग गयी। फिर वे हाथ जोड़कर बड़ी ही दीनताके साथ बोले—

'हे जनार्दन! यह संसार-सागर बड़ा ही भयानक है। इसमें बड़े-बड़े दुःखोंकी भीषण लहरें उठ रही हैं, विविध मोहकी तरङ्गोंसे यह उछल रहा है! भगवन्! मैं अपने दोषसे इस सागरमें पड़ा हूँ। मैं बहुत ही दीन हूँ। इस महासागरसे मुझको उबारिये। कर्मोंके काले-काले बादल गरज रहे हैं और दुःखोंकी मूसलधार वृष्टि कर रहे हैं। पापोंके सञ्चयकी भयानक बिजली चमक रही है। हे मधुसूदन! मोहके अँधेरेमें मैं अन्धा हो गया हूँ। मुझको कुछ भी नहीं सूझता, मैं बड़ा ही दीन हूँ। आप अपने करकमलका सहारा देकर मुझे बचाइये। यह संसार बहुत बड़ा भयावना जङ्गल है। भौति-भौतिके असंख्य दुःख-वृक्षोंसे भरा है। मोहमय सिंह-बाघोंसे परिपूर्ण है। दावानल धधक रहा है, मेरा चित्त, हे श्रीकृष्ण! इसमें बहुत ही बुरी तरह जल रहा है, आप मेरी रक्षा कीजिये। यह बहुत पुराना संसार-वृक्ष करुणा और असंख्य दुःख-शाखाओंसे घिरा हुआ है। माया ही इसकी जड़ है। स्त्री-पुत्रादिमें आसक्ति ही इसके पत्ते हैं। हे मुरारे! मैं इस वृक्षपर चढ़कर गिर पड़ा हूँ। मुझे बचाइये। भाँति-भाँतिके मोहमय दुःखोंकी भयानक आगसे मैं जला जा रहा हूँ। दिन-रात शोकमें डूबा रहता हूँ। मुझे इससे छुड़ाइये। अपने अनुग्रहरूप ज्ञानकी जलधारासे मुझे शान्ति प्रदान कीजिये। मेरे स्वामी! यह संसाररूपी गहरी खाई बड़े भारी अँधेरेसे छायी है। मैं इसमें पड़कर बहुत ही डर रहा हूँ। इस दीनपर आप कृपा कीजिये। मैं इस संसारसे विरक्त होकर आपके शरण आया हूँ। जो लोग अपने मनको निरन्तर बड़े प्रेमसे आपमें लगाये रखते हैं, जो आपका ध्यान करते हैं वे आपको प्राप्त करते हैं। देवता और किन्नरगण आपके परम पवित्र श्रीचरणोंमें सिर झुकाकर सदा उनका चिन्तन करते हैं। प्रभो! मैं भी न तो दूसरेकी चर्चा करता हूँ, न सेवन करता हूँ और न तो चिन्तन ही करता हूँ। सदा आपके ही नाम-गुण-कीर्तन, भजन और स्मरणमें लगा रहता हूँ, मैं आपके श्रीचरणोंमें निरन्तर नमस्कार करता हूँ। श्रीकृष्ण! मेरी मनःकामना पूरी कीजिये। मेरी समस्त पापराशि नष्ट हो जाय। मैं आपका दास हूँ, किङ्कर हूँ। ऐसी कृपा कीजिये जिससे मैं जब जहाँ भी जन्म लूँ, सदा-सर्वदा आपके चरणकमलोंका ही चिन्तन करता रहूँ। श्रीकृष्ण! यदि आप मुझपर प्रसन्न हैं तो मुझे उत्तम वरदान दीजिये। हे देवाधिदेव! मेरे माता और पिताके सहित मुझको अपने परम धाममें ले चलिये।' इस प्रकार स्तुति करके सुव्रत चुप हो गये। तब भगवान् श्रीकृष्णने कहा—'ऐसा ही होगा। तुम्हारा मनोरथ पूर्ण होगा।' इतना कहकर भगवान् अन्तर्धान हो गये और सुव्रतने अपने पिता सोमशर्मा और माता सुमनाके साथ सशरीर भगवान्‌के नित्य धामकी शुभ यात्रा की!

बोलो भक्त और उनके भगवान्‌की जय!

कृष्ण-विरह

(लेखक—श्रीभोलानाथजी महाराज)

'मैं चुपकेसे यमुनापर जल भर रही थी। मुझे जल्दी घर जाना था। मेरे सब काम अधूरे थे, और कुछ पूरे हुए कामोंकी खुशियाँ मेरे मनमें थीं। मुझको दूध जमाना था, दही बिलोना था, घरके काम देखने थे। मेरे अंदर इच्छाओंकी एक भरमार थी। मेरे जीवनके कई लक्ष्य थे—मुझे अभीतक यह करना था, वह करना था। लेकिन आह! यह क्या हुआ! अभी घड़ा जलसे आधा भरा है और आधा खाली है कि किसीकी यादने तन-मनमें आग लगा दी। अरे! यह सामनेसे कौन गुजर गया कि जिसने मेरी पहली दुनिया और उसकी बुनियादोंको एकबारगी उखाड़कर फेंक दिया! यह उसका सामनेसे निकलना किस भूकम्पसे कम है, किस तबाहीसे थोड़ा है! देखो! देखो! मेरी वह दुनिया बरबाद हुई जा रही है, मेरी पहली खुशियोंका खात्मा हुआ जा रहा है! घड़ा भरूँ तो क्यों और भरकर ले चलूँ तो कहाँ! यह सामनेसे निकलनेवाला कौन था? उसने जरा-सा मेरी तरफ देखा था, लेकिन फिर मुँह फेरकर चला गया! उसको कहाँ ढूँढ़ूँ, क्या करूँ! अच्छा होता अगर मैं उसकी तरफ न देखती!'

> ख़बरे तहय्युरे इश्क़ सुन, न जनूँ रहा न परी रही।
> न तो तू रहा न तो मैं रहा; जो रही, सो बेख़बरी रही॥
> शहे बेख़ुदी ने अता किया मुझे जब लिबासे बरहनगी।
> न ख़िरद की बखियागरी रही, न जनूँ की परदादरी रही॥
> चली सिम्ते ग़ैब से इक हवा कि चमन ग़ुरूरका जल गया।
> वले शमाख़ाना जलाके सब गुले सुर्ख़ साँ ही हरी रही॥

प्रेमका आश्चर्य सुनिये कि जब प्रेमीके मनमें भगवान् समाये तो बाकी कल्पनाएँ भाग खड़ी हुईं और वहाँ पहली सृष्टिके सम्बन्धमें एक भूल पैदा हो गयी। जिस वक्त बेखबरीने प्रेममें मुग्ध होनेमें मुझको मेरे आपेसे बाहर कर दिया, यानी जब मुझको अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय कोशसे अलहदा कर दिया, तो वहाँ न तो बुद्धिकी युक्तियाँ ही रहीं और न प्रेमकी पहली मंज़िलें—प्रेमकी प्रारम्भिक अवस्था। अचानक एक तरफसे ईश्वरीय दयाकी हवा चली। उससे मेरे अहङ्कारका बगीचा जल उठा, लेकिन इस दीपकने बाकी तो सब कुछ जला दिया, मगर आप लाल पुष्पकी तरह हरी रही, यानी प्रभु-प्रेमने सब कुछ जलाकर अपना सौन्दर्य कायम रक्खा।

आँखें बन्द करती है और खयाल करती है कि मैं यह समझ लूँ मैंने उसको नहीं देखा! लेकिन आँखें बन्द होनेपर वह दिलमें बैठा उसी तरह झपटकर सामनेसे भागता नज़र आया।

(घबराकर) हैं! यह क्या? तू कौन है, जो इस तरह मेरे दिलमें आकर मेरी दुनियाको बरबाद कर रहा है?

बुद्धि—इसको बाहर करो।

गोपी—लेकिन............

बुद्धि—'लेकिन' क्या? यह तुम्हारी तबाहीका कारण है!

> हसीनाने जहाँ उजड़ी हुई महफ़िलमें रहते हैं।
> जिन्हें बरबाद करते हैं, उन्हींके दिलमें रहते हैं॥

गोपी—हाँ, मैं इसको जरूर बाहर करूँगी।

लेकिन कोशिश दो वजहसे बेकार हो जाती है—एक तो इसलिये कि उसका दिल 'दिल' बनकर तो उसको बाहर करना नहीं चाहता, बल्कि उसको दिलमें रखना चाहता है और दूसरे उसको दूर करनेकी कोशिश उसको और मजबूतीसे कायम किये जा रही है।

दो घण्टे गुज़र गये हैं, घड़ा अभीतक जलमें है। इतनेमें एक आँसू आँखोंसे टपककर घड़ेपर जोरसे गिरता है और वह चौंक उठती है। 'आब दफ़ाए ख्वाब' वाली बात हुई, यानी जलसे स्वप्न दूर हो जाता है। उस आँसूकी बूँदने उसके ध्यानकी सृष्टिको बहा दिया और वह फिर अपने आपको अपनी पहली दुनियामें देखने लगी। जबतक ध्यानकी सृष्टिमें रही, उसके लिये किसी और दुनियाका अस्तित्व नामको भी न था। वह अपने प्रभुके ध्यानमें मग्न थी और उसीको सच्चा मान रही थी। लेकिन चौंकनेपर उसे पहली सृष्टिका ज्ञान तो हुआ पर ध्यानकी सृष्टि पूर्णरूपसे फिर भी न मिट सकी।

उधरसे घड़ीकी आवाज़ आयी। तीन घण्टे गुज़र गये। घर याद आया और वहाँ उसे अपनी मौजूदगीकी

जरूरत महसूस हुई। कुल काम अधूरे पड़े हैं। वह दिलपर जब्र करने लगी। घर जाकर देखा घड़ा आधा खाली है, लेकिन दिल आगेसे ज्यादा भरा है। वह घरके काम करने लगी, लेकिन हाथ कुछ ढीले थे। कभी नेत्रोंमें जल भर आता है, कभी ठण्डी आहें निकलने लगती हैं। कुछ घबरायी हुई-सी है, सहमी-सी है। घरवाले बुलाते हैं, पासे अदब है, जवाब देना पड़ता है। यह काम करो, वह न करो। सम्हल-सम्हलकर हुक्मकी तामील कर रही है, लेकिन आँखोंके सामने कोई और ही नक्शा है। जाकर एक तरफ़ बैठ गयी। समझती है अभीतक यमुनाके किनारे जल भरा जा रहा है और आँखें किसीको ढूँढ़ रही हैं। उसे उस गुजरनेवालेसे हिम्मत कहाँ पड़ी थी कि पूछ ही लेती कि तू कौन है। कुछ जल्दीमें अच्छी तरह समझ भी न सकी। लेकिन इतना जरूर समझा कि यह मेरी आत्माका जुज़्वेआज़म—महान् तत्त्व है। यह समझ उसे बुद्धिद्वारा प्राप्त नहीं हुई, बल्कि उसके सात्त्विक स्वभावने लोहेकी तरह चुम्बकका ध्यान करा दिया और वह समझ गयी कि जिसका ध्यान करते-करते वह मन, इन्द्रियोंकी वासनाओंसे ऊपर हुई जा रही है, वह कोई साधारण व्यक्ति नहीं हो सकता, वह तो उसकी आत्माका ध्येय ही हो सकता है कि जिसके लिये वेदान्तसूत्रोंने यह आज्ञा की है—

'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा।'

मैं समझ गयी कि इस शरीरमें प्रभुका चमत्कार था, इन बादलोंसे उसी चन्द्रमाकी किरणें प्रकट हो रही थीं। इस पर्देकी ओटमें वह ख़ुद ही बैठा था। अगर यह वह न होता तो प्रथम तो मेरा मन ही उधर न खिंचता और अगर खिंचता भी तो मेरी भावनाएँ इस क़दर ऊँची न होतीं। यह उसीका प्रभाव है, मेरी बड़ाई नहीं—जो उसने मेरी तरफ़ देखते ही मुझको संसार और उसकी तमाम इच्छाओंसे ऊपर उठा दिया! दवाई असरसे पहचानी जाती है। क्योंकि उसका असर अच्छा है, इसलिये दवाई भी ज़रूर अच्छी है।

बुद्धि–तुम तो मनमानी हाँकती जाती हो! तुम्हारे पास उनके भगवान् होनेका क्या प्रमाण है? सम्भव है वह साधारण व्यक्ति हो और तुम प्रेममें उलझ गयी हो।

उत्तर–मेरे पास प्रमाण एक ही है और वह है मेरा हृदय। जिस प्रकार पतङ्ग दीपकको, बुलबुल फूलको, लोहा चुम्बकको और भक्त अपने भगवान्को पहचानता है, उसी तरह मेरे हृदयने मुझे पूर्णतया बता दिया है कि इस शरीरमें सिवा भगवान्के और कोई प्रकाश ही नहीं है। न्याय और मन्तव्य (Philosophy) को अपनी हदतक ही दौड़नेका अधिकार है, उसके बाहर नहीं।

बुद्धि–तुम अच्छी हो, तुम्हारे भाव अति उत्तम हैं—इसमें सन्देह नहीं।

गोपी–लेकिन हृदयकी दुनिया निराली है, इसके नियम और हैं। अगर तुमको अपना काम करनेका अधिकार है तो इसको भी ज़रूर है, अगर कान आवाज़को सुनकर सत्य कह सकते हैं, तो आँखोंको भी रंग देखनेका अधिकार है। मैं अकेली हूँ, तुम दो बुद्धि और हृदय हो। मैं एक सुनती हूँ, तुम दो कहनेवाले हो। तुम दोनों ठीक हो और मैं भी ठीक हूँ। लेकिन जिस सृष्टिमें मैं भ्रमण कर रही हूँ, उसमें तुम्हारा (बुद्धिका) काम नहीं; उसमें हृदयका काम है, किश्ती जलतक रहती है, किनारेपर पहुँचकर उसे छोड़ना पड़ता है। किश्ती ज़मीनपर काम नहीं देती, ज़मीनकी सवारियाँ जलमें बेकार हैं। तुम्हें धन्यवाद है! तुमने मेरे लिये बहुत कष्ट किया; लेकिन मैं मजबूर हूँ। मेरे हृदयकी आवाज़ यह मालूम होती है कि 'यह मेरे प्रभु थे' और यह उनकी कृपा है। मेरा हृदय भी उनको समझ न सकता, अगर वह न चाहते। अगर वह न चाहते तो एक हृदय क्या, लाखों भी उनको न समझ सकते। यह उन्हींकी दया थी कि मैं उनको समझ सकी; यह उन्हींका प्रकाश था कि मैं उनको देख सकी। और तुम्हारी मित्रतामें भी कोई सन्देह नहीं; लेकिन मुझे अब हृदयकी सुननी है। अगर यह भ्रम भी हो, तो मैं क्या कर सकती हूँ। मुझे जबतक दूसरा सत्य नज़र नहीं आता, मेरा यही भ्रम सत्य बना रहेगा। और प्रभु ऐसा दिन न लायें कि मेरा भ्रम (अगर यह भ्रम है) मेरे ऊपर भ्रमरूपमें प्रकट हो।

> नासहा तेरी नसीहतको सुनेगा कैसे।
> एक मुद्दतसे जिसे होशका भी होश नहीं॥
> जा ज़रा देख के उस चेहरए नूरानी को।
> दिलमें गर दर्द नहीं, इश्क़ नहीं, जोश नहीं॥

ऐ भगवान्के रास्तेसे विमुख करनेवाले! तेरी युक्तियाँ उसके मनपर कभी अपना प्रभाव नहीं डाल सकतीं कि जो प्रभु-प्रेममें अपनेको भूल चुका है।

ऐ भगवान्के अस्तित्वसे इन्कार करनेवाले! अगर तेरे दिलमें उसके लिये दर्द, प्रेम और पुरुषार्थ नहीं है तो जा, उस प्रकाशमय सुन्दर मुखड़ेको एक बार देख ले; ये

सब बातें तेरे अंदर स्वभावतः ही आ जायँगी। यह तेरा इन्कार केवल उसी समयतक है कि जबतक उसने तुझको अपना सुन्दर मुखड़ा नहीं दिखाया।

ऐ बुद्धि! मैं चाहती थी कि तू भी उसको देख सकती और फिर अगर तू मेरी तरह न बन जाती और मुझको 'तू ठीक है,' 'तू ठीक है' न कहती फिरती तो मैं देखती! समझानेवालीने देखा नहीं और देखनेवाली समझ नहीं सकती। लेकिन फिर भी मैं तुझसे प्रसन्न हूँ।

इतना कहकर वह नेत्र बंद कर लेती है। 'हे प्रभु···!' इतने ही शब्द सुनायी देते हैं। बेचारीकी रातें जगकर और दिन सोकर निकलने लगे।

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥

भावार्थ यह कि जिसमें दुनिया कुछ नहीं देखती, जिसमें बुद्धिको सिवा सामान्य व्यक्तित्वके कुछ नज़र नहीं आता, उसमें इस गोपीको प्रभुके दर्शन हो रहे हैं। गोया, जहाँ बुद्धि सोयी हुई है, वहाँ इसका प्रेम जागता है और जहाँ बुद्धि और संसार जाग रहा है, यानी जिस सृष्टि और उसके भोगोंको बुद्धि और संसार सत्य माने हुए हैं, वहाँ यह प्रेम-धुक् सोया पड़ा है।

किसी बातमें मन नहीं लगता था। कभी ख्याल आता कि क्या मैं उसे देख सकूँगी कि जिसने मेरी दुनियाको बरबाद करके नयी प्रेमकी दुनिया मुझमें आबाद कर दी है।

ऐ आँसुओ! आओ, उसको ढूँढ़ो!

ऐ ठण्डी आहो! जाओ, जल्दीसे उसे पकड़ लो!

ऐ तारो, तुम्हीं बोलो कि कहीं उसको देखा है? क्योंकि तुम्हारी बहुत आँखें हैं। तुम्हारी आँखें होनेका प्रमाण तुम्हारा टिमटिम करना (twinkle) या झपकना है।

सम्बन्धी पास आकर बैठे हैं। यह बात है, वह बात है; यह काम है, वह काम है; आज वहाँ बिरादरीमें जाना है—ब्याह है, शादी है इत्यादि। बेचारी ज़बरदस्ती होशमें आकर अदबसे रहती है और अक्सर रो पड़ती है। जब जब्रसे दिलके भावोंको रोकती है, तो चेहरा ज़र्द हो जाता है।

सम्बन्धी—इसको क्या हुआ, पूछो तो सही। आखिर तुमको क्या तकलीफ़ है?

गोपी—नहीं, मैं अच्छी हूँ; मुझे कोई कष्ट नहीं।

सम्बन्धी—आखिर ये आँसू क्यों?

गोपी—नहीं, यह मामूली बात है; ज़रा तबियत अच्छी नहीं थी।

फिर सँभल जाती है और हँसनेकी कोशिश करती है।

शाद बाश ए इश्के खुश सौदाए मा।
ऐ तबीबे जुमला इल्लतहाए मा॥

'ऐ मेरे दिव्य प्रेम! तुम प्रसन्न रहो, तुम मेरी कुल बीमारियोंकी एकमात्र दवा हो।' लेकिन फिर भागकर एक कोनेमें छिप जाती है और वहाँ जाकर रोने लगती है।

ऐ मेरे प्रियतम! तुम कौन हो? अगर तुमको दर्शन न देने थे, तो यह प्रेमकी अग्नि क्यों भड़कायी? मैं तुमको कहाँ ढूँढ़ूँ? आखिर जानते हो, संसारके बन्धनोंकी बेड़ियाँ मेरे पाँवोंमें पड़ी हैं। मालूम होता है तुमने किसीके प्रेमको इस तरह अनुभव नहीं किया, वर्ना कुछ मेरे ऊपर ज़रूर दया करते।

बुद्धि—किसीको बुलायें, जो तुम्हारे इस विरहकी अग्निको शान्त कर सके या जो इसको निकालकर फेंक दे?

गोपी—यह तो ज़ुल्म होगा।

बुद्धि—अजीब बात है कि जिसके कारण रोती हो, उसीको पास रखना चाहती हो!

गोपी—न मालूम इस रोनेमें इतना लुत्फ़ क्यों आता है?

दिल ढूँढ़ता है फिर वही फुरसतके रात-दिन,
बैठे रहें तसव्वुरे जानाँ किये हुए—
ढूँढ़े है फिर किसीको लबे बामपर हवस
जुल्फे स्याह रुख़ पै परीशाँ किये हुए।

'मनमें फिर उस समयकी प्रतीक्षा है कि जब हम अपने भगवान्‌का ध्यान किये चुपचाप बैठे रहें। प्रेमके उच्च शिखरपर मेरे दिलकी भावनाएँ भगवान्‌को अपने चेहरेसे मायाको हटाये हुए या मायाको सुन्दर रूपसे सँवारे हुए फिर देखना चाहती हैं या मायाको प्रभुके साथ लीला करते देखना चाहती हैं।'

बुद्धि—अजब पगली हो कि जिसके कारण रोती हो, जिसको न बर्दाश्त होनेवाला बतलाती हो, उसीसे प्रेम करती हो!

गोपी—क्या कहूँ? दीपक जिस अग्निसे जलता है, उसी-से जिन्दा भी तो रहता है! इसमें सन्देह नहीं—इसमें बड़ा

दुःख है, घबराहट है, बेचैनी है, रोना है, लेकिन इन सबके होते हुए इसमें एक आनन्द भी इस प्रकारका है कि मेरी प्रभुसे प्रार्थना है कि वह मुझको कभी इस हालतसे जुदा न करें। कभी तो ख्याल आता है कि वह कभी सामने न आयें, ताकि यह मेरे मनकी तड़प खत्म न हो जाय। लेकिन तड़प फिर कहती है कि मैं हूँ ही इसलिये कि वह सामने आयें और ज़रूर आयें। अजीब बात है कि मुझे तड़पसे भी प्रेम है और उससे भी कि जिससे तड़पको प्रेम है।

कभी तो खैंच लायेगी उन्हें गोर ग़रीबाँ तक।
कि मुद्दतसे हमारी खाक दामनगीर फिरती है॥

'कभी तो प्रभु अपनी दयावश हम दीन-दुखियोंकी तरफ़ खिंचे चले ही आयेंगे; क्योंकि मुद्दतसे हमारी विनम्र प्रार्थना उनका दरवाज़ा खटखटा रही है।'

बुद्धि—इस तरह तुम बदनाम हो जाओगी, तुम्हारी दुनिया खराब हो जायगी।

गोपी—लेकिन एक मजबूर क्या कर सकता है!

बुद्धि—तुम अगर मजबूर हो, तो किसीकी मददसे इसको दूर कर लो।

गोपी—लेकिन मैं इसमें भी तो मजबूर हूँ कि इसको दूर नहीं करना चाहती और न कर ही सकती हूँ!

बुद्धि—तो जलो इस आगमें।

गोपी—तो फिर मजबूरीसे क्या पेश चलती है।

फिर एकान्तमें जा छिपती है। बुद्धि अपने राग अलाप रही है, लेकिन यह नहीं सुनती। इसकी इन्द्रियाँ संसारसे हट चुकी हैं। यह बाजूपर अपना सिर रक्खे कुछ ध्यानमें मगन है। एक अजीब आसन है कि जो योगके ८४ आसनोंसे निराला है। आँखोंमें आँसू हैं, श्वासकी आवाज़ धीमी हो चुकी है, मनकी गति शान्त है। केवल एक ही धारा प्रवाहरूपसे चल रही है। धारणा अब यह है कि कुछ भी हो, जिसने मेरे मनपर क़ब्ज़ा किया है मैं उसपर क़ब्ज़ा करके छोड़ूँगी।

अब मन जुदा मशौ कि तू अमनूरे दीदाई।
आरामे जानो मूनसे कल्बे रमीदाई॥
अब दामने तो दस्त न दारंद आशिक़ाँ।
पैराहने सबूरिए एशाँ दरीदाई॥

'हे प्रभो! तू मुझसे जुदा न हो; क्योंकि तू मेरे हृदयका आराम और प्राणोंका संरक्षक है। अब भक्त तेरे पल्लेको कभी नहीं छोड़ सकते; क्योंकि तूने उनके धैर्यका पल्ला फाड़ दिया है।'

बुद्धि—होशमें आओ! तुम किसके ध्यानमें बैठी हो?

गोपी—[चुप रहती है।]

बुद्धि—सुनती नहीं? अजीब पगली है, एक भी तो नहीं सुनती! हमारी तो तमाम युक्तियाँ इसके लिये व्यर्थ साबित होती हैं, इसे नफ़ा-नुक़सानका तो ख्याल ही नहीं रहा। मालूम नहीं इसको क्या समझ आयी, प्रभु इसकी बुद्धिको ठीक करें!

[दीवारोंसे हँसीकी आवाज़ आती है—] इसकी बुद्धि तो तू ही है! क्या तुझे ही ठीक किया जाय?

बुद्धि—(चकित होकर) यह मैं क्या कह बैठी!

गोपी—(खामोश ज़बानसे) अगर मैं तुम्हारी बातोंको सुनूँ और उनका जवाब दूँ, तो मैं ध्यानमें लगी ही क्या!

इस वक़्त गोपीके मनमें एक दर्द मौजूद है, जिसमें संसारकी तरक़्क़ी और तनज़्ज़ुली—लाभ और हानिका नामतक नहीं। लेकिन कुछ देरके बाद उसे होश आता है और वह घरके कामोंमें लग जाती है।

बुद्धि—देखा? अब तो मेरा साथ लेना ही पड़ा, संसारके नफ़ा-नुक़सानका ख्याल आ ही गया! तुम बड़ी अच्छी हो, मेरी बातको आखिर सुन ही लिया। लेकिन······

मगर अजब बेबसी है! फिर जमनापर घड़ा लेकर पहुँचती है कि शायद फिर उस चितचोरको देख सके।

बुद्धि तो इसलिये प्रसन्न है कि वह फिर दुनियाके धन्धोंमें जुड़ गयी। लेकिन प्रेम हँसता है कि तू मेरी बातोंको क्या समझ सकती है? तुझे क्या मालूम है कि मेरा जल भरनेका क्या मतलब है।

लेकिन रोज़ मायूस (निराश) वापस आती है!

कई दिन, महीने और वर्ष इस तरह गुज़र जाते हैं।
धीरज छूट जाता है, प्रेमकी अग्नि और भड़क जाती है।
लोगोंमें बदनामी!

'आखिर यह क्या हुआ? इसको क्या हो गया? यह वक़्त-बेवक़्त इधर-उधर कहाँ भागती-फिरती है? किसीसे बात भी नहीं करती! जब देखो उदास-सी नज़र आती है।

घरके काम सब अधूरे पड़े रहते हैं। बार-बार घड़ा भरने दौड़ती है, आती है और जल गिरा देती है और फिर भरने जाती है। चलो देखें यह कहाँ जा रही है।

कुछ सहेलियाँ पीछे जाती हैं।

यह गोपी जाकर घड़ा भरती है और गिराती है और फिर भरती है और गिराती है। लेकिन आँखें न तो घड़ेमें हैं और न जमनाकी ही तरफ़ हैं, ऐसा मालूम होता है कि किसीको ढूँढ़ रही हैं, किसीका इंतज़ार है।'

तमाम लोगोंमें बदनामी होने लगती है।

बुद्धि—बाज़ आओ, अब भी बाज़ आओ। आखिर देखा! बदनाम होने लगीं! मैं नहीं कहती थी कि इस रास्तेपर न चलो!

गोपी—तुम ठीक कह रही हो, मैं इसको समझती हूँ। लेकिन एक मजबूर क्या कर सकता है! अगर किसीको बाँधकर कोई आगमें फेंक दे तो वह क्या करे!

बुद्धि—लेकिन आगमें गिरा हुआ निकलना तो चाहता है! तुम तो वह भी नहीं चाहती!

गोपी—इसीका नाम तो मजबूरी है।

उसीसे जी रहे हैं हम कि जिससे जाँ निकलती है!

रातें बग़ैर नींदके कटने लगीं, आँसूके मोती दिनभर गिरते रहते हैं। अजब मालदार हो गयी!

हर रास्तेपर उसके मिलनेका गुमान होता है। पत्तियों-की सरसराहट और पक्षियोंके परोंकी फरफराहटसे उसे अपने चितचोरकी याद आ जाती है!

पतति पतत्रे विचलितपत्रे शङ्कितभवदुपयानम्।
रचयति शयनं सचकितनयनं पश्यति तव पन्थानम्॥

पत्तोंकी सरसराहट और पक्षियोंके परोंकी फरफराहटसे गोपकन्याका मन शंकित होता है कि कहीं उसके भगवान् तो नहीं आ रहे। तो वह झट अपने आश्चर्यमें डूबे हुए नेत्रोंको प्रभुके मार्गमें बिछा देती है, ताकि वह उनपर चल-कर आयें! फिर उनके रास्तेको ताकती है।

प्रेमीकी सविकल्प समाधि

प्रेमीकी नज़र और हृदयमें सिवा प्रीतमके और कोई नहीं रह जाता और अगर कुछ रहता है, तो संस्काररूपमें इस बड़े संस्कारके मातहत होकर। इसलिये इस इंतज़ारमें जब बाहर कोई आहट होती है, तो प्रेमीको ख्याल होता है कि उसका प्रीतम तो नहीं आ रहा! और वह चौंककर उधरको देखता है। लेकिन जब वे बाहरके पदार्थ नेत्रोंद्वारा अन्तःकरणमें पहुँचते हैं तो प्रियतमसे तो उनकी शक्ल मिलती नहीं और जिनसे शक्ल मिलती है, वे इस तसवीरके नीचे दबे पड़े रहते हैं। अव्वल तो प्रेमीको इनकी समझ ही नहीं आती; अगर किसी कारणसे ये बाह्य संस्कार अंदरके सजातीय संस्कारोंतक पहुँच जाते हैं तो वे भी वहाँ जाकर दब जाते हैं। नतीजा यह होता है कि अक्सर तो प्रेमीको हर जगह अपने प्रियतमका ही धोका होता है; लेकिन गौरसे देखनेपर वहाँ प्रियतम नहीं रहता, कोई और ही शक्लें बन जाती हैं। इसीलिये तो प्रेमीको कभी-कभी दुनियाका भान होता है। इसी तरह जब प्रेमीके कुल संस्कार ढलकर प्रियतमरूपी बड़े संस्कारमें परिणत हो जाते हैं, तो प्रेमीकी दृष्टि मजबूर हो जाती है कि वह या तो अपने प्रियतमको देखे या कुछ भी न देखे। प्रेमीकी सविकल्प समाधि इसीका नाम है। इसमें प्रेमी, प्रेम और प्रियतमकी त्रिपुटी बनी रहती है।

एक दफ़ा हनूमान्‌जीसे किसीने पूछा कि समय क्या है? कहने लगे—'राम।'

संवत् क्या है?

'राम।'

मैं क्या कह रहा हूँ?

'राम।'

तुम क्या सुन रहे हो?

'राम।'

उन्होंने कहा—अजब हैरानी है कि मैं कुछ पूछता हूँ, आप कुछ जवाब दे रहे हैं! हनूमान्‌जीने हँसकर कहा कि 'तुम रामसम्बन्धी बातें ही पूछ रहे हो न? अगर ऐसा नहीं है तो कृपया दूसरी बातें किसी औरसे जाकर पूछिये। मेरा मन तो इस समय सिवा रामके और कुछ नहीं देखता।'

सविकल्प समाधिमें सङ्कल्प-विकल्प तो वैसे ही रहते हैं, लेकिन हर बातका सम्बन्ध प्रियतमसे रहता है। बातें हो रही हैं प्रियतमकी; काम कर रहे हैं प्रियतमका; सोना-जागना, उठना-बैठना, खाना-पीना, बन्धन और मोक्ष—सब प्रियतमके सम्बन्धमें होते हैं।

जिधर देखता हूँ, जहाँ देखता हूँ,
मैं भगवन को अपने वहाँ देखता हूँ।

ऐसे लोगोंतक जो कुछ आता है, वे उसको अपने प्रभुकी तरफ़से समझते हैं। न तो किसीकी शिकायत करते हैं और न शुक्रिया। इनकी दृष्टिमें तलवार और फूलोंके हारमें कोई भेद नहीं रहता। यह अपने और बेगानेके भावसे बहुत ऊँचे उठ जाते हैं। इनको मोक्षकी इच्छा नहीं रहती, बन्धनका भय नहीं रहता। इनका सम्बन्ध केवल अपने प्रियतमसे होता है! यह अपने उस प्रेमके रोगको हटा नहीं देखना चाहते। उनका रोग ही उनकी ओषधि होती है। गोया ये सोते-जागते, खाते-पीते, चलते-फिरते अपने प्रभुके ध्यानमें ही मग्न रहते हैं; और यह है प्रेमीकी सविकल्प अवस्था!

प्रेमीकी निर्विकल्प समाधि

प्रेमी अपने प्रियतमके ध्यानमें यहाँतक लीन हो जाता है कि उस एकाग्रतामें ये भाव ही उड़ जाते हैं कि मैं प्रेमी हूँ, यह मेरा प्रियतम है और यह प्रेम है। इसका अर्थ यह नहीं कि प्रेमी प्रियतमको भूल जाता है, बल्कि एकाग्रता—यकसूई यहाँतक होती है कि इतने ख्यालके लिये भी फ़ुरसत नहीं मिलती कि यह है मेरा प्रियतम और मैं हूँ इसका प्रेमी! जब यह भाव हुआ तो उस तन्मय अवस्थासे प्रेमीकी वृत्ति एक और चीज़को भी अनुभव करने लगती है कि जो है तो उसीका सङ्कल्प, लेकिन है उससे भिन्न। लेकिन प्रेमी इतना भी सोचता है तो उतना सोच भी उसको प्रियतममें विलीन होनेसे एक ओरको ले आता है। नहीं, निर्विकल्पता तो यह है कि अनुभव हो रहा है, लेकिन सङ्कल्पका अभाव है।

कल पियारेमें नजर कुछ इस तरह जुड़ती गयी—
कि हुई मफकूद दुनिया लेके अपना वार पार।

यानी कल भगवान्में एकाग्रता यहाँतक हुई कि संसार और उसकी वस्तुएँ—यहाँतक कि अहङ्कार और सूक्ष्म अहङ्कार और अहङ्कारका त्याग और उसके त्यागके त्यागका सङ्कल्प भी ग़ायब हो गया। मनुष्य हर समय अनुभव करता है कि 'वह है।' यह ज़रूरी नहीं कि वह समझे कि वह है, तभी वह हो। नहीं, वह तो है ही; समझने और न समझनेसे इसका क्या सम्बन्ध? और यही योग है।

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः

यह है चित्तकी वृत्तियोंका निरोध या प्रेमीकी निर्विकल्प समाधि। लेकिन प्रेमी निर्विकल्प समाधिसे पहले सविकल्पमें रहता है और अक्सर इस सविकल्प समाधिको निर्विकल्प समाधिसे अच्छा समझता है। सविकल्प समाधि है खाँड़का खिलौना, जिसमें खाँड़से भिन्न, खाँड़हीका आश्रय लेकर, खाँड़हीमें रहते हुए, खाँड़के कुछ और नाम-रूप भी मौजूद हैं। लेकिन निर्विकल्पमें केवल खाँड़-ही-खाँड़ है। खिलौनेके सारे नाम-रूप पिसकर खाँड़रूप ही बन गये! अक्सर खिलौने अच्छे ही लगा करते हैं। पर किया क्या जाय, हर चीज़का आदि-अन्त एक हो जाता है। पहले खाँड़ थी, फिर खाँड़ बन जाती है।

किसीने रास्तेमें कह दिया 'वह आ रहा है!' तो झट दबी आँखसे उधर देखना शुरू कर दिया कि शायद मेरा ही चितचोर तो नहीं आया।

गोपी—(आप-ही-आप) चितचोर! तुमको मेरे दुःखोंका ज्ञान नहीं, तुममें ज़रा भी दया नहीं! मैं तुम्हारे प्रेममें बदनाम हो रही हूँ, सम्बन्धी मुझसे दूर भाग रहे हैं, लोग मुझको पागल समझते हैं, अनेक प्रकारके ताने मुझको मिल रहे हैं, घरके तमाम काम खराब हो रहे हैं, स्वास्थ्य बिगड़ रहा है, जीवनकी घड़ियाँ मुश्किलसे कट रही हैं; लेकिन तुम हो कि पूछतेतक नहीं कि हाल क्या है? क्या तुम मुझको इस तरह देखकर खुश होते हो? क्या मेरा रोना तुमको भाता है? क्या मेरी बदनामीसे तुम प्रसन्न होते हो? लोग मुझे बदनाम करते हैं कि मैं निकम्मी हूँ, मूर्खा हूँ, दुनियासे परे हटी जा रही हूँ, ख्वामख्वाह भगवान्की रट लगा रही हूँ! क्या तुम मुझको इस तरह देखकर खुश होते हो? अच्छा, अगर यह बात है तो मैं हाज़िर हूँ। तेरी इच्छा पूर्ण हो! मुझे तो वह करना है कि जिससे तू प्रसन्न हो। लेकिन यह तो सन्देहात्मक है कि तू इसमें भी प्रसन्न है कि नहीं। मैं तो शकमें जीवन काट रही हूँ। तू अगर मेरे लिये नहीं आता तो अपने लिये ही आ जा; क्योंकि तू भी तो मेरे इस हृदयमें बैठा है। लेकिन जिसको अपनी परवा नहीं होती, उसको किसीकी परवा क्या हो सकती है!

(दिल-ही-दिलमें) कहीं वह यह न कह दें कि मैं तो तुम्हारे पास हूँ और तुम मुझे दूर देख रही हो! कहीं इन तानोंसे वह नाराज़ न हो जावें! अच्छा, अगर वह नाराज़ होकर भी सामने आ गये और पूछने लगे कि यह बेतुकी बातें कैसी हैं, तो इसमें भी मुझको खुशी होगी। लेकिन उनको अगर दुःख हो गया तो फिर········।

[अपनेको जवाब देते हुए] लेकिन मैं जानती हूँ कि उनको दुःख न होगा।

गोपी–उफ़ क्या करूँ ? दुनियासे हर तरह सतायी जा रही हूँ और तेरा विरह मुझको खा रहा है । क्या मेरी ज़िंदगीका खात्मा इसी तरह हो जायगा ? वाह री मजबूरी !

आवाज़–अगर तुमको यह प्रेम अच्छा नहीं लगता, तो यह तुमसे जुदा हो जावे ?

गोपी–(मन-ही-मनमें) नहीं, मैंने यह कब कहा कि ऐसा हो; क्योंकि यह प्रेम ही तो एक वस्तु है कि जिससे प्रीतम मिल सकता है और कुल संसारकी पहली ज़ंजीरें टूट सकती हैं । इसमें सन्देह नहीं कि इसकी आग बहुत तेज़ है, ज़्यादा गरम है । इसमें तमाम सांसारिक भावोंके पतंगे तो क्या, मैं-तक जली जा रही हूँ । लेकिन इतना होनेपर भी यह एक खास करिश्मा है कि मैं इसको न तो छोड़ सकती हूँ और न इससे जुदा ही होना चाहती हूँ । अब तो यह अग्नि मेरे जीवन-की बुनियादोंकी बुनियाद बन चुकी है ।

यह प्रभुका प्रेम है, इसलिये भी मुझको प्यारा है । दूसरे, इससे प्रभु मिलते हैं; इसलिये भी यह प्यारा है । इससे अहङ्कारका नाश हो रहा है, इसलिये भी यह प्यारा है । इससे वे तमाम दुःख और भय दूर हुए जा रहे हैं कि जिनसे एक दिन मैं डरा करती थी । यह मेरी नैया है, यह मेरा मल्लाह है, यह मेरी आशा है, यह मेरा जीवन है, यह मेरा प्राण है । मुझे तो और कोई भय रहा नहीं । हाँ, अब एक नया भय यह हो गया है कि कहीं यह प्रेम न जाता रहे ।

आखिर यह आवाज़ किसकी है पूछ तो लूँ ! आवाज़में आकर्षण है, बड़ा माधुर्य है, अजब मिठास है !

गोपी–ऐ आवाज़ ! तू किसकी है ?

आवाज़–पहले आप मेरे प्रश्नका उत्तर दें ।

गोपी–बिना जाने ही ?

आवाज़–इसमें जानने और न जाननेका क्या सवाल है ? आखिर कोई इस सिलसिलेकी चीज़ ही होगी जो इस तरह आपके कामोंमें दखल दे रही है !

गोपी–(मनमें) आवाज़ तो उसीकी मालूम होती है कि जिसका प्रेम मेरे दिलमें है । फिर, वह सामने आकर बात क्यों नहीं करता ? क्या यह मेरे दिलमें बोल रहा है या यह आवाज़ कहीं बाहरसे आ रही है ? यह मेरी रहनुमा—पथ-प्रदर्शिका मालूम होती है, इसमें मेरे लिये भलाई-ही-भलाई है ।

आवाज़–मुझे इंतज़ार है, जवाब अभीतक नहीं मिला ।

गोपी–[बेसुध होती जा रही है, लेकिन फिर भी जवाब देती है] नहीं, मैंने कब शिकायत की है कि यह प्रेम मुझसे जुदा हो जाय ?

आवाज़–तो फिर घबराती क्यों हो ?

गोपी–चितचोरसे मिलनेके लिये ! उससे अपना चित्त वापस लूँगी ।

आवाज़–लेकिन चोर किसी चीज़को वापस नहीं किया करते ! उसे वापस लेकर क्या करोगी ? और कहाँ रक्खोगी ?

गोपी–यह तो मुझे पता नहीं ।

आवाज़–किस तरहकी बातें करती हो ?

गोपी–किसी तरह वह सामने तो आये !

आवाज़–तो क्या यह उसको बुलानेका बहाना है ?

गोपी–नहीं, बहाना कैसा ? यह तो एक बात है ।

आवाज़–इस तरह तानोंसे काम लिया चाहती हो ?

[यह प्रेमीकी वह अवस्था होती है कि जब वह अपने प्रियतमसे मिलनेके लिये अनेक प्रकारकी बातें बनाता है कि शायद वह ग़ुस्सा खाकर ही मिल जावे या भूलकर ही सामने आ जावे ।]

एक दफ़ा भगवान् श्रीकृष्णने माखन खाया । गोपियाँ-ग्वाले ऐसे पीछे दौड़े कि वह भागकर एक मकानमें दरवाज़ा बंद करके छिप गये । सबने ज़ोर लगाया, मगर सामने न आये । आखिरकार एक मीटिंग हुई, जिसमें उन्होंने कुछ फ़ैसला किया और आकर कहने लगे कि उसने हमारी फ़लाँ चीज़ चुरायी और दूसरेने कहा कि हाँ, मेरी भी एक चीज़ गुम है । तीसरेने भी यही कहा; चौथेने भी । जब शिकायतोंका यह धाराप्रवाह चलने लगा, तो भगवान् खिटपिटाये कि अजब तमाशा है, मैं निर्दोष ही पकड़ा जा रहा हूँ ।

किसीने कहा 'क्या सबूत है कि इसने यह चुराया, वह चुराया ?' तो दूसरेने जवाब दिया कि 'बड़ा सबूत तो इसका इस तरह छिपना है । अगर यह चोर न होता तो छिपता क्यों ?'

इस तानेको सुनकर भगवान् चट बाहर आ गये ! सबने तालियाँ बजायीं और कहा कि—

छिपोगे हया से तुम कब तक ?
गुस्सा इल्जाम से तो आयेगा !

आखिर हमने भी कमाल कर दिया, ऐसा ताना दिया कि झट बाहर आना ही पड़ा !

इस वक्त भी तो आस्तिक-सृष्टि यह ताना दे रही है कि 'प्रभो ! अगर आप हैं, तो आते क्यों नहीं ! हमको दुःखमें देखकर कोई यह ताना न दे बैठे कि 'अगर तुम्हारा भगवान् होता तो आता न!' और अगर हम कह दें कि 'नहीं, हमको हमारे कर्मोंकी सज़ा मिल रही है' तो जवाब देते हैं कि 'अगर तुमने अपने आपको केवल अपने कर्मोंपर ही छोड़ रक्खा है, तो फिर भगवान्‌को बीचमें रखनेकी ज़रूरत ही क्या है। और फिर इतने पश्चात्तापपर भी अगर वह नहीं आता, तो वह है ही नहीं। प्रभो! हमारी ज़बानें खामोश हैं। तानोंकी भरमार बढ़ती जाती है। अगर तू चाहता है कि हम तानोंसे महफ़ूज़ (बरी) रहें और तू भी तानोंसे बचा रहे तो आ, जल्द आ। और सामने आकर यह कह दे कि मैं हूँ इनका रखवाला और इनकी डगमगाती किश्तीका मल्लाह ! मैं देर इसलिये कर रहा था कि देखें इनके सब्रकी हद क्या है और ये कहाँतक मेरी हस्तीको मानते हैं। मुझे यह भी बताना था कि मेरे भक्त छिछोरे नहीं होते, आखिरी श्वासतक भी मुझपर आशाएँ रखते हैं, बल्कि श्वास निकल जानेपर भी मुझसे मुँह नहीं फेरते। मैंने इनकी डगमगाती नैयाको, इनके सब्रकी किश्तीको क़ायम रक्खा। मैंने दुःखोंमें इनको अंदरसे शक्ति दी, शान्ति दी। मैंने भयमें इनका हाथ बँटाया। मैं बिजलीके कौंधनेके समान दुःखोंके स्याह बादलोंमें चमककर, इनके सामने आकर, इन्हें तसल्ली दे जाता रहा। लोगोंके आक्रमण, ताने इनको नास्तिक न बना सके; क्योंकि मेरी किरणें बार-बार सामने चमककर मेरी हस्तीका प्रमाण इन्हें दे जाती थीं। लेकिन फिर भी भक्तोंका यह ताना कामयाब हो ही गया। जब किसीने यह कह दिया कि 'कहाँ हैं तुम्हारे भगवान् ?' तो भक्तोंने कह दिया—

बलब आमदस्त जानम, तो बया कि ज़िंदा मानम।
पस अज़ाँ कि मन न मानम ब चेह कार खाही आमद ॥

हमारे प्राण हमारे होठोंपर आ गये हैं; तू आ, ताकि हम ज़िंदा रहें। यदि हम न रहे तो फिर तेरा आना ही किस काम आयेगा !'

इस किस्मके तानोंसे भक्तोंने अपना काम निकाल ही लिया।

गोपी–अच्छा, मैं अपना मन वापस न लूँगी। मुझे इतना तो मालूम हो जावे कि मेरा चितचोर कौन है कि जिसे गिरफ्तार करनेको तो दिल चाहता है, लेकिन सज़ा देनेको नहीं।

आवाज़–रही सज़ाकी बात, तो क्या आगे ही उसको कम सज़ा दे रही हो !

गोपी–(चौंककर) हैं ! नहीं, वह कैसे ?

आवाज़–तुम्हारे दिलमें चितचोर है और तुम्हारा दिल हर वक्त विरहकी आगमें जला करता है !

गोपी–तो क्या इसका कष्ट उसको भी होता है ! मैं क्या करूँ, किस तरह रोकूँ ? अगर उसको इसका कष्ट है तो वह सामने क्यों नहीं आता, ताकि मेरी आग शान्त हो।

आवाज़–जिस तरह तुमको यह प्रेमकी आग प्यारी लगती है, उसी तरह वह भी तुम्हारे दिलकी आगमें बैठकर खुश होता है !

गोपी–तो आखिर उसके दर्शन कब होंगे ?

वह आवाज़ भी खामोश हो जाती है।

यह प्रेमीकी वह अवस्था होती है कि जहाँ प्रेम तो किया जाता है, किन्तु उसे अपने प्रश्नों और हैरानियोंका कोई जवाब नहीं मिलता और वह (प्रेमी) चारो-नाचार (इच्छासे अथवा अनिच्छासे) उसी हालतमें अपना वक्त काटता है।

गोपी इस विरहमें हर तरह जलने लगती है। वह दुनियाके तानों और तकलीफ़ोंसे ऊपर हो जाती है और प्रियतम चितचोरका ध्यान उसके तन-मनमें इस तरह समा जाता है कि अक्सर उसको वहम होने लगता है कि शायद मेरा चितचोर मेरे पास ही बैठा है। लेकिन कुछ समय बीत जानेपर निराशा घटाएँ बाँधकर सामने आ जाती हैं और उसके पहले संस्कार कुछ समय बीतनेके कारण तथा कुछ बुद्धिके उपदेशों और कुछ दुनियाकी तकलीफों और बदनामियोंकी वजहसे कमज़ोर होने लगते हैं और वह यह समझने लगती है कि अब उसका उस अग्निसे छुटकारा पा जानेका समय आ गया और किसी-किसी वक्तपर चाहने भी लग जाती है कि किसी तरह इस अग्निसे छुटकारा मिल जाय !

यह वह अवस्था है कि जब कुछ समय पाकर सांसारिक वृत्तियाँ अपना हमला करती हैं और प्रेमीको पीछे हटाने लगती हैं। इसका मतलब प्रेमीको हटाना नहीं होता, बल्कि उसके अहङ्कारको नाश करना होता है, ताकि वह कहीं यह न समझ बैठे कि इस मार्गपर चलना केवल उसके अपने ही ज़ोरसे था, प्रभुका उसमें कोई हाथ न था।

उसके पश्चात्

वह घड़ेको जमनामें अभी भर ही रही है और दिलको इस तरह प्रेमसे खाली कर रही है। इतनेमें ही वह क्या देखती है कि उसका पुराना चितचोर उसके सामनेसे मुसकराता हुआ, बंसी बजाता निकल जाता है—जिसका नतीजा यह होता है कि घड़ा तो उसका पानीसे खाली हो जाता है और दिल फिर प्रेमसे भर जाता है।

यह वह अवस्था है कि जहाँ निराश होनेपर प्रभु उस प्रेमकी अग्निको फिर चमका देते हैं और प्रेमी फिर उसी धारा-प्रवाहमें बहने लगता है और अपनी पहली नासमझीपर अफ़सोस करता है कि 'आह! यह मुझसे क्या होने लगा था। मैं उस प्रेमसे ही खाली होना चाहता था और सोचता था कि वह सही जीवन नहीं। तब क्या उसके बग़ैर कोई और जीवन है कि जिसको मैं चाहता था? अफ़सोस!' और शर्मिंदा होता है।

यह आवाज़ देती है कि 'मुझे दर्शन देकर जा।'

वह ठहर जाते हैं।

गोपी–तुम कौन हो?

वह–मैं कृष्ण हूँ।

गोपी–[मनमें अति प्रसन्न होकर] तुमने मेरी दुनियाको बरबाद क्यों किया?

कृष्ण–कैसे इल्ज़ाम दे रही हो?

गोपी–मैं सच कहती हूँ।

कृष्ण–मेरी तो तुमसे जान-पहचान भी नहीं।

गोपी–हाँ, चोर कब इक़रार किया करते हैं!

कृष्ण–देखो, क्या कह रही हो! कहीं मैं माखनचोर कहलाता हूँ और कहीं कोई चोर और यहाँ आज निराले ही इल्ज़ाम लग रहे हैं! न मालूम मेरा किस राशिमें जन्म हुआ था!

गोपी–चोरोंकी राशिमें; और किसमें होता?

कृष्ण–देखो, नाहक़ इल्ज़ाम न दो।

गोपी–देखो मेरे अंदर झाँककर! तुमने किस तरह मेरी दिलकी दुनियाको बरबाद किया है!

कृष्ण–(मुस्कराकर) तो फिर और कुछ आबाद भी किया है या नहीं?

गोपी–(हँसकर) हाँ, जहाँ मेरी पहली दुनियाके बाग़पर खिज़ाँ (पतझड़) आ चुकी थी, उसके बादकी दुनियाको तुमने आबाद करके नया बाग़ खिला दिया है, जिसमें प्रेम-वैराग्यकी दुनिया आबाद हो गयी और जो नष्ट हुई, वह अविवेकी जीवन और मोहकी सृष्टि थी! लेकिन तुम इस तरह भाग क्यों गये? इतने कठोर क्यों निकले? इतने समयतक मुँह भी न दिखाया!

कृष्ण–क्या रोज़ तुम्हारे मनमें न रहता था? तुम तो मुझे चितचोर कहती हो, लेकिन मैं समझता हूँ कि तुमने मुझको अपने मनमें क़ैद कर रक्खा था।

गोपी–ठीक है, लेकिन फिर भी आँखें तुमको ढूँढ़ती थीं। भगवन्! प्रेमकी दुनियामें इतनी सख्ती क्यों है?

कृष्ण–सख्ती! सख्ती तो बिल्कुल नहीं है।

गोपी–मैं बदनाम हो गयी, पागल कहलायी, घरके कामोंसे निकम्मी हो गयी, सम्बन्धियोंसे दुतकारी गयी, दिन-रात जागती रही, रोती रही, घबराती रही; और अभीतक आप कह रहे हैं कि यह सख्ती नहीं!

कृष्ण–लेकिन यह तो बताओ कि इस प्रेमके मिलनेसे पहले क्या तुममें यह ताक़त थी कि तुम इन बातोंको बर्दाश्त कर सकतीं?

गोपी–[कुछ सोचकर] नहीं।

कृष्ण–तो जहाँ इस प्रेमकी दुनियामें एक तरफ़ सख्ती भेजी जाती है, वहाँ दूसरी तरफ़ उसे बर्दाश्त करनेकी ताक़त भी तो दी जाती है!

गर न मानद दर दिलम पैकाँ गुनाहे तीर नेस्त।
आतिशे सोज़ाने मन आहन गुदाज़ उफ्तादा अस्त॥

'अगर मेरे दिलमें तीरकी नोंक नहीं रहती, तो यह उसका क़सूर नहीं है; क्योंकि मेरे प्रेमकी भड़कती हुई अग्नि लोहा पिघलानेवाली है अर्थात् मेरा प्रेम वह है कि जिसके होते दूसरी चीज़का अनुभव नहीं हो सकता।'

दूसरे, यह बात है कि तुम्हारी झूठी दुनिया खराब करके नयी बनायी गयी, तुम्हारा सच्चा सम्बन्ध जोड़ा गया। अगर कमनज़र लोगोंकी नज़रमें तुम बदनाम हुईं, तो ऋषियों और महात्माओं और भगवान्‌की नज़रमें तो तुम नेकनाम हो गयीं। तुम दुनियामें नहीं सोयीं, लेकिन भगवान्‌के ध्यानमें मग्न रहीं। तुम्हारा रोना-घबराना वही है कि जो सब दुनिया करती है, लेकिन भेद इतना है कि तुम भगवान्‌के लिये रोती रहीं और दुनिया दुनियाके लिये रोती है।

गोपी—लोग पूछते हैं कि यह मेरा मोह है या प्रेम; तो भगवन्! मैं क्या जवाब दूँ, मेरी बुद्धि ठीक नहीं है।

भगवान्—यह तुम्हारा प्रेम है। मोह पञ्चभूतोंकी दृष्टिको क़ायम करता है और सांसारिक उलझनोंमें फँसाता है, देहाध्यास पैदा करता है और पारमार्थिक और सात्त्विक वृत्तियोंसे अलहदा करता है; लेकिन प्रेमकी पहचान यह है कि वह आसुरी वृत्तियोंसे अलहदा करके इन्द्रियोंकी भोगेच्छाको काटकर, मन, बुद्धि और अहङ्कारसे ऊपर करके प्रभुके प्रेममें जोड़ देता है। सारांश यह कि प्रेम वह है, जिसमें अहङ्कार और ममत्वका निशान भी नहीं मिलता; जहाँ अहङ्कार और ममत्व नहीं वहाँ आसुरी वृत्तियाँ आ ही कहाँ सकती हैं, केवल प्रभु और उनका प्रेम ही रह जाता है। ज्ञानी कहता है—

श्लोकार्धेन प्रवक्ष्यामि यदुक्तं ग्रन्थकोटिभिः।
ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः॥

ज्ञान ब्रह्मको सत्य, जीवको ब्रह्मसे एक और जगत्‌को मिथ्या बताकर हमें संसारकी कल्पनाओंसे ऊपर कर देता है; लेकिन प्रेम प्रियतम भगवान्‌से यहाँतक जोड़ देता है कि जिसमें जगत् नज़र ही नहीं आता और अपनी कल्पनातक पास नहीं फटकती। केवल प्रियतम-ही-प्रियतम रह जाता है।

गोपी—योगीलोग तो ध्यान और समाधिकी अवस्थामें रहते हैं?

कृष्ण—एक प्रेमीको सब कुछ अपने-आप ही मिल जाता है। संसार अपने बलसे चलता है और प्रेमी प्रेमके बलसे।

भगवान् फिर ग़ायब हो जाते हैं।

गोपी—अच्छा है चितचोर कि जब उसको भुलानेको दिल चाहता है, तो सामने आकर फिर ज़ख्मी कर जाता है!

गोपी उसके ध्यानमें मग्न हुई सब कुछ भूल जाती है। इस ध्यानमें अब दुःख, तकलीफ़, बदनामी, बीमारी और मौतके वार इसके लिये निकम्मे हो जाते हैं। इसकी हर मुश्किल उस प्रेमके बलसे आसान हो जाती है। लोग उसमें विचित्र शक्तियाँ देखने लगते हैं, लेकिन इसको किसीसे राग-द्वेष नहीं, यह सबको समान समझती है। इसकी ज़बान, दिल और ख्याल अपने ही चितचोरके ध्यानमें लगे हैं।

एक महात्मा—क्या तुमको मोक्षकी ज़रूरत है? तो आओ, मैं उसका तरीक़ा बताऊँ।

गोपी—मुक्तिकी ज़रूरत बद्ध पुरुषको होती है।

महात्मा—तो क्या तुम बद्ध नहीं हो?

गोपी—हाँ, बद्ध तो हूँ।

महात्मा—तो फिर मुक्तिका रास्ता तुम क्यों नहीं पूछती?

गोपी—चूँकि मैं बद्ध नहीं।

महात्मा—कैसी अजीब बातें हैं!

गोपी—मैं बद्ध तो इसलिये हूँ कि प्रभुके प्रेमके बन्धनमें हूँ और मुक्तिको इसलिये नहीं चाहती कि यहाँ मेरा मन लगा हुआ है। अगर कोई मुझको इस बन्धनसे आज़ाद कर दे, तो मैं बन्धनहीन हो जाऊँगी। मेरा मोक्ष मेरा यही बन्धन है।

महात्मा—तुम बँधी हो, इसलिये आज़ाद होना चाहो।

गोपी—जी कफ़स में लग गया अपना चमन से भी सबा!
हमको ऐ सैयाद! परवाहे रिहाई क्या रही?

'ऐ जालमें फँसानेवाले! मेरा मन पिंजड़ेमें बाग़से भी ज्यादा लग गया है; इसलिये अब छूटनेकी इच्छा मेरे मनमें नहीं रही।'

गोपी—हाँ, महात्माजी! मेरा एक काम कीजिये।

महात्मा—अच्छा, वह क्या?

गोपी—मेरे लिये प्रार्थना कीजिये कि यह मेरा बन्धन नित्य बना रहे!

महात्मा—यह क्या?

गोपी—हाँ, महाराज! यही। जल्दी कीजिये और अभी कहिये, मैं याचना करती हूँ। मुक्ति! मुक्ति! मेरे सामने मत आओ। मुझे तुम्हारी ज़रूरत नहीं, तुम मुझे भयङ्कर नज़र आती हो! मुक्तिका, महात्माजी! यही अर्थ हुआ न कि जो मुझको इस प्रेमके बन्धनसे मुक्त कर दे? क्या वह मुक्ति हुई? वह तो मेरी दुश्मन है! मुझको सब सुख इसी बन्धनमें नज़र आ रहे हैं! ऐ काल! ऐ देश! ऐ समय! इतना बड़ा हो जा कि यह बन्धनका रिश्ता मेरा कभी न टूटे।

महात्मा—[हैरान होकर] यह क्या अवस्था है, हाँ मोक्षको भी कोई नहीं पूछता! गोपी! इसका क्या आनन्द है?

गोपी—महाराज! इसको ग्रहण करके देखिये।

महात्मा—मुझको कैसे मिले?

गोपी–मेरे प्रियतमसे प्रार्थना कीजिये कि वह आपके मनपर क़ब्ज़ा कर ले और आपको उस प्रेममें जकड़ डाले। महात्माजी, मैं आपसे सच कहती हूँ—

यूँ तो ऐ सैयाद आज़ादीमें हैं लाखों मज़े,
दामके नीचे तड़पनेका तमाशा और है।
जिसको शोहरत भी तरसती हो, वो रुसवाई है और;
होश भी जिसपर फड़क जाये, वह सौदा और है॥
बनके परवाना तेरा आया हूँ मैं ऐ शम्मए तूर!
बात वह फिर छिड़ न जाये, यह तक़ाज़ा और है।
तेरे ख़ंजरने जिगर टुकड़े किया, अच्छा किया!
मेरे पहलूमें मगर इक चुलबुला-सा और है॥

'इसमें सन्देह नहीं कि मोक्षका आनन्द अति सुन्दर है, लेकिन उसके प्रेमके बन्धनमें फड़फड़ाना कुछ विचित्र ही आनन्द रखता है! प्रभुके मार्गमें बदनाम होना या मूर्ख कहलाना वह चीज़ है कि जिसपर नेकनामी भी ईर्ष्या करती है, और इस मार्गका प्रेम-प्रवाह वह है कि जिसपर अन्तिम अवस्थामें बुद्धि भी निछावर होने लगती है। ऐ प्रेमके दीपक! मैं तेरा सच्चा परवाना बनकर आया हूँ यानी तुझपर जलने आया हूँ; तू फिर कहीं यह न कहने लग जाना कि 'तू मुझे नहीं देख सकता, तू मेरी राहपर नहीं चल सकता।' तेरे प्रेमरूपी शस्त्रने मेरे धैर्य-सन्तोषको तो काट ही दिया, लेकिन इसीपर 'बस' न करना; एक अति चञ्चल मन मेरे अंदर और भी है, इसपर भी कृपया कोई वार करना!' अहा!

कहूँ क्या रंग उस गुलका, अहा हा!! हा! अहा हा हा!!!
हुआ रंगीं चमन सारा, अहा हा हा!!! अहा हा हा!!!

गोपी–महाराज! बड़ा ही आनन्द है।

महात्मा–तो मैं कैसे पाऊँ? मेरे लिये भी कुछ यत्न करो!

गोपी–अच्छा, मैं अपने प्रियतमपर ज़ब्र तो करूँगी नहीं और न यही कहूँगी कि इनको भी उस प्रेममेंसे हिस्सा दीजिये; क्योंकि मेरे प्रियतमको भी तो प्रेमीके साथ-साथ कुल मंज़िलोंसे निकलना पड़ता है और उस आगको सेंकना पड़ता है कि जिसको प्रेमी सेंकता है! देखा मेरा प्रियतम, जो हर प्रेमीके अंदर रोज़ नयी आग सेंकता है! प्रेमी तो एक ही दफ़ा बाज़ी खेलकर हार जाता है!

गोपी भगवान्से प्रार्थना करती है, प्रभु इस प्रार्थनाको ख़त्म होनेसे पहले ही पूरा कर देते हैं। महात्माजी प्रेमी बन जाते हैं और कहने लगते हैं—

मज़ा रखता है ज़ख्मे ख़ंजरे इश्क़।
कभी ऐ बुल हवस खाया तो होता!

'प्रेमके ज़ख्ममें बड़ा ही आनन्द है; ऐ लोभी, कभी इस ज़ख्मको खाया तो होता!'

महात्माजी प्रेममें धारणा, ध्यान और समाधिकी मंज़िलोंपर बड़ी आसानीसे पहुँच जाते हैं और प्रेमके अन्तिम दृश्यमें ज्ञान, भक्ति, कर्म और राजयोगको वहाँ ही पहुँचा देखते हैं। लेकिन वहाँ प्रेम कुछ इस अंदाज़से बैठा हुआ है कि इन सबको भी प्रेमी बननेका चाव चढ़ जाता है।

नाशवान् शरीरकी अन्तिम दशा

कुन्द इन्दुके समान मृदु-मंजु देह, जापै
चोआ चारु, चन्दन रुचिर चुपरे गये।
रतन-जटित जापै भूषन-वसन धारे
मणियोंके मुकट सुधारिकै धरे गये॥
जाकी तुष्टि पुष्टि हित नाना भोग भोगे और
बलिदान कितने ही जीवोंके करे गये।
ताही देहपर आज 'माधव' मसान बीच
बड़े बड़े लकड़ धकेलिकै धरे गये॥

—श्रीमाधवप्रसाद शर्मा 'माधव'

शिवाष्टक

(लेखक—श्रीकेदारनाथजी बेकल, एम्० ए० (प्री०) एल्० टी०)

(१)

जय शिवशङ्कर, जय गङ्गाधर, करुणाकर करतार हरे ,
जय कैलाशी, जय अविनाशी, सुखराशी, सुख-सार हरे ।
जय शशि-शेखर, जय डमरू-धर, जय जय प्रेमागार हरे ,
जय त्रिपुरारी, जय मद-हारी, अमित, अनन्त, अपार हरे ॥

निर्गुण जय जय, सगुण अनामय, निराकार, साकार हरे ।
पारब्रती-पति हर हर शंभो, पाहि पाहि दातार हरे ॥

(२)

जय रामेश्वर[१], जय नागेश्वर[२], वैद्यनाथ[३], केदार[४] हरे ,
मल्लिकार्जुन[५], सोमनाथ[६] जय, महाकाल[७], ओङ्कार[८] हरे ।
त्र्यम्बकेश्वर[९], जय घुश्मेश्वर[१०], भीमेश्वर[११] जगतार हरे ,
काशी-पति श्रीविश्वनाथ[१२] जय, मङ्गल-मय, अघ-हार हरे ॥

नीलकण्ठ जय, भूतनाथ जय, मृत्युञ्जय अविकार हरे ।
पारब्रती-पति हर हर शंभो, पाहि पाहि दातार हरे ॥

(३)

जय महेश, जय जय भवेश, जय आदिदेव, महादेव विभो ,
किस मुखसे हे गुणातीत, प्रभु तव अपार-गुण वर्णन हो ।
जय भवकारक, तारक, हारक, पातक-दारक शिव शंभो ,
दीन-दुःखहर, सर्वसुखाकर, प्रेम-सुधाधरकी जय हो ॥

पार लगा दो भव-सागरसे, बनकर कर्णाधार हरे ।
पारबती-पति हर हर शंभो, पाहि पाहि दातार हरे ॥

(४)

जय मन-भावन, जय अति पावन, शोक-नशावन शिव शंभो ,
विपद-बिदारन, अधम-उधारन, सत्य सनातन शिव शंभो ।
सहज-वचन, हर, जलज-नयन वर, धवल-बरन-तन शिव शंभो
मदन-कदन-कर, पाप-हरन हर, चरन-मनन-धन शिव शंभो ॥

विवसन, विश्वरूप, प्रलयङ्कर, जगके मूलाधार हरे ।
पारबती-पति हर हर शंभो, पाहि पाहि दातार हरे ॥

(५)

भोलानाथ कृपालु दयामय, औढ़र दानी शिव योगी ,
निमिष-मात्रमें देते हैं, नवनिधि मनमानी शिव योगी ।
सरल हृदय अति, करुणा सागर अकथ कहानी शिव योगी ,
भक्तोंपर सर्वस्व लुटाकर बने मसानी शिव योगी ॥

स्वयं अकिञ्चन, जन-मन-रञ्जन, परशिव, परम उदार हरे ।
पारबती पति हर हर शंभो, पाहि पाहि दातार हरे ॥

(६)

आशुतोष इस मोहमयी निद्रासे मुझे जगा देना ,
विषम-वेदनासे विषयोंकी मायाधीश छुड़ा देना ।
रूप-सुधाकी एक बूँदसे जीवन-मुक्त बना देना ,
दिव्य-ज्ञान-भण्डार-युगल-चरणोंकी लगन लगा देना ॥

एक बार इस मन-मन्दिरमें, कीजे पद सञ्चार हरे ।
पारबती-पति हर हर शंभो, पाहि पाहि दातार हरे ॥

(७)

दानी हो, दो भिक्षामें अपनी अनपायनि भक्ति प्रभो ,
शक्तिमान हो, दो अविचल-निष्काम-प्रेमकी शक्ति प्रभो ।
त्यागी हो, दो इस असार-संसारसे पूर्ण विरक्ति प्रभो ,
परम पिता हो, दो तुम अपने चरणोंमें अनुरक्ति प्रभो ॥

स्वामी हो, निज सेवककी सुन लेना करुण पुकार हरे ।
पारबती-पति हर हर शंभो, पाहि पाहि दातार हरे ॥

(८)

तुम बिन बेकल हूँ, प्राणेश्वर आ जाओ ! भगवन्त हरे ,
चरण-शरणकी बाँह गहो हे उमारमण प्रिय कन्त हरे ।
विरह-व्यथित हूँ, दीन दुखी हूँ, दीन-दयालु अनन्त हरे ,
आओ तुम मेरे हो जाओ, आ जाओ श्रीमन्त हरे ॥

मेरी इस दयनीय दशापर कुछ तो करो विचार हरे ।
पारबती-पति हर हर शंभो, पाहि पाहि दातार हरे ॥

प्रार्थना

हे दुःखोंके हरण करनेवाले भगवन् ! जिन आपके सेवकोंको आपके चरणकमलोंका ही आश्रय है; मैं फिर उन्हीं आपके दासोंका ही दास होऊँ। आप मेरे प्राणोंके अधीश्वर हैं, मेरा मन सदा आपके ही गुणोंका चिन्तन करे, मेरी वाणी सदा आपके ही गुण-गानमें लगी रहे और मेरा शरीर निरन्तर आपकी ही सेवामें नियुक्त रहे। हे सर्वसौभाग्यनिधे ! मैं आपको छोड़कर स्वर्गका राज्य, ब्रह्माका पद, सार्वभौम साम्राज्य, रसातलका आधिपत्य, योगकी सिद्धियाँ और कैवल्य-मोक्ष किसी भी पदार्थको नहीं चाहता। हे कमलनयन ! जिन पक्षियोंके बच्चोंके पंख नहीं जमे हैं वे जैसे चारा लानेको गयी हुई माताकी बाट देखते रहते हैं, भूखसे तड़पते हुए बछड़े जैसे जंगलमें गयी हुई माता गैयाके स्तन पीनेके लिये आतुर रहते हैं, अथवा जैसे परदेश गये हुए प्रियतम पतिके वियोगकी व्यथासे व्याकुल कामिनी उसके घर लौटनेकी प्रतीक्षा करती है, हे मेरे प्राणनाथ ! मेरा मन भी आपकी झाँकी करनेके लिये उसी प्रकार व्याकुल है। हे भगवन् ! यदि अपने कर्मोंके फलस्वरूप मुझको संसार-चक्रमें भटकना भी पड़े तो सदा-सर्वदा आपके भक्तोंके साथ ही मेरी प्रीति रहे। आपकी मायासे मोहित होकर हे नाथ ! मैं आपको और आपके भक्तोंको छोड़कर कहीं स्त्री-पुत्र और घर-द्वारमें आसक्त रहनेवाले विषयी मनुष्योंकी प्रीतिमें न फँस जाऊँ !

(श्रीमद्भागवत ६।११)

कल्याण

कल्याण अप्रैल सन् १९४१ की

विषय-सूची

सूचना

श्रीजयदयालजी गोयन्दकाका चैत्र सुदी ८ के लगभग हृषीकेश पहुँचनेका विचार है । वे लगभग दो मास स्वर्गाश्रममें ठहर सकते हैं । वह स्थान भजन-ध्यान-सत्सङ्गके लिये बहुत उपयोगी है ।

श्रीहरिः

सवा लाख मानस-पारायणके लिये प्रार्थना

सारा संसार अशान्तिकी आगमें जल रहा है। सर्वत्र किसी-न-किसी बातको लेकर कुहराम मचा हुआ है। महायुद्धकी भीषण ज्वाला तो मानो प्रलयका ही दृश्य उपस्थित करना चाहती है। अतुल सम्पत्तिका व्यय करके ऐसे-ऐसे सांघातिक अस्त्र-शस्त्र तैयार किये जा चुके हैं और तैयार किये जा रहे हैं, जिनसे यह सम्पूर्ण जगत् बात-की-बातमें श्मशान बनाया जा सकता है। ऐसी स्थितिमें प्रत्येक मनुष्यका यह कर्तव्य है कि वह ऐसे उपायोंका अवलम्बन करे, जिनसे जगत्में सुख-शान्ति फैले।

कृपालु पाठक-पाठिकाओंसे यह भी निवेदन किया जा चुका है कि प्राचीन कालमें देश तथा विश्वके सामने जब-जब ऐसे सङ्कट आये हैं, तब-तब हमारे ऋषि-मुनियोंने अखिल लोकमहेश्वर भगवान्की ही शरण लेकर देशकी तथा विश्वकी रक्षा की है। भारतवर्षका इतिहास तो ऐसी घटनाओंसे भरा पड़ा है। भगवान्के दिव्य अवतारों तथा महापुरुषोंका पावन प्राकट्य ऐसे ही समयोंमें हुआ है। इसलिये प्रत्येक नर-नारीको वर्तमान सङ्कटसे त्राण पानेके लिये भगवान्का ही आश्रय ग्रहण करना चाहिये। भगवान्के प्रीत्यर्थ स्थान-स्थानपर कातर भावसे सामूहिक प्रार्थना, जप-कीर्तन, पूजा-पाठ इत्यादि होना चाहिये। इन्हीं कार्योंसे देश-विदेश सर्वनाशसे बचाये जा सकेंगे तथा संसारमें सुख-शान्तिका विस्तार हो सकेगा।

रामचरितमानस तो साक्षात् श्रीभगवान्का वाङ्मय अवतार ही है। उसने अपने प्रणयन-कालसे लेकर अबतक न जाने कितने चमत्कार दिखलाये हैं। उसका एक-एक पद कल्याणकारी सिद्ध हुआ है। ऐसा विश्वास केवल हमारा ही नहीं, बड़े-बड़े अनुभवी संत-महात्माओंका है। इसीलिये हमने वर्तमान सङ्कटकालमें अपना कर्तव्य समझकर 'कल्याण' के पाठक-पाठिकाओंसे यह प्रार्थना की है कि वे आगामी चैत्र मासके नवरात्रमें रामचरितमानसके सवा लाख पारायण करें। उनके इस पुण्यकार्यसे निश्चय ही जगत्का बड़ा भारी उपकार होगा। यह कार्य कुछ भी कठिन नहीं है। 'कल्याण'के ग्राहकोंकी संख्या इस समय भगवान्की दयासे आधे लाखसे ऊपर है। वे सब-के-सब यदि मानस-पारायण-यज्ञमें सम्मिलित हो जायँ और अपने-अपने साथ कम-से-कम दो-दो अन्य व्यक्तियोंको भी उसमें सम्मिलित कर लें तो इतनेहीसे डेढ़ लाख पारायण हो जाते हैं। इसलिये हमारे पाठक-पाठिकाओंको अत्यधिक उत्साह एवं श्रद्धा-विश्वासके साथ इस लोक-कल्याणकारी पारायण-यज्ञमें भाग लेना चाहिये। आशा है, प्रतिवर्ष की जानेवाली नाम-जपकी प्रार्थनाके अनुसार हमारी यह प्रार्थना भी सफल होगी।

पारायण समाप्त हो जानेके बाद उसकी सूचना हमारे पास भेजनी चाहिये।

विनीत—

सम्पादक, 'कल्याण' गोरखपुर

श्रीकविप्रसादजी गौतमके सौजन्यसे प्राप्त

तिलक-तत्त्व

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥ (श्रीमद्भगवद्गीता १८।६५)

वर्ष १५ | गोरखपुर, अप्रैल १९४१ सौर चैत्र १९९७ | संख्या ९, पूर्ण संख्या १७७

लाभ कहा कंचन-तन पाये

लाभ कहा कंचन-तन पाये ।
भजे न मृदुल कमल-दल-लोचन दुखमोचन हरि हरषि न ध्यायें ॥ १ ॥
तन मन धन अरपन ना कीन्हों प्रान-प्रानपति गुननि न गायें ।
जोबन धन कलधौत धाम सब मिथ्या आयु गँवाय गँवायें ॥ २ ॥
गुरुजन गरब, बिमुख-रँग-राते, डोलत सुख-संपति बिसरायें ।
ललितकिसोरी मिटै ताप ना बिनु दृढ चिंतामनि उर लायें ॥ ३ ॥

—ललितकिशोरीजी

स्तुति

(अनुवादक—श्रीमुंशीरामजी शर्मा, एम्० ए० 'सोम')

प्र मंहिष्ठाय बृहते बृहद्रये सत्यशुष्माय तवसे मतिं भरे।
अपामिव प्रवणे यस्य दुर्धरं राधो विश्वायु शवसे अपावृतम्॥

(ऋ० १। ५७। १ अथर्व० २०। १५। १)

मेरे अनन्त, मेरे महान!
गुण-रूप-विभव-बल-साधनमें कोई न यहाँ तेरे समान!
नीची भूपर बहते जल-सा ऐश्वर्य तुम्हारा दुर्निवार;
जगतीमें सबके लिये खुला बल-वर्द्धन-कारी सौख्य-सार!
ओ व्यापक, अतुल धनी, तेरा है सदा सत्य-बल-ज्ञान-मान;
मेरी मति-गति अर्पित तुझको हे महाप्राण! हे महादान! मेरे०

पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते प्रभुर्गात्राणि पर्येषि विश्वतः।
अतप्ततनूर्न तदामो अश्नुते शृतास इद्वहन्तस्तत्समाशत॥

(ऋ० ९। ८३। १ साम० पू० ५। १। १२ सा० उ० ४। ५। ७)

तुम्हारी बहती पावन धार!
जिसके कण-कणमें पवित्रता लहराती बल मार;
बृहत जगत्पति, जिससे व्यापक यह विस्तृत संसार।
जिसका मेरे अङ्ग-अङ्गके चारों ओर प्रसार;
पर जो कच्चा है, जिसने तन तपसे नहीं तपाया,—
उसने इस पवित्र धाराको नहीं जगतमें पाया।
पके हुए जो पूर्ण तपस्वी, तपसे ताप समाप्त।
चलते हुए पुण्य पथपर वे करते इसको प्राप्त॥

सुत्रामाणं पृथिवीं द्यामनेहसं सुशर्माणमदितिं सुप्रणीतिम्।
दैवीं नावं स्वरित्रामनागसो अस्रवन्तीमा रुहेमा स्वस्तये॥

(अथर्व० ७। ६। ३ ऋ० ८। ६३। १० यजु० २१। ६)

आओ, छोड़ विकृत जीवनको चलें प्रकृतिकी ओर सखे!
दितिकी दानवताको त्यागें, चलें अदितिकी ओर सखे!
यह बनावटी, बहु विकारमय जीवन कितना दुखदायी,
भवसागरमें हमें डुबोता इसने पशुता अपनायी;
इससे बचना है तो आओ पकड़ें दैवी नाव सखे!
स्वाभाविक जीवन अपनावें छोड़ें कृत्रिम भाव सखे!
स्वाभाविकताकी यह दैवी नौका हमें बचा लेगी;
अपने विस्तृत फैले अञ्चलमें हमको आश्रय देगी;
इससे ज्ञान-प्रकाश बढ़ेगा, कभी न होगी हानि सखे!
यहाँ पहुँचकर खुल जाएगी सुखकी मंगल खानि सखे!
यह अखंड, परिपूर्ण, सुभग, पावन पथपर चलनेवाली,
सद्गुणके पतवार लिये है, कभी नहीं रिसनेवाली॥
हो जाओ निष्पाप, बना लो स्वाभाविक जीवन प्यारे!
चाहो यदि कल्याण जगतमें टूटें भव-बन्धन सारे॥

त्वं तमग्ने अमृतत्व उत्तमे मर्तं दधासि श्रवसे दिवे दिवे।
यस्तातृषाण उभयाय जन्मने मयः कृणोषि प्रय आ च सूरये ॥ (ऋ० १।३१।७)

मानव और अमानव प्राणी, द्विपद चतुष्पद भेदभरे;
सबके लिये यहाँ जो मानव मंगलकी कामना करे,—
पर-दुख-शमन पिपासाकुल जो पर-पीड़ा अपनी समझे,
सर्वभूतहितमें अपना हित जीवनकी सरणी समझे।
उस सूरी—ज्ञानी मानवको अन्न, कीर्ति, सुख देते हो!
श्रेष्ठ अमृतपदमें पहुँचाते प्रभु सब दुख हर लेते हो!

दितेः पुत्राणामदितेरकारिषमव देवानां बृहतामनर्मणाम्।
तेषां हि धाम गभिषक्समुद्रियं नैनान् नमसा परो अस्ति कश्चन ॥ (अथर्व० ७।७।१)

मैंने दिति सुत दानव-दलको अदिति जननिका बना लिया।
स्वार्थ द्वेष-भयके भावोंका करुणामें अवसान किया।
उन महान् अपराजित दैवी भावोंका साम्राज्य हुआ;
दबे आसुरी भाव, दैन्य-दुख आज हृदयसे त्याज्य हुआ।
तेज-सिन्धुसे प्राप्त तेज उन देवोंका गम्भीर महा।
नमन शक्तिके साथ विश्वमें सन्तत अचल-प्रतिष्ठ रहा।
देवोंके इस नम्र भावकी मुझमें शक्ति अगाध भरी।
आज बना विजयी मैं जगमें मेरी जीवनतरी तरी।

यानि चकार भुवनस्य यस्पतिः प्रजापतिर्मातरिश्वा प्रजाभ्यः।
प्रदिशो यानि वसते दिशश्च तानि मे वर्माणि बहुलानि सन्तु ॥ (अथर्व० १९।२०।२)

तुम्हारे अक्षय कवच मिले!
अब न रही रक्षाकी चिन्ता जीवन ज्योति खिले।
नाथ तुम्हारे हाथोंद्वारा जब ये गये सिले;—
फिर कैसे बिध सकते इनमें द्वेष विशिख निचिले;
सकल दिशाओं प्रदिशाओंने इनके किये किले।
आज सुरक्षित प्रजा तुम्हारी खल-बल जात हिले।

न घा त्वद्रिगपवेति मे मनस्त्वे इत् कामं पुरुहूत शिश्रिय।
राजेव दस्म निषदोऽधि बर्हिष्यस्मिन्सु सोमेऽवपानमस्तु ते ॥
(अथर्व० २०।१७।२ ऋ० ८।४१।२)

आज मिला तट घाट री, डूब उछल संसृति सरितामें;
इन मादक चंचल लहरोंने, डाल रूपका जाल सलोने,
खींच लिया मुझको उर अन्तर बन्द विवेक कपाट री! आज०
अघमें अटका, भ्रममें भटका; झेल-झेल झटके पर झटका;
बिलख उठा, प्रभु करुणा जागी, पाई पावन बाट री! आज०
अब मन नहीं हटाए हटता, बार बार प्रभु ही प्रभु रटता,
अब न लुभाता मोहक गतिसे सुन्दर सरिता पाट री! आज०
न्यौछावर बाँकी झाँकीपर, जीवनका सर्वस्व निरन्तर;
आश्रित सकल मनोरथ मेरे, चंचल चितकी चाट री! आज०
हृदयासनपर देव विराजे, मनहर-मंगल-वादन बाजे;
सोमपान-उल्लास-हासके शोभित सुख कर ठाट री! आज०

नासदीय सूक्त और शिव-काली-तत्त्व

(लेखक—श्रीअक्षयकुमार बन्द्योपाध्याय, एम्० ए०)

इस निःसीम, नाना प्रकारकी विचित्रताओंसे परिपूर्ण, असंख्य जड-चेतन पदार्थोंसे समन्वित चिरप्रवाहमान विश्व-जगत्का सम्यक् परिचय प्राप्त करनेके उद्देश्यसे तत्त्वानुसन्धान-के व्रती बनकर वैदिक ऋषियोंने ज्ञान-विकासके एक-एक स्तरमें क्रमशः सूक्ष्मसे स्थूलकी उत्पत्ति, एकसे अनेककी उत्पत्ति, अविभक्त जीवनीशक्तिके परिणामस्वरूप विचित्र अवयवोंसे सम्पन्न शरीरकी उत्पत्ति और अदृष्ट वासनाके परिणामसे दृष्ट-कर्मप्रवाहकी उत्पत्तिके सनातन नियमको दिव्यदृष्टिसे देखा था। प्राणशक्तिसे युक्त 'एक' ही 'बहु'रूपोंमें विकसित होता है, सूक्ष्म कारणसे स्थूल कार्यकी उत्पत्ति होती है, यह अनेक स्थलोंमें प्रत्यक्ष प्रमाणित होता है। मनुष्यकी बुद्धि भी इस प्रकारसे गठित है कि वह प्रत्येक घटनाके कारणका खोज करती है, उत्पत्ति-विकारशील किसी स्थूल पदार्थके देखते ही उसके मूलमें किसी सूक्ष्म शक्तिके अस्तित्वको खोजनेकी चेष्टा करती है, अनेक पदार्थों अथवा व्यापारोंमें किसी प्रकारका सादृश्य या सम्बन्ध अथवा क्रिया-शृङ्खला देखकर उनके मूलमें स्थित किसी ऐक्यके अन्वेषणमें रत होती है। बुद्धिका यह सर्वजनीन स्वभाव है और बुद्धिके इस स्वरूपगत स्वभावसे ही समस्त विज्ञान और दर्शनोंका आविर्भाव होता है। इस प्रकारके स्वभाववाली बुद्धिकी सम्यक् परितृप्ति ही सत्यका मापदण्ड है।

हम आधुनिक युगमें जिन शास्त्रोंको 'विज्ञान' या Science के नामसे पुकारते हैं, वे इस निखिल जगत्के विशेष-विशेष विभागोंमें अनेक स्थूल व्यापारोंके पर्यवेक्षण और विश्लेषणके द्वारा उनसे क्रमशः सूक्ष्मतर अल्पसंख्यक कारणोंके आविष्कारमें लगे हैं। दर्शनशास्त्र समस्त वैज्ञानिक सिद्धान्तोंको उदरस्थ करके समस्त विश्व-जगत्के मूलस्वरूप एक सूक्ष्मतम अव्यक्तमूर्त्ति महाकारणके स्वरूपानुसन्धानमें लगा हुआ है। सुविस्तृत देश और कालमें असंख्य वैचित्र्यसे युक्त यह विश्व-जगत् स्थूलरूपमें आनेके पूर्व सर्वप्रथम किस अवस्थामें था, इस विराट् स्वरूपके लय हो जानेपर किस अवस्थामें रहेगा, किस आदिकारणसे किस नियमके द्वारा इस विशाल विश्वका उद्भव हुआ है, मैं कहाँसे आया हूँ, हमारे ज्ञान और कर्मका अन्तिम परिणाम क्या होगा—ये सब प्रश्न मनुष्यकी बुद्धिके अन्तस्तलसे स्वाभाविक ही उठते रहते हैं, तथा इन सब समस्याओंका ठीक-ठीक समाधान करनेकी चेष्टाको ही दार्शनिक चिन्तन कहा जाता है।

वैदिक ऋषियोंने इन समस्याओंके समाधानमें तपः-परायण होकर आविष्कार किया था कि इस विश्व जगत्के अनेकों प्रकारकी विचित्रताओंमें अभिव्यक्त होनेके पूर्व ऐसी एक अवस्था थी जब देश और कालका विभाग नहीं था। दिन-रात्रिका भेद नहीं था; मिट्टी, जल, अग्नि, वायु, आकाश कुछ भी नहीं थे, कोई जड परमाणु न था, अथवा चेतन जीव भी नहीं था, जीवन भी नहीं था, मृत्यु भी नहीं थी; इस चतुर्दश भुवनका कुछ भी प्रकाशित न था, इन्द्रिय, मन और बुद्धिका भी अस्तित्व नहीं था। उस अवस्थाको न तो सत् कह सकते हैं और न तो असत् ही। यह अवस्था कालकी दृष्टिसे विश्व-जगत्के आविर्भूत होनेके पहले किसी एक समयमें थी, अथवा भविष्यमें सब कुछ लय हो जानेपर किसी समयमें रहेगी, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि इस अवस्थामें भूत, वर्तमान, भविष्यत् नामक कोई काल-भेद नहीं है। देश और कालका विभाग, ज्ञाता और ज्ञेयका विभाग, भोक्ता और भोग्यका विभाग, कर्त्ता और कर्मका विभाग, अभाव और पूर्णताका विभाग—इस प्रकारके समस्त विभागोंको अतिक्रम करनेपर जो अवस्था रहती है। वही ऋग्वेदके नासदीय सूक्तके ऋषिकी दिव्य-दृष्टिमें विश्व-ब्रह्माण्डकी चरम कारणावस्था है।

तो क्या वह अवस्था शून्यावस्था है? उस समय क्या केवल अभाव था! समस्त सत्ताका बिल्कुल अभाव था! क्या अभावसे भावकी उत्पत्ति सम्भव है? अथवा क्या भावका पूर्णतः अभावमें परिणत होना सम्भव है! वह मूल कारणावस्था निश्चय ही ऐसी कुछ थी, जिसमें कोई भेद नहीं—परन्तु जिससे सब प्रकारके भेदकी उत्पत्ति सम्भव है, जो देश-कालके ऊपर होते हुए भी देश और कालमें अनन्त भावों और अनन्त रूपोंमें अपनेको अभिव्यक्त करनेमें समर्थ है, जिसके स्वरूपमें भोक्तृ-भोग्य, ज्ञातृ-ज्ञेय, कर्त्तृ-कर्म प्रभृति विभागोंका पूर्णतः अभाव है तथापि विचित्र प्रकृतिसे विशिष्ट असंख्य भोक्तृ-भोग्य, ज्ञातृ-ज्ञेय, कर्त्तृ-कर्म प्रभृति विभागोंकी स्वयं ही बिना किसी चेष्टाके सृष्टि करनेकी

अघटन-घटना-पटीयसी शक्ति जिसके स्वरूपमें अभिन्न रूपसे नित्य विद्यमान रहती है ।

ऋषिने देखा, 'आनीदवातं स्वधया तदेकम्'—उस समय केवल वही 'एक' था, और वही 'एक' स्वधाके साथ—स्वकीया आत्मभूता शक्तिके साथ अत्यन्त अभेदरूपमें संयुक्त होकर विराजमान था । वह 'एक' जड नहीं, जीवन्त (आनीत्) था । सारी जड सत्ताएँ चेतनसत्तासापेक्ष हैं, अन्यथा जडके अस्तित्वका प्रकाश ही नहीं हो सकता। अतएव मूलसत्ता निश्चय ही चेतन—स्वप्रकाशस्वरूप है। किन्तु है वह अविक्षुब्ध (अवातं), स्वकीया शक्ति उनके साथ रहते हुए भी उनमें कोई विक्षोभ या चाञ्चल्य नहीं उत्पादन करती, अनभिव्यक्त स्वभावसे अभिव्यक्तभावमें उनको प्रकट करनेका कोई आयोजन नहीं करती । जीवन्त चेतन होते हुए भी उस मूल अव्यक्त स्वरूपमें उनके जीवनका कोई स्पन्दन, तरङ्ग या प्रवाह नहीं रहता ।

उस महाकारणके भी कारण चैतन्यस्वरूप अद्वितीय 'एक' अनन्त वैचित्र्यसे पूर्ण सृष्टिका उत्पादन करनेवाली अविचिन्त्य महाशक्तिके साथ नित्ययुक्तभावसे विराजित होनेपर भी उस समय किसी भी पदार्थका प्रकाश नहीं था। यहाँतक कि, उस समय आवरण और प्रकाशका भी कोई भेद न था—'तम आसीत् तमसा गूढमग्रे' तमके द्वारा समावृत तम ही विद्यमान था । इस अवस्थाको अखण्ड आवरण भी कहा जा सकता है और अखण्ड प्रकाश भी। उस अद्वितीय 'एक' को न तो प्रकाशस्वरूप कहनेमें ही कोई दोष होता है, न तो तमःस्वरूप कहनेमें ही । इसी प्रकार तमःप्रकाशरहित कहनेमें भी दोष नहीं होता । क्योंकि भेदके विना, द्वैतके विना प्रकाश और आवरणका कोई अर्थ ही नहीं होता, और न इनके बीच अर्थगत कोई भेद ही रहता है । सब प्रकारके भेदसे रहित उस मूल सत्ताको अन्यान्य ऋषियोंने कभी सत्स्वरूप बतलाया है और कभी असत्स्वरूप । कभी प्रकाशस्वरूप भी कहा है और कभी तमःस्वरूप भी। कभी पूर्ण भी कहा है और कभी शून्य भी। सारांश यह कि द्वैताधीन बुद्धिकी कोई कल्पना ही वहाँ नहीं टिकती ।

यह जो अभिन्नशक्ति-शक्तिमान् देशकालातीत बाह्य-अन्तररहित तमःप्रकाशवर्जित अद्वितीय 'एक' है इसीसे इस व्यक्ताव्यक्त जगत्की उत्पत्ति होती है। नासदीय सूक्तके ऋषिने घोषणा की है कि 'तपस्याकी महिमासे' उसी 'एक'ने स्रष्टा और सृष्टरूपमें, एक और बहुरूपमें, कारण और कार्यरूपमें, कालाधीश और कालाधीनरूपमें आत्मप्रकाश किया । उस 'एक' ने ही जन्म ग्रहण किया—'तपसस्तन्महिनाजायतैकम्' । यह जो अजका जन्म, परिणामरहितका आत्मपरिणाम, नित्यवस्तुकी आत्मसृष्टि, देशकालातीतका देशकालमें आत्म-प्रकाश, अद्वितीय एकका स्वयं बहुरूप-ग्रहण करना है—इसका कोई कारण बतलाते नहीं बनता । जो सर्वकारणोंका कारण स्वरूप है, जिसके स्वभावसे सब कारणोंकी उत्पत्ति होती है, उसके स्वभावके आत्म-प्रकाशके सम्बन्धमें किसी कारणका होना सम्भव नहीं है । कारणके सम्बन्धमें कोई प्रश्न ही यहाँ नहीं उठ सकता । ऋषिने इसको उस 'एक' की ही अचिन्तनीय 'तपस्याकी महिमा' बतलाया है । वह तपस्या भी उसके स्वभावके ही अन्तर्गत है—'देवस्य स्वभाव एषः' । इस तपस्यामें ज्ञान, इच्छा और आनन्द एकीभूत हो गये हैं । इसमें उनकी कोई चेष्टा नहीं, अवस्थान्तर नहीं, साधना और सिद्धिका भेद नहीं, तथा इच्छा और उसकी पूर्तिका कोई भेद नहीं है । यह तपस्या उसके साथ अभिन्न-भावसे विराजित उसीकी स्वकीया शक्तिका, उसीकी स्वधाका स्वाभाविक परिणाम है । इस तपस्याका स्वरूप क्या है, यह बात मानवीय बुद्धिकी धारणामें नहीं आ सकती । बुद्धि यदि आत्मसमाहित हो तो उस समाधि-अवस्थामें इसका आभास प्राप्त किया जा सकता है । व्युत्थित बुद्धि उस अनुभूतिको चाहे जिस भाषामें प्रकट करनेकी चेष्टा करे, वह किसी प्रकार भी समीचीन नहीं हो सकती । व्युत्थित अवस्थाकी अभिज्ञता-की सहायतासे अपेक्षाकृत उस अनुभूतिका कुछ आभासमात्र प्रकट करनेके अतिरिक्त दूसरा कोई उपाय ही नहीं है ।

इस अनिर्वचनीय तपस्याकी अचिन्त्य महिमासे उस 'एक' में शक्ति और शक्तिमान्का कुछ भेद उत्पन्न हुआ, शक्तिका विचित्र परिणाम प्रारम्भ हुआ, तथा विचित्र रूपमें विचित्र नाममें परिणत स्वकीया शक्तिके सम्पर्कसे उस 'एक' की ही अपनेमें ही नयी-नयी उपाधियाँ उत्पन्न होने लगीं । स्वकीया शक्तिके विचित्र परिणामसे वह 'एक' ही मानो नये-नये रूपोंमें जन्म ग्रहण करने लगा । निर्गुण, निर्विशेष, निरुपाधिक 'एक' ने सगुण, सविशेष सोपाधिक वैचित्र्यमय रूपोंमें अपनेको अभिव्यक्त किया । यही हुई उसकी आत्मसृष्टि और यही हुआ उसका जन्मग्रहण ।

यहाँ यह बतला देना आवश्यक है कि उसकी इस आत्मसृष्टि या जन्मग्रहणका प्रारम्भ किसी कालविशेष या

देशविशेषमें नहीं होता। किसी विशेष देश या कालमें यदि इस सृष्टिका आरम्भ हुआ होता तो सृष्टिका पूर्ववर्ती वह निर्गुण, निर्विशेष, अभिन्नशक्ति-शक्तिमान्, अद्वितीय 'एक' भी देशकालावच्छिन्न होता। अतएव वह ससीम, विकारशील, परिणामी होता और उसका भी एक कारण खोजना पड़ता। ऐसा होनेपर नासदीय सूक्तका वर्णन असमीचीन हो जाता। देश-कालकी दृष्टिसे, दैशिक विस्तार और कालिक परिणामकी दृष्टिसे, इस सृष्टिका कोई आदि या अन्त कल्पित नहीं हो सकता। उस 'एक' का देशकालातीत निर्गुण निर्विशेष निरुपाधिक स्वभाव जिस प्रकार नित्य है, देश और कालमें उनकी अनेक रूपोंमें आत्मसृष्टि भी उसी प्रकार नित्य है। देशकालातीत निर्विशेष निर्विकार अद्वितीय 'एक' का देशमें और कालमें, विचित्र सविशेष परिणाममें चिरन्तन आत्मप्रकाश, आत्मक्रीडा, आत्मविनोदन ही उसकी आत्मसृष्टि या विश्वसृष्टि है। देश और कालके—बहुत्व और परिणामके ऊपर विशुद्ध सच्चिदानन्दस्वरूपमें इसका आविर्भाव होता है, तथा देश और कालमें बहुत्व और परिणाममें इसकी अभिव्यक्ति होती है।

सब प्रकारके भेद और परिणामसे रहित उस 'एक' के स्वरूपमें इस देश-कालव्यापी भेद-परिणाममय विश्वरूपका अत्यन्त अभाव था, ऐसी बात नहीं है। बल्कि यह सब कुछ उसकी शक्तिमें एकीभूत होकर विलीन था, भेद और परिणामकी कोई अभिव्यक्ति नहीं थी, यह सभी सब कुछ ढका हुआ था। किसके द्वारा ढका हुआ था? क्या किसी अन्य शक्तिके द्वारा उसकी इस स्वकीया शक्तिका प्रकाश अवरुद्ध था? अन्य किसी स्वकीया या परकीया शक्तिकी विद्यमानता तो सम्भव नहीं है। किसी आवार्य और आवरकका भेद भी तो वहाँ नहीं रह सकता—'किमावरीवः कुहकस्य शर्मन्।' ऋषि कहते हैं—'तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्।' तुच्छके द्वारा सर्वतोभावेन आवृत था। अर्थात् जिसके द्वारा आवृत था वह तुच्छ था उसे सत् या असत् कुछ भी कहते नहीं बनता। उसीको 'तमः' कहा गया है। स्वकीया शक्तिके अन्तर्भुक्त अविभागापन्न विचित्र विश्वके प्रति उस 'एक' के तुच्छ भाव—औदासीन्य—उसके प्रति ईक्षणके अभावके द्वारा ही वह विश्व समावृत था, यही कहा जा सकता है। उस 'एक' की अपनी शक्तिके प्रति 'ईक्षण' द्वारा ही वह आवरण दूर हुआ, विश्वकी सृष्टि हुई। वह एक ही बहुत रूपोंमें अभिव्यक्त हो गया। उस 'एक' का आत्मस्थ—योगनिद्रामग्न भाव ही निर्गुण भाव है, तथा शक्तिकी ओर दृष्टिपात करते हुए सृष्टिकी इच्छासे विशिष्ट भाव ही सगुण भाव है—अपनेको बहुरूपमें उत्पन्न करनेका भाव है। यही है उसकी तपस्याकी महिमाके द्वारा तुच्छ आवरणको तिरस्कार करते हुए सृष्टिमें 'जायमान' होना।

उसी एककी ईक्षणरूपी तपस्यासे उत्पन्न स्वीया शक्तिका—स्वधाका जो प्रथम जागरण है, सर्वप्रथम आपाततः पृथक् भावसे आत्मपरिणामोन्मुखता है, उसीका नाम 'काम' है। इसी कामरूपमें शक्तिकी प्रथम उपलब्धि होती है। यह काम ही शक्तिके अभिन्न, अव्यक्त अवस्थासे भेदभावापन्न व्यक्तावस्थामें परिणत होनेका प्रथम सोपान है। शक्तिका कामरूप परिणामकी यह उपाधि ग्रहण करना ही निर्गुण 'एक' की प्रथम सगुणभावकी प्राप्ति, ईश्वरभावका आविर्भाव है। उस 'एक' से विश्वसृष्टि-प्रक्रियाके प्रारम्भमें नासदीय सूक्तके ऋषि इसी कारण कहते हैं—'कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्'। एक स्वरूपमें अभेदभावमें विराजित मनका प्रथम परिणाम ही काम-रूप है, तथा इसी कामसे कालिक सृष्टि, व्यक्त जगत्का क्रमिक प्रकाश होता है। परमार्थतः शक्तिमान् 'एक' से अभिन्न उसकी शक्ति जब कामरूप धारणकर विचित्र आकारमें परिणत होने लगी, तभी उसमें नाना प्रकारके द्वन्द्व उत्पन्न हुए; सृष्टि, स्थिति और संहारका व्यापार चलने लगा।

नासदीय सूक्तके इस परम गम्भीर तत्त्वविचारको प्रतिध्वनित करते हुए महर्षि श्वेताश्वतर कहते हैं—'यदा तमस्तन्न दिवा न रात्रिर्न सन्न चासन् शिव एव केवलः।' जब वह 'तमः' अवस्था थी, तब न तो दिन था और न रात्रि, न सत् था न असत्, केवलमात्र शिव ही विराजमान थे। नासदीय सूक्तका 'एक' श्वेताश्वतर उपनिषद्के 'शिव' हैं। माण्डूक्य उपनिषद् इसी एक अद्वितीय 'शिव' के स्वरूपका निर्धारण करते हुए कहता है—'नान्तः प्रज्ञं न बहिः प्रज्ञं नोभयतः प्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम्।' वह न तो अन्तःप्रज्ञ हैं न बहिःप्रज्ञ, और न उभयतः प्रज्ञ हैं, वह न प्रज्ञानघन हैं और न प्रज्ञ हैं, और न अप्रज्ञ ही हैं। अर्थात् ज्ञातृ-ज्ञान-ज्ञेयका भेद न होनेके कारण, किसी प्रकारकी वृत्ति या परिणाम न होनेके कारण, उनके साथ सम्बन्धित किसी द्वितीय स्वतन्त्र या अस्वतन्त्र पदार्थके न होनेके कारण, उनके

सम्बन्धमें कुछ भी नहीं कहा जा सकता। वे ज्ञानवान् हैं या ज्ञानहीन हैं, चैतन्ययुक्त हैं या चैतन्यविहीन हैं, कुछ भी नहीं कहा जा सकता। प्रज्ञा भी उन्हींकी शक्तिके परिणामसे उत्पन्न है। 'प्रज्ञा च तस्मात्प्रसृता पुराणी।' तत्त्वदर्शी लोग उन्हें—

'अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते।'

सब ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियोंके अगोचर, वाक्य और चिन्तनके अगोचर, नामरूपके परे एकमात्र आत्म-प्रत्ययके सारस्वरूप, सर्व विषयोंके उपशम-स्वरूप, तथा सर्ववृत्तियोंके उपशमस्वरूप एक अद्वितीय तुरीय शिवतत्त्व मानते हैं। 'स आत्मा स विज्ञेयः।' वही आत्मा है, वही परम विज्ञेय तत्त्व है। शिवगीतामें भी शिवतत्त्वका इसी प्रकार वर्णन किया गया है—

अचिन्त्यरूपमव्यक्तमनन्तममृतं शिवम्।
आदिमध्यान्तरहितं प्रशान्तं ब्रह्मकारणम्।
एकं विभुं चिदानन्दमरूपमजमद्भुतम् ॥

कैवल्योपनिषद् कहता है—

अचिन्त्यमव्यक्तमनन्तरूपं
शिवं प्रशान्तममृतं ब्रह्मयोनिम्।
तमादिमध्यान्तविहीनमेकं
विभुं चिदानन्दमरूपमद्भुतम् ॥
उमासहायं परमेश्वरं प्रभुं
त्रिलोचनं नीलकण्ठं प्रशान्तम्।
ध्यात्वा मुनिर्गच्छति भूतयोनिं
समस्तसाक्षिं तमसः परस्तात् ॥

अचिन्त्य, अव्यक्त, अनन्तरूप, प्रशान्त, अमृतस्वरूप, ब्रह्माके भी कारण, आदि, मध्य और अन्तसे हीन, विभु, चिदानन्द, अरूप, अद्भुत, त्रिलोचन, नीलकण्ठ, एक अद्वितीय, उमासहाय (शक्तिसमन्वित) परमेश्वर शिवका ध्यान करके मुनि उस तमससे परे विराजमान समस्तसाक्षी, सब कारणोंके कारण परमतत्त्वको प्राप्त होते हैं।

अतएव नासदीय सूक्तका वह 'एक' ही शिव नामसे अभिहित होता है। तथा शिवरूपमें हमारी धारणाकी सुविधाके लिये उपस्थापित है। उसी एककी स्वकीया शक्ति स्वधा ही उमा, काली प्रभृति नामोंसे प्रसिद्ध है। परमार्थतः उमा या काली शिवके साथ अभिन्न हैं, नित्य उन्हींके अङ्कमें लीन रहती हैं। यह शक्ति जब शिवके स्वरूपमें अभिन्नभावसे चिन्तित होती हैं, तब शिव मन और वाणीके अगोचर हो जाते हैं, केवल निषेधवाचक पदसमष्टिके सिवा उनके परिचयसूचक किसी वाक्यका व्यवहार करना सम्भव नहीं होता, उनकी कोई गुण या क्रिया नहीं होती, उनके साथ सम्बन्धित कोई पदार्थ नहीं होता, जिसके द्वारा उनका परिचय प्राप्त हो, जिसके सम्पर्कसे उनका विचार करना सम्भव हो। उनकी शक्तिके परिणामके भीतर ही उनका सब परिचय निहित है। उनकी इस शक्तिको ज्ञानमयी, इच्छामयी, आनन्दमयी, कर्ममयी सब कुछ कहा जा सकता है—सभी भाव उसमें एकीभूत होकर विद्यमान हैं। इस शक्तिके द्वारा ही उनका स्वभाव निर्मित है। यह शक्ति जब उनकी अचिन्त्य 'तपसो महिना' उनके वक्षःस्थलको भेदकर परिणामशीलरूपमें अभिव्यक्त होती है, उन शिवके ही वक्षःस्थलका आश्रय करके उनके स्वरूपसे आपाततः भिन्नभाव अवलम्बन करके उनकी 'आत्मभूता शक्ति' जब सृष्टि, स्थिति और प्रलयरूप नृत्य करने लगती है, तब उस 'एक' का ही द्वैतभावमें आत्मप्रकाश होता है। निष्क्रिय, निर्गुण, निर्विकार, परिणामहीन, कूटस्थ शिव परिणामशीला, सविकारा, सगुणा, सक्रिया शक्तिके आश्रय और अधिष्ठानरूपमें उसके चरणतलमें—उसके विचित्र परिणाम और क्रियाकी आड़में नित्य स्वस्वरूपमें विराजमान रहते हैं। इस शक्तिके नित्य-नूतन नृत्य-रचनाके भीतर—नित्य-नूतन परिणाम और क्रियाके सम्बन्धसे—उस शिवका भी नित्य-नूतन सोपाधिक परिचय प्राप्त होता है। निष्क्रिय निर्विशेष शिव तथा सक्रिय सविशेष शक्तिके योगमें ही समस्त सत्ता निहित है, इस द्वैताभिव्यक्तिके भीतर उसी परम 'एक' की अनेक रूपोंमें आनन्दलीला होती है। शक्तिको पृथक् भावसे विचार करनेपर उसके सम्बन्धके विना शिव गुण, कर्म और प्रकाशसे हीन शवके रूपमें ही प्रतीत होते हैं। शिवका शिवत्व शक्तिके अंदरसे ही प्रकाशित होता है। शिवको शक्तिमान्के रूपमें ग्रहण न करनेपर प्रकाश और तम दोनों एक हो जाते हैं, शिव और शवमें कोई अन्तर नहीं रहता, चित् और अचित्में कोई भेद नहीं रहता, सत् और असत्में किसी भिन्नताका निरूपण नहीं हो सकता, यह बात पहले ही बतलायी जा चुकी है। अतएव देशकाल आदिसे अतीत सब प्रकारके भेदसे वर्जित शिवके वक्षःस्थलके ऊपर कालमयी, परिणाममयी अशेषवैचित्र्यका उत्पादन करनेवाली महाशक्तिका नृत्य ही विश्वसत्ताका स्वरूप है।

कामरूपमें—सृष्टिकी इच्छाके रूपमें, बहुभावोंमें उत्पन्न होनेके सङ्कल्पके रूपमें शिवके अङ्कमें लीन महाशक्तिकी प्रथम अभिव्यक्ति होती है। नासदीय सूक्तका अनुसरण करते हुए उपनिषद् भी कहते हैं—'सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय' 'उसने कामना की, मैं बहुतोंके रूपमें उत्पन्न हो जाऊँ।' इस कामोत्पत्तिसे ही उस सर्वभावातीत शिवके स्वभावमें सोपाधिक अहं-भावकी उत्पत्ति होती है। विश्वप्रसविनी महाशक्ति भी इसी कारण 'कामाख्या' देवीके नामसे अभिहित हुई हैं।

उस कामसे महाशक्तिके सुनियमित आनन्दनृत्यके तालतालपर असंख्य द्वैतभाव समुद्भूत होते हैं। सुखके साथ दुःख, आशाके साथ आशङ्का, प्रेमके साथ भय, उत्पत्तिके साथ ध्वंस, स्थितिके साथ विकार, लाभके साथ हानि, बृहत्के साथ क्षुद्र, सुन्दरके साथ कुत्सित, चेतनके साथ जड—इसी तरह असंख्य प्रकारके द्वैत और द्वन्द्व साथ-साथ अगल-बगलमें उत्पन्न होकर, स्थित होकर और विलीन होकर अपूर्व शृंखलाके साथ विश्व-व्यापारका सम्पादन कर रहे हैं। समस्त विश्वमें प्रत्येकके साथ प्रत्येकका अद्भुत सामञ्जस्य है। सभी उस शिवकी अङ्गीभूता सच्चिदानन्दमयी महाशक्तिकी आत्माभिव्यक्तिके विचित्र रूप हैं, सभी उनके गोदमें खेल रहे हैं। यही कारण है कि वह विचित्र परिणामशीला नृत्यमयी महाशक्ति जिस प्रकार सुन्दरी हैं, उसी प्रकार भयङ्करी हैं, जिस प्रकार स्नेहमयी विश्वजननी हैं, उसी प्रकार मृत्युमयी विश्वग्रासिनी हैं, जिस प्रकार क्षेमा (कल्याणकारिणी) हैं, उसी प्रकार भीमा (भयङ्कर रूपवाली) हैं, और जिस प्रकार शान्तिरूपिणी हैं, उसी प्रकार संग्रामरूपिणी हैं। उनके एक ओरके हाथमें तलवार चमकती है तो दूसरी ओरके हाथमें अभय प्रतिष्ठित है। एक ओर रक्तके तरंग लहराते हैं तो दूसरी ओर मंगल और शान्ति विराजमान है। एक हाथमें ध्वंसके प्रतीकरूपमें नरमुण्ड लटक रहा है, तो दूसरेमें सृष्टिके प्रतीकके रूपमें वर शोभा पा रहा है। वे नियमपूर्वक असंख्य चेतनाचेतन पदार्थोंका प्रसव करती हैं, स्नेहपूर्वक हृदयसे चिपटाकर उनका पोषण करती हैं और फिर मुख फैलाकर उन्हें चट कर जाती हैं। सृष्टि-स्थिति-प्रलय सभी व्यापारोंमें उनका आनन्द, सदा ही उनके मुखमें अट्टहास, उनके सारे अङ्ग-प्रत्यङ्ग आनन्दोल्लासमें झूमते रहते हैं।

जगत्के सभी व्यापार तीन प्रकारके अवयवोंके साथ प्रकाशित होते हैं। जैसे—कर्त्ता, कर्म और क्रिया; ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान; भोक्ता, भोग्य और भोग; द्रष्टा, दृश्य और दर्शन; हन्ता, हत और हनन इत्यादि। यह त्रिपुटी उस महाशक्तिका ही आत्मप्रकाश है, उन्हींकी अङ्गीभूत है। वही असंख्य कर्त्ता, कर्म और क्रियाके रूपमें; ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञानरूपमें; भोक्ता, भोग्य और भोगरूपमें; हन्ता, हत और हननरूपमें अपनेको अनादि और अनन्तकालमें व्याप्त करके प्रकट कर रही हैं। समस्त अतीत उन्हींके भीतर विलीन है, सारा भविष्य उन्हींके भीतर छिपा हुआ है, सारा वर्तमान उन्हींके अंगमें प्रकट है। अतीत-वर्तमान और भविष्यद् विशिष्ट काल-प्रवाहके द्वारा ही मानो उनका शरीर निर्मित है। कालमें जो हो गया है, हो रहा है और होगा, सभी उनके शरीरमें विद्यमान हैं। सब कुछ उनके स्वभावसे प्रकट होकर फिर उन्हींके स्वभावमें समा जाता है। नित्य ही वे अव्यक्तावस्थासे व्यक्तावस्था, तथा व्यक्तावस्थासे अव्यक्तावस्थामें जाती, आती, होती रहती हैं।

उनकी इस कालमयी मूर्त्तिसे ही समस्त वर्णोंकी, सारे शब्दोंकी, रसोंकी, स्पर्शोंकी, गन्धोंकी उत्पत्ति होती है। उनका कोई विशेष वर्ण नहीं, विशेष शब्द नहीं, विशेष रस-गन्ध या स्पर्श नहीं है। इसी कारण सब वर्णोंसे परे काले वर्णमें उनका रूप परिकल्पित होता है। सब शब्दोंसे परे अनाहत नित्य प्रणव-ध्वनिमें उनका परिचय होता है, सब रसोंका उत्स (मूल स्रोत) स्वाभाविक विशुद्ध आनन्द ही उनका स्वरूप कहलाता है। आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी—सभी उनके अव्यक्तरूपकी व्यक्त मूर्त्तियाँ हैं।

एक ओर जिस प्रकार वे सब वर्णोंके कारणरूपी अव्यक्तमूर्त्ति अर्थात् प्रगाढ़ कृष्णवर्णवाली हैं—'तमसा गूढं तमः'। दूसरी ओर वही महाशक्ति स्वप्रकाशात्मिका होनेके कारण ज्योतिर्मयी हैं, उनके कृष्ण अङ्गसे विश्व-प्रकाशक ज्योति विकीर्ण होती है, उन्हींकी ज्योतिसे विश्वका सब कुछ प्रकाशित होता है—'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।' ये आवरणमयी हैं और प्रकाशमयी भी हैं। वे आवरण-शक्तिके रूपमें सच्चिदानन्दस्वरूप एक अद्वितीय शिवको आवृत किये रहती हैं, फिर वे ही प्रकाशशक्तिरूपमें शिवको—शिवके देश-कालातीत मन-वाणीके परे अप्राकृत महिमाको देश और कालमें मन और वाणीके गोचररूपमें प्राकृत विश्वमें प्रकाशित करती हैं। वह शिवकी ही सर्वमयी स्वकीया शक्ति, उनकी प्रकाशिका अन्य कोई शक्ति नहीं है, आवरक भी दूसरी कोई शक्ति नहीं है। इसीलिये वे

नम्रा, अपने स्वरूपमें तथा अपने प्रभावमें लीलामयी हैं। वे अपने ही अव्याहत स्वभावके अनुसार अनादि—और अनन्त कालमें आवरण और विक्षेपकी प्रकाश-लीला करती जा रही हैं। उनके विशेष-विशेष भाव, विशेष-विशेष लीलाएँ, विशेष-विशेष देश और कालसे सीमित अभिव्यक्तिके बीच जब हमारी दृष्टि और चिन्तन अवरुद्ध हो जाते हैं, तब उसीके द्वारा उनका समग्र रूप हमारे ज्ञानके समक्ष अप्रकाशित वा आवृत हो जाता है। उनकी निजी क्रियाके द्वारा, आत्मप्रकाशके द्वारा, उनके अपने स्वरूपका आवरण होता है और उनके स्वरूपके आवरणसे ही शिवस्वरूपका आवरण हो जाता है। हम कभी उनकी अस्थिमाला देखते हैं, कभी उनका मुण्डमाला देखते हैं, कभी उनके तलवार और खड्गादिकी झनझनाहटसे अभिभूत हो जाते हैं, कभी उनके वर—अभयप्रद हस्तको ऊपर उठा हुआ देखकर आकृष्ट होते हैं, कभी उनका सृष्टिकार्य, कभी उनका पालनकार्य, कभी उनका संहारकार्य हमारे चित्तको खींचकर उनके स्वरूपके सम्बन्धमें विशेष-विशेष धारणाएँ उत्पन्न करता है। उन्हींकी आत्माभिव्यक्तिके स्तरविशेषमें अहंता-ममता आदि विशिष्ट कर्तृत्व-भोक्तृत्वाभिमानसे युक्त हमलोग उत्पन्न होकर इस अभिमानकी दृष्टिसे उनकी ही अन्यान्य आत्माभिव्यक्तियोंको भोग्यरूपमें, त्याज्यरूपमें, कार्यरूपमें वा नाश्यरूपमें, संस्कृतरूपमें अथवा विकृतरूपमें देखकर अपने अधीन करनेकी चेष्टा करते हैं। विश्वजननी महाशक्तिके ही अंगविशेषको हम उन्हींकी सन्तान अपने कर्तृत्व और भोक्तृत्वके अधीन समझते हैं—यह भी उन्हींकी लीला है। इस प्रकार उनका अखण्ड शरीर हमारी खण्डित दृष्टिमें खण्डित हो जाता है तथा हमारे सामने उनके स्वरूपका आवरण हो जाता है। फिर इस आवरणको तिरोहित करके अपने समग्र स्वरूपके साथ परिचय भी वही अपनी स्वकीया प्रकाशमूर्त्तिके द्वारा करा देती हैं। इस आवरण करनेवाली मूर्त्तिके विकासमें वे अविद्याशक्तिके रूपमें वर्णित होती हैं तथा इस प्रकाश करनेवाली मूर्त्तिके विकासमें वे ही विद्याशक्तिके रूपमें पूजी जाती हैं। वह अविद्यारूपिणी भी हैं और विद्यारूपिणी भी, बन्धनकारिणी भी हैं और मुक्तिविधायिनी भी। यद्यपि अविद्याशक्तिके विस्तारके द्वारा स्वकीय सर्वमय अखण्डस्वरूपको तथा अपने नित्य आश्रय सर्वातीत शिवके स्वरूपको आवृत कर आत्मपरिणामसे उद्भूत कर्तृ-कर्म, भोक्तृ-भोग्यादिमें विभक्त असंख्य खण्डमूर्त्तियोंको ही सत्यके रूपमें उपस्थित करना इस महाशक्तिका स्वभाव-सा प्रतीत होता है, तथापि सूक्ष्म और व्यापक दृष्टिका अवलम्बन करके देखनेपर यही सिद्ध होता है कि इस अविद्याके कार्यके द्वारा भी उनकी विद्याशक्ति अपने प्रभावको विजयी बनाती है। सारे भेदोंके बीच अभेद, द्वन्द्वके बीच ऐक्य, मृत्युके अंदर अमृत, जडके अंदर चेतना, कुरूपके अंदर सुन्दर, अनित्यके भीतर नित्य, ससीमके भीतर असीम और शोकके भीतर आनन्दको विकसित कर देना ही इस शिवप्रिया महाशक्तिका जीवनव्रत है। अखण्ड सच्चिदानन्दरूप शिव ही तो इस अपनेसे अभिन्ना शक्तिके विचित्र परिणामके द्वारा नाना रूपोंमें सर्वदेशमें, सर्वकालमें जन्मग्रहण और आत्मास्वादन कर रहे हैं। एक शिवको अनेकों प्रकारसे प्रकाश करना ही शक्तिका कार्य है। अनेकको अनेक रूपोंमें देखनेसे ही शिवके स्वरूपका आवरण होता है, तथा शक्तिके पूर्ण स्वभावका परिचय नहीं हो पाता। अनेकको शिवरूपमें देखनेसे ही, अनेकोंमेंसे प्रत्येकको एक शिवके ही विशिष्ट प्रकाशरूपमें आस्वादन करनेसे ही शक्तिके द्वारा शिवका प्रकाश होता है तथा शक्तिके स्वभावके साथ भी परिचय प्राप्त होता है। समस्त विश्व-प्रक्रिया इस परिचयको प्राप्त करनेके लिये ही अनेकोंमें एक शिवके विचित्र प्रकाशकी ओर ही दौड़ रही है। विश्वकी जितनी कार्य-कारण-शृंखलाएँ हैं, जितने सृष्टि-स्थिति-विनाश हैं, जितने संग्राम-सन्धि-मिलन हैं—सब इसी उद्देश्यकी सिद्धिकी ओर नियतरूपसे अग्रसर हो रहे हैं। शिवको पूर्णरूपसे विश्वमें प्रकट किये बिना शक्तिका व्रत पूरा नहीं होता, सृष्टिका अन्तर्निहित उद्देश्य सिद्ध नहीं होता। शिवका स्वरूप अनन्त होनेके कारण ही विश्व-प्रवाह भी उनको प्रकाशित करनेके उद्देश्यसे अनादि और अनन्त कालमें प्रवाहित हो रहा है।

विश्व-प्रपञ्चकी नियमशृंखलाकी पर्यालोचना करनेपर इसमें एक क्रम-विकासकी नीति दीख पड़ती है। इस जगत्के सभी विभागोंमें आवरणी शक्तिको अभिभूत करनेपर क्रमशः प्रकाशिनी शक्तिका प्रभाव बढ़ता है। जडके ऊपर चेतनका आधिपत्य, आसुरी शक्तिके ऊपर दैवी शक्तिका प्रभुत्व, अज्ञानशक्तिके ऊपर ज्ञानशक्तिका राजत्व, हिंसा-घृणाके ऊपर प्रेमभक्तिका राजत्व सृष्टि-प्रक्रियाके अन्तर्निहित विधानके अनुसार ही स्तर-स्तरमें प्रतिष्ठित हो रहा है। इसी कारण महाशक्ति असुरमर्दिनी तथा देव-कार्यसाधिका, दानवदलनी तथा भक्तप्रसादिनी प्रभृति नामोंसे पुकारी जाती हैं। उन्हींकी आत्मपरिणामरूपी जो शक्तियाँ विश्वके

शिवस्वरूपके प्रकाशके विपरीत मूर्त्ति धारण कर आविर्भूत होती हैं, जो शक्तियाँ विश्वव्यवस्थाको भेद, विरोध, असामञ्जस्य तथा अधर्मकी ओर प्रवाहित करना चाहती हैं, जो शक्तियाँ सत्य, ज्ञान, आनन्द, मिलन, ऐक्यकी प्रतिष्ठामें बाधा देती हैं, वे सारी शक्तियाँ विश्वके क्रम-विकासमें अभिभूत होकर विनाशको प्राप्त होनेके लिये ही जन्म लेती हैं। उन्हें महाशक्तिकी भयङ्करी मूर्ति ही दिखलायी पड़ती है, उनकी तलवारकी झनझनाहट ही सुन पड़ती है, उनका छिन्न मुण्ड ही विश्वजननीके हाथमें शोभा पाता है, उनके रक्त, मज्जा और अस्थिके ऊपर ही विश्व-मन्दिरका निर्माण होता है।

शिवके वक्षःस्थलपर विलास करनेवाली विश्वजननी आनन्द-नृत्यमयी कालीकी श्रीमूर्त्तिसे विश्वनीतिके सभी भाव व्यक्त हो जाते हैं। उन्हींकी विद्याशक्तिके शरणापन्न होकर जो साधक उनकी समग्र मूर्त्तिके दर्शन करनेके लिये अत्यन्त आग्रहशील होता है उसके सामने वे प्रेममयी आनन्दमयी जननीके रूपमें ही आत्मप्रकाश करती हैं। वह साधक अन्तर्जगत्में और बहिर्जगत्में, स्थूल जगत्में और सूक्ष्म जगत्में सर्वत्र—सब पदार्थोंमें तथा सब व्यापारोंमें उस स्नेहमयी मंगलमयी जननीकी कमनीय लीलाका ही दर्शन करता रहता है। उसके कर्तृत्वाभिमान, भोक्तृत्वाभिमान, ज्ञातृत्वाभिमान सभी मिट जाते हैं। सभी उस माताके खेल हैं—फिर कर्त्तृत्वाभिमानका क्षेत्र कहाँ? सर्वत्र ही मानो माताका ही अङ्ग दृष्टिगोचर होता है—फिर उसके लिये भोग्य क्या है? उसका ज्ञान उस माताका ही प्रकाश बन जाता है—फिर उसके पौरुषके लिये स्थान कहाँ? भीतर-बाहर सब कुछ माँ! सारा विश्व ही मातृमय! माँके अतिरिक्त और कोई भी अस्तित्व अनुभूत नहीं होता।

इस प्रकार समस्त ज्ञातृ-ज्ञेय-ज्ञान, कर्त्तृ-कर्म-क्रिया, भोक्तृ-भोग्य-भोगको माताकी मूर्त्तिके रूपमें दर्शन कर स्वयं पूर्णरूपसे अहं-ममसे विरहित होकर साधक जब माताके चरणोंमें आत्मनिवेदन करता है, तब माँके नित्य चरणतलमें स्थित शिवके साथ उसका सम्यक्रूपसे ऐक्यकी अनुभूति होती है, महाशक्तिके समस्त परिणामोंके साथ आत्मात्मीय-भावका त्याग कर उसकी आत्मा विशुद्ध सच्चिदानन्दस्वरूपमें प्रतिष्ठित होकर उस महाशक्तिके अधिष्ठानस्वरूप नित्य सत्य चिदानन्दघन शिवके साथ सम्यक् अभिन्नता प्राप्त करता है। महाशक्तिकी मातृभावमें उपासना कर भीतर-बाहर माँका दर्शन करते हुए सब विषयोंमें भोग्यभावका त्याग करनेपर ही जीव शिवत्वको प्राप्त करता है।

विश्वरूपमयीं कालीं शिववक्षोविलासिनीम्।
शिवशक्तिं शिवाभिन्नां मातरं प्रणमाम्यहम्॥

इच्छा

आदिसे मम जीवनके
याद है मुझे, रहकर अज्ञान तुम
रहे करते सहायता मेरी।
प्रभातमें अचानक तुमने मुझे जगाया
चौंककर देखा—कोई न था—
बैठा रहा
फिर किसीने चुप कानमें कहा,
"कर्त्तव्यकी ओर निहार पागल।"
पीछे देखा—कोई न था—
करने लगा कार्य
किन्तु भूलकर चला गया असत् पथपर
किसीने पकड़ हाथ लगा दिया पथपर
ढूढाँ उसे—कोई न था—
चलता रहा राहपर
आ रहा था लक्ष्य समीप, सामने था
असीम सागर, पड़ी थी नैया
कहा किसीने बैठ जा—
मुड़कर देखा—कोई न था—
खेता रहा नाव
दीख रहा है अन्तरिक्ष पर प्रकाश
आ रहा है समीप अन्त
आओ—मेरे पथप्रदर्शक—
एक बार—अन्तिम बार—

—सिनहा

कर्म और धर्मनीति

(लेखक—श्रीस्वामी कृष्णानन्दजी)

ईश्वर, जीव और सृष्टि—इनके स्वरूपको जाननेकी जब मनुष्यके हृदयमें इच्छा होती है, तब प्रारम्भमें चार प्रश्न उत्पन्न होते हैं—(१) इस विश्वमें ज्ञेय और ध्येय क्या है ? (२) मैं कौन हूँ, अर्थात् जीवका स्वरूप क्या है ? तथा जीवका सृष्टिकर्तासे क्या सम्बन्ध है ? (३) ज्ञेयकी प्राप्तिमें कौन-से कर्म सहायक होते हैं, तथा कौन-से कर्म प्रतिबन्ध (विघ्न) उत्पन्न करते हैं ? (४) इस लक्ष्यकी प्राप्तिसे क्या लाभ होता है ?

इन प्रश्नोंमेंसे पहले और दूसरे प्रश्नका सम्बन्ध ब्रह्म-मीमांसा या तत्त्व-मीमांसाके साथ है । तृतीय प्रश्नका सम्बन्ध धर्मशास्त्रविहित नीति और आचारसे है और चतुर्थ प्रश्नका सम्बन्ध अनुभवजन्य ज्ञान या परिणामसे है । इस लेखमें मुख्यतः तीसरे प्रश्नके विषयमें ही कुछ विचार उपस्थित किये जायँगे । मानव जीवनके ध्येयकी प्राप्तिमें जो कर्म सहायक होते हैं, उन्हें पुण्य कहते हैं तथा जो प्रतिबन्धक होते हैं, उन्हें पाप कहते हैं । जीवोंको पाप और पुण्यका फल कर्मकी परिपाकावस्थामें अवश्य ही भोगना पड़ता है । इस पुण्य-पाप या धर्माधर्मका मुख्य आधार है मनुष्यकी आन्तरिक भावना, तथा गौण आधार हैं शारीरिक कर्म । पुण्य किसे कहते हैं तथा पाप क्या वस्तु है ? इनसे क्या लाभ-हानि होती है ? इन प्रश्नोंका निर्णय प्रमाणपूर्वक धर्मशास्त्र करते हैं । अतएव इनकी व्याख्या नैसर्गिक नियमोंके अनुसार धर्मनीतिके आधारपर ही होनी चाहिये । केवल तर्कके द्वारा ही धर्माधर्मका निर्णय करना ठीक नहीं होता ।

सदाचार-दुराचारका सम्बन्ध जिस प्रकार व्यक्तिसे होता है, उसी प्रकार कुटुम्ब, भावी सन्तति, जाति, देश, समाज तथा समस्त विश्वके प्राणियोंके साथ भी होता है । अतएव व्यक्ति तथा समष्टि (समाज) दोनोंके कर्त्तव्याकर्त्तव्यका विचार करना पड़ता है । इसी विचारमें पुण्यापुण्यकी कल्पनाका बीज निहित रहता है । इस विषयकी आलोचना युगारम्भसे अर्थात् ऋग्वेदके कालसे हो रही है । ऋग्वेदमें पुण्यके लिये ऋत (मानस सत्य), सत्य (वाचिक सत्य) तथा व्रत (सदाचरण) के पालनका विधान किया गया है । तथा इन पुण्यकर्मोंके विपरीत विचार, कथन और आचरणको पाप बतलाया गया है ।

ऋग्वेदसंहितासे ज्ञात होता है कि अति प्राचीन कालमें जनसाधारणका आचार-विचार उच्च श्रेणीका था । उस समय चोरी, डाका, व्यभिचार, द्यूत, अनीति, अनाचार, दूषित मन्त्र-तन्त्रोंका प्रयोग, माता-पिता आदि गुरुजनोंका अपमान, अतिथिका अनादर, असत्य, नास्तिकता, दान न देना, मन और इन्द्रियोंका संयम न करना आदि कर्मोंको पाप माना जाता था । ऋग्वेदमें अंहस्, अघ, अनृत, एनस्, दुरित, पाप्मन्, पातक, वृजिन, निर्ऋति प्रभृति शब्द पापके पर्याय हैं; चोरके पर्याय शब्द स्तेन (सामान्यतः चोरी करनेवाला), तस्कर (बलात्कारसे सम्पत्ति हरण करनेवाला), तायु (पशुओंकी चोरी करनेवाला), परिपन्थिन् (डाकू), ह्रुरश्चित् और मुपीवत् प्रभृति हैं । इसके अतिरिक्त वहाँ जारिणी स्त्री, यातुधान (दुष्ट बुद्धिसे मन्त्र-तन्त्रका प्रयोग करनेवाले), कितव (शठ, जुआरी) इत्यादि पापियोंका भी उल्लेख है । ऋग्वेद ७ । १०४ । १४ में नास्तिकताकी निन्दा की गयी है । कुछ सूक्तोंमें बतलाया है कि परमेश्वर असत्य बोलनेवालेको दण्ड देता है, इत्यादि । दुर्बल मनवाले मनुष्यकी प्रवृत्ति सहज ही पापकर्मोंमें हो जाती है । और पापोंका सञ्चय होनेपर मनुष्य भगवान्से दूर चला जाता है । अतएव ऋग्वेदमें पापके संस्कारोंको भारस्वरूप बतलाया है । इस भारको कम करनेमें परमात्मा ही समर्थ हैं, अतएव अनेक सूक्तोंमें परमात्माकी प्रार्थनाएँ की गयी हैं । विना भगवान्की कृपाके जीव यमराज और वरुणके पाशमें बँध जाता है ।

ऋग्वेदमें यम[1], नरक[2] और स्वर्गका[3] भी वर्णन मिलता है । तथा अन्यान्य संहिताओंमें और ब्राह्मणग्रन्थोंमें भी इनके विवेचन मिलते हैं । अतएव यह स्पष्ट हो जाता है कि पुण्यापुण्यका विचार युगारम्भसे ही चला आता है तथा पाप-पुण्यकी कल्पना मनुष्यकृत नहीं, बल्कि नैसर्गिक है एवं

---

१. वैवस्वतं सङ्गमनं जनानां यमं राजानं हविषा दुवस्य ।

(ऋग्वेद १० । १४ । १)

२. ऋग्वेदके मं० ९ । ७३ । ८ तथा मं० ४ । ५ । ५ में विस्तारपूर्वक नरकका वर्णन पाया जाता है ।

३. 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत ।'

जीवको अपने किये हुए शुभाशुभ कर्मोंके अनुसार सुख-दुःखरूपी फलकी प्राप्ति होती रहती है। प्रोफेसर मैक्समुलर-का मत है कि 'सत्पथसे अथवा कर्तव्यसे च्युत होना ही पाप है, ऐसी आर्योंकी कल्पना थी। ऋग्वेदकालीन आर्य यह मानते थे कि दैवी नियमोंका स्वेच्छापूर्वक उल्लङ्घन ही पाप है। इन दैवी नियमोंका बोध उन्हें कैसे हुआ? इसका उत्तर यह है कि निश्चित समयपर उत्पन्न होनेवाले नैसर्गिक चमत्कारोंके द्वारा ही उन्होंने नैसर्गिक नियमोंकी कल्पना की, तथा यह निश्चय किया कि बाह्य सृष्टिमें बर्तनेवाले नियमोंके समान ही अन्तःसृष्टिमें भी मनुष्योंको सत्पथमें रखनेवाले नियम हैं* (Hibbert Lecture)।'

परन्तु माँ रिस फिलिप्सकी इसपर आपत्ति है कि 'बाह्य सृष्टिके नियमोंके द्वारा सत्पथकी कल्पना कैसे हो सकती है। क्योंकि बाह्य सृष्टिके नियमोंके द्वारा नैतिक नियम उत्पन्न नहीं हो सकते।

'यदि यह कहें कि उनसे नैतिक नियमोंका बोध होता है, तो फिर यह प्रश्न होता है कि नैतिक नियम और उनका बोध—ये दो बातें विभिन्न कैसे हो सकती हैं।

'यदि बाह्य नियमोंकी कल्पनासे नैतिक नियमोंकी सुप्त कल्पना जाग्रत् होती है, ऐसा मानें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि नीतिकी कल्पना अन्तःस्थित (Intuitive) थी, अर्थात् वह नैतिक कल्पना बाह्य नियमोंसे उत्पन्न नहीं हुई। जिस समय आर्योंने सृष्टिके बाह्य नियमोंको 'ऋत' नाम दिया, उस समय उनके मनमें ऋतके विरुद्धार्थक 'अनृत' की कल्पना भी थी। अतएव कहना पड़ता है कि नैतिक नियम मनुष्यके अन्तःकरणमें जन्मसे ही रहते हैं। और इन अन्तःस्थित नियमोंके आधारपर ही आर्योंने सृष्टिके नियमोंकी कल्पना की थी।'

(—Teaching of the Vedas, page 156)

यह फिलिप्स साहबका तात्त्विक विवेचन ठीक जान पड़ता है।

शङ्का—कर्मवादका सम्बन्ध धर्मशास्त्रोक्त नीति और आचारके साथ क्यों रक्खा जाय? सामाजिक नीतिके साथ इस सम्बन्धको रखनेमें क्या हानि होती है?

समाधान—कर्त्तव्याकर्त्तव्यका निर्णय करनेमें बड़े-बड़े तत्त्ववेत्ता भी व्यामोहमें पड़ जाते हैं, फिर सामान्य जनताकी बुद्धिमें भी यदि भ्रम हो जाय तो इसमें आश्चर्य ही क्या है। महाभारतके युद्धमें अर्जुन-जैसे शास्त्रवेत्ता भी सन्देहग्रस्त हो गये थे। उनके मनमें भी 'युद्ध करूँ या न करूँ, मेरे लिये ऐसे अवसरपर क्या कर्त्तव्य है?' इस विषयपर अनेक तर्क-वितर्क उत्पन्न हुए और अपनी बुद्धिके बलसे इसका निर्णय वे न कर सके। महाभारतमें इस प्रकारके अनेकों उदाहरण मिलते हैं। शेक्सपियरके हेमलेट नाटकमें भी हम देखते हैं कि हेमलेटकी अवस्था किङ्कर्त्तव्यविमूढ़ हो जाती है और वह अपने कर्त्तव्याकर्त्तव्यके निश्चय करनेमें असमर्थ हो जाता है। ऐसा कठिन अवसर उपस्थित होनेपर उसका निर्णय करना सर्वसाधारणकी बुद्धिसे नहीं होता। आधिभौतिक-वादियोंकी बाह्य दृष्टिसे न्याय करनेपर वह न्याय निर्दोष ही होगा, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। परन्तु हम कह सकते हैं कि समस्त संसारके वर्तमान और भविष्यकालके सुख, तथा पारलौकिक कल्याणको लक्ष्यमें रखकर धर्मशास्त्रों-ने जिन नियमोंका विधान किया है, उनके अनुसार निर्णय करनेमें ही सच्चा हित हो सकता है।

जिन नास्तिकवादियोंने कर्मका सम्बन्ध सामाजिक नीति-के साथ रक्खा है, उनके बनाये हुए नीतिके नियम अत्यन्त सङ्कुचित होनेके कारण घातक होते हैं। उनके नियम परलोक-को लक्ष्यमें न रखकर केवल अपने देशके सुखकी दृष्टिसे ही बनाये जाते हैं। अतएव बहुत-से ऐसे नियमोंका भी विधान हो जाता है, जो दूसरे देशोंके लिये रक्तशोषणका काम करते हैं तथा मनुष्येतर प्राणियोंके लिये कदापि दया नहीं दिखलाते।

गीतारहस्यमें तिलक महाराजने अनेकों आधिभौतिक-वादियोंके मतोंका उल्लेख किया है। वहाँ सिज्विक साहबका विचार इस प्रकार दिखलाया गया है—'वकीलोंका वकालत करते समय असत्य बोलना बुरा नहीं है। सबको सत्यका ही बर्ताव करना चाहिये, यह ठीक है; परन्तु जिन राजपुरुषोंको अपनी कार्यवाही गुप्त रखनी पड़ती है, तथा जिन व्यापारियों-को अपने लाभका विचार करके ग्राहकोंसे व्यवहार करना पड़ता है, उनको भी सत्य ही बोलना चाहिये—ऐसा हम नहीं कह सकते।' सिज्विक साहबके मतके अनुसार 'अधिक लोगोंको

* 'Teaching of the Vedas' नामक ग्रन्थके आधारपर लिखित 'ऋग्वेदकालीन संस्कृत इतिहास' नामक मराठी ग्रन्थसे।

अधिक सुख हो' इस तत्त्वके आधारपर ही हमारी नीति निर्धारित होनी चाहिये।*

इसी प्रकार आधिभौतिकवादी लेस्ले स्टीफन साहब भी सामाजिक नीतिके क्षेत्रको सङ्कुचित करते हुए अपने ग्रन्थमें लिखते हैं कि 'मेरे विचारसे किसी भी कार्यके परिणामको लक्ष्यमें रखकर कर्त्तव्याकर्त्तव्यका निर्णय करना चाहिये। यदि यह निश्चय हो जाय कि मिथ्या बोलनेसे अधिक हित होता है, तो उस कर्त्तव्यमें मैं सत्य बोलनेके लिये तैयार न होऊँगा। उस समय मैं मान लूँगा कि वहाँ असत्य बोलना ही कर्त्तव्य है।'†

यद्यपि आधिभौतिकवादियोंमें हर्बर्ट स्पेन्सर-जैसे कुछ उदार विचारवाले यह कहते हैं कि हमें सारे मानव-समाजके कल्याणार्थ कार्य करना चाहिये, तथापि ईश्वरका त्याग कर देनेपर समाजमें विश्वप्रेम नहीं हो सकता। स्वार्थी लोगोंपर ईश्वरका अङ्कुश न होनेसे वे स्वार्थसिद्धिके लिये निष्ठुर पशुके समान निर्दय प्रयत्न करने लगेंगे, जैसी कि आजकल यूरोपमें लीला हो रही है। अतः ईश्वरका त्याग करके कपोल-कल्पित नीतिके साथ कर्मका सम्बन्ध रखनेसे न तो न्याय ही हो सकता है और न शान्ति ही मिल सकती है।

मनुष्यके अधःपतनके मुख्य तीन हेतु हैं—(१) विहित कर्मोंका त्याग, (२) निन्दित कर्मोंका आचरण और (३) इन्द्रियोंका असंयम।‡ विहित कर्मोंके त्याग और निन्दित कर्मोंके आचरणसे मनुष्य अधोगतिको प्राप्त होता है, यह बात नैतिक मर्यादाके अनुसार आस्तिक और नास्तिक सभी-को स्वीकार करनी पड़ती है। परन्तु नास्तिक या मूढ़जन यह नहीं मानते कि इन्द्रियोंके असंयमसे मनुष्य अधोगतिको प्राप्त होता है और इन्द्रियनिग्रहसे उन्नतिको प्राप्त होता है। शास्त्रदृष्टिसे विचार करनेपर इसका ज्ञान होता है। शास्त्रकारों-ने इन्द्रियनिग्रहको ही मानसिक उन्नति तथा समस्त सुखोंका मूल कारण माना है। इन्द्रियोंका संयम न होनेपर काम, क्रोध, मोह, स्मृतिनाश, बुद्धिनाश—ये सब दोष एकके बाद एक उत्पन्न होते जाते हैं, और अन्तमें मनुष्य विनाशको प्राप्त हो जाता है।*

जैसे भोजन करना सबके लिये आवश्यक काम है। सभी प्राणी अपने जीवनकी रक्षाके लिये भोजन करते ही हैं। नीतिपूर्वक धनकी प्राप्ति करके पवित्रताके साथ भोजन तैयार किया जाय, तथापि जीभके स्वादके वशमें होकर पथ्य भोजन अत्यधिक परिमाणमें ग्रहण करनेसे अथवा अपथ्य भोजनके अल्प परिमाणमें ही ग्रहण करनेसे मनमें दूषित वासनाकी उत्पत्ति होती है। पश्चात् धीरे-धीरे मन स्वेच्छाचारी बनकर मनुष्यको पतित बना डालता है। अतएव ऐसे भोजनको शास्त्रकारोंने दूषित—पाप माना है। जिस कार्यसे मनका उत्कर्ष हो, वह पुण्य कर्म है तथा जिससे मनका पतन हो, वह पाप कर्म है। यदि शास्त्रमर्यादाके अनुसार विवेक-बुद्धिका आश्रय लेकर आवश्यक सात्त्विक भोजन किया जाय, तो इससे मनकी शुद्धि और उन्नति होगी। मनके शुद्ध रहने-पर वृत्तियाँ सात्त्विक रहती हैं, पापकर्मोंके प्रति तिरस्कार और पुण्यकर्मोंमें प्रवृत्ति होती है। अतएव सात्त्विक भोजन पुण्य-कार्यमें प्रवर्त्तक तथा पुण्यकी प्राप्ति करानेवाला होनेके कारण पुण्यरूप ही समझा जाता है।

गृहस्थाश्रममें स्त्री और पुरुषका संयोग शास्त्रविहित है। तथापि शास्त्रमर्यादाका उल्लङ्घन करके अधिक बार या निषिद्धकालमें रति करनेसे शारीरिक और मानसिक शक्तियाँ क्षीण हो जाती हैं, दूषित संस्कार उत्पन्न होते हैं तथा बार-बार मलिन वासनाओंके उत्पन्न होनेके कारण मनका अधःपतन हो जाता है। अतः इस प्रकारकी विलासी जीवन-परम्परा पापकार्यमें प्रवृत्त करानेवाली होनेके कारण पापरूप ही मानी जाती है। इस प्रकार अन्यान्य इन्द्रियोंके विषयोंमें भी शास्त्रमर्यादाको तोड़ देनेपर मनकी अवनति होती है। अतएव शास्त्रोक्त नीति और शास्त्रकथित आचारसे ही कर्मका सम्बन्ध मानना समस्त मानव-समाजके लिये उपादेय और श्रेयस्कर है।

* Sidgwick's Methods of Ethics, Book IV, Chap. III, 17, page 454 (7th. ed.) and Book II, Chap. V/3, page 169.

† Leslie Stephen's Science of Ethics, Chap. IX/29, page 369 (2nd ed.) "And the certainty might be of such a kind as to make me think it a duty to lie."

‡ विहितस्याननुष्ठानान्निन्दितस्य च सेवनात्।
अनिग्रहाच्चेन्द्रियाणां नरः पतनमृच्छति॥

* ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥
क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥
(गीता २। ६२-६३)

परन्तु इस धर्माधर्मका विचार करते समय आन्तरिक भावना और बाह्य क्रिया दोनोंकी ओर ध्यान रखना पड़ेगा। जबतक उद्देश्यकी ओर दृष्टि न डाली जायगी, तबतक न्याय न हो सकेगा। पुण्य या पापकर्मोंमें अनेक कारणोंसे प्रवृत्ति होती है। कीर्ति बढ़ानेकी इच्छा, पुण्य कमाना, शास्त्रोक्त सांसारिक स्वार्थोंकी सिद्धि, दूषित कामना (जैसे दूषित भावोंसे प्रेरित होकर असहाय विधवा स्त्रीको सहायता करना आदि) तथा निष्कामभावसे दुःखपीडित प्राणियोंके दुःख दूर करनेकी चेष्टा आदि अनेकों आन्तरिक हेतुओंसे मनुष्यकी पुण्यकर्ममें प्रवृत्ति होती है। इसी प्रकार विषयोपभोग, सांसारिक पदार्थोंमें आसक्ति, कुटुम्बी या सम्बन्धी जनोंमें मोह, आपत्ति, पराधीनता, अज्ञान (पापकर्मको पुण्यप्रद मानकर उसमें प्रवृत्त होना—जैसे ईसाई और मुसलमानोंने अपने मतको बढ़ानेमें लाखों निरपराध नर-नारियोंको मृत्युके घाट उतार दिया आदि), प्रमाद तथा दूसरोंको हानि पहुँचानेकी चेष्टा आदि कारणोंसे मनुष्य पापकर्मोंमें प्रवृत्त होता है।

कभी-कभी सदुद्देश्यसे काम करनेपर भी हानिप्रद परिणाम देखनेमें आता है, तथा दुष्ट उद्देश्यसे दूसरोंको हानि पहुँचानेकी इच्छा होनेपर लाभ होते देखा जाता है। ऐसे कर्मोंमें केवल बाह्य फलको देखकर ही कुछ निर्णय नहीं किया जा सकता, क्योंकि ऐसा करनेसे बहुधा न्यायकी हत्या ही होती है। जैसे कोई परोपकारी वैद्य निष्कामभावसे प्रेरित होकर रोग-निवारणके लिये किसी रोगीको ओषधि दे, परन्तु प्रकृतिभेद होनेके कारण वह रोगी असह्य वेदनासे व्यथित होकर अकाल काल-कवलित हो जाय। तथा दूसरी ओर एक दुष्ट वैद्य दूसरेके जालमें फँसकर किसी धनी रोगीको विषमिश्रित ओषधि दे, परन्तु काकतालीय न्यायसे वह नीरोग हो जाय, तो स्पष्ट है कि इन दोनों परिस्थितियोंमें कर्मका बाह्य परिणाम आन्तरिक भावनाके बिल्कुल विपरीत होता है। अतएव बाह्य औषध-प्रयोगको इन दोनों अवस्थाओंमें निमित्त नहीं माना जा सकता। इसी प्रकार केवल बाह्य परिणामको देखकर न्याय भी नहीं किया जा सकता।

इसके अतिरिक्त जहाँ समान ही दुर्भावसे प्रेरित होकर कर्म किये गये हों, वहाँ भी मानसिक स्थितिका विचार करके ही दण्डका विधान करना चाहिये। यदि इस बातका खयाल न किया जायगा, तो न्यायका अन्याय हो जायगा। इस विषयमें बहुधा दैवी और मानुषी न्यायमें बहुत बड़ा अन्तर पड़ जाता है। मनुष्य-समाजमें बहुधा बाह्य प्रवृत्तिका ही विचार करके न्याय किया जाता है, परन्तु परमात्माकी ओरसे ऐसा नहीं होता। कर्मका विधान करनेवाले परमात्मा सर्वाङ्गीण विचार करके सुख-दुःखका विधान करते हैं। मनुष्य-समाजमें जो बहुतसे न्याय निर्दोष माने जाते हैं; यदि उनका नैसर्गिक नियमोंके अनुसार विचार किया जाय, तो वे दोषपूर्ण प्रतीत होने लगेंगे। तथा बाह्य दृष्टिसे दोषपूर्ण प्रतीत होनेवाले न्याय भी प्रायः आन्तरिक दृष्टिसे देखनेपर दोषशून्य जान पड़ते हैं। इस विषयमें निम्नलिखित दृष्टान्त दिया जाता है।

विक्रम-संवत्सरका प्रचार करनेवाले सार्वभौम सम्राट् विक्रमादित्य दूसरोंके दुःखोंको दूर करनेकी दृष्टिसे मनुष्योंके आन्तरिक भावको जानकर न्याय किया करते थे। उनके न्यायालयमें एक बार नगरकोतवाल चार अपराधियोंको लेकर उपस्थित हुआ और उसने निवेदन किया कि 'महाराज! इन चारोंने गत रात्रिमें राज्यके खजानेमें चोरी करनेके लिये जैसे ही किलेकी दीवार फाँदकर प्रवेश किया, ठीक उसी समय मैंने इनको गिरफ्तार किया है। इनमें एक जौहरीका लड़का, दूसरा राजपुरोहितका लड़का, तीसरा धनिक वैश्यका पुत्र और चौथा शूद्र है—जो बड़ा ही दुष्ट है।' महाराजके पूछनेपर उन चारोंने अपराध स्वीकार कर लिया। तब महाराजने बहुत ही प्रेमपूर्वक मधुर शब्दोंमें जौहरीके पुत्रसे कहा—'तुम्हारे-जैसे कुलीनको इस प्रकारके निषिद्ध कर्मोंमें लगना बहुत ही अनुचित है। बुरी सङ्गतिका परिणाम सदा ही बुरा होता है। जाओ पुत्र! भविष्यमें ऐसी भूल कभी मत करना।' पुरोहितके पुत्रको फटकारते हुए कुछ कटु भाषामें महाराजने कहा कि 'राज्य-सम्पत्तिमेंसे किसी भी ब्राह्मणको आज्ञा होनेपर आवश्यकतानुसार धन मिल सकता है। और तुम बुद्धिमान् होनेके कारण देव-सेवा और व्रतादिके द्वारा धनियोंसे भी धन प्राप्त कर सकते हो। फिर समस्त ब्राह्मण-समाजको कलङ्कित करनेवाले तथा अपने पूर्वजोंको नरकमें गिरानेवाले सुवर्णकी चोरीके समान महापातकके करनेमें कैसे उद्यत हो गये?' इस प्रकार कठोर वाणीमें कहते हुए राजाने उससे फिर कहा कि 'तुम दुष्टवृत्तियोंका त्याग करो, सत्सङ्गका सेवन करो, धर्मपरायण और सदाचारी बनो, भावी जीवनको भगवान्‌के चरणोंमें समर्पित कर दो और अपना तथा अपने पूर्वजोंका उद्धार करो।'

इतना कहकर उसे चले आनेकी आज्ञा दी। तथा तीसरे धनिक-पुत्रको भी मूढ़, पाखण्डी, शूद्र, नालायक, कुलमें कलङ्क लगानेवाला आदि अनेकों अपशब्द सुनाकर उसे भी बन्धनसे मुक्त कर दिया। अन्तमें चौथे चोरके लिये महाराजने राजपुरुषोंको आज्ञा दी कि इसके पीठपर नमकके पानीमें डुबोकर सौ कोड़े लगाओ, फिर इसका मुँह काला करके गधे-पर चढ़ाकर गाते-बजाते चाण्डालोंसे अपमानित कराते हुए सारे शहरमें घुमाकर छोड़ दो।'

इस प्रकार एक ही अपराध करनेवालोंको विभिन्न प्रकार-के दण्ड दिये गये। इसे देखकर सभामें उपस्थित सदस्योंको बहुत आश्चर्य हुआ और वे इसका रहस्य समझ न सके। महाराज सदस्योंकी भावना ताड़ गये, उन्होंने अपने गुप्तचरोंको इन चारों अपराधियोंके ऊपर होनेवाले दण्डके परिणामका पता लगाकर राजसभामें सूचित करनेकी आज्ञा दी। गुप्तचरोंने पता लगाकर दूसरे दिन राजसभामें निवेदन किया कि 'जौहरीके पुत्रने राजदण्डको सुनकर घर लौटते ही हीरेकी कनी खाकर प्राणत्याग कर दिया। पुरोहितके पुत्रने अवन्तिकापुरीमें लोगोंको मुँह दिखलाना अनुचित मानकर दूसरे दिन सवेरे तड़के ही उठ शास्त्राध्ययन तथा उपासना करनेके लिये काशीको प्रस्थान किया। वैश्यका पुत्र लज्जाके मारे घरके भीतर ही बैठा-बैठा रुदन करता हुआ पश्चात्ताप करने लगा। और चौथे चोरको शहरमें घुमाते समय चारों ओरसे जनता देखनेके लिये आती थी। एक स्थानपर उसकी स्त्री भी उसे देखनेके लिये आयी। उस निर्लज्जने स्त्रीपर दृष्टि पड़ते ही कहा कि अब थोड़ा ही और घूमना बाकी रह गया है। घरपर जाकर जल्दी भोजन तैयार करो। वह दुष्ट चाण्डालोंके अपमानजनक शब्दोंको सुन-सुनकर मुस्काता था और कुछ भी दुःख न मानता था।' इसके बाद उसने फिर डाका डाला और इस अपराधपर उसके दोनों हाथ कटवा दिये गये।

अब इस न्यायके परिणामपर विचार करनेसे सहज ही समझा जा सकता है कि अधिक दण्ड किसे दिया गया और कम दण्ड किसे दिया गया! पाखण्डी पुरुषको भयानक शारीरिक दण्डसे जितनी आन्तरिक वेदना और लज्जा होती है, उससे अनेकों गुणा अधिक यन्त्रणा कीर्तिप्रिय राजा-महाराजा, पण्डित और कुलीन पुरुषको सामान्य वाग्दण्डसे ही हो जाती है। चारों ओर भटकनेवाले श्वानको चाहे कितनी ही ताड़ना क्यों न दी जाय, फिर भी बार-बार रोटीके टुकड़ेकी लालचसे वह पास आ ही जाता है। परन्तु राज-सम्मानित हाथी जरा भी अपमान नहीं सह सकता। यही भेद मनुष्य और मनुष्यके बीच भी होता है।

जिस प्रकार निषिद्ध कर्मोंके करनेसे विभिन्न प्रकृतिके पुरुषोंको अपने-अपने भावके अनुसार मानसिक व्यथा न्यूनाधिक होती है, उसी प्रकार शास्त्रविहित कर्मोंमें भी लक्ष्य-भेद होनेसे विभिन्न पुरुषोंकी मानसिक उन्नति, आनन्द तथा व्यावहारिक लाभरूपी परिणामोंमें विभिन्नता होती है। यह बात निम्नलिखित उदाहरणके द्वारा स्पष्ट हो जाती है—

एक परोपकारी वैद्यने बुढ़ापेमें एक अस्पताल बनवाया और उसके द्वारा वे निष्काम भावसे अत्यन्त प्रेमपूर्वक दीन-दुःखी पुरुषोंकी सेवा करने लगे। एक बार एक धनी आदमीका लड़का, जिसे गलित कुष्ठका रोग हो गया था, उस अस्पतालमें भरती हुआ। उसके माता-पिताने उसके पास रहनेके लिये अपने गृह-वैद्यको भी नियुक्त कर दिया। उसकी चिकित्सा तथा सेवा-शुश्रूषा वहाँ होने लगी। उसकी धर्मपत्नी भी स्वेच्छासे उसकी सेवा करनेके लिये वहीं रहने लगी। माता-पिता भी बीच-बीचमें आकर उसे देख जाते थे। परन्तु इन सब सेवा करनेवाले लोगोंके अन्तःकरणमें विभिन्न प्रकारके भाव काम करते थे। अस्पतालके मालिक विश्व-वात्सल्यके भावसे प्रेरित होकर प्राणीमात्रमें अपनी ही आत्माका दर्शन कर निःस्वार्थभावसे सेवा करते थे। गृह-वैद्य अपने स्वार्थ (धन-लोभ) के कारण सेवा करता था। धर्मपत्नी पति-सेवारूप स्वधर्मका पालन करनेके लिये सेवा करती थी और माता-पिता लोक-लज्जाके भयसे देखने आते थे।

इस प्रकार भावनामें भेद होनेसे सबके फलोंमें भी विभिन्नता आ जाती है। निष्काम भावनावाला पुरुष सबको नारायण मानकर सेवा करता है। चाहे धनी हो या निर्धन, सजातीय हो या विजातीय, ज्ञानी-अज्ञानी, शान्त-क्रोधी, शत्रु-मित्र, सुशील-दुःशील, स्त्री-पुरुष, छोटा-बड़ा—कोई भी हो, किसीके प्रति उसकी आन्तरिक भावनामें विभिन्नता नहीं आती है। अतएव आन्तरिक भावनाके अनुसार भगवान् उसे अन्तःकरणकी शुद्धि, सुदृढ़ मनोबल, बुद्धिका विकास, सङ्कल्पसिद्धि, दया, शान्ति, आनन्द तथा शुभ संस्कारोंकी प्राप्ति आदि फल प्रदान करते हैं।

सकाम पुरुष जहाँ स्वार्थकी सिद्धि नहीं होती वहाँ सहायता या सेवाके लिये कदापि तत्पर नहीं होता। और

जहाँ केवल स्वार्थकी भावना होती है, वहाँ पूर्ण सन्तोष नहीं मिल सकता; क्योंकि प्रसन्नता अन्तःकरणके प्रेमसे उत्पन्न होती है। अतः उपर्युक्त दृष्टान्तमें गृह-वैद्यको केवल अर्थलाभ होता है, अन्तःकरणकी शुद्धि उसे नहीं प्राप्त होती। इसी प्रकार लोकलज्जाके कारण सेवा करनेवालोंको पूर्ण सन्तोष नहीं मिल सकता। मनुष्य वाणीसे अपने भावोंको छिपा सकता है, परन्तु हृदयसे भावको नहीं छिपा सकता। एक मनुष्यके हृदयमें दूसरेके प्रति शुभाशुभ या राग-द्वेषका जब जैसा भाव उदय होता है, दूसरेके हृदयमें भी उसके प्रति तदनुरूप ही भाव उदित होते हैं। जैसे गौ आदि पशु मनुष्यके हार्दिक भावोंको जानकर उसके हाथमें हरित तृण आदि देखकर समीप आते हैं, तथा उसके क्रोध या दुष्टभावको देखकर तुरंत दूर भाग जाते हैं, उसी प्रकार सब जीवोंके हृदयमें अपने प्रति व्यवहार करनेवालोंके हृदयका भाव प्रतिबिम्बित हो जाता है। अतएव उपर्युक्त दृष्टान्तमें माता-पिताको अपकीर्तिका अभावरूपी फल ही प्राप्त होता है। ऐसे स्वार्थलोलुप अथवा लोकलज्जामात्रका आश्रय लेनेवाले पुरुषोंसे सर्वदा और सर्वथा समस्त दुखी जीवोंके दुःख दूर करनेकी चेष्टा नहीं हो सकती। इसी प्रकार पति-सेवाकी दृष्टिसे परिचर्या करनेवाली धर्मपत्नीसे यद्यपि वह रोगी प्रसन्न रहता है, तथापि उसकी भावना एकदेशीय रहनेके कारण तथा भावनामें व्यापकता न होनेके कारण उससे भी असम्बन्धी तथा अपरिचित लोगोंकी सेवा नहीं हो सकती। भावनाके सङ्कुचित होनेके कारण फल भी सङ्कुचित (एकदेशीय ही) होता है।

यही कारण है कि शास्त्रकारोंने कर्म करनेवालोंको सात्त्विक, राजस तथा तामस—तीन विभागोंमें विभाजित किया है (गीता १८। २६-२८)। इसी प्रकार गीताके १७वें तथा १८वें अध्यायोंमें शारीरिक, वाचिक और मानसिक शुभाशुभ कर्तव्य—यज्ञ-दान-तप, धैर्य, श्रद्धा, आहार, सुख, ज्ञानादिमें त्रिविधता दिखलायी गयी है।

ये सब बातें आधिभौतिक विद्वानोंके ध्यानमें भी आयी हैं। ह्यूम साहेबने कहा है—'मनुष्यका कर्म उसके चरित्रका द्योतक होनेसे कर्मको ही संसारमें नीतिमत्ताका दर्शक माना जाता है। इसलिये केवल बाह्य परिणामपरसे उसको सराहनीय या तिरस्कारके योग्य नहीं माना जा सकता। किसी भी कर्मकी नीतिमत्ता कर्ताके आन्तरिक भावपर यानी जिस भावनासे उसने उस कर्मको किया है, उसीपर सब प्रकारसे अवलम्बित रहती है।'*

मिल साहेब भी इस बातको स्वीकार करते हैं, तथापि अपने पक्षका समर्थन करते हुए वे लिखते हैं कि 'कर्मकी नीतिमत्ता पूर्णतः कर्त्ताके उद्देश्यपर अवलम्बित होती है; परन्तु जिस उद्देश्यसे वह कर्ममें प्रवृत्त होता है, उससे यदि कर्ममें कोई अन्तर नहीं पड़ता, तो नीतिमत्तामें भी कोई अन्तर नहीं आता।'†

परन्तु मिल साहेबका यह कथन दुराग्रहमूलक है। क्योंकि बुद्धिमें भेद होनेपर भी यदि दो कर्म समान प्रतीत होते हों, तो तत्त्वतः यह कभी नहीं हो सकता कि बुद्धिभेदको उड़ा ही दिया जाय। अतएव मिल साहेबकी उक्ति निर्मूल है, ऐसा ग्रीन साहेब कहते हैं।‡

इस विषयका विस्तृत विवेचन लोकमान्य तिलकके 'कर्मयोग-रहस्य'में देखा जा सकता है। इन सब कारणोंसे अन्तमें कहना पड़ेगा कि बाह्य परिणामको देखकर नीतिका निर्णय करनेसे वह एकदेशीय ही रह जाता है, सर्वत्र और सदा कल्याणप्रद नहीं होता। इस प्रकार आन्तरिक भावनापर दृष्टि रखकर विचार करनेसे जान पड़ता है कि कर्मवादका रहस्य बड़ा ही गूढ़ है। अतएव उसका सम्बन्ध धर्मनीतिके

---

* For as actions are objects of our moral sentiments, so far only as they are indications of the internal character, passions and affections, it is impossible that they can give rise either to praise or blame, where they proceed not from these principles, but are derived altogether from external objects. (Hume's enquiry concerning Human Understanding, Section VIII. part II (Page 368 of Hume's Essays).

† Morality of the action depends entirely upon the intention, that is, upon what the agent 'wills to do'. But the motive, that is, the feeling which makes him will so to do, when it makes no difference in the act, makes none in the morality. (Mill's Utilitarianism, Page 39).

‡ Green's Prolegomena to Ethics, note 292, page 348, 5th cheaper ed.

साथ मानना ही पड़ेगा, केवल सामाजिक नीतिके साथ सम्बन्ध जोड़नेसे काम नहीं चलेगा। राजा, महाराजा तथा धनैश्वर्यशाली पुरुष बाह्य दृष्टिसे देखनेपर चाहे कितने ही सुखी दीख पड़ें, अन्तर्दृष्टिसे देखनेपर उनमें अधिकांशका जीवन क्लेशपूर्ण ही होता है। उन्हें जो वैभव प्राप्त रहता है वह तो किसी पूर्वजन्मके पुण्यका फल होता है। परन्तु जो आन्तर वेदना, शारीरिक रोग, पुत्रादिकी प्राप्तिकी चिन्ता, पुत्रादिके दुःखसे क्लेश, स्नेही-सम्बन्धी जनोंसे सन्ताप, धन-वृद्धिकी कामना, धन-सम्पत्तिकी रक्षाविषयक मानसिक क्लेश, अपमान और अपकीर्तिका भय इत्यादि दुःख उनको निर्धनोंकी अपेक्षा कई गुना अधिक होते हैं; इनके कारण निर्भयतापूर्वक भोजन-शयन आदि व्यवहार भी वे नहीं कर सकते। अतः उनका जीवन भी दुःखपूर्ण हो जाता है। उन्हें भी जो दुःख भोगने पड़ते हैं वे भी शुभाशुभमिश्रित कर्मोंके ही फल होते हैं; क्योंकि विना कारण किसीको भी सुख-दुःखकी प्राप्ति नहीं होती।

यदि भूगोल या खगोलमें सर्वत्र प्रवर्तित सुदृढ़ नियमोंके अनुसार सृष्टि-व्यापारकी मीमांसा की जाय तो यह स्पष्ट हो जायगा कि कर्मविपाकमें ईश्वरका विशेष हाथ है। सूर्य, चन्द्र, पृथिवी, तारागण समस्त अपनी-अपनी निश्चित सीमाके भीतर ईश्वरके आदेशानुसार परिभ्रमण करते रहते हैं। इसी प्रकार ब्रह्माण्डके अणु-परमाणुकी नैसर्गिक प्रक्रिया तथा जीवोंके समस्त कर्मोंमें प्रभुका शासन निहित है। अतएव शुभाशुभ कर्मोंके फलदाता प्रभु ही हैं; इन्हीं सब हेतुओंसे कर्मका सम्बन्ध धर्मशास्त्रोक्त धर्मनीति और आचरण-के साथ माना गया है।

हमारा हाल

(र०—पु० श्रीप्रतापनारायणजी "कविरत्न")

काम क्या खुदके आते वे
भूख बस औरोंकी हरते।
दूसरोंके ही लिए सदा
पेड़ हैं फल पैदा करते॥ १॥

रक्त-सा अपना रस देते
लुटेरे भौंरोंको भी तो।
फूल मर मिटते हैं यों ही
गंध दे-देकर औरोंको॥ २॥

पान खुद कभी नहीं खाती
बढ़ी है अश्रुओंको हरने।
खड़ी है नागरबेल यहाँ
पराया मुख शोभित करने॥ ३॥

बोल अनमोल बोल करके
स्वयंको नहीं रिझाती है।
कोकिला औरोंके हित ही
सुधाका स्रोत बहाती है॥ ४॥

निरा पशु होकर भी बनता
बिछौना, पर-हितमें मरता।
प्राणहर-मृगमदको भी तो
सर्वदा मृग पैदा करता॥ ५॥

पहनता-खाता सिन्धु नहीं
खजाने औरोंके भरता।
सजाने औरोंको ही वह
मोतियोंको पैदा करता॥ ६॥

लाभ करते हैं औरोंका
ताप हरते हर्षा-हर्षा।
कभी भी अपने लिए नहीं
मेघ वर्षाते हैं वर्षा॥ ७॥

पराया हित करनेको ही
चमकते सूर्य-चन्द्र-तारे।
और यह पृथ्वी-माता भी
झेलती कष्टोंको सारे॥ ८॥

लकड़ियों, नदियों, खानोंको
धातुओंको भी जननेमें—
हिमालयको है क्या मीठा
ढाल भारतकी बननेमें॥ ९॥

प्यास अपनी न बुझाती है
आफतें लाखों सहती है।
भला औरोंका करने ही
भला यह गंगा बहती है॥ १०॥

अधूरे ज्ञानवान जो हैं
हाल यह उनका है सारा।
दशा पर उनकी तो देखो
जिन्होंने मानव-तन धारा॥ ११॥

नहीं सम्हले लखचौरासी
योनियाँ खोकरके भी जो।
गए-बीते हैं पशुओंसे
आदमी होकरके भी जो॥ १२॥

स्वार्थसे सने हुए रहते
एक-को-एक तारहा है।
मर रहे अपने मतलबमें
एक-को-एक खा रहा है॥ १३॥

आज हम पर-हित-चिन्तनमें
हो गए सब जीवोंसे कम।
आपके पार लगाए ही
नाथ ! अब पार लगेंगे हम॥ १४॥

किसीसे भी घृणा न करो; घृणासे भय, द्वेष, क्रोध और हिंसा आदि महान् दोष उत्पन्न होते हैं, जो दूसरोंको बुरा करनेसे पहले तुम्हारा ही बुरा करते हैं। किसीका भी अहित न चाहो, किसीके भी पतनकी चाह न करो, किसीको भी दुखी देखनेकी इच्छा मत करो। ऐसा करोगे तो उनका तो कुछ होगा या नहीं—पता नहीं,—तुम्हारा अहित, तुम्हारा पतन और तुम्हें दुःख-लाभ अवश्य हो जायगा।

किसीकी निन्दा न करो, किसीके भी दोष न देखो, न किसीमें दोषका आरोप ही करो। याद रक्खो—जगत्में दोष-गुण होते ही हैं। तुम दोष ही ढूँढ़ने और देखने लगोगे तो तुम्हें दोष ही मिलेंगे। तुम अपने मनमें जैसा कुछ सोचते-विचारते हो, वैसा ही तुम्हें प्रतिफल प्राप्त होता है। जो दूसरोंके प्रति घृणा, भय, द्वेष, वैर और डाह रखते हैं, उन्हें दूसरोंसे यही चीजें मिलती हैं।

चिढ़ो मत, ऊबो मत, झुँझलाओ मत, खीझो मत, अहंकारके भाव न मनमें आने दो और न जबानपर। ऐसा कर सके तो याद रक्खो—तुम्हारे बहुत-से दुःख और संकट अपने-आप ही दूर हो जायँगे।

यह आशा मत करो कि सब तुम्हारी ही बात मानें, तुम्हारे ही मतका समर्थन करें, तुम्हारे ही आज्ञाकारी बनें और तुम्हारे प्रत्येक कार्यकी प्रशंसा ही करें। जब तुम दूसरोंके लिये ऐसा नहीं कर सकते तब दूसरोंसे ऐसी आशा क्योंकर कर सकते हो? करोगे तो निराशा, दुःख, अपमानबोध और विषादके सिवा और कुछ भी हाथ न लगेगा।

धीरज रक्खो, शान्त रहो और जहाँतक बने सहनशील बनो। जगत् भगवान्की विचित्र मायाका विचित्र कार्य है। पता नहीं, इसमें क्या-क्या भरा है। तुम्हारी अपनी छोटी-सी दुनिया है, तुम उसीमें विचरते हो; परन्तु ऐसी अनन्त दुनिया भगवान्के इस विश्वमें हैं—क्योंकि विश्वमें अनन्त प्राणी हैं। तुम्हारी दृष्टिमें जो बात बुरी है, अनहोनी है, असम्भव है, वही बात दूसरोंकी दृष्टिमें अच्छी, जरूर होनेवाली और सर्वथा सम्भव है। नयी बात—अपनेसे विपरीत अनोखी चीज देखकर उससे द्वेष न करो। भगवान्की अनन्त महिमा देख-देखकर प्रसन्न होओ।

भगवान् अनन्त हैं, एकमात्र भगवान् ही सब कुछ हैं—*भगवान्से अतिरिक्त, भगवान्से बाहर और* भगवान्से परे कुछ है ही नहीं, ऐसी स्थितिमें जो कुछ भी है, होता है, सब भगवान्में ही है और होता है। फिर खण्डन-मण्डन कैसा? मतका आग्रह कैसा? और लड़ाई कैसी?

मनमें दोषके विचार, व्यर्थ विचार आते ही उन्हें निकालनेकी चेष्टा करो। सदा चौकन्ने रहो। मनके बुरे विचार ही बुरे कार्योंकी जन्मभूमि हैं।

अपनेको सदा सत्कार्योंमें लगाये रक्खो। तुम्हारे मनको कभी फुरसत ही नहीं मिलनी चाहिये—असत्का विचार भी करनेके लिये। मनके सामने सदा इतने सद्विचार और सत्-कार्य रक्खो कि एकके पूरा होनेके पहले ही दूसरेकी चिन्ता उसपर सवार रहे। निकम्मा मन ही प्रमाद करता है।

सदा भगवच्चिन्तन करो; सदा सबका भला चाहो और भला देखकर प्रसन्न रहो। किसी भी दलविशेषमें मत मिलो। जहाँतक बने, मनको एकान्तमें मौन रखनेकी चेष्टा करो।

मन एकान्त—मौन न हो सके तो भगवान्से प्रार्थना करो। उन्हें नित्य अपने सामने, अपने अति समीप, अपने ही अंदर निश्चयरूपसे जानकर—उनके सामने रो पड़ो। उनसे शक्तिकी भीख माँगो, सद्विचारोंकी चाहना करो, और चाहना करो उनके पावन अनन्य प्रेमकी! मनसे ऐसा करते रहोगे तो थोड़े ही दिनोंमें निहाल हो जाओगे! 'शिव'

धारण करने योग्य—

(संकलित)

(१)

एक घुड़सवार कहीं जा रहा था। उसके हाथसे चाबुक गिर पड़ा। उसके साथ उस समय बहुत-से मुसाफिर पैदल चल रहे थे, परन्तु उसने किसीसे चाबुक उठाकर दे देनेके लिये नहीं कहा। खुद घोड़ेसे उतरा और चाबुक उठाकर फिर सवार हो गया। यह देखकर साथ चलनेवाले मुसाफिरोंने कहा—'भाई साहेब! आपने इतनी तकलीफ क्यों की? चाबुक हमीं लोग उठाकर दे देते, इतने-से कामके लिये आप क्यों उतरे?' घुड़सवारने कहा—'भाइयो! आपका कहना तो बहुत ही सज्जनताका है, परन्तु मैं आपसे ऐसी मदद क्योंकर ले सकता हूँ। प्रभुकी यही आज्ञा है कि—जिससे उपकार प्राप्त हो, बदलेमें जहाँतक हो सके, उसका उपकार करना चाहिये। उपकारके बदलेमें प्रत्युपकार करनेकी स्थिति हो तभी उपकारका भार सिर उठाना चाहिये। मैं आपको पहचानता नहीं, न तो आप ही मुझको जानते हैं। राहमें अचानक हम लोगोंका साथ हो गया है, फिर कब मिलना होगा, इसका कुछ भी पता नहीं है। ऐसी हालतमें मैं उपकारका भार कैसे उठाऊँ?'

यह सुनकर मुसाफिरोंने कहा—'अरे भाई साहेब! इसमें उपकार क्या है? आप-जैसे भले आदमीके हाथसे चाबुक गिर पड़ा, उसे उठाकर हमने दे दिया। हमें इसमें मेहनत ही क्या हुई?'

घुड़सवारने कहा—'चाहे छोटी-सी बात या छोटा-सा ही काम क्यों न हो, मैं लेता तो आपकी मदद ही न? छोटे-छोटे कामोंमें मदद लेते-लेते ही बड़े कामोंमें भी मदद लेनेकी आदत पड़ जाती है। और आगे चलकर मनुष्य अपने स्वावलम्बी स्वभावको खोकर पराधीन बन जाता है। आत्मामें एक तरहकी सुस्ती आ जाती है और फिर छोटी-छोटी बातोंमें दूसरोंका मुँह ताकनेकी बान पड़ जाती है। यही मनमें रहता है, मेरा यह काम कोई दूसरा कर दे, मुझे हाथ-पैर कुछ भी न हिलाने पड़ें। इसलिये जबतक कोई विपत्ति न आवे या आत्माकी उन्नतिके लिये आवश्यक न हो तबतक केवल आरामके लिये किसीसे किसी तरहकी भी मदद नहीं लेनी चाहिये। जिनको मददकी जरूरत न हो वे जब मदद लेने लगते हैं तो जिनको जरूरत होती है, उन्हें मदद मिलनी मुश्किल हो जाती है।'

(२)

पाठशालामें गुरुजी लड़कोंको बतला रहे थे—'भगवान् सर्वव्यापक हैं। जमीन-आसमान, पृथ्वी-पाताल, जल-थल, घर-जंगल, पेड़-पत्थर, रात-दिन, सुबह-शाम, ऐसा कोई भी स्थान और समय नहीं है, जिसमें भगवान् न हों। वे बाहर-भीतरकी सब बातें सभी समय देखते-सुनते रहते हैं, उनसे छिपाकर कभी कोई कुछ भी नहीं कर सकता।' सुननेवाले विद्यार्थियोंपर गुरुजीके उपदेशका बड़ा असर पड़ा। विद्यार्थियोंमें एक किसानका लड़का भी था। पाठशालासे वह जब घर लौटकर आया, तब उसके पिताने कहा, 'चलो, एक काम करना है।' वह पिताके साथ हो लिया। किसान उसे किसी दूसरे किसानके खेतमें ले गया और बोला—'बेटा! देख, इस समय यहाँ कोई देखता नहीं है। अपनी गायके लिये मैं खेतमेंसे थोड़ा-सा घास काट लाता हूँ। ज्यादा होगा तो बेच लेंगे। तू देखता रह, कोई आ न जाय।'

लड़का बैठ गया, परन्तु सोचने लगा—'क्या पिताजी इस बातको नहीं जानते कि भगवान् सब समय, सब जगह, सभी बातोंको देखते रहते हैं।' किसान घास काटने लगा। कुछ देर बाद उसने पूछा—'बेटा, कोई देख तो नहीं रहा है।' अब लड़केको बोलनेका मौका

मिल गया। उसने कहा—'पिताजी ! आपके और मेरे सिवा यहाँ कोई आदमी तो नहीं है जो हमारे कामको देखे, लेकिन पिताजी ! मेरे गुरुजीने बतलाया था कि ऊपर-नीचे, बाहर-भीतर, जल-थलमें भगवान् व्यापक है और वह सब समय सबकी बातें देखता रहता है। कोई कितना भी एकान्तमें करे, उससे छिपाकर किसी कामको कर ही नहीं सकता। हम लोग जो यह चोरी करते हैं, इसे भी भगवान् तो देखता ही है।' बच्चेके मुँहसे यह बात सुनकर किसान काँप गया। उसके हाथसे हँसिया गिर पड़ा और वह काटा हुआ घास वहीं छोड़कर बच्चेके साथ घर लौट आया। उस दिनसे उसने चोरी करना छोड़ दिया।

सच्ची वीरता

महाराज युधिष्ठिरने शकुनिके द्वारा छलपूर्ण जूएमें हराये जानेपर बारह वर्षतक वनवास और एक वर्ष अज्ञातवासके आपद्धर्मका पालन करनेके उपरान्त धरोहररूपसे रक्खे हुए अपने राज्यको लौटानेके लिये साक्षात् भगवान् श्रीकृष्णको दूतरूपसे दुर्योधनके पास भेजकर अपनी न्याययुक्त माँग पेश की। भगवान् श्रीकृष्णने नीति और धर्मयुक्त वचनोंके द्वारा दुर्योधनको बहुत समझाया, परन्तु वह कब माननेवाला था। उसने स्पष्ट कह दिया—

यावद्धि तीक्ष्णया सूच्या विध्येदग्रेण केशव।
तावदप्यपरित्याज्यं भूमेर्नः पाण्डवान्प्रति॥
(महा० उद्योगपर्व १२७। २५)

'हे केशव ! तीखी सूईकी नोकसे भूमिका जितना भाग बिंध सके उतना भी हमें पाण्डवोंके लिये नहीं देना है।'

भगवान् वहाँसे निराश होकर कुन्तीदेवीके पास गये और उन्हें दुर्योधनकी कही हुई सारी बातें सुनायीं। इन बातोंको सुनकर माता कुन्तीने वीर क्षत्राणी विदुलाका उदाहरण देते हुए युधिष्ठिर, भीम और अर्जुनको वीरतापूर्वक युद्ध करनेका सन्देश भेजा।* माताने युधिष्ठिर आदिको कहलाया—

युध्यस्व राजधर्मेण मा निमज्जीः पितामहान्।
मा गमः क्षीणपुण्यस्त्वं सानुजः पापिकां गतिम्॥
(महा० उद्योग० १३२। ३४)

'[हे कृष्ण ! युधिष्ठिरसे कहना कि] तू क्षत्रिय-धर्मके अनुसार युद्ध कर, अपने पितामहोंको नरकमें न डाल तथा अपने भाइयोंसहित पुण्यहीन होकर पापियोंकी गतिको न प्राप्त हो।'

नमो धर्माय महते धर्मो धारयति प्रजाः।
एतद्धनञ्जयो वाच्यो नित्योद्युक्तो वृकोदरः॥
यदर्थं क्षत्रिया सूते तस्य कालोऽयमागतः।
न हि वैरं समासाद्य सीदन्ति पुरुषर्षभाः॥
(महा० उद्योग० १३७। ९-१०)

'मैं महान् (सर्वश्रेष्ठ) धर्मको प्रणाम करती हूँ, क्योंकि वह सब प्रजाको धारण कर रहा है, तुम अर्जुनसे तथा नित्य उद्योग करनेवाले भीमसेनसे कहना कि क्षत्राणियाँ अपने पुत्रोंको जिस कामके लिये उत्पन्न करती हैं, उस कामको पूर्ण करनेका यह समय अब आ पहुँचा है, श्रेष्ठ पुरुष किसीसे वैर-भाव होनेपर दुःख नहीं उठाते हैं।

माताके उपर्युक्त सन्देशको पाकर युधिष्ठिर आदिको बिना इच्छा भी युद्धमें प्रवृत्त होना पड़ा।

इससे हमें यह उपदेश मिलता है कि यदि कोई हमपर अत्याचार करे तो उसको ठीक रास्तेपर लानेके लिये जहाँतक हो सके उसे प्रेमपूर्वक समझाकर काम

* इसका विस्तार महाभारत उद्योगपर्व अध्याय १३२ से १३७ में है।

लेना चाहिये। इसपर भी न समझे तो उसका स्वार्थ दिखलाकर दामनीतिसे काम लेना चाहिये। यदि इस नीतिसे भी काम न चले और हमें दण्डनीतिसे काम लेना पड़े तो संसारके हितकी दृष्टि रखकर वैसा बर्ताव करना चाहिये। बिना दण्डनीतिका प्रयोग किये यदि संसारका भारी अहित होता हो तो ऐसी परिस्थितिमें दण्डनीतिका प्रयोग न करना नीतिमान् पुरुषके लिये दया नहीं, अपितु कायरता है। जिस समय दोनों सेनाओंके बन्धु-बान्धवोंको देखकर युद्ध न करनेकी इच्छा प्रकट करते हुए अर्जुनने यह कहा कि—

एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते॥
निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन।
पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः॥
(गीता १। ३५-३६)

'हे मधुसूदन! मुझे मारनेपर भी अथवा तीनों लोकोंके राज्यके लिये भी मैं इन सबको मारना नहीं चाहता फिर पृथ्वीके लिये तो कहना ही क्या है? हे जनार्दन! धृतराष्ट्रके पुत्रोंको मारकर हमें क्या प्रसन्नता होगी? इन आततायियोंको मारकर तो हमें पाप ही लगेगा।'

इसके उत्तरमें भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनके इस भावको कायरतापूर्ण बतलाकर उसे युद्धमें प्रवृत्त होनेकी आज्ञा दी। श्रीभगवान् बोले—

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन॥
क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप॥
(गीता २। २-३)

'हे अर्जुन! तुझे इस असमयमें यह मोह किस हेतुसे प्राप्त हुआ? क्योंकि न तो यह श्रेष्ठ पुरुषोंद्वारा आचरित है, न स्वर्गको देनेवाला है और न कीर्तिको करनेवाला ही है। इसलिये हे अर्जुन! नपुंसकताको मत प्राप्त हो, तुझमें यह उचित नहीं जान पड़ती। हे परन्तप! हृदयकी तुच्छ दुर्बलताको त्यागकर युद्धके लिये खड़ा हो जा।'

अतएव गीताके इस आशयको समझकर ऐसे मौकेपर धीरता और गम्भीरतापूर्वक वीरताको काममें लाना चाहिये।

पूर्वापरके परिणामको बिना सोचे-समझे, द्वेषपूर्ण बुद्धिसे, क्रोधके आवेशमें आकर मन, वाणी और शरीरके द्वारा किसीका किसी प्रकार भी अहित करना, वीरता नहीं है, वह तो उद्दण्डतापूर्ण हिंसा है। इसलिये जहाँ कोई अपने या दूसरे किसीपर अत्याचार करता हो उस मौकेपर उस अत्याचारका प्रतीकार करनेके लिये बहुत धैर्यके साथ पूर्वापरको सोचकर काम करना चाहिये। जैसे पाण्डवोंके राजसूय-यज्ञमें जब शिशुपाल भगवान् श्रीकृष्णकी अग्रपूजासे क्षुब्ध होकर अनेक प्रकारके न कहने योग्य दुर्वचन कहने लगा तो भगवान् श्रीकृष्णने धीरताके साथ उनको सहन करते हुए विचारपूर्वक निर्भयताके साथ सभासदोंसे कहा कि यह शिशुपाल अनुचित कर रहा है। इसपर वह दुष्ट हँसकर भगवान्का तिरस्कार करता हुआ और भी बकने लगा। जब उसके अत्याचारकी मात्रा अत्यन्त बढ़ गयी तो भगवान्को उसे दण्ड देना पड़ा। यह धीरता और गम्भीरतासे युक्त वीरताका निदर्शन है।* अतएव अहंकार, आसक्ति, ममता और स्वार्थको त्यागकर लोक-हितके लिये कर्तव्यबुद्धिसे किसीको जानसे मार डालना भी वास्तवमें हिंसा नहीं है। गीतामें भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान् न हन्ति न निबध्यते॥
(१८। १७)

'जिस पुरुषके अन्तःकरणमें 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा भाव

* महाभारत सभापर्व अध्याय ३७ से ४५में इसका विस्तृत वर्णन है।

नहीं है तथा जिसकी बुद्धि सांसारिक पदार्थोंमें और कर्मोंमें लिपायमान नहीं होती, वह पुरुष इन सब लोकोंको मारकर भी वास्तवमें न तो मारता है और न पापसे बँधता है।

इसलिये मनुष्योंको उचित है कि यदि कहीं किसी स्त्री, बालक, अनाथ, दीन, दुःखी और निर्बल प्राणी-पर कोई बलवान् किसी प्रकारका भी अत्याचार करता हो तो उस अत्याचारको मिटानेके लिये साम और दामसे काम न चलनेपर अहंकार, स्वार्थ और आसक्ति-को त्यागकर दण्डका प्रयोग करना चाहिये। ऐसी परिस्थितिमें पड़नेपर यदि प्राणोंका भी नाश हो जाय तो उसमें कल्याण ही है। यदि कोई हमारे साथ भी अत्याचार करे और उससे हमारी या किसीकी हानि होती हो तो उस समय राग-द्वेषरहित होकर आत्मरक्षाके लिये उसका प्रतीकार करना कोई पाप नहीं है। भगवान् श्रीकृष्ण गीतामें कहते हैं—

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥
(२।३८)

'सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजयको समान समझकर उसके उपरान्त युद्धके लिये तैयार हो जा। इस प्रकार युद्ध करनेसे तू पापको नहीं प्राप्त होगा।'

यदि कोई आदमी किसी विधर्मीद्वारा धर्मत्यागके लिये दबाया जाय तो उस स्थानपर धर्मकी रक्षाके लिये अपना प्राण भले ही त्याग दें पर धर्मका त्याग न करें; इसीमें कल्याण है। गीतामें भगवान्ने कहा है—

स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥
(३।३५)

'अपने धर्ममें मरना भी कल्याणकारक है, पर दूसरेका धर्म भय देनेवाला है।'

जो देहात्मवादी अज्ञलोग शरीरको ही आत्मा मानते हैं अर्थात् शरीरके नाशसे आत्माका मरना मानते हैं, वे लोग ही अनुचित आक्रमणका सामना करनेमें काँपने लग जाते हैं और वीरतापूर्वक प्रतीकार नहीं कर सकते; किन्तु जिन्होंने श्रीमद्भगवद्गीताका अध्ययन करके आत्मतत्त्वका रहस्य जान लिया है, वे शरीरके नाशसे आत्माका विनाश नहीं मानते। भगवान्ने गीतामें यह सिद्धान्त बतलाया है कि जो सत् वस्तु है, उसका विनाश नहीं होता और मिथ्या वस्तु कायम नहीं रहती। इस सिद्धान्तके अनुसार अकर्ता, निर्विकारी, चेतन आत्माको नित्य और अविनाशी होनेसे सत् बतलाया गया है और नाशवान् क्षणभंगुर विकाररूप इस जड देहको अनित्य होनेसे असत् बतलाया गया है।*

इसलिये वे आत्मतत्त्वको जाननेवाले मृत्युसे निर्भय होकर धीरता और गम्भीरतापूर्वक वीरताके द्वारा अत्याचारोंका अन्त कर डालते हैं।

वास्तवमें तो यदि कोई किसीपर अत्याचार करता है तो वह अत्याचार स्वयं ही उस अत्याचारीका विनाश कर डालता है। जैसे प्रह्लादपर किये गये अत्याचारने हिरण्यकशिपुका, दमयन्तीपर किये गये अत्याचारने व्याधका, सीतापर किये गये अत्याचारने रावणका, शचीपर किये गये अत्याचारने राजा नहुषका, वसुदेव-देवकी और उनके पुत्रोंपर किये गये अत्याचारोंने कंसका, द्रौपदीपर किये गये अत्याचारने दुर्योधन, दुःशासन और जयद्रथादिका, ईसापर किये गये अत्याचारोंने यहूदियोंके शासनका और गुरु गोविन्दसिंहके लड़कोंपर किये गये अत्याचार-ने मुगलशासनका विनाश कर डाला।

इसी प्रकारके और भी बहुत-से उदाहरण हैं।

---

* यह सिद्धान्त श्रीमद्भगवद्गीता अध्याय २ में श्लोक ११ से ३० तक विस्तारसे समझाया गया है।

यद्यपि अत्याचार स्वयं ही अत्याचारीका नाश कर डालता है, किन्तु जिसपर अत्याचार होता है वह भी यदि आत्मरक्षाके लिये प्रत्याक्रमण करे तो कोई दोष नहीं है, इसलिये सब कुछ भगवान्की लीला समझकर निरन्तर भगवान्का स्मरण रखते हुए भगवान्की प्रीतिके लिये ही यह सब करना चाहिये। जो मनुष्य इस प्रकार भगवान्में मन-बुद्धि लगाकर भगवान्को निरन्तर याद रखता हुआ भगवान्के आज्ञानुसार कर्तव्य कर्मका आचरण करता है, वह भगवान्को ही प्राप्त होता है।

भगवान्ने स्वयं कहा है—

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्॥

(गीता ८। ७)

'इसलिये हे अर्जुन! तू सब समय मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर। इस प्रकार मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिसे युक्त तू निःसन्देह मुझको ही प्राप्त होगा।'

श्रीआनन्दमयी माकी वाणी

सेवाबुद्धिसे काम करो। जितनी शक्ति, जितना अधिक समय भगवच्चिन्तनमें लगाया जा सके, उसीके सहायकरूपमें कर्म करना चाहिये।

× × ×

चिन्तनकी धारा अखण्ड हुए बिना अखण्ड शान्तिकी आशा कैसे की जा सकती है?

× × ×

जितनी-सी शक्ति है, केवल निर्भरताका आश्रय लेकर उसे काममें लगानी चाहिये।

× × ×

निष्ठाके साथ रात-दिन इष्टमें ही लगे रहनेकी चेष्टा करो।

× × ×

जिस चिन्तनसे सबका चिन्तन हो जाता है, दिन-रात उसी चिन्तनमें लगे रहना चाहिये।

× × ×

भगवान्की कृपाके लिये प्रार्थना करनी चाहिये। जिनसे भक्ति, श्रद्धा बढ़े, सदा खोज-खोजकर ऐसे सहायक कर्म करने चाहिये।

× × ×

नामका आश्रय रहनेपर दुःखके सागरमें बहना नहीं पड़ेगा।

× × ×

भगवान्का मकान, भगवान्का घर, सब कुछमें वे एक प्राणाधार भगवान् ही हैं—क्या ऐसा नहीं चाहता?

× × ×

इस ओरकी जितनी ही पूर्ति करोगे—'इतना हो जाय तो अच्छा है' उतनी ही चञ्चलता बढ़ जायगी। यह अस्थायीरूपमें स्थायी है, और वह है स्थायी नित्य।

× × ×

'एक तुम्हीं हो।' ऐसा विचार आवे और यही बात मुँहमें आवे, ऐसी ही चेष्टा करनी चाहिये।

× × ×

जो निरुपायके उपाय हैं,—सब अवस्थाओंमें एक उन्हींकी ओर देखते रहो।

× × ×

प्राण लगाकर साधना करो। साधनाको ही प्राण समझो। प्राणमय हुए बिना तो कुछ भी नहीं होता।

× × ×

भक्त-गाथा

भक्त नवीनचन्द्र

जगदीशपुरके पास बलाई गाँवमें एक ब्राह्मण रहते थे। ब्राह्मण बड़े सदाचारी, भगवद्भक्त और सन्तोषी थे। उनका नाम था—शरद ठाकुर। ब्राह्मणी भी बड़ी सुशीला और सती थी। यजमानी बहुत थी। बहुत बड़े-बड़े आदमी उनके शिष्य थे। उस समय जैसे ब्राह्मण पुरोहित सदाचारी और विद्वान् होते थे, वैसे ही उनके शिष्य यजमान भी श्रद्धालु और उदार होते थे। शरद ठाकुरको यजमानोंके यहाँसे बिना ही माँगे काफी धन मिलता था। खर्च था बहुत कम, इससे उत्तरोत्तर उनका वैभव बढ़ता ही जाता था। शरद ठाकुरके एकमात्र पुत्र था नवीनचन्द्र। नवीनचन्द्र सरल हृदय था, परन्तु माता-पिताका इकलौता पुत्र होनेसे उसपर कोई शासन नहीं था। घरमें धनकी प्रचुरता थी ही। विष्ठापर भिन-भिनानेवाली मक्खियोंके समान नवीनके विलास-वैभवको देखकर उससे लाभ उठानेके लिये आवारे दुराचारी लड़कोंका दल उसके आसपास आ जुटा। संगका रंग चढ़ता ही है। नवीनपर भी कुसंगका असर पड़े बिना न रहा। माता-पिता दुलारके कारण कुछ बोल नहीं सके।

> **यौवनं धनसम्पत्तिः प्रभुत्वमविवेकता।**
> **एकैकमप्यनर्थाय किमु यत्र चतुष्टयम्॥**

'जवानी, धन-सम्पत्ति, घरमें मालिकी और मूर्खता—इनमें एक-एक ही अनर्थ करनेवाली है, फिर जहाँ चारों हों, वहाँ तो कहना ही क्या है?' नवीन-चन्द्र भी इसीके अनुसार अनर्थकी राहपर जा चढ़ा। कुछ समय तो यों बीता, परन्तु जब अनीतिकी बाढ़ जोरकी हो गयी, तब शरद ठाकुरका माथा ठनका। उन्हें पुत्रकी करतूतोंपर बड़ा दुःख हुआ, और पछतावा हुआ अपनी लापरवाहीपर। वे सोचने लगे—'यदि मैं पहलेसे ही सावधान रहता तो नवीनकी यह हालत न होती! पर अब क्या किया जाय। नवीन अब मेरे कहनेसे ही मान लेगा, ऐसी सम्भावना तो रही नहीं।' शरद ठाकुर चिन्तामें पड़ गये। उन्होंने पत्नीसे सारा हाल कहा। वह बेचारी भी सोच करने लगी। पर कोई उपाय नहीं सूझ पड़ा। दोनों कातर होकर भगवान्को पुकारने लगे।

भगवान् भक्तवत्सल हैं, उन्होंने भक्त शरद ठाकुरकी पुकार सुन ली। कुछ ही दिनों बाद घूमते-फिरते शिवेन्द्र स्वामी नामक एक महात्मा बलाई गाँवमें पधारे और चातुर्मासका व्रत लेकर वहीं नदीके तटपर एक पेड़के नीचे ठहर गये।

महात्मा पहुँचे हुए थे। गाँवके नर-नारी दर्शनके लिये आने लगे। वे दिनभर मौन रहकर ध्यान करते। सिर्फ एक घण्टा मौन खोलते। महात्माजीकी ख्याति दूर-दूरतक फैल गयी। आसपासके गाँवोंसे भी दर्शनार्थी आने लगे। शरद ठाकुर भी जाते। एक दिन शरद महात्माजीको नवीनका हाल सुनाकर रोने लगे। महात्माजीने कहा—'घबराओ नहीं। उसके संस्कार बड़े अच्छे हैं, वह बड़ा भक्त होगा। एक बार उसे मेरे पास ले आओ।' शरदको बड़ा आश्वासन मिला।

नवीनको समझा-बुझाकर शरद ठाकुर उसे महात्मा-जीके पास लाये। महात्माजीने उसके मस्तक और पीठपर हाथ फेरकर कहा—'बेटा! मेरी बात मानोगे न?' नवीनने मन्त्रमुग्धकी तरह, हाँ भगवन्! अवश्य मानूँगा।

'तो आजसे यहाँ रोज आया करो।'

'आऊँगा—भगवन्!'

'यहीं रहना होगा।'

'रहूँगा—भगवन्।'

'पर मेरे पास रहनेवालेको मेरी शर्तें पूरी करनी पड़ती हैं।'

'करूँगा—भगवन् ! बतलाइये क्या शर्तें हैं ?'

'शराब कभी न पीना, झूठ न बोलना, सूर्योदयसे पहले उठना, सन्ध्या करना, अग्निहोत्र करना, मा कात्यायनीकी पूजा करना, उनके 'ह्रीं श्रीं कात्यायन्यै स्वाहा' मन्त्रका नित्य विधिपूर्वक जप करना, हविष्यान्न खाना—बस, यही आठ शर्तें हैं।' 'जो आज्ञा। मैं पूजा और अग्निहोत्रका सामान ले आऊँ ?' 'सामान सब मैं मँगवा दूँगा' महात्माजीने नवीनसे ऐसा कहकर शरद ठाकुरको सामान लानेके लिये संकेत किया। उसी समय सारा सामान आ गया। नवीन वहीं रहने लगा। उसी क्षणसे उसका कायापलट हो गया। भगवती कात्यायनीकी पूजा-जप, नियमित संयमपूर्ण जीवन और महापुरुषका सत्संग। भगवान्‌की बड़ी कृपासे नवीनचन्द्रको सारी सामग्री सहज ही मिल गयी। कुछ ही दिनोंमें उसका चेहरा शुक्लपक्षके नवीन चन्द्रकी भाँति चमकने लगा।

एक दिन नवीनने कहा—'भगवन् ! आपने इतनी दया की है तो एक और कीजिये। मुझे संन्यासकी दीक्षा देकर कृतार्थ कीजिये।' महात्माजी बोले—'बेटा ! जगदम्बाकी जब जो इच्छा होगी, वही होगा। वे चाहेंगी तो तुम्हें सम्यक् प्रकारसे भोगोंका त्यागी बनाकर अपनी सेवक-श्रेणीमें ले लेंगी। तुम तो बस—बेटा, उन्हींके हो रहो। देखो—तुम्हें पता नहीं है। यहाँके सत्संगसे तुम्हारे दोष, तुम्हारी भोगवासनाएँ दब गयी हैं, क्षीण भी हुई हैं, परन्तु अभी उनका पूरा नाश नहीं हुआ है। जगदम्बाकी कृपासे जब सच्चे विवेककी आग जलेगी तब अपने-आप ही सारी भोगवासनाका कूड़ा जल जायगा। बेटा ! एक म्यानमें दो तलवार नहीं रह सकतीं। इसी प्रकार भोग-वासनाके रहते वैराग्य नहीं हो पाता और जबतक वैराग्य नहीं होता तबतक त्यागके स्वाँगका क्या मूल्य है ? भोगोंसे उत्पन्न दुःखोंसे घबड़ाकर कभी-कभी जो विरक्ति होती है, वह असली वैराग्य नहीं है। न आवेशमें आकर घर छोड़नेका नाम ही सच्चा वैराग्य है। धन-सम्पत्ति, स्त्री-पुत्र, मान-बड़ाई आदि भोगोंकी वासना मनमें छिपी रहती है, और समय-समयपर बहुत बड़े-बड़े प्रलोभन सामने रखकर साधकको डिगानेकी चेष्टा करती है। यह तो सत्य है ही—भोग हर हालतमें दुःख ही उपजाते हैं। परन्तु मा जगदम्बाकी कृपा बिना भोग-वासनासे छुटकारा मिलना बहुत ही कठिन है। तुम माको प्रसन्न करो। मा प्रसन्न होकर जब जो आज्ञा दें, वही करो। मा तो प्रसन्न ही हैं। पुत्र कितना ही कुपूत हो, माका स्नेहभरा हृदय कभी नहीं सूखता। माकी गोद तो सन्तानके लिये सदा ही खाली है। बस, जब तुम माकी—एकमात्र माकी गोदमें बैठना चाहोगे, तभी मा प्रत्यक्ष होकर तुम्हारे सामने आकर तुम्हें अपनी गोदमें उठा लेगी। हृदयसे चिपटा लेगी। बेटा, धैर्य रक्खो, माकी महिमा जानकर मा-मा पुकारते रहो। तुम्हारा कल्याण होगा। माके और बच्चेके बीचमें तीसरेकी जरूरत नहीं है, वे तुम्हारी मा, तुम उनके बच्चे !'

महात्माजीके वचन सुनकर नवीनका हृदय भर आया, उसके नेत्रोंसे आँसुओंकी धारा बह निकली। वह अनन्यभावसे जगदम्बाकी सेवा करने लगा। शरद ठाकुर और उनकी पत्नी—दोनों ही पुत्रके परिवर्तनपर बड़े प्रसन्न थे।

भजन करते-करते नवीनका अन्तःकरण पवित्र हो गया। वे भजनकी मूर्ति बन गये। माका ध्यान करते-करते कभी रोते, कभी हँसते, कभी नाचते और कभी मा-मा पुकारकर इधर-उधर दौड़ने लगते। बैठ जाते तो अखण्ड समाधि ही लग जाती।

एक दिन प्रातःकाल जगदम्बा कात्यायनी स्वयं प्रकट हो गयीं। नवीनने आँखें खोलकर देखा—बड़ा

शुभ्र प्रकाश है। माता मृगराजपर सवार हैं, प्रसन्न मुख-मण्डल है, सुन्दर तीन नेत्र हैं, गलेमें सुन्दर हार हैं, भुजाओंमें रत्नोंके बाजूबन्द और कड़े हैं। सुन्दर जटापर मनोहर मुकुट है। चरणोंमें नूपुर बज रहे हैं। दिव्य रेशमी वस्त्र धारण किये हुए हैं। मस्तकपर अर्धचन्द्र शोभा पा रहा है। करोड़ों चन्द्रमाओंके समान देहकी सुशीतल समुज्ज्वल प्रभा है। दस हाथ हैं—जिनमें खड्ग—खेटक, वज्र, त्रिशूल, बाण, धनुष, पाश, शङ्ख, घण्टा और पद्म सुशोभित हैं। माके वात्सल्यपूर्ण नेत्रोंसे मधुर स्नेहामृतकी धारा बह रही है। होठोंपर मीठी मुस्कान है। मानो सन्तानको अभय करके अपनी गोदमें लेकर नित्यानन्द प्रदान करनेके लिये आँचल पसारे खड़ी हैं।

नवीन माताकी मुखमुद्रा देखकर निहाल हो गये। आनन्दके आँसू बहने लगे। शरीर पुलकित हो गया। वाणी रुक गयी। बहुत देर बाद माताकी प्रेरणासे धीरज आनेपर नवीनने माका स्तवन किया। माताने उठाकर उन्हें हृदयसे लगा लिया और मस्तकपर हाथ फेरकर कहा—'बेटा! तू धन्य हो गया। तेरे गुरुजी आज अदृश्य हो जायँगे। तू पूर्वजन्ममें मेरा भक्त था। गुरुजी तेरे पिता थे। वे मेरी कृपाको प्राप्त कर चुके। तू किसी प्रतिबन्धकवश जगत्में आया था। गुरुजीको मैंने ही भेजा था। अब तू मेरी कृपासे कृतकृत्य हो गया। मेरी आज्ञासे घर जाकर विवाह कर और जीवनमें मेरी सेवा करता हुआ अन्तमें मेरे सच्चिदानन्द-धाममें प्रवेश कर जा। तेरी भावी पत्नी भी मेरी सेविका है। तू घरमें रहकर भी जलमें कमलकी भाँति असंग ही रहेगा।' इतना कहकर माता अन्तर्धान हो गयी।

नवीनने देखा, गुरुजी भी अदृश्य हो गये हैं। नवीन माताकी आज्ञानुसार घर चला आया। और पिता-माताको सारी कथा कह सुनायी। उनके आनन्दका कोई ठिकाना न था, बड़े उत्साहके साथ तारा नामकी सुशीला कन्यासे नवीनचन्द्रका विवाह हुआ। तारा और नवीन दोनों मातृमन्त्रमें दीक्षित होकर जीवनभर माका भजन करते रहे।

बोलो भक्त और उनके भगवान्‌की जय!

भक्त कविवर श्रीपतिजी

(लेखक—श्रीश्यामनारायणजी मिश्र, 'श्याम')

पूज्य-चरण सूर, तुलसी, कबीर आदि अनेक ऐसे परम भक्त कवि हो गये हैं, जो संसारसे विरक्त रहकर केवल श्रीभगवान्‌के ही चरित्र-माहात्म्य और रहस्यका वर्णन करनेके लिये अपनी लेखनी उठाते थे। उनका सिद्धान्त था—

भगति हेतु बिधि-भवन बिहाई। सुमिरत सारद आवत धाई॥
राम-चरित-सर बिनु अन्हवाये। सो श्रम जाइ न कोटि उपाये॥

परन्तु कविवर श्रीपतिजी ऐसे कवि थे, जिन्होंने सम्राट् अकबरके आश्रित कवि होनेपर भी, कभी भी अकबरकी प्रशंसामें एक शब्दतक नहीं लिखा। उन्होंने भी श्रीपूज्यपाद गोस्वामीजीके इसी सिद्धान्तको अक्षुण्ण रक्खा कि—

कीन्हें प्राकृत नर गुन-गाना। सिर धुनि गिरा लगि पछिताना॥

यदि संसार-त्यागी भक्त कवियोंने साधारण मनुष्योंकी प्रशंसामें कोई काव्य नहीं रचा, वे केवल श्रीहरि-गुण-गान ही करते रहे, तो कोई आश्चर्यकी बात नहीं। वे तो विरक्त थे। उनका सम्बन्ध तो जगदीशसे था, उन्हें जगत्‌से क्या प्रयोजन? परन्तु एक विधर्मी सम्राट्‌के आश्रित रहकर, उसकी प्रशंसामें कुछ भी रचना न करना कितना कठिन एवं अभिनन्दनीय है, इसका अनुमान करना कठिन नहीं है।

एक हम हैं, जो सकारण अथवा अकारण ही, किसीकी भी उचित-अनुचित प्रशंसा करनेमें तनिक नहीं सकुचाते, तारीफ़के पुल बाँध देते हैं, जमीन-आसमानके कुलाबे मिला देते हैं, अकिञ्चन मनुष्योंकी तुलना ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वरसे करते हैं! एक वे,

जो प्रयोजन उपस्थित होनेपर भी अपनी टेकपर अड़े रहते हैं।

हाँ, तो कविवर श्रीपतिजी कभी भी अकबरकी प्रशंसा नहीं करते थे और विशेषता यह थी कि सदैव प्रथम पारितोषिक प्राप्त करते थे। ईर्ष्यालु मनुष्योंकी कहीं भी कमी नहीं है, इसपर दरबारके अन्य कविगण तो जले जाते थे कि हमारी तो जबान, अकबरकी प्रशंसा करते-करते घिसी जाती है, और प्रथम पारितोषिक पाता है श्रीपति! अतएव एक दिन उन्होंने षड्यन्त्र रचकर समस्या दिलायी 'करौ मिलि आस अकब्बरकी'। श्रीपतिजीसे विशेष रूपसे अनुरोध किया गया कि आप इसपर अवश्य लिखें।

कवि-सम्मेलनकी नियत तिथि आ पहुँची। दरबार खचाखच भर गया, कवियोंने अपनी-अपनी पूर्तियाँ सुनानी प्रारम्भ कीं। ज्यों-ज्यों श्रीपतिजीके सुनानेका समय आता जाता था, दरबारमें सन्नाटा बढ़ता जाता था। कुटिल लोग प्रसन्न हो रहे थे कि आज श्रीपतिकी भगवद्भक्ति देखनी है; भक्तोंके चेहरोंपर हवाइयाँ उड़ रही थीं कि आज खैर नहीं- -श्रीपतिजी अपने ध्येयसे विचलित होनेवाले नहीं, आज भगवान् उनकी कठोरतम परीक्षा ले रहे हैं, कहीं कविजीके प्राणोंपर न आ बीते। परन्तु इन भक्तोंको सन्तोष होता था केवल इस भगवदुक्तिका स्मरण करके—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

वे बराबर यही सोचकर धैर्य धारण करते थे कि **'राखनहार जौ चारिभुजा, तौ कहा करिहैं दुइ हाथ बिचारे'**

यह विचार-प्रवाह चल ही रहा था कि श्रीपतिजीको अपनी पूर्ति सुनानेके लिये बुलाया गया, जन-समुदायके दिल उछलने लगे। पहले तो श्रीपतिजीने सुनानेमें ननु-नच किया, परन्तु अकबरके क्रुद्ध होकर यह कहनेपर कि 'जब आपसे खास इसरार कर दिया गया था कि आप अवश्य लिख लावें, तो आपने क्यों नहीं लिखा, श्रीपतिजीने कहा—'सम्राट्! आप रुष्ट न हों, मैं लिख लाया हूँ, दिल थामकर सुनिये!' यह कहकर उन्होंने सदाकी भाँति, नील-जलजात-गात, पीताम्बरधारी अपने इष्टदेव परम-प्रभुकी चतुर्भुज मूर्तिका ध्यान किया और सुललित स्वरसे अपनी पूर्तिको पढ़ना प्रारम्भ किया—

अब कै सुलताँ फुनियाँन समान हैं, बाँधत पाग अटब्बरकी।
तजि एक कौ, दूजौ भजै जौ कोई, तब जीभ कटै वहि लब्बरकी॥
सरनागत 'श्रीपति' श्रीपतिकी, नहिं त्रास है काहुहि जब्बरकी।
जिन कौ कछु आस नहीं हरिकी, सो करौ मिलि आस अकब्बरकी॥

सवैया समाप्त होते-होते सारे समाजमें सन्नाटा छा गया। यद्यपि, कविता यथातथ्य थी, परन्तु एक आश्रित कविके लिये, अपने आश्रयीके प्रति इस प्रकार कहना, कहना ही नहीं, उसे और उसके 'जी हुजूर मुसाहिबों'को आड़े हाथों लेना और धिक्कारना, प्राणोंकी बाजी लगा देना था। फिर वह समय कैसा था जब सम्राट्के शब्द ही क़ानून थे। सबकी दृष्टि अकबरकी ओर थी कि देखें बादशाहके मुँहसे क्या निकलता है। परन्तु—

सींव कि चापि सकै कोउ तासू। बड़ रखवार रमापति जासू॥

अकबरकी मति फिर गयी, वे बोले 'कवि महाराज! यह तो आपने सत्य ही कहा है, इसमें भय अथवा संकोचकी क्या बात थी? क्या भाव, क्या भाषा, क्या ओज, क्या माधुर्य—सभी दृष्टियोंसे आपकी ही समस्या-पूर्ति सर्वश्रेष्ठ है। आप ही तो प्रथम पारितोषिकके पात्र हैं!

पापियोंके मुख, पाप-पङ्कसे काले हो गये। भक्तोंकी मुखश्री प्रभुका वरद-हस्त अपने अनन्य भक्तोंपर देखकर, खिल उठी; वे श्रीपतिजीको श्रद्धासे मस्तक झुका कर तथा गद्गद-कण्ठ हो, एक स्वरसे बोल उठे 'बोलो भक्त और उनके भगवान्‌की जय!'

कामके पत्र

(१)

अपने दोषोंपर विचार करो ।

पत्र मिला । आपने अपने दुःखके जो कारण लिखे वे तो बाहरी हैं । असली कारण तो आपका अपना उच्छृङ्खल मन ही है । जो मनुष्य दूसरोंके प्रति मनमें बुरे भावोंका पोषण करता है, उसको दूसरोंसे बुरे भाव प्रतिहिंसा, वैर आदि मिलनेका भय लगा ही रहता है । वह आप ही अपने लिये दुःखोंको बुलाता है । इतना ही नहीं, वह जगत्‌में भी दुःख ही फैलाता है । जिसके अंदर जैसे विचार या भाव होते हैं, उसके वचनोंसे, आकृतिसे, भावभंगीसे वही विचार प्रतिक्षण बाहर निकलते रहते हैं । उसके रोम-रोमसे स्वाभाविक ही वैसे ही परमाणु प्रकट हो-होकर दूर-दूरतक फैलते हैं और न्यूनाधिकरूपमें सबपर अपना प्रभाव डालते हैं । सजातीय विचारवालोंपर अधिक और विजातीय विचारवालोंपर कम । जैसे प्लेग, चेचक और हैजे आदि रोगोंके कीटाणु सर्वत्र फैलकर रोग फैला देते हैं वैसे ही मनुष्यके अंदर रहनेवाले घृणा, द्वेष, भय, वैर, शोक, विषाद, चिन्ता, क्रोध, काम, लोभ, डाह आदि मानसिक रोगोंके परमाणु भी सर्वत्र फैलकर लोगोंको रोगी बनाते हैं । आपके घरमें जो कलह है, इसमें केवल दूसरे पक्षका ही दोष हो, ऐसी बात नहीं माननी चाहिये और वस्तुतः ऐसा है भी नहीं, उसमें आपका भी दोष है और वही कलह फैलाकर आपको और घरके दूसरे लोगोंको दुखी बना रहा है । भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

> **आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥**
> **बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।**
> **अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥**
> (६ । ५-६)

'आप ही अपना मित्र है और आप ही अपना शत्रु है । जिसके द्वारा मन, वाणी आदि जीते हुए हैं, वह तो आप ही अपना मित्र है और जिसके द्वारा नहीं जीते हुए हैं, उसने आप ही अपने साथ शत्रुकी तरह वैर ठान रक्खा है ।'

जैसा अभ्यास होता है, मन वैसा ही बन जाता है । दोषदर्शनका अभ्यास हो जानेपर विना ही हुए लोगोंमें दोष दीखने लगते हैं, इसलिये यह तो कठिन है कि इस पत्रके पढ़ते ही आपको दूसरोंके दोष दीखने बंद हो जायँ । ऐसा हो जाय तो बड़े ही आनन्दकी बात है, परन्तु आशा कम है । अतएव आप शान्ति और धीरजके साथ अपने दोषोंको भी खोजने और देखनेका प्रयत्न कीजिये । जहाँ अपने दोष दीखने लगेंगे, वहीं दूसरोंके दोष दीखने कम होने लगेंगे । फिर आगे चलकर यह दशा हो जायगी—

> **बुरा जो देखन मैं गया बुरा न दीखा कोय ।**
> **जो तन देखा आपना मुझ-सा बुरा न कोय ॥**

और जब दूसरोंके दोषकी बात याद ही न रहेगी और सब तरहसे अपने ही दोष—अपराध प्रत्यक्ष सामने रहेंगे, तब तो स्वाभाविक ही अपने दोषोंके लिये पश्चात्ताप होगा और नम्रतापूर्वक सबसे क्षमा चाहनेकी प्रवृत्ति बलवती हो उठेगी । चैतन्य महाप्रभुसे दया पाये हुए जगाई-मधाईका अन्तिम जीवन रो-रोकर सबसे क्षमा चाहनेमें ही बीता था । वे पश्चात्ताप और करुणाकी मूर्ति ही बन गये थे ।

आपसे प्रेम है और आप मेरे कहनेको बुरा न मानकर उसे अच्छी दृष्टिसे देखेंगे तथा विचार करेंगे, यही समझकर आपको इतना लिखनेका साहस किया गया है ।

(२)

दुःखोंसे छूटनेके उपाय

आपका कृपापत्र मिला था। उत्तर लिखनेमें देर हो गयी, इसके लिये क्षमा कीजियेगा। आपने पत्रमें अपनी आर्थिक, शारीरिक और मानसिक स्थितिके बारेमें लिखा सो सब पढ़ा। आर्थिक स्थिति अच्छी न रहनेके कारण चित्तमें अशान्ति होना स्वाभाविक है। आजकलकी दुनियामें अर्थके बिना कोई काम नहीं सधता, बात-बातमें अर्थकी जरूरत होती है। ऐसी हालतमें अर्थका अभाव क्लेशदायक होगा ही। परन्तु प्रारब्धके विधानके सामने हम क्या कर सकते हैं? यथासाध्य उपाय करना चाहिये सो आप कर ही रहे हैं। उद्योग करनेपर फल नहीं होता, तब सिवा सन्तोषके सुखका और कोई साधन नहीं है। ऋणकी बात भी जरूर बहुत सङ्कट देनेवाली है। इसके उतारनेके लिये यथासाध्य आप उद्योग करते ही हैं। ऋण होनेपर अनाप-शनाप खर्च लगाना या धन होनेपर भी न देनेका भाव नहीं होना चाहिये। और साधारण खर्चके बाद यदि कुछ बचे तो उसे ऋणदाताओंको देना चाहिये। परन्तु एक बात स्मरण रखनी चाहिये यदि साधन करनेपर भगवत्कृपासे भगवत्प्राप्ति हो गयी तो इसी ऋणसे नहीं—समस्त ऋणोंसे जीवको मुक्ति मिल जाती है। अतएव यह कभी नहीं विचारना चाहिये कि पूरा ऋण उतर जानेपर और स्त्री-पुत्रोंके भरण-पोषणके लिये कुछ संग्रह हो जानेपर या अच्छी कमायी होने लगनेपर ही भजन किया जायगा। प्रथम तो यह निश्चय नहीं कि तीनों बातें पूरी होगीं ही। दूसरे यह भी पता नहीं कि यदि ये पूरी हो भी गयीं तो फिर उस समय भजन करनेका मन रहेगा या नहीं। यह याद रखना चाहिये कि एक-एक अभावकी पूर्ति पचासों नये-नये अभावोंको उत्पन्न करनेवाली होती है। मन रहा भी और शरीर पहले छूट गया तो अपनेको क्या लाभ हुआ? अतएव भजन तो हर हालतमें करना ही चाहिये, साथ ही ऋण चुकाने तथा आजीविकाका साधन संग्रह करनेके लिये चेष्टा भी करते रहना चाहिये। भजनके साथ-साथ ऋण चुक गया तब तो दोनों काम हो गये, नहीं तो, भजन हुआ। भजनके प्रतापसे इसी जन्ममें भगवत्प्राप्ति हो गयी तब तो सारा बखेड़ा ही तै हो गया; ऐसा न हुआ तब भी जितना भजन हुआ उतना तो हमारे कल्याणका मार्ग प्रशस्त हुआ ही। जितना रास्ता कटा उतना ही अच्छा। एक बात और ध्यानमें रखिये। जिन लोगोंके पास काफी धन है, ऋणकी तो कोई बात ही नहीं, भोगके लिये प्रचुर सामग्री मौजूद है, उनके चित्तमें भी शान्ति धनके होने न होनेसे सम्बन्ध नहीं रखती। शान्तिका सम्बन्ध चित्तकी वृत्तियोंसे है। जिसके मनमें कामना, आसक्ति, ममता और अहङ्कार है, वह चाहे जितना धनी क्यों न हो, कभी शान्ति नहीं पा सकता। वह सदा जला ही करता है। इसके विपरीत जो बिल्कुल निर्धन है, परन्तु भगवान्में विश्वासी है, भगवान्का भजन करता है और भगवान्के प्रत्येक विधानमें मङ्गलमय भगवान्का हाथ देखकर अपना मङ्गल देखता है, वह महान्-से-महान् दुःखकी हालतमें भी शान्त और सुखी रहता है। बलि राजाका राज्य हरण कर लेनेपर भगवान्से प्रह्लादने कहा था—'भगवन्! आपने बड़ी दया की।' अतएव आपको विचार करके आर्थिक स्थितिके कारण चित्तमें दुःख नहीं करना चाहिये। भगवान्का विधान मानकर सन्तुष्ट रहना चाहिये। और जहाँतक हो सके उपार्जनकी शुद्ध चेष्टा करते हुए कम खर्चमें काम चलाना चाहिये। सब दुःखोंके नाशके लिये एकमात्र उपाय बतलाता हूँ। मनमें यह निश्चय करके कि 'हे भगवन्! मैं एकमात्र आपके ही शरण हूँ। आप ही मुझे दुःखोंसे बचायेंगे यह मुझको निश्चय है।'

चलते-फिरते, उठते-बैठते मन-ही-मन सदा 'हरिः शरणम्' मन्त्रका जप करते रहिये। यदि विश्वास और श्रद्धा-पूर्वक इसका जप किया जाय तो सारे सङ्कट टल सकते हैं। इसके सिवा भागवतके आठवें स्कन्धके तीसरे अध्यायका रोज सवेरे आर्तभावसे पाठ कीजिये। इससे भी बहुत लाभ हो सकता है।

भगवान्की सुन्दर तसवीर सामने रखकर एक-एक अङ्गके ध्यानका अभ्यास कीजिये तथा श्वासके साथ भगवान्के नामका जप करनेकी आदत डालिये। श्वासके आने-जानेमें जो शब्द होता है, उसपर लक्ष्य कीजिये। जरा जोरसे श्वास लीजिये तो आवाज स्पष्ट सुनायी देगी। उस आवाजमें ऐसी भावना कीजिये कि यह 'राम राम' बोल रहा है। ऐसा करनेसे मन कुछ वशमें होगा। शरीर, भोग सब क्षणभङ्गुर, विनाशी तथा दुःखरूप हैं—ऐसी भावना करके मानसिक पापोंको हटाइये। मानसिक पापोंके नाशके लिये आर्तभावसे भगवान्से प्रार्थना करनी चाहिये। शारीरिक रोगनाशके लिये यथासाध्य ब्रह्मचर्यका पालन, खान-पानमें संयम रखते हुए साधारण आयुर्वेदिक दवा लेनी चाहिये। पेटकी वायुके नाशके लिये भोजनके पहले ग्रासके साथ चार आनेभर हिंग्वाष्टक चूर्ण घीमें मिलाकर लेना चाहिये। भोजनके बाद लवणभास्कर चूर्ण ठण्डे जलके साथ लेना चाहिये। और धातु-क्षीणताके लिये आठ आनेभर आँवलेके चूर्णकी फक्की रातको सोते समय जलके साथ लेनी चाहिये। रोज तीन-चार मील घूमना चाहिये।

इस प्रकार श्रद्धापूर्वक साधन करनेसे भगवत्कृपासे आपकी शारीरिक, मानसिक और आर्थिक स्थितिमें बहुत कुछ उत्तम परिवर्तन हो सकता है।

(३)

श्रीभगवान्के शृङ्गारका ध्यान

आपने लिखा············परन्तु अब दो दिनसे दीवालीके कारण साधन छूटा है। दीवाली बाद फिर शुरू करनेका विचार है सो फिरसे शुरू किया कि नहीं? असल बात यह है कि जिस वस्तुको पानेके लिये प्राण छटपटाता हो, उसका साधन छूट ही कैसे सकता है। छूट जाता है, इससे यही सिद्ध होता है कि उसके छूटनेकी हमें परवा नहीं है। खैर, किसी तरह करना चाहिये।

> करत करत अभ्यासके जड़ मति होत सुजान।
> रसरी आवत-जातमें पाथर परे निसान॥

यह तो अभ्यासकी खूबी है ही, फिर भगवत्सम्बन्धी अभ्यासमें तो दैवी सहारा भी मिलता है।

श्रीभगवान्के मधुर अनूप रूपका ध्यान करना बहुत उत्तम है। उनकी सुरीली वंशी-ध्वनिका, उनके दिव्य विग्रहका, दिव्य गन्धका, चरणोंके नूपुरोंकी मधुर ध्वनिका तथा अङ्गस्पर्शका ध्यान बहुत ही उत्तम है। परन्तु इसमें डर यही है कि ऐसा करने-वाले बहुधा भगवान्को छोड़कर विषयका ध्यान करने लगते हैं। भगवान्को छोड़ देनेपर ध्वनि, गन्ध, स्पर्श आदि सब विषय होते हैं। इस सम्बन्धमें साधक बहुत भूल कर जाता है। मन्दिरमें भगवान्की मूर्ति और महान् सुन्दर शृंगारको देखकर प्रसन्नता होती है। वह प्रसन्नता शृंगारकी सामग्री और मूर्तिकी बनावटको देखकर होती है या भगवत्प्रेमजनित है—यह बतलाना बहुत मुश्किल है। यदि भगवत्प्रेमजनित है तो भगवान्की प्यारी मूर्ति यदि बनावटमें कुढङ्गी और शृंगारहीन हो तो क्या उससे प्रसन्नता नहीं होनी चाहिये? भक्तका तो भगवान्से प्रेम है, गहनों, कपड़ों और रूप-रङ्गसे तो नहीं। गहने, कपड़े और रूप-रङ्ग भी अवश्य ही बड़े दर्शनीय हैं; क्योंकि उनका भगवान्के

साथ संयोग हो गया है। अपने प्रियतमको जिस वस्तुसे सुख पहुँचे, जो चीज प्यारेके अङ्गपर चढ़े, जिसे प्यारा धारण करे, वह वस्तु देखते ही परम हर्ष और रोमाञ्च होना स्वाभाविक है। परन्तु उसका कारण ये वस्तुएँ नहीं हैं, कारण है हमारा वह प्रियतम, जो इन वस्तुओंको ग्रहण करता है। इसीलिये ये वस्तुएँ प्रिय हैं। यदि प्रियतम इन्हें नहीं धारण करे या धारण करनेमें ये वस्तुएँ उसे दुःख पहुँचानेवाली हों तो हमारे मनके महान् अनुकूल होनेपर भी प्रतिकूल दीखने लगें और तत्काल त्याज्य हो जायँ। यही तो प्रेमका भाव है। प्रसादका स्वाद नहीं देखा जाता, उसमें देखा जाता है केवल यही कि वह प्रियतमकी जूँठन है। चाहे वह रुचिर हो या कड़ुआ, अमृत हो या विष, जिसे प्रियतमने मुँहमें रख लिया बस वही हमारे लिये परम मधुर और अमृत है। मीराका प्रसाद-रूपसे जहर पीना प्रसिद्ध है। यही हाल शृंगारका है। भगवान् श्रीकृष्णके हाथकी मुरली और माँ कालीके हाथकी भयङ्कर करवाल और नरमुण्डोंकी माला इसीलिये भक्तोंको प्यारी और सुहावनी लगती हैं। वहाँ यह नहीं देखा जाता कि वह क्या वस्तु है। देखा जाता है केवल यही कि यह हमारे इष्ट प्रभुकी प्यारी वस्तु है। भगवान्‌की उपासना और पूजासे यहाँ बहुत भूलकी सम्भावना है। सुन्दर बनावट, बढ़िया शृंगार-पोशाक, भजनकी मधुर-ध्वनि, विशाल मन-मोहन मन्दिर आदिको देखकर मनुष्य भगवान्‌के बदले विषयोंपर विमुग्ध हो जाता है। इससे इन वस्तुओंका खण्डन करना इष्ट नहीं है। बढ़िया-से-बढ़िया चीज भगवान्‌के काममें लगानी चाहिये। परन्तु उस वस्तुका महत्त्व बढ़िया होनेके नाते नहीं है, वह भगवान्‌को चढ़ गयी, इसीसे उसका महत्त्व है। शृंगारकी सामग्रियोंसे भगवान्‌की शोभा नहीं, भगवान्‌के संयोगसे उनकी शोभा और महत्त्व है। श्रीभगवान्‌के रूपके ध्यानमें उनकी मुरली-ध्वनि, नूपुर-ध्वनि, अङ्ग-स्पर्श, गन्ध आदिके ध्यानमें इसीलिये ऊँचे वैराग्ययुक्त अधिकारकी आवश्यकता है। श्रीराधाजी या श्रीसीताजी-सहित भगवान्‌के ध्यानमें यही प्रधान बाधा समझनी चाहिये कि हमारी विषयप्रवण बुद्धि कहीं शृंगारयुक्त स्त्रीरूपमें विषय-बुद्धि न कर ले, कहीं जगज्जननी हमारे विकारका कारण न बन जायँ। इसीलिये विषयी पुरुषोंको श्रीराधाप्रेम और गोपीभाव विषका काम देनेवाला होता है, एवं वही वैराग्यसम्पन्न अधिकारी पुरुषोंके लिये परमतत्त्वके साक्षात्कारका कारण होता है। इस भेदको जान और समझकर ही उपासना होनी चाहिये। इसीलिये शायद तुलसीदासजी महाराजने सेव्य-सेवक-भावको सबके लिये परम उपादेय माना है, जिसमें विकारकी बहुत कम गुञ्जाइश है।

बस, भगवान्‌की कृपापर भरोसा रखकर उनका निरन्तर स्मरण करनेकी चेष्टा करनी चाहिये।

(४)

सर्वत्र सबमें भगवान्‌को देखो

आपके कई पत्र मिल चुके। मेरा स्वाभाविक आलस्य आप जानते ही हैं। इसके सिवा इधर कामकी भी कुछ भीड़ रही। सर्वत्र सबमें भगवान्‌को देखनेका प्रयत्न करना और यथासाध्य अधिकाधिक भगवान्‌का स्मरण करना एवं स्मरण होनेपर न भूलनेकी चेष्टा करना—ये बड़े ही उत्तम साधन हैं। सर्वत्र सबमें परमात्माको देखनेके साधनसे बहुत ही शीघ्र जीवन पलट सकता है। पाप, ताप, छल, द्रोह, दम्भ, वैर आदिका आप ही नाश हो जाता है। जो सामने आया, तत्काल उसीमें भगवान् हैं, ऐसा स्मरण हो आनेसे उसके

साथ दूषित बर्ताव हो ही नहीं सकता। नाटकमें नाटकका स्वामी या अपना साक्षात् पिता भी शिष्य बनकर आ सकता है। उसको स्वामी या पिता पहचानते हुए जो शिक्षकका नाट्य किया जाता है, वह स्वामीकी आज्ञानुसार लीलावत् ही होता है। उसमें दोष प्रायः आ ही नहीं सकता। इसी प्रकार आप भी विद्यार्थियोंको पढ़ाते समय 'उनमें भगवान् हैं या स्वयं भगवान् ही उन स्वरूपोंमें प्रकट हो रहे हैं', ऐसा समझकर उन्हें पढ़ाइये। यही व्यवहार घरके लोगों, मित्रों, सम्बन्धियों, नौकरों आदिके साथ कीजिये तो बहुत ही शीघ्र समस्त दोषोंका ध्वंस सम्भव है। चित्तमें अपूर्व शान्ति और आनन्द तो इस साधनके संगी ही हैं। 'वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः।' दूसरोंके साथ बुरा बर्ताव, विषम व्यवहार तभी-तक होता है, जबतक हम उन्हें आत्मासे अतिरिक्त कोई दूसरा समझते हैं। जब हम यह देखेंगे कि ये सब तो हमारे आत्मा ही हैं, तब बुरा बर्ताव कैसे होगा? अपने प्रति क्या कभी कोई बुरा बर्ताव करता है? फिर, जब वे हमें भगवान् दीखेंगे, तब तो हमारे पूज्य और सब प्रकारसे सेवाके पात्र बन जायँगे।

(५)

पतित होकर पतितपावनको पुकारो !

भाई! तुम इतना घबड़ाते क्यों हो? परमात्माकी असीम दयालुतापर विश्वास करो। हम पतित हैं तो क्या हुआ, वे तो 'पतितपावन' हैं। सचमुच पतित बनकर पतितपावनको पुकारो—अशरण होकर अशरणशरणकी शरण हो जाओ। फिर देखो—करोड़ों स्नेहमयी जननी-हृदयोंको भी लजा देनेवाला परमात्माका स्नेह-स्रोत उमड़ता दिखलायी देगा और तुम उसके प्रवाहमें आनन्दरूप होकर बह जाओगे। हालत खराब है तो क्या है? लाख वर्षकी अँधेरी कोठरी प्रकाश आते ही प्रकाशित हो जाती है। वह लाख वर्षकी अपेक्षा नहीं करती। इसी प्रकार भगवान्के शरण होते ही सारे पाप तुरन्त भस्म हो जाते हैं। मनमें दृढ़ता धारणकर भगवान्का स्मरण करो और अपनेको सर्वतोभावसे उनके चरणोंपर न्योछावर कर देनेकी चेष्टा करो। उनकी दयालुतापर विश्वास करो और यह दृढ धारणा कर लो कि 'मैं उनका हूँ, उनका अभय हस्त मेरे मस्तक-पर सदा ही टिका हुआ है।' यह भावना जितनी ही बढ़ेगी उतना ही आनन्द बढ़ेगा। नाम-जपमें मन ऊबता है तो जबरदस्ती कड़वी दवाकी भाँति ही उसका नियम-पूर्वक सेवन करो। भगवान्के बलपर मनमें धीरज रक्खो। आचरणोंको उज्ज्वल बनानेकी कोशिश करो।

(६)

मनुष्यका कर्त्तव्य

आपका शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य कैसा है? शारीरिक स्वास्थ्यकी अपेक्षा मनुष्यके मानसिक स्वास्थ्यकी अधिक आवश्यकता है। सात्त्विक खुराक तथा राम-नामकी ओषधि मिलती रहनेसे मन स्वस्थ रह सकता है। सच्ची स्वस्थता तो 'स्व' में स्थित होनेसे है। जगत्की ऊँची-नीची घटनाएँ आप निरन्तर देख रहे हैं। आँखोंके सामने परिवर्तनका चक्र निरन्तर घूम रहा है। यहाँ कुछ भी स्थिर, नित्य नहीं है। अस्थिर और अनित्यमें सुख कहाँ? फिर अनित्यके पीछे जीवन लगा देना बुद्धिमानी नहीं कही जा सकती। अतएव सावधानीके साथ जीवनका प्रत्येक पल नित्य परमात्माकी खोजमें बिताना चाहिये। और उस नित्यको प्राप्तकर आनन्दरूप हो जाना चाहिये। यही मनुष्यका एकमात्र परम कर्त्तव्य है। इसके बिना सब कुछ व्यर्थ है।

पाँच प्रकारके पुत्र

१ *न्यासानुबन्धी*—किसीको बहुत ईमानदार और अपना सुहृद् समझकर कोई अपने रुपये-पैसे, गहने, जमीन अथवा दूसरी वस्तुएँ धरोहरके रूपमें उसके पास रखता है। परन्तु कुछ दिनों बाद रखनेवाला जब वापस माँगता है, तब उसे वह वस्तु नहीं मिलती। जिसके यहाँ रक्खी गयी थी वह बेईमानीसे उसे हड़प जाता है और रखकर जानेवालेको अंगूठा दिखा देता है। वह न्यासापहारक—धरोहर हजम करनेवाला कहलाता है। उसे इस पापके फलस्वरूप नरकादिकी प्राप्ति तो होती ही है, धरोहर वापस न पानेवाला आसक्तिवश धरोहरका धन वसूल करनेके लिये उसके यहाँ जन्म लेता है और उसे दुःख दे-देकर मर जाता है।

वह बहुत सुन्दर, गुणवान् और अच्छे-अच्छे लक्षणोंसे युक्त होता है। दिनोंदिन बड़ी भक्ति दिखलाता है, बहुत प्यारा बोलता है, मधुर स्वभावका होता है, बोलनेमें बहुत चतुर और स्नेह बढ़ानेवाला होता है। इस प्रकारकी सन्तानको पाकर माँ-बाप प्रसन्न हो जाते हैं। परन्तु वह स्नेह दिखला-दिखलाकर खेलकी सामग्रियों, अच्छे-अच्छे कपड़ों-गहनों, बीमारीके बहाने चिकित्सा और ओषधियों आदिके द्वारा अपनी धरोहर वसूल करता रहता है और दारुण दुःख देकर छोटी ही उम्रमें मर जाता है। पिता जब 'हाय-हाय' करके रोता है तब वह मानो यों कहकर हँसता है कि—'इसने पूर्वजन्ममें मेरा रक्खा हुआ धन हड़प लिया था, इससे मुझे बड़े-बड़े दुःख उठाकर मरना पड़ा था। आज मैं अपना वही धन लेकर जा रहा हूँ। कौन मेरा पिता है, मैं किसका पुत्र हूँ। अब यह पिशाचकी भाँति रोता और भटकता रहेगा।' इस प्रकार कहकर वह बार-बार हँसता है। और जबतक अपनी धरोहर मिल नहीं जाती—वासना, आसक्ति और प्रतिहिंसाकी वृत्तिसे बार-बार पुत्रके रूपमें जन्म ले-लेकर उसे दुःख दे-देकर मरता है—

'दुःखं दत्त्वा प्रयात्येवं भूत्वा भूत्वा पुनः पुनः।'

२ *ऋणानुबन्धी*—जो मनुष्य किसीसे कर्ज लेकर बेईमानी कर जाता है और चुकानेमें समर्थ होनेपर भी उसे चुकाता नहीं, ऋण देनेवाला अगले जन्मोंमें उसके यहाँ सन्तान होकर जन्म लेता है। वह जन्मसे ही निठुर और निर्दयी होता है। सदा कड़ुआ बोलता है; घरमें छीन-छीनकर अच्छी-अच्छी चीजें खा जाता है। रोकनेपर खीझकर गालियाँ बकता है, माँ-बापकी निन्दा करता है, हृदयमें बड़ी करुणा उत्पन्न करनेवाले और डरा देनेवाले कठोर वचन बोलता है। जूआ खेलता है, चोरी करता है, लूट-लूटकर खाता है, लड़कपनसे ही मौज-शौक, बीमारी, सगाई, विवाह आदिमें खूब खर्च करवाता है। वह कहता है सब कुछ 'मेरा' ही है। पिता-माताको बोलने भी नहीं देता। बोलते हैं तो लातों-घूसों तथा लाठी-डंडोंसे उनकी खबर लेता है। पिता मर जाता है तब माताको इसी प्रकार दुःख देता है। श्राद्ध-दान आदि सत्कर्म कभी नहीं करता और इस प्रकार अपना ऋण वसूल करता है। संसारमें ऐसे ही पुत्र पैदा होते हैं—

'एवंविधाश्च वै पुत्राः प्रभवन्ति महीतले।'

३ *वैरानुबन्धी*—पूर्वजन्ममें वैरभावसे किसीको दुःख पहुँचाया हो तो वह अपना बदला चुकानेके लिये इस जन्ममें पुत्र होकर पैदा होता है। वह लड़कपनसे ही माँ-बापके साथ वैरीका-सा आचरण करता है। खेल-ही-खेलमें पिता-माताको बुरी तरह मारकर हँसता हुआ भाग जाता है। यों बार-बार मारता है, निन्य-

निरन्तर गुस्सेमें भरा हुआ उन्हें जली-कटी सुना-सुनाकर जलाता रहता है। सुखकी नींद कभी नहीं सोने देता। जबतक वे जीते हैं तबतक दुःख-ही-दुःख देता है, प्रत्यक्ष वैरीका-सा बर्ताव करता है और अन्तमें वह दुष्टात्मा अपने पिता-माताको मारकर अपना बदला चुकाकर चला जाता है—

पितरं मारयित्वा च मातरं च ततः पुनः।
प्रयात्येवं स दुष्टात्मा पूर्ववैरानुभावतः॥

४ *उपकारानुबन्धी*—जिसका पूर्वजन्ममें सकामभावसे उपकार किया हो, जिसे सुख पहुँचाया हो, वह सुख देनेके लिये पुत्ररूपमें जन्म लेता है। ऐसा पुत्र बड़ा ही सुशील, प्रिय और सुखदायी होता है। वह जन्मसे लेकर बहुत बड़ी उम्रतक माँ-बापको सुख देता है, उनका प्रिय कार्य करता है। भक्ति और स्नेह-भरे वचनों तथा कार्योंसे सन्तुष्ट करता है। उनकी सेवा करता है। उन्हें अच्छे-अच्छे भोजन कराता है और दान-पुण्य करवाता है। माता-पिताके मरनेपर दुखी होकर स्नेहवश रोता है और श्राद्ध-पिण्डदानादि सब क्रियाओंको श्रद्धापूर्वक करता है और अपना सारा जीवन उनकी कीर्ति-विस्तारमें लगाता है। वह पुत्र होकर इस प्रकार पिता-माताके सन्तोषार्थ ही सब कुछ करता है—

'पुत्रो भूत्वा महाप्राज्ञ अनेन विधिना किल।'

५ *उदासीन*—जो किसी प्रकारका भला-बुरा बदला चुकानेके लिये जन्म नहीं लेता, वह उदासीन पुत्र कहलाता है। वह न कुछ देता है, न लेता है, न किसीपर क्रोधित होता है और न तो सन्तोष प्रकाश करता है। उसकी सभी क्रियाएँ उदासीनकी तरह होती हैं। उसका सारा जीवन उदासीनभावमें ही बीतता है—

'उदासीनेन भावेन सदैव परिवर्तते।'

जैसे पूर्वजन्मोंका बदला चुकानेके लिये ये पुत्र होते हैं, वैसे ही अन्य सम्बन्धी आदि भी होते हैं—

यथा पुत्रस्तथा भार्या पिता माताथ बान्धवाः॥
भृत्याश्चान्ये समाख्याताः पशवस्तुरगास्तथा।
गजा महिष्यो दासाश्च ....॥

पुत्रकी ही तरह पत्नी, पिता, माता, बन्धु-बान्धव, नौकर, गौ, घोड़े, हाथी, भैंस और दास आदि भी पूर्वजन्मके अच्छे-बुरे कर्मोंका फल देने और बदला चुकानेके लिये होते हैं।*

जगत्में कोई मित्र नहीं

या जग मीत न देख्यो कोई।
सकल जगत अपने सुख लाग्यो, दुखमें संग न होई॥
दारा-मीत, पूत-संबंधी, सगरे धनसों लागे।
जब हीं निरधन देख्यो नरकों, संग छाँडि सब भागे॥
कहा कहूँ या मन बौरेकों, इनसों नेह लगाया।
दीनानाथ सकल भय-भंजन, जस ताको बिसराया॥
स्वान-पूँछ ज्यों भयो न सूधो, बहुत जतन मैं कीन्हौ।
नानक लाज बिरदकी राखौ नाम तिहारो लीन्हौ॥

—गुरु नानक

* श्रीसोमशर्मा और उनकी धर्मपत्नी सुमनाका संवाद। पद्मपुराण भूमिखण्ड, अध्याय ११। १२।

काल-तत्त्व

(लेखक—पं० श्रीअम्बाप्रसादजी तिवारी)

काल नामका कोई स्वतन्त्र तत्त्व है अथवा नहीं, और यदि है तो वह प्रकृतिके अन्तर्गत है अथवा उससे भिन्न, अथवा वह पुरुष—परमात्माका ही कोई रूप है, उसका कार्य क्या है तथा उसका स्वरूप कैसा है ? इन बातोंपर हम इस लेखमें श्रीमद्भागवतके आधारपर विचार करेंगे ।

पहले हम यह कह देना चाहते हैं कि श्रीमद्भागवतमें किसी एक स्थानपर कालका सम्पूर्ण वर्णन एकत्रित नहीं है । आवश्यकतानुसार उसका वर्णन सृष्टि-प्रकरण, सांख्य-वर्णन, ईश्वरविभूति-वर्णन आदि प्रसंगोंमें तथा अन्यत्र भी स्थान-स्थानपर आया है । कहीं इसके सम्बन्धमें प्रश्न भी किये गये हैं ।

सृष्टि-प्रकरणमें द्रव्य, कर्म, काल, स्वभाव और जीव—इन पाँच सृष्टि-निर्माणमें कारणभूत मुख्य तत्त्वोंको गिनाकर फिर काल, कर्म और स्वभावके कार्योंका इस प्रकार वर्णन किया गया है—

कालाद् गुणव्यतिकरः परिणामः स्वभावतः ।
कर्मणो जन्म महतः पुरुषाधिष्ठितादभूत् ॥
(२ । ५ । २२)

अर्थात् पुरुषमें अधिष्ठित कालसे प्रकृतिके गुणों (सत्त्व, रज, तम) में व्यतिकर उत्पन्न होता है, स्वभावसे परिणाम—रूपान्तरापत्ति होती है और कर्मसे महत्का जन्म होता है ।

हमें यहाँ कालके सम्बन्धमें ही विचार करना है, परन्तु वह इतना सूक्ष्म और 'स्वभावशक्ति' के पासका है कि उस शक्तिके कार्यका विचार ध्यानमें न रखनेसे सम्भव है कि हम एकके कार्यको दूसरेका कार्य समझ बैठें । इस श्लोकमें कालका कार्य केवल प्रकृतिके गुणोंमें व्यतिकर उत्पन्न करना कहा है । 'व्यतिकर' का अर्थ है क्षोभ । 'क्षुभ संचलने' इस धातुसे क्षोभ शब्द बना है, जिसका अर्थ है हलचल अथवा एक प्रकारका कम्प । इसी प्रकरणमें एक स्थानपर कहा है—

पद्ममम्भश्च तत्कालकृतवीर्येण कम्पितम् ॥
(३ । १० । ५)

अर्थात् (आदिमें उत्पन्न हुआ सृष्टिका उत्पादक) कमल और जल जिसमें वह कमल स्थित था, कालके वीर्यसे 'कम्प' को प्राप्त हुए (यह बात उसी कमलसे उत्पन्न ब्रह्माजीने देखी) । यहाँ कमल शब्दके सम्बन्धमें इतना कह देना उचित जान पड़ता है कि गर्भाशयको भी कमल कहते हैं । स्त्रियोंके गर्भाशयको कमलकी उपमा वैद्यकशास्त्रमें भी दी गयी है । वह कमल जिसे ब्रह्माजीने देखा समस्त सृष्टिका गर्भाशय था । यहाँ कालकृतवीर्यसे कमलका 'कम्पित' होना कहा है ।

एक जगह कहा है:—

दैवात्क्षुभितधर्मिण्यां स्वस्यां योनौ परः पुमान् ।
आधत्त वीर्यं सासूत महत्तत्त्वं हिरण्मयम् ॥
(३ । २६ । १९)

अर्थात् दैव (काल) द्वारा क्षुभित हुए हैं धर्म जिसके, ऐसी अपनी योनि (प्रकृति) में पुरुषने वीर्य (चेतन शक्ति) को धारण कराया और प्रकृतिने महत्तत्त्वको जन्म दिया । यहाँ कालद्वारा प्रकृतिमें 'क्षोभ' उत्पन्न होना कहा है ।

एक स्थानपर कहा है—

प्रकृतेर्गुणसाम्यस्य निर्विशेषस्य मानवि ।
चेष्टा यतः स भगवान् काल इत्युपलक्षितः ॥
(३ । २६ । १७)

अर्थात् प्रकृतिके गुणोंकी समानावस्थामें जिससे

चेष्टा उत्पन्न होती है वह भगवान्—काल इस नामसे उपलक्षित है। यहाँ प्रकृतिके गुणोंमें 'चेष्टा' उत्पन्न होना कालका कार्य कहा है।

इस प्रकार व्यतिकर, कम्प, क्षोभ तथा चेष्टा उत्पन्न करना कालके कार्य कहे गये हैं। ये सब शब्द एक दूसरेके पर्याय-से हैं और एक प्रकारकी हलचलके द्योतक हैं, जो कालद्वारा प्रकृतिके गुणोंमें उत्पन्न होती है। सत्त्व, रज तथा तम—तीनों गुणोंकी साम्यावस्थाका नाम प्रकृति है और जब एक अवस्थामें पड़े-पड़े कालके प्रभावसे गुणोंमें क्षोभ होता है, तब उनकी समानावस्था चली जाती है और वे न्यूनाधिक मात्रामें हो जाते हैं। क्षोभ उत्पन्न होकर गुणोंमें जो परिणाम (रूपान्तर अथवा फल) उत्पन्न होता है वह स्वभावसे होता है (परिणामः स्वभावतः) परन्तु परिणामके होनेमें भी काल लगता है। स्थूलतया समझनेके लिये आमका उदाहरण लीजिये। उसकी गुठलीको पृथ्वीमें डालनेपर कालद्वारा उसके गुणोंमें हलचल आरम्भ होती है, जलादि अन्य पदार्थोंके तथा कालके योगसे अंकुर उत्पन्न होता है, फिर वह बढ़कर वृक्ष होता है। फूल तथा फल कालके योगसे ही आते हैं। फलोंका पकना तथा गिरना भी कालद्वारा ही होता है परन्तु आममें आमका ही फल लगना यह (परिणाम) स्वभावका कार्य है।

सृष्टि-प्रकरणमें बार-बार काल, कर्म और स्वभावके द्वारा वस्तुओंका रूपान्तर कहा गया है, जैसे आदिमें कालवृत्तिसे गुणमयी मायामें भगवान्ने चित्-शक्तिको धारण कराया जिससे महत्तत्त्व उत्पन्न हुआ जिसमें चिदंश, सदंश तथा कालका मिश्रण था, फिर उसका रूपान्तर होकर अहं-तत्त्व उत्पन्न हुआ जिससे सूक्ष्म तथा स्थूल महाभूत, इन्द्रियाँ, इन्द्रियाधिष्ठातृ देवता, मन आदि उत्पन्न हुए; परन्तु अलग-अलग रहनेसे इनकी शक्तियाँ सृष्टि-निर्माण करनेमें समर्थ नहीं हुईं। तब फिर कालनामक शक्तिको धारण करते हुए भगवान्ने उन तत्त्वोंके गणमें चेष्टारूपसे प्रवेश किया जिससे वे सब इकट्ठी हुईं और समष्टि तथा व्यष्टिरूपी ब्रह्माण्डका निर्माण हुआ। इस अण्डमें भी सहस्रों वर्षोंमें काल, कर्म और स्वभावस्थ परमात्माने जीवन दिया, इत्यादि।

उत्पत्तिमें जितनी श्रेणियाँ कही गयी हैं उन सबमें एक-एकमें काल, कर्म और स्वभावका प्रभाव रहा है। इस प्रकार कालका कार्य जारी ही रहता है और एक कार्य होनेपर दूसरा—आगेका कार्य—उसीके योगसे सम्पन्न होता है। इस विश्वब्रह्माण्डके सम्पूर्ण कार्य—उत्पत्ति, स्थिति और लय—कालके योगसे सम्पन्न होते हैं। उसका कार्य प्रतिक्षण जारी रहता है तो भी उसके द्वारा होनेवाले सूक्ष्म प्रभावोंको हम तत्काल अनुभव नहीं करते, परिणामके स्थूलरूप ग्रहण करनेपर ही वह हमारी समझमें आता है।

तत्त्व-परिसंख्यान करनेवाला सर्वमान्य शास्त्र सांख्य है। उसमें प्रकृतिके अन्तर्गत २४ तत्त्व गिनाये हैं जिनमें काल नहीं है। उनमें ईश्वर और स्वभाव भी नहीं हैं परन्तु भागवतकारने सांख्यविद्याके आदिवक्ता कपिल मुनिके द्वारा जो सांख्य भागवतमें कहलाया है उसमें ब्रह्म और काल दोनोंका वर्णन है। यथा—

एतावानेव सङ्ख्यातो ब्रह्मणः सगुणस्य ह।
सन्निवेशो मया प्रोक्तो यः कालः पञ्चविंशकः॥
(३। २६। १५)

अर्थात् सगुण ब्रह्मका (मायामें) सन्निवेश इतना ही है जितना मैंने कहा और काल पचीसवाँ है। इससे पहले भगवान् कपिलने पुरुष और प्रकृति दो तत्त्व कहे। पुरुषको अनादि, आत्मा, निर्गुण, प्रकृतिसे पर, प्रत्यग्धामा, स्वयंज्योति तथा विश्वमें व्यापक कहा, और फिर गुणमयी प्रकृतिका यदृच्छासे प्राप्त होनेपर लीलाके तौरपर ग्रहण कर लेना कहा। इसके पश्चात् प्रकृतिके २४ तत्त्व गिनाये और फिर उपर्युक्त श्लोक

कहा। इस वर्णनसे पाया जाता है कि पहले २४ तत्त्व ही सांख्यको मान्य थे, अन्यथा २४ गिनाकर काल पच्चीसवाँ है ऐसा कहनेकी आवश्यकता नहीं थी। भगवान् कपिल आगे चलकर कहते हैं कि कोई उसे (कालको) पुरुषका प्रभाव कहते हैं, अहंकारसे युक्त तथा प्रकृतिको सेवन करनेवाले मूढ़ जीवको उससे भय होता है। यथा—

प्रभावं पौरुषं प्राहुः कालमेके यतो भयम्।
अहङ्कारविमूढस्य कर्तुः प्रकृतिमीयुषः॥
(३। २६। १६)

इसके बाद फिर भगवान् कपिलदेवजी कहते हैं—

अन्तः पूरुषरूपेण कालरूपेण यो बहिः।
समन्वेत्येष सत्त्वानां भगवानात्ममायया॥
(३। २६। १८)

अर्थात् भगवान् संसारके सम्पूर्ण प्राणियोंमें अंदरसे पुरुषरूप होकर तथा बाहर कालरूपसे ओतप्रोत अथवा व्याप्त हैं। यहाँ ईश्वरको ही प्राणियोंके अंदर पुरुषरूपसे तथा बाहर कालरूपसे व्याप्त होना कहा। अर्थात् कालको ईश्वररूप ही कहा। इसका कारण यह है कि भागवतके मतमें सृष्टिके सम्पूर्ण तत्त्व, जिनको रचनाके सम्बन्धमें विचार करते हुए पृथक्-पृथक् बताया है, ईश्वरसे भिन्न नहीं हैं। यथा—

द्रव्यं कर्म च कालश्च स्वभावो जीव एव च।
वासुदेवात्परो ब्रह्मन्न चान्योऽर्थोऽस्ति तत्त्वतः॥
(२। ५। १४)

अर्थात् द्रव्य, कर्म, काल, स्वभाव और जीवरूपी भिन्न-भिन्न अर्थ (सृष्टि-निर्माणके कारण) वस्तुतः वासुदेव अर्थात् चैतन्यसे भिन्न नहीं है। तथा—

द्रव्यं कर्म च कालश्च स्वभावो जीव एव च।
यदनुग्रहतः सन्ति न सन्ति यदुपेक्षया॥
(२। १०। १२)

अर्थात् द्रव्य, कर्म, काल, स्वभाव और जीव उस परमात्माके अनुग्रहसे (कार्यक्षम) होते हैं और यदि वह इनकी उपेक्षा करे तो नहीं होते। सबसे पहला श्लोक काल, कर्म और स्वभावके कार्योंके सम्बन्धमें जो हमने उद्धृत किया है उसमें भी पुरुषाधिष्ठितात् पद आया है अर्थात् पुरुषमें अधिष्ठित काल आदिसे क्षोभ आदि कार्य होते हैं। इसके पश्चात् भी सृष्टिनिर्माणके सम्बन्धमें कहते हुए यह कहा गया है कि जब प्रकृतिके जड तत्त्वोंसे सृष्टि निर्मित नहीं हुई तब भगवान्ने अपनी चित्-शक्तिके द्वारा उनमें प्रवेश किया और निर्माणकार्य आरम्भ हुआ। इसी प्रकरणमें कहा गया है कि अपनी मायाके द्वारा यदृच्छासे प्राप्त काल, कर्म और स्वभावको उस मायाके ईशने विविध (बहुरूप) होनेकी इच्छासे ग्रहण किया। इस प्रकार काल गुण-क्षोभक स्वभाववाला, माया अथवा प्रकृतिके अन्तर्गत है। परन्तु वह इतने महत्त्वका तत्त्व है कि उसको पुरुषका प्रभाव कहा है और उसको कारण मानकर 'कालकृत दशविध सर्ग' इस नामसे सृष्टिप्रकरणमें उसका वर्णन किया गया है। चैतन्य तत्त्व ईश्वर यद्यपि इसकी अपेक्षा नहीं करता तो भी सृष्टिनिर्माण आदिमें उसका सहयोग अवश्य रहता है। ईश्वरके विराट् रूप अथवा वैष्णवी मायाकी विभूतियोंमें उसको ईश्वरका धनुष कहा गया है, 'कालरूपं धनुः शार्ङ्गम्' (१२। ११। १५)। प्रलयकालमें वह 'कालाग्नि' 'रुद्रात्मा' का स्वरूप धारण करता है। मायाके अन्तर्गत होनेसे वह जड हो, परन्तु चेतनके संयोगसे वह 'भगवान् काल' इस नामसे कहा जाता है। और प्राणियोंके अंदर पुरुषरूपसे तथा बाहर काल (लव-निमेषादि) रूपसे वह उनकी सम्पूर्ण क्रियाओंका नियन्त्रण करता है।

अब हम कालके सम्बन्धमें कुछ और उक्तियोंपर विचार करते हैं जिनसे उसके महत्त्व तथा उसके स्वरूपपर अधिक प्रकाश पड़ता है।

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके प्रादुर्भाव होनेपर देवकीजी-ने उनकी स्तुति करते हुए कहा है—

नष्टे लोके द्विपरार्धावसाने
महाभूतेष्वादिभूतं गतेषु।
व्यक्तेऽव्यक्तं कालवेगेन याते
भवानेकः शिष्यते शेषसंज्ञः॥
योऽयं कालस्तस्य तेऽव्यक्तबन्धो
चेष्टामाहुश्चेष्टते येन विश्वम्।
निमेषादिर्वत्सरान्तो महीयां-
स्तं त्वेशानं क्षेमधाम प्रपद्ये॥
(१०।३।२५-२६)

अर्थात् द्विपरार्ध कालके अवसान होनेपर—महा-प्रलयमें, लोकोंके नष्ट होनेपर और महाभूतोंके उनके कारणभूतमें प्राप्त होनेपर तथा कालके वेगसे व्यक्त पदार्थोंके अव्यक्तमें लीन होनेपर केवल आप शेष नामधारी रहते हैं। यह सब करनेवाला जो यह निमेषादि-वत्सरान्त महान् काल है वह, हे अव्यक्त-बन्धो! आपकी चेष्टा है, जिसके द्वारा यह सब विश्व चेष्टा करता है, उस आप क्षेमधामकी मैं शरण हूँ।

यहाँ कालको ईश्वरकी चेष्टा और उसके द्वारा विश्वका चेष्टित होना कहा गया है। एक अन्य स्तुति-में कहा गया है—

कालो दैवं कर्म जीवः स्वभावो
द्रव्यं क्षेत्रं प्राण आत्मा विकारः।
तत्संघातो बीजरोहप्रवाह-
स्त्वन्मायैषा तन्निषेधं प्रपद्ये॥
(१०।६३।२६)

काल, दैव, कर्म, जीव, स्वभाव, द्रव्य, क्षेत्र, प्राण, आत्मा (अहंकार), संघात (षोडश विकारोंका इकट्ठा होना), बीजरोहप्रवाह (बीजरूपी कर्म, उससे अंकुर-रूपी देह, उससे फिर बीजरूपी कर्म—यह प्रवाह) आपकी माया है, उस मायाका निषेध (नाश) जिसमें होता है उस (आप) के मैं शरण हूँ, यहाँ कालको स्पष्ट शब्दोंमें माया कहा है।

सृष्टिके लयकी प्रक्रिया बतलाते हुए ११वें स्कन्धके २४ वें अध्यायमें कहा गया है कि वह महान् (जिसमें बहुत-से पदार्थोंका लय कहा जा चुका है) अपने गुणों-में लय होता है, गुण साम्यावस्थावाली प्रकृतिमें लय होते हैं और वह (अव्यक्त-प्रकृति) कालमें लय होती है। काल मायामय—जीव (सबको जीवन देनेवाले मायामय-सगुण ब्रह्म) में लय होता है और वह आत्मामें लय होता है। आत्मा, जो सृष्टिनिर्माण तथा लयसे लक्षित होता है, केवल आत्मस्थ रहता है।

स लीयते महान् स्वेषु गुणेषु गुणवत्तमः।
तेऽव्यक्ते सम्प्रलीयन्ते तत्काले लीयतेऽव्यये॥
कालो मायामये जीवे जीव आत्मनि मय्यजे।
आत्मा केवल आत्मस्थो विकल्पापायलक्षणः॥
(११।२४।२६-२७)

यहाँ कालका मायामय जीवमें लय होना कहा है। विदुरने मैत्रेयसे प्रश्न किया था कि आपने जो अद्‍भुत-कर्मा तथा बहुरूप हरिको कालाख्य कहा उसका स्वरूप जैसा है, वह वर्णन कीजिये। तब भगवान् मैत्रेयने कहा—

गुणव्यतिकराकारो निर्विशेषोऽप्रतिष्ठितः।
पुरुषस्तदुपादानमात्मानं लीलयाऽसृजत्॥
विश्वं वै ब्रह्मतन्मात्रं संस्थितं विष्णुमायया।
ईश्वरेण परिच्छिन्नं कालेनाव्यक्तमूर्तिना॥
(३।१०।११-१२)

अर्थात् गुणोंमें व्यतिकर करनेवाला, निर्विशेष (अखण्ड), अप्रतिष्ठित (जो कहीं भी नहीं ठहरता—आद्यन्तशून्य) ऐसा जो काल है, उसके रहनेके लिये पुरुषने अपने आपको (विराट्‍रूपमें) लीलाद्वारा सृजा—यह सम्पूर्ण विश्व प्रलयकालमें विष्णुमायाके द्वारा ब्रह्मतन्मात्रामें लीन था, अव्यक्तमूर्ति कालके द्वारा ईश्वरने

उसे पृथक् प्रकाशित किया। यह कालका स्वरूप है—वह गुणोंमें व्यतिकर करनेवाला है, उससे प्रकृतिके गुणोंको चेष्टा मिलती है, वह अखण्ड है—गणनाके लिये लव-निमेषादि उसके खण्ड कल्पित किये जाते हैं परन्तु वह सदा बहता रहनेवाला आदि तथा अन्तसे शून्य है। उसका उपादान—रहनेका स्थान, यह सब विश्व ब्रह्माण्ड है, वह अव्यक्त है—स्थूल इन्द्रियोंका विषय नहीं है—उनके द्वारा प्रतीतिमें नहीं आता, वह 'व्यक्तभुक्' और 'विभु' भी कहा गया है, अर्थात् जितने व्यक्त पदार्थ हैं उनको भोगनेवाला—उनका अन्त करनेवाला और व्यापक है। यह सम्पूर्ण विश्व जब लयको प्राप्त हो जाता है तब ईश्वर इसी कालशक्तिकी सहायतासे उसे पुनः पृथक् प्रकाशित करते हैं—

तीसरे स्कन्धके आठवें अध्यायमें सर्वोत्कृष्ट नारायण स्वरूपका वर्णन करते हुए कहा गया है कि—

सोऽन्तःशरीरेऽर्पितभूतसूक्ष्मः
कालात्मिकां शक्तिमुदीरयाणः।
उवास तस्मिन्सलिले पदे स्वे
यथानलो दारुणि रुद्धवीर्यः॥
चतुर्युगानां च सहस्रमप्सु
स्वपन्स्वयोदीरितया स्वशक्त्या।
कालाख्ययासादितकर्मतन्त्रो
लोकानपीतान् ददृशे स्वदेहे॥
(३।८।११-१२)

अर्थात् प्रलयकालमें सब भूत सूक्ष्म परमाणुओंके उस नारायणके शरीरके अंदर अर्पित—लय हो जानेपर वह कालात्मिका शक्तिको (फिरसे सृष्टिकाल आनेपर उद्बोधन करनेके लिये) प्रेरणा करके उस अपने स्थान जलमें काष्ठमें रुद्ध अग्निके समान रुद्धवीर्य होकर रहा। एक हजार चतुर्युगियोंतक जलमें सोनेपर अपने स्वयंके द्वारा प्रेरित की हुई अपनी ही काल नामकी शक्तिके द्वारा कर्मतन्त्र (कर्मसमूह) को प्राप्त करके (सम्पूर्ण) लोकोंको अपने (स्थूल अंशमें सम्पूर्ण चिदंश पिण्डीभूत हुए) देहमें देखा।

सृष्टिकालकी कोलाहलमयी अवस्थाके उपरान्त यह रात्रिकी सुनसान तमोगुणी अवस्थाका वर्णन है जिसमें सब शक्तियाँ ब्रह्ममें लीन हो जाती हैं। परन्तु कालशक्ति उस समय भी काम करती रहती है और प्रलयकालके अन्त होनेपर उसके योगसे फिर सृष्टिकार्य आरम्भ होता है। इस प्रकार काल एक महान् प्रवाह है, जिसका आदि-अन्त नहीं है। समस्त विश्वब्रह्माण्ड कालकृत उत्पत्ति, स्थिति तथा लयकी भिन्न-भिन्न अवस्थाओंमें बहता रहता है और यह क्रम निरन्तर जारी रहता है।

तीसरे स्कन्धके उनतीसवें अध्यायमें भगवान् कपिलसे उनकी माताने कुछ प्रश्न किये थे। उनमें कालके सम्बन्धमें भी यह प्रश्न किया था कि 'पर पदार्थोंसे भी परे आप (ईश्वररूपी काल) का, जिसको हेतु मानकर लोग अच्छे कर्म करते हैं' स्वरूप कहिये (३।२९।४)। इसके उत्तरमें भगवान् कपिलने अत्यन्त सुन्दर वर्णन कालके स्वरूप तथा उसके कार्योंका किया है। पाठकोंके लाभार्थ उसको यहाँ देकर हम इस लेखको समाप्त करेंगे। कहा गया है—

एतद्भगवतो रूपं ब्रह्मणः परमात्मनः।
परं प्रधानं पुरुषं दैवं कर्म विचेष्टितम्॥
रूपभेदास्पदं दिव्यं काल इत्यभिधीयते।
भूतानां महदादीनां यतो भिन्नदृशां भयम्॥
योऽन्तः प्रविश्य भूतानि भूतैरत्त्यखिलाश्रयः।
स विष्ण्वाख्योऽधियज्ञोऽसौ कालः कलयतां प्रभुः॥
न चास्य कश्चिद्दयितो न द्वेष्यो न च बान्धवः।
आविशत्यप्रमत्तोऽसौ प्रमत्तं जनमन्तकृत्॥
यद्भयाद्वाति वातोऽयं सूर्यस्तपति यद्भयात्।
यद्भयाद्वर्षते देवो भगणो भाति यद्भयात्॥
यद्वनस्पतयो भीता लताश्चौषधिभिः सह।
स्वे स्वे कालेऽभिगृह्णन्ति पुष्पाणि च फलानि च॥

स्रवन्ति सरितो भीता नोत्सर्पत्युदधिर्यतः।
अग्निरिन्धे सगिरिभिर्भूर्न मज्जति यद्भयात्॥
नभो ददाति श्वसतां पदं यन्नियमाददः।
लोकं स्वदेहं तनुते महान् सप्तभिरावृतम्॥
गुणाभिमानिनो देवाः सर्गादिष्वस्य यद्भयात्।
वर्तन्तेऽनुयुगं येषां वश एतच्चराचरम्॥
सोऽनन्तोऽन्तकरः कालोऽनादिरादिकृदव्ययः।
जनं जनेन जनयन्मारयन्मृत्युनान्तकम्॥
(३ । २९ । ३६-४५)

अर्थात् यह सब जगत् प्रधान (प्रकृति), पुरुष (जीव), पर (प्रकृति और पुरुषका नियामक), दैव (ईश्वरेच्छा), कर्म (जीवादृष्ट) तथा विचेष्टित (नाना चेष्टायुक्त स्वभाव) भगवान्–(सगुण) ब्रह्म परमात्मा–का रूप है। वस्तुओंमें रूपभेद करनेवाला तथा दिव्य (अद्भुत प्रभाववाला) काल इस नामसे कहाता है। जिस (काल) से महदादि महाभूतोंको तथा भेददृष्टि रखनेवालोंको (इस जगत्को ईश्वरसे भिन्न देखनेवालोंको) भय होता है। जो (काल) सम्पूर्ण पदार्थोंका आश्रय है तथा भूतप्राणियोंके अंदर प्रवेश करके महाभूतोंके द्वारा उनको खा जाता है वह विष्णुनामधारी, यज्ञ फलका देनेवाला काल अन्य कलन करनेवालोंका (प्रभावशाली शक्तियोंका–ब्रह्मादिकोंका) भी नियन्ता है। न कोई उसका प्यारा है, न वह किसीसे द्वेष करता है और न कोई उसका बन्धु है। वह अप्रमत्त (सावधान) रहता हुआ प्रमत्त (असावधान) जनोंका अन्त करनेवाला है। जिसके भयसे यह वायु बहता है, जिसके भयसे सूर्य तपता है, जिसके भयसे देव (इन्द्र) वर्षा करता है, जिसके भयसे तारागण प्रकाश करते हैं। जिसके भयसे वनस्पतियाँ, लताएँ तथा ओषधियाँ अपने-अपने समयपर पुष्प तथा फल देती हैं। नदियाँ जिसके डरसे बहती हैं, जिसके भयसे समुद्र अपना स्थान नहीं छोड़ता, अग्नि जलता तथा प्रकाश करता है तथा पर्वतोंसहित भूमि जिसके डरसे डूबती नहीं है। जिसके नियमसे आकाश श्वास लेनेवालोंको अवकाश देता है और महान् (महत्तत्त्व=सृष्टिके आदिमें प्रकृति और पुरुषका संयोग होनेपर सबसे प्रथम उत्पन्न हुआ जगत्का अंकुर) स्वदेहको (प्रकृति, अहङ्कार और पञ्च महाभूत ऐसे) सात पदार्थोंसे घिरे हुए लोकके रूपमें विस्तारित करता है। गुणाभिमानी देवता (गुणों—विषयोंको ग्रहण करनेवाली दश इन्द्रियों तथा मन, बुद्धि, चित्त और अहङ्कारके अभिमानी देवता अग्नि, वरुण, अश्विनीकुमार आदि) जिनके वश यह चराचर विश्व है, वे इस जगत्के सृजन आदिमें जिसके भयसे पहले युगके समान अपना कार्य करते हैं। वह अनन्त (सबका) अन्त करनेवाला, काल, अनादि, (सबका) आदि करनेवाला, कभी व्यय न होनेवाला, जनोंको जनोंके द्वारा जन्म देनेवाला (पिताके द्वारा पुत्र) तथा मृत्युके द्वारा यमको भी मारनेवाला है।

यह पहले कहा गया है कि भगवान् प्राणियोंके बाहर काल (लव-निमेषादि) रूपसे प्राणियोंकी सम्पूर्ण क्रियाओंका नियन्त्रण करता है। लव-निमेषादि कालके विभाग कल्पित किये गये हैं। ये विभाग क्या हैं इसके सम्बन्धमें फिर कभी विचार किया जा सकता है।

व्रत-परिचय

(लेखक—पं० श्रीहनूमान्‌जी शर्मा)

पूर्वाङ्ग

व्रतोंसे अनेक अंशोंमें प्राणीमात्रका और विशेषकर मनुष्योंका बड़ा भारी उपकार होता है। तत्त्वदर्शी महर्षियोंने इनमें विज्ञानके सैकड़ों अंश संयुक्त कर दिये हैं। ग्रामीण या देहाती मनुष्यतक इस बातको जानते हैं कि अरुचि, अजीर्ण, उदरशूल, मलावरोध, सिरदर्द और ज्वर-जैसे स्वतःसम्भूत साधारण रोगोंसे लेकर कोढ़, उपदंश, जलोदर, अग्निमान्द्य, क्षतक्षय और राजयक्ष्मा-जैसी असाध्य या प्राणान्तक महाव्याधियाँ भी व्रतोंके प्रयोगसे निर्मूल हो जाती हैं और अपूर्व तथा स्थायी आरोग्यता प्राप्त होती है।

यद्यपि रोग भी पाप हैं और ऐसे पाप व्रतोंसे दूर होते ही हैं, तथापि कायिक, वाचिक, मानसिक और संसर्ग-जनित पाप, उपपाप और महापापादि भी व्रतोंसे दूर होते हैं। उनके समूल नाशका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि व्रतारम्भके पहले पापयुक्त प्राणियोंका मुख हतप्रभ रहता है और व्रतकी समाप्ति होते ही वह सूर्योदयके कमलकी तरह खिल जाता है।

भारतमें व्रतोंका सर्वव्यापी प्रचार है। सभी श्रेणीके नर-नारी सूर्य-सोम-भौमादिके एकभुक्तसाध्य व्रतसे लेकर एकाधिक कई दिनोंतकके अन्नपानादिवर्जित कष्टसाध्य व्रतोंतकको बड़ी श्रद्धासे करते हैं। इनके फल और महत्त्व भी प्रायः सर्वज्ञात हैं। फिर भी यह सूचित कर देना अत्युक्ति न होगा कि 'मनुष्योंके कल्याणके लिये व्रत स्वर्गके सोपान अथवा संसार-सागरसे तार देनेवाली प्रत्यक्ष नौका हैं।'

व्रतोंके प्रभावसे मनुष्योंकी आत्मा शुद्ध होती है। सङ्कल्पशक्ति बढ़ती है। बुद्धि, विचार, चतुराई या ज्ञान-तन्तु विकसित होते हैं। शरीरके अन्तस्तलमें परमात्मा-के प्रति भक्ति, श्रद्धा और तल्लीनताका सञ्चार होता है। व्यापार-व्यवसाय, कला-कौशल, शास्त्रानुसन्धान और व्यवहारकुशलताका सफल सम्पादन उत्साहपूर्वक किया जाता है और सुखमय दीर्घ जीवनके आरोग्य साधनोंका स्वतः सञ्चय हो जाता है। ऐसा दूसरा कौन-सा साधन है जिसके करनेसे एकसे ही अनेक लाभ हों।

यही सब सोचकर 'कल्याण'के पाठकोंको 'व्रत-परिचय' भेंट किया जाता है। ईश्वर सुयोग देते रहेंगे तो इसमें प्रतिमास उस महीनेके सभी व्रत यथाक्रम प्रकाशित होंगे और उनमें व्रतसम्बन्धी बातोंका समावेश संक्षेपमें रहेगा। यह अवश्य ध्यान रहना चाहिये कि पूर्वाङ्गमें जो विधि-विधान या नियमादि दिये हैं, वे सब आगेके व्रतोंके लिये उपयोगी हैं। अतः व्रत करनेवालों-को चाहिये कि वे व्रतारम्भके पहले इनका मनन अवश्य कर लिया करें।

(१) मनुष्योंके हितके लिये तपोधन महर्षियोंने अनेक साधन नियत किये हैं; उनमें एक साधन व्रत भी है।

(२) 'निरुक्त'में व्रतको कर्म सूचित किया है और 'श्रीदत्त'ने अभीष्ट कर्ममें प्रवृत्त होनेके सङ्कल्पको व्रत बतलाया है। इनके सिवा अन्य आचार्योंने पुण्य-प्राप्तिके लिये किसी पुण्य तिथिमें उपवास करने या किसी उपवासके कर्मानुष्ठानद्वारा पुण्य सञ्चय करनेके सङ्कल्पको व्रत सूचित किया है।

(३) मनुष्य-जीवनको सफल करनेके कामोंमें व्रतकी बड़ी महिमा मानी गयी है। 'देवल'का कथन

है कि व्रत और उपवासके नियम-पालनसे शरीरको तपाना ही तप है। व्रत अनेक हैं और अनेक व्रतोंके प्रकार भी अनेक हैं। यहाँ उनका कुछ उल्लेख किया जाता है।

(४) लोकप्रसिद्धिमें व्रत और उपवास दो हैं और ये कायिक, वाचिक, मानसिक, नित्य, नैमित्तिक, काम्य, एकभुक्त, अयाचित, मितभुक्, चान्द्रायण और प्राजापत्यके रूपमें किये जाते हैं। इनके निम्नलिखित प्रकार हैं।

(५) वास्तवमें व्रत और उपवास दोनों एक हैं, अन्तर यह है कि व्रतमें भोजन किया जा सकता है और उपवासमें निराहार रहना पड़ता है। इनके कायिकादि तीन भेद हैं—(१) शस्त्राघात, मर्माघात और कार्यहानि आदिजनित हिंसाके त्यागसे 'कायिक', (२) सत्य बोलने और प्राणीमात्रमें निर्वैर रहनेसे 'वाचिक' और (३) मनको शान्त रखनेकी दृढ़तासे 'मानसिक' व्रत होता है।

(६) पुण्यसञ्चयके एकादशी आदि 'नित्य' व्रत, पापक्षयके चान्द्रायणादि 'नैमित्तिक' व्रत और सुख-सौभाग्यादिके वटसावित्री आदि 'काम्य' व्रत माने गये हैं। इनमें द्रव्यविशेषके भोजन और पूजनादिकी साधनाके द्वारा साध्य व्रत 'प्रवृत्तिरूप' होते हैं और केवल उपवासादि करनेके द्वारा साध्य व्रत 'निवृत्तिरूप' हैं। इनका यथोचित उपयोग फल देता है।

(७) एकभुक्त व्रतके—स्वतन्त्र, अन्याङ्ग और प्रतिनिधि तीन भेद हैं। (१) दिनार्ध व्यतीत होनेपर 'स्वतन्त्र' एकभुक्त होता है, (२) मध्याह्नमें 'अन्याङ्ग' किया जाता है, और (३) 'प्रतिनिधि' आगे-पीछे भी हो सकता है।

(८) 'नक्तव्रत' रातमें किया जाता है; उसमें यह विशेषता है कि गृहस्थ, रात्रि होनेपर उस व्रतको करें और संन्यासी तथा विधवा सूर्य रहते हुए।

(९) 'अयाचित व्रत'में विना माँगे जो कुछ मिले उसीको निषेधकाल बचाकर दिन या रातमें जब अवसर हो तभी (केवल एक बार) भोजन करे और मितभुक्में प्रतिदिन दस ग्रास (या एक नियत प्रमाणका) भोजन करे। अयाचित और मितभुक् दोनों व्रत परम सिद्धि देनेवाले हैं।

(१०) चन्द्रकी प्रसन्नता, चन्द्रलोककी प्राप्ति अथवा पापादिकी निवृत्तिके लिये 'चान्द्रायण' व्रत किया जाता है। यह चन्द्रकलाके समान बढ़ता और घटता है। जैसे अमावसके पीछेकी शुक्ल प्रतिपदाको १, द्वितीयाको २ और तृतीयाको ३. इस क्रमसे बढ़ाकर पूर्णिमाको १५ ग्रास भोजन करे। फिर पूर्णिमाके पीछेकी कृष्ण प्रतिपदाको १४, द्वितीयाको १३ और तृतीयाको १२ के उत्क्रमसे घटाकर चतुर्दशीको १ और अमावसको निराहार रहनेसे एक चान्द्रायण होता है। यह 'यवमध्य' है। इसका दूसरा प्रकार यह है—

(११) अमावसके पीछेकी शुक्ल प्रतिपदाको १४, द्वितीयाको १३ और तृतीयाको १२ के उत्क्रमसे घटाकर पूर्णिमाको १ और पूर्णिमाके पीछेकी कृष्ण प्रतिपदाको १, द्वितीयाको २ और तृतीयाको ३ के क्रमसे बढ़ाकर अमाके पहलेकी चतुर्दशीको १४ ग्रास भोजन करे और अमाको निराहार रहे। यह दूसरा चान्द्रायण है। इसको 'पिपीलिकातनु' कहते हैं।

(१२) प्राजापत्य १२ दिनोंमें होता है। उसमें व्रतारम्भके पहले ३ दिनोंमें प्रतिदिन २२ ग्रास भोजन करे। फिर ३ दिनतक प्रतिदिन २६ ग्रास भोजन करे। उसके बाद ३ दिन आपाचित (पूर्ण पकाया हुआ) अन्न २४ ग्रास भोजन करे और फिर ३ दिन सर्वथा निराहार रहे। इस प्रकार १२ दिनमें एक

'प्राजापत्य' होता है। ग्रासका प्रमाण जितना मुँहमें आ सके—है।

(१३) उपर्युक्त व्रत मास, पक्ष, तिथि, वार, नक्षत्र, योग, करण, समय और देवपूजामें सहयोग रखते हैं। यथा—वैशाख, भाद्रपद, कार्तिक और माघके 'मास' व्रत। शुक्ल और कृष्णके 'पक्ष' व्रत। चतुर्थी, एकादशी और अमा आदिके 'तिथि' व्रत। सूर्य, सोम और भौमादिके 'वार' व्रत। श्रवण, अनुराधा और रोहिणी आदिके 'नक्षत्र' व्रत। व्यतीपातादिके 'योग' व्रत। भद्रा आदिके 'करण' व्रत। और गणेश, विष्णु आदिके 'देव' व्रत स्वतन्त्र व्रत हैं।

(१४) बुधाष्टमी—सोम, भौम, शनि, त्रयोदशी और भानुसप्तमी आदि 'तिथि-वार' के, चैत्र शुक्ल नवमी भौम, पुष्य, मेषार्क और मध्याह्नकी 'रामनवमी' तथा भाद्रपद कृष्णपक्ष अष्टमी बुधवार रोहिणी सिंहार्क और अर्धरात्रिकी 'कृष्णजन्माष्टमी' आदिके सामूहिक व्रत हैं। कुछ व्रत ऐसे हैं, जिनमें उपर्युक्त तिथिवारादिके विभिन्न सहयोग यदा-कदा प्राप्त होते हैं। इन सबके उपयोगी वाक्योंका यत्किञ्चित् दिग्दर्शन अथवा अनुसन्धान आगे किया गया है, विशेष विधान हर महीनेमें व्रतोंके साथ बतलाया जायगा।

(१५) यह अवश्य स्मरण रहना चाहिये कि 'व्रत-परिचय' व्रतराज, व्रतार्क, मासस्तबक, जयसिंह-कल्पद्रुम और मुक्तकसङ्ग्रह आदि प्राचीन और प्रामाणिक ग्रन्थोंके आधारसे लिखा जा रहा है। और इसके प्रमाणवाक्य भी उक्त ग्रन्थोंसे ही उद्धृत किये हैं—जो उनमें भी अति प्राचीन कालके श्रुति, स्मृति, पुराण और धर्मशास्त्रोंसे लिये हुए हैं और उनमेंसे अधिकांश ग्रन्थ इस समय कुछ तो अस्त-व्यस्त या रूपान्तरित हो गये हैं और कुछ सर्वथा नष्टप्राय या दुष्प्राप्य हैं। व्रतोंका बहुत ज्यादा वर्णन पुराणोंमें है परन्तु हस्तलिखित और मुद्रित पुराणोंमें कइयोंमें इतना अन्तर हो गया कि बहुत-से व्रत जो ब्रह्म, विष्णु या वराहादिमें बतलाये जाते हैं, वे उनमें मिलते ही नहीं। अतएव 'व्रत-परिचय'में प्रत्येक वाक्यके साथ जो नाम दिये गये हैं, वे सब उपर्युक्त ग्रन्थोंके ही हैं और विशेषज्ञ उनके मूल ग्रन्थोंको देखनेकी अपेक्षा उपर्युक्त सङ्ग्रह-ग्रन्थोंमें ही देख सकते हैं। पृष्ठ-संख्या इस कारण नहीं दी है कि बहुत-से वाक्य एक ही ग्रन्थमें अनेक जगह आये हैं।

तिथ्यादिका निर्णय

(१६) सूर्योदयकी तिथि यदि दोपहरतक न रहे, तो वह 'खण्डा' होती है, उसमें व्रतका आरम्भ और समाप्ति दोनों वर्जित हैं। और सूर्योदयसे सूर्यास्त-पर्यन्त रहनेवाली तिथि 'अखण्डा' होती है। यदि गुरु और शुक्र अस्त न हुए हों, तो उसमें व्रतका आरम्भ अच्छा है। जिस व्रतसम्बन्धी कर्मके लिये शास्त्रोंमें जो समय नियत है, उस समय यदि व्रतकी तिथि मौजूद हो तो उसी दिन उस तिथिके द्वारा व्रत-सम्बन्धी कार्य ठीक समयपर करना चाहिये। तिथिका क्षय और वृद्धि व्रतका निश्चय करनेमें कारण नहीं हैं।

(१७) जो तिथि व्रतके लिये आवश्यक नक्षत्र

१. उदयस्था तिथिर्या हि न भवेद्दिनमध्यगा।
सा खण्डा न व्रतानां स्यात्तत्रारम्भः समापनम्॥
(सत्यव्रत)

२. अखण्डवर्तिमार्तण्डा या ह्यखण्डा भवेत्तिथिः।
व्रतप्रारम्भणं तस्यामनष्टगुरुशुक्रयुक्॥
(वृद्ध वसिष्ठ)

३. कर्मणो यस्य यः कालस्तत्कालव्यापिनी तिथिः।
तया कर्माणि कुर्वीत ह्रासवृद्धी न कारणम्॥
(वृद्ध याज्ञवल्क्य)

४. या तिथिर्ऋक्षसंयुक्ता या च योगेन नारद।
मुहूर्त्तत्रयमात्रापि सापि सर्वा प्रशस्यते॥
(गोभिल)

और योगसे युक्त हो, वह यदि तीन मुहूर्त्त हो तो भी वह सम्पूर्ण श्रेष्ठ होती है । जन्म और मरणमें तथा व्रतादिकी पारणामें तात्कालिक तिथि ग्राह्य मानी है; किन्तु बहुत-से व्रतोंकी पारणामें विशेष निर्णय किया जाता है, वह यथास्थान है । जिसे तिथिमें सूर्य उदय या अस्त हो, वह तिथि स्नान-दान-जपादिमें सम्पूर्ण उपयोगी होती है । पूर्वाह्ण देवोंका, मध्याह्न मनुष्योंका और अपराह्ण पितरोंका समय है । जिसका जो समय हो, उसका पूजनादि कर्म उसी समयमें करना चाहिये ।

(१८) आजके सूर्योदयसे कलके सूर्योदयतक एक दिन होता है । उसके दिन और रात्रि दो भाग हैं । पहले भाग (दिन) में प्रातःसन्ध्या और मध्याह्न-सन्ध्या तथा दूसरे भाग (रात्रि) में सायाह्न और निशीथ हैं । इनके अतिरिक्त पूर्वाह्ण, मध्याह्न, अपराह्ण और सायाह्नरूपमें ४ भाग माने हैं । व्यासजीने दिन-भरके पाँच भाग निश्चित किये हैं ।

(१९) सूर्योदयसे तीन-तीन मुहूर्त्तके प्रातःकाल, सङ्गव, मध्याह्न, अपराह्ण और सायाह्न—ये पाँच भाग हैं । त्रिंशद्‌घटी प्रमाणके दिनमानका पंद्रहवाँ हिस्सा एक मुहूर्त्त होता है । यदि दिनमान ३४ घड़ीके हों, तो सवा दो और २६ के हों, तो पौने दोका मुहूर्त्त होता है । निर्णयमें मुहूर्त्त और उपर्युक्त दिनविभाग आवश्यक होते हैं ।

(२०) प्रदोषकाल सूर्यास्तके बाद दो घड़ीतक माना गया है और उषाकाल सूर्योदयसे पहले रहता है । दानादिमें पूर्वाह्ण देवोंका, मध्याह्न मनुष्योंका, अपराह्ण पितरोंका और सायाह्न राक्षसोंका समय है । अतः यथायोग्य कालमें दानादि देनेसे यथोचित फल मिलता है ।

(२१) व्रतके अधिकारी कौन हैं ? इस विषयमें धर्मशास्त्रोंकी आज्ञा है कि जो अपने वर्णाश्रमके आचार-विचारमें रत रहते हों, निष्कपट, निर्लोभ, सत्यवादी, सम्पूर्ण प्राणियोंका हित चाहनेवाले, वेदके अनुयायी, बुद्धिमान् तथा पहलेसे निश्चय करके यथावत् कर्म करनेवाले हों ऐसे मनुष्य व्रताधिकारी होते हैं ।

(२२) उपर्युक्त गुणसम्पन्न ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, स्त्री और पुरुष सभी अधिकारी हैं । केवल सौभाग्यवती स्त्रियोंके लिये यह लिखा है कि पतिकी सेवाके सिवा उनके लिये न कोई यज्ञ है, न व्रत है और न उपासना है । वे पतिकी सेवासे ही स्वर्गादि अभीष्ट लोकोंमें जा सकती हैं । फिर भी वे चाहें तो पतिकी अनुमतिसे करें; क्योंकि पत्नी पतिकी आज्ञा मानने-

१. पारणे मरणे नृणां तिथिस्तात्कालिकी स्मृता ॥ (नारदीय)

२. यां तिथिं समनुप्राप्य ह्युदयं याति भास्करः ।
सा तिथिः सकला ज्ञेया स्नानदानजपादिषु ॥ (देवल)

३. पूर्वाह्णो वै देवानां मध्याह्नो मनुष्याणामपराह्णः पितृणाम् ॥ (श्रुति)

४. पूर्वाह्णः प्रथमं सार्धं मध्याह्नः प्रहरं तथा ।
आतृतीयादपराह्णः सायाह्नश्च ततः परम् ॥ (गोभिल)

५. प्रदोषोऽस्तमयादूर्ध्वं घटिकाद्वयमिष्यते । (गौड)

६. पूर्वाह्णो दैविकः कालो मध्याह्नश्चापि मानुषः ।
अपराह्णः पितृणां तु सायाह्नो राक्षसः स्मृतः ॥ (व्यास)

७. निजवर्णाश्रमाचारनिरतः शुद्धमानसः ।
अलुब्धः सत्यवादी च सर्वभूतहिते रतः ॥

८. पूर्वं निश्चयमाश्रित्य यथावत्कर्मकारकः ।
अवेदनिन्दको धीमानधिकारी व्रतादिषु ॥ (स्कन्दपुराण)

९. नास्ति स्त्रीणां पृथग्यज्ञो न व्रतं नाप्युपोषणम् ।
भर्तृशुश्रूषयैवैता लोकानिष्टान् व्रजन्ति हि ॥ (स्कन्दपुराण)

१०. पत्नी पत्युरनुज्ञाता व्रतादिष्वधिकारिणी । (व्यास)

वाली होती है। अतः उसके लिये पतिका व्रत ही कल्याणकारी है। अस्तु, शास्त्रकारोंकी व्रतादिके विषयमें यह आज्ञा है कि उनका आरम्भ श्रेष्ठ समयमें किया जाय।

(२३) बृहस्पति और शुक्रका अस्त तथा अस्त होनेके पहलेके तीन दिन वृद्धत्वके और उदय होनेके बादके तीन दिन बालत्वके व्रतारम्भमें वर्जित हैं। ऐसे अवसरमें व्रतादिका आरम्भ और उत्सर्ग नहीं करना चाहिये। इनके सिवा भद्रादि कुयोग और मलमासादि भी त्याज्य हैं। किसी भी व्रतके आरम्भमें सोम, शुक्र, बृहस्पति और बुधवार हों तो सब कामोंमें सफलता प्राप्त कराते हैं और इनके साथ अश्विनी, मृगशिरा, पुष्य, हस्त, तीनों उत्तरा, अनुराधा और रेवती नक्षत्र, प्रीति, सिद्धि, साध्य, शुभ, शोभन और आयुष्मान् योग हों तो सब प्रकारका सुख देते हैं।

(२४) व्रत करनेवाला व्रतके आरम्भके पहले दिन मुण्डन करावे और शौच-स्नानादि नित्यकृत्यसे निवृत्त होकर आगामी दिनमें जो व्रत किया जाय, उसके उपयोगी व्यवस्था लगावे। मध्याह्नमें एकभुक्त व्रत करके रात्रिमें सोत्साह शयन करे। दूसरे दिन उषःकालमें (सूर्योदयसे दो मुहूर्त पहले) उठकर शौचस्नानादि करके प्रातःकालका भोजन विना किये ही सूर्य और व्रतके देवताको अपनी अभिलाषा निवेदन करके व्रतका आरम्भ करे।

(२५) आरम्भमें गणपति, मातृका और पञ्चदेवका पूजन करके नान्दीश्राद्ध करे और व्रत-देवताकी सुवर्णमयी मूर्ति बनवाकर उसका पञ्चोपचार, दशोपचार या षोडशोपचार पूजन करे। मास, पक्ष, तिथि, वार और नक्षत्रादिमें जिसका व्रत हो उसका अधिष्ठाता ही 'व्रतका देवता' होता है। अतः प्रतिपदा, द्वितीया, तृतीयादिके यथाक्रम अग्नि, ब्रह्मा, गौरी आदि और अश्विनी, भरणी, कृत्तिकादिके नासत्य (अश्विनीकुमार), यम और अग्नि आदि तथा वारोंके सूर्य, सोम, भौमादि अधिष्ठाता हैं।

(२६) उपर्युक्त प्रकारसे (जिस अवधिका व्रत हो उस अवधितक) यथाविधि व्रत करके उसके समाप्त होनेपर वित्तानुसार उद्यापन करे। उद्यापन किये विना व्रत निष्फल होता है। कौन व्रत किस प्रकार किया जाता है, किस व्रतकी कितनी अवधि होती है और किस व्रतका कैसा उद्यापन किया जाता है—ये सब बातें आगे प्रत्येक व्रतके साथ संयुक्त की जायँगी और वहीं उनके विधि-विधानादि बतलाये जायँगे।

(२७) व्रतीको इस बातका ध्यान रखना चाहिये कि व्रत आरम्भ करनेके बाद यदि क्रोध, लोभ, मोह या आलस्यवश उसे अधूरा छोड़ दे तो तीन दिनतक अन्नका त्याग करके फिर उस व्रतका आरम्भ करे।

१. अस्तगे च गुरौ शुक्रे बाले वृद्धे मलिम्लुचे।
उद्यापनमुपारम्भं व्रतानां नैव कारयेत्॥
(गार्ग्य)

२. सोमशुक्रगुरुसौम्यवासराः सर्वकर्मसु भवन्ति सिद्धिदाः।
(रत्नमाला)

३. हस्तमैत्रमृगपुष्यत्र्युत्तरा अश्विपौष्णशुभयोगसौख्यदाः।
(मुक्तकसंग्रह)

४. अभुक्त्वा प्रातराहारं स्नात्वाऽऽचम्य समाहितः।
सूर्याय देवताभ्यश्च निवेद्य व्रतमाचरेत्॥ (देवल)

५. व्रतारम्भे मातृपूजां नान्दीश्राद्धं च कारयेत्।
(शातातप)

६. स्नात्वा व्रतवता सर्वव्रतेषु व्रतमूर्तयः।
पूज्याः सुवर्णमय्याद्याः दानं दद्याद् द्विजानपि॥
(पृथ्वीचन्द्रोदय)

७. कुर्यादुद्यापनं चैव समाप्तौ यदुदीरितम्।
उद्यापनं विना यत्तु तद्व्रतं निष्फलं भवेत्॥
(नन्दिपुराण)

८. क्रोधात्प्रमादाल्लोभाद्वा व्रतभङ्गो भवेद्यदि।
दिनत्रयं न भुञ्जीत............॥ (गरुड)
............पुनरेव व्रती भवेत्॥ (वायुपुराण)

(२८) व्रतके समय बार-बार जल पीने, दिनमें सोने, ताम्बूल चबाने और स्त्री-सहयोग करनेसे व्रत बिगड़ जाता है, व्रतके दिनोंमें स्तेय (चोरी) आदिसे वर्जित रहकर क्षमा, दया, दान, शौच, इन्द्रियनिग्रह, देवपूजा, अग्निहोत्र और सन्तोषके काम करने उचित और आवश्यक हैं।

(२९) जल, फल, मूल, दूध, हवि, ब्राह्मणकी इच्छा, ओषधि और गुरु (पूज्यजनों) के वचन इन आठसे व्रत नहीं बिगड़ते। होमावशिष्ट खीर, भिक्षाका अन्न, सत्तू (सेके हुए जौका चूर्ण), कण (गोरैड़ या तृणपुष्प), यावक (जौ), शाक (तोरों, ककड़ी, मेथी आदि), गोदुग्ध, दही, घी, मूल, आम, अनार, नारंगी और कदलीफल आदि खाने योग्य हविष्य हैं।

(३०) व्रतमें गन्ध, पुष्प, माला, वस्त्र और व्रतयोग्य अलङ्कारादि ग्राह्य हैं। व्रत-पूजा या हवनादिमें केवल एक वस्त्र (धोती आदि) पहनकर या बहुत वस्त्र धारणकर मन्त्रादिके जप करना या होमादि करना उचित नहीं। व्रत करनेवाला पुरुष हो या सुवासिनी (स्त्री) हो, सम्पूर्ण व्रतोंमें लाल वस्त्र और सुगन्धित सफेद पुष्प धारण करे। वर्णभेदसे ब्राह्मणोंके सफेद, क्षत्रियोंके मजीठ-जैसे, वैश्योंके पीले और शूद्रोंके नीले अथवा बिना रंगके वस्त्र अनुकूल होते हैं। और धोती त्रिकच्छ (जिसमें नीचेका पल्ला पृष्ठपर और आगेके पल्लेका ऊपरका हिस्सा नाभिके नीचे और नीचेका हिस्सा बायें पसवाड़ेमें लगाया जाता है) उत्तम मानी गयी है। ऐसी धोती बाँधनेवाले ब्राह्मण मुनि होते हैं। इसके अतिरिक्त ध्वजप्रयुक्त, ग्रन्थियुक्त और यवनोंके समान दोनों पल्ले खुली हुई धोती वर्जित हैं।

(३१) व्रत करनेवाले मोहवश बिना आचमन किये क्रिया करें, तो उनका व्रत वृथा होता है। नहाते-धोते, खाते-पीते, सोने, छींके लेते समय और गलियोंमें घूमकर आनेपर आचमन[10] किया हुआ हो तो भी दुबारा आचमन करे। यदि जल न मिले तो दक्षिण कर्णका स्पर्श कर ले। आचमन लेते समय दाहिने हाथकी अङ्गुलियोंको मिलाकर सीधी करे और उनमेंसे कनिष्ठा तथा अँगूठेको अलग रखकर आचमन करे अथवा —[11] दाहिने हाथके पेरुओंको बराबर करके हाथको गौके कान-जैसा बनाकर आचमन करे। (लोकव्यवहारमें आचमनादिके भूल जानेपर दाहिना कान छुआ करते हैं)।

---

१. असकृज्जलपानाच्च दिवास्वापाच्च मैथुनात्।
उपवासः प्रणश्येत सकृत्ताम्बूलभक्षणात् ॥ (विष्णु)

२. क्षमा सत्यं दया दानं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
देवपूजाग्निहवनं सन्तोषः स्तेयवर्जनम् ॥
सर्वव्रतेष्वयं धर्मः सामान्यो दशधा स्थितः।
(भविष्यपुराण)

३. अष्टौ तान्यव्रतघ्नानि आपो मूलं फलं पयः।
हविर्ब्राह्मणकाम्या च गुरोर्वचनमौषधम् ॥ (पद्मपुराण)

४. चरुभैक्ष्यसक्तुकणयावकशाकपयोदधिघृतमूलफलादीनि हवींष्युत्तरोत्तरं प्रशस्तानि। (गौतम)

५. गन्धालङ्कारवस्त्राणि पुष्पमालानुलेपनम्। (वृद्धशातातप)

६. नैकवासा जपेन्मन्त्रं बहुवासाकुलोऽपि वा।

७. सर्वेषु तूपवासेषु पुमान् वाथ सुवासिनी।
धारयेद्रक्तवस्त्राणि कुसुमानि सितानि च ॥ (विष्णुधर्म)

८. ब्राह्मणस्य सितं वस्त्रं माञ्जिष्ठं नृपतेः स्मृतम्।
पीतं वैश्यस्य शूद्रस्य नीलं मलवदिष्यते ॥ (मनु)

९. वामकुक्षौ च नाभौ च पृष्ठे चैव यथाक्रमम्।
त्रिकच्छेन समायुक्तो द्विजोऽसौ मुनिरुच्यते ॥
(याज्ञवल्क्य)

१०. स्नात्वा पीत्वा क्षुते सुप्ते भुक्त्वा रथ्योपसर्पणे।
आचान्तः पुनराचामेद्वासो विपरिधाय च ॥
(याज्ञवल्क्य)

संहताङ्गुलिना तोयं गृहीत्वा पाणिना द्विजः।
मुक्ताङ्गुष्ठकनिष्ठेन शेषेणाचमनं चरेत् ॥
(नागदेव)

११. आयतं पर्वणां कृत्वा गोकर्णाकृतिवत्करम्।
एतेनैव विधानेन द्विजो ह्याचमनं चरेत् ॥
(भारद्वाज)

(३२) अधोवायुके निकल जाने, आक्रन्द (रोने), क्रोध करने, बिल्ली और चूहेसे छू जाने, जोरसे हँसने और झूठ बोलनेपर जलस्पर्श करना आवश्यक होता है। उपवासमें और श्राद्धमें दतौन नहीं करना चाहिये। यदि अधिक आवश्यक हो तो जलके बारह कुल्ले करें– अथवा आमके पैल्लव, जल या अँगुलीसे दाँतोंको साफ कर लें। व्रत करनेवालेको बैल, ऊँट और गदहेकी सवारी नहीं करनी चाहिये।

(३३) बहुत दिनोंमें समाप्त होनेवाले व्रतका पहले सङ्कल्प कर लिया हो तो उसमें जन्म और मरण-का सूतक नहीं लगता। इसी प्रकार किसी कामनाके व्रतमें सूतक आ जाय, तो दान और पूजनके सिवा व्रतमें बाधा नहीं आती। कई व्रत ऐसे हैं जिनमें दान, व्रत और पूजन तीनों होते हैं। यथा—गणेश-चतुर्थी, अनन्तचतुर्दशी और अर्कसप्तमी आदिमें व्रतेश्वर-की पूजा, वायन आदिका दान और अभीष्टका व्रत तीनों हैं। ऐसे व्रतोंमें अशौच आनेपर व्रत करता रहे— दान और पूजा न करे। इसी प्रकार—

(३४) बड़े व्रतका प्रारम्भ करनेपर स्त्री रजस्वला हो जाय, तो उससे भी व्रतमें कोई रुकावट नहीं होती। अशौचके माननेमें सपिण्ड, साकुल्य और सगोत्र इन तीनोंका निश्चय आवश्यक होता है। तीन पीढ़ीतक सपिण्ड, दशतक साकुल्य और इससे आगे सगोत्र माने जाते हैं। इनमें सामान्यरूपसे सपिण्डमें दस दिन, साकुल्यमें ३ दिन और सगोत्रमें १ दिन अथवा स्नान-मात्र सूतक रहता है। लंबे व्रतोंमें इससे बाधा नहीं होती।

(३५) व्रतमें तथा तीर्थयात्रामें, अध्ययनकालमें तथा विशेषकर श्राद्धमें दूसरेका अन्न लेनेसे जिसका अन्न होता है, उसीको उसका पुण्य प्राप्त हो जाता है। आपत्ति अथवा असामर्थ्यवश यात्रा और व्रतादि धर्मकार्य अपनेसे न हो सके तो पति, पत्नी, ज्येष्ठ पुत्र, पुरोहित, भाई या मित्रको प्रतिहस्तक (प्रतिनिधि या एवजी) बनाकर उनसे करावे। उपर्युक्त प्रतिनिधि प्राप्त न हो तो वह काम ब्राह्मणसे हो सकता है।

(३६) प्रातः-सायं (सन्ध्या) और सन्धियोंमें,

---

१. अधोवायुसमुत्सर्गे आक्रन्दे क्रोधसम्भवे।
मार्जारमूषकस्पर्शे प्रहासेऽनृतभाषणे॥
निमित्तेष्वेषु सर्वेषु कर्म कुर्वन्नपः स्पृशेत्।
(बृहस्पति)

२. उपवासे तथा श्राद्धे न खादेद्दन्तधावनम्।
(स्मृत्यन्तर)
अलाभे दन्तकाष्ठानां निषिद्धायां तिथौ तथा।
अपां द्वादशगण्डूषैर्विदध्याद्दन्तधावनम्॥
(व्यास)

३. पर्णोदकेनाङ्गुल्या वा दन्तान्धावयेत्…।
(स्मृत्यर्थसार)

४. गोयानमुष्ट्रयानं च कथञ्चिदपि नाचरेत्।
खरयानं च सततं व्रते चाप्युपसङ्करम्॥
(स्मृत्यन्तर)

५. बहुकालिकसङ्कल्पो गृहीतश्च पुरा यदि।
सूतके मृतके चैव व्रतं तन्नैव दुष्यति॥
(शुद्धितत्त्व—विष्णु)

६. काम्योपवासे प्रक्रान्ते त्वन्तरा मृतसूतके।
तत्र काम्यव्रतं कुर्याद्दानार्चनविवर्जितम्॥
(कूर्मपुराण)

७. प्रारब्धदीर्घतपसां नारीणां यद्रजो भवेत्।
न तत्रापि व्रतस्य स्यादुपरोधः कदाचन॥
(सत्यव्रत)

८. व्रते च तीर्थेऽध्ययने श्राद्धेऽपि च विशेषतः।
परान्नभोजनाद्देवि यस्यान्नं तस्य तत्फलम्॥
(टोडरानन्द)

९. भर्ता पुत्रः पुरोधाश्च भ्राता पत्नी सखाऽपि च।
यात्रायां धर्मकार्येषु कर्तव्याः प्रतिहस्तकाः॥
(मदनरत्न प्रभासखण्ड)
पुत्राद्वा कारयेदायाद् ब्राह्मणाद्वापि कारयेत्।
(वायुपुराण)

१०. सन्ध्ययोरुभयोर्जप्ये भोजने दन्तधावने।
पितृकार्ये च दैवे च तथा मूत्रपुरीषयोः॥

जप, भोजन और दतौनमें, मूत्र और पुरीषके त्यागमें और पितृकार्य तथा देवकार्यमें और दान, योग तथा गुरुके समीपमें मौन रहनेसे मनुष्यको स्वर्ग मिलता है—'मौनं सर्वार्थसाधकम्।' दान, होम, आचमन, देवार्चन, भोजन, स्वाध्याय और पितृतर्पण—ये 'पौढपाद' (ऊकड़ू) बैठकर न करे । प्रौढपाद तीन प्रकारका होता है, एक यह कि पाँवोंके तलवे आसनपर रखकर—दोनों घुटने मिलाके पींडियोंको जाँघोंसे लगाकर बैठे। दूसरा—दोनों घुटने आसनपर लगाकर एड़ियोंपर आरूढ हो; और तीसरा यह है कि दोनों पैर सीधे फैलाकर जाँघें आसनपर लगावे। ये तीनों ही निषिद्ध हैं।

(३७) कन्या, शय्या, (सुख-शय्या) मकान, गौ और स्त्री—ये एकहीको देने चाहिये; बहुतोंको देनेपर हिस्सा होनेसे पाप लगता है। व्रतमें रहकर प्राणरक्षाके अर्थसे जल पीवे। फल, मूल, दूध, जौ, यज्ञशिष्ट तथा हवि खाय; रोग-पीड़ामें वैद्यकी बतलायी हुई औषध ले और ब्राह्मणकी अभिलाषा सिद्ध करे तो अति शीघ्र और गुरुके वचनसे करे। दीर्घ या अदीर्घ सभी व्रतोंकी पारणासे पूर्ति और उद्यापनसे समाप्ति जाननी चाहिये। कदाचित् ये दोनों न किये जायँ, तो व्रत निष्फल हो जाता है।

गुरूणां सन्निधौ दाने योगे चैव विशेषतः।
एषु मौनं समातिष्ठन् स्वर्गं प्राप्नोति मानवः॥
(अङ्गिरा)

१. दानमाचमनं होमं भोजनं देवतार्चनम्।
प्रौढपादो न कुर्वीत स्वाध्यायं पितृतर्पणम्॥
(शाट्यायन)

२. आसनारूढपादस्तु जान्वोर्वा जङ्घयोस्तथा।
कृतावसक्थिको यश्च प्रौढपादः स उच्यते॥
(शाट्यायन)

३. कन्या शय्या गृहं चैव देयं यद्गोस्त्रियादिकम्।
तदेकस्मै प्रदातव्यं न बहुभ्यः कथंचन॥
(कात्यायन)

(३८) पारणाका निर्णय और उद्यापनका विधान आगे प्रत्येक व्रतके साथ दिये गये हैं। इनके सिवा विशेष बातें धर्मशास्त्रोंसे जानी जा सकती हैं। व्रतोंमें बहुत-से व्रत ऐसे हैं जो व्रत, पूजा और दान—तीनोंके सहयोगसे सम्पन्न होते हैं। उनके विषयके कुछ आवश्यक वाक्य यहाँ देते हैं।

(१) 'ब्राह्मण' शान्त, संत, सुशील, अक्रोधी और प्राणीमात्रका हित करनेवाला श्रेष्ठ होता है।

(२) 'ब्राह्मणके कर्म' अग्निहोत्र, तपश्चर्या, सत्य-वाक्य, वेदाज्ञाका पालन, अतिथि-सत्कार और वैश्वदेव-साधन मुख्य हैं।

(३) 'यज्ञोपवीत' त्रैवर्णिकोंके और विशेषकर ब्राह्मणोंके स्वरूपज्ञानका आदर्श और धर्म-कर्मादिका साधन है। यह सूत, रेशम, गोवाल (सुरगौके रोम), सन, वल्कल और तृणपर्यन्तसे निर्माण किया जाता है। इनसे बने हुए यज्ञोपवीत कार्यानुसार उपयुक्त होते हैं। सूतका सर्वप्रधान है। उसके बनानेके लिये सूतके धागेको वामावर्तसे तिगुना करके दक्षिणावर्तसे नौगुना करे और उसे त्रिसर बनाकर गाँठ लगावे।

(४) 'यज्ञोपवीत धारण' करते समय 'यज्ञोपवीतं

४. शान्तः सन्तः सुशीलश्च सर्वभूतहिते रतः।
क्रोधं कर्तुं न जानाति स वै ब्राह्मण उच्यते॥
(धन्वन्तरि)

५. अग्निहोत्रं तपः सत्यं वेदानां चैव पालनम्।
आतिथ्यं वैश्वदेवश्च इष्टमित्यभिधीयते॥
(अङ्गिरा)

६. कार्पासक्षौमगोवालशणवल्कतृणादिभिः।
(हरिहरभाष्य)

वामावर्तं त्रिगुणितं कृत्वा प्रदक्षिणावर्तं नवगुणं विधाय तदेवं त्रिसरं कृत्वा ग्रन्थिं विदध्यात्। (ह० ह०)

७. यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यत्सहजं पुरस्तात्।
आयुष्यमग्र्यं प्रतिमुञ्च शुभ्रं यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः॥
(ब्रह्मकर्म)

परमं पवित्रं०'का उच्चारण करे और विसर्जनके समय 'एतावद्दिनपर्यन्तम्'से क्षमा माँगे। बायें कंधेपर यज्ञोपवीत रहनेसे सव्य और दायेंपर रहनेसे अपसव्य होता है। और दोनोंके बदले गलेमें रहनेसे कण्ठीवत् हो जाता है। मूत्रादिके त्यागनेमें इसे कर्णस्थ रखना आवश्यक है और इसके बिना मल-मूत्रका त्याग करना निषिद्ध माना गया है।

(५) 'यज्ञोपवीत'को स्वाभाविक रूपमें बायें कंधेके ऊपर और दाहिने हाथके नीचे नाभितक लटकाये रखना चाहिये। नित्यकर्मादिमें दो वस्त्र (धोती और रूमाल) एवं दो यज्ञोपवीत (एक नित्यका और एक कार्यका) रखना चाहिये। और यदि रूमाल न हो तो तीन यज्ञोपवीत होने चाहिये। धारण किये हुए यज्ञोपवीतको चार मास हो जायँ या जन्म-मरणादिका सूतक आ जाय तो उसे बदल देना चाहिये।[1]

(६) 'कलश'[2] सोने, चाँदी, ताँबे या (छेदरहित) मिट्टीका और सुदृढ उत्तम माना गया है। वह मङ्गल-कार्योंमें मङ्गलकारी होता है।

(७) 'जल'[3] नदी आदिका बहता हुआ 'ब्राह्मण', सरोवर आदिका बँधा हुआ 'क्षत्रिय', कूपादिका ढँका हुआ 'वैश्य' और घरके बर्तनोंमें रक्खा हुआ 'शूद्र' वर्ण माना गया है। अतः व्रतोपवासादिमें पवित्र जल लेना आवश्यक है।

(८) 'दुग्धत्रितय'[4]में दूध, दही और घी हैं। ये गौके उत्तम, महिषीके मध्यम और बकरी आदिके निकृष्ट होते हैं। रोगादिमें यथायोग्य सब उपयोगी हैं।

(९) 'मधुरत्रय'[5] में घी, दूध और शहद मुख्य हैं।

(१०) 'मधुपर्क'[6] दही एक भाग, शहद दो भाग और घी एक भाग मिलानेसे होता है।

(११) 'कालत्रय'[7] प्रातःकाल, मध्याह्नकाल और सायङ्काल हैं।

(१२) 'कालचतुष्टय'[8]—रात्रि व्यतीत होते समय ५५ घड़ीपर 'उषाकाल', ५७ पर 'अरुणोदय', ५८ पर 'प्रातःकाल' और ६० पर 'सूर्योदय' होता है। इसके पहले पाँच घड़ीका 'ब्राह्ममुहूर्त' ईश्वरचिन्तनका है।

(१३) 'वेद'[9] ऋक्, यजुः, साम और अथर्व—ये चार वेद हैं।

(१४) 'उपवेद' आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्व और साङ्गीत—ये उनके यथाक्रम उपवेद और ईति, धृति, शिवा और शक्ति—ये योषिता हैं।

(१५) 'चतुःसम'[10]—कपूर, चन्दन, कस्तूरी और केसर—ये चारों समान भागमें होनेपर 'चतुःसम' कहलाते हैं।

एतावद्दिनपर्यन्तं ब्रह्मत्वं धारितं मया।
जीर्णत्वात्त्वं परित्यक्तो गच्छ सूत्र यथासुखम्॥
(आह्निक)

१. सूतके मृतके चैव गते मासचतुष्टये।
नवयज्ञोपवीतानि धृत्वा पूर्वाणि सन्त्यजेत्॥
(मुक्तक)

२. हैमो वा राजतस्ताम्रो मृण्मयो वापि ह्यव्रणः।
(कर्मप्रदीप)

३. प्रवाहितं ब्रह्मतोयं क्षात्रतोयं सरोवरम्।
कूपोदकं वैश्यतोयं गृहभाण्डेषु शूद्रवत्॥
(मुक्तक)

४. पयो दधि घृतं गव्यं दुग्धत्रितयमिष्यते।
(गौतम)

५. आज्यं क्षीरं मधु तथा मधुरत्रयमुच्यते।
(कात्यायन)

६. दधिमधुघृतानि विषमभागमिलितानि मधुपर्कः।
(कर्मप्रदीप)

७. प्रातर्मध्याह्नसायाह्नास्त्रयः कालाः। (श्रुति)

८. पञ्च पञ्च उषःकालः सप्तपञ्चारुणोदयः।
अष्ट पञ्च भवेत्प्रातस्ततः सूर्योदयः स्मृतः॥
(विष्णु)

९. ऋग्यजुःसामाथर्वाणि।
आयुर्वेदं धनुर्वेदं गान्धर्वं शिल्पकं तथा।
(मुक्तक)

१०. कर्पूरं चन्दनं दर्पः कुङ्कुमं च चतुःसमम्।
(गृह्यपरिशिष्ट)

(१६) 'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—ये चार वर्ण (चातुर्वर्ण्य) हैं।

(१७) 'पञ्चदेव'—सूर्य, गणेश, शक्ति, शिव और विष्णु आराध्य हैं। इनकी गणना विष्णु, शिव, गणेश, सूर्य और शक्ति—इस क्रमसे भी की जाती है। इनकी प्रदक्षिणामें एक गणेशजीके, दो सूर्यके, तीन शक्तिके, चार विष्णुके और आधी शिवके नियत हैं।

(१८) 'पञ्चोपचार'—गन्ध, पुष्प, धूप, दीप और नैवेद्य अर्पण करनेसे पञ्चोपचार पूजा होती है।

(१९) 'पञ्चनदी'—भागीरथी, यमुना, सरस्वती, गोदावरी और नर्मदा—ये पाँच मुख्य नदियाँ हैं।

(२०) 'पञ्चपल्लव'—पीपल, गूलर, अशोक, (आशोपालो) आम और वट—इनके पत्ते पञ्चपल्लव हैं।

(२१) 'पञ्चपुष्प'—चमेली, आम, शमी (खेजड़ा), पद्म (कमल) और करवीर (कनेर) के पुष्प—पञ्च-पुष्प हैं।

(२२) 'पञ्चगन्ध'—चूर्ण किया हुआ, घिसा हुआ, दाहसे खींचा हुआ, रससे मथा हुआ और प्राणी-के अङ्गसे पैदा हुआ (कस्तूरी)—ये पञ्चगन्ध हैं।

(२३) 'पञ्चगव्य'—ताँबेके वर्ण-जैसी गौका गोमूत्र 'गायत्री' से ८ भाग, लाल गौका गोबर 'गन्ध-द्वारां०'से १६ भाग, सफेद गौका दूध 'आप्यायस्व०' से १२ भाग, काली गौका दही 'दधि क्राव्णो०' से १० भाग और नीली गौका घी 'तेजोऽसि शुक्र०'से ८ भाग लेकर मिलाने और फिर उन्हें छान लेनेसे पञ्चगव्य होता है। इस प्रकारसे तैयार किये हुए पञ्चगव्यको 'यत् त्वगस्थि-गतं पापं०' से ३ बार पीवे, तो देहके सम्पूर्ण पाप-ताप, रोग और वैर-भाव नष्ट हो जाते हैं।

(२४) 'पञ्चामृत'—गौके दूध, दही और घीमें चीनी और शहद मिलाकर छाननेसे पञ्चामृत बनता है और इसका यथाविधि उपयोग करनेसे शान्ति मिलती है।

(२५) 'पञ्चरत्न'—सोना, हीरा, नीलमणि, पद्मराग और मोती—ये पाँच रत्न हैं।

(२६) 'पञ्चाङ्ग' तिथि, वार, नक्षत्र, योग और करणका ज्ञापक है। इससे व्रतादि निश्चय होते हैं।

---

१. ब्रह्मक्षत्रियविट्शूद्राः सुप्रसिद्धाः।

२. आदित्यो गणनाथश्च देवी रुद्रश्च केशवः। (वाचस्पति)

३. गन्धपुष्पे धूपदीपौ नैवेद्यं पञ्च ते क्रमात्। (जाबालि)

४. भागीरथी समाख्याता यमुना च सरस्वती।
किरणा धूतपापा च पञ्चनद्यः प्रकीर्तिताः॥ (वाचस्पति)

५. अश्वत्थोदुम्बरप्लक्षचूतन्यग्रोधपल्लवाः। (ब्रह्माण्डपुराण)

६. चम्पकाम्रशमीपद्मकरवीरं च पञ्चमम्। (देवीपुराण)

७. चूर्णीकृतो वा घृष्टो वा दाहकर्षित एव वा।
रसः सम्मर्दजो वापि प्राण्यङ्गोद्भव एव वा॥ (कालीपुराण)

८. गोमूत्रं गोमयं क्षीरं दधि सर्पिः कुशोदकम्। (पाराशर)
ताम्रारुणश्वेतकृष्णनीलानामाहरेद् गवाम्। (वीरमित्रोदय—स्कन्दपुराण)
अष्ट षोडश अर्काशा दश अष्ट क्रमेण च। (नृसिंह)
गायत्र्या गन्धद्वारां च आप्यायदधिक्रावणः।
तेजोऽसि शुक्रमन्त्रैः स्या पञ्चगव्यमकारय॥ (स्कन्द)
यत् त्वगस्थिगतं पापं देहे तिष्ठति मामके।
प्राशनात्पञ्चगव्यस्य दहत्यग्निरिवेन्धनम्॥ (ब्रह्मकर्म)

९. गव्यमाज्यं दधि क्षीरं माक्षिकं शर्करान्वितम्। (धन्वन्तरि)

१०. कनकं हीरकं नीलं पद्मरागश्च मौक्तिकम्। (बृहन्निघण्टु)

११. तिथिवारं च नक्षत्रं योगं करणमेव च॥
पञ्चाङ्गमिति०। (धर्मसार)

(२७) 'षट्कर्म'[1]—१ स्नान, २ सन्ध्या-जप, ३ होम ४ पठन-पाठन, ५ देवार्चन और ६ वैश्वदेव तथा अतिथि-सत्कार—ये छः कर्म हैं। द्विजातिमात्रके लिये इनका करना परम आवश्यक है।

(२८) 'षडङ्ग'[2]—हृदय, मस्तक, शिखा, दोनों नेत्र, दोनों भुजा और परस्पर कर-स्पर्श षडङ्ग हैं।

(२९) 'वेद-षडङ्ग'[3]—कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, शिक्षा और ज्यौतिष—ये छः शास्त्र वेदके अङ्ग हैं।

(३०) 'सप्तर्षि'[4]—कश्यप, भरद्वाज, गौतम, अत्रि, जमदग्नि, वसिष्ठ और विश्वामित्र—ये सप्तर्षि हैं।

(३१) 'सप्तगोत्र'[5]—पिता, माता, पत्नी, बहिन, पुत्री, फूआ और मौसी—ये सात गोत्र (कुटुम्ब) हैं।

(३२) 'सप्तमृद्'[6]—हाथी-घोड़ेके चलनेका रास्ता, सङ्कुचित मार्ग, दीमक, सरिता-सङ्गम, गोशाला और राजद्वारमें प्रवेश करनेकी जगह—इन स्थानोंकी मृत्तिका सप्तमृद् हैं।

(३३) 'सप्तधान्य'[7]—जौ, गेहूँ, चावल, तिल, काँगणी, श्यामाक (सावाँ) और देवधान्य—ये सप्तधान्य हैं।

(३४) 'सप्तधातु'[8]—सोना, चाँदी, ताँबा, मारकूट, लोह, राँगा और सीसा—ये सप्तधातु हैं।

(३५) 'अष्टाङ्ग अर्घ'[9]—जल, पुष्प, कुशाका अग्र-भाग, दही, अक्षत, केशर, दूर्वा और सुपारी—इन आठ पदार्थोंसे अर्घ सम्पादन किया जाता है।

(३६) 'अष्टमहादान'[10]—कपास, नमक, घी, सप्त-धान्य, सुवर्ण, लोह, पृथ्वी और गौ—ये महादान हैं।

(३७) 'नवरत्न'[11]—माणिक, मोती, मूँगा, सुवर्ण, पुखराज, हीरा, इन्द्रनील, गोमेद और वैदूर्यमणि—ये नवरत्न हैं इनके धारण करने या दान देनेसे सूर्यादिकी प्रसन्नता बढ़ती है।

(३८) 'दशौषधि'[12]—कूठ, जटामांसी, दोनों हल्दी, मुरा, शिलाजीत, चन्दन, बच, चम्पक और नागरमोथा—ये दश द्रव्य सर्वौषधिके हैं।

(३९) 'दश दान'[13]—गौ, भूमि, तिल, सुवर्ण, घी,

१. स्नानं सन्ध्या जपो होमः स्वाध्यायो देवतार्चनम्।
वैश्वदेवातिथेयश्च षट् कर्माणि······॥
(पराशर)

२. वक्षः शिरः शिखा बाहू नेत्रम् अस्त्राय फट् इति।
(मुक्तक)

३. शिक्षाकल्पव्याकरणनिरुक्तच्छन्दोज्योतींषि वेदषडङ्गानि।
(कारिका)

४. कश्यपोऽथ भरद्वाजो गौतमश्चात्रिरेव च।
जमदग्निर्वसिष्ठश्च विश्वामित्रो··········॥
(वाचस्पति)

५. पितुर्मातुश्च भार्याया भगिन्या दुहितुस्तथा।
पितृष्वसामातृष्वस्रोर्गोत्राणां सप्तकं स्मृतम्॥ (धाता)

६. गजाश्वरथ्यावल्मीकसङ्गमाद्ध्रदगोकुलात्।
राजद्वारप्रवेशाच्च मृदमानीय निःक्षिपेत्॥
(स्मृतिसङ्ग्रह)

७. यवगोधूमधान्यानि तिलाः कङ्गुस्तथैव च।
श्यामाकं देवधान्यं च सप्तधान्यमुदाहृतम्॥
(स्मृत्यन्तर)

८. सुवर्णं राजतं ताम्रं मारकूटं तथैव च।
लौहं त्रपु तथा सीसं धातवः सप्त कीर्तिताः॥
(भविष्यपुराण)

९. दधिदूर्वाकुशाग्रैश्च कुसुमाक्षतकुङ्कुमैः।
सिद्धार्थोदकपूगैश्च अष्टाङ्गं ह्यर्घ्यमुच्यते॥
(पूजापद्धति)

१०. कार्पासं लवणं सर्पिः सप्तधान्यं सुवर्णकम्।
लौहं चैव क्षितिर्गावो महादानानि चाष्ट वै॥
(दानखण्ड)

११. माणिक्यं मौक्तिकं चैव प्रवालं हेम पुष्पकम्।
वज्रं नीलं च गोमेदं वैदूर्यं नवरत्नकम्॥
(दानखण्ड)

१२. कुष्टं मांसी हरिद्रे द्वे मुरा शैलेयचन्दनम्।
बचाचम्पकमुस्ताश्च सर्वौषध्यो दश स्मृताः॥
(छन्दोगपरिशिष्ट)

१३. गोभूतिलहिरण्याज्यवासोधान्यगुडानि च।
रौप्यं लवणमित्याहुर्दश दानान्यनुक्रमात्॥
(कर्मसमुच्चय)

वस्त्र, धान्य, गुड़, चाँदी और लवण—ये दश महादान हैं।

(४०) 'नमस्कार'[१]—अभिवादनके समय जो मनुष्य दूर हो, जलमें हो, दौड़ रहा हो, धनसे गर्वित हो, नहाता हो, मूढ़ हो या अपवित्र हो तो ऐसी अवस्थामें उसे नमस्कार नहीं करना चाहिये। अस्तु

(४१) इस प्रकारके आचार-विचार, व्रत-उपवास, पूजा-पाठ और हरिस्मरण ये सब स्वर्गीय सुख प्राप्त होनेके प्रधान साधन हैं।

विचार-धारा

(लेखक—श्रीहज़ल एच्० पिकेट)

तुम्हारा प्रत्येक विचार—जो कुछ भी तुम अपने मनमें सोचते-विचारते हो, तुम्हारे अंदर एक ठोस आकार धारण कर लेता है, तुम्हारे संस्कारका एक अंग बन जाता है। इतना ही नहीं, विश्व-चेतनापर भी तुम्हारे विचारोंकी छाप पड़ती रहती है और विश्व-चेतनाके भीतर भी तुम्हारे विचार अपना रूप धारण करते रहते हैं।

यह संसार—जो कुछ भी हम देख रहे हैं अव्यक्तका व्यक्त स्वरूप है। अव्यक्तमें जैसे कुछ विचार उठे, जैसा संकल्प उदय हुआ, जैसी स्फुरणा और वासना जगी, व्यक्तमें आकर वही रूप धारण कर बैठा। यह भला-बुरा जैसा भी संसार हमारे चारों तरफ फैला हुआ है उसमें हमारे विचार ही रूप धारण किये हुए दीख रहे हैं। वस्तुतः भला और बुरा जैसा हमारा विचार है, संसार भी उसीके अनुसार भला-बुरा है। यदि हम विचारोंपर संयम करना जान जायँ, यदि हम अपनी विचार-धाराको सुन्दर पथमें ले जाना सीख जायँ तो निस्सन्देह हम संसारको सुन्दर एवं प्रिय बना सकते हैं।

जिसका जैसा विचार, उसका वैसा संसार। यह सोलहों आने सच है। परन्तु कोई यह कह बैठे कि भाई करूँ तो क्या, अपने विचारोंपर तो संयम रखता हूँ परन्तु दूसरे लोग इसे क्षुब्ध और अशान्त कर डालते हैं, मैं करूँ तो क्या, उन्हें कैसे मना करूँ? बात ठीक है, मगर इसकी दवा भी है। लोगोंसे झगड़नेसे कुछ हाथ न आयेगा, उलटे अशान्ति बढ़ेगी। प्रतिकूल परिस्थितियोंसे जूझना, उनपर झल्लाये रहना भी ठीक नहीं। तुम इन सारी प्रतिकूलता, क्षोभ, असन्तोषकी तहमें घुसो—वीरताके साथ, धैर्यके साथ। अपने हृदयके अंदर पैठो—सच्चाईके साथ, निष्ठाके साथ। घट-घटवासी प्रभुका चिन्तन करो····हृदय-देशमें बसनेवाले अपने स्वामीका स्मरण करो। वही जीवन-दाता है, वही प्राणोंका एकान्त आश्रय है। अपने-आपकी आलोचना करनेपर तुम्हें यह कहना पड़ेगा कि—जिस परिस्थितिमें मैं आ घिरा हूँ वह मुझे प्रिय भले ही न लगे परन्तु उसे मैंने ही अपने असद्विचारोंके द्वारा न्योता देकर बुलाया है; यह विषम परिस्थिति मुझे यही सिखलाने आयी है कि मैं परमात्माका अमृत पुत्र हूँ, विवेकशील हूँ, उसका परम लाड़ला हूँ, स्वस्थ हूँ, सम्पन्न हूँ, सर्वथा सममें स्थित हूँ—फिर मुझे असद्विचारोंका जाल बुनकर भला अपने आप उसमें घिर जाना कहाँतक ठीक था? अरे! मैं अपना सच्चिदानन्द-स्वरूप क्यों भुला बैठा? भगवान्‌की क्षणभरकी विस्मृति-से इतना महान् अनर्थ हो गया!

इस प्रकार अपने चित्तको समाहित करके तुम

---

१. दूरस्थं जलमध्यस्थं धावन्तं धनगर्वितम्। क्रान्तं मूढं चाशुचिकं नमस्कारांस्तु वर्जयेत्॥ (होलिर्भाष्य)

पुनः अपने विचारको अब नवीन धारामें प्रवाहित कर सकते हो। तुम जब चाहो और जहाँ चाहो, अन्तर्दृष्टि खुलनेपर, संसारमें सर्वत्र ही भगवान्‌का दर्शन पा सकते हो। तुम्हारे जीवनका एकमात्र लक्ष्य है—अपने वास्तविक स्वरूपको जानकर उसमें स्थित हो जाना—यह जानना कि तुम परमात्माके अमर पुत्र हो। शान्तिपूर्वक, स्थिरतापूर्वक तुम अपने मनको परमात्माके चरणोंमें टिकाओ। अपने आधारमें स्थित हो जाओ, स्थिर हो जाओ। जीवनका जो परम कल्याण है और महान् मङ्गल है उसकी धारणा करो, उसकी तस्वीर बार-बार हृदयमें उतारो। अपनी चेतनामें अपने सच्चिदानन्दस्वरूपका ध्यान करो। तुम्हें प्रभुका संकेत प्राप्त होगा—इशारा मिलेगा। उस संकेतका अनुसरण करो, उस इशारेपर चल पड़ो। सीधे, तीरकी तरह अपने लक्ष्य-पथमें चलो। बन्दरगाहके प्रकाश-स्तम्भको दृष्टिमें रखकर जिस प्रकार जहाज अपने लक्ष्यतक पहुँच जाता है उसी तरह तुम भी सत्यके प्रकाशमें अपनी यात्रा पूरी करो। अपने प्रत्येक विचारको सत्यके प्रकाशमें देखो; सत्यके तराजूपर अपने एक-एक विचारको तौलो।

और, दूसरे लोगोंके विषयमें क्या सोचा जाय? चूँकि हम सभी 'एक' हैं और प्रेमके द्वारा ही इस 'एकता' का दर्शन होता है, इसलिये हरेकके साथ अपने व्यवहारमें हमें एकमात्र प्रेमका ही चिन्तन करना चाहिये। प्रत्येक व्यक्तिके साथ, जीवमात्रके साथ हमारा व्यवहार मधुर हो, प्रेममय हो। प्रेमके सूत्रमें ही सब बँधें—वह सूत्र जो बाँधकर भी मुक्त रखता है—ससीमसे उठाकर असीममें ले आता है। जब हम दूसरोंकी आलोचना करने बैठते हैं, उस समय प्रेमका विस्मरण कर देते हैं और इसी कारण सीमामें अपने-आपको बाँध डालते हैं; और, सच तो यह है कि हम जिन दोषोंका दूसरोंपर आरोप करते हैं वही दोष स्वयं हमारे भीतर छिपे बैठे हैं। प्रेम ही परमात्मा है, यह सब कुछ अपने-आपमें डुबो लेनेवाला है। जब हम सर्वत्र भगवान्‌का दर्शन पाने लगते हैं, जीव-जीवके अंदर परमात्माकी सत्ताका साक्षात्कार करने लगते हैं और यह अनुभव करने लगते हैं कि सभी परमात्मस्वरूप ही हैं और सभीकी गति भगवान्‌की ओर ही है—और बाहर-बाहरसे जो भी आभास मिल रहा है, वह भीतरके विकासका प्रतीकमात्र है—सभी उस 'न दीखनेवाले'को देखनेमें लगे हैं—तब समझना चाहिये कि हमें सत्यका साक्षात्कार हो चला है और सब कुछ एकमात्र प्रेम ही है—इसकी दिव्य अनुभूति हो रही है। नित्य-प्रति सबेरे—मन और वाणीको मौन करके हम संसारके छोटे-बड़े, अमीर-गरीब, निकट और दूर, ऊँचे-नीचे, इस पृथ्वीके और अन्य सभी लोकोंके प्राणिमात्रके लिये प्रेमकी धारा बहावें, सबकी शुभकामना करें, सबके लिये प्रेमका दान करें, सबको प्रेम दें। नित्य प्रातःकाल हम यह सङ्कल्प करें कि हम आज सबके लिये, जीवमात्रके लिये, चर-अचर सबके लिये अपने प्रेमकी अञ्जलियाँ चढ़ा रहे हैं—संसारमें सबके लिये अपने हृदयकी शान्ति और आनन्द बाँट रहे हैं। इस दिव्य प्रेममें हम डूबे रहें, ओत-प्रोत रहें।

बाहर-बाहर इस संसारमें जितना कुछ क्षोभ और अशान्ति दीख रही है इससे सिर लड़ाना हमारा निरा पागलपन होगा। बाहरसे इसका इलाज हो नहीं सकता। भगवान्‌में स्थित होकर, उसीके सत्य-प्रकाशमें शुभ विचारोंकी नयी-नयी धाराएँ जगत्‌में छोड़नी पड़ेंगी। संसारमें भय करनेकी कोई वस्तु है नहीं क्योंकि परमात्मा सर्वत्र व्यापक है, जर्रे-जर्रेमें रम रहा है;—अपनी महान् महिमामें स्थित होते हुए भी वह कण-कणमें व्याप्त है। संसारमें दीख पड़नेवाली अशान्ति और क्षोभका बस, एक ही इलाज है और वह यह है कि भगवान्‌ने हमें जो कल्पना-शक्ति दी है उसके सहारे हम नवीन-नवीन परम सुन्दर, परम मनोहर चिन्तन-धाराओंकी सृष्टि कर सकते हैं और पूरे विश्वासके साथ विश्व-चेतनापर उनकी छाप डाल सकते हैं। वे शीघ्र

या विलम्बसे अपना रूप धारण करेंगी, अपना प्रभाव डालेंगी। हम जितने अधिक विश्वास और निष्ठाके साथ चिन्तनका प्रवाह छोड़ेंगे उतने ही शीघ्र उनका प्रभाव भी विश्व-चेतनापर पड़ेगा।

रूप और जीवनका अविमेद्य सङ्ग है—जहाँ-जहाँ रूप है वहाँ-वहाँ जीवन है, जहाँ-जहाँ जीवन है वहाँ-वहाँ रूप। रूप जीवनके विना, जीवन रूपके विना ठहर नहीं सकता। प्रत्येक परमाणु, अणु और त्रसरेणु जिनके संघटनसे यह भौतिक सृष्टि है—विश्व-नियन्ता परमात्माके संकेतपर नाच रहा है और चूँकि हम परमात्मामें ही स्थित हैं, परमात्मामें ही चलते-फिरते हैं, परमात्मामें ही जी रहे हैं, इसलिये हम उस परमात्म-शक्तिका विलास भी चर-अचर, जड़-चेतन सबमें अनुभव कर सकते हैं। शुभ चिन्तन एवं सद्विचारके द्वारा हम इस धराधामपर भगवान्‌के शुभ सङ्कल्प एवं मङ्गल कार्यमें योग प्रदान करते हैं—साथ देते हैं।

धन, वैभव, ऐश्वर्य आदिके सम्बन्धमें हम क्या सोचें? हमारे जीवनमें जो कुछ सत्य है, शिव है, सुन्दर है उसे व्यक्त करनेका साधनमात्र है सारा धन-वैभव। सेवा, सद्भाव एवं सद्गुणके द्वारा हमारे हिस्सेका धन हमारे पास आता है और टिकता है। उतनेपर ही हमारा न्यायोचित अधिकार है। हममेंसे प्रत्येकमें एक विशेष प्रकारकी प्रतिभा, योग्यता, शालीनता होती है, जिसके द्वारा ही हम जीवनको सफल और सुखी बना सकते हैं। और उसीके द्वारा हमें वह 'गुप्त धन' भी प्राप्त हो जाता है जो हमारे लिये ही है।

और स्वास्थ्यके बारेमें हम क्या सोचें? यह हमारा शरीर ही एक ऐसा साधन है जिसके द्वारा हम जगत्‌में ज्ञानका उपार्जन कर सकते हैं—इस शरीरमें ही प्राण-रूपसे, आत्मारूपसे भगवान् विराजमान हैं। मैं इस शरीरको पवित्र, स्वच्छ, निर्मल और बलवान् बनाये रक्खूँगा—जिससे भगवदीय शक्ति इसके द्वारा अपना कार्य ठीक-ठीक कर सके, अपनेको पूरा-पूरा व्यक्त करे। मेरे भीतर भगवान्‌का निवास है। और यह हमारा जीवन स्वयं सुन्दर और आनन्दमय है क्योंकि इसीके द्वारा भगवान् अपनी सृष्टिमें अपनेको व्यक्त कर रहे हैं। मृत्यु है ही कहाँ? भगवान् ही मेरे भीतर जीवनरूपसे विद्यमान हैं—और हमारी सम्पूर्ण जीवन-यात्रा भगवान्‌से मिलनके हेतु है।

शान्तिके सम्बन्धमें हम क्या सोचें? संसार-चक्रका यह नियम है कि अमर शान्तिमें ही यह सम्पूर्ण हलन-चलन हो रहा है। मनुष्यके हृदयके अंदर, विश्वके हृदयके अंदर एक गभीर, अनाविल शान्ति है जो किसी भी हवा-बयारसे क्षुब्ध नहीं होती। वह शान्ति प्रकाशमय है, भगवान्‌की दिव्य ज्योतिसे लबालब भरी हुई जगमगा रही है। उस शान्तिमें हम नहावें, डुबकियाँ लगावें और अपने हृदयकी उस अमर शान्तिके केन्द्र-बिन्दुपर ही हमारी दृष्टि स्थिर रहे। शान्ति ही हमारी वाणीमें हो, शान्ति ही हमारे विचारमें हो, शान्ति ही हमारे क्रिया-कलापमें हो। विश्व-शान्तिका अर्थ है विश्वके एक-एक व्यक्तिके हृदयकी शान्ति, विश्वके यावत् व्यक्तियोंके निजी जीवन तथा पारस्परिक व्यवहारमें शान्ति।

अच्छा; भगवान्‌के विषयमें हम क्या सोचें? भगवान्‌के विषयमें? इस संसारका आधार, उसका मेरुदण्ड भगवान् हैं—भगवान्‌में ही यह विश्व स्थित है—निमित्त और उपादान दोनों ही स्वयं भगवान् हैं। और उसी भगवान्‌की सत्ता और ज्योति समस्त जीवोंमें क्रीड़ा कर रही है। जीवन, प्रेम, प्रकाश, सत्ता—ये सब कुछ उस प्रभुके व्यक्त रूप हैं। मनुष्यका हृदय ही भगवान्‌का मन्दिर है—और उस भगवान्‌से 'परिचय' आत्माकी अमर परन्तु अति सूक्ष्म वाणी (still small voice) के द्वारा प्राप्त होता है। वही भगवान् सबकी आत्मा हैं—तुममें भी वही हैं, मुझमें भी वही। उनकी कृपा और आशीर्वादसे हम अपने चरम लक्ष्यको अवश्यमेव प्राप्त करेंगे। ['युनिटी' से]

सीता-वनवास

(लेखक—श्रीराजबहादुरजी कमबोज़ा, एम्० ए०,एल्-एल्० बी०)

कई वर्ष हुए 'माधुरी' में भवभूतिके राम और सीता-वनवासके सम्बन्धमें एक विद्वत्तापूर्ण लेख पढ़नेमें आया था। उसमें जो बात मुझे सबसे अधिक पसन्द आयी वह यह थी कि सुयोग्य लेखकने लेखके शीर्षकमें ही यह संकेत कर दिया था कि उनके आक्षेप नाटककार भवभूतिके रामपर हैं, वास्तविक रामपर नहीं। बहुधा हम यह भूल जाया करते हैं कि वास्तविक राम अवतारी पुरुषोत्तम हैं—भगवान् हैं—जिनकी लीलाएँ अपार थीं। गो० तुलसीदासजीने नामकरण-संस्कारके ही समय गुरु वशिष्ठद्वारा रामकी व्याख्या 'अखिल लोक सुखधाम' और 'सकल लोक विश्राम' ही करायी है और एक जगह और लिखा है कि—

निज इच्छा निर्मित तनु माया गुन गो पार।

इसीलिये तो अवतारी पुरुषोंके कर्म 'कर्म' नहीं कहलाते, बल्कि उन्हें 'लीला' कहा जाता है। और उनको इसीलिये उन कर्मोंका फल नहीं भोगना पड़ता।

गो० तुलसीदासजीने शिवजीके मुखसे यही कहलाया है—

सगुन राम के चरित भवानी। तरकि न जाहिं कर्म मन बानी॥

होता यह है कि जैसा गोस्वामीजीने एक स्थानपर लिखा है कि हम अपने अज्ञानको रामपर आरोपित कर देते हैं—

निज अग्यान राम पर डारहिं।

परन्तु जैसे बादल सूर्यके वास्तविक रूपपर कुछ प्रभाव नहीं डाल सकता, वैसे ही हमारा अज्ञान भी रामके वास्तविक रूपको बदल नहीं सकता।

एक दृष्टिकोण और विचारणीय है कि भगवान्के वास्तविक तेजको हमारे भौतिक नेत्र देख भी नहीं सकते। अर्जुन-जैसे नर-ऋषिके अवतारमें भी यह सामर्थ्य न थी कि भगवान्के विराट् रूपको दिव्य दृष्टि मिल जानेपर भी निर्भय होकर देख सकते। वे तो भयसे काँपने लगे और उनसे यही प्रार्थना करते बनी कि हे भगवन्! आप अपना वही पहले-वाला सौम्यरूप धारण करें।

गोस्वामीजीने एक स्थानपर बड़ी सुन्दरतासे कहा है—

जानि सकहु ते जानहु निर्गुन सगुन स्वरूप,
मम हृद पंकज भृंग इव बसहु राम नर रूप।

कथनका तात्पर्य यह कि ऐसे अवतारी भगवान्के चरित्रोंके बाह्यरूपमें यदि कोई त्रुटि दिखायी दे तो उसपर अपने अज्ञान-वश शीघ्रतासे आक्षेप न करना चाहिये।

अवतारी रामके चरित्रमें दिखनेवाली त्रुटियोंको भी हमें ऐसे ही दृष्टि-कोणोंसे देखना चाहिये। यह नहीं कि संकीर्ण भौतिक तर्कके सहारेपर कोई तो सीता-वनवासको स्त्रीके प्रति अन्याय कह उठे और कोई बालि-वधको कायरता कहे। जरमीटेलर-जैसे पश्चिमी विद्वान्ने भी लिखा है कि मानवीय तर्क (Reason) पारेकी तरह है, जिसका रूप पात्रके अनुसार ही बदल जाता है।

इतना तो सर्वमान्य है ही कि लव-कुशका जन्म वाल्मीकि-आश्रममें हुआ। इससे हम यह तो नहीं कह सकते कि सीता-वनवासकी कथा नितान्त काल्पनिक है, परन्तु यह वन-वास क्यों हुआ और इसका अन्तिम परिणाम क्या था? इन दो प्रश्नोंके उत्तरमें इतना मतभेद है कि कथासम्बन्धी वास्तविक रूपके निश्चयमें बड़ी कठिनाई पड़ती है। वाल्मीकीय रामायणके प्रामाणिक प्रतियोंमें रामायण युद्ध-काण्डके अन्तमें ही समाप्त कर दी गयी है और संक्षिप्ततः यह लिख दिया गया है कि राम-राज्यमें सभी आनन्दित हो धर्म-परायणताके साथ रामहीका नाम लेते थे। रामचरित-मानसमें भी इस कथाको स्थान नहीं मिला, यद्यपि मानसकी अधिकतर कथा अध्यात्मरामायणसे ली गयी है जिसमें इस कथाका वर्णन विद्यमान है। हाँ, एक संकेत अवश्य है और कविने एक जगह यह लिखा है कि यद्यपि अयोध्यावासियोंने सीताके सम्बन्धमें अपवाद किया था, पर फिर भी वे रामको प्रिय ही रहे और उत्तर-काण्डके अन्तिम भागमें ये दो पद हैं—

दुइ सुत सुंदर सीताँ जाए। लव कुस बेद पुरानन्ह गाए॥
दोउ बिजई बिनई गुन मंदिर। हरि प्रतिबिंब मनहुँ अति सुंदर॥

इससे स्पष्ट है कि गोस्वामीजी इस कथाको उस रूपमें प्रामाणिक नहीं समझते थे जिसमें प्रचलित रीतिपर मानी जाती है। और अध्यात्मरामायण द्वापरके अन्त तथा कलियुगके प्रारम्भमें ही व्यासद्वारा रची गयी अतः वाल्मीकीय रामायणकी तुलनामें नवीन ही है।

इसके पूर्व कि हम पाठकोंके सामने कथाके अनेक रूपों-की सामग्री रख पारस्परिक तुलना करें, हम यह ठीक समझते हैं कि नाट्यकार भवभूतिवाली कथाके रूपपर कुछ विचार कर लें। यह कथा संस्कृतमें 'कथा-सरित्सागर' तथा 'बृहत्-

कथा' नामी ग्रन्थोंसे ली हुई प्रतीत होती है, पर वे ग्रन्थ इतिहासके विचारसे प्रामाणिक नहीं माने जा सकते। फिर भवभूतिने कथाको जो रूप दिया है उससे साफ़ पता चलता है कि नाटकीय कलाकार नाटकीय आकस्मिकता तथा नाटकीय विरोधाभासवाले गुणोंको ही उभारना चाहता है परन्तु इस धुनमें वह कहीं-कहीं उस सीमातक पहुँच गया है जहाँ उसके विचार स्पष्ट ही असम्भव जान पड़ने लगते हैं। उदाहरणार्थ, उसने लिखा है कि राम और गर्भवती सीता अपनी चित्रशालामें बैठे हुए उन चित्रोंके सम्बन्धमें वार्ता कर रहे थे, जिनमें रामके अनेक चरित्रोंका चित्रण था। सीताको नींद आ गयी और इतनेहीमें एक गुप्तचरकी सूचनापर रामने शीघ्र ही यह निर्णय कर लिया कि सीताको वनवास दे दिया जाय। इतना ही नहीं, बल्कि सोती हुई सीता ही रथमें चढ़ाकर वनको भेज दी जाती है और उसकी आँख वनमें ही खुलती है। इसमें नाटकीय आकस्मिकता अवश्य है और परिस्थितियोंका सकरुण विरोधाभास भी बहुत उभर आता है परन्तु रामका चरित्र ऊँचा नहीं रह जाता। कलाका काम अवश्य है कि इतिहासको सजीव और मूर्तिमान् कर दे और इसके हेतु 'कथा-प्रबन्ध अनेक' भी बना ले परन्तु चरित्रोंकी मर्यादा घटाना कलाके अनुरूप नहीं।

कलासम्बन्धी कल्पनाके सिद्धान्तपर निजी अनुभवकी एक घटना पाठकोंकी भेंट अवश्य करूँगा, क्योंकि उसने मेरे साहित्यिक जीवनके शुरूमें ही मुझे सतर्क कर दिया था। वर्तमान शैलीके एक रामायणी गायक महोदयका गान आगरा कालेजके एक होस्टेलमें होना तय हुआ और उसी कालेजका रामायणप्रेमी अध्यापक होनेके नाते मैं ही सभापति चुना गया। रचना राधेश्यामजीकी रामायणवाली शैलीकी-सी थी। गायक महोदयकी सुरीली ध्वनि और हार्मोनियमके स्वरोंने विद्यार्थी श्रोताओंको मुग्ध कर रक्खा था। इतनेमें गायकके गानमें वह प्रसंग आया जिसमें कविने रामवनवासके समय उर्मिला देवीसे चिककी आड़से अपने पति लक्ष्मणके प्रति घुटनेसे धक्का दिलाकर यह कहलाया था कि आप रामके साथ वनगमन स्वीकार न करें! मेरा सिर लज्जासे झुक गया और मेरी आँखें बंद हो गयीं। इतनेहीमें मेरे कानमें मि० नाग वाइस-प्रिंसिपलके ये शब्द पड़े 'कृपया गायकको रोक दीजिये वे तो लक्ष्मणकी अवस्थाको नगरकी गलियोंमें घूमनेवाले किसी युवक-जैसी बना रहे हैं और उनकी स्त्री (उर्मिला) की मर्यादाको तो धूलमें ही मिला दिया है।' ये शब्द एक ऐसे अनुभवी पुरुषके मुखसे निकले थे जो विज्ञानका विशेषज्ञ है और जो अब भी कलकत्तामें 'बोस-इंस्टीट्यूट'का सञ्चालन कर रहा है। मेरे कानोंमें उनके अंगरेजी शब्द अब भी गूँज रहे हैं और इसीलिये मेरा दृढ़ सिद्धान्त हो गया है कि महापुरुषोंकी मर्यादाको केवल रोचकताके लिये घटाना कलाके लिये कलङ्क है। हाँ, एक भवभूति ही इस दोषके भागी नहीं, शेक्सपियर-जैसा नाटकीय कलाकार भी इससे बच नहीं सका और उसने बहुत-से प्रसंगोंको जनताकी रुचिके कारण मर्यादासे च्युत कर दिया। इसीलिये तो मैंने अपने अन्य लेखोंमें लिख दिया है कि तुलसीदास-जैसे विरले ही कवि ऐसे हुए हैं जो नाटकीयकला और महाकाव्यके आदर्शोंका एकीकरण कर सकें।

पहले अध्यात्मरामायणकी कथाके रूपपर विचार किया जाय। कविने नामहीसे बता दिया है कि उस रामायणमें महाकाव्यकलाद्वारा ऐसी आध्यात्मिक तथा आधिदैविक गुत्थियोंको सुलझाया गया है जिनका सुलझाना प्रायः कठिन है। एकान्तमें भगवती सीताने स्वयं भगवान् रामसे यह कहा है कि मुझसे देवताओंने बार-बार प्रार्थना की है कि राम आपके साथ रहते हैं और कितने ही समयसे देवधाम—वैकुण्ठ शून्य है। रामावतारका काम भी पूरा हो चुका अतः यदि आप पहले चली आवें तो फिर राम भी अवश्य आ जायँगे। पाठकोंको सचेत रहना चाहिये कि यह आना-जाना सब भगवान्के सगुणरूपका है और इसीलिये द्वैत-सिद्धान्त-वाली भाषा प्रयुक्त होती है, नहीं तो राम-सीताके पारस्परिक सम्बन्धके विषयमें तो कहा ही गया है कि—

> गिरा अरथ जल बीचि सम कहिअत भिन्न न भिन्न।

अस्तु। रामजीने लीलाके सम्बन्धसे यह उपाय बताया कि मैं तुम्हें एक प्राकृत राजाकी तरह लोकापवादके मिस वन भेज दूँगा। वहाँ वाल्मीकि-आश्रममें तुमसे दो पुत्र उत्पन्न होंगे जिनके गर्भसम्बन्धी चिह्न प्रकट ही हैं। तदुपरान्त अनेकानेक प्रसंग आयेंगे जिनसे तुम्हारे पुत्रोंकी वीरता प्रकट होगी। अन्तमें जब तुम अयोध्या आओगी तो मैं जनताके सामने ही तुम्हारे चरित्रकी निर्मलताका प्रमाण माँगूँगा। उसी समय तुम शपथ लेते हुए यों कहना कि यदि मैं रामके प्रति सच्चा प्रेम रखती रही हूँ तो हे पृथ्वी-माता! तुम मुझे अपनी गोदमें लेकर मेरे चरित्रकी शुद्धताको प्रमाणित करो! इस बहानेसे तुम धरतीमें समा जाओगी और

पीछे मैं भी आ जाऊँगा। इस रूप तथा नाट्यकार भवभूति-के रूपमें आकाश-पातालका अन्तर है। यहाँ लोकापवाद केवल लीलाका एक बहाना है। रामको किसी प्रकार भी सीतापर सन्देह नहीं। ऐसे गुप्त परामर्शका एक नमूना तुलसीकृतरामायणमें भी है। सीताहरणकी लीलासे पूर्व ही भगवान् राम और सीतामें सलाह हुई कि सीता अग्निमें निवास करें और उनका मायिक प्रतिबिम्ब रामके साथ लीलाका काम पूरा करे। रहस्य इतना गुप्त रक्खा गया कि कविके शब्दोंमें 'लछिमनहूँ यह मरमु न जाना'।

अध्यात्मरामायणमें लिखा है कि लोकापवाद ज्यादा फैल गया था। कविके शब्द हैं—'सर्वे वदन्ति'। यह नहीं कि भवभूतिकी तरह एक गुप्तचरके कहनेपर सब कुछ करा डाला। स्वजनोंसे भी परामर्श हुआ। तभी वनवास दिया गया। अन्तमें पुत्रोंकी कीर्ति देखकर, कि वे वस्तुतः गोस्वामीजी-के शब्दोंमें 'विजयी और विनयी' हैं, जनताका मत फिरा। जब वे दोनों पुत्र वाल्मीकिजीके साथ अश्वमेध यज्ञमें सम्मिलित होनेके लिये गये तो जनताके अनुरागकी सीमा न थी। प्रत्येक व्यक्तिकी जिह्वापर ये शब्द थे कि ये दोनों तो रामके प्रतिबिम्ब ही जान पड़ते हैं। वाल्मीकिने भी सीताके लौटाये जानेकी बड़े ज़ोरसे सिफ़ारिश की। रामजीने ये सब बातें सुनकर स्पष्ट शब्दोंमें कहा कि मुझे सीतामें पूर्ण विश्वास है। सीताने तो लंकामें ही देवताओंके सामने अग्निपरीक्षा दी थी। मैंने लोकनिन्दाके भयसे सीताको छोड़ा था। मेरा अपराध क्षमा करें। संसारमें परमसाध्वी सीतामें मेरी प्रीति है। सच कहा है कि जनताकी स्मरणशक्ति बहुत कम होती है। इस अग्निपरीक्षाकी खबर होते हुए भी लोका-पवादका होना इस बातका प्रत्यक्ष प्रमाण है। परन्तु जन-सत्तात्मक राज्यके राजा होते हुए रामकी कठिनाईपर भी विचार कीजिये कि सीतापर विश्वास होते हुए भी उन्हें इस प्रकारका कर्म करना ही पड़ा। परन्तु जब जनताकी मति पलटी तो रामने सारा दोष अपनेपर ही मढ़ लिया और कितने स्पष्ट शब्दोंमें अपनेको अपराधी कहते हुए क्षमा माँगी। क्या हम अब भी रामजीके इस कार्यके औचित्यको नहीं समझेंगे? महात्मा गांधीने तो एक समय कहा था कि जन-सत्तात्मक राज्यके लिये यह रामका सबसे बड़ा त्याग था और इसी हेतु राम-राज्यकी प्रशंसा इस स्वतन्त्रताके युगमें भी होती है।

रामकी क्षमा-प्रार्थना अत्यन्त स्पष्ट थी पर होनहार और ही था। अतः भगवती सीताके मुखसे जो शपथ निकली उसमें रामाज्ञानुसार यह भी था कि यदि मैं वस्तुतः पतिव्रता हूँ तो हे धरतीमाता! तुम मुझे अपनी गोदमें ले लो। धरतीमाताने तुरन्त अपनी गोद खोल दी। ज़मीन फटी और 'अवनि-कुमारी' अवनिमें समा गयीं। पृथ्वीसे आकाशतक हाहाकार मच गया। अयोग्य एवं कृतघ्न प्रजाको उचित दण्ड मिला। रामजीके सम्बन्धमें व्यासने लिखा है—'भगवान् राम आगामी कार्यका सम्पूर्ण महत्त्व जानते थे तथापि अनजानके समान सीताजीके लिये शोक करने लगे' (हिन्दीके अनूदित शब्द गीताप्रेसद्वारा प्रकाशित 'अध्यात्मरामायण'के अनुवादसे लिये गये हैं)। रामके सम्बन्धमें तो ऋषियोंने कहा ही है कि वे जैसा 'काँछते' हैं वैसा ही 'नाचते' हैं अतः वह विलाप ठीक ही था। रामचरितमानसमें भी लक्ष्मणके शक्ति लगनेके समयका विलाप इसीका एक उदाहरण है। संसारकी दशा कितनी शोचनीय है कि हम युगोंतक एक रामकी प्रतीक्षा करते हैं पर जब राम अवतरित होते हैं तो उनका अनादर ही करते हैं!! हम नित्य ही कहा करते हैं कि रामराज्य आये पर जब वह आया तो हमने उसका कितना आदर किया सो हमने और आपने यहाँ देख ही लिया!

वर्तमान युगमें राष्ट्रीय विचारोंके कुछ और स्पष्टीकरण-की आवश्यकता है। मैंने अपने कई लेखोंमें लिखा है कि अयोध्यामें जनसत्तात्मक राज्यका होना ही सिद्ध होता है, क्योंकि वहाँ हर बातमें 'जो पाँचहि मत लागहि नीका' वाले सिद्धान्तपर ही ज़ोर दिया जाता है। अयोध्याकाण्डके अध्ययनसे पता लगता है कि वहाँ वैसे राज्यके सभी अंग मौजूद थे। (१) राजा, (२) मन्त्रिमण्डल, (३) महाजन (Lords) और (४) पञ्च (Commons)। यह बात इस तरह और साफ़ हो जाती है कि तुलसीदासजीने इसके विपरीत लंकाकी राज्यप्रणालीकी निन्दा करते हुए कहा है—

मंडलीक मनि रावन राज करइ निज मंत्र।

पर इसमें भी संदेह नहीं कि महाराज दशरथके शासन-कालके अंतिम समयमें जनसत्तात्मक शासनप्रणाली कुछ शिथिल-सी हो गयी थी। इसीलिये रामराज्याभिषेकके सम्बन्धमें राजाके कहनेपर भी राज्यसभा न बुलायी गयी और न वनवासके प्रश्नपर ही वैसी सभा हुई। परन्तु भरतके अयोध्या लौटनेपर अवश्य पूर्णरूपसे राज्यसभाका अधिवेशन होना कविने चित्रित किया जो आजकलकी किसी

भी पार्लामेण्टसे लग्गा खाता है। अस्तु, इस शैथिल्यके दुष्परिणामसे सभी अभिज्ञ हैं। हमारा आशय तो केवल यह दिखानेका है कि रामराज्यमें जनसत्तात्मक शासनप्रणालीका पूर्ण विकास हुआ। परन्तु साथ ही उसका दोष भी बढ़ा और यहाँतक बढ़ा कि सीता-जैसी राजमहिषीके निमित्त भी लोकापवाद चल पड़ा। अब वैसी शासनप्रणालीके सञ्चालक राम कठिनाईमें पड़ गये। यदि जनताकी राय नहीं मानते तो वह शासनप्रणाली मिटती है और यदि मानते हैं तो सीता-जैसी सती-साध्वी पत्नीसे केवल हाथ धोना ही नहीं पड़ रहा है बल्कि उसके साथ घोर अन्याय करनेका प्रश्न है। 'अध्यात्मरामायण'में तो महाकाव्यकलाद्वारा सबको लीलारूप बता दिया गया और जैसा हम पहले लिख चुके हैं, इस ग्रन्थीको कुछ सुलझानेका उद्योग किया गया पर दुष्परिणाम बच न सका। मेरी समझमें तो कथाका यह रूप जहाँ एक ओर महात्मा गाँधीके कथनानुसार रामके त्यागका द्योतक है वहाँ दूसरी ओर जनसत्तात्मक राज्यप्रणालीके अन्ध-विश्वासियोंके लिये एक बड़ी चेतावनीका काम करता है जिससे हमें सदा ही सतर्क रहना चाहिये। अँगरेजी पढ़नेवाले लोग यदि इस दोषको देखना चाहें तो उन्हें वह बड़ी ही सुंदर व्यंगपूर्ण भाषामें बर्नार्ड शाके Apple-Cart नामी पुस्तकमें मिलेगी। वहाँ कलाकारने बड़े व्यंगसे यह दिखाया है कि बेचारे राजाको मन्त्रिमण्डलकी सलाह बिना बोलना कठिन हो गया था। वे सब राजाको सिर्फ एक रबड़की मुहर बनाना चाहते थे। चतुर राजा, जिसके सामने कितने ही वैसे मन्त्रिमण्डल बदल चुके थे, अन्ततः एक चाल खेल गया जिससे मन्त्रि-मण्डलको भी अनुभव हो गया कि उसका गर्व व्यर्थ था और वह भी रबड़की मुहर ही था! इस तरह चतुर राजाकी ही जीत रही।

अब हम कथाके अन्य रूपोंपर विचार करेंगे अतः पाठकोंसे निवेदन है कि उपर्युक्त सिद्धान्तोंको भली प्रकार याद रक्खें कि हमें इस बातके निर्णयमें साहाय्य मिले कि कौन-सा रूप सर्वोत्तम है। मैंने पहले गीतावलीमें ही इस कथाको पढ़ा था, पर वहाँ कथा अपूर्ण है। इसलिये मेरी धारणा थी और अब भी है कि कथाके अन्तिम रूपपर मतभेद होनेके कारण ही कवि (तुलसी) ने उसे नहीं लिखा। पर हृदयमें अभिलाषा थी कि किसी प्रकार कथाके अन्तिमरूपका भी कुछ निर्णय हो सके तो अच्छा हो—भले ही वह निर्णय कविकल्पना रूपमें ही हो। मुझे रामाश्वमेध पढ़नेका सुयोग मिला जो मेरे घरमें नवलकिशोरप्रेसकी छपी हुई एक बहुत पुरानी रामायणके साथ लगा हुआ था। मुझे उसके पढ़नेसे जो लाभ हुआ, उसे मैं 'कल्याण'के प्रिय पाठकों-की भेंट करता हूँ। दो बातें पहले ही कह देना ज़रूरी है। एक यह कि वह पुस्तक भी दोषोंसे शून्य नहीं है। जैसे एक जगह यह दिखाकर कि रामके पास डेवढ़ीदारोंको घूस दिये बिना कोई पहुँच ही नहीं सकता रामराज्यकी कीर्तिपर पानी ही फेर दिया गया है। दूसरी बात यह कि कथाकार कवि तुलसीदासके ही रूपसे प्रभावित जान पड़ता है और भाषा भी रामायणहीकी-सी है। बहुत जगह तो ज्यों-के-त्यों वैसे ही शब्द प्रयुक्त हुए हैं। अतः मैं गीतावली तथा रामाश्वमेध-वाले रूपोंको एक साथही लूँगा और रामाश्वमेधमेंसे विशेषतः उस अंशको अधिक लूँगा जो गीतावलीमें नहीं है।

तुलसीदासजीने गीतावलीमें लिखा है कि—

दूत-मुख सुनि लोक धुनि घर घरनि बूझी आइ।

स्पष्ट है कि गुप्तचरके कहनेहीपर काम शुरू नहीं हो गया बल्कि रामने स्वजनों (घर) और स्वयं सीता (घरनि) से परामर्श किया। इस रूपमें राम निर्दोष हो जाते हैं और उन-जैसे पतिके लिये सीता-जैसी साध्वी पत्नीके सम्बन्धमें वैसा ही उचित भी था। तुलसीदासजीने एक स्थानपर दाम्पत्य-प्रेमके निमित्त शिवजीसे कहलाया है—

> जलु पय सरिस बिकाइ, देखहु प्रीति कि रीति भलि।
> बिलग होइ रसु जाइ, कपट खटाई परत पुनि॥

रामाश्वमेधके कविने परामर्शका होना तो रक्खा है पर उस परामर्शमें कपट-दोष गया नहीं, क्योंकि वहाँ सीताने इस सम्बन्धमें परामर्श शुरू किया है कि मैं अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार ऋषि-पत्नियोंकी सेवा करनेके हेतु वनमें रहना चाहती हूँ पर रामने अपना हेतु प्रकट नहीं किया। इतना ही नहीं, रामाश्वमेधमें करुणरसके बढ़ानेके लिये लक्ष्मणको यह आदेश हुआ है कि वे सीताको घने वनमें छोड़ आयें। इसमें अध्यात्मरामायणका ऋषि-आश्रमके निकट छोड़नेवाला संकेत भी नहीं। इसीलिये जब लक्ष्मणने वनमें सीताको रामाज्ञा सुनायी तो वे बेचारी बेहोश हो गयीं। लक्ष्मण उनके ऊपरवाले वृक्षमें एक छेददार घड़ेमें जल भर और उसे लटकाकर कि बूँद-बूँद जल सीतापर टपकता रहे, वहाँसे चल दिये। हमें तो यह व्यवहार बड़ा ही कठोर जँचता है। इसके विपरीत गोस्वामीजीने रामद्वारा लक्ष्मणको यह आज्ञा दिलायी है कि—

बालमीकि मुनीस आस्रम आइयहु पहुँचाइ ।

कितना साफ़ बता दिया गया है कि परामर्श होकर सीता और राममें यह तै हुआ कि जबतक सर्वसाधारणकी राय न पलटे तबतक उन्हें ऋषि-आश्रममें रक्खा जाय जहाँ उनके पुत्रोंके पालन-पोषण तथा शिक्षाका प्रबन्ध हो सके। यह कोई असाधारण बात नहीं। गोस्वामीजीके लक्ष्मण वही करते हैं। कविने लिखा है—

आइ लषन लै सौंपी सिय मुनीसहि आनि ।
नाइ सिर रहे पाइ आसिष जोरि पंकज पानि ॥

और यही उचित भी था। प्रजाके संतोषार्थ राज्याज्ञा-पत्रमें चाहे जो कुछ लिखा रहा हो परन्तु इस व्यवहारमें न तो प्रेमका अभाव है, न सावधानीहीका। मेरे तो यह समझमें ही नहीं आता कि अकारण ही करुण-रसकी वृद्धिका कृत्रिम उपाय क्यों किया जाय ? क्या यह परिस्थिति स्वयं सकरुण नहीं कि राजाको अपनी रानीके वियोगपर बाध्य होना पड़े और सीताके लिये तो परामर्शके बाद भी वियोगका होना दुःखद था ही । गीतावलीमें वह कहती हैं—

लषन लाल कृपाल ! निपटहि डारिबी न बिसारि ।
पालबी सब तापसनि ज्यों राजधरम बिचारि ॥

कौन सहृदय मनुष्य ऐसा है जो इस अपीलको पढ़कर रो न दे ? लक्ष्मणको 'लाल' कहकर पुकारना अपीलको कितना सकरुण बना देता है। 'डारिबी न बिसारि' में किस सुन्दरता एवं मार्मिकतासे प्रकट किया गया है कि—ऐसा न हो कि मेरे आँखों-ओट होनेसे सभी मुझे भूल जायँ। राजधर्मकी तो ऐसी मीठी चुटकी है जिसका कुछ कहना ही नहीं। मानो सीता कहती है कि वाह रे जनसत्तात्मक राज्य-प्रणाली ! जिसके कारण मुझे 'तापसिन' बनना पड़ा। पर याद रहे कि साध्वी सीताके मुखसे जो शब्द निकले हैं उनमें कठोर कटाक्ष नहीं, हाँ, व्यंगरूपमें अपील अवश्य है कि यद्यपि हमारा खास नाता टूटता है तो भी राज-धर्मके नाते एक तापसनारीके रूपमें मैं पालनकी अधिकारिणी हूँ। क्या कृत्रिम प्रयोगद्वारा इससे अधिक सकरुण परिस्थिति उत्पन्न की जा सकती है ? सबपर प्रभाव भी वैसा ही पड़ा—

सुनत सीता-बचन मोचत सकल लोचन-बारि ।
बालमीकि न सके तुलसी सो सनेह सँभारि ॥

सीताके इन दिल हिला देनेवाले शब्दोंने वाल्मीकि-जैसे मुनिके वैराग्यको भी भुला दिया। वे उस समय 'सनेह'को सँभाल न सके। लक्ष्मणकी दशाका चित्रण कविने यों किया है। लक्ष्मणजी कहते हैं—

कहत हिय मेरी कठिनई लखि गई प्रीति लजाइ ।
आजु अवसर ऐसेहू जौं न चले प्रान बजाइ ॥
इतहि सीय-सनेह-संकट उतहि राम-रजाइ ।
मौन ही गहि चरन गौने सिख-सुआसिष पाइ ॥

अन्ततः वे यह सोचते चल दिये कि मैंने अपने पिताके निमित्त कठोर शब्द कहे थे, उसीके बदलेमें वैसे ही शब्द मुझे भी सुनने पड़े। समूचा प्रसङ्ग पढ़ने लायक है पर विस्तार-भयसे नहीं दिया जाता। लक्ष्मणको शोक है कि सीता-हरण तथा यहाँ सीता-वनवासमें भी वे ही किसी-न-किसी प्रकार कारण बने। विरोधाभास भी इससे बढ़कर और क्या होगा कि जिस सीताके लिये घोर संग्राम हुआ था वही आज राज्याज्ञासे वनवासिनी बनायी जा रही है ?

कुछ समय बाद दो पुत्र उत्पन्न होते हैं और एक बार फिर खुशीका रंग जमना शुरू होता है। जंगलमें मंगल-की बहार होती है। पुत्रोंके जन्म-समय शत्रुघ्नजी भी वहाँ पहुँच उस खुशीमें शामिल होते हैं। संक्षिप्ततः उस दुःख-सुखमिश्रित अवस्थाका वर्णन तुलसी यों करते हैं—

दुखी सिय पिय-बिरह तुलसी सुखी सुत-सुख पाइ ।
आँच पय उफनात, सींचत सलिल ज्यों सकुचाइ ॥

सीताजी पतिके वियोगमें तो दुखी हैं किन्तु पुत्र-सुख पाकर प्रसन्न भी हैं; जिस प्रकार अग्निपर रक्खा हुआ दूध उफनने लगता है परन्तु जलके छींटे लगते ही फिर बैठ जाता है।

भाव-मर्मज्ञ और प्रकृतिके सूक्ष्म ज्ञानीजन इस उपमाकी सराहना अवश्य करेंगे और यह भी सोचेंगे कि इस उपमाद्वारा सुख-दुःखका संघर्ष किस सुन्दरतासे दिखाया गया है।

भगवान्‌की लीलाका रुख बदलता है। दोनों राजकुँवर बड़े होते हैं। वाल्मीकिजी राजा वलिके यहाँ यज्ञ कराने चले जाते हैं। इसी बीचमें वे दोनों राजकुमार रामजीके अश्वमेध यज्ञवाले अश्वको पकड़कर बाँध लेते हैं। युद्ध छिड़ जाता है। शत्रुघ्न, लक्ष्मण और भरत और हनुमान्‌जीसहित सारी सेना हार खाती है और विजय राजकुमारोंके हाथ रहती है। यह प्रसङ्ग रामाश्वमेधमें बड़ी ही सुन्दरतासे

वर्णित हुआ है, पर विस्तार-भयसे यहाँ नहीं दिया जाता। अन्तमें रामजी स्वयं आते और तनिक ही देरमें ताड़ जाते हैं कि ये राजकुमार कौन हैं। रामाश्वमेधके कविने बड़ी सुन्दरतासे लिखा है कि राम यों सोचने लगे—

इन सों युद्ध किए भल नाहीं, है हित हानि अजस जग माहीं।

अतः वे अपने बाणोंसे भी यों कहते हैं—

छोड़े बाण अमित तेहिं काला। कहि कहि सुंदर बचन रसाला॥
मारन जोग सुवन दोउ नाहीं। भय दिखाइ आवहु मोहिँ पाहीं॥

बड़े मज़ेकी लड़ाई है। आखिर राम भी मूर्च्छाकी लीला रच रथपर गिर पड़ते हैं। जामवन्त, हनुमान् सभी हार जाते हैं। युद्ध क्या है वीरोंके अहङ्कारका निवारण और राजकुमारोंको 'विजयी' बनानेका अवसर।

विजयी राजकुमार रामकी अंगूठी तथा वस्त्र लेकर बड़े हर्षसे अपनी माताके पास जाते हैं, परन्तु सीता वह सब देखकर व्याकुल हो जाती और बालकोंको भला-बुरा कहना शुरू कर देती है; यहाँतक कि क्रोधमें यह भी कह दिया—

सुवन नहीं ये जनमेउ काला। अवध नरेस बंस सब घाला॥

अनजान राजकुमारोंको विजय-गौरव भूल जाता है और वे सविनय माताके चरणोंपर गिर पड़ते हैं। कविने कहा है—

देखि दसा माता दोउ माई। परे चरन मुख बचन न आई॥

वाल्मीकिजी अमृत-घट लिये राजा बलिके यहाँसे वापस आते हैं और भगवान् रामको स्तुतिके द्वारा और शेषको अमृतवर्षाद्वारा जिला देते हैं। सीताजी समूची सेनाके साथ राजकुमारों तथा वाल्मीकिजीसहित बड़े आदर-सम्मानसे अयोध्या लायी जाती हैं और यज्ञ उन्हींके साथ समाप्त होता है। इस प्रकार राम-राज्य मानो पुनः प्रस्थापित होता है। कविने सीता और रामके शयनका चित्र यों खींचा है—

रति समेत लाजेउ मदन रजनी पति सकुचाइ।
सिय मुख सोभा सुरस लखि जहँ तहँ रहे लजाइ॥

कथाका कितना सुन्दर रूप है। राम-राज्यका अर्थ ही क्या, यदि उसमें सङ्कट-निवारणकी सामर्थ्य न हो! जनसत्तात्मक राज्यके विश्वासी लोग भी यही मानते हैं कि जनतामें यदि भूलकी सम्भावना है तो उसके सुधारकी शक्ति भी अवश्य है। कथाके इस रूपमें सीता और रामका स्नेह भी मिल गया, सीताको ऋषि-पत्नियोंकी सेवाका अवसर भी मिल गया, राज-पुत्रोंको प्रकृति-माताकी गोदमें पलनेका अवकाश मिला और उन्हें वाल्मीकि-जैसे मुनिद्वारा शिक्षा भी मिल गयी। गोस्वामीजीके शब्दोंमें दोनों बालक पूर्णतः 'बिजयी' और 'बिनयी' बने। रामके धैर्यपूर्ण व्यवहारसे भूली प्रजा फिर मार्गपर आ गयी और जनसत्तात्मक शासन-प्रणालीकी लाज रह गयी।

श्रीव्योहारराजेन्द्रसिंहजी बिल्कुल ठीक कहते हैं कि 'राम तो वही हैं जो वाल्मीकि या अध्यात्मरामायणके हैं किन्तु तुलसीके राम वही होते हुए भी उनसे भिन्न हैं। वे केवल तुलसीके राम हैं।' अँगरेजी साहित्यके ज्ञाता भली भाँति जानते हैं कि प्रसिद्ध ऐतिहासिक चरित्र भी लेखकोंके हाथोंमें पड़कर सुधरते या बिगड़ते हैं। उदाहरणार्थ, नेपोलियन बोनापार्ट और स्काटलैण्डकी रानी मेरीपर कितनी ही रचनाएँ हुईं, जिनमें वे पात्र वही होनेपर भी भिन्न दीखते हैं। फिर वहाँ तो अवतारी सत्ताकी बात है और इसलिये भिन्न-भिन्न कवियोंकी उड़ानमें अन्तर पड़ना स्वाभाविक ही है।

अब यह लेख पूज्य डा० गङ्गानाथ झाके कुछ शब्दोंको उनकी व्याख्यासहित देकर समाप्त किया जायगा। झा महोदयके सामने अध्यात्मरामायण तथा भवभूतिवाली कथाके रूप ही थे और इसीलिये उन्होंने ठीक कहा है कि— 'महापुरुषोंके चरित्र-परीक्षणमें यह स्मरण रखना चाहिये कि वे महापुरुष थे। साधारण पुरुषोंमें जो नियम लागू होते हैं वे उनमें नहीं हो सकते, न साधारण मनुष्योंमें ऐसी उच्च कोटिके चरित्रके समझनेकी शक्ति ही हो सकती है।' यह चेतावनी तो ठीक है परन्तु कवियों तथा लेखकोंको भी खूब याद रखना चाहिये कि महाकाव्यकलाके चरित्रोंकी मिट्टी पलीद न होने पाये। वर्तमान समयमें गायकोंने 'नौटङ्की'की रीतिपर और 'फिल्म' कलाकारोंने 'टॉकी' के पर्देपर वह ऊधम मचा रक्खी है कि हमारे धर्म-सम्बन्धी चरित्रोंकी परमात्मा ही रक्षा करें। स्मरण रखना चाहिये कि जैसे अर्थशास्त्रका यह सिद्धान्त है कि बुरा सिक्का ही प्रचलित रह जाता और भला सिक्का हाटसे ग़ायब हो जाता है, वैसे ही बुरे गाने और नाटक ही जनतामें प्रचलित रह जाते हैं और भले ग्रन्थोंकी पूछ कम हो जाती है।

तीर्थयात्रा

(संकलित)

एक संत किसी प्रसिद्ध तीर्थस्थानपर गये थे। वहाँ एक दिन वे तीर्थ-स्नान करके रातको मन्दिरके पास सोये थे। उन्होंने स्वप्नमें देखा—दो तीर्थ-देवता आपसमें बातें कर रहे हैं। एकने पूछा—

'इस वर्ष कितने नर-नारी तीर्थमें आये ?'

'लगभग छः लाख आये होंगे।' दूसरेने उत्तर दिया।

'क्या भगवान्ने सबकी सेवा स्वीकार कर ली ?'

'तीर्थके माहात्म्यकी बात तो जुदी है, नहीं तो उनमें बहुत ही कम ऐसे होंगे जिनकी सेवा स्वीकृत हुई हो।'

'ऐसा क्यों ?'

'इसीलिये कि भगवान्में श्रद्धा रखकर पवित्र भावसे तीर्थ करने बहुत थोड़े ही लोग आये। जो आये, उन्होंने भी तीर्थोंमें नाना प्रकारके पाप किये।'

'कोई ऐसा भी मनुष्य है जो कभी तीर्थ नहीं गया परन्तु उसको तीर्थोंका फल प्राप्त हो गया और जिसपर प्रभुकी प्रसन्नता बरस रही हो।'

'कई होंगे, एकका नाम बताता हूँ, वह है रामू चमार, यहाँसे बहुत दूर केरल देशमें रहता है।'

इतनेमें संतकी नींद टूट गयी। उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ और इच्छा हुई केरल देशमें जाकर भाग्यवान् रामू चमारका दर्शन करनेकी। संत उत्साही और दृढ़निश्चयी तो होते ही हैं। चल दिये। और बड़ी कठिनतासे केरल पहुँचे। पता लगाते-लगाते एक गाँवमें रामूका घर मिल गया। संतको आया देख रामू बाहर आया। संतने पूछा—'क्या करते हो भैया ?'

'जूते बनाकर बेचता हूँ महाराज।' रामूने उत्तर दिया।

'तुमने कभी तीर्थयात्रा भी की है ?'

'नहीं महाराज, मैं गरीब आदमी—पैसा कहाँसे लाता तीर्थयात्राके लिये ? तीर्थका मन तो था परन्तु जा सका नहीं।'

'तुमने और कोई बड़ा पुण्य किया है ?'

'ना महाराज। मैं नीच पुण्य कहाँसे करता ?'

तब संतने अपना स्वप्न सुनाकर उससे पूछा—

'फिर भगवान्की इतनी कृपा तुमपर कैसे हुई ?'

'भगवान् तो दयालु होते ही हैं, उनकी कृपा दीनोंपर विशेष होती है। (इतना कहते-कहते वह गद्गद हो गया, फिर बोला—) महाराज! मेरे मनमें वर्षोंसे तीर्थयात्राकी चाह थी। बहुत मुश्किलसे पेटको खाली रख-रखकर मैंने कुछ पैसे बचाये थे, मैं तीर्थ-यात्राके लिये जानेहीवाला था कि मेरी स्त्री गर्भवती हो गयी। एक दिन पड़ोसीके घरसे मेथीकी सुगन्ध आयी, मेरी स्त्रीने कहा—मेरी इच्छा है मेथीका साग खाऊँ, पड़ोसीके यहाँ बन रहा है, जरा माँग लाओ। मैंने जाकर साग माँगा। पड़ोसिन बोली—ले जाइये परन्तु है यह बहुत अपवित्र। हमलोग सात दिनोंसे सब-के-सब भूखे थे, प्राण जा रहे थे। एक जगह एक मुर्देपर चढ़ाकर साग फेंका गया था। वही मेरे पति बीन लाये। उसीको मैं पका रही हूँ। (रामू फिर गद्गद होकर कहने लगा—) मैं उसकी बात सुनकर काँप गया। मेरे मनमें आया, पड़ोसी सात-सात दिनों-तक भूखे रहें और हम पैसे बटोरकर तीर्थयात्रा करने जायँ ? यह तो ठीक नहीं है। मैंने बटोरे हुए सब पैसे आदरके साथ उनको दे दिये। वह परिवार अन्न-वस्त्रसे सुखी हो गया। रातको भगवान्ने स्वप्नमें दर्शन देकर कहा—'बेटा! तुझे सब तीर्थोंका फल मिल गया, तुझपर मेरी कृपा बरसेगी।' महाराज! तबसे मैं सचमुच सुखी हो गया। अब मैं तीर्थस्वरूप भगवान्को अपनी आँखोंके सामने ही निरन्तर देखा करता हूँ। और बड़े आनन्दसे दिन कट रहे हैं।'

रामूकी बात सुनकर संत रो पड़े। उन्होंने कहा—सचमुच तीर्थयात्रा तो तैंने ही की है।

वर्णाश्रम-विवेक

(लेखक—श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्री १०८ स्वामी श्रीशङ्करतीर्थजी महाराज)

[गताङ्कसे आगे]

विष्णु, हारीत, याज्ञवल्क्य, वशिष्ठ, शङ्ख, व्यास, पाराशर, यम आदि सभी स्मृतिकारोंने चार वर्णोंको पृथक्-पृथक् माना है। प्रायः सभी पुराणोंमें भी ऐसा ही उल्लेख है। वसिष्ठसंहितामें विविध जातियोंका वर्णन मिलता है। महाभारत-शान्तिपर्वके १८८वें अध्यायमें जातिभेदका स्पष्ट उल्लेख है। शरशय्यापर सोये हुए राजर्षि भीष्म श्रीभगवान्‌की स्तुति करते हैं—

ब्रह्म वक्त्रं भुजौ क्षत्रं कृत्स्नमूरूदरं विशः।
पादौ यस्याश्रिताः शूद्रास्तस्मै वर्णात्मने नमः॥

अर्थात् ब्राह्मण जिसका मुखस्वरूप है, क्षत्रिय जिसकी भुजा हैं, वैश्य जिसके ऊरु और उदरस्वरूप हैं और शूद्र जिसके चरणोंका आश्रय लेकर स्थित है, उस चतुर्वर्णरूपी परमात्माको नमस्कार।

कुछ लोग महाभारत-शान्तिपर्व १८८ वें अध्यायके निम्नलिखित श्लोकका अध्याहार करके जातिभेदको मनुष्यकृत प्रमाणित करनेकी व्यर्थ चेष्टा करते हैं।

न विशेषोऽस्ति वर्णानां सर्वं ब्राह्ममिदं जगत्।
ब्रह्मणा पूर्वसृष्टं हि कर्मणा वर्णतां गतम्॥१०॥

वर्णोंमें कोई और विशेषता नहीं है, क्योंकि सम्पूर्ण जगत् ब्रह्माके द्वारा पहले सृष्ट होनेके कारण ब्राह्मण-जातिवाला था, पीछेसे कर्मोंके अनुसार विभिन्न वर्णोंमें परिणत हुआ।

ऊपर जिस बृहदारण्यक श्रुतिके प्रथम अध्यायके चतुर्थ ब्राह्मणके ११ से १५ मन्त्रोंकी व्याख्या की गयी है, महाभारतके शान्तिपर्वके १८८ वें अध्यायका यह दसवाँ श्लोक उसीका अनुवादमात्र है। मानवीय सृष्टिके प्रारम्भमें अर्थात् अव्यक्त अवस्थासे सृष्टि जब व्यक्त होने लगती है तब ब्रह्म स्वयं ही ब्राह्मणका शरीर धारण करके प्रकट होते हैं, इसी कारण आदि ब्राह्मणरूपमें जो अभिव्यक्ति हुई उसीको लक्ष्य करके महाभारतकारने कहा है कि, 'पहले एकमात्र ब्राह्मण-वर्ण ही था।' इस बातका इसी प्रकार समन्वय करना पड़ता है, नहीं तो महाभारतके अन्यान्य अंशोंके साथ तथा श्रुति और श्रुतिका अनुसरण करनेवाली स्मृतियोंके साथ इसका विरोध उपस्थित होनेपर यह त्याज्य हो जायगा*।

श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धमें ५ वें अध्यायके दूसरे श्लोकमें भगवान् श्रीकृष्णने परम भागवत उद्धवसे कहा है—

मुखबाहूरुपादेभ्यः पुरुषस्याश्रमैः सह।
चत्वारो जज्ञिरे वर्णा गुणैर्विप्रादयः पृथक्॥

अर्थात् परमपुरुषके मुख, बाहु, ऊरु और चरणसे चार आश्रम तथा सत्त्वादि गुणभेदसे ब्राह्मणादि चार वर्ण उत्पन्न हुए हैं।

वर्णाश्रमकी विशद व्याख्या श्रीमद्भागवतके ११वें स्कन्धके १७ वें अध्यायके १५ से २१ श्लोकतक तथा श्रीमद्भगवद्गीतामें १८ वें अध्यायमें ४१ से ४७ श्लोकतक देखनेमें आती है। भगवान् मनु और भी कहते हैं—

चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक्।
भूतं भवद्भविष्यञ्च सर्वं वेदात्प्रसिध्यति॥
(१२।९७)

अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—ये चार वर्ण तथा स्वर्गादि तीनों लोक, ब्रह्मचर्यादि चारों आश्रम,

---

* स्मृत्योर्विरोधे न्यायस्तु बलवान् व्यवहारतः।
अर्थशास्त्रात्तु बलवद्धर्मशास्त्रमिति स्थितिः॥
—याज्ञवल्क्य, व्यवहाराध्याय २१

यहाँतक कि जो कुछ भूत, वर्तमान और भविष्य है सभी वेदसिद्ध है, अर्थात् अनादि, सृष्टिके प्रारम्भसे प्रचलित प्रवाहरूपमें नित्य है। और स्वयं वेद भगवान् कहते हैं—

यत्किञ्चिद् मनुरवदत् तद्वै भेषजम्।

मनुने जो कुछ कहा है वह भेषजस्वरूप है, अर्थात् अत्यन्त कल्याणकारक है।

भगवान् बृहस्पति कहते हैं—

वेदार्थोपनिबन्धृत्वात् प्राधान्यं हि मनोः स्मृतम्।

—भगवान् मनुका स्मृतिशास्त्र ही सर्वश्रेष्ठ है क्योंकि इसीमें वेदोंके अर्थका माहात्म्य सन्निविष्ट हुआ है।

अन्यत्र कहा गया है—

यः कश्चित् कस्यचिद्धर्मो मनुना परिकीर्तितः।
स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः॥

अर्थात् मनुने जो कुछ कहा है, वह वेदका ही विषय है, क्योंकि भगवान् मनु सर्वज्ञ हैं।

नीचे यजुर्वेदमें उल्लिखित जातियोंकी सूची दी जाती है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, मागध (३०-५)। सूत, शैलूष, रथकार, तक्षा (३०-६)। कौलाल (३०-७)। पौञ्जिष्ठ, नैषाद, व्रात्य, दास (३०-८)। गोपाल, अविपाल (३०-११)। वासपल्पूली, रजयित्री (३०-१२)। अश्वसाद, अयस्ताप (३०-१४)। चर्मम्न (चमार) (३०-१५)। धैवर, दाश, वैन्द, कैवर्त, पर्णक (३०-१६)। किरात, पौल्कस, हिरण्यकार (३०-१७)। गोव्यच्छ, गोघात (३०-१८)। ग्रामणी (नापित) (३०-२०)। चाण्डाल (वंशनर्त्ती) (३०-२१)।

इस वैदिक जाति-सूचीमें वर्णित जातियोंमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चार वर्णोंके अतिरिक्त शेष तीस जातियाँ वर्णसङ्कर हैं। यजुर्वेदके सोलहवें अध्याय-में भी अनेकों जातियोंका उल्लेख है।

भगवान् मनुके द्वारा उल्लिखित जातियोंकी सूची भी यहाँ दी जाती है।

'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र (१०-४)। अम्बष्ठ, निषाद (१०-८)। सूत, मागध, वैदेह (१०-११)। आयोगव, क्षत्ता, चाण्डाल (१०-१२)। उग्रा, आवृत, आभीर, धिग्वण (१०-१५)। पुक्कस, कुक्कुटक (१०-१८)। श्वपाक, वेन (१०-१९)। व्रात्य (१०-२०)। भूर्जकण्टक (आवन्त्य, वाटधान, पुष्पध, शैख) (१०-२१)। झल्ल (मल्ल, निच्छिवि, नट, करण, खस, द्राविड) (१०-२२)। सुधन्वा-चार्य (कारुष, विजन्म, मैत्र, सात्वत) (१०-२३)। सैरिन्ध्रि (१०-३२)। मैत्रेयक (१०-३३)। दास (कैवर्त) (१०-३४)। चर्मकार (अन्ध्रमेद) (१०-३६)। पाण्डु, सोपाक, आहिण्डिक (हांडी) (१०-३७)। सोपाक (१०-३८)। अन्त्यावसायी (मुर्दाफराश) (१०-३९)।

भगवान् मनुकी बतलायी हुई इस मानवजातिकी सूचीमें भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चार वर्णोंके अतिरिक्त शेष ३० जातियाँ वर्णसङ्कर हैं। वैदिक जातिसूचीके साथ इस सूचीकी संख्यामें कोई अन्तर नहीं है। परन्तु किसी-किसी नाममें कुछ अन्तर है। इसका कारण है समय-भेद।

वेदमें तैत्तिरीयसंहिता, काण्वसंहिता, शौनक-संहिता, वाजसनेयसंहिता, माध्यन्दिनसंहिता तथा शाकलसंहिताके विभिन्न मन्त्रोंमें अनेकों जातियोंके नाम और कर्मोंका उल्लेख है।

तथापि प्रश्न उठता है कि ईश्वरकी सृष्टिमें जाति-भेद कहाँसे आया ? जब* ब्राह्मण और शूद्र, चाण्डाल

---

* भगवान् बादरायणने श्रुति और युक्तिके द्वारा प्रतिपादन किया है कि संसार अनादि है, कर्म भी बीजाङ्कुर-न्यायकी भाँति अनादि है, अतएव जगत्में सृष्टि और प्रलय प्रवाहरूपसे नित्य है। इसलिये प्रथम सृष्टिकालमें कर्मविभाग-

और चमार सब एक ही ईश्वरकी रचना हैं, एक ही पिताकी सन्तान हैं, तो फिर भेद कहाँसे आया तथा भेद ही क्यों हुआ ? एक आदमी श्रेष्ठ और दूसरा निकृष्ट क्यों हुआ ? एक आदमी गुरु और दूसरा शिष्य क्यों है ? एक स्वामी और दूसरा सेवक क्यों है ? हो सकता है कि किसी दिन यह भी प्रश्न उठे कि एक आदमी पिता और दूसरा पुत्र क्यों है ? एक व्यक्ति पति और दूसरा पत्नी क्यों है ? एक आदमी राजा और दूसरा प्रजा क्यों है ? एक दाता और दूसरा ग्रहीता क्यों है ? एक वक्ता और दूसरा श्रोता क्यों है ? इत्यादि ।

× × × ×

ऋषिशास्त्र कहते हैं—

सुरासुरनराः पक्षिपशुद्रुमलतादयः ।
एवं चतुर्विधा सर्वा प्रजा वर्णचतुष्टयी ॥

सुर, असुर, नर, पशु, पक्षी, वृक्ष, लता समस्त सृष्टि ही चातुर्वर्ण्यमयी है । पञ्चभूत, वृक्ष, पशु, पक्षी, देव प्रभृति जातियोंमें जिस प्रकार प्राकृतिक तथा ईश्वरकृत भेद है, उसी प्रकार मनुष्यमें भी ब्राह्मणादि वर्णभेद प्राकृतिक, ईश्वरकृत और अनादि है । 'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टम् ।' गुण-कर्मविभाग जिस प्रकार अनादिकाल-सिद्ध है, उसी प्रकार वर्णभेद भी अनादिकालसिद्ध है ।

देवताओंमें भी जो जातिभेद है उसका उल्लेख बृहदारण्यक उपनिषद्में १—४ में ११ से १५ मन्त्रमें स्पष्टरूपसे वर्णित है । छान्दोग्यश्रुतिके रूपमें वेद-भगवान् कहते हैं—

य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वाथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरञ्श्वयोनिं वा शूकरयोनिं वा चाण्डालयोनिं वा ।

(५ । १० । ७)

अर्थात् जो लोग शुभ कर्मोंके (वेदोक्त सदाचारके) अनुष्ठानमें जीवन बिताते हैं, वे शुभ शरीरको प्राप्त होते हैं अर्थात् उच्च वर्णमें जन्म लेते हैं; ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्य-देहको प्राप्त होते हैं । और पापकर्मों (वेदविरुद्ध दुराचार) को करनेवाले पापयोनिमें जन्म ग्रहण करते हैं; कुत्ते, सूअर या चाण्डालरूपमें उत्पन्न होते हैं । पूज्यपाद महर्षि गौतमने कहा है—

वर्णाश्रमाश्च स्वकर्मनिष्ठाः प्रेत्य कर्मफलमनुभूय ततः शेषेण विशिष्टदेशजातिकुलरूपायुःश्रुतिवृत्त-वित्तसुखमेधसो जन्म प्रतिपद्यन्ते ।

(गौतमसंहिता अध्याय ११)

अर्थात् अपने-अपने कर्मोंमें लगे हुए सब प्रकारके वर्णों और आश्रमोंके लोग इस जीवनमें जिस-जिस प्रकारके कर्मोंका अनुष्ठान करते हैं, मृत्युके पश्चात् उनके अनुसार ही कर्मफलका भोग करके अवशिष्ट कर्मफलके अनुसार विशेष-विशेष जाति, कुल, रूप, आयु, शास्त्रज्ञान, वृत्त, वित्त, सुख और मेधाको प्राप्त करते हुए पुनर्जन्म ग्रहण करते हैं ।

जन्म-जन्मान्तरके शुभाशुभ कर्मोंके फलोंके अनुसार जीव उच्च और नीच योनियोंमें जन्म ग्रहण करते हैं । जिसने जिस दर्जेका मूल्य चुकाया है उसे उसी दर्जेमें बैठनेका टिकट मिलता है । नीचे दर्जेका टिकट लेकर ऊँचे दर्जेमें बैठनेकी आशा करनेमें अपनी मूर्खता प्रकट करने या अपमान भोगनेके सिवा और लाभ ही क्या है?

के अभावके कारण विषम सृष्टि नहीं हो सकती । अतः यहाँ शंकाका कोई कारण नहीं है ।

'न कर्माविभागादिति चेत् न, अनादित्वात् ।'

'उपपद्यते चाप्युपलभ्यते च ।' (वेदान्तदर्शन २ । १ । ३५-३६)

जीवोंके अनादि शुभ, अशुभ तथा मिश्र कर्मोंके कारण सृष्टि-वैषम्य अवश्यम्भावी हो जाता है । परमेश्वर राग-द्वेषके वशवर्ती या निर्दय या असमदर्शी नहीं हैं, परमेश्वर जीवके धर्माधर्मकी अपेक्षा करके सृष्टि करते हैं ।

वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात् तथा हि दर्शयति ।

(वे० द० २ । १ । ३४)

'काकः काकः पिकः पिकः' इस कहावतको सभी जानते हैं।

एक दिन एक आदमी तीसरे दर्जेका टिकट लेकर पहले दर्जेके डब्बेमें बैठ गया। गाड़ीके दो स्टेशन आगे जानेपर एक टिकट जाँच करनेवालेने उस डब्बेमें आकर उस आदमीका टिकट देखकर कहा—'आपका तीसरे दर्जेका टिकट है, यहाँसे उतरकर आप तीसरे दर्जेमें जाकर बैठिये।' उस आदमीने, पहले दर्जेका टिकट लिये हुए एक दूसरे सीधे-सादे निरीह सज्जनकी ओर सङ्केत करके कहा—'उनको उतारिये। देखिये उनके कपड़े तो मेरे कपड़ोंसे मैले हैं; वे मूर्ख हैं और मैं एम्० ए० पास हूँ; वे मध्यम श्रेणीके मनुष्य हैं और मैं लखपती हूँ, इत्यादि।' टिकट देखनेवालेने हँसते हुए कहा—'महाशय! यहाँ इन सब बातोंका विचार नहीं किया जाता। यहाँ तो केवल टिकटके अनुसार ही व्यवस्था की जाती है। उनके पास पहले दर्जेका टिकट है, अतः वे यहीं बैठेंगे; आपके पास तीसरे दर्जेका टिकट है, अतः आप इस डब्बेसे उतरकर तीसरे दर्जेके डब्बेमें बैठिये।' इतना कहनेपर भी जब वह आदमी वाद-विवाद करने लगा, तब टिकट देखनेवालेने पुलिसको बुलाकर धक्का देकर उसे गाड़ीसे उतार दिया, वह पुलिसकी निगरानीमें रोक लिया गया और उस गाड़ीसे जहाँ जाना था, वहाँ नहीं पहुँच सका। इसी प्रकार नीचे वर्णका अधिकार पाकर ऊँचे वर्णके साथ व्यर्थ स्पर्धा करनेपर प्रकृति महारानीके हाथों धक्के खाने पड़ेंगे और केवल अशान्ति और अकल्याण ही हाथ लगेगा, शान्ति और कल्याणकी प्राप्तिकी आशा कहाँ? महर्षि पतञ्जलिने अपने योगदर्शनमें कहा है—

'सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः।' (२।१३)

अर्थात् जिस कर्मके फलसे जाति, आयु और भोगकी प्राप्ति हुई है, जबतक उस कर्मका भोग समाप्त न होगा तबतक इस जाति, आयु और भोगका परिवर्तन नहीं हो सकता। आत्मस्वरूपकी प्राप्ति, द्रष्टाके स्वरूपमें स्थिति जबतक नहीं होती, तबतक अविद्या बनी रहेगी। इसी अविद्याके अस्तित्वकी प्रतीतिको यहाँ 'मूल' कहा गया है। इसी मूलसे कर्माशय (त्याग-ग्रहणात्मक व्यापारोंका आश्रय—धर्माधर्मरूप बीजका आधार; 'आ' पूर्वक 'शी' धातुसे 'आशय' शब्द निष्पन्न हुआ है, इसका अर्थ यही है कि जीव-समुदाय जिसमें सम्यक् रूपसे शयन करता है, अवस्थान करता है उसी कर्मरूप–धर्माधर्मरूप, ग्रहण-त्यागरूप बीजके आधारको आशय कहते हैं।) बनता है, तथा उसीके विपाक या परिणामस्वरूप जाति, आयु और भोगसमूहकी उपस्थिति होती है।

जाति–मनुष्यत्व आदि तथा इनके भीतर ब्राह्मणत्व, अन्त्यजत्व आदि जाति कहलाती है। 'साधन-समर' आश्रमसे प्रकाशित 'योगरहस्यम्' नामक ग्रन्थमें लिखा है—

पहले, जाति एक प्रकारका संस्कारविशेष है, जन्मसे ही यह संस्कार स्वयं प्रकट होता है। आत्माकी जाति नहीं है, जड-देहकी भी जाति नहीं होती, परन्तु देहात्मबोधसे विशिष्ट जीवके जाति-संस्कार अत्यन्त स्फुटरूपमें विद्यमान होते हैं। इसी जाति-संस्कारसे स्थूल शरीर बनता है, इसी कारण इसे शरीरारम्भक सूक्ष्म संस्कार कहते हैं। 'जन्' धातुसे 'जाति' शब्द निष्पन्न होता है। जन्म ही जातिका परिचायक है। जिस जातिके माता-पितासे जो सन्तान जन्म लेती है, वह सन्तान उसी जातिकी होती है, अर्थात् उक्त सन्तानके कर्माशयसे जिस प्रकारकी जातिका विकास होना चाहिये, ठीक उसी प्रकारकी जातिके माता-पिताकी सन्तानके रूपमें उसे जन्म लेना पड़ता है। पूर्वजन्मके गुण-कर्म ही मनुष्यकी वर्तमान जातिके कारण होते हैं।

जो लोग कहते हैं कि, सृष्टिकी प्रथम अवस्थामें मनुष्योंमें किसी प्रकारका जातिभेद नहीं था, पीछेसे गुण-कर्म-विभागके अनुसार मनुष्यके द्वारा ही जातिकी कल्पना हुई, उनके साथ हम किसी प्रकार भी सहमत

नहीं हो सकते। हम तो मानते हैं कि जाति नित्य पदार्थ है। न्यायशास्त्रमें जातिका लक्षण बतलाते समय कहा गया है कि, 'जो नित्य होनेपर भी अनेकोंमें समवेत है' वही जाति है। यह जगत् जिस प्रकार प्रवाहरूपमें नित्य है, मनुष्योंमें जातिभेद भी ठीक उसी प्रकार नित्य है। अतएव जातिभेद मनुष्योंके द्वारा कल्पित नहीं है। गीता और वेदादि शास्त्रोंमें इस प्रकारके अनेकों वचन मिलते हैं, जिनसे सिद्ध होता है कि जातिभेद ईश्वरकृत है। गुण और कर्मोंकी साधारण उत्कृष्टता अथवा अपकृष्टतासे जातिमें कभी परिवर्तन नहीं हो सकता। जन्मकालसे लेकर मृत्युपर्यन्त स्थूल शरीरनिष्ठ जातिनामक पदार्थ समभावसे ही विद्यमान रहता है। जबतक सूक्ष्मशरीरका अर्थात् वर्णनामक संस्कारका सम्यक् परिवर्तन सिद्ध नहीं होता, तबतक जाति-परिवर्तनकी चेष्टा बिल्कुल ही अस्वाभाविक है। जाति और वर्णके इस सूक्ष्म रहस्यके निर्णयमें असमर्थ होकर अनेक प्रकारके विपरीत मतानुयायी लोग बीच-बीचमें सनातन हिन्दू-समाजमें नाना प्रकारकी भ्रान्ति उपस्थित करते हैं।

महाभाष्यकार भगवान् पतञ्जलि कहते हैं— (नञ् पा० २। २। ६ सूत्रके भाष्यमें)

तपः श्रुतञ्च योनिश्च ह्येतद् ब्राह्मणकारणम्।
तपःश्रुताभ्यां यो हीनो जातिब्राह्मण एव सः॥

अर्थात् तपस्या, साङ्गोपाङ्ग वेद-ज्ञान तथा ब्राह्मणके औरसमें ब्राह्मणीके गर्भसे जन्म (ये तीन) पूर्णब्राह्मणत्वके कारण हैं। परन्तु तपस्या और विद्याके न रहनेपर भी ब्राह्मण केवल 'जातिब्राह्मण' रह जाता है।

भगवान् मनुने कहा है—

ब्राह्मणः सम्भवेनैव देवानामपि दैवतम्।

अर्थात् ब्राह्मण जन्म लेनेमात्रसे ही मनुष्यों तथा देवताओंके लिये पूज्य हो जाता है। (क्रमशः)

प्रभुका खोज

(गीत)

करो मत पीठ रामकी ओर!
कन-कनमें, प्रभु-शक्ति जड़ी है
विश्व-स्वरूप, समष्टि खड़ी है
सचराचरमें देखो प्रभुके रंगमहलकी कोर!
करो मत पीठ रामकी ओर!
प्रभु भीतर ब्रह्माण्ड बना है
उसमें भी वह स्वयं तना है
रचनाके प्रत्येक तत्त्वमें व्यापक अंचल छोर!
करो मत पीठ रामकी ओर!
चाहक चतुर समन्वय हो जो
खोजो! इसी भीड़में खोजो
खोजो अलख इसी खलकतमें, होने दो सब शोर!
करो मत पीठ रामकी ओर!
नास्तिकता जो लोग लिये हैं
पीठ रामकी ओर किये हैं
जो जन मुखका दर्शन पावे नाचे मनका मोर!
करो मत पीठ रामकी ओर!

—शिवनारायण वर्मा

मानस-शङ्का-समाधान

(लेखक—श्रीजयरामदासजी 'दीन' रामायणी)

शङ्का—श्रीरामचरितमानसमें लंकाकाण्डमें ११६वें दोहेमें विभीषणसे श्रीभगवान्ने कहा है—

करेहु कल्प भरि राजु तुम्ह मोहि सुमिरेहु मन माहिं।
पुनि मम धाम पाइहहु जहाँ संत सब जाहिं॥

अर्थात् हे विभीषण! तुम कल्पभर राज्य करो और मनमें मेरा सुमिरन करते रहो। फिर अन्तमें तुम मेरे उस धामको प्राप्त करोगे, जहाँ संत लोग जाते हैं।

एक कल्प चार अरब बत्तीस करोड़ वर्षोंका होता है। (इसका विवरण गीतातत्त्वाङ्क पृष्ठ ६३२ में सूर्य-सिद्धान्तके अनुसार बतलाया गया है) एक कल्पमें चौदह मन्वन्तर व्यतीत होते हैं। प्रत्येक मन्वन्तरमें ७१ चतुर्युग बीतते हैं। तथा प्रत्येक मन्वन्तरके अन्तके सत्ययुगमें पृथ्वी जलमग्न हो जाती है। ऐसा सुना जाता है। ऐसी अवस्थामें विभीषण एक कल्पतक कैसे राज्य करेंगे ? तथा एक कल्पतक किसीकी आयु भी कैसे हो सकती है ? यहाँ यदि यह मान भी लें कि भगवान् श्रीरामके आशीर्वादसे इतनी बड़ी आयु प्राप्त हो सकती है, तथापि आगे कई आपत्तियाँ उठती हैं। जैसे—

(१) आजकल वाराह कल्प चल रहा है, जिसमें छः मन्वन्तर बीत चुके हैं। सातवाँ वैवस्वत मन्वन्तर चल रहा है, जिसका यह अट्ठाईसवाँ कलियुग है। इसी वर्तमान मन्वन्तरके गत अट्ठाईसवें त्रेतायुगमें भगवान् रामने विभीषणको आशीर्वाद दिया है, ऐसा यदि मान लें, तो बड़ी गड़बड़ी होती है; क्योंकि त्रेताके बाद केवल द्वापरयुग बीता है और उसके बाद कलियुगके अभी कुछ ही वर्ष बीते हैं। इसके अतिरिक्त वैवस्वत मन्वन्तरके बीतनेमें ४३ चतुर्युग अभी और बाकी हैं। तदनन्तर इस कल्पके सिर्फ सात मन्वन्तर और बीतनेके लिये रह जायँगे। तत्पश्चात् प्रलयकाल आ जायगा। और प्रलय हो जानेपर विभीषणका राज्य ही कहाँ रहेगा जो वह राज्य करेंगे। फिर भगवान्का आशीर्वाद कैसे पूरा होगा ? और भगवान्की वाणी कभी व्यर्थ भी नहीं होती—इसका समाधान कैसे किया जाय ?

(२) जब भगवान् रामने विभीषणको एक कल्पतक राज्य करनेके लिये वचन दे दिया तब विभीषणके अबतक जीवित होनेमें तो कोई सन्देह ही नहीं किया जा सकता। परन्तु क्या कारण है कि आज विभीषणका कहीं पता नहीं लगता और लंकामें बृटिश झंडा फहरा रहा है ?

(३) श्रीमानसमें लिखा है कि लंका समुद्रके बीचमें त्रिकूट पर्वतपर स्थित है और वह समुद्रके किनारेसे सौ योजनकी दूरीपर है। परन्तु अंग्रेजोंके जहाज महासागरमें हजारों-हजारों कोसोंका चक्कर लगाते हैं, परन्तु ऐसी किसी लंकापुरीका पता नहीं लगता। फिर विभीषणके अस्तित्वमें विश्वास कैसे किया जाय ?

(४) भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें कहा है—'सम्भवामि युगे युगे' अर्थात् प्रत्येक युगमें भगवान् अवतार लेते हैं। यदि लंकामें एक कल्पतक विभीषणका राज्य करना ठीक है तो अगले त्रेतायुगमें जब भगवान् राम अवतार लेंगे तो रावण कहाँ रहेगा ? यदि उस समय रावणकी दूसरी लंका होगी, ऐसा मान लें तो श्रीमानसका यह वचन सत्य नहीं ठहरता कि प्रत्येक युगमें रावण जब-जब जन्म लेता है, इसी लंकामें रहता है। इन बातोंका समाधान कैसे किया जाय ?

समाधान—जिस श्रीरामचरितमानसके 'करेहु कल्प भरि राज तुम्ह' इस प्रवचनको लेकर शंका की जा रही है, उसी मानसमें श्रीकाकभुशुण्डिजीके सम्बन्धमें यह प्रमाण है कि—

'महा प्रलयहु नास तव नाहीं।'

तथा उन्हीं भक्तराज श्रीकाकभुशुण्डिजीने स्वयं श्रीगरुड़जीसे कहा है कि 'इस नील शैलपर बास करते हुए मुझे सत्ताईस कल्प व्यतीत हो चुके हैं।' जैसे—

इहाँ बसत मोहि सुनु खग ईसा। बीते कलप सात अरु बीसा ॥

अतएव श्रीभगवान्‌की अघटनघटनापटीयसी महिमा-को सामने रखकर भगवान्‌ने अपने अनुपम भक्तोंके सम्बन्धमें जो आज्ञा दी है। उसमें कुछ भी असम्भव नहीं मानना चाहिये। एक विभीषणजीके लिये ही क्यों ? सभी अनन्य भक्तोंके लिये 'रामकृपा कछु दुर्लभ नाहीं' यही निश्चय रखना उचित है। क्योंकि यह सिद्धान्त है कि—

उत्पति थिति लय बिषहु अमीके। राम रजाय सीस सबहीके ॥

अतएव श्रीभगवान्‌की आज्ञासे सब कुछ सम्भव हो जाता है। प्रश्नकर्त्ता महोदयकी आपत्तियोंका उत्तर क्रमशः इस प्रकार दिया जाता है—(१) यह आपत्ति जो उठायी गयी है कि 'इसी वैवस्वत-मन्वन्तरके अट्ठाईसवें त्रेतायुगमें भगवान् श्रीरामने विभीषणको उपर्युक्त आशीर्वाद दिया है।' इसके विषयमें निवेदन यह है कि श्रीरामचरितमानससे ऐसा प्रमाणित नहीं होता है। बल्कि वहाँ तो यह पाया जाता है कि जिस मानसकी कथाको श्रीगोस्वामी तुलसीदासजी महाराजने श्रीयाज्ञवल्क्य-भरद्वाज-संवादके रूपमें भाषाबद्ध किया है। उसकी रचना श्रीभुशुण्डि-गरुड़-संवाद होनेके २७ कल्प पहले ही हो गयी थी और श्रीशंकरजीके द्वारा महर्षि लोमशजीके बहानेसे काकजी-को यह रामचरितमानस प्राप्त हुआ था। जैसे, (श्रीमानस उत्तरकाण्ड दोहा ११२-११३)

मुनि मोहि कछुक काल तहँ राखा। रामचरित मानस तब भाषा ॥
सादर मोहि यह कथा सुनाई। पुनि बोले मुनि गिरा सुहाई ॥
रामचरित सर गुप्त सुहावा। संभु प्रसाद तात मैं पावा ॥

× × × ×

करि बिनती मुनि आसिष पाई। पद सरोज पुनि पुनि सिर नाई॥
हरष सहित यहि आश्रम आयउँ। प्रभु प्रसाद दुर्लभ बर पायउँ ॥
इहाँ बसत मोहि सुन खग ईसा। बीते कलप सात अरु बीसा ॥

इस प्रमाणसे तो यह सिद्ध होता है कि विभीषण-जीको जिस कल्पमें श्रीमुखसे यह आज्ञा हुई कि 'करेहु कलप भरि राजु तुम्ह मोहि सुमिरेहु मन माहिं' उसके बाद सत्ताईस कल्पसे अधिक व्यतीत हो गये। क्योंकि उसी कथाको तो लोमशसे भुशुण्डिने सुना था तथा भुशुण्डिने नील शैलपर गरुड़जीको सुनाया। अतएव यह शंका ही यहाँ नहीं उत्पन्न होती।

(२) पहले तो ग्रन्थके उपर्युक्त प्रमाणोंसे शंकाके लिये कोई आधार ही नहीं रह गया। क्योंकि सत्ताईस कल्पसे अधिक पूर्वकी कथाको हम वर्तमान कल्पके त्रेताकी बात कैसे मान लें ? जब कि जिस ग्रन्थको लेकर शंका की जा रही है वहींका वचन समाधान कर रहा है। तथापि यह सन्देह करना कि विभीषण-का कोई पता नहीं लगता, इस कारण भी उचित नहीं है कि हम संसारी जीवोंको ऐसा भाग्य और सामर्थ्य कहाँ, जो ऐसे दिव्य दर्शनोंका लाभ उठाकर कृतकृत्य हो सकें। जबतक भगवान् श्रीरामकी कृपासे दिव्य-दृष्टि प्राप्त न हो तबतक विभीषण आदि महाभागवतों-का दर्शन कहाँ सम्भव है ?

(३) अंग्रेजोंके जहाजोंसे लंकाका और विभीषणका पता नहीं लगा तो इसमें भी कोई आश्चर्य नहीं मानना चाहिये। श्रीद्वारकापुरी तो इसी द्वापर-

युगके अन्तमें समुद्रमें विलीन हो गयी है और उस द्वारकापुरीका साक्षात्कार श्रीनाभादासकृत भक्तमालमें श्रीपीपा भक्तको इसी कलियुगमें हुआ है। परन्तु अन्य किसीको उस द्वारकापुरीका दर्शन कहाँ होता है? लंकाका स्थान भी कौन-सा है यह निर्णय करनेके लिये कुछ नहीं कहा जा सकता। 'कल्याण' के रामायणाङ्क पृष्ठ ३१७में 'रावणकी लंका कहाँ थी?' शीर्षक लेख देखना चाहिये।

(४) गीतामें 'संभवामि युगे युगे' तथा श्रीरामचरितमानसमें (जिस ग्रन्थके विषयमें यह शंका उठायी गयी है) 'कलप कलप प्रति प्रभु अवतरहीं' ऐसा वाक्य प्रमाण है। इन वाक्योंका इस प्रकार समन्वय करके समझना चाहिये कि दोनों आप्तवाक्योंकी सार्थकता सिद्ध हो जाय। यदि हम यह मान लें कि प्रतिकल्पमें एक रामावतार होता है तो इसका युगमें होना सिद्ध ही हो जायगा, क्योंकि युग कल्पके ही अन्तर्गत होता है। और यदि प्रतियुगमें रामावतारका होना मान लें तो प्रतिकल्पके अवकाशको संकीर्ण करना पड़ता है। अतएव श्रीभगवान् शिवके ही अनुभव तथा वचनको निश्चय रखना चाहिये कि 'जब जब होइ धरमकी हानी' तभी तब—

असुर मारि थापहिं सुरन्ह राखहिं निज श्रुति सेतु।
जग बिस्तारहिं बिसद जस राम जनम कर हेतु॥

सियावर रामचन्द्रकी जय!

पशुओंकी सहानुभूति

(लेखक—श्री 'चक्र')

सीलोन द्वीप जिसे आजकल लंका कहते हैं अपने हाथियोंके लिये प्रसिद्ध है। घोर वनमें हाथियोंके झुण्ड-के-झुण्ड बैठे और क्रीडा करते हुए जहाँ-तहाँ मिलते हैं।

उसी घोर वनमें स्वामिकार्तिकेयका परम प्रसिद्ध मन्दिर है। कुमार कार्तिक सीलोनवासियोंके परमाराध्य हैं। वैसे तो द्वीपमें बौद्ध ही अधिक रहते हैं, पर वे भी कुमारको वैसे ही पूज्य मानते हैं जैसे वहाँके हिन्दू।

मेलेके समय तो मन्दिरके पास एक नगर-सा बस जाता है। द्वीपके प्रायः सभी अधिवासी आ जुटते हैं और बाहरके यात्री भी आ जाते हैं। उस समय खूब प्रबन्ध रहता है, जंगलके भयङ्कर मार्गमें सशस्त्र सिपाही प्रस्तुत रहते हैं।

बड़ा भव्य दृश्य होता है। मीलों लम्बे वनमार्गके दोनों ओर पड़ी हुई शिलाओंपर दिन-रात कपूर जला करता है। उन दिनों एक-एक शिलापर मनों कपूर जल जाता है। ये शिलाएँ वर्षभर काली पड़ी रहती हैं। इनके आस-पासकी भूमि भी कृष्णवर्णा हो गयी है।

यात्री प्रायः बहुत-सा कपूर लेकर चलते हैं और मार्गके दोनों ओरकी शिलाओंपर थोड़ा-थोड़ा हवन करते हुए जाते हैं। उनका विश्वास है कि कुमारस्वामी कपूर जलानेसे अत्यन्त प्रसन्न होते हैं।

घोर वनके मध्यमें वह विशाल मन्दिर है। उसके समीप ही माता पार्वतीका मन्दिर तथा एक या दो और छोटे मन्दिर हैं, दो-तीन घर पण्डोंके हैं। इन्हें मेलेके दिनोंमें पर्याप्त आय हो जाती है। इसीसे वर्षभर मन्दिरकी पूजा और इनकी जीविका भी चलती है। एक-दो छोटी-मोटी दूकानें और एक धर्मशाला भी है।

मेलेके दिनोंके अतिरिक्त बस वहाँ यही रहता है। वैसे मेलेमें तो अच्छा बाजार लग जाता है। तार और डाकका भी प्रबन्ध रहता है। अस्थायी भवनोंके समूह उस स्थानको शोभित करते हैं, जिनके अंशावशेष तो वर्षभर रहते हैं।

मेलेके अतिरिक्त वहाँ जाना हँसी-खेल नहीं रह जाता। बहुत साहसी यात्री भी एक बार आगा-पीछा सोचते हैं। डाकियेको तो सप्ताहमें एक बार जाना ही पड़ता है। वहाँ रहनेवाले पुजारी भी कभी-कभी आते-जाते रहते हैं। जिसे भी आना-जाना होता है वह सबेरे यात्रा करता है और शामसे पूर्व ही वहाँ पहुँच जाता है। दोपहरमें विश्रामको कदाचित् ही अवकाश प्राप्त होता है।

यात्रियोंके अतिरिक्त हाथियोंको फँसानेवाले भी वनमें जाते हैं। पर वनके प्रत्येक भागसे वे जानकार रहते हैं। शस्त्रोंसे सज्जित होकर जाते हैं और सुरक्षित स्थानोंके आस-पास ही रहनेकी चेष्टा करते हैं।

जब हाथी बच्चे देते हैं तो उन दिनों वे अधिक भयङ्कर हो जाते हैं। बच्चोंके साथ होनेपर वे तनिक-सी आहटसे चौंक पड़ते हैं और किसीको भी क्षमा नहीं करते। इन्हीं दिनों बच्चे पकड़नेवाले शिकारियोंको भी वनोंमें जाना पड़ता है।

(२)

'गये थे चौबेजी छब्बे होने, दूबे हो आये' गये थे हाथी फँसाने और स्वयं फँस गये। 'प्रभो! अब तुम्हीं रक्षा करो!' सुजानसिंहने कातर कण्ठसे, भरे नेत्रोंसे उस दयामयको पुकारा। अपने सुरक्षित स्थानसे वे शौच होने निःशस्त्र ही वनमें चले गये थे। लौटते ही दृष्टि पड़ी, हाथियोंका एक दल बच्चोंके साथ क्रीड़ा करता इधर ही आ रहा है।

'दृष्टि पड़ गयी तो कुशल नहीं!' इधर-उधर देखा पर सघन वनमें दूसरी ओर जानेका कोई मार्ग न था। आस-पास दलदल थी। कोई आशा न थी कि प्राण बचेंगे। वे बार-बार प्रभुको पुकारने लगे।

एक बच्चा बढ़ा और हाथियोंकी दृष्टि उसपर होती हुई इनपर पड़ी। वे झपटे बड़े वेगसे। काटो तो शरीरमें रक्त नहीं। पर एकाएक उन हाथियोंका अग्रणी चीख पड़ा। सब-के-सब पीछे ही खड़े हो गये।

बहुत नहीं—केवल तीस-पैंतीस गजकी दूरी थी। किन्तु हाथी किसी विपत्तिमें पड़ गये थे। बड़ा हाथी आगे दलदलमें फँस गया था और शेष पीछेसे चीख रहे थे। दलदल कुछ कड़ी थी। उसपरसे मनुष्य पार हो सकता था पर हाथी नहीं।

सुजानसिंह खड़े-खड़े कुछ सोच रहे थे। मार्ग बन्द था। वे पीछे नहीं जा सकते थे। आगे हाथी अपने अग्रणीको निकालनेमें लगे थे। शिकारीको दया आयी। अब प्राणोंका भय तो था नहीं। कुछ सोचकर उन्होंने दलदलसे दो-चार छोटे पौधे उखाड़कर हाथियोंकी ओर फेंके। वैज्ञानिकोंका मत है कि हाथी पशुओंमें सबसे अधिक बुद्धिमान् होता है। एक बार हाथियोंने शिकारीको देखा। वह दृष्टि क्रूर नहीं थी।

फिर तो आस-पाससे पौधे उखाड़कर हाथी दलदलपर डालने लगे। समीपके पेड़ोंकी डालियाँ भी काम आयीं। दलदल इस योग्य हो गया कि वे सब उन डालियोंपर खड़े हो सकें। सामूहिक संगठनमें शक्ति होती है। सबने मिलकर गजराजको उठा लिया। वह किसी प्रकार डालियोंपर आ रहा। एक बार हाथियोंने फिर शिकारीको देखा। कुछ चीखकर वे वनकी ओर वापस लौट गये।

शिकारी लौटा। सुरक्षित कुञ्जमें उसकी वस्तुएँ ज्यों-की-त्यों पड़ी थीं। हाथी फँसानेका विचार जाता रहा था। कन्धेपर बन्दूक डाली और वह कुमारस्वामीके मन्दिरकी ओर चल पड़ा।

(३)

सम्भवतः शिकारीके लिये वह दिन ही बुरा था। आधा मार्ग भी पार नहीं कर सका था कि हाथियोंका दल पुनः मिला। दूरसे हाथियोंने इसे देखा और पीछा

किया। कोई उपाय न देखकर इसने बन्दूक उठायी।

शिकारीने जिस सुरक्षित कुञ्जमें पहले बन्दूक रक्खी थी वह दलदल समीप होनेके कारण नम थी। इधर उसका ध्यान गया नहीं था। फल वही हुआ जो अनिवार्य था। बन्दूकका घोड़ा दबा और एक पिटसे शब्द होकर रह गया। रञ्जक चाट चुकी थी।

अब क्या हो? वह एकाएक शवकी भाँति पृथ्वीपर पड़ गया। यह उपाय रीछके लिये तो योग्य हो सकता था—किन्तु हाथी भला इस चकमेमें कैसे आते? 'यदि उन्होंने पैर रख दिया?' हाथी समीप आ गये। अग्रणीने सूँड़से बलपूर्वक इसे उठा लिया। पता नहीं वह क्या चाहता था।

पीछेके सब-के-सब हाथी एक साथ चिग्घाड़ उठे। शिकारीको उन्होंने देख लिया था। अग्रणी समझ गया अपने साथियोंके विचारको। उसने धीरेसे शिकारीको पीठपर बैठा लिया। शिकारीने अब पहचाना 'यह वही हाथी है जो दलदलमें फँस गया था।' कुछ भय था और कुछ धैर्य भी।

बड़ा हाथी शिकारीको पीठपर लेकर बहुत प्रसन्न था। वह अपने दलके साथ कुमारस्वामीके मन्दिरकी ओर सीधा चला। उसके पीछे उसका सम्पूर्ण दल था।

मन्दिरका प्रबन्ध आजकल जिनके हाथमें था वे पुजारी ही नहीं पूरे महात्मा भी थे। वन-पशुओंसे उनकी मैत्री थी। उन दिनों मन्दिरके पास कोई पशु किसीको पीड़ा नहीं देता था। प्रायः वनके घायल एवं पीड़ित पशु मन्दिरके घेरेमें भाग आते। पुजारीजी उनके शरणद थे। यथासम्भव चिकित्सा भी करते।

शिकारीका दिल अब भी धड़क रहा था। वह सोचता था कि 'पता नहीं ये जंगली हाथी मेरा क्या करेंगे।' भागने या पेड़पर चढ़ जानेकी चेष्टा करना भी कम भयङ्कर नहीं था। दूसरे, जब हाथी उससे मित्रतापूर्ण व्यवहार कर रहे थे। तब वैसा करना भी अनुचित था।

पूरा दल मन्दिरके घेरेके समीप जा पहुँचा। पुजारीजी बाहर कहीं जा रहे थे। उन्हें भी कम आश्चर्य नहीं हुआ। उस गजराजने चुपचाप शिकारीको उतारकर पुजारीजीके सम्मुख खड़ा कर दिया। वह उनके चरणोंमें गिर पड़ा। पुजारीजीने उसे उठाया। गजराज लौटा और दलके साथ जङ्गलमें चला गया।

सुजानसिंहसे पुजारीजीने सब बातें सुनीं। वे बड़े प्रसन्न हुए। सुजानने शिकार न करनेकी प्रतिज्ञा कर ली थी। उसके घर कोई था नहीं। पुजारीजीने उसे पात्र समझकर अपना उत्तराधिकारी बना दिया।

(४)

मेलेके दिन बीते ही थे, शिलाओंपर कपूरके ढेर अभी जल रहे थे, जिन्हें यात्री छोड़ गये थे। कहींसे चिनगारी उड़ी और वनमें लग गयी। धू-धू करके सारा वन जलने लगा।

पशुओंकी चीख और वृक्षोंकी तड़तड़ाहटके मध्य गगन धूम्रमय हो रहा था। पशु भाग-भागकर जलाशयोंके समीप एकत्र हो रहे थे। मन्दिरके आस-पास उनकी एक बड़ी भीड़ लग रही थी।

वर्तमान पुजारी सुजानजी पूजा करके मन्दिरसे निकले। एक बार देखा मन्दिरके समीप एकत्र शरणागतोंको और दूरपर उठती हुई उस प्रचण्ड ज्वालाको भी। शरणागतोंमें छोटे-बड़े सभी पशु थे। खरगोशसे हाथी और चीतेतक। सब भयभीत थे।

अग्नि इधर ही बढ़ रही थी। यद्यपि अभी पर्याप्त दूर थी, पर आते कितनी देर! पुजारीने कुछ सोचा और वे एक कुल्हाड़ी लेकर आगे बढ़े। मन्दिर और अग्निके मध्यमें एक स्थानपर वन कम चौड़ा था। अग्नि जिधरसे आ रही थी उधरसे पेड़-पौधे, जो कि छोटे ही थे, काटकर फेंकने लगे और दूसरी ओर स्वयं अग्नि लगा दी।

जङ्गलमें दावाग्निका वेग रोकनेके लिये आगेके वनमें अग्नि लगा देते हैं। जब वहाँका फूस जल जाता है तो उसे बुझा लेते हैं। इस प्रकार आगे बढ़नेको काष्ठ न मिलनेसे अग्नि रुक जाती है।

पुजारीजीने नये मैदानको काष्ठशून्य करनेके ध्यानमें दावाग्निकी ओर देखा नहीं। अग्नि निकट आ गयी। आगे दावाग्नि और पीछे अपनी लगायी हुई अग्नि। 'अब बीचमें जलना ही पड़ेगा।' आराध्यका स्मरण करके भागे।

शरीर झुलस गया, वस्त्र जल गये, किसी प्रकार मन्दिरके द्वारतक पहुँचते-पहुँचते वे मूर्छित होकर गिर पड़े। दावाग्नि नयी अग्नि लगनेसे वहीं रुक गयी। आश्रित पशुओंकी एवं मन्दिरकी रक्षा हो गयी। धीरेसे उठाकर हाथियोंने उन्हें पत्तोंके ऊपर रख दिया था।

मूर्छा दूर हुई, शरीरमें फफोले पड़ रहे थे। नेत्र खोलनेपर देखा कि चारों ओर अभीतक पशुओंकी भीड़ लग रही है। आजकल मन्दिरमें कोई था भी नहीं। प्रकृति ही सेविका थी।

शरीरमें वेदना थी, पर पशुओंकी सहानुभूतिने हृदयको धैर्य दे रक्खा था। धीरे-धीरे उठनेकी शक्ति आयी, छाले भरे। हाथियोंने स्वयं कुछ फल ला रक्खे थे, यों कह लीजिये कि उनकी तोड़ी हुई डालियोंके साथ फल आ गये थे। किसी प्रकार उनसे जीवन आया। उठकर वे मन्दिरके भीतर हो रहे।

पीछे मन्दिरका सेवक भी नगरसे लौट आया। थोड़े दिनोंमें ही पुजारीजी अच्छे हो गये। पशुओंकी भीड़ वहाँ तबतक रही जबतक कि पुजारीजी अच्छे होकर पुनः बाहर नहीं आ गये और उन्होंने अपने रक्षकको स्वस्थ नहीं देख लिया।

लोगोंका कहना है कि अब भी मन्दिरके पास एक दिन वर्षमें वनके समस्त पशु एकत्र होते हैं। वे वहाँ कई घंटे रहते हैं और कुछ फल, फूल, डाल-पत्ते आदि जो जीमें आता है डाल जाते हैं।

इतना तो सभी मानते हैं कि मन्दिरके आस-पास न तो कभी किसी पशुने किसीपर आक्रमण किया और न कभी उनमें वहाँ परस्पर ही लड़ाई होती है। वे वहाँ जाकर शान्त एवं सौम्य हो जाते हैं।

धनके ध्यानका परिणाम

वह मनुष्य, जो धनके पीछे मनकी शान्तिसे हाथ धो बैठता है, इस उद्देश्यसे कि भविष्यमें उसके उपभोग करनेमें मुझे बड़ा आनन्द मिलेगा, उस मनुष्यके समान है जो घर सजानेका सामान खरीदनेके लिये अपने घरको ही बेच डालता है।

× × × ×

यह समझकर कि सोना देखने योग्य वस्तु नहीं, निसर्ग देवने उसे पृथ्वीके अंदर छिपा दिया है; और इसी विचारसे चाँदीको भी उसने तुम्हारे पैरोंके नीचे गाड़ रक्खा है। क्या इससे उसका यह उद्देश्य नहीं है कि सोना और चाँदी आदर और ध्यान देने योग्य वस्तु नहीं है ?

× × × ×

जहाँ धन गड़ा रहता है वहाँकी जमीन बंजर होती है। जहाँ सोना छिपा पड़ा रहता है वहाँ घासतक नहीं उगती।

ऐसी जमीनमें पशुओंके लिये चारा नहीं मिलता, इर्द-गिर्द धान्यसम्पन्न खेत नहीं दिखलायी पड़ते, फल-फूल नहीं उत्पन्न होते, इसी प्रकार जिसका ध्यान उठते-बैठते, सोते-जागते धनमें रहता है उसके हृदयमें किसी सद्‌गुणकी वृद्धि नहीं हो पाती।

× × × ×

—'Economy of Human Life' 'मनुष्यजीवनकी उपयोगिता'से

कः पन्थाः ?

—'उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ।'

मानव-जीवनमें कर्म-प्रवाहके थपेड़ोंसे व्याकुल होनेपर प्रायः सामने यह प्रश्न आता है कि 'मार्ग क्या है ?' कः पन्थाः ? क्या करें ? इस प्रकारके प्रश्न जब हृदयमें उत्पन्न होते हैं, तब जान पड़ता है कि कर्म-प्रवाहकी एक तरंग संसारके किनारे आकर अवसित हो गयी है, और मानव-प्राणीको कुछ समयके लिये अवसर मिल गया है कि वह अपनी स्थितिको देखकर दूसरा पैर उठावे। जिस प्रकार समुद्रमें पड़ा हुआ प्राणी ज्वारके साथ भूतलकी ओर आता है, और किनारे आनेपर अल्पकालके लिये समुद्रकी तरंगोंसे बचनेका अवसर उसके हाथ लगता है। यदि ज्वारके अवसानमें उसने छुटकारा पानेके लिये पूरी शक्ति लगा दी, तब तो काम बन गया, नहीं तो भाटेके साथ वह समुद्रकी उत्ताल तरङ्गोंमें खिंच जायगा, और इस प्रकार छुटकारेके लिये प्राप्त हुए एक सुनहले अवसरको खो देगा।

इस प्रकार यह सहज ही समझा जा सकता है कि 'कः पन्थाः'का यह प्रश्न जीवनमें कितना महत्त्वपूर्ण है, और किसी प्रकार भी इसकी उपेक्षा करना कितनी बड़ी भूल है। महाभारतमें यक्षने भी धर्मराज युधिष्ठिरसे यह प्रश्न किया था, और 'महाजनो येन गतः स पन्थाः' इस प्रकारका उत्तर उसे प्राप्त हुआ था। अतएव यहाँ इस प्रश्नकी कोई नयी विवेचना न करके महाजनोंके द्वारा बतलाये हुए सर्वसाधारणके लिये उपयोगी मार्गका ही निर्देश किया जाता है। हमारे शास्त्रकारोंने तो कहा है कि—

नित्यं नैमित्तिकं कर्म कुर्वञ्छाठ्यविवर्जितः।
विनापि ज्ञानयोगाभ्यां चर्यामात्रेण मुच्यते ॥

सब प्राणियोंके प्रति दुर्भावनाका त्याग करके सन्ध्या आदि नित्यकर्म तथा व्रतोपवास, कूप, तड़ाग, आराम (बगीचा), पाठशाला, धर्मशाला आदि-आदि यथाशक्ति लोकोपकारके निमित्त नानाविध कर्मोंको करते हुए, ज्ञान और योगके अभ्यासके विना भी मनुष्य केवल सदाचरणके द्वारा भव-बन्धनसे मुक्त हो सकता है। परन्तु आधुनिक युगमें सदाचरणकी दृढ़ताके लिये जीवनमें साधनविशेषकी आवश्यकता है; अतएव धम्मपदमें भगवान् बुद्धने सर्वसाधारणके लिये मार्गका निर्देश करते हुए कहा है—

मग्गानट्ठङ्गिको सेट्ठो सच्चानं चतुरो पदा।
विरागो सेट्ठो धम्मानं द्विपदानं च चक्खुमा ॥

मार्गोंमें अष्टाङ्गिक मार्ग श्रेष्ठ है, सत्योंमें चार सत्य श्रेष्ठ हैं, सब धर्मोंमें वैराग्य श्रेष्ठ है, तथा मनुष्योंमें वह श्रेष्ठ हैं, जो ज्ञानचक्षुसे सम्पन्न हैं।

'कः पन्थाः ?' इस प्रश्नका उत्तर देते हुए भगवान् बुद्धदेव कहते हैं कि हे जिज्ञासु ! अष्टाङ्गिक मार्ग श्रेष्ठ है, उसपर चलो। अपने विचारोंको सम्यक् बनाओ, इच्छाएँ सम्यक् हों, वाणीको सम्यक् बनाओ, कर्म सम्यक् हों, आजीविकाको सम्यक् बनाओ, प्रयत्न सम्यक् हों, स्मृतिको सम्यक् बनाओ, ध्यान सम्यक् हो। यही साधारणतः जीवनके आठ प्रकारके मार्ग हैं। यहाँ सम्यक् शब्दका अर्थ यह है कि ये अष्टविध मार्ग अपने लिये कल्याणकारी होते हुए दूसरोंके लिये उद्वेग उत्पन्न करनेवाले नहीं होने चाहिये। चतुर्विध सत्यका अर्थ है—दुःख, समुदाय, निरोध और मार्ग। जगत् दुःखमय है, दुःखोंका उदय हेतुसे होता है। दुःखोंका निरोध हो सकता है, और इस निरोधका उपाय है अष्टाङ्गिक मार्ग—यही चतुर्विध सत्यका स्वरूप है। वैराग्यका अर्थ है

विषयोंके प्रति तृष्णाका त्याग। ज्ञान-चक्षुसे सम्पन्न होनेके लिये भगवान् अन्यत्र कहते हैं—

को नु हासो किमानन्दो निच्चं पज्जलितो सती।
अंधकारेण ओनद्धा पदीपं नो गवेस्सथ॥

अरे! वासनाओंसे निरन्तर प्रज्वलित होते हुए इस संसारमें आनन्द कहाँ है और हास्य कहाँ! मोहान्धकारसे ढके हुए ज्ञान-दीपको क्यों नहीं खोजता? सारांश यह है कि ज्ञान-चक्षुकी प्राप्तिके लिये वासनाओंसे विरत होकर मोहान्धकारको दूर करते हुए ज्ञान-दीपकका अन्वेषण करना पड़ेगा। इसीलिये श्रुति भगवती कहती हैं कि 'उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत'। उठो, जागो, श्रेष्ठोंको प्राप्त करके ज्ञानालोकमें विचरण करो।

ज्ञान-चक्षुसे सम्पन्न पुरुषका लक्षण भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें इस प्रकार बतलाया है—

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥

जो ज्ञानालोकमय जीवन सर्वभूतोंके लिये रात्रिके समान है, उसमें संयमशील ज्ञानी जागता है, और जिस वासनामय जीवनमें सर्व प्राणी जागते हैं, ज्ञानी पुरुषके लिये वह रात्रिके समान है, अर्थात् ज्ञानीकी दृष्टि उधर जाती ही नहीं।

परन्तु ज्ञान-चक्षुसे सम्पन्न होनेके लिये श्रुति-भगवतीने जो पहले कहा है कि 'उत्तिष्ठत'—उठो! यदि इस आज्ञाका पालन नहीं किया गया तो फिर कल्याण कहाँ? फिर तो ज्वारके साथ संसार-समुद्रके किनारे लगा प्राणी भाटेकी गतिके साथ विवश होकर कर्मके प्रवाहमें बहकर वासना-तरङ्गके थपेड़ोंसे जर्जरित होता रहेगा। इसलिये 'कः पन्थाः' प्रश्नका हृदयमें उदय हुआ तो जीवको समझना चाहिये कि उठनेका अवसर आ गया! भगवान् बुद्ध—करुणाके अवतार जीवके इसी अवसरको लक्ष्यमें रखकर कह रहे हैं—

उट्ठानकालम्हि अनुट्ठहानो
युवा बली आलसियं उपेतो।
संसन्न संकप्पमनो कुसीतो
पञ्ञाय मग्गो अलसं न विन्दति॥

उठनेका अवसर आनेपर भी जो उठता नहीं है, जो जवान और बलशाली होते हुए भी आलस्यसे युक्त है, जिसका मन और संकल्प दुर्बल है, जो तन्द्रित है, इस प्रकारके अलसकर्मी ज्ञानालोकके मार्गको नहीं प्राप्त कर सकते।

अतएव उठना ही पड़ेगा, और वह भी पूर्ण यौवन और बलके साथ—इसी उद्देश्यको सामने रखकर एक भक्तिपथावलम्बी गुरु मार्मिक शब्दोंमें कहते हैं—

'तन-मनका सब जोर लगाकर नाम हरीका बोल।'

क्योंकि सब जोर लगानेसे साधनाका मार्ग प्रशस्त हो जायगा, ज्ञानालोकका द्वार खुल जायगा; इसलिये सब जोर लगाकर उठनेकी आवश्यकता है। तब जाग्रत् होनेके विषयमें भगवान् तथागत आगे कहते हैं—

वाचानुरक्खी मनसा सुसंवुतो
कायेन च अकुसलं न कयिरा।
एते तयो कम्मपथे विसोधये
आराधये मग्गमिसिप्पवेदितं॥

जो अपनी वाणीपर दृष्टि रखता है, मनको सुसंयत रखता है, तथा शरीरसे कोई बुरा काम नहीं करता—इस प्रकार त्रिविध कर्मपथको शुद्ध करके वह साधक ज्ञानीजनके प्रदर्शित किये हुए मार्गको प्राप्त होता है। वस्तुतः ऐसे ही साधकको कहा जा सकता है कि वह जगा हुआ है। नहीं तो तन्द्राशील मूढ़ पुरुष—

इध वस्सं वसिस्सामि इध हेमन्तगिम्हिसु।
इति बालो विचिन्तेति अन्तरायं न बुज्झति॥

'यहाँ वर्षाऋतु बिताऊँगा, यहाँ हेमन्त और ग्रीष्ममें रहूँगा, इस प्रकार सोचता हुआ यह नहीं जानता कि कब क्या सिरपर आ पड़ेगा।' वह तो केवल वासनाके तरंगोंमें तरंगायमान होता रहता है

और ज्ञानालोकमें प्रवेश प्राप्त करनेके स्वर्ण-अवसरको प्राप्त करके उठा हुआ भी सो जाता है। इसीलिये तो श्रुति भगवतीने कहा है—'उत्तिष्ठत जाग्रत'—उठो और जागो!

यह 'उठना और जागना' सर्वतन्त्र सिद्धान्त है, सर्वसाधारणके हृदयमें रह-रहकर उठनेवाले 'कः पन्थाः' प्रश्नका एकमात्र उत्तर है। जो उठा और जागा, उसके लिये आगे श्रुति माताका आदेश है—'प्राप्य वरान्निबोधत'—श्रेष्ठोंको प्राप्त करके ज्ञानालोकमें विचरण करो। जो उठ और जाग जाते हैं, उनको ही श्रेष्ठोंसे समागम होता है, और तब श्रेष्ठ पुरुष साधककी पात्रता (अधिकार) को देखकर ज्ञानालोकका राजमार्ग उसके लिये प्रशस्त कर देते हैं।

× × ×

यह तो हुआ स्वर्ण-अवसरके देवदूत 'कः पन्थाः' की बात! परन्तु क्या पग-पगपर सर्व-साधारणके सामने 'कः पन्थाः, कः पन्थाः' की मूक-ध्वनि अन्तस्तलके भीतरसे निकलती हुई नहीं सुनायी देती? परन्तु जिस प्रकार महाभारतके युद्धमें 'अश्वत्थामा हतः' इस सत्य-वाणीकी अग्रगामिनी संशयवाक् 'नरो वा कुञ्जरः'के भगवान् केशवके पाञ्चजन्यके मुखर निनादके द्वारा निहत होनेपर आचार्य द्रोण धराशायी हो जाते हैं, उसी प्रकार तद्विपरीत संशयवाक्की अग्रगामिनी 'कः पन्थाः' की प्रश्नमयी सत्यवाणीको अन्तःसंघर्षके भारतमें महामोहमयी वासनादेवीकी रागिनी विलीन कर देती है, और बेचारी श्रद्धादेवीका निधन हो जाता है! अन्तस्तलके भीतरसे निकले हुए 'कः पन्थाः' प्रश्नका यदि समाधान होता जाता, तो जीवन-वेदके विधि-निषेधका सम्यक् अनुवर्तन करता हुआ प्राणी सहज ही ज्ञानालोकमें प्रवेश पा सकता। परन्तु वासनादेवीके त्रियाराज्यमें वन्दी विवेक-रूपी मत्स्येन्द्रनाथको छुड़ानेके लिये ज्ञानमय गोरखकी आवश्यकता है। इसीलिये तो श्रुति माता कहती हैं—

पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयम्भू-
स्तस्मात्पराङ्पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्ष-
दावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्॥
(कठ० २।१।१)

'ब्रह्माने इन्द्रियोंको बहिर्मुखी बना दिया है, इसी-लिये वह बाहर ही देखती हैं, भीतरकी ओर नहीं देखतीं। हाँ, कोई धीर पुरुष बाहरसे आँखोंको मूँदकर अमृतत्वकी इच्छा करता हुआ प्रत्यगात्माको (भीतरकी ओर) देखता है।' इस प्रकारके कोई महामहिमशाली पुरुष धन्य हैं, इन श्रेष्ठोंका समागम यदि जीवनमें हुआ तब तो प्राणी सहज ही कृतार्थ हो जायगा। परन्तु वह महामहिमशाली ज्ञानमय गोरख उत्पन्न होता है 'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः'—इस श्रुतिके द्वारा। अर्थात्—

श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः।
मत्वा च सततं ध्येयो ह्येते दर्शनहेतवः॥

'श्रुतिवाक्योंके द्वारा, नानाविध शास्त्रोंके द्वारा सुनना चाहिये, और युक्तिपूर्वक मनन करना चाहिये, मनन करके निरन्तर ध्यानमें रखना चाहिये तभी ज्ञाना-लोकका मार्ग दिखलायी देगा।' और तभी पग-पगपर अन्तस्तलके भीतरसे उठनेवाले 'कः पन्थाः' प्रश्नका ठीक-ठीक समाधान हो सकेगा।

× × × ×

यह तो हुई अन्तस्तलकी बात। बाहर वासनाके राज्यमें भी तो रह-रहकर 'कः पन्थाः' प्रश्नकी ध्वनि मुखरित होती रहती है। और बड़े-बड़े बुद्धिमान् पुरुष भी नहीं निर्णय कर पाते कि किधरसे चलना ठीक होगा। भगवान् कृष्णने भी तो कहा है कि—

'किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।'

परन्तु वासना-राज्यकी भूलभुलइयाका पर्दा फाड़कर भारतके तत्त्वदर्शियोंने इस प्रश्नका एक नहीं अनेक

प्रकारसे समाधान किया है, और उनके लिखे हुए शास्त्र आज भी हमारे लिये पथ-प्रदर्शनका काम करते हैं।

भगवान् बुद्धके उपर्युक्त चतुर्विध सत्यके समान ही सांख्यशास्त्रने 'हेय, हेयहेतु, हान और हानोपाय' इस चतुर्व्यूहके द्वारा 'कः पन्थाः' का बड़ा ही सुन्दर समाधान किया है। आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक इन तीन प्रकारके दुःखोंसे पूर्ण यह जीवन-जगत् है, ये दुःख ही हेय हैं, इस दुःखका कारण है प्रकृति-पुरुष-संयोग, इस संयोगको दूरकर पुरुषकी कैवल्यावस्था ही हान कहलाती है, तथा एकरस पुरुषकी कैवल्यनिष्ठा ही हानोपाय है। सारांश यह है कि प्राणीको निरन्तर वासनाके मायाजालको छिन्न-भिन्न करनेके लिये, प्रकृति-पुरुष-वियोग सम्पादन करनेकी आवश्यकता है। इसी उद्देश्यको लेकर महर्षि पतञ्जलिने योगदर्शनकी अवतारणा की है। कितने आश्चर्यकी बात है! तत्त्वदर्शी कवि कहते हैं—

पतञ्जलिमुनेरुक्तिः काप्यपूर्वा जयत्यसौ।
पुम्प्रकृत्योर्वियोगोऽपि योग इत्युच्यते यया॥

पतञ्जलि मुनिकी यह कोई अपूर्व ही उक्ति संसारमें सर्वोत्कृष्टरूपमें विलसित हो रही है, जिसके द्वारा प्रकृति और पुरुषका वियोग भी योग कहलाता है।

वासना-तरङ्गोंके अन्तरालमें भगवान् वेदव्यासने चित्तनदीको बहते हुए देखकर कहा—

चित्तनदी नामोभयतोवाहिनी वहति कल्याणाय वहति पापाय च, या तु कैवल्यप्राग्भारा विवेकविषयनिम्ना सा कल्याणवहा, संसारप्राग्भाराऽविवेकविषयनिम्ना पापवहा, तत्र वैराग्येण विषयस्रोतः खिलीक्रियते विवेकदर्शनाभ्यासेन विवेकस्रोत उद्घाट्यत इत्युभयाधीनश्चित्तवृत्तिनिरोधः।

'चित्तनदी दोनों ओरसे बहनेवाली नदी है, (तभी तो कोई रास्ता नहीं सूझता—'कः पन्थाः?') कल्याणके लिये बहती है और पापके लिये बहती है, जो कैवल्यरूपी उद्गमसे प्रवाहित होती हुई विवेकरूपी निम्नप्रदेशकी ओर जाती है वह कल्याणवहा है, तथा जो संसाररूपी उद्गमसे प्रवाहित होती हुई अविवेकरूपी निम्नप्रदेशकी ओर जाती है वह है पापवहा, इस चित्तनदीका दूसरा विषमस्रोत वैराग्यके द्वारा अवरुद्ध कर दिया जाता है, तथा विवेक-दर्शनके अभ्याससे विवेकस्रोतका उद्घाटन कर दिया जाता है, इस प्रकार अभ्यास और वैराग्यके द्वारा चित्त-वृत्तियोंका निरोध होता है। इसी चित्तवृत्तियोंके निरोध-को भगवान् पतञ्जलिने योग कहा है— 'योगश्चित्तवृत्ति-निरोधः।'

भगवान् वेदव्यासने यहाँ जो विवेक-दर्शन शब्दका उल्लेख किया है, इसका अभिप्राय है सांख्य-कृत प्रकृति-पुरुष-विवेक। और वह सांख्यतत्त्वोंके अभ्यासके विना नहीं प्राप्त हो सकता। सांख्यकारिकामें आचार्य ईश्वरकृष्णने तत्त्वोंकी आलोचना करते हुए कहा है—

एवं तत्त्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम्।
अविपर्ययाद्विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम्॥

(कारिका ६४)

'इस प्रकार सांख्यतत्त्वोंके अभ्याससे मैं शरीरेन्द्रिय-सम्पन्न नहीं हूँ, न ये विषय-जाल मेरे हैं और न मैं कर्ता-भोक्ता हूँ, इस प्रकार विपरीत ज्ञानसे शून्य पूर्ण विशुद्ध कैवल्य ज्ञान उत्पन्न होता है।' अतएव सांख्यके सिद्धान्तोंका अवलम्बन करनेसे 'कः पन्थाः' के समाधानमें साधकको पूरी सहायता मिलती है। विना सांख्यतत्त्वके ज्ञानके अभ्यास किये साधनका मार्ग प्रशस्त नहीं होता। यही कारण है कि गीतामें भी भगवान्ने पहले-पहल सांख्ययोगका ही उपदेश अर्जुनको दिया है।

महर्षि पतञ्जलिने आगे चलकर कहा है—'ईश्वर-प्रणिधानाद्वा।' इसपर भगवान् वेदव्यास लिखते हैं—

'प्रणिधानाद् भक्तिविशेषाद् आवर्जित ईश्वरस्तम-

नुगृह्णात्यभिध्यानमात्रेण, तदभिध्यानादपि योगिन आसन्नतमः समाधिलाभः फलं च भवतीति ।'

'प्रणिधान अर्थात् भक्तिविशेषसे जब भगवान् अभिमुख किये जाते हैं, तब उस साधकपर ध्यानमात्रसे (इच्छामात्रसे) भगवान् अनुगृहीत हो जाते हैं। (तथा भक्तिके इस साधनसे) योगी इच्छामात्रसे शीघ्र-से-शीघ्र समाधिलाभ करते हैं।' इस प्रकार योगकी सिद्धिका मार्ग भक्तिके द्वारा आसन्नतम होता है। परन्तु ध्यान रखना होगा कि विना अभ्यास और वैराग्यके साधन-के साधक भक्तिके सुकोमल पथका यथार्थ अधिकारी नहीं होता। सारांश यह है कि साधकको 'कः पन्थाः' का समाधान विवेकज्ञानके द्वारा करके साधनमार्गमें अग्रसर होना पड़ेगा। अतएव जैसे हो सके वैसे वासनाके जालसे छुटकारा पाना—पूर्ण स्वातन्त्र्य प्राप्त करना परम पुरुषार्थ है।

यद्वा तद्वा तदुच्छित्तिः परमपुरुषार्थस्तदुच्छित्तिः परमपुरुषार्थः।

तभी श्रवण-मनन-निदिध्यासनके द्वारा उत्पन्न ज्ञानमय गोरखको वासनाके त्रियाराज्यका भ्रम मिटने-पर अन्तरात्मा परमगुरु मत्स्येन्द्रनाथका दर्शन होगा और साधकवृन्द कृतकृत्य हो जायँगे।

—अलख निरंजन

पतिव्रताकी हिम्मत

[कहानी]

(लेखक—मुखिया विद्यासागरजी)

(१)

आगरेके किलेमें बादशाह अकबरका मुकाम था। आगरेसे तीन कोस दक्षिण हरिपुरकी पुलिस-चौकी थी। एक दीवानजी और पाँच सिपाही रहते थे। पाँचों ही शरारती थे। शामका समय था। दीवान मीरअली थानेके सामने चारपाईपर बैठे हुक्का पी रहे थे। पास ही खड़ा बिहारी सिपाही कुछ बातचीत कर रहा था। तबतक थानेके पासवाले रास्तेसे होकर एक युवक और एक युवती निकली। युवतीको देखकर दीवानके मनमें पाप आ गया।

दीवान—देखो तो बिहारी! क्या नाम—मगर!

बिहारी—क्या बात है—सरकार! मानो राजा इन्दरकी परी उड़ती हुई जा रही है।

दीवान—क्या नाम—क्या नाम! मगर! कैसे काम बने? क्या कहते हो—मगर—क्या नाम?

बिहारी—आज रातभरके लिये हिरासतमें ले लीजिये। बस, काम बना बनाया है। सुबह भगा दिया जायगा।

दीवानजीका तकिया-कलाम था—'क्या नाम—मगर'! जगह-ब-जगह, मौके-बे-मौके उनका 'क्या नाम' और 'मगर' हाजिर रहता था। बिहारीकी चेतावनीसे दीवानजी फौरन चेत गये। बोले—'मगर! जल्दी जाओ—क्या नाम! मगर कहना कि तुम दोनोंको दीवानजी बुलाते हैं! क्या नाम!

बिहारी गया दोनोंको लिवा लाया।

(२)

दीवान—क्या नाम मगर! तुम्हारा क्या नाम है?

युवक—रामनाथ।

दीवान—मगर रामनाथ! तुम कौन कौम हो?

युवक—अहीर।

दीवान—क्या नाम—मगर तुम रहते कहाँ हो?

युवक—भरतपुर।

दीवान—क्या नाम—मगर! तुम गये कहाँ थे?

रामनाथ—अपनी ससुराल चम्पापुर गया था। अपनी औरतको घरपर लिये जाता हूँ।

दीवान—मगर क्या नाम! यह औरत कौन है?

रामनाथ—मेरी स्त्री है। विदा करा लाया हूँ।

दीवान—मगर मुझे शक होता है। तुम इस खूबसूरत औरतको कहींसे उड़ा लाये हो। क्या नाम—तुम्हारी तहकीकात की जावेगी। मगर—बिहारी! क्या नाम—क्या नाम—क्या कहते हो?

बिहारी—अहीर आदमीका क्या ठीक! चोर जाति है—चोर! तहकीकात जरूर कीजिये।

रामनाथ—नहीं हुजूर! भगा नहीं लाया हूँ—मेरी विवाहिता स्त्री है।

दीवान—अबे विवाहिताके बच्चे! मगर·······को हिरासतमें बंद कर दो। रातभरमें तहकीकात हो जायगी। सुबह—क्या नाम—छोड़ देना।

बिहारी—दोनोंको बंद कर दूँ?

दीवान—नहीं मगर! औरतका क्या कसूर? सब कसूर इसी अहीरवालेका है। मगर—औरत तो लक्ष्मी होती है और क्या नाम—मरद पूरा सनीचर होता है। इसी सनीचरको ले जाओ।

तब वह स्त्री बोली—'मुझे भी इनके साथ बंद कर दो। मैं पतिव्रता औरत—दूसरी जगह नहीं रहूँगी!'

दीवान—पतीबरता! भला अहीर कौममें पतीबरता आयी कहाँसे! मगर—क्या नाम—बिहारी! यह पतीबरता है? लाहौलबिला!

बिहारी—सरकारका कहाँ खयाल है? पतीबरता ऊँची कौममें होती हैं। अहीर-धोबी-चमार छोटी कौममें पतीबरता नहीं हो सकतीं।

दीवान—मगर मेरी मौसीकी फूफकी दुखतर पतीबरता थी। अपने शौहरके साथ उसका ऐसा चलन था कि वाह वा! पहले शौहरको खाना खिलाती, शौहरसे पीछे सोती, शौहरसे पहले जागती! बातचीतमें मानो फूल बरसते थे। बेवा होनेके बाद वह पाँच सालतक जिन्दा रही थी। मगर मजाल क्या कि जो किसीने उसकी सूरत भी देख पायी हो।

उस स्त्रीने कहा—पतिव्रता स्त्री बेवा हो ही नहीं सकती। वह तो पतिके साथ जल जाती है।

दीवान—तोबा! तोबा मगर क्या नाम बिहारी! जल जाना ही पतीबरताका धरम है? लाहौल पढ़ो लाहौल! जल जाना तो खुदकशी है और जुर्म है।

बिहारी—मैं जातिका मल्लाह हूँ। मेरी काकी पतीबरता थी। उसके हाथकी जुनरीकी रोटीमें इतना सवाद होता था कि मानो शहद मिलाया है। छोटी कौममें भी पतीबरता होती हैं। धरमका पट्टा कुछ बड़ी कौमोंने ही नहीं लिखा लिया है। मगर हाँ, अहीरकी कौम पतीबरता नहीं हो सकती।

दीवान—मगर—हरगिज नहीं हो सकती। अहीर और पतीबरता!

बिहारी—नहीं साहब! चाभी दीजिये।

दीवानजीने चाभी दी! हिरासत खोली गयी। रामनाथको बिना कसूर बंद कर दिया गया। उस औरतसे दीवानने कहा—

'तुम्हारा क्या नाम है, मगर?'

स्त्रीने उत्तर दिया—'रामप्यारी!'

दीवान—देखो रामप्यारी! तुम आरामसे मेरे कमरेमें सोना। सुबह तुम दोनों अपने घर जाना। एक रातकी मुसीबत कौन बड़ी मुसीबत है?

(३)

रातके दस बजे दीवानजीने अपने कमरेमें रामप्यारीको बुलाया।

दीवान—मगर क्या नाम! रामप्यारी! सच-सच

बतलाओ कि यह आदमी तुमको भगाये लिये जाता था ?

रामप्यारी—नहीं। वह मेरे पति हैं। बिदा कराकर घर लिवाये जाते हैं।

दीवान—मुझे तुम्हारी बातपर यकीन आया। रातमें यहीं आराम करो। सुबह तुम दोनों चले जाना।

रामप्यारी—मुझे भी उनके पास भेज दो।

दीवान—हिरासतमें ? मगर तुमने कौन-सा कसूर किया कि जो हिरासतमें भेज दूँ ?

रामप्यारी—और उन्होंने कौन-सा कसूर किया है ?

दीवान—क्या नाम—बिहारी ! एक बदसूरत आदमीकी शादी एक खूबसूरत औरतके साथ हो, क्या यह कसूर नहीं है ?

बिहारी—बड़ा भारी कसूर है—हुजूर ! कानूनकी किताबमें पहली दफा यही लिखी है !

दीवान—क्या नाम बिहारी ! मगर—अब तुम जाओ। पहरेका ठीक इन्तजाम रखना। जब मैं सीटी बजाऊँ, तब तुम चले आना। तुम्हारे बाद उन चार सिपाहियोंका नम्बर रहेगा। समझे—मगर ?

बिहारी—हुजूर बड़े मिहरबान हाकिम हैं। खुदा हुजूरको कोतवाल बनावे।

बिहारी चला गया।

(४)

दीवान—मगर क्या नाम—रामप्यारी ! वाह—कैसा प्यारा नाम है। शरमाओ मत ! इसी पलँगपर आराम करो। पान खाओ। मैं पेशाब करने जाता हूँ।

दीवान बाहर चला गया। रामप्यारी अपने आपसे कहने लगी—'रामप्यारी ! कहाँ राक्षसोंमें आ फँसी ? कैसे धर्म बचेगा ? मुझ पतिव्रतापर यह कैसा जुल्म········ ! राम राम ! मेरी परीक्षा है।'

सती और संतके रक्षक शिव हैं। शिवने सतीको साहस दिया। सतीने कमरेमें नजर दौड़ायी तो खूँटीपर एक तलवार लटकती दिखायी दी। मानो मुरदेको अमृत मिल गया। लपककर तलवार उतार ली। लहँगेका कछोटा मारा। तलवार नँगी कर—अपने मस्तकसे लगायी और कहा—'जगदम्बा ! तेरी ही नाव-पर बैठी हूँ—पार लगा देना !' इसके बाद वह किंवाड़की आड़में खड़ी हो गयी। ज्यों ही दीवानजी भीतर आये, त्यों ही रामप्यारीने वह तलवार उनके पेटमें घुसेड़ दी। दीवानजी ढेर हो गये। रामप्यारीने उनकी लाश, चारपाईके नीचे सरका दी और फिर किंवाड़की आड़में खड़ी हो गयी।

जब काफी देर हो गयी और दीवानजीने सीटी नहीं बजायी, तब बिहारी खुद ही उधर चला आया। देखा तो कमरेमें खामोशी छायी है। मामला क्या है—यह देखनेके लिये ज्यों ही बिहारीने भीतर कदम दिया त्यों ही उसकी गरदनपर तलवार पड़ी। सतीका हाथ ! एक ही हाथमें काम तमाम हो गया। बिहारीकी लाश भी चारपाईके नीचे सरका दी गयी। रामप्यारीने सोचा कि अगर मैं किंवाड़ बंद कर लूँगी तो बाकीके चार सिपाही कुछ गड़बड़ समझ किंवाड़ उतार डालेंगे—इसलिये वह चुपचाप कोनेमें खड़ी हो गयी। एक घंटे बाद एक सिपाही फिर आया। उसकी भी यही हालत हुई। एक-एक घंटे बाद चारों सिपाही आये और उन सबको सतीने मौतके घाट उतार दिया। चारपाईके नीचे छः लाशें थीं। खूनसे कमरा भर गया था। इसके बाद उसने किंवाड़ बंद कर लिये और साँकल लगाकर जमीनपर लेट रही। खूनभरी नंगी तलवार अपने पास रख ली।

(५)

बादशाह अकबर और महाराज बीरबल रातको प्रायः गश्त लगाया करते थे और पुलिसकी हरकतोंका पता लगाया करते थे। उस दिन दोनों व्यक्ति—फतह-पुर सीकरी गये थे और एक मामलेका पता लगाते

हुए—हरिपुरकी चौकीपर आ निकले। एक चौकीदार पहरा दे रहा था। महाराजने उससे कहा कि दीवान-को बुलाओ। चौकीदार गया। कमरा बंद था।

चौकीदार—दीवानजी! ओ दीवानजी! बाहर बादशाह और वजीर साहब खड़े आपको याद कर रहे हैं।

किसीने कोई जवाब न दिया तब किंवाड़ोंमें एक जोरकी लात जमाकर चौकीदारने चिल्लाकर कहा—'अंदर कौन है?'

रामप्यारी—क्यों? मैं हूँ—रामप्यारी!

चौकीदार—दीवानजीको जगा दो।

रामप्यारी—वे अब नहीं जागेंगे। कभी नहीं जागेंगे।

चौकीदार—किंवाड़ खोलो!

रामप्यारी—बादशाहको यहीं ले आओ—तब किंवाड़ खोलूँगी। कहना—एक औरतने दीवानजीको मार डाला है!

खूनका नाम सुनते ही चौकीदार घबड़ा गया। उसने बादशाहसे जाकर सब हाल कह दिया। दोनों व्यक्ति घोड़ोंपरसे उतरकर कमरेके पास आये।

बीरबल—किंवाड़ खोलो, बेटी! बादशाह सलामत सामने खड़े हैं। मैं बीरबल हूँ। कोई डर अब नहीं है।

किंवाड़ खोल दिये गये। खूनभरी तलवार लिये रामप्यारी बाहर निकली। केश छिटके हुए। वदन-पर खूनके दाग!

बीरबल—मामला क्या है?

रामप्यारीने सारा किस्सा बयान कर दिया। चौकी-दारने भी ताईद की। छहों लाशें बाहर निकाली गयीं।

(६)

अकबर—महाराजा साहब! आपके आगरेसे तीन कोसपर ही यह संगीन वारदात हुई है। आगरेसे दूर-पर खुदा जाने क्या होता होगा?

बीरबल—बादशाह सलामत! दियाके तले ही अँधेरा होता है।

अकबर—इसके शौहरको बुलाओ।

हिरासतमेंसे रामनाथको निकाला गया। उसने बादशाह और वजीरको सलाम किया। बादशाहने उससे हाल पूछा तो उसने भी वही बयान दिया कि जो रामप्यारीने दिया था। छः लाशोंको देखकर वह अकबका गया। समझा—हम दोनोंको फाँसी होगी।

बीरबल—बेटी! तुमने खूब किया। अपने सती-त्वकी रक्षाके लिये ६ आदमी तो क्या ६०० मार डालतीं तब भी कोई कसूर नहीं।

अकबर—कसूर! इन दोनोंका कोई कसूर नहीं। कसूर है बदमाश पुलिसका! मेरी रियायाके साथ पुलिस कैसा कमीना बर्ताव करती है। महाराज! आप पुलिसमें ऐसे दोजखी कुत्ते क्यों भरती करते हैं? लानत है—मेरी बादशाहीपर! इस बादशाहीसे फकीरी लाख दर्जे बेहतर है!

बीरबल—पुलिसका मुहकमा ऐसा जालिम मुहकमा है कि अच्छे आदमी भी इसमें आकर खराब हो जाते हैं।

अकबर—तुम दोनों बेकसूर बरी किये जाते हो। अपने घर जाओ।

बीरबल—बेटी! तुझे यही तलवार इनाम दी गयी कि जो तुम्हारे हाथमें है।

अकबर—इतना इनाम काफी नहीं है—महाराज! इस सुर्खरू लड़कीको वह गाँव माफी दे दीजिये कि जिसमें इसकी ससुराल हो।

बीरबल—जो हुकम—खुदावंद!

रामनाथ और रामप्यारी अपने घर चले गये। बीरबलने उनके पास माफीकी सनद भेज दी।

श्रीहरिः

पाप और उसका फल

मनुष्य जब रूप, रस, गन्ध, शब्द और स्पर्श—इन्द्रियोंके इन पाँच विषयोंमें किसी एकमें भी आसक्त हो जाता है, तब उसे राग-द्वेषके पंजेमें फँस जाना पड़ता है। फिर वह जिसमें राग होता है, उसको पाना और जिसमें द्वेष होता है, उसका नाश करना चाहता है। यों करते-करते वह बड़े-बड़े भयानक काम कर बैठता है और निरन्तर इन्द्रियोंके भोगोंमें ही लगा रहता है। इससे उसके हृदयमें लोभ-मोह, राग-द्वेष छा जाते हैं। इनके प्रभावसे उसकी धर्म-बुद्धि, जो समय-समयपर उसे चेतावनी देकर पापसे बचाया करती थी, नष्ट हो जाती है। तब वह छल-कपट और अन्यायसे धन कमानेमें लगता है। जब दूसरोंको धोखा देकर अन्याय और अधर्मसे वह कुछ कमा लेता है, तो फिर इसी रीतिसे धन कमानेमें उसे रस आने लगता है। उसके सुहृद् और बुद्धिमान् लोग उसके इस कामको बुरा बतलाते और उसे रोकते हैं, तब वह भाँति-भाँतिकी बहानेबाजियाँ करने लगता है। इस प्रकार उसका मन सदा पापमें ही लगा रहता है, उसके शरीर और वाणीसे भी पाप ही होते हैं। वह पापजीवन होकर फिर पापियोंके साथ ही मित्रता करता है और इसके फलस्वरूप न तो इस लोकमें सुख पाता है और न परलोकमें ही उसे सुख-शान्तिकी प्राप्ति होती है।

(महाभारत, शान्तिपर्व)

वर्ष १९
अङ्क १०

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम। जय रघुनन्दन जय सियराम॥
रघुपति राघव राजा राम। पतितपावन सीताराम॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा। जय गणेश जय शुभ आगारा॥

[संस्करण ५४१००]

वार्षिक मूल्य
भारतमें ५≡)
विदेशमें ७॥≈)
(१२ शिलिङ्ग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत चित आनँद भूमा जय जय॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन जय जय॥
जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥

साधारण प्रति
भारतमें ।)
विदेशमें ।≤)
(८ पेंस)

Edited by H. P. Poddar and C. L. Goswami, M. A., Shastri.
Printed and Published by Ghanshyamdas Jalan at the Gita Press, Gorakhpur (India)

श्रीहरिः

आपका ग्राहक-नंबर

'कल्याण'के रैपरपर आपके नामके साथ लिखे हुए ग्राहक-नंबरको उपर्युक्त स्थानपर नोट कर लें। कल्याण-कार्यालयसे किसी प्रकारका भी पत्र-व्यवहार करते समय और खास करके आगामी वर्ष-का चन्दा भेजते समय मनीआर्डर-कूपनमें या वी० पी० के लिये आर्डर या मनाही देते समय पत्रमें भी अपनी ग्राहक-संख्या अवश्य लिखनेकी कृपा करें। इससे आपकी आज्ञाका शीघ्र पालन करनेमें हमें सुविधा होगी।

व्यवस्थापक—'कल्याण'

कल्याण मई सन् १९४१ की

विषय-सूची

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

आवश्यकता है

हजारों

एजेण्टोंकी

जो कल्याणके इन भावोंका प्रचार करें।

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥ १ ॥

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥ २ ॥

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥ ३ ॥

उमा जे राम चरन रत बिगत काम मद क्रोध।
निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध ॥ ४ ॥

एक भरोसो एक बल एक आस बिस्वास।
एक राम घन स्याम हित चातक तुलसीदास ॥ ५ ॥

हरि माया कृत दोष गुन बिनु हरि भजन न जाहिं।
भजिअ राम तजि काम सब अस बिचारि मन माहिं ॥ ६ ॥

कामिहि नारि पिआरि जिमि लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरंतर प्रिय लागहु मोहि राम ॥ ७ ॥

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥ ८ ॥

तृणादपि सुनीचेन तरोरिव सहिष्णुना।
अमानिना मानदेन कीर्तनीयः सदा हरिः ॥ ९ ॥

कमीशनमें क्या मिलेगा ?

परम कल्याण।

कौन देगा ?

कल्याणके निधान।

शीघ्र ही अलिखित आवेदन-पत्र भेजिये !

पताः—कल्याणधाम।

C/o हरि ब्यापक सर्बत्र समाना।
प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना ॥

घनमोहन घनस्याम

निज समान बपु देखि हरखि सुमन बरषत भया ।
जलकन कुसुम बिसेखि सोइ बरषे तेहि छन जलद ॥

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥ (श्रीमद्भगवद्गीता १८ । ६५)

वर्ष १५ } गोरखपुर, मई १९४१ सौर वैशाख १९९८ { संख्या १० पूर्ण संख्या १७८

जन्म वृथा क्यों खोते हो ?

मन रे तू भूल्यो जनम गमावे ।
खबर न परी तोकों सिर ऊपर काल सदा मँड़रावे ॥
खान-पान अटक्यो निसिबासर जिभ्या लाड लडावे ।
गृह-सुख देख फिरत फूल्यो-सो सुपने मन भटकावे ॥
के तू छोड़ जायगो इनको के ये तोहि छुड़ावे ।
ज्यों तोता सेंवरपर बैठ्यो हाथ कछू नहिं आवे ॥
मेरी मेरी करत बावरे आयू वृथा गँवावे ।
हरि-सो हितू बिसारि विषय-सुख बिष्ठा क्यों मन भावे ॥
गिरधरलाल सकल सुखदाता सुन पुरान सब गावे ।
सूरदास बल्लभ उर अपने चरणकमल चित लावे ॥

—सूरदासजी

पूज्यपाद श्रीउड़िया स्वामीजीके उपदेश

(प्रेषक—भक्त श्रीरामशरणदासजी)

१—जबतक हृदयमें श्रीभगवान् नहीं आते तभीतक उसमें काम-क्रोधादि बसे हुए हैं। जहाँ मनमें भगवान्‌का वास हुआ कि फिर वे कहाँ ठहर सकते हैं। फिर तो वे उसी दम भाग जाते हैं।

२—आजकल भारतवर्षकी जो अधोगति है उसका एक प्रधान कारण सन्ध्योपासन आदि नित्य कर्मोंका न करना भी है। यदि हम नियमसे विधिपूर्वक नित्य कर्म करते रहें तो रोग हमारे पास नहीं आ सकता; फिर हमें वैद्य-डाक्टरोंकी जरूरत ही न पड़े। एक बार जब मैं बंगालमें था तो मुझे एक गाँवमें एक भट्टाचार्य महाशय मिले। उनकी आयु प्रायः साठ वर्षकी थी, परन्तु वे थे बड़े तेजस्वी। मैंने उनके ऐसे स्वास्थ्यका कारण पूछा तो उन्होंने यही कहा कि 'मैं नियमानुसार सन्ध्योपासन और गायत्रीका जप करता हूँ तथा शुद्ध अन्न खाता हूँ। इसीसे आजतक मैं नहीं जानता कि रोग क्या है।' नित्यकर्म करनेवालोंमें एक अद्भुत तेज होता है, जो प्रत्यक्ष उनके चेहरेपर चमका करता है। परन्तु आजकल तो ऐसी दशा है कि बहुत-से लोग तो सन्ध्या करते ही नहीं, जो करते हैं उनमें भी अधिकांश केवल उसका नाम ही करते हैं, सन्ध्याके समय भी दुनियाभरकी गप्प हाँकते जाते हैं। थोड़ी देर भी शान्त और समाहित होकर उस कर्ममें नहीं लग सकते। दुर्दशा तो यहाँतक बढ़ी हुई है कि बहुत-से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तो यज्ञोपवीत ही नहीं कराते। उनका तो एक प्रकारसे द्विजातिमें जन्म लेना ही व्यर्थ हो जाता है।

३—यदि कोई क्रोधसे तप रहा है तो उसका भजन किस कामका। उसका तो सब कुछ किया-कराया भस्म हो जाता है। काम, क्रोध और लोभ तो सारे भजनको नष्ट कर देते हैं। देखो, एक संतने कहा है—

> **कामी क्रोधी लालची, इन सौं भक्ति न होय।**
> **भक्ति करै कोई सूरमा, जाति बरन कुल खोय॥**

४—भजनका फल तो शान्ति है और शान्ति यही है कि तुमसे कोई दस बात कह जाय फिर भी तुम हँसते रहो। सारे दिन बातें तो करो अद्वैतवादकी और जहाँ-तहाँ झगड़ते डोलो तो इससे क्या होना है? अरे! तुम्हें जो गाली देता है वह तो तुम्हारा ही सङ्कल्पमात्र है, उसे तुम अपना दुश्मन क्यों मानते हो?

५—कुसंगी और सत्संगी एक-से नहीं होते। जो काम-क्रोधके अधीन है—दूसरोंसे झगड़ा करता है वह कुसंगी है और जो सबकी सह लेता है वही सत्संगी है। सहनशक्ति ही साधकके लिये सबसे पहला साधन है।

× × ×

६—लोग निष्कामताको बहुत महत्त्व देते हैं। परन्तु भक्तिपक्षमें तो अच्युतभावहीन निष्कामता भी व्यर्थ ही है। भक्तका तो प्रत्येक कार्य भगवान्‌की पूजाके लिये ही होना चाहिये।

७—हमारा भावी जीवन बहुत कुछ हमारी भावनाओंके अधीन है। हमारी जैसी भावना होगी वैसे ही हम बन जायँगे। यदि हम नीच भावनाएँ रखेंगे तो नीच-से-नीच बन जायँगे और उच्च भावनाएँ रखेंगे तो ऊँचे-से-ऊँचे चढ़ जायँगे। इसलिये यथासम्भव उच्च और शुभ भावनाओंका ही पोषण करो।

× × ×

८—अच्छे-अच्छे साधकोंसे भी मिथ्या भाषण—व्यर्थ भाषण आदि कई प्रकारके वाणीके दोष बन जाते हैं। इनसे बचनेमें मौनसे बहुत सहायता मिलती है। किन्तु जो लोग केवल दिखानेके लिये मौन रहते हैं उनका मौन तो ढोंग ही है। साधन तो अपने लिये ही होना चाहिये, तभी उससे लाभ होता है।

× × ×

९—किन्हीं-किन्हींका आग्रह है कि भगवान् तो निराकार ही हैं, वे साकार नहीं हो सकते। यदि ऐसी बात है तो उन्हें भगवान् कैसे कहा जायगा—वे सर्वशक्तिमान् कैसे माने जायँगे? तब तो वे जीव ही रहे। जो सर्वशक्तिमान् है उसमें क्या साकार होनेकी शक्ति नहीं है? इसलिये भगवान् निराकार भी हैं और साकार भी।

जगन्मिथ्यात्वके वैज्ञानिक प्रमाण

(लेखक—डॉ० डी० जी० लौंढे, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

तत्त्वजिज्ञासामें सत्यासत्यका विवेक प्रमुख है। तत्त्वज्ञानके इतिहासमें ऐसा दिखायी पड़ता है कि अनेकोंने विभिन्न प्रकारसे संसारके सत्यासत्यसम्बन्धी एवं सत्यकी दृष्टिसे संसारके स्वरूपसम्बन्धी पहलूपर विचार किया है। वेदान्तमें मुख्यतः इस समस्याको अग्रस्थान दिया गया है। प्रतीत होनेवाले एवं प्रतीत हो सकनेवाले पदार्थोंके समूहको संसार कहते हैं। प्रतीत होनेवाले पदार्थोंका सत्यकी दृष्टिसे विवेचन ही संसारके सत्यासत्यसम्बन्धी पहलूपर हमें विचार करना है। अब प्रश्न यह होता है कि किस कसौटीसे सत्यासत्यका निर्णय किया जाय और कैसे सत्यासत्यको पहचाना जाय? एक कसौटी यह है कि सत्य नित्य एवं शाश्वत है और असत्य अनित्य एवं अशाश्वत। नित्य अर्थात् जो तीनों कालोंमें हो और अनित्य जो कभी बाधित हो जाता हो। जगत्के अधिष्ठानके अनुभवसे उसकी 'जगत्' इस अनुभूतिमें बाधा होती है, इसलिये यह संसार असत्य सिद्ध हुआ। 'जो भूमा, पूर्ण और अनन्त है, वह सत्य; और जो अल्प, सान्त या परिच्छिन्न है वह असत्य।' इस कसौटीसे आत्मा या ब्रह्म पूर्ण और अनन्त होनेके कारण सत्य है और जगत्के सब पदार्थ अपूर्ण, सान्त और परिच्छिन्न होनेसे मिथ्या हैं। यह जगत्के मिथ्यात्वको सिद्ध करनेकी दूसरी अनुमान-पद्धति है। 'जो स्वसंवेद्य, स्वयंप्रकाश अर्थात् सर्वदा विषयीरूपसे प्रतीत होते हैं वे सत्य और जो अस्वसंवेद्य और अस्वयंप्रकाश अर्थात् विषयरूपसे प्रतीत होते हैं वे असत्य या मिथ्या। इस तीसरी अनुमान-पद्धतिको कसौटीरूपमें लेकर देखनेसे भी आत्मा ही सत्य है यह सिद्ध होता है; क्योंकि वह स्वसंवेद्य है और विषयीरूपसे प्रतीत होता है तथा सारे सांसारिक पदार्थ मिथ्या हैं क्योंकि वे विषयरूप हैं। जगन्मिथ्यात्वका प्रतिपादन उपनिषद्, शाङ्करभाष्य, अद्वैतसिद्धि आदि ग्रन्थोंमें तर्कपूर्ण विधिसे इन या इन्हींके समान अनुभवाश्रित अनुमानोंके द्वारा किया गया है। इस लेखका उद्देश्य यह बतलाना है कि किस प्रकार वर्तमान वैज्ञानिक वाङ्मयमें भी इस सिद्धान्तके थोड़े-बहुत प्रमाण विशेष अर्थमें मिलने लगे हैं।

उन्नीसवीं शताब्दीमें भौतिक एवं जैविक सृष्टिके वर्णनमें जड़वाद और यन्त्रवादका प्रभाव बहुत अधिक बढ़ गया था। परन्तु बीसवीं सदीके आरम्भसे इनकी जगह चिद्वाद या विज्ञानवादका प्रादुर्भाव होने लगा है। प्रो० एडिंगटन, सर जेम्स जीन्स इत्यादि वैज्ञानिकोंने अपने ग्रन्थोंमें विश्वका जो चित्र खींचा है, उससे वैज्ञानिक सिद्धान्तके आधारपर किये गये तात्त्विक विवेचनमें चिद्वादकी स्पष्ट ध्वनि निकल रही है। 'संसार एक महान् यन्त्र है, अणु-परमाणुके संयोग-वियोगसे ही पदार्थ उत्पन्न एवं नष्ट होते हैं, कार्यकारण-तत्त्व अन्तिम एवं निश्चित है; इसीलिये सब बातोंका समाधानकारक सम्बन्ध लग जाता है।' यह मत अब पीछे पड़ने लगा है। इसकी जगह 'जगत् विज्ञानरूप है, कार्य-कारणभाव अन्तिम और निश्चित मार्गदर्शक नहीं है, मनुष्यकी बुद्धिको सूक्ष्म घटनाका केवल सम्भव मालूम होता है, वह उसकी निश्चित-रूपसे कल्पना नहीं कर सकता।' इस तरहका सिद्धान्त अधिकाधिक विज्ञानसम्भव होने लगा है। जगत् महान् यन्त्रके समान है ऐसा कहनेके बजाय जगत्को महान् विज्ञानरूप समझना अब अधिक युक्त होगा। जगत् जडरूप और यन्त्रके सदृश नहीं है, वरं चिद्रूप है इस सिद्धान्तकी ओर ही पदार्थ-विज्ञानवेत्ताओंके संशोधनोंका झुकाव हो चला है।

हम पहले प्रो० एडिंगटनकी विश्वरूपसम्बन्धी विचार-धारासे परिचित हो जायँ। प्रो० एडिंगटनने प्रतीयमान जगत्के अवयवोंके तीन प्रकार दिये हैं—

१. मानसिक वृत्तियाँ या प्रतिमाएँ (Mental Images),

२. बाह्य आलम्बन (External Counterpart),

३. सङ्केत या प्रतीक (Symbols, Pointer Readings)।

१. मानसिक वृत्तियाँ—इनका अनुभव प्रतिदिनका है। मानसिक वृत्तियोंके सम्बन्धमें एक बात निश्चयात्मक रीतिसे कही जा सकती है। वह यह कि वे मनमें रहती हैं, बाह्य संसारमें नहीं। 'मनमें रहती हैं' का यह अर्थ नहीं कि शरीरमें या मेदमें रहती हैं। शरीर, मज्जातन्तु तथा मेद—ये सब बाह्य संसारमें गिने जाते हैं। 'मनमें रहनेका' स्थलवाचक अर्थ लेना ठीक न होगा।

२. मानसिक वृत्तियोंके बाह्य अवलम्बन रहते हैं। किसी भी पदार्थके विशेष ज्ञानके लिये उस पदार्थके अस्तित्वका बाह्य आलम्बन आवश्यक है। जैसे टेबलकी मानसिक कल्पनाके लिये 'टेबल' बाह्य आलम्बन है। पुस्तककी मानसिक कल्पनाके लिये 'पुस्तक' बाह्य आलम्बन है। कल्पना और आलम्बन यह व्याप्ति 'सामान्यतः' ही दिखायी पड़ती है, निरपवाद नहीं। क्योंकि भ्रमस्थानोंमें आलम्बन एक होता है और वृत्ति (कल्पना) दूसरी। असामान्य क्यों न हो—विसदृश ही क्यों न हो, परन्तु वृत्तिका बाह्य आधार रहता अवश्य है। सर्पभ्रममें भी रस्सी बाह्य आधार रहती है। हाँ, विकल्प स्थानोंमें बाह्य आलम्बन नहीं रहता। विकल्प वस्तुशून्य अर्थात् बाह्य आलम्बनरहित होता है। इस अपवादके छोड़ देनेपर यह माना जा सकता है कि साधारणतया मानसिक वृत्तिके बाह्य आलम्बन रहते ही हैं।

३. सङ्केत या प्रतीक क्या है यह सरलतासे समझनेके लिये पहले पदार्थोंके द्विविध रूपकी कल्पनाका व्यौरा आवश्यक है। एक, रोज व्यवहारमें दीखनेवाला और दूसरा, वैज्ञानिक दृष्टिसे ज्ञात—ऐसे पदार्थके दो रूप होते हैं। हम प्रतिदिन सूर्यको सबेरे उदय होते, फिर आकाशमें घूमते-घूमते मध्याह्नमें शिरपर आते और सन्ध्या-समय अस्त होते देखते हैं। हमारे चक्षुरिन्द्रियको दीखनेवाला सूर्य चल और भ्रमणशील है। लेकिन ज्योतिषशास्त्रसे ज्ञात सूर्य अचल और स्थिर है। इन्द्रियग्राह्य सूर्य एक तरहका है तो विज्ञानसम्मत सूर्य दूसरे ही प्रकारका। सूर्यके समान प्रत्येक पदार्थके एक इन्द्रियग्राह्य और दूसरा विज्ञानसम्मत—ऐसे दो रूप होते हैं। इन्द्रियग्राह्य पदार्थ सवर्ण होते हैं और पदार्थके विज्ञानसिद्ध अवयव वर्णरहित होते हैं। इन्द्रियसृष्टि विविध रंगोंकी है, जब कि विज्ञानसृष्टि अन्ततः एक रूप ही है। इन्द्रियसृष्टि अर्थात् बाह्य आलम्बनकी (दूसरे वर्गके अवयवोंकी) सामग्रीपर मनोव्यापारद्वारा रचित कृति हमसे कल्पित-निर्मित सृष्टि है। यह निर्माण-कल्पना प्रत्येक मनुष्य अलग-अलग तरहसे करता है तो भी सादृश्यके कारण केवल व्यवहारके लिये उसमें एकरूपता और सर्वसाधारणता आ जाती है। हाँ, वैज्ञानिक सृष्टिकी एकरूपता व्यक्तिनिरपेक्ष रहती है। पदार्थविज्ञानशास्त्र एक तरहकी विज्ञानसृष्टिका निर्माण करता है। वह 'पदार्थ क्या है' यह नहीं बतला सकता। पदार्थविज्ञानशास्त्र पदार्थोंकी मापयन्त्रोंपर होनेवाली प्रतिक्रियाओंका केवल वर्णन करता है और विवरण देता है। इस बातको सिद्ध करते समय प्रो० एडिंगटनने निम्न उदाहरण दिया है—

कल्पना करो कि एक हाथी पर्वतकी ढालपरसे फिसल रहा है। उसे नीचे आनेमें कितना समय लगेगा यह बतलाते समय वैज्ञानिक हाथी, पर्वत इन पदार्थोंके स्वरूपका वर्णन नहीं करेगा, वरं वह दो टन, ६०° का कोण तथा घर्षण प्रतिक्रियादर्शक संख्या लेकर गणित करने लग जायगा और एक सेकण्डमें इसका उत्तर जान लेगा। सेकण्ड भी एक प्रकारके सङ्केत ही हैं, घड़ीमें माने जानेवाले प्रतीक ही हैं। हाथीका सम्पूर्ण अस्तित्व उसके वजनमें ही नहीं है। दो टन वजनवाले हाथीका पूर्ण अस्तित्व नहीं। वजन हाथीके अस्तित्वका एक भाग है। वजन-भार, पदार्थका एक गुण है--अवकर्षित अंश या भाग है। कोण भी पर्वतके अस्तित्वका एक अवकर्षित अंश है। विज्ञान किसी भी पदार्थके सम्बन्धमें कुछ कहते समय केवल पदार्थोंके परस्पर सम्बन्धकी गणना करता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि विज्ञान प्रतीकका प्रतिपादन करता है। सङ्केतके सम्बन्धका मेल स्थापित करना चाहता है। पदार्थोंके अस्तित्वके अन्तरङ्गमें विज्ञान प्रवेश नहीं कर सकता, केवल पदार्थोंके परिमेय या आविष्कारतक ही उसकी गति है। १००°, ६०°, ३०° इत्यादि सङ्केतोंके हिसाबमें पदार्थविज्ञानशास्त्र उलझा है। परन्तु 'उष्णता' स्वभावतः क्या है, इस प्रश्नको सुलझानेमें वह असमर्थ है। काल क्या है? इसका विज्ञानमें कोई उत्तर नहीं। परन्तु सेकण्ड, मिनिट, घण्टे, वर्ष आदिके स्केलसे कालका माप करनेमें विज्ञान चतुर है। इस विचारधारासे एक बात निर्विवाद सिद्ध होती है कि विज्ञान पदार्थके मूलभूत अस्तित्व तथा वह जिस रूपमें प्रकट होता है उस आविष्काराभासमें स्पष्ट अन्तर करता है। पदार्थविज्ञानशास्त्रसे यदि पूछा जाय कि 'इस आविष्कारके पीछे आभासकी उस ओर क्या है?' तो वह साफ उत्तर देगा, 'यह मुझे मालूम नहीं, उससे मेरा सम्बन्ध नहीं, उस अन्तिम सत्यको जाननेके लिये मेरे पास साधन नहीं।' विज्ञानकी ओर हम निश्चित ज्ञानप्राप्तिके लिये दौड़ते हैं, इसीलिये इस अज्ञेयवादका आश्रय लेना स्वाभाविक है। पदार्थविज्ञान पदार्थोंको एक दूसरेका हवाला देता है। द्रव्यका अन्तिम घटक क्या है? अणु! अणु क्या है? धन-ऋण विद्युत्-प्रवाह! विद्युत् अर्थात् द्रव्यमें रहनेवाली शक्ति! इस प्रकार हम फिर द्रव्यकी ओर लौट पड़े। न्यायकी भाषामें यह अन्योन्याश्रय

दोष है। यह 'अ' क्या है, ऐसा पूछनेपर 'ब' की ओर निर्देश करने और 'ब' क्या है ऐसा पूछनेपर पुनः पर्यायसे 'अ' की भाषामें कहनेके समान है।

पदार्थविज्ञान अपनी परिभाषाके साधनसे इस चक्रसे बाहर आनेमें असमर्थ ही है। द्रव्य क्या है? इस प्रश्नका सच्चा उत्तर यह होगा 'मनको जो प्रतीत होते हैं वे द्रव्य हैं।' परन्तु यह उत्तर पदार्थविज्ञानकी कक्षाके बाहर है। स्वतः उत्पन्न की हुई सीमाको लाँघनेके लिये तो उसे तत्त्वज्ञानकी मदद लेनी चाहिये।

'मनको जो ज्ञेय हैं वे द्रव्य हैं' यह प्रो० एडिंगटन-द्वारा सूचित द्रव्यका लक्षण बहुत उद्बोधक और विचारणीय है। मनसे ज्ञेय होनेके द्रव्यके इस मुख्य धर्मका पदार्थ-विज्ञान कोई उपयोग नहीं कर सकता। यह पदार्थविज्ञानकी परिभाषा और विचारपद्धतिसे विसंगत, कदाचित् घातक भी है। यद्यपि जडद्रव्यके मनोज्ञेयता गुणसे विज्ञानका क्षेत्रमें कोई सरोकार नहीं है, तो भी इसे गृहीत माने विना विज्ञानकी प्रवृत्ति ही नहीं हो सकेगी। जो बिल्कुल अज्ञेय है उसका सुसंघटित ज्ञान—अर्थात् विज्ञान—कैसे हो सकता है? जो-जो दृश्य अर्थात् ज्ञेय है, वह-वह मिथ्या है—ऐसा मिथ्यात्वका एक कारण अद्वैतसिद्धिमें दिया है। 'विमतं (जगत्) मिथ्या, दृश्यत्वात्, जडत्वात्, परिच्छिन्नत्वात्।' जगत् ज्ञेय है, इसलिये मिथ्या है। ऐसा सीधा अनुमान प्रो० एडिंगटनको स्वीकृत हो या न हो, परन्तु उसने ऐसा स्पष्ट विवेचन किया है कि इन्द्रियग्राह्य सृष्टि केवल एक रचना है, इस रचनाकी आवश्यक सामग्री हम तैयार नहीं करते, वह हमें मिलती है, हम उसका मेल जमाते हैं। उसका उदाहरण यों है—जिस प्रकार भूगर्भके प्रस्तरोंपर उभरे हुए पैरोंकी आकृतिसे प्राणिशास्त्रज्ञ उस लुप्त विशाल प्राणीके शरीरका ढाँचा अपनी बुद्धिसे कल्पित करता है या जिस प्रकार वार्ताहरद्वारा दी गयी टूटी फूटी और विसङ्गत खबरोंसे सम्पादक अपनी कल्पनाके द्वारा एक घटना या कथानक तैयार करता है उसी प्रकार इन्द्रियद्वारा प्रतीत हुई टूटी-फूटी सामग्रीपरसे हम पदार्थ या पदार्थसङ्घटना तैयार करते हैं। रंग, वास आदि गुण सापेक्ष और कल्पित हैं, इतना ही नहीं, सातत्य, आकार और घनत्व भी 'कल्पित' हैं। पदार्थविज्ञानी देखते हैं कि घनत्व अणुमें है या और किसीमें? उसमें नहीं तो विद्युत्परमाणुमें होगा, इस आशासे उसमें खोजते हैं, परन्तु उसमें भी उन्हें घनत्व नहीं मिलता। हम जिसे गुणोंका आश्रय एवं अधिष्ठानभूत घनत्व समझते हैं उस कल्पनाका हम बाहर आरोप करते हैं। (Nature of the Physical World P. 318)

इन्द्रियोंसे प्रतीत होनेवाला जगत् व्यक्तिनिष्ठ और पुरुषतन्त्र (Subjective) है। उससे तुलना की जाने-पर वैज्ञानिक जगत् व्यक्तिनिष्ठ नहीं है, वरं रचनात्मक है—ऐसा ज्ञात होता है। वैज्ञानिक जगत्की रचना जिस सामग्रीसे की जाती है वह कुछ सीमातक प्रयोगसिद्ध होती है, परन्तु अन्तिम पदार्थके सम्बन्धमें विज्ञान केवल सङ्केतों या प्रतीकोंका ही उपयोग करता है। एक अर्थसे वैज्ञानिक जगत् छायाजगत् है—सङ्केतसमुच्चय है।

इस प्रकार व्यावहारिक जगत्के सत्यको ढूँढ़ते-ढूँढ़ते हमें वैज्ञानिक जगत्में प्रवेश करना पड़ा। परन्तु वहाँ भी हमें छाया या सङ्केतके सिवा और कुछ न मिला। फिर जगत्का सत्य कहाँ खोजा जाय? इस प्रश्नका उत्तर प्रो० एडिंगटनके मतानुसार यों है—'विज्ञानका सङ्केतसमुच्चय उसके पार्श्वभागमें स्थित 'चिद् अधिष्ठान' (Spiritual Substratum) पर प्रतिष्ठित है। इस चिदधिष्ठानहीके कारण जगत् सुप्रतिष्ठित है। इस चित्सत्यका स्वरूप वैयक्तिक विज्ञानसे अधिक व्यापक मानना चाहिये। परन्तु वह व्यक्तिसे अलग और उसे अप्राप्य नहीं है। वैयक्तिक मन उस व्यापक विभु-ज्ञानके अधिक अभिव्यक्त आविष्कार हैं। हमारे वैयक्तिक मनों और विश्वाधिष्ठानमें मेल-जोल—सारूप्यता है।' संसारका सत्य चिद्रूप, विज्ञानरूप ही है ऐसा क्यों माना जाय? प्रो० एडिंगटन इसके निम्न कारण देते हैं—

(१) विचारद्वारा जडद्रव्योंका निराकरण करनेपर यदि कुछ बचता है तो वह 'संवेदना' ही है। वैज्ञानिक जगत् सङ्केतमय—छायामय है, यह निश्चित हो जानेके बाद हमारे लिये सत्यके स्वरूपकी कल्पना करनेका एकमात्र आधार विज्ञान ही रह जाता है। इसलिये सत्यको विज्ञानरूप ही माना जाना चाहिये।

(२) मानवीय मन इन्द्रियसृष्टि और वैज्ञानिकसृष्टिका निर्माण करते हैं इससे हमें यह स्पष्ट हो गया है कि मानवी मन निर्माता हैं, कल्पक हैं। इसी अनुभवके आधारपर कल्पना करें तो विज्ञान ही विश्वका निर्माता सिद्ध होगा।

(३) हमें मनका ज्ञान जितना अपरोक्ष है उतना अन्य किसी पदार्थका नहीं। हम संसारके पदार्थोंको परोक्षविधिसे ही जानते हैं। अनुभवके लिये हमें परोक्ष-अपरोक्ष दोनों प्रकारके ज्ञान प्राप्त हैं। हम अपने शरीरको परोक्ष रीतिसे और मनको अपरोक्ष रीतिसे जानते हैं। अतः प्रत्येक पदार्थ अपने अन्तर्गत चित्तत्त्वसे शरीर और मनके समान संलग्न होना चाहिये। वैज्ञानिक जगत्का सङ्केत-समुच्चय भी चिदधिष्ठानपर ही प्रतिष्ठित होना चाहिये। इस रीतिसे इन्द्रियग्राह्य जगत् और विज्ञानसिद्ध विश्व चित्-सत्यपर ही प्रतिष्ठित होने चाहिये।

प्रो० एडिंगटनने ऐसी वैज्ञानिकपद्धतिसे जगत्के मिथ्यात्वका प्रतिपादन किया है। इस प्रकार विज्ञान और तत्त्वज्ञान बड़ी चमत्कारपूर्ण रीतिसे अन्तमें जगन्मिथ्यात्वके सिद्धान्तपर एकमत हो गये हैं।

जगत् मायाकृत अज्ञान'कल्पित' है, अविद्योपबृंहित है और अविद्या 'अध्यस्त' है, यह भाषा वेदान्तमें बार-बार मिलती है। वैसी ही भाषाकी प्रो० एडिंगटनके समान वैज्ञानिकने योजना की है। पदार्थ और पदार्थसङ्घटन यह जैसे हमें प्रतीत होते हैं, वैसे उन्हें मन रचता है, मन खड़ा करता है, वही उनकी कल्पना करता है—यह भी विज्ञान-सम्मत है। अतः केवल मनकी कल्पनासे प्रतीत होनेवाला जगत् मिथ्या है, यह विज्ञान भी इनकार नहीं कर सकता। जगन्मिथ्यात्वका यह एक वैज्ञानिक प्रमाण ध्यान देने योग्य है। एडिंगटनद्वारा प्रतिपादित दूसरा महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त यह है कि यदि प्रतीयमान जगत् मिथ्या है तो उससे अलग उसके अधिष्ठानरूपसे स्थित चित्तत्त्व सत्य है। एक तरहसे यह मत भी वेदान्तसिद्धान्तसे मिलता है और यह भी ध्यानमें रखने योग्य है कि हमें यह संसारका स्वरूप मनके अपरोक्ष अनुभवसे ही प्रतीत होता है।

अब सर जेम्स जीन्सकी विचारधारापर विचार करें। जीन्स प्रख्यात गणितशास्त्रज्ञ और ज्योतिषशास्त्रज्ञ हैं। प्रो० एडिंगटनके समान उनका भी यह मत है कि पदार्थविज्ञानशास्त्र पदार्थके स्वरूपका निश्चितरूपसे निरूपण नहीं करता। केवल पदार्थोंके सम्बन्ध और कुछ अङ्कोंके विषयमें चर्चा करता है। विज्ञानके अनुसार जिस मूलद्रव्यमें उष्णता, प्रकाश, विद्युत् इत्यादि भाव लहरोंके रूपमें आविष्कृत होते हैं, वह मूल-द्रव्य (Ether) भी माना हुआ प्रतीक अर्थात् सङ्केत ही है। विद्युत्परमाणु (Electrons) की घटक समझी जानेवाली लहरें भी मानी हुई ही हैं। केवल अवकाश-को व्यापनेवाला विद्युत्परमाणु कल्पना ही है। Seven Dimension का स्थलकाल, जहाँ कि दो विद्युत्परमाणुओं-का संयोग होता है, केवल कल्पित है। (Mysterious Universe p. 120-121) इससे जीन्सने ऐसा निष्कर्ष निकाला है कि विज्ञान जिस विश्वका विचार और अभ्यास करता है, वह आभासात्मक है। वैज्ञानिक विश्व छायामय—मायामय है। प्लेटोने प्रसिद्ध गुफाके रूपकमें ऐसा दिखलाया है कि मानो एक मनुष्य गुफामें दीवारकी ओर मुँह किये बैठा है, वह लौह-शृङ्खलासे उसी जगह जकड़ दिया गया है और उसने जन्मसे लेकर अबतक बाह्य जगत्को एक बार भी नहीं देखा है। ऐसी परिस्थितिमें दीवारपर दीखनेवाली छायाएँ और उनकी हलचलें ही उसे ज्ञान देनेवाली सामग्रियाँ हैं। इसलिये स्वभावतः वह प्रतिबिम्बको ही सूर्य और छायाओंको ही सत्य वस्तु समझेगा। जगत्में उसकी कल्पना छायामय संसारके उस ओर जा ही नहीं सकती। यदि उसे वहाँसे मुक्त कर बाहर लाया जाय तो वह घबरा जायगा और सच्चा प्रखर और दीप्तिमान् सूर्य उसे अपरिचित और असत्य मालूम होने लगेगा। जीन्स प्लेटोके इस रूपकका उल्लेख करके कहता है कि विज्ञान भी सत्यकी छायाओंमें ही मग्न है। वैज्ञानिक जगत् छायामय है।

विश्वमें मनुष्यका स्थान कितना तुच्छ है। जीन्सने ज्योतिषशास्त्रके द्वारा मानवी जीवनका अल्पत्व, क्षुद्रत्व और क्षणभङ्गुरत्व बड़ी सुबोध रीतिसे स्पष्ट किया है। पृथ्वीपर ही मनुष्योंका स्थान कितना क्षुद्र है। पृथ्वीपर रहनेवाले भूचर, जलचर, खेचरकी असंख्यताकी तुलनामें मानव-प्राणी दो अरब ही तो हैं। दो अरब मानवोंमेंसे एक व्यक्ति अपार सागरकी एक बूँदके समान है। जिस पृथ्वीपर हम ऐसे नगण्य हैं वह विश्व-विस्तारकी दृष्टिसे कितनी छोटी है! पृथ्वी सौर-मण्डलके अनेक ग्रहोंमेंसे एक ग्रह है। पृथ्वीसे सूर्य दस लाख गुना बड़ा है। इतना विशाल सूर्य भी असंख्य तारोंमेंसे एक तारा ही है! एक-एक तारकासमूह वलयाकार धूलि (Spiral Nabulae) के विलयीकरणसे उत्पन्न हुआ है। इन वलयाकार धूलियोंको द्वीपविश्व (Island-Universes) कहते हैं। माउंट विल्सनकी खुर्दबीनमेंसे ऐसे २० लाख विश्व दीपवलय दिखलायी पड़ते हैं। ज्योतिष-शास्त्रज्ञोंका ऐसा अनुमान है कि सम्पूर्ण विश्व, खुर्दबीनसे दृष्टि-गोचर होनेवाले विश्वसे सौ करोड़ गुना (१०००००००००) अधिक विशाल होना चाहिये। विश्वकी विशालताकी

कल्पना करते समय यह ध्यानमें रखना चाहिये कि पृथ्वीपर सबसे पासवाले तारेका प्रकाश चार सालमें पहुँचता है। प्रकाशका वेग १८६००० मील प्रति सेकंड है। खुर्दबीनमें कई तारोंका जो प्रकाश आज हम देखते हैं वह ईसामसीहके जन्मके पहलेसे निकला हुआ है। हम जब 'यह सूर्य' कहकर सूर्यको निर्देश करते हैं, तब वह ८॥ मिनट पहलेका सूर्य रहता है। 'अभीके' अर्थात् उसी क्षणके सूर्यको देखनेके लिये हमें हमेशा ८॥ मिनट ठहरना पड़ेगा। हम जब-जब 'यह विश्व' कहते हैं, तब-तब यह विश्व रहता ही नहीं, दूसरा ही विश्व रहता है। विश्व-विस्तारके स्मरणार्थ यह ध्यानमें रखना चाहिये कि पृथ्वीकी $\frac{1}{8}$ सेकंडमें प्रदक्षिणा करनेवाला सबसे वेगवान् प्रकाश अखिल विश्वकी प्रदक्षिणा दस हजार करोड़ (१००००००००००) वर्षमें करता है।

इतने असीम विश्व-विस्तारमें जीवन कितना क्षणभङ्गुर है! क्योंकि इस विस्तृत विश्वमें जीवनानुकूल परिस्थिति क्वचित् ही मिलती है। प्रथमतः ग्रहमालिका निर्माण होनेका सम्भव ही कितना विरल! भ्रमणमें दो ताराओंके सामीप्यसे एक ग्रहमालिकाके उद्भवकी सम्भावना है। परन्तु विश्वाकाशकी विपुलताके कारण अपने-अपने मार्गपर भ्रमण करते हुए ताराओंके सामीप्यका योग सत्तर लाख (७००००००) वर्षमें एक बार आता है। इतने दुर्लभ योगोंमें भी ग्रहमालिका-निर्माण होनेका सम्भव कदाचित् ही आता है। अच्छा, ग्रहमालिकाके निर्माणके बाद भी जीवनानुकूल समशीतोष्ण वातावरण बहुत कम मिलता है। करोड़ों खगोलोंमेंसे शायद एक-आधपर ही जीवनानुकूल उष्णता और वातावरण रहता है। पृथ्वीकी ज्योतिषशास्त्रीय कालगणनाके बाद, भूगर्भशास्त्रीय काल और तदनन्तर प्राणिशास्त्रीय कालगणना शुरू होती है। वैज्ञानिक मतानुसार पृथ्वीकी जीवकोटि १२० करोड़ वर्ष पहलेकी है। मनुष्य तो केवल १० लाख वर्ष पहलेका बच्चा है। जानकारीमें आया हुआ ऐतिहासिक काल दस-बारह हजार वर्षके उधर नहीं जाता।

यह नहीं कहा जा सकता कि विश्वके मृतप्राय, मूक और भयानक विस्ताररूपी प्रलयमें जीवनकी झिलमिलानेवाली चञ्चल ज्योति कब बुझ जाय? इस प्रकार मानव व्यक्ति विश्वके अनन्तत्वमें बिल्कुल क्षुद्र ही है।

अब यह प्रश्न हो सकता है कि क्या क्षुद्रत्व और क्षणभङ्गुरत्व मिथ्यात्वके कारण हो सकते हैं? केवल तर्ककी दृष्टिसे इसका उत्तर नहीं होगा। वस्तु चाहे कितनी ही क्षुद्र और क्षणभङ्गुर क्यों न हो, परन्तु है तो वह सत्य! एक सेकंड या उसका सहस्रांश भी कालखण्ड रूपमें सत्य ही है और इसी प्रकार उसमें घटित घटना भी! हजार वर्ष रहनेवाले वटवृक्ष और खिलनेके साथ ही कुम्हलानेवाली कलीमें कालके परिमाणकी दृष्टिसे भले ही फ़र्क हो, सत्यत्वकी दृष्टिसे नहीं! थोड़े समयमें रहनेवाली वस्तु 'थोड़े समय रहती है' इस दृष्टिसे सत्य ही है। बहुत समयतक रहने या टिकनेवाली वस्तुकी अपेक्षासे वह भले ही मिथ्या है पर 'थोड़े समय रहनेवाली'—इस दृष्टिसे तो सत्य ही है। इस प्रकारसे विचार करनेपर तर्क-दृष्टिसे जीन्सद्वारा वर्णित मानव-जीवनकी क्षुद्रता मिथ्यात्वका प्रमाण नहीं है। परन्तु, इस प्रश्नको दूसरी तरहसे इस प्रकार ले सकते हैं। यह सत्य है कि क्षणभङ्गुर वस्तुको हम उतनी सत्य नहीं मानते, अधिक कीमत नहीं देते। अपने जीवनके अनेक पदार्थोंको हम टिकाऊपनेकी दृष्टिसे ही देखते हैं। 'नित्यानित्यवस्तुविवेक' तत्त्वजिज्ञासाके अधिकारीके लक्षणोंमें सबसे प्रथम बताया गया है इसका क्या रहस्य है? ब्रह्मके वर्णनमें शुद्ध, बुद्ध, मुक्तके पहले उसे नित्य कहा गया है। उसमें भी 'जो अनित्य वह मिथ्या तथा जो नित्य वह सत्य' यही कसौटी गर्भित है। इसलिये जीवनकी क्षणभङ्गुरताको उसके मिथ्यात्वका एक कारण माननेमें कोई आपत्ति नहीं दीखती। जगत्के महत्त्व और महत्त्वके विश्वासको कम करनेकी दृष्टिसे तत्त्वज्ञानीके लिये यह ध्यानमें रखना उपयोगी होगा कि प्रत्येक क्षण संसारमें ह्रास हो रहा है! यह जगत्की सार्वत्रिक घटना है। घड़ीमें चाभी देनेपर जिस प्रकार स्प्रिङ्ग लगातार खुलता जाता है, उसी प्रकार जगत्में अखण्ड, अविरत ह्रास जारी है। सङ्घटनका विघटन लगातार हो रहा है। Entropy इस विघटनका वैज्ञानिक नाम है। विघटन लगातार बढ़ रहा है। जडद्रव्योंका अभिज्वलन (Radiation) सतत चालू है। परन्तु अभिज्वलनान्तर फिरसे उसका द्रव्यमें रूपान्तर नहीं होता। संसारकी मृत्यु उष्णताके नाशमें है। अन्तमें सूर्य और सब ताराओंका प्रकाश शान्त हो जायगा और यह प्रशान्त प्रकाश सारे विश्वमें भरा रहेगा, ऐसा जीन्सने वर्णन किया है। जीन्सकी दृष्टिसे अखिल मानवविज्ञानमें गणितशास्त्रका विशेष स्थान है। क्योंकि गणितशास्त्रने ही विश्वके कूटकको सुलझानेमें मदद की है। उसके मतसे विश्वनिर्माता इञ्जीनियर न होकर गणितशास्त्रज्ञ होना चाहिये। (Mysterious Universe P. 149) किसी पदार्थ या घटनाका अन्तिम सत्य गणित-

शास्त्रद्वारा किये गये वर्णनमें ही मिल सकेगा।

परन्तु, विश्वविस्तारके ज्ञानसे मालूम होनेवाले आश्चर्यसे भी बड़ा आश्चर्य यह है कि मनुष्यको विश्वका यह कूटक स्फुरित कैसे हुआ ! इससे यह सिद्ध होता है कि मानवी मन विश्वरचनाके विषयमें इतनी बातें जान सकता है। मनुष्य और विश्वके बीचमें एक साधारण अन्तिम तत्त्व है, यहीं 'तत्त्वमसि', 'अहं ब्रह्मास्मि' इस औपनिषद सिद्धान्तको पुष्टि मिलती है। इस प्रकार एडिंगटनके अनुसार जीन्सका वैज्ञानिक ज्ञान भी जगत्के उस ओर चेतनत्वकी ओर अङ्गुलिनिर्देश करता है। विज्ञान भी वेदान्तके जगन्मिथ्यात्वका पोषक है। क्या इससे ऐसा ही निष्कर्ष नहीं निकलता ?

नश्वर प्राणी !

(रचयिता—श्रीदेवेन्द्रनाथजी पाण्डेय, शास्त्री, साहित्याचार्य)

अरे कालके कवल ! अरे ओ पल-पलमें कँप उठनेवाले,
अरे बुलबुले भव-सागरके देख नाशके बादल काले।
आज पवनसे प्रेरित होकर कर ले तू विहगोंमें नर्तन,
कल प्रपातके काल करोंसे होगा इस कृतिमें परिवर्तन।
अरे बटोही तू किस भ्रममें क्यों तूने यह नहीं विचारा ?
धूलि धूसरित झञ्झान्दोलित तू फिरता है मारा-मारा।
चला नापने इस असीम सागरको लेकर लघु तनु-तरणी,
पर न पार कर सका अभीतक तू जीवनकी भी वैतरणी।
श्वासोंका यह ताना-बाना कितना कच्चा कितना नश्वर,
जिससे बुना गया है प्राणी ! तेरे लघु जीवनका अम्बर।
नियति नेमिका चक्र सनातन चलता ही रहता है प्रतिपल,
क्या तू रोक सकेगा उसको ? अरे कहाँ तुझमें इतना बल ?
होकर सीमित तू असीमसे आज चला है होड़ लगाने,
अनित्यताका कवच पहनकर विभुतापर अधिकार जमाने।
हुए यहाँ अन्तर्हित कितने तुझ-जैसे इन चार क्षणोंमें
अरे देख वह राख पड़ी है तेरी ही तो धूलि कणोंमें।
वे जो निजको नित्य समझकर बनवा गये बड़ी मीनारें,
उनके अर्मां उन्हीं कंकड़ोंमें अब करते हैं चीत्कारें।
अरे देख हो गया धराशायी उस गढ़का आज कँगूरा
औ सुवर्णमय मुकुटसहित है वह कपाल भी चूरा-चूरा।
बचा-बचाकर ले चल नौका लहरें उठती हैं तूफ़ानी
अरे पता तो लगा कहाँसे इसमें बढ़ता जाता पानी।
यौवनके वसन्तसे विकसित जबतक रहा सुमन-सा चोला
अरे अभागे कभी न तबतक रामनाम तू मुखसे बोला।
आज चार नर कन्धेपर रख चले सत्यता सिखलानेको
श्वास-हीन केवल मिट्टीसे रामनामके कहलानेको
अरे रूपपर मरनेवाले क्यों न हो रहा अब मतवाला
क्या सुवर्ण-सी है न सुन्दरी देख चितानलकी यह ज्वाला।
लाल और नीलमसे निर्मित अरे देख उद्धूम शिखाएँ
चाह रहीं तेरा आलिंगन रूप-गर्विता समा चिताएँ।

प्रेमरूपा भक्ति

(लेखक—श्रीहीरेन्द्रनाथदत्त बी० ए०, बी० एल०, वेदान्तरत्न)

गीतामें भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनसे कहते हैं, मेरे चार प्रकारके भक्त हैं—

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।

कौन-कौन ?

आर्त्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥

आर्त्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी।

उदाहरणार्थ, दुर्योधनकी राजसभामें द्रौपदी आर्त्त है; उत्तम पदकी अभिलाषा करनेवाला ध्रुव अर्थार्थी है; उद्धव और अर्जुन जिज्ञासु हैं; प्रह्लाद, शुक और नारदादि ज्ञानी हैं।

गीताके अनुसार इन चार प्रकारके भक्तोंमें ज्ञानी सर्वोत्तम भक्त है, क्योंकि स्वयं भगवान् ही उसके एकमात्र ध्येय और उपास्य हैं।

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥

'इनमें ज्ञानी सबसे श्रेष्ठ है जो मेरे साथ सदा युक्त और केवल मेरी ही भक्ति करता है। कारण, ज्ञानीको मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और वह भी मुझे प्रिय है।'

सभी भक्त, अध्यात्मदृष्टिसे श्रेष्ठ हैं, सभी उदार हैं, परन्तु ज्ञानी तो भगवान्का आत्मा ही है।

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।

इस प्रकारके अर्थात् ज्ञानी भक्तके विषयमें गीताके बारहवें अध्यायमें विशेष वर्णन किया गया है—

'जो कोई किसी प्राणीसे वैर नहीं करता, जो सबके साथ मैत्री और दयाका व्यवहार करता है, जो ममता-अहंतासे मुक्त है, सुख-दुःखमें जो सम और क्षमाशील है, जो सदा सन्तुष्ट रहता, मेरे साथ युक्त रहता, शरीर, मन, इन्द्रियाँ, जिसके वशमें हैं, जिसका निश्चय दृढ है, जिसने अपने मन और बुद्धिको मेरे अर्पित कर दिया है, वैसा भक्त मुझे प्रिय है। जो लोकको उद्विग्न करनेका कारण नहीं होता और न स्वयं लोकसे उद्विग्न होता है; हर्ष, शोक, भय, उद्वेगसे जो मुक्त है वह मुझे प्रिय है। जो कोई अपेक्षा नहीं करता, अंदर-बाहर जो पवित्र रहता, दक्षतासे सब कर्म करता है, सुख-दुःखसे जो उदासीन रहता, जिसे कोई व्यथा नहीं होती, जिसने सब कर्मोंमें कर्तृत्वाभिमान त्याग दिया है, वह भक्त मुझे प्रिय है। जिसे किसी लाभसे न हर्ष होता है न किसी चीजसे द्वेष, जो न शोक करता है न किसी चीजकी इच्छा ही, जिसने शुभाशुभ दोनोंको ही त्याग दिया है और मेरी भक्ति करता है वह मुझे प्रिय है। जो शत्रु-मित्र, मान-अपमान, शीत-उष्ण और सुख-दुःखमें सम है, किसी प्रकारकी आसक्ति जिसमें नहीं है, निन्दा और स्तुति जिसे एक-सी ही लगती है, जो अपने ध्यानमें मौन और जिस किसी भी अवस्थासे सन्तुष्ट रहता है, घर-बारका आश्रय नहीं करता, मति जिसकी स्थिर और मुझमें जिसकी पूर्ण भक्ति होती है वह मुझे प्रिय है।' (गीता १२। १३–१९)

आधुनिक बङ्गीय साहित्यके अध्वर्यु बङ्किमचन्द्रने अपने 'धर्मतत्त्व' नामक ग्रन्थमें गीताके इन श्लोकोंपर विशेष ध्यान दिलाया है और बड़ी खूबीसे यह सिद्ध किया है कि भगवान् ही आराधनाके एकमात्र विषय हो सकते हैं। इस सिद्धान्तके व्याख्यानमें उन्होंने अपने ग्रन्थके दस अध्याय लगा दिये हैं और विष्णुपुराणमें वर्णित प्रह्लाद-चरित्रका वर्णन कर बड़े ही सुन्दर ढंगसे अपने वक्तव्यका उपसंहार किया है। वेदान्तविषयक सम्पूर्ण साहित्यमें इससे अधिक सुन्दर और युक्तियुक्त विवेचन शायद ही कोई हो। बङ्किमचन्द्र कहते हैं—

'मनुष्यकी मनोवृत्तियोंके लिये आकर्षणके केन्द्र बननेवाले समस्त विषयोंमें सर्वोच्च विषय स्वयं भगवान् हैं। जिस वृत्तिके ध्येय भगवान् हैं—अर्थात् अनन्त शुभ, अनन्त ज्ञान, अनन्त धर्म, अनन्त सौन्दर्य और अनन्त ऐश्वर्य—अनन्त ही जिसका ध्येय है, उसे भला कौन परिच्छिन्न कर सकता है, कौन बाँध सकता है? मानव-जीवनका यथार्थ सामञ्जस्य भगवद्भक्तिद्वारा परिचालित जीवन ही है।'

यह अवस्था, उनके कथनानुसार, मनुष्यकी आध्यात्मिक उन्नतिकी परमावस्था सूचित करती है। इसीको उन्होंने भक्तिकी चरमावस्था कहा है और प्रह्लादको भक्तोंमें परम भक्त। कहते हैं, 'निःस्वार्थ प्रेम ही सच्ची भक्ति है और प्रह्लाद ही सर्वोत्तम भक्त है।' इस विषयमें कोई विवाद नहीं कि प्रेम यथार्थमें निर्हैतुक ही होता है और प्रह्लादकी भक्ति भक्तिका परम रूप है; पर बङ्किमचन्द्रने यह कहीं नहीं कहा है कि भगवत्प्रेम भक्तिका परम रूपान्तर है। बङ्गीय सम्प्रदायके वैष्णवोंने ही पहले-पहल महाप्रभु श्रीचैतन्यकी वाणीको प्रतिध्वनित करते हुए यह कहा कि पराभक्तिसे ही हमारा पूर्ण सन्तोष नहीं होता। वैष्णव-सिद्धान्त यह है कि भक्तको भगवान्से वही भाव रखना चाहिये जो किसी प्रेमिकाका अपने प्रेमास्पदके प्रति होता है। यह भाव, वैष्णवोंके विचारसे, जीवके आन्तरिक आह्लादसे उत्पन्न होता है और यह स्वाभाविक है। प्रेम राजाका वह राजमार्ग है जो मनुष्यको आत्माके देशमें लौटा ले जाता है। (Love is the King's highway which leads man back to the country of the soul.) आत्माका देश है प्रेमी भक्तका वृन्दावन। भक्त संसारका मार्ग छोड़ व्रजके पथपर आरूढ हो अन्तमें वृन्दावनमें प्रवेश करता है। प्रेमकी प्राप्ति ही जीवकी जीवन-यात्राका परम ध्येय है। कृष्ण-कथाके श्रवण-कीर्तनसे उनके प्रति एक स्वाभाविक प्रेम-भाव उदय होता है। यही साधनाका परम ध्येय है, मनुष्यके पुरुषार्थकी सीमा है।

* * *

यह रति जब घनी होती है तब उसे प्रेम कहते हैं। यह प्रेम ही ध्येय है, सर्वानन्दकी महानिधि।

गीतामें जिस भक्तिका वर्णन है वह वैष्णवोंकी भाषामें 'वैधी भक्ति' है। वैधी भक्ति जब पूर्ण होती है तब वह 'शुद्धा भक्ति' होती है। शुद्धा भक्तिसे प्रेम उदय होता है।

प्रेमका नाम है 'रागानुगा भक्ति', वह भक्ति जिसमें भगवान्से आसक्ति होती है और इसी भक्तिको सामान्यतः 'रति' कहते हैं, वह भगवत्प्रेम जिसमें भगवान्से 'ममता' होती है।

अनन्यममता विष्णौ ममता प्रेमसङ्गता।

—नारदपाञ्चरात्र

'अनन्य ममता भगवान्के प्रति ही होनेवाली ममता है और उसे प्रेम कहते हैं।'

'जब रति गाढ़ होती है तब उसे प्रेम कहते हैं। यह वैधी भक्तिसे उत्पन्न होती है।'

यह रागानुगा भक्तिका वर्णन है जिसमें विधि-निषेधोंका अतिक्रम हो जाता है। गीतामें इस भक्तिका निर्देश इस वचनमें हुआ है—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

'धर्मको किनारे कर वे दोनों प्रेमसे मिलते हैं। कभी मिलते हैं और कभी नहीं भी, जब जैसा संयोग हो।'

जिस रतिका ऊपर वर्णन हुआ वह वैष्णवोंके बंगीय सम्प्रदायके अनुसार पाँच प्रकारकी है—

'भक्तोंके गुणोंके भेदसे रतिके पाँच भेद होते हैं। ये हैं—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य।'

यही बात आगे फिर इस प्रकार कही गयी है—

'रति भक्तोंके स्वभावभेदसे पाँच प्रकारकी होती है—शान्त-रति, दास्य-रति, सख्य-रति, वात्सल्य-रति और माधुर्य-रति। श्रीकृष्णकी भक्तिका रस भी इसी प्रकार रति-भेदसे पञ्चविध है।'

सर्वप्रथम शान्त भक्त अर्थात् वह भक्त जिसने शान्ति लाभ की है। भागवतके नवयोगेन्द्र और सनकादि चारों कुमार इसी कोटिके भक्त हैं। उसके स्वभावका यह वर्णन है—

'शान्त भक्तमें कृष्ण-ममताका कोई लेश नहीं है। वह परब्रह्म और परमात्माके ज्ञानसे परम ज्ञानी है।'

शान्त भक्तके बारेमें फिर यह भी कहा है—

'श्रीकृष्णका भक्त स्वर्ग और मोक्षकी इच्छाको प्रत्यक्ष नरक समझता है। श्रीकृष्णकी अनन्य भक्ति और कामना-त्याग, ये दो शान्त भक्तके गुण हैं।'

जब श्रीकृष्णके प्रति उसके हृदयमें प्रेम उदय होता है तब वह—

हसत्यथो रोदिति रौति गाय-
त्युन्मादवन्नृत्यति लोकबाह्यः॥
(श्रीमद्भा० ११।२।४०)

'खिलखिलाकर हँस उठता है, कभी रोता है, कभी चिल्लाता है, कभी पागलकी तरह नाचने लगता है, संसारसे सर्वथा विलक्षण ही उसका व्यवहार होता है।'

इसके ऊपर तब दास्य-भक्ति आती है। उद्धव, विदुर, ध्रुव, प्रह्लाद और हनुमान् इस कोटिके भक्त हैं। ईसाइयोंके पुराण-ग्रन्थोंमें इस प्रकारके भक्तोंको 'सर्विटर्स आफ गॉड' कहते हैं। दास्य-भक्त अपने आपको भगवच्चरणकमलोंके दासके भी दासका दास समझता है। वह 'गोपीभर्तुः पदकमलयोः दासदासानुदासः' है। उसे यह भय रहता है कि कहीं भगवान्‌का संग छूट न जाय और उद्धवके शब्दोंमें उसीकी यह वाणी है—

नाहं तवाङ्घ्रिकमलं क्षणार्द्धमपि केशव।
त्यक्तुं समुत्सहे नाथ स्वधाम नय मामपि॥

'आपके चरणकमलोंको हे केशव! मैं आधे क्षणके लिये भी छोड़ना नहीं सह सकता; इसलिये हे नाथ! मुझे भी आप अपने धामको ले चलिये।'

'चैतन्यचरितामृत'कार कविराज गोस्वामी दास्य-भक्तिके सम्बन्धमें कहते हैं—

'शान्त-भक्तिमें केवल सदात्माका ज्ञान होता है; दास्य-भक्तिमें इस अनुभूतिसे कि भगवान् सब गुणोंकी खान हैं, यह ज्ञान उदात्त होता है।'

* * *

'शान्तका गुण दास्यमें रहता ही है, उसमें सेवाका सौभाग्य और प्राप्त होता है। अतः दास्यभावमें दोनों-के गुण हैं।'

इससे भी ऊँचे स्तरपर सख्य-भक्ति है जिसके सम्बन्धमें कविराज गोस्वामी कहते हैं—

'शान्तका गुण और दास्यकी सेवा दोनों ही सख्यमें रहते ही हैं; दास्यमें सेवा श्रद्धाके भावसे होती है; पर सख्यमें पूर्ण विश्वास और निश्चयका भाव होता है।'

* * *

'उस अवस्थामें श्रीकृष्णके प्रति आसक्ति अधिक होती है, उनसे बराबरीका व्यवहार होता है। अतः सख्य-रसके संगोपनसे भगवान् अनायास वशमें होते हैं।'

सख्य-भक्तोंके उदाहरण व्रजमें श्रीदामादि और श्रीभगवान्‌के द्वारका-निवासकालमें भीम और अर्जुन हैं। व्रजके बाहर, सख्य-भक्तिका सर्वोत्तम जीता-जागता उदाहरण श्रीकृष्णके सच्चे सनातन सखा अर्जुनका है।

परन्तु सख्यभक्तिका परम देदीप्यमान रूप श्रीभगवान्‌की वृन्दावन-लीलामें मिलता है जहाँ वे ग्वाल-बालोंके साथ गायों और बछड़ोंको चराते हैं।

मायाश्रितानां नरदारकेण
साकं विजह्रुः कृतपुण्यपुञ्जाः।

'पुण्यपुञ्ज होनेसे वे (ग्वालबाल) उन श्रीकृष्णके साथ खेले जो मायाके वशमें रहे हुए लोगोंको केवल एक मनुष्य-बालक मालूम होते थे।'

कितना महान् आध्यात्मिक अधिकार इन व्रज-बालकोंका रहा होगा जो वे मनुष्य-सन्तानरूपमें प्रकट स्वयं भगवान्के साथ बच्चोंके खेल खेले ! व्रजबालकोंके इस नाचने, गाने, ताली बजाने आदिका बड़ा ही सुन्दर वर्णन सूरदास कर गये हैं।

सख्य-भक्तिके ऊपर वात्सल्य-भक्ति है जो वसुदेव-देवकीमें, विशेषकर नन्द-यशोदामें देख पड़ती है। कविराज गोस्वामी वात्सल्य-भक्तिके सम्बन्धमें कहते हैं—

'इस अवस्थामें पूर्वके सब सेवाभाव पालन नामको प्राप्त होते हैं। सख्यका गुण असङ्कोच और अगौरव इस अवस्थामें विद्यमान रहता है। विशेष यह होता है कि आसक्तिका अति प्रगाढ़ भाव दण्ड, भर्त्सना आदि रूपोंमें प्रकट होता है।'

जब श्रीकृष्ण वृन्दावन छोड़ मथुरा चले गये तब यही देखते हैं कि—

'यशोदा मैया और नन्दबाबा ऐसे बैठ गये जैसे अन्धे हों, उनका साहस छूट गया, उनमें अपने हाथ-पैर उठानेकी भी सामर्थ्य न रह गयी।'

बङ्गालके एक वैष्णव कविने यशोदाके मुखसे यह भाव प्रकट कराया है—

'मेरे हृदयके लाल, मेरे नील लाल, तेरे ही दर्शनके लिये इस शरीरमें प्राण स्पन्दन कर रहे हैं। मेरा हृदय फटा जा रहा है, 'मा', 'मा' कहकर मुझे फिरसे पुकार, मेरे लाल, मेरी गोदमें आ, तेरा चाँद-सा मुखड़ा तो मैं देखूँ।'

वात्सल्य-भक्तिसे श्रेष्ठ मधुर या उज्ज्वल भक्ति है, यह एक प्रेमिकके नाते भगवान्की पूजा है। कविराज गोस्वामी कहते हैं—

'मधुर रसमें श्रीकृष्णकी भक्ति और श्रीकृष्णकी सेवा अपनी पराकाष्ठाको प्राप्त होती है। इसलिये मधुर-भक्तिमें पाँचों गुण होते हैं।'

जब मधुर भावका साधन किया जाता है तब भक्त पुरुष-भावको त्याग कर प्रकृति बनता है और भगवान्से यों कहता है—

'हे मेरे हृदयके स्वामी, तुम मधुसे भी मधुर हो, मुझे अपने चरणोंकी दासी बना लो। मैं बदलेमें तुमसे और कुछ न चाहूँगा, केवल तुम्हारे चरणोंकी सेवा करूँगा; मुझे यही वर दो मेरे स्वामी।'

ईसाई संतोंकी भाषामें, 'यह जीवरूप कुमारी वधूका अपने वरके प्रति निष्काम आनन्दमय आत्मार्पण है, विवाहकी मौन प्रतिज्ञा है।'

मधुर-भक्तिके दृष्टान्त देते हुए 'श्रीचैतन्यचरितामृत'-कार कहते हैं—

'मधुर रसके सर्वोत्तम भक्त व्रजकी गोपियाँ, (द्वारकाकी) महिषियाँ और लक्ष्मी हैं, और भी हैं जिनकी गणना कहाँतक की जाय।'

परन्तु मधुर-रसकी पूर्णतम पूर्णता श्रीराधाजीमें होती है। भावके ऊपर जो महाभाव होता है, वही मूर्तिमान् महाभाव श्रीराधिकाजी हैं। 'कुल-परिवारके सब बन्धन, लोक-लाज, मर्यादा और भयको छोड़कर' वे अपना जीवन, यौवन, मन और अपना सर्वस्व श्रीकृष्णको अर्पण करती हैं। कहती हैं—

'इस दासीको वे अपने हृदयसे लगा लें या पैरों-तले कुचल डालें, दर्शन न देकर जितना चाहें व्यथित करें, जो मनमें आवे करें, पर यह तो निश्चय है कि वे ही मेरे हृदयके स्वामी हैं।'*

---

* आश्लिष्य वा पादरतां पिनष्टु मा-
मदर्शनान्मर्महतां करोतु वा
यथा तथा वा विदधातु लम्पटो
मत्प्राणनाथस्तु स एव नापरः॥

अपना सर्वस्व श्रीकृष्णको अर्पण करके भी वे अपने आत्मार्पणसे सन्तुष्ट नहीं होतीं और कहती हैं—

'प्रियतम, तुम्हारे प्रेमके आनन्द-समुद्रमें, मेरा कुल, लाज और मर्यादा सब कुछ डूब गया, अब और मैं तुम्हें क्या दूँ ? यही प्रश्न मेरे सिरको दुखा रहा है। जो धन तुम्हें मैं देती वह धन तो मेरे तुम्हीं हो।'

उनके हृदयका एकमात्र भाव जो सदा उनका पीछा करता है वह तो यही है कि—

'हे प्रेममय ! मैं और क्या कहूँ ? मरणमें, जीवनमें, पुनर्जन्ममें तुम ही मेरे प्राणनाथ बनो।'

जब श्रीकृष्णके विरहकी अग्निसे वे जलती हैं तब कहती हैं—

'मेरे जीवनका प्रत्येक क्षण अनन्त युग बन गया है। मेरी आँखें वर्षाके बादल बन गयी हैं। गोविन्दके विरहसे सारा जगत् शून्य हो गया है।'*

'विरहके ये दिन बीतते नहीं, प्रत्येक क्षण युग-सा लंबा बना दीख पड़ता है। नेत्रोंसे घोर वर्षा-सा अश्रु-प्रवाह होता रहता है। गोविन्दके विरहने तीनों लोक शून्य कर दिये हैं। मन्दाग्निसे शरीर जल रहा है, फिर भी प्राण निकलते नहीं।'

श्रीराधिकाजीके इस महाभावके सम्बन्धमें कविराज गोस्वामी कहते हैं—

'यह भाव व्रजकी गोपिकाओंमें निरन्तर रहता है और श्रीराधिकाजीमें इसकी सर्वोच्च पूर्णावस्था होती है।'

यही भगवान्‌के प्रति प्रेमके मधुर भावकी परिपूर्णता है, भक्तिका परम प्रेममें रूपान्तर है।

कविराज गोस्वामी कहते हैं—

'जैसे आकाशके गुण वायुमें, वायुके अग्निमें, अग्निके जलमें और जलके पृथ्वीमें, एक-एक करके क्रमसे मिलते हैं, वैसे ही सब भाव मधुर-रसमें आ जाते हैं और मधुर-रस रसकी अधिकतासे ही परमानन्दका आस्वादन कराता है।'

जब यह होता है तब भक्तिका ताम्र भगवत्प्रेमके विशुद्ध सुवर्णमें रूपान्तरित हो जाता है।

साधनाके पथपर

तन्त्रियाँ मेरे हृदयकी
हो रहीं झङ्कृत अरे क्यों ?

(१)

छा गये नभमें सघन घन
हो रहे गम्भीर गर्जन,
झाँक जब कब बिजलियाँ ये,
कर रहीं सङ्केत रे क्यों ?

(२)

रूपकी धनकी निरन्तर
ज्वालमें जलते जगतको,
देखनेवालोंकी आँखें
मचलती रहतीं अरे क्यों ?

(३)

यत्नशील उबारनेको
सरलहृदय सुधारनेको,
शक्ति मेरे पास ही फिर
डगमगी ऐसी अरे क्यों ?

—श्रीराजेश्वर गिरि

* युगायितं निमेषेण चक्षुषा प्रावृषायितम्। शून्यायितं जगत्सर्वं गोविन्दविरहेण मे॥

सत्सङ्गका प्रभाव

(लेखक—सेठ श्रीत्रिभुवनदास दामोदरदासजी)

प्रार्थनाका अर्थ है एकाग्रतापूर्वक चैतन्य-शक्तिके साथ तन्मयताका अनुभव करना। यहाँतक एकाग्रता होनी चाहिये कि कर्ता-कर्म और ज्ञाता-ज्ञेय आदिका लय होकर केवल चैतन्यशक्तिका ही अनुभव हो। इस स्थितिमें उस तत्त्वदर्शीका हृदय पूर्णतया शुद्ध हो जाता है। इसी स्थितिमें केवल ईश्वरकी प्रेरणा होती है तथा अन्तरात्माकी आवाज सुनायी देती है। इसको भी आकाशवाणी कहते हैं। संसारमें सच्चरित्रताकी, सद्गुणोंके भण्डारकी एवं शुद्ध-सात्त्विक हृदयकी सर्वोत्कृष्ट कक्षा यही है। इस स्थितिमें स्फुरित होनेवाले विचार अमिट हो जाते हैं और वे उस व्यक्तिको भी अमर बना देते हैं। ऋषि-मुनियोंको भी इसी स्थितिमें उन विचारोंकी स्फूर्ति हुआ करती थी जिनसे कि उन्होंने अमरत्व प्राप्त किया था।

विचारोंके अमरत्वका आधार चारित्र्यकी इस कक्षाके ऊपर ही रहा है। यह स्थिति तत्त्वज्ञानका सम्पूर्णरूपसे विकसित परिपक्व फल है। ऐसा संयम तत्त्वज्ञानके अनुभवसे ही होता है। इस स्थितिको प्राप्त करनेके लिये चित्तका निरोध करना, एकाग्रता प्राप्त करना एवं चैतन्यशक्तिके साथ तन्मयता अनुभव करना—यही प्रार्थनाका सच्चा उद्देश्य है। मनकी वृत्तियोंका सर्वथा निरोध हो जाय, वे वृत्तियाँ सर्वव्यापी एकरस आत्ममय हो जायँ। यही नहीं, वे ऐसी हो गयी हैं—ऐसा जाननेकी वृत्ति भी न रहे—यही वास्तविक सुखके अनुभवकी वेला है, यही सच्चा धर्म-कर्म है, यही सच्ची प्रार्थना है। इस स्थितिमें परमात्माका यथार्थ ज्ञान होकर देहाभिमान नष्ट हो जाता है और फिर मन जहाँ-जहाँ भी जाता है वहाँ उसकी समाधि ही है।

लोग मन्दिरमें जाकर प्रार्थना करते हैं। वे किसकी प्रार्थना करते हैं और किसलिये करते हैं? जगत् स्वार्थी है और वह ईश्वरको मनमाने भोगपदार्थ देनेवाला ही समझता है। संसारमें लोगोंको ईश्वरका ज्ञान नहीं चाहिये, उन्हें चैतन्यशक्तिके साथ तन्मयताका अनुभव नहीं करना है और न पुनर्जन्मका विचार ही करना है। बस, अपने वर्तमान जीवनकी तुच्छ-से-तुच्छ मनोवृत्तियोंको चरितार्थ करनेके लिये ही ईश्वरकी प्रार्थना करनी है। और इसीके लिये वे अनेकों देवी-देवताओंकी मानता मानते हैं। परन्तु उन्हें याद रखना चाहिये कि यदि वे परमेश्वरके मन्दिरमें दर्शन करनेके लिये जाना चाहते हैं तो इस मँगतेपनको छोड़कर, दुखिया और भिखारीपनके चिथड़ोंको दूर फेंककर तथा आत्मविश्वास और निःस्पृहताकी दिव्य एवं मूल्यवान् पोशाक धारण करके जायँ। हम अन्तर्मुख हो जायँ और विषयोंकी ओरसे नींद लेने लगें। जो लोग विषयोंमें जागे हुए हैं वे तो सोये पड़े हैं और जो विषयोंमें सोये हुए हैं वे ही वस्तुतः जाग रहे हैं। जिस प्रकार यदि हमारे पास कोई मनुष्य भीख माँगने आता है तो हम मुँह फेर लेते हैं। उसी प्रकार यदि हम परमेश्वरके पास भिखारी बनकर जायँगे तो वे भी सम्भवतः मुँह फेर लेंगे। परमेश्वरसे तो हृदयकी पवित्रता, शुद्ध सात्त्विक प्रेम और भक्तिके साथ मिलना चाहिये। यदि हमारे भीतर पवित्रता नहीं आवेगी तो क्रूर विकास-चक्र—सुदर्शनचक्र अवश्य हमारा संहार कर देगा। यदि लोग ज्ञानप्राप्तिके लिये—श्रवण, मनन और निदिध्यासनके लिये मन्दिरोंमें जाया करते तो आज जो मन्दिरोंकी अधोगति दिखायी दे रही है वह कभी न होती।

प्रार्थनाके लिये मन्दिरोंकी रचना और मन्दिरोंकी पवित्रताके रहस्यकी खोज कीजिये। मैस्मेरिज़्मका सिद्धान्त है कि प्रत्येक मनुष्यके शरीरमेंसे एक प्रकारका

ओजस्-तत्त्व निकला करता है। योगशास्त्र इसे तन्मात्रा या सूक्ष्म पदार्थ कहता है। प्रत्येक प्राणीके शरीरमें-से एक निश्चित प्रकारका ओजस् हर समय निकला करता है। किसीके शरीरमेंसे पवित्र और किसीके शरीरमेंसे अपवित्र—इस प्रकार हममेंसे प्रत्येकके शरीरसे यह सूक्ष्म तन्मात्राओंका प्रवाह ढेर-का-ढेर निकलता रहता है और हम जहाँ-जहाँ जाते हैं वहीं-वहीं अपने चारों ओर इस तन्मात्राके द्वारा सारा स्थान भर देते हैं। इसीलिये अकेला चरित्रबल सारे जगत्पर अपना प्रभुत्व जमा सकता है। शरीरमेंसे जो तन्मात्राओंका प्रवाह बाहर निकलता है वह मनुष्यको प्रभावित करता है। तात्पर्य यह कि चोरके शरीरमेंसे चोरीकी भावना, विषयासक्तके शरीरमेंसे विषयोंकी भावना और महात्मा पुरुषोंके शरीरमेंसे निकलनेवाले तन्मात्र-प्रवाहसे आत्मज्ञानकी भावनाका प्रसार होता है। इसीसे सत्सङ्गको श्रेष्ठ बताया है, क्योंकि यह सर्वदा हमारी उन्नति करता रहता है।

जिस प्रकार ज्वालाकी गति ऊपरको ओर ही होती है उसी प्रकार धर्मकी गति भी उच्चताकी ओर ही ले जानेवाली है। इस प्रकार धर्म धर्मात्माकी उन्नति करने-वाला ही है, अवनति करनेवाला नहीं है, मनुष्योंके मनमें जो मन्दिर और देवालयोंके बनवानेकी वृत्ति स्फुरित हुई है उसका भी यही रहस्य है। ईश्वरकी उपासना करनेके लिये मन्दिरोंकी क्या आवश्यकता थी, ईश्वरका ध्यान, भजन और प्रार्थना तो चाहे जहाँ भी हो सकता था। परन्तु उन्होंने स्वाभाविक ही यह अनुभव किया कि जिस स्थानमें साधु पुरुष सर्वदा भगवान्की भक्ति करते रहते हैं वह बहुत अधिक मात्रामें पवित्र तन्मात्राओंसे भर जाता है। लोग वहाँ नित्यप्रति भगवान्की आराधनाके लिये जाते हैं। और जैसे-जैसे अधिकाधिक लोग इस निमित्तसे वहाँ जाते हैं वैसे-वैसे ही वह स्थान अधिक पवित्र होता जाता है। यदि उस स्थानमें कोई असात्त्विक पुरुष भी जाय तो उस स्थानकी पवित्रताके प्रभावसे उसके हृदयमें भी सत्त्वगुणका उदय हो जायगा। मन्दिर और देवालयोंको पवित्र क्यों माना जाता है? उसका यह उपर्युक्त कारण ही समझना चाहिये। किन्तु इतनी बात याद रखनी ही चाहिये कि साधु पुरुषोंके समागम और निवासपर ही स्थानकी पवित्रता अवलम्बित है। किसी स्थानको पहले साधु पुरुष पवित्र बनाते हैं और फिर वह पवित्रता दूसरे लोगोंको प्रदान करते हैं।

मन्दिर भी मन्दिर-नामके कारण नहीं, अपि तु पवित्र संत पुरुषोंके संसर्गसे ही पवित्रता धारण किये हुए हैं। भिन्नताका कारण भी केवल गुण ही हैं। गुणोंके तारतम्यसे भेद दिखायी देता है। महात्मा भी पवित्र आचार-विचार, सद्गुण एवं ईश्वरीय शक्तिके कारण ही श्रेष्ठ हैं। अधिक सत्त्वगुणसम्पन्न संतजन अपने आसपास चारों ओर सत्त्वगुणका प्रभाव फैला देते हैं और उसका प्रभाव उनके संसर्गमें आनेवाले पुरुषोंपर पड़े बिना नहीं रहता। कोई-कोई मनुष्य यहाँतक पवित्र हो जाता है कि उसकी पवित्रता उसके शरीरसे निरन्तर बहती रहती है। इसीको ब्रह्मतेज कहते हैं।

साधुओंके शरीरसे प्रवाहित होनेवाली पवित्रता इन्द्रियगोचर बाह्यवस्तुके समान ही अनुभवमें आनेवाली होती है। अन्य वस्तुओंके समान उसका भी वास्तविक अस्तित्व रहता है और उसे केवल योगिजन ही देख सकते हैं। वह अपने संसर्गमें आनेवाले प्रत्येक पुरुषको पवित्रता प्रदान करती है। साधु पुरुषोंके दर्शन, संत-महात्माओंकी सेवा और उनकी पधरावनी आदिकी योजना इसी तत्त्वकी दृष्टिसे की गयी है।

तेरे नामको आधार

(लेखक—काका कालेलकर)

मनुष्यकी दुर्बलताका अनुभव करके हमारे परम कारुणिक साधु-संतोंने उद्धारके बहुत-से रास्ते ढूँढ़े। अन्तमें उन्हें भगवान्‌का नाम मिला। इससे उन्होंने गाया कि—राम-नाम ही हमारा आधार है। सब तरहसे हारे हुए मनुष्यके लिये बस, राम-नाम ही एक तारक मन्त्र है। राम-नाम यानी श्रद्धा—ईश्वरकी मंगलमयतापर श्रद्धा। युक्ति, बुद्धि, कर्म, पुरुषार्थ, सब सत्य है, परन्तु अन्तमें तो राम-नाम ही हमारा आधार है।

लेकिन आजकलका जमाना तो बुद्धिका जमाना कहलाता है। इस तार्किक युगमें श्रद्धाका नाम ही कैसे लिया जाय ?

सच है कि दुनियामें अबुद्धि और अन्धश्रद्धाका साम्राज्य छाया है। तर्क, युक्ति और बुद्धिकी मददके विना एक पैंड भी नहीं चला जा सकता। बुद्धिकी लकड़ी हाथमें लिये विना छुटकारा ही नहीं। परन्तु बुद्धि अपङ्ग है। जीवनयात्रामें आखिरी मुकामतक बुद्धि साथ नहीं देती। बुद्धिमें इतनी शक्ति होती, तो पण्डितलोग कभीके मोक्ष-धामतक पहुँच चुके होते। जो चीज बुद्धिकी कसौटीपर खरी न उतरे, उसे फेंक देना चाहिये। बुद्धि-जैसी स्थूल वस्तुके सामने भी जो टिक सके उसकी कीमत ही क्या है ? परन्तु जहाँ बुद्धि अपना सर्वस्व खर्च करके थक जाती है और कहती है—'न एतदशकं विज्ञातुं यदेतद्यक्षमिति।' वहाँ श्रद्धाका क्षेत्र शुरू हो जाता है। बुद्धिकी मददसे कायर भी मुसाफिरीके लिये निकल पड़ता है। परन्तु जहाँ बुद्धि रुक जाती है, वहाँ आगे पैर कैसे रक्खा जाय ? जो वीर होता है, वही श्रद्धाके पीछे-पीछे अज्ञातकी अँधेरी गुफामें प्रवेश करके उस 'पुराणगह्वरेष्ठ'को प्राप्त कर सकता है।

बालककी तरह मनुष्य अनुभवकी बातें करता है। माना कि, अनुभव कीमती वस्तु है, परन्तु मनुष्यका अनुभव है ही कितना ? क्या मनुष्य भूत-भविष्यका पार पा चुका है ? आत्माकी शक्ति अनन्त है। कुदरतका उत्साह भी अथाह है। केवल अनुभवकी पूँजीपर जीवनका जहाज भविष्यमें नहीं चलाया जा सकता। अनुभवको तुच्छ गिननेवाली श्रद्धा, अन्तःप्रेरणा और प्राचीन खोज हमें जहाँ ले जाय, वहाँ जानेकी कला हमें सीखनी चाहिये। जल जाय वह अनुभव, धूल पड़े उस अनुभवपर जो हमारी दृष्टिके सामनेसे श्रद्धाको हटा देता है। दुनिया यदि आजतक बढ़ सकी है तो वह अनुभव या बुद्धिके आधारपर नहीं, परन्तु श्रद्धाके आधारपर ही। इस श्रद्धाका भाथा जबतक खाली नहीं होता, तबतक यात्रामें पैर आगे पड़ते ही रहेंगे; तभीतक हमारी दृष्टि अगला रास्ता देख सकेगी और तभीतक दिनके अन्त होनेपर आनेवाली रात्रिकी तरह बार-बार आनेवाली निराशाकी थकान अपने-आप ही उतरती जायगी। इस श्रद्धाको जाग्रत् रखनेका—इस श्रद्धाकी आगपरसे राख उड़ाकर इसे हमेशा प्रदीप्त रखनेका—एकमात्र उपाय है राम-नाम।

राम-नाम ही हमारे जीवनका साथी और हमारा हाथ पकड़नेवाला परम गुरु है।

(ऊर्मिसे)

साधनमें प्रेम होना, साधनमें जरा भी परिश्रम न प्रतीत होना, त्यागी महापुरुषोंके जीवनमें श्रद्धा होना और भगवान्‌पर विश्वास होना—ये साधककी उन्नतिके प्रधान चिह्न हैं। ऐसा साधक बहुत तेज चालसे आगे बढ़ता है।

प्रभु-प्राप्तिके साधनको ही जीवनका मुख्य कार्य समझो। शरीरसे संसारमें रहो परन्तु मनको तो निरन्तर प्रभुके चरणोंमें रक्खो।

केवल पुस्तकें पढ़नेसे काम नहीं चलेगा, न बड़ी-बड़ी बातें बनानेसे ही कुछ हाथ लगेगा। तुम्हें खुद अपने मनको प्रभुमें लगानेकी साधना करनी पड़ेगी।

भगवान्‌के स्मरण-चिन्तन और उनके गुण-गानमें समय बिताना ही समयका सदुपयोग है।

याद रक्खो—जिसपर भगवान्‌के सिवा और किसी भी पुरुष, किसी भी परिस्थिति, किसी भी घटना और किसी भी कालका कोई प्रभाव नहीं पड़ता अर्थात् जो हर समय हर प्रकारसे भगवान्‌के ही शरण रहता है, वही महापुरुष है। तुम भी चेष्टा करो—सारे प्रभावोंसे छूटकर भगवान्‌के—एकमात्र भगवान्‌के ही प्रभावमें रहनेकी।

तुम्हारा परिचय केवल भगवान्‌से ही रहे, और सबको भूल जाओ। और तुम जो कुछ भी करो, सब केवल भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये ही।

चाहो केवल भगवान्‌को ही। यह भी मत सोचो कि भगवान् सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् हैं, वे मेरी आवश्यकताओंको आप ही पूर्ण कर देंगे। तुम्हारे मनमें भगवान्‌के सिवा न तो और कोई आवश्यकता ही रहे; और न किसीकी चाह ही हो।

भगवान्‌में ही विश्वास, भगवान्‌की ही आवश्यकता, भगवान्‌की ही चाह और भगवान् ही साधन—ये चार बातें जिस साधकमें होती हैं, वह बड़ा ही भाग्यवान् है। इससे भी बड़ा वह है जो केवल भगवान्‌के प्रेममें ही मस्त रहता है। जिसे न चाह है, न आवश्यकता।

भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये ही कर्म करनेवाला पुरुष यह कभी नहीं सोचता कि लोग मेरे कार्यको सराहें, मेरी बड़ाई करें, मेरा सम्मान हो, मेरी जीवनी लिखी जाय या मेरा स्मारक बने। ये इच्छाएँ तो उसीमें रहती हैं जो तुच्छ विषयोंका गुलाम है और भगवद्भक्तिका स्वाँग धरकर अपने-आपको धोखेमें डाल रहा है।

जगत्‌के लोगोंके परिचयमें न आओ, न उनका परिचय प्राप्त करो। ऐसी चेष्टा करो जिसमें वे तुम्हें भूल जायँ और तुम उनको भूल जाओ, फिर केवल प्रभुका और तुम्हारा—दोका ही परस्पर परिचय रहे। चुपचाप तुम प्रभुकी सेवा करो और प्रभु उसे स्वीकार करें। जो दूसरोंको दिखानेके लिये सेवा करता है उसकी सेवा भगवान् स्वीकार नहीं करते।

जगत्‌को सुधारनेकी ठेकेदारी छोड़ दो, इसे प्रभु आप ही सुधारेंगे। तुम तो प्रभुके चरणोंपर न्योछावर हो जाओ। चुपचाप पड़े रहो दीन होकर उन दीन-बन्धुके दरवाजेपर!

जो मनुष्य जगत्‌के लोगोंमें बहुत परिचित होना तथा उनके साथ रहना चाहता है, याद रक्खो—वह प्रभुके परिचयसे अपनेको दूर करना चाहता है और प्रभुके संगको भी छोड़ना चाहता है। जितना ही जगत्‌में अधिक परिचय प्राप्त करोगे, उतना ही प्रभुके परिचयसे हटोगे।

जो मनुष्य भोगोंके त्याग और भगवत्-प्रेमका बाना पहनकर भी लोगोंको अपना—अपने साधनका परिचय देना चाहता है वह तो उस कुलटा स्त्रीके समान है जो किसी सुयोग्य पतिकी धर्मपत्नी होकर भी दूसरे लोगोंको रिझानेके लिये उन्हें अपना रूप और शृङ्गार दिखाती फिरती है। 'शिव'

करूँ, आपकी आज्ञा भी माननी पड़ेगी।' इच्छा न रहते हुए भी वे रथपर सवार हो गये।

सब लोग शृङ्गवेरपुर पहुँचे। गुहको भरतके इस आकस्मिक आगमनपर सन्देह हुआ। उसने सारी सेनाको राम-कार्यके लिये तैयार किया। निषादपति गुहसे मिलते ही भरतके हृदयमें प्रेमका समुद्र उमड़ पड़ा। वे अपने श्रद्धास्पदके अनन्य भक्तको पाकर भावावेशमें अपनेको भूल गये। उनके नेत्रोंसे प्रेमाश्रुओंकी झड़ी लग गयी। वास्तवमें प्रेमका तत्त्व सच्चे प्रेमी ही जान सकते हैं।

जिस वृक्षके नीचे श्रीरामने एक रात्रि निवास किया था, वहाँ जाकर उन्होंने सीताके वस्त्रके तारोंको पृथ्वीपर बिखरे देखा। वियोगसे व्यथितहृदय भरत रोने लगे। दुःखभरे स्वरमें उन्होंने कहा—'जिस सीताको सूर्य, चन्द्र, वायु आदि देवगण भी नहीं देख पाते थे उसने मेरे कारण इस शिंशपा वृक्षके नीचे कुशाकी साथरीपर रात्रि बितायी। मैं भी कैसा अभागा हूँ कि अपने पूज्योंके दुःखका इस प्रकार कारण बना।' भरतके इस प्रेम और श्रद्धाको देखकर केवटराज सकुचा गये। अपने मनमें भरतके प्रति सन्देह होनेके कारण उन्हें बड़ा पश्चात्ताप हुआ।

जब वहाँसे आगे बढ़े तो भरद्वाजके आश्रममें पहुँचे। मुनिराजने पूछा—'भरत! तुम वनमें किसलिये आये हो।' इस प्रश्नको सुनकर भरतजी रोने लगे और बोले—'महाराज! आपका पूछना ठीक ही है, मैं पामर सचमुच इसी योग्य हूँ।' भरद्वाजजी बोले—'मैं तपके बलसे तुम्हारे इधर आनेका कारण जानता हूँ। तुम रामको लौटाने जा रहे हो। हम लोग धन्य हैं जो आज तुम्हारे दर्शनका सौभाग्य प्राप्त कर रहे हैं। हमारे तपका, हमारी साधनाका फल था रामके दर्शन, और राम-दर्शनका फल है तुम्हारे दर्शन। भरत! तुम जिन रामके वियोगमें कृश हो रहे हो वे ही राम एक रात्रिके लिये यहाँ ठहरे थे। रातभर तुम्हारी प्रशंसाका गायन करके उन्होंने हमारे कानोंको पवित्र किया। सारा संसार तो रामके गुणोंका गान करता है और राम तुम्हारे ही गुणोंके गायनसे अपनेको आनन्दित मानते हैं।' भरद्वाजजीके मुखसे श्रीरामजीकी प्रेम-कथाएँ सुनकर भरतजीका हृदय गद्गद, शरीर रोमाञ्चित और वाणी कुण्ठित हो गयी।

रातभर आश्रममें रहकर वे प्रातःकाल आगे बढ़े। मार्गमें चलते समय उनकी दशा बड़ी विचित्र थी। वे भगवान्‌के दयालु स्वभावकी ओर देखते तब तो उनके पैर आगे बढ़ते, माताकी करनीकी याद आनेपर पैर पीछे पड़ते और अपनी ओर देखकर वहीं रुक जाते थे। इतनेमें ही उन्हें भगवान् रामके चरण-चिह्न दीख पड़े। बस, फिर क्या था—वे प्रेममें निमग्न हो गये। उस मुग्धताको देखकर गुहको भी शरीर और मार्ग आदिका कुछ भी ज्ञान न रहा। जड चेतन और चेतन जड हो गये। सर्वत्र एकमात्र प्रेमका ही साम्राज्य छा गया। अन्तमें भगवान् रामका आश्रम दीख पड़ा। भरतजी आगे बढ़े। अपने श्रद्धास्पदके चरणोंके दर्शन पाकर दण्डवत् भूमिपर गिर पड़े। लक्ष्मणजी आवाज पहचान कर बोले, 'महाराज! भरतजी प्रणाम कर रहे हैं।' भरतजीका शरीर भगवान्‌के वियोगमें इतना कृश हो गया था कि लक्ष्मणजी केवल उनकी आकृतिसे उन्हें पहचान न सके। महाराज श्रीरामचन्द्रजीने लक्ष्मणकी बात सुनते ही भरतको उठाकर छातीसे लगा लिया। दोनों एक दूसरेके प्रेमाश्रुओंसे भींग गये। आश्रम मानो करुणा और प्रेमका विचित्र रङ्गमञ्च बन गया।

अपने वियोगमें पिताकी मृत्युकी बात सुनकर प्रभु बड़े दुखी हुए। अन्तमें पिण्डोदक आदिकी सारी क्रियाके समाप्त हो चुकनेपर सब लोगोंने भगवान्‌से

वापस लौटनेकी प्रार्थना की। भरतजीने कहा—'स्त्रीके वशीभूत होकर पिताजीने आपको जो आज्ञा दी है वह पालनीय नहीं है।' भगवान् राम बोले—'नहीं, पिताजीने कामवश होकर यह आज्ञा नहीं दी है, प्रत्युत अपने प्राणोंका त्याग करके उन्होंने अपने प्रणका पालन किया है। पिताजी पूजनीय और राजा थे इसलिये उनकी आज्ञा प्रत्येक प्रकारसे पालनीय है।' इसपर भरतजीने नम्रतापूर्वक उत्तर दिया कि 'यदि यही बात है तो हम लोग भाई होनेके नाते प्रेमपूर्वक आपसमें बदला कर लें। पिताजीने जो कुछ आपको दिया है उसे आप मुझे दे दीजिये और जो मुझे दिया है उसे आप ले लीजिये।' भगवान् रामने कहा, 'नहीं, ऐसा नहीं हो सकता; क्योंकि इन वरदानोंकी याचना विशेषरूपसे की गयी है। उसमें मेरे वनवास और तुम्हारे राज्य-ग्रहणकी स्पष्ट आज्ञा है। इसलिये आपसमें बदला नहीं हो सकता।' वाल्मीकिरामायणमें आया है कि भरतजीने भगवान्से बहुत प्रार्थना की कि 'मुझे भी आप साथ ले चलिये' किन्तु उन्होंने साथ ले जाना भी स्वीकार नहीं किया। तब भरतजीने दृढ़तापूर्वक यह प्रतिज्ञा की कि 'यदि आप नहीं लौट चलेंगे तो मैं अपने प्राणोंका त्याग कर दूँगा।' वे दर्भका आसन बिछाकर वहीं जम गये। भगवान्ने बहुत समझाया कि ऐसा आग्रह न करो। अन्तमें वशिष्ठजीने प्रभुके संकेतके अनुसार भरतजीको समझा-बुझाकर इस बातपर राजी किया कि वे भगवान्की चरणपादुका प्राप्त करके उनकी आज्ञाके अनुसार किसी तरह अयोध्यामें चौदह वर्ष बितानेका यत्न करें। भरतने उनकी आज्ञाको शिरोधार्य किया और प्रभुकी चरणपादुका ग्रहण करके उनसे स्पष्ट कह दिया कि यदि चौदह वर्षकी अवधिके पूर्ण हो जानेपर पन्द्रहवें वर्षके पहले दिन आप अयोध्यामें न पहुँच पायेंगे तो मैं अग्निमें अपने शरीरको होम दूँगा।

भरतजीने नन्दिग्राममें आकर मुनिव्रतसे चौदह वर्ष भगवान्का नाम जपते-जपते बिताये। जब एक ही दिन शेष रह गया तब वे इस प्रकार विलाप करने लगे—

> रहेउ एक दिन अवधि अधारा। समुझत मन दुख भयउ अपारा॥
> कारन कवन नाथ नहिं आयउ। जानि कुटिल किधौं मोहिं बिसरायउ॥
> अहह धन्य लछिमन बड़भागी। राम पदारबिंदु अनुरागी॥
> कपटी कुटिल मोहि प्रभु चीन्हा। ताते नाथ संग नहिं लीन्हा॥
> जौं करनी समुझै प्रभु मोरी। नहिं निस्तार कलप सत कोरी॥
> बीतें अवधि रहहिं जौं प्राना। अधम कवन जग मोहि समाना॥

अन्तिम पदोंमें भरतके विरह और प्रेमका कितना मार्मिक वर्णन है। 'अधम कवन जग मोहि समाना' में दैन्यकी पराकाष्ठा हो गयी है। महाराजके दयालु स्वभावके आधारपर उन्हें इस बातका सन्देह नहीं कि भगवान् ठीक समयपर यहाँ नहीं पहुँच पायँगे किन्तु फिर भी वे मन-ही-मन इस प्रकार कल्पना कर रहे थे कि यदि भगवान् न आ पाये तो मेरे प्राण चले जायँगे और यदि नहीं गये एवं मुझे आत्महत्या करनी पड़ी तो मेरे समान संसारमें कोई पापी नहीं। मेरा वह प्रेम दम्भमात्र ही था, क्योंकि यदि उसमें वास्तविकता होती तो दशरथजीकी तरह क्या ये प्राण-पखेरू भी न उड़ जाते। इस प्रकार विलाप करते हुए भरतजीके नेत्रोंसे आँसुओंकी धारा बह रही थी। 'राम राम रघुपति जपत स्रवत नयन जल जात।' इतनेमें ही राम-विरहके अथाह समुद्रमें डूबते हुए श्रीभरतजीके पास श्रीहनुमान्जी नौका-रूपसे आ पहुँचे—

> राम बिरह सागर महँ भरत मगन मन होत।
> बिप्र रूप धरि पवनसुत आइ गयउ जनु पोत॥

श्रीरामके आगमनके शुभ सन्देशको पवनकुमारके मुखसे सुनकर भरतजीके हृदयमें जो उल्लास उत्पन्न हुआ

उसका वर्णन नहीं किया जा सकता । भरतजी इस सन्देशके उपकार-भारसे दब गये और अपने भावको उन्होंने कृतज्ञताभरे स्वरमें इस प्रकार प्रकट किया—

एहि संदेस सरिस जग माहीं ।
करि बिचार देखेउँ कछु नाहीं ॥
नाहिन तात उरिन मैं तोही ।
अब प्रभु चरित सुनावहु मोही ॥

प्रेमका कैसा ऊँचा आदर्श है । श्रीहनुमान्‌जी भरतजीके इस प्रेम और श्रद्धासे सने सुन्दर भावको देखकर मन-ही-मन कहने लगे कि जिनकी प्रशंसा स्वयं भगवान् करते थे, वे भरत ऐसे क्यों न हों ।

सन्देशके रूपमें भरतजीको प्राण-दान देकर हनुमान्‌जी भगवान् रामके पास लौटे । इधर अयोध्याका सारा जनसमूह भी प्रभुके दर्शनोंके लिये अधीर हो रहा था । विभीषण आदिके साथ प्रभु अयोध्यामें आ पहुँचे ।

अपने गुरु श्रीवशिष्ठजी और सभी ब्राह्मणोंके चरणोंमें मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्रजीने प्रणाम किया । तदनन्तर श्रीभरतजीने पृथ्वीपर गिरकर बड़े प्रेमसे प्रभुके चरण-कमल पकड़ लिये । तब कृपाके समुद्र भगवान् रामने उन्हें बलपूर्वक उठाकर अत्यन्त प्रेमपूर्वक हृदयसे लगा लिया । प्रभुके शरीरमें रोमाञ्च हो आया और प्रेमातिरेक-के कारण उनके नेत्रोंमें आँसुओंकी बाढ़ आ गयी ।

परे भूमि नहिं उठत उठाए ।
बर करि कृपासिंधु उर लाए ॥
स्यामल गात रोम भए ठाढ़े ।
नव राजीव नयन जल बाढ़े ॥
प्रभु मिलत अनुजहि सोह मो पहिं जाति नहिं उपमा कही ।
जनु प्रेम अरु सिंगार तनु धरि मिले बर सुषमा लही ॥

वास्तवमें भरतजी प्रेमके अवतार ही थे । श्रद्धाकी भी मानो वे मूर्ति ही थे । उनके प्राणोंकी रक्षा भी उनकी अटूट श्रद्धासे ही हुई । उन्हें स्वामीकी आज्ञाका पालन करना था । इसलिये विवश होकर भगवान्‌के वियोगमें उन्हें चौदह वर्षकी लंबी अवधि बितानी पड़ी । किन्तु अवधिके समाप्ति-कालमें उनकी कैसी विलक्षण दशा हुई—यह ऊपर बतलाया ही जा चुका है ।

उधर प्रेमके सच्चे मर्मज्ञ—श्रद्धाके एकमात्र आधार भगवान् राम भी भरतको देखनेके लिये अधीर हो उठे थे । रावणकी मृत्युके उपरान्त विभीषणने भगवान्‌से प्रार्थना की कि वे कुछ दिन और लंकामें विराजें । प्रभुने कहा—

तोर कोस गृह मोर सब सत्य बचन सुनु भ्रात ।
भरत दसा सुमिरत मोहि निमिष कल्प सम जात ॥

भरतकी दशाका स्मरण करके भगवान्‌का एक-एक निमिष कल्पके समान बीतना स्वाभाविक ही है । क्योंकि 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' के अनुसार जब भरत उनके विरहके सन्तापको नहीं सह सकते तो भगवान्‌को भी उनसे मिले विना चैन कैसे मिल सकता है ? उन्होंने अपने ही श्रीमुखसे भरतकी दशाका फिर इस प्रकार वर्णन किया—

बीतें अवधि जाउँ जौं जिअत न पावउँ बीर ।
सुमिरत अनुज प्रीति प्रभु पुनि पुनि पुलक सरीर ॥

'जिअत न पावउँ बीर' में भरतके प्रेमकी पराकाष्ठा हो जाती है । हमें भी श्रीभरतजीकी तरह भगवान्‌के अनन्य प्रेमी और परम श्रद्धालु बननेका प्रयत्न करना चाहिये ।

भगवान्पर विश्वास करके आगे बढ़ो

(लेखक—श्रीलॉवेल फिल्मोर)

याद रक्खो, विश्वास प्रतिकूल परिस्थितियोंके संकरीले और कँटीले पथमें निर्द्वन्द्व चलता है; प्रतिकूलता उसे स्पर्श नहीं कर सकती, हिला नहीं सकती। चारों ओरसे जब विरोधका बवंडर चल रहा हो, सब कुछ प्रतिकूल-ही-प्रतिकूल दीख रहा हो तो भी सच्चा विश्वास क्षीण नहीं होता, घटता नहीं। एक बार जब तुमने डंकेकी चोट इस सनातन सत्यकी घोषणा कर दी कि एकमात्र प्रभु ही हमारे भर्ता, निवास, शरण और सुहृद् हैं तब फिर 'यह न हुआ और वह न हुआ' की व्यर्थ परेशानीमें क्यों पड़ते हो? इसका मतलब क्या यह न समझ लिया जाय कि तुम भगवान्की अपेक्षा पदार्थोंको अधिक महत्त्व देते हो? क्या इसका अर्थ यह न हुआ कि तुम सनातन सत्यसे विमुख होकर विषयोंके सामने मस्तक टेक रहे हो?

भगवद्विश्वासके द्वारा प्रतिकूल परिस्थितियोंको काबूमें लाया जा सकता है, उन्हें जीता जा सकता है परन्तु किसी पदार्थविशेष अथवा प्रणालीविशेषके पीछे पागल होनेकी क्या आवश्यकता? तुमने यह कैसे मान लिया कि अमुक पदार्थ अमुक ढंगसे प्राप्त हो जाय तभी तुम्हारी प्रतिकूल परिस्थिति टल जायगी? क्या ऐसा मानना सरासर धोखा नहीं है, आत्मवञ्चना नहीं है? क्या तुम्हारी आवश्यकताओंका ज्ञान प्रभुकी अपेक्षा तुम्हें ही अधिक है? तुम्हारी इस मनोवृत्तिका तो स्पष्ट अर्थ यह है कि तुम भागवती शक्तिपर निर्भर नहीं हो, वरं तुम्हें अपने बुद्धि-कौशल और शरीर-बलपर अधिक विश्वास है, तुम इन्हींका आधार लिये हुए हो।

पहले तुम अपनी आवश्यकताओंको ठीक-ठीक समझ तो लो; यह जान तो लो कि सनातन सत्यकी दृष्टिसे इनकी क्या सत्ता है? यह जान लेनेके बाद तुम यह सोच सकते हो कि तुम्हारी अमुक आवश्यकताकी पूर्ति अमुक ढंगसे होनी चाहिये। उदाहरणके लिये,—मान लो कि तुम्हें सुखकी, आनन्दकी आवश्यकता है। अब यह सुख कैसे प्राप्त होगा—सैर-सपाटेसे, अमुक मित्रके मिल जानेसे, अमुक स्त्रीसे शादी हो जानेसे, इतना धन मिल जानेसे, वह कोठी अपनी हो जानेसे, अपने घर मोटर और फिटन हो जानेसे—आदि-आदि चिन्ताओंका जाल बुनने लगते हो। एक क्षणके लिये भी ठहरकर तुम भगवान्की इच्छाकी ओर दृष्टि नहीं डालते। अपने सुखको तुमने पदार्थविशेषकी प्राप्तिमें मान रक्खा है? ऐसा तो मत करो; अपने सुखको किसी चीजमें सीमित न कर लो; क्योंकि सम्भव है कि भगवान्ने तुम्हारे लिये अधिक अच्छी चीज चुन रक्खी हो।

यह निश्चय मानो कि समस्त सुखोंका मूल स्रोत एकमात्र भगवान् हैं; यह सुख भगवान् चाहे जिस प्रकार तुम्हारे पास पहुँचावें, उसे आनेके लिये रास्ता दो। सारा आनन्द, समस्त सुख एकमात्र प्रभुसे आता है। प्रभुके चरणोंमें ही आनन्दका उत्स है, वहीं आनन्द झरता रहता है। इस बातको कभी भूलो मत; यह त्रिकाल सत्य है।

समस्त सुखोंका एकमात्र आगार परमात्मा है—यह जानकर जब तुम सुखोंके आनेके लिये अपना द्वार खोल दोगे तब तुम देखोगे कि शत-शत, सहस्र-सहस्र धाराओंमें आनन्द तुम्हारी ओर उमड़ा चला आ रहा है—जिसकी तुम्हें कल्पना भी न थी। भगवान्के हाथमें अपना हाथ देकर यदि तुम उनके मार्गमें दृढ़तापूर्वक, निष्ठापूर्वक चलते चलो, उनके अक्षय आनन्द-सिन्धुमें डुबकियाँ लगाते चलो, किसी पदार्थविशेष का

परिस्थितिविशेषमें अपने जीको न अटकाओ, आसपासके लुभावने दृश्यों और ललचीले पदार्थोंपर लोभभरी दृष्टि न डालो तो सच मानो तुम्हारा आनन्द तुम्हें असंख्य मार्गोंसे प्राप्त होता रहेगा। आसपासका ललचीला बाजार तो तुम्हारे मनकी रचना है जो सदा तुम्हें लक्ष्यभ्रष्ट करनेपर लगा हुआ है।

एक बार जब तुमने अपना लक्ष्य स्थिर कर लिया तो फिर चाहे जो कुछ हो जाय उससे विमुख मत हो, डिगो मत। अपने लक्ष्यकी ओर दृढ़ निष्ठा एवं अपूर्व लगनके साथ बढ़ते चलो, बढ़ते चलो। कदापि, एक क्षणके लिये भी सन्देहमें मत पड़ो, व्यर्थ चिन्ता मत करो, डरो मत, बेमतलब परेशान मत हो, असफलताके भयसे काँपो मत। यह तुम्हारा भय व्यर्थ है, अनावश्यक है। विश्वास करो, भगवान् इस पथमें तुम्हारे सहायक हैं, वे ही तुम्हारे साथ-साथ चल रहे हैं। फिर उन्हें अपने हृदयका पूरा योग क्यों न प्रदान करो? प्रीतिपूर्वक आनन्दसहित क्यों न इस मार्गमें चलते चलो? भगवान् तुम्हें पुकार रहे हैं। उनकी वाणीका अनुसरण करो, उनको सामने देखते हुए बढ़े चलो। वही भगवान् ही हमारे-तुम्हारे सबके लक्ष्य हैं, सबकी वही 'गति' हैं।

मेरे कहनेका यह अभिप्राय कदापि नहीं कि संसारकी सारी बातोंसे तुम अपनेको पृथक् कर लो। परन्तु तुम्हें इतना जान लेना चाहिये कि संसारकी सारी वस्तुओंका आधार एकमात्र भगवान् है। तुम्हें सदा सावधान रहना चाहिये कि तुम संसारमें रहते हुए भी संसारके नहीं हो, जब तुम यह जान जाओगे कि समस्त सृष्टिका मूलाधार एकमात्र भगवान् है तब तुम्हें अपनी प्रत्येक क्रियामें एक अपूर्व अलौकिक रस आने लगेगा क्योंकि तब तुम्हें किसी प्रकारका भय, सन्देह, घृणा, लोभ, अशान्ति आदि आसुरी वृत्तियाँ सता न पायेंगी।

इसलिये याद रक्खो—वस्तुतः तुम प्रभुके अमृत पुत्र हो; तुम्हारे भीतर भगवान्‌की जो शक्ति है उसके द्वारा सुख और सफलताके समस्त साधनोंपर तुम्हारा एकतन्त्र अधिकार है। भगवान्‌के इस वरदानको ग्रहण करनेके लिये दृढ़ निष्ठाके साथ तुम अपने लक्ष्यकी ओर बढ़ो! ('युनिटी' से)

स्वप्न

किसी महात्माने स्वप्नमें एक बहुत सुन्दर महापुरुषको देखकर उससे पूछा—

'तुम कौन हो?'

'मैं अनन्य विश्वास हूँ।'

'कहाँ रहते हो?'

'सच्चे प्रभुभक्तोंके हृदयमें।'

'क्या करते हो?'

'शोक, भय, दुःख, चिन्ता और पाप आदि संकट देनेवाले वैरियोंको दूरसे ही मार भगाता हूँ।'

फिर महात्माको एक काली कलूटी भयानक राक्षसी दिखायी दी, उससे भी पूछा—

'तुम कौन हो?'

'मैं विषय-वासना हूँ।'

'कहाँ रहती हो?'

'भोग और आराम चाहनेवाले मनुष्योंके हृदयमें।'

'क्या करती हो?'

'जीवको संकट देनेवाले पाप-तापादिकी रक्षा करती हूँ और नये-नये पाप, शोक, भय, दुःख और चिन्ताओंको बुलाया करती हूँ।'

व्रत-परिचय

(लेखक—पं० श्रीहनूमानजी शर्मा)

[पृष्ठ १४०७ से आगे]

(२)

(वैशाखके व्रत)

कृष्णपक्ष

(१) **वैशाखस्नान**—चैत्र शुक्ल पूर्णिमासे वैशाख शुक्ल पूर्णिमातक प्रतिदिन प्रातःकाल सूर्योदयसे पूर्व किसी तीर्थ-स्थान या कुआँ, बावड़ी, सरोवर अथवा अपने घरपर ही शुद्ध जलसे स्नान करे और नित्यकृत्यके अतिरिक्त 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' या 'हरे राम हरे राम०' मन्त्रका यथाशक्ति जप करके एक बार भोजन करे। इकतीस दिनतक ऐसा क्रम रखनेसे अनेक प्रकारके रोग और दोष दूर होते हैं और प्रभाव तथा पुण्य बढ़ता है।

(२) **सङ्कष्टचतुर्थी**—यह व्रत प्रत्येक महीनेकी कृष्ण चतुर्थीको किया जाता है। इसमें चन्द्रोदयतक रहनेवाली चतुर्थी ग्रहण की जाती है। यदि दो दिन ऐसी चतुर्थी हो तो 'मातृविद्धा प्रशस्यते'के अनुसार तृतीयासे युक्त व्रत करना चाहिये। उस दिन सायङ्कालके समय स्नान करके गणेशजीका पूजन करे और चन्द्रोदय होनेपर उसे अर्घ्य दे।

(३) **चण्डिकानवमी**—यह व्रत वैशाखके दोनों पक्षोंमें नवमीको किया जाता है। उस दिन प्रातःस्नानके पश्चात् लाल धोती पहनकर सुगन्धयुक्त पुष्पादिसे चण्डिका देवीका पूजन करे और पुष्पाञ्जलि अर्पण कर उपवास रक्खे। इस व्रतका सविधि अनुष्ठान करनेवाला मनुष्य हंस, कुन्द और चन्द्रमाके समान गौरवर्ण एवं ध्रुवके समान तेजस्वी दिव्य स्वरूप धारणकर उत्तम विमानपर आरूढ हो देवलोकमें आदर पाता है।*

(४) **कृष्णैकादशी**—वैशाख कृष्णकी एकादशीका नाम वरूथिनी है। इसका व्रत करनेसे सब प्रकारके पाप-ताप दूर होते हैं, अनन्त शान्ति मिलती है और स्वर्गादि उत्तम लोक प्राप्त होते हैं। व्रतीको चाहिये कि वह दशमीको हविष्यान्नका एक बार भोजन करे। कांस्यपात्र[1], मांस और मसूरादि ग्रहण न करे। फिर एकादशीको उपवास करे, उस दिन जूआ[2] और निद्रा आदिका त्याग रखे। रात्रिमें भगवन्नाम-स्मरणपूर्वक जागरण करे और द्वादशीको मां[3]-कांस्यादिका परित्याग करके यथाविहित पारणा करे। (वास्तवमें द्यूतक्रीडा आदिका तथा मांस आदिका सदा ही त्याग करना चाहिये।)

(५) **प्रदोषव्रत**—यह सुप्रसिद्ध व्रत है। प्रत्येक मासकी कृष्ण-शुक्ल त्रयोदशीको किया जाता है। इसका विशेष विवरण वैशाख शुक्लमें देखिये। व्रतीको चाहिये कि वह व्रतके दिन सूर्यास्तके समय पुनःस्नान करके शिवजीके समीप बैठकर उनका भक्तिसहित पूजन करे और सूर्यास्तसे दो या तीन घड़ी रात्रि व्यतीत होनेसे पहले ही भोजन करके शिवका स्मरण करे।

(६) **अमाव्रत**—अमावास्या पर्वतिथि है। इसमें दान, पुण्य, जप, तप और व्रत करनेसे बहुत फल होता है। विशेषरूपसे इस तिथिको श्राद्ध करनेसे पितृगण प्रसन्न होते हैं।

शुक्लपक्ष

(१) **अक्षयतृतीया**—वैशाख शुक्ल तृतीयाको अक्षय-तृतीया कहते हैं। यह सनातनधर्मियोंका प्रधान त्यौहार है। इस दिन दिये हुए दान और किये हुए स्नान, होम, जप आदि सभी कर्मोंका फल अनन्त[4] होता है—सभी अक्षय हो जाते हैं; इसीसे इसका नाम अक्षया[5] हुआ है। इसी तिथिको नर-नारायण, परशुराम और हयग्रीव-अवतार हुए थे; इसलिये इस दिन उनकी जयन्ती मनायी जाती है तथा इसी दिन त्रेतायुग भी आरम्भ हुआ था। अतएव इसे मध्याह्नव्यापिनी ग्रहण करना चाहिये। परन्तु परशुरामजी प्रदोषकालमें प्रकट हुए थे; इसलिये यदि द्वितीयाको मध्याह्नसे पहले तृतीया आ जाय तो उस दिन अक्षयतृतीया, नर-नारायण-जयन्ती, परशुराम-जयन्ती और हयग्रीव-जयन्ती सब सम्पन्न की जा सकती हैं और

---

* हंसकुन्देन्दुसङ्काशस्तेजसा ध्रुवसन्निभः।
विमानवरमारूढो देवलोके महीयते॥
(निर्णयामृते भविष्योत्तरे)

१. कांस्यं मांसं मसूरान्नं चणकं कोद्रवांस्तथा।
शाकं मधु परान्नं च पुनर्भोजनमैथुने।
वैष्णवो व्रतकर्ता च दशम्यां दश वर्जयेत्॥

२. द्यूतक्रीडां च निद्रां च ताम्बूलं दन्तधावनम्।
परापवादपैशुन्यं स्तेयं हिंसां तथा रतिम्।
क्रोधं चानृतवाक्यं च एकादश्यां विवर्जयेत्॥

३. मांसादिकं च पूर्वोक्तं द्वादश्यामपि वर्जयेत्।
(भविष्योत्तरपुराणे)

४. स्नात्वा हुत्वा च दत्त्वा च जप्त्वानन्तफलं लभेत्।
(भारते)

५. यत्किञ्चिद्दीयते दानं स्वल्पं वा यदि वा बहु।
तत्सर्वमक्षयं यस्मात्तेनेयमक्षया स्मृता॥ (भविष्ये)

यदि द्वितीया अधिक हो तो परशुराम-जयन्ती दूसरे दिन होती है। यदि इस दिन गौरी-व्रत भी हो तो 'गौरी विनायकोपेता' के अनुसार गौरीपुत्र गणेशकी तिथि चतुर्थीका सहयोग अधिक शुभ होता है। अक्षयतृतीया बड़ी पवित्र और महान् फल देनेवाली तिथि है। इसलिये इस दिन सफलताकी आशासे व्रतोत्सवादिके अतिरिक्त वस्त्र, शस्त्र और आभूषणादि बनवाये अथवा धारण किये जाते हैं तथा नवीन स्थान, संस्था एवं समाज आदिका स्थापन या उद्घाटन भी किया जाता है। ज्योतिषी लोग आगामी वर्षकी तेजी-मंदी जाननेके लिये इस दिन सब प्रकारके अन्न, वस्त्र आदि व्यावहारिक वस्तुओं और व्यक्तिविशेषोंके नामोंको तौलकर एक सुपूजित स्थानमें रखते हैं और दूसरे दिन फिर तौलकर उनकी न्यूनाधिकतासे भविष्यका शुभाशुभ मालूम करते हैं। अक्षयतृतीयामें तृतीया तिथि, सोमवार और रोहिणी नक्षत्र ये तीनों हों, तो बहुत श्रेष्ठ माना जाता है। किसानलोग उस दिन चन्द्रमाके अस्त होते समय रोहिणीका आगे जाना अच्छा और पीछे रह जाना बुरा मानते हैं।

अक्षयतृतीयाव्रत—इस दिन उपर्युक्त तीनों जयन्तियाँ एकत्र होनेसे व्रतीको चाहिये कि वह प्रातःस्नानादिसे निवृत्त होकर 'ममाखिलपापक्षयपूर्वकसकलशुभफलप्राप्तये भगवत्प्रीतिकामनया देवत्रयपूजनमहं करिष्ये' ऐसा सङ्कल्प करके भगवान्‌का यथाविधि षोडशोपचारसे पूजन करे। उन्हें पञ्चामृतसे स्नान करावे, सुगन्धित पुष्पमाला पहनावे और नैवेद्यमें नर-नारायणके निमित्त सेके हुए जौ या गेहूँका 'सत्तू', परशुरामके निमित्त कोमल ककड़ी और हयग्रीवके निमित्त भीगी हुई चनेकी दाल अर्पण करे। बन सके तो उपवास तथा समुद्रस्नान या गङ्गास्नान करे और जौ[3], गेहूँ, चने, सत्तू, दही-चावल, ईखके रस और दूधके बने हुए खाद्य पदार्थ (खाँड़, मावा, मिठाई आदि) तथा सुवर्ण एवं जलपूर्ण कलश, धर्मघट, अन्न[4], सब प्रकारके रस और ग्रीष्म ऋतुके उपयोगी वस्तुओंका दान करे तथा पितृश्राद्ध करे और ब्राह्मणभोजन भी करावे। यह सब यथाशक्ति करनेसे अनन्त फल होता है।

परशुराम-जयन्ती—परशुरामजीका जन्म वैशाख शुक्ल तृतीयाको रात्रिके प्रथम प्रहरमें हुआ था, अतः यह प्रदोषव्यापिनी ग्राह्य होती है। यदि दो दिन प्रदोषव्यापिनी हो, तो दूसरा व्रत करना चाहिये। व्रतके दिन प्रातःस्नानके अनन्तर 'मम ब्रह्मत्वप्राप्तिकामनया परशुरामपूजनमहं करिष्ये' यह सङ्कल्प करके सूर्यास्ततक मौन रक्खे और सायंकालमें पुनः स्नान करके परशुरामजीका पूजन करे तथा 'जमदग्निसुतो वीर क्षत्रियान्तकर प्रभो। गृहाणार्घ्यं मया दत्तं कृपया परमेश्वर ॥' इस मन्त्रसे अर्घ्य देकर रात्रिभर राममन्त्रका जप करे॥

गौरीपूजा—यह भी वैशाख शुक्ल तृतीयाको ही की जाती है। इस दिन पार्वतीका प्रीतिपूर्वक पूजन करके धातु या मिट्टीके कलशमें जल, फल, पुष्प, गन्ध, तिल और अन्न भरकर 'एष धर्मघटो दत्तो ब्रह्मविष्णुशिवात्मकः। अस्य प्रदानात्सकला मम सन्तु मनोरथाः॥' यह उच्चारण करके उसे दान करे।

(२) पुत्र-प्राप्तिव्रत (विष्णुधर्मोत्तर)—यह व्रत वैशाख शुक्ल पञ्चमीसे प्रारम्भ होकर वर्षभरमें पूर्ण होता है। आरम्भमें पञ्चमीको उपवास करके षष्ठीको स्कन्द-कुमार-विशाख और गुहका पूजन करे और इस प्रकार प्रत्येक शुक्ल पञ्चमी और षष्ठीको वर्षपर्यन्त करता रहे तो पुत्रार्थीको पुत्र, धनार्थीको धन और स्वर्गार्थीको स्वर्ग प्राप्त होता है। यह शिवजीका बतलाया हुआ व्रत है।

(३) निम्बसप्तमी (भविष्योत्तर)—वैशाख शुक्ल सप्तमीको स्नानादि नित्यकर्म करके अक्रोध और जितेन्द्रिय रहकर नीमके पत्ते ग्रहण करे और 'निम्बपल्लव भद्रं ते सुभद्रं तेऽस्तु वै सदा। ममापि कुरु भद्रं वै प्राशनाद् रोगहा भव॥' इस मन्त्रसे एक-एक पत्ता खाकर पृथ्वीपर शयन करे तथा अष्टमीको सूर्यनारायणका पूजन करके ब्राह्मणोंको भोजन करावे। उसके बाद स्वयं भोजन करे।

(४) कमलसप्तमी (पद्मपुराण)—इस व्रतके लिये सुवर्णका कमल और सूर्यकी मूर्ति बनवाकर वैशाख शुक्ल सप्तमीको वेदीपर कमल और कमलपर सूर्यकी मूर्ति स्थापित करे और उनका यथाविधि पूजन करके 'नमस्ते पद्महस्ताय

---

१. यः पश्यति तृतीयायां कृष्णं चन्दनभूषितम्।
वैशाखस्य सिते पक्षे स यात्यच्युतमन्दिरम्॥
(विष्णुधर्मोत्तरे)

२. युगादौ तु नरः स्नात्वा विधिवल्लवणोदधौ।
गोसहस्रप्रदानस्य फलं प्राप्नोति मानवः॥
(पृथ्वीचन्द्रोदये सौरपुराणे)

३. यवगोधूमचणकान् सक्तु दध्योदनं तथा।
इक्षुक्षीरविकारांश्च हिरण्यं च स्वशक्तितः॥
उदकुम्भान् सकरकान् सान्नान् सर्वरसैः सह।
ग्रैष्मिकं सर्वमेवात्र सस्यं दाने प्रशस्यते॥ (भविष्योत्तरे)

४. गन्धोदकतिलैर्मिश्रं सान्नं कुम्भं फलान्वितम्।
पितृभ्यः सम्प्रदास्यामि अक्षय्यमुपतिष्ठतु॥ (वि० ध०)

नमस्ते विश्वधारिणे । दिवाकर नमस्तुभ्यं प्रभाकर नमोऽस्तु ते ॥' इस श्लोकसे प्रार्थना करके सूर्यास्तके समय एक जलका घड़ा, एक गौ और उक्त कमलादि ब्राह्मणोंको दान करे और दूसरे दिन उनको भोजन कराकर स्वयं भोजन करे। इस प्रकार प्रत्येक शुक्ल सप्तमीको एक वर्ष करे तो सब प्रकारका सुख प्राप्त होता है।

(५) **शर्करासप्तमी** (पद्मपुराण)–यह भी वैशाख शुक्ल सप्तमीको ही होता है। इसके लिये उक्त सप्तमीको सफेद तिलोंके जलसे स्नान करके सफेद वस्त्र धारण करे। एक वेदीपर कुंकुमसे अष्टदल लिखकर 'ॐ नमः सवित्रे' इस मन्त्रसे उसका पूजन करे। फिर उसपर खाँड़से भरा हुआ और सफेद वस्त्रसे ढँका हुआ सुवर्णयुक्त कोरा कलश स्थापित करके 'विश्वदेवमयो यस्माद्वेदवादीति पठ्यसे । त्वमेवामृत-सर्वस्वमतः पाहि सनातन ॥' (पद्मपुराण)—इस मन्त्रसे यथाविधि पूजन करे और दूसरे दिन ब्राह्मणोंको घृत और शर्करामिश्रित खीरका भोजन कराकर वह घड़ा दान करे। इससे आयु, आरोग्य और ऐश्वर्यकी वृद्धि होती है।

(६) **वैशाखी अष्टमी** (निर्णयामृत)–इसके निमित्त वैशाख शुक्ल अष्टमीको आमके रससे स्नान करके अपराजिता देवीको उसीर और जटामासीके जलसे स्नान करावे। फिर पञ्चगन्ध[1] (जायफल, पूगफल, कपूर, कंकोल और लौंग) का लेपन करे और गन्ध-पुष्पादिसे पूजन करके घी, शक्कर तथा खीरका भोग लगावे। स्वयं उपवास करे और दूसरे दिन नवमीको ब्राह्मणभोजन कराकर भोजन करे, तो समस्त तीर्थोंमें स्नान करनेके समान फल होता है।

(७) **वैशाख शुक्ल एकादशी** (कूर्मपुराण)–इस व्रतके नियम-विधान और निर्णय कृष्ण एकादशीकी भाँति हैं। इसका नाम मोहिनी है। इससे मोहजाल और पापसमूह दूर होते हैं। भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने इस व्रतको सीताजीकी खोज करते समय किया था। उनके पीछे कौण्डिन्यके कहनेसे धृष्टबुद्धिने और श्रीकृष्णके कहनेसे युधिष्ठिरादिने किया। इस समय भी सनातनधर्मावलम्बी इस व्रतको बड़ी श्रद्धासे करते हैं। इसकी एक कथा है, उससे ज्ञात होता है कि मनुष्यका किस प्रकार कुसङ्गसे पतन और सुसङ्गसे सुधार हो जाता है। प्राचीन कालमें सरस्वतीके तटवर्ती भद्रावती नगरीमें द्युतिमान् राजाके १ सुमन, २ सुद्युम्न, ३ मेधावी, ४ कृष्णाती और ५ धृष्टबुद्धि—ये पाँच पुत्र हुए थे। इनमें धृष्टबुद्धिका वेश्या आदिके कुसङ्गसे पतन हो गया और वह धन-धान्य-सम्मान तथा गृह आदिसे हीन होकर हिंसावृत्तिमें लग गया। इस दुर्गतिसे उसने अनेक अनर्थ किये। अन्तमें कौण्डिन्यने बतलाया कि तुम मोहिनी एकादशीका व्रत करो, उससे तुम्हारा उद्धार होगा। यह सुनकर उसने वैसा ही किया और इस व्रतके प्रभावसे पूर्ववत् सुखपूर्वक जीवन व्यतीत कर अन्तमें स्वर्गमें गया।

(८) **मधुसूदनपूजा** (महाभारत-दानधर्म)–वैशाख शुक्ल द्वादशीको भगवान् मधुसूदनका पूजन करके व्रत करे तो उससे 'अग्निष्टोम' के समान फल होता है।* यदि इस दिन बृहस्पति और मङ्गल सिंहराशिके और सूर्य मेषका हो तथा हस्त-नक्षत्र और व्यतीपात हो तो इस सुयोगमें अन्न, वस्त्र, सुवर्ण, गौ और पृथ्वीका दान देनेसे सब प्रकारके पाप दूर होकर देवत्व, इन्द्रत्व, नृपतित्व और आरोग्य प्राप्त होता है।†

(९) **कामदेवव्रत** (मदनरत्न-विष्णुधर्मोत्तर)–कामदेवकी सुवर्णमयी मूर्त्ति बनवाकर वैशाख शुक्ल त्रयोदशीको उसका पूजन करके उपवास करे और दूसरे दिन ब्राह्मणभोजन कराकर पूजा-सामग्रीसहित मूर्तिका दान करके भोजन करे। इस प्रकार वर्षभर प्रत्येक शुक्लपक्षकी त्रयोदशीको करनेसे सब प्रकारके रोगादिकी निवृत्ति और आरोग्यादिकी प्रवृत्ति होती है।

(१०) **पुत्रादिप्रद प्रदोषव्रत** (मदनरत्न-निर्णयामृत)–यद्यपि प्रदोषव्रत प्रत्येक त्रयोदशीको होता है और इसके नियम आदि ऊपर दिये जा चुके हैं, तथापि कामना-भेदसे इसमें यह विशेषता है कि (१) यदि पुत्रप्राप्तिकी

---

[1] कङ्कोलपूगकर्पूरं जातीफललवङ्गके ।
सुगन्धपञ्चकं प्रोक्तमायुर्वेदप्रकाशके ॥
(देवीपुराणे)

* वैशाखमासि द्वादश्यां पूजयेन्मधुसूदनम् ।
अग्निष्टोममवाप्नोति सोमलोकं च गच्छति ॥
(महाभारते दानधर्मे)

† पञ्चाननस्थौ गुरुभूमिपुत्रौ
मेषे रविः स्याद्यदि शुक्लपक्षे ।
पाशाभिधाना करमेण युक्ता
तिथिर्व्यतीपात इतीह योगः ॥
अस्मिंस्तु गोभूमिहिरण्यवस्त्र-
दानेन सर्वं परिहाय पापम् ।
सुरत्वमिन्द्रत्वमनामयत्वं
मर्त्याधिपत्यं लभते मनुष्यः ॥ (हेमाद्रौ)

१. यदा त्रयोदशी शुक्ला मन्दवारेण संयुता ।
आरब्धव्यं व्रतं तत्र सन्तानफलसिद्धये ॥
ऋणप्रमोचनार्थं तु भौमवारेण संयुता ।
सौभाग्यस्त्रीसमृद्ध्यर्थं शुक्रवारेण संयुता ॥

की कामना हो तो शुक्लपक्षकी जिस त्रयोदशीको शनिवार हो, उससे आरम्भ करके वर्षपर्यन्त या फल प्राप्त होनेतक व्रत करे। (२) ऋण-मोचनकी कामना हो तो जिस त्रयोदशीको भौमवार हो उससे आरम्भ करे। (३) सौभाग्य और स्त्रीकी समृद्धिकी कामना हो तो जिस त्रयोदशीको शुक्रवार हो, उससे आरम्भ करे। (४) अभीष्टसिद्धिकी कामना हो तो जिस त्रयोदशीको सोमवार हो, उससे आरम्भ करे। और यदि (५) आयु, आरोग्यादिकी कामना हो तो जिस त्रयोदशीको रविवार हो, उससे आरम्भ करके प्रत्येक शुक्ल-कृष्ण त्रयोदशीको एक वर्षतक करे। व्रतके दिन प्रातःस्नानादि करके 'मम पुत्रादिप्राप्तिकामनया प्रदोषव्रतमहं करिष्ये।' यह सङ्कल्प करके सूर्यास्तके समय पुनः स्नान करे और शिवजीके समीप बैठकर वेदपाठी ब्राह्मणके आज्ञानुसार 'भवाय भवनाशाय' इस मन्त्रसे प्रार्थना करके षोडशोपचारसे पूजन करे। नैवेद्यमें सेके हुए जौका सत्तू, घी और शक्करका भोग लगावे। इसके बाद वहीं आठों दिशाओंमें आठ दीपक रखकर प्रत्येकके स्थापनमें आठ बार नमस्कार करे। इसके बाद 'धर्मस्त्वं वृषरूपेण' से वृष (नन्दीश्वर) को जल और दूर्वा खिला-पिलाकर उसका पूजन करे और उसको स्पर्श करके 'ऋणरोगादि०' इस पूरे मन्त्रसे शिव, पार्वती और नन्दिकेश्वरकी प्रार्थना करे। यह व्रत विशेषकर स्त्रियोंके करनेका है और वृषके पुच्छ और शृङ्ग आदिके स्पर्श करनेसे अभीष्टसिद्धि होती है।

(११) नृसिंह-जयन्तीव्रत (वराह और नृसिंहपुराण)—

यह व्रत वैशाख शुक्ल चतुर्दशीको किया जाता है। इसमें प्रदोषव्यापिनी चतुर्दशी लेनी चाहिये। यदि दो दिन ऐसी चतुर्दशी हो अथवा दोनों ही दिन न हो तो भी (मदनतिथि) त्रयोदशीका संसर्ग बचानेके विचारसे दूसरे दिन ही उपवास करना चाहिये। यह अवश्य स्मरण रहे कि दैवयोग अथवा सौभाग्यवश किसी दिन पूर्वविद्धामें शनि, स्वाति, सिद्धि और वणिज्का सहयोग हो तो उसी दिन व्रत करना चाहिये। व्रतके दिन प्रातःकालमें सूर्यादिको व्रत करनेकी भावना निवेदन करके ताँबेके पात्रमें जल ले और 'नृसिंह देवदेवेश तव जन्मदिने शुभे। उपवासं करिष्यामि सर्वभोगविवर्जितः॥' इस मन्त्रसे सङ्कल्प करके मध्याह्नके समय नदी आदिपर जाकर क्रमशः तिल, गोमय, मृत्तिका और आँवले मलकर पृथक्-पृथक् चार बार स्नान करे। इसके बाद शुद्ध स्नान करके वहीं नित्य-कृत्य करे। फिर घर आकर क्रोध, लोभ, मोह, मिथ्याभाषण, कुसङ्ग और पापाचार आदिका सर्वथा त्याग करके ब्रह्मचर्य-सहित उपवास करे। सायङ्कालमें एक वेदीपर अष्टदल बनाकर उसपर सिंह, नृसिंह और लक्ष्मीकी सोनेकी मूर्ति स्थापित करके वेदमन्त्रोंसे प्राणप्रतिष्ठापूर्वक उनका षोडशोपचारसे (अथवा पौराणिक[५] मन्त्रोंसे पञ्चोपचारसे) पूजन करे। रात्रिमें गायन-वादन, पुराणश्रवण या हरिसङ्कीर्तनसे जागरण

आयुरारोग्यसिद्ध्यर्थं भानुवारेण संयुता।
(मदनरत्न-निर्णयामृतान्तर्गतस्कन्दपुराणे वचनानि।)

१. भवाय भवनाशाय महादेवाय धीमते।
रुद्राय नीलकण्ठाय शर्वाय शशिमौलिने॥
उग्रायोग्राघनाशाय भीमाय भयहारिणे।
ईशानाय नमस्तुभ्यं पशूनां पतये नमः॥

२. धर्मस्त्वं वृषरूपेण जगदानन्दकारक।
अष्टमूर्तेरधिष्ठानमतः पाहि सनातन॥

३. ऋणरोगादिदारिद्र्यपापक्षुदपमृत्यवः।
भयशोकमनस्तापा नश्यन्तु मम सर्वदा॥
पृथिव्यां यानि तीर्थानि सागरान्तानि यानि च।
अण्डमाश्रित्य तिष्ठन्ति प्रदोषे गोवृषस्य तु॥
स्पृष्ट्वा तु वृषणौ तस्य शृङ्गमध्ये विलोक्य च।
पुच्छं च ककुदं चैव सर्वपापैः प्रमुच्यते॥
(मदनरत्न-निर्णयामृतान्तर्गतस्कन्दपुराणवचनानि)

४. स्वातीनक्षत्रसंयोगे शनिवारे महद्व्रतम्।
सिद्धियोगस्य संयोगे वणिजे करणे तथा॥
पुंसां सौभाग्ययोगेन लभ्यते दैवयोगतः।
सर्वैरेतैस्तु संयुक्तं हत्याकोटिविनाशनम्॥ (नृसिंहपुराणे)

५. चन्दनं शीतलं दिव्यं चन्द्रकुङ्कुममिश्रितम्।
ददामि तव तुष्ट्यर्थं नृसिंह परमेश्वर॥ (इति गन्धम्)
कालोद्भवानि पुष्पाणि तुलस्यादीनि वै प्रभो।
पूजयामि नृसिंह त्वां लक्ष्म्या सह नमोऽस्तु ते॥ (इति पुष्पम्)
कालागरुमयं धूपं सर्वदेवसुवल्लभम्।
करोमि ते महाविष्णो सर्वकामसमृद्धये॥ (इति धूपम्)
दीपः पापहरः प्रोक्तस्तमोराशिविनाशनः।
दीपेन लभ्यते तेजस्तस्माद्दीपं ददामि ते॥ (इति दीपम्)
नैवेद्यं सौख्यदं चारुभक्ष्यभोज्यसमन्वितम्।
ददामि ते रमाकान्त सर्वपापक्षयं कुरु॥ (इति नैवेद्यम्)
उक्तप्रकारेण पञ्चोपचारविधिना देवं सम्पूज्य—
नृसिंहाच्युतदेवेश लक्ष्मीकान्त जगत्पते।
अनेनार्घ्यप्रदानेन सफलाः स्युर्मनोरथाः॥
(इति विशेषार्घ्यं दद्यात्)

करे। दूसरे दिन फिर पूजन करे और ब्राह्मणोंको भोजन कराकर स्वजनोंसहित स्वयं भोजन करे। इस प्रकार प्रतिवर्ष करते रहनेसे नृसिंहभगवान् उसकी सब जगह रक्षा करते हैं और यथेच्छ धन-धान्य देते हैं। नृसिंहपुराणमें इस व्रतकी कथा है। उसका सारांश यह है—'जब हिरण्यकशिपुका संहार करके नृसिंहभगवान् कुछ शान्त हुए, तब प्रह्लादजीने पूछा कि 'भगवन्! अन्य भक्तोंकी अपेक्षा मेरे प्रति आपका अधिक स्नेह होनेका क्या कारण है?' तब भगवान्ने कहा कि 'पूर्वजन्ममें तू विद्याहीन, आचारहीन वासुदेव नामका ब्राह्मण था। एक बार मेरे व्रतके दिन (वैशाख शुक्ल चतुर्दशीको) विशेष कारणवश तूने न जल पिया न भोजन किया, न सोया और ब्रह्मचर्यसे रहा। इस प्रकार स्वतःसिद्ध उपवास और जागरण हो जानेके प्रभावसे तू भक्तराज प्रह्लाद हुआ।'

(१२) **कदलीव्रत** (हेमाद्रि)—यह व्रत विशेषरूपसे गुजरातमें किया जाता है। यह वैशाख, माघ और कार्तिक—किसी भी महीनेमें हो सकता है। इसमें पूर्वाह्णव्यापिनी चतुर्दशी ली जाती है। उस दिन शुद्ध मृत्तिकाकी वेदीपर स्वस्तिक बनाकर उसपर मूल और पत्तोंसहित सुन्दर केलेका पेड़ स्थापित करे तथा उसे पवित्र जलसे सींचकर गन्ध, पुष्प, धूप, दीप और नैवेद्यसे पूजन करे। इस प्रकार जबतक उसके फल न आवें, तबतक प्रतिदिन करता रहे। यदि किसी देशमें केला न मिले तो सोनेका बनवाकर उसका वर्षभर पूजन करे। उसके बाद उद्यापन करके व्रत समाप्त करे और पूजामें चढ़ायी हुई सामग्री आचार्यको दे।

(१३) **वैशाखी व्रत**(भविष्यादित्यजाबालि)—वैशाखी पूर्णिमा बड़ी पवित्र तिथि है। इस दिन दान-धर्मादिके अनेक कार्य किये जाते हैं। अतः यह उदयसे उदयपर्यन्त हो तो विशेष श्रेष्ठ होती है। अन्यथा कार्यानुसार लेनी चाहिये। इस दिन (१) धर्मराजके निमित्त जलपूर्ण कलश और पकवान देनेसे गोदानके समान फल होता है। (२) यदि पाँच या सात ब्राह्मणोंको शर्करासहित तिल दे तो सब पापोंका क्षय हो जाता है। (३) इस दिन शुद्ध भूमिपर तिल फैलाकर उसपर पूँछ और सींगोंसहित काले मृगका चर्म बिछावे और उसे सब प्रकारके वस्त्रोंसहित दान करे तो अनन्त फल होता है। (४) यदि तिलोंके जलसे स्नान करके घी, चीनी और तिलोंसे भरा हुआ पात्र विष्णुभगवान्को निवेदन करे और उन्हींसे अग्निमें आहुति दे अथवा तिल और शहदका दान करे, तिलके तेलके दीपक जलावे, जल और तिलोंका तर्पण करे अथवा गङ्गादिमें स्नान करे तो सब पापोंसे निवृत्त होता है। (५) यदि इस दिन एक समय भोजन करके पूर्णिमा, चन्द्रमा अथवा सत्यनारायणका व्रत करे तो सब प्रकारके सुख, सम्पदा और श्रेयकी प्राप्ति होती है।

(३)

(ज्येष्ठके व्रत)

कृष्णपक्ष

(१) **सङ्कष्टचतुर्थीव्रत** (भविष्योत्तर)—ज्येष्ठ कृष्णा चतुर्थीको, जो चन्द्रोदयतक रहनेवाली हो, प्रातःस्नानादि नित्यकर्म करके व्रतके सङ्कल्पसे दिनभर मौन रहे। सायङ्कालमें पुनः स्नान करके गणेशजीका और चन्द्रोदय होनेपर चन्द्रमाका पूजन करे तथा शङ्खमें दूध, दूर्वा, सुपारी और गन्धाक्षत लेकर 'ज्योत्स्नापते नमस्तुभ्यं नमस्ते ज्योतिषां पते। नमस्ते रोहिणीकान्त गृहाणार्घ्यं नमोऽस्तु ते॥' इस मन्त्रसे चन्द्रमाको, 'गौरीसुत नमस्तेऽस्तु सततं मोदकप्रिय। सर्वसङ्कष्टनाशाय गृहाणार्घ्यं नमोऽस्तु ते॥' इस मन्त्रसे गणेशजीको और 'तिथीनामुत्तमे देवि गणेशप्रियवल्लभे। गृहाणार्घ्यं मया दत्तं सर्वसिद्धिप्रदायिके॥' इस मन्त्रसे चतुर्थीको अर्घ्य दे तथा वायन दान करके भोजन करे।

(२) **कृष्णैकादशीव्रत** (ब्रह्माण्डपुराण)—एकादशीका व्रत करनेवाला दशमीको जौ, गेहूँ और मूँगके पदार्थका एक बार भोजन करे। एकादशीको प्रातःस्नानादि करके उपवास रक्खे और द्वादशीको पारण करके भोजन करे। इस एकादशीका नाम 'अपरा' है। इसके व्रतसे अपार पाप दूर होते हैं। जो लोग सद्वैद्य होकर गरीबोंका इलाज नहीं करते, षट्शास्त्री होकर बिना माँ-बापके बच्चोंको नहीं पढ़ाते, सद्व्रत राजा होकर भी गरीब प्रजाको कभी नहीं सम्हालते, सबल होकर भी अपाहिजको आपत्तिसे नहीं बचाते और धनवान् होकर भी आपद्ग्रस्त परिवारोंको सहायता नहीं देते, वे नरकमें जाने योग्य पापी होते हैं। किन्तु अपराका व्रत ऐसे व्यक्तियोंको भी निष्पाप करके वैकुण्ठमें भेज देता है।*

---

* अपरासेवनाद्राजन् विपाप्मा भवति ध्रुवम्।
कूटसाक्ष्यं मानकूटं तुलाकूटं करोति च॥
कूटवेदं पठेद्विप्रः कूटशास्त्रं तथैव च।
ज्यौतिषी कूटगणकः कूटपूर्वाधिको भिषक्॥
कूटसाक्षिसमा ह्येते विज्ञेया नरकौकसः।
अपरासेवनाद्राजन् पापमुक्ता भवन्ति ते॥
(ब्रह्माण्डपुराणे)

(३) **प्रदोषव्रत**—यह कृष्ण, शुक्ल दोनों पक्षकी प्रदोषव्यापिनी त्रयोदशीको किया जाता है । उस दिन सायङ्कालके समय शिवजीका पूजन करके दो घड़ी रात जानेके पहले एक बार भोजन करना चाहिये । विशेष बातें ऊपर लिखी जा चुकी हैं ।

(४) **अमाव्रत**—इस दिन परलोकस्थ पितृगणोंको प्राप्त करानेके लिये कई प्रकारके दान-पुण्य किये जाते हैं तथा तीर्थस्नान, जप-तप और व्रतादिका भी नियम है । इन सबके पुण्यांश सूर्य-किरणोंसे आकर्षित होकर परलोकमें यथायोग्य प्राप्त होते हैं ।

(५) **वटसावित्रीव्रत**—यह व्रत स्कन्द और भविष्योत्तरके अनुसार ज्येष्ठ शुक्ल पूर्णिमाको और निर्णयामृतादिके अनुसार अमावस्याको किया जाता है । इस देशमें प्रायः अमावस्याको ही होता है । संसारकी सभी स्त्रियोंमें ऐसी कोई शायद ही हुई होगी, जो सावित्रीके समान अपने अखण्ड पातिव्रत्य और दृढ़ प्रतिज्ञाके प्रभावसे यमद्वारपर गये हुए पतिको सदेह लौटा लायी हो । अतः विधवा, सधवा, बालक, वृद्धा, सपुत्रा, अपुत्रा सभी स्त्रियोंको सावित्रीका व्रत अवश्य करना चाहिये *। विधि[1] यह है कि ज्येष्ठ कृष्णा त्रयोदशीको प्रातःस्नानादिके पश्चात् 'मम वैधव्यादिसकलदोषपरिहारार्थं ब्रह्मसावित्रीप्रीत्यर्थं सत्यवत्सावित्रीप्रीत्यर्थं च वटसावित्रीव्रतमहं करिष्ये ।' यह सङ्कल्प करके तीन दिन उपवास करे । यदि सामर्थ्य न हो तो त्रयोदशीको रात्रिभोजन, चतुर्दशीको अयाचित और अमावस्याको उपवास करके शुक्ल प्रतिपदाको समाप्त करे । अमावस्याको वटके समीप बैठकर बाँसके एक पात्रमें सप्तधान्य भरकर उसे दो वस्त्रोंसे ढक दे और दूसरे पात्रमें सुवर्णकी ब्रह्मसावित्री तथा सत्यसावित्रीकी मूर्ति स्थापित करके गन्धाक्षतादिसे पूजन करे । तत्पश्चात् वटके सूत लपेटकर उसका यथाविधि पूजन करके परिक्रमा करे । फिर 'अवैधव्यं च सौभाग्यं देहि त्वं मम सुव्रते । पुत्रान् पौत्रांश्च सौख्यं च गृहाणार्घ्यं नमोऽस्तु ते ॥' इस श्लोकसे सावित्रीको अर्घ्य दे और 'वट सिञ्चामि ते मूलं सलिलैरमृतोपमैः । यथा शाखाप्रशाखाभिर्वृद्धोऽसि त्वं महीतले । तथा पुत्रैश्च पौत्रैश्च सम्पन्नं कुरु मां सदा ॥' इस श्लोकसे वटवृक्षकी प्रार्थना करे । देशभेद और मतान्तरके अनुरोधसे इसकी व्रतविधिमें कोई-कोई उपचार भिन्न प्रकारसे भी होते हैं । यहाँ उन सबका समावेश नहीं किया है । सावित्रीकी संक्षिप्त कथा इस प्रकार है—यह मद्रदेशके राजा अश्वपतिकी पुत्री थी । द्युमत्सेनके पुत्र सत्यवान्से इसका विवाह हुआ था । विवाहके पहले नारदजीने कहा था कि सत्यवान् सिर्फ सालभर जीयेगा । किन्तु दृढव्रता सावित्रीने अपने मनसे अङ्गीकार किये हुए पतिका परिवर्तन नहीं किया और एक वर्षतक पातिव्रतधर्ममें पूर्णतया तत्पर रहकर अंधे सास-ससुरकी और अल्पायु पतिकी प्रेमके साथ सेवा की । अन्तमें वर्षसमाप्तिके दिन (ज्ये० शु० ३० को) सत्यवान् और सावित्री समिधा लानेको वनमें गये । वहाँ एक विषधर सर्पने सत्यवान्‌को डस लिया । वह बेहोश होकर गिर गया । उसी अवस्थामें यमराज आये और सत्यवान्‌के सूक्ष्मशरीरको ले जाने लगे । किन्तु फिर उन्होंने सती सावित्रीकी प्रार्थनासे प्रसन्न होकर सत्यवान्‌को सजीव कर दिया और सावित्रीको सौ पुत्र होने तथा राज्यच्युत अंधे सासु-ससुरको राज्यसहित दृष्टि प्राप्त होनेका वर दिया ।

शुक्लपक्ष

(१) **करवीरव्रत** (भविष्योत्तर)—ज्येष्ठ शुक्ल प्रतिपदाको देवताके बगीचेमें जाकर कनेरके वृक्षका पूजन करे । उसको मूल और शाखा-प्रशाखाओंके सहित स्नान कराकर लाल वस्त्र ओढ़ावे । गन्ध, पुष्प, धूप, दीप और नैवेद्यादिसे पूजन करे । उसके समीप सप्तधान्य रखकर उसपर केले, नारंगी, बिजौरा और गुणक आदि स्थापित करे और 'करवीर विषावास नमस्ते भानुवल्लभ । मौलिमण्डन दुर्गादिदेवानां सततं प्रिय ॥' इस मन्त्रसे अथवा 'आकृष्णेन रजसा वर्तमानो' इत्यादि मन्त्रसे प्रार्थना करके पूजा-सामग्री ब्राह्मणको दे दे । फिर घर जाकर व्रत करे । यह व्रत सूर्यकी आराधनाका है । आपद्ग्रस्त अवस्थामें स्त्रियोंको तत्काल फल देता है । प्राचीन कालमें सावित्री, सरस्वती, सत्यभामा और दमयन्ती आदिने इसी व्रतसे अभीष्ट फल प्राप्त किया था ।

(२) **रम्भाव्रत** (भविष्योत्तर)—इस व्रतमें पूर्वविद्धा तिथि ली जाती है । इसके लिये ज्येष्ठ शुक्ल तृतीयाको प्रातःकाल स्नानादि नित्यकर्म करके शुद्ध स्थानमें पूर्वाभिमुख बैठे । अपने पार्श्वभागमें १ गार्हपत्य, २ दक्षिणाग्नि, ३ सभ्य, ४ आहवनीय और ५ भास्कर नामकी पाँच अग्नियोंको प्रज्वलित करे । उनके मध्यमें पूर्वाभिमुख बैठकर पद्मासनसे विराजमान चार भुजाओंवाली, सम्पूर्ण आभूषणादिसे भूषिता तथा जटाजूट और मृगचर्मधारिणी देवीको अपने सम्मुख स्थापित करे । फिर 'ॐ महाकाल्यै नमः । महालक्ष्म्यै नमः । महासरस्वत्यै नमः ।'

---

* नारी वा विधवा वापि पुत्रीपुत्रविवर्जिता ।
सभर्तृका सपुत्रा वा कुर्याद्व्रतमिदं शुभम् ॥
(स्कान्दे धर्मवचनम्)

१ यह विधि जयसिंहकल्पद्रुममें लिखित व्रतपद्धतिके अनुसार है ।

आदि नामोंसे महानिशा, महामाया, महादेवी, महिषनाशिनी, गङ्गा, यमुना, सिन्धु, शतद्रु, नर्मदा और वैतरणीपर्यन्त सबका पूजन करे। और इन्हीं नामोंसे 'नमः'के स्थानमें 'स्वाहा' का उच्चारण करके १०८ आहुतियाँ दे। फिर नाना प्रकारके फल, पुष्प और नैवेद्य अर्पण करके 'त्वं शक्तिस्त्वं स्वधा स्वाहा त्वं सावित्री सरस्वती। पतिं देहि गृहं देहि सुतान् देहि नमोऽस्तु ते ॥' इस मन्त्रसे प्रार्थना करे तो उस स्त्रीका घर सुख, समृद्धि और पुत्रादिसे पूर्ण हो जाता है। यह व्रत माताके कहनेसे पार्वतीने किया था।

(३) **पार्वती-पूजा** (निर्णयामृत)—ज्येष्ठ शुक्ला तृतीयाको पार्वतीका जन्म हुआ था। अतः स्त्रियोंको चाहिये कि वे अपने सुख और सौभाग्यादिकी वृद्धिके लिये इस दिन उनका प्रीतिपूर्वक पूजन करें तथा विविध प्रकारके फल, पुष्प और नैवेद्यादि अर्पण करके गायन-वादन और नृत्यके साथ उनका जन्मोत्सव मनावें।

(४) **शिव-पूजा** (भविष्योत्तर)—ज्येष्ठ मासके कृष्ण या शुक्ल किसी पक्षकी अष्टमीको शिवजीका और केवल शुक्लाष्टमीको शुक्लादेवीका यथाविधि पूजन करे। शुक्लादेवीने जब दानवोंका संहार किया था, तब देवताओंने उनका पूजन किया था। अतः आपत्तियोंकी निवृत्तिके लिये मनुष्योंको भी यह व्रत करना चाहिये।

(५) **उमा ब्राह्मणी** (भविष्योत्तर)—ज्येष्ठ शुक्ल नवमीको उपवास करके ब्राह्मणी नामकी श्वेतवर्णा पार्वतीका भक्तिसहित पूजन करे और ब्राह्मण तथा ब्राह्मणकी कन्याको दूध मिले हुए भातका भोजन कराकर रात्रिमें स्वयं भोजन करे।

(६) **दशहरा व्रत** (ब्रह्मपुराण)—ज्येष्ठ शुक्ला दशमीको[१] हस्तनक्षत्रमें स्वर्गसे गङ्गाका आगमन हुआ था। अतएव इस दिन गङ्गा आदिका स्नान, अन्न-वस्त्रादिका दान, जप-तप-उपासना और उपवास किया जाय तो दस[२] प्रकारके पाप (तीन प्रकारके कायिक, चार प्रकारके वाचिक और तीन प्रकारके मानसिक) दूर होते हैं। यदि इस दिन १ ज्येष्ठ, २ शुक्ल, ३ दशमी, ४ बुध, ५ हस्त, ६ व्यतीपात, ७ गर, ८ आनन्द, ९ वृषस्थ रवि और १० कन्याका चन्द्र हो तो यह अपूर्व[३] योग महाफलदायक होता है। इसमें योगविशेषका बाहुल्य होनेसे पूर्वा या पराका विचार समयपर करके जिस दिन उपर्युक्त योग अधिक हों उस दिन स्नान, दान, जप, तप, व्रत और उपवास आदि करने चाहिये। यदि ज्येष्ठ अधिक मास हो तो ये काम शुद्धकी अपेक्षा मलमासमें करनेसे ही अधिक फल होता है। दशहराके दिन दशाश्वमेधमें दस प्रकार स्नान करके शिवलिङ्गका दस संख्याके गन्ध, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य और फल आदिसे पूजन करके रात्रिको जागरण करे तो अनन्त फल होता है।

(७) **गङ्गा-पूजन**—ज्येष्ठ शुक्ला दशमीको गङ्गातटवर्ती प्रदेशमें अथवा सामर्थ्य न हो तो समीपके किसी भी जलाशय या घरके शुद्ध जलसे स्नान करके सुवर्णादिके पात्रमें त्रिनेत्र, चतुर्भुज, सर्वावयवभूषित, रत्नकुम्भधारिणी, श्वेत वस्त्रादिसे सुशोभित तथा वर और अभयमुद्रासे युक्त श्रीगङ्गाजीकी प्रशान्त मूर्ति[४] अङ्कित करे। अथवा किसी साक्षात् मूर्तिके समीप बैठ जाय। फिर 'ॐ नमः शिवायै नारायण्यै दशहरायै गङ्गायै नमः' से आवाहनादि षोडशोपचार पूजन करे। तथा इन्हीं नामोंसे 'नमः' के स्थानमें स्वाहा युक्त करके हवन करे। तत्पश्चात् 'ॐनमो भगवति ऐं ह्रीं श्रीं (वाक्-काम-मायामयि) हिलि हिलि मिलि मिलि गङ्गे मां पावय पावय स्वाहा।' इस मन्त्रसे पाँच पुष्पाञ्जलि अर्पण करके गङ्गाको भूतलपर लानेवाले भगीरथका और जहाँसे वे आयी हैं, उस हिमालयका नाम-मन्त्रसे पूजन करे। फिर दस फल, दस दीपक और दस सेर तिल—इनका 'गङ्गायै नमः' कहकर दान करे। साथ ही घी मिले हुए सत्तूके और गुड़के पिण्ड जलमें डाले। सामर्थ्य हो तो सोनेके कच्छप, मत्स्य और मण्डूकादि भी पूजन करके जलमें डाल दे। इसके अतिरिक्त १० सेर तिल, १० सेर जौ और १० सेर गेहूँ १० ब्राह्मणोंको दे। परदार और परद्रव्यादिसे दूर रहे। और ज्येष्ठ शुक्ला प्रतिपदासे प्रारम्भ करके दशमीतक एकोत्तर वृद्धिसे दशहरास्तोत्रका पाठ करे, तो सब

---

१. ज्येष्ठे मासि सिते पक्षे दशमी हस्तसंयुता।
हरते दश पापानि तस्माद्दशहरा स्मृता ॥ (ब्रह्मपुराणे)

२. अदत्तानामुपादानं हिंसा चैवाविधानतः।
परदारोपसेवा च शारीरं त्रिविधं स्मृतम् ॥
पारुष्यमनृतं चैव पैशुन्यं चापि सर्वशः।
असम्बद्धप्रलापश्च वाङ्मयं स्याच्चतुर्विधम् ॥
परद्रव्येष्वभिध्यानं मनसानिष्टचिन्तनम्।
वितथाभिनिवेशश्च त्रिविधं कर्म मानसम् ॥ (मनुः)

३. ज्येष्ठे मासि सिते पक्षे दशम्यां बुधहस्तयोः।
व्यतीपाते गरानन्दे कन्याचन्द्रे वृषे रवौ।
दशयोगे नरः स्नात्वा सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ (स्कान्दे)

४. चतुर्भुजां त्रिनेत्रां च सर्वावयवशोभिताम्।
रत्नकुम्भसिताम्भोजवरदाभयसत्कराम् ॥
(जयसिंहकल्पद्रुमे गङ्गापूजनविधौ)

प्रकारके पाप समूल नष्ट हो जाते हैं और दुर्लभ सम्पत्ति प्राप्त होती है।

(८) **निर्जलैकादशीव्रत** (महाभारत)–यह व्रत ज्येष्ठ शुक्ला एकादशीको किया जाता है। इसका नाम निर्जला है; अतः नामके अनुसार इसका व्रत किया जाय तो स्वर्गादिके सिवा आयु और आरोग्यवृद्धिके तत्त्व विशेष-रूपसे विकसित होते हैं। व्यासजीके कथनानुसार यह अवश्य सत्य है कि 'अधिमाससहित एक वर्षकी पचीस एकादशी न की जा सकें तो केवल निर्जला करनेसे ही पूरा फल प्राप्त हो जाता है।' निर्जला व्रत करनेवाला पुरुष अपवित्र अवस्थाके आचमनके सिवा बिन्दुमात्र जल भी ग्रहण न करे। यदि किसी प्रकार उपयोगमें ले लिया जाय तो उससे व्रत भङ्ग हो जाता है। दृढ़तापूर्वक नियमपालनके साथ निर्जल उपवास करके द्वादशीको स्नान करे और सामर्थ्यके अनुसार सुवर्ण और जलयुक्त कलश देकर भोजन करे तो सम्पूर्ण तीर्थोंमें जाकर स्नान-दानादि करनेके समान फल होता है।

एक बार बहुभोजी भीमसेनने व्यासजीके मुखसे प्रत्येक एकादशीको निराहार रहनेका नियम सुनकर विनम्र भावसे निवेदन किया कि 'महाराज ! मुझसे कोई व्रत नहीं किया जाता। दिनभर बड़ी तीव्र क्षुधा बनी ही रहती है। अतः आप कोई ऐसा उपाय बतला दीजिये जिसके प्रभावसे स्वतः सद्गति हो जाय।' तब व्यासजीने कहा कि 'तुमसे वर्षभरकी सम्पूर्ण एकादशी नहीं हो सकती तो केवल एक निर्जला कर लो, इसीसे सालभरकी एकादशी करनेके समान फल हो जायगा।' तब भीमने वैसा ही किया और निःसन्देह स्वर्गको गया।

(९) **जलधेनुदान** (मदनरत्न—स्कन्दपुराण)–ज्येष्ठ शुक्ला एकादशीको यथासामर्थ्य सोना, चाँदी या ताँबेके गौकी आकृतिके कलशमें अन्न, जल, सोना, चाँदी और ताँबा रखकर उसे दो सफेद वस्त्रोंसे ढके। उसके ऊपर दूर्वाङ्कुर लगाये। कूठ, उसीर, जटामासी, आँवले और प्रियङ्गु आदि ओषधियोंसहित छाता, जूता और कुशासन रक्खे। उसके समीप चारों दिशाओंमें तिलके पात्र और सामने घी, दही और चीनीका पात्र रखकर जलाधिपति वासुदेव भगवान्का पूजन करे। फिर उसमेंसे देनेयोग्य द्रव्यादिका दान करके उपवास करे।

(१०) **दुर्गन्धि-दुर्भाग्यनाशक व्रत**(भविष्योत्तर)–ज्येष्ठ शुक्ला त्रयोदशीको किसी पवित्र नदीके किनारे जाकर सूर्यनारायणका दर्शन करके स्नान करे और उस देशके सफेद आक, लाल कनेर और सपुष्प नीमका गन्ध-पुष्पादिसे पूजन करे। ये तीनों वृक्ष[२] सूर्यनारायणको बहुत प्रिय हैं, अतः इनका पूजन करके व्रत करनेसे सब प्रकारका दुर्भाग्य और दुर्गन्ध सदाके लिये दूर हो जाता है।

(११) **शुक्लप्रदोष**–यह कृष्ण-शुक्ल दोनों पक्षोंमें प्रतिमास किया जाता है। इसके नियम, विधान और पूजापद्धति आदि ऊपर लिखे जा चुके हैं। आगे जो कुछ विशेष होगा यथास्थान लिख दिया जायगा।

(१२) **पञ्चतप व्रत** (मत्स्यपुराण)–ज्येष्ठ शुक्ला चतुर्दशीको पूर्वोक्त पाँच अग्नि प्रज्वलित करके दिनभर 'पञ्चधूनी' तपे और सायङ्कालमें शिवजीकी प्रसन्नताके लिये सुवर्ण-धेनुका दान देकर भोजन करे तो शिवजीकी प्रसन्नता होती है।

(१३) **बिल्वत्रिरात्रिव्रत** (हेमाद्रि—स्कन्दपुराण)–ज्येष्ठ शुक्ला पूर्णिमाको जब ज्येष्ठा नक्षत्र और मङ्गलवार हो, तो उस दिन सरसों मिले हुए जलसे स्नान करके 'श्रीवृक्ष' (बिल्ववृक्ष) का गन्ध-पुष्पादिसे पूजन करे और एक समय हविष्यान्न भोजन करे। यदि भोजनको कुत्ता, सूअर या गधा आदि देख लें तो उसे त्याग कर दे। इस प्रकार प्रत्येक शुक्ला पूर्णिमाको वर्षपर्यन्त करके व्रतसमाप्तिके दिन बिल्ववृक्षके समीप जाकर एक पात्रमें एक सेर बालू या जौ, गेहूँ, चावल और तिल भरे तथा दूसरे पात्रको दो वस्त्रोंसे ढककर उसमें सुवर्णनिर्मित उमा-महेश्वरकी मूर्ति स्थापित करे तथा दो लाल वस्त्र अर्पण कर विविध प्रकारके गन्ध, पुष्प, धूप, दीप और नैवेद्यादिसे पूजन करके 'श्रीनिकेत नमस्तुभ्यं हरप्रिय नमोऽस्तु ते। अवैधव्यं च मे देहि श्रियं जन्मनि जन्मनि ॥' इस मन्त्रसे प्रार्थना करे और बिल्वपत्रकी एक हजार आहुति देकर सोलह या आठ अथवा चार दम्पतियों (स्त्री-पुरुषों) को वस्त्रालङ्कारादिसे भूषित करके भोजन करावे तो सब प्रकारके अभीष्ट सिद्ध हो जाते हैं।

---

१. वृषस्थे मिथुनस्थेऽर्के शुक्ला ह्येकादशी भवेत्।
ज्येष्ठे मासि प्रयत्नेन सोपोष्या जलवर्जिता ॥
स्नाने चाचमने चैव वर्जयेन्नोदकं बुधः।
संवत्सरस्य या मध्ये एकादश्यो भवन्त्युत ॥
तासां फलमवाप्नोति अत्र मे नास्ति संशयः।
(हेमाद्रौ—महाभारते व्यासवचनम्)

२. इत्थं योऽर्चयते भक्त्या वर्षे वर्षे पृथङ् नरः।
द्रुमत्रयं नृपश्रेष्ठ नारी वा भक्तिसंयुता।
तस्याः शरीरे दुर्गन्धं दौर्भाग्यं च न जायते ।(श्रीकृष्णः)

चेतन और जगत्

(लेखक—श्रीकृष्ण)

किसी भी वस्तुको लीजिये, उसके पृथक्करणपर उसमें पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश—ये पञ्चतत्त्व और चेतन प्रतीत होंगे। इन पञ्चमहाभूत और चेतनके अतिरिक्त किसी भी वस्तुमें और कुछ भी नहीं है। इनके विना किसी भी वस्तुका अस्तित्व सम्भव नहीं। हाँ, ये पञ्चमहाभूत न्यूनाधिक प्रमाणमें अवश्य माळूम होते हैं। उदाहरणके लिये वृक्षका एक पत्ता लीजिये; उसमें जो जडांश है, वह पृथ्वीका अंश है, जो द्रवांश है वह जलका अंश है और जो चमक है वह तेजका अंश है—ये तीन तत्त्व तो प्रत्येक वस्तुमें स्पष्ट दिखलायी देते हैं। वायु और आकाश दृष्टिके विषय न होनेसे दिखायी नहीं देते परन्तु इनका अस्तित्व अवश्य रहता है। आकाशका धर्म है अवकाश देना और वायुका हलन-चलन होना। ये दोनों धर्म प्रत्येक वस्तुमें स्पष्ट दिखायी नहीं देते, तो भी रहते जरूर हैं। किसी भी जडवस्तुको लीजिये, उसको यदि किसी विशेष बलसे दबाया जाय तो वह दब जाती है, इसीसे सिद्ध होता है कि उसमें आकाश है, जिससे अवकाश मिला, और वायु है जिससे चलन हुआ। ऐसे तो पत्ता भी श्वास लेता है यह जानी हुई बात है। यानी पत्तेमें वायु दिखायी नहीं देती, परन्तु है तो निश्चय ही। इसी तरह प्रत्येक वस्तुमें पञ्चमहाभूत माळूम होंगे। इन्हींके न्यूनाधिक अंशोंसे नाना प्रकारके संयोगोंद्वारा वैसे ही नाना प्रकारकी वस्तुएँ बनती हैं, जैसे ० से लेकर ९ तकके दस अंकोंके नाना प्रकारके संयोगोंद्वारा नाना प्रकारके अंक बनते हैं। इन पञ्चमहाभूतोंके अतिरिक्त चेतन तो प्रत्येकमें अवश्य होना ही चाहिये। चेतन न हो तो मानो कुछ भी नहीं। चेतन सर्वव्याप्त है। प्राणियोंमें चेतनका आविर्भाव विशेष स्पष्ट होनेसे दिखायी देता है और जड वस्तुओंमें स्पष्ट न होनेसे दिखायी नहीं देता। इतना ही भेद है। वृक्षोंमें चेतन है यह आधुनिक भौतिकशास्त्रोंसे भी सिद्ध हो गया है। वैसे ही पर्वत, पत्थर, मिट्टी आदिमें भी वृद्धि होती है। उनमें भी जीवनतत्त्व है, चेतन है, यह सिद्ध बात है। मिट्टीमें, गोबरमें सबमें चेतन है, योग्य संयोगोंद्वारा चेतन प्रकट होता है। उसमें असंख्यों जीव-जन्तु-कीड़े उत्पन्न होते हैं। मुर्देमें चेतन नहीं रहता ऐसा कहा जाता है परन्तु विचार करनेपर उसमें भी उसके अंश-अंशमें चेतन भरा हुआ दिखायी देता है। चेतनसे कुछ भी खाली नहीं है। मुर्देके शरीरके अंश-अंशमें योग्य संयोगोंसे असंख्यों कीड़े उत्पन्न होते हैं। वैसे ही सूखे अनाज, सूखी लकड़ी मुर्दा दीखती है किन्तु उसमें भी चेतन है, योग्य संयोगसे वहाँ भी जन्तु पैदा होते हैं, अर्थात् वस्तुतः चेतनतारहित कोई भी वस्तु नहीं है। देखनेमें चाहे अचेतन हो परन्तु उसमें भी चेतनता रहती ही है। हाँ, उसका आविर्भाव वहाँ बहुत ही थोड़ा, नहींके बराबर होता है, इसीलिये वह दिखायी नहीं देती। चेतन सर्वव्यापक है, अणु-अणुमें व्याप्त है। प्रत्येक वस्तुमें इसी चेतनका सत्, चित् और आनन्दस्वरूप—अस्ति, भाति (प्रकाश) और प्रियस्वरूपसे रहता है। जिसे आप आकाश कहते हैं यानी जिसमें कोई वस्तु नहीं दीखती, खाली जगह दीखती है, वह आकाश भी अनेकों सूक्ष्म परमाणुओंसे भरा है, प्रत्येक सूक्ष्मतत्त्व पञ्चमहाभूत और चेतनके अतिरिक्त कोई दूसरी वस्तु नहीं है। चेतनसे कोई जगह खाली नहीं है, सब चेतनमय ही है। इसी

चेतनको सत्, चित्, आनन्द या ब्रह्म कहते हैं। समस्त जगत् ब्रह्ममय है। ब्रह्म ही है। ब्रह्मके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। जैसे प्रत्येक वस्तुमें पञ्चमहाभूत और चेतन हैं, और कुछ भी नहीं है, वैसे ही प्रत्येक महाभूतमें चेतन ही है और कुछ नहीं है; पृथ्वीका कारण जल है, अतः जल कारण है, पृथ्वी कार्य है। जलसे पृथ्वी उत्पन्न हुई है और जलमें ही लय हो जायगी। जैसे सोनेसे अलङ्कार बनते हैं और सोनेमें ही वे अलङ्कार लय हो जाते हैं; सोना कारण है, अलङ्कार कार्य है, कार्य-कारण अभिन्न होते हैं। कार्य कारणरूप ही होता है। कारणके विना कार्यका अस्तित्व नहीं रहता, कार्य कारण ही होता है। सोना और अलङ्कार अभिन्न हैं, अलङ्कार सोनारूप ही है, सोनेके विना अलङ्कारका अस्तित्व नहीं है, अलङ्कार सोना ही है, वैसे ही पृथ्वीका कारण जल है। इसीसे पृथ्वी और जल अभिन्न हैं, पृथ्वी जल ही है। जलका कारण तेज, तेजका कारण वायु, वायुका कारण आकाश और आकाशका कारण चेतन है। क्योंकि आकाश चेतनसे ही उत्पन्न है। आकाशसे वायु, वायुसे तेज, तेजसे जल और जलसे पृथ्वी, इसीसे पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश—ये सब कार्य हैं और इन सबका मूल कारण चेतन है। अतएव चेतनके विना महाभूत नहीं यानी जगत्में कोई भी वस्तु चेतनतारहित नहीं है। जो कुछ है, सब चेतन ब्रह्म ही है। ब्रह्म ही सत्य है। इसको छोड़कर बाकी सब नाम-रूप है। ब्रह्मको छोड़कर और कुछ भी त्रिकालबाधित अस्तित्वमें नहीं है।

ऊपरके विवेचनसे यह सिद्ध होता है कि जो कुछ है, ब्रह्म ही है। ब्रह्मके सिवा और कुछ नहीं है। जो कुछ दीखता है, उसके नाम-रूपके पीछे ब्रह्म ही है, नाम-रूप ही जगत् है। जगत्का अर्थ है जानेवाला यानी नाशवान्। जैसे सोना सत्य है और उसकी सृष्टि असत् है, परन्तु मिथ्या होनेपर भी उस सृष्टिके अलङ्कार अपना-अपना विशेष कार्य करते हैं, वैसे ही जगत् मिथ्या होते हुए भी, उसकी प्रत्येक वस्तु अपना-अपना कार्य करेगी ही। वस्तुका नाम-रूप विनाशी होनेसे क्या हुआ, वह जबतक है तबतक उसका कार्य होगा ही। कार्य-कारण स्वयं नाम-रूप-दृष्टिसे मिथ्या कहलाता है, जैसे सुवर्णके अतिरिक्त अलङ्कार नाम-रूपदृष्ट्या मिथ्या है। ऐसा होनेपर भी कार्य अलङ्कारके अपने-अपने विशेष कार्य होते हैं, जैसे पहुँची, अँगूठी, कंठी सबके अपने विशेष-विशेष कार्य हैं, वैसे ही पृथ्वी, जल, तेज इत्यादि कार्य होनेसे, कारणके विना मिथ्या होनेपर भी उन सबके अपने-अपने विशेष धर्म हैं। तेज मिथ्या है तो भी वह प्रकाश देगा, जलायेगा, वैसे ही जगत्की प्रत्येक वस्तु चेतनके विना नाम-रूपदृष्ट्या मिथ्या होनेपर भी अपने-अपने धर्मवाली होती है और अपना-अपना कार्य करती है।

इस प्रकार जगत् नाम-रूपकी दृष्टिसे मिथ्या और उसमें व्याप्त कारणरूप ब्रह्मकी दृष्टिसे सत्य है। नाम-रूपसे दृष्टि हटा दें तो सब कुछ ब्रह्म ही है। और यही सत्य तत्त्व है।

साधकके लिये

जो समझ भगवान्को सबसे श्रेष्ठ और महान् दिखलाती है और इस लोक तथा परलोकके दूसरे समस्त पदार्थोंको तुच्छ दिखलाकर उनका मोह छोड़ देनेके लिये प्रेरणा करती है। साथ ही जो पापसे घृणा और भगवान्से आशा करना सिखलाती है। साधकोंके लिये वैसी ही समझ विशेष उपयोगी है।

सच्चा साधक आदरके योग्य अपने गुणोंको छिपाकर रखता है और अपने दोषोंको लोगोंके सामने प्रकट करता है और इस बातका पता भी केवल उसीको होता है।

भारतवर्षमें भक्ति और भक्तिमें भारतवर्ष

(लेखक—दीवानबहादुर श्री के० एस्० रामस्वामी शास्त्री)

भक्ति सदासे ही भारतवर्षकी सार वस्तु रही है। इसीमें उसका सौगन्ध्य और माधुर्य है, यही उसका साक्षात् हृदय है। भारतवर्षका सार तत्त्व भक्तिसे अनुप्राणित है और ये ही दोनों भारतवर्ष और भक्ति गीताके प्राण हैं। पद्मपुराणके अन्तर्गत भागवत-माहात्म्यमें भारतवर्षकी भक्तिके सम्बन्धमें एक बड़ी ही सुन्दर कथा आती है। एक बार सनक, सनन्दन, सनत्कुमार और सनातन कलिकालमें पारमार्थिक जीवनका अत्यन्त ह्रास देखकर बहुत ही निराश हुए और देवर्षि नारदजीके पास गये। देवर्षिने उनसे कहा, 'मैंने आज एक बड़ा ही दुर्लभ और विचित्र दृश्य देखा है। कालिन्दीके तटपर एक सुन्दर कुमारी युवतीको देखा जो वहाँ बैठी असहाय, हिलने-डोलनेमें असमर्थ, मरणासन्न-सी अवस्थामें पड़े हुए दो वृद्ध पुरुषोंको पंखा झल रही थी। मैंने उससे पूछा, तुम कौन हो और ये दोनों वृद्ध पुरुष कौन हैं। उसने उत्तर दिया, मैं भक्ति हूँ और ये दोनों ज्ञान और वैराग्य मेरे पुत्र हैं। गङ्गा आदि महानदियाँ यहाँ अपने-अपने दिव्यरूपमें मेरा वन्दन करने आयी हैं। पर मुझे कुछ भी अच्छा नहीं लग रहा है। मेरी राम-कहानी सुन लो। द्रविड़देशमें मेरा जन्म हुआ, कर्णाटक और यत्र-तत्र महाराष्ट्रमें पहुँचनेपर मुझे यौवन प्राप्त हुआ और गुजरातमें आकर मैं बूढ़ी हो गयी। कलिका ताप बढ़नेसे मेरी शक्ति क्षीण हो गयी और मेरे ये पुत्र ज्ञान और वैराग्य बलहीन हो गये। अब वृन्दावनके पुण्यधाममें आनेपर फिरसे मुझे नवयौवन, तेज और सौन्दर्य प्राप्त हुआ है। पर मेरे पुत्र अभी बूढ़े, दुर्बल और मृतप्राय ही बने हैं। यह कैसी बात है?' इस रीतिसे दक्षिणोत्तर समस्त भारतवर्ष भक्तिक्षेत्र है और दक्षिण भारतवर्षको, विशेषतः द्रविड़देशको, भक्तिका जन्मस्थान होनेका गौरव प्राप्त है। भक्तिके परम मधुर राग यहींसे यहाँके शैव और वैष्णव साधु-संतों और उन अद्भुत प्रतिभासम्पन्न गायक त्यागराजके द्वारा सारे जगत्‌में गूँज रहे हैं।

हाँ, आगेका कथाप्रसंग ऐसा है कि नारदजीने बतलाया कि किस प्रकार जब भगवान् श्रीकृष्ण निज-धाम पधारे तब कलिका आगमन हुआ और भक्ति-देवीसे कहा कि आपको जो फिरसे यह यौवन और सौन्दर्य प्राप्त हुआ है इसका कारण वृन्दावन है, क्योंकि भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंसे यह धाम परम-धाम और पवित्र हो गया है।

वृन्दावनस्य संयोगात्पुनस्त्वं तरुणी नवा।
धन्यं वृन्दावनं तेन भक्तिर्नृत्यति यत्र च॥

नारदजीने फिर भक्तिदेवीसे कहा, यदि तुम प्रेमके साथ भगवान् श्रीकृष्णका स्मरण करो तो तुम्हारे इस दुःखका अन्त होगा, भगवान्‌ने तुम्हारी सेवा करनेके लिये मुक्तिको तुम्हारे पास भेजा है, भगवान्‌को तुम बहुत ही प्रिय हो और तुम चाहो तो भगवान् अधम जातियोंके हृदयों और घरोंमें भी विराज सकते हैं। नारदजीको बड़ा आनन्द हुआ और प्रसन्नमनसे उन्होंने कहा कि कलियुग धन्य है जो इस युगमें तुम यहाँ आयी हो, अब मैं यह प्रतिज्ञा करता हूँ कि मैं तुम्हें घर-घर हर किसीके हृदयमें प्रतिष्ठित करूँगा और यदि मैं ऐसा न करूँ तो मैं हरिदास कहलाना छोड़ दूँगा।

नारदजीने तब बूढ़े अधमरे ज्ञान और वैराग्यको उपनिषद् और गीताके वचन सुना-सुनाकर जगानेका प्रयत्न किया, पर इससे वे नहीं जागे। तब ऊपरसे आकाशवाणी हुई कि ऋषियोंके पास जाकर इसकी

विधि सीखो। नारदजी अनेक ऋषियोंके पास गये पर सबने उनसे यही कहा कि बूढ़ोंको युवा बनानेकी कोई विधि हमलोग नहीं जानते। तब नारदजी बदरिकाश्रम गये और वहाँ उन्होंने बड़ा तप किया। उनके तपसे सनकादि कुमार उनपर प्रसन्न हुए और उनके सामने प्रकट हुए। नारदजीने उनसे पूछा, ज्ञान और वैराग्यको कैसे युवा बनाकर उन्हें और भक्तिको मैं सबके हृदयोंमें प्रतिष्ठित कर सकूँगा।

भक्तिज्ञानविरागाणां सुखमुत्पद्यते कथम्।
स्थापनं सर्ववर्णेषु प्रेमपूर्वं प्रयत्नतः॥

कुमार बोले, 'सर्वोत्तम उपाय भागवत-पाठ है। उससे ज्ञान और वैराग्य यौवनको प्राप्त होंगे और उनके साथ प्रेमरसावहा प्रेमाभक्ति सबके अन्तःकरणोंमें जागेगी और घर-घर हर किसीके हृदयमें नृत्य करेगी। और तभी आपकी प्रतिज्ञा पूर्ण होगी।'*

नारदजीने पूछा, जहाँ वेद, वेदान्त और गीताकी कुछ न चली, वहाँ भागवतसे क्या होगा? कुमारोंने उत्तर दिया, भागवत-कथा वेदों और उपनिषदोंका सार है। आम्रवृक्षकी मधुरता है तो उस वृक्षके अंदर सर्वत्र ही, पर उसका आस्वादन होता है केवल फलरूपसे ही। दूधमें घृत रहता ही है पर वह निकलता है दूधको जमाकर, पीछे उसे मथकर ही और तभी देवताओंको दिया जा सकता है। ईखमें चीनी सर्वत्र है पर उसमेंसे निकालनेपर ही वह मिल सकती है। भागवतकी रचना भक्ति, ज्ञान और वैराग्यको स्थापित करनेके लिये हुई थी। उस समयको याद करिये जब वेद-वेदान्तके ज्ञाता, गीताके ग्रन्थनकर्त्ता व्यास इतना सब करके भी अपने आपको अकृतकार्य ही समझकर निराश, हतोत्साह और शोकमग्न हो रहे थे और आपने ही तो चार श्लोकोंमें सम्पूर्ण भागवत-सार सुनाकर उन्हें भागवतकी रचना करनेका आदेश किया था। व्यासदेव भागवतकी रचना कर कृतार्थ होकर सनातन अनन्त परम आनन्दको प्राप्त हुए।

कुमारोंकी इस वाणीको सुनकर नारदजीको हर्ष हुआ और उन्होंने कहा, 'मैं यह ज्ञानयज्ञ करूँगा जो श्रीशुकदेवकी वाणीसे उज्ज्वल हुआ है। इसके द्वारा मैं भक्ति, ज्ञान और वैराग्यको स्थापित करूँगा। अब यह बताइये कि यह यज्ञ मैं कहाँ करूँ?'

ज्ञानयज्ञं करिष्यामि शुकशास्त्रकथोज्ज्वलम्।
भक्तिज्ञानविरागाणां स्थापनार्थं प्रयत्नतः॥

कुमार बोले, 'गङ्गाके उद्गमस्थानके समीप एक आनन्दवन है जो ऋषियों और देवताओंको बहुत प्रिय है, वृक्ष-लताओंसे परिपूर्ण है, वहाँके तड़ागोंमें सुवर्ण कमल सदा खिलते रहते हैं, वहाँके पशु परस्पर द्वेष या वैरसे रहित हैं। इसी स्थानमें आप अपना ज्ञान-यज्ञ करनेकी तैयारी करें।'

नारदजीने ऐसा ही किया और उसका फल भी अभूतपूर्व हुआ। यज्ञ होनेका समाचार चारों ओर फैला और असंख्य ऋषि-मुनि और देवता उस ज्ञान-सत्रका आनन्द लूटने वहाँ एकत्र हुए। दिव्य नदियाँ वहाँ मनुष्यरूप धारण कर उपस्थित हुईं। सनकादि चतुःसन वहाँ पधारे और उन्होंने नारदजीसे कहा, अब आप भागवत-कथा आरम्भ कीजिये, इससे भगवान् हृदयमें आ विराजेंगे।

सदा सेव्या सदा सेव्या श्रीमद्भागवती कथा।
यस्याः श्रवणमात्रेण हरिश्चित्तं समाश्रयेत्॥

उद्धवने भगवान्‌से पूछा, जब आप इहलोक छोड़कर अपने परमधामको पधारेंगे और पृथ्वीपर कलि छा

* श्रीमद्भागवतालापः स तु गीतः शुकादिभिः॥
भक्तिज्ञानविरागाणां तद्घोषेण बलं महत्।
व्रजिष्यति द्वयोः कष्टं सुखं भक्तेर्भविष्यति॥
ज्ञानवैराग्यसंयुक्ता भक्तिः प्रेमरसावहा।
प्रतिगेहं प्रतिजनं ततः क्रीडां करिष्यति॥

जायगा तब क्या करना होगा ? तब भगवान्ने भागवत-के रूपमें अपनी शक्तिको रख छोड़ना स्वीकार किया।

नारदजीने वैसा ही किया जैसा सनकादिने बताया था और तब एक दिव्य घटना हुई। भक्ति वहाँ अपने दोनों पुत्र ज्ञान और वैराग्यके साथ दौड़ती आयी। ये दोनों पुत्र अब युवा हो गये थे। इनके साथ भक्ति अपनी दिव्य मधुर वाणीसे भगवन्नामोंका उच्चारण करने लगी।

भक्तिः सुतौ तौ तरुणौ गृहीत्वा
प्रेमैकरूपा सहसाऽऽविरासीत्।
श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे
नाथेति नामानि मुहुर्वदन्ती॥

भक्तिदेवीने तब सनत्कुमारसे पूछा, अब मुझे क्या करना चाहिये। सनत्कुमारने कहा, 'तुम भक्तोंके हृदयमें रहो। वहाँ भगवान्को जगाओ। प्रेमको बढ़ाती चलो और भवरोगको नष्ट करो।' भक्ति तबसे हरि-दासोंके हृदयोंमें निवास करने लगी। भक्तिकी दिव्य सम्पत्ति जब हाथ लगती है तब इस नश्वर लौकिक वैभवकी दृष्टिसे हम निर्धन भी हुए तो इससे क्या ? भक्तिके प्रेममय बन्धनमें जो बँध जाता है उसका हृदय भगवान्का प्रिय और चिरन्तन निवासस्थान बन जाता है।*

* भक्तेषु गोविन्दसरूपकर्त्री
प्रेमैकधर्त्री भवरोगहन्त्री।
सा त्वं च तिष्ठस्व सुधैर्यसंश्रया
निरन्तरं वैष्णवमानसानि॥
ततोऽपि दोषाः कलिजा इमे त्वां
द्रष्टुं न शक्ताः प्रभवोऽपि लोके।
एवं तदाज्ञावसरेऽपि भक्ति-
स्तदा निषण्णा हरिदासचित्ते॥
सकलभुवनमध्ये निर्धनास्तेऽपि धन्या
निवसति हृदि येषां श्रीहरेर्भक्तिरेका।
हरिरपि निजलोकं सर्वथातो विहाय
प्रविशति हृदि तेषां भक्तिसूत्रोपनद्धः॥

अच्छा तो जब भागवत-कथा हुई और सबके हृदय भगवत्प्रेमसे भर गये तब क्या हुआ ? भगवान् अपना वैकुण्ठधाम छोड़कर मनुष्योंके हृदयोंमें उतर आये। इससे नारदजीके साश्चर्य आनन्दका कोई पारावार न रहा।

इस विवरणसे हमें भारतवर्षकी भक्तिका सौगन्ध्य, उसका सार सर्वस्व मिल जाता है। वह परम रस है—सब रसोंका रस प्रेमरस। यह संसारके अन्य मनोविकारोंके समान लौकिक नहीं है। यह दिव्य है, अलौकिक है। इससे वह काम बनता है जो उस तरहसे उस परिमाणमें अन्य किसी वस्तुसे नहीं बन सकता। इससे हम अपनी सारी सम्पत्तिको, अपनी प्रिय-से-प्रिय वस्तुओंको, अपने शरीरतकको भूल सकते हैं। इससे हम ईश्वरके साथ तन्मय हो सकते हैं। इससे हमारे सब पाप धुल जाते हैं और हमारे हृदय पावन होते हैं।

भारतवर्षमें भक्तिकी ऐसी महिमा है। इसी प्रकार भारतवर्षका सारतत्त्व भी भक्तिके प्रमेयके साथ मिलकर एक हुआ है। भारतवर्ष ही इस पृथ्वीपर वह भूमि है जिसे ईश्वरने पुण्यभूमि बनाया है। मनुष्यको देव बनानेका यही वास्तविक यन्त्रालय है। इसीलिये तो हमलोग कहा करते हैं कि—

'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी।'

स्वामी विवेकानन्द कहते हैं—'इस पृथ्वीपर यदि कोई ऐसा देश है जो वह धन्य पुण्यभूमि कहानेका अधिकारी हो, जहाँ पृथ्वीके सब जीवोंको अपने कर्मोंका जवाब देनेके लिये आना पड़ता हो, जहाँ ईश्वरकी ओर जानेवाले प्रत्येक जीवको अपने परमधामको पानेके लिये उपस्थित होना पड़ता हो, जहाँ मानव-जातिने सौजन्य, औदार्य, पावित्र्य, शान्ति आदि गुणोंमें पराकाष्ठा लाभ की हो और सबसे बड़ी बात यह कि जो देश अन्तर्मुख और परमात्मप्रवण हो, तो

वह देश हिन्दुस्थान है।' (Collected Works P.550) सौजन्य, औदार्य, पावित्र्य, शान्ति—इन शब्दोंका उपर्युक्त साहचर्य भारतीय तत्त्वज्ञानके साथ तद्रूप ही माना जा सकता है। भक्तिविषयक भारतवर्षकी भावनाके अन्तरङ्गमें ही ये गुण मिले हुए हैं और इनसे यह पता लगता है कि किस प्रकार भारतवर्ष भक्तिमें और भक्ति भारतवर्षमें परस्पर अन्तःप्रविष्ट हैं।

महात्मा गांधीने आधुनिक जगत्के सामने सत्य और अहिंसाका जो अपना आदर्श रक्खा उसमें उन्होंने भारतीयत्वके दो ही प्रधान पहलुओंपर सबसे अधिक जोर दिया है। भगवान् मनुने कहा ही है—

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
एतं सामासिकं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनुः॥

'अहिंसा, सत्य, चोरी न करना, शुचि रहना (शरीरसे, मनसे, वाणीसे), इन्द्रियोंको वशमें रखना, यही मनुने चातुर्वर्ण्यका संक्षेपमें सामान्य धर्म बताया है।'

अन्य विशेष-विशेष अधिकारोंके कारण हमारे जो भी अन्य विशेष-विशेष धर्म हों, पर जबतक हम इन गुणोंके अधिकारी नहीं होते तबतक हमें हिन्दू कहानेका ही अधिकार नहीं प्राप्त होता। ये पाँच नोकवाले भक्ति-ताराके किरण हैं और इनसे यह प्रकट है कि किस प्रकार भारतवर्षका श्वासोच्छ्वास भारतीय भक्तिभावनाके साथ मिला हुआ है। विष्णुपुराणमें यह वर्णन है—

अहिंसा प्रथमं पुष्पं पुष्पमिन्द्रियनिग्रहः।
सर्वभूतदया पुष्पं क्षमा पुष्पं विशेषतः॥
ज्ञानं पुष्पं तपः पुष्पं ध्यानं पुष्पं तथैव च।
सत्यमष्टविधं पुष्पं विष्णोः प्रीतिकरं भवेत्॥

अहिंसा, इन्द्रियनिग्रह, सर्वभूतदया, क्षमा, ज्ञान, तप, ध्यान और सत्य—ये आठ फूल हैं। जिनमें भारतके प्राणका सौगन्ध्य भरा हुआ है और ये ही भारतीय भक्ति-भावनाके मूलभूत अंग हैं।

इस प्रकार हमलोग यह अच्छी तरहसे समझ सकते हैं कि हिन्दू-जातिने क्योंकर भक्ति और भारतवर्षको देवी और देवभूमि माना है। कालिदासने हिमालयको जगत्का मानदण्ड कहकर मानो यही सूचित किया है कि हिन्दू-संस्कृति सब संस्कृतियोंकी मान-मर्यादा है और उसीसे सब संस्कृतियाँ नापी जा सकती हैं—

अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा
हिमालयो नाम नगाधिराजः।
पूर्वापरौ तोयनिधी वगाह्य
स्थितः पृथिव्या इव मानदण्डः॥

विष्णुपुराणने भारतवर्षकी यह महिमा गायी है कि यह ऐसा देश है कि यहाँ भगवत्प्रेम और भगवत्प्राप्तिके सर्वोत्तम साधन प्राप्त होते हैं।

देशेऽस्मिन् भारते जन्म प्राप्य मानुष्यमध्रुवम्।
न कुर्यादात्मनः श्रेयस्तेनात्मा वञ्चितश्चिरम्॥

श्रीमद्भागवतने हिमालयको संन्यस्त पुरुषोंका प्रिय स्थान बताया है—

हिमालयं न्यस्तदण्डप्रहर्षं
मनस्विनामिव सत्सम्प्रहारः।

भारतवर्षमें अल्पजीवन भी अन्य उच्च लोकोंमें दीर्घ-जीवनकी अपेक्षा श्रेष्ठ कहा गया है—

कल्पायुषां स्थानजयात्पुनर्भवात्
क्षणायुषां भारतभूजयो वरम्।
क्षणेन मर्त्येन कृतं मनस्विनः
संन्यस्य संयान्त्यभयं पदं हरेः॥

श्रीमद्भगवद्गीता भक्ति और भारतवर्षकी महिमाका ग्रन्थ होनेके नाते हृदयको बहुत ही आकर्षित करनेवाली है। पर यहाँ उसका अधिक विस्तार नहीं करेंगे। इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि यदि हमलोग विशेष सावधानीके साथ गीताके दसवें अध्यायको देखें तो यह स्पष्ट ही देख पड़ेगा कि इस लोकमें भगवान्‌की जो सर्वोत्तम, प्रियतम और पवित्रतम विभूतियाँ हैं वे

भारतवर्षमें ही हैं । भगवान् कहते हैं कि पर्वतोंमें मैं हिमालय हूँ, वृक्षोंमें मैं अश्वत्थ और नदियोंमें मैं गङ्गा हूँ । भगवत्प्राप्तिका परम साधन भगवद्भक्ति है, यह बात ग्यारहवें अध्यायमें बहुत स्पष्ट करके बता दी गयी है । इस अध्यायका अन्तिम श्लोक निःसंशयरूपसे भारतवर्षमें भक्ति और भक्तिमें भारतवर्ष (भारतवर्षका भक्तिभाव और भक्तिभावका भारतीयत्व) प्रकट करनेवाला है—

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा॥
भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥
मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥

'न वेदोंके अध्ययनसे, न तपसे, न दानसे, न यज्ञसे मैं इस तरह दिखायी दे सकता हूँ जैसा कि तुमने मुझे देखा है । परन्तु हे अर्जुन ! मैं इस रूपमें केवल अनन्यभक्तिसे ही जाना जा सकता हूँ, दिखायी दे सकता हूँ और तत्त्वतः मेरे अंदर प्रवेश किया जा सकता है । अर्जुन ! जो कोई मेरे लिये कर्म करता है, मेरा आश्रित होता है, मेरा भक्त होता और सङ्ग त्याग देता है, जगत्में किसी प्राणीसे वैर नहीं करता वह मुझे प्राप्त होता है ।'

राजा शङ्खकी साधना और भगवत्प्राप्ति

(लेखक—पं० श्रीशान्तनुविहारीजी द्विवेदी)

हैहय वंशमें श्रुत नामके राजा बड़े ही धर्मात्मा हो गये हैं । उनके सम्बन्धमें यह प्रसिद्ध है कि वे अपनी प्रजाको पुत्रसे भी बढ़कर प्रिय मानते थे । उनकी न्यायप्रियता, धर्मपरायणता और दयाशीलताने समस्त प्रजाके हृदयमें घर कर लिया था । यही कारण है कि चिरकालतक वे निर्विघ्न राज्य करते रहे । विद्रोह अथवा विप्लव किसे कहते हैं, यह लोगोंको मालूमतक नहीं था । उनके एकमात्र पुत्र थे शङ्ख । पिताकी धार्मिकताकी छाप पुत्रपर बचपनमें ही पड़ गयी थी । क्षमा, दया, शील, सन्तोष आदि गुण स्वभावसे ही उनमें निवास करते थे । वे संस्कारसम्पन्न होकर गुरुकुलमें गये । वहाँ गुरुजनोंकी सेवा करते हुए, सहपाठियोंसे प्रेमका बर्ताव करते हुए, उन्होंने समस्त वेद-वेदाङ्गोंका अध्ययन किया और अपनी विद्यासे गुरुदेवको सन्तुष्ट करके, उन्हें यथाशक्ति दक्षिणा देकर, उनका शुभाशीर्वाद लेकर अपने पिताके पास लौट आये । पिताने बड़े हर्षके साथ उनका अभिनन्दन किया और सब प्रकारसे योग्य देखकर राज्यका सम्पूर्ण भार उन्हें सौंप दिया । राज-काजकी चिन्तासे मुक्त होकर महाराज श्रुत भगवान्के चिन्तन-स्मरणमें अपना समय बिताने लगे । विद्वान्, सदाचारी एवं युवक शङ्खको स्वामीके रूपमें पाकर प्रजाको पुराने राजाके अलग होनेका कष्ट नहीं हुआ, बल्कि पुराने राजाको ही नये रूपमें पाकर उसके आनन्दमें और वृद्धि हुई ।

शङ्खकी योग्यता असाधारण थी । उनमें इतना नीति-नैपुण्य था कि कोई भी समस्या उलझनेके पहले ही वे सुलझा लेते थे । उनके हृदयकी आँख खुली हुई थी । कोई बात उनकी बुद्धिके बाहर नहीं थी, इसलिये उनका राज्य निष्कण्टक था । उनकी सचाई, ईमानदारी और प्रेमपूर्ण बर्ताव देखकर लोग मुग्ध हो जाते । उनकी बुद्धि तीक्ष्ण थी और हृदय पवित्र । निष्काम-भावसे शास्त्रोंका अध्ययन करनेके कारण भगवान्के दिव्य स्वरूप और महान् गुणोंको वे कुछ-कुछ समझ सके थे । यही कारण है कि भगवान्पर उनका पूर्ण विश्वास था । भगवान् ही एकमात्र जगत्के स्वामी हैं, वे ही

सबसे श्रेष्ठ, सबसे सुन्दर और सबसे मधुर हैं। उनके अतिरिक्त और किसी भी व्यक्ति अथवा वस्तुका विश्वास करना अपनेको धोखा देना है, यही उनका निश्चय था और वे वास्तवमें भगवान्पर निर्भर थे। वे जो कुछ भी काम करते, भगवान्का ध्यान करते हुए ही करते; उनके चित्तमें इस प्रकारके भाव उठा करते कि एक-मात्र भगवान् ही समस्त देवताओं और दिव्यताओंके मूल हैं, उनका स्वरूप, उनकी महिमा अनन्त है; वे जगत्के स्वामी हैं, जीवके स्वामी हैं; जो कुछ यह जगत् या जीव हैं, सब उनकी शक्तिके नन्हे-से चमत्कार हैं। इस प्रकार उनका चित्त निरन्तर भगवन्मय रहता, उनका अन्तस्तल प्रभु-स्मरणके सौरभसे सतत सुवासित रहता। वे एकादशी, पूर्णिमा आदि व्रत करते, प्रति-दिन ब्राह्मणों और दीन-दुःखियोंको उत्तम-उत्तम वस्तुओं-का दान करते और इसके फलस्वरूप त्रिलोकीकी कोई भी वस्तु न चाहकर केवल भगवान्की प्रसन्नता, उनकी प्रीतिकी ही अभिलाषा करते। बड़े-बड़े यज्ञ किये, बड़े-बड़े दान दिये, राज्यके समस्त ब्राह्मणोंको दक्षिणा दे-देकर सन्तुष्ट किया, राज्यभरमें बहुत-से कुएँ बनवाये, बावड़ियाँ खुदवायीं, प्याऊ लगवाये, सब लोगोंके लिये बहुत-से बाग-बगीचोंका निर्माण करवाया, बड़ी सावधानीके साथ निरन्तर भगवान्को याद रखते हुए, भगवान्के लिये, उनकी प्रसन्नताके लिये ही वे सम्पूर्ण कर्म करते थे। उन्होंने अपने हृदयको, जीवन-को, सर्वस्वको और अपने आपको भगवान्के चरणोंमें समर्पित कर दिया था, निछावर कर दिया था। वे निरन्तर भगवान्का स्मरण करते, उनके नामोंकी माला फेरते, उनकी मूर्तिकी पूजा करते और संकोच छोड़कर प्रेम-विह्वल होकर, भगवान्की लीला, गुण और नामोंका सङ्कीर्तन करते। पुराणोंके रहस्य जाननेवाले ब्राह्मण उन्हें भगवान्की परम पावन कथाएँ सुनाते, जिनके श्रवण-मात्रसे इस संसारसे प्राणियोंका निस्तार हो जाता है। इस प्रकार बड़ी सावधानीसे बिना थके, जागरणसे लेकर शयनपर्यन्त वे भगवान्की प्रसन्नताके लिये प्रयत्न किया करते और अपनी ओरसे कोई त्रुटि नहीं होने देते थे।

यह सब होनेपर भी उनके हृदयमें एक ज्वाला निरन्तर जलती रहती थी। यह थी अपने प्रियतम प्रभुके दर्शनकी तीव्रतम अभिलाषाकी अन्तर्ज्वाला। भगवत्प्रीतिके लिये जो कुछ वे कर्म-उपासना, साधन-भजन, स्मरण-चिन्तन करते थे, उसीका यह फल था कि शङ्खके चित्तमें भगवान्के दर्शनकी सच्ची अभीप्सा, उत्कट उत्कण्ठा जागरित हुई। यह लालसा प्रत्येक जीवके अन्तर्देशमें प्रसुप्त रहती है। इसका जागरण तब होता है जब सत्कर्म, सत्सङ्ग और सत्सङ्कल्पोंके अखण्ड प्रवाहसे हृदय धुल जाता है और भीतरकी यह अमोलक निधि निरावरण होकर बाहर आ जाती है। शङ्खने देखा—अभीतक मेरे सामने संसार-ही-संसार है। मेरी दृष्टि बाहर जब जाती है—संसार ही दीखता है। यह दुःखागार संसार कबतक मेरे सामने रहेगा? क्या यह क्षणभङ्गुर वस्तु मेरी आँखोंके सामनेसे सदाके लिये हट न जायगी? क्या मैं सम्पूर्ण सौन्दर्य और माधुर्यके परम आश्रय, मुनियोंके मनको चुरानेवाले, करुणावरुणालय भगवान्को अपनी इन्हीं आँखोंसे नहीं देख पाऊँगा? यही सोचते-सोचते शङ्खका हृदय भर आया, वे शोकाकुल हो गये।

राजा शङ्खके पास सांसारिक दृष्टिसे किसी वस्तुकी कमी नहीं थी। उन्हें विषयभोगकी सारी सुविधा प्राप्त थी, परन्तु वे उसीमें भूल जानेवाले नहीं थे। वे तो उस शाश्वत सुखको प्राप्त करना चाहते थे जिससे बढ़कर और कुछ है ही नहीं। उस सुखके लिये, भगवान्के लिये, उनकी आतुरता इतनी बढ़ गयी कि एक क्षणका विलम्ब भी उनको असह्य हो गया। वे मन-ही-मन कहने लगे, इस संसारके चक्करमें मैं अनादि-

कालसे भटक रहा हूँ, न जाने किस-किस योनिमें जन्म लेना पड़ा, कभी स्वर्गमें गया तो कभी नरकमें, कभी मनुष्य हुआ तो कभी पशु-पक्षी। न जाने कितने प्रकारके सुख-दुःख भोगे, भोगने पड़े। परन्तु अबतक भगवान्के, अपने प्रभुके, दर्शन नहीं मिले। अवश्य ही मैं महान् पापी हूँ, मेरी आँखोंपर अभी इतना मोटा पर्दा है कि मैं भगवान्को देख ही नहीं सकता। मेरे इस दुर्भाग्यकी कोई अवधि भी है अथवा नहीं, क्या पता! अनेक जन्मोंतक घोर तपस्या की जाय और यदि उन सबका एक ही अखण्ड फल प्राप्त हो तब भी तपस्याओंके फलस्वरूप भगवान्के दर्शन हो सकेंगे, इसमें सन्देह ही है। उनके दर्शन तो उनकी कृपासे ही हो सकते हैं। कब होगी उनकी कृपा, कब वे मेरी आँखोंके सामने अपनी रूप-माधुरीकी धारा प्रवाहित कर देंगे, कब मेरे हृदयकी प्यास बुझावेंगे? मेरे कान कब उनके सुधा-मधुर वचनोंको सुनकर भाग्यवान् होंगे? मैं तो अभागा हूँ, यदि मैं भगवान्के दर्शनका अधिकारी होता तो क्या अबतक उससे वञ्चित रहता? मुझे धिक्कार है, मेरा जीवन व्यर्थ है, मैं अपराधी हूँ। मेरे जीवनका जो एकमात्र उद्देश्य है, जिसके लिये मेरे जीवनकी समस्त चेष्टाएँ हैं, उसीसे शून्य रहकर भगवान्की कृपासे दूर रहकर, संसारकी उलझनोंमें पचते रहना, भला यह भी कोई जीवन है? ऐसे जीवनको रखकर क्या करना है? यही सोचते-सोचते शङ्ख इतने आतुर हो गये कि उनका दम घुटने लगा।

भगवान्की दृष्टि सब ओर रहती है, एक-एक अणुके अन्तरालमें कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड प्रतिक्षण बनते-बिगड़ते रहते हैं, परन्तु उनका एक भी अंश भगवान्की दृष्टिसे ओझल नहीं रहता। जो कुछ होता है समयसे और ठीक उनके इङ्गितके अनुसार। विश्वके हास और रोदन उनकी रङ्गशालाके अद्भुत और करुण अभिनय-मात्र हैं। नटवरकी लीला, सूत्रधारकी इच्छा, कठपुतली कैसे समझे? एक बार नाम लेनेसे रीझ जानेवाले भगवान् राजा शङ्खके सम्मुख इतनी तपस्या, साधना और व्याकुलताके बाद भी प्रकट नहीं हुए। अवश्य ही इसमें कुछ-न-कुछ रहस्य होगा। यही मान लें कि अभी राजा शङ्खके प्रेमको, उनकी अनासक्ति और त्यागको और भी उत्कृष्टरूपमें जगत्के सामने प्रकट करना था। लोग कहते हैं कि हम अपनी अमुक वस्तुको छोड़ें क्यों? उनसे अनासक्त रहेंगे, बस! पर यह भ्रम है। 'छोड़ें क्यों?' यही तो आसक्तिका स्वरूप है। छोड़नेमें ही तो अनासक्तिकी परीक्षा है। इसलिये साधनामें, साधकके जीवनमें, त्यागकी भी आवश्यकता हुआ करती है। राजा शङ्खकी व्याकुलता पूर्ण थी, परन्तु उनका वैराग्य अभी पूर्णतया व्यक्त नहीं हुआ था। उनकी व्याकुलताकी दृष्टिसे भगवान्को दर्शन देना चाहिये था और वैराग्यको पूर्ण करनेके लिये थोड़े विलम्बकी भी अपेक्षा थी। भगवान्ने मध्यम मार्गसे काम लिया, वे राजा शङ्खके सामने प्रकट नहीं हुए, अदृश्यरूपसे ही बोले—'राजन्, तुम मेरे प्रिय भक्त हो, तुम्हें इस प्रकार शोकाकुल न होना चाहिये। तुम मेरी शरणमें हो, मेरे प्रेमी हो, भला मैं तुम्हें कैसे त्याग सकता हूँ? मैं तुम्हारे हितकी बात कहता हूँ, घबराना नहीं, अभी तुम्हें दर्शन होनेमें थोड़ा विलम्ब है, परन्तु दर्शन होंगे अवश्य, इसमें सन्देह नहीं है। महर्षि अगस्त्य भी तुम्हारी ही भाँति मेरे दर्शनके लिये अत्यन्त लालायित हैं, तुम चलो वेङ्कटाचलपर, जब वे वहाँ आवेंगे, तब तुम दोनोंको एक साथ ही दर्शन होंगे। तबतक मेरा स्मरण-चिन्तन करते हुए अपना समय व्यतीत करो।'

शङ्खने अविलम्ब आज्ञाका पालन किया। जो भगवान्के प्रेमी हैं, जिनका हृदय सचमुच भगवान्का रूप-रस पान करनेके लिये उत्सुक है, उनके लिये तीनों लोककी सम्पत्तिका कोई मूल्य नहीं है। इन तुच्छ वस्तुओंके त्यागमें उन्हें किसी प्रकारका विचार नहीं

करना पड़ता, यह तो प्रेमियोंकी मनचाही बात है। अवसर पाते ही वे भाग निकलते हैं। यदि भगवान्‌की प्रेरणा प्राप्त हो जाय तो कहना ही क्या है? शङ्खने अपने पुत्र वज्रको राजसिंहासनपर बैठाया और इस महान् कार्यके लिये वे भूतलके वैकुण्ठ वेङ्कटाचल-पर पहुँच गये। वहाँ जाकर उन्होंने स्वामिपुष्करिणीमें स्नान और अमृतोपम दिव्य जलका पान किया। उस पवित्र भूमिमें शङ्खका मन रम गया, वहीं एक छोटी-सी कुटियामें रहकर वे उस समयकी प्रतीक्षा करने लगे। अब कर्मोंका सम्पर्क बहुत कम हो गया था। इसलिये निरन्तर भगवन्नामका जप एवं उनकी लीला और स्वरूप-का चिन्तन, यही उनका काम रहा। योग-क्षेमका निर्वाह तो भगवान् करते ही थे।

उन्हीं दिनों महर्षि अगस्त्य वेङ्कटाचलकी परिक्रमा करते हुए, भगवान्‌के दर्शनकी अभिलाषासे अनेक स्थानोंमें विचरण कर रहे थे। ब्रह्माने उनसे कहा था, तुम्हें वहीं भगवान्‌के दर्शन होंगे। उनके हृदयकी भी वही दशा थी, जो राजाके हृदयकी। कुमारधारा आदि तीर्थोंमें स्नान करके वे भगवान्‌की पूजा करते, नाम-जप करते और बड़ी उत्सुकताके साथ प्रतीक्षा करते कि अब भगवान् आते ही होंगे। बहुत दिन बीत गये, पर भगवान् नहीं आये। किसी पेड़का पत्ता खड़कता, तो वे ससम्भ्रम उठकर खड़े हो जाते, कहीं भगवान् न आ रहे हों! किसी पक्षीके उड़नेकी आहट मिलती, तो आकाशकी ओर देखने लगते, शायद गरुड़पर चढ़-कर भगवान् ही आते हों। परन्तु उनकी यह आशा सौ-सौ बार निराशाके रूपमें परिणत हो गयी। उनके हृदयमें ऐसी हूक उठती, इतनी व्यथा होती कि वे पागल-से हो जाते। उनकी इस अन्तःपीड़ाको जानकर भगवान्‌ने ब्रह्माके हृदयमें प्रेरणा की। उन्होंने बृहस्पति, उपरिचर वसु आदिको सन्देश देकर अगस्त्यके पास भेजा। उन लोगोंने आकर अगस्त्य ऋषिसे कहा कि आपको राजा शङ्खके साथ ही भगवान्‌के दर्शन होंगे। इसलिये आप स्वामिपुष्करिणीके तटपर चलिये। हम लोग भी आपके साथ भगवान्‌का दर्शन करके कृतार्थ होंगे। भगवान्‌के दर्शन होंगे, यह सुनते ही महर्षि अगस्त्यका चित्त अदम्य उत्साह, स्फूर्ति और आनन्दसे भर गया। सम्पूर्ण निराशा और उद्वेग नष्ट हो गये। वे बिना एक क्षणका भी विलम्ब किये सब-के-सब स्वामि-पुष्करिणीके तटपर स्थित, राजा शङ्खके पास जानेके लिये चल पड़े, रास्तेके वृक्ष, लताएँ, नदी, नद, पशु-पक्षी सब-के-सब आज उन लोगोंको शान्ति, प्रेम और आनन्दका सन्देश दे रहे थे।

शङ्खने बड़े प्रेमसे सबका स्वागत किया। जब सब सुस्थिर हुए, तब कीर्तन प्रारम्भ हुआ। एक उद्देश्य, एक अभिलाषा, एक साधनाके इतने भक्त इकट्ठे हो गये और प्रेममें पगकर ऊँचे स्वरसे नारायण नामकी ध्वनि करने लगे। समस्त पर्वतमालाएँ, सम्पूर्ण वनस्थली और अनन्ताकाश उस दिव्यध्वनिसे मुखरित हो गया, दिशा-विदिशाएँ गूँज उठीं। मानो आनन्दके अनन्त समुद्रमें बाढ़ आ गयी हो और सारा जगत् उसीमें डूब-उतरा रहा हो। सबका चित्त तल्लीन हो गया। एक दिन, दो दिन, तीन दिन बीत गये, रातके चौथे पहरमें सबको नींद आ गयी। नींद क्या थी, भगवान्‌की एक लीला थी। सबने एक साथ ही स्वप्न देखा—पुरुषोत्तम भगवान् सबके सामने प्रकट हुए, श्याम वर्ण, पीत वस्त्र, चार कर-कमलोंमें चार आयुध—शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म, प्रसन्नमुख, होठोंमें मन्द-मन्द मुसकान, प्रेमभरी चितवन, भौंहोंसे मानो अनुग्रहकी वर्षा हो रही है। बड़े प्रेमसे बोल रहे हैं—'तुम्हें क्या चाहिये? मैं तुम्हारी भाव-भक्तिसे प्रसन्न हूँ, चाहे जो माँग लो, सब कुछ दे सकता हूँ।'

नींद टूटी। सबको एक ही स्वप्न। बड़े आश्चर्यकी बात है। सबके हृदयसे आनन्दकी धारा छलक रही

थी। आँखें प्रेमके आँसुओंसे भर रही थीं। महान् कृपा, महान् अनुग्रह। स्वप्नका ही स्मरण करते हुए, लोगोंने स्वामिपुष्करिणीमें स्नान किया। आवश्यक कृत्य करके फिर सब-के-सब भगवान्की सेवा-पूजामें लग गये। सबके चित्तमें उल्लास था, सबके एक-एक अङ्ग फड़क-फड़ककर कह रहे थे—भगवान् आनेवाले हैं। स्तुति-प्रार्थनाके अनन्तर शङ्ख और अगस्त्य दोनों ही मन्त्र-जप करने लगे। वे 'ॐ नमो नारायणाय' इस अष्टाक्षरमन्त्रका जप करते थे। उसी समय उनके सामने एक अत्यन्त अद्भुत तेज प्रकट हुआ। वह तेज कोटि-कोटि सूर्य, चन्द्रमा और अग्निका एक पुञ्ज था। उस ज्योतिसे सम्पूर्ण गगन-मण्डल भर गया। उस दिव्य ज्योतिर्मय चैतन्यको देखकर सब-के-सब आश्चर्य-चकित हो गये। वे सम्पूर्ण हृदयसे भगवान्का चिन्तन करने लगे। भगवान् उनके सामने प्रकट हुए बड़े भयङ्कररूपमें, विराट्रूपमें—मन जिसका चिन्तन नहीं कर सकता, वाणी जिसका वर्णन नहीं कर सकती, ऐसे रूपमें, हजारों नेत्र, हजारों हाथ, हजारों पैर, चमकते हुए सोनेकी तरह कान्ति, बड़े विकराल दाँत, मुखसे आगकी लाल-लाल लपटें उगलते हुए। सारा संसार भयत्रस्त। अगस्त्य, शङ्ख, बृहस्पति आदि बार-बार वन्दना करने लगे।

भगवान्के जो आयुध संसारकी रक्षाके लिये सर्वत्र विचरण किया करते हैं, वे सब उनकी सेवाके लिये आ गये। चक्र, गदा, खड्ग, पुण्डरीक, पाञ्चजन्य सब-के-सब मूर्तिमान् होकर सेवा करने लगे। पाञ्चजन्य-की ध्वनिसे जिसे सुनकर दैत्य भयभीत हो जाते हैं, सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड-मण्डल परिपूर्ण हो गया और उसके द्वारा सूचना पाकर ब्रह्मा आदि देवतागण अपने-अपने वाहनोंपर सवार होकर वहाँ आ गये। सनकादि योगीश्वर, वसिष्ठ आदि मुनीश्वर भगवान्की स्तुति करते हुए, वहाँ उपस्थित हुए। सारूप्य मुक्तिप्राप्त श्वेतद्वीप-वासी जय-विजय आदि पार्षद वहाँ आ गये। कल्पवृक्षसे सबके मानसको आमोदित करनेवाली पुष्पवर्षा होने लगी, गन्धर्व गायन करने लगे, अप्सराएँ नाचने लगीं। ब्रह्मा आदि देवताओंने एक स्वरसे स्तुति की—'प्रभो! तुम्हारी जय हो! कृपासिन्धो! तुम्हारी जय हो। श्यामसुन्दर! तुम्हारी जय हो। तुम्हीं संसारके जीवन-दाता हो, तुम्हीं भक्तोंके भयभञ्जन हो। स्वामिन्! तुम्हारी जय हो, जय हो, जय हो। तुम अनन्त हो, शान्त हो, वाणी और मनके अगोचर हो। तुम्हारे चिदानन्द-स्वरूपको भला कौन जान सकता है? तुम अणुसे भी अणु, स्थूलसे भी स्थूलसर्वान्तर्यामी हो। तुम्हीं जीव और प्रकृतिसे परे पुरुषोत्तम हो, तुम्हारे निर्विशेष ब्रह्मस्वरूपको मायाधीन प्राणी नहीं जान सकता। तुम्हारे भीषण रूपको देखकर हम सब भयभीत हो गये हैं। अब कृपा करके, सौम्य, शान्तरूपसे दर्शन दो।' भगवान्ने ब्रह्माकी प्रार्थना स्वीकार की। सबके देखते-ही-देखते, भगवान्ने अपना भयङ्कर रूप अन्तर्हित करके बड़ा ही मधुर मनोहर स्वरूप प्रकट कर दिया। रत्न-जटित विमानपर श्यामसुन्दर पीताम्बरधारी चतुर्भुज मूर्ति, कर-कमलोंमें चारों आयुध, चन्द्रमाके समान शान्त-शीतल मुख, प्रेमभरी चितवन, मन्द-मन्द मुसकान देखकर सभी मुग्ध हो गये। जब सबने प्रणाम-स्तुति कर ली, तब भगवान्ने विनयावनत अगस्त्यसे कहा—'मुनीश्वर! तुमने मेरे लिये घोर तपस्या की है, तुम्हारी भाव-भक्तिसे मैं प्रसन्न हूँ। तुम्हारी जो इच्छा हो, माँगो, मैं तुम्हारी अभिलाषा पूर्ण करूँगा। अगस्त्य बार-बार भगवान्को प्रणाम कर रहे थे, उनका शरीर पुलकायमान था और वाणी गद्गद। उन्होंने रुँधे कण्ठसे कहा—'प्रभो! तुम्हारे दर्शनसे मेरी तपस्या, स्वाध्याय, चिन्तन सब सफल हो गये। तुम मेरी आँखोंके सामने प्रकट हुए, तुमने मेरा आदर किया, इससे बढ़कर मुझे और क्या चाहिये? तुम्हारी कृपासे

मेरी सब इच्छाएँ पूर्ण हैं। सोचनेपर भी नहीं मालूम पड़ता कि मैं तुमसे क्या माँगूँ। फिर भी मेरा बाल-चापल्य यह कहनेके लिये विवश कर रहा है कि तुम मुझे अपने चरणोंमें अहैतुकी भक्ति प्रदान करो। प्रभो! एक प्रार्थना है, देवताओंकी प्रार्थनासे संसारके कल्याणार्थ सुवर्णमुखरी नदी आ रही थी, वह पर्वतोंमें फँस गयी है, तुम कृपा करके उसका उद्धार कर दो और इसी पर्वतपर तुम निवास करो जिससे लोग तुम्हारी सेवाका अवसर प्राप्त कर सकें।' भगवान्‌ने कहा—'मुनीश्वर, मेरी भक्ति तो तुम्हारे हृदयमें पहलेसे ही निवास करती है, आगे भी रहेगी। सुवर्णमुखरी नदी भी मुक्त हो जायगी और दूसरी गङ्गाके समान जगत्‌का कल्याण करती रहेगी। तुम्हारी यह इच्छा पूर्ण हो। मैं तुम्हारी प्रार्थना स्वीकार करके यहाँ निवास करूँगा, जो मेरा दर्शन करेंगे, उनका कल्याण होगा।'

भगवान्‌ने राजा शङ्खको सम्बोधन करके कहा—'तुम्हारी प्रेम-भक्तिसे मैं अत्यन्त प्रसन्न हूँ, तुम्हारी जो अभिलाषा हो, मैं पूर्ण करूँगा।' 'शङ्खने अञ्जलि बाँधकर कहा—'नाथ! तुम्हारे चरणकमलोंकी सेवाके अतिरिक्त और कौन-सी वस्तु मैं माँगूँ। तुम्हारे प्रेमी भक्त जिस उत्तम गतिको प्राप्त होते हैं, वही मुझे भी दो।' भगवान्‌ने कहा—'तुम्हारी प्रार्थना पूर्ण होगी। जो मेरी सेवा करते हैं उनके लिये अलभ्य कुछ भी नहीं है। तुम कल्पपर्यन्त मेरा स्मरण करते हुए, उत्तम लोकोंमें निवास करो। अन्तमें तुम मेरे लोकमें आओगे। भगवान्‌की आज्ञासे सब लोग अपने-अपने लोकको गये और भगवान् अन्तर्धान हो गये। अगस्त्य और शङ्ख दोनोंकी अभिलाषा पूर्ण हुई। दोनों कृतकृत्य हो गये।

धन्य हैं प्रेमी भक्त और उनके भगवान्!

रामचरितमानसमें वन-पथकी अद्वितीय झाँकी

(लेखक—श्रीगुरुदयालुसिंहजी एम्० ए०, साहित्यभूषण)

गोस्वामी तुलसीदासजीने रामचरितमानसमें भगवान् श्रीरामचन्द्रजीका चरित्र-चित्रण करते समय वन-पथका जो चित्र खींचा है, वह अपने ढंगका अनूठा है। जिस समय राम, लक्ष्मण और सीता अयोध्याको प्रणाम कर आगे बढ़ते हैं, नगरवासियोंसे नहीं रहा जाता और वे उनका वियोग असह्य जान उनके साथ हो लेते हैं। भगवान् उन्हें बार-बार समझाते हैं, पर वे उनका साथ छोड़नेको तैयार नहीं होते। प्रेमवश लोगोंको कर्तव्य-पथसे विचलित होते, भगवान् उन्हें सोते छोड़कर सचिवको लेकर आगे बढ़ते हैं। विवश हो अयोध्यावासी लौट आते हैं और—

> राम दरस हित नेम ब्रत लगे करन नर नारि।
> मनहुँ कोक कोकी कमल दीन बिहीन तमारि॥

और उधर जब यह पावन त्रिमूर्ति शृङ्गवेरपुर पहुँची तो निषादनाथने 'लिए फल मूल भेंट भरि भारा। मिलन चलेउ हियँ हरषु अपारा।' भगवान्‌को नगरमें ले चलने-के प्रयत्नमें विफल होकर वह 'सिंसिपातरु' के नीचे उनके विश्रामकी तैयारी करता है। सम्भवतः लक्ष्मण-जीको वनवासकी परिचर्यासे अवगत करानेके लिये ही प्रथम रात्रिकी परिचर्या निषादराजके बाटे पड़ती है। तभी तो—

> गुहँ सँवारि साँथरी डसाई। कुस किसलयमय मृदुल सुहाई॥
> सुचि फल मूल मधुर मृदु जानी। दोना भरि भरि राखेसि पानी॥

कहाँ तो—

> सुचि सुबिचित्र सुभोगमय सुमन सुगंध सुबास।
> पलँग मंजु मनिदीप जहँ सब बिधि सकल सुपास॥

और कहाँ 'भूमि-सयन'। इसीलिये तो कोमल मधुर फलोंको पहचानने और कुस-किसलयकी कोमल शय्या बनानेमें दक्ष केवटसे भेंट हो जाती है। विधाताके लिये यदि मार्गको 'सुमनमय' करनेमें कठिनाई थी तो

इस प्रकारका संयोग मिलाना कहीं अधिक सुन्दर और स्वाभाविक था । अस्तु,

रात्रिमें यदि निषादराजका हृदय 'रामसिय' को भूमि-पर सोते देख विदीर्ण हुआ जाता था तो लक्ष्मण यह सब 'मोहनिसा' की बातें समझकर सन्तोष धारण किये हुए थे । दोनों सेवक रातभर बैठे हुए राम-गुण-गानमें बिता देते हैं उधर दिनभरका थका-माँदा सचिव सो जाता है।

सवेरा होनेपर जिस समय रामचन्द्रजी 'अनुजसहित' वन-वेष धारण करते हैं, सचिव सुमंतसे नहीं रहा जाता और नेत्रोंमें जल भरकर वह महाराज दशरथका सारा सँदेशा सुना देता है । किन्तु रामचन्द्रजी तो कर्तव्य-पालनकी तैयारी कर चुके थे अतएव सचिवको निराश लौट जाना पड़ता है । उधर केवट भी—

पद पखारि जलु पान करि आपु सहित परिवार ।
पितर पारु करि प्रभुहि पुनि मुदित गयउ लेइ पार ॥

गंगा पार उतरनेके बाद भगवान् उसे उतराईके नाते मणिजटित अँगूठी देना चाहते हैं किन्तु वह केवल निर्मल-भक्तिका वरदान लेकर लौट जाता है। तब हमारी त्रिमूर्त्ति गङ्गा-स्नान करनेके पश्चात् आगे बढ़ती है । तनिक विलम्ब कर इन अनन्य वन-पथिकोंका दर्शन तो कर लीजिये ।

भगवान्‌के साथ रहनेका गौरव तो क्या, उनकी थोड़ी-सी कृपा-दृष्टि पानेके लिये कितने योगी-मुनि सतत उद्योग करते रह जाते हैं; फिर भी सफल नहीं होते । यहाँ देखिये—एक तो जनकनन्दिनीको उनके साथ रहनेका सौभाग्य प्राप्त होता है जिन्होंने कहा था कि 'जहँ लगि नाथ नेह अरु नाते । पिय बिनु तियहि तरनिहु ते ताते ॥' और कहा था कि 'छिनु छिनु प्रभु पद कमल बिलोकी । रहिहउँ मुदित दिवस जिमि कोकी ॥' और अन्तमें जिनका यह अल्टीमेटम (Ultimatum) था कि—

ऐसेउ बचन कठोर सुनि जौं न हृदउ बिलगान ।
तौ प्रभु बिषम बियोग दुख सहिहहिं पावँर प्रान ॥

अर्थात् यदि शरीरको स्वामीके संग चलनेके लिये आज्ञा न मिली तब प्राणोंको साथ जानेसे कौन रोक सकता है ? जिन सती-शिरोमणिका यह सिद्धान्त था कि 'जिय बिनु देह नदी बिनु बारी । तैसिअ नाथ पुरुष बिनु नारी ॥' उन्हें छोड़ देना भाव-प्रेमी भगवान्‌के लिये तो असम्भव था ।

अनन्य भक्त एवं सहचर लक्ष्मणजीका भी क्या कहना ? जिस समय श्रीरामचन्द्रजी उन्हें गुरु-जनोंके परितोषके लिये छोड़ने लगे—उनसे कुछ कहते न बना—

उतरु न आवत प्रेम बस गहे चरन अकुलाइ ।
नाथ दासु मैं स्वामि तुम्ह तजहु त काह बसाइ ॥

धन्य स्वामी-भक्ति और धन्य ऐसी दासता ! सेवकको स्वामीके चरणोंके अतिरिक्त और स्थान कहाँ ? अस्तु, उनकी माताका आदेश सुन लीजिये—

तात तुम्हारि मातु बैदेही । पिता रामु सब भाँति सनेही ॥
अवध तहाँ जहँ राम निवासू । तहँइँ दिवसु जहँ भानु प्रकासू ॥

और यह कि 'तुम्हरेहिं भाग रामु बन जाहीं । दूसर हेतु तात कछु नाहीं ॥' ऐसी माताओंपर कोई भी देश, कोई भी जाति गर्व कर सकती है । अस्तु, श्रीरामचन्द्रजीके साथ एक तो सीताजी रह गयीं जिनके लिये राम प्राणाधार थे और दूसरे लक्ष्मणजी जिनका अस्तित्व ही रामके सहारे था (तहँइँ दिवसु जहँ भानु प्रकासू) ।

जब यह त्रिमूर्ति वन-पथपर चलना प्रारम्भ करती है, लोग सुनते ही इन्हें देखनेकी इच्छासे दौड़े आते हैं और इनकी सुन्दरता देख अपने भाग्यको सराहते हैं । 'अति लालसा बसहिं मन माहीं । नाउँ गाउँ बूझत सकुचाहीं ॥' साधारण पथिक होते तो कुछ पूछते भी । यहाँ तो यह हाल होता है कि 'रामहि देखि एक अनुरागे । चितवत चले जाहिं सँग लागे ॥' और 'एक

नयन मग छबि उर आनी। होहिं सिथिल तन मन बर बानी॥'

कहिये, वह रूप कैसा होगा जिसको देखनेसे मनको तृप्ति नहीं होती और नर-नारी उनके सुन्दरताकी चर्चा करते हुए कुछ दूरतक उनके साथ चले जाते हैं। किसी छबिको हृदयपटपर अङ्कित करनेके लिये उसका कुछ समयतक एकटक अवलोकन और फिर नेत्र मूँदकर उसका ध्यान परम आवश्यक है। एक क्षणके लिये कोई सौन्दर्य देखकर उसका विस्मरण भी शीघ्र हो सकता है। अतः पुरवासी जब उनकी छबिको नयनोंके मार्गसे हृदयपटपर अङ्कित कर लेते हैं तब उसी आनन्दमें डूबकर वे वहीं खड़े रह जाते हैं, मन उसी त्रिमूर्त्तिके ध्यानमें निमग्न हो जाता है और उस सुखको प्रकट करनेके लिये वाणी मूक हो जाती है।

इन्हीं ग्रामवासियोंमें कोई चतुर व्यक्ति कहीं वट-वृक्षकी घनी छाया देखकर तुरंत तृण और पत्तोंसे बैठनेके लिये स्थान बना देता है और फिर उनसे बड़े प्रेमभरे विनम्र शब्दोंमें कहता है—'एक घड़ी यहाँ बैठकर थकान तो मिटा लीजिये।' यही उसके लिये बहुत है कि यह त्रिमूर्त्ति तनिक विश्राम करनेके बहाने वहाँ बिलम जाय। फिर भी इससे अधिक लाभके लोभसे वह पूछता है—'अभी जाइयेगा कि सबेरे?' कितनी विनम्रता और आग्रह है यह गोस्वामीजीके मूल शब्दोंमें ही देखिये—

एक देखि बट छाँह भलि डासि मृदुल तृन पात।
कहहिं गवाँइअ छिनुकु श्रमु गवनब अबहिं कि प्रात॥

एक दूसरा प्रेमी उनके बिलमानेका और भी अच्छा उपाय ढूँढ़ निकालता है। वह जल भरा हुआ घड़ा लाकर उनके सामने रखता है और बड़ी ही कोमल वाणीमें कहता है—'हे नाथ! तनिक हाथ-मुँह तो धो लीजिये।' एक व्यक्ति हो तो उसके आग्रहके प्रति उदासीनता भी प्रकट की जा सकती है। यहाँ तो यदि एक बैठनेके लिये कोमल आसन बना देता है तो दूसरा ले आता है ठंढा पानी। यदि एक कहता है कि एक क्षण विश्राम कर लीजिये तो दूसरा हाथ-मुँह धोनेका आग्रह करता है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि भगवान् देखते हैं कि सीताजी भी थक गयी हैं। अतः परोक्षमें तो लोगोंकी रुचि रखनेके लिये और अपरोक्षमें सीताको तनिक विश्राम देनेके लिये वे थोड़ी देर वटकी छायामें ठहर जाते हैं। फिर क्या—लोगोंको मुँहमाँगा वर मिल जाता है और—

मुदित नारि नर देखहिं सोभा। रूप अनूप नयन मनु लोभा॥
एकटक सब सोहहिं चहुँ ओरा। रामचंद्र मुख चंद चकोरा॥

इस 'तरुन-तमाल-बरन' और 'दामिनी-बरन' जोड़ीकी शोभाको देख 'थके नारि नर प्रेमपिआसे। मनहुँ मृगी मृग देखि दिआसे॥' इस त्रिमूर्त्तिकी सौन्दर्य-छबि देखनेके लिये लोगोंको परम सुअवसर प्राप्त हुआ है; फिर भी वे तन, मन और वाणीसे शिथिल हो उन्हें केवल एकटक निहार रहे हैं। उनसे कुछ पूछनेके लिये न तो उन्हें अवकाश है, न अभिलाषा और न साहस ही।

किन्तु इन मण्डलियोंमें स्त्रियाँ भी थीं जो स्वभावही-से कौतूहलपूर्ण और जिज्ञासु होती हैं। यहाँपर ये साधारण ग्रामीण स्त्रियाँ उन दोनों राजकुमारोंके समीप जानेतकका साहस नहीं करतीं (ध्यान रहे कि इस परिवर्तित वेषमें भी लोग उनमें सभी राज-लक्षणोंको देख आश्चर्य करते थे कि जिन्हें राजमहलमें रहना चाहिये वे यहाँ पैदल नंगे पाँव क्यों और कैसे घूम रहे हैं)। परन्तु सीताजीको राजकुमारीके वेषमें देखकर भी उन्हें उनके पास जानेका साहस होता है, इसका कारण स्त्रियोंका परस्पर संकोचरहित होना ही है। फिर भी वे अपनेको सीताजीके सम्मुख क्षुद्र जानकर संकोच और स्नेहवश तुरंत कुछ पूछनेमें हिचकती हैं और बार-बार उनके चरण छूती हुई कहती हैं—

राजकुमारि बिनय हम करहीं। तिय सुभायँ कछु पूँछत डरहीं
स्वामिनि अबिनय छमबि हमारी। बिलगु न मानब जानि गँवारी

उन्हें बराबर यह आशंका है कि कहीं ये हमें मूर्ख एवं गँवार जान हमारी बातोंका उत्तर देना तो अलग रहा, हमारे असभ्य व्यवहारसे चिढ़ न जायँ। कहाँ ये हैं राजकुमारी जिनका दर्शनतक हमें दुर्लभ है और कहाँ हम गाँवकी मूर्खा स्त्रियाँ! अस्तु, उनका सबसे बड़ा प्रश्न तो यही था कि 'ये दोनों व्यक्ति जो आपके साथ हैं, आपके कौन लगते हैं?' क्योंकि लोगोंको यह देख-देखकर आश्चर्य होता था कि इन दोनों नवयुवकोंके साथ यह सुन्दरी क्यों भ्रमण कर रही है। किन्तु इस प्रश्नको पूछनेके पहले वे स्त्रियाँ श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मणके रूपकी प्रशंसा करती हैं जिससे सीताजीका मन उनकी ओर आकृष्ट हो जाय। तब वे उनसे पूछती हैं—'कोटि मनोज लजावनिहारे। सुमुखि कहहु को अहहिं तुम्हारे॥'

पहले तो 'सुनि सनेहमय मंजुल बानी। सकुची सिय मन महुँ मुसुकानी॥' फिर 'तिन्हहि बिलोकि बिलोकति धरनी। दुहुँ सकोच सकुचति बरबरनी॥' एक तो पति और देवरके सामने ही उन स्त्रियोंसे किस प्रकार बातें करें और दूसरे बात भी ऐसी कहनी है जिसे भारतीय देवियोंके लिये कहना एक प्रकारसे असम्भव है। स्त्रियोंका आग्रह देख सीताजीने आधा जवाब तो थोड़े-से शब्दोंमें दे दिया—

सहज सुभाय सुभग तन गोरे। नामु लखनु लघु देवर मोरे॥

किन्तु इसके बाद अपने पतिका स्वयं परिचय देनेकी समस्या उनके सामने आ खड़ी हुई। जिस सुन्दरतासे उन्होंने इस समस्याको हल किया है वह हिन्दी-साहित्यके गर्वकी वस्तु है और किसी भी साहित्यमें इसकी जोड़का स्थल मिलना कठिन है। अपने पतिका परिचय देना है इसलिये सबसे पहले तो संकोच ही आ घेरता है। अतः वे अपने चन्द्रवदनको अञ्चलसे ढक लेती हैं। इससे दो बातें सिद्ध होती हैं—एक तो उनका संकोच और दूसरे परिचय देनेकी तैयारी। चन्द्रमुखको अञ्चलसे ढँककर वे एक बार श्रीरामचन्द्रजीकी ओर दृष्टिपात करती हैं। फिर यह विचारकर कि इन्हींका परिचय देना है और वे स्वयं वहाँ बैठे हैं, उनकी भौंहें चढ़ जाती हैं। तनिक देखिये, उनके हृदयके एक-एक भाव किस प्रकार प्रकट होकर सारा काम कर देते हैं और उन्हें बोलनेकी आवश्यकता ही नहीं पड़ती। भौंहें टेढ़ी हुईं तो इससे भी अर्थ बिल्कुल स्पष्ट नहीं हुआ। तब वे अपने सुन्दर नेत्रोंकी तिरछी चितवनसे काम लेती हैं और श्रीरामचन्द्रकी ओर नैनोंकी कोरसे देखनेके बहाने स्त्रियोंपर यह प्रकट कर देती हैं कि यही मेरे पति हैं। अब श्रीतुलसीदासजीकी अमृतवाणीमें ही इसका रसपान कीजिये—

बहुरि बदनु बिधु अंचल ढाँकी। पियतन चितइ भौंह करि बाँकी॥
खंजन मंजु तिरीछे नयननि। निज पति कहेउ तिन्हहिं सियँ सयननि॥

इशारेमें ही प्रश्नका उत्तर आ गया। स्त्रियाँ समझ गयीं। उस समय उन्हें अतुलनीय धन मिलनेके समान आनन्द मिला—'भईं मुदित सब ग्राम बधूटीं। रंकन्ह रायन रासि जनु लूटीं॥'

राजकुमारी सीताजीने उनपर इतना अनुग्रह किया, इसको प्रकट करनेके लिये उनके पास क्या था सिवा इसके कि—

अति सप्रेम सिय पायँ परि बहुबिधि देहिं असीस।
सदा सोहागिनि होहु तुम्ह जब लगि महि अहि सीस॥

इतना सब होनेपर भी उनकी दर्शन-अभिलाषा पूरी न हुई थी, अतः वे पुनः प्रार्थना करती हैं—

पुनि पुनि बिनय करिअ कर जोरी। जौं एहि मारग फिरिअ बहोरी
दरसनु देब जानि निज दासी। लखीं सीयँ सब प्रेम पिआसी॥

मगवासियोंकी यह प्यास साधारण तो थी नहीं जो बुझ जाय। यहाँ तो जितना ही रूप-रस-पान करते थे उतनी ही प्यास बढ़ती जाती थी।

इस प्रकार ये वन-पथिक जिधर जाते सबको मुग्ध कर लेते थे। उनके कष्टोंका अनुमान कर मगवासी राजा, रानी और विधाता सबको दोष देते थे। साथ ही उनके दर्शनोंसे अपनेको कृतार्थ मानते थे। वन-पथके ग्राम, ग्राम-वासी, सर-सरिता, वृक्ष-भूमि सभीको ऐसा सौभाग्य प्राप्त हुआ कि—

जे पुर गाँव बसहिं मग माहीं। तिन्हहि नाग सुर नगर सिहाहीं॥
पुन्यपुंज मग निकट निवासी। तिन्हहि सराहहिं सुरपुरबासी॥
जे सर सरित राम अवगाहहिं। तिन्हहि देव सर सरित सराहहिं॥
जेहि तरु तर प्रभु बैठहिं जाई। करहिं कलपतरु तासु बड़ाई॥
जहँ जहँ राम चरन चलि जाहीं। तिन्ह समान अमरावति नाहीं॥

यहाँतक कि—

परसि राम पद पदुम परागा। मानति भूमि भूरि निज भागा॥

उस समय तो साक्षात् इन्द्रपुरी उतर आयी थी। भला यह त्रिमूर्ति कोई ऐसी-वैसी तो थी नहीं। ब्रह्म और जीवके बीच माया, कामदेव और वसन्तके बीच रति, बुध और चन्द्रमाके बीच रोहिणीकी शोभा एकत्र जुट गयी थी।

इन महान् व्यक्तियोंके चलनेमें भी भारतीयताकी झलक देखिये। रामचन्द्रजीके चरण-चिह्नोंको देख-देखकर सीताजी उन्हींपर पैर रखते हुए धीरे-धीरे चलती हैं और लक्ष्मणजी इन चरण-चिह्नोंको दाहिने लेकर चलते हैं कि कहीं उनपर पैर न पड़ जाय। और वे सदा सम्मानित रहें।

प्रभु पद रेख बीच बिच सीता। धरति चरन मग चलति सभीता॥
सीय राम पद अंक बराएँ। लखन चलहिं मगु दाहिन लाएँ॥

इस वन-पथकी महिमा कहाँतक कही जाय। राम, सीता और लक्ष्मण आज भी पथिक-वेषमें जिनके हृदयमें स्वप्नमें बसते हैं उनके लिये वह धाम सुरक्षित है जिसको कोई-कोई मुनि ही पाते हैं।

अजहुँ जासु उर सपनेहुँ काऊ। बसहुँ लखनु सिय रामु बटाऊ॥
राम धाम पथ पाइहि सोई। जो पथ पाव कबहुँ मुनि कोई॥

अन्तमें वन-पथमें विचरती हुई इस सुन्दर त्रिमूर्त्तिको तुलसीदासजीके ही शब्दोंमें स्मरण करता हूँ—

सान्द्रानन्दपयोदसौभगतनुं पीताम्बरं सुन्दरं
पाणौ बाणशरासनं कटिलसत्तूणीरभारं वरम्।
राजीवायतलोचनं धृतजटाजूटेन संशोभितं
सीतालक्ष्मणसंयुतं पथिगतं रामाभिरामं भजे॥

'जल भरे हुए मेघके समान सुन्दर शरीरवाले, पीताम्बर धारण किये, अद्भुत रूप, हाथमें धनुष-बाण लिये, कटिमें बाणोंसे भरे हुए तरकशोंसे शोभित, नीलकमलके समान दीर्घ नेत्रवाले, सिरपर जटाजूट बाँधे, सीता-लक्ष्मणको साथ लिये मार्गमें जाते हुए जानकीजीके प्यारे श्रीरामचन्द्रजीको मैं भजता हूँ।'

कौन है ?

बुद्धिमान् कौन है ?—जो श्रीभगवान्‌में प्रेम करता है।
धनवान् कौन है ?—जिसके पास भजनकी पूँजी है।
सुखी कौन है ?—जो हर बातमें भगवान्‌की कृपा देखता है।
कीर्तिमान् कौन है ?—जो प्रभुके दरबारमें भक्त समझा जाता है।
पण्डित कौन है ?—जो संसारके और भगवान्‌के स्वरूपको ठीक-ठीक जानता है ?
त्यागी कौन है ?—जिसके मनमें कोई भी कामना या वासना नहीं है।

चलमें अचल वृत्ति

(लेखक—श्रीव्रजमोहनजी मिहिर)

संसार परिवर्तनशील है। अणुसे लेकर विशाल पर्वततक सब नित्य बना, बिगड़ा और बदला करते हैं। यही दशा प्रत्येक योनिमें प्राणियोंकी भी है। प्रत्येक व्यक्तिके साथ, प्रत्येक स्थानपर, प्रत्येक घटनामें प्रतिक्षण नित्यप्रति परिवर्तन हो रहा है। परिवर्तनकी इस प्रगतिमें लोग किसी अपरिवर्तनशील स्थितिकी कल्पना करते हैं। हमलोगोंको यह जानना चाहिये कि जगत्‌की इस परिवर्तनशील स्थितिके साथ हमारा क्या सम्बन्ध है। चीजोंको देखनेसे जब हम यह स्वीकार करते हैं कि प्रत्येक वस्तुमें परिवर्तन है—यहाँतक कि हमारे अंदर भी निरन्तर परिवर्तन हो रहा है तो हम किसी स्थायी स्थितिकी कल्पना कैसे कर सकते हैं। जब हम इस रहस्यको सचाईके साथ समझ लेते हैं कि प्रत्येक स्थानपर परिवर्तन है तब हमारा प्रतिक्षणकी बदलती हुई परिस्थितिके साथ संघर्षण कैसा और हम क्यों किसी अचल स्थितिकी कल्पना करें? हमारी आन्तरिक और बाह्य परिस्थितिमें कोई भेद नहीं होना चाहिये। जब सभी जगह परिवर्तन है तो समस्त वस्तुओंसे भिन्न अनुभव करके अमरत्वकी भावना कैसी? प्रतिक्षणका परिवर्तन ही नित्य जीवन है। इसके साथ ऐक्य स्थापित हो जानेपर जीवन अमर है। हमें अपने चारों ओर परिवर्तन दीख रहा है फिर भी हमारे हृदयके अन्तस्तलमें एक ऐसी गुह्य इच्छा विद्यमान है जिससे हमारा हृदय अमरत्वकी प्राप्तिके लिये सदा लालायित रहता है। सब द्वारोंको बंद करके हम कोई ऐसी स्थिति चाहते हैं जहाँ किसी प्रकारकी विघ्न-बाधा उस सुखावस्थामें अड़चन न डाल सके। अर्थात् अज्ञानमुक्त जीवन व्यतीत करते हुए इन्द्रियोंके सुखमें लीन दुःखको न समझ सकनेपर उससे बचनेके भयसे हम कोई ऐसी स्थिति चाहते हैं जहाँ अबाधरूपमें स्थित रह सकें। कार्य और उसकी प्रतिक्रियाके बीच इस स्थितिको प्राप्त करना असम्भव है। इसके अतिरिक्त पहलेसे किसी स्थितिको चाहना भी तो एक बहुत बड़ा विघ्न है। जहाँ तृष्णा और वासना है वहाँ जीवनकी निश्चिन्तता असम्भव वस्तु है। निश्चित जीवन तो असलमें वहीं सम्भव है जहाँ न कर्तृत्व भाव है और न उसकी किसी रूपमें प्रतिक्रिया है। चिन्मय शक्ति अज्ञानमय जीवनके कारण मन, बुद्धि और इन्द्रियोंका आवरण है। यह हमें वासनाके कारण उस परमशक्तिमें प्रतिष्ठान नहीं करने देते। अतः निश्चिन्तावस्थाकी कल्पनाके पूर्व हमें उनके व्यापारपर दृष्टि रखनी चाहिये। अपने प्रत्येक कार्यपर विचार और मनन करना चाहिये। इस प्रक्रियासे तमाम प्रतिबन्धकोंका अन्त हो जाता है। उनके अन्त हो जानेपर हम किसी स्थितिकी कल्पना नहीं करेंगे। उस समय स्वाभाविक दृश्य तो यह होगा कि मनुष्यका सारा जीवन एक द्रष्टाका जीवन होगा। किसी स्थितिमें न उसे विक्षेप होगा और न वह किसी स्थितिके साथ अपना सम्बन्ध स्थापित करेगा। जीवनकी रागरहित दशामें मनुष्य अमरत्वकी इच्छा नहीं करता। यह स्थिति ही उसका स्वाभाविक जीवन है। चिन्मय शक्तिसे रहित होकर आनन्द या समाधिकी दशा शून्य और जड़वत् है। प्रतिक्षणका परिवर्तन इस बातको स्पष्ट कर देता है कि निरावलम्ब आनन्द अनन्तकी दशाका द्योतक है। इसके लिये न कोई स्थान है, न कोई स्थिति है और न कोई विधान ही है। समबुद्धि और सब वस्तुओंका समन्वय ही इसकी सत्य स्थिति है। इसमें प्रतिष्ठान कर चुकनेके पश्चात् न हम संसारकी

वस्तुओंके परिवर्तनका विचार करेंगे और न किसी स्थायी स्थितिकी कल्पनाका ही। जीवनकी स्वाभाविक दशा तो यह है कि परिवर्तनशील संसारमें रहते हुए प्रत्येक स्थितिमें आनन्दकी अनुभूति चित्तसे विलग न हो सके। इस प्रकारके जीवनमें किसी स्थितिके साथ राग अथवा विराग न होनेसे अनुकूल अथवा प्रतिकूल स्थितिका कोई प्रश्न नहीं उठता। अवश्य ही जीवनकी स्वाभाविकतामें प्रतिकूल स्थिति स्वतः नष्ट हो जाती है।

इच्छामें ही दुःखका निवास है। इच्छा तदनुरूप वस्तुका साक्षात्कार चाहती है। फिर, हमारी इच्छा और उस वस्तुके बीच संघर्ष उत्पन्न होता है। हम नित्यप्रति देखते हैं कि प्रत्येक वस्तुका प्रतिक्षण क्षय हो रहा है। किसी दशापर अवलम्बित करनेवाली कोई वस्तु दो क्षणके लिये भी एक-सी नहीं रहती। हमारे चारों ओर प्रकृतिका प्रकोप है। एक मनुष्यका आचरण अस्वाभाविक होनेसे दूसरे मनुष्यके चित्तको व्यथित करता है। मनुष्यका मनुष्यके प्रति साङ्घातिक .कार्य दुःख, कष्ट, कलह, भय और मृत्युको उत्पन्न करता है। इच्छाकी पूर्तिके लिये जहाँ कार्यका सम्बन्ध है वहाँ संसारका प्रपञ्च और दुःख है। किन्तु संसारमें रहना ही उसके साथ किसी-न-किसी प्रकारका सम्बन्ध स्थापित करना है। किसी नीरव वनमें निवास करते हुए भी वहाँके लताकुञ्ज और द्रुमोंके साथ सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। अतः हम सम्बन्धको तो सर्वथा रोक नहीं सकते पर इतना तो हो सकता है कि वह सम्बन्ध राग, द्वेष, स्वार्थ और दुःख उत्पन्न करनेवाली भावनाओंसे रहित हो। संसारसे उदासीन न होकर प्रत्युत संसारमें रहते हुए उसमें लिप्त न होकर सबके साथ मोहरहित प्रेमका आचरण करते हुए जीवन-यापन करना चाहिये। इस प्रकारके जीवनमें मिलन और वियोगका दुःख नहीं रहता और न किसी वस्तुके प्रति इच्छाके कारण आकर्षण रहता है। इस प्रकारका जीवन किसी स्थिति, व्यक्ति या वस्तु-विशेषके साथ अपना स्थायी सम्बन्ध नहीं स्थापित करता। स्थायी सम्बन्धकी कल्पना ही दुःखका कारण है। दृष्टिमें आनेवाले सभी पदार्थ विनाशी हैं। साम्राज्य, शासन-प्रबन्ध, परिस्थिति, मनुष्य, उसके नित्य और नैमित्तिक कार्य सभी परिवर्तनके आवर्तमें चक्कर लगा रहे हैं। वास्तविक स्थिति तो संसारकी यह है, पर हमारा आचरण ठीक इसके विरुद्ध है। जबतक हमें संसार-की कोई वस्तु रुचिकर मालूम होती है तबतक हम यहाँ लिप्त रहते हैं और उनके साथ अपना घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करनेकी चेष्टा करते रहते हैं। मनोकामनाकी पूर्ति न होनेपर जब यहाँसे हताश हो जाते हैं तब अपने अंदर प्रवेश करते हैं परन्तु वहाँ भी भ्रमवश किसी आन्तरिक स्थितिके साथ अपना सम्बन्ध स्थापित कर लेते हैं और वहाँ भी किसी विशेष प्रकारका सुख भोगनेकी इच्छा करते हैं। इस प्रकार हमारा मन कभी इच्छासे शून्य नहीं रहता। किसी-न-किसी वस्तुके साथ हम सदा लगे रहते हैं। किसी वस्तु या परिस्थितिके साथ अपना सम्बन्ध स्थापित करना दुःख है। सारे बन्धनोंसे छुट्टी मिलनेपर ही स्वतन्त्रताकी झलक सामने आती है। जीवनका यह स्वातन्त्र्य ही उसकी स्वाभाविकता है। पर बन्धनके रहते हुए हम इस जीवनकी कल्पना नहीं कर सकते। इसलिये वह जीवन क्या है इस सम्बन्धमें हम पहले कुछ न सोचें। अभी तो हमें केवल यह देखना है कि हमारी कौन-कौन-सी इच्छाएँ बन्धन बनकर हमारे सामने आती हैं और सरल जीवनके प्रति प्रस्थान रोक देती हैं। यही प्राणीका जीवनमें कार्य है। जो प्राणी इसे अतिक्रमण कर जाता है, वह पुरुष है। अतः हमारा सारा प्रयास परिवर्तनशील जीवनकी प्रगतिमें किसी वस्तुके साथ स्थायी सम्बन्ध स्थापित करना दुःखका मुख्य कारण बनता है। संसारकी परिवर्तनशील दशाका

यदि हमने भली प्रकार वास्तविक रूपमें अनुभव कर लिया है और अपने अंदरकी भावुकताका भी, तो हम किसी स्थितिके साथ अमरत्वकी इच्छा न करेंगे। जब कि हमारा नित्यका यह जीवन ही पूर्ण और स्वाभाविक है, हमारे अंदर स्थायी सुख-चैनकी कोई तृष्णा न होनी चाहिये। जीवनमें प्रतिष्ठान हो जानेसे इस इच्छाका लय हो जाता है। इस सत्यका अनुभव हो जानेपर आन्तरिक संघर्ष शान्त हो जाता है और भयका भी अन्त हो जाता है। फिर हमारे अंदर कोई ऐसी आसक्ति नहीं रह जाती जिससे कि वैयक्तिक अशान्तिकी कोई सम्भावना बाकी रह जाय।

अचेतनावस्थामें मनुष्य बहुत-सा ऐसा कार्य कर बैठता है जिसकी प्रतिक्रिया होती है। उस प्रतिक्रियाके परिणामको न सह सकनेपर मनुष्य व्यथित हो जाता है और शीघ्रातिशीघ्र उससे मुक्त हो जानेकी इच्छा करता है। दुःखसे मुक्त हो जानेकी इच्छा स्वाभाविक और उचित है लेकिन अनुचित है उसका उससे मुक्त हो जानेका ढंग। जिस युक्तिसे वह मुक्त होनेकी कोशिश करता है, उससे उसका छुटकारा नहीं होता बल्कि दुःख दिनोंदिन बढ़ता ही जाता है। इसमें सबसे आवश्यक बात है दुःखके रहस्यपर विचार करना। मनुष्यके अंदर इतना धैर्य नहीं होता कि वह अपनी ओरसे उस कष्टपर विचार करके उसकी सत्यताको समझ सके। अतः वह अपने चित्तकी अन्य वृत्तियोंमें उसे परिच्छिन्न कर देता है या किसी बाह्य वस्तुका आश्रय ग्रहण करता है। दोनों युक्तियाँ ही मनकी क्रीड़ा हैं। इससे उसे थोड़े समयके लिये सान्त्वना मिल जाती है। जबतक मनुष्य स्वयं अपनी ओरसे अपने सुख-दुःखको नहीं समझ लेता, तबतक उनसे छुटकारा मिलना बहुत ही कठिन है।

लोग प्रायः अपने तमसाच्छादित मन और बुद्धिकी सहायतासे अपने कार्योंको देखते और करते हैं और अपनी इस चिकीर्षाका नाम अनुभव देते हैं। उसमें नाममात्रके लिये भी स्वतन्त्रता नहीं रहती। सब बातें प्राचीन संस्कारोंका ही अवलम्बन लेती हैं। इस अनुभवमें भूतकालकी ही प्रतिकृति रहती है। मनके अंदर चैतन्यशक्तिकी सहायतासे एक बहुत बड़ी शक्ति कार्य किया करती है। उसमें इतनी शक्ति है कि वह अपने किसी चिन्तनको स्वरूपमय कर सकती है। शक्ति तो केवल एक वही है जिससे सारा संसार जागता और खेलता हुआ दिखलायी पड़ता है। शक्तिका बोध हो जानेपर मनुष्यके अंदर भ्रमके लिये कोई स्थान नहीं रह जाता बल्कि वह स्वयं ही उस महान् शक्तिका एक अंश है। पूर्ण बोध हो जानेपर प्राणीका उस शक्तिके साथ तादात्म्य हो जाता है और तब उसकी पृथक् सत्ता नष्ट हो जाती है। इस स्थितिको प्राप्त होकर ही मनुष्य संसारकी सब दशाओंको समझने और उनके बीच निवास करनेमें समर्थ होता है।

जिनका मन पहलेहीसे किसी पूर्वकी कल्पनासे आच्छादित है और वे उसीके आधारपर अपनी बातोंका मनन करते हैं, इस स्थितिमें क्या उनका वह अनुभव पूर्ण कहा जा सकता है। जब हम पहलेहीसे अज्ञानवश अचेतावस्थामें किसी अनन्त सत्ताकी कल्पना कर बैठेंगे तब हम भला उसकी वास्तविक सत्ताको कैसे समझ सकते हैं। इस प्रकारका आच्छादित मन इस सम्बन्धमें जो कुछ सोचेगा वह उसके कल्पित रागमें ही वृद्धि करेगा और उसीको पुष्ट करेगा।

अनन्तको जाननेकी हमारी यह इच्छा केवल हमारी सञ्चित स्मृतिकी ही प्रेरणा है जिसके साथ भय, इच्छा, तृष्णा और राग-द्वेषसहित 'मैं' की भावना विद्यमान है। यह 'मैं' ही अनेक रूपोंमें दृष्टिगोचर होता है, यही बड़े और छोटेकी कल्पना करता है और यही नित्य और अनित्यको सोचता है। यह 'मैं' विविध

रूपोंमें अपनेको बनाये रखनेकी इच्छा करता है और उसके बहुत-से तरीकोंको खोज निकालता है।

दूसरी ओर यह खयाल भी आता है कि अंदर यदि कोई तृष्णा न रह जायगी तो शायद अनन्तकी उपलब्धि हो सकती है। लोग यह सोचते हैं कि जीवनमें संघर्षके अतिरिक्त कुछ और भी है। ऐसी इच्छा ही यह सूचित करती है कि मन किसी ऐसी स्थितिकी कल्पना करता है जहाँ वह इस बातके लिये आश्वासन चाहता है कि उसके प्रयासका कोई पुरस्कार भी है।

इस प्रकार जीवनकी प्रगतिमें हम सदा प्रतिरोध उत्पन्न करते रहते हैं। कभी-कभी लोगोंको इन प्रतिरोधोंका पता तो चल जाता है लेकिन वे उनके प्रति इतने आसक्त रहते हैं कि उसके अतिरिक्त कुछ और सोचना उनके लिये असम्भव हो जाता है।

यदि सजग होकर पता लगावें तो व्यक्तिगत अनुभवमें और समाजकी बातोंमें बहुत अन्तर दिखलायी पड़ने लगता है। जहाँ पहले कोई रुकावट नहीं माल्रम पड़ती थी वहाँ अब प्रत्येक बातमें सोचने-समझनेकी आवश्यकता प्रतीत होने लगती है। स्वभाव एक दूसरे प्रकारका बन चुकता है। इसलिये हर मौकेपर वह इस ढंगकी रोक-थाम पसन्द नहीं करता, अतः वह कुछ व्यवधान चाहने लगता है और उसका चरित्रके साथ सम्बन्ध स्थापित कर देनेकी चेष्टा करता है।

यह वह दशा है जब प्राणीको पहलेकी चीजोंके प्रति उतना आकर्षण नहीं रह जाता है और न वह वर्तमान सजगताको ही भली प्रकार समझ पाता है। इससे इतना जरूर होता है कि उसे अपना कुछ-कुछ पता चलने लगता है। राग और उसके प्रति रुकावटमें मनुष्यको 'मैं'पनका भान होता है। इस अवस्थामें मनुष्य दो प्रकारके संघर्षोंके बीच कुछ समझौता कर लेनेकी कोशिश करता है जो कि दुःखको सदा जीवित रखता है। केवल दो बाह्य वस्तुओंमें ही संघर्ष नहीं होता। अंदरका संघर्ष उससे भी ज्यादा विकट है। जिस प्रकारका मनुष्यका जीवन है उससे जब उसे सन्तोष नहीं होता तो वह कुछ और हो जानेकी इच्छा करता है। यह इच्छा ठीक है। दोष केवल इतना ही है कि वह मनुष्य अपनी परिस्थितिमें विवेकपूर्वक असन्तुष्ट नहीं होता, अतः उसकी वह इच्छा उसके लिये और बड़े दुःखका कारण बन जाती है। नित्यके जीवनको समझकर विवेकसहित उसमें निवास करना ही अनन्तमें निवास करना है। नित्यका जीवन ही नित्य अर्थात् अनन्त है। प्रज्ञावान् ही इसका अधिकारी है।

प्रतिरोधकी दशामें मनुष्यका मन अनन्त प्रशान्त-सागरमें कभी निवास नहीं कर सकता। इच्छा और स्वार्थ प्रतिरोध उत्पन्न करते हैं। सुखकी लालसा स्वार्थकी जननी है। अज्ञान इन सबका बहुत बड़ा सहायक और पोषक है। यही हमारे अंदर अनुभव और तृष्णाका ढोंग रचता है। इस प्रतिरोधमें जिस चीजको हम अनन्त कहते हैं वह भी हमारे संघर्षका एक भाग है। किसी संघर्षका प्रतिफल अनन्त सत्ता नहीं है।

जहाँ अपूर्णता है, वस्तुबोधकी कमी है, वहीं उसे कायम रखनेकी एक प्रबल इच्छा है जो कि जीवनकी स्वाभाविक प्रगतिमें रुकावट पैदा करती है। यह प्रतिरोध भी कभी-कभी अनन्त सत्ताका अम्बर पहन लेता है।

मनकी अनन्त सत्ताके लिये खोज उसकी अनित्यताको प्रकट करती है। हम अपने चारों ओर यह देखते हैं कि कोई वस्तु स्थायी नहीं है फिर भी हमारा मन बरबस उनमें स्थायित्वकी खोज करने लगा है। किसी वस्तुके स्थायी न होनेसे हमें असन्तोष होता है क्योंकि हमने अपने अंदर अपरिवर्तनशील वस्तुकी कल्पना कर रक्खी है। अतः परिवर्तनशील वस्तुमें जब हम किसी अपरिवर्तनशील वस्तुकी कल्पना

करते हैं तो इससे संघर्ष उत्पन्न होता है। यदि हमें इस बातका अनुभव हो जाय कि बाह्य वस्तुओंमें और अंदर प्रतिक्षण परिवर्तन हो रहा है तो इस दुःखदायी संघर्षकी उत्पत्ति न हो कि इसे छोड़कर हम किसी स्थायी वस्तुकी कल्पना करते हैं। सुखके आधारपर ही सारे सङ्कल्पोंकी कल्पना की जाती है। समत्वकी भावनाका प्रादुर्भाव हो जानेपर अंदर-बाहरका भेद-भाव मिट जाता है और मनुष्य तब किसी अपरिवर्तनशील स्थितिकी कल्पना नहीं करता।

जिसे इस परिवर्तनावस्थाका भलीप्रकार बोध हो जाता है वह किसी स्थायी दशा या सदा सुखी रहनेकी कल्पना नहीं करता। प्रतिक्षणके परिवर्तनके बीच ही वह सुखी रहेगा। इसे समझ लेनेपर सामने यह समस्या नहीं रह जाती कि एक प्रतिरोध दूसरे प्रतिरोधके साथ संघर्ष उत्पन्न कर रहा है। बल्कि यह होगा कि न वहाँ प्रतिरोधकी उत्पत्ति होगी और न उसके अन्तकी कोई चाहना ही रह जायगी। इस कठिन रहस्यको भलीप्रकार समझ लेनेपर एक नवीन प्रकारकी जागृति उत्पन्न होती है। जीवनकी यह दशा ही उसके प्रति सच्चा प्रेम है। नित्यमें जब अनित्यकी पृथक्ता विलीन हो जाती है तो मनुष्यकी उस इच्छाका भी, जो अमरत्वकी कल्पना करती है, अन्त हो जाता है और मनुष्य स्वरूपस्थ होकर प्रगतिशील संसारमें निवास करता है।

रहस्यमय भगवत्प्रेम

(लेखक—श्रीलालजीरामजी शुक्ल एम्० ए०, बी० टी०)

प्रेम एक विलक्षण अनुभव है। हम सब जानते हैं कि यह अनुभव क्या है, पर उसका वर्णन नहीं कर सकते, लक्षण करना तो दूर रहा। प्रेमकी गौरव-गरिमा, उसकी महिमा हम गा सकते हैं, पर शब्दोंद्वारा उसका अनुभव दूसरोंको नहीं करा सकते। प्रेम अपने असली और अत्यन्त व्यापक अर्थमें, सदा-सर्वत्र, अलौकिक ही होता है। यह जीवनका यौवन है, जीवनका परम फल और परम सौन्दर्य है। किसी कविने कहा है, 'सूर्यका अस्त होते ही दिनका प्रकाश निकल जाता है, वैसे ही जब प्रेमका अस्त होता है तब जीवनमें अन्धकार ही रह जाता है।'

संसारमें सर्वत्र ही कवियोंने प्रेमकी महत्ता, शक्ति और निगूढताका यशोगान किया है। प्रत्येक कविता ही प्रेमका एक स्मृति-चिह्न है। वह प्रेमके ही अनुभव-की एक कहानी कह जाता और अपने आपको अमर बना लेता है। जिस कवितामें प्रेम न हो वह काव्य-कला-की एक विडम्बना है, वह अपने रचयिताका ही उपहास करती है।

प्रेमको एक महान् अनुभव कहकर वर्णन किया गया है। यह वह चीज है जो मनुष्यको आनन्दमय बना देती है, फिर यही वह चीज है जो उसे महान् दुखी बना देती है। यही बन्धका कारण और यही मुक्ति-का एकमात्र साधन है। उपयुक्त पात्र-पदार्थोंकी ओर इसका प्रवाह हो तो यह जीवनको मुक्त कर देता है, अनुपयुक्त पात्र-पदार्थोंकी ओर हो तो बन्धन और दुःख-का कारण होता है। जीवनका सारा पुरुषार्थ प्रेमको ही पवित्र और उदात्त बनाना है। लौकिक जीवनमें भी निन्द्य पदार्थोंका प्रेम हमें नीचे गिराता है और उत्तमका प्रेम ही हमें ऊँचे उठाता है। जो कोई अपने दुखी जीवनको बदलकर आनन्दमय जीवन-लाभ करना चाहता हो उसको इतना ही तो करना है कि अपने प्रेमपात्रको वह बदल दे, उत्तमको अपना प्रेमास्पद बना ले।

जब हमलोग प्रेमकी बात कहते-सुनते हैं तो प्रायः उसका अभिप्राय मानव-प्रेमसे होता है। जड पदार्थोंकी अपेक्षा यह प्रेम उच्च स्तरका है। जड पदार्थोंका प्रेम

रूपोंमें अपनेको बनाये रखनेकी इच्छा करता है और उसके बहुत-से तरीकोंको खोज निकालता है।

दूसरी ओर यह खयाल भी आता है कि अंदर यदि कोई तृष्णा न रह जायगी तो शायद अनन्तकी उपलब्धि हो सकती है। लोग यह सोचते हैं कि जीवनमें संघर्षके अतिरिक्त कुछ और भी है। ऐसी इच्छा ही यह सूचित करती है कि मन किसी ऐसी स्थितिकी कल्पना करता है जहाँ वह इस बातके लिये आश्वासन चाहता है कि उसके प्रयासका कोई पुरस्कार भी है।

इस प्रकार जीवनकी प्रगतिमें हम सदा प्रतिरोध उत्पन्न करते रहते हैं। कभी-कभी लोगोंको इन प्रतिरोधोंका पता तो चल जाता है लेकिन वे उनके प्रति इतने आसक्त रहते हैं कि उसके अतिरिक्त कुछ और सोचना उनके लिये असम्भव हो जाता है।

यदि सजग होकर पता लगावें तो व्यक्तिगत अनुभवमें और समाजकी बातोंमें बहुत अन्तर दिखलायी पड़ने लगता है। जहाँ पहले कोई रुकावट नहीं माछ्म पड़ती थी वहाँ अब प्रत्येक बातमें सोचने-समझनेकी आवश्यकता प्रतीत होने लगती है। स्वभाव एक दूसरे प्रकारका बन चुकता है। इसलिये हर मौकेपर वह इस ढंगकी रोक-थाम पसन्द नहीं करता, अतः वह कुछ व्यवधान चाहने लगता है और उसका चरित्रके साथ सम्बन्ध स्थापित कर देनेकी चेष्टा करता है।

यह वह दशा है जब प्राणीको पहलेकी चीजोंके प्रति उतना आकर्षण नहीं रह जाता है और न वह वर्तमान सजगताको ही भली प्रकार समझ पाता है। इससे इतना जरूर होता है कि उसे अपना कुछ-कुछ पता चलने लगता है। राग और उसके प्रति रुकावटमें मनुष्यको 'मैं'पनका भान होता है। इस अवस्थामें मनुष्य दो प्रकारके संघर्षोंके बीच कुछ समझौता कर लेने-की कोशिश करता है जो कि दुःखको सदा जीवित रखता है। केवल दो बाह्य वस्तुओंमें ही संघर्ष नहीं होता। अंदरका संघर्ष उससे भी ज्यादा विकट है। जिस प्रकारका मनुष्यका जीवन है उससे जब उसे सन्तोष नहीं होता तो वह कुछ और हो जानेकी इच्छा करता है। यह इच्छा ठीक है। दोष केवल इतना ही है कि वह मनुष्य अपनी परिस्थितिमें विवेक-पूर्वक असन्तुष्ट नहीं होता, अतः उसकी वह इच्छा उसके लिये और बड़े दुःखका कारण बन जाती है। नित्यके जीवनको समझकर विवेकसहित उसमें निवास करना ही अनन्तमें निवास करना है। नित्यका जीवन ही नित्य अर्थात् अनन्त है। प्रज्ञावान् ही इसका अधिकारी है।

प्रतिरोधकी दशामें मनुष्यका मन अनन्त प्रशान्त-सागरमें कभी निवास नहीं कर सकता। इच्छा और स्वार्थ प्रतिरोध उत्पन्न करते हैं। सुखकी लालसा स्वार्थकी जननी है। अज्ञान इन सबका बहुत बड़ा सहायक और पोषक है। यही हमारे अंदर अनुभव और तृष्णाका ढोंग रचता है। इस प्रतिरोधमें जिस चीजको हम अनन्त कहते हैं वह भी हमारे संघर्षका एक भाग है। किसी संघर्षका प्रतिफल अनन्त सत्ता नहीं है।

जहाँ अपूर्णता है, वस्तुबोधकी कमी है, वहीं उसे कायम रखनेकी एक प्रबल इच्छा है जो कि जीवनकी स्वाभाविक प्रगतिमें रुकावट पैदा करती है। यह प्रतिरोध भी कभी-कभी अनन्त सत्ताका अम्बर पहन लेता है।

मनकी अनन्त सत्ताके लिये खोज उसकी अनित्यता-को प्रकट करती है। हम अपने चारों ओर यह देखते हैं कि कोई वस्तु स्थायी नहीं है फिर भी हमारा मन बरबस उनमें स्थायित्वकी खोज करने लगा है। किसी वस्तुके स्थायी न होनेसे हमें असन्तोष होता है क्योंकि हमने अपने अंदर अपरिवर्तनशील वस्तुकी कल्पना कर रक्खी है। अतः परिवर्तनशील वस्तुमें जब हम किसी अपरिवर्तनशील वस्तुकी कल्पना

करते हैं तो इससे संघर्ष उत्पन्न होता है। यदि हमें इस बातका अनुभव हो जाय कि बाह्य वस्तुओंमें और अंदर प्रतिक्षण परिवर्तन हो रहा है तो इस दुःखदायी संघर्षकी उत्पत्ति न हो कि इसे छोड़कर हम किसी स्थायी वस्तुकी कल्पना करते हैं। सुखके आधारपर ही सारे सङ्कल्पोंकी कल्पना की जाती है। समत्वकी भावनाका प्रादुर्भाव हो जानेपर अंदर-बाहरका भेद-भाव मिट जाता है और मनुष्य तब किसी अपरिवर्तनशील स्थितिकी कल्पना नहीं करता।

जिसे इस परिवर्तनावस्थाका भलीप्रकार बोध हो जाता है वह किसी स्थायी दशा या सदा सुखी रहनेकी कल्पना नहीं करता। प्रतिक्षणके परिवर्तनके बीच ही वह सुखी रहेगा। इसे समझ लेनेपर सामने यह समस्या नहीं रह जाती कि एक प्रतिरोध दूसरे प्रतिरोधके साथ संघर्ष उत्पन्न कर रहा है। बल्कि यह होगा कि न वहाँ प्रतिरोधकी उत्पत्ति होगी और न उसके अन्तकी कोई चाहना ही रह जायगी। इस कठिन रहस्यको भलीप्रकार समझ लेनेपर एक नवीन प्रकारकी जागृति उत्पन्न होती है। जीवनकी यह दशा ही उसके प्रति सच्चा प्रेम है। नित्यमें जब अनित्यकी पृथक्ता विलीन हो जाती है तो मनुष्यकी उस इच्छाका भी, जो अमरत्वकी कल्पना करती है, अन्त हो जाता है और मनुष्य स्वरूपस्थ होकर प्रगतिशील संसारमें निवास करता है।

रहस्यमय भगवत्प्रेम

(लेखक—श्रीलालजीरामजी शुक्ल एम्० ए०, बी० टी०)

प्रेम एक विलक्षण अनुभव है। हम सब जानते हैं कि यह अनुभव क्या है, पर उसका वर्णन नहीं कर सकते, लक्षण करना तो दूर रहा। प्रेमकी गौरव-गरिमा, उसकी महिमा हम गा सकते हैं, पर शब्दोंद्वारा उसका अनुभव दूसरोंको नहीं करा सकते। प्रेम अपने असली और अत्यन्त व्यापक अर्थमें, सदा-सर्वत्र, अलौकिक ही होता है। यह जीवनका यौवन है, जीवनका परम फल और परम सौन्दर्य है। किसी कविने कहा है, 'सूर्यका अस्त होते ही दिनका प्रकाश निकल जाता है, वैसे ही जब प्रेमका अस्त होता है तब जीवनमें अन्धकार ही रह जाता है।'

संसारमें सर्वत्र ही कवियोंने प्रेमकी महत्ता, शक्ति और निगूढताका यशोगान किया है। प्रत्येक कविता ही प्रेमका एक स्मृति-चिह्न है। वह प्रेमके ही अनुभवकी एक कहानी कह जाता और अपने आपको अमर बना लेता है। जिस कवितामें प्रेम न हो वह काव्य-कलाकी एक विडम्बना है, वह अपने रचयिताका ही उपहास करती है।

प्रेमको एक महान् अनुभव कहकर वर्णन किया गया है। यह वह चीज है जो मनुष्यको आनन्दमय बना देती है, फिर यही वह चीज है जो उसे महान् दुखी बना देती है। *यही बन्धका कारण और यही मुक्तिका एकमात्र साधन है।* उपयुक्त पात्र-पदार्थोंकी ओर इसका प्रवाह हो तो यह जीवनको मुक्त कर देता है, अनुपयुक्त पात्र-पदार्थोंकी ओर हो तो बन्धन और दुःखका कारण होता है। जीवनका सारा पुरुषार्थ प्रेमको ही पवित्र और उदात्त बनाना है। लौकिक जीवनमें भी निन्द्य पदार्थोंका प्रेम हमें नीचे गिराता है और उत्तमका प्रेम ही हमें ऊँचे उठाता है। जो कोई अपने दुखी जीवनको बदलकर आनन्दमय जीवन-लाभ करना चाहता हो उसको इतना ही तो करना है कि अपने प्रेमपात्रको वह बदल दे, उत्तमको अपना प्रेमास्पद बना ले।

जब हमलोग प्रेमकी बात कहते-सुनते हैं तो प्रायः उसका अभिप्राय मानव-प्रेमसे होता है। जड पदार्थोंकी अपेक्षा यह प्रेम उच्च स्तरका है। जड पदार्थोंका प्रेम

आत्माको सङ्कुचित कर देता है, मानव-प्रेम उसे विशाल बनाता है। एकमें जो कुछ भी हो लेनेकी ही इच्छा होती है, दूसरेमें मिलनकी। पर यह मानव-प्रेम भी सान्तका ही प्रेम है। इसका अनुभव क्षणिक ही होता है, जिसके बाद अवसाद अवश्य ही आ जाता है। अंगरेज कवि शेले सान्तसे होकर ही अनन्तकी खोज करते थे। उनकी यह धारणा थी कि सृष्ट जगत्का प्रत्येक पदार्थ अनन्तका ही एक प्रतीक है और ऐसे प्रतीकोंमेंसे किसी एकका पूजन करनेसे अनन्तसे भेंट हो सकती है। इसी मनोवृत्तिके साथ जो-जो कविता उन्होंने लिखी वह वास्तवमें बहुत ऊँची हुई है। यही रहस्य-काव्य है। परमतत्त्वके प्रतीक ही उनके प्रेमके विषय हैं।

परन्तु खेद है कि वे इस वृत्तिमें बहुत कालतक नहीं रह सके। जब मानवरूपमें या जडपदार्थके रूपमें सान्तकी अनन्तके प्रतीकके तौरपर नहीं बल्कि उसीके लिये पूजा होती है, तब उसका फल दुःख तो होगा ही; और जितनी ही इन्द्रियवशता अधिक होगी, क्लेश भी उतना ही अधिक होगा ही। कीट्स और शेले दोनोंको ही यह दुःख उठाना पड़ा और इस मूर्खताके पीछे अपने प्राण गँवाने पड़े। सान्तमें जो आकर्षण होता है वह उस अनन्तका ही आकर्षण है जो उस सान्तके द्वारा प्रकट हो रहा है। फूलका सौन्दर्य, चन्द्रमाका सौन्दर्य, चित्र और मूर्त्तिका सौन्दर्य भगवान्का ही सौन्दर्य है। यही बात मानव-सौन्दर्य और सद्गुणोंकी है। उसकी सत्ता भगवान्की है। मोहनेवाली वस्तु तो अनन्त है पर हम सान्तको ही मोहक जानकर उसमें आसक्त हो जाते हैं और यह सोचने लगते हैं कि पूर्णता इसीमेंसे प्रकट होगी, मानो पूर्णता सान्तका ही कोई लक्षण हो। ऐसी आशा करना भला व्यर्थ कैसे न हो? जितना शीघ्र यह भ्रम दूर हो, उतना ही अच्छा।

अनन्त तो सदा अनन्त ही रहेगा और प्रतीक प्रतीक ही रहेंगे। हमारे मित्रकी कोई चिट्ठी आती है तो हम उसे प्यार करते हैं, उसे छातीसे लगा लेते हैं और उसे सुरक्षित रखते हैं, क्योंकि वह मित्रकी चिट्ठी है। वह हमें हमारे मित्रका प्यार जनाती है। उस कागजका या उसपर लिखे शब्दोंका स्वयं कोई मूल्य नहीं। दूसरे किसी कागजपर दूसरे किन्हीं शब्दोंमें भी वह प्यार प्रकट किया जा सकता था। पर उस चिट्ठीको हम इसलिये नहीं कि वह हमारे मित्रके प्यारका एक निदर्शन है बल्कि महज इसलिये कि वह एक चिट्ठी है, प्यार करें तो हमारा यह प्यार एक रद्दी कागजके टुकड़ेसे होगा और हमें आज नहीं कल, उससे निराश ही होना पड़ेगा। प्रेमके गीत गानेवाले बड़े-बड़े कवि प्रायः सान्तके प्रेमको ही अलौकिक बनानेकी चेष्टामें इसी नैराश्यके भागी होते हैं।

भगवत्-सम्बन्धी अलौकिक प्रेम अनन्तका अनन्त-रूपसे ही प्रेम है। इस अलौकिक प्रेममें द्वैतका लेशमात्र भी कोई चिह्न नहीं रहता। अहङ्कारका इसमें नाश और भेद-पार्थक्यका अन्त होता है। सेंट कैथेराइनकी उक्ति है—'मेरा अहं ईश्वर है, मेरे इस ईश्वरको छोड़ और कोई अहं मैं नहीं चाहती।' जीवभूत आत्मा स्वस्वरूपानुभवको प्राप्त होकर परम आत्मामें मिल जाता है। सान्तके प्यारमें, फिर भी, कुछ-न-कुछ ले बैठनेकी इच्छा छिपी ही रहती है। मानव-प्रेमकी सर्वोच्च भूमिकामें क्षण भरके लिये यह इच्छा छूटती है, पर फिर आकर अपना अधिकार जमाती है। 'मेरा प्रेमास्पद मुझे छोड़ दूसरेकी ओर न ताके' यह इच्छा तो रहती ही है और यही दुःख और क्लेशका कारण बनती है। भगवत्प्रेममें लेनेकी कोई इच्छा नहीं, अपने आपको मिटानेकी इच्छा होती है। भक्तोंका दिव्य प्रेम उसीका परमरूप है। भक्त कहता है, 'मेरा आत्मा ईश्वर है, केवल उसके साथ सहयोग होनेसे नहीं, बल्कि वास्तविक रूपान्तरसे और अपनी सत्ताको मिटा देनेसे।'

अलौकिक भगवत्प्रेमके होनेके लिये केवल लौकिक प्रेमसे असंग ही नहीं बल्कि 'सत्' वस्तुको पहचाननेकी

तीव्र बुद्धिका होना भी आवश्यक है। प्रेम उसीसे किया जा सकता है जिसे हम कुछ-न-कुछ जानते हों। अनन्तका किञ्चित् भी ज्ञान यदि हमें न हो तो हम उसे कैसे प्यार कर सकते हैं? प्रेमसे ज्ञान उज्ज्वल होता है और ज्ञानसे प्रेम प्रगाढ़ होता है। भगवान्का ज्ञान और भगवत्प्रेम एक ही अनुभवके दो पहलू हैं। इस प्रकारका प्रेम हमें कबीरमें देख पड़ता है। कबीर अद्वैत वेदान्ती हैं। ईश्वरका सर्वव्यापक होना वे मानते हैं। वे केवल सामान्य ईश्वरवादी नहीं थे। सत्तत्त्वको वे विश्वातीत मानते और भक्तिके द्वारा उनका प्रत्यक्ष दर्शन सुलभ जानते थे। भगवान् इसतरह विश्वके अतीत भी हैं और विश्वके अंदर भी। पर ये भगवान् जो समीपसे भी समीप हैं, मिलनेमें बड़े ही दुर्लभ हैं। केवल भक्ति और आत्मोत्सर्गसे ही वे मिलते हैं। जो लोग अनायास भगवान्को पा लेना चाहते हैं उनसे कबीर कहते हैं—

> महँगा घर है प्रेमका खालाका घर नाहिं।
> सीस उतारे भुइँ धरे तब पैठे घर माहिं॥

जबतक इस बाह्य व्यावहारिक आत्माका नाश नहीं होता तबतक विश्वात्माका अनुभव नहीं हो सकता। सान्तके प्रेममें आत्मविस्मरण अंशतः होता है, अनन्तके प्रेममें इस आत्मविस्मरणकी पूर्णता होती है। भेदभावके सब निशान वहाँ मिट जाते हैं। अलौकिक प्रेमका अनुभव अपने आपके लयका अनुभव है।

> लाली मेरे लालकी जित देखूँ तित लाल।
> लाली देखन मैं गई मैं ही हो गइ लाल॥

भगवत्प्रेम अलौकिक ही होता है, क्योंकि जिन लोगोंको उसका कोई अनुभव नहीं है वे उसे नहीं समझ सकते। यह वह चीज है जो कोई किसीको उठाकर दे नहीं सकता। एक ऐसी चेतनावस्थामें इसका अनुभव होता है जो सामान्य मनुष्यकी चेतनासे भिन्न है। इसलिये इस प्रेमका जो कुछ भी वर्णन होता है वह सांकेतिक ही होता है। संकेत केवल संकेत ही हैं, जिन्हें उस अनुभूतिका कुछ भी आभास होता है उन्हींको वे कुछ काम देते हैं। भगवत्सम्बन्धी इस अलौकिक प्रेमको स्पाईनोजाने भगवान्का आत्मप्रेम ही कहा है। वे कहते हैं, 'मनका यह बौद्धिक प्रेम भगवान्का ही वह प्रेम है जिससे वे अपने आपको प्यार करते हैं। यह प्रेम उनका अपने अनन्त अव्यक्त-स्वरूपसे नहीं, बल्कि शाश्वततत्त्वके व्यक्तरूपके नाते मानव मन-बुद्धिके सत्त्वके द्वारा जिस रूपमें वे अभिव्यक्त किये जा सकते हैं; उस रूपसे है अर्थात् मनका भगवान्की ओर बौद्धिक प्रेम उस प्रेमका एक अंश है जिस प्रेमसे भगवान् आप ही अपने प्रेमास्पद हैं।'

किसी सच्चे भक्तका प्रेम प्रेमीके प्रति प्रेमगानके रूपमें या उसकी प्रतिमाके पूजनके रूपमें जो प्रकट होता है वह एक ऐसी अनुभूतिका संकेत है जो यथार्थमें शब्दोंसे व्यक्त नहीं की जा सकती। बुद्धि प्रेमका आकलन नहीं कर सकती, इसलिये कल्पनाका सहारा लेना पड़ता है। किसी काल्पनिक संकेतसे अनन्तको सान्तके द्वारा सूचित किया जाता है। मनके ठहरनेके लिये कोई आधार तो होना ही चाहिये। इसलिये भगवान्के रूपोंकी कल्पना की जाती है और उन रूपोंमें प्रेम लगाया जाता है।

निगूढकी इस साक्षात् अनुभूति और कल्पना तथा इन्द्रियग्राह्य प्रतीकोंद्वारा उसका संकेत, इन दोनोंके बीचमें एकताका एक सूत्र है। जब परमकी अनुभूति बुद्धिमें उतर आती है तब उससे भक्तके पद और गान निकल आते हैं। जब उसका अवतरण इन्द्रियगोचर रूपोंमें होने लगता है तब उसे मूर्त्तिकला और चित्रकलाका रूप प्राप्त होता है। भगवत्प्रेमको अभिव्यक्त करनेके ये कौशल हैं।

भगवत्प्राप्तिके साधनमें संकेत या प्रतीक कहाँतक सहायक हो सकते हैं, इस विषयमें बहुत विवाद रहा है। संकेत तो संकेत ही हैं, वे जिसके संकेत हैं उसके बिना उनका कोई मूल्य नहीं। एक ऐसी अनुभूतिके वे

संकेत हैं जो अनुभूति अवर्णनीय है । किसी रूपकी पूजा करनेसे यदि अरूपकी प्राप्ति होती हो, तो ही उस रूपका कुछ मूल्य है। पूजन अपने आपको मिटानेका साधन है। इससे यदि ऊर्ध्वगति मिले और वहाँ अपनी स्वरूप-स्थिति हो तो इससे लाभ है । भेद या द्वैत स्वयं कोई साध्य नहीं, यह केवल एक साधनावस्था है उस अभेद-स्थितिको प्राप्त करनेकी, जहाँ यह बाह्य अहं परम अहंके साथ एक हो जाता है। सभी बाह्य रूपोंको अन्तर्मुख करके अन्तर्लीन करना होता है, यहाँतक कि कोई बाह्यरूप ही न रह जाय। भगवान्‌के यथार्थ स्वरूपका ज्ञान और उनकी भक्ति ही आत्माके उद्धारका साधन है । भक्ति-प्रेमके वे ही एकमात्र अधिकारी हैं, क्योंकि वे ही अपने आत्मा हैं । सामान्यतः हमलोग जिस अहंको जानते हैं वह हमारा वास्तविक स्वरूप नहीं है। भगवत्प्रेम हमें अपने सच्चे आत्माका बोध कराता है और वह आत्मा सर्वव्यापक है।

मुरलीपञ्चक

(रचयिता—श्रीहोरीलालजी शास्त्री, एम्० ए०)

क्षुद्र-वंश-जात रन्ध्रपूर्ण-गात वंशिके तू,
कृपा-वारि राशि-कृपा मुख्य पद पाती थी।
ऊख औ पियूखचन्द्रकी मयूखसे भी मिष्ट,
माधुरी पुनीत जीव-जन्तु सरसाती थी॥
रुक जाती व्योममें प्रगति व्योम-चारियोंकी,
मुग्ध हो कलिन्दजा भी मन्द पड़ जाती थी।
कौन सुधा-सिन्धु भरा श्याम अधरोंमें जिसे,
पीके वसुधामें सुधा-सिन्धु तू बहाती थी॥१॥

वंश वर वंशोंमें लिया था जन्म इसीलिये,
धाम सुख-धाम कर-कंज बीच पाती थी।
पूर्व पुण्यके प्रभाव पुण्य अधरोंसे लगी,
लोचनाभिरामके सुयश गीत गाती थी॥
सरसा सरस सप्त स्वरकी सुरीली सुधा,
प्राण-हीन प्राणियोंमें प्राण सींच जाती थी।
कौन जादू भरी वह वंशी थी जो एक साथ,
एक ही अनेक मन-मीन खींच लाती थी॥२॥

विषधर काली भी प्रकाम मन्त्र मुग्ध-सा हो,
करके श्रवण तान नृत्य करने लगा।
धेनुवृन्द भी समस्त त्यागके तृणाङ्कुरोंको,
कूलपै कलिन्दजाके भीर भरने लगा॥
विहग वरूथ यूथ-यूथ बैठ पादपों पे,
मौन हो नितान्त मुनि-ध्यान धरने लगा।
जल थल व्योममें अखिल प्राणि-वर्ग शुभे !
तेरे स्वर-सिन्धुके प्रवाह तरने लगा॥३॥

तेरा ही मृदुल-नाद केकी सुनते ही शीघ्र,
मोदसे प्रमत्त हो वनोंमें कूकने लगा।
सुमन मनोंको विकसाके प्रात-पौन भी तो,
प्रेम-महा-मन्त्र विश्व बीच फूकने लगा॥
स्वर-सुरभित-सुरासे ही छक पिकवृन्द,
कामके सँदेश कामि उर हूकने लगा।
जड़ और जंगम जगतका विधान सर्व,
तेरा कब लक्ष्य बननेमें चूकने लगा॥४॥

तेरी ही विभूति विश्वमें है व्याप्त यत्र तत्र,
तेरी मोहनीने मन मोह लिये सारे हैं।
तुझसे ही पाई है सुरभिने सुरभि मञ्जु,
शुष्क द्रुम-पुंज नव जीवन पधारे हैं॥
तेरी माधुरीका करनेको ही गुणानुवाद,
सहसवदन सहसानन सँवारे हैं।
स्वर-लहरीके युगपद्-योगद्वारा ही तो,
गन्धवाहने भी उनचास रूप धारे हैं॥५॥

प्रणवोपासना

(लेखक—पं० श्रीहरिदत्तजी शर्मा शास्त्री, वेदान्ताचार्य)

अन्तःकरणके तीन दोष हैं—मल, विक्षेप और आवरण। शुभकर्मोंसे मलका, उपासनासे विक्षेपका तथा ज्ञानसे आवरणका दोष नष्ट होता है। चित्तकी पाँच अवस्थाएँ होती हैं—क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध। जिस समय चित्त क्षिप्त, मूढ या विक्षिप्त रहता है तब लौकिक या पारलौकिक कोई भी कैसा भी कार्य सिद्ध नहीं होता, एकाग्र या निरुद्ध चित्तसे ही सब कार्य ठीक-ठीक हो सकते हैं। यह सब एकाग्रचित्तका ही फल है जो शङ्करभगवत्पाद, पाणिनि, गौतम आदि महर्षियोंने अद्भुत ग्रन्थोंका निर्माण किया। इस चञ्चल चित्तको अवस्थित करनेमें प्रणव ब्रह्मपाशका काम करता है। श्रीगौडपादाचार्य महाराजने लिखा है कि—

युञ्जीत प्रणवे चेतः प्रणवो ब्रह्म निर्भयम्।
प्रणवे नित्ययुक्तस्य न भयं विद्यते क्वचित्॥

'प्रणवमें चित्तको स्थिर करे, प्रणव ही निर्भय ब्रह्मका स्वरूप है। प्रणवोपासकके हृदयमेंसे भय, शङ्का, अरति आदि दोष नष्ट हो जाते हैं।' श्रुति भी कहती है—

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्॥

ब्रह्म चार प्रकारका है—शुद्ध, ईश्वर, हिरण्यगर्भ और विराट्। माया तथा मायाकार्योपाधिरहित शुद्ध 'ब्रह्म' कहलाता है। मायोपहित 'ईश्वर' है, अपञ्चीकृत भूतकार्यरचित समष्टि भूत सूक्ष्मशरीरोपहित 'हिरण्यगर्भ' कहा जाता है। तथा पञ्चीकृत भूतकार्यरचित समष्टि भूत स्थूलशरीरोपहित 'विराट्' पुरुष कहाता है, इसी प्रकार जीव भी चार प्रकारका है—जो जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय-इन चार-चार अवस्थाओंवाला है तथा जो जीव अवस्थाभेदसे वैश्वानर, तैजस, प्राज्ञ और अव्यवहार्य नाम धारण करता है। ओङ्कारमें भी चार मात्राएँ हैं—अ, उ, म् और अव्यवहार्य। इसका चिन्तन निम्नलिखित प्रकारसे करे—विश्व, वैश्वानर और अकार मात्राकी एकताका ध्यान करे। परमात्माका विश्वरूप, जीवात्माका वैश्वानररूप तथा अकार मात्रा यह एक ही हैं। इसी प्रकार हिरण्यगर्भ, तैजस और उकारकी एकताका चिन्तन करे। ईश्वर, प्राज्ञ और मकारकी एकताका ध्यान करे। अनन्तर शुद्धचिद्रूप, आत्मचिद्रूप और ओङ्कारके अव्यवहार्यरूपकी एकताका ध्यान करे। इस ध्यानयोगके द्वारा ब्रह्मका साक्षात्कार होता है। सुरेश्वराचार्यने लिखा है कि—

अकारमात्रं विश्वः स्यादुकारस्तैजसः स्मृतः।
प्राज्ञो मकार इत्येवं परिपश्येत् क्रमेण तु॥
अकारं पुरुषं विश्वमुकारे प्रविलापयेत्।
उकारं तैजसं सूक्ष्मं मकारे प्रविलापयेत्॥
मकारं कारणं प्राज्ञं चिदात्मनि विलापयेत्॥

जिस प्रकार स्वर स्वतन्त्र होते हैं उसी प्रकार अ और उ दोनों स्वतन्त्र हैं तथा मायावाचक म् परतन्त्र है; क्योंकि व्यञ्जन है।

ओङ्कारमाहात्म्य

योगशास्त्रानुसार ओङ्कारोपासनाका बड़ा माहात्म्य है। महर्षि पतञ्जलि लिखते हैं कि—

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च।

अर्थात् ओङ्कारभावनासे व्याधिस्त्यान संशयादि ११ प्रकारके अन्तराय तथा ५ प्रकारके विक्षेपके भाई नष्ट हो जाते हैं। यही कारण है कि सङ्कीर्तनकी महिमा दिनोंदिन बढ़ रही है।

प्रणवकी चौथी मात्रा अमात्र है—वह प्रपञ्चोपशम, शिव, अद्वैत है। अतएव अव्यवहार्य है—अतएव किन्हीं-किन्हीं साधकोंको यह भ्रम हो जाता है कि ओङ्कारकी चतुर्थ मात्रा नहीं होती, पर यह बात नहीं, क्योंकि चौथी मात्रा नादरूप है—वह स्वर, व्यञ्जन-सङ्घातके अनुरणन्से ही लक्षित होती है।

माताजीसे वार्तालाप

(६)

पिशाचादि प्राणमय सत्ताओंके सम्बन्धमें विवेचन—धनशक्ति—स्थूलशरीरका महत्त्व

(अनुवादक—श्रीमदनगोपालजी गाड़ोदिया)

[भाग १५ पृष्ठ १२११ से आगे]

'कुछ मनुष्य ऐसे होते हैं जो पिशाचों-जैसे लगते हैं, वे क्या हैं और वे इस तरहके क्यों हैं ?'

वे मनुष्य नहीं होते, उनका केवल रूप या दिखाव ही मनुष्यके-जैसा होता है । ये लोग भौतिक जगत्के बाद ही जो अगला लोक है, जिसे हम प्राणलोक कहते हैं, वहाँकी सत्ताओंके मूर्त्तरूप होते हैं। इसी प्राणलोकमें समस्त इच्छाओं, आवेगों और आवेशोंका तथा हिंसा, लालच और धूर्त्तता एवं हर प्रकारके अज्ञानकी गतियों-का निवास है, किन्तु समस्त गतिशीलता समस्त जीवन-शक्तियाँ और सामर्थ्य भी यहींपर हैं । इस जगत्की सत्ताएँ स्वभावतः ही कुछ ऐसी होती हैं, जिसके कारण वे हमारे इस जड प्राकृतिक जगत्को विचित्ररूपसे अपने वशमें रख सकती हैं, वे इस जगत्पर अपने दुष्ट प्रभावका प्रयोग कर सकती हैं । इनमेंसे कुछ सत्ताएँ मनुष्यकी सत्ताके उन अवशेषोंसे बनी होती हैं जो उनके मर जानेके बाद भी पार्थिव भूमिकाके समीपस्थ जो प्राणमय वातावरण है उसमें जमे रहते हैं। मनुष्यकी इच्छाएँ और लालसाएँ मृत्युके बाद भी प्राणमय भूमिकापर तैरती रहती हैं और शरीरके नष्ट हो जानेके बाद भी इनका एक रूप बना रहता है। बहुधा ये अभिव्यक्त होने और अपनेको सन्तुष्ट करनेके लिये प्रवृत्त होती रहती हैं और इस प्रवृत्तिका ही परिणाम है प्राणमय जगत्के इन जन्तुओंका जन्म। परन्तु ये तो एक मामूली प्रकारके जन्तु ही हैं और यद्यपि ये अत्यन्त दुःखदायी हो सकते हैं तथापि इनका मुकाबिला करना असम्भव नहीं होता । इनसे भी अधिक भयङ्कर दूसरी-दूसरी सत्ताएँ हैं जो कभी भी मानवरूपमें प्रकट नहीं हुईं । वे कभी भी मनुष्य-शरीर धारण करके पृथ्वीपर नहीं जन्मीं, कारण, इस प्रकारका जन्म ग्रहण करनेसे वे सदा इनकार करती हैं, क्योंकि इस प्रकारके जीवनमें जड़तत्त्वकी गुलामी करनी पड़ती है और इसलिये वे अपने ही जगत्में, जहाँ वे बलवान् हैं और दूसरोंको सता सकती हैं, रहना और वहींसे पार्थिव सत्ताओंपर अधिकार करना अधिक पसन्द करती हैं। क्योंकि यद्यपि वे पृथ्वीपर जन्म लेना नहीं चाहतीं, तथापि वे यह अवश्य चाहती हैं कि उनका भौतिक प्रकृतिसे, उसके बन्धनमें आये विना ही, सम्बन्ध बना रहे । उनका तरीका यह है कि पहले तो वे किसी मनुष्यपर अपना प्रभाव जमानेका प्रयत्न करती हैं, फिर वे धीमे-धीमे उस मनुष्यके वातावरणमें घुस आती हैं और अन्तमें वे उसके वास्तविक मानव आत्मा और व्यक्तित्वको सर्वथा बाहर निकालकर उसको पूर्णरूपसे अपने अधिकारमें कर ले सकती हैं । ये सत्ताएँ जब किसी मनुष्य-शरीरपर अधिकार किये हुए होती हैं तब ऐसे लोगोंका रूप चाहे मनुष्योंके-जैसा हो, किन्तु उनका स्वभाव मनुष्योंके-जैसा नहीं होता। मनुष्योंकी प्राणशक्तियोंको चूसते रहना, यह उनकी आदत होती है । जहाँ कहीं भी सम्भव हो वहीं वे मनुष्यकी प्राणशक्तिपर हमला करके उसको अपने कब्जेमें कर लेती और उसके द्वारा अपना जीवननिर्वाह करती हैं । यदि ये सत्ताएँ तुम्हारे वातावरणमें आ जायँ तो तुम एकाएक उदास और क्लान्त हो जाओगे, यदि कुछ कालतक तुम उनके समीप रहो तो बीमार पड़ जाओगे और इस प्रकारकी

किसी सत्ताके साथ यदि तुम रहने लगो तो सम्भव है कि वह तुमको मार ही डाले।

'परन्तु ये सत्ताएँ यदि किसीके वातावरणमें प्रवेश कर चुकी हों तो वहाँसे इनको निकाल बाहर कैसे किया जाय?'

इन सत्ताओंमें समायी हुई प्राणशक्ति बिल्कुल स्थूल भौतिक प्रकारकी होती है और उसका असर केवल थोड़ी दूरतक ही पड़ता है। साधारणतया, यदि तुम, जहाँ ये हों, ऐसे एक ही मकानमें नहीं रहते होओ या जिस जमातमें ये हों उसमें तुम सम्मिलित नहीं होते होओ तो तुम इनके प्रभावमें नहीं आ सकते। परन्तु यदि तुम उनके साथ किसी भी प्रकारका सम्बन्ध या संसर्ग स्थापित करनेके लिये कोई रास्ता खोल दो, उदाहरणार्थ उनसे पत्रव्यवहार करो तो तुम इन शक्तियोंके साथ आदान-प्रदान होना सम्भव कर देते हो, और तब यह हो सकता है कि बहुत दूरसे भी ये तुमपर अपना प्रभाव जमा सकें। सबसे बड़ी बुद्धिमानी इसीमें है कि इन सत्ताओंसे जो कुछ भी सम्बन्ध हो उसे काट दिया जाय और इनसे किसी तरहका सरोकार नहीं रखा जाय--हाँ, यदि तुम्हारे पास बहुत अधिक सूक्ष्म ज्ञान या प्रचण्ड शक्ति हो और यदि तुमने अपनी रक्षा और बचाव करना सीख लिया हो तो दूसरी बात है—किन्तु तब भी इनके साथ रहना सदा खतरनाक होता है। इनको रूपान्तरित कर देनेकी आशा रखना, जैसा कि कुछ लोग रखते हैं, एक निष्फल मोह है, क्योंकि ये रूपान्तरित होना चाहतीं ही नहीं। किसी प्रकारके रूपान्तरके लिये सहमति देनेकी उनकी इच्छा ही नहीं है और इस सम्बन्धमें कोई भी प्रयास करना निरर्थक है।

ये सत्ताएँ जब मनुष्य-शरीरके अंदर आयी हुई होती हैं तब बहुधा उन्हें इस बातकी चेतना नहीं होती कि वास्तवमें वे कौन हैं। हाँ, कभी-कभी उन्हें एक धुँधली-सी प्रतीति होती है कि साधारण अर्थमें जिसको मनुष्य कहा जाता है वह तो वे नहीं हैं। फिर भी कुछ ऐसी सत्ताएँ हैं जिन्हें मनुष्य-शरीरके अंदर होते हुए भी अपने स्वरूपका भलीभाँति ज्ञान रहता है, वे केवल इतना ही नहीं जानतीं कि वे मनुष्य नहीं हैं, बल्कि वे यह भी जानती हैं कि वे कौन हैं और अपने इस ज्ञानके अनुसार ही वे कार्य भी करती हैं और लगातार अपने उद्देश्यको पूरा करनेमें लगी रहती हैं। प्राणमय जगत्की सत्ताएँ स्वभावतः ही बड़ी बलवान् होती हैं और इस बलके साथ जब कुछ ज्ञान जुड़ जाता है तब तो वे दूनी भयङ्कर हो जाती हैं। इन जन्तुओंके साथ किसी प्रकारका सम्बन्ध नहीं रखना चाहिये और यदि इनको कुचल डालने और इन्हें नष्ट कर देनेकी शक्ति तुममें न हो तो तुमको इनके साथ किसी भी प्रकारका व्यवहार नहीं रखना चाहिये। और यदि तुमको लाचार होकर इनके साथ कभी किसी सम्बन्धमें आना पड़े तो ये तुमपर जो जादू फेंक सकती हैं उससे तुम्हें बहुत ही सावधान रहना चाहिये। प्राणमय जगत्की ये सत्ताएँ जब भौतिक भूमिकापर आविर्भूत होती हैं तब उनमें सदा वशीकरणकी एक बड़ी भारी शक्ति होती है, कारण, उनकी चेतनाका केन्द्र प्राणमय जगत्में होता है, भौतिक जगत्में नहीं और वे मनुष्यकी तरह भौतिक चेतनाद्वारा आच्छादित और आकुञ्चित की हुई नहीं होतीं।

'क्या यह ठीक नहीं है कि ये सत्ताएँ आध्यात्मिक जीवनकी ओर एक विचित्र प्रकारका आकर्षण रखती हैं?'

हाँ, यह ठीक है। इसका कारण यह है कि वे ऐसा अनुभव करती हैं कि वे इस जगत्की रहनेवाली नहीं हैं, बल्कि किसी दूसरे स्थानसे यहाँ आयी हुई हैं, और वे यह भी अनुभव करती हैं कि उनके पास बल है, जिसके अर्द्धभागको उन्होंने गँवा दिया है और अब उस खोये हुए बलको पुनः प्राप्त करनेके लिये वे उत्सुक होती हैं। इसलिये जब कभी भी वे किसी ऐसे व्यक्तिसे मिलती हैं जो उन्हें सूक्ष्म

जगत्का ज्ञान दे सके तो वे उसकी ओर दौड़ पड़ती हैं। परन्तु प्राणमय जगत्को ही वे भूलसे आध्यात्मिक जगत् समझ लेती हैं और उनका हेतु भी आध्यात्मिक सिद्धिको प्राप्त करना नहीं होता, बल्कि प्राणमय शक्तिको प्राप्त करना होता है। अथवा शायद वे जान-बूझकर आध्यात्मिकताको कलुषित करनेका प्रयत्न करती हैं और चाहती हैं कि उनके अपने स्वभावके साँचेमें ढली हुई, आध्यात्मिक सृष्टिकी जैसी एक नकली सृष्टि खड़ी कर दें। परन्तु अपने इस प्रयासमें भी वे, अपने ढंगसे, आध्यात्मिक जीवनको एक प्रकारकी श्रद्धाञ्जलि ही भेंट करती हैं अथवा उसका ऋण चुकाती हैं। और उनमें आध्यात्मिकताके प्रति एक प्रकारका आकर्षण भी होता ही है जो उन्हें इस ओर झुकनेके लिये विवश करता है। उन्होंने भगवान्-के शासनके प्रति विद्रोह किया है, किन्तु इस विद्रोहके होते हुए भी, या सम्भवतः इस विद्रोहके कारण ही, वे भागवत नियमकी उपस्थितिके साथ अपने आपको किसी-न-किसी रूपमें बँधा हुआ अनुभव करती हैं और उस उपस्थितिके प्रति प्रबल रूपसे आकृष्ट हो जाती हैं।

यही कारण है कि तुम कभी-कभी ऐसा होता हुआ देखते हो कि जिन लोगोंको पृथ्वीपर आध्यात्मिक जीवन सिद्ध करना है उनमें आपसमें सम्बन्ध स्थापित करनेके लिये ये सत्ताएँ करणरूपसे उपयोगमें लायी जाती हैं। यह काम वे स्वेच्छासे नहीं करतीं, बल्कि यह उन्हें बाध्य होकर करना पड़ता है। यह एक प्रकारका ऋण-परिशोधन है जिसको वे पूरा करती हैं। कारण, जो दिव्य ज्योति अवतरित हो रही है उसका दबाव उन्हें भी अनुभव होता है, उन्हें इस बातका आभास मिलता है कि अब वह समय आ गया है, अथवा शीघ्र ही आनेवाला है, जब कि उन्हें रूपान्तर या लय—इन दोमेंसे एकको पसन्द कर लेना होगा, उन्हें यह चुन लेना होगा कि भागवत-सङ्कल्पके प्रति अपने-आपको समर्पण करें और इस महान् योजनामें योगदान कर अपना पार्ट अदा करें अथवा अचेतनामें डूबकर विनाशको प्राप्त हों। सत्यके जिज्ञासुके सम्पर्कमें आनेसे इस प्रकारकी सत्ताओंको परिवर्तित होनेका अवसर प्राप्त होता है। सब कुछ इस बातपर निर्भर करता है कि वे इस अवसरका किस प्रकार उपयोग करती हैं। यदि इसका उपयोग वे उचित रूपमें करें तो मिथ्यापन, अन्धकार और क्लेशसे—ये ही तत्त्व हैं जिनसे ये प्राणमय सत्ताएँ बनी होती हैं—मुक्तिलाभ करनेके अपने मार्गको परिष्कृत कर सकती हैं, और उनको एक नवजीवन और दिव्यजन्म प्राप्त हो सकता है।

'क्या इन सत्ताओंका धन-शक्तिपर बहुत बड़ा अधिकार नहीं है ?'

धन-शक्ति इस समय प्राणमय जगत्की शक्तियों और सत्ताओंके प्रभाव या कब्जेमें है। यही कारण है कि धनका उपयोग सत्यके कार्यके लिये प्रचुर परिमाणमें होता हुआ कभी भी दिखायी नहीं देता। यह शक्ति सदा विपथगामिनी रहती है, कारण, यह विरोधी शक्तियोंके पंजेमें पड़ी हुई है, और जिन साधनोंद्वारा प्राणमय जगत्की ये शक्तियाँ पृथ्वीपर अपना कब्जा रखती हैं उनमें यह धन-शक्ति एक प्रमुख साधन है। धन-शक्तिपर विरोधी शक्तियोंका जो अधिकार है वह मजबूतीके साथ, पूरे तौरपर और अच्छी तरह सङ्गठित है और इस सङ्गठनसे कुछ भी निकाल लाना एक अत्यन्त कठिन कार्य है। प्रत्येक बार जब तुम इस धनका कुछ थोड़ा-सा भाग भी इसके वर्त्तमान संरक्षकोंके हाथोंमेंसे निकालकर ले आना चाहते हो तभी तुम्हें एक भीषण युद्ध करना पड़ता है।

यह होते हुए भी, धन-शक्तिपर जिनका कब्जा है ऐसी विरोधी शक्तियोंपर कहीं भी कोई विजय

प्राप्त हो जानेसे दूसरे-दूसरे क्षेत्रोंपर अपने-आप और साथ-ही-साथ विजय प्राप्त करना सम्भव हो जायगा। यदि किसी एक स्थानपर ये शरणागत हो जायँ तो वे सभी जो आज सत्यके कार्यके लिये धन देनेमें असमर्थता अनुभव करते हैं, धन देनेके लिये हठात् एक महान् और तीव्र इच्छाका अनुभव करेंगे। वे अमीर आदमी, जो कम या अधिक मात्रामें प्राणशक्तियोंकी कठपुतली या यन्त्र बने हुए हैं, धन खर्च करनेको ही अनिच्छुक हों ऐसी कोई बात नहीं है, असलमें उनकी लोभवृत्ति तो तब जाग्रत् होती है जब उनकी प्राणमय वासनाओं या आवेगोंके अतिरिक्त और किसी कामके लिये धन खर्च करनेका प्रश्न उठता है। कारण जिसको वे अपनी समझते हैं ऐसी किसी वासनाकी तृप्तिके लिये तो वे धन व्यय करनेको सदा तैयार रहते हैं, किन्तु जब उन्हें अपने आराम और धनके लाभको दूसरोंके साथ बाँट लेनेके लिये कहा जाता है तब उनको अपने धनकी मुट्ठी ढीली करनेमें कष्ट होता है। धनपर नियन्त्रण रखनेवाली प्राणशक्ति एक ऐसे अभिभावककी तरह है जो अपने धनको सदा एक बड़ी भारी तिजोरीके अंदर अच्छी तरह बंद किये रहता है। इस शक्तिके पंजेमें जो लोग हैं उनसे जब कभी भी कुछ धन देनेके लिये कहा जाता है तभी ये लोग अपनी थैलीके मुँहको थोड़ा-सा भी खोलनेके लिये राजी होनेसे पहले खोज-खोजकर नाना प्रकारके सवाल पूछते हैं, किन्तु यदि स्वयं इनके अंदर किसी प्राणमय आवेगकी माँग उठ खड़ी होती है तो यह अभिभावक अपने धनागारको बड़ी खुशीके साथ खोल देता है और इस कामके लिये उसका धन स्वच्छन्दरूपसे पानीकी तरह बहने लगता है। साधारण-तया, जिन प्राणगत वासनाओंकी आज्ञाओंका वह पालन करता है उनका सम्बन्ध काम-वासनाके आवेगसे रहता है, किन्तु बहुधा वह ख्याति और मान-मर्यादाकी वासना, आहारकी वासना अथवा प्राणमय भूमिकापरकी इस प्रकारकी किसी भी वासनाकी आज्ञाओंका भी पालन करता है। जो कुछ उपर्युक्त श्रेणीके अन्तर्गत नहीं होता उसके बारेमें बारीकीके साथ खोज-खोजकर सवाल किये जाते हैं, उसकी अच्छी तरह छान-बीन की जाती है और उसकी उपयोगिताको बड़ी आनाकानीके साथ स्वीकार भी कर लिया जाता है, किन्तु फिर भी अन्तमें प्रायः सहायता करनेसे इनकार ही कर दिया जाता है। जो लोग प्राणमय सत्ताओंके गुलाम हैं उनके अंदर सत्य और प्रकाश और आध्यात्मिक प्राप्तिकी इच्छाका यदि कभी स्पर्श होता भी है तो भी उनकी वह इच्छा धनके प्रति उनकी जो इच्छा है उसकी बराबरी नहीं कर पाती। उनके हाथोंसे धनको भगवान्के लिये जीतकर ले आनेका अर्थ है, उनके अंदर जो राक्षस घुसा पड़ा है उसको मार भगाना। पहले तो तुम्हें उनके उस प्राणमय स्वामीको, जिसकी वे गुलामी करते हैं या तो जीत लेना होगा या उसे भगवत्परायण बना लेना होगा, और यह काम सहज नहीं है। जो लोग प्राणमय सत्ताओंके कब्जेमें हैं, वे यदि अपने आरामतलबीके जीवनको बदल भी दें, भोगोंका त्याग भी कर दें और बिल्कुल कठोर वैरागी भी बन जायँ, तो भी वे पहलेके समान ही दुष्ट बने रह सकते हैं, यहाँतक कि इस परिवर्तनसे वे पहलेकी अपेक्षा और भी बुरे बन जायँ यह हो सकता है।

'कोई एक व्यक्ति अपनी संकल्प-शक्तिका प्रयोग किसी दूसरे व्यक्तिपर करे, ऐसा क्यों होने दिया जाता है?'

ऐसी बात नहीं है कि किसी मनुष्यको दूसरे मनुष्यपर उसकी संकल्प-शक्तिका प्रयोग करने दिया जाता हो, बल्कि बात यह है कि एक विश्वव्यापक संकल्प-शक्ति है और जो लोग इस शक्तिको, कम या अधिक मात्रामें, अभिव्यक्त करनेमें समर्थ होते हैं उनकी संकल्प-शक्ति अधिक बलवान् होती है। यह बात

प्राणशक्ति अथवा प्रकाश या बिजली या प्रकृतिकी किसी भी अन्य शक्तिके-जैसी है, कुछ इन शक्तियोंको व्यक्त करनेके अधिक अच्छे वाहन या करण होते हैं तो दूसरे अत्यन्त मामूली। यहाँपर नैतिकताका तो कोई प्रश्न ही नहीं है। यह प्रकृतिका तथ्य है, इस महान् लीलाका एक कानून है।

'क्या कोई प्राणमय जगत्की सत्ताओंसे, उनके अपने देशमें भेंट कर सकता है?'

प्राणमय सत्ताएँ उस अतिभौतिक जगत्में भ्रमण करती हैं जहाँ मानव-प्राणी यदि संयोगवश जा पहुँचे तो वह वहाँ अपने-आपको निराधार, असहाय और रक्षा-विहीन अनुभव करता है। मनुष्य तो स्थूल शरीरमें ही अपने घरमें है और वहाँ ही वह सुरक्षित है; शरीर उसका रक्षा-कवच है। कुछ लोग ऐसे हैं जो अपने शरीरको बुरी तरह कोसते हैं और यह समझते हैं कि मृत्युके बाद जब स्थूल शरीर नहीं रह जायगा तब उनकी दशा बहुत कुछ सुधर जायगी और उनका जीवन सहज हो जायगा। परन्तु वास्तवमें स्थूल शरीर तुम्हारा किला और आश्रय-स्थान है। जबतक तुम इस किलेके अंदर हो तबतक विरोधी जगत्की शक्तियोंको तुम्हारे ऊपर किसी तरहका सीधा कब्जा करनेमें कठिनाई होती है। बहुत-से लोगोंको रातमें जो डरावने स्वप्न होते हैं वे क्या हैं? वे तुम्हारे प्राणमय जगत्में भटकनेके परिणाम हैं। और जब तुम इस प्रकारकी स्वप्नकालीन डरावनी अवस्थामें होते हो तब तुम सर्वप्रथम क्या करनेकी चेष्टा करते हो? तुम अपने स्थूल शरीरमें दौड़ आते हो और अपनी साधारण भौतिक चेतनामें समाकर होश सम्हालते हो। परन्तु प्राणमय शक्तियोंके जगत्में तुम एक अजनबीकी तरह हो, यह जगत् एक मार्गहीन समुद्रकी तरह है जिसको पार करनेके लिये तुम्हारे पास न तो दिग्दर्शक है न पतवार। न तो तुम यह जानते हो कि इसमें कैसे चलना चाहिये, न यही कि किधरकी ओर चलना चाहिये और प्रत्येक पदपर तुम वही करते हो जो तुम्हें नहीं करना चाहिये। जैसे ही तुम इस जगत्के किसी भी राज्यमें प्रवेश करते हो वैसे ही वहाँकी सत्ताएँ तुम्हारे चारों ओर जमा हो जाती हैं और तुम्हें घेरकर जो कुछ भी तुम्हारे पास हो उसको रखवा लेना, तुमसे जो कुछ चूस सकें उतना चूस लेना और तुम्हारी इस सम्पत्तिको अपना आहार और शिकार बना लेना चाहती हैं। यदि तुम्हारे अंदरसे कोई तीव्र ज्योति और शक्ति तुम्हें प्रकाश होनेके लिये वहाँ न हो तो स्थूल शरीरके विना इस जगत्में तुम इस प्रकार फिरते हो मानो अत्यन्त सर्द और ठिठुरा देनेवाले वातावरणसे अपनेको बचानेके लिये तुम्हारे पास एक कोट भी न हो, एक मकानतक न हो जो तुम्हें आश्रय दे सके, तुम्हारी त्वचातक तुमको ढाँके हुए न हो, तुम्हारी स्नायुएँ खुली हुई और उघड़ी हुई हों। कुछ मनुष्य ऐसे हैं जो कहते हैं कि 'इस शरीरमें मैं कितना दुखी हूँ', और मृत्युको इस दुःखसे छुटकारा पानेका एक साधन मानते हैं! किन्तु मृत्युके बाद तुम्हें वे ही प्राणमय परिस्थितियाँ मिलती हैं और उन्हीं शक्तियोंका खतरा रहता है जिनके कारण तुम इस जीवनमें क्लेश पाते थे। स्थूल शरीरका छूट जाना तुमको प्राणमय जगत्के बिलकुल खुले मैदानोंमें चले जानेके लिये बाध्य कर देता है। और अब तुम्हारे पास अपनी रक्षाके लिये कोई साधन नहीं होता, स्थूल शरीर तो अब है ही नहीं जहाँ तुम अपनेको बचानेके लिये दौड़ जाओ।

यहाँ ही, इस पृथ्वीपर ही, इस शरीरमें ही तुम्हें पूर्ण ज्ञानकी प्राप्ति करनी चाहिये तथा भरपूर और सम्पूर्ण शक्तिका प्रयोग करना सीख लेना चाहिये। जब तुम यह कर चुकोगे तभी तुम समस्त जगतोंमें कुशल-क्षेमके साथ स्वतन्त्रतापूर्वक घूम सकोगे। जब तुमपर भयका लेशमात्र भी असर न हो सके, उदाहरणार्थ, जब तुम बुरे-से-बुरे डरावने स्वप्नोंके बीच

भी अविचलित रह सको, तभी तुम यह कह सकते हो कि 'अब मैं प्राणमय जगत्‌में जानेके लिये तैयार हो गया हूँ।' परन्तु इसका यह अर्थ होता है कि तुमने उस ज्ञान और शक्तिको पा लिया है जो कि प्राण-प्रकृतिके आवेशों और कामनाओंपर पूर्ण प्रभुत्व स्थापित हो जानेपर ही मिलती है। उन सभी चीजोंसे, जो तुममें अज्ञान, अन्धकारकी सत्ताओंको ले आ सकती हों अथवा जिनके कारण इन सत्ताओंका तुमपर प्रभुत्व स्थापित होना सम्भव हो, तुम्हें पूर्ण रूपसे मुक्त हो जाना चाहिये। यदि तुम इन सबसे मुक्त नहीं हुए हो तो 'सावधान'!

कोई आसक्ति न हो, कोई कामना न हो, कोई आवेग न हो, कोई पसन्द न हो, पूर्ण समता हो, अचल शान्ति हो और भागवत-संरक्षणमें अटल श्रद्धा हो,—ये सब यदि हैं तो तुम सुरक्षित हो और यदि ये नहीं हैं तो तुम जोखिममें हो। और जबतक तुम सुरक्षित नहीं हो तबतक तुम्हें ठीक उसी तरह करना चाहिये जैसा कि मुरगीका बच्चा करता है, वह अपनी माँके डैनोंके नीचे आश्रय लेकर निश्चिन्त हो जाता है।

'स्थूल भौतिक शरीर हमारे संरक्षणका कार्य किस प्रकार करता है?'

स्थूल शरीर अपनी स्थूलताके कारण ही, जिस चीजके लिये हम उसको दोष देते हैं उसी चीजके द्वारा ही, हमारे संरक्षणका कार्य करता है। यह मन्द है, जड़ है, स्थूल है, कठिन और कठोर है, एक ऐसे किलेकी तरह है जो मजबूत और ठोस दीवारोंसे घिरा हुआ हो। प्राणमय जगत् एक तरल प्रवाहकी तरह है, वहाँ वस्तुएँ स्वच्छन्दरूपसे घूमती-फिरती, परस्पर मिलती-जुलती और एक दूसरेमें प्रविष्ट होती रहती हैं; उसी तरह जिस तरह समुद्रकी लहरें आपसमें अनवरत प्रवाहित, परिवर्तित और प्रविष्ट होती रहती हैं। यदि तुम्हारे अपने अंदर कोई प्रबल ज्योति या शक्ति इस जगत्‌की तरलताका सामना करनेके लिये न हो तो प्राणमय जगत्‌के इस प्रवाहके अंदर तुम्हारी अवस्था एक निःसहाय मनुष्यकी-सी होती है। उपर्युक्त ज्योति और शक्ति यदि न हो तो यह प्रवाह तुम्हारे अंदर आ घुसता है और उसके आक्रामक प्रवाहको रोकनेके लिये तुम्हारे पास कुछ नहीं होता। परन्तु स्थूल शरीर बीचमें पड़कर तुम्हारी रक्षा करता है, यह तुम्हें प्राणमय जगत्‌से अलग कर देता है और उस जगत्‌की शक्तियोंके बाढ़के समय तुम्हारे लिये एक बाँधका काम देता है।

'परन्तु प्राणमय जगत् यदि इतना ही तरल है तो वहाँके रूपोंमें फिर कोई व्यक्तित्व रहता है क्या?'

हाँ, वहाँ व्यक्तित्व है, अन्तर इतना ही है कि उनके रूप स्थूल देहधारी सत्ताओंके जितने निश्चित और कठोर नहीं होते। व्यक्तित्वका अर्थ अनमनीय कठोरता नहीं है। पत्थरका रूप बहुत ही सख्त है, शायद सबसे अधिक सख्त है, किन्तु उसमें व्यक्तित्व नहींके बराबर है। दस या बीस पत्थरोंको एक साथ इकट्ठे कर लो और फिर यदि उनको एक दूसरेसे भेद करके जानना चाहो तो तुम्हें बहुत ही सावधान होना होगा। परन्तु प्राणमय सत्ताओंको पहली नजरमें ही एक दूसरेसे पृथक् करके जाना जा सकता है। उनके आकारकी बनावटके प्रकार-भेदद्वारा, वे जो वातावरण अपने साथ लिये रहती हैं उसके द्वारा और प्रत्येक सत्ता जिस ढंगसे चलती-फिरती, बातें करती तथा क्रिया करती है उसके द्वारा, तुम उनको पृथक्-पृथक् करके जान सकते हो। जैसे मनुष्य जब प्रसन्नता या क्रोधकी अवस्थामें होता है तो उसीके अनुसार उसके मुखकी आकृति बदल जाती है, वैसे ही इनके मिजाजके बदलनेपर इनकी आकृति भी बदल जाती है, किन्तु प्राणमय जगत्‌में यह परिवर्तन अधिक तीव्र होता है। केवल उनके मुखकी अभिव्यक्ति ही नहीं, बल्कि उनके चेहरेका आकार ही बदल जाता है।

वीर्यसाधन

(लेखक—ज्योतिर्विद् कविराज पं० श्रीविश्वरूपजी आयुर्वेदशास्त्री 'साहित्यरत्न')

हमारे महर्षियोंने साधनोंमें वीर्यको ही सर्वोत्कृष्ट साधन कहा है, क्योंकि यह शरीरकी स्थितिका कारण है और साथ ही ब्रह्मप्राप्तिका साधन भी। जिस किसी साध्यके जो कोई भी साधन हैं उन सबमें सर्वप्रथम वीर्यसाधन ही आवश्यक है। सब ऐहिक और पारलौकिक कार्य इसी साधनसे सधते हैं। जितने धुरन्धर कार्यकर्त्ता हुए, शूरवीर योद्धा हुए, प्रतिभासम्पन्न कवि और लेखक हुए, उन सबकी शक्तिका रहस्य ब्रह्मचय ही है। प्राणोंकी स्थिरता बिन्दुकी स्थिरतासे ही होती है और प्राणोंकी स्थिरताके विना कोई महत्कार्य नहीं होता। जबतक वीर्य स्थिर है तबतक प्राणक्षयका भय नहीं। श्रीधन्वन्तरिजी ब्रह्मचर्यका उपदेश करते हुए बतलाते हैं—

मृत्युव्याधिजरानाशि पीयूषं परमौषधम्।
ब्रह्मचर्यं महद्रत्नं सत्यमेव वदाम्यहम्॥

'यह वीर्यरक्षणरूप ब्रह्मचर्य मृत्यु, व्याधि और जराको हटानेवाला अमृतमय परमौषध है, यह महान् बल है, यह मैं सत्य ही कहता हूँ।'

शान्तिं कान्तिं स्मृतिं ज्ञानमारोग्यं चापि सन्ततिम्।
यदिच्छति महद्धर्मं ब्रह्मचर्यं चरेदिह॥

'जो कोई शान्ति, कान्ति, स्मृति, ज्ञान, आरोग्य और सन्तति चाहता हो वह महान् धर्मस्वरूप ब्रह्मचर्यका पालन करे।'

हमारे शरीरके अंदर जो सर्वोत्तम धातु है वह वीर्य ही है। इसकी रक्षापर ही हमारा स्वास्थ्य निर्भर करता है। हम जो अन्न खाते हैं वह पाकस्थलीमें जाता और उसका रस बनता है; रससे रक्त, रक्तसे मांस, मांससे मेदा, मेदासे अस्थि, अस्थिसे मज्जा और मज्जासे एक मासमें जाकर शुक्र या वीर्य बनता है। वीर्यका एक बिन्दु रक्तके ४० बिन्दुओंका सार होता है। वीर्यकी रक्षासे प्राणकी पुष्टि होती है। हमारे शरीरमें जितने यन्त्र हैं उनमें स्नायु, पाकस्थली, हृदय और मस्तिष्क—ये चार मुख्य यन्त्र हैं। वीर्यनाशसे इन यन्त्रोंपर बड़ा कठिन प्रहार होता है और उनकी शक्ति क्षीण होती है। स्नायुओंके दुर्बल होनेसे उनकी वीर्यधारणशक्तिका ह्रास होता है और सामान्य काम-संकल्पसे, लेशमात्र भी चाञ्चल्यसे वीर्य नष्ट होने लगता है। इस धातु-दुर्बलतासे अनेक भीषण रोगोंकी उत्पत्ति होती है। अपानवायुके साथ प्राणवायुका, प्राणवायुके साथ वीर्यका सम्बन्ध है और इस तरह अपानवायुके साथ भी वीर्यका सम्बन्ध है। अपानके ठीक होनेसे अन्नका परिपाक ठीक तरहसे होता है। इससे अजीर्णादि विकार नहीं होते। परन्तु वीर्यके नाश या चाञ्चल्यसे अपानकी क्रिया बिगड़ जाती है, इससे खाया हुआ अन्न नहीं पचता, शरीर रोगोंका घर बन जाता है। जिस उष्णताके होनेसे अन्नका पाचन होता है उसके न रहनेसे मनुष्य उत्साहहीन हो जाता है।

यह सामान्य वीर्यरक्षणकी बात हुई। परन्तु ब्रह्मचर्यका इतना ही अर्थ नहीं है और न वीर्यका स्थूलार्थ ही उसका सम्पूर्ण अर्थ है। ब्रह्मचर्यका पूर्णार्थ वेदज्ञानको पाना, सच्चिदानन्द ब्रह्ममें समाना है। और वीर्यको भी 'भर्ग' (तेज) कहा गया है, 'वीर्यं वै भर्गः' जो वेदके तत्त्वज्ञानका दर्शक और ब्रह्मका प्रकाशक-प्रदीप है। संसारके आधिभौतिक और आध्यात्मिक दोनों ही प्रकारके महत्कार्योंके मूलमें ब्रह्मचर्यका ही पालन है। वीर्यके विना कोई भी साधना वैसे ही नहीं हो सकती जैसे बीजके विना वृक्ष नहीं हो सकता, वीर्यको ब्रह्मबीज कहा भी है। 'ब्रह्मचर्य' शब्दका 'ब्रह्म' पद वीर्य और

ब्रह्मके बीच अभेद्य सम्बन्ध बता रहा है और इस अभेदकी रक्षा ब्रह्मचर्यके पालनसे होती है। ब्रह्मचर्य केवल अविवाहित रहना ही नहीं है; ब्रह्मप्राप्ति अथवा पुत्रोत्पत्ति दोनों ही वीर्यके सदुपयोग हैं। गृहस्थ भी नियमितरूपसे संयमपूर्वक केवल 'ऋतुकालमें ही गमन करनेवाला' हो तो वह ब्रह्मचारी ही कहाता है। वानप्रस्थ-आश्रम भी ब्रह्मचर्य-साधनके लिये है। इस आश्रममें भी स्त्री और पुरुष एक साथ ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए रह सकते हैं।

मनुष्यका मन ही मनुष्यके बन्ध या मोक्षका कारण है। भगवत्प्राप्तिके जितने भी साधन हैं, सब पहले मनको शान्त करनेवाले हैं। मनके उत्कट वेग ही दुःखके कारण हैं। ब्रह्मचर्यसे हीन साधकका मन सदा अशान्त रहता है। ऐसे साधक अपना साधन बीचमें ही समाप्त कर देते हैं या रोगाक्रान्त होकर अपनी मृत्युका आवाहन करते रहते हैं अथवा पागल होकर उभयभ्रष्ट हो जाते हैं। साधनक्षेत्रमें सर्वप्रथम यही साधन होनेसे इसमें कोई वैसी कठिनाई नहीं है। सात्त्विक आहार होना चाहिये—कन्द, मूल, फल, दूध, दही, घृत अथवा शुद्ध अन्न परिमित और नियत रूपमें ग्रहण करे, शुद्ध और पवित्र वस्त्र पहने, जहाँतक हो सके, एकान्तमें रहे, सत्-शास्त्रोंका अध्ययन या श्रवण करे, युक्त निद्रा ले, शुद्ध जल-वायुका सेवन करे। कड़ुवा, तीता, रूखा, बासी, गरिष्ठ, जला हुआ, अपवित्र, दुष्ट-दृष्टिगत भोजन न करे और ताम्बूल, हास्य, गीत, शृंगार, स्त्रियोंके चित्र और कामशास्त्र इन सबसे बचे। जो-जो कुछ कामोत्तेजक है उसका परित्याग कर दे। स्त्री-पुरुषोंका एक साथ मिलकर भजन करना भी ब्रह्मचर्यव्रतके लिये अच्छा नहीं है। इन नियमोंका पालन करनेवाला पुरुष ब्रह्मचर्यकी सत्तासे ऊर्ध्वगामी प्रणवध्वनिके साथ ब्रह्मरन्ध्रको भेदकर ब्रह्मपदको प्राप्त होता है।

निष्फल जीवन

(गीत)

न माया मिली न पाये राम!

मायाकी माया मन भावन,
लीला ललित ललाम!
मोहित है जग अंग अंगपर,
रूपराशि गुनधाम!!
लालकी लीला ललित ललाम!
न माया मिली न पाये राम!!

इन्द्रधनुष जैसी माया है,
सिर्फ़ दृष्टिका काम!
हाथ नहीं आता है कुछ भी,
जावे उमर तमाम!!
अकामीको कर दिया सकाम!
न माया मिली न पाये राम!!

पद-नख-चंद-चकोर विमुख मन,
मोह विकार मुकाम!
प्रीति रीति परतीति न मानी,
हेत नहीं निष्काम!!
हृदय है सब अवगुनका धाम!
न माया मिली न पाये राम!!

लालच देखा, प्रेम न देखा,
देखा तनका चाम!
भटकत भ्रमत-फिरत भवसागर,
नहीं मिले विश्राम!!
घूमते सभी चाटते चाम!
न माया मिली न पाये राम!!

—शिवनारायण वर्मा

मृत्युका उपहास करनेवाली हिन्दू-नारी

(लेखक—श्रीरामनाथजी 'सुमन')

किसी पराधीन देशका किसी स्वतन्त्र और बिल्कुल भिन्न परम्परावाले देशके सम्पर्कमें आना भयानक होता है। भारतवर्षके साथ भी यही हुआ है। हजारों वर्षसे विदेशी विजेताओंकी एक लंबी श्रेणी हमारे सामने आती रही है। कभी हमने इनका उपहास किया, कभी इनसे आतङ्कित हुए, कभी इनसे पलायन किया और कभी सहयोग। इन सबके बीच धीरे-धीरे आत्म-विस्मृतिकी अवस्था हमपर छाती गयी। ब्रिटिश-शासनमें यूरोपके संसर्गसे, वहाँकी सभ्यता वैज्ञानिकताकी सहचरी लिये हमारे सामने ऐसे आकर्षक रूपमें उपस्थित हुई कि बस, हम देखते रह गये; आत्मविस्मरणकी जो क्रिया हजारों वर्ष पूर्व ग्रीक-आक्रमणकारियोंके समयसे आरम्भ हुई थी वह बीसवीं शताब्दीके प्रथम चालीस वर्षोंमें पूर्णताको प्राप्त हो चली। अब हममेंसे अधिकांश शिक्षितजन, स्वतन्त्र चिन्तनका दावा करनेवाले, केवल एक विदेशी विचार-धाराका शिथिल, निश्चेष्ट अनुकरण कर रहे हैं और सबसे आश्चर्यकी बात यह है कि यह माननेको तैयार नहीं कि हम अनुकरणशील हैं; और स्वतन्त्रचिन्तक कहकर केवल आत्मवञ्चना कर रहे हैं। अपने मूल्याधारोंको छोड़कर हमने विदेशी मूल्याधारोंको, बिना स्वतन्त्र परीक्षण और प्रयोगके, अपना लिया है। आज शिक्षित समाजमें भारतीय सभ्यताकी परम्पराके प्रति जो उपेक्षा है उसका प्रधान कारण यही है कि हमारे सामने जो विदेशी चीजें, विदेशी विचार-धाराएँ, विदेशी उपकरण आये उनको अपनी कसौटीपर परखने-की जगह उनकी कसौटीपर हमने अपनेको—अपनी चीजोंको परखना शुरू कर दिया। स्पष्ट है कि उस कसौटीपर हमारी चीजें कच्ची उतरनेहीवाली थीं; जैसे हमारी कसौटीपर उनका कच्चा उतरना अनिवार्य था। समाज, देश सबके लिये यह एक भयानक आपत्ति-की बात हमारे यहाँ घटित हो रही है। किसी चीजके बाहरी रूपसे ही हमारा आकर्षण-अपकर्षण होता है। उसके मूलमें पैठकर, रूप और नामसे परे रहकर, देख सकनेकी शक्तिका लोप होता जा रहा है।

स्त्रियोंकी समस्याओंपर भी विचार करनेकी नवीन शैलीमें यही दोष है। कहा जाने लगा है कि पतिभक्ति-का आश्रय स्त्रियोंकी परतन्त्रताको स्थायी रूप देनेके लिये किया गया। इस तरह स्त्रियोंको भड़काया जा रहा है और भड़कानेवाले खुद स्त्रियोंको स्वतन्त्र बनानेकी जगह उन्हें अपने भोग और मनोरञ्जनकी सामग्री बनाते जा रहे हैं। स्त्रियोंके प्रति हमारी भोगमूलक प्रवृत्तियाँ बढ़ती जा रही हैं; आजकी नारी और चाटुकारितासे उसे पथभ्रष्ट करनेवाले लोगोंका लक्ष्य है—'रमणीत्व न कि मातृत्व'; अत्यन्त आधुनिकाके लिये पति केवल जीवन-की सुविधाएँ जुटानेवाला श्रमिक या मनोरञ्जनकी सामग्री मात्र बनकर रह गया है और पतिके लिये आधुनिक नारी उस नयनरञ्जन गुलदस्तेके समान हो गयी है जो टेबुलोंपर सजाया जाता है और मुरझानेके साथ ही जिसे बदल दिया जाता है।

हम एक गलत विचार-धारा तथा तत्सम्बन्धी अन्य कारणोंसे जब परस्पर इतने कच्चे और व्यापारिक वृत्तिवाले बन रहे हों, जब सभ्यताका सम्पूर्ण प्रवाह अन्तर्मुखी न होकर बहिर्मुखी हो रहा हो तब प्राचीन घटनाओं और पातिव्रत तथा सतीत्वकी कथाओंके महत्त्व तथा अन्तर्निहित सत्यको न समझ सकना स्वाभाविक ही है। जब मैं इस अवस्थापर विचार कर रहा हूँ तब मुझे पातिव्रतका माहात्म्य बतानेवाली एक पुरानी कथा

याद आ रही है। उसका स्मरण वैसा ही है जैसे तप्त बालुकाभूमिमें ठण्डी बयारका एक झोंका !

मार्कण्डेय-पुराणकी कथा है। प्रतिष्ठानपुरमें कौशिक नामका एक ब्राह्मण रहता था। पूर्वजन्ममें उसने ऐसे पाप किये थे कि उनके कारण इस जन्ममें उसे कोढ़ हो गया था।

इस कोढ़ी और अपाहिजकी पत्नी पतिकी इस शारीरिक व्याधिके कारण बहुत दुखी हुई पर उसने अपना धीरज न छोड़ा और अपने कर्तव्यका निर्वाह करनेका निश्चय किया। वह अपने सुखको भूल गयी और सेवाका एक नशा ही उसपर चढ़ गया। वह पतिको देवताके समान पूजती थी। अपने हाथों उसके पाँव धोती, उसके शरीरको मलती, उसे स्नान कराती, कपड़े पहनाती तथा भोजन कराती थी। उसके कफ तथा मल-मूत्रको उठानेमें उसे कोई हिचकिचाहट न होती थी; वह घावोंको धोती और सदा मीठी बातें करके उसे प्रसन्न रखनेकी चेष्टा करती थी।

स्त्री साक्षात् लक्ष्मी थी। अत्यन्त मृदुता और विनयके साथ वह पतिकी सेवा करती थी, पर पूर्वसंस्कारोंके कारण समझिये या भयानक रोगसे पीड़ित होनेके कारण समझिये, उसके पति कौशिकब्राह्मणका स्वभाव बड़ा चिड़चिड़ा हो गया था। वह क्रोधकी साक्षात् मूर्ति था; सदा अपनी स्त्रीको डाँटा करता था। स्त्री उसकी गालियोंको हँसकर सह लेती थी और इस बीभत्स रूपवाले पतिका सब प्रकार सम्मान करती थी। मजा यह कि, यह ब्राह्मण न केवल क्रोधी वरं कामी भी था। यद्यपि उसका शरीर जीर्ण हो रहा था और पाँवसे चलनेमें भी वह असमर्थ था, तो भी वासनाओंसे उसका हृदय पूर्ण था। एक दिन वह अपने घरपर बैठा हुआ था कि देखा, सामनेकी सड़कसे एक अत्यन्त रूपवती वेश्या चली जा रही है। उसकी पत्नी भी वहीं बैठी थी। कौशिक उसपर लुब्ध हो गया। रातको उसने अपनी पत्नीसे कहा—'मुझे उस वेश्याके घर ले चलो; मुझे उसके पासतक पहुँचाओ, वह मेरे मनमें बस रही है। सबेरे मैंने उसे देखा था, अब रात हो गयी है पर जबसे मैंने उसे देखा है तबसे वह मेरे मनसे नहीं निकली। यदि वह कोमलाङ्गी, सर्वाङ्गसुन्दरी कामिनी मुझे न मिलेगी तो तुम मुझे जीता न पाओगी।'

ब्राह्मणकी पत्नी पतिकी बातें सुनकर बड़ी दुखी हुई। कामातुर पतिके प्रति उसके मनमें घृणा नहीं बल्कि दुःख और दया उपजी। पर पतिके जीवनकी रक्षा तो उसे करनी ही थी। दुखी मनसे उसने कमर कसी, साथमें वेश्याको देनेके लिये पर्याप्त धन लिया और चूँकि पति चल नहीं सकता था इसलिये उसे अपने कन्धेपर चढ़ाकर वह धीरे-धीरे चली।

पत्नीके कन्धेपर चढ़ा हुआ वह ब्राह्मण रास्तेमें शूलकी पीड़ासे कराह रहे माण्डव्य नामक ब्राह्मणको अँधेरेमें चोरके डरसे, जबर्दस्ती अपने साथ ले चला। माण्डव्यको गहरी पीड़ा हो रही थी इसलिये उसने क्रोध करके कोढ़ी कौशिकसे कहा—

'मैं दुखी और पीड़ित हूँ; तुम मुझे इस तरह जबर्दस्ती चलाकर व्यर्थ ही कष्ट दे रहे हो। इसलिये हे पापात्मा, नराधम ! सूर्योदय होते ही तुम मृत्युको प्राप्त होगे, इसमें कोई सन्देह नहीं। सूर्यको देखते ही तुम्हारे प्राण छूट जायँगे।'

इस भयङ्कर शापको सुनकर कोढ़ी कौशिकब्राह्मणकी पत्नी बड़ी दुखी हुई। बोली—'यदि ऐसा है तो सूर्य ही उदय न होगा।'

इस पतिव्रताके वचन कैसे झूठे होते ? सूर्यका उदय बहुत दिनोंतक नहीं हुआ। लगातार रात रहने लगी। इससे देवतालोग डर गये और चिन्ता करने लगे कि सूर्योदय न होनेसे सब पुण्य-कार्य बन्द हो जायँगे—न वेदपाठ होगा, न तर्पण होगा, न यज्ञ होगा, न होम होगा और संसारका नाश हो जायगा।

दिन-रातकी व्यवस्था बिना महीनों और ऋतुओंका भेद भी जाता रहेगा। मास और ऋतुके न होनेसे दक्षिणायन-उत्तरायण-भेद भी लुप्त हो जायगा। दक्षिणायन-उत्तरायणके ज्ञान बिना वर्षका ज्ञान फिर कैसे होगा? पतिव्रताके कहनेसे सूर्यका उदय नहीं हो रहा है। सूर्योदयके न होनेसे स्नानादि क्रियाएँ नहीं हो सकतीं, न अग्निका आधान हो सकता है। इससे यज्ञादिका अभाव हो जायगा। जब चर-अचर समस्त संसार अन्धकारमें डूब जायगा तब सब प्राणी नष्ट हो जायँगे।'

देवता रात-दिन इसी प्रकारकी चिन्ता, चर्चा करते थे। अन्तमें वे ब्रह्माके पास गये। ब्रह्माने उनकी बात सुनकर कहा—'पतिव्रताकी महिमासे सूर्य नहीं उदय हो रहा है। सूर्यके उदय न होनेसे मनुष्योंकी और तुम सब देवताओंकी हानि हो रही है। इसलिये यदि तुम चाहते हो कि सूर्य उदय हो तो जाकर अत्रि मुनिकी पतिव्रता पत्नी अनुसूयाको प्रसन्न करो।'

तदनुसार देवोंने जाकर अनुसूयाको विनयसे प्रसन्न किया। प्रसन्न होकर अनुसूयाने कहा कि 'जो वर चाहो माँगो।' तब देवोंने कहा कि 'हम चाहते हैं कि जैसे पहले दिन होता था, वैसे फिर होने लगे।'

अनुसूया बोलीं—'पतिव्रताकी महिमा नष्ट नहीं हो सकती। उसका वचन झूठा नहीं हो सकता। तथापि मैं उस साध्वीको किसी तरह मनाकर फिरसे दिन होनेका प्रबन्ध करूँगी जिससे पूर्ववत् रात-दिन होने लगे और उसका पति भी शापके कारण नाशको प्राप्त न हो।'

देवोंको आश्वासन देकर अनुसूया उस पतिव्रताके पास गयीं और कुशल-मंगल पूछती हुई बोलीं—'हे कल्याणी! तुम अपने पतिकी सुखदायिनी हो। तुम्हारा समय सुखसे तो बीत रहा है? मैं समझती हूँ कि तुम अपने पतिको समस्त देवोंसे अधिक मानती हो। मैंने पति-सेवासे बड़े-से-बड़े फल प्राप्त किये हैं। पति-सेवासे स्त्रीको सम्पूर्ण इच्छित फल प्राप्त हो सकते हैं। जिस पुण्यको पुरुष लोग बड़े दुःखसे उपार्जित करते हैं उसका आधा फल स्त्रियाँ केवल पति-सेवाके कारण ही पा जाती हैं। स्त्रियोंके लिये न अलग यज्ञ है, न अलग श्राद्ध है, न अलग व्रत-उपवास है। पति-सेवासे ही उनको इच्छित लोक प्राप्त होते हैं। इसलिये साध्वी! तुम पतिकी सेवामें सदा मन लगाया करो, क्योंकि पति ही स्त्रीके लिये परम गति है।'

अत्रिपत्नी अनुसूयाकी ये हितकर बातें सुनकर उस स्त्रीने उनका यथोचित सत्कार किया; फिर बोली—'मैं यह जानती हूँ कि स्त्रीके लिये पतिके समान कोई दूसरी गति नहीं है। पतिके प्रति प्रेम इहलोक और परलोक दोनोंके लिये उपकारी है। पतिकी प्रसन्नतासे स्त्री दोनों लोकोंमें सुख पाती है क्योंकि स्त्रीका देवता पति ही है। आप कृपापूर्वक मेरे यहाँ पधारी हैं। कृपा करके आज्ञा कीजिये कि मैं अथवा मेरे पति आपके लिये क्या कर सकते हैं?'

अनुकूल अवसर पाकर अनुसूयाने कहा—'तुम्हारे कहनेसे सूर्यका उदय नहीं होता, इससे दिन और रातका भेद न होनेसे देवोंके सब सत्कर्मोंका लोप हो गया है। इसलिये देवगण पहलेकी तरह फिर रात और दिनकी व्यवस्था चाहते हैं। मैं इसीलिये तुम्हारे पास आयी हूँ। ध्यानसे मेरी बात सुनो—दिन न होनेसे यज्ञादि नहीं हो सकते, यज्ञ न होनेसे देवता तृप्त नहीं होते। दिन न होगा तो सब धार्मिक कार्योंका उच्छेद हो जायगा। यज्ञादि धार्मिक कार्योंके नष्ट हो जानेसे वृष्टिका लोप हो जायगा और वृष्टिके न होनेसे संसारका ही नाश हो जायगा। इसलिये हे देवि! धैर्यसे जगत्का इस विपत्तिसे उद्धार करो। कृपाकर प्रसन्न हो, जिसमें सूर्य फिर पहलेकी तरह उदय होने लगे।'

ब्राह्मणी बोली—'हे देवि! माण्डव्यने क्रोध करके मेरे पतिको शाप दे दिया है कि सूर्योदय होनेपर तुम विनाशको प्राप्त होगे। तब मैं क्या करूँ?'

अनुसूया बोलीं—यदि तुम चाहो तो मैं तुम्हारे कहनेसे तुम्हारे पतिका शरीर फिर पहले-जैसा कर दे सकती हूँ। मैं भी पतिव्रताओंकी महिमाका आराधन करनेवाली हूँ इसीलिये तुम्हारा सम्मान करती हूँ।'

पतिव्रताकी स्वीकृतिपर तपस्विनी अनुसूयाने आधी रातको अर्घ्य देकर सूर्यका उपस्थान किया। अनुसूयाके उपस्थान करनेपर खिले हुए रक्तकमलकी तरह लाल-लाल सूर्यका बड़ा मण्डल हिमालयकी चोटीपर उदित हुआ। सूर्य-दर्शनके साथ ही ब्राह्मणीका पति प्राणरहित होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा। ब्राह्मणीने गिरते हुए पतिको हाथोंसे पकड़ लिया।

अनुसूयाने कहा—'हे देवि! तुम चिन्ता मत करो। देखो, पतिकी सेवासे मैंने कैसी शक्ति पायी है—ऐसी शक्ति जो दीर्घकालतक तपस्या करनेसे भी नहीं मिल सकती। यदि पतिके समान दूसरे पुरुषको मैंने कभी न देखा हो तो मेरे इस सत्यके प्रभावसे यह ब्राह्मण रोगसे रहित होकर फिर युवा हो जाय और पत्नीसहित सौ सालतक जिये। यदि मैं सदा मन, वचन और कर्मसे पतिकी आराधनामें लगी रहती हूँ तो मेरी इस पति-भक्तिके प्रभावसे यह ब्राह्मण फिर जीवित हो जाय।'

इसपर वह ब्राह्मण नीरोग और युवा होकर उठ खड़ा हुआ और अपनी प्रभासे अजर-अमर देवताकी तरह गृहको प्रकाशमान करने लगा। आकाशसे फूलोंकी वर्षा होने लगी; देवोंने वाद्य बजाये और प्रसन्न होकर अनुसूयासे कहा—'हे हमारा कल्याण करनेवाली अनुसूया! तुमने सूर्यका फिरसे उदय कराके बड़ा भारी काम किया है। तुम वर माँगो।'

अनुसूया बोलीं—'यदि ब्रह्मासहित सब देव मुझपर प्रसन्न हैं तो मैं चाहती हूँ कि ब्रह्मा, विष्णु, महेश मेरे पुत्र हों और मैं पतिसहित क्लेशसे मुक्ति प्राप्त करनेके लिये योगको प्राप्त करूँ।'

देवगण 'एवमस्तु' कहकर और अनुसूयासे आज्ञा लेकर चले गये।

× × ×

यह एक मार्मिक कथा है। इसमें असङ्गतियाँ भी हैं पर मुझे उनसे प्रयोजन नहीं। कथाके मूलमें जो तत्त्व है, उसीसे मेरा काम चल जाता है। इसमें नारी कहीं पतिके भोगकी उपेक्षित, पीड़ित और अपदार्थ रूपमें *नहीं आयी है। क्या इसमें कहीं भी उस अपदार्थ* नारीकी गन्ध है जो अशक्ता, महिमाहीना, पुरुषकी वासनाकी दासीके रूपमें दिखायी पड़ती है? निश्चय ही पत्नी पतिमें केन्द्रित है पर यहाँ पति उसके लिये धर्मके एक प्रतीकके रूपमें है। उसकी आस्थाने पतिमें देवत्वकी प्राण-प्रतिष्ठा की है—ठीक वैसे ही, जैसे एक साधारण वस्तुमें प्रेम और भावनाके समावेशसे अपूर्व शक्ति पैदा हो जाती है। स्पष्ट ही यहाँ नारी केवल शरीर-भोगको लेकर जीवनके स्वप्नोंकी रचना करनेवाली नहीं है; यहाँ वह मानव-जीवनके रूपाकर्षणसे ऊपर उठी, अपनी महिमासे पुरुषका—समाजका गौरव बढ़ानेवाली, मानव-जीवनके अमृत प्रेममें छकी हुई है। यह वह नारी है जिसने मृत्युका उपहास किया है, जिसने क्षणिक जीवनको अमरताका आश्वासन प्रदान किया है! कौन कब ऐसी नारीकी उपेक्षा कर सका है? भारत-वर्षके साहित्यमें इस प्रकारके जितने चित्र मिलते हैं सबमें एक ही सत्यकी बार-बार घोषणा की गयी है। और वह सत्य है शरीरकी अधोगामी वासनाओंको पददलित करके समाज और धर्मके ऊपर प्रकाशकी दीपशिखा-सी उठती नारीकी महिमामयी मूर्ति—वह नारी जो कुण्ठित नहीं है, विचलित नहीं है, अशक्त नहीं है, अपदार्थ नहीं है; जिसे पुरुषकी कृपा और दयाकी आवश्यकता नहीं और जिसकी उपेक्षा होते ही पुरुषका पतन हुआ है और समाजमें भयङ्कर विस्फोट हुए हैं।

नवार्ण-मन्त्रके मध्यमपदकी सृष्टि

(लेखक—पं० श्रीरामरतनजी त्रिपाठी)

भारतवर्षमें प्राय: सभी जगह जगदम्बाकी उपासना विशेषरूपसे की जाती है। प्राय: प्रत्येक नगर और ग्राममें देवीका स्थान मिलता है। वहाँ नित्य सेवाके अतिरिक्त कोई दु:ख-सुखका समय आनेपर भी भक्तजन विशेष श्रद्धासे भगवतीका पूजन करते हैं। नवरात्रके समय कुमारियोंके झुंड-के-झुंड तथा अन्य सब स्त्री-पुरुष भी जाकर जल चढ़ाते हैं और अपनी-अपनी योग्यताके अनुसार तरह-तरहकी सामग्रियोंसे जगज्जननीकी पूजा करते हैं। इस अवसरपर माताकी प्रसन्नताके लिये बहुत लोग दुर्गासप्तशतीका पाठ करते हैं और बहुत-से, जो स्वयं पाठ करनेमें असमर्थ हैं, ब्राह्मणोंसे कराते हैं। सप्तशतीस्तोत्रका पाठ देवीकी पूजाका एक प्रधान अङ्ग है। यह स्तोत्र मार्कण्डेयपुराणके अन्तर्गत है। इसमें सात सौ श्लोक हैं, जो प्राय: सभी मन्त्रवत् माने जाते हैं। मन्त्रशास्त्रोंमें सभी प्रकारके प्रयोगोंकी सिद्धिके लिये इस स्तोत्रके पाठ और इसके मन्त्रोंके जपकी अनेक प्रकारकी विधियाँ दी गयी हैं। भगवतीके उपासक गुरु-परम्परासे उन विधियोंको सीखकर आज भी बहुत-से असाध्य कार्योंको सिद्ध कर लेते हैं।

इस स्तोत्रपाठका एक प्रधान अङ्ग है नवार्ण-मन्त्र। यह स्तोत्रके आदि और अन्तमें जपा जाता है। इस मन्त्रमें प्रणवको छोड़कर 'ऐं ह्रीं क्लीं चामुण्डायै विच्चे' ये नौ अक्षर हैं। देवीजीके प्राय: सभी कार्योंमें 'नौ' अंक-की प्रधानता है; जैसे—नवरात्र, नवदुर्गा, नवकन्या, नौ कोठेका यन्त्र, नवमी तिथि इत्यादि। इसी प्रकार उनके मन्त्रमें भी नौ ही अक्षर हैं। इनमें पहले तीन अक्षर क्रमश: महासरस्वती, महालक्ष्मी और महाकालीके बीज हैं और अन्तिम 'विच्चे' पद नमस्कारका वाचक है। इनके मध्यमें 'चामुण्डायै' है। इस लेखमें हम पाठकोंको इसी पदकी उत्पत्ति, प्रभाव और आश्चर्यजनक शक्तिका प्रमाणपूर्वक दिग्दर्शन कराना चाहते हैं। इसके लिये हम सप्तशतीके अध्याय ५से ७ तकके कथाभागका सारांश उद्धृत करते हैं।

पूर्वकालमें जब दैत्यराज शुम्भ और निशुम्भकी शक्ति बहुत बढ़ गयी, तो उनसे डरकर देवगण हिमालयपर जाकर जगदम्बाकी स्तुति करने लगे। इसी समय श्रीपार्वतीजी गंगास्नानके लिये आयीं। उन्होंने पूछा, 'आप लोग किसकी स्तुति कर रहे हैं।' देवगण इस प्रश्नका उत्तर देना ही चाहते थे कि पार्वतीजीके शरीरसे एक शक्ति प्रकट हुई और कहने लगी कि 'ये लोग शुम्भ और निशुम्भसे परास्त और पीड़ित होकर मेरी स्तुति कर रहे हैं।' यह शक्ति ही शिवा, अम्बा, अम्बिका और कौशिकी आदि नामोंसे विख्यात हुई। इसके प्रकट होते ही पार्वतीजीका शरीर काला हो गया और वे 'कालिका' नामसे प्रख्यात हुईं। फिर ये दोनों देवियाँ हिमालयपर ही रहने लगीं।

अम्बिकाजीका स्वरूप बड़ा ही मनोहर था। उन्हें शुम्भ-निशुम्भके सेवक चण्ड और मुण्डने देखा तो वे चकित रह गये। तब उन्होंने दैत्यराज शुम्भके पास जाकर कहा, 'महाराज! आज हिमालयपर हमने एक बड़ी ही सुन्दरी स्त्री देखी है। आपने सभी प्रकारके रत्नोंका संग्रह किया है। इसलिये इस स्त्रीरत्नको भी अवश्य पानेका प्रयत्न कीजिये। ऐसी सुन्दरी तो हमने आजतक नहीं देखी और हम समझते हैं, किसी दूसरेने भी न देखी होगी।'

तब दैत्यराज शुम्भने अपना सन्देश देकर एक दूत श्रीअम्बाजीके पास भेजा। उसने हिमालयपर जाकर उनसे कहा, 'देवि! मैं त्रिभुवनपति दैत्यराज शुम्भका

दूत हूँ। उन्होंने आपकी सेवामें यह सन्देश भेजा है कि इस समय सारी त्रिलोकी और समस्त देवता भी हमारे अधीन हैं। संसारमें जितने रत्न हैं उन सबका हम ही उपभोग करते हैं। आपको हम स्त्रियोंमें रत्न-स्वरूप समझते हैं। इसलिये आप भी हमें या हमारे छोटे भाई निशुम्भको पतिरूपसे वरण करके हमारे अतुल ऐश्वर्यकी स्वामिनी बन जाइये।'

दूतके ये वचन सुनकर देवीने हँसकर कहा—'दूत! तुम दैत्यराजसे कह देना कि—

यो मां जयति सङ्ग्रामे यो मे दर्पं व्यपोहति।
यो मे प्रतिबलो लोके स मे भर्ता भविष्यति॥

'मेरी यह प्रतिज्ञा है कि जो कोई मुझे संग्राममें जीतेगा और मेरा गर्व चूर्ण कर देगा—इस प्रकार जो मेरे ही समान बली होगा वही इस लोकमें मेरा पति हो सकता है। इसलिये यदि वे मेरा पाणिग्रहण करना चाहते हैं तो आकर मुझे युद्धमें परास्त करें।'

दूतके मुखसे अम्बाजीकी यह प्रतिज्ञा सुनकर अभिमानी शुम्भासुर क्रोधसे तिलमिला उठा। उसने उसी समय अपने सेनापति धूम्रलोचनको बुलाकर आज्ञा दी कि तुम इसी समय सेना लेकर हिमालयपर जाओ और उस ढीठ सुन्दरीको चोटी पकड़कर यहाँ ले आओ। यदि कोई देवता या गन्धर्व उसका पक्ष लेकर कुछ रोक-टोक करे तो उसे बिना कोई सोच-विचार किये मार डालो।

तब धूम्रलोचन साठ हजार दैत्योंकी सेना लेकर अम्बाजीके पास गया और उन्हें शुम्भकी आज्ञा सुनायी। माताजीने उसे भी अपनी वही प्रतिज्ञा सुना दी। इसपर वह उन्हें पकड़नेको दौड़ा, तो उन्होंने केवल हुंकारसे ही उसे भस्म कर दिया। धूम्रलोचनका निधन देखकर दैत्यसेना तरह-तरहके अस्त्र-शस्त्र बरसाने लगी। तब अम्बाजीके वाहन सिंहने उस सारी सेनाको नष्ट कर दिया।

जब दैत्यराज शुम्भने यह समाचार सुना तो उसका क्रोध और भी बढ़ गया। तब उसने चतुरङ्गिणी सेनाके साथ चण्ड-मुण्डको ही भेजा। उन्होंने जाकर देखा कि हिमालयके शिखरपर सिंहपर चढ़ी हुई श्रीअम्बाजी मन्द-मन्द मुसकरा रही हैं। वे उन्हें पकड़नेके लिये अस्त्र-शस्त्र सँभालकर आगे बढ़ने लगे। यह देखकर अम्बा-जीको उनपर बड़ा क्रोध हुआ और उनका मुखारविन्द काला पड़ गया। उस समय उनके ललाटसे एक शक्ति-का प्रादुर्भाव हुआ। उसका वर्णन सप्तशतीके सप्तम अध्यायमें इस प्रकार किया गया है—

काली करालवदना विनिष्क्रान्तासिपाशिनी॥६॥
विचित्रखट्वाङ्गधरा नरमालाविभूषणा।
द्वीपिचर्मपरीधाना शुष्कमांसातिभैरवा॥७॥
अतिविस्तारवदना जिह्वाललनभीषणा।
निमग्नारक्तनयना नादापूरितदिङ्मुखा॥८॥

'उसका नाम काली था। उसका मुख बड़ा ही विकट था। वह हाथोंमें तेज तलवार, फन्दा और खट्वाङ्ग (खाटका पाया) आदि लिये हुए थी। गलेमें नरमुण्डोंकी माला सुशोभित थी। शरीरका मांस सूखा हुआ था, उसपर वह हाथीकी खालका वस्त्र धारण किये थी। मुख बड़ा चौड़ा था, उससे लपलपाती हुई भीषण जिह्वा लटक रही थी। आँखें लाल-लाल और भीतरको घुसी हुई थीं। जिस समय इस भयङ्कररूपमें प्रकट होकर माँ कालीने गर्जना की उस समय उनके शब्दसे दसों दिशाएँ गूँज उठीं।'

वे दैत्यसेनामें घुसकर उसका संहार करने लगीं। बड़े-बड़े घंटाधारी हाथियोंको उनके महावत और सवारके सहित उठाकर अपने मुँहमें डाल लेतीं। रथोंको सारथी और रथियोंके सहित मुँहमें डालकर चबा जातीं। किसीकी गरदन पकड़कर मरोड़ देतीं, किसीको पैरकी चपेटसे कुचल डालतीं और किसीकी छातीमें मुक्का मारकर उसे

धराशायी कर देतीं। इस प्रकार उन्होंने सारी सेनाको एक क्षणमें ही पीस डाला। दैत्योंने उनपर जो-जो अस्त्र-शस्त्र बरसाये उन सबको भी वे मुखमें ले-लेकर चबा गयीं। जब चण्डने इस प्रकार अपनी सेनाको समाप्त होते देखा तो वह बड़े वेगसे दौड़कर उनके सामने आया और उनपर बाणोंकी वर्षा करने लगा। इसी प्रकार मुण्डने उनपर चक्रोंकी बौछार आरम्भ की। परन्तु जिस प्रकार हजारों सूर्य मेघोंमें लीन हो जायँ उसी प्रकार वे सब बाण और चक्र उनके मुखमें जाकर समा गये। तब सारे अस्त्र-शस्त्रोंको गटककर उन्होंने दौड़कर चण्डकी चोटी पकड़ ली और तलवारसे उसका सिर काट लिया। यह देखकर मुण्ड उनके सामने आया। किन्तु उसकी भी यही गति हुई।

तब उन दोनों सिरोंको लेकर श्रीकालीजी अम्बाजीके पास आयीं और उन्हें उनके आगे रखकर बड़ा प्रचण्ड अट्टहास करती हुई कहने लगीं, 'अम्बाजी! इन चण्ड-मुण्ड महापशुओंकी बलि मैं आपको समर्पण करती हूँ। अब शुम्भ-निशुम्भका संहार आप स्वयं करेंगी।'

तब अम्बाजीने उनसे बड़े मधुर शब्दोंमें कहा—

यस्माच्चण्डं च मुण्डं च गृहीत्वा त्वमुपागता।
चामुण्डेति ततो लोके ख्याता देवी भविष्यसि॥

(दुर्गासप्तशती ७। २७)

'तुम चण्ड-मुण्डको लेकर हमारे पास आयी हो, इसलिये लोकमें तुम 'चामुण्डा' नामकी देवी होकर विख्यात होओगी।'

इस प्रकार 'चामुण्डा' शब्द और चामुण्डाशक्तिका प्रादुर्भाव हुआ। सप्तशतीके आठवें अध्यायमें इस शक्तिका एक और भी अद्भुत चरित्र है। जब चण्ड-मुण्डके वधका समाचार पाकर दैत्यराज शुम्भने दैत्योंकी विशाल वाहिनीके साथ चढ़ाई की तो अम्बिकाजी अपनी समस्त शक्तियोंके साथ उस सेनाका संहार करने लगीं। उस समय दैत्यसेनाका पराभव होता देखकर रक्तबीज नामका एक दैत्य सामने आया। उसे यह वर मिला हुआ था कि तुम्हारे रक्तकी जो बूँद पृथ्वीपर गिरेगी वही एक रक्तबीज दैत्य बन जायगी। अब तो धीरे-धीरे सारा संसार रक्तबीज दैत्योंसे ही व्याप्त होने लगा। यह देखकर देवताओंको बड़ा भय हुआ तब अम्बिकाजीने चामुण्डाजीसे कहा, 'चामुण्डे! तुम अपना मुख फैलाओ और मेरे शस्त्रोंसे जो रक्तकी बूँदें गिरें उन्हें पी जाओ तथा इन सब असुरोंको भी भक्षण कर जाओ।' अब, क्या था एक क्षणमें ही श्रीचामुण्डाजी सारे रक्तबीजोंको चबा गयीं और पृथ्वीपर एक भी रक्तकी बूँद नहीं गिरने दीं। इस प्रकार वह रक्तबीज शस्त्रास्त्रोंसे छिन्न-भिन्न होकर बिना रक्तके ही मरकर पृथ्वीपर गिरा।

यह 'चामुण्डायै' पद उसी अद्भुत शक्तिका द्योतक है। यों तो इसके चार ही अक्षर गिने जाते हैं; किन्तु इसमें (च् म् ण् ड् य्) पाँच व्यञ्जन और (आ उ आ ऐ) चार स्वर हैं। इस प्रकार इसकी वर्णसंख्या भी नौ ही है। इन वर्णोंका बड़ा अद्भुत प्रभाव है। इसीलिये ये इस मन्त्रके मध्यमें रक्खे गये हैं।

इस मन्त्रका उच्चारण करते ही शरीरमें बल, वीर्य, तेज और शौर्यकी स्फूर्ति होने लगती है तथा अन्तःकरणमें एक विचित्र शक्तिका अनुभव होने लगता है। इस मन्त्रके बिना दुर्गापाठ भी सिद्ध नहीं होता। जिस प्रकार चामुण्डाके बिना दैत्योंको युद्धमें परास्त करना असम्भव था उसी प्रकार इस मन्त्रका जप किये बिना सप्तशतीके पाठसे भी कोई सफलता होनी असम्भव-सी ही है। अकेले इसी मन्त्रसे साधक लोग षट्प्रयोग करके असम्भवको भी सम्भव कर लेते हैं—ऐसी अद्भुत इसकी शक्ति है।

श्रीजगदम्बार्पणमस्तु

मानवता और जातीयता

(लेखक—मुखिया श्रीविद्यासागरजी)

[कहानी]

(१)

कई साल पूर्वकी घटना है। मथुरामें होम साहब कलक्टर थे। उनकी मेम मर चुकी थी। केवल पाँच सालका एक लड़का था —जेम्स। जब साहबका अन्त-काल आया तब उन्होंने अपने परम मित्र पं० कमला-किशोर शास्त्रीको बुलाया और अपने लड़केका हाथ उनको पकड़ाकर कहा—'डियर शास्त्री! अब मैं रामके दरबारमें जा रहा हूँ। मेरे पास केवल ३॥ लाख हैं, सो यह लो। इस लड़केको अपना ही लड़का मानकर खूब पढ़ाना। आई० सी० एस्० की परीक्षा जरूर पास करा देना। यही मेरी वसीअत है, और यही आपसे अनुरोध।'

(२)

शास्त्रीजीका मकान देहातमें था। आपको जमींदारीसे तीस हजार सालानाका मुनाफ़ा था। आपने जेम्सको अपना ही लड़का माना। दैवयोगसे शास्त्रीजीका घर सन्तानहीन था। आपने जेम्सका हिन्दू नाम रक्खा—ललितकिशोर पण्डित! ललितको तीन मास्टर घरपर पढ़ाने लगे। संस्कृत, हिन्दी, उर्दू तथा अंग्रेजीकी शिक्षा चालू हो गयी। जेम्स कभी कुरता-धोती पहनता, तो कभी कमीज-पेंट धारण करता। वह साफ़ हिन्दी बोलने लगा और हिन्दू लड़कोंके साथ 'आँखमिचौनी' खेलने लगा। वह ललित कहनेपर भी बोलता और जेम्स पुकारनेपर भी। उसके दो नाम पड़ गये। वह पण्डितजीको पिताजी और पण्डितानीजीको 'अम्मा' कहता था। जब ललितने इन्ट्रेंस पास किया तब पण्डितजीका अन्तसमय निकट आ गया। उन्होंने अपनी स्त्रीसे कहा—'लो भाई! मैं तो चला! जय रामजीकी! रोना-धोना मत। ललितको आई० सी० एस्० जरूर पास करा देना। उसे विलायत भेज देना। वहाँ वह बी० ए० करके आई० सी० एस्० पढ़ेगा। मेरे मित्र होम साहबकी इच्छा जरूर पूरी करना। फिर चाहे सारी जमींदारी क्यों न बिक जाय! उसे अपना ही पुत्र समझते रहना और जेम्सके नाम जो ३॥ लाख रुपये बैंकमें जमा हैं उन्हें मत छूना।'

(३)

जेम्स विलायत गया। वहाँ वह पाँच सालतक पढ़ता रहा। पहले आक्सफोर्ड विश्वविद्यालयसे बी० ए० पास किया, फिर आई० सी० एस्०की परीक्षा पास की। उसकी धर्ममाता हजारों रुपये खर्च बराबर भेजती रही। वह उसे पुत्र मानती रही। पुत्रने ५००) मँगाये तो माताने ७००) भेज दिये। मेरा लड़का 'परदेश'में तकलीफ न उठावे! इधर गुमास्ता लोगोंने, मुनाफ़ेके रुपयोंको अपना ही मुनाफ़ा समझा। कुछ दिया, कुछका खर्च बता दिया। बाकीका बाकीमें डाल दिया—छुट्टी हुई! गाँवमें तीन जमींदार और भी थे—मिश्रजी, दुबेजी और लालाजी। उन्होंने पाँच सालमें सारी जमींदारी कर्ज दे-देकर रेहन करा ली। बदमाशोंने दो-तीन बार चोरीका बहाना कर शास्त्रीजीके मकानका सारा सामान अपने-अपने घरोंमें मँगवा रक्खा। बचा केवल मकान और बुढ़िया! उसी समय मि० जेम्स साहब कलक्टर होकर मथुरा आये। आठ दिन मथुरामें रहकर दौरेका हुक्म कर दिया। सबसे पहले आप हरीपुर जा पहुँचे, जहाँ वे ललित बनकर शिशुकालकी ललित क्रीडाएँ कर चुके थे। गाँवके बाहर एक बागमें पड़ाव डाला गया। सुबहके समय, धोती-कुरता पहन, छड़ी

हाथमें लेकर आप अपनी 'अम्मा'के दर्शन करने चले। मकानके भीतर जाकर पुकारा—'अम्मा!'

'ललित! तू आ गया?' कहती हुई वृद्धा बाहर आयी। माताने लड़केको हृदयसे लगा लिया। प्रेमाश्रुकी वर्षा होने लगी। माता और पुत्र दोनों रो रहे थे। पाँच साल बाद मिलना हुआ था।

(४)

माता—बेटा! तूने आई० सी० एस्० की परीक्षा पास कर ली?

जेम्स—हाँ माताजी! आपकी कृपासे।

माता—आज मैं तुझसे 'उरिन' हो गयी! तेरे पिताजी मरते समय कह गये थे कि ललितको विलायत पास करा देना, फिर चाहे जायदाद रहे या न रहे।

माता बैठ गयी और जेम्स उसकी गोदमें सिर रखकर जमीनपर लेट गया। माता उसके सिरपर हाथ फेरती हुई बोली—'तूने तो पत्रमें लिखा था कि मैंने यहाँ अपना विवाह भी कर लिया है। सो बहू कहाँ है?'

ललित—बहू है बँगलेपर। उसने आपको बुलाया है। अब आजसे आपका निवास मथुरामें ही मेरे पास रहेगा। यमुनाजीका रोजाना स्नान कीजिये और द्वारकाधीशजीके दर्शन कीजिये। बस।

माता—अच्छा बेटा! बहू यह तो नहीं कहेगी कि मेरा पति अंग्रेज है फिर उसकी माता हिन्दू कैसे हुई?

ललित—नहीं अम्मा! मैंने सब हाल समझा दिया है। वह आपकी खूब सेवा करेगी।

माता—तुझे तो भूख लगी होगी।

ललित—हाँ, अम्मा! बड़ी भूख लगी है। आपके हाथकी रोटी पाँच सालसे नहीं खायी। जब मैं खाना खाने बैठता था तब आपकी याद आती थी।

माता—तुझे कढ़ी और भात बहुत पसंद था। वही बनाऊँ?

ललित—हाँ, हाँ, हाँ। वही कढ़ी और भात!

वृद्धाने एक हाँडी उठायी और मट्ठा लानेके लिये—वह पड़ोसीके घर चली गयी। इधर मौका पाकर साहब उठा और उसने सारा मकान देख डाला। कहीं कुछ नहीं रहा। सब सामान यार लोग खिसका ले गये थे। तलवारें, कुरसियाँ, कपड़े, पलँग कुछ भी न छोड़ा! बदमाशोंने चौका लगा दिया था। साहबको बड़ा सदमा पहुँचा।

(५)

'पाँच साल बाद आज तृप्ति हुई' कहकर जेम्सने भोजन समाप्त किया। फिर यों बातचीत हुई—

जेम्स—माताजी! जमींदारी तो क़ायम है?

माता—नहीं बेटा! कर्जमें सब चली गयी।

जेम्स—कर्ज क्यों लिया गया?

माता—न लेती तो तुझे क्या भेजती?

जेम्स—और मुनाफ़ा?

माता—कारिन्दोंने कहा कि अकाल पड़ गया है, आमदनी वसूल नहीं होती।

जेम्स—आई सी! अच्छा, घरका सामान कहाँ गया?

माता—तीन बार चोरी हुई थी—बेटा!

जेम्स—मेरी वजहसे आप सब तरह बरबाद हो गयी हैं। मेरे कारण आप राजासे फकीर हो गयीं। धिक्कार है मुझे!

माता—नहीं बेटा। मैंने अपने पतिकी इच्छा, तेरे पिताकी इच्छा और तेरी इच्छाको पूरा किया है। मैं आज तुझे देखकर बहुत सुखी हूँ। जायदादका क्या होता? सारी रियासत बेचकर मैंने तुझको खरीदा है। तू ही मेरी जायदाद है। मुझे अब क्या चाहिये? दो मुट्ठी चावल! सो तू देगा ही। अगर न देगा तो चाहे जिस सदाव्रतसे माँग लाया करूँगी।

जेम्स—राम राम! यह क्या कहती हो, अम्मा?

(६)

पण्डितानीजीको साथ लेकर जेम्स मथुरा चला गया। बँगलेमें एक खास कमरा सजाकर माताजीके लिये रिजर्व करा दिया गया। एक नौकरानी और एक नौकर सेवाके लिये कायम किये गये। माताजीकी रसोईमें जेम्स भी शामिल था। मेम साहबका खाना खानसामा बनाता था। मेम साहबने माताजीको बड़ी ही सुशीलतासे माना। सब लोग आनन्दसे रहने लगे।

इसके बाद कलक्टर साहबने दफ़ा ४२० के वारंट जारी किये। हरीपुरके तीनों जमींदार और पाँचों बदमाश तथा सब कारिन्दे गिरफ्तार कर लिये गये। एक महीनेतक सबको चुपचाप हिरासतमें रक्खा, ताकि कलक्टरकी साध्वी माताको ठगनेका मजा मिल जाय। एक दिन जमींदारोंने साहबके पास सन्देश भेजा—'अगर हजूर चाहें तो हमलोगोंका असली रुपया दे दें, व्याज न दें और सब जमींदारी वापस ले लें। अगर असल रुपया भी न देना चाहें और जमींदारी लेना चाहें तो वह भी मंजूर है। मगर इस 'बेमियादी बुखार' से छुटकारा दीजिये।'

उन बदमाशोंने अर्ज किया—'आपके मकानका सामान केवल इसलिये उठा लिया गया था कि वह नष्ट न हो जावे और जब सरकार आवें तब सौंप दिया जाय! हुकुम दीजिये—सब सामान उसी मकानमें जैसे-का-तैसा सजा दिया जाय! हमलोग आपके पिता शास्त्रीजीके शुभचिन्तक मित्र हैं। लिहाजा चोरीसे बचानेके लिये ही ऐसी हरकत की गयी थी। तोबा करते हैं—माफी दीजिये।'

कारिन्दोंने कहा—'जरूर ही पैदावार उन सालोंमें अच्छी न हुई थी। मगर इस साल पैदावार खूब अच्छी है। उम्मीद है कि बक़ाया रुपया सब वसूल हो जायगा। एक सालकी मियाद दी जाय ताकि हमलोग अपना-अपना हिसाब चुका सकें।'

साहबने सबको छोड़ दिया। रुपया सैकड़ाके सरकारी सूदके हिसाबसे साहबने सब कर्जदारोंको चुका दिया।

सारी जमींदारी वापस लेकर साहबने वह सब पण्डितानीजीके नाम करा दी। बदमाशोंने सामान वापस कर दिया। कारिन्दोंने सारा गबन धीरे-धीरे जमा कर दिया।

इस कहानीसे यह शिक्षा मिली कि—'मानवताके सामने जातीयता तुच्छ है।'

एक बहिनको सम्मति

एक बहुत अच्छे घरानेकी बहिनका पत्र मिला है। नाम-पता कुछ भी नहीं है; इसीसे ऐसा विषय कल्याणमें प्रकाशित करनेकी इच्छा न होनेपर भी बाध्य होकर कुछ लिखना पड़ रहा है। मालूम होता है बहिन धर्मभीरु हैं परन्तु कुसङ्गमें पड़ गयी हैं। पतनसे डरती हैं लेकिन कुसङ्गीसे उनकी सहानुभूति है और वे उसमें इस एक दोषको छोड़कर शेष गुण ही देखती हैं। उसमें गुण हों या दोष—बहिनके लिये हमारी यह सम्मति है कि उनके लिये यह पाप है और उन्हें इस पापसे दृढ़तापूर्वक बचना चाहिये। कुसङ्ग सर्वथा छोड़ देना चाहिये और ऐसा करनेमें कोई भय दिखलाया जाय तो उससे डरना नहीं चाहिये। अपने शरीर-नाशकी कल्पना भी नहीं करनी चाहिये और पवित्रताकी रक्षाके लिये श्रीभगवान्से कातर प्रार्थना करनी चाहिये; मनमें दृढ़ प्रतिज्ञा कर लेनी चाहिये कि किसी भी हालतमें पापमें प्रवृत्त नहीं होना है। पापसे वास्तवमें घृणा हो और भगवान्‌का बल साथ हो तो कोई भी मनुष्यको डिगा नहीं सकता।

—सम्पादक
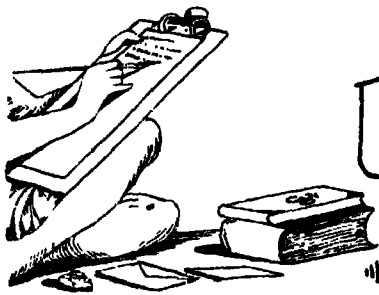
(श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पत्र)

(१)

आपका पत्र मिला। मेरे द्वारा दिया हुआ आपके प्रश्नोंका उत्तर मिलनेसे आपको शान्ति मिलती लिखा, सो आपके प्रेमकी बात है। आप रामनाम जपते हैं तथा आपको इससे शान्ति मिलती है सो बहुत आनन्दकी बात है। इस पत्रमें पूछे हुए प्रश्नोंका उत्तर इस प्रकार समझना चाहिये।

(१) *प्रश्न*—ज्ञानी जब शरीर छोड़ता है, तब उसका पुण्यकर्म सेवा करनेवालेको मिलता है और पापकर्म निन्दकको सो क्या बात है? ज्ञानीके तो कुछ भी कर्म नहीं रहता तो फिर दूसरेको कैसे मिलता है? वह तो सञ्चित, प्रारब्ध और आगामी—सबसे मुक्त हो जाता है।

उत्तर—आपका लिखना बहुत ठीक है। वास्तवमें ज्ञानीके सारे कर्म भस्म हो जाते हैं। तब सेवा करनेवालेको ज्ञानीके पुण्यकर्म मिलते हैं और निन्दा करनेवालेको पापकर्म—यह मानना असङ्गत है। हाँ, यह बात अवश्य है कि जो ज्ञानीकी सेवा करता है, उसे सेवाके फलस्वरूप पुण्य होता है; और जो उसकी निन्दा करता है, उसे निन्दाके फलस्वरूप पाप लगता है। इसमें एक बात और भी समझनेकी है। वह यह कि किसीकी भी सेवा की जायगी तो पुण्य होगा, और किसीकी निन्दा की जायगी तो पाप होगा, किन्तु जैसे सामान्यतः जलमात्रमें शौच जाना ही पाप है, परन्तु श्रीगङ्गाजीमें शौच जानेसे अधिक पाप लगता है, इसी प्रकार ज्ञानीकी निन्दा करनेसे अधिक पाप लगता है और उसकी सेवा करनेसे अधिक पुण्य होता है।

(२) *प्रश्न*—योगभ्रष्ट पुरुष पूर्वके अभ्याससे फिर योगमें प्रवृत्त हो जाता है तो पूर्वमें यदि बुरा कर्म किया है तो उसका संस्कार भी तो पापकर्ममें प्रवृत्त करेगा, इससे वह फिर योगभ्रष्ट हो जायगा, सो क्या बात है?

उत्तर—आपका पूछना ठीक है, किन्तु जिस प्रकार एक मनुष्यको किसी दूसरेके कुछ रुपये देने हैं। वह इस वक्त रुपये पास न होनेसे चुका तो नहीं सकता किन्तु अच्छी नीयतसे उसे चुका देनेका वादा करता है, तो भला आदमी उसे अवसर दे देता है, उसपर कोई कड़ी कार्यवाही नहीं करता। इसके बाद वह जब रुपये कमाकर उसे दे देता है तब ऋणसे मुक्त हो जाता है। इसी प्रकार योगभ्रष्टके पूर्वाभ्याससे साधनकी ओर झुक जानेपर पूर्वके बुरे संस्कारोंका प्राबल्य रुक जाता है और बादमें उसके साधन करते रहनेसे वे बुरे संस्कार नष्ट हो जाते हैं। तब फिर वे उसे पापकर्ममें प्रवृत्त करके पुनः योगभ्रष्ट नहीं कर सकते।

(३) *प्रश्न*—आप लिखते हैं कि कर्मयोगसे मोक्ष मिलता है और ज्ञानसे भी, किन्तु कर्मयोगसे तो अन्तःकरणकी शुद्धि होती है फिर मुक्ति कैसे मिलेगी? मुक्ति तो ज्ञानसे ही मिलती है। इसमें क्या बात है?

उत्तर–कर्मयोग और ज्ञानयोग दोनों ही अलग-अलग स्वतन्त्र साधन हैं। इन दोनोंका जो एक फलरूप ज्ञान है, वह इनसे विलक्षण है। कर्मयोगसे अन्तःकरणकी शुद्धि होनेके बाद ज्ञानयोगका साधन करनेसे भी मुक्ति होती है, किन्तु कर्मयोगसे अन्तःकरण शुद्ध होकर ईश्वरकी कृपासे स्वतः ही ज्ञान हो जाता है (गीता १८। ५६)। इस प्रकार कर्मयोग स्वतन्त्र साधन भी है। इसीलिये कर्मयोग और ज्ञानयोग–इन दोनोंको अलग-अलग स्वतन्त्र साधन लिखा है।

(४) *प्रश्न*–किसी आदमीने किसीका घर जला दिया या किसीको मार डाला तो उसको तो उसके पापका फल मिला, फिर घर जलानेवाला या मारनेवाला पापका भागी क्यों बनता है?

उत्तर–जिसका घर जलता है या जो मरता है, उसका तो यह प्रारब्धका ही फल है, किन्तु जलानेवाले या मारनेवालेका यह अपराध है। जिस प्रकार अदालत किसी अपराधीको फाँसी देनेका हुक्म देती है और यदि उस अपराधीको कोई दूसरा आदमी यह समझकर मार डालता है कि इसे मारना तो है ही, राजकर्मचारी मारे या मैं मार डालूँ, तो वह अपराधी समझा जाता है और उसे इसका दण्ड मिलता है, क्योंकि उसको उसे मारनेका कोई हक या हुक्म नहीं था। सरकारकी ओरसे अपराधीको फाँसी देनेका स्वतन्त्र प्रबन्ध है। इसी प्रकार परमात्माके राज्यमें अपराधीको दण्ड देनेका स्वतन्त्र प्रबन्ध है। इसीसे कोई यदि किसीका घर जलाता है, मारता है या कष्ट पहुँचाता है तो वह अपराध करता है और दण्डका भागी बनता है।

(५) *प्रश्न*—ध्यान करते समय यदि भगवान्‌का दूसरा रूप आ जाय तब क्या करना चाहिये? जैसे रामरूपका ध्यान करते समय कृष्ण या विष्णुरूप आ जाय तो किस रूपका ध्यान करना चाहिये। और इष्टदेवके ध्यानके समय साधक अपने गुरुदेवका या किसी महापुरुषका ध्यान कर सकता है या नहीं?

उत्तर—अपने इष्टस्वरूपका ध्यान करते समय यदि दूसरा रूप आ जाय अर्थात् रामरूपका ध्यान करते समय कृष्ण, विष्णुरूप आ जाय तो अपने इष्टरूपके ध्यानसे दूसरे रूपके ध्यानका अधिक आदर करना चाहिये। क्योंकि जो ध्यान हम करते हैं, वह हमारी इच्छासे किया जाता है और ध्यान करते समय जो दूसरा रूप आता है, वह प्रभुकी इच्छासे आता है। इसलिये प्रभुकी इच्छासे आया हुआ रूप अधिक आदरणीय है। अपने इष्टदेवके ध्यानके साथ किसी महापुरुष या गुरुदेवका ध्यान करनेमें कोई दोष नहीं है, किन्तु केवल एक इष्टदेवका ही ध्यान करना सबसे उत्तम है। यह विश्वास रखना चाहिये, प्रभुके सारे रूप एक ही भगवान्‌के हैं।

(६) *प्रश्न*—भगवान् जब दर्शन देते हैं, तब क्षीरसमुद्रसे देते हैं या वैकुण्ठलोकसे या साकेतलोकसे अथवा अन्तर्यामी सर्वव्यापी ब्रह्म दर्शन देते हैं–इसमें क्या बात है तथा कर्मका फल भी कौन देते हैं?

उत्तर—क्षीरसमुद्र, साकेतलोक, वैकुण्ठ–ये सब एक परमधामके ही नाम हैं। उस एक परमधामको ही कृष्णके उपासक गोलोक, रामके उपासक साकेतलोक, विष्णुके उपासक वैकुण्ठलोक कहते हैं। उस परमधामका मालिक सर्वान्तर्यामी, सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ सृष्टिकर्ता परमेश्वर है। वह सर्वोपरि है। उससे ऊपर कोई नहीं है। वही भक्तोंको दर्शन देता है और वही सच्चिदानन्दघन ब्रह्म है (गीता १४। २७) तथा वही जीवोंको उनके कर्मोंके अनुसार फल देता है।

(७) *प्रश्न*—यदि भगवान्‌का दर्शन हो जाय और भगवान् पहचाननेमें न आवें तो उसकी मुक्ति हो जायगी कि नहीं?

उत्तर—भगवान्‌का दर्शन होनेसे बहुत लाभ है; किन्तु यदि भगवान्‌को पहचाना नहीं तो उसकी मुक्ति करनेके लिये भगवान् बाध्य नहीं हैं, अनन्य भक्तिसे ही बाध्य हैं (गीता ११ । ५४) । जब श्रीकृष्ण भगवान्‌का अवतार हुआ उस समय जिन्होंने उनको नहीं पहचाना, उनकी मुक्ति नहीं हुई, बल्कि भगवान्‌को न पहचाननेवालोंको मूढ़ बतलाया है (गीता ९ । ११, १२; ७ । २५) ।

(८) प्रश्न—भगवान् राम और विष्णु-कृष्णमें क्या भेद है ? रामायणमें, विष्णुपुराणमें कहींपर भेद लिखा है सो क्या बात है ? जो अवतार लेते हैं सो किनका अवतार होता है, कारण तो कोई होगा ?

उत्तर—भगवान् राम, कृष्ण, विष्णुमें कोई भेद नहीं है । केवल नामरूपका भेद है । वस्तुतः कोई भेद नहीं है । जैसे एक ही पुरुष पहले ब्रह्मचर्याश्रममें रहे और पीछे गृहस्थ बन जाय तथा गृहस्थसे संन्यासी बन जाय तो वस्तुतः वह एक ही है, केवल वेषमात्रका भेद है । वह सर्वान्तर्यामी, सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ परमात्मा ही अवतार लेता है । रामायणमें रामको तथा विष्णुपुराणमें विष्णु-कृष्णको सर्वोपरि कहा है, उसका यह अर्थ है कि उपासकको अपने इष्टरूपको सर्वोपरि मानकर उपासना करनी चाहिये । इससे उस रूपमें श्रद्धा-प्रेम होकर साधकको शीघ्र सफलता मिलती है । श्रीपार्वतीजी भगवान् शङ्करके लिये तपश्चर्या करती हैं । उनको कहा जाता है कि वे शङ्करकी उपासना छोड़कर विष्णुकी ही आराधना करें, किन्तु श्रीपार्वतीजी इससे विचलित न हुईं और अपने इष्टकी आराधनामें ही लगी रहीं, इससे उन्होंने सफलता प्राप्त की । इसी तरह साधकको अपने इष्टरूपको ही सर्वोपरि मानकर उन्हींकी उपासना करनी चाहिये ।

(९) प्रश्न—भगवान्‌की अहैतुकी कृपा होती है या नहीं ? अगर होती है तो किस समय होती है ? किस जीवपर होती है ? या सबपर होती है ?

उत्तर—भगवान्‌की कृपा अहैतुकी ही होती है और वह सभीपर सब समय रहती है । किसी समय जो हेतुसे हुई दीखती है, उसमें साधकके श्रद्धा-प्रेमके तारतम्यके कारण ही कृपामें भी कमी-बेशी दीखती है ।

(१०) प्रश्न—प्रारब्धकर्म मिटता है या नहीं ? भगवान्‌के दर्शनमें या मारनेमें कौन विशेष लाभदायक है और कल्कि-अवतार हुआ है या नहीं ? राजनारायणजी लिखते हैं सो क्या बात है ? पापकर्म तो बहुत बढ़ गया, वर्णव्यवस्था भी सब छोड़ रहे हैं । आपकी क्या सम्मति है ?

उत्तर—प्रारब्ध प्रायः भोगनेसे ही मिटता है । भगवान्‌का वरदान आदि कोई विशेष कारण हो जाय तो भगवान्‌की कृपासे बिना भोगे ही मिट जाता है, क्योंकि भगवान् तो असम्भवको भी सम्भव कर सकते हैं । भगवान्‌के हाथसे मरनेकी अपेक्षा उनका दर्शन होना श्रेष्ठ है; क्योंकि हाथसे मरनेकी आशासे तामस भावका अवलम्बन करना पड़ता है । कल्कि-अवतार अभी नहीं हुआ और जल्दी होनेकी उम्मीद भी नहीं है । अभी वह स्थिति नहीं आयी है, जिसमें भगवान्‌को अवतार लेना पड़े ।

आपने पूछा कि मुझे मृत्युका भय लगता है, उसको छोड़ दूँ या याद रखूँ । शास्त्रोंमें तो याद रखनेको लिखा है । सो ठीक है । मृत्युको याद करनेका यह तात्पर्य है कि मृत्युके याद रहनेसे साधन तेज होता है, भगवान्‌की स्मृति अधिक होती है । यदि ऐसा न हो तो मृत्युको याद रखकर चिन्ता करनेकी कोई जरूरत नहीं ।

(२)

आपका पत्र मिला । समाचार जाने । × × × × आपका शरीर बहुत ही कमजोर हो गया, आप

चलते-चलते गिर पड़ने लगते हैं, इससे देखनेवाले हँसते हैं और आपको चिढ़ाते हैं। सो लोग तो ऐसा कर सकते हैं, परन्तु आपको लोगोंके हँसने-चिढ़ानेपर दु:ख नहीं करना चाहिये।

आपको दूध पीनेसे कुछ घृणा-सी होती है—ऐसा लिखा, सो दूध तो सब प्रकारसे हितकर चीज है, उसमें घृणा नहीं होनी चाहिये। आपके शरीरमें शक्ति न होनेसे आप अन्य व्यायाम न कर सकें तो साधारण आसनोंका अभ्यास करना चाहिये।

स्वप्नदोषके निवारणके लिये मन, इन्द्रिय, शरीरका संयम रखना चाहिये। आठ प्रकारके मैथुनोंमेंसे किसी भी मैथुनका दोष न आवे—ऐसा प्रयत्न करना चाहिये। मनको विवेक-विचारपूर्वक समझाना चाहिये। विवेक-विचारसे मन न माने तो, हठसे संयम करना चाहिये। आप ब्रह्मचर्यका पालन करते हैं सो अच्छी बात है। ब्रह्मचर्यके पालनकी चेष्टा करनेपर भी स्वप्नदोष होते हैं तो फिर यही समझा जाता है कि यह पूर्वजन्मके पापोंका फलरूप भोग ही है।

आपने लिखा कि 'मैं जो मारुतिजीकी भक्ति करता हूँ, उसे यदि घरवालोंके सामने प्रकट कर दूँ तो मेरी भक्तिमें बाधा आती है, क्योंकि मुझे हर समय पाठ वगैरह करनेमें संकोच हो जायगा।' यदि ऐसी बात है तो प्रकट न करें।

आप श्रीमारुतिजीकी भक्तिमें समय-कुसमय तथा पवित्र-अपवित्रका खयाल नहीं करते, किसी भी समय पाठ कर लेते हैं, नित्य पैंतालीस पाठ करते हैं और अवशेष समय 'सीताराम-सीताराम' रटते रहते हैं। सो बहुत ठीक है। हो सके तो पाठ मानसिक करना चाहिये। मानसिकका महत्त्व भी बहुत है और अपवित्र अवस्थामें भी मानसिक पाठ किया जाता है।

अब इतने पाठ भी नहीं हो पाते, न जाने भगवान्‌की क्या मरजी है—लिखा सो भगवान्‌की मरजी तो बहुत ही अच्छी है, केवल आपके प्रयत्नकी कमी है। पाठ करते समय निद्रा ज्यादा सताती है, इसके लिये आपको पद्मासन, सिद्धासन अथवा स्वस्तिकासनमेंसे किसी आसनसे बैठना चाहिये। अन्न अधिक न खाना चाहिये और खट्टे पदार्थोंका सेवन नहीं करना चाहिये। इससे आलस्य कम हो सकता है।

आपने लिखा कि रामायणका पाठ करनेपर सबको मालूम हो जायगा और लोग व्यङ्ग करने लगेंगे। सो, उनके व्यङ्ग करनेकी सम्भावना और भयसे आपको पाठसे वञ्चित क्यों रहना चाहिये। आपको लोगोंका व्यङ्ग सहना उचित है। आपके शरीरको देखकर लोग व्यङ्ग करें तो भी उसे सहना चाहिये और उनसे कहना चाहिये कि यह सब प्रारब्धका भोग है।

पिताजीके कहे अनुसार आप मुकद्दमा आदिके काममें हाथ नहीं बटाते तथा अखबार भी पढ़ना नहीं चाहते सो ठीक है, किन्तु यदि करनेकी शक्ति हो तो पिताजीके आज्ञानुसार जो न्याययुक्त काम हो उसे करना चाहिये, चाहे वह मुकद्दमा-मामला ही क्यों न हो। हाँ, अन्यायका काम हो, या करनेकी शक्ति न हो तो पिताजीको विनयपूर्वक समझा देना चाहिये। अखबार पढ़नेसे पिताजीको सन्तोष हो तो पढ़ सकते हैं। बिना रुचिके पढ़नेपर आपपर उसका बुरा असर नहीं हो सकता।

आपको पिताजी विवाहके लिये कहते हैं, किन्तु आपकी इच्छा विवाह करनेकी नहीं है, सो ठीक ही है। जब आपका शरीर इतना अशक्त है, आप उठ-बैठ भी नहीं सकते तो ऐसी अशक्तावस्थामें आपको विवाह नहीं करना चाहिये। पिताजीको विनयपूर्वक समझा देना चाहिये। आपने लिखा कि विवाह नहीं करता तो पिताजीका अपयश होता है, लोग आक्षेप करते हैं और विवाह करता हूँ तो वह भी एक बड़ा भयङ्कर प्रश्न होता है, क्योंकि मेरी और एक स्त्रीकी

दुर्दशा होगी। सो ठीक है। ऐसी स्थितिमें विवाह करनेमें ही अधिक बुराई है, न करनेमें नहीं। आपके लिये माता-पिताको अपयश-आक्षेपसे बचाना विवाह न करनेमें ही सम्भव है। हाँ, जब शरीरमें पर्याप्त शक्ति आ जाय और आपकी इच्छा हो तब भले ही कर सकते हैं।

(३)

कलकत्तेसे एक दसवीं कक्षाके विद्यार्थीका पत्र मिला है। नाम-पता न होनेसे उन्हें पत्र न दिया जा सका। उन्होंने लिखा है कि मेरे कोई भी काम करनेसे मेरे पिताजी मुझपर क्रोधित हो जाते हैं, इस विषयमें मुझे क्या करना चाहिये सो ठीक है, इस सम्बन्धमें मेरी सम्मति यह है—

आपको अपने पिताजीके सङ्केत, हुक्म और सन्तोष-के अनुसार चेष्टा करनी चाहिये। इसीमें आपका सब प्रकारसे कल्याण है। श्रुति कहती है—

मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव।

'माता, पिता और आचार्यको देवता (ईश्वरके तुल्य) माननेवाला हो।'

और मनुजी कहते हैं—

यं मातापितरौ क्लेशं सहेते सम्भवे नृणाम्।
न तस्य निष्कृतिः शक्या कर्तुं वर्षशतैरपि॥
(मनु० २। २२७)

'मनुष्यके उत्पत्ति-समयमें जो क्लेश माता-पिता सहते हैं, उसका बदला सौ वर्षोंमें भी नहीं चुकाया जा सकता।'

इमं लोकं मातृभक्त्या पितृभक्त्या तु मध्यमम्।
गुरुशुश्रूषया त्वेवं ब्रह्मलोकं समश्नुते॥
(मनु० २। २३३)

'माताकी भक्तिसे इस लोकको, पिताकी भक्तिसे मध्य लोकको और इसी प्रकार गुरुकी भक्तिसे ब्रह्मलोकको पाता है।'

त्रिष्वेतेष्वितिकृत्यं हि पुरुषस्य समाप्यते।
एष धर्मः परः साक्षादुपधर्मोऽन्य उच्यते॥
(मनु० २। २३७)

'इन तीनोंकी सेवासे पुरुषका सब कर्तव्य कर्म पूर्ण होता है, यही साक्षात् परमधर्म है, इसके अतिरिक्त अन्य सब धर्म 'उपधर्म' कहे जाते हैं।'

अतः जिस प्रकार माता-पिताको सन्तोष हो आपको वही करना चाहिये। उनकी इच्छा, सङ्केत और आज्ञाके अनुसार अपनेको बना लेना चाहिये। इस प्रकार करनेपर उनका क्रोध शान्त हो सकता है और उनको सन्तोष भी अवश्य होना चाहिये। इसपर भी यदि सन्तोष न हो तो आत्मघातकी कल्पना तो कभी भूलकर भी नहीं करनी चाहिये। यदि वे नाराज हो जायँ और आपको छोड़ दें तो उसे सह लेना चाहिये, आप जीते रहेंगे तो फिर भी कभी उन्हें सन्तोष करा सकेंगे। और सन्तोष न भी करा सकें तो भी उसमें इतना पाप नहीं जितना आत्महत्यामें है। इसलिये कितना भी कष्ट क्यों न हो, मनुष्यको आत्महत्या तो कभी करनी ही नहीं चाहिये। आत्म-हत्या करनेसे इस जीवनसे हाथ धो बैठनेमात्रका ही नुकसान नहीं है, उसकी परलोकमें बहुत दुर्गति होती है। आत्महत्या करनेवालेको तो घोर नरककी प्राप्ति बतलायी गयी है।

श्रुति कहती है—

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥
(ईश० ३)

'जो मनुष्य आत्माके हनन करनेवाले हैं वे मरकर घोर अन्धकारसे आच्छादित आसुरी योनियोंको प्राप्त होते हैं।'

* कल्याणके नियम *

उद्देश्य—भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, धर्म और सदाचार-समन्वित लेखोंद्वारा जनताको कल्याणके पथपर पहुँचानेका प्रयत्न करना इसका उद्देश्य है।

नियम

(१) भगवद्भक्ति, भक्तचरित, ज्ञान, वैराग्यादि ईश्वर-परक, कल्याणमार्गमें सहायक, अध्यात्मविषयक, व्यक्तिगत आक्षेपरहित लेखोंके अतिरिक्त अन्य विषयोंके लेख भेजनेका कोई सज्जन कष्ट न करें। लेखोंको घटाने-बढ़ाने और छापने अथवा न छापनेका अधिकार सम्पादकको है। अमुद्रित लेख बिना माँगे लौटाये नहीं जाते। **लेखोंमें प्रकाशित मतके लिये सम्पादक उत्तरदाता नहीं है।**

(२) इसका डाकव्यय और विशेषांकसहित अग्रिम वार्षिक मूल्य भारतवर्षमें ५≡), बर्मामें ६) और भारतवर्षसे बाहरके लिये १२ शिलिङ्ग नियत है। बिना अग्रिम मूल्य प्राप्त हुए पत्र प्रायः नहीं भेजा जाता।

(३) 'कल्याण' का वर्ष अगस्तसे आरम्भ होकर जुलाईमें समाप्त होता है, अतः ग्राहक अगस्तसे ही बनाये जाते हैं। वर्षके किसी भी महीनेमें ग्राहक बनाये जा सकते हैं किन्तु अगस्तके अङ्कसे। कल्याणके बीचके किसी अङ्कसे ग्राहक नहीं बनाये जाते; छः या तीन महीनेके लिये भी ग्राहक नहीं बनाये जाते।

(४) इसमें व्यवसायियोंके विज्ञापन किसी भी दरमें स्वीकारकर प्रकाशित नहीं किये जाते।

(५) कार्यालयसे 'कल्याण' दो-तीन बार जाँच करके प्रत्येक ग्राहकके नामसे भेजा जाता है। यदि किसी मासका 'कल्याण' न पहुँचे तो अपने डाकघरसे लिखा-पढ़ी करनी चाहिये। वहाँसे जो उत्तर मिले, वह हमें भेज देना चाहिये। डाकघरका जवाब शिकायती पत्रके साथ न आनेसे दूसरी प्रति बिना मूल्य मिलनेमें बड़ी अड़चन होगी।

(६) पता बदलनेकी सूचना कम-से-कम १५ दिन पहले कार्यालयमें पहुँच जानी चाहिये। **लिखते समय ग्राहक-संख्या, पुराना और नया नाम, पता साफ-साफ लिखना चाहिये।** महीने-दो महीनेके लिये बदलवाना हो तो अपने पोस्टमास्टरको ही लिखकर प्रबन्ध कर लेना चाहिये।

(७) अगस्तसे बननेवाले ग्राहकोंको रंग-बिरंगे चित्रोंवाला अगस्तका अङ्क (चालू वर्षका विशेषांक) दिया जाता है। विशेषांक ही अगस्तका तथा वर्षका पहला अङ्क होता है। फिर जुलाईतक महीने-महीने नये अङ्क मिला करते हैं।

(८) चार आना एक संख्याका मूल्य मिलनेपर नमूना भेजा जाता है। ग्राहक बननेपर वह अङ्क न लेवें तो ।) बाद दिया जा सकता है।

आवश्यक सूचनाएँ

(९) 'कल्याण' में किसी प्रकारका कमीशन या 'कल्याण' की किसीको एजेन्सी देनेका नियम नहीं है।

(१०) पुराने अङ्क, फाइलें तथा विशेषांक कम या रियायती मूल्यमें प्रायः नहीं दिये जाते।

(११) ग्राहकोंको अपना नाम-पता स्पष्ट लिखनेके साथ-साथ **ग्राहक-संख्या** अवश्य लिखनी चाहिये।

(१२) पत्रके उत्तरके लिये जवाबी कार्ड या टिकट भेजना आवश्यक है।

(१३) **ग्राहकोंको चन्दा मनीआर्डरद्वारा भेजना चाहिये** क्योंकि वी० पी० के रुपये प्रायः देरीसे पहुँचते हैं।

(१४) ग्राहकोंको **वी० पी० मिले, उसके पहले ही** यदि **वे हमें रुपये भेज चुके** हों, तो तुरंत हमें एक कार्ड देना चाहिये और हमारा (फ्री डिलेवरीका) उत्तर पहुँचनेतक वी० पी० रोक रखनी चाहिये, नहीं तो हमें व्यर्थ ही नुकसान सहना होगा।

(१५) प्रेस विभाग और कल्याण-विभाग अलग-अलग समझकर अलग-अलग पत्र व्यवहार करना और रुपया आदि भेजना चाहिये। कल्याणके साथ पुस्तकें और चित्र नहीं भेजे जा सकते। सादी चिट्ठीमें टिकटें नहीं भेजनी चाहिये।

(१६) चालू वर्षके विशेषाङ्कके बदले पिछले वर्षोंके विशेषाङ्क नहीं दिये जाते।

(१७) मनीआर्डरके कूपनपर रुपयोंकी तादाद, रुपये भेजनेका मतलब, ग्राहक-नम्बर, पूरा पता आदि सब बातें साफ-साफ लिखनी चाहिये।

(१८) प्रबन्ध सम्बन्धी पत्र, ग्राहक होनेकी सूचना, मनीआर्डर आदि **'व्यवस्थापक "कल्याण" गोरखपुर'** के नामसे और सम्पादकसे सम्बन्ध रखनेवाले पत्रादि **'सम्पादक "कल्याण" गोरखपुर'** के नामसे भेजने चाहिये।

(१९) स्वयं आकर ले जाने या एक साथ एकसे अधिक अङ्क रजिस्ट्रीसे मँगानेवालोंसे कुछ कम नहीं लिया जाता।

(२०) 'कल्याण' गवर्नमेण्टद्वारा भारतके कई प्रान्तोंके शिक्षा विभागोंके लिये स्वीकृत है। उक्त प्रान्तोंकी संस्थाओंके लाइब्रेरियन (तथा स्कूलोंके हेडमास्टर) संस्थाके फण्डसे 'कल्याण' मँगा सकते हैं।

श्रीहरिः

धर्म और उसका फल

धर्मपरायण पुरुष दूसरोंका हित मनाते हुए ही अपना हित चाहते हैं। उन्हें दूसरोंके अहितमें अपना हित कभी दीखता ही नहीं। परहित-से ही परमगति प्राप्त होती है। धर्मशील पुरुष हिताहितका विचार करके सत्पुरुषोंका संग करता है, सत्संगसे धर्मबुद्धि बढ़ती है और उसके प्रभाव-से उसका जीवन धर्ममय बन जाता है। वह धर्मसे ही धनका उपार्जन करता है। वही काम करता है जिससे सद्गुणोंकी वृद्धि हो। धार्मिक पुरुषोंसे ही उसकी मित्रता होती है। वह अपने उन धर्मशील मित्रोंके तथा धर्मसे कमाये हुए धनके द्वारा इस लोक और परलोकमें सुख भोगता है। धर्मात्मा मनुष्य धर्मसम्मत इन्द्रियसुखको भी प्राप्त करता है। परन्तु वह धर्मका फल सुख पाकर ही सन्तुष्ट नहीं हो जाता। वह सत्-असत्-का विचार करके वैराग्यका अवलम्बन करता है। वैराग्यके प्रभावसे उसका चित्त विषयोंसे हट जाता है। फिर वह जगतको विनाशी समझ-कर निष्कामकर्मके द्वारा मोक्षके लिये प्रयत्न करता है। असलमें जो मनुष्य पापोंको त्याग कर क्रमशः वैराग्यको धारण करता है, वही धर्मात्मा है और उसीको मोक्षपदकी प्राप्ति होती है।

(महाभारत शान्तिपर्व)

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम। जय रघुनन्दन जय सियराम॥
रघुपति राघव राजा राम। पतितपावन सीताराम॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा। जय गणेश जय शुभ आगारा॥

[संस्करण ५४१००]

वार्षिक मूल्य भारतमें ५≡) विदेशमें ७॥≈) (१२ शिलिङ्ग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत् चित् आनँद भूमा जय जय॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय॥
जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥

साधारण प्रति भारतमें ।) विदेशमें ।≥) (८ पेंस)

Edited by H. P. Poddar and C. L. Goswami, M. A., Shastri.

Printed and Published by Ghanshyamdas Jalan at the Gita Press, Gorakhpur (India).

कल्याण जून सन् १९०१ का

विषय-सूची

विषय — पृष्ठ-संख्या

श्रीहरिः

पुराने और नये ग्राहकोंको सूचना

१-यह पंद्रहवें वर्षका ग्यारहवाँ अङ्क है। अगले जुलाईमें बारहवें अङ्कमें इस वर्षका मूल्य समाप्त हो जायगा। सोलहवें वर्षका पहला अङ्क 'भागवताङ्क' होगा।

२-इस वर्षसे 'कल्याण'का वार्षिक मूल्य ५≈) कर दिया गया है। अतएव जो सज्जन ५≈) भेजकर पूरे वर्षके ग्राहक बन जायँगे उन्हें ४॥) का श्रीभागवताङ्क तो मिल ही जायगा; शेष ग्यारह महीनेतक ८० पृष्ठके ११ अङ्क केवल ॥≈) (ग्यारह ही आने) में मिलते रहेंगे।

३-पुराने और नये ग्राहकोंको वार्षिक मूल्य (लवाजम) के ५≈) (पाँच रुपये तीन आने) मनीआर्डरद्वारा बहुत जल्दी भेज देने चाहिये। मनीआर्डर भेजनेमें और वी० पी० से मँगवानेमें खर्च बराबर ही लगता है। परन्तु मनीआर्डर भेजनेवालोंको बहुमूल्य 'भागवताङ्क' रजिस्टर्ड पोस्टसे बहुत जल्दी सुरक्षित मिल जायगा। वी० पी० मँगानेवालोंको बहुत दिनोंतक राह देखनी पड़ेगी। इस बार 'भागवताङ्क' लागतसे भी बहुत कम कीमतमें बड़ा घाटा खाकर दिया जा रहा है इसलिये यदि पहले ही सब प्रतियाँ बिक गयीं तो फिर भागवताङ्क मिलना कठिन हो जायगा। कागजके अभावमें सब ग्राहकोंको देनेयोग्य पूरी संख्यामें छापना भी कठिन हो रहा है। इसलिये सम्भव है मनीआर्डर न भेजनेवालोंको निराश होना पड़े।

४-जिन प्रेमी महानुभावोंने बिना किसी स्वार्थके 'कल्याण'के ग्राहक बनाये हैं और जो बना रहे हैं उन सबके हम हृदयसे कृतज्ञ हैं। उनकी सहायताका कोई बदला नहीं है। भगवान्‌का कार्य करनेवाले तो बस भगवत्कृपा ही पाते हैं। इस बार भी प्रेमी महानुभावोंको चेष्टा करके 'पुराने ग्राहकोंसे रुपये शीघ्र भिजवा देने चाहिये, और नये ग्राहक बनाकर घर-घर श्रीमद्भागवत पहुँचा देनेका पुण्य लूटना चाहिये।

५-श्रीमद्भागवत महापुराण है। भगवान् व्यासदेवको इसीकी रचना करनेपर शान्ति मिली थी। इसमें ज्ञान, भक्ति और कर्मका तो सुन्दर विवेचन है ही। बड़े सुन्दर-सुन्दर इतिहास हैं, जिन्हें पढ़नेमें ज्ञान-वृद्धिके साथ ही बड़ा सुख मिलता है। सबसे बढ़कर चीज तो है इसमें साक्षात् भगवान् श्रीकृष्णकी पवित्र और आनन्दमयी लीलाएँ। भागवताङ्कमें भागवतका अनुवाद ऐसे तरीकेसे किया गया है जिससे स्त्री, बच्चे सभी बड़ी सरलतासे उसे पढ़ और समझ सकें। भगवान्‌की लीलाओंका वर्णन ऐसा सुन्दर है कि बच्चे भी उन्हें पढ़ने लगेंगे तो छोड़ेंगे नहीं। विद्वानोंके कामकी चीज तो भागवत है ही। चित्र भी बड़े सुन्दर-सुन्दर होंगे। ग्राहक बननेवालोंको बहुत जल्दी रुपये मनीआर्डरसे भेज देने चाहिये। मनीआर्डर-फार्म साथ जा रहा है।

६-ग्राहक महानुभावोंसे निवेदन है कि वे मनीआर्डरके कूपनमें अपने ग्राहक-नम्बर जरूर लिखनेकी कृपा करें। नये ग्राहक हों तो 'नया' लिख दें। नम्बर न लिखनेसे भागवताङ्क देरसे पहुँच सकेगा। कई सज्जन मनीआर्डर फार्ममें अपना नाम-पता बिल्कुल ही नहीं लिखते। ऐसी भूल कृपया नहीं करनी चाहिये।

७-जो सज्जन ५≈) न भेजकर पहलेके भरोसे ४≈) भेज देंगे उनको 'भागवताङ्क' नहीं भेजा जायगा। उनके रुपये जमा रहेंगे। १) और मिलनेपर ही उनके नाम अङ्क जा सकेगा।

८-'कल्याण'का नया वर्ष अंगरेजी अगस्त महीनेसे शुरू होता है और शुरूके महीनेसे ही ग्राहक बनाये जाते हैं।

९-जिन सज्जनोंको ग्राहक न रहना हो वे कृपा करके तीन पैसेका कार्ड लिखकर पहलेसे ही सूचना भेज दें। जिससे कि वी०पी० भेजकर वृथा नुकसान न उठाना पड़े।

मैनेजर—'कल्याण' गोरखपुर, (यू० पी०)

संस्कृतकी कुछ सानुवाद पुस्तकें

ईशावास्योपनिषद्—सानुवाद, शाङ्करभाष्यसहित, सचित्र, पृष्ठ ५२, मूल्य .... ≡)

केनोपनिषद्—सानुवाद, शाङ्करभाष्यसहित, सचित्र, पृष्ठ १४६, मूल्य .... ॥)

कठोपनिषद्—सानुवाद, शाङ्करभाष्यसहित, सचित्र, पृष्ठ १७८, मूल्य .... ॥-)

मुण्डकोपनिषद्—सानुवाद, शाङ्करभाष्यसहित, सचित्र, पृष्ठ १३२, मूल्य .... ।≡)

प्रश्नोपनिषद्—सानुवाद, शाङ्करभाष्यसहित, सचित्र, पृष्ठ १३०, मूल्य .... ।≡)

उपर्युक्त पाँचों उपनिषद् एक जिल्दमें, [उपनिषद्भाष्य खण्ड १] मूल्य .... २।-)

माण्डूक्योपनिषद्—श्रीगौडपादीय कारिकासहित, सानुवाद, शाङ्करभाष्यसहित, सचित्र, मू० १)

ऐतरेयोपनिषद्—सानुवाद, शाङ्करभाष्यसहित, सचित्र, पृष्ठ १०४, मूल्य .... ।=)

तैत्तिरीयोपनिषद्—सानुवाद, शाङ्करभाष्यसहित, सचित्र, पृष्ठ २५२, मूल्य .... ॥।-)

उपर्युक्त तीनों उपनिषद् एक जिल्दमें, [उपनिषद्भाष्य खण्ड २] मूल्य .... २।=)

छान्दोग्योपनिषद्—सा० शाङ्करभाष्यसहित, पृष्ठ ९८४, स० [उपनिषद्भाष्य खण्ड३] ३॥)

श्वेताश्वतरोपनिषद्—सानुवाद, शाङ्करभाष्यसहित, पृष्ठ २७२, मूल्य .... ॥।=)

श्रीमद्भागवत-महापुराण— (दो खण्डोंमें) सानुवाद, सचित्र, पृष्ठ १७७६, सजिल्द मूल्य ८)

श्रीविष्णुपुराण—सानुवाद, पृष्ठ ६२८, चित्र ८, मूल्य २॥) बढ़िया जिल्द .... २॥।)

भागवतस्तुतिसंग्रह—अनुवाद, कथाप्रसङ्ग और शब्दकोषसहित, सचित्र, सजिल्द .... २।)

अध्यात्मरामायण—सानुवाद, बड़ा आकार, पृष्ठ ४०८, चित्र ८, मूल्य १॥।), स० २)

मुमुक्षुसर्वस्वसार—भाषासहित, पृष्ठ ४१६, मूल्य ॥।-) सजिल्द .... १-)

श्रीभगवन्नामकौमुदी—हिन्दी-अनुवादसहित, पृष्ठ ३३६, बहुरंगे ६ चित्र, मूल्य .... ॥=)

विष्णुसहस्रनाम—सानुवाद, शाङ्करभाष्यसहित, सचित्र, पृष्ठ २७५, मूल्य .... ॥=)

सूक्तिसुधाकर—सुन्दर श्लोकसंग्रह, सानुवाद, सचित्र, पृष्ठ २७६, मूल्य .... ॥=)

श्रुतिरत्नावली—चुनी हुई श्रुतियाँ, सानुवाद, सचित्र, पृष्ठ २८८, मूल्य .... ॥)

स्तोत्ररत्नावली—चुने हुए स्तोत्र, हिन्दी-अनुवादसहित, ४ चित्र, पृष्ठ ३१२, मूल्य ॥)

विवेकचूडामणि—सानुवाद, सचित्र, पृष्ठ १९२, मूल्य ।-) सजिल्द .... ॥)

प्रेमदर्शन—नारद-भक्ति-सूत्रकी प्रेममयी विस्तृत टीका, ३ रंगीन चित्र, पृष्ठ २०८, मूल्य ।-)

गृह्याग्निकर्मप्रयोगमाला सानुवाद, कर्मकाण्डकी पुस्तक, पृष्ठ २८२, मूल्य .... ।-)

प्रबोधसुधाकर—सानुवाद, दो चित्र, पृष्ठ ८०, मूल्य .... ≡)॥

अपरोक्षानुभूति—स्वामी शङ्कराचार्यकृत, सानुवाद, पृष्ठ ४८ सचित्र, मूल्य .... =)॥

शतश्लोकी—स्वामी शङ्कराचार्यकृत, सानुवाद, पृष्ठ ६४, मूल्य .... =)

मनुस्मृति—दूसरा अध्याय सार्थ, पृष्ठ ५६, मूल्य .... -)॥

मूलरामायण—सानुवाद, एक बहुरंगा चित्र, पृष्ठ २४, मूल्य .... -)।

गोविन्द-दामोदर-स्तोत्र—सानुवाद, एक बहुरंगा चित्र, पृष्ठ ३२, मूल्य .... -)

रामगीता—(अध्यात्मरामायणान्तर्गत) टीकासहित पृष्ठ ४६, मूल्य ....)॥।

प्रश्नोत्तरी—स्वामी शङ्कराचार्यकृत, सटीक, पृष्ठ २६, मूल्य ....)॥

नारद-भक्ति-सूत्र—सार्थ पृष्ठ २४,)। | **सप्तश्लोकी गीता**—सार्थ, पृष्ठ ६, मू० आधा पैसा

'कल्याण'का

भागवताङ्क

वर्षोंसे 'कल्याण'के पाठक जिसे चाहते थे, वही 'भागवताङ्क' निकलेगा। इसमें—

(१) श्रीमद्भागवतका पूरा भावार्थ सुन्दर सीधी और रोचक भाषामें रहेगा।

(२) कथाओंका भाव खोलनेवाले लगभग ४०० सादे चित्र रहेंगे। जिनमें भगवान् श्रीकृष्णकी लीलाओंके ही अधिक होंगे।

(३) लगभग ७५ बहुत सुन्दर बहुरंगे चित्र होंगे।

(४) भागवत-पूजाविधि, पाठविधि, अनुष्ठानविधि आदि विषय रहेंगे।

(५) चीरहरण, रासलीला आदि विषयोंपर सुन्दर समाधान रहेगा।

(६) भागवत-सम्बन्धी बहुत-से प्रश्नों और शङ्काओंका उत्तर रहेगा।

(७) सादे चित्रोंसहित सारी सामग्रीके लगभग ११०० ग्यारह सौ पृष्ठ 'भागवताङ्क'के होंगे।

(८) परिशिष्ट (भाद्रपदके अंक)में छोटे टाइपोंमें पूरा 'मूलभागवत' देनेकी चेष्टा की जा रही है।

(९) भागवतके मर्मज्ञ विद्वानोंके कुछ सारगर्भित लेख और संदेश संग्रह करनेकी भी व्यवस्था की जा रही है।

लड़ाईके कारण सभी चीजें महँगी हो जानेके कारण बाध्य होकर 'कल्याण'का मूल्य ५≡) करना पड़ा है। अर्थात् इस बार प्रत्येक ग्राहकको १) अधिक देना पड़ेगा। इसपर भी लगभग ६२३७२) का घाटा रहेगा। हिसाबसहित मूल्य बढ़ानेका कारण 'निवेदन'के रूपमें पृष्ठ१५८८-९०पर छपा है। उसे पढ़ना चाहिये।

'भागवताङ्क' का मूल्य ४॥) और भागवताङ्कसहित पूरे सालके कल्याणका मूल्य ५≡) रहेगा। यानी सालभरके लिये ग्राहक बननेवालोंको ग्यारह ही आनेमें वर्षभरतक प्रतिमासका 'कल्याण' भी मिलता रहेगा।

ग्राहकोंको अपना वार्षिक चन्दा बहुत शीघ्र मनीआर्डरसे भेज देना चाहिये। मनीआर्डर फार्म इसके साथ भेजा जा रहा है। 'भागवताङ्क' बहुत सुन्दर, सस्ता होनेसे बहुत जल्दी बिक जानेकी सम्भावना है। जो लोग पहलेसे चंदा नहीं भेज देंगे, उनको यह संस्करण समाप्त हो गया या लड़ाईके कारण कागज न मिलनेसे पूरी संख्यामें न छप सका तो 'भागवताङ्क' मिलना ही बहुत कठिन हो जायगा। इस बार वी० पी० की प्रतीक्षा नहीं करनी चाहिये। अंक बचेंगे तो ही वी० पी० जायगी।

भागवताङ्कमें लेख बहुत कम रहेंगे, इसलिये कोई महानुभाव निम्नलिखित विषयोंको छोड़कर अन्य किसी विषयपर लेख भेजनेका कष्ट न करें।

१—भागवतके भूगोलका वर्तमान भूगोलके साथ मेल।

२—भागवत-सम्बन्धी इतिहास।

३—भागवतके समयका भारतवर्ष।

४—भागवतमें ज्योतिष।

५—भागवतकी प्राचीनता और निर्माणकाल।

६—भागवतपर भारतीय और विदेशी भाषाओंमें टीकाएँ और टीकाकारोंका परिचय।

व्रजेश्वर

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥ (श्रीमद्भगवद्गीता १८ । ६५)

वर्ष १५ } गोरखपुर, जून १९४१ सौर ज्येष्ठ १९९८ { संख्या ११ पूर्ण संख्या १७९

भगवान्‌का प्रिय भक्त

ऊधो, ऐसो भगत मोहि भावै ।
सब तजि आस निरंतर मेरे जनम-करम गुन गावै ॥
कथनी कथै निरंतर मेरी, सेवामें चित लावै,
मृदुल हास, अँखियन-जल-धारा, करतल ताल बजावै ॥
जहँ जहँ भगत चरन निज राखै, तहँ तीरथ चलि आवै,
तहँकी रज कौं अंग लगावत कोटि ब्रह्म-सुख पावै ॥
मेरो रूप हृदै मैं तिनके, मेरे हू उर आवै,
बलि बलि जाऊँ श्रीमुखकी बानी सूरदास जस गावै ॥

—सूरदासजी

प्रभु-स्तवन

(अनुवादक—श्रीमुंशीरामजी शर्मा, एम्० ए० 'सोम')

अहमिन्द्रो न परा जिग्य इद्धनं न मृत्यवेऽव तस्थे कदा चन ।
सोममिन्मा सुन्वन्तो याचता वसु न मे पूरवः सख्ये रिषाथन ॥
(ऋ० १०।४८।५)

मैं इन्द्र, इन्द्रियोंका स्वामी;
मैं नित्य, मुक्त, मैं शुद्ध बुद्ध, मैं अजर-अमर आत्मानामी ;
मैं अपराजित, को छीन सके, मेरा वैभव विभु-सा विजयी ?
यह मौत, मुझे क्या मार सके ! है स्वयं अनित्य विनाशमयी ;
आओ, माँगो मुझसे वैभव, कर सवन सोमका सुखदाई ;
मेरी मैत्रीमें, मृत्यु नहीं, है सदा अमरता अमराई ।

आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतोऽदब्धासो अपरीतास उद्भिदः ।
देवा नो यथा सदमिद् वृधे असन्नप्रायुवो रक्षितारो दिवेदिवे ॥
(ऋ० १।८९।१; यजु० २५।१४)

भद्र भाव आवें प्रभुवर, सब ओरसे,
दबनेवाले हों न, शत्रुके शोरसे ;
घिरे हुए वे हों न, मुक्त स्वाधीन हों ;
बाधा नदके भेदनकारी मीन हों ;
जिससे प्रतिदिन देव, हमें उन्नत करें ;
हो प्रमादसे रहित, सदा सङ्कट हरें ।

देवस्य वयं सवितुः सवीमनि श्रेष्ठे स्याम वसुनश्च दावने ।
यो विश्वस्य द्विपदो यश्चतुष्पदो निवेशने प्रसवे चासि भूमनः ॥
(ऋ० ६।७१।२)

चतुष्पद, द्विपद जगत्के जनक, तुम्हीं प्रेरक आश्रय सुखमूल;
तुम्हारी श्रेष्ठ प्रेरणा तथा श्रेष्ठ ऐश्वर्य मिले सुखमूल ॥

यत्रा सुपर्णा अमृतस्य भागमनिमेषं विदथाभिस्वरन्ति ।
इनो विश्वस्य भुवनस्य गोपाः स मा धीरः पाकमत्रा विवेश ।
(ऋ० १।१६४।२१; अ० ९।९।२२)

करो प्रवेश, करो प्रवेश;
कच्चा घट है, इसे पका दो, ज्ञान-अग्निसे हे भुवनेश !
तुम त्रिभुवन-रक्षक, जगदीश्वर, धीर ज्ञान-सम्पन्न सुरेश ;
पक्ष-विपक्ष प्रश तुम स्वामी, नहीं कहीं निर्बलता शेष ;
बिना तुम्हारे आये कैसे बच सकता है मेरा वेश ;
गल जायेगा, घुल जायेगा, इसे बचा लो, हे विश्वेश ;
उड़-उड़ कर ला रहीं इन्द्रियाँ अमृत ज्ञानका भाग विशेष ;
बोल रहीं अनुभूति लिये वे यहाँ अमरताका सन्देश ।

देवानां भद्रा सुमतिर्ऋजूयतां देवानां रातिरभि नो निवर्तताम् ।
देवानां सख्यमुप सेदिमा वयं देवा न आयुः प्रतिरन्तु जीवसे ॥
(ऋ० १।८९।२; यजु० २५।१५)

ऋजु गामी देवोंकी मंगल सुमति हमें मिल जावे;
उनकी मैत्री दान निरन्तर हमपर छाया छावे ;
उनका प्रेम प्राप्त हो हमको बने सखा वे प्यारे ;
जीवित जीवन हेतु बढ़ावें जीवन-दिवस हमारे ।

तमीशानं जगतस्तस्थुषस्पतिं धियञ्जिन्वमवसे हूमहे वयम् ।
पूषा नो यथा वेदसामसद् वृधे रक्षिता पायुरदब्धः स्वस्तये ॥
(ऋ० १।८९।५; यजु० २५।१८)

आओ, मेरे प्रभुवर आओ,
कबसे तुम्हें पुकार रहा हूँ, आओ निज जनको, अपनाओ ;
निखिल अचर-चर-जगके अधिपति, सकल सृष्टिके स्वामी !
मंगल-जनक बुद्धिके प्रेरक उर-उर अन्तर्यामी ।
तुम पोषक ऐश्वर्य-प्रदाता, विभव बढ़ानेवाले ;
पालक रक्षक अदमनीय हो, स्वस्ति हेतु दुख टालें ।
करो प्रेरणा ऐसी, जिससे बने विपति कल्याणी ;
आज पुकार रहा हूँ तुमको कर दो सफला वाणी ।

यत्किं चेदं वरुण दैव्ये जनेऽभिद्रोहं मनुष्याश्चरामसि ।
अचित्ती यत्तव धर्मा युयोपिम मा नस्तस्मादेनसो देव रीरिषः ।
(ऋ० ७।८९।५; अथर्व० ६।५१।३)

क्षमा हो, देव, दिव्य गुणधाम !
हम मानव, करते रहते हैं भ्रमवश पाप तमाम ;
हम अज्ञानी, तव धर्मोंका जब कर देते लोप ;
तब जीवन पथमें पाते हैं भीषण दैवी कोप ;
द्रोही हृदय प्रकम्पित होता, समझ भयङ्कर भूल ;
श्रीचरणोंमें प्रणत स्वजन हित रहो पिता अनुकूल ।

विपश्चिते पवमानाय गायत मही न धारात्यन्धो अर्षति ।
अहिर्न जूर्णामति सर्पति त्वचमत्यो न क्रीडन्नसरद् वृषा हरिः ॥
(ऋ० ९।८६।४४; सा० उ० ७।३।११)

सोमरूप ज्ञानी आत्माके प्रिय सन्तत गुण गान करो;
चेतनता-केतन-तापसकी अमित शक्तिका मान करो ।
ज्यों अपार जलधार तटोंको त्याग चतुर्दिक भर जाती ॥
आत्मशक्ति त्यों कोषमुक्त हो बन्धनसे बाहर आती ।
जीर्ण त्वचाको छोड़, सर्प ज्यों नवल त्वचाको अपनाता ॥
त्यों तज जीर्ण शरीर जीव भी अभिनव जीवन-गति पाता ।
जैसे सबल अश्व विचरण कर शीघ्र यहाँसे वहाँ चले,
वैसे ही हरि खेल खेलते अपनी लीलाको बदले ।

प्र वो महे मन्दमानायान्धसोऽर्चा विश्वानराय विश्वाभुवे ।
इन्द्रस्य यस्य सुमखं सहो महि श्रवो नृम्णं च रोदसी सपर्यतः ॥
(ऋ० १०।५०।१; यजु० ३३।२३)

गाओ, गाओ प्रभुके गीत ।
अङ्ग-अङ्गसे रोम-रोमसे पूजन करो पुनीत ;
पृथिवीसे द्युलोक तक संस्तुति वन्दन करे विनीत ;
जिसके पूज्य महान तेज बल यश साहससे प्रीत,—
वह महान है, मोदमान है, सुखप्रद अलख अतीत ।
विश्व-रमण, वैश्वानर व्यापक, अगम, अगाध, अजीत ॥

याद रक्खो—तुमपर भगवान्की कृपा नित्य-निरन्तर बरस रही है। वह सदा सब ओरसे तुम्हें नहला रही है। ऐसा कोई क्षण नहीं जाता जिस समय तुम भगवान्की कृपासे वञ्चित रहते हो। वञ्चित रहते भी कैसे? तुम उनकी अपनी प्यारी-से-प्यारी रचना जो ठहरे! तुमपर वे कृपा क्या करते, उनके हृदयमें तो पल-पलमें स्नेह उमड़ा आता है। सचमुच विश्वास करो—जबसे तुम हुए, न मालूम किस अज्ञातकालसे, तभीसे उन्होंने तुम्हें अपनी गोदमें ले रक्खा है। एक क्षणके लिये भी कभी उन्होंने तुमको दूर नहीं किया। उनका कल्याणमय करकमल निरन्तर तुम्हारे सिरपर रहता है और निरन्तर तुम उनका शीतल-मधुर स्पर्श पा रहे हो!

तुम पूछोगे—'फिर यह जो जलन हो रही है। दिन-रात हृदयमें शोक और विषादका दावानल धधक रहा है इसका क्या कारण है?' ठीक है। इसका सच्चा उत्तर यह है—न तो आग है, न जलन; यह सब उनकी लीला है। तुम जो जलनका अनुभव कर रहे हो और पूछ रहे हो, यह भी उनके लीलाभिनयका ही एक अङ्ग है। तुम्हारा ज्ञान और अज्ञान, तुम्हारा सुख और दुःख, तुम्हारी तृप्ति और अतृप्ति, तुम्हारी शान्ति और सन्ताप—यहाँतक कि तुम और मैं—सभी कुछ उनकी लीला है, उन्हींमें हो रही है, वे ही कर रहे हैं। आश्चर्यकी बात तो यह है लीला और लीलामय भी भिन्न नहीं, एक ही है। वे स्वयं लीला करते हैं, और स्वयं ही उसे देख-देखकर हँसते हैं।

तुम्हारी यह सुखकी कामना, तुम्हारी यह शान्तिकी चाह, तुम्हारी यह मिलनकी उत्कण्ठा—सब उन्हींका खिलवाड़ है। उनका यह खेल, पता नहीं कबसे चल रहा है। इसके आरम्भकालका पता आजतक किसीको न लगा और न आगे लगेगा ही। यह चलता ही रहता है। जिन्होंने देखा, इसे चलते ही देखा। खेलका रूप जरूर बदलता रहता है, सदा उसका एक-सा रूप नहीं रह सकता, परन्तु खेल कभी खत्म नहीं होता। जब खिलाड़ी नित्य है तो खेल अनित्य कैसे हो? इसीसे जाननेवाले संतलोग भगवान्की लीलाको अनादि और अनन्त कहते हैं।

यह जो सृष्टि दीख रही है, इसमें जो प्रतिपल सृजन और संहारका चक्र चल रहा है, इसमें जो शान्ति और अशान्तिकी लहरें लहरा रही हैं, यह सब भी उन्हींका रूप है। कभी भयानक और कभी सौम्य—रात और दिनकी भाँति दोनों एक ही लीलाकी दो दिशाएँ हैं। यहाँ कुछ भी विपरीत नहीं होता। सभी अनुकूल, सभी यथार्थ, सभी कल्याणमय और सभी ठीक हो रहा है। जो होना चाहिये, जैसे होना चाहिये, वह वैसे ही हो रहा है। यह सारी सृष्टि और उसकी क्रिया—उनकी आनन्दमयी, चिन्मयी लीला है। उनका स्वरूप ही है।

जो होता है, होने दो—किसीके रोकनेसे रुकेगा भी नहीं। तुम तो बस, अपनेको उनकी मङ्गलमयी इच्छाके प्रवाहमें डाल दो। किसी खास स्थितिकी कल्पना छोड़कर निश्चिन्त हो जाओ। अब भी उसी प्रवाहमें ही पड़े हो, परन्तु तुम्हें पता नहीं है, इसीसे भयानक और सुन्दरका भेद दीखता है। लीलामयसे प्रार्थना करो जिससे वे तुम्हें जता दें, जगा दें, तुम्हारी असली आँखें खोल दें। फिर तुम प्रत्यक्ष देख सकोगे कि तुम न कभी उनसे अलग थे, न अब अलग हो, न आगे ही अलग हो सकते हो। तुम तो उनकी अपनी ही रचना हो, उन्हींके स्वाँग हो, उन्हींके स्वरूप हो और उन्हींकी इच्छासे—उन्हींकी प्रेरणासे उन्हींके खेलानेसे उन्हींमें खेल रहे हो। आनन्द आनन्द! 'शिव'

भक्ति और भक्त

(लेखक—श्रीभूपेन्द्रनाथ सान्याल)

हमें भक्ति प्राप्त हो गयी, ऐसा समझनेमें हम लोग प्राय: धोखा खा जाते हैं। कारण, यथार्थमें भक्तिको प्राप्त करना बड़ा ही कठिन है। अनेक जन्मोंके पुण्य-बलसे ही हृदय इतना शुद्ध हो सकता है कि वह भक्ति-प्रवण हो। लोग जो यह समझते हैं कि 'ज्ञानमार्ग कठिन और भक्तिमार्ग उसकी अपेक्षा सरल है और इसलिये हम दुर्बल-बुद्धि और चञ्चल मनवालोंको भक्तिमार्गका ही अनुसरण करना चाहिये, यही नहीं बल्कि यही हमारे लिये एकमात्र मोक्षसाधन है।' यह केवल नासमझी है जो प्राय: लोगोंमें फैली हुई देखनेमें आती है। यह ध्यान रहे कि मनका क्षणिक उद्रेक या भावुकता ही भक्ति नहीं है। भक्ति उस मनुष्यको नहीं प्राप्त हो सकती जिसकी इच्छाएँ पुण्यकर्मोंसे तथा सतत भगवत्स्मरणसे पवित्र नहीं हो गयी हैं। भक्ति उसको भी नहीं नसीब होती जो ज्ञानका प्रकाश न मिलनेसे बिना पतवारकी नावकी तरह इधर-उधर भटकता रहता है। परहित-साधनमें अपने स्वार्थका बलिदान करनेकी मधुरताके साथ जिसका स्वभाव मेल नहीं खाता उसे भी भक्ति नहीं मिला करती। जो कर्मसे भागता या किसी कठिनाईका सामना करते जिसका हृदय काँप उठता है, वह भी सच्ची भक्तिसे दूर ही रहता है। भक्तके जो लक्षण गीतामें भगवान्ने बतलाये हैं उन्हें पाना सुगम नहीं है। भक्तका मन पूर्ण संयत होता है—उसमें असंयमके लिये कोई अवकाश ही नहीं होता। वह सदा सन्तुष्ट, ईश्वरका दृढ़ विश्वासी और किसी प्राणीसे द्वेष न करनेवाला होता है। वह सबपर करुणा करनेवाला, सबका सुहृद् और मित्र होता है, पर किसीके प्रति उसकी आसक्ति नहीं होती और वह स्वयं निरहङ्कार होता है। उसका हृदय शुद्ध और सच्चा होता है और वह बड़ा दक्ष होता है। वह सदा सबको क्षमा करता है पर कभी कायर नहीं बनता। उसका हृदय अत्यन्त बलवान् होता है, इसके बिना वह सबका आश्रय बन भी कैसे सकता है?

असुर-बालकोंके पूछनेपर परम भक्त प्रह्लादने भगवान्की भक्तिका यह स्वरूप बताया—

सर्वत्र दैत्याः समतामुपेत
समत्वमाराधनमच्युतस्य ॥

'दैत्यो, तुमलोग समता प्राप्त करनेका यत्न करो अर्थात् सबको सम दृष्टिसे देखना सीखो। किसीसे भी द्वेष मत करो, क्योंकि समत्व ही भगवान्की सच्ची उपासना है।'

इस समत्वकी प्राप्ति अर्थात् जगत्के इस नानात्वके मूलमें जो एकत्व है उसकी अनुभूति ही वह चीज है जिससे साधक समस्त विश्वका प्रेमी बन जाता है। इस विश्वको और इसमें रहनेवाले सब प्राणियोंको भगवद्भक्त, सेव्य और पूजनीय जानता है क्योंकि भगवान् ही तो इन सब रूपोंमें प्रकट हुए हैं। भक्तको सबकी सेवा करनी है, सबका पोषण करना है। जो मनुष्य अपने आत्मभावको सम्पूर्ण रूपसे भूमाके अंदर विलीन नहीं कर सकता, सांसारिक भोगोंसे अलिप्त नहीं हो सकता, सांसारिक मान-प्रतिष्ठा और प्रतिपत्तिका त्याग नहीं कर सकता, स्वार्थके त्यागका जिसे अभ्यास नहीं, जो जरासे दु:ख या अभावसे चल-विचल हो जाता है, वह कभी भगवान्की सेवा नहीं कर सकता। जिसका हृदय दुर्बल है वह इस रास्तेके समीप भी नहीं आ सकता। श्रीचैतन्य महाप्रभु वैष्णवके जो लक्षण बता गये हैं वे किसी दुर्बल चञ्चल चित्तवाले पुरुषको कदापि नहीं प्राप्त हो सकते। श्रीचैतन्यदेव कहते हैं—

तृणादपि सुनीचेन तरोरिव सहिष्णुना।
अमानिना मानदेन कीर्तनीयः सदा हरिः ॥

'जो तृणसे भी नीचा हो जाय, वृक्षकी-सी सहिष्णुता प्राप्त कर ले, मानकी जरा भी इच्छा न करे पर दूसरोंको मान देनेमें सदा सावधान रहे, ऐसा पुरुष ही सदा हरिनाम-कीर्तन कर सकता है।'

जो कोई भक्त होना चाहता है उसे अपने परिवारवालोंके तथा बाहरी लोगोंके अत्याचार सह लेनेको तैयार रहना पड़ता है। ध्रुव, प्रह्लादादिसे लेकर युधिष्ठिरतक प्राचीन कालके और सुकरात, ईसा, यवन हरिदास, कबीर, नानक, मीराबाई, रूप और सनातन आदि आधुनिक कालके किन-किन भक्तोंको अज्ञ जनताने नहीं सताया? भगवान्का रास्ता सदासे ही कण्टकाकीर्ण और विघ्नसङ्कुल रहा है और जो कोई इस रास्तेपर चलना चाहता है उसे पद-पदपर चोटें सहनी और अपना खून बहाना पड़ता है। यदि यह पूछा जाय कि तब हम इस रास्तेपर चलें ही क्यों? तो इसका यही उत्तर है कि, आपसे कहता ही कौन है कि आप इस रास्तेपर चलिये। आप तो भक्तिके रास्तेपर चलनेकी चेष्टा तभी करेंगे जब अंदरसे ही इसके लिये कोई प्रेरित करेगा। यहाँ कोई बाहरी लाभ नहीं है, भक्ति आप ही अपना पुरस्कार है, भक्त जो कुछ पुरस्कार चाहता है वह भी भक्ति ही है। भक्त जब इस योग्य हो जाता है कि भगवान्को वह अपना प्रेम अर्पण कर सके और एक क्षणके लिये भी जब उसके चित्तमें ईश्वरसे इसका कोई बदला पानेका विचार नहीं उठे, तभी वह अपने जीवनको चरितार्थ समझता है। सच्ची पतिव्रता स्त्री अपने पतिके सब शौक और अत्याचार मौन होकर सह लेती है, परन्तु जो स्त्री अपने ही सुखकी चेष्टामें व्यस्त रहती है वही अपने पतिसे अपने लिये यह वह सब कुछ चाहा करती है। सच्ची पतिव्रता स्त्री, कविके शब्दोंमें, बस यही कहा करती है—

उपपत्नी मैं नहीं, इसीसे कभी न मुझे बिसरते तुम।
मिथ्या सुख-सम्मान दान कर कभी दूर नहिं करते तुम ॥
पतिव्रता मैं सती, इसीसे निशिदिन नाथ! तुम्हारे घर।
दुख-दारिद्र्य सभी मिल मेरी सेवा नित करते मन भर ॥
नौकर नहीं, तुम्हारे सुखकी, नहीं चाहती सुखका दान।
प्रेम तुम्हारेकी पत्नी हूँ, मनमें सदा यही अभिमान ॥
खुले हाथ संपत सारे दुःखोंको तुम करते हो दान।
वञ्चित कभी न रखते प्रभु! यह ही तो है मेरा सम्मान ॥

भक्त किसीसे डरता नहीं, उसका हृदय किसी सङ्कटसे पस्त नहीं हो जाता। विपत्-सम्पत्, रोग-शोक, सुख-दुःख सभी अवस्थाओंमें, जीवनमें और मृत्युमें भी वह अपने मनको स्थिर, शान्त, दान्त रख सकता है। उसमें इस असीम शक्तिके होनेका क्या रहस्य है? रहस्य यही है कि जैसे कोई पद्म-सरोवर हो, जिसमें चारों ओर वायुके झकोरोंसे हिलते-डुलते हुए पद्म-ही-पद्म हों, वैसा ही उसका हृदय होता है; उस हृदयमें सर्वत्र श्रीभगवान्के चरणकमल ही विराजते हैं, निर्मल सुन्दर मधुर कमलदलोंपर झूलते रहते हैं। इसीलिये तो शोक, भय या किसी प्रकारके अहंभाव-जनित सम्मोहके लिये वहाँ कोई अवकाश नहीं होता। भक्तका आसन कितना ऊँचा होता है। यह कबीरसाहब बतलाते हैं—

भगति भेख बहु अंतरा जैसे धरनि अकास।
भगत जो सुमरै रामको भेख जगतकी आस ॥

किसी प्रकारकी धूर्तविद्या, चाहे वह कितनी ही पटु हो, किसीको यह अपार सम्पत्ति (भक्ति) नहीं दिला सकती। भक्तिका भेष बनाकर लोगोंको धोखा देना बहुत सुगम है, पर सच्ची भक्तिको पाना अत्यन्त दुर्लभ। स्वयं देवताओंको भी इसका मिलना बड़ा कठिन है। देवर्षि नारदतकको, इतने बड़े भक्त होते हुए भी, इसके लिये क्या-क्या कष्ट नहीं उठाने पड़े। अभी वे बालक ही थे जब उनपर ऋषि-मुनियोंकी कृपा हुई। उनके सत्संगके प्रभावसे उसी छोटी उम्रमें

जगत्के भोगोंसे उन्हें वैराग्य हो गया। इसीसे तो, जब सर्पके डँसनेसे उनकी माताका देहान्त हुआ तब, वे किसी बच्चेकी तरह न रोये, न उन्हें कोई घबड़ाहट हुई। इस घटनाको उन्होंने भगवत्कृपा समझा और वे हिमालयकी ओर चल दिये। रास्तेमें जब भूख-प्यास बहुत सताने लगी तब एक वृक्षके नीचे बैठ गये और ऋषियोंसे प्राप्त मन्त्रके अनुसार अपने हृदयमें भगवान् वासुदेवका ध्यान करने लगे।

ध्यायतश्चरणाम्भोजं भावनिर्जितचेतसा।
औत्कण्ठ्याश्रुकलाक्षस्य हृद्यासीन्मे शनैर्हरिः॥
प्रेमातिभरनिर्भिन्नपुलकाङ्गोऽतिनिर्वृतः।
आनन्दसम्प्लवे लीनो नापश्यमुभयं मुने॥
(श्रीमद्भा० १।६।१७-१८)

ध्यान करते-करते उनका हृदय भक्तिसे भर गया। बाह्य जगत्से सर्वथा खिंच गया, भगवद्दर्शनकी आकुलता इतनी बढ़ी कि उनके नेत्रोंसे अश्रुप्रवाह चल पड़ा। तब भगवान् हृदयमें प्रकट हुए। प्रेमातिरेकसे नारदजी पुलकित हो उठे, पार्थिव भोगकी वासनाका लेश भी उनके हृदयमें न रहा और वे आनन्दसमुद्रमें निमज्जित हो गये। तब वे अपना सब कुछ भूल गये, केवल एक परम आनन्द उनके अंदर-बाहर परिपूर्ण हो गया और अबतक भगवान्का जो रूप वे देख रहे थे वह भी मिट गया। भक्त, भगवान् और जगत्के बीच तब कोई पार्थक्य भाव न रहा। उसी अनन्त परमानन्दमें सब कुछ निमज्जित हो गया। जब बाह्य जगत्का फिरसे भान हुआ तब भगवान्के उसी माधुर्यमय रूपको निहारनेके लिये वे अत्यन्त व्याकुल हो उठे, उसे फिरसे पानेके लिये छटपटाने लगे। जब दर्शन नहीं हुए तब नारदजी शोकमग्न हो गये। इस समय उनकी मनोव्यथाको दूर करनेके लिये यह आकाशवाणी हुई—

अविपक्वकषायाणां दुर्दर्शोऽहं कुयोगिनाम्।

'जिनके हृदयमें अभीतक काम-क्रोधादि विकार छिपे हुए हैं उन कुयोगियोंके लिये मेरा दर्शन होना बड़ा कठिन है।'

इससे यह पता चलता है कि सांसारिक भोगोंके सम्बन्धमें वासनाका किस हदतक क्षय होना चाहिये जिसके बाद ही कोई सच्चा भक्त बन सकता है। इसलिये इस संसारकी आसक्तिसे जिसका हृदय भरा हुआ है वह चाहे कितना ही स्वाँग करे, उसे वह इज्जत नहीं दी जा सकती जो एक सच्चे भक्तकी होती है।

भगवद्दर्शनकी आकुलता और अध्यवसायका न होना मनुष्य-जीवनके लिये सबसे बड़ा दुर्भाग्य है। भगवान् गीतामें कहते हैं—

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥
(१६।२०)

'हे कुन्तीपुत्र! मूढ लोग जन्म-जन्म आसुरी योनिमें गिरकर और मुझे न पाकर अधम गतिको प्राप्त होते हैं।'

इसलिये मनुष्यमात्रको उचित है कि वह अपने मनको भगवान्की ओर लगावे। हमलोग त्रितापसे दग्ध हो रहे हैं, रात-दिन रो रहे हैं; मृत्युका भय हमें प्रतिक्षण चिन्तातुर किये रखता है और हम अपने आपको सर्वथा अनाथ-असहाय ही समझते हैं। यदि हमलोग सत्पुरुषोंके संगसे भगवान्की महामहिमाकी किञ्चित् भी कल्पना कर सकें और उनके शरणागत हो जायँ, नित्य नियमपूर्वक विश्वास और श्रद्धाके साथ उनकी उपासना करें तो हमलोग भी अपने हृदयोंमें भगवान्को पाकर अपने जीवनको धन्य बनानेमें समर्थ हो सकते हैं।

साधुपुरुषोंमें जो शुद्धता और पवित्रता आती है वह उनके भगवत्सान्निध्यसे ही आती है। भगवद्गुण-कीर्तनके जादूसे कठोर-से-कठोर हृदय भी पिघल जाता

है और हठी-से-हठी आदमी भी, सच्चे हृदयसे उपासना करे तो, उनकी कृपाका पात्र हो सकता है । इसके सहस्रों उदाहरण मौजूद हैं ।

तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते विष्णोर्यत्परमं पदम् । (श्रुति)

'जैसे आँख खोलकर देखनेसे सर्वत्र अनन्त आकाश फैला हुआ देख पड़ता है, वैसे ही सर्वव्यापक ब्रह्मको महर्षि लोग अपने अंदर अनुभव करते हैं ।'

यदि हमारा यह दृढ़ निश्चय हो कि हम यहाँ इसी जीवनमें ब्रह्मानुभव लाभ करेंगे तो उसका रास्ता भी हमें निश्चय ही देख पड़ेगा । श्रुतिवचन है—

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ।

'उठो, जागो, श्रेष्ठ पुरुषोंके पास जाओ और उनसे समझो ।'

भगवत्प्राप्तिके लिये, देखिये श्रीचैतन्यदेव कितने व्याकुल होकर कहते हैं—

हा हा कृष्ण प्राणनाथ व्रजेन्द्रनन्दन ।
कहाँ जाउँ कहाँ पाउँ मुरलिवदन ॥

जब आपका चित्त भगवदुपासना और सत्पुरुषोंके संगसे विशुद्ध हो जायगा तब उस चित्तमें उनसे मिलनेकी निरन्तर लालसा उत्पन्न होगी और उनके विरहके दुःखसे आपका चित्त सदा विलाप करता रहेगा, इससे आपके सब कर्म जल जायँगे और आपको बन्धनसे छुटकारा मिल जायगा । अपनी सारी फाँसियोंको काटकर चित्त जब अपनी पहलेकी विशुद्धताको पुनः प्राप्त कर लेता है तब स्वभावतः ही वह भगवत्प्रवण हो जाता है और तब भगवान्‌को पानेके लिये वैसी ही छटपटाहट होती है जैसी भूखे-प्यासे आदमीको अन्न-जलके लिये होती है । पर सावधान, आपकी भक्ति सच्ची हो, उसमें कोई दूसरा भाव न हो । प्रह्लादके ये वचन याद रहें—

'भगवान् सर्वत्र हैं, प्रत्येक प्राणीके अंदर हैं । इसलिये हम किसी प्राणीका तिरस्कार न करें, किसीको अपना शत्रु न समझें; कारण, जबतक प्रत्येक प्राणीका हम आदर नहीं करते तबतक उन भगवान्‌को कैसे पूज सकते हैं जो सब प्राणियोंके अंदर हैं ?'

'साधु' कहनेसे हमलोग गेरुए वस्त्र धारण किये हुए किसी व्यक्तिविशेषको ही समझते हैं; पर गृहस्थोंमें भी ऐसे लोग हो सकते हैं जो अच्छे-अच्छे संन्यासियोंसे किसी प्रकार कम चरित्रवान् और ज्ञान-वैराग्यवान् नहीं हैं । यहाँ हम एक ऐसे साधुका उदाहरण पाठकोंके सामने रखते हैं जो गृहस्थ थे और जिनका जीवन आदर्श जीवन था । आपने अनेक प्रसिद्ध साधुओंको देखा होगा, उनके कठोर तप, उनकी सिद्धियाँ तथा उनका संयम और चरित्रबल देखकर उनके सामने आप श्रद्धासे नत हुए होंगे । पर मैं जिनकी बात कह रहा हूँ वे कोई प्रसिद्ध पुरुष नहीं थे, उनका नामतक कोई नहीं जानता । नाम था कृष्णाराम ब्रह्मचारी, गौड ब्राह्मण थे, मेरे गुरु-भाई थे, काशीमें चौसट्टीघाटके समीप राणामहलमें रहते थे । थे तो बहुत सीधे-सादे, बहुत ही साधारण-से आदमी, पर उनका आचरण दिव्य था । उनका जीवन भगवान्‌में ऐसी जीती-जागती निष्ठासे परिपूर्ण था कि जो कोई उसके प्रभावके अंदर आ जाते उनपर आनन्द बरसने लगता था । संसारको उनके भक्त होनेका पता नहीं था पर उनके जीवनकी छोटी-मोटी घटनाओंसे यह पता लगता है कि उन्होंने अपने आपको पूर्णरूपसे भगवान्‌के चरणोंमें समर्पित कर दिया था ।

विधुर होनेके कारण घरका सब काम-काज, रसोई-पानी, बच्चोंको खिलाना-पिलाना, उन्हें स्वयं ही करना पड़ता था; इसके सिवा नित्यका पूजा-पाठ भी था । एक दिन इन सब कृत्योंसे निवृत्त होनेके बाद, मध्याह्नमें वे भोजनके लिये बैठना ही चाहते थे कि एक भिखारी आ गया । वह रो-रोकर खानेको माँग रहा था और कह रहा था कि मैं दो रोजका भूखा हूँ । कृष्णारामजी तुरंत उठे और जो कुछ उन्होंने अपने लिये परोस रखा था सब उसे दे दिया और कहा, 'क्या तुम जानते

नहीं, भगवान्ने आज तुम्हारे लिये यहीं रसोई बनवायी थी ?'

कृष्णाराम प्रतिदिन सन्ध्यासमय, सूर्यास्तके पूर्व, अपने गुरुके समीप जाया करते, उनकी चरणपादुकाकी पूजा करते, आरती उतारते और गीताके एक अध्याय-का पाठ भी कर लिया करते थे। यह उनका प्रतिदिनका नियम था, केवल गुरुके जीवित-कालमें ही नहीं बल्कि उनके समाधिस्थ होनेके बाद भी अन्ततक यह नियम चलता रहा। आँधी-पानी या किसी प्रकारकी घरू विपत्तिसे उनका यह नियम एक दिन भी भंग नहीं हुआ।

एक बार जब मैं काशीमें था, कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ ठाकुर वहाँ पधारे। काशीके महात्माओंके पास ले चलनेके लिये उन्होंने मुझसे कहा। मैंने उनसे पूछा, आप प्रसिद्ध साधुओंके पास चलना चाहते हैं या ऐसे साधुओंके पास जो वास्तवमें साधु हैं। वे हँस पड़े और कहने लगे, मैं सच्चे ही साधुओंके पास चलना चाहता हूँ। मैं उन्हें कृष्णाराम ब्रह्मचारीके पास ले गया। उनसे मिलकर कवीन्द्र बहुत ही प्रसन्न हुए और कृष्णारामजीसे उनकी जो बातचीत हुई उसका उनपर, मैंने देखा कि, बड़ा असर पड़ा।

अन्तमें उद्धवके इन शब्दोंको हमलोग स्मरण रखें—

'जो मनुष्य भागवतधर्मका अनुष्ठान करता है उसका चित्त अत्यन्त शुद्ध होता है यदि वह इन गुणों-का ध्यान रक्खे और इन्हें अर्जन करे—सदा इस बात-का ध्यान रखना कि भगवान् घटघटवासी हैं, सब महात्माओंका आदर करना, दीनोंपर दया करना, बराबरीवालोंसे मैत्रीका भाव रखना, धैर्य रखना, सांसारिक विषयोंसे उदासीन रहना, यम-नियमका पालन करना, मोक्षमार्गदर्शक शास्त्रोंको श्रवण करना, भगवन्नामका कीर्तन करना, अन्तःकरणको सच्चा और सीधा रखना, शास्त्रनियत कर्मोंके करनेवालोंका संग करना और अहंभावकी वृत्तियोंसे मुक्त होना।'

इसी सम्बन्धमें श्रीभगवान् कहते हैं—

'मैं सब प्राणियोंमें आत्मरूपसे निवास करता हूँ। जो कोई इन प्राणियोंका समुचित आदर न करके केवल मेरी मूर्तियोंको पूजता है उसकी पूजा व्यर्थ है।····जो अहंमन्य मनुष्य इस जगत्की विषमताके भीतर आधारभूत एकताको नहीं देख पाता, अन्य प्राणियोंके अंदर रहनेवाले मुझसे वैर करता है और दूसरोंके प्रति अपना हृदय द्वेषसे कलुषित करता है उसे कभी शान्ति नहीं मिल सकती। जो बहुमूल्य पदार्थोंके द्वारा मेरी मूर्तिकी पूजा करता है पर अन्य प्राणियोंका समुचित आदर नहीं करता वह मेरी दयाका पात्र नहीं हो सकता।'

भक्तकी भावना

(१)

रावरे दरस बिनु बावरे भये हैं, केती,
　　भाव रेख हिय भौन भीतर दुराये हैं।
रहि ना सकीं सो जल-मोतिनकी माल बनी,
　　नैनन सों पाये प्रेम थाल मैं सजाये हैं॥
बेर-बेर टेरत अबेर भई नाये सीस,
　　ऐसी कौन चूक ईस छमत भुलाये हैं।
प्रानपति प्यारे प्रभु कृपया पधारो, परे,
　　पाँवरे पलक पथ लोचन बिछाये हैं॥

(२)

लाख अभिलाखन मैं एक ही गही है आजु,
　　निबलके बल टूटै केवल न प्रेम डोर।
जीवन निसामें सपने ही सुधि आये नाथ,
　　आँनद बिभोर जब होत तब होत भोर॥
मोर पच्छ धारे हौ तो मोर पच्छ धारौ नाथ,
　　नन्दके किसोर क्यों न करत कृपाकी कोर।
बिपति बचै न अब चैन है न एक छन,
　　नेह भरे नैन नेकु कीजिये हमारी ओर॥

—जगदीशप्रसाद गुप्त 'जगदीश'

भगवान्‌का दान

(लेखक—श्रीलॉवेल फिल्मोर)

भगवान्‌का तुम्हारे प्रति असीम, अथाह प्यार है। सच मानो, तुम उसके प्यारका थाह नहीं लगा सकते। उसने अपनी सारी अच्छी चीजें तुम्हें सौंप दी हैं। यदि तुम लाखों वर्ष भी जियो तो भी उससे अधिककी सारी आवश्यक वस्तुएँ तुम्हें उस प्रभुने दे रक्खी हैं। तुम्हारे लिये इतनी शक्ति, इतना शौर्य उसने इकट्ठा कर रक्खा है कि तुम उसे समाप्त नहीं कर सकते। भगवान्‌की दी हुई इन सारी वस्तुओंका तुम मनमाना उपयोग कर सकते हो, चाहे जितना खर्च कर सकते हो परन्तु होना चाहिये विवेकपूर्वक। विवेकके साथ भगवान्‌की दी हुई चीजोंका तुम जितना भी उपयोग करोगे, तुम्हें वे चीजें उतने ही परिमाणमें अधिकाधिक प्राप्त होती जायँगी।

और, यह खटका तो मनमें रक्खो ही मत कि ये चीजें खतम हो जायँगी क्योंकि ये असीम हैं, अथाह हैं। चाहे जितना भी प्राणायाम करो क्या भगवान्‌की दी हुई स्वच्छ हवाको समाप्त कर सकते हो? यही बात भगवान्‌की दी हुई सारी चीजोंके लिये है। तुम्हें यह भय या खटका क्यों लगा रहता है कि तुम इन्हें समाप्त कर डालोगे तो फिर आगे क्या होगा? सच पूछो तो आवश्यकता इस बातकी है कि तुम भगवान्‌की दी हुई चीजोंका स्वतन्त्रतापूर्वक, विवेकपूर्वक और यथेष्ट उपयोग करना जानो।

जिस प्रकार भगवान्‌की दी हुई हवाका कहीं ओर-छोर नहीं है ठीक उसी तरह भगवान्‌की सृष्टिमें किसी भी बातमें, किसी भी वस्तुमें न्यूनता है ही नहीं। ज्ञान-को ही लो; क्या इसका कहीं आदि, अन्त है, कहीं अथ, इति है? ज्ञानमें जितना ही आगे बढ़ते जाओ उतना ही वह असीम होता चला जाता है। बड़े-बड़े वैज्ञानिक कहते हैं कि ज्ञानके एक कणमात्र-का ही हम उपयोग कर पाते हैं। और 'शिक्षण'का अर्थ क्या है, जानते हो? शिक्षणका अर्थ है शिष्यके हृदयमें सोयी हुई शक्तिको जगा देना। वह शक्ति पहलेसे ही उसके हृदयमें रहती है, हाँ सोयी रहती है। गुरु उसे जगा देता है। बाहरसे कोई ज्ञान दिया नहीं जाता क्योंकि वह अपने आपमें असीम है, अनन्त है, अथाह है।

ठीक इसी तरह हमारे अंदर भगवान्‌की दी हुई सभी दिव्य चेतन-शक्तियाँ छिपी हुई, सोयी हुई रहती हैं, उन्हें जगानेभरकी जरूरत है। व्यायाम तथा प्राणायामके द्वारा जब हम अपनी शारीरिक शक्तिका विकास करते हैं तो क्या कोई वस्तु बाहरसे आ जाती है जो हमारे मांस-पेशियोंको मजबूत बना देती है? दीखता तो ऐसा है कि हम जो भोजन करते हैं उसीसे हमारा शरीर बनता है, पुष्ट होता है। बात सच है, परन्तु उस भोजनसे रस कैसे बना, रसमें जीवनीशक्ति कहाँसे आयी तथा पुनः वह हमारे शरीरमें अपना कार्य कैसे-कैसे करने लगी—इसपर हमने कभी विचार किया है? और विचार करनेपर क्या यह विश्वास नहीं होता कि यह सब भी प्रभुकी प्रेरणा और शक्तिसे ही होता है?

यह भगवदीय ज्ञान सभी प्राणियोंमें है—मनुष्यमें, पशुमें, पक्षीमें, कीट-पतंगमें, पेड़-पौधेमें। सभीमें, एक-एकमें इस ज्ञानका निवास है; क्योंकि इसके बिना हम बाहरसे किसी वस्तुको ग्रहण करके अपने विकासके अनुरूप बना ही नहीं सकते। तुम्हारी समस्त शक्तिके पीछे भगवान्‌की शक्ति है। भगवान्‌की ही शक्तिका एक लघु कण तुम्हारी शक्तिके रूपमें स्फुट हुआ है। यह बात तुम ठीक-ठीक जान जाओ तो तुम अनायास

ही भगवान्‌की शक्तिका उपयोग कर सकते हो, उस भगवदीय शक्तिको अपनेमें प्रकाशित कर सकते हो। कारण कि तब तुम शक्तिके अथाह, अपरिमेय अनन्त सागरसे शक्ति प्राप्त करते रहोगे और अपनी शक्तिके लिये स्थूलका आधार न लोगे। जिस प्रकार प्राणायाम करनेसे तुम अपने भीतर अधिक हवा पचानेकी शक्ति बढ़ाते हो, ठीक उसी तरहसे भगवान्‌की दी हुई शक्तिका सही-सही उपयोग जान लेनेपर तुम उस शक्तिको अधिक-से-अधिक अपनेमें प्रकट कर सकते हो। तुम जितना ही खर्च करते जाओगे उतना ही और तुम्हें मिलता जायगा।

सारांश यह कि भगवान्‌की दी हुई शक्तिका प्रयोग जो जितना ही उत्तम ढंगसे करेगा उसे वह शक्ति उतनी ही अधिक प्राप्त होती जायगी और जो मूर्खतापूर्वक उसे नष्ट कर देगा उसे उस शक्तिके दर्शन भी नहीं होंगे। भगवान्‌ने हमें अनेक प्रकारकी शक्ति, योग्यता, प्रतिभा आदि दी है। यदि हम इनका उपयोग नहीं करते तो वे क्रमशः क्षीण होते-होते नष्ट हो जाती हैं।

हमारा यह जीवन विकासकी एक शृङ्खला है। इसका अर्थ यह कि हम अपने भीतर शनैः-शनैः भगवदीय शक्तिका उद्‌घाटन करते रहते हैं और हमारा जीवन उसी अंशमें सफल और पूर्ण माना जाना चाहिये जितने अंशमें हमने भगवान्‌की दिव्य शक्तिका अपने अंदर विकास किया है। जिसमें दैवी गुण जितना ही अधिक है वह उतना ही भगवान्‌के निकट है।

वायुकी भाँति आनन्द भी सर्वत्र व्याप्त है परन्तु उस आनन्दका विकास हम खिन्न, क्षुब्ध, उदास और क्लान्त होकर नहीं कर सकते। हँसी—जो आनन्दका एक बाह्य उपलक्षण है, संक्रामक होती है। प्रसन्न और हँसमुख व्यक्ति स्वयं स्वस्थ और मस्त तो रहता ही है उसके आसपासका वातावरण भी प्रसन्न, स्वस्थ और आनन्दमय होता है। हँसीके फव्वारेमें आनन्द खिल उठता है। ठीक यही बात प्रेमकी भी है। जितना भी प्रेम किये जाओ, वह चुकता ही नहीं। आस-पासका समस्त वातावरण प्रेममें मुग्ध, छका हुआ रहता है। मनमें, वाणीमें, क्रियामें प्रेम जितना ही छलकता हुआ प्रकट होता है—चारों ओरसे प्रेमकी शत-शत धाराएँ हमारी ओर उतने ही वेगसे चली आती हैं और हमारा समस्त वातावरण प्रेममें सराबोर हो जाता है। हम जितना ही प्रेम देते हैं, भगवान्‌का उतना ही प्रेम हमें प्राप्त होता है। और वे सचमुच अभागे हैं जो भगवान्‌के प्रेमको अपनेमें प्रकट नहीं कर पाते! हृदयमें प्रेम और दयाके भाव रखना हमारे ही लिये अत्यन्त लाभदायक है—उनसे दूसरोंको जो प्रेम मिलता है, जो दया प्राप्त होती है उसकी अपेक्षा हमारा ही लाभ अधिक है। और यदि तुम ऐसा सोचकर कि यह व्यक्ति हमारा प्रेम पानेका अधिकारी नहीं है, उससे प्रेम नहीं करते तो समझ लो तुम अपने हृदय और भगवान्‌के हृदयके बीच बहती हुई प्रेमधाराको सुखा रहे हो।

देना, देते ही जाना कितना सुखकर है! लेनेकी अपेक्षा देनेमें अपार आनन्द है! देते रहनेमें भगवान्‌की अनन्त शक्तिका प्रवाह हमारी ओर मुड़ जाता है और वही शक्ति अपना कार्य हमारे द्वारा करने लगती है। ग्रहण करना और उसमेंसे देना नहीं—यह तो आत्मघात है। जीवन लेन-देनपर अवलम्बित है। देनेमें कोई निजी स्वार्थ या हेतु नहीं होना चाहिये, वह सर्वथा मुक्त हो, निःस्वार्थ हो, अहैतुक हो। और इस देनेमें आगा-पीछा सोचनेकी आवश्यकता नहीं, मुक्तहस्तसे लुटाते जाओ। दाताका भण्डार कभी खाली नहीं होता; क्योंकि सबका दाता 'राम' है। पुरानेको छोड़ते जाना और नयेको ग्रहण करते जाना—यही तो जीवन है। नवजीवनका यह अविच्छिन्न अखण्ड

प्रवाह भगवान्की ओरसे हमारी तरफ उमड़ा चला आ रहा है। अपनी सङ्कीर्णतासे हम उसका द्वार अवरुद्ध न कर दें। पुरानेको ही यदि हम पकड़े रहें तो नया हमें कैसे मिलेगा? जीवनके छन्दमें जो गति है, ताल-स्वर है, आरोह और अवरोहकी लहरियाँ हैं इन्हें हम ठीक-ठीक हृदयङ्गम कर सकें तो 'देते जाने' का जो आनन्द है उसे हम ठीक-ठीक समझ सकते हैं। भगवान्की दी हुई शक्तिका वास्तविक उपयोग भगवान्के कार्यमें ही करते रहना चाहिये और उसे फिर भगवान्के चरणोंमें निवेदित कर देना चाहिये। हम उस शक्तिके प्रयोक्ता हैं, भोक्ता नहीं—यह स्मरण रखना चाहिये।

भगवान् चाहते हैं कि तुम उनकी दी हुई चीजोंका, उनके आशीर्वादका सुन्दर-से-सुन्दर उपयोग करो। भगवान्का प्रेम तुम्हें चारों ओरसे घेरे हुए है, तुम्हारे शरीर, मन और प्राणके कण-कणको वह दिव्य प्रेम अपने रसमें डुबोये हुए है। परन्तु जबतक तुम उस प्रेमको पहचानते ही नहीं और पहचानकर उसे अपनी चेतनामें लाते नहीं, उसे प्रकट नहीं करते तबतक तो वह न होनेके समान ही है। कविकी इन पंक्तियोंको स्मरण करो—

"Life is real! Life is earnest!
And the grave is not its goal."*

ईश्वर और विज्ञान

(लेखक—श्रीलक्ष्मीदत्तजी तिवारी, एम्० एस-सी०)

अखिल सृष्टिका नियन्ता, संसार-चक्रका प्रवर्तक, तथा संसारको पुनः अपनेमें विलीन कर लेनेवाला ही ईश्वर है। ईश्वर सर्वशक्तिमान् है परन्तु वह अपनी शक्तिका उपयोग नहीं करता। वह सच्चिदानन्द है, भक्तवत्सल है और पवित्रताकी पराकाष्ठा है। ईश्वर मनुष्यका सर्वोच्च इष्ट है, मानसिक शान्तिका जीवन है, असीम सुखका भण्डार है, मनुष्यकी आत्मा और आत्माका मूल है।

इतनी महान् सृष्टि कोई आकस्मिक घटना नहीं है। यह उस कुशल निर्माणकर्ताकी विलक्षण कृति है, जिसने ऐसे कौशल और नियमसे इसका निर्माण किया है कि, उसे इसका सञ्चालन करनेके लिये न स्वयं ही यहाँ उपस्थित रहना पड़ता है और न अपनी शक्तिका उपयोग करना पड़ता है।

आधुनिक कालमें सर्वत्र ही अशान्ति और असन्तोषका साम्राज्य है। मनुष्यका जन्म अशान्त और असन्तुष्ट रहनेके लिये कदापि नहीं हुआ है। धनकी लिप्साने, यशकी लालसाने, सांसारिक विषयोंमें आसक्तिने, भोगोंकी कभी न मिटनेवाली राक्षसी कामनाने मनुष्यको भोग-परायण बना दिया है। भोगपरायणतासे मानसिक शान्ति कोसों दूर रहती है। जब शान्ति ही नहीं है तो सन्तोषका स्वप्न देखना व्यर्थ ही नहीं अनुचित भी है।

इस युगकी एक विशेषता और है। साधारण जनता भी किसी बातको स्वीकार करनेके पूर्व उसके लिये प्रमाण माँगने लगी है। लोगोंका स्वभाव ऐसा हो गया है कि किसी भी कार्यको उठानेसे पहले वे इस निश्चयपर पहुँच जाना चाहते हैं कि उसमें भोग-सुख-प्राप्तिकी सफलता अवश्य होगी। जहाँ सफलतामें तात्कालिक भोग-सुखकी सम्भावना न हो वहाँ वे प्रयत्नतक नहीं करते। यही आज आत्मसेवियोंकी अभिलाषा है! भोगपरायणताका नग्न नृत्य है!

ऐसे लोग निरन्तर भोग-सुख पानेके लिये चिन्तित

* जीवन सत्य है, जीवन अमर है। मृत्यु इसका लक्ष्य नहीं है।

रहते हैं। चिन्ता दुःखका एक रूप है। जब कभी इच्छित सुखकी प्राप्ति हो जाती है तो यह भय बना ही रहता है न जाने कब इसका अन्त हो जाय। यदि किसीको सुख-ही-सुख मिलता रहे तो उसे स्वयं सुखसे घृणा हो जायगी। इससे यह प्रतीत होता है कि सांसारिक सुखोंका अन्तिम रूप दुःख ही है।

सच्चा सुख आत्माका ईश्वरके साथ संयोग होनेसे मिलता है। ईश्वरका एक अंश जो, आत्माके रूपमें मनुष्यमें विद्यमान है, पुनः ईश्वरमें विलीन हो जाना चाहता है। कारण यह है कि ईश्वराधीन होनेपर भी ईश्वरने मनुष्यको कर्म करनेके लिये स्वतन्त्र रक्खा है। उचित तथा अनुचितकी विवेचना करनेके लिये उसे विवेकशक्ति प्रदान की है। जो मनुष्य मोहवश केवल इन्द्रिय-सुखके लिये विवेकका निरादर करता हुआ सांसारिक विषयोंमें ही डूबा रहता है, उसकी आत्मा उसे जीवित रखनेके अतिरिक्त और कोई सहायता नहीं करती। अतः वह दुःखी और अशान्त रहता है। और इसी अवस्थामें मर जाता है। निर्जीव शरीर निरर्थक पदार्थ है। आत्मा जब शरीरको छोड़ देती है तब शरीरका कोई मूल्य नहीं रह जाता।

प्राचीन कालमें वैज्ञानिकोंने निर्जीव पदार्थोंसे जीवकी उत्पत्तिका वर्णन किया है, यहाँतक कि वर्जील (Virgil) नामक एक विद्वान्‌ने अङ्कुरित गेहूँसे चूहोंको तथा वृषभके मृतक शरीरसे मधुमक्खियोंको, प्रस्तुत करनेकी कल्पना कर ली थी। इस भ्रान्तिको सतरहवीं शताब्दीमें रेडी (Redi) नामक वैज्ञानिकने दूर किया। उसने यह बतलाया कि मांसके सड़नेमें कृमि मक्खियोंके द्वारा उत्पन्न होते हैं। इसी बीच अणुगोचरी (Microscope) यन्त्रका आविष्कार हुआ और यह समस्या हल हो गयी। आजकलके वैज्ञानिकोंका यह मत है कि अत्यन्त तुच्छ और हीन जीवके प्राणका मूल, चेतन प्राणी ही हो सकता है। निर्जीव अचेतन पदार्थसे प्राणीकी उत्पत्ति असम्भव है। रासायनिक डाल्टन (Dalton) का यह सिद्धान्त है कि किसी वस्तुका नाश नहीं होता। सभी इसे स्वीकार करते हैं।

कोपर्निकस, गेलीलियो, केपलर आदि, जिनको पाश्चात्य देशनिवासी नास्तिक कहते हैं, वास्तवमें ईश्वर-विरोधी नहीं थे, बल्कि गिरजे तथा उसके द्वारा फैलायी गयी भ्रान्तिके विरोधी थे। उनपर यह दोष गिरजेके अधिकारीवर्गने लगाया था जिसके कारण उन्होंने अनेकों कष्ट उठाये। ये लोग गणितज्ञ थे। इनका विचार यह था कि प्रकृतिमें कोई भी घटना अनियमित नहीं है और एक घटनाका दूसरी घटनाके साथ कुछ-न-कुछ सम्बन्ध अवश्य है। इन घटनाओंके आधार-स्तम्भ नियमोंका अन्वेषण ही उनका उद्देश्य था। उनकी यह धारणा थी कि गणितद्वारा इन सारी बातोंको समझा सकना सम्भव है। दूसरे शब्दोंमें इसका अर्थ यह होता है कि सृष्टिके निर्माताने गणितके नियमोंको पूर्णतया पालते हुए सृष्टिका निर्माण किया है, यही कि उन्होंने ईश्वरको गणितज्ञ ही समझ लिया। मनुष्य-स्वभाव यह है कि अपनेमें जिस गुणको वह सर्वोत्तम और पुण्यमय समझता है ईश्वरमें उस गुणकी पराकाष्ठाकी कल्पना करता है। ईश्वरको उस गुणका भण्डार समझता है, कोई भी वैज्ञानिक निरीश्वरवादी नहीं हो सकता, वह अवश्य एकेश्वरवादी होगा। वैज्ञानिक और सांसारिक लोगोंमें ईश्वरको प्राप्त करनेकी दिशामें इतना ही अन्तर है कि एक विज्ञानमें अपनेको भुला देता है और दूसरा विषय-सुखमें। ईश्वरसे दोनों बराबर दूर हैं। हाँ, यदि वैज्ञानिक सिर्फ ज्ञानके लिये ही वैज्ञानिक अन्वेषण करे और विज्ञानका दुरुपयोग न करे तो ईश्वरके अधिक समीप पहुँच सकेगा।

वैज्ञानिक अन्वेषण किसी सिद्धान्तके आधारपर किये जाते हैं। उचित कारण देकर सिद्धान्तमें परिवर्तन भी किया जा सकता है। सिद्धान्तकी विशेषता यह होती है कि उसमें प्रकट बातोंको समझा सकने और गुप्त बातोंके सम्बन्धमें भविष्यवाणी करनेकी शक्ति होती है। इस प्रकार एक वैज्ञानिकके कार्यको दूसरा वैज्ञानिक पूरा

कर सकता है जिससे विज्ञान सदा उन्नति ही करता रहता है। इन सिद्धान्तोंको कार्यरूपमें परिणत करके मनुष्यके लिये विलासिताकी सामग्री एकत्रित की जाती है। मैक्सवेलके चुम्बक-वैद्युत-तरंग (Electro-magnetic wave theory) सिद्धान्तको इने-गिने लोग समझ सकते हैं परन्तु रेडियो (Radio) के सम्मुख बैठकर सभी सुदूर देशोंके सन्देश, व्याख्यान और गाने सुनकर विज्ञानकी भूरि-भूरि प्रशंसा कर सकते हैं। वही जन-समुदाय जब युद्धमें वायव्य विषों (Poisonous gases) तथा विस्फोटक (Explosives) पदार्थोंके दुरुपयोगसे सैनिक तथा जनताकी दुर्गतिका समाचार सुनते हैं तो विज्ञानको धिक्कारने लगते हैं। विज्ञान मानसिक उन्नति और शान्तिका साधन नहीं है।

आधुनिक विज्ञान प्रयोगोंद्वारा स्पष्ट की हुई बातोंके अतिरिक्त सफल कल्पनाओंको भी महत्त्व देने लगा है। एडिङ्गटन (Eddington) और जीन्स (Jeans) का मत है कि सृष्टिका वास्तविक रूप कल्पनासम्भूत है। पर क्या सभी सृष्टिके सम्बन्धमें जीन्स महोदयकी-सी कल्पना कर सकते हैं ? क्या सापेक्षवादपर सभी ऐन्सटीनकी-सी कल्पना कर सकते हैं ? कदापि नहीं।

इसी प्रकार क्या यह भी हो सकता है कि सभी लोग बिना ही प्रयत्नके ईश्वरके साथ अपना सम्बन्ध स्थापित कर सकें ? कदापि नहीं। परमपदकी प्राप्तिके लिये प्रत्येक मनुष्यको स्वयं प्रयत्न करना पड़ेगा। इसमें सफलता व्यक्तिविशेषकी योग्यतापर निर्भर है। स्व-कल्पित बन्धनोंको तोड़कर पवित्र हृदयसे जो भगवद्भजन करेगा उसका ईश्वरके साथ साक्षात् होगा। ईश्वरका अनुभव ज्ञानद्वारा किया जाता है। भक्ति और आराधना-से ज्ञान प्राप्त होता है। ज्ञानसे ईश्वरकी प्राप्ति होती है और मनुष्य ईश्वरमें विलीन होकर अखण्ड शान्तिको पाता है। प्रत्येक मनुष्यको इसी दशाको प्राप्त होना है। अनेक जन्म लेकर, अनेक परिस्थितियोंमें रहकर, अनेक कष्ट उठाकर, अन्तमें मनुष्यको अवश्य ही भगवद्भजन करके परमपद प्राप्त करना पड़ता है क्योंकि मनुष्यदेह भजन करनेके लिये मिलती है। यह मनुष्यकी इच्छा और साधनापर निर्भर है कि वह इसी जन्ममें भक्ति करके मुक्त हो जाय अथवा कुछ समयतक और कष्ट उठाकर अगले जन्मोंमें भगवद्भक्ति करे।

संसारमें प्राणियोंको भिन्न-भिन्न परिस्थितियोंमें देखकर हमें यह विश्वास होता है कि जब मनुष्य किसी एक परिस्थितिमें ईश्वरभक्ति नहीं करता है तब वह परिस्थितिको दोष देकर अपनेको किसी अन्य परिस्थिति-में देखनेकी इच्छा करता है। वह परिस्थिति उसे उसी जन्ममें या दूसरे जन्ममें मिलती है। फिर भी वह अपने इच्छानुसार किसी दूसरी परिस्थितिकी इच्छा करता है या मुक्त होनेके लिये प्रयत्न करता है। उसकी इच्छा पूर्ण होती है।

उदाहरणके लिये एक धनवान् व्यवसायीको लीजिये। वह थोड़ी देरके लिये ईश्वरका भजन नहीं कर सकता प्रत्युत यह सोचता है कि यदि वह दरिद्र होता तो कुछ समय उसे भजन करनेके लिये मिल जाता। अब यदि वह दरिद्री हो जाय तो यह सोचता है कि इस दुर्दशासे तो पशुयोनि अधिक उत्तम होती, उसे पशुयोनि मिलती है। पर अन्तमें अनेक दशाओंको प्राप्त होता हुआ पुनः मनुष्ययोनिमें जन्म लेता है और अपनी आत्माके आदेशको समझनेमें समर्थ होता है और भगवान्‌की भक्ति करके जीवन्मुक्त हो जाता है।

भगवद्भजनके लिये किसी प्रकारके आयोजनकी आवश्यकता नहीं रहती। प्रतिदिन कुछ समयके लिये मनको सांसारिक विषयोंसे हटाकर गद्‌गदहृदय होकर परमात्माका ध्यान करना चाहिये। यद्यपि अपने प्रथम प्रयासोंमें मनुष्यको यह अनुभव होगा कि उसे सफलता नहीं मिल रही है परन्तु वास्तवमें वह दिन-प्रति-दिन ईश्वरके अधिक समीप पहुँचता जाता है। इसका महत्त्व कालान्तरमें स्वयं समझमें आ जाता है। इस प्रकार जो आनन्द और शान्ति मिलती है वह अवर्णनीय है क्योंकि ईश्वर ही असीम शान्तिका मूल है।

प्रेम—मानव और दिव्य

(लेखक—डा० महम्मद हाफिज सैयद एम्० ए०, पी-एच्० डी०, डी० लिट्)

कहते हैं, ईश्वर प्रेम है और प्रेम ईश्वर है, और वही प्रेम, जो मनुष्यका मनुष्यके साथ सम्बन्ध स्थापित करता है, उसे उसकी सत्ताके मूल स्रोतमें पहुँचा देता है। जो वस्तु मानव-समाजको धारण किये रखती है, मनुष्योंके परस्पर सम्बन्ध बनाये रखती है, वह प्रेम ही है। यदि मनुष्य-जातिकी प्रवृत्तिके मूलमें प्रेम-का प्रेरक भाव न होता, यदि मनुष्य इस भावसे सम्पन्न न होते, तो नैतिक क्षेत्रमें कोई भी उन्नति न होती। विकासके सोपानक्रममें जो मनुष्य सबसे नीचे है, प्राणियोंमें जो सबसे अधम है वह नैतिक उन्नतिके रास्तेपर एक कदम भी आगे नहीं बढ़ सकता यदि प्रेम उसका परिचालक न हो। मानव-प्रेमका सबसे उदात्त रूप अपने बच्चेके प्रति माताके वात्सल्यमें देख पड़ता है। वात्सल्यवश माता बच्चेके ध्यानमें अपने आपको एकबारगी भूल जाती है, उसे अपने सुख, सुविधा, विश्राम, निद्रा और भूख-प्यासकी कोई सुध नहीं रहती।

२—मनुष्यके त्याग, सहानुभूति, निःस्वार्थता और सेवा आदि गुण मानव-प्रेमके प्रत्यक्ष फल हैं। निःस्वार्थ मानव-प्रेम बहुत बड़ी नैतिक शक्ति है। यदि यह शक्ति जगत्में न होती तो जगत् दरिद्र होता। इस प्रेमशक्ति-के अभावमें कोई महान् कार्य, कोई समाजसेवा, कोई राजनैतिक पराक्रम न बन पड़ता। जगत्के प्रायः सभी वीरोंमें यह उदात्त प्रेमभाव ज्वलन्त रहा है और उसीसे उनसे बड़े-बड़े कार्य सिद्ध हुए।

३—मानव-प्रेमका ही साधन और क्रमिक विस्तार होनेसे शुभेच्छु भगवत्प्रेमको प्राप्त होता है। मानव-सम्बन्धगत प्रेमके अभ्याससे इस दिव्य प्रेमानुभवके लिये मनुष्य उपयुक्त होता है। सामान्य मनुष्य-जीवनमें जिस मनुष्यने कभी किसीसे प्रेम करना नहीं सीखा, वह यह समझ ही नहीं सकता कि भगवत्प्रेम क्या वस्तु है और उसका रास्ता कैसे चलना होता है। जिसका चित्त ही शुद्ध नहीं है, जिसने कभी यह जाना ही नहीं कि प्रेम क्या होता है वह किसी परतर, शुद्धतर और निःस्वार्थ प्रेमकी कोई कल्पनातक नहीं कर सकता।

४—हिंदूशास्त्रोंसे यह पता लगता है कि परम-पुरुष परमेश्वर न केवल जगदीश्वरके रूपमें बल्कि मानवरूपमें भी प्रकट होते हैं और उस रूपमें वे मानवचित्तको हरण करनेवाले समस्त सौन्दर्यको प्रकट कर भक्ति, उपासना और प्रेमको जगाते हैं। स्वनिर्मित प्राणियोंके प्रति उनकी जो विशुद्ध करुणा है उसीसे प्रेरित होकर वे मनुष्योंकी परिसीमित बुद्धिकी पहुँचके अंदर आ जाते और अवतारके रूपसे प्रकट होकर अपनी परमेश्वरी परा सत्ताका कुछ आभास मानवरूपसे करा देते हैं, 'कारण अव्यक्तमें जिनका चित्त आसक्त है उन्हें बड़ा क्लेश उठाना पड़ता है, क्योंकि देह-धारियोंके लिये अव्यक्तको पानेका मार्ग चलना बड़ा कठिन है।' (गीता १२। ५) प्राचीन ज्ञान-परम्पराके अनुसार उस अपरिच्छिन्न, अरूप, अज्ञात, अज्ञेय तत्त्वकी, जिसे निर्गुण ब्रह्म कहते हैं, भावना करना सामान्य मनुष्यके लिये असम्भव है। जब वह सर्व-व्यापक ब्रह्म किसी मानवरूपमें परिच्छिन्न होकर प्रकट होता है तभी यह देहमें बद्ध प्राणी उसे समझ सकता है।

५—मनुष्य परमेश्वरको उसके श्रीरामचन्द्र, श्रीकृष्ण या बुद्ध किसी भी पावन नामसे पूजनेकी आन्तरिक

विशेष लालसा रखते हैं और इस प्रकार उनकी भक्ति कर उस भक्तिमें वह आनन्द ढूँढते हैं जो अनन्तके किसी अव्यक्त भावकी भावनासे नहीं मिल सकता। जो लोग भक्तिमार्गका अनुसरण करते हैं उनके लिये यही उपास्य परम गन्तव्य पद है। भक्तिके इस मार्गमें भक्त अपने भगवान्‌को ढूँढा करता है।

६–यह भक्ति या प्रेम क्या है? देवर्षि नारद इसे 'परम प्रेम' कहते हैं और उसका स्वरूप बतलाते हैं–'अखिल आचार भगवान्‌को अर्पण करना, और उनके जरा-से विस्मरणसे परम दुखी होना।' अब आप ही यह प्रश्न उठता है कि मानवप्रेमसे चित्तको हटाकर भगवत्प्रेममें क्यों लगाया जाय और फिर इस मार्गमें सिद्धि लाभ करके क्या मिलना है? देवर्षि बतलाते हैं कि जो कोई इस प्रेममार्गपर चलता और परम गन्तव्यको पा लेता है वह अपने प्रेमास्पदसे एक हो जाता है, 'वह सिद्ध, अमर और परितृप्त होता है; वह किसी चीजकी इच्छा नहीं करता, कोई शोक नहीं करता, किसीसे द्वेष नहीं करता, किसीमें राग नहीं करता और अपने किसी स्वार्थके लिये कोई प्रयास नहीं करता; वह उस प्रेममें ही मत्त, स्तब्ध और आत्माराम हो जाता है।'

७–यह बात ध्यानमें रहे कि जिन भक्तोंको आज हम भक्तिसे पूर्ण सम्पन्न देख पाते हैं उनकी यह स्थिति एक ही दिनमें नहीं बनी है। जन्म-जन्मान्तरसे सुदीर्घ निरन्तर प्रयासका यह फल है। प्रयास कोई भी व्यर्थ नहीं जाता। भगवत्सामीप्य पानेकी प्रत्येक लालसा समयसे पूरी होती ही है। यदि किसीकी इच्छा एक-बारगी ही पूरी नहीं होती तो उसे उत्साह नहीं छोड़ना चाहिये।

८–भगवत्प्रेमको अपने अंदर अधिकाधिक जगानेके लिये कुछ साधन जरूरी होते हैं जिनके बहुत कुछ कर लेनेके बाद ही भगवद्दर्शन हो सकते हैं। सबसे पहला साधन यही है कि अपने इष्टदेवसे मिलनेकी अत्यन्त तीव्र और अदम्य इच्छा होनी चाहिये। मानव-प्रेमसे आरम्भमें भगवत्प्रेमके सम्बन्धमें किसी कदर कल्पना करनेमें कुछ मदद मिल जाती है। किसी मनुष्यसे यदि कभी हमारा कोई प्रगाढ़तम, पवित्रतम और तीव्रतम प्रेम रहा हो तो हम उसकी याद करें। अपना परीक्षण करें, अपने अंदर यह देखें कि किस प्रकार उस प्रेमके प्रकाशमें अन्य सब चीजोंका आकर्षण क्षीण हो जाता है। जब हम अपने प्रेमास्पदका मुख देखनेको तरसते हैं तब उसके सामने हमारी विद्या-बुद्धि, धन-सम्पत्ति, नाम-यश सब कुछ फीका पड़ जाता है। प्रेमास्पदके दर्शनमात्रके प्रभावसे हमारे मनका सारा रुख अकस्मात् बदल जाता है। उस प्रेमास्पदके प्रेमकी खानके सामने सारी धन-सम्पत्ति या विद्या-बुद्धि और ग्रन्थसाहित्य कोई चीज ही नहीं रह जाते। इस प्रकारका अनन्य प्रेम प्राप्त होनेपर ही, कहते हैं कि, भगवज्ज्ञान और आत्म-साक्षात्कार होनेकी अवस्था आती है।

९–प्रेमके इस साधन-मार्गमें साधकके लिये जिन बातोंको जानना और करना जरूरी है उनमेंसे कुछ बातें ये हैं—शुद्ध आहार, शुद्ध विचार और भगवान्‌का सतत स्मरण। हमें अपने मन, वाणी और कर्ममें सदा शुद्ध रहनेका प्रयत्न करते रहना होगा, तब हमें उस पावनका सामीप्य पानेका सौभाग्य प्राप्त होगा। अतः आध्यात्मिक उन्नतिका यह एक अपरिहार्य साधन है कि हमें सदा ही तामस और अशुद्ध आहारसे बचना चाहिये। अपने भ्रमते हुए चित्तको स्थिर करने और उसमें पवित्र और उदार विचारोंको भरनेका सतत प्रयत्न करना होगा। इसी प्रकार हमें अशुभके सब मार्गोंसे हटना और सांसारिक भोगोंकी सारी इच्छाओंका त्याग करना पड़ेगा।

१०–इसके बाद हमारा यह प्रयत्न होगा कि हम अपने मानव-भाइयोंसे प्रेम करें और यथाशक्ति उनकी

सेवा करें। ऐसा करनेसे हमारे अंदर जो अलगावका भाव और अहंभाव है वह छूट जायगा और हम अपने आपको भगवत्प्रेमके उपयुक्त पात्र बना सकेंगे।

११–भगवत्प्रेमको अपने हृदयमें प्रतिष्ठित करनेमें एक और परम लाभ है। हम लोगोंके अंदर अनेक दुर्वृत्तियाँ हैं—काम, क्रोध, लोभ, भय, सङ्ग आदि, इन्हें जीतनेका हम जीवनभर प्रयास करते रहते हैं, पर इन्हें जीतना प्राय: नहीं बनता। मनको पगहा तोड़कर निकल भागने और किसी मोहमें जा गिरनेमें बहुत देर नहीं लगती। ऐसे अवसरपर हमें निराश होकर यही सोचना पड़ता है कि जीवनकी इन बुराइयोंसे बचनेका कोई उपाय नहीं है। पर जिन लोगोंको भगवत्प्रेम प्राप्त हो गया है और उसी प्रेममें जो अपने आपको प्रतिष्ठित किये हुए हैं, कहते हैं कि, उनके अंदर कोई भी मानवी दुर्बलता नहीं रह जाती। वे लोभ या कामके वशीभूत नहीं होते। उनका व्यष्टिस्वरूप भगवत्स्वरूपमें निमज्जित होनेके कारण उन्हें किसी सांसारिक भोगकी कोई इच्छा ही नहीं होती। जलालुद्दीन रूमी कह गये हैं कि, 'भगवत्प्रेम वह हकीम है जो हमारी सारी मानसिक और नैतिक बीमारियोंको दूर कर देता है।'

१२–यह सब कैसे हो सकता है? जीवको जो स्फूर्ति मिलती है वह दूसरे जीवसे ही मिला करती है, और किसी चीजसे नहीं। इसीलिये किसी ज्ञानी तत्त्वदर्शी गुरुकी आवश्यकता होती है। स्वामी विवेकानन्द कहते हैं, 'प्रत्येक जीव सिद्ध होनेके लिये ही उत्पन्न हुआ है और उसे, अन्तमें, सिद्धि प्राप्त होगी। हम आज जो कुछ हैं, यह अपने पूर्वकर्मों और विचारोंके फल हैं; और आज हम जो कुछ विचारेंगे, जो कुछ करेंगे वही हम आगे होंगे। परन्तु यह जो अपना भवितव्य निर्माण करनेका क्रम है, इसमें यह बात नहीं है कि हम बाहरसे कोई मदद नहीं ले सकते; बल्कि बहुतोंका तो ऐसी मददके बिना काम ही नहीं चल सकता। जब ऐसी मदद मिलती है तब जीवके अंदर जो छिपी हुई महती शक्तियाँ और भवितव्यताएँ हैं वे जाग उठती हैं, जीवन आत्ममुखी हो उठता है, उसका संवर्द्धन होता है और अन्तमें मनुष्य पावन और संसिद्ध होता है।'

निर्मल, ज्योतित रह पाऊँ।

मालिक! बल देना इस कर्षणमें न नीचता अपनाऊँ।
पामर प्रतिद्वन्द्वीके प्रति मैं स्वयं न पामर बन जाऊँ॥
याद रहे—वे सब नट भर हैं, निश्चित अभिनय भर करते।
ईर्ष्या धन-लोलुपता, छल-छन्दोंमें यदि वे रत रहते॥
तो न दोष दूँगा मैं उनको, क्यों उनपर मैं खिझलाऊँ।
तेरी इच्छासे ही जब वे इन कार्योंमें रत रहते?
पर मेरा अभिनय है—ऊपर ही ऊपर उठता जाऊँ।
दुनियाँमें मैं रहूँ किन्तु जल बीच कमल होता जाऊँ॥
इसीलिये मालिक! बल देना, इस निकृष्टता अभिनयमें।
निविड़ कालिमामें भी ध्रुववत निर्मल, ज्योतित रह पाऊँ॥

—बालकृष्ण बलदुवा

स्वभाव नहीं बदलता

(लेखक—पूज्यपाद स्वामीजी श्रीभोलेबाबाजी महाराज)

कृष्णाय वासुदेवाय गोविन्दाय नमो नमः ।
सच्चिदानन्दरूपाय निष्कलाय नमो नमः ॥

गीता वक्ता कृष्णजी, गीता श्रोता पार्थ ।
गीता कर्ता व्यासजी, दिखलाया परमार्थ ॥
दिखलाया परमार्थ, तत्त्व समझाया झीना ;
भक्तिमार्ग दुःसाध्य, साध्य सीधा कर दीना ॥
भोला! भज श्रीकृष्ण, भजा उनको सो जीता ।
कृष्ण तजे मर जाय, यही उपदेशत गीता ॥

एक बार एक मुमुक्षुने एक संतसे निम्नलिखित प्रश्न किये—

(१) भगवन् ! गीताके १८वें अध्यायके श्लोक ५९, ६० और ६१में भगवान्ने अर्जुनके हृदयमें ऐसा भाव क्यों भरा कि युद्धसे विमुख होनेपर प्रकृति तुम्हारा पिंड नहीं छोड़ेगी ।

(२) उपर्युक्त भाव भरनेसे क्या मनुष्यकी अपने व्यक्तित्वसे आस्था न उठ जायगी ?

(३) आस्था उठ जानेपर क्या मनुष्य सत्कार्य आदिके करनेमें उत्साहरहित नहीं हो जायगा ?

(४) १८वें अध्यायके ६७वें श्लोकमें भगवान्ने तपश्चर्यारहित व्यक्तिको आत्मविषयक ज्ञानोपदेश करनेसे मने क्यों किया ?

(५) क्या ६१वें श्लोकमें उपदिष्ट 'यन्त्रारूढानि मायया' अभक्तोंके विषयमें ग्राह्य नहीं है ? यदि नहीं तो क्यों ? और यदि है तो वे बेचारे उपदेशसे वञ्चित क्यों रक्खे जायँ ? न्यायसे तो ज्ञानके अभावमें दरिद्र होनेके कारण वे ही विशेष अधिकारी हैं ।

(६) क्या ऐसा करनेपर भी समदर्शिताकी रक्षा हो सकती है ? महाराज ! मैं बेढंगा हूँ, क्षमा चाहता हूँ ।

संत पढ़े-लिखे तो कुछ थोड़े ही थे, परन्तु बहुत दिनोंतक संत-महात्माओंकी जूतियाँ उठाते रहे थे। उनकी जूतियाँ उठानेके प्रतापसे दुनियाभरके भोगोंको वे पैरकी जूती समझते थे, सोम्य प्रकृतिके गम्भीर स्वभाववाले युक्तिकुशल थे; फिर भी मिजाजमें कुछ-कुछ मसखरापन—हँसोड़पन था । अतः मनमें हँसकर वे इस प्रकार उत्तर देने लगे—

संत—भाई ! *भगवान्ने यह भाव तो नहीं भरा* है कि तू युद्धसे विमुख होगा तो प्रकृति तेरा पिंड नहीं छोड़ेगी । यह कहा है कि तू जो युद्धमें विमुख होना चाहता है, तेरी प्रकृति शूरता और धीरतासे सम्पन्न है इसलिये तुझे ऐसा करने न देगी। तुझसे अवश्य युद्ध करावेगी । भाव यह कि अपनी क्षात्रप्रकृतिके कारण तू युद्धसे विमुख हो नहीं सकता । यह भगवान्का कथन सोलहों आने सत्य है क्योंकि किसीका स्वभाव बदलता नहीं है, अर्जुन प्रथम तो देवक्षत्रिय इन्द्रके अंश थे, जन्मसे भी क्षत्रिय थे, बालकपनमे ही युद्ध करना सीखे थे, बड़े-बड़े शूरवीरोंको हरा भी चुके थे और अपने युद्धसे महादेवजीको प्रसन्न करके उनसे गाण्डीव धनुष भी प्राप्त कर चुके थे । भला ! ऐसा शूरवीर क्षत्रिय युद्धसे कैसे मुँह मोड़ सकता है ? जब थोड़े कालका पड़ा हुआ स्वभाव ही छूटना कठिन होता है तब परम्परासे प्राप्त स्वभाव न छूटे तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ? अच्छा, भाई ! बता तू क्या काम करता है ?

मुमुक्षु—महाराज ! मैं सर्जन हूँ, चीराफाड़ीका काम करता हूँ । साथ ही अच्छा फिजीशियन भी हूँ । दवाओंका भी अच्छा ज्ञान है ।

संत—(प्रसन्न होकर) भाई ! तभी तू दयालु स्वभावका है, गीताका रहस्य पूछकर सबको ढंगमें लाना चाहता है और आप बेढंगा बनता है । यह

तेरा ढंग अच्छा है, मुझे भी पसंद है ! अच्छा ! यदि कहीं सर्जनोंकी परीक्षा ली जाय तो क्या तू वहाँ अपने हाथकी सफाई दिखाना न चाहेगा ? यदि कहीं दस-पाँच सर्जन एकत्र हों, वहाँ कोई ऐसा मरीज आवे कि जिसके पेट चीरनेकी जरूरत हो, सब सर्जनोंकी सम्मति हो कि बिना पेट चीरे मरीजको आराम नहीं हो सकता और तुझे यह युक्ति मालूम हो कि बिना पेट चीरे ही आराम हो जायगा, तो क्या तू वहाँ चुप बैठा रहेगा ? क्या किसीको बेढंगा चीरा देते देखकर तू उसे रोकेगा नहीं ? जहाँ कहीं सुनता है कि कोई असाधारण रोगी (extraordinary case) है, क्या वहाँ दौड़कर नहीं जाता ?

मुमुक्षु—हाँ महाराज ! कई बार परीक्षा दी है, सर्टीफिकट भी मिले हैं ! कई ऐसे केस आये हैं जिनको बिना चीर-फाड़के मैंने अच्छे कर दिये हैं। किसी कम्पाउंडरसे किसीका ऑपरेशन करवाता हूँ, तो सामने खड़ा रहता हूँ । जहाँ कहीं सुनता हूँ कि किसी सर्जनको कामयाबी नहीं हुई, वहाँ अवश्य जाता हूँ, और तो क्या कहूँ महाराज ! स्वप्नमें भी चीर-फाड़ ही करता रहता हूँ ।

संत—भाई ! जब तू अपने बहुत थोड़े दिनके स्वभावमें ऐसा मग्न रहता है कि स्वप्नमें भी तुझे वही दीखता है, फिर भला अर्जुन अपना स्वभाव कैसे छोड़ सकते थे ? युद्ध भी धर्मयुद्ध था, अधर्मयुद्ध तो था नहीं कि उसे छोड़ देते । भाई ! कोई भी अपना स्वभाव नहीं छोड़ता । तार्किक आकाशकी उत्पत्ति कभी सिद्ध नहीं होने देगा, वैशेषिक परिणामवाद ही सिद्ध करेगा, मीमांसक कर्मको ही ईश्वर मानेगा, कालवादी कालको ही महेश्वर कहेगा, योगी पुरुषविशेषको ईश्वर कहेगा, सांख्यवादी प्रधानको ही कर्ता मानेगा, शून्यवादी शून्य ही बतावेगा और ब्रह्मवादीको तो स्वप्नमें भी भेद दिखायी न देगा ! व्याकरणका पण्डित अशुद्ध शब्द सुनकर बोले बिना नहीं रहेगा, गानेवाला ताल भंग नहीं होने देगा ! घोड़ा कैसा ही नटखट हो, घुड़सवार उसपर सवार हो ही जायगा, कवि किसी कविताको देखेगा तो तुरंत उसमें अलङ्कारका ही गुण-दोष ढूँढने लगेगा । सारांश यह कि जिसका जो स्वभाव है, वह उसको नहीं छोड़ता । नाचनेवालीका पैर बिना नाचे नहीं रह सकता, बजानेवालीका हाथ बिना हिले नहीं रह सकता और गानेवालीका गला बिना गाये नहीं रह सकता । और तो क्या, चोर भी बिना चोरी किये नहीं रह सकता । इसीसे कहावत है कि चोर चोरीसे जाय तो क्या हेरा-फेरीसे भी जाय ? ऐसे चोरका एक सच्चा वृत्तान्त याद आया, उसे सुनाता हूँ, यह तुझे स्वभावके समझनेमें मदद देगा ।

एक बार मैंने सुना कि 'झूसीमें एक साधु ऐसा तितिक्षु और क्षमाशील है कि चाहे उसे कोई कितना ही छेड़े, बुरा-भला कहे, मारे-पीटे, वह क्षुब्ध होता ही नहीं ।' मुझे ऐसे साधुओंके देखनेका उन दिनों बड़ा ही शौक था । मैं उसके पास गया । मैंने देखा कि जैसा सुना था, वह वैसा ही, वरं उससे भी अधिक तितिक्षु है । मैंने उससे ऐसी तितिक्षा किस प्रकार प्राप्त हुई, यह पूछा तो वह कहने लगा—

तितिक्षु साधु—भाई ! मेरी कहानी अपूर्व है, आप सुनकर आश्चर्य करेंगे । सुनिये, मैं मीना जातिका हूँ, मीनोंका पेशा चोरी है, यह आपने सुना ही होगा । अपने कुलके अनुसार मैंने भी चोरीका उद्यम सीखा । सीखा क्या मेरे बापने मुझे वही काम सिखाया । लगभग चौदह-पंद्रह वर्षकी उम्रमें मैं अपने कार्यमें निपुण हो गया । एक दिन मेरा बाप मेरी परीक्षा लेनेके लिये मुझे अपने साथ लिवा ले गया । चंबल नदीके किनारेपर जाकर मेरे बापने एक खरगोश मारा और उसे मेरे पास रखकर वह किसी कार्यसे कहीं चला गया, उसके जाते ही मैं उस खरगोशका दिल निकाल कर खा गया, बापने लौटकर देखा तो मालूम हुआ कि खरगोशका दिल गायब है । कहने लगा 'इसका दिल कहाँ गया ?' मैंने

कहा 'अजी! इसमें दिल था ही कहाँ, जो कोई ले जाता!' बाप बोला 'अबे! मुझ पचास वर्षके बूढ़ेको सिखाता है कि दिल था ही नहीं, कोई बिना दिलके नहीं होता।' मैंने सूखे-से मुँहसे कहा 'बापू! इसके दिल होता तो यह पकड़ा ही क्यों जाता? और मरता ही कैसे? इसके दिल नहीं था, तभी तो आपके फन्देमें फँस गया! दिलवाले किसीकी दमपट्टीमें नहीं आते! इसके दिल था ही नहीं।' बाप भीतरसे प्रसन्न हो ऊपरसे झुँझलाकर बोला 'अरे! मानता ही नहीं है मुर्गीकी एक ही टाँग कहे जाता है? दिल सबके होता है। हाँ! किसीका दिल कमजोर होता है, तो किसीका बलवान्, कमजोर दिलवाले मजबूत दिलवालोंके पंजेमें फँस जाते हैं! अच्छा! कल देखूँगा, तेरा दिल कितना मजबूत है।' यह कहकर बाप मुझे एक मकानपर ले गया और पैंडा लगानेको कहा। थोड़ी देरमें मैंने दीवारमें छेद कर लिया। बापने मुझे भीतर घुसा दिया और खुद बाहर खड़ा रहा, जब मैं भीतर घुस गया तो मेरा बाप 'चोर-चोर' चिल्लाने लगा, घरवाले जाग गये और उन्होंने मुझे पकड़ लिया। मेरा बाप इतनी कार्रवाई करके चम्पत हो गया, मुझे घरवालोंने खूब पीटा और सारे गाँवको इकट्ठा कर लिया, पुलिस भी आ गयी। पुलिसने मुझे एक पेड़में उलटा टाँग दिया और खूब मारा। पुलिस पूछती रही कि बता तेरे साथ कोई दूसरा था या नहीं! मैं तो पहलेसे पक्का था ही, कितनी ही मार खानेपर मैंने न बताया पर न बताया। पुलिस पूछ-पाछकर हार गयी! दोपहरको मेरा बाप पहुँचा। पुलिस मेरे बापको जानती ही थी, कहने लगी 'इस चोरसे पूछो कि इसके साथ कोई था या नहीं?' मेरा बाप मुझे एकान्तमें ले गया और उसने मुझसे भाग जानेको कहा। मैं भाग आया। पीछेसे मेरा बाप पुलिसको सब कच्चा-चिट्ठा कहकर चला आया। पुलिस हमलोगोंसे मिली रहती थी। सारा वृत्तान्त सुनकर चुप हो गयी और गाँववालोंको समझा-बुझाकर मामला रफा-दफा कर दिया।

इसके बाद मैंने अपने कार्यमें निपुण होकर बहुत-सी चोरियाँ कीं और डाके भी मारे। कुछ दिनोंके लिये महाराजा होलकरने मुझे रक्षक भी बना लिया था, फिर भी कभी-कभी लोभमें आकर मैं चोरी-डाकेमें चला ही जाता था। एक दिन शामको चोरी करनेके विचारसे एक ग्राममें गया, वहाँ एक पण्डितजी गीताकी कथा कह रहे थे, मैं भी सुनने बैठ गया। पण्डितजीने पहले तितिक्षा और धैर्यकी महिमा कही और फिर वे कहने लगे—

पण्डितजी—श्रोताओ! तितिक्षा और धैर्य ऐसी वस्तुएँ हैं कि मनुष्यको शीघ्र ही कल्याणपथपर आरूढ़ कर देती हैं परन्तु ये ही यदि चोर-डाकुओं आदिमें हों तो उनको अधोगति प्राप्त कराती हैं। लोक-परलोक दोनोंसे भ्रष्ट कर देती हैं। संसारमें कोई वस्तु बुरी नहीं है। हमारे दुरुपयोगसे अच्छी वस्तु भी लाभके बदले हमको हानि ही पहुँचाती है, अस्त्र-शस्त्र हमारी रक्षा करते हैं और वे ही हमको हिंसक और पापी भी बनाते हैं। धैर्य और तितिक्षा यदि साधुमें हों तो इस लोकमें उसकी कीर्तिके कारण होते हैं, सुखकी प्राप्ति कराते हैं और अन्तमें आनन्दस्वरूप परमात्मासे मिला देते हैं। चोरके लिये वे ही दुःखके हेतु होते हैं, यहाँ अपकीर्ति कराते हैं, दण्ड दिलवाते हैं, यहाँतक कि, कभी-कभी फाँसी भी दिलवाते हैं। परधनसे चोर अमीर तो होता नहीं, धन जैसा आता है, वैसा ही चला जाता है। अग्नि, राजा आदि जला या छीन लेते हैं, चोरी करनेवाला अन्तमें मरकर यमराजके यहाँ भयानक नरकोंमें नाना प्रकारके कष्ट भोगता है!

भाई! इस प्रकार पण्डितजीने चोरीके अनिष्ट फल अनेकों प्रकारसे बतलाये, उनकी बातें सुनकर मेरा मजबूत दिल भी उस समय काँप गया। उसी समय मैंने चोरी न करनेका निश्चय किया और पण्डितजीके पैरों पड़कर उनसे अपना सारा वृत्तान्त सुनाया और कल्याणका मार्ग पूछा।

पण्डितजी प्रसन्न होकर कहने लगे—'भाई! तेरा कोई पूर्वपुण्य उदय हो आया है। माखनचोर भगवान्की तुझपर दया हो गयी है, तू उन्हीं भगवान्का ध्यान किया कर, चोरीका स्वभाव तेरा जल्दी नहीं जायगा, आजसे तू संत-महात्माओंके गुणोंकी चोरी किया कर, किसीका धन कभी मत चुराना। ऐसा करनेसे तू बहुत ही शीघ्र मोहन माखनचोरका प्यारा-दुलारा हो जायगा। तितिक्षु तो तू पहलेसे है ही!'

संतजी! उसी दिनसे मैं यहाँ आ गया। यहाँ भगवान्का ध्यान किया करता हूँ। बस, सदा उनके रूपमाधुर्यकी चोरी किया करता हूँ, और संत-महात्माओंके गुणोंको भी चुराया करता हूँ, अब मुझे बहुत ही शान्ति है और दूर-दूरतक मेरी प्रसिद्धि भी हो गयी है। इस प्रकार अब भी चोरीकी लत नहीं छूटी है! सिर्फ चोरीके पदार्थ बदल गये हैं।

पहलेके स्वभावकी इतनी बात अब भी है। जब कभी उमंग आती है तो साधुओंके कमण्डलु रातको जाकर एक दूसरेके सिरहाने रख आता हूँ। वे सबेरे ढूँढते फिरते हैं और अपना-अपना पहचान कर ले जाते हैं। हाँ, साधु-महात्माओंकी कृपा हुई तो यह लत भी जाती रहेगी और फिर तो माखनचोरकी ही पूरी चोरी किया करूँगा।

मुमुक्षु डाक्टर! अब तो तू समझ गया होगा कि स्वभाव प्रबल है और कठिनाईसे छूटता है। इसीसे सिद्ध है कि अर्जुन अपने क्षात्र स्वभाववश युद्धसे किसी प्रकार न रुकता। यही बात भगवान् कहते हैं। और तो क्या कहूँ, मुझे भी हँसोड़पनका ऐसा स्वभाव पड़ गया है कि बहुत ही प्रयत्न करता हूँ परन्तु छूटता ही नहीं। यहाँतक कृत्रिम स्वभावका वर्णन किया। यह स्वभाव तो प्रयत्न करनेसे यानी सत्सङ्ग और सत्-शास्त्रके अभ्याससे कुछ कालमें छूट भी जा सकता है परन्तु असली स्वभाव तो कभी बदल ही नहीं सकता, उसका आगे वर्णन करूँगा। यहाँतक तेरे पहले प्रश्नका उत्तर हुआ, अब दूसरे और तीसरेका उत्तर सुन—

कृत्रिम स्वभावका नाम ही 'व्यक्तित्व' है। जब स्वभाव बदलता ही नहीं तो उसमेंसे आस्था किस प्रकार उठ सकती है? परन्तु यदि व्यक्तित्वमेंसे आस्था उठ भी जाय तो हानि ही क्या है। असलमें इस व्यक्तित्वमें आस्था उठ जाना ही तो परमपुरुषार्थ है। इस व्यक्तित्वने ही तो ईश्वरमेंसे आस्था उठा दी है, यही सत्कार्यमें उत्साह नहीं होने देती! इसीने सबको सङ्कुचित कर रक्खा है। इसीने पूर्णको अपूर्ण और ठोसको पोला बना दिया है। सारांश यह कि सारे अनर्थोंका कारण यह 'व्यक्तित्व' ही है, इसीकी निवृत्तिके लिये समस्त शास्त्रोंकी प्रवृत्ति है; व्यक्तित्वसे ही अर्जुनको मोह हुआ था, उसीकी निवृत्तिके लिये गीताका उपदेश है, गीताके प्रारम्भका अन्य कोई प्रयोजन नहीं है। गीता व्यक्तित्वको मिटाती है और पूर्ण बनाती है। ज्यों-ही-ज्यों तू गीताका अर्थ समझता जायगा, तेरा व्यक्तित्व भी धीरे-धीरे दूर होने लगेगा। ज्यों-ज्यों व्यक्तित्व कम होगा, त्यों-ही-त्यों पुरुषार्थ करनेमें तेरा उत्साह अधिक बढ़ने लगेगा, और एक दिन परमपुरुषार्थकी सिद्धि होनेसे तू सर्वत्र पूर्ण उत्साहस्वरूप हो जायगा।

अन्तके तेरे तीनों प्रश्न ऐसे ही हैं—जैसे कोई कहे कि प्रथम कक्षाका विद्यार्थी विद्यामें बहुत ही पिछड़ा हुआ है इसलिये उसको दसवीं कक्षामें भरती कर लेना चाहिये, अथवा अंधा मनुष्य रूप-धनका पूरा दरिद्री है इसलिये उसको अनेक भाँतिके शृंगार कर दिखाना चाहिये, या बहिरा आदमी तो गायन-धनमें सबसे अधिक कंगाल है इसलिये उसको ताल, स्वर और समसहित छः राग और छत्तीस रागिनियाँ सुनानी चाहिये और गूँगा वाणी-धनमें सबसे निर्धन है इसलिये वेद-वेदाङ्ग

पढ़नेका वह प्रथम अधिकारी है। जैसे ये सब मनोरथ निष्फल हैं वैसे ही अनधिकारीको गीताका उपदेश भी निरर्थक है। भाई! शरमा मत, ये तेरे प्रश्न दयाके कारण हैं। तू सबका हित चाहता है इसलिये तूने ये प्रश्न किये हैं। परन्तु कोई कितना ही दयालु और हितैषी क्यों न हो, अनधिकारीका हित नहीं कर सकता। यह अटल नियम है। अधिकारीका ही हित हो सकता है। अधिकारी धीरे-धीरे बना जाता है और बनाया भी जाता है। भगवान् सर्वशक्तिमान् हैं, एक-न-एक दिन सबको गीता पढ़ा देंगे और अधिकारी भी बना देंगे। हमें, तुम्हें इसकी चिन्ता करनेकी जरूरत नहीं है। हमें तो स्वयं अधिकारी बननेकी आवश्यकता है। स्वयं अधिकारी बनकर ही हम दूसरोंको अधिकारी बना सकते हैं अथवा हमको देखकर वे स्वयं ही अधिकारी बन जायँगे; क्योंकि खरबूजेको देखकर खरबूजा रंग बदलता ही है। अधिकारीको ही अधिकारकी वस्तु देना समदर्शीपना है, अनधिकारीके सामने वस्तु फेंक देनेमें समदर्शिता नहीं है। ऐसा करनेसे तो वस्तु भी व्यर्थ जाती है, दाताकी भी अपकीर्ति होती है और लेनेवालेका भी हितके बदले अहित ही होता है। भाई! दूसरोंकी चिन्ता मत कर, यदि तुझे गीताका तत्त्व जानकर परमानन्द प्राप्त करनेकी इच्छा है तो स्वयं पहले तप कर। कायिक, वाचिक और मानसिक तीन प्रकारके तप भगवान्‌ने १७ वें अध्यायमें बतलाये ही हैं। भगवान्‌का भक्त हो और मायाकी भक्ति छोड़ दे। गीता पढ़ने-सुननेमें पूर्ण उत्साही हो और देहकी आस्था छोड़कर भगवान्‌में पूर्ण आस्था कर। ऐसा करनेसे तेरा कृत्रिम स्वभाव धीरे-धीरे मिटता जायगा और अन्तमें तू सच्चिदानन्दस्वरूप हो जायगा। सच्चिदानन्द ही तेरा स्वभाव है, वही तेरा स्वरूप है, वही मेरा स्वरूप है और वही सबका स्वरूप है। अपने स्वरूपको न जानना ही कृत्रिम स्वभाव है। अपने सच्चिदानन्दस्वरूपको न जाननेसे ही तू सत्त्व, रज और तमको अपना स्वभाव मानने लगा है। सत्त्व, रज, तमको ही नहीं किन्तु सत्त्व, रज, तमके बने हुए मनको अपना स्वभाव समझने लगा है। इसीसे अव्यक्तसे व्यक्ति बनकर व्यक्तित्वके पीछे पागल हो रहा है। यहाँतक रच-पच गया है कि उसको स्वभावके बदले स्वरूप ही मानने लगा है। इसीसे दुखी है। तू सत्स्वरूप है इसीलिये सदा अपना 'होना' चाहता है, तू चित् है इसीलिये सब कुछ 'जानना' चाहता है और तू आनन्दस्वरूप है इसीलिये सर्वदा 'सुखी' रहना चाहता है। इससे सिद्ध होता है कि स्वभाव कभी बदलता नहीं है; क्योंकि अज्ञानमें भी तू अपना स्वरूप भूला नहीं है। अज्ञानको त्याग दे और साक्षात् सच्चिदानन्दस्वरूप हो जा, यही अन्तिम उपदेश है और यही परम सिद्धान्त है। यह कुण्डलिया मत भूल—

कुं०—सच्चित सुख है रूप निज, सत, रज, तम अज्ञान।
ये तीनों मिल मन बना, किये सभी हैरान॥
किये सभी हैरान, सिंधुका बिंदु बनाया।
किया ठोसको पोल, योनि नाना भटकाया॥
भोला! तज अज्ञान, हेय यह ही है भय दुख।
भज भगवत दिन रैन, नित्य शाश्वत सच्चित सुख॥

मुमुक्षु सज्जन उस संतके वचनोंको मानकर गीताका मनन करने लगा और धीरे-धीरे मनका मल धोकर अन्तमें परम सुखी हो गया। बोलो अर्जुन और अर्जुनके सखा कृष्णभगवान् और गीताके कर्ता *व्यासभगवान्‌की जय!*

वनस्पति घीसे हानि

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

आजकल जो वेजिटेबल (वनस्पति) घीका प्रचार उत्तरोत्तर बढ़ रहा है, यह हमारे देशके लिये बड़ा ही घातक है। इससे स्वास्थ्य और धर्मकी बड़ी हानि हो रही है। असलमें यह घी है ही नहीं। यह तो जमाया हुआ तेल है। यह मूँगफली, नारियल तथा बिनौले आदिके तेलोंसे एवं मछलीके तेलसे तैयार होता है। इसके बनानेमें निकल धातु तथा हाइड्रोजन गैस काममें लिया जाता है। यह चीजें अपवित्र तो हैं ही, स्वास्थ्यके लिये भी महान् हानिकर हैं। निकेलमें एक प्रकारका विष होता है। इनसे तेल जम जाता है। उसकी गन्ध नष्ट हो जाती है और सफेद रंग बन जाता है।

इस विषयमें बंगालके प्रसिद्ध रासायनिक तथा 'खादी-प्रतिष्ठान'के सञ्चालक सोदपुरनिवासी श्रीसतीशबाबूसे गीताप्रेसके मन्त्री श्रीघनश्यामदास जालान तथा मैनेजर श्रीबजरङ्गलाल चाँदगोठिया मिले थे। उन्होंने यही कहा कि यह वेजिटेबल घी सभी प्रकारके तेल या चर्बी आदिसे बन सकता है और निकेल डाल देनेके कारण इसके बननेपर इसकी परीक्षा करनेके लिये कोई ऐसा यन्त्र नहीं है जिससे यह पता चल सके कि यह मूँगफलीके तेलसे बनाया गया है या मछलीके तेलसे। जिस समय जो तेल सस्ता होता है उसीसे यह बनाया जा सकता है। इस समय बंगाल आदिमें मूँगफलीका तथा मछलीका तेल अन्य सब तेलोंसे सस्ते हैं, इसलिये इस समय यह मूँगफली तथा मछलीके तेलसे बनाया जाता है।

वेजिटेबल घी बनानेवाले कई भाई यह गारंटी भी देते हैं कि यह मूँगफलीके तेलसे बना है किन्तु उस गारंटीका कोई मूल्य नहीं; क्योंकि इस घीके बननेपर इसकी कोई परीक्षा नहीं कर सकता कि यह किससे बना है। रही विश्वासकी बात, सो विश्वास इसलिये नहीं किया जा सकता कि जिस समय मूँगफलीके तेलकी अपेक्षा मछलीका तेल सस्ता मिलता होगा उस समय वे मूँगफलीके तेलसे ही यह चीज बनायें यह बात नहीं समझमें आती। क्योंकि मनुष्य लोभके वशमें होकर कौन-सा पाप नहीं कर सकता ?

मछलीका तेल महान् अपवित्र तो है ही, इसके अलावा, इसमें निरपराध मछलियोंकी हिंसा भी होती है। और फिर इसे बनानेके लिये इसमें जो निकल धातुका प्रयोग किया जाता है, उससे धर्मकी हानिके साथ-साथ स्वास्थ्यकी हानि भी होती है। देशके पशुओंकी हानि भी होती है क्योंकि इसके सामने गाय-भैंसका घी मूल्यमें नहीं टिक सकता। असली घीकी बिक्री हुए बिना किसान लोग गाय-भैंस नहीं पाल सकेंगे। गायोंके बिना बैल नहीं मिलेंगे, बैलोंके बिना खेती नहीं हो सकेगी और खेतीके बिना प्रजाका जीवन बहुत ही कष्टमय और निराशापूर्ण हो जायगा। यह बात बहुत लोग अनुभव कर चुके हैं कि वेजिटेबल घीके खानेसे अनेकों बीमारियाँ होकर मनुष्यकी आयुका ह्रास होता है। अतः यह वस्तु देश, धर्म, खेती, पशु और स्वास्थ्य सभीके लिये महान् ही हानिकारक है।

बाजारमें असली घीके नामसे जो घी बिकता है, उस घीमें भी लोग सस्ता होनेके कारण लोभवश इसका मिश्रण कर देते हैं। घीमें इसका मिश्रण कर देनेपर इसका पता लगाना बहुत मुश्किल है। असल-नकलकी जाँचके लिये मशीनें भी आयीं किन्तु उनसे भी इसका पूरा निर्णय न हो सका। नारियल और मूँगफली दोनोंके तेलोंको मिलाकर अथवा मछलीका तेल तथा मूँगफली या नारियलका तेल मिलाकर वेजिटेबल घी बनाया जाय और वह असली घीमें मिला दिया जाय तो इन मशीनोंसे उसका कुछ भी पता नहीं लगाया जा सकता।

इस वेजिटेबल घीके इतने अधिक चल पड़नेके कारण देश, धर्म और स्वास्थ्यकी रक्षा चाहनेवाले भाइयोंको आजकल पवित्र घी मिलना बहुत ही कठिन हो गया है। मेरी तो यह राय है कि देश, धर्म और स्वास्थ्यकी रक्षाके लिये, मिले तो शुद्ध घी खाना चाहिये, नहीं तो मूँगफलीका तेल खाना चाहिये। वेजिटेबल घी करीब २०) रु० मन मिलता है और मूँगफलीका तेल करीब १०) मन। वेजिटेबल घी खानेसे व्यर्थ ही अधिक खर्च लगता है और धर्म तथा स्वास्थ्यकी हानि होती है, शुद्ध मूँगफलीका तेल खानेसे पैसोंकी बचत होती है तथा धर्म तथा स्वास्थ्यकी भी हानि नहीं होती। अतः वेजिटेबलकी अपेक्षा तो शुद्ध मूँगफलीका तेल ही खाना अच्छा है। हो सके तो दूध खरीदकर उसमेंसे मक्खन, क्रीम या घी निकालकर उसे खाना चाहिये। इससे पशु, खेती, देश, धर्म और स्वास्थ्य इन सबकी रक्षा हो सकती है। इस वेजिटेबल घीको तो किसी प्रकारसे भी नहीं खाना चाहिये, चाहे वह केवल वेजिटेबल हो अथवा असली घीमें मिला हुआ। न इस घीका लोभवश व्यापार ही करना चाहिये। बल्कि देश, धर्म, पशु, कृषि और स्वास्थ्यकी रक्षा चाहनेवाले देशसेवक तथा धर्मप्रेमी भाइयोंको तो इस घीका प्रचार रोकनेके लिये कानूनकी रक्षा करते हुए यथाशक्ति घोर विरोध करना चाहिये। खेदकी बात है कि लोभके कारण हमारे व्यवसायी सज्जन इसके व्यापारमें अधिक अग्रसर हैं। उनसे मेरी खास तौरसे प्रार्थना है कि वे इसे देश और धर्मके लिये महान् हानिकर समझकर इसको सर्वथा त्याग देनेकी कृपा करें।

दर्शन तो दे जाओ !

बड़ी बाढ़ जीवनमें आई।
नयनोंसे जल फूट निकलना, घोर घटा प्रभु ! छाई॥
अबतक बाढ़ बचाये जो वह आशा-बाँध बँधा था—
साँसोंके कोमल मृणालपर जो उर-कमल सधा था—
भाव-पथिक-श्रम-हर जो तटपर विटप-विवेक खड़े थे—
धैर्य-नगरमें उच्च महल या जो झोंपड़े पड़े थे—
वे सब अब बह चले बाढ़में, बड़ी आपदा आई।
महाप्रलय भीषण लहरोंमें देता है दिखलाई॥
मैं डूबती और उतराती, आओ मुझे बचाओ।
न बचाओ तो एक बार प्रभु ! दर्शन तो दे जाओ॥

—प्रकाशचन्द्र वर्मा

भक्त और भगवान्

(लेखक—स्वामी श्रीशुद्धानन्दजी भारती)

१—प्रेम

ज्ञान, भक्ति और कर्म—आत्मसाधनाके ये तीन रूप हैं। ये आत्मसिद्धिकी साधनाकी ऊँचाई, चौड़ाई और लंबाईके समान हैं। ज्ञान सिर है, भक्ति हृदय और कर्म प्राण तथा प्राणक्रिया। भक्ति या प्रेम ज्ञानका मुकुट है। उससे जीवनका कठोर मार्ग मृदु-मधुर हो जाता है। उससे बोझमें भारीपन नहीं रह जाता और विपत्तिका काल बड़ी सुगमतासे कट जाता है। विपत्तियोंको देखकर प्रेम हँस देता है, उनका सामना करता है और स्वान्तःस्थ सहिष्णुताके बलपर चाहे जितनी बड़ी कठिनाइयोंको उठा लेता है। सीताजीने राजमहलके सुखोंको ठुकरा दिया और जंगलमें अपने प्रियतम रामके साथ झोपड़ियोंमें रहनेमें अपना अहोभाग्य माना। प्रेम ही जीवनकी शोभा, जीवनका हार्द, जीवनका जीवितत्व, स्वयं जीवन ही है। प्रेमहीन जीवन रसहीन सूखे जंगली पेड़के समान है। ज्ञानदीप्त प्रेम वह शक्ति है जो जीवनको बदलकर दिव्य बना देती है। प्रेम जब इन्द्रियोंके विषयोंकी ओर झुकता और उन्हींमें लग जाता है तब विषयवासनाओंकी ही नयी-नयी सृष्टि करता और उसका एक बड़ा ही उलझा हुआ जाल बुनकर उसके अंदर जीवको फँसाये रखता है। ये विषय-वासनाएँ मनुष्यको एक ऐसे चक्करदार तमाशेके अंदर ले जाती हैं जहाँसे बाहर निकलनेका रास्ता उसे नहीं मिलता। यह अशुद्ध प्रेम है। प्रेमका बाहरी रूप है। प्रेमका विशुद्ध स्वरूप तो *सर्वथा श्रीभगवान्‌में लगा रहता है।* वस्तुतः वही भक्ति है।

२—विषय-वासनाएँ

मनुष्यके जीवनमें एक दिन वह भी आता है जब उसे संसारके विषयोंकी वासनाएँ व्यर्थ जँचने लगती हैं, उनसे उसकी वही दशा होती है जो माया-मरीचिकाका पीछा करनेवाले मृगकी होती है। जीवनके इस कण्टकाकीर्ण पथमें नाना प्रकारकी चिन्ता-ज्वालाओंसे जलता और आसुरी वृत्तियोंके भीषण लोमहर्षण काण्डोंसे घिरता हुआ मनुष्य शान्ति पानेकी आशा करता है, चिरजीवन और चक्रवर्ती साम्राज्योंके स्वप्न देखता है, क्षणिक सुखोंके लिये दुःखकी आहें भरता है, इस काल-कवलित मृत्पिण्डमें रहता हुआ शक्तिकी कामना करता है और इन सारे कलह-कोलाहलोंके बीच सान्त्वनाकी खोज करता है। सांसारिक सुख-दुःखोंकी इस मायावी चमक-दमकसे अन्तमें उसे निराश होना पड़ता है। अनुकूल दैवका अत्युज्ज्वल हास्य कुछ समयके लिये उसे अपना गुलाम बना रखता है परन्तु फिर अकस्मात् निराशाके किसी घोर अन्धकारमें ले जाकर पटक देता है। शेक्सपियरने अपने एक नाटकमें इंग्लैंडके अधिनायक क्रामवेलके एक कृपापात्र कार्डिनल वोलसेकी अन्तमें जो गति हुई, उसका बड़ा ही हृदयस्पर्शी वर्णन उन्हींके मुँहसे कराया है। क्रामवेलकी कृपाने उन्हें वैभवके शिखरपर चढ़ाया था और फिर, ज्यों ही वह दृष्टि बदली, उन्हें फाँसीकी सजा सुनायी गयी। वैभवके शिखरसे फाँसीकी तख्तीकी ओर जाते हुए कार्डिनल वोलसेने अपना अन्तिम जीवन-सङ्गीत सुनाया है—

'मनुष्यकी यह दशा होती है। आज वह कोमल-कोमल पत्तियोंका, अपनी किसी आशाका, एक पौधा *लगाता है*, कल उसमें कलियाँ निकल आती हैं, परसों वह मान-प्रतिष्ठाके फूलोंसे लद जाता है, तीसरे दिन उसपर पाला पड़ता है, वह पाला जो उसे मार डालता है!'

'भोला-भाला आदमी सोचता है कि अब मेरी आशाका पौधा फला! बस, इतनेहीमें उसकी जड़ ही

उखाड़ी जाती है और वह धरतीपर ऐसे ही गिरता है जैसे मैं गिरा हूँ।'..........

'दुनियाकी झूठी शान! झूठी शौकत! मैं तुझसे घृणा करता हूँ। अब मेरी आँखें तो खुल गयी हैं। वह मनुष्य बेचारा कितना दीन, कितना दुखी होगा जो किसी राजाके भरोसे रहता है!'

'क्रामवेल! मैं तुझसे कहता हूँ, तू अपनी बड़ी-बड़ी आकाङ्क्षाओंको छोड़ दे। यह पाप है, इससे बड़े-बड़े फरिश्ते मिट्टीमें मिले हैं। फिर मनुष्य जो ईश्वरका बनाया हुआ एक पुतला है उस उपायसे कैसे विजय-लाभ कर सकता है?'

'अपने आपको प्यार सबसे पीछे कर; उन हृदयोंको अपने हृदयमें जगह दे जो तेरा द्वेष करते हैं। अनाचारसे होनेवाला लाभ सचाईसे होनेवाले लाभकी अपेक्षा अधिक तो नहीं होता। यदि तू चाहता है कि तुझसे डाह करनेवाली जबानें बंद हों तो अपने अधिकारका हाथ रोक ले और मृदु शान्ति धारण कर! न्यायके रास्तेपर आ जा और निडर हो जा। तेरे जो-जो मनसूबे हों सब देशके लिये, ईश्वरके लिये, सत्यके लिये हों; तब क्रामवेल! यदि तेरा पतन हो तो वह तेरा परम शुभ बलिदान होगा।....'

'....जो-जो कुछ मेरे पास है उसकी एक फेहरिस्त बना ले, एक-एक पाईतक दर्ज कर ले। मेरा यह शरीर और ईश्वरसे सचाईका व्यवहार, बस यही तो है जिसे मैं अपना कहनेका साहस कर सकता हूँ, क्रामवेल!'

'यदि मैंने भगवान्की सेवा, जितने उत्साहसे तेरी की उसके आधे उत्साहसे भी की होती, तो भगवान्ने मुझे इस बुढ़ापेमें इस तरह लूटकर शत्रुओंके हवाले न कर दिया होता!'

'अब विदा होता हूँ राजदरबारकी आशाओंसे, मेरी आशाएँ हैं अब भगवान्के धाममें।'

३—जागरण

हाँ, राजाकी कृपासे मनुष्य खुशामद करनेवाली एक कठपुतली बन जाता है। उसका पुरुषार्थ गुलामीकी एक कहानी हो जाता है। केवल एक भगवत्कृपा ही सच्ची और अनपायिनी होती है। वही यथार्थमें दया है। भाग्यवान् हैं वे लोग जो अपने आपको प्रेमसे शरणागत होकर भगवान्के चरणोंपर छोड़ देते हैं! मनुष्य अल्पज्ञ, अहंभावापन्न होता है और यह सोचता है कि मैं ही जगत्की और मनुष्यजातिकी बहुत अच्छी तरहसे रक्षा कर लूँगा, अनन्त करुणावरुणालय भगवान् बेचारे क्या करेंगे! इसी धुनमें मस्त मनुष्य सच्ची शरणागति और भक्तिके रास्तेपर पैर रखते हिचकता है। मन-बुद्धि और प्राणके अनेकानेक दोषोंसे परिपूर्ण इस अहंभावापन्न अति क्षुद्र व्यक्तित्वको लेकर मनुष्य सामने आता है और जगत्के दोषोंको दूर करने तथा उसे सुधारनेका दम भरता है। और इस तरह भगवान्की सर्वशक्तिमत्ताके सामने भी ताल ठोंककर खड़ा हो जाता है। इसीसे मनुष्य स्वयं दीन है और इसी दैन्यमें दुनियाको भी डुबाया करता है। उसकी सब आशाओंपर पानी फिर जाता है। जिन चीजोंका वह भरोसा करता है वे ही उसका विश्वासघात करती हैं, भाग्य उसका साथ छोड़ देता है, वासनाओंमें बँधा वह कलप-कलप कर रोने लगता है। उसका हृदय विदीर्ण होता, जरा-जरा-सी बातपर उसे क्रोध आता और जिस किसीपर भी वह अपने दिलका बुखार उतारता है। अन्तमें उसकी विवेकबुद्धि उसे कोड़े लगाकर जगाती है और कहती है, 'सीधे सामने चलो, नीच वासनाओंके इस गड्ढेसे निकलकर ऊपर उठो और उन भगवान्को ढूँढ़ो जो तुम्हारे अंदर आत्मरूपसे स्थित हैं।' मनुष्य तब अपनी दीर्घ निद्रासे जाग उठता है और समझता है, मेरी कोई चीज खो गयी है जिसे ढूँढ़ना होगा, वह चीज मेरे जीवनका जीवन है, उसे पाये बिना मैं सुखी

नहीं हो सकता। तब वह जानता है कि अबतक जो कुछ मैंने जाना है उससे परे कोई महान् सत्य है, ईश्वर है, जिसे ढूँढ़ कर पाना होगा। उसी क्षणसे भक्ति उसके हृदयमें अपना घर कर लेती है और अभीप्सा तथा सच्ची आराधनासे विकसित होने लगती है।

४—भगवान्

भगवान् प्राणियोंके हृदयमें बसते हैं। भगवान् हैं, इसीसे तो ये प्राणी हैं। हमारे श्वास-प्रश्वाससे भी भगवान् हमारे अधिक समीप हैं। जहाँ श्वास आरम्भ होता है और जहाँ समाप्त होता है, वहाँ वे हैं। जहाँसे हमारा मन उदय होता है और जहाँ अस्त होता है, वहाँ वे हैं। जहाँसे हमारा विचार उठता है और जहाँ लीन होता है, वहाँ वे हैं। वे ही मनुष्यमें मनीषि हैं; वे ही उसके नेत्रोंकी दृष्टि और ज्योति हैं। वे ही द्रष्टा हैं। उन्हींकी सत्ता हृदयमें स्पन्दित होती है और मस्तिष्कमें 'ॐ अहम्' की ध्वनिसे गीत होती है। कितना दीन है वह मनुष्य जो अपने जीवनधनको, अपनी सत्ताके ईश्वरको नहीं जानता! उसको जानना ही ज्ञान है, उससे प्रेम करना ही भक्ति है और उसमें रहना ही जीवन है। मनुष्यमें रहनेवाले भगवान्का यही तो कहना है कि, 'मुझे प्यार करो, मेरे अंदर रहो, सब कुछ मुझे समर्पण करो, मेरी शरण लो। जहाँ जो कुछ भी है वह सब मैं हूँ। मेरे सिवा कहीं कुछ भी नहीं है। मेरा भक्त मुझे कभी नहीं छोड़ता। मैं उसकी रक्षा करता हूँ। और सब झगड़ोंको छोड़ो; स्थिर होकर दृढ़ता और स्वेच्छाके साथ मेरी इच्छाके अनुगामी बनो; मेरे यन्त्र बनकर कर्म करो; मैं तुम्हें शुद्ध करूँगा, तुम्हें मुक्त कर दूँगा; मैं तुम्हें ज्ञान दूँगा, अपने आपको दान कर दूँगा।' अन्तःस्थित भगवान्की वाणीको मनुष्य कहीं सुन ले और उसके पीछे चले तो उसका जीवन कितना आनन्दमय हो जाय! जीवनको जीकर ही चरितार्थ करना होगा पर जीना होगा भगवान्पर निछावर होकर, उनकी इच्छाके एक यन्त्र बनकर, उनके ज्ञानके एक स्रोत होकर। दुनिया आगे बढ़े। पर बढ़े भगवान्के राज्यकी ओर, शैतानकी शाहंशाहीकी ओर नहीं। जगत् बने वृन्दावन और भगवान् सबके जीवनधन होकर उसमें अपना लीलाभिनय करें, सब मनुष्य उसमें उनके सहचर हों। इस लोककी जो बड़ी-बड़ी कठिन पहेलियाँ हैं उनका एकमात्र समाधान यही है। जो स्वयं संस्कारहीन हैं, उनके द्वारा जगत्के संस्कार या सुधारका प्रयास होना वैसा ही है जैसा आँचसे बचाकर आगमें झोंका जाना।

५—भक्त

भक्त यह जानता है कि भगवान् ही इस विश्वके और मेरे भी स्वामी हैं और वे ही सबकी इतनी अच्छी तरहसे देख-भाल करते हैं कि दुनियाके सब नेता और उनकी सारी क्षमताएँ मिलकर भी उसे नहीं पा सकतीं। भक्त भगवान्को अपने प्राणोंसे भी अधिक प्रिय मानता है, जगत् और उसके वैभवसे भी भगवान्को अधिक प्रिय जानता है। वह अपने चारों ओर त्रिगुणकी क्रीड़ा देखता है, पर देखता है उससे सर्वथा अलिप्त साक्षी रूपसे, अपने आत्मस्वरूप भगवदंशमें स्थित रहकर। संसारके लोभ उसे लुभा नहीं सकते और न उसकी यन्त्रणाएँ उसे डरा ही सकती हैं। वह जगत्के साथ तदाकार नहीं होता, वह रहता है भगवान्में भगवान्के लिये। जीवनमें जिन विपत्तियोंका उसे सामना करना पड़ता है वे चाहे कितनी ही कठोर क्यों न हों, उन्हें वह अपने पूर्वकर्मके प्रायश्चित्तके लिये भगवान्का ही विधान जानता है।

मैं जब बालक था, मुझे एक सूफी संतके दर्शन हुए थे। वे प्रायः कहा करते थे, 'या अल्लाह, मैं तेरे अंदर हूँ और तू मेरे अंदर है। यह दुनिया बीचमें कहाँसे जबर्दस्ती कूद पड़ी? यह खुद जर और जोरूके पीछे पागल है और कहती है मुझे पागल! हाँ, मैं

पागल हूँ, सचमुच तेरे पीछे पागल हूँ। मुझे बस तेरा ही खयाल रहता है। न तो मुझे इस जरा-सी दुनियाकी (इस शरीरकी) कोई परवा है, न उस बड़ी दुनियाकी। अल्लाह! मेरी सचाई और भक्तिको जाँच ले—मुझे खानेको न दे, मैं तेरा नाम लेकर जीऊँगा; मुझे कपड़े न दे, मैं बिना कपड़ोंके वैसा ही पाक और साफ होकर जैसा कि तूने मुझे भेजा था, तेरे पास आऊँगा; मेरे दोस्त मुझे छोड़ दें तो मैं हमेशा तेरे ही साथ रहूँगा; मेरे सच्चे दोस्त! तू भी मुझे अगर पनाह न दे तो मैं अपने दिलकी मसजिदमें तेरे अंदर पनाह लूँगा; सारी उम्मीदें मुझे छोड़ दें, मैं तेरी रहममें अपनी उम्मीद रक्खूँगा; इस जिस्मको भी मुझसे हटा ले, मैं तमाम रूह होकर तेरे अंदर रहूँगा।'

सर्वशक्तिमान् परमेश्वरपर ऐसे विश्वासका होना ही भक्ति है। भक्त वही है जिसमें ऐसी अनन्य भक्तिकी अव्यभिचारिणी दृढ़ता होती है।

६—शरणागति

यह विक्षुब्ध संसार-सागर अपने क्षोभ और गर्जनके द्वारा 'शान्ति-शान्ति'की ही तो पुकार कर रहा है। यह इसका अज्ञान है जो वह इस तरह क्षुब्ध होता और फेन फेंका करता है। कारण, शान्ति तो इसकी अपनी ही गहराईके अंदर है। मनुष्यके अंदर यह जो अति कठोर क्षुद्र 'अहं' है, इसीसे वृत्तियोंकी तरंगें उठती और टकराया करती हैं और उन्हींसे उसकी शान्ति भङ्ग होती है। इस क्षुद्र 'अहं'को भगवान्‌के शरणागत होना चाहिये। निर्दोष शरणागति पृथक्कृत् अहंभावको हटा देती है, उस दैत्यपर खड्ग ही उठाये रहती है, जीवको बद्धभावसे निकालकर विशाल बनाती और जीवनको भागवतचैतन्यमें प्रतिष्ठित करती है। सब शैव और वैष्णव संत इसी शरणागतिके रास्तेपर चले हैं। श्रीमद्भगवद्गीतामें बार-बार शरणागतिका ही आग्रह है। भक्तिमार्गके अन्यतम प्रवर्त्तक श्रीरामानुजाचार्यको जो अन्तःस्फूर्ति हुई वह काञ्ची वरदराजस्वामीसे प्राप्त इसी देववाणीसे हुई थी कि, 'शरणागति ही सबसे सुगम मार्ग है।' शरणागति जब पूर्ण होती है तब भगवान् भक्तको पूर्णरूपसे अपना लेते और उसके योग-क्षेमका भार उठा लेते हैं। भगवान् तब उसके अंदर अपना लीलाभिनय करते और अपने विश्वलीलाभिनयका उसे दर्शन कराते हैं। इस प्रकार उनकी लीलाको जाननेवाला जो भक्त है वह प्रकृति और उसके गुणोंमें कभी बद्ध नहीं होता।

७—संत माणिक्कवाचक

संत माणिक्कवाचक मदुराके राजा अरिमर्दन पाण्ड्यके प्रधान अमात्य (दीवान) थे। उनका हृदय लगा रहता था सदा भगवान्‌में और दीवानके सब काम प्रतिदिन करते हुए भगवान्‌से वे यही प्रार्थना करते थे कि 'किसी प्रकार अब हमें इससे छुट्टी मिले।' कारण उनका हृदय, जो सब राजाओंके राजा हैं उनकी सेवामें लग जानेको ही लालायित हो रहा था; सांसारिक राजाके प्रमत्त अहङ्कारकी निरर्थक सेवा करते-करते उनका जी ऊब गया था। एक दिन राजाकी सेनाके लिये घोड़े खरीद लानेकी उन्हें आज्ञा हुई। टोंडीके बन्दरगाहमें अरब सौदागरोंने घोड़े मँगा रक्खे थे, वहींसे इन घोड़ोंको ले आनेका काम इनके सुपुर्द हुआ। इसके लिये राजाने इन्हें बहुत-सी सोनेकी मुहरें दीं। माणिक्कवाचक इसके लिये रवाना हुए। रास्तेमें कहीं भगवद्भजन हो रहा था। उसकी सुरीली आवाज सुनकर वे उस स्थानमें पहुँचे। वहाँ नीबूके एक बड़े वृक्षके नीचे एक बड़े तेजस्वी साधु बैठे हुए थे और बहुत-से साधु पास बैठे हुए ध्यानपूर्वक उनके शब्द सुन रहे थे। माणिक्कवाचकने उन सिद्धवचनोंको सुना और वे उन महात्माके चरणोंमें लोट गये और बोले, 'आज मेरा पुनर्जन्म हुआ। यह दिन धन्य है जो इस दिन मेरे स्वामी, मेरे भगवान् मुझे मिल गये।

अब मुझे और कुछ नहीं चाहिये; मेरा जीवन आज परिपूर्ण हो गया। गुरुदेव! अब मुझपर अनुग्रह कीजिये, मुझे रास्ता दिखाइये, मेरा अज्ञान दूर कीजिये, मेरी भक्तिको दृढ़ कीजिये, मुझसे अहङ्कार छीन लीजिये, भगवत्प्रेम बढ़ाते हुए मेरे अंदर रहिये। मैं आपकी शरणमें हूँ।'

श्रीगुरुने अपनी दयामयी दृष्टिके एक ही कटाक्षसे, एक ही कृपाशीर्वादसे उनके सब पूर्वसंस्कारोंको हटाकर उन्हें भक्ति, ज्ञान और आनन्द देकर उनपर अपना सत्तत्त्व प्रकट किया—'मेरे वत्स, अब तुम प्रबुद्ध हुए; मैं तुम्हारे अंदर आ बैठा हूँ। अब अन्य सब चिन्ताओंको अपने चित्तसे हटा दो। मेरे अंदर निश्चिन्त होकर विश्राम करो, मेरे चिद्भावमें साँस लो, भगवान्‌की महिमा गाओ, तुम्हारा गान मेरा शब्द होगा।' माणिक्कवाचक भगवद्भावावेशमें आकर पृथ्वीपर लोटने लगे। उन्हें राजाकी कोई सुध न रही, न राज्य-की और न उनके प्रति अपने सेवक-भाव या कर्त्तव्य-की। वे भूल गये अपना घर, अपना शरीर, अपना जीवन भी। वे अब अपने नहीं रहे, सब तरहसे भगवान्‌के हो गये। कारण, भगवान् ही उन्हें ग्रहण करनेके लिये गुरुरूपसे आये थे और अपने भक्तको ग्रहण करके वे अन्तर्धान हो गये।

माणिक्कवाचकने अपना सारा वैभव गरीबोंको बाँट दिया। वे स्वयं एक चिथड़ा लपेटे रहने लगे और जो कुछ संयोगसे उनके पास आ जाता उसीसे निर्वाह करने लगे। राज्यका सारा कोष लगाकर उन्होंने उसी स्थानमें जहाँ भगवान् प्रकट होकर फिर अन्तर्धान हुए थे, शिवजीका एक भव्य मन्दिर बनवाया। वह मन्दिर माणिक्कवाचककी भक्तिके दिव्य स्मारकके रूपमें अबतक विद्यमान है। वह स्थान 'पेरुण्डराय' अर्थात् भगवान्‌के परमधामके नामसे प्रसिद्ध है। वह पुरातन वृक्ष वहाँ अभी सुरक्षित है और मैंने अपनी युवावस्थामें कई बार वहाँ जाकर उसी वृक्षके नीचे आसन लगाकर ध्यान किया है और भावमें भरकर आँसू बहाये हैं।

लोग अब माणिक्कवाचकको सिड़ी कहने लगे। दीवानके पदपर रहते हुए उनकी जो लोग बड़ी इज्जत करते थे वे ही अब उनकी तरफ देख-देखकर हँसने लगे। उनके रिश्तेके लोग उन्हें अब पागल कहने लगे और राजाके क्रोधका तो कोई पारावार न रहा, जब उसने देखा कि इन्होंने राजकोष बिल्कुल खाली कर दिया। राजाने युद्धके निमित्त जो घोड़े मँगाये थे वे तो आये ही नहीं। राजाने उन्हें पकड़वा मँगाया, उनके ऊपर बड़ा भारी अपराध लगाया और बड़ा कठोर दण्ड देकर कैदखानेकी काल-कोठरीमें उन्हें बंद कर दिया! भक्त माणिक्कवाचकने भक्ति-भावमें डूबे हुए, सब अत्याचारों-को शान्तिके साथ सह लिया; जैसे-जैसे संकट उनपर आते गये, वैसे-वैसे ही उनकी भक्ति बढ़ती गयी।

संत माणिक्कवाचक अपने एक गीतमें कहते हैं, 'हे शिव, जिस दिन आपने मुझपर अनुग्रह किया, क्या उसी दिन, हे पुरातन पुरुष! आपने मुझे अपना नहीं बना लिया? आज अब क्या मेरे लिये कोई दुःख हो सकता है? सुख या दुःख, सब आपकी मर्जी है। क्या मैं आपकी इच्छाका स्वामी हूँ? हे मेरे हृदयमें उदीयमान प्रकाशमय सूर्य! आप मेरे अहङ्कारके सारे अँधेरेको खा गये; मैंने आपके अंदर शरण ली है; आपकी जो इच्छा हो वही हो।'

८—भगवान्‌की दया

भगवान्‌की जो इच्छा थी, वही हुआ। भगवान्‌ने वहाँ जितने शृगाल थे सबको घोड़ा बना दिया और राजाके सामने पेश किया। राजाको बड़ा हर्ष हुआ। परन्तु राजाने भक्तके साथ जो क्रूर व्यवहार किया उसके लिये उसे दण्डित करनेके लिये भगवान् शिवने सब घोड़ोंको फिरसे सियार बना दिया। इन सियारोंने मदुरामें बड़ा उपद्रव मचाया। भगवान्‌की इस विचित्र

मायासे राजा क्रोधान्ध हो उठा और उसने भक्तपर ऐसे-ऐसे अत्याचार किये जिनकी कोई सीमा नहीं, निर्दयताकी हद कर दी। भक्तिसे किये हुए कामोंके लिये इन दुःखोंको उठाना भक्तने अपना महान् भाग्य समझा। 'हे पिता! हे माता! हे अनुपम ज्योति! हे मधुर प्रेमामृत! मैंने झूठका पहाड़ रचा है और अपने जीवनको घटाया है; मेरा मन मलिन और मैं महापतित हूँ! ऐसे मुझपर भी, हे मेरे निधान! मेरे शाश्वत आनन्दधाम! आपने भक्त होनेका शाश्वत सुख-दान करनेकी कृपा की। इस जीवनमें मैं आपको अपनी मजबूत पकड़में पकड़े हुए हूँ। आप मुझे भला अब कैसे छोड़ सकते हैं?'

परन्तु जब भक्त सताये जाते हैं तब भगवान् उन यातनाओंको और भी तीव्रताके साथ अनुभव करते हैं। भक्त पनालवारके शरीरपर जो जख्म हुए वे भगवान् रंगनाथके विग्रहपर जैसे निकल आये थे, उसकी कथा प्रसिद्ध ही है। भगवान् शिवने अन्तको अपने भक्तका प्रताप जगत्को दिखाना चाहा। वाइगाइ नदीमें उन्होंने बड़ी बाढ़ उत्पन्न कर दी। नदीका पानी बढ़ते-बढ़ते शहरमें घुस आया। राजाने हुक्म दिया कि नदीतटको ऊँचा करनेके लिये सब लोग मिट्टी और बालू ले जाकर वहाँ डालें। हर किसीके लिये जगह नियत कर दी गयी कि वहीं वह काम करे। स्त्रियोंसे भी काम लिया गया। एक वृद्धा स्त्री राजाज्ञाका पालन करनेमें असमर्थ थी। वह खानेका सामान बेचकर अपना जीवन-निर्वाह किया करती थी। उसके पास एक मजदूर आया और कहने लगा, तेरा काम मैं कर दूँगा, बदलेमें मुझे कुछ सामान देना। वृद्धाने यह मंजूर किया और उसे सामान देकर बालू ढो ले जानेके लिये एक टोकरी भी दी। मजदूरने अपना काम ठीक तरहसे नहीं किया, उलटे हँसी-मजाक करके दूसरे मजदूरोंका ध्यान भी कामसे हटा दिया। राजाके पास शिकायतें पहुँचीं।

राजाने उस दुष्टको एक बेंत लगायी। पर बेंत लगी आकर राजाको, सब राजदरबारियोंको और सब जीवोंको। इससे राजाके होश दुरुस्त हुए। उस अद्भुत मजदूरने एक टोकरी बालू नदीतटपर डाल दी, उसी दम बाढ़ रुक गयी, पानी हट गया और सबकी चिन्ता दूर हो गयी। राजाने इस काममें भगवान्‌का हाथ देखा और चिल्लाकर कहा—'मैं कितना मूर्ख हूँ जो मैंने एक भक्तको सताया और उन भगवान्‌पर प्रहार किया जो वहाँ मजदूर बनकर आये थे।' उस अद्भुत मजदूरको उन्होंने बहुत ढूँढ़ा तो एक आवाज आयी, 'यह सब इसलिये हुआ कि मेरे भक्तकी महिमा जगत्‌पर प्रकट हो।' राजाने माणिक्कवाचकको तुरत बन्धनसे मुक्त कर दिया।

९—अभिप्राय यह है

कारागारसे मुक्त होनेके पश्चात् माणिक्कवाचक किसी एक स्थानमें न रहकर भगवान्‌का गुणकीर्त्तन करते हुए सर्वत्र भ्रमण करने लगे। अन्तिम समय उनका चिदम्बरम्‌में व्यतीत हुआ। कहते हैं, स्वयं भगवान् ही एक वृद्ध साधुके वेषमें वहाँ आये और माणिक्कवाचकके भजन लिख लेने लगे, इसलिये कि भावी सन्ततिके लिये ये सुरक्षित रहें। उनके उन भजनोंको 'तिरुवाचकम्' (भगवत्सन्देश) कहते हैं और उनसे आजतक करोड़ों भक्तोंने दीपस्तम्भका काम लिया है। तिरुवाचकम्‌का केवल पाठ ही भगवद्भावावेश-की अग्नि प्रज्वलित कर देता है। इसमें जो भागवत सत्य निरूपित हुआ है उसका जितना ही अधिक मनन किया जाय उतना ही नया-नया अर्थ इसकी एक-एक पङ्क्तिसे निकलता है। दक्षिण हिन्दुस्थानमें अज्ञेयवादकी बाढ़को रोक रखनेमें इस सद्‌ग्रन्थने बड़ा काम किया है। भक्तोंके लिये स्फूर्तिकी यह नित्य निधि है। इसमें जिन सुविचारोंका संग्रह है वे आचरणीय और साक्षात्करणीय हैं। चिदम्बरम्‌के विद्वान् भक्तोंने एक बार माणिक्कवाचकसे अनुरोध किया कि इस तामिल वेदका 'अभिप्राय' आप हम लोगोंको समझाइये। माणिक्कवाचक उन्हें 'अच्छा' कहकर भगवान् नटराजके सम्मुख ले गये। थोड़ी देर उन्होंने ध्यान किया और श्रीनटराजकी मूर्त्तिकी ओर संकेत करके कहा, 'देखिये, यही तिरुवाचकम्‌का

'अभिप्राय' है ।' लोग आश्चर्यसे भगवान्‌के विग्रहकी ओर देखने लगे, देखा कि माणिक्कवाचक तो वहाँ नहीं हैं । वे सशरीर भगवान्‌की ज्योतिमें अन्तर्धान हो गये ।

१०–एकत्व

हाँ, भगवान्‌के साथ पूर्ण एकत्व—यही तो सद्ग्रन्थोंका अर्थ और अभिप्राय है । यह एकत्व भक्तिकी उत्कटतासे प्राप्त होता है । बालक, पिता, माता, सेवक, भाई, प्रेमी इन सभी विविध सम्बन्धोंसे भक्त भगवान्‌के साथ अपने आनन्दमय एकत्वका अनुसन्धान किया करता है । इस एकत्वको प्राप्त करके वह सर्वत्र उन्हीं एक भगवान्‌को देखता है । उसकी दृष्टि विशाल होकर विश्वदृष्टि बन जाती है और वह अपनेको सबमें और अपने समेत सबको श्रीभगवान्‌में देखता है ।

११–भक्त तायुमानवर

संत तायुमानवर भी तामिल नाडमें एक वैसे ही सिद्ध पुरुष और कवि हुए । उनके भजन उपनिषद्-जैसे माने जाते हैं । राजा विजयरंगके दरबारमें ये एक बड़े पदाधिकारी थे । पर इनका मन लगा रहता था भगवान्‌में । प्रतिदिन वे वैषयिक जीवन और राजविभवके सुखोंकी व्यर्थता ही देखा करते और ऐसे सद्गुरुकी खोजमें रहते थे जो उन्हें भगवान्‌का ज्ञान प्राप्त करनेके साधनमार्गकी दीक्षा देता । भगवान्‌ने उनके पास एक गुरुको भेजा । ये मौन-गुरु थे । इन्होंने उन्हें दीक्षा दी, आशीर्वाद दिया और यह उपदेश किया कि मनको स्थिर, सदा-सर्वथा शान्त रक्खो । ज्यों-ज्यों तायुमानवरको आत्मानन्दकी अनुभूति होने लगी त्यों-ही-त्यों उनका मन राजदरबारके कामसे हटने लगा । राजाने अपने सेवकका यह हाल देखा और उनके रहनेयोग्य कावेरीनदीके तटके समीप एक कुटी बनवाकर उनसे कहा कि, आप इस कुटीमें रहिये और ध्यानमें लग जाइये । तायुमानवर ध्यानमें लगे और उन्होंने भगवान्‌के साथ एकत्व लाभ किया, उनकी विश्वदृष्टि खुल गयी । एक दिन राजाने एक कीमती शाल उन्हें भेंट किया और कहा कि इसे आप ओढ़िये । उसी समय एक बूढ़ी अछूत स्त्री सर्दीसे ठिठुरती हुई वहाँसे गुजरी । तायुमानवरने वह शाल उसीको दे डाला । राजाको इसमें अपना अपमान मालूम हुआ और उन्होंने कुछ क्रोधके साथ पूछा, 'मेरा शाल—और आपने उसे उस अछूत स्त्रीको दे डाला, क्यों ?' उस समदर्शी संतने उत्तर दिया, 'नहीं, ऐसी बात तो नहीं है । मैंने उसे अपनी माता अखिलानन्देश्वरीको दिया है ।' राजाको अपने अज्ञानका बोध हुआ और संतके सामने उन्होंने अपना सिर नवाया । इन राजाका, पीछे, भग्नहृदय होकर एक रण-शिविरमें देहान्त हुआ । उनके पीछे उनकी रानी मीनाक्षी राजसिंहासनपर बैठीं । रानीने राज्यके प्रबन्धमें तायुमानवरसे मदद करनेकी प्रार्थना की । संतने प्रार्थना स्वीकार की, पर रानी उन सुन्दर, सुडौल, सद्वृत्त, मेधावी युवक संतको कामके पूर्ण वशीभूत होकर उसी दृष्टिसे देखने और चाहने लगी । रानीने एक दिन अपना दिल खोलकर उनके सामने रख दिया, कहा, 'मेरा सारा राज्य और सारा राजवैभव तुम्हारा होगा; तुम मुझसे विवाह कर लो ।' संत इस मायासे काँप गये और उसी दिन रातको रामेश्वरकी ओर चलते बने । वहाँ पहुँचकर उन्होंने दस मनोहर पदोंमें भगवतीसे प्रार्थना की है कि मुझे इन फंदोंमें न फाँसो, बल्कि मुझे शक्ति दो कि मैं सब स्त्रियोंको माता भगवतीके रूपमें देख सकूँ, उनके चरणोंपर मेरी दृष्टि हो, उनके बाह्य सौन्दर्यपर नहीं । इन संतका भगवान्‌से इतना तादात्म्य हो चुका था कि उन्हें पूजाके लिये एक फूलतक तोड़नेका साहस नहीं होता था । उनका एक पद है—मेरा हृदय ओसके बूँदके साथ चमकनेवाले उस फूलको नहीं तोड़ेगा, क्योंकि उसके हृदयमें तू बैठा हँस रहा है ! मैं अपने दोनों हाथ जब नमनके लिये जोड़ता हूँ तो आधे नमनसे ही लज्जित हो जाता हूँ, क्योंकि तू तो मेरे हृदयमें बैठा है । जब तू था, तब मैं भी था; जब तू है, तब मैं भी हूँ । कोई अतिकठोर पाषाणहृदय दुरात्मा भी तुझसे अलग नहीं रह सकता । जिधर मैं अपनी आँखें फेरता हूँ, उधर ही तू है, ऐ सब जीवोंके जीवनधन !'

(शेष आगे)

गौ-पुकार !

हे हिन्दवासी हिन्दू ! मुसलिम ! व हे ईसाई !
शैवी ! व शक्तिपूजक ! जैनी ! व बौद्ध भाई ! ॥

हम धर्मकी तुम्हारी हैं सेवनीय माता ।
है दुग्ध ही की धारोंका तुमसे सच्चा नाता ॥

अपने अपार दुःखकी कहती हैं हम कहानी ।
हो दत्त-चित्त सुन लो अभिमान त्याग मानी ॥

खा करके घास-भूसा पी करके ताल पानी ।
हम कर रहीं गुजारा यह बात जगकी जानी ॥

पर, तुमको हैं पिलाती अमृतकी शुद्ध धारा ।
बल-वीर्य आदि बढ़ता जिससे सदा तुम्हारा ॥

पूरी जलेबी हलुवा जिसकी अकड़के खाते ।
सोचो तो शुद्ध घीसे किसकी कृपासे पाते ? ॥

बर्फी व मालपूआ घृत दूध अरु मलाई ।
यह न्यामतें हैं तुमने बोलो कहाँसे पाई ? ॥

उपकार नित्य जितने करती हूँ मैं तुम्हारे ।
सोचो तो कौन करता उतना सिवा हमारे ॥

बच्चे हमारे प्यारे हलको सदा चलाते ।
उत्पन्न अन्न उत्तम करके तुम्हें खिलाते ॥

जीवित दशामें तुमको अनमोल रत्न देती ।
बदलेमें उसके केवल मैं घास-पात लेती ॥

मरने पै अपने तनका मैं चाम तक भी देती ।
सहती हूँ दुःख खुद मैं पर तुमको सौख्य देती ॥

गोबर हमारा पृथ्वीको शुद्ध स्वच्छ करता ।
अरु मूत्र भी हमारा रोगोंको जड़से हरता ॥

भारतमें होती जब थी सेवा सदा हमारी ।
तब कोई भी न रहता था देशमें दुखारी ॥

बल बुद्धि आदि धनसे पूरा था देश सारा ।
तकता न था परायेका यह कभी सहारा ॥

भगवान् कृष्ण प्यारे गोपाल वे कहाते ।
शुभ भक्तिपूर्ण मेरे गुणको सदैव गाते ॥

ले काँखमें कमरिया कर मध्य लकुटि धारे ।
फिरते थे जङ्गलोंमें पीछे सदा हमारे ॥

करते थे प्यार पूरा धरते थे हाथ तनपर ।
रहता था ध्यान मेरा दिन रात उनके मनपर ॥

तिसपर भी हाय ! तुमने महिमा न मेरी जानी ?
सोचो तो ध्यान धरके क्यों बुद्धि है हिरानी ॥

मेरे बिना तुम्हारा कुछ भी न काम होगा ।
मेरे बिना तुम्हारा जीवन तमाम होगा ॥

भारतमें मान पूरा रहता अगर हमारा ।
तो आज हाल दुखमय होता न यह तुम्हारा ॥

यदि हम न कष्ट पातीं क्यों प्लेग दुष्ट आता ?
विकराल कालसे क्यों भारत रुलाया जाता ?

ऋषियोंका अंश तुममें कुछ शेष क्या नहीं है ?
जो इस समय भी तुमने यों मौनता गही है ! ॥

खट-खट छुरी हमारी गरदन पै हाय ! चलती ।
आँखें तुम्हारी तिसपर भी हैं तनिक न खुलतीं ॥

हम दुःखसे तड़पतीं तुम हो मज़े उड़ाते ।
माताके कष्टपर भी कुछ ध्यान तुम न लाते ॥

चालीस कोटि हिन्दी प्रिय पुत्र हो हमारे ।
पर कुल-कलङ्क जन्मे बैठे हमें बिसारे ॥

चालीस कोटि हिन्दी कर्तव्य अपना पालें ।
तो घोर यातनाओंसे वे हमें बचा लें ॥

अस्सी करोड़ हाथों रक्षा हमारी होगी।
सब आपदा हमारी तब क्यों न नष्ट होगी?

पर मातु-सेवा करना तुम हाय! भूल बैठे।
रहते सदा ही तुम तो निज ऐंठमें ही ऐंठे॥

तो इस प्रकार कबतक आनन्द पा सकोगे?
यदि हम न रह सकेंगी तुम भी न रह सकोगे॥

भारतके देश नेता! तुमने कभी विचारा।
पहले हमें बचाना कर्तव्य है तुम्हारा॥

प्रति वर्ष तुम सभामें प्रस्ताव पास करते।
पर मेरी आपदा पर कुछ भी न ध्यान धरते॥

उन्नतिकी डींगें सब व्यर्थ हैं तुम्हारी।
जबतक न होगी रक्षा जी-जानसे हमारी॥

उपकारि जीव हैं हम मरनेका दुख नहीं है।
इस अति विशाल जगमें कोई अमर नहीं है॥

पर शोक है तो यह है भारतमें बिन हमारे।
बिन अन्नके रहेंगे कैसे सुवन तुम्हारे॥

घी दूध जब हमारा अप्राप्य उनको होगा।
सोचो तो उनको तब फिर क्या-क्या न कष्ट होगा?

किस भावसे तुम्हें वे तब याद नित करेंगे।
गोवंश नष्टकारी तब किसको वे कहेंगे?

यदि तुम न कर सकोगे गोवधको बन्द प्यारे।
तो ध्यान करके मानो इतने बचन हमारे॥

धन दे दिलाके मनसे गोशाला कर दो जारी।
इससे भी प्राण-रक्षा होगी बहुत हमारी॥

सब अपने अपने घरमें इक-इक घड़ा रखा लो।
नित एक एक मुट्ठी भर अन्न उसमें डालो॥

जब इस प्रकार पूरा होवे घड़ा वह भरकर।
तब भेज दो उसे तुम गौशाला हो जहाँपर॥

यदि यह न कर सको तो प्रतिमास आयमेंसे।
कुछ दान कर दो हमको चल जाय काम ऐसे॥

गृहस्थ और सारे गौओंको पास रक्खें।
गो-वंशकी हो रक्षा निजमें सुधाको चक्खें॥

जब इस प्रकार होगी रक्षा सदा हमारी।
तब देश क्यों न होगा सब भाँतिसे सुखारी॥

भारतनिवासी होंगे तब पूर्ण शक्तिवाले।
घी दूधके बहेंगे इस देशमें पनाले॥

तुम सुन चुके हो अब तो सारा कथन हमारा।
अब सोच मनमें लेना निज हानि-लाभ सारा॥

सारा विलाप हमने अपना तुम्हें सुनाया।
अरु कामका भी हमने शुभ मार्ग है दिखाया॥

अब काम कर दिखाना कर्तव्य है तुम्हारा।
संसारमें तुम्हारा ही है हमें सहारा॥

× × ×

गो-ब्राह्मण प्रतिपालका, विरुद धरें भूपाल।
पर गोविप्रनकी कभी, लेत न सार-सँभाल!

स्वारथ अरु परमार्थ हित, गौअनको कर पक्ष।
गोवध रोकनके लिये, पूरन देवें लक्ष॥

हालत सुधरे हिन्दकी, तर तीजूरी होय।
सकल सुफल हो कामना, पर नहिं सोचत कोय॥

जग जीवन गो मात है, सकल सुखोंकी खान।
यातें गौका प्रेम सह करो सदा सन्मान॥

गोकी सेवा भक्तिसे, सुगति होत स्वाधीन।
धेनु वृद्धिके ध्यानमें, सदा रहो लवलीन* ॥

---

* इस 'गो-पुकार'को श्रीयुत सत्यविचित्रजीने 'कल्याण'में प्रकाशनार्थ भेजा है। लेखकका नाम पता अज्ञात है।

व्रत-परिचय

(लेखक—पं० श्रीहनूमान् शर्मा)

[पृष्ठ १४६४ से आगे]

(४)

(आषाढके व्रत)

कृष्णपक्ष

(१) **सङ्कष्टचतुर्थीव्रत**–इसके सम्बन्धमें पहले वर्णन हो चुका है उसके अनुसार पूर्वविद्धा चन्द्रोदयव्यापिनीमें व्रत करके चन्द्रमाको अर्घ्य दे और हविष्यान्नका भोजन करे।

(२) **एकादशीव्रत** (ब्रह्मवैवर्तपुराण)–आषाढ कृष्ण एकादशीको प्रातःस्नानादि करके 'मम सकलपापक्षय-पूर्वककुष्ठादिरोगनिवृत्तिकामनया योगिन्येकादशीव्रतमहं करिष्ये' संकल्प करके पुण्डरीकाक्ष भगवान्‌का यथा-विधि पूजन करे, उनके चरणोदकसे सब अङ्गोंका मार्जन करे, और उपवास करके रात्रिमें जागरण करे तो कुष्ठादि सब रोगोंकी निवृत्ति हो जाती है। प्राचीन कालमें कुबेरके कोपसे हेममालीको कोढ़ हो गया था, उसने महामुनि मार्कण्डेयजी-के आज्ञानुसार योगिनी एकादशीका उपवास किया, जिससे उसकी सम्पूर्ण व्याधियाँ मिट गयीं और कुबेरने उसे अपनी सेवामें वापस बुला लिया।

(३) **प्रदोषव्रत**–यह नित्य व्रत है। प्रत्येक त्रयोदशी-को किया जाता है। इसके विधानादि गत महीनोंमें लिखे जा चुके हैं। आगे जो कुछ विशेष होगा, यथासमय प्रकट किया जायगा।

शुक्लपक्ष

(१) **रथयात्रा** (स्कन्द)–आषाढ शुक्ल द्वितीयाको पुष्यनक्षत्र हो तो सुभद्रासहित भगवान्‌को रथमें विराजित कर यात्रा करावे और वापस पधार आनेपर यथास्थान स्थापित करे। इस दिन पुरीमें श्रीजगदीश भगवान्‌को सपरिवार विशाल रथपर आरूढ करके भ्रमण करवाते हैं। उस दिन वहाँ रथयात्राका अद्वितीय उत्सव होता है। देश-देशान्तरके लाखों नर-नारी एकत्र होते हैं। उसी दिन अन्यत्र (जयपुर आदि) में भगवान् रामचन्द्रजीको रथारूढ करके मन्दिरसे दूसरी जगह ले जाकर वाल्मीकि-रामायणके युद्धकाण्डका पाठ सुनाते हैं और वहीं मुक्ताधान्यसे बीजवपन करके चातुर्मासीय कृषिकार्यका शुभारम्भ करते हैं। यह तो स्पष्ट ही है कि उस दिन भगवद्भक्तोंके यहाँ व्रत होता है और महोत्सव मनाया जाता है।

(२) **स्कन्दषष्ठीव्रत** (वाराहपुराण)–यह व्रत पञ्चमीयुक्त किया जाता है। आषाढ शुक्ल पञ्चमीको उपवास करे। षष्ठीको स्कन्दका पूजन करे और फिर एक बार भोजन करे। यह षष्ठी तिथि कुमार कार्तिकेयजीकी तिथि है, इसलिये इसे कौमारिकी कहते हैं।

(३) **विवस्वान्व्रत** (ब्रह्मपुराण)–आषाढ शुक्ल सप्तमीको सूर्य 'विवस्वान्' नामसे विख्यात हुए थे। अतः इस दिन रथचक्रके समान गोल मण्डल बनाकर उसमें विवस्वान्‌का गन्ध-पुष्पादिसे पूजन करे और अनेक प्रकारके भक्ष्य, भोज्य एवं पेय पदार्थ अर्पण करके व्रत करे।

(४) **महिषघ्नीव्रत** (देवीभागवत)–इस निमित्त आषाढ शुक्ल अष्टमीको उपवास करके हरिद्राके जलसे स्नान करे, वैसे ही जलसे महिषघ्नी देवीको स्नान करावे और केसर, चन्दन, धूप, कपूर आदिसे पूजन करे। नैवेद्यमें घी, चीनी और जौके संयोगसे बनाया हुआ पदार्थ अर्पण करे। ब्राह्मण और ब्राह्मणकुमारियोंको भोजन करावे और फिर स्वयं भोजन करे। इसके प्रभावसे सब प्रकारकी इष्ट-सिद्धि होती है।

(५) **ऐन्द्रीपूजन** (भविष्योत्तरपुराण)–आषाढके कृष्ण, शुक्ल किसी भी पक्षकी नवमीको ऐन्द्री नामकी दुर्गाका श्रद्धासहित पूजन करे और श्वेत ऐरावतपर विराजी हुई श्वेतवर्णकी देवीका ध्यान करके नक्तव्रत करे।

(६) **शुक्लैकादशीव्रत** (भविष्योत्तरपुराण)–आषाढ शुक्ल एकादशीका नाम देवशयनी है। इस दिन उपवास करके सोना, चाँदी, ताँबा या पीतलकी मूर्ति बनवाकर उसका यथोपलब्ध उपचारोंसे पूजन करे और पीताम्बरसे विभूषित करके सफेद चादरसे ढके हुए गद्दे-तकियावाले पलंगपर शयन करावे। उस अवसरके चार महीनोंके लिये अपनी रुचि अथवा अभीष्टके अनुसार नित्य व्यवहारके पदार्थोंका त्याग और ग्रहण करे। जैसे मधुर स्वरके लिये 'गुड़'का, दीर्घायु अथवा पुत्र-पौत्रादिकी प्राप्तिके लिये 'तैल' का, शत्रुनाशादिके लिये 'कड़ुवे तेल'का, सौभाग्यके लिये

'मीठे तैल'का और स्वर्गप्राप्तिके लिये 'पुष्पादि' भोगोंका त्याग करे। देह-शुद्धि या सुन्दरताके लिये परिमित प्रमाणके 'पञ्चगव्य'का, वंश-वृद्धिके लिये नियमित 'दूध' का, कुरुक्षेत्रादिके समान फल मिलनेके लिये पात्रमें भोजन करनेके बदले 'पत्र'का, और सर्वपापक्षयपूर्वक सकल पुण्यफल प्राप्त होनेके लिये 'एकभुक्त, नक्तव्रत, अयाचित भोजन या सर्वथा उपवास' करनेका व्रत ग्रहण करे। यदि इन चार महीनोंमें दूसरेके दिये हुए भक्ष्य-भोज्यादि सभी पदार्थोंके भक्षण करनेका त्याग रक्खे और उपर्युक्त चार व्रतोंमें जो बन सके उसको ग्रहण करे तो महाफल होता है।

(७) **स्वापमहोत्सव** (मदनरत्न)—आषाढ शुक्ल एकादशीको भगवान् क्षीरसागरमें शेष-शय्यापर शयन करते हैं। अतः इसका उत्सव मनानेके लिये सर्वलक्षणसंयुक्त मूर्ति बनवावे। अपनी सामर्थ्यके अनुसार सोना, चाँदी, ताँबा या पीतलकी या कागजकी मूर्ति (चित्र) बनवाकर गायन-वादन आदि समारोहके साथ विधिपूर्वक पूजन करे। रात्रिके समय 'सुप्ते त्वयि जगन्नाथे०'[1] से प्रार्थना करके सुख-साधनोंसे सजी हुई शय्यापर शयन करावे। भगवान्‌का सोना रात्रिमें, करवट बदलना सन्धिमें और जागना दिनमें होता है[2]। इसके विपरीत हो तो अच्छा नहीं। यह विशेष है कि[3] शयन अनुराधाके आद्य तृतीयांशमें, परिवर्तन श्रवणके मध्य तृतीयांशमें और उत्थान रेवतीके अन्तिम तृतीयांशमें होता है। यही कारण है कि आषाढ़, भाद्रपद और कार्तिकमें एकादशीके व्रतवाले पारणाके समय आषाढ़में अनुराधाका आद्य तृतीयांश, भाद्रपदमें श्रवणका मध्य तृतीयांश और कार्तिकमें रेवतीका अन्तिम तृतीयांश व्यतीत होनेके बाद (या उसके आरम्भसे पहले) पारण करते हैं। (स्मरण रहे कि एक नक्षत्र लगभग ६० घड़ीका होता है अतः उसके २०-२० घड़ीके तृतीयांश बनाकर पहला, दूसरा या तीसरा देख लेना चाहिये।) देवशयनके चातुर्मासीय व्रतोंमें पलंगपर सोना[4], भार्याका संग करना, मिथ्या बोलना, मांस, शहद और दूसरेके दिये हुए दही-भात आदिका भोजन करना और मूली, पटोल एवं बैंगन आदि शाक[5]-पत्र खाना त्याग देना चाहिये। 'रामार्चनचन्द्रिका' में भगवान्‌की मूर्तिको रथपर चढ़ाकर घण्टा आदि बाजोंकी ऊँची आवाजके सहित जलाशयमें ले जाकर जलमें शयन करानेका विधान बतलाया है।

(८) **वामनपूजा** (महाभारत)—आषाढ शुक्ल द्वादशीको वामनजीका यथाविधि पूजन करके व्रत करे तो यज्ञके समान फल होता है। विधि यह है कि साक्षात् मूर्ति हो तो उसके समीप बैठकर, नहीं तो सुवर्णकी बनवाकर ताँबेके पात्रमें तुलसीदलपर स्थापन करे और वह भी न बने तो शालिग्रामजीकी मूर्तिका पुरुषसूक्तके मन्त्रोंसे षोडशोपचार पूजन करके व्रत करे।

(९) **प्रदोषव्रत** (हेमाद्रि)—पूर्वोक्त प्रकारसे सूर्यास्तके समय स्नान करके प्रदोष-समयमें शिवजीका पूजन करके सूर्यास्तके बाद एक बार भोजन करे। प्रदोष-समयमें शिवजीके समीप 'यक्ष, गन्धर्व, उरग, सिद्ध, साध्य, विद्याधर, देव, अप्सरा और भूतगण' उपस्थित रहते हैं[6] अतः उस समयके शिवपूजनसे सारे मनोरथोंकी सिद्धि होती है। यह व्रत आषाढ शुक्ल त्रयोदशीको होता है।

(१०) **हरिपूजा** (ब्रह्म-विष्णु)—आषाढ शुक्ल चतुर्दशीका उपवास करके शुक्ल पूर्णिमाको पूर्वाह्णमें हरिका उत्तम प्रकारके गन्ध, पुष्प, धूप-दीप और नैवेद्यसे पूजन करे और यदि उस दिन पूर्वाषाढ हो तो अन्नपानादिका दान करके एकभुक्त भोजन करे।

---

१. सुप्ते त्वयि जगन्नाथे जगत् सुप्तं भवेदिदम्।
विबुद्धे च विबुध्येत प्रसन्नो मे भवाव्यय ॥
(रामार्चनचन्द्रिका)

२. निशि स्वापो दिवोत्थानं सन्ध्यायां परिवर्तनम्।
(ब्रह्मपुराण)

३. मैत्राद्यपादे स्वपितीह विष्णुः
श्रुतेश्च मध्ये परिवर्तमेति।
पौष्णावसाने च सुरारिहन्ता
प्रबुध्यते मासचतुष्टयेन ॥
(नारदपुराण)

४. मञ्चखट्वादिशयनं वर्जयेद् भक्तिमान्नरः।
अनृतौ वर्जयेद् भार्यां मांसं मधु परौदनम् ॥
पटोलं मूलकं चैव वृन्ताकं च न भक्षयेत्। (स्कन्द)

५. मूलपत्रकरीराग्रफलकाण्डाधिरूढकाः।
त्वक्पत्रपुष्पकं चैव शाकं दशविधं स्मृतम् ॥

६. गन्धर्वयक्षपतगोरगसिद्धसाध्य-
विद्याधरामरवराप्सरसां गणाश्च।
येऽन्ये त्रिलोकनिलयाः सहभूतवर्गाः
प्राप्ते प्रदोषसमये हरपार्श्वसंस्थाः ॥
तस्मात्प्रदोषे शिव एक एव पूज्यः० ॥
(स्कन्दपुराण ब्रह्मोत्तरखण्ड)

(११) कोकिलाव्रत (हेमाद्रि)—यह व्रत आषाढ़ी पूर्णिमासे प्रारम्भ करके श्रावणी पूर्णिमातक किया जाता है। इसके करनेसे मुख्यतः स्त्रियोंको सात जन्मतक सुत, सौभाग्य और सम्पत्ति मिलती है। विधान यह है—आषाढ़ शुक्ल पूर्णिमाके सायंकाल स्नान करके कल्पना करे कि 'मैं ब्रह्मचर्यसे रहकर कोकिलाव्रत करूँगी। उसके बाद श्रावण कृष्ण प्रतिपदाको किसी नद, नदी, झरने, बावड़ी, कूएँ या तालाव आदिपर 'मम धनधान्यादिसहितसौभाग्यप्राप्तये शिवतुष्ट्यै च कोकिलाव्रतमहं करिष्ये' यह संकल्प करके आरम्भके आठ दिनमें भीगे और पिसे हुए आँवलोंमें सुगन्धियुक्त तिलतैल मिलाकर उसे मलकर स्नान करे। फिर आठ दिनतक भिगोकर पिसी हुई मुरा-मांसी और बच-कुष्ठादि दस ओषधियोंसे स्नान करे (दशौषधि पूर्वाङ्कमें देखिये) उसके बाद आठ दिनतक भिगोकर पिसी हुई बचके जलसे स्नान करे और उसके बाद अन्तके छः दिनतक पिसे हुए तिल-आँवले और सर्वौषधिके जलसे स्नान करे। इस क्रमसे प्रतिदिन स्नान करके पीठीके द्वारा निर्माण की हुई कोयलका पूजन करे। चन्दन, सुगन्धित पुष्प, धूप-दीप और तिल-तन्दुलादिका नैवेद्य अर्पण करे और 'तिलस्नेहे०' से प्रार्थना करे। इस प्रकार श्रावणी पूर्णिमापर्यन्त करके समाप्तिके दिन ताँबेके पात्रमें मिट्टीसे बनायी हुई कोकिलाके सुवर्णके पंख और रत्नोंके नेत्र लगाकर वस्त्राभूषणादिसे भूषित करके सास, ससुर, ज्योतिषी, पुरोहित अथवा कथावाचकको भेंट करनेसे स्त्री इस जन्ममें प्रीतिपूर्वक पोषण करनेवाले सुखरूप पतिके साथ सुख-सौभाग्यादि भोगकर अन्तमें गौरी (पार्वती) की पुरीमें जाती है। इस व्रतमें गौरीका कोकिलाके रूपमें पूजन किया जाता है।

(१२) अम्बिकाव्रत (भविष्यत्पुराण)—आषाढ़ शुक्ल चतुर्दशीको उपवास करके पूर्णिमाके प्रातःकाल अम्बिकादेवीका विधिवत् पूजन करनेसे यज्ञके समान फल होता है और व्रती विष्णुलोकमें जाता है।

(१३) विश्वेदेवपूजन (ब्रह्मपुराण)—आषाढ़ शुक्ल पूर्णिमाको पूर्वाषाढा हो तो महाबली दस विश्वेदेवोंका पूजन करे, इससे उनकी प्रसन्नता प्राप्त होती है। विश्वेदेवोंके नाम नीचे टिप्पणीमें दिये हैं।

(१४) शिवशयनव्रत (हेमाद्रि, वामनपुराण)—आषाढ़ शुक्ल पूर्णिमाको जटाजूटकी व्यवस्थाके विचारसे शिवजी सिंहचर्मके विस्तरपर शयन करते हैं अतः उस दिन पूर्वविद्धा पूर्णिमामें शिवपूजन करके रुद्रव्रत करनेसे शिवलोककी प्राप्ति होती है।

(१५) वायुधारिणी पूर्णिमा (ज्योतिःशास्त्र)—आषाढ़ शुक्ल पूर्णिमाको सूर्यास्तके समय गणेशादिका पूजन करके सुदीर्घशंकुके अग्रभागमें मन्दवायुके सञ्चालनमात्रसे सञ्चालित होनेवाले तूलिकापुष्प (रूईके फोये) को लटकाकर सीधा खड़ा करे और जिस दिशाकी हवा हो उसके अनुसार शुभाशुभ निश्चित करे। अक्षयतृतीयाके अनुसार इस पूर्णिमाको भी कलशस्थापन करके अनेक प्रकारकी वनौषधि, धान्य, प्रख्यात देश और उनके अधिपति एवं विख्यात व्यक्तियोंके नाम पृथक्-पृथक् तौलकर कपड़ेकी अलग-अलग पोटलियोंमें बाँधकर कलशके समीप स्थापन करते हैं और दूसरे दिन उसी प्रकार फिर तौलकर उनके न्यून-सम और अधिक होनेपर अन्नादिके मँहगे, सस्ते एवं देशविशेष और व्यक्तियोंके ह्रास, यथावत् और वृद्धि होनेका ज्ञान प्राप्त करते हैं।

(१६) व्यासपूजा पूर्णिमा (अर्चनविधि)—आषाढ़ शुक्ल पूर्णिमाको प्रातःस्नानादि नित्य कर्म करके ब्राह्मणों-सहित 'गुरुपरम्परासिद्ध्यर्थं व्यासपूजां करिष्ये' से संकल्प करके श्रीपर्णीवृक्षकी चौकीपर तत्सम धौतवस्त्र फैलाकर उसपर प्रागग्र (पूर्वसे पश्चिम) और उदगग्र (उत्तरसे दक्षिण) को गन्धादिसे बारह-बारह रेखा बनाकर व्यास-पीठ निश्चित करे और दसों दिशाओंमें अक्षत छोड़कर दिग-

१. तिलस्नेहे तिलसौख्ये तिलवर्णे तिलामये।
सौभाग्यधनपुत्रांश्च देहि मे कोकिले नमः॥
(भविष्योत्तर०)

२. क्रतुर्दक्षो वसुः सत्यः कालः कामस्तथैव च।
धूरिश्च लोचनश्चैव तथा चैव पुरूरवाः॥
आर्द्रवश्च दशैवैते विश्वेदेवाः प्रकीर्तिताः।
(बृहस्पति)

३. आषाढ्यां भास्करास्ते सुरपतिनिलये वाति वाते सुवृष्टिः
सस्यार्धं सम्प्रकुर्याद्धि दहनदिशो मन्दवृष्टिर्यमेन।
नैर्ऋत्यामन्ननाशो वरुणदिशि जलं वायुकोणे प्रवायुः
कौबेर्यां सस्यपूर्णा मकलवसुमती तद्वदीशानवायौ॥
(ज्योतिःशास्त्र)

बन्धन करे। फिर ब्रह्म, ब्रह्मा, परापरशक्ति, व्यास, शुकदेव, गौडपाद, गोविन्दस्वामी और शङ्कराचार्यका नाममन्त्रसे आवाहनादि पूजन करके अपने दीक्षागुरु (तथा पिता, पितामह, भ्राता आदि) का देवतुल्य पूजन करे। विशेष विस्तृत विधान शंकराचार्यविरचित 'व्यासपूजाविधि' में देखना चाहिये।

(५)

(श्रावणके व्रत)

कृष्णपक्ष

(१) **अशून्यशयनव्रत** (भविष्यपुराण)—यह श्रावण कृष्ण द्वितीयासे मार्गशीर्ष कृष्ण द्वितीयापर्यन्त किया जाता है। इसमें पूर्वविद्धा तिथि ली जाती है। यदि दो दिन पूर्वविद्धा हो या दोनों दिन न हो तो परविद्धा लेनी चाहिये। इसमें शेषशय्यापर लक्ष्मीसहित नारायण शयन करते हैं, इसी कारण इसका नाम अशून्यशयन है। यह प्रसिद्ध है कि देवशयनीसे देवप्रबोधिनीतक भगवान् शयन करते हैं। साथ ही यह भी प्रसिद्ध है कि इस अवधिमें देवता सोते हैं। और शास्त्रसे यही सिद्ध होता है कि द्वादशीको भगवान्, त्रयोदशीको काम, चतुर्दशीको यक्ष, पूर्णिमाको शिव, प्रतिपदाको ब्रह्मा, द्वितीयाको विश्वकर्मा और तृतीयाको उमाका शयन होता है। व्रतीको चाहिये कि श्रावण कृष्ण द्वितीयाको प्रातःस्नानादि करके श्रीवत्सचिह्नसे युक्त चार भुजाओंसे भूषित शेषशय्यापर स्थित और लक्ष्मीसहित भगवान्‌का गन्ध-पुष्पादिसे पूजन करे। दिनभर मौन रहे। व्रत रक्खे और सायंकाल पुनः स्नान करके भगवान्‌का शयनोत्सव मनावे। फिर चन्द्रोदय होनेपर अर्घ्यपात्रमें जल, फल, पुष्प और गन्धाक्षत रखकर 'गगनाङ्गणसन्दीप क्षीराब्धिमथनोद्भव। भाभासितदिगाभोग रमानुज नमोऽस्तु ते॥' (पुराणान्तर)—इस मन्त्रसे अर्घ्य दे और भगवान्‌को प्रणाम करके भोजन करे। इस प्रकार प्रत्येक कृष्ण द्वितीयाको करके मार्गशीर्ष कृष्ण तृतीयाको उस ऋतुमें होनेवाले (आम, अमरूद और केले आदि) मीठे फल सदाचारी ब्राह्मणको दक्षिणासहित दे। करोंदे, नीबू आदि खट्टे तथा इमली, कैरी, नारंगी, अनार आदि स्त्रीनामके फल न दे। इस व्रतसे व्रतीका गृहभंग नहीं होता—दाम्पत्य-सुख अखण्ड रहता है। और यदि स्त्री करे तो वह सौभाग्यवती होती है।

(२) **कज्जली तृतीया**—यदि श्रावण कृष्ण तृतीयाको श्रवण नक्षत्र हो तो विष्णुका पूजन करके व्रत करे। इसमें परविद्धा ग्राह्य होती है।*

(३) **स्वर्णगौरीव्रत** (स्कन्दपुराण)—यह श्रावण कृष्ण तृतीयाको किया जाता है। उस दिन प्रातः-स्नानादि करके शुद्ध भूमिकी मृत्तिकासे गौरीकी मूर्ति बनावे। उसके समीप सूत या रेशमके १६ तारका डोरा बनाकर उसमें १६ गाँठ लगाकर स्थापित करे। फिर गौरीका आवाहनादि षोडश उपचारोंसे पूजन करके डोरेको दाहिने हाथमें बाँधे और व्रत करे। इस प्रकार १६ वर्ष करनेके बाद उद्यापन करे। उद्यापनमें एक वेदीपर अष्टदल बनाकर उसपर कलश स्थापित करे और कलशपर शिव-गौरीकी सुवर्णमयी मूर्ति प्रतिष्ठित करके यथाविधि पूजन करे और प्रार्थना करके स्वर्णादिनिर्मित और १६ ग्रन्थियुक्त डोरेका पूजन करे। 'ॐ शिवाय नमः स्वाहा' 'ॐ शिवाय नमः स्वाहा' से हवन करके बाँसके १६ पात्रोंमें १६ फल और १६ प्रकारकी मिठाई भरकर १६ ब्राह्मणोंको दे और गोदान, अन्नदान, शय्यादान और भूयसी देकर १६ जोड़ा-जोड़ी जिमावे और फिर स्वयं भोजन करके व्रत समाप्त करे। इस व्रतके सम्बन्धमें एक महत्त्वपूर्ण कथा है—प्राचीन कालमें सरस्वतीके किनारेकी विमलापुरीके राजा चन्द्रप्रभने अप्सराओंके आदेशानुसार अपनी छोटी रानी विशालाक्षीसे यह व्रत करवाया था किन्तु मदान्विता महादेवी (बड़ी रानी) ने उक्त डोरा तोड़ डाला। फल यह हुआ कि वह विक्षिप्त हो गयी और आम्र, सरोवर एवं ऋषिगणोंसे 'गौरी कहाँ है?' यह पूछने लगी। अन्तमें गौरीकी सानुकूलता होनेपर वह फिर पूर्वावस्थामें प्राप्त होकर सुखसे रही।

(४) **सङ्कष्टचतुर्थी** (भविष्योत्तरपुराण)—यह व्रत श्रावण कृष्ण चतुर्थीको किया जाता है। इसमें चन्द्रोदय-व्यापिनी चतुर्थी ली जाती है। यदि दो दिन वैसी हो या दोनों ही दिन न हो तो पूर्वविद्धा लेना चाहिये। उस दिन नित्यकृत्य करके सूर्यादिसे व्रतकी भावना निवेदन कर 'मम सर्वविधसौभाग्यसिद्ध्यर्थं सङ्कष्टहरगणपतिप्रीतये सङ्कष्टचतुर्थीव्रतमहं करिष्ये।' यह संकल्प करे और वस्त्राच्छादित वेदीपर मूर्तिमान् या फलस्वरूप गणेशजीको

* तृतीया श्रावणे कृष्णा या स्याच्छ्रवणसंयुता।
तस्यां सम्पूज्य गोविन्दं तुष्टिमग्रयामवाप्नुयात्॥
(हेमाद्रौ विष्णुधर्मोत्तरे)

स्थापित करके 'कोटिसूर्यप्रभं देवं गजवक्त्रं चतुर्भुजम्। पाशाङ्कुशधरं देवं ध्यायेत्सिद्धिविनायकम् ॥' से गणेशजीका ध्यान करके उनका पूजन करे और २१ दूर्वा लेकर गणाधिपाय नमः२, उमापुत्राय नमः२, अघनाशनाय नमः२, एकदन्ताय नमः२, इभवक्त्राय नमः२, मूषकवाहनाय नमः२, विनायकाय नमः२, ईशपुत्राय नमः२, सर्वसिद्धिप्रदायकाय नमः२ और कुमारगुरवे नमः२' इन नामोंसे प्रत्येक नामकेसाथ दो-दो दूर्वा और गणाधिपादि दसों नामोंके द्वारा एक दूर्वा अर्पण करे। अन्तमें नीराजन करके पुष्पाञ्जलि दे और 'संसारपीडाव्यथितं हि मां सदा सङ्कष्टभूतं सुमुख प्रसीद। त्वं त्राहि मां मोचय कष्टसंघान्नमो नमो विघ्नविनाशनाय ॥' से प्रार्थना करके घी, गेहूँ और गुड़से बनाये हुए २१ मोदक लेकर एक गणेशजीके अर्पण करे, १० ब्राह्मणोंको दे और शेष १० अपने लिये रख दे। तत्पश्चात् चन्द्रोदय होनेपर उसका गन्धाक्षतसे पूजन करके 'ज्योत्स्नापते नमस्तुभ्यं नमस्ते ज्योतिषां पते। नमस्ते रोहिणीकान्त गृहाणार्घ्यं नमोऽस्तु ते ॥' से चन्द्रमाको, 'गजानन नमस्तुभ्यं सर्वसिद्धिप्रदायक। गृहाणार्घ्यं मया दत्तं सङ्कष्टं नाशयाशु मे ॥' से गणेशजीको और 'तिथीनामुत्तमे देवि गणेशप्रियवल्लभे। सर्वसम्पत्प्रदे देवि गृहाणार्घ्यं नमोऽस्तु ते ॥' से चतुर्थीको अर्घ्य देकर भोजन करे। श्रावणमें लड्डू, भाद्रमें दही, आश्विनमें उपवास, कार्तिकमें दध्योदन, मार्गशीर्षमें निराहार, पौषमें गोमूत्र, माघमें तिल, फाल्गुनमें घी, शक्कर, चैत्रमें पञ्चगव्य, वैशाखमें शतपत्रिका, ज्येष्ठमें घी और आषाढमें मधु भक्षण करे। जमीनपर सोवे, जितक्रोधी, जितेन्द्रिय, निर्लोभी और मोहादिसे रहित होकर प्रतिमास एक वर्ष, तीन वर्ष या जन्मभर करे तो उसके संकट दूर होकर शान्ति मिलती है और ऋद्धि-सिद्धिसे संयुक्त होकर वह सुखी रहता है। इस व्रतको यदि कुमारी करे तो उसे सुयोग्य वर मिले। सौभाग्यवती युवती करे तो सौभाग्यादिकी वृद्धि हो और विधवा करे तो जन्मान्तरमें वह सौभाग्यवती रहे।

(५) **शीतलासप्तमी** (हेमाद्रिगत भविष्यपुराण)— यह व्रत श्रावण कृष्ण सप्तमीको किया जाता है। इसमें मध्याह्नव्यापिनी तिथि ली जाती है। पूजाविधि और स्तोत्रपाठादि चैत्रके समान हैं। कथा यह है कि हस्तिनापुरके राजा इन्द्रद्युम्नकी धर्मशर्मविधा रानीके महाधर्म पुत्र और गुणोत्तमा पुत्री थी। समयपर पुत्रीका विवाह हुआ। रथारूढ होकर पति-पत्नी घर गये। दैवयोगसे रास्तेमें पति अदृश्य हो गया। पतिवियोग मानकर पत्नीने विलाप किया। अन्तमें शीतल उपचारोंसे शीतलादेवीका पूजन करनेसे पतिदेव जाग्रत् हुए और प्रसन्नचित्तसे घर जाकर सुखपूर्वक जीवन व्यतीत किया।

(६) **कुमारीपूजा** (निर्णयामृत भविष्योत्तर)— श्रावण कृष्ण और शुक्ल दोनों पक्षकी नवमीको चाँदीकी बनी हुई कुमारी नामकी देवीका पूजन करे। मलयज चन्दन, कनेरके पुष्प, दशाङ्ग धूप, घृतपूर्ण दीपक और घीमें पकाये हुए मोदकादिसे पूजन करके ब्राह्मण, ब्राह्मणी और कुमारीको भोजन करावे। स्वयं बिल्वपत्र भक्षण करे तो परम तत्त्व प्राप्त होता है।

(७) **कृष्णैकादशी** (ब्रह्मवैवर्त०)—श्रावण कृष्ण एकादशीको उपवास करके श्रीकृष्णका पूजन करे। तुलसीदल और उसकी मञ्जरी चढावे। घीका दीपक प्रज्वलित रक्खे और यथाशक्ति दान दे तो अनन्त फल होता है। इसका नाम 'कामिका' है।

(८) **प्रदोषव्रत**—यह प्रत्येक त्रयोदशीको किया जाता है। परन्तु श्रावणमें सोम-प्रदोष हो तो वह विशेष फल देता है। उस दिन ग्रामसे बाहर किसी पुष्पोद्यानके शिवमन्दिरमें जाकर शिव-पूजन करे और दो घड़ी रात्रि जानेसे पहले एक बार भोजन करे तो शिवजी प्रसन्न होते हैं। इसके सिवा श्रावणमें शिवजीके प्रीत्यर्थ चार सोमव्रत और होते हैं। जो श्रावणके अन्तर्गत ही हैं।

(९) **अमाव्रत**—देशभेदके अनुसार श्रावण कृष्ण अमावसको 'हरिता' (या हरियाली अमा) कहते हैं। इस दिन किसी एकान्त स्थानके जलाशयपर जाकर स्नान-दानादि करे और ब्राह्मणोंको भोजन करावे तो पितृगण प्रसन्न होते हैं।

शुक्लपक्ष

(१) **दूर्वागणपति** (सौरपुराण)—यह व्रत श्रावण शुक्ल चतुर्थीको किया जाता है। इसमें मध्याह्नव्यापिनी चतुर्थी ली जाती है। यदि वह दो दिन हो या दोनों दिन न हो तो 'मातृविद्धा प्रशस्यते' के अनुसार पूर्वविद्धा व्रत करना चाहिये। उस दिन प्रातःस्नानादि करके—सुवर्णके गणेशजी बनवावे जो एकदन्त, चतुर्भुज, गजानन और स्वर्णसिंहासनस्थ हों। उनके अतिरिक्त सोनेकी दूर्वा बनवावे। फिर सर्वतोभद्रमण्डलपर कलश स्थापन करके उसमें स्वर्णमय दूर्वा लगाकर उसपर उक्त गणेशजीका स्थापन करे। उनको रक्तवस्त्रादिसे विभूषित करे और अनेक प्रकारके सुगन्धित पत्र, पुष्पादिसे

पूजन करे। बेलपत्र, अपामार्ग, शमीपत्र, दूब और तुलसीपत्र अर्पण करे। फिर नीराजन करके 'गणेश्वर गणाध्यक्ष गौरीपुत्र गजानन। व्रतं सम्पूर्णतां यातु त्वत्प्रसादादिभानन ॥' इससे प्रार्थना करे। इस प्रकार ३ या ५ वर्ष करनेसे सम्पूर्ण अभीष्ट सिद्ध होते हैं।

(२) नागपञ्चमी—यह व्रत श्रावण शुक्ल पञ्चमीको किया जाता है। लोकाचार या देश-भेदवश किसी जगह कृष्णपक्षमें भी होता है। इसमें परविद्धा पञ्चमी ली जाती है। इस दिन सर्पोंको दूधसे स्नान और पूजन कर दूध पिलानेसे, वासुकीकुण्डमें स्नान करने, निज गृहके द्वारमें दोनों ओर गोबरके सर्प बनाकर उनका दधि, दूर्वा, कुशा, गन्ध, अक्षत, पुष्प, मोदक और मालपुआ आदिसे पूजा करने और ब्राह्मणोंको भोजन कराकर एकभुक्त व्रत करनेसे घरमें सर्पोंका भय नहीं होता है। यदि 'ॐ कुरुकुल्ये हुं फट् स्वाहा' के परिमित जप करे तो सर्पविष दूर होता है।

(३) पापनाशिनी सप्तमी (हेमाद्रि)—यह व्रत श्रावण शुक्ल सप्तमीको हस्त नक्षत्र होनेसे उदयव्यापिनीमें किया जाता है। उस दिन जगद्गुरु चित्रभानुका पूजन करके दान, पुण्य, हवन और व्रत करे तो किये हुएका अक्षय फल होता है और प्रत्येक प्रकारके पाप, ताप दूर हो जाते हैं।

(४) दुर्गाव्रत (देवीपुराण)—श्रावण शुक्ल अष्टमीको प्रातःस्नानादि नित्यकर्म करके पुनः स्नान करे और भीगे वस्त्र धारण किये हुए ही देवीको स्नान कराके खीरका नैवेद्य भोग लगावे और स्वयं भी उसीका एक बार भोजन करे तो भगवती दुर्गाकी प्रसन्नता प्राप्त होती है।

(५) शुक्लैकादशीव्रत (भविष्यपुराण)—श्रावण शुक्ल एकादशी पवित्रा, पुत्रदा और पापनाशिनी होती है। इसके लिये पहले दिन मध्याह्नमें हविष्यान्नका एकभुक्त व्रत करके एकादशीको प्रातःस्नानादिके अनन्तर 'मम समस्तदुरितक्षयपूर्वकं श्रीपरमेश्वरप्रीत्यर्थं श्रावणशुक्लैकादशीव्रतमहं करिष्ये।' यह संकल्प करके भक्ति-भाव और विधानसहित भगवान्का पूजन करे और अनेक प्रकारके फल, पत्र, पुष्प और नैवेद्य अर्पण करके नीराजन करे। उसके बाद रात्रिके समय गायन, वादन, नर्तन, कीर्तन और कथा-श्रवण करते हुए जागरण करे। दूसरे दिन पारणा करके यथाशक्ति ब्राह्मण-भोजन करवाकर स्वयं भोजन करे। इस व्रतसे पापोंका नाश और पुत्रादिकी प्राप्ति होती है। पहले द्वापरयुगके आदिमें माहिष्मतीके राजा महीजित्के पुत्र नहीं था। उससे राजा-प्रजा दोनों चिन्तित थे। उन्होंने घोर वनमें तप करते हुए लोमश ऋषिसे प्रार्थना की तब उन्होंने श्रावण शुक्ल एकादशीका व्रत करनेकी आज्ञा दी। तदनुसार ग्रामवासियों-सहित राजाने व्रत किया और उसके प्रभावसे उनको पुत्र प्राप्त हुआ।

(६) पवित्रार्पणविधि (बहुसम्मत)—श्रावण शुक्ल एकादशीको भगवान्के पवित्रक अर्पण किया जाता है। यद्यपि साधारण रूपमें बाजारसे लाये हुए रेशम या सूत्रके पवित्रक उपयोगमें आते हैं किन्तु शास्त्रमें इनका पृथक् विधान है। उसके अनुसार मणि आदि रत्न, सोना, चाँदी, ताँबा, रेशम, सूत, त्रिसर, पद्मसूत्र, कुशा, काश, मूँज, सन, बकल, कपास और अन्य प्रकार रेशे आदिसे पवित्रे बनवावे अथवा सौभाग्यवती स्त्रीसे सूत कतवाकर उसके तीन तारोंको त्रिगुणित करके उनसे बनावे। रेशमका पवित्रक हो तो उसमें अंगूठेके पर्वके समान यथासामर्थ्य ३६०, २७०, १८०, १०८, ५४ या २७ गाँठ लगावे। उसकी लंबाई जानु, जंघा या नाभिपर्यन्त करे और उसको पञ्चगव्यसे प्रोक्षण करके शुद्ध जलसे अभिषिक्त करे। फिर 'ॐ नमो नारायणाय' का १०८ बार जप करके शङ्खोदकका छींटा दे और रात्रिभर रखकर व्रतके दूसरे दिन धारण करावे। उस समय घृतप्लावित एकाधिक बत्ती या कपूर जलाकर आरती करे। और 'मणिविद्रुममालाभिर्मन्दारकुसुमादिभिः। इयं सांवत्सरी पूजा तवास्तु गरुडध्वज ॥' 'वनमाला यथा देव कौस्तुभः सततं हृदि। पवित्रमस्तु ते तद्वत्पूजां च हृदये वह ॥' यह श्लोक पढ़कर प्रणाम करे। सत्ययुगमें मणि आदि रत्नोंके, त्रेतामें सुवर्णके, द्वापरमें रेशमके और कलियुगमें सूत्रके पवित्रे धारण कराने योग्य होते हैं और यती लोग मानसनिर्मित पवित्रक अर्पण करते हैं। विशेष वर्णन विष्णुरहस्य, स्मृतिकौस्तुभ, रामार्चनचन्द्रिका, नृसिंहपरिचर्या और शिवार्चनचन्द्रिका आदिसे विदित हो सकता है।

(७) दधिव्रत (महाभारत-दानधर्म)—श्रावण शुक्ल द्वादशीको दधिव्रत किया जाता है। उसमें दहीका उपयोग किया जाता है। यदि उस दिन श्रीधर भगवान्को विमानमें विराजितकर अहोरात्र आनन्दोत्सव करे तो उससे पञ्चयज्ञके समान फल होता है।*

* अहोरात्रेण द्वादश्यां श्रावणे मासि श्रीधरम्।
पञ्चयज्ञमवाप्नोति विमानस्थश्च मोदते ॥

(८) **प्रदोषव्रत**-इस विषयमें पहलेके महीनोंमें बहुत-सा विधान प्रकाशित हो चुका है, तदनुसार श्रावण शुक्ल त्रयोदशीको प्रदोषव्रत करना चाहिये।

(९) **रक्षाबन्धन** (मदनरत्न—भविष्योत्तरपुराण)-यह श्रावण शुक्ल पूर्णिमाको होता है। इसमें पराह्णव्यापिनी तिथि ली जाती है। यदि वह दो दिन हो या दोनों ही दिन न हो तो पूर्वा लेनी चाहिये। यदि उस दिन भद्रा हो तो उसका त्याग करना चाहिये। भद्रामें श्रावणी और फाल्गुनी दोनों वर्जित की गयी हैं। क्योंकि श्रावणीसे राजाका और फाल्गुनीसे प्रजाका अनिष्ट होता है। व्रतीको चाहिये कि उस दिन प्रातःस्नानादि करके वेदोक्त विधिसे रक्षाबन्धन, पितृतर्पण और ऋषिपूजन करे। शूद्र हो तो मन्त्रवर्जित स्नान-दानादि करे। रक्षाके लिये किसी विचित्र वस्त्र या रेशम आदिकी 'रक्षा' बनावे। उसमें सरसों, सुवर्ण, केसर, चन्दन, अक्षत और दूर्वा रखकर रंगीन सूतके डोरेमें बाँधे और अपने मकानके शुद्ध स्थानमें कलशादि स्थापन करके उसपर उसका यथाविधि पूजन करे। फिर उसे राजा, मन्त्री, वैश्य या शिष्ट शिष्यादिके दाहिने हाथमें 'येन बद्धो बली राजा दानवेन्द्रो महाबलः। तेन त्वामनुबध्नामि रक्षे मा चल मा चल ॥' इस मन्त्रसे बाँधे। इसके बाँधनेसे वर्षभरतक पुत्र-पौत्रादिसहित सब सुखी रहते हैं।* एक बार देव और दानवोंमें बारह वर्षतक युद्ध हुआ। देव विजयी नहीं हुए, तब बृहस्पतिजीने सम्मति दी कि युद्ध रोक देना चाहिये। यह सुनकर इन्द्राणीने कहा कि मैं कल इन्द्रके रक्षा बाँधूँगी, उसके प्रभावसे इनकी रक्षा रहेगी और यह विजयी होंगे। श्रावण शुक्ल पूर्णिमाको वैसा ही किया गया और इन्द्रके साथ सम्पूर्ण देव विजयी हुए।

* यः श्रावणे विमलमासि विधानविज्ञो
रक्षाविधानमिदमाचरते मनुष्यः।
आस्ते सुखेन परमेण स वर्षमेकं
पुत्रप्रपौत्रसहितः ससुहृज्जनः स्यात् ॥

(१०) **श्रवणपूजन** (व्रतोत्सव)-श्रावण शुक्ल पूर्णिमाको नेत्रहीन माता-पिताका एकमात्र पुत्र श्रवण (जो उनकी दिन-रात सेवा करता था) एक बार रात्रिके समय जल लानेको गया। वहीं अज्ञात स्थानमें दशरथजी थे, उन्होंने जलके घड़ेके शब्दको वध्य पशु जानकर बाण छोड़ दिया, उससे श्रवणकी मृत्यु हो गयी। यह सुनकर उसके माता-पिता बहुत दुखी हुए। तब दशरथजीने उनको आश्वासन दिया और अपने अज्ञानमें किये हुए अपराधकी क्षमायाचना करके श्रावणीको श्रवणपूजाका सर्वत्र प्रचार किया। उस दिनसे सम्पूर्ण सनातनी श्रवण-पूजा करते हैं और उक्त रक्षा सर्वप्रथम उसीको अर्पण करते हैं।

(११) **ऋषितर्पण** (उपाकर्मपद्धति आदि)-यह श्रावण शुक्ल पूर्णिमाको किया जाता है। इसमें ऋग्, यजुः, सामके स्वाध्यायी ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य जो ब्रह्मचर्य, गृहस्थ या वानप्रस्थ किसी आश्रमके हों अपने-अपने वेद, कार्य और क्रियाके अनुकूल कालमें इस कर्मको सम्पन्न करते हैं। इसका आद्योपान्त पूरा विधान यहाँ नहीं लिखा जा सकता और बहुत संक्षिप्त लिखनेसे उपयोगमें भी नहीं आ सकता है। अतः सामान्यरूपमें यही लिखना उचित है कि उस दिन नदी आदिके तटवर्ती स्थानमें जाकर यथाविधि स्नान करे। कुशानिर्मित ऋषियोंकी स्थापना करके उनका पूजन, तर्पण और विसर्जन करे और रक्षापोटलिका बनाकर उसका मार्जन करे। तदनन्तर आगामी वर्षका अध्ययन-क्रम नियत करके सायंकालके समय व्रतकी पूर्ति करे। इसमें उपाकर्मपद्धति आदिके अनुसार अनेक कार्य होते हैं, वे सब विद्वानोंसे जानकर यह कर्म प्रतिवर्ष सोपवीती प्रत्येक द्विजको अवश्य करना चाहिये। यद्यपि उपाकर्म चातुर्मासमें किया जाता है और इन दिनों नदियाँ रजस्वला होती हैं। तथापि 'उपाकर्मणि चोत्सर्गे प्रेतस्नाने तथैव च। चन्द्रसूर्यग्रहे चैव रजोदोषो न विद्यते ॥' इस वसिष्ठ-वाक्यके अनुसार उपाकर्ममें उसका दोष नहीं माना जाता।

साधन-समीक्षा

(लेखक—श्रीसुदर्शनसिंहजी)

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥

श्रीहरिकी दिव्य वाणी है कि जिसमें यह भाव नहीं कि 'मैंने यह कर्म किया' और जिसकी बुद्धि कर्ममें संसक्त नहीं होती, वह तीनों लोकोंके वध-जैसा घोर कर्म करके भी हिंसक नहीं बनता एवं उस हिंसा-के फलका भागी नहीं होता ।

'मैं अरु मोर तोर तैं माया ।'

'यह मैं हूँ, यह मेरा है । यह तुम हो, यह तुम्हारा है ।' जीवकी यही अविद्या है । यही अज्ञान उसके बन्धनका हेतु है । अन्यथा शरीर एवं पदार्थ तो ईश्वरीय सृष्टिके हैं । वे तो रहेंगे ही । उन पदार्थोंमें निज या परसम्बन्धकी कल्पना भ्रमसे है । इस भ्रमके दूर होते ही जीव बन्धनसे परित्राण प्राप्त कर लेता है । इसी अज्ञान अथवा अहङ्कारके क्षयके निमित्त समस्त साधनों-की व्यवस्था है ।

रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषां
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव ॥

रुचिवैचित्र्यसे अनेक सीधे-टेढ़े मार्गोंसे चलनेवाले समस्त मनुष्योंके एकमात्र गन्तव्य आप (श्रीभगवान्) ही हैं । जैसे समस्त नदियाँ समुद्रमें ही मिलती हैं । इस विषयमें भला किसीको क्या आपत्ति हो सकती है कि गन्तव्य एक ही है । उस गन्तव्यतक पहुँचनेके लिये 'मैं अरु मोर तोर तैं' रूपी मायाको नष्ट करना ही सकल साधनोंका प्रयोजन है, इसमें भी कोई विवाद नहीं । रहे साधन—साधन तो साधन ही हैं । न तो कोई साधन सरल है और न कोई कठिन । उस दिव्य गन्तव्यतक पहुँचनेवाले सभी मार्ग समान हैं । उनमें कोई भी ऋजु या कोई भी कुटिल नहीं । वृत्तकी परिधिसे केन्द्रबिन्दुतक जानेवाली सभी रेखाएँ परस्पर समान होती हैं । भला इसमें भी कोई सन्देह है कि वही नटनागर इस निखिल प्रकृतिका केन्द्रबिन्दु है और सभी जीव अहं-ममरूपी परिधिपर ही स्थित हैं ? अधिकारि-भेदसे ही साधनोंकी ऋजुता या कुटिलता है । जो जिस साधनका अधिकारी है, उसके लिये वह साधन सीधा है और दूसरे टेढ़े । बलात् वह अपने साधनको छोड़ दूसरी ओर दौड़ेगा तो उसका मार्ग कठिन हो जायगा ।

जब हम किसी साधनको प्रारम्भ करते हैं तो कुछ प्रारम्भिक दिनोंमें मन उसमें भली प्रकार रस लेता है । धीरे-धीरे वह ऊबने लगता है और जान पड़ने लगता है कि यह साधन तो बहुत कठिन है । दूसरे साधन सरल प्रतीत होते हैं । उनमें मन झटपट लग जायगा, ऐसा प्रतीत होता है । किन्तु ऐसा है नहीं । मनका स्वभाव है नवीनताको अपनाना । केवल नवीन होनेसे दूसरे साधन सरल लग रहे हैं । यदि उन्हींका अभ्यास करना हो तो कुछ गिने-चुने दिनोंमें ही मन उनसे भी ऊबने लगेगा और वे भी वैसे ही कठिन जान पड़ेंगे, जैसा वर्तमान साधन जान पड़ता है । अतएव हमें मनके भुलावेमें नहीं पड़ना चाहिये । सब साधन एक-से हैं । कोई भी कठिन नहीं एवं कोई भी सुलभ नहीं । हमने जिसे अपनाया है, हमारे लिये वही सबसे सुलभ है । हमें उसीपर दृढ़तासे लगे रहना है ।

साधन क्या ? एक महात्माके शब्दोंमें चेत (भगवत्स्मृति) ही साधन है । बात भी कुछ ऐसी ही है । वृक्ष एवं पाषाणादि नग्नाकाशमें शीत, वात, आतप एवं वर्षा बराबर सहते रहते हैं; क्या यह तप है ? ग्रामोफोनमें किसी भी नाम या मन्त्रका रिकार्ड

अहर्निश बजता रहे; क्या यह जप या कीर्तन होगा? एक लोहेकी सन्दूकमें एक भगवान्‌की मूर्ति बंद है; क्या सन्दूक ध्यान कर रही है? क्या इन सबोंको इन सब साधनोंके फल मिलेंगे? एक ही उत्तर है—नहीं। क्यों? इसलिये कि यह सब केवल जड़ क्रियाएँ हैं और प्रभुके यहाँ कर्म नहीं—अन्तर देखा जाता है। वहाँ भावका मूल्य मिलता है।

भाव क्या? यही कि यह कर्म हम प्रभुके निमित्त कर रहे हैं। यों तो कोई भी शुभ कर्म व्यर्थ नहीं जाता। भगवन्नाम प्रमादसे भी लेनेपर कल्याणप्रद है। फिर भी हम मानव हैं। हमें मानवकी भाँति—चेतन मानवकी भाँति साधन करना है। ऐसा करके ही हम साधनसे शीघ्र लाभ प्राप्त कर सकनेकी आशा कर सकते हैं।

साधन हम क्यों कर रहे हैं? किसके लिये कर रहे हैं? साधनकालमें भी इसकी स्मृति रहनी चाहिये। यह स्मृति ही प्रधान साधन है। जिस किसी कर्मको करते हुए यह स्मृति रहे कि हम इसे उस जगत्सूत्र-धारकी प्रेरणासे कर रहे हैं, वही साधन है। 'मामनुस्मर युध्य च' उसका स्मरण रखते हुए जो भी हो, सब साधन है। पापका अर्थ है भगवान्‌की स्मृति जहाँ न रह सके। जिस कर्मको करते हुए आप उस प्रेरककी प्रेरणाका अनुभव स्थिर नहीं रख पाते, वह कर्म अकरणीय है। वही पाप है। जिस कर्मको करते समय यह स्मरण रक्खा जा सकता है और स्मरण है कि प्रभु करा रहे हैं, उन्हींकी प्रेरणासे मैं कर रहा हूँ, वही पुण्य है। उसकी स्मृतिसे युक्त कर्म कभी बन्धन दे नहीं सकते।

न मय्यावेशितधियां कामः कामाय कल्पते।
भर्जिता क्वथिता धाना प्रायो बीजाय नेष्यते॥

श्रीमद्भागवतमें स्वयं रासेश्वर कहते हैं कि जिनकी बुद्धि मुझमें लगी है, उनकी कामना भी दूसरी कामनाओंकी भाँति बन्धनकारक नहीं होती। क्योंकि जो बीज भून या उबाल दिये गये हैं, वे फिर उग नहीं सकते।

जीवका पुनर्जन्म होता है उसकी वासनाओंसे। वह कुछ करता है और कुछ चाहता है, अतः उसे अपने कर्मोंका भोग और वासनाओंकी पूर्तिके लिये बार-बार जन्म लेना पड़ता है। यदि वह कुछ न करे और कुछ न चाहे तो फिर उसका जन्म न हो। लेकिन संसारमें आकर 'न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।' कोई एक क्षण भी कर्म किये बिना रह नहीं सकता और इच्छाएँ भी होती ही हैं, तब जीवका त्राण कैसे हो। कर्म बन्धक नहीं, उनमें अहंभाव बन्धक है। चाह भी सब बन्धक नहीं होतीं। जल पीनेकी इच्छा, भोजनकी इच्छा, इस प्रकार छोटी-मोटी सहस्रों इच्छाएँ होती रहती हैं। ये सब बन्धक थोड़े ही हैं। वस्तुतः बन्धक तो वह चाह होती है जो इतनी प्रबल हो कि मनसे बढ़कर बुद्धिपर आक्रान्त हो जाय। बुद्धि जिसके सम्मुख झुक जावे। यही चाह चित्तपर संस्कार छोड़ जाती है। अन्यथा मन तो सङ्कल्प-विकल्पात्मक है ही। वह तो अपनी उधेड़-बुन किया ही करता है।

कर्म जीवनके लिये है, न कि कर्मोंके लिये जीवन। जीवन है, उसे काटना है, अतः कुछ-न-कुछ करना ही चाहिये। लेकिन करना चाहिये सदा यह समझते हुए कि कर्म ही सब कुछ नहीं। वह तो जीवनके लिये है। इस प्रकारका स्मरण कर्मासक्तिको शिथिल करके निर्मूल कर देगा। ठीक इसी प्रकार मानव यदि तनिक बुद्धिमानीसे काम ले और पशु न बने तो चाह उसे पागल नहीं बना सकेगी। परिस्थिति, उद्योग और प्रारब्ध ही फलके नियन्त्रक हैं। प्रारब्धमें जो होगा, अवश्य मिलेगा, और जो नहीं होगा, लाख सिर पीटनेपर भी हाथ नहीं आनेका। ऐसी स्थितिमें किसी भी परिस्थितिको प्राप्त करने या किसी स्थितिको

दूर करनेके लिये व्याकुल बनना व्यर्थ है। यदि जीवनमें ये दोनों बातें आ जावें तो कोई साधन करना शेष नहीं रहता।

यह तो हुई बुद्धिवादकी बात। वस्तुतस्तु यह विश्व एक नाटक है। हम सब इसके पात्र हैं और इसके सूत्रधार हैं श्रीहरि।

उमा दारु जोषित की नाईं। सबहिं नचावत राम गुसाईं॥

उस क्रीडाप्रियके कोमल करोंकी ये सब कठपुतलियाँ हैं। इस अपने नाटकमें वह जिसे जो अभिनय दे देता है, उसको वही करना पड़ता है। न तो कोई साधन करता और न कोई क्रूर कर्म। करता-कराता तो सब कोई दूसरा है। हमने व्यर्थमें कर्तृत्वका भार अपने सिर थोप लिया है।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥

हमारा परम साधन तो यही होगा कि हम उस भ्रमानेवालेका स्मरण रखें। हम नहीं घूमते, कोई हमें घुमाता है। बस, यही स्मृति उत्पन्न करनेके लिये सारे साधन हैं। यदि यह स्मृति है, तो फिर किसी साधनकी अपेक्षा नहीं। जिस साधनसे यह स्मृति होती है, वही साधन सफल है। जिस साधनसे यह स्मृति नहीं होती, वह तो साधन नहीं, व्यायाम है।

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः॥

मुझमें ही मन लगाओ! मनसे केवल मेरे सम्बन्धमें सोचो। जो कुछ सोचो, मेरे लिये। बुद्धिको मुझमें लगाओ! तुम्हारी सब विवेचना, युक्ति, तर्क मुझमें पर्यवसित हों! ऐसा हो जानेपर निःसन्देह तुम मुझमें ही निवास करोगे!!

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय॥

यदि चञ्चल होनेके कारण चित्तको स्थिरतासे मुझमें न लगा सको तो अभ्यासके द्वारा मुझे प्राप्त करनेका प्रयत्न करो! बार-बार अभ्यास करो कि तुम्हारा चित्त मुझमें स्थिर रहे!!

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि॥

बार-बार मुझमें चित्त लगाये रहनेका अभ्यास भी तुम्हारे बसका न हो तो मेरे लिये कर्मपरायण बनो! 'मैं प्रभुके लिये, उन्हींकी प्रेरणासे कर्म करता हूँ।' इस प्रकार भाव रखकर मेरे लिये कर्म करते हुए भी तुम परम सिद्धि प्राप्त करोगे! आवागमनसे परित्राण पा जाओगे!!

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान्॥

यदि इस प्रकार कर्म करते समय कार्यकालमें मेरा आश्रय लेकर कर्म करनेमें तुम असमर्थ हो अर्थात् यदि कार्यकालमें 'मैं प्रभुके लिये, प्रभुकी प्रेरणासे कार्य करता हूँ' ऐसा स्मरण न रख सको तो संयतात्मा होकर सब कर्मोंके फलका त्याग कर दो! कम-से-कम कर्मकी समाप्तिपर—कर्मान्तमें तो अवश्य मनको संयत कर लो और तब 'प्रभो! मैं व्यर्थ ही अपनेको इस कर्मका कर्ता मानता रहा। कर्म तो आपने ही कराया है। इसका फल आप ही स्वीकार करें।' इस प्रकार फल त्याग कर दो! सब कर्मोंके फलोंका त्याग करो। 'मीठा-मीठा गप्, कड़वा-कड़वा थू' वाली बात न हो और एक कर्मकी समाप्तिपर तुरंत फल त्याग कर दो! दिनभरका एक बारके लिये मत छोड़ो!!

केशवके ये दिव्य वचन किसी टीका-टिप्पणीकी अपेक्षा नहीं करते। वास्तवमें यही साधन है। जिस साधनसे कम-से-कम कर्मान्तमें प्रभुकी स्मृति हो वही साधन है। निरन्तर भगवत्स्मृति रहे, सम्पूर्ण साधनोंका यही लक्ष्य है और यही सबसे प्रधान साधन है।

॥ श्रीकृष्णार्पणमस्तु ॥

पतिव्रता क्या कर सकती है ?

एक आधुनिक दृष्टान्त

(लेखक—श्रीरामनाथजी 'सुमन')

आर्यसमाजके इतिहासमें स्व० स्वामी श्रद्धानन्दका स्थान स्वामी दयानन्दके बाद ही समझा जाता है और मेरी निजी सम्मतिमें तो वे स्वा० दयानन्दसे आर्य-सभ्यताके अधिक अच्छे प्रतिनिधि थे। यहाँ इस विवादकी जरूरत नहीं। मेरा मतलब इतना ही है कि स्वामी श्रद्धानन्दको अन्धविश्वासी और मिथ्याचारी कहकर 'आधुनिक' युवक अलग नहीं कर सकते। बचपनसे मृत्युतक उनका जीवन बहुरंगे अनुभवोंकी एक माला है। इन्हीं स्वामी श्रद्धानन्दके जीवनसे हम कुछ चित्र यहाँ देना चाहते हैं जिनसे अपने-आप स्पष्ट हो जायगा कि एक अपढ़ पर अच्छे संस्कारोंके बीच पली हुई पति-प्राणा नारी क्या कर सकती है और वह एक अपदार्थ, असमर्थ अबला है या पति-हृदयपर शासन करनेवाली, उदार महिमामयी तथा शक्तिमान् नारी।

जब काशीमें मुंशीराम (स्वामी श्रद्धानन्द) के पिता कोतवाल थे तब मुंशीरामको कसरत-कुश्ती, अखाड़ेका शौक था। अच्छा कसरती शरीर था। भले-बुरे सभी तरहके संगी-साथी थे। मामाने मद्यपानका चस्का लगा दिया था। एक बार गङ्गाके किनारे टहलते हुए इन्होंने एक पाखण्डी नंगे बाबासे सोलह वर्षकी एक सुन्दरी सधवा बहनकी रक्षा की, इसी सिलसिलेमें वह लिखते हैं—

'घटना तो मेरे मन और आत्माको उच्च बनानेवाली थी, परन्तु नास्तिकताकी लहर और पुराने अंग्रेजी उपन्यासोंके विचित्र आचारशास्त्रने मनकी अवस्था बदल दी थी। मैंने अपने आपको एक वीर रक्षक (Knight errant) समझ लिया, जिसने एक पीड़ित देवीकी रक्षा की। अब उस अबला देवीको मैंने अपनी प्रिया (Lady love) की उपाधि मन-ही-मन दे ली और अपने आपको उसका सदाका रक्षक (Champion) कल्पित कर लिया। उन्हीं दिनों मेरे मामू महाशयने मुझे कुछ-कुछ मद्यपानका अभ्यास शुरू करा दिया था। अब तो मैंने मद्यपवीरका पूरा रूप धारण कर लिया 'यदि उस रामायणपरसे श्रद्धा न उठ गयी होती जिसमें सीताके आदर्श पातिव्रतपर मैंने बारंबार पवित्र अश्रु-धारा बहायी थी तो मुझे निश्चय है कि उस गढ़ेसे बच जाता जिसमें गिरनेके पीछे मुझे घोर प्रायश्चित्त करनेपर ही शान्ति प्राप्त हुई थी। यदि अपने प्राचीन इतिहासपर श्रद्धा होती तो पीड़ित स्त्रीजातिका रक्षा-बन्धन भाई बनकर उनकी रक्षाका व्रत लेता। परन्तु मैंने तो अपनी सभ्यताको जंगलीपन और अपने साहित्यको मूर्खताका भण्डार समझ रक्खा था, फिर उनसे मुझे सहायता कब मिल सकती थी ?'

परिणाम वही हुआ जो होना था। एक दिन ये अपनी मर्यादासे स्खलित हो गये। हृदय तीव्र अनुतापसे भर गया। लिखते हैं—'हा ! वर्षोंकी कमायी एक घण्टेमें डूब गयी। उस रात मैंने भोजन न किया। रातको व्याकुल रहा। दूसरे दिन प्रातः रामायणका फिर स्मरण आया।' इसके फलस्वरूप इन्होंने उसे धर्मकी बहिन बना लिया। पर जो कमजोरी जीवनमें आ गयी थी वह दूसरे रूपोंमें प्रकट होती रही। मद्य-मांस और जूएका चस्का लग गया। धीरे-धीरे इनके मनमें विवाह करके एक जीवन-संगिनी प्राप्त करनेकी इच्छा पैदा हुई। लेकिन इनके दिमागमें धुआँ भरा था, जैसा कि कालेजकी शिक्षा प्राप्त करनेवाले आजकलके अधिकांश

युवकोंके दिमागमें भरा होता है। अपनी मनःस्थितिके सम्बन्धमें ये स्वयं लिखते हैं—

'मथुरासे चलते ही विवाहकी धुनने सब कुछ भुला दिया। इंग्लिश कवियों और उपन्यास-लेखकोंका सत्सङ्ग (?) साथ था। मैंने अपनी भविष्यकी धर्मपत्नीके विषयमें उत्तम-से-उत्तम उपन्यासकी नायिकाकी कल्पना कर ली। मैंने अपनी धर्मपत्नीके लिये बहुत-से सामान इकट्ठे किये थे और यह समझ लिया कि आगामी प्रेममय जीवन आनन्दका कटेगा।········ बरात बड़ी धूम-धामसे चढ़ी। वधूकी आयु बारह वर्षकी थी।········

'मैं विवाहके धूम-धड़क्केसे निवृत्त होकर बहुत ही निराश हुआ। मैंने समझा था कि वधू युवा मिलेगी परन्तु अभी वह बाल्यावस्थामें ही थी। फिर मैंने निश्चय किया कि उसे स्वयं पढ़ाऊँगा। इस विचारने मुझे बहुत सन्तोष दिया। परन्तु उसे मुझसे मिले बिना ही विदा होना पड़ा। फिर कुछ धैर्य बँधा जब सुना महीना पीछे मुकलावा (द्विरागमन) होगा। उस बार भी दो दिन घर रखकर, बिना मुझसे परिचय कराये ही, बड़े भाई साहबने विदा कर दिया।'

इसके बाद फिर इनके जीवनपर अन्धकार छा गया। शराबका चस्का खूब लगा और उसीके साथ फिर यह पतित हुए। नाच, तमाशेमें मन लग गया। काफ़ी समयतक भटकनेके बाद एक बार फिर घर पहुँचे और तीसरी बार अपनी धर्मपत्नीको, बिना मुँह देखे, विदा करा लाये। तलवन (गाँव) पहुँचकर पहली बार पत्नीसे बातचीत हुई। पुराने नावेलोंके हवाई किले रुख़सत हुए, परन्तु एक नया भाव भी उत्पन्न हुआ। वह यह कि जिस अबलाको अपना आश्रय मिला है उसे गुणवती बनानेके लिये शिक्षा देना चाहिये। उस समय इनके मनमें दया और रक्षाका भाव ही प्रबल था।

परन्तु यह भाव भी स्थिर न रहा। इनका जीवन अच्छे और बुरे संस्कारोंके संघर्षमें झूल रहा था। इसलिये ये बार-बार गिरते थे, बार-बार अनुताप करते थे और फिर बुरी आदतोंमें फँस जाते थे। एक ओर ये कुसंस्कार थे; बुरी आदतें थीं और दूसरी ओर पतिप्राणा पत्नीकी एकान्त भक्ति और निष्ठा थी। इस भक्तिने कैसे कुसंस्कारोंपर विजय प्राप्त की, इसकी कथा बड़ी मनोरञ्जक है। स्वामी श्रद्धानन्दने स्वयं ही इसका विस्तारसे वर्णन किया है। वे लिखते हैं—

'बरेली आनेपर शिवदेवी (मेरी धर्मपत्नी) का यह नियम हुआ कि दिनका भोजन तो मेरे पीछे करती ही, परन्तु रातको जब कभी मुझे देर हो जाती और पिताजी भोजन कर चुकते तो मेरा और अपना भोजन ऊपर मँगा लेतीं और जब मैं लौटता उसी समय अँगीठीपर गर्म करके मुझे भोजन करा पीछे स्वयं खातीं। एक रात मैं आठ बजे मकान लौट रहा था। गाड़ी दर्जीचौकके दरवाजेपर छोड़ी। दरवाजेपर ही बरेलीके बुजुर्ग रईस मुंशी जीवनसहायका मकान था। उनके बड़े पुत्र मुंशी त्रिवेनीसहायने मुझे रोक लिया। गजक सामने रक्खी और जाम भरकर दिया। मैंने इन्कार किया। बोले—'तुम्हारे ही लिये तो दो आतशा खिंचवायी है। यह जौहर है।' त्रिवेनी-सहायजीके छोटे सब मेरे मित्र थे। उनको मैं बड़े भाईके तुल्य समझता था। न दो आतशाका मतलब समझा न जौहरका। एक गिलास पी गया। फिर गपबाजी शुरू हो गयी और उनके मना करते-करते मैं चार गिलास चढ़ा गया। असलमें वह बड़ी नशीली शराब थी। उठते ही असर मालूम हुआ। दो मित्र साथ हुए। एकने कहा, चलो मुजरा करायें। उस समयतक न तो मैं कभी वेश्याके मकानपर गया था और न कभी किसी वेश्याको बुलाकर अपने यहाँ बातचीत की थी; केवल महफ़िलोंमें नाच देखकर चला आता था। शराबने इतना जोर किया कि पाँव जमीनपर नहीं पड़ता था।···········एक वेश्याके घरमें जा घुसे। कोतवाल साहबके पुत्रको देखकर

सब सलाम करके खड़ी हो गयीं। घरकी बड़ी नायिका-का हुक्म हुआ कि मुजरा सजाया जाय। उसकी नौचीके पास कोई रुपये देनेवाला बैठा था। उसके आनेमें देर हुई। न जाने मेरे मुँहसे क्या निकला। सारा घर काँपने लगा। नौची घबड़ायी हुई दौड़ी आयी और सलाम किया। तब मुझे किसी अन्य विचारने आ घेरा। उसने क्षमा माँगनेके लिये हाथ बढ़ाया और मैं 'नापाक नापाक' कहते हुए नीचे उतर आया। यह सब पीछे साथियोंने बताया। नीचे उतरते ही घरकी ओर लौटा, बैठकमें तकियेपर जा गिरा और बूट आगे कर दिये जो नौकरने उतारे। उठकर ऊपर जाना चाहा परन्तु खड़ा नहीं हो सकता था। पुराने भृत्य बूढ़े पहाड़ी पाचकने सहारा देकर ऊपर चढ़ाया। छतपर पहुँचते ही पुराने अभ्यासके अनुसार किवाड़ बन्द कर लिये और बरामदेके पास पहुँचा ही था कि उलटी होने लगी। उसी समय एक नाजुक छोटी अँगुलियोंवाला हाथ सिरपर पहुँच गया और मैंने उलटी खुलके की। अब शिवदेवीके हाथोंमें मैं बालकवत् था। कुल्ला करा, मेरा मुँह पोंछ ऊपरका अँगरखा, जो खराब हो गया था, बैठे-ही-बैठे फेंक दिया, और मुझे आश्रय देकर अंदर ले गयी। वहाँ पलँगपर लिटाकर मुझपर चादर डाल दी और बैठकर सिर दबाने लगी। मुझे उस समयका करुणा और शुद्ध प्रेमसे भरा मुख कभी न भूलेगा। मैंने अनुभव किया मानो मातृशक्तिकी छत्रछायाके नीचे निश्चिन्त लेट गया हूँ। पथरायी हुई आँखें बन्द हो गयीं और मै गहरी नींद सो गया। रातके शायद एक बजा था जब मेरी आँख खुली। वह चौदह-पन्द्रह वर्षकी बालिका पैर दबा रही थी। मैंने पानी माँगा। आश्रय देकर उठाने लगी, परन्तु मैं उठ खड़ा हुआ। गरम दूध अँगीठीपरसे उतार और उसमें मिश्री डालकर मेरे मुँहको लगा दिया। दूध पीनेपर होश आया। उस समय अंग्रेजी उपन्यास मग्जमेंसे निकल गये और गुसाईंजीके खींचे दृश्य सामने आ खड़े हुए। मैंने उठकर और पास बैठाकर कहा—'देवी ! तुम बराबर जागती रही और भोजन-तक नहीं किया। अब भोजन करो।' उत्तरने मुझे व्याकुल कर दिया। परन्तु उस व्याकुलतामें भी आशा-की झलक थी। शिवदेवीने कहा—'आपके भोजन किये बिना मैं कैसे खाती। अब भोजन करनेमें क्या रुचि है ?' उस समयकी दशाका वर्णन लेखनीद्वारा नहीं हो सकता। मैंने अपनी गिरावटकी दोनों कहानियाँ सुनाकर देवीसे क्षमाकी प्रार्थना की परन्तु वहाँ उनकी माताका उपदेश काम कर रहा था—'आप मेरे स्वामी हो, यह सब कुछ सुनाकर मुझपर पाप क्यों चढ़ाते हो ? मुझे तो यह शिक्षा मिली है कि मैं आपकी नित्य सेवा करूँ।' उस रात बिना भोजन किये दोनों सो गये और दूसरे ही दिनसे मेरे लिये जीवन ही बदल गया।

'वैदिक आदर्शसे गिरकर भी जो सतीत्व-धर्मका पालन पौराणिक समयमें आर्यमहिलाओंने किया है, उसीके प्रतापसे भारतभूमि रसातलको नहीं पहुँची और उसमें पुनरुत्थानकी शक्ति अबतक विद्यमान है—यह मेरा निजका अनुभव है। भारतमाताका ही नहीं, उसके द्वारा तहजीबकी ठेकेदार संसारकी सब जातियोंका सच्चा उद्धार भी उसी समय होगा जब आर्यावर्तकी पुरानी संस्कृति जागनेपर देवियोंको उनके उच्चासनपर फिरसे बैठाया जायगा।'

इस आदर्शके विरुद्ध कोई 'आधुनिका' होती तो वह घृणासे मुँह फेर लेती; पतिसे सम्बन्ध-विच्छेद कर लेती। जहरसे जहर और बढ़ता और दोनोंके जीवन चौपट होते। पर युग-युगसे भारतीय नारीके हृदयमें जो अमृत सञ्चित होता रहा है उसने बार-बार विषको निष्फल कर दिया है और न केवल नारीको सभ्यताके शीर्षस्थानपर उठाकर प्रतिष्ठित किया है बल्कि पुरुषकी भी रक्षा की है और उसे सन्मार्गपर प्रेरित किया है।

विश्वास और अन्धविश्वास

(लेखक—ब्रह्मलीन स्वामी श्रीज्योतिर्मयानन्दजी)

शिष्य—महाराज ! आप बार-बार विश्वास रखनेके लिये कहते हैं । विश्वास क्या वस्तु है ?

गुरु—वत्स, विश्वास स्वर्गके द्वारको खोलनेकी कुंजी है । आत्मोन्नतिका प्रधान साधन, तथा सफलता-प्राप्तिका सहज उपाय है । मैंने अनेकों शास्त्रोंको देखा है । बहुत सत्संग किया है, परन्तु प्रभुके निकट पहुँचनेका इससे अधिक सरल कोई उपाय मैंने नहीं देखा । तप, दान, सेवा, यज्ञ, योग, भक्ति, ज्ञान आदि अनेकों साधन हैं और वे सभी ठीक हैं परन्तु विश्वास सबका मूल है । विश्वासके बिना कोई भी साधना सफल नहीं हो सकती । इसलिये विश्वास अत्यन्त आवश्यक वस्तु है । देखो, भगवान्‌ने कहा है—

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥
(गीता ४ । ४०)

'अज्ञानी, श्रद्धाहीन तथा संशयात्मा नाशको प्राप्त होते हैं । इनमेंसे संशयात्माके लिये न तो यही लोक है और न परलोक ही, और न उन्हें सुख ही मिलता है ।'

लोग कहते हैं—'भाई, अन्धविश्वास मत करो । अन्धविश्वास ही हमारे सर्वनाशका कारण है । इसी अन्ध-विश्वासके कारण देशका राज्य हमारे हाथसे निकल गया । इसीके द्वारा हमारी जातिकी अवनति हुई है, तथा इसीके कारण दिनोंदिन हमारी व्यक्तिगत अवनति होती जा रही है ।' यह सत्य है कि अन्धविश्वास अत्यन्त हानिकारक है तथा बिल्कुल त्याज्य है । अन्धा जिस प्रकार दृष्टिशक्तिसे हीन होता है, उसी प्रकार विचारदृष्टिसे हीन होकर केवल एक बार सुन या देखकर ही किसी अयोग्य वस्तुपर दृढ़ विश्वास कर लेना अन्धविश्वास कहलाता है और इस प्रकारका विवेकशून्य विश्वास हानिकारक होता ही है । दूध बड़ा ही मधुर और पुष्टिकारक है परन्तु उसे खटाईके बरतनमें रख देनेसे वह विकारयुक्त और हानिकारक हो जाता है; उसी प्रकार विश्वास भी विचाररहित दशामें जब असत् पात्रमें स्थापन कर लिया जाता है तो वह अशुभ फल ही देता है । परन्तु सत्पात्रमें, सत्-शास्त्रमें और सत्स्वरूप परमात्मामें किया जानेवाला विश्वास न तो अन्धविश्वास है, और न वह अशुभ फल ही प्रदान करता है । वरं इनमें विश्वास किये बिना तो काम ही नहीं चल सकता । इसलिये इनमें विश्वास करो, विश्वास ही स्वर्गकी कुंजी है ।

बहुत प्राचीन कालमें काशीधाम आजकलकी तरह भीड़भाड़की जगह नहीं थी । उस समय इसका नाम था 'आनन्दकानन' । योगी, ऋषि, मुनि, त्यागी, सिद्धपुरुष इस स्थानमें रहकर तपस्या करते थे । अधिकांश स्थान जंगल था, सर्वसाधारणकी बस्ती न थी । उस समय एक ब्राह्मण काशीधाममें रहते थे । वे काशीवास तो अवश्य करते थे, परन्तु किसी दिन गङ्गा-स्नान नहीं करते । क्योंकि उनका विश्वास था कि गङ्गामें स्नान करते ही मुक्ति हो जायगी । उनकी सहधर्मिणी उनको गङ्गा-स्नानके लिये कहा करती, कभी-कभी तो बहुत तंग करती । परन्तु वे एक न सुनते और कहा करते कि, 'गङ्गास्नान करते ही मैं तो मुक्त हो जाऊँगा, फिर गृहस्थी कैसे चलेगी और तुम्हारा क्या होगा ।' स्त्री पतिकी बात सुनकर अपनी हँसी नहीं रोक सकती और कहती 'इतने लोग गङ्गा-स्नान करते हैं, कोई मुक्त नहीं होता, केवल आप ही मुक्त हो जायँगे, बड़े ही आश्चर्यकी बात है ।' कुछ

दिनों बाद चूडामणियोग आया। लाखों आदमियों-को गङ्गा-स्नान करते देखकर ब्राह्मणीसे रहा न गया। उसने दृढ़तापूर्वक कहा—'आज आपको गङ्गा-स्नान करना ही पड़ेगा। फिर चाहे मुक्त होना पड़े, चाहे और कुछ। ऐसा योग बहुत कम आता है। अतएव इस सुयोगको मैं किसी प्रकार हाथसे जाने न दूँगी।' ब्राह्मणने कहा—'मेरी अभी जवान उम्र है, मैं बूढ़ा नहीं हो गया। संसारमें मुझे अभी बहुत-से काम करने हैं। कई आवश्यक कर्त्तव्य अधूरे पड़े हैं, ऐसी अवस्थामें गङ्गा-स्नान करके मुक्त हो जानेपर तुम्हारी दशा क्या होगी।' ब्राह्मणीने किसी तरह हँसी रोककर कहा—'सांसारिक अवस्था चाहे जो हो, और मेरे भाग्यमें चाहे जो लिखा हो, आपको तो आज गङ्गा-स्नान करना ही पड़ेगा।' ब्राह्मणीने जब बहुत आग्रह किया तब ब्राह्मणदेवता लाचार हो गये। सारा देना-पावना निपटा कर तथा जो कुछ नकद था उसे स्त्रीको समझा-बुझाकर सबसे विदा लेकर वे गङ्गा-स्नानके लिये चल दिये। गङ्गाजीके किनारे पहुँचकर विधिपूर्वक स्नान किया। उनका विश्वास था कि स्नान करते ही मुक्ति हो जायगी परन्तु जब स्नान करके ज्यों-के-त्यों बाहर घाटपर निकल आये तब चकित होकर मन-ही-मन विचारने लगे कि—'क्या शास्त्र और धर्म सब मिथ्या हैं, मैं मुक्त तो नहीं हुआ। जो कुछ भी हो, संसारका तो मैंने त्याग कर ही दिया। अब घर न लौटूँगा खास करके स्त्रीको जाकर किस प्रकार मुँह दिखलाऊँगा।' वे इस प्रकार विचार कर ही रहे थे कि देखते हैं—सामने नारद मुनि उपस्थित हैं। देवर्षिको साष्टाङ्ग प्रणाम करके उन्होंने पूछा—'भगवन्! शास्त्रमें लिखा है कि गङ्गा-स्नान करनेसे मुक्ति होती है, मैं मुक्त क्यों नहीं हुआ?' देवर्षिने कहा—'इस प्रश्नका उत्तर देनेके लिये मेरे पास समय नहीं है। इस रास्तेसे चले जाओ, सामने ब्रह्माजी मिलेंगे। उनसे पूछना।' इतना कहकर और मार्ग दिखलाकर वे अन्तर्धान हो गये।

ब्राह्मण देवर्षिके बतलाये हुए मार्गसे कुछ दूर गये ही थे कि ब्रह्माजीसे मिले। पद्मयोनिको विधिपूर्वक प्रणाम-प्रदक्षिणा करके उपर्युक्त प्रश्न करनेपर वे बोले कि, 'इसका उत्तर मैं न दे सकूँगा। इस मार्गसे जाओ, आगे महादेवजीके साथ साक्षात्कार होगा। उनसे इसका उत्तर पूछना।' इतना कहकर ब्रह्माजी अन्तर्धान हो गये। बतलाये हुए मार्गसे कुछ दूर जानेपर शिव-जीका साक्षात्कार हुआ। ब्राह्मणने पूर्ववत् उनको भी प्रणाम-प्रदक्षिणा करके उपर्युक्त प्रश्न पूछा। महादेवजी-ने कहा—'इसी मार्गसे जाओ, आगे विष्णुभगवान् मिलेंगे, वे इस प्रश्नका उत्तर देंगे।' ब्राह्मण उस मार्गसे आगे बढ़े, कुछ दूर जानेपर श्रीविष्णुभगवान्‌के साथ उनका साक्षात्कार हुआ। उनको प्रणाम-प्रदक्षिणा करके ब्राह्मणने उपर्युक्त प्रश्न पूछा। नारायणने उत्तर दिया—'मुक्त तो हो गये हो। देखो वैकुण्ठमें आ पहुँचे हो। अपने शरीरकी ओर देखो, मनुष्य-शरीर अब नहीं रहा है, तुम देवशरीरको प्राप्त हो गये।' ब्राह्मणने विस्मित होकर अपने शरीरकी ओर देखा। मनुष्य-मूर्तिके स्थानमें चतुर्भुजधारी दिव्य देवमूर्ति दिखायी दी। ब्राह्मणके आश्चर्य और आनन्दकी सीमा न रही।

विश्वासीके लिये स्वर्गका द्वार सदा ही खुला रहता है। इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है।

× × × ×

प्रभु हैं, प्रभु हमारे स्रष्टा, पालनकर्त्ता और संहर्त्ता हैं। प्रभु सर्वव्यापी है। वे सब गुणोंके आधार हैं। इस प्रकारकी एक अचिन्त्य, अपरिमित शक्तिके ऊपर दृढ़ आस्थाका नाम ही प्रभुके ऊपर विश्वास करना है। इस प्रकारका विश्वास ही धर्म-जीवनका प्रथम सोपान है तथा आत्मोन्नतिका मूलमन्त्र है।

प्रभु मन, वाणी और बुद्धिके विषय नहीं हैं। मन-वाणी प्रभुतक पहुँचनेकी लाख चेष्टा करनेपर भी नहीं पहुँच पाते। परन्तु विश्वाससे मनुष्य सहज ही प्रभुतक पहुँच जाता है। सर्वव्यापक प्रभु अनन्त ब्रह्माण्डमें भी नहीं समा सकते परन्तु विश्वासके बलसे वही महान् प्रभु अपने भक्तके छोटेसे हृदयमें भी आ जाते हैं। अनन्त ब्रह्माण्डके अधिकारी सर्वेश्वर, असीम विक्रमशाली परमेश्वर देव-दानवादि किसीके भी अधीन नहीं होते, परन्तु वही परमेश्वर विश्वासके द्वारा साधारण बलवाले भक्तके अधीन हो जाते हैं। विश्वास ऐसी ही अलौकिक वस्तु है। इसलिये विश्वास करो, प्रभुपर विश्वास करो।

जिस जहाजका समुद्रमें लंगर डाल दिया जाता है, वह जहाज तरङ्गोंके थपेड़ोंसे डगमगाता नहीं। संसारमें भी जो मनुष्य भगवान्‌में दृढ़ विश्वास करता है, वह कभी सुख-दुःखसे विचलित नहीं होता। और लंगरके बिना जहाज जैसे तरङ्गोंकी चोटसे आगे-पीछे डोलता है, उसी प्रकार जिसका भगवान्‌में दृढ़ विश्वास नहीं है वह मनुष्य भी संसारमें पद-पदपर सुख-दुःखके थपेड़ोंसे व्याकुल रहता है, तथा जन्म-मृत्युके चक्करमें पड़कर सदा क्लेश भोगता रहता है।

विचार तो करो। राह चलते मुसाफिर जेठके प्रचण्ड घामसे घबड़ाकर किसी पेड़के नीचे आकर आश्रय लेते हैं। वृक्ष जड है तथापि अपने आश्रित पथिकोंको सुशीतल छाया तथा कभी-कभी फल दान करके तृप्त करता है। फिर तुम यदि सम्पूर्ण ब्रह्माण्डके रक्षक, चिन्मय, चारों (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) पुरुषार्थोंके दाता परमेश्वरका आश्रय लेते हो, तो क्या कभी तुम्हें निराश होना पड़ेगा ?

संसारमें कोई आदमी यदि किसी अच्छे पुरुषका आश्रय लेता है तो वह भी अपनी सामर्थ्यके अनुसार उसकी सहायता करता है। फिर सर्वशक्तिमान्, सर्वेश्वर, सर्वश्रेष्ठ दयालु और भक्तोंकी मनोकामनाको पूर्ण करनेवाले विश्वम्भरके ऊपर विश्वास करके उनका आश्रय लेनेपर क्या कुछ भी सहायता नहीं पाओगे ? यह भी कभी सम्भव है ?

अरे अविश्वासी मनुष्य ! परमेश्वर, सद्गुरु तथा सत्-शास्त्रके ऊपर तुम्हारा विश्वास नहीं है, इस प्रकारके विश्वासको तुम अन्धविश्वास कहकर उड़ा रहे हो, और उसके बदले जो तुम तुच्छातितुच्छ वस्तुओंपर विश्वास करके संसारके सब काम कर रहे हो—वह क्या तुम्हारा अन्धविश्वास नहीं है ?

तुम एक अदने-से चार पैसेके मजदूर अपरिचित कन्हाई नाईके सामने अपनी गर्दन झुका देते हो। उस समय तुम अस्त्रहीन रहते हो और उसके हाथमें तेज धारका छुरा रहता है। वह चाहे तो अनायास ही क्षण-भरमें तुझे यमलोक पहुँचा सकता है तथापि उसके ऊपर तुम्हारा अटल विश्वास है।

तुम्हारा रसोइया, जिसके साथ तुम्हारी कोई आत्मीयता नहीं—केवल पन्द्रह-बीस रुपये महीनेका नौकर है—उसके बनाये हुए भोजनपर तुम्हारा अचल, अटल विश्वास है। वह चाहे तो किसी भी दिन भोजनमें जहर मिलाकर तुम्हारी संसारयात्राको समाप्त कर सकता है, परन्तु उसके ऊपर तुम्हारा कितना विश्वास है ?

तुम बाजार जाते हो, तुम्हारे पेटमें दर्द उठता है। तुम किसी अपरिचित डाक्टरके यहाँ जाकर दवा खा आते हो। वह कोई विष मिली हुई औषध देकर तुम्हारे जीवनका अन्त कर सकता है। यह तुम भी जानते हो तथापि उसके ऊपर तुम्हारा विश्वास अटूट है।

तुम जहाजपर चढ़कर इंगलैंड जाते हो। जहाजकी चाल-ढालका तुम्हें कुछ भी पता नहीं है। सम्पूर्ण भावसे

तुम्हें एक साधारण कप्तानके ऊपर विश्वास करना पड़ता है। हो सकता है कि कप्तान तुम्हारी अपेक्षा अशिक्षित, अविद्वान् और निर्धन हो, तथापि तुम्हारे जीवनकी सारी आशाएँ उसीपर निर्भर करती हैं। ऐसा जानकर भी तुमने किस प्रकार उसपर इतना विश्वास कर लिया ?

तुम रेलसे यात्रा करते हो। तुम्हारे हाथमें चार पैसेका एक टाइमटेबल मात्र है। उसीपर निर्भर करके तुम एक अपरिचित स्थानमें, अनजान समाजमें जा रहे हो। यह सब क्या तुम्हारा अन्धविश्वास नहीं है ? क्या इन सब विश्वासोंके द्वारा तुम्हारी प्रतिदिनकी जीवन-यात्रा नहीं चलती ?

अब विचार करके देखो। इस संसारके प्रत्येक कार्यमें तुम्हें विश्वासकी आवश्यकता है, और तुम सबके ऊपर विश्वास करते हो। उनमें सब लोग विश्वासयोग्य न भी हो सकते हैं परन्तु तुम उनपर जान-बूझकर विश्वास करते हो, और मुँहसे कहते हो मैं अन्धविश्वास नहीं करता। क्या यह तमाशेकी बात नहीं है ? अब विचार करके देखो—तुम जिन वस्तुओंपर विश्वास करते हो, उनकी अपेक्षा कितने अधिक विश्वासके योग्य ईश्वर, सद्गुरु और सत्शास्त्र हैं। ईश्वर सर्वज्ञ और सर्व-शक्तिमान् हैं। सद्गुरु श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ हैं। सत् शास्त्र परमात्मा अथवा परमात्मतत्त्वके ज्ञाता सर्वभूत-हितैषी त्रिकालज्ञ ऋषियोंके द्वारा प्रणीत हैं। ये सभी तुम्हारे यथार्थ मार्गदर्शक हैं तथा सच्चे हितैषी हैं। पर जब इनके ऊपर विश्वास करनेके लिये कहा जाता है तो तुम कहते हो कि 'यह सब अन्धविश्वास हम नहीं करना चाहते।' तुम्हीं बतलाओ ऐसी अवस्थामें तुम्हें अदूरदर्शी या दुराग्रही कहा जाय तो क्या कोई अत्युक्ति होगी ?

अतएव वत्स, यदि कल्याण चाहते हो, यदि जन्म-मृत्युके चक्रसे छूटना चाहते हो, यदि सनातनी शान्ति-की इच्छा है, तो अब भी समय रहते प्रभुपर, प्रभुके भक्तोंपर तथा प्रभुप्रदर्शित सत् शास्त्रोंपर विश्वास करो, विश्वास करो। याद रक्खो बिना विश्वास किये तुम्हारा कभी कल्याण नहीं है।

भगवान् श्रीरामचन्द्रजीकी समदर्शिता

(लेखक—श्रीआत्मारामजी देवकर)

जब श्रीरामचन्द्रजी किष्किन्धा गये थे, तब ऋष्यमूक-पर्वतपर रहनेवाले सुग्रीवसे उन्होंने मित्रता की थी। इसके बाद उसपर किये गये अत्याचारोंका वृत्तान्त सुनकर उन्होंने बालिके मारनेकी प्रतिज्ञा की थी। तदनुसार वे उसे साथ लेकर किष्किन्धाकी ओर गये और उसे बालिको युद्धक्षेत्रमें लानेके लिये भेजा। बालि दौड़ा हुआ आया और सुग्रीवसे भिड़ गया। बालिको वरदान मिला हुआ था कि जो शत्रु उसके साथ युद्ध करनेके लिये आयेगा, उसका आधा बल उसमें (बालिमें) आ जायगा। इस वरदानकी मर्यादा रखनेके लिये भगवान् श्रीरामचन्द्रजी एक वृक्षकी ओटमें खड़े हो गये और दोनोंका युद्ध देखने लगे। सुग्रीव हारकर भागा और रामचन्द्रजीसे कहने लगा—'दयासागर ! मैं तो पहले ही कह चुका हूँ कि यह भाई नहीं, साक्षात् मेरा काल ही है।' तब श्रीरामचन्द्रजी उसे बड़ा ही चातुर्यपूर्ण उत्तर देते हैं—

एक रूप तुम भ्राता दोऊ। तेहि भ्रमते नहिं मारेउँ सोऊ॥

अर्थात् तुम दोनों भाई रूपमें एक ही-से हो। इससे मुझे भ्रम हो गया था कि किसे बाण मारूँ। भावार्थ यह है कि मैं समदर्शी हूँ। मेरी दृष्टिमें सभी जीव समान—एक-से हैं। दूसरी बात यह है कि जब तुमने मेरे साथ मित्रता की है तब तुम्हारा बड़ा भाई बालि भी इस सम्बन्धसे मेरा मित्र कहलायगा।

तीसरा विशेष कारण यह है कि तुम अपने मुँहसे उसे अपना हितकारी कह चुके हो। यथा-

बालि परमहित जासु प्रसादा। मिले राम तुम्ह समन बिषादा॥

ऐसी दशामें जबतक तुम पुनः अपने मुखसे उसे शत्रु न कहोगे, तबतक मैं उसे बाण नहीं मार सकता, अब तुम उसे अपना काल बतला रहे हो। अतः मित्र-धर्मके अनुरोधसे उसे अवश्य मारूँगा और तुम्हारा कण्टक दूर करूँगा।

इसका प्रमाण लङ्काकाण्डमें मिलता है। रावणके सिर और भुजाएँ काटते-काटते जब श्रीरघुनाथजी थक गये और वह मरा नहीं, तब विभीषणकी ओर देखकर कहते हैं। यथा—

मरइ न रिपु श्रम भयउ बिसेषा। राम बिभीषन तन तब देखा॥

विभीषणकी ओर देखनेका यही अभिप्राय था कि यदि वह रावणका निधन चाहता होगा तो अमृतकुण्ड-वाला गुप्त भेद मुझे अवश्य बतला देगा, अन्यथा उसे छिपावेगा। इससे उसके भ्रातृ-भावकी भी परीक्षा हो जायगी। सेवकका धर्म है कि वह अपने स्वामीकी निश्छलभावसे सेवा करे। यथा—

भानु पीठ सेइअ उर आगी। स्वामी सेइअ सब छल त्यागी॥

परीक्षाका भाव गोस्वामीजीकी आगेकी चौपाईसे स्पष्ट होता है। यथा—

उमा काल मर जाकी ईछा। सो प्रभु जन कर प्रीति परीछा॥

इसके बाद विभीषण जो उत्तर देता है वह कितना भावपूर्ण है। देखिये—

सुनु सर्बग्य चराचर नायक। प्रनतपाल सुर मुनि सुखदायक॥
नाभिकुंड सुधा बस याके। नाथ जिअत रावन बल ताके॥

अर्थात् हे चराचर जगत्के स्वामी! आप सर्वज्ञ हैं अर्थात् सब जानते हैं। शरणागतके रक्षक एवं देव-द्विजों तथा साधु-संतोंको आनन्द देनेवाले हैं। इसकी नाभिमें अमृतका कुण्ड भरा हुआ है, उसीके बलसे यह जीवित है। भावार्थ यह है कि आपने साधु-संत और देवताओंकी रक्षाके लिये अवतार लिया है। उस अपनी प्रतिज्ञाको पूर्ण करनेके लिये इसका निधन कीजिये, ऐसा किये बिना आपका उद्देश्य पूर्ण न होगा। मेरे-जैसे शरणागतोंकी रक्षा भी तभी हो सकेगी आगे आपकी इच्छा। इससे यह भी ध्वनि निकलती है कि मैं राजत्व प्राप्त करनेका इच्छुक नहीं हूँ। मेरे लिये आप उसका वध न कीजिये। रही मेरी रक्षा। सो आप करेंगे ही। क्योंकि यह आपकी स्वाभाविक बान है।

प्रिय पाठक! देखिये, रामायणमें कैसे सुन्दर और गूढ़ भाव भरे हुए हैं।

वियोगकी मार

ऊधो! उनहूँ भली करी।
हमहिं वियोगनि करी साँवरे, जिमि जल बिनु मछरी॥१॥
आवनको मग जोऊँ निसिदिन रटौं जु हरी हरी।
उन बिन लगी रहै नयननिमें स्रावन-मास-झरी॥२॥
नेकु न चैन रहै इहि हियकौं विरहकी मार परी।
'नेहलता' भई दरद बावरी, कान्ह-वियोग मरी॥३॥

'नेह'

अहिंसा

[अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः]

[कहानी]

(लेखक—श्री 'चक्र')

'इन हिंसकोंका पालन अच्छा नहीं !' बगलमें बैठे केशरीशावककी ओर संकेत करके किशोरने माधवरावसे कहा 'ये किसीके होते नहीं। पता नहीं इन्हें कब क्रोध आ जावे। कम-से-कम इस प्रकार स्वतन्त्र तो नहीं ही रखना चाहिये।'

'ओह, यह भोला शिशु' माधवरावने उस सिंह-शिशुके मस्तकपर हाथ फेरते हुए कहा 'इसे क्या बाँधकर रक्खा जा सकता है ? तुम देखते नहीं कि यह मुझे कितना चाहता है। कुत्तेके समान मेरे पीछे लगा फिरता है।'

'फिर भी·······' किशोरने रोका; परन्तु माधवराव बिना रुके बोलते गये। 'फिर भी यह हिंसक है और धोखा दे सकता है, तुम यही तो कहना चाहते हो ? सच पूछो तो मैंने इसे इसीलिये पाला भी है। इसकी सहोदरा मेरे द्वारा रक्षित न हो सकी। वह बेचारी इसे अकेली छोड़ गयी। अभी एक महीना ही तो हुआ है उसे मरे। और इसकी माँ—इसके देखते-देखते मैंने इसकी माँका वध किया है।' माधवरावके नेत्र टपकने लगे। कण्ठ भर आया। आँसुओंको पोंछकर उन्होंने अपने पालतू सिंहको देखा। वह चुपचाप इनके मुखको इस प्रकार देख रहा था, मानो वह भी इनके कष्टसे रोना ही चाहता हो।

'मैं इसकी माताका हत्यारा हूँ ! यदि यह मुझसे अपनी माताका बदला ले तो वह न्याय होगा। अपने दुष्कर्मका इस प्रकार प्रतीकार करनेका अवसर प्राप्त करनेकी आशासे ही मैंने इसका पालन किया। लेकिन यह अपनी माताके वधिकपर भी विश्वास करता है। देखो न ! उलटे मेरे दुःखसे पीड़ित होता है। इससे प्रतीकारकी भी आशा कहाँ ?'

(२)

वृक्षोंकी आड़ थी; फिर भी घोड़ेकी टापोंके शब्दने सिंहनीको सावधान कर दिया। अपनी गुफासे वह बाहर आयी और तनकर खड़ी हो गयी। उसके साथ उसके दोनों बच्चे भी निकल आये। यद्यपि सिंहनीने उन्हें गुफामें ढकेलना चाहा; किन्तु बच्चे तो बच्चे ही ठहरे। वे तो परिस्थिति समझते नहीं। इधर-उधर खिसककर वे माँके पास ही रहना चाहते थे। इधर घोड़ेके पैरोंका शब्द पास आ गया था और सिंहनीको अवकाश नहीं था बच्चोंको गुफाके भीतर लेकर जानेका। उसने उन्हें गुफाके द्वारपर ढकेल दिया और आप कान खड़े करके गुर्राने लगी।

बच्चा देनेपर तो गाय भी मारने दौड़ती है बच्चेके पास जानेवालोंको, फिर सिंहनी तो सिंहनी ही है। बच्चे समीप होनेपर वह असह्य हो जाती है। माधवराव-जैसा प्रवीण शिकारी इसे भलीभाँति जानता था। उसे पता था कि यदि प्रथम लक्ष्यमें ही वह धराशायी नहीं हो गयी तो शिकारीको स्वयं शिकार बननेमें देर न लगेगी। उसके कराल आक्रमणमें सावधानीसे लक्ष्य लेना सरल नहीं है।

भीलोंने ठीक पता बतला दिया था, जहाँ सिंहनीने गुफामें बच्चे दिये थे। झाड़ियोंकी सघनताका आश्रय लेते हुए माधवरावका घोड़ा बढ़ा आ रहा था। अन्तमें एक झाड़ीके पीछे नन्हें-से मैदानमें अपनी ओर मुख किये वह मृगेन्द्रवधू दृष्टि पड़ी। घोड़ा रुक गया। धनुषपर बाण चढ़ चुका था। एक सधा हुआ हाथ

छूटा। चीत्कारसे जंगल गूँज उठा। सिंहनी तड़पी और गिर गयी।

निपुण शिकारी समझ गया कि अब वह उठ नहीं सकती। घोड़ेसे उतरकर उसे पेड़की डालसे बाँध दिया और स्वयं सिंहनीकी ओर बढ़ा। बाण ठीक मस्तकके मध्यमें लगा था। सिंहनी आड़े पड़ी थी और उसके दोनों बच्चे उसके पास दौड़ आये थे। एक स्तन पी रहा था, दूसरा मुख सूँघ रहा था।

शिकारी स्तम्भित हो गया। उसने देखा—मस्तकसे बाणके पाससे रक्त टपक रहा है। दो भोले शिशु माँके पास हैं और सिंहनीका वह निष्प्राण शरीर अब भी उसे अपने अग्निनेत्रोंसे घूर रहा है। 'हत्यारे इन्हें भी मार!' मानो वह कह रही है। दो क्षण वह रुका रहा और तब धनुष फेंककर दौड़ा और सिंहनीके मुख और पंजोंके मध्य गिर पड़ा। मानो सिंहनी अभी जीवित है और उसे उसके कृत्यका बदला देगी। लेकिन ऐसा कुछ भी नहीं हुआ। सिंहनी ज्यों-की-त्यों उसे घूरती पड़ी रही। अब वह सिंहनीका शव-मात्र था। केवल वे बच्चे इस अपरिचितसे डरकर गुफामें भाग गये।

अन्ततः माधवराव गम्भीर व्यक्ति थे। वे उठे और उन्होंने सीटी दी। उनके सहचर जो उन्हें ढूँढ़ ही रहे थे, आ गये। बड़े आदरपूर्वक उन्होंने सिंहनीके उस शवको श्रीनर्मदाजीमें प्रवाहित कर दिया। सिंह-चर्मका इस प्रकार व्यर्थ जाना उनके अनुगतोंको सह्य नहीं था; लेकिन वे अपने नायककी कठोर एवं व्याकुल मुद्राके सम्मुख कुछ भी कहनेका साहस न कर सके। वे दोनों बच्चे माधवरावके घर लाये गये। कहना नहीं होगा कि माधवरावने वह फेंका हुआ धनुष फिर कभी नहीं उठाया।

(३)

सहसा चौंककर माधवरावने पीछे देखा। उनका केशरी एक बछड़ेको पटक चुका था और वह बछड़ा डकार रहा था। 'केशरी!' स्वामीके दृढ़ स्वर एवं कठोर नेत्रको देखकर वह सिंह संकुचित हो गया। अपराधीकी भाँति सिर झुकाये वह उनके समीप आकर खड़ा हो गया। बछड़ा उठा और प्राण लेकर भागा। 'सिंह बिगड़ गया है' इस भयसे पासके खेतका किसान भी हल-बैल छोड़कर भाग चुका था। माधव-रावने एक बार गम्भीर दृष्टिसे सिंहको देखा और फिर घरकी ओर लौट पड़े।

गुरुदेवने कहा था कि 'जिसके हृदयमें हिंसा नहीं है, उसके समीप पहुँचते ही सभी प्राणी हिंसा भूल जाते हैं।' दूसरे प्राणियोंकी बात तो दूर रही, मेरा पालतू केशरी भी अपनी हिंसा नहीं भूल पाता। अभी उस दिन उसने नौकरपर पंजा चलाया था और आज बछड़ेको दबा बैठा। जब दूध पिलाकर पालनेपर भी वह अपनी हिंसा न छोड़ सका तो दूसरोंकी क्या चर्चा? तब क्या गुरुदेवने ठीक नहीं········ऐसा कैसे हो सकता है? सच तो यह है कि मैंने केवल शिकार छोड़ा है। हाथोंसे हिंसा छोड़नेपर भी मैं अहिंसक कहाँ हूँ? अभी कल नौकरके द्वारा लालटेनका शीशा टूटनेपर जल उठा, परसों बच्चेको मारते-मारते रुका। माधवराव गम्भीरतासे सोच रहे थे।

'यह हाथमें लाठी? कुत्ता, सर्प, पशु आदि आक्रमण करे तो उसका निवारण होगा। सीधे शब्दोंमें उसे मारूँगा। यह हिंसा नहीं है?' उन्होंने लाठी फेंक दी। 'यह पहरेदार? कोई चोर, डाकू आये तो····' उन्होंने पहरेदारको विदा कर दिया वेतन देकर। इसी प्रकार वे और भी बहुत कुछ करते एवं सोचते रहे। यह क्रम चला कई दिनोंतक। उनके पास न तो पहरेदार रहा और न कुत्ता। घरके सब अस्त्र-शस्त्र बाँट दिये गये। यहाँतक कि ताला-कुंजी भी नहीं रक्खा।

लोग समझते थे कि माधवराव पागल हो गये हैं। कुछ ऐसे भी लोग थे जो उनपर श्रद्धा भी करने लगे। जो भी हो, माधवरावने अपनी समस्त सम्पत्ति जो केशरीके नाम करा दी, वह किसीको अच्छा नहीं लगा। और तब तो सबको और भी बुरा लगा जब केशरीके बीमार होकर मर जानेपर वे बच्चोंकी भाँति फूट-फूटकर रोने लगे। अन्ततः उन्होंने उसकी चिकित्सा एवं सेवामें कुछ उठा तो रक्खा नहीं था। फिर एक घातक पशुके लिये इतना व्याकुल होना कहाँकी समझदारी है ? लोगोंने समझा कि सिंह क्या मरा; एक विपत्ति टली। अन्यथा उससे सर्वदा खटका लगा ही रहता था।

आलोचनाएँ तो होती ही हैं और माधवरावकी अधिक हुईं; किन्तु वे थे अपनी धुनके पक्के। लोगोंकी ओरसे उन्होंने अपनेको वज्रबधिर बना लिया। उनका मकान था ग्रामके एक ओर। मकानके सम्मुख थोड़ा हटकर उन्होंने केशरीकी एक पूरे कदकी प्रस्तर मूर्ति निर्मित कराकर उसे एक पक्के चबूतरेपर स्थापित करा दिया। प्रायः सन्ध्याको वे उस मूर्तिके समीप चबूतरेपर बैठे या उसपर हाथ फेरते मिलते थे।

(४)

दो साँढ़ लड़ रहे थे, माधवराव उधरसे निकल गये। दोनोंने लड़ना तो दिया छोड़ और छोटे बछड़ोंके समान उछलकर उनके समीप आ गये। उन्होंने दोनोंको पुचकारा, उनके सिर एवं शरीरपर हाथ फेरा। 'आपसमें लड़ा नहीं करते!' मानो उनके आदेशको पशुओंने समझ लिया। दोनों परस्पर परिचितके समान खेलने लगे।

'माधवराव तो संत हो गये!' एक देखनेवालेने कहा 'देखो न, साँढ़ भी उनकी आज्ञा मानते हैं!' दूसरेने कहा—'साँढ़ तो फिर भी सीधे होते हैं, मैंने स्वयं देखा है कि उस सिंह-मूर्तिके चबूतरेपरसे वे एक बिच्छूको हाथसे उठाकर नीचे रख रहे थे। बिच्छूने डंक मारना तो दूर, शरीर भी नहीं हिलाया।' 'लेकिन मैं तो उस दिन घबड़ा गया जब मैंने देखा कि मेरी छोटी बच्ची उस चबूतरेपर एक काले सर्पको दोनों हाथोंसे थप-थपा रही है और साँप काटनेके बदले फण बचाता फिरता है। इतना ही नहीं, वहीं एक भेड़िया भी गुम-सुम बैठा था और रामूकी बकरीके बच्चे कभी चबूतरेसे उसकी पीठपर और कभी उसकी पीठसे चबूतरेपर उछल रहे थे।'

सब अपनी-अपनी सुना रहे थे, इतनी देरमें पटेल भी आ गये। उन्होंने अपना अनुभव बताया 'उस दिन मैं जमादारपर बहुत असन्तुष्ट था। कहीं मिलता तो खाल खींच लेता। ढूँढ़ते-ढूँढ़ते उसका पता लगा माधवरावके दालानमें। मैं आग-बबूला हुआ पहुँचा। दालानके पास जाते-न-जाते मेरा क्रोध पानी हो गया। रावको देखते ही मुझे बड़ी लज्जा आयी। तभीसे मैंने समझ लिया कि वे अवश्य कोई सिद्ध महात्मा हैं।'

× × ×

माधवरावका शरीर अब नहीं रहा। उनके प्रस्तर केशरीको लोगोंने सिन्दूरसे रंग दिया है और देवीका वाहन समझकर वे उसकी पूजा करते हैं। देखा-देखी मध्यप्रान्त एवं बरारके अधिकांश ग्रामोंमें ग्रामसे बाहर पत्थर या मिट्टीकी सिंह अथवा व्याघ्रमूर्ति बनाकर पूजनेकी प्रथा चल पड़ी जो अबतक चल रही है। ग्रामीणोंका विश्वास है कि इस प्रकारकी पूजासे वनपशु उन्हें तंग नहीं करेंगे। सुना जाता है कि उस सिंह-मूर्तिके समीप अब भी कोई प्राणी दूसरेपर अपना क्रोध प्रकट नहीं करता।

हवन-यज्ञ और राजयक्ष्मा

(लेखक—डाक्टर श्रीकुन्दनलालजी एम्० डी०, डी० एस्० एल्०, एम्० आर० ए० एस०)

भारतवर्षमें ज्यों-ज्यों निर्धनता, निर्बलता और विलासिता बढ़ती जाती है त्यों-ही-त्यों तपेदिककी बीमारी भी दिनोंदिन तरक्की कर रही है। बड़े-बड़े नगर तो इसके केन्द्रस्थान बन रहे हैं। कलकत्ता, बंबई, दिल्ली, जैसे बड़े नगरोंमें हज़ारोंकी संख्यामें लोग इसके चंगुलमें फँस रहे हैं। तपेदिकनिवारक सभाकी रिपोर्टसे विदित होता है कि अकेले लखनऊ नगरमें चालीस हज़ार रोगी होनेका अनुमान किया जाता है। विहारप्रान्तमें सन् १९२९ ई०में इस रोगके १५८०८ रोगी केवल सरकारी अस्पतालोंमें आये थे। यहाँतक ही नहीं अब तो क़सबे तथा ग्राम भी इससे मुक्त नहीं हैं, और मुक्त रह भी कैसे सकते हैं जब कि इस रोगके भगानेका पर्याप्त यत्न ही नहीं किया जाता।

इंगलैण्ड-जैसे छोटेसे देशने, जहाँ इस रोगकी अधिकता भी नहीं, सन् १९११ ई० के बजटमें ३१५ करोड़ रुपया सेनीटोरियमके लिये स्वीकार किया था। पर हमारे देशकी लीला ही विचित्र है। रोग प्रतिदिन बढ़ रहा है, चिकित्सा-अनुसन्धानके लिये कोई प्रयोगशाला नहीं; कोई खोजका कार्य नहीं होता। विदेशोंमें जो कुछ अनुसन्धान होता है उसीके आधारपर चिकित्सा की जाती है। परिणाम देखनेकी आवश्यकता नहीं। इस ढंगसे विदेशोंको रुपया तो अवश्य चला जाता है पर इससे रोगी कितने अच्छे होते हैं यह वे जानते हैं जिनके यहाँ अभाग्यसे कभी इस रोगका रोगी हो चुका है। फिर सेनीटोरियमका यह हाल है कि इतने बड़े देशमें अँगुलियोंपर गिनने योग्य सेनीटोरियम हैं। उनमें भी केवल धनवान् ही जा सकते हैं। निर्धनका तो एक बार उस रोगसे सम्पर्क होनेके पश्चात् मरनेपर ही पीछा छूटता है। हमारे देशके धनी दानी सज्जन ऐसे कामोंमें दान देनेकी ओर कम ध्यान देते हैं। रोगी भी अविद्या और निर्धनताके कारण जबतक चलता फिरता रहता है डाक्टरके लाख मना करनेपर सब काम-काज करता रहता है। उसके कपड़े, जूठन, थूक इत्यादिसे अन्य कुटुम्बी कुछ परहेज़ न करेंगे। और स्वयं भी उसी रोगके शिकार होंगे। मुझे अपनी प्रैक्टिसमें अनेक ऐसे रोगी मिले हैं जिनको थोड़ी-सी असावधानी तथा दूसरे रोगियोंके सम्पर्कमें आने और पूरा बचाव न रखनेके कारण यह रोग हुआ था। वर्तमान सभ्यतामें जीवन व्यतीत करनेवाले और रात-दिन नगरोंमें मोटरोंकी गर्द और मशीनोंकी गंदगीभरी वायुमें श्वास लेनेवाले कोई भी सज्जन अपनेको इस रोगसे सुरक्षित न समझें। तंग सीने और सूखे शरीरवाले तो इस रोगके चंगुलमें सुगमतासे आ ही सकते हैं पर सावधानी न रखनेसे बड़े-बड़े हृष्ट-पुष्ट भी इसके शिकार हो जाते हैं। अतः यहाँपर कुछ रोग प्रतिषेधक उपायोंको लिखकर फिर रोगचिकित्सापर विचार करेंगे।

१–प्रत्येक मनुष्यको कुछ-न-कुछ व्यायाम अवश्य करना चाहिये। जिससे शरीर पुष्ट बना रहे। ऐसी अवस्थामें यदि रोगके कीटाणु शरीरमे प्रवेश भी करेंगे तो नष्ट हो जायँगे।

२–अँधेरे, सीलवाले, अपवित्र स्थानमें, जहाँ प्रकाश और वायुका पूर्ण प्रवेश न हो, न रहना चाहिये, क्योंकि अन्वेषणसे यह सिद्ध हो चुका है कि तपेदिकके कीड़े जो थूक और पानी यहाँतक कि बर्फमें भी कई महीनोंतक जीवित रह सकते हैं, खुली हवामें एक सप्ताहमें और धूपमें घंटों बल्कि कभी-कभी कुछ मिनटोंमें ही नष्ट हो जाते हैं।

३–शक्तिसे अधिक कार्य करना और उसके अनुसार भोजन न खाना अथवा इसके विपरीत अधिक पौष्टिक भोजन करना और व्यायाम न करना।

४–अत्यन्त विषयभोग, बालविवाह, निकट सम्बन्धियोंमें विवाह, चिन्ता, अत्यन्त मदिरापान, स्त्रियोंका अधिक पर्देमें रहना, अधिक समयतक बालकोंको दूध पिलाना, प्रदर तथा गर्भाशयके रोगोंका बहुत समयतक रहना और उनकी ठीक चिकित्सा न होना। प्रसवके पश्चात् अच्छा पौष्टिक भोजन न मिलना, मल-मूत्रादि प्राकृतिक वेगोंका रोकना और बहुतसे मनुष्योंका एक ही बन्द कमरेमें सोना। कपड़े-लिहाफ़ आदिसे मुँह ढककर सोना आदि भी इसके उत्पादक कारण हैं।

५–इस रोगके रोगीसे विशेष सम्पर्क रखना, उसकी श्वास, थूक, वस्त्र इत्यादिसे पूरा बचाव न रखना और रोगीको पृथ्वी अथवा दीवारपर थूकने देना भी इस रोगके उत्पादक कारण हैं। क्योंकि अन्वेषणसे यह भी सिद्ध हो चुका है कि

ऐसे सूखे थूकमें भी इस रोगका कीड़ा छः महीनेतक जीवित रह सकता है।

महर्षि चरकने क्षयके कारण यह लिखे हैं—

व्यायामोऽनशनं चिन्ता रूक्षाल्पप्रमिताशनम्।
वातातपं भयं शोको रूक्षपानं प्रजागरः॥
कफशोणितशुक्राणामतिवर्त्तनमोक्षणम्।
कालो भूतोपघातश्च विज्ञेयाः क्षयहेतवः॥
(चरक सूत्रस्थान पं० १७। ४८)

बहुत परिश्रम, भूखे रहना, चिन्ता, रूखा और थोड़ा भोजन करना, वायु और धूपका सहना, भय, शोक, रूक्ष वस्तुओं-का सेवन, बहुत जागना, कफ और रक्त तथा वीर्यका अत्यन्त निकलना या निकालना, खाँसी और भूतबाधा—इन सबको क्षय होनेके कारण जानना चाहिये।

सदा याद रखनेकी बात

जब कभी आपको खाँसी अधिक समयतक रहे तो उसकी उपेक्षा न कीजिये, किन्तु योग्य चिकित्सकसे चिकित्सा कराइये। खाँसीके साथ यदि तीसरे पहरको शरीर गिरता-सा मालूम हो तो कदापि देर न करें और किसी ऐसे डाक्टरसे रोग निदान करावें जो इस रोगके विशेषज्ञ हों। क्योंकि प्रारम्भिक अवस्थामें बड़े-बड़े योग्य डाक्टर भी तपेदिकके निदानमें भूल करते देखे गये हैं।

चिकित्सा

वैद्यक, यूनानी, होमियोपैथिक, ऐलोपैथिक इत्यादि अनेकों तरीके चिकित्साके इस समय प्रचलित हैं, इनमेंसे कौन-सा तरीका उत्तम है और किस तरीकेसे कितने रोगी अच्छे होते हैं यह बताना बहुत कठिन है। हाँ, यह सभी कहते हैं कि इस रोगकी चिकित्सा करना साधारण बात नहीं है। अतः यहाँ हम एक दीर्घकालीन अनुभूत विशेष चिकित्साका वर्णन करते हैं जिसके द्वारा अनेकों हताश रोगी रोगसे छुटकारा पा चुके हैं। यह चिकित्सा प्राचीन कालमें प्रचलित थी पर कुछ समयसे लुप्त हो गयी। उस लुप्त हुई विद्याको खोज निकालनेके कारण लोग इसे नवीन आविष्कार कहते हैं क्योंकि इस चिकित्सासे असाधारण सफलता प्राप्त हुई है और यदि समर्थ सज्जन इस ओर ध्यान दें तो इसके द्वारा यह रोग देशसे दूर किया जा सकता है। अतः लोकहितके लिये उसे यहाँ प्रकाशित की जाती है। मेरा अभिप्राय यज्ञ-चिकित्सासे है।

यज्ञ-चिकित्सा क्या है ?

रोगनाशक ओषधियोंका विधिपूर्वक अग्निमें जलाना और हवन गैसको श्वास तथा रोमछिद्रोंद्वारा रोगीके शरीरमें नित्यप्रति प्रवेश कराना। साथ ही खान-पान, रहन-सहनमें निश्चित नियमोंका पालन कराना। इसे यज्ञ-चिकित्सा कहते हैं।

यज्ञ-चिकित्सा क्यों सर्वप्रधान है ?

१—सब विद्वान् जानते हैं कि सूक्ष्ममें जो शक्ति है वह स्थूलमें नहीं। सोनेका एक रत्ती टुकड़ा किसी आदमीको खिला दो कोई लाभ न होगा। उसीको सूक्ष्म करके वर्क बनाकर खिलाओ कुछ पुष्टि देगा। पर जब उसे आगमें फूँक-कर भस्म बना लो तो केवल एक-एक चावल खिलानेसे थोड़े ही दिनोंमें चेहरेपर लाली, शरीरमें बल, मनमें उत्साह उत्पन्न होकर वृद्ध भी युवासदृश बन जायगा। वैद्यलोग जानते हैं कि एक माशे दवाकी वैसे बहुत कम शक्ति होती है, उसी दवाको यदि एक सप्ताहतक घोटकर सूक्ष्म किया जाय तो उसकी शक्ति कई गुणा बढ़ जाती है। होमियो-पैथीमें इसी नियमके आधारपर ओषधियोंकी पोटैंसी तैयार की जाती है। जिसका प्रभाव बढ़ता चला जाता है। और जब रोगीपर अति शीघ्र प्रभाव करना अभीष्ट होता है तो खिलानेके स्थानमें ओषधि सुँघाते हैं।

सुँघानेकी अपेक्षा भी जली हुई ओषधिका प्रभाव कितना बढ़ जाता है उसे इस उदाहरणसे समझिये। एक मिर्च सूँघनेसे कुछ न होगा। कूटनेसे पास बैठे लोगोंको खाँसी आवेगी। पर यदि उसको आगमें जलावें तो दूर-दूरतकके मनुष्य खाँसने लगेंगे। कारण यह कि अब उसके परमाणु बहुत सूक्ष्म हो गये, अतः उनकी शक्ति बढ़ गयी। अब विचार कीजिये कि रोगके कीड़े (Bacillic Bacteria) एक कतारमें रक्खे जावें तो २५००० कीड़े एक इञ्च स्थान घेरेंगे। यदि उनको तौला जावे तो एक खस-खसके दानेपर बीस अरब कीड़े चढ जायँगे। इतनी सूक्ष्म वस्तुपर स्थूल कणवाली ओषधियोंकी बड़ी मात्राओंकी पहुँच ही दुस्तर है, कीड़ोंको समाप्त कर उनपर विजय पाना तो दूरकी बात है। इसी नियमको न समझनेके कारण लोग तपेदिककी चिकित्सामें असफल रहते हैं; और उसे असाध्य समझते हैं। पर ओषधियोंका वह अत्यन्त सूक्ष्म भाग जो यज्ञ-अग्निद्वारा छिन्न-भिन्न हुआ है कीटाणुओंको सुगमतासे नष्ट कर रोग दूर कर सकता है।

२–पदार्थविद्यासे यह बात सिद्ध हो चुकी है कि किसी वस्तुका अभाव नहीं होता किन्तु रूप बदल जाता है। जो ओषधि मुँहसे खायी जाती है, वह रस रक्त बननेके पश्चात् क्षयरोगीके फेफड़ोंतक पहुँचेगी। पर अग्निमें जलायी हुई ओषधि श्वासद्वारा सीधी फेफड़ोंपर पहुँचकर तत्काल प्रभाव करेगी और बहुत सूक्ष्म होनेके कारण स्थायी प्रभाव करेगी। गूगलको ही लीजिये, आयुर्वेदमें इसे अन्य गुणोंके साथ रसायन, बलकारक, टूटेको जोड़नेवाला और कृमिनाशक बतलाया है। यज्ञसे इसके सूक्ष्म परमाणु श्वासद्वारा सीधे जख्मी फेफड़ेपर पहुँचेंगे और उसके जख्मोंको भरेंगे तथा पुष्टि देंगे जिससे धीरे-धीरे रोग दूर हो जायगा। अब विचार कीजिये कि इससे अधिक प्रभावशाली तथा उत्तम दूसरा कौन-सा तरीका रोगनिवृत्तिका हो सकता है?

३–अन्वेषणसे यह बात सिद्ध हो चुकी है कि जितने प्राकृतिक पदार्थ हैं उनके सूक्ष्म परमाणु हर समय गतिशील रहते हैं, यद्यपि प्रत्यक्षमें वे दृष्टिगोचर नहीं होते। हमारे इस मनुष्यशरीर, कोठीकी दीवार, मेज, कुर्सी इत्यादिका प्रत्येक परमाणु गति कर रहा है। यजुर्वेदके ४०वें अध्यायके पहले मन्त्रमें संसारको 'जगत्यां जगत्' कहकर इसी नियमको बताया है। और यह गति भी ऊटपटांग नहीं किन्तु नियमपूर्वक है। प्रत्येक परमाणुकी गति एक-सी नहीं होती। किन्हींकी गति समान होती है और किन्हींकी एक दूसरेके प्रतिकूल। प्रकृतिका नियम है कि दो समान वस्तुएँ परस्पर एक दूसरेको अपनी ओर खींचती हैं और विरुद्ध वस्तुएँ एक दूसरेको भगाती हैं। अतः जिन वस्तुओंके परमाणु एक-सी गति करते हैं उनमें परस्पर आकर्षण होता है। और विरुद्ध गतिवाले परस्पर एक दूसरेको दूर भगाते हैं। आपने देखा होगा कि एक श्रेणीमें एक साथ पढ़नेवाले कई विद्यार्थियोंमेंसे किन्हीं दोमें विशेष मित्रता हो जाती है। शेषमें वैसी नहीं होती। रेलमें सैकड़ों यात्री साथ-साथ यात्रा करते हैं पर उनमेंसे किन्हीं दोमें ऐसी घनिष्ठता हो जाती है जो जीवनभर निभती है। किन्हीं पति-पत्नियोंमें ऐसा गहरा प्रेम होता है कि वे एक दूसरेपर प्राण न्योछावर करनेको तैयार रहते हैं जब कि दूसरे कोई-कोई एक दूसरेको घृणाकी दृष्टिसे देखते हैं। यह सब कुछ भी इसी नियमके आधारपर है कि जिनके स्वभाव इत्यादिके परमाणु एक-सी गति करते हैं उनमें परस्पर आकर्षण तथा प्रेम हो जाता है, और विपरीत गतिवालोंमें विरोध। इसी प्रकार जिस मनुष्यके शरीरके परमाणु जैसी गति करते हैं उसी गतिवाले रोग या स्वास्थ्यके परमाणुओंका उसकी ओर खिंचाव हो जाता है और जो उसके विपरीत होते हैं वे दूर भागते हैं। अतः तपेदिकके कीटाणु भी उसी मनुष्यपर अधिक आक्रमण करते हैं जिसके भीतर रोगको ग्रहण करनेवाली शक्ति विद्यमान है। इसके विपरीत जिसके भीतर लौंग, गूगल, गिलोय इत्यादि तपेदिकनाशक परमाणु विद्यमान हैं उसपर प्रथम तो वे इसी प्राकृतिक नियमानुसार आक्रमण करेंगे ही नहीं। और करेंगे भी तो निषेधक शक्तिद्वारा विषका प्रभाव नष्ट हो जायगा। जो लोग स्वस्थ-अवस्थामें नित्यप्रति ऐसी ओषधियोंसे हवन करते रहते हैं उनपर आक्रमण हो ही नहीं सकता।

४–ऊपर प्रतिषेधक उपायोंमें बतलाया गया है कि सीलवाले स्थानमें नहीं रहना चाहिये। सीलमें तपेदिकके कीटाणु बहुत समयतक जीवित रह सकते हैं पर गर्मी और धूपमें शीघ्र मर जाते हैं। हवन-यज्ञसे सील दूर होना और गर्मीका उत्पन्न होना प्रत्यक्ष दीखता है। अतः जो लोग नित्यप्रति हवन करते हैं उनपर आक्रमण करनेवाले कीटाणु रोज ही नष्ट होते रहते हैं। और जब रोगी हवन करते हैं तो उनके कीटाणु भी शीघ्र समाप्त हो जाते हैं। गर्मीके साथ कीटाणुनाशक ओषधियाँ भी होती हैं अतः प्रभाव और भी शीघ्र होता है।

५–किसी भी रोगके कीटाणु जब मनुष्यशरीरमें प्रवेश करते हैं तो हमारे शरीरकी रोगनिवारक शक्ति—जिसे हमारे पूर्वज ऋषि-मुनि सदासे जानते थे और प्राणायाम तथा ब्रह्मचर्यद्वारा नित्य बढ़ाया करते थे पर अब इस सम्बन्धमें वर्तमान विज्ञानमें भी कुछ समयसे खोज होने लगी है जिसे डाक्टरीमें Immunity (रोगनिवारक शक्ति) कहते हैं—रोगको दूर भगानेके लिये एक प्रकारका उफान खाया हुआ रस तथा रक्तके श्वेतकणोंकी सेना, जिसे डाक्टरीमें Phagocytosis कहते हैं, भेजता है। यदि ये लड़ाईमें सफल हो जाते हैं तो रोगके कीटाणु वहीं समाप्त हो जाते हैं और हमें ज्ञात भी नहीं होता कि हमपर किसी रोगका आक्रमण हुआ था। हाँ, इनके निर्बल सिद्ध होनेपर रोग हमारे शरीरपर अधिकार जमा लेता है। यह Immunity (रोगनिवारक शक्ति) कुछ तो जन्मकालसे साथ आती है और कुछ मनुष्यको उत्तम भोजन, शुद्ध सुगन्धित वायुके मिलनेसे उत्पन्न होती है। अतः हवन-यज्ञसे जहाँ Immunity बढ़ेगी वहाँ वह उफान रस

भी अधिक उत्पन्न होगा क्योंकि गर्मीसे उफान शीघ्र आता ही है। इस प्रकार तपेदिकके कृमि हवन करनेवाले-पर आक्रमण करनेपर भी रोग उत्पन्न करनेमें असफल रहेंगे और रोगकी अवस्थामें हवन करनेसे शीघ्र नष्ट हो जायँगे।

६-जिस प्रकार हमारे शरीरके ऊपर खालका खोल चढ़ा है उसी प्रकार शरीरके भीतरकी ओर एक मुलायम खालका अस्तर भी लगा है। जो गलेसे लेकर आँतोंके निचले भागतक विशेष रूपसे तर रहता है। जिस मनुष्यकी यह खाल या अस्तर बिल्कुल ठीक है और उसपर कोई क्षत या खराश नहीं है वह स्वस्थ मनुष्य है और उसपर तपेदिक क्या किसी भी संक्रामक रोगका आक्रमण नहीं हो सकता। इस वैज्ञानिक नियमको समझनेवाले बुद्धिमान् अनुभवी चिकित्सक सर्वदा रेचक दवाका निषेध करते हैं, क्योंकि इससे आँतोंके अस्तरमें खराश उत्पन्न होती है। जब रोग कृमि शरीरमें प्रवेश करते हैं तो इन्हीं खराशो-द्वारा रक्तमें इस प्रकार फैल जाते हैं जिस प्रकार प्रवेश (Inject) करायी हुई ओषधि। अब यदि किसी असुविधासे हमारी इस खाल या अस्तरमें कोई खराश हो गयी है तो बाहरकी खराशकी चिकित्सा तो अन्य उपायोंसे भी सुगम है पर भीतरका प्रबन्ध कठिन है। हाँ, जो ऐसी अवस्थामें हवन करते हैं उनके भीतर जब घी, कपूर और गूगल इत्यादिके सूक्ष्म परमाणु पहुँचेंगे तो उस खराशको किस शीघ्रतासे भर देंगे इसको समझना कुछ कठिन नहीं है जब कि इन्हीं वस्तुओंसे बाहरकी खराशको भरनेका अनुभव प्रत्येक मनुष्य करके देख सकता है।

युक्तियोंके पश्चात् अब हम इस विषयमें कुछ प्रमाण और अनुभव पेश करते हैं—

१-वेद भगवान्‌का प्रमाण

मुञ्चामि त्वा हविषा जीवनाय कमज्ञातयक्ष्मादुत राजयक्ष्मात्।
ग्राहिर्जग्राह यद्येतदेनं तस्या इन्द्राग्नी प्र मुमुक्तमेनम्॥

(अथ० का० ३ अनु० ३ सूक्त ११, मं १)

'हे व्याधिग्रस्त, तुझको सुखके साथ चिरकालतक जीनेके लिये गुप्त राजयक्ष्मा रोगसे और सम्पूर्ण प्रकट राजयक्ष्मा रोगसे आहुतिद्वारा छुड़ाता हूँ। जो इस समयमें इस प्राणीको पीड़ाने या पुराने रोगने ग्रहण किया है। उससे वायु तथा अग्निदेवता इसको अवश्य छुड़ावें।'

इससे स्पष्ट प्रकट होता है कि वेद भगवान् हर प्रकारके तपेदिककी चिकित्सा, चाहे रोग अभी प्रकट हुआ हो या गुप्त हो, वायु और अग्निद्वारा बतलाते हैं और आहुति-द्वारा रोगसे छूटनेका आदेश करते हैं।

इससे अगला मन्त्र इस प्रकार है—

यदि क्षितायुर्यदि वा परेतो यदि मृत्योरन्तिकं नीत एव।
तमा हरामि निर्ऋतेरुपस्थादस्पार्षमेनं शतशारदाय॥

यदि रोगके कारण न्यून आयुवाला हो, अथवा संसारके सुखोंसे दूर हो गया हो, चाहे मृत्युके निकट पहुँच चुका हो— ऐसे रोगीको भी महारोगके पाशसे छुड़ाता हूँ। इस रोगीको सौ शरद् ऋतुओंतक जीनेके लिये प्रबल किया है। इससे यह विदित होता है कि खराब-से-खराब अवस्थाका रोगी जिसे चिकित्सक लोग असाध्य कह देते हैं हवन-यज्ञसे अच्छा हो सकता है।

२-आयुर्वेदके प्रामाणिक ग्रन्थ चरकका प्रमाण

यया प्रयुक्तया चेष्टया राजयक्ष्मा पुरा जितः।
तां वेदविहितामिष्टिमारोग्यार्थी प्रयोजयेत्॥

(चरक० चिकित्सा स्थान अ० ८ श्लो० १२२)

जिस यज्ञके प्रयोगसे प्राचीनकालमें राजयक्ष्मारोग नष्ट किया जाता था आरोग्य चाहनेवाले मनुष्यको उसी वेदविहित यज्ञका अनुष्ठान करना चाहिये।

३ होमियोपैथिकसे पुष्टि

होमियोपैथिक चिकित्साके आविष्कारकर्ता हैनीमन साहब अधिक निर्बल रोगियोंको खिलानेके स्थानमें केवल ओषधि सुँघानेका परामर्श देते हैं और उसके लिये वह अपनी प्रसिद्ध पुस्तक (Organon of the medicines) की धारा १९० में लिखते हैं कि 'मुँहके अतिरिक्त जिह्वा और मुँहमें ऐसे भाग हैं जो ओषधिके प्रभावको शीघ्र ग्रहण करते हैं किन्तु नाकका भीतरी भाग भी शीघ्रतासे प्रभाव ग्रहण करता है। सबसे अधिक प्रभाव ओषधिका सूँघने और श्वास लेनेसे होता है।

यदि हैनीमन साहबके समय जर्मनीमें यज्ञका प्रवाह होता तो अवश्य ही वे इसे चिकित्साको प्रधान अंग बनाते।

४-ऐलोपैथिकमतसे पुष्टि

एलोपैथिक डाक्टरीमें तपेदिकके रोगीको Kreosote और Eucalyptus oil इत्यादिका Inhalation बनाकर सुँघाते हैं और इसका प्रभाव तत्काल होता है।

वैसे वही Kreosote खिलाया भी जाता है। पर वह इतना शीघ्र प्रभाव नहीं करता। ऐसा क्यों होता है। इसीलिये कि सूँघी हुई दवाके सूक्ष्म परमाणु सीधे फेफड़ेमें पहुँचकर अपना प्रभाव करते हैं। पर उनमें वह शक्ति नहीं कि स्थायी प्रभाव रख सकें, जैसा कि अग्निसे छिन्न-भिन्न हुई ओषधिके परमाणु रख सकते हैं।

५–एक योग्य वैद्यकी साक्षी

मैंने अपने कई वर्षोंकी चिकित्साके अनुभवसे निश्चय किया है, जो महारोग ओषधिभक्षण करनेसे दूर नहीं होते वे वेदोक्त यज्ञोंके द्वारा दूर हो जाते हैं।

—कविराज पं० सीताराम शास्त्री

६–एक विद्वान्का अनुभव

फ्रांसके विज्ञानवेत्ता प्रो० टिलवर्ट कहते हैं कि 'जलती हुई खाँडके धुएँमें वायु शुद्ध करनेकी बड़ी शक्ति है। इससे हैजा, तपेदिक़, चेचक इत्यादिका विष शीघ्र नष्ट हो जाता है।'

७–अन्य विद्वान्की राय

डाक्टर टाटलिट साहबने मुनक्का, किशमिश इत्यादि सूखे फलोंको जलाकर देखा है और मालूम किया है कि इनके धुएँसे टाइफायड ज्वरके कीटाणु केवल आधे घण्टेमें और दूसरे रोगोंके कीटाणु घण्टे, दो घण्टेमें समाप्त हो जाते हैं।

८–अन्य विद्वान्की राय

मदरासके सेनेटरी कमिश्नर डाक्टर कर्नल किंग R. M. S. ने कालिजके विद्यार्थियोंको बताया कि घी, चावलमें केसर मिलाकर जलानेसे रोगके कीटाणुओंका नाश होता है।

९–अन्य विद्वान्की राय

फ्रांसके डाक्टर हेफकिन, जिन्होंने चेचककी टीका ईजाद किया, कहते हैं कि घी जलानेसे रोगकृमि मर जाते हैं।

१०–केमिकल प्रापरटीज़ (Chemical Properties) की राय

जायफल, जावित्री, बड़ी इलायची, सूखा चन्दन इत्यादि अग्निमें जलानेसे मुफीद हिस्से ज्यों-के-त्यों रहते हैं या सूक्ष्म हो जाते हैं। पहले-पहल इनसे सुगन्धित तेल गैस बनकर निकलते हैं। हवन गैसमें यह चीजें अपने असली रूपमें मिलती हैं। अग्नि इन चीजोंको गैस बना देती है। उड़नेवाले तेलोंके परमाणु $\frac{१}{१००००}$ से $\frac{१}{१००००००००}$ सेंटीमीटर व्यासवाले देखे गये हैं। अतः हवनमें इन चीजोंके गुण बहुत बढ़ जाते हैं और ये आसानीसे कीटाणुओंका नाश करते हैं।

नरतनु

नरतनु पाके फिर धूलमें मिलाया इसे,
मल मल धोया तो भी रंग नहिं आया है।
गाया है गुणानुवाद ईशका न भूल कभी,
बातें मार मार बुद्धि-वैभव भगाया है॥
धन मान मद लोभ मोहके रहा अधीन,
दीन हीन जनोंके न काम कभी आया है।
ऐ रे मूढ़ मानव, जरा तो सोच ध्यान देके,
जगबीच भाररूप होने ही तू आया है॥

—कृष्णगोपाल माथुर

जीवनका सच्चा सुख

(लेखक—श्रीमहादेवप्रसादजी)

जीवका अनादिकालसे यही ध्येय रहा है कि उसे अधिक-से-अधिक सुख प्राप्त हो। इसी उद्देश्यसे वह धन, विद्या और तरह-तरहकी भोग-सामग्रियोंका संग्रह करता है। आज हमलोग जो ये बड़े-बड़े महल, कल-कारखाने, मिलें, व्यापारिक चेम्बरें, विश्वविद्यालय, कालेज, न्यायालय, कलाभवन और सिनेमाहाल आदि देख रहे हैं इन सबका उद्देश्य भी यही है कि मनुष्यको अधिक-से-अधिक सुख मिले। मनुष्यने जो तरह-तरहके धनोपार्जन और मनोरञ्जनके साधनोंका आविष्कार किया है उन सबका लक्ष्य उसकी सुखेच्छाकी पूर्ति करना ही है। अतः 'सच्चा सुख क्या है?' यह जान लेना प्रत्येक मनुष्यका प्रधान कर्तव्य है।

यदि हम थोड़ी भी विचार-दृष्टिसे देखें तो मालूम होगा कि विषय-सुखकी दृष्टिसे मनुष्य और पशुमें कुछ भी अन्तर नहीं है। खाने-पीने और विषय-सेवन करनेमें तो सभी प्राणी समान हैं और सभीको अपने अनिष्टकी आशङ्का भी लगी रहती है। मनुष्यमें अन्य जीवोंकी अपेक्षा केवल एक ही विशेषता है—वह है 'धर्म।' इसे हिताहित-विवेक या ज्ञान कुछ भी कह सकते हैं। जिसमें धर्म नहीं है वह मनुष्य तो केवल नामका ही मनुष्य है, उसे तो पशु ही समझना चाहिये।

आहारनिद्राभयमैथुनं च
सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो
धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः॥

इस प्रकार विचार करनेपर यद्यपि एक विषयी मनुष्य और पशुमें कुछ भी अन्तर नहीं है और यही बात शास्त्र भी कहता है, तो भी एक मोटी-से-मोटी बुद्धिवाला मनुष्य भी पशु होना पसन्द नहीं करेगा। यह बात सुप्रसिद्ध आधिभौतिकवादी दार्शनिक मिल (John Stuart Mill) ने भी स्वीकार की है। वह लिखते हैं—

'It is better to be a human being dissatisfied than a pig satisfied, better to be Socrates dissatisfied than a fool satisfied. And if the fool or the pig is of a different opinion, it is because they know only their own side of the question.'

तात्पर्य यह है कि अपने जीवनसे सन्तुष्ट एक सूअर होनेकी अपेक्षा भी असन्तुष्ट मनुष्य होना अच्छा है और सन्तुष्ट मूर्ख होनेकी अपेक्षा भी असन्तुष्ट सुकरात होना अच्छा है। यदि कहो कि यह बात उस सन्तुष्ट सूअर या मूर्खसे पूछी जाय तो उनकी सम्मति तो इससे विपरीत ही होगी, तो इसका कारण यह है कि वे केवल एक ही पक्ष अर्थात् अपनी ही स्थितिकी बात जानते हैं, उन्हें दूसरे पक्षकी विशेषताओंका कुछ भी पता नहीं है।

इससे पता चलता है कि केवल विषयसुखसे ही मनुष्यजीवनकी सार्थकता नहीं हो सकती। यदि ऐसा होता तो भोगसामग्रियोंकी सुविधा कर दिये जानेपर कोई भी मनुष्य पशु होना स्वीकार कर लेता। अतः जिस हिताहितविवेक या धर्मबुद्धिको मनुष्य असन्तुष्ट और असुखी रहकर भी छोड़ना नहीं चाहता वही उसकी प्रधान विशेषता है और उसीके कारण वह पशुओंसे श्रेष्ठ माना गया है। इस अमूल्य रत्नको पाकर जो धर्म-संग्रह नहीं करता और विषय-भोगोंमें ही अपना जीवन गँवा देता है उससे बढ़कर मन्दभाग्य और कौन होगा? जो लोग सत्संग और विद्यारूपी जलसे इस विवेक-बुद्धिरूप वृक्षको सींचते हैं उन्हें ही इसके फलरूपसे जीवनका सच्चा सुख मिल सकता है,

वे ही उस अमरफलको पाकर कृतार्थ हो सकते हैं। भौतिक सुखोंके लिये लालायित होना तो व्यर्थ ही है। ये सुख-दुःख तो प्राणिमात्रको स्वभावसे ही उसके प्रारब्धानुसार मिलते रहते हैं।

आजकल लोगोंकी बुद्धि बहिर्मुख हो रही है। वे बढ़िया पोशाक, स्वादिष्ट भोजन, गाने-बजाने और नाटक-सिनेमा आदिमें ही सुख समझ रहे हैं। इसीसे वे तरह-तरहकी आमोद-प्रमोदकी सामग्रियोंका संग्रह करनेमें व्यस्त हैं। किन्तु इससे सुखकी अपेक्षा उनके दुःखकी ही वृद्धि हो रही है। जिस प्रकार रोगी अपनी रुचिका दास होकर संयम छोड़ दे और कुपथ्य करने लगे तो इससे रोग बढ़ जानेके कारण उसका दुःख ही बढ़ता है, उसी प्रकार अपनी भोग-लालसाकी तृप्ति करनेकी धुनमें हमने कई प्रकारके रोग ही बढ़ा लिये हैं। इसीकी बदौलत आज समाजमें फिजूलखर्ची, बेकारी और तरह-तरहकी बीमारियोंकी वृद्धि हो रही है। इनसे बचनेके लिये हम दम्भ, पाखण्ड, कलह और मिथ्याचार आदि विपरीत साधनोंकी शरण लेते हैं। उनके कारण हमारा यह रोग और भी असाध्य होता जा रहा है। इस प्रकार इस भोग-तृष्णाकी तृप्तिके भ्रममें पड़कर हम दिनोंदिन अपनी अशान्ति ही बढ़ा रहे हैं।

शास्त्र तो संयमको ही सुखका साधन बताता है। वह संयम मन, वाणी, शरीर और इन्द्रिय सभीका होना चाहिये। हमारे ऋषि-मुनि संयम या तपसे ही अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष—चारों पुरुषार्थोंकी सिद्धि कर लेते थे। यदि थोड़ा-सा विचार करें तो स्पष्ट जान पड़ेगा कि आज भी बिना संयम या दुःख सहे कोई भी वस्तु हाथ नहीं लगती। जो विद्यार्थी अध्ययनमें परिश्रम नहीं करता वह कब विद्वान् हो सकता है? जो व्यापारी अध्यवसायी नहीं होता उसपर लक्ष्मीदेवीकी कृपा कहाँ होती है? जो योद्धा अपने शरीरपर शस्त्रोंका आघात सहन नहीं करना चाहता उसे कब विजय मिल सकती है? इसी प्रकार जो पुरुष संयमके द्वारा अपनी उच्छृङ्खल प्रवृत्तियोंको नहीं रोकता उसे कभी सच्चा सुख नहीं मिल सकता। सत्यभामाने जब द्रौपदीसे सुखका साधन पूछा तो उसने भी यही कहा कि—

सुखं सुखेनेह न जातु लभ्यं
दुःखेन साध्वी लभते सुखानि।

अर्थात् सुखके द्वारा सुख कभी नहीं मिल सकता, जो साध्वी स्त्री दुःख सहती है—तपस्या करती है उसे ही सुख मिलता है। अतः सच्चा सुख पानेके लिये हमें भी दुःखको अपनाना होगा, संयमका आश्रय लेना होगा, तपस्या करनी होगी।

जो लोग भोगोंमें सुख ढूँढ़ते हैं उन्हें अच्छी तरह समझ लेना चाहिये कि वह वस्तुतः वहाँ है नहीं। सुख-दुःख तो मनके धर्म हैं और वहीं उनकी स्थिति भी है। बाह्य विषयोंमें भटकनेसे तो मनकी अशान्ति ही बढ़ती है। हमें जो विषयोंमें सुख दिखायी देता है उसका कारण यह है कि अनादिकालसे विषयासक्त रहनेके कारण हमारा मन समय-समयपर किसी विषयको भोगनेके लिये चञ्चल होता है। इससे उसकी अशान्ति या बेचैनी बढ़ जाती है। उसे वह विषय मिल जाता है तो उसकी चञ्चलता रुक जाती है और सुखका अनुभव होने लगता है। इस प्रकार यदि हम उसकी लालसाकी तृप्ति करते रहेंगे तो वह और भी बढ़ती जायगी। अतः हमें यदि स्थायी सुख पाना है तो चित्तकी भोगतृष्णाका नियन्त्रण करना चाहिये। यदि हम उसे यहाँतक नियन्त्रित कर सकें कि वह कभी किसी विषयके लिये लालायित ही न हो तो हमें स्थिर सुख या शान्तिकी प्राप्ति हो सकती है। जर्मन दार्शनिक शोपेनहरका भी कथन है कि 'हमारी सारी सुखेच्छाओंमेंसे

जितनी पूर्ण हो जाती हैं उतनी ही मात्रामें हम अपनेको सुखी समझते हैं और जब सुखेच्छाओंकी अपेक्षा किसीका सुखोपभोग कम होता है तो उतने ही परिमाणमें उस मनुष्यको दुखी कहा जाता है।' इस न्याय-से भी सुखेच्छाओंको घटानेमें ही सुख है। उनकी तृप्ति करनेसे तो वे बढ़ेंगी ही। इस विषयमें अनेकों दृष्टान्त दिये जा सकते हैं। जिस समय राजा ययाति शुक्राचार्यजीके शापसे वृद्ध हो गये और फिर उन्हींकी कृपासे पुत्रसे यौवन लेकर पूरे एक सहस्र वर्षतक भोग भोगते रहे तो अन्तमें उन्होंने भी यही निर्णय किया—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥

'भोगोंकी कामना भोगनेसे कभी शान्त नहीं हो सकती, बल्कि घीकी आहुतिसे अग्निके समान वह और भी बढ़ जाती है।' इसी प्रकार रोमका एक बादशाह था। वह रसनेन्द्रियका इतना दास था कि दिनमें कई बार तरह-तरहके व्यञ्जनोंका स्वाद लेनेकी वासनासे भोजन करनेके बाद ओषधि लेकर वमन कर देता था और उसके बाद दूसरे प्रकारका भोजन खाता था। उसका सारा जीवन इसी दुर्दशामें बीता और अन्तमें पश्चात्ताप ही उसके हाथ लगा। योरोपके स्पेनदेशमें किसी समय मुसलमानोंका राज्य था। वहाँके बादशाह अब्दुर्रहमान तृतीयने अपने जीवनकी एक डायरी बनायी थी। वह बड़ा न्यायनिष्ठ और पराक्रमी बादशाह था। किन्तु उसके भी पचास सालके शासनकालमें केवल चौदह दिन ही ऐसे थे जो सुखपूर्वक बीते थे। इन दृष्टान्तोंसे यही निश्चय होता है कि भोगसामग्रियोंकी बहुलतासे किसीको भी सुख नहीं मिल सकता। सुख तो मनका धर्म है; अतः धनी हो या निर्धन, जिसका चित्त शान्त है, निर्वासनिक है, वही सुखी है। इसीसे राजर्षि भर्तृहरिने कहा है—

मनसि च परितुष्टे कोऽर्थवान् को दरिद्रः।

अब प्रश्न यह होता है कि सुख है क्या वस्तु। शास्त्रकारोंने सुख और दुःखकी व्याख्या कई प्रकारसे की है। नैयायिक कहते हैं—'अनुकूलवेदनीयं सुखम्', 'प्रतिकूलवेदनीयं दुःखम्'। अर्थात् अनुकूल अनुभूतिका नाम सुख है और प्रतिकूल अनुभूतिका दुःख। एक दूसरी जगह कहा है—'यदिष्टं तत्सुखं प्राहुः द्वेष्यं दुःखमिहेष्यते' अर्थात् जो अपनेको अभीष्ट हो उसे सुख कहते हैं और जो बुरा लगे वह दुःख माना जाता है। वेदान्तग्रन्थोंमें आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक-भेदसे सुख-दुःखके तीन प्रकार बताये हैं। पृथ्वी-जल आदि भौतिक पदार्थोंसे जो सुख या दुःख मिलते हैं उन्हें आधिभौतिक कहते हैं। अकस्मात् दैवेच्छासे प्राप्त होनेवाले सुख-दुःख आधिदैविक कहलाते हैं और बाह्य संयोगके बिना शरीर या मनके स्वास्थ्य अथवा अस्वास्थ्यके कारण होनेवाले सुख-दुःख आध्यात्मिक माने गये हैं। श्रीभगवान्‌ने गीतामें सात्त्विकादि भेदसे तीन प्रकारके सुखका वर्णन किया है, यथा—

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम्॥
विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम्।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्॥
यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम्॥
(१८। ३७—३९)

अर्थात् तपस्या या संयमके द्वारा जब बुद्धि शुद्ध हो जाती है तब उससे जो सुख होता है वह सात्त्विक है। वह आरम्भमें तो कष्टसाध्य होनेके कारण विषके समान

जान पड़ता है, किन्तु परिणाममें अमृतके समान होता है। विषय और इन्द्रियोंके संयोगसे होनेवाला सुख राजस है। यह आरम्भमें तो अमृतके समान जान पड़ता है, किन्तु परिणाममें विषके समान होता है। इसी प्रकार निद्रा, आलस्य और प्रमादके कारण जो आराम-सा जान पड़ता है वह तामस-सुख है। वह आरम्भ और अन्त दोनों ही समय चित्तको मोह या अज्ञानमें ही डालनेवाला होता है।

इस भगवद्वाक्यपर विचार करनेसे जान पड़ता है कि आजकल हम लोग राजस या तामस-सुखके चकमकमें ही फँसे हुए हैं। परन्तु याद रहे ये विषय-भोग तो एक दिन नष्ट होनेवाले ही हैं और अन्तमें हमें भी मृत्युके मुखमें ही डालेंगे। विद्वच्चक्रचूडामणि महाराज भोज कहते हैं—

गर्जन्ति दन्तिनिवहास्तरलास्तुरङ्गाः
सद्बान्धवाः प्रणयनम्रगिरश्च भृत्याः।
चेतोहरा युवतयः सुहृदोऽनुकूलाः
सम्मीलने नयनयोर्न हि किञ्चिदस्ति॥

हाथियोंके झुंड हमारे द्वारपर चिग्घाड़ रहे हों, चञ्चल घोड़े उछल-कूद कर रहे हों, सगे-सम्बन्धी सदाचारी हों, सेवक श्रद्धालु और विनयपूर्वक बोलनेवाले हों, प्रणयिनी कामिनियाँ नवयुवती और चित्तको चुरानेवाली हों तथा सुहृद्गण अनुकूल हों। किन्तु आँख मुदनेपर इनमेंसे कुछ भी नहीं रहता। बस, जबतक तनमें प्राण है—सो भी केवल जाग्रत् और स्वप्नावस्थामें ही—इन भोगोंका कुछ उपयोग है। परन्तु न तो हम ही सदा रहेंगे और न ये ही। इसका भी पता नहीं कि पहले किसका अन्त होगा। किन्तु किसीका भी हो, यदि हमारी इनमें आसक्ति रहेगी तो आजीवन भोगते रहनेपर भी अन्तमें तो इन्हें छोड़ना दुःखदायी ही होगा। इसलिये अभीसे सावधान होकर इनकी आसक्तिसे मुक्त क्यों न हो जायँ ? यदि हम इन बाह्य विषयोंकी आसक्तिको छोड़कर अपने चित्तको काबूमें कर सकेंगे, उसे अपनेमें ही स्थिर कर देंगे तो उसे आत्मानन्दकी अनुभूति हो सकेगी और उसके सारे दोष—सारी अशान्तिका अन्त हो जायगा। इस प्रकार चित्तके शान्त और निरुद्ध हो जानेपर जब उसमें किसी प्रकारका संकल्प-विकल्प नहीं होगा तभी उसे परमानन्दकी प्राप्ति होगी। उसीको भगवान्ने सबसे बड़ा सुख कहा है। वह केवल विशुद्ध बुद्धिसे ही अनुभवमें आता है, इन्द्रियों-की उसतक पहुँच नहीं है। जिस समय योगीकी इस परमतत्त्वमें स्थिति हो जाती है तब वह इस स्थितिसे फिर कभी च्युत नहीं होता। यही मानव-जीवनका सर्वोत्तम ध्येय है और यही अविनाशी परमपद है, जिसके लिये सम्पूर्ण साधनोंकी सृष्टि हुई है। जिसने इस प्रकार अपने चित्तपर विजय प्राप्त करके इस दुर्लभ पदको प्राप्त कर लिया है वही अपना सच्चा हितैषी है, उसीका जीवन सफल है; और जो इससे विमुख रहकर बाह्य अनात्मविषयोंमें भटक रहा है वह तो अपना शत्रु है। शास्त्र उसे 'आत्मघाती' कहता है। 'कल्याण'के पाठक-पाठिकाओंसे मेरा निवेदन है कि वे महाभारत, रामायण, गीता आदि धार्मिक ग्रन्थोंका यथावकाश थोड़ा बहुत अध्ययन नित्य नियमपूर्वक करें और उनमें बतलाये हुए साधनोंके द्वारा सच्चे सुखके मार्गपर चलना आरम्भ कर दें। ऐसा करेंगे तो उन्हें आगे चलकर सच्चे सुख-का अनुभव हो सकेगा।

हनुमानजीकी वीरता

(रचयिता—पाण्डेय पं० श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री 'राम')

(१)

रामकी कृपासे पार उदधि अपार हुआ
दर्शसे तुम्हारे अम्ब ! जीवन सफल ये
दानवों सहित नष्ट-भ्रष्ट कर दूँ जो कहो
पष्ट कर दूँ मैं अभी लंकाके महल ये ।
भूख भी लगी है जोश रोष भी बढ़ा है देख—
गाज रहे सैनिक दशाननके खल ये
आज कुछ कौतुक दिखाना चाहता हूँ इन्हें
खाना चाहता हूँ वाटिकाके पके फल ये ॥

(२)

पाकर इशारा पारावार-सी बढ़ी है शक्ति
वज्रसे कठोर अंग-अंग हुए जंगीके
पस्त हुई हिम्मत प्रभावहीन त्रस्त दैत्य
भाव देख विकट अड़ीले अड़भंगीके ।
भाग चले बागसे अभागे भीरु रक्षक जो
त्यागे तन आगे जो बढ़े थे रणरंगीके
हाड़ हिले रिपुके पहाड़ फटने-से लगे
सुनके दहाड़ महावीर बजरंगीके ॥

(३)

खा-खा फल मधुर प्रशाखा और शाखा तोड़
मत्त गजराज-से विराज रहे वनमें
शुंड-से वितुंडके लँगूरमें द्रुमोंके झुंड
वेगसे लपेटके उखाड़ लेते छनमें ।
टूट कर धाये जो समूह थे पठाया उन्हें
रुष्ट मुष्टिकासे मार यमके सदनमें
मारुतिकी मारसे कुमार वीर अक्षय भी
क्षीण हो धरा पै पड़े प्राण त्याग रनमें ॥

(४)

आया जो सफाया हुआ उसका निमेषमें ही
चारों ओर रुंड-मुंड बिखरे विशेष थे
विटप उजाड़े हुए वनके पड़े थे मनो
लंकामयी बालाके उखाड़े हुए केश थे ।
पावोंकी धमकसे धरा थी धसने-सी लगी
भारसे अपार अकुलाने लगे शेष थे
क्रुद्ध आञ्जनेय युद्ध-ताण्डव मचाने लगे
रावण-कुमारके लिये जो मारकेश थे ॥

(५)

राक्षसोंके क्षयकी प्रथम भूमिका-सी वहाँ
वाटी वह युद्धकी समुद्घाटिका हुई
अंग-अंग भंजित पिशाच नाच-नाच गिरे
रक्त-राशि-रंजित धराकी शाटिका हुई ।
वीर बजरंगीके प्रहारसे क्षणोंमें वहाँ
असुर-संहारकी अनोखी नाटिका हुई
वैरी-वनिताओंके सशोक क्रन्दनोंसे व्याप्त
शोकवाटिका-सी थी अशोकवाटिका हुई ॥

अन्तिम शरण

(लेखक—श्रीबलदेवप्रसादजी रैना)

कुछ लोग मानते हैं कि क्रमविकासके सिद्धान्तानुसार आधुनिक संसार उन्नतिके पथपर अग्रसर हो रहा है, परन्तु आध्यात्मिक दृष्टिकोणसे देखनेपर तो यही प्रतीत होता है कि उन्नति नहीं यह क्रमशः घोर पतनकी ओर जा रहा है। जनसाधारण जड प्रकृतिके पुजारी बनते जा रहे हैं। विज्ञानवेत्ता और आधुनिक पाश्चात्य दर्शनकारोंने सृष्टि और उसके पदार्थोंके आधिभौतिक विवेचनको ही अधिक महत्त्व दिया। वे इसीको संसारके कल्याणार्थ अत्यन्त श्रेष्ठ और लाभकारी मार्ग मानते हैं। इस आधिभौतिक जीवन और जगत्से परे किसी और दिव्य आध्यात्मिक सृष्टि और जीवनका भी विधाताने निर्माण किया है—इस अलौकिक और सात्त्विक सिद्धान्तको वे स्वीकार नहीं करते। यह तो नहीं कि ज्ञानी और आध्यात्मिक पुरुषोंका अभाव ही हो गया हो परन्तु यह सर्वथा सत्य है कि ऐसे ज्ञानी पुरुष आज मनुष्य-समाजमें बहुत कम रह गये हैं। जो थोड़े-से सच्चे धार्मिक पुरुष हैं भी तो उन बेचारोंकी ऐसी सृष्टिमें सुनता ही कौन है। उनका कहना तो शून्य निर्जन वनमें की गयी ध्वनिके समान व्यर्थ ही है। इसीसे आज संसारकी राजनीतिक अवस्था महान् विनाशकारी और भयानक हो रही है। तमाम जगत्में अशान्तिका साम्राज्य छाया है। लाखों मनुष्य समरभूमिमें धराशायी हो रहे हैं। ग्रामों और नगरोंपर भीषण बम गिरा-गिराकर निर्दोष नर-नारियोंको, सुकुमार बच्चोंको और निरीह नागरिकोंको जलाया जा रहा है। ग्राम और नगर बड़ी निर्दयताके साथ अग्निदेवकी भेंट किये जा रहे हैं। मनुष्यने जड प्रकृतिके वशीभूत होकर अपनी प्रकृतिका कितना भयानक पतन कर डाला है। धन और साम्राज्यकी तीव्र और अनुचित इच्छाने मनुष्यजातिकी स्थितिको कितना दुःखमय और भयानक बना दिया है। ऐसे भयानक हत्याकाण्डका मुख्य कारण वास्तविक धार्मिक जीवनकी कमी और भोगमयी जड सभ्यताका विकास है। इस सभ्यताका पूर्वीय देशोंपर भी अधिक प्रभाव पड़ रहा है। यह सभ्यता ऐसा विषैला सर्प है जिसके मस्तिष्कपर सुन्दर और चमकदार मणि सुशोभित हो रही है परन्तु जिसके अंदर हलाहल जहर भरा है। यह सभ्यता इतनी विनाशकारिणी है, कि इसे जो ग्रहण करता है वही विनाशके पथपर चढ़ जाता है। शृङ्खलाहीन भोगप्रवृत्ति, मांस-मद्यका अबाध सेवन, आचार-विचारकी अशुद्धता, धर्म, परमात्मा और परलोकमें अविश्वास और दिन-रात द्वेष और डाह आदिकी प्रेरणासे ही होनेवाले कार्योंने मनुष्यके मस्तिष्कको तमसाच्छादित कर दिया है। संसारकी यह भयानक स्थिति इसीका परिणाम है। तो फिर क्या संसारमें कोई ऐसा साधन या ज्ञान नहीं जिससे फिर मनुष्य-जाति सुख और शान्तिके श्वास ले सके? इसका उत्तर बड़ी सुन्दरतासे और पूर्णरूपसे हमारे उपनिषद्, गीता, रामायण और अन्य आर्ष ग्रन्थोंमें हमारे परम अनुभवी आर्यऋषियोंने अकाट्य युक्ति और रोचकताके साथ दिया है। संसार जब इस भयानक पारस्परिक वैर-विरोधके परिणामस्वरूप लड़-लड़कर थक जायगा तो स्वाभाविक ही उसे इस आध्यात्मिक ज्ञानकी ओर, पवित्र और धार्मिक जीवनकी ओर झुकना पड़ेगा। और अन्तमें उसे हमारे ही इन ऋषियोंके चिन्तन और स्थिर किये हुए सिद्धान्तोंकी शरण लेनी पड़ेगी। तभी सुख और शान्तिके साथ फिरसे मनुष्यजीवनका विकास होगा।

एक बहिनका पत्र

सतीप्रथा

एक बहिनका पत्र मिला है, वे लिखती हैं—'मैं आपसे कुछ पूछना चाहती हूँ। आप मेरे मार्मिक प्रश्नका उत्तर देकर कृतार्थ करनेकी कृपा करें। मैं अपना पता और नाम नहीं लिख रही हूँ, शायद ऐसा करनेसे कोई लाभ-हानि न होगी। आप मेरे प्रश्नका जवाब अपने 'कल्याण' मासिकपत्रमें ही दे दें। मैं नहीं जानती कि आप-जैसे महानुभावोंसे प्रश्नोंका उत्तर माँगनेमें आपकी सेवामें कुछ भेंट की जाती है या नहीं। अगर कुछ फीस आदि दी जाती हो तो मेहरबानी करके उसे भी छाप दें ताकि हरेक दुखी मनुष्य आपसे कुछ पूछनेके पूर्व आपकी सेवामें फीस भेज सकें। अगर ऐसा होगा, तो फिर मैं आपकी उचित फीस तथा अपना नाम-पता भेज दूँगी। वरना आप निम्नलिखित प्रश्नका उत्तर हृदयको शान्त और सीधा मार्ग बताते हुए दें- जिससे मैं आपके किये हुए उपकारके लिये कृतज्ञ होऊँगी।

आजकल सतीप्रथा बिल्कुल बंद-सी है। साथ ही सती हो जाना आत्महत्याके रूपमें परिणत हो चुका है। मैंने किताबें पढ़ी हैं जिनमें यही बतलाया गया है। उन्होंने हम-जैसी अबला स्त्रियोंके कमजोर हृदयोंको देखकर ही ऐसा बताया है। परन्तु वास्तवमें देखा जाय तो सती होना हिंदू-स्त्रीके लिये महान् धर्म तथा स्वर्गका रास्ता है। हिंदू विधवा स्त्री अपने विधवा-जीवनमें कभी अपने प्यारे पतिको भूल जाना नहीं चाहती और न भूल ही सकती है। जब कि एक स्त्री अपने सौभाग्यवती (सधवा) जीवनमें अपने पतिके प्रेमकी सच्ची अधिकारिणी रही हो तथा अपने पतिके स्वर्गयात्राके समय वह समझती हो कि उसके वैधव्य जीवनमें उसपर कोई विशेष जिम्मेवारी नहीं जिससे कि वह इस नश्वर शरीरकी रक्षा करती हुई अपने प्यारे पतिके साथ परलोकमें न जाकर जीती रहे।

ऐसी स्त्रीके लिये स्त्रीके स्वजन, गुरुजन आदिको उस समय (प्यारे पतिकी लाशके सामने होते हुए) उत्साह दिलाना चाहिये। वीरताका सञ्चार करना चाहिये जिससे विधवा स्त्री शीघ्र ही अपने प्राणप्यारे पतिकी लाशके साथ-साथ ही अपने इस नाशवान् शरीरको जलाकर अपने जीवको अपने प्यारे पतिकी जीवात्माके साथ स्वर्गमें ले जा सके।

वैधव्यजीवन स्त्री-जातिके लिये महान् सजा है अगरचे स्त्रीको हरेक परिवारसे सुख और शान्ति हो तो भी वह अपने प्यारे पतिके बिना अपने इस शेष जीवनको बिताना कठिन, असह्य समझती हुई दुखी अशान्त रहती है। इसलिये आप समझाकर लिखें कि सतीप्रथा (जब कि हमारे हिन्दुस्तानकी देवियाँ हर्षके साथ सती हो जाती थीं) इस वैधव्यजीवनसे मुक्ति पाना ही था कि नहीं। सती हो जाना हिंदू अबलाके लिये महान् धर्म है कि नहीं।········मेरे मतलबको समझकर जवाब दें ताकि मेरे हृदयको शान्ति प्राप्त हो।

मैं एकमात्र यही समझती हूँ कि सतीप्रथा ठीक थी, उचित थी। वैसी ही शक्ति हरेक माता-पिताको अपनी लड़कियोंको जन्मसे ही देनी चाहिये ताकि हरेक लड़की अपने ऊपर वैधव्य-भारको पाप समझकर हँसती हुई अपने प्राणप्यारे पतिके साथ स्वर्गयात्रा कर सके और इस जीवन तथा परलोक-जीवनको उच्च बना सके····।'

यह पत्र है! श्रद्धा-विश्वास तथा त्यागकी पवित्र मूर्ति हिंदू सतीके पावन चरणोंमें बार-बार नमस्कार! सतीके हृदयमें कैसा और किस जातिका पतिप्रेम होता है, इसे भला पुरुष क्या समझे? पतिप्राणा सतीको पतिकी लाशके साथ जल मरनेमें जो सुख मिलता है, उसका अनुभव उसीको है, दूसरा उसका अनुमान भी नहीं कर सकता। लोग कहते हैं सतियोंको जलनेमें

कष्ट तो होता था परन्तु वे उसे अपमानके भयसे सह लेती थीं। ऐसी बात नहीं है। धर्मके लिये अपनेको दीवारमें चिनवा देनेवाले गुरु गोविन्दसिंहके वीर पुत्रों-को क्या कष्ट हुआ था ? धर्मयुद्धमें प्राण देनेवाले वीर क्षत्रिय हँसते-हँसते अपने प्राणोंकी आहुति दे डालते हैं उन्हें क्या कोई कष्ट होता है ? देशके लिये स्वेच्छा-पूर्वक मरण-वरण कर लेनेवाले त्यागी शहीदोंको क्या कष्ट होता है ! शरीरपर घाव होते हैं उनमें दर्द भी होता है परन्तु वे त्यागी उस दर्दको ही अपने परमा-नन्दकी सामग्री और साधना मानते हैं। वह दर्द उन्हें महान् सुख पहुँचानेवाला होता है, कष्ट देनेवाला नहीं। इसी प्रकार जो पवित्रहृदया आर्यदेवियाँ स्वेच्छासे हँसती हुई अपने पतिके मस्तकको गोदमें रखकर सती हो जाती थीं, उन्हें कष्ट नहीं होता था। महान् सुख होता था। वह सुख कैसा होता था, इसका पता तो गूँगेके लिये गुड़के स्वादकी तरह केवल उन्हींको है। इस प्रकार सती होना धर्म ही नहीं था, वैधव्य-दुःखसे छुटकारा पानेका साधन ही नहीं था, यह तो था हिंदू पतिप्राणा सतीका नस-नसमें समाया हुआ 'स्वभाव' ! इस 'स्वभाव'के सामने सभीको नतमस्तक होकर प्रणाम करना चाहिये। अब भी जो सती सती होना चाहती है उसे भगवान् सुयोग दे ही देते हैं। परन्तु माता-पिताके लिये बड़ी कठिन समस्या है। यद्यपि अपनी पुत्रीको त्यागका आदर्श उपस्थित करते देखकर, पतिके साथ पतिलोक जाते देखकर माता-पिताको गौरवका अनुभव करना चाहिये, परन्तु स्नेह भी तो कोई चीज़ है। अपने हाथोंसे पाली-पोसी हुई बच्चीको कैसे चितापर बैठानेको प्रोत्साहन दें। दूसरी बात है कानूनकी। कोई भी पुरुष, जो सती होनेके लिये किसी बहिनको प्रोत्साहन या सहायता देता है, दण्डनीय होता है। समय भी बदला है, वैसी सतियाँ भी कम हो चली हैं जिनके सतीत्वका तेज अपने-आप ही सबको झुका देता था। ऐसा भी सुननेमें आता है और यह खूब सम्भव भी है कि सतीप्रथाके बंद करनेका जिस समय कानून बना था, उस समय जबरदस्ती लोग स्त्रियोंको उठा-उठाकर चितामें डाल देते थे। सतीत्वका आग्रह न होनेपर भी बाध्य करते थे जलनेके लिये। साथ ही कुछ देवियाँ दुःखसे घबड़ाकर या समाजकी प्रथासे दबकर बिना मनके भी आत्महत्याके समान दुखी होकर जल मरती थीं। अवश्य ही ऐसा होना या किया-जाना सतीत्वका आदर्श नहीं है। इसीसे कानून बन गया और आज इस कानूनके रहते घरवाले और माता-पिता सती होनेके लिये कैसे प्रोत्साहन दे सकते हैं, इसपर हमारी आदरणीया बहिन विचार करें।

दूसरे, यह काम तो धर्मकी प्रेरणाका है। इसमें बलात्कार नहीं चल सकता। जहाँ बलात्कार है वहाँ हत्या है, और जहाँ दुःखोंसे घबड़ाकर या बिना मनके दब-दबाकर ऐसा करना है, वहाँ आत्महत्या है। हत्या और आत्महत्या दोनों ही पाप हैं और इन पापोंसे तो बचना ही चाहिये !

मेरी तो इन बहिनसे यह प्रार्थना है कि जो पतिके भी आत्मरूप परमपति हैं, जिनके कारण ही पतिको पति माना जाता है और पतिके साथ परलोक जानेकी इच्छा की जाती है, उन परमपति परमात्माकी सेवामें ही सतीको अपना जीवन बिताना चाहिये। सतीत्व सदा ही वन्दनीय है। सतीत्वका अपमान लोकपाल भी नहीं कर सकते, सतीत्व सतीत्व ही है। उसमें सचमुच पतिके रूपमें परमात्माकी ही प्राप्ति है। वह सतीत्व सदा ही रहेगा। उसका नाश कौन कर सकता है। परन्तु सती होनेको 'प्रथा' के रूपमें परिणत करना या ऐसी चेष्टा करना इस युगके योग्य नहीं मालूम होता। इस युगके योग्य तो यही है सती अपनेको तथा परलोकगत पतिकी आत्माको सुख-शान्तिकी प्राप्ति करानेके लिये अपना शेष जीवन भगवच्चरणोंमें अर्पण कर दें और सहनशीलता,

वैराग्य, ब्रह्मचर्य तथा सादगीका कठोरताके साथ पालन करती हुई, उन्हें सुन्दर आभूषणोंके रूपमें धारण करती हुई पवित्र जीवन बितावें। यही सुन्दर आदर्श है और यही सबके लिये करने-करानेयोग्य है।

हिंदू विधवा त्याग और पवित्रताकी मूर्ति है, वह साक्षात् देवी है। हिंदू समाजमें जो ऊँचा पद सर्वत्यागी संन्यासीको प्राप्त है—वही विधवा देवीका है। ऐसी त्यागमयी देवियोंको जो लोग विवाहकी बात सुनाकर जलाते हैं वे भी इनका अपमान करते हैं, और जो दुष्टबुद्धिके मनुष्य परम आदरणीया माताके समान पूजनीय इन देवियोंको स्वार्थ या मूर्खतावश सताते हैं, इनका तिरस्कार करते हैं, इन्हें नगण्य समझकर इनका अपमान करते हैं, माताकी भाँति अन्न, वस्त्र तथा सत्सेवासे इनको सुख न पहुँचाकर अपनी कुत्सित वृत्तियोंसे इनकी अवज्ञा करते हैं, वे तो महापाप करते हैं। उनको इस पापका बड़ा ही भीषण फल भोगना पड़ेगा।

बहिनने भेंट या फीसकी बात लिखी है। इसका उत्तर यही है कि इस प्रकारकी फीस लेना ही यदि 'कल्याण'को अभिप्रेत हो तो उसे अपना अन्त कर देना चाहिये। हाँ, यह दूसरी बात है कि पत्र बहुत अधिक आनेसे सबका उत्तर समयपर न दिया जा सके। किसी-किसीका उत्तर देना अनावश्यक समझकर छोड़ भी दिया जाय। इसके लिये सभीको क्षमा करना चाहिये। —सम्पादक

कामके पत्र

(१)

वैराग्यका भ्रम

आपका कृपापत्र मिला। आप लिखते हैं—'मुझे घरसे वैराग्य हो गया है, घरमें माता-पिता, भाई-बहिन, स्त्री-बालक सभी हैं परन्तु किसीमें मन नहीं अटकता, उनसे मनका मेल ही नहीं खाता। सबसे नफरत-सी हो चली है। चाहता हूँ—संसार त्याग कर वनमें चला जाऊँ। परन्तु कठिनता यह है कि शरीरके सुख और आरामकी इच्छा अभी बनी हुई है। कभी-कभी पापभावना भी मनमें आ जाती है। काम-क्रोध तो हैं ही। शारीरिक तकलीफ सहन नहीं होती। यहाँ तो कुछ-कुछ लोग सेवा भी करते हैं। दुःख तो यह है कि मुझसे भगवान्का भजन भी नहीं होता। चित्तमें उचाट-सी रहती है कि कहीं भाग जाऊँ। न घर सुहाता है, न कहीं भागते ही बनता है। चित्त शान्त नहीं है। बताइये क्या करूँ ?'

आपने अपनी सच्ची हालत लिख दी, कुछ छिपाया नहीं, इससे मालूम होता है, आपका हृदय बड़ा सरल है और सरल हृदय साधना करनेपर बहुत ही शीघ्र भगवान्का निवासस्थान बन सकता है। सच्ची बात तो यह है कि आपको वैराग्य नहीं हो गया है। वैराग्य होनेपर काम-क्रोध नहीं रह पाते। न सुख और आरामका ही खयाल रहता। जब किसी विषयमें आसक्ति ही नहीं रही, तब कामना कहाँसे पैदा होती, और कामना न होनेपर क्रोध भी क्योंकर होता ? आपने इस स्थितिको वैराग्य समझ लिया—यही आपकी भूल है। यह तो वस्तुतः आसक्तिका ही एक रूपान्तरमात्र है। आपको जो नफरत-सी हो चली है, घरवालोंके प्रति घृणा होती है, इसका कारण यही है कि आप उनसे जैसा और जितना सुख चाहते हैं, अपनी कामनाकी जितनी पूर्ति आप उनसे करवाना चाहते हैं, उतनी नहीं हो पाती। बल्कि कभी-कभी आपको ऐसा प्रतीत होता है कि ये लोग तो मेरे सुखके मार्गमें बाधक हैं, मेरे मनोरथके प्रतिकूल हैं। इसीसे आपहीके शब्दोंमें—उनसे 'आपके मनका मेल ही नहीं खाता।' इसीसे नफरत होती है। और आश्चर्यकी बात तो यही है कि इसको आपने वैराग्य मान

लिया है। यह वैराग्य नहीं है, यह है झुँझलाहट-भरी अकर्मण्यता, जो आपको कर्तव्यपथसे विमुख करना चाहती है। असलमें आप जिनसे घृणा करते हैं—उनको छोड़ना नहीं चाहते हैं, उनको छोड़ते आपको दुःख होता है; क्योंकि उनमें आपकी सुदृढ़ आसक्ति है और आप उनको सर्वथा अपने अनुकूल तथा अपने सुखके साधक देखना चाहते हैं। इसीलिये चित्तमें उचाट है, इसीलिये अशान्ति है और इसीसे आपकी बुद्धि कर्तव्यका निर्णय करनेमें असमर्थ हो रही है। आप मेरी इन बातोंसे अपनी स्थितिका मिलान करके देखिये, मुझे विश्वास है मेरी धारणा अक्षरशः सत्य साबित होगी।

आप लिखते हैं—'भगवान्‌का भजन नहीं होता' और मैं कहता हूँ—भजन हुए बिना 'वैराग्य' हो ही नहीं सकता।

जब भजनमें रस मिलेगा और उससे भगवत्प्रेमका प्रादुर्भाव होगा तब विषयोंसे वैराग्य आप ही हो जायगा। फिर कोई मनोरथ भी अपूर्ण नहीं रह जायगा। आप जो कुछ भी चाहते हैं, सभी कुछ भगवान्‌में पूर्ण है। सारे सुख, सारा आराम, कामिनी, काञ्चन, कीर्ति, भोग, मोक्ष सभी कुछ उनमें हैं। उनको भूलकर–उनकी ओरसे लापरवाह रहकर, भजनमें चित्त न लगाकर जहाँ संसारको छोड़ने जायँगे, वहाँ संसार और भी जोरसे आपको जकड़ लेगा। यों भागनेसे बन्धनकी रस्सी टूटेगी नहीं, उसकी गाँठ और भी गहरी घुल जायगी, पक्की हो जायगी। अतएव पहले भगवान्‌में अनुराग कीजिये, फिर अपने-आप ही विषयोंमें विराग हो जायगा। श्रीमद्भागवतमें ब्रह्माजी कहते हैं—

न भारती मेऽङ्ग मृषोपलक्ष्यते
न वै क्वचिन्मे मनसो मृषा गतिः।
न मे हृषीकाणि पतन्त्यसत्पथे
यन्मे हृदौत्कण्ठ्यवता धृतो हरिः॥
(२।६।३४)

'हे प्रिय नारद! मैंने प्रेमपूर्ण और उत्कण्ठित हृदयसे भगवान्‌को हृदयमें धारण कर लिया है, इससे न तो कभी मेरी वाणी असत्यको लक्ष्य करके निकलती है, न कभी मनकी गति मिथ्याकी ओर होती है और न मेरी इन्द्रियाँ ही कभी असत् मार्गपर जाती हैं।' मतलब यह कि भगवान्‌में मन लगनेपर असत् विषयोंकी ओर मन जाता ही नहीं (यह याद रखना चाहिये कि एकमात्र भगवान् ही सत् हैं और सब असत् हैं) यही असली वैराग्य है।

अतएव आप उसे वैराग्य न समझकर अपनी एक दुर्बलता समझिये और घरमें ही प्रतिकूलताको सानन्द सहते हुए भगवान्‌का भजन कीजिये। जबतक मनमें राग-द्वेष है तबतक पूरी अनुकूलता कहीं भी नहीं मिलेगी। भगवान्‌ने कहा है—

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ॥
(गीता ३।३४)

'प्रत्येक इन्द्रियके विषयमें राग और द्वेष भरे हैं। इन राग-द्वेषके वशमें नहीं होना चाहिये। क्योंकि ये दोनों ही परमार्थधनके लुटेरे हैं।'

यह समझ रखिये कि राग-द्वेषके रहते अनुकूलताके साथ प्रतिकूलता भी रहेगी ही। वनमें ही क्यों, कहीं भी चले जायँ—मन तो आपके साथ ही जायगा न? फिर केवल स्थान बदलनेसे क्या होगा। जो तकलीफ यहाँ है, वही वहाँ भी रहेगी। बल्कि नयी जगहमें शारीरिक आराम न मिलनेपर और भी कष्टका अनुभव होगा। घरवाले कितने ही प्रतिकूल हों आखिर आपके दुःखमें कुछ तो साथ देते ही हैं। सेवा भी करते ही हैं। यह आपने भी स्वीकार किया है। अलग जानेपर यह भी नहीं मिलेगा। एक बात यह भी विचारणीय है कि जब आपको उनकी बातें प्रतिकूल मालूम होती हैं, तब निश्चय ही आपके विचार उनके प्रतिकूल हैं। और जब वे लोग अपने प्रतिकूल विचारवाले आपको अपने साथ रखना सहते हैं

और समय-समयपर आपकी सेवा करते हैं तब आपको तो और भी नम्र होना चाहिये तथा उनके प्रतिकूल विचारोंको आनन्दके साथ सहकर उन्हें सुख पहुँचानेकी चेष्टा करनी चाहिये।

साथ ही यह भी सत्य है कि यहाँ जो कुछ भी सुख-दुःख आपको मिलता है यह आपके ही पूर्वकृत कर्मोंका फल है और भगवान्‌ने आपके कल्याणके लिये इसका मङ्गल-विधान किया है। इसके भोगसे आपका प्रारब्ध क्षय होता है, और यदि इसे भगवान्‌का विधान मानकर सिर चढ़ावें तो भगवान्‌की कृपा प्राप्त होती है। इसलिये मेरी तो यही सलाह है कि सहनशील बनकर घरमें रहिये, घरको भगवान्‌का मन्दिर और घरवालोंको भगवत्स्वरूप जानकर उनकी यथायोग्य सेवा कीजिये। तथा श्रीभगवान्‌की कृपापर विश्वास करके उनके पवित्र नामका जाप करते हुए उनके दिये हुए जीवनको उन्हींके समर्पण करके आनन्दसे संसार-यात्रा पूरी कीजिये। आप निश्चय समझिये, जब आपको उनकी याद बनी रहने लगेगी तब सारे पाप-सन्ताप, आसक्ति-कामना, विरक्ति-अशान्ति, मोह-भय अपने-आप ही भाग जायँगे। उस समय आप स्वतः ही सच्चे वैराग्यको प्राप्त होकर परम सुखी हो जायँगे।

(२)

श्राद्धकी आवश्यकता

आपका कृपापत्र मिल गया, उत्तर लिखनेमें देर हुई, इसके लिये क्षमा करें। आपके प्रश्नोंका संक्षेपमें निम्नलिखित उत्तर है—

प्रश्न—क्या पितरोंका श्राद्ध करना जरूरी है?

उत्तर—हाँ, बहुत जरूरी है। जो सन्तान अपने पितरोंके लिये श्राद्ध-तर्पण नहीं करती, वह कृतघ्न है; और नरकगामिनी होती है। अतएव श्रद्धापूर्वक श्राद्ध अवश्य करना चाहिये। श्राद्धमें विधिके साथ-साथ श्रद्धाकी भी बड़ी आवश्यकता है। असलमें श्रद्धासे ही श्राद्ध होता है। शास्त्रमें कहा है—'जो मनुष्य श्राद्ध नहीं करता, वह अन्त्यजयोनिमें उत्पन्न होकर दरिद्रताको प्राप्त होता है।'

प्रश्न—पितर किनको कहते हैं?

उत्तर—यों तो ब्रह्माजी सबके पितामह कहलाते हैं, कश्यप आदि प्रजापति भी सबके जन्मदाता होनेसे पितर हैं, अग्निष्वात्तादि पितृलोकके अधिकारी भी पितर हैं। इसीलिये हमारे यहाँ श्राद्ध-तर्पणके समय केवल अपने जन्मदाता पितरोंको ही पिण्ड और तर्पणाञ्जलि नहीं दी जाती, बल्कि सभीको दी जाती है। यहाँतक कि सारे विश्वके प्राणीमात्रकी तृप्तिके लिये पिण्ड और जलाञ्जलि दी जाती है। परन्तु 'पितृ' शब्दका मुख्य अर्थ है जन्म देनेवाले माता-पिता आदि ही।

प्रश्न—श्राद्धका अर्थ माता-पिताके जीवनकालमें उनकी सेवा करना, उन्हें खिलाना-पिलाना आदि न करके मरनेपर उनके लिये ब्राह्मण-भोजन कराना, पिण्डादि देना क्यों किया जाता है?

उत्तर—अर्थ ही नहीं किया जाता, ऐसी ही बात है। जीवनकालमें तो माता-पिता आदिकी सेवा-शुश्रूषा करनी ही चाहिये। मरनेपर जब वे 'आतिवाहिक' देह धारण करके पितृलोक आदिमें जाते हैं, उस समय उनकी भूख-प्यास मिटानेके लिये सन्तानद्वारा किये हुए श्राद्ध-तर्पण ही प्रधान साधन होते हैं। यहाँपर यह भी बतला देना आवश्यक है कि मनुष्य जब मर जाता है अर्थात् जब इस पञ्चीकृत महाभूतोंसे गठित पार्थिवतत्त्वप्रधान स्थूल-शरीरको त्याग कर सूक्ष्म-शरीरयुक्त चेतन जीव निकल जाता है तब उसको अपने कर्मानुसार इन चार प्रकारकी गतियोंमेंसे कोई-सी एक गति होती है—

१. भगवत्स्वरूपके यथार्थ ज्ञानके द्वारा सारी कर्मराशिका क्षय हो जानेके कारण सूक्ष्मशरीरका कारणदेह-सहित नाश हो जाना और जीवका आत्मस्वरूप परमात्मामें एकत्वको प्राप्त हो जाना। इसीका नाम

कैवल्य या सायुज्य मुक्ति है। अथवा भगवत्स्वरूपके यथार्थ ज्ञानके साथ ही भगवत्प्रेमकी प्रधानताके कारण सेवाधिकार प्राप्त करके दिव्य भागवती-शरीर धारण कर वैकुण्ठ, साकेत, गोलोक, कैलास आदि नामोंसे प्रख्यात भगवान्‌के दिव्य चिन्मय धामको प्राप्त हो जाना।

२. निष्काम कर्मानुष्ठान, सत्पुरुषसेवन आदिके द्वारा अधिकारसम्पन्न होकर क्रममुक्तिके अपुनरावर्ती शुक्लपथ या अर्चिमार्गसे देवताओंद्वारा सम्मान प्राप्त करते हुए ब्रह्मलोकको जाना और ब्रह्माजीकी आयु-पर्यन्त वहाँके दिव्य भोगोंको भोगकर ब्रह्माजीके साथ ही मुक्त हो जाना।

३. सकाम पुण्यकर्मोंके अनुष्ठानसे अधिकारसम्पन्न होकर स्वर्गादि सुख-भोगके लिये पुनरावर्ती कृष्ण-पथ या धूममार्गके द्वारा स्वर्गादि लोकोंको प्राप्त होना।

४. पापकर्मोंके कारण बाध्य होकर यमदूतोंके द्वारा यमलोक या प्रेतलोक आदिमें जाकर वहाँकी दुःसह यातनाओंको भोगना।

इन चार प्रकारकी गतियोंमें पहली गतिमें तो प्राणोत्क्रमण करते ही नहीं। कारण सूक्ष्मशरीरका भङ्ग हो जाता है। सायुज्य-मुक्तिमें अलग कुछ बचता ही नहीं। भगवद्धामकी प्राप्तिमें भी अप्राकृत भागवत तनु मिल जाता है। वह अलग होनेपर भी वास्तवमें भगवान्‌के साथ अलग नहीं होता। वहाँकी बात समझायी नहीं जा सकती। सारांश यह कि वह स्थिति अत्यन्त विलक्षण, हमारी प्राकृत मन-बुद्धिसे अगोचर, अनिर्वचनीय और अचिन्त्य सर्वथा भगवदीय होती है इसलिये वहाँ प्राकृत किसी भी शरीरकी आवश्यकता ही नहीं होती। दूसरी, अर्चिमार्गकी अपुनरावर्ती गतिमें भी क्रमशः दिव्यता प्राप्त होती रहती है। ज्यों-ज्यों जीवका ऊर्ध्वगमन होता है त्यों-ही-त्यों उसकी जडता नष्ट होती चली जाती है। वहाँ उसकी देह शुद्ध, सूक्ष्म, तेजःप्रधान तत्त्वोंके द्वारा निर्मित होती है।

रहे पुनरावर्ती धूममार्ग और यमधामका मार्ग। इनमें शरीरकी आवश्यकता होती है। मनुष्यके मरनेके बाद ही उसी क्षण उसे स्थूल पाञ्चभौतिक शरीर नहीं मिल जाता। उसमें कुछ समय लगता है। वह समय बहुत थोड़ा भी हो सकता है और बहुत लंबा भी। कर्मोंके अनुसार ही कर्मफल भुगतानेवाली भागवतीशक्तिके द्वारा उसकी व्यवस्था होती है। इस बीचके समयमें सूक्ष्मशरीरयुक्त जीवको एक शरीरकी प्राप्ति होती है। उस शरीरका नाम होता है 'आतिवाहिक'। वह देखनेमें स्थूल शरीरके जैसे ही रूप-रंग और आकारका होता है, जीव उसीका आश्रय करके नरकादिकी पीड़ा और स्वर्गादिके भोग भोगता है। यह आतिवाहिक शरीर मरनेके बाद तुरंत ही मिल जाता है—

तत्क्षणादेव गृह्णाति शरीरमातिवाहिकम्।
(विष्णुधर्मोत्तर)

यह शरीर पृथ्वीतत्त्वप्रधान नहीं होता। क्योंकि ऊर्ध्वकी ओर जाते ही पाँच भूतोंमेंसे प्रायः दो भूत—पृथ्वी और जल नीचे रह जाते हैं और तीन भूत अग्नि, वायु और आकाश ही उसके शरीरमें रह जाते हैं।

ऊर्ध्वं व्रजन्ति भूतानि त्रीण्यस्मात्तस्य विग्रहात्।

इसीसे इस शरीरमें अस्थि, मेद, मज्जादि नहीं होते। यह आरम्भमें वायुप्रधान होता है। कर्मानुसार आगे चलकर इसके दो रूप हो सकते हैं—नरकभोगके लिये 'यातना-देह' और स्वर्गादि-भोगके लिये 'देव-देह'। जिस मनुष्यके पाप अधिक होते हैं, उसे 'यातना-देह'की प्राप्ति होती है। इस देहके द्वारा वह नरकोंकी भीषण यातनाएँ भोगता है। यह शरीर ऐसा होता है कि इसमें पीड़ाका अनुभव होता है परन्तु मृत्यु नहीं होती। जैसे आगमें जलनेका अनुभव होता है, परन्तु जलकर खाक नहीं हो जाता। साँपोंके डसनेसे पीड़ा होती है परन्तु मर नहीं जाता। इसीसे इसका नाम

'यातना-देह' है। यह वायुप्रधान ही रहता है। इसके विपरीत जिसके पुण्यकर्म अधिक होते हैं, उसे अग्नि-तत्त्वप्रधान प्रकाशमय देवदेहकी प्राप्ति होती है, इसके द्वारा वह स्वर्गादिके देवभोगोंको भोगकर कर्मक्षय होनेपर कर्मानुसार विभिन्न स्थूल योनियोंको प्राप्त होता है। इन शुक्ल-कृष्ण मार्गोंका और स्वर्गादिसे गिरने तथा योनियोंके प्राप्त होनेका वर्णन बृहदारण्यक और छान्दोग्योपनिषद्में तथा श्रीमद्भागवतमें देखना चाहिये। गीतामें भी भगवान्ने कहा है—

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ॥

'वे उस विशाल स्वर्गलोकको भोगकर पुण्य क्षय होनेपर पुनः मृत्युलोकको प्राप्त होते हैं।'

जो लोग स्वर्गादिमें जाते हैं, उनके लिये भी श्राद्ध-तर्पणादिकी जरूरत है क्योंकि इससे उनको वहाँ पुष्टि-तुष्टि और बल मिलता है। परन्तु जो लोग यमलोकके नरकादिमें जाते हैं, वे तो भूख-प्याससे अत्यन्त पीड़ित रहते हैं। उनके लिये तो पिण्डदान, श्राद्ध-तर्पणादिकी बहुत ही आवश्यकता है।

प्रश्न—यहाँका पिण्डदान, श्राद्ध-तर्पण आदि दूसरे लोकमें पितरोंको कैसे प्राप्त होता है? और कैसे उनकी उससे तृप्ति होती है? मान लीजिये, किसी-की मुक्ति हो गयी तो फिर उसके लिये जो श्राद्ध किया जाता है, वह तो व्यर्थ ही जायगा। साथ ही, दूसरी स्थूल योनि प्राप्त होनेपर भी उसका कोई उपयोग नहीं है। फिर सबके लिये श्राद्धादि क्यों करने चाहिये?

उत्तर—इस बार आपने एक ही साथ बहुत-सी बातें पूछ ली हैं। संक्षेपमें एक-एकका उत्तर ध्यानपूर्वक पढ़िये। तृप्ति दो प्रकारकी होती है—शारीरिक और मानसिक। किसी भूखेको आप कुछ खानेको दीजिये, प्यासेको जल पिलाइये, थके हुएके अङ्ग दबा दीजिये, गर्मीके मारे घबड़ाये हुएको पंखा झल दीजिये। इनसे जो एक शान्ति मिलती है, वह शारीरिक तृप्ति है। और शोकमें किसीको ज्ञानयुक्त मधुर भाषणसे समझाइये, डरे हुएको अभयदान दीजिये, निराशको सान्त्वना देकर आश्रय दीजिये, यह मानसिक तृप्ति है। श्राद्ध-तर्पणादिसे दोनों ही प्रकारकी तृप्ति होती है। यहाँ हम पितरोंके लिये जो कुछ भी दान करते हैं, उनको वहाँ उन्हीं-के काममें आनेयोग्य रूपमें परिणत होकर वह मिल जाता है। जैसे मान लीजिये—आप अपने किसी मित्रको अमेरिका रुपये भेजना चाहते हैं, तो आप कैसे भेजेंगे। रुपयोंका पारसल करेंगे तो वे रुपये वहाँ काम नहीं आवेंगे, क्योंकि वहाँ यहाँका सिक्का चलता ही नहीं। अतएव आप पोस्ट आफिसमें या किसी एक्सचैंज बैंकमें रुपये जमा करा देंगे और वहाँ सूचना भिजवा देंगे तो वहाँ-की पोस्ट आफिससे या बैंकसे वहाँके उतने ही मूल्य-के सिक्के उन्हें मिल जायँगे। इसी प्रकार हम यहाँ पितरोंके उद्देश्यसे जो कुछ भी विधि-श्रद्धापूर्वक देते हैं, उन्हें वह वहाँके अनुरूप होकर मिल जाता है।

श्रद्धासमन्वितैर्दत्तं पितृभ्यो नामगोत्रतः।
यदाहारास्तु ते जातास्तदाहारत्वमेति तत् ॥

(विष्णुपुराण ३।१६।१६)

'श्रद्धावान् पुरुषोंके द्वारा नाम और गोत्रका उच्चारण करके जो कुछ अन्न दिया जाता है वह पितरोंको वे जैसे आहारके योग्य होते हैं, वैसा ही होकर उन्हें मिल जाता है।' आपको यहाँ जो कुछ भी भोग मिल रहे हैं—यह कोई आकस्मिक घटना नहीं है। यह सारा आपके कर्मोंका फल है और वह कर्मोंका नियन्त्रण करनेवाली और यथायोग्य फल भुगतानेवाली भागवती-शक्तिके द्वारा नियुक्त चेतन देवताओंके द्वारा दिया जा रहा है। वे देवता ही मनुष्यके 'अपूर्व' के अनुसार उसके लिये यथायोग्य भोगोंकी व्यवस्था करते हैं। और

उसी रूपमें करते हैं जिस रूपमें यहाँ वह उसके काममें आ सके। इसी प्रकार जब आप यहाँ पितरोंके उद्देश्यसे भोजन, जल या पिण्ड आदि जो कुछ वस्तु भी दान करेंगे। उसी क्षण वे कर्मफलदाता नियामक देवता उस वस्तुको—आपने जिस लोकके जिस प्राणी-के लिये उसे दान किया है—उस लोकके उसके भोगयोग्य रूपमें परिणत करके उसको प्राप्त करा देंगे। इन देवताओंको इस बातका पूरा पता रहता है कि कौन जीव इस समय कहाँ, किस लोकमें, किस शरीरमें और किस अवस्थामें है। अतएव इन्हें उसके पास उस वस्तुको तदनुरूप रूपान्तर करके पहुँचाते जरा भी देर नहीं लगती। यह तो हुई शारीरिक तृप्तिकी बात।

इसी प्रकार पितरोंकी मानसिक तृप्तिके लिये आप यहाँ जो कुछ कीर्तन, स्वाध्याय, प्रणाम आदि करेंगे या सान्त्वना वाक्योंका उच्चारण करेंगे उससे उनकी मानसिक तृप्ति हो जायगी। आप यहाँ जो कुछ भी बोलते हैं—वह नष्ट नहीं होता, सब आकाशमें चला जाता है। रेडियोकी बात आप जानते ही हैं। कितनी दूरके शब्द कितनी दूरतक उसी क्षण स्पष्ट सुनायी देते हैं। इन शब्दोंको जो वहन करके लाती है, वह आकाशतत्त्वकी शक्ति है। उसे वैज्ञानिक लोग 'ईथर' कहते हैं। नियामक देवता इसी प्रकारकी शक्तिके द्वारा आपकी क्रियाको तुरन्त वहाँ पहुँचा देते हैं। जैसे जीवित माता-पितादिके चरणोंमें प्रणाम करनेसे उन्हें प्रसन्नता होती है, सुख मिलता है, वैसे ही यदि आप पितरोंको प्रणाम करते हैं तो इस बातको उपर्युक्त रीति-से जाननेपर उन्हें भी सुख मिलता है,—उनकी मानसिक तृप्ति होती है। उनके लिये की हुई आपकी प्रत्येक क्रिया सूक्ष्म आकाशमें लहराती हुई तत्काल उनतक पहुँच जाती है और उन्हें यथायोग्य मानसिक सुख-दुःख पहुँचाती है।

आपका दूसरा प्रश्न है कि मुक्ति हो जानेपर तो श्राद्ध व्यर्थ ही हो जायगा। इसका उत्तर यह है कि प्रथम तो आपको पता नहीं लगता, आपके पास इसके जाननेका कोई उपाय ही नहीं है कि आपके किस पितरकी मुक्ति हो गयी है अथवा कौन किस लोक, किस योनि या किस दशामें हैं। आप मुक्त मानते हों और वे बेचारे कहीं नरकोंमें पड़े हों, इसलिये श्राद्ध-तर्पणादि सभीके करने ही चाहिये। मुक्ति हो गयी होगी तो आपके किये हुए उस सत्कर्मका फल आपके सञ्चितमें लौट आवेगा और उससे आपको यथायोग्य सुख-सम्पत्ति तथा शान्तिकी प्राप्ति होगी।

रही दूसरी योनिमें जानेकी बात, सो उसमें भी श्राद्ध-तर्पणादिका उपयोग है। वायुप्रधान और तेजःप्रधान शरीरोंमें तो उन पितरोंको प्रायः यह पता रहता है कि हम अमुकके सम्बन्धी हैं, हमारी अमुक सन्तान इस समय पृथ्वीपर है। वे तो सन्तानसे श्राद्ध-तर्पणादि चाहते हैं—खास करके यमलोकमें रहनेवाले वायुप्रधान शरीरवाले जीव, क्योंकि उनके क्षुधा-पिपासाकी शान्तिके साधनका प्रायः अभाव-सा रहता है। परन्तु मनुष्य, पशु, पक्षी आदि स्थूल योनियोंमें भी उनके लिये पूर्व-जन्मकी सन्तानद्वारा दिये हुए पदार्थोंका उनके उस योनिके अनुरूप फल मिलता है। जैसे इस समय आपका कोई सम्बन्धी हरिन-योनिमें है—आप उसके लिये किसी श्राद्धके योग्य ब्राह्मणको हलुवा-पूरी खिलाते हैं, तो उसको वहाँ वह घासके रूपमें मिल सकता है। इसी प्रकार सबको मिलता है। उनके लिये किये हुए शान्तिस्वस्त्ययन, स्वाध्याय, प्रणामादिसे उनको शान्ति और तृप्ति मिलती है। एक जगह आया है कि जब भगवान् श्रीकृष्ण जाम्बवान्के साथ उसकी गुफामें युद्ध कर रहे थे, तब उनके लौटनेमें बहुत समय बीत गया। बाहर बाट देखते-देखते जब साथी लोग थक गये तब उन्होंने द्वारका लौटकर अपना ऐसा अनुमान बतलाया कि सम्भवतः श्रीकृष्णका निधन हो गया है।

तब घरवालोंने उनके लिये यथायोग्य श्राद्धादि क्रियाएँ कीं।

तद्बान्धवाश्च तत्कालोचितमखिलमुपरतक्रियाकलापं चक्रुः। तत्र चास्य युध्यमानस्यातिश्रद्धादत्तविशिष्टपात्रोपयुक्तान्नतोयादिना कृष्णस्य बलप्राणपुष्टिरभूत्।

'श्रीकृष्णके बन्धुओंने समयोचित सारी क्रियाएँ कीं। श्रीकृष्णके समान सर्वश्रेष्ठ पुरुषके उपयुक्त अत्यन्त श्रद्धाके साथ जो अन्न-जलादि दिये गये उनसे युद्धमें लगे हुए श्रीकृष्णको बल, प्राण और पुष्टि प्राप्त हुई।' यद्यपि श्रीकृष्ण साक्षात् भगवान् थे, उन्हें बल, पुष्टि क्या मिलती। परन्तु शास्त्रमर्यादाके अनुसार लीलाके लिये ऐसा मानना उचित ही है। इसलिये हर हालतमें श्राद्ध करना ही चाहिये।

प्रश्न—गीतामें तो भगवान् कहते हैं—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही॥
(२।२२)

'जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रोंको त्याग कर दूसरे नये वस्त्र ग्रहण करता है, वैसे ही जीव पुराने शरीरोंको छोड़कर दूसरे नये शरीरोंको प्राप्त होता है।'

इससे यह सिद्ध है कि जीवको मरते ही दूसरी देह मिल जाती है फिर नरक-स्वर्गमें जानेकी बात कहाँ रही? शास्त्रमें कहा गया है कि जैसे जोंक अगला पैर टिकाकर ही पिछला उठाती है, वैसे ही जीव दूसरी देहमें जानेका उपक्रम करके ही पहलीको छोड़ता है। इसकी सङ्गति कैसे लगती है?

उत्तर—गीतामें भगवान्‌ने नये 'शरीर'की बात कही है, 'स्थूल शरीर'की नहीं। मरनेपर उसी क्षण जीवको 'आतिवाहिक देह' मिल जाती है यह बात ऊपर कही जा चुकी है। इसलिये इसमें कोई विरोध नहीं रह जाता।

प्रश्न—श्राद्ध कब करना चाहिये?

उत्तर—किसीके मरनेपर तीन क्रियाएँ की जानी चाहिये,—पूर्व, मध्यम और उत्तर। दाहसे लेकर जितने कर्म हैं उनको 'पूर्वकर्म' कहते हैं। प्रतिमास किये जानेवाले 'एकोद्दिष्ट' श्राद्धको 'मध्यम कर्म' और 'सपिण्डीकरण' के बाद मृतक व्यक्तिके पितृत्व प्राप्त हो जानेपर किये जानेवाले कर्मको 'उत्तरकर्म' कहते हैं। फिर, प्रतिदिन ही श्राद्धकी विधि है। प्रतिदिन न हो तो प्रत्येक अमावस्याको श्राद्ध करना चाहिये, उसमें भी न हो सके तो कन्यागत सूर्य होनेपर (कनागतोंमें) अर्थात् आश्विन कृष्णपक्षमें मरण-तिथिको और मनुष्यकी वार्षिक मरण-तिथिको—ये दो श्राद्ध तो अवश्य करने चाहिये। श्रीमद्भागवतमें कर्क, मकर, तुला और मेषकी संक्रान्ति, व्यतिपात, दिनक्षय, चन्द्र-सूर्यग्रहण, द्वादशी, श्रवणादि तीन नक्षत्र, अक्षयतृतीया (वैशाखशुक्ला ३), अक्षयनवमी (कार्तिकशुक्ला ९); मार्गशीर्ष, पौष, माघ और फाल्गुणकी कृष्णाष्टमी, माघशुक्ला सप्तमी, माघकी मघा नक्षत्रसे युक्त पूर्णिमा और प्रत्येक मासकी पूर्णिमा आदि अवसरोंपर भी श्राद्ध करना बहुत लाभजनक बतलाया गया है। श्राद्धपर बहुत कुछ विवेचन किया जा सकता है परन्तु अभी उसके लिये अवकाश नहीं है। श्राद्धकी विशेष विधि मनु-पाराशर आदि स्मृतियोंमें तथा पुराणोंमें देखनी चाहिये। गयाश्राद्ध भी अवश्य करना चाहिये। विष्णुपुराणमें पितरोंके ये वाक्य हैं जो 'पितृगीत' के नामसे प्रसिद्ध हैं। इस गीतसे पता लगता है कि पितरलोग अपने सन्तानसे पिण्ड-जल और नमस्कार आदि पानेके लिये कितने लालायित रहते हैं।

अपि धन्यः कुले जायादस्माकं मतिमान्नरः।
अकुर्वन्वित्तशाठ्यं यः पिण्डान्नो निर्वपिष्यति॥
रत्नं वस्त्रं महायानं सर्वभोगादिकं वसु।
विभवे सति विप्रेभ्यो योऽस्मानुद्दिश्य दास्यति॥

अन्नेन वा यथाशक्त्या कालेऽस्मिन्भक्तिनम्रधीः।
भोजयिष्यति विप्राग्र्यांस्तन्मात्रविभवो नरः॥
असमर्थोऽन्नदानस्य धान्यमामं स्वशक्तितः।
प्रदास्यति द्विजाग्र्येभ्यः स्वल्पाल्पां वापि दक्षिणाम्॥
तत्राप्यसामर्थ्ययुतः कराग्राग्रस्थितांस्तिलान्।
प्रणम्य द्विजमुख्याय कस्मैचिद्भूप दास्यति॥
तिलैस्सप्ताष्टभिर्वापि समवेतं जलाञ्जलिम्।
भक्तिनम्रस्समुद्दिश्य भुव्यस्माकं प्रदास्यति॥
यतः कुतश्चित्सम्प्राप्य गोभ्यो वापि गवाह्निकम्।
अभावे प्रीणयन्नस्माञ्छ्रद्धायुक्तः प्रदास्यति॥
सर्वाभावे वनं गत्वा कक्षमूलप्रदर्शकः।
सूर्यादिलोकपालानामिदमुच्चैर्वदिष्यति॥
न मेऽस्ति वित्तं न धनं च नान्य-
च्छ्राद्धोपयोग्यं स्वपितॄन्नतोऽस्मि।
तृप्यन्तु भक्त्या पितरो मयैतौ
कृतौ भुजौ वर्त्मनि मारुतस्य॥
(३।१४।२२–३०)

पितृगण कहते हैं—'हमारे कुलमें भी क्या कोई ऐसा बुद्धिमान्, धन्य पुरुष पैदा होगा जो धनके लोभको छोड़कर हमें पिण्डदान करेगा। जो प्रचुर सम्पत्तिका स्वामी होनेपर हमारे लिये ब्राह्मणोंको बढ़िया-बढ़िया रत्न, वस्त्र, सवारियाँ और सब प्रकारकी भोगसामग्री देगा। बड़ी सम्पत्ति न होगी—केवल खाने-पहनने लायक ही होगी तो जो श्राद्धके समय भक्तिके साथ विनम्र-बुद्धिसे श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको शक्तिभर भोजन ही करा देगा। भोजन करानेमें भी असमर्थ होनेपर जो श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको कच्चा धान और थोड़ी-सी दक्षिणा ही दे देगा। यदि इसमें भी असमर्थ होगा तो किन्हीं श्रेष्ठ ब्राह्मणको एक मुट्ठी तिल ही देगा; अथवा हमारे उद्देश्यसे भक्ति-विनम्र-चित्तसे सात-आठ तिलोंसे युक्त जलकी अञ्जलि ही दे देगा। इसका भी अभाव होगा तो कहींसे एक दिनका चारा ही लाकर प्रीति और श्रद्धाके साथ हमारे लिये गौको खिला देगा। इन सभी वस्तुओंका अभाव होनेपर जो वनमें जाकर दोनों हाथ ऊँचे उठाकर काँख दिखाता हुआ पुकार कर सूर्य आदि लोकपालोंसे यह कहेगा कि मेरे पास श्राद्धके योग्य न वित्त है, न धन है, न कोई अन्य सामग्री है, अतएव मैं अपने पितरोंको नमस्कार करता हूँ। वे मेरी भक्तिसे ही तृप्त हों। मैंने अपनी दोनों भुजाएँ दीनतासे आकाशमें उठा रक्खी हैं।'

सारांश यह कि अपनी शक्तिके अनुसार पितरोंके उद्देश्यसे अन्न, फल, जल, फूल कुछ भी अर्पण जरूर करते रहना चाहिये। जिनको भगवान्‌ने प्रचुर धन दिया है उनको तो श्रद्धापूर्वक दिल खोलकर पितरोंकी तृप्तिके लिये विधिवत् श्राद्ध तथा दानादि करने चाहिये। जिनकी आय परिमित है, उन्हें भी अपने मरे हुए माता-पिताको परलोकमें सुख पहुँचानेके लिये कष्ट पाकर भी यथासाध्य श्राद्ध-तर्पणादि करने चाहिये। उन्हींका धन्य जीवन है। जो पुरुष अपने मरे हुए माता-पिता आदि प्रियजनोंको भूल जाते हैं और उनके उद्देश्यसे कुछ भी दान नहीं करते, वे तो सर्वथा धिक्कारके योग्य हैं।

प्रश्न—सुना जाता है धर्म-ग्रन्थोंमें श्राद्धके अवसरपर मांसका विधान है, इस सम्बन्धमें आपकी क्या सम्मति है?

उत्तर—मांसाहारी जातियोंके लिये मांसका विधान है। यह विधान मांसकी प्रवृत्तिको घटानेके लिये ही है। नहीं तो, श्राद्धके अवसरपर मांसका सर्वथा निषेध किया गया है। विधिकी अपेक्षा निषेध-वाक्य ही अधिक बलवान् माने जाते हैं। श्रीमद्भागवतमें स्पष्ट कहा गया है—

न दद्यादामिषं श्राद्धे न चाद्याद्धर्मतत्त्ववित्।
मुन्यन्नैः स्यात्परा प्रीतिर्यथा न पशुहिंसया॥
नैतादृशः परो धर्मो नृणां सद्धर्ममिच्छताम्।
न्यासो दण्डस्य भूतेषु मनोवाक्कायजस्य यः॥
(७।१५।७-८)

'धर्मके तत्त्वको जाननेवाला पुरुष श्राद्धमें मांस अर्पण न करे। न स्वयं ही मांस खाय। क्योंकि पितरोंको ऋषि-मुनियोंके योग्य हविष्यान्नसे जैसी प्रसन्नता होती है, वैसी पशुहिंसासे नहीं होती। जो लोग सद्धर्मके आचरणकी इच्छा रखते हैं उनके लिये इससे बढ़कर कोई उत्तम धर्म नहीं है

कि किसी भी प्राणीको मन, वाणी और शरीरसे किसी प्रकारका भी कष्ट न दिया जाय।' इसमें मांसका स्पष्ट निषेध है अतः श्राद्धमें मांसका उपयोग भूलकर भी नहीं करना चाहिये।

प्रश्न–हिंदूशास्त्रोंके सिवा अन्य मतोंके ग्रन्थोंमें श्राद्धका उल्लेख नहीं है। वे लोग श्राद्ध करते भी नहीं, उनके पितरोंका क्या होता होगा?

उत्तर–ऐसी बात नहीं है कि दूसरे धर्मवाले कुछ नहीं करते। ईसाईलोग फल-फूल चढ़ाते हैं, मृतकके लिये प्रार्थना करते हैं। इसी प्रकार मुसलमान भी करते हैं। पारसी भी करते हैं। परन्तु मान भी लें कि वे लोग नहीं करते, तो इससे क्या हुआ। जो नहीं करते, उनके पितरोंको कष्ट ही होता है, मेरा तो यही विश्वास है। रही शास्त्रोंकी बात—सो यह तो अनुभवकी बात है। हमारे महर्षियोंने अपनी साधनासे प्राप्त की हुई दिव्यदृष्टिसे लोक-लोकान्तरोंका ज्ञान प्राप्त किया। तपोबलसे सर्वत्र विचरणकी शक्ति प्राप्त की और देख-सुनकर सब यथार्थ लिख दिया। अन्य धर्मवाले ऐसा नहीं कर सके, तो इसके लिये क्या किया जाय!

प्रश्न–श्राद्धके अतिरिक्त पितरोंके लिये और भी कुछ करना चाहिये?

उत्तर–दान देना चाहिये, भगवान्से प्रार्थना करनी चाहिये और उनके उद्देश्यसे भगवन्नामका २४, ४८ या इससे अधिक कालतक अखण्ड कीर्त्तन करना चाहिये। घरमें ज्यादा आदमी न हों, अखण्ड कीर्त्तनकी व्यवस्था न हो सके, तो प्रतिदिन नियमित समयतक अकेले ही नाम-कीर्त्तन करना चाहिये। इससे पितरोंको बड़ा सुख मिलता है। इसके अतिरिक्त एकादशी आदि व्रतोंका, भागवतसप्ताहका, भाँति-भाँतिके पुण्योंका और तीर्थसेवनादिका पुण्य भी उनके अर्पण किया जाता है। भगवान्की भक्ति करनेसे पितरोंको बहुत शान्ति मिलती है अतः सबको भगवद्भक्त बनना चाहिये।

(३)

धर्म और भगवान्

आपका कृपापत्र मिल गया था। मैं समयपर जवाब न दे सका। माफ कीजियेगा। आप मुसलमान हैं, इसीलिये मेरे मनमें आपके प्रति मुहब्बत कम क्यों होती? मुहब्बतसे, और इन हिंदू-मुसलमान नामोंसे क्या सरोकार? लेकिन अफसोस तो यह है कि आज हम इस हालतपर पहुँच गये हैं कि एक दूसरेपर सन्देह करने लगे हैं और इसीसे ऐसे सवाल भी मनमें पैदा होते हैं। आपने इस्लामका बड़ा ही सुन्दर अर्थ किया है। आपका यह अर्थ यदि भारतीय मुसलमान भाई जानते या मानते, उनके हृदयोंमें काश, यह अर्थ आ जाता तो आज जहाँ एक दूसरेके गलेपर छूरी चलायी जाती है वहाँ एक दूसरेके हाथ परस्पर रक्षा करनेके लिये छत्र-छायाकी तरह ऊपरको उठे होते, और फिर क्या मजाल कि कोई तीसरा हममें भेद उत्पन्न करके लड़ा सकता। परन्तु आज तो ज़माना ही बदल गया है। हमने ईश्वरके और धर्मके नामपर ही ईश्वर और धर्मकी हत्या करना शुरू कर दिया है। पता नहीं, इसका क्या नतीजा होगा।

ईश्वर एक हैं, धर्म उनकी प्राप्तिके रास्ते हैं। वे धर्म धर्म नहीं जो ईश्वरप्राप्तिके रास्तेमें रोड़े अटकावें। सच्ची बात तो यह है कि एक ही भगवान्को हमलोग भिन्न-भिन्न नामोंसे पूजते हैं। हमारे श्रीकृष्ण ही आपके अल्लाह हैं। मजहबके नामों और देशकी सीमाओंके भेदसे न तो भगवान् अनेक हो जाते हैं और न अखण्ड आत्माके स्वरूपमें ही अन्तर आ सकता है। यह तो मनुष्यकी हठधर्मी है जो वह अपना अज्ञान ईश्वरपर लादकर ईश्वरको छोटे दायरेमें कैद करना चाहता है। भगवान् सबको सुमति दें। यही प्रार्थना है……।

निवेदन

'कल्याण'के अनेकों प्रेमी पाठक कई वर्षोंसे आग्रह कर रहे थे कि 'कल्याण'का एक सर्वाङ्गसुन्दर 'भागवताङ्क' निकाला जाय। इस वर्ष विचार भी हुआ परन्तु निकाला न जा सका। भगवान्‌की कृपासे अगले वर्षके प्रथम अंकके रूपमें 'भागवताङ्क' निकालनेका निश्चय हो गया। लड़ाईके कारण कागज, स्याही, टाइप आदि छापनेकी सभी सामग्रियोंके दाम उत्तरोत्तर बढ़ते ही जा रहे हैं। छापनेके जो कागज पहले ≈)॥ पौंड थे, इस समय उनकी कीमत लगभग ।-) पौंड है। चित्र छापनेके असली आर्टपेपर जो ।-) पौंड मिलते थे, इस समय ।॥) पौंडमें भी मिलने कठिन हो गये हैं। इसी प्रकार लिफाफेके कागज, कवरके मोटे कागज आदिके दाम भी बहुत अधिक बढ़ गये हैं। 'भागवताङ्क'को यथासाध्य सर्वाङ्गसुन्दर प्रकाशित करनेका निश्चय था। अतएव उसी निश्चयके अनुसार आयोजन किया गया। सबके समझने योग्य सरल, सीधी और रोचक भाषामें भागवतका पूरा अनुवाद करवाया गया। लगभग ४०० सादे और ७५ सुन्दर-सुन्दर रंगीन चित्र देनेकी व्यवस्था की गयी। चित्र तथा ब्लाक बनवाये गये। यह भी सोचा गया कि किसी भी रूपमें 'मूलभागवत' भी दे दी जाय। श्रीमद्भागवतपुराण घरमें रहे, इसकी भी शास्त्रमें बड़ी महिमा गायी गयी है। भागवत-ग्रन्थके पूजनका तो कहना ही क्या है। स्कन्दपुराणमें भगवान्‌के वचन हैं—

'जो लोग कलियुगमें प्रतिदिन अपने घरोंमें श्रीभागवतशास्त्रकी पूजा करते हैं वे कलियुगसे निडर होकर ताल ठोंकते हैं और उछलते रहते हैं, मैं उनपर बहुत प्रसन्न रहता हूँ। हे पुत्र! मनुष्य जितने दिनोंतक अपने घरमें भागवतशास्त्र रखता है, उतने समयतक उसके पितरोंको दूध, घी, मधु और मीठा जल पीनेको मिलता रहता है। जो लोग सदा अपने घरोंमें भागवतका पूजन करते हैं वे मानो एक कल्पतकके लिये सम्पूर्ण देवताओंको तृप्त कर देते हैं।' इसलिये छोटे अक्षरोंमें 'भागवताङ्क'के परिशिष्ट (कल्याणके दूसरे) अंकमें पूरी मूलभागवत देनेकी चेष्टा की जा रही है। यह ऐसा हो सका तो साठ हजार घरोंमें श्रीमद्भागवत विराज जायँगी। यद्यपि सब लोग उसे आसानीसे पढ़ नहीं सकेंगे परन्तु घरमें रखने और पूजन करनेका अवसर तो सभीको मिल जायगा।

इस प्रकार भागवताङ्ककी तैयारीमें काफी खर्च होगा। कागजोंकी महँगी तो है ही। हिसाब देखा गया तो-पता लगा कि सालभरमें 'भागवताङ्क' समेत बारह अङ्कोंके छापने और ग्राहकोंके पास भेजनेमें अनुमानतः कुल खर्च ३७३६२२)। होता है। और ४≈) वार्षिक कीमतसे कुल २५१२५०) की आमदनी होती है। इस हिसाबसे १२२३७२)। का घाटा रहता है। इसपर 'कल्याण' के प्रेमियोंसे सलाह की गयी। सम्मति मिली कि 'या तो 'कल्याण' बंद कर दिया जाय या कल्याणका मूल्य ६≈) कर दिया जाय। दो रुपये प्रतिग्राहक बढ़ जानेसे फिर थोड़ा-सा ही घाटा रहेगा।' परन्तु 'कल्याण'के सञ्चालकोंने न तो बंद करना ही उचित समझा और न एक साथ २) दाम बढ़ाना ही।

बड़े संकोचसे १) बढ़ानेका यानी 'कल्याण'का वार्षिक मूल्य ५≈) करनेका निश्चय किया। एक रुपया बढ़ानेपर भी 'कल्याण'में इस वर्ष लगभग ६२३७२)। का घाटा रहेगा।

'कल्याण'के कृपालु पाठकों, ग्राहकों, प्रेमियोंको यह जानकर प्रसन्न होना चाहिये कि 'गीताप्रेस' इस घाटेके लिये किसीसे सहायता नहीं चाहता, न लेता ही है। गीताप्रेसमें एक कागजकी एजेंसी है, उसमें पिछले वर्षोंमें कुछ बचत हुई है। इस वर्ष और अगले वर्ष भी शायद कुछ बचत हो सकती है। इससे आशा है कि कुछ तो उन बचतके रुपयोंसे यह घाटा भर जायगा। जो कुछ शेष रहेगा, वह गीताप्रेसकी पूँजीसे भर दिया जायगा। 'कल्याण' चार वर्षसे लगातार घाटा दे रहा है। भगवान्‌की कृपासे काम चल ही रहा है। कागजोंकी एजेंसीमें यदि कुछ

रुपये आते हैं तो उन्हें 'कल्याण' तथा पुस्तकोंको सस्ते दामोंमें बेचकर उसमें लगा देना उचित ही है। आशा है कि हमारे जो कृपालु सज्जन दो रुपये दाम बढ़ानेकी सम्मति देते थे, उन्हें इससे सन्तोष हो जायगा, और एक रुपया कीमत बढ़नेसे भी किसीको असन्तोष नहीं होगा। क्योंकि अब भी उनको लागतकी कीमतसे कम-से-कम १) से कुछ अधिक सस्तेमें 'भागवताङ्क'के सहित बारह महीनेतक 'कल्याण' मिलता रहेगा। जानकारीके लिये आनुमानिक व्ययका ब्यौरा नीचे प्रकाशित है—

कल्याण वर्ष १६ अगस्त १९४१ से जुलाई १९४२ तक=विशेषाङ्क (भागवताङ्क) फार्म अनुमान १४० (सूचीसहित) प्रतियाँ ६०१००, चित्र रंगीन अनुमान ७५, लाइन ब्लॉक अनुमान ४००, संख्या २से १२ फार्म ११८ (सूचीसहित) प्रतियाँ ६०१०० प्रत्येक, चित्र रंगीन ११, टाइटल ११

१८१३३६)। कागज

६८५०९।=)। कागज विशेषाङ्कके लिये २०×३०=२८ पौंड रीम ८५८२ पौ० २४०२९६ दर।) ११॥ पाई, बाद ८) सैकड़ा (कमीशन)

५७४७७) कागज संख्या २ से १२ के लिये २०×३०=२८ रीम ७२०० पौ० २०१६०० दर।) ११॥ पाई, बाद ८) सैकड़ा (कमीशन)

३३७५०) आर्टपेपर (इंगलिश) चित्र रंगीन ७५ के लिये रीम १२०० साइज २०×३०=४५ कुल पौ० ५४००० दर ॥=)

८४५०≡)। कवरपेपर संख्या २ से १२के टाइटलके लिये रीम ३५२ साइज २०×३०=६० पौ० २११२० दर।=) ११॥ पाई, बाद ८) सैकड़ा (कमीशन)

४९५०) आर्टपेपर (इंगलिश) संख्या २ से १२के ११ चित्रोंके लिये रीम १७६ साइज २०×३०=४५ कुल पौ० ७९२० दर ॥=)

१०२३-)॥। कवरपेपर विशेषाङ्कके लिये १०×१७॥=२२॥ रीम १२० पौ० २९२५ दर।=) १ पाई बाद ८) सैकड़ा (कमीशन)

२३५६।) लिफाफा विशेषाङ्कके लिये क्राफ्ट २२×२९=५८ रीम ६५ पौ० ३७७० दर ॥=)

४८२०-) रैपरके लिये (संख्या ११) क्राफ्ट २९×४४=३६ पौ० रीम २२५॥ पौ० ८११८ दर ॥-)॥

१८१३३६)।

२०६४) कम्पोज — विशेषाङ्क ११२०) — संख्या ११ ९४४)

६६९७७) छपाई

१६८००)	विशेषाङ्क फार्म १४०	प्रति ६०१००	
२७०००)	,,	चित्र रंगीन ७५	,,
३६०)	,,	टाइटल	,,
१४१६०)	संख्या ११ फार्म ११८		,,
३९६६)	,,	टाइटल ११	,,
३९६६)	,,	चित्र ११	,,
६६०)	रैपर		
६५)	लिफाफा		
६६९७७)			

२५०३७७)।

२५०३७७)। पिछले पृष्ठका जोड़

२९४०) चित्रोंकी बनवाई—विशेषाङ्क तिरंगे ७५, संख्या ११ चित्र १२, लाइन ४००
१५००) २४०) १२००)

६७४०) ब्लॉक बनवाई—विशेषांक तिरंगे ७५, लाइन ४००
३०००) ११००)

„ संख्या ११ के चित्र ११, टाइटल सेट ३
४४०) २००)

„ संख्या २ में भागवतके ब्लॉक
२०००)

१८७५२॥) दफ्तरीखर्च=विशेषाङ्कका कटाई-मुड़ाई-चित्र लगवाई-सिलाई-तैयार करवाई-लिफाफा तैयार क०
१०६५०) १६२॥)

संख्या ११ की कटाई-मुड़ाई-तैयार करवाई-रैपर-पता-सूची लगवाई आदि ।
७९४०)

५७८१२॥) पोस्टेज विशेषाङ्कका ६०१०० का दर ॥)॥—वी० पी० वापसी १०००० दर ॥)॥
३१८७५) ५३१२॥)

संख्या ११ प्रति ।-)॥
२०६२५)

२७०००) व्यवस्था-खर्च—

२१०००) वेतन—सम्पादन और व्यवस्थामें ।

२०००) विज्ञापन, नियम, वी० पी०-फार्म, मनीआर्डरफार्म, लेटर-पैड, कार्ड, लेबल आदिकी छपाई ।

४०००) 'कल्याण' परिवर्तनार्थ, सुयोग्य पुरुषों और लेखकोंकी भेंट तथा संस्थाओंको देनेमें ।

२५००) सम्पादकीय और व्यवस्था-विभागके पत्र-व्यवहार, तार आदिका पोस्टेज ।

२०००) पता निकालनेके स्टेन्सिलपेपर, आफिस स्टेशनरी आदि ।

१५००) शिक्षाप्रसार-विभाग यू० पी० सरकारको कम मूल्यमें 'कल्याण' दिये जानेमें ।

४०००) पुस्तकें, फुटकरखर्च—लेखकोंको पुरस्कार, मुसाफिरी, अतिथि-सत्कार आदि ।
५००) ३५००)

३७३६२२)। कुल खर्च

३११२५०) बाद—आमदनी ६०००० दर ५॥)

६२३७२)। शेष नुकसान

यह हिसाब अनुमानसे बनाया गया है । इसमें कुछ न्यूनाधिक भी हो सकता है । युद्धके कारण कागजोंके दाम बढ़ते गये तो उसी हिसाबसे घाटा अधिक हो सकता है । पूरे सालके कागज न तो स्टाकमें हैं और न खरीदे हुए ही हैं । सरकारी माँग बहुत अधिक होनेके कारण कागजके कारखानेवाले कागज देनेसे इन्कार कर रहे हैं । अतः यदि पूरे कागज न मिल सके तो सब ग्राहकोंको 'कल्याण' दिया भी न जा सकेगा । हम यथासाध्य चेष्टा तो यही करेंगे कि 'कल्याण' सब ग्राहकोंको मिल जाय और जहाँतक सम्भव हो, खर्च घटाया जाय और नुकसान कम हो ।

भगवन्नाम-जप

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

इस बार नाम-जप बहुत अधिक स्थानोंमें हुआ है। ७१८ सूचनाएँ आ चुकी हैं और अभी आ रही हैं। इस समयतक ४३६५९४३०० मन्त्र-जपकी सूचना आ चुकी है। बहुत-से सज्जनोंने जप होना लिखा है परन्तु संख्या नहीं लिखी है। इससे मालूम होता है ५० करोड़से भी ऊपर जाप हुआ है। नामकी संख्या जोड़नेसे इससे सोलहगुनी होगी। भारतके प्रायः सभी प्रान्तोंमें जाप हुआ है और सभी श्रेणीके सज्जनों और देवियोंने इसमें सानन्द भाग लिया है। कई लोग तो स्थायीरूपसे जप करने लगे हैं। जिन संस्थाओंने, संतोंने और नाम-प्रेमियोंने स्वयं जप किया तथा दूसरोंसे करवाया उन सबके हम अत्यन्त कृतज्ञ हैं। किसी स्थानका नाम भूलसे छूट गया हो तो कृपया क्षमा करें। सूचना मिलनेपर अगले अङ्कमें नाम छापा जा सकता है। जिन स्थानोंसे सूचना आयी है उनके नाम निम्नलिखित हैं—

अकलगढ़, अकलतारा, अगवानपुर, अजमेर, अड़ास, अतरौल, अदलहाट, अन्नारेड्डीपालम, अनन्तबाग, अपहर, अफोला, अब्रामा, अमरवाडा, अमसंडा, अमरा, अमरावती, अमरौधा, अमृतसर, अमौत, अम्बाला छावनी, अम्बाह, अम्बाहट्टा, अरई, अरुसा (अफ्रीका), अलीगढ़, अल्लेप्पे, अवगिल, अब्दुलखराना, असौआ, अहमदाबाद, आकोट, आगरा, आजमगढ़, आदिगाऊ, आनन्दपुरा, आलमपुर, आरंग, आरा, इकदिल, इन्दौर, इमामगंज, इलासीन, इलाहाबाद, इस्लामकोट, ईडर, उज्जैन, उदनाबाद, उदयपुर, उदयपुर माल अड्डा, उमरेठ, उमरेड़ी, उलाव, उल्का, उल्काबाजार, एकबरपुर, एटिकोपोका, एलिचपुर, ओरछा, ओलादण, अंकलेश्वर, अंधारी, अंधेरी, ककिलामारी, कच्छभुज, कटक, कण्डेला, कदमकुआँ, कनेरी, कनोवाची, कालमनूरी, कपड़वंज, कमतौल, करनाल, करमसद, करवी, कर्णपुर, कराँची, करोदगिरी, कलकत्ता, कलोल, कंसीसिमरी, काञ्चीसमुद्रम्, कानपुर, कालावड़, कालूचक, काशीपुर, कासिमपुर, कांकिनारा, कांके, कांकेर, कांगड़ा, कांडुकूर, कांदीवली, कुरुद, कुण्डूकूर, कुरसी, कुसमरा, कूपगाँव, केसगावाँ, केसोद, केंदवापदा, कैराना, कैलास, करताल, कोइलगढ़, कोटरा, कोटला, कोटा जंकशन, कोडंगल, कोरजी, कोयम्बटूर, कोयली, कोसी, खजुरड़ा, खरगडीहा, खरवा, खरेड़ा, खलहार, खाताली, खितौली माली, खुरई, खुशाव, खैराबाद, गर्चा, गढड़ा पीथापुर, गढ़मुक्तेश्वर, गढ़ी, गंगोलीहाट, गन्धवानी, गन्धावल, गया, गरौल, गहलू मिसारा, गाजना, गाजियाबाद, गिरवाँ, गिसारा, गीदड़बाहा, गुड़गाँव, गुडीवाडा, गुजरात, गुरदासपुर, गुरारू, गुलबर्गा, गोड्डा, गोड़बहल, गोधरा, गोधा, गोनावन, गोपालगंज, गोपालपूरम नार्थ, गोरखपुर, गोरमी, गोराजू, गोरीफा, गौरी सलोनेपुर, गौरीकरन, घुमनी-सिकन्दरपुर, घोरावाड़ी, घोड़ासहन, चकमका, चोपड़ा-रामनगर, चलथण, चहरी, चंडीपुर, चानवाडी, चांदोद, चालीसगाँव, चित्तौड़गढ़, चिंचावड, चिन्तामणि चक, चिन्ना-बाबूसन्दरम्, चिरिया, चोमू, चौबटिया, चौराई, चेरपेलचेरी, चौराई, चौराही, चौलियागंज, चौसार, छतरपुर, छतवाँ-कलाँ, छनियाना, छपरा, छापरभाठा, छितौनी, छिंदवाड़ा, छीनम, छूरा, जखनिया, जगदलपुर, जगदीशपुर, जडोला, जनकपुर रोड, जबलपुर, जयति, जयपुर, जरौडा, जलगाँव, जलालपुर, जसो, जाफराबाद, जामनगर, जामनेर, जालना, जावली, जिंगरवा, जुघाला, जूनागढ़, जैतीपुर, जोडिया, जोधपुर, जोबट, जोशीमठ, झंगड़पुर, झरिया, झांझमेर, झींझक, झूंझनू, टिंडीवनम्, ट्रिप्लीकेन, टीकमगढ़, टेटिया, टेरही बाजार, टेहटा, ठूठा, डभोई, डाडामंडी, डाल्टनगंज, डालमियादादरी, डालमियानगर, डुगरीघुमना, डेहरी, तकोला कनोबा, तनोली, तरनाऊ, तिंदवारी, तिरुपापुलियर, तिरुविल्वमाला, तुलसीपुर, तेयार, थल, दारेस्सलम, (अफ्रीका), दार्लपूड़ी, दिहिमुख, दीनापुर-कैंट, दुमका, देवगढ़, देवरिया, देवगाँव, देवला, देवादा, देहरादून, धनगाँव, धनसार, धनवाद, धमतरी, धर्मराय, धराउत, धामपुर, धार, धारवाड़, धारी, ध्रांगध्रा, धारोवाल, धूधुया, धोलका, धोलकिया, धौलपुर, नगम, नगरपारकर, ननूबाई, नबीनगर, नयागाँव, नरोतजयमलसिंह, नवसारी, नवादा, नसीराबाद, नंदलाला-बाद, नागपुर, नांदेड़, नापासर, नासवाड़ी, नासिक, नाहन, निसारपुर नुर्जावद, नुनहड़, नुहसील, नेचुआ, नेमदारगंज, नेपाल, नैहाटी, नैनीताल, नैरोबी (अफ्रीका), नोरवा, नोहर, नौशेरा, पच्छिमशरीरा, पटना एरवा,

परतावगढ़, परवाहा, परभनी, परसा, परसागढ़, परियावाँ, पलारी, प्रतापगढ़, पहासू, पाटन, पाणेथा, पालघाट, पालमपुर, पाली, पायल, पिथौरा, पिपली, पैंडुल, पियरी, पिंडरा, पिसावाँ, पीपरझरी, पीपलरावाँ, पीरामोतार, पीलीभीत, पुड़ाभारी, पुन्हदा, पुरी, पुरेमोती दवे, पूना-सिटी, पेंडरा, पेशावर, पैरी, पोखरी, पोलीमाभिडी, पौडेयाहाट, फतेहपुर, फतेहाबाद, फलधारा, फीरोजाबाद, बकली, बगड़, बगतपुरा, बंगलौर सिटी, बघौरा, बड़कागाँव, बड़काराजपुर, बड़वारी, बड़ौदा, बतरा, बदौसा, बनवासी, बनारस, बन्नापुर, बघौली, बन्नू, बनेड़ा, बम्बई, बलरामपुर, बलिया, बरकाल, बरेली, बरौठ, बस्ती, बसेरी, बहराइच, बहादुरपुर, बर्हिदर, बाकरोल, बाँकीपुर, बांका, बाजपुर, बाँटवा, बाड़ेछीना, बाढ़ापुर, बादामीबाग कैंट, बानपुर, बान्द्रा, बारा, बालकमऊ, बालागिर, बालीसरण, बावरा, बिछावाँ, बिधनू, बिरमा, बिलन्दा, बिल्हौर, बिलासपुर, बिसीकलाँ, बिलहरा, बीकानेर, बीदासर, बुगरासी, बुरहानपुर, बुलसर, बूचीरेडीपालम, बेगमाबाद, बेगूसराय, बेन्धवा, बेणचिनमर्डि, बेनी, बेल्लारी, बेलगाँव, भटरा, भटेरा, भड़ौच, भनैल, भभुआ, भरवारी, भवानी पटना, भवानीपुर, भागलपुर, भागा, भावनगर, भुज, भुसावल, भुसावली, मेड़वन, भेलाही, भोहाड़ी, मखदूमपुर, मंजला, मंद्रा, मंदारा, मंसूरपुर, मट्टम, महसी, मडरारक, मदुरा, मद्रास, मधुबन, मधौल, मनाण, मरहमतनगर, महमूदाबाद, मलकापुर, मल्हीपट्टी, महाराजपुर, महिसारी, मांडल, मांडवला, माटूँगा, माधोपुर, मारवाड़ जंकशन, मारहरा, मालाड़, मासी, मिठी, मिर्जापुर, मिल्की, मुजफ्फरपुर, मुन्द्रासन, मुरादाबाद, मुलतान, मुसहरी, मुहमदी, मूँदी, मूगस, मूल, मेड़ता, मेरठ, मेरठकैंट, मेहगाँव, मैनपुरी, मैसूर, मैहंकर, मोठ, मोकामा, मोतीहारी, मोहानी, यमुनिया, यादगिरि, रंगून, रक्सौल, रगनमहल, रतनगढ़, रतलाम, रसूलाबाद, राघौगढ़, राजकोट, राजनगर, राजनन्दगाँव, राजमहल, राजमहेन्द्री, राजवाड़ी, राजपुर, रानाबन, रानीखेत, रामगढ़ (सीकर), रामगढ़, रामटेक, रामनगर, रामपुरहाट, रावलपिंडी, रिछैड़ा, रीगा, रुड़की, रुपौली, रूठपाई, रेपल्ले, रैयाँ, रोरा, रोहतक, रोहुआ, लखनऊ, ललनादौन, लहलकलाँ, लाडवाडा, लालाबाजार, लायलपुर, लालीपुर, लासूरी, लाहौर, लिलिया, लीलियामोटा, लुधियाना, लुम्बा, लोनावला, वधवानकैम्प, वधवानसिटी, वंटमुरी, वर्ताल, वरवाला, वरोरा, वलिया, वाँकानेर, वाघोड़िया, वालोद, वाव, वावकठोर, वासुदेवपुर, वासो, विक्रमपुर, विजगवाँ, विजगापट्टम, विशनमऊ, विशुनगढ़ विणुकोंडा, विन्ध्याचल, विराटनगर, विरामगिरि, विश्वनियाँ, वीनागंज, वीरमगाँव, वीहपुर, वेतावर, वेरावल, वेलखरियाकपुर, वैकुण्ठपुर, वैद्यवाटी, वैर, वैरीमहिपालपुर, वोरा, शंभु, शान्ताक्रुज, शाहजहाँपुर, शाहगंज, शाहपुर, शाहाबाद, शिकारपुर, शिरखेड, शिवला, शिवेतर, शेनकोटाह, शेषाद्रिपुरम्, शोलापुर, श्रीनगर, संगरूर, सक्खर, सचीन, सतशाला समी, समेला, सम्बलपुर, सरखेख, सरदारशहर, सरवन, सराय जाजों, सैयाँ सवतिया (अफ्रीका), सहुसपुर, सागर सिमोगा, सागा खेड़ा कलाँ, सादरा, सारस्वतपुर, सालौन, सिंगापुर (मलाया), सिन्दी, सिआली, सिकन्द्रा, सिकन्द्राबाद, सिघौली, सिरसी जहाँगीर, सिराहा, सिरहरपुर, सिलोल, सिवनी, सीकर, सीरपुर, सुकरौली, सुजानगढ़, सुतिहार, सुदौली, सुभानपुर, सुमेरगंज, सुलतानपुर, सुल्तान बाजार (हैदराबाद दक्षिण), सूरसंड, सूरत, सेऊ, सेलापट्टी मलालखनपुर, सेलोटपार, सैदापुर, सोतापार, सोनादा, सोनापुर बाजार, सोवाड्डी, स्यालकोट सिटी, हट्टा, हयाघाट, हरद्वार, हरसूद, हरीन्द्रनगर, हलीखंड, हलवार, हवेली, हिण्डौन, हिरेवागिवाडि, हिम्मतपुर, हिरौली, हुमेलवा, हुसेनगंज, हैंसरबाजार, हैदराबाद दक्षिण, हैदराबाद सिन्ध, होन्नावर, होशियारपुर ।

व्यवस्थापक—

नाम-जप-विभाग

Regd. No. A. 175.

श्रेष्ठ भक्त कौन हैं ?

जो प्राणीमात्रका हित करते हैं, किसीमें दोष नहीं देखते, किसीसे डाह नहीं करते, किसी वस्तुकी इच्छा नहीं करते, जो ज्ञानी तथा शान्त हैं। जो मन, वाणी, शरीरसे किसीको पीड़ा नहीं पहुँचाते, जो परिग्रह नहीं करते, जिनकी सात्त्विक बुद्धि भगवान्‌की कथा सुननेमें लगी रहती है, जो भगवच्चरणोंकी भक्ति करते हैं। जो माता-पिताकी सेवा करते हैं, देवपूजा करते-करवाते हैं और देखकर प्रसन्न होते हैं, जो सब वर्णवालोंकी तथा संन्यासियोंकी सेवा करते हैं और किसीकी भी निन्दा नहीं करते। जो प्राणीमात्रको हितकी बात कहते हैं, जो गुणग्राही हैं, सारे प्राणियोंको अपनी आत्माके समान समझते हैं और जो शत्रु-मित्रमें समभाव रखते हैं। जो धर्मशास्त्रोंके वक्ता हैं और सत्य बोलते हैं, जो ऐसे पुरुषोंकी सेवा करते हैं, जो पुराणोंकी व्याख्या करते-सुनते हैं, उनमें भक्ति रखते हैं, जो गौ-ब्राह्मणकी सेवा करते हैं और तीर्थयात्रा करते हैं। जो दूसरेकी उन्नति देखकर हर्षित होते हैं और जो श्रीभगवान्‌के नामके परायण हैं। जो कुआँ, बावड़ी, तालाब और बगीचे बनवाते हैं, भगवान्‌के मन्दिर बनवाते हैं, जो गायत्रीकी उपासना करते हैं और भगवान्‌का नाम सुनते ही हर्षके मारे जिनका शरीर पुलकित हो जाता है और जो आनन्दको रोक नहीं सकते। ऐसे पुरुष उत्तम भागवत हैं।

(स्कन्दपुराण)

वर्ष १५
अङ्क १२

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम। जय रघुनन्दन जय सियराम ॥
रघुपति राघव राजा राम। पतितपावन सीताराम ॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा। जय गणेश जय शुभ आगारा ॥

[संस्करण ५४१००]

वार्षिक मूल्य
भारतमें ५≈)
विदेशमें ७॥≈)
(१२ शिलिङ्ग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत् चित् आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण प्रति
भारतमें ।)
विदेशमें ।≡)
(८ पेंस)

Edited by H. P. Poddar and C. L. Goswami, M. A., Shastri.
Printed and Published by Ghanshyamdas Jalan at the Gita Press, Gorakhpur (India)

॥ श्रीहरिः ॥

कल्याण जुलाई सन् १९४१ की

विषय-सूची

पुराने-नये ग्राहकोंकी सेवामें नम्र निवेदन

(१) यह पंद्रहवें वर्षका १२वाँ यानी अन्तिम अंक है। इस अंकमें सभी पुराने ग्राहकोंका सालाना चन्दा पूरा हो जाता है।

(२) १६वें वर्षका पहला अंक 'श्रीमद्भागवताङ्क' होगा। श्रीमद्भागवताङ्कके तीन खण्ड होंगे (अगस्त, सितम्बर और अक्टूबर)। तीनों अलग-अलग प्रतिमास प्रकाशित होंगे। अकेले श्रीमद्भागवताङ्कका मूल्य ४॥) होगा। परन्तु ग्राहकोंको सालभरकी कल्याणकी कीमत ५≈) दे देनेपर श्रीमद्भागवताङ्क बिना कुछ अधिक दिये उसीमें मिल जायगा।

(३) पुराने और नये ग्राहकोंको चन्देके (लवाजमके) रुपये ५≈) तुरंत भेज देने चाहिये। नहीं तो वी० पी० पहुँचनेमें बहुत देर हो जायगी।

(४) जिन महानुभावोंने ग्राहक बनाये हैं और बना रहे हैं, उनके हम हृदयसे कृतज्ञ हैं। निष्काम सेवा भगवत्सेवा ही है। इस बार लड़ाईके कारण छपाईके काममें आनेवाली सभी चीजोंके दाम बहुत बढ़ गये हैं। गतांकमें हिसाब आपलोग पढ़ ही चुके होंगे। साथ ही इस बारका श्रीमद्भागवताङ्क बहुत ही उपादेय, सुन्दर, सुबोध, शिक्षाप्रद होगा। भागवतकी उत्तमता और उपादेयताके लिये कुछ कहना ही नहीं है। सम्भव है बहुत जल्दी संस्करण समाप्त हो जाय, इसलिये ग्राहक बननेवालोंको बहुत जल्दी करनी चाहिये।

(५) ग्राहकोंको चाहिये अपने मनीआर्डरके कूपनमें पूरा पता नाम, गाँव, डाकघर तथा जिलेका नाम साफ अक्षरोंमें लिखें। पुराने ग्राहक अपने ग्राहकनम्बर जरूर लिखें। नये ग्राहक 'नया' शब्द लिखें। नहीं तो 'कल्याण' देरसे पहुँच सकता है।

(६) पुस्तकों तथा चित्रोंकी माँग गीताप्रेसको अलग लिखें। डाकके नियमानुसार 'कल्याण' के साथ और चीजें नहीं जा सकतीं।

(७) कल्याणके प्रेमी, कृपा रखनेवाले सज्जन सदा ही नये ग्राहक बनाया करते हैं। इस बार भी वे तो बनावेंगे ही। परन्तु इस बार अधिक ग्राहक बन जानेपर हम उन्हें अंक दे सकेंगे या नहीं, इसका निश्चय नहीं है।

(८) कल्याणका नया वर्ष '१ अगस्त' से शुरू होता है। पूरे सालके ही ग्राहक बनाये जाते हैं।

(९) सजिल्द 'श्रीमद्भागवताङ्क' बहुत देरसे जायगा। पहले जिल्द बाँधनेका अवकाश नहीं मिलता, इसलिये क्षमा करेंगे।

(१०) जिन सज्जनोंको ग्राहक न रहना हो वे कृपापूर्वक पहलेसे एक कार्ड लिखकर जरूर सूचना दे दें, ताकि व्यर्थ वी० पी० भेजकर कल्याण-कार्यालयको नुकसान न उठाना पड़े। आपके तीन पैसेके खर्चसे कार्यालयके लगभग आठ आने बच जायँगे।

व्यवस्थापक—**कल्याण, गोरखपुर**

आ—

४०–**श्रीकृष्ण-विज्ञान**–गीताका मूलसहित हिन्दी-पद्यानुवाद, सचित्र, पृष्ठ २७२, मूल्य ॥।) सजिल्द ··· १)

४१–**श्रीश्रीचैतन्य-चरितावली**–(खं० १)–लेखक–श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी, ६ चित्र, पृष्ठ २९६, मूल्य ॥।=) सजिल्द १=)

४२– ,, ,, (खं० २)–९ चित्र, ४६४ पृष्ठ, पहले खण्डके आगेकी लीलाएँ, मूल्य १=) सजिल्द १।=)

४३– ,, ,, (खं० ३)–११ चित्र, ३८४ पृष्ठ, मूल्य १) सजिल्द ··· १।)

४४– ,, ,, (खं० ४)–१४ चित्र, २२४ पृष्ठ, मूल्य ॥=) सजिल्द ··· ॥।=)

४५– ,, ,, (खं० ५)–१० चित्र, पृष्ठ २८०, मूल्य ॥।) सजिल्द ··· १)

श्रीश्रीचैतन्य-चरितावली–पाँचों भाग–पूरी पुस्तक सजिल्द (दो जिल्दोंमें) लेनेसे ॥=) कम लगता है। अलग-अलग अजिल्द ४।=) सजिल्द ५॥=) पाँचों भाग दो जिल्दोंमें ··· ··· ५)

४६–**मुमुक्षुसर्वस्वसार**–भाषाटीकासहित, अनुवादक–श्रीमुनिलालजी, पृष्ठ ४१६, मूल्य ॥।–) सजिल्द ··· १–)

४७–**तत्त्व-चिन्तामणि भाग १**–सचित्र, लेखक–श्रीजयदयालजी गोयन्दका, पृष्ठ ३६०, एण्टिक कागज, मूल्य ॥=) स० ॥।–)

४८– ,, ,, ,, (गुटका) ,, ,, ,, ४४८, सचित्र, प्रचारार्थ मूल्य ।–) स० ।=)

४९– ,, **भाग २**– ,, ,, ,, ६३२, मूल्य ॥।=) सजिल्द १=)

५०– ,, ,, ,, (गुटका) ,, ,, ,, ७५०, सचित्र, प्रचारार्थ मूल्य ।=) स० ॥)

५१– ,, **भाग ३**– ,, ,, ,, ४६०, मूल्य ॥≈) सजिल्द ॥।=)

५२– ,, ,, ,, (गुटका) ,, ,, ,, ५६०, सचित्र, मूल्य ।–) सजिल्द ।=)

५३– ,, ,, ४ ,, ,, ,, ५७०, सचित्र, मूल्य ॥।–) सजिल्द १)

५४–**पूजाके फूल**–सचित्र, पृष्ठ ४२०, मूल्य ॥।–)

५५–**एकादश स्कन्ध**–सटीक, पृष्ठ ३९२, मू० ॥।) स० १)

५६–**देवर्षि नारद**–५ चित्र, पृष्ठ २४०, मूल्य ॥।) स० १)

५७–**शरणागतिरहस्य**–सचित्र, पृष्ठ ३६०, मूल्य ॥≈)

५८–**श्रीभगवन्नामकौमुदी**–सानुवाद, पृष्ठ३३६सचित्र, ॥=)

५९–**श्रीविष्णुसहस्रनाम**–शांकरभाष्य, हिन्दी-अनुवाद-सहित, सचित्र, पृष्ठ २८६, मूल्य ॥=)

६०–**शतपञ्च चौपाई**–सानुवाद, सचित्र, पृष्ठ ३४०, मू० ॥=)

६१–**सूक्ति-सुधाकर**–सानुवाद,सचित्र, पृष्ठ २७६, मू० ॥=)

६२–**ढाई हजार अनमोल बोल(संत-वाणी)** पृष्ठ ३५२,॥=)

६३–**आनन्दमार्ग**–सचित्र, पृष्ठ ३२४, मूल्य ॥–)

६४–**कवितावली**–गो०तुलसीदासजीकृत,सटीक,४चित्र,॥–)

६५–**दोहावली**–(सानुवाद) अनु०–श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार, दो रंगीन चित्र, पृष्ठ २२४, मूल्य ॥)

६६–**श्रुतिरत्नावली**–सचित्र, सम्पा०–श्रीभोलेबाबाजी,मू० ॥)

६७–**स्तोत्ररत्नावली**–अनुवादसहित, ४ चित्र (नये संस्करणमें ७४ पृष्ठ बढ़े हैं) मूल्य ॥)

६८–**दिनचर्या**–सचित्र, पृष्ठ २४०, मूल्य ॥)

६९–**तुलसीदल**–सचित्र, पृष्ठ २९८, मूल्य ॥) सजिल्द ॥≈)

७०–**श्रीएकनाथ-चरित्र**–सचित्र, पृष्ठ २४४, मूल्य ॥)

७१–**नैवेद्य**–लेखक–श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार, पृष्ठ २७६, मूल्य ॥) सजिल्द ॥≈)

७२–**सुखी जीवन**–पृ० २२८, मूल्य ॥)

७३–**श्रीरामकृष्ण परमहंस**–९ चित्र, पृष्ठ२५६, मूल्य ।≈)

७४–**भक्त-भारती**–(सचित्र)कवितामें सात भक्तोंके चरित्र।≈)

७५–**तत्त्व-विचार**–सचित्र, पृष्ठ २०८, मूल्य ।=)

७६–**उपनिषदोंके चौदह रत्न**–पृष्ठ १०४,चित्र १४,मू० ।=)

७७–**लघुसिद्धान्तकौमुदी**–सटिप्पण, पृष्ठ ३६८, मूल्य ।=)

७८–**भक्त नरसिंह मेहता**–सचित्र, पृष्ठ १८०, मूल्य ।=)

७९–**श्रीउड़ियास्वामीजीके उपदेश**–सचित्र,पृष्ठ ११८,।=)

८०–**विवेक-चूडामणि**–सचित्र,सटीक, पृष्ठ १९२, ।–) स० ॥)

८१–**गीतामें भक्तियोग**–सचित्र,ले०–श्रीवियोगी हरिजी ।–)

८२–**प्रेम-दर्शन**–(नारदरचित भक्तिसूत्रकी विस्तृत टीका) ।–)

८३–**गृह्याग्निकर्मप्रयोगमाला**–कर्मकाण्ड,पृष्ठ १९२, मू० ।–)

८४–**भक्त बालक**–५ चित्रोंसे सुशोभित, पृष्ठ ८०, मूल्य ।–)

८५–**भक्त नारी**–६ चित्रोंसे सुशोभित, पृष्ठ ८०, मूल्य ।–)

८६–**भक्त-पञ्चरत्न**–६ चित्रोंसे सुशोभित, पृष्ठ १००, मू० ।–)

८७–**आदर्श भक्त**–७ चित्रोंसे सुशोभित, पृष्ठ १००, मू० ।–)

८८–**भक्त-सप्तरत्न**–७ चित्रोंसे सुशोभित, पृष्ठ १००, मू० ।–)

८९–**भक्त-चन्द्रिका**–७ चित्रोंसे सुशोभित, पृष्ठ ९६, मू० ।–)

९०–**भक्त-कुसुम**–६ चित्रोंसे सुशोभित, पृष्ठ ९४, मूल्य ।–)

९१–**प्रेमी भक्त**–९चित्रोंसे सुशोभित, पृष्ठ १०८, मूल्य ।–)

९२–**प्राचीन भक्त**–चित्र बहुरंगे १२, सादा १, पृष्ठ १५२,मू०॥)

९३–**भक्त-सौरभ**–चित्र बहुरंगे ५, पृष्ठ ११६, मूल्य ।–)

९४–**भक्त-सरोज**–चित्र बहुरंगे ९, पृष्ठ ११६, मूल्य ।=)

९५–**भक्त-सुमन**–चित्र बहुरंगे ७, सादे २, पृष्ठ १२०, मू० ।=)

९६–**भक्तराज हनुमान्**–सचित्र, पृष्ठ ८०, मूल्य ।–)

९७–**सत्यप्रेमी हरिश्चन्द्र**–सचित्र, पृष्ठ ५६, मूल्य ।–)

९८–**प्रेमी भक्त उद्धव**–३ रंगीन चित्र, पृष्ठ ६८, मूल्य ≈)

९९–**महात्मा विदुर**–१ रंगीन चित्र, पृष्ठ ६४, मूल्य =)॥

१००–**भक्तराज ध्रुव**–चित्र ४ रंगीन, १ सादा, पृष्ठ ५२, मू० ≈)

१०१–**व्रजकी झाँकी**–वर्णनसहित लगभग ५६ चित्र, मूल्य ।)

१०२–**श्रीबदरी-केदारकी झाँकी**–सचित्र, पृष्ठ १२०, मू० ।)

१०३-परमार्थ-पत्रावली [भाग १]-पृष्ठ १५२, मूल्य ।)
१०४-परमार्थ-पत्रावली [भाग २]-पृष्ठ २०८ मूल्य ।)
१०५-ज्ञानयोग-पृष्ठ १२८, मूल्य ।)
१०६-कल्याणकुञ्ज-सचित्र, पृष्ठ १६६, मूल्य ।)
१०७-प्रबोध-सुधाकर-सचित्र, सटीक, पृष्ठ ८०, मूल्य ≈)॥
१०८-आदर्श भ्रातृ-प्रेम-ले० श्रीजयदयालजी गोयन्दका ≈)
१०९-मानवधर्म-ले० श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार, पृ० ११६ ≈)
११०-प्रयागमाहात्म्य-१६ चित्र, पृष्ठ ६४, मूल्य =)॥
१११-माघमकरप्रयागस्नानमाहात्म्य-सचित्र, पृष्ठ९६,=)॥
११२-गीता-निबन्धावली-ले० श्रीजयदयालजी गोयन्दका=)॥
११३-साधन-पथ-ले० श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार मूल्य =)॥
११४-अपरोक्षानुभूति-मूलश्लोकऔरअर्थसहित, पृष्ठ४८,=)॥
११५-मनन-माला-सचित्र, भक्तोंके कामकी पुस्तक है =)॥
११६-नवधा भक्ति-ले० श्रीजयदयालजी गोयन्दका मू० =)
११७-बाल-शिक्षा-ले०-श्रीजयदयालजी गोयन्दका, मू० =)
११८-शतश्लोकी-हिन्दी-अनुवादसहित, मूल्य =)
११९-भजन-संग्रह-प्रथम भाग सं०-श्रीवियोगी हरिजी =)
१२०- „ दूसरा भाग „ =)
१२१- „ तीसरा भाग „ =)
१२२- „ चौथा भाग „ =)
१२३- „ पाँचवाँ भाग (पत्र-पुष्प) लेखक—श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार, मूल्य =)
१२४-चित्रकूटकी झाँकी-२२ चित्र, मूल्य -)॥
१२५-स्त्रीधर्मप्रश्नोत्तरी-(सचित्र), पृष्ठ ५६, मूल्य -)॥
१२६-नारी-धर्म-ले०-श्रीजयदयालजी गोयन्दका, मूल्य -)॥
१२७-गोपी-प्रेम-(सचित्र) पृष्ठ ६०, मूल्य -)॥
१२८-मनुस्मृति द्वितीय अध्याय-अर्थसहित, मू० -)॥
१२९-हनुमानबाहुक-सचित्र, सटीक, मूल्य -)॥
१३०-ध्यानावस्थामें प्रभुसे वार्तालाप-लेखक-श्रीजयदयालजी गोयन्दका, मूल्य -)॥
१३१-मनको वश करनेके कुछ उपाय-सचित्र मू० -)।
१३२-श्रीसीताके चरित्रसे आदर्श शिक्षा-लेखक-श्रीजयदयालजी गोयन्दका, मूल्य -)।
१३३-गीताका सूक्ष्म विषय-पाकेट-साइज, पृष्ठ ७२, -)।
१३४-ईश्वर-लेखक-पं० श्रीमदनमोहनजी मालवीय, मू० -)।
१३५-मूल गोसाईं-चरित-मूल्य -)।
१३६-मूलरामायण-१ चित्र, मूल्य -)।
१३७-आनन्दकी लहरें-(सचित्र), मूल्य -)
१३८-गोविन्द-दामोदर-स्तोत्र-(सार्थ)-पृष्ठ ३२, मूल्य -)
१३९-श्रीप्रेमभक्तिप्रकाश-सचित्र, मूल्य -)
१४०-ब्रह्मचर्य-ले०-श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार, मूल्य -)
१४१-समाज-सुधार-मूल्य -)
१४२-एक संतका अनुभव-मूल्य -)
१४३-आचार्यके सदुपदेश-मूल्य -)
१४४-सप्त-महाव्रत-ले०-श्रीगांधीजी, मूल्य -)
१४५-वर्तमान शिक्षा-पृष्ठ ४८, मूल्य -)
१४६-सच्चा सुख और उसकी प्राप्तिके उपाय-मू० -)
१४७-श्रीरामगीता-मूल, अर्थसहित (पाकेट-साइज), मू०)॥।
१४८-विष्णुसहस्रनाम-मूल, मोटा टाइप)॥। स० -)॥
१४९-हरेरामभजन-२ माला, मूल्य)॥।
१५०- „ -१४ माला, मूल्य ।-)
१५१- „ -६४ माला, मूल्य १)
१५२-शारीरकमीमांसादर्शन-मूल, पृष्ठ ५२, मूल्य)॥।
१५३-सन्ध्या-(हिन्दी-विधिसहित), मूल्य)॥
१५४-भगवत्प्राप्तिके विविध उपाय-पृष्ठ ३६, मूल्य)॥
१५५-बलिवैश्वदेवविधि-मूल्य)॥
१५६-सत्यकी शरणसे मुक्ति-पृष्ठ ३२, गुटका, मू०)॥
१५७-गीतोक्त सांख्ययोग और निष्काम कर्मयोग)॥
१५८-व्यापारसुधारकी आवश्यकता और व्यापारसे मुक्ति-पृष्ठ २८, गुटका, मूल्य)॥
१५९-भगवान् क्या हैं?-मूल्य)॥
१६०-सीतारामभजन-(पाकेट-साइज) मूल्य)॥
१६१-सेवाके मन्त्र-(पाकेट-साइज) मूल्य)॥
१६२-प्रश्नोत्तरी-श्रीशंकराचार्यकृत (टीकासहित), मू०)॥
१६३-गीताके श्लोकोंकी वर्णानुक्रमसूची-मूल्य)॥
१६४-त्यागसे भगवत्प्राप्ति-पृष्ठ २८, मूल्य)।
१६५-पातञ्जलयोगदर्शन-(मूल), गुटका, मूल्य)।
१६६-धर्म क्या है?-मूल्य)।
१६७-दिव्य सन्देश-मूल्य)।
१६८-श्रीहरिसंकीर्तनधुन-मूल्य)।
१६९-नारद-भक्ति-सूत्र-(सार्थ गुटका), मूल्य)।
१७०-ईश्वर दयालु और न्यायकारी है-पृष्ठ २०, गुटका)।
१७१-प्रेमका सच्चा स्वरूप-पृष्ठ २४, गुटका, मूल्य)।
१७२-महात्मा किसे कहते हैं?-पृष्ठ २०, गुटका, मू०)।
१७३-हमारा कर्तव्य-पृष्ठ २२, गुटका, मूल्य)।
१७४-ईश्वरसाक्षात्कारके लिये नामजप सर्वोपरि साधन है-पृष्ठ २४, गुटका, मूल्य)।
१७५-चेतावनी-मूल्य)।
१७६-लोभमें पाप-(गुटका), मूल्य आधा पैसा
१७७-गजलगीता-(„), मूल्य आधा पैसा
१७८-सप्तश्लोकी गीता-(गुटका), मूल्य आधा पैसा

Our English Publications.

1. The Philosophy of Love. (By Hanumanprasad Poddar) 1-0-0
2. The Story of Mira Bai. (By Bankey Behari) 0-13-0
3. Mysticism in the Upanishads. (By Bankey Behari) 0-10-0
4. At the Touch of the Philosopher's Stone. (A Drama in five acts) 0-9-0
5. Songs from Bhartrihari. (By Lal Gopal Mukerji and Bankey Behari) 0-8-0
6. Mind: Its Mysteries & Control. (By Swami Sivananda) Part I 0-8-0
7. " " Part II 1-0-0
8. Way to God-Realization. (By Hanumanprasad Poddar) 0-4-0
9. Gopis' Love for Sri Krishna. (By Hanumanprasad Poddar) 0-4-0
10. The Divine Name and Its Practice. (By Hanumanprasad Poddar) 0-3-0
11. Our Present-day Education. (By Hanumanprasad Poddar) 0-3-0
12. The Immanence of God. (By Malaviyaji) 0-2-0
13. Wavelets of Bliss. (By Hanumanprasad Poddar) 0-2-0
14. The Divine Message. (By Hanumanprasad Poddar) 0-0-9

MANAGER—THE GITA PRESS, GORAKHPUR.

पुस्तकें मँगानेवालोंके लिये कुछ ध्यान देने योग्य बातें—

(१) हर एक पत्रमें नाम, पता, डाकघर, जिला बहुत साफ देवनागरी अक्षरोंमें लिखें। नहीं तो जवाब देने या माल भेजनेमें बहुत दिक्कत होगी। साथ ही उत्तरके लिये जवाबी कार्ड या टिकट आना चाहिये।

(२) अगर ज्यादा किताबें मालगाड़ी या पार्सलसे मँगानी हों तो रेलवे स्टेशनका नाम जरूर लिखना चाहिये। आर्डरके साथ कुछ दाम पेशगी भेजने चाहिये।

(३) थोड़ी पुस्तकोंपर डाकखर्च अधिक पड़ जानेके कारण एक रुपयेसे कमकी वी० पी० प्रायः नहीं भेजी जाती, इससे कमकी किताबोंकी कीमत, डाकमहसूल और रजिस्ट्रीखर्च जोड़कर टिकट भेजें।

(४) एक रुपयेसे कमकी पुस्तकें बुकपोस्टसे मँगवानेवाले सज्जन।) तथा रजिस्ट्रीसे मँगवानेवाले।=) (पुस्तकोंके मूल्यसे) अधिक भेजें। बुकपोस्टका पैकेट प्रायः गुम हो जाया करता है; अतः इस प्रकार खोयी हुई पुस्तकोंके लिये हम जिम्मेवार नहीं हैं।

(५) 'कल्याण' रजिस्टर्ड होनेसे उसका महसूल कम लगता है और वह कल्याणके ग्राहकोंको नहीं देना पड़ता, कल्याण-कार्यालय स्वयं बरदास्त करता है। पर प्रेसकी पुस्तकों और चित्रोंपर ॥) सेर डाकमहसूल और ≥) फी पार्सल रजिस्ट्रीखर्च लगता है, जो कि ग्राहकोंके जिम्मे होता है। इसलिये 'कल्याण' के साथ किताबें और चित्र नहीं भेजे जा सकते, अतः गीताप्रेसकी पुस्तक आदिके लिये अलग आर्डर देना चाहिये।

कमीशन-नियम

समान व्यवहारके नाते छोटे-बड़े सभी ग्राहकोंको कमीशन एक चौथाई दिया जायगा। ३०) की पुस्तकें लेनेसे ग्राहकोंके रेलवे स्टेशनपर मालगाड़ीसे फ्री-डिलीवरी दी जायगी। ३०) की पुस्तकें लेनेवाले सज्जनोंमेंसे यदि कोई जल्दीके कारण रेलपार्सलसे पुस्तकें मँगवावेंगे तो उनको केवल आधा महसूल बाद दिया जायगा। फ्री-डिलीवरीमें बिल्टीपर लगनेवाला डाकखर्च, रजिस्ट्रीखर्च, मनीआर्डरकी फीस या बैंकचार्ज शामिल नहीं होंगे, ग्राहकोंको अलग देने होंगे। ३०) से कमकी पुस्तकोंके साथ चित्रोंकी फ्री-डिलीवरी नहीं दी जायगी। पुस्तकोंके साथ चित्र मँगानेवालोंको चित्रोंके कारण जो विशेष भाड़ा लगेगा वह देना होगा।

व्यवस्थापक—गीताप्रेस, गोरखपुर

नोट—जहाँ हमारी पुस्तकें बुकसेलरोंके पास मिलती हों वहाँ उन्हींसे खरीदनेमें थोड़ी पुस्तकें यहाँसे मँगवानेपर जो खर्च पड़ता है उससे कममें या उतनेमें ही मिल जाती हैं। अतः थोड़ी पुस्तकें बुकसेलरोंसे ही लेनेमें सुविधा होनेकी सम्भावना है।

श्रीरघुनाथजीकी शोभा

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

प्रेमी ग्राहकोंको सूचना

इस अंकमें आपका इस सालका मूल्य समाप्त हो गया। इसके बाद अब सोलहवें वर्षका प्रथमांक 'श्रीमद्भागवताङ्क' होगा, जो बहुत ही उपदेशप्रद, मनोहर और पाप-तापका नाश करनेवाली भगवान्‌की सुन्दर-सुन्दर लीला-कथाओंसे पूर्ण होगा। यदि आपने अभी आगामी वर्षके लिये वार्षिक मूल्य नहीं भेजा हो तो कृपा कर अब मनीआर्डरद्वारा तुरंत ५≡) (पाँच रुपये तीन आने) भेज दीजिये। मनीआर्डरका फार्म जूनके अंकके साथ आपको भेजा जा चुका है। श्रीमद्भागवताङ्क और उसके परिशिष्ट—सेप्टेम्बर तथा अक्टूबरके अंक तीनों अलग-अलग रहेंगे। अकेले श्रीमद्भागवताङ्कमें ही लगभग ११०० पृष्ठ और अनेकों रंगीन तथा सादे बहुत ही सुन्दर और दुर्लभ चित्र रहेंगे। अकेले श्रीमद्भागवताङ्कका मूल्य ४।।) होगा। सालभरके लिये ग्राहक बननेवालोंको ५≡) में ही श्रीमद्भागवताङ्कके सिवा ११ अंक और मिल जायँगे। एक अंकके दाम ।) होते हैं, इस हिसाबसे ११ अंकोंके २।।।) बाद देनेपर श्रीमद्भागवताङ्क ग्राहकोंको सिर्फ २।≡) में ही मिल जाता है। यों अलग श्रीमद्भागवताङ्क लेनेवालोंकी अपेक्षा ग्राहक बननेवाले सज्जनोंको २-) का फ़ायदा रहता है। श्रीमद्भागवताङ्ककी इस समय बहुत थोड़ी प्रतियाँ ही छप रही हैं। अतएव प्रेमी सज्जनोंको बहुत जल्द रुपये भेजकर ग्राहक बन जाना चाहिये। जिनके रुपये पहलेसे आ जायँगे उनको श्रीमद्भागवताङ्क निकलते ही भेजा जायगा। रही-सही वी० पी० बहुत पीछे जायगी। श्रीमद्भागवताङ्क सस्ता होनेसे बहुत ही जल्द बिक जानेकी सम्भावना है—इसलिये शीघ्र ग्राहक न बननेवालोंको श्रीमद्भागवताङ्क शायद मिलना मुश्किल हो जायगा। यह बात याद रखनी चाहिये।

नासिक सुभग मनहु सुक सुंदर, चितवत चकि आचरज अपारु।
कल कपोल, मृदु बाऊ मनोहर रीझि, चित चतुर, अपनपौ वारु॥
नयनसराज, कुटिल कच, कुंडल, भ्रुकुटि, सुभाऊ तिलक सोभा-सारु।
मनहु केतुके मकर, चाप-सर गया बिसारि भयो मोहित मारु॥
निगम, सेष, सारद, सुक, संकर बरनत रूप न पावत पारु।
तुलसिदास कहै, कहौ, धों कौन बिधि अति लघुमति जट कूर गँवारु॥

—तुलसीदासजी

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥ (श्रीमद्भगवद्गीता १८ । ६५)

वर्ष १५ } गोरखपुर, जुलाई १९४१ सौर आषाढ १९९८ { संख्या १२
पूर्ण संख्या १८०

श्रीरघुनाथजीकी शोभा

देखौ, राघव-बदन बिराजत चारु ।
जात न बरनि बिलोकत ही सुख, मुख किधौं छबि बर नारि सिंगारु ॥
रुचिर चिबुक, रद-ज्योति अनूपम, अधर अरुन सित हास निहारु ।
मनो ससिकर बस्यो चहत कमल महँ, प्रगटत, दुरत, न बनत बिचारु ॥
नासिक सुभग मनहु सुक सुंदर, चितवत चकि आचरज अपारु ।
कल कपोल, मृदु बोल मनोहर रीझि, चित चतुर, अपनपौ वारु ॥
नयनसरोज, कुटिल कच, कुंडल, भ्रकुटि, सुभाल तिलक सोभा-सारु ।
मनहु केतु कै मकर, चाप-सर गयो बिसारि भयो मोहित मारु ॥
निगम, सेष, सारद, सुक, संकर बरनत रूप न पावत पारु ।
तुलसिदास कहै, कहौ, धौं कौन बिधि अति लघुमति जड कूर गँवारु ॥

—तुलसीदासजी

प्रभु-स्तवन

(अनुवादक—श्रीमुंशीरामजी शर्मा, एम्० ए०, 'सोम')

अनुव्रताय रन्धयन्नपव्रतानाभूभिरिन्द्रः श्नथयन्ननाभुवः ।
वृद्धस्य चिद्वर्धतो द्यामिनक्षतः स्तवानो वम्रो विजघान संदिहः ॥
(ऋ० १।५१।९)

नियम भङ्ग करनेवालोंका करते हैं प्रभु सदा विनाश,
जिससे व्रती नियम पालक जन करें जगतमें शान्ति-विकाश;
प्रभु उदार भक्तोंके हितमें करें सङ्कुचित जनका नाश;
इस प्रकार वे जगतीतलमें नव-जीवनका करें प्रकाश;
वृद्ध पुरुषके भी आध्यात्मिक वर्धनमें नित हितकारी,
हैं द्युलोकतक व्यापक मेरे प्रभु जीवनधन भयहारी।
इस मंगल महिमासे उमड़े भक्त-हृदयसे प्रभुके गीत;
संशय छिन्न-भिन्न हों सारे, बाधा-विघ्न-विनाश व्यतीत।

अवधीत् कामो मम ये सपत्ना उरुं लोकमकरन्मह्यमेधतुम् ।
मह्यं नमन्तां प्रदिशश्चतस्रो मह्यं षडुर्वीर्घृतमावहन्तु ॥
(अथर्व० ९।२।११)

जगा है मेरा मधु संकल्प ।
प्रतिद्वन्द्वी विष नष्ट हो चुका, रही न बाधा स्वल्प;
मेरे लिये खुले हैं अब तो विस्तृत मंगल लोक;
मेरी उन्नति वृद्धि-सिद्धिमें रही न रञ्चक रोक।
आज झुके सब मेरे आगे वे विदिशाएँ चार;
छहों दिशाएँ विस्तृत लावें वाञ्छित फल सुखसार।

अहमेतान् शाश्वसतो द्वा द्वेन्द्रं ये वज्रं युधयेऽकृण्वत ।
आह्वयमानाँ अव हन्मनाहनं दृळ्हा वदन्ननमस्युर्नमस्विनः ॥
(ऋ० १०।४८।६)

मैं अमर, अरे मैं सतत अमर !
ये मरणशील परिणामजन्य, क्या प्रकृति-द्वन्द्व कर सकें समर ?
मैं वज्रायुध, मैं देवराज, मैं हूँ अमोघ बल शक्ति-सार।
ये दो-दोके जोड़े असार, क्यों युद्ध हेतु करते पुकार ?
ये सबल दिखाई देते हैं, ललकार रहे झुकनेवाले;
मैं अचल, नहीं दबनेवाला, ये अभी-अभी मरनेवाले;
मेरी प्रगल्भ सङ्कल्प शक्ति, बलवती वाणियाँ बोल उठीं,
ये गिरे मरे द्वेषादि शत्रु, करुणा सरिता हिल्लोल उठी।

अदाभ्यो भुवनानि प्रचाकशद्व्रतानि देवः सविताभि रक्षते ।
प्रास्राग्बाहू भुवनस्य प्रजाभ्यो धृतव्रतो महो अज्मस्य राजति ॥
(ऋ० ४।५३।४)

विश्वको करता प्रकाशित सर्व प्रेरक देवता;
दब नहीं सकता किसीसे, शक्ति प्रथिता प्रसृता;
वह नियम-व्रत-धर्म-रक्षक वर व्रती विश्वेश है।
निज प्रजा पालन-परायण बाहु विपुला विस्तृता।

एकः सुपर्णः स समुद्रमाविवेश स इदं विश्वं भुवनं विचष्टे ।
तं पाकेन मनसा पश्यमन्तितस्तं माता रेळ्हि स उ रेळ्हि मातरम् ॥
(ऋ० १०।११४।४)

माँ सुतको, सुत माँ को चूमे
बार बार वे स्नेह-सने सुखसिन्धु-तरङ्ग-तरङ्गित झूमे !
अन्तरिक्ष-अम्बुधि अवगाहत लोचन-लाभ ललकि लखि लूटत;
करत बिहार फिरत जग देखत, पुनः नवल प्रेमाङ्कुर फूटत।
मधुमय पृथिवि-प्राणियोंके हित, पृथिवि हेतु मधु निखिल चराचर;
देत प्रगाढ़ प्रमोद परस्पर पावत सुख सम भाव निरन्तर।

देह-देहीका विभाग

गीतासम्बन्धी प्रश्नोत्तर

(लेखक—पूज्यपाद स्वामीजी श्रीभोलेबाबाजी महाराज)

एक गीताप्रेमी सत्सङ्गीने एक दिन एक संतके पास जाकर उनसे पूछा—

सत्सङ्गी—महाराज ! वेदान्तशास्त्रमें देखनेमें आता है कि साधनचतुष्टयसम्पन्न पुरुष ज्ञानका अधिकारी होता है और आपके मुखसे भी प्रायः ऐसा ही सुननेमें आता है। क्या ज्ञानके ये चार ही साधन हैं अथवा दूसरे भी हैं, क्या गीतामें भी कहीं इन साधनोंका लक्षण बतलाया गया है ?

संत—भाई ! साधनचतुष्टयसम्पन्न पुरुष वेदान्त-ज्ञानके श्रवणका अधिकारी होता है। यह सत्य है। वेदवेत्ताओंने ज्ञानके नौ साधन वर्णन किये हैं—सदाचार, विवेक, वैराग्य, षट्सम्पत्ति, मुमुक्षा, श्रवण, मनन, निदिध्यासन और तत्त्वंपदार्थशोधन। गीतामें इन साधनोंका स्वरूप, हेतु और फल बहुत प्रकारसे कई स्थलोंपर वर्णन किया गया है। १३वें अध्यायमें 'ज्ञान'के नामसे ज्ञानके जो बीस साधन भगवान्‌ने बताये हैं, उनमें इन साधनोंका अन्तर्भाव है। भगवान्‌के बतलाये हुए बीस साधन हैं—अमानित्व, अदम्भित्व, अहिंसा, क्षान्ति, आर्जव, आचार्योपासन, शौच, स्थैर्य, आत्मविनिग्रह, इन्द्रियोंके अर्थोंमें वैराग्य, अनहङ्कार, जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधिमें दुःखरूप दोष देखना, पुत्र-दारादिमें आसक्ति न करना, अभिष्वङ्गसे रहित होना, इष्ट-अनिष्टकी प्राप्तिमें नित्य समचित्त रहना, भगवान्‌में अनन्ययोगसे अव्यभिचारिणी भक्ति करना, एकान्त देशका सेवन, जनसमाजमें अप्रीति, अध्यात्मज्ञानमें निष्ठा और तत्त्वज्ञानके प्रयोजनका दर्शन।

इन बीस साधनोंका विवेचन इस प्रकार है—

(१) जो गुण अपनेमें हों या न हों, उनको अपने गुण मानकर अपनी स्तुति करना मानित्व है और मानित्वसे रहित होना अमानित्व है। (२) अपने लाभ और पूजनके लिये बिना ही हुए अपनेमें 'धर्म' प्रकट करना दम्भित्व है और इसका न होना अदम्भित्व है। अमानित्व और अदम्भित्व दोनों सदाचार यानी शिष्टाचार हैं। (३) शरीर, मन, वाणीसे किसीको पीड़ा न पहुँचाना अहिंसा है, यह भी सदाचार है अथवा अहिंसा विवेक है, जैसा कि भगवान्‌का कथन है—'जो अपने समान सबमें सुख-दुःखको समान समझता है, वह परम योगी माना जाता है।' विवेक बिना ऐसा नहीं हो सकता, अविवेकीको वेदवेत्ता हत्यारा या हिंसक कहते हैं, यथा—'जो आप अन्यथा—अन्य प्रकारका होकर अपनेको अन्यथा मानता है, उस अज्ञानी आत्महत्यारेने कौन-सा पाप नहीं किया।' (४) दुष्ट पुरुषोंके किये हुए अपराधको सह लेने, चित्तमें क्रोधादि विकार न आने देनेका नाम क्षान्ति है। यह शमका लक्षण है। (५) हृदयमें जो बात हो, उसीको सरलतासे कहना, दूसरेको धोखा न देना आर्जव है, यह भी चित्तकी शुद्धि होनेसे शम है या शिष्टाचार है। (६) ब्रह्मविद्याके अथवा अन्य विद्याके उपदेशक आचार्यका श्रद्धा-भक्तिपूर्वक पूजन—नमस्कारादिसे सेवन करना आचार्योपासन है, यह श्रद्धा है अथवा शिष्टाचार है। (७) शरीर और मनकी शुद्धिका नाम शौच है, यह भी शिष्टाचार अथवा शम है। (८) मोक्षके साधनोंमें प्रवृत्त हुए पुरुषको अनेक प्रकारके विघ्न साधनोंसे रोकते हैं, विघ्नोंके आनेपर घबड़ा न जाना और अपने प्रयत्नको न त्यागना स्थैर्य है, इसका शम, दम अथवा समाधानमें समावेश है। (९) मन अथवा इन्द्रियोंको वश करना आत्मविनिग्रह है, यह भी शम और दमका लक्षण है। (१०) श्रोत्रादि इन्द्रियोंके शब्दादि विषयोंमें अथवा

लोक-परलोकके भोगोंमें राग न करना वैराग्य है। (११) अपनेमें श्रेष्ठता न होनेपर भी अपनेको श्रेष्ठ मानना अहङ्कार है और अहङ्कारका अभाव अनहङ्कार है, यह शिष्टाचारका लक्षण है अथवा देहादि अनित्य पदार्थोंमें अभिमान न करना अनहङ्कार है, यह विवेकका लक्षण है, जैसा कि भगवान्‌का वचन है—'जिसमें अहङ्कृतका भाव नहीं है और जिसकी बुद्धि लिपायमान नहीं होती, वह इन लोकोंको मारकर भी न मारता है और न बाँधा जाता है।'(१२) जन्म, मरण, जरा, व्याधिमें दुःखरूप दोषका न देखना, यह भी वैराग्यका हेतु होनेसे वैराग्य है। जन्मादिके दुःख सबके अनुभवसिद्ध हैं, शास्त्रोंमें भी इनका विस्तारसे बहुत स्थलोंपर वर्णन है। (१३) पुत्र, स्त्री, गृह आदिमें ममता न करना अनासक्ति है और (१४) उनमें अहंता न करना अनभिष्वङ्ग है, यह भी वैराग्यका लक्षण है। (१५) इष्ट-अनिष्टकी प्राप्तिमें चित्तका नित्य समान रखना तितिक्षा अथवा समाधान है। (१६) अनन्ययोगसे भगवान्‌की अव्यभिचारिणी भक्ति करना श्रवण, मनन और निदिध्यासनरूप है, जैसा कि भगवान्‌ने कहा है—'मुझमें चित्त लगानेवाले, मुझमें प्राण समर्पण करनेवाले, परस्पर मेरा ही बोध करते हुए और कथन करते हुए सन्तुष्ट रहते हैं और रमण करते हैं।' (१७) एकान्त देशका सेवन करना और (१८) जनसमाजमें अरति—प्रेम न होना, यह उपरति है। (१९) आत्मा और अनात्माके विवेक—ज्ञानका नाम अध्यात्मज्ञान है, इसमें अत्यन्त निष्ठा होना अध्यात्मज्ञाननित्यत्व है। विवेकमें निष्ठावान् पुरुष ही महावाक्यका अर्थ समझनेमें अर्थात् तत्त्वंपदार्थके शोधन करनेमें समर्थ होता है। इस निष्ठामें तत्पर होना मुमुक्षा अथवा तत्त्वंपदार्थका शोधन है। (२०) तत्त्वज्ञानके अर्थका जो दर्शन है, अर्थात् 'अहं ब्रह्मास्मि', 'तत्त्वमसि' इत्यादि वेदान्तवाक्य जिसके कारण हैं, और अमानित्वादि सब साधनोंके परिपाकका फलरूप जो ब्रह्मसाक्षात्कार है उसका नाम तत्त्वज्ञान है। इस तत्त्वज्ञानका अर्थ है अविद्यादि समस्त अनर्थोंकी निवृत्ति और परमानन्दकी प्राप्ति—जो मोक्षरूप प्रयोजन है, इस तत्त्वज्ञानके मोक्षरूप अर्थका जो दर्शन है अर्थात् बारम्बार विचार करके जो देखना है, वह तत्त्वज्ञानार्थदर्शन कहलाता है। यह तत्त्वज्ञानार्थदर्शन अधिकारीको अवश्य करना चाहिये; क्योंकि तत्त्वज्ञानके फलके देखनेपर ही अधिकारीकी साधनोंमें प्रवृत्ति होती है, फलके ज्ञान बिना प्रवृत्ति नहीं होती। ये बीस साधन आत्मज्ञानकी प्राप्तिमें हेतु होनेसे 'ज्ञान' कहलाते हैं और इनसे विरुद्ध मानित्वादि आत्मज्ञानके विरोधी होनेसे 'अज्ञान' कहे जाते हैं। इस प्रकार उपर्युक्त सदाचारादि नौ ज्ञानके साधनोंका इन बीस साधनोंमें अन्तर्भाव है।

सत्सङ्गी—महाराज! विवेकादिका स्वरूप थोड़ा और भी समझाइये—

संत—भावुक! नित्य-अनित्य वस्तुके विचारका नाम विवेक है। १३वें अध्यायके प्रारम्भमें भगवान् कहते हैं—'हे कुन्तीपुत्र! यह शरीर क्षेत्र कहलाता है और इस क्षेत्रको जो जानता है, उसको तत्त्वदर्शी 'क्षेत्रज्ञ' कहते हैं। हे भारत! सब क्षेत्रोंमें क्षेत्रज्ञ मुझको ही जान; क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ इन दोनोंका जो ज्ञान है, वही ज्ञान है, यह मेरा मत है।' यहाँ भगवान् एक अपनेको ही नित्य कहते हैं और समष्टि-व्यष्टि, स्थूल-सूक्ष्म-कारण शरीरोंको अनित्य कहते हैं। ब्रह्म सत्य है और जगत् मिथ्या है, यही विवेक है। दूसरे अध्यायके आदिमें भी भगवान् कहते हैं—'नहीं सोच करने योग्यका तू सोच करता है, पण्डितोंकी-सी बातें कहता है, पण्डित मरे-जीतोंका शोक नहीं करते।' इसमें भगवान् स्पष्ट कहते हैं कि मरना-जीना देहका धर्म है, देहमें राग करना मूर्खता है, इसलिये देहमें राग न करके वैराग्य करना चाहिये। आत्मा नित्य है, न जन्मता है, न मरता है, इसलिये वह भी शोचनीय नहीं है,

तू विपर्यय देखनेवाला ही शोचनीय है। यह विवेक है। आगे भगवान्‌ने कहा है—'क्या मैं कभी पहले नहीं था? क्या तू नहीं था या ये राजालोग नहीं थे? क्या हम सब आगे न होंगे? होंगे ही!' इसमें भी भगवान् आत्माको नित्य और देहोंको अनित्य कहते हैं, यह भी नित्यानित्यका विवेक है। इस कथनसे नाना जीव होनेकी शङ्का होती है, इस शङ्काको निवारण करनेके लिये भगवान् कहते हैं—'देहीका जैसे इस देहमें बालकपन, यौवन और बुढ़ापा है, इसी प्रकार अन्य देहकी प्राप्ति है, इसमें धीर मोहित नहीं होता।' तीनों कालमें सर्वत्र सब देह जिसके हों, उसको 'देही' कहते हैं। देह-देहमें भिन्न आत्मा होनेमें सिवा अज्ञानियोंके अनुभवके अन्य कोई प्रमाण नहीं है, इसलिये 'देही' शब्दमें भगवान्‌ने एकवचन कहा है और पूर्वश्लोकमें जो बहुवचन कहा है वह देहके भेदसे कहा है, इसलिये दोनों वचनोंमें विरोध नहीं है। सत्-असत्‌के निर्णयमें तत्त्वदर्शियोंका अनुभव प्रमाण है, यह बात भगवान् कहते हैं—'असत् वस्तुकी सत्ता सम्भव नहीं है और सत् वस्तुका अभाव सम्भव नहीं है, इन सत्-असत्‌की मर्यादा तत्त्वदर्शियोंने देखी है।' इस वचनसे भगवान् दिखलाते हैं कि आत्माका तीनों कालमें अभाव नहीं होता, इसलिये आत्मा सत् है और जगत्‌का वर्तमान कालमें ही भाव है, भूत-भविष्यत्‌में अभाव है, इसलिये जगत् मिथ्या है।

सत्सङ्गी—महाराज! जगत् वर्तमानमें है तो सत्य ही, क्योंकि असत् वस्तुका तो कभी भाव नहीं होता। जैसे वन्ध्यापुत्र, शशश्रृङ्गका कभी भी भाव नहीं होता, इसलिये उनको कोई सत्य नहीं मानता और जगत्‌को तो बहुत-से शास्त्रकार भी सत्य मानते हैं, तो फिर जगत्‌को मिथ्या आप कैसे कहते हैं?

संत—जगत् वर्तमान कालमें हो और शास्त्रकार उसे सच्चा मानें, इतनेसे हमारे सिद्धान्तकी कोई हानि नहीं है, कारणरूपसे हम भी जगत्‌को सत्य मानते हैं, कार्यरूपसे मिथ्या मानते हैं। कारणरूप परमात्मा सत्य है। यानी बिना ही कारणके जगत्‌की उत्पत्ति हुई हो, ऐसा नहीं है। कारणरूप परमात्मामें कल्पित होनेसे जगत् मिथ्या है, यह सिद्धान्त है। मिट्टीमें घट कल्पित है, मिट्टीरूपसे घट सत्य है और घटरूपसे मिथ्या है क्योंकि नाममात्र वाणीका विकार है। मिट्टी ही सत्य है, इसी प्रकार परमात्मामें जगत् कल्पित है, परमात्मारूपसे जगत् सत्य है और जगत्‌रूपसे मिथ्या है। क्योंकि नाममात्र वाणीका विकार है, परमात्मा ही सत्य है। जो कल्पनामें दबे हुए हैं, वे कल्पित जगत्‌में कल्पित व्यवहार करें, इससे तत्त्वदर्शियोंकी कोई हानि नहीं है। घटको मिट्टीरूप न जाननेवाला अज्ञानी भी घटमें पानी, दूध, अन्न आदि भरता है और घटको मिट्टीरूप जाननेवाला भी घटमें जल आदि भरता है। इससे व्यवहारमें कोई हानि नहीं होती, केवल समझका फेर है। अज्ञानी जगत्‌को सच्चा जानकर व्यवहार करता है, इसलिये दुखी होता है और ज्ञानी जगत्‌को मिथ्या मानकर व्यवहार करता है, इसलिये सदा सुखी रहता है। ज्ञानी-अज्ञानीके व्यवहारमें इतना ही भेद है।

सत्सङ्गी—महाराज! देह-देहीका विभाग फिर समझाइये—

संत—भाई! (गीता २।१८ में) भगवान् कहते हैं—'नित्य, अविनाशी, अप्रमेय देहीकी ये देहें अन्तवाली हैं, इसलिये हे भारत! युद्ध कर अर्थात् अपना कर्तव्यकर्म कर!' तात्पर्य यह कि स्थूल, सूक्ष्म और कारणरूप जितने विराट्, सूत्र और अव्याकृतनामक समष्टि देह हैं और प्रत्येक जीवके व्यष्टि देह हैं, वे सब वृद्धि और क्षयवाले होनेके कारण नाशरूप अन्तवाले हैं। विनाशसे रहित, नित्य तथा आध्यासिक सम्बन्धसे शरीरवाला होनेसे जो स्वप्रकाश स्फुरणरूप आत्मा है, वह एक ही है।

उस एक ही आत्माके स्थूल, सूक्ष्म और कारणरूप सब शरीर दृश्यरूप और भोग्यरूप हैं। इसीलिये श्रुति भगवती और ब्रह्मवेत्ताओंने उन सब शरीरोंको दृश्यरूपसे और भोग्यरूपसे एक ही आत्माके सम्बन्धी कहा है। तैत्तिरीय श्रुतिमें इन्हीं समष्टि-व्यष्टिरूप तीनों शरीरोंमें अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय इन पाँच कोशोंकी कल्पना की गयी है और इन सब कोशोंके अधिष्ठानरूप तथा अकल्पित ब्रह्मको पुच्छ प्रतिष्ठारूप कहा है। पञ्चीकृत पञ्चमहाभूत और उनका कार्य, जो सब आकारवाले पदार्थोंका समुदाय है, वह 'अन्नमय' कोश स्थूल समष्टि है। स्थूल समष्टिके कारणरूप अपञ्चीकृत महाभूत और उनका कार्य, जो निराकार पदार्थोंका समुदाय है, वह सूत्र यानी हिरण्यगर्भ सूक्ष्म समष्टि है। 'त्रयं वा इदं नामरूपं कर्मेति' यह बृहदारण्यककी श्रुति है। इसमें सूक्ष्म सृष्टिके नाम, रूप और कर्म—ये तीन रूप हैं। जब सूक्ष्म समष्टि अपनेमें रही हुई कर्मरूपतासे क्रिया-शक्तिमात्रको ग्रहण करती है, तब 'प्राणमय' कहलाती है, जब अपनेमें रही हुई नामरूपतासे ज्ञानशक्तिमात्रको ग्रहण करती है, तब 'मनोमय' कहलाती है और जब अपनेमें रही हुई रूप-रूपतासे क्रिया और नाम दोनोंके आश्रयमें कर्तृत्वमात्रको ग्रहण करती है, तब 'विज्ञानमय' कहलाती है। इस प्रकार एक ही हिरण्यगर्भ नामका लिङ्गशरीररूप कोश प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय तीन कोशोंवाला होता है। हिरण्यगर्भरूप लिङ्गशरीरका कारणरूप तथा सर्व प्रपञ्चके वासनारूप संस्कारोंका आश्रयरूप जो अव्याकृत नामका मायायुक्त चैतन्य आत्मा है, वह 'आनन्दमय' कोश है। इन अन्नमयादि पाँचों कोशोंको श्रुति एक ही आत्माका शरीर कहती है। जैसे समष्टि तीनों शरीरोंके पाँच कोश हैं, इसी प्रकार व्यष्टि शरीरोंके पाँच कोश हैं। माता-पिताके रज-शुक्ररूप अन्नका बना हुआ, अन्न खाकर जीनेवाला और अन्तमें अन्नरूप पृथ्वीमें मिल जानेवाला स्थूल शरीर 'अन्नमय' कोश है। पाँच प्राण और पाँच कर्मेन्द्रियोंका समुदाय 'प्राणमय' कोश है, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और मन मिलकर 'मनोमय' कोश कहलाता है और पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और बुद्धि—इन छःका समुदाय 'विज्ञानमय' कोश कहलाता है। प्रिय, मोद, प्रमोद तथा आनन्दकी वृत्तिरूप और अज्ञानरूप कारणशरीर 'आनन्दमय' कोश है। यह आनन्दमय कोश समस्त भूतोंका कारण होनेसे 'कारण' शरीर कहलाता है। श्रुति कहती है—'आनन्दसे ही सब प्राणी उत्पन्न होते हैं, आनन्दसे ही उत्पन्न हुए जीते हैं और आनन्दमें ही अन्तमें लय हो जाते हैं।'

सत्सङ्गी—महाराज! देह-देहीका विभाग तो मेरी समझमें आ गया। देहकी जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—तीनों अवस्थाओंका गीतामें कहाँ वर्णन किया है, यह मैं जानना चाहता हूँ।

संत—भावुक! (गीता ५। ८, ९में) भगवान् ज्ञानीके लक्षण वर्णन करते हुए कहते हैं—'तत्त्वज्ञानी देखता हुआ, सुनता हुआ, छूता हुआ, सूँघता हुआ, खाता हुआ, चलता हुआ, सोता हुआ, बोलता हुआ, त्यागता हुआ, पकड़ता हुआ, पलक खोलता और बंद करता हुआ, ऐसा मानता है कि इन्द्रियाँ इन्द्रियोंके विषयोंमें बर्तती हैं, मैं कुछ नहीं करता।' देखना आँखका व्यापार है, सुनना, छूना, सूँघना, खाना क्रमसे श्रोत्र, त्वचा, नासिका और रसन-इन्द्रियका व्यापार है। चलना पैरका, पकड़ना हाथका और बोलना वाणीका व्यापार है। श्वास लेना प्राणका व्यापार है। पलक खोलना-बंद करना उपप्राणोंका व्यापार है और सोना अन्तःकरणका व्यापार है। जब ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, प्राण और अन्तःकरण कार्य करते हैं, तब जाग्रत्-अवस्था है। जब इन्द्रियाँ अज्ञानमें लीन हो जाती हैं और केवल मन कार्य करता है, तब स्वप्न-अवस्था है और जब इन्द्रिय और अन्तःकरण अज्ञानमें लीन हो जाते हैं, केवल प्राण अपना व्यापार करता है, तब सुषुप्ति-अवस्था है।

हे भावुक! जो भाग्यशाली पुरुष देह और देहीके विभागको जानता है, देहको अनित्य, जड और असत्—कल्पित जानता है और देहीको नित्य, चेतन, सत्—अधिष्ठानरूप जानता है, वही सुखी और स्वतन्त्र होता है। देह-देहीके विभागको न जाननेवाला दुखी और परतन्त्र रहता है। श्रुति कहती है—'जो सब प्राणियोंमें एक आत्माको देखता है, उसे शोक कहाँ और मोह कहाँ?' विद्वानोंका भी ऐसा ही अनुभव है—

कुं०—देही केवल सत्य है, मिथ्या तीनों देह।
देही चेतन देह जड, इसमें नहिं संदेह॥
इसमें नहिं संदेह, देहसे देही न्यारा।
तो भी करके मेल, मूर्ख दुख पाय अपारा॥
भोला! भज विश्वेश, सुहृदतम सच्चा स्नेही।
जिसमें हैं अध्यस्त, देह तीनों अरु देही॥

चेतावनी

(गीत)

चित्त! अब होगा किस दिन चेत!
यह जग मनकी फूलवाटिका, सब कुछ मनका खेल।
मन है फूल और फल मन है, मन है तरु मन बेल॥
लता मन पल्लव भी मन जान
लेख मन कविता मन अनुमान
रूप मन और नाम मन मान
हानि लाभ दुख सुख सब मन है, दुनियाँ मनका खेत!
चित्त! अब होगा किस दिन चेत!
मन मालीने लगा दिया है, तनका सुंदर बाग।
इसी बागमें भूल रहा तू, कर मनसे अनुराग॥
बिसारी अपने घरकी राह
कर रहा है मिथ्याकी चाह
यहाँ हो गये अनंत तबाह
यह जग पूरी ठग विद्या है, या अज्ञान-निकेत।
चित्त! अब होगा किस दिन चेत!
अरे बटोही कहाँ पड़ा तू, जगत सराय अनूप।
पढ़ पढ़ जादू चला रहा है, भटियारीका रूप॥
छबीली छलती छलना धार
प्रेमसे सबको रही निहार
यार कितने—सो वार न पार
पतिव्रता बन ठगती वेश्या गावे कपट समेत।
चित्त! अब होगा किस दिन चेत!
घर त्यागे अति काल हो गया, जन्म-मरणके संग।
कितना गहरा चढ़ा हुआ है, रँगरेजिनका रंग॥
ढंग ही बदल चुका है आज
न आती मनमें तुमको लाज
बनेगा कैसे बिगड़ा काज
शक्करके धोखेमें खायी, तुमने मन भर रेत!
चित्त! अब होगा किस दिन चेत!

—शिवनारायण वर्मा

गीताके अनुसार कर्मका उच्चस्थान

(लेखक—श्रीअक्षयकुमार वन्दोपाध्याय एम्० ए०)

भगवान् श्रीकृष्णने विश्वमानवके सामने जिन उज्ज्वल और महान् आदर्शोंको उपस्थित किया है, उनमें 'कर्मकी पूजा' प्रधान है। उन्होंने मानव-जीवनमें कर्मको पूजाके आसनपर प्रतिष्ठित किया। यह उनके धर्मप्रचारकी एक विशेषता है।

मनुष्यमात्रको कर्म करना पड़ता है। कर्म करना ही मनुष्यका स्वभाव है। जन्मसे लेकर क्षणमात्र भी कभी किसी-न-किसी कर्ममें लगे रहे बिना मनुष्य जी नहीं सकता। उसकी सत्ताका प्रधान उपादान ही है कर्म। उसकी भीतरी और बाहरी प्रकृति उसे बलपूर्वक कर्ममें लगाती रहती है। इस विषयमें उसकी कुछ भी स्वतन्त्रता नहीं जान पड़ती। भगवान् श्रीकृष्णने स्पष्टरूपसे यही घोषणा की है—

> न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
> कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥
> (गीता ३। ५)

कर्मके बिना जीवन ही सम्भव नहीं। कर्मके बिना शरीरयात्राका निर्वाह ही असम्भव है।—'शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः।'

अतएव कर्म करना या न करना,—इस विषयमें मनुष्यकी जरा भी स्वतन्त्रता नहीं है। इस विषयमें मनुष्य अन्यान्य प्राणियोंके साथ समभूमिपर ही खड़ा है। परन्तु कौन-से कर्म करनेके हैं और कौन-से छोड़नेके, तथा कर्मोंको किस भावसे, किस उद्देश्यसे तथा किस आदर्शको सामने रखकर करना है, इस विषयमें मनुष्य बहुत कुछ स्वतन्त्र है और इस स्वतन्त्रताका यथोचित व्यवहार ही मनुष्यका 'मनुष्यत्व' है। कर्म मनुष्यके जीवनका उपादान है, और इस उपादानके व्यवहारपर ही जीवनकी उन्नति-अवनति निर्भर करती है। इसीके द्वारा जीवनकी सार्थकता और व्यर्थताका निरूपण होता है।

साधारणतया मनुष्य कर्मको भोगकी गुलामीमें लगाये रखता है। वह भोगको बैठाता है पूजाके आसनपर, और कर्मको नियुक्त करता है उसकी सेवामें। भोगवासनाका गुलाम बनकर मनुष्य सुखभोगको ही जीवनका एकमात्र आदर्श मान बैठता है और जो कर्म सुख-भोगके अनुकूल होते हैं उन्हींको करना अपना कर्तव्य मानता है तथा अपनी सारी शक्ति और स्वतन्त्रता उसीमें लगा देता है। अन्न-वस्त्र-घर-धन, इन्द्रियोंको सुख पहुँचानेवाली वस्तुएँ, यश-मान-प्रतिष्ठा, राज्य-ऐश्वर्य-प्रभाव-प्रतिपत्ति आदि समस्त वस्तुओंको मनुष्य चाहता है केवल सुखके लिये, सुख-भोगकी सामग्रीके रूपमें। इनके लिये होनेवाली चेष्टा ही होती है उसके लिये 'कर्त्तव्यकर्म', और जिन कर्मोंसे इस सुखके मार्गमें बाधा पड़ती हो या दुःख उत्पन्न होता हो, उन्हींको वह निषिद्ध या त्याग करनेयोग्य कर्म मानता है। साधारण मनुष्यकी दृष्टिमें ये सुख-दुःख ही अच्छे-बुरे कर्मोंका मानदण्ड है। साधारण नर-नारी कर्म नहीं चाहते,—वे चाहते हैं कर्मोंका सुखमय फल; कर्म तो उन्हें सुखके लिये बाध्य होकर करने पड़ते हैं।

मनुष्य अपनी अभिज्ञताके फलस्वरूप यह अनुभव करता है कि बहुत-से कर्म आरम्भमें सुखप्रद दीखनेवाले होनेपर भी परिणाममें दुःख उत्पन्न करते हैं,—बहुत-से भोग आरम्भमें लोभनीय होनेपर भी तेज-वीर्यका हरण तथा रोग पीड़ाको उत्पन्न करके क्रमशः कर्म और भोगकी शक्तिका नाश कर देते हैं, और शेषमें मानव-जीवनको व्यर्थताके मार्गपर ले जाकर भाँति-भाँतिकी यन्त्रणाओंमें ही जीवनका अन्त करा देते हैं। इसलिये, सुखको जीवनका आदर्श माननेपर भी, कर्मशक्ति और स्वतन्त्रताको सुखकी सेवामें लगानेपर भी, शुभाशुभ कर्मोंके निर्णयके लिये विचारशक्तिका निपुणताके साथ पूर्ण प्रयोग करनेकी बड़ी आवश्यकता है। जहाँ सुखके लिये ही कर्मपथका निर्देश करना आवश्यक होता है, वहाँ भी बहुत दिनोंतक रहनेवाले प्रगाढ़ व्यक्तिगत सुखकी ओर देखनेसे ही काम नहीं चलता,—परिवार, समाज, जाति और विश्वमानवके सुखका भी विचार करना पड़ता है। नहीं तो, सुख चाहनेवाले व्यक्तिके साथ व्यक्तिका, परिवारके साथ परिवारका, समाजके साथ समाजका और जातिके साथ जातिका संघर्ष अनिवार्य हो जाता है। और इस संघर्षके फलस्वरूप जो विष उत्पन्न होता है, उसके कारण किसीको भी निर्बाध सुख-शान्ति नहीं मिल सकती। इस संसारके कर्मक्षेत्र और भोगक्षेत्रमें पारस्परिक सहयोगके बिना किसीके लिये भी निर्बाध सुख-भोग करना तो दूरकी

बात है, जीवन धारण करना भी सम्भव नहीं होता। हमारी दैनिक आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिये भी हमें हजारों नर-नारियोंपर निर्भर करना पड़ता है। इतना ही नहीं,—पशु-पक्षी और वृक्ष-लता आदिके सहयोगपर और विश्वप्रकृतिकी अनुकूलतापर हमारा जीवन और सुख-भोग निर्भर करता है। सबसे अलग होकर सुखी होना किसीके लिये सम्भव नहीं है। इसीलिये जगत्‌में प्रेम, मैत्री, सहयोगिता, सेवा-परायणता, प्राणोंसे प्राणोंके मिलन और आत्मीयताकी प्रतिष्ठा होती है। जितना ही सुखका विस्तार होता है, उतना ही प्रत्येक मनुष्यकी सुख-भोगकी इच्छा पूर्ण होनेमें सुविधा होती है।

अतएव अपने स्वार्थके साथ परिवार, समाज, जाति और विश्वके स्वार्थको मिलाकर सबका विचार करते हुए ही कर्त्तव्याकर्त्तव्यका निरूपण करना पड़ता है। यह विचार बहुत सहज नहीं है और न कर्माकर्मका निर्णय करना ही सहज है। इसीसे भगवान्‌ने कहा है—

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः॥

(गीता ४। १७)

'कर्मका स्वरूप भी जानना चाहिये, अकर्मका भी जानना चाहिये और विकर्मका भी जानना चाहिये। कर्मकी गति गहन है।'

इसलिये अपनी व्यक्तिगत अपरिपक्क विचारशक्तिपर ही सर्वथा आस्था न रखकर, मानव समाजकी समष्टिगत अभिज्ञता और क्रमसे विकासको प्राप्त हुई विचारशक्तिका सहारा लेकर उसकी सहायतासे ही अपने-अपने कर्त्तव्यपथका पता लगाना चाहिये। जाति और समाजकी समष्टिगत अभिज्ञता और विचारका फल ही लोकोत्तर महापुरुषोंके जीवन और उपदेशोंके द्वारा सब श्रेणियोंके नर-नारियोंके हृदय और मनके सामने उपस्थित होता है। वही जाति या समाजके लिये शास्त्र, ज्ञानभण्डार या कर्मपथका प्रदर्शक माना जाता है। इसीलिये शास्त्रके अनुसरणको स्वाधीनताके विकासका सहज और सुन्दर साधन बतलाया गया है।

भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें शास्त्रकी आज्ञा माननेपर जोर दिया है। इस प्रकार मानव-समाजके कर्त्तव्याकर्त्तव्यके सम्बन्धमें कुछ सार्वजनीन साधारण नीतियाँ प्रचलित हैं। प्रत्येक युगमें महापुरुषोंका आविर्भाव होता है और वे इन विश्वजनीन नीतियोंको अपने युगके अनुसार प्रयोग करनेकी विधि भी अपने जीवन और उपदेशोंके द्वारा बतलाते रहते हैं। उन महापुरुषोंके जीवन और उपदेशोंके प्रकाशमें ही साधारण मनुष्य अपने कर्त्तव्यकर्मका निर्णय करके व्यष्टि-जीवनके साथ समष्टिजीवनका समन्वय करते हैं और इस प्रकार परम कल्याण—ऐकान्तिक सुखके चरम आदर्शकी ओर अग्रसर हो सकते हैं।

मनुष्य सुखकी प्राप्ति और दुःखके परिहारके लिये विचारपूर्वक कर्मक्षेत्रमें अग्रसर होता है, परन्तु अभिज्ञता यही कहती है कि संसारमें दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्ति और निर्बाध सुख-सम्भोग कहीं भी नहीं है। सुख-दुःख सर्वत्र ही मिले रहते हैं। सभी जगह स्वास्थ्यके साथ बीमारी, जवानीके साथ बुढ़ापा, मिलनके साथ विछोह, जन्मके साथ मृत्यु, उत्सव-आनन्दके साथ शोक सन्ताप हाथ-से-हाथ मिलाये चलते हैं। संसारमें दासत्वसे रहित प्रभुत्व नहीं है, दरिद्रता-से रहित ऐश्वर्य नहीं है, दुर्बलके आर्त्तनादसे रहित बलवान्‌की आत्मतृप्ति नहीं है। इस संसारमें मनुष्य सुख-सम्पत्तिकी अभिवृद्धिके लिये सङ्घ बनाकर कितनी चेष्टा करता है। कितनी निपुणताके साथ वह परिवार, समाज, सम्प्रदाय और राष्ट्रका सङ्गठन करता है। कितने कला-कौशल, कृषि, शिल्प, वाणिज्य आदिका अभ्युदय करता है। पृथ्वीका हृदय चीरकर रत्नाकरके गर्भमें उतर कर, प्राकृतिक शक्तियों-पर अधिकार जमाकर, भगवान्‌की सृष्टिके ऊपर अपनी सृष्टिशक्तिका प्रयोग करके मनुष्य कितनी कठोर तपस्याके साथ धन-सम्पत्तिकी प्राप्ति और भोग-सामग्रियोंका संग्रह करता है। सुखकी खोजमें मनुष्य अपनी बुद्धिशक्ति और कर्मशक्तिका प्रयोग करके भगवान्‌के जगत्‌को नया रूप-रंग प्रदान करता है। अवश्य ही इन सब कर्मोंमें मनुष्यके गौरवका यथेष्ट परिचय मिलता है। परन्तु इससे क्या मनुष्य सुखी हो सकता है? क्या मानव-समाजका हाहाकार इससे कुछ भी कम हुआ है? इस उन्नतिमें क्या सभी देशोंके अधिकांश नर-नारी अन्न-वस्त्र और घरके अभावसे, बीमारीकी भीषण यन्त्रणासे, वर्षा, घाम और जाड़ेकी पीड़ासे नित्य आर्तनाद नहीं कर रहे हैं? प्रायः सभी देशोंमें क्या अधिकांश दुर्बल और शक्तिहीन अबोध नर-नारी बलवान्, बुद्धिमान् और कुशल—थोड़े-से व्यक्तियोंके द्वारा ठगे नहीं जा रहे हैं—उनके अत्याचारसे पीड़ित नहीं हो रहे हैं? मनुष्य-जातिके अंगुलियोंपर गिनने लायक कुछ थोड़े-से घमंडी लोगोंकी चमक-दमक ही क्या जगत्‌के अभ्युदय,

सभ्यताके विकास और मानव-जातिका गौरव नहीं बतलायी जाती है ! जगत्‌के अधिकांश नर-नारी जिस अन्धकारमें थे, उसीमें हैं। और इन उन्नतिके गर्वसे फूले हुए कुछ शिरोहों-में ही निर्बाध सुख कितना-सा है ? बाहरी उन्नतिके साथ-ही-साथ ये भी क्या प्रतिक्षण प्रतियोगिता, प्रतिद्वन्द्विता, डाह, घृणा, भय, कलह, युद्ध और वैरभावकी आगमें नहीं जल रहे हैं ? इस समय महादेश यूरोपमें संहारशक्तिकी जो ताण्डव-लीला चल रही है, वह क्या सुखकी वृद्धिके लिये किये जाने-वाले कर्मशक्ति-प्रयोगका ही अवश्यम्भावी परिणाम नहीं है !

यही सब देख-सुनकर मनुष्यके चित्तमें यह प्रश्न होता है—सुख कहाँ है, सुख कहाँ है ? संसारमें कहीं भी निर्बाध नित्य सुखकी सम्भावना न देखकर सुखकी खोजमें लगा हुआ मानव-चित्त एक आदर्श सुख-लोककी कल्पना करता है,—'जहाँ सुख है, दुःख नहीं है; सदा जवानी है, बुढ़ापा-बीमारी और मृत्यु नहीं है; जहाँ भोगके द्वारा भोगशक्तिका क्षय नहीं होता, जहाँ अटूट भोग-सामग्रियाँ हैं और उनकी प्राप्तिके लिये जहाँ प्रतियोगिता, प्रतिद्वन्द्विता, कपट या संग्रामकी कोई आवश्यकता नहीं है; जहाँ आनन्दके बाद आनन्दकी ही तरङ्गें खेलती रहती हैं। किसी प्रकारके भी शोक-सन्ताप या संघर्षके द्वारा उस आनन्द-नृत्यकी ताल नहीं टूटती।' उसी लोकका नाम है स्वर्ग। मनुष्यको जो कुछ चाहिये, सुखमय जीवनके लिये जो कुछ आवश्यक है, वह सभी वहाँ अटूट है और उसको पानेके लिये वहाँ किसी विशेष प्रयत्नकी आवश्यकता नहीं है। इहलौकिक सुखसे अतृप्त मनुष्य उस स्वर्गको ही जीवनका आदर्श मान लेता है और इस महान् आदर्शके द्वारा अनुप्राणित होकर ही वह अपने करने और न करने योग्य कार्योंका चुनाव करता है। इस दैहिक जीवनके कर्मोंद्वारा ही मनुष्यको उस स्वर्गीय देवजीवनकी योग्यता प्राप्त करनी पड़ती है। आनन्दमय देवजीवनकी कल्पना जब मनुष्यके हृदयपर अपना अधिकार जमा लेती है, तब उसे इस सांसारिक जीवनके सारे सुख अत्यन्त तुच्छ प्रतीत होने लगते हैं। वह फिर यहाँके दुःखमिश्रित, हिंसा, भय और घृणासे कलुषित और शोक-ताप-संघर्षसे कलङ्कित किसी भी सुखसे सन्तुष्ट नहीं होता। वह उस अनन्त, अव्याहत, कलङ्क-रहित, कालिमारहित, देवसुखके लिये इन सारे सुखोंकी बलि चढ़ानेको तैयार हो जाता है। वह चाहता है एक ऐसी कर्मपद्धति, एक ऐसी जीवनधारा, एक ऐसा धर्म,—जिसके द्वारा वह स्वर्गीय जीवनका अधिकारी हो सके—इस संसार-के सारे सुखोंकी बलि देकर भी वह नित्य परमानन्दको प्राप्त करनेकी योग्यता पा सके।

भारतीय वेदविधानमें इस कर्मनीतिका नाम है 'यज्ञ'। यज्ञके द्वारा ही मनुष्य स्वर्गप्राप्तिका अधिकारी हो सकता है, जीवनको यज्ञमय कर सकनेपर ही मनुष्य दुःख-तापसे रहित अटूट आनन्दका अधिकार प्राप्त कर सकता है। 'स्वर्गकामो यजेत'। यदि स्वर्ग चाहते हो तो 'यज्ञ करो', 'जीवनको यज्ञमय करो।'

समयके फेरसे यज्ञ कुछ विशेष अनुष्ठानोंके रूपमें, कुछ मन्त्रोंका उच्चारण करके जलते हुए अग्निकुण्डमें घृतादिकी आहुति देनेके रूपमें परिणत हो गया। इसीसे बहुत लोग यज्ञके यथार्थ तात्पर्यको भूल गये हैं। आजकल 'यज्ञ'के नामसे जो कुछ समझा जाता है, वह तो यज्ञकी अङ्गभूत एक विशेष क्रियामात्र है, यज्ञसम्पादनका एक उपलक्ष्यमात्र है। वस्तुतः यज्ञका तात्पर्य है—'समष्टिके कल्याणके लिये व्यष्टिका आत्मत्याग।' अपने अनित्य ऐहिक सुखोंकी आकाङ्क्षा न करके मनुष्य जब अपने उपार्जित और प्राप्त अन्न-वस्त्र-धनादि सारी सम्पत्तिको देव-सेवाबुद्धिसे जाति और समाजके कल्याणमें लगा देता है, जाति और समाजके विभिन्न श्रेणी-के नर-नारियोंमें यथायोग्य बाँट देता है, पशु-पक्षी, कीट-पतङ्ग और वृक्ष-लता भी जब उसकी सेवासे वञ्चित नहीं होते। इस प्रकार मनुष्य जब अपने व्यष्टि-जीवनको दान और सेवाके द्वारा कुल, समाज, जाति और विश्वमानव तथा विश्वप्रकृतिके समष्टि-जीवनके साथ योगयुक्त करके चलाता है, तभी उसका यज्ञानुष्ठान सार्थक होता है, तभी उसका जीवन यज्ञमय होता है। सेवामय जीवन ही यज्ञमय जीवन है, और इसी प्रकारका जीवन देहान्तके बाद दिव्य देहके द्वारा अनन्त कालतक अनन्त सुखभोगका अधिकारी है। संसारमें हम अपने निजी क्षुद्र स्वार्थके लिये जितना ही चाहते और भोग करते हैं, उतना ही हमें अपना बड़ा स्वार्थ छोड़ना पड़ता है, उतनी ही विश्वदेवताकी जीवनधाराके साथ हमारे कर्मजीवनकी एकतानता नष्ट होती है जिससे हमें देवताकी 'हिंसा'को—उसके विश्वविधानके कठोर शासनदण्डको स्वीकार करना पड़ता है। उतना ही स्वर्गीय सुखमय जीवनसे वञ्चित होकर हम दुःखद्वन्द्वके जटिलतामय नारकीय जीवनकी राहपर अग्रसर होते हैं। जीवनको 'भोगोत्तर' न करके 'देवोत्तर' कर देना होगा। हमारे पास जो कुछ है, हम जो

कुछ प्राप्त करते या कमाते हैं—हमारा अन्न, धन, शक्ति, ज्ञान, प्रभाव, प्रतिपत्ति सभी कुछ देवताकी वस्तुएँ हैं, सभी देवताकी कृपासे हमारे पास आयी हैं और उन्हें देवताके भोगमें ही लगा देना पड़ेगा। देवताका भोग सम्पन्न होता है—दीन-दरिद्रके भोगके द्वारा, साधु और ब्रह्मनिष्ठ पुरुषोंके भोगके द्वारा। विश्वकी सेवामें अपनी आहुति दे डालना ही यज्ञकी प्रतिष्ठा है, जीवनकी सार्थकता है और स्वर्गका अधिकार पाना है।

वैदिक कर्मवादी लोग 'स्वर्गकाम' होकर यज्ञमय जीवन बितानेको ही कर्मका श्रेष्ठ आदर्श मानते हैं। विश्वशृङ्खलाके नियामक न्यायविधानके प्रति उनकी जैसी सुदृढ़ आस्था है, मनुष्यके कर्मकी स्वतन्त्रतापर भी उनका वैसा ही अटल विश्वास है। मनुष्य अपने कर्मके द्वारा ही अपना अदृष्ट पैदा करता है। अपने सुख-दुःख, मानापमान, ऊँचे या नीचे कुलमें जन्म और संसार-क्षेत्रमें सब प्रकारके सुयोग और कुयोगके लिये मनुष्य स्वयं ही जिम्मेवार है। उसके पूर्वकृत कर्मके द्वारा ही उसकी वर्तमान अवस्था उत्पन्न हुई है, और वर्तमान कर्मके द्वारा ही उसके भविष्यका निर्माण होगा। विश्वके अखण्ड न्यायविधान या धर्मविधानके अनुसार प्रत्येक मनुष्य, प्रत्येक जीव अपने कर्मके अनुसार ही फल पाता है। सबकी अपेक्षा श्रेष्ठ फल है—'पूर्णानन्दमय देव-जीवन' और उसकी प्राप्ति होती है 'सर्वहुत्' यज्ञमें आत्माहुति-रूप महान् कर्मके द्वारा!

जो ज्ञानवादी हैं, वे स्वर्गको जीवनका सर्वश्रेष्ठ आदर्श नहीं मानते। न कर्मको ही जीवनमें अवश्य अवलम्बन करनेवाली वस्तु मानते हैं। उनके मनसे कर्ममात्र वासनासे उत्पन्न है और वासनामात्र बन्धनका कारण है—दुःख-सन्तापका कारण है। कर्म कितना ही श्रेष्ठ हो, जीवन कितना ही यज्ञमय हो, उसके द्वारा नित्यानन्दकी प्राप्ति नहीं हो सकती। जो कुछ भी उत्पन्न होता है, उसका विनाश अवश्यम्भावी है। कर्मका फल जब विश्वविधानके कर्मसे उत्पन्न होता है, तब उसका वह फल भी समय पाकर नष्ट होगा ही। अतएव कर्मसे उत्पन्न स्वर्गीय जीवनका भी अन्त है। उसके बाद फिर वही जन्म-मृत्यु, फिर वही दुःख-सन्ताप और यन्त्रणा तैयार है। दुःखके राज्यसे आत्यन्तिक और ऐकान्तिक मुक्ति कर्मके द्वारा कभी नहीं मिल सकती। उसके लिये कर्मको अतिक्रम करके ज्ञानका आश्रय लेना पड़ेगा। ज्ञानके द्वारा आत्माके नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभावकी सम्यक् प्रकार-से उपलब्धि होते ही दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्ति होकर अनन्त शान्तिकी प्रतिष्ठा हो जाती है। अतएव पारिवारिक, सामाजिक और राष्ट्रीय सभी प्रकारके कर्मोंसे अलग होकर संन्यास ग्रहण करके आत्माका ही अनुसन्धान करना चाहिये—

आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।

भगवान् बुद्धने आत्मा और ईश्वरका अस्तित्व अस्वीकार करके इस ज्ञानवाद और संन्यासधर्मको एक नया चोला पहनाकर लोगोंके सामने रक्खा। उन्होंने घोषणा की—'कर्मके द्वारा जीवन बना है, कर्ममात्र वासनात्मक हैं। इसलिये जीवन ही वासनामय और दुःखप्रद है, दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्तिके लिये वासनाकी अधीनतासे छुटकारा पाना होगा और इसके लिये कर्मप्रवाहका निरोध और जीवनस्रोतका ही ऐकान्तिक विनाश आवश्यक है। इसीका नाम 'निर्वाण' है, और निर्वाण ही जीवनका चरम लक्ष्य है। अर्थात् कर्मनिरोधके द्वारा जीवन-प्रवाहका नाश कर डालना ही जीवनका चरम लक्ष्य है, महाशून्यमें जीवनको विलीन कर डालनेमें ही जीवन-साधनाकी सम्पूर्ण सार्थकता है। कर्ममें बन्धनका भय है; कर्ममें लिप्त होते ही संसारबन्धनमें पड़कर मुक्तिके निर्बाध अखण्ड आनन्दसे वञ्चित रहना होगा।' इस मतका भारतीय चित्त-पर बहुत प्रभाव पड़ा। इसीसे भारतीय आध्यात्मिक साधनाके इतिहासमें त्याग, वैराग्य, समाजविमुखता और संन्यास-प्रियताको विशेष स्थान मिला है। भगवान् श्रीकृष्णका मत इससे विलक्षण है। वे घोषणा करते हैं—'कर्म करो, कर्म करो; संन्यासकी अपेक्षा कर्म ही श्रेष्ठ है यदि कुशलतासे किया जाय।'

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते॥
(गीता ५।२)

'संन्यास और कर्मयोग दोनों ही कल्याण करनेवाले हैं परन्तु उन दोनोंमें कर्मसंन्यासकी अपेक्षा कर्मयोग श्रेष्ठ है।'

इससे पहले ईशोपनिषद्ने भी इसी बातकी घोषणा की थी—

'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः॥'

'इस लोकमें कर्म करते हुए ही सौ वर्षतक जीवित रहनेकी इच्छा करे।' भगवान् श्रीकृष्णने कर्मवादियोंकी युक्तिको भी मान लिया, और अकर्मवादियोंकी युक्तिको भी

अस्वीकार नहीं किया। परन्तु उन दोनों मतोंसे उनका विशेष अन्तर यही है कि वे कर्मको उच्चतर आसनपर बैठाकर ऐसे कौशलसे उसकी पूजा करना सिखाते हैं कि दोनों ही पक्षोंकी युक्तियाँ उस आसनके सामने पूजाका थाल सजाये मिलकर आ बैठती हैं।

कर्मवादी और ज्ञानवादी—दोनों ही, कर्मको कामना और वासनासे मुक्त बनाकर नहीं देख सके। वे कामना और वासनासे ऊँचे स्थानपर कर्मका कोई आसन निर्देश नहीं कर सके। कर्मवादीने कर्मको मनुष्यके साथ ही उत्पन्न होनेवाला और अवश्यकर्त्तव्य समझकर उसके मूलमें रहनेवाली कामनाओंको परम निर्मल, उज्ज्वल, महान्, उदार बनाना चाहा और सारी कामनाओंको समस्त सुखोंकी खान एकमात्र स्वर्गकी महान् कामनामें पर्यवसित करके कर्मको उसके अनुगत बनाया एवं उसे सर्वभूतहितकारी 'यज्ञ' के ऊँचे आसनपर प्रतिष्ठित कर दिया। इस देवजीवनका आदर्श, यज्ञमय जीवनका आदर्श, निस्सन्देह एक परम महान् आदर्श है। यह आदर्श हमारी सामाजिक, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय प्रायः सभी समस्याओंको सुलझानेमें समर्थ है। परन्तु यहाँ भी कर्म है तो भोगका ही चाकर,—फिर वह भोग चाहे कितने ही ऊँचे स्तरका क्यों न हो। यहाँ कर्म कर्मके लिये नहीं है, कर्मके आनन्द और गौरवके लिये नहीं है, वह है भोगके लिये।

ज्ञानवादीने शुक्र (पुण्य) और कृष्ण (पाप), महान् और क्षुद्र, स्थूल और सूक्ष्म, सभी प्रकारके कर्मोंको कामना-मूलक समझा और कर्मसे उत्पन्न समस्त भोगैश्वर्यको अनित्य एवं परिमित जानकर, नित्यानन्दकी प्राप्तिके लिये काम और कर्मके नाशको ही निःश्रेयसकर (परम कल्याण करनेवाला) बतलाया। संन्यासका आदर्श ही तत्त्वज्ञानका आदर्श है—काम और कर्मसे ऊपर उठनेका आदर्श है। यह भी एक बड़ा चमत्कारी आदर्श है। अब, बचे रहकर कर्मके ऊपर उठना सम्भव है कि नहीं, यह एक समस्या है।

भगवान् श्रीकृष्णने ज्ञान और कर्मके, संन्यास और सम्भोगके, समाधि और संग्रामके, तथा निवृत्ति और प्रवृत्तिके मिलनकी घोषणा की। कर्मके द्वारा ही मनुष्यको बचे रहना पड़ेगा। परन्तु ज्ञानके द्वारा उस कर्मको अकर्मत्व प्रदान कर देना पड़ेगा।

> **कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।**
> **स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्॥**
>
> (गीता ४। १८)

'जो पुरुष कर्ममें अकर्म और अकर्ममें कर्म देखता है वही मनुष्योंमें बुद्धिमान्, योगी और समस्त कर्मोंको करनेवाला है।'

साधारणतः कर्म वासनाके वश होकर ही किया जाता है और वासना ही मनुष्यको दुःखमय संसारमें बाँध रखती है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। परन्तु कर्मको सदा वासनाकी ही गुलामी करनी पड़ेगी, ऐसा कोई अखण्ड नियम नहीं है। भगवान् अनादि कालसे सृष्टि, स्थिति और प्रलयरूप कर्म करते हैं,—वे क्या वासनाके वशीभूत होकर किसी वस्तुके लाभके लिये अथवा अभावमें पड़कर कर्म करते हैं?

भगवान्ने कहा है—

> **न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।**
> **नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥**
>
> (गीता ३। २२)

'हे अर्जुन! तीनों लोकोंमें मेरे लिये कुछ भी कर्त्तव्य नहीं है, न कुछ अप्राप्त है और न कुछ प्राप्त ही करना है; परन्तु इतनेपर भी मैं कर्ममें ही लगा हुआ हूँ।'

तब भगवान्के इस कर्मप्रवाहका मूल स्रोत कहाँ है? उनको कोई अभाव नहीं सता रहा है, इस लोक या परलोक-की कोई कामना नहीं है, किसी प्रकार भी अपूर्णताका बोध भी नहीं है और किसी कर्मफलकी भी स्पृहा नहीं है। फिर वे कर्म करते क्यों हैं? उनके कर्मका उद्गमस्थान है उनके स्वरूपान्तर्गत आनन्दमें, उनकी ह्लादिनी शक्तिमें। ह्लादिनी शक्ति ही वस्तुतः क्रियाशक्ति है। अन्तरका आनन्द, प्राणों-की पूर्णताका बोध ही बाहर कर्मके रूपमें प्रकट होता है। सच्चे कवि, शिल्पी और गायक जैसे अपने भीतरके आनन्द-को—रसानुभूतिको भावावेशके साथ छन्द, रूप और सुरोंका मूर्त रूप देकर प्रकट करते हैं, भगवान्के विश्व-सृष्टि आदि समस्त कर्म भी उसी तरह उनके स्वरूपभूत नित्य सत्य आनन्दघन पूर्णताबोधसे ही स्वच्छ धारामें प्रवाहित होते हैं। इस प्रकार कर्ममें फलकी अभिसन्धि कर्मकी नियामक नहीं है, फल तो कर्मसे केवल स्वाभाविक नियमसे ही उत्पन्न होता है। कर्मके सुचारुरूपसे सम्पादनमें ही प्राणोंके आनन्दका विकास, इसका आस्वादन और कर्मशक्तिकी सार्थकता है।

भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं अपना आदर्श सामने रखकर मनुष्यमात्रको कर्मकी शिक्षा देते हैं, सबको कर्मके निजस्व गौरवकी बात बताते हैं। वे मनुष्यको सिखाते हैं—कर्मके

आनन्दसे कर्म करो, अपनी शक्तिको सम्यक् प्रकारसे सार्थक करनेके लिये कर्म करो, क्षुद्र फल-कामनाको पददलित करके कर्मको पूजाके आसनपर प्रतिष्ठित करो। भगवान्‌का नित्य स्मरण करते हुए उनके जीवनको आदर्श मानकर उनकी विश्वमय कर्मनीतिका अनुसरण करो और अपनी शक्ति-सामर्थ्यके अनुसार देश, काल और आसपासके वातावरणको देखकर कर्ममय संसारमें कर्ममय जीवन बिताओ,—'मामनुस्मर युध्य च।' बाह्य सिद्धि या असिद्धिके विचारको कर्मक्षेत्रमें मुख्य स्थान मत दो। स्वर्गकामना और मोक्ष-कामनाको भी मनसे विदा कर दो।

> योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय।
> सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥
> (गीता २। ४८)

'हे अर्जुन! आसक्तिको त्याग कर और सिद्धि-असिद्धिमें समबुद्धि होकर योगमें स्थित रहते हुए ही कर्म करो। समत्व ही योग कहा जाता है।'

भगवान्‌के जगत्‌में भगवान्‌के कर्ममें हिस्सेदार होनेके लिये ही तुमने मानव-जन्म धारण किया है। तुम भगवान्‌के अंश हो, भगवान्‌के कर्मको अपने जीवनमें श्रद्धा, भक्ति और विश्वासके साथ, निर्भयताके साथ करो। इसीसे तुम भगवदानन्दकी प्राप्तिके अधिकारी होओगे, ब्राह्मी स्थिति प्राप्त करोगे, इस जगत्‌में विचरण करते हुए ही जगत्‌पर विजय प्राप्त करोगे। मनमें भयको स्थान मत देना। न किसी प्रकारकी दुर्बलताको ही आश्रय देना। अपनेको छोटा मत समझना, याद रखना—भगवान् स्वयं तुम्हारे आत्माके रूपमें विराजित हैं 'अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः'।

> कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
> मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥
> (गीता २। ४७)

'तुम्हारा कर्ममें ही अधिकार है, फलमें कदापि नहीं। कर्मोंमें फलकी वासना भी मत करो और कर्मोंके त्यागमें भी प्रीति न करो।'

इस प्रकार कर्मके महान् आदर्शके द्वारा अनुप्राणित होकर अपनी-अपनी प्रकृति, बुद्धि, रुचि, शक्ति और पारिवारिक, सामाजिक तथा राष्ट्रीय स्थितिके अनुसार कर्म करना चाहिये। ऐसा करनेसे वे कर्म यज्ञीय कर्म हो जाते हैं, साधनाकी दृष्टिसे वे योगमें परिणत हो जाते हैं, जाति और समाजकी दृष्टिसे वे सबके लिये कल्याण उत्पन्न करनेवाले होते हैं; इनसे अन्तर्जीवन और बहिर्जीवनमें सामञ्जस्य हो जाता है और इस संसारमें ही सारे बन्धनोंसे छूटकर दिव्यजीवनकी प्राप्ति हो जाती है।

समर्पण

आश्रय हैं अवलम्बन हैं,
अभिराम हैं आप विराम हमारे।
आप सहायक और सखा,
हितचिंतक हैं सुखधाम हमारे।
हैं विधि आप महेश रमेश,
रमापति राम हैं श्याम हमारे।
आपको ही तन जीवन प्राण,
समर्पित हैं सब काम हमारे॥

—भगवतीप्रसाद त्रिपाठी विशारद, एम्० ए०, एल्-एल्० बी०, काव्यतीर्थ

श्रीशबरीजीकी भक्ति

(लेखक—श्रीजयरामदासजी 'दीन' रामायणी)

श्रीरामचरितमानसमें कबन्धको गति देनेके पश्चात् शबरी-मिलनका प्रसङ्ग—

ताहि देइ गति राम उदारा। सबरी कें आश्रम पगु धारा॥

इस अर्द्धालीसे आरम्भ होकर निम्नलिखित दोहेपर समाप्त होता है—

जाति हीन अघ जनम महि मुक्त कीन्हि असि नारि।
महामंद मन सुख चहसि ऐसे प्रभुहि बिसारि॥
(अर० का० ३६)

उपर्युक्त अर्द्धालीके 'राम उदारा' पदसे भगवान्‌की गति देनेकी उदारता सूचित की गयी है। यथा—

'देखि दुखी निज धाम पठावा' (विराध)
'राम कृपा बैकुंठ सिधारा' (शरभङ्गजी)
'पावहिं पद निर्बान' (खर-दूषणादि)
'मुनि दुर्लभ गति दीन्हि सुजाना' (मारीच)
'गीध गयो हरि धाम' (जटायु)
'गयउ गगन आपनि गति पाई' (कबन्ध)

इस प्रकार सबको परमगति प्रदान करते हुए उदारशिरोमणि भगवान् शबरीको भी गति देनेके लिये उसके आश्रममें पधारे। 'आश्रम' शब्दसे शबरीजी-का विरक्त होना सूचित किया गया है, क्योंकि वनमें बहुत-से कोल-किरात आदि भी निवास करते हैं, परन्तु उनके घरोंको कभी 'आश्रम' नहीं कहा जाता। शबरीजी मन, वचन और शरीर—सर्वाङ्गसे श्रीभगवान्‌के शुद्ध प्रेममें सराबोर थीं। इस बातका लक्ष्य निम्न पदोंसे कराया गया है। यथा—'प्रेम मगन' पदसे शबरीजीके मनकी, 'मुख बचन न आवा' से वचनकी और 'पद सरोज सिर नावा' से कायाकी दशा सूचित की गयी है। 'सबरी परी चरन लपटाई' से उनकी प्रेम-विह्वलता भी सूचित होती है, ठीक वैसी ही जैसी माता कौसल्याजीकी प्रेम-विह्वलताका वर्णन है—

'बहु बिधि बिलपि चरन लपटानी।' वस्तुतः भगवान्‌में शबरीजीकी निष्ठा, माता कौसल्याजीके समान ही, वात्सल्यभावकी थी। यह बात श्रीरामगीतावली (अरण्यकाण्ड) की पद-संख्या १७ में स्पष्टतः प्रमाणित है—

अनुकूल अंबक अंब ज्यों निज डिंब हित सब आनि कै।
सुंदर सनेह सुधा सहस जनु सरस राखे सानि कै॥
....
सो जननि ज्यों आदरी सानुज राम भूखे भाय कै।

और आगे चलकर—

तेहि मातु-ज्यों रघुनाथ अपने हाथ जल-अंजलि दई॥

'जैसे माता अपने बच्चेके लिये अच्छी प्रकार चीजें संग्रह करके रखती है, वैसे ही उसने वे सुन्दर फल भगवान्‌के लिये लाकर उन्हें अमृतसे हजारों गुने अधिक स्नेहके रसमें डुबाकर रक्खा।'

....

'श्रीरामजी भावके भूखे हैं इसलिये उन्होंने भाई लक्ष्मणजीके सहित उसका माताके समान आदर किया।'

....

'श्रीरघुनाथजीने उसे माताके समान अपने हाथोंसे जलाञ्जलि दी।'

यह पूरा पद पढ़ने योग्य है। इस पदके प्रथम भागमें शबरीजीकी नित्य दिनचर्याका वर्णन है। जिस दिन श्रीमतङ्ग ऋषिद्वारा उन्हें यह आदेश मिला कि श्रीरघुनाथजी इसी आश्रममें अवश्य आकर मिलेंगे, उसी दिनसे वे प्रतिदिन सबेरे सोकर उठते ही यह निश्चय करतीं कि 'भगवान् आज अवश्य पधारेंगे।' फिर आश्रम-को झाड़-बुहारकर स्वागतकी तैयारी करतीं, अच्छे-अच्छे मीठे-मीठे फल-मूल पत्तोंके दोनोंमें सजाकर

रखतीं और बार-बार बाहर आकर श्रीरघुनाथजीकी बाट जोहतीं । इस प्रकार भगवान्‌की प्रतीक्षामें ही उनके दिन बीतते थे । श्रीगुरुके वचनोंमें परम प्रतीति होनेके कारण उनका हृदय राम-पद-पङ्कजके 'नित नव प्रेम' से भर रहा था, जीवन प्रेमानन्दमय हो रहा था । इसीलिये उक्त पदका आरम्भ—

सबरी सोइ उठी, फरकत बाम बिलोचन-बाहु ।
सगुन सुहावने सूचत मुनि-मन-अगम उछाहु ॥

—से किया गया है । श्रीमानसमें भी जहाँ प्रभुकी प्राप्तिका प्रकरण है, वहाँ भी शबरीजी श्रीमतङ्ग ऋषिके ही वाक्योंको समझकर कृतार्थ हो रही हैं । यथा—

सबरी देखि राम गृहँ आए । मुनिके बचन समुझि जियँ भाए ॥

सारांश यह कि शबरीजीको जो कुछ प्राप्त हुआ है, वह सब संतकी अनुकूलताका ही प्रसाद है । शबरीजीके प्रति श्रीमुखसे जिस नवधा भक्तिका कथन किया गया है और जिसका प्रमाण-पत्र उन्हें 'सकल प्रकार भक्ति दृढ़ तोरे' इन शब्दोंद्वारा दिया गया है, वह निवृत्तिमार्गियोंकी ही नवधा भक्ति है । और उसके लिये पञ्चवटीमें श्रीलखनलालजीद्वारा प्रश्न होनेपर श्रीमुखसे प्रथम ही यह सङ्केत भी किया जा चुका है कि—

भगति तात अनुपम सुख मूला । मिलै जो संत होंहि अनुकूला ॥

अस्तु, वही सुयोग श्रीशबरीजीको लग गया था । श्रीशबरीजीने संतशिरोमणि महर्षि श्रीमतङ्ग मुनिजी महाराजकी शरणागति प्राप्त कर ली थी और वे भी उसे स्वीकार करके उनके अनुकूल हो गये थे, अतएव यहाँकी नवधा भक्तिका आरम्भ भी 'प्रथम भगति संतन कर संगा' से ही किया गया है । तात्पर्य यह कि जब कोई बड़भागी जीव अपनी प्रवृत्ति ('जाति पाँति कुल धर्म बड़ाई । धन बल परिजन गुन चतुराई ॥' रूप गृहस्थी) का त्याग करके विरक्त हो जाता है और किन्हीं सच्चे संत-सद्गुरुकी शरण ग्रहण कर लेता है तो वही उसकी प्रथम भक्ति होती है । दूसरी भक्ति जब संत-सद्गुरु श्रीरामकथा (जो संतोंका जीवन-प्राण है) का श्रवण कराने लगते हैं तब उसमें 'रति' (प्रेम) होनेको कहते हैं—'दूसरि रति मम कथा प्रसंगा ।' तीसरी भक्ति मानरहित होकर उन संत-सद्गुरुके चरण-कमलोंकी सेवा करना कहलाती है—'गुरु पद पंकज सेवा तीसरि भगति अमान ।' चौथी भक्ति भगवान्‌के गुणानुवादको स्वयं निष्कपटभावसे गायन करना है—'चौथि भगति मम गुनगन करै कपट तजि गान ।' अर्थात् जब श्रीगुरुकी सेवा-सङ्गतिमें सदा रहते-रहते और उनके मुखसे श्रीभगवान्‌का यश सुनते-सुनते 'भरेउ सुमानस सुथल थिराना' तथा 'उमगेउ प्रेम प्रबोध प्रबाहू' की स्थिति हो जाय एवं निज मुखसे भी श्रीरामयशका गान होने लगे तब चौथी भक्ति सम्पन्न होती है ।

जब शरणागत मुमुक्षु इन चार प्रकारकी भक्तियोंसे सम्पन्न हो जाता है तब संत-सद्गुरु उसे अधिकारी जानकर श्रीराम-मन्त्रकी दीक्षा देते हैं । अतः श्रीरघुनाथजी शबरीजीसे अपने मन्त्रका दृढ़ विश्वासके साथ जाप करनेको पाँचवीं भक्ति बतला रहे हैं—'मंत्र जाप मम दृढ़ बिस्वासा । पंचम भजन सो बेद प्रकासा ॥' छठीं भक्ति इन्द्रियोंका दमन, बहुमुखी कर्मोंकी प्रवृत्तिसे वैराग्य और सज्जनधर्म (भगवदाराधन आदि) के पालनमें सर्वदा तत्पर रहना बतलायी गयी है—'छठ दम सील बिरति बहु कर्मा । निरत निरंतर सज्जनधर्मा ॥' तात्पर्य यह कि गृहस्थीके जंजालमें, कर्मोंके प्रपञ्चमें विशेष प्रवृत्ति होनेका जो अभ्यास है, उसे रोककर तथा इन्द्रियोंको उनके विषयोंसे एकदम हटाकर संत-स्वभाव ('पर उपकार बचन मन काया') का पालन एवं भगवान्‌के नाम, रूप, लीला, धामादिकी ही सेवा—भजन-पूजनमें समय व्यतीत होने लगना छठीं भक्ति है । सातवीं भक्ति समस्त जगत्‌को राममय देखना, सभीसे समान भाव रखना, पर संतोंको सबसे बढ़कर ('मोरे मन प्रभु अस बिसवासा । राम ते अधिक राम कर दासा ॥')

मानना है। यथा—'सातवँ सम मोहि मय जग देखा। मोतें अधिक संत करि लेखा ॥' यहाँ भी संत-सद्गुरुकी महामहिमाका वर्णन यह भाव सूचित करता है कि भगवान्‌की प्राप्तिके साधन संत ही हैं। आठवीं भक्ति यदृच्छालाभसन्तुष्ट अर्थात् जो कुछ प्राप्त हो जाय उसीमें सन्तुष्ट रहना और स्वप्नमें भी पराये दोषको न देखना बतायी गयी है—'आठवँ जथालाभ संतोषा। सपनेहुँ नहिं देखइ परदोषा ॥' अर्थात् भक्तिकी आठवीं सीढ़ीतक पहुँचनेपर शरणागत शिष्यकी भी संत-वृत्ति बन जाती है। उसे बिना कोई उद्योग किये अनिच्छित रूपसे जो कुछ प्राप्त होता रहता है, उसीको वह अपने शरीरका प्रारब्ध मानकर उसीसे अघाये रहता है और भूलकर भी किसी जीवमें दोष-दृष्टि नहीं करता, बल्कि 'अवगुनमें गुन गहनि सदा है' की वृत्ति रखता है। अतः कृपाधाम श्रीभगवान् इन वृत्तियोंको भी अपना भजन मानते हैं और इसे आठवीं भक्ति बतलाते हैं। अन्तमें श्रीप्रभुजी अपनी नवीं भक्तिके लक्षण इस प्रकार बतलाते हैं—'स्वभावसे सरल होना (किसीसे भी कठोर व्यवहार न करना), मनसे निश्छल होना (कपटका लेश भी न होना) जैसा कि उत्तरकाण्डमें अवधपुरवासियोंको उपदेश किया गया है—'सरल स्वभाव न मन कुटिलाई। जथालाभ संतोष सदाई ॥' और मेरे ही भरोसेपर दृढ़ रहकर हृदयमें किञ्चित् भी हर्ष-विषादका अनुभव न करना। यथा—'नवम सरल सब सन छलहीना। मम भरोस हियँ हरष न दीना ॥'

श्रीभगवान् कहते हैं कि 'शबरी! इन नौ भक्तियोंमेंसे एक भी भक्ति जिसे प्राप्त हो वह स्त्री-पुरुष, जड़-चेतन कोई भी हो, मुझे अत्यन्त प्रिय है, फिर तुममें तो ये नवों भक्तियाँ दृढ़रूपसे विद्यमान हैं।' यथा—

नव महुँ एकउ जिन्ह कें होई। नारि पुरुष सचराचर कोई ॥
सोइ अतिसय प्रिय भामिनि मोरें। सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरें॥

यहाँ 'एकउ जिन्ह कें होई' और 'सचराचर कोई' से जीवमात्रको भक्तिका अधिकारी बतलाया गया है—चाहे वह गृहस्थ हो, निवृत्तिमार्गी हो; चेतन हो या अचेतन हो! परन्तु उपर्युक्त सब प्रकारकी भक्तियोंका एकत्र संयोग किन्हीं निवृत्तिपरायण साधुमें ही और वह भी संत-सद्गुरुकी अनुकूलतासे ही होता है, जैसा कि श्रीशबरीजीमें श्रीमतङ्ग ऋषिकी शरणागतिसे हुआ है—'मिलै जो संत होंहि अनुकूला।' परन्तु जिस जीवको इन नौ भक्तियोंकी प्राप्तिका सुयोग न हो उसके लिये श्रीप्रभुने उसी काण्डमें पहले ही लखनलालजी-से प्रवृत्तिमें रहते हुए ही श्रवणादि नौ भक्तियोंके साधन बतला दिये हैं। यथा—'भगति कि साधन कहउँ बखानी। सुगम पंथ मोहि पावहिं प्रानी ॥' भगवान् कहते हैं कि वह प्रवृत्त जीव अपने वर्णाश्रम-धर्मके पालनमें नित्य निरत रहकर पहले ब्राह्मणोंमें प्रेमनिष्ठा करे। उस पुण्यका फल यह होगा कि उसे विषयोंसे स्वतः वैराग्य हो जायगा, फिर वह भगवान्‌के चरणोंका अनुरागी हो जायगा और उसमें श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पाद-सेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य तथा आत्म-निवेदन ये दूसरे प्रकारकी नवधा भक्तियाँ, जो श्रीमद्भागवतमें वर्णित हैं, दृढ़ हो जायँगी। यथा—

प्रथमहिं बिप्र चरन अति प्रीती। निज निज कर्म निरत श्रुति रीती॥
एहि कर फल पुनि बिषय बिरागा। तब मम धर्म उपज अनुरागा॥
श्रवनादिक नव भक्ति दृढ़ाहीं। मम लीला रति अति मन माहीं॥

निष्कर्ष यह कि श्रीमानसमें श्रीमुखसे ही दो स्थलोंपर पृथक्-पृथक्‌रूपसे जो दो प्रकारकी नवधा भक्तियोंका वर्णन हुआ है, उनमें बड़ी गम्भीरताके साथ लक्ष्मणजीके प्रति गृहस्थोंके लिये श्रवणादि नौ भक्तियोंका और शबरीजीके प्रति विरक्तोंके लिये सत्संगादि नौ भक्तियोंका कथन करके भक्तिमार्गके दो सुन्दर सुगम विभाग कर दिये गये हैं। यद्यपि श्रीलक्ष्मण-जीके प्रति कही गयी 'भगति तात अनुपम सुख मूला। मिलै जो संत होहिं अनुकूला ॥' यह चौपाई भी सत्संगादि

नौ प्रकारकी भक्तिके लिये ही बीजरूपसे आयी है, परन्तु इनका पूर्णरूपसे निर्णय श्रीशबरीजीके प्रति कही हुई नवधा भक्तिमें ही हुआ है। अस्तु,

श्रीशबरीजी इन नव प्रकारकी भक्तियोंकी प्रत्यक्ष मूर्ति थीं। उसीका फल यह हुआ कि जो पद बड़े-बड़े योगियोंको भी दुर्लभ है, वह शबरीजीको अनायास सुलभ हो गया—'जोगिबृंद दुरलभ गति जोई। तो कहुँ आजु सुलभ भइ सोई ॥' और उन्हें वे परम प्रभु स्वयं साक्षात् आकर प्राप्त हो गये, जिनके दर्शनका अनुपम फल यह है कि जीव अपना सहज (स्वाभाविक), मायारहित, ईश्वर-अंश, चेतन, अमल, सुखमय और अविनाशीरूप प्राप्त कर लेता है। यथा—'मम दरसन फल परम अनूपा। जीव पाव निज सहज सरूपा ॥' अनूप फल इसलिये कहा कि इसकी समताका और कोई दूसरा फल है ही नहीं। मोक्षसे भी ऊपर इसका दर्जा है। इस जीवका निजत्व और सहजत्व नित्यधाम और नित्य कैङ्कर्यमें ही है और वह मोक्षका त्याग करनेपर ही प्राप्त होता है। यथा—

सगुन उपासक मोच्छ न लेहीं। तिन्ह कहँ राम भगति निज देहीं॥

दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः ॥

अस्तु, जिस रामभक्ति (नित्य कैङ्कर्य) को प्राप्त करनेपर सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य—ये चारों प्रकारकी मुक्तियाँ अनिच्छितरूपसे प्राप्त रहती हैं—जैसे बिना स्थलके जल रुक नहीं सकता; वही नित्य सेवाका पद मोक्षसुखका आधार है। यथा—

राम भगति सोइ मुकुति गोसाईं। अनइच्छित आवै बरिआईं॥
जिमि थल बिनु जल रहि न सकाई। कोटि भाँति कोउ करै उपाई॥
तथा मोच्छ सुख सुनु खगराई। रहि न सकै हरि भगति बिहाई॥

श्रीशबरीजी ऐसे ही दुर्लभ फल और परम अनुपम पदको प्राप्त हुईं। यथा—

कहि कथा सकल बिलोकि हरिमुख हृदयँ पद पंकज धरे।
तजि जोग पावक देह हरिपद लीन भइ जहँ नहिं फिरे॥

प्रार्थना

मेरे हृदयपते! तुम, उस काल आशु आना,
निज प्रेमरसके प्यासेकी प्यासको बुझाना ॥ ध्रुव ॥

* * *

जब यह पथिक हो भटका, अज्ञान-घाटियोंमें,
करुणानिधे! कृपा कर, मारग इसे बताना ॥ १ ॥

* * *

माया-मरीचिकामें, मृग-मन तड़प रहा हो,
हे नाथ! तब दयाका, शीतल सलिल पिलाना ॥ २ ॥

* * *

जब प्रान पाप-सागरके भौंर बीच डूबे,
ए हो चतुर खिवैया, नैया मेरी बचाना ॥ ३ ॥

* * *

जब जगके सब सनेही, मुझको अकेला छोड़ें,
हे दीनबन्धु! तब तुम, आकर गले लगाना ॥ ४ ॥

* * *

तेरे लिये नयन जब, घन बन बरस रहे हों,
'श्रीहरि' अनोखी, बाँकी, झाँकी दिखाते जाना ॥ ५ ॥

—श्रीहरि

तीर्थोंमें पालन करने योग्य कुछ उपयोगी बातें

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

संसारमें चार पदार्थ हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। तीर्थोंमें (पवित्र स्थानोंमें) यात्रा करते समय अर्थ (धन) तो व्यय होता है। अब रहे धर्म, काम और मोक्ष—सो जो राजसी पुरुष होते हैं वे तो तीर्थोंमें सांसारिक कामनापूर्तिके लिये जाते हैं, और जो सात्त्विक लोग होते हैं वे धर्म और मोक्षके लिये जाते हैं। धर्मका पालन भी वे आत्मोद्धारके लिये ही निष्कामभावसे करते हैं। अतएव कल्याणकामी पुरुषोंको तो अन्तःकरणकी शुद्धिके द्वारा परमात्माकी प्राप्तिके लिये ही तीर्थोंमें जाना चाहिये। तीर्थोंमें जाकर किस प्रकार क्या-क्या करना चाहिये, ये बातें बतलायी जाती हैं।

(१) पैदल यात्रा करते समय मनके द्वारा भगवान्‌के स्वरूपका ध्यान और वाणीके द्वारा नामजप करते हुए चलना चाहिये। यदि बहुत आदमी साथ हों तो सबको मिलकर भगवान्‌का नाम-कीर्तन करते हुए चलना चाहिये। रेलगाड़ी आदि सवारियोंपर यात्रा करते समय भी भगवान्‌को याद रखते हुए ही धार्मिक पुस्तकोंका अध्ययन अथवा भगवान्‌के नामका जप करते रहना चाहिये।

(२) गङ्गा, सिन्धु, सरस्वती, यमुना, गोदावरी, नर्मदा, कावेरी, कृष्णा, सरयू, मानसरोवर, कुरुक्षेत्र, पुष्कर, गङ्गासागर आदि तीर्थोंमें उनके गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्य और महिमाका स्मरण करते हुए आत्मशुद्धि और कल्याणके लिये स्नान करना चाहिये।

(३) तीर्थस्थानोंमें श्रीराम, श्रीकृष्ण, श्रीशिव, श्रीविष्णु आदि भगवद्विग्रहोंका श्रद्धा-प्रेमपूर्वक दर्शन करते हुए उनके गुण, प्रभाव, लीला, तत्त्व, रहस्य और महिमा आदिका स्मरण करके दिव्य स्तोत्रोंके द्वारा आत्मोद्धारके लिये उनकी स्तुति-प्रार्थना करनी चाहिये।

(४) तीर्थोंमें साधु, महात्मा, ज्ञानी, योगी और भक्तोंके दर्शन, सेवा, सत्सङ्ग, नमस्कार, उपदेश, आदेश और वार्तालापके द्वारा विशेष लाभ उठानेके लिये उनकी खोज करनी चाहिये। भगवान्‌ने अर्जुनके प्रति गीतामें कहा है—

> **तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।**
> **उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥**
> (४ । ३४)

'उस ज्ञानको समझ; श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ आचार्यके पास जाकर उनको भलीभाँति दण्डवत्-प्रणाम करनेसे, उनकी सेवा करनेसे और कपट छोड़कर सरलतापूर्वक प्रश्न करनेसे परमात्मतत्त्वको भलीभाँति जाननेवाले वे ज्ञानी महात्मा तुझे उस तत्त्वज्ञानका उपदेश करेंगे।'

(५) कञ्चन-कामिनीके लोलुप, अपने नामरूपको पुजवाकर लोगोंको उच्छिष्ट (जूठन) खिलानेवाले, मान-बड़ाई और प्रतिष्ठाके गुलाम, प्रमादी और विषयासक्त पुरुषोंका भूलकर भी सङ्ग नहीं करना चाहिये, चाहे वे साधु, ब्रह्मचारी और तपस्वीके वेषमें भी क्यों न हों। मांसाहारी, मादक पदार्थोंका सेवन करनेवाले, पापी, दुराचारी और नास्तिक पुरुषोंका तो दर्शन भी नहीं करना चाहिये।

तीर्थोंमें किसी-किसी स्थानपर तो पण्डे-पुजारी और महन्त आदि यात्रियोंको अनेक प्रकारसे तंग किया करते हैं। जैसे—यात्रा सफल करवानेके नामपर दुराग्रहपूर्वक अधिक धन लेनेके लिये अड़ जाना, देवमन्दिरोंमें बिना पैसे लिये दर्शन न करवाना, बिना भेंट लिये स्नान न करने देना, यात्रियोंको धमकाकर और पापका भय दिखलाकर जबरदस्ती रुपये ऐंठना, मन्दिरों और तीर्थोंपर भोग-भण्डारे और अटके आदिके नामपर अधिक भेंट लेनेके लिये अनुचित दबाव डालना, अपने स्थानोंपर ठहराकर अधिक धन प्राप्त करनेका दुराग्रह करना, सफेद चील (गिद्ध) पक्षियोंको देवताका रूप देकर और उनकी जूँठन खिलाकर भोलेभाले यात्रियोंसे धन ठगना तथा देव-

मूर्तियोंद्वारा शर्बत पिये जाने आदि झूठी करामातोंको प्रसिद्ध करके लोगोंको ठगना इत्यादि। यात्रियोंको इन सबसे सावधान रहना चाहिये।

(६) साधु, ब्राह्मण, तपस्वी, ब्रह्मचारी, विद्यार्थी आदि सत्पात्रोंकी तथा दुखी, अनाथ, आतुर, अङ्गहीन, बीमार और साधक पुरुषोंकी अन्न, वस्त्र, औषध और धार्मिक पुस्तकें आदिके द्वारा यथायोग्य सेवा करनी चाहिये।

(७) भोग और ऐश्वर्यको अनित्य समझते हुए विवेक-वैराग्यपूर्वक वशमें किये हुए मन और इन्द्रियोंको शरीर-निर्वाहके अतिरिक्त अपने-अपने विषयोंसे हटानेकी चेष्टा करनी चाहिये।

(८) अपने-अपने वर्णाश्रमके अनुसार सन्ध्या, तर्पण, जप, ध्यान, पूजा-पाठ, स्वाध्याय, हवन, बलिवैश्व आदि नित्य और नैमित्तिक कर्म ठीक समयपर करनेकी विशेष चेष्टा करनी चाहिये। यदि किसी विशेष कारणवश समयका उल्लङ्घन हो जाय तो भी कर्मका उल्लङ्घन नहीं करना चाहिये।

गीता, रामायण आदि शास्त्रोंका अध्ययन, भगवन्नाम-जप, सूर्यभगवान्‌को अर्घ्यदान, इष्टदेवकी पूजा, ध्यान, स्तुति और प्रार्थना आदि तो सभी वर्ण और आश्रमके स्त्री-पुरुषोंको अवश्य ही करने चाहिये।

(९) काम, क्रोध, लोभ आदिके वशमें होकर किसी भी जीवको किसी प्रकार किञ्चिन्मात्र भी दुःख कभी नहीं पहुँचाना चाहिये।

(१०) कीर्तन और स्वाध्यायके अतिरिक्त समयमें मौन रहनेकी चेष्टा करनी चाहिये; क्योंकि मौन रहनेसे जप और ध्यानके साधनमें विशेष मदद मिलती है। यदि विशेष कार्यवश बोलना पड़े तो सत्य, प्रिय और हितकारक वचन बोलने चाहिये। भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें वाणीके तपका लक्षण करते हुए कहा है—

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते॥
(१७। १५)

'जो उद्वेग न करनेवाला, प्रिय और हितकारक एवं यथार्थ भाषण है तथा जो वेद-शास्त्रोंके पठन एवं परमेश्वरके नाम-जपका अभ्यास है—वही वाणीसम्बन्धी तप कहा जाता है।'

(११) निवास-स्थान और बरतनोंके अतिरिक्त किसीकी कोई भी चीज काममें नहीं लानी चाहिये। बिना माँगे देनेपर भी बिना मूल्य स्वीकार नहीं करनी चाहिये। तीर्थोंमें सगे-सम्बन्धी, मित्र आदिकी भेंट-सौगात आदि भी नहीं लेनी चाहिये। बिना अनुमतिके तो किसीकी कोई भी वस्तु काममें लेना चोरीके समान है। बिना मूल्य औषधादि लेना भी दान लेनेके समान ही है।

(१२) मन, वाणी और शरीरसे ब्रह्मचर्यके पालनपर विशेष ध्यान रखना चाहिये। स्त्रीको पर-पुरुषका और पुरुषको परस्त्रीका तो दर्शन, स्पर्श, भाषण और चिन्तन आदि भी कभी नहीं करना चाहिये। यदि विशेष आवश्यकता हो जाय तो स्त्रियाँ परपुरुषोंको पिता या भाईके समान समझती हुई, और पुरुष पर-स्त्रियोंको माता या बहिनके समान समझते हुए नीची दृष्टि करके सङ्क्षेपमें वार्तालाप कर सकते हैं। यदि एक दूसरेकी किसीके ऊपर पापबुद्धि हो जाय तो कम-से-कम एक दिनका उपवास करे।

(१३) ऐश, आराम, स्वाद, शौक और भोग-बुद्धिसे तीर्थोंमें न तो किसी पदार्थका संग्रह करना चाहिये और न सेवन ही करना चाहिये। केवल शरीरनिर्वाहमात्रके लिये वैराग्यबुद्धिसे अन्न-वस्त्रका उपयोग करना चाहिये।

(१४) तीर्थोंमें अपनी कमाईके द्रव्यसे पवित्रता-पूर्वक बनाये हुए अन्न और दूध-फल आदि सात्त्विक पदार्थोंका भोजन करना चाहिये। सबके साथ स्वार्थ और अहङ्कारको त्याग कर दया, विनय और प्रेमपूर्वक सात्त्विक व्यवहार करना चाहिये।

(१५) तीर्थोंमें बीड़ी, सिगरेट, तमाखू, गाँजा, भाँग, चरस, कोकिन आदि मादक वस्तुओंका, लहसुन,

प्याज, बिस्कुट, बर्फ, सोडा, लेमोनेड आदि अपवित्र पदार्थोंका, ताश, चौपड़, शतरंज खेलना और नाटक-सिनेमा देखना आदि प्रमादकर तथा गाली-गलौज, चुगली-निन्दा, हँसी-मजाक, फाल्तू बकवाद, आक्षेप आदि व्यर्थ वार्तालापका कतई त्याग करना चाहिये।

(१६) गङ्गा, यमुना और देवालय आदि तीर्थ-स्थानोंसे बहुत दूरीपर मल-मूत्रका त्याग करना चाहिये। जो मनुष्य गङ्गा-यमुना आदिके तटपर मल-मूत्रका त्याग करता है तथा गङ्गा-यमुना आदिमें दँतुअन और कुल्ले करता है, वह स्नान-पानके पुण्यको न पाकर पापका ही भागी होता है।

(१७) काम-क्रोध, लोभ-मोह, मद-मात्सर्य, राग-द्वेष, दम्भ-कपट, प्रमाद-आलस्य आदि दुर्गुणोंका तीर्थोंमें सर्वथा त्याग करना चाहिये।

(१८) सर्दी-गर्मी, सुख-दुःख और अनुकूल-प्रतिकूल पदार्थोंके प्राप्त होनेपर उनको भगवान्‌का भेजा हुआ पुरस्कार मानकर सदा-सर्वदा प्रसन्नचित्त और सन्तुष्ट रहना चाहिये।

(१९) तीर्थयात्रामें अपने सङ्गवालोंमेंसे किसी साथी तथा आश्रितको भारी विपत्ति आनेपर काम, क्रोध या भयके कारण उसे अकेले कभी नहीं छोड़ना चाहिये। महाराज युधिष्ठिरने तो स्वर्गका तिरस्कार करके परम धर्म समझकर अपने साथी कुत्तेका भी त्याग नहीं किया। जो लोग अपने किसी साथी या आश्रितके बीमार पड़ जानेपर उसे छोड़कर तीर्थ-स्नान और भगवद्विग्रहके दर्शन आदिके लिये चले जाते हैं उनपर भगवान् प्रसन्न न होकर उलटे नाराज होते हैं क्योंकि 'परमात्मा ही सबकी आत्मा है' इस न्यायसे उस आपद्ग्रस्त साथीका तिरस्कार परमात्माका ही तिरस्कार है। इसलिये विपत्तिग्रस्त साथीका त्याग तो भूलकर भी कभी नहीं करना चाहिये।

(२०) जैसे तीर्थोंमें किये हुए स्नान, दान, जप, तप, यज्ञ, व्रत, उपवास, ध्यान, दर्शन, पूजा-पाठ, सेवा-सत्सङ्ग आदि महान् फलदायक होते हैं, वैसे ही वहाँ किये हुए झूठ, कपट, चोरी, व्यभिचार, हिंसा आदि पापकर्म भी वज्रपाप हो जाते हैं। इसलिये तीर्थोंमें किसी प्रकारका किञ्चिन्मात्र भी पाप कभी नहीं करना चाहिये।

शास्त्रोंमें तीर्थोंकी अनेक प्रकारकी महिमा मिलती है। महाभारतमें पुलस्त्य ऋषिने कहा है—

पुष्करे तु कुरुक्षेत्रे गङ्गायां मगधेषु च।
स्नात्वा तारयते जन्तुः सप्त सप्तावरांस्तथा॥
(वनपर्व ८५। ९३)

'पुष्करराज, कुरुक्षेत्र, गङ्गा और मगधदेशीय तीर्थोंमें स्नान करनेवाला मनुष्य अपनी सात-सात पीढ़ियोंका उद्धार कर देता है।'

पुनाति कीर्तिता पापं दृष्ट्वा भद्रं प्रयच्छति।
अवगाढा च पीता च पुनात्यासप्तमं कुलम्॥
(वनपर्व ८५। ९४)

'गङ्गा अपना नाम उच्चारण करनेवालेके पापोंका नाश करती है। दर्शन करनेवालेका कल्याण करती है और स्नान-पान करनेवालेकी सात पीढ़ियोंतकको पवित्र करती है।'

ऐसे-ऐसे वचनोंको लोग अर्थवाद और रोचक मानने लगते हैं, किन्तु इनको रोचक एवं अर्थवाद न मानकर यथार्थ ही समझना चाहिये। इनका फल यदि पूरा देखनेमें न आता हो तो उसका कारण हमारे पूर्वसञ्चित पाप, वर्तमान नास्तिक वातावरण, पण्डे और पुजारियोंके दुर्व्यवहार तथा तीर्थोंमें पाखण्डी, नास्तिक और भयानक कर्म करनेवालोंका निवास आदिसे लोगोंकी तीर्थोंमें श्रद्धा और प्रेमका कम हो जाना ही है।

अतएव कुसङ्गसे बचकर तीर्थोंमें श्रद्धा-प्रेम रखते हुए सावधानीके साथ उपर्युक्त नियमोंका भलीभाँति पालन करके तीर्थोंसे लाभ उठाना चाहिये। यदि इन नियमोंके पालनमें कहीं कुछ कमी भी रह जाय तो इतना हर्ज नहीं परन्तु चलते-फिरते, उठते-बैठते, खाते-पीते, सोते-जागते भगवान्‌के नामका जप तथा गुण-प्रभाव और लीलाके सहित उनके स्वरूपका ध्यान तो सदा-सर्वदा निरन्तर ही करनेकी चेष्टा करनी चाहिये।

जीवन-सौन्दर्यके उत्पादक तत्त्व

(लेखक—श्री० ईश्वरलालजी शर्मा 'रत्नाकर' साहित्यरत्न)

प्रायः प्रत्येक मनुष्यके हृदयमें अपने जीवनको आकर्षक, प्रभावशाली और सौन्दर्यसे युक्त बनानेकी सदाकाङ्क्षा रहती है। मनुष्यहृदयकी रसवृत्तियाँ सौन्दर्यतत्त्वके चरणोंमें सदैव पत्र-पुष्प चढ़ाती रहती हैं। सौन्दर्योपासना मनुष्यका स्वाभाविक गुण है। मानवीय रसैषणाकी तृप्ति सौन्दर्यरसके आस्वादनके बिना असम्भव है। इसी मनोवृत्तिसे प्रेरित होकर मनुष्य अपने जीवनमें सौन्दर्यकी क्रियात्मक प्रतिष्ठा करनेका प्रयत्न करता है। वह अपने जीवनमें ही सौन्दर्यको उत्पन्न करता है, किन्तु मनुष्योंकी वर्तमान जीवन-स्थितिको देखनेसे पता चलता है कि अधिकांश मनुष्य सौन्दर्यके वास्तविक मर्मको नहीं समझते और वे सौन्दर्यके स्थानपर असुन्दर और घृणास्पद बाह्य तत्त्वोंकी उपासना करते रहते हैं। यह प्रत्यक्ष आत्मवञ्चना है।

सौन्दर्य-तत्त्वका विशेषज्ञ विद्वान् R. Toffer कहता है—"God is beauty and ideas of beauty in us are divine attributes there." इसका ध्वनितार्थ यही है कि सौन्दर्य प्रभुका प्रकाश है और मानव-जीवनमें इसकी प्रतिष्ठा करना एक दिव्यतम स्वर्गीय आशीर्वादका सत्कार करना है। हम इस लेखमें इसी जीवन-सौन्दर्यके उत्पादक तत्त्वोंपर विचार करेंगे।

दिव्य व्यक्तित्व

* दिव्य व्यक्तित्व (Divine Personality) जीवन-सौन्दर्यका प्रधान उत्पादक तत्त्व है। जिसका व्यक्तित्व महान् प्रभावशाली और आकर्षक होगा वही सौन्दर्यपूर्ण जीवनस्थितिका रसानुभव कर सकेगा। किसी भी संतपुरुषके जीवनवृत्तका मनोयोगपूर्वक अध्ययन करनेसे यह सत्य स्पष्ट हो जायगा। व्यक्तित्वके सौन्दर्यकी मीमांसा करते हुए प्रो० एम्० बी० ने लिखा है—'दिव्य व्यक्तित्वकी उज्ज्वल रेखाएँ मानव-जीवनमें अनुपम सौन्दर्यकी सृष्टि कर देती हैं। इसके प्रभावसे जीवन अत्यधिक मनोज्ञ और प्रभावशाली बन जाता है। व्यक्तित्व विश्वकी शक्तियोंको अपने सौन्दर्यके प्रभावसे वशंवद बना लेता है और उनपर इच्छानुकूल शासन करता है। मानव-जीवनका जो कुछ सुन्दर और महनीय अंश है वह उसका व्यक्तित्व ही है। जिस जीवनमें व्यक्तित्वकी आभा न झलकती हो उसका सारहीन अस्तित्व तो विश्वके लिये एक अभिशाप मात्र है।'

इसी विषयमें Thomas A' Kempis की सम्मति इस प्रकार है—'दीर्घजीवनकी कामना करना; किन्तु साथ ही जीवनमें माधुर्य, प्रकाश और व्यक्तित्व उत्पन्न करनेकी ओर ध्यान न देना एक मिथ्याभिमान मात्र है।'

इस प्रकार हम देखते हैं कि दिव्य व्यक्तित्व जीवन-सौन्दर्यका मूलाधार है। व्यक्तित्व मानवीय आत्माका विकास है और जीवन-सौन्दर्य भी आत्मस्थ शीलरसका मूर्तरूप। इस तरह ये दोनों एक-दूसरेके सापेक्षिक (Relative) पदार्थ हैं और इनका अविच्छिन्न सम्बन्ध है।

निर्मल विचारधारा

निर्मल विचारधारा भी जीवनमें अद्भुत सौन्दर्यको विकसित कर देती है। इसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध हमारे मनोगत सौन्दर्यतत्त्वसे है। विशुद्ध मानसिक वातावरणमें जो सूक्ष्म सौन्दर्य रहता है, वह अत्यन्त विलक्षण होता है। उसकी महिमा अपार है। सौन्दर्यात्मक विचार-अणुओंका आन्तरिक प्रवाह मानवीय अन्तःकरणकी प्रसुप्त शक्तियोंको जाग्रत् कर देता है। मनोविज्ञानके आचार्य हमें बतलाते हैं कि मानसिक सौन्दर्य स्वतः आविर्भूत होनेवाला तत्त्व है, फिर भी सुदृढ़ मनोबल और इच्छा-शक्ति इसकी अभिव्यक्तिमें समधिक सहायता प्रदान करते हैं। निर्मल विचारधाराका सौन्दर्य-विज्ञान-सम्मत दृष्टिकोणसे विश्लेषण करते हुए निम्नाङ्कित बातें हमारे ध्यानको विशेषरूपसे आकर्षित करती हैं—

(क) विचार ही वास्तविक मनुष्य है। मनुष्य †

---

* सनातन भारतीय विचारधाराके अनुसार जीवनका अमृत-मार्ग यह है—

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥

(यजुर्वेद-संहिता ३१। १८)

† यत्र यत्र मनो देही धारयेत्सकलं धिया।
स्नेहाद् द्वेषाद्भयाद्वापि याति तत्तत्सरूपताम्॥

(श्रीमद्भा० ११। ९। २२)

जैसे विचार करता है वह स्वयं वैसा ही बन जाता है। अतः विचारात्मक सौन्दर्य ही जीवन-सौन्दर्यका स्थायित्वपूर्ण अंश है।

(ख) जबतक प्रज्ञाशक्ति नितान्त विशुद्ध और ग्राहक नहीं हो जाती तबतक विश्वका कोई भी तत्त्व अपना वास्तविक रूप उसके सामने प्रकट नहीं कर पाता।

(ग) जीवन-सौन्दर्यकी कल्पना मिथ्याभ्रम प्रमाणित होगी, यदि हमारा मनस्तत्त्व विकारयुक्त और सदोष हो।

(घ) सौन्दर्य-तत्त्वकी अनुभूति और सृष्टिका कारण हमारी विचारधारा ही है। एक विशेष प्रकारकी विचार-दीप्तिका नाम ही जीवन-सौन्दर्य है।

(ङ) रचनात्मक (Constructive) विचार-सृष्टि जीवन-सौन्दर्य और जीवन-कलाकी जननी है। यह आत्मस्थ सौन्दर्य-तत्त्वको विकसित होनेमें सहायता देती है।

(च) शिवसङ्कल्प* और जीवन-सौन्दर्य कभी विभिन्न नहीं किये जा सकते। A. Vinet कहता है—'At a certain depth the Good and the Beautiful are One.' अर्थात् शिव और सुन्दरका पृथक्करण किसी भी अवस्थामें सम्भव नहीं।

सद्व्यवहार

सद्व्यवहार भी जीवनमें सौन्दर्य-शक्तिको उत्पन्न करनेवाला एक विशेष तत्त्व है। यह एक सामाजिक गुण है। इसका सामाजिक उपयोग अत्यन्त महत्त्वशाली और उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य है। मानव-जीवनका अस्तित्व पारस्परिक सहयोग और स्नेहपर अवलम्बित है। हमारी जीवन-योजना† और व्यवहार सद्भावनायुक्त होना चाहिये। जब हम सद्व्यवहारके क्रियात्मक रूपपर विचार करते हैं तो हमें तीन तत्त्व दिखायी देते हैं—

१. त्यागवृत्ति।

२. नैतिकता (Morality)।

३. उपकारक मनोवृत्ति।

१. त्यागवृत्ति—त्यागवृत्ति हमारे लोकव्यवहारको दिव्य और सुन्दर बना देती है। कई बार मनुष्य ऐसी स्थितिमें पड़ जाता है जहाँ उसके स्वार्थ और अन्य मानवोंके स्वार्थमें पारस्परिक विरोध हो। उस समय जो व्यक्ति अपने स्वार्थका त्याग कर देता है, जनता उसे अत्यन्त आदरकी दृष्टिसे देखती है और उसका गौरवपूर्ण सेवापरायण जीवन आत्मसौन्दर्यसे ज्योतिर्मय बन जाता है। दूसरोंके लिये अपने सुखोंका बलिदान कर देना मानव-जीवनका अत्यधिक प्रकाशपूर्ण अंश है। इससे जीवनमें दिव्य सौन्दर्यकी अद्भुत ज्योति विकीर्ण हो उठती है।

२. नैतिकता (Morality)–नैतिकता हमारे व्यावहारिक जीवनमें सौन्दर्यको उत्पन्न करनेवाला एक क्रियात्मक तत्त्व है। नीतिशास्त्र इस बातका वर्णन नहीं करता कि हमारा जीवन कैसा है; अपितु इस बातकी ओर निर्देश करता है कि हमारे जीवनको कैसा होना चाहिये। इस शास्त्रका यथार्थवाद (Realism) की अपेक्षा आदर्शवाद (Idealism) से विशेष सम्बन्ध है। सुन्दर, भव्य और आदर्श जीवनकी कल्पनाको नीतिशास्त्र हमारे सम्मुख उपस्थित करता है। नीतितत्त्वोंकी ओर ठीक-ठीक ध्यान न देनेसे मनुष्यका वैयक्तिक जीवन तो घृणित और असुन्दर हो ही जाता है, उसका सामाजिक जीवन भी कलहपूर्ण और पाशविक बन जाता है। नैतिकता (Morality) की अवहेलना करना जीवन-शक्ति और जीवन-सौन्दर्यके विरुद्ध विद्रोह करना है। नैतिकताके व्यावहारिक सिद्धान्तोंका वर्णन एक विद्वान्‌के शब्दोंमें यों है—

'सत्य और औचित्यका निरन्तर ध्यान रखना ही नैतिकताकी क्रियात्मक सार्थकता है। इसके साथ ही अपने

---

* यजुर्वेदीय शिवसङ्कल्पसूक्तके यौगिक अर्थपर विचार करनेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि उसमें जीवन-सौन्दर्यकी साधन-प्रक्रियापर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है।

† भारतीय समाज-व्यवस्थाकी विधि-निषेधात्मक पद्धतिमें जिस जीवन-विधानका निर्देश है, उसमें त्यागवृत्ति, नैतिकता और उपकारक मनोवृत्तिके क्रमिक विकासके लिये पर्याप्त अवकाश है। हमारे सामाजिक जीवनका आदर्श ब्राह्मणत्व है, जिसका शास्त्र-सम्मत विश्लेषण यह है—

उत्पत्तिरेव विप्रस्य मूर्तिर्धर्मस्य शाश्वती।
स हि धर्मार्थमुत्पन्नो ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

(मनुस्मृति १। ९८)

प्रत्येक क्रियाकलापमें विवेक-दृष्टिका उपयोग करना भी मनुष्यको नैतिक वातावरणमें ला बिठाता है। वास्तवमें नैतिकता मानव-जीवनका नियामक सिद्धान्त है।'

३. उपकारक मनोवृत्ति—उपकारक मनोवृत्ति भी मानव-जीवनकी सद्व्यवहारात्मक भूमिकाका आवश्यक उपकरण है। उपकार-कलामें निपुण होनेके लिये व्यक्तिको अपने समस्त ज्ञान, विवेक, प्रतिभा और मनोबलसे काम लेना पड़ता है। उपकारक मनोवृत्तिमें जो सौन्दर्य निहित है, वह सूक्ष्मातिसूक्ष्म और कलापूर्ण है। यह सौन्दर्य पूर्ण सात्त्विक, निर्दोष और जीवनपोषक होता है। जब मनुष्य किसी प्राणीकी भलाईका कोई काम करता है तो उसे इतना अधिक आनन्द और सन्तोष होता है कि वह अपने जीवनको धन्य और कृतकृत्य मानने लगता है। उपकारके स्वारस्यका आस्वादन करनेवाला व्यक्ति आत्मिक विभूतियोंसे विभूषित रहता है। उपकारक मनोवृत्ति मानव-जीवनका अलङ्कार है, सुषमा है। कह सकते हैं कि उपकार-वृत्ति आत्माकी कला है; क्योंकि वह आत्माका एक गुण है।

आत्मानुशासन

आत्मानुशासन भी मानव-जीवनको सौन्दर्य-युक्त बनानेवाला एक मौलिक तत्त्व है। जीवनशक्तियोंके समुचित विकासके लिये आत्मानुशासनका अभ्यास एक महत्त्वपूर्ण प्रयोग है। अनियन्त्रित आत्मशक्तियाँ जीवन-सौन्दर्यको नष्ट-भ्रष्ट कर डालती हैं। आत्मानुशासन उनका नियन्त्रण करता है और उन्हें ठीक मार्गपर नियोजित करता है। चिरकालीन दुरभ्यास या स्वार्थवृत्तिसे प्रेरित होकर मनुष्य जो भयङ्कर पाप-कर्मोंमें प्रवृत्त होता और अपनी जीवन-ज्योति तथा आत्मिक माधुर्यको खो बैठता है, आत्मानुशासन उससे मनुष्यकी रक्षा करता है। गीता और उपनिषदोंने आत्मानुशासनकी बड़ी महिमा गायी है। जो व्यक्ति आत्मानुशासनके रहस्यको समझ लेता है, कहना चाहिये कि उसने अपने जीवनमें बड़ी भारी सफलता प्राप्त कर ली; क्योंकि आत्मानुशासन ही मानव-उन्नतिका मूल तत्त्व है। यह हमें विश्वकी शक्तियोंके घात-प्रतिघात सहनेके योग्य बनाता है, हमारे मनोबलको विकसित करता है और हमारी जीवनशक्तिका दुरुपयोग नहीं होने देता। यह हमारे जीवनमें एक नियन्त्रण, एक योजना और एक सौन्दर्यदीप्तिको जाग्रत् कर देता है। आत्मानुशासनका आत्मसंयमसे प्रत्यक्ष सम्बन्ध है, या यों कहिये कि आत्मसंयम आत्मानुशासनका ही एक अङ्ग है। आत्मसंयमके सम्बन्धमें प्रो० एम्० बी० लिखते हैं—'आत्मसंयम समस्त मानवीय शक्तियोंके विकासका मुख्य साधन है। आत्मसंयमके अभावमें मनुष्य छोटी-से-छोटी बातमें भी सफलता नहीं प्राप्त कर सकता। संसारकी प्रत्येक सफलता और प्रत्येक गौरवपूर्ण कार्य परोक्ष रीतिसे आत्मसंयमके महत्त्वकी ओर ही निर्देश कर रहे हैं, क्योंकि साधककी संयमपूर्ण साधनाके योगसे ही वे प्रकाशमें आ सके हैं। विश्वप्रकृतिका प्रत्येक उत्क्रान्तिमूलक तत्त्व हमें आत्मसंयमका पाठ पढ़ा रहा है।'

आत्म-संयमके मूल तत्त्व ये हैं—

१. इच्छाशक्तिका नियन्त्रण।

२. क्रियाशीलताका नियन्त्रण।

३. भावशीलताका नियन्त्रण।

इस नियन्त्रणका अनिवार्य परिणाम आत्मोत्कर्ष, हृदय-तत्त्वका विकास और जीवन-सौन्दर्यकी उत्पत्ति है।

सत्यपूर्ण आन्तरिक वातावरण

यह जीवन-सौन्दर्यको उत्पन्न करनेवाला अन्तिम किन्तु सर्वाधिक शक्तिसम्पन्न तत्त्व है। जबतक मनुष्यका आन्तरिक वातावरण सत्यकी मधुर रश्मियोंसे प्रकाशमान न हो, तबतक जीवनको सौन्दर्य-कलासे विभूषित करनेका सारा प्रयत्न मिथ्याप्रमाद और चरित्रहीनताका प्रदर्शन-मात्र है। सत्यपूर्ण आन्तरिक वातावरणके अभावमें कोई भी जीवन-सौन्दर्यको उत्पन्न करनेवाला तत्त्व नहीं टिक सकता। उपनिषद् कहते हैं—'सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा' (मुण्डकोपनिषद् ३। १। ५) अर्थात् आत्म-सौन्दर्यका प्रकाश सत्य और तपस्याके द्वारा ही उत्पन्न किया जा सकता है, दूसरी कोई भी विधि नहीं है।

पाठक! ये ही तत्त्व हैं जो जीवनको प्रभावशाली, सौन्दर्ययुक्त और कलामय बना सकते हैं। इनकी सदैव साधना-आराधना करते रहना हमारा जीवन-धर्म है।

कामके पत्र

(१)

साधकोंसे

....अपने दोषोंका दीखने लगना साधनस्तरमें चढ़नेकी इच्छाका लक्षण है, दोषोंका दीखते रहना दोष-नाशकी प्रवृत्तिका कारण है, दोषोंके लिये जीमें जलन पैदा हो जाना दोष-नाशका आरम्भ हो जाना है, जरा-से भी दोषका हृदयमें सदा शेल-सा चुभना दोषोंसे बहुत-कुछ मुक्त हो जानेका लक्षण है, और दूसरेके दोषोंका सर्वथा न दीखना एवं अपने दोषनाशकी भी स्मृति न रहना दोषोंका नाश है। दोषोंका सर्वथा नाश और भगवान्‌का सर्वदा सर्वत्र दर्शन प्रायः एक ही कालमें होनेवाली स्थिति है। आपलोगोंको अपने दोष दीखते रहते हैं और खटकते भी हैं, यह शुभ लक्षण है। परन्तु इतनेसे ही सन्तुष्ट न हो जाइये। जबतक जरा-सा भी विकार मनमें होता है तबतक दोषके बीजका नाश नहीं हुआ है। जहाँ बीज है, वहाँ अनुकूल संयोग मिलनेपर उसके अंकुरित होने और फूलने-फलनेमें कौन देर लगती है। दोषका बीजनाश करनेकी चेष्टा कीजिये। यह दोषबीजनाश भगवान्‌की अहैतुकी कृपासे होता है और उनकी अपार और अनन्त कृपाका अनुभव करनेसे ही कृपा फलवती होती है। अतएव पद-पदपर और पल-पलमें भगवान्‌की अपार कृपाका अनुभव करते रहना चाहिये। उनके सर्वदोषहर वरद कोमल करकमलको सदा अपने सिरपर समझना चाहिये, और उनके अपरिमित बलसे अपनेको सदा बलवान् मानकर पाप-तापकी स्फुरणातकको नष्ट कर देना चाहिये। उनके बलके सामने पाप-तापका बल किस गिनतीमें है। भगवान्‌के नाममें पूरा आनन्द नहीं आता, इसका कारण यही है कि भगवान्‌में अभी-तक प्रियतम-बुद्धि नहीं है। जिसमें प्रियतम-बुद्धि हो जाती है, उसके नामकी तो बात ही निराली है, उसकी फटी जूतीका चिंथड़ातक अत्यन्त प्यारा लगता है। भगवान्‌में प्रियतम-बुद्धि हो जानेपर उनके सारे जगत्‌में—भयानक जगत्‌में भी उन्हींके नाते अत्यन्त प्रेम हो जायगा, और सभी वस्तुएँ आनन्द-दायिनी बन जायँगी; क्योंकि सबमें फिर उन्हीं परम प्रियतमका सम्बन्ध दीख पड़ेगा, सभी उनके करकमलों-से संस्पृष्ट जान पड़ेंगी। फिर नाम परम मधुर हो जायगा। नाम सुनानेवाला परम प्रिय और परम पूज्य जान पड़ेगा। उनकी स्मृति करा देनेवालेके चरणोंमें चित्त लुट पड़ेगा।

बड़े भाग्यसे गङ्गाका विमल तट, तीर्थराजकी पावन भूमि, दिन-रात श्रीभगवन्नामके श्रवण-कीर्तनका संयोग प्राप्त होता है। यह श्रीभगवान्‌की कृपाका प्रत्यक्ष प्रमाण है। इससे पूरा लाभ उठाइये। तन-मन-वाणीको, प्रत्येक इन्द्रियको भगवान्‌की ओर लगा दीजिये। ऐसा तन्मय हो जाना चाहिये कि आपलोगोंको देखकर दूसरोंमें भी उत्साह उमड़ आवे।

मान-बड़ाईकी चाहका चित्तमें न रहना ही आश्चर्य है, रहनेमें कुछ भी अचरज नहीं। हाँ, चोरीसे चित्तमें छिपी हुई इस चाहको जितनी ही सावधानीसे बार-बार बाहर निकाला जाय, उतना ही उत्तम है। और भगवान्‌की कृपासे ही ऐसा हो सकता है। यह भी भगवान्‌की कृपा ही समझिये कि आपलोगोंको मान-बड़ाईकी चिन्ताका पता लग गया है। इसे भगवान्‌के बलसे प्राप्त दैन्य, विनय, शील, सौजन्य, अपने दोषोंको

देखनेकी सतत प्रवृत्ति और अपरिमित आत्मबल आदि हथियारोंसे तुरंत मार हटाना चाहिये ।

सब साधकोंको अपनेसे बड़े समझकर सबका सम्मान करना चाहिये । स्वयं सच्चे मनसे अमानी बनकर सबको मान देना चाहिये । मन, नेत्र और क्रियामें कहीं काम-क्रोधका अंकुर भी न आ जाय, इसके लिये बड़ी सावधानीसे सर्वदा सचेत रहना चाहिये । आलस्य और प्रमाद भी न हो । ऐसा निश्चय होना चाहिये कि इस अवधिमें ही भगवान् हमारे चिरकालके मनोरथको पूर्ण कर देंगे । सच्चा विश्वास होनेपर भगवत्कृपासे ऐसा होना कुछ भी बड़ी बात नहीं है । भगवान्‌ने कहा है कि 'महान् दुराचारी भी अपने शेष जीवनको मुझमें लगानेका निश्चय करके अनन्य चित्तसे मेरा चिन्तन करता है तो वह साधु ही है, और बहुत ही शीघ्र—पलक मारते-मारते वह धर्मात्मा होकर शाश्वती शान्तिको प्राप्त हो जाता है ।'

भगवान्‌के आश्वासन-वचनोंपर विश्वास करके हमें उनके अनन्य चिन्तनमें दृढ़ निश्चयपूर्वक लग जाना चाहिये । और वहाँ आपको करना ही क्या है ?

(२)

साधकोंसे

........सादर सप्रेम हरिस्मरण यथायोग्य । आप लोगोंके कई पत्र मिले । मेरे बुरे स्वभावसे आपलोग परिचित ही हैं, अतएव पत्रोंका जवाब समयपर न लिखनेके लिये आपलोग मुझे क्षमा करेंगे । श्रीभगवान्‌की कृपासे आपलोगोंको बहुत अच्छा अवसर प्राप्त हुआ है, नवधा भक्तिके कई अङ्गोंकी पूर्ति अपने आप हो रही है, अब आपलोग अपने भावोंको उच्च बनाकर इस सुअवसरसे पूरा लाभ उठानेकी चेष्टा कीजिये । 'भाव', 'गुण' और 'साधन'—तीनों साथ-साथ चलनेसे शीघ्र और सम्यक् लाभ होता है । एक आदमी भजन-साधन करता है, परन्तु दुर्गुणोंका त्याग नहीं करता और बहुत नीची भावनासे किसी असदुद्देश्यकी पूर्तिके लिये भजन करता है, तो उसका भजन बहुत देरमें शुभ फलदायक होता है । दूसरा एक आदमी सत्य-अहिंसादि सद्गुणोंका तो अर्जन करना चाहता है, परन्तु भगवान्‌का भजन नहीं करता और भाव भी नीची ही श्रेणीका रखता है, उसमें सद्गुण टिकते नहीं; और तीसरे एक आदमीका भाव तो बहुत ऊँचा है, वह मोक्षतकका त्याग करनेकी इच्छा करता है; परन्तु न भजन करता है और न दुर्गुणोंका ही त्याग करता है तो उसकी भावना कार्यरूपमें शायद ही परिणत होती है । जो 'भजन' भी करता है, जिसका 'भाव' भी बहुत ऊँचा है और जो भगवान्‌को प्रिय लगनेवाले 'सद्गुणों'का भी अर्जन करता है, वही सच्चा साधक है और उसको सफलता भी मिलती ही है । भजन प्रेमभावसे हो, जिसमें किसी भी वस्तुकी चाह न रहे—भजनके लिये ही भजन हो । और दैवी गुणोंका खूब अर्जन किया जाय । यह स्मरण रखना चाहिये, जहाँ वास्तविक भक्ति है, वहाँ दैवी गुण रहेंगे ही । और जहाँ दैवी गुण टिके हुए हैं और बढ़ रहे हैं, वहाँ भगवान्‌का आश्रय है ही । सूर्य और सूर्यके प्रकाशकी भाँति इनका अविनाभावसम्बन्ध है ।

............आज्ञानुसार सब काम करने चाहिये । भगवान्‌की अपने ऊपर बड़ी कृपा समझनी चाहिये । जबतक भगवान्‌की कृपाके विश्वासमें कमी है, तभीतक दुःख, भय, शोक, विषाद, चिन्ता, निराशा, उद्वेग, द्वेष आदि दोष और दुःख रहते हैं । भगवत्कृपाकी छत्र-छायामें इनकी छाया भी नहीं रह सकती । बार-बार चिन्तन करनेसे विचार पुष्ट होकर अन्तमें प्रत्यक्ष मूर्तिमान् हो जाता है । हमपर भगवान्‌की नित्य कृपा है, हम निर्भय हैं, निश्चिन्त हैं, परम सुखमय हैं, शान्तिमय हैं, ऐसा दृढ़ विचार करनेपर हम ऐसे ही बन जायँगे । वास्तवमें आत्मा या भगवान्‌की दृष्टिसे ऐसे ही हैं भी । भ्रमसे स्वरूपकी विस्मृति हो रही है ।

इस विस्मृतिको हटाकर भगवान्की मंगलमयी गोदमें बैठ जाना चाहिये ।............

(३)

भगवद्दर्शनके साधन

....मैंने 'कल्याण' में यह लिखा भी था और मेरा दृढ़ विश्वास भी है कि आजकल भी श्रीभगवान्के दर्शन अवश्य होते हैं । कालका तो प्रश्न ही नहीं उठ सकता, जब कि भगवान् सर्वकालमें हैं । रही दर्शनकी बात सो अबसे कुछ ही समय पूर्वके ऐसे अनेकों महात्माओंके चरित्र मिलते हैं जिनको श्रीभगवान्के दिव्यदर्शन हुए हैं । श्रीतुलसीदासजी आदिके चरित्र प्रसिद्ध हैं । जब भगवान् सर्वकालमें हैं और कुछ ही समय पूर्व भक्तोंको उनके दर्शन हुए थे तब आज क्यों नहीं हो सकते ? अतएव यह दृढ़ विश्वास करना चाहिये कि दर्शन होते हैं । यह विश्वास ही सबसे पहला साधन है; जिनको दर्शनमें विश्वास ही न होगा, वे इच्छा और साधना ही क्यों करेंगे ?

× × ×

भगवान्के दर्शनमें कोई साधन वास्तवमें कारण है ही नहीं । ऐसी कोई वस्तु ही नहीं है, जिसके बदलेमें भगवान्के दर्शन मिल सकें । भक्तलोग 'कैवल्य-मोक्ष' के मूल्यपर भी दर्शनको—यथार्थ दर्शनको—अधिक-से-अधिक सस्ता ही समझते हैं । यानी मोक्षका त्याग करनेपर भी दर्शन मिल जायँ तो सस्ते ही मिले । यथार्थ दर्शनसे मेरा मतलब भगवान्के दिव्यतम सच्चिदानन्दमयविग्रहसे है, जो ब्रह्मकी भी प्रतिष्ठा है । मायिक विग्रहके दर्शन होना सहज है परन्तु सच्चिदानन्दविग्रहके अत्यन्त कठिन हैं । जिस समय भगवान् सच्चिदानन्द-विग्रहरूपमें प्रकट होते हैं उस समय भी उन्हींको यथार्थ दर्शन होते हैं, जिनके सामनेसे वे अपनी योगमायाको हटा लेते हैं । इस दर्शनमें जो आनन्द है, उस आनन्दके सामने ब्रह्मानन्द भी तुच्छ हो जाता है । इसीसे ज्ञानियोंके शिरोमणि जनक श्रीरामकी माधुरीको देखकर प्रेमाश्रु-नयनोंसे पूछने लगे कि ये कौन हैं, क्योंकि इन्हें देखते ही विदेहराज जनककी दशा कुछ और ही हो गयी—

> इन्हहि बिलोकत अति अनुरागा ।
> बरबस ब्रह्मसुखहि मन त्यागा ॥
> सहज बिरागरूप मनु मोरा ।
> थकित होत जिमि चंद चकोरा ॥

इसीलिये श्रीकृष्णके सौन्दर्यका वर्णन करते हुए कविने यथार्थ ही कहा है कि 'जो लौं तोहि नंदको कुमार नाहिं दृष्टि परयो तो लौं तू बैठि भले ब्रह्मको बिचारि ले ।'

इतने दुर्लभ होनेपर भी भगवान्की कृपासे ये दर्शन सहज ही हो सकते हैं, और भाग्यवानोंको हुए हैं, इसमें भी कोई सन्देह नहीं ।

आपने सुगम रास्ता पूछा सो पहली बात तो यह है कि भगवान्की कृपापर दृढ़ विश्वास किया जाय और उनकी कृपाके बलपर मनमें यह निश्चय किया जाय कि दर्शन अवश्य होंगे ।

२—दर्शनके लिये गोपीजनोंकी भाँति परम कातर हो जाना और तन, मन, धन सबको तुच्छ समझकर केवल दर्शनके लिये ही उत्कण्ठित रहना ।

३—प्रह्लादकी भाँति भगवान्के लिये बड़े-से-बड़ा कष्ट सहन करनेको तैयार रहना और आनन्दसे सहना ।

४—भरतजीकी भाँति ध्यानसहित जप करते हुए निरन्तर प्रतीक्षामें आकुल रहना ।

५—शबरीकी भाँति पल-पलमें आतुर होकर राह देखना और भूख-प्यास भूल जाना ।

६—सुतीक्ष्णजीकी भाँति प्रेममें मत्त हो जाना ।

७—मीराकी भाँति चरणामृतके नामपर विषपानके लिये भी तैयार रहना ।

८—श्रीचैतन्यमहाप्रभुकी भाँति विरहकातर होकर दिन-रात फुफकार मार-मारकर रोना ।

९—बिल्वमंगलकी भाँति भगवान्को हृदयमें बाँध रखना ।

१०—अर्जुनकी भाँति अपने जीवनको उनके अर्पण कर देना ।

इसी प्रकार और भी अनेकों भाव हैं और ये सभी अधिकारीभेदसे दुर्लभ या सुलभ हैं। तथापि यों तो ये सभी कठिन हैं। सुगम बात एक यह है कि 'भगवान्‌को अपना परम प्रेमी प्रियतम मानना और उनसे मिलनेके लिये हृदयमें नित्य-नवीन परन्तु एक ही लालसाका सदा जाग्रत् रहना।'—जिस क्षण यह लालसा हमारे मनमें किसी भी दूसरे उपायसे शान्त न होनेवाली बेचैनी उत्पन्न कर देगी, उसी क्षण भगवान्‌के दर्शन हो जायँगे। इसमें सबसे बड़ी कठिनता भगवान्‌को सबकी अपेक्षा बढ़कर—प्रियतमोंमें भी परम प्रियतम मान लेना है। यह मान्यता—यह सम्बन्ध जब स्थिर हो जायगा, तब लालसा उत्पन्न होते देर नहीं लगेगी। और यह प्रेमपूर्ण लालसा एक बार उत्पन्न होनेपर फिर प्रतिक्षण बढ़ती ही रहती है। यह कभी कम तो होती ही नहीं। क्योंकि पल-पलमें बढ़ना ही प्रेमका स्वरूप है। अतएव मेरी समझमें तो यही बात सबसे उत्तम और सुगम मालूम होती है कि आप सबसे पहले श्रीभगवान्‌को अपना परमप्रियतम बनानेकी प्रबल चेष्टा कीजिये। भगवान्‌के अनन्त अपार गुणातीत गुण, उनके दिव्य माधुर्य, प्रेम, सौन्दर्य, ऐश्वर्य, ज्ञान, बल, श्री आदिका मनन—बार-बार उनका ध्यान, उनके पवित्र नामका सतत जप करनेसे अन्तःकरणकी शुद्धि होती है और उनमें 'प्रियतम' भाव बढ़ता है। ज्यों-ज्यों प्रियतम भाव बढ़ता है, त्यों-ही-त्यों उनके स्मरण और ध्यानमें अधिक-अधिक आनन्द आता है, और त्यों-ही-त्यों स्मरण और ध्यान जीवनका स्वभाव-सा बनता जाता है। फिर उनकी अस्पष्ट झाँकी होने लगती है। परीक्षाएँ भी कभी-कभी हुआ करती हैं। उपदेवताओंके उपद्रव भी होते हैं परन्तु भगवान्‌की कृपाका भरोसा रखनेसे सारे उपद्रव शान्त हो जाते हैं, और अन्तमें 'परम प्रियतम'—इस दुर्लभ भावकी प्राप्ति होती है। बस, इस परम प्रियतम भावकी प्राप्तिके साथ ही परम प्रियतम भगवान्‌के मङ्गलद्वार खुल जाते हैं। फिर लालसा उत्पन्न होती है, और वह देखते-ही-देखते आगकी तरह क्षणमें ही विस्तार पाकर सारे हृदयको आक्रान्त कर डालती है, इसी शुभ वेलामें योगमायाका पर्दा हटता है; भक्तके सामने भगवान्‌का दिव्यविग्रह अनन्त चन्द्रमाओंकी सुधाभरी ज्योत्स्नाको, अनन्त सूर्योंके प्रकाशको, अनन्त कामदेवोंके सौन्दर्यको, अनन्त दिव्य देवोंके दिव्यत्वको, अपनी दिव्य ज्योत्स्ना, दिव्य सुशीतल तेज, दिव्य सौन्दर्य और दिव्यतम दिव्यत्वसे दलन करते हुए प्रकट होता है। दिव्यके संसर्गमें आते ही भक्तका देह, उसका प्रत्येक अङ्ग उतने कालके लिये दिव्य हो जाता है, और वह फिर दिव्य नेत्रोंसे दिव्य आँसू बहाता हुआ मन्त्रमुग्धकी भाँति अपने परम प्रियतम दिव्यातिदिव्य परम दिव्यतम सौन्दर्यको निरख-निरखकर सदाके लिये अनन्त आनन्दके अमृतसागरमें डूब जाता है। उसकी उस समयकी स्थितिको वही जानता है परन्तु वह भी कह नहीं सकता, क्योंकि उस समयका—वहाँका सभी कुछ मन, बुद्धि, वाणीसे परेका दृश्य होता है।

बस, संक्षेपमें यही आपके पत्रका उत्तर है। आपने मुझको संतके नामसे सम्बोधन करके भूल की है। मैं तो संतोंकी चरणधूलका भिखारीमात्र हूँ। बहुत देरसे पत्रका उत्तर दिये जानेके कारण पुनः क्षमा चाहता हूँ। सम्भव है इसमें भी लीलामयकी कोई लीला हो।

(४)

............राग-द्वेषकी बात लिखी सो ठीक ही है। राग-द्वेष सभी जगह मिलेगा। यह तो श्रीभगवान्‌ने कहा ही है—

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ॥

'प्रत्येक इन्द्रियके प्रति अर्थमें राग-द्वेष है, हमें उनको अपना शत्रु समझकर उनके वश नहीं होना

चाहिये ।' वास्तवमें राग-द्वेषादिका मूल कारण अपनी ही भूल है । हमारे मनसे राग-द्वेष निकल जायगा तो जगत्‌में हमें कहीं राग-द्वेषके दर्शन नहीं होंगे । ब्रह्मविद् सर्वत्र ब्रह्म ही देखता है । राग-द्वेष मायाका कार्य है । मायाकी ग्रन्थिसे छूटा हुआ पुरुष राग-द्वेषका दर्शन वस्तुतः नहीं पाता । वैसी स्थिति न होनेतक यथासाध्य राग-द्वेषका प्रभाव अपने चित्तपर नहीं पड़ने देना चाहिये ।

तेरे भावें जो करौ भलो बुरो संसार ।
नारायण तू बैठकर अपनो भवन बुहार ॥

आपने लिखा कि मेरे लायक कोई शिक्षा लिखियेगा, सो ऐसा आपको नहीं लिखना चाहिये । मुझमें न तो शिक्षा देनेकी कोई योग्यता है और न अधिकार ही है । आपकी मुझपर सदासे कृपा रही है, उसी कृपाके भरोसे प्रार्थना या सलाहरूपमें आपको कुछ लिखनेकी धृष्टता—आपके पूछनेपर—कर बैठता हूँ । सो इसी आशापर कि आप मुझपर हर हालतमें प्रसन्न ही होंगे। अब आपके प्रश्नोंपर कुछ निवेदन करता हूँ ।

ज्ञान और प्रेम

(१) अपनेको और भगवान्‌को यथार्थरूपसे जाननेके बाद ही यथार्थ प्रेम होता है, परन्तु यथार्थरूपसे जानना भी प्रेमके बिना सम्भव नहीं । इस ज्ञान और प्रेममें परस्पर साध्य-साधन-सम्बन्ध है । पहले कुछ ज्ञान होनेपर प्रेम होता है, प्रेम होनेपर यथार्थ ज्ञान होता है और यथार्थ ज्ञानके अनन्तरका जो परम प्रेम है वही सर्वोच्च प्रेम है । उसी प्रेमको भक्तोंने 'रसाद्वैत' कहा है । यहाँ प्रेमी और प्रेमास्पदकी एकता हो जाती है । परस्पर दोनों एक दूसरेमें घुलमिल जाते हैं । दो मिलकर एक हो जाते हैं । इसीको 'परमशान्ति' कह सकते हैं । परन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिये कि भगवान्‌के गुणविशेषके प्रति आकृष्ट होकर प्रेम करना शान्तिका हेतु नहीं होता । निर्गुणके साधककी भी आरम्भमें गुण देखकर ही अर्थात् निर्गुणकी साधनासे ब्रह्मस्वरूपकी प्राप्ति होगी ऐसा समझकर साधनामें प्रवृत्ति होती है । यथार्थ ज्ञान अपने आप नहीं हो जाता ।

अभेदभक्ति किसके द्वारा होती है ?

(२) आपका दूसरा प्रश्न है—'भगवान्‌के साथ अभेदभक्ति ज्ञानवान्‌से हो सकती है या नहीं । यदि हो सकती है तो उससे उसको विशेष क्या लाभ होता है ?' इसका उत्तर यह है कि अभेदभक्ति ज्ञानवान्‌से ही हो सकती है, अज्ञानीसे नहीं । पहले यहाँ यह समझ लेना चाहिये कि इस अवस्थामें 'भगवान्' और 'भक्ति' शब्दका अर्थ क्या है । ज्ञानवान् वही होता है जो मायाके बन्धनसे मुक्त हो चुका, जिसकी अज्ञानकी समस्त ग्रन्थियाँ सदाके लिये टूट गयीं, जो माया-स्वप्नसे सर्वथा जग गया । परन्तु यह भी नहीं कि उसे पहलेके अज्ञानकी स्मृति हो और अब ज्ञानवान् होनेका भान हो । वास्तवमें 'ज्ञानवान्' शब्द अज्ञानियोंके लिये ही सार्थक होता है । ज्ञानवान् मुक्त पुरुषके लिये ज्ञान और अज्ञान दोनों ही शब्द निरर्थक हो जाते हैं वह स्वयं ज्ञानस्वरूप है, ज्ञानका भोक्ता नहीं, इसीसे उसकी स्थिति अनिर्वचनीय होती है । वह सर्वत्र सबमें एकमात्र सम ब्रह्मको देखता है—'ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति, समः सर्वेषु भूतेषु'—इस प्रकार ब्रह्मभूत होनेपर ही भगवान् कहते हैं कि उसे मेरी 'पराभक्ति' प्राप्त होती है । 'मद्भक्तिं लभते पराम्' । यह पराभक्ति ही अभेदभक्ति है, जो ब्रह्मभूत हुए बिना नहीं मिलती । इस पराभक्तिसे ही भगवान्‌का—समग्र भगवान्‌का यथार्थ ज्ञान होता है । 'भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ।' और यह तत्त्वज्ञान ही भगवान्‌के साथ—समग्ररूप भगवान्‌के साथ सर्वतोभावसे एकत्व कराता है । यहाँपर यही 'भगवान्' और 'भक्ति' शब्दका अर्थ है । इस भक्तिके बिना पूर्णरूपसे वास्तविक एकत्व नहीं होता । इसके अनन्तर ही होता है—इसीलिये भगवान् कहते हैं—'विशते तदनन्तरम्' यही विशेष लाभ है जो अवश्य प्राप्त करना चाहिये । अतएव अभेदभक्ति अवश्य प्राप्त

करनी चाहिये। इस अभेदभक्तिको ही 'पराज्ञाननिष्ठा' कहते हैं। इसीको भक्त प्रेमाभक्ति या पराभक्ति कहते हैं। अवश्य ही बाह्यरूपमें देखनेपर दोनोंमें कुछ भेद प्रतीत होता है। परन्तु वस्तुतः है एक ही-सी स्थिति। यही असली ज्ञान है और इस ज्ञानको प्राप्त पुरुष ही यथार्थ 'तत्त्वज्ञ' या 'ज्ञानवान्' है।

ज्ञानवान्के सङ्कल्प-विकल्प

(३) आपका तीसरा प्रश्न है—'स्वरूपका यथार्थ ज्ञान हो जानेके पश्चात् ज्ञानवान्की वृत्ति क्या काम करती है ? ज्ञानवान्को सङ्कल्प-विकल्प रोकनेकी आवश्यकता है या नहीं ? यदि है तो क्यों है ? यदि नहीं है तो संकल्पसे और तज्जन्य न्याय्य या विपरीतादि कर्मसे उसका मोक्षमें प्रतिबन्धक है या नहीं ?'

इस प्रश्नके उत्तरमें सबसे पहला मेरा यह निवेदन है कि पहले ज्ञानवान्के स्वरूपको समझना चाहिये। यदि 'ज्ञानवान्' शब्दसे हम केवल 'शास्त्रज्ञानी' या 'परोक्षज्ञानी' लेते हैं, तब तो यह स्पष्ट ही है कि उसकी अविद्या-ग्रन्थि अभी खुली नहीं है। वह अहंकारवृत्तिके द्वारा सञ्चालित होता है, ऐसी अवस्थामें आत्माके विरुद्ध विजातीय सङ्कल्प-विकल्पोंको रोकनेका साधन करनेकी उसे नितान्त आवश्यकता है। यदि वह नहीं रोकेगा तो उसकी चित्तवृत्तियाँ सतत विषयाभिमुखी होकर उसके शास्त्रज्ञानकी कुछ भी परवा न करके उसे मोहके गहरे गर्तमें डाल देंगी। विषयासक्तिके प्रवाहमें उसको बहा देंगी। और यदि ज्ञानवान्का अर्थ यथार्थ ज्ञानी अथवा 'मुक्त पुरुष' है, तब वह वृत्तियोंका धर्मी या कर्ता रहता ही नहीं। वस्तुतः वह स्वयं उस अनिर्वचनीय अवस्थाको प्राप्त हो गया है जो चित्त तो क्या बुद्धिसे भी अति परे है। जहाँ चित्त ही नहीं वहाँ चित्तवृत्ति कहाँसे आती। और चित्तवृत्तिके अभावमें चित्तवृत्तियोंके कार्यका प्रश्न ही नहीं उठता। यह तो स्थिति है। अब यदि प्रारब्धवश जीवित रहे हुए शरीरमें स्थित चित्तवृत्तियोंकी बात कहें तो वहाँ यह कहना और मानना पड़ता है कि पहले अन्तःकरणके शुद्ध और निष्काम हुए बिना ज्ञान प्राप्त नहीं होता और ज्ञानकी प्राप्तिके अनन्तर शरीरमें स्थित उस निष्काम और शुद्ध अन्तःकरणमें ऐसा कोई सङ्कल्प-विकल्प या तज्जन्य विपरीत कर्म होता ही नहीं जो दूषित हो या विपरीत हो। और स्वाभाविक ही होनेवाले न्याय्य कर्मका भी कोई धर्मी या कर्ता न होनेसे फल उत्पन्न नहीं होता। प्रतिबन्धककी तो बात ही नहीं उठती क्योंकि बाधा तो पथमें होती है। घर पहुँच जानेपर मार्गकी बाधाका कोई प्रश्न ही नहीं रह जाता। अतएव मेरा तो यही निवेदन है कि ज्ञानवान् वृत्तिसे ऊपर उठा हुआ है अतएव उसके लिये कोई प्रतिबन्धक नहीं है। ज्ञानवान् और मोक्षको प्राप्त एकार्थवाची ही हैं फिर प्रतिबन्धक कैसा ?

इस प्रकार आपके तीनों प्रश्नोंके उत्तरमें मैंने जो कुछ मनमें आया, लिख दिया है। मैं यह दावा नहीं करता कि मेरा मत सर्वथा अभ्रान्त है। न यह कहता हूँ कि यह मत मेरा है। सब शास्त्रोंकी बातें ही समझनी चाहिये। आग्रह छोड़कर इनका मनन करना चाहिये। एक ज्ञानवान् शब्दका अर्थ जान लेनेपर सब झगड़ा मिट जाता है। मैं ऐसी किसी स्थितिको नहीं मानता, जिसके लिये यह कहा जाय कि पूर्ण यथार्थ ज्ञान भी हो गया और मोक्ष बाकी भी रह गया ? और ऐसी स्थिति न माननेपर आपका तीसरा प्रश्न उठता ही नहीं। भूल-चूकके लिये क्षमा कीजियेगा। मैंने जो कुछ लिखा है, इसे प्रार्थनाके रूपमें समझियेगा, उपदेशके रूपमें नहीं। आपकी कृपा सदा रहती ही है। मेरे योग्य सेवा लिखते रहें।

(५)

……के बाद आपके कृपापत्रका उत्तर लिख रहा हूँ। आप स्वयं शास्त्रविद् और परम साधनसम्पन्न पुरुष हैं, मुझसे कुछ पूछकर तो केवल बड़ाई देते हैं। आपने अपनी लघुता और मेरी महत्ता बतलानेवाले शब्द पत्रमें लिखे हैं इससे आपकी आदर्श साधुता देखकर तो चित्तमें प्रसन्नता होती है और आपके चरणोंमें मस्तक

झुक जाता है; परन्तु अपने लिये बहुत सङ्कोच मालूम होता है। शायद अपनी प्रशंसा सुननेमें अभी चित्तको पूरा सङ्कोच नहीं होता और छिपी हुई चाहके कारण कुछ आनन्द आता है, इसीसे तो अपनी तारीफके शब्द पढ़े-सुने जाते हैं। समतामें स्थित वीतराग महा-पुरुषोंकी बात अलग है; हम-जैसे लोगोंका हित तो प्रशंसाको गाली और निन्दाको प्रशंसाके समान समझनेमें ही है। आपके प्रश्नोंका उत्तर समाधान करनेकी योग्यता समझकर नहीं, आपके आज्ञा-पालनके लिये संक्षेपमें लिखता हूँ।

आप यह न समझें कि मैं जो कुछ लिखता हूँ, यही सोलहों आने यथार्थ है। इसमें जो कुछ त्रुटि हो, मुझे समझाकर लिखनेकी कृपा कीजियेगा। आपकी कृपासे कुछ समय सच्चिन्तनमें लग जाता है, इसके लिये आपका कृतज्ञ हूँ। आपकी कृपा सदा मुझपर रहती ही है।

प्रेम और ब्राह्मी स्थिति

(१) मैंने जिस प्रेमकी बात लिखी थी उस 'प्रेम' की स्थितिमें और 'ब्राह्मी स्थिति' में कोई अन्तर नहीं है। तथापि साधनमें अन्तर होनेके कारण विभिन्न अधिकारियोंके लिये दोनों अलग-अलग समझे जाते हैं। प्रेमी भी सुध-बुध भूलता है और ज्ञानी भी। परन्तु इस सुध-बुध भूलनेका अर्थ शारीरिक बाह्य ज्ञानशून्य अवस्था नहीं है। यह वह स्थिति है जिसमें परमात्माको छोड़कर 'बाह्य' और कुछ रहता ही नहीं। इसी प्रकार प्रेम भी ज्ञानकी भाँति प्रेमास्पद या ब्रह्मकी प्राप्तिके लिये ही आरम्भ किया जाता है। वह पहले अपने लिये होता है, फिर भगवान्‌के लिये होता है और अन्तमें अपने और भगवान्‌के भेदका अभाव हो जाता है। निरतिशय आनन्दस्वरूप भगवान्‌का कोई उद्देश्य नहीं है। प्रेमादि गुण स्वयं भगवान्‌का आश्रय लेकर भक्तोंको—प्रेमियों-को सुख देते हैं—'निर्गुणं मा गुणगणा भजन्ते निरपेक्ष-कम्।' प्रेमियोंके लिये भगवान् उन गुणोंपर कृपा करके इन्हें स्वीकार कर लेते हैं। प्रयोजन यही है कि प्रेमीगण अखिलाचिन्त्यदिव्यगुणगणविशिष्ट सौन्दर्यमाधुर्य-रसाम्बुधि भगवान्‌की प्रेम-सामग्रीसे पूजा करके अचिन्त्य गुणोंको प्राप्त करेंगे। परन्तु यह भी प्रेमियोंकी प्राथमिक पाठशालाका ही पाठ है। आगे चलकर न तो प्रेमियोंको कोई उद्देश्य दृष्टिगोचर होता है, और भगवान्‌में तो किसी प्रयोजनकी कल्पना ही भगवान्‌की दृष्टिसे नहीं हो सकती। वहाँ गरीय और हेयकी तो कोई बात ही नहीं है। वहाँ तो प्रेम और आनन्द घुलमिल कर एक हो जाते हैं। वहाँ राधा और कृष्णकी अलग-अलग पहचान नहीं रहती। दोनों एक हो जाते हैं—

राधा भई कान्ह अरु कान्ह भये राधा रानी,
द्वै ह्वैकै फेरि दोनों एक ही कहात हैं।

साधन कालमें जैसे ज्ञानीको ध्यानावस्थामें बाह्य ज्ञान नहीं रहता, ऐसे ही प्रेमीको भी नहीं रहता। जैसे ज्ञानी निरन्तर ब्रह्माकारवृत्ति बनाये रखना चाहता है, ऐसे ही प्रेमी भी आठों पहर प्रेमास्पद भगवान्‌के आनन्दमय चिन्तनमें चित्तको लगाये रखना चाहता है। जैसे ज्ञानीका मनोवाञ्छित कुछ नहीं रहता, इसी प्रकार प्रेमीका भी मनोवाञ्छित प्रेमको छोड़कर और कुछ नहीं रहता। अधिकार या रुचिभेदसे साधनमें अन्तर है, वास्तविकतामें—साध्यके स्वरूपमें कोई अन्तर नहीं है, क्योंकि वह तो एक ही है।

अभेद भक्ति और ज्ञान

२—अभेद भक्तिका दूसरा नाम ज्ञान ही है, यही बात उस प्रश्नके उत्तरमें लिखी गयी है। गीतामें ऐसे ही ज्ञानीको भक्त कहकर श्रीभगवान्‌ने अपना आत्मा (स्वरूप) बतलाया है। अध्याय ७ श्लोक १६, १७, १८, १९ में देखिये।

मोक्षमें प्रतिबन्धक

३—यह प्रश्न आपका यदि पूर्ण ज्ञानीके सम्बन्धमें है तब तो यह कहना ही नहीं बनता कि उसके मोक्षमें कोई प्रतिबन्धक है या नहीं? पूर्णज्ञानी तो मुक्त ही होता है। मुक्तकी फिर मुक्ति कैसी? और उसके लिये प्रतिबन्धक कैसा? वह तो जिस समय ज्ञानी होता है, उसी समय उसके सञ्चित कर्मोंका नाश हो जाता है। क्रियमाणमें अहङ्कृति न रहनेसे

उसका सञ्चित बनता नहीं। रह जाता है केवल प्रारब्ध, वह भोगसे क्षय हो जाता है। वस्तुतः इस प्रारब्धभोगका भी वहाँ कोई भोक्ता नहीं होता। भोग वहींतक है, जहाँतक पुरुष प्रकृतिस्थ है। 'स्वस्थ' रहनेके बाद कोई भोक्ता रहता नहीं। हाँ, लोगोंको दीखता है कि अमुक पुरुष अमुक सुख-दुःख भोग रहा है। लोगोंकी भाँति ही उसे भी 'द्रष्टा' मान सकते हैं। इसीलिये ज्ञानी सुख-दुःखमें सम होता है, क्योंकि वह द्रष्टा है, भोक्ता नहीं। अब रही ज्ञानवान्‌के द्वारा ज्ञानोत्तरकालमें प्रारब्ध-भोगके लिये शास्त्र-निषिद्ध कर्म होनेकी बात। इसका उत्तर यह है कि यद्यपि ज्ञानी गुणातीत होनेके कारण गुणोंके किसी भी व्यापारसे बँधता नहीं; वह हर अवस्थामें निर्लेप ही है, परन्तु उसके शरीरद्वारा पाप बनना सम्भव नहीं। भगवान्‌ने गीताके तीसरे अध्यायमें पाप होनेमें कारण बतलाया है, रजोगुणसमुद्भव 'काम' को। 'रजोरागात्मकं विद्धि'के अनुसार रजोगुणका रूप आसक्ति या राग है। ज्ञानीमें राग या आसक्ति और काम रहता नहीं, ऐसी अवस्थामें उससे पाप कैसे बन सकता है? पापके लिये चित्तकी कलुषित वृत्ति होनी चाहिये। उसकी कलुषित वृत्ति मुमुक्षु-अवस्थामें अन्तःकरणकी शुद्धिके समय ही नष्ट हो गयी। ऐसी अवस्थामें उसके द्वारा पापकी सम्भावना नहीं है। अनिच्छा और परेच्छासे तो पाप होता नहीं, 'स्वेच्छा' उसकी पापके लिये होती नहीं। इसके सिवा एक महत्त्वका विचार और है। वह यह है कि प्रारब्धसे पाप होना युक्तिसङ्गत भी नहीं है। जिस प्रारब्धसे पाप होना माना जा सकता है, वह प्रारब्ध अवश्य ही किसी पापकर्मका ही फल होना चाहिये और पापकर्मके फल-विधानमें पुनः पाप करनेका ही विधान हो, यह न्यायसङ्गत नहीं।

क—चोरी या खून करनेवालेको जेल या फाँसीका दण्ड मिलता है, पुनः चोरी करने या खूनका दण्ड नहीं मिल सकता। ख—यदि पापका फल पुनः पाप ही हो तो जीव कभी पापसे मुक्त हो ही नहीं सकता। ग—यदि मनुष्य प्रारब्धवश पाप करनेके लिये बाध्य हो तो फिर शास्त्रोंके विधि-निषेधात्मक समस्त वचन व्यर्थ हो जायँगे। घ—जो ईश्वर पापका फल, पाप ही विधान करता है, वही फिर दण्ड-रचना करता है; ऐसा ईश्वर न्यायी नहीं कहा जा सकता। ङ—हरेक पाप करनेवाला मनुष्य कह सकता है कि मैं प्रारब्धवश बाध्य होकर पाप करता हूँ। इसमें मेरा क्या दोष है? च—भगवान्‌के वचन 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' व्यर्थ हो जाते हैं। इत्यादि अनेकों युक्तियोंसे यही बात साबित होती है कि ज्ञानोत्तरकालमें जान-बूझकर स्वेच्छा, परेच्छा या अनिच्छा किसी भी रूपसे पापकर्म नहीं हो सकता। मोक्षमें प्रतिबन्धका तो कोई प्रश्न ही नहीं है। ज्ञानियोंमें दूषित प्रारब्ध रह सकता है और उसका फल शारीरिक पीड़ा, अपमानादि हो सकता है। परन्तु निषिद्ध कर्मके द्वारा उक्त फल नहीं मिल सकता। यद्यपि ज्ञानी विहित-निषिद्धसे ऊपर उठा हुआ है परन्तु जिस अन्तःकरणमें कर्मप्रेरणा होती है, वह अन्तःकरण अत्यन्त विशुद्ध हो जानेके कारण उसके असत्-सङ्कल्प नहीं हो सकते। न उससे असत् कर्म ही बन सकते हैं।

भगवान् स्वार्थी हैं

४—यह प्रश्न महात्माजीने विनोदके रूपमें किया है—मालूम होता है। विनोदकी भाषामें यही उत्तर है कि भगवान् पूरे स्वार्थी, खुशामद-पसन्द और पक्के चोर हैं तथा न्यायी भी नहीं हैं; तभी तो वे सर्वस्व लेकर तब कुछ देते हैं। खुशामद करनेवालोंका पक्ष लेते हैं, 'दासोऽहं' का 'दा' चुरा लेते हैं, भक्तोंका चित्त चुरा लेते हैं। स्वयं चोर होते हुए भी चोरके लिये दण्डका विधान करते हैं, परन्तु उनके भक्त भी ऐसे बावले हैं कि इन्हीं दुर्गुणोंपर रीझकर उनको भजते हैं और हर तरहसे उनके गुण गाते हुए भाटकी-ज्यों इधर-उधर भटकते हैं। भला, ऐसे बावले भक्तोंको स्वार्थी भगवान्‌के द्वारा मुक्ति कहाँसे मिलती? वे सेवा करते नहीं थकते और भगवान् तो सेवा करानेके लिये ही यह जाल फैलाये बैठे रहते हैं। पक्के स्वार्थी हैं न?

भगवान्‌का निःस्वार्थ भाव

अब दूसरे प्रकारसे इसका उत्तर यह है कि वस्तुतः भगवान् सर्वगुणातीत केवल निरतिशय विज्ञानानन्दघन हैं। उन सर्वगुणातीतके गुणोंकी कथा कौन कहे? तथा उन सर्वविरुद्धधर्माश्रयी भगवान्‌में एक ही कालमें निर्गुणत्व-सगुणत्व सभी कुछ सम्भव है। वे गुणातीत हैं, निखिल कल्याणगुणगणविशिष्ट हैं और हेयोपादेयसर्वगुणसम्पन्न हैं। उनके लिये सब कुछ कहा जा सकता है और किसी भी व्याख्यासे उनका यथार्थ वर्णन नहीं हो सकता। भक्त उन्हें दयालु, कृपामय, करुणासागर, भक्तवत्सल, अकिञ्चनके आश्रय, अनाथनाथ आदि शब्दोंसे ठीक ही पुकारते हैं, वे ऐसे ही हैं, उनमें एक-एक गुण इतना अनन्त असीम और महान् है कि उस एककी ही महिमा गाते-गाते शेष-शारदाकी शक्ति कुण्ठित हो जाती है। भूल तो इस बातमें होती है कि लोग धन, पुत्र, यश, सम्मानकी प्राप्तिमें तो उनकी कृपा, दया, वत्सलता आदि मानते हैं और इसके विपरीत होनेमें अकृपा या निष्ठुरता! भगवान् उस स्नेहमयी जननीकी भाँति हैं, जो मारनेके समय भी स्नेहार्द्र हृदयको नहीं सुखा सकती। लौकिक माँका स्नेह-स्रोत कहीं सूख भी जाय, परन्तु उस सच्चिदानन्दमयी, स्नेहाम्बुधिहृदया माताका स्नेह तो कभी सूख ही नहीं सकता। उसकी मारमें भी विलक्षण प्यार भरा रहता है। भगवान्‌के दण्डविधानका स्वरूप तो देखिये—वे या तो विषयोंको हरते हैं या विषयसेवनकी क्षमताको। जिन विषयोंकी सन्निधि तो दूरकी बात है, चिन्तनमात्र सर्वनाशका कारण होती है, जिन विषयोंको विषवत् परित्याग करनेको अनुभवी महापुरुष और शास्त्रकार आज्ञा करते हैं, उन विषयोंसे सहज ही छुटकारा हो जाय और समझा जाय वह दण्डविधान! उससे छूट जाय पूर्वकृत पापका बन्धन! भला, यह कम दया है। आगमें पड़नेको जानेवाले पतंगेके मार्गमें चादर तान देनेवाला या आग बुझा देनेवाला पुरुष दयालु कहा जायगा या निर्दयी? इसी प्रकार भगवान् रोगीकी अवस्थाके अनुसार ओषधिकी व्यवस्था करके हर-हालतमें उसपर कृपा ही करते हैं। इनमें जितने गुणोंका आरोप है, वे सभी सार्थक हैं। जिन्हें दुःखोंका दान मिलता है, उनका शीघ्र निस्तार होता है। वे अनाथोंका ही उद्धार करते हैं, नाथोंका नहीं। पतितोंको ही तारते हैं, पुण्याभिमानियोंको नहीं। अशरणको ही शरण देते हैं, आश्रयवान्‌को नहीं। उनके समस्त अवतार ही निःस्वार्थताके ज्वलन्त उदाहरण हैं। निःस्वार्थपनका पाठ तो भगवान्‌से ही सीखना है।

'भोगप्रेम' और 'भगवत्प्रेम'

५—भावुक सज्जनके प्रश्नका उत्तर यह है कि सम्पूर्णतया निष्कामभाव हो जाय तो सम्भव है कि वे सारी बातें हो जायँ। राजा जनकमें यह सभी कुछ थे। वे प्रपञ्चमें थे, भोग भी भोगते थे, भोगोंका वियोग उनके साधन-कालमें भी नहीं था, यश-कीर्ति भी पर्याप्त थी, ज्ञानी तो प्रसिद्ध थे ही, परन्तु वे निष्कामभावकी मूर्ति थे।

दूसरा उपाय है भगवान्‌की शरणागति। सुदामाको भोग और मोक्ष दोनों प्राप्त हुए थे। परन्तु ये दोनों ही बातें होती हैं—अत्यन्त कठिन। इनके हो जानेपर तो भोगोंका महत्त्व ही मिट जायगा और जबतक ये होतीं नहीं तबतक उपर्युक्त स्थिति होनी कठिन है। शास्त्रकार तो यही कहते हैं कि 'भोगप्रेम' के साथ 'भगवत्प्रेम' रह नहीं सकता। ऐसे प्रश्न करनेवालोंको वस्तुतः भगवान्‌के महत्त्वका पता नहीं है, तथापि ये भी सराहनीय हैं जो किसी भी रूपमें भगवान्‌को चाहते तो हैं! इनसे कह दीजिये ये यथासाध्य अधिक-से-अधिक श्रीभगवान्‌का नामजप करें, नामजप सब रोगोंकी एकमात्र दवा है।

भक्त और भगवान्

(लेखक—स्वामी श्रीशुद्धानन्दजी भारती)

[गताङ्कसे आगे]

१२-एक मात्र भगवान्

सच्चे संतमें सांसारिक मान-बड़ाई, धन-सम्पत्ति या विषय-भोगकी कोई लालसा नहीं हो सकती। इन सबको वह मल-सुख ही मानता है, गन्दा क्षणिक भोग ही जानता है। भगवान्में मनको रमाये हुए वह इस काल-नदीमें एक नौका-सा चला जाता है। उसका सारा प्रेम भगवान्के लिये, एक मात्र भगवान्के लिये होता है, अन्य किसी भी वस्तुके लिये नहीं। वह कुटुम्बमें रहनेवाला एक व्यक्ति हो सकता है। मनुष्यों-के साथ उसके नाते-रिश्ते और सब व्यवहार हो सकते हैं। पर वह देखता है उन्हीं 'एक'को उन सबके अंदर। वही 'एक' उसे और उसके सम्पूर्ण प्रेमभावको अपने हाथमें लिये रहते हैं। पत्नीमें भगवान्, बच्चेमें भगवान्, पुरुषोंमें, स्त्रियोंमें और चर-अचर सब प्राणियोंमें भगवान्, सारे विश्वमें उन्हीं भगवान्की लीला—यही दिव्य दर्शन करनेकी एक दृष्टि उसकी होती है।

१३-भक्त त्यागराज

तंजोरमें जब मैं 'समरसंबोधिनी' का सम्पादक था तब प्रायः वहाँसे ग्यारह मील दूर तिरुवैयर (पञ्चनद क्षेत्र) में जाया करता था। वहीं नदी-किनारे संत त्यागराज-का मन्दिर है। यह अभी कुछ वर्ष पहले ही बना है। जिन रमणीय स्थानोंमें जाकर मैं कभी-कभी ध्यानमें बैठ जाया करता था, उन्हींमेंसे एक यह स्थान भी है। मन्दिर छोटा-सा है और इसे एक भक्त-स्त्रीने बनवाया है। इसी नदीके किनारे तंजोरके महाराजके बनवाये हुए कई बड़े-बड़े राजमहल हैं। तंजोर-राज-की एक गगनस्पर्शी अट्टालिका भी मेरी दृष्टिके सामने आ रही है। पर ये सब इमारतें या तो टूट-फूट गयी हैं या विदेशियोंके हाथमें हैं। जिन दुर्दान्त राजाओंके आलीशान दरबार इन महलोंमें लगा करते थे वे सब मृत और विस्मृत हो गये हैं। पर यह छोटा-सा, सादा-सा मन्दिर त्यागराजके कीर्त्ति-सौरभके साथ जीवित है और इसके जीवनकी महिमाका प्रतिवर्ष विस्तार ही होता जा रहा है। प्रतिवर्ष देशके सभी भागोंसे भक्त और कलाविद् यहाँ एकत्र होते और दस दिनतक त्यागराजका पुण्यमहोत्सव मनाते हैं।

त्यागराज दक्षिण भारतके कबीर हैं। किसी गवैयेने आजतक दुनियाको इतने प्रकारके राग न सुनाये होंगे जितने त्यागराज अपने भजनोंके द्वारा दे गये हैं। ये 'त्याग-ब्रह्म' कहकर पूजे गये हैं और महर्षि वाल्मीकिके अवतार माने गये हैं। सचमुच ही महर्षि वाल्मीकिके समान इन्होंने रामके गीत गाये और अपने जीवनको रामके प्रति गीताञ्जलि-अर्पणका एक स्रोत बना दिया। सुकरातकी तरह ये बड़ी सादगीसे एक मामूली घरमें रहा करते थे। वह घर पञ्चनद क्षेत्रके अग्रहारमें अभीतक मौजूद है और भगवान् श्रीरामचन्द्र-के जिस विग्रहकी ये पूजा करते थे उसकी पूजा-अर्चा अब भी वहाँ होती है। भक्त त्यागराज एक भिक्षुकका जीवन व्यतीत करते थे। थे बाल-बच्चेवाले गृहस्थ, पर उन्होंने कभी कलकी फिक्र नहीं की, एक दाना अन्न कलके लिये नहीं रख छोड़ा, न कोई माया ही जोड़ी। जिस दिन जो कुछ संयोगसे आ जाता, सब उसी दिन भगवान्की पूजामें और भक्तोंको खिलानेमें लगा देते थे। उनके प्रेमके एकमात्र विषय थे राम। 'सीतामैया मेरी माता और राम मेरे पिता'—यही गीत वे गाया करते थे। इन माँ-बापके वे सच्चे सेवक थे और सदा इन्हींके गीत गाया करते थे।

१४—परीक्षा

त्यागराजको भी बड़ी-बड़ी कठिन परीक्षाओंमेंसे पार होना पड़ा। ऐसे भक्तके भावोंको लोग सहसा नहीं समझ पाते। इनके भगवत्प्रेमकी अग्निको लोगोंने उत्साहभङ्ग करनेवाले सहानुभूतिरहित शब्दोंसे बार-बार बुझानेकी ही चेष्टा की। इनके रिश्तेदार इनके भगवान्‌की ओर लगे हुए जीवनको कोई अच्छा जीवन नहीं समझते थे। इनके अपने भाई जल्पसन इन्हें पागल कहते, इनकी भगवदुपासनाको लोगोंका अहित करनेका एक ढंग बतलाते और इनके यशसे जला करते थे। एक दिन उनके दिमागमें यह समायी कि रामकी मूर्त्ति ही इनके इस सारे पागलपनकी जड़ है, बस, इसीको उठाओ और नदीमें फेंक दो। सचमुच ही उन्होंने मूर्त्तिको कावेरीके अथाह जलमें डाल दिया। त्यागराजको इससे इतना दुःख हुआ जिसका कोई वार-पार नहीं। त्यागराजकी प्रिय पत्नीका देहान्त हुआ था तब उन्हें इतना दुःख नहीं हुआ था। पर रामजीकी प्रतिमाके खो जानेसे तो वे पागल हो गये। 'कहाँ छिप गये, मेरे राजा, मेरे राम' यही रट लगाते हुए वे रामकी खोजमें कोना-कोना छानने लगे। रात-दिन वे इस तरह सिसक-सिसककर रोया करते थे जैसे कोई नन्हा-सा बच्चा अपने माँ-बापसे बिछुड़कर अनाथ हो रो रहा हो। इस दुःखमें उनका खाना-पीना छूट गया, आरामसे सोना या बोलना भी छूट गया। जब कावेरीमें आयी हुई बाढ़ हटी, तब एक दिन त्यागराजको नदीके तलमें भगवान्‌की वही मूर्त्ति मिल गयी। महाप्रभु चैतन्य, माध्वाचार्य अथवा मीराबाईकी तरह वे उछल पड़े, उस मूर्तिको उन्होंने छातीसे लगाया, आनन्दके आँसू बहाये, मूर्त्तिको अपने स्थानमें फिरसे प्रतिष्ठित किया तथा और भी अधिक पुलकित करनेवाले भजन बना-बनाकर वे उन्हें निवेदन करने लगे। पर इनके भाईके हृदयकी जलन इतनेसे शान्त न हुई। उन्होंने इनके भजनोंकी सब पोथियोंको जला डाला। इस तरह इनके सहस्रों भजनोंसे संसार वञ्चित रहा। पर सहस्रों भजन और, भक्तोंके हृदयसे, जहाँ-तहाँ निकल पड़े और उन्हें गा-गाकर भक्तोंने चारों ओर फैला दिया। उस संतके हृदयमें स्फुरित सङ्गीतको किसीकी जलन या जली-भुनी मिथ्या वाणी मिटा नहीं सकी।

इन संतका एक पद है, 'हे राम! आपने मुझे हरिनामके शत्रुओंके बीचमें क्यों ला रक्खा है? क्या यह मेरा पूर्वकर्म है जिसे मैं इन हृदयहीन लोगोंके बीचमें रहकर भोग रहा हूँ? मेरे रिश्तेदार मुझे देखकर हँसते और मेरी खिल्ली उड़ाते हैं; क्या आप भी मेरी हँसी उड़ा रहे हैं? हे राम! मुझे धोखा मत दो; मैं आपसे कुछ पानेके लिये लौकिकी रीतिसे आपको नहीं पूजता, मैं तो आपको आपके ही लिये पूजता हूँ। यदि आप भी चुप बने रहें तो मुझे कौन सान्त्वना देगा? बोलो, हे सर्वसुन्दर! मैं आपके गुण गाता हूँ। यही तो मेरी सारी तपस्या है, यही मेरा दानधर्म, यही मेरी तीर्थयात्रा, यही मेरा योग, यही मेरी सिद्धि है···· मैं और कुछ भी नहीं जानता। राम! मुझे छोड़ मत देना; अनाथ करके मुझे उन लोगोंमें मत डाल देना जो मेरी इस उपासनाके विरोधी हैं। हे कमलनयन राम! राजाओंके राजा! मेरे जीवनधन! मेरी दृष्टिकी ज्योति! मेरे पूजनके पुष्प! मेरे मन्त्रके रूप! राजरत्नोंके भी रत्नराज! आपकी पूजा ही मेरा जीवनकर्म है, आपकी महिमाका गान ही मेरा सुख है मेरे राम! आपकी बराबरी भला कौन कर सकता है? मेरे अनुपम राम! आपके नामका स्वर्गीय अमृत ही मैं पान करता हूँ, फिर-फिर पान करता हूँ।'

१५—राज-सम्मान

भक्त त्यागराज, नित्यके सङ्कीर्तनके अतिरिक्त, महात्मा हरिदासकी तरह प्रतिदिन सवा लाख रामका नामजप किया करते थे। धीरे-धीरे सच्चे भक्त उनके

इर्दगिर्द जमा होने लगे, और कुछ गवैये भी उनके भजनमें योग देने लगे। भक्त और गायकके नाते त्यागराजका यश:सौरभ बहुत शीघ्र दूर-दूरतक फैल गया। बड़े-बड़े गवैये उनकी धाक मानने लगे। घर-घर उनके भजन गाये जाने लगे। जहाँ कहीं महफिल होती या भजन होता वहाँ इन्हींके भजन सुन पड़ने लगे। इनके कीर्त्तनके बिना कोई हरिकथा ही नहीं हो पाती थी। राजा-महाराजा भी इन्हें बुलाने लगे। उनकी ओरसे इन्हें बड़ी कीमती चीजें नजर करनेकी बात चलने लगी। पर त्यागराजके लिये इन सब मोहक पदार्थोंमें रक्खा ही क्या था? वे किसी मर्त्य प्राणीकी कृपाके भिखारी नहीं थे, चाहे वह प्राणी कहींका कोई राजा ही क्यों न हो। जब राजा-महाराजाओंके निमन्त्रण स्वीकार करनेके लिये लोग उनपर बहुत दबाव डालने लगे तब देखिये उन्होंने क्या किया। वे पालकीमें बैठे और तिरुप्पति गये, वहाँ श्रीवेंकटेश भगवान्‌को अपने गीतोंकी श्रद्धाञ्जलि चढ़ाकर लौटे। रास्तेमें डाकुओंने उनकी पालकीको घेर लिया। उनके संगी-साथी सब घबड़ाये। पर उन्होंने कहा, 'राम रक्षा करेंगे'। उन चोरोंने देखा, दो महाकाय पुरुष पालकीपर पहरा दे रहे हैं। यह देखकर वे डरे और भागे। ये महाकाय पुरुष थे राम और लक्ष्मण। जब त्यागराज घर लौट आये, तब लोगोंने सोचा, महात्माजी राजाओंसे बहुमूल्य नजरें अपने साथ लाये होंगे। उन्होंने त्यागराजसे नजरें दिखानेको कहा, तब उन्होंने उत्तर दिया, 'सब राजाओंके राजा जो मेरे राम हैं उनसे मिलने मैं तिरुप्पति पर्वतपर गया था और उन्होंने जो भेंट दी है वह यह है।' यह कहकर उन्होंने श्रीवेंकटेश भगवान्‌का प्रसाद सबको बाँट दिया। रिश्तेदारोंने सोचा, 'कैसा मूर्ख है!'

१६–सम्पत्ति या भक्ति?

तंजोरमें उन दिनों एक मराठे राजा राज्य करते थे। वे कला और विद्याके बड़े मर्मज्ञ एवं आश्रयदाता थे। सब प्रकारके विद्वान् उनकी राजसभामें अपने गुण दिखाकर बड़ा पुरस्कार पाते थे। राजाने त्यागराजके गानोंकी बड़ी प्रशंसा सुन रक्खी थी पर उनके विषयमें राजाका यही खयाल था कि अन्य पेशेवालोंकी तरह ये भी होंगे जो राजाकी इन्द्र और चन्द्रसे उपमा देकर उनके गुण गाते और उनकी कृपाके पात्र बननेकी इच्छा करते हैं। एक दिन उन्होंने छिपकर त्यागराजका एक भजन सुन लिया और उनकी कलापर मुग्ध हो गये। दूसरे दिन उन्होंने त्यागराजके पास एक पण्डितसे यह कहला भेजा कि आपसे हम अपने यशका कीर्त्तन सुनना चाहते हैं। इसके लिये राजाकी ओरसे पण्डितने उन्हें यह वचन भी दिया कि आपको बहुत-सा सुवर्ण और रहनेके लिये एक महल भी मिलेगा। गरीब कवि और कीर्त्तनकारके लिये यह कितना बड़ा प्रलोभन था! आठ पंक्तियोंकी एक स्तुति बनाकर गा दो और दूसरे दिन इतने बड़े ऐश्वर्यके मालिक बन जाओ! पर त्यागराजने इसका क्या जवाब दिया? उन्होंने इस बातपर हँस दिया; भगवान् रामकी मूर्त्तिपर एक नजर डाली, थोड़ी देर ध्यानमें मगन हो गये और फिर राजाकी बातका उत्तर उनके मुखसे, कल्याणी रागमें एक पदके रूपमें निकला। उनके अत्यन्त मधुर पदोंमेंसे ही यह एक पद है और इसका आशय यह है—

'रे मन! मुझे सच-सच बता, अधिक बड़ा सुख कौन है? निधि या सन्निधि? राजाका वैभव या इन रामकी पूजा जो मेरे सामने मौजूद हैं? अभिमानके पुतले किसी मनुष्यकी प्रशंसा या भगवन्महिमाकी स्तुति? मुझे बता दे, मन, कि मेरे जीवनके लिये अधिक सुख देनेवाला क्या है? पतितपावनी गङ्गामें शान्ति और संयमका स्नान या इन्द्रिय-सुखोंके गड्ढेमें गोता लगाना? रे मन, मुझे सच-सच बता, अधिक बड़ा सुख कौन है?'

राजाको जब यह हाल मालूम हुआ तब उन्होंने यह अनुरोध उनसे किया कि आप एक बार राजसभामें आकर कम-से-कम अपना भजन तो सुनानेकी कृपा करें। परन्तु त्यागराज भजन सुनाने भगवान् रामकी नित्य राजसभाको छोड़ और कहीं नहीं जाते थे। उन्होंने राजाके पास कहला भेजा, 'रामभक्ति ही मेरा साम्राज्य है; रामके सामने रामके लिये गाना ही मेरा एकमात्र सौख्य है।' इस तरह भिक्षावृत्तिसे रहते हुए और साधुओंको खिलाते-पिलाते हुए वे अपनी उपासनामें लगे रहे। राजाकी श्रद्धा, इस घटनासे, उनके प्रति और भी बढ़ गयी। जब त्यागराज तीर्थयात्रा करने चले, तब एक स्थानमें उनके ठहरनेके लिये राजाने एक पक्का मकान बनवा दिया था जो अबतक वहाँ मौजूद है। त्यागराजका भजन-संग्रह ही उनका नित्य और एकमात्र वंशविस्तार है। रामकी महिमा गानेके लिये वे जीये और रामकी महिमाने उन्हें अमर बना दिया।

१७–कसौटी

भगवान् भक्तोंका सब भार अपने ऊपर ले लेते हैं। कुछ परीक्षा भी ले लेते हैं, यह बात सही है। पर परीक्षासे उत्तीर्ण हुए बिना किसीको प्रमाणपत्र भी कैसे मिल सकता है? परीक्षा बड़ी अच्छी चीज है। परीक्षाके द्वारा ही भगवान् अपनी करुणा व्यक्त करते और भक्तोंका प्रताप प्रकट करते हैं। इस नियममें कोई अपवाद नहीं है। संसारमें जितने विख्यात भक्त हुए, सभी बड़ी कठिन परीक्षाओंमेंसे होकर निकले हैं। कभी-कभी भगवदिच्छासे भक्त गंदे सुखोंके दलदलमें जा गिरता है, इसलिये कि वहाँ पड़ा-पड़ा वह दुःखका अनुभव करे और जीवनका पाठ पढ़े। उस पाठको पढ़कर भक्त अधिक तीव्र गतिके साथ भगवान्की ओर दौड़ पड़ता है, और भक्तिमें ऐसी लगनसे लग जाता है कि फिर कभी उससे अलग नहीं होता। आल्वार संतोंमें ऐसे एक संत विप्रनारायण थे जो एक वेश्याके मोहजालमें फँसे थे, पीछे बहुत दुःख भोगनेके पश्चात् भगवान्की एक विलक्षण लीलासे उनका उद्धार हुआ। इन संतका वर्णन 'कल्याण' में पहले आ चुका है।

१८–संत अरुणगिरि

पंद्रहवीं शताब्दीके मध्यमें अरुणगिरि नामके एक संत तिरुवन्नमलयमें विख्यात हुए थे। ये एक वेश्याके पुत्र थे। बचपनमें इन्होंने गाना सीखा और यौवन स्त्री-विषयक विषयभोगमें बिता दिया। कुछ वर्ष इस तरह बड़ी आवारागर्दीमें बीते और इन्हें कई गंदे गुप्त रोग हो गये। अब इन्हें अपने जन्म, शरीर और अपने कुकर्ममय जीवनसे घृणा हो उठी। इतना अनुताप हुआ कि अनशन करके मर जाना इन्होंने अच्छा समझा। एक दिन एक मन्दिरके शिखरपर चढ़कर वहाँसे कूदकर प्राणान्त कर लेनेको उद्यत हुए। उसी क्षण इन्हें भगवान्की झलक दीख पड़ी और उसी क्षणसे ये भगवान् स्कन्दका गुणगान करने लगे। उनके बनाये सहस्रों पद आज भक्तोंद्वारा गाये जाते हैं। पद बड़े सुललित एवं लोकप्रिय हैं। उनके स्वरावरोहका अति क्षिप्र आरोह, उनकी कलाका जगमगाता सौन्दर्य, उनके गम्भीर भाव जिनसे सब पद अनुप्राणित हैं, उन लोगोंपर भी अपना असर डालते हैं जो उस भाषाको बिल्कुल नहीं जानते। अरुणगिरिके पदोंका मुख्य भाव यही है कि, 'मायाके जालमें फँसकर मैंने ऐसे-ऐसे दुःख उठाये, हे ईश्वर! मुझे बचाओ, मेरा उद्धार करो, सदा मुझे अपनी भक्तिमें लीन रक्खो जिसमें मैं तुम्हारी दयाकी ज्योत्स्नामें नहाता रहूँ।'

तेलगु कवि वेमण्णा अपने यौवनकालमें व्यभिचारमें रत थे, पीछे उन्हें अपने दुष्कृतपर बड़ा अनुताप हुआ और ससारको त्याग कर वे सिद्ध ब्रह्मज्ञानी हुए। उनके सदाचार-सम्बन्धी भजन ज्ञानरत्नोंकी खान हैं।

१९–भक्ति और ज्ञान

कोई भी सच्चा महात्मा यथार्थमें भक्त तो होता ही है।

ईसासे लेकर फ्रांसिस तक, शुकदेवसे लेकर नम्मालवार तक, शङ्करसे चैतन्य तक, वाल्मीकिसे तुलसीदास तक, सभी महान् आत्मज्ञानी पुरुष पहले भक्त ही थे। उनका ज्ञान उनकी भक्तिके ही वसन्तकी बहार था। भक्ति बिना कोई ज्ञान नहीं होता और ज्ञान बिना भक्तिकी पूर्णता नहीं होती। भक्ति फूल है और ज्ञान फल। ब्रह्मवादी शङ्कर नरसिंह, शारदा और शिवलिङ्गके उपासक थे। शिव, विष्णु, गणपति, स्कन्द तथा अन्य सभी भगवद्रूपोंके बड़े ही प्रभावोत्पादक और मनोहर स्तोत्र इन्होंने बना-बनाकर उन्हें समर्पित किये हैं। इनके द्वारा रचित शिवानन्दलहरी, सौन्दर्यलहरी, भज गोविन्दं, दक्षिणामूर्ति-अष्टक आदि स्तोत्र बृहत्स्तोत्ररत्नाकरमें देखने चाहिये।

नम्मालवार ज्ञान-भक्तिमार्गकी एक बड़ी प्रवर्तिका हुईं। इनका एक मन्दिर आचार्य श्रीरामानुजने श्रीरङ्गम्में बनवाया है। ये आत्मज्ञानकी परा स्थितिको प्राप्त थीं। एक पदमें इन जन्मसिद्ध योगिनीने कहा है, 'मैं अपने लिये अपने हृदयको नहीं रख सकती; मैं 'उनके' अंदर ऐसे मिली हूँ जैसे दूधके अंदर मक्खन और दही।' 'जीवन क्या है ? मैं कौन हूँ ? यह, वह, यहाँ, वहाँ, हर चीज और हर कोई 'वही' तो है।' वह प्रेमोन्मादिनी हैं। दहकती हुई अग्निकी शिखाओंपर वह अपना हाथ फेरती और पुकारती हैं—'हे मेरे अमर अच्युत'। ठंढी-ठंढी हवाको अपनी दोनों बाहोंसे लिपटाती और कहती हैं—'मेरे प्राणप्यारे गोविन्द, तुम्हारा आलिंगन कितना मधुर है!' पूर्ण चन्द्रकी ओर देखकर कह उठती हैं, 'मेरे ज्योत्स्नामय रत्नराजीव प्रभु!' किसी पर्वतको सामने देखकर 'आओ, मेरे महाविष्णु' कहकर स्वागत करती हैं। मेघ जब मूसलधार बरसते हैं तब 'आये नारायण' कहती हुई मारे आनन्दके उछलती, नाचती, गाती-चिल्लाती हैं। गौओंके पीछे वनोंमें जाती और कहती फिरती हैं—'वह देखो, मेरे गोपाल जा रहे हैं।'

इस प्रकार सगुण साकार व्यष्टि पुरुषरूप प्रभुकी भक्ति विकसित होकर विश्वपतिका विराट्रूप दर्शन करनेमें समर्थ होती है। अपरा भक्ति अपनी सारी भावुकता, रुदन, नृत्य, प्रलाप, गायन आदिके साथ भावकी परा स्थितिमें पहुँचकर, परा भक्तिमें पहुँचकर परमभावको प्राप्त होती है। भगवान् 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' हैं। अति परमाणुसे लेकर अपार विश्वतक सब उन्हींकी सत्ता है। प्रत्येक वस्तु उन्हींके बहुविध होनेकी शक्तिका एक प्राकट्य है। किसी भी भक्तकी, किसी भी रूपमें की जानेवाली प्रीति और पूजाको, वे ग्रहण करते हैं। जो भक्त सच्चा और सच्चे हृदयसे भक्ति करनेवाला है उसपर तो भगवान्की कृपा होती ही है, सांसारिक दृष्टिसे उसकी हैसियत चाहे कुछ भी हो। शबरीके साधारण फल क्या भगवान्ने नहीं खाये ? अभिमानी दुर्योधनके यहाँ राजभोग ग्रहण करना अस्वीकार कर उन्होंने गरीब विदुरका आतिथ्य क्या स्वीकार नहीं किया ? क्या भक्त सुदामाका दारिद्र्य उन्होंने एक क्षणमें दूर नहीं कर दिया ? असहायके वे सहाय हैं। उद्दण्ड कौरवोंके अत्याचारोंसे पाञ्चाली और पाण्डवोंकी उन्होंने ही तो रक्षा की। जीवनपथपर सुरक्षित होकर चलनेके लिये बस, एक उन्हींकी दयाका होना आवश्यक है। संत अप्पारका गीत है,—'हम किसीकी प्रजा नहीं, मृत्युका हमें भय नहीं; किसी नरकमें हम जानेवाले नहीं, हम दुर्बल नहीं; हमें कोई रोग नहीं; हमारे लिये तो नित्य आनन्द है! हम केवल उन्हींकी प्रजा हैं जो किसीकी प्रजा नहीं; वे ही हमारा शासन करेंगे, और कोई नहीं! पूर्ण श्रद्धा-विश्वासके साथ हम उन्हीं शङ्करके चरणकमलोंका आश्रय करते हैं।'

इन संतको भगवान्के विराट् स्वरूपका दर्शन शिव-शक्ति उभयरूपमें हुआ था।

२०—भगवान्का वरद हस्त

आकाश चाहे टूट पड़े, पृथ्वी काँपने लगे, पहाड़

उलट जायँ, समुद्र सूख जाय, सूर्य धरतीपर नीचे आ गिरे, सब नक्षत्रमण्डल केन्द्रस्थानसे धक्का खाकर गेंदकी तरह जगत्में ऊपर-नीचे हुआ करें, तो भी सच्चा भक्त अपनी श्रद्धा और भगवद्भक्तिसे विचलित न होगा।

भगवान्के पथमें चलते हुए मैंने अनेक संतों और भक्तोंके दर्शन किये, उनके चरणोंमें बैठकर सत्संग किया और उनकी देखरेखमें रहकर साधना भी की। मुझे इसमें जो कुछ अनुभव हुआ उससे मैं सब साधकोंको एक बातका पूरा विश्वास दिला सकता हूँ, और वह यह है कि किसी सच्चे भक्तका भगवान्ने कभी परित्याग नहीं किया। उनका वरद हस्त भक्तके ऊपर सदा रहता ही है। भगवान् सर्वशक्तिमान् और सर्वज्ञ हैं और वे सर्वत्र हैं। कोई कहीं किसी प्रकारसे भी उनकी कृपा प्राप्त कर सकता है। कोई अपना अहंकार और बुद्धिका घमंड छोड़ दे तो तुरंत भगवान्का हाथ उसकी मदद करनेके लिये आगे बढ़ आता है। केवल आध्यात्मिक विषयोंमें नहीं, बल्कि अति सामान्य सांसारिक बातोंमें भी भक्तको उनसे परोक्ष सहायता मिलती है। भगवान्की ऐसी कृपाके उदाहरण मैंने अपनी आँखों देखे हैं। अब एक सामान्य भक्तकी बात, जो अभी कुछ ही वर्ष पहले इस लोकसे चले गये, यहाँ लिखता हूँ।

२१—भक्त जटाधर

जटाधर कुटुम्बी आदमी थे और बहुत ही गरीब थे। रोज दस प्राणियोंको उन्हें खिलाना-पिलाना पड़ता था। गरीब होते हुए भी बड़े ही ईमानदार थे। किसीसे न कोई याचना ही करते थे और न एक पैसा कहींसे कभी उधार ही लेते थे। उनकी धर्मपत्नीमें अद्भुत सामर्थ्य थी। उन्हें कोई मन्त्रसिद्धि थी जिससे वे चाहे जिस रोगको अच्छा कर सकती थीं। तरह-तरहके रोगी उनके पास आते और वे सबको बिना कुछ लिये अच्छा कर देती थीं। जटाधर शिव और विष्णुके बड़े भक्त थे। शिवनाम और रामनाम ही उनके मन्त्र थे। इनको ये सदा ही जपा करते थे। सन्ध्या समय ये इन्द्राक्षी-शिवकवच और सहस्रनामका पाठ करते और देवताओंकी आरती उतारते थे। प्रातःकाल दो या तीन घंटे एक आसनसे बैठकर देवपूजा करते थे। कलकी फिक्र इन्होंने कभी की ही नहीं। एक वर्ष जब अकाल पड़ा, इनके कुटुम्बवालोंका बड़ा बुरा हाल हुआ। एक दिन ऐसा हुआ, घरमें अनाजका एक दाना भी नहीं था। कुटुम्बके सब लोग अन्नके बिना छटपटाने लगे। गृहिणीने इनसे प्रार्थना की कि कहींसे कुछ अनाज उधार माँग लाइये। जटाधरने कहा, 'इसकी कोई जरूरत नहीं; भगवान् सबकी रक्षा करेंगे; और यदि न करें तो यह समझना होगा कि उनकी यह इच्छा नहीं है कि हमलोग इस शरीरमें बने रहें।' यह कहकर उन्होंने घरके सब लोगोंसे भगवान्का नाम लेनेको कहा। अकस्मात् एक दूसरे स्थानसे एक मित्र बहुत-सा अन्न और अन्य कई पदार्थ लिये वहाँ पहुँचे। जटाधरसे उन्होंने कहा, 'मुझे एक स्वप्न हुआ था, तदनुसार मैं ये सब चीजें लाया हूँ।' तब रसोई बनी, भगवान्के इस वात्सल्य-स्नेहपर जटाधर आज मुग्ध हो रहे थे।

जटाधरकी कन्या विवाहके योग्य हो चुकी थी, उसका विवाह करना था, पर जटाधरके पास न विवाहके खर्चके लिये रुपया था न वरदक्षिणाके लिये ही। एक महीनेकी अवधि थी जिस बीच कन्याका विवाह हो ही जाना चाहिये था, अन्यथा जातिवाले लोग जटाधरको जातिच्युत कर देते। जटाधरने वरकी बहुत खोज की, पर कोई ऐसा न मिला जो उस सुन्दर, पर गरीब लड़कीका पाणिग्रहण करता। पर इससे जटाधर निराश नहीं हुए। उन्होंने अपनी कन्यासे कहा—'बेटी! तुम भगवान्से विवाह करो, यह मान लो कि भगवान् तुम्हारे पति हैं और उनकी भक्ति-साधना करो। स्वयं भगवान्को प्रणाम कर उन्होंने कहा—'भगवन्, यह आपकी

बच्ची है, इसके लिये कोई योग्य वर ले आइये या जो चाहिये कीजिये; मैं तो केवल आपका तुच्छ सेवक हूँ।' जटाधरके इस प्रकार आत्मसमर्पण करनेका फल भला कैसे न होता ? रातको स्वप्नमें श्रीरामचन्द्रने उन्हें दर्शन दिये और उनसे कहा, 'कल प्रात:काल एक वृद्ध पुरुष अपने पुत्रके साथ यहाँ आवेंगे।' भक्त जटाधरने यह बात स्त्री और बच्चोंसे कही; सुनकर सब बड़े सुखी हुए। स्वप्न सच्चा निकला। दूसरे ही दिन प्रात:काल सात बजेके लगभग एक भले आदमी अपने पुत्रके साथ पहुँचे। उन्होंने जटाधरसे कहा—'मैं आपके पास यह प्रार्थना करने आया हूँ कि आप अपनी कन्याका विवाह इस बालकसे कर दीजिये; हमलोग आपके कुलको बहुत पवित्र मानते हैं।' जटाधरने उनकी प्रार्थना तो स्वीकार की पर यह बतलाया कि 'मैं गरीब हूँ, मेरे पास कुछ है नहीं।' उन आगन्तुकने कहा कि, 'विवाहका सब खर्च हमलोग कर लेंगे।' उसी सप्ताहके अंदर विवाह हुआ। वर-वधू दोनों भाग्यवान् निकले। उनका दाम्पत्यजीवन बड़ा सुख-समृद्धिकर हुआ। भगवत्कृपाके ऐसे-ऐसे उदाहरण भक्त जटाधरके जीवनमें कई हुए।

भाइयो और बहनो! भगवान्पर भरोसा रक्खो; उनकी इच्छा संसारकी अन्य किसी भी शक्तिसे अधिक शक्तिमान् और अधिक साधनसम्पन्न है। इस जगत्-जैसे करोड़ों जगत् वे बनाया-बिगाड़ा करते हैं। उनपर भरोसा रक्खो, उनकी शरण लो और फलो-फूलो।

२२—स्मरण रक्खो

कभी-कभी ऐसी कठिनाइयाँ और आपत्तियाँ साधकके मार्गमें आ खड़ी होती हैं कि उनसे उसकी श्रद्धा विचलित हो जाती है परन्तु भगवान्के प्रति अपनी श्रद्धा कभी न खोनी चाहिये। भगवान् कभी तो हमारी सचाईकी परीक्षा करते हैं, कभी कठिनाइयाँ उपस्थित कर हमें शिक्षा देते और हमारी त्रुटियोंको दूर करते हैं। कभी हमसे लुका-छिपीका खेल ही खेलते हैं और फिर अकस्मात् सामने आकर हमारे अन्तरात्माका आलिङ्गन करते हैं।

राधा और गोपियोंको सदा स्मरण रक्खो; भक्तिके ये परम आदर्श हैं। श्रीकृष्णकी बंसीने एक दिन उन्हें मोह कर कालिंदीके तटपर खींच लिया। जब सब गोपियाँ वहाँ एकत्र हुईं तब वे गायब हो गये। 'गोपिका-गीत'के उन हृदयस्पर्शी श्लोकोंमें उनकी विरह-व्यथाका वर्णन हुआ है। गोपियाँ कहती हैं, 'प्राणप्यारे! तुम कहाँ हो? तुम्हें न देख हम मूर्छित हुई जाती हैं। हम तुम्हारी हैं, तुम्हारी निष्काम सेविकाएँ। हे हृदयके चुरानेवाले, अन्तर्वासी साक्षी! अपने विरहसे हमें मार मत डालो।' इस तरह गाती हुई गोपियाँ वनमें उस मध्य रात्रिके सन्नाटेमें उन्हें ढूँढ़ती हैं। वे परम प्रेमास्पद प्रेमिकाओंके पीछेसे दमककर नील-किरणोंवाले सहस्रों सूर्योंके समान सामने आते और उन्हें आलिङ्गन कर कहते हैं, 'लो, मैं तो यहाँ हूँ; मेरी सखियो! मैं तुम्हारे अंदर हूँ और तुम मेरे अंदर हो।' इस तरह भगवान् उनके साथ खेले; प्रत्येक गोपीने अपने प्रेमास्पदको पा लिया। उस रासलीलाको हमलोग स्मरण रक्खें। रणभूमिमें अर्जुनने उनका जो विश्वरूप देखा उसे हमलोग स्मरण रक्खें। तब हम यह जान सकेंगे कि भगवान् हमारे जीवन-रथके सारथी हैं; यह रण उन्हींका है, यह जगत् उन्हींका खेल है। भक्तोंके हृदयमें वे बसते हैं और प्रत्येक भक्तको उनकी स्वत:-प्रवृत्त कृपा और अनन्त आनन्दसुधा पानेका अधिकार है।

ज्ञानका साक्षात्कार

(लेखक—श्रीकृष्ण)

साधारणतः मनुष्यको विचार करनेपर इतना तो सहज ही माल्म होता है कि वह शरीरसे पृथक् है। जैसे वह शरीरसे पृथक् है वैसे ही नेत्र-कर्णादि इन्द्रियोंसे भी पृथक् है। वह अच्छी तरह समझता है कि मैं जीव हूँ तथा शरीर और इन्द्रियाँ मेरे द्वारा धारण की हुई वस्तुएँ हैं। इसीसे तो वह इस प्रकार कहता है कि यह 'मेरा शरीर' है और वे 'मेरी इन्द्रियाँ' हैं। इसी तरह वह मनको भी 'मेरा मन' कहता है और यदि कुछ और सूक्ष्म विचार करे तो मनको भी स्पष्टतया अपनेसे पृथक् समझ सकता है। हम एक ही जगह रहते हैं पर हमारा मन कोसों दूर घूमने चला जाता है। इससे सिद्ध होता है कि एक जगह स्थित रहनेवाले हम जीवसे यह कोसों चक्कर काटनेवाला मन बिल्कुल पृथक् है। इस तरह हम शरीर, इन्द्रिय और मनसे पृथक् हैं। विचारवान्के लिये यह ज्ञान सहज है। मेरा शरीर, मेरी इन्द्रियाँ और मेरा मन मैं नहीं हूँ; मैं इनको धारण करनेवाला जीव हूँ। इतना ज्ञान तो हो जाता है परन्तु मैं जो जीव हूँ उसका स्वरूप क्या है इस ज्ञानके लिये अत्यन्त सूक्ष्म विचारकी आवश्यकता है।

जैसे शरीर अनेक हैं, वैसे ही इन्द्रियाँ और मन भी प्रत्येक शरीरके भिन्न-भिन्न होनेसे अनेक हैं। प्रत्येक शरीरका जीव भिन्न है, इससे जीव भी अनेक सिद्ध होते हैं। जीव अनेक हैं और एकसे दूसरा भिन्न है। यह भिन्नता क्यों है ? प्रत्येक जीवके जन्म-मरण, सुख-दुःखादि भोग, काम-क्रोधादि विकार भिन्न-भिन्न होते हैं। ये जन्म-मरण और काम-क्रोधादि संस्कार एक जीवसे दूसरेकी भिन्नता सिद्ध करते हैं। प्रत्येक जीवके संस्कारसमुदाय भिन्न होते हैं। इन संस्कारसमुदायके अतिरिक्त क्या और भी कोई तत्त्व जीवमें होता है ? यदि इसका विचार करें तो माल्म होगा। जब काम-क्रोधादि विकार नहीं रहते तब आनन्दका अनुभव अवश्य होता है। गाढ़ निद्रामें ये विकार नहीं होते तब वहाँ भी आनन्दमात्र रहता है। इस विकाररहित आनन्दभोगकी वृत्तिके अतिरिक्त वहाँ दूसरी सारी वृत्तियाँ लीन रहती हैं। स्वप्नमें साधारण वृत्ति जाग्रत् रहती है। स्वप्नमें वे और वृत्तियाँ लीन नहीं रहतीं, इसीसे वहाँ सुख-दुःखका अनुभव होता है। इससे माल्म हुआ कि जीव 'आनन्द' और 'संस्कार-समुदाय' इन दोनोंके संसर्गसे बना हुआ है।

यह आनन्द सब जीवोंमें एक ही है। एक मनुष्यको जो आनन्द होता है वही आनन्द दूसरेको भी होता है, वही सबको होता है। जीवके इस आनन्दतत्त्वमें भेद नहीं है, भेद है केवल प्रत्येक जीवके संस्कार-समुदायमें। यानी इन संस्कारसमुदायोंके लिये जीव अनेक हैं; जो संस्कारसमुदाय विकारी हैं, वे घटते-बढ़ते हैं इसीसे वे नाशवान् हैं। आनन्दतत्त्व एक समान है, इसमें कोई परिवर्तन नहीं होता, यह अविकारी है, यह घटता-बढ़ता नहीं है, अविनाशी है। गाढ़ निद्रामें जिस समय अन्तःकरणकी विशेष संस्कारवाली वृत्तियाँ लीन होती हैं, उस समय जो आनन्द होता है वह एक-सा होता है, वह बढ़ता-घटता नहीं है। जागृतिमें जब ये विशेष संस्कारवाली वृत्तियाँ उद्भूत होती हैं तब इन्हींके कारण आनन्दका कम और अधिक अनुभव होता है। इससे सिद्ध हुआ कि आनन्दके न्यूनाधिक अनुभवका कारण संस्कारसमुदाय है। जैसे गाढ़ निद्रामें, वैसे ही यदि जागृतिमें भी एक क्षणके लिये वृत्ति स्थिर हो जाय, विशेष संस्कारवाली वृत्तियाँ यदि जाग्रत् न हों, तब उस समय भी उसी आनन्दका अनुभव होता है।

जीवका आनन्दत्व अविनाशी चेतनमय और एक है, तथा संस्कारसमुदाय भिन्न-भिन्न हैं और विनाशी हैं। विकारोंसे युक्त संस्कारसमुदायसे रहित केवल शुद्ध चिदानन्दको 'आत्मा' कहते हैं। आत्माको पूर्व-संस्कारोंके भोगके लिये शरीरकी आवश्यकता हुई। इस शरीरमें संस्कारसमुदायसहित आत्मा या चिदानन्द 'जीव' कहलाता है। विकारी संस्कारसमुदायका यदि पूर्णतया नाश हो जाय तो फिर केवल आनन्द ही रह जाता है।

इन विकारयुक्त संस्कारसमुदायका नाश कैसे हो? मनुष्य जो कुछ भी क्रिया करता है, उस प्रत्येक क्रियाका हेतु प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्षरूपमें केवल सुखकी चाह ही होती है। इसी सुखके लिये अनुकूलता और प्रतिकूलताके अनुसार राग-द्वेष और काम-क्रोधादि विकार उत्पन्न होते हैं जो अपने-अपने नये संस्कार उत्पन्न करते हैं। यह सुखकी चाह अपने आनन्दस्वरूपके ज्ञानके अभावमें बनी रहती है और यही चाह विकार और संस्कारोंको उत्पन्न करती है। जीव वास्तवमें स्वयं आनन्दस्वरूप है अतएव इसे सुखके लिये किसी बाहरी विषयको चाहनेकी आवश्यकता नहीं रहती। इस चाहका नाश होते ही जीव विकारों और संस्कारोंसे मुक्त होता है और सदैव आनन्दस्वरूप बना रहता है।

'जीव आनन्दस्वरूप है'—यह ज्ञानका एक अङ्ग है; और 'इस ज्ञानके अभावसे ही जीवको सुखकी चाह रहती है और उसीसे विकार और संस्कार उत्पन्न होते हैं जो दुःखके हेतु होते हैं'—यह ज्ञानका दूसरा अङ्ग है, जो आपको परोक्षतया कहा गया है; जैसे यदि आपने कभी हाथी न देखा हो और उसका वर्णन किया जाय तो आपको उस हाथीका ज्ञान परोक्ष ही रहेगा, परन्तु यदि आपको हाथीका पूर्वपरिचय है, तो हाथीका ज्ञान आपको परोक्ष नहीं किन्तु अपरोक्ष होगा। जीवका और जीवके आनन्दस्वरूपका आपको परिचय है, आप अपनेको अच्छी तरह जानते हैं, आप अपने आनन्दस्वरूपका अनुभव निद्रा और जागृति दोनों ही अवस्थाओंमें करते रहते हैं। इससे आपको जीवके आनन्दस्वरूपका ज्ञान परोक्ष नहीं रहता, अपरोक्ष ही होता है। अपना स्वरूप आनन्दमय है, ज्ञानके इस अङ्गका साक्षात्कार होता है। 'अब स्वयं आनन्दस्वरूप होनेसे, वह स्वाभाविक ही आनन्दमय रहता है। इसलिये उसको अधिक आनन्द-की चाह करनेकी आवश्यकता नहीं रहती।' ज्ञानके इस दूसरे अङ्गका साक्षात्कार करना शेष रहा। इसका साक्षात्कार करना इस प्राप्त किये हुए ज्ञानको प्रतिदिनके व्यवहारमें लाना है। यों तो इसमें बहुत-सी कठिनाइयाँ दिखायी देती हैं परन्तु वास्तवमें यह कठिनाइयाँ हैं नहीं। जो मालूम होती हैं उनमेंसे बहुत-सी विवेक और विचारसे दूर हो जाती हैं। कभी-कभी इसमें ऐसे अनुभवी पुरुषोंकी सहायता लेनी पड़ती है जो स्वरूपका साक्षात्कार कर चुके हैं। जो पुरुष भगवान्‌की शरण लेते हैं, भगवान् उनकी सहायता करते हैं। यदि साक्षात्कार करनेका आपका दृढ़ सङ्कल्प है तो किसी-न-किसी उपायसे कठिनाइयाँ भी अवश्य ही दूर हो जाती हैं। ऐसा करना या न करना आपके हाथकी बात है। यदि आप सचमुच सुखके लिये कुछ करना चाहते हैं तो यह करके देखिये, आपको परम सुखका अनुभव अवश्य होगा।

जिन्होंने ऊपर बताये हुए ज्ञानके दोनों अङ्गोंका अर्थात् सम्पूर्ण ज्ञानका साक्षात्कार किया है वे ही ज्ञानी संत-महात्मा हैं।

सती चिन्ता

(लेखक—श्रीरामनाथजी 'सुमन')

[१]

बहुत दिन हो गये; सत्ययुगकी बात है, जब इस देशमें श्रीवत्स नामके एक राजा राज्य करते थे। राजा बड़े ही धर्मात्मा और दयालु थे। रूप, गुण, विद्या, बुद्धि सब पुरुषोचित गुण उनमें एकत्र हुए थे। राजा जैसे बुद्धिमान् थे, रानी भी वैसी ही पतिपरायणा और बुद्धिमती थीं। उनका नाम चिन्ता था और वह राजा चित्रसेनकी पुत्री थीं। उनका अधिकांश समय स्वामीकी सेवा, देवार्चन, अतिथि-सत्कार और व्रत-नियम, दान इत्यादि सत्कार्योंमें व्यतीत होता था। पति-पत्नी दोनोंका भगवान्में अटूट विश्वास था।

जिस समयकी कथा हम लिख रहे हैं उस समय समाज और देशकी अवस्था आजकलकी-सी न थी। उस समय भारतवर्षकी जन-संख्या इतनी अधिक न थी। देश हरा-भरा और शस्यसम्पन्न था। थोड़ी ही मिहनतसे अधिक नाज पैदा होता था जिससे बहुत कम दाममें अधिक अन्न खरीदा जा सकता था। उस समय लोग पेटके लिये, आजकलकी तरह, मारे-मारे नहीं फिरते थे। खाने-पीनेकी इतनी चिन्ता नहीं थी। जो ऋषि-मुनि, साधक और तपस्वी परमात्मचिन्तनके लिये एकान्त वनमें जाकर पर्णकुटी बनाकर रहते थे, उन्हें भी बिना यत्न किये ही आवश्यक सामग्री प्राप्त हो जाती थी। उस समय देशमें मोटरें और रेलगाड़ियाँ न थीं। विमान अवश्य होते थे पर उनका उपयोग बहुत कम होता था। राजा भी एक स्थानसे दूसरे स्थानतक जानेके लिये रथका उपयोग करते थे। आजकल देवताओंके प्रत्यक्ष दर्शन पानेकी बातें बड़े आश्चर्य और अविश्वासके साथ सुनी जाती हैं किन्तु उन दिनों देवताओंसे बातचीत करना एक साधारण-सी बात समझी जाती थी। श्रीवत्स उसी कालके मनुष्य थे।

× × ×

देवलोकमें एक दिन लक्ष्मी और शनिदेवमें आपसमें बहस छिड़ गयी कि हम दोनोंमें कौन श्रेष्ठ है। दोनोंने अपने बड़प्पनकी अनेक बातें सुनायीं और तर्कसे अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करनेका प्रयत्न किया। लक्ष्मीने कहा—'मैं जिसका त्याग करती हूँ, सम्पूर्ण समाज उसे त्याग देता है। मुझसे रहित होकर आदमी दाने-दानेको तरसता है और उसका जीवन बड़े क्लेशसे व्यतीत होता है। जिसपर मेरी कृपादृष्टि हुई, वह कृतार्थ हुआ। मेरी शुभ दृष्टिसे दरिद्र राजा और रेगिस्तान चमन बन जाता है।'

शनिदेव बोले—'तो भी मेरे प्रभावकी तुलनामें ये सब बातें कहाँ ठहर सकती हैं? मैं जिसपर नजर गड़ा दूँ उसे महाराजाधिराज होनेपर भी अरण्यवासी हो शुष्क जीवन बिताना पड़ता है। हमारे प्रभावको कौन नहीं जानता? सुर, नर, मुनि सब मुझे मानते हैं। मेरे ही कारण जगन्माता सतीने देहत्याग किया। मेरी उपेक्षा करके इन्द्रने बार-बार दुःख भोगा। इतनेपर भी तुम अपनेको मुझसे बड़ी कहती हो?'

जब दोनोंमें देरतक बहस होनेके बाद भी कोई निर्णय न हुआ तो एक योग्य और न्यायी मध्यस्थसे निर्णय करानेका विचार कर दोनों महाराज श्रीवत्सके पास पहुँचे। राजाने दोनोंका उचित सत्कार किया पर जब उन्हें उनके आगमनका कारण मालूम हुआ तो वह बड़ी चिन्तामें पड़े। दोनोंमेंसे किसीको नाराज करना विपत्ति मोल लेना था। इसलिये उन्होंने कहा—'इस कठिन प्रश्नकी मीमांसा करनेके लिये कुछ समय-की आवश्यकता है। मैं कल सबेरेतक इसका उत्तर दूँगा।' राजाकी बात मानकर दोनों उस समय चले गये।

[२]

दूसरे दिन सुबह उठकर राजाने मन्त्रियों और बुद्धिमान् सम्बन्धियोंके साथ सलाह की। बहुत देरतक

विचार करनेके बाद एक उपायका निश्चय हुआ। दो सिंहासन मँगवाये गये—एक सोनेका था, दूसरा चाँदीका। उनको भलीभाँति पुष्पमालाओं तथा अन्य वस्तुओंसे सजाकर सामने रख दिया गया। और राजा गम्भीरतापूर्वक दोनोंके आगमनकी प्रतीक्षा करने लगे।

थोड़ी देरमें राजसभाको प्रकाशित करके लक्ष्मीदेवी और शनिदेवका स्वर्गसे आगमन हुआ। वे दोनों स्वयं एक-एक सिंहासनपर बैठ गये। लक्ष्मीदेवी संयोगवश सोनेके सिंहासनपर विराजीं और शनिदेवने दूसरे सिंहासनपर अधिकार जमाया। राजाने दोनोंको प्रणाम किया और हाथ जोड़कर सेवामें जा पहुँचे। कुछ देर इधर-उधरकी बातें होती रहीं। फिर शनिदेवने वही अपना सवाल दोहराया कि हम दोनोंमें कौन श्रेष्ठ है, इसपर अपना निर्णय दीजिये।

राजाने हँसते हुए उत्तर दिया—'अधिक हम क्या कहें? आप दोनोंने अपनी इच्छासे अपने-अपने आसन चुने हैं। उन्हींके अनुसार अपनी बड़ाई-छोटाई भी समझ लीजिये।'

शनिदेवने अपने आसनकी ओर देखा और राजाका निर्णय अपने विरुद्ध पाकर एकबारगी तेलके बैंगन बन गये। उन्होंने अपनेको अपमानित अनुभव किया और मन-ही-मन राजासे बदला लेनेकी प्रतिज्ञा करके प्रस्थान किया। राजाने समझ लिया कि इस बार कल्याण नहीं। इधर लक्ष्मीने प्रसन्न होकर राजाको आशीर्वाद दिया और उनसे सन्तुष्ट हो चली गयीं।

[३]

जबसे शनिदेव नाराज होकर गये, राजा चिन्ताके मारे दिन-दिन क्षीण होने लगे। पतिव्रता रानी चिन्ताने पतिको समझाने-बुझानेकी बड़ी चेष्टा की पर उनके हृदयकी अशान्ति दूर नहीं हुई। शनिदेवकी कृपासे राजाका मन रात-दिन तरह-तरहकी दुश्चिन्ताओंसे पीड़ित रहने लगा। एक दिन राजा जब स्नान करने जा रहे थे तो एक काला कुत्ता स्नानके जलको जूठा कर भाग गया। उस समय यह बहुत बुरा लक्षण समझा जाता था। इससे बड़ी भारी विपत्ति आनेकी सम्भावना मानी जाती थी। राजाके दिमागपर शनिदेवने अधिकार कर लिया था इसलिये राजा इस बातसे और भी डर गये और दिन-दिन उनकी शक्ति क्षीण होने लगी।

बिना भूकम्पके ही राजाके महल गिरने लगे। धीरे-धीरे सब जमीनमें मिल गये। हाथी, घोड़े, ऊँट इत्यादि नष्ट हो गये। राजाके साथ प्रजाकी भी दुर्दशा होने लगी। घर-घर हाहाकार छा गया। लोग भूखों मरने लगे। खलिहानों और भण्डारोंमें रखा अन्न अपने-आप जलकर राख हो गया। घास और चारेके अभावमें पशु मरने लगे। राजाने तीन दिनतक घूम-घूमकर प्रजाकी अवस्था देखी। रानी भी साथ थीं। उन लोगोंने जो कुछ देखा उससे उनको बड़ा दुःख हुआ। रानी रोने लगीं। उनकी भूख-प्यास-नींद गायब हो गयी। राजाने रानीको समझाते हुए कहा—'देवी! विपद्‌में धीरज रखना मनुष्यका कर्तव्य है। जो जन्मा है वह एक दिन जरूर मरेगा। जीवोंके रक्तमें ही मृत्युका बीज मिला है इसलिये चिन्ता करनेसे क्या लाभ? फलदाता भगवान् हैं। वही हमारे स्वामी हैं। उनकी जो इच्छा होगी, वही होगा।'

राजाने जब देखा कि सब कुछ नष्ट होता जा रहा है तो उन्होंने भगवान्‌की वैसी इच्छा समझकर घर छोड़ देनेका निश्चय किया। रानीसे बोले—'प्रिये! तुम अपने गहने आदि लेकर कुछ दिनोंके लिये अपने पिताके घर चली जाओ। मैं अब देश-देशान्तरोंमें भ्रमण करूँगा। शनिदेवके चङ्गुलसे छुटकारा होनेपर फिर तुमसे आ मिलूँगा।'

रानी चिन्ता तो सच्ची पतिव्रता नारी थीं। उन्होंने कहा—'महाराज! मुझे ऐसी कठोर आज्ञा न दीजिये।

आप जहाँ जायँगे मैं भी आपके साथ चलूँगी। यह ठीक नहीं कि आप कष्टमें घूमते फिरें और मैं बैठकर सुख भोगूँ। दु:खके समय आप मुझे अपने चरणोंकी सेवासे वञ्चित न कीजिये। दु:खमें, सुखमें आपकी सेवा करना ही मेरा धर्म है।'

राजाने रानीको बहुत समझाया पर जब देखा कि वह दृढ़ है तो साथ चलनेकी आज्ञा दे दी।

इस समय रातको दो बजे थे। कुत्ते रो रहे थे। चारों ओर भयानक अपशकुन हो रहे थे। राजा-रानीने निश्चय किया कि अब यहाँ ठहरना ठीक नहीं है। दोनों आवश्यक सामान लेकर चुपचाप निकल गये। कुछ दूर गये थे कि लक्ष्मीदेवीने प्रकट होकर उनको धीरज बँधाया और कहा कि 'मैं सदैव आपके पास रहूँगी। शनिदेवके क्रोधके कारण भले ही कुछ दिनतक दुःख भोगने पड़ें परन्तु मैं शीघ्र ही तुम्हारे अच्छे दिन लानेकी कोशिश करूँगी।' राजा-रानीने उनको नमस्कार किया और जंगलकी तरफ चल पड़े। रानीने अपने गहने एक मामूली कपड़ेमें बाँधकर गठरी सिरपर धर ली और पतिके पीछे-पीछे पैदल चलीं। कोमल शतदलसे जिनके पाँवकी उपमा देनेमें कवियोंको संकोच होता था वही कुसुम-कोमला रानी आज कुश-कण्टकभरे मार्गपर चली जा रही हैं। पतिभक्तिसे ही नारीमें यह क्षमता उत्पन्न होती है।

[४]

सुनसान, बियाबान, जंगलके टेढ़े-मेढ़े रास्तोंसे चलते हुए राजा और रानी—श्रीवत्स और चिन्ता—दोनों एक बड़ी नदीके किनारे जा पहुँचे। नदीका पाट दूरतक फैला हुआ था; दूसरा किनारा दिखायी नहीं पड़ता था। दोनों नदीके किनारे बैठकर, सिर झुकाकर, उस पार कैसे जायँ, इस चिन्तामें डूब गये। थोड़ी देर बाद राजाने सिर उठाया तो देखा कि पास ही तटपर एक बूढ़ा अपनी पुरानी नावमें बैठा हुआ उनकी जानमें जान आयी। उन्होंने बूढ़ेसे जल्द उस पार पहुँचा१ देनेका अनुरोध किया और उचित पारिश्रमिक देनेका वचन दिया। बूढ़ेने कहा—'तुम कौन हो जो इस समय इस निर्जन स्थानमें एक स्त्रीके साथ बैठे हो? इतनी रातको तुम कहाँ जाओगे? तुम्हारी इस गठरीमें क्या है? मेरे मनमें सन्देह होता है कि कहीं तुम चोरी करके और इस स्त्रीको भगाकर तो नहीं आये हो!'

राजा बोले—'भाई! तुमने श्रीवत्स राजाका नाम सुना होगा; मैं वही अभागा राजा हूँ। यह हमारी पत्नी है। बुरे दिन आ गये हैं; दोनों रास्तेके भिखारी हो रहे है।'

नाविक उनकी बातोंपर कैसे विश्वास करता? उलटे वह व्यंग करने लगा। बड़ी अनुनय-विनयके बाद बोला—'मेरी नाव पुरानी और कमज़ोर है। दोसे अधिक आदमियोंके बैठनेसे उसके टूटने अथवा डूब जानेका डर है। अगर आप दोनों एक साथ पार होना चाहते हों तो इस गट्ठरको यहीं रख दें। पीछे मैं इसे पहुँचा दूँगा। अगर यह बात आपको स्वीकार न हो तो इस गट्ठरको पहले उस पार रख आऊँ, पीछे आकर आप लोगोंको पार कर दूँगा।'

शनिदेवने बुद्धि खराब कर दी थी इसलिये राजा-रानीने पिछली बात स्वीकार की और कहा—'जाकर गट्ठरको रख आओ, फिर हम लोगोंको ले चलना।' नाविकने गट्ठरको नावमें रख लिया और नाव खोल दी। राजा-रानी नावकी ओर देख रहे थे। क्षणभर बाद देखते हैं तो न नाव है, न नाविक है, न नदी है। अब राजाकी समझमें आया कि यह सब शनि-की करतूत है। अब क्या करें? जो कुछ सम्पत्ति थी वह भी चली गयी। अन्तमें थके-माँदे दोनों धीरे-धीरे पगडंडीसे आगे बढ़ने लगे। सारी रात चलकर चित्रध्वज नामके जंगलमें पहुँचे। उस समय सबेरा

हो गया था। ठंढी, स्फूर्ति देनेवाली हवा चल रही थी। पक्षी चहचहाते तथा किलोल करते थे। सामने ही सुन्दर सरोवर था। रानी चिन्ताने पतिसे कहा—'महाराज! सारी रात चलते रहनेके कारण आप बिल्कुल थक गये हैं। इस जगह ठहरकर थोड़ा विश्राम कर लीजिये। यह जगह भी सुहावनी है। सामने कितना बढ़िया सरोवर है। इस सरोवरमें स्नान करके और फूल तोड़कर आज अपने इष्टदेवकी पूजा करनी चाहिये। खोजनेसे इस जंगलमें फल इत्यादि भी मिल जायँगे। उन्हें ला और भगवान्‌को प्रसाद चढ़ाकर ग्रहण करना चाहिये।' राजाने रानीकी बात मान ली। स्नान करके फल-फूल एकत्र कर भलीभाँति भगवान्‌का पूजन किया और प्रसाद ग्रहण किया।

स्नान, पूजन, भोजन और विश्रामके बाद दोनोंने फिर आगे अपनी यात्रा आरम्भ की। जंगल-पर-जंगल, पहाड़-पर-पहाड़, कितनी चढ़ाई-उतराई, नदी-नाले पार करते हुए वे आगे बढ़ने लगे। जंगलकी शोभा देखकर वे अपना दुःख थोड़ी देरके लिये भूल-से गये। पर इस जंगलमें जहाँ हरियाली और फल-फूलोंकी बहुतायत थी तहाँ शेर, चीते इत्यादि भयङ्कर नर-भक्षी पशु भी थे। ऐसे वनके बीचसे राजा-रानी दोनों भगवान्‌का नाम लेते चले जा रहे थे। वे भगवान्‌को सच्चे हृदयसे रक्षाके लिये पुकार रहे थे। उनकी पुकार सुनी गयी। आकाशवाणी हुई कि 'वनवासकालमें तुम्हारी रक्षाके लिये सदा तुम्हारे साथ रहूँगा।' इससे दोनों-को कुछ ढाढ़स बँधा।

[५]

इस प्रकार भ्रमण करते हुए एक दिन उन्होंने देखा कि धीवरोंका एक दल चला आ रहा है, और उनके कंधेपर जाल हैं। राजा भूखसे व्याकुल थे और शनिके प्रभावसे उनका विवेक काम नहीं दे रहा था। इससे मछलियोंको अभक्ष्य समझते हुए भी राजा अपने-को रोक न सके और धीवरोंके पास आनेपर राजाने उनके नेतासे कहा—'भाई! हम दोनों प्राणी तीन दिनसे भूखे हैं। यदि तुम दया करके कुछ मछलियाँ दे दो तो भूख बुझायें।' चौधरी जाल झाड़कर दिखाता हुआ बोला—'देखो, हम खाली हाथ घर लौटे जा रहे हैं। आज न जाने किस अशुभ घड़ीमें हम घरसे निकले कि सारे दिन मेहनत करनेपर भी कुछ हाथ नहीं लगा। जान पड़ता है, भगवान्‌की इच्छा बिना कोई कुछ नहीं पा सकता।' भगवान्‌में चौधरीका ऐसा सरल विश्वास देखकर राजाको बड़ी प्रसन्नता हुई। राजा मन-ही-मन भगवान्‌का स्मरण कर बोले—'भाई! मेरे कहनेसे पासके इस तालाबमें तुम एक बार और जाल फेंककर देखो। मेरा मन कहता है कि इस बार तुमको अवश्य सफलता प्राप्त होगी।'

चौधरीने राजाकी बात मान ली; क्योंकि खाली हाथ लौटनेसे उसे भी चौधरानीकी डाँट-फटकार सुननेका डर था। सोचा, चलो एक बार और किस्मत आजमा लें। जाल फेंका गया। भाग्यकी बात, पहली ही बार इतनी मछलियाँ आयीं जितनी दूसरे दिनों घण्टोंके परिश्रमसे भी नहीं मिलती थीं। चौधरीने सन्तोषकी साँस ली; राजाका धन्यवाद किया और कुछ मछलियाँ उन्हें देकर खुशी-खुशी घरकी तरफ लौटा।

राजाने उन मछलियोंको चिन्ताको दिया और कहा—'देवी! मुझे बड़ी भूख लगी है, मैं स्नान करने जाता हूँ; तुम लकड़ी इकट्ठी करके किसी तरह इन्हें भून डालो।' यह कह राजा स्नान करने चले गये। रानीने लकड़ीके छोटे-छोटे टुकड़े एकत्र किये और मछलियोंको भूनने लगीं। उनकी आँखोंसे टप-टप आँसू गिरने लगे। वह सोचने लगीं—पतिदेव इन्हें कैसे खायँगे। जिन्हें घी, दूधके अमृत-जैसे व्यञ्जनोंसे भी तृप्ति नहीं होती थी उनको आज ये अपवित्र सूखी मछली खानी पड़ेगी। हा हन्त!

जब मछलियाँ भुन गयीं, रानी आँसू पोंछकर उठीं और तालाबके जलमें उन्हें धोनेके लिये गयीं, पर ज्यों ही रानीने उन्हें धोनेके लिये पानीमें डाला त्यों ही सब मछलियाँ जीवित होकर भाग गयीं। रानी आश्चर्यसे विमूढ़ हो देखती रहीं; फिर दुःखके मारे बैठकर रोने लगीं। उन्होंने सोचा—'प्राणनाथ कई दिनोंसे भूखे हैं। बड़ी मुश्किलसे इतनी मछलियाँ मिली थीं। अब उनकी क्या दशा होगी? न जाने वह मनमें क्या सोचेंगे? भुनी मछलियाँ जीवित होकर भाग गयीं, इसे सुनकर कौन विश्वास करेगा? वह यही सोचेंगे, मैंने ही भूखी होनेके कारण उन्हें खा लिया।'

चिन्ताने डरते-डरते जाकर पतिको सब हाल सुनाया। राजाने सुनकर एक सूखी हँसी हँस दी और कहा—'यह सब शनिदेवकी कृपा है। प्यारी! घबड़ाने और रोनेसे क्या होगा। जो पड़ेगा उसे भगवान्‌की इच्छा समझकर भोगना पड़ेगा।' असलमें भगवान्‌ने अच्छा ही किया, राजा-रानी अभक्ष्य आहारसे बच गये। इसी समय आकाशसे शनिदेव गरजकर बोले—

भाग्यहीन श्रीवत्सराज तू सुन अकासबानी मेरी।
लक्ष्मी बड़ी और मैं छोटा! करता हूँ साँसत तेरी॥
पहले किया राज्यका नाश। अब करवाता हूँ बनवास।
पत्नी भेद करूँगा आगे। तब जानेगा मुझे अभागे!॥

'पत्नी-भेद' की बात सुनते ही चिन्ता बेहोश होकर गिर पड़ी। पानीके छींटे दे-देकर राजा उनको होशमें लाये पर रानीके होशमें आते ही खुद रोने लगे। उन्होंने सोचा न जाने किस सायतमें मैं शनिदेव और लक्ष्मीदेवीके बीच पड़ा। अब चिन्तासे भी अलग होना पड़ेगा। अभी किस्मतमें न जाने क्या लिखा है।

जब दुःखका वेग कुछ कम हुआ तो दोनोंने मिलकर भगवान्‌से सहायताकी प्रार्थना की और आगे चले।

[६]

श्रीवत्स और चिन्ता दोनों फिर वन-वन घूमने लगे। फल-मूल जो मिल जाता, खाकर रह जाते। इस तरह कुछ दिन बीत गये। अन्तमें उसका मिलना भी बन्द हो गया। कभी मिल जाता, कभी नहीं। बीच-बीचमें उपवास होने लगा। भोजनके बिना जीवित रहना सम्भव नहीं है इसलिये दोनों जंगल छोड़कर नगरके पास नदीके किनारे बसे एक गाँवमें पहुँचे। यहाँके निवासी जंगलसे लकड़ी लाते और उसे बेचकर अपनी जीविका चलाते थे।

गाँवके लोगोंने कुतूहलवश आकर इन्हें घेर लिया। यद्यपि उन लोगोंकी भाषा दूसरी थी पर उनकी चेष्टाओंसे मालूम पड़ता था कि इनसे मिलकर उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई है। उन लोगोंके चेहरेपर एक प्रकारकी सरलता थी। राजाने बड़ी कठिनाईसे उनको अपनी बात समझायी और वहाँ उन लोगोंके साथ रहनेकी इच्छा प्रकट की। उन लोगोंने प्रसन्नतापूर्वक इसे स्वीकार किया और कहा—'पेट भरनेवाला भगवान् है। यहाँ मजेसे रहिये। भरसक हमलोग आपको कोई कष्ट न होने देंगे।' उसी दिनसे राजा-रानी एक झोंपड़ी बनाकर वहाँ रहने लगे।

श्रीवत्स रोज सुबह जंगल जाते और दोपहरतक लकड़ियाँ इकट्ठी करके बाजारमें बेच आते और जो कुछ मिलता, उससे खाने-पीनेकी सामग्री ले आते। इस तरह उनके दिन बीतने लगे। पर बोझ उठाते-उठाते राजाकी हालत खराब होती जा रही थी। तब उन्होंने जंगलसे चन्दन इत्यादि उत्तम जातिकी लकड़ियाँ पहचानकर चुनना शुरू किया। इस तरह थोड़े श्रमसे ही अधिक पैसे मिलने लगे। और बड़े मजेसे उनका काम चलने लगा। बीच-बीचमें वे ग्रामवासियोंको निमन्त्रित करते, उनको बढ़िया भोजन खिलाते। सारे ग्रामवासी इन दोनोंको बहुत मानते थे। चिन्ताने अपने मृदु व्यवहार और सौजन्यसे काठियोंकी स्त्रियोंका मन जीत लिया था। वे चिन्तापर पूरी श्रद्धा रखती थीं।

इस प्रकार बड़े सुखपूर्वक श्रीवत्स और चिन्ताकी गृहस्थी चलती थी ।

[७]

इसी तरह कुछ दिन बीत गये । एक दिन सवेरे ही गाँवमें शोर हुआ कि एक बड़े व्यापारीकी बड़ी-सी नाव, मालसे लदी, नदी-तटमें आ फँसी है । बेचारा कहीं व्यापारके लिये जा रहा था, दुर्भाग्यवश बहावमें इधर आ फँसा । भीड़ लग गयी । व्यापारीने बहुत-से लोगोंको लगाया पर नाव टस-से-मस न हुई । व्यापारीका मुँह सूख गया । अब क्या करे ? इसी चिन्तामें था कि सामनेसे एक बूढ़े ब्राह्मण लाठी और ताड़की पंखी लिये आते दिखायी दिये । नजदीक आनेपर उन्होंने कहा—'तुम चिन्ता मत करो । तुम्हारी नाव चलेगी । इस गाँवमें एक स्त्री है जो परम पतिव्रता है । उसके छूते ही तुम्हारी नाव चलने लगेगी । तुम रुपये देकर गाँवकी सब स्त्रियोंको एकत्र करो । बारी-बारीसे नाव छुलाओ । तुम्हारा काम बन जायगा ।' यह कहकर वह ब्राह्मण चला गया । बनियेने रुपये दे-देकर गाँवकी स्त्रियोंको बुलाया । सबने नावका स्पर्श किया पर वह तिलभर न खिसकी । बनिया खीझकर ब्राह्मणको मन-ही-मन कोसने लगा । पर बादमें उसे पता चला कि एक स्त्री नहीं आयी है ।

बात यह थी कि जिस समय लोग चिन्ताको बुलाने आये थे, श्रीवत्स कुटीमें मौजूद थे । उन्होंने चिन्ताको वहाँ जानेसे मना कर दिया और खुद लकड़ियाँ लाने जंगल चले गये ।

जब सौदागरको मालूम हुआ कि स्वामीकी आज्ञा न पानेके कारण गाँवकी एक स्त्री नहीं आयी तब उसने समझ लिया कि वही पतिव्रता स्त्री है जिससे हमारा काम बन सकता है । वह स्वयं चिन्ताकी कुटीपर पहुँचा, हाथ जोड़कर अपनी विपदाकी कहानी सुनायी और बड़े अनुनय-विनयके साथ कहा—'मेरी रक्षा करो ।'

चिन्ता सोच-विचारमें पड़ गयी । क्या करे ? पति जानेको मना कर गये हैं तब वहाँ जानेसे उनकी आज्ञाका तिरस्कार होता है, दूसरी ओर शरणागतकी सहायता और रक्षा न करनेसे भी धर्म जाता है । अन्तमें उसने सोचा—'पाप तो इच्छामें है । पतिकी आज्ञाका उल्लङ्घन करके वहाँ जानेकी मेरी स्वयं कोई इच्छा नहीं है । परोपकारके लिये जा रही हूँ, शरणागतकी रक्षाके लिये जा रही हूँ ।'

चिन्तादेवी सौदागरके साथ चलीं । उनको आता देख गाँवके नर-नारी चकित हुए, क्योंकि उन्होंने समझा—धन देकर उनको लानेमें सौदागरने सफलता प्राप्त की है । पर चिन्ताका मुख असाधारण गम्भीरता और पातिव्रतके तेजसे दमक रहा था । उनके छूते ही नौका चलने लगी । सब देखकर अवाक् रह गये । सौदागरके आनन्दका तो पूछना ही क्या था ?

परन्तु चिन्ताका परोपकार ही उसके लिये अभिशाप सिद्ध हुआ । सौदागरने सोचा, 'जब इसके स्पर्शसे नौका चलने लगी तो यदि यह स्वयं नौकापर रहे तो कोई विपत्ति आनेकी सम्भावना ही न रह जायगी ।' और उसने तथा उसके आदमियोंने जबर्दस्ती चिन्ताको नावमें रख लिया । पाल खोलनेके थोड़ी ही देर बाद नौका न जाने कहाँ अदृश्य हो गयी । सब लोग देखते ही रह गये ।

× × ×

चिन्ता बिल्कुल घबड़ा गयी । विपत्तिमें पतिदेवका भी साथ छूट गया । उसने सोचा—'मैंने पतिदेवकी आज्ञाका उल्लङ्घन किया, इसीलिये यह दुर्दशा हुई ।' सोच-सोचकर वह विलाप करने लगी । उसका अंचल भीग गया । उसने सौदागरको धिक्कारा, उसके पाँव

पकड़कर मुक्तिकी प्रार्थना की पर स्वार्थान्ध वणिक्‌पर इन बातोंका कुछ भी असर नहीं हुआ। अन्तमें चिन्ता पूर्णतः निरुपाय और निराश्रय हो गयी और भगवान्‌का स्मरण कर सूर्यदेवसे प्रार्थना की कि 'कहीं मेरे रूप और यौवनके कारण मेरा धर्म भ्रष्ट न हो इसलिये मेरा रूप नष्ट हो जाय और मेरे सारे शरीरमें गलित कोढ़ हो जाय और उसमें दुर्गन्ध तथा कीड़े पैदा हो जायँ।' पतिव्रता चिन्ताकी प्रार्थना स्वीकृत हुई और उसे कोढ़ हो गया। सौदागर चिन्ताको शान्त होनेके लिये एक तरफ छोड़ नौकाके दूसरे भागमें चला गया था। उसने सोचा था, समय बीतनेपर वह अनुकूल हो जायगी, तब उससे अपनी कामवासनाकी पूर्ति करूँगा। पर बादमें जब उसने देखा कि उसे कोढ़ हो गया है और शरीरसे बदबू निकल रही है तो वह घृणापूर्वक उससे दूर रहने लगा। अब चिन्ताने अपनेको सुरक्षित समझा और निश्चिन्त होकर वह गुरु-प्रदत्त इष्ट मन्त्रका जप करने लगी।

[८]

चिन्ताके इस प्रकार हरण किये जानेपर काठियों-की स्त्रियाँ बड़ी विकल हुईं। चिन्ता उन सबको प्राणके समान प्यारी थी। सब उसे आत्मीयसे भी अधिक मानती थीं। पर सारी घटना इतनी शीघ्रतासे हो गयी कि वे देखती ही रह गयीं। स्त्रियाँ बड़ी देरतक वहीं बैठकर विलाप करती रहीं। अन्तमें हारकर वणिक्‌को गालियाँ देती घर चलीं।

इधर दोपहरको जब श्रीवत्स लकड़ियोंका बोझ लेकर लौटे और चिन्ता-चिन्ता पुकारा तो कुछ जवाब न मिला। बार-बार चिल्लानेपर भी उत्तर नहीं। उन्होंने गाँवमें घर-घर जाकर पुकारा पर चिन्ताका पता नहीं। और भी कोई स्त्री गाँवमें दिखायी नहीं पड़ी। तब उन्होंने अनुमान किया कि सब स्त्रियोंके साथ चिन्ता भी वणिक्‌की नाव देखने गयी होगी। इतनेमें ही दूरपर गाँवकी स्त्रियाँ, झुंड-की-झुंड, आती दिखायी दीं। श्रीवत्स चिन्ताके लिये दौड़कर रास्तेमें जा पहुँचा। उनकी आतुरता देख स्त्रियोंका हृदय भर आया और बड़े कष्टसे रोते-रोते उन्होंने सब हाल श्रीवत्सको कह सुनाया। श्रीवत्स सुनते ही माथा पकड़कर वहीं बैठ गये। न किसीकी ओर देखते हैं, न बात करते हैं। स्त्रियोंके सहानुभूतिके वाक्य उनके कानके अंदर प्रवेश नहीं कर पाते।

आज इतने दिनों बाद श्रीवत्स सचमुच ही गृह-हीन हुए। शनिदेवकी—स्त्रीभेदवाली—बात ठीक हुई। श्रीवत्सको चारों ओर अँधेरा दिखायी पड़ा। जब कुछ देर बाद होश-हवास दुरुस्त हुए तो वह नदीकी ओर गये और किनारे पहुँचकर बड़ी देरतक चिन्ताका नाम ले-लेकर पुकारते रहे। फिर जमीनपर लोटकर रोने लगे। गाँवकी स्त्रियोंने आकर उन्हें बहुत समझाया और लौट चलनेका आग्रह किया पर वह लौटे नहीं; उनसे विदा लेकर नदीके किनारे-किनारे चलने लगे—इस आशासे कि शायद कभी नौका दिखायी पड़ जाय।

श्रीवत्सके लिये इस समय कुछ नहीं रह गया है। सारा संसार उनके लिये सूना हो गया। उन्हें अपने जीवनकी जरा भी माया न रह गयी। एक बार सोचा—'नदीमें कूदकर प्राण दे दूँ।' पर ईश्वरके परम भक्त श्रीवत्सके लिये आत्महत्या-जैसा भयङ्कर पाप करना कैसे सम्भव था? चलते-चलते थककर एक स्थानपर बैठ गये और चित्त एकाग्र कर इष्टदेवका ध्यान करने लगे। जब ध्यान करते कई घंटे हो गये तब उन्होंने ध्यानमें ही देखा कि गुरुदेव सामने खड़े हैं और कह रहे हैं—'बेटा! शान्त हो। चिन्ताके लिये सोच न कर। थोड़े दिनों बाद फिर वह तुम्हें मिल जायगी। वह परम साध्वी है। एकमनसे

भगवान्‌के ध्यानमें डूबी रहती है। उसको स्पर्श करना यमकी शक्तिके भी बाहर है। उस सतीकी मर्यादा अचल है और सदा रहेगी।' गुरुदेव अन्तर्धान हो गये। इससे श्रीवत्सका हृदय कुछ शान्त हुआ और उसी दिनसे वह देश-विदेश घूमने लगे। कहाँ जा रहे हैं, इस ओर उनका ध्यान नहीं था। केवल चलना। जिधर पैर उठते उधर ही चले जाते। मानो कोई गुप्त शक्ति उन्हें खींचे लिये जाती हो।

[९]

अनेक पहाड़, नदियाँ, मरुस्थल पार करने और बहुत दिनोंतक घूमनेके बाद श्रीवत्स एक अपूर्व देशमें जा निकले। वहाँ सभी कुछ नवीन और सुन्दर था। उसका नाम था—देवलोक। वहाँ देवताओंका निवास था। धन-धान्य और प्राकृतिक सौन्दर्यसे यह स्थान परिपूर्ण था। इसी देशमें श्रीवत्स सुरभि-आश्रममें पहुँचे। राजाकी सम्पूर्ण रामकहानी सुनकर सुरभिका हृदय दयासे भर आया और वह बोलीं—'राजन्! जबतक तुम्हारा ग्रह दूर न हो और तुम्हारे दिन न फिरें, तुम निश्चिन्त होकर इस स्थानपर रहो। यहाँ तुम्हें कोई भय नहीं है, खाने-पीनेका कोई कष्ट नहीं है किन्तु एक बात याद रक्खो। कभी इस स्थानको छोड़कर दूर जानेकी कोशिश मत करना। इसकी सीमाके बाहर जाते ही फिर तुम विपत्तिमें पड़ोगे। ग्रहका चक्र पूर्ण होनेपर तुम अपने देशमें जाओगे और तुम्हारी बिछुड़ी हुई पत्नी भी तुम्हें फिरसे प्राप्त होगी।'

राजा श्रीवत्स आनन्दपूर्वक वहाँ रहने लगे। किसी चीज़की कमी न थी। हाँ, चिन्ताकी यादमें श्रीवत्स बड़े विकल हो जाते थे। कुछ दिन इसी तरह बीत गये। श्रीवत्सने देखा कि नन्दिनी गौके स्तनसे दूधकी जो धारा निकलती है उसका बहुत-सा हिस्सा जमीनपर गिर जाता है और मिट्टी गीली हो जाती है। श्रीवत्सने उस गीली मिट्टीसे प्रतिदिन ईंट बनाना शुरू कर दिया किन्तु आश्चर्यकी बात यह हुई कि वे ईंटें सूखनेपर किसी अलौकिक शक्तिके प्रभावसे सोनेकी हो गयीं। तब उन्होंने नियमसे रोज छोटी-छोटी ईंटें बनानी शुरू कीं। शान्तिसे उनके दिन बीतने लगे; हाँ, बीचमें रह-रहकर चिन्ताकी याद इतनी प्रबल हो जाती थी कि सब कुछ सूना लगता था।

शनिदेव तो श्रीवत्सके पीछे लगे ही हुए थे। उनके दिमागपर उन्हींका असर था। एक दिन चिन्ता-की खोजमें वे सोनेकी ईंटें साथ लिये बाहर निकल गये और जगह-जगह घूमने लगे। चलते-चलते एक नदीके किनारे पहुँचे। थक गये थे; बैठकर विश्राम करने लगे। वहाँ बैठकर सुस्ता ही रहे थे कि संयोगवश एक सौदागर अपनी नाव लिये उधरसे निकला। श्रीवत्सने पुकारकर उससे कहा—'भाई! मैं बड़ी विपत्तिमें पड़ गया हूँ। तुम मुझको नावमें चढ़ा लो। मेरे पास सोनेकी ईंटें हैं, मैं तुम्हारे साथ रहकर बाजारोंमें इन्हें बेचूँगा और जो कुछ मिलेगा उसमें तुम्हें भी हिस्सा दूँगा।'

सौदागरने नाव खड़ी की। ईंटें रक्खीं और श्रीवत्स-को नावमें चढ़ा लिया। माँझियोंने नाव खोल दी। बीच धारामें पहुँचकर सौदागरने कहा—'इन ईंटोंको बेचकर काफ़ी रुपया पैदा किया जा सकता है। तब फिर तुम्हें इस धनमें कौन हिस्सेदार बनायेगा? इनको रखकर तुमको नदीमें फेंक देनेसे सब कण्टक दूर हो जायगा।' यह वही सौदागर था जिसने चिन्ताका हरण किया था। चिन्ता नौकाके नीचेके हिस्सेमें निर्जीव-सी पड़ी थी। उसके हाथ-पाँव बँधे हुए थे।

सौदागरने श्रीवत्सको नदीमें फेंक दिया। श्रीवत्स भयसे कभी भगवान्‌का नाम लेकर और कभी चिन्ताका नाम लेकर चिल्लाने लगे। पतिदेवकी आवाज सुनकर चिन्तादेवी भी रोने-चिल्लाने लगीं। पर उस दुष्टने कुछ ध्यान न दिया। श्रीवत्स नदीमें डूबने लगे।

पर जिनकी रक्षा भगवान् करते हैं उनको नष्ट करनेकी शक्ति किसमें है? जिस प्रकार पापका प्रायश्चित्त होता है, उसी प्रकार पुण्यका पुरस्कार भी मिलता है। अगर संसारमें दुःख न हो तो मनुष्य विवेकहीन हो जाय। दुःखके भीतर ही भगवान् मनुष्यको गढ़ते हैं। भगवान्का प्रेम अपार है; उनकी करुणा असीम है। श्रीवत्सपर शनिदेव कुपित थे पर भगवान् उनकी रक्षा कर रहे थे। डूबते हुए श्रीवत्स भगवान्का ध्यान करने लगे। उनको सहारा मिल गया। वह तैरने लगे। उनको ऐसा जान पड़ा मानो कोई उनका हाथ पकड़े खींच रहा है। श्रीवत्सने आँखें मूँद लीं और इष्ट मन्त्रका जप करते-करते लहरोंके साथ बहने लगे।

[१०]

लहरोंके साथ बहते-बहते श्रीवत्स सोतिपुर नामके प्रदेशमें तटपर जा लगे। यह एक छोटा राज्य था। बहुत दिनोंसे वर्षा न होनेके कारण उस देशमें भयङ्कर अकाल पड़ा था। श्रीवत्सके उस देशमें पहुँचते ही वहाँ खूब वर्षा हुई और थोड़े ही समयमें सारा देश हरा-भरा हो गया।

श्रीवत्स बहते-बहते जहाँ लगे थे वहाँ एक मालिनका घर और बाग था। मालिन कहीं बाहर गयी हुई थी। इधर श्रीवत्सके वहाँ पाँव रखते ही सूखे वृक्ष हरे हो गये, लताएँ और पौधे फूलोंसे लहलहाने लगे। जब मालिन लौटकर आयी तो बगीचेका यह रूप देखकर आश्चर्यचकित रह गयी। कुछ दूरपर उसने श्रीवत्सको बैठे देखा जिनके मुखसे दिव्य तेज निकल रहा था। मालिनके पूछनेपर श्रीवत्सने अपनी पूरी कहानी कह सुनायी। मालिनने वहीं उनके रहनेकी व्यवस्था कर दी। राजा कभी दूध-फलपर रह जाते, कभी भोजन बना लेते। उन्होंने लोगोंको मालिनका दूरका भाई कहकर अपना परिचय दिया और वहाँ शान्तिसे रहने लगे।

× × ×

सोतिपुरके राजा बाहुदेवकी एक कन्या थी—भद्रा। बचपनसे ही भगवान्की पूजा-उपासनामें उसकी बड़ी रुचि थी। इसके साथ ही रूप, गुण और बुद्धिका उसमें बड़ा सुन्दर विकास हुआ था। वह प्रतिदिन हर-गौरीके सामने खड़ी होकर उनका ध्यान करती, स्तवपाठ करती, पूजा करती। उसकी निष्ठासे देवी प्रसन्न हुईं। तब भद्राने वर माँगा कि राजा श्रीवत्स मेरे पति हों। जब श्रीवत्स राजा थे और उनपर विपत्ति नहीं आयी थी तब उनका नाम-यश दूर-दूरतक फैला था। तभी उनकी कीर्ति-कथा सुनकर भद्राने मन-ही-मन उन्हें वरण कर लिया था। आज देवीसे उसने उन्हें ही पतिरूपमें माँगा। देवीने कहा—'बेटी, ऐसा ही होगा।'

यथासमय राजा बाहुदेवने भद्राके विवाहकी व्यवस्था की। स्वयंवरके दिन दूर-दूर देशके राजा और राजकुमार वहाँ आये। शुभ मुहूर्त्तमें भद्राने सभामें पदार्पण किया। लेकिन वह जयमाला किसे पहनाते? उसने श्रीवत्सको कभी देखा न था; उसे यह भी पता न था कि इस सभामें वह हैं या नहीं। उसने आँखें मूँदकर भगवतीका ध्यान किया—'माँ! तुमने जो वर दिया है उसे तुम्हीं कृपापूर्वक सफल करो।' भगवतीने मन-ही-मन प्रेरणा की—'कदम्ब-तले साधारण वेषमें राजा श्रीवत्स बैठे हैं। वह दर्शक बनकर आये हैं।'

भद्राने उसी स्थानपर पहुँचकर मलिनवेषधारी श्रीवत्सके गलेमें माला डाल दी और चन्दनसे चरणोंकी पूजा करके उन्हें विधिवत् प्रणाम किया। सभामें तहलका मच गया। लोग उपहास करने लगे। पिताके मुँहपर स्याही पुत गयी। श्रीवत्सको स्वयं आश्चर्य हुआ।

वह केवल तमाशा देखने आये थे। भद्राको वरण करनेकी उनकी स्वप्नमें भी इच्छा न थी। वह तो चिन्तामें तन्मय थे। भद्राके इस कृत्यसे उनको उलटे दुःख हुआ। वह हिचकिचाहटमें पड़े चिन्ताकी बात सोच रहे थे। इसी समय आकाशवाणी हुई—'सोच मत करो; भद्राको ग्रहण करो। तुम्हारे दिन फिरे हैं। भद्राके द्वारा ही चिन्ताका उद्धार होगा।' तब श्रीवत्सने उसे ग्रहण किया। पर भद्राके पिताको श्रीवत्सका पता न था इसलिये अपमानका अनुभव कर वह क्रोधसे जलने लगे। यद्यपि विवाह हो गया, पर बेटी और दामादके प्रति राजा बाहुदेवका व्यवहार अच्छा नहीं रहा। उन्होंने दोनोंको महलके बाहर ही एक मकानमें रक्खा।

श्रीवत्सको ससुरालमें इस प्रकार रहना बुरा लगा। भद्राके द्वारा राजमातासे उन्होंने कहलवाया कि यदि राजा मुझे नदीमें जाने-आनेवाली वाणिज्यसम्बन्धी नौकाओंकी चुंगी वसूल करनेका काम दे दें तो मैं उसे करके अपनी जीविका चलाना इस प्रकार रहनेसे ज्यादा पसंद करूँगा। राजमाताने राजासे कहा और राजाने इसे स्वीकार कर लिया। श्रीवत्स नित्य नदीकिनारे जाकर अपना काम करने लगे। चिन्ताका पता लगानेके लिये ही उन्होंने यह काम हाथमें लिया था। वह रात-दिन चिन्ताका ध्यान करते और भगवान्‌से उसके उद्धारकी प्रार्थना करते थे। भद्रा उन्हें समझाती, पर उनके विकल हृदयको शान्ति न दे पाती थी। एक दिन श्रीवत्सने स्वप्न देखा कि चिन्ता मिल गयी है। उनके चित्तपर उस स्वप्नका ऐसा प्रभाव पड़ा कि उन्हें चिन्ताके मिलनेका पूर्ण विश्वास हो गया।

प्रातःकाल जब श्रीवत्स नदीकिनारे पहुँचे तो देखा कि सिपाही टैक्सके लिये एक वणिक्‌को रोके हुए हैं। श्रीवत्सने देखते ही पहचान लिया कि यह तो वही चोर वणिक् है। उसका सब माल जब्त कर लिया गया। उसने राजदरबारमें जाकर फरियाद की। राजाने श्रीवत्ससे जवाब तलब किया। तब श्रीवत्सने सोनेकी ईंटें जो दो-दो जुड़ी थीं सामने रखकर कहा—'महाराज! यह चोर है। यदि ये ईंटें इसकी हैं तो कहिये कि इनके जोड़ खोल दे।' वणिक्‌ने काटनेके अनेक तेज साधनोंका प्रयोग कर देखा पर ईंटें न टूटीं। तब श्रीवत्सने एक जुड़ी ईंट उठाकर मन-ही-मन भगवान्‌का स्मरण किया। क्षणभरमें ईंटें अलग हो गयीं। यह देखकर बाहुदेव चकित हो गये और हाथ जोड़कर पूछा—'आप अपना परिचय दीजिये। आप निश्चय ही महान् पुरुष हैं।' श्रीवत्सने पूरी कहानी कह सुनायी। बाहुदेव हाथ जोड़कर बोले—'महाराज! आपको पाकर मेरी कन्या और हम सब कृतार्थ हो गये। अज्ञानवश आपका जो अपमान मैंने किया, उसके लिये दयापूर्वक मुझे क्षमा कीजिये।'

इसके बाद राजा बाहुदेव अपनी पत्नी तथा भद्राके साथ स्वयं नावपर गये। चिन्ताके हाथ-पाँव बँधे थे और वह एक कोनेमें मुर्दे-सी पड़ी थी। उसके बन्धन खोले गये। बाहुदेवने उसके शरीरमें कोढ़ देख उसका कारण पूछा। चिन्ताने सारी कथा कह सुनायी और बोली—'इष्टदेवके स्मरणमात्रसे यह कोढ़ क्षणभरमें दूर हो जायगा।' यह कहकर उसने ध्यान किया और तुरंत उसका शरीर पहले-सा सुन्दर और कान्तिमान् हो गया। देखकर सबने सतीका जय-जयकार किया।

बाहुदेवने चिन्तादेवीके लिये सवारीका सुन्दर प्रबन्ध किया था पर पतिव्रता चिन्ता बोली—'मेरा सवारीपर चढ़कर जाना ठीक नहीं। पैदल जाकर मैं अपने प्रभु—पतिदेवका दर्शन करूँगी।' बाहुदेवने सतीकी इच्छामें बाधा न दी। चिन्तादेवी पैदल चलकर राजमहल पहुँचीं। भद्राने उनके चरणोंमें प्रणाम किया

और जबरदस्ती सुन्दर वस्त्रभूषासे सजाकर उसे श्रीवत्सके पास भेज दिया। वह श्रीवत्सके चरणोंमें गिर पड़ी। श्रीवत्सने उसे हृदयसे लगा लिया। बड़ी देरतक दोनों आनन्दके आँसू बहाते रहे। दोनोंने अपनी-अपनी कहानी सुनायी और अन्तमें सब कष्ट दूर करनेपर भगवान्‌का धन्यवाद किया।

कुछ समय बाद भद्रा चिन्ताको अपनी माँके पास ले गयी। माताने उसे आशीर्वाद दिया और भोजन कराया। प्रायः सौतोंमें बड़ा विद्वेष होता है परन्तु भद्रा और चिन्ता सहोदरा बहिनोंकी तरह एक ही दिनमें घुलमिल गयीं।

दूसरे दिन राजा बाहुदेव दरबारमें बैठे थे। पास ही सिंहासनपर श्रीवत्स विराजमान थे कि एकाएक सभाको प्रकाशित कर शनिदेव आ उपस्थित हुए। सब लोगोंने खड़े होकर उन्हें प्रणाम किया। वह श्रीवत्सको सम्बोधन कर बोले—'महाराज! इतने दिनोंपर आपका कर्मभोग पूरा हुआ। आप परम धार्मिक हैं। यह सब आपके पूर्वजन्मके कर्मोंका फल था जो आपको भोगना पड़ा। मैं तो केवल साधन—निमित्तमात्र था। जो कुछ हुआ, भगवान्‌की प्रेरणासे हुआ। अब आप जाकर सुखपूर्वक राज्य कीजिये। सती चिन्ता और आप दोनोंका नाम युग-युगतक संसारमें रहेगा।' इतना कहकर वे चले गये।

कुछ दिनों बाद चिन्ता और भद्राके साथ श्रीवत्स अपने राज्यको लौट गये और सुखपूर्वक राज्य करने लगे।

उद्बोधन-सप्तक

(मनके प्रति)

(१)

हे मन, तू नादान है, मत कर सोच विचार।
राम-नामके जापसे, हो भव-सागर पार॥

(२)

जलमें थलमें राम हैं, प्राणिमात्रमें राम।
अत्र-तत्र सर्वत्र ही, व्यापक हैं श्रीराम॥

(३)

आप्त वचन अनुसार है, यह संसार असार।
इसमें तो बस—एक ही, राम-नाम है सार॥

(४)

निर्भर हो जा रामपर, त्याग प्रपञ्ची काम।
क्षेम योग सब आप ही, वहन करेंगे राम॥

(५)

ऋषि-मुनिगण सब कह गये, तेरे हैं दो काम।
सब जीवोंपर रख दया, जपता रह हरिनाम॥

(६)

राम राम श्रीराम श्रीराम राम श्रीराम।
राम राम श्रीराम रट, राम राम श्रीराम॥*

(७)

सकल आपदा दूर कर, करे सम्पदा-दान।
ऐसे श्रीभगवानको, क्यों न भजै नादान?

—झाबरमल्ल शर्मा

---

* कर-मालाके क्रमके अनुसार इस दोहेकी ९ आवृत्तियोंसे रामनामकी एक माला हो जाती है।

द्वैतवाद और अद्वैतवाद

(लेखक—श्रीरामचन्द्रजी बी० ए०)

संसारके प्रायः सभी प्रधान प्रधान धर्मोंमें द्वैत और अद्वैत दोनों ही मत पाये जाते हैं। फिर इन दोनों प्रकारके मतोंमें भी कई प्रकारके भेद हैं। इन सब भेदोंका कारण मनुष्यकी मनोभूमिके स्तरोंकी विभिन्नता ही है। प्रत्येक मनुष्य अपनी मानसिक परिस्थितिके अनुसार ही अपना कोई दृष्टिकोण बनाता है और उसीके अनुसार सारे दृष्ट और अदृष्ट पदार्थोंको देखता है। अपने दृष्टिकोणमें कभी-कभी उसकी आस्था इतनी बढ़ जाती है कि वह उसीको एकमात्र विशुद्ध सत्य समझने लगता है तथा संसारके और सब सिद्धान्त उसे भ्रमपूर्ण एवं हेय दिखायी देने लगते हैं। यह धार्मिक संकीर्णता कई बार बड़े-बड़े अनर्थोंका कारण हो जाती है। इसीमें बँधकर शरीयतके पाबन्द मुसलमानोंने मन्सूर, सरमद और शम्स्तबरेज-जैसे संतोंको सूलीपर चढ़ा दिया था। इसीके कारण जगद्वन्द्य हजरत ईसा और प्रसिद्ध दार्शनिक सुकरात-को मृत्युका आलिङ्गन करना पड़ा था तथा इसीकी बदौलत पठान और मुगलोंके शासनकालमें अनेकों धर्मवीर हिन्दू और सिक्खोंको अपनी बलि देनी पड़ी थी। संसारकी प्रायः सभी जातियोंके इतिहासोंमें धर्मके नामपर इस प्रकारके अत्याचारके काफी प्रमाण पाये जाते हैं। यद्यपि इस प्रकारका मतभेद हिन्दुओंमें भी अनादिकालसे चला आता है, तथापि इसके कारण यहाँ रक्तपातकी नौबत आयी हो—ऐसा कभी देखनेमें नहीं आया। इसका प्रधान कारण यही है कि हमारे धर्ममें इस प्रकारके मतभेदोंके लिये यथोचित स्थान दिया गया है। आर्यधर्मकी सीमा बहुत व्यापक है। इसमें अनेक प्रकारके मतभेदोंका अन्तर्भाव हो जाता है। इसकी यह उदारता—यह धार्मिक सहनशीलता (Religious toleration) एक असाधारण विशेषता है। यह इसकी बहुत बड़ी खूबी है।

अब हम संक्षेपमें इस बातपर विचार करते हैं कि वस्तुतः द्वैत और अद्वैत—इन दोनों दृष्टियोंके भेदका मूल क्या है। इसके लिये हम तरह-तरहकी युक्ति और प्रमाण न देकर अपने साधारण अनुभवोंका ही आश्रय लेंगे, जिससे सभी लोग इसे आसानीसे समझ लें। जिन विचारशील पुरुषोंने वेद, उपनिषद्, वेदान्तदर्शन, गीता, भागवत और विष्णु-पुराण आदिका विचारपूर्वक थोड़ा-बहुत अध्ययन किया है उनसे यह बात छिपी नहीं है कि इन ग्रन्थोंमें द्वैत और अद्वैत दोनों ही सिद्धान्तोंका समर्थन करनेवाले वाक्य मिलते हैं। जहाँ भी प्रार्थना, उपासना, वर्णाश्रमधर्म, पुनर्जन्म और स्वर्ग-नरकादि गतियोंका विचार किया गया है वहाँ स्पष्टतया द्वैतका ही प्रतिपादन किया जाता है, क्योंकि द्वैतमें ही ये सब व्यवहार हो सकते हैं। इन सब विषयोंका वेद, ब्राह्मण, श्रौत-स्मार्त सूत्र, मन्वादि स्मृति और पुराणोंमें बहुत विस्तार किया गया है। संसारमें अधिकांश मनुष्य कर्म और उपासनाके ही अधिकारी हैं। इसलिये शास्त्र भी प्रचुरतासे इन्हींका प्रतिपादन करते हैं। किन्तु इन्हीं ग्रन्थोंमें कुछ ऐसे वाक्य भी हैं जो स्पष्टतया अद्वैतका ही निरूपण करते हैं; जैसे—

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥
यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥

(यजु० ४० । ६-७)

'योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि।' (यजु० ४० । १६)

'नासदासीन्नो सदासीत्तदानीम्' (ऋ० १० । १२९)

'पुरुष एवेदꣳ सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम्।'

(ऋ० १० । ९० । २)

मनसैवानुद्रष्टव्यं नेह नानास्ति किञ्चन।
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति॥

(बृह० ४ । ४ । १९)

यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं जिघ्रति…पश्यति…शृणोति…अभिवदति…मनुते…विजानाति यत्र वा अस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं जिघ्रेत्, तत्केन कं पश्येत्तत्केन कं शृणुयात्तत्केन कमभिवदेत्तत्केन कं मन्वीत, तत्केन कं विजानीयात्। येनेदꣳ सर्वं विजानाति तं केन विजानीयाद्विज्ञातारमरे केन विजानीयात्।

(बृ० उ० २ । ४ । १४)

इन सब श्रुतियोंसे स्पष्टतया अद्वैतका ही प्रतिपादन किया गया है। इसी प्रकार गीता आदि अन्य सब ग्रन्थोंमें भी द्वैत और अद्वैत दोनों ही सिद्धान्तोंका स्पष्टतया समर्थन करनेवाले अनेकों वाक्य पाये जाते हैं। यहाँ उन्हें उद्धृत

करके इस लेखका कलेवर बढ़ानेकी आवश्यकता नहीं है। इनके सिवा 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' (मुण्डक०) और 'ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके' (कठ०) इत्यादि कुछ ऐसे वाक्य भी हैं जिनका तात्पर्य खींचातानीसे दोनों ही मतावलम्बी अपने-अपने सिद्धान्तके अनुसार लगा लेते हैं।

यह सब देखकर साधारण बुद्धिके पुरुष बड़ी उलझनमें पड़ जाते हैं। वे कैसे निर्णय करें कि इनमें अमुक पक्ष ही ठीक है। यह तो वे भी सोचते ही हैं कि एक ही समयमें दो विरुद्ध पक्ष यथार्थ नहीं हो सकते। परन्तु जब प्रमाण दोनों ही प्रकारके मिलते हैं तो उनकी संगति भी लगनी ही चाहिये। अतः इस पहेलीको सुलझानेके लिये हम एक दृष्टान्त देते हैं।

दो पुरुष रात्रिके समय कहीं जा रहे हैं। अभी अधिक अन्धकार नहीं हुआ है। उनमेंसे एकने देखा कि सड़कके बीचमें एक साँप पड़ा हुआ है। वह साँप कहकर ठिठक गया। उसके मुखसे साँपका नाम सुनकर दूसरेको भी वही भ्रम हो गया। परन्तु उसके पास टार्च थी। उसने उसका बटन दबाया तो सड़कपर प्रकाश हो गया और उस प्रकाशमें वह एक रस्सी ही दिखायी दी। अब उनका सर्पज्ञान तो चला गया और रज्जुज्ञान निश्चित हो गया। फिर उसे लाठीसे टटोलकर भी देखा। इससे भी रज्जुज्ञानकी ही पुष्टि हुई। अब पूर्ण निश्चय हो गया कि वह साँप नहीं है, रस्सी ही है।

इस दृष्टान्तसे यह समझना चाहिये कि मनुष्यको दो प्रकारके ज्ञान हो सकते हैं-(१) जो आपातदृष्टिसे साधारण बुद्धिके द्वारा होता है, (२) जो साधारण बुद्धिको छोड़कर ज्ञान-विज्ञानके प्रकाशमें विवेकवती बुद्धिके द्वारा या किसी यन्त्रविशेषके प्रयोगसे होता है। साधारण ज्ञान तो प्रायः सभीको एक-सा ही होता है, उसके लिये किसी प्रकारके अध्यवसाय अथवा यन्त्रादिकी आवश्यकता नहीं होती। किन्तु विशेष ज्ञान प्रकाश या यन्त्रकी सहायतासे अथवा विशेष विचार करनेपर ही हो सकता है। हमारे सामने स्वच्छ जलसे भरा हुआ एक काँचका गिलास रक्खा है। साधारणतया उसमें विशुद्ध जलके सिवा और कुछ दिखायी नहीं देता; किन्तु यदि किसी सूक्ष्मवीक्षणयन्त्र (Microscope) के द्वारा देखा जाय तो उसमें असंख्य कीटाणु दिखायी देंगे। साधारणतया सूर्य एक छोटा-सा गोला दिखायी देता है, परन्तु वस्तुतः वह हमारी पृथ्वीसे लाखों गुना बड़ा है। इसी प्रकार सर्वसाधारणकी दृष्टिसे सूर्य ही घूमता जान पड़ता है; परन्तु खगोलवेत्ताओंने निर्विवादरूपसे सिद्ध कर दिया है कि वह स्थिर है और पृथ्वी उसके चारों ओर और अपनी कीलीपर घूम रही है। इसी तरह और भी अनेकों दृष्टान्त दिये जा सकते हैं।

इन दृष्टान्तोंसे पता चलता है कि विश्वब्रह्माण्डमें ये दोनों ही प्रकारके ज्ञान प्रचलित हैं और इनका सर्वथा अभाव भी नहीं हो सकता। साथ ही यह भी सहजहीमें समझा जा सकता है कि यद्यपि साधारण बुद्धिसे होनेवाला ज्ञान प्रायः भ्रमपूर्ण और यथार्थ ज्ञानसे बाधित होनेके कारण अस्थायी होता है तो भी अधिकांश लोग उसीके अधिकारी हैं। जबतक हमारे पास सूक्ष्मवीक्षण यन्त्र न हो हम किसी साधारण पुरुषको यह समझा ही नहीं सकते कि इस स्वच्छ जलमें भी असंख्य जीव विद्यमान हैं। इसी प्रकार जिन्हें भूगोल और खगोल विद्याओंका कुछ भी ज्ञान नहीं है वे सूर्यकी विशालता और स्थिरताके विषयमें भी कैसे विश्वास कर सकते हैं? इसी न्यायसे द्वैत और अद्वैत—ये दोनों ज्ञान भी सदासे हैं और सर्वदा रहेंगे। किन्तु इनमें एक साधारण कोटिका है और दूसरा असाधारण कोटिका, एक व्यावहारिक है और दूसरा तात्त्विक।

अब विचारना यह है कि इनमें कौन ज्ञान साधारण है और कौन असाधारण? ऊपर यह बात कही जा चुकी है कि जो ज्ञान आपात दृष्टिसे सबको समान रूपसे होता है वह साधारण होता है और जो प्रकाशादिकी सहायतासे विशेष अधिकारियोंको होता है वह असाधारण वा तत्त्वज्ञान माना जाता है। असाधारण ज्ञान होते ही सामान्य ज्ञान नष्ट हो जाता है। इस नियमके अनुसार द्वैतवाद ही साधारण ज्ञान सिद्ध होता है, क्योंकि यह बात साधारण गाँववाले भी जानते हैं कि गाँव, गाँवका मालिक और वह स्वयं—ये तीनों अलग-अलग हैं। इसी प्रकार संसार, संसारका रचनेवाला और जिनके लिये संसार रचा गया वे प्राणी—ये तीन सत्ता मानी जाती हैं। इसीको त्रैतवाद भी कहते हैं। इसके अनुसार ईश्वर, प्रकृति और जीव—ये तीन तत्त्व नित्य माने जाते हैं। थोड़ा-सा विचार करनेसे ही ये तीनों सत्ताएँ (Entities) प्रत्येक मनुष्यकी समझमें आ सकती हैं। यह भेदवाद ही द्वैतवाद है। ईश्वर, देवता, गन्धर्व, मनुष्य, पशु, पक्षी, वृक्ष, नदी, पर्वत, पाप, पुण्य, स्वर्ग, नरक, जरा, मृत्यु, सुख, दुःख—ये सब इसी प्रपञ्चके अन्तर्गत

हैं। अतः संसारकी सुव्यवस्थाके लिये यह ज्ञान भी परम आवश्यक है। किन्तु प्रपञ्चात्मक होनेके कारण यह है व्यवहार-कोटिमें ही। इसलिये इसे व्यावहारिक ज्ञान कह सकते हैं। यह कितनी भी ऊँची कोटिका हो जाय प्रपञ्चसे सम्बन्ध बना रहनेके कारण इससे राग-द्वेषका सर्वथा अभाव नहीं हो सकता और न वासनाएँ ही निःशेष हो सकती हैं। इसलिये जबतक साधक इससे ऊपर उठकर निष्प्रपञ्च स्थितिमें नहीं पहुँचता तबतक वह संसार-चक्रमें ही भरमता रहता है; इसलिये यह अज्ञान ही माना गया है—

> सर्वाजीवे सर्वसंस्थे बृहन्ते
> तस्मिन्हंसो भ्राम्यते ब्रह्मचक्रे।
> पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा
> जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति[1] ॥
> (श्वे० १।१।६)

> क्रिया शरीरोद्भवहेतुरादृता
> प्रियाप्रियौ तौ भवतः सुरागिणः।
> धर्मेतरौ तत्र पुनः शरीरकं
> पुनः क्रिया चक्रवदीर्यते भवः[2] ॥
> अज्ञानमेवास्य हि मूलकारणं
> तद्धानमेवात्र विधौ विधीयते।
> विद्यैव तन्नाशविधौ पटीयसी
> न कर्म तज्जं सविरोधमीरितम्[3] ॥
> (रामगीता ८-९)

१. जबतक जीव अपने शुद्ध स्वरूप आत्मा और सर्वनियन्ता ईश्वरको अलग-अलग मानता रहता है तबतक वह सम्पूर्ण भूतोंके जीवन और लयके स्थान इस ब्रह्मचक्रमें भटकता रहता है, और जब वह उससे अपनेको अभिन्नरूपसे अनुभव करता है तो अमृतत्वको प्राप्त हो जाता है।

२. कर्म देहान्तरकी प्राप्तिके लिये ही स्वीकार किया गया है, क्योंकि जो कर्ममें आसक्ति रखता है उससे इष्ट-अनिष्ट दोनों ही होते हैं। उनसे पाप-पुण्यकी प्राप्ति होती है और उनके कारण फिर शरीर मिलता है, जिससे फिर कर्म होते हैं, इस प्रकार चक्रके समान संसार चलता रहता है।

३. इस संसारका मूल कारण अज्ञान ही है। अतः शास्त्र अज्ञानके नाशको ही इसकी निवृत्तिका कारण बताता है। उसका नाश करनेमें ज्ञान ही समर्थ है, कर्म नहीं; क्योंकि वह तो अज्ञानसे ही उत्पन्न हुआ है, वह उसका विरोधी नहीं हो सकता।

किन्तु अद्वैतज्ञान ऐसा नहीं है। यह तो बड़े-बड़े मेधावी और बुद्धिमानोंको भी सहसा हृदयङ्गम नहीं होता। जो विवेक-वैराग्यादि साधनोंसे सम्पन्न हैं, जिनका किसी भी लौकिक या अलौकिक वस्तुमें राग नहीं है तथा जो सब प्रकारकी मोह-ममतासे ऊपर उठकर केवल परमार्थतत्त्वका साक्षात्कार करनेके लिये ही कटिबद्ध हैं उन्हें ही गुरुकृपासे यह अभयपद प्राप्त होता है। गुरुदेवका अनुग्रह प्राप्त किये बिना इसे कोई भी नहीं पा सकता। श्रुति कहती है—

> यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
> तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥
> (श्वे० ६।२३)

'जिसकी गुरुदेवमें परम भक्ति है, जैसा भाव भगवान्‌के प्रति है वैसा ही गुरुदेवमें है, उस महात्माके उपदेश करनेपर ही इस तत्त्वका प्रकाश होता है।' गीताजी भी इसकी प्राप्तिके लिये गुरुदेवकी शरणमें जानेका ही आदेश करती हैं तथा उसके लिये गुरुसेवा, गुरुके चरणोंमें प्रणाम और उनसे बार-बार प्रश्न करनेकी आवश्यकता बताती हैं—

> तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
> उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥
> (गीता ४।३४)

भगवान्‌ने इस ब्रह्मविद्याको 'राजविद्या', 'राजगुह्य' एवं 'सर्वविद्याप्रतिष्ठा' आदि विशेषण देकर सम्मानित किया है। शास्त्रोंमें यह बात भी जगह-जगह आती है कि इसका उपदेश विशेष अधिकारीको ही करना चाहिये, हर कोई इसे ग्रहण करनेमें समर्थ नहीं है। छान्दोग्योपनिषद्‌ने तो एक जगह बताया है कि अपने ज्येष्ठ पुत्र या अत्यन्त अनुगत शिष्यको छोड़कर दूसरा कोई यदि आसमुद्र सम्पूर्ण भूमण्डल भी इसकी दक्षिणामें दे तो भी इस विद्याका उपदेश नहीं करना चाहिये—

> इदं वाव तज्ज्येष्ठाय पुत्राय पिता ब्रह्म प्रब्रूयात् प्रणाय्याय वान्तेवासिने। नान्यस्मै कस्मैचन यद्यप्यस्मा इमामद्भिः परिगृहीतां धनस्य पूर्णां दद्यात्।
> (छान्दोग्य० ३।११।५-६)

ऐसी कठिन शर्त द्वैतज्ञानके लिये नहीं हो सकती। उसे तो बालक-वृद्ध, पठित-अपठित सभी स्वभावसे ही प्राप्त कर सकते हैं। इन्द्रने प्रजापतिके पास एक सौ एक वर्ष रहकर ब्रह्मचर्यव्रतका पालन किया। यह क्या द्वैतज्ञानके लिये था? देवर्षि नारद सम्पूर्ण शास्त्रोंके पारगामी और

मर्मज्ञ थे। वे भी शोकाकुल होनेके कारण जिस ज्ञानकी प्राप्तिके लिये सनत्कुमारजीकी शरणमें गये थे वह क्या द्वैत-बोध ही था? जिस विद्याको पाकर राजा जनकने अपना सारा राज्य याज्ञवल्क्यजीके चरणोंमें अर्पण कर दिया था वह क्या कोई व्यावहारिक ज्ञान हो सकता है? जिस तत्त्वके विषयमें याज्ञवल्क्यजी गार्गीसे कह रहे हैं कि 'लोकमें जो पुरुष इसे बिना जाने मर जाता है वह तो दीन है और जो इस अक्षरतत्त्वको जानकर प्राणत्याग करता है वह ब्राह्मण है'—वह क्या कोई इस मायिक जगत्की चीज हो सकती है?

अतः इस अद्वैतज्ञानसे जिस वस्तुका साक्षात्कार होता है वही परमार्थ है—वही वास्तविक सत्ता है और उसका ज्ञान ही असाधारण कोटिमें गिना जा सकता है। यह ब्रह्म-विद्या एक बड़ी ही विलक्षण वस्तु है। इस ब्राह्मी स्थितिमें पहुँचनेपर ही जीवको आत्यन्तिकी शान्ति मिल सकती है। शास्त्रोंमें श्रेयःप्राप्तिके जितने साधन बताये हैं उन सबका चरम लक्ष्य भी यही है। इसकी महिमा कहाँतक कहें? इस दृष्टिके प्राप्त होनेपर राग, द्वेष, स्पर्धा, असूया, भय, घृणा और मत्सर आदि सभी दूषित भावोंका अन्त हो जाता है और सम्पूर्ण जीवोंमें अपने प्रियतमकी ही झाँकी होने लगती है। फिर तो जहाँ दृष्टि जाती है वहाँ अपना प्यारा—नहीं नहीं, अपना-आप ही दिखायी देता है। ऐसी स्थितिमें राग-द्वेषादि किससे हों? फिर हृदय अत्यन्त विशाल हो जाता है। इस तुच्छ शरीरमें उसकी तनिक भी आस्था नहीं रहती। सारा ब्रह्माण्ड ही उसका शरीर हो जाता है। अजी, सच पूछा जाय तो ऐसे कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड उसके संकल्पमात्रसे क्षण-क्षणमें बनते और मिटते रहते हैं। वस्तुतः उसकी दृष्टिमें इनकी सत्ता ही नहीं होती। बस, उसकी दिव्यदृष्टिके उन्मेष और निमेष ही विश्वके उत्पत्ति और प्रलय हैं। उसके ऐश्वर्यका कहाँतक वर्णन किया जाय? जो कुछ है वह उसीका तो है—नहीं नहीं, वह स्वयं ही है। वही ऊपर है, वही नीचे है, वही सब ओर है। वस्तुतः उसमें यह ऊपर-नीचेकी कल्पना ही नहीं है। भला, जिसमें भेद और अभेदका भी भेद नहीं है उस अनिर्वचनीय तत्त्वका किस प्रकार निर्वचन किया जाय? जिस बड़भागीको इसकी उपलब्धि हो जाती है वह सर्वथा निर्भय, निःशंक, निरामय और निर्द्वन्द्व हो जाता है। उसे किसी भी प्रकार-का भ्रम, सन्देह या शोक नहीं हो सकता। वह एक अखण्ड आनन्दमय पदपर प्रतिष्ठित हो जाता है। संसारके सारे ज्ञान परिवर्तनशील हैं। परन्तु यह तो संसारातीत तत्त्वका साक्षात्कार है। इसमें फिर कभी किसी प्रकारका परिवर्तन नहीं होता—'यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते।' यह अखण्ड, अविचल, अविकृत और एकरसबोध है। इसके द्वारा जिस तत्त्वकी उपलब्धि होती है उसे उपनिषदोंमें 'भूमा' कहा है। इसके सिवा और सारे ज्ञान अल्प और मर्त्य (नाशवान्) बताये गये हैं। जिसका चित्त एक क्षणके लिये भी इस अगाध चिदानन्दमय समुद्रमें डूब जाता है उसका कुल पवित्र हो जाता है, माता कृतार्थ हो जाती है और उसका पुण्य स्पर्श पाकर वसुन्धरा पवित्र हो जाती है—

> कुलं पवित्रं जननी कृतार्था
> वसुन्धरा पुण्यवती च तेन।
> अपारसंवित्सुखसागरेऽस्मिँ-
> ल्लीनं परे ब्रह्मणि यस्य चेतः॥

इसलिये इन बाह्य विषयोंके लिये थोथी दौड़-धूप छोड़कर इस परम तत्त्वको जाननेका ही प्रयत्न करना चाहिये। इसे जान लेनेपर फिर और कुछ भी जानना शेष नहीं रहता, क्योंकि जितना ज्ञेयवर्ग है उस सबका अधिष्ठान तो यही है। पृथ्वी-आकाश सब इसीके तो सङ्कल्प हैं तथा जिनसे वस्तुओंका ज्ञान होता है वे मन और इन्द्रियवर्ग भी इसीके जिलाये तो जी रहे हैं। बस, एकमात्र इसे ही जानने-की चेष्टा करो, और सारी बातें छोड़ दो, यही सच्चा अमर पद है—

> यस्मिन्द्यौः पृथिवी चान्तरिक्ष-
> मोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः।
> तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या
> वाचो विमुञ्चथामृतस्यैष सेतुः॥
> (मुण्डक० २। २। ५)

इसे जान लेनेपर एक विचित्र स्थिति हो जाती है। उसके लिये संसारमें कोई भी वस्तु हेय या द्वेष्य नहीं रहती। जहाँ-जहाँ भी उसकी दिव्य दृष्टि पड़ती है वहाँ उसे परम विशुद्ध चिदानन्दका ही विलास दिखायी देता है। दुःख, दैन्य और दोषोंका तो सदाके लिये काला मुँह हो जाता है। सारा संसार उसे नन्दनकानन ही जान पड़ता है, हर एक लता-वृक्षमें उसे कल्पतरुकी ही झाँकी होती है, प्रत्येक जलाशय उसके लिये भागीरथी ही हो जाता है, वह जो कुछ करता है पुण्यमय ही होता है और जो कुछ बोलता

या सुनता है वेदवाणी ही होती है तथा उसके लिये सारी भूमि काशीके समान पवित्र हो जाती है—

सम्पूर्णं जगदेव नन्दनवनं सर्वेऽपि कल्पद्रुमाः
गाङ्गं वारि समस्तवारिनिवहाः पुण्याः समस्ताः क्रियाः ।
वाचः प्राकृतसंस्कृताः श्रुतिशिरो वाराणसी मेदिनी
सर्वावस्थितिरस्य वस्तुविषया दृष्टे परे ब्रह्मणि ॥

'जब उमड़ा दरिया उल्फतका हर चार तरफ आबादी है ।
हर रात नई इक शादी है हर रोज मुबारकबादी है ॥'

× × ×

आज संसार तरह-तरहके नवीन आविष्कारोंकी धुनमें मस्त है । वह धन-जन और जीवनको जोखिममें डालकर भी कोई नवीन बात जानने, कोई नवीन देशकी खोज करने अथवा कोई नवीन यन्त्र तैयार करनेके लिये व्यस्त है । किन्तु इन दिन-दिन बढ़नेवाले नूतन आविष्कारोंसे क्या उसकी जिज्ञासा कुछ भी शान्त हुई है ? क्या उसे कुछ भी शान्ति मिली है ? मिल ही नहीं सकती, क्योंकि वह बाह्य वस्तुओंके लिये व्यग्र है । उस व्यग्रतासे तो उसे अशान्ति, कलह, स्वार्थ, तृष्णा, स्पर्धा और युद्ध ही मिले हैं । शान्तिका सन्देश तो उसे भारतसे ही मिल सकता है । उसके लिये उसे बाह्य वस्तुओंकी तृष्णासे मुँह मोड़कर चित्तको अन्तर्मुख करना होगा ! जबतक वह सुखकी शोधमें बाहर भटकता रहेगा, सुख उससे दूर-दूर भागता जायगा । सुखकी खोज तो उसे अपने भीतर ही करनी पड़ेगी । अर्वाचीन भारतके उज्ज्वल रत्न स्वामी विवेकानन्द और स्वामी रामतीर्थने पश्चिमी दुनियाको इसी तत्त्वकी झाँकी करायी थी । यह वहाँकी जनताके लिये एक नयी बात थी । इसीसे आज भी वह भारतको अपना आध्यात्मिक गुरु मानती है और श्रद्धासे उसके चरणोंमें सिर नवाती है।

किन्तु यह सब होनेपर भी यह ज्ञान जितना ऊँचा, जितना महान् और जितना विशाल है उतना ही दुर्लभ, भयावह और दुरूह भी है । यदि इसका ठीक-ठीक प्रयोग न किया जाय अथवा कोई अनधिकारी इस ओर बढ़नेका साहस करने लगे तो इससे बड़ा अनर्थ भी हो सकता है । इसका मार्ग बड़ा विकट है, वह सबसे ऊँचे अवश्य ले जाता है, परन्तु उसमेंसे फिसलकर नीचे गिरनेकी आशंका पद-पदपर बनी हुई है । इसीसे इसे अत्यन्त गुह्य और गुरुगम्य विद्या कहा गया है । कोई अधिकारी ही इसे समझ और पा सकता है । इसीलिये हमारे सर्वज्ञ महर्षियोंने भी अधिकतर कर्म और उपासनाका ही प्रतिपादन किया है । उनमें सभीका अधिकार है और जब उनके द्वारा वासनाओंका क्षय होकर चित्त शुद्ध हो जाता है तो सहजहीमें इस तत्त्वकी उपलब्धि हो सकती है । आजकल भी जो उच्चकोटिके महात्मा होते हैं, वे सभीको अद्वैततत्त्वका ही उपदेश नहीं करते । साधारण जनतामें तो तरह-तरहके दोष रहते ही हैं । वे रोगके समान उसके आध्यात्मिक कलेवरको कलुषित कर देते हैं । ऐसी स्थितिमें यदि उसे ऐसा उत्तम पदार्थ दिया जायगा तो वह इसे पचा नहीं सकेगा, तब तो यह विषका ही काम करेगा । इसलिये पहले कर्म और उपासनारूप औषधप्रयोगके द्वारा उसे स्वस्थ कर लेनेकी आवश्यकता है । अतः सर्वसाधारणका धर्म तो द्वैतज्ञानके आश्रित ही है ।

साधारणतया यह सभी जानते हैं कि मनुष्यका ज्ञान स्थायी (Static) नहीं है । वह उत्तरोत्तर बढ़ता रहता है । उसकी पराकाष्ठा वहीं समझनी चाहिये जहाँ पहुँचनेपर सब कुछ जान लिया जाय 'यस्मिन् विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति ।' फिर मनुष्यके लिये और कुछ भी जानना बाकी नहीं रहता । इस नियमसे यही सिद्ध होता है कि ज्ञानका आरम्भ तो द्वैतसे होता है, किन्तु उसका पर्यवसान अद्वैतमें ही है । इस बातकी पुष्टि श्रीमद्भगवद्गीतासे भी होती है । अठारहवें अध्यायमें श्रद्धा, दान, तप और कर्मादिके समान ज्ञानके भी सात्त्विकादि तीन भेद बताये गये हैं । वहाँ भी अद्वैत ज्ञानको ही सात्त्विक ज्ञानकी कोटिमें रक्खा गया है । तामस ज्ञानका लक्षण करते हुए गीता कहती है—

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम् ।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम् ॥
(१८ । २२)

जो ज्ञान अकेले अपने शरीरमें ही पूरी तरहसे सीमित है तथा युक्तिहीन, तत्त्वदृष्टिसे रहित और तुच्छ कोटिका होता है वह तामस कहा गया है ।

आरम्भमें मनुष्यका ज्ञान बहुत सङ्कुचित होता है । वह अपने सिवा और किसीको कुछ नहीं समझता । प्रत्येक कार्यका विचार करते समय वह केवल अपने ही हानि-लाभपर दृष्टि रखता है, दूसरेके हानि-लाभपर उसकी दृष्टि ही नहीं जाती । वह जिस काम या वस्तुके पीछे लग जाता है उसे ही अपना सर्वस्व समझ बैठता है, उसके गुण-दोषादिके विषयमें उसे कोई विचार नहीं होता । उसकी दृष्टिमें

किसी प्रकारका सामञ्जस्य (Sense of proportion) भी नहीं होता । बस, जिसमें आसक्त हो गया उसीके पीछे व्यग्र रहता है । वह कार्य कितना ही क्षुद्र या निम्नकोटिका क्यों न हो, वह तो उसे ही सब कुछ समझता है । यह चेतना (Consciousness) कूपमण्डूकके समान होती है । इसे अपनी परिमित परिधिसे बाहरका कुछ भी ज्ञान नहीं होता और न वह उससे अधिक कुछ जानना ही चाहता है । इस तुष्टिमें ज्ञान या वैराग्यसे मिलनेवाली तृप्ति नहीं होती, यह तो एक प्रकारकी अकर्मण्यता (Inactivity), तन्द्रा (Inertia, Lethargy or Ignorance) है, जो तमोगुणका ही कार्य है । बालकोंका ज्ञान इसी कोटिका होता है । यही गीतोक्त तामस ज्ञान है ।

जब बच्चा कुछ-कुछ बड़ा होने लगता है तो दूसरे लोगोंसे भी उसका कुछ सम्बन्ध होने लगता है । वह बच्चोंमें खेलता है, उनके घर जाता है और अपने घर और माता-पितादिको भी पहचानने लगता है । इस प्रकार उसमें अपने-परायेका भेद पैदा हो जाता है । अब उसका ममत्व-बोध पहलेसे अधिक बलवान् हो जाता है और धीरे-धीरे राग-द्वेषका अंकुर फूट आता है । यही धीरे-धीरे बढ़कर तरह-तरहके दोषोंको उत्पन्न कर देता है । संसारमें जितने छल, कपट, कलह और संघर्ष हैं उनका मूल यह भेद-बुद्धि ही है । इसीको गीताने राजस ज्ञान कहा है—

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान् ।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥
(१८ । २१)

जिस ज्ञानके द्वारा पुरुष भूतोंमें प्रतीत होनेवाले तरह-तरहके भावोंको भिन्न-भिन्न समझता है उसे राजस ज्ञान समझो ।

किन्तु जिस जीवपर भगवान्की कृपा होती है उसकी दृष्टि इस ओरसे मुड़कर दूसरी ओर लग जाती है । वह कुछ ऐसे लोगोंको भी देखता है जो इस अशान्तिमय जीवनसे र रहकर भगवद्भजन और परोपकारमें लगे हुए हैं । उनका शुद्ध और शान्तिमय व्यवहार उसे भी सन्मार्गमें प्रवृत्त होनेके लिये उत्साहित करता है और वह स्वार्थपरतासे मुख मोड़कर दूसरोंका हितचिन्तक और सेवक बन जाता है । इस प्रकार उसके हृदयसे रजोगुणका मल धुलने लगता है और वह दूसरोंके हितमें ही अपना हित और दूसरोंके कल्याणमें ही अपना कल्याण समझकर शुभ कर्मोंमें प्रवृत्त हो जाता है । इसी भावनासे वह दान, यज्ञ, जप, तप और तीर्थ-यात्रादि अनेक प्रकारके पुण्यकार्य करता है । इससे उसका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है । और उसमें सत्त्व-गुणका सञ्चार होने लगता है । अब वह देखता है कि समस्त भूतोंमें जो भिन्नता दीखती है वह उनके बाह्य स्वरूप, आकार या परिस्थितिके कारण ही है; वास्तवमें तो वे सब अभिन्न ही हैं । जिस प्रकार मेघोंसे बरसनेवाला एक ही जल भिन्न-भिन्न जलाशयोंमें उनके आकार-प्रकार और पार्थिव परमाणुओंके कारण भिन्न-भिन्न नाम, रूप, स्वाद, और गुणोंवाला जान पड़ता है उसी प्रकार समस्त जीव और पदार्थोंकी अधिष्ठानभूता सत्ता तो एक ही है । इनमें जो कुछ भेद है वह केवल उपाधिके कारण ही है । फिर धीरे-धीरे अग्नि और वायुके दृष्टान्तसे* उसे निश्चय हो जाता है कि इन पृथक् प्रतीत होनेवाले पदार्थोंमें एक ही अविभक्त (Undivided) सत्ता अनुस्यूत है । जिस प्रकार विभिन्न आभूषणोंके नाम और रूप भिन्न-भिन्न होने-पर भी वस्तुतः वे केवल सुवर्ण ही हैं उसी प्रकार इन समस्त नाम-रूपात्मक पदार्थोंके रूपमें एक अखण्ड आत्मतत्त्व ही विराजमान है । उपनिषद् एवं गीता आदि वेदान्तग्रन्थ इसी तत्त्वका प्रतिपादन करते हैं और यही गीतोक्त सात्त्विक ज्ञान है—

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥
(गीता १८ । २०)

बस, यही ज्ञानकी पराकाष्ठा है और यही सम्पूर्ण उपनिषदोंका सार है । वेदोंका अन्तिम लक्ष्य होनेके कारण इसीको 'वेदान्त' कहते हैं ।

गीताके ये तीनों श्लोक बड़े ही महत्त्वके हैं । इनमें

* कठोपनिषद् वल्ली ५ के मन्त्र ९ में यह बताया है कि जिस प्रकार इस लोकमें एक ही अग्नि सर्वत्र अनुस्यूत है, किन्तु वह भिन्न-भिन्न उपाधियोंमें उन्हींके समान आकारवाला दिखायी देता है उसी प्रकार सम्पूर्ण भूतोंका आत्मा एक ही है किन्तु भिन्न शरीरोंके कारण बाहरसे वह उन्हींके आकारका जान पड़ता है । यही बात मन्त्र १० में वायुके दृष्टान्तसे कही गयी है, यथा—

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥ ९ ॥
वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥ १० ॥

मनोविज्ञानका बड़ा ही सुन्दर विश्लेषण हुआ है। इनका विचार करनेसे इस वाद-विवादके लिये कोई कारण ही नहीं रह जाता। इनसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि द्वैत या नानात्व-ज्ञान आरम्भिक अवस्था है, यह केवल ज्ञानाभास है। इसे व्यावहारिक कोटिमें ही 'ज्ञान' कह सकते हैं। जबतक जीव व्यवहारसे ऊपर उठनेका साहस नहीं कर सकता—अपनी जन्म-जन्मान्तरकी वासना और संस्कारोंके बन्धनको नहीं काट सकता, तबतक वह इसी ज्ञानका अधिकारी है। इस बन्धनसे निकलनेके लिये उसे अपने व्यवहारको शास्त्रानुकूल बनाना होगा। ऐसा करनेसे ही वह व्यवहारसे ऊपर उठ सकेगा। वेद, स्मृति, पुराण और दर्शनादि इसीके लिये कर्म और उपासनाका विधान करते हैं। किन्तु जिन भाग्यवान् जीवों-की व्यवहारमें आस्था नहीं है और जो इस दृश्यमान प्रपञ्च-के चरमतत्त्वको जाननेके लिये उत्सुक हैं उनकी कर्म और उपासनामें प्रवृत्ति नहीं हो सकती। उन्हें विवेक-वैराग्यपूर्वक विचारका ही आश्रय लेना पड़ता है। वे ही अन्तमें इस अद्वैतज्ञानको उपलब्ध कर सकते हैं। वास्तवमें वही परमार्थ-ज्ञान है। मैत्रेय्युपनिषद्में कहा है—'अभेददर्शनं ज्ञानम्।' यही मुक्तिका एकमात्र कारण है। ज्ञानके सिवा और किसी भी साधनसे यह भवबन्धन नहीं छूट सकता—'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः।' जबतक भेददृष्टि रहेगी तबतक जन्म-मरणका चक्कर भी लगा ही रहेगा। श्रुति भी कहती है—'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति।' अतः सम्पूर्ण शास्त्रोंका अन्तिम लक्ष्य यह अभेद ज्ञान ही है।

किन्तु यह सब होनेपर भी समाजके लिये द्वैत और अद्वैत दोनों ही प्रकारके ज्ञानोंकी आवश्यकता है और शास्त्रोंमें दोनोंहीका प्रतिपादन भी किया गया है। इसलिये ऐसा कहना कि शास्त्र केवल द्वैत अथवा केवल अद्वैतका ही प्रतिपादन करता है—कोरा मताग्रह ही है। वस्तुतः दोनों ही ज्ञान हैं और दोनोंहीकी आवश्यकता भी है। केवल इनकी भूमियाँ ही पृथक्-पृथक् हैं। जिस प्रकार एक स्कूलमें पहली कक्षाके छात्र भी रहते हैं और दसवींके भी, परन्तु इससे उनके पारस्परिक प्रेम, सहानुभूति और मेल-जोलमें कोई बाधा नहीं आती, उसी प्रकार प्रत्येक समाजमें सभी प्रकारके अधिकारी रहते हैं और अपने-अपने अधिकारके अनुसार साधनमार्गमें प्रवृत्त होते हैं। इससे उनमें किसी प्रकारकी असहनशीलता, स्पर्धा या द्वेष होनेका कोई कारण नहीं है। अतः समाजके प्रत्येक व्यक्तिका कर्त्तव्य है कि वह पारस्परिक वैमनस्यसे दूर रहकर अपने अधिकारके अनुसार साधनमें तत्पर रहे और सबकी विचारधाराका हृदयसे सम्मान करे।
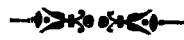
अद्भुत अभिलाषा

प्रभो! तुम्हींने मुझे दिये हैं जन-सेवारत—
हाथी, घोड़े, महल, कुटुम्ब, विभव, धन-दौलत—
गुण, अवगुण, सुख, उच्च जाति-कुल, शत्रु, मित्रवर—
नाम, मान, नृप-कृपा और बदनाम यहाँपर।
तब क्या माँगूँ, वस्तुएँ हैं सब मेरे पास जब—
पर तुमसे मैं हूँ यही बात चाहता नाथ! अब—

मुझको ऐसा महा दुःख दो जिससे पलभर—
भी, मैं तुमको नहीं तनिक भी भूलूँ रघुवर!
आत्मा तुममें रमे उसीकी दाह-शक्तिसे—
जपती-जपती बार-बार बस यही भक्तिसे—
राम! राम! सीतापते! श्याम! श्याम! गीतामते!
श्याम! श्याम! गीतामते! राम! राम! सीतापते!

—पु० प्रतापनारायण

व्रत-परिचय

(लेखक—पं० श्रीहनूमान्‌जी शर्मा)

[पृष्ठ १५५२से आगे]

(६)

(भाद्रपदके व्रत)

कृष्णपक्ष

(१) **कज्जलीतृतीया** (कृत्यरत्नावली)—यद्यपि यह व्रत वाक्यविशेष या देशभेदसे श्रावणमें किया जाता है किन्तु भाद्रपद कृष्ण तृतीयाको व्यापकरूपमें होता है। माहेश्वरी वैश्य इस दिन जौ, गेहूँ, चने और चावलके सत्तूमें घी, मीठा और मेवा डालकर उसके कई पदार्थ बनाते और चन्द्रोदयके बाद उसीका एक बार भोजन करते हैं। इस कारण यह व्रत 'सातूड़ी तीज' अथवा 'सतवा तीज' कहलाता है।

(२) **विशालाक्षीयात्रा** (काशीखण्ड)—इसके निमित्त भाद्रपद कृष्ण तृतीयाको व्रत किया जाता है। इसमें रात्रिव्यापिनी तिथि लेते हैं। इस दिन केवल उपवास और जागरण किया जाता है और भाद्रपद शुक्ल ३को सुवर्ण-निर्मित गौरीका गन्धादिसे पूजन करते हैं। नैवेद्यमें गुड़के पूआ और यात्रामें विशालाक्षी मुख्य हैं।

(३) **सङ्कष्टचतुर्थी** (भविष्योत्तर)—यह परिचित व्रत प्रत्येक कृष्ण चतुर्थीको होता है। इसमें चन्द्रोदय-व्यापिनी तिथि ली जाती है। रात्रिमें चन्द्रमाको अर्घ्य देकर और पूजनीय पुरुषोंको बायन देकर भोजन किया जाता है। विशेष विधान पहले लिखा जा चुका है।

(४) **बहुलाव्रत**—यह मध्यप्रदेशमें भाद्रपद कृष्ण चतुर्थीको किया जाता है।

(५) **चन्द्रषष्ठी** (भविष्यपुराण)—यह भाद्र कृष्ण षष्ठीको किया जाता है। इसमें चन्द्रोदयव्यापिनी तिथि ली जाती है। इसे विशेषकर विवाहिता या अविवाहिता लड़कियाँ ही करती हैं और चन्द्रोदय होनेपर उसे अर्घ्य देती हैं।

(६) **पुत्रव्रत** (वाराहपुराण)—इसके लिये भाद्र-पद कृष्ण सप्तमीको उपवास कर विष्णुका पूजन करे और दूसरे दिन 'ॐ क्लीं कृष्णाय गोविन्दाय गोपीजनवल्लभाय स्वाहा' इस मन्त्रसे तिलोंकी १०८ आहुति देकर ब्राह्मणोंको भोजन करावे और बिल्वफल खाकर षड्रस (मधुर, अम्ल' लवण, कषाय, तिक्त, और कटु) भक्षण करे। इस प्रकार प्रत्येक कृष्ण सप्तमीको करके वर्ष व्यतीत होनेपर दो गोदान करे तो पुत्रकी प्राप्ति होती है।

(७) **जन्माष्टमी** (शिव, विष्णु, ब्रह्म, वह्नि, भविष्यादि)—यह व्रत भाद्रपद कृष्ण अष्टमीको किया जाता है। भगवान् श्रीकृष्णका जन्म भाद्रपद कृष्ण अष्टमी बुधवार-को रोहिणी नक्षत्रमें अर्धरात्रिके समय वृषके चन्द्रमामें हुआ था। अतः अधिकांश उपासक उक्त बातोंमें अपने-अपने अभीष्ट योगका ग्रहण करते हैं। शास्त्रमें इसके शुद्धा और विद्धा दो भेद हैं। उदयसे उदयपर्यन्त शुद्धा और तद्‌गत सप्तमी या नवमीसे विद्धा होती है। शुद्धा या विद्धा भी—समा, न्यूना, या अधिकाके भेदसे तीन प्रकारकी हो जाती हैं और इस प्रकार अठारह भेद बन जाते हैं, परन्तु सिद्धान्तरूपमें तत्कालव्यापिनी (अर्धरात्रिमें रहनेवाली) तिथि अधिक मान्य होती है। वह यदि दो दिन हो—या दोनों ही दिन न हो तो (सप्तमीविद्धाको सर्वथा त्याग कर) नवमीविद्धाका ग्रहण करना चाहिये। यह सर्वमान्य और पापघ्न व्रत बाल, कुमार, युवा और वृद्ध—सभी अवस्थाके नरनारियोंके करने योग्य है। इससे उनके पापोंकी निवृत्ति और सुखादिकी वृद्धि होती है। जो इसको नहीं करते, उनको पाप होता है। इसमें अष्टमीके उपवाससे पूजन और नवमीके (तिथिमात्र) पारणासे व्रतकी पूर्ति होती है। व्रत करनेवालेको चाहिये कि उपवासके पहले दिन लघु भोजन करे। रात्रिमें जितेन्द्रिय रहे और उपवासके दिन प्रातः स्नानादि नित्य-कर्म करके सूर्य, सोम, यम, काल, सन्धि, भूत, पवन, दिक्‌पति, भूमि, आकाश, खेचर, अमर और ब्रह्म आदिको नमस्कार करके पूर्व या उत्तर मुख बैठे; हाथमें जल, फल, कुश, फूल और गन्ध लेकर 'ममाखिलपापप्रशमनपूर्वक-सर्वाभीष्टसिद्धये श्रीकृष्णजन्माष्टमीव्रतमहं करिष्ये' यह सङ्कल्प करे। और मध्याह्नके समय काले तिलोंके जलसे स्नान करके देवकीजीके लिये 'सूतिकागृह' नियत करे। उसे स्वच्छ और सुशोभित करके उसमें सूतिकाके उपयोगी सब सामग्री यथाक्रम रक्खे। सामर्थ्य हो तो गाने-बजानेका भी आयोजन करे। प्रसूतिगृहके सुखद विभागमें सुन्दर और

सुकोमल बिछौनेके सुदृढ़ मञ्चपर अक्षतादिका मण्डल बनवाके उसपर शुभ कलश स्थापन करे और उसीपर सोना, चाँदी, ताँबा, पीतल, मणि, वृक्ष, मिट्टी या चित्ररूपकी मूर्ति स्थापन करे। मूर्तिमें सद्यःप्रसूत श्रीकृष्णको स्तनपान कराती हुई देवकी हों और लक्ष्मीजी उनके चरण स्पर्श किये हुए हों ऐसा भाव प्रकट रहे। इसके बाद यथासमय भगवान्‌के प्रकट होनेकी भावना करके वैदिक विधिसे, पौराणिक प्रकारसे अथवा अपने सम्प्रदायकी पद्धतिसे पञ्चोपचार, दशोपचार, षोडशोपचार या आवरणपूजा आदिमें जो बन सके वही प्रीतिपूर्वक करे। पूजनमें देवकी, वसुदेव, वासुदेव, बलदेव, नन्द, यशोदा और लक्ष्मी—इन सबका क्रमशः नाम निर्दिष्ट करना चाहिये।''''''अन्तमें 'प्रणमे देवजननीं त्वया जातस्तु वामनः। वसुदेवात्तथा कृष्णो नमस्तुभ्यं नमो नमः॥ सपुत्रार्घ्यं प्रदत्तं मे गृहाणेमं नमोऽस्तु ते।' से देवकीको अर्घ्य दे। और 'धर्माय धर्मेश्वराय धर्मपतये धर्मसम्भवाय गोविन्दाय नमो नमः।' से श्रीकृष्णको 'पुष्पाञ्जलि' अर्पण करे। तत्पश्चात् जातकर्म, नालच्छेदन, षष्ठीपूजन और नामकरणादि करके 'सोमाय सोमेश्वराय सोमपतये सोमसम्भवाय सोमाय नमो नमः।' से चन्द्रमाका पूजन करे और फिर शङ्खमें जल, फल, कुश, कुसुम और गन्ध डालकर दोनों घुटने जमीनमें लगावे और 'क्षीरोदार्णवसम्भूत अत्रिनेत्रसमुद्भव। गृहाणार्घ्यं शशाङ्केमं रोहिण्या सहितो मम॥ ज्योत्स्नापते नमस्तुभ्यं नमस्ते ज्योतिषां पते। नमस्ते रोहिणीकान्त अर्घ्यं मे प्रतिगृह्यताम्॥' से चन्द्रमाको अर्घ्य दे और रात्रिके शेष भागको स्तोत्र-पाठादि करते हुए बितावे। उसके बाद दूसरे दिन पूर्वाह्णमें पुनः स्नानादि करके जिस तिथि या नक्षत्रादिके योगमें व्रत किया हो उसका अन्त होनेपर पारणा करे। यदि अभीष्ट तिथि या नक्षत्रादिके समाप्त होनेमें विलम्ब हो तो जल पीकर पारणाकी पूर्ति करे।

(८) **उमा-महेश्वरव्रत** (हेमाद्रि)—यह भाद्रपद कृष्ण अष्टमीको करना चाहिये। इसमें सायङ्कालके समय उमा और महेश्वरका पूजन करके एकभुक्त व्रत करे।

(९) **कालाष्टमी** (हेमाद्रि)—यदि भाद्रपद कृष्ण अष्टमीको मृगशिरा हो तो शिवपूजन करके यह व्रत करे।

(१०) **गोगानवमी** (व्रतोत्सव)—यह व्यापक व्रत नहीं है। लोकाचारमें इसका प्राधान्य है। इसके लिये कुम्हार लोग काली मिट्टीकी एक मूर्ति बनाते हैं। वह वीर पुरुषकी होती है। उसे भाद्रपद कृष्ण नवमीको प्रातः सद्‌गृहस्थोंके घरोंमें ले जाते हैं और पूजन करवाके ले आते हैं। देखा जाता है कि अधिकांश गृहस्थ उस अश्वारूढ मूर्तिके अपूप और श्रावणीका रक्षासूत्र अर्पण करते हैं।

(११) **दुर्गाबोधन** (देवीपुराण)—यह व्रत यदि भाद्रपद कृष्ण नवमीको आर्द्रा हो तो उसमें गायन-वादनादिके साथ देवीका पूजन करनेसे सम्पन्न होता है।

(१२) **कृष्णैकादशीव्रत** (ब्रह्मवैवर्त)—यह सुपरिचित व्रत भाद्रपद कृष्ण एकादशीको किया जाता है। इसका नाम 'अजा' एकादशी है। इसके व्रतसे पुनर्जन्मकी बाधा दूर हो जाती है। प्राचीन कालमें चक्रवर्ती हरिश्चन्द्रने इसी व्रतसे अपनी बिगड़ी हुई दशासे उद्धार पाया था।

(१३) **वत्सद्वादशी** (व्रतोत्सव)—इसमें भाद्रपद कृष्ण द्वादशीको मध्याह्नसे पहले गोवत्सका पूजन करके (उनको पहले दिनके भिगोकर उगाये हुए) मूँग, मोठ और बाजरेका नैवेद्य भोग लगाते हैं और बाड़ करेलेकी बेलिसे उसको सुशोभित करते हैं। व्रतवाली स्त्रियोंकी भोजन-सामग्रीमें मूँग, मोठ और बाजरेका ही प्राधान्य होता है इसमें दूध, दही या घी (गौका नहीं) भैंसका बर्तते हैं।

(१४) **प्रदोषव्रत** (स्कन्दपुराण)—इस सुप्रसिद्ध व्रतके विधि-विधान गत महीनोंमें प्रकाशित हो चुके हैं। विशेषता यह है कि भाद्रपदके सोमप्रदोषसे महाफल मिलता है।

(१५) **कुशग्रहणी** (मदनरत्न)—यह भाद्रपद कृष्ण अमावास्याके पूर्वाह्णमें मानी जाती है। शास्त्रमें—'कुशाः काशा यवा दूर्वा उशीराश्च सकुन्दकाः। गोधूमा ब्राह्मयो मौञ्जा दश दर्भा सबल्वजाः॥'—दस प्रकारका कुश बतलाया है। इनमें जो मिल सके उसीका ग्रहण करे। जिस कुशाका मूल सुतीक्ष्ण हो, उसमें सात पत्ती हों, अग्रभाग कटा न हो और हरा हो, वह देव और पितृ दोनों कार्योंमें वर्तने योग्य होती है। उसके लिये अमावसको दर्भस्थलमें जाकर पूर्व या उत्तर मुख बैठे और 'विरञ्चिना सहोत्पन्न परमेष्ठिनिसर्गज। नुद सर्वाणि पापानि दर्भ स्वस्तिकरो भव। हुं फट्।' यह मन्त्र उच्चारण करके कुशाको दाहिने हाथसे उखाड़े (और इस प्रकार जितनी चाहिये, ले आवे।)

शुक्ल पक्ष

(१) **महत्तमाख्यशिवव्रत** (स्कन्दपुराण)—यह व्रत भाद्रपद शुक्ल प्रतिपद्‌को किया जाता है। इसके लिये जटामण्डित

और त्रिशूल, कपाल तथा कुण्डिकादिसे संयुक्त, चन्द्रादिसे सुशोभित, त्रिनेत्र शिवजीकी सुवर्णमयीमूर्ति बनवाकर भाद्रपद शुक्ल प्रतिपदाको उसे विधिपूर्वक स्थापित किये हुए कलशपर विराज कर यथाप्राप्त उपचारोंसे पूजन करे और नैवेद्यमें अड़तालीस फल या मोदक अथवा मिष्टान्नादि अर्पण करके उनमेंसे १६ देवताओंको और १६ ब्राह्मणोंको अर्पण करे, शेष १६ अपने लिये रक्खे। और 'प्रसीद देवदेवेश चराचरजगद्गुरो। वृषध्वज महादेव त्रिनेत्राय नमो नमः॥' से प्रर्थना करके दूध देनेवाली गौका दान करे और एक बार भोजन कर व्रतको समाप्त करे। इससे पाप नाश होता है तथा राज्य, धन, पुत्र, स्त्री, आरोग्य और आयु आदिकी प्राप्ति होती है।

(२) **मौनव्रत** (स्कन्दपुराण)—यह व्रत भाद्रपद शुक्ल प्रतिपद्को पूर्ण होता है, किन्तु श्रावण शुक्ल पूर्णिमासे ही इसका प्रारम्भ किया जाता है। उस दिन किसी जलाशय-पर जाकर स्नान करे और कोमल दूर्वाके १६ अङ्कुरोंका डोरा बनाकर उसमें १६ गाँठ लगावे। फिर गन्धादिसे उसका पूजन कर स्त्री बाँये हाथमें और पुरुष दाहिने हाथमें धारण करे। इसके बाद जल लाने, गेहूँ पीसने, उनसे नैवेद्य बनाने और अन्य आयोजन करने आदिमें सर्वथा मौन रहे। तत्पश्चात् भाद्रपद कृष्ण प्रतिपदाको जलाशय-पर जाकर स्नानादि नित्य कर्म करके देव, ऋषि, मनुष्य और पितरोंका तर्पण करे और फिर सदाशिवका आवाहनादि षोडशोपचारसे पूजन करके 'जन्मजन्मान्तरेष्वेव भावाभावेन यत्कृतम्। क्षन्तव्यं देव तत्सर्वं शम्भो त्वां शरणं गतः॥' से प्रार्थना करे। इस प्रकार १६ दिन करके भाद्रपद शुक्ल प्रतिपदाको ब्राह्मणभोजनादि करवाकर स्वयं भोजन करे तो इससे पुत्र-पौत्रादिकी प्राप्ति और पापादिकी निवृत्ति होती है।

(३) **हरितालिका** (भविष्योत्तरपुराण)—'भाद्रस्य कज्जली कृष्णा शुक्ला च हरितालिका।' के अनुसार भाद्रशुक्ल ३ को 'हरितालिका' का व्रत किया जाता है। इसमें मुहूर्त-मात्र हो तो भी परा तिथि ग्राह्य की जाती है। (क्योंकि द्वितीया पितामहकी और चतुर्थी पुत्रकी तिथि है अतः द्वितीयाका योग निषेध और चतुर्थीका योग श्रेष्ठ होता है।) शास्त्रमें इस व्रतके लिये सधवा, विधवा सबको आज्ञा है। धर्मप्राणा स्त्रियोंको चाहिये कि वे 'मम उमामहेश्वरसायुज्य-सिद्धये हरितालिकाव्रतमहं करिष्ये।' यह संकल्प करके मकानको मण्डपादिसे सुशोभित कर पूजासामग्री एकत्र करे। इसके बाद कलशस्थापन करके उसपर सुवर्णा-दिनिर्मित शिव-गौरी (अथवा पूर्वप्रतिष्ठित हर-गौरी) के समीप बैठकर उनका 'सहस्रशीर्षा०' आदि मन्त्रोंसे पुष्पार्पण-पर्यन्त पूजन करके 'ॐ उमायै० पार्वत्यै० जगद्धात्र्यै० जगत्प्रतिष्ठायै० शान्तिरूपिण्यै० शिवायै० और ब्रह्मरूपिण्यै नमः' से उमाके और 'ॐ हराय० महेश्वराय० शम्भवे० शूल-पाणये० पिनाकधृषे० शिवाय० पशुपतये और महादेवाय नमः' से महेश्वरके नामोंसे स्थापन और पूजन करके धूप-दीपादिसे शेष षोडश उपचार सम्पन्न करे और 'देवि देवि उमे गौरि त्राहि मां करुणानिधे। ममापराधाः क्षन्तव्या भुक्तिमुक्तिप्रदा भव' से प्रार्थना करे और निराहार रहे। दूसरे दिन पूर्वाह्नमें पारणा करके व्रतको समाप्त करे। इस प्रकार नियत अवधि पूर्ण होनेपर या भाद्रपद शुक्ल ३ को हस्तनक्षत्र और सोमवार हो तो रात्रिके समय मण्डलपर उमा-महेश्वरकी मूर्ति स्थापित करके उनका यथाविधि पूजन करे और तिल, घी आदिसे आहुति देकर दूसरे दिन अष्टयुग्म या षोडशयुग्म (जोड़ा-जोड़ी) को भोजन कराके १६ सौभाग्यद्रव्य (सुहागटिपारे) दे। और फिर स्वयं भोजन करके व्रतका विसर्जन करे। इसी दिन 'हरिकाली' 'हस्तगौरी' और 'कोटीश्वरी' आदिके व्रत भी होते हैं। इन सबमें पार्वतीके पूजनका प्राधान्य है और विशेषकर इनको स्त्रियाँ करती हैं।

(४) **सिद्धिविनायकव्रत** (कृत्यरत्नावली)—यह भाद्रपद शुक्ल चतुर्थीको किया जाता है। इस दिन गणेश-जीका मध्याह्नमें जन्म हुआ था, अतः इसमें मध्याह्नव्यापिनी तिथि ली जाती है। यदि वह दो दिन हो या दोनों दिन न हो तो 'मातृविद्धा प्रशस्यते' के अनुसार पूर्वविद्धा लेनी चाहिये। इस दिन रवि या भौमवार हो तो यह 'महाचतुर्थी' हो जाती है। इस दिन रात्रिमें चन्द्रदर्शन करनेसे मिथ्या कलङ्क लग जाता है। उसके निवारणके निमित्त स्यमन्तककी कथा श्रवण करना आवश्यक है।* अस्तु। व्रतके दिन

* 'श्रीकृष्णकी द्वारकापुरीमें सत्राजितने सूर्यकी उपासनासे सूर्यसमान प्रकाशवाली और प्रतिदिन आठ भार सुवर्ण देनेवाली 'स्यमन्तक' मणि प्राप्त की थी। एक बार उसे सन्देह हुआ कि शायद श्रीकृष्ण इसे छीन लेंगे। यह सोचकर उसने वह मणि अपने भाई प्रसेनको पहना दी। दैवयोगसे वनमें शिकारके लिये गये हुए प्रसेनको सिंह खा गया और सिंहसे वह मणि 'जाम्बवान्' छीन ले गया। इससे श्रीकृष्णपर यह कलङ्क लग गया कि 'मणिके लोभसे उन्होंने प्रसेनको मार डाला।' अन्तर्यामी श्रीकृष्ण जाम्बवान्-

प्रातःस्नानादि करके 'मम सर्वकर्मसिद्धये सिद्धिविनायक-पूजनमहं करिष्ये' से संकल्प करके 'स्वस्तिक' मण्डलपर प्रत्यक्ष अथवा स्वर्णादिनिर्मित मूर्ति स्थापन करके पुष्पार्पण-पर्यन्त पूजन करे और फिर १३ 'नामपूजा' और २१ 'पत्र-पूजा' करके धूप, दीपादिसे शेष उपचार सम्पन्न करे। अन्तमें घृतपाचित २१ मोदक अर्पण करके 'विघ्नानि नाशमायान्तु सर्वाणि सुरनायक । कार्यं मे सिद्धिमायातु पूजिते त्वयि धातरि ॥' से प्रार्थना करे। और मोदकादि वितरण करके एक बार भोजन करे। इस दिन राजपूताना प्रान्तमें प्राचीन शैलीकी पाठशालाओंके छात्रगण बड़ी धूम-धामसे 'गणपतिचतुर्थी' मनाते हैं और महाराष्ट्रदेशमें इसके महोत्सव होते हैं।

(५) **शिवाचतुर्थी** (भविष्यपुराण)–शिवा, शान्ता और सुखा ये ३ चतुर्थी होती हैं। इनमें भाद्रपद शुक्ल चतुर्थीकी 'शिवा' संज्ञा है। इसमें स्नान, दान, जप और उपवास करनेसे सौगुणा फल होता है। स्त्रियाँ यदि इस दिन गुड़, घी, लवण और अपूपादिसे अपने सास, श्वसुर या माँ आदिको तृप्त करें तो उनके सौभाग्यकी वृद्धि होती है। (माघ शुक्ल चतुर्थी शान्ता और भौमप्रयुक्त सुखा होती है।)

(६) **ऋषिपञ्चमी** (ब्रह्मपुराण)–भाद्रपद शुक्ल पञ्चमीको ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र वर्णकी स्त्रियोंको चाहिये कि वे नद्यादिपर स्नान कर अपने घरके शुद्धस्थलमें हरिद्रा आदिसे चौकोर मण्डल बनाकर उसपर सप्तर्षियोंका स्थापन करें और गन्ध, पुष्प, धूप, दीप तथा नैवेद्यादिसे पूजन कर 'कश्यपोऽत्रिर्भरद्वाजो विश्वामित्रोऽथ गौतमः । जमदग्निर्वसिष्ठश्च सप्तैते ऋषयः स्मृताः ॥ गृहीत्वार्घ्यं मया दत्तं तुष्टा भवन्तु सर्वदा।' से अर्घ्य दें। इसके बाद अकृष्ट (बिना बोयी हुई) पृथ्वीमें पैदा हुए शाकादिका आहार करके ब्रह्मचर्यपालनपूर्वक व्रत करें। इस प्रकार सात वर्ष करके आठवें वर्षमें सप्तर्षियोंकी सुवर्णमय सात मूर्ति बनवाकर कलशस्थापन करके यथाविधि पूजन कर सात गोदान और सात युग्मक ब्राह्मण-भोजन कराके उनका विसर्जन करें। इस देशमें इस दिन स्त्रियाँ पञ्चताड़ी तृण एवं भाईके दिये हुए चावल आदिकी कौए आदिको बलि देकर फिर स्वयं भोजन करती हैं।

(७) **सूर्यषष्ठी** (भविष्योत्तर)–सप्तमीप्रयुक्त भाद्रपद शुक्ल षष्ठीको स्नान, दान, जप और व्रत करनेसे अक्षय फल होता है। विशेषकर सूर्यका पूजन, गङ्गाका दर्शन और पञ्चगव्यप्राशनसे अश्वमेधके समान फल होता है। पूजामें गन्ध, पुष्प, धूप, दीप और नैवेद्य मुख्य हैं।

(८) **चम्पाषष्ठी** (हेमाद्रिगत स्कन्दपुराण)–यदि भाद्रपद शुक्ल षष्ठीको भौमवार, विशाखा नक्षत्र और वैधृत्य हो तो 'चम्पाषष्ठी' होती है। इस निमित्त पञ्चमीको मनमें सङ्कल्प करके षष्ठीके प्रभातमें सफेद तिल और मृत्तिका मिले हुए जलसे स्नान करके कलशपर कुंकुमसे १२ आरे बनावे, उनमें रथ, अरुण और सूर्यका (सूर्यके १२ नामोंसे) पूजन करे और ब्राह्मणोंको भोजन कराके स्वयं भोजन करे।

(९) **फलसप्तमी** (भविष्यपुराण)—भाद्रपद शुक्ल सप्तमीसे आरम्भ करके प्रत्येक शुक्ल सप्तमीको सूर्यका फलोंसे पूजन करे और स्वयं फल भक्षण कर व्रत करे।

(१०) **मुक्ताभरण** (हेमाद्रिगत भविष्योत्तरपुराण)–भाद्रपद शुक्ल षष्ठीविद्धा सप्तमीको शुद्ध भूमिमें भवानी और शङ्करकी मूर्ति लिखकर उनका षोडशोपचार पूजन करे और स्वयं फल खाकर व्रत करे।

(११) **दूर्वाष्टमी** (भविष्यपुराण)–भाद्रपद शुक्लाष्टमीको उमासहित शिवका षोडशोपचार पूजन करके सात प्रकारके फल, पुष्प, दूर्वा और नैवेद्य अर्पण कर व्रत करे तो धनार्थी, पुत्रार्थी या कामार्थी आदिको धन, पुत्र और कामादि प्राप्त होते हैं।

(१२) **महालक्ष्मीव्रत** (मदनरत्नगत स्कन्दपुराण)–भाद्रपद शुक्ल अष्टमीसे आरम्भ करके आश्विन कृष्ण अष्टमीपर्यन्त प्रतिदिन १६ अञ्जलि कुल्ले करके प्रातःस्नानादि नित्यकर्म कर चन्दनादिनिर्मित लक्ष्मीकी प्रतिमाका स्थापन करे। उसके समीप सोलह सूत्रके डोरेमें १६ गाँठ लगाकर उनका 'लक्ष्म्यै नमः' से प्रत्येक गाँठका पूजन करके लक्ष्मीकी प्रतिमाका पूजन करे। (लक्ष्मीपूजनकी विशेष विधि 'सारसङ्ग्रह' में देखनी चाहिये) पूजनके पश्चात् 'धनं धान्यं धरां हर्म्यं कीर्तिमायुर्यशः श्रियम् । तुरगान् दन्तिनः पुत्रान् महालक्ष्मि प्रयच्छ मे ॥' से उक्त डोरेको दाहिने हाथमें बाँधे और हरी दूर्वाके १६ पल्लव और १६ अक्षत लेकर कथा सुने। इस प्रकार करके आश्विन कृष्ण अष्टमीको विसर्जन करे।

की गुहामें गये और उससे २१ दिनतक घोर युद्ध करके उसकी पुत्री जाम्बवतीको तथा स्यमन्तकमणिको ले आये। यह देखकर सत्राजितने वह मणि उन्हींके अर्पण कर दी। कलङ्क दूर हो गया।'

(१३) **नन्दानवमी** (मदनरत्नगत भविष्योत्तर)—भाद्रपद शुक्ल 'नन्दानवमी' को दुर्गाका यथाविधि पूजन करके व्रत करनेसे विष्णुलोक प्राप्त होता है । व्रतीको चाहिये कि वह शुक्ल सप्तमीको एकभुक्त व्रत करे और अष्टमीको उपवास करके दुर्गाको दूर्वाङ्कुरोंपर स्थिर कर फल-पुष्पादिसे पूजन करे और रात्रिमें 'ॐ नन्दायै नमः स्वाहा हूँ फट्' इस मन्त्रके जप और जागरण करे। फिर नवमीके प्रभातमें चण्डिकादेवीका, गुरुका और कुमारीका पूजन करके भोजन करे। स्नान और प्राशनमें कुशोदक उपयोगमें ले । इस प्रकार प्रत्येक शुक्ल सप्तमी, अष्टमी और नवमीको चार मासपर्यन्त करे ।

(१४) **दशावतारव्रत** (भविष्योत्तर)—यह व्रत भाद्रपद शुक्ल दशमीको किया जाता है। एतन्निमित्त किसी जलाशयपर जाकर स्नान करके देव और पितरोंका तर्पण करे और अपने हाथसे आटेकी दो पसे (लगभग ऽ।- पाँच छटाक आटा) लेकर उसके अपूप (पूआ) बनावे और 'मत्स्य, कूर्म, वाराह, नरसिंह, त्रिविक्रम, राम, कृष्ण, परशुराम, बौद्ध और कल्कि' इन दस अवतारोंका यथाविधि पूजन करे और अपूपादिका भोग लगाकर उनमेंसे १० देवताके, १० ब्राह्मणके और दस अपने रखकर भोजन करे। इस प्रकार दस वर्षतक करे। और १–अपूप, २–घेवर, ३–कासार, ४–मोदक, ५–सुहाल, ६–सकरपारे, ७–डोवटे, ८–गुणा, ९- कोकर और १०–पुष्पकर्ण—इन दस पदार्थोंमेंसे प्रतिवर्ष एक-एक पदार्थ—देवता आदिको दस-दसकी संख्यामें अर्पण करे तो विष्णुलोककी प्राप्ति होती है ।

(१५) **शुक्लैकादशी** (ब्रह्माण्डपुराण)- भाद्रपद शुक्ल 'पद्मा' एकादशीको प्रातःस्नानादिके अनन्तर भगवान्का यथाविधि पूजन करके उपवास करे और रात्रिके समय हरिस्मरणसहित जागरण करके दूसरे दिन पूर्वाह्णमें पारणा करे।......यह स्मरण रहे कि प्रभातके समय यदि श्रवण नक्षत्रके मध्यभागकी (लगभग २०) घड़ीका अंश हो तो उसमें पारणा न करे। यह भी स्मरण रहे कि मध्याह्नसे पहले श्रवणका मध्य अंश न उतरे तो जल पीकर पारणा करे।......प्राचीन कालमें सूर्यवंशके चक्रवर्ती मान्धाताने अपने राज्यकी तीन वर्षकी अनावृष्टिको मिटानेके लिये अङ्गिरा ऋषिके आदेशसे इसी 'पद्मा एकादशी' के व्रतका अनुष्ठान किया था, उससे मान्धाताके राज्यमें सर्वत्र सदैव अनुकूल वर्षा होती रही ।......यदि इस दिन श्रवण नक्षत्र हो तो यही 'विजया एकादशी' होती है। इसके व्रतसे सब प्रकारके अभीष्ट सिद्ध होते हैं। इस दिन भगवान् वामनजीका पूजन करना आवश्यक होता है। व्रतीको चाहिये कि भाद्रपद शुक्ल एकादशीको प्रातःस्नानादि करके भगवान् वामनजीकी सुवर्णकी मूर्ति बनवावे और 'मत्स्य, कूर्म, वाराह' आदिके नामोच्चारणसहित गन्ध-पुष्पादि सभी उपचारोंसे उसका यथाविधि पूजन करे। दिनभर उपवास रक्खे और रात्रिमें जागरण करके दूसरे दिन फिर उसका पूजन करके उपस्थित देय द्रव्यादि ब्राह्मणोंको देकर उनको भोजन करावे और फिर स्वयं भोजन करके व्रत समाप्त करे ।

(१६) **कटिपरिवर्तनोत्सव** (भविष्योत्तर)—भाद्रपद शुक्ल एकादशीको भगवान्का कटिपरिवर्तन करावे। उसके लिये देवप्रबोधिनीके समान सम्पूर्ण विधान बनवाकर भगवान्को विमानमें विराजित करके गायन, वादन, नर्तन, कीर्तन और जयघोषादिके साथ जलाशयपर ले जाय और वहाँ जलपानादि साधनोंसे उनको दोलायमान करके वापस लाकर सन्ध्याके समय महापूजा और नीराजन करे। रात्रिमें भगवान्को दक्षिण कटि शयन कराके जागरण करे। और दूसरे दिन पूर्वाह्णमें 'वासुदेव जगन्नाथ प्राप्तेयं द्वादशी तव । पार्श्वेन परिवर्तस्व सुखं स्वपिहि माधव ॥' से प्रार्थना करके पारणा करे। राजपूतानेमें यह उत्सव 'जलझूलनी' के नामसे प्रसिद्ध है और सामान्य या विशेष यथायोग्य आयोजनोंसे सर्वत्र ही मनाया जाता है ।

(१७) **प्रदोषव्रत**—यह सुपरिचित व्रत प्रत्येक त्रयोदशीको किया जाता है। सूर्यास्तके समय स्नान करके लाल कनेरके पुष्प, लाल चन्दन और धूप-दीपादिसे शिवपूजन करके प्रदोष-समयमें एक बार भोजन करे। यदि इस दिन शनिवार हो तो और भी अधिक अच्छा है।

(१८) **अनन्तव्रत** (स्कन्द-ब्रह्म-भविष्यादि)—यह व्रत भाद्रपद शुक्ल चतुर्दशीको किया जाता है। इसमें उदयव्यापिनी तिथि ली जाती है। पूर्णिमाका सहयोग होनेसे

---

१. उदये त्रिमुहूर्तापि ग्राह्यानन्तव्रते तिथिः ।

२. तथा भाद्रपदस्यान्ते चतुर्दश्यां द्विजोत्तम ।
पौर्णमास्याः समायोगे व्रतं चानन्तकं चरेत् ॥

इसका फल बढ़ जाता है । कथाके अनुरोधसे मध्याह्नतक[१] चतुर्दशी रहे तो और भी अच्छा है । व्रतीको चाहिये कि उस दिन प्रातःस्नानादि करके 'ममाखिलपापक्षयपूर्वकशुभ-फलवृद्धये श्रीमदनन्तप्रीतिकामनया अनन्तव्रतमहं करिष्ये' यह सङ्कल्प करके वासस्थानको स्वच्छ और सुशोभित करे । यदि हो तो एक स्थानको या चौकी आदिको मण्डपरूपमें परिणत करके उसमें भगवान्‌की साक्षात् अथवा दर्भसे बनायी हुई सात फणोंवाली शेषस्वरूप अनन्तकी मूर्ति स्थापित करे । उसके आगे १४ गाँठका अनन्त दोरक रक्खे और नवीन आम्रपल्लव एवं गन्ध, पुष्प, धूप, दीप और नैवेद्यादिसे पूजन करे । पूजनमें पञ्चामृत, पञ्जीरी, केले और मोदकादिका प्रसाद अर्पण करके 'नमस्ते देव देवेश नमस्ते धरणीधर । नमस्ते सर्वनागेन्द्र नमस्ते पुरुषोत्तम ॥' से नमस्कार करे और 'न्यूनातिरिक्तानि परिस्फुटानि यानीह कर्माणि मया कृतानि । सर्वाणि चैतानि मम क्षमस्व प्रयाहि तुष्टः पुनरागमाय ॥' इससे विसर्जन करके 'दाता च विष्णुर्भगवाननन्तः प्रतिग्रहीता च स एव विष्णुः । तस्मात्त्वया सर्वमिदं ततं च प्रसीद देवेश वरान् ददस्व ॥' से बायन दान करके कथा सुने और जिनमें नमक न पड़ा हो ऐसे पदार्थोंका भोजन करे । कथाका सार यह है कि ···'प्राचीनकालमें सुमन्तु ब्राह्मणकी सुशीला कन्या कौण्डिन्यको ब्याही थी । उसने ब्राह्मण-पत्नियोंसे पूछकर अनन्त व्रत धारण किया । एक बार कुयोगवश कौण्डिन्यने अनन्तके डोरेको तोड़कर आगमें पटक दिया । उससे उसकी सम्पत्ति नष्ट हो गयी । तब वह दुखी होकर अनन्तको देखने वनमें चला गया । वहाँ आम्र, गौ, वृष, खर, पुष्करिणी और वृद्ध ब्राह्मण मिले । ब्राह्मण स्वयं अनन्त थे । वह उसे गुहामें ले गये । वहाँ जाकर बतलाया कि वह आम वेदपाठी ब्राह्मण था, विद्यार्थियोंको न पढ़ानेसे 'आम' हुआ । गौ पृथ्वी थी, बीजापहरणसे 'गौ' हुई । वृष धर्म, खर क्रोध और पुष्करिणी बहिनें थीं । दानादि परस्पर लेने-देनेसे 'पुष्करिणी' हुईं । और वृद्ध ब्राह्मण मैं हूँ । अब तुम घर जाओ । रास्तेमें आम्रादि मिलें उनसे सन्देशा कहते जाओ और दोनों स्त्री-पुरुष व्रत करो सब आनन्द होगा ।' इस प्रकार १४ वर्ष (या यथासामर्थ्य) व्रत करे । फिर नियत अवधि पूरी होनेपर भाद्रपद शुक्ल १४ को उद्यापन करे । उसके लिये 'सर्वतोभद्रस्थ कलशपर कुशनिर्मित या सुवर्णमय आनन्दकी मूर्ति और सोना, चाँदी, ताँबा, रेशम या सूत्रका (१४ ग्रन्थियुक्त) अनन्त दोरक स्थापन करके उनका वेदमन्त्रोंसे पूजन और तिल, घी, खाँड, मेवा एवं खीर आदिसे हवन करके गोदान, शय्यादान, अन्नदान (१४ घट, १४ सौभाग्यद्रव्य और १४ अनन्त दान) करके १४ युग्म ब्राह्मणोंको भोजन करावे और फिर स्वयं भोजन करके व्रतको समाप्त करे ।

१. मध्याह्ने भोज्यवेलायाम् । इति ।

(१९) **पालीव्रत** (भविष्यपुराण)–भाद्रपद शुक्ल चतुर्दशीको चारों वर्णकी कोई भी कुलवधू किसी जलपूर्ण बड़े तालाब आदिपर जाकर एक चौकीपर अक्षतादिका मण्डल बनाकर उसपर वरुणकी मूर्ति या वारुण यन्त्र लिखे । फिर उसका गन्ध, पुष्पादिसे पूजन करके 'वरुणाय नमस्तुभ्यं नमस्ते यादसां पते । अपां पते नमस्तुभ्यं रसानां पतये नमः ॥' से अर्घ्य दे और 'मा क्लेदं मा च दौर्गन्ध्यं वैरस्यं मा मुखेऽस्तु मे । वरुणो वारुणीभर्ता वरदोऽस्तु सदा मम ॥' से प्रार्थना करके ब्राह्मणोंको भोजन करावे और अग्निपक्व अन्नका स्वयं भोजन करे ।

(२०) **कदलीव्रत** (भविष्योत्तरपुराण)–भाद्रपद शुक्ल चतुर्दशीको कदली (केला) के पेड़के समीप बैठकर अनेक प्रकारके फल, पुष्प और धूप-दीपादिसे उसका पूजन करे । सप्तधान्य, रक्तचन्दन, घृत-दीपक, दही, दूब, अक्षत, वस्त्र, घृतपाचित नैवेद्य, जायफल, पूगफल और प्रदक्षिणासे अर्चन सम्पन्न कर 'चिन्तयेत्कदलीं नित्यं कदलैः कामदीपितैः । शरीरारोग्यलावण्यं देहि देवि नमोऽस्तु ते ॥' से प्रार्थना करे । इस प्रकार ३ या ४ मास करे तो उस कुलमें स्त्री कुलटा नहीं हों । सब पुत्र-पौत्रादिसंयुक्त सौभाग्यशालिनी सदाचारिणी हों !

सत्य

[सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्]

[कहानी]

(लेखक—श्री'चक्र')

दिन विदा होनेको था। सूर्यभगवान् अस्ताचलपर पहुँच चुके थे। सन्ध्याकी लालिमाने दिशाओंके साथ तरुपल्लवों एवं पृथ्वीको भी अनुरञ्जित कर दिया था। निर्झरका निर्मल प्रवाह सिन्दूरी हो चुका था। पक्षी कलरव करते नीड़ोंको लौट रहे थे। मयूरोंकी केकासे कानन मुखरित हो उठा।

गन्तव्य अभी सुदूर था। पथिक श्रान्त हो चुका था और उसके पैर अब सत्याग्रह करने लगे थे। भालपर पसीनेके बड़े-बड़े बिन्दु चमक रहे थे। उसने अञ्जलि भरकर अपने मुखको प्रवाहके जलसे धोया और तृषा शान्त की। इसके अनन्तर वह कलियोंके भारसे झुके हरसिंगारके नीचेकी स्वच्छ शिलापर अपने कंधेका कम्बल डालकर उसीपर लेट गया। कुछ ही क्षणोंमें उसकी नासिकासे खर्राटेकी आवाज निकलने लगी।

शरद्‌की वही शुभ्र पूर्णिमा थी जिसमें कभी लीलाधरके अधरोंसे लगी वंशीने त्रिभुवनको सुधा-स्नात किया था। धवल ज्योत्स्नाकी गोदमें नीरव शान्त वन-स्थली सुषुप्ति सुखका अनुभव कर रही थी। पथिक एक पूरी निद्रा ले लेनेके बाद जगा। निशीथमें उसे क्षुधाने क्षुभित किया और अपने झोलेसे वह साथ लाया पाथेय निकालकर भोजन करने लगा।

क्षुधा शान्त हो गयी। निर्झरके मधुर जलने उसे सन्तुष्ट कर दिया। प्रगाढ़ निद्राने पथ-श्रम दूर कर ही दिया था। शशांकके इस महोत्सवमें पथिक प्रफुल्ल था। उसका हृदय शान्त और प्रसन्न था। हरसिंगारकी कलिकाएँ खिलने लगी थीं। उनकी मधुर सुगन्धिसे वायु आनन्द प्रदान कर रहा था। पथिकने पुनः शयनका विचार नहीं किया। इतने शान्त सुहावने समयको वह यों ही निद्रामें खोना नहीं चाहता था। उसने उसी कम्बलपर आसन लगाया और अपने झोलेसे कुछ कागज, नोटबुक, पेन्सिल प्रभृति निकालकर वह अपने आगेके कार्यक्रमको निश्चित करनेमें लग गया।

नोटबुकमें उसीने कभी लिखा था 'सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्' और इस पंक्तिके नीचे लाल पेन्सिलसे चिह्न लगा था। वह सोचने लगा 'सत्यकी प्रतिष्ठासे कर्मका इच्छित फल प्राप्त होता है।' यह महर्षि पतञ्जलिका वचन है। मैंने इसपर चिह्न भी लगाया है कि अवसर पड़नेपर इसपर विचार करूँगा। महर्षिका वाक्य मिथ्या तो हो नहीं सकता, फिर क्यों न सब जंजाल और दाँवपेचको छोड़कर इसीसे काम निकालूँ। पथिकको पुनः आलस्य प्रतीत हुआ। कर्तव्यके सम्बन्धमें वह निश्चिन्त हो गया था, अतः लेट गया।

(२)

पिण्डारों (ठगों) ने बड़ा उत्पात मचा रक्खा था। वे यात्रियोंको तो लूटते ही थे, अवसर देखकर ग्राम एवं बाजारोंको भी लूट लेते थे। उनका दल बढ़ता ही जाता था। छत्तीसगढ़में उनका प्राबल्य था और उसमें भी रायपुर-राज्यमें। उन्होंने अब अपना सुदृढ़ संगठन बना लिया था एवं वे डकैती करने लगे थे।

यात्रियोंतक हो तो कोई बात भी है, ग्राम और बाजारोंसे बढ़ते-बढ़ते पिण्डारोंने आज राज्यका तहसील-से आता हुआ खजाना भी लूट लिया था। खजानेके

साथ आनेवाले सिपाहियोंको उन्होंने मार दिया था। इससे सैनिकोंमें बड़ी उत्तेजना थी। सभीको प्राण प्यारे होते हैं। सभी जगह उपर्युक्त घटनाकी चर्चा थी और सिपाही नगरसे बाहर कहीं भी खजानेके साथ न जानेकी सलाह कर रहे थे।

बात मन्त्रीतक पहुँची और उसने महाराजको एककी दो बनाकर समझाया। क्योंकि कुशल सचिव चाहता था कि पिण्डारोंका शीघ्र दमन हो। यही कारण है कि मोहनसिंहके समान शान्त और राज्यकी ओरसे कानमें तेल डालकर महलमें पड़े रहनेवाला राजा भी आज व्यग्र था। उसे चिन्ता हो गयी थी कि कहीं पिण्डारे और बढ़कर पूरे राज्यपर अधिकार न कर बैठें। अपनी सत्ताकी रक्षाके विचारसे राजा आज व्याकुल था।

लगभग सब चतुर, शिक्षित एवं वीर नागरिक निमन्त्रित हुए। उन दिनोंके राज्य ही कितने बड़े थे? नगरको एक अच्छा बाजार कहना चाहिये। महाराजका दरबार लगा। प्रश्न था 'पिण्डारोंका दमन कैसे हो?' अन्तमें मन्त्रीकी सम्मति सबको प्रिय लगी कि 'पिण्डारोंके गुप्त अड्डेका पता लगाया जाय। वहाँ वे सब लोग कब एकत्र और असावधान रहते हैं, यह ज्ञात किया जाय। उसी समय उनपर अचानक आक्रमण हो।'

यह काम करे कौन? बड़ा टेढ़ा प्रश्न था। महाराजने बीड़ा रक्खा और पद, पुरस्कार तथा जागीर-का लोभ दिखाया। प्राणपर खेलनेका प्रश्न था। सबके सिर झुके थे। बड़ी देर हो गयी, पर किसीने बीड़ा उठाया नहीं। अन्तमें एक ब्राह्मण युवक उठा। साँवला-दुबला शरीर, भालपर भस्मका त्रिपुण्ड् और भुजा तथा कण्ठमें रुद्राक्षकी माला। सब उसे आश्चर्यसे देखने लगे। उसने बीड़ा उठाकर मुखमें रक्खा और बिना किसीको बोलनेका अवसर दिये सभासे शीघ्रताके साथ चला गया।

(३)

'आप कहाँ जा रहे हैं?' एक पथिकसे एक वृक्ष-के नीचे बैठे दूसरे व्यक्तिने पूछा जो वेष-भूषासे पथिक ही जान पड़ता था।

'पिण्डारोंके अड्डेपर।' बिना किसी संकोचके उसे उत्तर मिला। प्रश्नकर्ताको ऐसा उत्तर पानेकी तनिक भी आशा न थी। वह भौचक्का रह गया और घूरकर उस पथिकके मुखको देखने लगा।

'भाई, मैं भी यात्री हूँ। इधर वनमें भय है। इसलिये साथीकी प्रतीक्षामें बैठ गया था। आप मुझसे हँसी क्यों करते हैं? मैं पिण्डारा थोड़े ही हूँ।' चोरकी दाढ़ीमें तिनका, पथिकके उत्तरसे उस पूछनेवालेको जो सचमुच एक प्रधान ठग था, सन्देह हो गया कि यह मुझे पहचानकर व्यंग कर रहा है।

'मैं हँसी नहीं करता' गम्भीरतासे पथिकने कहा 'सचमुच ही मैं पिण्डारोंके अड्डेपर जाना चाहता हूँ, किन्तु अभी मेरे गन्तव्यका मुझे कुछ भी पता नहीं लग सका है। कितना अच्छा होता कि कोई पिण्डारा मुझे मिल जाता।'

'और तुम्हें ठिकाने लगाकर कपड़े-लत्ते लेकर चम्पत होता!' हँसकर ठगने बात पूरी की और ध्यानसे अपने शब्दोंके प्रभावको पथिकके मुखपर देखने लगा।

'ठिकाने लगाने या चम्पत होनेकी तो कोई बात नहीं' पथिककी गम्भीरता अखण्ड थी। 'मेरे पास आठ अशर्फियाँ हैं और ये वस्त्र, इन्हें मैं प्रसन्नतासे दे सकता हूँ। फिर कोई ब्राह्मणको व्यर्थ क्यों मारेगा?'

'देवता! तब आपको पता होना चाहिये कि मैं

ही यहाँके पिण्डारोंका सरदार हूँ।' उसने ब्राह्मणके मुखपर अपने नेत्र गड़ा दिये।

पथिक उल्लसित हो उठा 'जय शंकर भगवान्की! मुझे व्यर्थमें भटकना न होगा। आप चाहें तो ये अशर्फियाँ ले लें और कहें तो लँगोटी लगाकर सब कपड़े भी उतार दूँ। लेकिन आप इतनी कृपा और करें कि अपना अड्डा मुझे दिखा दें।' अशर्फियोंको ब्राह्मणने झोलेसे निकालकर ठगके आगे रख दिया।

'आप मेरे अड्डेपर क्यों जाना चाहते हैं?' सरदार-ने ब्राह्मणकी निःस्पृहता और प्रसन्नतासे कुतूहलमें पड़कर पूछा। उसने मुहरें उठा ली थीं और वस्त्र उतरवानेकी बात भी भूल चुका था।

ब्राह्मण एक क्षण रुका 'क्या यहाँ भी सत्य……… निश्चय। जब सत्य बोलनेसे इतनी सफलता हुई है तो आगे झूठ नहीं बोलूँगा।' उसने स्पष्ट बतला दिया कि मैं रायपुर-राज्यका गुप्तचर होकर आया हूँ। उसने कहा 'मैंने अनेकों युक्तियाँ सोचीं, लेकिन महर्षि पतञ्जलिके सूत्रने सबको दबा दिया। मैंने निश्चय किया कि मैं झूठ नहीं बोलूँगा और अब तो प्रतिज्ञा करता हूँ कि जीवनमें कभी भी असत्यका आश्रय नहीं लूँगा।'

ब्राह्मण युवकके मुखपर सात्त्विक दृढ़ता थी। ठगों-के सरदारका हृदय भी मनुष्यका ही हृदय था। वह उसकी ओर फिर सिर उठाकर देख नहीं सका। चुपचाप घूमकर उसने नेत्र पोंछे और ब्राह्मणको पीछे आनेका संकेत करके घनी झाड़ियोंके बीचमें घुसने लगा।

(४)

रायपुरके महाराजका दरबार लगा था। रुद्रदेव शर्मा पिण्डारोंके अड्डेका पता, वहाँका मार्ग, उनकी शक्ति प्रभृति सबका पता लगाकर आ गये थे। राजसभामें उन्होंने सब बातोंको सविस्तार सुनाया। केवल उन्होंने छोड़ दिया कुछ सोचकर या व्यर्थका विस्तार समझ अपने यात्राके वर्णनको।

'पिण्डारोंपर चढ़ाईका भार कौन लेगा?' महाराज-ने पूछा।

'लेकिन पिण्डारे तो परास्त हो चुके हैं। उनपर अब चढ़ाई होगी क्यों?' एक हट्टे-कट्टे पुरुषने प्रवेश करते हुए कहा। 'गुरुदेवकी सत्यताने पिण्डारोंको पूरी तरह परास्त कर दिया है और उनका सरदार अब उनका स्वेच्छाबन्दी है।' उस ब्राह्मणके चरणोंपर गिरकर वह फूट-फूटकर रोने लगा।

सब चकित थे और ब्राह्मण कर्तव्यविमूढ़! पूरा वृत्तान्त ज्ञात होनेपर महाराज सिंहासनसे उतर पड़े। उन्होंने ब्राह्मणके चरणोंमें मस्तक रक्खा और उस सरदारको उठाकर हृदयसे लगा लिया। रुद्रदेव शर्मा राजगुरु हो गये। एवं अभयसिंह पिण्डारा रायपुर-राज्यके मन्त्रित्वको सँभालनेके लिये विवश हुए।

इतिहास अस्थिर होता है, लेकिन महत्कर्म उसे भी स्थायी बना ही जाते हैं। छत्तीसगढ़की जंगली जातियोंमें अब भी शपथ देते समय 'झूठ बोलूँ तो रुद्रकी सौगन्ध' कहनेकी प्रथा है। विश्वास किया जाता है कि रुद्रका नाम लेकर झूठ बोलनेवालेके घर या तो चोरी होती है या डाका पड़ता है। रुद्र वहाँ सत्यके प्रतीक हो चुके हैं।

श्रीगङ्गाजीका दुरुपयोग

(लेखक—पं० श्रीदयाशंकरजी दुबे, एम्० ए०)

जिस गङ्गाका जन्म विष्णुभगवान्‌के पवित्र पद-कमलोंसे हुआ हो, जिस गङ्गाको इस ब्रह्माण्डके रचयिता ब्रह्माजीने अपने कमण्डलुमें रखकर अपने आपको धन्य माना हो, जिस गङ्गाको भगवान् शंकरने अपने मस्तक-पर धारण कर गर्वका अनुभव किया हो, जिस गङ्गाकी पवित्र गाथा गाकर हमारे धर्मशास्त्र विश्वका हित करनेमें समर्थ हुए हों, जिस गङ्गाके किनारे असंख्य ऋषि-मुनि तप करके परमगतिको प्राप्त हुए हों, जिस गङ्गाके पवित्र तटपर आर्यसंस्कृतिका सर्वोच्च विकास हुआ हो, जिस गङ्गाके किनारे हिंदूसाम्राज्य स्थापित और नष्ट हुए हों, जिस गङ्गाका अमृतयुक्त जल प्राप्त करके असंख्य रोगी असाध्य रोगोंसे मुक्त हुए हों, जिस गङ्गाने उत्तरभारतको धन-धान्यका कोष बना दिया हो, जिस गङ्गाके किनारे अवर्णनीय अनेकों सुन्दर प्राकृतिक दृश्य हों, जिस गङ्गाने इस लोकमें असंख्य नर-नारियोंका कल्याण किया हो और उनका परलोक भी सुधार दिया हो, उस पापनाशिनी गङ्गाकी महिमाका जितना वर्णन किया जाय उतना ही थोड़ा है।

भारतवर्षमें क्या, समस्त संसारमें ऐसा कोई हिंदू न होगा जिसका मन गङ्गाका स्मरण करते ही प्रफुल्लित न होता हो, जिसका हृदय गङ्गाका ध्यान करके गद्गद न होता हो और जिसका मस्तक गङ्गाका नाम सुनकर आदर तथा भक्तिसे झुक न जाता हो। गङ्गापर भारतवासियोंकी जो श्रद्धा, प्रेम तथा भक्ति है वह किसी दूसरी नदीको कदापि प्राप्त नहीं है, तिसपर भी हमलोग अपनी मूर्खताके कारण गङ्गाजीसे अधिक-से-अधिक लाभ उठानेका प्रयत्न नहीं करते। कुछ कार्य तो हमलोग ऐसे कर रहे हैं जिनसे भारी हानि होनेकी सम्भावना है। श्रीगङ्गाजीका हमलोग कितना और किस प्रकार दुरुपयोग कर रहे हैं और वह कैसे बंद किया जा सकता है इन दोनों बातोंका विवेचन हम इस लेखमें करते हैं।

श्रीगङ्गाजीके किनारे हरिद्वार, प्रयाग, काशी, पटना, कलकत्ता इत्यादि बड़े-बड़े नगर हैं। इन सब नगरोंका गंदा पानी म्यूनिसिपलिटियोंद्वारा गङ्गाजीमें ही प्रतिदिन छोड़ा जाता है। कलकत्तेमें तो गङ्गाजी (हुगली नदी) में कभी-कभी नहानेके घाटपर ही मैला तैरता हुआ नजर आता है। यह बात सत्य है कि गङ्गाजलमें यह विशेष गुण है कि जो खराब और गंदा पानी श्रीगङ्गाजी-में मिल जाता है वह शीघ्र ही शुद्ध होकर गङ्गाजलके समान ही लाभदायक हो जाता है। यदि गंदा पानी गङ्गाजीमें न छोड़ा जाता तो गङ्गाजल और भी अधिक गुणकारी होता, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। श्रीगङ्गाजीके किनारे जो चमड़े, चीनी और सनके बड़े-बड़े कारखाने हैं उन सबका गंदा दुर्गन्धयुक्त पानी भी गङ्गाजीमें ही मिलाया जाता है। कानपुरमें चमड़ेका बड़ा कारखाना है। उसका गंदा पानी रात्रिके समय श्रीगङ्गाजीमें छोड़ा जाता है। जो सज्जन प्रातःकाल चार-पाँच बजे गङ्गास्नान करने जाते हैं उनको कभी-कभी इस गंदे दुर्गन्धयुक्त पानीमें नहाना पड़ता है। प्रयागके समीप श्रीगङ्गाजीके बायें तटपर झूसी ग्राममें चीनीका एक बड़ा कारखाना है। इस कारखानेमें जिन दिनों चीनी तैयार की जाती है, कारखानेका दुर्गन्धयुक्त जल श्रीगङ्गाजीमें छोड़ा जाता है। इस दुर्गन्धसे श्रीगङ्गा-जीमें स्नान करनेवाले व्यक्तियों और झूसीमें रहनेवालों-को बहुत ही कष्ट होता है। इसी प्रकार गङ्गा-किनारेके अन्य चीनीके कारखानों और सनके कारखानोंसे वहाँके निवासियोंको कष्ट पहुँच रहा है। युक्तप्रान्तके स्वास्थ्य-विभागके प्रान्तीय बोर्डने सरकारसे यह सिफारिश की है कि प्रान्तके उन शहरोंकी म्यूनिसिपलिटियाँ, जिनका

गंदा पानी नदियोंमें जाता है, ऐसी योजनाएँ शीघ्र तैयार करें जिससे गंदा पानी भविष्यमें नदियोंमें न जाने पावे। इस बोर्डकी दूसरी सिफारिश यह है कि किसी भी चीनीके नवीन कारखाने स्थापित किये जानेकी आज्ञा तबतक न दी जाय जबतक कारखानेके मालिक गंदे पानीको किसी नदीमें न जाने देनेकी पूर्ण व्यवस्था न कर लें। दोनों प्रस्ताव उत्तम हैं, परन्तु उनके शीघ्र ही कार्यरूपमें परिणत किये जानेकी आशा नहीं है। गङ्गा-प्रेमी सज्जनोंको व्यवस्थित ढंगसे ऐसा आन्दोलन करना चाहिये जिससे म्यूनिसिपलिटियोंको गंदा पानी गङ्गाजीमें न जाने देनेकी शीघ्र ही व्यवस्था करनी पड़े। उन सब पुराने कारखानोंके सम्बन्धमें भी आन्दोलन किया जाना चाहिये जिससे वे गंदा पानी गङ्गाजीमें छोड़ना बंद करनेको बाध्य हों। गङ्गाजीकी पवित्रता अक्षुण्ण बनाये रखनेके लिये यह कार्य अत्यन्त आवश्यक है। प्रान्तीय व्यवस्थापक सभाके सदस्य भी इस कार्यमें बड़ी सहायता पहुँचा सकते हैं। वे ऐसा कानून बनवा सकते हैं जिसके द्वारा गङ्गाजी या भारतकी अन्य सब बड़ी नदियोंमें गंदा पानीका मिलना एकदम बंद हो जाय। कोई भी म्यूनिसिपलिटी, यदि चाहे तो, गंदे पानीको ऐसे स्थानपर आसानीसे ले जा सकती है, जहाँ उसका उपयोग खेतीके लिये किया जा सकता है।

हमलोगोंमें कुछ ऐसी खराब आदतें पड़ गयी हैं जिनके कारण गङ्गाजीके किनारे बहुत गंदगी फैल जाती है और गङ्गाजल अपवित्र होने लगता है। कुछ लोग गङ्गा-किनारेपर ही शौचके लिये बैठ जाते हैं जिससे गंदगी बहुत बढ़ जाती है। जहाँपर गङ्गाजीके किनारे पक्के घाट हैं, अक्सर पेशाबकी दुर्गन्ध आती रहती है जिससे स्नान करनेवालोंको कष्ट होता है। अधिकांश लोग श्रीगङ्गाजीमें ही कुल्ला करते हैं और कोई थूक भी देते हैं। साबुन लगा-लगाकर गंदे कपड़े अंदर ही धोते हैं। यह कार्य भी निन्दनीय है। पुराणोंमें ऐसे कार्योंकी सूची दी हुई है जिनको गङ्गा-किनारे नहीं करना चाहिये। वह नीचे लिखे अनुसार है—

गङ्गां पुण्यजलां प्राप्य त्रयोदश विवर्जयेत्।
शौचमाचमनञ्चैव निर्माल्यं मलघर्षणम्॥
गात्रसंवाहनं क्रीडां प्रतिग्रहमथो रतिम्।
अन्यतीर्थरतिं चैव अन्यतीर्थप्रशंसनम्॥
वस्त्रत्यागमथाघातं सन्तारञ्च विशेषतः।
नाभ्यक्तितः प्रविशेच्च गङ्गायां न मलार्दितः॥
न जल्पेच्च मृषा वीक्षेच्च वदन्ननृतं नरः।

'पुण्यतोया श्रीगङ्गाजीमें मलमूत्रत्याग, मुख धोना, दन्तधावन, कुल्ली आदि करना, निर्माल्य फेंकना, मल-सङ्घर्षण या बदनको मलना नहीं चाहिये। जलक्रीड़ा अर्थात् स्त्री-पुरुषोंकी रतिक्रीड़ा नहीं करना चाहिये। इसी प्रकार दान-ग्रहण भी नहीं करना चाहिये। गङ्गाजीके प्रति अभक्ति और अन्य तीर्थकी प्रशंसा नहीं करना चाहिये। पहिने हुए वस्त्रका छोड़ना, जलपर आघात करना या तैरना भी नहीं चाहिये। बदनमें तेल मलकर या मैले बदन होकर गङ्गाजीमें प्रवेश नहीं करना चाहिये। गङ्गाजीके किनारे वृथा बकवाद, मिथ्याभाषण या कुदृष्टि नहीं करनी चाहिये।'

गङ्गाप्रेमी सज्जनोंको उपर्युक्त बातें न करनेकी दृढ़ प्रतिज्ञा कर लेनी चाहिये और यदि उनमें कोई ऐसी आदत पड़ गयी हो जिसके कारण कोई ऐसा कार्य हो जाता है जो उपर्युक्त श्लोकोंके अनुसार न होना चाहिये तो उनको अपनी आदत धीरे-धीरे बदलनेका प्रयत्न करना चाहिये। गङ्गा-किनारे जो घाटिया लोग रहते हैं उनका कर्तव्य है कि वे स्वयं उपर्युक्त नियमोंका पालन करें और उनके घाटपर नहानेवाले सज्जनोंसे पालन करावें। श्रीगङ्गाजीके किनारेके प्रत्येक नगरमें गङ्गासभाकी स्थापना होनी चाहिये। इस सभाके मुख्य कर्तव्य नीचे लिखे अनुसार होना चाहिये—

(१) श्रीगङ्गाजीमें शहर या कारखानोंके गंदे पानी न मिलने देनेके लिये प्रयत्न करना ।

(२) श्रीगङ्गाजीके किनारेपर किसी भी प्रकारकी गंदगी न होने देना ।

(३) श्रीगङ्गाजीके किनारेके घाटों और मन्दिरोंको ठीक दशामें रक्खे जानेका प्रबन्ध करना ।

गङ्गासभाके उपर्युक्त कार्य कठिन नहीं हैं । उसके लिये अधिक द्रव्यकी भी आवश्यकता नहीं है । गङ्गा-सभाके कार्यको सफल बनानेके लिये आवश्यकता है थोड़े-से गङ्गाप्रेमी उत्साही पुरुषोंकी, जो अपना कार्य लगनके साथ करें । कुछ नगरोंमें गङ्गासभाएँ स्थापित हो गयी हैं और उनका कार्य सुचारुरूपसे चल रहा है । जिन नगरोंमें अभी गङ्गासभाएँ नहीं स्थापित हो पायी हैं या जहाँ कार्य अच्छी तरह नहीं चल रहा है, वहाँ हम आशा करते हैं कि गङ्गासभा शीघ्र स्थापित हो जायगी और उनके प्रयत्नोंसे देशवासी गङ्गाजीका अधिक-से-अधिक लाभ उठा सकेंगे ।*

विषयचिन्तन छोड़कर भगवच्चिन्तन करो

(लेखक—श्रीलॉवेल फिल्मोर)

प्रत्येक मनुष्य अपना बहुत-सा समय प्रायः ऐसी प्रिय वस्तुओंके चिन्तनमें ही लगाता है जिन्हें वह प्राप्त करना चाहता है अथवा ऐसी अप्रिय वस्तुओंके चिन्तनमें जिन्हें वह टालना चाहता है । हमारी ऐसी आदत है और इस आदतमें एक विलक्षण बात यह है कि हम उन प्रिय अथवा अप्रिय वस्तुओंका चिन्तन और मनन करते-करते मनकी आँखोंसे उन्हें देखा करते हैं । कुछ समयतक हम बड़े सुखसे प्रिय पदार्थोंमें मनसा विचरण करते रहते हैं कि यकायक अप्रिय पदार्थोंकी अथवा किसी भावी अनिष्टकी आशङ्का हमें आ दबोचती है और हम लाचारकी तरह, असहायकी भाँति उस भावी दुःखकी चिन्तामें घुलने लगते हैं, हमारा मन क्षुब्ध और अशान्त हो उठता है और हम सर्वथा बेबस हो जाते हैं ।

मनके द्वारा हम सुखके, दुःखके, भयके, आशाके और निराशाके जैसे भी चित्र बनाते रहते हैं—इन चित्रोंका हमारे जीवनपर वैसा ही बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता है । सच तो यह है कि इन मानसिक कल्पना-चित्रोंके द्वारा ही हमारा भविष्य बनता-बिगड़ता है । सुखके, सन्तोषके, प्रेमके और आनन्दके चित्र बनानेमें यदि हमारा मन लग रहा है तो यह निश्चय मानिये हमारा भविष्य अवश्य ही सुखमय, सन्तोषमय, प्रेममय और आनन्दमय होगा—हमारी जीवनयात्रा सब प्रकारसे मंगलमय होगी । कभी-कभी तो ऐसा देखा जाता है कि अभी हालकी कोई छोटी तुच्छ-सी घटनाको लेकर हम इतने उदास और खिन्न हो उठते हैं कि अपने सारे भविष्यको उसीके रंगमें रँगने लगते हैं, सभी बातोंको इस दुःखमयी, अवसादमयी दृष्टिसे देखने लगते हैं और सोचने लगते हैं कि अब क्या है, अब तो जीवनमें निराशा, दुःख, अवसाद और ग्लानि आदिके सिवा और रह ही क्या गया है ! एक बहुत छोटी-सी अप्रिय घटनापर हम इतना सारा तूमार बाँध लेते हैं ! ऐसे अवसरोंपर विशेषतः जब अप्रिय-ही-अप्रिय भावनाएँ मनमें आ रही हों, हमें सावधान हो जाना चाहिये और चेष्टा करके मनसे प्रिय, शुभ, सुन्दर, मधुर और मङ्गलकी भावना करने लगना चाहिये । और ऐसा करना बड़ा ही आसान है । हम जब चाहें अशुभको शुभमें, अप्रियको प्रियमें और अमङ्गलको मङ्गलमें पलट सकते

* लेखककी शीघ्र प्रकाशित होनेवाली 'गङ्गा-गौरव' पुस्तक से ।

हैं—क्षणभरमें, बात-की-बातमें। इसका बड़ा सुन्दर एक गुर यह है कि हम यह सोचने लगें कि क्या बड़ी, क्या छोटी, प्रत्येक घटनामें, प्रत्येक अनुभवमें मंगलमय भगवान्का हाथ है; जीवनका छोटा-बड़ा प्रत्येक अनुभव प्रभुकी कृपासे लबालब भरा हुआ है; सब वस्तुओंमें, सारी घटनाओंमें, सम्पूर्ण अनुभवोंमें मालिकका हाथ है और बाहर-बाहरसे हम—जो कुछ देख रहे हैं, भीतर डूबकर देखनेसे पता चलेगा कि उसका राज कुछ और ही है।

जो हो, है यह एक बहुत ही मजेदार बात कि हम जैसा कुछ सोचने लगते हैं वैसा ही बन जाते हैं। मनसे जैसा भी चित्र हम बनाते हैं—वैसा-का-वैसा हम स्वयं बनते जाते हैं। साइकिलकी सवारी करनेवाले जानते हैं कि आरम्भमें सीखते समय यदि किसी पेड़ या टेलीफोनके खंमेका भय मनमें आ गया तो जरूर ही साइकिल पेड़से या खंमेसे टकरा जायगी। यही बात हमारे प्रायः सभी चिन्तनोंमें है—हम प्रिय और अप्रिय जिस प्रकारकी भावना करेंगे उसी स्थितिमें जा पड़ेंगे। उदाहरणके लिये यह मान लीजिये कि मेरे सामने कोई समस्या है या वस्तुतः न होते हुए भी मुझे वह समस्या-सी लग रही है। मैं उसको प्रार्थनाके द्वारा हल करना चाहता हूँ। मैं यह हर्गिज नहीं चाहता कि समस्याकी यह स्थिति बनी रहे परन्तु बार-बार उसे सोच-सोचकर मैं दृढ़ करता जाता हूँ क्योंकि मेरा मन उसीका मनन करने लगता है। उसे हल करनेके लिये चाहिये तो यह था कि उस ओरसे मनको मोड़कर शान्ति, समता, मङ्गल और आनन्दकी ओर लगा दिया जाय; क्योंकि मङ्गलमय प्रभुके मङ्गलमय राज्यमें मंगलके अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। मैं यह तो चाहता हूँ कि यह संकट कटे, यह विपत्ति टले परन्तु बार-बार उस संकट और विपत्तिपर ही मनको अटकाये रखनेसे वह बनी ही रहती है, टलती नहीं। टले भी तो कैसे? स्वयं जो मैं उसे न्योता देकर अपने मनमें बसाये रखता हूँ। चाहिये तो यह था कि मैं उस समस्याके विषयमें कुछ सोचता ही नहीं, वह हल हो या बनी रहे इस उधेड़-बुनमें न लगकर मैं शान्ति, मंगलाशा, सफलता आदिकी बातें सोचता और उन्हें हृदयङ्गम करता। अन्धकारसे लड़ते रहनेकी अपेक्षा प्रकाशको ही क्यों न बुलाया जाय?

परमात्मासे हम प्रार्थना भी करें और साथ-ही-साथ अपनी समस्यापर विचार भी करें—यह तो बिल्कुल बेतुकी बात है, क्योंकि इससे समस्या हल होगी नहीं। जबतक हम एकमात्र प्रार्थनाका आधार न लेकर समस्याका भी ध्यान करते हैं तबतक तो यही समझना चाहिये कि हमारे चित्तकी धारा समस्याकी ही ओर है। वस्तुतः आवश्यकता तो इस बातकी है कि हम अपना सारा मन-चित्त-प्राण परमात्मामें लगा दें, उस सर्वव्यापक विभुमें अपनेको लीन कर दें, उसीको सोचें; उस प्रभुके कल्याणमय, आनन्दमय रूपका ध्यान करें और अपने हृदयकी अतल गहराईमें उसकी कृपा और आशीर्वादका अनुभव करें। ऐसा करते ही हमारे मनकी धारा भगवान्की ओर मुड़ जायगी और हम भगवान्में निवास करने लगेंगे।

अच्छा, तो क्या आपके सामने कोई समस्या आ खड़ी हुई है और यदि ऐसी बात है तो क्या आप उसे हल करनेके लिये परमात्माकी अनन्त अपार शक्तिका ध्यान कर रहे हैं—जिसके द्वारा उसके सत्, चित् और आनन्दका प्रवाह आपकी ओर आ मुड़े, या आप अपनी समस्याको ही लेकर व्यस्त हैं? ऐसे समय क्या आपके मनमें ऐसी लहरें उठती हैं कि 'मैं जानता हूँ, हाँ, हाँ अच्छी तरह जानता हूँ कि प्रभु सर्वसमर्थ है, सर्वव्यापक है; कण-कणमें वही-वह व्याप रहा है, वह बड़ा दयालु भी है। यह सब ठीक है। परन्तु····परन्तु किराया चुकानेके लिये जब मेरे पास पैसे न हों और इस कारण मैं घरसे निकाल दिया जानेवाला

हूँ तो मैं क्या करूँ ? कैसे करूँ ?' यह है आपकी समस्याका स्वरूप। ऐसे समय चित्तको समस्यासे इतनी दूर, इतना ऊँचा उड़ा ले जाओ कि समस्याकी रेखा फीकी पड़ जाय और तुम एक और ही तस्वीर देख सको। वह तस्वीर है भगवान्‌की शक्तिकी, उनकी दयाकी, उनके शील-स्वभावकी और उनकी महिमाकी! खाम-खा अगर तुम यही गाँठ बाँध लो कि तुम्हारी समस्या महान् एवं विकट है और भगवान्‌की दया तथा शक्ति उसे किसी प्रकार हल नहीं कर सकती, तो सचमुच भगवान्‌की शक्ति तुम्हारी समस्या सुलझानेमें लगनेसे रही। सोचते रहो, घुलते रहो अपनी समस्याकी कठिनाईमें—इससे वह हल तो क्या होगी, उलटे तुम्हारे मनमें—मस्तिष्कमें एक प्रकारकी सड़न पैदा कर देगी और तुम उसीमें मुब्तिला रहोगे, उसीमें डूबोगे, उतराओगे।

माना, तुम्हें कोई सता रहा है—दिक कर रहा है। माना कि परिवारके कुछ आदमी तुम्हें कुछ-का-कुछ समझकर तुम्हारे प्रति अनुचित व्यवहार कर रहे हैं, तुम्हारे सद्भाव और सत्प्रेरणाओंका उलटा अर्थ लगा रहे हैं। तुम्हें सन्देहकी दृष्टिसे देखते हैं। क्या तुम्हारे कुटुम्बमें कोई आवारागर्द है जो मनमाना चलता है, जो जीमें आता है, कर गुजरता है? यदि सचमुच ऐसी बात है तो मैं तुमसे यह कहूँगा कि उसकी आवारागर्दीपर बहुत सोच-विचार मत करो, बार-बार उसपर ध्यान मत दो बल्कि एकान्तमें प्रभुसे प्रार्थना करो कि 'हे प्रभो! इसे सद्बुद्धि दो, इसे सुधारो-सँभालो।' इतना ही काफी है। यदि कोई ऐसा तराजू होता जिसमें चिन्तनधाराएँ तौली जा सकतीं तो यह बतलाया जा सकता कि तुम प्रभुकी अपेक्षा समस्याओंका ही चिन्तन-मनन अधिक करते हो और तुम्हारी समस्याका पलड़ा ही अधिक बोझीला है।

इन बेमतलबकी चिन्ताओंसे अपने चित्तको हटा ले चलो, दूर, बहुत दूर। इस अप्रिय-चिन्तनसे सब कुछ बिगड़ भले ही जाय, बनेगा रत्तीभर भी नहीं। भगवान्‌में अपने चित्तको टिकाओ, उन्हींमें अपने विश्वासका लंगर डाल दो और हर हालतमें, प्रत्येक स्थितिमें प्रभुके चरणोंमें मस्तक टेककर कृतज्ञताके भारसे झुको; क्योंकि बाहर-बाहरसे देखनेपर भले ही सब कुछ विपरीत एवं प्रतिकूल दीख रहा हो—प्रभु मङ्गलमय है, सर्वसमर्थ है, सर्वव्यापक है और सर्वान्तर्यामी है—घट-घटकी जानता है, चींटीके पैरोंकी आहट सुनता है। तुम्हारे विचारकी धारा विश्वासके इस मङ्गलमय पथमें जब मुड़ेगी तो तुम साफ साफ देखोगे कि तुम्हारी समस्या पता नहीं कहाँ काफूर हो गयी और वह भी पलक मारते-मारते। अभावके विचारोंकी अपेक्षा भगवान्‌के विचारोंसे अपने हृदयको भर लो। आने दो, आने दो भागवती शक्तिकी अजस्र, सरस आनन्दधाराओंको—तुम देखोगे कि आनन्दकी इस बाढ़में तुम्हारे प्रश्न, तुम्हारी समस्याएँ, तुम्हारे सङ्कट और आपदा-विपदा न जाने कहाँ बह गये और तुम आनन्द, प्रेम और सौन्दर्यके अपार सिन्धुमें गोते लगा रहे हो! ऐसा करना है तो कुछ कठिन अवश्य, परन्तु करना है भी इसे ही, क्योंकि यह आनन्दमय जीवनके लिये एक अत्यन्त अनिवार्य तथा अचूक साधन है।

भगवान्‌को देखो, उसीको देखो; समस्याओंकी ओर देखना भूल है, भ्रान्ति है। अपनी कठिनाइयों और समस्याओंको दूरबीनसे क्यों ढूँढ़ते फिरते हो? देखो न एकमात्र प्रभुको जो सर्वत्र है, सर्वदा है। शुभ चिन्तन करो, मङ्गलका विचार करो, कल्याणमें मन लगाओ—तुम्हारा शुभ होगा, मङ्गल होगा, कल्याण होगा। ('युनिटी' से)

अहङ्कार

(लेखक—श्रीबालकृष्णजी पोद्दार)

हेमन्तके एक तुषारमय प्रभातको एक मानव-पथिक घरसे निकला और विश्वके अनन्त पथपर, अकेला चल पड़ा। उसका यह अटल विश्वास था कि—'सारा पथ उसके घरके सम्मुख जैसा, स्वच्छ और सरल होगा'—किन्तु कुछ दूर चलनेपर, स्वच्छ और सरल रास्ता समाप्त हो गया और आया—कँकरीला, ऊबड़-खाबड़ एवं दुर्गम पथ। साथ ही झंझावातने भी यकायक भीषण आक्रमण कर दिया। अनुभवहीन पथिक इन कठिनाइयोंका सामना करनेका अभ्यस्त नहीं था, अतएव वह आतङ्कके मारे सिहर उठा।

मेह और अंधेरी रात थी। निविड़ अंधकारके अतिरिक्त और कुछ दिखायी नहीं देता था। हेमन्तका तीक्ष्ण समीर, सनसनाकर शरीरके इस पारसे उस पार निकल जाता था। वर्षाकी तीव्र हिमकणिकाएँ, पथिकके अङ्ग-प्रत्यङ्गको तीरकी तरह बेध रही थीं। बादलोंकी वज्रध्वनि एवं विद्युत्की कड़कीली चमकसे उसका हृदय रह-रहकर काँप उठता था। रास्तेके नुकीले कंकड़ उसके नवपल्लव-से सुकुमार पाँवोंकी झीनी छालको विदीर्ण करते हुए, कोमल मांस-पेशीमें जा अटकते थे। कंकड़के चुभते ही पथिकके नेत्रोंमें तिर्मिरी आ जाती थी। जरा रुककर, कम्पित हाथोंसे टटोलता हुआ वह कंकड़को पाँवसे निकालता और घावोंके महावरसे अंधकारमय पथको रक्तरञ्जित करता हुआ, आगे बढ़नेका उपक्रम करता। कंकड़ोंके आक्रमणके मारे वह ऊब गया। उसमें चलनेकी शक्ति न रही, फिर भी चलनेके सिवा उसके लिये और कोई उपाय न था। क्योंकि न तो निकटवर्त्ती कोई आश्रय ही उसे दिखायी देता था और न उस परिस्थितिमें वहाँ ठहरना ही उसके लिये सम्भव था। इसलिये शक्ति न रहनेपर भी वह चलनेका प्रयत्न करता था, किन्तु अन्तमें चलते-चलते उसके क्षत-विक्षत पाँव जम गये और आगे बढ़नेसे उन्होंने साफ इन्कार कर दिया। अपनी दुरवस्थापर पथिक दहाड़ मार-मारकर रोने लगा।

इतनेमें यकायक बिजलीकी चमकमें, निकटवर्त्ती एक वट-वृक्षके नीचे उसे कुछ यात्री दिखलायी पड़े। उन्हें देखते ही उसकी जान-में-जान आ गयी। सिसकते हुए, रुँधे गलेसे उसने यात्रियोंको सहायताके लिये पुकारा। आश्रित यात्रियोंने उसी क्षण उसकी सहायता की और सहारा देते हुए वे लोग उसे वट-वृक्षके नीचे ले चले।

× × × ×

अपने साथियोंके साथ ऊँचे, नीचे, कण्टकपूर्ण और कंकरीले रास्तेको पार करता हुआ पथिक आगे बढ़ा। यात्रियोंके सहयोगसे अब उसे अधिक कष्ट नहीं होता था। एक दूसरेकी सहायता करते हुए वे लोग आगे बढ़ने लगे।

चलते-चलते एक स्थानपर, एक चौड़ी खाईके उस पार उन्हें पुष्पोंसे आच्छादित एक पगडंडी दिखायी दी। सभी यात्री उसपर चलनेके लिये लालायित हो उठे। किन्तु वह खाई इतनी अधिक चौड़ी थी कि उसको फाँदना, सबके लिये सम्भव नहीं था। केवल उस पथिकने ही साहस किया और खाईको लाँघकर वह पुष्पपथपर चला गया।

पुष्प-दलपर पदार्पणमात्रसे पथिक पुलकित हो उठा। उसे एक तरहके विचित्र आनन्दका अनुभव होने लगा। कुलाँचे मार-मारकर वह नाचने और दौड़ने लगा। अपने सौभाग्यपर वह कभी मुसकराता, कभी खिलखिलाता और कभी ठहाका मारकर आनन्दकी हँसी हँसता। इस हास्य-विनोदके अंदर उसकी पथव्यापी श्रान्ति, क्लेश, दुश्चिन्ता और जीवनकी पवित्रताको साथ लिये हुए उसका मानवदेव विलीन हो गया, और समा गया—आनन्द तथा दर्पको साथ लिये पशु-दानव। पथिक आनन्दोन्मत्त हो इस सुखपर इठलाने लगा और पिछली बातोंको बिल्कुल भूल गया। वह अपने आपको भूल गया, सङ्गी-साथियोंको भूल गया और इस भूलमें विवेकहीन हो वह यह भी भूल गया कि यह पुष्पपथ छोटा-सा है, इसके अन्तमें वही पहले-जैसा—कँकरीला, ऊबड़-खाबड़ और दुर्गम पथ है।

पथिकको सुखी देखकर उसके साथी पुष्पपथपर चलनेके लिये और भी अधिक उत्सुक हो गये और उन लोगोंने पथिकसे आग्रह किया कि वह उन्हें भी अपने सहारेसे उस पुष्पाच्छादित पगडंडीपर ले चले किन्तु भौंहें तिरछी करके पथिकने इन्कार कर दिया और उनके दुस्साहसपर क्रुद्ध हो वह उन्हें गालियाँ देने लगा।

आश्चर्यचकित हो उसके साथी बोले—'रे अकृतज्ञ! विपत्तिके समय रास्तेभर हमलोगोंने तुझे सहारा दिया था!! क्या इतना शीघ्र भूल गया?'

इतराते हुए पथिकने उत्तर दिया—'दिया होगा—मुझे किसीके सहारेकी आवश्यकता नहीं। जाओ, अपना रास्ता देखो।'

पथिकके इस आचरणसे, साथियोंको उसके असली स्वरूपका दर्शन हो गया और वे लोग उससे मुँह मोड़कर अपने रास्तेपर चलने लगे।

× × × ×

शीघ्र ही पुष्पपथ शेष हो गया और पुनः आरम्भ हुआ वही कँकरीला, ऊबड़-खाबड़ और काँटोंसे भरा रास्ता। पहले ही कदमपर पथिकके पाँवमें एक तीव्र काँटेने डंक मारा। 'आह' भरते हुए, दर्प-अभिमानको भूलकर, सहायताके लिये उसने अपने उन्हीं साथियोंको पुकारा। उत्तरमें मिली केवल खिलखिलाहट—'हा···हा···हा···हा···'। और कोई भी उसके निकट न आया।

पशु-दानवने उसके माथेपर स्वाभिमानकी सिकुड़न डाल दी। रुद्र-रूप होकर वह बोला—'दुष्टो! चले जाओ। मुझे तुम्हारी आवश्यकता नहीं। मेरे भी हाथ हैं, मैं स्वयं निकाल लूँगा। मगर देखना फिर तुमलोगोंकी कैसी खबर लेता हूँ।' इतना कहते हुए उसने काँटेवाले पाँवको ऊपर उठाया और वह उस काँटेको निकालनेका प्रयत्न करने लगा।

पथिकके पाँवसे अभी आधा ही काँटा बाहर निकल पाया था कि इतनेमें बिजली-सा चमकता हुआ एक और काँटा उसके दूसरे पाँवमें भी चुभ गया। दर्दके मारे वह चीख उठा। घबड़ाहटके मारे पहला पाँव भी उसके हाथसे छूट गया और बाहर निकला हुआ आधा काँटा एक दूसरे काँटेको साथ लिये पुनः उसके पाँवमें धँस गया। चीत्कार करता हुआ, लड़खड़ाकर वह जमीनपर गिर पड़ा। गिरते ही उसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग विषैले काँटोंसे क्षत-विक्षत हो गये और मार्मिक पीड़ासे वह छटपटाने लगा।

अपना क्षणिक कौतुक दिखलाकर, पशु-दानव असह्य उत्पीडनके कारण चम्पत हो गया। अब पथिकके होश ठिकाने आये। अपनी भूल उसकी समझमें आ गयी और उसके व्यथित हृदयमें सच्चा पश्चात्ताप होने लगा। जोर-जोरसे पुकार कर वह अपने साथियोंसे क्षमा-याचना करने लगा। किन्तु तबतक वे लोग बहुत आगे निकल गये थे। पथिककी पुकार पथ-अञ्चलमें मँड़राती हुई उसीके कानोंमें विलीन हो गयी।

× × × ×

उसी अवस्थामें समय बीतता गया और पथिकका पाथेय समाप्त हो गया। विषैले काँटोंके घाव प्रतिक्षण बढ़ने लगे। दूसरी ओर भूख-प्यासकी ज्वालासे उसका दम घुटा जा रहा था। तीव्र वेदनाके मारे वह कभी चीखता, कभी चिल्लाता, कभी आँसू बहाता और कभी अशान्त हो जाता। शान्त होनेपर आहें भरता हुआ वह किसी यात्रीकी दयाकी बाट देखता ज्यों-का-त्यों पड़ा रहता।

निकटवर्ती पुष्पपथ मंद-मंद वायुके द्वारा अपनी सुगन्धि-सुधा भेज-भेजकर पथिकको बार-बार लुभा रहा था मानो वह उसके घावोंपर नमक छिड़क रहा था। पथिक तृषित नेत्रोंसे उसकी ओर देखता और खिसककर उसपर पहुँचनेका प्रयत्न करता। किन्तु इस प्रयासमें वह और भी घायल हो जाता।

तृष्णाको मनमें दबाये उसी अवस्थामें, पथिक उस कँकरीले, ऊबड़-खाबड़ और कंटकमय दुर्गम पथपर मृत्युकी प्रतीक्षामें वहीं पड़ा रहा। क्योंकि उसके दुर्भाग्यसे उधर कोई यात्री नहीं आया।

× × × ×

पथिककी ही तरह विश्वके बहुत-से लोग क्षणिक सुखको पाकर अहङ्कारसे भर जाते हैं। अहङ्कारसे जीवनकी पवित्रता नष्ट हो जाती है और पवित्रता नष्ट होनेपर मानव पथभ्रष्ट हो जाता है। लाख चेष्टा करनेपर भी अहङ्कारी मनुष्य अपने लक्ष्यतक नहीं पहुँच सकता और उसकी अवस्था ठीक पथिकके-जैसी हो जाती है।

इसलिये जो इस दुरवस्थासे बचना चाहते हैं, जो अपने लक्ष्यतक पहुँचकर महान् बनना चाहते हैं, उन्हें बड़ी सावधानीके साथ अहङ्कारसे हर समय बचना चाहिये।

मनकी उलझन

(लेखक—श्रीपरिपूर्णानन्दजी वर्मा)

साधारण श्रेणीमें अच्छा खासा जीवन व्यतीत करते हुए भी मैं देखता हूँ कि मेरे मनमें सन्तोष नहीं है। अपनेसे सौगुना—हजारगुना ज़्यादा अच्छी जिन्दगी बितानेवालेको भी मैं दुखी ही देखता हूँ। तब मेरे मनमें एक अजीब उलझन पैदा हो जाती है। मैं सोचता हूँ कि पाँच पैसा कमानेवाला मैं और पाँच लाख कमानेवाला सेठ—दोनों ही समानरूपसे दुखी हैं और हम दोनों वास्तवमें एक ही पलड़ेपर, एक ही सीमामें काम कर रहे हैं।

ऐसी शङ्का होनेपर मैं स्वभावतः दुखी और चिन्तित हो जाता हूँ। क्या संसारमें सुख है ही नहीं कि उसकी तलाश कोरी मूर्खता है और बड़े और छोटे सभी बराबर हैं! इसी प्रकारके विचारमें डूबता-उतराता हुआ एक दिन मैं काशीकी गङ्गाजीके तटपर बैठा हुआ था। एक बहुत ही स्वस्थ मजदूर, दिन-भरके परिश्रमके बाद जाह्नवीके तटपर विश्राम कर रहा था। उसने अपने कपड़ोंको साफ़ किया, शरीरकी मालिश की, इत्मीनानके साथ स्नान किया और उसके बाद शङ्करकी एक भव्य पिण्डिकाको स्नान कराकर बड़ी भक्तिके साथ प्रणाम किया। उसने एक क्षणके लिये भी शायद अपने मनको सुख-दुःखके पचड़ेको सुलझानेमें नहीं लगाया। उसने शायद अमीर-गरीबके भेद-भावपर तनिक भी गौर नहीं किया। वह मस्त था और मैं उसकी मस्तीके प्रति ईर्ष्या कर रहा था।

उसने साफ कपड़े पहने और घाटपर बैठकर कुछ विश्राम करने लगा। वह कुछ गुनगुनाने लगा और थोड़ी देरमें उसने इन पंक्तियोंको इतनी बार गाया कि वे मेरे मस्तिष्कमें रेखा बना गयीं और मैं उन्हें कभी न भूलूँगा। वह गा रहा था—

पेट चढ़े अरु पीठ चढ़े, पलनाहु चढ़े, चढ़े गोद धनाके।
हाथी चढ़े अरु घोड़ा चढ़े, पालकीहुँ चढ़े बहु जोड़ जनाके॥
शत्रु औ मित्रके चित्त चढ़े, कवि ब्रह्म भने दिन बीते पनाके।
ईशके नाम सुधारे नहीं अब, काँधे चढ़े चलि चार जनाके॥

जैसे मैं इन पंक्तियोंमें डूब गया था। फिर भी इन सच्ची सुनहरी बातोंका प्रभाव शायद पूरा नहीं हुआ था कि उनको पूरा करनेके लिये उसका एक दूसरा मस्त साथी उधरसे आ निकला। उसने अपने मित्रकी पीठपर हाथ थपथपाते हुए कहा—

'भाई बात तो सच्ची है—और भी सुनो—'

पेटमें पौढ़ि मही बिच पौढ़ि औ पौढ़ि जननिसँग बाल कहायो।
जबहि त्रिया सँग पौढ़न लागेहु, सारो युवापन पौढ़ि गँवायो॥
छीर-समुद्रके पौढ़नहार तिन्हें धरि ध्यानमें नेकु न लायो।
पौढ़त पौढ़त पौढ़ि गयो जू, चितापर पौढ़नको दिन आयो॥

मैं जैसे उन्मत्त हो उठा। मैंने आग्रहपूर्वक इन पंक्तियोंको सुना और उनपर लट्टू हो गया। मैं इन अपढ़ोंकी इतनी सारगर्भित बातके लिये तैयार न था और सोच रहा था कि क्या मेरा पढ़ना-लिखना व्यर्थ है और इनका अज्ञान ही उचित है—क्या रस्किनका यह कथन कि Ignorance is Bliss—अज्ञान ही परमानन्द है—सत्य है।

× × ×

विचारोंमें डूबा हुआ मैं अपने नानाके यहाँ पहुँचा। श्रीरामेश्वरदयालजी हिज हाइनेस महाराजा बनारस (स्वर्गीय) के प्राइवेट सेक्रेटरी पदको छोड़कर ४५ वर्षसे साधु हो गये थे और काशीके काली महालमें रहते थे। अभी गत वर्ष ही तो उनका देहावसान हुआ है ९५ वर्षकी उम्रमें। मैंने उस योगिराजकी न तो सेवा की और न उनसे कोई लाभ उठाया। फिर भी, जब दिल घबड़ाता था तो वहीं शान्तिके लिये चला

जाया करता था। मैंने वहाँ पहुँचते ही 'अज्ञान या ज्ञान' के विषयमें प्रश्न किया। उनका सरल और सुबोध उत्तर था—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन।

जब अत्यधिक अध्ययनसे आत्माकी प्राप्ति नहीं होती तो फिर वह कैसे मिलता है ?

महाभारतके शान्तिपर्वमें पितामहने इसका बड़ा सुन्दर उत्तर दिया है—

मोक्षस्य न हि वासोऽस्ति न ग्रामान्तरमेव वा।
अज्ञानहृदयग्रन्थिनाशो मोक्ष इति स्मृतः॥

तब तो अज्ञान ही मोक्षका शत्रु है और उसीके कारण चित्त चञ्चल रहता है। मनको सन्तोष नहीं मिलता। ईर्ष्या-द्वेष, राग, मत्सरका बोलबाला रहता है। आत्मा कभी भी सुखी नहीं हो सकती ! इसलिये क्या अज्ञानीका उद्धार नहीं—तब तो रस्किनका कथन गलत है।

प्रश्न हुआ कि तुम किसे अज्ञानी समझते हो ! पढ़ा-लिखा होना ज्ञानी थोड़े ही है—

अज्ञेभ्यो ग्रन्थिनः श्रेष्ठा ग्रन्थिभ्यो धारिणो वराः।
धारिभ्यो ज्ञानिनः श्रेष्ठा ज्ञानिभ्यो व्यवसायिनः॥

ज्ञानीसे भी अधिक उत्तम वह है जो क्रियात्मक रूपमें अपने ज्ञानका उपयोग करता है तथा ज्ञानीसे भी श्रेष्ठ वह है जो ज्ञान-अज्ञानके पचड़ेमें बिना पड़े ही निर्लिप्तभावसे काम करता है।

पितामहका ही कथन है—

आत्मा नदी संयमपुण्यतीर्था
सत्योदका शीलतटा दयोर्मिः।
तत्राभिषेकं कुरु पाण्डुपुत्र
न वारिणा शुध्यति चान्तरात्मा॥

यानी 'आत्मा नदी है, संयम ही पुण्य तीर्थ हैं, सत्य उसका जल है, शील तट है, दया उसकी तरंगें हैं। ऐसे तीर्थ-जलसे अपना अभिषेक करो। युधिष्ठिर ! अन्तरात्मा केवल पानीके स्नानसे ही शुद्ध नहीं होती।' अतएव संयम, शील, दया, सत्य—इनका पालन करनेवाला ही शुद्ध, बुद्ध, ज्ञानी है—केवल बहुत पढ़ा-लिखा पण्डित नहीं !

कह नानक सोइ नर सुखिया—राम नाम गुन गावै।
और सकल जग माइया, निरभै पद नहिं पावै॥

वासनामें सने रहनेवालेका ही नाम तो अज्ञानी है ! पर हम इस वासनामें क्यों सन जाते हैं। क्या इस वासनाके जालसे नहीं छूटा जा सकता—काम या वासनाका कारण क्या है ?

इसका भी उत्तर महाभारतका शान्तिपर्व (१७७। २६) देता है। कहते हैं—

काम जानामि ते मूलं संकल्पात्त्वं हि जायसे।
न त्वां सङ्कल्पयिष्यामि तेन मे न भविष्यसि॥

यह काम तो संकल्पसे ही उत्पन्न होता है। न मनमें संकल्प-विकल्प उठे और न काम ही जाग्रत् हो ! मनु भगवान् भी कहते हैं—

सङ्कल्पमूलः कामो वै यज्ञाः सङ्कल्पसम्भवाः॥
(मनु० २। ३)

बृहदारण्यकका वचन है—

स यथाकामो भवति तत्क्रतुर्भवति। यत्क्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते। (बृ० ४। ४। ५)

'वह जैसी कामनावाला होता है, वैसा निश्चयवाला होता है। जैसा निश्चयवाला होता है, वैसा कर्म करता है।'

इसलिये मैं सोचता हूँ कि संसारका समूचा दुःख इस संकल्प-विकल्पसे उत्पन्न होता है और जिसे हम अपढ़ समझते हैं वास्तवमें वह तो संकल्प-विकल्पके चढ़ाव-उतारसे उतना ही मुक्त है, अतएव वह उतना ही सुखी है।

× × × ×

अब मैं समझा। भगवान्‌ने गीतामें सत्य कहा है—

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते ।
सर्वसङ्कल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥
(६ । ४)

सर्वसंकल्पसंन्यास और—

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥

उसीके शरणमें जानेसे ही परम शान्ति मिलती है, मिल सकती है, भगवान् ही शान्तिका आगार है और कोई नहीं । धन-वैभवसे शान्ति नहीं मिल सकती । विद्यासे भी शान्ति नहीं मिलती । वह तो उसकी शरणमें जानेसे ही मिलेगी ।

नकली घीसे नुकसान

(लेखक—श्रीसतीशचन्द्र दासगुप्त)

पंजाबसे एक मित्र लिखते हैं—

'हमारा प्रान्त दूध और दूधसे बने हुए पदार्थ—मक्खन, घी इत्यादिके लिये सारे भारतवर्षमें प्रसिद्ध है । पंजाबकी भैंसें उच्च कोटिकी होती हैं, उनकी नस्ल (जाति) विख्यात है और वे दूध भी पर्याप्त देती हैं । इस प्रान्तसे अन्य प्रान्तोंको घी बड़ी मात्रामें जाता है । किन्तु बड़े खेदकी बात है कि अन्य स्थानोंकी भाँति यहाँपर भी वनस्पतिका (नकली घीका) प्रचार दिनों-दिन बढ़ता जा रहा है । नकली घीको या तो असली घीमें ही मिलाया जाता है या दूधमें मिलाकर उससे मिलावटी घी तैयार किया जाता है । पंचायतोंके द्वारा इस बुराईके रोकनेका प्रयत्न किया गया, किन्तु इसमें पूरी सफलता नहीं मिली ।

हमलोग घीकी शुद्धि जाँचनेकी प्रणालीको अच्छी तरह जानना चाहते हैं, जिसमें घीकी मिलावट पकड़ी जा सके । यदि यह बुराई न रोकी गयी तो इस प्रान्तका सबसे बड़ा व्यवसाय नष्ट हो जायगा, और एक बार नष्ट होनेके बाद उसे पुनर्जीवित करना तो दुःसाध्य ही है । यह बहुत आवश्यक है कि घीमें मिलावट रोकनेके उपाय काममें लाये जावें ।'

गाँवोंमें रहनेवाले भाइयोंका प्रत्येक हितचिन्तक उपर्युक्त पत्रप्रेरक महोदयकी भाँति यही सोचेगा कि किन उपायोंसे असली घीमें नकली घीकी मिलावट रोकी जाय । मिलावटकी तो कोई सीमा नहीं है, इससे अन्तमें उन ग्रामीण लोगोंकी ही बड़ी हानि होगी, जो इस समय लोभवश नकली घी मिलाकर उससे लाभ उठा रहे हैं । साथ ही घीका व्यवसाय नष्ट हो जानेसे दूसरे लोग भी नुकसान उठावेंगे । यदि मिलावटका कार्य इस समय क्रमशः जिस तेजीसे बढ़ता जा रहा है वैसे ही बिना किसी रोक-टोकके बढ़ता गया तो निश्चय ही घीका इतना बड़ा व्यवसाय बेमौत मर जायगा । बंगालमें 'घानीसे निकलनेवाले तेल' के व्यवसायियोंकी यही दशा हुई । घानीवाले लोग लोभवश घानीके तेलमें मिलका तेल मिलाकर उस मिलावटी तेलको असली घानीका तेल कहकर बेचने लगे । परिणाम यह हुआ कि घानीके तेलकी शुद्धताके सम्बन्धमें जनताका विश्वास उठ गया और इससे वह व्यवसाय ही मटियामेट हो गया । अब केवल मिलके तेलकी ही खपत है ।

जब घीकी मिलावटके सम्बन्धमें जनताको सच्ची बातका पता लग जायगा तो जनता पचास-साठ रुपये मनका मिलावटी घी खरीदनेकी अपेक्षा सत्रह रुपये मनका नकली खरीदना अच्छा समझेगी । अब प्रश्न यह है कि घीमें इसकी मिलावट कैसे रोकी जाय ।

घीका विश्लेषण (Analysis) एक जटिल वैज्ञानिक प्रक्रिया है—यह कोई सीधी-सादी बात नहीं है । इसके द्वारा घीके रिफ्रैक्टिव इंडेक्स Refractive index

(वक्रणांक) और इसमें कुछ रासायनिक वस्तुओंकी मात्रा जाननेका प्रयत्न किया जाता है । रिफैक्टिव इंडेक्सका निर्णय करना तो सरल है । किन्तु एक तो, रिफैक्टोमीटर (रिफैक्टिव इंडेक्स जाननेकी मशीन) की कीमत चार सौ रुपयेके लगभग होती है, जिसे सर्व-साधारण खरीद नहीं सकते और दूसरे वह बहुत ही नाजुक होती है । विशेषरूपसे दक्ष पुरुष ही उसका उपयोग कर सकते हैं । फिर रिफैक्टिव इंडेक्ससे ही घीकी शुद्धताका ठीक पता भी नहीं चल सकता । यह तो घीकी परीक्षाका एक अंशमात्र है । मिलावटी घीका इंडेक्स भी शुद्ध घीके इंडेक्सके समान ही हो सकता है । रिफैक्टिव इंडेक्सके साथ-साथ रासायनिक विश्लेषणसे भी जब कोई घी ठीक प्रमाणित हो तो हम कह सकते हैं कि वह घी प्रायः शुद्ध है—किन्तु इन दोनों जाँचोंके बाद भी हम यह तो कह ही नहीं सकते कि वह सर्वथा शुद्ध ही है । जिस घीमें दस प्रति सैकड़े मिलावट होती है वह घी तो सरकारद्वारा नियत किये हुए उस जाँचमें पास किया जाता है जो जाँच गाय और भैंसके मिले हुए घीके लिये निश्चित की गयी है । यह जाँच भी विभिन्न प्रान्तों, पशुओंकी विभिन्न नस्लों तथा विभिन्न ऋतुओंमें एक-सी नहीं होती । घीकी विश्लेषणप्रणालीमें अभी बहुत कुछ गवेषणाकी आवश्यकता है ।

घीके विश्लेषणकी कोई भी ऐसी प्रणाली नहीं है जो सरल और सस्ती हो और जो आसानीसे ठीक-ठीक बता दे कि अमुक घी शुद्ध है और अमुक मिलावटी । जो लोग असली घीमें नकली मिलाकर बेचनेका व्यवसाय करते हैं उनको नकली घी बनानेवाली कंपनियोंसे इस प्रकारकी बहुत-सी वैज्ञानिक सहायता दी जाती है जिसमें कि रासायनिक जाँचसे भी वह मिलावटी घी पकड़ा नहीं जा सके ।

असली घीमें वनस्पति (नकली घी)के मिलावटकी जाँचका केवल एक ही उपाय है । नकली घी असलमें जमाया हुआ (Hydrogenated) तेल है, अतः यदि इसमें तिलका तेल मिला रहे तो वह सहज ही पहचानमें आ सकता है । क्योंकि नाइट्रिक एसिड (शोरेके तेजाब) से तिलके तेलका तुरंत पता लग जाता है । हालैण्डकी सरकारने वहाँके मक्खनके व्यवसायकी रक्षाके उद्देश्यसे यह कानून बनाया था कि वनस्पतिमें तिलके तेलकी कुछ मात्रा अवश्य रहनी चाहिये । इसलिये वहाँ जब वनस्पतिको घी या मक्खनके साथ मिलाया जाता है तो उसमें तिलका तेल अवश्य रहता है । यदि विश्लेषणसे यह मालूम हो जाय कि अमुक घीमें तिलका तेल है तो इससे यह प्रमाणित हो जाता है कि इसमें मिलावट है ।

इस उद्देश्यकी पूर्तिके लिये कानूनकी आवश्यकता है । प्रत्येक वनस्पति (नकली घी) बनानेवाले, चालान करनेवाले या व्यवसायीके लिये कानूनसे यह आवश्यक हो जाना चाहिये कि वह इस बातकी गारंटी करे कि उसके वनस्पतिमें कानूनमें बतलायी हुई मात्रामें जमा हुआ (Hydrogenated) तिलका तेल है । हालैण्डने जैसा कानून बनाया है भारत-सरकारको भी वैसा ही कानून बनाना चाहिये । किन्तु मालूम होता है कि नकली घी बनानेवालोंपर भारतसरकारकी कृपादृष्टि है और वह इस मिलावटको रोकना नहीं चाहती ।

भारतसरकारने डाक्टर नार्मन सी० राइट (Norman C. Wright) एम्० ए०, डी० एस्-सी०, पी-एच्० डी० को मवेशी तथा दूध इत्यादिके सम्बन्धमें जाँच करके रिपोर्ट करनेके लिये नियुक्त किया था । उन्होंने अपनी 'Report on the development of the Cattle and Dairy Industry of India' (भारतकी मवेशी तथा दूध-घी-व्यवसाय-सम्बन्धी रिपोर्ट) नामकी पुस्तकमें लिखा है—'वनस्पति (नकली घी) का ९० प्रति सैकड़ा भाग घीमें मिलावटके कार्यमें जाता है ।' उपर्युक्त रिपोर्टसे स्पष्ट है कि गवर्नमेण्टको

इस बातसे पूरी जानकारी है। केन्द्रीय सरकारको उचित है कि घी-व्यवसायकी रक्षाके लिये आवश्यक कानून बनावे, नहीं तो नकली घी बनानेवाले बड़े-बड़े पूँजीपति तो फूले-फलेंगे और गरीबोंका घीका व्यवसाय सर्वथा मटियामेट हो जायगा। कोई भी सरकार भविष्यकी इस भयानक स्थितिपर विचार करके निश्चेष्ट रह सकती है? घीके व्यवसायमें भारतके सम्पूर्ण आयात या निर्यात व्यवसायके बराबर पूँजी लगी हुई है। किन्तु भारत-सरकार इस बुराईको हाथ-पर-हाथ रक्खे देख रही है और नकली घी तैयार करनेके कारखाने तेजीसे बढ़ रहे हैं। इस प्रश्नमें जिन लोगोंको रुचि हो उन्हें चाहिये कि वे आवश्यक कानून बनाये जानेके लिये भरपूर प्रयत्न करें।

महाप्रभो !

(लेखिका—विदुषी रानी साहिबा श्रीनवनिधिकुँअरिजी)

महाप्रभो! तुम्हें दुनिया प्रभु ही नहीं—'महाप्रभो' के नामसे भी सम्बोधित करती है। बाँकेबिहारी! श्याम मुरारी! तुम्हारी मञ्जुल मनोहर छवि मेरे हृदय-मंदिरमें अङ्कित है। प्यारे कृष्ण! तुम्हारी प्रेममयी मूरति मुझे बहुत प्यारी है। क्या कभी उस साँवली सूरतके प्रत्यक्ष दर्शन भी हो सकेंगे?

सुनते हैं हे जगन्निवास! तुम सदासे गरीबोंको प्रश्रय देते आये हो, तुम आश्रय-स्थल हो। फिर तुम्हारे बिना मुझ अशरणको कौन शरण दे? मैं सब मार्गोंपर भटक हारी, अब तो नाथ! ठीक राह लगा दो न!

मेरे स्वामी! हे जगतारन! इतनी निष्ठुरता क्या कभी शोभनीय कही जा सकती है? एक प्रभुनामसे जिसे सम्बोधित किया जाता है, वह भी सैकड़ोंकी रक्षाका दम भरता आया है, तुम तो महाप्रभु हो, अपने नामके विरदके अनुसार तुममें तो हजारोंको तारनेकी शक्ति है। पर अपने विरदपर ध्यान दो तब न?

लीलापुञ्ज! तुम्हारी मायाको हम नाशवान् प्राणी क्या समझें? पर जो कुछ भी तुच्छ बुद्धिसे समझा है, उसमें तो नाथ! तुम केवल निष्ठुर और निर्मोहीके रूपमें ही हमारे सामने आये हो। तुम्हारा व्यापक रूप तो तभी सफल हो, जब तुम हमें भी वह व्यापक दृष्टि दे सको।

विश्वनाथ! भक्तोंकी अब तो कठोर-से-कठोर परीक्षा हो चुकी—इस अन्तिम घड़ीमें अब उन्हें उबार लेना ही ठीक है। पर न मालूम, तुम अब भी क्या सोचते हो? सोचते होओगे, देखें, कितनी आँच है? ठीक है, देखे जाओ, यहाँ आँचकी क्या कमी है, साँच जो साथमें है। झुकना आखिर तुम्हें ही है। तुम्हारी बान जो ठहरी, तुम कभी यों सीधे-सीधे थोड़े ही नवोगे।

भक्तवत्सल! दधीचि और मोरध्वजकी कथा हमें याद है। भक्त प्रह्लाद और ध्रुवकी कसौटीको हम भूले नहीं हैं। राजा अम्बरीषकी कथाको स्मरण करानेकी हमें जरूरत नहीं!

पर नाथ! इस विपत्-कालमें भी क्या तुम अपने महाप्रभुके नामको सार्थक न करोगे, तो फिर आपके उस दिव्य बानेका मूल्य ही क्या?

भगवन्नाम-जप

गताङ्कमें भगवन्नाम-जपकी सूचना निकल चुकी है। उसके बाद निम्नलिखित स्थानोंसे जप होनेकी सूचनाएँ और भी आयी हैं। जप करने-करानेवाले सज्जनोंको साधुवाद। स्थानोंके नाम—

आबूरोड, उखवा, कराड़, खेडगाँव, जरादसोदगाँव, टिकारी, दिगठान, देहगाम, फिलौर, फुफूदर, बनकट, बारासिओनी, माफान (मारिशस), मोरार, मुकुन्दगढ़, शेन्दुर्णि, सातारा, सिंधीतालि।

नाम-जप-विभाग **कल्याण-कार्यालय गोरखपुर**

✻ कल्याण ✻

भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, धर्म और सदाचारसम्बन्धी सचित्र मासिक पत्र।

गोरखपुर

प्रिय ग्राहक महोदय !

सप्रेम हरिस्मरण ।

इससे पहले जूनके "कल्याण" द्वारा आपकी सेवामें नये वर्षका मूल्य भेजनेकी सूचना दी जा चुकी है। आपने अबतक इस सालका मूल्य नहीं भेजा हो तो अब मनीआर्डरसे तुरंत भेज दें। क्योंकि जिनका मूल्य कार्यालयमें आ जायगा उनकी सेवामें "भागवतांक" पहले भेजा जायगा।

यदि आप वी० पी० से मँगवाना चाहते हों तो आपको कोई सूचना भेजनेकी आवश्यकता नहीं है, किन्तु इस बार इस बातका ध्यान रहे कि जिनके रुपये पहले जमा हो जायँगे उनको रजिस्ट्रियाँ भेज चुकनेके बाद यदि 'भागवतांक' बचेगा तो ही वी० पी० द्वारा भेजा जा सकेगा। इस समय बहुत कम संख्यामें छापा जा रहा है।

☞ जो सज्जन किसी कारणवश इस वर्ष ग्राहक न रहना चाहते हों वे इसपर कृपा करके इस अङ्कके पाते ही इसी कागजके साथका कार्ड काटकर हमें ग्राहक न रहनेकी सूचना दे दें ताकि उनको वी० पी० नहीं भेजें और हमको एवं अपनेको कष्ट और हानिसे बचा सकें। आपके तीन पैसेके खर्चेसे "कल्याण" की आठ आनेकी बचत होगी।

यदि कार्यालयकी भूलसे आपके रुपया भेज देनेपर भी, या मनाही कर देनेपर भी, या पहले वी० पी० छुड़ा चुकनेपर भी वी० पी० चली जाय तो कृपया उसे यथासाध्य प्रयत्न करके किसीको ग्राहक बनाकर रख लें। इस थोड़े-से परिश्रमसे कार्यालय कुछ हानिसे बच जायगा।

वी० पी० डाकघरमें सिर्फ ७ दिन रुकती है। उसके छुड़ानेमें देर करनेसे वी० पी० लौट आवेगी और कल्याण-कार्यालयको व्यर्थ नुकसान पहुँचेगा, साथ ही आप भागवतांककी मनोहर कथाएँ पढ़ने और उसके चित्रोंके दर्शन करनेसे वञ्चित होंगे। इसलिये वी० पी० पहुँचते ही छुड़ा लेनी चाहिये।

वी० पी० के विषयमें कुछ पूछना हो तो कल्याणके रैपरपर आपके पतेके पास छपे हुए ग्राहक-नम्बरसहित पत्र तुरंत ही लिखें। नम्बर न लिखनेसे गोलमाल होनेका भय है।

आपका कृपाभिलाषी—

व्यवस्थापक

सूचना

(१) वी० पी० के रुपये हमें मिलनेपर ही आपका नाम ग्राहक-श्रेणीमें लिखा जाकर अगले अङ्क यथासमय प्रतिमास भेजे जा सकेंगे।

(२) कल्याणके रैपरपर छपे पतेमें किसी भी प्रकारकी भूल हो तो तुरंत सूचना देनी चाहिये। अन्यथा भविष्यमें अङ्क पहुँचनेमें गड़बड़ी हो सकती है।

(३) कृपया ग्राहक-नम्बर नोट कर लें और पत्र देते समय अवश्य लिखें।

(४) वी० पी० के ऊपरका कवर सँभालकर रक्खें।

यहाँसे काटिये।

श्रीहरिः

ग्राहक नं० ———— अवश्य लिखिये !

मैनेजर कल्याण !

गोरखपुर

सप्रेम राम राम। श्रीमद्भागवतांक वी० पी० से भेजनेकी सूचना मिली।

हम इस वर्ष कल्याणके ग्राहक अवश्य / नहीं रहेंगे। कल्याण का वा० मू० ५=) मनीआर्डरसे भेजते हैं। वी० पी० द्वारा नहीं भेजें।

भवदीय—

नाम ————

पता ————

————

P. O. (   )

☞ यदि आपको वी० पी० मँगाना स्वीकार हो तो कार्ड भेजनेकी आवश्यकता नहीं है।

कल्याणकी पुरानी फ़ाइलों तथा विशेषाङ्कोंका ब्योरा

(इनमें ग्राहकोंको कमीशन नहीं दिया जायगा । डाकखर्च हमारा होगा)

१ ला वर्ष—(संवत् १९८३-८४)—इस वर्षका कोई भी अङ्क प्राप्य नहीं है ।
२ रा वर्ष—विशेषाङ्क (भगवन्नामाङ्क) नहीं है । केवल अङ्क २ रा है । मूल्य ≈) प्रति ।
३ रा वर्ष—विशेषाङ्क (भक्ताङ्क) मूल्य अ० १॥), स० १॥।≈), साधारण अङ्क ७,८,९,१०,११ प्राप्य हैं । मूल्य ।) प्रति ।
४ था वर्ष—विशेषाङ्क (गीताङ्क) नहीं है । साधारण अङ्क ८, ९, १०, ११, १२ प्राप्य हैं । मूल्य ।) प्रति ।
५ वाँ वर्ष—विशेषाङ्क (रामायणाङ्क) नहीं है । फुटकर अङ्क भी नहीं हैं ।
६ ठाँ वर्ष—विशेषाङ्क (कृष्णाङ्क) नहीं है । फुटकर अङ्क भी नहीं हैं ।
७ वाँ वर्ष—विशेषाङ्क (ईश्वराङ्क) नहीं है । साधारण अङ्क केवल १० वाँ है । मूल्य ।) प्रति ।
८ वाँ वर्ष—विशेषाङ्क (शिवाङ्क) नहीं है । साधारण अङ्क केवल ८, ९, १२ हैं । मूल्य ।) प्रति ।
९ वाँ वर्ष—विशेषाङ्क (शक्ति-अङ्क) नहीं है । साधारण अङ्क केवल ९, ११, १२ हैं । मूल्य ।) प्रति ।
१० वाँ वर्ष विशेषाङ्क (योगाङ्क) सपरिशिष्टाङ्क (तीसरा संस्करण) मूल्य ३॥), सजिल्द ४), साधारण अङ्क नहीं हैं ।
११ वाँ वर्ष—विशेषाङ्क (वेदान्ताङ्क) सपरिशिष्टाङ्क मूल्य ३), स० ३॥), पूरी फाइल वेदान्ताङ्कसहित अ० ४≈), स० दो जिल्दोंमें ५≈)
१२ वाँ वर्ष—विशेषाङ्क (संत-अंक) तीन खण्डोंमें मू० ३॥), स० ४), पूरी फाइल विशेषाङ्कसहित अ० ४≈) स० दो जिल्दोंमें ५≈)
१३ वाँ वर्ष—विशेषाङ्क (मानसाङ्क) प्रथम खण्ड जिसमें अर्थसहित पूरी रामायण है, मू० ३॥), स० ४), साधारण अङ्क नहीं हैं ।
१४ वाँ वर्ष—विशेषाङ्क (गीतातत्त्वाङ्क) प्रथम खण्ड, मूल्य ३॥), सजिल्द ४), साधारण अङ्क केवल २, ३, १२ हैं । मूल्य ।) प्रति ।
१५ वाँ वर्ष—विशेषाङ्क (साधनाङ्क) मूल्य ३॥) सजिल्द ४), पूरी फाइल विशेषाङ्कसहित ४≈) सजिल्द दो जिल्दोंमें ५≈)
१६ वाँ वर्ष—विशेषाङ्क (भागवताङ्क) तीन खण्डोंसहित मूल्य ५) सजिल्द ५॥), पूरे वर्षका मूल्य ५≈) सजिल्द ५॥≈)

POST CARD

तीन पैसेका टिकट लगाइये

Kalyan Karyalaya
GORAKHPUR,
U. P.

पता ( ) P. O.

पता ( ) P. O.

यदि भागवताङ्ककी वी० पी० के साथ "कल्याण" के ऊपर लिखे अङ्कोंमेंसे कोई मँगवाने हों तो हमें सूचित करनेसे सेवामें भेजे जा सकते हैं ।

मनीआर्डर फार्म

आपका चन्दा भेजनेके लिये मनीआर्डर फार्म जूनके अंकमें भेजा जा चुका है । आपके मित्रोंको ग्राहक बनाकर उनका चन्दा भेजनेके लिये जितने फार्म चाहिये, लिखकर मँगवा लेनेकी कृपा करें ।

बार-बार विनय

ग्राहक-नम्बर

साल समाप्त होता है । आप नये वर्षका चन्दा भेजें या किसी कारण ग्राहक रहना न चाहें तो 'कल्याण' के भागवताङ्ककी वी० पी० न भेजनेकी सूचना हमें दे दें—दोनों ही बातोंमें आपके पूरे पतेसहित आपका ग्राहक-नम्बर लिखना जरूरी है जो रैपरपर आपके पतेके साथ छपा हुआ है । ग्राहक-नम्बर कृपया नोट कर लें ।

व्यवस्थापक—

* कल्याणके नियम *

उद्देश्य—भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, धर्म और सदाचार-समन्वित लेखोंद्वारा जनताको कल्याणके पथपर पहुँचानेका प्रयत्न करना इसका उद्देश्य है।

नियम

(१) भगवद्भक्ति, भक्तचरित, ज्ञान, वैराग्यादि ईश्वरपरक, कल्याणमार्गमें सहायक, अध्यात्मविषयक, व्यक्तिगत आक्षेपरहित लेखोंके अतिरिक्त अन्य विषयोंके लेख भेजनेका कोई सज्जन कष्ट न करें। लेखोंको घटाने-बढ़ाने और छापने अथवा न छापनेका अधिकार सम्पादकको है। अमुद्रित लेख बिना माँगे लौटाये नहीं जाते। **लेखोंमें प्रकाशित मतके लिये सम्पादक उत्तरदाता नहीं है।**

(२) इसका डाकव्यय और विशेषाङ्कसहित अग्रिम वार्षिक मूल्य भारतवर्षमें [illegible] और भारतवर्षसे बाहरके लिये [illegible] नियत है। बिना अग्रिम मूल्य प्राप्त हुए पत्र प्रायः नहीं भेजा जाता।

(३) 'कल्याण' का नया वर्ष अगस्तसे आरम्भ होकर जुलाईमें समाप्त होता है, अतः ग्राहक अगस्तसे ही बनाये जाते हैं। वर्षके किसी भी महीनेमें ग्राहक बनाये जा सकते हैं, किन्तु अगस्तके अङ्कके बाद निकले हुए तबतकके सब अङ्क उन्हें लेने होंगे। कल्याणके बीचके किसी अङ्कसे ग्राहक नहीं बनाये जाते; छः या तीन महीनेके लिये भी ग्राहक नहीं बनाये जाते।

(४) इसमें व्यवसायियोंके विज्ञापन किसी भी दरमें प्रकाशित नहीं किये जाते।

(५) कार्यालयसे 'कल्याण' दो-तीन बार जाँच करके प्रत्येक ग्राहकके नामसे भेजा जाता है। यदि किसी मासका अङ्क ता० २२ तक न पहुँचे तो अपने डाकघरसे लिखा-पढ़ी करनी चाहिये। वहाँसे जो उत्तर मिले, वह हमें भेज देना चाहिये। डाकघरका जवाब शिकायती पत्रके साथ न आनेसे दूसरी प्रति बिना मूल्य मिलनेमें अड़चन हो सकती है।

(६) पता बदलनेकी सूचना कम-से-कम १५ दिन पहले कार्यालयमें पहुँच जानी चाहिये। **लिखते समय ग्राहक-संख्या, पुराना और नया नाम-पता साफ-साफ लिखना चाहिये।** महीने-दो महीनेके लिये बदलवाना हो तो अपने पोस्टमास्टरको ही लिखकर प्रबन्ध कर लेना चाहिये।

(७) अगस्तसे बननेवाले ग्राहकोंको रंग-बिरंगे चित्रोंवाला अगस्तका अङ्क (चालू वर्षका विशेषाङ्क) दिया जाता है। विशेषाङ्क ही अगस्तका तथा वर्षका पहला अङ्क होता है। फिर जुलाईतक महीने-महीने नये अङ्क मिला करते हैं।

(८) चार आना एक संख्याका मूल्य मिलनेपर नमूना भेजा जाता है। ग्राहक बननेपर वह अङ्क न लेवें तो ।) बाद किया जा सकता है।

आवश्यक सूचनाएँ

(९) 'कल्याण' में किसी प्रकारका कमीशन या 'कल्याण' की किसीको एजेन्सी देनेका नियम नहीं है।

(१०) पुराने अङ्क, फाइलें तथा विशेषाङ्क कम या रियायती मूल्यमें प्रायः नहीं दिये जाते।

(११) ग्राहकोंको अपना नाम-पता स्पष्ट लिखनेके साथ-साथ **ग्राहक-संख्या** अवश्य लिखनी चाहिये।

(१२) पत्रके उत्तरके लिये जवाबी कार्ड या टिकट भेजना आवश्यक है।

(१३) **ग्राहकोंको चन्दा मनीआर्डरद्वारा भेजना चाहिये** क्योंकि वी० पी० के रुपये प्रायः देरीसे पहुँचते हैं।

(१४) ग्राहकोंको **वी० पी० मिले, उसके पहले ही यदि वे हमें रुपये भेज चुके** हों तो तुरंत हमें एक कार्ड देना चाहिये और हमारा (श्री डिस्पैचरका) उत्तर पहुँचने तक वी० पी० रोक रखनी चाहिये, नहीं तो [illegible] व्यर्थ ही नुकसान सहना होगा।

(१५) प्रेस-विभाग और कल्याण-विभागको अलग-अलग समझकर अलग-अलग पत्र-व्यवहार करना और रुपया आदि भेजना चाहिये। 'कल्याण' के साथ पुस्तकें और चित्र नहीं भेजे जा सकते।

(१६) चालू वर्षके विशेषाङ्कके बदले पिछले वर्षोंके विशेषाङ्क नहीं दिये जाते।

(१७) मनीआर्डरके कूपनपर रुपयोंकी तादाद, रुपये भेजनेका मतलब, ग्राहक-नम्बर, पूरा पता आदि सब बातें साफ-साफ लिखनी चाहिये।

(१८) प्रबन्धसम्बन्धी पत्र, ग्राहक होनेकी सूचना, मनीआर्डर आदि **'व्यवस्थापक "कल्याण" गोरखपुर'** के नामसे और सम्पादकसे सम्बन्ध रखनेवाले पत्रादि **'सम्पादक "कल्याण" गोरखपुर'** के नामसे भेजने चाहिये।

(१९) स्वयं आकर ले जाने या एक साथ एकसे अधिक अङ्क रजिस्ट्रीसे या रेलसे मँगानेवालोंसे चन्दा कुछ कम नहीं लिया जाता।

(२०) 'कल्याण' सरकारद्वारा भारतके कई प्रान्तोंके शिक्षा-विभागके लिये स्वीकृत है। उक्त प्रान्तोंकी संस्थाओंके अधिकारीगण (तथा स्कूलोंके हेडमास्टर) संस्थाके फण्डसे 'कल्याण' मँगा सकते हैं।

कल्याणकी पुरानी फाइलों तथा विशेषाङ्कोंका ब्योरा

(इनमें ग्राहकोंको कमीशन नहीं दिया जायगा । डाकखर्च हमारा होगा)

१ ला वर्ष–(संवत् १९८३-८४)–इस वर्षका कोई भी अङ्क प्राप्य नहीं है ।
२ रा वर्ष–विशेषाङ्क (भगवन्नामाङ्क) नहीं है । केवल अङ्क २ रा है । मूल्य ≡) प्रति ।
३ रा वर्ष–विशेषाङ्क (भक्ताङ्क) मूल्य अ० १।।), स० १।।।≡), साधारण अङ्क ७,८,९,१०,११ प्राप्य हैं । मूल्य ।) प्रति ।
४ था वर्ष–विशेषाङ्क (गीताङ्क) नहीं है । साधारण अङ्क ८, ९, १०, ११, १२ प्राप्य हैं । मूल्य ।) प्रति ।
५ वाँ वर्ष–विशेषाङ्क (रामायणाङ्क) नहीं है । फुटकर अङ्क भी नहीं हैं ।
६ ठाँ वर्ष–विशेषाङ्क (कृष्णाङ्क) नहीं है । फुटकर अङ्क भी नहीं हैं ।
७ वाँ वर्ष–विशेषाङ्क (ईश्वराङ्क) नहीं है । साधारण अङ्क केवल १० वाँ है । मूल्य ।) प्रति ।
८ वाँ वर्ष–विशेषाङ्क (शिवाङ्क) नहीं है । साधारण अङ्क केवल ८, ९, १२ हैं । मूल्य ।) प्रति ।
९ वाँ वर्ष–विशेषाङ्क (शक्ति-अङ्क) नहीं है । साधारण अङ्क केवल ९, ११, १२ हैं । मूल्य ।) प्रति ।
१० वाँ वर्ष विशेषाङ्क (योगाङ्क) सपरिशिष्टाङ्क (तीसरा संस्करण) मूल्य ३।।), सजिल्द ४), साधारण अङ्क नहीं हैं ।
११ वाँ वर्ष–विशेषाङ्क (वेदान्ताङ्क) सपरिशिष्टाङ्क मूल्य ३), स० ३।।), पूरी फाइल वेदान्ताङ्कसहित अ० ४≡), स० दो जिल्दोंमें ५≡)
१२ वाँ वर्ष–विशेषाङ्क (संत-अंक) तीन खण्डोंमें मू० ३।।), स० ४), पूरी फाइल विशेषाङ्कसहित अ० ४≡) स० दो जिल्दोंमें ५≡)
१३ वाँ वर्ष–विशेषाङ्क (मानसाङ्क) प्रथम खण्ड जिसमें अर्थसहित पूरी रामायण है, मू० ३।।), स० ४), साधारण अङ्क नहीं हैं ।
१४ वाँ वर्ष–विशेषाङ्क (गीतातत्त्वाङ्क) प्रथम खण्ड, मूल्य ३।।), सजिल्द ४), साधारण अङ्क केवल २, ३, १२ हैं । मूल्य ।) प्रति ।
१५ वाँ वर्ष–विशेषाङ्क (साधनाङ्क) मूल्य ३।।) सजिल्द ४), पूरी फाइल विशेषाङ्कसहित ४≡) सजिल्द दो जिल्दोंमें ५≡)
१६ वाँ वर्ष–विशेषाङ्क (भागवताङ्क) तीन खण्डोंसहित मूल्य ५) सजिल्द ५।।), पूरे वर्षका मूल्य ५≡) सजिल्द ५।।≡)

तीन पैसेका टिकट लगाइये

POST CARD

Kalyan Karyalaya

GORAKHPUR,

U. P.

मैं अपने इन मित्रोंको ग्राहक बनाकर
ता हूँ । इनका एक वर्षका मूल्य
पी० द्वारा वसूल कर लें ।
मनीआर्डरद्वारा भेजता हूँ

पता ( ) P.O.

पता ( ) P.O.

यदि भागवताङ्ककी वी० पी० के साथ "कल्याण" के ऊपर लिखे अङ्कोंमेंसे कोई मँगवाने हों तो हमें सूचित करनेसे सेवामें भेजे जा सकते हैं ।

मनीआर्डर फार्म

आपका चन्दा भेजनेके लिये मनीआर्डर फार्म जूनके अंकमें भेजा जा चुका है । आपके मित्रोंको ग्राहक बनाकर उनका चन्दा भेजनेके लिये जितने फार्म चाहिये, लिखकर मँगवा लेनेकी कृपा करें ।

बार-बार विनय

ग्राहक-नम्बर

साल समाप्त होता है । आप नये वर्षका चन्दा भेजें या किसी कारण ग्राहक रहना न चाहें तो 'कल्याण' के भागवताङ्ककी वी० पी० न भेजनेकी सूचना हमें दे दें—दोनों ही बातोंमें आपके पूरे पतेसहित आपका ग्राहक-नम्बर लिखना जरूरी है जो रैपरपर आपके पतेके साथ छपा हुआ है । ग्राहक-नम्बर कृपया नोट कर लें ।

व्यवस्थापक—

* कल्याणके नियम *

उद्देश्य—भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, धर्म और सदाचार-समन्वित लेखोंद्वारा जनताको कल्याणके पथपर पहुँचानेका प्रयत्न करना इसका उद्देश्य है।

नियम

(१) भगवद्भक्ति, भक्तचरित, ज्ञान, वैराग्यादि ईश्वर-परक, कल्याणमार्गमें सहायक, अध्यात्मविषयक, व्यक्तिगत आक्षेपरहित लेखोंके अतिरिक्त अन्य विषयोंके लेख भेजनेका कोई सज्जन कष्ट न करें। लेखोंको घटाने-बढ़ाने और छापने अथवा न छापनेका अधिकार सम्पादकको है। अमुद्रित लेख बिना माँगे लौटाये नहीं जाते। **लेखोंमें प्रकाशित मतके लिये सम्पादक उत्तरदाता नहीं हैं।**

(२) इसका डाकव्यय और विशेषाङ्कसहित अग्रिम वार्षिक मूल्य भारतवर्षमें ५≋), बर्मामें ६) और भारतवर्षसे बाहरके लिये ७॥≈) नियत है। बिना अग्रिम मूल्य प्राप्त हुए पत्र प्रायः नहीं भेजा जाता।

(३) 'कल्याण' का वर्ष अगस्तसे आरम्भ होकर जुलाईमें समाप्त होता है, अतः ग्राहक अगस्तसे ही बनाये जाते हैं। वर्षके किसी भी महीनेमें ग्राहक बनाये जा सकते हैं किन्तु अगस्तके अङ्कसे निकले हुए तबतकके सब अङ्क उन्हें लेने होंगे। 'कल्याण'के बीचके किसी अङ्कसे ग्राहक नहीं बनाये जाते; छः या तीन महीनेके लिये भी ग्राहक नहीं बनाये जाते।

(४) इसमें व्यवसायियोंके विज्ञापन किसी भी दरमें प्रकाशित नहीं किये जाते।

(५) कार्यालयसे 'कल्याण' दो-तीन बार जाँच करके प्रत्येक ग्राहकके नामसे भेजा जाता है। यदि किसी मासका 'कल्याण' ता० १२ तक न पहुँचे तो अपने डाकघरसे लिखा-पढ़ी करनी चाहिये। वहाँसे जो उत्तर मिले, वह हमें भेज देना चाहिये। डाकघरका जवाब शिकायती पत्रके साथ न आनेसे दूसरी प्रति बिना मूल्य मिलनेमें अड़चन हो सकती है।

(६) पता बदलनेकी सूचना कम-से-कम १५ दिन पहले कार्यालयमें पहुँच जानी चाहिये। **लिखते समय ग्राहक-संख्या, पुराना और नया नाम, पता साफ-साफ लिखना चाहिये।** महीने-दो-महीनोंके लिये **बदलवाना हो तो** अपने पोस्टमास्टरको ही लिखकर प्रबन्ध **कर लेना चाहिये।**

(७) अगस्तसे बननेवाले ग्राहकोंको रंग-बिरंगे चित्रों-वाला अगस्तका अङ्क (चालू वर्षका विशेषांक) दिया जाता है। विशेषाङ्क ही अगस्तका तथा वर्षका पहला अङ्क होता है। फिर जुलाईतक महीने-महीने नये अङ्क मिला करते हैं।

(८) चार आना एक संख्याका मूल्य मिलनेपर नमूना भेजा जाता है। ग्राहक बननेपर वह अङ्क न लेवें तो ।) बाद दिया जा सकता है।

आवश्यक सूचनाएँ

(९) 'कल्याण' में किसी प्रकारका कमीशन या 'कल्याण' की किसीको एजन्सी देनेका नियम नहीं है।

(१०) पुराने अङ्क, फाइलें तथा विशेषाङ्क कम या रियायती मूल्यमें प्रायः नहीं दिये जाते।

(११) ग्राहकोंको अपना नाम-पता स्पष्ट लिखनेके साथ-साथ **ग्राहक-संख्या** अवश्य लिखनी चाहिये।

(१२) पत्रके उत्तरके लिये जवाबी कार्ड या टिकट भेजना आवश्यक है।

(१३) **ग्राहकोंको चन्दा मनीआर्डरद्वारा भेजना चाहिये** क्योंकि वी० पी० के रुपये प्रायः देरीसे पहुँचते हैं।

(१४) ग्राहकोंको **वी० पी० मिले, उसके पहले ही** यदि **वे हमें रुपये भेज चुके** हों, तो तुरंत हमें एक कार्ड देना चाहिये और हमारा (फ्री डिलेवरीका) उत्तर पहुँचने-तक वी० पी० रोक रखनी चाहिये, नहीं तो कार्यालयको व्यर्थ ही नुकसान सहना होगा।

(१५) प्रेम-विभाग और कल्याण-विभागको अलग-अलग समझकर अलग-अलग पत्र-व्यवहार करना और रुपया आदि भेजना चाहिये। कल्याणके साथ पुस्तकें और चित्र नहीं भेजे जा सकते।

(१६) चालू वर्षके विशेषाङ्कके बदले पिछले वर्षोंके विशेषाङ्क नहीं दिये जाते।

(१७) मनीआर्डरके कूपनपर रुपयोंकी तादाद, रुपये भेजनेका मतलब, ग्राहक-नम्बर, पूरा पता आदि सब बातें साफ-साफ लिखनी चाहिये।

(१८) प्रबन्ध-सम्बन्धी पत्र, ग्राहक होनेकी सूचना, मनीआर्डर आदि **'व्यवस्थापक "कल्याण" गोरखपुर'**के नामसे और सम्पादकसे सम्बन्ध रखनेवाले पत्रादि **'सम्पादक "कल्याण" गोरखपुर'** के नामसे भेजने चाहिये।

(१९) स्वयं आकर ले जाने या एक साथ एकसे अधिक अङ्क रजिस्ट्रीसे या रेलसे मँगानेवालोंसे चंदा कुछ कम नहीं लिया जाता।

(२०) 'कल्याण' गवर्नमेण्टद्वारा भारतके कई प्रान्तोंके शिक्षा-विभागके लिये स्वीकृत है। उक्त प्रान्तोंकी संस्थाओंके सञ्चालकगण (तथा स्कूलोंके हेडमास्टर) संस्थाके फण्डसे 'कल्याण' मँगा सकते हैं।

भवाम्भोधिनिमग्नानां महापापोर्मिपातिनाम् ।
न गतिर्मानवानां च श्रीकृष्णस्मरणं विना ॥
मृत्युकालेऽपि मर्त्यानां पापिनां तदनिच्छताम् ।
गच्छतां नास्ति पाथेयं श्रीकृष्णस्मरणं विना ॥
तत्र पुत्र गया काशी पुष्करं कुरुजाङ्गलम् ।
प्रत्यहं मन्दिरे यस्य कृष्ण कृष्णेति कीर्त्तनम् ॥
जीवितं जन्मसाफल्यं सुखं तस्यैव सार्थकम् ।
सततं रसना यस्य कृष्ण कृष्णेति जल्पति ॥

(स्कन्दपुराण)

'जो भवसागरमें डूबे हुए हैं, महान् पापके भँवरमें पड़ चुके हैं, उन मनुष्योंके लिये श्रीकृष्णके स्मरणको छोड़कर दूसरा कोई सहारा नहीं है। मृत्युकालमें मृत्युको न चाहनेवाले पापी मनुष्योंके लिये परलोककी यात्राके समय श्रीकृष्णके स्मरणको छोड़कर और कुछ भी पाथेय (राहखर्च) नहीं है। हे पुत्र ! जिसके घरमें प्रतिदिन 'कृष्ण-कृष्ण' इस प्रकार कीर्तन होता है, उसके घरमें वहीं गया, काशी, पुष्करराज और कुरुक्षेत्र आदि तीर्थ निवास करते हैं। जिसकी जीभ सदा 'कृष्ण-कृष्ण' रटती रहती है, उसीका जीवन धन्य है, उसीका जन्म सफल है और उसीको वास्तविक सुख प्राप्त है।'